॥ श्रीहरिः ॥

683

तत्त्वचिन्तामणि

विविध विषयोंपर पूर्वप्रकाशित सर्वोपयोगी लेखोंका अनोखा संग्रह

गीताप्रेस गोरखपुर

GITA PRESS, GORAKHPUR [SINCE 1923]

जयदयाल गोयन्दका

॥ श्रीहरिः ॥

683

तत्त्वचिन्तामणि

(सातों भाग एक साथ)

जयदयाल गोयन्दका

683 Tattva Chintamani_Section_1_Front

॥ श्रीहरिः ॥

विनम्र-निवेदन

'कल्याण' में मेरे जो लेख प्रकाशित होते हैं, वे कई प्रेमी भाइयोंके आग्रहसे 'तत्त्वचिन्तामणि' के इन सातों भागोंमें 'कल्याण' के प्रारम्भसे तेईसवें वर्षतकके प्रायः मेरे सभी लेख आ चुके हैं। शास्त्रोंके अवलोकन तथा सत्पुरुषोंके संग करनेसे आत्मकल्याणकी जो बातें मेरी समझमें आयी हैं, वही सब बातें इन लेखोंमें बतायी गयी हैं। मेरा विश्वास है, जो कोई भी मनुष्य इन बातोंको काममें लायेंगे, उन्हें अवश्य लाभ हो सकता है; क्योंकि ये सब बातें अधिकांशमें साक्षात् भगवान् कृष्णके मुखसे कथित गीता तथा ऋषि-मुनि-प्रणीत सत्-शास्त्रोंके आधारपर ही लिखी गयी हैं, अतएव इन लेखोंसे सभी मनुष्य लाभ उठा सकते हैं। इनमेंसे बहुत-सी बातें ऐसी सुगम हैं कि जिन्हें बिना पढ़े-लिखे साधारण स्त्री-पुरुष और बालक-वृद्ध भी काममें लाकर लाभ उठा सकते हैं; क्योंकि मनुष्यको अपना जीवन किस प्रकार बिताना एवं किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, यह सब बातें भी उनमें बतायी गयी हैं।

बड़े-बड़े विद्वान् महात्माओंके सामने पारमार्थिक विषयोंपर मेरा कुछ लिखना वास्तवमें शोभा नहीं देता, इन विषयोंपर बड़े विद्वानोंकी भी कलम रुकती है, फिर मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ। श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीभगवन्नामके प्रभावसे मैंने जो कुछ समझा है, उसीका कुछ भाव इन लेखोंमें दिखलानेकी चेष्टा की गयी है। इस पुस्तकसे यदि किसी पाठकके चित्तमें तनिक भी ज्ञान-वैराग्य और सदाचारका संचार होगा, तनिक-सी भी भगवद्भक्तिकी भावना उत्पन्न होगी और मनके गम्भीर प्रश्नोंमें दो-एकका भी समाधान होगा तो बड़े आनन्दकी बात है।

मैं न तो विद्वान् हूँ और न अपनेको उपदेश-आदेश एवं शिक्षा प्रदान करनेका ही अधिकारी समझता हूँ। मैंने तो अपने मनके विनोदके लिये कुछ समय भगवच्चर्चामें लगानेका प्रयत्नमात्र किया है, अन्तर्यामीकी प्रेरणासे जो कुछ लिखा गया है सो उसीकी वस्तु है, मेरा तो इसमें भी कोई अधिकार नहीं है।

इन लेखोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंके लिये मैं यह नहीं कह सकता कि यह सबको मान लेने चाहिये या इनके विरुद्ध कोई सिद्धान्त ठीक नहीं है। मैंने केवल अपने हृदयके उन भावोंको कुछ-कुछ प्रकट करनेकी चेष्टा की है, जिनके सम्बन्धमें मुझे अपने मनमें कोई भ्रान्ति नहीं है।

मेरा सभी पाठकोंसे निवेदन है कि वे कृपा कर उन निबन्धोंको मन लगाकर पढ़ें और उनमें रही हुई त्रुटियाँ मुझे बतलायें।

विनीत
जयदयाल गोयन्दका

निवेदन

प्रस्तुत ग्रन्थ—तत्त्वचिन्तामणि—गीताप्रेस तथा 'कल्याण' के संस्थापक ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका है। उनके द्वारा गीताप्रेसकी स्थापनाके मूलमें गीताशास्त्रकी मूल प्रेरणाके अनुसार 'श्रीमद्भगवद्गीता' के सार्वभौम लोक-कल्याणकारी सिद्धान्तोंको जन-जनतक पहुँचाना ही निहित उद्देश्य और 'गीता-प्रचार' (गीताको सर्वजन-सुलभ बनाना, घर-घर, द्वार-द्वारमें प्रवेश करा देना) ही उनका एकमात्र और सर्वोपरि जीवन-व्रत था; जिसके लिये आपने जीवनपर्यन्त अथक प्रयास किया।

यह बृहत्-ग्रन्थ पहले 'तत्त्वचिन्तामणि' नामसे पुस्तकाकार कुल सात भागोंमें प्रकाशित हुआ था। वे सातों भाग अभी कुछ वर्षों पहले ही पुस्तकाकार अलग-अलग नामोंसे कुल तेरह भागोंमें भी पाठकोंके सुविधार्थ प्रकाशित हो चुके हैं। वे सभी अब अलगसे भी पुस्तकरूपमें उपलब्ध हैं। प्रेमी पाठकों और जिज्ञासुओंके मनन-अनुशीलनकी सुविधाको ध्यानमें रखकर उन्हीं सात भागोंकी सम्पूर्ण विषय-सामग्रीको एकस्थानीय करनेकी दृष्टिसे 'तत्त्वचिन्तामणि'-पूर्व नामसे ही अब उसे ग्रन्थाकारमें प्रकाशित किया गया है; जिसे सहृदय पाठकों और समस्त भगवत्प्रेमी महानुभावोंकी सेवामें अर्पित करते हुए हमें सात्त्विक आनन्द-भावकी अनुभूति हो रही है।

सभीसे हमारा यह विनीत अनुरोध है कि वे कम-से-कम एक बार इस ग्रन्थको मनोयोगपूर्वक अवश्य पढ़ें और अपने परिजन तथा मित्रोंको भी पढ़नेके लिये प्रेरित करें।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

सम्पादकका निवेदन

सत्य-सुखके विघातक जड़वादके इस विकास-युगमें, जहाँ ईश्वर और ईश्वरीय चर्चाको व्यर्थ बतलाने और माननेका दुःसाहस किया जा रहा है, जहाँ परलोकका सिद्धान्त कल्पना-प्रसूत समझा जाता है, जहाँ ज्ञान-वैराग्य-भक्तिकी बातोंको अनावश्यक और देश-जातिकी उन्नतिमें प्रतिबन्धकरूप बतलाया जाता है, जहाँ भौतिक उन्नतिको ही मनुष्य-जीवनका परम ध्येय समझा जाने लगा है, जहाँ केवल इन्द्रिय-सुख ही परम सुख माना जाता है और जहाँ प्रायः समूचा साहित्य-क्षेत्र जड़-उन्नतिके विधायक ग्रन्थों, मौज-शौकके उपन्यासों और गल्पों एवं कुरुचि-उत्पादक शब्दाडम्बरपूर्ण कविताओंकी बाढ़से बहा जाता है, वहाँ भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और निष्काम कर्मयोग-विषयक तात्त्विक विषयोंकी पुस्तकसे सबको सन्तोष होना बहुत ही कठिन है तथापि गत तीन वर्षोंके अनुभवसे मुझे यह पता लगा है कि नास्तिकताकी इस प्रबल आँधीके आनेपर भी ऋषि-मुनि-सेवित पुण्यभूमि भारतके सुदृढ़ मूल आध्यात्मिक सघन छायायुक्त विशाल तरुवरकी जड़ें अभी नहीं हिली हैं और उनका हिलना भी बहुत ही कठिन मालूम होता है। इस समय भी भारतके आध्यात्मिक जगत्‌में सच्चे जिज्ञासुओं और साधुस्वभावके मुमुक्षुओंका अस्तित्व है, यद्यपि उनकी संख्या घट गयी है। इस अवस्थामें यह आशा करना अयुक्त नहीं होगा कि इस सरल भाषामें लिखी हुई तत्त्वपूर्ण पुस्तकका अच्छा आदर होगा और लोग इससे विशेष लाभ उठावेंगे।

इन पंक्तियोंके लेखककी दृष्टिमें इस ग्रन्थके रचयिताका स्थान बहुत ही ऊँचा है। आध्यात्मिक जगत्‌में इस प्रकारके महान् पुरुष बहुत ही थोड़े हैं। देवर्षि नारदने कहा है—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।

महापुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है। यानी 'सच्चे सत्पुरुष सहजमें मिलते नहीं, मिलनेपर पहचाने नहीं जाते तथापि इनका सङ्ग कभी व्यर्थ नहीं जाता।' इसी कथनके अनुसार मेरी यह धारणा है कि लोगोंने इन्हें भलीभाँति समझा या पहचाना नहीं है। वास्तवमें पहचानना है भी कठिन, एक सीधे-सादे साधारण बोलचालमें अनपढ़-से प्रतीत होनेवाले और गृहस्थमें रहकर व्यापारी-जीवन व्यतीत करनेवालेको इस रूपमें पहचानना भी कठिन है। मैंने देखा है, जब अपनेको पढ़े-लिखे समझनेवाले लोग पहले-पहल इनसे मिलते हैं या इनका कोई प्रवचन सुनते हैं तो आरम्भमें इनकी हिन्दी भाषा और शब्दोंके उच्चारणमें दोष देखकर प्रायः समझ लेते हैं कि यहाँ क्या रखा है; कहीं-कहीं तो लोग ऊबकर उठ भी जाते हैं, परन्तु जो धैर्य धारण कर कुछ समयतक बैठे रहते हैं, उन्हें इनका तात्त्विक विवेचन सुनकर चकित होना पड़ता है। लोगोंमें इस विषयकी ओर रुचि उत्पन्न हो, इसलिये बड़े उत्साहके साथ 'कल्याण' में प्रकाशनार्थ आप कृपापूर्वक लेख लिखवा दिया करते हैं! आप शुद्ध हिन्दी नहीं लिख सकते, इसलिये मारवाड़ी-मिश्रित हिन्दीमें ही इनके लेख होते हैं, मैं अपनी शक्तिभर आपके भावोंकी रक्षा करते हुए भाषाका संशोधन कर लिया करता हूँ, इस ग्रन्थमें प्रकाशित लेखोंके सम्बन्धमें भी ऐसा ही किया गया है। यद्यपि मैंने उनके भावोंकी रक्षाकी ओर पूरा ध्यान रखा है, तथापि मैं दृढ़तासे कह नहीं सकता कि सभी जगह मैं भावोंकी रक्षा कर पाया हूँ। कारण, कई जगह तो मुझे ऐसे भाव मिले हैं, जिनके समझनेमें बहुत समय लगाना पड़ा है। ऐसी स्थितिमें कहीं-कहीं भावोंमें यत्किञ्चित् परिवर्तन हो गया हो तो भी आश्चर्य नहीं है। मुझे एक ऐसे सत्पुरुषके सङ्गका और उनके लेखोंके सम्पादनका सुअवसर प्राप्त हुआ इससे मैं अपने लिये बहुत ही सौभाग्य समझता हूँ।

ग्रन्थकारके सम्बन्धमें मैंने जो कुछ लिखा है, सो केवल मेरी अपनी तुच्छ धारणा है, मैं किसीसे यह नहीं कहना चाहता कि कोई भी मेरे इन शब्दोंके अनुसार ऐसा ही मान लें, न ग्रन्थाकार ही ऐसा चाहते हैं। इस निवेदनमें मैंने जो कुछ लिख दिया है, सो भी ग्रन्थकारसे बिना पूछे और बतलाये ही लिखा है, यदि मैं उनसे पूछता तो मेरा विश्वास है कि वे मुझे इन उद्गारोंके प्रकाशनके लिये भी कभी अनुमति नहीं देते! अस्तु।

अब पाठक-पाठिकाओंसे यह निवेदन है कि वे इस ग्रन्थको मननपूर्वक पढ़ें और यदि इसमेंसे उन्हें अपने लिये कोई बात लाभजनक प्रतीत हो तो उसे अवश्य ग्रहण करें।

गोरखपुर
विजयादशमी सं० १९८६

विनीत—
हनुमानप्रसाद पोद्दार
(कल्याण-सम्पादक)

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

विषय-सूची

(तत्त्वचिन्तामणि भाग-१)

(तत्त्वचिन्तामणि भाग-२)

नोट—पुराने पाठकोंके सुविधार्थ तृतीय संस्करणसे तत्त्वचिन्तामणिके पुराने भागोंके लेखोंके क्रमसे पूरी विषय-सूची पुनः तैयार की गयी है।

(तत्त्वचिन्तामणि भाग-३)

(तत्त्वचिन्तामणि भाग-४)

(तत्त्वचिन्तामणि भाग-५)

(तत्त्वचिन्तामणि भाग-६)

(तत्त्वचिन्तामणि भाग-७)

भगवान् श्रीराम—बालरूपमें

लड्डू गोपाल

भगवान् श्रीविष्णु

भगवान् शिव

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

शास्त्रोंका अवलोकन और महापुरुषोंके वचनोंका श्रवण करके मैं इस निर्णयपर पहुँचा कि संसारमें श्रीमद्भगवद्गीताके समान कल्याणके लिये कोई भी उपयोगी ग्रन्थ नहीं है। गीतामें ज्ञानयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, आदि जितने भी साधन बतलाये गये हैं, उनमेंसे कोई भी साधन अपनी श्रद्धा, रुचि और योग्यताके अनुसार करनेसे मनुष्यका शीघ्र कल्याण हो सकता है।

अतएव उपर्युक्त साधनोंका तथा परमात्माका तत्त्व रहस्य जाननेके लिये महापुरुषोंका और उनके अभावमें उच्चकोटिके साधकोंका श्रद्धा, प्रेमपूर्वक सङ्ग करनेकी विशेष चेष्टा रखते हुवे गीताको अर्थ और भाव सहित मनन करने तथा उसके अनुसार अपना जीवन बनानेके लिये प्राण पर्यन्त प्रयत्न करना चाहिये।

निवेदक—

कार्तिक शुक्ला [illegible] २००६ | जयदयाल गोयन्दका।

मु० बांकुड़ा

ॐ

श्री परमात्मने नमः

मनुष्य का मन प्रायः हर समय सांसारिक पदार्थों का चिन्तन करके अपने समय को व्यर्थ नष्ट करता है किन्तु मनुष्य जन्म का समय बड़ा ही अमूल्य है इसलिये अपने समय का एक क्षण भी व्यर्थ नष्ट न करके श्रद्धा और प्रेम पूर्वक भगवान के नाम और रूप का निष्काम भाव से नित्य, निरन्तर स्मरण करना चाहिये। इस समय इससे बढ़कर आत्मा के कल्याण के लिये दूसरा और कोई भी साधन नहीं है।

एवं दुःखी, अनाथ, आतुर तथा अन्य सम्पूर्ण प्राणियों को साक्षात् परमात्मा का स्वरूप समझकर उनकी मन, तन धन जन द्वारा मन इन्द्रियों के संयम पूर्वक निष्काम भाव से तत्परता और उत्साह के साथ सेवा करने से भी मनुष्य का शीघ्र कल्याण हो सकता है

अतएव मनुष्य को हर समय भगवान के नाम और रूप को याद रखते हुवे ही निष्काम भाव से शास्त्र-विहित कर्म तत्परता के साथ करने की चेष्टा करनी चाहिये।

निवेदक

कार्तिक शुक्ला १२ /२००६ – | जयदयाल गोयन्दका
मु० बांकुड़ा

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

तत्त्वचिन्तामणि

ज्ञानीकी अनिर्वचनीय स्थिति

जिस प्रकार असत्य, हिंसा और मैथुनादि कर्म बुद्धिमें बुरे निश्चित हो जानेपर भी उन्हें मन नहीं छोड़ता, इसी प्रकार बुद्धि विचारद्वारा संसारको कल्पित निश्चय कर लेती है परंतु मन इस बातको नहीं मानता। साधककी एक ऐसी अवस्था होती है और इस अवस्थाको इस प्रकारसे व्यक्त किया जाता है कि 'मेरी बुद्धिके विचारमें संसार कल्पित है' इसके पश्चात् जब आगे चलकर मन भी इस बातको मान लेता है तब संसारमें कल्पित भाव हो जाता है। परंतु यह भी केवल कल्पना ही होती है। इसके बाद जब अभ्यास करते-करते ऐसी स्थिति प्रत्यक्षवत् हो जाती है तब साधकको किसी समय तो संसारका चित्र 'आकाशमें तिरवरों' की तरह भास होता है और किसी समय वह भी नहीं होता। जैसे आकाशमें तिरवरे देखनेवालेको यह ज्ञान बना रहता है कि 'वास्तवमें आकाशमें कोई विकार नहीं है, बिना हुए ही भास होता है' इसी प्रकार उस साधकका भी भास होने और न होनेमें समान ही भाव रहता है, उसे संसारकी सत्ताका किसी कालमें किसी और प्रकारसे भी सत्य भास नहीं होता। इस अवस्थाका नाम 'अकल्पित स्थिति' है। साधककी ऐसी अवस्था ज्ञानकी तीसरी भूमिकामें हुआ करती है परंतु इस अवस्थामें भी इस स्थितिका ज्ञाता एक धर्मी रह जाता है। इस तीसरी भूमिकामें साधनकी गाढ़ताके कारण साधकके व्यावहारिक कार्योंमें भूलें होनी सम्भव हैं। परन्तु भगवत्प्राप्तिरूप चौथी भूमिकामें प्रायः भूलें नहीं होतीं, उस अवस्थामें तो उसके द्वारा न्याययुक्त समस्त कार्य सुचारुरूपसे स्वाभाविक ही बिना संकल्पके हुआ करते हैं। जैसे श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥
(४।१९)

'जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और संकल्पसे रहित हैं, ज्ञानरूप अग्निद्वारा भस्म हुए कर्मोंवाले उस पुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं।' पंचम भूमिकामें व्यावहारिक कार्योंमें भूलें हो सकती हैं परंतु तीसरी भूमिकावालेकी अवस्था साधनरूपा है और पाँचवीं भूमिकावालेकी स्थिति स्वाभाविक है। तीसरी भूमिकाके बाद 'साक्षात्कार' होता है, इसीको मुक्ति कहते हैं। कई जैन आदि मतावलम्बी लोग तो मृत्युके बाद मुक्ति मानते हैं, परंतु हमारे वेदान्तके सिद्धान्तमें जीवन्मुक्ति भी मानी गयी है, मृत्युके पहले भी ज्ञान हो सकता है। इस अवस्थामें उसका शरीर तथा शरीरके द्वारा होनेवाले कर्म केवल लोगोंको देखनेमात्रके लिये रह जाते हैं। उसमें कोई 'धर्मी' नहीं रहता। यदि कोई कहे कि जब उसमें चेतन ही नहीं रहा तो फिर क्रिया क्योंकर होती है? इसके उत्तरमें कहा जाता है कि समष्टि-चेतन तो कहीं नहीं गया, व्यष्टि-भावसे हटकर उसकी स्थिति शुद्ध चेतनमें हो गयी। समष्टि-चेतनकी सत्ता-स्फूर्तिसे क्रिया हुआ करती है, इसमें कोई बाधा नहीं पड़ती। इसपर यदि कोई फिर यह कहे कि चेतन तो जड पदार्थ और मुर्देमें भी है, उनमें क्रिया क्यों नहीं होती? इसका उत्तर यह है कि उनमें क्रिया न होनेका कारण अन्तःकरणका अभाव है, यदि योगीजन एक चित्तकी अनेक कल्पना करके मुर्दे या जड पदार्थमें चित्तका प्रवेश करवा दें तो उसमें भी क्रियाओंका होना सम्भव है।

कोई पूछे कि ज्ञानी कौन है? तो इसके उत्तरमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यदि शरीरको ज्ञानी कहा जाय तो जड शरीरका ज्ञानी होना सम्भव नहीं, यदि जीवको ज्ञानी कहें तो ज्ञानोत्तरकालमें उस चेतनकी 'जीव' संज्ञा नहीं रहती और यदि शुद्ध चेतनको ज्ञानी कहें तो शुद्ध चेतन तो कभी अज्ञानी हुआ ही नहीं। इसलिये यह नहीं बतलाया जा सकता कि ज्ञानी कौन है?

ज्ञानीकी कल्पना अज्ञानीके अन्तःकरणमें है, शुद्ध चेतनकी दृष्टिमें तो कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं। ज्ञानीको जब दृष्टि ही नहीं रही तो फिर सृष्टि कहाँ रहती? अज्ञानीजन इस प्रकार कल्पना किया करते हैं कि इस शरीरमें जो जीव था सो समष्टि-चेतनमें मिल गया, समष्टि-चेतनके जिस अंशमें अन्तःकरणका अध्यारोप है उस अन्तःकरणसहित उस चेतनके अंशका नाम ज्ञानी है। वास्तविक दृष्टिमें ज्ञानी किसकी संज्ञा है यह कोई भी वाणीद्वारा नहीं बतला सकता; क्योंकि ज्ञानीकी दृष्टिमें तो ज्ञानीपन भी नहीं है। ज्ञानी और अज्ञानीकी संज्ञा केवल लोकशिक्षाके लिये है और अज्ञानियोंके अंदर ही इसकी कल्पना है। जिस प्रकार गुणातीतके 'लक्षण' बतलाये जाते

हैं। भला जो तीनों गुणोंसे अतीत है उसमें 'लक्षण' कैसे? लक्षण तो अन्तःकरणमें बनते हैं और अन्तःकरणसे होनेवाली क्रिया त्रिगुणात्मिका है। बात यह है कि गुणातीतको समझनेके लिये अन्तःकरणकी क्रियाओंके लक्षणोंका वर्णन किया जाता है। जैसे श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥

(१४।२२)

इसीके आगे २३, २४ और २५वें श्लोकोंमें भी गुणातीतके लक्षण बतलाये गये हैं। उपर्युक्त २२वें श्लोकके 'प्रकाश' शब्दसे अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें उजियाला, प्रवृत्तिसे चेष्टा और मोहसे निद्रा, आलस्य (प्रमाद या अज्ञान नहीं) अथवा संसारके ज्ञानमें सुषुप्तिवत् अवस्था समझनी चाहिये। अन्तःकरणमें कोई 'धर्मी' न रहनेके कारण 'द्वेष' और आकांक्षा तो किसको हो? राग-द्वेष और हर्ष-शोकादि न होनेके कारण यह सिद्ध होता है कि उसमें कोई 'धर्मी' नहीं है। यदि जड अन्तःकरणके साथ समष्टि-चेतनकी लिप्तता होती तो जड अन्तःकरणमें राग-द्वेषादि विकारोंका होना सम्भव होता। परंतु समष्टि-चेतनका सम्बन्ध अन्तःकरणसे नहीं रहता, केवल उसकी सत्ता-स्फूर्तिसे चेष्टा होती है। ये सब लक्षण भी वहींतक हैं जहाँतक संसारका चित्र है और ये साधकके लिये आदर्श उपायस्वरूप हैं, इसीलिये शास्त्रोंमें इनका उल्लेख है।

गुणातीतकी वास्तविक अवस्थाको कोई दूसरा न तो जान सकता है और न बतला ही सकता है, वह स्वसंवेद्य स्थिति है। परन्तु यदि कोई इस प्रकार परीक्षा करे कि मुझमें ज्ञानीके लक्षण हैं या नहीं? तो जानना चाहिये कि इसे ज्ञान नहीं है, लक्षणोंकी खोजसे यह बात सिद्ध हो गयी कि उसकी स्थिति शरीरमें है, उस ज्ञानीकी सत्ता ब्रह्मसे भिन्न है, नहीं तो खोजनेवाला कौन और स्थिति किसकी? और यदि खोजना ही चाहे तो केवल शरीरमें ही क्यों खोजे, पाषाण या वृक्षोंमें उसे क्यों न खोजे? केवल शरीरमें ढूँढ़नेसे उसका शरीरमें अहंभाव सिद्ध होता है। इससे तो वह अपने-आप ही क्षुद्र बना हुआ है। हाँ, यदि साधक शरीरसे अलग होकर (द्रष्टा बनकर) पत्थर और वृक्षादिके साथ अपने शरीरकी सादृश्यता करता हुआ विचार करे तो इससे उसे लाभ होना सम्भव है। जैसे श्रीगीताजीमें कहा है—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

(१४।१९)

'जिस कालमें द्रष्टा तीनों गुणोंके सिवा अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता है अर्थात् गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं ऐसा देखता है और तीनों गुणोंसे अति परे सच्चिदानन्दघन मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस कालमें वह पुरुष मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है।'

परन्तु जो कहता है कि 'मुझे ज्ञान नहीं हुआ' वह भी ज्ञानी नहीं है; क्योंकि वह स्पष्ट कहता है। जो कहता है कि 'मुझे ज्ञान हो गया' उसे भी ज्ञानी नहीं मानना चाहिये; क्योंकि यों कहनेसे ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीन पदार्थ सिद्ध होते हैं और जो यह कहता है कि 'ज्ञान हुआ कि नहीं मुझे मालूम नहीं' सो भी ज्ञानी नहीं है; क्योंकि ज्ञानोत्तरकालमें इस प्रकारका सन्देह रह नहीं सकता। तो ज्ञानी क्या कहे? इसका उत्तर नहीं मिलता। इसीलिये यह स्थिति 'अनिर्वचनीय' कही गयी है।

ज्ञानकी दुर्लभता

किसी श्रद्धालु पुरुषके सामने भी वास्तविक दृष्टिसे महापुरुषोंके द्वारा यह कहना नहीं बन पड़ता कि 'हमको ज्ञान प्राप्त है'; क्योंकि इन शब्दोंसे ज्ञानमें दोष आता है। वास्तवमें पूर्ण श्रद्धालुके लिये तो महापुरुषसे ऐसा प्रश्न ही नहीं बनता कि 'आप ज्ञानी हैं या नहीं?' जहाँ ऐसा प्रश्न किया जाता है वहाँ श्रद्धामें त्रुटि ही समझनी चाहिये और महापुरुषसे इस प्रकारका प्रश्न करनेमें प्रश्नकर्ताकी कुछ हानि ही होती है। यदि महापुरुष यों कह दे कि मैं ज्ञानी नहीं हूँ तो भी श्रद्धा घट जाती है और यदि वह यह कह दे कि मैं ज्ञानी हूँ तो भी उसके मुँहसे ऐसे शब्द सुनकर श्रद्धा कम हो जाती है। वास्तवमें तो मैं अज्ञानी हूँ या ज्ञानी—इन दोनोंमेंसे कोई-सी बात कहना भी महापुरुषके लिये नहीं बन पड़ता, यदि वह अपनेको अज्ञानी कहे तो मिथ्यापनका दोष आता है और ज्ञानी कहे तो नानात्वका। इसलिये वह यह भी नहीं कहता कि मैं ब्रह्मको जानता हूँ और यह भी नहीं कहता कि मैं नहीं जानता। वह ब्रह्मको जानता है ऐसा भी उससे कहना नहीं बनता। परन्तु वह नहीं जानता हो ऐसी बात भी नहीं है। श्रुति कहती है—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥
यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥

(केन० २।२-३)

इसीलिये इसका नाम अनिर्वचनीय स्थिति है; इसीलिये

वेदमें दोनों प्रकारके शब्द आते हैं और इसीलिये महापुरुष यह नहीं कहते कि मुझे प्राप्ति हो गयी। इस सम्बन्धमें वे स्वयं अपनी ओरसे कुछ भी न कहकर वेद-शास्त्रोंकी तरफ संकेत कर देते हैं। परंतु ऐसा भी नहीं कहते कि मुझे प्राप्ति नहीं हुई। ऐसा कहना तो उत्तम आचरण करनेवाले आचार्य या नेता पुरुषोंके लिये भी योग्य नहीं; क्योंकि इससे उनके अनुयायियोंका ब्रह्मकी प्राप्तिको अत्यन्त कठिन मानकर निराश होना सम्भव है। जैसे यदि आज कोई परम सम्माननीय पुरुष कह दे कि मुझे प्राप्ति नहीं हुई है, मैं तो स्वयं प्राप्तिके लिये उत्सुक हूँ तो ऐसा कहनेसे उनके अनुयायीगण या तो यह समझ बैठते हैं कि जब इनको ही प्राप्ति न हुई तो हमको क्योंकर होगी या यों समझ लेते हैं कि इतने अंशमें सम्माननीय पुरुषके शब्द या तो अयथार्थ हैं या असली स्थितिको छिपानेवाले हैं और इस प्रकारके दोषारोपसे उन लोगोंकी श्रद्धामें कुछ कमी होना सम्भव है। अतएव इस विषयमें मौन ही रहना चाहिये। इन सब बातोंपर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि महापुरुषके लिये ज्ञानी वा अज्ञानी किसी भी शब्दका प्रयोग उसके अपने मुखसे नहीं बनता। इतना होनेपर भी महापुरुष यदि अज्ञानी साधकको समझानेके लिये उसे ज्ञानोपदेश करते समय उसीकी भावनाके अनुसार अपनेमें ज्ञानीकी कल्पना कर अपनेको ज्ञानी शब्दसे सम्बोधित कर दे तो भी कोई हानि नहीं, वास्तवमें उसका यों कहना भी उस साधककी दृष्टिमें ही है और ऐसा कहना भी उसी साधकके सामने सम्भव है जो पूर्ण श्रद्धालु और परम विश्वासी हो, जो महापुरुषके शब्दोंको सुनते ही स्वयं वैसा बनता जाय और जिस स्थितिका वर्णन महापुरुष करते हों उसी स्थितिमें स्थित हो जाय। इसपर ऐसा कहा जा सकता है कि श्रद्धा और विश्वास तो पूर्ण है परन्तु वैसी स्थिति नहीं होती, इसके लिये वह बेचारा श्रद्धालु साधक क्या करे? यह ठीक है, परन्तु साधकके लिये इतना तो परमावश्यक है कि वह श्रवणके अनुसार ही एक ब्रह्ममें विश्वासी होकर उसीकी प्राप्तिके लिये पूरी तरहसे तत्पर हो जाय, जबतक उसे प्राप्ति न हो तबतक वह उसके लिये परम व्याकुल रहे। जैसे किसी मनुष्यको एक जानकारके द्वारा उसके घरमें गड़ा हुआ धन मालूम हो जानेपर वह उसे खोदकर निकालनेके लिये व्याकुल होता है, यदि उस समय उसके पास बाहरके आदमी बैठे हुए हों तो वह सच्चे मनसे यही चाहता है कि कब यह लोग हटें, कब मैं अकेला रहूँ और कब उस गड़े हुए धनको निकालकर हस्तगत कर सकूँ। इसी प्रकार जो साधक यह समझता है कि मेरे साधनमें बाधा देनेवाले आसक्ति और अज्ञान आदि दोष कब दूर हों और कब मैं अपने परमधन परमात्माको प्राप्त करूँ। जितनी ही देर होती है उतनी ही उसकी व्याकुलता और उत्कण्ठा उत्तरोत्तर प्रबल होती चली जाती है और वह उस विलम्बको सहन नहीं कर सकता। यदि इस प्रकारके साधकके सामने महापुरुष स्पष्ट शब्दोंमें भी अपनेको ज्ञानी स्वीकार कर ले तो भी कोई हानि नहीं, परंतु इससे नीची श्रेणीके साधक और अपूर्ण प्रेमियोंके सामने यों कहनेसे उस महापुरुषकी तो कोई हानि नहीं होती परन्तु अनधिकारी होनेके कारण उस सुननेवालेके पारमार्थिक विषयमें हानि होना सम्भव है। यदि यह बात सभीको स्पष्ट कहनेकी होती तो शास्त्रोंमें इसे परम गोपनीय न कहा जाता और केवल अधिकारीको ही कहनी चाहिये ऐसी विधि न होती।

कोई यह कहे कि महापुरुषकी परीक्षा कैसे की जाय और यदि बिना परीक्षाके ही किसी अयोग्य व्यक्तिको गुरु वा उपदेशक मान लिया जाय तो शास्त्रोंमें उससे उलटी हानि होना कहा गया है। यह प्रश्न और शास्त्रोंका कथन तो उचित ही है परन्तु जिसका संग करनेसे परमात्मामें, उस महापुरुषमें और शास्त्रोंमें श्रद्धा उत्पन्न हो जाय, उसे गुरु या उपदेशक माननेमें कोई हानि नहीं। यदि कोई पूर्ण न भी हो तो जहाँतक उसकी गति है वहाँतक तो वह पहुँचा ही सकता है, (इस दृष्टिसे महापुरुषकी संगति करनेवाले साधकोंका संग भी उत्तम और लाभदायक है) आगे परमात्मा स्वयं उसे निभा लेते हैं। साधकको आवश्यकता है परमात्माके परायण होनेकी। श्रीपरमात्माकी शरण लेनेमात्रसे ही सब कुछ हो सकता है। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

अर्थात् जो अनन्यभावसे मुझमें स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं उन नित्य एकीभावसे मुझमें स्थित पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ। संसारमें भी यही बात देखनेमें आती है कि यदि कोई किसीके परायण हो जाता है तो उसकी सारी सँभाल वही रखता है, जैसे बच्चा जबतक अपनी माताके परायण रहता है तबतक उसकी रक्षाका और सब प्रकारकी सँभालका भार माता स्वयं ही अपने ऊपर लिये रहती है। जबतक बालक बड़ा होकर स्वतन्त्र नहीं होता तबतक माता-पिताके प्रति उसकी परायणता रहती है और जबतक परायणता रहती है तबतक माता-पितापर ही उसका सारा भार है। इसी प्रकार केवल एक परमात्माकी शरण लेनेसे ही सारे काम सिद्ध हो सकते हैं। परंतु शरण लेनेका काम साधकका है। शरण होनेके बाद तो प्रभु स्वयं

उसका सारा भार सँभाल लेते हैं। अतएव कल्याणके प्रत्येक साधकको परमात्माकी शरण लेनी चाहिये।

भ्रम अनादि और सान्त है

आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप होनेके कारण ज्ञानकी प्राप्ति करनी नहीं पड़ती और न उसकी प्राप्तिमें कोई परिश्रम या यत्नकी ही आवश्यकता है। किसी अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करनेमें परिश्रम और यत्न करना पड़ता है परंतु यहाँ तो केवल नित्यप्राप्त ब्रह्ममें जो अप्राप्तिका भ्रम हो रहा है उस भ्रमको मिटा देना ही कर्तव्य है। वास्तवमें यह भ्रम ब्रह्मको नहीं है। यह भ्रम उसीमें है जो इस संसारके विकारको नित्य मानता है। वास्तवमें तो ब्रह्ममें भूल न होनेके कारण उसे मिटानेके लिये परिश्रम करना भी एक भ्रम ही है, परंतु जबतक भूल है तबतक भूलको मिटानेका साधन करना चाहिये, अवश्य ही उन लोगोंको, जो इस भूलमें हैं। जो इस भूलको मानता है उसके लिये तो यह अनादिकालसे है। ऐसा कहा जाता है कि अनादिकालसे होनेवाली वस्तुका अन्त नहीं होता। पर यह ठीक नहीं; क्योंकि भूल तो मिटनेवाली ही होती है, यदि भूल है तो उसका अन्त भी आवश्यक है। यदि ऐसा माना जाय कि यह सान्त नहीं है तो फिर किसीको भी 'प्राप्ति' नहीं हो सकती। इसलिये यह अनादि और सान्त अवश्य है। यदि यह माना जाय कि यह भूल अनादिकालसे नहीं है, पीछेसे हुई है तो इसमें तीन दोष आते हैं—प्रथम तो 'प्राप्त' पुरुषोंका पुनः भूलमें पड़ना सम्भव है, दूसरे सृष्टिकर्ता ईश्वरपर दोष आता है और तीसरे नये जीवोंका बनना सम्भव होता है। इस हेतुसे यह अनादि और सान्त ही सिद्ध होती है। वास्तवमें कालकी कल्पना भी मायामें ही है; क्योंकि ब्रह्म तो शुद्ध और कालातीत है।

वेद, शास्त्र और तत्त्ववेत्ता महापुरुषोंका भी यह कथन है कि एक शुद्ध बोध ज्ञानस्वरूप परमात्मा ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है परंतु किसी भी व्यक्तिके द्वारा 'संसार असत् है' यों कहा जाना उचित नहीं; क्योंकि वास्तवमें यों कहना बनता नहीं। संसारको असत् माननेसे संसारके रचयिता सृष्टिकर्ता ईश्वर, विधि-निषेधात्मक शास्त्र, लोक-परलोक और पाप-पुण्य आदि सभी व्यर्थ ठहरते हैं और इनको व्यर्थ कहना या मानना अनधिकारकी बात है। जिस वास्तविकतामें शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त अन्यका आत्यन्तिक अभाव है उसमें तो कुछ कहना बनता नहीं, कहना भी वहीं बनता है कि जहाँ अज्ञान है और जहाँ कहना बनता है वहाँ सृष्टिके रचयिता, संसार और शास्त्र आदि सब सत्य हैं और इन सबको सत्य मानकर ही शास्त्रानुकूल आचरण करना चाहिये। सात्त्विक आचरण और भगवान्‌की विशुद्ध भक्तिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर जिस समय भ्रम मिट जाता है उसी समय साधक कृतकृत्य हो जाता है। यही परमात्माकी प्राप्ति है।

निराकार-साकार-तत्त्व

एक शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त और जो कुछ भी भासता है सो वास्तवमें नहीं है, केवल स्वप्नवत् प्रतीति होती है। वेद, वेदान्त और उपनिषद्‌का यही सर्वोच्च सिद्धान्त है, यही स्वामी श्रीशंकराचार्यजीका मत है और यही वास्तवमें न्यायसिद्ध सिद्धान्त है परंतु यह बात इतनी ऊँची और गोपनीय है कि सहजहीमें सहसा इसका प्रकाश करना अनुचित है। इस सिद्धान्तको कहने और सुननेवाले बहुत ही थोड़े हुआ करते हैं, इसको कहनेका वही अधिकारी है जो स्वयं इस स्थितिमें हो और सुननेका भी वही अधिकारी है जो सुननेके साथ ही इस स्थितिमें स्थित हो जाय। जो इस प्रकारके नहीं हैं उनको न कहनेका अधिकार है और न सुननेका। जिनको राग-द्वेष होता है, जो सांसारिक हानि-लाभमें दुःखित और हर्षित होते हैं, जो दुःख और सुखका भिन्न-भिन्न रूपसे अनुभव करते हैं तथा जो विषयलोलुप और इन्द्रियाराम हैं उनको तो इस सिद्धान्तके उपदेशसे उलटी हानि भी हो सकती है। वे लोग मान बैठते हैं कि जब संसार स्वप्नवत् है तो असत्य, व्यभिचार, हिंसा और छल-कपट आदि पाप भी स्वप्नवत् ही हैं। चाहे सो करो, कोई हानि तो होगी नहीं। यों मानकर वे लोग परिश्रमसाध्य सत्कर्मोंको त्यागकर भिन्न-भिन्न रूपसे पापाचरण करने लग जाते हैं; क्योंकि सत्कर्मोंके करनेकी अपेक्षा उन्हें छोड़ देना और पाप-कर्मोंमें लग जाना सहज है। इसीलिये अनधिकारियोंको इस सिद्धान्तका उपदेश न करनेके लिये शास्त्रोंकी आज्ञा है; क्योंकि अनधिकारी लोग इस सिद्धान्तको यथार्थरूपसे न समझकर सत्कर्मोंको त्याग देते हैं, ज्ञानकी प्राप्ति उन्हें होती नहीं अतएव उभयभ्रष्ट हो जाते हैं। यह दोहा प्रसिद्ध ही है—

ब्रह्मज्ञान उपज्यो नहीं, कर्म दिये छिटकाय।
'तुलसी' ऐसी आत्मा, सहज नरकमें जाय॥

इसलिये श्रीभगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥

(३।२६)

'ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भेद अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न न करे, किन्तु स्वयं परमात्माके स्वरूपमें स्थित हुआ सब कर्मोंको अच्छी तरह करता हुआ उनसे भी वैसे ही कर्म करावे।'

ज्ञानी और अज्ञानीके कर्मोंमें यही अन्तर है कि ज्ञानीके कर्म अनासक्त भावसे स्वाभाविक होते हैं और अज्ञानीके कर्म आसक्तिसहित होते हैं। श्रीगीतामें कहा है—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥

(३।२५)

'हे अर्जुन! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जैसे कर्म करते हैं वैसे ही अनासक्त हुआ ज्ञानी भी लोकशिक्षाको चाहता हुआ कर्म करे।'

कहनेका तात्पर्य यह है कि शुद्ध ब्रह्मकी चर्चा केवल अधिकारियोंमें ही होनी चाहिये।

लोग कह सकते हैं कि जब एक शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं तो इससे सृष्टि और सृष्टिकर्ता ईश्वरका भी न होना ही सिद्ध होता है और यदि यही बात है तो फिर इनके प्रतिपादन करनेवाले प्रमाणभूत शास्त्र और प्रत्यक्ष दीखनेवाली सृष्टिकी क्या दशा होगी? इसका उत्तर यही है कि जैसे आकाश निराकार है, आकाशमें कहीं कोई आकार नहीं परन्तु कभी-कभी आकाशमें बादलके टुकड़े दीख पड़ते हैं, वे बादलके टुकड़े आकाशमें ही उत्पन्न होते हैं, उसीमें दीख पड़ते हैं और अन्तमें उसी आकाशमें शान्त हो जाते हैं। आकाशकी वास्तविक स्थितिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता परन्तु आकाशका जितना स्थान बादलोंसे आवृत होता है उतने अंशमें उसका एक विशेष रूप दीखता है और उसमें वृष्टि आदिकी क्रिया भी होती है।

इसी प्रकार एक ही अनन्त शुद्ध ब्रह्ममें जितना अंश मायासे आच्छादित दीखता है उतने अंशका नाम सगुण ईश्वर है, वास्तवमें यह सगुण ईश्वर शुद्ध ब्रह्मसे कभी कोई दूसरी भिन्न वस्तु नहीं किन्तु मायाके कारण भिन्न दीखनेसे सगुण ईश्वरको लोग भिन्न मानते हैं। यही भिन्नरूपसे दीख पड़नेवाला सगुण चैतन्य, सृष्टिकर्ता ईश्वर है; इसीको आदिपुरुष, पुरुषोत्तम और मायाविशिष्ट ईश्वर कहते हैं। आकाशके अंशमें मेघोंकी भाँति इस सगुण चैतन्यमें जो यह सृष्टि दीखती है वह मायाका कार्य है। माया सृष्टिकर्ता ईश्वरकी शक्तिका नाम है। जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति होती है उसी प्रकार सृष्टिकर्ता ईश्वर और उसकी शक्ति माया है। इसे ही प्रकृति कहते हैं और इसीका नाम अज्ञान है।

यह माया क्या है और कैसे उत्पन्न होती है? यह एक भिन्न विषय है अतएव इस विषयपर यहाँ कुछ न लिखकर मूल-विषयपर ही लिखा जाता है। इस वर्णनसे यह समझना चाहिये कि निराकार आकाशकी भाँति उस सर्वव्यापी अनन्त चेतनका नाम तो शुद्ध ब्रह्म है, वास्तवमें आकाशका दृष्टान्त भी एकदेशीय ही है; क्योंकि आकाशकी तो सीमा भी है और उसका कोई आकार न होनेपर भी उसमें शब्दरूपी एक गुण भी है परन्तु शुद्ध ब्रह्म तो असीम, अनन्त, निर्गुण, केवल और एक ही है, इसीलिये वह अनिर्वचनीय है और इसीलिये उसका उपदेश केवल उसी अधिकारीके प्रति किया जा सकता है, जो उसे धारण करनेमें समर्थ है। यह तो शुद्ध ब्रह्मकी बात हुई।

इसी शुद्ध ब्रह्मका जितना अंश (आकाशके मेघोंसे आवृत अंशकी भाँति) अलग दीखता है वही मायाविशिष्ट सृष्टिकर्ता सगुण ईश्वर है और उसी परमात्माके एक अंशमें सारे ब्रह्माण्डकी स्थिति है। अस्तु!

अब इसके बाद साकार ईश्वर यानी अवतारका विषय आता है, जब वह सगुण ईश्वर आवश्यकता समझते हैं तभी वह अपनी मायाको अधीन करके जिस रूपमें कार्य करना होता है उसी रूपमें प्रकट हो जाते हैं। कभी मनुष्यरूपमें, कभी वाराह और नृसिंहरूपमें, कभी मत्स्य और कच्छपरूपमें, कभी हंस और अश्वरूपमें। इसी प्रकार आवश्यकतानुसार अनेक रूपोंमें ईश्वर साक्षात् अवतीर्ण हो लोगोंको दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं परन्तु उनका यों संसारमें प्रकट होना प्राकृत जीवोंके सदृश नहीं होता, ईश्वरके अवतीर्ण होनेका समय और हेतु भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(४।७-८)

'हे अर्जुन! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने रूपको प्रकट करता हूँ। मैं साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये और दूषित कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये तथा धर्मकी स्थापनाके लिये युग-युगमें प्रकट होता हूँ।'

इस समय पृथ्वीपर ऐसा कोई अवतार नहीं दीखता जो यों कह दे कि मैंने साधुओंका उद्धार करनेके लिये अवतार लिया है, संसारमें साधु अनेक मिल सकते हैं किन्तु उन साधुओंके उद्धारके लिये अवतीर्ण होकर आनेवाला कोई नहीं दीखता। भगवान् श्रीकृष्णकी भाँति यों कहनेवाला कि—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६६)

'सब धर्मोंके आश्रयको छोड़कर केवल एक मुझ वासुदेवकी ही अनन्य शरण हो जा, मैं तुझको सारे पापोंसे छुड़ा दूँगा, तू चिन्ता न कर।'

यों एकमात्र अपनी शरणसे ही पापोंसे मुक्त कर देनेका वचन देनेवाला इस समय संसारमें कोई अवतार नहीं!

कुछ दिनों पहले एक सज्जनने मुझसे पूछा था कि पृथ्वीपर पाप तो बहुत बढ़ गया है, क्या भगवान्के अवतार लेनेका समय अभी नहीं आया? यदि आया है तो भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते? मैंने उनसे कहा था कि मुझे मालूम नहीं। यह तो कोई बात ही नहीं कि मैं सभी बातोंका जानकार होऊँ, भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते, इस बातको भगवान् ही जानें। हाँ, यदि कोई मुझसे पूछे कि भगवान्के अवतार लेनेसे तुम प्रसन्न हो या नहीं, तो मैं यही कहूँगा कि मैं भगवान्के अवतार लेनेसे बहुत प्रसन्न हूँ; क्योंकि इस समय यदि भगवान्का अवतार हो जाय तो मुझे भी उनके दर्शन हो सकते हैं। यदि कोई सरलतासे यह पूछे कि तुम्हारे अनुमानसे भगवान्के अवतार लेनेका समय अभी आया है या नहीं? तो मैं अपने अनुमानसे यही कह सकता हूँ कि वह समय सम्भवतः अभी नहीं आया, यदि वह समय आया होता तो भगवान् अवतीर्ण हो जाते। कलियुगमें जैसा कुछ होना चाहिये अभीतक उससे कुछ अधिक नहीं हो रहा है। भगवान्के अन्य अवतारोंके समय जैसा अत्याचार बढ़ा था, धर्म और धर्मप्राण ऋषियोंकी जैसी दुर्दशा हुई थी वैसी अभी नहीं हुई है। भगवान् श्रीरामचन्द्रके समयमें तो राक्षसोंके द्वारा मारे हुए ऋषियोंकी हड्डियोंके ढेर लग गये थे।

प्रश्न—क्या ऋषियोंमें राक्षसोंके वध करनेका सामर्थ्य नहीं था और यदि था तो उन्होंने राक्षसोंका वध क्यों नहीं किया?

उत्तर—ऋषियोंमें राक्षसोंके वध करनेका सामर्थ्य था, परन्तु वे अपना तपोबल क्षीण करना नहीं चाहते थे। जिस समय श्रीविश्वामित्रजीने महाराज दशरथके पास आकर यज्ञकी रक्षाके लिये श्रीराम-लक्ष्मणको माँगा, उस समय भी उन्होंने यही कहा था कि 'यद्यपि मैं राक्षसोंका वध स्वयं कर सकता हूँ परन्तु इससे मेरा तप क्षय होगा जिसको कि मैं करना नहीं चाहता। श्रीराम-लक्ष्मणके द्वारा राक्षसोंका वध होनेपर मेरे यज्ञकी रक्षा भी होगी तथा मेरा तपोबल भी सुरक्षित रह जायगा। श्रीराम-लक्ष्मण राक्षसोंको सहजहीमें मार सकते हैं, इस बातको मैं जानता हूँ, तुम नहीं जानते।' महाराज दशरथने मोहसे श्रीराम-लक्ष्मणको साधारण बालक समझकर अपत्य-स्नेहके वशीभूत हो विश्वामित्रसे कहा कि 'नाथ! मैं स्वयं आपके साथ चलनेको तैयार हूँ, एक रावणको छोड़कर और सारे राक्षसोंको मार सकता हूँ। आप राम-लक्ष्मणको न लेकर मुझे ले चलिये।' इस प्रकार राजाको मोहमें पड़े हुए देखकर श्रीवसिष्ठजी महाराजने, जो भगवान् श्रीरामके प्रभावको तत्त्वसे जानते थे, दशरथजीको समझाकर कहा कि 'राजन्! तुम किसी प्रकारकी चिन्ता न करो, ये साधारण बालक नहीं हैं, इन्हें कोई भय नहीं है, तुम प्रसन्नताके साथ इन्हें विश्वामित्रजीके साथ भेज दो।' इस प्रसंगसे यह जाना जाता है कि ऋषिगण सामर्थ्यवान् तो थे, परन्तु अपने तपोबलसे काम लेना नहीं चाहते थे।

कलियुगमें अभीतक ऐसा समय उपस्थित हुआ नहीं जान पड़ता कि जिससे भगवान्को अवतार लेना पड़े और भगवान् यों सहसा अवतार लिया भी नहीं करते। पहले तो वे कारक पुरुषोंको अपना अधिकार सौंपकर भेजते हैं, जैसे मालिक अपनी दूकान सँभालनेके लिये विश्वासी मुनीमको भेजता है। पर जब वह देखता है कि मुनीमसे कार्य सिद्ध नहीं होगा, मेरे स्वयं गये बिना काम नहीं चलेगा, तब वह स्वयं जाता है; इसी प्रकार जब कारक पुरुषोंके भेज देनेपर भी भगवान्को अपने अवतार लेनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है तब वे स्वयं प्रकट होते हैं। कारक पुरुष उन्हें कहते हैं कि जो भगवत्कृपासे अपने पुरुषार्थद्वारा इस श्लोकके अनुसार—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥

(गीता ८।२४)

भिन्न-भिन्न देवताओंद्वारा क्रमसे अग्रसर होते हुए अन्तमें भगवान्के सत्यलोकको पहुँचते हैं। इस लोकमें जानेवाले महात्माओंका स्वागत करनेके लिये भगवान्के पार्षद (अमानव पुरुष) विमान लेकर सामने आते हैं और उन्हें बड़े आदर-सत्कारके साथ भगवान्के उस परमधाममें ले जाते हैं। वह धाम प्रलयकालमें नाश नहीं होता, वहाँ किसी प्रकारका दुःख और शोक नहीं है। एक बार जो उस धाममें पहुँच जाता है उसका फिरसे

कर्म-बन्धनयुक्त जन्म नहीं होता। इसी लोकको सम्भवतः श्रीविष्णुके उपासक वैकुण्ठ, श्रीकृष्णके उपासक गोलोक और श्रीरामके उपासक साकेतलोक कहते हैं। इस लोकमें पहुँचे हुए महात्मागण महाप्रलयपर्यन्त सुखपूर्वक वहाँ निवास कर अन्तमें शुद्ध ब्रह्ममें शान्त हो जाते हैं। ऐसे लोगोंमेंसे यदि कोई महापुरुष सृष्टिकर्ता भगवान्‌की प्रेरणासे अथवा अपनी इच्छासे केवल जगत्‌का हित करनेके लिये संसारमें आते हैं तो वे कारक पुरुष कहलाते हैं। ऐसे लोगोंके दर्शन, स्पर्श, भाषण और चिन्तनसे भी श्रद्धालु पुरुषोंका उद्धार हो सकता है। श्रीवसिष्ठजी और वेदव्यासजी महाराज आदि ऐसे ही महापुरुषोंमेंसे थे। इन लोगोंका जगत्‌में प्रकट होना केवल जगत्‌के उद्धारके लिये ही होता है, जिस प्रकार किसी कारागारमें पड़े हुए कैदियोंको मुक्त करनेके लिये किसी विशेष अवसरपर राजाके प्रतिनिधि अधिकार लेकर कारागारमें जाते हैं और वहाँ जाकर बन्धनमें पड़े हुए कैदियोंको बन्धनसे मुक्त कर, स्वतन्त्रतासे वापस लौट आते हैं। जेलमें कैदी भी जाते हैं और राजाके प्रतिनिधि भी। भेद इतना ही है कि कैदी तो अपने किये हुए दुष्कर्मोंका फल भोगनेके लिये परवश होकर जेलके बन्धनमें जाते हैं और राजाके प्रतिनिधि स्वतन्त्रतासे दयाके कारण बन्धनमें पड़े हुए कैदियोंको मुक्त करनेके लिये जेलमें जाते हैं। इसी प्रकार कारक पुरुष भी संसारमें केवल बन्धनमें पड़े हुए जीवोंको मुक्त करनेके लिये ही प्रकट होते हैं। अवतारमें और कारक पुरुषमें यही अन्तर है कि अवतार तो कभी जीवभावको प्राप्त हुए ही नहीं और कारक पुरुष किसी कालमें जीवभावको प्राप्त थे परंतु भगवत्-कृपासे अपने पुरुषार्थद्वारा क्रममुक्तिसे वे अन्तमें इस स्थितिको प्राप्त हो गये। इस समय अवतार और कारक पुरुष तो जगत्‌में देखनेमें नहीं आते, जीवन्मुक्त महात्मा अलबत्ता मिल सकते हैं।

मुक्ति दो प्रकारकी होती है—सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति। जो इसी देहमें अज्ञानसे सर्वथा छूटकर नित्य, सत्य, आनन्द-बोधस्वरूपमें स्थित हो जाते हैं, जिनके सारे कर्म ज्ञानाग्निके द्वारा भस्म हो जाते हैं और जिनकी दृष्टिमें एक अनन्त और असीम परमात्मसत्ताके सिवा जगत्‌की भिन्न सत्ताका सर्वथा अभाव हो जाता है, ऐसे महापुरुष तो जीवन्मुक्त कहलाते हैं, इसीका नाम सद्योमुक्ति है। और जो उपर्युक्त क्रमसे लोकान्तरोंमें होते हुए परमधामतक पहुँचते हैं वे क्रममुक्त कहलाते हैं। इस मुक्तिके चार भेद हैं, यथा—सामीप्य, सारूप्य, सालोक्य और सायुज्य। भगवान्‌के समीप निवास करनेका नाम सामीप्य है, भगवान्‌के समान स्वरूप प्राप्त होनेका नाम सारूप्य है, भगवान्‌के समान लोकमें निवास करनेका नाम सालोक्य है और भगवान्‌में मिल जानेका नाम सायुज्य है। जो दास-दासी वा माधुर्यभावसे भगवान्‌की भक्ति करते हैं उन्हें सामीप्य-मुक्ति, जो मित्रभावसे भजते हैं उन्हें सारूप्य-मुक्ति, जो वात्सल्यभावसे भजते हैं उन्हें सालोक्य-मुक्ति और जो वैरभावसे या ज्ञानमिश्रिता भक्तिसे भगवान्‌की उपासना करते हैं उन्हें सायुज्य-मुक्ति प्राप्त होती है।

ऐसे महापुरुष इस समय भी जगत्‌में हैं। जीवन्मुक्त वही होता है जो पहले जीवभावको प्राप्त था, पीछेसे पुरुषार्थके द्वारा मुक्त हो गया। जैसे श्रीशुकदेवजी और राजा जनकादि।

जीवोंमें पहली श्रेणीमें तो कुछ ऐसे महापुरुष हैं कि जो जीवभावसे मुक्त हो चुके हैं। दूसरे ऐसे लोग इस समय मिल सकते हैं कि जो दैवी सम्पत्तिका आश्रय लिये हुए मुक्तिके मार्गमें स्थित हैं और मुक्तिके बहुत समीप पहुँच चुके हैं, सम्भव है कि उनकी इसी जन्ममें मुक्ति हो जाय या किसीको एक जन्म और भी धारण करना पड़े। ऐसे पुरुष भी जीवन्मुक्तोंकी भाँति काम-क्रोध और शोक-हर्षके अधीन प्रायः नहीं होते।

प्रश्न—प्राचीन कालमें ऋषियोंके और महात्माओंके हर्ष-शोक हुए हैं, ऐसे लेख ग्रन्थोंमें मिलते हैं। इसका क्या कारण है?

उत्तर—जिनको राग-द्वेषके कारण हर्ष-शोकका विकार होता है वे तो जीवन्मुक्त नहीं समझे जा सकते, परन्तु यदि कर्तव्यवश लोकमर्यादाके लिये किसी-किसी अंशमें महात्माओंमें हर्ष-शोकका व्यवहार दीखता है तो कोई हानि नहीं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने तो सीताके हरण हो जानेपर और लक्ष्मणके शक्ति लगनेपर बड़ा विलाप किया था, वह भी ऐसे शब्दोंमें और ऐसे भावसे कि जिसे देख-सुनकर बड़े-बड़े लोगोंको मोह-सा होने लगा था, किंतु वह केवल भगवान्‌का व्यवहार था और उसमें तो एक विलक्षण बात और भी थी। भगवान् श्रीरामने श्रीसीताजी और लक्ष्मणके लिये व्याकुलतासे विलापकर जगत्‌को महान् प्रेमकी और अपने मृदु स्वभावकी बड़ी भारी शिक्षा दी थी। भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें अपना यह स्वभाव बतलाया है कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

'जो मेरेको जैसे भजते हैं मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।' इसीके अनुसार भगवान् श्रीरामने श्रीसीताजीके लिये विलाप करते हुए वृक्षों, शाखाओं और पत्तोंसे समाचार पूछ-पूछकर यह सिद्ध कर दिया कि जिस तरहसे इस समय रावणके हाथोंमें पड़ी हुई सीता रामके

प्रेममें निमग्न होकर 'राम-राम' पुकार रही है उसी प्रकार राम भी सीताके प्रेम-बन्धनमें बँधकर प्रेमसे विह्वल हो 'सीता-सीता' पुकार रहे हैं। यों ही लक्ष्मणके लिये विलाप कर भगवान् श्रीरामने यह सिद्ध कर दिया कि रामके लिये लक्ष्मण जिस प्रकार व्याकुल हो सकता है, उसी प्रकार राम भी आज लक्ष्मणके लिये व्याकुल हैं। इससे हमलोगोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि भगवान्‌को हम जिस प्रकार भजेंगे भगवान् भी हमें उसी प्रकार भजनेके लिये तैयार हैं। यह तो भगवान्‌की बात हुई पर ऋषि-महात्माओंमें भी लोक-व्यवहारमें हर्ष-शोकका-सा भाव हो सकता है।

जीवन्मुक्त और मुक्तिके समीप पहुँचे हुए लोगोंकी बात तो हुई। अब संसारमें ऐसे पुण्यात्मा सकाम योगी भी हैं कि जो—

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥

(गीता ८। २५)

इस श्लोकके अनुसार भिन्न-भिन्न देवताओंद्वारा अग्रसर होते हुए चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर स्वर्गमें अपने शुभ कर्मोंका फल भोगकर वापस लौट आते हैं।

पूर्वकालमें ऐसे योगी भी हुआ करते थे कि जिनको आठों प्रकारकी अथवा उनमेंसे कोई-कोई-सी सिद्धियाँ प्राप्त रहती थीं, वर्तमान कालमें यह विद्या लुप्तप्राय हो चुकी है। वास्तवमें केवल सिद्धियोंकी प्राप्तिसे परम कल्याण भी नहीं होता। सिद्धियोंसे सांसारिक सुख मिल सकते हैं परंतु मोक्ष नहीं मिलता, इसीलिये शास्त्रकारोंने इन सिद्धियोंको मोक्षका बाधक और जागतिक सुखोंका साधक माना है। सिद्धियोंको प्राप्त करनेवाले योगी प्रायः सिद्धियोंमें ही रह जाते हैं परन्तु ऊपर कहे हुए मुक्तिके मार्गमें स्थित योगी तो मोक्षरूप परम सिद्धिको प्राप्त कर लेते हैं इसीलिये उनका दर्जा इनसे ऊँचा है।

प्रश्न—आठ सिद्धियाँ कौन-सी हैं, कैसे प्राप्त होती हैं और उनसे क्या-क्या काम होते हैं?

उत्तर—सिद्धियोंके नाम अणिमा, गरिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व हैं। इनकी प्राप्ति अष्टांगयोगके साधनसे होती है और इन सिद्धियोंसे इस प्रकार कार्य हो सकते हैं—

अणिमा—अपने स्वरूपको अणुके समान बना लेना, जैसे श्रीहनुमान्‌जी महाराजने लंकामें प्रवेश करनेके समय बनाया था।

गरिमा—शरीरको भारी वजनदार बना लेना, जैसे कर्णके बाण चलानेपर अर्जुनको बचानेके लिये सारथिरूपसे रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णने बनाया था और अपने भारसे घोड़ोंसमेत रथको जमीनमें बैठा दिया था।

महिमा—शरीरको महान् विशाल बना लेना, जैसे भगवान् श्रीवामनजीने बनाया था।

लघिमा—शरीरको अत्यन्त हलका बना लेना।

प्राप्ति—इच्छानुसार पदार्थोंको प्राप्त कर लेना, जैसे भरद्वाज मुनिने भरतजीके आतिथ्यके समय किया था।

प्राकाम्य—कामनाके अनुसार कार्य हो जाना।

ईशित्व—ईश्वरके समान सृष्टि-रचना करनेका सामर्थ्य हो जाना।

वशित्व—अपने प्रभावसे चाहे जिसको अपने वशमें कर लेना।

ये आठ सिद्धियाँ हैं, आजकल इन सिद्धियोंको प्राप्त किये हुए पुरुष देखनेमें नहीं आते। सत्य-भाषणसे वाणीका सत्य हो जाना आदि उपसिद्धियोंको प्राप्त हुए पुरुष तो कहीं-कहीं मिल सकते हैं।

प्रश्न—क्या सत्य बोलनेवालेकी वाणीसे निकले हुए सभी शब्द सत्य हो जाते हैं?

उत्तर—अवश्य हो जाते हैं, उपनिषद् और पुराणादिमें इसके अनेक प्रमाण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि प्राचीन कालमें ऐसा हुआ करता था। छोटे-से ऋषिकुमारने राजा परीक्षित्‌को शाप दे दिया था, तो उसीके अनुसार ठीक समयपर साँपने आकर परीक्षित्‌को डस लिया। जब राजा नहुषने इन्द्रपदपर आरूढ़ होकर ऋषियोंको अपनी पालकीमें जोता और कामान्ध होकर इन्द्राणीके पास जाने लगा तथा 'शीघ्रं सर्प' कहकर ऋषिको ठुकराया था, तब ऋषिने कहा था कि तुम सर्प हो जाओ, तदनुसार वह तुरंत साँप हो गया। प्रार्थना करनेपर फिर उसीको यह वरदान दिया कि द्वापरयुगमें भीमको पकड़नेपर महाराज युधिष्ठिरसे तुम्हारी भेंट होगी तब तुम्हारा उद्धार होगा, यह वचन भी सत्य हुआ। अतएव यह सिद्ध होता है कि सत्यवादीके मुखसे निकला हुआ प्रत्येक शब्द सत्य होता है। हाँ, यदि कोई सत्यवादी कभी जान-बूझकर असत्य बोले तो उतने शब्द सत्य नहीं होते, जैसे महाराज युधिष्ठिरने जान-बूझकर अश्वत्थामाके मरनेकी सन्दिग्ध बात कही थी तब अश्वत्थामा नहीं मरा परन्तु यदि कोई केवल सत्य ही बोले तो उसकी वाणीके सत्य होनेमें कोई सन्देह नहीं।

आजकल कुछ ऐसे पुरुष भी मिल सकते हैं कि जिन लोगोंने मन और इन्द्रियोंको प्रायः वशमें कर लिया है, जिनको महीनोंतक स्त्रीके साथ एक शय्यापर सोते

रहनेपर भी कामोद्रेक नहीं होता, भोजनकी चाहे जैसी सामग्री सामने होनेपर भी मन नहीं चलता, क्रोध और शोकके बड़े भारी कारण उपस्थित होनेपर भी क्रोध और शोक नहीं होता। परंतु ऐसा कोई महापुरुष मेरे देखनेमें नहीं आया कि जिसके दर्शन, स्पर्श, भाषण या चिन्तनसे ही उद्धार हो जाय, जैसे श्रीनारदजी महाराजके दर्शन और उपदेशसे लाखों ही प्राणियोंका उद्धार हो गया, श्रीशुकदेवजीके उपदेशसे लाखोंका कल्याण हुआ, जीवन्मुक्त आचार्योंके चिन्तनसे अनेक शिष्योंका उद्धार हुआ और बंगालके श्रीचैतन्यमहाप्रभुके दर्शन, स्पर्श और उपदेशसे हजारोंका कल्याण हुआ। इतना अवश्य कह सकता हूँ कि यदि मनुष्य चाहे तो ऐसा बन सकता है कि जिसके दर्शन, स्पर्श, भाषण और चिन्तनसे ही लोगोंका उद्धार हो जाय।

कल्याणका तत्त्व

सब प्रकारके दुःखोंसे, विकारोंसे, गुणों और कर्मोंसे सदाके लिये मुक्त होकर परम विज्ञान आनन्दमय कल्याणस्वरूप परमात्माको प्राप्त कर लेना ही परम कल्याण है। इसीको कोई मुक्ति, कोई परम पदकी प्राप्ति, कोई निर्वाणपदकी प्राप्ति और कोई मोक्ष कहते हैं। इस स्थितिको प्राप्त करनेका अधिकार मनुष्यमात्रको है। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९। ३२)

'मेरी शरण होनेवाले स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि (अन्त्यजादि) कोई भी हो (सब) परम गतिको प्राप्त होते हैं।' अतएव जो मनुष्य परमात्माके भजन-ध्यानद्वारा इस प्रकार संसारसे मुक्त होकर परम पदको पा जाता है उसीका मानव-जीवन कृतार्थ होता है।

इस विषयमें लोग भिन्न-भिन्न प्रकारकी भ्रमात्मक बातें किया करते हैं जिनमेंसे मुख्य ये तीन हैं—

१—'वर्तमान देश-कालमें या इस भूमिपर मुक्ति सम्भव नहीं है एवं गृहस्थ और नीच वर्णोंमें मुक्ति नहीं होती।'

२—'मुक्त पुरुष दीर्घकालपर्यन्त मुक्तिका सुख भोगनेके बाद पुनः संसारमें जन्म लेते हैं।'

३—'मुक्ति ज्ञानसे होती है। काम, क्रोध, असत्य, चोरी और व्यभिचारादि विकारोंके रहते भी ज्ञान हो जानेपर मनुष्य जीवन्मुक्त हो सकता है। उपर्युक्त विकार तो अन्तःकरणके धर्म हैं, जबतक अन्तःकरण है तबतक प्रारब्धानुसार इन विकारोंका रहना भी अनिवार्य है।'

ये तीनों ही विचार वास्तवमें न तो सत्य हैं और न लाभप्रद तथा युक्तियुक्त ही हैं। वरं इनके माननेसे बड़ी हानि होती है तथा लोगोंमें भ्रम फैलता है इसलिये यहाँ इसी विषयपर क्रमशः विचार किया जाता है—

१—मुक्तिका कारण आत्मज्ञान है और उस आत्मसाक्षात्कारके लिये निष्काम कर्मयोग, ध्यानयोग और ज्ञानयोगादि प्रत्येक देश-कालमें सुसाध्य उपाय वेद-शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं।

कोई खास युग, देश, वर्ण या आश्रममात्र ही मुक्तिका कारण नहीं माना गया है। साधनसम्पन्न होनेपर प्रत्येक देश-कालमें और प्रत्येक वर्ण-आश्रममें मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। उपर्युक्त गीताके श्लोकसे भी यही निर्णीत है। मुक्तिके लिये श्रुति-स्मृतियोंमें कहीं भी कलियुग, भारतभूमि या किसी वर्णाश्रमका निषेध नहीं किया गया है। आजतकके संत-महात्माओंके जीवन-चरित्रोंसे भी यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक देश, भूमि, वर्ण और आश्रममें साधन करनेपर मुक्ति हो सकती है। विष्णुपुराणमें एक प्रसंग है—

'ऐसा कौन-सा समय है कि जिसमें धर्मका थोड़ा-सा अनुष्ठान भी महत् फल देता हो,' इस विषयपर एक बार ऋषियोंमें बड़ी बहस हुई, अन्तमें वे सब मिलकर इस प्रश्नका निर्णयात्मक उत्तर पानेके लिये भगवान् वेदव्यासके पास गये। व्यासजी महाराज उस समय भगवती भागीरथीमें स्नान कर रहे थे, ऋषिगण उनकी प्रतीक्षामें जाह्नवीके तटपर वृक्षोंकी छायामें बैठ गये। थोड़ी देरके बाद व्यासजीने बाहर निकलकर मुनियोंको सुनाते हुए क्रमशः ऐसा कहा—'कलियुग ही साधु है,' 'हे शूद्र! तुम्हीं साधु हो, तुम्हीं धन्य हो!' 'हे स्त्रियो! तुम धन्य हो, तुमसे अधिक धन्य और कौन है?' इससे मुनियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने कौतूहलसे व्यासजीसे इन वचनोंका मर्म पूछा। व्यासदेवने कहा कि यही तुम्हारे विवादग्रस्त प्रश्नका उत्तर है। इन तीनोंमें मनुष्य अल्पायाससे ही परमगति पा सकता है। दूसरे युगोंमें, दूसरे वर्णोंमें और पुरुषोंमें तो बड़े साधनसे कहीं कुछ होता है, परन्तु—

स्वल्पेनैव प्रयत्नेन धर्मः सिद्ध्यति वै कलौ।
नरैरात्मगुणाम्भोभिः क्षालिताखिलकिल्बिषैः॥
शूद्रैश्च द्विजशुश्रूषातत्परैर्मुनिसत्तमाः।
तथा स्त्रीभिरनायासं पतिशुश्रूषयैव हि॥
ततस्त्रितयमप्येतन्मम धन्यतमं मतम्।

(विष्णुपुराण ६। २। ३४—३६)

'हे मुनिगण! कलियुगमें मनुष्य सद्वृत्तिका अवलम्बन करके थोड़े-से प्रयाससे ही सारे पापोंसे छूटकर धर्मकी सिद्धि पाता है। शूद्र द्विजसेवासे और स्त्रियाँ केवल पतिसेवासे अल्पायाससे ही उत्तम गति पा सकती हैं। इसीलिये मैंने इन तीनोंको धन्यतम कहा है।' इससे यह सिद्ध होता है कि वर्तमान देश-कालमें और स्त्री, शूद्रोंके लिये तो मुक्तिका पथ और भी सुगम है।

थोड़ी देरके लिये यदि यह भी मान लें कि वर्तमान देश-कालमें और प्रत्येक वर्णाश्रममें मुक्ति नहीं होती, लोग भूलसे ही उत्साहपूर्वक मुक्तिके लिये साधनमें लगे हुए हैं तथापि यह तो नहीं माना जा सकता कि इस भूलसे वे कोई अपना नुकसान कर रहे हैं। मुक्ति न सही, परन्तु साधनका कुछ-न-कुछ तो उत्तम फल अवश्य ही होगा। सत्त्वगुणकी वृद्धि होगी, अन्तःकरणकी शुद्धि होगी और दैवी सम्पत्तिके गुणोंका विकास होगा। जब मुक्ति होती ही नहीं तब वह तो साधक और असाधक दोनोंकी ही नहीं होगी, परन्तु साधकमें साधनसे सद्गुणोंकी वृद्धि होगी और साधनहीन मनुष्य कोरा-का-कोरा ही रह जायगा। इसके अतिरिक्त यदि वर्तमान देश-कालमें प्रत्येक मनुष्यकी मुक्ति होती होगी तो साधककी तो हो ही जायगी, परन्तु साधन न करनेवाला सर्वथा वंचित रह जायगा। जब वह साधनमें प्रवृत्त ही नहीं होगा तब मुक्ति कैसी? अतएव वह बेचारा भ्रमसे इस परम लाभसे वंचित रहकर बारम्बार संसारके आवागमन-चक्रमें घूमता रहेगा। अतएव इस युक्तिसे भी प्रत्येक देश-कालमें और प्रत्येक वर्णाश्रममें मुक्तिका सुगम मानना ही उचित, श्रेयस्कर और तर्कसिद्ध है।

२—श्रुति, स्मृति और उपनिषदादि सद्ग्रन्थोंमें कहींपर भी मुक्त पुरुषोंके पुनरागमन-सम्बन्धी प्रमाण नहीं मिलते। पुनरागमन उन्हींका होता है जो सकामी पुण्यात्मा पुरुष अपने पुण्यबलसे स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा-
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं-
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते॥

(गीता ९। २०-२१)

मुक्त पुरुषके सम्बन्धमें तो श्रुति-स्मृतियोंमें स्थान-स्थानपर उनके पुनः संसारमें न आनेके ही प्रमाण मिलते हैं। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

(८। १६)

'हे अर्जुन! ब्रह्मलोकसे लेकर सब लोक पुनरावर्ती स्वभाववाले हैं, परन्तु हे कौन्तेय! मुझको प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता।'

'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते'

(छान्दोग्य० ८। १५। १)

'इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते'

(छान्दोग्य० ४। १५। ६)

'तेषां न पुनरावृत्तिः'

(बृह० ६। २। १५)

आदि श्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं। इन शास्त्र-वचनोंसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मुक्त जीवोंका पुनरागमन कभी नहीं होता। जीवन्मुक्तोंके द्वारा लोकदृष्टिमें यथायोग्य सभी कार्य होते हुए प्रतीत होते हैं परन्तु वास्तवमें उनका उन कार्योंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

(गीता ४। १९)

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८। १७)

इसके सिवा उस मुक्त पुरुषकी दृष्टिमें एक विशुद्ध विज्ञान-आनन्दघन परमात्मतत्त्वके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रह जाता—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

वह समझता है कि सभी कुछ केवल वासुदेव ही है। इसीलिये उसे मुक्त कहते हैं। ऐसे पुरुषका किसी कालमें भी इस मायामय संसारसे पुनः सम्बन्ध नहीं होता; क्योंकि उसकी दृष्टिमें संसारका सदाके लिये आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। इस अवस्थामें उसका पुनरागमन क्योंकर हो सकता है?

यदि कोई यह कुतर्क करे कि यदि मुक्त जीवोंका पुनरागमन नहीं होगा तो मुक्त होते-होते एक दिन जगत्‌के सभी जीव मुक्त हो जायँगे तब तो सृष्टिकी सत्ता ही मिट जायगी। इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो ऐसा होना सम्भव नहीं; क्योंकि—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७।३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई मनुष्य मोक्षके लिये यत्न करता है, उन यत्न करनेवाले योगियोंमेंसे कोई पुरुष मुझको (परमात्माको) तत्त्वसे जानता है।' इस अवस्थामें सभी जीवोंका मुक्त होना असम्भव है; क्योंकि जीव असंख्य हैं। तथापि यदि किसी दिन 'सम्पूर्ण संसारके सभी जीव किसी तरह मुक्त हो जायँ' तो इसमें हानि ही कौन-सी है? आजतक अनेक श्रेष्ठ पुरुष इससे पूर्व ऐसी चेष्टा कर चुके हैं, महात्मागण अब भी कर रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे। यदि किसी दिन उनका परिश्रम सफल हो जाय और अखिल जगत्के जीवोंका उद्धार हो जाय तो बहुत ही अच्छी बात है, इससे सिद्धान्तमें कौन-सी बाधा आती है?

तर्कके लिये मान लिया जाय कि मुक्त पुरुषका पुनर्जन्म होता है और पुनर्जन्म न माननेवाले भूल करते हैं, पर इस भूलसे उनकी हानि क्या होती है? इस सिद्धान्तके अनुसार पुनरागमन माननेवाला भी वापस आवेगा और न माननेवाला भी। फल दोनोंका एक ही है। परन्तु कदाचित् यही सिद्धान्त सत्य हो कि 'मुक्त पुरुषका पुनरागमन नहीं होता' तब तो भूलसे पुनरागमन माननेवालेकी बड़ी हानि होगी; क्योंकि उस पुनरागमन माननेवालेको तो वह मुक्ति ही नहीं मिलेगी कि जिसमें पुनरागमन न होता हो। वह बेचारा भूलसे ही इस परम लाभसे वंचित रह जायगा और पुनरागमन न माननेवाला मुक्त हो जायगा। इस न्यायसे भी पुनरागमन न मानना ही युक्तियुक्त लाभजनक और सर्वोत्तम सिद्ध होता है।

३—श्रुति-स्मृति और उपनिषदादि किसी भी प्रामाणिक सद्ग्रन्थसे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि काम-क्रोधादि विकारोंके रहते जीवन्मुक्ति प्राप्त हो सकती है। श्रीमद्भगवद्गीतामें तो स्पष्ट शब्दोंमें काम, क्रोध और लोभको नरकका त्रिविध द्वार बतलाया है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(१६।२१)

श्रीगीतामें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके प्रश्नोत्तरसे यह बात स्पष्ट विदित होती है कि समस्त पापोंका बीज 'काम' है और उसको आत्मज्ञानके द्वारा नष्ट करके ही साधक मुक्त हो सकता है। तीसरे अध्यायके ३६वें श्लोकसे ४३वें श्लोकपर्यन्त इसका विस्तारसे वर्णन है। जहाँतक काम-क्रोध और हर्ष-शोकादि विकारोंसे ही मनुष्यका छुटकारा नहीं होगा, वहाँतक उसकी मुक्ति कैसे हो सकती है? मुक्त पुरुषका वास्तवमें संसारसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। गीताजीमें कहा है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(३।१७-१८)

उसका अन्तःकरण मल-विक्षेप और आवरणसे सर्वदा रहित होकर शुद्ध हो जाता है, ऐसी स्थितिमें काम-क्रोध और हर्ष-शोकादि विकार उसमें कैसे रह सकते हैं? भगवान्ने कहा है—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

(गीता ५।२५-२६)

'हर्षशोकौ जहाति', 'तरति शोकमात्मवित्' आदि श्रुतियाँ भी इसके प्रमाणमें प्रसिद्ध हैं। शास्त्रोंमें जहाँ देखिये वहीं एक स्वरसे यही प्रमाण मिलता है। श्रीपरमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर जब समस्त विकारोंकी जड़ आसक्तिका ही अत्यन्त अभाव हो जाता है तब उसके कार्यरूप अन्य विकार तो कैसे रह सकते हैं? इन शास्त्रवचनोंसे यही सिद्ध होता है कि जीवन्मुक्तके शुद्ध अन्तःकरणमें विकारोंका अस्तित्व मानना कदापि उचित नहीं है।

यदि ऐसा मान भी लिया जाय कि जीवन्मुक्तिके बाद भी काम-क्रोधादि विकारोंका लेश शेष रह जाता है और जो लोग उसका शेष रहना नहीं मानते, वे भूलसे ही काम-क्रोधादि विकारोंको जड़से उखाड़नेकी धुनमें लगे रहते हैं, इसपर यह सोचना चाहिये कि क्या इस भूलसे उसका कोई नुकसान होता है? यदि पक्षपात छोड़कर विचार किया जाय तो पता लगता है कि काम-क्रोधादि विकारोंके नाशका उपाय न करनेवालोंकी अपेक्षा उपाय करनेवाले अधिक बुद्धिमान् हैं; क्योंकि उपाय करनेसे उनके विकार अधिक नष्ट होंगे और इससे वे कम-से-कम जीवन्मुक्तोंमें तो उत्तम ही माने जायँगे। एक मनुष्य अत्यन्त क्रोधी तथा कामी है और दूसरा इन दोनोंसे छूटा हुआ है और इस सिद्धान्तके अनुसार वे दोनों ही जीवन्मुक्त हैं। इस दशामें यह तो स्वाभाविक है कि इनमें काम-क्रोधपरायण मनुष्यकी अपेक्षा काम-क्रोधरहित जीवन्मुक्त ही अधिक सम्माननीय होगा। इस दृष्टिसे भी काम-क्रोधादि विकारोंका नाश करना

ही उचित सिद्ध होता है और यदि कहीं यही बात सत्य हो कि जीवन्मुक्तके अन्तःकरणमें कोई विकार शेष नहीं रहता तब तो विकारोंका शेष रहना माननेवालेकी केवल मुक्ति नहीं होगी सो ही बात नहीं, परन्तु उसकी और भी बड़ी हानि होगी; क्योंकि वह मिथ्या ज्ञानसे (गीता १८। २२के अनुसार) ही अपनेको ज्ञानी और मुक्त मानकर अपने चरित्र-सुधारके पवित्र कार्यसे भी वंचित रह जायगा और काम-क्रोधादि विकारोंके मोहमय जालोंमें फँसकर अनेक प्रकारकी नरक-यन्त्रणा भोगता हुआ (गीता अध्याय १६के श्लोक १६ से २० के अनुसार) लगातार संसार-चक्रमें भटकता फिरेगा। इसलिये यही सिद्धान्त सर्वोपरि मानना चाहिये कि जीवन्मुक्तके अन्तःकरणमें काम-क्रोध और हर्ष-शोकादि कोई भी विकार शेष नहीं रह जाते।

इसके सिवा मुक्तिके सम्बन्धमें लोग और भी अनेक प्रकारकी शंकाएँ किया करते हैं पर लेख बढ़ जानेके कारण उन सबपर विचार नहीं किया गया।

इस लेखसे पाठक समझ गये होंगे कि मुक्त पुरुष तीनों गुणोंसे सर्वथा अतीत होता है (गीता अ० १४ के १९वें और २२वें से २५वें श्लोकतक इसका वर्णन है), इसीसे उसके अन्तःकरणमें कोई विकार या कोई भी कर्म शेष नहीं रहता और इसीलिये उसका पुनर्जन्म भी नहीं होता। पुनर्जन्मका हेतु गुणोंका संग ही है। भगवान् कहते हैं—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(गीता १३। २१)

पाठक यह भी समझ गये होंगे कि वर्तमान देश-कालमें मुक्त होना कोई असम्भव बात नहीं है अतएव अब शीघ्र सावधान होकर कर्तव्यमें लग जाना चाहिये। आलस्यमें अबतक बहुत समय नष्ट हो चुका। अब तो सचेत होना चाहिये। मनुष्य-जीवनके एक भी अमूल्य क्षणको व्यर्थमें गँवाना उचित नहीं। गया हुआ समय किसी भी उपायसे वापस नहीं मिल सकता। अतएव यथासाध्य शीघ्र ही सत्संगके द्वारा अपने कल्याणका मार्ग समझकर उसपर आरूढ़ हो जाना चाहिये।

—यही कल्याणका तत्त्व है!

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

कल्याण-प्राप्तिके उपाय

कल्याण मुक्तिको कहते हैं, यह शब्द परमपद या परमगतिका वाचक है। कल्याणको प्राप्त करनेके प्रधान उपाय तीन हैं—निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग अर्थात् सांख्ययोग और भक्तियोग अर्थात् ध्यानयोग। इनमें भक्तिका साधन स्वतन्त्र भी किया जा सकता है और निष्काम कर्मयोग एवं सांख्ययोगके साथ भी।

निष्काम कर्मयोगका विस्तृत वर्णन श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायके ३९वें श्लोकसे ५३वें श्लोकतक है और निष्काम कर्मयोगद्वारा सिद्धिको प्राप्त हुए पुरुषोंके लक्षण इसी अध्यायके ५४वेंसे ७२वें श्लोकतक वर्णित हैं।

ज्ञानयोगका विस्तारसे वर्णन द्वितीय अध्यायके ११वेंसे ३०वें श्लोकतक है और उसीके अनुसार तृतीय अध्यायके २८वें; पंचम अध्यायके ८वें और ९वें तथा चतुर्दश अध्यायके १९वें श्लोकमें ज्ञानयोगीके कर्म करनेकी विधि बतलायी है। इसके अतिरिक्त पंचम अध्यायके १३वेंसे २६वें श्लोकतक ज्ञान और अष्टादश अध्यायके ४९वेंसे ५५वें श्लोकतक उपासनासहित ज्ञानयोगका वर्णन है।

पंचम अध्यायके २७वेंसे २९वें, षष्ठ अध्यायके ११वेंसे ३२वें; अष्टम अध्यायके ५वेंसे २२वें; नवम अध्यायके ३०वेंसे ३४वें, दशम अध्यायके ८वेंसे १२वें, एकादश अध्यायके ३५वेंसे ५५वें और द्वादश अध्यायके २सरेसे ८वें श्लोकतक ध्यानयोग या भक्तियोगका वर्णन है, वास्तवमें ध्यानयोग और भक्तियोग एक ही वस्तु है। इसी प्रकार श्रीगीताजीके अन्यान्य स्थलोंमें भी तीनों साधनोंका भिन्न-भिन्न रूपसे वर्णन है, इन सबमें वर्तमान समयके लिये कल्याणकी प्राप्तिका सबसे सुगम और उत्तम उपाय भक्तिसहित निष्काम कर्मयोग है। इसका बड़ा सुन्दर उपदेश श्रीगीताजीके अष्टादश अध्यायके निम्नलिखित ११ श्लोकोंमें है—

भगवान् श्रीकृष्ण महाराज कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ ५६॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ ५७॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥ ५८॥
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ ५९॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ ६०॥

**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ ६१॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ६२॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ ६३॥
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ ६४॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ ६५॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ ६६॥**

'मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है। अतएव हे अर्जुन! तू सब कर्मोंको मनसे मेरेमें अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्वबुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगको अवलम्बन करके निरन्तर मेरेमें चित्तवाला हो।'

'इस प्रकार तू मेरेमें निरन्तर मनवाला हुआ मेरी कृपासे जन्म-मृत्यु आदि संकटोंसे अनायास ही तर जायगा और यदि अहंकारके कारण मेरे वचनोंको नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा अर्थात् परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा।'

'जो तू अहंकारको अवलम्बन करके ऐसे मानता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है; क्योंकि क्षत्रियपनका स्वभाव तेरेको जबर्दस्ती युद्धमें लगा देगा।'

'हे अर्जुन! जिस कर्मको तू मोहसे नहीं करना चाहता है उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा।'

'क्योंकि हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूत-प्राणियोंके हृदयमें स्थित है, अतएव हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे परम शान्तिको एवं सनातन परम धामको प्राप्त होगा।'

'इस प्रकार यह गोपनीयसे भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तेरे लिये कहा है। इस रहस्ययुक्त ज्ञानको सम्पूर्णतासे अच्छी प्रकार विचारके फिर तू जैसे चाहता है वैसे ही कर यानी जैसी तेरी इच्छा हो वैसे ही कर।'

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण गोपनीयोंसे भी अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन; क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है। इससे यह परम हितकारक वचन मैं तेरे लिये कहूँगा।'

'हे अर्जुन! तू केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य प्रेमसे नित्य-निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही अतिशय श्रद्धा-भक्तिसहित निष्कामभावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मेरा (शंख, चक्र, गदा, पद्म और किरीट, कुण्डल आदि भूषणोंसे युक्त पीताम्बर, वनमाला और कौस्तुभमणिधारी विष्णुका) मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वशक्तिमान्, विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे सम्पन्न, सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक भक्तिसहित साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम कर, ऐसा करनेसे तू मेरेको ही प्राप्त होगा, यह मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है।'

'अतएव सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो; मैं तेरेको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

कैसा दिव्य उपदेश है! इसके सिवा ध्यानयोग और भक्तियोग-सम्बन्धी ग्रन्थोंमें पातंजलयोगदर्शन ध्यानयोगका और नारदसूत्र तथा शाण्डिल्यसूत्र भक्तियोगके प्रधान ग्रन्थ हैं, अवश्य ही इनमें कुछ मतभेद है परन्तु इन ग्रन्थोंमें भक्तियोगका ही प्रतिपादन है। इन ग्रन्थोंको मनन करनेसे भक्तियोगका बहुत कुछ पता लग सकता है।

बहुत विस्तारसे न लिखकर मैंने श्रीगीताजीके कुछ श्लोकोंको उद्धृत कर तथा कुछकी केवल संख्या ही बतलाकर पाठकोंसे संकेतमात्र कर दिया है, यदि कोई सज्जन इन श्लोकोंके अर्थका मननकर उसके अनुसार चलना आरम्भ कर दें तो मेरी सम्मतिमें उनको परम कल्याण—मोक्षकी प्राप्ति बहुत ही सुगमतासे हो सकती है।

भगवान् क्या हैं?

भगवान् क्या हैं? इस सम्बन्धमें जो कुछ कहना चाहता हूँ वह मेरे अपने निश्चयकी बात है, हो सकता है कि मेरा निश्चय ठीक न हो। मैं यह नहीं कहता कि दूसरोंका निश्चय ठीक नहीं है। परंतु मुझे अपने निश्चयमें कोई सन्देह नहीं है, मैं इस विषयमें संशयात्मा नहीं हूँ तथापि दूसरोंके निश्चयको गलत बतानेका मुझे कोई अधिकार नहीं है।

भगवान् क्या हैं? इन शब्दोंका वास्तविक उत्तर तो यही है कि इस बातको भगवान् ही जानते हैं। इसके सिवा भगवान्‌के विषयमें उन्हें तत्त्वसे जाननेवाला ज्ञानी पुरुष उनके तटस्थ अर्थात् नजदीक कुछ भाव बतला सकता है। वास्तवमें तो भगवान्‌के स्वरूपको भगवान् ही जानते हैं। तत्त्वज्ञ लोग संकेतके रूपमें भगवान्‌के स्वरूपका कुछ वर्णन कर सकते हैं परन्तु जो कुछ जानने और वर्णन करनेमें आता है, वास्तवमें भगवान् उससे और भी विलक्षण हैं। वेद, शास्त्र और मुनि, महात्मा परमात्माके सम्बन्धमें सदासे कहते ही आ रहे हैं, किन्तु उनका वह कहना आजतक पूरा नहीं हुआ। अबतकके उनके सब वचनोंको मिलाकर या अलग-अलगकर कोई परमात्माके वास्तविक स्वरूपका वर्णन करना चाहे, तो उसके द्वारा भी पूरा वर्णन नहीं हो सकता। अधूरा ही रह जाता है। इस विवेचनमें यह तो निश्चय हो गया कि भगवान् हैं अवश्य, उनके होनेमें रत्तीभर भी शंका नहीं है, यह दृढ़ निश्चय है। अतएव जो आदमी भगवान्‌को अपने मनसे जैसा समझकर साधन कर रहे हैं, उसमें परिवर्तनकी कोई आवश्यकता नहीं, परन्तु सुधार कर लेना चाहिये। वास्तवमें साधन करनेवालोंमें कोई भी भूलमें नहीं हैं या एक तरहसे सभी भूलमें हैं। जो परमात्माके लिये साधन करता है, वह उसीके मार्गपर चलता है, इसलिये कोई भूलमें नहीं हैं और भूलमें इसलिये हैं कि जिस किसी एक वस्तुको साध्य या ध्येय मानकर वे उसकी प्राप्तिका साधन करते हैं, उनके उस साध्य या ध्येयसे वास्तविक परमात्माका स्वरूप अत्यन्त ही विलक्षण है। जो जानने, मानने और साधन करनेमें आता है वह तो ध्येय परमात्माको बतानेवाला सांकेतिक लक्ष्य है। इसलिये जहाँतक उस ध्येयकी प्राप्ति नहीं होती, वहाँतक सभी भूलमें हैं ऐसा कहा गया है परन्तु इससे यह नहीं मानना चाहिये कि पहले भूलको ठीक करके फिर साधन करेंगे। ठीक तो कोई कर ही नहीं सकता, यथार्थ प्राप्तिके बाद आप ही ठीक हो जाता है। इससे पहले जो होता है, सो अनुमान होता है और उस अनुमानसे जो कुछ किया जाता है वही उसकी प्राप्तिका ठीक उपाय है। जैसे एक आदमी द्वितीयाके चन्द्रमाको देख चुका है, वह दूसरे न देखनेवालोंको इशारेसे बतलाता है कि तू मेरी नजरसे देख, उस वृक्षसे चार अंगुल ऊँचा चन्द्रमा है। इस कथनसे उसका लक्ष्य वृक्षकी ओरसे होकर चन्द्रमातक चला जाता है और वह चन्द्रमाको देख लेता है। वास्तवमें न तो वह उसकी आँखमें घुसकर ही देखता है और न चन्द्रमा उस वृक्षसे चार अंगुल ऊँचा ही है और न चन्द्रमण्डल जितना छोटा वह देखता है उतना छोटा ही है। परन्तु लक्ष्य बँध जानेसे वह उसे देख लेता है। कोई-कोई द्वितीयाके चन्द्रमाका लक्ष्य करानेके लिये सरपतसे बतलाते हैं, कोई इससे भी अधिक लक्ष्य करानेके लिये चूनेसे लकीर खींचकर या चित्र बनाकर उसे दिखाते हैं, परन्तु वास्तवमें चन्द्रमाके वास्तविक स्वरूपसे इनकी कुछ भी समता नहीं है। न तो इनमें चन्द्रमाका प्रकाश ही है, न यह उतने बड़े ही हैं और न इनमें चन्द्रमाके अन्य गुण ही हैं। इसी प्रकार लक्ष्यके द्वारा देखनेपर भगवान् देखे या जाने जा सकते हैं। वास्तवमें लक्ष्य और उनके असली स्वरूपमें वैसा ही अन्तर है कि जैसा चन्द्रमा और उसके लक्ष्यमें। चन्द्रमाका स्वरूप तो शायद कोई योगी बता भी सकता है, परन्तु भगवान्‌का स्वरूप कोई भी बता नहीं सकता; क्योंकि यह वाणीका विषय नहीं है। वह तो जब प्राप्त होगा, तभी मालूम होगा। जिसको प्राप्त होगा वह भी उसे समझा नहीं सकेगा। यह तो असली स्वरूपकी बात हुई। अब यह बतलाना है कि साधकके लिये यह ध्येय या लक्ष्य किस प्रकारका होना चाहिये और वह किस प्रकार समझा जा सकता है। इस विषयमें महात्माओंसे सुनकर और शास्त्रोंको सुन और देखकर, मेरे अनुभवमें जो बातें निश्चयात्मकरूपसे जँची हैं, वही बतलायी जाती हैं। किसीकी इच्छा हो तो वह उन्हें काममें ला सकता है।

परमात्माके असली स्वरूपका ध्यान तो वास्तवमें बन नहीं सकता। जबतक नेत्रोंसे, मनसे और बुद्धिसे परमात्माके स्वरूपका अनुभव न हो जाय, तबतक जो ध्यान किया जाता है, वह अनुमानसे ही होता है। महात्माओंके द्वारा सुनकर, शास्त्रोंमें पढ़कर, चित्रादि देखकर साधन करनेसे साधकको परमात्माके दर्शन हो सकते हैं। पहले यह बात कही जा चुकी है कि जो परमात्माका जिस प्रकार ध्यान कर रहे हैं, वे वैसा ही करते रहें, परिवर्तनकी आवश्यकता नहीं। कुछ सुधारकी आवश्यकता अवश्य है।

ध्यान कैसे करना चाहिये?

कुछ लोग निराकार शुद्ध ब्रह्मका ध्यान करते हैं, कुछ साकार दो भुजावाले और कुछ चतुर्भुजधारी भगवान्

विष्णुका ध्यान करते हैं, वास्तवमें भगवान् विष्णु, राम और कृष्ण जैसे एक हैं, वैसे ही देवी, शिव, गणेश और सूर्य भी उनसे कोई भिन्न नहीं। ऐसा अनुमान होता है कि लोगोंकी भिन्न-भिन्न धारणाके अनुसार एक ही परमात्माका निरूपण करनेके लिये, श्रीवेदव्यासजीने अठारह पुराणोंकी रचना की है, जिस देवके नामसे जो पुराण बना, उसमें उसीको सर्वोपरि, सृष्टिकर्ता, सर्वगुणसम्पन्न ईश्वर बतलाया गया। वास्तवमें नाम-रूपके भेदसे सबमें उस एक ही परमात्माकी बात कही गयी है। नाम-रूपकी भावना साधक अपनी इच्छानुसार कर सकते हैं, यदि कोई एक स्तम्भको ही परमात्मा मानकर उसका ध्यान करे तो वह भी परमात्माका ही ध्यान होता है, अवश्य ही लक्ष्यमें ईश्वरका पूर्ण भाव होना चाहिये।

साकार और निराकारके ध्यानमें साकारकी अपेक्षा निराकारका ध्यान कुछ कठिन है, फल दोनोंका एक ही है, केवल साधनमें भेद है। अतएव अपनी-अपनी प्रीतिके अनुसार साधक निराकार या साकारका ध्यान कर सकते हैं।

निराकारके उपासक साकारके भावको साथमें न रखकर केवल निराकारका ही ध्यान करें, तो भी कोई आपत्ति नहीं, परन्तु साकारका तत्त्व समझकर परमात्माको सर्वदेशी, विश्वरूप मानते हुए निराकारका ध्यान करें तो फल शीघ्र होता है। साकारका तत्त्व न समझनेसे कुछ विलम्बसे सफलता होती है।

साकारके उपासकको निराकार, व्यापक ब्रह्मका तत्त्व जाननेकी आवश्यकता है, इसीसे वह सुगमतापूर्वक शीघ्र सफलता प्राप्त कर सकता है। भगवान्ने गीतामें प्रभाव समझकर ध्यान करनेकी ही बड़ाई की है।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(१२।२)

'हे अर्जुन! मेरेमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन, ध्यानमें लगे हुए* जो भक्तजन, अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मेरेको योगियोंमें भी अति उत्तम योगी मान्य हैं अर्थात् उनको मैं अति श्रेष्ठ मानता हूँ।'

वास्तवमें निराकारके प्रभावको जानकर जो साकारका ध्यान किया जाता है, वही भगवत्की शीघ्र प्राप्तिके लिये उत्तम और सुलभ साधन है। परन्तु परमात्माका असली स्वरूप इन दोनोंसे ही विलक्षण है, जिसका ध्यान नहीं किया जा सकता। निराकारके ध्यान करनेकी कई युक्तियाँ हैं। जिसको जो सुगम मालूम हो, वह उसीका अभ्यास करे। सबका फल एक ही है। कुछ युक्तियाँ यहाँपर बतलायी जाती हैं—

साधकको श्रीगीताके अ० ६। ११ से १३ के अनुसार, एकान्त स्थानमें स्वस्तिक या सिद्धासनसे बैठकर, नेत्रोंकी दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर रखकर या आँखें बंदकर (अपनी इच्छानुसार) नियमपूर्वक प्रतिदिन कम-से-कम तीन घण्टेका समय ध्यानके अभ्यासमें बिताना चाहिये। तीन घण्टे कोई न कर सके तो दो करे, दो नहीं तो एक घण्टे अवश्य ध्यान करना चाहिये। शुरू-शुरूमें मन न लगे तो पंद्रह-बीस मिनटसे आरम्भ कर धीरे-धीरे ध्यानका समय बढ़ाता रहे। बहुत शीघ्र प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले साधकोंके लिये तीन घण्टेका अभ्यास आवश्यक है। ध्यानमें नाम-जपसे बड़ी सहायता मिलती है। ईश्वरके सभी नाम समान हैं, परंतु निराकारकी उपासनामें ॐकार प्रधान है। योगदर्शनमें भी महर्षि पतंजलिने कहा है—

तस्य वाचकः प्रणवः॥ तज्जपस्तदर्थभावनम्॥

(सा० पाद १।२७-२८)

उसका वाचक प्रणव (ॐ) है, उस प्रणवका जप करना और उसके अर्थ (परमात्मा)-का ध्यान करना चाहिये।

इन सूत्रोंका मूल आधार—'**ईश्वरप्रणिधानाद्वा॥**' (योग० १।२३) है। इसमें भगवान्की शरण होनेको और उन दोनोंमेंसे पहलेमें भगवान्का नाम बतलाकर, दूसरेमें नाम-जप और स्वरूपका ध्यान करनेकी बात कही गयी है।

महर्षि पतंजलिके परमेश्वरके स्वरूपसम्बन्धी अन्य विचारोंके सम्बन्धमें मुझे यहाँपर कुछ नहीं कहना है। यहाँपर मेरा अभिप्राय केवल यही है कि ध्यानका लक्ष्य ठीक करनेके लिये पतंजलिजीके कथनानुसार स्वरूपका ध्यान करते हुए नामका जप करना चाहिये। ॐकी जगह कोई 'आनन्दमय' या 'विज्ञानानन्दघन' ब्रह्मका जप करे, तो भी कोई आपत्ति नहीं है। भेद नामोंमें है, फलमें कोई फर्क नहीं है।

जप सबसे उत्तम वह होता है, जो मनसे होता है, जिसमें जीभ हिलाने और ओष्ठसे उच्चारण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती। ऐसे जपमें ध्यान और जप दोनों साथ ही हो सकते हैं। अन्तःकरणके चार पदार्थोंमेंसे मन और बुद्धि दो प्रधान हैं, बुद्धिसे पहले परमात्माका स्वरूप निश्चय करके उसमें बुद्धि स्थिर कर ले, फिर मनसे उसी सर्वत्र परिपूर्ण आनन्दमयकी पुनः-पुनः आवृत्ति करता रहे।

* अर्थात् गीता अ० ११। ५५ में बताये हुए प्रकारसे निरन्तर मेरेमें लगे हुए।

यह जप भी है और ध्यान भी। वास्तवमें आनन्दमयके जप और ध्यानमें कोई खास अन्तर नहीं है। दोनों काम एक साथ किये जा सकते हैं। दूसरी युक्ति श्वासके द्वारा जप करनेकी है। श्वासोंके आते और जाते समय कण्ठसे नामका जप करे, जीभ और ओष्ठको बंदकर श्वासके साथ नामकी आवृत्ति करता रहे, यही प्राणजप है, इसको प्राणद्वारा उपासना कहते हैं। यह जप भी उच्च श्रेणीका है। यह न हो सके तो मनमें ध्यान करे और जीभसे उच्चारण करे परन्तु मेरी समझसे इनमें साधकके लिये अधिक सुगम और लाभप्रद श्वासके द्वारा किया जानेवाला जप है। यह तो जपकी बात हुई, असलमें जप तो निराकार और साकार दोनों प्रकारके ध्यानमें ही होना चाहिये। अब निराकारके ध्यानके सम्बन्धमें कुछ कहा जाता है—

एकान्त स्थानमें स्थिर आसनसे बैठकर एकाग्रचित्तसे इस प्रकार अभ्यास करे। जो कोई भी वस्तु इन्द्रिय और मनसे प्रतीत हो उसीको कल्पित समझकर उसका त्याग करता रहे। जो कुछ प्रतीत होता है, सो है नहीं। स्थूल शरीर, ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि कुछ भी नहीं हैं, इस प्रकार सबका अभाव करते-करते, अभाव करनेवाले पुरुषकी वह वृत्ति—(जिसे ज्ञान, विवेक और प्रत्यय भी कहते हैं, यह सब शुद्ध बुद्धिके कार्य हैं, यहाँपर बुद्धि ही इनका अधिकरण है, जिसके द्वारा परमात्माके स्वरूपका मनन होता है और प्रतीत होनेवाली प्रत्येक वस्तुमें यह नहीं है, यह नहीं है, ऐसा अभाव हो जाता है, इसीको वेदोंमें 'नेति-नेति'—ऐसा भी नहीं, ऐसा भी नहीं—कहा है।) अर्थात् दृश्यको अभाव करनेवाली वृत्ति भी शान्त हो जाती है। उस वृत्तिका त्याग करना नहीं पड़ता, स्वयमेव हो जाता है। त्याग करनेमें तो त्याग करनेवाला, त्याज्य वस्तु और त्याग, यह त्रिपुटी आ जाती है। इसलिये त्याग करना नहीं बनता, त्याग हो जाता है। जैसे, ईंधनके अभावमें अग्नि स्वयमेव शान्त हो जाती है, इसी प्रकार विषयोंके सर्वथा अभावसे वृत्तियाँ भी सर्वथा शान्त हो जाती हैं। शेषमें जो बच रहता है, वही परमात्माका स्वरूप है। इसीको निर्बीज समाधि कहते हैं।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः॥

(योग० १।५१)

यहाँपर यह शंका होती है कि त्यागके बाद त्यागी बचता है। वह अल्प है, परमात्मा महान् है, इसलिये बच रहनेवालेको ही परमात्माका स्वरूप कैसे कहा जाता है? बात ठीक है परन्तु वह अल्प वहींतक है, जबतक वह एक सीमाबद्ध स्थानमें अपनेको मानकर बाकीकी सब जगह दूसरोंसे भरी हुई समझता है। दूसरी सब वस्तुओंका अभाव हो जानेपर, शेषमें, बचा हुआ केवल एक तत्त्व ही 'परमात्मतत्त्व' है। संसारको जड़से उखाड़कर फेंक देनेपर परमात्मा आप ही रह जाते हैं। उपाधियोंका नाश होते ही सारा भेद मिटकर अपार एकरूप परमात्माका स्वरूप रह जाता है, वही सब जगह परिपूर्ण और सभी देश-कालमें व्याप्त है। वास्तवमें देश-काल भी उसमें कल्पित ही हैं। वह तो एक ही पदार्थ है, जो अपने ही आपमें स्थित है, जो अनिर्वचनीय है और अचिन्त्य है। जब चिन्तनका सर्वथा त्याग हो जाता है, तभी उस अचिन्त्य ब्रह्मका खजाना निकल पड़ता है, साधक उसमें जाकर मिल जाता है। जबतक अज्ञानकी आड़से दूसरे पदार्थ भरे हुए थे, तबतक वह खजाना अदृश्य था। अज्ञान मिटनेपर एक ही वस्तु रह जाती है, तब उसमें मिल जाना यानी सम्पूर्ण वृत्तियोंका शान्त होकर एक ही वस्तुका रह जाना निश्चित है।

महाकाशसे घटाकाश तभीतक अलग है, जबतक घड़ा फूट नहीं जाता। घड़ेका फूटना ही अज्ञानका नाश होना है, परन्तु यह दृष्टान्त भी पूरा नहीं घटता। कारण, घड़ा फूटनेपर तो उसके टूटे हुए टुकड़े आकाशका कुछ अंश रोक भी लेते हैं परन्तु यहाँ अज्ञानरूपी घड़ेके नाश हो जानेपर ज्ञानका जरा-सा अंश रोकनेके लिये भी कोई पदार्थ नहीं बच रहता। भूल मिटते ही जगत्का सर्वथा अभाव हो जाता है। फिर जो बच रहता है, वही ब्रह्म है। उदाहरणार्थ जैसे, घटाकाश जीव है, महाकाश परमात्मा है। उपाधिरूपी घट नष्ट हो जानेपर दोनों एकरूप हो जाते हैं। एकरूप तो पहले भी थे, परन्तु उपाधि-भेदसे भेद प्रतीत होता था।

वास्तवमें आकाशका दृष्टान्त परमात्माके लिये सर्वदेशी नहीं है। आकाश जड़ है, परमात्मा जड़ नहीं। आकाश दृश्य है, परमात्मा दृश्य नहीं है। आकाश विकारी है, परमात्मा विकारशून्य है। आकाश अनित्य है, महाप्रलयमें इसका नाश होता है, परमात्मा नित्य है। आकाश शून्य है, उसमें सब कुछ समाता है, परमात्मा घन है, उसमें दूसरेका समाना सम्भव नहीं। आकाशसे परमात्मा अत्यन्त विलक्षण है। ब्रह्मके एक अंशमें माया है, जिसे अव्याकृत प्रकृति कहते हैं, उसके एक अंशमें महत्तत्त्व (समष्टि-बुद्धि) है, जिस बुद्धिसे सबकी बुद्धि होती है, उस बुद्धिके एक अंशमें अहंकार है, उस अहंकारके एक अंशमें आकाश, आकाशमें वायु, वायुमें अग्नि, अग्निमें जल और जलमें पृथ्वी। इस प्रकार प्रक्रियासे यह सिद्ध होता है कि समस्त ब्रह्माण्ड मायाके एक अंशमें है और वह माया परमात्माके एक अंशमें है, इस न्यायसे आकाश तो परमात्माकी तुलनामें अत्यन्त ही अल्प है परन्तु इस अल्पताका पता परमात्माके जाननेपर ही लगता है। जैसे, एक आदमी स्वप्न देखता है। स्वप्नमें उसे दिशा, काल, आकाश, वायु, अग्नि, सूर्य,

चन्द्रमा, दिन, रात आदि समस्त पदार्थ भासते हैं, बड़ा विस्तार दीख पड़ता है, परन्तु आँख खुलते ही उस सारी सृष्टिका अत्यन्त अभाव हो जाता है, फिर पता लगता है कि वह सृष्टि तो अपने ही संकल्पसे अपने ही अन्तर्गत थी, जो मेरे अंदर थी, वह अवश्य ही मुझसे छोटी वस्तु थी, मैं तो उससे बड़ा हूँ। वास्तवमें तो थी ही नहीं, केवल कल्पना ही थी, परन्तु यदि थी भी तो अत्यन्त अल्प थी, मेरे एक अंशमें थी, मेरा ही संकल्प था अतएव मुझसे कोई भिन्न वस्तु नहीं थी। यह ज्ञान आँख खुलनेपर—जागनेपर होता है, इसी प्रकार परमात्माके सच्चे स्वरूपमें जागनेपर यह सृष्टि भी नहीं रहती। यदि कहीं रहती है ऐसा मानें, तो वह महापुरुषोंके कथनानुसार परमात्माके एक जरा-से अंशमें और उसीके संकल्पमात्रमें रहती है।

इसलिये आकाशका दृष्टान्त परमात्मामें पूर्णरूपसे नहीं घटता। इतने ही अंशमें घटता है कि मनुष्यकी दृष्टिमें जैसे आकाश निराकार है, ब्रह्म वास्तवमें वैसे ही निराकार है। मनुष्यकी दृष्टिमें जैसे आकाशकी अनन्तता भासती है, वैसे ही ब्रह्म सत्य अनन्त है। मनुष्यकी दृष्टिसे समझानेके लिये आकाशका उदाहरण है। इन सब वस्तुओंका अभाव होनेपर प्राप्त होनेवाली चीज कैसी है, उसका स्वरूप कोई नहीं कह सकता, वह तो अत्यन्त विलक्षण है। सूक्ष्मभावके तत्त्वज्ञ सूक्ष्मदर्शी महात्मागण उसे **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** कहते हैं। वह अपार है, असीम है, चेतन है, ज्ञाता है, घन है, आनन्दमय है, सुखरूप है, सत् है, नित्य है। इस प्रकारके विशेषणोंसे वे विलक्षण वस्तुका निर्देश करते हैं। उसकी प्राप्ति हो जानेपर फिर कभी पतन नहीं होता। दुःख, क्लेश, दुर्गुण, शोक, अल्पता, विक्षेप, अज्ञान और पाप आदि सब विकारोंकी सदाके लिये आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। एक सत्य, ज्ञान, बोध आनन्दरूप ब्रह्मके बाहुल्यकी जागृति रहती है। यह जागृति भी केवल समझानेके लिये ही है। वास्तवमें तो कुछ कहा नहीं जा सकता।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

(गीता १३। १२)

वह आदिरहित परब्रह्म अकथनीय होनेसे न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है।

यदि ज्ञानका भोक्ता कहें तो कोई भोग नहीं है। यदि ज्ञानरूप या सुखरूप कहें तो कोई भोक्ता नहीं है। भोक्ता, भोग, भोग्य सब कुछ एक ही रह जाता है, वह एक ऐसी चीज है जिसमें त्रिपुटी रहती ही नहीं। एक तो यह निराकारके ध्यानकी विधि है।

ध्यानकी दूसरी विधि

एकान्त स्थानमें बैठकर आँखें मूँदकर ऐसी भावना करे कि मानो सत्-चित्-आनन्दघनरूपी समुद्रकी अत्यन्त बाढ़ आ गयी है और मैं उसमें गहरा डूबा हुआ हूँ। अनन्त-विज्ञानानन्दघन समुद्रमें निमग्न हूँ। समस्त संसार परमात्माके संकल्पमें था, उसने संकल्प त्याग दिया, इससे मेरे सिवा सारे संसारका अभाव होकर, सर्वत्र एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही रह गये। मैं परमात्माका ध्यान करता हूँ तो परमात्माके संकल्पमें मैं हूँ, मेरे सिवा और सबका अभाव हो गया। जब परमात्मा मेरा संकल्प छोड़ देंगे, तब मैं भी नहीं रहूँगा, केवल परमात्मा ही रह जायँगे। यदि परमात्मा मेरा संकल्प त्याग न कर मुझे स्मरण रखें तो भी बड़े आनन्दकी बात है। इस प्रकार भेदसहित निराकारकी उपासना करे।

इसमें साधनकालमें भेद है और सिद्धकालमें अभेद है, परमात्माने संकल्प छोड़ दिया, बस एक परमात्मा ही रह गये। एक युक्ति यह है। इसके अतिरिक्त निराकारके ध्यानकी और भी कई युक्तियाँ हैं, उनमेंसे दो युक्तियाँ 'सच्चे सुखकी प्राप्तिके उपाय' शीर्षक लेखमें बतलायी गयी हैं, वहाँ देखनी चाहिये। कहनेका अभिप्राय यह है कि निराकारका ध्यान दो प्रकारसे होता है, भेदसे और अभेदसे। दोनोंका फल एक अभेद परमात्माकी प्राप्ति ही है। जो लोग जीवको सदा अल्प मानकर परमात्मासे कभी उसका अभेद नहीं मानते, उनकी मुक्ति भी अल्प होती है, सदाके लिये वे मुक्त नहीं होते। उन्हें प्रलयकालके बाद वापस लौटना ही पड़ता है, इस मुक्तिवादसे वे ब्रह्मको प्राप्त हो करके भी अलग रह जाते हैं।

अब साकारके ध्यानके सम्बन्धमें कुछ कहा जाता है। साकारकी उपासनाके फल दोनों प्रकारके होते हैं। साधक यदि सद्योमुक्ति चाहता है, शुद्ध ब्रह्ममें एकरूपसे मिलना चाहता है तो उसमें मिल जाता है, उसकी सद्योमुक्ति हो जाती है परन्तु यदि वह ऐसी इच्छा करता है कि मैं दास, सेवक या सखा बनकर भगवान्‌के समीप निवास कर प्रेमानन्दका भोग करूँ या अलग रहकर संसारमें भगवत्प्रेम-प्रचाररूप परम सेवा करूँ तो उसको सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सायुज्य आदि मुक्तियोंमेंसे यथारुचि कोई-सी मुक्ति मिल जाती है और वह मृत्युके बाद भगवान्‌के परम नित्यधाममें चला जाता है। महाप्रलयतक नित्यधाममें रहकर अन्तमें परमात्मामें मिल जाता है या संसारका उद्धार करनेके लिये कारक पुरुष बनकर जन्म भी ले सकता है परन्तु

जन्म लेनेपर भी वह किसी फँसावटमें नहीं फँसता। माया उसे किंचित् भी दुःख-कष्ट नहीं पहुँचा सकती, वह नित्य मुक्त ही रहता है। जिस नित्यधाममें ऐसा साधक जाता है वह परमधाम सर्वोपरि है, सबसे श्रेष्ठ है। उससे परे एक सच्चिदानन्दघन निराकार शुद्ध ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वह सदासे है, सब लोक नाश होनेपर भी वह बना रहता है। उसका स्वरूप कैसा है? इस बातको वही जानता है जो वहाँ पहुँच जाता है। वहाँ जानेपर सारी भूलें मिट जाती हैं। उसके सम्बन्धकी सम्पूर्ण भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ वहाँ पहुँचनेपर एक यथार्थ सत्यस्वरूपमें परिणत हो जाती हैं। महात्मागण कहते हैं कि वहाँ पहुँचे हुए भक्तोंको प्रायः वह सब शक्तियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं जो भगवान्में हैं, परन्तु वे भक्त भगवान्के सृष्टिकार्यके विरुद्ध उनका उपयोग कभी नहीं करते। उस महामहिम प्रभुके दास, सखा या सेवक बनकर जो उस परमधाममें सदा समीप निवास करते हैं वे सर्वदा उसकी आज्ञामें ही चलते हैं। गीताके अ० ८। २४ का श्लोक इस परमधाममें जानेवाले साधकके लिये ही है। बृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषद्में भी इस अर्चिमार्गका विस्तृत वर्णन है। इस नित्यधामको ही सम्भवतः भगवान् श्रीकृष्णके उपासक गोलोक, भगवान् श्रीरामके उपासक साकेतलोक कहते हैं। वेदमें इसीको सत्यलोक और ब्रह्मलोक कहा है। (वह ब्रह्मलोक नहीं जिसमें ब्रह्माजी निवास करते हैं, जिसका वर्णन गीता अध्याय ८के १६वें श्लोकके पूर्वार्धमें है।) भगवान् साकाररूपसे अपने इसी नित्यधाममें विराजते हैं। साकाररूप मानकर नित्य परमधाम न मानना बड़ी भूलकी बात है।

भक्तोंके लिये भगवान् साकार कैसे बनते हैं?

परमात्मा-सत्-चित्-आनन्दघन नित्य अपाररूपसे सभी जगह परिपूर्ण हैं। उदाहरणके लिये अग्निका नाम लिया जा सकता है। अग्नि निराकाररूपसे सभी स्थानोंमें व्याप्त है, प्रकट करनेकी सामग्री एकत्र करके साधन करनेसे ही वह प्रकट हो जाती है। प्रकट होनेपर उसका व्यक्तरूप उतना ही लंबा-चौड़ा दीख पड़ता है, जितना लकड़ी आदि पदार्थका होता है। इसी प्रकार गुप्तरूपसे सर्वत्र व्यापक अदृश्य सूक्ष्म निराकार परमात्मा भी भक्तकी इच्छानुसार साकाररूपमें प्रकट होते हैं। वास्तवमें अग्निकी व्यापकताका उदाहरण भी एकदेशीय है; क्योंकि जहाँ केवल आकाश या वायुतत्त्व है, वहाँ अग्नि नहीं है परन्तु परमात्मा तो सब जगह परिपूर्ण है; परमात्माकी व्यापकता सबसे श्रेष्ठ और विलक्षण है। ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ परमात्मा न हो और संसारमें ऐसी भी कोई जगह नहीं कि जहाँ परमात्माकी माया न हो। जहाँ देश-काल हैं वहीं माया है। मायारूप सामग्रीको लेकर परमात्मा चाहे जहाँ प्रकट हो सकते हैं। जहाँ जल है और शीतलता है, वहीं बर्फ जम सकती है। जहाँ मिट्टी और कुम्हार है, वहीं घड़ा बन सकता है। जल और मिट्टी तो शायद सब जगह न भी मिले परन्तु परमात्मा और उनकी माया तो संसारमें सभी जगह मिलती है, ऐसी स्थितिमें उनके प्रकट होनेमें कठिनता ही क्या है? भक्तका प्रेम चाहिये।

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना।
प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

निराकारकी व्यापकताका विचार तो सभी कर सकते हैं परन्तु साकाररूपसे तो भगवान् केवल भक्तको ही दीखते हैं। वे सर्वशक्तिमान् हैं, चाहे जैसे कर सकते हैं। एकको, अनेकको या सबको एक साथ दर्शन दे सकते हैं, उनकी इच्छा है। अवश्य ही वह इच्छा लड़कोंके खेलकी तरह दोषयुक्त नहीं होती है। उनकी इच्छा विशुद्ध होती है। भक्तकी इच्छा भी भगवान्के भावानुसार ही होती है। भगवान्ने कहा है कि मैं भक्तके हृदयमें रहता हूँ। बात ठीक है। जैसे हम सबके शरीरमें निराकाररूपसे अग्नि स्थित है, उसी प्रकार भगवान् भी निराकार सत्-चित्-आनन्दघनरूपसे सभीके हृदयमें स्थित हैं परन्तु भक्तोंका हृदय शुद्ध होनेसे उसमें वे प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं, यही भक्त-हृदयकी विशेषता है। सूर्यका प्रतिबिम्ब काठ, पत्थर और दर्पणपर समान ही पड़ता है परन्तु स्वच्छ दर्पणमें तो वह दीखता है, काठ, पत्थरमें नहीं दीखता। इसी प्रकार भगवान् सबके हृदयमें रहनेपर भी अभक्तोंके काष्ठ-सदृश अशुद्ध हृदयमें दिखलायी नहीं देते और भक्तोंके स्वच्छ दर्पण-सदृश शुद्ध हृदयमें प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं। भक्त ध्यानमें उन्हें जैसा समझता है, वैसे ही वे उसके हृदयमेंबसते हैं।

महात्मालोग कहा करते हैं कि जहाँ कीर्तन होता है वहाँ भगवान् स्वयं साकाररूपसे उपस्थित रहते हैं, कीर्तन करते हुए भक्तको साकाररूपमें दीखते भी हैं। यह नहीं समझना चाहिये कि यह केवल भक्तकी भावना ही है। वास्तवमें उसे सत्यरूपसे ही दीखते हैं। केवल प्रतीत होनेवाला तो मायाका कार्य है। भगवान् तो मायाशक्तिके प्रभु हैं। महापुरुषोंकी यह मान्यता सत्य है कि—

मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

(आदिपु० १९। ३५)

यह हो सकता है कि भगवान् साकाररूपसे कीर्तनमें रहकर भी किसीको न दीखें परन्तु वे कीर्तनमें स्वयं रहते हैं, इस बातपर विश्वास करना ही श्रेयस्कर है।

जब भगवान् चाहे जहाँ, जिस रूपमें भक्तके इच्छानुसार प्रकट हो सकते हैं तब भक्त अपने भगवान्का किसी भी

रूपमें ध्यान करे, फल एक ही होता है। मोरमुकुटधारी श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करे या धनुष-बाणधारी मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका करे। शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी भगवान् श्रीविष्णुका ध्यान करे या विश्वरूप विराट् परमात्माका, बात एक ही है। जिस रूपका ध्यान करे उसीको पूर्ण मानकर करना चाहिये। इसी प्रकार जप भी अपनी रुचिके अनुसार ॐ, राम, कृष्ण, हरि, नारायण, शिव आदि किसी भी भगवन्नामका करे, सबका फल एक ही है। सगुणके ध्यानकी कुछ विधि 'प्रेम भक्ति प्रकाश' और 'सच्चे सुखकी प्राप्तिके उपाय'* शीर्षक लेखोंमें हैं। वहाँ देख लेनी चाहिये।

अब यहाँ भगवान्के विश्वरूपके सम्बन्धमें कुछ कहना है। भगवान्ने अर्जुनको जो रूप दिखलाया था वह भी विश्वरूप था और वेदवर्णित भूर्भुवः स्वः रूप यह ब्रह्माण्ड भी भगवान्का विश्वरूप है। दोनों एक ही बात है। सारा विश्व ही भगवान्का स्वरूप है। स्थावरजंगम सबमें साक्षात् परमात्मा विराजमान हैं। समस्त विश्वको परमात्माका स्वरूप मानकर उसका सत्कार और सेवा करना ही विश्वरूप परमात्माका सत्कार और सेवा करना है। विश्वमें जो दोष या विकार हैं, वह सब परमात्माके स्वरूपमें नहीं हैं। ये सब बाजीगरकी लीलाके समान क्रीड़ामात्र हैं। नाम-रूप सब खेल है। भगवान् तो सदा अपने ही स्वरूपमें स्थित हैं। निराकाररूपसे तो परमात्मा बर्फमें जलकी भाँति सर्वत्र परिपूर्ण हैं, बर्फमें जलसे भिन्न अन्य कोई वस्तु नहीं है। जलकी जगह बर्फका पिण्ड दीखता है, वास्तवमें कुछ है नहीं, इसी प्रकार उस शुद्ध ब्रह्ममें यह संसार दीखता है, वस्तुतः है नहीं।

सगुणरूपसे अग्निकी तरह अव्यक्त होकर व्यापक है, सो चाहे जब साकाररूपमें प्रकट हो सकता है, यही बात ऊपर कही गयी है, इसी व्यापक परमात्माको विष्णु कहते हैं, विष्णु-शब्दका अर्थ ही व्यापक होता है।

भगवान् गुणातीत हैं, बुरे-भले सभी गुणोंसे युक्त हैं और केवल सद्गुणसम्पन्न हैं

भगवान्में कोई भी गुण नहीं, वे गुणातीत हैं, बुरे-भले सभी गुण उनमें हैं और उनमें केवल सद्गुण हैं, दुर्गुण हैं ही नहीं। ये तीनों ही बातें भगवान्के लिये कही जा सकती हैं। इस विषयको कुछ समझना चाहिये।

शुद्ध ब्रह्म निराकार चेतन विज्ञानानन्दघन सर्वव्यापी परमात्माका वास्तविक रूप सम्पूर्ण गुणोंसे सर्वथा अतीत है। जगत्के सारे गुण-अवगुण सत्, रज और तमसे बनते हैं। सत्, रज, तम तीनों गुण मायाके अन्तर्गत हैं, इसीसे उसका नाम त्रिगुणमयी माया है। इनमें सत् उत्तम है, रज मध्यम है और तम अधम है। परमात्मा इस मायासे अत्यन्त विलक्षण, सर्वथा अतीत और गुणरहित है, इसीसे उसका नाम शुद्ध है। अतएव वह गुणातीत है।

माया वास्तवमें है तो नहीं, यदि कहीं मानी जाय तो वह भी कल्पनामात्र है। यह मायाकी कल्पना परमात्माके एक अंशमें है। गुण-अवगुण सब मायामें है। इस न्यायसे सत्य, दया, त्याग, विचार और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि गुण और अवगुणोंसे युक्त यह सम्पूर्ण संसार उस परमात्मामें ही अध्यारोपित है। इसीसे सभी सद्गुण और दुर्गुण उसीमें आरोपित माने जा सकते हैं। इस स्थितिमें वह बुरे-भले सभी गुणोंसे युक्त कहा जा सकता है।

यह ब्रह्माण्ड जिसके अन्तर्गत है, वह मायाविशिष्ट ब्रह्म सृष्टिकर्ता ईश्वर शुद्ध ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, वह मायाको अपने अधीन करके प्रादुर्भूत होता है, समय-समयपर अवतार धारण करता है, इसीसे उसे मायाविशिष्ट कहते हैं। गीतामें कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥
(४।६)

जैसे अवतार होते हैं वैसे ही सृष्टिके आदिमें भी मायाको अपने अधीन करके ही भगवान् प्रकट होते हैं। इन्हींका नाम विष्णु है, ये आदिपुरुष विष्णु सर्वसत्त्वगुणसम्पन्न हैं। सत्त्वगुणकी मूर्ति हैं। सात्त्विक तेज, प्रभाव, सामर्थ्य, विभूति आदिसे विभूषित हैं। दैवी सम्पदाके गुण ही सत्त्वगुण हैं। शुद्ध सत्त्व ही उनका स्वरूप है। दुर्गुण तो रज और तममें रहते हैं, प्रेम सादृश्यता और समानतामें होता है, इसीसे जिस भक्तमें दैवी सम्पत्तिके गुण होते हैं वही भगवान्के दर्शनका उपयुक्त पात्र समझा जाता है। मायाविशिष्ट सगुण भगवान् मायाको साथ लेकर समय-समयपर अवतार धारण किया करते हैं। वे सर्वगुणसम्पन्न हैं। शुद्ध, स्वतन्त्र, प्रभु और सर्वशक्तिमान् हैं। ऐसी कोई भी बात नहीं जो वे नहीं कर सकें। इसीलिये यद्यपि उन शुद्ध सत्त्वगुणरूप सगुण साकार परमात्मामें रज और तम वास्तवमें नहीं रहते तथापि वह रज-तमका कार्य कर सकते हैं। भगवान् विष्णु दुष्टदलनरूप हिंसात्मक कार्य करते हुए दीख पड़ते हैं। मानव-दृष्टिसे उनमें हिंसा या तमकी प्रतीति होती है परन्तु वस्तुतः उनमें यह बात नहीं है। न्यायकारी होनेके कारण वे यथावश्यक कार्य करते हैं। राजा जनक मुक्त पुरुष थे, परम सात्त्विक थे, परन्तु राजा होनेके कारण न्याय

* 'प्रेम भक्ति प्रकाश' और 'सच्चे सुखकी प्राप्तिके उपाय' नामक दोनों लेख पुस्तकाकार गीताप्रेससे अलग भी मिल सकते हैं।

करना उनका काम था। चोरोंको वे दण्ड भी दिया करते थे। इसमें कोई दोषकी बात भी नहीं। माता अपने प्यारे बच्चेको शिक्षा देनेके लिये धमकाती और किसी समय आवश्यक समझकर हितभरे हृदयसे एक-आध थप्पड़ भी जमा देती है, परन्तु ऐसा करनेमें उसकी दया ही भरी रहती है। इसी प्रकार दयानिधि न्यायकारी भगवान्‌का दण्डविधान भी दयासे युक्त ही होता है। धर्मानुकूल काम भी भगवान् है। भगवान्‌ने कहा है—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥

धर्मयुक्त काम मैं हूँ, परन्तु पापयुक्त नहीं। भगवान् सत् हैं, सात्त्विक हैं, शुद्ध सत्त्व हैं। वे मायाकी शुद्ध सत्त्वविद्यासे सम्पन्न हैं। जीव अविद्यासम्पन्न है। विद्यामें ज्ञान है, प्रकाश है, वहाँ अवगुण या अन्धकार ठहर ही कैसे सकता है? अवगुण तो अविद्यामें रहते हैं। इस न्यायसे भगवान् केवल सद्‌गुणसम्पन्न हैं।

ऊपरके विवेचनसे यह सिद्ध हो गया कि परमात्मा गुणातीत, गुणागुणयुक्त और केवल सत्त्वगुणसम्पन्न कहे जा सकते हैं।

भगवान्‌का स्वरूप और निराकार-साकारकी एकता

शरीरके तीन भेद हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। जो दीख पड़ता है सो स्थूल है, जो मरनेपर साथ जाता है वह सूक्ष्म है और जो मायामें लय हो जाता है वह कारण है। शरीरके ये तीनों भेद नित्य भी देखे जाते हैं। जाग्रत्‌में स्थूल शरीर काम करता है, स्वप्नमें सूक्ष्म और सुषुप्तिमें कारण रहता है। इसी प्रकार परमात्माके भी तीन स्वरूप कहे जा सकते हैं। महाप्रलयमें रहनेवाला परमात्माका कारण स्वरूप है, सारा विश्व उसीमें लय होकर रहता है, उस समय केवल परमेश्वर और उनकी प्रकृति रहते हैं, सारे जीव प्रकृतिके अंदर लय हो जाते हैं। जीवमें भी प्रकृति-पुरुष दोनोंका अंश है। चेतनता परमात्माका अंश है और अज्ञान प्रकृतिका। मायाकी उपाधिके कारण महाप्रलयमें भी जीव मुक्त नहीं होते। उसके बाद सृष्टिके आदिमें फिर सोकर जाग उठनेके समान अपने-अपने कर्मफलानुरूप नाना रूपोंमें जाग उठते हैं। इस प्रकार महाप्रलयमें परमात्माका रूप कारण कहा जा सकता है।

परमात्माका सूक्ष्म रूप सब जगह रहता है, इसीका नाम आदिपुरुष है, सृष्टिका आदिकारण यही है, इसीका नाम पुरुषोत्तम, सृष्टिकर्ताईश्वर है।

परमात्मा स्थूलरूपसे शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी भगवान् विष्णु हैं, जो सदा नित्यधाममें विराजते हैं।

भक्तकी भावनाके अनुसार ही भगवान् बन जाते हैं। यह समस्त ब्रह्माण्ड परमात्माका शरीर है, इसीके अंदर अपना शरीर है, इस न्यायसे हम सब भी परमात्माके पेटमें हैं।

एक तत्त्वकी बात और समझनी चाहिये। जब आकाश निर्मल होता है, सूर्य उगे हुए होते हैं, उस समय सूर्यके और अपने बीचमें आकाशमें कोई चीज नहीं दीखती, परंतु वहाँ जल रहता है। यह मानना पड़ेगा कि सूर्य और अपने बीचमें जल भरा हुआ है परन्तु वह दीखता नहीं; क्योंकि वह सूक्ष्म और परमाणुरूपमें रहता है, जब उसमें घनता आती है तब क्रमशः उसका रूप स्थूल होकर व्यक्त होने लगता है। सूर्यदेवके तापसे भाप बनती है, जब भाप घन होती है तब उसके बादल बन जाते हैं, फिर उनमें जलका संचार होता है। पानीके बादल पहाड़परसे चले जाते हों, उस समय कोई वहाँ चला जाय तो वर्षा न होनेपर भी उसके कपड़े भींग जाते हैं। बादलमें जलकी घनता होनेपर बूँदें बन जाती हैं और घनता होती है तो वही ओले बनकर बरसने लगता है। फिर वह ओले या बर्फ गर्मी पहुँचते ही गलकर पानी हो जाते हैं और अधिक गर्मी होनेपर उसीकी फिर भाप बन जाती है, भाप आकाशमें उड़कर अदृश्य हो जाती है और अन्तमें जल फिर उसी परमाणु अव्यक्तरूपमें परिणत हो जाता है। इस परमाणुरूपमें स्थित जलको—अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुको सहस्रगुण स्थूल दिखलानेवाले यन्त्रसे भी कोई नहीं देख सकता। पर जल रहता अवश्य है, न रहता तो आता कहाँसे?

इस दृष्टान्तके अनुसार परमात्माका स्वरूप समझना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥

(८।३-४)

अर्जुनके सात प्रश्नोंमें छः प्रश्न ये थे कि ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, कर्म क्या है, अधिभूत क्या है, अधिदैव क्या है और अधियज्ञ क्या है? भगवान्‌ने उपर्युक्त श्लोकोंमें इनका यह उत्तर दिया कि अक्षर ब्रह्म है, स्वभाव अध्यात्म है, शास्त्रोक्त त्याग कर्म है, नाश होनेवाले पदार्थ अधिभूत हैं, समष्टिप्राणरूपसे हिरण्यगर्भ द्वितीय पुरुष अधिदैव है और निराकार व्यापक विष्णु अधियज्ञ मैं हूँ।

उपर्युक्त दृष्टान्तसे इसका दार्ष्टान्त इस प्रकार समझा जा सकता है।

(१) परमाणुरूप जलके स्थानमें—

शुद्ध सच्चिदानन्दघन गुणातीत परमात्मा, जिसमें

यह संसार न तो कभी हुआ और न है; जो केवल अतीत, परम, अक्षर है।

(२) भापरूप जल—

वही शुद्ध ब्रह्म अधियज्ञ निराकाररूपसे व्याप्त रहनेवाला मायाविशिष्ट ईश्वर।

(३) बादल—

अधिदैव, सबका प्राणाधार हिरण्यगर्भ ब्रह्मा। सत्रह तत्त्वोंके समूहको सूक्ष्म कहते हैं, इनमें प्राण प्रधान है। सबके प्राण मिलकर समष्टिप्राण हो जाते हैं, यह समष्टिप्राण प्रलयमें भी रहता है, महाप्रलयमें नहीं। यह सत्रह तत्त्वोंका समूह हिरण्यगर्भ ब्रह्माका सूक्ष्म शरीर है।

(४) जलकी लाखों-करोड़ों बूँदें—

जगत्‌के सब जीव।

(५) वर्षा—

जीवोंकी क्रिया।

(६) जलके ओले या बर्फ—

पंचभूतोंकी अत्यन्त स्थूल सृष्टि।

इस सृष्टिका स्वरूप इतना स्थूल और विनाशशील है कि जरा-सा ताप लगते ही क्षणभरमें ओलोंके गलकर पानी हो जानेके सदृश तुरंत गल जाता है। यहाँ ताप ज्ञानाग्निरूप वह प्रकाश है, जिसके पैदा होते ही स्थूल सृष्टिरूपी ओले तुरंत गल जाते हैं।

अज्ञान ही सरदी है। जितना अज्ञान होता है उतनी स्थूलता होती है और जितना ज्ञान होता है उतनी ही सूक्ष्मता होती है। जो पदार्थ जितना भारी होता है, वह उतना ही नीचे गिरता है, जितना हलका होता है उतना ही ऊपरको उठता है। अज्ञान ही बोझा है, जलके अत्यन्त स्थूल होनेपर जब वह बर्फ बन जाता है तभी उसे नीचे गिरना पड़ता है, इसी प्रकार अज्ञानके बोझसे स्थूल हो जानेपर जीवको गिरना पड़ता है।

ज्ञानरूपी तापके प्राप्त होते ही संसारका बोझ उतर जाता है और जैसे तापसे गलकर जल बननेपर और भी ताप प्राप्त होनेसे वह जल धूआँ या भाप होकर ऊपर उड़ जाता है, वैसे ही जीव भी ऊपर उठ जाता है।

जीवात्मा खास ईश्वरका स्वरूप है, परंतु जड़ता या अज्ञानसे जब यह स्थूल हो जाता है तभी इसका पतन होता है। अज्ञान ही अधःपतनका कारण है और ज्ञान ही उत्थानका कारण है। जीवात्मा एक बार शेष सीमातक उठनेपर फिर नहीं गिरता। उसके ज्ञानमें सब कुछ परमेश्वर ही हो जाता है, वास्तवमें तत्त्वसे है तो एक ही। परमाणु, भाप, बादल, बूँद, ओले सब जल ही तो हैं।

इस न्यायसे सभी वस्तुएँ एक ही परमात्मतत्त्व हैं, इसलिये भगवान् चाहे जैसे, चाहे जब, चाहे जहाँ, चाहे जिस रूपसे प्रकट हो जाते हैं। इस बातका ज्ञान होनेपर साधकको सब जगह ईश्वर ही दीखते हैं। जलका तत्त्व समझ लेनेपर सब जगह जल ही दीखता है, वही परमाणुमें और वही ओलोंमें। अत्यन्त सूक्ष्ममें भी वही और अत्यन्त स्थूलमें भी वही। इसी प्रकार सूक्ष्म और स्थूलमें वही एक परमात्मा है। '**अणोरणीयान् महतो महीयान्।**' यही निराकार-साकारकी एकरूपता है।

अज्ञानसे अहंकार बढ़ता है, जितना अहंकार अधिक होता है उतना ही वह सांसारिक वस्तुओंको अधिक ग्रहण करता है। जितना सांसारिक बोझ अधिक होगा उतना ही वह नीचे जायगा। गुण तीन हैं, इनमें तमोगुण सबसे भारी है, इसीसे तमोगुणी पुरुष नीचे जाता है। रजोगुण समान है, इससे रजोगुणी बीचमें मनुष्यादिमें रह जाता है। सत्त्वगुण हलका है, इससे सत्त्वगुणी परमात्माकी ओर ऊपरको उठता है—

'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः'
'मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः'
'अधो गच्छन्ति तामसाः'

हलकी चीज ऊपर तैरती है, भारी डूब जाती है। आसुरी सम्पदा तमोगुणका स्वरूप है इसलिये वह नीचे ले जाती है, सत्त्वगुण हलका होनेसे ऊपरको उठाता है। दैवी सम्पदा ही सत्त्वगुण है, यही ईश्वरकी सम्पत्ति है। यह सम्पत्ति ज्यों-ज्यों बढ़ती है त्यों-ही-त्यों साधक ऊपर उठता है, यानी परमात्माके समीप पहुँचता है।

इस तरहसे स्थूल और सूक्ष्ममें उस एक ही परमात्माको व्यापक समझना चाहिये।

परमात्मा व्यापकरूपसे सबको देखते और जानते हैं।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

(गीता १३। १३)

वह ज्ञेय कैसा है? सब ओरसे हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर तथा मुखवाला एवं सब ओरसे कानवाला है। ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ वह न हो, ऐसा कोई शब्द नहीं जिसे वह न सुनता हो, ऐसा कोई दृश्य नहीं जिसे वह न देखता हो, ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे वह न ग्रहण करता हो और ऐसी कोई जगह नहीं जहाँ वह न पहुँचता हो।

हम यहाँ प्रसाद लगाते हैं तो वह तुरंत खाता है। हम यहाँ स्तुति करते हैं तो वह सुनता है। हमारी प्रत्येक क्रियाको वह देखता है परन्तु हम उसे नहीं देख सकते। इसपर यह प्रश्न होता है कि एक ही पुरुषकी सब जगह सब इन्द्रियाँ कैसे रहती हैं? आँख है, वहाँ नाक कैसे हो सकती है?

इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि यह बात तो ठीक है, परन्तु परमात्मा इससे विलक्षण है। वह कुछ अलौकिक शक्ति है, उसमें सब कुछ सम्भव है। मान लीजिये, एक सोनेका ढेला है, उसमें कड़े, बाजूबंद, कण्ठी आदि सभी गहने सभी जगह हैं। जहाँ इच्छा हो वहींसे सब चीजें मिल सकती हैं, इसी प्रकार वह एक ऐसी वस्तु है जिसमें सब जगह सभी वस्तुएँ व्यापक हैं, सभी उसमेंसे निकल सकती हैं, वह सब जगहकी और सबकी बातोंको एक साथ सुन सकता है और सबको एक साथ देख सकता है।

स्वप्नमें आँख, कान, नाक वगैरह न होनेपर भी अन्तःकरण स्वयं सब क्रियाओंको आप ही करता और आप ही देखता-सुनता है। द्रष्टा, दर्शन और दृश्य सभी कुछ बन जाता है, इसी प्रकार ईश्वरीय शक्ति भी बड़ी विलक्षण है, वह सब जगह सब कुछ करनेमें सर्वथा समर्थ है। यही तो उसका ईश्वरत्व और विराट् स्वरूप है।

साकाररूप उस परमेश्वरका समस्त ब्रह्माण्ड शरीर है, जैसे बर्फ जलका शरीर है परन्तु उससे अलग नहीं है। इसी प्रकार क्या संसार भी वस्तुतः ऐसा ही है? क्या शरीर भी परमात्मा है?

इसके उत्तरमें यही कहना पड़ता है कि है भी और नहीं भी। इस शरीरकी कोई सेवा करता या आराम पहुँचाता है, तब मैं उसे अपनी सेवा और अपनेको आराम पहुँचता है, ऐसा मानता हूँ परन्तु वस्तुतः मैं शरीर नहीं हूँ; मैं आत्मा हूँ, पर जबतक मैं इस साढ़े तीन हाथकी देहको 'मैं' मानता हूँ, तबतक वह मैं हूँ। इस स्थितिमें चराचर ब्रह्माण्ड ईश्वर है, सबको उसकी सेवा करनी चाहिये, उसकी सेवा ही ईश्वरकी सेवा है, संसारको सुख पहुँचाना ही परमात्माको सुख पहुँचाना है और जब मैं यह शरीर नहीं हूँ, तब यह ब्रह्माण्डरूपी शरीर भी ईश्वर नहीं है। यह अपना शरीर है तभीतक वह उसका शरीर है। हम सब उनके अंश हैं तो वह अंशी हैं। वास्तवमें अन्तमें हम आत्मा ही ठहरते हैं, शरीर नहीं। परन्तु जबतक ऐसा नहीं है तबतक इसी चालसे चलना चाहिये। यथार्थ ज्ञान होनेपर तो एक शुद्ध ब्रह्म ही रह जायगा।

इस न्यायसे निराकार-साकार सब एक ही वस्तु है। जगत् परमेश्वरमें अध्यारोपित है। महात्मालोग ऐसा ही कहते हैं जैसे रज्जुमें सर्पकी प्रतीतिमात्र है, वास्तवमें है नहीं। स्वप्नका संसार अपनेमें प्रतीत होता है, मृगतृष्णाका जल या आकाशमें तिरमिरे प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार परमात्मामें संसारकी प्रतीति होती है इस बातको महात्मा पुरुष ही जानते हैं। जागनेपर जागनेवालेको ही स्वप्नके संसारकी असारताका यथार्थ ज्ञान होता है। जबतक यह बात जाननेमें नहीं आती तबतक उपाय करना चाहिये। उपाय यह है—

निराकार और साकार किसी भी रूपका ध्यान करनेपर जो एक ही परम वस्तु उपलब्ध होती है, उस परमेश्वरकी सब प्रकारसे शरण होकर इन्द्रिय और शरीरसे उसकी सेवा करना, मनसे उसे स्मरण करना, श्वाससे उसका नामोच्चारण करना, कानोंसे उसका प्रभाव सुनना और शरीरसे उसकी इच्छानुसार चलना यही उसकी सेवा है, यही असली भक्ति है और इसीसे आत्माका शीघ्र कल्याण हो सकता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

त्यागसे भगवत्-प्राप्ति

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥

गृहस्थाश्रममें रहता हुआ भी मनुष्य त्यागके द्वारा परमात्माको प्राप्तकर सकता है। परमात्माको प्राप्त करनेके लिये 'त्याग' ही मुख्य साधन है। अतएव सात श्रेणियोंमें विभक्त करके त्यागके लक्षण संक्षेपमें लिखे जाते हैं।

(१) निषिद्ध कर्मोंका सर्वथा त्याग।

चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, जबरदस्ती, हिंसा, अभक्ष्यभोजन और प्रमाद आदि शास्त्रविरुद्ध नीच कर्मोंको मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी न करना, यह पहली श्रेणीका त्याग है।

(२) काम्य कर्मोंका त्याग।

स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे एवं रोग-संकटादिकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप और उपासनादि सकाम कर्मोंको अपने स्वार्थके लिये न करना*, यह दूसरी श्रेणीका त्याग है।

(३) तृष्णाका सर्वथा त्याग।

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं स्त्री, पुत्र और धनादि जो

* यदि कोई लौकिक अथवा शास्त्रीय ऐसा कर्म संयोगवश प्राप्त हो जाय जो कि स्वरूपसे तो सकाम हो, परन्तु उसके न करनेसे किसीको कष्ट पहुँचता हो या कर्म-उपासनाकी परम्परामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो स्वार्थका त्याग करके केवल लोकसंग्रहके लिये उसका कर लेना सकाम कर्म नहीं है।

कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए हों, उनके बढ़नेकी इच्छाको भगवत्प्राप्तिमें बाधक समझकर उसका त्याग करना, यह तीसरी श्रेणीका त्याग है।

(४) स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेका त्याग।

अपने सुखके लिये किसीसे भी धनादि पदार्थोंकी अथवा सेवा करानेकी याचना करना एवं बिना याचनाके दिये हुए पदार्थोंको या की हुई सेवाको स्वीकार करना तथा किसी प्रकार भी किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी मनमें इच्छा रखना इत्यादि जो स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेके भाव हैं, उन सबका त्याग करना*, यह चौथी श्रेणीका त्याग है।

(५) सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंमें आलस्य और फलकी इच्छाका सर्वथा त्याग।

ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार आजीविकाद्वारा गृहस्थका निर्वाह एवं शरीर-सम्बन्धी खान-पान इत्यादि जितने कर्तव्यकर्म हैं, उन सबमें आलस्यका और सब प्रकारकी कामनाका त्याग करना।

(क) ईश्वर-भक्तिमें आलस्यका त्याग।

अपने जीवनका परम कर्तव्य मानकर परम दयालु, सबके सुहृद्, परम प्रेमी, अन्तर्यामी परमेश्वरके गुण, प्रभाव और प्रेमकी रहस्यमयी कथाका श्रवण, मनन और पठन-पाठन करना तथा आलस्यरहित होकर उनके परम पुनीत नामका उत्साहपूर्वक ध्यानसहित निरन्तर जप करना।

(ख) ईश्वर-भक्तिमें कामनाका त्याग।

इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंको क्षणभंगुर, नाशवान् और भगवान्‌की भक्तिमें बाधक समझकर किसी भी वस्तुकी प्राप्तिके लिये न तो भगवान्‌से प्रार्थना करना और न मनमें इच्छा ही रखना तथा किसी प्रकारका संकट आ जानेपर भी उसके निवारणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना न करना अर्थात् हृदयमें ऐसा भाव रखना कि प्राण भले ही चले जायँ, परंतु इस मिथ्या जीवनके लिये विशुद्ध भक्तिमें कलंक लगाना उचित नहीं है। जैसे भक्त प्रह्लादने पिताद्वारा बहुत सताये जानेपर भी अपने कष्टनिवारणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना नहीं की।

अपना अनिष्ट करनेवालोंको भी 'भगवान् तुम्हारा बुरा करें' इत्यादि किसी प्रकारके कठोर शब्दोंसे शाप न देना और उनका अनिष्ट होनेकी मनमें इच्छा भी न रखना।

भगवान्‌की भक्तिके अभिमानमें आकर किसीको वरदानादि भी न देना, जैसे कि 'भगवान् तुम्हें आरोग्य करें', 'भगवान् तुम्हारा दुःख दूर करें', 'भगवान् तुम्हारी आयु बढ़ावें' इत्यादि।

पत्र-व्यवहारमें भी सकाम शब्दोंका न लिखना अर्थात् जैसे 'अठे उठे श्रीठाकुरजी सहाय छै', 'ठाकुरजी बिक्री चलासी', 'ठाकुरजी वर्षा करसी' 'ठाकुरजी आराम करसी' इत्यादि सांसारिक वस्तुओंके लिये ठाकुरजीसे प्रार्थना करनेके रूपमें सकाम शब्द मारवाड़ी समाजमें प्रायः लिखे जाते हैं, वैसे न लिखकर 'श्रीपरमात्मदेव आनन्दरूपसे सर्वत्र विराजमान हैं', 'श्रीपरमेश्वरका भजन सार है' इत्यादि निष्काम मांगलिक शब्द लिखना तथा इसके सिवाय अन्य किसी प्रकारसे भी लिखने, बोलने आदिमें सकाम शब्दोंका प्रयोग न करना।

(ग) देवताओंके पूजनमें आलस्य और कामनाका त्याग।

शास्त्र-मर्यादासे अथवा लोक-मर्यादासे पूजनेके योग्य देवताओंको पूजनेका नियत समय आनेपर उनका पूजन करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा है एवं भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना परम कर्तव्य है, ऐसा समझकर उत्साहपूर्वक विधिके सहित उनका पूजन करना एवं उनसे किसी प्रकारकी भी कामना न करना।

उनके पूजनके उद्देश्यसे रोकड़, बहीखाते आदिमें भी सकाम शब्द न लिखना अर्थात् जैसे मारवाड़ी समाजमें नये बसनेके दिन अथवा दीपमालिकाके दिन श्रीलक्ष्मीजीका पूजन करके 'श्रीलक्ष्मीजी लाभ मोकलो देसी', 'भण्डार भरपूर राखसी', 'ऋद्धि-सिद्धि करसी', 'श्रीकालीजीके आसरे', 'श्रीगंगाजीके आसरे' इत्यादि बहुत-से सकाम शब्द लिखे जाते हैं, वैसे न लिखकर 'श्रीलक्ष्मीनारायणजी सब जगह आनन्दरूपसे विराजमान हैं' तथा 'बहुत आनन्द और उत्साहके सहित श्रीलक्ष्मीजीका पूजन किया' इत्यादि निष्काम मांगलिक शब्द लिखना और नित्य रोकड़, नकल आदिके आरम्भ करनेमें भी उपरोक्त रीतिसे ही लिखना।

(घ) माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवामें आलस्य और कामनाका त्याग।

माता, पिता, आचार्य एवं और भी जो पूजनीय पुरुष

* यदि कोई ऐसा अवसर योग्यतासे प्राप्त हो जाय कि शरीरसम्बन्धी सेवा अथवा भोजनादि पदार्थोंके स्वीकार न करनेसे किसीको कष्ट पहुँचता हो या लोकशिक्षामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो उस अवसरपर स्वार्थका त्याग करके केवल उनकी प्रीतिके लिये सेवादिका स्वीकार करना दोषयुक्त नहीं है; क्योंकि स्त्री, पुत्र और नौकर आदिसे की हुई सेवा एवं बन्धु-बान्धव और मित्र आदिद्वारा दिये हुए भोजनादि पदार्थ स्वीकार न करनेसे उनको कष्ट होना एवं लोक-मर्यादामें बाधा पड़ना सम्भव है।

वर्ण, आश्रम, अवस्था और गुणोंमें किसी प्रकार भी अपनेसे बड़े हों उन सबकी सब प्रकारसे नित्य सेवा करना और उनको नित्य प्रणाम करना मनुष्यका परम कर्तव्य है, इस भावको हृदयमें रखते हुए आलस्यका सर्वथा त्याग करके, निष्कामभावसे उत्साहपूर्वक भगवदाज्ञानुसार उनकी सेवा करनेमें तत्पर रहना।

(ङ) यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग।

पंच महायज्ञादि* नित्यकर्म एवं अन्यान्य नैमित्तिक कर्मरूप यज्ञादिका करना तथा अन्न, वस्त्र, विद्या, औषध और धनादि पदार्थोंके दानद्वारा सम्पूर्ण जीवोंको यथायोग्य सुख पहुँचानेके लिये मन, वाणी और शरीरसे अपनी शक्तिके अनुसार चेष्टा करना तथा अपने धर्मका पालन करनेके लिये हर प्रकारसे कष्ट सहन करना इत्यादि शास्त्रविहित कर्मोंमें इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंकी कामनाका सर्वथा त्याग करके एवं अपना परम कर्तव्य मानकर श्रद्धासहित उत्साहपूर्वक भगवदाज्ञानुसार केवल भगवदर्थ ही उनका आचरण करना।

(च) आजीविकाद्वारा गृहस्थ-निर्वाहके उपयुक्त कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग।

आजीविकाके कर्म जैसे वैश्यके लिये कृषि, गोरक्ष्य और वाणिज्य आदि कहे हैं, वैसे ही जो अपने-अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार शास्त्रमें विधान किये गये हों, उन सबके पालनद्वारा संसारका हित करते हुए ही गृहस्थका निर्वाह करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा है। इसलिये अपना कर्तव्य मानकर लाभ-हानिको समान समझते हुए सब प्रकारकी कामनाओंका त्याग करके उत्साहपूर्वक उपरोक्त कर्मोंका करना† ।

(छ) शरीरसम्बन्धी कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग।

शरीर-निर्वाहके लिये शास्त्रोक्त रीतिसे भोजन, वस्त्र और औषधादिके सेवनरूप जो शरीरसम्बन्धी कर्म हैं, उनमें सब प्रकारके भोगविलासोंकी कामनाका त्याग करके एवं सुख-दुःख, लाभ-हानि और जीवन-मरण आदिको समान समझकर केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही योग्यताके अनुसार उनका आचरण करना।

पूर्वोक्त चार श्रेणियोंके त्यागसहित इस पाँचवीं श्रेणीके त्यागानुसार सम्पूर्ण दोषोंका और सब प्रकारकी कामनाओंका नाश होकर केवल एक भगवत्प्राप्तिकी ही तीव्र इच्छाका होना ज्ञानकी पहली भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण समझने चाहिये।

(६) संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग।

धन, भवन और वस्त्रादि सम्पूर्ण वस्तुएँ तथा स्त्री, पुत्र और मित्रादि सम्पूर्ण बान्धवजन एवं मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा इत्यादि इस लोकके और परलोकके जितने विषयभोगरूप पदार्थ हैं, उन सबको क्षणभंगुर और नाशवान् होनेके कारण अनित्य समझकर उनमें ममता और आसक्तिका न रहना तथा केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही अनन्यभावसे विशुद्ध प्रेम होनेके कारण मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें और शरीरमें भी ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना, यह छठी श्रेणीका त्याग है‡ ।

उक्त छठी श्रेणीके त्यागको प्राप्त हुए पुरुषोंका संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें वैराग्य होकर केवल एक परम प्रेममय भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम हो जाता है। इसलिये उनको भगवान्‌के गुण, प्रभाव और रहस्यसे भरी हुई विशुद्ध प्रेमके विषयकी कथाओंका सुनना-सुनाना और मनन करना तथा एकान्त देशमें रहकर निरन्तर भगवान्‌का भजन, ध्यान और शास्त्रोंके मर्मका विचार करना ही प्रिय लगता है। विषयासक्त मनुष्योंमें रहकर हास्य, विलास, प्रमाद, निन्दा, विषयभोग और व्यर्थ वार्तादिमें अपने अमूल्य समयका एक

* पंच महायज्ञ यह हैं—देवयज्ञ (अग्निहोत्रादि), ऋषियज्ञ (वेदपाठ, सन्ध्या, गायत्रीजपादि), पितृयज्ञ (तर्पण-श्राद्धादि), मनुष्ययज्ञ (अतिथिसेवा) और भूतयज्ञ (बलिवैश्व)।

† उपरोक्त भावसे करनेवाले पुरुषके कर्म लोभसे रहित होनेके कारण उनमें किसी प्रकारका भी दोष नहीं आ सकता; क्योंकि आजीविकाके कर्मोंमें लोभ ही विशेषरूपसे पाप करानेका हेतु है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि 'गीताप्रेस, गोरखपुर' से प्रकाशित साधारण भाषाटीका गीता अध्याय १८ श्लोक ४४ की टिप्पणीमें जैसे वैश्यके प्रति वाणिज्यके दोषोंका त्याग करनेके लिये विस्तारपूर्वक लिखा है, उसी प्रकार अपने-अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार सम्पूर्ण कर्मोंमें सब प्रकारके दोषोंका त्याग करके केवल भगवान्‌की आज्ञा समझकर भगवान्‌के लिये निष्कामभावसे ही सम्पूर्ण कर्मोंका आचरण करे।

‡ सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छाका त्याग तो तीसरी और पाँचवीं श्रेणीके त्यागमें कहा गया परन्तु उपर्युक्त त्यागके होनेपर भी उनमें ममता और आसक्ति शेष रह जाती है। जैसे भजन, ध्यान और सत्संगके अभ्याससे भरतमुनिका सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छाका त्याग होनेपर भी हरिणमें और हरिणके पालनरूप कर्ममें ममता और आसक्ति बनी रही। इसलिये संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिके त्यागको छठी श्रेणीका त्याग कहा है।

क्षण भी बिताना अच्छा नहीं लगता एवं उनके द्वारा सम्पूर्ण कर्तव्यकर्म भगवान्‌के स्वरूप और नामका मनन रहते हुए ही बिना आसक्तिके केवल भगवदर्थ होते हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिका त्याग होकर केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही विशुद्ध प्रेमका होना ज्ञानकी दूसरी भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण समझने चाहिये।

(७) संसार, शरीर और सम्पूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासना और अहंभावका सर्वथा त्याग।

संसारके सम्पूर्ण पदार्थ मायाके कार्य होनेसे सर्वथा अनित्य हैं और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण हैं; ऐसा दृढ़ निश्चय होकर शरीरसहित संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और सम्पूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासनाका सर्वथा अभाव हो जाना अर्थात् अन्तःकरणमें उनके चित्रोंका संस्काररूपसे भी न रहना एवं शरीरमें अहंभावका सर्वथा अभाव होकर मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका लेशमात्र भी न रहना, यह सातवीं श्रेणीका त्याग है*।

इस सातवीं श्रेणीके त्यागरूप पर-वैराग्यको† प्राप्त हुए पुरुषोंके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ सम्पूर्ण संसारसे अत्यन्त उपराम हो जाती हैं। यदि किसी कालमें कोई सांसारिक फुरना हो भी जाती है तो भी उसके संस्कार नहीं जमते; क्योंकि उनकी एक सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्यभावसे गाढ़ स्थिति निरन्तर बनी रहती है।

इसलिये उनके अन्तःकरणमें सम्पूर्ण अवगुणोंका अभाव होकर अहिंसा १, सत्य २, अस्तेय ३, ब्रह्मचर्य ४, अपैशुनता ५, लज्जा, अमानित्व ६, निष्कपटता, शौच ७, संतोष ८, तितिक्षा ९, सत्संग, सेवा, यज्ञ, दान, तप १०, स्वाध्याय ११, शम १२, दम १३, विनय, आर्जव १४, दया १५, श्रद्धा १६, विवेक १७, वैराग्य १८, एकान्तवास, अपरिग्रह १९, समाधान २०, उपरामता, तेज २१, क्षमा

---

* सम्पूर्ण संसारके पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छाका एवं ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव होनेपर भी उनमें सूक्ष्म वासना और कर्तृत्व-अभिमान शेष रह जाता है। इसलिये सूक्ष्म वासना और अहंभावके त्यागको सातवीं श्रेणीका त्याग कहा है।

† पूर्वोक्त छठी श्रेणीके त्यागको प्राप्त हुए पुरुषकी तो विषयोंका विशेष संसर्ग होनेसे कदाचित् उनमें कुछ आसक्ति हो भी सकती है, परन्तु इस सातवीं श्रेणीके त्यागी पुरुषका विषयोंके साथ संसर्ग होनेपर भी उनमें आसक्ति नहीं हो सकती; क्योंकि उसके निश्चयमें एक परमात्माके सिवा अन्य कोई वस्तु रहती ही नहीं, इसलिये इस त्यागको पर-वैराग्य कहा है।

१. मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार किसीको कष्ट न देना।

२. अन्तःकरण और इन्द्रियोंके द्वारा जैसा निश्चय किया हो, वैसे-का-वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहना।

३. चोरीका सर्वथा अभाव।

४. आठ प्रकारके मैथुनोंका अभाव।

५. किसीकी भी निन्दा न करना।

६. सत्कार, मान और पूजादिका न चाहना।

७. बाहर और भीतरकी पवित्रता (सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी और उसके अन्नसे आहारकी एवं यथायोग्य बर्तावसे आचरणोंकी और जल-मृत्तिकादिसे शरीरकी शुद्धिको तो बाहरकी शुद्धि कहते हैं और राग, द्वेष तथा कपटादि विकारोंका नाश होकर अन्तःकरणका स्वच्छ और शुद्ध हो जाना, भीतरकी शुद्धि कहलाती है।)

८. तृष्णाका सर्वथा अभाव।

९. शीत-उष्ण, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंका सहन करना।

१०. स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहना।

११. वेद और सत्शास्त्रोंका अध्ययन एवं भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन।

१२. मनका वशमें होना।

१३. इन्द्रियोंका वशमें होना।

१४. शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता।

१५. दुःखियोंमें करुणा।

१६. वेद, शास्त्र, महात्मा, गुरु और परमेश्वरके वचनोंमें प्रत्यक्षके सदृश विश्वास।

१७. सत् और असत् पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान।

१८. ब्रह्मलोकतकके सम्पूर्ण पदार्थोंमें आसक्तिका अत्यन्त अभाव।

१९. ममत्वबुद्धिसे संग्रहका अभाव।

२०. अन्तःकरणमें संशय और विक्षेपका अभाव।

२१. श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिका नाम तेज है कि जिसके प्रभावसे विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः पापाचरणसे रुककर उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं।

२२, धैर्य २३, अद्रोह २४, अभय २५, निरहंकारता, शान्ति २६ और ईश्वरमें अनन्यभक्ति इत्यादि सद्‌गुणोंका आविर्भाव स्वभावसे ही हो जाता है।

इस प्रकार शरीरसहित सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें वासना और अहंभावका अत्यन्त अभाव होकर एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें ही एकीभावसे नित्य-निरन्तर दृढ़ स्थिति रहना ज्ञानकी तीसरी भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं।

उपरोक्त गुणोंमेंसे कितने ही तो पहली और दूसरी भूमिकामें ही प्राप्त हो जाते हैं परन्तु सम्पूर्ण गुणोंका आविर्भाव तो प्रायः तीसरी भूमिकामें ही होता है। क्योंकि यह सब भगवत्-प्राप्तिके अति समीप पहुँचे हुए पुरुषोंके लक्षण एवं भगवत्-स्वरूपके साक्षात् ज्ञानमें हेतु हैं; इसलिये श्रीकृष्णभगवान्‌ने प्रायः इन्हीं गुणोंको श्रीगीताजीके १३वें अध्यायमें (श्लोक ७ से ११ तक) ज्ञानके नामसे तथा १६ वें अध्यायमें (श्लोक १ से ३ तक) दैवी सम्पदाके नामसे कहा है।

तथा उक्त गुणोंको शास्त्रकारोंने सामान्य धर्म माना है, इसलिये मनुष्यमात्रका ही इनमें अधिकार है, अतएव उपरोक्त सद्‌गुणोंका अपने अन्तःकरणमें आविर्भाव करनेके लिये सभीको भगवान्‌के शरण होकर विशेषरूपसे प्रयत्न करना चाहिये।

उपसंहार

इस लेखमें सात श्रेणियोंके त्यागद्वारा भगवत्प्राप्तिका होना कहा गया है। उनमें पहली ५ श्रेणियोंके त्यागतक तो ज्ञानकी प्रथम भूमिकाके लक्षण और छठी श्रेणीके त्यागतक दूसरी भूमिकाके लक्षण तथा सातवीं श्रेणीके त्यागतक तीसरी भूमिकाके लक्षण बताये गये हैं। उक्त तीसरी भूमिकाके परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुआ पुरुष तत्काल ही सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। फिर उसका इस क्षणभंगुर, नाशवान्, अनित्य संसारसे कुछ सम्बन्ध नहीं रहता, अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगे हुए पुरुषका स्वप्नके संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, वैसे ही अज्ञान-निद्रासे जगे हुए पुरुषका भी मायाके कार्यरूप अनित्य संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। यद्यपि लोक-दृष्टिमें उस ज्ञानी पुरुषके शरीरद्वारा प्रारब्धसे सम्पूर्ण कर्म होते हुए दिखायी देते हैं एवं उन कर्मोंद्वारा संसारमें बहुत ही लाभ पहुँचता है; क्योंकि कामना, आसक्ति और कर्तृत्व-अभिमानसे रहित होनेके कारण उस महात्माके मन, वाणी और शरीरद्वारा किये हुए आचरण लोकमें प्रमाणस्वरूप समझे जाते हैं और ऐसे पुरुषोंके भावसे ही शास्त्र बनते हैं, परंतु यह सब होते हुए भी वह सच्चिदानन्दघन वासुदेवको प्राप्त हुआ पुरुष तो इस त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत ही है। इसलिये वह न तो गुणोंके कार्यरूप प्रकाश, प्रवृत्ति और निद्रा आदिके प्राप्त होनेपर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकांक्षा ही करता है; क्योंकि सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान और निन्दा-स्तुति आदिमें एवं मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण आदिमें सर्वत्र उसका समभाव हो जाता है, इसलिये उस महात्माको न तो किसी प्रिय वस्तुकी प्राप्ति और अप्रियकी निवृत्तिमें हर्ष होता है, न किसी अप्रियकी प्राप्ति और प्रियके वियोगमें शोक ही होता है। यदि उस धीर पुरुषका शरीर किसी कारणसे शस्त्रोंद्वारा काटा भी जाय या उसको कोई अन्य प्रकारका भारी दुःख आकर प्राप्त हो जाय तो भी वह सच्चिदानन्दघन वासुदेवमें अनन्यभावसे स्थित हुआ पुरुष उस स्थितिसे चलायमान नहीं होता; क्योंकि उसके अन्तःकरणमें सम्पूर्ण संसार मृगतृष्णाके जलकी भाँति प्रतीत होता है और एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीका भी होनापना नहीं भासता। विशेष क्या कहा जाय, वास्तवमें उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषका भाव वह स्वयं ही जानता है। मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा प्रकट करनेके लिये किसीकी भी सामर्थ्य नहीं है। अतएव जितना शीघ्र हो सके अज्ञाननिद्रासे चेतकर उक्त सात श्रेणियोंमें कहे हुए त्यागद्वारा परमात्माको प्राप्त करनेके लिये सत्पुरुषोंकी शरण ग्रहण करके उनके कथनानुसार साधन करनेमें तत्पर होना चाहिये; क्योंकि यह अतिदुर्लभ मनुष्यका शरीर बहुत जन्मोंके अन्तमें परम दयालु भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है। इसलिये नाशवान् क्षणभंगुर संसारके अनित्य भोगोंको भोगनेमें अपने जीवनका अमूल्य समय नष्ट नहीं करना चाहिये।

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्

शान्तिः शान्तिः शान्तिः

---

२२. अपना अपराध करनेवालेको किसी प्रकार भी दण्ड देनेका भाव न रखना।

२३. भारी विपत्ति आनेपर भी अपनी स्थितिसे चलायमान न होना।

२४. अपने साथ द्वेष रखनेवालोंमें भी द्वेषका न होना।

२५. सर्वथा भयका अभाव।

२६. इच्छा और वासनाओंका अत्यन्त अभाव होना और अन्तःकरणमें नित्य-निरन्तर प्रसन्नताका रहना।

शरणागति

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८। ६२)

मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य आत्यन्तिक आनन्दकी प्राप्ति है, आत्यन्तिक आनन्द परमात्मामें है अतएव परमात्माकी प्राप्ति ही मनुष्य-जीवनका एकमात्र उद्देश्य है। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये शास्त्रकारों और महात्माओंने अधिकारीके अनुसार अनेक उपाय और साधन बतलाये हैं, परन्तु विचार करनेपर उन समस्त साधनोंमें परमात्माकी शरणागतिके समान सरल, सुगम, सुखसाध्य साधन अन्य कोई-सा भी नहीं प्रतीत होता। इसीलिये प्रायः सभी शास्त्रोंमें इसकी प्रशंसा की गयी है। श्रीमद्भगवद्गीतामें तो उपदेशका आरम्भ और पर्यवसान दोनों ही शरणागतिमें होते हैं। पहले अर्जुन '**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**' (गीता २। ७) 'मैं आपका शिष्य हूँ, शरणागत हूँ, मुझे यथार्थ उपदेश दीजिये' ऐसा कहता है, तब भगवान् उपदेशका आरम्भ करते हैं और अन्तमें उपदेशका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल मुझ एक सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता न कर।

इससे पहले भी भगवान्ने शरणागतिको जितना महत्त्व दिया है उतना अन्य किसी भी साधनाको नहीं दिया। जाति या आचरणसे कोई कैसा भी नीच या पापी क्यों न हो, भगवान्की शरणमात्रसे ही वह अनायास परमगतिको प्राप्त हो जाता है।

भगवान्ने कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९। ३२)

हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्रादि और पापयोनिवाले भी जो कोई होवें, वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त होते हैं।

श्रुति कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥

(कठ० १। २। १६-१७)

यह अक्षर ही ब्रह्मस्वरूप है, यह अक्षर ही पररूप है, इस अक्षरको ही जानकर जो पुरुष जैसी इच्छा करता है, उसको वह ही प्राप्त होता है। इस अक्षरका आश्रय (शरण) श्रेष्ठ है। यह आश्रय सर्वोत्कृष्ट है, इस आश्रयको जानकर (वह) ब्रह्मलोकमें पूजित होता है।

महर्षि पतंजलि अन्यान्य सब उपायोंसे इसीको सुगम बतलाते हुए कहते हैं—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा॥ (योगदर्शन १। २३)

ईश्वरकी शरणागतिसे समाधिकी प्राप्ति होती है। आगे चलकर पतंजलि इसका फल बतलाते हैं—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥

(योगदर्शन १। २९)

उस ईश्वरप्रणिधानसे परमात्माकी प्राप्ति और (साधनमें आनेवाले) सम्पूर्ण विघ्नोंका भी अत्यन्त अभाव हो जाता है।

भगवान् श्रीरामने घोषणा की है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा० रा० ६। १८। ३३)

यह तो प्रमाणोंका केवल दिग्दर्शनमात्र है। शास्त्रोंमें शरणागतिकी महिमाके असंख्य प्रमाण वर्तमान हैं। परंतु विचारणीय विषय तो यह है कि शरणागति वास्तवमें किसे कहते हैं। केवल मुखसे कह देना कि 'हे भगवन्! मैं आपके शरण हूँ' शरणागतिका स्वरूप नहीं है। साधारणतया शरणागतिका अर्थ किया जाता है मन, वाणी और शरीरको सर्वतोभावसे भगवान्के अर्पण कर देना, परन्तु यह अर्पण भी केवल '**श्रीकृष्णार्पणमस्तु**' कह देनेमात्रसे सिद्ध नहीं हो सकता। यदि इसीमें अर्पणकी सिद्धि होती तो अबतक न मालूम कितने भगवान्के शरणागत भक्त हो गये होते, इसलिये अब यह समझना चाहिये कि अर्पण किसे कहते हैं।

शरण, आश्रय, अनन्यभक्ति, अव्यभिचारिणी भक्ति, अवलम्बन, निर्भरता और आत्मसमर्पण आदि शब्द प्रायः एक ही अर्थके बोधक हैं।

एक परमात्माके सिवा किसीका किसी भी कालमें कुछ भी सहारा न समझकर लज्जा, भय, मान, बड़ाई और

आसक्तिको त्यागकर, शरीर और संसारमें अहंता-ममतासे रहित होकर, केवल एक परमात्माको ही अपना परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझना तथा अनन्य भावसे, अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना और भगवान्‌का भजन-स्मरण करते हुए ही उनके आज्ञानुसार समस्त कर्तव्य-कर्मोंका निःस्वार्थभावसे केवल भगवान्‌के लिये ही आचरण करते रहना, यही 'सब प्रकारसे परमात्माके अनन्यशरण' होना है।

इस शरणागतिमें प्रधानतः चार बातें साधकके लिये समझनेकी हैं—

(१) सब कुछ परमात्माका समझकर उसके अर्पण करना।

(२) उसके प्रत्येक विधानमें परम सन्तुष्ट रहना।

(३) उसके आज्ञानुसार उसीके लिये समस्त कर्तव्य-कर्म करना।

(४) नित्य-निरन्तर स्वाभाविक ही उसका एकतार स्मरण रखना।

इन चारोंपर कुछ विस्तारसे विचार कीजिये।

सर्वस्व अर्पण

सब कुछ परमात्माके अर्पण कर देनेका अर्थ घर-द्वार छोड़कर संन्यासी हो जाना या कर्तव्यकर्मोंका त्याग कर कर्महीन हो बैठना नहीं है। सांसारिक वस्तुओंपर हमने भूलसे जो ममता आरोपित कर रखी है यानी उनमें जो अपनापन है उसे उठा देना। यही उसकी वस्तु उसके अर्पण कर देना है। वस्तुएँ तो उसीकी हैं, हमसे छिन भी जाती हैं परन्तु हम उन्हें भ्रमसे अपनी मान लेते हैं, इसीसे छिननेके समय हमें रोना भी पड़ता है।

एक धनी सेठका बड़ा कारोबार है, उसपर एक मुनीम काम करता है। सेठने उसको ईमानदार और कर्तव्यपरायण समझकर सम्पत्तिकी रक्षा, व्यापारके संचालन और नियमानुसार व्यवहार करनेका सारा भार सौंप रखा है। अब मुनीमका यही काम है कि वह मालिककी किसी भी वस्तुपर अपना किंचित् भी अधिकार न समझकर, किसीपर ममता या अहंकार न रखकर मालिककी आज्ञा और उसकी नियत की हुई विधिके अनुसार समस्त कार्य बड़ी दक्षता, सावधानी और ईमानदारीके साथ करता रहे। करोड़ोंका लेन-देन करे, करोड़ोंकी सम्पत्तिपर मालिककी भाँति अपनी सँभाल रखे, मालिकके नामसे हस्ताक्षर करे, परन्तु अपना कुछ भी न समझे। मूल-धन मालिकका, कारोबारमें होनेवाला मुनाफा मालिकका और नुकसानका उत्तरदायित्व भी मालिकका।

यदि वह मुनीम कहीं भूल, प्रमाद या बेईमानीसे मालिकके धनको अपना समझकर अपने काममें लाना चाहे, मालिककी सम्पत्ति या नफेकी रकमपर अधिकार कर ले तो वह चोर, बेईमान या अपराधी समझा जाता है। न्यायालयमें मुकद्दमा जानेपर वह सम्पत्ति उससे छीन ली जाती है, उसे कठोर दण्ड मिलता है और उसके नामपर इतना कलंक लग जाता है जिससे वह सबमें अविश्वासी समझा जाकर सदाके लिये दुःखी हो जाता है। इसी प्रकार यदि मालिककी कोठीका भार सँभालकर वह काम करनेसे जी चुराता है, मालिकके नियमोंको तोड़ता है तो भी वह अपराधी होता है, अतएव मुनीमके लिये यह दोनों ही बातें निषिद्ध हैं।

इसी तरह यह समस्त जगत् उस परमात्माका है, वही यावन्मात्र पदार्थोंको उत्पन्न करनेवाला, वही नियन्त्रणकर्ता, वही आधार और वही स्वामी है, उसीने हमको हमारे कर्मवश जैसी योनि, जो स्थिति मिलनी चाहिये थी उसीमें उत्पन्न कर अपनी कुछ वस्तुओंकी सँभाल और सेवाका भार दे दिया है और हमारे लिये कर्तव्यकी विधि भी बतला दी है। परन्तु हमने भ्रमसे परमात्माके पदार्थोंको अपना मान लिया है, इसीलिये हमारी दुर्गति होती है। यदि हम अपनी इस भूलको मिटाकर यह समझ लें कि जो कुछ है सो परमात्माका है, हम तो उसके सेवकमात्र हैं, उसकी सेवा करना ही हमारा धर्म है, तो वह परमात्मा हमें ईमानदार समझकर हमपर प्रसन्न होता है और हम उसकी कृपा और पुरस्कारके पात्र होते हैं। मायाके बन्धनसे छूटना ही सबसे बड़ा पुरस्कार है। जो कुछ है सो परमात्माका है, इस बुद्धिके आ जानेपर ममता चली जाती है और जो कुछ है सो परमात्मा ही है, इस बुद्धिसे अहंकारका नाश हो जाता है—यानी एक परमात्माको ही जगत्‌का उपादान और निमित्तकारण समझ लेनेसे उसमें ममता और अहंकार (मैं और मेरा) नष्ट हो जाता है। 'मैं-मेरा' ही बन्धन है, भगवान्‌का शरणागत भक्त 'मैं-मेरा' के बन्धनसे मुक्त होकर परमात्मासे कहता है कि बस, केवल एक तू ही है और सब तेरा ही है।

यही अर्पण है, इस अर्पणकी सिद्धि हो जानेपर साधक बन्धनमुक्त हो जाता है, उसे किसी प्रकारकी कोई चिन्ता नहीं रहती। जो चिन्ता करता है, अपनेको बँधा हुआ मानता है, बन्धनसे मुक्ति चाहता है, वह वास्तवमें परमात्माके तत्त्वको जानकर उनके शरण नहीं हुआ। अपने उद्धारकी

चिन्ता तो शरणागतिके साधकके चित्तसे भी चली जाती है। वास्तवमें बात भी यही है। शरण ग्रहण करनेपर भी यदि शरणागतको चिन्ता करनी पड़े तो वह शरण ही कैसी? जो जिसकी शरण होता है उसकी चिन्ता उसके स्वामीको ही रहती है।

जो जाको शरणो लियो, ताकहँ ताकी लाज।
उलटै जल मछली चले, बह्यो जात गजराज॥

जब कबूतरके शरणापन्न हो जानेपर दया और शरणागतवत्सलताके वशीभूत हो महाराज शिवि अपने शरीरका मांस देकर उसकी रक्षा कर सकते हैं, तब वह परमेश्वर जो अनाथोंका नाथ है, दयाका अनन्त, अथाह सागर है, जगत्के इतिहासमें शरणागतवत्सलताकी बड़ी-से-बड़ी घटना जिसकी शरणागतवत्सलताके सामने सागरकी तुलनामें एक जलकणके सदृश भी नहीं है, क्या शरण होनेपर वह हमारी रक्षा और उद्धार न करेगा? यदि इतनेपर हमारे मनमें अपने उद्धारकी चिन्ता होती है और हम अपनेको शरणागत भी समझते हैं तो यह हमारी नीचता है, हम शरणागतिका रहस्य ही नहीं समझते। वास्तवमें शरणागत भक्तको उद्धार होने-न-होनेसे मतलब ही क्या है? वह तो अपने-आपको मन-बुद्धिसहित उसके चरणोंमें समर्पितकर सर्वथा निश्चिन्त हो जाता है, उसे उद्धारकी परवा ही क्यों होने लगी? शरणागतिके रहस्यको समझनेवाले भक्तके लिये उद्धारकी चिन्ता करना तो दूर रहा, वह इस प्रसंगकी स्मृतिको भी पसंद नहीं करता। यदि भगवान् स्वयं कभी उसे उद्धारकी बात कहते हैं तो वह अपनी शरणागतिमें त्रुटि समझकर लज्जित और संकुचित होकर अपनेको धिक्कारता है। वह समझता है कि यदि मेरे मनमें कहीं मुक्तिकी इच्छा छिपी हुई न होती तो आज इस अप्रिय प्रसंगके लिये अवसर ही क्यों आता? मुक्ति तो भगवत्प्रेमका पासँगमात्र है, उस प्रेमधनको छोड़कर पासँगकी इच्छा करना अत्यन्त लज्जाका विषय है। मुक्तिकी इच्छाको कलंक समझकर और अपनी दुर्बलता तथा नीचाशयताका अनुभव कर भगवान्पर अपना अविश्वास जानकर वह परमात्माके सामने एकान्तमें रोकर पुकार उठता है कि—

'हे प्रभो! जबतक मेरे हृदयमें मुक्तिकी इच्छा बनी हुई है तबतक मैं आपका दास कहाँ? मैं तो मुक्तिका ही गुलाम हूँ। आपको छोड़कर अन्यकी आशा करता हूँ, मुक्तिके लिये आपकी भक्ति करता हूँ और इतनेपर भी अपनेको निष्काम प्रेमी शरणागत भक्त समझता हूँ। नाथ! यह मेरा दम्भाचरण है। स्वामिन्! दयाकर इस दम्भका नाश कीजिये। मेरे हृदयसे मुक्तिरूपी स्वार्थकी कामनाका भी मूलोच्छेद कर अपने अनन्य प्रेमकी भिक्षा दीजिये। आप-सरीखे अनुपमेय दयामयसे कुछ माँगना अवश्य ही लड़कपन है, परन्तु आतुर क्या नहीं करता?

इस तरहसे शरणागत भक्त सब कुछ भगवदर्पण कर सब प्रकारसे निश्चिन्त हो रहता है।

भगवान्के प्रत्येक विधानमें सन्तोष

इस अवस्थामें जो कुछ होता है वह उसीमें सन्तुष्ट रहता है। प्रारब्धवश अनिच्छा या परेच्छासे जो कुछ भी लाभ-हानि, सुख-दुःखकी प्राप्ति होती है वह उसको परमात्माका दयापूर्ण विधान समझकर सदा समानभावसे सन्तुष्ट, निर्विकार और शान्त रहता है। गीतामें कहा है—

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥

(४।२२)

अपने-आप जो कुछ आ प्राप्त हो, उसमें ही सन्तुष्ट रहनेवाला हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे अतीत हुआ तथा मत्सरता अर्थात् ईर्ष्यासे रहित सिद्धि और असिद्धिमें समत्वभाववाला पुरुष कर्मोंको करके भी नहीं बँधता है।

वास्तवमें शरणागत भक्त इस तत्त्वको जानता है कि दैवयोगसे जो कुछ आ प्राप्त होता है, वह ईश्वरके न्यायसंगत विधान और उसकी दयापूर्ण आज्ञासे होता है। इससे वह उसे परम सुहृद् प्रभुद्वारा भेजा हुआ इनाम समझकर आनन्दसे मस्तक झुकाकर ग्रहण करता है। जैसे कोई प्रेमी सज्जन अपने किसी प्रेमी न्यायकारी सुहृद् सज्जनके द्वारा किये हुए न्यायको अपनी इच्छासे प्रतिकूल फैसला होनेपर भी उस सज्जनकी न्यायपरायणता, विवेक-बुद्धि, विचारशीलता, सुहृदता, पक्षपातहीनता और प्रेमपर विश्वास रखकर हर्षके साथ स्वीकार कर लेता है, इसी प्रकार शरणागत भक्त भी भगवान्के कड़े-से-कड़े विधानको सहर्ष सादर स्वीकार करता है; क्योंकि वह जानता है, मेरा सुहृद् अकारण करुणाशील भगवान् जो कुछ विधान करता है उसमें उसकी दया, प्रेम, न्याय और मेरी मंगलकामना भरी रहती है। वह भगवान्के किसी भी विधानपर कभी भूलकर भी मन मैला नहीं करता।

कभी-कभी भगवान् अपने शरणागत भक्तकी कठिन परीक्षा भी लिया करते हैं, वे सब कुछ जानते हैं, तीनों कालकी कुछ भी बात उनसे छिपी हुई नहीं है तथापि भक्तके हृदयसे मान, अहंकार, दुर्बलता आदि मलोंको हरकर उसे निर्मल बनाने और उसे परिपक्व कर उसका परम हित करनेके लिये परीक्षाकी लीला किया करते हैं।

जो परमात्माके प्रेमी सज्जन शरणागतिके तत्त्वको समझ लेते हैं उन्हें तो कोई भी विषय अपने मनसे प्रतिकूल प्रतीत ही नहीं होता। बाजीगरकी कोई भी चेष्टा उसके जमूरेको अपने मनसे प्रतिकूल या दुःखदायक नहीं दीखती। वह अपने स्वामीकी इच्छाके अधीन होकर बड़े हर्षके साथ उसकी प्रत्येक क्रियाको स्वीकार करता है। इसी प्रकार भक्त भी भगवान्‌की प्रत्येक लीलामें प्रसन्न रहता है। वह जानता है कि यह सब मेरे नाथकी माया है। वे अद्भुत खिलाड़ी नाना प्रकारके खेल करते हैं। मुझपर तो उनकी अपार दया है जो उन्होंने अपनी लीलामें मुझे साथ रखा है—यह मेरा बड़ा सौभाग्य है जो मैं उस लीलामयकी लीलाओंका साधन बन सका हूँ, यों समझकर वह उसकी प्रत्येक लीलामें, उसके प्रत्येक खेलमें उसकी चातुरी और उसके पीछे उसका दिव्य दर्शन कर पद-पदपर प्रसन्न होता है। यह तो सिद्ध शरणागत भक्तकी बात है परन्तु शरणागतिका साधक भी प्रत्येक सुख-दुःखको उसका दयापूर्ण विधान मानकर प्रसन्न होता है। यहाँपर यह प्रश्न होता है कि सुखकी प्राप्तिमें तो प्रसन्न होना स्वाभाविक और युक्तियुक्त है, परन्तु दुःखमें सुखकी तरह प्रसन्न होना कैसे सम्भव है? इसका उत्तर यह है कि परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले पुरुषकी दृष्टिमें तो सुखकी प्राप्तिसे होनेवाली प्रसन्नता और शान्ति भी विकार ही है। वह तो पुण्य-पापवश प्राप्त होनेवाले अनुकूल या प्रतिकूल विषयजन्य सुख-दुःख दोनोंसे ही अतीत है। परन्तु साधनकालमें भी प्रसन्नता तो होनी ही चाहिये। जैसे कठिन रोगके समय बुद्धिमान् रोगी सद्वैद्यद्वारा दी हुई अत्यन्त कटु उपयोगी ओषधिका सहर्ष सेवन करता है और वैद्यका बड़ा उपकार मानता है, इसी प्रकार निःस्वार्थी वैद्यरूप परम सुहृद् परमात्माद्वारा विधान किये हुए कष्टोंको सहर्ष स्वीकार करते हुए उसकी कृपा और सदाशयताके लिये ऋणी होकर सुखी होना चाहिये। भगवान्‌का प्रिय प्रेमी शरणागत भक्त महान् दुःखरूप फलको बड़े आनन्दके साथ भोगता हुआ पद-पदपर उसकी दयाका स्मरण कर परम प्रसन्न होता है। वह समझता है कि दयालु डॉक्टर जैसे पके हुए फोड़ेमें चीरा देकर सड़ी हुई मवादको बाहर निकालकर उसे रोगमुक्त कर देता है, इसी प्रकार भगवान् भक्तके हितार्थ कभी-कभी कष्टरूपी चीरा लगाकर उसे नीरोग बना देते हैं। इसमें उनकी दया ही भरी रहती है। यह समझकर भक्त अपने भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें परम सन्तुष्ट रहता है। वह दुःखसे उद्विग्न नहीं होता और सुखकी स्पृहा नहीं करता—'**दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।**' (गीता २।५६)

भगवान्‌के आज्ञानुसार कर्म

इसीलिये सुखकी इच्छा न रहनेके कारण वह आसक्ति या कामनावश कोई भी निषिद्ध कार्य नहीं कर सकता। उसका प्रत्येक कार्य ईश्वरके आज्ञानुसार होता है। उसकी कोई भी क्रिया परमात्माकी इच्छाके प्रतिकूल नहीं होती; क्योंकि परमात्माकी इच्छामें ही वह अपनी इच्छा मिला देता है, वह अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं रखता। जब कि एक साधारण श्रद्धालु सेवक भी अपने स्वामीके प्रतिकूल कोई कार्य करना नहीं चाहता, कभी भूलसे कोई विपरीत आचरण हो जाता है तो वह लज्जित-संकुचित होकर अपनी भूलपर अत्यन्त पश्चात्ताप करता है, तब भला निष्काम प्रेमभावसे शरणमें आया हुआ श्रद्धालु ईश्वरभक्त परमात्माके प्रतिकूल किंचिन्मात्र कार्य भी कैसे कर सकता है? जैसे सतीशिरोमणि पतिव्रता स्त्री अपने परम प्रिय पतिकी भृकुटीकी ओर ताकती हुई सदा-सर्वदा पतिके अनुकूल ही उसकी छायाके समान चलती है, उसी प्रकार ईश्वर-प्रेमी शरणागत भक्त भगवदिच्छाका अनुसरण करता है, सब कुछ उसीका समझकर उसीके लिये कार्य करता है।

यहाँपर यह प्रश्न होता है कि जब ईश्वर सबके प्रत्यक्ष नहीं है तब ईश्वरकी आज्ञा या इच्छाका पता कैसे लगे? इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो शास्त्रोंकी आज्ञा ही एक प्रकारसे ईश्वरकी आज्ञा है; क्योंकि त्रिकालज्ञ भक्त ऋषियोंने भगवान्‌का अभिप्राय समझकर ही प्रायः शास्त्रोंका निर्माण किया है। दूसरे श्रीमद्भगवद्गीता-जैसे ग्रन्थोंमें भगवदाज्ञा प्रत्यक्ष ही है। इसके सिवा भगवान् सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी होनेसे सबके हृदयमें सदा प्रत्यक्ष विद्यमान हैं। मनुष्य यदि स्वार्थ छोड़कर सरल जिज्ञासु-भावसे हृदयस्थित ईश्वरसे पूछे तो उसे साधारणतया यथार्थ उत्तर मिल ही जाता है। झूठ बोलने, चोरी करने या हिंसादि करनेके लिये किसीका भी हृदय सच्चे भावसे आज्ञा नहीं देता। यही भगवान्‌की इच्छाका संकेत है।

अन्तःकरणपर अज्ञानका विशेष आवरण होनेके कारण जिस प्रश्नके उत्तरमें शंकायुक्त जवाब मिले, जिसके निर्णय करनेमें हमारी बुद्धि समर्थ न हो, उस विषयमें स्वार्थरहित सदाचारी धर्मके तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंसे पूछकर निर्णय कर लेना चाहिये। जिस विषयमें अपने मनमें शंका न हो, उस विषयमें भी उत्तम पुरुषोंसे परामर्श कर लेना तो लाभदायक ही है; क्योंकि जबतक मनुष्य परमात्माको

तत्त्वसे नहीं जान लेता तबतक भ्रमसे कहीं-कहीं असत्यका सत्यके रूपमें प्रतीत हो जाना सम्भव है, इसलिये निर्णीत विषयोंको भी सत्पुरुषोंकी सम्मतिसे मार्जन कर लेना उचित है। अन्त:करण शुद्ध होनेपर परमात्माका संकेत यथार्थ समझमें आने लगता है। फिर साधक जो कुछ करता है सो सब प्राय: ईश्वरके अनुकूल ही करता है।

यह देखा जाता है कि मालिकके इच्छानुसार बर्तनेवाला स्वामिभक्त सेवक जो सदा मालिकके इशारेके अनुसार काम करता है, वह मालिकके भावको तनिक-से इशारेमात्रसे ही समझ लेता है। जब साधारण मनुष्योंमें ऐसा होता है तब एक ईश्वरका शरणागत भक्त श्रद्धा, विश्वास और प्रेमके बलसे ईश्वरके तात्पर्यको समझने लगे, इसमें आश्चर्य ही क्या है?

ईश्वरकी इच्छा समझनेके लिये एक बात और है। यह समझ लेना चाहिये कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, दयासागर, सबके आत्मा और सबके हितमें रत है। अतएव किसी भी जीवका किसी भी प्रकारसे किसी भी कालमें अहित या अनिष्ट करनेमें उसकी सम्मति नहीं हो सकती, इसलिये जिस कार्यसे यथार्थ रूपमें दूसरोंका हित होता हो, वही ईश्वरकी इच्छाके अनुकूल कार्य है और जिससे जीवोंका अनिष्ट होता हो, वह उसकी इच्छाके प्रतिकूल कार्य है।

कुछ लोग भ्रमवश शास्त्र या धर्मकी आड़ लेकर पराये अहित, अनिष्ट या हिंसा आदिको धर्म मान लेते हैं परन्तु ऐसा मानना अनुचित है। हिंसा और अहित कभी धर्म या ईश्वरको अभिप्रेत नहीं हो सकता। अवश्य ही किसीके हितके लिये माता-पिता या गुरुद्वारा स्नेहभावसे अपने बालक या शिष्यको ताड़ना देनेके समान दण्ड आदि देना हिंसामें शामिल नहीं है।

अतएव भक्त प्रत्येक कार्य भगवदिच्छाके अनुकूल ही करता है, जिससे वह कभी पाप या निषिद्ध कर्म तो कर ही नहीं सकता, उसका प्रत्येक कार्य स्वाभाविक ही सरल, सात्त्विक और लोक-हितकारी होता है; क्योंकि उसका संसारमें न कोई स्वार्थ है, न किसी वस्तुमें आसक्ति है और न किसी कालमें किसीसे उसे भय है।

शरणागत भक्तकी तो बात ही क्या है, भय और पाप तो उसके भी नहीं रहते जो ईश्वरका यथार्थरूपसे अस्तित्व (होनापन) ही मान लेता है। राजा या राजकर्मचारी निर्जन स्थान और अन्धकारमयी रात्रिमें सब जगह मौजूद नहीं रहते परन्तु राज्यकी सत्ताके कारण ही लोग प्राय: नियमविरुद्ध कार्य नहीं करते। राजकर्मचारी जहाँ रहता है वहाँ तो कानून तोड़ना बड़ा ही कठिन रहता है। जब राजसत्ताका यह प्रताप होता है तब सर्वशक्तिमान् परमात्माको जो सब जगह देखता है, उससे पाप कैसे बन सकते हैं? ईश्वर सर्वव्यापी होनेके कारण सब जगह उनका रहना सिद्ध ही है। फिर भय भी किस बातका? क्योंकि जब एक भी राजकर्मचारी साथ होनेपर कहीं चोरोंका भय नहीं रहता तब राजराजेश्वर भगवान् जिसके साथ हों उसके लिये भयकी सम्भावना ही कहाँ है? जो अपनेको भक्त कहकर परिचय देते हुए भी पापोंमें फँसे रहते या बात-बातमें मृत्यु आदिका भय करते हैं वे यथार्थमें ईश्वरका अस्तित्व ही नहीं मानते। ईश्वरको माननेवाले तो नित्य निष्पाप और निर्भय रहते हैं।

भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन

शरणागत साधकको यदि कोई भय रहता है तो वह इसी बातका रहता है कि कहीं उसके चित्तसे प्रियतम परमात्माकी विस्मृति न होजाय। वास्तवमें वह कभी परमात्माको भूल भी नहीं सकता; क्योंकि परमात्माके चिन्तनका वियोग उससे क्षणमात्रके लिये भी सहा नहीं जाता '**तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता**' (नारदभक्तिसूत्र) सम्पूर्ण कर्म परमात्माके अर्पण करके प्रतिपल उसे स्मरण रखना और क्षणभरकी विस्मृतिसे मणिहीन सर्प या जलसे निकाली हुई मछलीकी भाँति परम व्याकुल होकर तड़पने लगना उसका स्वभाव बन जाता है। उसकी दृष्टिमें एकमात्र परमात्मा ही उसका परम जीवन, परम धन, परम आश्रय,परम गति और परम लक्ष्य रह जाता है, प्रतिपल उसके नाम-गुणोंका चिन्तन करना, उसके प्रेममें ही तन्मय हो रहना, बाह्यज्ञान भूलकर उन्मत्त हो जाना, परम उल्लाससे प्रेममें झूमना, यही उसकी जीवनचर्या बन जाती है।

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिका:।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृता:॥

(श्रीमद्भा० ११। ३। ३२)

वे भक्तगण कभी उन अच्युतका चिन्तन करते हुए रोते हैं, कभी हँसते हैं, कभी आनन्दित होते हैं, कभी अलौकिक कथा कहने लगते हैं, कभी नाचते हैं, कभी गाते हैं, कभी उन अजन्मा प्रभुकी लीलाओंका अनुकरण करते हैं और कभी परमानन्दको पाकर शान्त और चुप हो रहते हैं।

इस प्रकार परमात्माके शरणका तत्त्व जानकर वे भक्त भगवान्‌की तद्रूपताको प्राप्त हो जाते हैं—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणा:।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषा:॥

(गीता ५। १७)

'तद्रूप है बुद्धि जिनकी तथा तद्रूप है मन जिनका और उस सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही है निरन्तर एकीभावसे स्थिति जिनकी, ऐसे परमेश्वरपरायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित हुए अपुनरावृत्ति अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं।' ऐसे ही पुरुषोंके लिये भगवान्ने कहा है, मैं उसका अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे अत्यन्त प्रिय है—'**प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥**' (गीता ७। १७) उससे मैं अदृश्य नहीं होता, वह मुझसे अदृश्य नहीं होता—'**तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥**' (गीता ६। ३०)

ऐसे पुरुषके द्वारा शरीरसे जो कुछ क्रिया होती है सो क्रिया नहीं समझी जाती। आनन्दमें मग्न हुआ वह भगवान्का शरणागत भक्त लीलामय भगवान्की आनन्दमयी लीलाका ही अनुकरण करता है, अतएव उसके कर्म भी लीलामात्रसे ही हैं। भगवान् कहते हैं—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(गीता ६। ३१)

'जो पुरुष एकीभावसे स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है; क्योंकि उसके अनुभवमें मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।'

इसलिये वह सबके साथ अपने आत्माके सदृश ही बर्तता है, उससे कभी किसीका अनिष्ट नहीं हो सकता। ऐसे अभिन्नदर्शी परमात्मपरायण तद्रूप भक्तोंमें कोई तो स्वामी शुकदेवजीकी तरह लोगोंके उद्धारके लिये उदासीनकी भाँति विचरते हैं, कोई अर्जुनकी भाँति भगवदाज्ञानुसार आचरण करते हुए कर्तव्य-कर्मोंके पालनमें लगे रहते हैं, कोई प्रातःस्मरणीया भक्तिमती गोपियोंकी तरह अद्भुत प्रेमलीलामें मत्त रहते हैं और कोई जड़भरतकी भाँति जड़ और उन्मत्तवत् चेष्टा करते रहते हैं।

ऐसे शरणागत भक्त स्वयं तो उद्धाररूप हैं ही और जगत्का उद्धार करनेवाले हैं, ऐसे महापुरुषोंके दर्शन, स्पर्श, भाषण और चिन्तनसे ही मनुष्य पवित्र हो जाते हैं। वे जहाँ जाते हैं वहींका वातावरण शुद्ध हो जाता है, पृथ्वी पवित्र होकर तीर्थ बन जाती है, ऐसे ही पुरुषोंका संसारमें जन्म लेना सार्थक और धन्य है, ऐसे ही महात्माओंके लिये यह कहा गया है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिन्
लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

(स्कं० पु० माहे० खं० कौ० खं० ५५। १४०)

अनन्य प्रेम ही भक्ति है

अनिर्वचनीय ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिके लिये भगवद्भक्तिके सदृश किसी भी युगमें अन्य कोई भी सुगम उपाय नहीं है। कलियुगमें तो है ही नहीं। परन्तु यह बात सबसे पहले समझनेकी है कि भक्ति किसे कहते हैं? भक्ति कहनेमें जितनी सहज है, करनेमें उतनी ही कठिन है। केवल बाह्याडम्बरका नाम भक्ति नहीं है। भक्ति दिखानेकी चीज नहीं, वह तो हृदयका परम गुप्त धन है। भक्तिका स्वरूप जितना गुप्त रहता है उतना ही वह अधिक मूल्यवान् समझा जाता है। भक्ति-तत्त्वका समझना बड़ा कठिन है। अवश्य ही उन भाग्यवानोंको इसके समझनेमें बहुत आयास या श्रम नहीं करना पड़ता, जो उस दयामय परमेश्वरके शरण हो जाते हैं। अनन्य शरणागत भक्तको भक्तिका तत्त्व परमेश्वर स्वयं समझा देते हैं। एक बार भी जो सच्चे हृदयसे भगवान्के शरण हो जाता है, भगवान् उसे अभय कर देते हैं, यह उनका व्रत है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा० रा० ६। १८। ३३)

भगवान्की शरणागति एक बड़े ही महत्त्वका साधन है परन्तु उसमें अनन्यता होनी चाहिये। पूर्ण अनन्यता होनेपर भगवान्की ओरसे तुरंत ही इच्छित उत्तर मिलता है। विभीषण अत्यन्त आतुर होकर एकमात्र श्रीरामके आश्रयमें ही अपनी रक्षा समझकर श्रीरामके शरण आता है। भगवान् राम उसे उसी क्षण अपना लेते हैं। कौरवोंकी राजसभामें सब तरफसे निराश होकर देवी द्रौपदी ज्यों ही अशरण-शरण श्रीकृष्णको स्मरण करती है त्यों ही चीर अनन्त हो जाता है। अनन्य शरणके यही उदाहरण हैं। यह शरणागति सांसारिक कष्ट-निवृत्तिके लिये थी। इसी भावसे भक्तको भगवान्के लिये ही भगवान्के शरणागत होना चाहिये। फिर तत्त्वकी उपलब्धि होनेमें विलम्ब नहीं होगा।

यद्यपि इस प्रकार भक्तिका परम तत्त्व भगवान्के शरण होनेसे ही जाना जा सकता है तथापि शास्त्र और संत-

महात्माओंकी उक्तियोंके आधारपर अपना अधिकार न समझते हुए भी अपने चित्तकी प्रसन्नताके लिये मैं जो कुछ लिख रहा हूँ इसके लिये भक्तजन मुझे क्षमा करें।

परमात्मामें परम अनन्य विशुद्ध प्रेमका होना ही भक्ति कहलाता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें अनेक जगह इसका विवेचन है, जैसे—

'**मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।**' (१३।१०)
'**मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।**' (१४।२६)
आदि। इसी प्रकारका भाव नारद और शाण्डिल्य-सूत्रोंमें पाया जाता है। अनन्य प्रेमका साधारण स्वरूप यह है—एक भगवान्के सिवा अन्य किसीमें किसी समय भी आसक्ति न हो, प्रेमकी मग्नतामें भगवान्के सिवा अन्य किसीका ज्ञान ही न रहे। जहाँ-जहाँ मन जाय वहीं भगवान् दृष्टिगोचर हों। यों होते-होते अभ्यास बढ़ जानेपर अपने-आपकी विस्मृति होकर केवल एक भगवान् ही रह जायँ। यही विशुद्ध अनन्य प्रेम है। परमेश्वरमें प्रेम करनेका हेतु केवल परमेश्वर या उनका प्रेम ही हो—प्रेमके लिये ही प्रेम किया जाय, अन्य कोई हेतु न रहे। मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और इस लोक तथा परलोकके किसी भी पदार्थकी इच्छाकी गन्ध भी साधकके मनमें न रहे, त्रैलोक्यके राज्यके लिये भी उसका मन कभी न ललचावे। स्वयं भगवान् प्रसन्न होकर भोग्य-पदार्थ प्रदान करनेके लिये आग्रह करें तब भी न ले। इस बातके लिये यदि भगवान् रूठ जायँ तो भी परवा न करे। अपने स्वार्थकी बातें सुनते ही उसे अतिशय वैराग्य और उपरामता हो। भगवान्की ओरसे विषयोंका प्रलोभन मिलनेपर मनमें पश्चात्ताप होकर यह भाव उदय हो कि, 'अवश्य ही मेरे प्रेममें कोई दोष है, मेरे मनमें सच्चा विशुद्ध भाव होता और इन स्वार्थकी बातोंको सुनकर यथार्थमें मुझे क्लेश होता तो भगवान् इनके लिये मुझे कभी न ललचाते।' विनय, अनुरोध और भय दिखलानेपर भी परमात्माके प्रेमके सिवा किसी भी हालतमें दूसरी वस्तु स्वीकार न करे, अपने प्रेम-हठपर अटल-अचल रहे। वह यही समझता रहे कि भगवान् जबतक मुझे नाना प्रकारके विषयोंका प्रलोभन देकर ललचा रहे हैं और मेरी परीक्षा ले रहे हैं, तबतक मुझमें अवश्य ही विषयासक्ति है। सच्चा प्रेम होता तो एक अपने प्रेमास्पदको छोड़कर दूसरी बात भी मैं न सुन सकता। विषयोंको देख, सुन और सहन कर रहा हूँ। इससे यह सिद्ध है कि मैं सच्चे प्रेमका अधिकारी नहीं हूँ, तभी तो भगवान् मुझे लोभ दिखा रहे हैं। उत्तम तो यह था कि मैं विषयोंकी चर्चा सुनते ही मूर्छित होकर गिर पड़ता। ऐसी अवस्था नहीं होती, इसलिये निःसन्देह मेरे हृदयमें कहीं-न-कहीं विषयवासना छिपी हुई है। यह है विशुद्ध प्रेमके ऊँचे साधनका स्वरूप।

ऐसा विशुद्ध प्रेम होनेपर जो आनन्द होता है उसकी महिमा अकथनीय है। ऐसे प्रेमका वास्तविक महत्त्व कोई परमात्माका अनन्य प्रेमी ही जानता है। प्रेमकी साधारणतः तीन संज्ञाएँ हैं। गौण, मुख्य और अनन्य। जैसे नन्हे बछड़ेको छोड़कर गौ वनमें चरने जाती है, वहाँ घास चरती है, उस गौका प्रेम घासमें गौण है, बछड़ेमें मुख्य है और अपने जीवनमें अनन्य है, बछड़ेके लिये घासका एवं जीवनके लिये वह बछड़ेका भी त्याग कर सकती है। इसी प्रकार उत्तम साधक सांसारिक कार्य करते हुए भी अनन्यभावसे परमात्माका चिन्तन किया करते हैं। साधारण भगवत्-प्रेमी साधक अपना मन परमात्मामें लगानेकी कोशिश करते हैं, परन्तु अभ्यास और आसक्तिवश भजन-ध्यान करते समय भी उनका मन विषयोंमें चला ही जाता है। जिनका भगवान्में मुख्य प्रेम है, वे हर समय भगवान्को स्मरण रखते हुए समस्त कार्य करते हैं और जिनका भगवान्में अनन्य प्रेम हो जाता है उनको तो समस्त चराचर विश्व एक वासुदेवमय ही प्रतीत होने लगता है। ऐसे महात्मा बड़े दुर्लभ हैं। (गीता ७।१९)

इस प्रकारके अनन्य प्रेमी भक्तोंमें कई तो प्रेममें इतने गहरे डूब जाते हैं कि वे लोकदृष्टिमें पागल-से दीख पड़ते हैं। किसी-किसीकी बालकवत् चेष्टा दिखायी देती है। उनके सांसारिक कार्य छूट जाते हैं। कई ऐसी प्रकृतिके भी प्रेमी पुरुष होते हैं जो अनन्य प्रेममें निमग्न रहनेपर भी महान् भागवत श्रीभरतजीकी भाँति या भक्तराज श्रीहनुमान्जीकी भाँति सदा ही 'रामकाज' करनेको तैयार रहते हैं। ऐसे भक्तोंके सभी कार्य लोकहितार्थ होते हैं। ये महात्मा एक क्षणके लिये भी परमात्माको नहीं भुलाते, न भगवान् ही उन्हें कभी भुला सकते हैं। भगवान्ने कहा ही है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६।३०)

गीतामें भक्ति

श्रीमद्भगवद्गीता एक अद्वितीय आध्यात्मिक ग्रन्थ है, यह कर्म, उपासना और ज्ञानके तत्त्वोंका भण्डार है। इस बातको कोई नहीं कह सकता कि गीतामें प्रधानतासे केवल अमुक विषयका ही वर्णन है। यद्यपि यह छोटा-सा ग्रन्थ है और इसमें सब विषयोंका सूत्ररूपसे वर्णन है, परन्तु किसी भी विषयका वर्णन स्वल्प होनेपर भी अपूर्ण नहीं है, इसीलिये कहा गया है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

(महा० भीष्म० ४३।१)

इस कथनसे दूसरे शास्त्रोंका निषेध नहीं है, यह तो गीताका सच्चा महत्त्व बतलानेके लिये है, वास्तवमें गीतोक्त ज्ञानकी उपलब्धि हो जानेपर और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता। गीतामें अपने-अपने स्थानपर कर्म, उपासना और ज्ञान—तीनोंका विशद और पूर्ण वर्णन होनेके कारण यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें कौन-सा विषय प्रधान और कौन-सा गौण है। सुतरां जिनको जो विषय प्रिय है—जो सिद्धान्त मान्य है, वही गीतामें भासने लगता है। इसीलिये भिन्न-भिन्न टीकाकारोंने अपनी-अपनी भावनाके अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं, पर उनमेंसे किसीको हम असत्य नहीं कह सकते। जैसे वेद परमात्माका निःश्वास है इसी प्रकार गीता भी साक्षात् भगवान्के वचन होनेसे भगवत्-स्वरूप ही है। अतएव भगवान्की भाँति गीताका स्वरूप भी भक्तोंको अपनी भावनाके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारसे भासता है। कृपासिन्धु भगवान्ने अपने प्रिय सखा—भक्त अर्जुनको निमित्त बनाकर समस्त संसारके कल्याणार्थ इस अद्भुत गीता-शास्त्रका उपदेश किया है। ऐसे गीता-शास्त्रके किसी तत्त्वपर विवेचन करना मेरे सदृश साधारण मनुष्यके लिये बाल-चपलतामात्र है। मैं इस विषयमें कुछ कहनेका अपना अधिकार न समझता हुआ भी जो कुछ कह रहा हूँ सो केवल अपने मनोविनोदके लिये है। निवेदन है कि भक्त और विज्ञजन मेरी इस बालचेष्टापर क्षमा करें।

गीतामें कर्म, भक्ति और ज्ञान—तीनों सिद्धान्तोंकी ही अपनी-अपनी जगह प्रधानता है तथापि यह कहा जा सकता है कि गीता एक भक्तिप्रधान ग्रन्थ है, इसमें ऐसा कोई अध्याय नहीं जिसमें भक्तिका कुछ प्रसंग न हो। गीताका प्रारम्भ और पर्यवसान भक्तिमें ही है। आरम्भमें अर्जुन '**शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**'(२।७) कहकर भगवान्की शरण ग्रहण करते हैं और अन्तमें भगवान् '**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**' (१८।६६) कहकर शरणागतिका ही पूर्ण समर्थन करते हैं—समर्थन ही नहीं, समस्त धर्मोंका आश्रय सर्वथा परित्याग कर केवल भगवदाश्रय—अपने आश्रय होनेके लिये आज्ञा करते हैं और साथ ही समस्त पापोंसे छुटकारा कर देनेका भी जिम्मा लेते हैं। यह मानी हुई बात है कि शरणागति भक्तिका ही एक स्वरूप है। अवश्य ही गीताकी भक्ति अविवेकपूर्वक की हुई अन्धभक्ति या अज्ञानप्रेरित आलस्यमय कर्मत्यागरूप जड़ता नहीं है, गीताकी भक्ति क्रियात्मक और विवेकपूर्ण है। गीताकी भक्ति पूर्णपुरुष परमात्माकी पूर्णताके समीप पहुँचे हुए साधकद्वारा की जाती है। गीताकी भक्तिके लक्षण बारहवें अध्यायमें भगवान्ने स्वयं बतलाये हैं। गीताकी भक्तिमें पापको स्थान नहीं है। वास्तवमें भगवान्का जो शरणागत अनन्य भक्त सब तरफ सबमें सर्वदा भगवान्को देखता है, वह छिपकर भी पाप कैसे कर सकता है? जो शरणागत भक्त अपने जीवनको परमात्माके हाथोंमें सौंपकर उसके इशारेपर नाचना चाहता है उसके द्वारा पाप कैसे बन सकते हैं? जो भक्त सब जगत्को परमात्माका स्वरूप समझकर सबकी सेवा करना अपना कर्तव्य समझता है, वह निष्क्रिय आलसी कैसे हो सकता है? एवं जिसके पास परमात्मस्वरूपके ज्ञानका प्रकाश है, वह अन्धतममें कैसे प्रवेश कर सकता है?

इसीसे भगवान्ने अर्जुनसे स्पष्ट कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८।७)

युद्ध करो, परन्तु सब समय मेरा (भगवान्का) स्मरण करते हुए और मेरेमें (भगवान्में) अर्पित मन-बुद्धिसे युक्त होकर करो। यही तो निष्कामकर्मसंयुक्त भक्तियोग है, इससे निस्सन्देह परमात्माकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकारकी आज्ञा अ० ९।२७ और १८।५७ आदि श्लोकोंमें दी है।

इसका यह मतलब नहीं कि केवल कर्मयोग या केवल भक्तियोगके लिये भगवान्ने स्वतन्त्ररूपसे कहीं कुछ भी नहीं कहा है। '**कर्मण्येवाधिकारस्ते**' (२।४७) '**योगस्थः कुरु कर्माणि**' (२।४८) आदि श्लोकोंमें केवल कर्मका और '**मन्मना भव**' (९।३४) आदिमें केवल भक्तिका वर्णन मिलता है, परन्तु इनमें भी कर्ममें भक्तिका और भक्तिमें कर्मका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध प्रच्छन्न है। समत्वरूप योगमें स्थित होकर फलका अधिकार ईश्वरके जिम्मे समझकर जो कर्म करता है वह भी प्रकारान्तरसे ईश्वरस्मरणरूप भक्ति करता है और

भक्ति, पूजा, नमस्कार आदि भगवद्भक्तिपरक क्रियाओंको करता हुआ भी साधक तत्तत् क्रियारूप कर्म करता ही है। साधारण सकामकर्मीमें और उसमें भेद इतना ही है कि सकामकर्मी कर्मका अनुष्ठान सांसारिक कामना-सिद्धिके लिये करता है और निष्कामकर्मी भगवत्प्रीत्यर्थ करता है। स्वरूपसे कर्मत्यागकी तो गीताने निन्दा की है और उसे तामसी त्याग बतलाया है। (१८।७) एवं अ० ३ श्लोक ४ में कर्मत्यागसे सिद्धिका नहीं प्राप्त होना कहकर अगले श्लोकमें स्वरूपसे कर्मत्यागको अशक्य भी बतलाया है। अतएव गीताके अनुसार प्रधानतः अनन्यभावसे भगवान्के स्वरूपमें स्थित होकर भगवान्की आज्ञा मानकर भगवान्के लिये मन, वाणी, शरीरसे स्ववर्णानुसार समस्त कर्मोंका आचरण करना ही भगवान्की भक्ति है और इसीसे परम सिद्धिरूप मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। भगवान् घोषणा करते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

जिस परमात्मासे सर्व भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।

इस प्रकारके कर्म बन्धनके कारण न होकर मुक्तिके कारण ही होते हैं, इनमें पतनका डर बिलकुल नहीं रहता है। भगवान्ने साधकको भगवत्प्राप्तिके लिये और साधनोत्तर सिद्धकालमें ज्ञानीको भी लोकसंग्रह यानी जनताको सन्मार्गपर लानेके लिये अपना उदाहरण पेशकर कर्म करनेकी आज्ञा दी है, यद्यपि उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं है—'**तस्य कार्यं न विद्यते**।'(३।१७)

इसके सिवा अर्जुन क्षत्रिय, गृहस्थ और कर्मशील पुरुष थे, इसलिये भी उन्हें कर्मसहित भक्ति करनेके लिये ही विशेषरूपसे कहा है और वास्तवमें सर्वसाधारणके हितके लिये भी यही आवश्यक है। संसारमें तमोगुण अधिक छाया हुआ है। तमोगुणके कारण लोग भगवत्तत्त्वसे अनभिज्ञ रहकर एकान्तवासमें भजन-ध्यानके बहाने नींद, आलस्य और अकर्मण्यताके शिकार हो जाते हैं। ऐसा देखा भी जाता है कि कुछ लोग 'अब तो हम निरन्तर एकान्तमें रहकर भजन-ध्यान ही किया करेंगे' कहकर कर्म छोड़ देते हैं, परंतु थोड़े ही दिनोंमें उनका मन एकान्तसे हट जाता है। कुछ लोग सोनेमें समय बिताते हैं, तो कोई कहने लगते हैं 'क्या करें, ध्यानमें मन नहीं लगता।' फलतः कुछ तो निकम्मे हो जाते हैं और कुछ प्रमादवश इन्द्रियोंको आराम देनेवाले भोगोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं। सच्चे भजन-ध्यानमें लगनेवाले विरले ही निकलते हैं। एकान्तमें निवासकर भजन-ध्यान करना बुरा नहीं है। परंतु यह साधारण बात नहीं है। इसके लिये बहुत अभ्यासकी आवश्यकता है और यह अभ्यास कर्म करते हुए ही क्रमशः बढ़ाया और गाढ़ किया जा सकता है, इसीलिये भगवान्ने कहा है कि नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करते हुए फलासक्तिरहित होकर मेरी आज्ञासे मेरी प्रीतिके लिये कर्म करना चाहिये। परमेश्वरके ध्यानकी गाढ़ स्थिति प्राप्त होनेमें कर्मोंका संयोग-वियोग बाधक-साधक नहीं है। प्रीति और सच्ची श्रद्धा ही इसमें प्रधान कारण है। प्रीति और श्रद्धा होनेपर कर्म उसमें बाधक नहीं होते बल्कि उसका प्रत्येक कर्म भगवत्-प्रीतिके लिये ही अनुष्ठित होकर शुद्ध भक्तिके रूपमें परिणत हो जाता है। इससे भी कर्मत्यागकी आवश्यकता सिद्ध नहीं होती। परंतु इस कथनसे एकान्तमें निरन्तर भक्ति करनेका निषेध भी नहीं है।

अधिकारियोंके लिये '**विविक्तदेशसेवित्वम्**' और '**अरतिर्जनसंसदि**' (१३।१०) होना उचित ही है, परन्तु संसारमें प्रायः अधिकांश अधिकारी कर्मके ही मिलते हैं। एकान्तवासके वास्तविक अधिकारी वे हैं जो भगवान्की भक्तिमें तल्लीन हैं, जिनका हृदय अनन्यप्रेमसे परिपूर्ण है, जो क्षणभरके भगवान्के विस्मरणसे ही परम व्याकुल हो जाते हैं, भगवत्-प्रेमकी विह्वलतासे बाह्य ज्ञान लुप्तप्राय रहनेके कारण जिनके सांसारिक कार्य सुचारुरूपसे सम्पन्न नहीं हो सकते और जिनको संसारके ऐशो-आराम भोगके दर्शन-श्रवणमात्रसे ही ताप होने लगता है, ऐसे अधिकारियोंके लिये जनसमुदायसे अलग रहकर एकान्तदेशमें निरन्तर अटल साधन करना ही अधिक श्रेयस्कर होता है। ये लोग कर्मको नहीं छोड़ते। कर्म ही उन्हें छोड़कर अलग हो जाते हैं। ऐसे लोगोंको एकान्तमें कभी आलस्य या विषय-चिन्तन नहीं होता। इनके भगवत्प्रेमकी सरितामें एकान्तसे उत्तरोत्तर बाढ़ आती है और वह बहुत ही शीघ्र इन्हें परमात्मारूपी महासमुद्रमें मिलाकर इनका स्वतन्त्र अस्तित्व समुद्रके विशाल असीम अस्तित्वमें अभिन्नरूपसे मिला देती है। परन्तु जिन लोगोंको एकान्तमें सांसारिक विक्षेप सताते हैं, वे अधिक समयतक कर्मरहित होकर एकान्तवासके अधिकारी नहीं हैं। जगत्में ऐसे ही लोग अधिक हैं। अधिक संख्यक लोगोंके लिये जो उपाय उपयोगी होता है, प्रायः वही बतलाया जाता है, यही नीति है। इसलिये शास्त्रोक्त सांसारिक कर्मोंकी गति भगवत्की ओर मोड़ देनेका ही विशेष प्रयत्न करना चाहिये, कर्मोंको छोड़नेका नहीं।

ऊपर कहा गया है कि अर्जुन गृहस्थ, क्षत्रिय और

कर्मशील था, इससे कर्मकी बात कही गयी है। इसका यह अर्थ नहीं है कि गीता केवल गृहस्थ, क्षत्रिय या कर्मियोंके लिये ही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीतारूपी दुग्धामृत अर्जुनरूप वत्सके व्याजसे ही विश्वको मिला परन्तु वह इतना सार्वभौम और सुमधुर है कि सभी देश, सभी जाति, सभी वर्ण और सभी आश्रमके लोग उसका अबाधितरूपसे पानकर अमरत्व प्राप्त कर सकते हैं। जैसे भगवत्प्राप्तिमें सबका अधिकार है वैसे ही गीताके भी सभी अधिकारी हैं। अवश्य ही सदाचार, श्रद्धा, भक्ति और प्रेमका होना आवश्यक है; क्योंकि भगवान्‌ने अश्रद्धालु, सुनना न चाहनेवाले, आचरणभ्रष्ट, भक्तिहीन मनुष्योंमें इनके प्रचारका निषेध किया है (गीता १८। ६७) भगवान्‌का आश्रित जन कोई भी क्यों न हो, सभी इस अमृतपानके पात्र हैं। (१८। ६८)

यदि यह कहा जाय कि गीतामें तो सांख्ययोग और कर्मयोग नामक दो ही निष्ठाओंका वर्णन है। भक्तिकी तीसरी कोई निष्ठा ही नहीं, तब गीताको भक्तिप्रधान कैसे कहा जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि भक्तिकी भिन्न निष्ठा भगवान्‌ने नहीं कही है परन्तु पहले यह समझना चाहिये कि निष्ठा किसका नाम है और क्या योग और सांख्यनिष्ठा उपासना बिना सम्पन्न हो सकते हैं? उपासनारहित कर्म जड होनेसे कदापि मुक्तिदायक नहीं होते और न उपासनारहित ज्ञान ही प्रशंसनीय है। गीतामें भक्ति ज्ञान और कर्म दोनोंमें ओतप्रोत है। निष्ठाका अर्थ है— परमात्माके स्वरूपमें स्थिति। जो स्थिति परमेश्वरके स्वरूपमें भेदरूपसे होती है, यानी परमेश्वर अंशी और मैं उसका अंश हूँ, परमेश्वर सेव्य और मैं उसका सेवक हूँ। इस भावसे परमात्माकी प्रीतिके लिये उसके आज्ञानुसार फलासक्ति त्यागकर जो कर्म किये जाते हैं उसका नाम है निष्काम कर्मयोगनिष्ठा और जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभेदरूपसे स्थिति है यानी ब्रह्ममें स्थित रहकर प्रकृतिद्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंको प्रकृतिका विस्तार और मायामात्र मानकर वास्तवमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है यों निश्चय करके जो अभेद स्थिति होती है उसे सांख्यनिष्ठा कहते हैं। इन दोनों ही निष्ठाओंमें उपासना भरी है। अतएव भक्तिको तीसरी स्वतन्त्र निष्ठाके नामसे कथन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। इसपर यदि कोई कहे कि तब तो निष्काम कर्मयोग और ज्ञानयोगके बिना केवल भक्तिमार्गसे परमात्माकी प्राप्ति ही नहीं हो सकती तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि भगवान्‌ने केवल भक्तियोगसे स्थान-स्थानपर परमात्माकी प्राप्ति होना बतलाया है। साक्षात् दर्शनके लिये तो यहाँतक कह दिया है कि अनन्य भक्तिके अतिरिक्त अन्य किसी उपायसे नहीं हो सकता। (गीता ११। ५४) ध्यानयोगरूपी भक्तिको (गीता १३। २४) **'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति'** कहकर भगवान्‌ने और भी स्पष्टीकरण कर दिया है। इस ध्यानयोगका प्रयोग उपर्युक्त दोनों साधनोंके साथ भी होता है और अलग भी। यह उपासना या भक्तिमार्ग बड़ा ही सुगम और महत्त्वपूर्ण है। इसमें ईश्वरका सहारा रहता है और उसका बल प्राप्त होता रहता है। अतएव हमलोगोंको इसी गीतोक्त निष्काम विशुद्ध अनन्यभक्तिका आश्रय लेकर अपने समस्त स्वाभाविक कर्म भगवत्प्रीत्यर्थ करने चाहिये।

श्रीप्रेम-भक्ति-प्रकाश

परमात्माकी शरणमें प्राप्त हुए पुरुषका मन परमात्मासे प्रार्थना करता है—

हे प्रभो! हे विश्वम्भर! हे दीनदयालो! हे कृपासिन्धो! हे अन्तर्यामिन्! हे पतितपावन! हे सर्वशक्तिमान्! हे दीनबन्धो! हे नारायण! हे हरे! दया कीजिये, दया कीजिये। हे अन्तर्यामिन्! आपका नाम संसारमें दयासिन्धु और सर्वशक्तिमान् विख्यात है, इसीलिये दया करना आपका काम है।

हे प्रभो! यदि आपका नाम पतितपावन है तो एक बार आकर दर्शन दीजिये। मैं आपको बारम्बार प्रणाम करके विनय करता हूँ, हे प्रभो! दर्शन देकर कृतार्थ कीजिये। हे प्रभो! आपके बिना इस संसारमें मेरा और कोई भी नहीं है, एक बार दर्शन दीजिये, दर्शन दीजिये, विशेष न तरसाइये। आपका नाम विश्वम्भर है, फिर मेरी आशाको क्यों नहीं पूर्ण करते हैं। हे करुणामय! हे दयासागर! दया कीजिये। आप दयाके समुद्र हैं, इसलिये किंचित् दया करनेसे आप दयासागरमें कुछ दयाकी त्रुटि नहीं हो जायगी। आपकी किंचित् दयासे सम्पूर्ण संसारका उद्धार हो सकता है, फिर एक तुच्छ जीवका उद्धार करना आपके लिये कौन बड़ी बात है। हे प्रभो! यदि आप मेरे कर्तव्यको देखें तब तो इस संसारसे मेरा निस्तार होनेका कोई उपाय ही नहीं है। इसलिये आप अपने पतितपावन नामकी ओर देखकर इस तुच्छ जीवको दर्शन दीजिये। मैं न तो कुछ भक्ति जानता हूँ, न योग जानता हूँ तथा न कोई क्रिया ही जानता हूँ, जो कि मेरे कर्तव्यसे आपका दर्शन हो सके। आप अन्तर्यामी होकर यदि दयासिन्धु नहीं होते तो आपको

संसारमें कोई दयासिन्धु नहीं कहता, यदि आप दयासागर होकर भी अन्तरकी पीड़ाको न पहचानते तो आपको कोई अन्तर्यामी नहीं कहता। दोनों गुणोंसे युक्त होकर भी यदि आप सामर्थ्यवान् न होते तो आपको कोई सर्वशक्तिमान् और सर्वसामर्थ्यवान् नहीं कहता। यदि आप केवल भक्तवत्सल ही होते तो आपको कोई पतितपावन नहीं कहता। हे प्रभो! हे दयासिन्धो! एक बार दया करके दर्शन दीजिये।

जीवात्मा अपने मनसे कहता है—

रे दुष्ट मन! कपटभरी प्रार्थना करनेसे क्या अन्तर्यामी भगवान् प्रसन्न हो सकते हैं? क्या वे नहीं जानते कि ये सब तेरी प्रार्थनाएँ निष्काम नहीं हैं? एवं तेरे हृदयमें श्रद्धा, विश्वास और प्रेम कुछ भी नहीं है? यदि तुझको यह विश्वास है कि भगवान् अन्तर्यामी हैं तो फिर किसलिये प्रार्थना करता है? बिना प्रेमके मिथ्या प्रार्थना करनेसे भगवान् कभी नहीं सुनते और यदि प्रेम है तो फिर कहनेसे प्रयोजन ही क्या है? क्योंकि भगवान्ने तो स्वयं ही श्रीगीताजीमें कहा है कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(४।११)

'जो मेरेको जैसे भजते हैं मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।' तथा—

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(९।२९)

'जो (भक्त) मेरेको भक्तिसे भजते हैं वे मेरेमें हैं और मैं भी उनमें (प्रत्यक्ष प्रकट) हूँ*।'

रे मन! हरि दयासिन्धु होकर भी यदि दया न करें तो भी कुछ चिन्ता नहीं, अपनेको तो अपना कर्तव्यकार्य करते ही रहना चाहिये। हरि प्रेमी हैं, वे प्रेमको पहचानते हैं, प्रेमके विषयको प्रेमी ही जानता है, वे अन्तर्यामी भगवान् क्या तेरे शुष्क प्रेमसे दर्शन दे सकते हैं? जब विशुद्ध प्रेम और श्रद्धा-विश्वासरूपी डोरी तैयार हो जायगी तो उस डोरीद्वारा बँधे हुए हरि आप-ही-आप चले आवेंगे। रे मूर्ख मन! क्या मिथ्या प्रार्थनासे काम चल सकता है? क्योंकि हरि अन्तर्यामी हैं। रे मन! तुझको नमस्कार है, तेरा काम संसारमें चक्कर लगानेका है सो जहाँ तेरी इच्छा हो वहाँ जा। तेरे ही संगके कारण मैं इस असार संसारमें अनेक दिन फिरता रहा, अब हरिके चरण-कमलोंका आश्रय ग्रहण करनेसे तेरा सम्पूर्ण कपट जाता गया। तू मेरे लिये कपटभाव और अति दीन वचनोंसे भगवान्से प्रार्थना करता है परन्तु तू नहीं जानता कि हरि अन्तर्यामी हैं। श्रीयोगवासिष्ठमें ठीक ही लिखा है कि मनके अमन हुए बिना अर्थात् मनका नाश हुए बिना भगवान्की प्राप्ति नहीं होती। वासनाका क्षय, मनका नाश और परमेश्वरकी प्राप्ति यह तीनों एक ही कालमें होते हैं। इसलिये तुझसे विनय करता हूँ कि तू यहाँसे अपने माजनेसहित चला जा, अब यह पक्षी तेरी मायारूपी फाँसीमें नहीं फँस सकता; क्योंकि इसने हरिके चरणोंका आश्रय लिया है। क्या तू अपनी दुर्दशा कराके ही जायगा? अहो! कहाँ वह माया! कहाँ काम-क्रोधादि शत्रुगण! अब तो तेरी सम्पूर्ण सेनाका क्षय होता जाता है, इसलिये अपना प्रभाव पड़नेकी आशाको त्यागकर जहाँ इच्छा हो चला जा।

मन फिर परमात्मासे प्रार्थना करता है—

प्रभो! प्रभो!! दया करिये, हे नाथ! मैं आपकी शरण हूँ। हे शरणागतप्रतिपालक! शरण आयेकी लज्जा रखिये। हे प्रभो! रक्षा करिये, रक्षा करिये, एक बार आकर दर्शन दीजिये। आपके बिना इस संसारमें मेरे लिये कोई भी आधार नहीं है, अतएव आपको बारम्बार नमस्कार करता हूँ, प्रणाम करता हूँ। विलम्ब न करिये, शीघ्र आकर दर्शन दीजिये। हे प्रभो! हे दयासिन्धो! एक बार आकर दासकी सुधि लीजिये। आपके न आनेसे प्राणोंका आधार कोई भी नहीं दीखता। हे प्रभो! दया करिये, दया करिये, मैं आपकी शरण हूँ, एक बार मेरी ओर दयादृष्टिसे देखिये। हे प्रभो! हे दीनबन्धो! हे दीनदयालो! विशेष न तरसाइये, दया करिये। मेरी दुष्टताकी ओर न देखकर अपने पतितपावन स्वभावका प्रकाश करिये।

जीवात्मा अपने मनसे फिर कहता है—

रे मन! सावधान! सावधान! किसलिये व्यर्थ प्रलाप करता है। वे श्रीसच्चिदानन्दघन हरि झूठी विनती नहीं चाहते। अब तेरा कपट यहाँ नहीं चलेगा, तू मेरे लिये क्यों हरिसे कपटभरी प्रार्थना करता है? ऐसी प्रार्थना मैं नहीं चाहता, तेरी जहाँ इच्छा हो वहाँ चला जा।

यदि हरि अन्तर्यामी हैं तो प्रार्थना करनेकी क्या आवश्यकता है? यदि वे प्रेमी हैं तो बुलानेकी क्या आवश्यकता है? यदि वे विश्वम्भर हैं तो माँगनेकी क्या आवश्यकता है? तेरेको नमस्कार है, तू यहाँसे चला जा, चला जा।

* जैसे सूक्ष्मरूपसे सब जगह व्याप्त हुआ भी अग्नि साधनोंद्वारा प्रकट करनेसे ही प्रत्यक्ष होता है वैसे ही सब जगह स्थित हुआ भी परमेश्वर भक्तिसे भजनेवालेके ही अन्तःकरणमें प्रत्यक्षरूपसे प्रकट होता है।

जीवात्मा अपनी बुद्धि और इन्द्रियोंसे कहता है—

हे इन्द्रियो! तुमको नमस्कार है। तुम भी जाओ। जहाँ वासना होती है वहाँ तुम्हारा टिकाव होता है। मैंने हरिके चरण-कमलोंका आश्रय लिया है, इसलिये अब तुम्हारा दावँ नहीं पड़ेगा। हे बुद्धे! तुझको भी नमस्कार है। पहले तेरा ज्ञान कहाँ गया था जब कि तू मुझको संसारमें डूबनेके लिये शिक्षा दिया करती थी? क्या वह शिक्षा अब लग सकती है?॥ ५॥

जीवात्मा परमात्मासे कहता है—

हे प्रभो! आप अन्तर्यामी हैं, इसलिये मैं नहीं कहता कि आप आकर दर्शन दीजिये; क्योंकि यदि मेरा पूर्ण प्रेम होता तो क्या आप ठहर सकते? क्या वैकुण्ठमें लक्ष्मी भी आपको अटका सकतीं? यदि मेरी आपमें पूर्ण श्रद्धा होती तो क्या आप विलम्ब करते? क्या वह प्रेम और विश्वास आपको छोड़ सकता? अहो! मैं व्यर्थ ही संसारमें निष्कामी और निर्वासनिक बना हुआ हूँ और व्यर्थ ही अपनेको आपके शरणागत मानता हूँ। परन्तु कोई चिन्ता नहीं, जो कुछ आकर प्राप्त हो उसीमें मुझे प्रसन्न रहना चाहिये; क्योंकि ऐसे ही आपने श्रीगीताजीमें कहा है*। इसलिये आपके चरण-कमलोंकी प्रेम-भक्तिमें मग्न रहते हुए यदि मुझको नरक भी प्राप्त हो तो वह भी स्वर्गसे बढ़कर है। ऐसी दशामें मुझको क्या चिन्ता है? जब मेरा आपमें प्रेम होगा तो क्या आपका नहीं होगा? जब मैं आपके दर्शन बिना नहीं ठहर सकूँगा उस समय क्या आप ठहर सकेंगे? आपने तो स्वयं श्रीगीताजीमें कहा है कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(४। ११)

'जो मुझको जैसे भजते हैं मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।' अतएव मैं नहीं कहता कि आप आकर दर्शन दीजिये और आपको भी क्या परवा है? परन्तु कोई चिन्ता नहीं, आप जैसा उचित समझें वैसा ही करें, आप जो कुछ करें उसीमें मुझको आनन्द मानना चाहिये।

जीवात्मा ज्ञाननेत्रोंद्वारा परमेश्वरका ध्यान करता हुआ आनन्दमें विह्वल होकर कहता है—

अहो! अहो! आनन्द! आनन्द! प्रभो! प्रभो! क्या आप पधारे? धन्य भाग्य! धन्य भाग्य! आज मैं पतित भी आपके चरण-कमलोंके प्रभावसे कृतार्थ हुआ। क्यों न हो, आपने स्वयं श्रीगीताजीमें कहा है कि—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(९। ३०-३१)

यदि (कोई) अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त हुआ मेरेको (निरन्तर) भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है।

इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परमशान्तिको प्राप्त होता है, हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता॥ ७॥

जीवात्मा परमात्माके आश्चर्यमय सगुण रूपको ध्यानमें देखता हुआ अपने मन-ही-मनमें उनकी शोभा वर्णन करता है—

अहो! कैसे सुन्दर भगवान्‌के चरणारविन्द हैं कि जो नीलमणिके ढेरकी भाँति चमकते हुए अनन्त सूर्योंके सदृश प्रकाशित हो रहे हैं। चमकीले नखोंसे युक्त कोमल-कोमल अँगुलियाँ जिनपर रत्नजड़ित सुवर्णके नूपुर शोभायमान हैं, जैसे भगवान्‌के चरण-कमल हैं वैसे ही जानु और जंघादि अंग भी नीलमणिके ढेरकी भाँति पीताम्बरके भीतरसे चमक रहे हैं। अहो! सुन्दर चार भुजाएँ कैसी शोभायमान हैं। ऊपरकी दोनों भुजाओंमें तो शंख और चक्र एवं नीचेकी दोनों भुजाओंमें गदा और पद्म विराजमान हैं। चारों भुजाओंमें केयूर और कड़े आदि सुन्दर-सुन्दर आभूषण शोभित हैं। अहो! भगवान्‌का वक्षःस्थल कैसा सुन्दर है जिसके मध्यमें श्रीलक्ष्मीजीका और भृगुलताका चिह्न विराजमान है तथा नीलकमलके सदृश वर्णवाली भगवान्‌की ग्रीवा भी कैसी सुन्दर है जिसमें रत्नजड़ित हार और कौस्तुभमणि विराजमान हैं एवं मोतियोंकी और वैजयन्ती तथा सुवर्णकी और भाँति-भाँतिके पुष्पोंकी मालाएँ सुशोभित हैं। सुन्दर ठोड़ी, लाल ओष्ठ और भगवान्‌की अतिशय सुन्दर नासिका है जिसके अग्रभागमें मोती विराजमान है। भगवान्‌के दोनों नेत्र कमलपत्रके समान विशाल और नीलकमलके पुष्पकी भाँति खिले हुए हैं। कानोंमें रत्नजड़ित सुन्दर मकराकृत कुण्डल और ललाटपर श्रीधारी तिलक एवं शीशपर रत्नजड़ित किरीट (मुकुट) शोभायमान है। अहो! भगवान्‌का मुखारविन्द पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति गोल-गोल कैसा मनोहर है जिसके चारों ओर सूर्यके सदृश किरणें देदीप्यमान हैं, जिनके प्रकाशसे मुकुटादि सम्पूर्ण भूषणोंके रत्न चमक रहे हैं? अहो! आज मैं धन्य हूँ, धन्य हूँ कि जो मन्द-मन्द हँसते हुए आनन्दमूर्ति हरि भगवान्‌का दर्शन कर रहा हूँ॥ ८॥

* यदृच्छालाभसंतुष्टः (गीता अध्याय ४ श्लोक २२)। संतुष्टो येन केनचित् (गीता अध्याय १२ श्लोक १९)।

भगवान् स्नान करके पधारे हैं। वस्त्र धारण कर रखे हैं और यज्ञोपवीत सुशोभित है। इस प्रकार आनन्दमें विह्वल हुआ जीवात्मा ध्यानमें अपने सम्मुख सवा हाथकी दूरीपर बारह वर्षकी सुकुमार अवस्थाके रूपमें भूमिसे सवा हाथ ऊँचे आकाशमें विराजमान परमेश्वरको देखता हुआ उनकी मानसिक पूजा करता है।

मानसिक पूजाकी विधि

ॐ पादयोः पाद्यं समर्पयामि नारायणाय नमः॥ १॥

इस मन्त्रको बोलकर शुद्ध जलसे श्रीभगवान्‌के चरण-कमलोंको धोकर उस जलको अपने मस्तकपर धारण करना॥ १॥

ॐ हस्तयोरर्घ्यं समर्पयामि नारायणाय नमः॥ २॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीहरि भगवान्‌के हस्तकमलोंपर पवित्र जल छोड़ना॥ २॥

ॐ आचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः॥ ३॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीनारायणदेवको आचमन कराना॥ ३॥

ॐ गन्धं समर्पयामि नारायणाय नमः॥ ४॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीहरि भगवान्‌के ललाटपर रोली लगाना॥ ४॥

ॐ मुक्ताफलं समर्पयामि नारायणाय नमः॥ ५॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्‌के ललाटपर मोती लगाना॥ ५॥

ॐ पुष्पं समर्पयामि नारायणाय नमः॥ ६॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्‌के मस्तकपर और नासिकाके सामने आकाशमें पुष्प छोड़ना॥ ६॥

ॐ मालां समर्पयामि नारायणाय नमः॥ ७॥

इस मन्त्रको बोलकर पुष्पोंकी माला श्रीहरिके गलेमें पहनाना॥ ७॥

ॐ धूपमाघ्रापयामि नारायणाय नमः॥ ८॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्‌के सामने अग्निमें धूप छोड़ना॥ ८॥

ॐ दीपं दर्शयामि नारायणाय नमः॥ ९॥

इस मन्त्रको बोलकर घृतका दीपक जलाकर श्रीविष्णुभगवान्‌के सामने रखना॥ ९॥

ॐ नैवेद्यं समर्पयामि नारायणाय नमः॥ १०॥

इस मन्त्रको बोलकर मिश्रीसे श्रीहरिभगवान्‌के भोग लगाना॥ १०॥

ॐ आचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः॥ ११॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्‌को आचमन कराना॥ ११॥

ॐ ऋतुफलं समर्पयामि नारायणाय नमः॥ १२॥

इस मन्त्रको बोलकर ऋतुफल (केला आदि)-से श्रीभगवान्‌के भोग लगाना॥ १२॥

ॐ पुनराचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः॥ १३॥

इस मन्त्रको बोलकर श्रीभगवान्‌को फिर आचमन कराना॥ १३॥

ॐ पूगीफलं सताम्बूलं समर्पयामि नारायणाय नमः॥ १४॥

इस मन्त्रको बोलकर सुपारीसहित नागरपान श्रीभगवान्‌के अर्पण करना॥ १४॥

ॐ पुनराचमनीयं समर्पयामि नारायणाय नमः॥ १५॥

इस मन्त्रको बोलकर पुनः श्रीहरिको आचमन कराना। फिर सुवर्णके थालमें कपूरको प्रदीप्त करके श्रीनारायणदेवकी आरती उतारना॥ १५॥

ॐ पुष्पाञ्जलिं समर्पयामि नारायणाय नमः॥ १६॥

इस मन्त्रको बोलकर सुन्दर-सुन्दर पुष्पोंकी अंजलि भरकर श्रीहरि भगवान्‌के मस्तकपर छोड़ना॥ १६॥

फिर चार प्रदक्षिणा करके श्रीनारायणदेवको साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम करना॥ ९॥

उक्त प्रकारसे श्रीहरिभगवान्‌की मानसिक पूजा करनेके पश्चात् उनको अपने हृदय-आकाशमें शयन कराके जीवात्मा अपने मन-ही-मनमें श्रीभगवान्‌के स्वरूप और गुणोंका वर्णन करता हुआ बारम्बार सिरसे प्रणाम करता है—

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभांगम्।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम्॥

'जिनकी आकृति अतिशय शान्त है, जो शेषनागकी शय्यापर शयन किये हुए हैं, जिनकी नाभिमें कमल है, जो देवताओंके भी ईश्वर और सम्पूर्ण जगत्‌के आधार हैं, जो आकाशके सदृश सर्वत्र व्याप्त हैं, नील मेघके समान जिनका वर्ण है, अतिशय सुन्दर जिनके सम्पूर्ण अंग हैं, जो योगियोंद्वारा ध्यान करके प्राप्त किये जाते हैं, जो सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी हैं, जो जन्म-मरणरूप भयका नाश करनेवाले हैं, ऐसे श्रीलक्ष्मीपति कमलनेत्र विष्णुभगवान्‌को मैं सिरसे प्रणाम करता हूँ।'

असंख्य सूर्योंके समान जिनका प्रकाश है, अनन्त चन्द्रमाओंके समान जिनकी शीतलता है, करोड़ों अग्नियोंके समान जिनका तेज है, असंख्य मरुद्गणोंके समान जिनका पराक्रम है, अनन्त इन्द्रोंके समान जिनका ऐश्वर्य है, करोड़ों

कामदेवोंके समान जिनकी सुन्दरता है, असंख्य पृथ्वियोंके समान जिनमें क्षमा है, करोड़ों समुद्रोंके समान जो गम्भीर हैं, जिनकी किसी प्रकार भी कोई उपमा नहीं कर सकता, वेद और शास्त्रोंने भी जिनके स्वरूपकी केवल कल्पनामात्र ही की है, पार किसीने भी नहीं पाया, ऐसे अनुपमेय श्रीहरिभगवान्‌को मेरा बारम्बार नमस्कार है।

जो सच्चिदानन्दमय श्रीविष्णुभगवान् मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं, जिनके सारे अंगोंपर रोम-रोममें पसीनेकी बूँदें चमकती हुई शोभा देती हैं, ऐसे पतितपावन श्रीहरि भगवान्‌को मेरा बारम्बार नमस्कार है॥ १०॥

जीवात्मा मन-ही-मनमें श्रीहरि भगवान्‌को पंखेसे हवा करता हुआ एवं उनके चरणोंकी सेवा करता हुआ उनकी स्तुति करता है—

अहो! हे प्रभो! आप ही ब्रह्मा हैं, आप ही विष्णु हैं, आप ही महेश हैं, आप ही सूर्य हैं, आप ही चन्द्रमा और तारागण हैं, आप ही भूर्भुवः स्वः तीनों लोक हैं तथा सातों द्वीप और चौदह भुवन आदि जो कुछ भी है, सब आपहीका स्वरूप है, आप ही विराट्‌स्वरूप हैं, आप ही हिरण्यगर्भ हैं, आप ही चतुर्भुज हैं और मायातीत शुद्ध ब्रह्म भी आप ही हैं, आपहीने अपने अनेक रूप धारण किये हैं, इसलिये सम्पूर्ण संसार आपहीका स्वरूप है तथा द्रष्टा, दृश्य, दर्शन जो कुछ भी है, सो सब आप ही हैं* अतएव—

नमः समस्तभूतानामादिभूताय भूभृते।
अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे॥

'सम्पूर्ण प्राणियोंके आदिभूत पृथ्वीको धारण करनेवाले और युग-युगमें प्रकट होनेवाले अनन्त रूपधारी (आप) विष्णु भगवान्‌के लिये नमस्कार है।'

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

'आप ही माता और आप ही पिता हैं, आप ही बन्धु और आप ही मित्र हैं, आप ही विद्या और आप ही धन हैं, हे देवोंके देव! आप ही मेरे सर्वस्व हैं'॥ ११॥

उक्त प्रकारसे परमात्माकी प्रेम-भक्तिमें लगे हुए पुरुषका जब परमात्मामें अतिशय प्रेम हो जाता है उस कालमें उसको अपने शरीरादिकी भी सुध नहीं रहती, जैसे सुन्दरदासजीने प्रेम-भक्तिका लक्षण करते हुए कहा है—

इन्दव छन्द

प्रेम लग्यो परमेश्वरसों, तब भूलि गयो सिगरो घरबारा।
ज्यों उन्मत्त फिरै जित ही तित, नेक रही न शरीर सँभारा॥
श्वास उसास उठे सब रोम, चलै दृग नीर अखण्डित धारा।
सुन्दर कौन करै नवधा विधि, छाकि पर्‍यो रस पी मतवारा॥

नाराच छन्द

न लाज तीन लोककी, न वेदको कह्यो करै।
न शंक भूत प्रेतकी, न देव यक्ष तें डरै॥
सुने न कान औरकी, द्रसै न और इच्छना।
कहै न मुख और बात, भक्ति-प्रेम लच्छना॥

बीजुमाला छन्द

प्रेम अधीनो छाक्यो डोलै, क्योंकी क्योंही बाणी बोलै॥
जैसे गोपी भूली देहा, तैसो चाहे जासों नेहा॥

मनहरन छन्द

नीर बिनु मीन दुःखी, क्षीर बिनु शिशु जैसे,
पीरकी ओषधि बिनु, कैसे रह्यो जात है।
चातक ज्यों स्वातिबूँद, चन्दको चकोर जैसे,
चन्दनकी चाह करि, सर्प अकुलात है॥
निर्धन ज्यों धन चाहे, कामिनीको कन्त चाहे,
ऐसी जाके चाह ताहि, कछु न सुहात है।
प्रेमको प्रवाह ऐसो, प्रेम तहाँ नेम कैसो,
सुन्दर कहत यह, प्रेमही की बात है॥

छप्पय छन्द

कबहुँक हँसि उठि नृत्य करै, रोवन फिर लागे।
कबहुँक गद्‌गद-कण्ठ, शब्द निकसे नहिं आगे॥
कबहुँक हृदय उमंग, बहुत ऊँचे स्वर गावे।
कबहुँक है मुख मौन, गगन ऐसे रहि जावे॥
चित्त-वित्त हरिसों लग्यो, सावधान कैसे रहै।
यह प्रेम लक्षणा भक्ति है, शिष्य सुनहु सुन्दर कहै॥ १२॥

सगुण भगवान्‌के अन्तर्धान हो जानेपर जीवात्मा शुद्ध सच्चिदानन्दघन सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें मग्न हुआ करता है—

अहो! आनन्द! आनन्द! अति आनन्द! सर्वत्र एक वासुदेव-ही-वासुदेव व्याप्त है† अहो! सर्वत्र एक आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है।

---

* 'एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः।' (विष्णुसहस्रनाम १४०)

'पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण भूतोंको उत्पन्न करनेवाला महान् भूत एक ही विष्णु अनेक रूपसे स्थित है। तथा 'एकोऽहं बहु स्याम्' (इति श्रुतिः)। '(सृष्टिके आदिमें भगवान्‌ने संकल्प किया कि) मैं एक ही बहुत रूपोंमें होऊँ!'

† बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ (गीता ७। १९)

'(जो) बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है, इस प्रकार मेरेको भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है।'

कहाँ काम, कहाँ क्रोध, कहाँ लोभ, कहाँ मोह, कहाँ मद, कहाँ मत्सरता, कहाँ मान, कहाँ क्षोभ, कहाँ माया, कहाँ मन, कहाँ बुद्धि, कहाँ इन्द्रियाँ, सर्वत्र एक सच्चिदानन्द-ही-सच्चिदानन्द व्याप्त है। अहो! अहो! सर्वत्र एक सत्यरूप, चेतनरूप, आनन्दरूप, घनरूप, पूर्णरूप, ज्ञानस्वरूप, कूटस्थ, अक्षर, अव्यक्त, अचिन्त्य, सनातन,परब्रह्म, परम अक्षर, परिपूर्ण, अनिर्देश्य, नित्य, सर्वगत, अचल, ध्रुव, अगोचर, मायातीत, अग्राह्य, आनन्द, परमानन्द, महानन्द, आनन्द-ही-आनन्द, आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, आनन्दसे भिन्न कुछ भी नहीं है॥ १३॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ईश्वर-साक्षात्कारके लिये नामजप सर्वोपरि साधन है

वास्तवमें नामकी महिमा वही पुरुष जान सकता है, जिसका मन निरन्तर श्रीभगवन्नाममें संलग्न रहता है, नामकी प्रिय और मधुर स्मृतिसे जिसके क्षण-क्षणमें रोमांच और अश्रुपात होते हैं, जो जलके वियोगमें मछलीकी व्याकुलताके समान क्षणभरके नाम-वियोगसे भी विकल हो उठता है, जो महापुरुष निमेषमात्रके लिये भी भगवान्‌के नामको नहीं छोड़ सकता और जो निष्कामभावसे निरन्तर प्रेमपूर्वक जप करते-करते उसमें तल्लीन हो चुका है। ऐसा ही महात्मा पुरुष इस विषयके पूर्णतया वर्णन करनेका अधिकारी है और उसीके लेखसे संसारमें विशेष लाभ पहुँच सकता है।

यद्यपि मैं एक साधारण मनुष्य हूँ, उस अपरिमित गुणनिधान भगवान्‌के नामकी अवर्णनीय महिमाका वर्णन करनेका मुझमें सामर्थ्य नहीं है, तथापि अपने कतिपय मित्रोंके अनुरोधसे मैंने कुछ निवेदन करनेका साहस किया है। अतएव इस लेखमें जो कुछ त्रुटियाँ रही हों उनके लिये आपलोग क्षमा करें।

महिमाका दिग्दर्शन

भगवन्नामकी अपार महिमा है, सभी युगोंमें इसकी महिमाका विस्तार है। शास्त्रों और साधु-महात्माओंने सभी युगोंके लिये मुक्तकण्ठसे नाम-महिमाका गान किया है परन्तु कलियुगके लिये तो इसके समान मुक्तिका कोई दूसरा उपाय ही नहीं बतलाया गया। यथा—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(नारदपु० १। ४१। १५)

'कलियुगमें केवल श्रीहरिनाम ही कल्याणका परम साधन है, इसको छोड़कर दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।'

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

(भागवत १२। ३। ५२)

'सत्ययुगमें भगवान् विष्णुके ध्यान करनेसे, त्रेतामें यज्ञोंसे, द्वापरमें भगवान्‌की सेवा-पूजा करनेसे जो फल होता है, कलियुगमें केवल हरिके नाम-संकीर्तनसे वही फल प्राप्त होता है।'

कलिजुग केवल नाम अधारा। सुमिरि सुमिरि भव उतरहु पारा॥

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥
राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥
सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद तिन्हहुँ किए मन मीन॥
सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुन गाथ॥
रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥
चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥
कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

नाम-महिमामें प्रमाणोंका पार नहीं है। हमारे शास्त्र इससे भरे पड़े हैं, परन्तु अधिक विस्तारभयसे यहाँ इतने ही लिखे जाते हैं। संसारमें जितने मत-मतान्तर हैं, प्रायः

सभी ईश्वरके नामकी महिमाको स्वीकार करते और गाते हैं। अवश्य ही रुचि और भावके अनुसार नामोंमें भिन्नता रहती है, परन्तु परमात्माका नाम कोई-सा भी क्यों न हो, सभी एक-सा लाभ पहुँचानेवाले हैं। अतएव जिसको जो नाम रुचिकर प्रतीत हो वह उसीके जपका ध्यानसहित अभ्यास करे।

मेरा अनुभव

कुछ मित्रोंने मुझे इस विषयमें अपना अनुभव लिखनेके लिये अनुरोध किया है, परंतु जब कि मैंने भगवन्नामका विशेष संख्यामें जप ही नहीं किया तब मैं अपना अनुभव क्या लिखूँ? भगवत्कृपासे जो कुछ यत्किंचित् नामस्मरण मुझसे हो सका है उसका माहात्म्य भी पूर्णतया लिखा जाना कठिन है।

नामका अभ्यास मैं लड़कपनसे ही करने लगा था। जिससे शनैः-शनैः मेरे मनकी विषयवासना कम होती गयी और पापोंसे हटनेमें मुझे बड़ी ही सहायता मिली। काम-क्रोधादि अवगुण कम होते गये, अन्तःकरणमें शान्तिका विकास हुआ। कभी-कभी नेत्र बंद करनेसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका अच्छा ध्यान भी होने लगा। सांसारिक स्फुरणा बहुत कम हो गयी। भोगोंमें वैराग्य हो गया। उस समय मुझे वनवास या एकान्त स्थानका रहन-सहन अनुकूल प्रतीत होता था।

इस प्रकार अभ्यास होते-होते एक दिन स्वप्नमें श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजीसहित भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन हुए और उनसे बातचीत भी हुई। श्रीरामचन्द्रजीने वर माँगनेके लिये मुझसे बहुत कुछ कहा पर मेरी इच्छा माँगनेकी नहीं हुई, अन्तमें बहुत आग्रह करनेपर भी मैंने इसके सिवा और कुछ नहीं माँगा कि 'आपसे मेरा वियोग कभी न हो।' यह सब नामका ही फल था।

इसके बाद नामजपसे मुझे और भी अधिक लाभ हुआ, जिसकी महिमा वर्णन करनेमें मैं असमर्थ हूँ। हाँ, इतना अवश्य कह सकता हूँ कि नामजपसे मुझे जितना लाभ हुआ है, उतना श्रीमद्भगवद्गीताके अभ्यासको छोड़कर अन्य किसी भी साधनसे नहीं हुआ।

जब-जब मुझे साधनसे च्युत करनेवाले भारी विघ्न प्राप्त हुआ करते थे, तब-तब मैं प्रेमपूर्वक भावनासहित नामजप करता था और उसीके प्रभावसे मैं उन विघ्नोंसे छुटकारा पाता था। अतएव मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि साधन-पथके विघ्नोंको नष्ट करने और मनमें होनेवाली सांसारिक स्फुरणाओंका नाश करनेके लिये स्वरूप-चिन्तनसहित प्रेमपूर्वक भगवन्नाम-जप करनेके समान दूसरा कोई साधन नहीं है। जब कि साधारण संख्यामें भगवन्नामका जप करनेसे ही मुझे इतनी परम शान्ति, इतना अपार आनन्द और इतना अनुपम लाभ हुआ है जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकता, तब जो पुरुष भगवन्नामका निष्कामभावसे ध्यानसहित नित्य-निरन्तर जप करते हैं, उनके आनन्दकी महिमा तो कौन कह सकता है?

नामजप किसलिये करना चाहिये?

श्रुति कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

(कठ० १।२।१६)

'यह ओंकार अक्षर ही ब्रह्म है, यही परब्रह्म है, इसी ओंकाररूप अक्षरको जानकर जो मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है उसको वही मिलती है।'

श्रुतिके इस कथनके अनुसार कल्पवृक्षरूप भगवद्भजनके प्रतापसे जिस वस्तुको मनुष्य चाहता है, उसे वही मिल सकती है। परन्तु आत्माका कल्याण चाहनेवाले सच्चे प्रेमी भक्तोंको तो निष्कामभावसे ही भजन करना चाहिये। शास्त्रोंमें निष्काम प्रेमी भक्तकी ही अधिक प्रशंसा की गयी है। भगवान्ने भी कहा है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७।१६-१७)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्मवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी अर्थात् निष्कामी ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझे भजते हैं। उनमें भी नित्य मेरेमें एकीभावसे स्थित हुआ अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझे तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

इस प्रकार निष्काम प्रेमपूर्वक होनेवाले भगवद्भजनके प्रभावको जो मनुष्य जानता है, वह एक क्षणके लिये भी भगवान्‌को नहीं भूलता और भगवान् भी उसको नहीं भूलते। भगवान्ने स्वयं कहा भी है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६।३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है; क्योंकि वह मेरेमें एकीभावसे नित्य स्थित है।'

भला, सच्चा प्रेमी क्या अपने प्रेमास्पदको छोड़कर कभी दूसरेको मनमें स्थान दे सकता है? जो भाग्यवान् पुरुष परम सुखमय परमात्माके प्रभावको जानकर उसे ही अपना एकमात्र प्रेमास्पद बना लेते हैं, वे तो अहर्निश उसीके प्रिय नामकी स्मृतिमें तल्लीन रहते हैं, वे दूसरी वस्तु न कभी चाहते हैं और न उन्हें सुहाती ही है।

अतएव जहाँतक ऐसी अवस्था न हो वहाँतक ऐसा अभ्यास करना चाहिये। नामोच्चारण करते समय मन प्रेममें इतना मग्न हो जाना चाहिये कि उसे अपने शरीरका भी ज्ञान न रहे। भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी विशुद्ध प्रेम-भक्ति और भगवत्-साक्षात्कारिताके सिवा अन्य किसी भी सांसारिक वस्तुकी कामना, याचना या इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये।

निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक विधिसहित जप करनेवाला साधक बहुत शीघ्र अच्छा लाभ उठा सकता है।

यदि कोई शंका करे कि बहुत लोग भगवन्नामका जप किया करते हैं परन्तु उनके कोई विशेष लाभ होता हुआ नहीं देखा जाता, तो इसका उत्तर यह हो सकता है कि उन लोगोंने या तो विधिसहित जपका अभ्यास ही नहीं किया होगा या अपने जपरूप परमधनके बदलेमें तुच्छ सांसारिक भोगोंको खरीद लिया होगा, नहीं तो उन्हें अवश्य ही विशेष लाभ होता, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इसलिये नामजप किसी प्रकारकी भी छोटी-बड़ी कामनाके लिये न करके केवल भगवत्के विशुद्ध प्रेमके लिये ही करना चाहिये।

नामजप कैसे करना चाहिये?

महर्षि पतंजलिजी कहते हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः॥ (योग० १। २७)

'उस परमात्माका वाचक अर्थात् नाम ओंकार है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्॥ (योग० १। २८)

'उस परमात्माके नामजप और उसके अर्थकी भावना अर्थात् स्वरूपका चिन्तन करना।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥
(योग० १। २९)

'उपर्युक्त साधनसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि नामजप नामीके स्वरूपचिन्तनसहित करना चाहिये। स्वरूपचिन्तनयुक्त नामजपसे अन्तरायोंका नाश और भगवत्प्राप्ति होती है।

यद्यपि नामी नामके ही अधीन है। श्रीगोस्वामीजी महाराजने कहा है—

देखिअहिं रूप नाम आधीना।
रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें।
आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥

इसलिये स्वरूपचिन्तनकी चेष्टा किये बिना भी केवल नामजपके प्रतापसे ही साधकको समयपर भगवत्स्वरूपका साक्षात्कार अपने-आप ही हो सकता है, परंतु उसमें विलम्ब हो जाता है। भगवान्के मनमोहन स्वरूपका चिन्तन करते हुए जपका अभ्यास करनेसे बहुत ही शीघ्र लाभ होता है; क्योंकि निरन्तर चिन्तन होनेसे भगवान्की स्मृतिमें अन्तर नहीं पड़ता।

इसीलिये भगवान्ने श्रीगीताजीमें कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(८।७)

'अतएव हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन, बुद्धिसे युक्त हुआ तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।' भगवान्की इस आज्ञाके अनुसार उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते और प्रत्येक सांसारिक कार्य करते समय साधकको नामजपके साथ-ही-साथ मन, बुद्धिसे भगवान्के स्वरूपका चिन्तन और निश्चय करते रहना चाहिये। जिससे क्षणभरके लिये भी उसकी स्मृतिका वियोग न हो।

इसपर यदि कोई पूछे कि किस नामका जप अधिक लाभदायक है? और नामके साथ भगवान्के कैसे स्वरूपका ध्यान करना चाहिये? तो इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि परमात्माके अनेक नाम हैं, उनमेंसे जिस साधककी जिस नाममें अधिक रुचि और श्रद्धा हो, उसे उसीके नामजपसे विशेष लाभ होता है। अतएव साधकको अपनी रुचिके अनुकूल ही भगवान्के नामका जप और स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये। एक बात अवश्य है कि जिस नामका जप किया जाय, स्वरूपका चिन्तन भी उसीके अनुसार ही होना चाहिये। उदाहरणार्थ—

'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।' इस मन्त्रका जप करनेवालेको सर्वव्यापी वासुदेवका ध्यान करना चाहिये। **'ॐ नमो नारायणाय।'** इस मन्त्रका जप करनेवालेको

चतुर्भुज श्रीविष्णुभगवान्‌का ध्यान करना चाहिये। '**ॐ नमः शिवाय**' मन्त्रका जप करनेवालेको त्रिनेत्र भगवान् शंकरका ध्यान करना उचित है। केवल ॐकारका जप करनेवालेको सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन शुद्धब्रह्मका चिन्तन करना उचित है। श्रीरामनामका जप करनेवालेको श्रीदशरथनन्दन भगवान् रामचन्द्रजीके स्वरूपका चिन्तन करना लाभप्रद है।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(कलिसं० १)

इस मन्त्रका जप करनेवालेके लिये श्रीराम, कृष्ण, विष्णु या सर्वव्यापी ब्रह्म आदि सभी रूपोंका अपनी इच्छा और रुचिके अनुसार ध्यान किया जा सकता है; क्योंकि यह सब नाम सभी रूपोंके वाचक हो सकते हैं।

इन उदाहरणोंसे यही समझना चाहिये कि साधकको गुरुसे जिस नाम-रूपका उपदेश मिला हो, जिस नाम और जिस रूपमें श्रद्धा, प्रेम और विश्वासकी अधिकता हो तथा जो अपनी आत्माके अनुकूल प्रतीत होता हो, उसे उसी नाम-रूपके जप-ध्यानसे अधिक लाभ हो सकता है।

परन्तु नामजपके साथ ध्यान जरूर होना चाहिये। वास्तवमें नामके साथ नामीकी स्मृति होना अनिवार्य भी है। मनुष्य जिस-जिस वस्तुके नामका उच्चारण करता है उस-उस वस्तुके स्वरूपकी स्मृति उसे एक बार अवश्य होती है और जैसी स्मृति होती है, उसीके अनुसार भला-बुरा परिणाम भी अवश्य होता है। जैसे कोई मनुष्य कामके वशीभूत होकर जब किसी स्त्रीका स्मरण करता है तब उसकी स्मृतिके साथ ही उसके शरीरमें काम जाग्रत् होकर वीर्यपातादि दुर्घटनाको घटा देता है। इसी प्रकार वीर-रस और करुण-रसप्रधान वृत्तान्तोंकी स्मृतिसे तदनुसार ही मनुष्यकी वृत्तियाँ और उसके भाव बन जाते हैं। साधु पुरुषको याद करनेसे मनमें श्रेष्ठ भावोंकी जागृति होती है और दुराचारीकी स्मृतिसे बुरे भावोंका आविर्भाव होता है। जब लौकिक स्मरणका ऐसा परिणाम अनिवार्य है तब परमात्माके स्मरणसे परमात्माके भाव और गुणोंका अन्तःकरणमें आविर्भाव हो, इसमें तो सन्देह ही क्या है?

अतएव साधकको भगवान्‌के प्रेममें विह्वल होकर निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर दिन-रात कर्तव्यकर्मोंको करते हुए भी ध्यानसहित श्रीभगवन्नामजपकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

सत्संगसे ही नामजपमें श्रद्धा होती है !

नामकी इतनी महिमा होते हुए भी प्रेम और ध्यानयुक्त भगवन्नाममें लोग क्यों नहीं प्रवृत्त होते? इसका उत्तर यह है कि भगवत्-भजनके असली मर्मको वही मनुष्य जान सकता है जिसपर भगवान्‌की पूर्ण दया होती है।

यद्यपि भगवान्‌की दया तो सदा ही सबपर समानभावसे है परन्तु जबतक उसकी अपार दयाको मनुष्य पहचान नहीं लेता, तबतक उसे उस दयासे लाभ नहीं होता। जैसे किसीके घरमें गड़ा हुआ धन है, परन्तु जबतक वह उसे जानता नहीं तबतक उसे कोई लाभ नहीं होता, परन्तु वही जब किसी जानकार पुरुषसे जान लेता है और यदि परिश्रम करके उस धनको निकाल लेता है तो उसे लाभ होता है। इसी प्रकार भगवान्‌की दयाके प्रभावको जाननेवाले पुरुषोंके संगसे मनुष्यको भगवान्‌की नित्य दयाका पता लगता है, दयाके ज्ञानसे भजनका मर्म समझमें आता है, फिर उसकी भजनमें प्रवृत्ति होती है और भजनके नित्य-निरन्तर अभ्याससे उसके समस्त संचित पाप समूल नष्ट हो जाते हैं और उसे परमात्माकी प्राप्तिरूप पूर्ण लाभ मिलता है।

नाममें पापनाशकी स्वाभाविक शक्ति है

यहाँपर यदि कोई शंका करे कि यदि भगवान् भजन करनेवालेके पापोंका नाश कर देते हैं या उसे माफी दे देते हैं तो क्या उनमें विषमताका दोष नहीं आता? इसका उत्तर यह है कि जैसे अग्निमें जलानेकी और प्रकाश करनेकी शक्ति स्वाभाविक है इसी प्रकार भगवन्नाममें भी पापोंके नष्ट करनेकी स्वाभाविक शक्ति है। इसीलिये भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(९।२९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परन्तु जो भक्त मेरेको प्रेमसे भजते हैं वे मेरेमें और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैसे शीतसे व्यथित अनेक पुरुषोंमेंसे जो पुरुष अग्निके समीप जाकर अग्निका सेवन करता है उसीके शीतका निवारण कर अग्नि उसकी उस व्यथाको मिटा देती है परन्तु जो अग्निके समीप नहीं जाते उनकी व्यथा नहीं मिटती। इससे अग्निमें कोई विषमताका दोष नहीं आता; क्योंकि वह सभीको अपना ताप देकर उनकी व्यथा निवारण करनेको सर्वदा तैयार है। कोई समीप ही न जाय तो अग्नि क्या करे? इसी प्रकार जो पुरुष भगवान्‌का भजन करता है उसीके अन्तःकरणको शुद्ध करके भगवान् उसके दुःखोंका सर्वथा नाश करके उसका कल्याण कर देते हैं। इसलिये भगवान्‌में विषमताका कोई दोष नहीं आता।

नाम-भजनसे ही ज्ञान हो जाता है

(शंका) यह बात मान ली गयी कि भगवन्नामसे पापोंका नाश होता है परन्तु परमपदकी प्राप्ति उससे कैसे हो सकती है? क्योंकि परमपदकी प्राप्ति तो केवल ज्ञानसे होती है।

(उत्तर) यह ठीक है। परमपदकी प्राप्ति ज्ञानसे ही होती है, परन्तु श्रद्धा, प्रेम और विश्वासपूर्वक निष्कामभावसे किये जानेवाले भजनके प्रभावसे भगवान् उसे अपना वह ज्ञान प्रदान करते हैं कि जिससे उसे भगवान्के स्वरूपका तत्त्वज्ञान हो जाता है और उससे उस साधकको परमपदकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है। भगवान्ने कहा है—

मच्चित्ता मद्‍गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०। ९—११)

'निरन्तर मेरेमें मन लगानेवाले, मेरेमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन सदा ही मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं, उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ कि जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये ही मैं स्वयं उनके अन्तःकरणमें एकीभावसे स्थित हुआ अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकद्वारा नष्ट करता हूँ।'

अतएव निरन्तर प्रेमपूर्वक निष्काम नामजप और स्वरूप-चिन्तनसे स्वतः ही ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और उस ज्ञानसे साधकको सत्वर ही परमपदकी प्राप्ति हो जाती है।

नामकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये

कुछ भाई नामजपके महत्त्वको नहीं समझनेके कारण उसकी निन्दा कर बैठते हैं, वे कहा करते हैं कि—'राम-राम' करना और 'टायँ-टायँ' करना एक समान ही है। साथ ही यह भी कहा करते हैं कि नामजपके ढोंगसे आलसी बनकर अपने जीवनको नष्ट करना है। इसी तरहकी और भी अनेक बातें कही जाती हैं।

ऐसे भाइयोंसे मेरी प्रार्थना है कि बिना ही जाँच किये इस प्रकारसे नामजपकी निन्दा कर जप करनेवालोंके हृदयमें अश्रद्धा उत्पन्न करनेकी बुरी चेष्टा न किया करें, बल्कि कुछ समयतक नामजप करके देखें कि उससे क्या लाभ होता है। व्यर्थ ही निन्दा या उपेक्षाकर पाप-भाजन नहीं बनना चाहिये।

नामजपमें प्रमाद और आलस्य करना उचित नहीं

बहुत-से भाई नामजप या भजनको अच्छा तो समझते हैं परन्तु प्रमाद या आलस्यवश भजन नहीं करते। यह उनकी बड़ी भारी भूल है। इस प्रकार दुर्लभ परन्तु क्षणभंगुर मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके जो भजनमें आलस्य करते हैं उन्हें क्या कहा जाय? जीवनका सद्व्यय भजनमें ही है, यदि अभी प्रमादसे इस अमूल्य सुअवसरको खो दिया तो पीछे सिवा पश्चात्तापके और कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। कबीरजीने कहा है—

मरोगे मरि जाओगे, कोई न लेगा नाम।
ऊजड़ जाय बसाओगे, छाड़ि बसन्ता गाम॥
आजकालकी पाँच दिन, जंगल होगा बास।
ऊपर ऊपर हल फिरै, ढोर चरेंगे घास॥
आज कहे मैं काल भजूँ, काल कहे फिर काल।
आजकालके करत ही, औसर जासी चाल॥
काल भजन्ता आज भज, आज भजन्ता अब।
पलमें परलय होयगी, फेर भजेगा कब॥

अतएव आलस्य और प्रमादका परित्याग करके जिस-किस प्रकारसे भी हो, उठते, बैठते, सोते और सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करते हुए सदा-सर्वदा भजन करनेका अभ्यास अवश्य करना चाहिये।

'माँ' बच्चोंको भुलानेके लिये उनके सामने नाना प्रकारके खिलौने डाल देती है, कुछ खानेके पदार्थ उनके हाथमें दे देती है, जो बच्चे उन पदार्थोंमें रमकर 'माँ' के लिये रोना छोड़ देते हैं, 'माँ' भी उन्हें छोड़कर अपना दूसरा काम करने लगती है, परन्तु जो बच्चा किसी भी भुलावेमें न भूलकर केवल 'माँ-माँ' पुकारा करता है, उसे 'माँ' अवश्य ही अपनी गोदमें लेनेको बाध्य होती है, ऐसे जिद्दी बच्चेके पास घरके सारे आवश्यक कामोंको छोड़कर भी माँको तुरंत आना और उसे अपने हृदयसे लगाकर दुलारना पड़ता है; क्योंकि माता इस बातको जानती है कि यह बच्चा मेरे सिवा और किसी विषयमें भी नहीं भूलता है।

इसी प्रकार भगवान् भी भक्तकी परीक्षाके लिये उसके इच्छानुसार उसे अनेक प्रकारके विषयोंका प्रलोभन देकर भुलाना चाहते हैं। जो उनमें भूल जाता है वह तो इस परीक्षामें अनुत्तीर्ण होता है परन्तु जो भाग्यवान् भक्त संसारके समस्त पदार्थोंको तुच्छ, क्षणिक और नाशवान् समझकर उन्हें लात मार देता है और प्रेममें मग्न होकर सच्चे मनसे उस सच्चिदानन्दमयी मातासे मिलनेके लिये ही

लगातार रोया करता है, ऐसे भक्तके लिये सम्पूर्ण कामोंको छोड़कर भगवान्‌को स्वयं तुरंत ही आना पड़ता है। महात्मा कबीरजी कहते हैं—

केशव केशव कूकिये, न कूकिये असार।
रात दिवसके कूकते, कभी तो सुनें पुकार॥
राम नाम रटते रहो, जबलग घटमें प्रान।
कबहुँ तो दीनदयालके, भनक परेगी कान॥

इसलिये संसारके समस्त विषयोंको विषके लड्डू समझते हुए उनसे मन हटाकर श्रीपरमात्माके पावन नामके जपमें लग जाना ही परम कर्तव्य है। जो परमात्माके नामका जप करता है, दयालु परमात्मा उसे शीघ्र ही भव-बन्धनसे मुक्त कर देते हैं।

यदि यह कहा जाय कि ईश्वर न्यायकारी हैं, भजनेवालेके ही पापोंका नाश करके उसे परमगति प्रदान करते हैं तो फिर उन्हें दयालु क्यों कहना चाहिये?

यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। संसारके बड़े-बड़े राजा-महाराजा अपने उपासकोंको बाह्य धनादि पदार्थ देकर सन्तुष्ट करते हैं परंतु भगवान् ऐसा नहीं करते, उनका तो यह नियम है कि उनको जो जिस भावसे भजता है उसको वे भी उसी भावसे भजते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४।११)

परमात्मा छोटे-बड़ेका कोई खयाल नहीं करते। एक छोटे-से-छोटा व्यक्ति परमात्माको जिस भावसे भजता है, उनके साथ जैसा बर्ताव करता है, वे भी उसको वैसे ही भजते और वैसा ही बर्ताव करते हैं। यदि कोई उनके लिये रोकर व्याकुल होता है तो वे भी उससे मिलनेके लिये उसी प्रकार अकुला उठते हैं। यह उनकी कितनी दयाकी बात है।

अतएव इस अनित्य, क्षणभंगुर, नाशवान् संसारके समस्त मिथ्या भोगोंको छोड़कर उस सर्वशक्तिमान् न्यायकारी शुद्ध परम दयालु सच्चे प्रेमी परमात्माके पावन नामका निष्काम प्रेमभावसे ध्यानसहित सदा-सर्वदा जप करते रहना चाहिये।

संसारके समस्त दुःखोंसे मुक्त होकर ईश्वर-साक्षात्कारके लिये नामजप ही सर्वोपरि युक्तियुक्त साधन है।

भगवान्‌के दर्शन प्रत्यक्ष हो सकते हैं

बहुत-से सज्जन मनमें शंका उत्पन्न कर इस प्रकारके प्रश्न किया करते हैं कि दो प्यारे मित्र जैसे आपसमें मिलते हैं क्या इसी प्रकार इस कलिकालमें भी भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन मिल सकते हैं? यदि सम्भव है तो ऐसा कौन-सा उपाय है कि जिससे हम उस मनोमोहिनी मूर्तिका शीघ्र ही दर्शन कर सकें? साथ ही यह भी जानना चाहते हैं, क्या वर्तमान कालमें ऐसा कोई पुरुष संसारमें है जिसको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान् मिले हों?

वास्तवमें तो इन तीनों प्रश्नोंका उत्तर वे ही महान् पुरुष दे सकते हैं जिनको भगवान्‌की उस मनोमोहिनी मूर्तिका साक्षात् दर्शन हुआ हो।

यद्यपि मैं एक साधारण व्यक्ति हूँ तथापि परमात्माकी और महान् पुरुषोंकी दयासे केवल अपने मनोविनोदार्थ तीनों प्रश्नोंके सम्बन्धमें क्रमशः कुछ लिखनेका साहस कर रहा हूँ—

(१) जिस तरह सत्ययुगादिमें ध्रुव, प्रह्लादादिको साक्षात् दर्शन होनेके प्रमाण मिलते हैं उसी तरह कलियुगमें भी सूरदास, तुलसीदासादि बहुत-से भक्तोंको प्रत्यक्ष दर्शन होनेका इतिहास मिलता है; बल्कि विष्णुपुराणादिमें तो सत्ययुगादिकी अपेक्षा कलियुगमें भगवत्-दर्शन होना बड़ा ही सुगम बताया है।

श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

(१२।३।५२)

'सत्ययुगमें निरन्तर विष्णुका ध्यान करनेसे, त्रेतामें यज्ञद्वारा यजन करनेसे और द्वापरमें पूजा (उपासना) करनेसे जो परमगतिकी प्राप्ति होती है वही कलियुगमें केवल नाम-कीर्तनसे मिलती है।'

जैसे अरणीकी लकड़ियोंको मथनेसे अग्नि प्रज्वलित हो जातीहै, उसी प्रकार सच्चे हृदयकी प्रेमपूरित पुकारकी रगड़से अर्थात् उस भगवान्‌के प्रेममय नामोच्चारणकी गम्भीर ध्वनिके प्रभावसे भगवान् भी प्रकट हो जाते हैं। महर्षि पतंजलिने भी अपने योगदर्शनमें कहा है—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः। (२।४४)

'नामोच्चारसे इष्टदेव परमेश्वरके साक्षात् दर्शन होते हैं।'

जिस तरह सत्य-संकल्पवाला योगी जिस वस्तुके लिये संकल्प करता है वही वस्तु प्रत्यक्ष प्रकट हो जाती है, उसी तरह शुद्ध अन्तःकरणवाला भगवान्‌का सच्चा अनन्य प्रेमी भक्त जिस समय भगवान्‌के प्रेममें मग्न होकर भगवान्‌की जिस प्रेममयी मूर्तिके दर्शन करनेकी इच्छा करता है उस रूपमें ही भगवान् तत्काल प्रकट हो जाते हैं। गीता अ० ११ श्लोक ५४ में भगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

'हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन! अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार (चतुर्भुज) रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

एक प्रेमी मनुष्यको यदि अपने दूसरे प्रेमीसे मिलनेकी उत्कट इच्छा हो जाती है और यह खबर यदि दूसरे प्रेमीको मालूम हो जाती है तो वह स्वयं बिना मिले नहीं रह सकता, फिर भला यह कैसे सम्भव है कि जिसके समान प्रेमके रहस्यको कोई भी नहीं जानता वह प्रेममूर्ति परमेश्वर अपने प्रेमी भक्तसे बिना मिले रह सके?

अतएव सिद्ध होता है कि वह प्रेममूर्ति परमेश्वर सब काल तथा सब देशमें सब मनुष्योंको भक्तिवश होकर अवश्य ही प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं।

(२) भगवान्‌के मिलनेके बहुत-से उपायोंमेंसे सर्वोत्तम उपाय है 'सच्चा प्रेम'। उसीको शास्त्रकारोंने अव्यभिचारिणी भक्ति, भगवान्‌में अनुरक्ति, प्रेमा भक्ति और विशुद्ध भक्ति आदि नामोंसे कहा है।

जब सत्संग, भजन, चिन्तन, निर्मलता, वैराग्य, उपरति, उत्कट इच्छा और परमेश्वरविषयक व्याकुलता क्रमसे होती है तब भगवान्‌में सच्चा विशुद्ध प्रेम होता है।

शोक तो इस बातका है कि बहुत-से भाइयोंको तो भगवान्‌के अस्तित्वमें ही विश्वास नहीं है। कितने भाइयोंको यदि विश्वास है भी, तो वे क्षणभंगुर नाशवान् विषयोंके मिथ्या सुखमें लिप्त रहनेके कारण उस प्राणप्यारेके मिलनेके प्रभावको और महत्त्वको ही नहीं जानते। यदि कोई कुछ सुन-सुनाकर तथा कुछ विश्वास करके उसके प्रभावको कुछ जान भी लेते हैं तो अल्प चेष्टासे ही सन्तुष्ट होकर बैठ जाते हैं या थोड़े-से साधनोंमें ही निराश-से हो जाया करते हैं। द्रव्य-उपार्जनके बराबर भी परिश्रम नहीं करते।

बहुत-से भाई कहा करते हैं कि हमने बहुत चेष्टा की परन्तु प्राणप्यारे परमेश्वरके दर्शन नहीं हुए। उनसे यदि पूछा जाय कि क्या तुमने फाँसीके मामलेसे छूटनेकी तरह भी कभी संसारकी जन्म-मरणरूपी फाँसीसे छूटनेकी चेष्टा की? घृणास्पद, निन्दनीय स्त्रीके प्रेममें वशीभूत होकर उसके मिलनेकी चेष्टाके समान भी कभी भगवान्‌से मिलनेकी चेष्टा की? यदि नहीं, तो फिर यह कहना कि भगवान् नहीं मिलते, सर्वथा व्यर्थ है।

जो मनुष्य शर-शय्यापर शयन करते हुए पितामह भीष्मके सदृश भगवान्‌के ध्यानमें मस्त होते हैं, भगवान् भी उनके ध्यानमें उसी तरह मग्न हो जाते हैं। गीता अ० ४ श्लोक ११ में भी भगवान्‌ने कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

'हे अर्जुन! जो मुझको जैसे भजते हैं मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।'

भगवान्‌के निरन्तर नामोच्चारके प्रभावसे जब क्षण-क्षणमें रोमांच होने लगते हैं, तब उसके सम्पूर्ण पापोंका नाश होकर उसको भगवान्‌के सिवा और कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती। विरह-वेदनासे अत्यन्त व्याकुल होनेके कारण नेत्रोंसे अश्रुधारा बहने लग जाती है तथा जब वह त्रैलोक्यके ऐश्वर्यको लात मारकर गोपियोंकी तरह पागल हुआ विचरता है और जलसे बाहर निकाली हुई मछलीके समान भगवान्‌के लिये तड़पने लगता है, उसी समय आनन्दकन्द प्यारे श्यामसुन्दरकी मोहिनी मूर्तिका दर्शन होता है। यही है उस भगवान्‌से मिलनेका सच्चा उपाय।

यदि किसीको भी भगवान्‌के मिलनेकी सच्ची इच्छा हो तो उसे चाहिये कि वह रुक्मिणी, सीता और व्रजबालाओंकी तरह सच्चे प्रेमपूरित हृदयसे भगवान्‌से मिलनेके लिये विलाप करे।

(३) यद्यपि प्रकटमें तो ऐसे पुरुष कलिकालमें नहीं दिखायी देते जिनको उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हुए हों, तथापि सर्वथा न हों यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रह्लाद आदिकी तरह हजारोंमेंसे कोई कारणविशेषसे ही किसी एककी लोकप्रसिद्धि हो जाया करती है, नहीं तो ऐसे लोग इस बातको विख्यात करनेके लिये अपना कोई प्रयोजन ही नहीं समझते।

यदि यह कहा जाय कि संसार-हितके लिये सबको यह जताना उचित है, सो ठीक है, परन्तु ऐसे श्रद्धालु श्रोता भी मिलने कठिन हैं तथा बिना पात्रके विश्वास होना भी कठिन है। यदि बिना पात्रके कहना आरम्भ कर दिया जाय तो उसका कुछ भी मूल्य नहीं रहता और न कोई विश्वास ही करता है।

अतः हमें विश्वास करना चाहिये कि ऐसे पुरुष संसारमें अवश्य हैं, जिनको उपर्युक्त प्रकारसे दर्शन हुए हैं। परन्तु उनके न मिलनेमें हमारी अश्रद्धा ही हेतु है और न विश्वास करनेकी अपेक्षा विश्वास करना ही सबके लिये लाभदायक है; क्योंकि भगवान्‌से सच्चा प्रेम होनेमें तथा दो मित्रोंकी तरह भगवान्‌की मनोमोहिनी मूर्तिके प्रत्यक्ष दर्शन मिलनेमें विश्वास ही मूल कारण है।

प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय

आनन्दमय भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन होनेके लिये सर्वोत्तम उपाय 'सच्चा प्रेम' है। वह प्रेम किस प्रकार होना चाहिये और कैसे प्रेमसे भगवान् प्रकट होकर प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं? इस विषयमें आपकी सेवामें कुछ निवेदन किया जाता है।

अनेक विघ्न उपस्थित होनेपर भी ध्रुवकी तरह भगवान्‌के ध्यानमें अचल रहनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

भक्त प्रह्लादकी तरह राम-नामपर आनन्दपूर्वक सब प्रकारके कष्ट सहन करनेके लिये एवं तीक्ष्ण तलवारकी धारसे मस्तक कटानेके लिये सर्वदा प्रस्तुत रहनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

श्रीलक्ष्मणकी तरह कामिनी-कांचनको त्यागकर भगवान्‌के लिये वन-गमन करनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

ऋषिकुमार सुतीक्ष्णकी तरह प्रेमोन्मत्त होकर विचरनेसे भगवान् मिल सकते हैं।

श्रीरामके शुभागमनके समाचारसे सुतीक्ष्णकी कैसी विलक्षण स्थिति होती है, इसका वर्णन श्रीतुलसीदासजीने बड़े ही प्रभावशाली शब्दोंमें किया है। भगवान् शिवजी उमासे कहते हैं—

होइहैं सुफल आजु मम लोचन।
देखि बदन पंकज भव मोचन॥
निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी।
कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा।
को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई।
कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई।
प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई॥
अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा।
प्रगटे हृदयँ हरन भव भीरा॥
मुनि मग माझ अचल होइ बैसा।
पुलक सरीर पनस फल जैसा॥
तब रघुनाथ निकट चलि आए।
देखि दसा निज जन मन भाए॥
राम सुसाहेब संत प्रिय सेवक दुख दारिद दवन।
मुनि सन प्रभु कह आइ उठु उठु द्विज मम प्रान सम॥

श्रीहनुमान्‌जीकी तरह प्रेममें विह्वल होकर अति श्रद्धासे भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

कुमार भरतकी तरह राम-दर्शनके लिये प्रेममें विह्वल होनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं। चौदह सालकी अवधि पूरी होनेके समय प्रेममूर्ति भरतजीकी कैसी विलक्षण दशा थी, इसका वर्णन श्रीतुलसीदासजीने बहुत अच्छा किया है—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा।
समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ।
जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी।
राम पदारबिंदु अनुरागी॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा।
ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी।
नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।
दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई।
मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥
बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना।
अधम कवन जग मोहि समाना॥
राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्त्रवत नयन जलजात॥

हनुमान्‌के साथ वार्तालाप होनेके अनन्तर श्रीरामचन्द्रजीसे भरत-मिलाप होनेके समयका वर्णन इस प्रकार है। शिवजी महाराज देवी पार्वतीसे कहते हैं—

राजीव लोचन स्त्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी।
अति प्रेम हृदयँ लगाइ अनुजहि मिले प्रभु त्रिभुअन धनी॥
प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहिं जाति नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही॥
बूझत कृपानिधि कुसल भरतहि बचन बेगि न आवई।
सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई॥
अब कुसल कौसलनाथ आरत जानि जन दरसन दियो।
बूड़त बिरह बारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो॥

मान-प्रतिष्ठाको त्यागकर श्रीअक्रूरजीकी तरह भगवान्‌के चरण-कमलोंसे चिह्नित रजमें लोटनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

पदानि तस्याखिललोकपालकिरीटजुष्टामलपादरेणोः।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि विलक्षितान्यब्जयवांकुशाद्यैः॥
तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः।
रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति॥
देहंभृतामियानर्थो हित्वा दम्भं भियं शुचम्।
सन्देशाद्यो हरेर्लिङ्गदर्शनश्रवणादिभिः॥
(श्रीमद्भा० १०।३८।२५—२७)

जिनके चरणोंकी परम पावन रजको सम्पूर्ण लोकपालजन आदरपूर्वक मस्तकपर चढ़ाते हैं ऐसे पृथ्वीके आभूषणरूप पद्म, यव, अंकुशादि अपूर्व रेखाओंसे अंकित श्रीकृष्णके चरणचिह्नोंको गोकुलमें प्रवेश करते समय अक्रूरजीने देखा।

उनको देखते ही आह्लादसे व्याकुलता बढ़ गयी, प्रेमसे शरीरमें रोमांच हो आये, नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगे। अहो! यह प्रभुके चरणोंकी धूलि है, ऐसे कहते हुए रथसे उतरकर अक्रूरजी वहाँ लोटने लगे।

देहधारियोंका यही एक प्रयोजन है कि गुरुके उपदेशानुसार निर्दम्भ, निर्भय और विगतशोक होकर भगवान्‌की मनोमोहिनी मूर्तिका दर्शन और उनके गुणोंका श्रवणादि करके अक्रूरकी भाँति हरिकी भक्ति करें।

गोपियोंके प्रेमको देखकर ज्ञान और योगके अभिमानको त्यागनेवाले उद्धवकी तरह प्रेममें विह्वल होनेपर भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

एक पलको प्रलयके समान बितानेवाली रुक्मिणीके सदृश श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये हार्दिक विलाप करनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

महात्माओंकी आज्ञामें तत्पर हुए राजा मयूरध्वजकी तरह मौका पड़नेपर अपने पुत्रका मस्तक चीरनेमें भी नहीं हिचकनेवाले प्रेमी भक्तको भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

श्रीनरसी मेहताकी तरह लज्जा, मान, बड़ाई और भयको छोड़कर भगवान्‌के गुण-गानमें मग्न होकर विचरनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

'बी० ए०', 'एम० ए०', 'आचार्य' आदि परीक्षाओंकी जगह भक्त प्रह्लादकी तरह नवधा भक्तिकी* सच्ची परीक्षा देनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

भगवान् केवल दर्शन ही नहीं देते वरं द्रौपदी, गजेन्द्र, शबरी, विदुरादिकी तरह प्रेमपूर्वक अर्पण की हुई वस्तुओंको वे स्वयं प्रकट होकर खा सकते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(गीता ९।२६)

पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ। अतएव सबको चाहिये कि परम प्रेम और उत्कण्ठाके साथ भगवद्दर्शनके लिये व्याकुल हों।

उपासनाका तत्त्व

शास्त्र और महात्माओंके अनुभवसे यह सिद्ध है कि साकार और निराकार दोनों प्रकारके उपासकोंको परमगति प्राप्त हो सकती है। साकारके उपासकको सगुण भगवान्‌के दर्शन भी हो सकते हैं, निराकारके उपासकको उसकी इच्छा न रहनेके कारण नहीं होते। साकार ईश्वरकी उपासना ईश्वरका प्रभाव समझकर की जानेसे सफलता शीघ्र होती है। साकार ईश्वरके प्रभाव समझनेका यही मतलब है कि साधक उस एक ईश्वरको ही सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् समझे। जिस शिव या विष्णुरूपकी वह उपासना करे, उसके लिये उसे यह न समझना चाहिये कि मेरा इष्टदेव ईश्वर केवल इस मूर्तिमें ही है और कहीं नहीं है। ईश्वरमें इस तरहकी परिमित बुद्धि एक तरहका तामस ज्ञान है। गीता अध्याय १८ श्लोक २२में इसीकी निन्दा की गयी है। इसका यह अर्थ नहीं कि मूर्तिपूजा नहीं करनी चाहिये अथवा कोई भाई सरलभावसे तत्त्व न समझकर केवल मूर्तिमात्रमें ईश्वर समझकर ही उसकी उपासना न करें। किसी भी भाँति उपासनामें प्रवृत्त होना तो सर्वथा उपासना न करनेकी अपेक्षा उत्तम ही है, परन्तु यह ज्ञान अल्प होनेके कारण इससे की हुई उपासनाका फल बहुत देरसे होता है। अल्पज्ञानकी उपासनामें यदि हानि है तो केवल यही है कि इसकी सफलतामें विलम्ब हो जाता है; क्योंकि इसमें उपासक उपास्य वस्तुका महत्त्व कम कर देता है।

कोई अग्निका उपासक यज्ञके लिये अग्नि प्रज्वलित करके यदि यह मान ले कि बस, यही इतनी ही दूरमें अग्नि है और कहीं नहीं है तो इससे वह अग्निका महत्त्व कम करता है, वह एक व्यापक वस्तुको छोटी-सी सीमामें बाँध

* श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ (श्रीमद्भा० ७।५। २३)

देता है। इसके विपरीत जो उपासक यह समझता है कि अग्नि वास्तवमें सर्वत्र व्यापक है, परन्तु अव्यक्त होनेके कारण सब जगह दीखता नहीं। प्रकट होनेपर ही दीखता है और चेष्टा करते ही वह प्रकट हो सकता है। यदि अभाव होता तो वह किसी भी जगह किसी भी वस्तुमें प्रकट कैसे होता? जैसे प्रज्वलित अग्नि हवनकुण्डमें दीखता है, परन्तु है सर्वत्र। इसी प्रकार भगवान् भी निराकाररूपसे सर्वत्र समभावसे व्याप्त हैं, भक्तके प्रेमसे साकाररूपसे प्रत्यक्ष होते हैं। निराकार ही साकार है और साकार ही निराकार है। इस प्रकार समझना ही साकारका प्रभाव समझना है। असलमें ईश्वरके साथ अग्निकी तुलना नहीं दी जा सकती। यह तो एक दृष्टान्तमात्र है; क्योंकि अग्नि परमात्माकी भाँति सर्वव्यापी नहीं है। एक स्थानमें पाँच वस्तुएँ सर्वव्यापी नहीं हो सकतीं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि अपने-अपने रूपमें स्थित हैं। पृथ्वीका प्रधान गुण गन्ध है, अग्निका रूप है, सर्वव्यापी परमात्मा तो कारणका भी महाकारण है इसलिये वह सबमें स्थित है। कार्य कभी सर्वव्यापी नहीं होता, व्यापक कारण होता है। जगत्‌का कारण प्रकृति है परन्तु परमात्मा तो उसका भी कारण होनेसे महाकारण है। प्रकृति जड़ होनेसे अपने जड़कार्यका कारण हो सकती है परन्तु वह चैतन्य परमात्माका कारण नहीं हो सकती। अतएव परमात्मा ही सबका महाकारण है, वही जड़-चेतन सबमें सदा पूर्णरूपसे स्थित है। सबके नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता, वह नित्य अनादि है।

निराकार ब्रह्मका स्वरूप सत्, विज्ञान, अनन्त, आनन्दघन है। 'सत्' उसे कहते हैं, जिसका कभी अभाव या परिवर्तन न हो, जिसमें कभी कोई विकार न हो और जो सदा एकरस एकरूप रहे। 'विज्ञान' से बोध, चेतन, शुद्ध ज्ञान समझना चाहिये। 'अनन्त' उसे कहते हैं, जिसकी कोई सीमा न हो, कोई माप-तौल न हो, जिसका कहीं आदि-अन्त न हो, जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और महान्-से-महान् हो, समस्त संसार जिसके एक अंशमें स्थित हो। 'आनन्दघन' से केवल आनन्द-ही-आनन्द समझना चाहिये, 'घन' का अर्थ यह है कि उसमें आनन्दके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुको किसी प्रकार भी अवकाश नहीं है, जैसे बर्फमें जल घन है इसी प्रकार परमात्मा आनन्दघन है। बर्फ तो साकार जड़ कठोर है परन्तु परमात्मा चेतन है, ज्ञानस्वरूप है, निराकार है। इस प्रकारका निराकार परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है।

परमात्माकी आनन्दरूपताका वर्णन नहीं हो सकता, वह अनिर्वचनीय है। यदि आपको किसी समय किसी कारणसे महान् आनन्दकी प्राप्ति हुई हो तो उसे स्मरण कीजिये। उससे बड़ा आनन्द वह है जो सच्चे मनसे किये हुए सत्संग, भजन या ध्यानद्वारा उत्पन्न होता है, जिसका वर्णन गीताके अ० १८ श्लोक ३६, ३७ में है। इस सुखके सामने भोगसुख सूर्यके सामने खद्योतके सदृश भी नहीं है। परन्तु यह सुख भी उस परम आनन्दरूप ब्रह्मका एक अणुमात्र ही है; क्योंकि ब्रह्मानन्दके अतिरिक्त अन्य आनन्दघन नहीं हैं, एक सीमामें हैं, उनमें दूसरोंको अवकाश है।

इसी आनन्दरूप परमात्माका सब विस्तार है। इस परमात्मामें संसार वैसे ही समाया हुआ है, जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब। वास्तवमें है नहीं, समाया हुआ-सा प्रतीत होता है। दर्पण तो जड़ और कठोर है परन्तु वह परमात्मा परम सुखरूप होनेपर भी चेतन है तथा वह इस प्रकार घनरूपसे व्याप्त है कि उसकी किसीसे तुलना ही नहीं की जा सकती। उसकी घनता किसी पत्थर, शिला, बर्फ आदि-जैसी नहीं है, इनमें तो अन्य पदार्थोंके लिये गुंजाइश भी है परन्तु उसमें किसीके लिये कुछ भी गुंजाइश नहीं है। जैसे इस शरीरमें 'मैं' (आत्मा) इतना सूक्ष्म घन है कि उसके अंदर दूसरेको कभी स्थान नहीं मिल सकता। शरीर, मन, बुद्धि आदिमें किसी दूसरेका प्रवेश हो सकता है परन्तु उस आत्मामें किसीका प्रवेश किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। इसी प्रकार वह सर्वव्यापी निराकार परमात्मा भी घन है।

उसकी चेतनता भी विलक्षण है। इस शरीरमें जितनी वस्तुएँ हैं वह सब जड़ हैं, इनको जाननेवाला चेतन है। जो पदार्थ किसीके द्वारा जाना जाता है वह जड़ है, दृश्य है, वह आत्माको नहीं जान सकता। हाथ-पैर आत्माको नहीं जानते, पर आत्मा उनको जानता है। वही सबको जानता है, ज्ञान ही उसका स्वरूप है, वह ज्ञान ही परमेश्वर है जो सब जगह है। ऐसी कोई जगह नहीं है जो उससे रहित हो, इसीसे श्रुति उसे कहती है '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।**'

वही ब्रह्म भक्तोंके प्रेमवश उनके उद्धारार्थ साकाररूपसे प्रकट होकर उन्हें दर्शन देते हैं। उनके साकार रूपोंका वर्णन मनुष्यकी बुद्धिके बाहर है; क्योंकि वह अनन्त हैं। भक्त जिस रूपसे उन्हें देखना चाहता है वह उसी रूपमें प्रत्यक्ष प्रकट होकर दर्शन देते हैं। भगवान्‌का साकार रूप धारण करना भगवान्‌के अधीन नहीं, पर प्रेमी भक्तोंके अधीन है। अर्जुनने पहले विश्वरूप-दर्शनकी इच्छा प्रकट की, फिर चतुर्भुजकी और तदनन्तर द्विभुजकी, भक्तभावन भगवान् कृष्णने अर्जुनको उसके इच्छानुसार थोड़ी ही देरमें तीनों रूपोंसे दर्शन दे दिये और उसे निराकारका भाव भी भलीभाँति समझा दिया। इसी प्रकार जो भक्त परमात्माके जिस स्वरूपकी उपासना करता है, उसको उसी रूपके दर्शन हो सकते हैं।

अतएव उपासनाके स्वरूप-परिवर्तनकी कोई आवश्यकता नहीं। भगवान् विष्णु, राम, कृष्ण, शिव, नृसिंह, देवी, गणेश आदि किसी भी रूपकी उपासना की जाय, सब उसीकी होती है। भजनमें कुछ भी बदलनेकी जरूरत नहीं है। बदलनेकी जरूरत है, यदि परमात्मामें अल्पबुद्धि हो तो उसकी। भक्तको चाहिये वह अपने इष्टदेवकी उपासना करता हुआ सदा यह समझता रहे कि मैं जिस परमात्माकी उपासना करता हूँ वही परमेश्वर निराकाररूपसे चराचरमें व्यापक है, सर्वज्ञ है, सब कुछ उसीकी दृष्टिमें हो रहा है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वसमर्थ, सर्वसाक्षी, सत्, चित्, आनन्दघन मेरा इष्टदेव परमात्मा ही अपनी लीलासे भक्तोंके उद्धारके लिये उनकी इच्छानुसार भिन्न-भिन्न स्वरूप धारणकर अनेक लीला करता है। इस प्रकार तत्त्वसे जाननेवाले पुरुषके लिये परमात्मा कभी अदृश्य नहीं होते और न वह कभी परमात्मासे अदृश्य होता है।

श्रीभगवान्ने स्वयं कहा है—

योमां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता; क्योंकि वह एकीभावसे मुझमें ही स्थित है।' निराकार-साकारमें कोई अन्तर नहीं है, जो भगवान् निराकार हैं वही साकार बनते हैं।

भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४। ६)

'मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा और सब भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ।' क्यों प्रकट होते हैं? इस प्रश्नका उत्तर भी भगवान् ही देते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

(गीता ४। ७-८)

'हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने रूपको प्रकट करता हूँ। साधु पुरुषोंका उद्धार और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करने तथा धर्म-स्थापनके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ।'

इस प्रकार अविनाशी निर्विकार परमात्मा जगत्के उद्धारके लिये भक्तोंके प्रेमवश अपनी इच्छासे आप अवतीर्ण होते हैं। वे प्रेममय हैं, उनकी प्रत्येक क्रिया प्रेम और दयासे ओतप्रोत है। वे जिनका संहार करते हैं उनका भी उद्धार ही करते हैं। उनका संहार भी परम प्रेमका ही उपहार है, परन्तु अज्ञ जगत् उनके दिव्य जन्म-कर्मोंकी लीलाका यथार्थ रहस्य न समझकर नाना प्रकारके सन्देह करता है। भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४। ९)

'हे अर्जुन! मेरा जन्म और कर्म दिव्य है इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे जानता है वह शरीर त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता, वह तो मुझे ही प्राप्त होता है।'

सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्दघन परमात्मा अज, अविनाशी और सर्वभूतोंके परम गति और परम आश्रय हैं, वे केवल धर्मकी स्थापना और संसारका उद्धार करनेके लिये ही अपनी योगमायासे सगुणरूप होकर प्रकट होते हैं। अतएव उन परमेश्वरके समान सुहृद्, प्रेमी और पतितपावन दूसरा कोई नहीं है, यों समझकर जो पुरुष उनका अनन्य प्रेमसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ आसक्तिरहित होकर संसारमें बर्तता है वही वास्तवमें उनको तत्त्वसे जानता है। ऐसे तत्त्वज्ञ पुरुषको इस दुःखरूप संसारमें फिर कभी लौटकर नहीं आना पड़ता।

भगवान्के जन्म-कर्म कैसे दिव्य हैं, इस तत्त्वको जो समझ लेता है वही सच्चा भाग्यवान् पुरुष है। उज्ज्वल, प्रकाशमय, विशुद्ध, अलौकिक आदि शब्द दिव्यके पर्यायवाची हैं। भगवान्के जन्म-कर्मोंमें ये सभी घटित होते हैं। उनके कर्म संसारमें विस्तृत होकर सबके हृदयोंपर असर करते हैं, कर्मोंकी कीर्ति ब्रह्माण्डभरमें छा जाती है, जो उनका स्मरण-कीर्तन करते हैं, उनका हृदय भी उज्ज्वल बन जाता है। इसलिये वे उज्ज्वल हैं। उनकी लीलाका जितना ही अधिक विस्तार होता है, उतना ही अन्धकारका नाश होता है। जहाँ सदा हरि-लीला-कथा होती है वहाँ ज्ञान-सूर्यका प्रकाश छा जाता है, पाप-तापरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है, इसलिये वे प्रकाशमय हैं। उनके कर्मोंमें किसी प्रकारका स्वार्थ या अपना प्रयोजन नहीं है, कोई कामना नहीं है, किसी पापका लेश नहीं है, मलरहित हैं, इसलिये वे शुद्ध हैं। उनके-जैसे कर्म जगत्में कोई नहीं कर सकता, ब्रह्मा, इन्द्रादि भी उनके कर्मोंको देखकर मोहित हो जाते हैं।

जगत्‌के लोगोंकी कल्पनामें भी जो बात नहीं आ सकती, जो बिलकुल असम्भव है, उसको भी वे सम्भव कर देते हैं, अघटन घटा देते हैं, जीवन्मुक्त या कारक सबकी अपेक्षा अद्‌भुत हैं इसलिये वे अलौकिक हैं। उनका अवतार सर्वथा शुद्ध है। अपनी लीलासे ही आप प्रकट होते हैं। वे प्रेमरूप होकर ही सगुणरूपमें प्रकट होते हैं। प्रेम ही उनकी महिमामयी मूरति है, इसलिये प्रेमी पुरुष ही उनको पहचान सकते हैं। इस तत्त्वको समझकर जो प्रेमसे उनकी उपासना करते हैं वे भाग्यवान् बहुत ही शीघ्र उन प्रेममयके प्रेमपूर्ण वदनारविन्दका दर्शन कर कृतार्थ होते हैं। अतएव शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा सब उनके चारु चरणोंमें अर्पण कर दिन-रात उन्हींके चिन्तनमें लगे रहना चाहिये। उनका प्रेमपूर्ण आदेश और आश्वासन स्मरण कीजिये—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

(गीता १२।८)

'मुझमें मन लगा दो, मुझमें ही बुद्धि लगा दो, ऐसा करनेपर मुझमें ही निवास करोगे अर्थात् मुझको ही प्राप्त होओगे, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय

भौतिक सुखसे हानि

इस समय क्या शिक्षित और क्या अशिक्षित प्रायः अधिकांश जनसमुदाय सांसारिक भोग-विलासको ही सच्चा सुख समझकर केवल भौतिक उन्नतिकी चेष्टामें ही प्रवृत्त हो रहा है, इस परम सत्यको लोग भूल गये हैं कि यह विषयेन्द्रिय-संयोगजनित भौतिक सुख नाशवान्, क्षणिक और परिणाममें सर्वथा दुःखरूप है।

आजकल हमारे अनेक पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त विद्वान् देशबन्धु जो अपनेको बड़ा विचारशील, तर्कनिपुण और बुद्धिमान् समझते हैं, अंग्रेजोंके सहवाससे तथा उनकी विलासप्रियता और जड़-इन्द्रिय-चरितार्थताको देखकर पाश्चात्य सभ्यताकी माया-मरीचिकापर मोहित हो रहे हैं और वेद-शास्त्रकथित धर्मके सूक्ष्म तत्त्वको न समझकर प्राचीन आदर्श सभ्यताकी अवहेलना कर रहे हैं। उनके हृदयसे यह विश्वास प्रायः उठ गया है कि हमारे प्राचीन त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनियोंकी विचारशीलता, तर्कपटुता और बुद्धिमत्ता हमलोगोंसे बहुत बढ़ी-चढ़ी हुई थी और उन्होंने हमारे उत्कर्षके लिये जो पथ बतलाया है वही हमलोगोंके लिये सच्चे सुखकी प्राप्तिका यथार्थ मार्ग है। ऐसे विचार रखनेवाले बन्धुओंको समझाकर अपने प्राचीन आदर्शकी ओर आकर्षित करनेकी विशेष आवश्यकता है और इसीसे सबका मंगल है।

प्रिय बन्धुगण! विचार करनेपर आपको यह विदित हो जायगा कि पाश्चात्य सभ्यता वास्तवमें हमारे देश, धर्म, धन, सुख और हमारी जाति तथा आयुका विनाश करनेवाली है, इस सभ्यताके संसर्गसे ही आज हमारा देश अपने चिरकालीन धर्म-पथसे विचलित होकर अधोगतिकी ओर जा रहा है। इसीसे आज हमारी धर्मप्राण जाति अनार्योचित कायरता और भोगपरायणताकी ओर अग्रसर होती हुई दिखायी दे रही है। इस प्रकार जो सभ्यता हमारे सांसारिक सुखोंका भी विनाश कर रही है उससे सच्चे सुखकी आशा करना तो विडम्बनामात्र है।

जातिका नाश होता है अपने वेश-भूषा, खान-पान और आचारके त्याग देनेसे। जो जाति इन चारोंकी रक्षा करती हुई अपने आदर्शसे स्खलित नहीं होती उसका अस्तित्व नाश होना बड़ा कठिन होता है। अतएव हमें अपने प्राचीन ऋषि-मुनियोंद्वारा आचरित रहन-सहन, वेश-भूषा और स्वभाव-सभ्यताका ही अनुकरण करना चाहिये। स्वधर्मका त्याग करना किसी भी अवस्थामें उचित नहीं। भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(३।३५)

'अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें मरना (भी) कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।'

मुसलमानोंके शासनके समय जब हिन्दुओंने उनके रहन-सहन और स्वभाव-सभ्यताकी नकल करना आरम्भ किया, तभीसे हिन्दूजाति और हिन्दूधर्मका ह्रास होने लगा। देखते-देखते आठ करोड़ हिन्दू भाई मुसलमानोंके रूपमें बदल गये। जो लोग गो, ब्राह्मण और देव-मन्दिरोंके रक्षक थे, वे ही उलटे उन सबके शत्रु बन गये। यह सब मुसलमानी सभ्यताके और उनके आचार-विचारोंके अनुकरण करनेका ही दुष्परिणाम है।

फिर अंग्रेजी राज्य हुआ। अब स्वराज्य हो गया। अंग्रेज यहाँसे चले गये, पर अंग्रेजियत ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। इसी कारण हमारी जातिमें आज अंग्रेजी वेश-भूषा, खान-पान और आचार-विचारोंका बड़े जोरके साथ विस्तार हो रहा है। इसीके साथ-साथ हिन्दूधर्म और

हिन्दूजातिका ह्रास तथा ईसाई-धर्मकी वृद्धि भी हो रही है। यह दुर्दशा हमारे सामने प्रत्यक्ष है। इसमें किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं। दूसरोंके अनुकरणमें अपने जातीय भावोंको छोड़नेका यही परिणाम हुआ करता है।

अतएव सबको यह बात निश्चितरूपसे समझ लेनी चाहिये कि पाश्चात्य सभ्यता और उसका अनुकरण हमारे लिये किसी प्रकार भी हितकर नहीं है। इससे हमारे धर्ममय भावोंका विनाश होता है और हमें केवल भौतिक उन्नतिके पीछे भटककर सच्चे लाभसे वंचित रहनेको बाध्य होना पड़ता है।

सच्चा सुख

विचार करनेपर प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष इस बातको समझ सकता है कि मनुष्य-जन्मकी प्राप्तिसे कोई अत्यन्त ही उत्तम लाभ होना चाहिये। खाना, पीना, सोना, मैथुन करना आदि सांसारिक भोगजनित सुख तो पशु-कीटादितक नीच योनियोंमें भी मिल सकते हैं। यदि मनुष्य-जीवनकी आयु भी इसी सुखकी प्राप्तिमें चली गयी तो मनुष्य-जन्म पाकर हमने क्या किया? मनुष्य-जन्मका परम ध्येय तो उस अनुपमेय और सच्चे सुखको प्राप्त करना है, जिसके समान कोई दूसरा सुख है ही नहीं। वह सुख है 'श्रीपरमात्माकी प्राप्ति।'

साधनमें क्यों नहीं लगते?

इतना होनेपर भी अधिकांश लोग केवल धन, स्त्री और पुत्रादि विषयजन्य सुखको ही परमसुख मानकर उसीमें मोहित रहते हैं। असली सुखके लिये यत्न करनेवाले कर्तव्यपरायण पुरुष तो कोई बिरले ही निकलते हैं।

श्रीभगवान्ने कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मेरेको तत्त्वसे जानता है अर्थात् यथार्थ मर्मसे जानता है।'

भगवान्के कथनानुसार आजकल भी जो कुछ थोड़े-बहुत सज्जन इस सच्चे सुखको प्राप्त करना चाहते हैं, उनमेंसे भी बिरले ही आखिरी मंजिलतक पहुँचते हैं। अधिकांश साधक तो थोड़ा-सा साधन करके ही रुक जाते हैं। वे अपनेको अधिक उन्नत स्थितिमें नहीं ले जा सकते। मेरी समझसे इसमें निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

(१) संसारमें इस सिद्धान्तके सुयोग्य प्रचारक कम हैं; क्योंकि इसके प्रचारक त्यागी, विद्वान्, सदाचारी, परिश्रमी और सच्चे महापुरुष ही हो सकते हैं।

(२) साधकगण थोड़ी-सी उन्नतिमें ही अपनेको कृतकृत्य समझकर अधिक साधनकी आवश्यकता ही नहीं समझते।

(३) कुछ साधक थोड़ा-सा साधन करके उकता जाते हैं। इस साधनसे अपनी विशेष उन्नति नहीं समझकर वे 'किंकर्तव्यविमूढ़' हो जाते हैं।

(४) सच्चे सुखमें लोगोंकी श्रद्धा ही बहुत कम होती है, कारण, विषयसुखोंकी भाँति इसके साधनमें पहले ही सुख नहीं दीखता। इसीसे तत्परताका अभाव रहता है।

(५) कुछ लोग इस सुखको सम्पादन करना अपनी शक्तिसे बाहरकी बात समझते हैं, इसलिये निराश हो रहते हैं।

इसके सिवा और भी कई कारण बतलाये जा सकते हैं परन्तु इन सबमें सच्चा कारण केवल अज्ञानता और अकर्मण्यता ही है। अतएव मनुष्यको सावधान होकर उत्साहके साथ कर्तव्यपरायण रहना चाहिये।

सच्चे सुखकी प्राप्तिके उपाय

श्रुति कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

(कठ० १। ३। १४)

'उठो (साधनके लिये प्रयत्नशील होओ), अज्ञान-निद्रासे जागो एवं श्रेष्ठ विद्वान् जिस मार्गको क्षुरकी तेज धारके समान दुर्लंघ्य, दुर्गम बताते हैं, उसको महापुरुषोंके पास जाकर समझो।'

अतएव इस भगवत्-साक्षात्कारतारूप परम कल्याण और परम सुखकी प्राप्तिके साधनमें किंचित् भी विलम्ब नहीं करना चाहिये। यही मनुष्य-जन्मका परम कर्तव्य है, यही सबसे बड़ा और सच्चा सुख है। इसी सुखकी महिमा बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

(गीता ६। २१)

'इन्द्रियोंसे अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित हुआ यह योगी भगवत्-स्वरूपसे चलायमान नहीं होता है।'

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६। २२)

'और परमेश्वरकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त

होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता है और भगवत्-प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित हुआ योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता है।'

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥

(गीता ६।२३)

'और जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है उसको जानना चाहिये। वह योग न उकताये हुए चित्तसे अर्थात् तत्पर हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है।'

यद्यपि इस सच्चे सुखकी प्राप्तिका उपाय कुछ कठिन है परन्तु असाध्य नहीं है। श्रीपरमात्माकी शरण ग्रहण करनेसे तो कठिन होनेपर भी वह सर्वथा सरल, सुखसाध्य और अत्यन्त सहज हो जाता है। श्रीगीताजीमें भगवान् स्वयं प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(९।३२-३३)

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य (और) शूद्रादि तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवें, वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त होते हैं। फिर क्या कहना है कि पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन (परमगतिको) प्राप्त होते हैं। इसलिये तू सुखरहित और क्षणभंगुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

अतएव साधकको चाहिये कि वह परमात्मापर दृढ़ विश्वास करके उसकी शरण ग्रहण कर अपनी उन्नतिके प्रतिबन्धक कारणोंको निम्नलिखित उपायोंसे दूर करनेकी चेष्टा करे—

(१) साधककी धारणामें उसे संसारमें जो सबसे उत्तम सदाचारी, त्यागी, ज्ञानी महात्मा दीखें, उन्हींके पास जाकर उनके आज्ञानुसार साधनमें तत्परताके साथ लग जाय। उनके वचनोंमें पूर्ण विश्वास रखे, उनके समीप जाकर फिर 'किंकर्तव्यविमूढ़' न रहे, अपनी बुद्धिको प्रधानता न दे, उनका बतलाया हुआ साधन यदि ठीक समझमें न आवे तो नम्रतापूर्वक पूछकर अपना समाधान कर ले और साधनमें लगनेपर भी यदि कुछ समयतक प्रत्यक्ष सुखकी प्रतीति न हो तो भी परिणाममें होनेवाले परम हितपर विश्वास करके उनकी आज्ञाका पालन करनेसे कदापि विमुख न हो। श्रीभगवान्ने कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४।३४)

'भली प्रकार दण्डवत्-प्रणाम तथा सेवा और निष्कपटभावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान। वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

(२) साधकको यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि मुझे यह साधन किसी दिन छोड़ देना है। उसको यही समझना चाहिये कि यह साधन ही मेरा परम धन, परम कर्तव्य, परम अमृत, परम सुख और मेरे प्राणोंका परम आधार है। जो लोग यह समझते हैं कि परमात्माका ज्ञान होनेके बाद हमें साधनकी क्या आवश्यकता है, वे भूल करते हैं। जिस साधनद्वारा अन्तःकरणको परम शान्ति प्राप्त हुई है, भला, वह उसे क्योंकर छोड़ सकता है? परमात्माकी प्राप्ति होनेके पश्चात् उस महापुरुषकी स्थिति देखकर तो दुराचारी मनुष्योंकी भी साधनमें प्रवृत्ति हो जाया करती है, जिन्हें देखकर साधनहीन जन भी साधनमें लग जाते हैं उनकी अपनी तो बात ही कौन-सी है? इतना होनेपर भी जो पुरुष थोड़ी-सी उन्नतिमें ही अपनेको कृतकृत्य मान लेते हैं, वे बड़ी भूलमें रहते हैं। इस भूलसे साधनमें बड़ा विघ्न होता है। यही भूल साधकका अधःपतन करनेवाली होती है। अतएव इससे सदा बचना चाहिये।

(३) साधकको इस बातका दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि कर्तव्यपरायण, भगवत्-शरणागत पुरुषके लिये कोई भी कार्य दुःसाध्य नहीं है। वह बड़े-से-बड़ा काम भी सहजहीमें कर सकता है। यह शक्ति वास्तवमें प्रत्येक मनुष्यमें है। अपनी शक्तिका अभाव मानना मानो अपने-आपको नीचे गिराना है। उत्साही पुरुषके लिये कष्टसाध्य कार्य भी सुखसाध्य हो जाता है।

(४) प्रत्येक साधकको अपनी परीक्षा अपने-आप करते रहना चाहिये। सूक्ष्म दृष्टिसे विचारकर देखनेपर अपने छिपे हुए दोष भी प्रत्यक्ष दीखने लग जाते हैं। साधकको देखना चाहिये कि मेरा मन अपने अधीन, शुद्ध, एकाग्र और विषयोंसे विरक्त हुआ या नहीं। कारण, जबतक मन और इन्द्रियोंपर पूरा अधिकार नहीं हो जाता तबतक परमात्माकी प्राप्ति बहुत दूर है। भगवान् कहते हैं कि—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(गीता ६।३६)

'मनको वशमें न करनेवाले पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है अर्थात् प्राप्त होना कठिन है और स्वाधीन मनवाले

प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधन करनेसे प्राप्त होना सहज है, यह मेरा मत है।'

अतएव साधकको सबसे पहले मनको अपने अधीन, शुद्ध और एकाग्र बनाना चाहिये*। इसके लिये शास्त्रोंमें प्रधानतः दो उपाय बतलाये गये हैं—

(१) अभ्यास और (२) वैराग्य।

श्रीभगवान्ने कहा है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(गीता ६। ३५)

'हे महाबाहो! निःसन्देह मन चंचल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है, परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! अभ्यास अर्थात् स्थितिके लिये बारम्बार यत्न करनेसे और वैराग्यसे (यह) वशमें होता है।'

इसी प्रकार पातंजलयोगदर्शनमें भी कहा है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥

(योग० १। १२)

'अभ्यास और वैराग्यसे उन (चित्तवृत्तियों)-का निरोध होता है।'

अभ्यास और वैराग्यकी विस्तृत व्याख्या तो यथाक्रम उक्त ग्रन्थोंमें ही देखनी चाहिये, परन्तु भगवान्ने अभ्यासका स्वरूप मुख्यतया इस प्रकार बतलाया है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(गीता ६। २६)

'यह स्थिर न रहनेवाला और चंचल मन जिस-जिस कारणसे सांसारिक पदार्थोंमें विचरता है, उस-उससे रोककर (बारम्बार) परमात्मामें ही निरोध करे।'

वैराग्यके सम्बन्धमें भगवान्ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'जो इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी निःसन्देह दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं, इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

इस प्रकार अभ्यास-वैराग्यसे मनको शुद्ध, अपने अधीन, एकाग्र और वैराग्यसम्पन्न बनाकर भगवान्के स्वरूपमें निरन्तर अचल-स्थिर कर देनेके लिये ध्यानका साधन करना चाहिये।

जैसे श्रीभगवान्ने कहा है—

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥

(गीता ६। २४-२५)

'संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषतासे अर्थात् वासना और आसक्तिसहित त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सब ओरसे ही अच्छी प्रकार वशमें करके क्रम-क्रमसे (अभ्यास करता हुआ) उपरामताको प्राप्त होवे (तथा) धैर्ययुक्त बुद्धिद्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे।'

अभ्यास और वैराग्यके प्रभावसे मनके शुद्ध, स्वाधीन, एकाग्र और विरक्त हो जानेपर तो उसे परमात्माके चिन्तनमें लगाना परम सुगम हो ही जाता है, परन्तु उक्त दोनों उपायोंको पूर्णतया काममें न ला करके भी यदि मनुष्य केवल परमात्माकी शरण ग्रहण कर उनके नाम-जप और स्वरूप-चिन्तनमें तत्पर हो जाय तो इस प्रकारके ध्यानसे ही सब कुछ हो सकता है। साधकका मन शीघ्र ही शुद्ध, एकाग्र और उसके अधीन हो जाता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

महर्षि पतंजलिने भी शीघ्रातिशीघ्र समाधि लगनेका उपाय बतलाते हुए कहा है—

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा॥'　　(योग० १। २३)

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य तो मनके निरोध करनेके उपाय हैं ही, जो साधक इन उपायोंको जितना अधिक काममें लाता है, उतना ही शीघ्र उसका मन निरुद्ध होता है। परन्तु ईश्वरप्रणिधानसे भी मन बहुत ही शीघ्र समाधिस्थ हो सकता है।

इससे यह माना जा सकता है कि जप, तप, व्रत, दान, लोकसेवा, सत्संग और शास्त्रोंका मनन आदि समस्त साधन इसी ध्यानके लिये ही बतलाये और किये जाते हैं।

अतएव सच्चे सुखकी प्राप्तिका साक्षात्, सरल और सबसे सुलभ उपाय परमात्माके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना ही है। इसीको शास्त्रकारोंने ध्यान, स्मरण और निदिध्यासन आदि नामोंसे कहा है। कर्मयोग और सांख्ययोग आदि सभी साधनोंमें परमात्माका ध्यान प्रधान है।

साधन-कालमें अधिकारी-भेदसे ध्यानके साधनोंमें भी

* 'मनको वशमें करनेके कुछ उपाय' नामक पुस्तकमें मनको रोकनेके बहुत-से उपाय बतलाये गये हैं।

अनेक भेद होते हैं। सभी मनुष्योंकी रुचि एक प्रकारके साधनमें नहीं हुआ करती। एक ही गन्तव्य स्थानपर पहुँचनेके लिये अनेक मार्ग हुआ करते हैं। इसी प्रकार फलरूपमें एक ही परम वस्तुकी प्राप्ति होनेपर भी साधनके प्रकारोंमें अन्तर रहता है। कोई एकत्वभावसे सच्चिदानन्दघन परमात्माके निराकार रूपका ध्यान करते हैं तो कोई स्वामी-सेवक-भावसे सर्वव्यापी परमेश्वरका चिन्तन करते हैं। कोई भगवान् विश्वरूपका तो कोई चतुर्भुज श्रीविष्णुरूपका, कोई मुरलीमनोहर श्रीकृष्णरूपका तो कोई मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामरूपका और कोई कल्याणमय श्रीशिवरूपका ही ध्यान करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥

(गीता ९।१५)

अतएव जिस साधकको परमात्माके जिस रूपमें अधिक प्रीति और श्रद्धा हो, वह निरन्तर उसीका चिन्तन किया करे। परिणाम सबका एक ही है, परिणामके सम्बन्धमें किंचित् भी संशय रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

साधकोंकी प्रायः दो श्रेणियाँ होती हैं। एक अभेदरूपसे अर्थात् एकत्वभावसे परमात्माकी उपासना करनेवालोंकी और दूसरी स्वामी-सेवक-भावसे भक्ति करनेवालोंकी। इनमेंसे अभेदरूपसे उपासना करनेवालोंके लिये तो केवल एक शुद्ध सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें ही निरन्तर एकत्वभावसे स्थित रहना ध्यानका सर्वोत्तम साधन है। परन्तु दूसरे, स्वामी-सेवक-भावसे उपासना करनेवाले भक्तोंके लिये शास्त्रोंमें ध्यानके बहुत प्रकार बतलाये गये हैं।

ध्यान करनेकी पद्धति नहीं जाननेके कारण ध्यान ठीक नहीं होता, साधक चाहता तो है परमात्माका ध्यान करना, परन्तु उसके ध्यान होता है जगत्‌का। यह शिकायत प्रायः देखी और सुनी जाती है। इसलिये परमात्मामें मन जोड़नेकी जो विधियाँ हैं, उन्हें जाननेकी बड़ी आवश्यकता है। शास्त्रकारोंने अनेक प्रकारसे ध्यानकी विधियोंके बतलानेकी चेष्टा की है। उनमेंसे कुछ दिग्दर्शन यहाँ संक्षेपमें करवाया जाता है।

यों तो परमात्माका चिन्तन निरन्तर उठते, बैठते, चलते, खाते, पीते, सोते, बोलते और सब तरहके काम करते हुए हर समय ही करना चाहिये परन्तु साधक खास तौरपर जब ध्यानके निमित्तसे बैठे, उस समय तो गौणरूपसे भी उसे अपने अन्तःकरणमें सांसारिक संकल्पोंको नहीं उठने देना चाहिये तथा एकान्त और शुद्ध देशमें बैठकर ध्यानका साधन आरम्भ कर देना चाहिये।

श्रीगीताजीमें कहा है—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥

(६।११-१२)

'शुद्ध भूमिमें कुशा, मृगछाला और वस्त्र हैं उपरोपरि जिसके, ऐसे अपने आसनको न अति ऊँचा और न अति नीचा स्थिर स्थापन करके और उस आसनपर बैठकर तथा मनको एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें किये हुए अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे।'

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥

(गीता ६।१३)

'काया, सिर और ग्रीवाको समान और अचल धारण किये हुए दृढ़ होकर अपनी नासिकाके अग्रभागको देखकर* अन्य दिशाओंको न देखता हुआ परमेश्वरका ध्यान करे।'

ध्यान करनेवाले साधकको यह बात विशेषरूपसे जान रखनी चाहिये कि जबतक अपने शरीरका और संसारका ज्ञान रहे तबतक ध्यानके साथ नाम-जपका अभ्यास अवश्य करता रहे। नाम-जपका सहारा नहीं रहनेपर बहुत समयतक नामीके स्वरूपमें मन नहीं ठहरता। निद्रा, आलस्य और अन्यान्य सांसारिक स्फुरणाएँ विघ्नरूपसे आकर मनको घेर लेती हैं। नामीको याद दिलानेका प्रधान आधार नाम ही है। नाम नामीके रूपको कभी भूलने नहीं देता। नामसे ध्यानमें पूर्ण सहायता मिलती है। अतएव ध्यान करते समय जबतक ध्येयमें सम्पूर्ण रूपसे तल्लीनता न हो जाय, तबतक नाम-जप कभी नहीं छोड़ना चाहिये। यह तो ध्यानके सम्बन्धमें साधारण बातें हुईं। अब ध्यानकी कुछ विधियाँ लिखी जाती हैं—

अभेदोपासनाके अनुसार ध्यानकी विधि

एकत्वभावसे परमात्माकी उपासना करनेवाले साधकको चाहिये कि वह उपर्युक्त प्रकारसे आसनपर बैठकर मनमें रहनेवाले सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग करके इस प्रकार भावना करे—

* इसमें दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर रखनेके लिये कहा गया है, परन्तु जिन लोगोंको आँखें बंद करके ध्यान करनेका अभ्यास हो, वे आँखें बंद करके भी कर सकते हैं, इसमें कोई हानि नहीं है।

(१) एक आनन्दघन ज्ञानस्वरूप पूर्णब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण है। उससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, उस ब्रह्मका ज्ञान भी ब्रह्मको ही है। वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है, उसका कभी अभाव नहीं होता। इसीलिये उसे सत्य, सनातन और नित्य कहते हैं, वह सीमारहित, अपार और अनन्त है। मन, बुद्धि, अहंकार, द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि जो कुछ भी है वह सभी उस ब्रह्ममें आरोपित और ब्रह्मस्वरूप ही है। वास्तवमें एक पूर्ण ब्रह्म परमात्माके सिवा अन्य कोई भी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण संसार स्वप्नके सदृश उस परमात्मामें कल्पित है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। (तैत्ति० २।१)

'ब्रह्म सत्य, चेतन और अनन्त है' इस श्रुतिके अनुसार वह आनन्दघन, सत्यस्वरूप, बोधस्वरूप परमात्मा है, 'बोध' उससे भिन्न कोई उसका गुण या उसकी कोई उपाधि या शक्तिविशेष नहीं है। इसी प्रकार 'सत्' भी उससे कोई भिन्न गुण नहीं है। वह सदासे है और सदा ही रहता है, इसलिये लोक और वेदमें उसे 'सत्' कहते हैं, वास्तवमें तो वह परमात्मा सत् और असत् दोनोंसे परे है।

'न सत्तन्नासदुच्यते' (गीता १३।१२)

इस प्रकार अन्तःकरणमें ब्रह्मके अचिन्त्य स्वरूपकी दृढ़ भावना करके जपके स्थानमें बारम्बार निम्नलिखित प्रकारसे परमात्माके विशेषणोंकी मन-ही-मन भावना और उनका उच्चारण करता रहे। वास्तवमें ब्रह्म नाम-रूपसे परे है परन्तु उसके आनन्द-स्वरूपकी स्फूर्तिके लिये इन विशेषणोंकी कल्पना है। अतएव साधक चित्तकी समस्त वृत्तियोंको आनन्दरूप ब्रह्ममें तल्लीन करता हुआ 'पूर्ण आनन्द', 'अपार आनन्द', 'शान्त आनन्द', 'घन आनन्द', 'बोधस्वरूप आनन्द', 'ज्ञानस्वरूप आनन्द', 'परम आनन्द', 'नित्य आनन्द', 'सत् आनन्द', 'चेतन आनन्द', 'आनन्द-ही-आनन्द', 'एक आनन्द-ही-आनन्द' इस प्रकार ब्रह्मके विशेषणोंका चिन्तन करता हुआ इस भावनाको उत्तरोत्तर दृढ़ करता रहे कि एक 'आनन्द' के सिवा और कुछ भी नहीं है। इसके साथ ही वह अपने मनको बड़ी तेजीसे उस आनन्दमय ब्रह्ममें तन्मय करता हुआ उन सम्पूर्ण विशेषणोंको उस आनन्दमय परमात्मासे अभिन्न समझता रहे। इस प्रकार मनन करते-करते जब मनके समस्त संकल्प उस परमात्मामें विलीन हो जाते हैं, जब एक बोधस्वरूप, आनन्दघन परमात्माके सिवा अन्य किसीके भी अस्तित्वका संकल्प मनमें नहीं रहता है तब उसकी स्थिति उस आनन्दमय अचिन्त्य परमात्मामें निश्चलताके साथ होती है। इस प्रकारसे ध्यानका नित्य-नियमपूर्वक अभ्यास करते-करते साधन परिपक्व होनेपर जब साधकके ज्ञानमें उसकी अपनी तथा इस संसारकी सत्ता ब्रह्मसे भिन्न नहीं रहती, जब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी कुछ एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मस्वरूप बन जाते हैं, तब वह कृतार्थ हो जाता है। फिर साधक, साधना और साध्य सभी अभिन्न, सभी एक आनन्दस्वरूप हो जाते हैं, फिर उसकी वह स्थिति सदाके लिये वैसी ही बनी रहती है। चलते-फिरते, उठते-बैठते तथा अन्य सम्पूर्ण कार्योंके यथाविधि और यथासमय होते हुए भी उसकी स्थितिमें किंचित् भी अन्तर नहीं पड़ता। भगवान्‌ने कहा है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(गीता ६।३१)

'जो पुरुष, एकीभावमें स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मेरेमें ही बर्तता है; क्योंकि उसके अनुभवमें मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।'

वास्तवमें वह किसी भी समय संसारको या अपनेको ब्रह्मसे अलग नहीं देखता। इसीलिये उसका पुनः कभी जन्म नहीं होता। वह सदाके लिये मुक्त हो जाता है। गीतामें कहा है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

(५।१७)

'तद्रूप है बुद्धि जिनकी (तथा) तद्रूप है मन जिनका (और) उस सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही है निरन्तर एकीभावसे स्थिति जिनकी, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित हुए अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं।' यही उपर्युक्त ध्यानका फल है।

अभेदोपासनाके ध्यानकी दूसरी युक्ति

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

(कठ० १।३।१३)

'बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह वाणी आदि सम्पूर्ण इन्द्रियोंका मनमें निरोध करे, मनका बुद्धिमें निरोध करे, बुद्धिका महत्तत्त्वमें अर्थात् समष्टि-बुद्धिमें निरोध करे और उस समष्टि-बुद्धिका निरोध शान्तात्मा परमात्मामें करे।'

एकान्त स्थानमें बैठकर दसों इन्द्रियोंके विषयोंको उनके द्वारा ग्रहण न करना अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियोंके व्यापारको रोककर मनके द्वारा केवल परमात्माके स्वरूपका बारम्बार मनन करते रहना ही 'वाणी आदि इन्द्रियोंका मनमें

निरोध' करना है। इसके बाद मनन किये हुए परमात्माके स्वरूपके विषयमें जितने भी विकल्प हैं, उन सबको छोड़कर एक निश्चयपर स्थित होकर चित्तका शान्त हो जाना यानी अन्तःकरणमें किसी भी चंचलात्मक वृत्तिका किंचित् भी अस्तित्व न रहकर एकमात्र विज्ञानका प्रकाशित हो जाना 'मनका बुद्धिमें निरोध' करना है। ध्यानकी इस प्रकारकी स्थितिमें ध्याताको अपना और ध्येय वस्तु परमात्माका बोध रहता है, परन्तु इसके बाद जब उस सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्मके स्वरूपका निश्चय करनेवाली बुद्धि-वृत्तिकी स्वतन्त्र सत्ता भी समष्टिज्ञानमें तन्मय हो जाती है, जब ध्याता, ध्यान और ध्येयका समस्त भेद मिटकर केवल एक ज्ञानस्वरूप पूर्णब्रह्म परमात्माके स्वरूपका ही बोध रह जाता है; इसी अवस्थाको 'बुद्धिका समष्टि-बुद्धिमें निरोध' करना कहते हैं।

इसके अनन्तर एक और अनिर्वचनीय स्थिति होती है, जिसमें ध्याता, ध्यान और ध्येयका भिन्न संस्कारमात्र भी शेष नहीं रहता। केवल एक शुद्ध, बोधस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही रह जाता है, उसके सिवा अन्य किसीकी भी भिन्न सत्ता किसी प्रकारसे भी नहीं रहती। इसीका नाम समष्टि-बुद्धिका शान्तात्मामें निरोध करना है।

इसीको निर्बीज समाधि, शुद्ध ब्रह्मकी प्राप्ति या कैवल्य-पदकी प्राप्ति कहते हैं। यही अन्तिम स्थिति है। वाणी इस अवस्थाका वर्णन नहीं कर सकती, मन इसका मनन नहीं कर सकता; क्योंकि यह मन, वाणी और बुद्धिके परेका विषय है, यही मोक्ष है।

इस स्थितिको प्राप्त करके पुरुष कृतकृत्य हो जाता है। उसके लिये फिर कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। श्रीगीताजीमें कहा है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

(३।१७)

'जो मनुष्य आत्मामें ही प्रीतिवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट होवे, उसके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है।'

अभेदोपासनाके अनुसार परमात्माका ध्यान करनेके और भी बहुत-से प्रकार हैं, परन्तु लेखका आकार बढ़ जानेके कारण और नहीं लिखे जाते हैं। सबका आशय प्रायः एक ही है। एकत्वभावसे उपासना करनेवालेके लिये श्रीगीताजीके इस श्लोकको निरन्तर स्मरण रखना अत्यन्त लाभप्रद है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

(१३।१५)

'(वह परमात्मा) चराचर सब भूतोंके बाहर तथा भीतर परिपूर्ण है, चर-अचररूप भी (वही) है, वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय[1] है तथा अति समीपमें[2] और दूरमें[3] भी वही स्थित है।'

अतएव जिनकी अभेदोपासनामें रुचि हो, उन साधकोंको उपर्युक्त प्रकारके साधनमें शीघ्र ही तत्पर होना चाहिये।

विश्वरूप परमात्माके ध्यानकी विधि

एकान्त स्थानमें आँखें बंद करके बैठनेपर भी यदि इस मायामय संसारकी कल्पना साधकके हृदयसे दूर न हो तो उसे इस प्रकारकी भावना करनी चाहिये—

पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ—इन तीनों लोकोंमें जो कुछ भी देखने, सुनने और मनन करनेमें आता है सो सब साक्षात् श्रीपरमात्माका ही स्वरूप है। वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही अपनी मायाशक्तिसे विश्वरूपमें प्रकट हुए हैं। जैसे गीताजीमें कहा है—

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

(१३।१३)

'वह सब ओरसे हाथ-पैरवाला, सब ओरसे नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओरसे श्रोत्रवाला है; क्योंकि वह सब संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है।'[4]

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(१०।४२)

'अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तुझे क्या

१- जैसे सूर्यकी किरणोंमें स्थित हुआ जल सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता है, वैसे ही सर्वव्यापी परमात्मा भी सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता।

२- वह परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण और सबका आत्मा होनेसे अत्यन्त समीप है।

३- श्रद्धारहित अज्ञानी पुरुषोंके लिये न जाननेके कारण बहुत दूर है।

४- आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीका कारणरूप होनेसे उनको व्याप्त करके स्थित है वैसे ही परमात्मा भी सबका कारणरूप होनेसे सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को व्याप्त करके स्थित है।

प्रयोजन है। मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को (अपनी योगमायाके) एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ। इसलिये मुझको ही तत्त्वसे जानना चाहिये।'

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

(१०। ३९)

'हे अर्जुन! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है वह भी मैं ही हूँ; क्योंकि ऐसा वह चर-अचर कोई भी भूत नहीं है कि जो मुझसे रहित हो, इसलिये सब कुछ मेरा ही स्वरूप है।'

इस प्रकार बारम्बार मनन करके सम्पूर्ण संसारको तत्त्वसे श्रीपरमात्माका स्वरूप समझकर परमात्माके निश्चित रूपमें मनको निश्चल करना चाहिये। ऐसा करनेसे मनकी चंचलताका सहजमें ही नाश हो जाता है। फिर मन जहाँ जाता है वहीं उसे वह परमात्मा दीखता है। एक परमात्माके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं भासता। जैसे जलसे बने हुए अनेक प्रकारके बर्फके खिलौनोंको जो तत्त्वसे जलस्वरूप समझ लेता है उसे फिर उनके जल होनेमें किसी प्रकारका भ्रम नहीं रहता, उसे सभी खिलौने प्रत्यक्ष जलस्वरूप दीखने लगते हैं। इसी तरह उपर्युक्त प्रकारसे परमात्माका ध्यान करनेवाले साधकको भी सम्पूर्ण विश्व परमात्मस्वरूप दीखने लगता है। उसकी भावनामें जगत्‌रूप किसी वस्तुका अस्तित्व ही नहीं रहता, मन शान्त और संशयरहित हो जाता है। चंचल चित्तको परमात्मामें लगानेका यह भी एक सहज उपाय है।

श्रीविष्णुके चतुर्भुज रूपका ध्यान करनेकी विधि

एकान्त स्थानमें पूर्वोक्त प्रकारसे आसनपर बैठकर आँखें मूँद ले और आनन्दमें मग्न होकर अपने उस परम प्रेमीके मिलनकी तीव्र लालसासे ध्यानका साधन आरम्भ करे।

मन्दिरोंमें भगवान्‌की मूर्तिका दर्शन कर, भगवान्‌के चित्रोंका अवलोकन कर, संत-महात्माओंके द्वारा सुनकर या सौभाग्यवश स्वप्नमें प्रभुके दर्शन कर भगवान्‌के जैसे साकार रूपको बुद्धि मानती हो, यानी भगवान्‌का साकार रूप साधकके समझमें जैसा आया हो, उसीकी भावना करके ध्यान करना चाहिये। साधारणतः भगवान्‌की मूर्तिके ध्यानकी भावना इस प्रकार की जा सकती है—

(१) भूमिसे करीब सवा हाथकी ऊँचाईपर आकाशमें अपने सामने ही भगवान् विराजमान हैं। भगवान्‌के अतिशय सुन्दर चरणारविन्द नीलमणिके ढेरके समान चमकते हुए अनन्त सूर्योंके सदृश प्रकाशित हो रहे हैं। चमकीले नखोंसे युक्त कोमल-कोमल अँगुलियाँ हैं और उनपर स्वर्णके रत्नजड़ित नूपुर शोभित हो रहे हैं। भगवान्‌के जैसे चरणकमल हैं वैसे ही उनके जानु और जंघा आदि अंग भी नीलमणिके ढेरकी भाँति पीताम्बरके अंदरसे चमक रहे हैं। अहो! अत्यन्त सुन्दर चार लंबी-लंबी भुजाएँ शोभा दे रही हैं। ऊपरकी दोनों भुजाओंमें शंख, चक्र और नीचेकी दोनों भुजाओंमें गदा और पद्म विराजमान हैं। चारों भुजाओंमें केयूर और कड़े आदि एक-से-एक सुन्दर आभूषण सुशोभित हैं। अहो! अत्यन्त विशाल और परम सुन्दर भगवान्‌का वक्षःस्थल है, जिसके मध्यमें श्रीलक्ष्मीजीका और भृगुलताका चिह्न अंकित हो रहा है। नीलकमलके समान सुन्दर वर्णवाली भगवान्‌की ग्रीवा अत्यन्त सुन्दर है और वह रत्नजड़ित हार, कौस्तुभमणि तथा अनेक प्रकारके मोतियोंकी, स्वर्णकी, भाँति-भाँतिके सुन्दर दिव्य गन्ध-पुष्पोंकी और वैजयन्ती मालाओंसे सुशोभित है। सुन्दर चिबुक (ठुड्डी), लाल-लाल ओष्ठ और मनोहर नुकीली नासिका है, जिसके अग्रभागमें दिव्य मोती लटक रहा है। भगवान्‌के दोनों नेत्र कमलपत्रके समान विशाल और नीलकमलके सदृश खिले हुए हैं। कानोंमें रत्नमण्डित सुन्दर मकराकृत कुण्डल और ललाटपर श्रीधारण तिलक तथा शीशपर मनोहर मणिमुक्तामय किरीट-मुकुट शोभायमान हो रहा है। अहो! भगवान्‌का अतुलनीय मनोहर मुखारविन्द पूर्णिमाके चन्द्रकी गोलाईको लजाता हुआ मनको हरण कर रहा है। मुखमण्डलके चारों ओर सूर्यके सदृश किरणें देदीप्यमान हैं, जिनके प्रकाशसे भगवान्‌के मुकुटादि सम्पूर्ण आभूषणोंके रत्न सहस्रगुण अधिक चमक रहे हैं। अहो! आज मैं धन्य हूँ! धन्य हूँ! जो मन्द-मन्द हँसते हुए परमानन्दमूर्ति हरिभगवान्‌का ध्यान कर रहा हूँ।

इस प्रकार भावना करते-करते जब भगवान्‌का स्वरूप भली-भाँति स्थित हो जाय, तब प्रेममें विह्वल होकर साधकको भगवान्‌के उस मनमोहनस्वरूपमें चित्तको स्थिर कर देना चाहिये। ध्यानका अभ्यास करते-करते जब साधकको अपना और संसारका एवं ध्यानका भी ज्ञान नहीं रहता, केवल एक मनमोहनभगवान्‌का ही ज्ञान रह जाता है तब साधककी भगवान्‌के स्वरूपमें समाधि हो जाती है। ऐसा होनेपर साधक तत्काल ही भगवान्‌के वास्तविक तत्त्वको जान जाता है और तब भगवान् उसके प्रेमवश हो साक्षात् साकाररूपमें प्रकट होकर उसे अपने दर्शनसे कृतार्थ करनेको बाध्य होते हैं।

श्रीभगवान्‌ने कहा भी है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५४)

'हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन! अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार चतुर्भुज स्वरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

इस प्रकार भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हो जानेके बाद वह भक्त कृतकृत्य हो जाता है। उसके सम्पूर्ण अवगुण नष्ट हो जाते हैं और वह पूर्ण महात्मा बन जाता है। फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

श्रीगीताजीमें कहा है—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

(८।१५)

'परम सिद्धिको प्राप्त हुए महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखके स्थानरूप क्षणभंगुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते।'

दूसरी विधि

(२) अपने हृदयाकाशमें शेषनागकी शय्यापर शयन किये हुए श्रीविष्णुभगवान्‌का चिन्तन करते-करते निम्नलिखित रूपसे मन-ही-मन उनके स्वरूप और गुणोंकी भावना करते हुए उन्हें बारम्बार नमस्कार करना चाहिये।

जिनकी आकृति अतिशय शान्त है, जो शेषजीकी शय्यापर शयन किये हुए हैं, जिनके नाभिमें कमल है, जो देवताओंके भी ईश्वर और सम्पूर्ण जगत्‌के आधार हैं, जो आकाशके सदृश सर्वत्र व्याप्त हैं, नील मेघके समान जिनका मनोहर नील वर्ण है, अत्यन्त सुन्दर जिनके सम्पूर्ण अंग हैं, जो योगियोंद्वारा ध्यान करके प्राप्त किये जाते हैं, जो सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी हैं, जो जन्म-मरणरूप भयका नाश करनेवाले हैं ऐसे श्रीलक्ष्मीपति कमलनेत्र भगवान् विष्णुको मैं नतमस्तक होकर प्रणाम करता हूँ।*

असंख्य सूर्योंके समान जिनका प्रकाश है, अनन्त चन्द्रमाओंके समान जिनकी शीतलता है, करोड़ों अग्नियोंके समान जिनका तेज है, असंख्य मरुद्‌गणोंके समान जिनका पराक्रम है, अनन्त इन्द्रोंके समान जिनका ऐश्वर्य है, करोड़ों कामदेवोंके समान जिनकी सुन्दरता है, असंख्य पृथ्वीतलोंके समान जिनमें क्षमा है, करोड़ों समुद्रोंके समान जिनमें गम्भीरता है, जिनकी किसी प्रकार भी कोई उपमा नहीं दे सकता, वेद और शास्त्रोंने भी जिनके स्वरूपकी केवलमात्र कल्पना ही की है, पार किसीने भी नहीं पाया, ऐसे उस अनुपमेय श्रीहरिभगवान्‌को मेरा बारम्बार नमस्कार है।

जो सच्चिदानन्दमय श्रीविष्णुभगवान् मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं, जिनके समस्त अंगोंपर रोम-रोममें पसीनेकी बूँदें चमकती हुई परम शोभा दे रही हैं, ऐसे पतितपावन श्रीहरिभगवान्‌को मेरा बारम्बार नमस्कार है, इस तरह अभ्यास करते-करते जब चित्त शान्त, निर्मल और प्रसन्न हो जाय तब अपने मनको उस शेषशायी भगवान् नारायणदेवके ध्यानमें अचल कर देना चाहिये।

परमात्माके साकार और निराकार स्वरूपका ध्यान करनेके और भी बहुत-से साधन हैं, यहाँ केवल कुछ दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। इस विषयका विशेष ज्ञान तो श्रीपरमात्मा और महात्माओंकी शरण ग्रहण कर साधनमें तत्पर होनेसे ही प्राप्त होता है। साकारके ध्यानमें यहाँ केवल श्रीविष्णु-भगवान्‌के दो प्रकार बतलाये गये हैं। साधकगण इसी प्रकार अपनी-अपनी श्रद्धा और प्रीतिके अनुसार श्रीराम, कृष्ण और शिव आदि भगवान्‌के अन्यान्य स्वरूपोंका भी ध्यान कर सकते हैं। फल सबका एक ही है।

एकान्त देशसे उठनेके बाद व्यवहारकालमें भी चलते-फिरते, उठते-बैठते सब समय अपने इष्टदेवके नामका जप और स्वरूपका चिन्तन उसी प्रकार करते रहनेकी चेष्टा करनी चाहिये। जीवनके अमूल्य समयका एक क्षण भी श्रीभगवान्‌के स्मरणसे रहित नहीं जाना चाहिये। जीवनमें सदा-सर्वदा जैसा अभ्यास होता है, अन्तमें भी उसीकी स्मृति रहती है और अन्तकालकी स्मृतिके अनुसार ही उसकी गति होती है। इसीसे भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(८।७)

'इसलिये (हे अर्जुन! तू) सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मेरेमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त हुआ (तू) निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

इस प्रकार सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म भगवान्‌के ध्यानसे साधकका हृदय पवित्र और निर्मल होता चला जाता है। सम्पूर्ण चिन्ताओंका विनाश होकर अन्तःकरणमें एक विलक्षण शान्तिकी स्थापना होती है। चित्त एकाग्र और

* वन्दौं विष्णु विश्वाधार।
लोकपति, सुरपति, रमापति, सुभग शान्ताकार। कमल-लोचन, कलुष-हर, कल्याण-पद-दातार॥
नील-नीरद-वर्ण, नीरज-नाभ, नभ-मनुहार। भृगुलता-कौस्तुभ-सुशोभित हृदय मुक्ताहार॥
शंख-चक्र-गदा-कमलयुत भुज विभूषित चार। पीत-पट-परिधान पावन अंग-अंग उदार॥
शेष-शय्या-शयित योगी-ध्यान-गम्य, अपार। दुःखमय भव-भय-हरण, अशरण-शरण अविकार॥ 'पत्रपुष्प'

अपने अधीन हो जाता है। साधनकी वृद्धिसे ज्यों-ज्यों अन्तःकरणकी निर्मलता और एकाग्रता बढ़ती है त्यों-ही-त्यों सच्चे आनन्दकी भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। सच्चे सुखका जब साधकको जरा-सा भी अनुभव मिल जाता है तब उसे उस सुखके सामने त्रिलोकीके राज्यका सुख भी अत्यन्त तुच्छ और नगण्य प्रतीत होने लगता है। इस स्थितिमें साधारण भोगजनित मिथ्या सुखोंकी तो वह बात ही नहीं पूछता। बल्कि भोगविलास तो उस साधकको नाशवान्, क्षणिक और प्रत्यक्ष दुःखरूप प्रतीत होने लगते हैं। इस प्रकारके साधनसे साधककी वृत्तियाँ बहुत ही शीघ्र संसारसे उपराम होकर भगवान्‌के स्वरूपमें अटल और स्थिर हो जाती हैं। साधक उस सच्चे और अपार आनन्दको सदाके लिये प्राप्त होकर तृप्त हो जाता है। उसके दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। यही मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य है।

प्रिय पाठकगण! हमें इस बातका दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि मनुष्य-जीवनका परम कर्तव्य सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म सर्वशक्तिमान् आनन्दकन्द भगवान्‌का साक्षात् करना ही है। यह इस लोक और परलोकमें सबसे महान्, नित्य और सत्य सुख है। इसको छोड़कर अन्यान्य जितने भी सांसारिक सुख प्रतीत होते हैं वे वास्तवमें सुख नहीं हैं। केवल मोहसे उनमें सुखकी मिथ्या प्रतीति होती है, वास्तवमें वे सब दुःख ही हैं। योगदर्शनमें कहा है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥

(२। १५)

'संसारके समस्त विषयजन्य सुख परिणाम, ताप, संस्कार और सांसारिक दुःखोंसे मिले हुए होने तथा सात्त्विक, राजस और तामस गुणोंकी वृत्तियोंके परस्पर विरोधी होनेके कारण विवेकी पुरुषोंके लिये दुःखमय ही हैं।'

अतएव इन क्षणिक, नाशवान् और कृत्रिम सुखोंको सर्वथा परित्याग कर हमें अत्यन्त शीघ्र तत्पर होकर उस सच्चे सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें उत्साह और दृढ़तापूर्वक लग जाना चाहिये।

घर-घरमें भगवान्‌की पूजा

श्रीभगवान्‌ने साकाररूपसे साक्षात् प्रकट होकर कभी मुझे दर्शन दिये हैं, इस बातके कहनेमें असमर्थ होनेपर भी मैं बड़े जोरके साथ यह विश्वास दिला सकता हूँ कि यदि कोई भगवत्परायण होकर निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌की भक्ति करे तो उसे साक्षात् दर्शन देनेके लिये भगवान् निश्चय बाध्य हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है कि—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५४)

'हे अर्जुन! अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार साकाररूपसे मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन अनन्य भक्तिसे हो सकता है। अनन्य भक्तिके लिये अभ्यासकी आवश्यकता है। यदि सब समय भगवान्‌के नामका जप और हृदयमें उनका स्मरण करते हुए संसारके समस्त व्यवहार उसीके अर्थ किये जायँ तो परमात्मामें अनन्य भक्ति हो जाती है। अनन्य भक्तियुक्त पुरुष स्वयं पवित्र होता है, इसमें तो कहना ही क्या है, परन्तु वह अपने भक्तिके भावोंसे जगत्‌को पवित्र कर सकता है। यदि घरमें एक भी पुरुषको अनन्य भक्तिसे परमात्माका साक्षात्कार हो जाय तो उसका समस्त कुल पवित्र समझा जाता है। कहा है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

(स्कन्दपु०, माहे० खं०, कौ० खं० ५५। १४०)

'जिसका चित्त उस अपार विज्ञानानन्दघन समुद्ररूप परब्रह्म परमात्मामें लीन हो गया है उससे कुल पवित्र, माता कृतार्थ और पृथ्वी पुण्यवती होती है।'

भगवान् नारद कहते हैं—

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि।

(नारदभक्तिसूत्र ६८-६९)

'ऐसे भक्त कण्ठावरोध, रोमांचित और अश्रुयुक्त नेत्रवाले होकर परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुलोंको और पृथ्वीको पवित्र करते हैं। वे तीर्थोंको सुतीर्थ और कर्मोंको सुकर्म तथा शास्त्रोंको सत्-शास्त्र बनाते हैं, उनके भक्तिके आवेशसे वायुमण्डल शुद्ध होता है, जिससे सम्बन्ध

रखनेवाले सब कुछ पवित्र हो जाते हैं और पृथ्वीपर ऐसे पुरुषोंके निवाससे पृथ्वी पवित्र हो जाती है। वे जिस तीर्थमें रहते हैं वही सुतीर्थ, वे जिन कर्मोंको करते हैं वे ही सत्कर्म और वे जिन शास्त्रोंका उपदेश करते हैं वे ही सत्-शास्त्र बन जाते हैं।'

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति॥

(नारदभक्तिसूत्र ७१)

ऐसे भक्तोंको प्रकट हुए देखकर उनके पितृगण अपने उद्धारकी आशासे आह्लादित होते हैं, देवतागण उनके दर्शन कर नाचने लगते हैं, और पृथ्वी अपनेको सनाथा समझने लगती है।'

पद्मपुराणमें भी ऐसा ही वचन है—

आस्फोटयन्ति पितरो नृत्यन्ति च पितामहाः।
मद्वंशे वैष्णवो जातः स नस्त्राता भविष्यति॥

पितृ-पितामहगण अपने वंशमें भगवद्भक्त प्रकट हुआ, वह हमारा उद्धार कर देगा ऐसा जानकर प्रसन्न होकर नाचने लगते हैं और भी अनेक प्रमाण हैं। वास्तवमें ऐसे पुरुषका हृदय साक्षात् तीर्थ और उसका घर तीर्थरूप बन जाता है। अतएव सब भाइयोंको चाहिये कि वे परमात्माकी अनन्य भक्तिका साधन करें। इस साधनमें भगवान्‌के प्रति मन लगाना पड़ता है तथा अपना समय भगवत्-सेवामें लगानेका अभ्यास करना पड़ता है। इसके लिये यदि प्रत्येक घरमें एक-एक भगवान्‌की मूर्ति या चित्र रहे—मूर्ति या चित्र वही हो जो अपने मनको रुचता हो और नित्य नियमपूर्वक उसकी पूजा की जाय तो समय और मन दोनोंको ही परमात्मामें लगानेका अभ्यास अनायास हो सकता है।

भगवान्‌के अनेक मन्दिर हैं, मन्दिरोंमें जाना बड़ा उत्तम है परन्तु एक तो सभी स्थानोंमें मन्दिर मिलते नहीं। दूसरे सभी जाकर अपनी इच्छाके अनुसार अपने हाथों सेवा-पूजा नहीं कर सकते। तीसरे सब मन्दिरोंकी व्यवस्था आजकल प्रायः ठीक नहीं रही। चौथे घरके सब स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध मन्दिरोंमें नियमितरूपसे जा भी नहीं सकते। परन्तु घरमें किसी धातुकी, पाषाणकी भगवान्‌की कोई मूर्ति या चित्र सभी रख सकते हैं और उसकी पूजा अपने-अपने मतके अनुसार या श्रीप्रेम-भक्ति-प्रकाशमें बतलायी हुई विधिके अनुसार स्त्री-पुरुष सभी कर सकते हैं। घरमें नित्य भगवान्‌की पूजा होनेसे उसके लिये पूजाकी सामग्री जुटाने, पुष्पकी माला गूँथने आदिमें बहुत-सा समय एक तरहसे भगवत्-चिन्तनमें लग जाता है। बालकोंको भी इसमें बड़ा आनन्द मिलता है, वे भी इसको सीख जाते हैं। लड़कपनसे ही उनके हृदयमें भगवत्सम्बन्धी संस्कार जमने लगते हैं। व्यर्थके खेल-कूदकी बात भूलकर उनका चित्त इसी सत्कार्यमें प्रमुदित होने लगता है। छोटी उम्रके संस्कार आगे चलकर बड़ा काम देते हैं। भक्तिमती मीराबाई आदिमें इस लड़कपनके मूर्तिपूजाके संस्कारसे ही बड़ी उम्रमें भक्तिका विकास हुआ था। जिन लोगोंने अपने घरोंमें इस कार्यका आरम्भ कर दिया है उनकी भगवान्‌में श्रद्धा, भक्ति और प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ रहा है।

अतएव मैं सब भाइयोंसे, वेद, शास्त्र और पुराणादि न माननेवाले भाइयोंसे भी विनीत-भावसे यह प्रार्थना करता हूँ कि यदि वे समझें तो अपने-अपने घरोंमें इस कामको तुरंत आरम्भ कर दें। भगवान्‌की पूजाके साथ ही घरके सब पुरुष, स्त्रियाँ और बालक मिलकर भगवान्‌का नाम लें। भगवान्‌की पूजा चाहे एक ही व्यक्ति करे पर पूजाका अधिकार सबको हो। स्वामी न हो तो स्त्री पूजा कर ले, स्त्री न कर सके तो पुरुष कर ले। सारांश यह है कि भगवत्-पूजनमें नित्य कुछ-कुछ समय अवश्य लगता रहे। इससे घरभरमें श्रद्धा-भक्तिका विकास हो सकता है। जो लोग कर सकें वे बाह्य पूजाके साथ ही अपने-अपने सिद्धान्तके अनुसार या 'श्रीप्रेम-भक्ति-प्रकाश'* के अनुसार भगवान्‌की मानसिक पूजा भी करें, क्योंकि आन्तरिक पूजाका महत्त्व और भी अधिक है। एक बार मेरी इस प्रार्थनापर ध्यान देकर इस पूजन-भक्तिका आरम्भ कर इसका फल तो देखें! इससे अधिक विश्वास दिलानेका मेरे पास और कोई साधन नहीं है।

---

* 'प्रेमभक्ति-प्रकाश' नामक लेख इसीमें अन्यत्र प्रकाशित है, इसकी अलग पुस्तक भी गीताप्रेस, गोरखपुरसे मिल सकती है।

वैराग्य

वैराग्यका महत्त्व

कल्याणकी इच्छा करनेवाले पुरुषको वैराग्य-साधनकी परम आवश्यकता है। वैराग्य हुए बिना आत्माका उद्धार कभी नहीं हो सकता। सच्चे वैराग्यसे सांसारिक भोग-पदार्थोंके प्रति उपरामता उत्पन्न होती है। उपरामतासे परमेश्वरके स्वरूपका यथार्थ ध्यान होता है। ध्यानसे परमात्माके स्वरूपका वास्तविक ज्ञान होता है और ज्ञानसे उद्धार होता है। जो लोग ज्ञान-सम्पादनपूर्वक मुक्ति प्राप्त करनेमें वैराग्य और उपरामताकी कोई आवश्यकता नहीं समझते, उनकी मुक्ति वास्तवमें मुक्ति न होकर केवल भ्रम ही होता है। वैराग्य-उपरामता- रहित ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं, वह केवल वाचिक और शास्त्रीय ज्ञान है जिसका फल मुक्ति नहीं, प्रत्युत और भी कठिन बन्धन है। इसीलिये श्रुति कहती है—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳरताः॥

(ईश० म० ९)

'जो अविद्याकी उपासना करते हैं वे अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो विद्यामें रत हैं वे उससे भी अधिक अन्धकारमें प्रवेश करते हैं।' ऐसा वाचिक ज्ञानी निर्भय होकर विषय-भोगोंमें प्रवृत्त हो जाता है, वह पापको भी पाप नहीं समझता, इसीसे वह विषयरूपी दलदलमें फँसकर पतित हो जाता है। ऐसे ही लोगोंके लिये यह उक्ति प्रसिद्ध है—

ब्रह्मज्ञान जान्यो नहीं, कर्म दिये छिटकाय।
तुलसी ऐसी आत्मा, सहज नरक महँ जाय॥

वास्तवमें ज्ञानके नामपर महान् अज्ञान ग्रहण कर लिया जाता है। अतएव यदि यथार्थ कल्याणकी इच्छा हो तो साधकको सच्चा, दृढ़ वैराग्य उपार्जन करना चाहिये। किसी स्वाँगविशेषका नाम वैराग्य नहीं है। किसी कारणवश या मूढ़तासे स्त्री, पुत्र, परिवार, धनादिका त्याग कर देना, कपड़े रँग लेना, सिर मुड़वा लेना, जटा बढ़ाना या अन्य बाह्य चिह्नोंका धारण करना वैराग्य नहीं कहलाता। मनसे विषयोंमें रमण करते रहना और ऊपरसे स्वाँग बना लेना तो मिथ्याचार—दम्भ है। भगवान् कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

(गीता ३।६)

'जो मूढ़बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको हठसे रोककर इन्द्रियोंके भोगोंको मनसे चिन्तन करता रहता है वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।'

सम्प्रति दम्भका बहुत विस्तार हो रहा है, कोई लोगोंको ठगनेके लिये दिखलौआ मौन धारण करता है, कोई आसन लगाकर बैठता है, कोई विभूति रमाता है, कोई केश बढ़ाता है, कोई धूनी तपता है, "**उदरनिमित्तं बहुकृतवेषः।**"

इनमेंसे कोई-सा भी वैराग्य नहीं है। मेरे इस कथनका यह अभिप्राय नहीं कि मैं स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, धन, शिखा-सूत्रादि तथा कर्मोंके स्वरूपसे त्याग करनेको बुरा समझता हूँ। न यही समझना चाहिये कि मौन धारण करना, आसन लगाना, विभूति रमाना, केश बढ़ाना या मुड़वाना आदि कार्य अशास्त्रीय और निन्दनीय हैं। न मेरा यही कथन है कि घर-बार त्यागकर इन चिह्नोंके धारण करनेवाले सभी लोग पाखण्डी हैं। उपर्युक्त कथन किसीकी निन्दा या किसीपर भी घृणा करनेके लिये नहीं समझना चाहिये। मेरा अभिप्राय यहाँ उन लोगोंसे है जो वैराग्यके नामपर पूजा पाने और लोगोंपर अनधिकार रोब जमाकर उन्हें ठगनेके लिये नाना भाँतिके स्वाँग सजते हैं। जो साधक संयमके लिये, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये, साधन बढ़नेके लिये ऐसा करते हैं उनकी कोई निन्दा नहीं है। भगवान्ने भी मिथ्याचारी उन्हींको बतलाया है जो बाहरसे संयमका स्वाँग सजकर मन-ही-मन विषयोंका मनन करते रहते हैं। जो पुरुष चित्तकी वृत्तियोंको भगवच्चिन्तनमें नियुक्तकर सच्ची वैराग्य-वृत्तिसे बाह्याभ्यन्तर त्याग करते हैं उनकी तो सभी शास्त्रोंने प्रशंसा की है।

वैराग्य बहुत ही रहस्यका विषय है, इसका वास्तविक तत्त्व विरक्त महानुभाव ही जानते हैं। वैराग्यकी पराकाष्ठा उन्हीं पुरुषोंमें पायी जाती है जो जीवन्मुक्त महात्मा हैं—जिन्होंने परमात्मरसमें डूबकर विषय-रससे अपनेको सर्वथा मुक्त कर लिया है!

भगवान् कहते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(गीता २।५९)

'इन्द्रियोंद्वारा विषयोंको न ग्रहण करनेवाले पुरुषके केवल विषय निवृत्त हो जाते हैं, रस (राग) नहीं निवृत्त होता, परन्तु जीवन्मुक्त पुरुषका तो राग भी परमात्माको साक्षात् करके निवृत्त हो जाता है।'

अब हमें वैराग्यके स्वरूप, उसकी प्राप्तिके उपाय, वैराग्यप्राप्त पुरुषोंके लक्षण और फलके विषयमें कुछ विचार करना चाहिये। साधनकालमें वैराग्यकी दो श्रेणियाँ

हैं। जिनको गीतामें वैराग्य और दृढ़ वैराग्य, योगदर्शनमें वैराग्य और परवैराग्य एवं वेदान्तमें वैराग्य और उपरतिके नामसे कहा है। यद्यपि उपर्युक्त तीनोंमें ही परस्पर शब्द और ध्येयमें कुछ-कुछ भेद है, परन्तु बहुत अंशमें यह मिलते-जुलते शब्द ही हैं। यहाँ लक्ष्यके लिये ही तीनोंका उल्लेख किया गया है।

वैराग्यका स्वरूप

योगदर्शनमें यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार-भेदसे वैराग्यकी चार संज्ञाएँ टीकाकारोंने बतलायी हैं, उसकी विस्तृत व्याख्या भी की है। वह व्याख्या सर्वथा युक्तियुक्त और माननीय है। तथापि यहाँ संक्षेपसे अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार वैराग्यके कुछ रूप बतलानेकी चेष्टा की जाती है, जिससे सरलतापूर्वक सभी लोग इस विषयको समझ सकें!

भयसे होनेवाला वैराग्य—संसारके भोग भोगनेसे परिणाममें नरककी प्राप्ति होगी। क्योंकि भोगमें संग्रहकी आवश्यकता है, संग्रहके लिये आरम्भ आवश्यक है, आरम्भमें पाप होता है, पापका फल नरक या दुःख है। इस तरह भोगके साधनोंमें पाप और पापका परिणाम दुःख समझकर उसके भयसे विषयोंसे अलग होना भयसे उत्पन्न वैराग्य है।

विचारसे होनेवाला वैराग्य—जिन पदार्थोंको भोग मानकर उनके संगसे आनन्दकी भावना की जाती है, जिनकी प्राप्तिमें सुखकी प्रतीति होती है, वे वास्तवमें न भोग हैं, न सुखके साधन हैं, न उनमें सुख है। दुःखपूर्ण पदार्थोंमें—दुःखमें ही अविचारसे सुखकी कल्पना कर ली गयी है। इसीसे वह सुखरूप भासते हैं, वास्तवमें तो दुःख या दुःखके ही कारण हैं। भगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी निस्सन्देह दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं, इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान्, विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।' अनित्य न प्रतीत हो तो इनको क्षणभंगुर समझकर सहन करना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

(गीता २। १४)

'हे कुन्तीपुत्र! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो क्षणभंगुर और अनित्य हैं, इसलिये हे भारत! उनको तू सहन कर।' अगले श्लोकमें इस सहनशीलताका यह फल भी बतलाया है कि—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

(गीता २। १५)

'दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको यह इन्द्रियोंके विषय व्याकुल नहीं कर सकते वह मोक्षके लिये योग्य होता है।' आगे चलकर भगवान्‌ने यह स्पष्ट कह दिया है कि जो पदार्थ विचारसे असत् ठहरता है वह वास्तवमें है ही नहीं। यही तत्त्वदर्शियोंका निर्णीत सिद्धान्त है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २। १६)

'हे अर्जुन! असत् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है, इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

इस प्रकारके विवेकद्वारा उत्पन्न वैराग्य 'विचारसे उत्पन्न होनेवाला वैराग्य' है।

साधनसे होनेवाला वैराग्य—जब मनुष्य साधन करते-करते प्रेममें विह्वल होकर भगवान्‌के तत्त्वका अनुभव करने लगता है तब उसके मनमें भोगोंके प्रति स्वतः ही वैराग्य उत्पन्न होता है। उस समय उसे संसारके समस्त भोग-पदार्थ प्रत्यक्ष दुःखरूप प्रतीत होने लगते हैं। सब विषय भगवत्प्राप्तिमें स्पष्ट बाधक दीखते हैं।

जो स्त्री-पुत्रादि अज्ञानीकी दृष्टिमें रमणीय, सुखप्रद प्रतीत होते हैं, वही उसकी दृष्टिमें घृणित और दुःखप्रद प्रतीत होने लगते हैं*। धन-मकान, रूप-यौवन, गाड़ी-मोटर, पद-गौरव, शान-शौकीनी, विलासिता, सजावट आदि सभीमें उसकी विषवत् बुद्धि हो जाती है और उनका संग उसे साक्षात् कारागारसे भी अधिक बन्धनकारक दुःखदायी तथा घृणास्पद बोध होने लगता है। मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठा, सत्कार-सम्मान आदिसे वह इतना डरता है, जितना साधारण मनुष्य सिंह-व्याघ्र, भूत-प्रेत और यमराजसे डरते हैं। जहाँ उसे सत्कार, पूजा या सम्मान मिलनेकी किंचित् भी सम्भावना होती है, वहाँ जानेमें उसे बड़ा भय मालूम होता है। अतः ऐसे स्थानोंको वह दूरसे ही त्याग देता है। जिन प्रशंसा-प्रतिष्ठा, मान-सम्मानकी प्राप्तिमें साधारण मनुष्य फूले नहीं समाते, उन्हींमें उसको लज्जा,

* इससे कोई यह न समझे कि स्त्री-पुत्रादिसे व्यवहारमें घृणा करनी चाहिये। गृहस्थ साधकको सबसे यथायोग्य प्रेमका बर्ताव करते हुए मनमें वैराग्यकी भावना रखनी चाहिये।

संकोच और दुःख होता है, वह उनमें अपना अधःपतन समझता है! हमलोग जिस प्रकार अपवित्र और घृणित पदार्थोंको देखनेमें हिचकते हैं, उसी प्रकार वह मान-बड़ाईसे घृणा करता है। किसीको भी प्रसन्न करने या किसीके भी दबावसे वह मान-बड़ाई स्वीकार नहीं करता। उन्हें वह प्रत्यक्ष नरकतुल्य प्रतीत होते हैं। जो लोग उसे मान-बड़ाई देते हैं, उनके सम्बन्धमें वह यही समझता है कि यह मेरे भोले भाई मेरी हित-कामनासे विपरीत आचरण कर रहे हैं। '**भोले साजन शत्रु बराबर**' वाली उक्ति चरितार्थ करते हैं। इसलिये वह उनकी क्षणिक प्रसन्नताके लिये उनका आग्रह भी स्वीकार नहीं करता। वह जानता है कि इसमें इनका तो कोई लाभ नहीं है और मेरा अधःपतन है। पक्षान्तरमें स्वीकार न करनेमें न दोष है, न हिंसा है और इस कार्यके लिये इन लोगोंके इस आग्रहसे बाध्य होना धर्मसम्मत भी नहीं है। धर्म तो उसे कहते हैं जो इस लोक और परलोकमें कल्याणकारी हो। जो लोक-परलोक दोनोंमें अहित करता है वह कल्याण नहीं, अकल्याण ही है। पुरस्कार नहीं, महान् विपद् ही है। माता-पिता मोहवश बालकके क्षणिक सुखके लिये उसे कुपथ्य सेवन कराकर अन्तमें बालकके साथ ही स्वयं भी दुःखी होते हैं। इसी प्रकार यह भोले भाई भी तत्त्व न समझनेके कारण मुझे इस पाप-पथमें ढकेलना चाहते हैं। समझदार बालक माता-पिताके दुराग्रहको नहीं मानता तो वह दोषी नहीं होता। परिणाम देखकर या विचारकर माता-पिता भी नाराज नहीं होते। इस प्रकार विचार करनेपर ये भाई भी नाराज नहीं होंगे। यों समझकर वह किसीके द्वारा भी प्रदान की हुई मान-बड़ाई स्वीकार नहीं करता। वह समझता है कि इसके स्वीकारसे मैं अनाथकी भाँति मारा जाऊँगा। इतना त्याग मुझमें नहीं है कि दूसरोंकी जरा-सी खुशीके लिये मैं अपना सर्वनाश कर डालूँ। त्याग-बुद्धि हो, तो भी विवेक ऐसे त्यागको बुद्धिमानी या उत्तम नहीं बतलाता, जो सरल-चित्त भाई अज्ञानसे साधकोंको इस प्रकार मान-बड़ाई स्वीकार करनेके लिये बाध्य कर उन्हें महान् अन्धकार और दुःखके गड्ढेमें ढकेलते हैं, परमात्मा उन्हें सद्बुद्धि प्रदान करें। जिससे वे साधकोंको इस तरह विपत्तिके भँवरमें न डालें।

साधनद्वारा इस प्रकारकी विवेकयुक्त भावनाओंसे भोगोंके प्रति जो वैराग्य होता है, वह साधनद्वारा होनेवाला वैराग्य है। इस तरहके वैरागी पुरुषको संसारके स्त्री, पुत्र, मान, बड़ाई, धन, ऐश्वर्य आदि उसी प्रकार कान्तिहीन और नीरस प्रतीत होते हैं, जैसे प्रकाशमय सूर्यदेवके उदय होनेपर चन्द्रमा प्रतीत हुआ करता है।

परमात्मतत्त्वके ज्ञानसे होनेवाला वैराग्य—जब साधकको परमात्माके तत्त्वकी उपलब्धि हो जाती है तब तो संसारके सम्पूर्ण पदार्थ उसे स्वतः ही रसहीन और मायामात्र प्रतीत होने लगते हैं। फिर उसे भगवत्तत्त्वके अतिरिक्त किसीमें अन्य कुछ भी सार नहीं प्रतीत होता। जैसे मृगतृष्णाके जलको मरीचिका जान लेनेपर उसमें जल नहीं दिखायी देता, जैसे नींदसे जगनेपर स्वप्नको स्वप्न समझ लेनेपर स्वप्नके संसारका चिन्तन करनेपर भी उसमें सत्ता नहीं मालूम होती, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुषको जगत्के पदार्थोंमें सार और सत्ताकी प्रतीति नहीं होती। चतुर बाजीगरद्वारा निर्मित रम्य बगीचेमें अन्य सब मोहित होते हैं, परन्तु जैसे उसका मर्मज्ञ तत्त्व जाननेवाला जमूरा उसे मायामय और निस्सार समझकर मोहित नहीं होता, (हाँ, अपने मायापति मालिककी लीला देख-देखकर आह्लादित अवश्य होता है) इसी प्रकार इस श्रेणीका वैरागी पुरुष विषय-भोगोंमें मोहित नहीं होता।

इस प्रकारके वैराग्यवान् पुरुषकी संसारके किसी भोग-पदार्थमें आस्था ही नहीं होती, तब उसमें रमणीयता और सुखकी भ्रान्ति तो हो ही कैसे सकती है? ऐसा ही पुरुष परमात्माके परमपदका अधिकारी होता है। इसीको परवैराग्य या दृढ़ वैराग्य कहते हैं।

वैराग्य-प्राप्तिके उपाय

उपर्युक्त विवेचनपर विचार कर साधकोंको चाहिये कि आरम्भमें वे संसारके विषयोंको परिणाममें हानिकर मानकर भयसे या दुःखरूप समझकर घृणासे ही उनका त्याग करें। बारम्बार वैराग्यकी भावनासे, त्यागके महत्त्वका मनन करनेसे, जगत्की यथार्थ स्थितिपर विचार करनेसे, मृत पुरुषों, सूने महलों, टूटे मकानों और खँडहरोंको देखने-सुननेसे, प्राचीन नरपतियोंकी अन्तिम गतिपर ध्यान देनेसे और विरक्त, विचारशील पुरुषोंका संग करनेसे ऐसी दलीलें हृदयमें स्वयमेव उठने लगती हैं, जिनसे विषयोंके प्रति विराग उत्पन्न होता है। पुत्र-परिवार, धन-मकान, मान-बड़ाई, कीर्ति-कान्ति आदि समस्त पदार्थोंमें निरन्तर दुःख और दोष देख-देखकर उनसे मन हटाना चाहिये। भगवान्ने कहा है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।

(गीता १३।८-९)

इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका

अभाव और अहंकारका भी अभाव एवं जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख-दोषोंका बारम्बार विचार करना तथा पुत्र, स्त्री, घर और धनादिमें आसक्ति और ममताका अभाव करना चाहिये।

विचार करनेपर ऐसी और भी अनेक दलीलें मिलेंगी जिनसे संसारके समस्त पदार्थ दुःखरूप प्रतीत होने लगेंगे।

योगदर्शनका सूत्र है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥

(साधनपाद १५)

परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख और दुःखोंसे मिश्रित होने और गुण-वृत्ति-विरोध होनेसे विवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें समस्त विषयसुख दुःखरूप ही हैं। अब यहाँ इसका कुछ खुलासा कर दिया जाता है—

परिणामदुःखता—जो सुख आरम्भमें सुखरूप प्रतीत होनेपर भी परिणाममें महान् दुःखरूप हो, वह सुख परिणामदुःखता कहलाता है। जैसे रोगीके लिये आरम्भमें जीभको स्वाद लगनेवाला कुपथ्य। वैद्यके मना करनेपर भी इन्द्रियासक्त रोगी आपात-सुखकर पदार्थको स्वादवश खाकर अन्तमें दुःख उठाता, रोता, चिल्लाता है, इसी प्रकार विषयसुख आरम्भमें रमणीय और सुखरूप प्रतीत होनेपर भी परिणाममें महान् दुःखकर हैं।

भगवान् कहते हैं—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥

(गीता १८।३८)

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है वह यद्यपि भोगकालमें अमृतके सदृश भासता है, परन्तु परिणाममें वह (बल, वीर्य, बुद्धि, धन, उत्साह और परलोकका नाशक होनेसे) विषके सदृश है, इसलिये वह सुख राजस कहा गया है।'

दादकी खाज खुजलाते समय बहुत ही सुखद मालूम होती है। परन्तु परिणाममें जलन होनेपर वही महान् दुःखद हो जाती है। यही विषय-सुखोंका परिणाम है। इस लोक और परलोकके सभी विषय-सुख परिणामदुःखताको लिये हुए हैं। बड़े पुण्यसंचयसे लोगोंको स्वर्गकी प्राप्ति होती है परन्तु **'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।'** वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं। इसलिये गोसाईंजी महाराजने कहा है—

एहि तन कर फल बिषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥

तापदुःखता—पुत्र, स्त्री, स्वामी, धन, मकान आदि सभी पदार्थ हर समय ताप देते—जलाते रहते हैं। कोई विषय ऐसा नहीं है जो विचार करनेपर जलानेवाला प्रतीत न हो। इसके सिवा जब मनुष्य अपनेसे दूसरोंको किसी भी विषयमें अधिक बढ़ा हुआ देखता है तब अपने अल्प सुखके कारण उसके हृदयमें बड़ी जलन होती है। विषयोंकी प्राप्ति, उनके संरक्षण और नाशमें भी सदा जलन बनी ही रहती है। कहा है—

अर्थानामर्जने दुःखं तथैव परिपालने।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः॥

धन कमानेमें कई तरहके सन्ताप, उपार्जन हो जानेपर उसकी रक्षामें सन्ताप, कहीं किसीमें डूब न जाय, इस चिन्तालयमें सदा ही जलना पड़ता है, नाश हो जाय तो जलन, खर्च हो जाय तो जलन, छोड़कर मरनेमें जलन, मतलब यह कि आदिसे अन्ततक केवल सन्ताप ही रहता है। इसलिये इसको धिक्कार दिया गया। यही हाल पुत्र, मान-बड़ाई आदिका है। सभीमें प्राप्तिकी इच्छासे लेकर वियोगतक सन्ताप बना रहता है। ऐसा कोई विषयसुख नहीं जो सन्ताप देनेवाला न हो।

संस्कारदुःखता—आज स्त्री-स्वामी, पुत्र-परिवार, धन-मानादि जो विषय प्राप्त हैं उनके संस्कार हृदयमें अंकित हो चुके हैं, इसलिये उनके समाप्त होनेपर संस्कारोंके कारण उन वस्तुओंका अभाव महान् दुःखदायी होता है। मैं कैसा था, मेरा पुत्र सुन्दर, सुडौल और आज्ञाकारी था, मेरी स्त्री कितनी सुशीला थी, मेरे पितासे मुझे कितना सुख मिलता था, मेरी बड़ाई जगत्भरमें छा रही थी, मेरे पास लाखों रुपये थे। परन्तु आज मैं क्या-से-क्या हो गया। मैं सब तरहसे दीन-हीन हो गया, यद्यपि उसीके समान जगत्में लाखों-करोड़ों मनुष्य आरम्भसे ही इन विषयोंसे रहित हैं परन्तु वे ऐसे दुःखी नहीं हैं। जिसके विषय-भोगोंकी बाहुल्यताके समय सुखोंके संस्कार होते हैं उसे ही उनके अभावकी प्रतीति होती है। अभावकी प्रतीतिमें दुःख भरा हुआ है। यही संस्कारदुःखता है।

इसके सिवा यह बात भी सर्वथा ध्यानमें रखनी चाहिये कि संसारके सभी विषय-सुख सभी अवस्थामें दुःखसे मिश्रित हैं।

गुण-वृत्तियोंके विरोधजन्य दुःख—एक मनुष्यको कुछ झूठ बोलने या छल-कपट, विश्वासघात करनेसे दस

हजार रुपये मिलनेकी सम्भावना प्रतीत होती है। उस समय उसकी सात्त्विक वृत्ति कहती है—'पाप करके रुपये नहीं चाहिये, भीख माँगना या मर जाना अच्छा है, परन्तु पाप करना उचित नहीं।' उधर लोभमूलक राजसी वृत्ति कहती है 'क्या हर्ज है? एक बार तनिक-सा झूठ बोलनेमें आपत्ति ही कौन-सी है? जरा-से छल-कपट या विश्वासघातसे क्या होगा? एक बार ऐसा करके रुपये कमाकर दरिद्रता मिटा लें, भविष्यमें ऐसा नहीं करेंगे।'

यों सात्त्विकी और राजसी वृत्तिमें महान् युद्ध मच जाता है, इस झगड़ेमें चित्त अत्यन्त व्याकुल और किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठता है। विषाद और उद्विग्नताका पार नहीं रहता।

इसी तरह राजसी, तामसी वृत्तियोंका झगड़ा होता है। एक मनुष्य शतरंज या ताश खेल रहा है। उधर उसके समयपर न पहुँचनेसे घरका आवश्यक काम बिगड़ता है। कर्ममें प्रवृत्ति करानेवाली राजसी वृत्ति कहती है—'उठो, चलो हर्ज हो रहा है, घरका काम करो।' इधर प्रमादरूपा तामसी वृत्ति पुनः-पुनः उसे खेलकी ओर खींचती है, वह बेचारा इस दुविधामें पड़कर महान् दुःखी हो जाता है।

उदाहरणके लिये दो दृष्टान्त ही पर्याप्त हैं।

इस प्रकार विचार करनेसे यह स्पष्ट विदित होता है कि संसारके सभी सुख दुःखरूप हैं। अतएव इनसे मन हटानेकी भरपूर चेष्टा करनी चाहिये।

उपर्युक्त भयसे और विचारसे होनेवाले दोनों प्रकारके वैराग्योंको प्राप्त करनेके यही उपाय हैं, यह उपाय पूर्वापेक्षा उत्तम श्रेणीके वैराग्य-सम्पादनमें भी अवश्य ही सहायक होते हैं। परन्तु अगले दोनों वैराग्योंकी प्राप्तिमें निम्नलिखित साधन विशेष सहायक होते हैं—

परमात्माके नाम-जप और उनके स्वरूपका निरन्तर स्मरण करते रहनेसे हृदयका मल ज्यों-ज्यों दूर होता है, त्यों-त्यों उसमें उज्ज्वलता आती है। ऐसे उज्ज्वल और शुद्ध अन्तःकरणमें वैराग्यकी लहरें उठती हैं, जिनसे विषयानुराग मनसे स्वयमेव ही हट जाता है। इस अवस्थामें विशेष विचारकी आवश्यकता नहीं रहती। जैसे मैले दर्पणको रूईसे घिसनेपर ज्यों-ज्यों उसका मैल दूर होता है, त्यों-ही-त्यों वह चमकने लगता है और उसमें मुखका प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखलायी पड़ता है, इसी प्रकार परमात्माके भजन-ध्यानरूपी रूईकी चालू रगड़से अन्तःकरणरूपी दर्पणका मल दूर होनेपर वह चमकने लगता है और उसमें सुखस्वरूप आत्माका प्रतिबिम्ब दीखने लगता है। ऐसी स्थितिमें जरा-सा भी बाकी रहा हुआ विषय-मलका दाग साधकके हृदयमें शूल-सा खटकता है। अतएव वह उत्तरोत्तर अधिक उत्साहके साथ उस दागको मिटानेके लिये भजन-ध्यानमें तत्पर होकर अन्तमें उसे सर्वथा मिटाकर ही छोड़ता है। ज्यों-ज्यों भजन-ध्यानसे अन्तःकरणरूपी दर्पणकी सफाई होती है, त्यों-त्यों साधककी आशा और उसका उत्साह बढ़ता रहता है, भजन-ध्यानरूपी साधन-तत्त्व न समझनेवाले मनुष्यको ही भाररूप प्रतीत होता है। जिसको इसके तत्त्वका ज्ञान होने लगा है, वह तो उत्तरोत्तर आनन्दकी उपलब्धि करता हुआ पूर्णानन्दकी प्राप्तिके लिये भजन-ध्यान बढ़ाता ही रहता है। उसकी दृष्टिमें विषयोंमें दीखनेवाले विषय-सुखकी कोई सत्ता ही नहीं रह जाती। इससे उसे दृढ़ वैराग्यकी बहुत शीघ्र प्राप्ति हो जाती है। भगवान्ने इस दृढ़ वैराग्यरूपी शस्त्रद्वारा ही अहंता, ममता और वासनारूप अतिदृढ़ मूलवाले संसाररूप अश्वत्थ-वृक्षको काटनेके लिये कहा है।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥

(गीता १५। ३)

संसारके चित्रको सर्वथा भुला देना ही इस अश्वत्थ-वृक्षका छेदन करना है। दृढ़ वैराग्यसे यह काम सहज ही हो सकता है।

भगवान् कहते हैं—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

(गीता १५। ४)

इसके उपरान्त उस परमपदरूप परमेश्वरको अच्छी प्रकार खोजना चाहिये, (उस परमात्माके विज्ञान आनन्दघन **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** का बारम्बार चिन्तन करना ही उसे ढूँढ़ना है) जिसमें गये हुए पुरुष फिर वापस संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे यह पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है। उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ (उस परमपदके स्वरूपको पकड़ लेना—उसमें स्थित हो जाना ही उसकी शरण होना है) इस प्रकार शरण होनेपर—

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

(गीता १५। ५)

'नष्ट हो गया है मान और मोह जिनका तथा जीत लिया है आसक्तिरूप दोष जिन्होंने और परमात्माके स्वरूपमें है निरन्तर स्थिति जिनकी तथा अच्छी तरह नष्ट हो गयी है कामना जिनकी, ऐसे वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त हुए ज्ञानीजन, उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं।'

वैराग्यका फल

बस, इस प्रकार एक परमात्माका ज्ञान रह जाना ही अटल समाधि या जीवन्मुक्त-अवस्था है, उसीके यह लक्षण हैं। तदनन्तर ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष भगवान्‌के भक्त संसारमें किस प्रकार विचरते हैं, उनकी कैसी स्थिति होती है, इसका विवेचन गीताके अध्याय १२ के श्लोक १३ से १९ तक निम्नलिखित रूपमें है, भगवान् उनके लक्षण बतलाते हुए कहते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥ १३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १४॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ १५॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १६॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥ १७॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥ १८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ १९॥

'इस प्रकार शान्तिको प्राप्त हुआ जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित एवं स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित एवं अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपना अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है। जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ, निरन्तर लाभ-हानिमें सन्तुष्ट है, मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए, मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है, वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझे प्रिय है। जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता एवं जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, वह मुझे प्रिय है। जो पुरुष आकांक्षासे रहित, बाहर-भीतर शुद्ध, चतुर है अर्थात् जिस कामके लिये आया था उसको पूरा कर चुका है एवं पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है, वह सब आरम्भोंका त्यागी अर्थात् मन, वाणी, शरीरद्वारा प्रारब्धसे होनेवाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्यागी मेरा भक्त मुझे प्रिय है। जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोच करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है। जो पुरुष शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और सब संसारमें आसक्तिसे रहित है तथा जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला और मननशील है अर्थात् ईश्वरके स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला है एवं जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही सन्तुष्ट और रहनेके स्थानमें ममतासे रहित है, वह स्थिर बुद्धिवाला भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।'

अतएव इस असार-संसारसे मन हटाकर इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें वैराग्यवान् होकर सबको परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

गीतासम्बन्धी प्रश्नोत्तर

एक सज्जनके प्रश्न हैं—

प्रश्न—गीता वेदोंको मानती है कि नहीं? यदि मानती है तो किस दृष्टिसे? अध्याय २ श्लोक ४२, ४५, ४६, ५३ में वेदोंको क्यों नीची दृष्टिसे कथन किया है?

उत्तर—गीता वेदोंको मानती है और उनको बहुत ऊँची दृष्टिसे देखती है। दूसरे अध्यायके इन श्लोकोंमें वेदोंकी निन्दा नहीं की गयी है, केवल भोग-ऐश्वर्य या स्वर्गादिरूप क्षणभंगुर और विनाशी फल देनेवाले सकाम कर्मोंसे अलग रहकर आत्मपरायण होनेके लिये कहा गया है। भोगोंमें मनुष्यकी स्वाभाविक ही प्रवृत्ति रहती है। इसपर यदि 'अमुक कर्मसे बहुत धन मिलेगा।' 'अमुक कर्मसे मनचाहे स्त्री-पुत्रादि मिलेंगे।' 'अमुकसे स्वर्गादिकी प्राप्ति होगी।' आदि सुहावने वचन सुननेको मिल जायँ तब तो मनका अपहरण हो जाना अनिवार्य हो जाता है। भोगलालसा बढ़कर बुद्धिको डावाँडोल कर देती है। बहुशाखावाली बुद्धिसे आत्मतत्त्वकी उपलब्धि नहीं होती और उसके हुए बिना दुःखोंसे सदाके लिये छुटकारा नहीं मिलता। इसीसे आगे चलकर नवें अध्यायमें फिर कहा गया है—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥
(२०, २१)

'तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकाम कर्मोंको

करनेवाले, सोमरसको पीनेवाले, पापोंसे पवित्र हुए जो पुरुष मुझे यज्ञोंद्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं, वे अपने पुण्योंके फलरूप इन्द्रलोकको प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं और उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं, इस प्रकार (स्वर्गके साधनरूप) तीनों (ऋक्, यजुः, साम) वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मके शरण हुए भोगकामनावाले पुरुष बारम्बार आवागमनको प्राप्त होते हैं।'

तात्पर्य यह कि सकाम कर्ममें लगे हुए पुरुषोंको बारम्बार संसारमें आना-जाना पड़ता है, उन्हें जन्मरूप कर्मफल ही मिलता है। जन्म-मृत्युके चक्रसे उनका पिण्ड नहीं छूटता। इस विवेचनसे यह बतलाना है कि यहाँ वास्तवमें वेदकी निन्दा नहीं है। सकाम कर्म, परम श्रेयकी प्राप्ति नहीं करानेवाले होनेके कारण उन्हें निष्काम कर्म और निष्काम उपासनाकी अपेक्षा नीची श्रेणीका बतलाया है। उनको बुरा नहीं बताया, यह कहीं नहीं कहा कि वैदिक सकामकर्मी पुरुष '**मोहजालसमावृताः**' आसुरी सम्पत्तिवाले पुरुषोंकी तरह '**पतन्ति नरकेऽशुचौ**' अपवित्र नरकमें पड़ते हैं या '**आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥**' [१६।२०] हे कौन्तेय! वे मूढ़ पुरुष जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त हुए मुझे न पाकर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं। बल्कि यह कहा है कि वे पूतपाप (देव-ऋणरूप पापोंसे मुक्त होकर) स्वर्गकी इच्छासे यज्ञद्वारा भगवत्-पूजा करनेवाले होनेके कारण स्वर्गके दिव्य और विशाल भोगोंको भोगते हैं।

पक्षान्तरमें वेदका महत्त्व प्रकट करनेवाले अनेक वचन गीतामें मिलते हैं—'**कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।**' [३।१५] 'कर्मको वेदसे और वेदको अक्षरपरमात्मासे उत्पन्न हुआ जान।' '**ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥**' [१७।२३] 'ॐ, तत्, सत्, ये ब्रह्मके त्रिविध नाम कहे हैं, सृष्टिके आदिमें ब्राह्मण, वेद और यज्ञादि उसीसे ही रचे गये हैं।' इन वचनोंसे वेदकी उत्पत्ति परमात्मासे हुई बतलायी गयी है। '**एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे। कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥**' (४।३२) 'ऐसे बहुत प्रकारके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तार किये गये हैं, उन सबको शरीर, मन और इन्द्रियोंके क्रियाद्वारा ही उत्पन्न होनेवाले जान। इस प्रकार तत्त्वसे जानकर निष्काम कर्मयोगद्वारा संसार-बन्धनसे मुक्त हो जायगा।' यहाँ वैदिक कर्मोंका तत्त्व समझकर उनके निष्काम आचरणसे साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति बतलायी है। '**यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति।**' (८।११) 'वेदको जाननेवाले जिस परमात्माको अक्षर (ओंकार नामसे) कहते हैं।' इसमें वेदकी प्रशंसा स्पष्ट है। ठीक यही वाक्य कठोपनिषद्के निम्नलिखित मन्त्रमें है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(१।२।१५)

'......**पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च।**' 'पवित्र ओंकार और ऋक्, साम तथा यजुर्वेद मैं ही हूँ।' (९।१७) इन वचनोंसे गीताकार भगवान्‌ने वेदको अपना स्वरूप माना है। '**छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।**' (१३।४) 'विविध वेदमन्त्रोंसे (क्षेत्रक्षेत्रज्ञका तत्त्व) विभागपूर्वक' कहकर अपने वचनोंकी पुष्टिमें वेदका प्रमाण दिया है '**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥**' (१५।१५) 'समस्त वेदोंद्वारा जाननेयोग्य मैं ही हूँ और वेदान्तका कर्ता तथा वेदवित् भी मैं ही हूँ।' इन वचनोंसे भगवान्‌ने अपनेको वेदसे वेद्य और वेदका ज्ञाता बतलाकर वेदकी महान् प्रतिष्ठा स्पष्ट स्वीकार की है। इसके सिवा और भी कई स्थल ऐसे हैं जहाँ वेदोंकी प्रशंसा की गयी है।

इससे यह पता लग जाता है कि गीता वेदको नीचा नहीं मानती। गीताने केवल सकाम कर्मको ही निष्कामकी अपेक्षा नीचा बतलाया है। वास्तवमें इस लोक और परलोकके भोगपदार्थ तो मोक्षसे सदा ही नीचे हैं। स्वयं वेद भी इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है। यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायमें इसका विवेचन है। कठोपनिषद्के यम-नचिकेता-संवादमें प्रेय-श्रेयका विवेचन करते हुए यमराजने भोग-ऐश्वर्यादि-प्रेयकी निन्दा और मोक्ष-श्रेयकी बड़ी प्रशंसा की है एवं भोग-ऐश्वर्यमें अनासक्त होनेके कारण नचिकेताकी बहुत बड़ाई की है (कठ० २।१, २, ३)। इसी प्रकारकी बात गीतामें है। निष्काम कर्म, निष्काम उपासना और आत्मतत्त्वकी जगह-जगह प्रशंसा करके गीताने प्रकारान्तरसे वेदका ही समर्थन किया है।

प्र०—गीता वर्णाश्रम-धर्मको मानती है या नहीं? यदि मानती है तो किस प्रकारसे? यदि नहीं मानती है तो वर्णाश्रम-धर्मको क्यों चाहती है? अगर मानती है तो सब धर्म छोड़कर अ० १८ के ६६ (श्लोक)-का क्या अर्थ है?

उ०—गीता वर्णाश्रमको मानती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्ण अपने-अपने स्वाभाविक वर्ण-धर्मका स्वार्थरहित निष्कामभावसे भगवत्-प्रीत्यर्थ आचरण करें तो उनकी मुक्ति होना गीताको सर्वथा मान्य है। गीता अध्याय ८ श्लोक ४१ से ४४ तक चारों वर्णोंके

स्वाभाविक कर्म बतलाकर ४५-४६में उन्हीं स्वाभाविक कर्मोंसे उनके लिये परम सिद्धिकी प्राप्ति होना बतलाया है और ४७-४८में वर्ण-धर्मके पालनपर विशेष जोर दिया है।

गीता जन्म-कर्म दोनोंसे वर्ण मानती है। '**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।**' (४।१३) 'गुण और कर्मोंके विभागसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र मेरे द्वारा रचे गये हैं।' इन वचनोंसे उनका पूर्वकृत कर्मोंके फलस्वरूप गुण-कर्मके अनुसार रचा जाना सिद्ध होता है न कि पीछेसे मानना। इसीलिये गीता वर्ण-धर्मको 'स्वभावज' और 'सहज' (जन्मके साथ ही उत्पन्न होनेवाला) कर्म कहती है। परमेश्वरकी शरण होकर कोई भी अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा निष्कामभावसे उसकी उपासना करके मुक्त हो सकता है। वर्णोंके अनुसार कर्मोंमें भेद मानती हुई भी मुक्तिके सम्बन्धमें गीता सबका समान अधिकार बतलाती है। गीताकी घोषणा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८।४६)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
(९।३२-३३)

'जिस परमात्मासे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है, जिससे यह सब जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।' 'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य और शूद्रादि तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवें वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त होते हैं फिर पुण्यशील ब्राह्मण और राजर्षि भक्तोंका तो कहना ही क्या है? अतएव तू सुखरहित और क्षणभंगुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

गीता अध्याय १८।६६में '**सर्वधर्मान्परित्यज्य**' का अर्थ सम्पूर्ण धर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं है; क्योंकि पहले अ० १६।२३-२४में शास्त्रविधिके त्यागसे सिद्धि, सुख और परमगतिका न होना बतलाकर शास्त्रविधिसे नियत किये हुए धर्मका पालन करना कर्तव्य बतलाया है। अध्याय १८।४७-४८में भी स्वधर्म-पालनपर बड़ा जोर दिया है। वहाँ ऐसा प्रतिपादन करके यहाँ सब धर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी आज्ञा देना सम्भव नहीं। यदि थोड़ी देरके लिये मान भी लें कि अपने वचनोंके विरुद्ध यहाँ भगवान्ने स्वरूपसे धर्म छोड़नेकी आज्ञा ही दी है तो फिर अ० १८।७३ में '**करिष्ये वचनं तव**' 'आपके आज्ञानुसार करूँगा।' कहकर अर्जुनका युद्धरूप वर्ण-धर्मका आचरण करना उससे विरुद्ध पड़ता है। भगवान्ने सब धर्मोंके त्यागकी आज्ञा दी। अर्जुनने उसे स्वीकार भी कर लिया फिर उसके विरुद्ध अर्जुन युद्ध क्यों करता? इससे यही सिद्ध होता है कि भगवान्ने सब धर्मोंके त्यागकी आज्ञा नहीं दी। यहाँ '**सर्वधर्मान् परित्यज्य**' से उनका यही मतलब है कि मनुष्यको सब धर्मोंका 'आश्रय' छोड़कर केवल एक परमात्माका ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये। धर्मको स्वरूपसे त्यागकी बात नहीं है। बात है केवल आश्रय (शरण)-के त्यागकी। यह तो वर्ण-धर्मकी बात हुई। वर्णकी भाँति आश्रम-धर्मका गीतामें स्पष्ट और विस्तृत वर्णन नहीं है। गौणरूपसे आश्रमको गीताने स्वीकार किया है '**ब्रह्मचर्यं चरन्ति**', '**यतयो वीतरागाः**' [८। ११], '**तपस्विभ्यः,**' [६।४६] 'ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं।' 'आसक्तिरहित संन्यासी', 'तपस्वियोंसे' आदि शब्दोंसे ब्रह्मचर्य, संन्यास और वानप्रस्थका निर्देश किया गया है। गृहस्थका वर्णन तो स्पष्ट ही है।

प्र०—गीता कर्मको मानती है या ज्ञानको या दोनोंको? यदि केवल कर्मको मानती है तो ज्ञान निष्फल है, यदि ज्ञानको मानती है तो कर्म निष्फल है, यदि ज्ञानको बताती है तो कर्मको क्यों चाहती है?

उ०—गीता अधिकारी-भेदसे ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों निष्ठाओंको मुक्तिके दो स्वतन्त्र साधन मानती है। दोनों ही निष्ठाओंका फल एक भगवत्प्राप्ति होनेपर भी दोनोंके साधकोंकी कार्यपद्धति, उनके भाव और पथ सर्वथा भिन्न-भिन्न होते हैं। दोनों निष्ठाओंका साधन एक ही कालमें एक पुरुषद्वारा नहीं बन सकता।

निष्काम कर्मयोगी साधनकालमें कर्म, कर्मफल, परमात्मा और अपनेको भिन्न-भिन्न मानता हुआ कर्मोंके फल और आसक्तिको त्यागकर ईश्वरपरायण हो, ईश्वरार्पण-बुद्धिसे ही समस्त कर्म करता है और ज्ञानयोगी मायाके गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं यों समझकर देहेन्द्रियोंसे होनेवाली समस्त क्रियाओंमें कर्तृत्वाहंकार न रखकर केवल सर्वव्यापी परमात्माके स्वरूपमें ऐक्यभावसे स्थित रहता है।

दोनोंमेंसे किसी भी निष्ठाके अनुसार स्वरूपसे कर्म त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है। उपासनाकी आवश्यकता दोनोंमें है। इस विषयका विस्तृत विवेचन 'गीतोक्त संन्यास'

और 'गीतोक्त निष्काम कर्मयोगका स्वरूप' शीर्षक लेखोंमें किया गया है*।

प्र०—गीता मूर्तिपूजाको मानती है कि नहीं? यदि नहीं मानती है तो अध्याय ९के २६वें श्लोकका क्या अर्थ है? यदि मानती है तो निराकार या साकार?

उ०—गीता मूर्तिपूजाको मानती है, अध्याय ९। २६ और ९। ३४ के श्लोकसे यह प्रमाणित है। अब रही स्वरूपकी बात, सो गीताको भगवान्‌के साकार-निराकार दोनों ही स्वरूप मान्य हैं। उदाहरणार्थ कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(४। ६—९)

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(९। ११, २६, ३४)

भगवान् कहते हैं—'मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ। हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने रूपको प्रकट करता हूँ। साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करनेके लिये तथा धर्म-स्थापन करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ। हे अर्जुन! मेरा वह जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे जानता है वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता है, किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है।'

'सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परमभावको न जाननेवाले मूढ़लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुएको साधारण मनुष्य मानते हैं। पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे अर्पण करता है, उस शुद्ध-बुद्धि निष्कामप्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं (सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित) खाता हूँ। (तू) मुझमें ही मनवाला हो, मेरा ही भक्त हो, मेरी ही पूजा करनेवाला हो, मुझ वासुदेवको ही प्रणाम कर, इस प्रकार मेरे शरण हुआ तू आत्माको मुझमें एकीभाव करके मुझको ही प्राप्त होगा।'

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥

(गीता १०। १२-१३; ११। १७, ४६)

अर्जुन कहते हैं—

'आप परम ब्रह्म, परम धाम, परम पवित्र हैं; क्योंकि आपको सब ऋषिजन सनातन दिव्य पुरुष, देवोंके भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं; वैसे ही देवर्षि नारद, असित, देवलऋषि, महर्षि व्यास और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं।' 'आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त तथा सब तरफसे प्रकाशमान तेजका पुंज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके सदृश ज्योतियुक्त, देखनेमें अति गहन और अप्रमेयस्वरूप सब ओरसे देखता हूँ।' 'मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथोंमें लिये हुए देखना चाहता हूँ, अतएव हे विश्वस्वरूप! हे सहस्रबाहो! आप उस चतुर्भुज रूपसे युक्त होइये अर्थात् चतुर्भुज रूप दिखलाइये।'

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(१२। २)

भगवान् कहते हैं—'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते

* 'गीतोक्त सांख्ययोग' और 'निष्काम कर्मयोग' लेख इसीमें अन्यत्र प्रकाशित हैं और वह पुस्तकाकार भी छप गये हैं, गीताप्रेससे पुस्तक मिल सकती है।

हैं, वे मुझको योगियोंमें भी अति उत्तम योगी मान्य हैं अर्थात् मैं उन्हें अति श्रेष्ठ मानता हूँ।'

राजा धृतराष्ट्रसे संजय कहते हैं—

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः॥
(१८।७७)

'हे राजन्! श्रीहरिके उस अति अद्भुत रूपको पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं बारम्बार हर्षित होता हूँ।'

उपर्युक्त श्लोक साकार स्वरूपके प्रतिपादक हैं। नीचे निराकारके प्रतिपादक श्लोक हैं।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
(६।३१)

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(७।१९)

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
(८।२१)

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥
(९।४-५)

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
(१२।३-४)

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥
(१३।१५, २७, ३०)

भगवान् कहते हैं—

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है। क्योंकि उसके अनुभवमें मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। (जो) बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है इस प्रकार मुझको भजता है वह महात्मा अति दुर्लभ है। (जो) अव्यक्त अक्षर ऐसे कहा गया है उसी अक्षर नामक अव्यक्त भावको परमगति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्त भावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते हैं वह मेरा परमधाम है। मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् (जलसे बर्फके सदृश) परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं (इसलिये वास्तवमें) मैं उनमें स्थित नहीं हूँ और (वे) सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं। (किन्तु) मेरी योगमाया और प्रभावको देख (कि) भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा (वास्तवमें) भूतोंमें स्थित नहीं है। जो पुरुष इन्द्रिय-समुदायको अच्छी प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीय-स्वरूप, सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए उपासते हैं वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत हुए सबमें समान भाववाले योगी भी मुझको ही प्राप्त होते हैं। (परमात्मा) चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी (वही) है और वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है तथा अति समीपमें और अति दूरमें भी वही स्थित है। जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें नाशरहित परमेश्वरको समभावसे स्थित देखता है वही देखता है। जिस कालमें भूतोंके न्यारे-न्यारे भावको एक परमात्माके संकल्पके आधार स्थित देखता है तथा उस परमात्माके संकल्पसे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है उस कालमें (वह) सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

प्र०—गीतामें लिखा है कि बिना शिष्य बनाये ज्ञानका उपदेश नहीं देना चाहिये तो क्या अर्जुन शिष्य थे? क्या अर्जुनको उपदेश देनेसे ज्ञान हुआ? क्या वे परमपदको प्राप्त हुए?

उ०—गीतामें ऐसा कहीं नहीं कहा गया कि बिना शिष्य बनाये ज्ञानका उपदेश नहीं करना चाहिये। तथापि अर्जुन तो अपनेको भगवान्‌का शिष्य मानता भी था **'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥'** [२।७] 'आपका शिष्य हूँ, आपके शरण हूँ, मुझे शिक्षा दीजिये' कहकर अर्जुनने शिष्यत्व स्वीकार किया है और भगवान्‌ने इसका विरोध न कर तथा जगह-जगह अर्जुनको अपना इष्ट, प्रिय और भक्त मानकर प्रकारान्तरसे उसका शिष्य होना स्वीकार किया है। अर्जुनको परमपदकी प्राप्ति हुई थी, इसका उल्लेख महाभारत स्वर्गारोहणपर्वके चतुर्थ अध्यायमें है।

प्र०—गीताको भगवान् कृष्णने अपने मुखारविन्दसे वर्णन किया है या (उसके) रचयिता कोई और पुरुष थे?

उ०—गीता भगवान्के ही श्रीमुखका वचनामृत है। गीतामें जितने वचन '**श्रीभगवानुवाच**' के नामसे हैं उनमें कुछ तो जो श्रुतियोंके प्रायः ज्यों-के-त्यों वचन हैं, अर्जुनको श्लोकरूपमें ही कहे गये थे और अवशेष संवाद बोलचालकी भाषामें हुआ था जिसको भगवान् श्रीव्यासदेवने श्लोकोंका रूप दे दिया।

गीतोक्त संन्यास या सांख्ययोग

एक सज्जनका प्रश्न है कि—

"गीतामें वर्णन किये हुए संन्यासका स्वरूप क्या है?"

गीताका मर्म बतलाना बड़ा कठिन कार्य है। गीता ऐसा गहन ग्रन्थ है कि इसपर अबतक अनेक बड़े-बड़े विद्वान् साधु-महात्माओंने अपनी बुद्धिका उपयोग किया है और अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं, इतना होते हुए भी इस गीता-शास्त्रके अंदर गोता लगानेवालोंको इसमें नये-नये अमूल्य रत्न मिलते ही चले जा रहे हैं, ऐसे शास्त्रका रहस्य क्या बतलाया जाय? यद्यपि गीता-शास्त्रपर विवेचन करना मेरी बुद्धिसे बाहरकी बात है तथापि मैं अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार अपने मनमें समझे हुए साधारण भावोंको आपलोगोंकी सेवामें उपस्थित करता हूँ। मेरा उद्देश्य किसी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, मत या किसी टीकाकारपर कुछ भी आक्षेप करना नहीं है। केवल मनके भावोंको बतला देनामात्र ही मेरा उद्देश्य है।

गीतोक्त संन्यासके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद है—

(१) एक पक्ष कहता है कि गीतामें संन्यास और कर्मयोग नामक दो निष्ठाओंका वर्णन है, जिनमें केवल संन्यास ही मुक्तिका प्रधान और प्रत्यक्ष हेतु है और वह संन्यास 'सम्यक् ज्ञानपूर्वक सम्पूर्ण कर्मोंको स्वरूपसे त्याग करना है' अर्थात् शास्त्रोक्त संन्यासाश्रमका ग्रहण करना है।

(२) दूसरा पक्ष कहता है कि यद्यपि शास्त्रोक्त संन्यासाश्रम अर्थात् ज्ञानपूर्वक सम्पूर्ण कर्मोंके स्वरूपसे त्यागसे भी भगवत्-प्राप्ति हो सकती है परन्तु गीतामें इसका प्रतिपादन नहीं है, यदि कहीं है तो वह अत्यन्त गौणरूपसे है। गीता तो केवल एकमात्र निष्काम कर्मयोगका ही प्रतिपादन करती है एवं गीतामें आये हुए संन्यास शब्दका समावेश भी प्रायः निष्काम कर्मयोगमें ही है।

(३) एक तीसरा पक्ष है जो कर्मोंके स्वरूपसे त्याग किये जानेवाले शास्त्रोक्त संन्यास-आश्रमको मानता हुआ भी गीतामें कथित सांख्य और कर्मयोग नामक दोनों भिन्न-भिन्न निष्ठाओंको भगवत्-प्राप्तिके दो सर्वथा स्वतन्त्र साधन समझता है और सांख्य या संन्यास शब्दसे संन्यास-आश्रम नहीं समझता। परन्तु सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहनेको ही संन्यास कहता है।

गौणरूपसे और भी कितने ही पक्ष हैं परन्तु उन सबका समावेश प्रायः उपर्युक्त तीन पक्षोंके अन्तर्गत हो जाता है। अब इस बातपर विचार करना है कि इनमेंसे कौन-सा पक्ष अधिक युक्तियुक्त और हृदयग्राही है। इसपर क्रमशः विचार किया जाता है।

(१) पहले पक्षके सिद्धान्तानुसार यदि संन्यासको ही मुक्तिका एकमात्र हेतु मान लेते हैं तो गीतामें जहाँपर भगवान्ने कहा है—

'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।' (५।५)

'जो स्थान ज्ञानयोगियोंद्वारा प्राप्त किया जाता है वही निष्काम कर्मयोगियोंद्वारा भी प्राप्त किया जाता है' इन वाक्योंका कोई मूल्य नहीं रहता। यहाँ भगवान्ने स्पष्टरूपसे सांख्ययोगके समान ही निष्काम कर्मयोगको भी स्वतन्त्र साधन स्वीकार किया है।

इसके सिवा इसी अध्यायके द्वितीय श्लोकमें संन्यास और कर्मयोग दोनोंको परम कल्याण करनेवाले कहा है और कर्मयोगको संन्यासकी अपेक्षा उत्तम बतलाया है, इस अवस्थामें यह कैसे माना जा सकता है कि निष्काम कर्मयोग मुक्तिका स्वतन्त्र साधन नहीं है? अवश्य ही दोनों साधनोंके स्वरूपमें बड़ा भारी अन्तर है और दोनोंके अधिकारी भी दो प्रकारके साधक होते हैं, एक साथ दोनों साधनोंका प्रयोग नहीं किया जा सकता। भिन्न-भिन्न समयपर दोनों साधनोंका प्रयोग एक साधक भी कर सकता है, इससे यह तो सिद्ध हो गया कि दोनों ही साधन मोक्षके भिन्न-भिन्न मार्ग हैं, अब विचारना यह है कि यहाँ संन्यास शब्दसे शास्त्रोक्त संन्यास-आश्रम विवक्षित है या और कुछ? अर्जुनके इस प्रश्नसे कि—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥

(गीता ५।१)

'हे कृष्ण! आप कर्मोंके संन्यासकी और कर्मयोगकी

भी प्रशंसा करते हैं इसलिये इन दोनोंमें जो एक निश्चित कल्याणकारक साधन हो उसको मुझे बतलाइये।' यदि यह मान लिया जाय कि गीतामें संन्यास शब्दसे शास्त्रोक्त संन्यास-आश्रम या नियत कर्मोंका स्वरूपसे त्याग विवक्षित है तो यह बात युक्तियुक्त नहीं जँचती; क्योंकि इसके पहले भगवान्‌ने ऐसे किसी आश्रमविशेषकी या कर्मोंके स्वरूपसे त्याग करनेकी कहीं प्रशंसा नहीं की है, जिसके आधारपर अर्जुनके प्रश्नका यह अभिप्राय माना जा सके। भगवान्‌ने तो इससे पहले स्थान-स्थानपर ज्ञानकी और वैराग्यादि सात्त्विक भावोंकी एवं शरीर, इन्द्रिय और मनद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तृत्व-अभिमानके त्यागकी ही प्रशंसा की है, इतना ही नहीं, इसके साथ-ही-साथ ज्ञानीके शरीरद्वारा नियतकर्म किये जानेकी भी आवश्यकता दिखलायी है (अ० ३। २०—२३, २५—२७, २९, ३३; अ० ४। १५)।

सम्यक् ज्ञानपूर्वक संन्यास-आश्रमसे सुगमताके साथ मुक्ति होती है इसमें कोई सन्देह नहीं परन्तु मेरी समझमें उस मुक्तिमें संन्यास-आश्रम हेतु नहीं, उसमें हेतु है सम्यक् ज्ञान जो सभी वर्ण और आश्रमोंमें उपलब्ध हो सकता है (गीता ६। १-२)।

इसके सिवा यह भी गीतामें निर्विवाद सिद्ध है कि सम्पूर्ण कर्मोंका सर्वथा स्वरूपसे त्याग कभी हो भी नहीं सकता।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

(गीता ३। ५)

यदि कोई कुछ त्याग भी करे तो गीताने उसे तामसी त्याग माना है।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥

(१८। ७)

और केवल उस स्वरूपसे बाहरी कर्मोंके त्यागसे सिद्धिकी प्राप्ति भी नहीं बतलायी।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

(३। ४)

बल्कि इसीके अगले श्लोकमें वाणी और इन्द्रियोंसे भी हठपूर्वक कर्म न कर मनसे विषयचिन्तनकी निन्दा की है और उसे मिथ्याचार बतलाया है (अ० ३। ६)। आगे चलकर वशमें की हुई इन्द्रियोंसे अनासक्त होकर कर्मयोगके आचरण करनेवालेको श्रेष्ठ बतलाया है (अ० ३। ७)।

ऐसी अवस्थामें बाहरी कर्मोंके स्वरूपसे त्यागको ही संन्यास मान लेनेपर उसमें मुक्तिकी सम्भावना नहीं रहती और यदि मुक्ति नहीं होती तो भगवान्‌ने जो पाँचवें अध्यायमें कहा है—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।

(५। २)

'कर्मोंका संन्यास और निष्काम कर्मयोग यह दोनों ही परम कल्याणप्रद हैं' इस सिद्धान्तमें बाधा आती है। क्योंकि केवल बाहरी कर्मोंका स्वरूपसे त्यागी तो उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार तामस त्यागी कहा गया है।

यहाँका यह 'निःश्रेयस' और तीसरे अध्यायके चतुर्थ श्लोकका 'सिद्धिम्' शब्द दोनों ही कल्याणवाची हैं। यदि उस सिद्धिको मुक्तिका वाचक न मानकर नीची अवस्थाका मानते हैं तो केवल कर्मत्यागसे कल्याण न होनेका पक्ष और भी पुष्ट होता है; जब नीची श्रेणीकी सिद्धि ही कर्मत्यागसे नहीं मिलती, तब मोक्षरूप परम सिद्धि तो कैसे मिल सकती है? इन सब बातोंका विचार करनेसे यही प्रतीत होता है कि गीतामें संन्यास शब्द ज्ञानयोगका वाचक है और इसका सम्बन्ध अन्तःकरणके भावोंसे ही है किसी बाहरी अवस्थाविशेषसे नहीं। न किसी वर्ण या आश्रमसे ही इसका सम्बन्ध सिद्ध होता है, यह तो भगवत्-प्राप्तिका एक परम साधन है, जो सभी वर्ण और सभी आश्रमोंमें काममें लाया जा सकता है।

लोगोंकी यह मान्यता है कि सांख्यनिष्ठाका अधिकार केवल संन्यास-आश्रममें ही है, किन्तु यह मान्यता ठीक नहीं मालूम होती। यदि ऐसा होता तो भगवान्‌के द्वारा दिये हुए सांख्यनिष्ठाके विस्तृत उपदेशमें जो गीताके द्वितीय अध्यायमें श्लोक ११ से ३० तक है, युद्धके लिये अर्जुनको उत्साहित नहीं किया जाता (देखो गीता २। १८)। तथा अष्टादश अध्यायमें जब त्याग और संन्यासका स्वरूप जाननेकी जिज्ञासासे अर्जुनने भगवान्‌से स्पष्टरूपसे प्रश्न किया तब भगवान्‌ने पहले त्यागका स्वरूप 'फलासक्ति-त्याग' बतलाकर (देखो अ० १८ श्लोक ९ से ११) फिर सांख्य यानी संन्यासका सिद्धान्त सुननेके लिये अर्जुनको आज्ञा देते हुए आगे चलकर यह स्पष्ट कहा है कि पाँच कारणोंसे होनेवाले प्राकृतिक कर्मोंमें जो अशुद्ध बुद्धि होनेके कारण केवल (शुद्ध) आत्माको कर्ता मानता है वह दुर्मति आत्मस्वरूपको यथार्थ नहीं देखता यानी कर्तापनका अहंकार रखनेवाला सांख्ययोगी नहीं है। सांख्ययोगी वही है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।

(१८। १७)

'जिसके 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं रहता और

जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें कभी लिप्त नहीं होती' अतएव अहंकारका त्याग ही संन्यास है। स्वरूपसे कर्मोंके त्यागको भगवान् संन्यास मानते तो मनसे त्याग करनेकी बात नहीं कहते (देखो अ० ५।१३)।

इससे यह सिद्ध होता है कि सांख्य अथवा संन्यास कर्मोंके स्वरूपसे त्यागका नाम नहीं है और संन्यासके समान ही निष्काम कर्मयोग भी मुक्तिका प्रत्यक्ष हेतु है।

(२) द्वितीय पक्षके अनुसार यदि यह माना जाय कि गीतामें केवल निष्काम कर्मयोगका ही वर्णन है और संन्यास शब्दका भी समावेश इसीमें होता है तो यह बात भी ठीक नहीं जँचती; क्योंकि अर्जुनकी शंकाओंका निराकरण करते हुए भगवान्ने दोनों निष्ठाओंका अधिकारी-भेदसे स्वतन्त्र वर्णन किया है।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(गीता ३।३)

दूसरे अध्यायमें तो इन दोनों निष्ठाओंका सविभाग पृथक्-पृथक् वर्णन है। सांख्ययोगका वर्णन कर चुकनेके बाद भगवान्ने कहा है—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।

(गीता २।३९)

'यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी और इसीको (अब) निष्काम कर्मयोगके विषयमें सुन।' ऐसे और भी अनेक वचन हैं जिनसे दोनों निष्ठाओंका स्वतन्त्र वर्णन सिद्ध होता है (देखो गीता अ० ५ श्लोक १ से ५)। इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनों निष्ठाओंका फलरूपसे पर्यवसान एक परमात्मामें ही है परन्तु दोनोंका स्वरूप सर्वथा भिन्न है, दोनों निष्ठाओंके साधकोंकी कार्य और विचारशैली तथा दोनोंके भाव और पथ सर्वथा भिन्न हैं। निष्काम कर्मयोगी साधन-कालमें कर्म, कर्मफल, परमात्मा और अपनेको भिन्न-भिन्न मानता हुआ कर्मोंके फल और आसक्तिको त्यागकर ईश्वरपरायण हो ईश्वरार्पणबुद्धिसे ही सब कर्म करता है (देखो गी० ३।३०; ४।२०; ५।१०; ९।२७-२८; १२।११-१२; १८।५६-५७)।

परन्तु सांख्ययोगी मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं ऐसे समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अनन्यभावसे निरन्तर स्थित रहता है (देखो गीता ३।२८; ५।८-९, १३; ६।३१; १३।२९-३०; १४।१९-२०; १८।१७, ४९—५५)।

निष्काम कर्मयोगी अपनेको कर्मोंका कर्ता मानता है (५।११), सांख्ययोगी अपनेको कर्ता नहीं मानता (५।८-९)। निष्काम कर्मयोगी अपनेद्वारा किये कर्मोंके फलको भगवदर्पण करता है (९।२७-२८), सांख्ययोगी मन और इन्द्रियोंद्वारा होनेवाली क्रियाओंको कर्म ही नहीं मानता (१८।१७)। निष्काम कर्मयोगी परमात्माको अपनेसे भिन्न मानता है (१२।६-७), सांख्ययोगी सदा अभेद मानता है (६।२९—३१; ७।१९; १८।२०)। निष्काम कर्मयोगी प्रकृति और प्रकृतिके पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार करता है (१८।९, ६१)। सांख्ययोगी एक ब्रह्मके सिवा अन्य किसी भी सत्ताको नहीं मानता (१३।३०), यदि कहीं कुछ मानता हुआ देखा जाता है तो वह केवल दूसरोंको समझानेके लिये अध्यारोपसे, यथार्थमें नहीं। वह प्रकृतिको मायामात्र मानता है, वस्तुतः कुछ भी नहीं मानता, निष्काम कर्मयोगी कर्मोंसे फल उत्पन्न हुआ करता है ऐसा समझता हुआ अपनेको फल और आसक्तिका त्यागी समझता है, फल और कर्मकी अलग-अलग सत्ता मानता है, सांख्ययोगी न तो कर्म और फलोंकी सत्ता ही मानता है और न उनसे अपना कोई सम्बन्ध ही समझता है, निष्काम कर्मयोगी कर्म करता है, सांख्ययोगीके अन्तःकरण और शरीरद्वारा कर्म स्वभावसे ही होते हैं वह करता नहीं (५।१४)। निष्काम कर्मयोगीकी मुक्तिमें हेतु उसका विशुद्ध निष्कामभाव, भगवत्-शरणागति और भगवत्कृपा है (२।५१; १८।५६), सांख्ययोगीकी मुक्तिमें हेतु एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अभिन्न भावसे निरन्तर गाढ़ स्थिति है (५।१७, २४)। इसलिये फलमें अविरोध होते हुए भी दोनों साधनोंमें परस्पर बड़ा भेद है और दोनों सर्वथा स्वतन्त्र हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रीभगवान्ने अर्जुनके प्रति उसके उपयुक्त समझकर भक्तियुक्त निष्काम कर्मयोगके लिये ही आज्ञा दी है; परन्तु गीतामें सांख्यनिष्ठाका वर्णन भी कम विस्तारसे नहीं है, स्थान-स्थानपर भगवान्ने सांख्यनिष्ठाकी बड़ी प्रशंसा की है। कर्मयोगका विशेषत्व इसीलिये बतलाया है कि वह सुगम है और उसका साधन देहाभिमानी भी कर सकता है परन्तु सांख्ययोग इसकी अपेक्षा बड़ा कठिन है (देखो गीता अ० ५।६)। इससे यह सिद्ध होता है कि गीतामें दोनों ही निष्ठाओंका वर्णन है। न केवल कर्मयोगका ही प्रतिपादन किया गया है और न केवल सांख्ययोगका ही और न संन्यास शब्दका समावेश कर्मयोगमें ही होता है।

इस विवेचनसे यह पता लग जाता है कि गीतामें दोनों निष्ठाओंका वर्णन है और उनमें सांख्य या संन्यासका अर्थ कर्मोंका स्वरूपसे त्याग नहीं है।

(३) अब तीसरे पक्षके सिद्धान्तोंपर विचार करनेसे यह विश्वास होता है कि इसके सिद्धान्त अधिक युक्तियुक्त और हृदयग्राही हैं। वास्तवमें संन्यास शब्दका अर्थ गीतामें सांख्य या ज्ञानयोग ही माना गया है। संन्यास, सांख्ययोग, ज्ञानयोग आदि शब्दोंसे एक ही निष्ठाका वर्णन है। गीताके अध्याय १८ में ४९ से ५५ वें श्लोकतक इसी ज्ञाननिष्ठाका विस्तृत वर्णन है। ४९वें श्लोकमें '**परमां नैष्कर्म्यसिद्धिम्**' का प्राप्त होना जिस संन्याससे बतलाया गया है वह संन्यास ज्ञानयोग ही है। इन श्लोकोंके विवेचनसे पता लगता है कि अभेदरूपसे परब्रह्म परमात्माका जो ध्यान किया जाता है और उस ध्यानका जो फल होता है उसीको परा भक्ति कहते हैं और वही इस ज्ञानयोगकी परा निष्ठा है। इस प्रकारके ज्ञानयोगका साधक सम्पूर्ण संसारके पदार्थों और कर्मोंको त्रिगुणमयी मायाका ही विस्तार समझता हुआ अपनेको द्रष्टा साक्षी मानता है (१४।१९-२०)। और वह ब्रह्मसे नित्य अभिन्न होकर ब्रह्ममें ही विचरता है (५। २६; ६। ३१)। वह सम्पूर्ण कर्मोंका विस्तार मायामें ही देखता है (देखो गीता ३। २७-२८)। वह शरीर और मन-इन्द्रियोंद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनका अत्यन्त अभाव समझता है। इन्द्रियाँ ही अपने विषयोंमें विचरती हैं, आत्मा इनसे अत्यन्त परे और भिन्न है। इस तरह समझकर साधनकालमें भी वह अपनेमें कर्तृत्व भावको नहीं देखता परन्तु मायाकी जगह भी वह एक ब्रह्मका ही विस्तार समझता है और यों समझनेसे उसकी दृष्टिमें एक ब्रह्मसे भिन्न और कोई भी वस्तु नहीं रह जाती। सम्पूर्ण संसारको वह एक ब्रह्मका ही कार्यरूप देखता है। साधन-कालमें प्रकृति और उसके कार्योंको आत्मासे भिन्न, अनित्य और क्षणिक देखता हुआ तथा अपनेको अकर्ता, अभोक्ता मानकर एक आत्माको ही सब जगह व्यापक समझकर साधनमें रत रहता है और अन्तमें जब एक ब्रह्मसत्ताके सिवाय और सबका अत्यन्त अभाव हो जाता है तब वह उस अनिर्वचनीय परमपदको प्राप्त हो जाता है, उसकी दृष्टिमें एक ब्रह्मसत्ताके अतिरिक्त और कुछ रहता ही नहीं। मन, बुद्धि, अन्तःकरणादि भी ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। एक वासुदेवके भिन्न कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती (गीता ५।१७; ७।१९)।

वह इस चराचर संसारके बाहर-भीतर और चराचरको भी परब्रह्म परमात्माका रूप ही समझता है (देखो गीता १३। १५)।

ऐसे पुरुषके द्वारा साधन और सिद्धकालमें लोकदृष्टिसे कर्म तो बन सकते हैं परन्तु उन सर्व कर्मोंमें और संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें एक ब्रह्मसे भिन्न दृष्टि न रहनेके कारण तथा कर्तापनके अभावसे उसके वे कर्म कर्म नहीं समझे जाते (देखो गीता १८। १७)।

उपर्युक्त विवेचनसे यही सिद्ध होता है कि तीसरे पक्षके सिद्धान्तानुसार गीताका संन्यास, संन्यास-आश्रम नहीं है परन्तु सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर एक सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ऐक्यभावसे नित्य स्थित रहना ही है और इसीलिये उसका उपयोग सभी वर्ण और आश्रमोंमें किया जा सकता है। इसीका नाम ज्ञानयोग है। इसीको सांख्ययोग कहते हैं और यही गीतोक्त संन्यास है।

इसीके साथ-साथ यह भी ठीक है कि गीतामें कर्मयोग नामक एक दूसरे स्वतन्त्र साधनका भी विस्तृत वर्णन है, जिसमें साधक फल और आसक्तिको त्यागकर भगवत्-आज्ञानुसार केवल भगवत्-अर्थ समत्व-बुद्धिसे कर्म करता है। यही कर्मयोग गीतामें समत्वयोग, बुद्धियोग, कर्मयोग, तदर्थकर्म, मदर्थकर्म और मत्कर्म आदि नामोंसे कहा गया है। इस निष्काम कर्मयोगमें भी भक्तिप्रधान कर्मयोग मुख्य है और इसीसे साधकको शीघ्र सिद्धि मिलती है (६।४। ७)।

इस प्रकार दोनों निष्ठाओंकी सिद्धि होती है। इससे कोई यह न समझे कि मैं शास्त्रोक्त संन्यास-आश्रमका विरोध करता हूँ या संन्यास-आश्रममें स्थित पुरुषकी सम्यक् ज्ञानके द्वारा मुक्ति नहीं मानता, परन्तु मेरी समझसे गीताका संन्यास किसी आश्रमविशेषपर लक्ष्य नहीं रखकर केवल ज्ञानपर अवलम्बित है अतएव गीतामें सबका ही अधिकार है।

मैं तो यह भी मानता हूँ कि सांख्यनिष्ठाके साधकको संन्यास-आश्रममें अधिक सुविधाएँ हैं। अस्तु।

कुछ लोगोंके मतमें गीताका सांख्य शब्द महर्षि कपिलप्रणीत सांख्यदर्शनका वाचक है, परन्तु विचार करनेपर वह बात उचित नहीं मालूम होती। गीताका सांख्य कपिलजीका सांख्यदर्शन नहीं है, इसका सम्बन्ध ज्ञानसे है। गीता अ० १३। १९-२०में प्रकृति-पुरुष शब्द आते हैं जो सांख्यदर्शनसे मिलते-जुलते-से लगते हैं, परन्तु वास्तवमें इनमें बड़ा अन्तर है।

सांख्यदर्शन पुरुष नाना और उनकी सत्ता भिन्न-भिन्न मानता है परन्तु गीता एक ही पुरुषके अनेक रूप मानती है (देखो गीता अध्याय १३। २२; १८।२०)। गीतामें भूतोंके पृथक्-पृथक् भाव एक ही पुरुषके भाव हैं। सांख्यदर्शन सृष्टिकर्ता ईश्वरको स्वीकार नहीं करता। परन्तु गीता सृष्टिकर्ता ईश्वरको मुक्तकण्ठसे स्वीकार करती है। इससे यही सिद्ध होता है कि गीताका सांख्य महर्षि कपिलके सांख्यसे भिन्न है।

एक बात और है। गीताका ध्यानयोग दोनों निष्ठाओंके साथ रहता है। इसीलिये भगवान्ने ध्यानयोगको पृथक् निष्ठाके रूपमें नहीं कहा। ध्यानयोग निष्काम कर्मके साथ भेदरूपसे रहता है और सांख्ययोगके साथ अभेदरूपसे रहता है। सांख्ययोग तो निरन्तर सच्चिदानन्दघन परमात्माका अनन्य भावसे ध्यान हुए बिना सिद्ध ही नहीं होता।

इन दोनों निष्ठाओंके बिना केवल ध्यानयोगसे भी परमपदकी प्राप्ति हो सकती है।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

(गीता १३। २४)

(इसके सिवा देखो ९। ४-५, ६; १२। ८)

परन्तु यह निष्ठा भिन्न नहीं समझी जाती, क्योंकि अभेदरूपका ध्यान सांख्ययोग और भेदरूपका ध्यान कर्मयोगविषयक समझा जा सकता है। ध्यानयोगका साधन अलग इसीलिये बतलाया गया है कि यह कर्मोंकी और कर्मोंके त्यागकी अपेक्षा नहीं रखता, परन्तु दोनोंका सहायक हो सकता है! कर्मोंके आश्रय या त्याग किये बिना भी केवल ध्यानयोगसे ही मुक्ति हो सकती है।

यह साधन परमोपयोगी और स्वतन्त्र होते हुए भी निष्ठारूपसे अलग नहीं माना गया है। अतएव साधकोंको चाहिये कि वे अपने-अपने अधिकारानुसार ध्यानयोगसहित दोनों निष्ठाओंमेंसे किसी एकका अवलम्बन कर भगवत्प्राप्तिके लिये प्रयत्न करें।

धर्म क्या है ?

प्र०—कृपापूर्वक आप धर्मकी व्याख्या करें।

उ०—धर्मकी सच्ची व्याख्या कर सकें ऐसे पुरुष इस जमानेमें मिलने कठिन हैं।

प्र०—आप जैसा समझते हैं वैसा ही कहनेकी कृपा करें।

उ०—धर्मका विषय बड़ा गहन है, मुझको धर्मग्रन्थोंका बहुत कम ज्ञान है, वेदका तो मैंने प्रायः अध्ययन ही नहीं किया। मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ, ऐसी अवस्थामें धर्मका तत्त्व कहना एक बालकपन-सा है। इसके अतिरिक्त मैं जितना कुछ जानता हूँ उतना भी कह नहीं सकता क्योंकि जितना जानता हूँ उतना स्वयं कार्यमें परिणत नहीं कर सकता।

प्र०—खैर, यह बतलाइये कि आप किसको धर्म मानते हैं?

उ०—जो धारण करनेयोग्य है।

प्र०—धारण करनेयोग्य क्या है?

उ०—इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाली महापुरुषोंद्वारा दी हुई शिक्षा।

प्र०—महापुरुष कौन हैं?

उ०—परमात्माके तत्त्वको यथार्थरूपसे जाननेवाले तत्त्ववेत्ता पुरुष।

प्र०—उनके लक्षण क्या हैं?

उ०—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(गीता १२। १३-१४)

'जो सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित एवं स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित एवं अहंकारसे रहित सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है।'

'जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ निरन्तर लाभ-हानिमें सन्तुष्ट है तथा मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए मेरेमें दृढ़ निश्चयवाला है, वह मेरेमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मेरेको प्रिय है।'

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

(गीता १४। २४-२५)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ दुःख-सुखको समान समझनेवाला है तथा मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समान भाववाला और धैर्यवान् है तथा जो प्रिय और अप्रियको बराबर समझता है और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है।'

'जो मान और अपमानमें सम है एवं मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है, वह सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हुआ पुरुष गुणातीत कहा जाता है।'

ये महापुरुषोंके लक्षण हैं।

प्र०—इन लक्षणोंवाले कोई महापुरुष हिन्दूजातिमें आपकी जानकारीमें इस समय हैं?

उ०—अवश्य हैं परन्तु मैं कह नहीं सकता।

प्र०—आप हिन्दू किसको समझते हैं?

उ०—जो अपनेको हिन्दू मानता हो, वही हिन्दू है।

प्र०—हिन्दू शब्दका क्या अभिप्राय है?

उ०—हिन्दुस्तान (आर्यावर्त)-में जन्म होना और किसी हिन्दुस्तानी आचार्यके चलाये हुए मतको मानना।

प्र०—सनातनी, आर्य, सिख, जैन, बौद्ध और ब्राह्म आदि भिन्न-भिन्न मतको माननेवाली तथा भारतकी जंगली जातियाँ क्या सभी हिन्दू हैं?

उ०—यदि वे अपनेको हिन्दू मानती हों तो अवश्य हिन्दू हैं।

प्र०—क्या सभी हिन्दुओंद्वारा चलाये हुए मत हिन्दू-धर्म माने जा सकते हैं?

उ०—अवश्य।

प्र०—आप इन सब मतोंमें सबसे प्रधान और श्रेयस्कर किस मतको मानते हैं?

उ०—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरभक्ति, ज्ञान, वैराग्य, मनका निग्रह, इन्द्रियदमन, तितिक्षा, श्रद्धा, क्षमा, वीरता, दया, तेज, सरलता, स्वार्थत्याग, अमानित्व, दम्भहीनता, अपैशुनता, निष्कपटता, विनय, धृति, सेवा, सत्संग, जप, ध्यान, निर्वैरता, निर्भयता, समता, निरहंकारता, मैत्री, दान, कर्तव्यपरायणता और शान्ति इन चालीस गुणोंमेंसे जिस मतमें जितने अधिक गुण हों वही मत सबसे प्रधान और श्रेयस्कर माना जाने योग्य है।

प्र०— इन चालीसोंकी संक्षेपमें व्याख्या कर दें तो बड़ी कृपा हो!

उ०—अच्छी बात है, सुनिये।

(१) *अहिंसा*—मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार किसीको कष्ट न देना।

(२) *सत्य*—अन्त:करण और इन्द्रियोंद्वारा जैसा निश्चय किया गया हो वैसा-का-वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहना।

(३) *अस्तेय*—किसी प्रकार भी चोरी न करना।

(४) *ब्रह्मचर्य*—आठ प्रकारके मैथुनोंका त्याग करना।

(५) *अपरिग्रह*—ममत्व बुद्धिसे संग्रह न करना।

(६) *शौच*—बाहर और भीतरकी पवित्रता।

(७) *सन्तोष*—तृष्णाका सर्वथा अभाव।

(८) *तप*—स्वधर्म-पालनके लिये कष्टसहन।

(९) *स्वाध्याय*—पारमार्थिक ग्रन्थोंका अध्ययन और भगवान्‌के नाम तथा गुणोंका कीर्तन।

(१०) *ईश्वरभक्ति*—भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम होना।

(११) *ज्ञान*—सत् और असत् पदार्थका यथार्थ जानना।

(१२) *वैराग्य*—इस लोक और परलोकके समस्त पदार्थोंमें आसक्तिका अत्यन्त अभाव।

(१३) *मनका निग्रह*—मनका वशमें होना।

(१४) *इन्द्रियदमन*—समस्त इन्द्रियोंका वशमें होना।

(१५) *तितिक्षा*—शीत, उष्ण और सुख-दु:खादि द्वन्द्वोंमें सहनशीलता।

(१६) *श्रद्धा*—वेद, शास्त्र, महात्मा, गुरु और परमेश्वरके वचनोंमें प्रत्यक्षकी तरह विश्वास।

(१७) *क्षमा*—अपना अपराध करनेवालेको किसी प्रकार भी दण्ड देनेका भाव न रखना।

(१८) *वीरता*—कायरताका सर्वथा अभाव।

(१९) *दया*—किसी भी प्राणीको दु:खी देखकर हृदयका पिघल जाना।

(२०) *तेज*—श्रेष्ठ पुरुषोंकी वह शक्ति कि जिसके प्रभावसे विषयासक्त नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्राय: पापाचरणसे हटकर श्रेष्ठ कर्मोंमें लग जाते हैं।

(२१) *सरलता*—शरीर और इन्द्रियोंसहित अन्त:करणकी सरलता।

(२२) *स्वार्थत्याग*—किसी कार्यसे इस लोक या परलोकके किसी भी स्वार्थको न चाहना।

(२३) *अमानित्व*—सत्कार, मान और पूजादिका न चाहना।

(२४) *दम्भहीनता*—धर्मध्वजीपन अर्थात् ढोंगका न होना।

(२५) *अपैशुनता*—किसीकी भी निन्दा या चुगली न करना।

(२६) *निष्कपटता*—अपने स्वार्थ-साधनके लिये किसी बातका भी छिपाव न करना।

(२७) *विनय*—नम्रताका भाव।

(२८) *धृति*—भारी विपत्ति आनेपर भी चलायमान न होना।

(२९) *सेवा*—(सब भूतोंके हितमें रत रहना) समस्त जीवोंको यथायोग्य सुख पहुँचानेके लिये मन, वाणी, शरीरद्वारा निरन्तर नि:स्वार्थ-भावसे अपनी शक्तिके अनुसार चेष्टा करना।

(३०) *सत्संग*—संत-महात्मा पुरुषोंका संग करना।

(३१) *जप*—अपने इष्टदेवके नाम या मन्त्रका जप करना।

(३२) *ध्यान*—अपने इष्टदेवका चिन्तन करना।

(३३) *निर्वैरता*—अपने साथ वैर रखनेवालोंमें भी द्वेष-भाव न होना।

(३४) *निर्भयता*—भयका सर्वथा अभाव।

(३५) *समता*—मस्तक, पैर आदि अपने अंगोंकी तरह सबके साथ वर्णाश्रमके अनुसार यथायोग्य बर्तावमें भेद रखनेपर भी आत्म-रूपसे सबको समभावसे देखना।

(३६) *निरहंकारता*—मन, बुद्धि, शरीरादिमें 'मैं'-पनका और उनसे होनेवाले कर्मोंमें कर्तापनका सर्वथा अभाव।

(३७) *मैत्री*—प्राणिमात्रके साथ प्रेमभाव।

(३८) *दान*—जिस देशमें जिस कालमें जिसको जिस वस्तुका अभाव हो उसको वह वस्तु प्रत्युपकार और फलकी इच्छा न रखकर हर्ष और सत्कारके साथ प्रदान करना।

(३९) *कर्तव्यपरायणता*—अपने कर्तव्यमें तत्पर रहना।

(४०) *शान्ति*—इच्छा और वासनाओंका अत्यन्त अभाव होना और अन्त:करणमें निरन्तर प्रसन्नताका रहना।

प्र०—आप वर्णाश्रम-धर्मको मानते हैं या नहीं?

उ०—मानता हूँ और उसका पालन करना अच्छा समझता हूँ।

प्र०—जो वर्णाश्रम-धर्मका पालन नहीं करते उनको क्या आप हिन्दू नहीं मानते?

उ०—जब वे अपनेको हिन्दू मानते हैं तब उन्हें हिन्दू न माननेका मेरा क्या अधिकार है? परन्तु वर्णाश्रम-धर्म न माननेवालोंकी शास्त्रोंमे निन्दा की गयी है। अतएव वर्णाश्रम-धर्मको अवश्य मानना चाहिये।

प्र०—आप वर्ण जन्मसे मानते हैं या कर्मसे?

उ०—जन्म और कर्म दोनोंसे।

प्र०—इन दोनोंमें आप प्रधान किसको मानते हैं?

उ०—अपने-अपने स्थानमें दोनों ही प्रधान हैं।

प्र०—वर्ण कितने हैं?

उ०—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं।

प्र०—ब्राह्मणके क्या कर्म हैं?

उ०—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

(गीता १८। ४२)

'अन्त:करणका निग्रह, इन्द्रियोंका दमन, बाहर-भीतरकी शुद्धि, धर्मके लिये कष्ट सहन करना और क्षमाभाव एवं मन, इन्द्रियाँ और शरीरकी सरलता, आस्तिक-बुद्धि, शास्त्रविषयक ज्ञान और परमात्मतत्त्वका अनुभव भी ये ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं यानी धर्म हैं।'

इनके अतिरिक्त यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना, दान लेना, विद्या पढ़ना, विद्या पढ़ाना ये कर्तव्यकर्म हैं। इनमें यज्ञ करना, दान देना और विद्या पढ़ना—ये तीन तो सामान्य धर्म हैं; और यज्ञ कराना, दान लेना और विद्या पढ़ाना—ये जीविकाके विशेष धर्म हैं।

प्र०—ब्राह्मणकी जीविकाके सर्वोत्तम धर्म क्या हैं?

उ०—किसानके अनाज घर ले जानेके बाद खेतमें और अनाजके क्रय-विक्रयके स्थानमें जमीनपर बिखरे हुए दानोंको बटोरकर उनसे शरीर-निर्वाह करना सर्वोत्तम है। इसीको ऋत और सत् कहा है। परन्तु यह प्रणाली नष्ट हो जानेके कारण इस जमानेमें इस प्रकार निर्वाह होना असम्भव-सा है। अतएव साधारण जीविकाके अनुसार ही निर्वाह करना चाहिये।

प्र०—साधारण जीविकामें कौन उत्तम है?

उ०—बिना याचना किये जो अपने-आपसे प्राप्त होता है वह पदार्थ सबसे उत्तम है, उसीको अमृत कहते हैं। नियत वेतनपर विद्या पढ़ाना और माँगकर दक्षिणा या दान लेना निन्द्य है। इनमें भी माँगकर दान लेनेको तो विषके सदृश कहा है।

प्र०—इस वृत्तिसे निर्वाह न हो तो ब्राह्मणको क्या करना चाहिये?

उ०—क्षत्रियकी वृत्तिसे निर्वाह करे, उससे भी काम न चले तो वैश्य-वृत्तिसे जीविका चलावे। परन्तु दास-वृत्तिका अवलम्बन आपत्तिकालमें भी न करे।

प्र०—क्षत्रियके क्या कर्म हैं?

उ०—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

(गीता १८। ४३)

'शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्धमें न भागनेका स्वभाव एवं दान और स्वामी-भाव—ये सब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं।'

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥

(मनुस्मृति १। ८९)

'प्रजाकी रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना और विषयोंमें न लगना संक्षेपसे ये क्षत्रियके कर्म हैं।'

इन्हींमेंसे प्रजाका पालन करना, सैनिक बनना, न्याय करना, कर लेना और शस्त्रोंद्वारा दूसरोंकी रक्षा करना इत्यादि जीविकाके कर्म हैं। दान देना, यज्ञ करना और विद्या पढ़ना—ये सामान्य धर्म हैं।

प्र०—इन कर्मोंसे क्षत्रियकी जीविका न चले तो उसे क्या करना चाहिये?

उ०—वैश्य-वृत्तिसे निर्वाह करे, उससे भी न चले तो शूद्र-वृत्तिसे काम चलावे।

प्र०—वैश्यके क्या कर्म हैं?

उ०—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥

(मनुस्मृति १। ९०)

'पशुओंकी रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार, व्याज और खेती—ये वैश्यके कर्म हैं।'

पशुपालन, कृषि तथा सत् और पवित्र व्यापार—ये स्वाभाविक और जीविकाके भी कर्म हैं। व्याज भी जीविकाका है परन्तु केवल व्याज उपजाना निन्द्य है। यज्ञ, दान और अध्ययन सामान्य धर्म हैं।

प्र०—सत् और पवित्र व्यापार किसे कहते हैं, बताइये?

उ०—दूसरेके हकपर नीयत न रखते हुए झूठ-कपटको छोड़कर न्यायपूर्वक पवित्र वस्तुओंका क्रय-विक्रय करना सत् और पवित्र व्यापार है*।

प्र०—इनसे जीविका न चले तो वैश्यको क्या करना चाहिये?

उ०—शूद्रवृत्तिसे काम चलावे परन्तु अपवित्र वस्तुओंका और सट्टेका व्यापार कभी न करना चाहिये।

प्र०—कृपाकर अपवित्र वस्तुओंकी व्याख्या कीजिये।

उ०—मद्य, मांस, हड्डी, चमड़ा, सींग, लाह, चपड़ा, नील इत्यादि शास्त्रवर्जित घृणित पदार्थ अपवित्र हैं।

प्र०—शूद्रके क्या कर्म हैं?

उ०—सेवा और कारीगरीके काम ही इनके स्वाभाविक और आजीविकाके कर्म हैं।

गीतोक्त निष्काम कर्मयोगका स्वरूप

'गीताका निष्काम कर्मयोग भक्तिमिश्रित है या भक्तिरहित? यदि भक्तिमिश्रित है, तो उसका क्या स्वरूप है?'

इस प्रश्नपर विचार करते समय आरम्भमें कर्मोंके भिन्न-भिन्न स्वरूपोंपर कुछ सोच लेनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। कर्म कई प्रकारके हैं, जिनको हम प्रधानतया तीन भागोंमें बाँट सकते हैं। निषिद्धकर्म, काम्यकर्म और कर्तव्यकर्म।

चोरी, व्यभिचार, हिंसा, असत्य, कपट, छल, जबरदस्ती, अभक्ष्य-भक्षण और प्रमादादिको निषिद्धकर्म कहते हैं।

स्त्री, पुत्र, धनादि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये एवं रोग-संकटादिकी निवृत्तिके लिये किये जानेवाले कर्मोंको काम्यकर्म कहते हैं।

ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, यज्ञ, दान, तप, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, वर्ण तथा आश्रमके धर्म और शरीर-सम्बन्धी खान-पानादि कर्मोंको कर्तव्यकर्म कहते हैं।

'कर्तव्यकर्म' भी कामनायुक्त होनेसे काम्यकर्मोंके अन्तर्गत समझे जा सकते हैं; परन्तु उनमें वर्णाश्रमके स्वाभाविक धर्म तथा जीविकाके कर्म भी सम्मिलित हैं, इसलिये उनके पालन करनेकी मनुष्यपर विशेष जिम्मेवारी रहती है। किसी खास विषयकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोक्त काम्यकर्म करना-न-करना अपनी इच्छापर निर्भर रहता है, इसीलिये इनका अलग-अलग भेद है।

इन तीन प्रकारके कर्मोंमें निषिद्धकर्म तो सभीके लिये सर्वथा त्याज्य हैं। मोक्षकी इच्छा रखनेवालोंके लिये काम्यकर्मोंकी कोई आवश्यकता नहीं, रहे 'कर्तव्यकर्म' जो भावोंके भेदसे सकाम और निष्काम दोनों ही होते हैं। जबसे—

सकाम कर्म—

—के अनुष्ठानमें प्रवृत्त होनेकी इच्छा होती है, तबसे आरम्भकर कर्मकी समाप्तिके बाद चिरकालतक मनमें केवल फलका अनुसन्धान रहता है। ऐसे कर्म करनेवालेकी चित्तवृत्तियाँ पद-पदपर अपने लक्ष्य, फलको विषय करती रहती हैं। यदि धनके लिये कर्म होता है, तो उसे पल-पलमें उसी धनकी स्मृति होती है। उसका चित्त धनाकार बना रहता है। कर्मकी सिद्धिमें जब उसे धन मिलता है, तब वह हर्षित होता है और जब असिद्धि होती है, धन नहीं मिलता या अन्य कोई बाधा आ जाती है, तब उसे बड़ा क्लेश होता है। उसका चित्त फलानुसन्धानवाला होनेके कारण प्रायः निरन्तर व्यथित और अशान्त रहता है। ऐसे पुरुषका विषय-विमोहित चित्त किसी-किसी समय उसे निषिद्ध-कर्मोंके करनेमें भी प्रवृत्त कर सकता है।

* वस्तुओंके खरीदने और बेचनेमें तौल-नाप और गिनती आदिसे कम देना अथवा अधिक लेना एवं वस्तुको बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी (खराब) वस्तु मिलाकर दे देना अथवा (अच्छी) ले लेना तथा नफा, आढ़त और दलाली ठहराकर उससे अधिक दाम लेना या कम देना तथा झूठ, कपट, चोरी और जबरदस्तीसे अथवा अन्य किसी प्रकारसे दूसरेके हकको ग्रहण कर लेना इत्यादि दोषोंसे रहित जो सत्यतापूर्वक पवित्र वस्तुओंका व्यापार है उसका नाम सत्य व्यवहार है।

यद्यपि शास्त्रके आज्ञानुसार कर्मोंका आचरण करनेवाला सकामी पुरुष निषिद्धकर्मोंका आचरण करना नहीं चाहता, तथापि विषयोंका लोभ बना रहनेके कारण उसके गिर जानेका भय बना ही रहता है। कहीं कर्ममें कुछ भूल हो जाती है, तो उसे सिद्धि तो मिलती ही नहीं, उलटे प्रायश्चित्त या दुःखका भागी होना पड़ता है। परन्तु—

निष्काम कर्म—

—का आचरण करनेवाले पुरुषकी स्थिति सकामीसे अत्यन्त विलक्षण होती है। उसके मनमें किसी प्रकारकी सांसारिक कामना नहीं रहती, वह जो कुछ कर्म करता है, सो सब फलकी इच्छाको छोड़कर आसक्तिरहित होकर करता है। यहाँपर यह प्रश्न होता है कि 'यदि उसे फलकी इच्छा नहीं है तो वह कर्म करता ही क्यों है? संसारमें साधारण मनुष्य बिना किसी हेतुके कर्म कर ही नहीं सकता और हेतु किसी-न-किसी फलका ही होता है। ऐसी स्थितिमें फलकी इच्छा बिना कर्मोंका होना सिद्ध नहीं होता।' यह ठीक है! साधारण मनुष्यके कर्मोंमें प्रवृत्त होनेमें किसी-न-किसी हेतुका रहना अनिवार्य है, परन्तु हेतुके स्वरूप भिन्न-भिन्न होते हैं। सकामभावसे कर्म करनेवाला पुरुष भिन्न-भिन्न फलोंकी कामनासे नाना प्रकारके कर्मोंको करता है, उसके कर्मोंमें हेतु है 'विषय-कामना'। और इसीलिये वह आसक्त होकर कर्म करता है, उसकी बुद्धि कामनाओंसे ढकी रहती है (देखो गीता २।४२, ४३, ४४; ९।२०, २१)। इसीलिये वह कर्मकी सिद्धि-असिद्धिमें सुखी और दुःखी होता है परन्तु निष्कामभावसे कर्म करनेवाले पुरुषके कर्मोंमें हेतु रह जाता है एक 'परमात्माकी प्राप्ति'।* इसीलिये वह नित्य नये उत्साहसे आलस्यरहित होकर कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, सांसारिक फल-कामना न होनेसे वह आसक्त नहीं होता और कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें उसे हर्ष-शोकका विकार नहीं होता, क्योंकि उसका लक्ष्य बहुत ऊँचा हो गया है, वह कर्मके बाहरी फलपर कोई खयाल नहीं करता; उसकी दृष्टिमें संसारके समस्त पदार्थ उस परमात्माके सामने अत्यन्त तुच्छ, मलिन और क्षुद्र प्रतीत होते हैं, वह उस महान्-से-महान् परमात्माकी प्राप्तिकी शुभेच्छामें जगत्के सम्पूर्ण बड़े-से-बड़े पदार्थोंको तुच्छ समझता है (गीता २।४९)।

इसीसे सांसारिक विषयरूप फलोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें उसे हर्ष-शोक नहीं होता। सकामी पुरुषकी भाँति उससे निषिद्धकर्म बननेकी भी सम्भावना नहीं रहती। निषिद्धकर्मोंमें कारण है 'आसक्ति या लोभ'। निष्कामी पुरुष जगत्के समस्त पदार्थोंका लोभ छोड़कर उनसे अनासक्त होना चाहता है, वह श्रीपरमात्माको ही एकमात्र लोभकी वस्तु मानता है, उसीमें उसका मन आसक्त हो जाता है; अतएव उसकी प्राप्तिके अनुकूल जितने कार्य होते हैं वह उन सबको बड़े उत्साहके साथ करता है। यह निर्विवाद बात है कि परमात्माकी प्राप्तिके अनुकूल तो वे ही कार्य हो सकते हैं जिनके लिये भगवान्ने आज्ञा दी है, जो शास्त्रविहित हैं, जो किसीके लिये किसी प्रकारसे भी अनिष्टकारक नहीं होते; ऐसे कर्मोंमें निषिद्धकर्मोंका समावेश किसी प्रकार भी नहीं हो सकता, इसीलिये निष्कामी पुरुष सकामी पुरुषसे सर्वथा विलक्षण होता है।

सकामी पुरुष जगत्के पदार्थोंको रमणीय, सुखप्रद और प्रीतिकर समझकर उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छासे, सिद्धिमें सुख और असिद्धिमें दुःख होनेकी प्रत्यक्ष भावनाको लेकर ममतायुक्त मनसे आसक्तिपूर्वक कर्म करता है और निष्कामी पुरुष सब कुछ भगवान्का समझकर सिद्धि-असिद्धिमें समत्वभाव रखता हुआ आसक्ति और फलकी इच्छाको त्यागकर भगवान्के आज्ञानुसार भगवान्के लिये ही समस्त कर्मोंका आचरण करता है। यही सकाम और निष्काम कर्मोंमें भावका अन्तर है।

गीतामें निष्काम कर्मका आरम्भ

—दूसरे अध्यायके ३९वें श्लोकसे होता है। ११ से ३० वें श्लोकतक सांख्ययोगका प्रतिपादन करनेके बाद ३१वें श्लोकसे क्षत्रियोचित कर्म करनेके लिये अर्जुनको उत्साहित करते हुए ३८वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

मोहके कारण पाप-भयसे भीत अर्जुनको सुख-दुःख, जय-पराजय और लाभ-हानिरूप सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखनेसे कोई पाप नहीं होनेकी बुद्धि सांख्यके सिद्धान्तानुसार बतलाकर अगले श्लोकसे निष्काम कर्मयोगका प्रतिपादन आरम्भ करते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥

(गीता २।३९)

'हे पार्थ! यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही

* निष्काम कर्मयोगीकी परमात्माको प्राप्त करनेकी कामना परिणाममें परम कल्याणका हेतु होनेके कारण कामना नहीं समझी जाती, भगवत्प्राप्तिकी कामनावाला पुरुष निष्काम ही समझा जाता है।

गयी और अब इसीको निष्काम कर्मयोगके विषयमें तू सुन। इस बुद्धिसे युक्त होकर कर्म करनेसे कर्म-बन्धनका भलीभाँति नाश कर सकेगा।'

इसके बादके श्लोकमें निष्काम कर्मयोगकी प्रशंसा करते हुए भगवान्ने जरा-से भी निष्काम कर्मयोगरूपी धर्मको महान् भयसे त्राण करनेवाला बतलाया। आगे चलकर ४७वें श्लोकमें कर्मका अधिकार और फलका अनधिकार वर्णन करते हुए ४८वें श्लोकमें भगवान्ने, जो कुछ भी कर्म किया जाय उसके पूर्ण होने-न-होनेमें तथा उसके फलमें समभाव रहनेका नाम ही 'समत्व' है और इस समत्वभावका कर्मके साथ योग होनेसे ही वह कर्मयोग बन जाता है, ऐसा कहते हुए अर्जुनको आसक्ति त्यागकर सिद्धि-असिद्धिमें समबुद्धि होकर कर्म करनेकी आज्ञा दी और आगे उसका फल बतलाया 'जन्म-बन्धनसे छूटकर अनामय अमृतमय परमपद परमात्माकी प्राप्ति हो जाना' (देखो गीता २।५१)।

इस प्रकार भगवान्ने दूसरे अध्यायके ४७ से ५१वें श्लोकतक कर्मयोगका विवेचन किया, यद्यपि इस विवेचनमें स्पष्टरूपसे भक्तिका नाम कहीं नहीं आया, परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि यह कर्मयोग भक्तिशून्य है। मेरी समझसे गीताका निष्काम कर्मयोग सर्वथा भक्तिमिश्रित है। इतना अवश्य है कि कहीं-कहींपर तो उसका भाव प्रधानरूपसे अच्छी तरह व्यक्त हो गया है और कहीं-कहींपर वह गौण होकर अव्यक्तरूपसे निहित है। परमात्माके अस्तित्व और उसे प्राप्त करनेकी शुभ भावना तो सामान्यरूपसे कर्मयोगके प्रत्येक उपदेशमें बनी हुई है। निष्काम कर्मका आचरण ही तभीसे आरम्भ होता है जबसे साधक अपने मनमें परमात्माको पानेकी शुभ और दृढ़ भावनाको लेकर संसारके भोगोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हर्ष-शोकका विचार छोड़कर फलासक्तिका त्याग कर देना चाहता है।

जो कर्म भगवान्की प्रीति या प्राप्तिके लिये नहीं होते उनका तो नाम ही कर्मयोग नहीं होता। कर्मयोग नाम तभी सफल होता है जब कर्मोंका योग परमात्माके साथ कर दिया जाता है। अवश्य ही गीतामें कर्मयोगकी वर्णनशैली दो प्रकारकी है। किसी-किसी श्लोकमें तो भक्ति प्रधानरूपसे स्पष्ट प्रकट है, किसी-किसीमें वह अप्रकटरूपसे स्थित है।

जहाँ भक्तिका प्रधानरूपसे कथन है वहाँ 'मुझमें अर्पण करके', 'परमात्मामें अर्पण करके', 'मेरा स्मरण करता हुआ कर्म कर', 'सब कुछ मेरे अर्पण कर', 'मदर्थ कर्म कर', 'स्वाभाविक कर्मोंद्वारा परमेश्वरकी पूजा कर', 'मेरे आश्रय होकर कर्म कर', 'मेरे परायण हो' आदि वाक्य आये हैं (देखो गीता ३।३०; ५।१०; ८।७; ९।२७-२८; १२।६, १०, ११; १८।४६, ५६, ५७ इत्यादि)। जहाँ भक्तिका सामान्य भावसे अप्रकट विवेचन है वहाँ ऐसे शब्द नहीं आते (देखो गीता २।४७-४८, ४९-५०, ५१; ३।७, १९; ४।१४; ६।१; १८।६,९ इत्यादि)।

इससे यह सिद्ध होता है कि भगवत्-भावना दोनों ही वर्णनोंमें है और इसीलिये भगवन्नाम, भगवत्-शरण और भगवदर्थ आदि भावोंके पर्यायवाची शब्द जिन श्लोकोंमें स्पष्ट नहीं आते उनके अनुसार आचरण करनेसे भी जीवको भगवत्प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि उसका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही होता है; इसमें सन्देह नहीं कि कर्मयोगके साथ स्मरण-कीर्तनादि भक्तिका संयोग कर देनेपर भगवत्-प्राप्ति बहुत शीघ्र होती है और सम्पूर्ण कर्मयोगियोंमें ऐसे ही योगी पुरुष उत्तम समझे जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६।४७)

'सम्पूर्ण कर्मयोगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है वही मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

जो इस भावसे स्पष्टरूपमें भक्तिका संयोग नहीं करते उनको भी कर्मयोगसे भगवत्-प्राप्ति तो होती है परन्तु बहुत विलम्बसे होती है (देखो गीता ४।३८; ६।४५)।

गीतामें निष्काम कर्मयोगका वर्णन 'समत्वयोग', 'बुद्धियोग', 'कर्मयोग', 'तदर्थकर्म', 'मदर्थकर्म', 'मदर्पण', 'मत्कर्म' और 'सात्त्विक त्याग' आदि अनेक नामोंसे किया गया है। इन सबका फल एक होनेपर भी इनके साधनकी क्रियाओंमें भेद है, उदाहरणार्थ यहाँ—

मदर्पण और मदर्थका भेद—

—कुछ अंशमें बतलाया जाता है। मदर्पण या भगवदर्पण एक है तथा मदर्थ, तदर्थ या भगवदर्थ एक है। इनमें मदर्पण कर्मका स्वरूप तो यह है कि जैसे एक आदमी किसी दूसरे उद्देश्यसे कुछ धन संग्रह कर रहा है और उसके पास पहलेसे कुछ धन संगृहीत भी है परन्तु वह जब चाहे तब अपने धन-संग्रहका उद्देश्य बदल सकता है और संगृहीत धन किसीको भी अर्पण कर सकता है। कर्मका आरम्भ करनेके बाद बीचमें या कर्मके पूरे होनेपर भी उसका अर्पण हो सकता है। भक्तराज ध्रुवजी महाराजने राज्यप्राप्तिके लिये तपरूपी कर्मका आरम्भ किया था; परन्तु बीचमें ही

उनकी भावना बदल गयी, उनका तपरूपी कर्म भगवदर्पण हो गया, जिसका फल भगवत्-प्राप्ति हुआ।

साथ ही आरम्भके इच्छानुसार उन्हें राज्य भी मिल गया परन्तु वह राज्य साधारण लोगोंकी तरहसे बाधक नहीं हुआ। यह भगवदर्पण कर्मकी महिमा समझनी चाहिये। अतएव आरम्भमें दूसरा उद्देश्य होनेपर भी जो कर्म बीचमें या पीछेसे भगवान्‌के अर्पण कर दिया जाता है वह भी भगवदर्पण हो जाता है।

मदर्थ या भगवदर्थ कर्ममें ऐसा नहीं होता, वह तो आरम्भसे ही भगवान्‌के लिये ही किया जाता है। किसी देवताके उद्देश्यसे प्रसाद बनाना या ब्राह्मण-भोजनके लिये भोजनकी सामग्रियोंका संग्रह करना जैसे आरम्भसे ही एक निश्चित उद्देश्यको लेकर होता है उसी प्रकार भगवदर्थ कर्म करनेवाले साधकके प्रत्येक कर्मका आरम्भ श्रीभगवान्‌के उद्देश्यसे ही हुआ करता है। भगवदर्थ कर्मके कई भेद अवश्य हैं। जैसे भगवत्प्राप्तिके प्रयोजनसे कर्म करना, भगवान्‌की आज्ञा मानकर कर्म करना, भगवत्सेवास्वरूप कर्मोंमें नियुक्त होना और भगवान्‌की प्राप्तिके लिये कर्ममें लगना आदि।

यह तो भक्तिप्रधान कर्मयोगकी बात हुई। इसके सिवा समत्वयोग, कर्मयोग और सात्त्विक त्याग आदि सब मिलते-जुलते-से ही वाक्य हैं। द्वितीय अध्यायमें ४७ से ५१ वें श्लोकतक जिसका कर्मयोग आदिके नामसे वर्णन है उसीका अठारहवें अध्यायमें ६ और ९ वें श्लोकमें त्यागके नामसे वर्णन है। वास्तवमें फल और आसक्तिका त्याग तो सभीमें रहता है। भक्तिप्रधान या कर्मप्रधान दोनों प्रकारका वर्णन निष्काम कर्मयोगके लिये ही है। इससे यह सिद्ध हो गया कि—

भगवत्प्राप्तिके लिये किया जानेवाला कर्म ही निष्काम कर्मयोग है।

निष्काम कर्मयोगीको परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्तव्यकर्मोंको छोड़कर एकान्तमें भजन-ध्यान करनेकी भी आवश्यकता नहीं रहती। यदि कोई करे तो कोई आपत्ति नहीं है। भजन-ध्यान तो सदा-सर्वदा ही परम श्रेष्ठ है। परन्तु एकान्तमें भजन-ध्यान न करके भी भगवच्चिन्तनसहित शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंको निरन्तर करता हुआ ही वह साधक परमात्माकी शरण और उसकी कृपासे परमगतिको प्राप्त हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

(गीता १८।५६-५७)

'मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है, इसलिये सब कर्मोंको मनसे मेरे अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्वबुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगका अवलम्बन करके निरन्तर मुझमें चित्त लगानेवाला हो।'

वास्तवमें कर्मोंकी क्रिया मनुष्यको नहीं बाँधती; फलकी इच्छा और आसक्तिसे ही उसका बन्धन होता है। फल और आसक्ति न हो तो कोई भी कर्म मनुष्यको बाँध नहीं सकता। भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि अपने-अपने वर्णधर्मके अनुसार कर्ममें लगा हुआ पुरुष सिद्धिको प्राप्त हो जाता है, अवश्य ही कर्म करते समय मनुष्यका लक्ष्य परमात्मामें रहना चाहिये।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

'जिस परमात्मासे सारे भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सम्पूर्ण जगत् जलसे बर्फकी भाँति व्याप्त है, उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।'

जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पतिको ही अपना सर्वस्व मानकर पतिका ही चिन्तन करती हुई, पतिके आज्ञानुसार, पतिके लिये ही मन-वाणी, शरीरसे नियत (अपने जिम्मे बँधे हुए) संसारके समस्त कर्मोंको करती हुई पतिकी प्रसन्नता प्राप्त करती है, इसी प्रकार निष्काम कर्मयोगी एक परमात्माको ही अपना सर्वस्व मानकर उसीका चिन्तन करता हुआ उसीके आज्ञानुसार मन, वाणी, शरीरसे उस परमात्माके ही लिये अपने कर्तव्यकर्मका आचरण कर परमात्माकी प्रसन्नता और परमात्माको प्राप्त करता है।

समस्त चराचरमें—सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें—परमात्माको व्यापक समझकर, सभीको परमात्माका स्वरूप मानकर अपने कर्मोंद्वारा निष्काम कर्मयोगी भक्त भगवान्‌की पूजा करता है। एक महाराजाधिराज सम्राट्‌की प्रसन्नता सम्पादन करनेके लिये इस बातकी आवश्यकता नहीं होती कि उसके सभी कर्मचारी एक ही प्रकारका कार्य करें, सभी दीवान बनें या सभी सेनापति हों। अपने-अपने योग्यतानुसार जिसके जिम्मे जो काम महाराजके द्वारा सौंपा हुआ है, उसे अपने उसी कामसे महाराजको सन्तुष्ट करनेकी चेष्टा

करनी चाहिये। उसे चाहिये कि वह दूसरेके अच्छे-से-अच्छे कामकी ओर तनिक भी न ताककर प्रभुकी प्रसन्नताके लिये अपना काम कुशलताके साथ करे। राजदरबारका एक विद्वान् पण्डित वेदगान सुनाकर राजाको जितना प्रसन्न कर सकता है उतना ही महलोंमें झाड़ू देनेवाला राजाका परम आज्ञाकारी मामूली वेतनका नौकर भी महलोंकी सफाई-सुथराई रखकर कर सकता है। अपना कर्तव्यकर्म छोड़नेकी किसीको भी आवश्यकता नहीं; आवश्यकता है प्रभुको प्रसन्न करनेके लिये स्वार्थ छोड़कर अपने कर्तव्यकर्म उस प्रभुके अर्पण करनेकी। यही अपने कर्मोंसे परमात्माकी पूजा है और इसीसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

निष्काम कर्मयोगीका लक्ष्य रहता है केवल एक परमात्मा! जैसे धनका लोभी मनुष्य अपने प्रत्येक कर्ममें धनकी प्राप्तिका उपाय ही सोचता है। किसी तरह धन मिलना चाहिये केवल यही भाव उसके मनमें निरन्तर रहता है। जिस काममें रुपये लगते हैं, रुपये नहीं आते या उनके आनेमें कुछ बाधा होती है उस कामके वह समीप भी जाना नहीं चाहता। वह केवल उन्हीं कार्योंको करता है जो धनकी प्राप्तिके अनुकूल या सहायक होते हैं। इसी प्रकार निष्काम कर्मयोगी भी 'आठ पहर चौंसठ घड़ी' मन, वाणी, शरीरद्वारा उन्हीं सब कर्मोंको करता है जो ईश्वरको सन्तुष्ट करनेवाले होते हैं। वह भूलकर भी परमात्माकी प्राप्तिमें बाधक चोरी-जारी, झूठ-कपट, मादक द्रव्यसेवन और अभक्ष्य-भक्षणादि निषिद्धकर्मोंको और व्यर्थ समय नष्ट करनेवाले प्रमादादि कर्मोंको नहीं करता। करना तो दूर रहा, ऐसे कार्य उसे किसी तरह सुहाते ही नहीं। वह निरन्तर उन्हीं न्याययुक्त और शास्त्रविहित कर्मोंके सोचने और करनेमें प्रवृत्त रहता है जो उसके चरम लक्ष्य परमात्माकी प्राप्तिके अनुकूल और उसमें सहायक होते हैं। वह दूसरेके सुहावने और मान-बड़ाईवाले कर्मोंकी ओर लोलुपदृष्टिसे कभी नहीं देखता। चुपचाप स्वाभाविक ही अपने कर्तव्यकर्मको करता चला जाता है। वह यह नहीं देखता कि अमुक कर्म छोटा है, अमुक बड़ा है; क्योंकि वह इस बातको जानता है कि कर्मोंका स्वरूप परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु नहीं है, उसमें हेतु है अन्तःकरणका भाव। भावसे ही मनुष्यका उत्थान और पतन होता है। इसीलिये वह दूसरेकी देखा-देखी किसी भी ऐसे ऊँचे-से-ऊँचे कर्मको भी करना नहीं चाहता जो उसके लिये विहित नहीं है। वह यह नहीं देखता कि मेरे कर्ममें अमुक दोष है, दूसरेका अमुक कर्म सर्वथा निर्दोष है। वह समझता है कि दूसरेके गुणयुक्त उत्तम धर्मकी अपेक्षा अपना गुणरहित धर्म ही अपने लिये श्रेष्ठ और आचरण करनेयोग्य है। स्वधर्मके पालनसे मनुष्यको पाप नहीं लगता (देखो गीता १८।४७)। आजकल इस निष्काम कर्मके रहस्यको न समझकर ही लोग सबको एकाकार करनेकी व्यर्थ चेष्टामें लगे हुए हैं।

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

(गीता १८।४८)

'दोषयुक्त भी कर्तव्यकर्म नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि धूमसे (ढकी हुई) अग्निके समान सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे ढके हुए होते हैं।'

जो मनुष्य जिस वर्णमें उत्पन्न हुआ है उसके स्वाभाविक कर्म ही उसका स्वधर्म है, भारतवर्षकी सुव्यवस्थित वर्णव्यवस्था इसका परम आदर्श है। जो लोग इस वर्णव्यवस्थाको तोड़नेका प्रयत्न करते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं, जगत्‌में भेद तो कभी मिट नहीं सकता, व्यवस्थामें विशृंखलता अवश्य ही हो सकती है जो और भी दुःखदायिनी होती है।

जिस जाति या समुदायमें मनुष्य उत्पन्न होता है, जिन माता-पिताके रज-वीर्यसे उसका शरीर बनता है, जन्मसे लेकर अपने कर्तव्यको समझनेकी बुद्धि आनेतक जिन संस्कारोंमें उसका पालन-पोषण होता है, प्रायः उसीके अनुकूल कर्मोंमें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति और उत्साह होता है। इसलिये वही उसका स्वभाव या प्रकृति समझी जाती है। और इस स्वभाव या प्रकृतिके अनुकूल विहित कर्मोंको ही गीतामें स्वधर्म, सहजकर्म, स्वकर्म, नियतकर्म, स्वभावजकर्म और स्वभावनियतकर्म आदि नामोंसे कहा है। साधक पुरुषका जन्म यदि व्यवस्थित वर्णयुक्त समाजमें हुआ हो तब तो उसे अपना सहजकर्म समझ लेनेमें बड़ी सुगमता है, ऐसा न होनेपर उपर्युक्त हेतुओंसे अपनी प्रकृतिके अनुसार स्वधर्म निश्चित कर लेना चाहिये।

बस, इसी स्वधर्मके अनुसार आसक्ति और स्वार्थरहित होकर अखिल जगत्‌में परमात्माको व्यापक समझकर सबकी सेवा करनेके भावसे अपना-अपना कर्तव्यकर्म मनुष्यको करना चाहिये।

एक वैश्य है, दूकानदारी करता है, व्यवसाय उसका कर्तव्यकर्म है। परन्तु वह कर्तव्यकर्म निष्काम कर्मयोगकी श्रेणीमें तभी जा सकता है जब कि वह स्वार्थबुद्धिसे न होकर केवल परमात्माकी सेवाके निर्मल भावसे हो। दूकानदारी छोड़कर जंगलमें जानेकी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है मनके भावोंको बदलनेकी। स्वार्थ और कामनाका कलंक धो डालनेकी। जिस दिन सांसारिक स्वार्थकी जगह मनमें

परमात्माको स्थान मिल जाता है उसी दिन उसके वे कर्म, जो बन्धनके कारण थे, स्वरूपसे वैसे ही बने रहकर भी परमात्माकी प्राप्तिके कारण बन जाते हैं।

पारा और संखिया अमृतका-सा काम दे सकता है यदि वह चतुर वैद्यके द्वारा शोधकर शुद्ध कर लिया जाय। जिस पारे या संखियेके प्रयोगसे मनुष्यकी मृत्यु होती है वही पारा या संखिया विषभागके निकल जानेपर अमृत बन जाता है। इसी प्रकार जहाँतक कर्मोंमें स्वार्थ और आसक्ति है वहींतक उनसे बन्धन या मृत्यु प्राप्त होती है, जिस दिन स्वार्थ और आसक्ति निकालकर कर्मोंकी शुद्धि कर ली जाती है उसी दिन वे अमृत बनकर मनुष्यको परमात्माका अमर पद प्रदान करनेमें कारण बन जाते हैं। इसीलिये किसी भी कर्तव्यकर्मके त्यागकी आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है बुद्धिको शुद्ध करनेकी! एक मनुष्य सकामभावसे यज्ञ, दान, तप करता है और दूसरा एक मनुष्य केवल अपने वर्णका कर्म भिक्षा, युद्ध, व्यापार या सेवा करता है परन्तु करता है सबमें परमात्माको व्यापक समझकर, सबको सुख पहुँचाने और सबकी सेवा करनेके पवित्र भावसे, तो वह उस केवल यज्ञ, दान, तप करनेवालेकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, क्योंकि उसके कामना न होनेके कारण सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रहता है और निरन्तर परमात्माकी भावना तथा परमात्माकी आज्ञाका ध्यान रहनेसे लोभ और आसक्ति भी पास नहीं आ सकते। लोभ और आसक्तिके अभावसे उसके द्वारा पाप या निषिद्धकर्मोंका होना तो सम्भव ही नहीं होता।

यहाँ मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि यज्ञ, दान, तप नहीं करने चाहिये या ये क्षुद्र साधन हैं। ये तो सर्वथा ही उत्तम हैं और अन्तःकरणकी शुद्धिमें तथा परमात्माकी प्राप्तिमें बड़े सहायक हैं, परन्तु ऐसा होता है उनका प्रयोग निष्कामभावसे करनेपर ही। अतएव यहाँ जो कुछ लिखा गया है वह केवल निष्काम कर्मयोगकी सच्ची महिमा बतलानेके लिये ही।

उपर्युक्त विवेचनसे यह भी सिद्ध हो गया कि निष्काम कर्मयोगीसे जान-बूझकर तो पाप नहीं बन सकते परन्तु यदि कहीं भूल, स्वभाव, अज्ञान या भ्रमसे कोई पाप बन भी जाता है तो वह उसके लागू नहीं होता; क्योंकि उसका उस कर्ममें कोई स्वार्थ नहीं है। स्वार्थरहित कर्मोंका अनुष्ठान कर्ताको बाँध नहीं सकता (देखो गीता ४। १४; ५। १०)। पक्षान्तरमें उसका प्रत्येक कार्य भगवदर्पण होनेके कारण वह परमात्माका सर्वथा कृपापात्र बन जाता है।

राजाके अनेक कर्मचारी होते हैं, सबको योग्यतानुसार वेतन मिलता है और सभीपर राजाके किसी-न-किसी कामकी जिम्मेवारी रहती है। परन्तु प्रत्येक वैतनिक कर्मचारी राजनियमोंसे बँधा हुआ रहता है, यदि भूल या अज्ञानसे भी किसी नियमको कोई कर्मचारी भंग कर देता है तो उसे नियमानुसार दण्डका भागी होना पड़ता है। पर एक ऐसा मनुष्य, जो किसी समय किसी प्रकारसे भी राज्य या राजासे कुछ भी स्वार्थ सिद्ध न कर केवल अहैतुकी राजभक्तिके कारण राजसेवा करता है, उसकी निःस्वार्थ सेवापर राजा मुग्ध रहता है। उसके द्वारा यदि समयपर कोई अज्ञानसे भूल हो जाती है तब भी राजा उससे नाराज नहीं होता; राजा समझता है कि यह तो राज्यका निःस्वार्थ सेवक है, ऐसा सेवक यदि भूलके लिये दण्ड चाहता है तो राजा कहता है भाई! हम तो तुम्हारे उपकारोंसे ही अत्यन्त दबे हुए हैं, तुम्हारी एक भूलका तुम्हें क्या दण्ड दें। इतना ही नहीं बल्कि राजा उसके उपकारोंसे अपनेको उसका ऋणी समझकर सब तरहसे उसका हित ही करना चाहता है। इसी प्रकार जो परमात्माका निःस्वार्थ सेवक है, जो अपने प्रत्येक कर्मका समर्पण उस परमात्माकी प्रीतिके लिये उसीके चरणोंमें कर देता है, उससे यदि कोई भूल होती है तो उसपर अकारण सुहृद् परमात्मा कोई ध्यान नहीं देते। यह अनियम नहीं है किन्तु स्वार्थरहित सेवकके लिये यही नियम है।

इस प्रकार परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्तव्यकर्मोंका आचरण करता हुआ साधक शेषमें परमात्माको प्राप्त हो जाता है परन्तु ऐसे परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्तके द्वारा भी लोकशिक्षाके लिये राजा जनकादिकी भाँति आजीवन कर्म हो सकते हैं (देखो गीता ३। २०)। यद्यपि उनके लिये कोई कर्म शेष रह नहीं जाते (गीता ३। १७)। परन्तु जहाँतक मन और इन्द्रियाँ सचेत रहती हैं वहाँतक उनके लिये कर्म त्याग करनेमें कोई हेतु नहीं देखा जाता। किन्तु कर्मयोगकी सिद्धिको प्राप्त जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण साधारण पुरुषोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण होते हैं (देखो गीता २। ५५—५८; १२। १३—१९)।

ऐसे भगवत्को प्राप्त हुए महापुरुषके कर्म गीता तृतीय अध्यायके २५वें श्लोकके अनुसार केवल लोकसंग्रहार्थ ही होते हैं और वे कर्म कामना और संकल्पसे शून्य होनेके कारण स्वरूपसे होते हुए भी वास्तवमें कर्म नहीं समझे जाते (देखो गीता ४। १९-२०)।

इस प्रकार निष्काम कर्मयोगका साधक परमात्माकी प्राप्तिके लिये कर्मोंको परमात्मामें अर्पण कर देनेके कारण अन्तमें परमात्माके प्रसादसे परमात्माको पा जाता है, जिस कर्ममें आदिसे लेकर अन्ततक परमात्माका इतना नित्य और अविच्छिन्न सम्बन्ध है वह कर्म भक्तिरहित कभी

नहीं हो सकता। अतएव गीताका निष्काम कर्मयोग सर्वथा भक्तिमिश्रित है।

—तथा—

'फल और आसक्तिको त्यागकर भगवान्‌के आज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्व बुद्धिसे शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका करना ही उसका स्वरूप है।'

धर्म और उसका प्रचार

इस समय संसारकी प्रायः सभी जातियाँ न्यूनाधिकरूपसे अपने-अपने धर्मकी उन्नति और उसके प्रचारके लिये अपनी-अपनी पद्धतिके अनुसार प्रयत्न कर रही हैं। इनमेंसे कुछ लोग तो अपने धर्मभावोंका सन्देश संसारके कोने-कोनेमें पहुँचा देना चाहते हैं और वे इसके लिये कोई काम भी उठा नहीं रखते। क्रिश्चियन-मतका प्रचार करनेके लिये ईसाई-जगत् कितनी धनराशिको पानीकी तरह बहा रहा है? अमेरिकातकसे करोड़ों रुपये इस कार्यके लिये भारतवर्षमें आते हैं, लाखों ईसाई स्त्री-पुरुष सुदूर देशोंमें जा-जाकर भाँति-भाँतिसे लोकसेवाकर तथा लोगोंको अनेक तरहसे लोभ-लालच देकर, फुसलाकर और उन्हें उलटी-सीधी बात समझाकर अपने धर्मका प्रचार कर रहे हैं।

कुछ भूले हुए लोग परधन, परस्त्री-अपहरण करने, धर्मके नामपर हिंसा करने और परधर्मीकी हत्या करनेको ही धर्म मान बैठे हैं और उसीका प्रचार करना चाहते हैं। इसी प्रकारके धर्मप्रचारसे चारों ओर अशान्ति और दुःखका विस्तार होता है। अपनी बुद्धिसे लोक-कल्याणके लिये जिस धर्मको अधिक उपयोगी समझा जाय, उसके प्रचारके लिये प्रयत्न करना मनुष्यका कर्तव्य है। इस न्यायसे कोई भाई यदि वास्तवमें ऐसे ही शुद्ध भावसे प्रेरित होकर केवल लोक-कल्याणके लिये ही अपने धर्मका प्रचार करना चाहते हैं तो उनका यह कार्य अनुचित नहीं है, परन्तु उनके इस कार्यको देखकर हमलोगोंको क्या करना चाहिये—यह विषय विचारणीय है। मेरी समझसे एक हिन्दू-धर्म ही सब प्रकारसे पूर्ण धर्म है, जिसका चरम लक्ष्य मनुष्यको संसारके त्रितापानलसे मुक्तकर उसे अनन्त सुखकी शेष सीमातक पहुँचाकर सदाके लिये आनन्दमय बना देना है। इसी धर्मका पवित्र सन्देश प्राप्तकर समय-समयपर जगत्‌के दुःखदग्ध अशान्त प्राणी परम शान्तिको प्राप्त हो चुके हैं और आज भी जगत्‌के बड़े-बड़े भावुक पुरुष अत्यन्त उत्सुकताके साथ इसी सन्देशकी प्राप्तिके लिये लालायित हैं। जिस धर्मकी इतनी अपार महिमा है, उसी अनादि कालसे प्रचलित पवित्र और गम्भीर आशय धर्मको माननेवाली जाति मोहवश जगत्‌के अन्यान्य अपूर्ण मतोंका आश्रय ग्रहणकर अज्ञान-सरिताके प्रवाहमें बहना चाहती है, यह बड़े ही दुःखकी बात है!

यदि भारतने अपने चिरकालीन धर्मके पावन आदर्शको भूलकर ऐहिक सुखोंकी व्यर्थ कल्पनाओंके पीछे उन्मत्त हो केवल काल्पनिक भौतिक, स्वर्गादि सुखोंको ही धर्मका ध्येय माननेवाले मतोंका अनुसरण आरम्भ कर दिया तो बड़े ही अनर्थकी सम्भावना है। इस अनर्थका सूत्रपात भी हो चला है। समय-समयपर इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। लोग प्रायः परमानन्द-प्राप्तिके ध्येयसे च्युत होकर केवल विविध प्रकारके भोगोंकी प्राप्तिके प्रयत्नको ही अपना कर्तव्य समझने लगे हैं। धर्मक्षयका यह प्रारम्भिक दुष्परिणाम देखकर भी यदि धर्मप्रेमी बन्धु धर्म-नाशसे उत्पन्न होनेवाली भयानक विपत्तियोंसे जातिको बचानेकी सन्तोषजनकरूपसे चेष्टा नहीं करते, यह बड़े ही परितापका विषय है।

इस समय हमारे देशमें अधिकांश लोग तो केवल धन, नाम और कीर्ति कमानेमें ही अपने दुर्लभ और अमूल्य जीवनको बिता रहे हैं। कुछ सज्जन स्वराज्य और सुधारके कार्योंमें लगे हैं, परन्तु उस सत्य धर्मके प्रचारक तो कोई विरले ही महात्माजन हैं। यद्यपि मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाकी कामना एवं स्वार्थपरताका परित्याग कर स्वराज्य और समाज-सुधारके लिये प्रयत्न करनेसे भी सच्चे सुखकी प्राप्तिमें कुछ लाभ पहुँचता है, परन्तु भौतिक सुखोंकी चेष्टा वास्तवमें परम ध्येयको भुला ही देती है। सच्चे सुखकी प्राप्तिमें पूरी सहायता तो उस शान्तिप्रद सत्य धर्मके प्रचारसे ही मिल सकती है।

यद्यपि मुझे संसारके मत-मतान्तरोंका बहुत ही कम ज्ञान है, परन्तु साधारणरूपसे मेरा यह विश्वास है कि सबसे उत्तम सार्वभौम धर्म वह हो सकता है जिसका लक्ष्य महान्-से-महान्, नित्य और निर्बाधक आनन्दकी प्राप्ति हो और जिसमें सबका अधिकार हो। केवल ऐहिक सुख या स्वर्गसुख बतलानेवाला धर्म भी वास्तवमें बुद्धिमान्‌के लिये त्याज्य ही है। अतएव सर्वोत्तम धर्म वह है जो परम कल्याणकी प्राप्ति करानेवाला होता है। ऐसा धर्म मेरी समझसे वह वैदिक सनातन धर्म ही है जिसका स्वरूप निम्नलिखितरूपसे शास्त्रोंमें कहा गया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।

दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

(गीता १६।१—३)

'सर्वथा भयका अभाव, अन्तःकरणकी अच्छी प्रकारसे स्वच्छता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति[1], सात्त्विक दान[2], इन्द्रियोंका दमन, भगवत्पूजा और अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण, वेद-शास्त्रोंके पठन-पाठनपूर्वक भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्ट-सहन, शरीर और इन्द्रियोंसहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय-भाषण[3] अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरामता अर्थात् चित्तकी चंचलताका अभाव, किसीकी भी निन्दा आदि न करना, सब भूत प्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा, व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज[4], क्षमा, धैर्य, शौच अर्थात् बाहर और भीतरकी शुद्धि[5], किसीमें भी शत्रुभावका न होना, अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—हे अर्जुन! दैवी सम्पदाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण (ये) हैं।'

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनु० ६।९२)

'धैर्य, क्षमा, मनका निग्रह, चोरीका न करना, बाहर-भीतरकी शुद्धि, इन्द्रियोंका संयम, सात्त्विक बुद्धि, अध्यात्मविद्या, यथार्थ भाषण और क्रोधका न करना—ये धर्मके दस लक्षण हैं।'

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥

(योग० २।३०)

'अहिंसा, सत्यभाषण, चोरी न करना, ब्रह्मचर्यका पालन और भोग-सामग्रियोंका संग्रह न करना—ये पाँच प्रकारके यम हैं।'

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥

(योग० २।३२)

'बाहर-भीतरकी पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और सर्वस्व ईश्वरके अर्पण करना—ये पाँच प्रकारके नियम हैं।' इन सबका निष्कामभावसे पालन करना ही सच्चा धर्माचरण है।

यही धर्मके सर्वोत्तम लक्षण हैं, इन्हींसे परमपदकी प्राप्ति होती है। अतएव जो सच्चे हृदयसे मनुष्यमात्रकी सेवा करना चाहते हैं, उन्हें उचित है कि वे उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त धर्मको ही उन्नतिका परम साधन समझकर स्वयं उसका आचरण करें और अपने दृष्टान्त तथा युक्तियोंके द्वारा इस धर्मका महत्त्व बतलाकर मनुष्यमात्रके हृदयमें इसके आचरणकी तीव्र अभिलाषा उत्पन्न कर दें। वास्तवमें यही सच्चा धर्म-प्रचार है और इसीसे लौकिक अभ्युदयके साथ-ही-साथ देश-कालकी अवधिसे अतीत मुक्तिरूप परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है। इस स्थितिको प्राप्त करके पुरुष दुःखरूप संसारसागरमें पुनः लौटकर नहीं आता। ऐसे ही पुरुषोंके लिये श्रुति पुकारती है—

न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते॥

(छान्दोग्य० ८।१५।१)

इस परम आनन्दका नित्य और मधुर आस्वाद मनुष्यमात्रको चखानेके लिये वैदिक सनातनधर्मका प्रचार करनेकी चेष्टा मनुष्यमात्रको विशेषरूपसे करनी चाहिये।

कुछ सज्जनोंका मत है कि स्वराज्य और विपुल धनराशिके अभावसे धर्मप्रचार नहीं हो सकता; परन्तु मेरी समझसे उनका यह मत सर्वथा ठीक नहीं है। राजनैतिक अधिकारोंकी प्राप्तिसे धर्म-प्रचारमें सहायता मिल सकती है, परन्तु यह बात नहीं कि स्वराज्यके अभावमें धर्मका प्रचार हो ही नहीं सकता। धर्मपालनसे बड़े-से-बड़ा आत्मिक स्वराज्य मिल सकता है, तब इस साधारण स्वराज्यकी तो बात ही कौन-सी है। वह तो अनायास ही प्राप्त हो सकता है।

१- परमात्माके स्वरूपको तत्त्वसे जाननेके लिये सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे ध्यानकी निरन्तर गाढ़ स्थितिका ही नाम 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' समझना चाहिये।

२- गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित गीता अध्याय १७ श्लोक २० का अर्थ देखिये।

३- अन्तःकरण और इन्द्रियोंके द्वारा जैसा निश्चय किया हो वैसा-का-वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहनेका नाम सत्यभाषण है।

४-श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिका नाम तेज है कि जिसके प्रभावसे उनके सामने विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः अन्यायाचरणसे रुककर श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं।

५-सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी और उसके अन्नसे आहारकी तथा यथायोग्य बर्तावसे आचरणोंकी और जल-मृत्तिकादिसे शरीरकी शुद्धिको बाहरकी शुद्धि कहते हैं तथा राग-द्वेष और कपट आदि विकारोंका नाश होकर अन्तःकरणका स्वच्छ हो जाना भीतरकी शुद्धि कही जाती है।

धनकी भी धर्मके प्रचारमें आवश्यकता नहीं, सम्भव है कि इससे आंशिकरूपसे कुछ सहायता मिल जाय। इसमें प्रधान आवश्यकता सच्चे त्यागी और धर्मज्ञ प्रचारकोंकी है। ऐसे पुरुष मान, बड़ाई, प्रसिद्धि और स्वार्थको त्यागकर प्राणपणसे धर्म-प्रचारके लिये कटिबद्ध हो जायँ तो उन्हें द्रव्यादि वस्तुओंकी तो कोई त्रुटि रह ही नहीं सकती; परन्तु वे अपने प्रतिपक्षियोंपर भी प्रेमसे विजय प्राप्तकर उन्हें अपना मित्र बना ले सकते हैं। केवल संख्यावृद्धिके लिये ही लोभ-लालच देकर या फुसला-धमकाकर किसीका धर्म-परिवर्तन करना वास्तवमें उसके विशेष हितका हेतु नहीं हो सकता और न ऐसे स्वार्थयुक्त धर्म-प्रचारसे प्रचारकोंको ही विशेष लाभ होता है। जब मनुष्य धर्मके महत्त्वको स्वयं भलीभाँति समझकर उसका पालन करता है तभी उसे, उससे आनन्द और शान्ति मिलती है और इस प्रकार अपूर्व आनन्द और परम शान्ति अनुभव करके ही मनुष्य संसृतिमें फँसे हुए अशान्त, दुःखी जीवोंकी दयनीय स्थितिको देखकर करुणार्द्र-चित्तसे उन्हें शान्त और सुखी बनानेके लिये प्रयत्न करते हैं, यही सच्चा धर्म-प्रचार है।

बड़े खेदकी बात है कि इस अपार आनन्दके प्रत्यक्ष सागरके होते हुए भी लोग दुःखरूप संसार-सागरमें मग्न हुए भीषण सन्तापको प्राप्त हो रहे हैं। मृगतृष्णासे परिश्रान्त और व्याकुल मृग-समूह जैसे गंगाके तीरपर भी प्यासके मारे छटपटाकर मर जाते हैं, वही दशा इस समय हमारे इन भाइयोंकी हो रही है।

सत्य धर्मके पालनसे होनेवाली अपार आनन्दकी स्थितिको न समझनेके कारण ही मनुष्योंकी यह दशा हो रही है। अतएव ऐसे लोगोंको दयनीय समझकर उन्हें वैदिक सनातन-धर्मका तत्त्व समझानेकी चेष्टा करनेमें उनका उपकार और सच्चा सुधार है। इस धर्मको बतलानेवाले हमारे यहाँ अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं जिन सबका मनन और अनुशीलन करना कोई सहज बात नहीं। अतएव किसी एक ऐसे ग्रन्थका अवलम्बन करना उत्तम है, जो सरलताके साथ मनुष्यको इस पावन पथपर ला सकता है। मेरी समझसे ऐसा पावन ग्रन्थ 'श्रीमद्भगवद्गीता' है। बहुत थोड़े-से सरल शब्दोंमें कठिन-से-कठिन सिद्धान्तोंको समझानेवाला, सब प्रकारके अधिकारियोंको उनके अधिकारानुसार उपयोगी मार्ग बतलानेवाला, सच्चे धर्मका पथप्रदर्शक, पक्षपात और स्वार्थसे रहित उपदेशोंके अपूर्व संग्रहका यह एक ही सार्वभौम महान् ग्रन्थ है। जगत्के अधिकांश महानुभावोंने मुक्तकण्ठसे इस बातको स्वीकार किया है। गीतामें सैकड़ों ऐसे श्लोक हैं* जिनमेंसे एकको भी पूर्णतया धारण करनेसे मनुष्य मुक्त हो जाता है, फिर सम्पूर्ण गीताकी तो बात ही क्या है।

अतः जिन पुरुषोंको धर्मके विस्तृत ग्रन्थोंको देखनेका पूरा समय नहीं मिलता है उनको चाहिये कि वे गीताका अर्थसहित अध्ययन अवश्य ही करें और उसके उपदेशोंको पालन करनेमें तत्पर हो जायँ। मुक्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है और गीता मुक्ति-मार्ग बतलानेवाला एक प्रधान ग्रन्थ है, इसलिये परमेश्वरमें भक्ति और श्रद्धा रखनेवाले सभी आस्तिक मनुष्योंका इसमें अधिकार है। गीता-प्रचारके लिये भगवान्ने किसी देश, काल, जाति और व्यक्तिविशेषके लिये रुकावट नहीं की है, वरन् अपने भक्तोंमें गीताका प्रचार करनेवालेको सबसे बढ़कर अपना प्रेमी बतलाया है।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥

(१८।६८)

'जो पुरुष मेरेमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, अर्थात् निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक मेरे भक्तोंको पढ़ावेगा या अर्थकी व्याख्याद्वारा इसका प्रचार करेगा, वह निःसन्देह मेरेको ही प्राप्त होगा।'

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

(१८।६९)

'और न तो उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रियकार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई है और न उससे बढ़कर मेरा अत्यन्त प्यारा पृथिवीमें दूसरा कोई होवेगा।'

अतएव सभी देशोंकी सभी जातियोंमें गीताशास्त्रका प्रचार बड़े जोरके साथ करना चाहिये। केवल एक गीताके प्रचारसे ही पृथ्वीके मनुष्यमात्रका उद्धार हो सकता है। इसलिये इसी गीता-धर्मके प्रचारमें सबको यत्नवान् होना चाहिये। इससे सबको आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति हो सकती है। यही एक सरल, सहज और मुख्य उपाय है।

* जैसे गीता अ० २।७१, ३।३०, ४।३४, ५।२९, ६।४७, ७।१४, ८।१४, ९।३२, १०।९, १०, ११।५४, ५५, १२।८, १३।१०, १४।१९, २६, १५।१९, १६।१, १७।१६, १८।६५, ६६ इत्यादि।

व्यापारसुधारकी आवश्यकता

भारतवर्षके व्यापार और व्यापारियोंकी आज बहुत बुरी दशा है। व्यापारकी दुरवस्थामें विदेशी शासन भी एक बड़ा कारण है, परन्तु प्रधान कारण व्यापारी-समुदायका नैतिक पतन है। व्यापारकी उन्नतिके असली रहस्यको भूलकर लोगोंने व्यापारमें झूठ, कपट, छलको स्थान देकर उसे बहुत ही घृणित बना डाला है। लोभकी अत्यन्त बढ़ी हुई प्रवृत्तिने किसी भी तरह धन कमानेकी चेष्टाको ही व्यापारके नामसे स्वीकार कर लिया है। बहुत-से भाई तो व्यापारमें झूठ, कपटका रहना आवश्यक और स्वाभाविक मानने लगे हैं और वे ऐसा भी कहते हैं कि व्यापारमें झूठ, कपट बिना काम नहीं चलता। परन्तु वास्तवमें यह बड़ा भारी भ्रम है। झूठ, कपटसे व्यापारमें आर्थिक लाभ होना तो बहुत दूरकी बात है परन्तु उलटी हानि होती है। धर्मकी हानि तो स्पष्ट ही है। आजकल व्यापारी-जगत्‌में अंग्रेज-जातिका विश्वास औरोंकी अपेक्षा बहुत बढ़ा हुआ है। व्यापारी लोग अंग्रेजोंके साथ व्यापार करनेमें उतना डर नहीं मानते जितना उन्हें अपने भाइयोंके साथ करनेमें लगता है। यह देखा गया है कि गल्ला, तिलहन वगैरह अंग्रेजोंको दो आना नीचे भावमें भी लोग बेच देते हैं, आमदनी मालके लेन-देनका सौदा करनेमें भी पहले अंग्रेजोंको देखते हैं, इसका कारण यही है कि उनमें सच्चाई अधिक है। इसीसे उनपर लोगोंका विश्वास अधिक है। इस कथनका यह अभिप्राय नहीं है कि अंग्रेज सभी सच्चे और भारतवासीमात्र सच्चे नहीं हैं। यहाँ मतलब यह है कि व्यापारी कार्योंमें हमारी अपेक्षा उनमें सत्यका व्यवहार कहीं अधिक है। वह भी किसी धर्मके खयालसे नहीं, व्यापारमें उन्नति होने और झूठे झंझटोंसे बचनेके खयालसे है।

सच्चाईके व्यवहारके कारण जिन अंग्रेज और भारतीय फर्मोंपर लोगोंका विश्वास है, उनका माल कुछ ऊँचे दाम देकर भी लोग लेनेमें नहीं हिचकते। बराबरके भावमें तो खुशामद करके उनके साथ काम करना चाहते हैं।

व्यापारमें प्रधानतः क्रय-विक्रय होता है, क्रय-विक्रयके कई साधन हैं, कोई चीज तौलपर ली-दी जाती है, कोई नापपर, तो कोई गिनतीपर। नमूना देखना-दिखलाना भी एक साधन होता है। जो दूसरोंके लिये या दूसरोंका माल खरीदते-बेचते हैं वे आढ़तिया कहलाते हैं और जो दूसरोंसे दूसरोंको ठीक भावमें किसीका पक्ष न कर उचित दलालीपर माल दिला देते हैं वे दलाल कहलाते हैं। इन्हीं सब तरीकोंसे व्यापार होता है। वस्तुओंके खरीदने-बेचनेमें तौल-नाप और गिनती आदिसे कम देना या अधिक लेना, चीज बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी (खराब) चीज मिलाकर दे देना या धोखा देकर अच्छी ले लेना, नमूना दिखाकर उसको घटिया चीज देना और धोखेसे बढ़िया लेना, नफा, आढ़त, दलाली ठहराकर उससे अधिक लेना या धोखेसे कम देना, दलाली या आढ़तके लिये झूठी बातें समझा देना अथवा झूठ, कपट, चोरी, जबरदस्ती या अन्य किसी प्रकारसे दूसरेका हक मार लेना, ये सब व्यापारके दोष हैं। आजकल व्यापारमें ये दोष बहुत ज्यादा आ गये हैं। किसी भी दोषका कोई भी ख्याल न कर किसी तरह भी धन पैदा कर लेनेवाला ही आजकल समझदार और चतुर समझा जाता है। समाजमें उसीकी प्रतिष्ठा होती है। धनकी कमाईके सामने उसकी सारी चोरियाँ घरवाले और समाज सह लेता है। इसीसे चोरी और झूठ-कपटकी प्रवृत्ति दिनोदिन बढ़ रही है। व्यापारमें झूठ, कपट नहीं करना चाहिये या इसके बिना किये भी धन पैदा हो सकता है ऐसी धारणा ही प्रायः लोप हो चली है। इसीसे जिस तरफ देखा जाता है उसी तरफ पोल नजर आती है।

अधिकांश भारतीय मिलोंके साथ काम करनेमें व्यापारियोंको यह डर बना ही रहता है कि तेज बाजारमें हमें या तो नमूनेके अनुसार क्वालिटीका माल नहीं मिलेगा या ठीक समयपर नहीं मिलेगा। कपड़ेकी मिलोंमें जिस तरहकी कार्यवाहियाँ होती सुनी गयी हैं, वे यदि वास्तवमें सत्य हैं तो हमारे व्यापारमें बड़ा धक्का पहुँचानेवाली हैं। रूई खरीदनेमें मैनेजिंग एजेंट लोग बड़ी गड़बड़ किया करते हैं।

रूईके बाजारमें घटबढ़ बहुत रहती है। रूईका सौदा करनेपर भाव बढ़ जाता है तो एजेंट रूई अपने खाते रख लेते हैं और यदि भाव घट जाता है तो अपने लिये अलग खरीदी हुई रूई भी मौका लगनेपर मिल खाते नोंध देते हैं। वजन बढ़ानेके लिये कपड़ोंमें माँडी लगानेमें तो अहमदाबाद मशहूर है। रूईका भाव बढ़ जानेपर सूतमें भी कमी कर दी जाती है। अनेक तरहके बहाने बताकर कंट्राक्टका माल भी समयपर नहीं दिया जाता। प्रायः लंबाई-चौड़ाईमें भी गोलमाल कर दी जाती है। सूतमें वजन भी कम दे दिया जाता है, इन्हीं कारणोंसे बहुत-सी मिलोंकी साख नहीं जमती। पक्षान्तरमें विलायती वस्त्र-व्यवसाय भारतके लिये महान् घातक होनेपर भी कंट्राक्टोंकी शर्तोंके पालनमें अधिक उदारता और सच्चाई रहनेके कारण बहुत-से व्यापारी उस कामको छोड़ना नहीं चाहते। यहाँके मालके दाम ज्यादा रहनेका एक कारण अत्यधिक लोभकी मात्रा ही है।

अनाज आदि खानेकी चीजोंमें दूसरे घटिया अनाज मिलाये जाते हैं—मिट्टी मिलायी जाती है। जीरा, धनिया आदि किरानेकी और सरसों, तिल आदि तिलहन चीजोंमें भी दूसरी चीज या मिट्टी मिलायी जाती है। किसान तो मामूली मिट्टी मिलाते हैं परन्तु व्यापारी लोग भी उसी रंगकी मिट्टी खरीदकर मिलाया करते हैं। वजन ज्यादा करनेके लिये बरसातमें माल गीली जगहमें रखते हैं जिससे कहीं-कहीं माल सड़ जाता है, खानेवाले चाहे बीमार हो जायँ, पर व्यापारियोंके घरोंमें पैसे अधिक आने चाहिये। गल्ला आदि जहाँ रखा जाता है वहाँ पहलेसे ही घटिया माल तो नीचे या कोनोंमें रखते हैं और बढ़िया माल सामने नमूना दिखानेकी जगह रखा जाता है, वजनमें भी बुरा हाल है। लेन-देनके बाट भी दो प्रकारके होते हैं।

पाटके व्यापारमें भी चोरियोंकी कमी नहीं है। वजन बढ़ानेके लिये पानी मिलाया जाता है। मिलोंमें माल पास करानेवाले बाबुओंको कुछ दे-दिलाकर बढ़ियाके कंट्राक्टमें घटिया माल दे दिया जाता है। वजनमें चोरी होती ही है। इसी तरह रूईमें पानी तथा धूल मिलायी जाती है। पाटकी तरह इनकी गाँठोंके अंदर भी खराब माल छिपाकर दे दिया जाता है।

सभी चीजोंमें किसानोंसे माल खरीदते समय दामोंमें, वजनमें, घटियाके बदले बढ़िया लेनेमें धोखा देकर लूटनेकी चेष्टा रहती है और बेचते समय ठीक इससे उलटा व्यवहार करनेकी कोशिश होती है।

खाद्य पदार्थोंमें भी शुद्ध घी, तैल या आटातक मिलना कठिन हो गया है। ऐसा कोई काम नहीं जो आजकल व्यापारी लोभवश न करते हों। घीमें चरबी, तैल, विलायती घी और मिट्टीका तेल मिलाया जाता है। तैलमें भी बड़ी मिलावट होती है। सरसोंके साथ तीसी, रेड़ी तो मिलाते ही हैं परन्तु बड़ी-बड़ी मिलोंमें कुसुमके बीज भी मिलाये जाते हैं। जिसके तैलसे बदहजमी, हैजा, संग्रहणी आदि बीमारियाँ फैलती हैं। मनुष्य दुःख पाते हैं, मर जाते हैं। परन्तु लोभियोंको इस बातकी कोई परवा नहीं! इसी तैलकी खली गायोंको खिलायी जाती है, जिससे उनके अनेक प्रकारकी बीमारियाँ हो जाती हैं। गौभक्त और गौसेवक कहानेवाले लोगोंकी यह गंदी करतूत है! ऐसी मिलोंमें जब जाँचके लिये सरकारी अफसर आते हैं तो उन्हें धोखा देकर या उनकी कुछ भेंट-पूजा कर पिण्ड छुड़ा लिया जाता है। साइनबोर्डोंपर 'जलानेका तैल' लिखकर भी दण्डसे बचनेकी चेष्टा की जाती है।

नारियल, तिल, सरसों आदिके तैलोंमें कई तरहके विलायती किरासिन तैल मिलाये जाते हैं जो पेटमें जाकर भाँति-भाँतिकी बीमारियाँ पैदा करते हैं।

आजकल देशमें जो अधिक बीमारी फैल रही है, घर-घरमें रोगी दीख पड़ते हैं इसका एक प्रधान कारण व्यापारियोंका लोभवश खाद्य पदार्थोंमें अखाद्य चीजोंका मिला देना भी है।

कपड़ेके व्यापारमें भी बड़े-छोटे सभी स्थानोंमें प्रायः चोरी होती है। बम्बई, कलकत्ते आदि बड़े शहरोंके बड़े दूकानदारोंकी बड़ी चोरियाँ होती हैं। देहातके दूकानदार भी किसी तरह कमी नहीं करते। जहाँ अमुक नफेपर माल बेचनेका नियम है, वहाँ ग्राहकोंको ठगनेके लिये एक झूठा बीजक मँगा लेते हैं। हाथीके दाँत खानेके और दिखानेके और!

सूतके देहाती व्यापारी भी सूतके बंडलोंमेंसे मुट्ठे निकालकर उसे ८ नंबरसे १६ नंबरतकका बना लेते हैं। इस बेईमानीके लिये कलकत्तेमें कई कारखाने बने हुए हैं जिनमें खरीदार जुलाहोंको धोखा देनेके लिये गोलमाल की जाती है, दूसरी बंडल बनाकर बेचनेमें जुलाहे ठगे जाते हैं, खर्च बढ़ जाता है और सूत उलझ जाता है।

कई जगह चीनीके ऐसे कारखाने हैं जिनमें विदेशी चीनीमें गुड़ मिलाकर उसका रंग बदल दिया जाता है और फिर वह बनारसी या देशीके नामसे बेची जाती है।

आढ़त, दलाली, कमीशनमें भी तरह-तरहकी चोरियाँ की जाती हैं। वास्तवमें आढ़तियेको चाहिये कि महाजनके साथ जो आढ़त ठहरा ले उससे एक पैसा भी छिपाकर अधिक लेना हराम समझे। महाजनको विश्वास दिलाया जाता है कि आढ़त ॥।) या ॥) सैकड़ा ली जायगी परन्तु छल, कपटसे जितना अधिक चढ़ाया जाय उतना ही चढ़ाते हैं। २) ४) ५) सैकड़ेतक वसूल करके भी सन्तोष नहीं होता। बोरा, बारदाना, मजदूरी आदिके बहानेसे महाजनसे छिपाकर या मालपर अधिक दाम रखकर दलाली या बट्टा वगैरह उसे न देकर, अथवा गुप्तरूपसे अपना माल बाजारसे खरीदा हुआ बताकर तरह-तरहसे महाजनको ठगना चाहते हैं।

कमीशनके काममें भी बड़ी चोरियाँ होती हैं। बाजार मंदा हो गया तो तेज भावमें बिके हुए मालकी बिक्री मंदेकी दे देते हैं। तेज हो गया तो किसी दूसरेसे मिलकर बिना बिके ही बहुत-सा माल खुद खरीदकर पहलेका बिका बताकर झूठी बिक्री भेज देते हैं। बँधे भावसे कम-ज्यादा भावमें भी माल बेचते हैं।

दलालीके काममें अपने थोड़ेसे लोभके लिये 'ग्राहकका गला कटा दिया जाता है।' दलालका कर्तव्य है कि वह जिससे जिसको माल दिलवावे उन दोनोंका समान हित

सोचे। अपने लोभके लिये दोनोंको उलटी-सीधी पट्टी पढ़ाकर लेनेवालेको तेजी और बेचनेवालेको झूठ ही मंदीकी रुख बताकर काम करवा देना बड़ा अन्याय है। अपनी जो सच्ची राय हो वही देनी चाहिये। दोनों पक्षोंको अपनी स्पष्ट धारणा और बाजारकी स्थिति सच्ची समझानी चाहिये।

कहाँतक गिनाया जाय! व्यापारके नामपर चोरी, डकैती और ठगी सब कुछ होती है। न ईश्वरपर विश्वास है न प्रारब्धपर और न न्याय तथा सत्यपर ही। वास्तवमें व्यापारमें कुशलता भी नहीं है। कुशल व्यापारी सच्चा होता है, वह दूसरोंको धोखा देनेवाला नहीं होता। सच्चाईसे व्यापार कर वह सबका विश्वासपात्र बन जाता है, जितना विश्वास बढ़ता है उतना ही उसका झंझट कम होता है और व्यापारमें दिनोदिन उन्नति होती है। मोल-मुलाई करनेवाले दूकानदारोंको ग्राहकोंसे बड़ी माथापच्ची करनी पड़ती है। विश्वास जम जानेपर सच्चे एक दाम बतानेवाले दूकानदारको माल बेचनेमें कुछ भी कठिनाई नहीं होती, ग्राहक चाहकर बिना दाम पूछे उसका माल खरीदते हैं, उन्हें वहाँ ठगे जानेका भय नहीं रहता। परन्तु आजकल तो दूकान खोलनेके समय प्रतिदिन लोग प्रायः भगवान्से प्रार्थना किया करते हैं—'शंकर! भेज कोई हियेका अंधा और गठरीका पूरा' यानी भगवान् ऐसा ग्राहक भेजें जिसे हम ठग सकें, जो अपनी मूर्खतासे अपने गलेपर हमसे चुपचाप छुरी फिरवा ले। इससे यह सिद्ध होता है कि कोई ग्राहक अपनी बुद्धिमानी और सावधानीसे तो भले ही बच जाय, परन्तु दूकानदार तो उसपर हाथ साफ करनेको सब तरह सजा-सजाया तैयार है।

थोड़ेसे जीवनके लिये ईश्वरपर अविश्वास करके पाप बटोरना बड़ी मूर्खता है। आमदनी तो उतनी ही होती है जितनी होनी होती है, पाप जरूर पल्ले बँध जाता है। पापका पैसा ठहरता नहीं, इधर आता है उधर चला जाता है, बट्टाखाता जितना रहना होता है उतना ही रहता है। लोग अपने मनमें ही धन आता हुआ देखकर मोहित हो जाते हैं। पापसे धन पैदा होनेकी धारणा बड़ी ही भ्रम-मूलक है। इससे धन तो पैदा होता नहीं परन्तु आत्माका पतन अवश्य होता है। लोक-परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं। जो अन्यायसे धन कमाकर उसमेंसे थोड़ा-सा दान देकर धर्मात्मा बनना और कहलाना चाहते हैं वे बड़े भ्रममें हैं। भगवान्के यहाँ इतना अन्धेर नहीं है, वहाँ सबकी सच्ची परख होती है।

अतएव परमात्मापर विश्वास करके व्यापारमें झूठ-कपटको सर्वथा त्याग देना चाहिये। किसी भी चीजमें दूसरी कोई चीज कभी मिलानी नहीं चाहिये। वजनमें ज्यादा करनेके लिये रूई, पाट, गल्ले आदिमें पानी मिलाना या गीली जगहमें रखना नहीं चाहिये। खाद्य पदार्थोंमें मिलावट करके लोगोंके स्वास्थ्य और धर्मको कभी नहीं बिगाड़ना चाहिये। वजन, नाप और गिनतीमें न तो कम देना चाहिये और न ज्यादा लेना चाहिये। नमूनेके अनुसार ही मालका लेन-देन करना अत्यन्त आवश्यक है।

आढ़त ठहराकर किसी भी तरहसे महाजनकी एक पाई ज्यादा लेना बड़ा पाप है। इससे खूब बचना चाहिये। इसी प्रकार कमीशनके काममें भी धोखा देकर काम नहीं करना चाहिये। दलालको भी चाहिये कि वह सच्चा रुख बताकर लेने-बेचनेवालेको भ्रमसे बचाकर अपने हक और मेहनतका ही पैसा ले।

हम जिसके साथ व्यवहार करें उसके साथ हमें वैसा ही बर्ताव करना चाहिये जैसा हम अपने साथ चाहते हैं। हम जैसा अपने हित और स्वार्थका खयाल रखते हैं वैसा ही उसके हित और स्वार्थका भी खयाल रखना चाहिये। सबसे उत्तम तो वह है कि जो अपना स्वार्थ छोड़कर पराया हित सोचता है—दूसरेके स्वार्थके लिये अपने स्वार्थको त्याग देता है। व्यापार करनेवाला होनेपर भी ऐसा पुरुष वास्तवमें साधु ही है।

आजकल सट्टेकी प्रवृत्ति देशमें बहुत बढ़ गयी है। सट्टेसे धन, जीवन और धर्मको कितना धक्का पहुँच रहा है, इस बातपर देशके मनस्वियोंको विचारकर शीघ्र ही इसे रोकनेका पूरा प्रयत्न करना चाहिये। पहले यह सट्टा अधिकतर बम्बईमें ही था और जगह कहीं-कहीं बरसातके समय बादलोंके सौदे हुआ करते थे, परन्तु अब तो इसका विस्तार चारों ओर प्रायः सभी व्यापार-क्षेत्रोंमें हो गया है। कुछ वर्षों पूर्व व्यापारी लोग सट्टे-फाटकेसे घृणा करने और सट्टेबाजोंके पास बैठने और उनसे बातें करनेमें हिचकते थे, पर अब ऐसे व्यापारी बहुत ही कम मिलते हैं जो सट्टा न करते हों। सट्टा उसे कहते हैं कि जिसमें प्रायः मालका लेन-देन न हो, सिर्फ समयपर घाटा-नफा दिया-लिया जाय। रूई, पाट, हेसियन, गल्ला, तिलहन, हुण्डी-शेयर और चाँदी आदि प्रायः सभी व्यापारी वस्तुओंका सट्टा होता है। सट्टेबाज न कमानेमें सुखी रहता है न खोनेमें, उसका चित्त सदा ही अशान्त रहता है। सट्टेवालोंके खर्च अनाप-शनाप बढ़ जाते हैं। मेहनतकी कमाईसे चित्त उखड़ जाता है। ये लोग पल-पलमें लाखोंके सपने देखा करते हैं। झूठ-कपटको तो सट्टेका साथी ही समझना चाहिये। सट्टेवालोंकी सदियोंकी इज्जत-आबरू घंटोंमें बरबाद हो जाती है। सट्टेके कारण बड़े शहरोंमें प्रतिवर्ष एक-न-एक आत्महत्या

या आत्महत्याके प्रयत्न सुननेमें आते हैं। आत्महत्याके विचार तो शायद कई बार कितनोंके ही मनमें उठते होंगे। सट्टेबाजोंको आत्माका सुख मिलना तो बहुत दूरकी बात है, वे बेचारे गृहस्थके सुखसे भी वंचित रहते हैं। कई लोगोंका चित्त तो सट्टेमें इतना तल्लीन रहता है कि उन्हें भूख, प्यास और नींदतकका पता नहीं रहता। बीमार पड़ जाते हैं, बेचैनीसे कहीं लुढ़क पड़ते हैं और नींदमें उन्हें प्राय: सपने सट्टेके ही आते हैं। धर्म, देश, माता, पिता आदिकी सेवा तो हो ही कहाँसे, अपने स्त्री-बच्चोंकी भी पूरी सार-सँभाल नहीं होती; घरमें बच्चा बीमारीसे सिसक रहा है, सहधर्मिणी रोगसे व्याकुल है, सट्टेबाज विलायतके तारका पता लगाने बाड़ोंमें भटक रहे हैं। एक सज्जनने यह आँखों देखी दशा वर्णन की थी! खेद है कि इस सट्टेको भी लोग व्यापारके नामसे पुकारते हैं जिसमें न घरका पता है, न संसारका और न शरीरका। मेरी समझसे यदि इतनी तल्लीनता थोड़े समयके लिये भी परमात्मामें हो जाय तो उससे परमार्थके मार्गमें अकथनीय उन्नति हो सकती है। इस सट्टेकी प्रवृत्तिसे मजूरीके काम नष्ट हो रहे हैं। कला नाश हो रही है। इस अवस्थामें यथासाध्य इसका प्रचार रोकना चाहिये।

इस सट्टेके सिवा एक जुआ घुड़दौड़का होता है, जिसमें बड़े-बड़े धनी-मानी लोग जा-जाकर बड़े चावसे दाव लगाया करते हैं। मनु महाराजने जीवोंके जुएको सबसे बड़ा पापकारी जुआ बतलाया है। अतएव सट्टा, जुआ सब तरहसे त्याग करनेयोग्य है। यदि कोई भाई लोभवश या दोष समझकर भी आत्माकी कमजोरीसे सर्वथा त्याग न कर सकें तो कम-से-कम घुड़दौड़में बाजी लगाना तो बिलकुल ही बंद कर दें और सट्टेमें बिना हुई चीज माथे कर-कर बेचनेका काम कभी न करें। बिना हुए माथे कर-कर बेचनेवालेका माल वास्तवमें किसीको लेना नहीं चाहिये, इससे बड़ी भारी हानि होती है। जो सट्टेकी हानि समझकर भी उसका त्याग नहीं करता वह खुद अपनी हिंसाका साधन तो करता ही है, पर दूसरोंको भी यथेष्ट नुकसान पहुँचाता है। जो लोग 'खेला' (कार्नर) वगैरह करके मालके दाम बेहद चढ़ा देते हैं वे बड़ा पाप करते हैं, अतएव खेला करनेवालेमें कभी शामिल नहीं होना चाहिये, उसमें गरीबोंकी आह और उनका बड़ा शाप सहन करना पड़ता है।

कुछ ऐसे व्यापार होते हैं जिनमें बड़ी हिंसा होती है जैसे लाख, रेशम और चमड़ा आदि।

लाख कीड़ोंसे उत्पन्न होती है। वृक्षोंसे लाल गोंद-जैसे टुकड़े उतारे जाते हैं, उसमें दो प्रकारके जीव रहते हैं। एक तो बहुत बारीक रहते हैं जो बरसातमें गरमीसे जहाँ लाख पड़ी होती है वहाँ निकल-निकलकर दीवारोंपर चढ़ जाते हैं, दीवाल उन कीड़ोंसे लाल हो जाती है। दूसरे जीव लंबे कीड़े-जैसे होते हैं, ये लाखके बीज समझे जाते हैं, इन असंख्य जीवोंकी बुरी तरह हिंसा होती है। प्रथम तो लाखके धोनेमें ही असंख्य प्राणी मर जाते हैं फिर थैलियोंमें भरकर जलती हुई भट्ठीमें उसे तपाया जाता है जिससे चपड़ा बनता है, जानवरोंके खूनका लखवटिया बनता है। जिस समय उसको तपाते हैं उस समय उसमें चटाचट शब्द होता है। चारों ओर दुर्गन्ध फैली रहती है, पानी खराब हो जाता है जिससे बीमारियाँ फैलती हैं। इस व्यवहारको करनेवाले अधिकांश वैश्य भाई ही हैं।*

इसी प्रकार रेशमके बननेमें भी बड़ी हिंसा होती है। रेशमसहित कीड़े उबलते जलमें डाल दिये जाते हैं, वे सब बेचारे उसमें झुलस जाते हैं, पीछे उनपर लिपटा हुआ रेशम निकाल लिया जाता है।

चमड़ेके लिये भारतवर्षमें कितनी गौ-हत्या होती है यह बतलाना नहीं होगा। अतएव लाख, रेशम और चमड़ेका व्यापार और व्यवहार प्रत्येक धर्मप्रेमी सज्जनको त्याग देना चाहिये।

कुछ लोग केवल व्याजका पेशा करते हैं। यद्यपि व्याजका पेशा निषिद्ध नहीं है परन्तु व्यापारके साथ ही रुपयेका व्याज उपजाना उत्तम है। व्याजके साथ व्यापार करनेवाला कभी अकर्मण्य नहीं होता, आलसी और नितान्त कृपण भी नहीं होता। उसमें व्यापारकुशलता आती है। लड़के-बच्चे काम सीखते हैं। कर्मण्यता बढ़ती है। अतएव केवल व्याजका ही पेशा नहीं करना चाहिये परन्तु यदि कोई ऐसा न कर सके तो लोभवश गरीबोंको लूटना तो अवश्य छोड़ दे। व्याजके पेशेवाले गरीबोंपर बड़ा अत्याचार किया करते हैं। कम रुपये देकर ज्यादाका दस्तावेज लिखवाते हैं। जरा-जरा-सी बातपर उनको तंग करते हैं। व्याजपर रुपया लेनेवाले लोगोंकी सारी कमाई

* बड़े खेदकी बात है कि मारवाड़ी समाजमें इसी लाखकी चूड़ियाँ सोहागका चिह्न समझकर स्त्रियाँ पहनती हैं, इन चूड़ियोंको बनानेवाले मुँहमाँगे दाम लेते हैं। जिस लाखमें इतनी हिंसा होती है, जो इतनी अपवित्र है उसकी चूड़ियोंका तुरंत त्याग कर देना चाहिये। इसीलिये इसके बदलेमें काँचकी चूड़ियोंके प्रचारकी कोशिश हो रही है, कलकत्तेमें गोविन्दभवन-कार्यालय, १५१, महात्मा गाँधीरोडको पत्र लिखनेसे काँचकी सुन्दर सस्ती मजबूत ठीक लाखकी-सी पात लगी हुई चूड़ियाँ मिल सकती हैं। प्रत्येक धर्मप्रेमीको उनके प्रचारमें सहायता करनी चाहिये।—सम्पादक

व्याज भरते-भरते पूरी हो जाती है। कमाई ही नहीं, स्त्रियोंका जेवर, पशु, धन, जमीन, घर-द्वार सब उस व्याजमें चले जाते हैं। व्याजके पेशेवाले निर्दयतासे उनके जमीन-मकानको नीलाम करवाकर गरीब स्त्री-बच्चोंको राहका कंगाल निराधार बना देते हैं। लोभसे ये सारे पाप होते हैं। इन पापोंकी अधिक वृद्धि प्रायः केवल व्याजका पेशा करनेवालोंके अत्यधिक लोभसे होती है। अतएव व्याज कमानेवालोंको कम-से-कम लोभसे अन्याय तो नहीं करना चाहिये।

यथासाध्य विदेशी वस्त्र और अन्यान्य विदेशी वस्तुओंके व्यापारका त्याग करना चाहिये।

सबसे पहली और अन्तिम बात यह है कि झूठ, कपट, छलका त्यागकर, दूसरेको किसी प्रकारका नुकसान न पहुँचाकर न्याय और सत्यताके साथ व्यापार करना चाहिये। यह तो व्यापार-शुद्धिकी बात संक्षेपसे कही गयी। इतना तो अवश्य ही करना चाहिये। परन्तु यदि वर्णधर्म मानकर निष्कामभावसे व्यापारके द्वारा परमात्माकी पूजा की जाय तो इसीसे परमपदकी प्राप्ति भी हो सकती है।

व्यापारसे मुक्ति

असत्य, कपट और लोभ आदि त्याग करके यदि भगवत्-प्रीत्यर्थ न्याययुक्त व्यापार किया जाय तो वही मुक्तिका मुख्य साधन बन सकता है। मुक्तिमें प्रधान हेतु भाव है, क्रिया नहीं है। शास्त्रविधिके अनुसार सकाम भावसे यज्ञ, दान, तप आदि उत्तम कर्म करनेवाला मुक्ति नहीं पाता, सकाम बुद्धिके कारण वह या तो उस सिद्धिको प्राप्त होता है जिसके लिये वह उक्त सत्कार्य करता है या निश्चित कालके लिये स्वर्गको प्राप्त करता है। परन्तु निष्कामभावसे किया हुआ अल्प कर्म भी मुक्तिका हेतु बन सकता है। इसीलिये सकाम कर्मको तुच्छ और अल्प कहा है, कुछ भी न करनेवालेकी अपेक्षा सकाम यज्ञादि कर्म करनेवाले बहुत ही उत्तम हैं और इन लोगोंको प्रोत्साहन ही मिलना चाहिये, परन्तु सकामभाव रहनेतक वह कर्म स्त्री, धन, मान-बड़ाई या स्वर्गादिके अतिरिक्त परमपदकी प्राप्ति करानेमें समर्थ नहीं होता। इसीसे गीतामें भगवान्ने सकाम कर्मको निष्कामकी अपेक्षा नीचा बताया है (देखो गीता अ० २।४२, ४३, ४४; अ० ७।२०, २१, २२; अ० ९।२०, २१)। पक्षान्तरमें निष्काम कर्मकी प्रशंसा करते हुए भगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(गीता २।४०)

'इस निष्काम कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और विपरीत फलरूप दोष भी नहीं होता है। इसलिये इस निष्काम कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है।' अतएव मुक्तिकामियोंको निष्काम कर्मका आचरण करना चाहिये। मुक्तिके लिये आवश्यकता ज्ञानकी है, किसी अन्य बाह्य उपकरणकी नहीं, इसीसे मुक्तिका अधिकार साधनसम्पन्न होनेपर सभीको है। व्यापारी भाइयोंको व्यापार छोड़नेकी आवश्यकता नहीं। वे यदि चाहें तो व्यापारको ही मुक्तिका साधन बना सकते हैं। भगवान्ने वर्ण-धर्मका वर्णन करते हुए कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

'जिस परमात्मासे सर्व भूतोंकी उत्पत्ति हुई है, जिससे यह सर्व जगत् (जलसे बर्फकी भाँति) व्याप्त है, उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।'

इस मन्त्रके अनुसार वैश्य अपने वर्णोचित कर्म व्यापारके द्वारा ही भगवान्को पूजकर परम सिद्धि पा सकते हैं। इस भावनासे व्यापार करनेवाले सरलता और सुगमताके साथ संसारका सब काम सुचारुरूपसे करते हुए भी मनुष्य-जीवनके अन्तिम ध्येयको प्राप्त कर सकते हैं। लोभ या धनकी इच्छासे न कर, कर्तव्यबुद्धिसे व्यापार करना चाहिये। कर्तव्यबुद्धिसे किये हुए कर्ममें पाप नहीं रह सकते! पाप होनेका कारण लोभ और आसक्ति है। कर्तव्यबुद्धिमें इनको स्थान नहीं है। कर्तव्यबुद्धिके व्यापारसे अन्तःकरणकी शुद्धि और ईश्वरकी प्रसन्नता होती है। शुद्ध अन्तःकरणमें तत्त्वज्ञानकी स्फुरणा होती है और उससे भगवत्कृपा होनेपर परमपदकी सुलभतासे प्राप्ति होती है। परमपद-प्राप्ति करनेकी इच्छा न रखकर केवल भगवत्-प्रीत्यर्थ व्यापार करनेवाला और भी उत्तम तथा प्रशंसनीय है।

गीताके उपर्युक्त मन्त्रके अनुसार जब यह विवेक हो जाता है कि सारा संसार ईश्वरसे उत्पन्न है और वह ईश्वर ही समस्त संसारमें स्थित है, तब फिर उसका विस्मरण कभी नहीं हो सकता। परमात्माके इस चेतन और विज्ञानस्वरूपकी नित्य जागृति रहनेके कारण माया या अन्धकारके कार्यरूप काम, क्रोध, लोभ, मोहादि शत्रु

कभी उसके समीप ही नहीं आ सकते। प्रकाशमें अन्धकारको स्थान कहाँ है? व्यापारमें असत्य, छल, कपटादि करनेकी प्रवृत्ति काम, लोभादि दोषोंके कारण ही होती है। जब काम-लोभादिका अभाव हो जाता है तब व्यापार स्वतः ही पवित्र बन जाता है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि उस व्यापारसे ईश्वर-पूजा कैसे की जाय। पूजाके लिये शुद्ध वस्तु चाहिये। पापरहित व्यापार शुद्ध तो हो गया, पर पूजा कैसे हो? पूजा यही है कि लोभके स्थानमें ईश्वरप्रीतिकी भावना कर ली जाय। पतिव्रता रमणीकी भाँति समस्त कार्य ईश्वर-प्रीत्यर्थ, ईश्वरके आज्ञानुसार हो। ऐसे व्यापार-कार्यमें किसी दोषको स्थान नहीं रह जाता और यदि कहीं भ्रमसे अनजानमें कोई दोष हो भी जाता है तो वह दोष नहीं समझा जाता। कारण, उसमें सकाम भाव नहीं है। यदि कोई मनुष्य स्वार्थ, मान-बड़ाईका सर्वथा त्याग कर लोकसेवाके कार्यमें लग जाता है और कभी दैवयोगसे उससे कोई भूल बन जाती है, तब भी उसे कोई दोष नहीं देते और न उसे दोष लगता है। यह स्वार्थत्यागका—निष्काम भावका महत्त्व है। यदि कोई कहे कि स्वार्थ बिना व्यापारमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी, जब कोई स्वार्थ ही नहीं तब व्यापार कोई क्यों करेगा? इसके उत्तरमें यह कहा जाता है कि स्वार्थ देखनेकी इच्छा हो तो इसमें बड़ा भारी स्वार्थ भी समाया हुआ है। अन्तःकरणकी शुद्धि होकर ज्ञान उत्पन्न होना और उससे परमात्माकी प्राप्ति हो जाना क्या कम स्वार्थ है? यही तो परम स्वार्थ है। पर इस स्वार्थकी बुद्धि भी जितने अंशमें अधिक त्याग की जाय, उतनी ही जल्दी सिद्धि होती है। स्वार्थ-बुद्धि हुए बिना लोग प्रवृत्त नहीं हो सकते, इसीलिये यहाँपर यह स्वार्थ बतलाया गया है, नहीं तो स्वार्थके लिये किसी कर्ममें प्रवृत्त होना बहुत उत्तम बात नहीं है।

यदि यह शंका हो कि लोभ-बुद्धि रखे बिना तो व्यापारमें नुकसान ही होगा, कभी लाभ होना सम्भव नहीं। यदि ऐसा है तो फिर यह काम केवल धनी लोग ही कर सकते हैं, सर्वसाधारणके लिये यह उपाय उपयुक्त नहीं है। पर ऐसी बात नहीं है। एक ईमानदार सच्चा गुमाश्ता मालिकके आज्ञानुसार मालिकके लिये बड़ी कुशलतासे आलस्य और प्रमाद छोड़कर दूकानका काम करता है, मालिकसे अपनी उन्नति चाहनेके सिवा दूकानके किसी काममें उसका अन्य कोई स्वार्थ नहीं है। न उसे अन्य स्वार्थ-बुद्धि ही है। इस कार्यमें कहीं उन्नतिमें बाधा नहीं आती। इसी प्रकार भक्त अपने भगवान्‌की प्रीतिरूप स्वार्थका आश्रय लेकर सब कुछ भगवान्‌का समझकर उसके आज्ञानुसार सारा कार्य करे तो उसकी उन्नतिमें कोई बाधा नहीं आ सकती। रही धनकी बात, सो धनवान् निःस्वार्थबुद्धिसे कार्य कर सकता है, गरीब नहीं कर सकता, यह मानना भ्रममूलक है। दृष्टान्त तो प्रायः इसके विपरीत मिला करते हैं। धन तो निःस्वार्थ भावमें बाधक होता है। जो स्वार्थबुद्धिसे सर्वथा छूटा हुआ हो उसकी बात तो दूसरी है, नहीं तो धनसे अहंकार, ममता, लोभ और प्रमाद उत्पन्न हो ही जाते हैं। न्याययुक्त निःस्वार्थ व्यापारके लिये अधिक पूँजीकी भी आवश्यकता नहीं है। वास्तवमें इसमें थोड़ी या ज्यादा पूँजीका प्रश्न नहीं है, सारी बात निर्भर है कर्ताकी बुद्धिपर! एक पूँजीपति निःस्वार्थबुद्धि न होनेसे बड़ी पूँजीके व्यापारसे गरीबोंकी सेवा नहीं कर सकता, पर एक तैल, नमक, भूजा बेचनेवाला गरीब दूकानदार निःस्वार्थबुद्धि होनेके कारण संसारकी सेवा करनेमें समर्थ होता है। बड़ा व्यापारी पापबुद्धिसे नरकोंमें जा सकता है परन्तु पान-सुपारी बेचनेवाला निःस्वार्थी भक्त, गरीब जनतारूप परमात्माकी सेवा कर परमपदको प्राप्त कर सकता है।

दूकानदारको यह बुद्धि रखनी चाहिये कि उसकी दूकानपर जो ग्राहक आता है, वह साक्षात् परमात्माका ही स्वरूप है। जैसे लोभी दूकानदार, झूठ, कपट करके दिखौवा आदर-सत्कार या प्रेम करके हर तरहसे ग्राहकको ठगना चाहता है, वैसे ही इस दूकानदारको चाहिये कि वह सच्ची सरल बातोंसे सच्चे प्रेमके साथ ग्राहकको सब बातें यथार्थ समझाकर उसका जिस बातमें हित होता हो वही करे, लोभीकी दूकानपर जैसे ग्राहक बार-बार नहीं आया करते; क्योंकि आये ग्राहकको ठग लेनेमें ही वह अपना कर्तव्य समझता है और ऐसा ही दूकानदार आजकल चतुर और कमाऊ समझा जाता है, इसी प्रकार यह समझकर कि ग्राहकरूपी परमात्मा बार-बार नहीं आते, इनकी जो कुछ भी सेवा मुझसे हो जाय सो थोड़ी है, उसके साथ पूरी तरहसे उसके हितको देखते हुए पूर्ण सत्यताका व्यवहार करना चाहिये।

संसारका सब धन परमात्माका है, हम सब उसकी प्रजा हैं, परमात्माने योग्यतानुसार सबको खजाना सँभलाकर हमें उसकी रक्षा और यथायोग्य व्यवहारकी आज्ञा दी है।

अतएव कोई भी काम छोटा-बड़ा नहीं है। जिसके पास अधिक रुपये हैं और ज्यादा काम जिम्मे है वह बड़ा है और कमवाला छोटा है सो बात नहीं है। छोटे-बड़े सबको एक दिन सब कुछ दूसरेको सौंपकर मालिकके घर जाना पड़ता है। जो मालिकका काम ईमानदारीसे चलाकर जाता है वह सुखसे जाता है और तरक्की पाता है, मालिकके मन चढ़ जानेपर मालिकके बराबरका

हिस्सेदार भी बन सकता है और जो बेईमानीसे मालिककी चीजको अपनी समझकर कर्तव्य भूलकर छल-कपट करके जाता है वह दण्डका और अवनतिका पात्र होता है।

एक पिताके कई पुत्र हैं, सबका दूकानमें समान हिस्सा है, पर सब अलग-अलग काम देखते हैं। एक सेठाई करता है, एक दूकानदारी करता है, एक रोकड़का काम देखता है, एक घरका काम देखता है, एक रुपये उगाहनेका काम करता है, सभी उस एक ही फर्मकी उन्नतिमें लगे हैं। पिताने काम बाँट दिये हैं उसी तरह काम कर रहे हैं। इनमें हिस्सेके हिसाबमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है, परंतु अलग-अलग अपना काम न कर यदि सभी सेठाई या सभी दूकानदारी करना चाहें तो सारी व्यवस्था बिगड़ जाती है। इसी प्रकार परम पिता परमात्माके सब सन्तान भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं, जो उसका सेवक बनकर निःस्वार्थभावसे उसके आज्ञानुसार कार्य करता है वही उसको अधिक प्यारा है।

नाटकमें नाटकका स्वामी यदि स्वयं एक मामूली चपरासीका पार्ट करता है, तो वह छोटा थोड़े ही बन जाता है। जिसके जिम्मे जो काम हो उसे वही करना चाहिये। जिसका कार्य सुन्दर और स्वार्थरहित होगा उसीपर प्रभु प्रसन्न होंगे।

अतएव प्राणिमात्रको परमात्माका स्वरूप और पूजनीय समझकर झूठ, कपट, छलको त्यागकर स्वार्थ-बुद्धिसे रहित हो अपने-अपने कार्यद्वारा सर्वव्यापी परमात्माकी पूजा करनी चाहिये। मनमें सदा यह भावना रखनी चाहिये कि किस तरह मैं इस रूपमें मेरे सामने प्रत्यक्ष रहनेवाले परमात्माकी सेवा अधिक कर सकूँ। इस भावनासे व्यापार आप ही सुधर सकता है और इससे एक व्यापारी दूकानपर बैठा हुआ कुछ भी व्यापार करता हुआ सरलताके साथ परमात्माकी सेवा कर उन्हें प्रसन्न कर सकता है। व्यापारी, दलाल, वकील, डॉक्टर, जमींदार, किसान सभी कोई अपनी-अपनी आजीविकाके पेशेद्वारा इस बुद्धिसे परमात्माकी सेवा कर सकते हैं।

सारी बात नीयतपर निर्भर है। मालिककी पूँजी बनी रहे और आनेवाले महाजनोंकी हर तरहसे सेवा होती रहे, इसी भावसे सबको सबके साथ बर्ताव करना चाहिये। अपने-अपने कर्मोंद्वारा ग्राहकोंको सरलताके साथ निःस्वार्थबुद्धिसे सुख पहुँचाना ही स्वकर्मके द्वारा परमात्माकी पूजा करना है और इस पूजारूप भक्तिसे परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस भावको जाग्रत् रखनेके लिये भगवान्के नाम-जपकी आवश्यकता है। जैसे बिगुलकी आवाजसे सिपाही सावधान रहते हैं ऐसे ही नाम-जपकी बिगुल बजाते रहकर मन-इन्द्रियोंको सदा सावधान रखना चाहिये और बुद्धिके द्वारा श्रीमद्भगवद्गीताके उपर्युक्त १८। ४६के मन्त्रका बारम्बार मनन और विचारकर तदनुसार अपनेको बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये। ऐसा हो जानेपर अनायास ही 'व्यापारके द्वारा मुक्ति' हो सकती है।

मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है या परतन्त्र ?

कोई कहते हैं कि 'संसारमें कर्म ही प्रधान है, जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल मिलता है', दूसरे कहते हैं कि 'ईश्वर ही सबको बंदरकी तरह नचाते हैं।' इन दोनों मतोंमें परस्पर विरोध मालूम होता है। यदि कर्म ही प्रधान है और मनुष्य कर्म करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र है तो ईश्वरका बाजीगरकी भाँति जीवको नचाना सिद्ध नहीं होता और न ईश्वरकी कोई महत्ता ही रह जाती है। पक्षान्तरमें यदि ईश्वर ही सब कुछ करवाता है, मनुष्य कर्म करनेमें सर्वथा परतन्त्र है तो किसीके द्वारा किये हुए बुरे कर्मका फल उसे क्यों मिलना चाहिये? जिस ईश्वरने कर्म करवाया, फल-भोगका भागी भी उसे ही होना चाहिये, पर ऐसा देखा नहीं जाता। इस तरहके प्रश्न प्रायः उठा करते हैं, अतएव इस विषयपर कुछ विवेचन किया जाता है।

मेरी समझसे जीव वास्तवमें परमेश्वर और प्रकृतिके अधीन है। कम-से-कम फल भोगनेमें तो वह सर्वथा परतन्त्र है। धन, स्त्री, पुत्र, कीर्ति आदिका संयोग-वियोग कर्मफलवश परवशतासे ही होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। नवीन कर्मोंके करनेमें भी वह है तो परतन्त्र ही, परन्तु कुछ अंशमें स्वतन्त्र भी है, या यों कहिये कि स्वेच्छासे मौका पाकर वह अनधिकार स्वतन्त्र आचरण करने लगता है, इसीसे उसे दण्डका भोग भी करना पड़ता है।

बंदर बाजीगरके अधीन है, उसके गलेमें रस्सी बँधी है, मालिककी इच्छाके अनुकूल नाचना ही उसका कर्तव्य है, यदि वह मालिकके इच्छाके विपरीत किंचित् भी आचरण नहीं करता तो मालिक प्रसन्न होकर उसे अच्छा खाना देता है, अधिक प्यार करता है। कदाचित् वह मालिकके इच्छानुसार नहीं चलता—प्रतिकूल आचरण करता है तो मालिक उसे मारता है—दण्ड देता है। इस दण्ड देनेमें भी उसका हेतु केवल यही है कि वह उसके अनुकूल बन जाय। बाजीगर बंदरको मारता हुआ भी यह नहीं चाहता कि बंदरका बुरा हो; क्योंकि इस अवस्थामें भी वह उसे खानेको देता है, उसका पालन-पोषण करता है।

इसी प्रकारका बर्ताव सन्तानके प्रति माता-पिताका हुआ करता है, अवश्य ही बाजीगरकी अपेक्षा माता-पिताके बर्तावका दर्जा ऊँचा है। बाजीगरका वह बर्ताव—भूलपर दण्ड देते हुए भी पोषण करना—केवल स्वार्थवश होता है। माता-पिता अपने स्वार्थके अतिरिक्त सन्तानका निजका हित भी सोचते हैं; क्योंकि वह उनका आत्मा है। परन्तु परमात्माका दर्जा तो इन दोनोंसे भी ऊँचा है; क्योंकि वह अहैतुक प्रेमी तथा सर्वथा स्वार्थशून्य है। वह जो कुछ करता है, सब हमारे हितके लिये ही करता है। वास्तवमें हम सर्वथा उसके अधीन हैं, तथापि उसने हमें दयापूर्वक इच्छानुसार सत्कर्म करनेका अधिकार दे रखा है। उसके आज्ञानुसार कर्म करना ही हमारा वह अधिकार है। यदि हम उस अधिकारका व्यतिक्रम करते हैं तो वह परम पिता हमें बड़े प्यारसे हमारा दोष दूर करनेके लिये—हमें कुपथसे हटाकर सुपथपर लानेके लिये दण्ड देता है। उसका दण्डविधान कहीं-कहीं भीषण प्रतीत होनेपर भी दया और प्रेमसे लबालब भरा रहता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ ईश्वर मनुष्यको अपने अधिकारका अतिक्रम करने ही क्यों देता है? वह तो सर्वसमर्थ है, क्षणभरमें अघटन-घटना घटा सकता है, फिर वह मनुष्यको उसके अधिकारोंके बाहर दुष्कर्मोंमें प्रवृत्त ही क्यों होने देता है? इसका उत्तर इस दृष्टान्तसे समझनेकी चेष्टा कीजिये—

सरकारने किसी व्यक्तिको आत्मरक्षार्थ बंदूक रखनेकी सनद दी है, बंदूक उसके अधिकारमें है, वह जब चाहे तभी उसका यथेच्छ उपयोग कर सकता है। परन्तु कानूनसे उसे मर्यादाके अंदर ही उपयोग करनेका अधिकार है, चोरी करने, डाका डालने, किसीका खून करने या ऐसे ही किसी बेकानूनी अन्याय-कार्यमें वह उस बंदूकका उपयोग नहीं कर सकता। करता है तो उसका वह कार्य अन्याय और नियमविरुद्ध समझा जाता है, परिणाममें उसकी सनद छीन ली जाती है और वह उपयुक्त दण्डका पात्र होता है। अथवा यों समझिये कि किसी राज्यमें किसी व्यक्तिको कोई अधिकार राजाकी ओरसे इसलिये दिया गया है कि अपने अधिकारके अनुसार प्रजाकी सेवा करता हुआ राज्यका वह काम, जो उसके जिम्मे है नियमानुसार सुचारुरूपसे करे। वह यदि सुचारुरूपसे नियमानुसार काम करता है तो राजा प्रसन्न होकर उसे पुरस्कार दे सकता है, उसकी पदोन्नति हो सकती है और वह बढ़ते-बढ़ते अन्ततक राज्यका पूरा अधिकारी भी हो सकता है। परन्तु यदि वह अपने अधिकारका दुरुपयोग करे, कानूनके विरुद्ध कार्यवाही करने लगे तो उसका अधिकार छिन जाता है और उसे दण्ड मिलता है। यह सब होते हुए भी बंदूकका या अपने अधिकारका दुरुपयोग करते समय सरकार या राजा उसका हाथ पकड़ने नहीं आते। कार्य कर चुकनेपर ही उपयुक्त दण्ड मिलता है। इसी प्रकार परमात्माने भी हमें सत्कर्म करनेका अधिकार दे रखा है, परन्तु हम दुष्कर्म करते हैं तो वह हमें रोकता नहीं, कर्म करनेपर उसका यथोचित दण्ड देता है।

यहाँपर फिर यह प्रश्न होता है कि इस जगत्‌की सरकार या यहाँके राजा तो सर्वज्ञ या सर्वव्यापी न होनेसे कानून तोड़कर अधिकारका दुरुपयोग करनेवालोंके हाथ नहीं पकड़ सकते परन्तु परमात्मा जो सर्वज्ञ, न्यायकारी, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् है, उससे तो मन, वाणी, शरीरकी कोई क्रिया छिपी नहीं है। वह दुष्कर्म करनेवाले मनुष्यका हाथ पकड़कर उसे बलात् क्यों नहीं रोक देता? इसका उत्तर यही है कि परमात्माकी विधि इस तरह रोकनेकी नहीं है, उसने मनुष्यको अपने जीवनमें कर्म करनेकी स्वतन्त्रता दे रखी है। पर साथ ही दया करके उसे शुभाशुभ परखनेवाली बुद्धि या विवेक भी दे दिया है, जिससे वह भले-बुरेका विचार कर अपना कर्तव्य निश्चय कर सके और यह भी घोषणा कर दी है कि यदि कोई मनुष्य अनधिकार—शास्त्रविपरीत चेष्टा करेगा तो उसे अवश्य दण्ड भोगना पड़ेगा। इससे यह सिद्ध हो गया कि बाजीगरके बंदरकी भाँति ईश्वर ही सबको नचाता है, सभी उसके अधीन हैं परन्तु जैसे भूल करनेवाले बंदरको दण्ड मिलता है, इसी प्रकार ईश्वरकी आज्ञा न माननेवालेको भी दण्डका भागी होना पड़ता है। अवश्य ही नाच भगवान् नचाते हैं परन्तु नाचनेमें मालिकके इच्छानुसार या उसके प्रतिकूल नाचना बंदरके अधिकारमें है। सरकार या राजाने अधिकार दिया है परन्तु उन्होंने उसका दुरुपयोग करनेकी आज्ञा नहीं दी है। भगवान्‌ने भी मनुष्य-जीवन प्रदान कर सत्कर्मोंके द्वारा क्रमशः उन्नत होकर परमपद प्राप्त करनेका अधिकार हमें प्रदान किया है, परन्तु पाप करनेकी आज्ञा उन्होंने नहीं दी है। जब एक न्यायपरायण मामूली राजा भी अपने किसी अफसरको अधिकारका दुरुपयोग कर पाप करनेकी आज्ञा नहीं देता, तब भगवान् तो ऐसी आज्ञा दे ही कैसे सकते हैं? अतएव यह बात भी ठीक है कि मनुष्य सर्वथा ईश्वरके अधीन है। साथ ही यह भी सत्य है कि वह ईश्वरप्रदत्त अधिकारका सदुपयोग कर परम उन्नति और उसका दुरुपयोग कर अत्यन्त अधोगतिको भी प्राप्त हो सकता है।

अब यह प्रश्न होता है कि 'भगवान्‌की आज्ञा न होने और परिणाममें दुःखकी सम्भावना होनेपर भी मनुष्य भगवदिच्छाके विरुद्ध पापाचरण क्यों करता है? किस कारणसे वह जान-बूझकर पापोंमें प्रवृत्त होता है?' इस

प्रश्नपर विचार करनेसे यही प्रतीत होता है कि इस पापकी प्रवृत्तिका कारण अज्ञान है। अज्ञानसे आवृत होकर ही सब जीव मोहित हो रहे हैं, '**अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥**' (गीता ५। १५)।

प्रकृतिके दो स्वरूप हैं, विद्यात्मक और अविद्यात्मक। इन दोनोंमें अविद्यात्मक प्रकृतिका स्वरूप अज्ञान है। इसी अज्ञानसे उत्पन्न अहंकार, आसक्ति आदि दोषोंके वश होकर मनुष्य पापमें प्रवृत्त होता है। संसारमें अविद्या आदि पाँच क्लेश महर्षि पतंजलिने भी माने हैं—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः॥

(यो० सा० ३)

'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—यह पाँच क्लेश कहलाते हैं।' इनमें पिछले चारों क्लेशोंकी उत्पत्ति अविद्यासे ही होती है। संसारके सब प्रकारके क्लेशोंमें ये पाँच ही हेतु हैं। इन्हीं अज्ञानज पंचक्लेशोंसे मनुष्य परिणाम भूलकर पाप करता है।

इन पाँचोंकी संक्षिप्त व्याख्या यह है—'अविद्या' जिससे अनित्यमें नित्य-बुद्धि, अशुचिमें शुचि-बुद्धि, दुःखमें सुख-बुद्धि और अनात्ममें आत्म-बुद्धिरूप विपरीत ज्ञान हो रहा है। 'अस्मिता' अहंकार या 'मैं' भावको कहते हैं, जो समस्त बन्धनोंका हेतु है। 'राग' आसक्तिका नाम है, इसीसे मनुष्य पापमें लगता है। 'द्वेष' मनके विरुद्ध कार्योंमें होनेवाले भावका नाम है। राग-द्वेषरूप बीजसे ही काम-क्रोधरूप महान् अनर्थकारी वृक्ष उत्पन्न होते हैं। मरणभयको 'अभिनिवेश' कहते हैं। अस्तु—

अर्जुनने भी भगवान्से पूछा था—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३। ३६)

'हे श्रीकृष्ण! फिर यह पुरुष बलात् लगाये हुएके सदृश न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित हुआ पापका आचरण करता है।' इसके उत्तरमें भगवान्ने कहा कि हे अर्जुन!—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यही महा अशन यानी अग्निके सदृश भोगोंसे न तृप्त होनेवाला बड़ा पापी है, इस विषयमें इसको ही तू वैरी जान।' इस कामरूप वैरीका निवास इन्द्रियों, मन और बुद्धिमें है। इन मन, बुद्धि, इन्द्रियोंद्वारा ही इसने ज्ञानको आच्छादित कर जीवात्माको मोहित कर रखा है। अतएव इनको वशमें करके इस ज्ञान-विज्ञानके नाश करनेवाले पापी कामको मारना चाहिये। क्योंकि बुरे कर्म अज्ञान—अविद्याजनित आसक्तिसे या कामनासे होते हैं। जो इनके वशमें न होकर भगवान्के दिये हुए अधिकारके अनुसार बर्तता है, वह यहाँ सर्वतोभावसे सुखी रहकर, अन्तमें परम सुखरूप परमात्माको प्राप्त करता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य कर्म करनेमें परतन्त्र है, परन्तु ईश्वरकी दी हुई स्वतन्त्रतासे कुछ अंशमें स्वतन्त्र भी है।

कर्मका रहस्य

एक सज्जनका प्रश्न है 'जब यह बात निश्चित है कि हम अपने ही कर्मोंका फल भोगते हैं, हमारे कर्मोंके अनुसार ही हमारी अच्छी या खराब बुद्धि होती है, तब हम यह किसलिये कहते हैं कि मनुष्य कुछ नहीं कर सकता, जो कुछ करता है वह ईश्वर ही करता है। ईश्वर तो हमारे कर्मोंके फलको न कम कर सकता है न ज्यादा, तब फिर हम ईश्वरका भजन ही क्यों करें?'

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य अपने कर्मोंका ही फल भोगता है और उसकी बुद्धि भी प्रायः कर्मानुसार होती है। यह भी ठीक है कि कर्मोंके अनुसार बने हुए स्वभावके अनुकूल ईश्वरीय प्रेरणासे ही मनुष्य किसी भी क्रियाके करनेमें समर्थ होता है। ईश्वरीय सत्ता, शक्ति, चेतना, स्फूर्ति और प्रेरणाके अभावमें क्रिया असम्भव है। इस न्यायसे सब कुछ ईश्वर ही कराता है। यह भी युक्तियुक्त सिद्धान्त है कि ईश्वर '**कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्**' समर्थ होनेपर भी कर्मोंके फलको न्यूनाधिक नहीं करता। इतना सब होते हुए भी ईश्वरके भजनकी बड़ी आवश्यकता है। इस विषयका विवेचन करनेसे पहले 'कर्म क्या है', 'उसका भोग किस तरह होता है', 'कर्मफलभोगमें मनुष्य स्वतन्त्र है या परतन्त्र' आदि विषयोंपर कुछ विचार करना आवश्यक है।

शास्त्रकारोंने कर्म तीन प्रकारके बतलाये हैं—(१) संचित, (२) प्रारब्ध और (३) क्रियमाण। अब इनपर अलग-अलग विचार कीजिये—

संचित

संचित कहते हैं अनेक जन्मोंसे लेकर अबतकके संगृहीत कर्मोंको। मन, वाणी, शरीरसे मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, वह जबतक क्रियारूपमें रहता है, तबतक वह क्रियमाण है और पूरा होते ही तत्काल संचित बन जाता है। जैसे एक

किसान चिरकालसे खेती करता है, खेतीमें जो अनाज उत्पन्न होता है उसे वह एक कोठेमें जमा करता रहता है। इस प्रकार बहुत-से वर्षोंका विविध प्रकारका अनाज उसके कोठेमें भरा है, खेती पकते ही नया अनाज उस कोठेमें फिर आ जाता है। इसमें खेती करना कर्म है और अनाजसे भरा हुआ कोठा उसका संचित है। ऐसे ही कर्म करना क्रियमाण और उसके पूरा होते ही हृदयरूप बृहत् भण्डारमें जमा हो जाना संचित है। मनुष्यकी इस अपार संचित कर्मराशिमेंसे, पुण्य-पापके बड़े ढेरमेंसे कुछ-कुछ अंश लेकर जो शरीर बनता है, उसमें उन भोगसे ही नाश होनेवाले कर्मोंके अंशका नाम प्रारब्ध होता है। इसी प्रकार जबतक संचित अवशेष रहता है, तबतक प्रारब्ध बनता रहता है। जबतक इस अनेक जन्मार्जित कर्मसंचितका सर्वथा नाश नहीं होता, तबतक जीवकी मुक्ति नहीं हो सकती। संचितसे स्फुरणा, स्फुरणासे क्रियमाण, क्रियमाणसे पुनः संचित और संचितके अंशसे प्रारब्ध। इस प्रकार कर्मप्रवाहमें जीव निरन्तर बहता ही रहता है। संचितके अनुसार ही बुद्धिकी वृत्तियाँ होती हैं यानी संचितहीके कारण उसीके अनुकूल हृदयमें कर्मोंके लिये प्रेरणा होती है। सात्त्विक, राजस या तामस समस्त स्फुरणाओं या कर्मप्रेरणाओंका प्रधान कारण 'संचित' ही है। यह अवश्य जान रखनेकी बात है कि संचित केवल प्रेरणा करता है, तदनुसार कर्म करनेके लिये मनुष्यको बाध्य नहीं कर सकता। कर्म करनेमें वर्तमान समयके कर्म ही, जिन्हें पुरुषार्थ कहते हैं, प्रधान कारण हैं। यदि पुरुषार्थ, संचितके अनुकूल होता है तो वह संचित-द्वारा उत्पन्न हुई कर्मप्रेरणामें सहायक होकर वैसा ही कर्म करा देता है, प्रतिकूल होता है तो उस प्रेरणाको रोक देता है जैसे किसीके मनमें बुरे संचितसे चोरी करनेकी स्फुरणा हुई, दूसरेके धनपर मन चला परन्तु अच्छे सत्संग, विचार और शुभ वातावरणके प्रभावसे वह स्फुरणा वहीं दबकर नष्ट हो गयी। इसी प्रकार शुभ संचितसे दानकी इच्छा हुई, परन्तु वह भी वर्तमानके कुसंगियोंकी बुरी सलाहसे दबकर नष्ट हो गयी। मतलब यह कि कर्म होनेमें वर्तमान पुरुषार्थ ही प्रधान कारण है। इस समयके शुभ संग और शुभ विचारजनित कर्मोंके नवीन शुभ संचित बनकर, पुराने संचितको दबा देते हैं जिससे पुराने संचितके अनुसार स्फुरणा बहुत कम होने लगती है।

किसानके कोठेमें वर्षोंका अनाज भरा है, अबकी बार किसानने नयी खेतीका अनाज उसमें और भर दिया, अब यदि उसे अनाज निकालना होगा तो सबसे पहले वही निकलेगा जो नया होगा, क्योंकि वही सबसे आगे है। इसी प्रकार संचितके विशाल ढेरमेंसे सबसे पहले उसीके अनुसार मनमें स्फुरणा होगी, जो संचित नये-से-नये कर्मका होगा। मनमें मनुष्यके बहुत विचार भरे हैं परन्तु उसे अधिक स्मृति उन्हीं विचारोंकी होती है, जिनमें वह अपना समय वर्तमानमें विशेष लगा रहा है। एक आदमी साधुसेवी है, परन्तु कुसंगवश वह नाटक देखने लगा, इससे उसे नाटकोंके दृश्य ही याद आने लगे। जिस तरहकी स्फुरणा मनुष्यके मनमें होती है, यदि पुरुषार्थ उसके प्रतिकूल नहीं होता, तो प्रायः उसीके अनुसार वह कर्म करता है, कर्मका वैसा ही नया संचित होता है, उससे फिर वैसी ही स्फुरणा होती है, पुनः वैसे ही कर्म बनते हैं। नाटक देखनेसे उसीकी स्मृति हुई, फिर देखनेकी स्फुरणा हुई, संग अनुकूल था, अतः पुनः देखने गया, पुनः उसीकी स्मृति और स्फुरणा हुई, पुनः नाटक देखने गया। यों होते-होते तो वह मनुष्य साधुसेवारूपी सत्कर्मको छोड़ बैठा और धीरे-धीरे उसकी बात भी वह प्रायः भूल गया। इससे यह सिद्ध हुआ कि सत्संग, सदुपदेश, सद्विचार आदिसे उत्पन्न वर्तमान कर्मोंसे पूर्वसंचितकी स्फुरणाएँ दब जाती हैं, इसीसे यह कहा जाता है कि मनुष्य संचितके संग्रह, परिवर्तन और उसकी क्षय-वृद्धिमें प्रायः स्वतन्त्र है।

अन्तःकरणमें कुछ स्फुरणाएँ प्रारब्धसे भी होती हैं। यद्यपि यह निर्णय करना बहुत कठिन है कि कौन-सी स्फुरणा संचितकी है और कौन-सी प्रारब्धकी है; परन्तु साधारणतः यों समझना चाहिये कि जो स्फुरणा या वासना नवीन पाप-पुण्यके करनेमें हेतुरूप होती हैं, उनका कारण संचित है और जो केवल सुख-दुःख भुगतानेवाली होती हैं, वे प्रारब्धसे होती हैं। प्रारब्धसे होनेवाली वासनासे सुख-दुःखोंका भोग मानसिकरूपसे सूक्ष्म शरीरको भी हो सकता है और स्थूल शरीरके द्वारा क्रिया होकर भी हो सकता है, परन्तु इस प्रारब्धसे उत्पन्न वासनाके परिवर्तनकी स्वतन्त्रता मनुष्यको नहीं है।

प्रारब्ध

यह ऊपर कहा जा चुका है कि पाप-पुण्यरूप संचितके कुछ अंशसे एक जन्मके लिये भोग भुगतानेके उद्देश्यसे प्रारब्ध बनता है। यह भोग दो प्रकारसे भोगा जाता है; मानसिक वासनासे और स्थूल शरीरकी क्रियाओंसे। स्वप्नादिमें या अन्य समय जो तरह-तरहकी वृत्ति-तरंगें चित्तमें उठती हैं, उनसे जो सुख-दुःखका भोग होता है, वह मानसिक है। एक व्यापारीने अनाज खरीदा, मनमें आया कि अबकी बार इस अनाजमें इतना नफा हो गया तो जमीन खरीदकर मकान बनवाऊँगा, नफेके कई कारणोंकी कल्पना भी हो गयी, मन आनन्दसे भर गया, दूसरे ही क्षण मनमें आया कि यदि कहीं भाव मंदा हो गया,

घाटा लगा तो महाजनकी रकम भरनेके लिये घर-द्वार बेचनेकी नौबत आ जायगी, मनमें चिन्ता हुई, चेहरा उतर गया। चित्तमें इस तरहकी सुख-दुःख उत्पन्न करनेवाली विविध तरंगें क्षण-क्षणमें उठा करती हैं। ऊपरका सारा साज-सामान ठीक है, दुःखका कोई कारण नजर नहीं आता, परन्तु मानसिक चिन्तासे मनुष्य बहुधा दुःखी देखे जाते हैं, लोगोंको उनके चेहरे उतरे हुए देखकर आश्चर्य होता है। इसी प्रकार सब प्रकारके बाह्य अभावोंमें दुःखके अनेक कारण उपस्थित होनेपर भी मानसिक प्रसन्नतासे समय-समयपर मनुष्य सुखी होते हैं। पुत्रकी मृत्युपर रोते हुए मनुष्यके मुखपर भी चित्त-वृत्तिके बदल जानेसे क्षणभरके लिये हँसीकी रेखा देखी जाती है। यह भी प्रारब्धका मानसिक भोग है।

प्रारब्ध-भोगका दूसरा प्रकार सुख-दुःखरूप इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंका प्राप्त होना है। सुख-दुःखरूप प्रारब्धका भोग तीन प्रकारसे होता है। जिनको अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छा-प्रारब्ध कहते हैं।

अनिच्छा—राह चलते हुए मनुष्यपर किसी मकानकी दीवालका टूटकर गिर पड़ना, बिजली पड़ जाना, वृक्ष टूट पड़ना, घरमें बैठे हुएपर छत टूट पड़ना, हाथसे अकस्मात् बंदूक छूटकर गोली लग जाना आदि दुःखरूप और राह चलते हुएको रत्न मिल जाना, खेत जोततेको जमीनसे धन मिलना आदि सुखरूप भोग जिनके प्राप्त करनेकी न मनमें इच्छा की थी और न किसी दूसरेकी ही ऐसी इच्छा थी, इस प्रकारसे अनायास दैवयोगसे आप-से-आप सुख-दुःखादिरूप भोगोंका प्राप्त होना अनिच्छा-प्रारब्ध है।

परेच्छा—सोये हुए मनुष्यपर चोर-डाकुओंका आक्रमण होना, जान-बूझकर किसीके द्वारा दुःख दिया जाना आदि दुःखरूप और कुमार्गमें जाते हुएको सत्पुरुषका रोककर बचा देना, कुपथ्य करते हुए रोगीको हाथ पकड़कर वैद्य या मित्रद्वारा रोका जाना, बिना ही इच्छाके दूसरेके द्वारा धन मिल जाना आदि सुखरूप भोग जो दूसरोंकी इच्छासे प्राप्त होते हैं, उनका नाम परेच्छा-प्रारब्ध है। इसमें एक बात बहुत समझनेकी है। एक मनुष्यको किसीने चोट पहुँचायी या किसी मनुष्यने किसीके घरमें चोरी की, इसमें उस मनुष्यको चोट लगना या उसके घरमें चोरी होना तो उनके प्रारब्धका भोग है परन्तु जिसने आघात पहुँचाया और चोरी की, उसने अवश्य ही नवीन कर्म किया है, जिसका फल उसे आगे भोगना पड़ेगा। क्योंकि किसी भी कर्मके भोगका हेतु पहलेसे निश्चित नहीं होता, यदि हेतु निश्चित हो जाय और यह विधान कर दिया जाय कि अमुक पुरुष अमुकके घरमें चोरी करेगा, अमुकको चोट पहुँचावेगा तो फिर ऐसे लोग निर्दोष ठहरते हैं, क्योंकि वे तो ईश्वरीय विधानके वश होकर चोरी-डकैती आदि करते हैं। यदि यही बात है तो फिर ऐसे लोगोंके लिये शास्त्रोंमें दण्डविधान और इन कर्मोंके फलभोगकी व्यवस्था क्यों है?

इसलिये यह मानना चाहिये कि फलभोगके सभी हेतु पहलेसे निश्चित नहीं रहते। जिस क्रियामें कोई अन्याय या स्वार्थ रहता है, जो आसक्तिसे की जाती है, वह क्रिया अवश्य नवीन कर्म है। हाँ, यदि ईश्वर किसी व्यक्तिविशेषको ही किसीके मारनेमें हेतु बनाना चाहे, तो वह फाँसीका दण्ड पाये हुए व्यक्तिको फाँसीपर चढ़ानेवाले न्यायकर्ममें नियुक्त जल्लादकी भाँति किसीको हेतु बना सकते हैं। हो सकता है, उस फाँसी चढ़ानेवालेको चढ़नेवाला पूर्वके किसी जन्ममें मार चुका हो या यह भी हो सकता है कि उससे उसका कोई सम्बन्ध ही न हो और वह केवल न्याययुक्त कर्म ही करता हो।

स्वेच्छा—ऋतुकालमें भार्यागमनादिद्वारा सुख प्राप्त होना, उससे पुत्र होना, न होना या होकर मर जाना, न्याययुक्त व्यापारमें कष्ट स्वीकार करना, उससे लाभ होना, न होना या होकर नष्ट हो जाना आदि स्वेच्छा-प्रारब्ध है। इन कर्मोंके करनेके लिये जो प्रेरणात्मक वासना होती है, उसका कारण प्रारब्ध है। तदनन्तर क्रिया होती है। क्रियाका सिद्ध होना न होना, सुकृत-दुष्कृतका फल है।

स्वेच्छा-प्रारब्धके भोगोंके कारणको समझ लेना बड़ा ही कठिन विषय है। बड़े सूक्ष्म विचार और भाँति-भाँतिके तर्कोंका आश्रय लेनेपर भी निश्चितरूपसे यह कहना नितान्त कठिन है कि अमुक फलभोग हमारे पूर्वजन्मकृत अमुक कर्मोंका फल है जो उनकी प्रेरणासे मिला है या इसी जन्मका कोई कर्म हाथों-हाथ संचितसे प्रारब्ध बनकर इसमें कारण हुआ है।

एक मनुष्यने पुत्रकी प्राप्तिके लिये पुत्रेष्टि या धनलाभके लिये किसी यज्ञका अनुष्ठान किया। तदनन्तर उसे पुत्र या धनकी प्राप्ति हुई। इस पुत्र या धनकी प्राप्तिमें यज्ञ कारण है या पूर्वजन्मकृत कर्म कारण है, इसका यथार्थ निर्णय करना कठिन है। सम्भव है कि उसे पुत्र, धन पूर्वजन्मकृत कर्मके फलरूपमें मिला हो और वर्तमानके यज्ञका फल आगे मिले अथवा क्रिया वैगुण्यसे उसका फल नष्ट हो गया हो! एक आदमी रोगनिवृत्तिके लिये औषध-सेवन करता है, उसकी बीमारी मिट जाती है, इसमें यह समझना कठिन है कि यह उस औषधका फल है या भोग समाप्त होनेपर स्वतः ही 'काकतालीय' न्यायवत् ऐसा हो

गया है[1]। तथापि यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि जो कुछ भी हो, है सब स्वेच्छाकृत कर्मोंके प्रारब्धका फल। कर्मोंका फल अभी हो या आगे हो, यह कोई नियत बात नहीं है, सर्वथा ईश्वराधीन है, इसमें जीवकी पूर्ण परतन्त्रता है। इस जीवनमें पाप करनेवाले लोग धन-पुत्र-मानादिसे सुखी देखे जाते हैं (यद्यपि उनमें कितनोंको मानसिक दुःख बहुत भारी हो सकता है जिसका हमें पता नहीं) और पुण्य करनेवाले मनुष्य सांसारिक पदार्थोंके अभावसे दुःखी देखे जाते हैं, (उनमें भी कितने ही मानसिक सुखी होते हैं) जिससे पाप-पुण्यके फलमें लोगोंको सन्देह होता है, वहाँ यह समझ रखना चाहिये कि उनके वर्तमान बुरे-भले कर्मोंका फल आगे मिलनेवाला है। अभी पूर्वजन्मकृत कर्मोंका अच्छा-बुरा फल प्राप्त हो रहा है।

कहा जाता है कि जो कर्म अधिक बलवान् होता है, उसका फल तुरंत होता है और जो साधारण है, उसका विलम्बसे होता है परन्तु यह नियम भी सब जगह लागू पड़ता नहीं देखा जाता; अतएव यहाँ यही कहना पड़ता है कि त्रिकालदर्शी जगन्नियन्ता परमात्माके सिवा, तर्क-युक्तियोंके बलपर मनुष्य स्वेच्छा-प्रारब्धका निर्णय नहीं कर सकता। कर्म और फलका संयमन करनेवाले योगी ईश्वरकृपासे अपनी योगशक्तिके द्वारा कुछ जान सकते हैं।

क्रियमाण

अपनी इच्छासे जो बुरे-भले नवीन कर्म किये जाते हैं, उन्हें क्रियमाण कहते हैं। क्रियमाण कर्मोंमें प्रधान हेतु संचित है, कहीं-कहीं अपना या पराया प्रारब्ध भी हेतु बन जाता है। क्रियमाण कर्ममें मनुष्य ईश्वरके नियमोंसे बँधा होनेपर भी क्रिया सम्पन्न करनेमें प्रायः स्वतन्त्र है। नियमोंका पालन करना, न करना, उसके अधिकारमें है। इसीसे उसे फलभोगके लिये भी बाध्य होना पड़ता है।

यदि कोई यह कहे कि हमारेद्वारा जो अच्छे-बुरे कर्म हो रहे हैं, सो सब ईश्वरेच्छा या प्रारब्धसे होते हैं तो उसका ऐसा कहना भ्रमात्मक है। पुण्य-पाप करानेमें ईश्वर या प्रारब्धको हेतु माननेसे प्रधानतः चार दोष आते हैं, जो निर्विकार, निरपेक्ष, समदर्शी, दयालु, न्यायकारी और उदासीन ईश्वरके लिये सर्वथा अनुपयुक्त हैं—

(१) जब ईश्वर या प्रारब्ध ही बुरे-भले कर्म कराते हैं तब विधि-निषेध बतलानेवाले शास्त्रोंकी क्या आवश्यकता है? **'सत्यं वद। धर्मं चर।'** [तै० १।११।१] **'मातृदेवो भव। पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव'** [तै० १।११।२] और **'सुरां न पिबेत्, परदारान्नाभिगच्छेत्'** आदि विधि-निषेधमय वाक्योंका उल्लंघन कर मनमाना यथेच्छाचार करनेवाले पापपरायण व्यक्ति यह अनायास कह सकते हैं कि हम तो प्रारब्धके नियन्ता ईश्वरकी प्रेरणासे ही ऐसा कर रहे हैं। अतएव ईश्वरपर शास्त्र-हननका दोष आता है।

(२) जब ईश्वर ही सब प्रकारके कर्म करवाता है, तब उन कर्मोंका फल सुख-दुःख हमें क्यों होना चाहिये? जो ईश्वर कर्म करता है उसे ही फलभोगका दायित्व भी स्वीकार करना चाहिये। ऐसा न करके वह ईश्वर अपना दोष दूसरोंपर डालनेके लिये दोषी ठहरता है।

(३) ईश्वरके न्यायकारी और दयालु होनेमें दोष आता है; क्योंकि कोई भी न्यायकर्ता पापके दण्डविधानमें पुनः पाप करनेकी व्यवस्था नहीं दे सकता। यदि पाप करनेकी व्यवस्था कर दी तो फिर पापियोंके लिये दण्डकी व्यवस्था करना अन्याय सिद्ध होता है। फिर यदि ईश्वर ही पाप कराता है—पापमें हेतु बनता है और फिर दण्ड देता है तब तो अन्यायी होनेके साथ ही निर्दयी भी बनता है।

(४) ईश्वर ही जब पापीके लिये पुनः पाप करनेका विधान करता है तब जीवके कभी पापोंसे मुक्त होनेका तो कोई उपाय ही नहीं रह जाता। पापका फल पाप, उसका फल पुनः पाप, इस तरह जीव पापमें ही प्रवृत्त रहनेके लिये बाध्य होता है जिससे एक तो अनवस्थाका दोष और दूसरे ईश्वर जीवोंको पापबन्धनमें रखना चाहता है, यह दोष आता है।

अतः यह मानना उचित नहीं कि ईश्वर पाप-पुण्य कराते हैं, पाप-कर्मके लिये तो ईश्वरकी कभी प्रेरणा ही नहीं होती, पुण्यके लिये—सत्कर्मोंके लिये ईश्वरका आदेश है परन्तु उसका पालन करना, न करना या विपरीत करना हमारे अधिकारमें है। सरकारी अफसर कानूनके अनुसार चलता हुआ प्रजारक्षणका अधिकारी है परन्तु अधिकारारूढ़ होकर उसका सदुपयोग या दुरुपयोग करना उसके अधिकारमें है, यद्यपि वह कानूनसे बँधा है तथा कानून तोड़नेपर दण्डका पात्र भी होता है, वही हालत कर्म करनेमें मनुष्यके अधिकारकी है।[2]

ईश्वर सामान्यरूपसे सन्मार्गका नित्य प्रेरक होनेके

१. बीमारी पूर्वकृत पापके फलस्वरूप भी होती है और इस समयके कुपथ्य-सेवनादिसे भी। कुपथ्यादिसे होनेवाली बीमारी प्रायः औषधसे नष्ट हो जाती है, पर कर्मजन्य रोग भोग समाप्त होनेतक दूर नहीं होता; परन्तु इस बातका निर्णय होना कठिन है कि कौन-सी बीमारी कर्मजन्य है और कौन-सी कुपथ्यजन्य, इसलिये औषध-सेवन सभी बीमारियोंमें करना चाहिये।

२. इस विषयका विशेष विवेचन 'मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है या परतन्त्र' शीर्षक लेखमें किया गया है, वहाँ देखना चाहिये।

कारण जीवके कल्याणमें सहायक होता है। पापकर्मोंके होनेमें प्रधान हेतु निरन्तर विषयचिन्तन है, इसीसे रजोगुणसमुद्भूत कामकी उत्पत्ति होती है, उस कामसे ही क्रोध आदि दोष उत्पन्न होकर जीवकी अधोगतिमें कारण होते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गीता २। ६२-६३)

'विषयोंको चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है, कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे अविवेक अर्थात् मूढ़भाव उत्पन्न होता है, अविवेकसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, स्मृतिके भ्रमित हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिके नाशसे यह पुरुष अपने श्रेयसाधनसे गिर जाता है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि पापकर्मोंके होनेमें विषयचिन्तनजनित राग—आसक्ति प्रधान कारण है, ईश्वर या प्रारब्ध नहीं। चिन्तन या स्फुरण क्रियमाणके—नवीन कर्मके—नवीन संचितके अनुसार पहले होता है। अतः पापोंसे बचनेके लिये नवीन शुभकर्म करनेकी आवश्यकता है, नवीन शुभकर्मोंसे शुभसंचित होकर शुभका चिन्तन होगा, जिससे शुभकर्मोंके होने और अशुभके रुकनेमें सहायता मिलेगी। इसीलिये अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने पुरुषार्थद्वारा पापकर्मके कारण रागरूप रजोगुणसे उत्पन्न कामका नाश करनेकी आज्ञा दी है। अर्जुनने भगवान्‌से पूछा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३। ३६)

'हे कृष्ण! फिर यह पुरुष बलात् लगाये हुएके सदृश न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है।'

इसके उत्तरमें भगवान् बोले कि—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

'हे अर्जुन! रजोगुणसे उत्पन्न यह काम ही क्रोध है, यही महा अशन अर्थात् अग्निके सदृश भोगोंसे तृप्त न होनेवाला और पापी है, इस विषयमें इसको ही तू वैरी जान।'

आगे चलकर भगवान्‌ने धुएँसे अग्नि, मलसे दर्पण और जेरसे गर्भकी भाँति ज्ञानको ढकनेवाले इस दुष्पूरणीय अग्निसदृश कामके निवासस्थान मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको बतलाकर इन्द्रियोंको वशमें करके ज्ञान-विज्ञाननाशक पापी कामको मारनेकी आज्ञा दी। यदि कामको जय करनेमें जीव समर्थ न होता तो उसके लिये भगवान्‌की ओरसे इस प्रकारकी आज्ञाका दिया जाना नहीं बन सकता। अतएव भगवान्‌के आज्ञानुसार शुभकर्म, शुभसंगति करनेसे क्रियमाण शुद्ध हो जाते हैं। यह क्रियमाण ही संचित और प्रारब्धके हेतुभूत हैं। इसलिये मनुष्यको क्रियमाण शुभ करनेकी चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि इन्हींके करनेमें यह स्वतन्त्र भी है।

त्रिविध कर्मोंका भोग बिना नाश होता है या नहीं?

अब यह समझनेकी आवश्यकता है कि उपर्युक्त तीनों प्रकारके कर्म फलभोगसे ही नाश होते हैं या उनके नाशका और भी कोई उपाय है? इनमेंसे प्रारब्धकर्मोंका नाश तो भोगसे ही होता है, जैसे आप्तपुरुषके वाक्य व्यर्थ नहीं जाते, इसी प्रकार प्रारब्धकर्मोंका नाश बिना भोगे नहीं हो सकता। भोग पूर्वोक्त अनिच्छा, परेच्छा या स्वेच्छासे हो सकते हैं और प्रायश्चित्तसे भी। सेवा या दण्डभोग दोनों ही छुटकारा मिलनेके उपाय हैं। संचित और क्रियमाण कर्मोंका नाश निष्कामभावसे किये हुए यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि सत्कर्मसे तथा प्राणायाम, श्रवण, मनन, निदिध्यासन (सत्संग, भजन, ध्यान) आदि परमेश्वरकी उपासनासे हो सकता है। इनसे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर ज्ञान उत्पन्न होता है, जिससे संचितकी राशि तो सूखे घासमें आग लगकर भस्म हो जानेकी भाँति भस्म हो जाती है।* और कोई स्वार्थ न रहनेके कारण किसी भी सांसारिक पदार्थकी कामना एवं कर्म करनेमें आसक्ति तथा अहंबुद्धि न रह जानेसे सकाम नवीन कर्म बन नहीं सकते।

उत्तम कर्मोंसे छुटकारा मिलना तो बहुत ही सहज है, वे तो भगवत्‌के अर्पण कर देनेमात्रसे ही छूट जाते हैं। जैसे एक मनुष्यने दूसरेको कुछ रुपये कर्ज दे रखे हैं। उसे उससे रुपये लेने हैं, इस लेनेकी भावनासे तो वह हृदयके त्यागसे छूट सकता है। 'रुपये छोड़ दिये' इस त्यागसे ही वह छूट जाता है, परन्तु जिसे रुपये देने हैं, वह इस तरह कहनेसे नहीं छूटता। इसी प्रकार जिन पापोंका दण्ड हमें भोगना है उनसे छुटकारा 'हम नहीं भोगना चाहते' यह कहनेसे नहीं

* यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ (गीता ४। ३७)

होता। उनके लिये या तो भोग भोगना पड़ता है या निष्काम कर्म और निष्काम उपासना आदि करने पड़ते हैं।

किये हुए पापोंका और सकाम पुण्य-कर्मोंका परस्पर हवाला नहीं पड़ता, एक-दूसरेके बदलेमें कटते नहीं। दोनोंका फल अलग-अलग भोगना पड़ता है। रामलालके श्यामलालमें रुपये पावने हैं। श्यामलालने रुपये नहीं दिये। इसलिये एक दिन गुस्सेमें आकर रामलालने श्यामलालपर दो जूते जमा दिये। श्यामलालने अदालतमें फरियाद की। इसपर रामलालने कहा कि 'मेरे एक हजार रुपये श्यामलालमें लेने हैं, मैंने इसको दो जूते जरूर मारे हैं, इस अपराधके बदलेके दाम काटकर बाकी रुपये मुझे दिलवा दिये जायँ।' यह सुनकर मैजिस्ट्रेट हँस पड़ा। उसने कहा, 'तुम्हारा दीवानी मुकद्दमा अलग होगा। तुम्हारे रुपये न आवें तो तुम इसपर दीवानी कोर्टमें नालिश करके जेल भिजवा सकते हो, परन्तु यहाँ तो जूते मारनेके लिये तुम्हें दण्ड भोगना पड़ेगा।' बस, इसी प्रकार पाप-पुण्यका फल अलग-अलग मिलता है। सकाम पुण्यसे पापका और पापसे सकाम पुण्यका हवाला नहीं पड़ता।

कर्मका फल कौन देता है?

कुछ लोग मानते हैं कि शुभाशुभ कर्मोंका फल कर्मानुसार आप ही मिल जाता है, इसमें न तो कोई नियामक ईश्वर है और न ईश्वरकी आवश्यकता ही है। परन्तु ऐसा मानना भूल है। इस मान्यतासे बहुत ही बाधाएँ आती हैं तथा यह युक्तिसंगत भी नहीं है। शुभाशुभ कर्मोंका विभाग कर तदनुसार फलकी व्यवस्था करनेवाले नियामकके अभावमें कर्मका भोग होना ही सम्भव नहीं है। क्योंकि कर्म तो जड़ होनेके कारण नियामक हो नहीं सकते, वे तो केवल हेतुमात्र हैं। और पापकर्म करनेवाला पुरुष स्वयं पापोंका फल दुःख भोगना चाहता नहीं, यह बात निर्विवाद और लोकप्रसिद्ध है। किसी मनुष्यने चोरी की या डाका डाला। वह चोरी-डकैती नामक कर्म तो जड़ताके कारण उसके लिये कैदकी व्यवस्था कर नहीं सकते और वह कर्ता स्वयं चाहता नहीं, इसीलिये कोई शासक या राजा उसके दण्डकी व्यवस्था करता है। इसी प्रकार कर्मोंके नियमन, विभाग तथा व्यवस्थाके लिये किसी नियामक या व्यवस्थापक ईश्वरकी आवश्यकता है। इससे कोई यह न समझे कि राजा और ईश्वरकी समानता है। राजा सर्वान्तर्यामी और सर्वथा निरपेक्ष स्वभाववाला तथा स्वार्थहीन निर्भ्रान्त न होनेके कारण प्रमाद, पक्षपात, अनभिज्ञता या स्वार्थवश अनुचित व्यवस्था भी कर सकता है, परन्तु परमात्मा समदर्शी, सर्वान्तर्यामी, सुहृद्, निरपेक्ष, दयालु और न्यायकारी होनेके कारण उससे कोई भूल नहीं हो सकती। राजा स्वार्थवश न्याय करता है, ईश्वर दयाके कारण जीवके उपकारके लिये न्याय करता है। यदि यह कहा जाय कि जब ईश्वरको कोई स्वार्थ नहीं है तब वह इस झगड़ेमें क्यों पड़ता है। इसका उत्तर यह है कि ईश्वरके लिये यह कोई झगड़ा नहीं है। जैसे सुहृद् पुरुष पक्षपातरहित होकर दूसरोंके झगड़े निपटा देता है पर मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा कुछ नहीं चाहता, इससे उसका महत्त्व संसारमें प्रसिद्ध है। इसी प्रकार ईश्वर सारे संसारका उनके हितके लिये निःस्वार्थरूपसे अपनी सुहृदताके कारण ही न्याय करता है।

ईश्वर नियामक न होनेसे तो कर्मका भोग ही नहीं हो सकता। इसमें एक युक्ति और विचारणीय है। एक मनुष्यने ऐसे पाप किये जिससे उसे कुत्तेकी योनि मिलनी चाहिये। उसके कर्म तो जड़ होनेसे उसे उस योनिमें पहुँचा नहीं सकते (क्योंकि विवेकयुक्त पुरुषकी सहायताके बिना रथ, मोटर आदि जड़ सवारियाँ अपने-आप यात्रीको उसके गन्तव्य स्थानपर नहीं पहुँचा सकतीं) और वह स्वयं पाप भोगनेके लिये जाना नहीं चाहता। यदि जाना चाहे तब भी नहीं जा सकता, क्योंकि उसमें ऐसी शक्ति नहीं है। जब हमलोग सावधान अवस्थामें भी सर्वथा अपरिचित स्थानमें नहीं जा सकते तब बिना विवेकके योनिपरिवर्तन करना तो असम्भव है।

यदि यह कहा जाय कि उस समय अज्ञानका परदा दूर हो जाता है तो यह भी युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि मरणकालमें तो दुःख और मोहकी अधिकतासे जीवकी दशा अधिक भ्रान्त-सी होती है। योगी या ज्ञानीकी-सी स्थिति होती नहीं। यदि अज्ञानका परदा हटकर उसका यों ही जीवन्मुक्त होना मान लें, तो यह भी युक्ति-संगत नहीं, क्योंकि भोग, प्रायश्चित्त या उपासना आदिके बिना पापोंका नाश होकर एकाएक किसीको जीवन्मुक्त हो जाना अयुक्त है। साधारण संसारी ज्ञानसे योनिप्रवेशादि क्रिया न तो सम्भव है और न प्रत्यक्ष दुःखरूप होनेके कारण साधारण पुरुषको इष्ट है तथा न उसकी सामर्थ्य ही है, अतएव यह सिद्ध होता है कि कर्मानुसार फलभोग करानेके लिये सृष्टिके स्वामी नियन्त्रणकर्ताकी आवश्यकता है और वह नियन्त्रणकर्ता ईश्वर अवश्य है।

ईश्वरभजनकी आवश्यकता क्यों है?

मान लिया जाय कि शुभाशुभ कर्मानुसार फल अवश्य ही ईश्वर देता है और वह कम-ज्यादा भी नहीं कर सकता, फिर उसके भजनकी क्या आवश्यकता है? इसी प्रश्नपर अब विचार करना है। प्रथम तो यह बात है कि ईश्वरभजन एक सर्वोत्तम उपासनारूप कर्म है, परम साधन है, सबका

सिरमौर है। इसके करनेसे इसीके अनुसार बुद्धिमें स्फुरणाएँ होती हैं और इस तरहकी स्फुरणासे बारंबार ईश्वर-भजन-स्मरण होने लगता है, जिससे अन्तःकरण शुद्ध होकर ज्ञानका परम दिव्य प्रकाश चमक उठता है। ज्ञानाग्निसे संचित कर्मराशि दग्ध होकर पुनर्जन्मके कारणको नष्ट कर डालती है। इसीलिये भजन करना परम आवश्यक है।

दूसरे यह समझकर भी भजन अवश्य करना चाहिये कि यही हमारे जीवनका परम कर्तव्य है। माता-पिताकी सेवा मनुष्य अपना कर्तव्य समझकर करते हैं। फिर जो माता-पिताका भी परमपिता है, जो परम सुहृद् है, जिसने हमें सब तरहकी सुविधाएँ दी हैं, जो निरन्तर हमपर अकारण ही कृपा रखता है, जिस कल्याणमय ईश्वरसे हम नित्य कल्याणका आदेश पाते हैं, जो हमारे जीवनकी ज्योति है, अन्धेकी लकड़ी है, डूबते हुएका सहारा और पथभ्रष्ट नाविकका एकमात्र ध्रुवतारा है, उसका स्मरण करना तो हमारा प्रथम और अन्तिम कर्तव्य ही है।

ईश्वरका स्मरण न करना बड़ी कृतघ्नता है, हम जब माता, पिता, गुरुके उपकारका भी बदला नहीं चुका सकते, तब परम सुहृद् ईश्वरके उपकारोंका बदला तो कैसे चुकाया जा सकता है? ऐसी हालतमें उसे भूल जाना भारी कृतघ्नता—नीचातिनीच कार्य है।

ईश्वर सब कुछ कर सकता है **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्'** समर्थ है परन्तु वह करता नहीं, अपने नियमोंकी आप रक्षा करता है और हमें पापोंकी क्षमा और पुण्योंका फल पानेके लिये उसके भजनका उपयोग ही क्यों करना चाहिये। पाप तो उसके भजनके प्रतापसे अपने-आप ही नष्ट हो जाते हैं जैसे सूर्यके उदयाभासमात्रसे अन्धकार नष्ट हो जाता है।

जबहिं नाम मनमें धर्‌यो, भयो पापको नास।
जैसे चिनगी आगकी, परी पुराने घास॥

परन्तु भगवान्‌का भजन करनेवालेको यह भावना नहीं रखनी चाहिये कि इस भजनसे पाप नाश हो जायगा। भगवान्‌के रहस्यको समझनेवाला भक्त अपराध क्षमा करानेके लिये भी उसके भजनका उपयोग नहीं करता। जिस ईश्वरभजनसे मायारूप संसार स्वयमेव नष्ट हो जाता है, क्या इस रहस्यको जाननेवाला पुरुष कभी तुच्छ सांसारिक दुःखोंकी निवृत्तिके लिये भजनका उपयोग कर सकता है? यदि करता है तो वह बड़ी भूल करता है। राजाको मित्र पाकर उससे दस रुपयेकी नालिशसे छुटकारा पानेकी प्रार्थना करनेके समान अत्यन्त हीन कार्य है। इसलिये भजनको किसी भी सांसारिक कार्यमें नहीं बर्तना चाहिये, परन्तु कर्तव्य समझकर ईश्वरभजन सदा-सर्वदा करते ही रहना चाहिये। क्योंकि भजनके आदि, मध्य और अन्तमें केवल कल्याण-ही-कल्याण भरा है।

मृत्यु-समयके उपचार

हिन्दू-जातिमें मनुष्यके मरनेके समय घरवाले उसका परलोक सुधारनेके बहाने कुछ ऐसे काम कर बैठते हैं जिससे मरनेवाले मनुष्यको बड़ी पीड़ा होती है। अतएव निम्नलिखित बातोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये—

१—यदि रोगी दो-तीन मंजिल ऊपर हो तो ऐसी हालतमें उसे नीचे लानेकी आवश्यकता नहीं।

२—खटियापर सोया हुआ हो तो वहीं रहने देना चाहिये।

३—यदि खटियापर मरनेमें कुछ वहम हो और नीचे उतारकर सुलानेकी आवश्यकता समझी जाय तो अनुमानसे मृत्युकालके दो-चार दिन पहलेसे ही उसे खाटसे नीचे उतारकर जमीनपर बालू बिछाकर सुला दे। बालू ऐसी नरम होनी चाहिये जो उसके शरीरमें कहीं गड़े नहीं। दो-चार दिन या दो-चार पहर पहलेका पता वैद्योंसे पूछकर, रोगीके लक्षण देखकर और बड़े-बूढ़े अनुभवी पुरुषोंसे सलाह करके अन्दाज कर ले। रोगी अच्छा हो जाय तो वापस खटियापर सुलानेमें कोई आपत्ति है ही नहीं, यदि अन्दाजसे पहले उसका प्राणान्त हो गया तो भी कुछ हानि नहीं है बल्कि मृत्युकालमें नीचे उतारकर सुलानेमें जो कष्ट होता है, उससे वह बच गया। दो-चार दिन पहले रोगीको अनुमान हो जाय तो उसे स्वयं ही कह देना चाहिये कि मुझे नीचे सुला दो।

४—उस अवस्थामें मृत्युसे पहले उसे स्नान करानेकी कोई आवश्यकता नहीं, इससे व्यर्थमें उसका कष्ट बढ़ता है। मल वगैरह साफ करना हो तो गीले गमछेसे धीरे-धीरे पोंछकर साफ कर देना चाहिये।

५—इस अवस्थामें गंगाजल, तुलसी देना बड़ा उत्तम है, परन्तु उसे निगलनेमें क्लेश होता हो तो तुलसीका पत्ता पीसकर उसे गंगाजलमें मिलाकर पिला देना चाहिये। एक बारमें एक तोलेसे अधिक जल नहीं देना चाहिये। दस-पाँच मिनट बाद फिर दिया जा सकता है। गंगाजल बहुत दिनोंका विस्वाद न हो, पहले स्वयं चखकर फिर रोगीको देना चाहिये। जिसमें गन्ध आने लगी हो, जो कड़वा हो गया हो वह नहीं देना चाहिये। ताजा गंगाजल कहींसे ही

मँगा लेना चाहिये। गंगाजलमें शुद्धि, अशुद्धि या स्पर्शास्पर्शका कोई विधान नहीं है। रोगी मुँह बंद कर ले तो उसे कुछ भी नहीं देना चाहिये।

६—रोगीके पास बैठकर घरका रोना नहीं रोना चाहिये और संसारकी बातें उसे याद नहीं दिलानी चाहिये। माता, स्त्री, पति, पुत्र या और किसी स्नेहीको उसके पास बैठकर अपना दुःख सुनाना या रोना नहीं चाहिये। उसके मनके अनुकूल उसकी हर तरहसे कल्याणमयी सेवा करनी चाहिये।

७—डॉक्टरी या जिसमें अपवित्र पदार्थोंका संयोग हो ऐसी दवा नहीं खिलानी चाहिये।

८—जहाँतक चेत रहे वहाँतक श्रीगीताका पाठ और उसका अर्थ सुनाना चाहिये। चेत न रहनेपर भगवान्‌का नाम सुनाना उचित है। गीता पढ़नेवाला न हो तो पहलेसे ही भगवान्‌का नाम सुनावे।

९—यदि रोगी भगवान्‌के साकार या निराकार किसी रूपका प्रेमी हो तो साकारवालेको भगवान्‌की छबि या मूर्ति दिखलानी चाहिये और उसके रूप तथा प्रभावका वर्णन सुनाना चाहिये। निराकारके प्रेमीको निराकार ब्रह्मके शुद्ध, बोधस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, सत्, चित्, घन, नित्य, अज, अविनाशी आदि विशेषणोंके साथ आनन्द शब्द जोड़कर उसे सुनाना चाहिये।

१०—यदि काशी आदि तीर्थोंमें ले जाना हो तो उसे पूछ ले। उसकी इच्छा हो, वहाँतक पहुँचनेमें शंका न हो, वैद्योंकी सम्मति मिल जाय, उतने रुपये खर्च करनेकी शक्ति हो तो वहाँ ले जाय।

११—प्राण निकलनेके बाद भी कम-से-कम पंद्रह-बीस मिनटतक किसीको खबर न दे। भगवन्नामका कीर्तन करते रहे जिससे वहाँका वायुमण्डल सात्त्विक रहे। रोनेका हल्ला न हो, क्योंकि उस समयका रोना प्राणीके लिये अच्छा नहीं है।

१२—घरवाले समझदार हों तो उनको रोना नहीं चाहिये। दूसरे लोगोंको भी उनके पास आकर उन्हें केवल सहानुभूतिके शब्द सुनाकर रुलानेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये।

१३—शोक-चिह्न बारह ही दिनतक रखना चाहिये।

१४—बारह वर्षसे कम उम्रके लड़के-लड़कियोंकी मृत्युका शोक न मनावे।

१५—मृतकके लिये शोकसभा न कर अपनी सावधानीके लिये सभा करनी चाहिये। यह बात याद करनी चाहिये कि इसी प्रकार एक दिन हमारी भी मृत्यु होगी।

१६—जीवन्मुक्त पुरुषकी मृत्युपर शोक न करे, ऐसा करना उसका अपमान करना है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

तत्त्वचिन्तामणि भाग—२

मनुष्यका कर्तव्य

विचारकी दृष्टिसे देखनेपर यह स्पष्ट ही समझमें आता है कि आजकल संसारमें प्रायः सभी लोग आत्मोन्नतिकी ओरसे विमुख-से हो रहे हैं। ऐसे बहुत ही कम लोग हैं जो आत्माके उद्धारके लिये चेष्टा करते हैं। कुछ लोग जो कोशिश करते हैं उनमें भी अधिकांश किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं। श्रद्धा-भक्तिकी कमीके कारण यथार्थ मार्गदर्शकका भी अभाव-सा हो रहा है। समय, संग और स्वभावकी विचित्रतासे कुछ लोग तो साधनकी इच्छा होनेपर भी अपने विचारोंके अनुसार चेष्टा नहीं कर पाते। इसमें प्रधान कारण अज्ञताके साथ-ही-साथ ईश्वर, शास्त्र और महर्षियोंपर अश्रद्धाका होना है। परन्तु यह श्रद्धा किसीके करवानेसे नहीं हो सकती। श्रद्धा-सम्पन्न पुरुषोंके संग और निष्कामभावसे किये हुए तप, यज्ञ, दान, दया और भगवद्भक्ति आदि साधनोंसे हृदयके पवित्र होनेपर ईश्वर, परलोक, शास्त्र और महापुरुषोंमें प्रेम एवं श्रद्धा होती है। श्रद्धा ही मनुष्यका स्वरूप है, इस लोक और परलोकमें श्रद्धा ही उसकी वास्तविक प्रतिष्ठा है। श्रीगीतामें कहा है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

(१७।३)

'हे भरतवंशी अर्जुन! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है तथा यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है वह स्वयं भी वही है। अर्थात् जिसकी जैसी श्रद्धा है, वैसा ही उसका स्वरूप समझा जाता है।' अतः मनुष्यको सच्चे श्रद्धा-सम्पन्न बननेकी कोशिश करनी चाहिये।

आप ईश्वरके किसी भी नाम या किसी भी रूपमें श्रद्धा करें, आपकी वह श्रद्धा ईश्वरमें ही समझी जायगी; क्योंकि सभी नाम-रूप ईश्वरके हैं। आपको जो धर्म प्रिय हो, जिस ऋषि, महात्मा या महापुरुषपर आपका विश्वास हो, आप उसीपर श्रद्धा करके उसीके अनुसार चल सकते हैं। आवश्यकता श्रद्धा-विश्वासकी है। ईश्वर, धर्म और परलोक आदि विशेष करके श्रद्धाके ही विषय हैं। इनका प्रत्यक्ष तो अनेक प्रयत्नोंके साथ विशेष परिश्रम करनेपर होता है। आरम्भमें तो इन विषयोंके लिये किसी-न-किसीपर विश्वास ही करना पड़ता है, ऐसा न करे तो मनुष्य नास्तिक बनकर श्रेयके मार्गसे गिर जाता है, साधनसे विमुख होकर पतित हो जाता है।

यदि आपको किसी भी धर्म, शास्त्र अथवा प्राचीन महात्माओंके लेखपर विश्वास न हो, तो कम-से-कम एक श्रीमद्भगवद्गीतापर तो जरूर विश्वास करना चाहिये। क्योंकि गीताका उपदेश प्रायः सभी मतोंके अनुकूल पड़ता है। इसपर भी विश्वास न हो तो अपने विचारके अनुसार ईश्वरपर विश्वास करके उसीकी शरण होकर साधनमें लग जाना चाहिये। कदाचित् ईश्वरके अस्तित्वमें भी आपके मनमें सन्देह हो तो वर्तमान समयमें आपकी दृष्टिमें जगत्‌में जितने श्रेष्ठ पुरुष हैं उन सबमें जो आपको सबसे श्रेष्ठ मान्य हों, उन्हींके बतलाये हुए मार्गपर कमर कसकर चलना चाहिये। यदि वर्तमान-कालके किसी भी साधु-महात्मा या सत्पुरुषपर आपका विश्वास न हो, तो आपको यह विचार करना चाहिये कि क्या सारे संसारमें हमसे उत्तम कल्याणमार्गके ज्ञाता कोई नहीं हैं? यदि यह कहते हों कि 'हैं तो सही पर हमको नहीं मिले।' तो उनकी खोज करनी चाहिये, अथवा यदि यह समझते हों कि 'हमसे तो बहुत-से पुरुष श्रेष्ठ हैं परन्तु कल्याणमार्गके भलीभाँति उपदेश करनेवाले पुरुष संसारमें बहुत ही थोड़े हैं, जो हैं उनका भी हम-जैसे अश्रद्धालुओंको मिलना कठिन है और यदि कहीं मिल भी जाते हैं तो पहचाननेकी योग्यता न होनेके कारण हम उन्हें पहचान नहीं सकते।' ऐसी अवस्थामें आपके लिये यह तो अवश्य ही विचारणीय है कि आप जो कुछ चेष्टा कर रहे हैं उससे क्या आपका यथार्थ कल्याण हो जायगा? यदि सन्तोष नहीं है तो कम-से-कम अपनी उन्नतिके लिये आपको उत्तरोत्तर विशेष प्रयत्न तो करना ही चाहिये। शम, दम, धृति, क्षमा, शान्ति, सन्तोष, जप, तप, सत्य, दया, ध्यान और सेवा आदि गुण और कर्म आपके विचारमें जो उत्तम प्रतीत हों उनका ग्रहण तथा प्रमाद, आलस्य, निद्रा, विषयासक्ति, झूठ, कपट, चोरी-जारी आदि दुर्गुण और दुष्कर्मोंका त्याग करना चाहिये। प्रत्येक कर्म करनेसे पूर्व सावधानीके साथ यह सोच लेना चाहिये कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह मेरे लिये यथार्थ लाभदायक है या नहीं और उसमें जहाँ कहीं भी त्रुटि मालूम पड़े, उसका बिना विलम्ब सुधार कर

लेना चाहिये। मनुष्यजन्म बहुत ही दुर्लभ है, लाखों रुपये खर्च करनेपर भी जीवनका एक क्षण नहीं मिल सकता। ऐसे मनुष्य-जीवनका समय निद्रा, आलस्य, प्रमाद और अकर्मण्यतामें व्यर्थ कदापि नहीं खोना चाहिये। जो मनुष्य अपने इस अमूल्य समयको बिना सोचे-विचारे बितावेगा, उसे आगे चलकर अवश्य ही पछताना पड़ेगा। कविने क्या ही सुन्दर कहा है—

बिना बिचारे जो करे सो पाछे पछिताय।
काम बिगारे आपनो जगमें होत हँसाय॥
जगमें होत हँसाय चित्तमें चैन न पावै।
खान पान सनमान राग रँग मन नहिं भावै॥
कह गिरधर कविराय कर्म गति टरत न टारे।
खटकत है जिय माँहि किया जो बिना बिचारे॥

अतः अपनी बुद्धिके अनुसार मनुष्यको अपना समय बड़ी ही सावधानीसे ऊँचे-से-ऊँचे काममें लगाना चाहिये, जिससे आगे चलकर पश्चात्ताप न करना पड़े। नहीं तो गोस्वामीजीके शब्दोंमें—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

—सिवा पछतानेके अन्य कोई उपाय न रह जायगा। यह मनुष्य-जीवन बहुत ही महँगे मोलसे मिला है। काम बहुत करने हैं, समय बहुत थोड़ा है, अतएव चेतकर अपने जीवनके बचे हुए समयको बुद्धिमानीके साथ केवल कल्याणके मार्गमें ही लगाना चाहिये।

यदि मनुष्य अपनी बुद्धिके अनुसार इस लोक और परलोकमें लाभ देनेवाले कर्मोंमें प्रवृत्त नहीं होता तो इसको उसकी मूर्खता, अकर्मण्यता और आलस्यके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? जो जान-बूझकर प्रमाद, आलस्य, निद्रा और भोगोंसे चित्तको हटाकर उसे सन्मार्गमें नहीं लगाता और पतनके मार्गमें आगे बढ़ता जाता है वह स्वयं ही अपना शत्रु है। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

(केनोपनिषद् २।५)

'यदि इस मनुष्य-शरीरमें उस परमात्म-तत्त्वको जान लिया जायगा तो सत्य है यानी उत्तम है। और यदि इस जन्ममें उसको नहीं जाना तो महान् हानि है। धीर पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें परमात्माका चिन्तन कर—परमात्माको समझकर इस देहको छोड़ अमृतको प्राप्त होते हैं अर्थात् इस देहसे प्राणोंके निकल जानेपर वे अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।'

मनुष्यको अपनी उन्नतिका यह मार्ग स्वयं ही चलकर तय करना पड़ता है, दूसरेके द्वारा यह मार्ग तय नहीं होता। अतएव उसकी इसीमें बुद्धिमत्ता और कल्याण है और यही उसका निश्चित कर्तव्य है कि अत्यन्त सावधानीके साथ प्रतिक्षण अपनेको सँभालते हुए इस लोक और परलोकके कल्याणकारी साधनको खूब जोरके साथ करता रहे। प्रमाद, आलस्य, भोग एवं दुराचार आदिको कल्याणके मार्गमें अत्यन्त बाधक समझकर उन्हें सर्वथा त्याग दे। श्रुति चेतावनी देती हुई कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

(कठोपनिषद् ३।१४)

'उठो, जागो और महापुरुषोंके समीप जाकर उनके द्वारा तत्त्वज्ञानके रहस्यको समझो। कविगण इसे तीक्ष्ण क्षुरके धारके समान अत्यन्त कठिन मार्ग बताते हैं।' परन्तु कठिन मानकर हताश होनेकी कोई आवश्यकता नहीं। भगवान्में चित्त लगानेसे भगवत्कृपासे मनुष्य सारी कठिनाइयोंसे अनायास ही तर जाता है '**मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।**' भगवान्ने और भी कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता ७।१४)

'यह मेरी अलौकिक—अति अद्भुत त्रिगुणमयी योगमाया बहुत दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष मेरी ही शरण हो जाते हैं, वे इस मायाको उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे सहज ही तर जाते हैं।' सब देशों और समस्त पदार्थोंमें सदा-सर्वदा भगवान्का चिन्तन करना और भगवान्की आज्ञाके अनुसार चलना ही शरणागति समझा जाता है। इसीको ईश्वरकी अनन्यभक्ति भी कहते हैं। अतएव जिसका ईश्वरमें विश्वास हो, उसके लिये तो ईश्वरका आश्रय ग्रहण करना ही परम कर्तव्य है। जो भलीभाँति ईश्वरके शरण हो जाता है, उससे ईश्वरके प्रतिकूल यानी अशुभ कर्म तो बन ही नहीं सकते। वह परम अभय पदको प्राप्त हो जाता है, उसके अन्तरमें शोक-मोहका आत्यन्तिक अभाव रहता है, उसको सदाके लिये अटल शान्ति प्राप्त हो जाती है और उसके आनन्दका पार ही नहीं रहता। उसकी इस अनिर्वचनीय स्थितिको उदाहरण, वाणी या संकेतके द्वारा समझा या समझाया नहीं जा सकता। ऐसी स्थितिवाले पुरुष स्वयं ही जब उस स्थितिका वर्णन नहीं कर सकते तब दूसरोंकी तो बात ही क्या है? मन-वाणीकी वहाँतक पहुँच ही नहीं है। केवल पवित्र हुई शुद्ध बुद्धिके

द्वारा पुरुष स्वयं इसका अनुभव करता है। ऐसा वेद और शास्त्र कहते हैं—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

(कठोपनिषद् १।३।१२)

'सम्पूर्ण भूतोंके हृदयमें छिपा हुआ यह आत्मा सबको प्रतीत नहीं होता, परन्तु यह सूक्ष्मबुद्धिवाले महात्मा पुरुषोंसे तीक्ष्ण और सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा ही देखा जाता है।' भगवान् स्वयं कहते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

(गीता ६।२१)

'इन्द्रियोंसे अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित हुआ योगी भगवत्स्वरूपसे चलायमान नहीं होता।' उसी अवस्थाको प्राप्त करनेकी चेष्टा मनुष्यमात्रको करनी चाहिये, यही सबका परम कर्तव्य है।

हमारा कर्तव्य

हमलोगोंके कर्तव्यकी ओर ध्यान देनेपर अधिकांशमें यही अनुमान होता है कि इस समय हमलोग कर्तव्य-पालनमें प्रायः तत्पर नहीं हैं। ध्यानपूर्वक विचार करनेसे पद-पदपर त्रुटियाँ दिखायी देती हैं। यद्यपि सभी लोग अपनी उन्नति चाहते हैं और यथासाध्य चेष्टा करना भी उत्तम समझते हैं तथापि विचार करनेपर ऐसे अनेक हेतु दृष्टिगोचर होते हैं, जिनके कारण वे यथासाध्य प्रयत्न नहीं कर सकते बल्कि किंकर्तव्यविमूढ़ होकर उन्नतिके असली पथसे गिर जाते हैं।

अतएव सबसे पहले विचारणीय विषय यह है कि मनुष्यका कर्तव्य क्या है, उसके पालनके लिये मनुष्यको किस प्रकार चेष्टा करनी चाहिये और इच्छा करनेपर भी मनुष्य कौन-सी बाधाओंके कारण यथासाध्य चेष्टा नहीं कर सकता?

मनुष्यका प्रधान कर्तव्य है अपने आत्माकी उन्नति करना। भगवान् कहते हैं—**'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।'** मनुष्यको चाहिये कि वह अपने द्वारा अपना उद्धार करे, अपनी आत्माको अधोगतिमें न पहुँचावे। अब यह समझना है कि आत्माकी उन्नति क्या है और उसका अधःपतन किसमें है?

'अपने अन्दर (अध्यात्म) ज्ञान, (परम) सुख, (अखण्ड) शान्ति और न्यायकी वर्तमानमें और परिणाममें उत्तरोत्तर वृद्धि करना आत्माकी उन्नति है और इसके विपरीत दुःखके हेतु अज्ञान, प्रमाद, अशान्ति और अन्यायकी ओर झुकना तथा उनकी वृद्धिमें हेतु बनना ही आत्माका अधःपतन है।' मनुष्यको निरन्तर आत्म-निरीक्षण करते हुए आत्माकी उन्नतिके प्रयत्नमें लगना और अधःपतनके प्रयत्नसे हटना चाहिये। संसारमें संग ही उन्नति-अवनतिका प्रधान हेतु है, जो पुरुष अपनी उन्नति कर चुके हैं या उन्नतिके मार्गपर स्थित हैं उनका संग आत्माकी उन्नतिमें और जो गिरे हुए हैं या उत्तरोत्तर गिर रहे हैं उनका संग आत्माकी अवनतिमें सहायक होता है। इसलिये सदा-सर्वदा उत्तम पुरुषोंका संग करना ही उचित है।

उत्तम पुरुष उनको समझना चाहिये जिनमें स्वार्थ, अहंकार, दम्भ और क्रोध नहीं है, जो मान-बड़ाई या पूजा नहीं चाहते, जिनके आचरण परम पवित्र हैं, जिनको देखने और जिनकी वाणी सुननेसे परमात्मामें प्रेम और श्रद्धाकी वृद्धि होती है, हृदयमें शान्तिका प्रादुर्भाव होता है और परमेश्वर, परलोक तथा सत्-शास्त्रोंमें श्रद्धा उत्पन्न होकर कल्याणकी ओर झुकाव होता है। ऐसे परलोकगत और वर्तमान सत्पुरुषोंके उत्तम आचरणोंको आदर्श मानकर उनका अनुकरण करना एवं उनके आज्ञानुसार चलना तथा अपनी बुद्धिमें जो बात कल्याणकारक, शान्तिप्रद और श्रेष्ठ प्रतीत हो उसीको काममें लाना चाहिये। मनु महाराज भी कहते हैं—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

(२।१२)

'वेद, स्मृति, सत्पुरुषोंके आचरण और जिसके आचरणसे अपने हृदयमें भी प्रसन्नता हो, ये चार धर्मके साक्षात् लक्षण कहे गये हैं।'

अब यहाँ एक प्रश्न होता है कि जो लोग हमारी श्रुति-स्मृतियोंको नहीं मानते हैं, क्या उनके लिये कोई उपाय नहीं है? क्या सभीके लिये श्रुति-स्मृतियोंका मानना आवश्यक है? हिन्दूके नातेसे यद्यपि मुझे श्रुति-स्मृति बहुत प्रिय हैं और मैं उनका पक्षपाती हूँ, तथापि मेरा यह कहना कभी युक्तियुक्त नहीं हो सकता कि श्रुति-स्मृतियोंको माननेके सिवा अन्य कोई सदाचरणका उपाय ही नहीं है। निरपेक्षभावसे मनुष्यमात्रके कर्तव्यकी ओर खयाल करके विचार करनेसे यही भाव उत्पन्न होता है कि सारे संसारका

स्वामी और नियन्ता एक ही ईश्वर है। संसारके प्रायः सभी सम्प्रदाय और मत-मतान्तर किसी-न-किसी रूपमें उसीको मानते और उसीकी ओर अपने अनुयायीको ले जाना चाहते हैं। अतएव उन सभी सम्प्रदाय और मत-मतान्तरोंके मनुष्य जिन-जिन ग्रन्थोंको अपना शास्त्र और धर्मग्रन्थ मानते हैं उनके लिये वही शास्त्र और धर्मग्रन्थ हैं। जो व्यक्ति जिस धर्मको मानता है, उसे उसीके धर्मशास्त्रके अनुसार अपने सदाचारी श्रेष्ठ पूर्वजोंद्वारा आचरित और उपदिष्ट उत्तम साधनोंमेंसे जो अपनी बुद्धिमें आत्माका कल्याण करनेवाले प्रिय प्रतीत हों, उनको ग्रहण करना ही उसका शास्त्रानुसार चलना है। शास्त्रोंकी उन्हीं बातोंका अनुकरण करना चाहिये जो विचार करनेपर अपनी बुद्धिमें भी कल्याणकारक प्रतीत हों। जिनको हम उत्तम पुरुष मानते हैं, उनके भी उन्हीं आचरणोंका हमें अनुकरण करना उचित है, जो हमारी बुद्धिसे उत्तम-से-उत्तम प्रतीत हों। उनके जो आचरण हमारी दृष्टिमें अश्रेयस्कर, अनुचित और शंकास्पद प्रतीत हों। उनको ग्रहण नहीं करना चाहिये।

जिनका कल्याण हो चुका है या जो कल्याणके मार्गपर बहुत कुछ अग्रसर हो चुके हैं, ऐसे पुरुषोंका संग न मिलनेपर या किसीमें भी ऐसा होनेका विश्वास न जमनेपर ऐसे सत्पुरुषकी प्राप्तिके लिये परमेश्वरसे इस भावसे प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे प्रभो! हे परमात्मन्! हे नाथ! आपमें मेरा अनन्य प्रेम हो, इसके लिये आप कृपा करके मुझे उन महापुरुषोंका संग दीजिये, जो सच्चे मनसे और परम श्रद्धासे आपके प्रेममें मत्त रहते हैं।' बार-बार ईश्वरसे विनय करनेपर उसकी कृपासे साधकको उसकी इच्छाके अनुकूल सत्पुरुषकी प्राप्ति अवश्य ही हो जाती है।

यहाँपर एक प्रश्न यह होता है कि जिनका ईश्वरमें विश्वास है, वही तो ईश्वर-प्रार्थना कर सकते हैं। ईश्वरमें विश्वास रखनेवालोंका सन्तों और शास्त्रोंमें भी विश्वास होना सम्भव है परन्तु जिनका ईश्वर, परलोक, शास्त्र और सन्तोंमें विश्वास ही नहीं है उनके लिये क्या कर्तव्य है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ऐसे लोगोंकी स्थिति बहुत ही दयनीय है तथापि वे भी अपनी बुद्धिके अनुसार अपने आत्माकी उन्नतिका उपाय कर सकते हैं। ऐसे लोगोंको चाहिये कि अपनी बुद्धिमें जो पुरुष अपनेसे श्रेष्ठ प्रतीत हो, उसीका संग करे। संसारमें मूढ़-से-मूढ़ और बुद्धिमान्-से-बुद्धिमान् पुरुष इस बातको तो प्रायः सभी मानते हैं कि जगत्‌में हमसे अच्छे मनुष्य भी हैं और बुरे भी हैं। अतएव अपनी बुद्धिमें जो अपनेसे उत्तम, उन्नत, विचारशील, साधुहृदय, सदाचारी और विद्वान् प्रतीत हो, उसीको आदर्श समझकर उसके सदाचरणोंका स्वार्थहीन होकर अनुकरण करना चाहिये। यदि मूर्खता, अभिमान या अन्य किसी कारणवश किसीमें भी अपनेसे अच्छे होनेका विश्वास ही न हो तो अपनी बुद्धिमें भलीभाँति सोच-विचार कर लेनेके बाद जो बातें परिणाममें कल्याणकारक, शान्तिप्रद, सुखकर, लोकहितकर, न्याययुक्त और धर्मसंगत जँचें, उन्हीं बातोंको मानना और स्वार्थ छोड़कर उन्हींके अनुसार कर्म करना चाहिये।

सभी मनुष्योंमें प्रधानतः दो तरहकी वृत्तियाँ होती हैं— एक ऊर्ध्वको ले जानेवाली यानी आत्माको उन्नत बनानेवाली और दूसरी अधोगतिको ले जानेवाली यानी आत्माका पतन करनेवाली। इन दोनोंमें जो विवेक-वृत्ति कल्याणमें सहायक होकर उत्तम आचरणोंमें लगाती है वह ऊपर उठानेवाली है और जो अविवेक-वृत्ति राग-द्वेषमय अहंकारादिके द्वारा अधम आचरणोंमें प्रवृत्त करती है वह नीचे गिरानेवाली है। मनुष्य विवेक-वृत्तिके द्वारा अपनी उन्नति करना चाहता है, परन्तु अविवेक-वृत्ति उसे बलपूर्वक सन्मार्गसे च्युत करके अन्यायपथपर ढकेल देती है। इसीसे अर्जुनने भगवान्‌से पूछा था—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३। ३६)

'हे वार्ष्णेय! फिर यह पुरुष बलात् लगाये हुएके सदृश न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है।' भगवान्‌ने जवाबमें कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यही महा अशन अर्थात् अग्निके सदृश भोगोंसे न तृप्त होनेवाला बड़ा पापी है, इस विषयमें तू इसको ही शत्रु जान!' आगे चलकर भगवान्‌ने बतलाया कि रागरूप आसक्तिसे उत्पन्न होनेवाले इन कामादि शत्रुओंने ही मनुष्यकी इन्द्रियों और उसके मनपर अधिकार जमा रखा है, अतएव पहले इन्द्रियों और मनको अधीनतासे छुड़ाकर इन कामादि बुरी वृत्तियोंका विनाश करना चाहिये। ऐसा करनेमें साधक समर्थ है। इसीसे भगवान्‌ने कहा कि—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

(गीता ३। ४२-४३)

'शरीरसे इन्द्रियोंको श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं, इन्द्रियोंसे परे मन है, मनसे परे बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त परे है, वह आत्मा है। इस प्रकार बुद्धिसे परे अर्थात् सूक्ष्म, सब प्रकारसे बलवान् और श्रेष्ठ अपने आत्माको जानकर बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके हे महाबाहो! अपनी शक्तिको समझकर इस दुर्जय कामरूप शत्रुको मार।'

भगवान्‌के इन वचनोंके अनुसार मनुष्यको अपने आत्माके उद्धारके लिये उत्तरोत्तर अधिक उत्साहसे चेष्टा करनी चाहिये। राग-द्वेषमय अहंकारादियुक्त अविवेक-वृत्तिका दमनकर विवेक-वृत्तिको जाग्रत् करनेसे ही सब कुछ ठीक हो सकता है। यही कर्तव्यका पालन है।

अब यह बात विचारणीय है कि प्रायः सभी मनुष्य अपनी बुद्धिके अनुसार उन्नतिके लिये चेष्टा तो करते हैं, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिलती। ऐसी कौन-कौन-सी प्रधान बाधाएँ हैं जो मनुष्यको उन्नतिपथमें बढ़नेसे सदा रोके रखती हैं? इसका उत्तर यह है कि हमने कुसंग और असदभ्याससे ऐसी अनेक बाधाएँ खड़ी कर रखी हैं, जिनके कारण हम यथार्थ उन्नतिके पथपर आरूढ़ नहीं रह सकते। उनमेंसे प्रधान ये हैं—

(१) **आसक्ति**—खाने-पहनने, विलासिता करने, सांसारिक विषयोंका रस-बुद्धिसे उपभोग करनेमें प्रवृत्त करानेवाली वृत्तिका नाम आसक्ति है। मनुष्य विचारसे समझता है कि व्यभिचार करना बहुत बुरा है—पाप है। अमुक वस्तुका खाना शरीर और बुद्धिके लिये हानिकर है। परन्तु विषय-लालसारूप कामवृत्ति विवेकको ढककर उसे उन्हीं विषयोंमें ले जाती है। इस आसक्तिके वश होकर ही इन्द्रियाँ बलात् मनको खींचकर विषय-सागरमें डुबो देती हैं (गीता २। ६०)। इस काम-वृत्तिका अवश्य ही नाश करना चाहिये। जिन वस्तुओंकी ओर मन आकर्षित हो, हमें उनके गुण-दोषोंका विचारकर जिसमें दोष और परिणाममें दुःख प्रतीत होता हो, उसका हठ या विवेकसे विरोध या त्याग कर देना चाहिये और जिसमें दोष-दुःख न प्रतीत हो, उसे ग्रहण करना चाहिये।

(२) **द्वेष**—जो क्रोधके रूपमें परिणत होकर न्यायान्यायके विचारको नष्ट कर देता है और चाहे जैसे अन्याय-कर्ममें लगा देता है। काम-वृत्ति जाग्रत् होनेपर जैसे मनुष्य चाहे जैसा पाप कर बैठता है, इसी प्रकार क्रोधकी वृत्तिमें भी वह बड़े-से-बड़ा अन्याय करते नहीं हिचकता। अतएव द्वेषको कभी हृदयमें नहीं टिकने देना चाहिये। जब किसीपर क्रोध आवे तब उसी समय सावधान होकर विवेक-बुद्धिसे काम लेना चाहिये। क्रोधके वशमें होकर कुछ कर बैठना भविष्यमें अत्यन्त दुःखदायी हुआ करता है।

(३) **लोभ**—विचारवान् पुरुषोंने लोभको पापका जन्मदाता बतलाया है। लोभवृत्ति जागनेपर न्यायान्याय और सत्यासत्यका विचार नहीं ठहर सकता। दूसरोंको धोखा देना, ठगना, धनके लिये नीच-से-नीच कर्म कर बैठना लोभी मनुष्यका स्वभाव-सा बन जाता है। धन-संग्रहको ही जीवनका ध्येय समझनेवाले लोभीसे धर्मका संग्रह होना अत्यन्त कठिन है। अतएव ईश्वर और प्रारब्धपर भरोसा करके लोभका त्याग करना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीतामें काम, क्रोध और लोभ इन तीनोंको आत्मनाशक नरकका द्वार बतलाया है (१६। २१)।

(४) **भय**—इसके उत्पन्न होनेपर मनुष्य धैर्यको त्यागकर तुरन्त पापमें प्रवृत्त हो जाता है। जो मनुष्य निर्भय होकर न्यायपथपर चलता है, महान्-से-महान् संकटमें भी धैर्य नहीं छोड़ता, उसका यहाँ-वहाँ कहीं भी कभी पतन नहीं होता। परमात्माको हर जगह देखनेपर तो भय कहीं रहता ही नहीं, परन्तु हृदयमें धैर्य धारण करके विचार करने तथा शूर-वीरताका अवलम्बन करनेसे भी मनुष्य निर्भय हो सकता है। इस बातको समझकर सदा निर्भय रहनेकी चेष्टा करनी चाहिये। भयमें पड़कर अधीरतासे अन्यायको कभी स्वीकार नहीं करना चाहिये।

(५) **दम्भ**—अपने बुरे भावोंको छिपाकर लोभ, भय या अज्ञानसे धन, मान, बड़ाई आदिके लिये बिना हुए ही अच्छे भाव दिखलाना या अपने थोड़े अच्छे भावोंको विशेषरूपसे दिखाना दम्भ कहलाता है। यह दोष कल्याण-मार्गमें बहुत बड़ा बाधक है, साधकके अधःपतनके प्रधान हेतुओंमेंसे यह विशेष प्रधान है। असत्य, छल, अन्याय आदि दोष दम्भके गर्भमें स्वाभाविक ही छिपे रहते हैं। दम्भी मनुष्य समझता है कि मैं दूसरोंको ठगता हूँ, परन्तु वास्तवमें वह स्वयं ही ठगा जाता है। दम्भसे किये हुए यज्ञ-दानादि सत्कर्म भी क्षय हो जाते हैं, बल्कि कहीं-कहीं तो कर्ताको पुण्यके बदले पापका भागी बनना पड़ता है। अतएव विचारवान् पुरुषको इस दोषसे खूब बचना चाहिये। आजकलकी दुनियामें इस दोषका बहुत विस्तार हो गया है। हजारोंमें भी एक मनुष्य ऐसा मिलना कठिन है, जिसमें दम्भका लेश भी न हो।

उपर्युक्त पाँच तो प्रधान दोष हैं। इनके सिवा हमने बहुत-सी ऐसी आदतें डाल ली हैं, जिनसे विवश होकर हमें कल्याणपथसे गिरना पड़ता है। विचार-दृष्टिसे प्रत्यक्ष अधःपतन करनेवाली दीखनेपर भी प्रारम्भमें मोहसे कुछ सुखप्रद प्रतीत होनेके कारण हम उन्हें छोड़ना नहीं चाहते। जैसे—

(क) **दूसरेके आश्रयपर निर्भरकर पराधीनतामें जीवन बिताना**—जो स्वावलम्बी नहीं होते, जिनका जीवन-निर्वाह दूसरोंकी कमाईसे होता है, जो दूसरोंके द्वारा रक्षित होकर जीवन धारण करते हैं, वे अपने विचारोंकी उन्नति नहीं कर सकते। उन्हें अपने आश्रयदाताके विचारोंके आगे दबना पड़ता है। कभी-कभी तो अपने सद्‌विचारोंकी हत्यातक करनी पड़ती है। विचारोंके दबते-दबते नवीन सद्‌विचारोंकी सृष्टि होनी रुक जाती है, शरीरकी भाँति उनकी बुद्धि और विवेक भी परमुखापेक्षी बन जाते हैं। अतएव यथासम्भव स्वावलम्बी बननेकी चेष्टा करनी चाहिये।

(ख) **शरीरके आराम या भोगोंके लिये दूसरोंपर हुक्म चलाना या उनसे सेवा कराना**—इस आदतने हमको अकर्मण्य और अभिमानी बना दिया है। समताका गुण प्रायः नष्ट कर दिया है, अतएव यथासाध्य दूसरोंके द्वारा अपनी सुविधाके लिये सेवा कभी नहीं करानी चाहिये।

(ग) **अपने आराम, भोग या नामके लिये धनका अधिक खर्च करना**—यह एक ऐसी बुरी आदत है, जिसके कारण मनुष्य अन्याय-मार्गसे धन कमानेकी चेष्टाकर सब तरहसे पतित हो जाता है। धनका गुलाम क्या-क्या अन्याय नहीं करता? हमलोगोंने अपनेसे अधिक धनवानोंकी देखादेखी अपने दैनिक खर्च, खाने-पहननेका खर्च, ब्याह-शादीका खर्च इतना बढ़ा लिया है कि जिसके कारण आज हमारा जीवन महान् दुःखी और अशान्त बन गया है। इसीलिये आज हम धन कमानेके किसी भी साधनको अनुचित नहीं समझते। चाहे जैसे भी हो, धर्म जाय, न्यायका नाश हो, देश, जाति या पड़ोसी भाइयोंका दुःख बढ़ जाय, हमें धन मिलना चाहिये। इस न्यायान्यायशून्य धनलोलुपताकी इतनी वृद्धिमें अनावश्यक व्यय एक प्रधान कारण है। धनलोलुप लोग परमार्थके साधन या आत्मोन्नतिके कार्यमें सहजमें नहीं लग सकते। अतएव मनुष्यको चाहिये कि यथासाध्य अपनी आवश्यकताओंको घटावे। जितना अधिक कम खर्चमें जीवन-निर्वाह हो, उतना ही कम खर्च करे, धन ज्यादा हो तो उसका उपयोग गरीब, निर्धन, अपाहिज भाई-बहनोंकी सेवामें करे।

(घ) **दीर्घसूत्रता, अकर्मण्यता या हरामीपन**—आजके कामको कलपर छोड़ना। काम करनेमें दिलको लगाना ही नहीं। यह बहुत ही बुरी आदत है। इस आदतके वशमें रहनेवाले मनुष्यका इस लोक या परलोकमें उन्नत होना अत्यन्त ही कठिन है। समय बहुत थोड़ा है, मार्ग दूर है। मृत्यु प्राप्त होने और शरीरपर रोगोंका आक्रमण होनेसे पहले ही तत्पर होकर कर्तव्य-पालनमें लग जाना चाहिये। प्रत्येक सत्कार्यकी प्राप्ति होते ही उत्साहके साथ उसी समय उसे सम्पन्न करनेके लिये प्रस्तुत हो जाना चाहिये।

(ङ) **माता, पिता आदि गुरुजनोंकी आज्ञाकी अवहेलना**—यह आदत आजकल बहुत बढ़ रही है, खासकर पढ़े-लिखे लोगोंमें। बड़े-बूढ़े अनुभवी गुरुजनोंकी स्नेहभरी आज्ञाकी अवहेलना करते रहनेसे सन्मार्गपर प्रवृत्त होनेमें बड़ी बाधा होती है। गुरुजनोंके आशीर्वादसे आयु, विद्या, यश और बलकी वृद्धि होती है। उनके अनुभवपूर्ण वाक्योंसे हमें जीवन-निर्वाहका मार्ग सूझता है, अतएव यथासाध्य गुरुजनोंकी आज्ञा पालन करनेमें तत्पर होना चाहिये।

(च) **दूसरोंकी निन्दा-स्तुति करना या व्यर्थ पर-चर्चा करना**—परायी निन्दा-स्तुति या व्यर्थ चर्चा मनुष्यको बहुत ही मीठी लगती है जिसमें पर-निन्दा और पर-चर्चा तो सबसे बढ़कर प्यारी है। निन्दा-स्तुति और पर-चर्चामें असत्य, द्वेष और दम्भको बहुत गुंजाइश मिल जाती है। अतएव निन्दा या व्यर्थ चर्चा तो कभी नहीं करनी चाहिये। स्वार्थ-सिद्धिके लिये स्तुति करना भी बहुत बुरा है। बिना हुए ही स्वार्थवश किसीके अधिक गुणोंका बखान करना उसको ठगना है। योग्यता प्राप्त होनेपर यथार्थ शब्दोंमें स्तुति करनेपर कर्ताके लिये कोई हानि नहीं है।

(छ) **मान-बड़ाई या प्रतिष्ठाका चाहना और उनके प्राप्त होनेपर स्वीकार करते रहना**—यह दादके खाजकी तरह बड़ा ही सुहावना रोग है, जो आरम्भमें सुखकर प्रतीत होनेपर भी अन्तमें बड़ा दुःखदायी होता है। आजकल तो मानो मान-बड़ाईके क्षुद्र मूल्यपर हमारा महान् धर्म-कर्म सब कुछ बिक गया है। मनुष्य जो कुछ अच्छा कर्म करता है, वह सब मान-बड़ाईके प्रवाहमें बहा देता है। यद्यपि प्रमादी और विषयासक्त पुरुषोंकी अपेक्षा मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये भी अच्छे कर्म करनेवाले उत्तम हैं, तथापि आत्माके कल्याण चाहनेवालोंकी तो मान-बड़ाईसे बड़ी हानि होती है। जिस साधनसे अमूल्य-निधि परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है, उनका वह सब साधन मान-बड़ाईमें चला जाता है। यह बड़ी भयानक, गम्भीर और संक्रामक व्याधि है, हृदयके अन्तस्तलमें छिपी रहती है। स्त्री-पुत्र और धन-ऐश्वर्यके त्यागियोंमें भी प्रायः मान-बड़ाईका रोग देखा जाता है। विचारबुद्धिसे बुरा समझनेपर भी मनुष्य सहजमें इससे सर्वथा नहीं छूट सकता। इसके परमाणु जगत्‌भरमें फैले हुए हैं। करोड़ोंमें कोई एक ही शायद इस छूतकी बीमारीसे बचा होगा। इसका सम्पूर्ण नाश तो परमात्माका तत्त्व जाननेपर ही होता है, परन्तु चेष्टा

करनेसे पहले भी बहुत कुछ दमन हो जाता है। अतएव इसके नाशके लिये हर समय प्रयत्नशील रहना चाहिये। इस प्रयत्नमें भी यह सावधानी अवश्य रखनी चाहिये कि कहीं बदलेमें अनुचित हठ या दम्भ न उत्पन्न हो जाय।

उपर्युक्त प्रधान बाधाओंसे बचकर आत्मोन्नतिकी चेष्टा करनेवाला मनुष्य अन्तमें सफल हो सकता है। अब संक्षेपमें उन मुख्य-मुख्य साधनोंको भी जान लेना चाहिये जिनसे आत्मोन्नतिमें बड़ी सहायता मिलती है और जो कर्तव्यके प्रधान अंग हैं।

(१) सत्पुरुषोंका संग और सत्-शास्त्रोंका अध्ययन करके उनके उत्तम सत्-आचरणों और उपदेशोंका अनुकरण और ग्रहण करना।

(२) ईश्वरकी सत्तापर विश्वास करना। परमात्माका विश्वास ज्यों-ज्यों बढ़ता जायगा त्यों-ही-त्यों सारे दोष स्वयमेव नष्ट होते चले जायँगे। सर्वव्यापी परमेश्वरमें जितना अधिक विश्वास होगा, उतना ही आत्मा अधिक उन्नत होगा। जैसे सूर्यके उदय होनेके पूर्व उसके आभाससे ही अन्धकार मिट जाता है वैसे ही परमात्माकी शरण ग्रहण करनेसे पहले ही उसपर विश्वास होते ही पाप नष्ट हो जाते हैं। सब समय सब जगह परमात्माके स्थित होनेका विश्वास हो जानेपर मनुष्यसे कभी कहीं भी पाप नहीं हो सकते।

(३) ईश्वरके शरणागत होकर निष्काम और प्रेमभावसे उसके नामके जपका निरन्तर अभ्यास करना। जिसका जिस नामसे प्रेम हो, उसके लिये वही नाम विशेष लाभप्रद है। जिस पुरुषको जिस नामसे लाभ पहुँचा, उसने उसी नामकी विशेष महिमा गायी है। इससे इस भ्रममें नहीं पड़ना चाहिये कि अमुक नाम बड़ा है और अमुक छोटा है। न्यायदृष्टिसे देखनेपर परमात्माके सभी नाम समान प्रभावशाली प्रतीत होते हैं। जिसका जो इष्ट हो, जो प्रिय हो, उसके लिये वही श्रेष्ठ है। अपनी-अपनी कल्पनासे सम्प्रदायानुसार तारतम्यता है, वास्तवमें नहीं। अतएव जो नाम-जप नहीं करते हैं, उन्हें जो अच्छा लगे उसी नामका जप करना चाहिये और जो जिस नामका जप करते हैं, उन्हें उसका परिवर्तन न कर उसीको आदर और प्रेमसहित बढ़ाना चाहिये।

(४) परमेश्वरके स्वरूपका मनन करना। जिसको जो इष्ट हो, अपनी कल्पनामें ईश्वरको जो जैसा समझता हो, उसे वैसे ही स्वरूप या भावका निरन्तर चिन्तन करना चाहिये। ईश्वरके सम्बन्धमें इतनी बातें अवश्य ही दृढ़तापूर्वक हृदयमें धारण कर लेनी चाहिये कि ईश्वर है, सर्वत्र है, सर्वान्तर्यामी है, सर्वशक्तिमान् है, सर्वव्यापी है, सर्व-दिव्य-गुण-सम्पन्न है, सर्वज्ञ है, सनातन है, नित्य है, परम प्रेमी है, परम सुहृद् है, परम आत्मीय है और परम गुरु है। इन गुणोंमें उससे बढ़कर या उसकी जोड़ीका दूसरा जगत्में न कोई हुआ, न है और न हो सकता है।

(५) मन, वाणी, शरीरके द्वारा स्वार्थरहित होकर वैसी चेष्टा सदैव करते रहना चाहिये जो अपनी बुद्धिमें कल्याणके लिये अत्यन्त श्रेयस्कर प्रतीत हो।

(६) जिसको अपना कर्तव्य समझ लिया उसके पालन करनेमें दृढ़ रहना चाहिये। लोभ, भय, स्वार्थ या अज्ञान किसी भी कारणसे कर्तव्यच्युत नहीं होना चाहिये।

यही छः बातें विशेषरूपसे कर्तव्य समझने योग्य हैं। यह सब मैंने संक्षेपमें अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार लिखा है, हो सकता है, यह ठीक न जँचे या इससे उत्तम और कोई बातें हों। सबको अपनी बुद्धिके अनुसार अपने-अपने लाभकी बातें सोचकर उनके अनुकूल चलना चाहिये। अपनी बुद्धिमें जो बात निर्विवादरूपसे अच्छी प्रतीत हो, आसक्तिके वश होकर उसे कभी नहीं छोड़ना चाहिये। इसके अतिरिक्त मनुष्य और कर ही क्या सकता है? अपनी विवेकबुद्धिके सहारे जो आत्मोन्नतिकी चेष्टा करता है वह प्रायः सफल ही होता है। और जो परमात्माका आश्रय लेकर परमात्माकी खोजके लिये अपनी बुद्धिके अनुसार परमात्माकी प्रेरणा समझकर साधन करता है, उसकी सफलतामें तो कोई सन्देह ही नहीं करना चाहिये! साधारणतः प्रत्येक मनुष्यको दिनके चौबीस घण्टेमेंसे छः घण्टे कर्तव्यकर्मके पालनरूप योग-साधनमें, छः घण्टे न्याययुक्त धर्मसंगत आजीविकाके लिये कर्म करनेमें, छः घण्टे शौच, स्नान, आहारादि शारीरिक कर्ममें और छः घण्टे सोनेमें खर्च करने चाहिये।

धर्मकी आवश्यकता

वेद-शास्त्र-पुराण और सन्त-महात्माओंके वचनों और महज्जनोंके आचरणोंसे यही सिद्ध होता है कि संसार धर्मपर ही प्रतिष्ठित है, धर्मसे ही 'मनुष्य-जीवनकी सार्थकता है, धर्म ही मनुष्यको पापोंसे बचाकर उन्नत जीवनमें प्रवेश करवाता है, धर्मबलसे ही विपत्तिपूर्ण संसार और परलोकमें जीव दुःखके महार्णवसे पार उतर सकता है। हिन्दू-शास्त्रकार और सन्तोंने तो इन सिद्धान्तोंकी बड़े जोरसे घोषणा की ही है, परन्तु अन्यान्य जातियोंमें भी धर्मको सदा ऊँचा स्थान मिला है। सभीने धर्मबलसे ही अपनेको बलवान् समझा है। अबतक सब जगह यही माना

गया है कि धर्मके बिना मनुष्यका जीवन पशु-जीवन-सदृश ही हो जाता है। परन्तु अब कुछ समयसे दुनियामें एक नयी हवा चली है। जहाँ धर्मको जीवनकी उन्नतिका एक प्रधान साधन समझा जाता था, वहाँ अब कुछ लोग धर्मको पतनका कारण बतलाने लगे हैं।

कुछ समय पहले समाचार-पत्रोंमें यह प्रकाशित हुआ था कि रूसमें 'ईश्वर-विरोधी-मण्डल' के अनुरोधसे वहाँकी सोवियत यूनियनने अपने सदस्योंको किसी भी धार्मिक कार्यमें सम्मिलित न होनेके लिये आज्ञापत्र निकाला है। इससे पहले ईश्वरका इस प्रकार विधिद्वारा विरोध करनेकी बात कहीं सुननेमें नहीं आयी थी। अवश्य ही पुराणोंमें हिरण्यकशिपु-सरीखे दैत्योंके नाम मिलते हैं, जिसने प्रह्लादको ताड़ना दी थी। रावण-राज्यमें भी, जो अत्याचारके लिये विख्यात है, शायद ईश्वरको न माननेका कानून नहीं था, होता तो विभीषण-सदृश ईश्वरभक्त उसके राज्यमें कैसे रह सकते? यह सत्य है कि संसारमें ऐसे लोग बहुत कालसे चले आते हैं, जो ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार नहीं करते, परन्तु उन लोगोंने भी धर्मका कभी विरोध नहीं किया। बड़े-बड़े अनीश्वरवादियोंने भी जगत्को ऐहिक सुख पहुँचानेके लिये भी धर्मका पालन और पक्ष किया है। धर्मका स्वरूप कुछ भी हो परन्तु धर्मका पालन प्रत्येक देश और जातिमें सदासे चला आता है।

इस समय यह धर्म-विरोधी आन्दोलन केवल रूसमें ही नहीं हो रहा है; यूरोप, अमेरिका, एशिया और अफ्रिकाके ईसाई, मुसलमान और बौद्ध सभीमें न्यूनाधिकरूपसे इस प्रकारके आन्दोलनका सूत्रपात हो गया है। सबसे अधिक दुःखकी बात तो यह है कि धर्म-प्राण भारतवर्षमें भी आज ईश्वर और धर्मके तत्त्वसे अनभिज्ञ होनेके कारण कुछ लोग यह कहने लगे हैं कि 'धर्म ही हमारे सर्वनाशका कारण है, धर्मके कारण ही देश परतन्त्र हो रहा है, धर्म ही हमारे सर्वांगीण उत्थानमें प्रधान बाधक है।' इस प्रकार कहने और माननेवाले लोग, ईश्वर और धर्मवादियोंको मूर्ख समझते हैं। उन्हें अपनी भूल समझमें नहीं आती और सहज ही इसका समझमें आना भी कठिन ही है, क्योंकि जब मनुष्य अपनेको सर्वापेक्षा अधिक बुद्धिमान् और विद्वान् समझने लगता है, तब उसे अपनी रायके प्रतिकूल दूसरेकी अच्छी-से-अच्छी सम्मति भी पसन्द नहीं आती। इस धर्मध्वंसकारी आन्दोलनका परिणाम क्या होगा सो कुछ भी समझमें नहीं आता, तो भी शब्द, युक्ति और अनुमान-प्रमाणसे यही अनुमान होता है कि इससे देशकी बड़ी दुर्दशा होगी। धर्महीन मनुष्य उच्छृंखल हो जाता है और ऐसे मनुष्योंका समूह जितना अधिक बढ़ता है, उतना ही द्वेष-द्रोहका दावानल अधिक जलता है, जिससे सभीको दुःख भोगना पड़ता है।

धर्म ही मनुष्यको संयमी, साहसी, धीर, वीर, जितेन्द्रिय और कर्तव्यपरायण बनाता है। धर्म ही दया, अहिंसा, क्षमा, परदुःख-कातरता, सेवा, सत्य और ब्रह्मचर्यका पाठ सिखाता है। मनु महाराजने धर्मके दस लक्षण बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(६। ९२)

धृति, क्षमा, मनका निग्रह, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, निर्मल बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण हैं।

महाभारतमें कहा है—

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः॥

(वनपर्व २९७। ३५)

मन, वाणी और कर्मसे प्राणिमात्रके साथ अद्रोह, सबपर कृपा और दान यही साधु पुरुषोंका सनातन-धर्म है।

पद्मपुराणमें धर्मके लक्षण बतलाये हैं—

ब्रह्मचर्येण सत्येन मखपञ्चकवर्तनैः।
दानेन नियमैश्चापि क्षान्त्या शौचेन वल्लभ॥
अहिंसया सुशान्त्या च अस्तेयेनापि वर्तनैः।
एतैर्दशभिरङ्गैस्तु धर्ममेव प्रपूरयेत्॥

(द्वितीय खण्ड अ० १२। ४६-४७)

हे प्रिय! ब्रह्मचर्य, सत्य, पंचमहायज्ञ, दान, नियम, क्षमा, शौच, अहिंसा, शान्ति और अस्तेयसे व्यवहार करना—इन दस अंगोंसे धर्मकी ही पूर्ति करे।

अब बतलाइये, क्या कोई भी जाति या व्यक्ति मन और इन्द्रियोंकी गुलाम, विद्या-बुद्धिहीन, सत्य-क्षमा-रहित, मन, वाणी, शरीरसे अपवित्र, हिंसा-परायण, अशान्त, दानरहित और परधन हरण करनेवाली होनेपर कभी सुखी या उन्नत हो सकती है? प्रत्येक उन्नतिकामी जाति या व्यक्तिके लिये क्या धर्मके इन लक्षणोंको चरित्रगत करनेकी नितान्त आवश्यकता नहीं है? क्या धर्मके इन तत्त्वोंसे हीन जाति कभी जगत्में सुखपूर्वक टिक सकती है? धर्मके नामतकका मूलोच्छेद चाहनेवाले सज्जन एक बार गम्भीरतापूर्वक पक्षपातरहित हो यदि शान्त-चित्तसे विचार करें तो उन्हें भी यह मालूम हो सकता है कि धर्म ही हमारे लोक-परलोकका एकमात्र सहायक और साथी है, धर्म मनुष्यको दुःखसे निकालकर सुखकी शीतल गोदमें ले जाता है, असत्यसे सत्यमें ले जाता है, अन्धकारपूर्ण हृदयमें अपूर्व ज्योतिका प्रकाश कर देता

है। धर्म ही चरित्र-संगठनमें एकमात्र सहायक है। धर्मसे ही अधर्मपर विजय प्राप्त हो सकती है, धर्म ही अत्याचारका विनाशकर धर्मराज्यकी स्थापनामें हेतु बनता है। पाण्डवोंके पास सैन्यबलकी अपेक्षा धर्मबल अधिक था, इसीसे वे विजयी हुए। अस्त्र-शस्त्रोंसे सब भाँति सुसज्जित बड़ी भारी सेनाके स्वामी महापराक्रमी रावणका धर्मत्यागके कारण ही अध:पतन हो गया। कंसको धर्मत्यागके कारण ही कलंकित होकर मरना पड़ा।

महाराणा प्रताप और छत्रपति शिवाजीका नाम हिन्दूजातिमें धर्माभिमानके कारण ही अमर है। गुरु गोविन्दसिंहके पुत्रोंने धर्मके लिये ही दीवारमें चुना जाना सहर्ष स्वीकार कर लिया था, मीराबाई धर्मके लिये जहरका प्याला पी गयी थी। ईसामसीह धर्मके लिये ही शूलीपर चढ़े थे। भगवान् बुद्धने धर्मके लिये ही शरीर सुखा दिया था। युधिष्ठिरने धर्मपालनके लिये ही कुत्तेको साथ लिये बिना अकेले सुखमय स्वर्गमें जाना अस्वीकार कर दिया था। इसीसे आज इन महानुभावोंके नाम अमर हो रहे हैं। धर्म जाता रहेगा तो मनुष्योंमें बचेगा ही क्या? धर्मके अभावमें पर-धन और पर-स्त्रीका अपहरण करना, दीनोंको दु:ख पहुँचाना तथा यथेच्छाचार करना और भी सुगम हो जायगा। सर्वथा धर्मरहित जगत्की कल्पना ही विचारवान् पुरुषके हृदयको हिला देती है!

अतएव अभीसे धर्मभीरु जनताको सावधानीके साथ धर्मकी रक्षाके लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये। धार्मिक साहित्यका प्रचार, धर्मके निर्मल भावोंका विस्तार, धर्मके सूक्ष्म तत्त्वोंका अन्वेषण और प्रसार करनेके लिये प्रस्तुत हो जाना चाहिये। साथ ही धर्मका वास्तविक आचरण करके ऐसा चरित्रगत धर्मबल संग्रह करना चाहिये जिससे धर्मविरोधी हलचलमें ठोस बाधा पहुँचायी जा सके। सनातन-धर्म किसी दूसरे धर्मका विरोध नहीं करता। महाभारतमें कहा है—

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्मकः।
अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम॥

हे सत्यविक्रम! जो धर्म दूसरे धर्मका विरोध करता है वह तो कुधर्म है। जो दूसरेका विरोध नहीं करता, वही यथार्थ धर्म है। पता नहीं, ऐसे सार्वभौम धर्मके त्यागका प्रश्न ही कैसे उठता है? मनु महाराजके ये वाक्य स्मरण रखने चाहिये—

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥ २३९॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥ २४१॥
तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम्॥ २४२॥

(मनुस्मृति अ० ४)

परलोकमें सहायताके लिये माता, पिता, पुत्र, स्त्री और सम्बन्धी नहीं रहते। वहाँ एक धर्म ही काम आता है। मरे हुए शरीरको बन्धु-बान्धव काठ और मिट्टीके ढेलेके समान पृथिवीपर पटककर घर चले आते हैं, एक धर्म ही उसके पीछे जाता है। अतएव परलोकमें सहायताके लिये नित्य शनैः-शनैः धर्मका संचय करना चाहिये। धर्मकी सहायतासे मनुष्य दुस्तर नरकसे भी तर जाता है।

शीघ्र कल्याण कैसे हो?

लोग परमात्म-प्राप्तिके साधनमें जो समय लगाते हैं, उसके सदुपयोग और सुधारकी अत्यधिक आवश्यकता है। साधनके लिये जैसी चेष्टा होनी चाहिये वैसी वस्तुतः होती नहीं। दो-चार साधकोंके विषयमें तो मैं कह नहीं सकता, पर अधिकांश साधक विशेष लाभ उठाते नहीं दीखते। यद्यपि उन्हें लाभ होता है, पर वह बहुत ही साधारण है, अतः समयके महत्त्वको समझते हुए भविष्यमें ऐसी चेष्टा करनी चाहिये, जिससे जीवनके शेष भागका अधिकाधिक सदुपयोग होकर परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र-से-शीघ्र हो सके। मृत्यु निकट आ रही है। हमें अचानक यहाँसे चले जाना होगा। जबतक मृत्यु दूर है और शरीर स्वस्थ है तबतक आत्माके कल्याणार्थ प्रत्येक प्रकारसे तत्पर हो जाना चाहिये।

मनुष्य-जन्म ही जीवात्माके कल्याणका एकमात्र साधन है। देवयोनि भी यद्यपि पवित्र है, पर उसमें भोगोंकी अधिकताके कारण साधन बनना कठिन है। इसीलिये देवगण भी यह इच्छा रखते हैं कि हमारा जन्म मनुष्यलोकमें हो, जिससे हम भी अपना श्रेय-साधन कर सकें। ऐसे सुर-दुर्लभ मनुष्य-जन्मको पाकर भी जो लोग ताश-चौपड़ खेलते, गाँजा-भाँग आदि नशा करते और व्यर्थका बकवाद तथा लोक-निन्दा करते रहते हैं वे अपना अमूल्य समय ही व्यर्थ नहीं बिताते, बल्कि मरकर तिर्यक्योनि अथवा इससे भी नीच-गतिको प्राप्त होते हैं। परन्तु बुद्धिमान् पुरुष, जो जीवनकी अमूल्य घड़ियोंका महत्त्व समझकर साधनमें तत्पर हो जाते हैं, बहुत शीघ्र अपना कल्याण कर सकते हैं। अतः जिज्ञासुओंको उचित है कि वे समयके

सदुपयोग और सुधारके लिये विशेषरूपसे दत्तचित्त होकर साधनको परिपक्व बनानेमें तत्पर हो जायँ।

भगवान्‌ने हमें बुद्धि प्रदान की है। उसे सद्विचार और सत्कार्यमें लगानेकी आवश्यकता है। जो अविवेकी इस मनुष्य-शरीरको विषय-भोगादि निन्दनीय कर्मोंमें खो देते हैं, उनमें और पशुओंमें कोई अन्तर नहीं। सच पूछा जाय तो कहना पड़ेगा कि कई अंशोंमें वे उनसे भी गये-बीते हैं। हमें स्वप्नमें भी कभी इस विचारको आश्रय नहीं देना चाहिये कि हम भोग भी भोगें और भगवान्‌को भी प्राप्त कर लें। दिन और रातको एक साथ देखना निस्सन्देह आकाश-कुसुमोंको तोड़ना है। जहाँ भोग है वहाँ भगवान् रह नहीं सकते। सन्तोंकी यह वाणी ध्रुव सत्य है—

जहाँ योग तहँ भोग नहिं, जहाँ भोग नहिं योग।
जहाँ भोग तहँ रोग है, जहाँ रोग तहँ सोग॥

भोगीसे कभी योगका साधन हो नहीं सकता। भोगका फल रोग और रोगका फल शोक है। अतः पाप-ताप और रोग-शोककी आत्यन्तिक निवृत्तिके लिये विषयोंसे मुँह मोड़कर साधन-पथपर उत्तरोत्तर अग्रसर होते रहना चाहिये। संसारमें सार वस्तु परमात्मा है। उससे भिन्न सब कुछ सर्वथा निस्सार, क्षणिक और अनित्य है। अतः मायिक पदार्थोंके संग्रह और भोगोंमें आसक्त होनेके कारण यदि इसी जन्ममें हम परमात्माकी प्राप्ति न कर सके तो निर्विवादरूपसे मानना होगा कि हमारा जीवन भाररूप ही है।

बन्धुओ! आप मानव-कर्तव्यपर विचार तो कीजिये? भगवान् आपको उन्नतिके लिये आवाहन करते हैं। अवनत होना तो कर्तव्य-विमुखता है। भगवान् श्रीकृष्णकी उद्बोधनमयी वाणीपर ध्यान दीजिये—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

(गीता ६। ५)

उद्धारका अर्थ क्या है? उन्नति। रुपये कमाना उन्नति नहीं है। सन्तान-वृद्धि भी उन्नति नहीं है। यह सब तो यहीं धरे रहेंगे। इनका मोह त्यागकर आत्मोद्धारके अति विलक्षण मार्गपर आगे बढ़िये। समयको व्यर्थ न खोइये। जो लोग प्रमाद, आलस्य, निद्रा और भोगमें समयको बिताते हैं वे अपनेको जान-बूझकर अग्निमें झोंकते हैं। प्रमाद ही मृत्यु है। समयको व्यर्थ खोना ही प्रमाद है। बहुत-से भाई साधनके लिये समय निकालते हैं सही, परन्तु उन्हें लाभ नहींके बराबर हो रहा है। इसका कारण यह है कि वे समयका सदुपयोग और सुधार नहीं करते। वे कभी एकान्तमें बैठकर यह नहीं सोचते कि ऋषिसेवित तपोभूमिमें जन्म, द्विज-जातिमें उत्पत्ति और भगवत्-सम्बन्धी चर्चा करने-सुननेका अवसर, इन सारी अनुकूल सामग्रियोंके जुट जानेपर भी यदि सुधार न हुआ तो फिर कब होगा? अब तो सावधानतया ऐसा प्रयत्न होना चाहिये कि जिससे थोड़े समयमें ही बहुत अधिक लाभ प्राप्त किया जा सके। आगेकी पंक्तियोंमें मैं अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार जो निवेदन करूँगा, उससे आपको निश्चय हो सकेगा कि स्वल्प कालमें ही अत्यधिक लाभ किस प्रकार हो सकता है।

सबसे पहले गायत्रीके जपपर ही विचार किया जाता है। मन्त्रका जोरसे उच्चारण करके जप करनेपर जो फल मिलता है, उससे दसगुना अधिक फल उपांशु अर्थात् जिह्वासे किये जानेवाले जपसे प्राप्त होता है। मानसिक जपका फल उपांशुसे दसगुना तथा साधारण जपसे सौगुना अधिक होता है (मनु० २। ८५)। इससे यही सिद्ध होता है कि मनुष्य सौ वर्षोंमें साधारण जपसे जो फल प्राप्त कर सकता है, वही फल मानसिक जपद्वारा उसे एक ही वर्षमें प्राप्त हो सकता है, फिर वही भजन यदि निष्कामभाव और गुप्त रीतिसे किया जाय तो यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि सौ वर्षोंमें जो फल नहीं हो सकता वह छः मासमें ही प्राप्त हो सकता है। अश्वमेध-पर्वगत उत्तरगीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति कहा है कि 'जो पुरुष रात-दिन तत्पर होकर विज्ञान-आनन्दघनके स्वरूपका चिन्तन करता है वह शीघ्र ही पवित्र होकर परम पदको प्राप्त हो जाता है।' यह कौन नहीं जानता कि अटलव्रती ध्रुवजी केवल साढ़े पाँच महीनोंमें ही भगवद्दर्शनका अलभ्य लाभ उठाकर कृतकृत्य हो गये थे। मित्रो! निश्चय रखिये कि यदि वैसी तत्परताके साथ लग जायँ तो इस समय हम मनुष्य-जन्मका परम लाभ केवल पाँच ही दिनोंमें प्राप्त कर सकते हैं। पर शोक! भगवान्‌का चिन्तन कौन करते हैं? चिन्तन तो करते हैं विषयोंका! ऐसा करनेको तो भगवान् मिथ्याचार बतलाते हैं।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

(गीता ३। ६)

'जो मूढ़-बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको हठसे रोककर इन्द्रियोंके भोगोंको मनसे चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहलाता है।'

लोग एकान्तमें ध्यानके लिये बैठते हैं तो झटसे ऊँघने लगते हैं। इस बीचमें यदि कोई श्रद्धेय पुरुष संयोगवश वहाँ आ पहुँचे तो उठ बैठते हैं। यही तो पाखण्ड है। भगवान्

इससे बड़े नाराज होते हैं। वे समझते हैं कि ये भक्तिके नामपर मुझे ठगते हैं। रिझाना तो ये चाहते हैं लोगोंको और नाम लेते हैं एकान्तमें साधनका! भला, ऐसे स्वाँगकी आवश्यकता ही क्या है? साधकोंको भक्तिरूपी अमूल्य धनका संग्रह गुप्तरूपसे करना चाहिये। निष्काम और गुप्त भजन ही शीघ्रातिशीघ्र फलदायक होता है। स्त्री-पुत्रादिकी प्राप्तिके लिये भजनको बेच देना भारी भूल है। यद्यपि इससे पतन नहीं होता, पर फल अति अल्प ही होता है।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७। १६-१७)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्मवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी अर्थात् निष्कामी ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं, उनमें भी नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित हुआ अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझको अत्यन्त प्रिय है।'

निष्काम भक्तको भगवान्‌ने अपना ही स्वरूप माना है। **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** वही सबसे श्रेष्ठ है। अतः गायत्री-मन्त्रके जपकी तरह किसी भी मन्त्र अथवा नामके जपसे यदि हमें थोड़े ही समयमें अधिक लाभ प्राप्त करना अभीष्ट हो तो उपर्युक्त शैलीसे उसमें सुधार कर लेना चाहिये। साथ ही मन्त्रका जप अर्थसहित, आदर और प्रेमपूर्वक किया जाना चाहिये। यदि अर्थ समझमें न आता हो तो भगवान्‌के ध्यानसहित जप करना चाहिये। चारों वेदोंमें गायत्रीके समान किसी भी मन्त्रका महत्त्व नहीं बतलाया गया है, पर लोगोंको उससे उतना लाभ नहीं होता, इसका कारण यह है कि वे अर्थके सहित, प्रेम और आदरसे उसे जपते नहीं। मनुजीने स्पष्ट कहा है कि 'जो व्यक्ति गायत्रीकी दस मालाएँ नित्य जपता है वह केवल तीन ही वर्षोंमें भारी-से-भारी पापसे छूट जाता है।' पर आजकल जापकका मन तो कहीं रहता है और मणियाँ कहीं फिरती रहती हैं—

करमें तो माला फिरे, जीभ फिरे मुख मायँ।
मनुवा तो चहुँदिसि फिरे, यह तो सुमिरण नायँ॥

संख्या तो पूरी करनी ही नहीं है। साधकको तो भगवान्‌को रिझाना है। फिर प्रेम और आदरमें कमी क्यों करनी चाहिये? उपर्युक्त विशेषणोंको लक्ष्यमें रखकर जप करनेसे एक मालासे जो लाभ होगा, वह एक हजारसे भी न हुआ और न होगा। आप आजहीसे इस प्रकार करके देखिये, थोड़े-से समयमें कितना अपरिमित लाभ होता है। डेढ़ वर्षमें आपने जो मालाएँ जपीं, वह एक दिनसे भी कम रहेंगी। इतना होनेपर भी यदि असावधानता बनी रही तो विश्वासकी कमी ही समझनी चाहिये।

अब गीताके सम्बन्धमें विचार किया जाता है। एक भाई गीताका आद्योपान्त पाठ करता है, पर उसका अर्थ और भाव कुछ भी नहीं समझता। पाठके समय उसका मन भी संसारमें चला जाता है। संकल्पोंकी अधिकताके कारण उसे यह भी ज्ञान नहीं कि मैं किस अध्याय एवं किस श्लोकका पाठ कर रहा हूँ। उसके लिये यह कार्य एक प्रकारसे बेगार-सा है। पर बेगार है भगवान्‌की, इसलिये वह व्यर्थ नहीं जा सकती। दूसरा भाई प्रत्येक श्लोकका अर्थ समझकर प्रेमपूर्वक पाठ करता है। तत्त्व और रहस्यको समझकर पाठ करनेसे केवल एक ही श्लोकके पाठसे जो फल मिलता है वह पूरे सात सौ श्लोकोंके साधारण पाठसे भी नहीं मिलता। एक साधक पूर्वापर ध्यान देकर सारी गीताका पाठ करता है, पर आचरणमें एक बात भी नहीं लाता। वह श्लोक पढ़ लेता है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(गीता १७। १४)

वह समझता है कि 'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, शुचिता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शरीरसम्बन्धी तप कहलाता है', पर उसका यह केवल समझनामात्र ही है, जबतक कि वह अपने जीवनमें वैसा व्यवहार नहीं करता। दूसरा भाई, केवल एक ही श्लोकको पढ़ता है, पर उसे अक्षरशः कार्यान्वित कर देता है। ऐसी अवस्थामें कहना पड़ेगा कि आचरणमें लानेवाला साधक अर्थके जाननेवालेसे सात सौ गुना तथा बेगारीवालेसे चार लाख नब्बे हजारसे भी अधिक गुना लाभ उठानेवाला है। **अन्तरं महदन्तरम्!** दिन-रातका अन्तर प्रत्यक्ष दीख रहा है। अर्थसहित पाठ करनेवाला जो लाभ दो वर्षोंमें नहीं उठा सकता, धारण करनेवाला एक ही दिनमें उससे कहीं अधिक लाभ उठा सकता है।

यों तो गीताके पाठसे लाभ है, क्योंकि भगवान् कहते हैं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥

(गीता १८। ७०)

'हे अर्जुन! जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा अर्थात् नित्य पाठ करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा, ऐसा मेरा मत है।'

इस प्रकार मुक्तिरूप प्रसादी तो उसे मिल ही जायगी, पर धारण करनेपर तो एक ही श्लोक मुक्तिका दाता हो सकता है। पूरी गीताका नहीं तो, कम-से-कम एक अध्यायका पाठ तो कर ही लेना चाहिये। इस प्रकार जिसने चौबीस आवृत्ति कर ली, उसने एक वर्षमें चौबीस ज्ञानयज्ञ कर डाले। जो पढ़ना नहीं जानता, वह सुनकर भी यदि आचरण करे तो मुक्तिका अधिकारी हो सकता है। भगवान् कहते हैं—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(गीता १३। २५)

'दूसरे अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए, दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही उपासना करते हैं अर्थात् उन पुरुषोंके कहनेके अनुसार ही श्रद्धासहित तत्पर हुए साधन करते हैं और वे सुननेके परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निस्सन्देह तर जाते हैं।'

कितने आदमी नित्य ही गीता सुनते हैं पर सुननेसे ही काम न चलेगा। आजसे ही यह संकल्प कर लेना चाहिये कि प्रत्येक प्रकारसे व्यवहारमें लाकर हम अपना जीवन गीताके कथनानुसार बनानेकी चेष्टा करेंगे। उत्तम लोकोंका अधिकारी तो श्रद्धासे सुननेवाला भी हो ही जाता है; क्योंकि भगवान् कहते हैं—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥

(गीता १८। ७१)

जो पुरुष श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित हुआ इस गीता-शास्त्रका श्रवणमात्र भी करेगा वह भी पापोंसे मुक्त होकर उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होवेगा अतएव कम-से-कम प्रत्येक मनुष्यको गीताके श्रवणके द्वारा यमराजका द्वार तो बन्द कर ही देना चाहिये।

अब सन्ध्योपासनके विषयमें कुछ लिखा जाता है। श्रद्धा, प्रेम और सत्कारपूर्वक की हुई सन्ध्योपासनासे सब पापोंका नाश होकर आत्माका कल्याण हो सकता है। सब द्विजातियोंको प्रातः, मध्याह्न और सायंकालकी सन्ध्या श्रद्धा, प्रेम और सत्कारपूर्वक करनी चाहिये। तीन कालकी न कर सकें तो प्रातः-सायं-सन्ध्या तो अवश्यमेव करनी चाहिये। द्विज होकर जो सन्ध्या नहीं करता, वह प्रायश्चित्तका भागी और शूद्रके समान समझा जाता है। द्विजोंको सन्ध्याका त्याग कभी नहीं करना चाहिये। रात्रिके अन्त और दिनके आरम्भमें जो ईश्वरोपासना की जाती है वह प्रातःसन्ध्या और दिनके अन्त तथा रात्रिके आरम्भमें जो सन्ध्या की जाती है वह सायं-सन्ध्योपासना कहलाती है। विधिपूर्वक ठीक समयपर करना ही सत्कारपूर्वक करना है। जैसे समयपर बोया हुआ बीज ही लाभप्रद होता है, उसी प्रकार ठीक समयपर की हुई सन्ध्योपासना ही उत्तम फल देनेवाली होती है। असमयमें खेतमें बोया हुआ अनाज प्रथम तो उगता नहीं और यदि उग आया तो विशेष फलदायक नहीं होता, अतः हमें ठीक समयपर विधिसहित सन्ध्या करनेके लिये तत्पर होना चाहिये। प्रातःकालकी सन्ध्या तारोंके रहते करना उत्तम, तारोंके छिप जानेपर मध्यम एवं सूर्योदयके अनन्तर कनिष्ठ मानी गयी है—

उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका।
कनिष्ठा सूर्यसहिता प्रातःसन्ध्या त्रिधा स्मृता॥

यदि यह कहा जाय कि इसमें सूर्यकी प्रधानता क्यों मानी गयी, तो इसका उत्तर यह है कि प्रकट देवताओंमें सूर्यसे बढ़कर कोई दूसरा देव नहीं है और सृष्टिके आदिमें भगवान् ही सूर्यरूपमें प्रकट होते हैं। इसलिये सूर्यकी उपासना ईश्वरकी ही उपासना है। 'समयपर सन्ध्या करनेका महत्त्व इतना अधिक क्यों है'—इसके उत्तरमें निवेदन है कि सूर्य सबसे बढ़कर महान् पुरुष हैं। वह जब हमारे देशमें आते हैं तो उनका सत्कार करना हमारा परम कर्तव्य है। वह सत्कार ठीक समयपर किये जानेपर ही सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। जैसे कोई महात्मा हमारे हितके लिये हमारे यहाँ आते हैं तो उनके सत्कारार्थ बहुत-से भाई स्टेशनपर जाते हैं। कई तो ट्रेनके पहुँचनेके पूर्व ही उनके स्वागतार्थ सब प्रकारका प्रबन्ध करके ट्रेनकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। गाड़ीसे उतरते ही बड़े प्रेमसे पुष्पमाला और प्रणाम आदिके द्वारा उनका सत्कार करते हैं। दूसरे कितने ही भाई उनके पहुँचनेके समय प्लेटफार्मपर पहलेवालोंके साथ सम्मिलित होकर स्वागतके कार्यमें योग देने लगते हैं। तीसरे कितने ही भाई उनके नियत स्थानपर पहुँच जानेके दो घण्टे बाद अभिवन्दनादिद्वारा उनका सत्कार करते हैं। इन तीनोंमें प्रथम श्रेणीवालोंका दिया हुआ आदर उत्तम, द्वितीयवालोंका मध्यम और तृतीयवालोंका कनिष्ठ समझा जाता है। इसी प्रकार प्रातःकालकी सन्ध्याके समयमें सूर्यभगवान्का किया हुआ सत्कार समझना चाहिये।

सायंकालकी सन्ध्याका भी सूर्यके रहते हुए करना उत्तम, अस्त हो जानेपर मध्यम और नक्षत्रोंके प्रकट हो जानेपर करना कनिष्ठ माना जाता है—

उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा लुप्तभास्करा।
कनिष्ठा तारकोपेता सायंसन्ध्या त्रिधा स्मृता॥

क्योंकि जिस प्रकार महापुरुषके आनेपर समयपर किया गया सत्कार उत्तम माना जाता है, उसी प्रकार उनके विदा होनेके समय भी ठीक समयपर किया गया सत्कार ही सर्वोत्तम माना जाता है। जैसे कोई श्रेष्ठ पुरुष हमारे हितका कार्य सम्पादन करके जब विदा होते हैं तो उस समय बहुत-से भाई उनका आदर करते हुए स्टेशनपर उनके साथ जाते हैं और बड़े सत्कारके साथ उन्हें विदा करते हैं और दूसरे बन्धुगण उनके सत्कारार्थ कुछ देरी करके स्टेशनपर जाते हैं जिससे उन्हें दर्शन नहीं हो पाते। इस कारण वे उन्हें पत्रद्वारा अपनी श्रद्धा और प्रेमका परिचय देते हैं। तीसरे भाई, यह सुनकर कि महात्माजी विदा हो गये, स्टेशनपर भी नहीं जाते और न जानेका कारण पत्रद्वारा जनाते हुए अपना प्रेम प्रकट करते हैं। इन तीनों श्रेणियोंमें प्रथमका आदर-प्रेम उत्तम, द्वितीयका मध्यम और तृतीयका कनिष्ठ माना जाता है। इसी प्रकार सूर्यास्तके पूर्व सन्ध्या करनेपर सूर्य भगवान्का सत्कार उत्तम, सूर्यास्तके बाद मध्यम और तारोंके प्रकट होनेपर कनिष्ठ माना जाता है।

मार्जन, आचमन और प्राणायामादिकी विधिको समझकर ही सारी क्रियाएँ प्रमाद और उपेक्षाको छोड़कर आदरपूर्वक करनी चाहिये, प्रत्येक मन्त्रके पूर्व जो विनियोग छोड़ा जाता है उसमें बतलाये हुए ऋषि, छन्द, देवता और विषयको समझते हुए मन्त्रका प्रेमपूर्वक शुद्धता और स्पष्टतासे उच्चारण करना चाहिये। उस मन्त्र या श्लोकके प्रयोजनको भी समझ लेनेकी आवश्यकता है। जैसे—

ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

इस श्लोकको पढ़कर हम बाहर-भीतरकी पवित्रताके लिये शरीरका मार्जन करते हैं। यह विचारनेका विषय है कि मन्त्रके उच्चारणसे शरीरकी पवित्रता होती है अथवा जलके मार्जनसे। गौर करनेपर यह मालूम होगा कि मुख्य बात इन दोनोंसे ही भिन्न है। वह यह कि 'पुण्डरीकाक्ष' भगवान्का स्मरण करनेपर मनुष्य बाहर-भीतरसे पवित्र होता है; क्योंकि श्लोकका आशय यही है। यदि यह पूछा जाय कि फिर श्लोकके पढ़ने और मार्जन करनेकी आवश्यकता ही क्या है, तो इसका उत्तर यह है कि श्लोक-पाठका उद्देश्य तो परमात्म-स्मृतिके महत्त्वको बतलाना है और मार्जन पवित्रताकी ओर लक्ष्य करवाता है। इसी प्रकार सब मन्त्रों, श्लोकों और विनियोगोंके तात्पर्यको समझ-समझकर सन्ध्या करनी चाहिये। सूर्यभगवान्के दर्शन, ध्यान और अर्घ्यके समय ऐसा समझना चाहिये कि हम भगवान्का साक्षात् दर्शन और स्वागतादि कर रहे हैं। इस प्रकार प्रत्येक बातको खूब समझकर पद-पदपर प्रेममें मुग्ध होना चाहिये एवं मनमें इस बातका दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि प्रेम और आदरपूर्वक समयपर सूर्यभगवान्की उपासना करते-करते हम उनकी कृपासे अवश्य ही परम धामको प्राप्त कर सकेंगे। क्योंकि प्रेमी और श्रद्धालु उपासकद्वारा की हुई उपासनाकी सुनवायी अवश्य ही होगी। ईशोपनिषद्में भी लिखा है कि उपासक मरणकालमें परम धाममें जानेके लिये सूर्यभगवान्से प्रार्थना करता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

(मन्त्र १५)

'हे सूर्य! सत्यरूप आपका मुख सुवर्ण-सदृश पात्रद्वारा ढका हुआ है उसको आप हटाइये, जिससे कि मुझे आप सत्य धर्मवाले ब्रह्मके दर्शन हों।'

श्रद्धा, प्रेम और आदरपूर्वक उपासना करनेवाले उपासककी ही उपर्युक्त प्रार्थना स्वीकृत होती है।

यह बात युक्तियुक्त भी है कि कोई भी सेवक जब अपने स्वामीकी श्रद्धा और प्रेमसे सेवा करता है तो उत्तम पुरुष उसके प्रत्युपकारार्थ अपनी शक्तिके अनुसार उसका हितसाधन करता ही है। फिर सूर्यभगवान्की श्रद्धा-भक्तिसे उपासना करनेवाले उपासकके कल्याणमें तो सन्देह ही क्या है?

महाभारतमें प्रसिद्ध है कि महाराज युधिष्ठिरने तो अपने भक्त कुत्तेको अपने साथ स्वर्गमें ले जाना चाहा था। फिर सूर्यभगवान् हमारा कल्याण करें, इसमें तो कहना ही क्या है?

अतः जिन्हें शीघ्र-से-शीघ्र परम शान्ति प्राप्त करनेकी इच्छा हो, उन्हें उचित है कि वे अपने समयका सदुपयोग करते हुए उपर्युक्त शैलीसे साधनमें दृढ़तापूर्वक तत्पर हो जायँ।

सन्ध्योपासनकी आवश्यकता

अनुरोध*

यज्ञोपवीत धारण करनेवाले सज्जनोंमेंसे जो सज्जन सन्ध्या बिलकुल नहीं करते या केवल एक ही समय करते हैं, उन सबसे मेरी प्रार्थना है कि वे यदि उचित समझें तो इस अनुरोधके पढ़नेके दिनसे ही कम-से-कम प्रातः और सायं दोनों कालकी सन्ध्या और दोनों समय (कम-से-कम एक-एक माला एक सौ आठ मन्त्रोंकी) गायत्रीका जप अवश्य आरम्भ कर दें। जो भाई मेरी इस प्रार्थनापर ध्यान देकर इस कार्यका आरम्भ कर देंगे, उनका मैं कृतज्ञ होऊँगा और मुझे आशा है कि

* उपर्युक्त अनुरोधके अनुसार प्रत्येक द्विजको दोनों समयकी सन्ध्या करनी उचित है। भगवान् सूर्यनारायणके उदय होनेसे पूर्व ही मनुष्यके लिये बिछौनेसे उठ जानेकी विधि है 'ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत'। (मनु० ४। ९२) ब्राह्ममुहूर्तमें उठना चाहिये। उस समय उठनेसे शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी तरहका लाभ होता है। इसके पश्चात् यथाविधि शौच-स्नान करके सन्ध्योपासन करना चाहिये। वेदके वचन हैं—

उद्यन्तमस्तयन्तमादित्यमभिध्यायन्। ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते॥

सूर्यके उदय और अस्त समय सर्वदा सन्ध्या करनेवाला विद्वान् समस्त कल्याणको प्राप्त करता है। स्मृतिमें कहा है—

सन्ध्यामुपासते ये तु सततं शंसितव्रताः। विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकं सनातनम्॥

जो द्विज नित्य सदाचारपरायण रहकर सन्ध्योपासन करते हैं वे पापोंसे मुक्त होकर सनातन ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं।

निशायां वा दिवा वापि यदज्ञानकृतं भवेत्। त्रिकालसन्ध्याकरणात् तत्सर्वं हि प्रणश्यति॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति अ० ३। ३०८)

रात और दिनमें अज्ञानसे जो पाप बन गये हों, वह सब त्रिकाल-सन्ध्या करनेसे नष्ट हो जाते हैं।

सन्ध्याके मन्त्र बड़े ही सुन्दर हैं। उनमें सूर्य और अग्निके रूपसे परब्रह्म परमात्माकी प्रार्थना की गयी है। भगवत्कृपासे सन्ध्या करनेवालेके पाप क्षय होकर उसके हृदयमें महान् सात्त्विक भावोंका विकास हो सकता है। इतना होनेपर भी जो लोग सन्ध्या नहीं करते वे बड़ी भूल करते हैं। कहा है—

सन्ध्या येन न विज्ञाता सन्ध्या येनानुपासिता। जीवन्नेव भवेच्छूद्रो मृतः श्वा चाभिजायते॥

जो द्विज सन्ध्या नहीं जानता है और सन्ध्या नहीं करता है, वह जीता हुआ ही शूद्र हो जाता है और मरनेपर कुत्तेकी योनिको प्राप्त होता है।

सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु। यदन्यत् कुरुते कर्म न तस्य फलभाग्भवेत्॥ (दक्षस्मृति २। २२)

सन्ध्याहीन द्विज नित्य ही अपवित्र है और सम्पूर्ण धर्मकार्य करनेमें अयोग्य है। वह जो कुछ अन्य कर्म करता है उसका पूरा फल उसे नहीं मिलता।

मनु महाराज कहते हैं—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्। स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः॥ (२। १०३)

जो द्विज प्रातःकाल और सायंकालकी सन्ध्यावन्दन नहीं करता उसे द्विज जातिके सम्पूर्ण कर्मोंमेंसे शूद्रकी तरह दूर कर देना चाहिये।

इस सम्बन्धमें शास्त्रोंके अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं पर अधिककी आवश्यकता नहीं। द्विज महानुभावोंको चाहिये कि वे यथासमय कम-से-कम प्रातः-सायं दोनों समय सन्ध्या अवश्य करें। जिन द्विजोंके यज्ञोपवीत न हों वे यज्ञोपवीत-संस्कार करावें। जो एक समय सन्ध्या करते हों वे दोनों समय करना आरम्भ कर दें। प्रत्येक सन्ध्याके साथ प्रणवसहित गायत्रीके कम-से-कम १०८ मन्त्रोंका जप अवश्य करें। प्रणव और गायत्रीकी महिमा बड़ी भारी है।

मनु महाराज कहते हैं—

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम्। सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥ (२। ७८)

जो वेदवेत्ता विप्र प्रातःकाल और सायंकाल ओंकारका तथा भूः, भुवः और स्वः व्याहृतिपूर्वक गायत्रीका जप करता है उसे वेदाध्ययनका फल मिलता है।

योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः। स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥ (२। ८२)

जो पुरुष प्रतिदिन आलस्यका त्यागकर तीन वर्षतक गायत्रीका जप करता है वह मृत्युके बाद वायुरूप होता है और उसके बाद आकाशकी तरह व्यापक होकर परब्रह्मको प्राप्त करता है।

इसलिये—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात्। पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात्॥ (२। १०१)

प्रातःकालकी सन्ध्याके समय सूर्यके दर्शन हो वहाँतक खड़े रहकर गायत्रीका जप करते रहना चाहिये और सायंकालकी सन्ध्याके समय तारागण न दीखें वहाँतक बैठे-बैठे गायत्रीजप करना चाहिये।

सन्ध्याका विधान प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व और सायंकाल सूर्यास्तके समयका है, परन्तु यदि कार्यवश समय न सध सके तो कर्म तो अवश्य ही होना चाहिये। कार्यवशात् काललोप हो जाय परन्तु कर्म लोप न हो।—सम्पादक

उनके इस कार्यसे सनातनधर्मकी वृद्धि और परमेश्वरकी प्रसन्नता होगी तथा उन्हें अपने आत्म-कल्याणमें सहायता मिलेगी।

जो सज्जन अस्वस्थता, अनभ्यास या अन्य किसी कारणसे सायंकाल स्नान न कर सकें वे हाथ, पैर और मुख धोकर ही सन्ध्या और जप कर सकते हैं।

बलिवैश्वदेव

आवश्यक सूचना

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(गीता ३। १३)

'यज्ञसे शेष बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूटते हैं और जो पापी लोग अपने (शरीर-पोषणके) लिये ही अन्नको पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं।'

गृहस्थके घरमें जो नित्य पाँच तरहके पाप होते हैं, उनके प्रायश्चित्तके लिये तत्त्वज्ञानी ऋषियोंने पंच महायज्ञकी व्यवस्था की थी। खेदका विषय है कि वह नित्य-कर्म इस समय प्रायः लुप्त-सा हो गया है। जिस गृहस्थके यहाँ वे पाँचों महायज्ञ भलीभाँति होते हैं वह सर्वथा धन्यवादका पात्र है। बलिवैश्वदेव इन पाँचोंमेंसे एक महायज्ञ है। इसमें संक्षेपसे पाँचों ही महायज्ञ आ जाते हैं। बलिवैश्वदेव करनेमें प्रायः तीन मिनटका समय लगता है। इससे अन्नकी शुद्धि होती है, पापोंका प्रायश्चित्त होता है, निष्कामभावसे करनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। बलिवैश्वदेव किये बिना भोजन करना शास्त्रोंसे निन्दित है और बलिवैश्वदेव कर चुकनेपर जो अन्न बचता है वह अमृत बतलाया गया है। काम छोटा-सा है परन्तु भावना बड़ी ऊँची है। जगत्के समस्त प्राणियोंके निमित्त अपने भोजनमेंसे कुछ अंश देकर बाकी बचा हुआ अन्न खाना कितनी उदारता और समताका सूचक है। देवता, ऋषि तो भावनासे तृप्त होते हैं और अतिथि आदिकी प्रत्यक्षमें तृप्ति हो जाती है। थोड़े-से आयाससे महान् फल मिलता है। इसको पढ़कर जो भाई बलिवैश्वदेव आरम्भ कर देंगे, मैं उनका कृतज्ञ होऊँगा और मुझे आशा है कि उनके इस कार्यसे सनातनधर्मकी वृद्धि और परमेश्वरकी प्रसन्नता होगी तथा उन्हें अपने आत्माके कल्याणमें सहायता मिलेगी। विधि आगे है—

बलिवैश्वदेवविधि

(१) देवयज्ञ।[१]

१ ॐ ब्रह्मणे स्वाहा इदं ब्रह्मणे न मम।
२ ॐ प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये न मम।
३ ॐ गृह्याभ्यः स्वाहा इदं गृह्याभ्यो न मम।
४ ॐ कश्यपाय स्वाहा इदं कश्यपाय न मम।
५ ॐ अनुमतये स्वाहा इदमनुमतये न मम।

(२) भूतयज्ञ।[२]

१ ॐ धात्रे नमः इदं धात्रे न मम।
२ ॐ विधात्रे नमः इदं विधात्रे न मम।
३ ॐ वायवे नमः इदं वायवे न मम।
४ ॐ वायवे नमः इदं वायवे न मम।
५ ॐ वायवे नमः इदं वायवे न मम।

१-यज्ञोपवीतको सव्य करके दाहिने गोड़ेको पृथ्वीपर रखकर पके हुए बिना लवणके अन्नकी पाँच आहुतियाँ तो नीचे लिखे हुए मन्त्रोंद्वारा क्रमसे अग्निमें छोड़ दे।

२-यज्ञोपवीतको सव्य करके पके हुए अन्नके १७ ग्रास अंकितमण्डलमें यथायोग्य स्थानपर नीचे लिखे हुए मन्त्रोंद्वारा क्रमसे छोड़ दे।

६ ॐ वायवे नमः इदं वायवे न मम।
७ ॐ प्राच्यै नमः इदं प्राच्यै न मम।
८ ॐ अवाच्यै नमः इदमवाच्यै न मम।
९ ॐ प्रतीच्यै नमः इदं प्रतीच्यै न मम।
१० ॐ उदीच्यै नमः इदमुदीच्यै न मम।
११ ॐ ब्रह्मणे नमः इदं ब्रह्मणे न मम।
१२ ॐ अन्तरिक्षाय नमः इदमन्तरिक्षाय न मम।
१३ ॐ सूर्याय नमः इदं सूर्याय न मम।
१४ ॐ विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यो न मम।
१५ ॐ विश्वेभ्यो भूतेभ्यो नमः इदं विश्वेभ्यो भूतेभ्यो न मम।
१६ ॐ उषसे नमः इदमुषसे न मम।
१७ ॐ भूतानां पतये नमः इदं भूतानां पतये न मम।

(३) पितृयज्ञ।[1]

१८ ॐ पितृभ्यः स्वधा नमः इदं पितृभ्यः स्वधा न मम।

निर्णेजनम्।[2]

१९ ॐ यक्ष्मैतत्ते निर्णेजनं नमः इदं यक्ष्मणे न मम।

(४) मनुष्ययज्ञ।[3]

२० ॐ हन्त ते सनकादिमनुष्येभ्यो नमः इदं हन्त ते सनकादिमनुष्येभ्यो न मम।

एक निवेदन

सर्वसाधारणसे नम्रतापूर्वक निवेदन किया जाता है कि यदि उचित समझा जाय, तो प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन परमात्माके और अपनेसे बड़े जितने लोग घरमें हों, उन सबके चरणोंमें प्रणाम करे, हो सके तो बिछौनेसे उठते ही कर ले, नहीं तो स्नान-पूजादिके बाद करे। गुरु, माता, पिता, ताऊ, चाचा, बड़े भाई, ताई, काकी, भौजाई आदि वय, पद और सम्बन्धके भेदसे सभी गुरुजन हैं।

स्त्री अपने पतिके तथा घरमें अपनेसे सब बड़ी स्त्रियोंके चरणोंमें प्रणाम करे। बड़े पुरुषोंको दूरसे प्रणाम करे, घरमें कोई बड़ा न हो तो स्त्री-पुरुष सभी परमात्माको ही प्रणाम करें।

इससे धर्मकी वृद्धि होगी, आत्मकल्याणमें बड़ी सहायता मिलेगी, परमेश्वर प्रसन्न होंगे। इस सूचनाके मिलते ही जो लोग इसके अनुसार कार्य आरम्भ कर देंगे, उनकी बड़ी कृपा होगी।[4]

१-यज्ञोपवीतको अपसव्य करके बायें गोड़ेको पृथ्वीपर रखकर दक्षिणकी ओर मुख करके हो सके तो साथमें तिल लेकर पका हुआ अन्न अंकितमण्डलमें योग्य स्थानपर नीचे लिखे हुए मन्त्रद्वारा छोड़ दे।

२-यज्ञोपवीतको सव्य करके अन्नके पात्रको धोकर वह जल अंकितमण्डलमें योग्य स्थानपर नीचे लिखे हुए मन्त्रद्वारा छोड़ दे।

३-यज्ञोपवीतको कण्ठी करके, उत्तर दिशाकी ओर मुख करके पका हुआ अन्न अंकितमण्डलमें योग्य स्थानपर नीचे लिखे हुए मन्त्रद्वारा छोड़ दे।

४-जिस देशमें गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषा करना और उनका सम्मान-अभिवादन करना एक साधारण धर्म था, उस देशके निवासियोंको गुरुजनवन्दनका महत्त्व बतलाना एक प्रकारसे उनका अपमान करना है, परन्तु दुःखके साथ कहना पड़ता है कि समय कुछ ऐसा ही आ गया है। आज पुत्र अपने पिता-माताकी चरण-वन्दना करनेमें सकुचाता है। शिष्य गुरुके सामने मस्तक झुकानेमें झिझकता है। पुत्रवधू सासके पग लगनेमें अपनी शानमें बाधा समझती है। फलस्वरूप उच्छृंखलता बढ़ रही है। कोई किसीकी बातका आदर करनेको तैयार नहीं। यदि भारतमें ऐसी ही दशा बढ़ती रही तो इसका आदर्श ही प्रायः नष्ट हो जायगा। ऐसे अवसरमें इस प्रकारकी सलाह देनेकी बड़ी आवश्यकता है। लोगोंको चाहिये कि वे श्रीजयदयालजीके उपर्युक्त शब्दोंपर ध्यान देकर इस सुन्दर प्रथाको तुरन्त जारी कर दें। इससे बड़े लाभकी सम्भावना है।

मनुजी महाराज भी कहते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥ (२।१२१)

जो मनुष्य नित्य वृद्धोंको प्रणाम करता और उनकी सेवा करता है उसकी आयु, विद्या, यश और बल बढ़ता है।

चरणोंमें प्रणाम करनेपर स्वाभाविक ही प्रणाम करनेवालेके प्रति स्नेह बढ़ता है। कई बार तो हृदय बलात् आशीर्वाद देना चाहता है। यद्यपि आशीर्वाद न देना ही उत्तम पक्ष है। आशीर्वादकी जगह भगवन्नाम उच्चारण कर लेना चाहिये। प्रत्येक बालक, युवा, प्रौढ़, वृद्धको चाहिये कि वह अपनेसे बड़े जितने लोग घरमें हों, नित्य उनके चरणोंमें प्रणाम करे। समान उम्रकी भाभी या काकीके चरण-स्पर्श न करे, दूरसे प्रणाम कर ले। सबमें पवित्र और पूज्यभाव रखे। स्त्रियोंको चाहिये कि वे अपने पतिके सिवा अन्य किसी पुरुषका चरण-स्पर्श न करें, चाहे वह कोई भी हो। आजकलका समय बहुत खराब है। अन्य बड़े पुरुषोंको दूरसे प्रणाम कर ले।

कोई भी बड़ा घरमें न हो तो परमात्माके चरण-कमलोंमें तो अवश्य प्रणाम कर ले। वन्दन भी नवधा भक्तिमेंसे एक भक्ति है। भगवान्‌की किसी मूर्तिको अथवा चराचरमें व्याप्त विश्वरूप भगवान्‌को मन-ही-मन प्रणाम कर लेना चाहिये।—सम्पादक

भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय

मनुष्य-जीवनका उद्देश्य भगवान्‌को प्राप्त करना है। शास्त्रों और सन्त-महात्माओंने इसके लिये अनेकों उपाय बतलाये हैं। अपने-अपने अधिकार और रुचिके अनुसार किसी भी शास्त्रोक्त उपायको निष्कामभावसे अर्थात् सांसारिक सुख-प्राप्तिकी कामनाको छोड़कर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ काममें लानेसे यथासमय मनुष्य भगवत्‌को प्राप्त होकर अपने जन्म और जीवनको सार्थक कर सकता है। भगवान् श्रीमनु महाराजने धर्मके दस लक्षण बतलाये हैं, इन दस लक्षणोंवाले धर्मका निष्काम आचरण करनेवाला मनुष्य मायाके बन्धनसे छूटकर भगवान्‌को पा सकता है—

दस उपाय

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(अ० ६। ९२)

अर्थात्—

धृति, क्षमा, शम, शौच, दम, विद्या, धी, अक्रोध।
सत्य, अचोरी धर्म दस, देते हैं मनु बोध॥

इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार समझना चाहिये—

१ धृति—किसी प्रकारका भी संकट आ पड़नेपर या इच्छित वस्तुकी प्राप्ति न होनेपर धैर्यको न छोड़ना। जो धीरजको धारण किये रहता है, उसीका धर्म बचता है और वही लौकिक और पारलौकिक सफलता प्राप्त कर सकता है।

२ क्षमा—अपने साथ बुराई करनेवालेको दण्ड देने-दिलानेकी पूरी शक्ति रहनेपर भी उसको दण्ड देने-दिलानेकी भावनाको मनमें भी न लाकर उसके अपराधको सह लेना और उसका अपराध सदाके लिये मिट जाय, इसके लिये यथोचित चेष्टा करना, इसको क्षमा कहते हैं।

३ दम—साधारणत: इन्द्रिय-निग्रहको दम कहते हैं, परन्तु इस श्लोकमें इन्द्रिय-निग्रह अलग कहा गया है, इससे यहाँ 'दम' शब्दसे शमको अर्थात् मनके निग्रहको लेना चाहिये। मनको वशमें किये बिना भगवत्‌की प्राप्ति प्राय: असम्भव है। (गीता ६। ३६) भगवान्‌ने अभ्यास और वैराग्यसे मनका वशमें होना बतलाया है। (गीता ६। ३५)

४ अस्तेय—मन, वाणी, शरीरसे किसी प्रकारकी चोरी न करना।

५ शौच—बाहर और भीतरकी शुद्धि—सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यापारसे द्रव्यकी, उसके अन्नसे आहारकी, यथायोग्य बर्तावसे आचरणोंकी और जल, मिट्टी आदिसे की जानेवाली शरीरकी शुद्धिको बाहरकी शुद्धि कहते हैं। एवं राग-द्वेष, दम्भ-कपट तथा वैर-अभिमान आदि विकारोंका नाश होकर अन्त:करणका स्वच्छ हो जाना भीतरकी शुद्धि कहलाती है।

६ इन्द्रिय-निग्रह (दम)—इन्द्रियोंको उनके विषय, रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शमें इच्छानुसार न जाने देकर अनिष्टकारी विषयोंसे हटाये रखना और कल्याणकारी विषयोंमें लगाना।

७ धी (बुद्धि)—सात्त्विकी श्रेष्ठ बुद्धि, जो सत्संग, सत्-शास्त्रोंके अध्ययन, भगवद्‌भजन और आत्मविचारसे उत्पन्न होती है तथा जिससे मन परमात्मामें लगता है और यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है।

८ विद्या—वह अध्यात्मविद्या, जिसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है और जो मनुष्यको अविद्यासे छुड़ाकर परमात्माके परमपदको प्राप्त कराती है।

९ सत्य—यथार्थ और प्रिय भाषण। अन्त:करण और इन्द्रियोंसे जैसा निश्चय किया हो, वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहना तथा यह ध्यानमें रखना कि इससे किसी निर्दोष प्राणीका नुकसान तो नहीं हो जायगा। सत्य वही है, जो यथार्थ हो, प्रिय हो, कपटरहित हो और किसीका अहित करनेवाला न हो।

१० अक्रोध—अपनी बुराई करनेवालेके प्रति भी मनमें किसी प्रकारसे क्रोधका विकार न होना। अक्रोध और क्षमामें यही भेद है कि अक्रोधसे तो कोई क्रिया नहीं होती, जो कुछ होता है, मनुष्य सब सह लेता है, मनमें विकार पैदा नहीं होने देता, परन्तु इससे हमारी बुराई करनेवालेका अपराध क्षमा नहीं होता, उसका फल उसे न्यायकारी ईश्वरके द्वारा लोक-परलोकमें अवश्य मिलता है। क्षमामें उसका अपराध भी क्षमा हो जाता है।*

नौ उपाय

उपर्युक्त दस उपायोंको काममें न ला सकें तो, निम्नलिखित नवधा भक्तिके नौ साधनोंसे परमात्माको प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। नवधाभक्ति यह है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(भागवत ७। ५। २३)

* इन दस धर्मोंका विस्तार देखना तथा मनको वशमें करनेकी विधि जाननी हो तो गीताप्रेससे 'मानव-धर्म' और 'मनको वशमें करनेके उपाय' नामक पुस्तकें मँगवाकर जरूर पढ़िये।

अर्थात्—

श्रवण, कीर्तन, स्मरण नित, पदसेवन भगवान।
पूजन, वन्दन, दास्य-रति, सख्य, समर्पण जान॥

१ श्रवण—भगवान्‌के चरित्र, लीला, महिमा, गुण, नाम तथा उनके प्रेम एवं प्रभावकी बातोंका श्रद्धापूर्वक सदा सुनना और उसीके अनुसार आचरण करनेकी चेष्टा करना, श्रवण-भक्ति है। श्रीमद्‌भागवतके श्रवणमात्रसे धुन्धकारी-सरीखा पापी तर गया था। राजा परीक्षित् आदि इसी श्रेणीके भक्त माने जाते हैं।

२ कीर्तन—भगवान्‌की लीला, कीर्ति, शक्ति, महिमा, चरित्र, गुण, नाम आदिका प्रेमपूर्वक कीर्तन करना कीर्तन-भक्ति है। श्रीनारद, व्यास, वाल्मीकि, शुकदेव, चैतन्य आदि इसी श्रेणीके भक्त माने जाते हैं।

३ स्मरण—सदा अनन्यभावसे भगवान्‌के गुणप्रभावसहित उनके स्वरूपका चिन्तन करना और बारम्बार उनपर मुग्ध होना स्मरण-भक्ति है। श्रीप्रह्लादजी, श्रीध्रुवजी, भरतजी, भीष्मजी, गोपियाँ आदि इस श्रेणीके भक्त हैं।

४ पादसेवन—भगवान्‌के जिस रूपकी उपासना हो, उसीका चरण-सेवन करना या भूतमात्रमें परमात्माको समझकर सबका चरण-सेवन करना। श्रीलक्ष्मीजी, श्रीरुक्मिणीजी, श्रीभरतजी इस श्रेणीके भक्त हैं।

५ पूजन—अपनी रुचिके अनुसार भगवान्‌की किसी मूर्ति-विशेषका या मानसिक स्वरूपका नित्य भक्तिपूर्वक पूजन करना। मानसिक पूजनकी विधि जाननी हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'प्रेमभक्तिप्रकाश' नामक पुस्तक मँगवाकर अवश्य पढ़नी चाहिये। विश्वभरके सभी प्राणियोंको परमात्माका स्वरूप समझकर उनकी सेवा करना भी अव्यक्त भगवान्‌की पूजा है। राजा पृथु, अम्बरीष आदि इसी श्रेणीके भक्त हैं।

६ वन्दन—भगवान्‌की मूर्तिको या विश्वभरको भगवान्‌की मूर्ति समझकर प्राणी-मात्रको नित्य प्रणाम करना वन्दन-भक्ति है। श्रीअक्रूर आदि वन्दन-भक्त गिने जाते हैं।

७ दास्य—श्रीपरमात्माको ही अपना एकमात्र स्वामी और अपनेको उनका नित्य दास समझकर किसी भी प्रकारकी कामना न रखते हुए, श्रद्धा-भक्तिके साथ नित्य नये उत्साहसे भगवान्‌की सेवा करना और उस सेवाके सामने मोक्ष-सुखको भी तुच्छ समझना। श्रीहनुमान्‌जी, श्रीलक्ष्मणजी आदि इस श्रेणीके भक्त हैं।

८ सख्य—श्रीभगवान्‌को ही अपना परम हितकारी, परम सखा मानकर दिल खोलकर उनसे प्रेम करना। भगवान् अपने सखा-मित्रका छोटे-से-छोटा काम बड़े हर्षके साथ करते हैं। श्रीअर्जुन, उद्धव, सुदामा, श्रीदाम आदि इस श्रेणीके भक्त हैं।

९ आत्मनिवेदन या समर्पण—अहंकाररहित होकर अपना सर्वस्व श्रीभगवान्‌के अर्पण कर देना। महाराजा बलि, श्रीगोपियाँ आदि इस श्रेणीके भक्त हैं।[1]

आठ उपाय

उपर्युक्त नौ उपायोंसे काम न लें तो महर्षि पतञ्जलि-कथित अष्टांगयोगके आठ साधनोंको काममें लानेसे भगवत्-प्राप्ति हो सकती है। वे आठ साधन ये हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।

(योग० सा० २९)

अर्थात्—

यम नियमासन साधकर, प्राणायाम विधान।
प्रत्याहार सु-धारणा ध्यान समाधि बखान॥

१ यम—**यम पाँच हैं—**

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

(योग० सा० ३०)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

(क) मन, वाणी, शरीरसे किसी प्राणीकी हिंसा न करनी, न करवानी और न समर्थन करना। लोभ, मोह या क्रोधसे किसी प्रकार किसीको किंचित् भी कष्ट न पहुँचाना अहिंसा कहलाती है।

(ख) जैसा कुछ देखा-सुना-समझा हो, वैसा ही पराये हितकी दृष्टि रखकर यथार्थ कहना सत्य है।

(ग) मन, वाणी, शरीरसे कभी दूसरेकी किसी भी वस्तुपर अधिकार न जमाना अस्तेय है।

(घ) आठ प्रकारके मैथुनोंका सर्वथा त्याग करना ब्रह्मचर्य है।[2]

(ङ) भोग्य-वस्तुओंका सर्वथा संग्रह नहीं करना अथवा ममता-बुद्धिसे किसी भी भोग्य-वस्तुका संग्रह न करना अपरिग्रह है।

अहिंसावृत्तिका पूर्ण पालन होनेसे उसके निकट रहनेवाले हिंसक पशुओंमें भी हिंसावृत्ति नहीं रहती। (२। ३५)

१. नवधा भक्तिका विशेष विस्तार देखना हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'तुलसी-दल' नामक पुस्तक मँगवाकर उसके 'भक्ति-सुधा-सागर-तरंग' नामक अध्यायको पढ़ना चाहिये।

२. ब्रह्मचर्यका खुलासा गीताप्रेससे प्रकाशित 'ब्रह्मचर्य' नामक पुस्तकमें पढ़ें।

सत्यका व्रत पूरा पालन होनेपर जो कुछ भी कहा जाय वही सत्य हो जाता है, उसकी वाणी कभी व्यर्थ नहीं जाती। (२। ३६)

अस्तेय-व्रतकी पूर्ण पालना होनेसे सारे रत्नोंपर उसका अधिकार हो जाता है।

ब्रह्मचर्यकी पूर्ण प्रतिष्ठा होनेसे वीर्य यानी शारीरिक और मानसिक महान् पराक्रमकी प्राप्ति होती है। (२। ३८)

अपरिग्रहके पूर्ण पालनसे जन्मान्तरकी बातें जानी जा सकती हैं। (२। ३९)

२ नियम—नियम भी पाँच हैं—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

(योग० सा० ३२)

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान।

(क) मिट्टी, जल आदिसे शरीरकी और शुद्ध व्यापार और आचरणोंसे आहार-व्यवहारकी शुद्धि और राग-द्वेषादिके त्यागसे भीतरकी शुद्धि—यह शौच है।

(ख) भगवत्कृपासे जो कुछ भी प्राप्त हो जाय उसीमें सन्तुष्ट होना यह सन्तोष है।

(ग) धर्म-पालनके लिये कष्ट सहन करना या कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रत करना अथवा शीतोष्णादि सहना तप है।

(घ) वेद, उपनिषद्, गीता और ऋषिप्रणीत शास्त्रोंका अध्ययन, गायत्री आदि मन्त्र और भगवन्नामका जप स्वाध्याय कहलाता है।

(ङ) भगवान्को सर्वस्व अर्पण करना और उन्हींके परायण हो जाना, ईश्वर-प्रणिधान है।

बाह्य शौचके पूर्ण पालनसे अपने शरीरपर घृणा हो जाती है और दूसरेके संसर्गमें वैराग्य हो जाता है। आन्तरिक शौचसे चित्तकी शुद्धि, मनकी प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियोंपर विजय और आत्मदर्शनकी योग्यता प्राप्त हो जाती है। (२। ४०-४१)

सन्तोषके पूर्ण धारणसे सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है। (२।४२)

तपके द्वारा अशुद्धिका नाश होकर अणिमा, लघिमा आदि शरीरकी और दूरदर्शन-श्रवण आदि इन्द्रियोंकी सिद्धि प्राप्त होती है। (२।४३)

स्वाध्यायसे अपने इष्टदेवताके दर्शन होते हैं। (२।४४)

ईश्वर-प्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि होती है। (२।४५)

३ आसन—स्थिरभावसे अधिक कालतक बैठनेका नाम आसन है। सिद्धासन, पद्मासन, सुखासन आदि अनेक आसन होते हैं। आसनकी सिद्धिसे शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे पीड़ा नहीं होती।

४ प्राणायाम—श्वास-प्रश्वासकी गतिको रोकनेका नाम प्राणायाम है। रेचक, पूरक और कुम्भक नामक तीन प्रकारके प्राणायाम होते हैं, प्राणायामका अभ्यास गुरुसे सीखकर करना चाहिये। प्राणायामके अभ्याससे प्रकाशका आवरण यानी ज्ञानको ढक रखनेवाला पर्दा क्षय हो जाता है। मनकी शक्ति धारणाके योग्य हो जाती है।

५ प्रत्याहार—अपने-अपने विषयोंके साथ सम्बन्ध न रहनेपर इन्द्रियोंका चित्तके अनुसार हो जाना इसका नाम प्रत्याहार है। प्रत्याहारसे इन्द्रियोंपर पूर्ण विजय मिल जाती है।

६ धारणा—एक देशमें चित्तको रोकनेका नाम धारणा है।

७ ध्यान—चित्तवृत्तिके ध्येय पदार्थमें तैल-धारावत् एकतान स्थिर रहनेका नाम ध्यान है।*

८ समाधि—ध्यानकी परिपुष्टि होनेसे ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटी मिटकर एकता हो जाती है, तब उसे समाधि कहते हैं। समाधि सबीज और निर्बीज-भेदसे दो प्रकारकी है, सबीजमें त्रिपुटीके न रहनेपर भी सूक्ष्म संस्कार रहते हैं और निर्बीजमें सूक्ष्म संस्कारोंका भी अत्यन्त निरोध हो जाता है।

सात उपाय

उपर्युक्त आठ उपायोंका आचरण न हो तो निम्नलिखित सात उपायोंके अनुसार निष्काम आचरण करनेसे भगवत्-प्राप्ति हो सकती है।

इस असार संसारमें सात वस्तु है सार।
संग, भजन, सेवा, दया, ध्यान, दैन्य, उपकार॥

१ संग—संगसे यहाँ सत्संगसे तात्पर्य है। भगवत्-प्रेमी महात्मा पुरुषों और सत्-शास्त्रोंके संगसे मनुष्यको जो लाभ होता है वह अवर्णनीय है। भगवान्की महत्ता सत्संगसे ही जानी जाती है। सत्संगसे ही जीवका अज्ञानान्धकार दूर होता है। गोसाईंजी महाराज कहते हैं—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥
तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

* ध्यानके सम्बन्धमें विशेष बातें जाननी हों तो इसी पुस्तकमें देखना चाहिये।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवतमें शौनकादि ऋषि कहते हैं—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

(१। १८। १३)

'हम एक क्षणभरके भगवत्प्रेमियोंके संगकी तुलनामें मनुष्योंके लिये स्वर्ग या मोक्षको भी तुच्छ समझते हैं तब अन्य सांसारिक वस्तुओंकी तो बात ही क्या है?' भगवान् स्वयं श्रीउद्धवसे कहते हैं—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥

(श्रीमद्भा० ११। १२। १-२)

'हे उद्धव! सारी सांसारिक आसक्तियोंको नाश करनेवाले सत्संगके द्वारा जिस प्रकार मैं पूरी तरह वशमें होता हूँ, उस प्रकार योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप, त्याग, यागादि वैदिक कर्म कुएँ-बावड़ी बनाने और बाग लगाने, दान-दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेदाध्ययन, तीर्थयात्रा, नियम, यम आदि किसी भी साधनसे नहीं होता।'

परन्तु सत्संगके लिये साधु कैसे होने चाहिये, इस बातपर भी विचार करना आवश्यक है। श्रीमद्भगवद्गीताके दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञ पुरुषोंके, बारहवें अध्यायमें भक्तोंके, चौदहवेंमें गुणातीत पुरुषोंके जो लक्षण बतलाये गये हैं, वैसे लक्षण न्यूनाधिकरूपसे जिन पुरुषोंमें घटते हों, वे ही वास्तविक सन्त पुरुष हैं। श्रीमद्भागवतमें सन्तोंके लक्षण बतलाते हुए श्रीकपिलदेवजी महाराज अपनी मातासे कहते हैं—

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥
मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः॥
मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः॥
त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते॥

(श्रीमद्भा० ३। २५। २१—२४)

'हे माता! जो द्वन्द्वोंको सहन करते हैं, दयालु हैं, सब भूतप्राणियोंके निःस्वार्थ प्रेमी हैं, शान्त हैं, जिनके कोई भी शत्रु नहीं है, शीलता ही जिनका भूषण है, जो मुझ भगवान्में अनन्य और दृढ़भावसे भक्ति करते हैं, जिन्होंने मेरे लिये समस्त कर्मों और स्वजन-बान्धवोंके ममत्वको भी त्याग दिया है, जो मेरे ही आश्रित हैं, मेरी कथाको मधुर समझनेवाले हैं, नित्य मेरी ही कथा कहते-सुनते हैं, ऐसे मुझमें लगे हुए चित्तवाले वे साधु विविध तापोंसे पीड़ित नहीं होते। ऐसे वे साधु समस्त आसक्तियोंसे रहित होते हैं और वे ही आसक्तिके दोषका नाश कर सकते हैं, अतएव हे साध्वि! उन्हींका संग करना चाहिये।

इसलिये हजार काम छोड़कर भी सदा प्रेमसे और श्रद्धासे सत्संग करना चाहिये।

२ भजन—गोसाईंजी महाराज कहते हैं—

बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

बात भी ठीक है। संसारसे तरनेके लिये भगवान्का भजन ही मुख्य है। भजनके पीछे सारे गुण आप ही आ जाते हैं। ध्रुव, प्रह्लाद, मीरा आदि भक्तोंको भजनके ही प्रतापसे भगवान्ने दर्शन देकर कृतार्थ किया था।

३ सेवा—सेवा मनुष्यका मुख्य धर्म है। सारे संसारको भगवान्का स्वरूप समझकर मन, वाणी, शरीरसे अभिमान छोड़कर सबकी निःस्वार्थ सेवा करनी चाहिये। जिसकी सेवा करनेका मौका मिले, उसका और भगवान्का अपने ऊपर उपकार मानना चाहिये। क्योंकि उसने हमारी सेवा स्वीकार करके और भगवान्ने सेवाका अवसर प्रदान करके हमारा बड़ा उपकार किया। सेवा करके किसीपर एहसान नहीं करना चाहिये तथा सेवा स्वीकार करनेवालेको कभी छोटा नहीं समझना चाहिये।

४ दया—दुःखी प्राणीके दुःखको देखकर हृदयका पिघल जाना और उसका दुःख दूर करनेके लिये मनमें भाव उत्पन्न होना दया कहलाता है। अहिंसा अक्रिय है और दया सक्रिय है। अहिंसामें केवल हिंसासे बचना है, परन्तु दयामें दूसरेको सुख पहुँचाना है। जिस मनुष्यके दिलमें दया नहीं, उसका हृदय पाषाणके समान है। गरीब, अनाथ, अपाहिज, रोगी, असहाय जीवोंपर दया करके जीवनको सफल करना चाहिये। चैतन्य महाप्रभुने तो तीन ही बातोंमें अपना उपदेश समाप्त किया है—

नामे रुचि, जीवे दया, वैष्णव-सेवन।
इहा छाड़ा आर नाहिं जानि सनातन॥

'हे सनातन! भगवान्के नाममें रुचि, जीवोंपर दया और भक्तोंका संग—इन तीनके सिवा मैं और कुछ भी नहीं जानता।'

५ ध्यान—ध्यान तो ईश्वर-प्राप्तिकी कुंजी है। ध्यान करनेकी कोशिश करनेपर अभ्यास न होनेके कारण पहले-पहले मन ऊबता है तथा घबराता है, परन्तु यदि दृढ़

निश्चयके साथ रोज-रोज नियमितरूपसे ध्यानका अभ्यास किया जाय तो मन ध्यानका अभ्यासी बन जाता है, फिर ध्यानमें जो आनन्द आता है, वैसा आनन्द अन्य किसी कार्यमें नहीं आता। इसलिये नित्य-प्रति दृढ़ निश्चयके साथ अपने इष्टदेवके ध्यानका अभ्यास अवश्य करना चाहिये। ध्यान सबसे बढ़कर उपाय है।

६ दैन्य—अभिमान ही मनुष्यको गिरानेवाला है, यदि मनुष्य विनयी हो जाय, परमात्माके सामने दीन बन जाय तो दीनबन्धु उसपर अवश्य दया करते हैं, इसलिये वक्रता और ऐंठको छोड़कर दीनता धारण करनी चाहिये।

७ उपकार—भागवतमें लिखा है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनं द्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

अठारह पुराणोंमें व्यासके दो ही वचन हैं—परोपकार पुण्यका हेतु है और परपीडन पापका हेतु है। गोसाईंजी महाराज भी कहते हैं—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

अतएव अभिमान, स्वार्थ और कामनाको छोड़कर निरन्तर परोपकारमें रत रहना चाहिये।

छः उपाय

उपर्युक्त सात उपायोंके अनुसार न चला जाय तो नीचे लिखे छः उपायोंका अनुसरण करना चाहिये। इन्हींके निष्काम आचरणसे भगवत्प्राप्ति हो सकती है—

सन्ध्या, पूजा, यज्ञ, तप, दया, सु-सात्त्विक दान।
इन छः के आचरणसे निश्चय हो कल्यान॥

१ सन्ध्या—द्विजातिमात्रको नित्य त्रिकाल-सन्ध्या करनी चाहिये। त्रिकाल न हो सके तो प्रातःकाल और सायंकाल दो समय तो सन्ध्या अवश्य ही करें। सन्ध्याके द्वारा परमात्माकी—सूर्य, अग्नि और जलरूपसे उपासना होती है। मनु महाराज कहते हैं—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः॥

(२। १०३)

'जो द्विज प्रातःकाल और सायंकालकी सन्ध्योपासना नहीं करता, उसे द्विजजातिके सारे कार्योंसे शूद्रकी तरह दूर रखना चाहिये।'

अतः सन्ध्योपासन कभी छोड़ना नहीं चाहिये। सूतक आदिके समय या रेल वगैरहमें मानसिक सन्ध्या कर लेना उचित है। सन्ध्या ठीक समयपर करनी चाहिये।

सन्ध्याका समय यह है—

उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका।
कनिष्ठा सूर्यसहिता प्रातःसन्ध्या त्रिधा स्मृता॥
उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा लुप्तभास्करा।
कनिष्ठा तारकोपेता सायंसन्ध्या त्रिधा स्मृता॥

'प्रातःकालकी सन्ध्या तीन प्रकारकी है, तारा रहते उत्तम, तारे अदृश्य हो जानेपर मध्यम और सूर्य उदय होनेपर कनिष्ठ, इसी प्रकार सायं-सन्ध्या भी तीन प्रकारकी है। सूर्य रहते उत्तम, सूर्य छिप जानेपर मध्यम और तारे उदय होनेपर कनिष्ठ।'

प्रातःकाल सूर्यदेवके रूपमें भगवान् हमारे प्रदेशमें पधारते हैं और सायंकाल दूसरे प्रदेशके लिये जाते हैं। जैसे हम अपने किसी पूज्य सम्मान्य अतिथिके हमारे घरपर आनेके समयसे पूर्व ही उसके स्वागतकी तैयारी करते हैं, स्टेशनपर पहलेहीसे पहुँचकर उसके सम्मान-सत्कारके लिये पुष्पहार आदि लेकर उसका अभिवादन करनेके लिये खड़े रहते हैं और उसके जानेके समय पहलेहीसे सारा प्रबन्धकर ठीक समयपर उसके साथ स्टेशनतक जाते हैं, इसी प्रकार सन्ध्याके द्वारा भगवान् सूर्यदेवका अभिवादन किया जाता है, जो ठीक समयपर ही होना चाहिये। सन्ध्योपासनासे सारे पाप दूर होते हैं और इसीसे अन्तमें भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। यदि हम जीवनभर नियमपूर्वक सूर्यदेवकी दोनों समय निष्कामभावसे अभ्यर्थना करेंगे तो हमारे मरनेपर सूर्यदेवको भी हमारी मुक्तिके लिये सहायता करनेको बाध्य होना पड़ेगा। शास्त्रमें कहा है—

सन्ध्यामुपासते ये तु सततं संशितव्रताः।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकं सनातनम्॥

'जो द्विज सदाचारपरायण होकर नित्य सन्ध्योपासन करते हैं, वे सारे पापोंसे छूटकर सनातन ब्रह्मपदको पाते हैं।'

२ पूजा—भगवन्मूर्तिकी बाह्य या मानसिक पूजा नित्य-नियमपूर्वक सबको करनी चाहिये। स्त्रियों और बालकोंके लिये घर-घरमें भगवान्की मूर्ति या चित्रपट रखकर पूजाकी व्यवस्था होनी चाहिये। स्त्री-बच्चे घरमें भगवान्की पूजा करते रहेंगे तो उनके संस्कार अच्छे होंगे। भगवान्में भक्ति उत्पन्न होगी। मीराबाई, धन्ना जाट आदि भक्तगण इसी प्रकार पूजासे परम भक्त हो गये थे।

३ यज्ञ—श्रीमद्भगवद्गीतामें तो अनेक प्रकारके यज्ञ बतलाये हैं। जिनमें भगवान्ने जप-यज्ञको तो अपना स्वरूप ही बतलाया है। **'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'** (१०। २५) इसलिये भगवान्के नामका जप तो सभीको करना चाहिये। २१६०० श्वास मनुष्यको प्रायः रोज आते हैं, इसलिये इतने नामोंका जप तो जरूर कर ही लेना

चाहिये। जपमें उपांशु जप सर्वोत्तम है। इसके सिवा गृहस्थके लिये पंचमहायज्ञकी भी बड़ी आवश्यकता है। कम-से-कम बलिवैश्वदेव तो नित्यप्रति अवश्य ही करना चाहिये। बलिवैश्वदेवकी विधि अन्यत्र प्रकाशित है।

४ तप—स्वधर्मके पालनमें बड़े-से-बड़ा कष्ट सहना तप कहलाता है। तथा गीता अध्याय १७ श्लोक १४ से १९ तक शारीरिक, मानसिक, वाचिक तीन प्रकारके तपका वर्णन है, उसके अनुसार सात्त्विक तप करना चाहिये।

५ दया—स्मृतिकार कहते हैं—

परे वा बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्टरि वा सदा।
आपन्ने रक्षितव्यं तु दयैषा परिकीर्तिता॥

'घरका हो या बाहरका, मित्र हो या वैरी, किसीको भी दुःखमें देखकर सदैव ही उसको बचानेकी चेष्टा करना दया कहलाता है।' दयालु पुरुषका हृदय दूसरेके दुःखको देखकर तत्काल द्रवित हो जाता है। कहा है—

दया धर्मका मूल है पाप-मूल अभिमान।
तुलसी दया न छाँड़िये जबलगि घटमें प्रान॥

६ दान—दान देना मनुष्यमात्रका धर्म है। धन, विद्या, बुद्धि, अन्न, जल, वस्त्र, सत्परामर्श, जिसके पास जो कुछ हो, योग्य देश, काल, पात्र देखकर उसका दान करना चाहिये, परन्तु दान सात्त्विकभावसे होना चाहिये। जो दान देश, काल, पात्र न देखकर बिना सत्कार या तिरस्कारपूर्वक दिया जाता है वह तामस है। जो मनमें कष्ट पाकर, बदला लेनेकी इच्छासे या मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा, पुत्र-प्राप्ति, रोग-निवृत्ति या स्वर्ग-सुखादिकी प्राप्तिके लिये दिया जाता है वह राजस है और जो कर्तव्य समझकर प्रत्युपकारकी कोई भी भावना न रखकर उचित देश, काल, पात्रमें दिया जाता है वह सात्त्विक दान है। सात्त्विक दान भगवत्प्राप्तिमें बहुत सहायक होता है। जिस देश और कालमें जिस वस्तुका जिन प्राणियोंके अभाव हो और अपने पास वह वस्तु हो तो उस देश, कालमें उस वस्तुके द्वारा उन प्राणियोंकी सेवा करना ही देश, काल देखकर दान देना है। भूखे, अनाथ, दुःखी, रोगी और असमर्थ तथा आर्त भिखारी आदि तो अन्न, वस्त्र, ओषधि या जिस वस्तुका जिसके पास अभाव हो, उस वस्तुद्वारा सेवा करनेके सदैव ही योग्य पात्र हैं, दानकी महत्ता रुपयोंकी संख्यापर नहीं है वह तो दाताकी नीयतपर निर्भर है। जिस दानमें जितना ही अधिक स्वार्थ-त्याग होगा, उतना ही उसका महत्त्व अधिक है। इसीलिये महाभारतके अश्वमेधपर्वमें पाण्डवोंके अपार दानकी निन्दाकर नकुलने उञ्छवृत्तिवाले गरीब ब्राह्मणके साधारण रोटीके दानको महत्त्वपूर्ण बतलाया था। (महा० अश्व० ८०।७) एक आदमी नामके लिये या अन्य किसी स्वार्थके वशमें होकर अपने करोड़ रुपयेमेंसे लाख रुपये दान करता है और दूसरा एक गरीब निःस्वार्थभावसे कर्तव्य समझकर अपने पेटको खाली रखकर अपनी एक ही रोटीमेंसे आधी रोटी दे देता है, इन दोनोंमें आधी रोटीके दानका महत्त्व अधिक है। यों तो न देनेकी अपेक्षा सकामभावसे भी अच्छे कार्यमें दान देना उत्तम ही है।

पाँच उपाय

उपर्युक्त छः उपायोंको काममें न लाया जाय तो निम्नलिखित पाँचकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। इन पाँचोंकी कृपासे परम सिद्धि मिल सकती है।

गायत्री, गोविन्द, गौ, गीता, गङ्गास्नान।
इन पाँचोंकी कृपासे शीघ्र मिलें भगवान॥

१ गायत्री—शास्त्रोंमें गायत्रीकी बड़ी ही महिमा गायी गयी है। गायत्रीका जप शुद्ध और मौन होकर प्रणव और व्याहृतिसहित करना चाहिये। गायत्री-मन्त्रमें सच्चिदानन्दघन विश्वव्यापी ब्रह्मकी स्तुति, उनके दिव्य तेजका ध्यान और प्रार्थना है।

भगवान् मनु गायत्रीकी महिमामें लिखते हैं—

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्॥
एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥
सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत् त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥
योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥

(२। ८१, ७८-७९, ८२)

'ओंकारसहित तीन महाव्याहृति और तीन पदोंवाली गायत्रीको वेदका मुख समझना चाहिये। जो वेदज्ञ द्विज प्रातःकाल और सायंकाल प्रणव (ॐ) और व्याहृति (भूः, भुवः, स्वः) सहित इस गायत्रीका जप करते हैं, उनको सम्पूर्ण वेदके अध्ययनका फल मिलता है। जो द्विज नगरके बाहर (एकान्त स्थानमें) स्थित हो, प्रतिदिन एक मासतक एक सहस्र गायत्रीका जप करता है, वह जैसे साँप काँचुलीसे छूट जाता है, इसी प्रकार महान् पापसे छूट जाता है। जो पुरुष आलस्यको छोड़कर प्रतिदिन नियमपूर्वक तीन वर्षतक गायत्रीका जप करता है, वह वायुकी तरह गतिवाला और आकाशकी भाँति निर्लेप होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है।' अतएव गायत्रीका जप प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये।

२ गोविन्द—भगवान् श्रीगोविन्दके अनन्य चिन्तनसे क्या नहीं होता? भगवान् स्वयं कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

'जो अनन्यभावसे मेरेमें स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य एकीभावसे मुझमें स्थितिवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।' अतएव दृढ़ निश्चय और श्रद्धा-प्रेमके साथ भगवान्‌का चिन्तन करना चाहिये।

३ गौ—हिन्दू-शास्त्रोंमें गौकी बड़ी महिमा है। गौकी सेवासे सर्व अभीष्टोंकी सिद्धि होती है। गो-मूत्र, गोमय, दूध, दही और घृत—यह पंचगव्य पवित्र और पापनाशक हैं। आजकल गौ-जातिका भारतमें बड़ी ही निर्दयताके साथ ह्रास किया जा रहा है। प्रत्येक धर्मभीरु उन्नति चाहनेवाले पुरुषको तत्पर होकर यथाशक्ति गौ-जातिकी रक्षा और गौकी सेवा करनी चाहिये।

४ गीता—गीता तो भगवान्‌का हृदय है। '**गीता मे हृदयं पार्थ।**'

भगवान् व्यासदेवजी कहते हैं—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

(महा० भीष्म० अ० ४३। १)

'स्वयं कमलनाभ भगवान्‌के मुख-कमलसे निकली हुई गीताका ही भलीभाँति गान करना चाहिये, अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है?'

गीताकी महिमा कोई क्या कह सकता है? जो मन लगाकर गीताका अध्ययन करता है, उसीको अनुभव होता है। गीतामें बहुत-से ऐसे श्लोक हैं कि जिनमेंसे किसी आधे या चौथाई श्लोकके अनुसार भी आचरण किया जाय तो भगवत्-प्राप्ति सहज ही हो सकती है। कहा गया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

'सम्पूर्ण उपनिषद् गौ हैं, दुहनेवाले गोपालनन्दन श्रीकृष्ण हैं, श्रेष्ठबुद्धि अर्जुन इस महान् गीतामृतरूपी दुग्धको पान करनेवाला बछड़ा है।' अतएव प्रतिदिन मन लगाकर अर्थसहित गीताका पाठ और अध्ययन अवश्य करना चाहिये।

५ गंगास्नान—श्रीगंगाजीकी अपार महिमा है। भक्तोंने गंगाजीका नाम ब्रह्मद्रव रखा है यानी साक्षात् ब्रह्म ही पिघलकर निराकारसे नीराकार होकर बह चला है। गंगाके स्नान-पानसे पापोंका नाश और मुक्तिकी प्राप्ति शास्त्रोंमें जगह-जगह बतलायी गयी है। आज भी गंगातट-जैसा पवित्र स्थान और प्रायः नहीं मिलता। अच्छे-अच्छे साधु-महात्मा गंगा-तटपर ही निवास करते हैं। विदेशी डॉक्टरोंने परीक्षा करके बतलाया है कि गंगाजलमें रोगनाशक शक्ति है। किसी भी रोगके बीजाणु होवें, गंगामें पड़कर नष्ट हो जाते हैं। वर्षों रखे रहनेपर भी गंगाजलमें कीड़े नहीं पड़ते, यह तो विख्यात बात है। जो कोई श्रद्धासे श्रीगंगाजीका सेवन, स्नान और जलपान करता है, वह परम गतिको पाता है, यह शास्त्रोंका सिद्धान्त है।

चार उपाय

उपर्युक्त पाँच उपाय न हों तो नीचे लिखे चार उपायोंको काममें लाना चाहिये।

संयम, सेवा, साधना, सत्पुरुषोंका संग।
ये चारों करते तुरत मोहनिशाको भंग॥

१ संयम—मन, वाणी, शरीरको इच्छानुसार न चलने देकर और सांसारिक विषय-भोगोंसे रोककर कल्याणमय मार्गमें लगाना ही संयम कहलाता है। मनु महाराजने तो मन, वाणी, शरीरको संयममें रखनेवालेको ही त्रिदण्डी कहा है—

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते॥
त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः।
कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति॥

(१२। १०-११)

'वाग्दण्ड अर्थात् वाणीका संयम, मनोदण्ड अर्थात् मनका संयम और कायदण्ड अर्थात् शरीरका संयम, इन तीनोंको जो बुद्धिपूर्वक संयममें रखता है वही त्रिदण्डी है। जो मनुष्य समस्त प्राणियोंके प्रति मन, वाणी, शरीरको संयमित कर लेता है तथा उनको रोकनेके लिये काम, क्रोधका संयम करता है, वह मोक्षको प्राप्त करता है।'

जो पुरुष मन, इन्द्रिय और शरीरको वशमें रखकर राग-द्वेषके वशमें न होकर संसारमें विचरता है, वही आनन्दको प्राप्त होता है। संयमी पुरुष ही नीरोग, बलवान्, धर्मात्मा, दीर्घायु और मोक्षके योग्य होते हैं।

२ सेवा—गुरुजनोंकी और प्राणिमात्रकी निष्कामभावसे भगवत्-बुद्धिसे सेवा करनेवाला पद-पदपर भगवान्‌की सेवा करता हुआ अन्तमें भगवान्‌को प्राप्त करता है।

३ साधना—भगवत्प्राप्तिके लिये भजन, ध्यान आदि जो कुछ भी किया जाय सभी साधना है। अपने-अपने

अधिकार, विश्वास, प्रकृति और रुचिके अनुसार भगवान्‌को पानेके लिये नियमित साधन अवश्य करना चाहिये।

४ सत्पुरुषोंका संग—भागवतमें कहा है—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥

(११। २। २९)

'प्राणियोंके लिये मनुष्यदेह अत्यन्त दुर्लभ और क्षणभंगुर है। इसमें भी भगवान्‌के प्रिय भक्तोंके दर्शन तो और भी दुर्लभ हैं, क्योंकि भक्त, सन्त-महात्मा एक प्रकारसे भगवान्‌के ही रूप हैं।' गोसाईंजी महाराज तो उन्हें रामसे भी बढ़कर बतलाते हैं—*'राम ते अधिक राम कर दासा'* सन्तोंके संगसे पापोंका नाश होता है, अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, मन परमात्मामें लगता है और संशयोंका उच्छेद होकर भगवत्प्राप्ति होती है। अतएव सत्पुरुषोंके संगका आश्रय अवश्य लेना चाहिये।

राजा रहूगणके प्रति महात्मा जडभरत कहते हैं—

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥

(श्रीमद्भा० ५। १२। १२)

'हे राजन्! परमज्ञान केवल महापुरुषोंका चरणरज मस्तकपर धारण करनेसे ही मिलता है। तपसे, वेदोंसे, दानसे, यज्ञसे, गृहस्थ-धर्मके पालनसे, जल, अग्नि या सूर्यकी उपासनारूप कर्मोंसे वह किसी प्रकार भी नहीं मिलता।' अतएव महापुरुषोंका सेवन ही मोक्षका द्वार है।

तीन उपाय

उपर्युक्त चार साधन न करे तो निम्नलिखित तीन साधन करने चाहिये—

सत्य वचन, आधीनता, पर-तिय मातु-समान।
इतने पै हरि ना मिले, तो तुलसीदास जमान॥

१ सत्य वचन—कहा है—

सत्य बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।
जिनके हियमें साँच है तिनके हियमें आप॥

सत्य भगवान्‌का स्वरूप है, जहाँ सत्य है, वहीं भगवान् हैं। सत्यवादी होनेके कारण आजतक श्रीहरिश्चन्द्रका नाम चल रहा है। सत्यवादी होनेके कारण ही जो मुँहसे निकल जाता है, वही सत्य हो जाता है। स्वार्थ, आदत, हँसी-मजाक या भविष्यके वचनोंमें भी किसी प्रकार झूठ नहीं बोलना चाहिये।

२ आधीनता—अपनेको भगवान्‌के अधीन (अनुकूल) बना देना, अपनी स्वतन्त्रता छोड़कर परमात्माका सेवक बनकर उनकी आज्ञा और संकेतके अनुसार जीवन बिताना ही आधीनता है। संसारमें भगवद्भावसे पुत्रको माता-पिताके, शिष्यको गुरुके, स्त्रीको पतिके और सेवकको स्वामीके अधीन रहकर कर्तव्यका पालन करना भी भगवान्‌के ही अधीन होना है।

भगवान्‌के अधीन होनेपर उसमें भगवान्‌के प्रायः सभी गुणोंका विकास हो जाता है। स्वामीके बलको पाकर सेवक महान् बलवान् हो जाता है। राजाके अधीन रहनेवाला मामूली सिपाही राजाके बलपर बड़े-बड़े धनियों और शक्तिशालियोंको बाँध लेता है, इसी प्रकार भगवान्‌के अधीन होकर मनुष्य भगवान्‌के बलसे बलीयान् हो सारे पापोंपर विजय प्राप्त करके भगवान्‌का परम प्रेमी बन सकता है।

३ पर-तिय मातु-समान—स्त्रीमात्र जगत्-जननीका स्वरूप है, यह समझकर अपनी स्त्रीको छोड़कर अन्य सबके चरणोंमें हृदयसे प्रणाम करना और सबके प्रति भक्ति-श्रद्धा रखना मनुष्यके लिये कल्याणप्रद है। जो पुरुष परस्त्री-मात्रमें मातृ-बुद्धि रखता है, उसके तेज और तपकी वृद्धि होती है और वह पापोंसे बचकर भगवान्‌को पा सकता है।

कहा जाता है कि यह दोहा श्रीतुलसीदासजी महाराजका है और वे इसमें इस बातका जिम्मा लेते हैं कि इन तीनों साधनोंका आश्रय लेनेवाले अवश्य ही तर जायँगे।

दो उपाय

उपर्युक्त तीन साधन न साधे जायँ तो नीचे लिखे दो ही साधनोंका अनुसरण करना चाहिये—

दो बातनको भूल मत जो चाहै कल्यान।
नारायण इक मौतको दूजे श्रीभगवान॥

१ मौतकी याद—संसारकी प्रत्येक वस्तु नाश होनेवाली है, जो उत्पन्न हुआ है उसका नाश अवश्यम्भावी है। हमारा शरीर और हमारे सम्बन्धी तथा समस्त विषय एक दिन कालके ग्रास बन जायँगे। फिर इनसे मोह क्यों? इस नाशवान् शरीरके लिये, जो प्रतिक्षण मृत्युकी ओर बढ़ रहा है, इतना प्रपंच किसलिये? मनुष्यको मौत याद नहीं रहती, इसीसे उसे विषयोंमें वैराग्य नहीं होता। महाराज युधिष्ठिरने यक्षसे कहा है—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

(महा० वन० ३१३। ११६)

'रोज-रोज प्राणी मरकर यमलोकको जा रहे हैं, (हाथसे उनकी दाह-क्रिया करते हैं) परन्तु बचे हुए लोग सदा जीना ही चाहते हैं, इससे बढ़कर अचरज और क्या होगा?' इसलिये 'नारायण स्वामी' मौतको याद रखनेका उपदेश देते हैं, क्योंकि हर समय मौतको याद रखनेसे नये पाप नहीं बन सकते, तथा विषयोंमें वैराग्य हो जाता है।

२ भगवान्‌की याद—वैराग्यके साथ ही अभ्यास भी होना चाहिये। भगवान्‌ने अभ्यास और वैराग्य दोनोंके सम्पादनसे ही मनका निरोध बतलाया है। मृत्युको नित्य याद रखनेसे वैराग्य तो हो जायगा, परन्तु उससे आनन्द नहीं मिलेगा। जगत् शून्य और विनाशी प्रतीत होगा। इसलिये उसीके साथ भगवान्‌का चिन्तन होना चाहिये। सारे संसारमें भगवान् ही व्याप्त हो रहे हैं और जो कुछ होता है, सब उन्हींकी लीला है। वही परमानन्द और परम चेतन तथा ज्ञानस्वरूप हैं। निरन्तर उनका स्मरण करनेसे सब पापोंके नाश और मनके भगवदाकार हो जानेपर अनायास ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है।

एक ही उपाय

ये दो उपाय भी न हों तो भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे उपदिष्ट, सबका सार और महान् इस एक उपायका अवलम्बन तो सभीको करना चाहिये। यह एक ही उपाय ऐसा है जिसके उपयोग करनेसे आप ही सब कुछ सिद्ध हो जाता है। उपाय है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

अर्थात्—

सब धर्मनको छोड़कर एक शरण मम होहि।
चिन्ता तजु, सब पापतें मुक्त करौंगो तोहि॥

'हे अर्जुन! तू सब धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।' भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा० रा० ६। १८। ३३)

'जो एक बार भी मेरे शरण होकर यह कह देता है कि मैं तेरा हूँ, उसको मैं सर्वभूतोंसे अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।'

बस, भगवान्‌की सर्वतोभावेन शरणागति ही परम और सर्वोत्तम उपाय है। जो भगवान्‌के शरण हो गया वह भगवान्‌का हो गया, वह सदाके लिये निर्भय और निश्चिन्त हो गया।* अतएव सबका आश्रय छोड़कर हमारे एकमात्र परम प्रेमी सदा हित करनेवाले भगवान्‌की शरण ग्रहण करनी चाहिये।

श्रद्धा और सत्संगकी आवश्यकता

एक सज्जनने तीन प्रश्न किये हैं, प्रश्न निम्नलिखित हैं—

१. माता, पिता, स्त्री, पुत्रकी भाँति साकार ईश्वरके प्रत्यक्ष दर्शन कैसे हो सकते हैं?

२. ईश्वरमें तर्करहित श्रद्धा किस अभ्याससे हो सकती है?

३. **सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥**

ऐसी सच्ची भावना कैसे हो?

प्रश्नोंका उत्तर

ईश्वर-विषयक ये तीनों ही प्रश्न बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार यत्किंचित् उत्तर लिखनेका साहस कर रहा हूँ।

(१) पहले प्रश्नका साधारण विवेचन कल्याण-प्राप्तिके उपाय नामक पुस्तकके पृष्ठ १३२ एवं १३६ में किया गया है। आप उसे देख सकते हैं, उसके सिवा अपनी बुद्धिके अनुसार कुछ फिर भी लिख देता हूँ।

विशुद्ध प्रेम ही ईश्वरके प्रत्यक्ष दर्शनका प्रधान उपाय है। यह प्रेम किस प्रकार होता है, इसका विवेचन करना चाहिये। सबसे प्रथम यह विश्वास होना आवश्यक है कि ईश्वर है और वह सुहृद्, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, परम दयालु, प्रेममय, आनन्ददाता, सर्वत्र साक्षात् विराजमान है। जबतक इस प्रकारका विश्वास नहीं होता, तबतक मनुष्य परमात्मासे मिलनेका अधिकारी ही नहीं हो सकता। पवित्र अन्तःकरण होनेपर ही मनुष्य अधिकारी हो सकता है। निष्कामभावसे किये हुए भजन, ध्यान, सेवा, सत्संग मनुष्यके हृदयको पवित्र करते हैं और पवित्र हृदय होनेसे मनुष्य अधिकारी बनता है। ईश्वरका ज्ञान भी उसके अधिकारी बननेके साथ-ही-साथ बढ़ता रहता है। इस प्रकार जब मनुष्यको ईश्वरका भली प्रकार ज्ञान हो जाता है और जब वह ईश्वरको भलीभाँति तत्त्वसे जान लेता है, तब ईश्वरसे वह जिस रूपमें मिलना चाहता है, भगवान् उसी रूपमें उसको दर्शन देते हैं। भगवान् सर्वव्यापी परमात्मा सच्चिदानन्दरूपसे तो सर्वदा वर्तमान हैं ही, पर भगवान्‌के रहस्यका ज्ञाता भगवद्भक्त जिस सगुण, साकार,

* शरणागतिका विशेष तत्त्व जानना हो तो 'कल्याण-प्राप्तिके उपाय' नामक पुस्तक पढ़िये।

चेतनमय मूर्तिमें उनसे मिलनेकी इच्छा करता है, वह नटवर उसी मोहिनी मूर्तिमें अपने प्रेमी भक्तसे मिलता एवं बातें करता है। इसमें प्रधान कारण प्रेम और पूर्ण विश्वास है, जिसको विशुद्ध श्रद्धा भी कहा जाता है, इसीकी भगवान्ने गीतामें स्थान-स्थानपर प्रशंसा की है। जैसे—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(१२। २)

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें भी अति उत्तम योगी मान्य हैं, अर्थात् उनको मैं अति श्रेष्ठ मानता हूँ।'

वह सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन प्रभु सगुण-साकाररूपसे किस प्रकार प्रकट होते हैं? इस रहस्यको यथार्थतासे तो भगवान्का परम श्रद्धालु अनन्यप्रेमी पूर्ण भक्त ही जानता है। क्योंकि यह इतना गम्भीर और रहस्यपूर्ण विषय है कि अन्तःकरणकी पवित्रताके बिना साधारण मनुष्योंकी तो बुद्धिमें ही इसका आना सम्भव नहीं। पर जो उस परमेश्वरका नित्य-निरन्तर स्मरण करते हैं, उनके लिये यह भगवान्का रहस्यपूर्ण तत्त्व सहज है।

यद्यपि साधु, महात्मा और शास्त्रोंने इस तत्त्वको समझानेके लिये बहुत प्रयत्न किया है, पर करोड़ोंमें कोई एक बिरला ही इस तत्त्वको समझ पाता है—

भगवान्ने गीतामें कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मुझको तत्त्वसे जानता है अर्थात् यथार्थ मर्मसे जानता है।'

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

(गीता २। २९)

'क्योंकि यह आत्मतत्त्व बड़ा गहन है, इसलिये कोई महापुरुष ही इस आत्माको आश्चर्यकी ज्यों देखता है और वैसे ही कोई दूसरा महापुरुष ही आश्चर्यकी ज्यों इसके तत्त्वको कहता है और दूसरा कोई ही इस आत्माको आश्चर्यकी ज्यों सुनता है और कोई-कोई तो सुनकर भी इस आत्माको नहीं जानता।'

जिस प्रकार चुम्बक पत्थर लोहेको आकर्षित करता है, फोनोग्राफकी चूड़ी और रेडियो शब्दको आकर्षित करते हैं एवं कैमेरेका प्लेट जैसे आकारको खींचता है, उसी प्रकार उस भगवान्का प्रेमी भक्त अपने अनन्यप्रेमसे भगवान्को आकर्षित कर लेता है। कोई देश, कोई वस्तु, कोई जगह भगवान्से खाली नहीं, वह सर्वत्र परिपूर्णरूपसे सर्वदा अवस्थित है। प्रेमी भक्त उसको जिस मूर्तिमें, जिस रूपमें और जिस समय प्रकट करना चाहता है, वह लीला-निकेतन नटवर उस प्रेमीके अनन्यप्रेमसे आकर्षित होकर उसी मूर्ति, उसी रूप और उसी समय साक्षात् प्रकट हो जाता है।

ये जितने प्रकारके उदाहरण ऊपर दिये गये हैं—जड-पदार्थ-विषयक होनेके कारण कोई भी उस चेतनरूप परमात्मामें पूर्णरूपसे नहीं घट सकते। क्योंकि परमात्माके सदृश कोई वस्तु है ही नहीं, जिसका उदाहरण देकर उस परमेश्वरके विषयको समझाया जा सके।

संसारमें सभी मनुष्य सुख चाहते हैं। सुखसे या जिससे सुख मिलनेकी आशा रहती है, उससे प्रेम करते हैं। इसलिये जो मनुष्य भगवान्को परम सुखस्वरूप और एकमात्र सुखप्रद समझ लेता है, उससे बढ़कर या उसके समान आनन्दप्रद एवं आनन्दस्वरूप किसी वस्तुको भी नहीं समझता तथा उसपर जिसको पूर्ण विश्वास हो जाता है, वह पुरुष ईश्वरको छोड़ और किसीसे प्रेम नहीं कर सकता। संसारमें जहाँ भी सुख और आनन्द प्रतीत होता है, वह उस आनन्दमय परमात्माके आनन्दका आभासमात्र ही है (बृ० ४। ३। ३२)। वह क्षणिक, अल्प और अनित्य है। परमेश्वर अनन्त, नित्य, पूर्ण, चेतन और आनन्दघन है। इसलिये उस नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माके साथ किसी सांसारिक आनन्दकी तुलना नहीं की जा सकती। भजन, ध्यान, सेवा, सत्संग आदिसे पवित्र अन्तःकरण होनेके साथ-ही-साथ उपर्युक्त प्रकारके ज्ञानरूपी सूर्यका प्रकाश मनुष्यके हृदयाकाशमें चमकने लगता है।

बतलाइये! जो इस प्रकार उस परमानन्दके वास्तविक तत्त्वको समझ लेता है, वह कैसे इस सांसारिक तुच्छ विषयजन्य नाशवान्, अनित्य सुखमें फँस सकता है?

इसलिये मनुष्यको परमेश्वरमें अनन्यप्रेम होनेके लिये भजन, ध्यान, सेवा, सत्संग, सदाचार आदिकी पूर्ण चेष्टा करनी चाहिये।

(२) उस परम प्यारे परमात्माकी मोहिनी मूर्तिका साक्षात् दर्शन करनेवाले एवं उसके तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले पुरुषोंद्वारा ईश्वरके गुण, प्रेम और प्रभावकी बातोंको प्रेमसे सुनने एवं समझनेसे ईश्वरमें तर्करहित विशुद्ध श्रद्धा उत्पन्न होती है। यदि ऐसे महात्माओंसे मिलना न हो तो प्रेम और श्रद्धासे उस परमेश्वरकी प्राप्तिका प्रयत्न करनेवाले साधकोंका सत्संग करना चाहिये एवं उनसे ईश्वर-विषयक गुण, प्रेम और प्रभावकी चर्चा करनी चाहिये। ऐसा करनेसे भी भगवान्में श्रद्धा और भक्ति बढ़ती है। यदि इस प्रकारके उच्च श्रेणीके साधकका संग भी न मिले तो मनुष्यको जिनमें ईश्वरके प्रेम, प्रभाव, गुण और तत्त्वकी बातोंका वर्णन हो एवं जो ईश्वर या महापुरुषोंद्वारा रचे हुए हों, ऐसे शास्त्रोंका विचारपूर्वक प्रेमसे अध्ययन करना चाहिये। सम्पूर्ण शास्त्रोंमें ईश्वरतत्त्वके ज्ञानके लिये भगवद्गीताके समान दूसरी पुस्तक नहीं है, महाभारतमें लिखा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

(भीष्म० ४३। १)

गीताके अध्ययनसे ईश्वरमें पूर्ण श्रद्धा हो सकती है, यदि इन ग्रन्थोंके समझनेकी बुद्धि भी न हो तो उनको परमपिता परमात्मासे नित्यप्रति एकान्तमें सच्चे हृदयसे विनयभावपूर्वक गद्गद होकर प्रेमसहित विशुद्ध श्रद्धा होनेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये। उस दयासागरके सामने की हुई सच्चे हृदयकी प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं होती। इस अभ्याससे परमात्मामें तर्करहित पूर्ण श्रद्धा हो सकती है।

बिना श्रद्धाके ईश्वर-तत्त्वका ज्ञान हो ही नहीं सकता, वरं उत्तरोत्तर पतन ही सम्भव है। जैसे गीतामें लिखा है—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

(९। ३)

'हे परंतप! इस तत्त्वज्ञानरूप धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते हैं।'

अतः ईश्वर-तत्त्वके जाननेके लिये श्रद्धाकी परम आवश्यकता है। क्योंकि श्रद्धासे ही ईश्वरके तत्त्वका ज्ञान होकर परम शान्ति प्राप्त होती है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(४। ३९)

'जितेन्द्रिय, तत्पर हुआ, श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है। ज्ञानको प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

इसलिये ईश्वरमें अनन्य श्रद्धा होनेके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

उपर्युक्त चार साधनोंमेंसे किसी एकका या अधिकका जो जितना अभ्यास करेगा, उसकी उतनी ही श्रद्धा बढ़ेगी एवं उस परमपिता परमेश्वरमें उतना ही अधिक प्रेम होगा। सभी साधनोंका पालन करनेसे शीघ्र ईश्वरमें श्रद्धा हो सकती है एवं आदर और प्रेमसे किया हुआ अभ्यास अन्तःकरणको पवित्र करके बहुत अधिक श्रद्धा बढ़ा देता है।

उपर्युक्त साधनोंका प्रेम और आदरसे जितना अधिक अभ्यास किया जाता है, उतना ही शीघ्र मनुष्यका हृदय पवित्र हो जाता है। हृदय पवित्र होनेके साथ ही परमेश्वरमें श्रद्धा बढ़ती है। श्रद्धाकी वृद्धिसे परमेश्वरमें सर्वदा दृढ़ भावना बढ़ती है, भावनाके दृढ़ होनेसे सर्वत्र ईश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन होने लगता है। उस समय वह सर्वव्यापी परमेश्वर सीयराममय देखनेवालेको सीयराममय एवं केवल राममय देखनेवालेको राममय दिखलायी पड़ने लगता है।

ईश्वर-सम्बन्धी वक्ता और श्रोता

श्रीपरमात्माकी प्राप्तिके साधनोंमें सबसे पहला मूल-साधन परमात्माके प्रभावको जानना है, जबतक मनुष्य परमात्माके प्रभाव और अलौकिक गुणोंको नहीं जानता, तबतक उसे परमात्मापर विश्वास नहीं होता। परमात्माकी प्राप्ति कठिन नहीं है, कठिन है वास्तवमें परमात्मापर विश्वास होना। प्रभाव न जाननेके कारण विश्वासहीन मनुष्य ही ऐसा कह दिया करते हैं कि 'न मालूम भगवान् हैं या नहीं और यदि हैं भी तो अपने भाग्यमें उनका मिलना कहाँ रखा है?' परन्तु असलमें यह समझना भूल है, परमात्मा अवश्य हैं और वह हैं भी परम दयालु तथा पतितपावन। उनका विरद ही दीनोंको अपनाना, पतितोंको पावन करना, आश्रितोंकी रक्षा करना और शरणागतोंको गोदमें उठाकर

अभय करना है। जिस समय भक्तशिरोमणि भरतजी महाराज श्रीराम-चरण-दर्शनकी इच्छासे वन जा रहे थे, उस समय मार्गमें जब वह माता कैकेयीकी कृतियोंकी ओर देखते थे तब उनके पैर पीछे पड़ते थे, उन्हें श्रीरामके सामने जानेमें अत्यन्त संकोच होता था, जब अपनी ओर निहारते तो पैर रुक जाते, संकोच नहीं मिटता, परन्तु जब भगवान् श्रीरामके स्वभावकी ओर दृष्टि जाती तब उनकी परम दयालुता और स्वाभाविकी पतितपावनी करनी समझकर पैर आप ही उत्साहसे आगे पड़ते—

फेरति मनहुँ मातु कृत खोरी। चलत भगति बल धीरज धोरी॥
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥

परन्तु यह इसलिये कि श्रीभरतजी महाराज भगवान्का प्रभाव जानते थे। इस प्रकार जो भगवान्का प्रभाव जानता है, वह आप ही भगवान्की ओर बढ़ने लगता है। परन्तु इस प्रभावके जाननेका उपाय क्या है? इसका उपाय है, प्रभाव बतलानेवाले ग्रन्थ-रत्नोंका अध्ययन करना तथा प्रभाव जाननेवाले सत्पुरुषोंद्वारा प्रभावका रहस्य जानना। इस तरहके ग्रन्थोंका मर्म जाननेके लिये भी मर्मज्ञ सत्पुरुषोंकी सहायता आवश्यक होती है। अतएव सत्संगसे ही भगवान्का प्रभाव जाना जा सकता है, यही सिद्धान्त है।

वास्तवमें सत्संगसे बहुत लाभ है। सत्संगका लाभ प्रत्यक्ष भी है। अन्यान्य दान, व्रत, स्नानादि साधनोंका फल कालान्तरमें होता है, परन्तु सत्संगका फल तो हाथोंहाथ देखनेमें आता है। श्रद्धासे सत्संगमें जाकर उपदेश सुननेवाले मनुष्यपर उपदेशोंका असर तत्काल देखनेमें आता है। सुने हुए उपदेशके विरुद्ध आचरण करनेमें उसे संकोच होता है। वक्तापर श्रद्धा होनेके कारण श्रोता उसके वचनोंका बहुत कुछ अनुसरण करने लगते हैं। अवश्य ही वक्ता जिस विषयका उपदेश करता है, वह उसका अनुभवी होना चाहिये। वक्तामें यदि सामर्थ्य न हो तो उसे स्पष्ट कह देना चाहिये कि मैं इसके योग्य नहीं हूँ। यद्यपि श्रद्धालु श्रोताको असमर्थ वक्ताकी भी सदाचरणमें प्रवृत्त करनेवाली बातोंसे लाभ ही होता है। मनुष्य यदि मिट्टीकी मूर्ति बनाकर श्रद्धासे उससे उपदेश लेना चाहे तो उसे वह मूर्ति ही प्रकारान्तरसे उपदेश दे सकती है। इसमें एकलव्य भीलकी कथा प्रसिद्ध है। (महा०, आदि० १३०। ३३—३५) फिर मनुष्यमें ऐसी शक्ति हो जाना और उसके उपदेशसे श्रोताओंका कल्याणपथमें अग्रसर होना कौन बड़ी बात है?

वक्ताको चाहिये कि वह अपने हृदयको सदा देखता रहे। कहीं मान-बड़ाईमें भूलकर अपनी स्थितिसे न गिर जाय। श्रोताओंपर उसी वक्ताके वचनोंका स्थायी असर होता है, जिसमें निम्नलिखित पाँच बातें होती हैं।

(१) वह जिस विषयका प्रतिपादन करता हो, उसमें स्वयं सन्देहरहित हो। श्रोताओंकी रुचिके अनुसार ऐसे किसी विषयका सिद्धान्तरूपसे प्रतिपादन नहीं करना चाहिये, जिसको वह स्वयं निःसन्दिग्धरूपसे वैसा ही न मानता हो।

(२) वह जो कुछ कहता हो सो सत्य होना चाहिये। किसी प्रकार भी छल, कपट या असत्यका लेश न रहना चाहिये।

(३) वक्ताका उद्देश्य केवल अपने सिद्धान्तका प्रचार करना ही हो, न कि धन-मान आदि किसी प्रकारका भी स्वार्थ-साधन करना।

(४) अपने सिद्धान्तके प्रतिपादनमें दूसरोंकी निन्दा न करता हो।

(५) जो कुछ उपदेश दे, उसका स्वयं कार्यरूपसे पालन करता हो।

इन पाँचोंमेंसे जिस बातकी जितनी कमी होती है उतना ही उस वक्ताका प्रभाव जनतापर कम पड़ता है, इसके सिवा वक्ताको यह अभिमान कभी नहीं करना चाहिये कि 'मैं तो सिर्फ परोपकारके लिये ही ऐसा करता हूँ, मेरा इसमें क्या स्वार्थ है? मैं तो केवल दूसरोंको अच्छे मार्गपर लानेके लिये ही कष्ट-सहन करता हूँ।' इस प्रकारकी धारणासे वक्ताके मनमें एक तरहका मिथ्याभिमान उत्पन्न हो जाता है, वह समझ लेता है—मैं जब निःस्वार्थ-भावसे जनताकी सेवा करता हूँ, तब जनताको मेरा कृतज्ञ होना चाहिये और यों वह उस एहसानमन्द जनतासे सेवाके बदलेमें सेवा, धन या मानके पुरस्कारकी आशा करने लगता है। आशापूर्तिमें बाधा उपस्थित होनेपर वह क्रोधका कारण बन जाती है और अन्तमें क्रोध बढ़कर प्रतिहिंसा हिंसाके रूपमें परिणत हो जाती है। वक्ताका उपकार मानना तो उस जनताका कर्तव्य है, जिसका वक्ताके उपदेशसे उपकार हुआ है। जबरदस्ती उपकार मनवानेका अधिकार वक्ताको नहीं है, क्योंकि वह जो कुछ करता है, सो वास्तवमें अपने ही स्वार्थके लिये करता है, भले ही उसका वह स्वार्थ कितना ही सात्त्विक और पवित्र क्यों न हो?

बात तो असलमें यह है कि सत्-विचारोंका प्रचार करनेवाले वक्ताकी भलाई श्रोताओंसे कहीं अधिक होती है। उसे तो श्रोताओंका उलटा उपकार मानना चाहिये। आजकल बात कुछ विपरीत हो गयी है। यों तो श्रोताका वक्तापर बहुत उपकार होता है। परन्तु पाँच प्रकारके लाभ तो प्रत्यक्ष हैं—

(१) श्रोताओंके कारण ही वक्ताका समय सत्-चर्चामें व्यय होता है।

(२) श्रोताओंके सामने वक्ता अपनी वाणीसे जो कुछ परमार्थकी बातें कहता है, उनकी स्फुरणा उसके हृदयमें पहले होती है। जब उसके सदुपदेशसे श्रोताओंको लाभ पहुँचता है, तब जिस वक्ताके हृदयमें वे बातें पहले पैदा हुईं, उसको तो उससे अधिक लाभ होना स्वाभाविक ही है। फिर जितनी बातें वाणीसे कही जाती हैं, वे मानसिक भावोंकी अपेक्षा न्यून ही होती हैं, क्योंकि मनका भाव वाणीके द्वारा प्रायः पूर्णरूपसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। जितने भाव मनमें पैदा होते हैं, उनसे कम ही बातें कही जाती हैं और जितनी कही जाती हैं, उतनी सब-के-सब श्रोताओंके कानों और मनोंतक उसी रूपमें पूरी-पूरी पहुँच भी नहीं पातीं। इस दृष्टिसे भी वक्ताको ही विशेष लाभ होता है।

(३) यदि वक्ता अयोग्य भी होता है तो बहुत-से प्रेमी श्रोता सज्जनोंकी 'मानसिक सद्भावना' उसमें योग्यता उत्पन्न कर देती है। बहुत-से लोग सच्चे मनसे जिसके प्रति निरन्तर 'शुभ मानसिक संकल्प' करते हों, उसका योग्य बन जाना बहुत सम्भव है।

(४) वक्ता अपने व्याख्यानमें जैसी बातें कहता है, जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है, वह उसके पल्ले बँध जाते हैं। वह बात उसमें नहीं भी होती तो अपना प्रभाव बनाये रखनेके लिये वह उन बातोंको अपनेमें उत्पन्न करनेकी चेष्टा करता है। जैसे जो वक्ता व्याख्यानमें तम्बाकू छोड़नेका उपदेश करता है। वह स्वयं भी पीनेमें शर्माता है, यों उसके दोष चले जाते हैं। व्याख्यानमें अच्छी बातें कहनी ही पड़ती हैं, इससे वह धीरे-धीरे अच्छा बन जाता है। यह भी श्रोताओंके कारण ही होता है।

(५) अच्छी बातें कहनेके लिये उसे बारम्बार सद्ग्रन्थोंका अवलोकन-अध्ययन करना पड़ता है, जिससे उसका ज्ञान और अनुभव क्रमशः बहुत बढ़ जाता है।

इन सारी बातोंपर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि वक्ताको सदैव श्रोताओंके प्रति कृतज्ञ रहना चाहिये।

श्रोताओंको चाहिये कि वक्ताकी अच्छी बातें अवश्य ही श्रद्धाके साथ सुनें और केवल सुनकर ही न रह जायँ, उन्हें कार्यरूपमें भी परिणत करें। परंतु कम-से-कम श्रद्धा करनेके पहले अपनी बुद्धिसे यह निर्णय अवश्य कर लें कि यह मनुष्य श्रद्धाके लायक है या नहीं। जो वक्ता किसी प्रकारका व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन करना चाहता हो, धन-मानकी इच्छा रखता हो, स्त्रियोंसे एकान्तमें मिलता हो, जिसके आचरणोंमें दोष दिखायी पड़े, जिसको बात-बातमें क्रोध आता हो, जो हिंसाका उपदेश करता हो, जिसके उपदेश सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय आदि सदाचारोंके विपरीत हों, जो ईश्वरका अस्तित्व न मानता हो, उससे सदा बहुत ही सावधान रहना चाहिये।

इन दुर्गुणोंके विपरीत जो सदाचारी हों, जिनमें काम, क्रोध, लोभरूपी दोष न हों, जो व्यक्तिगत स्वार्थ-साधनकी चेष्टा न करते हों, जिनके आचरण शुद्ध और निष्काम हों, जिनके संगसे दैवीसम्पत्तिके सद्गुणोंका अपनेमें विकास होता दिखायी पड़े, जो परमात्माके उदार सद्गुणोंके विश्वासी हों और उन्हींकी बड़े प्रेमसे मनसे चर्चा करते हों, ऐसे सज्जनोंके संगसे परमात्माका प्रभाव जाना जाता है, प्रभावके जाननेसे परमात्मामें विश्वास होता है और दृढ़ विश्वाससे भगवान्‌की प्राप्ति होती है।

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु॥

महात्मा किसे कहते हैं ?

महात्मा शब्दका अर्थ और प्रयोग

'महात्मा' शब्दका अर्थ है 'महान् आत्मा' यानी सबका आत्मा ही जिसका आत्मा है। इस सिद्धान्तसे 'महात्मा' शब्द वस्तुतः एक परमेश्वरके लिये ही शोभा देता है; क्योंकि सबके आत्मा होनेके कारण वे ही महात्मा हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
(१०। २०)

'हे अर्जुन! मैं सब भूत-प्राणियोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ।'

परन्तु जो पुरुष भगवान्‌को तत्त्वसे जानता है अर्थात् भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है वह भी महात्मा ही है, अवश्य ही ऐसे महात्माओंका मिलना बहुत ही दुर्लभ है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
(७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई ही मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें कोई ही पुरुष (मेरे परायण हुआ) मुझको तत्त्वसे जानता है।'

जो भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है, उसके लिये सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा उसीका आत्मा हो जाता है। क्योंकि परमात्मा सबके आत्मा हैं और वह भक्त परमात्मामें स्थित है। इसलिये सबका आत्मा ही उसका आत्मा है। इसके

सिवा '**सर्वभूतात्मभूतात्मा**' (गीता ५। ७) यह विशेषण भी उसीके लिये आया है। वह पुरुष सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंको अपने आत्मामें और आत्माको सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें देखता है। उसके ज्ञानमें सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंके और अपने आत्मामें कोई भेद-भाव नहीं रहता।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

(ईश० ६)

'जो समस्त भूतोंको अपने आत्मामें और समस्त भूतोंमें अपने आत्माको ही देखता है, वह फिर किसीसे घृणा नहीं करता।'

सर्वत्र ही उसकी आत्म-दृष्टि हो जाती है, अथवा यों कहिये कि उसकी दृष्टिमें एक विज्ञानानन्दघन वासुदेवसे भिन्न और कुछ भी नहीं रहता। ऐसे ही महात्माओंकी प्रशंसामें भगवान्‌ने कहा है—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।

(गीता ७। १९)

'सब कुछ वासुदेव ही है, इस प्रकार (जाननेवाला) महात्मा अति दुर्लभ है।'

खेदकी बात है कि आजकल लोग स्वार्थवश किसी साधारण-से-साधारण मनुष्यको भी महात्मा कहने लगते हैं। 'महात्मा' या 'भगवान्' शब्दका प्रयोग वस्तुतः बहुत समझ-सोचकर किया जाना चाहिये। वास्तवमें महात्मा तो वे ही हैं जिनमें महात्माओंके लक्षण और आचरण हों। ऐसे महात्माका मिलना बहुत ही दुर्लभ है, यदि मिल भी जायँ तो उनका पहचानना तो असम्भव-सा ही है, '**महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च**' (नारदसूत्र ३९) 'महात्माका संग दुर्लभ, दुर्गम और अमोघ है।'

साधारणतया उनकी यही पहचान सुनी जाती है कि उनका संग अमोघ होनेके कारण उनके दर्शन, भाषण और आचरणोंसे मनुष्योंपर बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। ईश्वर-स्मृति, विषयोंसे वैराग्य, सत्य, न्याय और सदाचारमें प्रीति, चित्तमें प्रसन्नता तथा शान्ति आदि सद्‌गुणोंका स्वाभाविक ही प्रादुर्भाव हो जाता है। इतनेपर भी बाहरी आचरणोंसे तो यथार्थ महात्माओंको पहचानना बहुत ही कठिन है; क्योंकि पाखण्डी मनुष्य भी लोगोंको ठगनेके लिये महात्माओं-जैसा स्वाँग रच सकता है। इसलिये परमात्माकी पूर्ण दयासे ही महात्मा मिलते हैं और उन्हींकी दयासे उनको पहचाना भी जा सकता है।

महात्माओंके लक्षण

सर्वत्र समदृष्टि होनेके कारण उनमें राग-द्वेषका अत्यन्त अभाव हो जाता है, इसलिये उनको प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें हर्ष-शोक नहीं होता। सम्पूर्ण भूतोंमें आत्म-बुद्धि होनेके कारण अपने आत्माके सदृश ही उनका सबमें प्रेम हो जाता है, इससे अपने और दूसरोंके सुख-दुःखमें उनकी समबुद्धि हो जाती है और इसलिये वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें स्वाभाविक ही रत होते हैं। उनका अन्तःकरण अति पवित्र हो जानेके कारण उनके हृदयमें भय, शोक, उद्वेग, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोषोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है। देहमें अहंकारका अभाव हो जानेसे मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाकी इच्छा तो उनमें गन्धमात्र भी नहीं रहती। शान्ति, सरलता, समता, सुहृदता, शीतलता, सन्तोष, उदारता और दयाके तो वे अनन्त समुद्र होते हैं। इसीलिये उनका मन सर्वदा प्रफुल्लित, प्रेम और आनन्दमें मग्न और सर्वथा शान्त रहता है।

महात्माओंके आचरण

देखनेमें उनके बहुत-से आचरण दैवी सम्पदावाले सात्त्विक पुरुषोंके-से होते हैं, परन्तु सूक्ष्म विचार करनेपर दैवी सम्पदावाले सात्त्विक पुरुषोंकी अपेक्षा उनकी अवस्था और उनके आचरण कहीं महत्त्वपूर्ण होते हैं। सत्यस्वरूपमें स्थित होनेके कारण उनका प्रत्येक आचरण सदाचार समझा जाता है। उनके आचरणोंमें असत्यके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। अपना व्यक्तिगत किंचित् भी स्वार्थ न रहनेके कारण उनके आचरणोंमें किसी भी दोषका प्रवेश नहीं हो सकता, इसलिये उनके सम्पूर्ण आचरण दिव्य समझे जाते हैं। वे सम्पूर्ण भूतोंको अभयदान देते हुए ही विचरते हैं। वे किसीके मनमें उद्वेग करनेवाला कोई आचरण नहीं करते। सर्वत्र परमेश्वरके स्वरूपको देखते हुए स्वाभाविक ही तन, मन और धनको सम्पूर्ण भूतोंके हितमें लगाये रहते हैं। उनके द्वारा झूठ, कपट, व्यभिचार, चोरी आदि दुराचार तो हो ही नहीं सकते। यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि जो उत्तम कर्म होते हैं, उनमें भी अहंकारका अभाव होनेके कारण आसक्ति, इच्छा, अभिमान और वासना आदिका नाम-निशान भी नहीं रहता। स्वार्थका त्याग होनेके कारण उनके वचन और आचरणोंका लोगोंपर अद्भुत प्रभाव पड़ता है। उनके आचरण लोगोंके लिये अत्यन्त हितकर और प्रिय होनेसे लोग सहज ही उनका अनुकरण करते हैं। श्रीगीतामें भगवान् कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

(३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं, दूसरे लोग भी उसीके अनुसार बर्तते हैं, वह जो कुछ प्रमाण कर देते हैं, लोग भी उसीके अनुसार बर्तते हैं।'

उनका प्रत्येक आचरण सत्य, न्याय और ज्ञानसे पूर्ण होता है, किसी समय उनका कोई आचरण बाह्यदृष्टिसे भ्रमवश लोगोंको अहितकर या क्रोधयुक्त मालूम हो सकता है, किन्तु विचारपूर्वक तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर वस्तुतः उस आचरणमें भी दया और प्रेम ही भरा हुआ मिलता है और परिणाममें उससे लोगोंका परम हित ही होता है। उनमें अहंता-ममताका अभाव होनेके कारण उनका बर्ताव सबके साथ पक्षपातरहित, प्रेममय और शुद्ध होता है। प्रिय और अप्रियमें उनकी समदृष्टि होती है। वे भक्तराज प्रह्लादकी भाँति आपत्तिकालमें भी सत्य, धर्म और न्यायके पक्षपर ही दृढ़ रहते हैं। कोई भी स्वार्थ या भय उन्हें सत्यसे नहीं डिगा सकता।

एक समय केशिनी-नाम्नी कन्याको देखकर प्रह्लाद-पुत्र विरोचन और अंगिरा-पुत्र सुधन्वा उसके साथ विवाह करनेके लिये परस्पर विवाद करने लगे। कन्याने कहा कि 'तुम दोनोंमें जो श्रेष्ठ होगा, मैं उसीके साथ विवाह करूँगी।' इसपर वे दोनों ही अपनेको श्रेष्ठ बतलाने लगे। अन्तमें वे परस्पर प्राणोंकी बाजी लगाकर इस विषयमें न्याय करानेके लिये प्रह्लादजीके पास गये। प्रह्लादजीने पुत्रकी अपेक्षा धर्मको श्रेष्ठ समझकर यथोचित न्याय करते हुए अपने पुत्र विरोचनसे कहा कि 'सुधन्वा तुझसे श्रेष्ठ है, इसके पिता अंगिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं और इस सुधन्वाकी माता तेरी मातासे श्रेष्ठ है, इसलिये यह सुधन्वा तेरे प्राणोंका स्वामी है।' यह न्याय सुनकर सुधन्वा मुग्ध हो गया और उसने कहा 'हे प्रह्लाद! पुत्र-प्रेमको त्यागकर तुम धर्मपर अटल रहे, इसलिये तुम्हारा यह पुत्र सौ वर्षतक जीवित रहे।'

श्रेयान् सुधन्वा त्वत्तो वै मत्तः श्रेयांस्तथाङ्गिराः।
माता सुधन्वनश्चापि मातृतः श्रेयसी तव।
विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव।
पुत्रस्नेहं परित्यज्य यस्त्वं धर्मे व्यवस्थितः।
अनुजानामि ते पुत्रं जीवत्वेष शतं समाः॥

(महा०, सभा० ६८। ८६-८७)

महात्मा पुरुषोंका मन और उनकी इन्द्रियाँ जीती हुई होनेके कारण न्यायविरुद्ध विषयोंमें तो उनकी कभी प्रवृत्ति ही नहीं होती। वस्तुतः ऐसे महात्माओंकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन वासुदेवसे भिन्न कुछ भी नहीं होनेके कारण यह सब भी लीलामात्र ही है, तथापि लोकदृष्टिमें भी उनके मन, वाणी, शरीरसे होनेवाले आचरण परम पवित्र और लोकहितकर ही होते हैं। कामना, आसक्ति और अभिमानसे रहित होनेके कारण उनके मन और इन्द्रियोंद्वारा किया हुआ कोई भी कर्म अपवित्र या लोकहानिकर नहीं हो सकता। इसीसे वे संसारमें प्रमाणस्वरूप माने जाते हैं।

महात्माओंकी महिमा

ऐसे महापुरुषोंकी महिमाका कौन बखान कर सकता है? श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, सन्तोंकी वाणी और आधुनिक महात्माओंके वचन इनकी महिमासे भरे हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजीने तो यहाँतक कह दिया है कि भगवान्‌को प्राप्त हुए भगवान्‌के दास भगवान्‌से भी बढ़कर हैं—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥
सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत॥

ऐसे महात्मा जहाँ विचरते हैं वहाँका वायुमण्डल पवित्र हो जाता है। श्रीनारदजी कहते हैं—

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि।

(नारदभ० ६९)

'वे अपने प्रभावसे तीर्थोंको (पवित्र करके) तीर्थ बनाते हैं, कर्मोंको सुकर्म बनाते हैं और शास्त्रोंको सत्-शास्त्र बना देते हैं।' वे जहाँ रहते हैं, वही स्थान तीर्थ बन जाता है या उनके रहनेसे तीर्थका तीर्थत्व स्थायी हो जाता है, वे जो कर्म करते हैं, वे ही सुकर्म बन जाते हैं, उनकी वाणी ही शास्त्र है अथवा वे जिस शास्त्रको अपनाते हैं, वही सत्-शास्त्र समझा जाता है।

शास्त्रमें कहा है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

'जिसका चित्त अपार संवित् सुखसागर परब्रह्ममें लीन है, उसके जन्मसे कुल पवित्र होता है, उसकी जननी कृतार्थ होती है और पृथ्वी पुण्यवती हो जाती है।'

धर्मराज युधिष्ठिरने भक्तराज विदुरजीसे कहा था—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥

(श्रीमद्भा० १। १३। १०)

'हे स्वामिन्! आप-सरीखे भगवद्भक्त स्वयं तीर्थरूप हैं। (पापियोंके द्वारा कलुषित हुए) तीर्थोंको आपलोग अपने हृदयमें स्थित भगवान् श्रीगदाधरके प्रभावसे पुनः तीर्थत्व प्राप्त करा देते हैं।'

महात्माओंका तो कहना ही क्या है, उनकी आज्ञा पालन करनेवाले मनुष्य भी परम पदको प्राप्त हो जाते हैं।

भगवान् स्वयं भी कहते हैं कि जो किसी प्रकारका साधन न जानता हो वह भी महान् पुरुषोंके पास जाकर उनके कहे अनुसार चलनेसे मुक्त हो जाता है।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(गीता १३। २५)

'परन्तु दूसरे इस प्रकार मुझको तत्त्वसे न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंसे सुनकर ही उपासना करते हैं। वे सुननेके परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरसे निःसन्देह तर जाते हैं।'

महात्मा बननेके उपाय

इसका वास्तविक उपाय तो परमेश्वरकी अनन्य-शरण होना ही है, क्योंकि परमेश्वरकी कृपासे ही यह पद मिलता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(१८। ६२)

'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी दयासे ही तू परमशान्ति और सनातन परमधामको प्राप्त होगा।'

परन्तु इसके लिये ऋषियोंने और भी उपाय बतलाये हैं। जैसे मनु महाराजने धर्मके दस लक्षण कहे हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(६। ९२)

'धृति, क्षमा, मनका निग्रह, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण हैं।'

महर्षि पतञ्जलिने अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये (जो कि आत्मसाक्षात्कारके लिये अत्यन्त आवश्यक है) एवं मनको निरोध करनेके लिये बहुत-से उपाय बतलाये हैं। जैसे—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। (१। ३३)

'सुखियोंके प्रति मैत्री, दुःखियोंके प्रति करुणा, पुण्यात्माओंको देखकर प्रसन्नता और पापियोंके प्रति उपेक्षाकी भावनासे चित्त स्थिर होता है।'

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। (२। ३०)

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

(२। ३२)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं और शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये पाँच नियम हैं।'

और भी अनेक ऋषियोंने महात्मा बननेके यानी परमात्माके पदको प्राप्त होनेके लिये सद्भाव और सदाचार आदि अनेक उपाय बतलाये हैं।

भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीताके तेरहवें अध्यायमें श्लोक ७से११ तक 'ज्ञान' के नामसे और सोलहवें अध्यायमें श्लोक १-२-३में 'दैवी सम्पदा'के नामसे एवं सत्रहवें अध्यायमें श्लोक १४-१५-१६ में 'तप' के नामसे सदाचार और सद्गुणोंका ही वर्णन किया है।

यह सब होनेपर भी महर्षि पतञ्जलि, शुकदेव, भीष्म, वाल्मीकि, तुलसीदास, सूरदास यहाँतक कि स्वयं भगवान्ने भी शरणागतिको ही बहुत सहज और सुगम उपाय बताया है। अनन्य भक्ति, ईश्वर-प्रणिधान, अव्यभिचारिणी भक्ति और परम प्रेम आदि उसीके नाम हैं।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे पार्थ! जो पुरुष मुझमें अनन्य चित्तसे स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मुझको स्मरण करता है उस मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा० रा० ६। १८। ३३)

'जो एक बार भी मेरे शरण होकर 'मैं तेरा हूँ' ऐसा कह देता है, मैं उसे सर्व भूतोंसे अभय प्रदान कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।'

इसलिये पाठक सज्जनोंसे प्रार्थना है कि ज्ञानी, महात्मा और भक्त बननेके लिये ज्ञान और आनन्दके भण्डार सत्यस्वरूप उस परमात्माकी ही अनन्य शरण लेनी चाहिये। फिर उपर्युक्त सदाचार और सद्भाव तो अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं।

भगवान्की शरण ग्रहण करनेपर उनकी दयासे आप ही सारे विघ्नोंका नाश होकर भक्तको भगवत्प्राप्ति हो जाती है। योगदर्शनमें कहा है—

'तस्य वाचकः प्रणवः', 'तज्जपस्तदर्थभावनम्', 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।'

(१। २७—२९)

'उसका वाचक प्रणव (ओंकार) है।' 'उसका जप और उसके अर्थकी भावना करनी चाहिये।' 'इससे अन्तरात्माकी प्राप्ति और विघ्नोंका अभाव भी होता है।'

भगवत्-शरणागतिके बिना इस कलिकालमें संसार-सागरसे पार होना अत्यन्त ही कठिन है।

कलिजुग केवल नाम अधारा।
सुमिर सुमिर भव उतरहि पारा॥
कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥
हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

'कलियुगमें हरिका नाम, हरिका नाम, केवल हरिका नाम ही (उद्धार करता) है, इसके सिवा अन्य उपाय नहीं है, नहीं है, नहीं है।'

'क्योंकि यह अलौकिक (अति अद्भुत) त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है, जो पुरुष निरन्तर मुझको ही भजते हैं, वे इस मायाको उल्लंघन कर जाते हैं यानी संसारसे तर जाते हैं।

हरि माया कृत दोष गुन बिनु हरि भजन न जाहिं।
भजिअ राम तजि काम सब अस बिचारि मन माहिं॥

महात्मा बननेके मार्गमें मुख्य विघ्न

ज्ञानी, महात्मा और भक्त कहलाने तथा बननेके लिये तो प्रायः सभी इच्छा करते हैं, परन्तु उसके लिये सच्चे हृदयसे साधन करनेवाले लोग बहुत ही कम हैं। साधन करनेवालोंमें भी परमात्माके निकट कोई ही पहुँचता है; क्योंकि राहमें ऐसी बहुत-सी विपद्-जनक घाटियाँ आती हैं जिनमें फँसकर साधक गिर जाते हैं। उन घाटियोंमें 'कंचन' और 'कामिनी' ये दो घाटियाँ बहुत ही कठिन हैं, परन्तु इनसे भी कठिन तीसरी घाटी मान-बड़ाई और ईर्ष्याकी है। किसी कविने कहा है—

कंचन तजना सहज है, सहज त्रियाका नेह।
मान बड़ाई ईर्ष्या, दुर्लभ तजना येह॥

इन तीनोंमें भी सबसे कठिन है बड़ाई। इसीको कीर्ति, प्रशंसा, लोकैषणा आदि कहते हैं। शास्त्रमें जो तीन प्रकारकी तृष्णा (पुत्रैषणा, लोकैषणा और वित्तैषणा) बतायी गयी है, उन तीनोंमें लोकैषणा ही सबसे अधिक बलवान् है। इसी लोकैषणाके लिये मनुष्य धन, धाम, पुत्र, स्त्री और प्राणोंतकका भी त्याग करनेके लिये तैयार हो जाता है।

जिस मनुष्यने संसारमें मान-बड़ाई और प्रतिष्ठाका त्याग कर दिया, वही महात्मा है और वही देवता और ऋषियोंद्वारा भी पूजनीय है। साधु और महात्मा तो बहुत लोग कहलाते हैं किन्तु उनमें मान-बड़ाई और प्रतिष्ठाका त्याग करनेवाला कोई विरला ही होता है। ऐसे महात्माओंकी खोज करनेवाले भाइयोंको इस विषयका कुछ अनुभव भी होगा। हमलोग पहले-पहल जब किसी अच्छे पुरुषका नाम सुनते हैं तो उनमें श्रद्धा होती है पर उनके पास जानेपर जब हमें उनमें मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा दिखलायी देती है, तब उनपर हमारी वैसी श्रद्धा नहीं ठहरती जैसी उनके गुण सुननेके समय हुई थी। यद्यपि अच्छे पुरुषोंमें किसी प्रकार भी दोषदृष्टि करना हमारी भूल है, परन्तु स्वभावदोषसे ऐसी वृत्तियाँ होती हुई प्रायः देखी जाती हैं और ऐसा होना बिलकुल निराधार भी नहीं है; क्योंकि वास्तवमें एक ईश्वरके सिवा बड़े-से-बड़े गुणवान् पुरुषमें भी दोषोंका कुछ मिश्रण रहता ही है। जहाँ बड़ाईका दोष आया कि झूठ, कपट और दम्भ भी आ ही जाते हैं, जब झूठ, कपट और दम्भको स्थान मिल जाता है तो अन्यान्य दोषोंके आनेको तो सुगम मार्ग बन जाता है। यह कीर्तिरूपी दोष देखनेमें छोटा-सा है परन्तु यह केवल महात्माओंको छोड़कर अन्य अच्छे-से-अच्छे पुरुषोंमें भी सूक्ष्म और गुप्तरूपसे रहता है। यह साधकको साधन-पथसे गिराकर उसका मूलोच्छेदन कर डालता है।

अच्छे पुरुष बड़ाईको हानिकर समझकर विचार-दृष्टिसे उसको अपनेमें रखना नहीं चाहते और प्राप्त होनेपर उसका त्याग भी करना चाहते हैं। तो भी यह सहजमें उनका पिण्ड नहीं छोड़ती। इसका शीघ्र नाश तो तभी होता है जब कि यह हृदयसे बुरी लगने लगे और इसके प्राप्त होनेपर यथार्थमें दुःख और घृणा हो। साधकके लिये साधनमें विघ्न डालनेवाली यह मायाकी मोहिनी मूर्ति है, जैसे चुम्बक लोहेको, स्त्री कामी पुरुषको, धन लोभी पुरुषको आकर्षित करता है, यह उससे भी बढ़कर साधकको संसार-समुद्रकी ओर खींचकर उसे इसमें बरबस डुबो देती है। अतएव साधकको सबसे अधिक इस बड़ाईसे ही डरना चाहिये। जो मनुष्य बड़ाईको जीत लेता है वह सभी विघ्नोंको जीत सकता है।

योगी पुरुषोंके ध्यानमें तो चित्तकी चंचलता और आलस्य ये दो ही महाशत्रुके तुल्य विघ्न करते हैं! चित्तमें वैराग्य होनेपर विषयोंमें और शरीरमें आसक्तिका नाश हो जाता है, इससे उपर्युक्त दोष तो कोई विघ्न उपस्थित नहीं कर सकते, परन्तु बड़ाई एक ऐसा महान् दोष है जो इन दोषोंके नाश होनेपर भी अन्दर छिपा रहता है। अच्छे पुरुष भी जब हम उनके सामने उनकी बड़ाई करते हैं तो उसे सुनकर विचारदृष्टिसे इसको बुरा समझते हुए भी इसकी मोहिनी शक्तिसे मोहित हुए-से उस बड़ाई करनेवालेके अधीन-से हो जाते हैं। विचार करनेपर मालूम होता है कि

इस कीर्तिरूपी मोहिनी शक्तिसे मोहित न होनेवाले वीर करोड़ोंमें कोई एक ही हैं। कीर्तिरूपी मोहिनी शक्ति जिसको नहीं मोह सकती, वही पुरुष धन्य है, वही मायाके दासत्वसे मुक्त है, वही ईश्वरके समीप है और वही यथार्थ महात्मा है। यह बहुत ही गोपनीय रहस्यकी बात है।

जिसपर भगवान्की पूर्ण दया होती है, या यों कहें जो भगवान्की दयाके तत्त्वको समझ जाता है, वही इस कीर्तिरूपी दोषपर विजय पा सकता है। इस विघ्नसे बचनेके लिये प्रत्येक साधकको सदा सावधान रहना चाहिये।

महापुरुषोंकी महिमा

संसारमें सबसे अधिक संख्या तो सांसारिक भोगोंमें आसक्त मनुष्योंकी ही है। भगवत्-प्राप्तिके साधनमें लगे हुए अच्छे पुरुषोंकी संख्या भी कुछ अंशमें देखनेमें आती है, पर महापुरुष तो विरले ही हैं और जो हैं उनसे लोग पूरा लाभ नहीं उठा रहे हैं। इसके मुख्य कारण दो हैं—(१) अश्रद्धा और (२) पहचाननेकी योग्यताका अभाव। श्रद्धा या तो श्रद्धावान् पुरुषोंके संगसे होती है अथवा अन्तःकरणकी शुद्धिसे। पर श्रद्धालुओंकी संख्या भी बहुत कम है और जो हैं भी, उनमें हमारी श्रद्धा नहीं है। महापुरुषोंको न पहचाननेका कारण भी अश्रद्धा ही है।

मनुष्योंकी दृष्टि स्वभावतः दोष-दर्शनकी ओर ही अधिक रहती है, जिसके कारण श्रद्धा पहले तो कठिनतासे उत्पन्न होती है और होती है तो उसका स्थिर रहना बड़ा ही कठिन होता है। अच्छे पुरुषोंमें भी लोग दोष-बुद्धि कर ही लेते हैं। साक्षात् भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्ण हमारी विशेष श्रद्धाके पात्र हैं, परन्तु दोष-दृष्टिवालोंको उनके चरित्रकी आलोचना करनेपर उनमें भी दोष मिल ही जाते हैं। वाल्मीकीय रामायणमें तो श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रमें अनेक दोष और सन्देहजनक स्थल मिल ही सकते हैं, पर जिन गोस्वामी तुलसीदासजीने दोषोंका बहुत कुछ परिहार करनेकी चेष्टा की है उनके 'मानस' में भी अज्ञ और अश्रद्धालु लोग दो-तीन स्थलोंपर सन्देह, तर्क और अश्रद्धा कर बैठते हैं। उनका कहना है कि रामने बालिको छिपकर बाणद्वारा मारा, शूर्पणखाके साथ मजाक किया और अग्नि-परीक्षामें उत्तीर्ण हो जानेपर भी निरपराधिनी सीताका परित्याग करके लोकनिन्दाको अधिक महत्त्व देकर न्याय और आत्मबलकी न्यूनता दिखलायी। इसके सिवा श्रीराम साधारण मनुष्योंकी भाँति सीताके लिये विलाप करने और जोर-जोरसे रोने लगे। इसी प्रकार श्रीकृष्णकी बाल-लीलामें वे चोरी, व्यभिचार और झूठ आदिके दोष लगाते हैं। उनके प्रौढ़ावस्थाके कार्योंमें भी अनेक दोषोंकी कल्पना करते रहते हैं—जैसे युधिष्ठिरको मिथ्याभाषणके लिये प्रेरित करना, युद्धक्षेत्रमें शस्त्र धारण न करनेकी प्रतिज्ञाको तोड़कर आवेश और क्रोधमें आकर उन्मत्तकी भाँति भीष्मके सम्मुख दौड़ना। इन स्थलोंपर उन्हें श्रीकृष्णमें मिथ्याभाषण, प्रतिज्ञाभंग और अनुचित व्यवहारके दोष प्रत्यक्ष दृष्टिगत होते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि दोष देखनेवालोंको तो निर्विकार अवतारोंमें भी दोष मिल ही जाते हैं। तब दूसरोंकी तो बात ही क्या है? परन्तु बात तो यह है कि हम विषय-विमूढ़ जीव भगवान्की लीला और उनके कार्योंको क्या समझें? उनपर किसी प्रकारका कानून तो लागू है नहीं और यदि है भी तो हम उसे समझ ही कैसे सकते हैं? जब ज्ञानीकी क्रियाओंको समझनेमें ही हमारी बुद्धि जवाब दे देती है तो फिर साक्षात् मायापति ईश्वरके कार्योंको विचारने और समझनेकी हममें योग्यता ही क्या है? यदि हम स्वभाव-दोषसे उनको तर्ककी कसौटीपर कसनेका निन्दनीय प्रयास करें तो वह हमारी युक्ति और तर्कके आधारपर ही ईश्वरकी सिद्धि हुई। फिर ईश्वरमें ईश्वरत्व ही क्या रहा? ऐसी दशामें तो कोई भी व्यक्ति श्रद्धाके योग्य प्रमाणित नहीं होता—किसीपर भी श्रद्धा नहीं की जा सकती।

पर, हमें यह बात भलीभाँति समझ लेनी चाहिये कि उत्तम क्रियाशील ज्ञानीकी समस्त क्रियाओंको हम समझ नहीं सकते। अतः उनमें शंका करनी किसी भी प्रकारसे उचित नहीं है। यदि श्रद्धाकी कमीके कारण उनमें कोई दोष दीख भी जाय तो विचारद्वारा मनमें समाधान करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इतना करनेपर भी यदि सन्तोष न हो तो श्रद्धा और विनयपूर्वक उन्हें पूछकर भी सन्देह निवृत्त किया जा सकता है। महात्माओंको न पहचाननेमें प्रधान हेतु अन्तःकरणकी मलिनतासे पैदा हुई अश्रद्धा ही है। जब हम किसी महापुरुषके पास जाते हैं तो अश्रद्धाको प्रायः साथ ही लेकर जाते हैं। हम इसी बातकी परीक्षा करते फिरते हैं कि किन महात्माजीमें कितना पानी है। दुःखकी बात तो यह है कि हम एक साधारण वैद्यकी भी इतनी परीक्षा नहीं करते। वह चाहे नितान्त अज्ञ ही हो, पर फिर भी हम अपना जीवन सर्वतोभावेन उसके समर्पण कर देते हैं। यदि वह विष पिला दे तो भी हम उसे पीनेमें नहीं हिचकते। मेरे कहनेका यह अभिप्राय नहीं कि कोई ढोंगी

मनुष्य महात्मा बन बैठा हो तो उसीमें अन्धे होकर श्रद्धा कर लेनी चाहिये। श्रद्धा करनेकी आवश्यकता है सच्चे महापुरुषोंमें, पर जबतक हमको ऐसे पूर्ण महात्मा न मिलें, तबतक हम जिन्हें अपनी बुद्धिसे अच्छे पुरुष समझें, उन्हींके सद्‌गुणोंको ग्रहण करना चाहिये। दुर्गुण तो किसीके भी नहीं लेने चाहिये। उपनिषद्‌में कहा है—

यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि।
यान्यस्माकꣳसुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।

(तैत्ति० १। ११। २)

गुरु कहता है—'हे शिष्य! जो शास्त्रोक्त कर्म हैं उन्हींका तुम्हें आचरण करना चाहिये, शास्त्रविरुद्धका नहीं; हममें भी जो अच्छे कर्म हैं केवल उन्हींका तुम्हें अनुकरण करना उचित है, दूसरे (निन्दनीय) कर्मोंका नहीं।'

पूर्ण महात्माओंके दर्शन हो जायँ तब तो कहना ही क्या है; क्योंकि उनके मुखसे जो शब्द निकलते हैं वे पूर्णत: तुले हुए होते हैं। जैसे एक व्यापारी अपनी दूकानका माल तौल-तौलकर ग्राहकोंको देता है—अन्दाजसे नहीं। इसी प्रकार महापुरुषकी वाणीका प्रत्येक शब्द उसके हृदयरूपी तराजूपर तुल-तुलकर आता है। उनके वाक्य अमूल्य होते हैं, उनकी क्रियाएँ अमूल्य होती हैं और उनका भजन अमूल्य होता है। उनके मन, वाणी और शरीरके प्रत्येक कार्य महत्त्वपूर्ण और तात्त्विक होते हैं। उनकी मौन—अक्रिय-अवस्थामें भी विश्व-कल्याणका उपदेश भरा रहता है। अत: उनका भाषण, स्पर्श, दर्शन, कर्म, ध्यान और यहाँतक कि उनकी छूई हुई वस्तु भी पवित्र समझी जाती है। भगवान्‌ने ऐसे ही महापुरुषोंका अनुकरण करना बतलाया है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

(गीता ३। २१)

वे जो कुछ प्रमाणित कर देते हैं (स्वयं चाहे न करें और केवल कह दें कि मैं अमुक कार्यको अच्छा मानता हूँ) लोग उसीको प्रामाणिक मानने लगते हैं। उनका उपदेश, उनको किया हुआ नमस्कार, उनके साथ किया हुआ सम्भाषण—सभी कुछ कल्याणकारक होता है। ज्ञान-प्राप्तिद्वारा आत्मोद्धारके लिये उन पुरुषोंकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४। ३४)

'हे अर्जुन! उन तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंसे, भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम, सेवा और निष्कपटभावसे किये हुए प्रश्नोंद्वारा उस ज्ञानको जानो, वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुम्हें उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

इस प्रकारके पुरुष यदि हमें मिल जायँ और फिर हम उन्हें पहचानकर उनका अमोघ संग करें तथा उनकी बातोंको लोहेकी लकीर—ईश्वरकी आज्ञाके तुल्य मानकर काममें लावें तो हम अपना तो क्या, दूसरोंका भी कल्याण करनेमें समर्थ हो सकते हैं! गंगाके स्नान-पानसे जिस प्रकार बाहर-भीतरकी पवित्रता होती है, उससे भी बढ़कर महात्माओंका संग पावन करनेवाला होता है। दुर्भाग्यवश यदि ऐसे सिद्ध भक्तोंकी प्राप्ति न हो अथवा होकर भी यदि हम उन्हें पहचान न सकें तो दूसरे दर्जेमें शास्त्रों और दैवी सम्पदावाले साधकोंको आधार बनाना चाहिये। शास्त्रोंकी अधिकता और उनमें प्रतिपादित विषयोंकी गूढ़ताको न समझ सकनेके कारण केवल गीता ही हमारे लिये पर्याप्त हो सकती है, क्योंकि भगवान्‌ने इसमें सब शास्त्रोंका सार भर दिया है। अत: सर्वस्वका नाश होनेपर भी गीता और महात्मा पुरुषोंकी बात नहीं टालनी चाहिये। इतनी श्रद्धा हो जानेपर फिर कल्याण होनेमें देरीका कोई काम नहीं। जिस माताके गर्भसे ऐसा सुपुत्र उत्पन्न हो, वह निस्सन्देह ही पुण्यवती और सौभाग्यशालिनी है।

पुत्रवती जुबती जग सोई । रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत॥

ऐसे महापुरुष भागीरथीकी तरह स्वयं पवित्र और दूसरोंको भी पवित्र करनेवाले होते हैं। शास्त्रकारोंने तो महात्माओंकी महिमा गंगासे भी बढ़कर बतलायी है। इस विषयकी निम्नलिखित कथा प्रसिद्ध है—

एक बार गंगाने ब्रह्माजीके पास जाकर यह प्रार्थना की कि 'महाराज! असंख्य पापियोंके दल मुझमें स्नान करके अपने अनन्त जन्मोंके पाप छोड़ जाते हैं, फिर मेरे लिये भी तो कोई ऐसा उपाय होना चाहिये कि जिससे मैं भी पापमुक्त और पवित्र बन सकूँ।' इसके उत्तरमें ब्रह्माजी बोले—'गंगे! सन्तोंके होते हुए तुझे चिन्ता ही किस बातकी है? उनके चरण-स्पर्शमात्रसे तेरे समस्त पापोंका तत्काल विध्वंस हो जायगा।' वास्तवमें सन्तोंकी चरण-रजमें ऐसी अद्‌भुत शक्ति है कि उसे मस्तकपर रखते ही मनुष्य पवित्र हो जाता है। ऐसे भगवद्भक्त पवित्रको भी पवित्र करनेवाले होते हैं। '**तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि।**' (नारदसूत्र ६९) वे जहाँ तप करते हैं वही भूमि तीर्थ बन जाती है। तीर्थोंका तीर्थत्व सन्तों और प्रभुके संगसे ही माना जाता है। जहाँ भगवान्‌ने वास किया अथवा महापुरुषोंने तपस्या की वही स्थान तीर्थ बन गया।

कपिलायतन और भारद्वाज-आश्रमके दर्शनार्थ लोग इसीलिये जाते हैं कि वहाँ कपिल और भारद्वाजने तपस्या की थी। पंचवटी और चित्रकूटकी पवित्रता भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके वहाँ निवास करनेके कारण ही मान्य है। नर-नारायणकी तपोभूमि होनेके कारण ही बदरिकाश्रमके दर्शनार्थ लोग कठिन कष्ट सहकर भी जाते हैं। पुलको वानर-सेनाने बनाया था, इसीसे आज सेतुबन्ध-रामेश्वरके पाषाणखण्डोंको लोग पूज्य मानते हैं। भक्त जो क्रिया कर जाते हैं, वह लाखों वर्षोंके बाद भी पूजित होती है। नैमिषारण्यमें सन्त एकत्र होकर हरि-चर्चा किया करते थे, इसीसे वह स्थान तीर्थ माना जाता है। अवध और सरयूकी महिमाका प्रधान कारण श्रीरामावतार ही है। मथुरा, गोकुल और वृन्दावन आदि तीर्थ श्रीकृष्णावतारके कारण ही इतने अधिक मान्य और पूजित हैं। संसारमें जितने भी तीर्थ और देवस्थान हैं उन सबकी महिमाके प्रधान कारण भगवान् और उनके भक्त ही हैं। परमपावनी भागीरथी प्रभु-चरणोंके प्रभावसे ही सर्वश्रेष्ठ मानी जाती हैं—

स्रोतसामस्मि जाह्नवी (गीता १०। ३१)

कहीं-कहीं तो भक्तोंकी महिमा भगवान्से भी बढ़कर बतलायी गयी है। यथा—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥

इन चौपाइयोंमें श्रीरामकी निन्दा नहीं समझनी चाहिये, इनसे उनकी महिमा और भी बढ़ती है। यद्यपि प्रत्यक्षमें इनके द्वारा भक्तोंकी महिमा ही प्रकट होती है; पर वस्तुतः यह महिमा भगवान्‌की ही है; क्योंकि उनकी महामहिमासे ही भक्त महिमान्वित होते हैं। ऐसे महापुरुषोंका संग मिलना बड़ा ही कठिन है, पुण्यके प्रभावसे ही उनकी प्राप्ति होती है—

पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृतिकर अंता॥

भगवान् श्रीकृष्णने भी कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(गीता १३। २५)

दूसरे यानी जो मन्द-बुद्धिवाले पुरुष हैं वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे यानी तत्त्वके जाननेवाले महापुरुषोंसे सुनकर उपासना करते हैं— उनके कहनेके अनुसार ही श्रद्धासहित तत्पर होकर साधन करते हैं (इससे) वे सुननेके परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूपी संसार-सागरसे निस्सन्देह तर जाते हैं।

वेद, उपनिषद्, इतिहास, पुराण सभी शास्त्रोंमें स्थान-स्थानपर महापुरुषोंकी महिमाका एक स्वरसे गान किया गया है। फिर परमात्माकी गुणगरिमाकी तो बात ही क्या है? उनकी महिमाका जितना भी गान किया जाय, सभी थोड़ा है। महात्माओंकी अथवा वैभव-सम्पन्न सांसारिक लोगोंकी जो कुछ भी बड़ी-से-बड़ी महिमा हमारे देखने-सुननेमें आती है, वह सब वास्तवमें भगवान्‌की ही महिमा है। भगवान्‌ने कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

(गीता १०। ४१)

'हे अर्जुन! जो-जो भी ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे ही तेजके अंशसे उत्पन्न हुई जान।' ऐसे महामहिम प्रभुके या प्रेमी भक्तोंके समागमद्वारा भी जो मनुष्य लाभ नहीं उठा सकते, उनके लिये भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने ठीक ही कहा है—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

सन्त-शिरोमणि तुलसीदासजीने तो साधु-संगके सुखको मुक्तिके सुखसे भी अधिक आदर दिया है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

उन्होंने तो यहाँतक कह दिया है कि बिना सत्संगके मनुष्यका उद्धार हो ही नहीं सकता—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

इस प्रकार महात्माओंके अमोघ संग और महती कृपासे जो व्यक्ति परमात्माके रहस्यसहित प्रभावको तत्त्वसे जान जाता है वह स्वयं परम पवित्र होकर इस अपार संसार-सागरसे तरकर दूसरोंको भी तारनेवाला बन सकता है।

जन्म कर्म च मे दिव्यम्

भगवान्‌के जन्म-कर्मकी दिव्यता एक अलौकिक और रहस्यमय विषय है, इसके तत्त्वको वास्तवमें तो भगवान् ही जानते हैं, अथवा यत्किंचित् उनके वे भक्त जानते हैं, जिनको उनकी दिव्य मूर्तिका प्रत्यक्ष दर्शन हुआ हो; परन्तु वे भी जैसा जानते हैं कदाचित् वैसा कह नहीं सकते। जब एक साधारण विषयको भी मनुष्य जिस प्रकार अनुभव करता है उसी प्रकार नहीं कह सकता, तब ऐसे अलौकिक विषयको कोई कैसे कह सकता है? इस विषयमें

विस्तारपूर्वक सूक्ष्म विवेचनरूपसे शास्त्रोंमें प्राय: स्पष्ट उल्लेख भी नहीं मिलता, जिसके आधारपर मनुष्य उस विषयमें कुछ विशेष समझा सके। इस स्थितिमें यद्यपि इस विषयपर लिखनेमें मैं अपनेको असमर्थ मानता हूँ, तथापि अपने मनोरंजनार्थ अपने मनके कुछ भावोंको यत्किंचित् प्रकट करता हूँ।

भगवान्‌का जन्म दिव्य है, अलौकिक है, अद्भुत है। इसकी दिव्यताको जाननेवाला करोड़ों मनुष्योंमें शायद ही कोई एक होगा। जो इसकी दिव्यताको जान जाता है वह मुक्त हो जाता है। स्वयं भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(४। ९)

'हे अर्जुन! मेरा जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे जानता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता, किन्तु मुझको ही प्राप्त होता है।'

इस रहस्यको नहीं जाननेवाले लोग कहा करते हैं कि निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्माका साकाररूपमें प्रकट होना न तो सम्भव है और न युक्तिसंगत ही है। वे यह भी शंका करते हैं कि सर्वव्यापक, सर्वत्र समभावसे स्थित, सर्वशक्तिमान् भगवान् पूर्णरूपसे एक देशमें कैसे प्रकट हो सकते हैं? और भी अनेक प्रकारकी शंकाएँ की जाती हैं। वास्तवमें ऐसी शंकाओंका होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जब मनुष्य-जीवनमें इस लोककी किसी अद्भुत बातके सम्बन्धमें भी बिना प्रत्यक्ष-ज्ञान हुए उसपर पूरा विश्वास नहीं होता, तब भगवान्‌के विषयमें विश्वास न होना आश्चर्य अथवा असम्भव नहीं कहा जा सकता। भौतिक विषयको तो उसके क्रियासाध्य होनेके कारण विज्ञानके जाननेवाले किसी भी समय प्रकट करके उसपर विश्वास करा भी सकते हैं, किन्तु परमात्मासम्बन्धी विषय बड़ा ही विलक्षण है। प्रेम और श्रद्धासे स्वयमेव निरन्तर उपासना करके ही मनुष्य इस तत्त्वको प्रत्यक्ष कर सकता है। कोई भी दूसरा मनुष्य अपनी मानवी शक्तिसे इसे प्रकट करके नहीं दिखला सकता। भगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५४)

'हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन! अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

विचार करनेपर यह प्रतीत होगा कि ऐसा होना युक्तिसंगत ही है। प्रह्लादको भगवान्‌ने खम्भेमेंसे प्रकट होकर दर्शन दिया था। इस प्रकार भगवान्‌के प्रकट होनेके अनेक प्रमाण शास्त्रोंमें विभिन्न स्थलोंपर मिलते हैं। सर्वशक्तिमान् परमात्मा तो असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं, फिर यह तो सर्वथा युक्तिसंगत है। भगवान् जब सर्वत्र विद्यमान हैं तब उनका स्तम्भमेंसे प्रकट हो जाना कौन आश्चर्यकी बात है? यदि यह कहें कि निराकार सर्वव्यापक परमात्मा एक देशमें पूर्णरूपसे कैसे प्रकट हो सकते हैं तो इसको समझानेके लिये हम अग्निका उदाहरण सामने रखते हैं, यद्यपि यह सम्पूर्णरूपसे पर्याप्त नहीं है क्योंकि परमात्माके सदृश व्यापक वस्तु अन्य कोई है ही नहीं, जिसकी परमात्माके साथ तुलना की जा सके।

अग्नितत्त्व कारणरूपसे अर्थात् परमाणुरूपसे निराकार है और लोकमें समभावसे सभी जगह अप्रकटरूपेण व्याप्त है। लकड़ियोंके मथनेसे, चकमक-पत्थरसे और दियासलाईकी रगड़से अथवा अन्य साधनोंद्वारा चेष्टा करनेपर वह एक जगह अथवा एक ही समय कई जगह प्रकट होती है; और जिस स्थानमें अग्नि प्रकट होती है उस स्थानमें अपनी पूर्ण शक्तिसे ही प्रकट होती है। अग्निकी छोटी-सी शिखाको देखकर कोई यह कहे कि यहाँ अग्नि पूर्णरूपसे प्रकट नहीं है, तो यह उसकी भूल है। जहाँपर भी अग्नि प्रकट होती है वह अपनी दाहक तथा प्रकाशक शक्तिको पूर्णतया साथ रखती हुई ही प्रकट होती है और आवश्यक होनेपर वह जोरसे प्रज्वलित होकर सारे ब्रह्माण्डको भस्म करनेमें समर्थ हो सकती है। इस तरह पूर्णशक्तिसम्पन्न होकर एक जगह या एक ही समय अनेक जगह एक देशीय साकाररूपमें प्रकट होनेके साथ ही वह अग्नि अव्यक्त—निराकाररूपमें सर्वत्र व्याप्त भी रहती है। इसी प्रकार निराकार सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन अक्रियरूप परमात्मा अप्रकटरूपसे सब जगह व्याप्त होते हुए भी सम्पूर्ण गुणोंसे सम्पन्न अपने पूर्णप्रभावके सहित एक जगह अथवा एक ही कालमें अनेक जगह प्रकट हो सकते हैं; इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है? इस प्रकार भगवान्‌का प्रकट होना तो सर्व प्रकारसे युक्तिसंगत ही है।

कोई-कोई पुरुष यह शंका करते हैं कि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, वे अपने संकल्पमात्रसे ही रावण और कंस आदिको दण्ड दे सकते थे, फिर उन्हें श्रीराम और श्रीकृष्णके रूपमें अवतार लेनेकी क्या आवश्यकता थी? यह शंका भी सर्वथा अयुक्त है। ईश्वरके कर्तव्यके विषयमें इस प्रकारकी शंका करनेका मनुष्यको कोई अधिकार नहीं है तथापि जिनका चित्त अज्ञानसे मोहित है उनके मनमें

ऐसी शंका हो जाया करती है। भगवान्के अवतरणमें बहुत-से कारण हो सकते हैं, जिनको वस्तुतः वे ही जानते हैं। फिर भी अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार कई कारणोंमेंसे एक यह भी कारण समझमें आता है कि वे संसारके जीवोंपर दया करके सगुणरूपमें प्रकट होकर एक ऐसा ऊँचा आदर्श रख जाते हैं—संसारको ऐसा सुलभ और सुखकर मुक्ति-मार्ग बतला जाते हैं जिससे वर्तमान एवं भावी संसारके असंख्य जीव परमेश्वरके उपदेश और आचरणको लक्ष्यमें रखकर उनका अनुकरण कर कृतार्थ होते रहते हैं।

भगवान्के जन्म और विग्रह दिव्य होते हैं, यह बड़े ही रहस्यका विषय है। भगवान्का जन्म साधारण मनुष्योंकी भाँति नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्ण जब कारागारमें वसुदेव-देवकीके सामने प्रकट हुए, उस समयका श्रीमद्भागवतका प्रसंग देखने और विचारनेसे मनुष्य समझ सकता है कि उनका जन्म साधारण मनुष्योंकी भाँति नहीं हुआ। अव्यक्त सच्चिदानन्दघन परमात्मा अपनी लीलासे ही शंख, चक्र, गदा, पद्मसहित विष्णुके रूपमें वहाँ प्रकट हुए। उनका प्रकट होना और पुनः अन्तर्धान होना उनकी स्वतन्त्र लीला है, वह हमलोगोंके उत्पत्ति-विनाशकी तरह नहीं है। भगवान्की तो बात ही निराली है। एक योगी भी अपने योगबलसे अन्तर्धान हो जाता है और पुनः उसी स्वरूपमें प्रकट होकर दर्शन देता है, परन्तु उसकी अन्तर्धानकी अवस्थामें उसे कोई मरा हुआ नहीं समझता। जब महर्षि पतंजलि आदि योगके ज्ञाता एक योगीकी ऐसी शक्ति बतलाते हैं तब परमात्मा ईश्वरके लिये अपने पहले रूपको छिपाकर दूसरे रूपमें प्रकट होने आदिमें तो बड़ी बात ही क्या है? अवश्य ही भगवान् श्रीकृष्णका अवतरण साधारण लोकदृष्टिमें उनके जन्म लेनेके सदृश ही हुआ, परन्तु वास्तवमें वह जन्म नहीं था, वह तो उनका प्रकट होना था। श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥

(१०। १४। ५५)

'आप इन श्रीकृष्णको सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंके आत्मा जानें। इस लोकमें भक्तजनोंके उद्धारके लिये वे ही भगवान् अपनी मायासे देहधारी-से प्रतीत होते हैं।'

जब भगवान् दिव्यरूपसे प्रकट हुए तब माता देवकी उनकी अनेक प्रकारसे स्तुति करती हुई कहती हैं—

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्।
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ३। ३०)

'हे विश्वात्मन्! आप शंख, चक्र, गदा, पद्म और श्रीसे सुशोभित चार भुजावाले अपने इस अद्भुत रूपको छिपा लीजिये।' देवकीके प्रार्थना करनेपर भगवान्ने अपने चतुर्भुजरूपको छिपाकर द्विभुज बालकका रूप धारण कर लिया।

इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया।
पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३। ४६)

इससे उनका प्रकट होना ही स्पष्ट सिद्ध होता है। गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने अर्जुनके प्रार्थना करनेपर पहले उसे अपना विश्वरूप दिखलाया, फिर उसीकी प्रार्थनापर चतुर्भुजरूप धारण किया और अन्तमें पुनः द्विभुजरूप होकर दर्शन दिये। इससे प्रकट होता है कि भगवान् अपने भक्तोंकी इच्छाके अनुसार उन्हें दर्शन देकर अन्तर्धान हो जाते हैं। इस प्रकार भगवान्के प्रकट और अन्तर्धान होनेको जो लोग मनुष्योंके जन्म और मरणके सदृश समझते हैं वे भगवान्के तत्त्वको नहीं जानते, अपने जन्मकी दिव्यताको दिखलाते हुए भगवान् गीतामें अर्जुनके प्रति कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(४। ६)

'मैं अविनाशीस्वरूप, अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूत-प्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी, अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

इस श्लोकमें 'अपि' और 'सन्' शब्दोंसे भगवान्का यह कथन स्पष्ट है कि मेरे प्रकट होनेके तत्त्वको नहीं जाननेवाले मूर्खोंको मैं अजन्मा होता हुआ भी जन्मता हुआ-सा प्रतीत होता हूँ। जब मैं सगुणरूपसे अन्तर्धान होता हूँ तब मेरे इस छिपनेके रहस्यको न जाननेवाले मूर्खोंकी दृष्टिमें मैं अविनाशी, विनाशभावको प्राप्त होता हुआ-सा प्रतीत होता हूँ। जब मैं लीलासे साधारणरूपमें प्रकट होता हूँ तब उसका यथार्थ मर्म न जाननेवाले मूढ़ोंकी दृष्टिमें मैं सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मा सारे भूत-प्राणियोंका ईश्वर होता हुआ भी साधारण मनुष्य-सा प्रतीत होता हूँ।

उपर्युक्त वर्णनसे यह सिद्ध हो जाता है कि भगवान्का प्रकट होना और अन्तर्धान होना मनुष्योंकी उत्पत्ति और विनाशके सदृश नहीं है। उनका जन्म मनुष्योंके जन्मकी भाँति होता तो एक क्षणके अन्दर एक शरीरसे दूसरे शरीरका परिवर्तन करना, जैसे उन्होंने देवकी और अर्जुनके सामने किया था, कभी नहीं बन सकता।

मनुष्योंके शरीरके विनाशकी तरह भगवान्के दिव्य

वपुका विनाश भी नहीं समझना चाहिये। जिस शरीरका विनाश होता है वह तो यहीं पड़ा रहता है, किन्तु देवकीके सामने चतुर्भुजरूपके और अर्जुनके सामने विश्वरूप और चतुर्भुजरूपके अदृश्य हो जानेपर उन वपुओंकी वहाँ उपलब्धि नहीं होती। इतना ही नहीं, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने जिस देहसे एक सौ पचीस वर्षतक लोकहितके लिये विविध लीलाएँ कीं वह देह भी अन्तमें नहीं मिला। वे उसी लीलामय वपुसे ही परमधामको पधार गये। इसके बाद भी जब-जब भक्तोंने इच्छा की, तब-तब उसी श्यामसुन्दर-शरीरसे पुनः प्रकट होकर उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ किया। यदि उनके देहका विनाश हो गया होता तो परमधाम पधारनेके अनन्तर इस प्रकार पुनः प्रकट होना कैसे बनता?

इससे यह बात सिद्ध हुई कि भगवान्‌का अन्तर्धान होना ही अपने परमधाममें सिधारना है, न कि मनुष्यदेहोंकी भाँति विनाश होना। श्रीमद्भागवतमें भी लिखा है—

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाऽऽग्ने य्यादग्ध्वा धामाविशत्स्वकम्॥

(११।३१।६)

'भगवान् योगधारणाजनित अग्निके द्वारा धारणाध्यानमें मंगलकारक अपनी लोकाभिरामा मोहिनी मूर्तिको भस्म किये बिना ही इस अपने शरीरसे परमधामको पधार गये।

भगवान्‌का प्राकट्य भूत-प्राणियोंकी उत्पत्तिकी अपेक्षा ही नहीं, किन्तु योगियोंके प्रकट होनेकी अपेक्षा भी अत्यन्त विलक्षण है। वह जन्म दिव्य है, अलौकिक है, अद्भुत है। भगवान् मूल प्रकृतिको अपने अधीन किये हुए ही अपनी योगमायासे प्रकट होते हैं। जगत्‌के छोटे-बड़े सभी चराचर जीव प्रकृतिके और अपने गुण, कर्म, स्वभावके वशमें हुए प्रारब्धके अनुसार सुख-दुःखादि भोगोंको भोगते हैं। यद्यपि योगीजन साधारण मनुष्योंकी भाँति ईश्वरकी मायाके और अपने स्वभावके पराधीन तो नहीं हैं तथापि उनका जन्म मूल प्रकृतिको वशमें करके ईश्वरकी भाँति लीलामात्र नहीं होता। परन्तु परमात्मा किसीके वशमें होकर प्रकट नहीं होते। वे अपनी इच्छासे केवल कारुण्यतावश ही अवतरित होते हैं, इसीलिये भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।

(४।६)

ईश्वरका प्रकट होना उनकी लीला है और जीवोंका जन्म लेना दुःखमय है; ईश्वर प्रकट होनेमें सर्वथा स्वतन्त्र हैं और जीव जन्म लेनेमें सर्वथा परतन्त्र हैं। ईश्वरके जन्ममें हेतु है जीवोंपर उनकी अहैतुकी दया और जीवोंके जन्ममें हेतु है उनके पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म। जीवोंके शरीर अनित्य, पापमय, रोगग्रस्त, लौकिक और पांचभौतिक होते हैं एवं ईश्वरका शरीर परमदिव्य अप्राकृत होता है। वह पांचभौतिक नहीं होता। श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजी कहते हैं—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसाऽऽन्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥

(१०।१४।२)

'हे देव! आपके इस दिव्य प्रकट देहकी महिमाको भी कोई नहीं जान सकता, जिसकी रचना पंचभूतोंसे न होकर मुझपर अनुग्रह करनेके लिये अपने भक्तोंकी इच्छाके अनुसार ही हुई है। फिर आपके उस साक्षात् आत्मसुखानुभव अर्थात् विज्ञानानन्दघन स्वरूपको तो हमलोग समाधिके द्वारा भी नहीं जान सकते।'

इससे भी यह बात समझमें आती है कि भगवान्‌का शरीर लौकिक पंचभूतोंसे बना हुआ नहीं था। वह तो उनका खास संकल्प है, दिव्य प्रकृतियोंसे बना है, पाप-पुण्यसे रहित होनेके कारण अनामय अर्थात् रोगसे रहित एवं विशुद्ध है। विज्ञानानन्दघन परमात्माके सगुणरूपमें प्रकट होनेके कारण ही उस रूपको आनन्दमय कहा है। मानो सम्पूर्ण अनन्त आनन्द ही मूर्तिमान् होकर प्रकट हो गया है या यों समझिये कि साक्षात् प्रेम ही दिव्य मूर्ति धारणकर प्रकट हो गया है। इसीसे जो उस आनन्द और प्रेमार्णव श्यामसुन्दर दिव्य शरीरका तत्त्व जान लेता है वह प्रेममें मुग्ध हो जाता है; आनन्दमय बन जाता है। प्रेम और आनन्द वास्तवमें एक ही चीज है; क्योंकि प्रेमसे ही आनन्द होता है। प्रकृतिके सम्बन्ध बिना मनुष्यकी चर्म-दृष्टिसे वे दृष्टिगोचर नहीं हो सकते। इसीलिये परमेश्वर अपनी प्रकृतिके शुद्ध सत्त्वको साथ लिये हुए प्रकट होते हैं अर्थात् जिन दिव्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदिका योगी लोगोंको अनुभव होता है उन्हीं दिव्य धातुओंसे सम्बन्ध किये हुए भगवान् प्रकट होते हैं; भक्तोंपर अनुग्रह कर वे विज्ञानानन्दघन परमात्मा जब अपने भक्तोंको दर्शन देकर उनसे वार्तालाप करते हैं, तब अपनी लीलासे उपर्युक्त दिव्य तन्मात्राओंको स्वाधीन करके ही वे प्रकट हुआ करते हैं, क्योंकि नेत्र रूपको देख सकता है, अतएव भगवान्‌को रूपवाला बनना पड़ता है; त्वचा स्पर्शको विषय करती है, अतएव भगवान्‌को स्पर्शवाला बनना पड़ता है; नासिका गन्धको विषय करती है, अतएव भगवान्‌को दिव्य गन्धमय

वपु धारण करना पड़ता है। इसी प्रकार मन और बुद्धि मायाका कार्य होनेसे मायासे सम्मिलित वस्तुको ही चिन्तन करने और समझनेमें समर्थ हैं। इसलिये निराकार सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन परमात्मा प्रकृतिके गुणोंसहित अपने भक्तोंको विशेष ज्ञान करानेके लिये साकार होकर प्रकट होते हैं, प्रकृतिके सहित उस शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माके प्रकट होनेका तत्त्व सबकी समझमें नहीं आता। इसीलिये भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

(७। २५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ, इसीलिये यह अज्ञानी मनुष्य मुझ जन्मरहित, अविनाशी परमात्माको तत्त्वसे नहीं जानता है अर्थात् मुझे जन्मने-मरनेवाला मानता है।'

तत्त्वको न जाननेके कारण ही लोग भगवान्‌का अपमान भी किया करते हैं और भगवान्‌के शक्ति-सामर्थ्यकी सीमा बाँधते हुए कह देते हैं कि विज्ञानानन्दघन निराकार परमात्मा साकाररूपसे प्रकट हो ही नहीं सकते। वे साक्षात् परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको परमात्मा न मानकर एक मनुष्यविशेष मानते हैं; भगवान्‌के सम्बन्धमें इस प्रकारकी धारणा करना किसी चक्रवर्ती विश्व-सम्राट्‌को एक साधारण ताल्लुकेदार मानकर उसका अपमान करनेकी भाँति ईश्वरकी अवज्ञा या उनका अपमान करना है। भगवान्‌ने गीतामें कहा भी है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

(९। ११)

'सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परमभावको न जाननेवाले मूढ़लोग, मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझको साधारण मनुष्य मानते हैं।'

इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि निराकार सर्वव्यापी भगवान् जीवोंके ऊपर दया करके धर्मकी संस्थापनाके लिये दिव्य साकाररूपसे समय-समयपर अवतरित होते हैं। इस प्रकार शुद्ध सच्चिदानन्द निराकार परमात्माके दिव्य गुणोंके सहित प्रकट होनेके तत्त्वको जो जानता है वही पुरुष उस परमात्माकी दयासे परमगतिको प्राप्त होता है।

जिस प्रकार भगवान्‌के जन्मकी अलौकिकता है उसी प्रकार भगवान्‌के कर्मोंकी भी अलौकिकता है। इसलिये भगवान्‌के कर्मोंकी दिव्यता जाननेसे पुरुष परमपदको प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌के कर्मोंमें क्या दिव्यता है, उसका जानना क्या है और जाननेसे मुक्ति कैसे होती है, इस विषयमें कुछ लिखा जाता है। भगवान्‌के कर्मोंमें अहैतुकी दया, समता, स्वतन्त्रता, उदारता, दक्षता और प्रेम आदि गुण भरे रहनेके कारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या, सिद्ध योगियोंकी अपेक्षा भी उनके कर्मोंमें अत्यन्त विलक्षणता होती है। वे सर्वशक्तिमान्, सर्वसामर्थ्यवान्, असम्भवको भी सम्भव कर देनेवाले होनेपर भी न्यायविरुद्ध कोई कार्य नहीं करते, उन विज्ञानानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णने सर्वभूत-प्राणियोंपर परम दया करके धर्मकी स्थापना और जीवोंका कल्याण किया। उनकी प्रत्येक क्रियामें प्रेम एवं दक्षता, निष्कामता और दया परिपूर्ण है। जब भगवान् वृन्दावनमें थे, तब उनकी बाललीलाकी प्रत्येक प्रेममयी क्रियाको देखकर गोप और गोपियाँ मुग्ध हो जाया करती थीं, भगवान् श्रीकृष्णके तत्त्वको जाननेवाले जितने भी स्त्री-पुरुष थे, उनमें कोई एक भी ऐसा नहीं था जो उनकी प्रेममयी लीलाको देखकर मुग्ध न हो गया हो। उनकी मुरलीकी तानको सुनकर मनुष्य तो क्या पशु-पक्षीतक मुग्ध हो जाते थे। उनके शरीर और वाणीकी चेष्टाएँ ऐसी अद्भुत थीं, जिनका किसी मनुष्यमें होना असम्भव है। प्रौढ़ावस्थामें भी उनके कर्मोंकी विलक्षणताको देखकर उनके तत्त्वको जाननेवाले प्रेमी भक्त पद-पदपर मुग्ध हुआ करते थे। अर्जुन तो उनके कर्म और आचरणोंपर तथा हाव-भाव-चेष्टाको देख-देखकर इतना मुग्ध हो गया था कि वह सदा उनके इशारेपर कठपुतलीकी भाँति कर्म करनेके लिये तैयार रहता था।

भगवान्‌के लिये कोई कर्तव्य न होनेपर भी वे केवल जीवोंको सन्मार्गमें लगानेके लिये ही कर्म किया करते हैं। गीतामें भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

(३। २२)

'हे अर्जुन! यद्यपि मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथा किंचित् भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है तो भी मैं कर्ममें ही बर्तता हूँ।'

भगवान्‌को समता भी बड़ी प्रिय थी। इसलिये गीतामें भी उन्होंने समताका वर्णन किया है—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

(६। ९)

'सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुगणोंमें तथा धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी जो समान भाववाला है, वह अति श्रेष्ठ है।'

गीतामें केवल कहा ही नहीं, अपितु काम पड़नेपर भगवान्‌ने अपने मित्र और वैरियोंके साथ बर्ताव भी समताका ही किया। महाभारत-युद्धके प्रारम्भमें दुर्योधन और अर्जुन युद्धके लिये मदद माँगने द्वारिका गये और दोनोंने ही भगवान्‌से युद्धमें सहायताकी प्रार्थना की। भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि एक ओर मेरी एक अक्षौहिणी नारायणी सेना है और दूसरी ओर मैं अकेला हूँ, पर मैं युद्धमें हथियार नहीं लूँगा। इससे यह बात सिद्ध हुई कि भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुन और दुर्योधन दोनोंके साथ समान व्यवहार किया। यहाँ यह विचारणीय विषय है कि भगवान् श्रीकृष्णको अर्जुन कितना अधिक प्रिय था, वे कहनेको ही दो शरीर थे। महाभारत मौसलपर्वमें वसुदेवजी अर्जुनसे कहने लगे—

योऽहं तमर्जुनं विद्धि योऽर्जुनः सोऽहमेव तु।
यद्ब्रूयात्तत्तथा कार्यमिति बुध्यस्व भारत॥

(६। २१-२२)

'हे अर्जुन! तू समझ, श्रीकृष्णने मुझे कहा—'जो मैं हूँ सो अर्जुन है और जो अर्जुन है सो मैं हूँ, वह जैसा कहे, आप वैसा ही कीजियेगा।'

तथा श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।

(४। ३)

इतना होते हुए भी वे अपने प्रिय सखा अर्जुनके विपक्षमें लड़नेवाले उसके शत्रु दुर्योधनको भी समानभावसे सहायता करनेको तैयार हो गये। जो अपने मित्रका शत्रु होता है वह अपना शत्रु ही समझा जाता है। महाभारत उद्योगपर्वमें भगवान् श्रीकृष्ण जब सन्धि कराने गये तब उन्होंने स्वयं यह कहा भी था—

यस्तान्द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्ताननु स मामनु।
ऐकात्म्यं मां गतं विद्धि पाण्डवैर्धर्मचारिभिः॥

(९१। २८)

'जो पाण्डवोंका वैरी है, वह मेरा वैरी है और जो उनके अनुकूल है, वह मेरे अनुकूल है। मैं धर्मात्मा पाण्डवोंसे अलग नहीं हूँ। ऐसा होनेपर भी भगवान्‌ने दुर्योधनकी सैन्यबलसे सहायता की। संसारमें ऐसा कौन पुरुष होगा जो अपने प्रेमी मित्रके शत्रुको उसीसे युद्ध करनेके कार्यमें सहायता दे। परन्तु भगवान्‌की समताका कार्य विलक्षण था। इस मददको पाकर दुर्योधन भी अपनेको कृतकृत्य मानने लगा और उसने ऐसा समझा कि मानो मैंने श्रीकृष्णको ठग लिया—

कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा सम्प्राप परमां मुदम्।
दुर्योधनस्तु तत्सैन्यं सर्वमादाय पार्थिवः॥

(उद्योगपर्व ७। २४)

भगवान् श्रीकृष्णके प्रभावको दुर्योधन नहीं जानता था, इसीलिये उसने इसमें उनकी उदारता और समता तथा महत्ताका तत्त्व न जानकर इसे मूर्खता समझा। जो लोग महान् पुरुषोंके प्रभावको नहीं जानते, उनको उन महापुरुषोंकी क्रियाओंके अन्दर दया, समता एवं उदारता आदि गुण दृष्टिगोचर नहीं होते। दुर्योधनके उदाहरणसे यह बात प्रत्यक्ष प्रमाणित होती है।

भगवान् श्रीकृष्ण जो कुछ भी करते थे, सबके अन्दर समता, निःस्वार्थता, अनासक्तता आदि भाव पूर्ण रहते थे, इसीसे वे कर्मोंके द्वारा कभी लिपायमान नहीं होते थे। गीतामें उन्होंने कहा भी है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

(४। १३-१४)

'हे अर्जुन! गुण और कर्मोंके विभागसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मेरे द्वारा रचे गये हैं, उनके कर्ताको भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू अकर्ता ही जान। क्योंकि कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है इसलिये मुझको कर्म लिपायमान नहीं करते। इस प्रकार जो मुझको तत्त्वसे जानता है वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता।' तथा—

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥

(९। ९)

'हे अर्जुन! उन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश स्थित हुए मुझ परमात्माको वे कर्म नहीं बाँधते।'

भगवान्‌की तो बात ही क्या है, तत्त्वको जाननेवाला पुरुष भी कर्मोंमें लिपायमान नहीं होता। अब यह बात समझनेकी है कि उपर्युक्त श्लोकोंके तत्त्वको जानना क्या है? वह यही है कि भगवान् श्रीकृष्णको कर्मोंमें आसक्ति, विषमता और फलकी इच्छा नहीं रहती थी। जो मनुष्य यह समझकर कि कर्मोंमें आसक्ति, फलकी इच्छा एवं विषमता ही बन्धनके हेतु हैं, इन दोषोंको त्यागकर अहंकाररहित होकर कर्म करता है, वही कर्मोंके तत्त्वको जानकर कर्म करता है। इस प्रकार कर्मके तत्त्वको जानकर कर्म करनेवाला कर्मके द्वारा नहीं बँधता। ऐसा समझकर

जो स्वयं इन दोषोंको त्यागकर कर्म करता है वही इस तत्त्वको समझता है। जैसे संखिया, पारा आदिके दोषोंको मारकर उनका सेवन करनेवालेको हानिकी जगह परम लाभ पहुँचता है, इसी प्रकार विषमता, अभिमान, फलकी इच्छा और आसक्तिको त्यागकर कर्मोंका सेवन करनेवाला मनुष्य उनसे न बँधकर मुक्तिको प्राप्त होता है।

दूधमें विष मिला हुआ है, यह जानकर कोई भी मनुष्य उस दूधका पान नहीं करता है, यदि करता है तो उसे अत्यन्त मूढ़ समझना चाहिये। इसी प्रकार कर्मोंमें आसक्ति, कर्तृत्व-अमिभान, फलकी इच्छा और विषमता आदि दोष विषसे भी अधिक विष होकर मनुष्यको बार-बार मृत्युके चक्करमें डालनेवाले हैं। जो पुरुष इस प्रकार समझता है वह उपर्युक्त दोषोंसे युक्त होकर कर्म नहीं करता।

भगवान् श्रीकृष्णके कर्मोंमें और भी अनेक विचित्रताएँ हैं जिनको हम नहीं जान सकते और जो यत्किंचित् जानते हैं उसको भी समझाना बहुत कठिन है। हम तो चीज ही क्या हैं, भगवान्की लीलाओंको देखकर ऋषि, मुनि और देवतागण भी मोहित हो जाया करते थे। श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि एक समय श्रीकृष्णचन्द्रजीकी लीलाओंको देखकर ब्रह्माजीको भी मोह हो गया था, उन्होंने ग्वालबालोंके सहित बछड़ोंको ले जाकर एक कन्दरामें रख दिया, महाराज श्रीकृष्णचन्द्रजीने यह जानकर तुरन्त वैसे ही दूसरे ग्वालबाल और बछड़े रच लिये और गौओं तथा गोपियों आदि किसीको यह मालूम नहीं हुआ कि यह बालक तथा बछड़े दूसरे ही हैं।

वास्तवमें ब्रह्माजी-जैसे महान् देव ईश्वरके विषयमें मोहित हो जायँ, यह बात युक्तिसे सम्भव नहीं मालूम होती, किन्तु ईश्वरके लिये कोई बात भी असम्भव नहीं है। वे असम्भवको भी सम्भव करके दिखा सकते हैं। विचारनेकी बात है कि इस प्रकारके अलौकिक तथा अद्भुत कर्म साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है योगीलोग भी नहीं कर सकते।

परमात्माके जन्म और कर्मकी दिव्यताका विषय बड़ा अलौकिक और रहस्यमय है। अर्जुन भगवान्का अत्यन्त प्रिय सखा था, इसीलिये भगवान्ने यह अत्यन्त गोपनीय रहस्य अर्जुनके प्रति कहा था।

इस प्रकार भगवान्के जन्म और कर्मकी दिव्यताको जो तत्त्वसे जानता है, वही भगवान्को तत्त्वसे जानता है। अतएव हम सबको इसके तत्त्वको समझनेकी कोशिश करनी चाहिये। जो पुरुष इस तत्त्वको जितना ही अधिक समझेगा, वह उतना ही आनन्दमें मुग्ध होता हुआ परमात्माके नजदीक पहुँचेगा। उसके कर्मोंमें भी अलौकिकता भासने लगेगी और वह भगवान्के प्रभावको जानकर प्रेममें मुग्ध हो शीघ्र ही परमगतिको प्राप्त हो जायगा।

भगवान्का अवतार-शरीर

एक सज्जनने निम्नलिखित प्रश्न किये हैं। प्रश्न महत्त्वके हैं। संक्षेपमें उत्तरसहित प्रश्न प्रकाशित किये जाते हैं। प्रश्नोंकी भाषामें कुछ सुधार किया गया है।

१—क्या पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्ण आदिके पांचभौतिक स्थूल शरीर होते हैं?

२—साधारण जीवोंके शरीरका अभिमानी तो जीवात्मा होता है परन्तु अवतार-शरीरका अभिमानी कौन होता है?

३—यदि सगुण ईश्वरको ही उस शरीरका अभिमानी माना जाय तो जो विश्वात्मा इस समस्त विश्वका अभिमानी है, वह केवल एक शरीरका अभिमानी कैसे हो सकता है?

४—एक शरीरका अभिमानी है तो उसमें कुछ भेद होगा या नहीं यानी वह जिस प्रकार सामान्य-रूपसे सब स्थानोंमें है, उससे अवतार-शरीरमें कुछ विशेष रूपसे है या नहीं?

५—श्रीमद्भगवद्गीतासे पूर्वके किसी ग्रन्थमें अवतारवादका बीजरूपसे भी वर्णन है क्या?

इनका क्रमशः उत्तर इस प्रकार है—

(१) भगवान्का जन्म और उनका विग्रह सर्वथा दिव्य एवं अलौकिक है। मलिन विकाररूप पंचमहाभूत जो हमलोगोंके दृष्टिगोचर होते हैं, भगवान्का शरीर उनसे बना हुआ नहीं होता। तत्त्वको न जाननेवाले अज्ञ मनुष्योंको ऐसा ही प्रतीत होता है कि भगवान् श्रीकृष्णका शरीर हमलोगों-जैसा ही है। भगवान् कहते हैं—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

(गीता ७। २५)

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

(गीता ९। ११)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ, इसलिये अज्ञानी मनुष्य मुझ अजन्मा, अविनाशी परमात्माको (तत्त्वसे) नहीं जानता, वह मुझे जन्म लेने और मरनेवाला समझता है।'

'सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परम भावको न

जाननेवाले मूढ़लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें लीला करते हुए मुझको साधारण मनुष्य मानते हैं।'

भगवान्के परमतत्त्वको जाननेवाले बड़भागी पुरुषोंको तो भगवान्का शरीर सर्वथा दिव्य ही प्रतीत होता है, उनकी दृष्टिसे भगवान्का यथार्थ स्वरूप कभी ओझल नहीं होता, इसीसे वे मुक्त होते हैं। स्वयं भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४। ९)

'हे अर्जुन! मेरा जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे जानता है वह शरीरको त्यागकर पुनः जन्मको प्राप्त नहीं होता। वह तो मुझ (परमात्मा) को ही प्राप्त होता है।'

सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्दघन परमात्मा अजन्मा, अविनाशी, सर्वभूतोंके परम गति और परम आश्रय हैं, वे केवल धर्मकी स्थापना और संसारका उद्धार करनेके लिये ही अपनी योगमायासे सगुणरूप होकर प्रकट होते हैं। उनके समान सुहृद्, प्रेमी और पतितपावन दूसरा कोई नहीं है। ऐसा समझकर जो पुरुष परमेश्वरका अनन्य प्रेमसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ आसक्तिरहित हो संसारमें बर्तता है, वही वास्तवमें उन्हें तत्त्वसे जानता है। ऐसे तत्त्वज्ञकी दृष्टि ही वास्तविक दृष्टि है। जो लोग मायाके आवरणसे ढके रहनेके कारण वास्तविक दृष्टिसे शून्य हैं, वे परमात्माके साकाररूपको विकारी पांचभौतिक मानते हैं। असलमें न तो भगवान्का शरीर ही साधारण प्राणियोंका-सा है और न उनका अवतरण ही जीवोंकी उत्पत्तिके समान है। जीव मायाबद्ध है, वह उसीके नियन्त्रणमें पाप-पुण्योंके अनुसार परवश हुआ जन्म-मरणको प्राप्त होता है। भगवान् कहते हैं—

भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।

(गीता ९। ८)

'प्रकृतिके वशसे परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदायको मैं रचता हूँ।' परन्तु भगवान् इस प्रकार पाप-पुण्यका फल भोगनेके लिये पाप-पुण्यसे परवश होकर जन्म ग्रहण नहीं करते। प्रकृति और माया उनकी चेरी हैं, शक्ति हैं, वे प्रकृतिको अपने अधीन करके शुद्ध संकल्प और शुद्ध सत्त्वसे लीलामात्रसे ही लोकोद्धार और धर्म-संस्थापनके लिये प्रकट होते हैं। वे मायाको अधीन बनाकर लीलासे ही शरीर धारण करते हैं। उनका लीलाविग्रह उन शुद्ध महाभूतोंका होता है, जिन भूतोंकी दिव्य मात्राओंका योगीगण योगबलसे अनुभव किया करते हैं। दिव्य सत्त्वका शरीर होनेके कारण उसमें किसी भी शारीरिक और मानसिक विकारको किंचित् भी स्थान नहीं होता, इसीसे उसको 'अनामय' कहते हैं। इसी कारण किसी भी प्रामाणिक ग्रन्थमें कहीं ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि अवतार-शरीरको कभी कोई रोग हुआ हो। भागवत, महाभारत आदि ग्रन्थोंमें अवतारके लिये 'अनामय' शब्दका प्रयोग तो बहुत स्थानोंपर मिलता है।

जब एक योगी भी अपनी योगशक्तिके बलसे अनेक शरीर धारण कर सकता है तब महान् योगेश्वरेश्वर मायाके स्वामी लीलामय भगवान्के लिये एकसे अनेक रूपोंमें प्रकट हो जाना कौन बड़ी बात है? इसी लीलाका नाम योगमाया है। अपने अवतार-जन्मको प्राकृत मनुष्योंके जन्मसे भिन्न प्रकारका सिद्ध करते हुए भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४। ६)

'मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा समस्त भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

यहाँ 'माया' शब्द लीलाका वाचक है, प्रकृतिका नहीं। 'प्रकृति' शब्द तो अलग आया ही है, 'माया' भी उसी अर्थमें होता तो इसका प्रयोग व्यर्थ होता। इस श्लोकमें आया हुआ 'अपि' शब्द भी इस सिद्धान्तका समर्थन करता है कि भगवान् उत्पन्न नहीं होते—उत्पन्न हुए-से प्रतीत होते हैं, अजन्मा रहनेपर भी जन्मते हुए-से दिखायी देते हैं। वे अपनी लीलासे 'लोकदृष्टि'में मनुष्य प्रतीत होते हैं। भगवान्के विग्रहका यह रहस्य साधारण मनुष्योंके मन-बुद्धिसे परेकी बात है। भगवद्रूपमें स्थित परम भक्त महात्मालोग ही भगवत्कृपासे इसे जान सकते हैं।

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥

(२) भगवान्के शरीरमें कोई भी अभिमानी नहीं होता। जब अज्ञान-दशासे ज्ञान-दशामें पहुँचे हुए एक जीवन्मुक्तका कार्य भी देहाभिमानीके बिना चल जाता है, तब श्रीभगवान्के दिव्य शरीरमें भिन्न अभिमानीके अध्यारोपकी क्या आवश्यकता है? उस दिव्य शरीरके द्वारा सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन परमात्माकी सत्ता-स्फूर्तिसे कार्य होते हैं। लोगोंको समझानेके लिये यह कहा जा सकता है कि शुद्ध ब्रह्मके साथ समष्टिचेतन—जो एक ही तत्त्वरूप परमात्मा है, वही अभिमानीके सदृश स्थित प्रतीत होता है। यदि यह कहा जाय कि सृष्टिकर्ता ईश्वर उसमें अभिमानी हैं तो इससे

सृष्टिकर्ता ईश्वर अपने शुद्ध सच्चिदानन्दघन ब्रह्मस्वरूपसे अलग कर दिये जाते हैं। यदि कोई सज्जन यह कहें कि हम वास्तवमें तो मायाविशिष्ट ईश्वर और शुद्ध ब्रह्मको पृथक्-पृथक् नहीं मानते, केवल लोगोंको समझानेके लिये सृष्टिकर्ता समष्टिचेतन अंशमें ही अध्यारोप करके उसे औपचारिक अभिमानी मानते हैं तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

(३) यह तो कहा ही जा चुका कि ईश्वर वास्तवमें उस शरीरका अभिमानी नहीं होता। विश्वका अभिमानी एकदेशीय शरीरका अभिमानी कैसे बन सकता है? यह एक साधारण-सी बात है और विचार करते ही समझमें आ सकती है। जब सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त अग्निका अभिमानी देवता एक होनेपर भी(अव्यक्तरूपसे अग्निके सर्वत्र व्यापक रहते हुएभी) अनेक भिन्न-भिन्न स्थानोंमें व्यक्त प्रज्वलित मूर्ति धारण करके उसका अभिमानी-सा बन, सबकी दी हुई आहुतियोंको ग्रहण कर उनके अनुसार फल देता है, तब सर्वशक्तिमान्, सर्वाश्रय, सर्वव्यापी परमात्माके लिये ऐसा करनेमें कौन-सा आश्चर्य है? जैसे एक विशेष स्थानमें प्रज्वलित व्यक्त अग्निका अभिमानी वहाँकी आहुतियोंको ग्रहण करता हुआ भी अन्य सब जगहोंसे लुप्त नहीं हो जाता, इसी प्रकार परमात्माके एक जगह प्रकट हो जानेसे अन्य सम्पूर्ण स्थानोंमें उसका अभाव नहीं हो जाता। शास्त्रोंके अनुसार जब अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि देवगण स्तुति-आराधनासे प्रसन्न हो एक ही साथ अनेक स्थानोंमें प्रकट होकर उपासकोंको उनके भावानुसार वर देनेकी शक्ति रखते हैं तो फिर सर्वदेवदेव भगवान्के ऐसा करनेमें क्या आश्चर्य है?

(४) भगवान् शरीरके अभिमानी तो नहीं हैं परन्तु अवतार-शरीरमें उनका विशेषत्व अवश्य है, वह शरीर वास्तवमें उनकी दिव्य मूर्ति ही है। सब जगह समानभावसे सर्वशक्तिमत्ताके साथ विराजित होनेपर भी अपने अवतारमें वे विशेषरूपसे हैं। जैसे सब जगह समानभावसे व्याप्त होनेपर भी हृदयमें भगवान्का विशेषरूपसे रहना माना गया है। '**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (१५। १५), '**हृदि सर्वस्य विष्ठितम्**' (१३। १७), '**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**' (**१८। ६१**) आदिसे सिद्ध है। उनमें भी ज्ञानीके हृदयमें तो उनका और भी विशेषरूपसे रहना बतलाया गया है। भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परन्तु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं वे मुझमें और मैं भी उनमें (प्रत्यक्ष प्रकट) हूँ।' इस प्रकार जब भक्तोंके हृदयमें भगवान्की विशेषता सिद्ध है तब अपने परम दिव्य व्यक्त लीलाविग्रहमें विशेषतासे होना तो प्रत्यक्ष ही सिद्ध है। भगवान् श्रीकृष्ण अपने लिये स्वयं कहते हैं—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(गीता १४। २७)

'हे अर्जुन! अविनाशी परब्रह्मका, अमृतका, नित्य धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका मैं ही आश्रय हूँ।'

सूर्यका प्रकाश सब जगह समान होनेपर भी काठ और काँचमें प्रत्यक्ष भेद प्रतीत होता है। काठमें प्रतिबिम्ब नहीं होता, पर काँचमें होता है। काँचोंमें भी सूर्यमुखी काँचमें तो इतनी विशेषता है कि उससे रूई और कपड़े भी जल जाते हैं। सर्वत्र व्याप्त होनेपर भी संसारके पदार्थोंकी अपेक्षा हृदयमें विशेषता है, ज्ञानी या भक्तके हृदयमें उससे भी अधिक विशेषता है। अवतार-विग्रहमें तो उन सबसे अधिक विशेषता है। वह तो उनका स्वरूप ही है, इससे उसके कार्य भी सब भगवद्रूप ही हैं।

(५) अवतारवादका वर्णन अनेक ग्रन्थोंमें है। श्रीवाल्मीकिरामायणमें (जो जगत्में आदिकाव्य माना जाता है) ही अवतारवादका स्पष्ट वर्णन है। कल्याणके 'रामायणांक' में प्रकाशित 'वाल्मीकीय रामायणसे अवतारवादकी सिद्धि' शीर्षक लेख ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्णका प्रभाव

भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्ण ब्रह्मके अवतार थे या यों कहिये कि साक्षात् पूर्ण ब्रह्म ही श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए हैं; उनके दिव्य गुण, प्रभाव और लीलाओंकी आश्चर्यमयी उपदेशप्रद मधुर लीलाओंसे हमारे प्राचीन ग्रन्थ भरे पड़े हैं। श्रीमद्भागवत, महाभारत, जैमिनीय-अश्वमेध और अन्यान्य पुराण आदिमें भगवान्के प्रेम, प्रभाव और ऐश्वर्यकी अलौकिक बातें स्थान-स्थानपर प्रसिद्ध हैं। जन्मते ही चतुर्भुजरूपसे प्रकट होकर फिर छोटे बालक बन जाना, यशोदा मैयाको मुखके अन्दर ब्रह्माण्ड दिखलाना, गोप-बालक और बछड़ोंकी नवीन सृष्टि करना, अक्रूरजीको मार्ग और जलके अन्दर एक ही साथ दोनों जगह एक ही रूपमें दर्शन देना, कंस आदि महान् असुरोंका

लीलामात्रसे विनाश कर देना, गुरु, ब्राह्मण और देवकीजीके मृत पुत्रोंको ला देना, विविधरूपोंसे एक ही साथ सम्पूर्ण रानियोंके महलोंमें निवास करना, द्रौपदीके स्मरण करते ही उसका चीर बढ़ा देना, दुर्वासाजीके आतिथ्यके समय संकटापन्न द्रौपदीके स्मरण करते ही अचानक वहाँ प्रकट हो जाना, कौरवोंकी सभामें विराट्रूप दिखाना, प्रिय भक्त अर्जुनको भक्ति और ज्ञानका रहस्य समझाते हुए उसे विश्वरूप और चतुर्भुजरूपसे दर्शन देना, अर्जुनकी रक्षाके लिये जयद्रथवधके समय सूर्यका अस्त दिखाकर फिर सूर्यको प्रकट कर देना, युद्धके अन्तमें अर्जुनको पहले रथसे नीचे उतारकर फिर स्वयं उतरते ही रथका जलकर भस्म होते दिखलाना और यह कहना कि यह रथ तो भीष्म, द्रोणादिके बाणोंसे पहले ही दग्ध हो चुका था, परन्तु मैंने अपने संकल्पसे इसे टिका रखा था; शरशय्यापर पड़े हुए भीष्मकी सारी पीड़ाओंको हरकर उन्हें अतुल बल, तेज और ज्ञान प्रदान करना, ऋषि उत्तंकको अपना अलौकिक प्रभाव और ऐश्वर्ययुक्त रूप दिखलाना, मृत परीक्षित्को जीवित करना, अश्वमेधयज्ञके समय पाण्डवोंके स्मरण करते ही द्वारकासे अचानक रातके समय आ जाना, सुधन्वासे लड़ते हुए अर्जुनके द्वारा याद करनेपर तुरन्त उपस्थित होकर रथकी लगाम हाथमें ले लेना और शरीरसहित ही परमधाम पधारना आदि अनेकों अद्भुत कर्मोंकी कथाओंके पढ़नेसे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ऐसे कर्म मनुष्यके लिये तो असम्भव हैं ही, देवताओंकी शक्तिसे भी अतीत हैं। इस छोटे-से लेखमें अति संक्षेपके साथ भगवान्के कुछ अद्भुत कर्मोंका दिग्दर्शन कराया जाता है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी प्रेम और आनन्दकी तो मूर्ति ही थे। उनका अवतार प्रेम और धर्मके संस्थापन और प्रचारके लिये ही हुआ था। भगवान्ने विशुद्ध प्रेमका जो विशाल प्रवाह बहा दिया उसे एक बार समझ लेनेपर ऐसा कौन है जिसका हृदय द्रवित और आनन्दसे पुलकित न हो जाय। परन्तु उनकी प्रेममयी लीला और उनके गहन प्रेमके तत्वका ज्ञान उनके अनुग्रहसे ही हो सकता है। श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें गोपियोंके साथ भगवान्के प्रेमके व्यवहारका जो वर्णन आता है उसे पढ़नेपर मनुष्यके हृदयमें अनेक प्रकारकी शंकाएँ उत्पन्न होती हैं। अक्षरोंके अर्थसे तो उस प्रेममें विषय-विकार ही टपकता है, परन्तु यह प्रसंग विचारणीय है। यदि गोपियोंके साथ भगवान्का विषय-जन्य अनुचित प्रेम होता तो उद्धव-सरीखे महात्मा और गौरांग महाप्रभुसदृश त्यागी भक्त और सन्तजन उसकी कभी प्रशंसा नहीं करते। गोपियोंका प्रेम मूर्खतापूर्ण नहीं था, वे श्रीकृष्णको साक्षात् भगवान् समझती थीं। स्वयं गोपियोंके वाक्य हैं—

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥

(श्रीमद्भा० १०। ३१। ४)

'हे सखे! ब्रह्माकी प्रार्थनापर आपने विश्वके पालनके लिये सात्वत (यदु) कुलमें अवतार लिया है। आप केवल यशोदाके ही पुत्र नहीं हैं, वास्तवमें आप समस्त प्राणियोंके अन्तरात्माके साक्षी हैं।' इससे सिद्ध होता है कि उनका प्रेम विशुद्ध और ज्ञानपूर्ण था। उनके प्रेमकी सभी सन्त-पुरुषोंने सराहना की है। इतना ही नहीं, स्वयं भगवान्ने भी उनके प्रेमकी महिमा गायी है और अर्जुनसे कहा है कि—

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।
ताभिर्विना न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम्॥

'हे पार्थ! जो गोपियाँ अपने शरीरकी 'मेरा (कृष्णका) है' ऐसा समझकर ही सँभाल रखती हैं उन्हें छोड़कर मेरे निगूढ़ प्रेमका पात्र और कोई नहीं है।'

इसके अतिरिक्त भगवान् स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं, उनमें तो विषय-विकारकी आशंका ही नहीं की जा सकती। कोई यह पूछे कि फिर भागवत आदि पुराणोंमें वर्णित वैषयिक प्रसंगोंका क्या अर्थ है। मेरी साधारण बुद्धिके अनुसार तो इसका यही उत्तर है कि उन शब्दोंका मतलब समझनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है; इतिहास, स्मृति, पुराण आदि ग्रन्थोंमें जहाँ कहीं भी ईश्वरपर झूठ, कपट, व्यभिचार आदि दोषोंका आरोप प्रतीत हो और मद्य, मांस आदिके सेवन तथा असत्य, दम्भ, व्यभिचार आदि दोषोंका विधान मिले, उन पंक्तियोंको छोड़कर ही शेष सदुपदेशको ग्रहण करना और तदनुसार आचरण करना चाहिये।

संसार परिवर्तनशील है। देश, काल, वस्तु आदिका प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। पुरानी घटनाओंमें समयका बहुत व्यवधान पड़ जानेके कारण समयके परिवर्तनसे शास्त्रोंके वर्णनकी सारी बातोंका पूरा मतलब ठीक-ठीक समझमें नहीं आता। इसके सिवा दीर्घकालतक देशपर विधर्मियोंका आधिपत्य रहनेके कारण हमारे शास्त्रोंमें धर्मके विपरीत झूठ, कपट, चोरी आदि कुभाव घुसेड़ दिये गये हों तो भी कोई आश्चर्य नहीं है। अतएव पुराणोंकी सभी बातोंको अक्षरशः समझाने और उनकी पूर्वापर पूरी शृंखला बैठाकर उन्हें मिथ्या या सत्य सिद्ध करनेका दायित्व हम साधारण लोगोंको अपने ऊपर नहीं लेना चाहिये। क्योंकि हमलोग सर्वज्ञ नहीं हैं। इसके सिवा भगवान् संसारमें अवतार ग्रहण करके जो लीला करते हैं उनमें कहीं शास्त्रकी मर्यादाके विपरीत दोषका आभास

दिखलायी दे तो इस विषयमें मनमें यही निश्चय रखना चाहिये कि भगवान्‌में कोई दोष कभी हो नहीं सकता। भगवान् और उनके कर्म सर्वथा दिव्य हैं। साथ ही पुराण-इतिहास आदिको भी असत्य नहीं कहा जा सकता।

भगवान्‌के लीलामय दिव्य जन्म-कर्मका रहस्य सम्पूर्णरूपसे तो देवता और महर्षियोंके भी समझमें नहीं आ सकता। भगवान्‌ने स्वयं ही कहा है—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥

(गीता १०। २)

'मेरी उत्पत्तिको अर्थात् विभूतिसहित लीलासे प्रकट होनेको न देवतालोग जानते हैं और न महर्षिगण ही जानते हैं, क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओं और महर्षियोंका भी आदिकारण हूँ।' यद्यपि इतिहास-पुराण आदि शास्त्रोंके रचयिता ऋषि तत्त्वको जाननेवाले सिद्ध महापुरुष और योगी थे, तथापि वे भी भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णकी लीला और उनके प्रभावको सम्पूर्णरूपसे वर्णन करनेमें असमर्थ थे। फिर भी उन महात्माओंने कृपा-परवश हो जो कुछ लिखा है सो सत्य ही है, अल्पबुद्धि होनेके कारण हमलोग उनके भावोंको ठीक-ठीक समझ नहीं सकते और अपनी अल्पज्ञताका दोष उन महात्माओंके मत्थे मढ़ते हैं।

महाभारत आदिसे यह स्पष्ट सिद्ध है कि अवताररूपमें प्रकट हुए भगवान्‌को सब ऋषिगण नहीं पहचान सकते थे। उनमेंसे कोई-कोई तत्त्ववेत्ता महात्मा महर्षि ही भगवान्‌की कृपासे उनको जानते थे—

तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

क्योंकि भगवान् जिस शरीरमें जन्म ग्रहण करते हैं उसी शरीरके समान सब चेष्टा करते हैं। जब भगवान् मनुष्य-शरीरमें अवतीर्ण होते हैं तब मनुष्यके अनुसार चेष्टा करते हैं। उस समय उनके मनुष्योचित कर्मोंको देखकर मुनिगणोंको भी भ्रम हो जाता है, फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? श्रीवसिष्ठजीने कहा है—

देखि देखि आचरन तुम्हारा। होत मोह मम हृदयँ अपारा॥

महाभारतके अश्वमेधपर्वके ५३वें अध्यायमें कथा है कि कौरव-पाण्डवोंके युद्धकी समाप्तिके बाद युधिष्ठिर महाराजसे आज्ञा लेकर भगवान् श्रीकृष्ण हस्तिनापुरसे जा रहे थे। मार्गमें मरुस्थलमें निवास करनेवाले गुरु-भक्त तपस्वी ऋषि उत्तंकसे उनकी भेंट हुई। पाँच पाण्डवोंके सिवा अन्य सारे कौरवोंके विनाशकी बात भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे सुनकर ऋषि उत्तंकको बड़ा क्रोध आ गया और वे उनसे बोले कि 'आपने सब प्रकारसे शक्तिसम्पन्न होनेपर भी युद्धका निवारण नहीं किया, इसलिये मैं आपको शाप दूँगा।' भगवान् बड़े दयालु थे, उन्होंने मुनिको शाप देनेसे रोककर कहा कि 'हे तपस्विश्रेष्ठ! तुमने अपने गुरुको सेवा करके प्रसन्न किया है, जिससे तुम्हारे तपका बड़ा तेज है, मैं उस तपका नाश कराना नहीं चाहता, मुझपर तुम्हारे शापका कोई असर नहीं होगा, शाप देनेसे तुम्हारे तपका नाश हो जायगा। इसलिये तुम मेरे अध्यात्म-विषयक आत्मतत्त्व और प्रभावकी बातें सुनो।' तदनन्तर ५४ वें अध्यायमें ऋषि उत्तंकके पूछनेपर भगवान्‌ने अपने अवतार लेनेका कारण तथा प्रभाव और स्वरूपका वर्णन किया—

बह्वीः संसरमाणो वै योनीर्वर्तामि सत्तम।
धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च॥ १३॥
तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव।
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रोऽथ प्रभवाप्ययः॥ १४॥
भूतग्रामस्य सर्वस्य स्त्रष्टा संहार एव च।
अधर्मे वर्तमानानां सर्वेषामहमच्युतः॥ १५॥
धर्मस्य सेतुं बध्नामि चलिते चलिते युगे।
तास्ता योनीः प्रविश्याहं प्रजानां हितकाम्यया॥ १६॥

'हे द्विजवर, भार्गव! मैं धर्मकी रक्षा और स्थापना करनेके लिये बहुत-सी योनियोंमें उन-उन योनियोंके वेष और रूपोंसे युक्त हुआ तीनों लोकोंमें अवतार धारण करता हूँ। मैं ही विष्णु, ब्रह्मा और इन्द्र हूँ। मैं ही उत्पत्ति और प्रलयरूप हूँ तथा सकल भूतसमुदायका रचनेवाला और संहार करनेवाला भी मैं ही हूँ। मैं अच्युत परमात्मा परिवर्तनशील युगोंमें प्रजाके हितकी कामनासे भिन्न-भिन्न योनियोंमें प्रवेश करके अधर्ममें बर्तनेवाले समस्त प्राणियोंके लिये धर्मकी मर्यादाको दृढ़ करता हूँ।'

यदा त्वहं देवयोनौ वर्तामि भृगुनन्दन।
तदाहं देववत्सर्वमाचरामि न संशयः॥ १७॥

'हे भृगुनन्दन! जब मैं देवयोनिमें प्रकट होता हूँ तब निःसन्देह देवताओंके समान ही समस्त आचरण करता हूँ।'

यदा गन्धर्वयोनौ वा वर्तामि भृगुनन्दन।
तदा गन्धर्ववत्सर्वमाचरामि न संशयः॥ १८॥

'हे भार्गव! जब मैं गन्धर्वयोनिमें प्रकट होता हूँ तब निःसन्देह गन्धर्वोंके समान ही समस्त आचरण करता हूँ।'

नागयोनौ यदा चैव तदा वर्तामि नागवत्।
यक्षराक्षसयोन्योस्तु यथावद्विचराम्यहम्॥ १९॥

'जब मैं नागयोनिमें उत्पन्न होता हूँ तो नागों-जैसा बर्ताव करता हूँ और जब यक्ष-राक्षसोंकी योनियोंमें उत्पन्न होता हूँ तो उन्हींके अनुरूप आचरण करता हूँ।'

मानुष्ये वर्तमाने तु कृपणं याचिता मया।
न च ते जातसम्मोहा वचोऽगृह्णन्त मे हितम्॥ २०॥

'इस समय मनुष्ययोनिमें उत्पन्न होकर मनुष्य-जैसा आचरण करते हुए मैंने दीनतापूर्वक उन लोगोंसे प्रार्थना की परन्तु वे मोहसे अन्धे हो रहे थे, अतः उन मूढ़ोंने मेरा कहना न माना।'

इस प्रकार भगवान्के प्रभाव और स्वरूपकी बात सुनकर ऋषिको भगवान् श्रीकृष्णके साक्षात् परमात्मा होनेका पूर्ण विश्वास हो गया और ऋषिने विनीतभावसे भगवान्से विश्वरूप-दर्शन करानेके लिये प्रार्थना की। ऋषिकी प्रार्थनापर भगवान्ने अनुग्रह करके उन्हें अपना विश्वरूप दिखलाया, जिसे देखकर उत्तंक-ऋषि भगवान्की स्तुति करने लगे। तदनन्तर ऋषिको वरदान देकर भगवान् द्वारिकापुरीको पधार गये।

ऋषि उत्तंकके इस दृष्टान्तसे यह सिद्ध होता है कि भगवान्की कृपा बिना यज्ञ, दान, तप और गुरु-सेवन आदि करनेवाले तपस्वी ऋषि भी भगवान्के अवतार-विग्रहको पहचान नहीं सकते। भगवान् दया करके जिसको अपना परिचय देते हैं, वे ही उन्हें पहचान सकते हैं और फिर उनकी कृपासे तद्रूप हो जाते हैं।

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥

जबतक भगवान् स्वयं दया करके अपनेको नहीं जनाते, तबतक दूसरेके द्वारा जनाये जानेपर भी भगवान्को नहीं जाना जा सकता। संजयके बहुत कुछ समझाने और प्रभाव बतलानेपर भी धृतराष्ट्रने भगवान्को नहीं जाना। महाभारत-उद्योगपर्वके ६८वें अध्यायमें कथा है—संजय दूत बनकर पाण्डवोंके पास जाते हैं और वहाँसे लौटकर भगवान् वेदव्यासजीकी आज्ञासे भगवान् श्रीकृष्णके प्रभाव और ईश्वर-सम्बन्धी तत्त्वका वर्णन करते हैं—

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः॥ ९॥

'जहाँ सत्य है, जहाँ धर्म है, जहाँ लज्जा है, जहाँ सरलता है वहीं कृष्ण हैं और जहाँ कृष्ण हैं वहीं जय है।'

पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिवं च पुरुषोत्तमः।
विचेष्टयति भूतात्मा क्रीडन्निव जनार्दनः॥ १०॥

'सब प्राणियोंके आत्मस्वरूप पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण खेल करते हुए-से पृथिवी, अन्तरिक्ष और देवलोकको घुमा रहे हैं।'

स कृत्वा पाण्डवान्सत्रं लोकं सम्मोहयन्निव।
अधर्मनिरतान्मूढान्दग्धुमिच्छति ते सुतान्॥ ११॥

'वे ही भगवान्, लोगोंको मोहित करते हुए-से पाण्डवोंको निमित्त बनाकर अधर्मनिरत तुम्हारे मूर्ख पुत्रोंको भस्म करना चाहते हैं।'

कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्तयतेऽनिशम्॥ १२॥

'भगवान् केशव कालचक्र, जगच्चक्र और युगचक्रको अपनी योगशक्तिसे निरन्तर घुमाते हैं।'

कालस्य च हि मृत्योश्च जङ्गमस्थावरस्य च।
ईशते भगवानेकः सत्यमेतद्ब्रवीमि ते॥ १३॥

'मैं आपसे यह सत्य कहता हूँ कि वे भगवान् श्रीकृष्ण अकेले ही काल, मृत्यु और चराचर समस्त जगत्का शासन करते हैं।'

ईशन्नपि महायोगी सर्वस्य जगतो हरिः।
कर्माण्यारभते कर्तुं कीनाश इव वर्धनः॥ १४॥

'महायोगी श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जगत्का शासन करते हुए ही किसानकी तरह जगत्की वृद्धि करनेके लिये कर्मोंका आरम्भ करते हैं।'

तेन वञ्चयते लोकान्मायायोगेन केशवः।
ये तमेव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः॥ १५॥

'भगवान् केशव उस अपनी योगमायासे मनुष्योंको ठगते हैं। जो मनुष्य केवल उसीकी शरणमें चले जाते हैं, वे मायासे मोहित नहीं होते।'

यह सुनकर धृतराष्ट्र संजयसे पूछते हैं कि 'माधव श्रीकृष्ण सब लोकोंके महान् ईश्वर हैं, इस बातको तू कैसे जानता है और मैं उन्हें क्यों नहीं जानता?' संजय कहते हैं, 'हे राजन्! जिनका ज्ञान अज्ञानके द्वारा ढँका हुआ है, वे भगवान् श्रीकृष्णको नहीं जान सकते। आपमें वह ज्ञान नहीं है, इसलिये आप नहीं जानते, मैं जानता हूँ।' तदनन्तर उद्योगपर्वके ७०वें अध्यायमें फिर धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा कि 'हे संजय! श्रीकृष्णके विषयमें मैं तुझसे पूछता हूँ, तू मुझे कमलनयन श्रीकृष्णकी कथा सुना, जिससे मैं श्रीकृष्णके नाम और चरित्रोंको जानकर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णको प्राप्त होऊँ।' इसके बाद संजयने श्रीकृष्णके नाम, गुण और प्रभावका अनेक श्लोकोंमें वर्णन किया तो भी धृतराष्ट्र भगवान् श्रीकृष्णको भलीभाँति नहीं पहचान सके। इससे यह बात सिद्ध होती है कि जिसपर भगवान्की दया होती है, वही भगवान्को पहचान सकता है।

भगवान्की प्रत्येक क्रियामें विलक्षण भाव भरा है। वे सर्वशक्तिसम्पन्न, बुद्धिके सागर और बड़े ही कुशल थे। उनकी कोई भी क्रिया या उनका एक भी संकल्प कभी निष्फल नहीं होता था। कहीं उनकी कोई चेष्टा निष्फल हुई है तो वह उनकी इच्छासे ही हुई है। उस निष्फलतामें

बड़ा रहस्य भरा रहता है। भगवान् जब पाण्डवोंके दूत बनकर हस्तिनापुर गये और उनके सन्धिरूप कार्यकी सिद्धि नहीं हुई, इसमें यही कारण है कि उनकी सन्धि करानेकी इच्छा ही नहीं थी। यह बात दूत बनकर जाते समय द्रौपदीके साथ उनकी जो बातचीत हुई है, उससे स्पष्ट सिद्ध है। द्रौपदी उस समय अनेक विलाप करती हुई (महाभारत, उद्योगपर्व अध्याय ८२में) भगवान्से प्रार्थना करती है—

सुता द्रुपदराजस्य वेदिमध्यात् समुत्थिता।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी तव कृष्ण प्रिया सखी॥ २१॥
आजमीढकुलं प्राप्ता स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः।
महिषी पाण्डुपुत्राणां पञ्चेन्द्रसमवर्चसाम्॥ २२॥
सुता मे पञ्चभिर्वीरैः पञ्च जाता महारथाः।
अभिमन्युर्यथा कृष्ण तथा ते तव धर्मतः॥ २३॥
साहं केशग्रहं प्राप्ता परिक्लिष्टा सभां गता।
पश्यतां पाण्डुपुत्राणां त्वयि जीवति केशव॥ २४॥

'हे कृष्ण! यज्ञवेदीसे उत्पन्न हुई राजा द्रुपदकी पुत्री, धृष्टद्युम्नकी बहिन, आपकी प्यारी सखी, आजमीढकुलमें ब्याही गयी महात्मा पाण्डुकी पुत्रवधू, इन्द्रके समान तेजस्वी पाँच पाण्डुपुत्रोंकी महारानी, उन पाँच वीरोंसे उत्पन्न पाँच महारथी पुत्र जो कि धर्मके नाते अभिमन्युके समान ही आपको प्रिय हैं, उनकी माता ऐसी मैं पाण्डुपुत्रोंके देखते हुए और हे केशव! आपके जीवित रहते हुए केश पकड़कर सभामें लायी गयी और दुःखित की गयी थी।'

जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु पञ्चालेष्वथ वृष्णिषु।
दासीभूतास्मि पापानां सभामध्ये व्यवस्थिता॥ २५॥

'पाण्डुपुत्रोंके, पांचालोंके और वृष्णियोंके जीवित रहते हुए भी पापियोंकी सभामें लायी जाकर मैं दासी बना ली गयी थी।'

निरमर्षेष्वचेष्टेषु प्रेक्षमाणेषु पाण्डुषु।
पाहि मामिति गोविन्द मनसा चिन्तितोऽसि मे॥ २६॥

'यह सब देखते हुए भी पाण्डव जब क्रोधरहित और निश्चेष्ट ही बने रहे तब 'हे गोविन्द! मेरी रक्षा करो' ऐसा मैंने मनसे चिन्तन किया था।'

अयं ते पुण्डरीकाक्ष दुःशासनकरोद्धृतः।
स्मर्तव्यः सर्वकार्येषु परेषां संधिमिच्छता॥ ३६॥

'हे पुण्डरीकाक्ष! शत्रुओंके साथ सन्धि करते समय सब कामोंमें यह दुःशासनके हाथसे खींची हुई मेरी वेणी आपको याद रखनी चाहिये।'

दुःशासनभुजं श्यामं संछिन्नं पांसुगुण्ठितम्।
यद्यहं तु न पश्यामि का शान्तिर्हृदयस्य मे॥ ३९॥

'यदि मैं दुःशासनकी श्याम भुजाको कटकर धूलिमें सनी हुई नहीं देखूँगी तो मेरे हृदयको कैसे शान्ति मिलेगी?'

इत्युक्त्वा वाष्परुद्धेन कण्ठेनायतलोचना।
रुरोद कृष्णा सोत्कम्पं सस्वरं वाष्पगद्गदम्॥ ४२॥

'शोकावरुद्ध कण्ठसे इस प्रकार विलाप करके विशालनेत्रा द्रौपदी काँपती हुई गद्गद होकर उच्च स्वरसे रोने लगी।'

द्रौपदीके वचन सुनकर भगवान् दया करके कौरवोंको नष्ट करनेकी घोर प्रतिज्ञा करते हुए कहते हैं—

चलेद्धि हिमवाञ्छैलो मेदिनी शतधा फलेत्।
द्यौः पतेच्च सनक्षत्रा न मे मोघं वचो भवेत्॥ ४८॥

'भले ही हिमालय पर्वत विचलित हो जाय, पृथिवीके सैकड़ों टुकड़े हो जायँ, तारोंके सहित स्वर्ग गिर पड़े, पर मेरे वचन व्यर्थ नहीं हो सकते।'

सत्यं ते प्रतिजानामि कृष्णे वाष्पो निगृह्यताम्।
हतामित्राञ्छ्रिया युक्तानचिराद् द्रक्ष्यसे पतीन्॥ ४९॥

'हे द्रौपदी! अश्रुओंको रोको, मैं तुम्हारेसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि तू अपने पतियोंको शीघ्र ही राज्यश्रीसे युक्त और निहत-शत्रु अर्थात् जिनके शत्रु मर चुके हैं ऐसे देखेगी।'

इससे सिद्ध है कि भगवान्को युद्ध अवश्यमेव कराना था, केवल संसारकी मर्यादा रखनेके लिये तथा अपने प्यारे पाण्डवोंका कलंक दूर करनेके लिये ही उनका हस्तिनापुर जाकर सन्धिके लिये चेष्टा करना समझा जाता है।

युद्धमें अस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा करके प्रिय भक्त भीष्मके लिये चक्र ग्रहण करनेमें भी उनकी इच्छा ही कारण है। भीष्मपर्वका यह प्रसंग देखनेसे मालूम होता है कि यह बड़े ही रहस्य और वीर-रससे भरी हुई प्रेममयी लीला है। भीष्मपितामह बड़े ही भक्त और श्रद्धालु थे। उनकी प्रसन्नताके लिये ही भगवान्ने यह विचित्र क्रिया की। वास्तवमें भगवान्की सम्पूर्ण क्रियाएँ निर्दोष और दिव्य हैं। उनकी दिव्यताका जानना साधारण बात नहीं है।

भगवान्के अनन्त दिव्य गुणोंकी महिमा कौन गा सकता है? संसारमें क्षमा, दया, शान्ति आदि जितने गुण दीखते हैं, तेज, ऐश्वर्य आदि जितनी विभूतियाँ प्रतीत होती हैं, शक्ति और प्रताप आदि जितने उच्च भाव हैं, उन सबको भगवान् श्रीकृष्णके तेजके एक अंशका ही विस्तार समझना चाहिये। भगवान् स्वयं कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १०। ४१-४२)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त एवं कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई जान। अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को (अपनी योगमायाके) एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

ईश्वर दयालु और न्यायकारी है

सच्चिदानन्दघन अखिल विश्वेश्वर परमदयालु परमेश्वरकी सत्ताको स्वीकार करनेवाले प्रायः सभी मतोंके लोग इस बातको स्वीकार करते हैं कि ईश्वर दयालु और न्यायकारी है। ईश्वरमें केवल दयालुता या केवल न्यायकारिताका एकांगी भाव नहीं है, उनमें ये दोनों ही गुण एक ही समय, एक ही साथ पूर्णरूपसे रहते हैं और वे जीवोंके प्रति व्यवहार करनेमें दोनों ही भावोंसे एक ही साथ काम लेते हैं। इसपर कुछ लोग ऐसी शंका किया करते हैं कि 'न्याय और दया दोनों गुण एक साथ कैसे रह सकते हैं? अदालतमें न्यायासनपर बैठा हुआ जज यदि दयाके वश होकर दण्डके योग्य वास्तविक अपराधी व्यक्तिको बिलकुल दण्ड न दे या उचितसे कम दे, तो क्या उसके न्यायमें कोई बाधा नहीं आती? अथवा यदि वह अपराधीको पूरा दण्ड दे दे तो उसकी दया वहाँ क्या बिलकुल बेकार नहीं रह जाती है? इसी प्रकार ईश्वरके लिये भी क्यों नहीं समझना चाहिये?'

इस शंकाका उत्तर देना सहज काम नहीं है। परमात्माके गुणोंका विवेचन करना और उनपर टीका-टिप्पणी करना मुझ-जैसे मनुष्यके लिये तो निरा लड़कपन ही है, परन्तु अपने चित्त-विनोदार्थ परमात्माके गुणगानकी भावनासे यत्किंचित् प्रयत्न किया जाता है। वास्तवमें मनुष्यकृत कानूनके साथ ईश्वरके कानूनकी समता कदापि नहीं की जा सकती। मनुष्य यदि स्वार्थसे कानून नहीं बनाता तो उसपर वातावरण और परिस्थितिका प्रभाव तो जरूर ही पड़ता है। भविष्यके विवेचनमें भी वह सर्वथा निर्भूल नहीं समझा जा सकता, आसक्ति या अन्य किसी कारणवश उसमें अन्यान्य प्रकारसे भी भूलके लिये गुंजाइश रह सकती है, परन्तु ईश्वरमें भूलके लिये तनिक भी गुंजाइश नहीं है। इसके सिवा ईश्वर दया, न्याय और उदारताकी अनन्त निधि होनेके कारण उसके कानूनमें भी दया, न्याय और उदारताकी बाहुल्यता रहती है। सच्ची बात तो यह है कि जगत्‌को सत्य समझनेवाला मनुष्य स्वार्थहीन न होनेके कारण न्याय, दया और उदारतासे भरे कानून बना ही नहीं सकता। सब प्रकारसे स्वार्थरहित, सबके सुहृद्, दयाके समुद्र महापुरुष, जिनके सुहृदता, दया, प्रेम, वात्सल्य आदि गुणोंका थाह ही नहीं मिलता, भले ही वैसे नियम बना सकें, साधारण मनुष्योंका तो यह काम नहीं है। अतएव यद्यपि मानवी कानूनके साथ ईश्वरीय कानूनकी तुलना तो हो ही नहीं सकती, तथापि विचार करनेपर मनुष्यमें भी दया और न्याय दोनोंका एक साथ रहना सिद्ध हो सकता है। इसके लिये कुछ कल्पित उदाहरण दिये जाते हैं।

रामलाल नामक एक व्यापारीके दो हजार रुपये नारायणप्रसाद नामक कायस्थमें लेने थे। नारायणप्रसाद सच्चा और ईमानदार आदमी था, परन्तु कई तरहकी आपत्तियाँ आ जानेके कारण उसका सारा रोजगार नष्ट हो गया, घरकी सारी सम्पत्ति, यहाँतक कि पत्नीके सुहागके गहने भी बिक गये और वह चालीस रुपये मासिकपर एक जगह नौकरी करने लगा। इतनी कम आमदनीमें बहुत ही मुश्किलसे उसके बड़े कुटुम्बके पेटमें अनाज पहुँचता था, परन्तु चारों ओर फैली हुई बेकारीमें अधिककी कहीं गुंजाइश ही नहीं थी। रामलालने रुपयोंके लिये तकादा शुरू किया, परन्तु नारायणप्रसाद किसी तरह रुपये नहीं दे सका। रामलालने अदालतमें नालिश कर दी। जिस जजके सामने मुकद्दमा था, वह बड़ा ही नेक, कानूनका जानकार, न्यायकारी और दयालु था। नारायणप्रसादने जजकी सेवामें उपस्थित होकर कहा कि 'हुजूर! मुझे सेठ रामलालके दो हजार रुपये जरूर देने हैं और मैं मरतेदमतक उन्हें दूँगा, परन्तु इस समय मेरी बड़ी ही तंग हालत है, मेरे घरमें एक पैसा भी नहीं है, न कोई मिल्कियत ही है, आप भलीभाँति जाँच कर लें। मैं चालीस रुपये महीनेपर एक जगह नौकर हूँ, घरमें लड़के-बच्चे मिलाकर सब आठ प्राणी हैं, उनकी गुजर बड़ी कठिनतासे होती है तथापि मैं किसी तरह कष्ट सहकर भी दो सौ रुपये सालाना किश्तके हिसाबसे रामलालजीको दूँगा। इतनेपर भी रामलालजी मुझे बाध्य करेंगे और आप जेल भेजेंगे तो मैं जेल चला जाऊँगा, पर इन्सॉल्वेण्ट (दिवालिया) नहीं होऊँगा, पर इस हालतमें मेरे बाल-बच्चोंपर आफतका पहाड़ टूट पड़ेगा। हुजूरको जैसा अच्छा लगे वैसा ही करें।'

नारायणप्रसादकी सच्ची बातें सुनकर जज प्रसन्न हो गया, उसने कहा कि 'भाई, तुम अपने महाजनको समझा-बुझाकर ठीक कर लो, तुम्हारी ऐसी हालतपर उसे जरूर

तुम्हारी शर्त मान लेनी चाहिये।' नारायणप्रसादने रामलालको बहुत समझाया, बहुत विनय-प्रार्थना की, परन्तु रामलालने कहा कि 'मैं किसी तरह नहीं मानूँगा।' अदालतमें मामला पेश हुआ। रामलालके दो हजार रुपये नारायणप्रसादको देने हैं, यह साबित हो गया। जजने जाँच करके इस बातका पता लगा लिया कि नारायणप्रसादने अपनी जो हालत बतलायी थी सो अक्षरश: सत्य है, स्वयं रामलालने भी इस बातको मंजूर किया। इसपर रामलालके मने करनेपर भी जजने नारायणप्रसादके कथनानुसार २००) सालानाकी किश्त करके उसपर दो हजारकी डिग्री दे दी। जजकी दयालुता देखकर नारायणप्रसाद विह्वल हो गया। क्या इस फैसलेमें जज अन्यायी समझा जायगा? क्या उसका यह काम रिश्वतखोरीका माना जायगा, अथवा क्या इसमें दयालुता नहीं मानी जायगी? इसमें दया और न्याय दोनों ही हैं। जब यहाँके कानूनमें ऐसा होता है, तब श्रीभगवान् अपने भक्तको उसके इच्छानुसार फैसला दे दें तो क्या इसमें उनकी दयालुता या न्यायमें कोई दोष आता है?

अब फौजदारीके दो उदाहरण देखिये—

गोविन्दराम और रामप्रसाद एक ही मुहल्लेमें रहते थे, वे आपसमें सदा ही तर्क-वितर्क किया करते। तर्कमें लड़ाईका डर रहता ही है। एक दिन परस्पर शास्त्रार्थमें रामप्रसादको अपने विपरीत सिद्धान्त सुनकर गुस्सा आ गया। क्रोधमें मनुष्यकी बुद्धि मारी जाती है। अत: उसने दो-चार हाथ जोरसे गोविन्दरामपर जमा दिये। गोविन्दरामने उसपर फौजदारी दावा कर दिया। रामप्रसादको इस बातका पता लगते ही उसने मजिस्ट्रेटकी सेवामें जाकर सारी बातें सच-सच कह दीं। उसने कहा कि 'हमलोग धर्मके सम्बन्धमें आपसमें विवाद कर रहे थे, गोविन्दरामने मुझे न्याययुक्त ही फटकारा था। परन्तु अपने मनके बहुत विपरीत होनेसे मुझे गुस्सा आ ही गया, जिससे मेरे द्वारा यह अपराध बन गया। जो कुछ दोष है सो वास्तवमें मेरा ही है, मुझे अपनी करनीपर बड़ा ही पश्चात्ताप है, अब आप जो कुछ आज्ञा करें वही करनेको मैं तैयार हूँ, मजिस्ट्रेटने कहा कि 'भाई, मैं इसमें कुछ भी नहीं कर सकता, तुम गोविन्दरामके पास जाकर उससे क्षमा-प्रार्थना करो, वह चाहे तो तुम्हें क्षमा कर सकता है, तुम्हारे लिये यही सबसे सरल उपाय है।' मजिस्ट्रेटकी बात सुनकर रामप्रसाद गोविन्दरामके घर गया और उसके चरणोंमें पड़कर अपना दोष स्वीकार करते हुए क्षमा-प्रार्थना की और कहा कि 'अब मैं आपकी चरण-शरण आ पड़ा हूँ, मैं जरूर अपराधी हूँ, पर मुझे छोड़ना पड़ेगा।' उसकी अनुनय-विनय सुनकर और उसके हृदयमें सच्चा पश्चात्ताप देखकर गोविन्दराम राजी हो गया और उसने मुकद्दमा उठानेकी दरखास्त दे दी। मजिस्ट्रेटने दरखास्त मंजूर करके रामप्रसादको बेदाग छोड़ दिया। क्या इसमें कोई भी मनुष्य यह कह सकता है कि गोविन्दराम या मजिस्ट्रेटने कोई अन्याय किया, या उन्होंने दया नहीं की? एक समय भक्त अम्बरीषका अपराध करनेपर दुर्वासा मुनिको भगवान् श्रीविष्णुने भी उसीकी शरणमें भेजा था, वहाँ जानेपर अम्बरीषने चक्रसे विनय करके उनके प्राण बचा दिये थे। दया और न्याय दोनों ही क्रियाएँ साथ-साथ सम्पन्न हुईं।

शिवराम नामक एक भले स्वभावका सदाचारी मनुष्य एक गाँवमें रहता था, उसी गाँवमें एक डाकूका घर था। शिवराम कभी-कभी उससे डकैतीकी घटनाएँ सुनता था। कुसंगका फल बहुत बुरा होता है। शिवरामका मन एक दिन ललचाया, लोभने उसकी बुद्धि बिगाड़ दी, परिणाम-ज्ञानशून्य होकर वह नन्दराम नामक गृहस्थके घर डाका डालकर तीन हजार रुपये नकद और कुछ गहने लूट लाया। आत्मरक्षाके लिये रोकनेवालोंपर दो-चार लाठियाँ भी जमा दीं।

धन लेकर घर पहुँचा और अपनी स्त्रीसे सारा हाल कहा। शिवरामकी पत्नी बड़ी साध्वी थी, उसे स्वामीके इस कुकृत्यको सुनकर बड़ा दु:ख हुआ। उसने चरणोंमें सिर टेककर स्वामीको धर्म सुझाया और प्रार्थना की कि आप यह धन अभी लौटा दीजिये। शिवराम वास्तवमें अच्छा आदमी था, वह डकैती-पेशावाला तो था ही नहीं, कुसंगसे उसकी बुद्धि नष्ट हो गयी थी। स्त्रीके समझानेपर उसे अपना अपराध दीपककी ज्योतिकी भाँति स्पष्ट दीखने लगा। पत्नीकी सलाहसे वह तुरन्त धन लेकर कलक्टर साहेबके बंगलेपर गया और रुपये तथा गहने उनके पास रखकर आत्मसमर्पण करते हुए उसने गिड़गिड़ाकर कहा कि 'मुझसे बड़ा भारी अपराध हो गया, कुसंगसे मेरे मनमें लोभ पैदा हो गया था, जिससे मेरी मति मारी गयी, मैंने बेचारे नन्दरामको अन्यायरूपसे सताया और वह कुकर्म किया जो मेरे बाप-दादोंमें किसीने भी नहीं किया था। मेरा अपराध किसी प्रकार क्षम्य तो नहीं है परन्तु मैं आपके शरण हूँ, आप मुझे बचाइये, भविष्यमें मैं कभी ऐसा कुकर्म नहीं करूँगा।' कलक्टरको उसकी बातपर विश्वास हो गया, उसने सोचा कि यदि इसकी नीयत खराब होती तो माल लेकर हाजिर क्यों होता? कलक्टरने उसे वहीं रोककर पुलिसके द्वारा नन्दरामको बुलवाया। नन्दराम पुलिसमें इत्तला करने जा ही रहा था कि उसको एक कान्स्टेबलने आकर कहा—'तुम्हारे घर जिसने डकैती की है, वह मालसमेत कलक्टर साहेबके बंगलेपर हाजिर है,

साहेबने तुम्हें अभी बुलाया है।' माल मिलनेकी बात सुनते ही नन्दरामको बड़ी खुशी हुई और वह तुरन्त ही सिपाहीके साथ साहेबके बंगलेपर जा पहुँचा। उसे देखकर शिवरामने उसके चरण पकड़ लिये और अपना अपराध क्षमा करनेके लिये रो-रोकर प्रार्थना करने लगा। नन्दरामने उसकी एक भी नहीं सुनी और कहा कि तुझे जेल भिजवाये बिना मैं कभी नहीं छोड़ूँगा।' मामला कोर्टमें गया, कलक्टर साहेबके पूछनेपर शिवरामने वही बातें साफ-साफ फिर कह दीं जो उसने बंगलेपर कही थीं, इसपर साहेबने नन्दरामसे पूछा कि 'बताओ, इसकी चाल-चलनके सम्बन्धमें तुम्हारा क्या खयाल है?' नन्दरामको स्वीकार करना पड़ा कि 'मैं इसे जानता हूँ, यह अच्छे घरानेका लड़का है, डाकुओंकी संगतिसे ही इसको दुर्बुद्धि पैदा हुई होगी परन्तु इसे सजा जरूर मिलनी चाहिये, नहीं तो यह फिर ऐसे ही काम करेगा।' कलक्टर दयालु था, वह शिवरामकी सरलता और सत्यतापर मुग्ध हो गया और उसने भविष्यके लिये सावधान करके शिवरामको छोड़ दिया। इस प्रकार दया करनेवाला कलक्टर क्या अन्यायी समझा जायगा? इसी प्रकार सच्चे और सरल हृदयसे भगवान्‌के शरण होनेपर वे भी मुक्त कर देते हैं।

यहाँपर यह प्रश्न उठ सकता है, ये सब उदाहरण तो साधारण अपराधोंके हैं, खून आदिके मामलेमें विपक्षके लोग राजी हो जायँ तो भी न्यायकारी जज अपराधीको नहीं छोड़ सकता, यदि छोड़ देता है तो वह अवश्य ही अन्यायी समझा जाता है। इसका उत्तर देनेसे पूर्व यह समझना चाहिये, खून या मनुष्य-वध तीन प्रकारसे किया जाता है। न्यायके लिये, भूलसे या जान-बूझकर अन्यायसे। न्यायके लिये किया जानेवाला मनुष्य-वध तो खूनके अपराधमें गिना ही नहीं जाता। निःस्वार्थभावसे धर्मकी रक्षाके लिये, लोकहितके लिये, न्यायरक्षाके लिये या आत्मरक्षाके लिये जो नर-वध होते हैं, उनमें तो मारनेवाला दण्डनीय ही नहीं होता। अपराधीको न्याययुक्त फाँसीकी सजा देनेवाले जज या फाँसीकी सजा पाये हुए मनुष्यको फाँसीपर लटकानेवाले जल्लादको कोई अपराधी नहीं मानता। यथार्थमें डाकुओंसे धन-प्राणको बचानेके लिये उनपर शस्त्र-प्रहार करनेवाला भी पुरस्कारका पात्र समझा जाता है। हालमें एक बंगाली युवतीने बुरी नीयतसे घरमें घुस आनेवाले एक नौजवानको मार डाला था। वह पकड़ी गयी, परन्तु कोर्टने उसके कार्यकी प्रशंसा करते हुए उसे छोड़ दिया। अवश्य ही मनुष्यके न्यायमें इस गलतीके लिये गुंजाइश रह सकती है कि वह किसी स्थलमें न्यायानुकूल कर्म करनेवालेको भी दण्डनीय समझ लेता है; परन्तु अन्तर्यामी सर्वतश्चक्षु परमात्माके यहाँ तो ऐसी भूलकी कोई सम्भावना ही नहीं।

दूसरे प्रकारका खून भूलसे होता है। ऐसे खूनका अपराधी कसूरवार तो समझा जाता है, क्योंकि उसकी असावधानीसे ही नर-हत्या होती है, परन्तु उसका कसूर पहलेकी अपेक्षा बहुत हलका समझा जाता है। ऐसा अपराधी चेष्टा करनेपर छूट भी जाता है या कोशिशकी कमीसे उसे कुछ सजा भी हो सकती है।

तीसरे प्रकारका खून क्रोध, लोभ, वैर आदिके कारण जान-बूझकर किया जाता है, ऐसा अपराधी कसूर साबित होनेपर यहाँके कानूनके अनुसार प्रायः न्यायालयसे नहीं छूट सकता। इनमें पहलेके उदाहरण तो दिये जा चुके हैं, ऐसे और भी अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। श्रीखड्गबहादुर नामक नैपाली युवकने अत्याचारी हीरालाल अग्रवालको मार डाला था, उसे हलका दण्ड भी हो गया था परन्तु लोगोंके कहनेपर वाइसरायने उसे छोड़ दिया।

दूसरेके लिये निम्नलिखित उदाहरण दिया जाता है— राजपूतानेके एक गाँवमें रामसिंह नामक एक राजपूत नवयुवक जंगलमें पहाड़ीके नीचे निशाना मारना सीख रहा था, पास ही उसका मित्र सजनसिंह खड़ा था। निशानेपर मारनेके लिये वह बन्दूककी घोड़ी दबा ही रहा था कि सामनेसे एक आदमी जाता दिखलायी पड़ा, उसको बचानेके लिये उसने हाथ घुमाया, घोड़ी दब गयी और गोली छूटकर पास खड़े हुए सजनसिंहके हृदयको चीरकर पार हो गयी, वह धड़ामसे गिर पड़ा। रामसिंहके होश हवा हो गये। पुलिस आयी। रामसिंह खूनके अपराधमें पकड़ा गया, एक तो उसे अपने हाथसे मित्रके मरनेका दुःख था और दूसरा यह राजसंकट! बेचारेकी बड़ी ही दुर्दशा थी। कोर्टमें मामला पेश हुआ। रामसिंहने सारी घटना सच-सच सुनाकर दुःख प्रकट करते हुए क्षमा माँगी। हाकिमने सजनसिंहके घरवालोंसे पूछा कि 'आपलोग सच कहें कि आपकी समझसे रामसिंहकी नीयतमें कोई दोष था या नहीं? यह जिस गलतीको बता रहा है उसके सम्बन्धमें आपलोगोंकी क्या धारणा है?' उन लोगोंने कहा कि 'हमलोग भी इस बातपर तो विश्वास करते हैं कि इसकी नीयत सजनसिंहको मारनेकी नहीं थी, वह इसका मित्र भी था, हमलोग भी उस समय वहीं उपस्थित थे, परन्तु इसकी असावधानीसे वह मारा गया, अतएव इसे दण्ड अवश्य मिलना चाहिये।' हाकिमने उसकी नीयत और सत्यतापर विश्वासकर आगेके लिये सतर्क करते हुए उसे बेदाग छोड़ दिया। क्या इस प्रकार दया करनेवाले हाकिमको कोई अन्यायी कह सकता है? जब मनुष्य भी इस तरह दया

और न्यायका बर्ताव एक साथ कर सकता है तब शरण जानेपर न्यायकी रक्षा करते हुए ही परमात्मा उसके अपराधोंको क्षमा कर दें, इसमें क्या आश्चर्य है?

इस उदाहरणपर एक प्राचीन गाथाका स्मरण हो आता है जिसमें भूलसे अपराध करनेवाले परम धार्मिक पुरुषको भी दण्ड भोगना पड़ा था। इतिहास महाराज दशरथका है, जिनके हाथसे मातृ-पितृभक्त श्रवणकुमार मारा गया था। इस इतिहासको लेकर लोग यह प्रश्न किया करते हैं कि 'जब महाराज दशरथका भूलसे किया हुआ अपराध क्षमा नहीं हुआ तब यह कैसे माना जा सकता है कि भूलसे किये हुए अपराधीका अपराध क्षमा हो जाता है?' इस शंकाका उत्तर इतिहाससहित इस प्रकार है—

महाराज दशरथ एक समय रातको वनमें हिंसक पशुओंके शिकारके लिये गये थे। एक जगह उन्होंने नदीमें हाथीकी गर्जनाका-सा शब्द सुनकर तीक्ष्ण शब्दवेधी बाण मारा, उसी क्षण किसीके कराहनेकी स्पष्ट आवाज आयी और यह शब्द सुने कि 'अरे, मुझ निर्दोष तपस्वीको बिना अपराध किसने मारा? मैंने किसीकी क्या बुराई की थी जो इस प्रकार मुझे मार डाला, अब मेरे बूढ़े माँ-बापकी कौन सेवा करेगा? उन्हें कौन खिलावे-पिलावेगा?' इन दयनीय शब्दोंको सुनकर दशरथके हृदयमें बड़ी व्यथा हुई, उन्होंने घबराये हुए दौड़कर नदी-तीरपर आकर देखा तो एक जटाधारी तपस्वी ऋषि खूनसे लथपथ पड़े हैं। दशरथके क्षमा-प्रार्थना करनेपर ऋषिने कहा कि 'मेरे अन्धे माँ-बाप प्यासे थे, मैं उनके लिये जल भरने आया था, घड़ा भरनेमें शब्द हुआ इसीपर तुमने बाण मार दिया। मेरे माता-पिता मेरी बाट देखते होंगे, जाकर उन्हें यह वृत्तान्त कहो, उनको प्रसन्न करो, जिससे वह तुम्हें शाप न दे दें। मेरे शरीरसे बाण निकाल दो, मुझे बड़ी पीड़ा हो रही है। तुम्हें ब्रह्महत्याका पाप नहीं लगेगा; क्योंकि मैं श्रवणकुमार नामक वैश्य हूँ।' इसपर दशरथजीने उनका बाण निकाला और उसके निकलते ही श्रवणके प्राण भी निकल गये। राजा जल लेकर श्रवणके माता-पिताके पास गये। वे पुत्रकी प्रतीक्षा कर रहे थे, पैरोंकी आहट सुनकर उन्होंने देरसे आनेका कारण पूछा। दशरथने अपना नाम-पता बताकर बड़ी ही विनयके साथ सारा हाल उन्हें सुनाया और जल पीनेके लिये प्रार्थना की। बूढ़े दम्पति एक बार मूर्छित हो गये, फिर होशमें आकर कहने लगे—'राजन्! अपना यह अशुभ कर्म तुम स्वयं आकर हमसे न कहते तो तुम्हारे सिरके हजारों टुकड़े हो गये होते। तुमने भूलसे यह कार्य किया है, कहीं जान-बूझकर करते तो समस्त रघुकुल ही नष्ट हो जाता। अब हम दोनोंको भी वहीं ले चलो।' दशरथ दोनोंको वहाँ ले गये। वे दोनों पुत्रके शरीरको स्पर्श करके वहीं गिर पड़े और भाँति-भाँतिसे विलाप करने लगे। दुःखी ऋषिने मरते समय कहा—'दशरथ! जैसे मैं आज पुत्र-वियोगके दुःखसे मर रहा हूँ, वैसे ही तुम्हारी मृत्यु भी पुत्र-वियोगके शोकसे ही होगी।' इतना कहकर वे दोनों भी परलोक सिधार गये।

तदनन्तर राजाने यज्ञ किया जिसके फलस्वरूप राजाके श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न—ये चार पुत्र हुए। श्रीरामको वनवास हुआ और इसी पुत्र-वियोगके कारण ही राजाकी मृत्यु हुई। यह इतिहास है। इससे राजाको दण्ड अवश्य मिला परन्तु यह दण्ड वास्तवमें बहुत ही अल्प था। पुत्र वनवासी हुए न कि श्रवणकी भाँति उनका चिर-वियोग हो गया था। हमारी समझसे यदि राजा दशरथ विशेष चेष्टा करते तो सम्भवतः यह दण्ड भी क्षमा हो सकता था। राजाकी व्याकुल दशाको देखकर श्रवणने तो अपनी ओरसे उन्हें क्षमा कर ही दिया था और माता-पिताको समझानेके लिये भेजा था। इसी प्रकार श्रवणके माता-पिताकी विशेष दया हो जाती तो वहाँसे भी दशरथजी बेदाग छूट सकते थे। उन्होंने जितनी कोशिश की, उतना ही कार्य भी हुआ। कोशिश करना भी प्रायश्चित्त ही है। सम्भव है महाराज दशरथ उस समय परमेश्वरसे विशेष प्रार्थना करते और ईश्वर चाहते तो श्रवणकुमारके पिताकी बुद्धिमें पवित्रता और दयाका संचार करके उनके द्वारा दशरथको क्षमा करवा देते। यदि ऐसा होता तो ईश्वरके न्यायमें कोई भी दोष नहीं समझा जाता।

बात तो यह है कि मनुष्यके द्वारा कैसा भी अपराध क्यों न बन जाय, ईश्वरकी शरण होकर उसके अनुकूल प्रायश्चित्तादि उपाय करनेसे बिना ही भोग किये उसके पाप क्षमा हो सकते हैं। प्रायश्चित्त आदि उपायोंसे भी फलभोगके समान ही पापोंका नाश हो जाता है; क्योंकि प्रायश्चित्त भी एक प्रकारसे भोग ही है।

अवश्य ही वर्तमानकालके कानूनमें तीसरे प्रकारके जान-बूझकर बुरी नीयतसे किये हुए खूनके लिये दयाका ऐसा कोई प्रयोग नहीं मिल सकता, जिसका उदाहरण देकर ईश्वरकी दया समझायी जा सके, परन्तु इतना तो सभीको मानना होगा कि सच्चे न्यायकारी प्रजाहितैषी राजाका उद्देश्य भी तो दण्डके कानून बनाने और तदनुसार दण्ड देनेमें अपराधीपर दया करना ही होता है। न्यायी राजा अपराधीको दण्ड देकर उसे शिक्षा देना और उसका सुधार करना चाहता है, द्वेषसे उसे दुःख पहुँचाना और अकारण ही उसकी हत्या करना नहीं चाहता। हत्याका उद्देश्य तो द्वेषपूर्ण और प्रतिहिंसावृत्तिवाले मनुष्यका ही हो सकता है।

इतना होनेपर भी न्याय-परायण राजाकी तुलना ईश्वरके साथ कदापि नहीं की जा सकती। ईश्वरका कानून दया, सुहृदता और जीवोंके हितसे पूर्ण होता है। हमलोग तो उसकी कल्पनातक भी नहीं कर सकते।

ईश्वरका दण्ड भी वरके सदृश होता है। ईश्वरके न्यायसे फरियादी और असामी दोनोंका ही परिणाममें हित और उद्धार होता है. यही उसकी विशेषता है। परम दयालु परमात्माके कानूनके अनुसार जो अपराधी अपनी भूलको सच्चे दिलसे स्वीकार करता हुआ भविष्यमें फिर अपराध न करनेकी प्रतिज्ञा करता है और सच्चे हृदयसे ईश्वरके शरण होकर सर्वस्वसहित अपनेको उसके चरणोंमें अर्पण कर देता है एवं ईश्वरकी कड़ी-से-कड़ी आज्ञाको—उसके भयानक-से-भयानक विधानको, उसके प्रत्येक न्यायको सानन्द स्वीकार करता तथा उसे पुरस्कार समझता है, साथ ही अपने किये हुए अपराधोंके लिये क्षमा नहीं चाहकर दण्ड ग्रहण करनेमें खुश होता है। ऐसे सरल-भावसे सर्वस्व-अर्पण करनेवाले शरणागत भक्तको भगवान् अपराधोंसे मुक्त करके उसे अभय कर देते हैं। इसमें दयालु ईश्वरका न्याय ही सिद्ध होता है। ऐसे भाववाले भक्तको दण्डसे मुक्त करना ही परमात्माके राज्यका दया और न्यायपूर्ण नियम है। इसीसे भगवान्‌में दया और न्याय दोनों एक ही साथ रहते हैं।

श्रीगीताजीमें भगवान् स्पष्ट कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(९। ३०-३१; १८। ६६)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त हुआ मुझको निरन्तर भजता है वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है, उसने भली-भाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।' 'अतएव वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त (कदापि) नष्ट नहीं होता।' 'इसलिये सब कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माके ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझे समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक न कर।'

भगवान्‌की दया

कुछ मित्र मुझे ईश्वरके सद्‌गुणोंके सम्बन्धमें लिखनेको कहते हैं, परन्तु मैं इस विषयमें अपनेको असमर्थ समझता हूँ, क्योंकि ईश्वरके सद्‌गुणोंका कोई पार नहीं है। संसारमें जितने उत्तम गुण देखने, सुनने और पढ़नेमें आते हैं, वे सभी परिमित—ससीम हैं और उस अप्रमेय—असीम परमात्माके एक अंशके द्वारा प्रकाशित हो रहे हैं। '**एकांशेन स्थितो जगत्**' (गीता १०। ४२)। परमात्माके गुणोंका सम्यक् प्रकारसे वर्णन कोई भी नहीं कर सकता। वेद-शास्त्रमें जो कुछ कहा गया है, वह सर्वथा स्वल्प ही है, अन्य गुणोंकी बात तो अलग रही। उस दयामयकी केवल एक दयाके विषयमें खयाल किया जाय तो मुग्ध हो जाना पड़ता है। अहा! उसकी असीम दयाकी थाह कौन पा सकता है? जब एक दयाका वर्णन ही मनुष्यके लिये अशक्य है तो सम्पूर्ण सद्‌गुणोंका वर्णन करना असम्भव है। लोग उन्हें दयासिन्धु कहते हैं, वेद-शास्त्रोंने भी उनको दयाका समुद्र बताया है, परन्तु विचार करनेपर प्रतीत होता है कि यह उपमा समीचीन नहीं है, यह तो उसकी अपरिमित दयाके एक अंशमात्रका ही परिचय है। क्योंकि समुद्र परिमित है और सब ओरसे सीमाबद्ध है परन्तु अपरिमेय परमात्माकी दया तो अपार है, उसके साथ अनन्त समुद्रोंकी भी तुलना नहीं की जा सकती। अवश्य ही जो उन्हें दयासिन्धु और दयासागर बताते हैं, मैं उनकी निन्दा नहीं करता। कारण, संसारमें जो बड़ी-से-बड़ी चीज प्रत्यक्ष देखनेमें आती है, बड़ोंके साथ उसीकी तुलना देकर लोग समझाया करते हैं।

जहाँ मन और बुद्धिकी पहुँच नहीं, वहाँ एकबारगी उसका वाणीसे तो वर्णन हो ही कैसे सकता है? तथापि जो कुछ वर्णन किया जाता है सो वाणीसे ही किया जाता है, चाहे वह कितना ही क्यों न हो, इसलिये भगवान्‌की दयाका जो वर्णन वाणीसे किया गया है, वह पर्याप्त नहीं है। ईश्वरकी दया उससे बहुत ही अपार है। परमात्माकी दया सम्पूर्ण जीवोंपर इतनी अपार है कि जो मनुष्य इसके तत्त्वको समझ जाता है वह भी निर्भय हो जाता है, शोक-मोहसे तर जाता है, अपार शान्तिको प्राप्त होता है और वह स्वयं दयामय ही बन जाता है। ऐसे पुरुषकी सम्पूर्ण क्रियाओंमें भी दया भरी रहती है। उससे किसीकी भी हिंसा तो हो ही नहीं सकती।

दयामय परमात्माकी सब जीवोंपर इतनी दया है कि सम्पूर्णरूपसे तो उस दयाको मनुष्य समझ ही नहीं सकता। वह अपनी समझके अनुसार अपने ऊपर जितनी अधिक-से-अधिक दया समझता है, वह भी नितान्त अल्प ही होती है। मनुष्य ईश्वरदयाकी यथार्थ कल्पना ही नहीं कर सकता। भगवान्की वह अनन्त दया सबके ऊपर समभावसे गंगाके प्रवाहकी भाँति नित्य-निरन्तर चारों ओरसे बह रही है। इस दयासे जो मनुष्य जितना लाभ उठाना चाहता है, उतना ही उठा सकता है। खेदकी बात है कि लोग इस रहस्यको न जाननेके कारण ही दुःखी हो रहे हैं। यह उनकी मूर्खता है। इन लोगोंकी वही दशा समझनी चाहिये, जैसी उस मूर्ख प्यासे मनुष्यकी है जो नित्य-निरन्तर शीतल सुमधुर जलको प्रवाहित करनेवाली भगवती गंगाके किनारे पड़ा हो, परन्तु ज्ञान न होनेके कारण जल न ग्रहणकर प्यासके मारे तड़प रहा हो।

ईश्वरकी दया अपार है परन्तु जो जितनी मानता है उतनी ही दया उसको फलती है, इसलिये उस ईश्वरकी जितनी अधिक-से-अधिक दया तुम अपने ऊपर समझ सको उतनी समझनी चाहिये। तुम्हारी कल्पना जितनी अधिक होगी, तुम्हें उतना ही अधिक लाभ होगा। यद्यपि भगवान्की दयाका थाह उसी प्रकार किसीको नहीं मिलता, जैसे विमानपर बैठकर आकाशमें उड़नेवाले मनुष्यको आकाशका थाह नहीं मिलता, परन्तु इस दयाका थोड़ा-सा रहस्य जाननेपर भी मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। जैसे अथाह गंगाके प्रवाहमेंसे मनुष्यकी प्यास बुझानेके लिये एक लोटा गंगाजल ही पर्याप्त है वैसे ही उस अपार, अपरिमित दयासागरकी दयाके एक कणसे ही मनुष्यकी अनन्त जन्मोंकी शोकाग्नि सदाके लिये शान्त हो जाती है। यह तुलना भी पर्याप्त नहीं है, क्योंकि साधारण जलबुद्धिसे पीये हुए गंगाजलके एक लोटे जलसे तो मनुष्यकी प्यास थोड़ी देरके लिये शान्त होती है, परन्तु ईश्वरकी दयाके कणसे तो भय, शोक और दुःखोंकी निवृत्ति एवं शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति सदाके लिये हो जाती है। अतएव सबको चाहिये कि उस परमेश्वरके शरण होकर उसकी दयाकी खोज करें।

भगवान्की दया सर्वथा-सर्वदा और सर्वत्र व्याप्त है! सुख या दुःख, जय या पराजय जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह ईश्वरकी दयासे पूर्ण है और स्वयं ईश्वरका ही किया हुआ विधान है। उसीकी दया इस रूपमें प्रकट हुई है। मनुष्य जब इस रहस्यको जान लेता है तब उसे सुख और विजय मिलनेपर जो हर्ष प्राप्त होता है, वही दुःख और पराजयमें भी होता है। जबतक ईश्वरके विधानमें सन्तोष नहीं है और सांसारिक सुख-दुःखादिकी प्राप्तिमें हर्ष-शोक होता है, तबतक मनुष्यने भगवान्की दयाके तत्त्वको वास्तवमें समझा ही नहीं है। जब ईश्वरको कर्मोंके अनुसार फल देनेवाला, न्यायकारी, परम प्रेमी, परम हितैषी, परम दयालु और सुहृद् समझ लिया जायगा, तब उनके किये हुए सभी विधानोंमें आनन्दका पार न रहेगा। विषयी और पामर पुरुषोंके हृदयमें तो स्त्री-पुत्र, धन-धामकी प्राप्तिमें क्षणिक आनन्द होता है, किन्तु दयाके मर्मज्ञ उस पुरुषको तो पुत्रकी उत्पत्ति और नाशमें, धनके लाभ और हानिमें, शरीरकी निरोगता और रुग्णतामें तथा अन्यान्य सम्पूर्ण पदार्थोंकी प्राप्ति और विनाशमें, जैसे-जैसे वह भगवान्की दयाके प्रभावको समझता जायगा, वैसे-वैसे ही नित्य-निरन्तर उत्तरोत्तर अधिकाधिक विलक्षण आनन्द, शान्ति और समताकी वृद्धि होती जायगी।

जो पुरुष भगवान्की दयाके यथार्थ प्रभावको जान लेता है, उसके उद्धारकी तो बात ही क्या है? वह दूसरोंके लिये भी मुक्तिका दाता बन जाता है; क्योंकि भगवत्कृपा ऐसी ही वस्तु है। वह भगवत्कृपा मूकको वाचाल बना देती है और पंगुको पर्वत लाँघनेकी शक्ति देती है। संसारमें न होनेवाले काम वह दया करा देती है। परमात्मा सर्व-समर्थ हैं, उनके लिये कोई भी काम अशक्य नहीं है। जीव सब प्रकारसे असमर्थ है, पर परमेश्वरकी दया और आज्ञासे वह भी चाहे सो कर सकता है। मच्छर ब्रह्मा बन सकता है। अब यह प्रश्न उठता है कि जब सभी जीवोंपर भगवान्की दया सर्वथा अपार और सम है, तब उनकी दुर्दशा क्यों हो रही है? इसका उत्तर यह है कि लोग भगवान्की दयाके प्रभावको नहीं जानते। एक दरिद्रके घरमें पारस है, परन्तु जैसे वह पारसका ज्ञान न होनेके कारण दरिद्रताके दुःखसे दुःखी हो दीनताके साथ भीख माँगता फिरता है वैसे ही दयाके तत्त्वको न समझनेके कारण सब जीव दुःखी हो रहे हैं। लोगोंको चाहिये कि वे दयाके तत्त्वको जाननेके लिये तत्पर होकर चेष्टा करें। परमात्माकी दया जाननेके लिये मनुष्यको परमेश्वरसे नित्य गद्गद-वाणीसे विनयपूर्ण प्रार्थना करनी चाहिये। प्रार्थनासे, भजन-ध्यानसे, उसकी दयाके महत्त्वको यत्किंचित् जाननेवाले पुरुषोंका संग करनेसे, सत्-शास्त्रोंके विचारसे और परमेश्वरके किये हुए समस्त विधानोंमें दयाकी खोज करनेसे मनुष्य दयाके तत्त्वको जान सकता है।

यद्यपि भगवान्की दयाके तत्त्वको बतानेवाले महात्माओंका मिलना बहुत कठिन है तथापि चेष्टा करनी चाहिये। जो महात्मा दयाके महत्त्वको कुछ जानते हैं वे भी जितना जानते हैं उतना वाणीद्वारा वर्णन नहीं कर सकते। क्योंकि भगवान्की इतनी दया है कि सारे संसारकी दयाको इकट्ठी

करो तो वह भी दयासागरकी दयाके एक कणके बराबर नहीं हो सकती।

जिसके घरमें पारस है उसकी दरिद्रताका नाश—जैसे पारसके प्रभावको जानते ही हो जाता है, वैसे ही भगवान्‌की दयाके प्रभावको समझनेपर मनुष्यके सब प्रकारके दुःखोंका सर्वथा नाश हो जाता है। जो मनुष्य भगवान्‌की दयाके प्रभावको जान जाता है, वह पद-पदपर उस दयालुका स्मरण करके नित्य-निरन्तर आनन्दमें डूबा रहता है। अपने ऐसे प्रियतम सुहृद्‌को कोई कैसे भूल सकता है? वह जो कुछ क्रिया करता है, सब उस परम दयालु परमेश्वरके आज्ञानुसार ही करता है। उसकी कोई भी क्रिया परमात्माकी इच्छाके विपरीत नहीं हो सकती। जब साधारण सत्पुरुष ही अपने उपकारी और दयालुको भूलकर उसके विपरीत क्रिया नहीं करता तब परमात्माकी दयाके प्रभावको जाननेवाले महात्मा-पुरुष परमात्माको कैसे भूल सकते हैं और कैसे उनके विपरीत कोई क्रिया कर सकते हैं? ऐसे पुरुषोंद्वारा किया हुआ आचरण ही 'सदाचार' कहलाता है और लोग उसे प्रमाण मानकर उसीके अनुसार चलते हैं।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

अब यह समझना चाहिये कि दया किसको कहते हैं। 'किसी भी दुःखी, आर्तप्राणीको देखकर उसके दुःख एवं आर्तताकी निवृत्तिके लिये अन्तःकरणमें जो द्रवतायुक्त भाव पैदा होता है उसीका नाम दया है।' परमेश्वरकी यह दया सब जीवोंपर समानभावसे सदा-सर्वदा अपार है। जीव कितना भी परमेश्वरके विपरीत आचरण करे, परन्तु परमेश्वर उसको सदा ही दयाकी दृष्टिसे देखते हैं। इसके उपयुक्त हमें संसारमें कोई उदाहरण ही नहीं मिलता। माताका उदाहरण दिया जाता है, वह कुछ अंशमें ठीक भी है। बालक बहुत कुपात्र और नीच वृत्तिवाला है, नित्य अपनी माताको सताता है, गाली देता है, ऐसा होनेपर भी माता बालकके मंगलकी ही कामना करती है, कभी उसका पतन या नाश नहीं चाहती। यह उसकी दया है, परन्तु भगवान्‌की दयाको समझनेके लिये यह दृष्टान्त सर्वथा अपर्याप्त है। ऐसा भी देखा जाता है कि विशेष तंग करनेपर दुःख सहनेमें असमर्थ होनेके कारण स्वार्थवश माता भी बालकको त्याग देती है और कभी-कभी उसके अनिष्टकी इच्छा भी कर सकती है, परन्तु परम पिता परमेश्वरके कोई कितना ही विरुद्ध आचरण क्यों न करे, वह कभी न तो उसका त्याग ही करते हैं और न अनिष्ट ही चाहते हैं। यह उनकी परम दयालुताका निदर्शन है। विपरीत आचरण करनेवालेको भगवान् जो दण्ड देते हैं वह भी उनकी परम दया है। बालकके अनुचित आचरण करनेपर जैसे गुरु उसके हितके लिये एवं उसे दुराचारसे हटानेके लिये दण्ड देता है अथवा जैसे चोरी करनेवाली और डाका डालनेवाली प्रजाको न्यायकारी राजा जो उचित दण्ड देता है, वह गुरु और राजाकी दया ही समझी जाती है वैसे ही परमात्मारूप गुरुके किये हुए दण्ड-विधानको भी परम दया समझनी चाहिये। यह उदाहरण भी पर्याप्त नहीं है। गुरु तथा राजासे भूल भी हो सकती है, किसी अन्य कारणसे भी वे प्रमादवश दण्ड दे देते हैं, परन्तु ईश्वरका दण्ड-विधान तो केवल दयाके कारण ही होता है। हम जब परमात्माकी दयापर विचार करते हैं तो हमें पद-पदपर परमात्माकी दयाके दर्शन होते हैं। प्रथम तो परमेश्वरके नियमोंकी ओर ही देखिये, वे कितनी दयासे भरे हैं। कोई जीव कैसा भी पापी क्यों न हो, अनेक तिर्यक्‌योनियोंके भोगनेपर उसको भी अन्तमें परमात्मा मनुष्यका शरीर देते ही हैं। यदि उसके पापोंकी ओर ध्यान दिया जाय तो उसे मनुष्यका शरीर मिलनेकी बहुत ही कम गुंजाइश रह जाती है। परन्तु यह उस परमात्माकी हेतुरहित परम दयाका ही कार्य है जो पुनः उसको मनुष्य-शरीर देकर सुधारका मौका देता है।

गोसाईंजी कहते हैं—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

दूसरा कानून है, कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, जब वह भगवान्‌की शरण हो जाता है अर्थात् अबसे सम्पूर्ण पापोंको छोड़कर भगवान्‌के अनुकूल बन जाता है तो भगवान् उसके पिछले सारे पाप नाशकर उसे तत्काल मुक्ति-पद दे देते हैं। भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा० रा० ६। १८। ३३)

तीसरा कायदा है कि एक साधारण-से-साधारण मनुष्य भी परमात्माको प्रेमसे भजता है, तो परमेश्वर भी उसको उसी प्रकार भजते हैं। **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'** (गीता ४। ११) इतना ही नहीं, परमेश्वरके भजनके प्रतापसे उसके पूर्वके किये हुए सब पापोंका नाश हो जाता है और वह शीघ्र ही परम धर्मात्मा बनकर दुर्लभ परम गतिको प्राप्त होता है। भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

जो परमेश्वरकी भक्ति करता है, उसकी वे सब प्रकारसे रक्षा और सहायता करते हैं एवं उचित बुद्धि देकर इस असार संसारसे उसका उद्धार कर देते हैं।

आप विचारिये कि इन कानूनोंमें परमात्माकी कितनी भारी दया भरी है। यही नहीं, भगवान‍्के सभी नियम इसी प्रकार दयापूर्ण हैं। विस्तार-भयसे यहाँ नहीं लिखे जाते। ऐसे दयाभरे नियम संसारमें माता, पिता, गुरु, राजा आदि किसीके ही यहाँ नहीं हैं।

अब दूसरी ओर ध्यान दीजिये, ईश्वरने हमारी सुविधाके लिये संसारमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा आदि ऐसे-ऐसे अद्भुत पदार्थ बनाये हैं जिनसे हम आरामसे जीवन धारण करते हैं और सुखसे विचरते हैं। यह सब चीजें सबको बिना मूल्य, बिना किसी रुकावटके पूरी मात्रामें समानभावसे सहज ही प्राप्त हैं। कोई कैसा भी महान् पापी क्यों न हो, भगवान‍्के इस दानसे वह वंचित नहीं रहता।

संसारके विषयोंकी भी रचना ईश्वरने इस ढंगसे की है कि उनकी अवस्थापर विचार करनेसे भी बड़ा उपदेश मिलता है। हम जिस किसी भी पदार्थकी ओर नजर उठाकर देखते हैं, वही क्षय और नाश होता हुआ प्रतीत होता है। यह भी एक दयाका ही निदर्शन है। संसारके इन सब पदार्थोंको देखनेसे हमें यह उपदेश मिलता है कि स्त्री, पुत्र, धन, संसारके सम्पूर्ण पदार्थ एवं हमारा शरीर भी क्षणभंगुर और नाशवान् है, इसलिये हमको उचित है कि अपने अमूल्य समयको इन विषयोंके भोगनेमें व्यर्थ न बितावें।

परमात्माकी दया तो समानभावसे सबपर सदा ही है, परन्तु मनुष्य जब परमात्माकी शरण हो जाता है तब ईश्वर उसपर विशेष दया करते हैं। जैसे सुनार सुवर्णको आगमें तपाकर पवित्र बना लेता है, वैसे ही परमात्मा अपने भक्तको अनेक प्रकारकी विपत्तियोंके द्वारा तपाकर पवित्र बना लेते हैं। जब भक्त प्रह्लादने भगवान‍्की शरण ली, तब पहले-पहल उसपर कैसी-कैसी विपत्तियाँ आयीं! वह अग्निमें जलाया गया, जलमें डुबाया गया, उसे विष पिलाया गया, वह शस्त्रोंसे कटाया गया। परन्तु जैसे-जैसे उसे संकटोंकी प्राप्ति अधिकाधिक होती गयी, वैसे-ही-वैसे दयाका अनुभव अधिकतर होता गया और इस कारण वह परमपवित्र होकर अन्तमें परमात्माको प्राप्त हो गया। लोगोंकी दृष्टिमें तो यही बात है कि प्रह्लादको बहुत दुःख झेलना पड़ा, उसपर अनेक अत्याचार हुए, उसे बड़ी-बड़ी विपत्तियोंका सामना करना पड़ा। कोई-कोई भोले भाई तो यहाँतक भी कहते हैं कि भगवान‍्की भक्ति करनेवालोंको भगवान् उत्तरोत्तर अधिक विपत्ति देते हैं, परन्तु वे बेचारे इस बातको समझते नहीं कि भगवान‍्की विधान की हुई इस विपत्तिमें कितनी भारी सम्पत्ति छिपी रहती है।

प्रह्लाद इस तत्त्वको समझता था, इसलिये उसे इन विपत्तियोंमें भगवद्दयारूपी सम्पत्तिके प्रत्यक्ष दर्शन होते थे। जो मनुष्य भक्त प्रह्लादकी तरह प्राप्त हुई विपत्तियोंमें परमात्माकी दया देखता है उसके लिये वे सारी विपत्तियाँ तत्काल ही सम्पत्तिके रूपमें परिणत हो जाती हैं।

आप प्रह्लादके चरित्रको पढ़िये, उसके वचनोंमें पद-पदपर कितना धैर्य, निर्भयता, शान्ति, निःस्पृहता, निष्कामता और आनन्द चमकता है। अग्निमें न जलकर प्रह्लाद कहते हैं—

तातैष वह्निः पवनेरितोऽपि न मां दहत्यत्र समन्ततोऽहम्।
पश्यामि पद्मास्तरणास्तृतानि शीतानि सर्वाणि दिशाम्मुखानि॥

(विष्णु० १। १७। ४७)

'हे तात! यह महान् वायुसे प्रेरित धधकती हुई भी अग्नि मुझे नहीं जलाती (इसमें आप कोई आश्चर्य न करें), क्योंकि मैं इस अग्निमें और अपनेमें समभावसे उस एक ही सर्वव्यापी भगवान् विष्णुको देखता हूँ, अतएव अग्निकी ये लपटें मुझको चारों ओर शीतल कमलपत्रके सदृश बिछी हुई सुखमयी प्रतीत होती हैं।'

जब गुरुपुत्र शण्डामर्कके द्वारा उत्पन्न की हुई कृत्याने प्रह्लादको मारनेमें असमर्थ होकर शण्डामर्कको ही मार डाला, तब दयामय प्रह्लाद श्रीभगवान‍्से कहने लगे—

यथा सर्वगतं विष्णुं मन्यमानोऽनपायिनम्।
चिन्तयाम्यरिपक्षेऽपि जीवन्त्वेते पुरोहिताः॥
ये हन्तुमागता दत्तं यैर्विषं यैर्हुताशनः।
यैर्दिग्गजैरहं क्षुण्णो दष्टः सर्पैश्च यैरपि॥
तेष्वहं मित्रभावेन समः पापोऽस्मि न क्वचित्।
तथा तेनाद्य सत्येन जीवन्त्वसुरयाजकाः॥

(विष्णु० १। १८। ४१—४३)

'यदि मैं सर्वगत और अक्षय श्रीविष्णुको शत्रु-पक्षमें भी देखता हूँ तो ये पुरोहित जीवित हो जायँ। जो मेरेको मारनेके लिये आये, जिन्होंने विष दिया, अग्नि लगायी, जिन दिग्गजोंने रूँधा, सर्पोंने काटा, उन सबमें यदि मैं मित्रभावसे सम हूँ एवं कहीं भी मेरी पापबुद्धि नहीं है तो उस सत्यके प्रभावसे इसी समय ये पुरोहित जीवित हो जायँ।' उसके बाद वे जी उठे।

साधन-कालमें भगवान् अपने भक्तोंपर जो विपत्तियाँ डालते हुए-से दीखते हैं और किसी-किसीकी मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और सम्पत्ति भी हर लेते हैं, सो किसलिये? उन्हें अज्ञानरूपी निद्रासे जगानेके लिये, साधनकी रुकावटोंको हटानेके लिये, पापोंसे पवित्र करनेके लिये, कायरताका नाश करके उन्हें वीर और धीर बनानेके लिये, सच्ची भक्तिको बढ़ानेके लिये और उनकी ऐसी विमल कीर्ति फैलानेके लिये, जिसे गा-गाकर लोग पवित्र हो जायँ। क्योंकि विपत्तिकालमें भगवान् जितने याद आते हैं उतने सम्पत्तिकालमें नहीं आते। इसीलिये कुन्तीदेवीने भगवान्से विपत्तिका वर माँगा था।

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥

(श्रीमद्भा० १। ८। २५)

'हे जगद्गुरो! हम चाहती हैं कि पद-पदपर हमेशा हमपर विपत्तियाँ आवें, जिनसे हमें संसारसे छुड़ानेवाला आपका दुर्लभ दर्शन मिलता रहे।'

परन्तु यह कोई नियम नहीं कि भक्ति करनेवालेको भगवान् अवश्य विपत्ति देते हैं। जैसा अधिकारी होता है, वैसी ही व्यवस्था की जाती है।

यदि आप खयाल करके देखें तो आपको स्पष्ट दीखेगा कि परमात्माकी दयाकी निरन्तर अनवरत वर्षा हो रही है। इस वर्षाकी शीतल सुधाधाराका आनन्द उन्हींको मिलता है जो भगवान्की शरण होकर उनकी दयाकी ओर ध्यान देते हैं। दयाकी ऐसी अनवरत वृष्टि होते रहनेपर भी उनकी दयाका प्रभाव न जाननेके कारण लोग लाभ नहीं उठा सकते। कोई तो मूर्खतावश छाता लगा लेते हैं और कोई मकानमें घुस जाते हैं। कभी-कभी परमात्माकी विशेष दयासे पूर्व-पुण्य-पुंजके कारण उनके प्रेम, प्रभाव, गुण और रहस्यकी अमृतरूप कथा बिना चाहे और बिना चेष्टा किये स्वतः ही आ प्राप्त होती है, उसके तत्त्वको नहीं समझनेके कारण उपेक्षा करके जो मनुष्य चला जाता है, उसका अमृतरूपी वर्षासे भागकर घरमें घुस जाना है और कथामें उपस्थित रहकर जो आलस्य और नींद लेना है, वह अपने ऊपर छाता लगा लेना है।

ईश्वरकी दयाके लिये क्या कहा जाय? सम्पूर्ण जीवोंके मस्तकपर उनका निरन्तर हाथ है, परन्तु अभागे जीव उस हाथको हटाकर परे कर देते हैं!

जब यह जीव कोई बुरा काम करनेके लिये तैयार होता है तो प्रायः ही उसीके हृदयसे यह आवाज आती है कि 'यह बुरा काम है।' इस प्रकारकी जो चेतावनी है, यह ईश्वरका मस्तकपर हाथ है। ईश्वर उसको समयपर चेता देते हैं। मालूम होता है, मानो हृदयस्थ कोई पुरुष निषेध करता है कि यह काम बुरा है, परन्तु काम या लोभके वश होकर ईश्वरकी आज्ञाकी अवहेलना करके बुरे काममें प्रवृत्त हो ही जाता है, यही उस कृपासिन्धुकी कृपाकी अवहेलना करना है अर्थात् अपने मस्तकपर जो उनका हाथ है उसको परे हटाना है।

समय-समयपर परमेश्वर उत्तम काम करनेके लिये भी हृदयमें प्रेरणा करते हैं। भजन-ध्यान, सेवा-सत्संग आदि करनेकी स्फुरणा होती है, परन्तु यह जीव उसकी अवहेलना करके संसारके विषयभोग और प्रमादमें लग जाता है, यह भी उस दयामयका हमारे सिरपर जो हाथ है उसको परे करना है।

इसके सिवा जब संसारका ऐश्वर्य अर्थात् स्त्री, पुत्र और धनादि आकर प्राप्त होते हैं, जिसको हम सुख और सम्पत्तिके नामसे कहते हैं, उनमें भी समय-समयपर क्षय और नाशकी भावना उत्पन्न होती है और वह भी स्वाभाविक हमको क्षणभंगुर और नाशवान् प्रतीत होते हैं। ऐसी प्रतीति होनेपर भी हम उनका त्याग या सदुपयोग नहीं करते, यह उस दयामय ईश्वरका हाथ अपने मस्तकसे परे हटाना है।

ईश्वरकी प्राप्तिके साधनमें बाधकरूप जो संसारके धन-जन-मान-ऐश्वर्य आदिके नाश होनेपर पुनः उन क्षणभंगुर, नाशवान्, दुःखमय पदार्थोंकी प्राप्तिकी जो इच्छा करना है, यह भी उस दयामयका हाथ अपने मस्तकसे परे हटाना है।

जब भगवान्के नाम, रूप, गुण और प्रभावकी स्वतः ही स्फुरणा होती है तो समझना चाहिये कि यह उनकी सबसे विशेष दया है। तिसपर भी हम उनको भुला देते हैं और स्मरण रखनेकी उचित कोशिश नहीं करते हैं, यही उस दयामयकी दयाका हाथ हमारे मस्तकसे परे कर देना है।

इसलिये हमलोगोंको चाहिये कि भगवान्की दयाको पहचानें और सर्वथा उसकी संरक्षकतामें रहकर नित्य निर्भय और परम सुखी हो जायँ।

ईश्वर सहायक हैं

भगवद्भक्तिके पथपर चलनेवाले पुरुषोंको अपने मनमें खूब उत्साह रखना चाहिये। इस बातका सदा स्मरण रखना चाहिये कि समस्त विघ्नोंके नाश करनेवाले और साधनमें सतत सहायता पहुँचानेवाले भगवान् हमारे पीछे स्थित रहकर सदा हमारी रक्षा करते हैं। रणांगणमें रण-प्रवृत्त योद्धाके मनमें इस स्मृतिसे महान् उत्साह बना रहता

है कि मेरे पीछे विशाल सैन्यको साथ लिये सेनापति स्थित है। भक्तको तो इससे भी अनन्तगुण अधिक उत्साह होना चाहिये। क्योंकि उसके पीछे अनन्त शक्ति-सम्पन्न भगवान्‌का बल है। शक्तिशाली सैन्यका सहारा पाकर जब निर्बल भी बलवान् बन जाता है, जब कायर भी शूरवीरका-सा काम कर दिखाता है। निर्बल, निरुत्साही मनुष्य इस बातको भलीभाँति समझता हुआ कि मुझमें बड़ी भारी शत्रु-सेनाका सामना करनेकी शक्ति नहीं है, किन्तु शत्रु-सेनाकी अपेक्षा अपनी सेनाको अधिक बलवती देखकर उसके भरोसे लड़नेको तैयार हो जाता है। फिर, जिसके भगवान् सहायक हों, उसको तो भीषण विषय-सैन्यको तुच्छ समझकर उसके नाशके लिये बद्ध-परिकर ही हो जाना चाहिये। परमात्मा श्रीकृष्ण अपने प्रेमी भक्तोंको आश्वासन देते हुए घोषणा करते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

'जो अनन्यभावसे मुझमें स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य एकीभावसे मुझमें स्थितिवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

भगवान्‌की इस घोषणापर विश्वासकर कठिन-से-कठिन मार्गपर अग्रसर होनेमें भी संकोच नहीं करना चाहिये। शंख, चक्र, गदा आदि धारण करनेवाले भगवान् जब हमारे प्राप्त साधनकी रक्षा और अप्राप्तकी प्राप्ति करानेका स्वयं जिम्मा ले रहे हैं, जब पद-पदपर हमें बचानेके लिये तैयार हैं, तब इस घोर अन्धकारमय संसार-अरण्यसे बाहर निकलनेके लिये हमने जिस साधनामय पथका अवलम्बन किया है, उसमें विघ्न करनेवाले काम-क्रोध-रूप सिंह-व्याघ्रादिसे भय करनेकी क्या आवश्यकता है? जब भगवान् सदा-सर्वदा हमारे साथ हैं तब भय किस बातका? जैसे छोटा बालक माताकी गोदमें आते ही अपनेको निर्भय और निश्चिन्त मानता है, इसी प्रकार हमें भी अपनेको परमपिता परमात्माकी गोदमें स्थित समझकर निर्भय और निश्चिन्त रहना चाहिये। भगवान् तो बल, प्रेम, सुहृदता आदिमें सभी प्रकार सबसे अधिक हैं। कारण, ये सारे सद्‌गुण उन्हीं गुणसागरके तो गुण-कण हैं अतएव सब तरहके शोक, भय आदिको त्यागकर, बड़े उत्साह और उमंगके साथ एक वीरकी भाँति अपने अभीष्ट मार्गपर द्रुतगतिसे अग्रसर होना चाहिये। यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि जिस प्रकार भक्तप्रवर अर्जुनने भगवान्‌की सहायतासे भीष्म, द्रोण, कर्णादिद्वारा सुरक्षित ग्यारह अक्षौहिणी कौरव-सेनाको विध्वंसकर विजय प्राप्त की थी, उसी प्रकार उनकी सहायतासे हम भी काम-क्रोधादिरूप कौरव-सेनाका सहजहीमें विनाशकर परमात्माकी प्राप्तिरूप सच्चे स्वराज्यको प्राप्त कर सकते हैं। बस, भगवान्‌को अपना सच्चा अवलम्बन बनाकर भीमार्जुनकी भाँति प्राणविसर्जनतकका प्रणकर भगवदाज्ञानुसार कार्यक्षेत्रमें अवतीर्ण होनेभरकी देर है।

प्रेमसे ही परमात्मा मिल सकते हैं

मनुष्य स्वभावसे ही दुःखोंके प्रति वैराग्य और आनन्दके प्रति प्रेमका भाव रखता है। संसारमें कोई भी मनुष्य ऐसी इच्छा नहीं करता कि मुझे दुःख मिले या सुख न मिले। परन्तु भूलसे वह दुःखोंसे भरी वस्तुओंमें सुख समझकर उनमें फँस जाता है। पारधी पक्षियोंको पकड़नेके लिये दाने बिखेरता है। मूर्ख पक्षी उन्हें अपने फँसनेका सामान न समझकर उनमें सुख मान लेते हैं। अग्निको रमणीय और सुखरूप समझकर पतंग उसमें गिरकर जल मरते हैं, इसी प्रकार हमलोग भी प्रकृतिके फैलाये हुए इस जालको सुखरूप समझकर उसमें फँस जाते हैं। जैसे कोई समझदार पखेरू दूसरोंको फँसे हुए समझकर दानोंके मोहसे जालमें नहीं फँसता, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी इन भोगोंमें नहीं फँसते। परन्तु अज्ञानी फँसकर बारम्बार दुःख भोगते हैं। सिंह-व्याघ्रादि पशु उतने दुःखदायी नहीं हैं जितने ये स्त्री, पुत्र, धन, मान, शरीरादि विषयोंकी आसक्ति दुःखदायिनी हैं। ये मोहसे रमणीय मालूम होते हैं परन्तु परिणाममें दुःखसे भरे हुए हैं।

इन पदार्थोंमें कोई भी स्थायी नहीं है। जो स्थायी नहीं, वह अन्तमें छूटते समय दुःख देनेवाला होता है। इनके सेवनमें भी सुख नहीं है। एक बार मीठा अच्छा मालूम होता है, ज्यादा खाइये अरुचि हो जायगी। इसी तरह स्त्री आदि पदार्थ भी अरुचिकर प्रतीत होने लगते हैं। धनमें भी सुख नहीं है। मान लीजिये एक आदमीके पास लाखों रुपये हो गये, उसने मकान, मोटरें खरीदकर खूब मौज उड़ायी। भाग्यवश धन नष्ट हो गया। मौजका सारा सामान जाता रहा। अब पहली बातें याद आते ही दारुण दुःख होता है। दूसरे धनियोंको जाते-आते और मौज करते देखकर उसका चित्त जलने लगता है, इसी प्रकार स्त्री-सम्भोगादिसे धातुक्षीण वगैरहकी बीमारियाँ होनेपर महान् क्लेश हो जाता है। सोचता है, बीमारी अच्छी हो जानेपर फिर ऐसा नहीं करूँगा,

परन्तु मोहवश फिर भी उसी रास्तेपर चलता है, इसी प्रकार परलोकके भोग भी दुःखरूप ही हैं। धन कमानेमें, उसकी रक्षा करनेमें, लगाने, लग जाने और छूट जानेमें क्लेश होता है। धन पैदा करनेमें अन्याय भी होता है। मन रोकता है पर फिर लोभकी वृत्ति दबाती है कि एक बार ऐसा कर लें, फिर नहीं करेंगे। दुविधा मच जाती है। हृदयमें युद्ध ठन जाता है। सात्त्विकी और तामसी वृत्तियाँ आपसमें लड़ने लगती हैं, बड़ी बुरी अवस्था होती है। अन्तमें जैसे बिल्ली कबूतरको दबा लेती है उसी प्रकार तामसी वृत्ति उसे दबा लेती है। बहुत थोड़े मनुष्य इससे बचते हैं। धन इकट्ठा कर लेनेके बाद उसकी रक्षा करनेमें बड़ा परिश्रम होता है। हाथसे किसीको दिया जाता नहीं, यों करते-करते मृत्यु उपस्थित हो जाती है तब सोचता है कि 'हाय! मैंने क्या किया? व्यर्थ ही रुपये कमाये, अब छोड़ने पड़ते हैं।' इस तरह दुःखसागरमें गोते लगाता हुआ ही मर जाता है। तात्पर्य यह है कि संसारके सभी भोग शहद लिपटे हुए विषके समान हैं। ये केवल देखनेमात्रके रमणीय और इनमें केवल माननेमात्रका ही सुख है। यह केवल मृगतृष्णा है, इसमें कहीं भी आनन्दका लेश नहीं है, फिर इससे प्रेम करना मूर्खता नहीं तो और क्या है? सच्चा सुख तो एक परमात्मामें है। वही परम आनन्दस्वरूप है—यही सन्त, महात्मा और शास्त्रोंका कथन है। इस सुखके सामने त्रैलोक्यका राज्य भी तुच्छ है। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(६। २२)

'जिस लाभको पाकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और भगवत्प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित हुआ योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता।'

इस आनन्दके प्राप्त होनेपर शरीरके यदि टुकड़े-टुकड़े भी कर दिये जायँ तो भी वह विचलित नहीं होता। घर-द्वार सबका सर्वनाश हो जाय तो भी उसके आनन्दमें किसी प्रकारकी कमी नहीं होती, वह तो उस परमात्माको प्राप्तकर स्वयं ही परमानन्दरूप हो गया है। उसे किसी वस्तुकी कोई आवश्यकता नहीं।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
(गीता २। ४६)

जैसे सब ओरसे जल प्राप्त होनेपर कुएँकी आवश्यकता नहीं रहती, इसी प्रकार उस ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति हो जानेपर किसी भी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रहती। इस प्रकारका अतुल आनन्द प्रेमसे मिल सकता है। अतएव स्त्री-पुत्र, धन-मानादि अनर्थकारक दुःखदायी पदार्थोंसे प्रेम हटाकर उस आनन्दमयसे प्रेम करना चाहिये, जिससे उस अखण्ड एकरस परमानन्दकी प्राप्ति हो। इस विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि संसारसे वैराग्य और परमात्मासे प्रेम करनेमें ही कल्याण है।

प्रेमका स्वरूप क्या है?

वास्तवमें प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है। कुछ कहा नहीं जा सकता, परन्तु उसका कुछ अनुमान किया जाता है। प्रेम होनेपर प्रेम करनेके लिये कहा नहीं जाता! लोभीको यह कहना नहीं पड़ता कि तुम रुपयोंसे प्रेम करो। कभी बाप-दादेने भी पारस आँखसे नहीं देखा, परन्तु लोभीको पारस बड़ा प्यारा है। नाम सुनते ही मुख खिल उठता है। इसी प्रकार भगवान्‌में प्रेम होनेपर उसका नाम सुनते ही परम आनन्द होता है। लोभीको धनकी और कामीको जैसे सुन्दर स्त्रियोंकी बातें अच्छी लगती हैं, इसी प्रकार भगवत्प्रेमीको भगवान्‌की बातें प्राणप्यारी लगती हैं। जैसे अपने प्रेमी मित्रका नाम सुनते ही उस तरफ ध्यान चला जाता है और उसकी बातें सुहावनी लगती हैं वैसे ही भगवत्प्रेमीको भगवान्‌की बातें सुहाती हैं। प्रेम और मोहमें बड़ा अन्तर है। प्रेम विशुद्ध है, मोह कामनासे कलंकित है। मोहमें स्वार्थ है, वह छूट सकता है; प्रेम स्वार्थरहित और नित्य है। बालकका मातामें एक मोह होता है जिससे वह माताके पास तो रहना चाहता है, परन्तु उसके आज्ञानुसार काम करनेके लिये तैयार नहीं रहता। प्रेममें ऐसा नहीं होता। वहाँ तो अपने प्रेमास्पदको कैसे सुख पहुँचे, कैसे उसका कोई प्रिय कार्य मैं कर सकूँ, इसी बातकी खोजमें प्रेमी रहता है। परन्तु ऐसे बहुत कम लोग होते हैं। भगवान् और उनके भक्तोंमें ही ऐसे भाव प्रायः पाये जाते हैं।

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥
सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥

भगवान् राम मित्रताके लक्षण बतलाते हुए सुग्रीवसे कहते हैं—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
जिन्ह कें असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥
सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

भगवान्‌ने इसको यों ही निबाहा। सीताके विरह-दुःखको सहनकर पहले सुग्रीवके दारुण दुःखको दूर किया।

शुद्ध प्रेम केवल सत्-जनोंमें ही होता है, संसारमें मोह और काम ही अधिक है। भाई या स्त्री बड़ा प्रेम करते हैं, ऐसा मालूम होता है, परन्तु उसमें भी मोह रहता है। यदि ऐसा न होता तो उसके मनके अनुसार उनके आचरण होते, जिस बातमें वह सुखी होता है उसी बातको वह मानते और करते, वह खद्दर पहनता और उसे अच्छा समझता है तो उसके पुत्र, भाई या उसकी स्त्री भी खद्दर ही पहनती। पर ऐसा बहुत कम होता है। कारण यही है कि प्रेम कम है, मोह या काम अधिक है। इससे उनके आचरण अपने इच्छानुकूल होते हैं। ऐसी स्त्री पतिसे अपने सुखके लिये ही प्रेम करती है, पतिके सुखके लिये नहीं। इसका नाम प्रेम नहीं है। भगवान्‌में ऐसा मोह होना भी उत्तम है परन्तु प्रेम कुछ और ही वस्तु है। प्रेममें भी यदि विशुद्ध भाव हो तो उसका कहना ही क्या है? वास्तवमें साधकके लिये यह प्रेम सुगम है। रुपयेके प्रेमसे इसमें कम परिश्रम है। क्योंकि रुपयेमें केवल हम प्रेम करते हैं, रुपया जड होनेसे हमसे प्रेम नहीं कर सकता। परन्तु भगवान् तो जड नहीं हैं, परम प्रेमी हैं, हम जितना प्रेम करते हैं उससे कहीं अधिक वह हमसे करते हैं। अतएव इसमें शीघ्रतासे सिद्धि होती है, इसी प्रकार महात्माओंका प्रेम भी हमारे ही हितके लिये होता है। हम यदि एक बार प्रेम करना चाहते हैं तो वे चार बार करते हैं। इसमें उनका कोई स्वार्थ नहीं रहता।

माताके प्रेममें भी मोह और काम रहता है। श्राद्ध, पिण्ड और सेवा आदिका स्वार्थ रहता है। कुछमें केवल मोह रहता है। जैसे एक बुढ़ियाके नाती है, वह उसपर बहुत अधिक स्नेह रखती है, उसे कोई फलकी आशा नहीं है, क्योंकि नातीके बड़े होनेतक वह मर जायगी, इस बातको वह जानती है, इसी प्रकार किसी माताके एक दुराचारी, कुटिल, माता, पिता और परिवारको सतानेवाला कुपुत्र है। उसने चोरी की, वह जेल गया, माता उसके लिये रोती है, उससे कोई भी सुखकी आशा नहीं, तो भी उसे छुड़ानेका उपाय करती है, इसीलिये कि पुत्रमें उसका मोह है। प्रेम इससे विलक्षण है। परमात्मामें स्वार्थरहित अनन्यप्रेम होनेसे ही परम लाभ होता है। प्रेम है, है भी निष्काम, परन्तु थोड़ा है तो उससे भगवत्प्राप्ति शीघ्र नहीं होती। विशुद्ध और अनन्य प्रेम ही भगवत्प्राप्तिका मूल्य है। स्त्री-पुत्र आदि भोग-पदार्थ या स्वर्ग-सुखके लिये जो प्रेम है वह प्रेम भगवान्‌से नहीं, जिन भोगोंके लिये है, उनसे है। यद्यपि मुक्तिके लिये प्रेम होना अच्छा है, पर सर्वोच्च प्रेम वह है, जो केवल प्रेमके लिये होता है और उसीका नाम विशुद्ध प्रेम है। किसी सन्त और सत्संगियोंका पारस्परिक प्रेम भी बिलकुल नि:स्वार्थ नहीं कहा जा सकता, नि:स्वार्थ होता तो सन्त यह क्यों चाहता कि सत्संगमें अधिक आदमी आवें और ठीक समयपर आवें। इससे पता लगता है कि कुछ स्वार्थ है, अवश्य ही वह स्वार्थ उत्तम है। सत्संगियोंमें भी कई तरहके स्वार्थ होते हैं। कोई धनके लिये आते हैं, कोई भजन-ध्यान अधिक बढ़नेकी आशासे आते हैं, कोई मानके लिये आते हैं तो कोई यही समझते हैं कि कुछ-न-कुछ लाभ तो होगा ही। इस तरह स्वार्थ रहता है। यदि सत्संगियोंकी इच्छाके विरुद्ध कुछ कहा जाय तो वे सुनते ही नहीं। लापरवाही कर जाते हैं। यदि सन्त किसी हेतुसे कोई अपने स्वार्थकी बात कहने लगे तो सम्भवत: दो-चार बार तो लोग सुन लेते हैं पर अन्तमें घृणा हो जाती है। भक्तिके प्रचारमें भी यदि प्रचारकका स्वार्थ दृष्टिगोचर हो जाय तो लोग उसे तुरन्त छोड़ देते हैं। सन्तके द्वारा अकस्मात् ली हुई परीक्षामें तो शायद ही कोई उत्तीर्ण हो, या तो लोग उसे पागल समझ बैठें या स्वार्थी और अन्तमें उसे छोड़ ही दें। एक दृष्टान्त है—

किसी गाँवमें दो साधक थे, वे रोज गाँवसे रोटी माँग लाया करते और गाँवसे बाहर किसी वृक्षके नीचे बैठकर उन्हें एक वक्त खा लेते और वहीं रात-दिन भजन-ध्यानमें मस्त रहते। उनके भजनकी मस्तीको देखकर लोग उनके पास आने-जाने लगे, गाँवमें उनकी कीर्ति फैल गयी। राजातक बात पहुँची। राजाने भी दर्शन करनेका विचार किया। लोगोंने आकर उन दोनोंसे कहा कि आज आपका दर्शन करने महाराजा स्वयं पधारते हैं। उन दोनोंने सोचा कि यह तो बड़ी विपत्ति आयी। साधक कहीं मान-बड़ाई पाने लगे और यदि उनमें उसका मन लग जाय तो उसके गिरनेमें देर नहीं लगती। यह विचारकर उन लोगोंने राजाकी सवारी दूरसे देखकर ही रोटियोंपर आपसमें लड़ना शुरू कर दिया। इतनेमें राजाकी सवारी वहाँ आ पहुँची। उन लोगोंको पतली-मोटी और एक-एक, आधी-आधी रोटियोंके लिये लड़ते देखकर राजाने अपने मनमें समझ लिया कि यहाँ कोई सार नहीं है। राजा वहाँसे लौट गया। स्वार्थके बनावटी दृश्यसे भी जब प्रेम दूर भागता है तब असली स्वार्थमें तो प्रेमका रहना असम्भवही-सा है। इसलिये परमात्मासे स्वार्थरहित प्रेम ही करना चाहिये। सच्चे अनन्य विशुद्ध प्रेमके समान दूसरी वस्तु जगत्‌में कोई भी नहीं है, परमेश्वर इसीसे मिलते हैं वही उसकी कीमत है। जब यह प्रेम जागृत होता है, तब फिर उसे सिवा भगवान्‌के और कोई वस्तु अच्छी ही नहीं लगती। हमलोग भगवान्‌की पूजा करते हैं, वे ग्रहण नहीं करते। क्या कारण है? प्रेम नहीं है। प्रेम हो तो वे अवश्य ग्रहण करें। गीतामें भगवान्‌ने श्रीमुखसे कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(९। २६)

भगवान् हमारे फल-फूल और पत्तोंके भूखे नहीं हैं, वे भूखे हैं प्रेमके। वे ढूँढ़ते हैं दुनियामें किसी सच्चे प्रेमीको। सच्चा प्रेमी वही है जो भगवानके लिये अपनी खाल खिंचवाता हुआ भी रोम-रोमसे स्वाभाविक प्रसन्नता झलका सकता है। जिन वस्तुओंको वह अपनी समझता है, उन्हें भगवान् स्वीकार कर लेते हैं तो उसे बड़ी प्रसन्नता होती है। वह समझता है कि इनसे मेरा अहंकार चला गया। बात भी ठीक है, जिस चीजको मनुष्य अपनी समझता है उसे कोई-कोई श्रेष्ठ पुरुष भी स्वीकार नहीं करता, तब भगवान् तो कैसे करने लगे? जब भगवान्ने हमारी दी हुई वस्तु स्वीकार कर ली तो अहंकार गया। वास्तवमें तो सभी कुछ भगवान्का है, हमने भूलसे अपना समझ रखा है। यही भाव तो हटाना है। जिस दिन वस्तुओंसहित भगवान्ने हमें अपना लिया, उस दिन समझ लो कि भगवान् हमारे हो गये!

जब भगवान्में विशुद्ध प्रेम हो जाता है तब फिर संसारमें किसीसे भी भय या प्रेम नहीं रहता और न वह किसी अपमानकी ही परवा करता है। जिस तरह जोरकी बाढ़में गंगातीरके सब वृक्ष बह जाते हैं इसी प्रकार प्रेमकी प्रबल धारामें मान, अपमानादि सब बह जाते हैं। जैसे ध्यानमें स्थित योगीकी वृत्ति भगवान्के सामने बहती है, इसी प्रकार प्रेमधारा भी भगवदभिमुखी बहने लगती है। इस अवस्थाका आनन्द वर्णनातीत है। इसमें अहंकारसे उत्पन्न होनेवाले लज्जा, भय, मान आदि सब दोष दूर हो जाते हैं, सारे द्वन्द्व मिट जाते हैं, प्रेमी एक शवके समान हो जाता है। भगवान् भी हर समय ऐसे प्रेमीके अधीन रहते हैं। जो भगवान्को अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है, भगवान् भी उसे अपना सब कुछ सौंप देते हैं। प्रेम बढ़नेपर शरीरमें रोमांच होता है, पूर्णिमाके चन्द्रमाको देखकर जैसे समुद्र उछलने लगता है, उसी तरह भगवान्के मोहन-मुखकमलको देखकर प्रेमी भक्तके हृदयमें भी आनन्दकी लहरें उछालें मारने लगती हैं। उसके हृदयमें प्रेमका समुद्र उमड़ता है जो उसमें समाता नहीं, कण्ठावरोध हो जाता है, वाणी गद्गद हो जाती है, नेत्र और नासिकासे प्रेम धारारूपसे बहने लगता है और अन्तमें भृकुटि तथा ब्रह्माण्डतक पहुँचकर उस प्रेमीको बेहोश कर देता है। उसकी अवस्था अचल प्रतिमाके समान हो जाती है।

जब भगवान्के लिये व्याकुलता होती है तब भगवान् भी भक्तके लिये व्याकुल हो उठते हैं। सीता अशोकवाटिकामें रामके लिये विलाप करती है तो राम भी सीताके लिये व्याकुल होकर उसे वन-वनमें खोजते हैं!

यदि आज हम भगवती रुक्मिणी या द्रौपदीकी तरह व्याकुल हों तो भगवान् भी उसी तरह व्याकुल होकर हमें दर्शन देनेके लिये अवश्य पधारेंगे। भगवान् विधिसे प्रसन्न नहीं होते हैं, उन्हें चाहिये प्रेम! प्रेममें नियमकी आवश्यकता नहीं। नियम है तो प्रेम उच्च नहीं है। प्रेममें नीति-मानादिका सर्वथा स्वाभाविक ही अभाव होता है। नियम तोड़ने नहीं पड़ते, टूट जाते हैं। इसी अवस्थामें सच्चा प्रेम खिलता है। यहाँ स्वाँग नहीं होता। भक्त प्रेमरूप होकर भगवान्में अभिन्नरूपसे मिल जाता है। यही विशुद्ध प्रेम है, भगवान्का यही सच्चा स्वरूप है। भाग्यवती गोपियोंमें यही सच्चा प्रेम था। उनके प्रेमको देखकर जड जीव भी पिघल जाते थे तब मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? उस प्रेम-विह्वलतासे सनी हुई वायु ही प्रेमका प्रवाह बहा देती है। जिस जगह प्रेमी विचरता है वहाँकी सभी वस्तुएँ प्रेममय बन जाती हैं। प्रेमीके द्वारा स्पर्श की हुई जगह तथा उसके चरणोंको छू जानेवाली धूलि भी प्रेमस्वरूप बन जाती है। इस रहस्यको भगवत्प्रेमी ही जानते हैं, ऐसा प्रेम सिवा भगवान्के और किसी दूसरेमें नहीं हो सकता। जिस प्रेमको सुनकर श्रीउद्धव प्रेमके प्रवाहमें बह गये थे, यदि उसे हम सुनें तो हमारी भी वही दशा हो, पर वह सुननेको मिले कहाँ? स्वाँगमें वह बात नहीं हो सकती! वास्तवमें हो, तभी हो सकती है।

जब एक सुन्दर स्त्रीके कटाक्षोंसे घायल मनुष्यको जगत्भरमें स्त्री-ही-स्त्री दीखती है और वह उसीमें बड़ा आनन्द मानता और पागल हुआ घूमता है, जो एक अत्यन्त तुच्छ बात है, तो फिर जिसको उस परमानन्दस्वरूप परमात्मा श्यामसुन्दरके कटाक्षबाण लगे होंगे, उसकी क्या दशा होती होगी? वह किस आनन्दमें मतवाला होगा? उसे जगत्में क्या दीखता होगा? यह बात न तो कल्पनामें आ सकती है और न कोई इसके साथ तुलना करनेलायक पदार्थ ही दीखता है। यदि इसे धूलिकण और उसे पृथ्वी या इसे दर्पणका सूर्य और उसे सच्चा सूर्य कहें तो भी उचित नहीं होता। जैसे बर्फकी पुतली समुद्रकी गहराई नापकर नहीं बतला सकती, वैसे ही इस आनन्दका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। वास्तवमें वह भगवत्प्रेमी बर्फकी पुतलीकी भाँति भगवत्स्वरूप ही हो जाता है। उससे भगवत्के स्वरूपके वर्णनकी आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि वह भगवान्से अलग रह नहीं जाता और दूसरा कोई बतला नहीं सकता। यद्यपि परमेश्वरकी प्राप्तिके बाद भी प्रेमीका पूर्वदेह हमलोगोंके दृष्टिगोचर

होता है, पर वह है प्रेमरूप ही। वह जिस तरफ जाता है उधर ही प्रेमकी वर्षा करता है। वर्षाकी भाँति उसकी दृष्टि ही लोगोंको प्रेमसुधासे भिगो देती है। ऐसे पुरुषोंके भी दर्शन कठिन हैं, फिर भगवान्‌के दर्शनका तो कहना ही क्या है? परन्तु प्रेम होनेसे उसका प्राप्त होना भी बहुत सहज है। भगवान् दयामय हैं। वे यदि हमारे कर्मोंकी ओर देखें तो हमारा निस्तार कठिन है, परन्तु वे ऐसा नहीं करते। वे प्रेमके बदलेमें अपनेको बेच डालते हैं। इस बातको जो जान लेता है वह तो उनके शरणागत हो उन्हें प्राप्त ही कर लेता है।

भगवान् श्रीरामके प्रेममें मत्त भरत जब चित्रकूट जा रहे थे, तब उनके प्रेमको देखकर जड चेतन और चेतन जडरूप हो गये। जब भरतके दर्शनमात्रसे जड चेतन और चेतन जड हो चले, तब स्वयं भरतकी क्या दशा हुई थी सो तो भरत ही जानें। इस प्रकारका स्वार्थहीन प्रेम ही शुद्ध, अलौकिक और उज्ज्वल प्रेम कहलाता है। इसमें न मलिनता है और न व्यभिचार है। यह तो देदीप्यमान प्रकाश है, सूर्यकी तरह नहीं, परन्तु परम ज्ञानमयी निर्मल ज्योतिसे युक्त है। अमृतसे भी अधिक अमर करनेवाला और स्वादिष्ट है। इसी सच्चे आनन्दके सत्य स्वरूपके लिये हमें प्रयत्न करना चाहिये। क्षणिक सुखरूप भोगोंसे, जो वास्तवमें दुःख ही है, वैराग्य करना और उस प्रेममय परमात्मामें मन लगाकर उससे प्रेम करना चाहिये। जिस दिन हमारे प्रेमका अविच्छिन्न स्वरूप होगा, उसी दिन परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी। अतएव यदि पाठक-पाठिकागण इस बातपर विश्वास करते हों और उन्हें परमेश्वर-प्राप्तिके साधनमें तत्पर होनेसे प्राप्त होनेकी पूरी आशा हो तो सच्चे दिलसे इन अनित्य, दुःखरूप भ्रान्तिमात्रसे प्रतीत होनेवाले सांसारिक भोगोंको मनसे त्याग, इनसे वृत्तियाँ हटाकर उस शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मामें अनन्यप्रेमभावसे लगानेमें तत्पर होना चाहिये। परमात्माको प्राप्त करनेके लिये प्रेम ही प्रधान उपाय है।

प्रेमका सच्चा स्वरूप

आज परम दयालु परमात्माकी कृपासे प्रेमके सम्बन्धमें कुछ लिखनेका साहस कर रहा हूँ। यद्यपि मैं इस विषयमें अपनेको असमर्थ समझता हूँ, क्योंकि प्रेमकी वास्तविक महिमापर वही पुरुष कुछ लिख सकते हैं, जो पवित्रतम भगवत्प्रेमके रस-समुद्रमें निमग्न हो चुके हों। प्रेमका विषय इतना गहन और कल्पनातीत है कि जिसकी तहतक विद्वान् और ज्ञानी भी नहीं पहुँच सकते, फिर वाणी और लेखनीकी तो बात ही कौन-सी है? शेष, महेश, गणेश एवं शुकदेव तथा नारद आदि, जो भगवान्‌के प्रेमियोंमें सर्वशिरोमणि समझे जाते हैं, वे भी जब प्रेम-तत्त्वका सम्यक् वर्णन करनेमें अपनेको असमर्थ पाते हैं, तब मुझ-जैसा साधारण मनुष्य तो किस गिनतीमें है? अन्तःकरणमें जब प्रेम-रसकी बाढ़ आती है तब मनुष्यके सम्पूर्ण अंग पुलकित हो उठते हैं, हृदय प्रफुल्लित हो जाता है, वाणी रुक जाती है और नेत्रोंसे आँसुओंकी अजस्र धारा बहने लगती है, शास्त्र और प्रेमी महात्माओंका ऐसा ही कथन और अनुभव है। परन्तु यह सब प्रेमके बाहरी चिह्न हैं, इसीसे इनका भी वर्णन किया जा सकता है। हृदयमें प्रेमका समुद्र उमड़ आनेपर जब प्रेमी उसमें डूब जाता है, उस अवस्थाका वर्णन तो वह स्वयं भी नहीं कर सकता, फिर दूसरेकी तो सामर्थ्य ही क्या है? श्रीराम और भरतके प्रेम-मिलनके प्रसंगमें गोसाईंजी महाराज अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहते हैं—

कहहु सुपेम प्रगट को करई।
केहि छाया कबि मति अनुसरई॥
कबिहि अरथ आखर बलु साँचा।
अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा॥
अगम सनेह भरत रघुबर को।
जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को॥
सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती।
बाज सुराग कि गाँडर ताँती॥

ऐसी स्थितिमें मैं तो जो कुछ लिख रहा हूँ सो केवल अपने मनोविनोदके लिये ही समझना चाहिये। त्रुटियोंके लिये प्रेमी सज्जन क्षमा करें!

प्रेमका तत्त्व परम रहस्यमय है। जिसने इस तत्त्वको पहचान लिया, वह तो प्रेममय ही बन गया। प्रेमके यथार्थ रहस्यको तो पूर्णरूपसे केवल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीवासुदेव ही जानते हैं अथवा थोड़ा-बहुत इसका ज्ञान उनके प्रेमी भक्तोंको है। इसीलिये उन निष्काम, प्रेमके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी भक्तोंकी गीतामें भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे स्वयं प्रशंसा की है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
(७। १७)

'उन (चार प्रकारके भक्तों)-में भी नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित हुआ अनन्य-प्रेम-भक्ति-सम्पन्न ज्ञानी

भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझको अत्यन्त प्रिय है।'

वास्तवमें प्रेम भगवान्‌का साक्षात् स्वरूप ही है। जिसको विशुद्ध सच्चे प्रेमकी प्राप्ति हो गयी, वह भगवान्‌को पा चुका। भगवान् प्रेममय हैं और भगवान् ही प्रेम करनेके योग्य हैं। अतएव चाहे जैसे भी हो, हमलोगोंको सब प्रकारसे भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम करनेकी कोशिश करनी चाहिये। यहाँ यह प्रश्न उठते हैं कि भगवान् कैसे हैं? उनका क्या स्वरूप है? और उनमें प्रेम किस प्रकारसे किया जा सकता है? इनका उत्तर संक्षेपमें यों समझना चाहिये कि वे सर्वव्यापक भगवान् अमृतमय हैं, सुखस्वरूप हैं और नित्य, सत्य, विज्ञान-आनन्दघन हैं, भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(गीता १४। २७)

'अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य (सनातन) धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं ही हूँ अर्थात् ब्रह्म, अमृत, अव्यय, शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक सुख यह सब मेरे ही नाम हैं।' ऐसे परमात्मा समस्त भूतप्राणियोंके हृदयमें आत्मरूपसे निवास करते हैं। वे कहते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥

(गीता १०। २०)

'हे अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ और समस्त भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।' इस प्रकारसे परमात्माके स्वरूपको समझकर सर्वभूतस्थित परमात्माके साथ विशुद्ध प्रेम करना ही प्रेम करना है। विश्वके सारे जीव परमात्माके निवास-स्थान हैं, इसका अनुभव कर सभीके साथ विशुद्ध प्रेम करनेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। जो पुरुष इस भगवत्प्रेमके रहस्यको भलीभाँति समझ लेता है, उसका सभी प्राणियोंके साथ अपने आत्माके समान प्रेम हो जाता है, ऐसे प्रेमीकी प्रशंसा करते हुए भगवान्‌ने कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(गीता ६। ३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।' अपनी सादृश्यतासे सम देखनेका यही अभिप्राय है कि जैसे मनुष्य अपने सिर, हाथ, पैर और गुदा आदि अंगोंके साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और म्लेच्छादिके समान बर्ताव करता हुआ भी उनमें ममानरूपसे आत्मभाव रखता है अर्थात् सारे अंगोंमें अपनापन समान होनेसे सुख और दुःखको समान ही देखता है, वैसे ही सम्पूर्ण भूतोंमें समानभावसे देखना चाहिये। इस प्रकारके समत्वभावको प्राप्त भक्तका हृदय प्रेमसे सराबोर रहता है। वह केवल प्रेमकी ही दृष्टिसे सब ओर ताकना सीख जाता है, उसके हृदयमें किसीके भी साथ घृणा और द्वेषका लेश भी नहीं रहता। श्रुति कहती है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

(ईश० ६)

'जो विद्वान् सर्वभूतोंको अपने आत्मासे भेदरहित देखता है और अपने आत्माको सर्व भूतोंमें देखता है, वह किसीकी भी निन्दा नहीं करता।'

दूसरा हो तो निन्दा करे, उसकी दृष्टिमें तो सम्पूर्ण संसार एक वासुदेवरूप ही हो जाता है। इस परम तत्त्वको न जाननेके कारण ही प्रायः मनुष्य परमात्माको छोड़कर सांसारिक तुच्छ विषयभोगोंकी ओर दौड़ते हैं और बारम्बार दुःखको प्राप्त होते हैं। मनुष्य जो स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थोंमें सुख समझकर प्रेम करते हैं, उन आपातरमणीय विषयोंमें उन्हें जो सुखकी प्रतीति होती है सो केवल भ्रान्तिसे होती है। वास्तवमें विषयोंमें सुख है ही नहीं, परन्तु जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंसे बिना ही हुए मरुभूमिमें जलकी प्रतीति होती है और प्यासे हरिण भ्रमसे उसकी ओर दौड़ते हैं और अन्तमें निराश होकर मर जाते हैं। ठीक इसी प्रकार सांसारिक मनुष्य संसारके पदार्थोंके पीछे सुखकी आशासे दौड़ते हुए जीवनके अमूल्य समयको व्यर्थ ही बिता देते हैं और असली नित्य परमात्म-सुखसे वंचित रह जाते हैं।

स्त्री-पुत्र-धन आदि पदार्थोंकी अपेक्षा मनुष्यको अपना जीवन अधिक प्रिय है, क्योंकि जीवनकी रक्षाके लिये मनुष्य स्त्री-पुत्र-धनादि सम्पूर्ण पदार्थोंको त्याग सकता है। इस जीवनसे भी आत्मा अधिक प्रिय है, क्योंकि आत्माके लिये मनुष्य जीवनके त्यागकी भी इच्छा कर लेता है। विशेषरूपसे कष्टकी प्राप्ति होनेपर जब जीवन दुःखमय हो जाता है, तो मूर्खतासे वह आत्महत्या करनेके लिये अनेक प्रकारके प्रयत्न करता है एवं आत्माके यथार्थ तत्त्वको न जाननेके कारण दुःखनाशका वास्तविक उपाय न कर आत्म-सुखकी इच्छासे आत्मघात कर बैठता है और उसके फलस्वरूप घोर नरकोंको प्राप्तकर दुःख भोगता है।

मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर आत्मतत्त्वको बिना जाने चले जाना भी एक प्रकारसे आत्मघात ही है। आत्मघातीकी गतिका वर्णन करती हुई श्रुति कहती है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ता ँ स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

(ईश० ३)

'जो मनुष्य आत्माके हनन करनेवाले हैं वे मरकर घोर अन्धकारसे आच्छादित आसुरी योनियोंको प्राप्त होते हैं।' इस तत्त्वको समझकर मनुष्यको इस अज्ञानकृत आत्मघातसे बचना चाहिये और आत्माकी उन्नति एवं मुक्तिके लिये उस परम पिता परमेश्वरसे परम प्रेम करना चाहिये जो सबके आत्मा हैं। परमेश्वरमें प्रेम होना ही विश्वमें प्रेम होना है और विश्वके समस्त प्राणियोंमें प्रेम ही भगवान्में प्रेम है; क्योंकि स्वयं परमात्मा ही सबके आत्मारूपसे विराजमान हैं।

सबसे प्रेम करनेका सहज उपाय है, स्वार्थ छोड़कर सेवा करना। 'स्वार्थ' शब्दसे केवल स्त्री-पुत्र-धन आदि ही नहीं समझने चाहिये; मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, कीर्ति, सुन्दर लोकोंकी प्राप्ति आदि सभी कुछ स्वार्थके अन्तर्गत हैं। उन प्रेममूर्ति परमात्मासे प्रेमहीके लिये सेवा और प्रेम करना चाहिये। जो पुरुष परमात्मासे प्रेम करनेकी चेष्टा करते हैं, प्रेमस्वरूप परमात्मा उन प्रेमी पुरुषोंके अत्यन्त ही समीप हैं। विशुद्ध प्रेममें आकर्षण करनेकी जितनी शक्ति है, उतनी चुम्बक आदि किसी भी पदार्थमें नहीं है। चुम्बक आदि पदार्थ तो केवल जडको ही टानते हैं, वे चेतनको नहीं खींच सकते। परन्तु यह प्रेम ऐसा अनोखा चुम्बक है जो साक्षात् चेतनस्वरूप परमेश्वरको भी खींचनेका सामर्थ्य रखता है। मित्रो! भगवान् अमूल्य वस्तु हैं, यद्यपि उनकी प्राप्तिकी वास्तविक पूरी कीमत हो ही नहीं सकती तथापि वे प्रेमीको बहुत ही सस्तेमें मिल जाते हैं। जब मनुष्य भगवत्प्रेममें मत्त होकर अपने-आपको श्रीभगवान्के पावन चरणोंपर न्योछावर कर देता है—भगवत्प्रेमके लिये सहज ही परम उत्साहके साथ अपने प्राणोंको छोड़नेके लिये प्रस्तुत हो जाता है तब भगवान् उसके प्रेमसे आकर्षित होकर प्रत्यक्ष प्रकट हो जाते हैं। प्रह्लादके लिये खम्भसे और गोपियोंके लिये मुरली-वनमें प्रकट होनेकी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। क्या इस प्रकार भगवान्का मिल जाना बहुत ही सस्ता सौदा नहीं है? कहाँ हम और कहाँ शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा; अरे, तुच्छ प्राणोंके बदले परमात्मा प्राप्त हो जायँ, तो और क्या चाहिये? कविने कहा है—

जो सिर साटे हरि मिले, तो तेहि लीजै दौर।
ना जानौं या देरमें, गाँहक आवै और॥
सिर दीन्हे जो पाइये, देत न कीजै कानि।
सिर साटे हरि मिलै तो, लीजै सस्ता जानि॥
सबै रसायन हम किये, हरि-रस सम नहिं कोय।
रंचक घटमें संचरे, (तो) सब तन कंचन होय॥

प्रेमको पहचाननेवाले वह प्रभु केवल प्रेमको ही देखते हैं। जब मनुष्यका प्रेम अपने आत्मासे भी कहीं बढ़कर भगवान्में हो जाता है—जब वह प्राणोंसहित अपने सारे अपनेपनको, लोक-परलोकको भगवान्के अर्पण करनेके लिये तैयार हो जाता है, तब भगवान् उससे मिले बिना रह ही नहीं सकते। परन्तु प्रेम सच्चा होना चाहिये। झूठे प्रेमसे उन्हें कोई नहीं रिझा सकता।

कृष्ण कृष्ण सब ही कहे, ठग ठाकुर अरु चोर।
बिना प्रेम रीझें नहीं, प्रेमी नन्दकिसोर॥

सच्चे प्रेमीके हाथ तो वह बिक जाते हैं। प्रेम ही भगवान्का मूल्य है। प्रेमके रहस्यको जाननेवाला पुरुष भगवान्को प्राप्त किये बिना कैसे रह सकता है? क्योंकि भगवान्के बिना वह अपने जीवनको व्यर्थ समझता है, फिर तुच्छ जीवनके मूल्यमें ही जब भगवान् मिलनेके लिये बाध्य हैं, तो वह कैसे देर कर सकता है? भगवान्-सरीखी अमूल्य वस्तुको इतनी-सी कीमतके लिये वह कैसे छोड़ सकता है? जो भगवान्के इस प्रेम-तत्त्वको नहीं जानते वे मनुष्यरूपमें भी पशुके ही समान हैं। ऐसे ही पशुधर्मी मनुष्य संसारके सुख-विलास और भोगोंके लिये जीवन धारण करके मनुष्य-शरीरको कलंकित करते हुए व्यर्थ अपना जीवन नष्ट किया करते हैं। जो भाग्यवान् पुरुष भगवान्के प्रेममें विह्वल होकर प्राण-त्याग कर देते हैं, उनको प्राण-त्याग करनेमें कोई भी क्लेश नहीं होता। वे परम प्रसन्नता और अपार आनन्दके साथ प्रभुके चरणोंपर अपना शरीर अर्पण कर देते हैं। उस समय उनके हृदयमें आनन्दका जो दिव्य समुद्र उमड़ता है, सारे पाप-ताप, दुःख-कष्ट उसके अतल तलमें सदाके लिये डूब जाते हैं। हिरण्यकशिपुके द्वारा प्रह्लादको बार-बार मृत्युके मुखमें डालकर अपार कष्ट पहुँचाये गये, परन्तु उनसे उसे तनिक-सा भी क्लेश नहीं हुआ। भगवान्के प्रेमके कारण परम आनन्दमें मग्न होकर वह सदा ही निर्भय बना रहा, उसके आनन्द और अभयकी स्थितिका वर्णन करना असम्भव है। प्रह्लादकी स्थितिका तो प्रह्लादको ही पता है, प्रह्लादजीकी जीवनी पढ़नेवाले मनुष्योंमें भी जब आनन्द, निर्भयता, ईश्वरमें प्रेम एवं विश्वासकी वृद्धि होती है, तब स्वयं प्रह्लादकी श्रद्धा, प्रेम, शान्ति और निर्भयता आदि गुणोंका वर्णन तो कोई कैसे कर सकता है?

भगवान्‌का सच्चा प्रेमी भगवान्‌के सिवा और किसी भी वस्तुका चिन्तन नहीं करता। भगवान्‌का चिन्तन भी वह भगवान्‌के प्रेमके लिये ही करता है। प्रेमके सिवा न तो वह भगवान्‌से ही कुछ चाहता है और न भगवान्‌के किसी प्रेमी भक्तसे ही। भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंसे वह जब कभी मिलता है तब प्रेममें मग्न हो जाता है और भगवत्-प्रेम-रसकी प्राप्तिके लिये वह उनसे वैसे ही आकांक्षा करता है, जैसे पपीहा बादलोंको देखकर स्वातीके बूँदकी आकांक्षासे बादलोंको अपनी टेकपर अड़ा हुआ मधुर स्वरसे 'पीव-पीव' पुकारा करता है। भगवत्-प्रेमका प्यासा सन्त भी महात्मारूपी बादलोंसे प्रेमरूपी स्वाती-बूँदके लिये मधुर स्वरसे विनय करता है। जैसे पपीहेका यह दृढ़ नियम है कि वह स्वाती-बूँदके अतिरिक्त भूमिपर पड़े हुए कैसे भी पवित्र गंगाजलकी कभी इच्छा नहीं करता। गोसाईंजी कहते हैं—

तुलसी चातक देत सिख, सुतहिं बारही बार।
तात न तर्पन कीजियो, बिना बारिधर-धार॥
जियत न नाई नारि, चातक घन तजि दूसरहिं।
सुरसरिहूको बारि, मरत न माँगेउ अरघ जल॥
सुनि रे तुलसीदास, प्यास पपीहहिं प्रेमकी।
परिहरि चारिउ मास, जो अँचवै जल स्वातिको॥

—वैसे ही भगवत्प्रेमी पुरुष भी प्रेमके सिवा तुच्छ सांसारिक पदार्थोंके भोगोंकी कभी इच्छा नहीं करता। यही उसका दृढ़ नियम है—सहज स्वभाव है।

सर्वत्र भगवत्‌के स्वरूपका चिन्तन करनेवाले पुरुषका भगवान्‌में इतना प्रेम हो जाता है कि वह क्षणमात्र भी भगवान्‌के चिन्तनको भूल नहीं सकता। यदि किसी कारणवश भगवत्‌का चिन्तन छूट जाता है तो उसको इतनी व्याकुलता होती है जैसे जलके बिना मछलीको!

तदर्पिताऽखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।

(नारद० सू० १९)

देवर्षि नारदजी इसीको प्रेम-भक्ति बतलाते हैं। भगवत्प्रेममें मतवाला पुरुष जब प्रेममें मग्न हुआ फिरता है, तब उसकी कुछ विचित्र ही अवस्था हो जाती है। अपने प्रेमास्पदके नाम, गुण और रूपकी महिमा सुनकर प्रेमकी विह्वलताके कारण अपनी सुध-बुध भूल जाता है।

प्रेम-पियाला जिन्ह पिया, झूमत तिन्हके नैन।
नारायण वे रूप-मद, छके रहें दिन रैन॥
प्रेम अधीन्यो छाक्यो डोलै, क्योंकि क्योंही बाणी बोलै।
जैसे गोपी भूली देहा, तैसो चाहे जासों नेहा॥

प्रीति की रीति कछू नहिं राखत,
जाति न पाँति, नहीं कुलगारो।
प्रेमको नेम कहूँ नहिं दीसत,
लाज न कान लग्यो सब खारो॥
लीन भयो हरिसूँ अभिअन्तर,
आठहुँ जाम रहै मतवारो।
सुन्दर कोउक जानि सकै यह,
गोकुल गाँवको पैंडोहि न्यारो॥

कहते हैं कि एक बार किसी प्रेमोन्मादिनी गोपीको यह शंका हो गयी थी कि श्रीकृष्णका मैं जो इतना ध्यान करती हूँ, सो कहीं ध्यान करते-करते स्वयं श्रीकृष्ण ही न बन जाऊँ। क्योंकि 'भ्रमर-कीट' न्यायसे ध्याता अपने ध्येयाकारमें परिणत हो जाया करता है। यदि ऐसा हुआ और मैं श्रीकृष्ण बन गयी तो फिर मुझे अपने प्रेमास्पद श्रीकृष्णके साथ प्रेम-विलासका आनन्द कैसे मिलेगा? एक दूसरी गोपीने उससे कहा कि 'इसके लिये तू चिन्ता न कर, श्रीकृष्णके ध्यानसे जब तू कृष्ण बन जायगी तो श्रीकृष्ण तेरे ध्यानसे गोपी बन जायँगे। प्रेमी-प्रेमास्पदका आनन्द ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। अतएव तू श्रीकृष्णके ध्यानमें ही निमग्न रह।'

प्रेमकी दशाका क्या वर्णन किया जाय? प्रेमी अपने प्रेमास्पदके नाम, गुण और रूपादिके संकेतमात्रसे इतना विह्वल हो जाता है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। श्याम रंगमें रँगी हुई गोपियाँ काले रंगके कौवे, कोयल, काजल, कोयले आदि पदार्थोंको देखते ही या श्रीकृष्णके नामसे मिलते-जुलते नामोंको सुनते ही श्रीकृष्णके प्रेममें परम विह्वल हो जाती थीं। प्रेम-रसके छके हुए महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव पुरीमें समुद्रकी श्यामताको देख उसे श्यामसुन्दर समझकर पागल हो गये और तन, मनकी सुधि भुलाकर उसीमें कूद पड़े। तल्लीनतामें ऐसी ही स्थिति होती है।

भयबुद्धिसे भजनेवाले मारीचने कहा था कि मुझको श्रीरामका इतना भय लगता है कि जिन शब्दोंके आदिमें रकार हो, उन शब्दोंके सुननेमात्रसे श्रीराम मुझे अपने समीप खड़े दीखते हैं।

राममेव सततं विभावये
भीतभीत इव भोगराशितः।
राजरत्नरमणीरथादिकं
श्रोत्रयोर्यदि गतं भयं भवेत्॥

(अ० रा० ३। ६। २२)

'राज, रत्न, रमणी, रथादिके शब्द यदि मेरे कानोंमें

पड़ जाते हैं तो मुझे भय होता है, इसलिये भोग-राशिसे भयभीत हुआ-सा मैं निरन्तर रामका ही चिन्तन करता हूँ।'

राम आगत इहेति शङ्कया
बाह्यकार्यमपि सर्वमत्यजम्।
निद्रया परिवृतो यदा स्वपे
राममेव मनसाऽनुचिन्तयन्॥

(अ० रा० ३। ६। २३)

'राम यहाँ आ गये हैं—इस शंकासे मैं बाहरके कार्योंको भी छोड़ देता हूँ। जब मैं निद्रासे घिरा हुआ सोता हूँ तो उस समय भी रामका ही चिन्तन करता हूँ।'

स्वप्नदृष्टिगतराघवं तदा
बोधितो विगतनिद्र आस्थितः।
तद्भवानपि विमुच्य चाग्रहं
राघवं प्रति गृहं प्रयाहि भोः॥

(अ० रा० ३। ६। २४)

'मैं जब स्वप्नमें राघवको देखता हूँ तो जागकर निद्रारहित हो जाता हूँ, इसलिये हे रावण! आप भी राघवके प्रति (मुझे भेजनेका) आग्रह त्यागकर घर चले जायँ।'

जब भयकी प्रेरणासे ऐसी दशा हो सकती है तब विशुद्ध प्रेमकी प्रेरणासे प्रेमास्पदके लिये वैसी दशा हो जानेमें क्या आश्चर्य है? अवश्य ही प्रेमका मार्ग है बड़ा ही गहन—बड़ा ही दुर्गम, तीक्ष्ण तलवारकी धारके समान! केवल बातें बनानेसे उसकी प्राप्ति नहीं होती। बाहरी भेष या चिह्नका नाम ही प्रेम नहीं है।

प्रेम प्रेम सब कोइ कहे, प्रेम न चीन्हे कोय।
जेहि प्रेमहिं साहिब मिले, प्रेम कहावे सोय॥

सच्चा प्रेम वही है जिससे स्वामी श्रीरामका मिलन हो जाय। वे राम मिलते हैं प्रेमभरी विरहकी व्याकुलतासे, करुणापूर्ण हृदयकी सच्ची पुकारसे, सच्ची श्रद्धा और भक्तिसे एवं सच्चे हृदयकी उत्कट इच्छासे! ये सब प्रेमके ही पर्याय हैं। मिलनेकी उत्कट इच्छा होनेपर भगवान्‌के विरहमें व्याकुल प्रेमीकी अपने प्रेमास्पद भगवान्‌के मिलनेका सन्देश मिलनेपर बड़ी ही मधुर अवस्था होती है। श्रीतुलसीदासजीने रामायणमें सुतीक्ष्णजीके प्रेमकी महिमा दिखाते हुए कहा है—

पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन।
यह बिचारि मुनि पुनि पुनि करत राम गुन गान॥

होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भव मोचन॥
निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई॥

अहा! क्या ही अनोखे आनन्दका दृश्य है।

प्रेमी जब अपने प्रेमास्पदके विरहमें व्याकुल रहता है और प्रेमीके मिलनकी उत्कण्ठासे उसके आनेकी प्रतीक्षा करता है, उस समय उसे पल-पलमें अपने प्रेमास्पदके पैरोंकी आहट ही सुनायी देती है। कोई भी आता है तो उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो मेरा प्रेमी ही आ रहा है। गोपियोंके पास जब उद्धव आये, तब उन्होंने यही समझा कि प्यारे श्रीकृष्ण ही पधारे हैं। बहुत समीप आनेपर ही वे यह जान सकीं कि ये श्रीकृष्ण नहीं हैं, उद्धव हैं; पर श्रीकृष्ण नहीं हैं तो क्या हुआ, ये प्राणप्यारे श्रीकृष्णका सन्देशा लेकर तो आये हैं, इसलिये ये भी श्रीकृष्णके समान प्यारे हैं। भागवतके दशम स्कन्धमें इस समयकी गोपिकाओंकी विचित्र दशाका बड़ा ही मार्मिक वर्णन है।

श्रीकृष्णकी प्रियतमा रुक्मिणीजी भगवान्‌के विरहमें जैसी व्याकुल हुई थीं, भगवान्‌के पहुँचनेमें विलम्ब होनेपर श्रीरुक्मिणीजीकी जो करुणाजनक अवस्था हुई थी, वह अत्यन्त ही रोमांचकारिणी है। यह प्रसंग प्रेमियोंको श्रीमद्भागवतमें देखना चाहिये।

भरतके विरहकी अवस्था रामायणके पाठकोंसे छिपी नहीं है। जब श्रीहनूमान्‌जी प्रभु श्रीरामजीका सन्देश लेकर आते हैं, तब भरतकी आश्चर्यमयी अवस्थाको देखकर वे भी प्रेममें निमग्न हो जाते हैं। वहाँका वर्णन पढ़िये—

को तुम्ह तात कहाँ ते आए। मोहि परम प्रिय बचन सुनाए॥
दीनबंधु रघुपति कर किंकर। सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर॥
मिलत प्रेम नहिं हृदयँ समाता। नयन स्रवत जल पुलकित गाता॥
कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहि राम पिरीते॥
एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥
निज दास ज्यों रघुबंसभूषन कबहुँ मम सुमिरन कर्‍यो।
सुनि भरत बचन बिनीत अति कपि पुलकि तन चरनन्हि पर्‍यो॥
रघुबीर निज मुख जासु गुन गन कहत अग जग नाथ जो।
काहे न होइ बिनीत परम पुनीत सदगुन सिंधु सो॥
राम प्रान प्रिय नाथ तुम्ह सत्य बचन मम तात।
पुनि पुनि मिलत भरत सुनि हरष न हृदयँ समात॥

अपने प्रेमास्पदद्वारा प्रेरित सन्देश पानेपर या प्रेमीका कुछ भी समाचार मिलनेपर जब गोपी, रुक्मिणी और भरतकी-सी अवस्था होने लगे तब समझना चाहिये कि असली विरहकी उत्पत्ति हुई है।

अहा! कृष्ण-प्राणा मीराजीकी दशा देखिये। श्रीकृष्णनाममें रत, हरिके प्रेम-समुद्रमें डूबी हुई वह मतवाली प्रेमराती गाती है—

नातो नामको जी, म्हाँस्यूँ तनक न तोड़्यो जाय॥
पाना ज्यूँ पीली पड़ी रे, लोग कहे पिंड रोग।
छाने लाँघण मैं किया रे, राम मिलणके जोग॥
बाबल बैद बुलाइया रे, पकड़ दिखाई म्हारी बाँह।
मूरख बैद मरम नहिं जाणै, कसक कलेजे माँह॥
जाओ बैद घर आपणे रे, म्हारो नाम न लेय।
मैं तो दाझी बिरहकी रे, काहे कूँ औषध देय॥
मांस गल गल छीजियो रे, करक रह्या गल आय।
आँगलियाँरी मूँदड़ी म्हारे, आवण लागी बाँह॥
रह रह पापी पपीहरा रे, पिवको नाम न लेय।
जे कोई बिरहण साँभले तो, पिव कारण जिव देय॥
छिन मन्दिर छिन आँगणे रे, छिन छिन ठाढ़ी होय।
घायल-सी झूमूँ खड़ी म्हारी, व्यथा न बूझे कोय॥
काढ़ कलेजो मैं धरूँ रे, कौआ तू ले जाय।
ज्याँ देशाँ म्हारो हरि बसै रे, वाँ देखत तू खाय॥
म्हारे नातो रामको रे, और न नातो कोय।
मीरा व्याकुल विरहणी रे, (हरि) दर्शन दीज्यो मोय॥

यही विशुद्ध प्रेम श्रीपरमात्माका मूल्य है या यों समझिये कि यही परमात्माका स्वरूप है। ऐसे विशुद्ध प्रेमकी जितनी ही वृद्धि होती है उतना ही मनुष्य परमात्माके नजदीक पहुँचता है। जैसे सूर्य प्रकाशका समूह है, वैसे ही परमेश्वर प्रेमके समूह हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यों सूर्यके समीप जाता है त्यों-ही-त्यों क्रमशः प्रकाशकी वृद्धि होती जाती है, इसी प्रकार जब वह प्रेममय भगवान्‌के जितना ही समीप पहुँचता है, उतनी ही उसमें प्रेमकी वृद्धि होती है। या यों समझिये, ज्यों-ज्यों प्रेमकी वृद्धि होती है त्यों-ही-त्यों वह परमात्माके समीप पहुँचता है। जैसे सूर्य और प्रकाश दो वस्तु नहीं है, प्रकाश सूर्यका स्वरूप ही है, वैसे ही प्रेम और भगवान् भी दो वस्तु नहीं है। प्रेम भगवान्‌का साक्षात् स्वरूप ही है।

जब मनुष्य भगवत्प्रेमके रंगमें रँग जाता है तब वह प्रेममय हो जाता है, उस समय प्रेम, (भक्ति) प्रेमी (भक्त) और प्रेमास्पद भगवान् तीनों एक ही रूपमें परिणत हो एक ही वस्तु बन जाते हैं। प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद कहनेके लिये ही तीन हैं, वास्तवमें तो वही एक वस्तु मानो तीन रूपोंमें प्रकट हो रही है। भगवान्‌के ज्ञानी, प्रेमी भक्त ऐसा ही कहा करते हैं। जब मनुष्य भगवान् वासुदेवके प्रेममें आत्यन्तिकरूपसे निमग्न हो जाता है, तब उसे सर्वदा, सर्वथा और सर्वत्र पद-पदमें भगवान् वासुदेव-ही-वासुदेव दीखते हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है अर्थात् वासुदेवके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं, इस प्रकार मुझको भजता है। ऐसा महात्मा अति दुर्लभ है।' यही प्रेमका सच्चा स्वरूप है।

आत्मनिवेदन

आत्मनिवेदनके सम्बन्धमें सूक्ष्म विचार करना चाहिये। इसमें 'आत्मा' शब्द आत्माके सहित तीनों शरीरोंका वाचक है और 'निवेदन' का अर्थ अर्पण है। जिन वस्तुओंपर हमने अपना अधिकार जमा रखा है, उनको उठाकर भगवान्‌के अर्पण कर देना आत्मनिवेदन है। यह शरणागतिका एक प्रधान अंग है अथवा इसे भक्तिका भी एक प्रधान अंग कह सकते हैं। शरणागतिके चार भेद हैं। शरणागतिका पहला अंग है भगवान्‌के नाम या स्वरूपको पकड़ना। दूसरा अंग है भगवान्‌के अधीन हो जाना अर्थात् उनके अनुकूल बन जाना, वे जिस प्रकार चलावें उसी प्रकार चलना। तीसरा अंग है भगवान् जो कुछ भी विधान करें उसीमें प्रसन्न रहना और चौथा अंग है भगवत्परायण हो जाना, उन्हींकी गोदमें जाकर बैठ जाना और अपने-आपको भगवान्‌के अर्पण कर देना। जब मैं स्वयं ही भगवान्‌के अर्पण हो गया तो मेरी सारी चीजें भी उनके अर्पण हो गयीं।

आत्मसमर्पण नवधा भक्तिका अन्तिम अंग है। यदि कोई पूछे कि सेव्य-सेवक-भाव और आत्म-निवेदनमें क्या अन्तर है? तो कहा जा सकता है कि यों तो कोई फरक नहीं है; क्योंकि आगे चलकर तो दास्यभाववाला भी आत्मसमर्पण करेगा और जिसने आत्मनिवेदन कर दिया वह भी दास ही है। परन्तु उदाहरणसे इनका अन्तर इस प्रकार समझ सकते हैं। एक दूकानपर दो मुनीम काम करते हैं, उसका जो कुछ लेन-देन, माल-खजाना है उन सबको वे मालिकका ही मानते हैं। परन्तु उनमेंसे एक तो शरीर-निर्वाहके लिये अन्न-वस्त्रमात्र ही लेता है और दूसरा वेतन भी लेता है। इनमें पिछलेका सकाम और पहलेका निष्कामभाव है; निष्कामभाववालेका दर्जा ऊँचा है। दोनोंहीका

सेव्य-सेवक-भाव है। किन्तु इनमें पहले दर्जेवाले भक्तने तो आत्मसमर्पण किया, दूसरेने नहीं।

प्राचीनकालमें एक और प्रकारके भी दास हुआ करते थे। वे दास ही जन्मते और दास ही मरते थे। उन्हें वेतन आदि कुछ भी नहीं मिलता था और वे दहेज आदिमें भी दिये जा सकते थे। राजाओंमें कहीं-कहीं तो यह प्रथा अब भी है। आत्मसमर्पणका दर्जा इन दास-दासियोंसे भी ऊँचा है। जैसे दो सेनाएँ लड़ रही हैं, उनमेंसे एक राजा हार गया, वह दूसरेको आत्मसमर्पण कर देता है, कहता है कि चाहे मारो, छोड़ो या राज्य वापस दे दो, तुम्हें अधिकार है। परन्तु यह आत्मसमर्पण भयसे है, भक्ति और श्रद्धासे नहीं। इस प्रकार आत्मसमर्पण करनेवालेको यदि विपक्षी राजा मारे तो उसको दुःख भी हो सकता है; क्योंकि उसने तो लाचार होकर शरण ली है। परन्तु जो पुरुष श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे आत्मसमर्पण करता है उसको तो मारने-काटनेपर भी आनन्द ही होता है। दास-दासियोंको भी मारनेपर दुःख होता है, क्योंकि उनका आत्मसमर्पण श्रद्धा-भक्तिरहित है। जो प्रेम, भक्ति और श्रद्धासे आत्मसमर्पण करता है उसका कुछ भी करो, उसको दुःख नहीं होता। जैसे राजा बलिका आत्मसमर्पण प्रेम और श्रद्धापूर्वक था, भय या लाचारीसे नहीं था। उसको गुरु शुक्रने यह बता भी दिया कि यह साधारण ब्राह्मण नहीं है, तुम्हारा सब कुछ ले लेगा, तो भी उसने जान-बूझकर प्रेम और भक्तिसे अपना सर्वस्व भगवान्के अर्पण कर दिया और कहा कि जब स्वयं भगवान् इस प्रकार मेरा सर्वस्व लेते हैं तो मेरे लिये इससे अधिक आनन्द और है ही क्या? जो इस प्रकार भगवान्को आत्मसमर्पण करता है उसके मन, बुद्धि और शरीर आदि सब भगवान्के ही हो जाते हैं। उसका उनपर कोई अधिकार नहीं रह जाता। जड वस्तुओंमें इसका उदाहरण कठपुतली हो सकती है। कठपुतलीने नटको आत्मसमर्पण कर रखा है। नट उसका चाहे सो करे? वह उसे कपड़ा पहनावे, युद्ध करावे या और जो कुछ करे, वह अपनी तरफसे कुछ नहीं करती। परन्तु कठपुतलीमें चेतनाशक्ति नहीं है, वह जड है। जो पुरुष चेतनाशक्ति रहते हुए अपने-आपको उस कठपुतलीके समान भगवान्के अर्पण कर देता है, उसमें शरणागतिके और अंग भी आ जाते हैं। शरणागतिके लिये इतना उपयुक्त दूसरा उदाहरण स्मरण नहीं आता। यदि बाजीगरके बन्दरका दें तो वह तो मालिकके आज्ञानुसार चलनेका है। यद्यपि यह भी शरणागतिका एक अंग है, परन्तु प्रधान बात तो अपने-आपको अर्पण कर देना ही है। जैसे हमलोग एक गाय किसी ब्राह्मणको अर्पण कर दें तो फिर उस गायपर उस ब्राह्मणका अधिकार हो जाता है, इसी प्रकार भगवान्को अपने-आपको अर्पण कर देनेसे अपना अधिकार नहीं रह जाता है। यदि बारीकीसे विचार किया जाय तो पहलेसे ही सारी चीजें परमात्माहीकी हैं, हमने उनपर अपना अधिकार जमा रखा है, वह उठा लिया जाय। जो इस प्रकार समझ जाता है, उसको लोकदृष्टिमें दीखनेवाले कैसे ही सुख-दुःख आकर प्राप्त हों, भगवान् उसका चाहे सो करें, उसको किसी प्रकारका विकार नहीं होता। इतना ही नहीं, वह आनन्दमग्न हो जाता है। उसको मालिकके सुखसे ही सुख होता है और मालिक कभी दुःखी नहीं होते, इसलिये वह भी सदा सुखी रहता है। फिर उसके द्वारा जो नये कर्म होते हैं वे मालिकके अनुकूल उन्हींके आज्ञानुसार होते हैं, क्योंकि उसके मन, बुद्धि और शरीर प्रभुके अर्पण हो चुके हैं। सारी वस्तुएँ मालिककी हैं, उनपर वह अपनी आज्ञा नहीं चलाता। भक्तिपूर्वक आत्मसमर्पण करनेके कारण वह भगवान्के शरण हो जाता है और फिर परमात्माको कभी नहीं भूलता, निरन्तर उन्हींका चिन्तन करता रहता है।

शरणापन्न भक्त परमात्माको प्राप्त हो जाता है। वह चाहे उस महाप्रभुसे अलग रहकर चिन्तन करे, चाहे उसमें सम्मिलित होकर। चाहे तद्रूप होकर रहे, चाहे भिन्न सत्तासे रहे। परन्तु इस विषयमें उसका कोई संकल्प नहीं होता, उसका मालिक जो चाहे सो करावे, वह तो अपना सारा स्वत्व उसीको सौंप देता है। शरणागत भक्तकी अपनी तो कोई इच्छा ही नहीं होनी चाहिये। यदि उसमें कोई इच्छा हो जाती है तो उसके आत्मसमर्पणमें कसर है। फिर भी यह कोई बहुत बड़ा दोष नहीं है, बलिने भी तो पातालमें रहना माँगा था। वह अपनी ओरसे तो कुछ नहीं कहता, परन्तु स्वामीके पूछनेपर अपनी इच्छा बता देना भी कोई दोष नहीं है। स्वामी देना चाहे तब भी कुछ न लेना और भी उत्तम है—वह बलिके आत्मसमर्पणसे भी ऊँची बात है। वरदान देनेकी बात कहनेपर वह सच्चा आत्मसमर्पण करनेवाला भक्त यह कहता है—'हे प्रभु! किसको वरदान देते हैं, मैं तो आपकी ही चीज हूँ। कुछ दे-लेकर मुझे अलग करते हैं क्या? यदि यही इच्छा है तो ऐसा कर दीजिये, आपहीकी इच्छापर तो सब कुछ निर्भर है। पिताकी इच्छा है—वे पुत्रको यों ही बिना कुछ दिये घरके बाहर कर दें, सौ-दो-सौ रुपये देकर कर दें, अथवा सारी सम्पत्ति दे दें। पिता देख लेते हैं कि पुत्रकी कुछ इच्छा है तभी अलग करते हैं नहीं तो क्यों करें? सो हे प्रभु! आप यदि वरदान देनेकी बात कहते हैं तो अवश्य मेरे मनमें अलग रहनेका भाव होगा, नहीं तो आप इस प्रकार कैसे कहते? नाथ! अवश्य मेरी कोई नालायकी हुई है, मैं आपसे

क्षमा माँगता हूँ। जो कुछ है सो तो आपका ही है। वरदान लेकर अलग कहाँ रखूँ? इस प्रकारका आत्मसमर्पण सख्यभाव और दासभाववाले भी कर सकते हैं। अतः आत्मसमर्पण भक्तिका एक पृथक् अंग है। सख्य और दासभाववाले ऐसा कर भी सकते हैं और नहीं भी करें तो कोई आपत्ति नहीं। यदि कहा जाय कि मित्रता तभी पूरी होगी, जब आत्मसमर्पण कर दिया जायगा, सो ठीक है, परन्तु मित्र तो इसके बिना भी हो सकता है। विभीषणके आत्मसमर्पणमें इतना महत्त्व नहीं प्रतीत होता। श्रीकृष्णको सखाभावसे आत्मसमर्पण तो गोपियोंने ही किया था। वे अपने ऊपर अपना कोई अधिकार नहीं समझती थीं। एकमात्र श्रीकृष्णका ही अधिकार मानती थीं। एक पुरुषमें नवधा भक्तिके सारे भेद भी रह सकते हैं और दो-चार अंग भी रह सकते हैं। भजन-ध्यान, सेवा-नमस्कार करते हुए आत्मसमर्पण नहीं भी हो सकता है। हाँ, और सब भक्तियाँ आ जानेपर भी यदि आत्मसमर्पण नहीं होता तो इतनी कमी ही है। जिसमें आत्मसमर्पण नहीं है वह भी भक्त तो है और कहलाता भी भक्त ही है; परन्तु आत्मसमर्पण कर देनेवाले भक्तकी तो महिमा ही अलग है। इसीलिये नवधा भक्तिमें इस अंगको अन्तिम बतलाया गया है। यही सबसे ऊँचा भाव है।

भक्तिका पहला अंग श्रवण है इसलिये इसको सर्वप्रथम भक्ति कहते हैं। श्रवणके बिना कोई भक्ति नहीं हो सकती। यदि कोई ऐसा उदाहरण मिले तो उसमें भी पूर्व-संस्कार तो मिलेंगे ही, जिनसे यही प्रतीत होता है कि इसने पूर्वजन्ममें ही श्रवण कर लिया होगा। श्रवण आदिभक्ति है, पहले सुनता है तभी तो उसकी रुचि होकर वह इस तरफ लगता है। आत्मनिवेदन अन्तिम भक्ति है, इसमें और सब भक्तियाँ समा जाती हैं। आत्मनिवेदन हो जानेपर उसकी अनन्य भक्ति हो जाती है; शरणागतिके जितने भाव हैं वे स्वयं ही आ जाते हैं। पतंजलिने जो **'ईश्वरप्रणिधान'** कहा है वह भी इस पुरुषमें आ जाता है तथा उसका फल समाधिसिद्धि भी उसे मिल जाती है। फिर उद्धारकी तो उसे कोई चिन्ता ही नहीं रहती, उसका तो उद्धार हो चुका।

आत्मसमर्पण करके भक्त सर्वथा निश्चिन्त हो जाता है। उसे अपने लौकिक अथवा पारलौकिक किसी प्रकारकी भय या चिन्ता नहीं रहती। एक मनुष्य पाठशाला चलाता है, रात-दिन उसकी चिन्तामें लगा है, यदि कोई योग्य सम्पत्तिशाली सज्जन उस कामको सँभाल ले तो फिर वह निश्चिन्त हो जाता है। फिर कभी-कभी वह उसका काम करता भी है तो भी उसे कोई चिन्ता नहीं होती, इसी प्रकार जैसे कोई आदमी अपना काम किसी योग्य व्यक्तिको सौंपकर परदेश जाय तो उसे पीछेके कामका कोई फिक्र नहीं रहता। ऐसे ही जो अपने-आपको भगवान्के अर्पण कर देता है उसके लिये भय और चिन्ताके लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। उसके आनन्दका पार नहीं रहता। जैसे किसी कंगाल लड़केको कोई करोड़पति दत्तक (गोद) ले तो वह बड़ी प्रसन्नतासे उस पिताकी गोदमें जाकर बैठ जाता है और बेफिक्र हो जाता है। वह जानता है कि तेरे पास पाँच पैसे भी नहीं थे और अब तू करोड़ोंकी सम्पत्तिका उत्तराधिकारी हो गया। अतः उस पिताकी गोदमें बैठकर उसे बड़ा ही आनन्द होता है, क्योंकि इससे उसके अन्न-वस्त्रकी चिन्ता सदाके लिये मिट जाती है। यह तो एक मनुष्यकी गोद बैठनेकी बात है, जो उस परमात्माको अपना आत्मसमर्पण कर देता है उसके आनन्दका क्या ठिकाना है? वहाँ भयकी बात ही कहाँ है? साधारण लक्ष्मीवान्की गोदमें बैठनेवालेको भी भय नहीं रहता, फिर परमात्मा तो सर्व-सामर्थ्यवान् है, उसकी गोदमें भय कैसा? वहाँ पहुँचकर फिर शान्तिका पार नहीं रहता। धनवान्की गोदमें बैठनेवाला तो धनके स्वार्थवश, उसमें बाधा पड़नेपर उसीका अनिष्ट-चिन्तन कर सकता है। यह उसकी नीचता और कृतघ्नता है, परन्तु परमात्माकी गोदमें कोई इस स्वार्थसे नहीं बैठता, उसको इसी बातमें बड़ा आनन्द होता है कि प्रभुने मुझको अपना लिया। हमलोग तो उसके आनन्दको समझ ही नहीं सकते। बड़ी विलक्षण बात है। एक करोड़पति वाइसरायसे मिलने जाता है, उसके साथ दो-चार आदमी हैं और वह लड़का भी है जिसे उसने दत्तक लेनेका विचार किया है। वाइसराय पूछते हैं यह लड़का किसका है? वह लड़का कहता है मैं इनका हूँ, परन्तु जहाँतक वह करोड़पति स्वयं अपने मुँहसे यह बात स्वीकार नहीं कर लेता, वहाँतक वाइसराय उसकी बात नहीं मानते। यदि दूसरी बार वह लड़का अकेला जाता है तो वाइसराय उसका कोई स्वागत नहीं करते, कहते हैं सेठका पत्र लाओ। तुम ही तो कहते हो मैं उनका हूँ, उन्होंने कहाँ स्वीकार किया है? इस प्रकार उस लड़केके कहनेका कोई विशेष असर नहीं पड़ता। वह लड़का अपने मुँहसे कहता है मैं इनका हूँ। इसमें उसे वह आनन्द नहीं मिलता जो उस धनवान्के यह कहनेपर मिलता है कि यह मेरा है, इसी प्रकार अभी तो हम ही कह रहे हैं कि हम आपके हैं। जिस दिन प्रभु हमें स्वीकार कर लेंगे और कहेंगे कि **'तू मेरा है'** उसी दिन हम सच्चे उसके होंगे। जिसे परमात्मा अपनाते हैं उसके आनन्दको हमलोग क्या कह सकते हैं? उसमें स्वार्थ नहीं, प्रेम है। दत्तक गये

हुए लड़केको तो यदि पिता कष्ट देते हैं तो वह विरुद्ध भी हो जाता है, क्योंकि वह तो धनके लोभसे गया है, परन्तु जो निष्काम प्रेमभावसे अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर देते हैं, उनके शरीरके तो यदि टुकड़े-टुकडे भी कर दिये जायँ तो भी वे अपना अहोभाग्य ही समझते हैं। वहाँके लायक तो कोई उदाहरण ही नहीं प्रतीत होता। कोई आदमी किसी महात्माके पास जाता है और उनसे एक वस्त्र स्वीकार करनेकी प्रार्थना करता है। महात्मा अस्वीकार कर देते हैं। वह तो अर्पण करता है परन्तु जहाँतक महात्मा स्वीकार नहीं करते वहाँतक अर्पण नहीं होता। जब विशेष आग्रह करनेपर महात्मा स्वीकार कर लेते हैं, तब अर्पण हो जाता है। वह कहता है, अहा! मेरा अहोभाग्य है जो मेरा वस्त्र महात्माजीने स्वीकार कर लिया। फिर जब महात्मा उस वस्त्रको अपने सेवकोंको न देकर स्वयं अपने काममें लाते हैं, उस समय उसे कितना आनन्द होता है? महाराजकी सेवामें एक पंखा भेंट किया जाता है, गरमी खूब पड़ रही है, उसी पंखेसे अपने ही हाथसे हवा करनेका विशेष आग्रह करनेपर यदि वे महात्मा स्वीकार कर लेते हैं तो कितना आनन्द होता है? महाराज सोना चाहते हैं, उनसे प्रार्थना की जाती है महाराज! मेरी गोदमें सोनेकी कृपा कीजिये! विशेष आग्रहसे यदि वे स्वीकार कर लें तो कितना आनन्द होता है? अब यदि देखा जाय तो वह महात्मा हैं या नहीं, इसका पता नहीं। हमारी भावनासे ही हमको इतना आनन्द होता है। ऐसे ही वह परमात्मा जिसको बहुत-से महात्मा प्राप्त हो चुके हैं, यदि हमारे शरीरको अपने काममें लाते हैं या काटते भी हैं तो कितना आनन्द होना चाहिये, उस समय हमारा रोम-रोम हर्षित हो जाना चाहिये। यदि हमारे शरीरके चमड़ेकी जूतियाँ बनाकर वह पहन लें, तो हम कृतकृत्य हो जायँ। अहा, हमारे शरीरका ही यह उपयोग हो रहा है। कितनी दया है, हमारी वस्तुको प्रभु काममें ला रहे हैं। एक पतिव्रता पतिके सुखसे सुखी होती है, जिस समय पतिदेव उसका तन-मन अपने काममें लाते हैं तब वह अत्यन्त ही आनन्दित होती है। यद्यपि वह पतिव्रता अपने पतिमें ईश्वर-भाव ही रखती है, परन्तु तो भी यह तो समझती है कि वे मेरे लिये ही नारायण हैं। दो घनिष्ठ मित्रोंमेंसे यदि एक-दूसरेकी वस्तुको बिना पूछे अपने काममें लाता है तो उस वस्तुके स्वामीको आनन्द ही होता है, यह समझकर उसे और भी अधिक आनन्द होता है कि मेरे मित्रने मेरी वस्तु स्वीकार कर ली। ये सब तो लौकिक बातें हैं, इसी प्रकार यदि साक्षात् परमेश्वर हमारी वस्तुओं और हमारे शरीरादिको अपने काममें लाते हैं तो उससे बढ़कर हमारे लिये और क्या आनन्दकी बात हो सकती है? इस प्रकार जो प्रभुको आत्मसमर्पण कर देता है उसके आनन्दका कोई ठिकाना नहीं रहता।

जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके सहित साधुवेषमें सिंहको साथ लिये राजा मयूरध्वजके यहाँ पहुँचे, उस समय उन्होंने राजाके पुत्र रत्नकुमारका आधा शरीर अपने सिंहके लिये माँगा। राजाने कहा 'महाराज! मुझे तो कोई आपत्ति नहीं, परन्तु रानीसे पूछना आवश्यक है।' रानीके स्वीकार करनेपर, राजा-रानी दोनोंने पुत्रसे पूछा। पुत्र बोला—'ऐसा अवसर फिर कहाँ मिलेगा? ये तो साक्षात् भगवान् हैं।' राजा और रानी दोनों पुत्रको चीरने लगे, पुत्र हँसता है, खिलता है; उसे यह ज्ञान है कि ये परमेश्वर हैं। उसमें श्रद्धा है, प्रेम है और प्रसन्नता है। राजा और रानीने तो अपनी प्यारी चीज ही भगवान्‌के अर्पण की, परन्तु रत्नकुमारने तो स्वयं अपने-आपको अर्पण कर दिया। राजा-रानीको उसके समान आनन्द कैसे हो सकता था? उस समय रानीकी आँखोंसे आँसू गिरते देखकर साधु बोले—हम नहीं जीमते। रानी कहती है महाराज! मैं पुत्रके मृत्युशोकसे नहीं रोती, दुःख यही है कि पुत्रका आधा ही शरीर काममें आया। आधेने न जाने क्या पाप किया है? भगवान् तुरन्त प्रकट हो गये। वे तो प्रकट होनेवाले ही थे। यदि हमारा भाव ऐसा हो तो हमारी सब वस्तुएँ भगवान्‌के अर्पण ही हैं। उन तीनोंमें किसीको भी दुःख होता तो भगवान् नहीं लेते। हर्षके साथ अर्पण करना चाहिये। राजा मयूरध्वज, रानी और राजकुमारका-सा भाव हो तो भगवान् तुरंत प्रकट हो जायँ। जो ऐसी प्रसन्नतासे अपने-आपको भगवदर्पण करता है उसीको भगवान् स्वीकार करते हैं, ऐसे प्रेमसे दी हुई वस्तुको भगवान् नहीं त्यागते। महात्मालोग भी प्रेमसे दी हुई वस्तुको आवश्यकता होनेपर ले लेते हैं; वे समझते हैं कि नहीं लेनेसे इस बेचारेको दुःख होगा। फिर परमात्माकी ओरसे तो खुली आज्ञा हो चुकी है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा० रा० ६। १८। ३३)

'जो एक बार भी सच्चे हृदयसे उनकी शरण हो जाता है उसको वे कभी नहीं त्यागते।' जैसे किसीके पास एक वस्त्र है, उस वस्त्रने अपने स्वामीको आत्म-समर्पण कर रखा है। वह उसे फाड़े, फेंके, जलावे, बिछावे, ओढ़े अथवा किसीको दे डाले, वह कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं देता, वह उसका कैसा ही उपयोग करे उस वस्त्रको कोई आपत्ति नहीं होती। इस प्रकारसे जो उन प्रभुको आत्मसमर्पण कर देता है, वे उसका चाहे सो करें उसे कोई आपत्ति नहीं होती। ऐसा पुरुष जीता हुआ ही मुक्त हो जाता है।

वह जीता हुआ ही मुर्देके समान प्रभुके समर्पित हो जाता है, मुर्दा कोई आपत्ति कर सकता हो तो वह भी करे। इस प्रकार जो जीता हुआ ही मुर्देका सच्चा स्वाँग कर दिखलाता है वही जीवन्मुक्त है।

ऐसा जीवन्मुक्त महात्मा निर्भय हो जाता है, वह शोकसे तर जाता है तथा अटल और नित्य शान्तिको प्राप्त होता है। उस जीवन्मुक्तका संसारमें विचरना हमलोगोंके कल्याणके लिये ही होता है। उसे अपने लिये कोई कर्तव्य नहीं रहता।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

(गीता ३। १७)

जो पुरुष इस प्रकारसे भगवत्-शरण हो जाता है उसका जीवन केवल लोगोंके कल्याणके लिये ही होता है। जैसे पंचायतीके सामानसे जो चाहे वही अपना काम निकाल सकता है, उसी प्रकार उस पुरुषसे भी सबको अपना काम निकाल लेनेका अधिकार-सा होता है। ऐसे विरक्त पुरुषोंका जीना संसारके उपकारके लिये ही होता है। परन्तु उनमें ऐसा भाव नहीं होता कि मैं संसारके हितके लिये विचरता हूँ। जो ऐसा कहता है वह तो अभिमानी है, वह जीवन्मुक्त कभी नहीं हो सकता। अमानित्व आदि सद्‌गुण तो उसमें पहलेसे ही आ जाते हैं।

ऐसे पुरुषोंके दर्शनसे नेत्र, भाषणसे वाणी और चिन्तनसे मन पवित्र हो जाता है। ऐसे पुरुष संसारमें हजारों-लाखों हो चुके हैं। उत्तराखण्डकी तपोभूमिमें तो ऐसे बहुत ऋषियोंने तपस्या की है। वह पवित्र भूमि स्वाभाविक ही वैराग्ययुक्त है। उस भूमिमें रहनेवाले महात्मा पुरुषोंकी महिमा कहाँतक गायी जाय? भगवान्‌से यदि कुछ माँगना हो तो यही माँगे कि हे प्रभु! जिन महात्माओंकी महिमा आप गाते हैं, हमें उन्हींके चरणचिह्नोंका अनुगामी बनाइये! और माँगनेकी भी क्या आवश्यकता है? जो पुरुष भगवान्‌की शरण हो जायगा और जिसे भगवान् अपना लेंगे उसके उद्धारकी तो बात ही क्या है, वह तो औरोंका भी उद्धार कर सकता है, ऐसे महात्मामें ऐसे लक्षण आ जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

(गीता १२। १८-१९)

'जो पुरुष शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सर्दी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और सब संसारमें आसक्तिसे रहित है तथा जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला और मननशील है अर्थात् ईश्वरके स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला है एवं जिस-किस प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही सन्तुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममतासे रहित है, वह स्थिरबुद्धिवाला भक्तिमान् पुरुष मेरेको प्रिय है।'

ध्यानकी आवश्यकता

मनुष्य-जीवनका उद्देश्य भगवान्‌को प्राप्त करना है। इसके लिये प्रधान साधन दो प्रकारके हैं—भेद मानकर और अभेद मानकर। दोनों दो प्रकारके अधिकारियोंके लिये हैं, फल दोनोंका एक ही है। इसलिये यह बात नहीं कि अमुक ही करना चाहिये। अधिकांशमें भेदका साधन ही सबके लिये उत्तम और सुगम समझा जाता है। अभेदमें भी दो प्रकार हैं—एक **'अहं ब्रह्मास्मि'** (बृ० १।४।१०) मैं ब्रह्म हूँ और दूसरा **'वासुदेवः सर्वमिति'** (गीता ७।१९) सब वासुदेव ही है। इनमें दूसरा प्रकार श्रेष्ठ है। अपनेमें ब्रह्मका समावेश न करके भगवान्‌में ही सबका और अपना समावेश कर देना चाहिये।

भेद और अभेद दोनों ही साधनोंमें ध्यानकी सबसे अधिक आवश्यकता है। गीता, योगशास्त्र आदि सभी ग्रन्थ ध्यानकी उपादेयताका वर्णन करते हैं। गीतामें तो भगवान्‌ने **'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'** (६। २५) कहकर केवल भगवच्चिन्तनका ही उपदेश दिया है। परन्तु अधिकांश लोग कठिन समझकर या आलस्यके वश हो इस स्थितिपर पहुँचनेके लिये प्रयत्न ही नहीं करते। ध्यान बहुत ही कम किया जाता है और इस विषयमें लोग निरुत्साह-से हो रहे हैं। यह स्थिति बहुत शोचनीय है। मनुष्यको यह बात दृढ़ निश्चयके साथ मान लेनी चाहिये कि अभ्यास करनेसे **'अचिन्त्य-अवस्था'** अवश्य होती है। जैसे लोग भ्रमवश निष्काम कर्मको असम्भव मानकर कह देते हैं कि स्वार्थरहित कर्म कभी हो ही नहीं सकता, वे इस बातको नहीं सोचते कि जब चेष्टा और अभ्यास करनेसे स्वार्थ या कामना कम होती है तब किसी समय उनका नाश भी जरूर हो सकता है। जो चीज घटती है वह नष्ट भी होती है, फिर निष्काम या निःस्वार्थ कर्म क्यों नहीं होंगे, इसी प्रकार जब एक-दो क्षण मन अचिन्त्य-दशाको प्राप्त होता है तो सदाके लिये भी वह हो ही सकता है। आवश्यकता है अभ्यास करनेकी।

अभ्यास भी बड़े उत्साह और लगनके साथ करना

चाहिये। क्षण-दो-क्षणके लिये संसारकी ओर मन कम जाय, इतनेमें ही सन्तोष नहीं मानना चाहिये। मनको परमात्मामें पूर्ण एकाग्र करना चाहिये। जबतक कम-से-कम मिनट-दो-मिनट भी मन संसारको सर्वथा छोड़कर परमात्मामें पूर्णरूपसे न लगे, तबतक ध्यानका अभ्यास छोड़कर आसनसे नहीं उठना चाहिये। यदि दृढ़ निश्चयके साथ ध्यानका अभ्यास किया जायगा तो अवश्य उन्नति होगी। संसारका चित्र मनसे सर्वथा हटानेकी चेष्टा करते-करते ऐसा स्वाभाविक अभ्यास बन सकता है कि फिर जिस समय आप चाहेंगे, उसी समय आपके मनमें संसारका अभाव हो जायगा। परमात्माके अतिरिक्त समस्त संसारका अभाव हो जाना ही अचिन्त्य-अवस्था है। इस अवस्थामें ज्ञानकी जागृति रहती है, इसलिये लय-अवस्था नहीं होती। सबको भुलाकर परमात्मामें मन न रहनेसे ही लय-अवस्था समझी जाती है। गीतामें उस विज्ञानानन्दघन परमात्माको सर्वज्ञ, अनादि, सबका नियन्ता, सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबका धारण-पोषण करनेवाला, अचिन्त्य-स्वरूप, प्रकाशरूप, अविद्यासे परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन, ज्ञानस्वरूप बतलाया है। इस प्रकार जैसा स्वरूप समझमें आवे, उसी स्वरूपको पकड़कर उसका ध्यान करना चाहिये। परमात्माका यथार्थ स्वरूप तो इसका फल है। उसका वर्णन हो नहीं सकता। उस ज्ञान-स्वरूप परमात्माको ग्रहण करके सबको भुला देना चाहिये।

यदि ऐसा ध्यान समझमें न आवे तो सूर्यके सदृश प्रकाशस्वरूपका ध्यान करना चाहिये, सूर्यके सामने आँखें मूँदनेपर सामान्यभावसे जो प्रकाशका पुंज प्रतीत हो, उसीको देखता रहे और सब कुछ भुला दे। यह ब्रह्मके तेजस्वरूपका ध्यान है।

इस प्रकार न किया जाय तो भगवान्‌के जिस सगुण स्वरूपमें भक्ति हो उसी स्वरूपकी मूर्ति मनके द्वारा स्थिर करके मनको उसके अन्दर भलीभाँति प्रवेश करा दे। उन भगवान्‌के सिवा संसारका और अपना कुछ भी ज्ञान न रह जाय। जबतक ध्यानकी ऐसी अनन्य स्थिति न हो। (हो चाहे प्रारम्भमें एक-दो मिनट ही) तबतक आसनसे नहीं उठना चाहिये। जब ऐसी स्थिति हो जायगी, तब चित्तमें एक अपूर्व शान्ति और प्रफुल्लता होगी, जिससे ध्यानमें आप ही रुचि बढ़ जायगी। निराकार या साकारका—कोई-सा भी ध्यान हो—होना चाहिये इस प्रकारका कि जिसमें संसारका और अपना बिलकुल पता ही न रहे। एक इष्टके सिवा सबका अत्यन्त अभाव हो जाय। ध्यानकी इसी स्थितिके लिये सब प्रकारके साधन किये जाते हैं, सेवा, भजन आदि जो कुछ भी किया जाय, ध्यानकी प्रगाढ़ स्थितिसे सब नीचे हैं। परमात्मामें अचल-अटल वृत्ति स्थिर हो जाना ही बहुत बड़ा लाभ है। इस प्रकारके ध्यानकी कामना रखनेमें भी कोई आपत्ति नहीं है। मुक्तिकी कामना न करके ऐसे अविचल ध्यानकी कामना करना अच्छा है। जिसकी ऐसी नित्य स्थिति हो जाती है वह दूसरोंको भी ध्यानकी युक्ति बता सकता है।

चेतन ज्ञानस्वरूपमें मनके लय हो जानेपर उसकी कैसी स्थिति होती है सो बतलायी नहीं जा सकती। वैसी अवस्था हुए बिना उसे कोई नहीं समझ सकता। जैसे आजन्म ब्रह्मचारी स्त्री-संगकी अवस्थाको नहीं समझता। जब नाशवान् भोगकी एक अवस्था नहीं समझायी जा सकती तब ब्राह्मी स्थितिको तो वाणीसे कोई कैसे समझा सकता है? उस अवस्थाको समझनेके लिये वैसी अवस्था बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। सबको भूलनेके बाद जो कुछ बच रहे उसीको अपना इष्ट ध्येय बनाकर उसका ध्यान करना चाहिये। ऐसे ध्यानमें ऊँचे-से-ऊँचा आनन्द प्राप्त हो सकता है।

अपने अधिकांश लोगोंका भक्तिका मार्ग है और भक्तिके मार्गमें ध्यान प्रधान है। भगवान्‌ने जहाँ-जहाँपर गीतामें भक्तिकी महिमा गायी है, वहाँ ध्यानका बड़ा महत्त्व बतलाया है। किसी तरह भी भगवान्‌में मनको प्रवेश करा देना चाहिये। भगवान्‌ने उसीको उत्तम बतलाया है। भगवान् कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(गीता १२। २)

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें भी अति उत्तम योगी मान्य हैं।'

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

(गीता १२। ८)

'इसलिये तू मुझमें मनको लगा, मुझमें ही बुद्धिको लगा, इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा अर्थात् मुझको ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

भक्तराज प्रह्लाद और ध्रुव

विश्वके भक्तोंमें भक्तप्रवर श्रीप्रह्लाद और ध्रुवकी भक्ति अत्यन्त ही अलौकिक थी। दोनों प्रातःस्मरणीय भक्त श्रीभगवान्‌के विलक्षण प्रेमी थे। प्रह्लादजीके निष्कामभावकी महिमा कही नहीं जा सकती। आरम्भसे ही इनमें पूर्ण निष्कामभाव था। जब भगवान् नृसिंहदेवने इनसे वर माँगनेको कहा तब इन्होंने जवाब दिया कि 'नाथ! मैं क्या लेन-देन करनेवाला व्यापारी हूँ? मैं तो आपका सेवक हूँ, सेवकका काम माँगना नहीं है और स्वामीका काम कुछ दे-दिलाकर सेवकको टाल देना नहीं है।' परन्तु जब भगवान्‌ने फिर आग्रह किया तो प्रह्लादने एक वरदान तो यह माँगा कि 'मेरे पिताने आपसे द्वेष करके आपकी भक्तिमें बाधा पहुँचानेके लिये मुझपर जो अत्याचार किये, हे प्रभो! आपकी कृपासे मेरे पिता उस दुष्कर्मद्वारा उत्पन्न हुए पापसे अभी छूट जायँ।' '**त्वत्प्रसादात्प्रभो सद्यस्तेन मुच्येत मे पिता।**' (विष्णु० १। २०। २४) कितनी महानता है! दूसरा वरदान यह माँगा कि 'प्रभो! यदि आप मुझे वरदान देना ही चाहते हैं तो यह दीजिये कि मेरे मनमें कभी कुछ माँगनेकी अभिलाषा ही न हो।'

कितनी अद्भुत निष्कामता और दृढ़ता है! पिताने कितना कष्ट दिया, परन्तु प्रह्लादजी सब कष्ट सुखपूर्वक सहते रहे, पितासे कभी द्वेष नहीं किया और अन्तमें महान् निष्कामी होनेपर भी पिताका अपराध क्षमा करनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की!

भक्तवर ध्रुवजीमें एक बातकी और विशेषता है। उन्होंने अपनी सौतेली माता सुरुचिजीके लिये भगवान्‌से यह कहा कि नाथ! मेरी माताने यदि मेरा तिरस्कार न किया होता तो आज आपके दुर्लभ दर्शनका अलभ्य लाभ मुझे कैसे मिलता? माताने बड़ा ही उपकार किया है।' इस तरह दोषमें उलटा गुणका आरोपकर उन्होंने भगवान्‌से सौतेली माँके लिये मुक्तिका वरदान माँगा। कितने महत्त्वकी बात है!

पर इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भक्तवर प्रह्लादजीने पितामें दोषारोपणकर भगवान्‌के सामने उसे अपराधी बतलाया, इससे उनका भाव नीचा है। ध्रुवजीकी सौतेली माताने ध्रुवसे द्वेष किया था, उनके इष्टदेव भगवान्‌से नहीं, परन्तु प्रह्लादजीके पिता हिरण्यकशिपुने तो प्रह्लादके इष्टदेव भगवान्‌से द्वेष किया था। अपने प्रति किया हुआ दोष तो भक्त मानते ही नहीं, फिर माता-पिताद्वारा किया हुआ तिरस्कार तो उत्तम फलका कारण होता है। इसलिये ध्रुवजीका मातामें गुणका आरोप करना उचित ही था। परन्तु प्रह्लादजीके तो इष्टदेवका तिरस्कार था। प्रह्लादजीने अपनेको कष्ट देनेवाला जानकर पिताको दोषी नहीं बतलाया, उन्होंने भगवान्‌से उनका अपराध करनेके कारण क्षमा माँगकर पिताका उद्धार चाहा।

वास्तवमें दोनों ही विलक्षण भक्त थे। भगवान्‌का दर्शन करनेके लिये दोनोंकी ही प्रतिज्ञा अटल थी, दोनोंने उसको बड़ी ही दृढ़ता और तत्परतासे पूर्ण किया। प्रह्लादजीने घरमें पिताके द्वारा दिये हुए कष्ट प्रसन्न मनसे सहे, तो ध्रुवजीने वनमें अनेक कष्टोंको सानन्द सहन किया। नियमोंसे कोई किसी प्रकार भी नहीं हटे, अपने सिद्धान्तपर दृढ़तासे डटे रहे, कोई भी भय या प्रलोभन उन्हें तनिक-सा भी नहीं झुका सका।

बहुत-सी बातोंमें एक-से होनेपर भी प्रह्लादजीमें निष्कामभावकी विशेषता थी और ध्रुवजीमें सौतेली माताके प्रति गुणारोपकर उसके लिये मुक्ति माँगनेकी!

वास्तवमें दोनों ही परम आदर्श और वन्दनीय हैं, हमें दोनोंहीके जीवनसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

भावनाके अनुसार फल

सब जग ईश्वररूप है, भलो बुरो नहिं कोय।
जैसी जाकी भावना, तैसो ही फल होय॥

सारा संसार ईश्वररूप है, जिसकी जैसी भावना होती है उसको उसीके अनुरूप फल भी प्राप्त होता है। मनुष्य जब बीमार होता है तब वह बहुत ही व्याकुल हुआ करता है। उसकी व्याकुलताका प्रधान हेतु यही है कि वह उस रोगमें दुःखकी भावना करता है। वेदनाका अनुभव होना दूसरी बात है और उससे दुःखी होना और बात है। यदि रोगमें दुःखकी जगह तपकी भावना कर ली जाय तो मनुष्य रोगजन्य दुःखसे अनायास ही बच सकता है। वह केवल दुःखसे ही नहीं बच जाता, तपकी भावनासे उसके लिये वह रोग ही तपतुल्य फल देनेवाला भी हो जाता है। इस रहस्यके समझ लेनेपर ज्वरादि व्याधियोंमें मनुष्यको किंचिन्मात्र भी शोक नहीं होता। जैसे तपस्वी पुरुषको तप करनेमें महान् परिश्रम और अत्यन्त शारीरिक कष्ट उठाना पड़ता है, परन्तु वह कष्ट उसके लिये शोकप्रद न होकर शोकनाशक और शान्तिप्रद होता है, वैसे ही रोगमें तपकी भावना करनेवाले रोगीको भी उसकी दृढ़ सद्भावनाके प्रभावसे वह रोग शोकप्रद न होकर हर्ष और शान्तिप्रद हो जाता है। भावनाके अनुसार ही फल होता है, इसलिये रोगपीड़ित

मनुष्योंको उचित है कि वे रोगमें तपकी ही नहीं, बल्कि यह भावना करें. यह रोग दयामय भगवान्‌का दिया हुआ पुरस्काररूप प्रसाद है। अतएव 'परम तप' है। यदि रोग आदिमें इस प्रकार परम तपकी भावना सुदृढ़ हो जाय तो अवश्य ही वे रोगादि परम तपके फल देनेवाले बन जाते हैं। परम तप इहलौकिक कष्टोंसे छुड़ाकर जीवको स्वर्गादिसे लेकर ब्रह्मलोकतक पहुँचा सकता है और यदि फलासक्तिको त्यागकर कर्तव्य-बुद्धिसे ऐसे परम तपका साधन किया जाय तो वह इस लोक और परलोकमें मुक्तिरूप परमा शान्तिकी प्राप्ति करानेवाला बन जाता है। तपसे जैसे पूर्वकृत पापोंका क्षय होता है वैसे ही रोग-पीड़ा आदिमें परम तपकी दृढ़ भावनासे जीवके समस्त पापोंका क्षय हो जाता है और उसे परम पदकी प्राप्ति हो जाती है। जबतक मनुष्य रोगको कष्टदायक समझता है, तभीतक वह उससे द्वेष करता है, परन्तु वही रोग जब तपके रूपमें—उपासनाके स्वरूपमें परिणत हो जाता है तब वह उससे तपशील तपस्वीकी भाँति न तो द्वेष करता है, न उसमें कष्ट मानता है और न उसकी निन्दा करता है। वह तो तपस्वीकी तरह उसकी प्रशंसा करता हुआ, किसी भी कष्टकी किंचित् भी परवा न करके परम प्रसन्न रहता है। इसी अवस्थामें उसके रोगका 'परम तप' समझा जा सकता है।

अत्यन्त व्याधि-पीड़ित होनेपर जब मनुष्यके सामने मृत्युका महान् भय उपस्थित होता है, उस समय उस मृत्युमें 'परम तप' की भावना करनेसे वह भी मुक्तिका कारण बन जाती है, यद्यपि मृत्युसमयमें विद्वानोंको भी भय लगता है तब व्याधिविकल विषयी मनुष्योंकी तो बात ही क्या है। तथापि मृत्युके समीप पहुँचे हुए व्याधिपीड़ित मनुष्यको मुक्तिके लिये इस प्रकारकी भावना करनेका यथासाध्य प्रयत्न तो अवश्य ही करना चाहिये कि 'तपकी इच्छासे वनमें गमन करनेवाले तपस्वीको जैसे उसके मित्र-बान्धव वनके लिये विदा कर देते हैं, उसी प्रकार मृत्युके अनन्तर मुझे भी मेरे मित्र-बान्धव वनमें पहुँचा देंगे। वही मेरे लिये परम तप होगा। एवं जैसे तपस्वी वनमें जाकर पंचाग्नि आदिसे अपने शरीरको तपाता है, वैसे ही मेरे बन्धु-बान्धव मुझे अग्निमें दग्ध करके तपावेंगे जो मेरे लिये परम तप होगा।'

इस प्रकार मृत्युरूप महान् कष्टको परम तप समझनेवालेको शोक और मृत्युका भय नहीं होता। उसे मृत्युमें भी परम प्रसन्नता होती है। जैसे तपके लिये वनमें जानेवाले तपस्वीको वन जानेमें भय और बन्धु-बान्धव तथा कुटुम्बियोंके वियोगका दुःख न होकर प्रसन्नता होती है और जैसे वनमें चले जानेके बाद पापोंके नाश तथा आत्माकी पवित्रताके लिये किये जानेवाले पंचाग्नितापमें शारीरिक कष्ट शोकप्रद न होकर उत्साह, शान्ति और आनन्दप्रद होता है वैसे ही अपनी सुदृढ़ भावनासे मृत्युको 'परम तप' के रूपमें परिणत कर देनेवाले पुरुषको भी मृत्युका भय और शोक नहीं होता। ऐसी अवस्था होनेपर ही समझना चाहिये कि उसका मृत्युको परम तपके रूपमें समझना यथार्थ है।

श्रुति कहती है—

'एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यꣳ हरन्ति परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेद।'

(बृ० ५। ११। १)

'ज्वरादि व्याधियोंसे पीड़ित रोगी जो उस व्याधिसे तपायमान होता है, उस कष्टको ऐसा समझे कि यह 'परम तप' है। इस प्रकार उस व्याधिकी निन्दा न करके और उससे दुःखित न होकर उसे 'परम तप' माननेवाले विवेकी पुरुषका वह रोगरूप तप कर्मोंका नाश करनेवाला होता है और उस विज्ञानसे उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं, वह परम लोकको जीत लेता है अर्थात् मुक्तिको प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार मृत्युके समीप पहुँचा हुआ मनुष्य मृत्युको प्राप्त होनेसे पूर्व इस तरह चिन्तन करे कि मरनेके अनन्तर मुझे अन्त्येष्टिके लिये लोग जो ग्रामसे बाहर वनमें ले जायँगे, वह मेरे लिये परम तप होगा (क्योंकि ग्रामसे वनमें जाना 'परम तप' है, यह लोकमें प्रसिद्ध है)। जो उपासक इस प्रकार समझता है वह परम लोकको जीत लेता है तथा मेरे शरीरको वनमें ले जाकर लोग उसे अग्निमें जलावेंगे, वह भी मेरे लिये परम तप होगा (क्योंकि अग्निसे शरीर तपाना परम तप है, यह लोकमें प्रसिद्ध है)। जो उपासक इस प्रकार समझता है, वह परम लोकको जीत लेता है अर्थात् मुक्त हो जाता है।'

उपर्युक्त श्रुतिद्वारा उपदिष्ट विवेचनके अनुसार प्रत्येक मनुष्यको रोग और मृत्युमें परम तपकी भावना करके परम पदकी प्राप्तिके लिये पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

सत्यकी शरणसे मुक्ति

सत् -यह शब्द व्यापक है, असलमें तो 'सत्' शब्दपर विचार करनेसे यही सूझता है कि यह परमात्माका ही स्वरूप है—उसीका नाम है। जो पुरुष सत्के तत्त्वको जानता है वह परमात्माको जानता है। जो सत् है वही नित्य है -अमृत है। इसके तत्त्वका ज्ञाता मृत्युको जीत लेता है, शोक और मोहको लाँघकर निर्भय—नित्य परमधामको जा पहुँचता है। वह सदाके लिये अभय अमृतपदको प्राप्त हो जाता है। उसीको लोग संसारमें जीवन्मुक्त, ज्ञानी, महात्मा आदि नामोंसे पुकारते हैं। उसकी सबमें समबुद्धि हो जाती है; क्योंकि सत् परमात्मा सबमें सम है और वह सत्में स्थित है, इसलिये उसमें विषमताका दोष नहीं रह सकता। वह कभी असत्य नहीं बोलता। उसके मन, वाणी और शरीरके होनेवाले सभी कर्म सत्य होते हैं। उसकी कोई भी क्रिया असत्य न होनेसे उसके द्वारा किया हुआ प्रत्येक आचरण सत्य समझा जाता है। वह जो आचरण करता या बतलाता है वही लोकमें प्रामाणिक माना जाता है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

ऐसे पुरुषका अन्तःकरण, शरीर और उसकी इन्द्रियाँ सत्यसे पूर्ण हो जाती हैं। उसके आहार-व्यवहार और क्रियाओंमें सत्य साक्षात् मूर्ति धारण करके विराजता है। ऐसे नर-रत्नोंका जन्म संसारमें धन्य है। अतः हमलोगोंको इस प्रकार समझकर सत्यकी शरण लेनी चाहिये अर्थात् उसे दृढ़तापूर्वक भलीभाँति धारण करना चाहिये।

सत्यका स्वरूप

सत्य उसका नाम है जिसका किसी कालमें बाध नहीं होता। जो नित्य एकरस, सदा-सर्वदा सब जगह समभावसे स्थित है और जो स्वतः प्रमाण है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २। १६)

ऐसा 'सत्य' एक विज्ञान आनन्दघन चेतन परमात्मादेव ही है। श्रुति कहती है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। (तै० २। १)

जीवात्मा भी सत् है। परमेश्वरका अंश होनेके नाते उसको भी सनातन—नित्य कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५। ७)

गीता अध्याय २ श्लोक १७ से २१ और २३ से २५ तकमें इस विषयका वर्णन किया गया है। अतएव उस सनातन, अव्यक्त, सत्यरूप परमात्माकी शरण लेनेसे यह जीव मायाको लाँघकर सत्यस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। विज्ञान आनन्दघन परमात्मा सत्य है इसलिये उसका नाम भी सत् कहा गया है, क्योंकि रूपके अनुसार ही नाम होता है, यह लोकमें प्रसिद्ध ही है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।

(गीता १७। २३)

ॐ, तत्, सत्—ये तीन नाम ब्रह्मके बताये गये हैं। 'सत्' शब्द भावका अर्थात् अस्तित्वका वाचक है। संसारमें जो कुछ भी सिद्ध होता है वह 'सत्' के आधारपर ही होता है। अतएव सारे संसारका आधार सत्य ही है। सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथिवी आदि सब सत्यमें ही प्रतिष्ठित हैं। सत्यकी ही प्रतिष्ठासे सूर्य तपता है और वायु बहता है। बिना सत्यके किसी भी पदार्थकी सिद्धि नहीं होती। सत्य परमात्माका स्वरूप है और परमात्मा सबसे उत्तम अर्थात् श्रेष्ठ है, इसलिये श्रेष्ठ गुण, उत्तम कर्म और साधुभावमें 'सत्' शब्दका प्रयोग किया गया है अर्थात् जो कुछ भी श्रेष्ठ गुण, उत्तम कर्म और साधुभाव होता है वह सद्गुण, सद्भाव और सत्कर्म नामसे ही लोक और शास्त्रमें विख्यात है।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥

(गीता १७। २६)

उत्तम कर्म होनेके नाते यज्ञ, दान और तप भी सत्कर्मके नामसे प्रसिद्ध हैं एवं इनमें जो निष्ठा तथा स्थिति है उसे भी 'सत्' कहते हैं। स्वार्थको त्यागकर सत्स्वरूप परमात्माके अर्थ किया हुआ प्रत्येक कर्म लोक और शास्त्रमें सत्कर्मके नामसे ही विख्यात है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

(गीता १७। २७)

विचारनेसे यह बात युक्तियुक्त भी सिद्ध होती है कि सत्यके अर्थ जो भी क्रिया की जाती है वह सत्य ही समझी जाती है। इसीलिये सत्यके निमित्त कर्म करनेवालेकी कायिक, मानसिक और वाचिक सम्पूर्ण क्रियाएँ सत्य ही होती हैं यानी वे सब क्रियाएँ लोकमें सत्य प्रमाणित होती हैं।

सत्य-भाषण

कपट, शब्द-चातुरी और कूटनीतिको छोड़कर हिंसावर्जित सरलताके साथ जैसा देखा, सुना और समझा हो उसे वैसा-

का-वैसा—न कम, न ज्यादा—कह देना सत्य-भाषण है। सत्य-भाषणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको निम्नलिखित बातोंपर विशेष ध्यान रखना चाहिये—

(१) न स्वयं झूठ कभी बोलना चाहिये और न किसीको प्रेरित करके बुलवाना चाहिये। दूसरेको प्रेरणा करके अथवा उसपर दबाव डालकर जो उससे झूठ बुलवाता है वह स्वयं झूठ बोलनेकी अपेक्षा गुरुतर मिथ्या-भाषण करता है; क्योंकि इससे झूठका प्रचार अधिक होता है। किसी झूठ बोलनेवालेसे सहमत भी नहीं होना चाहिये। उस समय मौन साधे रहना भी एक प्रकारसे झूठ ही समझा जाता है। तात्पर्य यह कि कृत, कारित और अनुमोदित—इनमेंसे किसी प्रकारका मिथ्या-भाषण नहीं होना चाहिये।

(२) जहाँतक बन पड़े किसीकी निन्दा-स्तुति नहीं करनी चाहिये। निन्दा-स्तुति करनेवाला व्यक्ति स्वार्थ, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय एवं उद्वेग आदिके वशीभूत होकर जोशमें आकर कम या अधिक निन्दा-स्तुति करने लग जाता है। इनमें निन्दा करना तो सर्वथा ही अनुचित है। विशेष योग्यता प्राप्त होनेपर यदि कहीं स्तुति करनी पड़े तो वहाँ भी बड़ी सावधानीके साथ काम लेना चाहिये।

जो अधिक स्तुतिके योग्य हो और उसकी कम स्तुति की जाय तो अर्थान्तरसे वह स्तुति निन्दाके तुल्य ही हो जाती है।

जो कम स्तुतिके योग्य हो, उसकी अधिक स्तुति हो जाय तो उससे जनतामें भ्रम फैलकर लाभके बदले हानि होनेकी सम्भावना है। इस प्रकारकी झूठी स्तुतिसे स्वयं अपनी और जिसकी स्तुति की जाय उसकी लाभके बदले हानि ही होती है। परन्तु किसी बातका निर्णय करनेके लिये राज्यमें या पंचायतमें जो यथार्थ बात कही जाय तो उसका नाम निन्दा-स्तुति नहीं है। उसमें यदि किसीकी निन्दा-स्तुतिके वाक्य कहने पड़ें तो भी उसे वास्तवमें वक्ताकी नीयत शुद्ध होनेसे उसे निन्दा-स्तुतिमें परिगणित नहीं करना चाहिये।

कोई व्यक्ति यदि अपने दोष जाननेके लिये पूछनेका आग्रह करे तो प्रेमपूर्वक शान्तिसे उसे उसका यथार्थ दोष बतला देना भी निन्दा नहीं है।

(३) यथासाध्य भविष्यत्‌की क्रियाओंका प्रयोग नहीं करना चाहिये। ऐसी क्रियाओंका प्रयोग विशेष करनेसे उनका सर्वथा पालन होना कठिन है; अतः उनके मिथ्या होनेकी सम्भावना पद-पदपर बनी रहती है। जैसे किसीको कह दिया कि 'मैं कल निश्चय ही आपसे मिलूँगा,' किन्तु फिर यदि किसी कारणवश वहाँ जाना न हो सका तो उसकी प्रतिज्ञा झूठी समझी जाती है। अतः ऐसे अवसरोंपर यही कहना उचित है कि 'आपके घरपर कल मेरा आनेका विचार है या इरादा है।'

(४) किसीको शाप या वर नहीं देना चाहिये। इससे तपकी हानि होती है। शाप देनेसे तो पापका भी भागी होना सम्भव है। इस प्रकारके बुरे अभ्याससे स्वभावके बिगड़ जानेपर सत्यकी हानि और आत्माका पतन होता है।

(५) किसीके साथ हँसी-मजाक नहीं करना चाहिये। इसमें प्रायः विनोद-बुद्धिसे असत्य शब्दोंका प्रयोग हो ही जाया करता है। जिसकी हम हँसी उड़ाते हैं वह बात उसके मनके प्रतिकूल पड़ जानेपर उसके चित्तपर आघात पहुँच सकता है, जिससे हिंसा आदि दोषोंके आ जानेकी भी सम्भावना है।

(६) व्यंग्य और कटाक्षके वचन भी नहीं बोलने चाहिये। इनमें भी झूठ, कपट और हिंसादि-दोष घट सकते हैं।

(७) शब्द-चातुरीके वचनोंका प्रयोग नहीं करना चाहिये। जैसे, शब्दोंसे तो कोई बात सत्य है परन्तु उसका आन्तरिक अभिप्राय है विपरीत। राजा युधिष्ठिरने अपने गुरु-पुत्र अश्वत्थामाकी मृत्युके सम्बन्धमें अश्वत्थामा नामक हाथीका आश्रय लेकर शब्दचातुर्यका प्रयोग किया था। वह मिथ्या-भाषण ही समझा गया।

(८) मितभाषी बनना अर्थात् गम्भीरताके साथ विचारकर यथासाध्य बहुत कम बोलना चाहिये, क्योंकि अधिक शब्दोंका प्रयोग करनेसे विशेष विचारके लिये समय न मिलनेके कारण भूलसे असत्य शब्दका प्रयोग हो सकता है।

सत्यके पालन करनेवाले मनुष्यको काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, द्वेष, ईर्ष्या और स्नेहादि दोषोंसे बचकर वचन बोलनेकी चेष्टा करनी चाहिये। जिस समय सत्यकी प्रतिष्ठा हो जाती है उस समय उपर्युक्त दोष प्रायः नष्ट हो जाते हैं। जब कि इनमेंसे किसी एक दोषके कारण भी मनुष्य सत्यसे विचलित हो जाता है तो फिर अधिक दोषोंके वशमें होकर असत्य-भाषण करनेमें तो आश्चर्य ही क्या है?

सत्य बोलनेवाले पुरुषको हिंसा और कपटसे खूब सावधानी रखनी चाहिये। जिस सत्य-भाषणसे किसीकी हिंसा होती है तो वह सत्य सत्य नहीं है, इसके सम्बन्धमें महाभारत-कर्णपर्वके ६९ वें अध्यायमें कौशिक ब्राह्मणकी कथा प्रसिद्ध है। ऐसे अवसरपर सत्य-भाषणकी अपेक्षा मौन रहना अथवा न बतलाना ही सत्य है। हाँ, अपनी या दूसरेकी प्राण-रक्षाके लिये झूठ बोलना पड़े तो वह सत्य तो नहीं समझा जाता परन्तु उसमें पाप भी नहीं माना गया है।

जिस सत्यमें कपट होता है वह सत्य सत्य नहीं समझा जाता। सत्य बोलनेवाला मनुष्य जान-बूझकर सत्यका

जितना अंश शब्दोंसे या भावसे छिपाता है, वह उतने अंशकी चोरी करता है। हिंसा और कपट—ये दोनों ही सत्यमें कलंक लगानेवाले हैं। इसलिये जिस सत्यमें हिंसा और कपटका थोड़ा भी अंश रहता है वह सत्य शब्दोंसे सत्य होनेपर भी झूठ ही समझा जाता है।

जो विषयी और पामर पुरुष हैं वे तो बिना ही कारण प्रमादवश झूठ बोल दिया करते हैं, क्योंकि वे सत्य-भाषणके रहस्य और महत्त्वसे सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं। उनका पतन होना भी फलतः स्वाभाविक ही है परन्तु जो विचारशील पुरुष हैं वे सत्यको उत्तम समझकर उसके पालनकी इच्छा तो रखते हैं किन्तु उनसे भी सर्वथा सत्यका पालन होना कठिन है। अनन्त जन्मोंसे मिथ्या-भाषणका अभ्यास होनेके कारण उनके लिये भी सत्यकी सिद्धि दुष्कर है। पर विवेक-बुद्धिके द्वारा स्वार्थको छोड़कर जो सत्यके पालनकी विशेष चेष्टा करते हैं, उनके लिये इसका पालन होना—इसकी प्रतिष्ठा होनी सम्भव है असाध्य नहीं। जो सत्यका अच्छी प्रकार अभ्यास कर लेता है अर्थात् जिसकी सत्यमें सर्वांगप्रतिष्ठा हो जाती है उसकी वाणी सत्य हो जाती है अर्थात् वह जो कुछ कहता है वह सत्य हो जाता है। महर्षि पतंजलि भी योगपाद २ सूत्र ३६में कहते हैं—

'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'

अगस्त्यके वचनोंसे नहुषका पतन हो जाना आदि अनेक कथाएँ शास्त्रोंमें प्रसिद्ध ही हैं।

सत्य बोलनेवाला पुरुष निर्भय हो जाता है, क्योंकि जबतक भय रहता है तबतक वह यथार्थभाषी नहीं होता—भयके कारण कहीं-न-कहीं मिथ्या-भाषण घट ही जाता है। जो सर्वथा सत्यको जीत लेता है वह क्षमाशील होता है, वह क्रोधके वशीभूत नहीं होता। क्रोधी मनुष्य सत्यके पालनमें सर्वथा असमर्थ रहता है। क्रोधोन्मादमें वह क्या-क्या नहीं बक बैठता?

सत्य-पालनके प्रभावसे मनुष्यमें निरभिमानिता आ जाती है। मान और प्रतिष्ठाकी जहाँ इच्छा होती है वहाँ दम्भ और कपटको आश्रय मिल जाता है। और बस, जहाँ इन्होंने प्रवेश किया वहाँसे सत्य तत्काल कूच कर जाता है। निःसन्देह कपटी और दम्भीका सत्यसे पतन हो जाना अनिवार्य है।

जब सर्वथा सत्यकी प्रतिष्ठा हो जाती है तो उस सत्यवादीमें किसी प्रकारकी इच्छा या कामना नहीं रहती। भोगोंकी इच्छावाला मनुष्य भला क्या-क्या अनर्थ नहीं कर बैठता? क्योंकि काम ही पापोंका मूल है। इसीलिये कामके वशीभूत हुआ कामी पुरुष झूठ, कपट, छल आदि दोषोंकी खान बन जाता है। अतएव सत्यके सम्यक् पालनसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या और अहंकार आदि दोषोंका नाश हो जाता है और वह मनुष्य एक सत्यके ही पालनसे दया, शान्ति, क्षमा, समता, निर्भयता आदि सम्पूर्ण गुणोंका भण्डार बन जाता है। अतः मनुष्यको सत्य-भाषणपर कटिबद्ध होकर विशेषरूपसे प्रयत्न करना चाहिये।

सत्य आहार

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कोई भी क्यों न हो, शास्त्रके द्वारा बतलायी हुई विधिके अनुसार न्यायपूर्वक अपने परिश्रमद्वारा उपार्जित द्रव्यसे वह जो सात्त्विक* आहार करता है उसका नाम सत्य आहार है। यद्यपि ब्राह्मणके लिये दान लेकर भी जीविका-निर्वाह करना शास्त्रानुकूल है तथापि दाताका उपकार किये बिना जो याचनावृत्तिसे अपना धर्म समझकर जीविका करता है वह ब्राह्मणोंमें निन्दनीय समझा जाता है। उससे तपका नाश, आलस्य तथा अकर्मण्यताकी वृद्धि होती है। इसलिये शास्त्रोक्त होनेपर भी इस प्रकारकी जीविकासे किया हुआ सत्य आहार सत्य आहार नहीं है। इसलिये ब्राह्मणको दाताका प्रत्युपकार करके अथवा शिलोञ्छवृत्तिसे जीविका-निर्वाह करना चाहिये, इसी प्रकार क्षत्रियको भी स्वधर्मके अनुसार सत्य और न्यायसे उपार्जित शुद्ध द्रव्यसे जीविका चलानी चाहिये।

यद्यपि वैश्यके लिये व्याज लेकर जीविका-निर्वाह करना धर्म-शास्त्रानुकूल है तथापि क्रय-विक्रय-व्यापारके बिना केवल व्याज-वृत्तिकी शास्त्रकारोंने निन्दा की है। इसलिये भगवान्ने गीतामें इसका उल्लेख ही नहीं किया। इससे आलस्य और निरुद्यमताकी वृद्धि होती है। गिरवी रखे हुए आभूषण और जमीन आदिकी कीमतसे भी मूलसहित व्याजकी रकम जब अधिक हो जाती है तो कर्जदार उनको छुड़ाकर वापस नहीं ले सकता। इससे उसकी आत्माको बड़ा कष्ट पहुँचता है। अतः केवल व्याजकी जीविका निन्दनीय है। इस प्रकारकी जीविकासे जो वैश्य आहार करता है वह आहार भी सत्य नहीं है, इसी प्रकार क्षत्रिय आदिके लिये समझ लेना चाहिये।

जो पुरुष शास्त्रविहित अपने वर्णाश्रमके अनुकूल परिश्रम करके न्यायसे प्राप्त हुए सात्त्विक द्रव्यका आहार करता है उसका वह आहार सत्य आहार कहलाता है। जैसे कोई वैश्य झूठ और कपटको त्यागकर ईश्वरकी आज्ञासे

* आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ (गीता १७।८)

अपना धर्म समझकर क्रय-विक्रय आदि न्याययुक्त जीविकाद्वारा प्राप्त सात्त्विक पदार्थोंका सेवन करता है तो उसका वह आहार सत्य आहार है। व्यापार करनेवाले वैश्यको उचित है कि यथासाध्य कम-से-कम मुनाफा लेकर माल बिक्री करे; गिनती, नाप और वजनमें न कम दे और न अधिक ले; व्याज, मुनाफा, आढ़त और दलाली ठहराकर न किसीको कम दे और न अधिक ले; लेन-देनके विषयमें जैसा सौदा चतुर और समझदार आदमीसे किया जाय उसी दरसे मूर्ख, भोले और सीधे-सादे आदमीके साथ करे अर्थात् सबके साथ सम बर्ताव करे। जो कुछ सम्पत्ति हो उसे ईश्वरकी समझकर लाभ-हानिमें सम रहते हुए दक्षतापूर्वक व्यापार करे और ऐसी चेष्टा की जाय कि जिससे मूलधनका नाश न हो; जहाँतक हो सके किसीकी जीविकाकी हानि न करके विशेष हिंसाका बचाव रखते हुए न्यायसे धन उपार्जन करे और सादगीसे रहे; जितने कमसे अपना और अपने कुटुम्बका निर्वाह हो सके—ऐसी चेष्टा करे; बढ़े हुए धनमें भी अपना स्वत्व न समझकर संसारका हितचिन्तन करके लोकोपकारके ही लिये व्यय करे, यही सत्य व्यापार है। इस प्रकारके व्यापारद्वारा उपार्जित द्रव्यसे जो सात्त्विक अन्नादिका आहार किया जाता है वह वैश्यके लिये सत्य आहार है, इसी प्रकार अन्य सबके लिये समझ लेना चाहिये।

सद्भाव और सद्व्यवहार

ऊपर लिखा जा चुका है कि 'सत्' परमेश्वरका नाम है। अतः उसे प्राप्त करवानेवाले भाव और व्यवहार ही सद्भाव और सद्व्यवहार हैं। उन्हींको साधुभाव कहा गया है। गीताके १३वें अध्यायमें ये ज्ञानके नामसे एवं १६वेंमें दैवी-सम्पदाके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनमें जो भाववाचक शब्द हैं, वे सब साधुभाव समझे जाने चाहिये। जिन पुरुषोंमें उत्तम भाव रहते हैं वे परमात्माकी प्राप्तिके पात्र समझे जाते हैं; अतः प्राप्तिमें हेतु होनेसे इनको सद्भाव कहा गया है।

अमानित्व (मानका न चाहना), क्षमा (अपने साथ किये गये अत्याचारोंका बदला न चाहना), कोमलता, सरलता, पवित्रता, शान्ति, शीतलता, समता, वैराग्य, श्रद्धा, दया, उदारता, सुहृदता इत्यादि भाव साकार परमेश्वरमें तो स्वाभाविक होते हैं एवं भगवान्‌की शरण होकर उनकी उपासना करनेवाले भक्तोंमें उनकी दयासे विकसित हो जाते हैं। ऐसे सद्भावोंसे युक्त भक्त परमात्मदर्शनके अधिकारी होते हैं। अतः हमलोगोंको ऐसे भावोंको प्राप्त करनेके लिये सब प्रकारसे परमेश्वरकी शरण लेनी चाहिये। भगवत्-दयासे जिस मनुष्यमें उपर्युक्त सद्भाव आ जाते हैं उसके आचरण भी सत्य ही होते हैं; क्योंकि सदाचारमें सद्भाव ही हेतु बतलाये गये हैं। जैसा आन्तरिक भाव होता है वैसी ही बाहरी चेष्टा होती है। अतः सद्भावसे मुक्ति और असद्भावसे पतन समझना चाहिये। उपर्युक्त सद्गुणोंसे सम्पन्न पुरुष यथासाध्य उस जगह नहीं जाता जहाँ मान, बड़ाई और पूजा मिलनेकी सम्भावना होती है। यदि कोई व्यक्ति उसका अनिष्ट कर देता है तो वह यही समझता है कि मेरे पूर्वकृत कर्मोंके फलसे हुआ है; यह तो निमित्तमात्र है—ऐसा मानकर वह किसीसे द्वेष या घृणा नहीं करता; बल्कि अवसर पड़नेपर उसके हृदयसे संकोच, ग्लानि, भय और द्वेषको दूर करनेकी ही चेष्टा करता है।

यदि उसके साथ कोई असद्व्यवहार करता है अथवा व्यंग्य और कठोर वाक्योंका प्रयोग करता है तो भी वह विनय और सरलतासे सनी हुई मधुर वाणीसे उसी प्रकार शान्तिपूर्वक उत्तर देता है जिस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने कैकेयीको दिया—

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥
मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहिं भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधिसबबिधिमोहिसनमुखआजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥

वास्तवमें ऐसा सद्भावोंसे सम्पन्न पुरुष सारे जगत्‌में अपने परम प्रिय स्वामी परमात्माका स्वरूप देखता है और मन-ही-मन सबको प्रणाम करता हुआ सबके साथ सद्व्यवहार करता है।

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

ऐसे पुरुषोंका वैरी अथवा मित्रमें समभाव रहता है और काम पड़नेपर वे वैसा ही व्यवहार करते हैं जैसा श्रीकृष्णने अर्जुन और दुर्योधनके साथ किया था। महाभारतके युद्ध-आरम्भके पूर्व जब वे दोनों श्रीकृष्णके पास गये तो उन्होंने यही कहा कि मेरे लिये तुम दोनों ही समान हो। मेरे पास जो कुछ है उसे तुम दोनों इच्छानुसार बाँटकर ले सकते हो। एक ओर तो मेरी एक अक्षौहिणी सेना है और दूसरी ओर मैं स्वयं निःशस्त्र हूँ। तुम्हारे परस्परके युद्धमें मैं शस्त्र ग्रहण न करूँगा। इन दोनोंमेंसे जिसे जो जँचे वह ले सकता है। इसपर दुर्योधनने सेनाको लिया और अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णको!

तथा ऐसे पुरुषोंको बड़े भारी विषयभोग भी वैसे ही विचलित नहीं कर सकते, जैसे यमराजका दिया हुआ प्रलोभन नचिकेताको न कर सका। उसने रथ, घोड़े और स्वर्गादिके ऊँचे-से-ऊँचे भोगोंको तत्काल ठुकराकर परमात्म-धनको ही पसन्द किया—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं
वरस्तु मे वरणीयः स एव॥
अजीर्यताममृतानामुपेत्य
जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदा-
नतिदीर्घे जीविते को रमेत॥
यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो
यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते॥

(कठ० १। १। २७—२९)

'मनुष्य द्रव्यसे तृप्त नहीं होता। धन तो आपके दर्शनसे मिल ही जायगा। जबतक आप अनुग्रहपूर्वक प्राणियोंपर शासन करते हैं, तबतक मैं जीवित भी रह सकूँगा, परन्तु मैं तो वही वर चाहता हूँ जो मैंने माँगा है। जरा-रहित अमृतरूप देवोंके समीप जाकर जरामरणयुक्त तथा पृथिवीरूपी अधःस्थानमें स्थित रहा हुआ कौन पुरुष अनित्य वस्तुको चाहेगा? रूप, क्रीड़ा और उससे उत्पन्न होनेवाले सुखको अनित्य जानकर भी कौन पुरुष लम्बी आयुसे सन्तुष्ट होगा? हे मृत्यो! परलोक-सम्बन्धी आत्म-तत्त्वमें जो शंका की जाती है, वह आत्मविज्ञान ही मुझसे कहिये, इस अत्यन्त गूढ़ वरके अतिरिक्त नचिकेता और कुछ नहीं माँगता।'

और ऐसे पुरुषोंका वेद, शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंमें भी प्रत्यक्षवत् विश्वास होता है। जैसे कल्याण-कामी सत्यकामका गुरु-वचनोंमें बड़ा भारी विश्वास था। वह उद्दालककी सेवामें ब्रह्मज्ञानके उपदेशार्थ उपस्थित होता है। उसे गुरु तत्काल आज्ञा दे देते हैं कि—'ये चार सौ गायें वनमें ले जाओ, पूरी हजार हो जानेपर वापस चले आना।' (छान्दोग्य० ४। ४। ५) कहना नहीं होगा कि अपनी दृढ़ श्रद्धा और गुरुप्रसादके कारण सत्यकाम वनमें ही आत्मज्ञान प्राप्तकर कृतकृत्य हो गया।

अत्यन्त निष्ठुरता और निर्दयताका व्यवहार करनेवालेके साथ भी उत्तम पुरुष उदारता, दया और सुहृदताका ही बर्ताव करते हैं। इस सम्बन्धमें भक्त जयदेव कविका चरित्र बड़े महत्त्वका है—

एक बार भक्तशिरोमणि अयाचक जयदेवको किसी राजाने अनेक प्रकारसे अनुनय-विनय करके बहुमूल्य रत्न प्रदान किये। उस विपुल धनराशिको लेकर जब वह अपने घरको जा रहे थे तो मार्गमें डाकुओंसे भेंट हुई। लोभ किससे क्या नहीं करवा लेता? डाकुओंने रत्न छीनकर बेचारे निःस्पृही भक्तके हाथ काट डाले! धनलिप्साकी इतिश्री यहीं नहीं हो गयी! उन्होंने निर्दयतापूर्वक उन्हें पासके किसी जलहीन सूखे कुएँमें डालकर और भी अधिक पापकी पोटली बाँधी! दैवयोगसे राजा उसी कुएँपर प्याससे व्याकुल होकर आ पहुँचा। ज्यों ही पानी खींचनेके लिये रस्सी अन्दर लटकायी, त्यों ही परिचित-सी आवाज सुन पड़ी। पूछनेपर पता चला कि वह कष्टापन्न व्यक्ति जयदेवके सिवा कोई दूसरा न था! राजाने उसे बाहर निकलवाकर दुःखभरे चकितभावसे पूछा, 'यह क्या हुआ जयदेव? किस निष्ठुरने तुम्हारे साथ यह दुर्व्यवहार कर अपनी मौतको याद किया है?' भक्त चुप रहा—अनेक बार आग्रह करनेपर भी न बोला। राजाका कोई वश न चला। वह उसे अपने राजमहलमें ले जाकर रात-दिन उसकी सेवा-शुश्रूषामें तत्पर रहने लगा। संयोगसे वे ही डाकू महलकी ओर आते हुए दीख पड़े। आनन्दोल्लासभरे स्वरमें जयदेव बोल उठा—'राजन्! आप मुझे धन लेनेके लिये अनेक बार प्रार्थना किया करते हैं! आज आप इच्छानुसार खुले दिलसे मेरे इन मित्रोंको दान कर सकते हैं।' कहनेभरकी देरी थी। राजाने उन भयकम्पित डाकुओंको अपने पास बुलवाया। अपराधी लुटेरोंके प्राण कण्ठको आने लगे—टाँगें परस्पर टकराने लगीं। बहुत देरतक आशा-आश्वासन पानेके बाद उनका धड़कता हुआ हृदय थमा! साहस करके जो मनमें आया वही माँगा! अपने दुष्कृत्योंका उलटा फल पाकर वे अचम्भित और हर्षित हुए! साथमें कोतवालको नियुक्त करके उन्हें सादर बिदाई दी गयी। कोतवालने इस अद्भुत रहस्यके जाननेके लिये उत्सुकतापूर्ण भावसे पूछा 'क्योंजी, आपका जयदेवजी भक्तके साथ क्या सम्बन्ध है? उन्होंने इतनी अधिक सम्पत्ति दिलवाकर किस कृतज्ञताका बदला चुकाया है?'

डाकुओंने छलभरी मुसकराहटके साथ कहा—'कोतवाल साहब! हमलोगोंने इस जयदेवको एक बार मृत्युके मुखसे बचाया था—अब यह उसी प्राण-दानका बदला चुका रहा है।' अन्तिम अक्षरोंके निकलते ही उनके आगेकी पृथ्वी झटसे फट पड़ी और उन पतितोंको उसने अपनेमें सदाके लिये समा लिया। कोतवालने राज-दरबारमें उपस्थित होकर दोनोंके सम्मुख सारा वृत्तान्त कह सुनाया। सुनते ही जयदेवकी आँखोंसे आँसू बह निकले! आँसू पोंछनेपर उनके दोनों हाथ निकल आये, राजाके विस्मित होकर बार-बार पूछनेपर परम भागवत जयदेवने सारा हाल कह सुनाया! राजाका आश्चर्य घटनेकी अपेक्षा और भी अधिक

बढ़ गया। उसने तत्काल पूछा—'जब आपके हाथ इन्होंने काट दिये तो ये मित्र कैसे?'

जयदेव—मैंने प्रतिग्रह स्वीकार न करनेकी जो प्रतिज्ञा कर रखी थी उसे आपके आग्रहवश तोड़नी पड़ी। उसी प्रतिज्ञाभंगके दण्डस्वरूप मेरे हाथ काटकर इन्होंने मुझे उपदेश दिया। इस प्रकारके क्रियात्मक उपदेशद्वारा हित-साधन करनेवाले लोग मित्र नहीं तो क्या हैं?

राजा—इनको आपने धन कैसे दिलवाया?

जयदेव—कहीं धनकी लालसा रहनेपर ये फिर भी कभी समय पाकर किसी निरपराधका खून कर सकते हैं, ऐसा विचारकर इनकी कामना-पूर्ति और सन्तोषके लिये मैंने आपसे धन दिलवाया। मित्रताके नाते भी धन दिलवाना न्यायसंगत ही था।

राजा—इनकी मृत्युसे आप रोने कैसे लगे?

जयदेव—मेरे निमित्तसे इन्हें प्राणोंसे हाथ धोना पड़ा। मुझे लोग श्रेष्ठ कहते हैं, श्रेष्ठके संगका फल श्रेष्ठ होना चाहिये, पर हुई बात इसके विपरीत। इसीलिये मैं रोता हूँ कि—'हे प्रभो! मैंने ऐसा कौन-सा अपराध किया था कि जिससे इनको मेरे संगका यह दुष्परिणाम भोगना पड़ा?'

राजा—तो आपके हाथ कैसे आ गये?

जयदेव—यह ईश्वरकी दया है! वे अपने सेवकके अपराधोंका विचार न कर अपने विरद—अपने दयापूर्ण स्वभावकी ओर ही देखते हैं।

भक्तशिरोमणि जयदेवके ये वचन सुनकर राजा पुलकित हो उठा— आनन्दसे गद्गद हो गया। इसका नाम है सत्यपालकका सद्भाव और उसकी सहृदयता!

सत्कर्म

परम पिता परमेश्वर सत् हैं, इसलिये उनके निमित्त किये जानेवाले कर्म भी सत्कर्म हैं।

कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

(गीता १७। २७)

अतएव मोक्षकी इच्छा रखनेवाले पुरुषद्वारा जो कुछ भी कर्म किया जाता है वह भगवदर्थ ही होता है।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥

(गीता १७। २५)

इस प्रकार ईश्वरार्थ और ईश्वरार्पण कर्म करनेसे मनुष्य पुण्य और पापोंसे छूटकर सत्स्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। ईश्वरार्थ और ईश्वरार्पण दोनों ही प्रकारके कर्म मुक्तिके देनेवाले हैं। भगवान् श्रीकृष्णने स्थान-स्थानपर इस प्रकार कर्म करनेकी आज्ञा अर्जुनको दी है। देखिये—गीता अ० ३। ९; ९। २७; १२। १०-११ आदि।

इसलिये यज्ञ, दान, तप,सेवा, पूजा या जीविका आदिके सभी कर्म ईश्वरार्थ ही करने चाहिये। जैसे सच्चा सेवक (मुनीम गुमाश्ता) प्रत्येक कार्य स्वामीके नामपर, उसीके निमित्त, उसीकी इच्छाके अनुसार करता हुआ किसी कर्म अथवा धनपर अपना अधिकार नहीं समझता है और स्वप्नमें भी किसी वस्तुपर उसके अन्तःकरणमें ममत्वका भाव न आनेसे वह न्याययुक्त की हुई प्रत्येक क्रियामें हर्ष-शोकसे मुक्त रहता है, उसी प्रकार भगवान्के भक्तको उचित है कि वह अपने अधिकारगत धन, परिवार आदि सामग्रीको ईश्वरकी ही समझकर उसकी आज्ञाके अनुसार उसीके कार्यमें लगानेकी न्याययुक्त चेष्टा करे और वह जो भी नवीन कर्म अथवा क्रिया करे उसे उसकी प्रसन्नता और आज्ञाके अनुकूल ठीक उसी प्रकार करे जिस प्रकार बन्दर नटकी इच्छा और आज्ञानुसार करता है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि ईश्वरकी इच्छाका पता किस प्रकार चले? इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि आप इस सम्बन्धमें ईश्वरसे पूछ सकते हैं। वह आपके हृदयमें विराजमान है—

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

(गीता १५। १५)

'हमारे लिये क्या करना उचित है और क्या अनुचित है' यह बात आप अपने हृदयस्थ परमात्मासे यदि जानना चाहेंगे तो वह न्यायकारी प्रभु आपके हृदयमें सत्प्रेरणा ही करेंगे। जब कोई व्यक्ति सद्भावसे अन्तरात्मासे परामर्श लेता है तो उसे पवित्र आत्माद्वारा सत्परामर्श ही प्राप्त होता है। साधारणतः जैसे कोई अपनी आत्मासे पूछता है कि 'चोरी, व्यभिचार, झूठ और कपट आदि कर्म कैसे हैं?' तो उत्तर मिलता है कि 'त्याज्य हैं—निषिद्ध हैं!' इसी प्रकार ब्रह्मचर्य, अहिंसा और सत्य आदिके विषयमें सम्मति माँगनेपर यही उत्तर मिलता है कि 'अवश्य पालनीय हैं।' अज्ञान, राग-द्वेष और संशय आदि दोषोंद्वारा हृदयके आच्छादित रहनेपर किसी-किसी विषयमें निश्चित उत्तर नहीं मिलता; अतः ऐसे अवसरपर अपनी दृष्टिमें जो भगवान्के तत्त्वको जाननेवाले महापुरुष हों, उनके द्वारा बतलाये हुए विधानको ईश्वरकी आज्ञा मानकर तदनुकूल आचरण करना चाहिये।

सत्स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करवानेवाले व्यवहारका नाम ही सद्व्यवहार है। इसीको सदाचार कहते हैं। अपना कल्याण चाहनेवाले साधकोंको उचित है कि वे इसके

पालनकी ओर विशेषरूपसे सचेष्ट रहें। भगवत्प्राप्त पुरुषोंमें तो सत्यका आचरण स्वाभाविक ही होता है।

संसारमें किसी जीवको कभी भी किसी प्रकारसे दुःख, भय और क्लेश नहीं पहुँचाना चाहिये और न पहुँचानेकी इच्छा या प्रेरणा ही करनी चाहिये। यदि कोई किसीको कष्ट पहुँचाता हो तो उसको किसी प्रकारसे न तो सहायता ही देनी चाहिये और न उसका अनुमोदन ही करना चाहिये। इतना ही नहीं, वरं भीतरमें प्रसन्नता भी न माननी चाहिये।

अज्ञान और राग-द्वेष सदाचारके लिये परम विघातक हैं। अतः साधकको इनसे खूब ही बचकर रहना चाहिये। भ्रम और मूर्खताके कारण मनुष्य हर एक प्रकारके दुराचरणमें प्रवृत्त हो जाता है। इसलिये सदाचारी मनुष्यको सत्य और असत्यके विषयमें शास्त्र और साधु पुरुषोंकी सहायतासे अपनी बुद्धिद्वारा निर्णय करके सत्यका आचरण करना चाहिये। अन्यथा वह सत्यको असत्य और दुराचारको सदाचारका रूप देकर दुराचरणमें प्रवृत्त हो जाता है, जिससे उसका परमार्थभ्रष्ट हो जाना स्वाभाविक है।

राग

यह साधकका बड़ा भारी शत्रु है। यही काम और लोभके रूपमें परिणत होकर समस्त अनर्थोंका मूल बन जाता है। इसीके कारण यह विषयोंका दास होकर अर्थकी कामनाके लिये संसारमें भटकता फिरता है। आत्मसुधारकी कामनावाले पुरुषको इस बातका पद-पदपर ध्यान रखना चाहिये कि कहीं मैं स्वार्थके चंगुलमें फँसकर आचरण-भ्रष्ट न हो जाऊँ! जब मनुष्य किसी कार्यको आरम्भ करता है तो आसक्तिके स्वाभाविक दोषके कारण उस कार्यकी सिद्धि-असिद्धिमें निजी स्वार्थका अन्वेषण करने लगता है और सोचता है कि उस कार्यके करनेमें मुझे क्या लाभ प्राप्त होगा? इस प्रकारकी अर्थ-कामना उसे सब विषयोंका दास बनाकर श्रेयमार्गसे तत्काल गिरा देती है। अतः कल्याणकामी साधकको उचित है कि वह कार्य-आरम्भके पूर्व ही सावधान हो जाय कि जिससे स्वार्थको घर कर लेनेका अवसर न मिल सके। मनमें स्वार्थके प्रवेश कर जानेसे सदाचार दुराचारके रूपमें परिणत हो जाता है। सदाचारका पालन करनेमें यदि भूलसे कुछ कमी आ जाय या किसी अंशमें कहीं पालन न बन सके तो निःस्वार्थी पुरुष दोषी नहीं समझा जाता। दोष तो सारा स्वार्थसे आता है। स्वार्थ बड़ा ही प्रबल है, इसका ऐसा विस्तार और प्रसार है कि यह पद-पदपर व्याप्त है इसीलिये सावधान होनेपर भी धोखा हो जाता है। संसारके सम्पूर्ण कर्मों और समस्त पदार्थोंमें इसने अपना स्थान बना रखा है। अच्छे-अच्छे विद्वान् और बुद्धिमान् पुरुष भी इसके फेरमें पड़कर कर्तव्यको भूल जाते हैं। स्वार्थसे बचने, स्वार्थका समूल नाश करनेके लिये मनुष्यको सतत सावधानीसे प्रयत्न करते रहना चाहिये और बार-बार अन्तर्वृत्ति करके देखना चाहिये। जो पुरुष इस स्वार्थपर विजय पाता है, सब प्रकारकी कामना और स्पृहाको त्यागकर विचरता है, वही परम शान्तिको प्राप्त होता है। विषयलोलुप मनुष्योंके न तो आचरणोंमें ही सम्यक् सुधार होता है और न उन्हें कभी कहीं शान्ति ही मिलती है।

द्वेष

रागकी भाँति द्वेष भी मनुष्यका परम शत्रु है। इसीके कारण वह क्रोधके वशीभूत हो कर्तव्य भूलकर विपरीत आचरण करने लगता है, जिससे उसका सर्वनाश हो जाता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि द्वेषका मूल कारण वास्तवमें राग या आसक्ति ही है। इसी राग या आसक्तिसे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि भीषण शत्रुओंका दल उत्पन्न होकर मनुष्यको सदाचारसे गिराकर उसकी बुद्धि भ्रष्ट कर देता है, जिससे वह परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है, इसलिये आसक्तिके त्यागपर विशेष ध्यान रखना चाहिये।

आसक्तिरहित पुरुषकी प्रत्येक क्रिया स्वार्थहीन होती है, इससे उसके हर एक आचरणमें प्रेम और दयाका भाव विकसित हुआ रहता है। किसी भी पदार्थमें राग न रहनेके कारण, संसारके जितने भोग्य पदार्थ हैं उसके अधीन होते हैं, उन सबको वह उदार-चित्तसे देश-काल-पात्रके अनुसार लोकहितार्थ सद्व्यय करनेकी चेष्टामें रहता है। ऐसे सत्पुरुषोंकी सारी क्रियाएँ मूर्ख और अज्ञानियोंकी समझमें नहीं आतीं। वे उसकी क्रियाओंको अपनी अज्ञानावृत्त क्रियाओंसे तुलना करके उनमें दोष ही देखा करते हैं। परन्तु वास्तवमें ऐसे महात्माओंकी स्वार्थरहित क्रियाओंमें दोषका लेशमात्र भी प्रवेश नहीं हो सकता। इस लोक या परलोकको कोई भी कामना या स्वार्थ न रहनेके कारण ऐसे महापुरुषोंके आचरण अज्ञानी मनुष्योंकी दृष्टिमें दोषयुक्त होनेपर भी सर्वथा पवित्र होते हैं। मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाका और संसारकी किसी भी स्थितिका लोभ नहीं होनेके कारण संसारकी कोई भी वस्तु इन्हें अपनी ओर नहीं खींच सकती, वे नित्य निर्भयपदमें स्थिर रहते हुए न तो किसीसे डरते हैं और न किसीके साथ कठोर बर्ताव ही करते हैं। विनय, कोमलता, सत्य और शान्तिकी तो वे साक्षात् मूर्ति ही होते हैं। क्षमा उनका स्वभाव बन जाता है इससे क्रोधकी उत्पत्ति उनमें कभी होती ही नहीं, कभी योग्यता प्राप्त होनेपर उनमें कोई क्रोधकी-सी बाहरी क्रिया देखी जाती है परन्तु वस्तुतः उनमें क्रोध नहीं हो सकता।

सर्वत्र सबमें समबुद्धि होनेके कारण वे किसीकी अनुचित निन्दा-स्तुति नहीं करते। झूठ-कपटका उनमें सर्वथा अभाव होता है। जहाँ, जिस बातके प्रकट हो जानेसे किसीको हानि पहुँचती हो या अपनी प्रशंसा होती हो उसे वे यदि छिपा लेते हैं तो उनका यह आचरण कपट, असत्य या स्तेयमें नहीं गिना जाता।

उपसंहार

सत्यका विषय बड़ा व्यापक है। इसपर बहुत अधिक लिखा जा चुका है तो भी इसमें मनके सब भाव व्यक्त नहीं हो पाये हैं। इसकी विशदरूपसे व्याख्या करनेकी आवश्यकता है। किन्तु लेख बढ़ जानेके संकोचसे जहाँतक बन पड़ा, संक्षिप्तमें ही समाप्त करनेकी चेष्टा की है।

सत्य एक ऐसी वस्तु है, जिसका आश्रय लेनेसे सम्पूर्ण उत्तम गुणोंकी प्राप्ति स्वयमेव हो जाती है। सत्यका आश्रयी सत्पुरुष सद्‌गुणोंका समुद्र और ज्ञानका भण्डार बन जाता है। यद्यपि सत्यके पालनमें आरम्भमें साधकको अनेक प्रकारकी कठिनाइयों और क्लेशोंका सामना करना पड़ता है, किन्तु सत्यकी सिद्धि हो जानेपर उसके शोक और मोहका आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। अतः सत्यके पालन करनेवाले पुरुषको निर्भयतासे अपने लक्ष्यपर डटे रहना चाहिये। एक ओर सत्यका त्याग और दूसरी ओर प्राणोंका त्याग—इन दोनोंको तौलनेपर सत्यका पलड़ा ही भारी मालूम देता है। इसलिये यदि मनुष्य प्राणोंकी भी परवा न करके सत्यपर डटा रहेगा तो सभी आपत्तियाँ देखते-ही-देखते आप ही नष्ट हो जायँगी। अन्तमें उस सत्यकी विजय होगी। उदाहरणार्थ प्रह्लादका इतिहास प्रसिद्ध है। सत्यके लिये प्रमाणोंकी अपेक्षा नहीं है। वह तो स्वयं स्वतःप्रमाण है। अन्य सब प्रमाणोंकी सिद्धि सत्यपर ही अवलम्बित है। सत्यका प्रतिपक्षी सत्यको नष्ट करनेके लिये चाहे जितने उपाय करे, सत्यको जरा भी आँच नहीं आती—बल्कि वह जितना ही कसौटीपर कसा जाता है—जितना ही तपाया जाता है उतना ही वह उज्ज्वल रूप धारण करता रहता है। जो ताड़नासे, तापसे मिट जाय वह सत्य ही नहीं है। जो सत्यपालनका थोड़ा-सा भी महत्त्व समझ गया है उससे सत्यका त्याग होना कठिन है, फिर जिन्होंने इसके तत्त्वका सम्यक् परिज्ञान प्राप्त कर लिया है वे कैसे विचलित हो सकते हैं? केवल एक सत्यका तत्त्व जान लेनेपर मनुष्य सब तत्त्वोंका ज्ञाता बन जाता है; क्योंकि सत्य परमात्माका स्वरूप है और परमात्माके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाना प्रसिद्ध है। अतः मन, वाणी और इन्द्रियोंद्वारा सत्यकी शरण लेनी चाहिये। सत्य सम्पूर्ण संसारमें व्याप्त है। अन्वेषण करनेपर सर्वत्र सत्यकी ही प्रतीति और अनुभूति होने लगेगी। जो कुछ भी प्रतीत होता है, विचारपूर्वक परीक्षा करनेसे सबका बाध होकर एक सत्य ही शेष रहता है। सम्पूर्ण संसारका अस्तित्व सत्यपर टिका हुआ है। इसके बिना किसी भी पदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती। यदि कोई भ्रमवश इसके विपरीत मान लेता है, वह विपरीतता ठहरती नहीं। वर्षा होनेसे जैसे बालूकी दीवार विशेष समयतक नहीं ठहर सकती, इसी प्रकार विचार-बुद्धिसे अन्वेषण करनेपर असत्यका अस्तित्व तुरन्त ही लुप्त हो जाता है। बालूकी दीवारके नष्ट होनेपर बालूके कण तो रहते भी हैं पर इस असत्यका तो नामो-निशान भी मिट जाता है। जो असत्य है उसे भले ही कितने ही साधनोंसे सत्य प्रमाणित करनेकी चेष्टा की जाय पर अन्तमें असत्य ही रहेगा—अस्तित्वहीन रहेगा और सत्यको मिटानेके सभी प्रयत्न निष्फल होंगे। ऐसा महत्त्व होनेपर भी जो मूढ़ इसे छोड़कर असत्यका आश्रय लेते हैं वे निस्सन्देह दयनीय हैं। अतएव कल्याणकामी बन्धुओंको प्राणोंसे भी बढ़कर सत्यका आदर करना चाहिये और उसके पालनार्थ कटिबद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये।

ईश्वर और संसार

एक सज्जन निम्नलिखित प्रश्न करते हैं—

प्र०—वेद, पुराण, शास्त्र तथा अन्यान्य मतोंके ग्रन्थोंके देखनेसे प्रायः यही पता लगता है कि कर्मके अनुसार ही जीवात्मा एक योनिसे दूसरी योनिमें जन्म लेता है। यदि ऐसा ही है तो आरम्भमें जब संसार बना और प्रकृतिके भिन्न-भिन्न साँचों (देहों)-में शुद्ध, निर्मल, कर्मशून्य आत्माका प्रवेश हुआ, उस समय आत्माको कौन-सा कर्म लागू हुआ? यदि आत्माका आना-जाना स्वाभाविक है तो भक्तिकी क्या आवश्यकता?

उ०—गुणों और कर्मोंके अनुसार ही जीवात्मा सदासे चौरासी लाख योनियोंमें जन्म लेता फिरता है। मनुष्य, कीट, पतंग आदि प्रकृतिरचित योनियाँ सृष्टिके आदिमें प्रकट होती हैं और सृष्टिके अन्तमें उसी प्रकृतिमें वैसे ही लय हो जाती हैं, जैसे नाना प्रकारके आभूषण स्वर्णसे उत्पन्न होकर अन्तमें स्वर्णमें ही लय हो जाते हैं। कारणरूप प्रकृति अनादि है। जिसको जीवात्मा या व्यष्टिचेतन कहते हैं उसका इस प्रकृतिके साथ अनादिकालसे सम्बन्ध चला आ रहा है। अवश्य ही यह सम्बन्ध अनादि

होनेपर भी प्रयत्न करनेसे छूट सकता है। इस सम्बन्ध-विच्छेदको ही मुक्ति कहते हैं और इस मुक्तिके लिये ही भक्ति, कर्म और ज्ञानादि साधन बतलाये गये हैं।

आत्माका आना-जाना ऐसा स्वाभाविक नहीं है जिसके रुकनेका कोई उपाय ही न हो। यदि यह कहा जाय कि 'जीवात्माका आना-जाना जब सदासे ही स्वभावसिद्ध है तो फिर वह सदा ही रहना भी चाहिये; क्योंकि जो वस्तु अनादि होती है वह सदा ही रहती है।' परन्तु यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि जीवात्माका आना-जाना अज्ञानजनित है। अज्ञान या भूल ही एक ऐसी वस्तु है जो अनादि होनेपर भी यथार्थ ज्ञान होनेके साथ ही नष्ट हो जाती है। यह बात सभी विषयोंमें प्रसिद्ध है। एक मनुष्यको जब किसी नये विषयका ज्ञान होता है तो उस विषयमें उसका पूर्वका अज्ञान नष्ट हो जाता है, परन्तु वह अज्ञान यथार्थ ज्ञान न होनेतक तो अनादि ही था, उसके आरम्भकी कोई भी तिथि नहीं थी। जब भौतिक ज्ञानसे भी भौतिक अज्ञान नष्ट हो जाता है तब परमार्थविषयक यथार्थ ज्ञान होनेपर अनादिकालसे रहनेवाले अज्ञानके नष्ट हो जानेमें आश्चर्य ही क्या है? प्रत्युत इसमें एक विशेषता है कि परमात्माके नित्य होनेसे उसका ज्ञान भी नित्य है। इसी ज्ञानके लिये भक्ति आदि साधन करने चाहिये।

प्र०—आरम्भमें जब संसार बना और इसमें मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदिके साँचे (शरीर) बने, वे कैसे बने? क्या तत्त्वोंके परस्पर संयोगसे आप-ही-आप सब कुछ बन गया? यदि ऐसा ही माना जाय तो इस समय भी प्रकृति, तत्त्व और आत्मा तो वही हैं किन्तु आप-से-आप कोई साँचा नहीं बनता। यदि यह माना जाय कि स्वयं शुद्ध-बुद्ध परमात्माने स्थूल शरीर धारणकर अपने हाथोंसे प्रत्येक साँचे (शरीर)-को गढ़ा है, तो सन्तोंने परमात्माको निराकार क्यों बतलाया है? स्त्री-पुरुषके संयोग बिना स्थूल शरीर बनना भी सम्भव नहीं। यदि किसी प्रकार बन भी जाय तो वह एकदेशीय व्यक्ति सर्वव्यापी नहीं हो सकता।

उ०—प्रकृतिकी शुरुआतका बनाया हुआ कोई भी संसार नहीं माना जा सकता। शुरुआत माननेसे यह सिद्ध हो जायगा कि पहले संसार नहीं था, परन्तु ऐसी बात नहीं है। उत्पत्ति-विनाशस्वरूप प्रवाहमय संसार सदासे ही है, ऐसा माना गया है। यदि यह मान लें कि शुरू-शुरूमें तो किसी भी कालमें संसार बना ही होगा तो इससे शास्त्रकथित संसारका अनादित्व मिथ्या हो जायगा। केवल शास्त्रोंकी ही बात नहीं, तर्कसे भी यह सिद्ध नहीं हो सकता। पूर्वमें यदि एक ही शुद्ध वस्तु थी, संसारका कोई बीज नहीं था तो वह किस कारणसे, कैसे और क्यों बनता? अवश्य ही यह सत्य है कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर अनहोनी बात भी कर सकता है, परन्तु बिना ही कारण जीवोंके कोई भी कर्म न रहनेपर भी भिन्न-भिन्न स्थितियुक्त संसारको ईश्वर क्यों रचता? यदि बिना ही कारण, ईश्वरने यह भेदपूर्ण सृष्टि रची तो इससे ईश्वरमें वैषम्य और नैर्घृण्यका दोष आता है जो ईश्वरमें कदापि सम्भव नहीं!

यदि यह कहा जाय कि ईश्वर-सकाशके बिना ही केवल प्रकृतिसे ही संसारकी रचना हो गयी तो प्रथम तो प्रकृतिके जड होनेसे ऐसा सम्भव नहीं, दूसरे जब पहले प्रकृति शुद्ध थी तो पीछेसे किसी कालमें स्वभावसे उसमें नाना प्रकारकी विकृति, बिना ही बीज और बिना ही हेतुके कैसे उत्पन्न हो गयी? यदि प्रकृतिका स्वभाव ही ऐसा है तो वह पहले भी वैसा ही होना चाहिये और यदि पहले भी ऐसा ही था तो विकृति-प्रकृति यानी संसार अनादि ठहर ही जाता है। अतएव 'पहले प्रकृति शुद्ध थी, स्वभावसे या ईश्वरकी इच्छासे अकारण ही संसारकी उत्पत्ति हो गयी' यह बात शास्त्र और तर्कसे सिद्ध नहीं होती। इससे यही समझना चाहिये कि परमात्मा, जीव, प्रकृति और प्रकृतिका कार्य चराचर योनियोंसहित संसार-कर्म और इनका परस्पर सम्बन्ध—ये अनादि हैं। इनमें प्रकृतिका कार्यरूप संसार और कर्म तो उत्पत्ति-विनाशके प्रवाहरूपमें अनादि हैं। इनका स्थायी एक-सा स्वरूप नहीं रहता। इसलिये प्रकृतिके कार्यरूप संसार और कर्मको आदि-अन्तवाले, क्षणभंगुर, अनित्य और नाशवान् बतलाया है। प्रकृति और प्रकृतिका जीवके साथ सम्बन्ध अनादि है, परन्तु सान्त है। इस विषयका विशेष वर्णन 'कल्याण-प्राप्तिके उपाय' में 'भ्रम अनादि और सान्त है' शीर्षक लेखमें देखना चाहिये।

बहुत सूक्ष्म विचार और शास्त्रोंके सिद्धान्तोंका मनन करनेसे प्रकृति भी अनादि और सान्त ही ठहरती है। वेदान्त-शास्त्र प्रकृतिको परमेश्वरके एक अंशमें अध्यारोपित मानता है। वेदान्तके सिद्धान्तसे ज्ञान होनेपर अनादि प्रकृतिका भी अभाव हो जाता है। सांख्य और योगशास्त्र, जो अत्यन्त तर्कयुक्त दर्शन हैं और जो प्रकृति-पुरुषको अनादि और नित्य माननेवाले हैं, वे भी प्रकृति-पुरुषके संयोगको तो अनादि और सान्त मानते हैं। इनके संयोगके अभावको ही दुःखोंका अभाव मानते हैं और उसीको मुक्ति कहते हैं और यह भी मानते हैं कि जो जीव मुक्त या कृतकृत्य हो जाता है उसके लिये प्रकृतिका विनाश हो गया, प्रकृति उन्हींके लिये रहती है जिनको ज्ञान नहीं है।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।

(योग० २। २२)

इन दर्शनोंने यह भी माना है कि प्रकृति और पुरुषकी पृथक्-पृथक् उपलब्धि संयोगके हेतुसे होती है। इस संयोगका हेतु अज्ञान है। ज्ञान होनेपर तो उस आत्माकी 'केवल' अवस्था बतलायी गयी है, यदि सबकी मुक्ति हो जाय तो इनके सिद्धान्तसे भी प्रकृतिका अभाव सम्भव है, क्योंकि मुक्त ज्ञानीकी दृष्टिमें प्रकृतिका नाश हो जाता है। अज्ञानके कारण अज्ञानीकी दृष्टिमें प्रकृति रहती है। परन्तु अज्ञानीकी दृष्टिका कोई मूल्य नहीं। ज्ञानीकी दृष्टि ही वास्तवमें सत्य है। अतएव सबको ज्ञान हो जानेपर किसी भी दृष्टिसे प्रकृतिका रहना सिद्ध नहीं हो सकता। इन सब सूक्ष्म विचारोंसे यही सिद्ध होता है कि प्रकृति और जीवोंके कर्म भी अज्ञानकी भाँति अनादि और सान्त ही हैं। ऐसी परम वस्तु तो एक आत्मा ही है जो अनादि, नित्य और सत् है।

न्याय और वैशेषिकके सिद्धान्तसे अनेक पदार्थोंको सत्य माना जाता है, परन्तु उनकी सत्ता और सिद्धि तो थोड़े-से विचारसे ही उड़ जाती है। जैसे वर्षासे बालूकी भीत बह जाती है या जैसे स्वप्नमें देखे हुए अनेक पदार्थोंकी सत्ता जागनेके बाद भिन्न-भिन्न नहीं रहकर एक द्रष्टा ही रह जाता है, ऐसे ही विचार करनेपर भिन्न-भिन्न सत्ताओंका अभाव होकर एक आत्म-सत्ता ही शेष रह जाती है। दूसरी सत्ताको स्थान दिया जाय तो स्वभाव या जिसे प्रकृति कहते हैं, उसको जगह मिल जाती है, परन्तु वह ज्ञान न होनेतक ही रहती है। जिसको स्वप्न आता है, उस पुरुषके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती। स्वप्नसे जागनेके बाद स्वप्नके आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवीकी जो सत्ता ठहरती है, वही सत्ता इस संसारसे जागनेके बाद स्थूल आकाशादिकी ठहरती है, अतएव यह सोचना चाहिये कि स्वप्नके आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवीके परमाणुओंकी पृथक्-पृथक् सत्ता किस मूल भित्तिपर स्थित है?

यह तो सिद्ध हो गया कि साँचे या शरीर उत्पत्ति-विनाशरूपसे अनादि हैं। अब यह प्रश्न रह जाता है कि सृष्टिके आदिमें सर्वप्रथम ये कैसे बने? अपने-आप बने या निराकार परमेश्वरने साकाररूपसे प्रकट होकर इनको बनाया अथवा निराकाररूपके द्वारा ही ये साकार साँचे ढल गये? यदि निराकार ईश्वर साकार बना तो वह एकदेशीय होनेपर सर्वव्यापी कैसे रहा?

यह प्रश्न ऐसा नहीं है जिसपर बहुत सोचनेकी आवश्यकता हो। शान्तिपूर्वक विचार करनेपर इसका समाधान तो अनायास ही हो सकता है। महासर्गके आदिमें परमेश्वररूप पिता और प्रकृतिरूप माताके संयोगसे सब जीवोंके गुण-कर्मानुसार शरीर उत्पन्न होते हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

(१४। ३-४)

'हे अर्जुन! मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया, सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है, अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतनरूप बीजको स्थापन करता हूँ, इस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है तथा हे अर्जुन! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भको धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ।'

यदि यह पूछा जाय कि दोनों पदार्थ आरम्भमें निराकार थे फिर इन दोनोंके सम्बन्धसे स्थूल देहोंकी उत्पत्ति कैसे हो गयी? इसका उत्तर यह है कि जैसे आकाशमें सूर्यकी किरणोंमें निराकाररूपसे जल स्थित है वही अव्यक्त सूक्ष्म जल वायुके संघर्षणसे धूमरूपको प्राप्त हो फिर बादलके रूपमें परिणत होकर स्पष्टरूपसे व्यक्त द्रव जलके रूपमें होकर अन्तमें बर्फका पिण्ड बन जाता है, वैसे ही इस सृष्टिके आदिमें प्रकृतिमें लयरूपसे स्थित संसार भी प्रकृति और परमेश्वरके संघर्षणसे बर्फ-पिण्डकी भाँति मूर्तरूपमें प्रकट हो जाता है। यह तो मानना ही होगा कि आकाशमें बर्फके पिण्ड स्थित नहीं हैं, होते तो वहाँ ठहर ही नहीं सकते। आकाशकी निराकारता भी स्पष्ट देखनेमें आती है, पर देखते-ही-देखते निर्मल आकाशमें मेघोंकी उत्पत्ति हो जाती है। विज्ञान और विचारसे यह सिद्ध है कि सूर्यकी किरणोंमें स्थित निराकार परमाणुरूप जल ही मेघ और स्थूल जलके रूपमें परिणत होता है। इसी प्रकार आकाशमें निराकाररूपसे रहनेवाली अग्नि कभी-कभी बादलोंके अन्दर बिजलीके रूपमें चमकती हुई दीखती है। कभी कहीं गिरती है तो उस स्थानको जलाकर तहस-नहस कर डालती है। जब अग्नि और जल आदि स्थूल पदार्थ भी निराकारसे साकार बन जाते हैं तब निराकार ईश्वर और प्रकृतिके संयोगसे निराकार संसारका साकाररूपमें आना कौन बड़ी बात है?

यह भी समझनेकी बात है कि जो साकार वस्तु जिससे उत्पन्न होती है वह लय भी उसीमें होती है। वायुके द्वारा निर्मल निराकार आकाशमें बिजली उत्पन्न

होती है और फिर उसी आकाशमें शान्त हो जाती है। तेजके संघर्षणसे जलकी उत्पत्ति होती है, शीतसे उसका पिण्ड बन जाता है। फिर वही जल तेजसे तपाये जानेपर द्रव होकर भापके रूपमें परिणत होता हुआ अन्तमें आकाशमें जाकर रम जाता है। इसी प्रकार जीवोंके शरीर भी सृष्टिके आदिमें गुण-कर्मानुसार प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं और अन्तमें फिर उसीमें लीन हो जाते हैं। यह आदि-अन्तका प्रवाह अनादि है।

प्रकृतिका रूप किसी समय सक्रिय होता है और किसी समय अक्रिय; यह उसका स्वभाव है। जिस समय सत्त्व, रज, तम—तीनों गुण साम्यावस्थामें स्थित रहते हैं तब यह गुणमयी प्रकृति अक्रियरूपमें रहती है और जब तीनों गुण विषमावस्थाको प्राप्त हो जाते हैं तब प्रकृतिका रूप सक्रिय बन जाता है। सक्रिय प्रकृति ईश्वरके सम्बन्धसे गर्भस्थ जीवोंको मूर्तरूपमें प्रकट करती है।

भगवान् कहते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

(गीता ९। १०)

'हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे यह मेरी माया चराचरसहित समस्त जगत्को रचती है और इसी उपर्युक्त हेतुसे यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता है।'

परमेश्वर निराकार रहते हुए भी साकाररूप धारणकर किस प्रकार सर्वव्यापी रहता है, इस बातको समझनेके लिये अग्निका उदाहरण सामने रखना चाहिये। एक निराकार अग्नि सर्वत्र व्याप्त है, वही हमारे शरीरके अन्दर भी है जो खाये हुए अन्नको पचा देती है। अग्नि न हो तो अन्न पचे नहीं और यदि वह व्यक्त हो तो शरीरको भस्म कर दे। इससे सिद्ध होता है कि हमारे अन्दर अव्यक्त अग्नि है। यही सर्वत्र व्याप्त निराकार अव्यक्त अग्नि ईंधन और संघर्षणसे साकार बन जाती है। जिस समय अग्निका साकाररूप नहीं होता, उस समय भी वह काठ आदिमें निराकाररूपसे रहती है। न रहती तो संघर्षणसे प्रकट कैसे होती? फिर वही अग्नि जब शान्त कर दी जाती है तब फिर निराकाररूपमें परिणत हो जाती है। जिस समय वह ज्वालाके रूपमें एक स्थानमें प्रकट होती है उस समय कोई भी यह नहीं कह सकता कि जब अग्नि यहाँ प्रकट हो गयी तो अन्यान्य स्थानोंमें नहीं है। यह निश्चित बात है कि एक या अनेक जगह एक ही साथ प्रकट होनेपर भी निराकार अग्नि व्यापकरूपसे सभी जगह वर्तमान रहती है। इसी प्रकार परमात्मा भी मायाके सम्बन्धसे एक या अनेक जगह साकाररूपसे प्रकट होकर भी उसी कालमें निराकार व्यापक रूपसे सर्वव्यापी रहता है। उसकी सर्वव्यापकता और पूर्णतामें कभी कोई कमी नहीं हो सकती। अग्निका उदाहरण भी केवल समझानेके लिये ही दिया गया है। वास्तवमें परमात्माकी सर्वव्यापकताके साथ अग्निकी सर्वव्यापकताकी तुलना नहीं हो सकती!

प्र०—ईश्वरने प्रकृति और संसारको बनाया, इसमें उसका क्या प्रयोजन था?

उ०—प्रकृतिको ईश्वरने नहीं बनाया, प्रकृति तो उसी वस्तुका नाम है जो सदासे स्वाभाविक ही हो। अवश्य ही चराचर जगत्को भगवान्ने बनाया है। इसमें उन न्यायकारी, सर्वव्यापी, दयामय परमात्माकी अहैतुकी दया ही समझनी चाहिये। जिन जीवोंके पूर्वमें जैसे गुण और कर्म थे उन सब चराचर जीवोंको भगवान् उन्हींके गुण-कर्मानुसार देहसहित उत्पन्न करते हैं। स्वार्थ, आसक्ति और हेतुरहित न्यायकर्ता होनेके कारण जीवोंके गुण-कर्मानुसार रचयिता होनेपर भी भगवान् अकर्ता ही माने जाते हैं। परन्तु जीवोंका दुःख दूर करनेको वे अपनी मर्यादाके अनुसार सदा-सर्वदा उनके लिये दयायुक्त विधान ही किया करते हैं। यहाँतक कि समय-समयपर अपनी प्रकृतिको वश करके सगुण-साकाररूपमें प्रकट होकर जीवोंके कल्याणार्थ प्रयत्न करते हैं। ऐसे अहैतुक दयालु और परम सुहृद् परमात्माका भजन करना ही जीवमात्रका कर्तव्य है!

रामायणमें आदर्श भ्रातृ-प्रेम

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके समान मर्यादारक्षक आजतक कोई दूसरा नहीं हुआ, ऐसा कहना अत्युक्ति नहीं होगा। श्रीराम साक्षात् परमात्मा थे, वे धर्मकी रक्षा और लोकोंके उद्धारके लिये ही अवतीर्ण हुए थे। उनके आदर्श लीलाचरित्रको पढ़ने, सुनने और स्मरण करनेसे हृदयमें महान् पवित्र भावोंकी लहरें उठने लगती हैं और मन मुग्ध हो जाता है। उनका प्रत्येक कार्य परम पवित्र, मनोमुग्धकारी और अनुकरण करनेयोग्य है। ऐसे अनन्त गुणोंके समुद्र श्रीरामके सम्बन्धमें मुझ-सरीखे व्यक्तिका कुछ लिखना एक प्रकारसे लड़कपन है तथापि अपने मनोविनोदके लिये शास्त्रोंके आधारपर यत्किंचित् लिखनेका साहस करता हूँ। विज्ञजन क्षमा करें। श्रीराम सर्वगुणाधार थे। सत्य, सुहृदता,

गम्भीरता, क्षमा, दया, मृदुता, शूरता, धीरता, निर्भयता, विनय, शान्ति, तितिक्षा, उपरामता, नीतिज्ञता, तेज, प्रेम, मर्यादा-संरक्षकता, एकपत्नीव्रत, प्रजारंजकता, ब्रह्मण्यता, मातृ-पितृ-भक्ति, गुरुभक्ति, भ्रातृप्रेम, सरलता, व्यवहारकुशलता, प्रतिज्ञातत्परता, शरणागतवत्सलता, त्याग, साधु-संरक्षण, दुष्टविनाश, निर्वैरता, सख्यता और लोकप्रियता आदि सभी सद्‌गुणोंका श्रीराममें विलक्षण विकास था। इतने गुणोंका एकत्र विकास जगत्‌में कहीं नहीं मिलता। माता-पिता, बन्धु-मित्र, स्त्री-पुत्र, सेवक-प्रजा आदिके साथ उनका जैसा आदर्श बर्ताव है, उसकी ओर खयाल करते ही मन मुग्ध हो जाता है। श्रीराम-जैसी लोकप्रियता तो आजतक कहीं नहीं देखनेमें आयी। कैकेयी और मन्थराको छोड़कर उस समय ऐसा कोई भी प्राणी नहीं था जो श्रीरामके व्यवहार और प्रेमके बर्तावसे मुग्ध न हो गया हो। वास्तवमें कैकेयी भी श्रीरामके प्रभाव और प्रेमसे सदा मुग्ध थी। रामराज्याभिषेककी बात सुनकर वह मन्थराको पुरस्कार देनेके लिये प्रस्तुत हुई थी, श्रीरामके गुणोंपर उसका बड़ा भारी विश्वास था। वनवास भेजनेके समय शत्रु बनी हुई कैकेयीके मुखसे भी ये सच्चे उद्‌गार निकल पड़ते हैं—

तुम्ह अपराध जोगु नहिं ताता।
जननी जनक बंधु सुखदाता॥
राम सत्य सबु जो कछु कहहू।
तुम्ह पितु मातु बचन रत अहहू॥

कैकेयीका रामके प्रति अप्रिय और कठोर बर्ताव तो भगवान्‌की इच्छा और देवताओंकी प्रेरणासे लोकहितार्थ हुआ था। इससे यह नहीं सिद्ध होता कि कैकेयीको श्रीराम प्रिय नहीं थे। देव, मनुष्य और पशु-पक्षी किसीका भी रामसे विरोध नहीं था। यज्ञविध्वंसकारी राक्षसों और शूर्पणखाके कान-नाक काटनेपर खर, दूषण, त्रिशिरा, रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद आदिके साथ जो वैर-भाव और युद्धका प्रसंग आता है, उसमें भी रहस्य भरा है। वास्तवमें रामके मनमें उनमेंसे किसीके साथ वैर था ही नहीं। राक्षसगण भी अपने सकुटुम्ब-उद्धारके लिये ही उन्हें वैर-भावसे भजते थे। रावण और मारीचकी उक्तियोंसे यह स्पष्ट है—

सुर रंजन भंजन महि भारा।
जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥
तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ।
प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ॥
होइहि भजनु न तामस देहा।
मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा॥

—रावण

मम पाछें धर धावत धरें सरासन बान।
फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ धन्य न मो सम आन॥

—मारीच

इससे यह सिद्ध है कि श्रीरामके जमानेमें चराचर जीवोंका श्रीरामके प्रति जैसा आदर्श प्रेम था, वैसा आजतक किसीके सम्बन्धमें भी देखने-सुननेमें नहीं आया।

श्रीरामकी मातृ-भक्ति कैसी आदर्श है। स्वमाता और अन्य माताओंकी तो बात ही क्या, कठोर-से-कठोर व्यवहार करनेवाली कैकेयीके प्रति भी श्रीरामने भक्ति और सम्मानसे पूर्ण ही बर्ताव किया।

जिस समय कैकेयीने वन जानेकी आज्ञा दी, उस समय श्रीराम उसके प्रति सम्मान प्रकट करते हुए बोले—माता! इसमें तो सभी तरह मेरा कल्याण है—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥

श्रीरामने कुपित हुए भाई लक्ष्मणसे कहा—

यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यते।
माता नः सा यथा न स्यात्सविशंका तथा कुरु॥
तस्याः शंकामयं दुःखं मुहूर्तमपि नोत्सहे।
मनसि प्रतिसंजातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम्॥
न बुद्धिपूर्वं नाबुद्धं स्मरामीह कदाचन।
मातॄणां वा पितुर्वाहं कृतमल्पं च विप्रियम्॥

(वा० रा० २। २२। ६—८)

'हे लक्ष्मण! मेरे राज्याभिषेकके संवादसे अत्यन्त परिताप पायी हुई माता कैकेयीके मनमें किसी प्रकारकी शंका न हो, तुम्हें वैसा ही करना चाहिये। मैं उसके मनमें उपजे हुए शंकारूप दुःखको एक घड़ीके लिये भी नहीं सह सकता। हे भाई! जहाँतक मुझे याद है, मैंने अपने जीवनमें जानमें या अनजानमें माताओंका और पिताजीका कभी कोई जरा-सा भी अप्रिय कार्य नहीं किया।'

इसके बाद वनसे लौटते हुए भरतजीसे श्रीरामने कहा—

कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम्।
न तन्मनसि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत्॥

(वा० रा० २। ११२। १९)

'हे तात! माता कैकेयीने (तुम्हारी हित-) कामनासे या (राज्यके) लोभसे जो यह कार्य किया, इसके लिये मनमें कुछ भी विचार न कर भक्ति-भावसे उनकी माताकी भाँति सेवा करना।'

इससे पता लगता है कि रामकी अपनी माताओंके प्रति कितनी भक्ति थी। एक बार लक्ष्मणने वनमें कैकेयीकी कुछ निन्दा कर डाली। इसपर मातृभक्त और भ्रातृप्रेमी श्रीरामने जो कुछ कहा सो सदा मनन करनेयोग्य है—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु॥
(वा० रा० ३। १६। ३७)

'हे भाई! बिचली माता (कैकेयी)-की निन्दा कभी मत किया करो। बातें करनी हों तो इक्ष्वाकुनाथ भरतके सम्बन्धमें करनी चाहिये।' (क्योंकि भरतकी चर्चा मुझे बहुत ही प्रिय है।)

इसी प्रकार उनकी पितृभक्ति भी अद्भुत है। पिताके वचनोंको सत्य करनेके लिये श्रीरामने क्या नहीं किया। पिताको दुःखी देखकर जब श्रीरामने कैकेयीसे दुःखका कारण पूछा तब उसने कहा कि 'राजाके मनमें एक बात है, परन्तु वे तुम्हारे डरसे कहते नहीं हैं, तुम इन्हें बहुत प्यारे हो, तुम्हारे प्रति इनके मुखसे अप्रिय वचन ही नहीं निकलते, यदि तुम राजाके आज्ञापालनकी प्रतिज्ञा करो तो ये कह सकते हैं, तुमको वह कार्य अवश्य ही करना चाहिये जिसके लिये इन्होंने मुझसे प्रतिज्ञा की है।' इसके उत्तरमें श्रीरामने कहा—

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः।
अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।
(वा० रा० २। १८। २८-२९)

'अहो, मुझे धिक्कार है, हे देवि! तुमको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये, मैं महाराजा पिताकी आज्ञासे आगमें कूद सकता हूँ, तीक्ष्ण विष खा सकता हूँ, समुद्रमें कूद सकता हूँ।' एक समय लक्ष्मणने जब यह कहा कि ऐसे कामासक्त पिताकी आज्ञा मानना अधर्म है, तब श्रीरामने सगरपुत्र और परशुरामजी आदिका उदाहरण देते हुए कहा कि 'पिता प्रत्यक्ष देवता हैं, उन्होंने किसी भी कारणसे वचन दिया हो, मुझे उसका विचार नहीं करना है, मैं विचारक नहीं हूँ, मैं तो निश्चय ही पिताके वचनोंका पालन करूँगा।'

विलाप करती हुई जननी कौसल्यासे श्रीरामने स्पष्ट ही कह दिया था कि—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम्॥
(वा० रा० २। २१। ३०)

'मैं चरणोंमें सिर टेककर प्रणाम करता हूँ, मुझे वन जानेके लिये आज्ञा दो, माता! पिताजीके वचनोंको टालनेकी मुझमें शक्ति नहीं है।'

श्रीरामका एकपत्नीव्रत आदर्श है, पत्नी सीताके प्रति रामका कितना प्रेम था, इसका कुछ दिग्दर्शन सीताहरणके पश्चात् श्रीरामकी दशा देखनेसे होता है। महान् धीर-वीर राम विरहोन्मत्त होकर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे कदम्ब, बेल, अशोकादि वृक्षोंसे और हरिणोंसे सीताका पता पूछते हैं। यहाँ भगवान् श्रीरामने अपने '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' के वचनोंको मानो चरितार्थ कर दिया है। वे विलाप करते हैं, प्रलाप करते हैं, पागलकी भाँति ज्ञानशून्य-से हो जाते हैं, मूर्च्छित हो पड़ते हैं और 'हा सीते, हा सीते' पुकार उठते हैं।

श्रीरामका सख्यप्रेम भी आदर्श है। सुग्रीवके साथ मित्रता होनेपर आप मित्रके लक्षण बतलाते हैं—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी।
तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना।
मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
देत लेत मन संक न धरई।
बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा।
श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

फिर उसे आश्वासन देते हुए कहते हैं—

सखा सोच त्यागहु बल मोरें।
सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

इसी प्रकार रामका भ्रातृप्रेम भी अतुलनीय है। रामायणमें हमें जिस भ्रातृप्रेमकी शिक्षा मिलती है, भ्रातृप्रेमका जैसा उच्चातिउच्च आदर्श प्राप्त होता है वैसा जगत्के इतिहासमें कहीं नहीं है। पाण्डवोंमें भी परस्पर बड़ा भारी प्रेम था। उनके भ्रातृप्रेमकी कथाएँ पढ़-सुनकर चित्त द्रवित हो उठता है और हम उनकी महिमा गाने लगते हैं, परन्तु रामायणके भ्रातृप्रेमसे उसकी तुलना नहीं हो सकती। रामायणकालसे महाभारतकालके भ्रातृप्रेमका आदर्श बहुत नीचा था। इस कालकी तो बात ही क्या है, जहाँ बात-बातमें लड़ाइयाँ होती हैं और जरा-जरा-से सुख-भोगके लिये भाइयोंकी हत्यातक कर डाली जाती है! आज इस लेखमें श्रीराम प्रभृति चारों भाइयोंके भ्रातृप्रेमके सम्बन्धमें यथामति किंचित् दिग्दर्शन कराया जाता है।

श्रीरामका भ्रातृ-प्रेम

लड़कपनसे ही श्रीराम अपने तीनों भाइयोंके साथ बड़ा भारी प्रेम करते थे। सदा उनकी रक्षा करते और उन्हें प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करते थे। खेल-कूदमें भी कभी उनको दुःखी नहीं होने देते थे। यहाँतक कि अपनी जीतमें भी उन्हें खुश करनेके लिये हार मान लेते थे और प्रेमसे पुचकार-पुचकारकर दाँव देते थे।

खेलत संग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ॥

श्रीराम तीनों भाइयोंको साथ लेकर भोजन करते, साथ ही खेलते और सोते थे। विश्वामित्रजीके साथ उनके यज्ञरक्षार्थ श्रीराम-लक्ष्मण वनमें गये। अनेक विद्या सीखकर और राक्षसोंका विनाशकर मुनिके साथ दोनों भाई जनकपुरमें पहुँचे। धनुष-भंग हुआ। परशुरामजी आये और कोप करके धनुष तोड़नेवालेका नाम-धाम पूछने लगे, श्रीरामने बड़ी नम्रतासे और लक्ष्मणजीने तेजयुक्त वचनोंसे उनके प्रश्नका उत्तर दिया। लक्ष्मणजीके कथनपर परशुरामजीको बड़ा क्रोध आया, वे उनपर दाँत पीसने लगे। इसपर श्रीरामने जिस चतुरतासे भाईके कार्यका समर्थन कर भ्रातृप्रेमका परिचय दिया, उस प्रसंगके पढ़नेपर हृदय मुग्ध हो जाता है।

तदनन्तर विवाहकी तैयारी हुई, परन्तु श्रीरामने स्वयंवरमें विजय प्राप्तकर अकेले ही अपना विवाह नहीं करा लिया। लक्ष्मणजी तो साथ थे ही, भरत-शत्रुघ्नको बुलाकर सबका विवाह भी साथ ही करवाया।

विवाहके अनन्तर अयोध्या लौटकर चारों भाई प्रेमपूर्वक रहने लगे और अपने आचरणोंसे सबको मोहित करने लगे। कुछ समय बाद भरत-शत्रुघ्न ननिहाल चले गये। पीछेसे राजा दशरथने मुनि वसिष्ठकी आज्ञा और प्रजाकी सम्मतिसे श्रीरामके अति शीघ्र राज्याभिषेकका निश्चय किया। चारों ओर मंगल-बधाइयाँ बजने लगीं और राज्याभिषेककी तैयारी की जाने लगी। वसिष्ठजीने आकर श्रीरामको यह हर्ष-संवाद सुनाया। राज्याभिषेककी बात सुनकर कौन प्रसन्न नहीं होता, परन्तु श्रीराम प्रसन्न नहीं हुए, वे पश्चात्ताप करते हुए कहने लगे 'अहो! यह कैसी बात है, जन्मे साथ, खाना-पीना, सोना-खेलना साथ हुआ, कर्णवेध, जनेऊ और विवाह भी चारोंके एक साथ हुए, फिर यह राज्य ही मुझ अकेलेको क्यों मिलना चाहिये, हमारे निर्मल कुलमें यही एक प्रथा अनुचित है कि छोटे भाइयोंको छोड़कर अकेले बड़ेको ही राजगद्दी मिलती है—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥

श्रीरामको अकेले राज्य स्वीकार करनेमें बड़ा अनौचित्य प्रतीत हुआ। मनकी प्रसन्नतासे नहीं, परन्तु पिताकी आज्ञासे उन्हें राज्याभिषेकका प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा। परन्तु उनके मनमें यही था कि मैं सिर्फ यह प्रथाभर पूरी कर रहा हूँ, वास्तवमें राज्य तो भाइयोंका ही है। भरत-शत्रुघ्न तो उस समय मौजूद नहीं थे, अतः श्रीरामजीने लक्ष्मणसे कहा—

सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान् राज्यफलानि च।
जीवितं चापि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये॥

(वा० रा० २। ४। ४४)

'भाई सौमित्रे! तुम वांछित भोग और राज्यफलका भोग करो, मेरा यह जीवन और राज्य तुम्हारे ही लिये है।'

इसके बाद ही इस लीला-नाटकका पट-परिवर्तन हो गया। माता कैकेयीकी कामनाके अनुसार राज्याभिषेक वनगमनके रूपमें परिणत हो गया। प्रातःकालके समय जब श्रीराम पिता दशरथकी सम्मतिसे सुमन्तके द्वारा कैकेयीके महलमें बुलाये गये और जब उन्हें कैकेयीके वरदानकी बात मालूम हुई, तब उन्होंने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की, वे कहने लगे कि 'माता! इसमें बात ही कौन-सी है। मुझे तो केवल एक ही बातका दुःख है कि महाराजने भरतके अभिषेकके लिये मुझसे ही क्यों नहीं कहा—

गच्छन्तु चैवानयितुं दूताः शीघ्रजवैर्हयैः।
भरतं मातुलकुलादद्यैव नृपशासनात्॥
दण्डकारण्यमेषोऽहं गच्छाम्येव हि सत्वरः।
अविचार्य पितुर्वाक्यं समा वस्तुं चतुर्दश॥

(वा० रा० २। १९। १०-११)

'महाराजकी आज्ञासे दूतगण अभी तेज घोड़ोंपर सवार होकर मामाजीके यहाँ भाई भरतको लानेके लिये जायँ। मैं पिताजीके वचन सत्य करनेके लिये बिना कुछ विचार किये चौदह वर्षके लिये दण्डकारण्य जाता हूँ। प्राणप्रिय भाई भरतका राज्याभिषेक हो, इससे अधिक प्रसन्नता मेरे लिये और क्या होगी? विधाता आज सब तरहसे मेरे अनुकूल है—

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥

धन्य है यह त्याग! आदिसे अन्ततक कहीं भी राज्यलिप्साका नाम नहीं और भाइयोंके लिये सर्वदा सर्वस्व त्याग करनेको तैयार! इस प्रसंगसे हमें यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि छोटे भाइयोंको छोड़कर राज्य, धन या सुखको अकेले कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये। योग्यतावश कहीं ग्रहण करना ही पड़े तो उसमें भाइयोंका अपनेसे अधिक अधिकार समझना चाहिये, बल्कि यह मानना चाहिये कि उन्हीं लोगोंके लिये मैं इसे ग्रहण करता हूँ और

यदि ऐसा मौका आ जाय कि जब भाइयोंको राज्य, धन, सुख मिलता हो और इसलिये अपनेको त्याग करना पड़े तो बहुत ही प्रसन्न होना चाहिये। अस्तु!

इसके बाद श्रीराम माता कौसल्या और पत्नी सीतासे विदा माँगने गये। श्रीरामने भरत या कैकेयीके प्रति कोई भी अपशब्द या विद्वेषमूलक शब्द नहीं कहा, बल्कि सीतासे आपने कहा—

वन्दितव्याश्च ते नित्यं याः शेषा मम मातरः।
स्नेहप्रणयसम्भोगैः समा हि मम मातरः॥
भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः।
त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम॥

(वा० रा० २। २६। ३२-३३)

'मेरी अन्य माताओंको भी नित्य प्रणाम करना, क्योंकि मुझपर स्नेह करनेमें और मेरा लाड़-प्यार तथा पालन-पोषण करनेमें मेरी सभी माताएँ समान हैं। साथ ही तुम भरत-शत्रुघ्नको भी अपने भाई और बेटेके समान या उनसे भी विशेष समझना, क्योंकि वे दोनों मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्यारे हैं।'

यहाँ विशेष आग्रह और प्रेमके कारण सीताजीको भी साथ चलनेकी अनुमति श्रीरामको देनी पड़ी, तब लक्ष्मणजीने भी साथ चलना चाहा। श्रीराम ऐसे तो पुरुष थे ही नहीं, जो अपने आरामके लिये लक्ष्मणसे कहते या उसे उभारते कि 'ऐसे अन्यायी राज्यमें रहकर क्या करोगे, तुम भी साथ चलो।' उन्होंने लक्ष्मणको घर रहनेके लिये बहुत समझाया, अनेक युक्तियोंसे यह चेष्टा की कि किसी तरह लक्ष्मण अयोध्यामें रहे, जिससे राज्य-परिवारकी सेवा-सँभाल हो सके और लक्ष्मणको वनके कष्ट न भोगने पड़ें, परन्तु जब लक्ष्मणने किसी तरह नहीं माना तब उसको सुख पहुँचानेके लिये श्रीरामने साथ ले जाना स्वीकार किया।

श्रीराम छोटे भाई लक्ष्मण और सीतासहित वनको चले गये। वनमें लक्ष्मणजी श्रीराम-सीताकी हर तरह सेवा करते हैं और श्रीराम भी वही कहते और करते हैं जिससे श्रीसीताजी और भाई लक्ष्मण सुखी हों।

सीय लखन जेहि बिधि सुखु लहहीं।
सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं॥
जोगवहिं प्रभु सिय लखनहि कैसें।
पलक बिलोचन गोलक जैसें॥

इससे यह सीखना चाहिये कि अपनी सेवा करनेवाले छोटे भाई और पत्नीको जैसे सुख पहुँचे, वैसे ही कार्य करने चाहिये तथा उनकी वैसे ही रक्षा करनी चाहिये जैसे पलकें आँखोंकी करती हैं।

× × ×

भरतके ससैन्य वनमें आनेका समाचार प्राप्तकर जब श्रीराम-प्रेमके कारण लक्ष्मणजी क्षुब्ध होकर भरतके प्रति न कहनेयोग्य शब्द कह बैठे, तब श्रीरामने भरतकी प्रशंसा करते हुए कहा—'भाई! भरतको मारनेकी बात तुम क्यों कहते हो, मुझे अपने बान्धवोंके नाश करनेसे प्राप्त होनेवाला धन नहीं चाहिये, वह तो विषयुक्त अन्नके समान है—

धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
इच्छामि भवतामर्थे एतत्प्रतिशृणोमि ते॥
भ्रातृणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे॥
यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं वापि मानद।
भवेन्मम सुखं किंचिद्भस्म तत्कुरुतां शिखी॥
मन्येऽहमागतोऽयोध्यां भरतो भ्रातृवत्सलः।
मम प्राणैः प्रियतरः कुलधर्ममनुस्मरन्॥
श्रुत्वा प्रव्राजितं मां हि जटावल्कलधारिणम्।
जानक्या सहितं वीर त्वया च पुरुषोत्तम॥
स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः।
द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथाऽऽगतः॥
अम्बां च केकयीं रुष्य भरतश्चाप्रियं वदन्।
प्रसाद्य पितरं श्रीमान् राज्यं मे दातुमागतः॥

(वा० रा० २। ९७। ५-६ एवं ८ से १२)

'हे लक्ष्मण! मैं सत्य और आयुधकी शपथ करके कहता हूँ कि मैं धर्म, अर्थ, काम और सारी पृथिवी तथा और जो कुछ चाहता हूँ, वह सब तुम्हीं लोगोंके लिये। हे लक्ष्मण! मैं भाइयोंकी भोग्य-सामग्री और सुखके लिये ही राज्य चाहता हूँ। हे मान देनेवाले भाई लक्ष्मण! भरत, तुम और शत्रुघ्नको छोड़कर यदि मुझे कोई सुख होता हो तो उसमें आग लग जाय। हे पुरुषश्रेष्ठ वीर लक्ष्मण! मैं तो समझता हूँ मेरे प्राणप्यारे भ्रातृवत्सल भाई भरतने जब अयोध्यामें आकर यह सुना होगा कि मैं जटाचीर धारणकर तुम्हारे और जानकीके साथ वनमें चला गया हूँ तब वह कुलधर्मको स्मरण करके अति स्नेह और शोकके कारण व्याकुल तथा कातर होकर अप्रिय वचनोंसे माता कैकेयीको अप्रसन्न और पिता दशरथजीको प्रसन्न करता हुआ हमलोगोंके दर्शनके लिये तथा मुझे लौटाकर राज्य देनेके लिये ही आ रहा है।' वह मनसे भी कभी विपरीत आचरण नहीं कर सकता। यदि तुम्हें राज्यकी इच्छा हो तो मैं भरतसे कहकर दिलवा दूँगा। तुम भरतके सम्बन्धमें भूल समझ रहे हो! भाई भरतको कभी राज्यमद नहीं हो सकता—

सुनहु लखन भल भरत सरीसा।
बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा॥
भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ॥
लखन तुम्हार सपथ पितु आना।
सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना॥
सगुनु खीरु अवगुन जलु ताता।
मिलइ रचइ परपंचु बिधाता॥
भरतु हंस रबिबंस तड़ागा।
जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी।
निज जस जगत कीन्हि उजिआरी॥
कहत भरत गुन सीलु सुभाऊ।
पेम पयोधि मगन रघुराऊ॥

श्रीराम भरतका गुणगान करते हुए प्रेमके समुद्रमें निमग्न हो गये! लक्ष्मणजीको अपनी भूल मालूम हो गयी। यहाँ भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणके प्रति जो नीतियुक्त तीखे और प्रेमभरे वचन कहे, उनमें प्रधान अभिप्राय तीन समझने चाहिये। प्रथम, भरतके प्रति श्रीरामका परम विश्वास प्रकट करना, दूसरे, लक्ष्मणको यह चेतावनी देना कि तुम भरतकी सरलता, प्रेम, त्याग आदिको जानते हुए भी मेरे प्रेमवश प्रमादसे बालककी तरह ऐसा क्यों बोल रहे हो? और तीसरे, उन्हें फटकारकर ऐसे अनुचित मार्गसे बचाना।

भरत आये और 'हे नाथ! रक्षा करो' कहकर, दण्डकी तरह पृथ्वीपर गिर पड़े। सरलहृदय श्रीलक्ष्मणने भरतकी वाणी पहचानकर उन्हें श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम करते देखा, हृदयमें भ्रातृ-प्रेम उमड़ा परन्तु सेवा-धर्म बड़ा जबरदस्त है। लक्ष्मणजीका मन करता है कि भाई भरतको हृदयसे लगा लूँ, परन्तु फिर अपने कर्तव्यका ध्यान आता है तब श्रीराम-सेवामें खड़े रह जाते हैं।

मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई।
सुकबि लखन मन की गति भनई॥
रहे राखि सेवापर भारू।
चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू॥

आखिर सेवामें लगे रहना ही उचित समझा, परन्तु श्रीरामसे निवेदन किये बिना उनसे नहीं रहा गया—लक्ष्मणजीने सिर नवाकर प्रेमसे कहा—

भरत प्रनाम करत रघुनाथा।

भगवान् तो भरतका नाम सुनते ही विह्वल हो गये और प्रेममें अधीर होकर उन्हें उठाकर गले लगानेको उठ खड़े हुए। उस समय श्रीरामकी कैसी दशा हुई—

उठे रामु सुनि पेम अधीरा।
कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥
बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान॥

यहाँ चारों भाइयोंका परस्पर प्रेम देखकर सभी मुग्ध हो गये। भरतकी विनय, नम्रता, साधुता और रामभक्ति देखकर तो लोग तन-मनकी सुधि भूल गये। श्रीरामको पिताके मरण-संवादसे बड़ा दुःख हुआ। यथोचित शास्त्रोक्त विधिसे क्रिया करनेके बाद समाज जुड़ा। भरतने भाँति-भाँतिसे अनेक युक्तियाँ दिखलाकर श्रीरामको राज्य-ग्रहणके लिये प्रार्थना की। वसिष्ठादि ऋषियोंने, मन्त्री, पुरवासी और माताओंने भी भरतका साथ दिया। जब भगवान् श्रीरामने किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं किया तो भरतजीने कहा कि मैं अनशनव्रत रखकर प्राण दे दूँगा। इसपर श्रीरामने उन्हें पहले तो धरना देनेके लिये फटकारा, फिर विविध भाँतिसे समझाकर शान्त किया और अन्तमें चरणोंमें पड़े रोते हुए भरतको अपने हाथोंसे खींचकर गोदमें बैठा लिया और प्रेमवश कहने लगे—

हे भरत! मुझे वनवाससे लौटाकर राज्याभिषेक करानेके लिये तुमको जो बुद्धि हुई है सो स्वाभाविक ही है, यह गुरुसेवाद्वारा प्राप्त विनय-विवेकका फल है। इस श्रेष्ठ बुद्धिके कारण तुम समस्त पृथिवीका पालन कर सकते हो, परन्तु—

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान्वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः॥

(वा० रा० २। ११२। १८)

'चन्द्रमा चाहे अपनी श्री त्याग दे, हिमालय हिमको छोड़ दे, समुद्र मर्यादाका उल्लंघन कर दे, पर मैं पिताकी प्रतिज्ञाको सत्य किये बिना घर नहीं लौट सकता।'

श्रीगोसाईंजीने लिखा है कि श्रीरामने अन्तमें प्रेमविवश होकर भरतजीसे कहा कि—

भैया! तुम दुःख न करो, जीवकी गति ईश्वराधीन है, हे भाई! मेरी समझसे तो तीनों काल और तीनों लोकोंमें जितने पुण्यश्लोक पुरुष हैं वे सब तुमसे नीचे हैं। तुमको जो मनमें भी कुटिल समझेगा, उसके लोक-परलोक बिगड़ जायँगे, माता कैकेयीको भी वही लोग दोष देंगे, जिन्होंने गुरु और साधुओंका संग नहीं किया है। मैं शिवको साक्षी देकर सत्य कहता हूँ कि भाई! अब यह पृथ्वी तुम्हारे रखे ही रहेगी। तुम अपने मनमें कुछ भी शंका न करो। हे प्यारे! देखो, महाराजने मुझको त्याग दिया, प्रेमका प्रण निबाहनेके लिये शरीर भी छोड़ दिया, परन्तु सत्य नहीं छोड़ा। इसलिये

मुझको उनके वचन टालनेमें बड़ा संकोच हो रहा है, परन्तु उससे भी बढ़कर मुझे तुम्हारा संकोच है, गुरुजी भी कहते हैं, अतः अब सारा भार तुमपर है, तुम जो कुछ कहो, मैं वही करनेको तैयार हूँ—

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।
सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाजु॥

'सोच छोड़कर प्रसन्न मनसे आज तुम जो कुछ कह दोगे वही करनेको तैयार हूँ यानी मुझे सत्य बहुत प्यारा है, परन्तु उससे भी बढ़कर तुम प्यारे हो। तुम्हारे लिये सब कुछ कर सकता हूँ।' इससे अधिक भ्रातृप्रेम और क्या होगा? जिस सत्यके लिये पिता-माताकी परवा नहीं की, आज अनायास वही सत्य, लौटानेके लिये आये हुए भाई भरतके प्रेमपर छोड़ दिया गया!

भरतजी भी तो श्रीरामके ही भाई थे। उन्होंने बड़े भाई श्रीरामका अपने ऊपर इतना प्रेम देखकर उन्हें संकोचमें डालना नहीं चाहा और बोले कि—

जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥

'जो दास अपने मालिकको संकोचमें डालकर अपना कल्याण चाहता है उसकी बुद्धि बड़ी ही नीच है। मैं तो आपके राजतिलकके लिये सामग्री लाया था, परन्तु अब—

प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब॥

प्रभु निःसंकोच होकर प्रसन्नतासे जिसको जो आज्ञा देंगे वह उसीको सिर चढ़ाकर करेगा, जिससे सारी उलझन आप ही सुलझ जायगी। अन्तमें श्रीरामने फिर कहा—'भैया! तुम मन, वचन, कर्मसे निर्मल हो, तुम्हारी उपमा तुम्हीं हो, बड़ोंके सामने छोटे भाईके गुण इस कुसमयमें कैसे बखानूँ? भाई! तुम अपने सूर्यवंशकी रीति, पिताजीकी कीर्ति और प्रीति जानते हो और भी सारी बातें तुमपर विदित हैं। अवश्य चौदह वर्षतक तुमको बहुत कष्ट होगा—

जानि तुम्हहि मृदु कहउँ कठोरा। कुसमयँ तात न अनुचित मोरा॥
होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए। ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घाए॥

'हे प्यारे! मैं तुम्हारे हृदयकी कोमलता जानता हुआ भी तुम्हें यह कठोर वचन कह रहा हूँ, परन्तु क्या करूँ? यह समय ही ऐसा है, इस समयके लिये यही उचित है, जब बुरा समय आता है तब भले भाई ही काम आते हैं, तलवारके वारको बचानेके लिये अपने ही हाथकी आड़ करनी पड़ती है।'

भगवान्‌के इन प्रेमपूर्ण रहस्यके वचनोंको सुनते ही भरत श्रीरामके रुखको भलीभाँति समझ गये। उनका विषाद दूर हो गया; परन्तु चौदह साल निराधार जीवन रहेगा कैसे? अतः—

सो अवलंब देव मोहि देई। अवधि पारु पावौं जेहि सेई॥

—भगवान्‌ने उसी समय भरतजीके इच्छानुसार अपनी चरणपादुका परम तेजस्वी महात्मा भरतजीको दे दी। भरतजी पादुकाओंको प्रणामकर मस्तकपर धारणकर अयोध्या लौट गये।

× × ×

श्रीरामने कुछ समयतक चित्रकूटमें निवास किया, फिर ऋषियोंके आश्रमोंमें घूमते-घूमते पंचवटीमें आये। वहाँ कुछ समय रहे। वनमें रहते समय भगवान् प्रतिदिन ही लक्ष्मणजीको भाँति-भाँतिसे ज्ञान, भक्ति, वैराग्यका उपदेश किया करते। एक दिन उपदेश देते हुए उन्होंने कहा—

संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें॥
बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

इस प्रकार सत्-चर्चा और परम रहस्यके वार्तालापमें ही समय बीतता था। भाईपर इतना प्रेम था कि श्रीराम उन्हें हृदय खोलकर अपना रहस्य समझाते थे।

× × ×

सीता-हरण हुआ, लंकापर चढ़ाई की गयी और भयानक युद्ध आरम्भ हो गया। एक दिन शक्तिबाणसे श्रीलक्ष्मणके घायल हो जानेपर श्रीरामने भाईके लिये जैसी विलाप-प्रलापकी लीला की, उससे पता लगता है कि छोटे भाई लक्ष्मणके प्रति श्रीरामका कितना अधिक स्नेह था। श्रीराम कहने लगे—

किं मे युद्धेन किं प्राणैर्युद्धकार्यं न विद्यते।
यत्रायं निहतः शेते रणमूर्धनि लक्ष्मणः॥
यथैव मां वनं यान्तमनुयाति महाद्युतिः।
अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम्॥

(वा० रा० ६। १०१। १२-१३)

'अब मुझे युद्धसे या जीवनसे क्या प्रयोजन है? जब कि प्यारा भाई लक्ष्मण निहत होकर रणभूमिमें सो चुका है, युद्धका कोई काम नहीं है। भाई! जिस प्रकार महातेजस्वी तुम मेरे साथ वनमें आये थे उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे साथ परलोकमें जाऊँगा।' गोसाईंजी लिखते हैं—

श्रीराम प्रलाप करते हुए कहते हैं—

सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ।
बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ॥

मम हित लागि तजेहु पितु माता।
सहेहु बिपिन हिम आतप बाता॥
सो अनुराग कहाँ अब भाई।
उठहु न सुनि मम बच बिकलाई॥
जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू।
पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥
सुत बित नारि भवन परिवारा।
होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥
अस बिचारि जियँ जागहु ताता।
मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥
जथा पंख बिनु खग अति दीना।
मनि बिनु फनि करिबर कर हीना॥
अस मम जिवन बंधु बिनु तोही।
जौं जड़ दैव जिआवै मोही॥
जैहउँ अवध कवन मुहु लाई।
नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई॥
अब अपलोकु सोकु सुत तोरा।
सहिहि निठुर कठोर उर मोरा॥
निज जननी के एक कुमारा।
तात तासु तुम्ह प्रान अधारा॥
सौंपेसि मोहि तुम्हहि गहि पानी।
सब बिधि सुखद परम हित जानी॥
उतरु काह दैहउँ तेहि जाई।
उठि किन मोहि सिखावहु भाई॥
बहु बिधि सोचत सोच बिमोचन।
स्रवत सलिल राजिव दल लोचन॥*

जो भाई अपने लिये घर-द्वार छोड़कर मरनेको तैयार है, उसके लिये विलाप किया जाना उचित ही है, परन्तु श्रीरामने तो विलापकी पराकाष्ठा कर भ्रातृ-प्रेमकी बड़ी ही सुन्दर शिक्षा दी है।

श्रीहनुमान्‌जीके द्वारा संजीवनी लानेपर लक्ष्मणजी स्वस्थ हो गये। राम-रावण-युद्ध समाप्त हुआ। सीता-परीक्षाके अनन्तर श्रीराम सबको साथ लेकर पुष्पक-विमानके द्वारा अयोध्या लौटनेकी तैयारीमें हैं। इसी समय विभीषण प्रार्थना करने लगे—

'भगवन्! यदि मैं आपके अनुग्रहका पात्र हूँ, यदि आप मुझपर स्नेह करते हैं तो मेरी प्रार्थना है—आप कुछ समयतक यहाँ रहें, लक्ष्मण और सीतासहित आपकी मैं पूजा करना चाहता हूँ। आप अपनी सेना तथा मित्रोंसहित घर पधारकर उसको पवित्र करें और यत्किंचित् सत्कार स्वीकार करें। मैं आपके प्रति आज्ञा नहीं कर रहा हूँ, परन्तु स्नेह-सम्मान और मित्रताके कारण एक सेवककी भाँति आपको प्रसन्न करनेकी अभिलाषा रखता हूँ।' (वा० रा० ६।१२१।१२—१५) विनयका क्या ही सुन्दर सीखनेयोग्य तरीका है!

श्रीरामने उत्तरमें कहा—

न खल्वेतन्न कुर्यां ते वचनं राक्षसेश्वर।
तं तु मे भ्रातरं द्रष्टुं भरतं त्वरते मनः॥
मां निवर्तयितुं योऽसौ चित्रकूटमुपागतः।
शिरसा याचतो यस्य वचनं न कृतं मया॥
(वा० रा० ६।१२१।१८-१९)

'हे राक्षसेश्वर! मैं इस समय तुम्हारी बात नहीं मान सकता, मेरा मन भाई भरतसे मिलनेके लिये छटपटा रहा है, जिसने चित्रकूटतक आकर मुझे लौटानेके लिये विनीत प्रार्थना की थी और मैंने उसको स्वीकार नहीं किया था।' मित्रवर! तुम मेरी इस प्रार्थनापर दुःख न करना।

तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरतदसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥
तापस बेष गात कृस जपत निरंतर मोहि।
देखौं बेगि सो जतनु करु सखा निहोरउँ तोहि॥
बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥

विभीषण नहीं रोक सके, विमानपर सवार होकर

---

* यह भगवान् श्रीरामकी प्रलाप-लीला मानी जाती है, प्रलापमें कुछ-का-कुछ कहा जाना ही स्वाभाविक है। 'प्रभु प्रलाप सुनि कान' आगेके दोहेके इस वाक्यसे भी प्रलाप ही सिद्ध होता है। भगवान् शिवके इन वचनोंसे कि 'उमा अखंड एक रघुराई। 'नर गति' भगत कृपालु देखाई॥' से भी साधारण मनुष्यवत् प्रलाप ही ठहरता है। इससे अर्थान्तर करनेकी आवश्यकता नहीं, परन्तु यदि दूसरा अर्थ किया जाय तो उपर्युक्त चौपाइयोंमें—'जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥' इस चौपाईका अर्थ यह करना चाहिये कि यदि मैं जानता कि वनमें बन्धुओंसे बिछोह होगा तो मैं (पिता बचन मनतेउँ) पिताके वचन मानकर वनमें तो आता, परन्तु ('नहिं ओहू') लक्ष्मणका आग्रह स्वीकार कर उसे वनमें साथ नहीं लाता।

इसी प्रकार 'निज जननी के एक कुमारा। तात तासु तुम्ह प्रान अधारा॥' इस चौपाईका अर्थ यों करना चाहिये कि मैं जैसे अपनी माताका प्यारा इकलौता बेटा हूँ वैसे ही अपनी माता सुमित्राके तुम प्राणाधार हो।

इस चौपाईका अर्थ यह भी किया जा सकता है कि 'मैं अपनी माताके एक ही लड़का हूँ और तुम उसके (मेरे) प्राणाधार हो अर्थात् तुम्हारे जीवनसे ही मेरा जीवन है।'

चले। भगवान्‌ने अपने आनेका संवाद हनूमान्‌के द्वारा भरतजीके पास पहलेसे ही भेजकर उन्हें सुख पहुँचाया।

तदनन्तर अनन्तशक्ति भगवान् श्रीराम अयोध्या पहुँचकर क्षणमें लीलासे ही सबसे मिल लिये।

प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहि कृपाला॥
कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी। किए सकल नर नारि बिसोकी॥
छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

भरतके साथ भगवान्‌का मिलन तो अपूर्व आनन्दमय है। फिर शत्रुघ्नसे मिलकर उनका विरह-दुःख नष्ट किया। राजतिलककी तैयारी हुई। स्नान-मार्जन होने लगा। श्रीराम भी भाइयोंकी वात्सल्यभावसे सेवा करने लगे। भरतजी बुलाये गये, श्रीरामने अपने हाथोंसे उनकी जटा सुलझायी। तदनन्तर तीनों प्राणप्रिय भाइयोंको श्रीरामने स्वयं अपने हाथसे मल-मलकर नहलाया। भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न पितृ-तुल्य श्रीरामके इस वात्सल्यभावसे मुग्ध हो गये।

पुनि करुनानिधि भरतु हँकारे। निज कर राम जटा निरुआरे॥
अन्हवाए प्रभु तीनिउ भाई। भगत बछल कृपालु रघुराई॥
भरत भाग्य प्रभु कोमलताई। सेष कोटि सत सकहिं न गाई॥

शिवजी कहते हैं कि भरतजी (आदि भाइयों)-के भाग्य और प्रभुकी कोमलताका बखान सौ करोड़ शेषजी भी नहीं कर सकते। धन्य भ्रातृ-प्रेम!

भगवान् श्रीराम तीनों भाइयोंसे सेवित होकर राज्य करने लगे। रामराज्यकी महिमा कौन गा सकता है? भगवान् समय-समयपर अपनी प्रजाको इकट्ठा कर उन्हें विविध भाँतिसे लोक-परलोकमें उन्नति और कल्याणके साधनोंके सम्बन्धमें शिक्षा देते हैं। ऐसा न्याय और दयापूर्ण शासन, सुन्दर बर्ताव, प्रेमभाव, लोक-परलोकमें सुख पहुँचानेवाली तथा मुक्तिदायिनी शिक्षा, सब प्रकारके सुख रामराज्यके अतिरिक्त अबतक अन्य किसी भी राज्यमें कभी देखे, सुने या पढ़े नहीं गये!

× × ×

समय-समयपर भाइयोंको साथ लेकर श्रीराम वन-उपवनोंमें जाते हैं, भाँति-भाँतिके शिक्षाप्रद उपदेश करते हैं। एक समय सब उपवनमें गये। भरतजीने श्रीरामके लिये अपना दुपट्टा बिछा दिया, भगवान् उसपर विराजे, तदनन्तर श्रीहनुमान्‌जीके द्वारा भरतजीके प्रश्न करनेपर श्रीरामने सन्त-असन्तके लक्षण बतलाते हुए अन्तमें बड़ा ही सुन्दर उपदेश दिया—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर॥
नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महाभव भीरा॥
करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना॥
कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ कर्म फल दाता॥
अस बिचारि जे परम सयाने। भजहिं मोहि संसृत दुख जाने॥
त्यागहिं कर्म सुभासुभ दायक। भजहिं मोहि सुर नर मुनि नायक॥

कैसा सुन्दर सबके ग्रहण करनेयोग्य उपदेश है! ऐसे बड़े भाई अनन्त पुण्य-बलसे ही प्राप्त होते हैं!

× × ×

आगे चलकर लवणासुरको मारनेके लिये शत्रुघ्नके कहनेपर श्रीरामने उन्हें रणांगणमें भेजना स्वीकार कर कहा कि 'वहाँका राज्य तुम्हें भोगना पड़ेगा। मेरी आज्ञाका प्रतिवाद न करना।' शत्रुघ्नको राज्याभिषेककी बात बहुत बुरी लगी परन्तु रामाज्ञा समझकर उसे स्वीकार करना पड़ा। न चाहनेपर भी छोटे भाईको वचनोंमें बाँधकर राज्यसुख देना, राम-सरीखे बड़े भाईका ही कार्य है।

इसके बाद लक्ष्मण-त्यागका प्रश्न आता है, कुछ लोग इसको श्रीरामका बड़ा ही निष्ठुर कार्य समझते हैं। जिस भाईने राज्य और राजाको दारुण ऋषि-शापसे बचाया, उसके लिये पुरस्काररूपमें भी पहलेका विधान बदल देना उचित था, परन्तु ऐसा कहनेवाले लोग इस बातको भूल जाते हैं कि श्रीराम सत्यप्रतिज्ञ हैं, इसी सत्यकी रक्षाके लिये उन्होंने लक्ष्मणका त्याग कर दिया, परन्तु प्यारे भाई लक्ष्मणका वियोग होते ही आप भी भरत, शत्रुघ्न और प्रजा-परिजनोंको साथ लेकर परमधामको प्रयाण कर गये!

श्रीरामके भ्रातृ-प्रेमका यह अति संक्षिप्त वर्णन है। श्रीरामकी भ्रातृवत्सलताका इससे कुछ अनुमान हो सकता है। भाइयोंके लिये ही राज्य ग्रहण करना, भाईको राज्य मिलनेके प्रस्तावसे अपना हक छोड़कर परम आनन्दित होना, जिसके कारण राज्याभिषेक रुका उस भाई भरतकी माता कैकेयीपर भक्ति करना, भरतका गुण-गान करना, धरना देनेके समय भरतको और भरतपर क्रोध करनेके समय लक्ष्मणको फटकार बताकर अन्याय-मार्गसे बचाना, भरतकी इच्छापर अपने सत्यव्रतको भी छोड़ देना, लक्ष्मणजीके शक्ति लगनेपर उनके साथ प्राणत्याग करनेको तैयार हो जाना, समय-समयपर सदुपदेश देना, स्वार्थ छोड़कर सबपर समभावसे पूर्ण प्रेम करना और लवणासुरपर आक्रमणके समय जबरदस्ती राज्याभिषेकके लिये शत्रुघ्नसे स्वीकार कराना आदि श्रीरामके आदर्श भ्रातृ-प्रेमपूर्ण कार्योंसे हम सबको यथायोग्य शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

श्रीभरतका भ्रातृ-प्रेम

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनम न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

भरतजीकी अपार महिमा है। रामायणमें भरतजीका ही एक ऐसा उज्ज्वल चरित्र है जिसमें कहीं कुछ भी दोष नहीं दीख पड़ता। भरतजी धर्मके ज्ञाता, नीतिज्ञ, त्यागी, सद्‌गुणोंसे युक्त, संयमी, सदाचारी, प्रेम और विनयकी मूर्ति, श्रद्धा-भक्ति-सम्पन्न और बड़े बुद्धिमान् थे। वैराग्य, सत्य, तप, क्षमा, तितिक्षा, दया, वात्सल्य, धीरता, शान्ति, सरलता, गम्भीरता, सौम्यता, समता, मधुरता, अमानिता, सुहृदता और स्वामिसेवा आदि गुणोंका इनमें विलक्षण विकास था। भ्रातृ-प्रेमकी तो आप मानो सजीव मूर्ति थे।

श्रीराम-वनवास अच्छा ही हुआ, जिससे भरतजीका उच्च प्रेम-भाव जगत्‌में प्रकट हो गया। राम-वियोग न होता तो विश्वको इस अतुल प्रेमकी सुधा-धारामें अवगाहन करनेका सुअवसर शायद ही मिलता।

पेम अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥

'गम्भीर समुद्ररूप भरतजीको अपने वनवासरूपी मन्दराचलपर्वतसे मथकर कृपासिन्धु रघुनाथजीने सुर-सन्तोंके हितार्थ प्रेमरूपी अमृतको प्रकट किया है।'

श्रीराम-वनवास और दशरथजीकी मृत्यु होनेपर गुरु वसिष्ठकी आज्ञासे भरत-शत्रुघ्नको बुलानेके लिये केकयदेशको दूत जाते हैं। उधर भरतजीको दुःस्वप्न होता है, जिससे वे व्याकुल हो जाते हैं और माता-पिता तथा भाई-भौजाईकी मंगलकामनासे दान-पुण्य करते हैं। दूतोंने जाकर गुरुका सन्देश सुना दिया। भरतजीने कुशल पूछी, जिसके उत्तरमें दूतोंने भी मानो व्यंगसे ही कहा कि 'आप जिनकी कुशल पूछते हैं वे कुशलसे हैं।' भरतजी उसी दिन चल पड़े। अयोध्यामें पहुँचकर उसे श्रीहीन देख बड़े दुःखित हुए, उनका हृदय परिवारकी अनिष्ट-आशंकासे भर गया, न तो किसीसे कुछ पूछनेकी हिम्मत हुई और न किसीने कुछ कहा ही। लोग तो उस समय भरतजीको राम-वनवास और दशरथकी मृत्युमें हेतु समझकर बहुत ही बुरी दृष्टिसे देखते थे, अतः उनसे कोई अच्छी तरह बोलता ही कैसे? आगे चलकर प्रजाने साफ कहा है—

मिथ्याप्रव्राजितो रामः सभार्यः सहलक्ष्मणः।
भरते सन्निबद्धाः स्मः सौनिके पशवो यथा॥
(वा० रा० २।४८।२८)

'झूठा बहाना करके कैकेयीने श्रीरामको सीता-लक्ष्मणसहित वनमें भेज दिया है। अब हमलोग उसी प्रकार भरतके अधीन हैं, जैसे कसाईके अधीन पशु होते हैं।'

लोग सामने आते हैं और दूरसे ही जुहार करके मुँह फेरकर चले जाते हैं—

पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु गवहिं जोहारहिं जाहिं।
भरत कुसल पूँछि न सकहिं भय बिषाद मन माहिं॥

घबराये हुए भरतजी पिताकी खोजमें माता कैकेयीके महलमें पहुँचे और 'पिता कहाँ हैं?' ऐसा पूछने लगे, कैकेयी अपने कियेपर फूली नहीं समाती थी, वह समझती थी कि भरत भी मेरी कृति सुनकर राजी होंगे, अतः उसने कठोर बनकर झटसे कह दिया—

या गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः।
राजा महात्मा तेजस्वी यायजूकः सतां गतिः॥
(वा० रा० २।७२।१५)

'सब भूत-प्राणियोंकी अन्तमें जो गति होती है वही तुम्हारे पिताकी भी हुई। महात्मा, तेजस्वी और यज्ञ करनेवाले राजाने सत्पुरुषोंकी गति प्राप्त की है।'

यह सुनते ही भरत शोकपीड़ित हो 'हाय! मैं मारा गया' पुकारकर सहसा पछाड़ खाकर पृथिवीपर गिर पड़े। भाँति-भाँतिसे विलाप करते हुए कहने लगे, 'हाय पिताजी! मुझे दुःखसागरमें छोड़कर कहाँ चले गये'—

असमर्प्यैव रामाय राज्ञे मां क्व गतोऽसि भोः।
(अध्यात्मरा० २।७।६७)

'हे पिता! मुझे राजा रामके हाथोंमें सौंपे बिना ही आप कहाँ चले गये?' कैकेयीने विलाप करते हुए भरतको उठाकर उसके आँसू पोंछे और कहा कि 'बेटा! धीरज रखो, मैंने तुम्हारे लिये सब काम बना रखा है—**समाश्वसिहि भद्रं ते सर्वं सम्पादितं मया॥** (अध्यात्मरा० २। ७। ६८)' परन्तु भरतजीका रोना बन्द नहीं हुआ, उन्होंने कहा—

यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि सम्मतः।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः॥
पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः।
तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम॥
धर्मविद्धर्मशीलश्च महाभागो दृढव्रतः।
आर्ये किमब्रवीद्राजा पिता मे सत्यविक्रमः॥
पश्चिमं साधुसन्देशमिच्छामि श्रोतुमात्मनः।
(वा० रा० २।७२।३२—३५)

'यह तो मुझे शीघ्र बता कि सरल आचरण और स्वभाववाले मेरे पिता-तुल्य बड़े भाई वह श्रीरघुनाथजी

कहाँ हैं, जिनका मैं प्रिय दास हूँ? मैं उनके चरण-वन्दन करूँगा, क्योंकि अब वे ही मेरे अवलम्ब हैं। आर्य-धर्मके जाननेवाले लोग बड़े भाईको पिताके सदृश समझते हैं। माता! यह भी बतला कि धर्मज्ञ, दृढव्रत, धर्मशील, महाभाग और सत्यपराक्रमी मेरे पिता राजा दशरथने अन्त समयमें मेरे लिये क्या कहा था, मैं उनका अन्तिम शुभ सन्देश सुनना चाहता हूँ।' उत्तरमें कैकेयीने कहा—

रामेति राजा विलपन् हा सीते लक्ष्मणेति च।
स महात्मा परं लोकं गतो मतिमतां वरः॥
इतीमां पश्चिमां वाचं व्याजहार पिता तव।
कालधर्मं परिक्षिप्तः पाशैरिव महागजः॥
सिद्धार्थास्तु नरा राममागतं सह सीतया।
लक्ष्मणं च महाबाहुं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम्॥

(वा० रा० २। ७२। ३६—३८)

'बेटा! बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ तेरे पिता अन्तकालमें 'हा राम! हा लक्ष्मण! हा सीते!' पुकारते हुए परलोक सिधारे हैं। हाथी जिस प्रकार पाशमें बँधकर विवश हो जाता है उसी प्रकार काल-पाशसे बँधकर तेरे पिताने केवल यही कहा था कि 'अहो! सीताके साथ लौटकर आये हुए श्रीराम-लक्ष्मणको जो मनुष्य देखेंगे वही कृतार्थ होंगे।'

यह सुनते ही भरतजीके दुःखकी सीमा न रही।

तामाह भरतो हेऽम्ब रामः सन्निहितो न किम्।
तदानीं लक्ष्मणो वापि सीता वा कुत्र ते गताः॥

(अध्यात्मरा० २। ७। ७१)

भरतजीने पूछा—'माता! क्या उस समय श्रीरामजी, लक्ष्मण या सीताजीमेंसे कोई भी नहीं था, वे सब कहाँ चले गये थे?'

अब वज्रहृदया कैकेयीने सारी कहानी सुनाते हुए कहा कि—

रामस्य यौवराज्यार्थं पित्रा ते सम्भ्रमः कृतः।
तव राज्यप्रदानाय तदाहं विघ्नमाचरम्॥
राज्ञा दत्तं हि मे पूर्वं वरदेन वरद्वयम्।
याचितं तदिदानीं मे तयोरेकेन तेऽखिलम्॥
राज्यं रामस्य चैकेन वनवासो मुनिव्रतम्।
ततः सत्यपरो राजा राज्यं दत्त्वा तवैव हि॥
रामं सम्प्रेषयामास वनमेव पिता तव।
सीताप्यनुगता रामं पातिव्रत्यमुपाश्रिता॥
सौभ्रात्रं दर्शयन्राममनुयातोऽपि लक्ष्मणः।
वनं गतेषु सर्वेषु राजा तानेव चिन्तयन्॥
प्रलपन् रामरामेति ममार नृपसत्तमः।

(अध्यात्मरा० २। ७। ७२—७७)

'तुम्हारे पिताने रामके राज्याभिषेककी बड़ी तैयारी की थी, परन्तु तब तुम्हें राज्य दिलानेके अभिप्रायसे मैंने उसमें विघ्न डाल दिया। वरदानी राजाने पूर्वमें मुझे दो वर देनेको कह रखा था, उनमेंसे एकसे मैंने तुम्हारे लिये सम्पूर्ण राज्य और दूसरेसे रामके लिये मुनिव्रतधारणपूर्वक चौदह सालका वनवास माँगा। तब तुम्हारे पिता सत्यपरायण राजाने तुम्हें राज्य दे दिया और रामको वन भेज दिया। पतिव्रता सीता भी रामके साथ वन चली गयी और सच्चा भ्रातृत्व दिखाकर लक्ष्मण भी उन्हींके पीछे चल दिये। उन लोगोंके वन जानेपर उन्हींका चिन्तन करते हुए और 'हा राम, हा राम' पुकारते हुए महाराजा भी परलोक सिधार गये।'

कैकेयीके इन वचनोंसे मानो भरतजीपर वज्रपात हो गया। वे पिताकी मृत्युको तो भूल गये और अपने हेतुसे श्रीरामका वनगमन सुनते ही सहम गये, पके हुए घावपर मानो आग-सी लग गयी।

भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु।
हेतु अपनपउ जानि जियँ थकित रहे धरि मौनु॥
सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू।
पाकें छत जनु लाग अँगारू॥

भरतजी व्याकुल हो उठे और दारुण शोकमें सारी सुध-बुध भूलकर माताको धिक्कारकर चिल्लाते हुए कहने लगे—

'अरी क्रूरे! तू राज्य चाहनेवाली माताके रूपमें मेरी शत्रु है, तू पति-घातिनी और कुल-घातिनी है, तू धर्मात्मा अश्वपतिकी कन्या नहीं है, उनके कुलका नाश करनेवाली राक्षसी पैदा हुई है। तू जानती नहीं कि श्रीरामके प्रति मेरा कैसा भाव है, इसीसे तूने यह अन्याय किया है। मैं राम-लक्ष्मणको छोड़कर किसके बलपर राज्य करूँगा? तूने मेरे धर्मात्मा पिताका नाश कर दिया और मेरे भाइयोंको गली-गली भीख माँगनेके लिये भेजा है, एकपुत्रा कौसल्याको पुत्रवियोगका दुःख दिया है, जा तू नरकमें पड़। तू राज्यसे भ्रष्ट हो जा। अरी दुष्टे! तू धर्मसे पतित है, भगवान् करें मैं मर जाऊँ और तू मेरे लिये रोया करे! मैं इस समस्त राज्यको भाईके प्रति अर्पण कर दूँगा, जा तू अग्निमें प्रवेश कर जा, जंगलमें निकल जा या गलेमें रस्सीकी फाँसी लगाकर मर जा। मैं सत्यपराक्रम रामको राज्य देकर ही अपना कलंक धोऊँगा और अपनेको कृतकृत्य समझूँगा।'

(वा० रा० २। ७४)

भरतजीने राम-प्रेममें नीति भूलकर शत्रुघ्नसे यहाँतक कह डाला कि—

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम्।
यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम्॥
(वा० रा० २। ७८। २२)

'हे भाई! इस दुष्ट आचरणवाली पापिनी कैकेयीको मैं मार डालता, यदि धर्मात्मा श्रीराम मातृहत्यारा समझकर मुझसे घृणा न करते।'

आखिर भरतजीने माताका मुँह देखनातक पाप समझा और बोले कि—

जो हसि सो हसि मुहँ मसि लाई।
आँखि ओट उठि बैठहि जाई॥

× × ×

इतनेमें कुबड़ी मन्थरा इनाम पानेकी आशासे सज-धजकर आयी। उसे देखते ही शत्रुघ्नजीका क्रोध बढ़ा, वे लगे उसे इनाम देने, परन्तु दयालु भरतजीने छुड़ा दिया। इसके बाद भरतजी माता कौसल्याके पास पहुँचे और उनकी दयनीय दशा देखकर व्याकुल हो उठे। कौसल्याजीने भी कैकेयीपुत्रके नाते भरतपर सन्देह करके कुछ कटु शब्द कहे। कौसल्याजीके कटु वचनोंसे भरतका हृदय विदीर्ण हो गया और वह मूर्च्छित होकर उनके चरणोंमें गिर पड़े, जब होशमें आये तब ऐसी-ऐसी कठोर शपथें खाने लगे, जिनसे माताका हृदय पसीज गया। भरतने कहा—

कैकेय्या यत्कृतं कर्म रामराज्याभिषेचने।
अन्यद्वा यदि जानामि सा मया नोदिता यदि॥
पापं मेऽस्तु तदा मातर्ब्रह्महत्याशतोद्भवम्।
हत्वा वसिष्ठं खड्गेन अरुन्धत्या समन्वितम्॥
(अध्यात्मरा० २। ७। ८८-८९)

'माता! श्रीरामके राज्याभिषेकके विषयमें तथा वनगमनके विषयमें कैकेयीने जो कुकर्म किया है, उसमें यदि मेरी सम्मति हो या मैं उसे जानता भी होऊँ तो मुझे सौ ब्रह्महत्याका पाप लगे और वह पाप भी लगे जो गुरु वसिष्ठजीकी अरुन्धतीजी-सहित तलवारसे हत्या करनेमें लगता है।'

कौसल्याने गद्गद होकर निर्दोष भरतको गोदमें बिठा लिया और उसके आँसू पोंछकर कहने लगी—'बेटा! मैंने शोकमें विकल होकर तुझपर आक्षेप कर दिया था। मैं जानती हूँ—

राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे।
तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे॥
बिधु बिष चवै स्रवै हिमु आगी।
होइ बारिचर बारि बिरागी॥
भएँ ग्यानु बरु मिटै न मोहू।
तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥
मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं।
सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं॥
अस कहि मातु भरतु हियँ लाए।
थन पय स्रवहिं नयन जल छाये॥

भरतजीके राम-प्रेमका पता कौसल्याके इन वचनोंसे खूब लगता है। भरतका चरित्रबल और चिर-आचरित भ्रातृ-प्रेम ही था जिसने इस अवस्थामें भी कौसल्याके द्वारा भरतको भ्रातृ-प्रेमका ऐसा जोरदार सर्टिफिकेट दिलवा दिया।

× × ×

पिताकी शास्त्रोक्त और्ध्वदैहिक क्रिया करनेके बाद राज-सभामें गुरु, मन्त्री, प्रजा और माताओंने यहाँतक कि माता कौसल्याने भी भरतको राजसिंहासन स्वीकार करनेके लिये अनुरोध किया, परन्तु भरत किसी प्रकार भी राजी नहीं हुए। उन्होंने अटलरूपसे कह दिया—

आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥
आन उपाउ मोहि नहिं सूझा।
को जिय कै रघुबर बिनु बूझा॥
एकहिं आँक इहइ मन माहीं।
प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं॥
जद्यपि मैं अनभल अपराधी।
भै मोहि कारन सकल उपाधी॥
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी।
छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी॥
सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ।
कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।
मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा॥

भरतके प्रेमभरे वचन सुनकर सभी मुग्ध हो गये। राम-दर्शनके लिये वनगमनका निश्चय हुआ। सभी चलनेको तैयार हो गये। राम-दर्शन छोड़कर घरमें कौन रहता?

जेहि राखहिं रहु घर रखवारी।
सो जानइ जनु गरदनि मारी॥
कोउ कह रहन कहिअ नहिं काहू।
को न चहइ जग जीवन लाहू॥
जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥

भरतजीने भगवान् रामकी सम्पत्तिकी रक्षा करना कर्तव्य समझकर जिम्मेवार कर्तव्यपरायण रक्षकोंको नियुक्त कर दिया और अयोध्यावासी नर-नारी चल पड़े। उस समय भरतके साथ नौ हजार हाथी, साठ हजार

धनुर्धारी, एक लाख घुड़सवार थे। इसके सिवा रथों, माताओं और ब्राह्मणियोंकी पालकियों एवं सदाचारी ब्राह्मणोंकी तथा कारीगरों एवं सामानकी बैलगाड़ियोंकी गिनती ही नहीं थी।

भरतजीने वन जाते हुए मनमें सोचा—'श्रीराम, सीता और लक्ष्मण पैदल ही नंगे पाँव वन-वन घूमते हैं और मैं सवारीपर चढ़कर उनसे मिलने जा रहा हूँ, मुझे धिक्कार है।' यह विचारकर भरत और शत्रुघ्न पैदल हो लिये। दोनों भ्रातृभक्त भाइयोंको पैदल चलते देखकर अन्य लोग भी मुग्ध होकर सवारियोंसे उतरकर पैदल चलने लगे—

देखि सनेहु लोग अनुरागे।
उतरि चले हय गय रथ त्यागे॥

यह देखकर माता कौसल्याने अपनी डोली भरतके पास ले जाकर मधुर वचनोंमें कहा—

तात चढ़हु रथ बलि महतारी।
होइहि प्रिय परिवारु दुखारी॥
तुम्हरें चलत चलिहि सबु लोगू।
सकल सोक कृस नहिं मग जोगू॥

माता कौसल्याकी आज्ञा मानकर भरतजी रथपर चढ़ गये। चलते-चलते शृंगवेरपुर पहुँचे। यहाँ निषादराजने भी भरतपर सन्देह किया, परन्तु परीक्षा करके भरतका आचरण देख वह मन्त्रमुग्धकी भाँति भरतकी सेवामें लग गया। इंगुदीके पेड़के नीचे जहाँ श्रीरामने 'कुश-किसलय' की शय्यापर लेटकर रात बितायी थी, गुहके द्वारा उस स्थानको देखकर भरतकी विचित्र दशा हो गयी! वे भाँति-भाँतिसे विलापकर कहने लगे 'हा! यह बिखरी हुई पत्तोंकी शय्या क्या उन्हीं श्रीरामकी है जो सदा आकाशस्पर्शी राजप्रासादमें रहनेके अभ्यासी हैं। जिनके महल सदा पुष्पों, चित्रों और चन्दनसे चर्चित रहते हैं, जिनके महलका ऊँचा चूड़ा नृत्य करनेवाले पक्षियों और मयूरोंका विहारस्थल है, जिसकी सोनेकी दीवारोंपर विचित्र चित्रकारीका काम किया हुआ है, वही स्वामी राम क्या इसी इंगुदी पेड़के नीचे रहे हैं? हा! इस अनर्थका कारण मैं ही हूँ—

हा हतोऽस्मि नृशंसोऽस्मि यत्सभार्यः कृते मम।
ईदृशीं राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत्॥
सार्वभौमकुले जातः सर्वलोकसुखावहः।
सर्वप्रियकरस्त्यक्त्वा राज्यं प्रियमनुत्तमम्॥
कथमिन्दीवरश्यामो रक्ताक्षः प्रियदर्शनः।
सुखभागी न दुःखार्हः शयितो भुवि राघवः॥

(वा० रा० २। ८८। १७—१९)

'हाय! मैं कितना क्रूर हूँ, हा! मैं मारा गया, क्योंकि मेरे ही कारण श्रीरघुनाथजीको सती सीताजीके साथ ऐसी कठिन शय्यापर अनाथकी भाँति सोना पड़ा। अहो! चक्रवर्तीकुलमें उत्पन्न हुए, सबको सुख देनेवाले, सबका प्रिय करनेवाले, कमनीय कान्ति, नील कमलके समान कान्तिवाले, रक्ताक्ष, प्रियदर्शन जो सदा ही सुख भोगनेके योग्य तथा इस दुःख-भोगके अयोग्य हैं, वे राघव अति उत्तम प्रिय राज्यको त्यागकर भूमिपर कैसे सोये!'

तदनन्तर भरतजीने उस कुश-शय्याकी प्रणाम-प्रदक्षिणा की—

कुस साँथरी निहारि सुहाई।
कीन्ह प्रनामु प्रदच्छिन जाई॥
चरन रेख रज आँखिन्ह लाई।
बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥
कनक बिंदु दुइ चारिक देखे।
राखे सीस सीय सम लेखे॥

यहाँसे भरतजी फिर पैदल चलने लगे, जब सेवकोंने घोड़ेपर सवार होनेके लिये विशेष आग्रह किया तब आप कहने लगे—

रामु पयादेहि पायँ सिधाए।
हम कहँ रथ गज बाजि बनाए॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा।
सब तें सेवक धरमु कठोरा॥

भाई! मुझे तो सिरके बल चलना चाहिये; क्योंकि जहाँ रामके चरण टिके हैं वहाँ मेरा सिर ही टिकना योग्य है। सीताराम-सीतारामका कीर्तन करते हुए भरतजी प्रयाग पहुँचे। उनके पैरोंके छाले कमलके पत्तोंपर ओसकी बूँदोंके समान चमकते हैं—

झलका झलकत पायन्ह कैसें।
पंकज कोस ओस कन जैसें॥

तदनन्तर महाराज भरतजी मुनि भरद्वाजके आश्रममें पहुँचे। परस्पर शिष्टाचारके उपरान्त भरद्वाजजीने भी भरतके हृदयपर मानो गहरा आघात करते हुए उनसे पूछा—

कच्चिन्न तस्यापापस्य पापं कर्तुमिहेच्छसि।
अकण्टकं भोक्तुमना राज्यं तस्यानुजस्य च॥

(वा० रा० २। ९०। १३)

'क्या तुम उन पापहीन श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मणका वधकर निष्कण्टक राज्य भोगनेकी इच्छासे तो वनमें नहीं जा रहे हो? भरद्वाजजीके इन वचनोंसे भरतजीका हृदय टुकड़े-टुकड़े हो गया। वे कातर-कण्ठसे रोते हुए बोले—

हतोऽस्मि यदि मामेवं भगवानपि मन्यते।

(वा० रा० २। ९०। १५)

'भगवन्! यदि त्रिकालदर्शी होकर आप भी ऐसा ही मानते हैं तब तो मैं मारा गया।'

कैकेय्या यत्कृतं कर्म रामराज्यविघातनम्॥
वनवासादिकं वापि न हि जानामि किंचन।
भवत्पादयुगं मेऽद्य प्रमाणं मुनिसत्तम॥
इत्युक्त्वा पादयुगलं मुनेः स्पृष्ट्वाऽऽर्त्तमानसः।
ज्ञातुमर्हसि मां देव शुद्धो वाशुद्ध एव वा॥
मम राज्येन किं स्वामिन् रामे तिष्ठति राजनि।
किङ्करोऽहं मुनिश्रेष्ठ रामचन्द्रस्य शाश्वतः॥

(अध्यात्मरा० २। ८। ४६—४९)

'हे मुनिश्रेष्ठ! कैकेयीने श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकमें विघ्न डालनेके लिये जो कुछ किया या राम-वनवासादिके सम्बन्धमें जो कुछ हुआ, इस विषयमें मैं कुछ भी नहीं जानता, इस सम्बन्धमें आपके चरणयुगल ही मेरे लिये प्रमाण हैं।' इतना कह मुनिके दोनों चरणोंको पकड़कर भरतजी कहने लगे—'हे देव! मैं शुद्ध हूँ या अशुद्ध, इस बातको आप भलीभाँति जान सकते हैं। हे स्वामिन्! श्रीरामजीके राजा रहते मुझे राज्यसे क्या प्रयोजन है, मैं तो सदा-सर्वदा श्रीरामका एक किंकर हूँ।'

इसपर भरद्वाजजीने प्रसन्न होकर कहा—'मैं तुम्हारी सब बातें जानता था, मैंने तो तुम्हारे भाव दृढ़ करने और तुम्हारी कीर्ति बढ़ानेके लिये ही तुमसे ऐसा पूछ लिया था। वास्तवमें तुम्हारे समान बड़भागी दूसरा कौन है, जिसका जीवन-धन-प्राण श्रीरामके चरणकमल हैं—

सो तुम्हार धनु जीवनु प्राना।
भूरिभाग को तुम्हहि समाना॥
सुनहु भरत रघुबर मन माहीं।
पेम पात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं॥
लखन राम सीतहि अति प्रीती।
निसि सब तुम्हहि सराहत बीती॥

मैं जानता हूँ तुम राम, सीता, लक्ष्मणको अत्यन्त प्यारे हो, वे जब यहाँ ठहरे थे तो रातभर तुम्हारी ही प्रशंसा कर रहे थे। तुम तो भरत! मानो श्रीराम-प्रेमके शरीरधारी अवतार हो।

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू।
धरें देह जनु राम सनेहू॥

हे भरत! सुनो, हम तपस्वी उदासी वनवासी हैं, तुम्हारी खातिरसे झूठ नहीं बोलते, हमारी समझसे तो हमारा समस्त साधनाओंके फलस्वरूप हमें श्रीराम-सीता और लक्ष्मणके दर्शन मिले थे और अब श्रीरामदर्शनके फलस्वरूप तुम्हारे दर्शन हुए हैं, सारे प्रयागनिवासियोंसहित हमारा बड़ा सौभाग्य है—

भरत धन्य तुम्ह जसु जगु जयऊ।
कहि अस पेम मगन मुनि भयऊ॥

इसके अनन्तर भरद्वाजमुनिने सिद्धियोंके द्वारा परम सम्मान्य अतिथि भरतजीका आतिथ्य-सत्कार किया, सभी प्रकारकी विलास-सामग्री उत्पन्न हो गयी। सब लोग अपने-अपने इच्छानुसार खान-पान और भोगादिमें लग गये, परन्तु भरतजीको रामके बिना कहीं चैन नहीं है, वे किसी भी प्रलोभनमें नहीं आ सकते।

संपति चकई भरतु चक मुनि आयस खेलवार।
तेहि निसि आश्रम पिंजराँ राखे भा भिनुसार॥

'भरद्वाजजीकी सिद्धियोंद्वारा उत्पन्न सम्पत्ति मानो चकई है और भरतजी चकवा हैं, मुनिकी आज्ञा बहेलिया है, जिसने रातभर भरतजीको आश्रमरूपी पिंजरेमें बन्द कर रखा और इसी प्रकार सबेरा हो गया।' चकई-चकवा रातको नहीं मिल सकते। इसी तरह विलास-सामग्री और भरतजीका (आश्रमरूपी पिंजरेमें) एक साथ रहनेपर भी मिलाप नहीं हुआ। धन्य त्यागपूर्ण भ्रातृ-प्रेम!

× × × ×

रास्ता बतानेके लिये निषादको आगे करके महाराज भरतजी चित्रकूटकी ओर जा रहे हैं, मानो साक्षात् अनुराग ही शरीर धारण करके चल रहा हो। यहाँपर गोसाईंजीने बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है। भरतजीके न तो पैरोंमें जूते हैं और न सिरपर छत्र है। वे निष्कपटभावसे प्रेमपूर्वक नियम-व्रत करते हुए जा रहे हैं। भरतजी जिस मार्गसे निकलते हैं उसीमें मानो प्रेमका समुद्र उमड़ पड़ता है और वहाँका वातावरण इतना विशुद्ध हो जाता है कि वहाँके जड-चेतन जीव भरतके भवरोग-नाशक दर्शन पाकर परमपदको प्राप्त हो जाते हैं। जिन रामजीका एक बार भी नाम लेनेवाला मनुष्य स्वयं तरता और दूसरोंको तारनेवाला बन जाता है वे श्रीराम स्वयं जिन भरतजीका मनमें सदा चिन्तन किया करते हैं, उनके दर्शनसे लोगोंका बन्धन-मुक्त हो जाना कौन बड़ी बात है?

भरतजीके दर्शनसे भ्रातृ-प्रेमके भाव चारों ओर फैल रहे हैं, जब महाराज भरतजी श्रीराम कहकर साँस लेते हैं तब मानो चारों ओर प्रेम उमड़ पड़ता है, उनके प्रेमपूर्ण वचन सुनकर वज्र और पत्थर-जैसे हृदयवाले भी पिघल जाते हैं, फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है?

जबहिं रामु कहि लेहिं उसासा।
उमगत पेमु मनहुँ चहु पासा॥
द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना।
पुरजन पेमु न जाइ बखाना॥

मार्गके नर-नारी भरतजीको पैदल चलते देख-देखकर नेत्रोंको सफल करते हैं और भाँति-भाँतिकी चर्चा करते हैं। वनकी नारियाँ भरतजीके शील, प्रेम और भाग्यकी सराहना करती हुई कहती हैं—

चलत पयादें खात फल पिता दीन्ह तजि राजु।
जात मनावन रघुबरहि भरत सरिस को आजु॥
भायप भगति भरत आचरनू। कहत सुनत दुख दूषन हरनू॥

'अहो! पिताके दिये हुए राज्यको छोड़कर आज भरत फल-मूल खाते हुए पैदल ही श्रीरामको मनाने जा रहे हैं, इनके समान भाग्यवान् दूसरा कौन होगा? भरतजीके भाईपन, भक्ति और आचरणोंका गुण गाने और सुननेसे दुःख और पाप नाश हो जाते हैं।'

भरतका ऐसा प्रभाव पड़ना ही चाहिये था।

भरतजीसहित सबको शुभ शकुन होने लगे, जिससे प्रेम और भी बढ़ा, प्रेमकी विह्वलतासे पैर उलटे-सीधे पड़ रहे हैं, इतनेमें रामसखा निषादराजने शैलशिरोमणि चित्रकूटको दूरसे दिखलाया। अहा! इसी पुण्यवान् पर्वतपर मेरे स्वामी रघुनाथजी रहते हैं, यह सोचकर भरतजी प्रणाम करने लगे और सियावररामचन्द्रजीकी जय-ध्वनि करने लगे। उस समय भरतको जैसा प्रेम था, उसका वर्णन शेषजी भी नहीं कर सकते। कविके लिये तो यह उतना ही कठिन है जितना अहंता-ममतावाले मलिन मनुष्यके लिये ब्रह्मानन्द!

भरत प्रेमु तेहि समय जस तस कहि सकइ न सेषु।
कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुखु अह मम मलिन जनेषु॥

भरतजीने सारे समुदायसहित मन्दाकिनीमें स्नान किया और सब लोगोंको वहीं छोड़कर वे केवल शत्रुघ्न और गुहको साथ लेकर आगे चले। यहाँपर भरतजीके मनकी दशाका चित्रण श्रीगोस्वामीजीने बहुत ही सुन्दर किया है—

समुझि मातु करतब सकुचाहीं।
करत कुतरक कोटि मन माहीं॥
रामु लखनु सिय सुनि मम नाऊँ।
उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ॥
मातु मते महुँ मानि मोहि जो कछु करहिं सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहिं समुझि आपनी ओर॥
जौं परिहरहिं मलिन मनु जानी। जौं सनमानहिं सेवकु मानी॥
मोरें सरन रामकी पनही। राम सुस्वामि दोसु सब जनही॥

धन्य भरतजी! जानते हैं कि मैं निर्दोष हूँ, परन्तु जब अयोध्याके दूत, सब नगर-निवासी, माता कौसल्या, निषाद और त्रिकालदर्शी भरद्वाजजीतकने एक-एक बार सन्देह किया तो यहाँ भी लक्ष्मण-सीता मुझपर सन्देह न करेंगे या श्रीराम ही मुझे मन-मलिन समझकर न त्याग देंगे, इसका क्या भरोसा है? यह कौन मान सकता है कि माताके मतके साथ मेरा मत नहीं था। जो कुछ हो, राम चाहे त्याग दें परन्तु मैं तो उन्हींकी जूतियोंकी शरण पड़ा रहूँगा। माताके नाते मैं तो दोषी हूँ ही। पर श्रीराम सुस्वामी हैं, वे अवश्य कृपा करेंगे।

फिर जब माताकी करतूत याद आ जाती है तो पैर पीछे पड़ने लग जाते हैं, अपनी भक्तिकी ओर देखकर कुछ आगे बढ़ते हैं और जब श्रीरघुनाथजीके स्वभावकी ओर वृत्ति जाती है तो मार्गमें जल्दी-जल्दी पाँव पड़ते हैं। इस समय भरतजीकी दशा वैसी ही है जैसे जलके प्रवाहमें भँवरकी होती है, जो कभी पीछे हटता है, कभी चक्कर खाता है और कभी फिर आगे बढ़ने लगता है। भरतके इस प्रेमको देखकर निषादराज भी तन-मनकी सुधि भूल गया।

फेरति मनहुँ मातु कृत खोरी। चलत भगति बल धीरज धोरी॥
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥
भरत दसा तेहि अवसर कैसी। जल प्रबाहँ जल अलि गति जैसी॥
देखि भरत कर सोचु सनेहू। भा निषाद तेहि समयँ बिदेहू॥

भरत-शत्रुघ्न प्रेममें विह्वल हुए चले जा रहे हैं—

स तत्र वज्राङ्कुशवारिजांचितध्वजादिचिह्नानि पदानि सर्वतः।
ददर्श रामस्य भुवोऽतिमंगलान्यचेष्टयत्पादरजःसु सानुजः॥
अहो सुधन्योऽहममूनि रामपादारविन्दाङ्कितभूतलानि।
पश्यामि यत्पादरजो विमृग्यं ब्रह्मादिदेवैः श्रुतिभिश्च नित्यम्॥

(अध्यात्मरा० २। ९। २-३)

'जहाँ श्रीरामके वज्र, अंकुश, ध्वजा और कमल आदि चिह्नोंसे अंकित शुभ चरण-चिह्न देखते हैं वहीं दोनों भाई उस चरण-रजमें लोटने लगते हैं और कहते हैं कि अहो! हम धन्य हैं जो श्रीरामके उन चरणोंसे चिह्नित भूमिका दर्शन कर रहे हैं, जिन चरणोंकी रज ब्रह्मादि देवता और वेद सदा खोजते रहते हैं।'

भरतकी इस अवस्थाको देखकर पशु, पक्षी और वृक्ष भी मुग्ध हो गये। पशु-पक्षी जड-पाषाणकी भाँति एकटकी लगाकर भरतकी ओर देखने लगे और वृक्षादि द्रवित होकर हिलने-डोलने लगे—

होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर चर अचर करत को॥

भरत-शत्रुघ्नकी यह दशा देख निषादराज प्रेममें तन्मय होकर रास्ता भूल गया। दो पागलोंमें तीसरा भी पागल

होनेसे कैसे बचता? तीनों ही मतवाले हो गये। देवताओंने फूल बरसाकर निषादको सावधान करते हुए रास्ता बताया। बलिहारी प्रेमकी!

× × × ×

इधर लक्ष्मणजीको सन्देह हुआ, उन्होंने समझा कि भरत बुरी नीयतसे आ रहे हैं, अतः वे नीतिको भूलकर कहने लगे, आज मैं उन्हें भलीभाँति शिक्षा दूँगा—

राम निरादर कर फलु पाई। सोवहुँ समर सेज दोउ भाई॥

श्रीरामने लक्ष्मणजीकी नीयतकी प्रशंसा कर उन्हें भरतका महत्त्व समझाया, लक्ष्मणजीका चित्त शान्त हो गया!

भरतका जीवन बड़ा ही मार्मिक है। सर्वदा साधु और निर्दोष होते हुए भी सबके सन्देहका शिकार बनना पड़ता है। भरतके सदृश सर्वथा राज्य-लिप्सा-शून्य धर्मात्मा त्यागी महापुरुषपर इस प्रकारके सन्देहका इतिहास जगत्‌में कहीं नहीं मिलता। इतनेपर भी भरत सब सहते हैं, ऊबकर आत्महत्या नहीं कर लेते। शान्ति, प्रेम और सहिष्णुतासे अपनी निर्दोषताका डंका बजाकर जगत्पूज्य बन जाते हैं।

कुछ ही समय बाद श्रीभरतजी वहाँ आ पहुँचे और दूरसे ही व्रतोपवासोंके कारण कृश हुए श्रीरामको तृणके आसनपर बैठे देखकर फूट-फूटकर रोते हुए यों कहने लगे—

यः संसदि प्रकृतिभिर्भवेद्युक्त उपासितुम्।
वन्यैर्मृगैरुपासीनः सोऽयमास्ते ममाग्रजः॥
वासोभिर्बहुसाहस्रैर्यो महात्मा पुरोचितः।
मृगाजिने सोऽयमिह प्रवस्ते धर्ममाचरन्॥
अधारयद्यो विविधाश्चित्राः सुमनसः सदा।
सोऽयं जटाभारमिमं सहते राघवः कथम्॥
यस्य यज्ञैर्यथादिष्टैर्युक्तो धर्मस्य संचयः।
शरीरक्लेशसम्भूतं स धर्मं परिमार्गते॥
चन्दनेन महार्हेण यस्यांगमुपसेवितम्।
मलेन तस्यांगमिदं कथमार्यस्य सेव्यते॥
मन्निमित्तमिदं दुःखं प्राप्तो रामः सुखोचितः।
धिग्जीवितं नृशंसस्य मम लोकविगर्हितम्॥

(वा० रा० २। ९९। ३१—३६)

'मेरे बड़े भाई राम, जो राजदरबारमें प्रजा और मन्त्रियोंद्वारा उपासित होनेयोग्य हैं, वे आज इन जंगली पशुओंसे उपासित हो रहे हैं। जो महात्मा अयोध्याजीमें उत्तमोत्तम बहुमूल्य वस्त्रोंको धारण करते थे, वे आज धर्माचरणके लिये इस निर्जन वनमें केवल मृगछाला धारण किये हुए हैं। जो श्रीरघुनाथजी एक दिन अपने मस्तकपर अनेक प्रकारकी सुगन्धित पुष्पमालाएँ धारण करते थे, आज वे इस जटाभारको कैसे सह रहे हैं? जो ऋत्विजोंद्वारा विधिपूर्वक यज्ञ कराते थे, वे आज शरीरको अत्यन्त क्लेश देते हुए धर्मका सेवन कर रहे हैं। जिनके शरीरपर सदा चन्दन लगाया जाता था, आज उनके शरीरपर मैल जमी हुई है। हाय! निरन्तर सुख भोगनेवाले इन मेरे बड़े भाई श्रीरामजीको आज मेरे लिये ही इतना असह्य कष्ट सहन करना पड़ रहा है, मुझ क्रूरके इस लोकनिन्दित जीवनको धिक्कार है।' यों विलाप करते और आँसुओंकी अजस्र धारा बहाते हुए भरतजी श्रीरामके समीप जा पहुँचे, परन्तु अत्यन्त दुःखके कारण उनके चरणोंतक नहीं पहुँच पाये। बीचहीमें 'हा आर्य!' पुकारकर दीनकी भाँति गिर पड़े। शोकसे गला रुक गया। वे कुछ बात नहीं कह सके।

श्रीरामने विवर्ण और दुर्बल भरतको बहुत ही कठिनतासे पहचाना और बड़े आदरके साथ जमीनसे उठाकर उनका सिर सूँघ गोदमें बैठाकर कहा—'भाई! तुम्हारा यह वेश क्यों? तुम राज्य त्यागकर वनमें कैसे आये?' इसपर भरतजीने पिताकी मृत्युका संवाद सुनाया और कहा कि—'मेरी माँ कैकेयी विधवा होकर निन्दाके घोर नरकमें पड़ी है।'

पिताका मरण-संवाद सुनते ही श्रीरामकी आँखोंमें आँसू भर आये। माताओं और गुरु वसिष्ठादि ब्राह्मणोंको प्रणामकर तथा सबसे मिलकर श्रीरामने मन्दाकिनीपर जाकर स्नान किया, तर्पणकर पिण्डदान दिये। उस दिन सबने उपवास किया। दूसरे दिन सब लोग एकत्र हुए, तब भरतजीने राज्याभिषेकके लिये श्रीरामसे प्रार्थना की और कहा कि—

एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचितो मया।
भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि॥

(वा० रा० २। १०१। १२)

'इन सब सचिवोंके साथ मैं सिरसे प्रणाम करके याचना करता हूँ, आप मुझ भाई, शिष्य और दासके ऊपर कृपा करनेके योग्य हैं।'

राज्यं पालय पित्र्यं ते ज्येष्ठस्त्वं मे पिता तथा।
क्षत्रियाणामयं धर्मो यत्प्रजापरिपालनम्॥
इष्ट्वा यज्ञैर्बहुविधैः पुत्रानुत्पाद्य तन्तवे।
राज्ये पुत्रं समारोप्य गमिष्यसि ततो वनम्॥
इदानीं वनवासस्य कालो नैव प्रसीद मे।
मातुर्मे दुष्कृतं किंचित् स्मर्तुं नार्हसि पाहि नः॥

(अध्यात्मरा० २। ९। २३—२५)

'क्योंकि आप सबमें बड़े हैं, मेरे पिताजीके समान हैं, अतः आप राज्यका पालन कीजिये। प्रजा-पालन ही क्षत्रियोंका धर्म है। अनेक प्रकार यज्ञ करके एवं कुल-

वृद्धिके लिये पुत्र उत्पन्न करके पुत्रको राज्यसिंहासनपर बैठानेके बाद आप वनमें पधारियेगा, यह वनवासका समय नहीं है। मुझपर कृपा कीजिये, मेरी मातासे जो कुकर्म बन गया है, उसे भूलकर मेरी रक्षा कीजिये।'

इतना कहकर भरतजी दण्डकी तरह श्रीरामके चरणोंमें गिर पड़े, श्रीरामने स्नेहसे उठाकर गोदमें बैठाया और आँखोंमें आँसू भरकर धीरेसे श्रीभरतजीसे बोले—'भाई! पिताजीने तुम्हें राज्य दिया है और मुझे वन भेजा है—

अतः पितुर्वचः कार्यमावाभ्यामतियत्नतः।
पितुर्वचनमुल्लङ्घ्य स्वतन्त्रो यस्तु वर्तते॥
स जीवन्नेव मृतको देहान्ते निरयं व्रजेत्।

(अध्यात्मरा० २। ९। ३१-३२)

'अतएव हम दोनोंको यत्नपूर्वक पिताके वचनानुसार कार्य करना चाहिये। जो पिताके वचनोंकी अवहेलना कर स्वतन्त्रतासे बर्तता है, वह जीता ही मरेके समान है और मृत्युके बाद नरकगामी होता है। इसलिये तुम अयोध्याका राज्य करो।' भरतने कहा—'पिताजी कामुकतासे स्त्रीके वश हो रहे थे, उनका चित्त स्थिर नहीं था, वे उन्मत्त-से थे, उन्मत्त पिताके वचनोंको सत्य नहीं मानना चाहिये।' इसपर श्रीरामजीने कहा—'प्रिय भाई! ऐसी बात मुखसे नहीं कहनी चाहिये, पिताजी न तो स्त्रीके वशमें थे, न कामुक थे और न मूर्ख थे, वे बड़े ही सत्यवादी थे और अपने पहलेके वचनोंको सत्य करनेके लिये ही उन्होंने ऐसा किया। हम रघुवंशी उनके वचनोंको कैसे असत्य कर सकते हैं? भरतजीने कहा—'यदि ऐसा ही है तो मैं भी आपके साथ वनमें रहकर लक्ष्मणकी भाँति आपकी सेवा करूँगा, यदि आप मेरी इस बातको भी स्वीकार न करेंगे तो मैं अनशनव्रत लेकर शरीर-त्याग कर दूँगा।' श्रीरामने उनको उलाहना देकर समझाया, परन्तु जब किसी प्रकार भी भरत नहीं माने तब श्रीरामने वसिष्ठजीको इशारा किया।

एकान्ते भरतं प्राह वसिष्ठो ज्ञानिनां वरः।
वत्स गुह्यं शृणुष्वेदं मम वाक्यात्सुनिश्चितम्॥
रामो नारायणः साक्षाद् ब्रह्मणा याचितः पुरा।
रावणस्य वधार्थाय जातो दशरथात्मजः॥
योगमायापि सीतेति जाता जनकनन्दिनी।
शेषोऽपि लक्ष्मणो जातो राममन्वेति सर्वदा॥
रावणं हन्तुकामास्ते गमिष्यन्ति न संशयः।
तस्मात्त्यजाग्रहं तात रामस्य विनिवर्तने॥

(अध्यात्मरा० २। ९। ४२—४६)

'श्रीरामका इशारा पाकर गुरु वसिष्ठजीने भरतको एकान्तमें ले जाकर कहा—बेटा! मैं तुमसे एक निश्चित गुप्त बात बतलाता हूँ। श्रीराम साक्षात् नारायण हैं, पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इनसे रावणवधार्थ प्रार्थना की थी, तदनुसार ये दशरथजीके यहाँ अवतीर्ण हुए हैं, जनकनन्दिनी सीताजी योगमाया हैं और लक्ष्मणजी शेषजीके अवतार हैं, जो सदा रामजीके पीछे-पीछे उनकी सेवामें लगे रहते हैं। श्रीराम रावणको मारनेके लिये वनमें अवश्य जायँगे, इसलिये तुम इन्हें लौटा ले जानेका हठ छोड़ दो।'

श्रीरामका अपने प्रति असाधारण प्रेम, अपने सेवाधर्म और गुरुके इन गुह्य वचनोंपर खयालकर भरतजी वापस अयोध्या लौटनेको तैयार हो गये और श्रीरामकी चरणपादुकाओंको प्रणाम करके बोले कि—

चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम्॥
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन।
तवागमनमाकाङ्क्षन्वसन्वै नगराद्बहिः॥
तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परन्तप।
चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम॥
न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्।
तथेति च प्रतिज्ञाय तं परिष्वज्य सादरम्॥

(वा० रा० २। ११२। २३—२६)

'हे आर्य रघुनन्दन! मैं जटा-वल्कल धारण करूँगा, फल-मूल खाऊँगा, सारे राज-काजका भार आपकी चरण-पादुकाओंको सौंपकर आपकी राह देखता हुआ चौदह सालतक नगरके बाहर निवास करूँगा। हे परन्तप! चौदह वर्षके पूर्ण होनेपर पंद्रहवें वर्षके पहले दिन यदि आपके दर्शन न होंगे तो अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा।'

श्रीरामने भरतकी दृढ़ प्रतिज्ञा सुनकर अत्यन्त प्रेमसे उन्हें हृदयसे लगा लिया और ठीक अवधिपर अयोध्या लौटनेका वचन दिया। धर्मज्ञ भरतजीने श्रीरामजीके प्रति प्रणाम-प्रदक्षिणा करके स्वर्णजड़ित पादुकाओंको पहले मस्तकपर धारण किया और तदनन्तर उन्हें हाथीपर रखवाया। वनसे अयोध्या लौटकर नगरसे बाहर नन्दिग्राममें पहुँचकर कहा—

एतद्राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं संन्यासमुत्तमम्।
योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते॥
छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ।
आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम॥
भ्रात्रा तु मयि संन्यासो निक्षिप्तः सौहृदादयम्।
तमिमं पालयिष्यामि राघवागमनं प्रति॥
क्षिप्रं संयोजयित्वा तु राघवस्य पुनः स्वयम्।
चरणौ तौ तु रामस्य द्रक्ष्यामि सहपादुकौ॥
ततो निक्षिप्तभारोऽहं राघवेण समागतः।

निवेद्य गुरवे राज्यं भजिष्ये गुरुवर्तिताम्॥
राघवाय च संन्यासं दत्त्वेमे वरपादुके।
राज्यं चेदमयोध्यां च धूतपापो भवाम्यहम्॥
(वा० रा० २। ११५। १४, १६—२०)

'अहो! मेरे पूज्य भाईने यह राज्य मुझे धरोहररूप सौंपा है और इसके योगक्षेमके लिये ये स्वर्णपादुकाएँ दी हैं। ये पादुकाएँ भगवान्‌की प्रतिनिधि हैं, अतः इनपर छत्र धारण करो, मेरे गुरु श्रीरामकी इन्हीं पादुकाओंसे धर्मराज्यकी स्थापना होगी। मेरे भाईने प्रेमके कारण मुझे यह राज्यरूप धरोहर दी है, जबतक वे लौटकर नहीं आवेंगे तबतक मैं इनकी रक्षा और सेवा करूँगा। मेरे ज्येष्ठ बन्धु श्रीरघुनाथजी जब सकुशल यहाँ पधारेंगे तब इन दोनों पादुकाओंको उनके चरणोंमें पहनाकर आनन्दसे दर्शन करूँगा। पादुकाओंके साथ ही यह धरोहररूप राज्य उन्हें सौंपकर राज्यभारसे छूटकर मैं निरन्तर उनकी आज्ञामें रहता हुआ उनका भजन करूँगा। इस प्रकार दोनों पादुकाएँ, राज्य और अयोध्या उन्हें पुनः सौंपकर मैं कलंक-मुक्त हो जाऊँगा।'

तदनन्तर पादुकाओंका अभिषेक किया गया, भरतजीने स्वयं छत्र-चामर धारण किये। भरतजी राज्यका समस्त शासन-सम्बन्धी कार्य पादुकाओंसे पूछकर करते थे। जो कुछ भी कार्य होता था या भेंट आती थी सो सबसे पहले पादुकाओंको निवेदन करते, पुनः उसका यथोचित प्रबन्ध करते और वह भी पादुकाओंको सुना देते थे। इस प्रकार पादुकाओंके अधीन होकर भरतजी नन्दिग्राममें नियमपूर्वक रहने लगे। उनकी 'रहनी-करनी' के सम्बन्धमें गोसाईंजी लिखते हैं—

जटाजूट सिर मुनिपट धारी।
महि खनि कुस साँथरी सँवारी॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा।
करत कठिन रिषि धरम सप्रेमा॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी।
मन तन बचन तजे तिन तूरी॥
अवध राजु सुर राजु सिहाई।
दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई॥
तेहिं पुर बसत भरत बिनु रागा।
चंचरीक जिमि चंपक बागा॥
रमा बिलासु राम अनुरागी।
तजत बमन जिमि जन बड़ भागी॥

× × ×

देह दिनहुँ दिन दूबरि होई।
घटइ तेजु बलु मुख छबि सोई॥
नित नव राम प्रेम पनु पीना।
बढ़त धरम दलु मनु न मलीना॥
जिमि जलु निघटत सरद प्रकासे।
बिलसत बेतस बनज बिकासे॥
सम दम संजम नियम उपासा।
नखत भरत हिय बिमल अकासा॥
ध्रुव बिस्वासु अवधि राका सी।
स्वामि सुरति सुरबीथि बिकासी॥
राम पेम बिधु अचल अदोषा।
सहित समाज सोह नित चोखा॥
भरत रहनि समुझनि करतूती।
भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं।
सेस गनेस गिरा गमु नाहीं॥
नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति॥
पुलक गात हिय सिय रघुबीरू।
जीह नामु जप लोचन नीरू॥
लखन राम सिय कानन बसहीं।
भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं॥

भरतजीकी इस वैराग्य-त्यागमयी मंजुल मूर्तिका ध्यान और उनके आचरणोंका अनुकरण कर कृतार्थ हो जाइये!

इस प्रसंगसे हमलोगोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि छोटे भाईको बड़े भाईके साथ कैसा त्याग और विनयपूर्ण बर्ताव करना चाहिये।

× × ×

रावण-वधके अनन्तर श्रीराम सीता, लक्ष्मण, मित्रों और सेवकोंसहित पुष्पक-विमानपर सवार होकर अयोध्या जा रहे हैं। उधर भरतजी महाराज अवधिके दिन गिन रहे हैं। एक दिन शेष रहा है, भरतजीकी चिन्ताका पार नहीं है। वे सोचते हैं—

कारन कवन नाथ नहिं आयउ।
जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी।
राम पदारबिंदु अनुरागी॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा।
ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी।
नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।
दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई।
मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥
बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना।
अधम कवन जग मोहि समाना॥

'श्रीरघुनाथजी क्यों नहीं आये? क्या मुझे कुटिल समझकर भुला दिया? अहो! धन्य है बड़भागी भैया लक्ष्मणको, जिसका रामके चरण-कमलोंमें इतना अनुराग है। मुझे तो कपटी और कुटिल जानकर ही नाथने वनमें साथ नहीं रखा था (असलमें कैकेयी-पुत्रके लिये यह ठीक ही है)। मेरी करनी सोचनेसे तो सौ करोड़ कल्पोंतक भी उद्धार नहीं हो सकता। परन्तु भगवान्‌का स्वभाव बड़ा ही कोमल है, वे अपने जनोंका अवगुण नहीं देखते। मेरे मनमें भगवान्‌के इस विरदका दृढ़ भरोसा है, सगुन भी शुभ हो रहे हैं, इससे निश्चय होता है भगवान् कृपापूर्वक अवश्य दर्शन देंगे। परन्तु यदि अवधि बीतनेपर भी ये अधम प्राण रहेंगे तो मेरे समान जगत्‌में दूसरा नीच और कौन होगा?'

भरतकी इस व्याकुल दशाको जानकर उधर '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (गीता ४। ११)की प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् भी व्याकुल हो गये, उन्होंने सन्देश देनेके लिये हनुमान्‌जीको भेज दिया। रामविरहके अथाह समुद्रमें भरतजीका मन डूब रहा था, इतनेहीमें ब्राह्मणका स्वरूप धारणकर श्रीहनुमान्‌जी मानो उद्धार करनेके लिये जहाजरूप होकर आ गये। हनुमान्‌जी रामगतप्राण, रामपरायण भरतजीकी स्थिति देखकर मुग्ध हो गये, उनके रोमांच हो आया और आँखोंसे आँसू बहने लगे। भरतकी कैसी स्थिति थी?

बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्त्रवत नयन जल जात॥

हनुमान्‌ने भरतकी आँसू बहाती हुई नाम-जप-परायण ध्यानस्थ मूर्तिको देखकर परम सुखसे भरकर कानोंमें अमृत बरसानेवाली वाणीसे कहा—

जासु बिरहँ सोचहु दिनु राती।
रटहु निरंतर गुन गन पाँती॥
रघुकुल तिलक सुजन सुखदाता।
आयउ कुसल देव मुनि त्राता॥
रिपु रन जीति सुजस सुर गावत।
सीता सहित अनुज प्रभु आवत॥

यह वचन सुनते ही भरतजीके सारे दुःख मिट गये। प्यासेको अमृत मिल गया। प्राणहीनमें प्राण आ गये। भरतजी हर्षोन्मत्त होकर पूछने लगे—

को तुम्ह तात कहाँ ते आए।
मोहि परम प्रिय बचन सुनाए॥

हनुमान्‌जीने कहा कि—

मारुत सुत मैं कपि हनुमाना।
नामु मोर सुनु कृपानिधाना॥
दीनबंधु रघुपति कर किंकर। × × ×

भरतजीने उठकर हनुमान्‌जीको हृदयसे लगा लिया—

सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर॥

प्रेम हृदयमें नहीं समाता है, नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बह रही है, शरीर पुलकित हो रहा है। भरतजी कहते हैं—

कपि तव दरस सकल दुख बीते।
मिले आजु मोहि राम पिरीते॥
बार बार बूझी कुसलाता।
तो कहुँ देउँ काह सुनु भ्राता॥
एहि संदेस सरिस जग माहीं।
करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही।
अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥

हनुमान्‌जीने चरण-वन्दन कर सारी कथा संक्षेपमें सुना दी। तदनन्तर भरतजीने फिर पूछा—

कहु कपि कबहुँ कृपाल गोसाईं।
सुमिरहिं मोहि दास की नाईं॥
निज दास ज्यों रघुबंसभूषन कबहुँ मम सुमिरन कर्‌यो।
सुनि भरत बचन बिनीत अति कपि पुलकि तन चरनन्हि पर्‌यो॥
रघुबीर निज मुख जासु गुन गन कहत अग जग नाथ जो।
काहे न होइ बिनीत परम पुनीत सदगुन सिंधु सो॥

श्रीहनुमान्‌जीने गद्‌गद होकर कहा—

राम प्रान प्रिय नाथ तुम्ह सत्य बचन मम तात।
पुनि पुनि मिलत भरत सुनि हरष न हृदयँ समात॥

भरत और हनुमान् बार-बार गले लगकर मिलते हैं। हर्षका पार नहीं है। हनुमान्‌जी वापस लौट गये, इधर सारे रनिवास और नगरमें खबर भेजी गयी। सभी ओर हर्ष छा गया। सारा नगर सजाया गया!

भगवान्‌का विमान अयोध्यामें पहुँचा। भरतजी, शत्रुघ्नजी अगवानीके लिये सब मन्त्रियों और पुरवासियोंसहित सामने गये। विमान जमीनपर उतरा, भरतजी विमानमें जाकर श्रीरामके चरणोंमें लोट गये और आनन्दाश्रुओंसे उनके चरणोंको धोने लगे। श्रीरघुनाथजीने उन्हें उठाकर छातीसे लगा लिया। तदनन्तर भरतजी भाई लक्ष्मणजीसे मिले और उन्होंने माता सीताको प्रणाम किया। श्रीरामने भरतको गोदमें

बैठाकर विमानको भरतके आश्रमकी ओर जानेकी आज्ञा दी। तदनन्तर नगरमें आकर सबसे मिले। श्रीरामने भरतकी जटा अपने हाथोंसे सुलझायी। फिर तीनों भाइयोंको नहलाया। इसके बाद स्वयं जटा सुलझाकर स्नान किया।

तदनन्तर भगवान् राजसिंहासनपर बैठे। तीनों भाई सेवामें लगे। समय-समयपर भरतजी अनेक सुन्दर प्रश्न करके रामसे विविध उपदेश प्राप्त करने लगे और अन्तमें श्रीरामके साथ ही परमधाम पधारे।

श्रीभरतजीका चरित्र विलक्षण और परम आदर्श है। उनका रामप्रेम अतुलनीय है, इसीसे कहा गया है कि—

भरत सरिस को राम सनेही।
जगु जप राम रामु जप जेही॥

वास्तवमें भरतजीका भ्रातृ-प्रेम जगत्के इतिहासमें एक ही है। इनका राज्य-त्याग, संयम, व्रत, नियम आदि सभी सराहनीय और अनुकरणीय है। इनके चरित्रसे स्वार्थ-त्याग, विनय, सहिष्णुता, गम्भीरता, सरलता, क्षमा, विराग और प्रधानतः भ्रातृभक्तिकी बड़ी ही अनुपम शिक्षा लेनी चाहिये।

श्रीलक्ष्मणका भ्रातृ-प्रेम

अहह धन्य लछिमन बड़भागी।
राम पदारबिंदु अनुरागी॥

राम-मेघके चातक लक्ष्मणजीकी महिमा अपार है। लक्ष्मणजीका अवतार श्रीरामके चरणोंमें रहकर उनकी सेवा करनेके लिये ही हुआ था। इसीसे आज रामकी श्याम मूर्तिके साथ लक्ष्मणकी गौर मूर्ति भी स्थापित होती है और रामके साथ लक्ष्मणका नाम लिया जाता है। राम-भरत या राम-शत्रुघ्न कोई नहीं कहता, परन्तु राम-लक्ष्मण सभी कहते हैं। श्रीलक्ष्मणजी धीर, वीर, तेजस्वी, ब्रह्मचर्यव्रती, इन्द्रियविजयी, पराक्रमी, सरल, सुन्दर, तितिक्षा-सम्पन्न, निर्भय, निष्कपट, त्यागी, बुद्धिमान्, पुरुषार्थी, तपस्वी, सेवाधर्मी, नीतिके जाननेवाले, सत्यव्रती और रामगतप्राण थे। उनका सबसे मुख्य धर्म श्रीरामके चरणोंमें रहकर उनका अनुसरण करना था। वे श्रीरामसेवामें अपने-आपको भूल जाते थे। भरतजीका विनय और मधुरतायुक्त गम्भीर प्रेम जैसे अनोखा है, वैसे ही श्रीलक्ष्मणजीका वीरतायुक्त सेवामूलक अनन्य प्रेम भी परम आदर्श है।

लड़कपनमें साथ खेलने-खानेके उपरान्त पंद्रह वर्षकी उम्रमें ही लक्ष्मणजी अपने बड़े भाई श्रीरामजीके साथ विश्वामित्रके यज्ञरक्षार्थ चले जाते हैं। वहाँ सब प्रकारसे भाईकी सेवामें नियुक्त रहते हैं। इनकी सेवाके दिग्दर्शनमें जनकपुरका वह दृश्य देखना चाहिये, जहाँ रातके समय विश्वामित्रजीके साथ श्रीराम-लक्ष्मण महाराजा जनकके अतिथिरूपमें डेरेपर ठहरे हैं। गोसाईंजी उनके बर्तावका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

सभय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ।
गुर पद पंकज नाइ सिर बैठे आयसु पाइ॥
निसि प्रबेस मुनि आयसु दीन्हा।
सबहीं संध्याबंदनु कीन्हा॥
कहत कथा इतिहास पुरानी।
रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी॥
मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई।
लगे चरन चापन दोउ भाई॥
जिन्ह के चरन सरोरुह लागी।
करत बिबिध जप जोग बिरागी॥
तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते।
गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥
बार बार मुनि अग्या दीन्ही।
रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही॥
चापत चरन लखनु उर लाएँ।
सभय सप्रेम परम सचु पाएँ॥
पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता।
पौढ़े धरि उर पद जलजाता॥
उठे लखनु निसि बिगत सुनि अरुनसिखा धुनि कान।
गुर तें पहिलेहि जगतपति जागे रामु सुजान॥

अहा, क्या ही सुन्दर आदर्श दृश्य है! श्रीराम-लक्ष्मण नगर देखने गये थे, वहाँ नगरवासी नर-नारी और समवयस्क तथा छोटे बालकोंके प्रेममें रम गये, परन्तु अबेर होते देख गुरु विश्वामित्रजीका डर लगा। अतएव बालकोंको समझा-बुझाकर वह मिथिला-मोहिनी जुगल-जोड़ी डेरेपर लौट आयी। आकर भय, प्रेम, विनय और संकोचके साथ गुरु-चरणोंमें प्रणाम कर दोनों भाई चुपचाप खड़े रहे, जब गुरुजीने आज्ञा दी तब बैठे, फिर गुरुकी आज्ञासे ठीक समयपर सन्ध्या-वन्दन किया। तदनन्तर कथा-पुराण होते-होते दो पहर रात बीत गयी। तब मुनि विश्वामित्रजी सोये। अब दोनों भाई उनके चरण दबाने लगे। मुनि बार-बार रोकते और सोनेके लिये कहते हैं पर चरण दबानेके लाभको वे छोड़ना नहीं चाहते, बहुत कहने-सुननेपर श्रीराम भी लेट गये, अब लक्ष्मणजी उनके चरणोंको हृदयपर रखकर भय-प्रेमसहित चुपचाप दबाने लगे। ऐसे चुपचाप प्रेमसे दबाने लगे कि महाराजको नींद आ जाय। श्रीरामने बार-बार कहा, तब लक्ष्मणजी श्रीरामके चरणकमलोंका हृदयमें ध्यान करते हुए सोये।

प्रातःकाल मुर्गेकी ध्वनि सुनते ही सबसे पहले लक्ष्मणजी उठे, उनके बाद श्रीरामजी और तदनन्तर गुरु विश्वामित्रजी। इस आदर्श रात्रिचर्यासे ही दिनचर्याका भी अनुमान कर लीजिये। आज ऐसा दृश्य सपनेकी-सी बात हो रही है। इससे अनुमान हो सकता है कि श्रीलक्ष्मणजी रामकी किस प्रकार सेवा करते थे।

× × ×

श्रीलक्ष्मणजीकी भ्रातृभक्ति अतुलनीय है। वे सब कुछ सह सकते थे, परन्तु श्रीरामका अपमान, तिरस्कार और दुःख उनके लिये असह्य था। अपने लिये—अपने सुखोंके लिये उन्होंने कभी किसीपर क्रोध नहीं किया। अपने जीवनको तो सर्वथा त्यागमय और रामकी कठिन सेवामें ही लगाये रखा, परन्तु रामका तनिक-सा तिरस्कार भी उनको तलमला देता और वे भयानक कालनागकी भाँति फुंकार मार उठते। फिर उनके सामने कोई भी क्यों न हो, वे किसीकी भी परवा नहीं करते।

जनकपुरके स्वयंवरमें जब शिव-धनुषको तोड़नेमें कोई भी समर्थ नहीं हुआ, तब जनकजीको बड़ा क्लेश हुआ, उन्होंने दुःखभरे शब्दोंमें कहा—

अब जनि कोउ माखै भट मानी।
बीर बिहीन मही मैं जानी॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू।
लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥
जौं जनतेउँ बिनु भट भुबि भाई।
तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई॥

जनकजीकी इस वाणीको सुनकर सीताकी ओर देखकर लोग दुःखी हो गये, परन्तु लक्ष्मणजीके मनकी कुछ दूसरी ही अवस्था है। जब जनकके मुँहसे 'अब कोई वीरताका अभिमान न करे' ये शब्द निकले, तभी वे अकुला उठे, उन्होंने सोचा कि श्रीरामकी उपस्थितिमें जनक यह क्या कह रहे हैं, परन्तु रामकी आज्ञा नहीं थी, चुप रहे, लेकिन जब जनकजीने बार-बार धरणीको वीरविहीन बतलाया तब लक्ष्मणजीकी भौंहें टेढ़ी और आँखें लाल हो गयीं, उनके होठ काँपने लगे, आखिर उनसे नहीं रहा गया, उन्होंने श्रीरामके चरणोंमें सिर नवाकर कहा—

रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई।
तेहिं समाज अस कहइ न कोई॥
कही जनक जसि अनुचित बानी।
बिद्यमान रघुकुल मनि जानी॥

जहाँ रघुवंशमणि श्रीरामजी बैठे हों वहाँ ऐसी अनुचित वाणी कौन कह सकता है? लक्ष्मण कहते हैं कि 'हे श्रीराम! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं स्वभावसे ही इस ब्रह्माण्डको गेंदकी तरह हाथमें उठा लूँ और—

काचे घट जिमि डारौं फोरी।
सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी॥

फिर आपके प्रतापसे इस बेचारे पुराने धनुषकी तो बात ही कौन-सी है, आज्ञा मिले तो दिखाऊँ खेल—

कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं।
जोजन सत प्रमान लै धावौं॥
तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जौं न करौं प्रभु पद सपथ कर न धरौं धनु भाथ॥

लक्ष्मणजीके इन वचनोंसे पृथ्वी काँप उठी, सारा राज-समाज डर गया, सीताजीका सकुचाया हुआ हृदय-कमल खिल उठा, जनकजी सकुचा गये, विश्वामित्रसहित सब मुनिगणों और श्रीरघुवीरजीको हर्षके मारे बारम्बार रोमांच होने लगा। लक्ष्मणजीने अपनी सेवा बजा दी, रामका महत्त्व लोगोंपर प्रकट हो गया। वीररसकी जीती-जागती मूर्ति देखकर लोग विमुग्ध हो गये। परन्तु इस वीररसके महान् चित्रपटको श्रीरामने एक ही सैनसे पलट दिया—

सयनहिं रघुपति लखनु निवारे।
प्रेम समेत निकट बैठारे॥

तदनन्तर शिवजीका धनुष गुरुकी आज्ञासे श्रीरामने भंग कर दिया। परशुरामजी आये और कुपित होकर धनुष तोड़नेवालेका नाम-धाम पूछने लगे। श्रीरामने प्रकारान्तरसे धनुष तोड़ना स्वीकार किया।

नाथ संभुधनु भंजनिहारा।
होइहि केउ एक दास तुम्हारा॥

यहाँ परशुराम-लक्ष्मणका संवाद बड़ा ही रोचक है। लक्ष्मणने व्यंग-भावसे श्रीरामकी महिमा सुनायी है और श्रीरामने भाई लक्ष्मणकी उक्तियोंका प्रकारान्तरसे समर्थन किया। मानो दोनों भाई अन्दरसे मिले हुए ऊपरसे दो प्रकारका बर्ताव करते हुए एक-दूसरेका पक्ष समर्थन कर रहे हैं। आखिर श्रीरामके मृदु गूढ़ वचन सुनकर परशुरामजीकी आँखें खुलीं, तब उन्होंने कहा—

राम रमापति कर धनु लेहू।
खैंचहु मिटै मोर संदेहू॥

धनुष हाथमें लेते ही आप-से-आप चढ़ गया—

देत चापु आपुहिं चलि गयऊ।
परसुराम मन बिसमय भयऊ॥

भगवान्‌का प्रभाव समझ परशुरामजी गद्‌गद हो गये और उन्होंने श्रीराम-लक्ष्मणको प्रणाम कर अपना रास्ता लिया।

चारों भाइयोंका विवाह हुआ। सब अयोध्या लौटे। राजपरिवार सुखके समाजसे पूर्ण हो गया। माताएँ आनन्दमें भर उठीं।

× × ×

तदनन्तर श्रीभरत-शत्रुघ्न ननिहाल चले गये। परन्तु लक्ष्मणजी नहीं गये। उन्हें ननिहाल-ससुरालकी, नगर-अरण्यकी कुछ भी परवा नहीं, रामजी साथ चाहिये। रामके बिना लक्ष्मण नहीं रह सकते। छाया कायासे अलग हो तो लक्ष्मण रामसे अलग हों, लक्ष्मणके प्रेमका ऐसा प्रबल आकर्षण है कि श्रीराम उनके बिना अकेले न तो सो सकते हैं और न उत्तम भोजन ही कर सकते हैं—

न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः॥
मृष्टमन्नमुपानीतमश्नाति न हि तं विना।

(वा० रा० १। १८। ३०-३१)

रामराज्याभिषेककी तैयारी हुई, लक्ष्मणजीके आनन्दका पार नहीं है। श्रीरामको राजसिंहासनपर देखनेके लिये लक्ष्मण कितने अधिक लालायित थे, इसका पता राजसिंहासनके बदले वनवासकी आज्ञा होनेपर लक्ष्मणजीके भभके हुए क्रोधानलको देखनेसे ही लग जाता है। जो बात मनके जितनी अधिक प्रतिकूल होती है, उसपर उतना ही अधिक क्रोध आता है।

जब श्रीराम वनवास जाना स्वीकार करके कैकेयी और दशरथकी प्रणाम-प्रदक्षिणा कर माता कौसल्यासे आज्ञा लेनेके लिये महलसे बाहर निकले, तब लक्ष्मणजी भी क्रोधमें भरकर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे उनके पीछे-पीछे गये। वे हर हालतमें श्रीरामके साथ हैं।

दोनों भाई माता कौसल्याके पास पहुँचे। श्रीरामने सारी कथा सुनायी। माताके दुःखका पार नहीं रहा, माताने रामको रोकनेकी चेष्टा की, परन्तु श्रीराम न माने। श्रीरामका यह कार्य लक्ष्मणजीको नहीं रुचा, वे श्रीरामके पूर्ण अनुयायी थे, परन्तु श्रीरामको अपना हक छोड़ते देखकर उनसे नहीं रहा गया। लक्ष्मणजीके चरित्रमें यह एक विशेषता है, वे जो बात अपने मनमें जँचती है, सो बड़े जोरदार शब्दोंमें रामके सामने रखते हैं, उनकी उक्तियोंका खण्डन करते हैं, कभी विह्वल होकर विलाप नहीं करते। पुरुषत्व तो उनमें टपका पड़ता है, परन्तु जब श्रीरामका अन्तिम निर्णय जान लेते हैं तब अपना सारा पक्ष सर्वथा छोड़कर रामका सर्वतोभावसे अनुगमन करने लगते हैं। दशरथजी और कैकेयीके इस आचरणसे दुःखी हुई माता कौसल्याको विलाप करते देख भ्रातृ-प्रेमी लक्ष्मणजी मातासे कहने लगे—

अनुरक्तोऽस्मि भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः।
सत्येन धनुषा चैव दत्तेनेष्टेन ते शपे॥
दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति।
प्रविष्टं तत्र मां देवि त्वं पूर्वमवधारय॥
हरामि वीर्याद् दुःखं ते तमः सूर्य इवोदितः।
देवी पश्यतु मे वीर्यं राघवश्चैव पश्यतु॥

(वा० रा० २। २१। १६—१८)

'हे देवि! मैं सत्य, धनुष, दान, पुण्य और इष्टकी शपथ करके आपसे कहता हूँ कि मैं यथार्थ ही सब प्रकारसे अपने बड़े भाई श्रीरामका अनुयायी हूँ। यदि श्रीराम जलती हुई अग्निमें या घोर वनमें प्रवेश करें तो मुझे पहले ही उनमें प्रवेश हुआ समझो। हे माता! जैसे सूर्य उदय होकर सब प्रकारके अन्धकारको हर लेता है, उसी प्रकार मैं अपने पराक्रमसे आपके दुःखको दूर करूँगा। आप और श्रीरामचन्द्र मेरा पराक्रम देखें।' इन वचनोंमें भ्रातृ-प्रेम कितना छलकता है।

इसके अनन्तर वे श्रीरामसे हर तरहकी वीरोचित बातें कहने लगे—'हे आर्य! आप तुरन्त राज्यपर अधिकार कर लें। मैं धनुष-बाण हाथमें लिये आपकी सेवा और रक्षाके लिये सर्वदा तैयार हूँ। मैं जब कालरूप होकर आपकी सहायता करूँगा, तब किसकी शक्ति है जो कुछ भी विघ्न कर सके? अयोध्याभरमें एक कैकेयीको छोड़कर दूसरा कोई भी आपके विरुद्ध नहीं है, परन्तु यदि सारी अयोध्या भी हो जाय तो मैं अयोध्याभरको अपने तीक्ष्ण बाणोंसे मनुष्यहीन कर डालूँगा। भरतके मामा या उनके कोई भी हितैषी मित्र पक्ष लेंगे तो उनका भी वध कर डालूँगा। कैकेयीमें आसक्त पिताजी यदि कैकेयीके उभाड़नेसे हमारे शत्रु होंगे तो उनको कैद कर लूँगा या मार डालूँगा। इसमें मुझे पाप नहीं लगेगा। अन्याय करनेवालोंको शिक्षा देना धर्म है।'

त्वया चैव मया चैव कृत्वा वैरमनुत्तमम्।
काऽस्य शक्तिः श्रियं दातुं भरतायारिशासन॥

(वा० रा० २। २१। १५)

'हे शत्रुसूदन! आपसे और मुझसे दुस्तर वैर करके किसकी शक्ति है जो भरतको राज्य दे सके?'

श्रीरामने लक्ष्मणको सान्त्वना देते हुए कहा—

तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तमम्।
विक्रमं चैव सत्त्वं च तेजश्च सुदुरासदम्॥
धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्मसंश्रितमप्येतत् पितुर्वचनमुत्तमम्॥
सोऽहं न शक्ष्यामि पुनर्नियोगमतिवर्तितुम्।
पितुर्हि वचनाद्वीर कैकेय्याहं प्रचोदितः॥

तदेतां विसृजानार्यां क्षत्रधर्माश्रितां मतिम्।
धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम्॥

(वा० रा० २। २१। ३९, ४१, ४३-४४)

'लक्ष्मण! मैं जानता हूँ, तुम्हारा मुझमें बड़ा प्रेम है और यह भी जानता हूँ कि तुममें अपराजेय पराक्रम, तेज और सत्त्व है, परन्तु भाई! इस लोकमें धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है, धर्ममें ही सत्य भरा है। पिताके वचन धर्म और सत्यसे युक्त हैं। हमें उनका पालन करना चाहिये। हे वीर! सत्य और धर्मको श्रेष्ठ समझनेवाला मैं कैकेयीके द्वारा प्राप्त हुई पिताकी आज्ञाका उल्लंघन करनेमें समर्थ नहीं हूँ। तुम भी इस क्षात्रधर्मवाली उग्र वृत्तिको छोड़ दो और इस तीक्ष्णताका त्यागकर विशुद्ध धर्मका आश्रय ले मेरे विचारका अनुसरण करो।'

हे भाई! तुम क्रोध और दुःखको छोड़कर धैर्य धारण कर, अपमानको भूलकर हर्षित हो जाओ। पिताजी सत्यवादी और सत्यप्रतिज्ञ हैं, वे सत्यच्युतिके भयसे परलोकसे डर रहे हैं, मेरे द्वारा सत्यका पालन होनेसे वे निर्भय हो जायँगे। मेरा अभिषेक न रोका गया तो पिताजीका सत्य जायगा, जिससे उनको बड़ा दुःख होगा और उनका दुःखी होना मेरे लिये भी बड़े ही दुःखकी बात होगी। हे भाई! मेरे वनवासमें दैव ही प्रधान कारण है, नहीं तो जो कैकेयी माता मुझपर इतना अधिक स्नेह रखती थी वह मेरे लिये वनवासका वरदान क्यों माँगती? उसकी बुद्धि दैवने ही बिगाड़ी है। आजतक कौसल्या और कैकेयी आदि सभी माताओंने मेरे साथ एक-सा बर्ताव किया है। कैकेयी मुझे कभी कटु वचन नहीं कह सकती, यदि वह प्रबल दैवके वशमें न होती। अतएव तुम मेरी बात मानकर दुःखरहित हो अभिषेककी तैयारीको जल्दी-से-जल्दी हटवा दो।

श्रीरामके वचन सुनकर कुछ देर तो लक्ष्मणने सिर नीचा करके कुछ सोचा, परन्तु पुरुषार्थकी मूर्ति लक्ष्मणको रामकी यह दलील नहीं जँची, उनकी भौंहें चढ़ गयीं, सिरमें बल पड़ गया, वे क्रोधसे भरे साँपकी तरह साँस लेने लगे और पृथ्वीपर हाथ पटककर बोले—'आप ये भ्रमकी-सी बातें कैसे कह रहे हैं, आप तो महावीर हैं—

विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते।
वीराः सम्भावितात्मानो न दैवं पर्युपासते॥
दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम्।
न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति॥
द्रक्ष्यन्ति त्वद्य दैवस्य पौरुषं पुरुषस्य च।
दैवमानुषयोरद्य व्यक्ता व्यक्तिर्भविष्यति॥

(वा० रा० २। २३। १६—१८)

'दैव-दैव तो वही पुकारा करते हैं जो पौरुषहीन और कायर होते हैं। जिन शूरवीरोंके पराक्रमकी जगत्में प्रसिद्धि है, वे कभी ऐसा नहीं करते। जो पुरुष अपने पुरुषार्थसे दैवको दबा सकते हैं उनके कार्य दैववश असफल होनेपर भी उन्हें दुःख नहीं होता। हे रघुनन्दन! आज दैव और पुरुषार्थके पराक्रमको लोग देखेंगे, इनमें कौन बलवान् है, इस बातका आज पता लग जायगा।'

अतएव हे आर्य—

ब्रवीहि कोऽद्यैव मया वियुज्यतां
तवासुहृत्प्राणयशःसुहृज्जनैः।
यथा तवेयं वसुधा वशा भवेत्
तथैव मां शाधि तवास्मि किङ्करः॥

(वा० रा० २। २३। ४०)

'मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं आपके किस शत्रुको आज प्राण, यश और मित्रोंसे अलग करूँ (मार डालूँ)। प्रभो! मैं आपका किंकर हूँ, ऐसी आज्ञा दें जिससे इस सारी पृथ्वीपर आपका अधिकार हो जाय।' इतना कहकर लक्ष्मणजी राम-प्रेममें रोने लगे। भगवान् श्रीरामने अपने हाथोंसे उनके आँसू पोंछकर उन्हें बार-बार सान्त्वना देते हुए कहा कि—'भाई! तुम निश्चय समझो कि माता-पिताकी आज्ञा मानना ही पुत्रका उत्तमोत्तम धर्म है, इसीलिये मैं पिताकी आज्ञा माननेको तैयार हुआ हूँ। फिर इस राज्यमें रखा ही क्या है, यह तो स्वप्नकी दृश्यावलिके सदृश है—

यदिदं दृश्यते सर्वं राज्यं देहादिकं च यत्।
यदि सत्यं भवेत्तत्र आयासः सफलश्च ते॥
भोगा मेघवितानस्थविद्युल्लेखेव चंचलाः।
आयुरप्यग्निसन्तप्तलोहस्थजलबिन्दुवत्॥
क्रोधमूलो मनस्तापः क्रोधः संसारबन्धनम्।
धर्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात्क्रोधं परित्यज॥
तस्माच्छान्तिं भजस्वाद्य शत्रुरेवं भवेन्न ते।
देहेन्द्रियमनःप्राणबुद्ध्यादिभ्यो विलक्षणः॥
आत्मा शुद्धः स्वयंज्योतिरविकारी निराकृतिः।
यावद्देहेन्द्रियप्राणैर्भिन्नत्वं नात्मनो विदुः॥
तावत्संसारदुःखौघैः पीड्यन्ते मृत्युसंयुताः।
तस्मात्त्वं सर्वदा भिन्नमात्मानं हृदि भावय॥

(अध्यात्मरा० २। ४। १९-२०, ३६, ३८—४०)

'यदि यह सब राज्य और शरीरादि दृश्य पदार्थ सत्य होते तो उसमें तुम्हारा परिश्रम कुछ सफल भी हो सकता, परन्तु ये इन्द्रियोंके भोग तो बादलोंके समूहमें बिजलीकी चमकके समान चंचल हैं और यह आयु अग्निसे तपे हुए लोहेपर जलकी बूँदके समान क्षणविनाशी है। भाई! यह

क्रोध ही मानसिक सन्तापकी जड़ है, क्रोधसे ही संसारका बन्धन होता है, क्रोध धर्मका नाश कर डालता है, अतएव इस क्रोधको त्यागकर शान्तिका सेवन करो, फिर संसारमें तुम्हारा कोई शत्रु नहीं है। आत्मा तो देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि आदि सबसे विलक्षण ही है। वह आत्मा शुद्ध, स्वयंप्रकाश, निर्विकार और निराकार है। जबतक यह पुरुष आत्माको देह, इन्द्रिय, प्राण आदिसे अलग नहीं जानता, तबतक उसे संसारके जन्म-मृत्युजनित दुःख-समूहसे पीड़ित होना पड़ता है, अतएव हे लक्ष्मण! तुम अपने हृदयमें आत्माको सदा-सर्वदा इनसे पृथक् (इनका द्रष्टा) समझो!'

× × ×

श्रीराम वन जानेको तैयार हो गये, सीताजी भी साथ जाती हैं, अब लक्ष्मणजीका क्रोध तो शान्त है, परन्तु वे श्रीरामके साथ जानेके लिये व्याकुल हैं, दौड़कर श्रीरामके चरणोंमें लोट जाते हैं और रोते हुए कहते हैं—'हे रघुनन्दन! आपने मुझसे कहा था कि तू मेरे विचारका अनुसरण कर फिर आज आप मुझे छोड़कर क्यों जा रहे हैं—

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे।
ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना॥

(वा० रा० २। ३१। ५)

'हे भाई! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, मोक्ष या संसारका कोई ऐश्वर्य नहीं चाहता।' कहाँ तो लक्ष्मणकी वह तेजोमयी विकराल मूर्ति और कहाँ यह माताके सामने बच्चेकी-सी फरियाद! यही तो लक्ष्मणजीके भ्रातृ-प्रेमकी विशेषता है। श्रीरामजी भाई लक्ष्मणके इस व्यवहारसे मुग्ध हो गये और उन्हें छातीसे लगाकर बोले—

स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे स्थितः।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विजेयश्च सखा च मे॥

(वा० रा० २। ३१। १०)

'भाई! तुम मेरे स्नेही हो, धर्मपरायण, धीर, सदा सन्मार्गमें स्थित हो, मुझे प्राणोंके समान प्रिय हो, मेरे वशवर्ती हो, मेरे आज्ञाकारी हो और मेरे मित्र हो!' इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है, परन्तु तुम्हें साथ ले चलनेसे यहाँ दुःखी पिता और शोकपीड़िता माताओंको कौन सान्त्वना देगा?

मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभायँ।
लहेउ लाभ तिन्ह जनम कर नतरु जनमु जग जायँ॥
अस जियँ जानि सुनहु सिख भाई।
करहु मातु पितु पद सेवकाई॥
रहहु करहु सब कर परितोषू।
नतरु तात होइहि बड़ दोषू॥

बड़ी ही शुभ शिक्षा है, परन्तु चातक तो मेघकी स्वातिबूँदको छोड़कर गंगाकी ओर भी नहीं ताकना चाहता; एकनिष्ठ लक्ष्मण एक बार तो सहम गये, प्रेमवश कुछ बोल न सके, फिर अकुलाकर चरणोंमें गिर पड़े और आँसुओंसे चरण धोते हुए बोले—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं।
लागि अगम अपनी कदराईं॥
नरबर धीर धरम धुर धारी।
निगम नीति कहुँ ते अधिकारी॥
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला।
मंदरु मेरु कि लेहिं मराला॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू।
कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई।
प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी।
दीनबंधु उर अंतरजामी॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही।
कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
मन क्रम बचन चरन रत होई।
कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥

भगवान्ने देखा कि अब लक्ष्मण नहीं रहेंगे, तब उन्हें आज्ञा दी, अच्छा—

मागहु बिदा मातु सन जाई।
आवहु बेगि चलहु बन भाई॥

लक्ष्मण डरते-से माता सुमित्राजीके पास गये कि कहीं माता रोक न दें। परन्तु वह भी लक्ष्मणकी ही माँ थीं, उन्होंने बड़े प्रेमसे कहा—

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥

(वा० रा० २। ४०। ९)

'जाओ बेटा! सुखसे वनको जाओ, श्रीरामको दशरथ, सीताको माता और वनको अयोध्या समझना।'

अवध तहाँ जहँ राम निवासू।
तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥
अस जियँ जानि संग बन जाहू।
लेहु तात जग जीवन लाहू॥
पुत्रवती जुबती जग सोई।
रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी।
राम बिमुख सुत तें हित जानी॥
तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं।
दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥

लक्ष्मणका मनचाहा हो गया, वे दौड़कर श्रीरामके पास पहुँच गये और सीताके साथ दोनों भाई अयोध्यावासियोंको रुलाकर वनकी ओर चल दिये।

× × ×

एक दिनकी बात है, वनमें चलते-चलते सन्ध्या हो गयी। कभी पैदल चलनेका किसीको अभ्यास नहीं था, तीनों जने थके हुए थे, वनमें चारों ओर काले साँप घूम रहे थे। लक्ष्मणने जगह साफकर एक पेड़के नीचे कोमल पत्ते बिछा दिये। श्रीराम-सीता उसपर बैठ गये। लक्ष्मणजीने भोजनका सामान जुटाया। श्रीराम इस कष्टको देखकर स्नेहवश लक्ष्मणसे बार-बार कहने लगे कि 'भाई! तुम अयोध्या लौट जाओ, वहाँ जाकर माताओंको सान्त्वना दो। यहाँके कष्ट मुझको और सीताको ही भोगने दो।' इसके उत्तरमें लक्ष्मणने बड़े ही मार्मिक शब्द कहे—

न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव।
मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ॥
नहि तातं न शत्रुघ्नं न सुमित्रां परन्तप।
द्रष्टुमिच्छेयमद्याहं स्वर्गं चापि त्वया विना॥

(वा० रा० २। ५३। ३१-३२)

'हे रघुनन्दन! सीताजी और मैं आपसे अलग रहकर उसी तरह घड़ीभर भी नहीं जी सकते, जैसे जलसे निकालनेपर मछलियाँ नहीं जी सकतीं। हे शत्रुनाशन! आपको छोड़कर मैं माता, पिता, भाई शत्रुघ्न और स्वर्गको भी नहीं देखना चाहता।' धन्य भ्रातृ-प्रेम!

जिस समय निषादराज गुहके यहाँ श्रीराम-सीता रातके समय लक्ष्मणजीके द्वारा तैयार की हुई घास-पत्तोंकी शय्यापर सोते हैं, उस समय श्रीलक्ष्मण कुछ दूरपर खड़े पहरा दे रहे हैं, गुह आकर कहता है 'आपको जागनेका अभ्यास नहीं है, आप सो जाइये। मैंने पहरेका सारा प्रबन्ध कर दिया है।' इस बातको सुनकर श्रीलक्ष्मणजी कहने लगे—

कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितानि सुखानि वा॥

(वा० रा० २। ८६। १०)

'दशरथनन्दन श्रीराम सीताके साथ जमीनपर सो रहे हैं, फिर मुझे कैसे नींद आ सकती है और कैसे जीवन तथा सुख अच्छा लग सकता है?'

वनमें श्रीलक्ष्मणजी हर तरहसे श्रीराम-सीताकी सेवा करते हैं। चित्रकूटमें काठ और पत्ते इकट्ठे करके लक्ष्मणने ही कुदारसे मिट्टी खोदकर सुन्दर कुटिया बनायी थी। फल-मूल लाना, हवनकी सामग्री इकट्ठी करनी, सीताके गहने-कपड़ोंकी बाँसकी पेटी तथा शस्त्रास्त्रोंको उठाकर चलना, जाड़ेकी रातमें दूरसे खेतोंमेंसे होकर पानी भरकर लाना। रास्ता पहचाननेके लिये पेड़ों-पत्थरोंपर पुराने कपड़े लपेट रखना, झाड़ू देना, चौका देना, बैठनेके लिये वेदी बनाना, जलानेके लिये काठ-ईंधन इकट्ठा करना और रातभर जागकर पहरा देते रहना—ये सारे काम लक्ष्मणजीके जिम्मे हैं और बड़े हर्षके साथ वे सब कार्य सुचारुरूपसे करते हैं।

सेवहिं लखनु करम मन बानी।
जाइ न सीलु सनेहु बखानी॥
सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि।
जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥

× × ×

आज्ञाकारितामें तो लक्ष्मणजी बड़े ही आदर्श हैं। कितनी भी विपरीत आज्ञा क्यों न हो, वे बिना 'किन्तु-परन्तु' किये चुपचाप उसे सिर चढ़ा लेते हैं, आज्ञा-पालनके कुछ दृष्टान्त देखिये—

१—वनवासके समय आपने आज्ञा मानकर लड़नेकी सारी इच्छा एकदम छोड़ दी।

२—भरतके चित्रकूट आनेके समय बड़ा गुस्सा आया, परन्तु श्रीरामकी आज्ञा होते ही तथ्य समझकर शान्त हो गये।

३—खर-दूषणसे युद्ध करनेके समय श्रीरामने आज्ञा दी कि 'मैं इनके साथ युद्ध करता हूँ, तुम सीताजीको साथ ले जाकर पर्वत-गुफामें जा बैठो।' लक्ष्मण-सरीखे तेजस्वी वीरके लिये लड़ाईके मैदानसे हटनेकी यह आज्ञा बहुत ही कड़ी थी, परन्तु उन्होंने चुपचाप इसे स्वीकार कर लिया।

४—श्रीसीताजी अशोकवाटिकासे पालकीमें आ रही थीं। श्रीरामने पैदल लानेकी विभीषणको आज्ञा दी, इससे लक्ष्मणजीको एक बार दुःख हुआ, परन्तु कुछ भी नहीं बोले।

५—श्रीरामके द्वारा तिरस्कार पायी हुई सीताने जब चिता जलानेके लिये लक्ष्मणजीको आज्ञा दी, तब श्रीरामका इशारा पाकर मर्म-वेदनाके साथ इन्होंने चिता तैयार कर दी।

६—सीता-वनवासके समय श्रीरामकी आज्ञासे पत्थरका-सा कलेजा बनाकर अन्तरके दुःखसे दग्ध होते हुए भी सीताजीको वनमें छोड़ आये।

इनके जीवनमें राम-आज्ञा-भंगके सिर्फ दो प्रसंग आते हैं, जिनमें प्रथम तो, सीताको अकेले पर्णकुटीमें छोड़कर मायामृगको पकड़नेके लिये गये हुए श्रीरामके पास जाना और दूसरा मुनि दुर्वासाके शापसे राज्यको बचानेके लिये अपने त्यागे जानेका महान् कष्ट स्वीकार करते हुए भी

दुर्वासाको श्रीरामके पास जाने देना। परन्तु ये दोनों ही अवसर अपवादस्वरूप हैं।

सीताजीके कटु वचन कहनेपर लक्ष्मणने उन्हें समझाया कि 'माता! ये शब्द मायावी मारीचके हैं। श्रीरामको त्रिभुवनमें कोई नहीं जीत सकता, आप धैर्य रखें। मैं रामकी आज्ञाका उल्लंघन कर आपको अकेली छोड़कर नहीं जा सकता।' इतनेपर भी जब उन्होंने तमककर कहा कि 'मैं समझती हूँ, तू भरतका दूत है, तेरे मनमें काम-विकार है, तू मुझे प्राप्त करना चाहता है, मैं आगमें जल मरूँगी, परन्तु तेरे और भरतके हाथ नहीं आ सकती।' इन वचन-वाणोंसे पवित्रहृदय जितेन्द्रिय लक्ष्मणका हृदय बिंध गया, उन्होंने कहा, 'हे माता वैदेही! आप मेरे लिये देवस्वरूप हैं, इससे मैं आपको कुछ भी कह नहीं सकता, परन्तु मैं आपके शब्दोंको सहन करनेमें असमर्थ हूँ। हे वनदेवताओ! आप सब साक्षी हैं, मैं अपने बड़े भाई रामकी आज्ञामें रहता हूँ, तिसपर भी माता सीता स्त्री-स्वभावसे मुझपर सन्देह करती हैं। मैं समझता हूँ कि कोई भारी संकट आनेवाला है। माता! आपका कल्याण हो, वनदेवता आपकी रक्षा करें। मैं जाता हूँ।' इस अवस्थामें लक्ष्मणका वहाँसे जाना दोषावह नहीं माना जा सकता।

दूसरे प्रसंगमें तो लक्ष्मणने कुटुम्बसहित भाईको और भाईके साम्राज्यको शापसे बचानेके लिये ही आज्ञाका त्याग किया था।

कुछ लोग कहते हैं कि श्रीलक्ष्मणजी रामसे ही प्रेम करते थे, भरतके प्रति तो उनका विद्वेष बना ही रहा, परन्तु यह बात ठीक नहीं। रामकी अवज्ञा करनेवालेको अवश्य ही वे क्षमा नहीं कर सकते थे, परन्तु जब उन्हें मालूम हो गया कि भरत दोषी नहीं हैं तब लक्ष्मणके अन्तःकरणमें अपनी कृतिपर बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ और वे भरतपर पूर्ववत् श्रद्धा तथा स्नेह करने लगे। एक समय जाड़ेकी ऋतुमें वनके अन्दर शीतकी भयानकताको देखकर लक्ष्मणजी नन्दिग्रामनिवासी भरतकी चिन्ता करते हुए कहते हैं—

अस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्र काले दुःखसमन्वितः।
तपश्चरति धर्मात्मा त्वद्भक्त्या भरतः पुरे॥
त्यक्त्वा राज्यं च मानं च भोगांश्च विविधान् बहून्।
तपस्वी नियताहारः शेते शीते महीतले॥
सोऽपि वेलामिमां नूनमभिषेकार्थमुद्यतः।
वृतः प्रकृतिभिर्नित्यं प्रयाति सरयूं नदीम्॥
अत्यन्तसुखसंवृद्धः सुकुमारो हिमार्दितः।
कथं त्वपररात्रेषु सरयूमवगाहते॥
पद्मपत्रेक्षणः श्यामः श्रीमान्निरुदरो महान्।
धर्मज्ञः सत्यवादी च ह्रीनिषेधो जितेन्द्रियः॥
प्रियाभिभाषी मधुरो दीर्घबाहुररिन्दमः।
सन्त्यज्य विविधान्सौख्यानार्यं सर्वात्मना श्रितः॥
जितः स्वर्गस्तव भ्रात्रा भरतेन महात्मना।
वनस्थमपि तापस्ये यस्त्वामनुविधीयते॥

(वा० रा० ३। १६। २७—३३)

'हे पुरुषश्रेष्ठ! ऐसे अत्यन्त शीतकालमें धर्मात्मा भरत आपके प्रेमके कारण कष्ट सहकर अयोध्यामें तप कर रहे होंगे। अहो! नियमित आहार करनेवाले तपस्वी भरत राज्य, सम्मान और विविध प्रकारके भोग-विलासोंको त्यागकर इस शीतकालमें ठण्ढी जमीनपर सोते होंगे। अहो! भरत भी इसी समय उठकर अपने साथियोंको लेकर सरयूमें नहाने जाते होंगे। अत्यन्त सुखमें पले हुए सुकुमार शरीरवाले शीतसे पीड़ित हुए भरत इतने तड़के सरयूके अत्यन्त शीतल जलमें कैसे स्नान करते होंगे? कमलनयन श्यामसुन्दर भाई भरत सदा नीरोग, धर्मज्ञ, सत्यवादी, लज्जाशील, जितेन्द्रिय, प्रिय और मधुरभाषी और लम्बी भुजाओंवाले शत्रुनाशन महात्मा हैं। अहा! भरतने सब प्रकारके सुखोंका त्यागकर सब प्रकारसे आपका ही आश्रय ले लिया है। हे आर्य! महात्मा भाई भरतने स्वर्गको भी जीत लिया, क्योंकि आप वनमें हैं इसलिये वे भी आपकी ही भाँति तपस्वी-धर्मका पालन कर आपका अनुसरण कर रहे हैं।'

इन वचनोंको पढ़नेपर भी क्या यह कहा जा सकता है कि लक्ष्मणका भरतके प्रति प्रेम नहीं था? इनमें तो उनका प्रेम टपका पड़ता है।

× × ×

लक्ष्मणजी अपनी बुद्धिका भी कुछ घमण्ड न रखकर श्रीराम-सेवामें किस प्रकार अर्पित-प्राण थे, इस बातका पता तब लगता है कि जब पंचवटीमें भगवान् श्रीराम अच्छा-सा स्थान खोजकर पर्णकुटी तैयार करनेके लिये लक्ष्मणको आज्ञा देते हैं। तब सेवा-परायण लक्ष्मण हाथ जोड़कर भगवान्से कहते हैं कि हे प्रभो! मैं अपनी स्वतन्त्रतासे कुछ नहीं कर सकता।

परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते।
स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मां वद॥

(वा० रा० ३। १५। ७)

'हे काकुत्स्थ! चाहे सैकड़ों वर्ष बीत जायँ पर मैं तो आपके ही अधीन हूँ। आप ही पसन्द करके उत्तम स्थान बतावें।'

इसका यह मतलब नहीं है कि लक्ष्मणजी विवेकहीन थे। वे बड़े बुद्धिमान् और विद्वान् थे एवं समय-समयपर रामकी सेवाके लिये बुद्धिका प्रयोग भी करते थे, किन्तु जहाँ रामके किये कामपर ही पूरा सन्तोष होता वहाँ वे कुछ भी नहीं बोलते थे। उनमें तेज और क्रोधके भाव थे, पर वे थे सब रामके लिये ही। लक्ष्मण विलाप करना, विह्वल होना, डिगना और राम-विरोधीपर क्षमा करना नहीं जानते थे। इसीसे अन्य दृष्टिसे देखनेवाले लोग उनके चरित्रमें दोषोंकी कल्पना किया करते हैं, परन्तु लक्ष्मण सर्वथा निर्दोष, रामप्रिय, रामरहस्यके ज्ञाता और आदर्श भ्राता हैं। इनके ज्ञानका नमूना देखना हो तो गुहके साथ इन्होंने एकान्तमें जो बातें की थीं, उन्हें पढ़ देखिये। जब निषादने विषादवश कैकेयीको बुरा-भला कहा और श्रीसीतारामजीके भूमि-शयनको देखकर दुःख प्रकट किया तब लक्ष्मणजी नम्रताके साथ मधुरवाणी द्वारा उससे कहने लगे—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥
जोग बियोग भोग भल मंदा।
हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥
जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू।
संपति बिपति करमु अरु कालू॥
धरनि धामु धनु पुर परिवारू।
सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं।
मोह मूल परमारथु नाहीं॥
सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ।
जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जियँ जोइ॥
अस बिचारि नहिं कीजिअ रोसू।
काहुहि बादि न देइअ दोसू॥
मोह निसाँ सबु सोवनिहारा।
देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥
एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी।
परमारथी प्रपंच बियोगी॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा।
जब सब बिषय बिलास बिरागा॥
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा।
तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥
सखा परम परमारथु एहू।
मन क्रम बचन राम पद नेहू॥
राम ब्रह्म परमारथ रूपा।
अबिगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल बिकार रहित गतभेदा।
कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥
भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल॥
सखा समुझि अस परिहरि मोहू।
सिय रघुबीर चरन रत होहू॥

श्रीलक्ष्मणजीकी महिमा कौन गा सकता है? इनके समान परमार्थ और प्रेमका, बुद्धिमत्ता और सरलताका, परामर्श और आज्ञाकारिताका, तेज और मैत्रीका विलक्षण समन्वय इन्हींके चरित्रमें है। सारा संसार श्रीरामका गुणगान करता है, श्रीराम भरतका गुण गाते हैं और भरत लक्ष्मणके भाग्यकी सराहना करते हैं। फिर हम किस गिनतीमें हैं जो लक्ष्मणजीके गुणोंका संक्षेपमें बखान कर सकें!

श्रीशत्रुघ्नजीका भ्रातृ-प्रेम

रिपुसूदन पद कमल नमामी। सूर सुसील भरत अनुगामी॥

रामदासानुदास श्रीशत्रुघ्नजी भगवान् श्रीराम और भरत-लक्ष्मणके परमप्रिय और आज्ञाकारी बन्धु थे। शत्रुघ्नजी मौनकर्मी, प्रेमी, सदाचारी, मितभाषी, सत्यवादी, विषय-विरागी, सरल, तेजपूर्ण, गुरुजनोंके अनुगामी, वीर और शत्रु-तापन थे। श्रीरामायणमें इनके सम्बन्धमें विशेष विवरण नहीं मिलता, परन्तु जो कुछ मिलता है, उसीसे इनकी महत्ताका अनुमान हो जाता है। जैसे श्रीलक्ष्मणजी भगवान् श्रीरामके चिर-संगी थे, इसी प्रकार लक्ष्मणानुज शत्रुघ्नजी श्रीभरतजीकी सेवामें नियुक्त रहते थे। भरतजीके साथ ही आप उनके ननिहाल गये थे और पिताकी मृत्युपर साथ ही लौटे थे। अयोध्या पहुँचनेपर कैकेयीजीके द्वारा पितामरण और राम-सीता-लक्ष्मणके वनवासका समाचार सुनकर इनको भी बड़ा भारी दुःख हुआ। भाई लक्ष्मणके शौर्यसे आप परिचित थे, अतएव इन्होंने शोकपूर्ण हृदयसे बड़े आश्चर्यके साथ भरतजीसे कहा—

गतिर्यः सर्वभूतानां दुःखे किं पुनरात्मनः।
स रामः सत्त्वसम्पन्नः स्त्रिया प्रव्राजितो वनम्॥
बलवान्वीर्यसम्पन्नो लक्ष्मणो नाम योऽप्यसौ।
किं न मोचयते रामं कृत्वापि पितृनिग्रहम्॥

(वा० रा० २। ७८। २-३)

'श्रीराम, जो दुःखके समय सब भूत-प्राणियोंके आश्रय हैं, फिर हमलोगोंके आश्रय हैं इसमें तो कहना ही क्या' ऐसे महाबलवान् राम एक स्त्री (कैकेयी)-की प्रेरणासे ही वनमें चले गये। 'अहो! श्रीलक्ष्मण तो बलवान् और महापराक्रमी थे, उन्होंने पिताको समझाकर रामको वन जानेसे क्यों नहीं रोका?' इस समय शत्रुघ्नजी दुःख और कोपसे भरे थे,

इतनेमें रामविरहसे दुःखी एक द्वारपालने आकर कहा कि 'हे राजकुमार! जिसके षड्यन्त्रसे श्रीरामको वन जाना पड़ा और महाराजकी मृत्यु हुई, वह क्रूरा पापिनी कुब्जा वस्त्राभूषणोंसे सजी हुई खड़ी है, आप उचित समझें तो उसे कुछ शिक्षा दें।' कुब्जा भरतजीसे इनाम लेने आ रही थी और उसे दरवाजेपर देखते ही द्वारपालने अन्दर आकर शत्रुघ्नसे ऐसा कह दिया था। शत्रुघ्नको बड़ा गुस्सा आया, उन्होंने कुब्जाकी चोटी पकड़कर उसे घसीटा, उसने जोरसे चीख मारी। यह दशा देखकर कुब्जाकी अन्य सखियाँ तो दौड़कर श्रीकौसल्याजीके पास चली गयीं, उन्होंने कहा कि अब मधुरभाषिणी, दयामयी कौसल्याके शरण गये बिना शत्रुघ्न हमलोगोंको भी नहीं छोड़ेंगे। कैकेयी छुड़ाने आयीं तो उनको भी फटकार दिया। आखिर भरतने आकर शत्रुघ्नसे कहा—'भाई! स्त्री-जाति अवध्य है, नहीं तो मैं ही कैकेयीको मार डालता—

इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः।
त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम्॥

(वा० रा० २।७८।२३)

'भाई! यह कुब्जा भी यदि तुम्हारे हाथसे मारी जायगी तो धर्मात्मा श्रीराम इस बातको जानकर निश्चय ही तुमसे और मुझसे बोलना छोड़ देंगे।' भरतजीके वचन सुनकर शत्रुघ्नजीने उसको छोड़ दिया। यहाँ यह पता लगता है कि प्रथम तो रामकी धर्मनीतिमें स्त्री-जातिका कितना आदर था, स्त्री अवध्य समझी जाती थी। दूसरे, शोकाकुल भरतने इस अवस्थामें भी भाई शत्रुघ्नको भ्रातृ-प्रेमके कारण रामकी राजनीति बतलाकर अधर्मसे रोका और तीसरे, रोषमें भरे हुए शत्रुघ्नने भी तुरन्त भाईकी बात मान ली। इससे हमलोगोंको यथायोग्य शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। जो लोग यह आक्षेप किया करते हैं कि प्राचीनकालमें भारतीय पुरुष स्त्रियोंको बहुत तुच्छ बुद्धिसे देखते थे, उनको इस प्रसंगसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

× × ×

इसके अनन्तर शत्रुघ्नजी भी भरतजीके साथ श्रीरामको लौटाने वनमें जाते हैं और वहाँ भरतजीकी आज्ञासे रामकी कुटिया ढूँढ़ते हैं। जब भरतजी दूरसे श्रीरामको देखकर दौड़ते हैं, तब श्रीरामदर्शनोत्सुक शत्रुघ्न भी पीछे-पीछे दौड़े जाते हैं और—

शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन्।
तावुभौ च समालिङ्ग्य रामोऽप्यश्रूण्यवर्तयत्॥

(वा० रा० २।९९।४०)

'वे भी रोते हुए श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम करते हैं, श्रीराम भी दोनों भाइयोंको छातीसे लगाकर रोने लगते हैं।' इसी प्रकार शत्रुघ्न अपने बड़े भाई लक्ष्मणजीसे भी मिलते हैं—

भेंटेउ लखन ललकि लघु भाई।

इसके बाद श्रीराम-भरतके संवादमें लक्ष्मण-शत्रुघ्नका बीचमें बोलनेका कोई काम नहीं था। दोनोंके अपने-अपने नेता बड़े भाई मौजूद थे। शत्रुघ्नने तो भरतको अपना जीवन सौंप ही दिया था। इसीसे भरत कह रहे थे कि—

सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ।

शत्रुघ्नजीकी सम्मति न होती या शत्रुघ्नके भ्रातृ-प्रेमपर भरोसा न होता तो भरतजी ऐसा क्योंकर कह सकते?

पादुका लेकर लौटनेके समय श्रीरामसे दोनों भाई पुनः गले लगकर मिलते हैं। रामकी प्रदक्षिणा करते हैं। लक्ष्मणजीकी भाँति शत्रुघ्नजी भी कुछ तेज थे, कैकेयीके प्रति उनके मनमें रोष था, श्रीराम इस बातको समझते थे, इससे वनसे विदा होते समय श्रीरामने शत्रुघ्नजीको वात्सल्यताके कारण शिक्षा देते हुए कहा—

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति।
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन॥

(वा० रा० २।११२।२७-२८)

'हे भाई! तुम्हें मेरी और सीताकी शपथ है, तुम माता कैकेयीके प्रति कुछ भी क्रोध न करके उनकी रक्षा करते रहना।' इतना कहनेपर उनकी आँखें प्रेमाश्रुओंसे भर गयीं। इससे पता लगता है कि श्रीराम-शत्रुघ्नमें परस्पर कितना प्रेम था!

इसके बाद शत्रुघ्नजी भरतजीके साथ अयोध्या लौटकर उनके आज्ञानुसार राज और परिवारकी सेवामें रहते हैं तथा श्रीरामके अयोध्या लौट आनेपर प्रेमपूर्वक उनसे मिलते हैं—

पुनि प्रभु हरषि सत्रुहन भेंटे हृदयँ लगाइ।

तदनन्तर उनकी सेवामें लग जाते हैं। श्रीरामका राज्याभिषेक होता है और रामराज्यमें सबका जीवन सुख और धर्ममय बीतता है।

एक समय ऋषियोंने आकर श्रीरामसे कहा कि 'लवणासुर नामक राक्षस बड़ा उपद्रव कर रहा है, वह प्राणिमात्रको—खास करके तपस्वियोंको पकड़कर खा जाता है। हम सब बड़े ही दुःखी हैं।' श्रीरामने उनसे कहा कि 'आप भय न करें, मैं उस राक्षसको मारनेका प्रबन्ध करता हूँ।' तदनन्तर श्रीरामने अपने भाइयोंसे पूछा कि 'लवणासुरको मारने कौन जाता है?' भरतजीने कहा—'महाराज! आपकी आज्ञा होगी तो मैं चला जाऊँगा।' इसपर लक्ष्मणानुज शत्रुघ्नजीने नम्रतासे कहा—'हे रघुनाथजी! आप जब वनमें थे तब महात्मा भरतजीने बड़े-बड़े दुःख

सहकर राज्यका पालन किया था, ये नगरसे बाहर नन्दिग्राममें रहते थे, कुशपर सोते थे, फल-मूल खाते थे और जटा-वल्कल धारण करते थे। अब मैं दास जब सेवामें उपस्थित हूँ तब इन्हें न भेजकर मुझे ही भेजना चाहिये।' भगवान् श्रीरामने कहा—'अच्छी बात है, तुम्हारी इच्छा है तो ऐसा ही करो, मैं तुम्हारा मधुदैत्यके सुन्दर नगरका राज्याभिषेक करूँगा, तुम शूरवीर हो, नगर बसा सकते हो, मधु राक्षसके पुत्र लवणासुरको मारकर धर्म-बुद्धिसे वहाँका राज्य करो। मैंने जो कुछ कहा है, इसके बदलेमें कुछ भी न कहना, क्योंकि बड़ोंकी आज्ञा बालकोंको माननी चाहिये। गुरु वसिष्ठ तुम्हारा विधिवत् अभिषेक करेंगे, अतएव मेरी आज्ञासे तुम उसे स्वीकार करो।' श्रीरामने अपने मुँहसे बड़ोंकी आज्ञाका महत्त्व इसीलिये बतलाया कि वे शत्रुघ्नकी त्याग-वृत्तिको जानते थे। श्रीराम ऐसा न कहते तो वे सहजमें राज्य स्वीकार न करते। इस बातका पता उनके उत्तरसे लगता है। शत्रुघ्नजी बोले—'हे नरेश्वर! बड़े भाईकी उपस्थितिमें छोटेका राज्याभिषेक होना मैं अधर्म समझता हूँ। इधर आपकी आज्ञाका पालन भी अवश्य करना चाहिये। आपके द्वारा ही मैंने यह धर्म सुना है। श्रीभरतजीके बीचमें मुझको कुछ भी नहीं बोलना चाहिये था—

व्याहृतं दुर्वचो घोरं हन्तास्मि लवणं मृधे।
तस्यैवं मे दुरुक्तस्य दुर्गतिः पुरुषर्षभ॥
उत्तरं नहि वक्तव्यं ज्येष्ठेनाभिहिते पुनः।
अधर्मसहितं चैव परलोकविवर्जितम्॥

(वा० रा० ७। ६३। ५-६)

'हे पुरुषश्रेष्ठ! 'दुष्ट लवणासुरको मैं रणमें मारूँगा' मैंने ये दुर्वचन कहे, इस अनधिकार बोलनेके कारण ही मेरी यह दुर्गति हुई। बड़ोंकी आज्ञा होनेपर तो प्रति-उत्तर भी नहीं करना चाहिये। ऐसा करना अधर्मयुक्त और परलोकका नाश करनेवाला है।' धन्य शत्रुघ्नजी, आप राज्य-प्राप्तिको 'दुर्गति' समझते हैं! कैसा आदर्श त्याग है! आप फिर कहते हैं कि 'हे काकुत्स्थ! एक दण्ड तो मुझे मिल गया, अब आपके वचनोंपर कुछ बोलूँ तो कहीं दूसरा दण्ड न मिल जाय, अतएव मैं कुछ भी नहीं कहता। आपके इच्छानुसार करनेको तैयार हूँ।'

भगवान्की आज्ञासे शत्रुघ्नका राज्याभिषेक हो गया, तदनन्तर उन्होंने लवणासुरपर चढ़ाई की, श्रीरामने चार हजार घोड़े, दो हजार रथ, एक सौ उत्तम हाथी, क्रय-विक्रय करनेवाले व्यापारी, खर्चके लिये एक लाख स्वर्णमुद्राएँ साथ दीं और भाँति-भाँतिके सदुपदेश देकर शत्रुघ्नको विदा किया। इससे पता लगता है कि शत्रुघ्नजी श्रीरामको कितने प्यारे थे।

रास्तेमें ऋषियोंके आश्रमोंमें ठहरते हुए वे जाने लगे। वाल्मीकिजीके आश्रममें भी एक रात ठहरे, उसी रातको सीताजीके लव-कुशका जन्म हुआ था। अतः वह रात शत्रुघ्नजीके लिये बड़े आनन्दकी रही। शत्रुघ्नजीने मधुपुर जाकर लवणासुरका वध किया। देवता और ऋषियोंने आशीर्वाद दिये। तदनन्तर बारह सालतक मधुपुरीमें रहकर शत्रुघ्नजी वापस श्रीरामदर्शनार्थ लौटे। रास्तेमें फिर वाल्मीकिजीके आश्रममें ठहरे। अब लव-कुश बारह वर्षके हो गये थे। मुनिने उनको रामायणका गान सिखला दिया था। अतएव मुनिकी आज्ञासे लव-कुशने शत्रुघ्नजीको रामायणका मनोहर और करुणोत्पादक गान सुनाया। राम-महिमाका गान सुनकर शत्रुघ्न मुग्ध हो गये—

श्रुत्वा पुरुषशार्दूलो विसंज्ञो वाष्पलोचनः।
स मुहूर्तमिवासंज्ञो विनिःश्वस्य मुहुर्मुहुः॥

(वा० रा० ७। ७१। १७)

'उस गानको सुनकर पुरुषसिंह शत्रुघ्नकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली और वे बेहोश हो गये। उस बेहोशीमें दो घड़ीतक उनके जोर-जोरसे साँस चलते रहे।' धन्य है!

इसके अनन्तर उन्होंने अयोध्या पहुँचकर श्रीरामसहित सब भाइयोंके दर्शन किये। फिर कुछ दिनों बाद मधुपुरी लौट गये।

× × ×

परम धामके प्रयाणका समय आया, इन्द्रियविजयी शत्रुघ्नको पता लगते ही वह अपने पुत्रोंको राज्य सौंपकर दौड़े हुए श्रीरामके पास आये और चरणोंमें प्रणामकर गद्गद कण्ठसे कहने लगे—

कृत्वाभिषेकं सुतयोर्द्वयो राघवनन्दन।
तवानुगमने राजन् विद्धि मां कृतनिश्चयम्॥
न चान्यदद्य वक्तव्यमतो वीर न शासनम्।
विहन्यमानमिच्छामि मद्विधेन विशेषतः॥

(वा० रा० ७। १०८। १४-१५)

'हे रघुनन्दन! हे राजन्! आप ऐसे समझें कि मैं अपने दोनों पुत्रोंको राज्य सौंपकर आपके साथ जानेका निश्चय करके आया हूँ। हे वीर! आज आप कृपाकर न तो दूसरी बात कहें और न दूसरी आज्ञा ही दें, यह मैं इसलिये कह रहा हूँ कि खास तौरपर मुझ-जैसे पुरुषद्वारा आपकी आज्ञाका उल्लंघन होना नहीं चाहिये।' मतलब यह कि आप कहीं साथ छोड़कर यहाँ रहनेकी आज्ञा न दे दें जिससे मुझे आपकी आज्ञा भंग करनी पड़े, जो मैंने आजतक नहीं की। धन्य है भ्रातृ-प्रेम!

भगवान्‌ने प्रार्थना स्वीकार की और सबने मिलकर श्रीरामके साथ रामधामको प्रयाण किया।

उपसंहार

यह रामायणके चारों पूज्य पुरुषोंके आदर्श भ्रातृ-प्रेमका किंचित् दिग्दर्शन है। यह लेख विशेषरूपसे भ्रातृ-प्रेमपर ही लिखा गया है। अन्य वर्णन तो प्रसंगवश आ गये हैं, अतएव दूसरे उपदेशप्रद आदर्श विषयोंकी यथोचित चर्चा नहीं हो सकी है। इस लेखमें अधिकांश भाग वाल्मीकि, अध्यात्म और रामचरितमानसके आधारपर लिखा गया है।

वास्तवमें श्रीराम और उनके बन्धुओंके अगाध चरितकी थाह कौन पा सकता है? मैंने तो अपने विनोदके लिये यह चेष्टा की है, त्रुटियोंके लिये विज्ञजन क्षमा करें। श्रीराम और उनके प्रिय बन्धुओंके विमल और आदर्श चरितसे हमलोगोंको पूरा लाभ उठाना चाहिये। साक्षात् सच्चिदानन्दघन भगवान् होनेपर भी उन्होंने जीवनमें मनुष्योंकी भाँति लीलाएँ की हैं, जिनको आदर्श मानकर हम काममें ला सकते हैं।

कुछ लोग कहा करते हैं कि 'श्रीराम जब साक्षात् भगवान् थे, तब उन्हें अवतार धारण करनेकी क्या आवश्यकता थी, वे अपनी शक्तिसे यों ही सब कुछ कर सकते थे।' इसमें कोई सन्देह नहीं कि भगवान् सभी कुछ कर सकते हैं, करते हैं, उनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है, परन्तु उन्होंने अवतार धारणकर ये आदर्श लीलाएँ इसीलिये की हैं कि हमलोग उनका गुणानुवाद गाकर और अनुकरण कर कृतार्थ हों। यदि वे अवतार धारणकर हमलोगोंकी शिक्षाके लिये ये लीलाएँ न करते तो हमलोगोंको आदर्श शिक्षा कहाँसे और कैसे मिलती? अब हमलोगोंका यही कर्तव्य है कि उनकी लीलाओंका श्रवण, मनन और अनुकरण कर उनके सच्चे भक्त बनें! लेख बहुत बड़ा हो गया है इसलिये यहीं समाप्त किया जाता है।

श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा

यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि अखिल विश्वके स्त्री-चरित्रोंमें श्रीरामप्रिया जगज्जननी जानकीजीका चरित्र सबसे उत्कृष्ट है। रामायणके समस्त स्त्री-चरित्रोंमें तो सीताजीका चरित्र सर्वोत्तम, सर्वथा आदर्श और पद-पदपर अनुकरण करनेयोग्य है ही। भारत-ललनाओंके लिये सीताजीका चरित्र सन्मार्गपर चलनेके लिये पूर्ण मार्गदर्शक है। सीताजीके असाधारण पातिव्रत्य, त्याग, शील, अभय, शान्ति, क्षमा, सहनशीलता, धर्मपरायणता, नम्रता, सेवा, संयम, सद्व्यवहार, साहस, शौर्य आदि गुण एक साथ जगत्‌की विरली ही महिलामें मिल सकते हैं। श्रीसीताके पवित्र जीवन और अप्रतिम पातिव्रत्यधर्मके सदृश उदाहरण रामायणमें तो क्या जगत्‌के किसी भी इतिहासमें मिलने कठिन हैं। आरम्भसे लेकर अन्ततक सीताके जीवनकी सभी बातें—केवल एक प्रसंगको छोड़कर—पवित्र और आदर्श हैं। ऐसी कोई बात नहीं है, जिससे हमारी माँ-बहिनोंको सत्-शिक्षा न मिले। संसारमें अबतक जितनी स्त्रियाँ हो चुकी हैं, श्रीसीताको पातिव्रत्यधर्ममें सर्वशिरोमणि कहा जा सकता है। किसी भी ऊँची-से-ऊँची स्त्रीके चरित्रकी सूक्ष्म आलोचना करनेसे ऐसी एक-न-एक बात मिल ही सकती है जो अनुकरणके योग्य न हो, परन्तु सीताका ऐसा कोई भी आचरण नहीं मिलता।

जिस एक प्रसंगको सीताके जीवनमें दोषयुक्त समझा जाता है वह है मायामृगको पकड़नेके लिये श्रीरामके चले जाने और मारीचके मरते समय 'हा सीते! हा लक्ष्मण!' की पुकार करनेपर सीताजीका घबड़ाकर लक्ष्मणके प्रति यह कहना कि 'मैं समझती हूँ कि तू मुझे पानेके लिये अपने बड़े भाईकी मृत्यु देखना चाहता है। मेरे लोभसे ही तू अपने भाईकी रक्षा करनेको नहीं जाता।' इस बर्तावके लिये सीताने आगे चलकर बहुत पश्चात्ताप किया। साधारण स्त्री-चरित्रमें सीताजीका यह बर्ताव कोई विशेष दोषयुक्त नहीं है। स्वामीको संकटमें पड़े हुए समझकर आतुरता और प्रेमकी बाहुल्यतासे सीताजी यहाँपर नीतिका उल्लंघन कर गयी थीं। श्रीराम-सीताका अवतार मर्यादाकी रक्षाके लिये था, इसीसे सीताजीकी यह एक गलती समझी गयी और इसीलिये सीताजीने पश्चात्ताप किया था।

नैहरमें प्रेम-व्यवहार

जनकपुरमें पिताके घर सीताजीका सबके साथ बड़े प्रेमका बर्ताव था। छोटे-बड़े सभी स्त्री-पुरुष सीताजीको हृदयसे चाहते थे। सीताजी आरम्भसे ही सलज्जा थीं। लज्जा ही स्त्रियोंका भूषण है। वे प्रतिदिन माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम किया करती थीं, घरके नौकर-चाकरतक उनके व्यवहारसे परम प्रसन्न थे। सीताजीके प्रेमके बर्तावका कुछ दिग्दर्शन उस समयके वर्णनसे मिलता है जिस समय वे ससुरालके लिये विदा हो रही हैं—

पुनि धीरजु धरि कुँअरि हँकारीं। बार बार भेटहिं महतारीं॥
पहुँचावहिं फिरि मिलहिं बहोरी। बढ़ी परस्पर प्रीति न थोरी॥
पुनि पुनि मिलत सखिन्ह बिलगाई। बाल बच्छ जिमि धेनु लवाई॥

प्रेमबिबस नर नारि सब सखिन्ह सहित रनिवासु।
मानहुँ कीन्ह बिदेहपुर करुनाँ बिरहँ निवासु॥

सुक सारिका जानकी ज्याए। कनक पिंजरन्हि राखि पढ़ाए॥
ब्याकुल कहहिं कहाँ बैदेही। सुनि धीरजु परिहरइ न केही॥
भए बिकल खग मृग एहि भाँती। मनुज दसा कैसें कहि जाती॥
बंधु समेत जनकु तब आए। प्रेम उमगि लोचन जल छाए॥
सीय बिलोकि धीरता भागी। रहे कहावत परम बिरागी॥
लीन्हि रायँ उर लाइ जानकी। मिटी महामरजाद ग्यान की॥

जहाँ ज्ञानियोंके आचार्य जनकके ज्ञानकी मर्यादा मिट जाती है और पिंजरेके पखेरू तथा पशु-पक्षी भी 'सीता! सीता!!' पुकारकर व्याकुल हो उठते हैं, वहाँ कितना प्रेम है, इस बातका अनुमान पाठक कर लें! सीताके इस चरित्रसे स्त्रियोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि स्त्रीको नैहरमें छोटे-बड़े सभीके साथ ऐसा बर्ताव करना उचित है जो सभीको प्रिय हो।

माता-पिताका आज्ञा-पालन सीता अपने माता-पिताकी आज्ञा पालन करनेमें कभी नहीं चूकती थीं। माता-पितासे उन्हें जो कुछ शिक्षा मिलती, उसपर वे बड़ा अमल करती थीं। मिथिलासे विदा होते समय और चित्रकूटमें सीताजीको माता-पितासे जो कुछ शिक्षा मिली है, वह स्त्रीमात्रके लिये पालनीय है—

होएहु संतत पियहि पिआरी। चिरु अहिबात असीस हमारी॥
सासु ससुर गुर सेवा करेहू। पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू॥

पतिसेवाके लिये प्रेमाग्रह श्रीरामको राज्याभिषेकके बदले यकायक वनवास हो गया। सीताजीने यह समाचार सुनते ही तुरन्त अपना कर्तव्य निश्चय कर लिया। नैहर-ससुराल, गहने-कपड़े, राज्य-परिवार, महल-बाग, दास-दासी और भोग-राग आदिसे कुछ मतलब नहीं। छायाकी तरह पतिके साथ रहना ही पत्नीका एकमात्र कर्तव्य है। इस निश्चयपर आकर सीताने श्रीरामके साथ वनगमनके लिये जैसा कुछ व्यवहार किया है, वह परम उज्ज्वल और अनुकरणीय है। श्रीसीताजीने प्रेमपूर्ण विनय और हठसे वनगमनके लिये पूरी कोशिश की। साम, दाम, नीति सभी वैध उपायोंका अवलम्बन किया और अन्तमें वे अपने प्रयत्नमें सफल हुईं। उनका ध्येय था किसी भी उपायसे वनमें पतिके साथ रहकर पतिकी सेवा करना। इसीको वे परम धर्म समझती थीं। इसीमें उन्हें परम आनन्दकी प्राप्ति होती थी। वे कहती हैं—

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई॥
सासु ससुर गुर सजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥
भोग रोगसम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥

वनके नाना क्लेशों और कुटुम्बके साथ रहनेके नाना प्रलोभनोंको सुनकर भी सीता अपने निश्चयपर अडिग रहती हैं। वे पति-सेवाके सामने सब कुछ तुच्छ समझती हैं।

नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें। सरद बिमल बिधु बदनु निहारें॥

यहाँपर यह सिद्ध होता है कि सीताजीने एक बार प्राप्त हुई पति-आज्ञाको बदलाकर दूसरी बार अपने मनोनुकूल आज्ञा प्राप्त करनेके लिये प्रेमाग्रह किया। यहाँतक कि जब भगवान् श्रीराम किसी प्रकार भी नहीं माने तो हृदय विदीर्ण हो जानेतकका संकेत कर दिया—

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥

अध्यात्मरामायणके अनुसार तो श्रीसीताने यहाँतक स्पष्ट कह दिया कि—

रामायणानि बहुशः श्रुतानि बहुभिर्द्विजैः॥
सीतां विना वनं रामो गतः किं कुत्रचिद्वद।
अतस्त्वया गमिष्यामि सर्वथा त्वत्सहायिनी॥
यदि गच्छसि मां त्यक्त्वा प्राणांस्त्यक्ष्यामि तेऽग्रतः।

(अ० रा० २।४।७७—७९)

'मैंने भी ब्राह्मणोंके द्वारा रामायणकी अनेक कथाएँ सुनी हैं। कहीं भी ऐसा कहा गया हो तो बतलाइये कि किसी भी रामावतारमें श्रीराम सीताको अयोध्यामें छोड़कर वन गये हैं? इस बार ही यह नयी बात क्यों होती है? मैं आपकी सेविका बनकर साथ चलूँगी। यदि किसी तरह भी आप मुझे नहीं ले चलेंगे तो मैं आपके सामने ही प्राण त्याग दूँगी।' पतिसेवाकी कामनासे सीताने इस प्रकार स्पष्टरूपसे अवतारविषयक अपनी बड़ाईके शब्द भी कह डाले।

वाल्मीकिरामायणके अनुसार सीताजीके अनेक रोने, गिड़गिड़ाने, विविध प्रार्थना करने और प्राणत्यागपूर्वक परलोकमें पुनः मिलन होनेका निश्चय बतलानेपर भी जब श्रीराम उन्हें साथ ले जानेको राजी नहीं हुए तब उनको बड़ा दुःख हुआ और वे प्रेमकोपमें आँखोंसे गर्म-गर्म आँसुओंकी धारा बहाती हुई नीतिके नाते इस प्रकार कुछ कठोर वचन भी कह गयीं कि—'हे देव! आप-सरीखे आर्य पुरुष मुझ-जैसी अनुरक्त, भक्त, दीन और सुख-दुःखको समान समझनेवाली सहधर्मिणीको अकेली छोड़कर जानेका विचार करें यह आपको शोभा नहीं देता। मेरे पिताने आपको पराक्रमी और मेरी रक्षा करनेमें समर्थ

समझकर ही अपना दामाद बनाया था।' इस कथनसे यह भी सिद्ध होता है कि श्रीराम लड़कपनसे अत्यन्त श्रेष्ठ पराक्रमी समझे जाते थे। इस प्रसंगमें श्रीवाल्मीकिजी और गोस्वामी तुलसीदासजीने सीता-रामके संवादमें जो कुछ कहा है सो प्रत्येक स्त्री-पुरुषके ध्यानपूर्वक पढ़ने और मनन करनेयोग्य है।

सीताजीके प्रेमकी विजय हुई, श्रीरामने उन्हें साथ ले चलना स्वीकार किया। इस कथानकसे यह सिद्ध होता है कि पत्नीको पतिसेवाके लिये—अपने सुखके लिये नहीं—पतिकी आज्ञाको दुहरानेका अधिकार है। वह प्रेमसे पति-सुखके लिये ऐसा कर सकती हैं। सीताने तो यहाँतक कह दिया था 'यदि आप आज्ञा नहीं देंगे तब भी मैं तो साथ चलूँगी।' सीताजीके इस प्रेमाग्रहकी आजतक कोई भी निन्दा नहीं करता, क्योंकि सीता केवल पति-प्रेम और पति-सेवाहीके लिये समस्त सुखोंको तिलांजलि देकर वन जानेको तैयार हुई थीं, किसी इन्द्रिय-सुखरूप स्वार्थ-साधनके लिये नहीं! इससे यह नहीं समझना चाहिये कि सीताका व्यवहार अनुचित या पतिव्रत-धर्मसे विरुद्ध था। स्त्रीको धर्मके लिये ही ऐसा व्यवहार करनेका अधिकार है। इससे पुरुषोंको भी यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि सहधर्मिणी पतिव्रता पत्नीकी बिना इच्छा उसे त्यागकर अन्यत्र चले जाना अनुचित है। इसी प्रकार स्त्रीको भी पति-सेवा और पति-सुखके लिये उसके साथ ही रहना चाहिये। पतिके विरोध करनेपर भी कष्ट और आपत्तिके समय पति-सेवाके लिये स्त्रीको उसके साथ रहना उचित है। अवश्य ही अवस्था देखकर कार्य करना चाहिये। सभी स्थितियोंमें सबके लिये एक-सी व्यवस्था नहीं हो सकती। सीताने भी अपनी साधुताके कारण सभी समय इस अधिकारका उपयोग नहीं किया था।

पति-सेवामें सुख

वनमें जाकर सीता पति-सेवामें सब कुछ भूलकर सब तरह सुखी रहती हैं! उन्हें राजपाट, महल-बगीचे, धन-दौलत और दास-दासियोंकी कुछ भी स्मृति नहीं होती। रामको वनमें छोड़कर लौटा हुआ सुमन्त सीताके लिये विलाप करती हुई माता कौसल्यासे कहता है—'सीता निर्जन वनमें घरकी भाँति निर्भय होकर रहती हैं, वह श्रीराममें मन लगाकर उनका प्रेम प्राप्त कर रही हैं। वनवाससे सीताको कुछ भी दुःख नहीं हुआ, मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि (श्रीरामके साथ) सीता वनवासके सर्वथा योग्य हैं। चन्द्रानना सती सीता जैसे पहले यहाँ बगीचोंमें जाकर खेलती थीं, वैसे ही वहाँ निर्जन वनमें भी वह श्रीरामके साथ बालिकाके समान खेलती हैं। सीताका मन राममें है, उनका जीवन श्रीरामके अधीन है, अतएव श्रीरामके साथ सीताके लिये वन ही अयोध्या है और श्रीरामके बिना अयोध्या ही वन है।' धन्य पातिव्रत्य! धन्य!

सास-सेवा

सीता पति-सेवाके लिये वन गयीं परन्तु उन्हें इस बातका बड़ा क्षोभ रहा कि सासुओंकी सेवासे उसे अलग होना पड़ रहा है। सीता सासके पैर छूकर सच्चे मनसे रोती हुई कहती हैं—

× × × । सुनिअ माय मैं परम अभागी॥
सेवा समय दैअँ बनु दीन्हा। मोर मनोरथु सफल न कीन्हा॥
तजब छोभु जनि छाड़िअ छोहू। करमु कठिन कछु दोसु न मोहू॥

सास-पतोहूका यह व्यवहार आदर्श है। भारतीय ललनाएँ यदि आज कौसल्या और सीताका-सा व्यवहार करना सीख जायँ तो भारतीय गृहस्थ सब प्रकारसे सुखी हो जायँ। सास अपनी वधुओंको सुखी देखनेके लिये व्याकुल रहें और बहुएँ सासकी सेवाके लिये छटपटावें तो दोनों ओर ही सुखका साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

सहिष्णुता

सीताकी सहिष्णुताका एक उदाहरण देखिये। वन-गमनके समय जब कैकेयी सीताको वनवासके योग्य वस्त्र पहननेके लिये कहती है तब वसिष्ठ-सरीखे महर्षिका मन भी क्षुब्ध हो उठता है, परन्तु सीता इस कथनको केवल चुपचाप सुन ही नहीं लेतीं, आज्ञानुसार वह वस्त्र धारण भी कर लेती हैं। इस प्रसंगसे भी यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि सास या उसके समान नातेमें अपनेसे बड़ी कोई भी स्त्री जो कुछ कहे या बर्ताव करे, उसको खुशीके साथ सहन करना चाहिये और कभी पतिके साथ विदेश जाना पड़े तो सच्चे हृदयसे सासुओंको प्रणाम कर, उन्हें सन्तोष करवाकर सेवासे वंचित होनेके लिये हार्दिक पश्चात्ताप करते हुए जाना चाहिये। इससे वधुओंको सासुओंका आशीर्वाद आप ही प्राप्त होगा।

निरभिमानिता

सीता अपने समयमें लोकप्रसिद्ध पतिव्रता थीं, उन्हें कोई पातिव्रत्यका क्या उपदेश करता? परन्तु सीताको अपने पातिव्रत्यका कोई अभिमान नहीं था। अनसूयाजीके द्वारा किया हुआ पातिव्रत्य-धर्मका उपदेश सीता बड़े आदरके साथ सुनती हैं और उनके चरणोंमें प्रणाम करती हैं। उसके मनमें यह भाव नहीं आता कि मैं सब कुछ जानती हूँ। बल्कि अनसूयाजी ही उससे कहती हैं—

सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
तोहि प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित॥

इससे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि अपनेसे बड़े-बूढ़े जो कुछ उपदेश दें उसे अभिमान छोड़कर आदर और सम्मानके साथ सुनना चाहिये एवं यथासाध्य उसके अनुसार चलना चाहिये।

गुरुजन-सेवा और मर्यादा

बड़ोंकी सेवा और मर्यादामें सीताका मन कितना लगा रहता था, इस बातको समझनेके लिये महाराज जनककी चित्रकूट यात्राके प्रसंगको याद कीजिये। भरतके वन जानेपर राजा जनक भी रामसे मिलनेके लिये चित्रकूट पहुँचते हैं। सीताकी माता श्रीरामकी माताओंसे—सीताकी सासुओंसे मिलती हैं और सीताको साथ लेकर अपने डेरेपर आती हैं। सीताको तपस्विनीके वेषमें देखकर सबको विषाद होता है, पर महाराज जनक अपनी पुत्रीके इस आचरणपर बड़े ही सन्तुष्ट होते हैं और कहते हैं—

पुत्रि पबित्र किए कुल दोऊ।
सुजस धवल जगु कह सबु कोऊ॥

माता-पिता बड़े प्रेमसे हृदयसे लगाकर अनेक प्रकारकी सीख और असीस देते हैं। बात करते-करते रात अधिक हो जाती है। सीता मनमें सोचती है कि सासुओंकी सेवा छोड़कर इस अवस्थामें रातको यहाँ रहना अनुचित है, किन्तु स्वभावसे ही लज्जाशीला सीता संकोचवश मनकी बात माँ-बापसे कह नहीं सकती—

कहति न सीय सकुचि मनमाहीं।
इहाँ बसब रजनी भल नाहीं॥

चतुर माता सीताके मनका भाव जान लेती हैं और सीताके शील-स्वभावकी मन-ही-मन सराहना करते हुए माता-पिता सीताको कौसल्याके डेरेमें भेज देते हैं। इस प्रसंगसे भी स्त्रियोंको सेवा और मर्यादाकी शिक्षा लेनी चाहिये।

निर्भयता

सीताका तेज और उसकी निर्भयता देखिये। जिस दुर्दान्त रावणका नाम सुनकर देवता भी काँपते थे, उसीको सीता निर्भयताके साथ कैसे-कैसे वचन कहती थीं। रावणके हाथोंमें पड़ी हुई सीता अति क्रोधसे उसका तिरस्कार करती हुई कहती हैं—'अरे दुष्ट निशाचर, तेरी आयु पूरी हो गयी है, अरे मूर्ख! तू श्रीरामचन्द्रकी सहधर्मिणीको हरणकर प्रज्वलित अग्निके साथ कपड़ा बाँधकर चलना चाहता है। तुझमें और रामचन्द्रमें उतना ही अन्तर है जितना सिंह और सियारमें, समुद्र और नालेमें, अमृत और काँजीमें, सोने और लोहेमें, चन्दन और कीचड़में, हाथी और बिलावमें, गरुड़ और कौवेमें तथा हंस और गीधमें होता है। मेरे अमित प्रभाववाले स्वामीके रहते तू मुझे हरण करेगा तो जैसे मक्खी घीके पीते ही मृत्युके वश हो जाती है, वैसे ही तू भी कालके गालमें चला जायगा।' इससे यह सीखना चाहिये कि परमात्माके बलपर किसी भी अवस्थामें मनुष्यको डरना उचित नहीं। अन्यायका प्रतिवाद निर्भयताके साथ करना चाहिये। परमात्माके बलका सच्चा भरोसा होगा तो रावणका वध करके सीताको उसके चंगुलसे छुड़ानेकी भाँति भगवान् हमें भी विपत्तिसे छुड़ा लेंगे।

धर्मके लिये प्राण-त्याग-की तैयारी

विपत्तिमें पड़कर भी कभी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। इस विषयमें सीताका उदाहरण सर्वोत्तम है। लंकाकी अशोक-वाटिकामें सीताका धर्म नाश करनेके लिये दुष्ट रावणकी ओरसे कम चेष्टाएँ नहीं हुईं। राक्षसियोंने सीताको भय और प्रलोभन दिखलाकर बहुत ही तंग किया, परन्तु सीता तो सीता ही थीं। धर्मत्यागका प्रश्न तो वहाँ उठ ही नहीं सकता, सीताने तो छलसे भी अपने बाहरी बर्तावमें भी विपत्तिसे बचनेके हेतु कभी दोष नहीं आने दिया। उसके निर्मल और धर्मसे परिपूर्ण मनमें कभी बुरी स्फुरणा ही नहीं आ सकी। अपने धर्मपर अटल रहती हुई सीता दुष्ट रावणका सदा तीव्र और नीतियुक्त शब्दोंमें तिरस्कार ही करती रहीं। एक बार रावणके वाग्बाणोंको न सह सकनेके समय और रावणके द्वारा मायासे श्रीराम-लक्ष्मणको मरे हुए दिखला देनेके कारण वह मरनेको तैयार हो गयीं, परन्तु धर्मसे डिगनेकी भावना स्वप्नमें भी कभी उनके मनमें नहीं उठी। वह दिन-रात भगवान् श्रीरामके चरणोंके ध्यानमें लगी रहती थीं। सीताजीने श्रीरामको हनुमान्‌के द्वारा जो सन्देश कहलाया, उससे पता लग सकता है कि उनकी कैसी पवित्र स्थिति थी—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥

इससे स्त्रियोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि पतिके वियोगमें भीषण आपत्तियाँ आनेपर भी पतिके चरणोंका ध्यान रहे। मनमें भगवान्‌के बलपर पूरी वीरता, धीरता और तेज रहे। स्वधर्मके पालनमें प्राणोंकी भी आहुति देनेको सदा तैयार रहे। धर्म जाकर प्राण रहनेमें कोई लाभ नहीं, परन्तु प्राण जाकर धर्म रहनेमें ही कल्याण है—**'स्वधर्मे निधनं श्रेयः।'** (गीता ३।३५)

सावधानी

सीताजीकी सावधानी देखिये। जब हनुमान्‌जी अशोक-वाटिकामें सीताके पास जाते हैं तब सीता अपने बुद्धिकौशलसे सब प्रकार उनकी परीक्षा करती हैं। जबतक उन्हें यह विश्वास नहीं हो जाता कि हनुमान् वास्तवमें श्रीरामचन्द्रके

दूत हैं, शक्तिसम्पन्न हैं और मेरी खोजमें ही यहाँ आये हैं तबतक खुलकर बात नहीं करती हैं।

दाम्पत्य-प्रेम

जब पूरा विश्वास हो जाता है तब पहले स्वामी और देवरकी कुशल पूछती हैं, फिर आँसू बहाती हुई करुणापूर्ण शब्दोंमें कहती हैं—'हनुमन्! रघुनाथजीका चित्त तो बड़ा ही कोमल है। कृपा करना तो उनका स्वभाव ही है। फिर मुझसे वह इतनी निष्ठुरता क्यों कर रहे हैं? वह तो स्वभावसे ही सेवकको सुख देनेवाले हैं, फिर मुझे उन्होंने क्यों बिसार दिया है? क्या श्रीरघुनाथजी कभी मुझे याद भी करते हैं? हे भाई! कभी उस श्यामसुन्दरके कोमल मुखकमलको देखकर मेरी ये आँखें शीतल होंगी? अहो! नाथने मुझको बिलकुल भुला दिया! इतना कहकर सीता रोने लगीं, उनकी वाणी रुक गयी!!

बचनु न आव नयन भरे बारी।
अहह नाथ हौं निपट बिसारी॥

इसके बाद हनुमान्‌जीने जब श्रीरामका प्रेम-सन्देश सुनाते हुए यह कहा कि माता! श्रीरामका प्रेम तुमसे दुगुना है। उन्होंने कहलवाया है—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा।
जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं।
जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

यह सुनकर सीता गद्गद हो जाती हैं। श्रीसीता-रामका परस्पर कैसा आदर्श प्रेम है। जगत्‌के स्त्री-पुरुष यदि इस प्रेमको आदर्श बनाकर परस्पर ऐसा ही प्रेम करने लगें तो गृहस्थ सुखमय बन जाय।

पर-पुरुषसे परहेज

सीताजीने जयन्तकी घटना याद दिलाते हुए कहा—'हे कपिवर! तू ही बता, मैं इस अवस्थामें कैसे जी सकती हूँ? शत्रुको तपानेवाले श्रीराम-लक्ष्मण समर्थ होनेपर भी मेरी सुधि नहीं लेते, इससे मालूम होता हैं अभी मेरा दुःखभोग शेष नहीं हुआ है।' यों कहते-कहते जब सीताके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी तब हनुमान्‌ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा कि—'माता! कुछ दिन धीरज रखो। शत्रुओंके संहार करनेवाले कृतात्मा श्रीराम और लक्ष्मण थोड़े ही समयमें यहाँ आकर रावणका वधकर तुम्हें अवधपुरीमें ले जायँगे। तुम चिन्ता न करो। यदि तुम्हारी विशेष इच्छा हो और मुझे आज्ञा दो तो मैं भगवान् श्रीरामकी और तुम्हारी दयासे रावणका वधकर और लंकाको नष्टकर तुमको प्रभु श्रीरामचन्द्रके समीप ले जा सकता हूँ। अथवा हे देवि! तुम मेरी पीठपर बैठ जाओ, मैं आकाशमार्गसे होकर महासागरको लाँघ जाऊँगा। यहाँके राक्षस मुझे नहीं पकड़ सकेंगे। मैं शीघ्र ही तुम्हें प्रभु श्रीरामचन्द्रके समीप ले जाऊँगा।' हनुमान्‌के वचन सुनकर उनके बल-पराक्रमकी परीक्षा लेनेके बाद सीता कहने लगीं—'हे वानरश्रेष्ठ! पतिभक्तिका सम्यक् पालन करनेवाली मैं अपने स्वामी श्रीरामचन्द्रको छोड़कर स्वेच्छासे किसी भी अन्य पुरुषके अंगका स्पर्श करना नहीं चाहती—

भर्तुर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर।
नाहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम॥

(वा० रा० ५। ३७। ६२)

दुष्ट रावणने बलात् हरण करनेके समय मुझको स्पर्श किया था, उस समय तो मैं पराधीन थी, मेरा कुछ भी वश नहीं चलता था। अब तो श्रीराम स्वयं यहाँ आवें और राक्षसोंसहित रावणका वध करके मुझे अपने साथ ले जायँ, तभी उनकी ज्वलन्त कीर्तिकी शोभा है।

भला विचारिये, हनुमान्-सरीखा सेवक, जो सीताजीको सच्चे हृदयसे मातासे बढ़कर समझता है और सीता-रामकी भक्ति करना ही अपने जीवनका परम ध्येय मानता है, सीता पातिव्रत्य-धर्मकी रक्षाके लिये, इतने घोर विपत्तिकालमें अपने स्वामीके पास जानेके लिये भी उसका स्पर्श नहीं करना चाहतीं। कैसा अद्भुत धर्मका आग्रह है। इससे यह सीखना चाहिये कि भारी आपत्तिके समय भी स्त्रीको यथासाध्य परपुरुषके अंगोंका स्पर्श नहीं करना चाहिये।

वियोगमें व्याकुलता

भगवान् श्रीराममें सीताका कितना प्रेम था और उनसे मिलनेके लिये उनके हृदयमें कितनी अधिक व्याकुलता थी, इस बातका कुछ पता हरणके समयसे लेकर लंका-विजयतकके सीताके विविध वचनोंसे लगता है, उस प्रसंगको पढ़ते-पढ़ते ऐसा कौन है जिसका हृदय करुणासे न भर जाय? परंतु सीताजीकी सच्ची व्याकुलताका सबसे बढ़कर प्रमाण तो यह है कि श्रीरघुनाथजी महाराज उनके लिये विरहव्याकुल स्त्रैण मनुष्यकी भाँति विह्वल होकर उन्मत्तवत् रोते और विलाप करते हुए ऋषिकुमारों, सूर्य, पवन, पशु-पक्षी और जड वृक्षलताओंसे सीताका पता पूछते फिरते हैं—

आदित्य भो लोककृताकृतज्ञ लोकस्य सत्यानृतकर्मसाक्षिन्।
मम प्रिया सा क्व गता हृता वा शंसस्व मे शोकहतस्य सर्वम्॥
लोकेषु सर्वेषु न नास्ति किंचिद्यत्ते न नित्यं विदितं भवेत्तत्।
शंसस्व वायो कुलपालिनीं तां मृता हृता वा पथि वर्तते वा॥

(वा० रा० ३। ६३। १६-१७)

लोकोंके कृत्याकृत्यको जाननेवाले हे सूर्यदेव! तू सत्य

और असत्य कर्मोंका साक्षी है। मेरी प्रियाको कोई हर ले गया है या वह कहीं चली गयी है, इस बातको तू भलीभाँति जानता है। अतएव मुझ शोकपीड़ितको सारा हाल बतला। हे वायुदेव! तीनों लोकोंमें तुझसे कुछ भी छिपा नहीं है, तेरी सर्वत्र गति है। हमारे कुलकी मर्यादाकी रक्षा करनेवाली सीता मर गयी, हरी गयी या कहीं मार्गमें भटक रही है, जो कुछ हो सो यथार्थ कह।

हा गुन खानि जानकी सीता। रूप सील ब्रत नेम पुनीता॥
लछिमन समुझाए बहु भाँती। पूछत चले लता तरु पाँती॥
हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी॥

× × ×

एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी। मनहुँ महा बिरही अति कामी॥

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भगवान् श्रीराम 'महाविरही और अतिकामी' थे। सीताजीका श्रीरामके प्रति इतना प्रेम था और वह उनके लिये इतनी व्याकुल थी कि श्रीरामको भी वैसा ही बर्ताव करना पड़ा। भगवान्‌का यह प्रण है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

श्रीरामने 'महाविरही और अतिकामी' के सदृश लीला कर इस सिद्धान्तको चरितार्थ कर दिया। इससे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि यदि हम भगवान्‌को पानेके लिये व्याकुल होंगे तो भगवान् भी हमारे लिये वैसे ही व्याकुल होंगे। अतएव हम सबको परमात्माके लिये इसी प्रकार व्याकुल होना चाहिये।

अग्नि-परीक्षा

रावणका वध हो गया, प्रभु श्रीरामकी आज्ञासे सीताको स्नान करवाकर और वस्त्राभूषण पहनाकर विभीषण श्रीरामके पास लाते हैं। बहुत दिनोंके बाद प्रिय पति श्रीरघुवीरके पूर्णिमाके चन्द्रसदृश मुखको देखकर सीताका सारा दुःख नाश हो गया और उसका मुख निर्मल चन्द्रमाकी भाँति चमक उठा। परन्तु श्रीरामने यह स्पष्ट कह दिया—'मैंने अपने कर्तव्यका पालन किया। रावणका वधकर तुझको दुष्टके चंगुलसे छुड़ाया, परन्तु तू रावणके घरमें रह चुकी है, रावणने तुझको बुरी नजरसे देखा है, अतएव अब मुझे तेरी आवश्यकता नहीं। तू अपने इच्छानुसार चाहे जहाँ चली जा। मैं तुझे ग्रहण नहीं कर सकता।'

नास्ति मे त्वय्यभिष्वङ्गो यथेष्टं गम्यतामिति॥

(वा० रा० ६। ११५। २१)

श्रीरामके इन अश्रुतपूर्व कठोर और भयंकर वचनोंको सुनकर दिव्य सती सीताकी जो कुछ दशा हुई उसका वर्णन नहीं हो सकता। स्वामीके वचन-बाणोंसे सीताके समस्त अंगोंमें भीषण घाव हो गये। वह फूट-फूटकर रोने लगीं। फिर करुणाको भी करुणा-सागरमें डुबो देनेवाले शब्दोंमें उन्हें धीरे-धीरे गद्गद वाणीसे कहा—

'हे स्वामी! आप साधारण मनुष्योंकी भाँति मुझे क्यों ऐसे कठोर और अनुचित शब्द कहते हैं? मैं अपने शीलकी शपथ करके कहती हूँ कि आप मुझपर विश्वास रखें। हे प्राणनाथ! रावणने हरण करनेके समय जब मेरे शरीरका स्पर्श किया था, तब मैं परवश थी। इसमें तो दैवका ही दोष है। यदि आपको यही करना था, तो हनुमान्‌को जब मेरे पास भेजा था तभी मेरा त्याग कर दिये होते तो अबतक मैं अपने प्राण ही छोड़ देती!' श्रीसीताजीने बहुत-सी बातें कहीं, परन्तु श्रीरामने कोई जवाब नहीं दिया, तब वे दीनता और चिन्तासे भरे हुए लक्ष्मणसे बोलीं—'हे सौमित्रे! ऐसे मिथ्यापवादसे कलंकित होकर मैं जीना नहीं चाहती। मेरे दुःखकी निवृत्तिके लिये तुम यहीं अग्नि-चिता तैयार कर दो। मेरे प्रिय पतिने मेरे गुणोंसे अप्रसन्न होकर जनसमुदायके मध्य मेरा त्याग किया है, अब मैं अग्निप्रवेश करके इस जीवनका अन्त करना चाहती हूँ।' वैदेही सीताके वचन सुनकर लक्ष्मणने कोपभरी लाल-लाल आँखोंसे एक बार श्रीरामचन्द्रकी ओर देखा, परन्तु रामकी रुचिके अधीन रहनेवाले लक्ष्मणने आकार और संकेतसे श्रीरामका रुख समझकर उनके इच्छानुसार चिता तैयार कर दी। सीताने प्रज्वलित अग्निके पास जाकर देवता और ब्राह्मणोंको प्रणामकर दोनों हाथ जोड़कर कहा—

यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥
यथा मां शुद्धचारित्रां दुष्टां जानाति राघवः।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥

(वा० रा० ६। ११६। २५-२६)

'हे अग्निदेव! यदि मेरा मन कभी भी श्रीरामचन्द्रसे चलायमान न हुआ हो तो तुम मेरी सब प्रकारसे रक्षा करो। श्रीरघुनाथजी महाराज मुझ शुद्ध चरित्रवाली या दुष्टाको जिस प्रकार यथार्थ जान सकें वैसे ही मेरी सब प्रकारसे रक्षा करो, क्योंकि तुम सब लोकोंके साक्षी हो।' इतना कहकर अग्निकी प्रदक्षिणा कर सीता निःशंक हृदयसे अग्निमें प्रवेश कर गयीं। सब ओर हाहाकार मच गया।

ब्रह्मा, शिव, कुबेर, इन्द्र, यमराज और वरुण आदि देवता आकर श्रीरामको समझाने लगे। ब्रह्माजीने बहुत कुछ रहस्यकी बातें कहीं।

इतनेमें सर्वलोकोंके साक्षी भगवान् अग्निदेव सीताको गोदमें लेकर अकस्मात् प्रकट हो गये और वैदेहीको श्रीरामके प्रति अर्पण करते हुए बोले—

एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते॥
नैव वाचा न मनसा नैव बुद्ध्या न चक्षुषा।
सुवृत्ता वृत्तशौटीर्यं न त्वामत्यचरच्छुभा॥
रावणेनापनीतैषा वीर्योत्सिक्तेन रक्षसा।
त्वया विरहिता दीना विवशा निर्जने सती॥
रुद्धा चान्तःपुरे गुप्ता त्वच्चित्ता त्वत्परायणा।
रक्षिता राक्षसीभिश्च घोराभिर्घोरबुद्धिभिः॥
प्रलोभ्यमाना विविधं तर्ज्यमाना च मैथिली।
नाचिन्तयत तद्रक्षस्त्वद्गतेनान्तरात्मना॥
विशुद्धभावां निष्पापां प्रतिगृह्णीष्व मैथिलीम्।
न किंचिदभिधातव्या अहमाज्ञापयामि ते॥

(वा० रा० ६। ११८। ५—१०)

'राम! इस अपनी वैदेही सीताको ग्रहण करो। इसमें कोई भी पाप नहीं है। हे चरित्राभिमानी राम! इस शुभलक्षणा सीताने वाणी, मन, बुद्धि या नेत्रोंसे कभी तुम्हारा उल्लंघन नहीं किया। निर्जन वनमें जब तुम इसके पास नहीं थे तब यह बेचारी निरुपाय और विवश थी। इसीसे बलगर्वित रावण इसे बलात् हर ले गया था। यद्यपि इसको अन्तःपुरमें रखा गया था और क्रूर-से-क्रूर स्वभाववाली राक्षसियाँ पहरा देती थीं, अनेक प्रकारके प्रलोभन दिये जाते थे और तिरस्कार भी किया जाता था, परन्तु तुम्हारेमें मन लगानेवाली, तुम्हारे परायण हुई सीताने तुम्हारे सिवा दूसरेका कभी मनसे विचार ही नहीं किया। इसका अन्तःकरण शुद्ध है, यह निष्पाप है, मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम किसी प्रकारकी भी शंका न करके इसको ग्रहण करो।'

अग्निदेवके वचन सुनकर मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम बहुत प्रसन्न हुए, उनके नेत्र हर्षसे भर आये और उन्होंने कहा—

'हे अग्निदेव! इस प्रकार सीताकी शुद्धि आवश्यक थी, मैं यों ही ग्रहण कर लेता तो लोग कहते कि दशरथपुत्र राम मूर्ख और कामी है। (कुछ लोग सीताके शीलपर भी सन्देह करते जिससे उसका गौरव घटता, आज इस अग्नि-परीक्षासे सीताका और मेरा—दोनोंका मुख उज्ज्वल हो गया है।) मैं जानता हूँ कि जनकनन्दिनी सीता अनन्यहृदया और सर्वदा मेरे इच्छानुसार चलनेवाली है। जैसे समुद्र अपनी मर्यादाका त्याग नहीं कर सकता, उसी प्रकार यह भी अपने तेजसे मर्यादामें रहनेवाली है। दुष्टात्मा रावण प्रदीप्त अग्निकी ज्वालाके समान अप्राप्त इस सीताका स्पर्श नहीं कर सकता था। सूर्य-कान्ति-सदृश सीता मुझसे अभिन्न है। जैसे आत्मवान् पुरुष कीर्तिका त्याग नहीं कर सकता, उसी प्रकार मैं भी तीनों लोकोंमें विशुद्ध इस सीताका वास्तवमें कभी त्याग नहीं कर सकता।'

इतना कहकर भगवान् श्रीराम प्रिया सती सीताको ग्रहणकर आनन्दमें निमग्न हो गये। इस प्रसंगसे यह सीखना चाहिये कि स्त्री किसी भी हालतमें पतिपर नाराज न हो और उसे संतोष करानेके लिये न्याययुक्त उचित चेष्टा करे।

गृहस्थ-धर्म

सीता अपने स्वामी और देवरके साथ अयोध्या लौट आती हैं। बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों और सभी सासुओंके चरणोंमें प्रणाम करती हैं। सब ओर सुख छा जाता है। अब सीता अपनी सासुओंकी सेवामें लगती हैं और उनकी ऐसी सेवा करती हैं कि सबको मुग्ध हो जाना पड़ता है। सीताजी गृहस्थका सारा काम सुचारुरूपसे करती हैं जिससे सभी सन्तुष्ट हैं। इससे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि विदेशसे लौटते ही सास और सभी बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंको प्रणाम करना और सास आदिकी सच्चे मनसे सेवा करनी चाहिये एवं गृहस्थका सारा कार्य सुचारुरूपसे करना चाहिये।

समान-व्यवहार

श्रीसीताजी भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न—इन देवरोंके साथ पुत्रवत् बर्ताव करती थीं और खान-पान आदिमें किसी प्रकारका भी भेद नहीं रखती थीं। स्वामी श्रीरामके लिये जैसा भोजन बनता था ठीक वैसा ही सीताजी अपने देवरोंके लिये बनाती थीं। देखनेमें यह बात छोटी-सी मालूम होती है किन्तु इसी बर्तावमें दोष आ जानेके कारण केवल खानेकी वस्तुओंमें भेद रखनेसे आज भारतमें हजारों सम्मिलित कुटुम्बोंकी बुरी दशा हो रही है। सीताजीके इस बर्तावसे स्त्रियोंको खान-पानमें समान व्यवहार रखनेकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

सीता-परित्याग

एक समय भगवान् राम गुप्तचरोंके द्वारा सीताके सम्बन्धमें लोकापवाद सुनकर बहुत ही शोक करते हुए लक्ष्मणसे कहने लगे कि 'भाई! मैं जानता हूँ कि सीता पवित्र और यशस्विनी है, लंकामें उसने तेरे सामने जलती हुई अग्निमें प्रवेश करके अपनी परीक्षा दी थी और सर्वलोक-साक्षी अग्निदेवने स्वयं प्रकट होकर समस्त देवता और ऋषियोंके सामने सीताके पापरहित होनेकी घोषणा की थी तथापि इस

लोकापवादके कारण मैंने सीताके त्यागका निश्चय कर लिया है। इसलिये तू कल प्रातःकाल ही सुमन्त सारथीके रथमें बैठाकर सीताको गंगाके उस पार तमसा नदीके तीरपर महात्मा वाल्मीकिके आश्रमके पास निर्जन वनमें छोड़कर चला आ। तुझे मेरे चरणोंकी और जीवनकी शपथ है, इस सम्बन्धमें तू मुझसे कुछ भी न कहना। सीतासे भी अभी कुछ न कहना।' लक्ष्मणने दुःखभरे हृदयसे मौन होकर आज्ञा स्वीकार की और प्रातःकाल ही सुमन्तसे कहकर रथ जुड़वा लिया।

सीताजीने एक बार मुनियोंके आश्रमोंमें जानेके लिये श्रीरामसे प्रार्थना की थी, अतएव लक्ष्मणके द्वारा वन जानेकी बात सुनकर सीताजीने यही समझा कि स्वामीने ऋषियोंके आश्रमोंमें जानेकी आज्ञा दी है और वह ऋषिपत्नियोंको बाँटनेके लिये बहुमूल्य गहने-कपड़े और विविध प्रकारकी वस्तुएँ लेकर वनके लिये विदा हो गयीं। मार्गमें अशकुन होते देखकर सीताने लक्ष्मणसे पूछा—'भाई! अपने नगर और घरमें सब प्रसन्न तो हैं न?' लक्ष्मणने कहा—'सब कुशल है।' यहाँतक तो लक्ष्मणने सहन किया, परन्तु गंगाके तीरपर पहुँचते ही मर्मवेदनासे लक्ष्मणका हृदय भर आया और वह दीनकी भाँति फूट-फूटकर रोने लगे। संयमशील धर्मज्ञ लक्ष्मणको रोते देखकर सीता कहने लगीं—'भाई! तुम रोते क्यों हो? हमलोग गंगातीर ऋषियोंके आश्रमोंके समीप आ गये हैं, यहाँ तो हर्ष होना चाहिये, तुम उलटा खेद कर रहे हो। तुम तो रात-दिन श्रीरामचन्द्रजीके पास ही रहते हो, क्या दो रात्रिके वियोगमें ही शोक करने लगे? हे पुरुषश्रेष्ठ! मुझको भी राम प्राणाधिक प्रिय हैं, पर मैं तो शोक नहीं करती, इस लड़कपनको छोड़ो और गंगाके उस पार चलकर मुझे तपस्वियोंके दर्शन कराओ। महात्माओंको भिन्न-भिन्न वस्तुएँ बाँटकर और यथायोग्य उनकी पूजाकर एक ही रात रह हमलोग वापस लौट आवेंगे। मेरा मन भी कमलनेत्र, सिंह-सदृश वक्षःस्थलवाले, आनन्ददाताओंमें श्रेष्ठ श्रीरामको देखनेके लिये उतावला हो रहा है।'

लक्ष्मणने इन वचनोंका कोई उत्तर नहीं दिया और सीताके साथ नौकापर सवार हो गंगाके उस पार पहुँचकर फिर उच्च स्वरसे रोना शुरू कर दिया। सीताजीके बारम्बार पूछने और आज्ञा देनेपर लक्ष्मणने सिर नीचा करके गद्गद वाणीसे लोकापवादका प्रसंग वर्णन करते हुए कहा—'माता! आप निर्दोष हैं, किन्तु श्रीरामने आपको त्याग दिया है। अब आप श्रीरामको हृदयमें धारण करके पातिव्रत्य-धर्मका पालन करती हुई वाल्मीकि मुनिके आश्रममें रहें।'

लक्ष्मणके इन दारुण वचनोंको सुनते ही सीता मूर्च्छित-सी होकर गिर पड़ीं। थोड़ी देर बाद होश आनेपर रोकर विलाप करने लगीं और बोलीं—'हे लक्ष्मण! विधाताने मेरे शरीरको दुःख भोगनेके लिये रचा है। मालूम नहीं, मैंने कितनी जोड़ियोंको बिछुड़ाया था, जिससे आज मैं शुद्ध आचरणवाली सती होनेपर भी धर्मात्मा प्रिय पति रामके द्वारा त्यागी जाती हूँ। हे लक्ष्मण! पूर्वकालमें जब मैं वनमें थी तब तो स्वामीकी सेवाका सौभाग्य मिलनेके कारण वनके दुःखोंमें भी सुख मानती थी, परन्तु हे सौम्य! अब प्रियतमके वियोगमें मैं आश्रममें कैसे रह सकूँगी? जन्म-दुःखिनी मैं अपना दुखड़ा किसको सुनाऊँगी? हे प्रभो! महात्मा, ऋषि, मुनि जब मुझसे यह पूछेंगे कि तुझको श्रीरघुनाथजीने क्यों त्याग दिया, क्या तुमने कोई बुरा कर्म किया था? तो मैं क्या जवाब दूँगी। हे सौमित्रे! मैं आज ही इस भागीरथीमें डूबकर अपना प्राण दे देती, परन्तु मेरे अन्दर श्रीरामका वंश-बीज है, यदि मैं डूब मरूँ तो मेरे स्वामीका वंश नाश हो जायगा। इसीलिये मैं मर भी नहीं सकती। हे लक्ष्मण! तुमको राजाज्ञा है तो तुम मुझ अभागिनीको यहीं छोड़कर चले जाओ, परन्तु मेरी कुछ बातें सुनते जाओ।

'मेरी ओरसे मेरी सारी सासुओंका हाथ जोड़कर चरणवन्दन करना और फिर महाराजको मेरा प्रणाम कहकर कुशल पूछना। हे लक्ष्मण! सबके सामने सिर नवाकर मेरा प्रणाम कहना और धर्ममें सदा सावधान रहनेवाले महाराजसे मेरी ओरसे यह निवेदन करना—

जानासि च यथा शुद्धा सीता तत्त्वेन राघव।
भक्त्या च परया युक्ता हिता च तव नित्यशः॥
अहं त्यक्ता च ते वीर अयशोभीरुणा जने।
यच्च ते वचनीयं स्यादपवादः समुत्थितः॥
मया च परिहर्तव्यं त्वं हि मे परमा गतिः।
वक्तव्यश्चैव नृपतिधर्मेण सुसमाहितः॥
यथा भ्रातृषु वर्तेथास्तथा पौरेषु नित्यदा।
परमो ह्येष धर्मस्ते तस्मात्कीर्तिरनुत्तमा॥
यत्तु पौरजने राजन् धर्मेण समवाप्नुयात्।
अहं तु नानुशोचामि स्वशरीरं नरर्षभ॥
यथापवादं पौराणां तथैव रघुनन्दन।
पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः॥
प्राणैरपि प्रियं तस्माद् भर्तुः कार्यं विशेषतः।

(वा० रा० ७। ४८। १२—१८)

'हे राघव! आप जिस प्रकार मुझको तत्त्वसे शुद्ध समझते हैं उसी प्रकार नित्य अपनेमें भक्तिवाली और अनुरक्त चित्तवाली भी समझियेगा। हे वीर! मैं जानती

हूँ कि आपने लोकापवादको दूर करने और अपने कुलकी कीर्ति कायम रखनेके लिये ही मुझको त्याग दिया है, परन्तु मेरे तो आप ही परमगति हैं। हे महाराज! आप जिस प्रकार अपने भाइयोंके साथ बर्ताव करते हैं, प्रजाके साथ भी वही बर्ताव कीजियेगा। हे राघव! यही आपका परम धर्म है और इसीसे उत्तम कीर्ति मिलती है। हे स्वामिन्! प्रजापर धर्मयुक्त शासन करनेसे ही पुण्य प्राप्त होता है। अतएव ऐसा कोई बर्ताव न कीजियेगा जिससे प्रजामें अपवाद हो। हे रघुनन्दन! मुझे अपने शरीरके लिये तनिक भी शोक नहीं है, क्योंकि स्त्रीके लिये पति ही परम देवता है, पति ही परम बन्धु है और पति ही परम गुरु है। नित्य प्राणाधिक प्रिय पतिका प्रिय कार्य करना और उसीमें प्रसन्न रहना, स्त्रीका यह स्वाभाविक धर्म ही है।' क्या ही मार्मिक शब्द हैं! धन्य सती सीता, धन्य धर्मप्रेम और प्रजावत्सलता! धन्य भारतका सतीधर्म!! धन्य भारतीय देवियोंका अपूर्व त्याग!!!

सीताजी कहने लगीं—'हे लक्ष्मण! मेरा यह सन्देश महाराजसे कह देना। भाई! एक बात और है, मैं इस समय गर्भवती हूँ, तुम मेरी ओर देखकर इस बातका निश्चय करते जाओ, कहीं संसारमें लोग यह अपवाद न करें कि सीता वनमें जाकर सन्तान प्रसव करती है।'

सीताके इन वचनोंको सुनकर दीनचित्त लक्ष्मण व्याकुल हो उठे और सिर झुकाकर सीताके पैरोंमें गिर फुफकार मारकर जोर-जोरसे रोने लगे। फिर उठकर सीताजीकी प्रदक्षिणा की और दो घड़ीतक ध्यान करनेके बाद बोले—'माता! हे पापरहिता सीते! आप क्या कह रही हैं? मैंने आजतक आपके चरणोंका ही दर्शन किया है, कभी स्वरूप नहीं देखा। आज भगवान् रामके परोक्ष मैं आपकी ओर कैसे ताक सकता हूँ?' तदनन्तर प्रणाम करके वह रोते हुए नावपर सवार होकर लौट गये और इधर सीता—दु:खभारसे पीड़िता आदर्श पतिव्रता सती सीता—अरण्यमें गला फाड़कर रोने लगी। सीताजीके रुदनको सुनकर वाल्मीकिजी उसे अपने आश्रममें ले गये।

इस प्रसंगसे जो कुछ सीखा जा सकता है वही भारतीय देवियोंका परम धर्म है। सीताजीके उपर्युक्त शब्दोंका नित्य पाठ करना चाहिये और उनके रहस्यको अपने जीवनमें उतारना चाहिये। लक्ष्मणके बर्तावसे भी हमलोगोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि पदमें माताके समान होनेपर भी पुरुष किसी भी स्त्रीके अंग न देखे। इसी प्रकार स्त्रियाँ भी अपने अंग किसीको न दिखावें। वाल्मीकिजीके आश्रममें सीता ऋषिकी आज्ञासे अन्त:पुरमें ऋषिपत्नीके पास रहीं, इससे यह सीखना चाहिये कि यदि कभी दूसरोंके घर रहनेका अवसर आवे तो स्त्रियोंको अन्त:पुरमें रहना चाहिये और इसी प्रकार किसी दूसरी स्त्रीको अपने यहाँ रखना हो तो स्त्रियोंके साथ अन्त:पुरमें ही रखना चाहिये।

जो स्त्री अपने धर्मका प्राणपणसे पालन करती है, अन्तमें उसका परिणाम अच्छा ही होता है।

पाताल-प्रवेश जब भगवान् श्रीरामचन्द्र अश्वमेध-यज्ञ करते हैं और लव-कुशके द्वारा रामायणका गान सुनकर मुग्ध हो जाते हैं तब लव-कुशकी पहचान होती है और श्रीरामकी आज्ञासे सीता वहाँ बुलायी जाती हैं। सीता श्रीरामका ध्यान करती हुई सिर नीचा किये हाथ जोड़कर वाल्मीकि ऋषिके पीछे-पीछे रोती हुई आ रही हैं। वाल्मीकि मुनि सभामें आकर जो कुछ कहते हैं उससे सारा लोकापवाद मिट जाता है और सारा देश सीता-रामके जय-जयकारसे ध्वनित हो उठता है। वाल्मीकिने सीताके निष्पाप होनेकी बात कहते हुए यहाँतक कह डाला कि 'मैंने हजारों वर्षोंतक तप किया है, मैं उस तपकी शपथ खाकर कहता हूँ कि यदि सीता दुष्ट आचरणवाली हो तो मेरे तपके सारे फल नष्ट हो जायँ। मैं अपनी दिव्यदृष्टि और ज्ञानदृष्टिद्वारा विश्वास दिलाता हूँ कि सीता परम शुद्धा है।' वाल्मीकिकी प्रतिज्ञाको सुनकर और सीताको सभामें आयी हुई देखकर भगवान् श्रीराम गद्‌गद हो गये और कहने लगे कि 'हे महाभाग! मैं जानता हूँ कि जानकी शुद्धा है, लव-कुश मेरे ही पुत्र हैं, मैं राजधर्म-पालनके लिये ही प्रिया सीताका त्याग करनेको बाध्य हुआ था। अतएव आप मुझे क्षमा करें।'

उस सभामें ब्रह्मा, आदित्य, वसु, रुद्र, विश्वेदेव, वायु, साध्य, महर्षि, नाग, सुपर्ण और सिद्ध आदि बैठे हुए हैं, उन सबके सामने राम फिर यह कहते हैं कि 'इस जगत्‌में वैदेही शुद्ध हैं और इसपर मेरा पूर्ण प्रेम है'—

शुद्धायां जगतो मध्ये मैथिल्यां प्रीतिरस्तु मे॥

(वा० रा० ७। ९७। ५)

इतनेमें काषायवस्त्र धारण किये हुए सती सीता नीची गर्दन कर श्रीरामका ध्यान करती हुई भूमिकी ओर देखने लगीं और बोलीं—

यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति॥
मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति॥
यथैतत्सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात्परं न च।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति॥

(वा० रा० ७। ९७। १४—१६)

'यदि मैंने रामको छोड़कर किसी दूसरेका कभी मनसे भी चिन्तन न किया हो तो हे माधवी देवी! तू मुझे अपनेमें ले ले, हे पृथ्वी माता! मुझे मार्ग दे। यदि मैंने मन, कर्म और वाणीसे केवल रामका ही पूजन किया हो तो हे माधवी देवी! मुझे अपनेमें ले ले, हे पृथ्वी माता! मुझे मार्ग दे। यदि मैं रामके सिवा और किसीको भी न जानती होऊँ यानी केवल रामको ही भजनेवाली हूँ, यह सत्य हो तो हे माधवी देवी! मुझे अपनेमें स्थान दे और हे पृथ्वी माता! मुझे मार्ग दे।'

इन तीन शपथोंके करते ही अकस्मात् धरती फट गयी, उसमेंसे एक उत्तम और दिव्य सिंहासन निकला, दिव्य सिंहासनको दिव्य देह और दिव्य वस्त्राभूषणधारी नागोंने अपने मस्तकपर उठा रखा था और उसपर पृथिवी देवी बैठी हुई थीं। पृथिवी देवीने सीताका दोनों हाथोंसे आलिंगन किया और 'हे पुत्री! तेरा कल्याण हो।' कहकर उसे गोदमें बैठा लिया। इतनेमें सबके देखते-देखते सिंहासन रसातलमें प्रवेश कर गया। सती सीताके जय-जयकारसे त्रिभुवन भर गया!

सीता-परित्यागके हेतु

यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'भगवान् श्रीराम बड़े दयालु और न्यायकारी थे, उन्होंने निर्दोष जानकर भी सीताका त्याग क्यों किया?' इसमें प्रधानतः निम्नलिखित पाँच कारण हैं, इन कारणोंपर ध्यान देनेसे सिद्ध हो जायगा कि रामका यह कार्य सर्वथा उचित था—

१—रामके समीप इस प्रकारकी बात आयी थी—

अस्माकमपि दारेषु सहनीयं भविष्यति।
यथा हि कुरुते राजा प्रजास्तमनुवर्तते॥

(वा० रा० ७। ४३। १९)

—कि 'रामने रावणके घरमें रहकर आयी हुई सीताको घरमें रख लिया इसलिये अब यदि हमारी स्त्रियाँ भी दूसरोंके यहाँ रह आवेंगी तो हम भी इस बातको सह लेंगे, क्योंकि राजा जो कुछ करता है प्रजा उसीका अनुसरण करती है।' प्रजाकी इस भावनासे भगवान्‌ने यह सोचा कि सीताका निर्दोष होना मेरी बुद्धिमें है। साधारण लोग इस बातको नहीं जानते। वे तो इससे यही शिक्षा लेंगे कि परपुरुषके घर बिना बाधा स्त्री रह सकती है, ऐसा होनेसे स्त्री-धर्म बिलकुल बिगड़ जायगा, प्रजामें वर्णसंकरताकी वृद्धि होगी, अतएव प्रजाके धर्मकी रक्षाके लिये प्राणाधिका सीताका त्याग कर देना चाहिये। सीताके त्यागमें रामको बड़ा दुःख था, उनका हृदय विदीर्ण हो रहा था। उनके हृदयकी दशाका पूरा अनुभव तो कोई कर ही नहीं सकता, किन्तु वाल्मीकिरामायण और उत्तररामचरितको पढ़नेसे किंचित् दिग्दर्शन हो सकता है। श्रीरामने यहाँ प्रजाधर्मकी रक्षाके लिये व्यक्तिधर्मका बलिदान कर दिया। प्रजारंजनके यज्ञानलमें आत्मस्वरूपा सीताकी आहुति दे डाली। इससे उनके प्रजाप्रेमका पता लगता है। सीता राम हैं और राम सीता हैं, शक्ति और शक्तिमान् मिलकर ही जगत्‌का नियन्त्रण करते हैं, अतएव सीताके त्यागमें कोई आपत्ति नहीं। इस लोकसंग्रहके हेतुसे भी सीताका त्याग उचित है।

२—चाहे थोड़ी ही संख्यामें हो सीताका झूठा अपवाद करनेवाले लोग थे। यह अपवाद त्यागके बिना मिट नहीं सकता था और यदि सीता वाल्मीकिके आश्रममें रहकर उनके द्वारा प्रतिज्ञाके साथ शुद्ध न कही जाती और पृथिवीमें न समाती तो शायद यह अपवाद मिटता भी नहीं, सम्भव है और बढ़ जाता और सीताका नाम आज जिस भावसे लिया जाता है शायद वैसे न लिया जाता। इस हेतुसे भी सीताका त्याग उचित है।

३—सीता श्रीरामकी परम भक्ता थीं, उनकी आश्रिता थीं, उनकी परम प्यारी अर्द्धांगिनी थीं, ऐसी परम पुनीता सतीको निष्ठुरताके साथ त्यागनेका दोष भगवान् श्रीरामने अपने ऊपर इसीलिये ले लिया कि इससे सीताके गौरवकी वृद्धि हुई, सीताका झूठा कलंक भी मिट गया और सीता जगत्-पूज्या बन गयीं। भगवान् अपने भक्तोंका गौरव बढ़ानेके लिये अपने ऊपर दोष ले लिया करते हैं और यही यहाँपर भी हुआ।

४—अवतारका लीलाकार्य प्रायः समाप्त हो चुका था, देवतागण सीताजीको इस बातका संकेत कर गये थे। अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि 'दस हजार वर्षतक मायामनुष्यरूपधारी भगवान् विधिपूर्वक राज्य करते रहे और सब लोग उनके चरण-कमलोंको पूजते रहे। भगवान् श्रीराम राजर्षि परम पवित्र एक-पत्नीव्रती थे और लोकसंग्रहके लिये गृहस्थके सब धर्मोंका यथाविधि पालन करते थे। पतिप्राणा सीताजी प्रेम, अनुकूल आचरण, नम्रता, इन्द्रियोंका दमन, लज्जा और प्रतिकूल आचरणमें भय आदि गुणोंके द्वारा भगवान्‌का भाव समझकर उनके मनको प्रसन्न करती थीं। एक समय श्रीराम पुष्प-वाटिकामें बैठे हुए थे और सीताजी उनके कोमल चरणोंको दबा रही थीं। सीताजीने एकान्त देखकर भगवान्‌से कहा कि हे देवदेव! आप जगत्‌के स्वामी, परमात्मा, सनातन, सच्चिदानन्दघन और आदि-मध्यान्तरहित तथा सबके कारण हैं। हे देव! उस दिन इन्द्रादि देवताओंने मेरे पास आकर स्तुति करते हुए यह कहा कि 'हे जगन्माता! आप भगवान्‌की चित्-शक्ति हैं, आप पहले वैकुण्ठ पधारनेकी कृपा करें तो भगवान् राम भी वैकुण्ठ पधारकर हमलोगोंको सनाथ

करेंगे।' देवताओंने जो कुछ कहा था सो मैंने निवेदन कर दिया है। मैं कोई आज्ञा नहीं करती, आप जैसा उचित समझें वैसा करें।' क्षणभर सोचकर भगवान्‌ने कहा कि—

देवि जानामि सकलं तत्रोपायं वदामि ते।
कल्पयित्वा मिषं देवि लोकवादं त्वदाश्रयम्॥
त्यजामि त्वां वने लोकवादाद्भीत इवापरः।
भविष्यतः कुमारौ द्वौ वाल्मीकेराश्रमान्तिके॥
इदानीं दृश्यते गर्भः पुनरागत्य मेऽन्तिकम्।
लोकानां प्रत्ययार्थं त्वं कृत्वा शपथमादरात्॥
भूमेर्विवरमात्रेण वैकुण्ठं यास्यसि द्रुतम्।
पश्चादहं गमिष्यामि एष एव सुनिश्चयः॥

(अ० रा० ७। ४। ४१—४४)

'हे देवि! मैं सब कुछ जानता हूँ और तुमको एक उपाय बतलाता हूँ। हे सीते! मैं तुम्हारे लोकापवादका बहाना रचकर साधारण मनुष्यकी तरह लोकापवादके भयसे तुमको वनमें त्याग दूँगा। वहाँ वाल्मीकिके आश्रममें तुम्हारे दो पुत्र होंगे, क्योंकि इस समय तुम्हारे गर्भ है। तदनन्तर तुम मेरे पास आ लोगोंको विश्वास दिलानेके लिये बड़े आदरसे—शपथ खा पृथिवीके विवरमें प्रवेशकर तुरन्त वैकुण्ठको चली जाओगी और पीछेसे मैं भी आ जाऊँगा। यही निश्चय है।' यह भी सीताके त्यागका एक कारण है।

५—पूर्वकालमें एक समय युद्धमें देवताओंसे हारकर भागे हुए दैत्य भृगुजीकी स्त्रीके आश्रयमें चले गये और ऋषि-पत्नीसे अभय प्राप्तकर निर्भय हो वहाँ रहने लगे थे। 'दैत्योंको भृगु-पत्नीने आश्रय दिया।' इस बातसे कुपित होकर भगवान् विष्णुने उसका चक्रसे सिर काट डाला था। पत्नीको इस प्रकार मारे जाते देखकर भृगु ऋषिने क्रोधमें हतज्ञान होकर भगवान्‌को शाप दिया था कि 'हे जनार्दन! आपने कुपित होकर मेरी अवध्य पत्नीको मार डाला, इसलिये आपको मनुष्यलोकमें जन्म लेना होगा और दीर्घकालतक पत्नी-वियोग सहना पड़ेगा।' भगवान्‌ने लोकहितके लिये इस शापको स्वीकार किया और उसी शापको सत्य करनेके लिये अपनी अभिन्न शक्ति सीताको लीलासे ही वनमें भेज दिया।

इत्यादि अनेक कारणोंसे सीताका निर्वासन रामके लिये उचित ही था। असली बात तो यह है कि भगवान् राम और सीता साक्षात् नारायण और शक्ति हैं। एक ही महान् तत्त्वके दो रूप हैं। उनकी लीला वे ही जानें, हमलोगोंको आलोचना करनेका कोई अधिकार नहीं। हमें तो चाहिये कि उनकी दिव्य लीलाओंसे लाभ उठावें और अपने मनुष्य-जीवनको पवित्र करें।

मानवलीलामें श्रीसीताजी इस बातको प्रमाणित कर गयीं कि बिना दोष भी यदि स्वामी स्त्रीको त्याग दे तो स्त्रीका कर्तव्य है कि इस विपत्तिमें दुःखमय जीवन बिताकर भी अपने पातिव्रत्यधर्मकी रक्षा करे, परिणाम उसका कल्याण ही होगा।

सत्य और न्याय अन्तमें अवश्य ही शुभ फल देंगे,

उपसंहार

सीताने अपने जीवनमें कठोर परीक्षाएँ देकर स्त्रीमात्रके लिये यह मर्यादा स्थापित कर दी कि जो स्त्री आपत्तिकालमें सीताकी भाँति धर्मका पालन करेगी उसकी कीर्ति संसारमें सदाके लिये प्रकाशित हो जायगी। सीतामें पतिभक्ति, सीताका भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्नके साथ निर्दोष वात्सल्य-प्रेम, सासुओंके प्रति सेवाभाव, सेवकोंके साथ प्रेमका बर्ताव, नैहर और ससुरालमें सबके साथ आदर्श प्रीति और सबके सम्मान करनेकी चेष्टा, ऋषियोंकी सेवा, लव-कुश-जैसे वीर पुत्रोंका मातृत्व, उनको शिक्षा देनेकी पटुता, साहस, धैर्य, तप, वीरत्व और आदर्श धर्मपरायणता आदि सभी गुण पूर्ण विकसित और सर्वथा अनुकरणीय हैं। हमारी जो माताएँ और बहनें प्रमाद, मोह और आसक्तिको त्यागकर सीताके चरित्रका अनुकरण करेंगी उनके अपने कल्याणमें तो शंका ही क्या है, वे अपने पति और पुत्रोंको भी तार सकती हैं। अधिक क्या, जिसपर उनकी दया हो जायगी उसका भी कल्याण होना सम्भव है। ऐसी सती-शिरोमणि पतिव्रता स्त्री दर्शन और पूजनके योग्य है। मनुष्योंके द्वारा ही नहीं बल्कि देवताओंके द्वारा भी वह पूजनीय है और अपने चरित्रसे त्रिलोकीको पवित्र करनेवाली है।

यद्यपि श्रीसीताजी साक्षात् भगवती और परमात्माकी शक्ति थीं तथापि उन्होंने अपने मनुष्य-जीवनमें लोकशिक्षाके लिये जो चरित्र किया है, वे सब ऐसे हैं कि जिनका अनुकरण सभी स्त्रियाँ कर सकती हैं। संसारकी मर्यादाके लिये ही सीता-रामका अवतार था। अतएव उनके चरित्र और उपदेश अलौकिक न होकर ऐसे व्यावहारिक थे कि जिनको काममें लाकर हमलोग लाभ उठा सकते हैं। जो स्त्री या पुरुष यह कहकर कर्तव्यसे छूटना चाहते हैं कि 'श्रीसीता-राम साक्षात् शक्ति और ईश्वर थे, हम उनके चरित्रोंका अनुकरण नहीं कर सकते।' वे कायर और अभक्त हैं। वे श्रीरामको ईश्वरका अवतार केवल कथनभरके लिये ही मानते हैं। सच्चे भक्तोंको तो श्रीराम-सीताके चरित्रका यथार्थ अनुकरण ही करना चाहिये।

तेईस प्रश्न

एक सज्जनके प्रश्न हैं—(प्रश्नोंकी भाषा कुछ सुधार दी गयी है, भाव वही हैं। लेख बड़ा होनेसे बचनेके लिये उत्तर संक्षेपमें ही दिया गया है।)

प्र०—जीव कितनी जातिके होते हैं और जीवोंके कितने भेद होते हैं?

उ०—आत्मरूपसे जीव एक ही है। परन्तु शरीरोंके सम्बन्धभेदसे उसकी अनन्त जातियाँ हैं। शास्त्रोंमें स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज और जरायुजभेदसे चौरासी लाख जातियाँ मानी गयी हैं।

प्र०—जीवके कर्ता-हर्ता भगवान् हैं या नहीं?

उ०—शरीरके कर्ता-हर्ता तो ईश्वर हैं। जीव आत्मरूपसे अनादि है, उसका कोई कर्ता नहीं।

प्र०—जीवके कर्म साथ हैं या नहीं?

उ०—जीवके कर्म अनादि हैं और जबतक उसको सम्यक् ज्ञान नहीं हो जाता, तबतक साथ रहते हैं।

प्र०—जीव और कर्म एक ही वस्तु है या भिन्न-भिन्न?

उ०—जीव और कर्म भिन्न-भिन्न वस्तु है। जीव चेतन और नित्य है। कर्म जड और अनित्य है।

प्र०—जीवके कर्म जन्मसे साथ हैं या अनादि हैं?

उ०—इस प्रश्नका उत्तर तीसरे उत्तरमें दिया जा चुका है। विशेष देखना हो तो 'कल्याण-प्राप्तिके उपाय' में प्रकाशित 'मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है या परतन्त्र?', 'कर्मका रहस्य' शीर्षक लेख देखने चाहिये।

प्र०—पुण्य और धर्म एक ही वस्तु है या दो?

उ०—पुण्य और धर्म भिन्न-भिन्न है। पुण्य उस सुकृतको कहते हैं जो धर्मका एक प्रधान अंग है और धर्म कर्तव्य-पालनको कहते हैं। धर्मके सम्बन्धमें विशेष जानना हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'धर्म क्या है?' नाम्नी पुस्तिका देखनी चाहिये।

प्र०—पाप और अधर्म एक ही वस्तु है या दो?

उ०—पाप और अधर्म भिन्न-भिन्न है। दुष्कृत यानी निषिद्ध कर्मको पाप कहते हैं जो अधर्मका एक प्रधान अंग है और कर्तव्य-विरुद्ध कर्म करने अथवा कर्तव्यके परित्याग करनेको अधर्म कहते हैं।

प्र०—धर्म हिंसामें है या अहिंसामें?

उ०—धर्म अहिंसामें है। परन्तु ऐसी क्रिया जो देखनेमें हिंसाके सदृश प्रतीत होती है, पर जो निःस्वार्थभावसे परिणाममें (जिसके प्रति हिंसा-सी दीखती है) उस व्यक्तिके हितके लिये अथवा लोक-हितके लिये की जाती है, वह वास्तवमें हिंसा नहीं है।

प्र०—दया कितने प्रकारकी होती है तथा कौन-सी दयाके पालनसे पुण्य होता है?

उ०—मेरी समझसे दया मुख्यतः एक ही प्रकारकी होती है। दुःखी जीवोंका किसी प्रकारसे भी हित हो, ऐसे विशुद्ध भावका नाम दया है।

प्र०—किन लक्षणोंवाले ब्राह्मणको दान देनेसे पुण्य होता है?

उ०—शास्त्रोंके ज्ञाता और गीताकथित ब्राह्मणके स्वाभाविक लक्षणोंसे युक्त ब्राह्मण सब प्रकारसे दानके पात्र हैं। गीतामें ब्राह्मणके लक्षण यह बतलाये हैं—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

(१८। ४२)

'अन्तःकरणका निग्रह, इन्द्रियोंका दमन, बाहर-भीतरकी शुद्धि, धर्मके लिये कष्टसहनरूप तप, क्षमा, मन-इन्द्रियाँ और शरीरकी सरलता, आस्तिक बुद्धि, शास्त्र-ज्ञान और परमात्म-तत्त्वका अनुभव—ये ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं।'

प्र०—सुपात्र साधुके लक्षण क्या हैं और उनके कैसे कर्म होते हैं?

उ०—साधुके लक्षण और कर्म ऐसे होने चाहिये—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥

(गीता १३। ७—११)

'श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, प्राणिमात्रको किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणीकी सरलता, श्रद्धा-भक्तिसहित गुरुकी सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, अन्तःकरणकी स्थिरता, मन और इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह, इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव, अहंकारका अभाव, जन्म-मृत्यु-जरा-रोग आदिमें बारम्बार दुःख-दोषोंका विचार करना, प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना अर्थात् मनके

अनुकूल तथा प्रतिकूलकी प्राप्तिमें हर्ष-शोकादि विकारोंका न होना। परमेश्वरमें एकीभावसे स्थितिरूप ध्यानयोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति* एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव, विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेम न होना, अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सर्वत्र देखना—ये ज्ञानके (साधन) हैं, जो इससे विपरीत है वही अज्ञान है, ऐसा कहा गया है।' इनके अतिरिक्त भगवान्‌ने अपने प्यारे भक्तोंके निम्नलिखित लक्षण और कर्म बतलाये हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

(गीता १२। १३—२०)

(जो पुरुष) 'सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित सबका प्रेमी, हेतुरहित दयालु, ममतासे रहित, अहंकारादिसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है, जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ निरन्तर लाभ-हानिमें सन्तुष्ट है तथा मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए मुझ (भगवान्)-में दृढ़ निश्चयवाला है, वह मुझमें अर्पण किये हुए मन और बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है। जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता तथा जो हर्ष, ईर्ष्या, भय और उद्वेगसे रहित है, वह भक्त मुझको प्रिय है। जो पुरुष आकांक्षासे रहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध और चतुर है अर्थात् जिस कामके लिये आया था उसको पूरा कर चुका है एवं जो पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है वह सर्व आरम्भोंका त्यागी अर्थात् मन, वाणी, शरीरद्वारा प्रारब्धसे होनेवाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्यागी, मेरा भक्त मुझको प्रिय है। जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्यागी है वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है। जो शत्रु-मित्र और मान-अपमानमें सम है तथा जो सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और सब संसारमें आसक्तिसे रहित है, जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला और मननशील है, जो जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही सन्तुष्ट है, अपने रहनेके स्थानमें ममतासे रहित है, वह स्थिर-बुद्धिवाला भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है। जो मेरे परायण हुए श्रद्धायुक्त पुरुष इस उपर्युक्त धर्ममय अमृतको निष्कामभावसे सेवन करते हैं वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

ऐसे भगवान्‌के प्यारे पुरुष ही वास्तवमें सर्वथा सुपात्र साधु हैं।

प्र०—भगवान् किसे कहते हैं? भगवान्‌के क्या लक्षण हैं?

उ०—भगवान् वास्तवमें अनिर्वचनीय हैं, जिसको भगवान्‌के स्वरूपका तत्त्वसे ज्ञान है, वही उनको जानता है परन्तु वह भी वाणीसे उनका वर्णन नहीं कर सकता। भगवान्‌के सम्बन्धमें विस्तारसे जानना हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'भगवान् क्या हैं?' नामक पुस्तकको ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये।

प्र०—सुपात्र मनुष्यके क्या लक्षण हैं?

उ०—सुपात्र मनुष्य वही है, जिसमें दैवी-सम्पदाके गुण विकसित हों। दैवी-सम्पत्तिके गुणोंके विषयमें भगवान्‌ने कहा है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

(गीता १६। १—३)

'हे अर्जुन! सर्वथा भयका अभाव, अन्तःकरणकी अच्छी प्रकारसे स्वच्छता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति, सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन,

* केवल एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको ही अपना स्वामी मानते हुए स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके श्रद्धा और भावसहित परम प्रेमसे भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करना अव्यभिचारिणी भक्ति है।

भगवत्पूजा और अग्नि-होत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण, वेद-शास्त्रोंके पठन-पाठनपूर्वक भगवत्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट-सहन, शरीर और इन्द्रियोंसहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट नहीं देना, सबसे यथार्थ और प्रियभाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोध न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरामता अर्थात् चित्तकी चंचलताका अभाव, किसीकी भी निन्दा आदि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरण करनेमें लज्जा, व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर-भीतरकी शुद्धि, किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव दैवी-सम्पदाको प्राप्त हुए पुरुषके ये (२६) लक्षण हैं।'

प्र०—मुक्ति-धर्म और सांसारिक धर्म एक है या दो? मनुष्यको कौन-से धर्मका पालन करना चाहिये, जिससे मुक्तिकी प्राप्ति हो?

उ०—क्रियाके स्वरूपसे अलग-अलग है। सांसारिक धर्म भी निष्कामभावसे किया जाय तो वह भी मुक्तिदायक हो सकता है। मुक्ति-धर्म तो मुक्तिदायक है ही। वर्णभेदके अनुसार सांसारिक धर्मका स्वरूप और निष्कामभावसे भगवत्-पूजाके रूपमें किये जानेपर परमसिद्धिरूप परमात्माकी प्राप्तिका विवेचन गीता १८वें अध्यायके श्लोक ४१ से ४६ तक और मुक्ति-धर्म यानी ज्ञाननिष्ठाका स्वरूप १८वें अध्यायके श्लोक ४९ से ५५ तक देखना चाहिये।

प्र०—स्वर्ग और देवताओंका भवन एक ही है या दो?

उ०—एक ही है, देवताओंके भिन्न-भिन्न लोकोंको ही स्वर्ग कहते हैं।

प्र०—किन-किन देवताओंका स्मरण करना चाहिये, जिससे जीवका निस्तार हो?

उ०—परम दयालु, परम सुहृद्, परम प्रेमी, परम उदार, विज्ञानानन्दमय, नित्य, चेतन, अनन्त, शान्त, सर्वशक्तिमान् सृष्टिकर्ता परमात्मदेव एक ही है। उसीको लोग ब्रह्म, विष्णु, शिव, ब्रह्मा, सूर्य, शक्ति, गणेश, अरिहन्त, बुद्ध, अल्लाह, जिहोवा, गॉड आदि अनेक नामोंसे पुकारते हैं। इस भावनासे ऐसे परमात्माके किसी भी नाम-रूपका स्मरण-पूजन करनेसे जीवका निस्तार हो सकता है।

प्र०—जीव कौन-कौन-सी गतिमें जाते हैं?

उ०—नीच कर्म करनेवाले तामसी पापी जीव नरकोंमें जाते हैं। नारकीय गतिके दो भेद हैं—स्थानविशेष और योनिविशेष। रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक आदि नरकोंमें यमराजके द्वारा जो यातना मिलती है वह स्थानविशेषकी गति है और देव, पितर, मनुष्यके अतिरिक्त पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदिमें जन्म लेना योनिविशेषकी गति मानी जाती है। राजसी कर्म करनेवाले मनुष्य-योनिको प्राप्त होते हैं और सात्त्विक पुरुष ऊँची गति—देव-योनिमें जाते हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥
(१४।१८)

'सत्त्वगुणमें स्थित हुए पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते है एवं तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित हुए तामस मनुष्य अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं।

प्र०—स्वर्गमें गया हुआ जीव वापस आता है या नहीं? क्या कोई वापस आया है?

उ०—मुक्त होनेपर जीव वापस नहीं आते। स्वर्गमें गये हुए जीव वापस आते हैं। गीतामें कहा है—'तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकाम कर्म करनेवाले, सोमरसका पान करनेवाले, स्वर्ग-प्राप्तिके प्रतिबन्धक देव-ऋणरूप पापसे मुक्त हुए पुरुष मुझको यज्ञोंद्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं, वे पुरुष अपने पुण्योंके फलरूप इन्द्रलोकको प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं और वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्गके साधनरूप तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मके शरण हुए भोगोंकी कामनावाले पुरुष बारम्बार जाने-आनेमें ही लगे रहते हैं।' (९।२०-२१) इससे वापस आना सिद्ध है। प्राचीनकालमें महाराजा त्रिशंकु, ययाति, नहुष आदि अनेक वापस आये हैं।

प्र०—देवताओंके भवनमें गया हुआ जीव फिर इस संसारमें जन्म ले सकता है या नहीं?

उ०—निष्काम साधक जो अर्चिमार्गसे ब्रह्मलोकमें जाते हैं, वापस नहीं आते। वे क्रममुक्तिके द्वारा परमात्माके परमधाममें जा पहुँचते हैं। परन्तु धूममार्गसे जानेवाले सकामी वापस आते हैं (गीता अध्याय ८ श्लोक २४ से २६ देखना चाहिये)। 'छान्दोग्य और बृहदारण्यक' उपनिषद्‌में भी इसका विस्तारसे वर्णन है। विशेषरूपसे यह विषय समझना हो तो 'जीव-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर' शीर्षक लेख इसी पुस्तकमें आगे देखना चाहिये।

प्र०—मान लीजिये, किसी बीमार आदमीका रोग दो कबूतरोंका खून व्यवहार करनेसे दूर होता हो, इसमें कबूतर मारकर खून लगाना बतलानेवाले और मारकर खून लगानेवाले, इन दोनोंमेंसे किसको पुण्य हुआ और किसको पाप?

उ०—बीमारी आदिके लिये किसी भी जीवकी हिंसा करनेवाले, बतलानेवाले और हिंसासे मिली हुई वस्तु काममें लानेवाले—तीनों ही आसक्ति और स्वार्थ होनेके कारण पापके भागी होते हैं।

प्र०—एक अविवाहित मनुष्य परस्त्रीके पास जाता है, उसको परस्त्रीसे छुड़ाकर कोई उसका विवाह करा दे तो विवाह कराने और करनेवालेमेंसे कौन-सा पापका भागी हुआ और कौन-सा पुण्यका?

उ०—विवाहके योग्य पुरुषका शास्त्रानुकूल विवाह हो और विवाहके पश्चात् स्त्री-पुरुष न्याययुक्त गृहस्थाश्रमका पालन करें तो विवाह करने-करानेवाले—दोनों ही पुण्यके भागी होते हैं।

प्र०—गति कितने प्रकारकी होती है?

उ०—गति अर्थात् मुक्ति दो प्रकारकी होती है। शरीर रहते भी सम्यक् ज्ञान प्राप्त होनेपर जीवन्मुक्ति हो सकती है, जीता हुआ ही वह पुरुष मुक्त हो जाता है। इसीलिये उसको जीवन्मुक्त कहते हैं और उसके शरीरका कार्य भी प्रारब्धानुसार चलता रहता है। ऐसे जीवन्मुक्तकी स्थिति बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—'हे अर्जुन! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशको और रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिको तथा तमोगुणके कार्यरूप मोहको भी न तो प्रवृत्त होनेपर बुरा समझता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकांक्षा ही करता है। जो साक्षीके सदृश स्थित हुआ गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता और गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं, ऐसा समझता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहता है, उस स्थितिसे कभी चलायमान नहीं होता और जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ दुःख-सुखको समान समझनेवाला है तथा मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समानभाववाला और धैर्यवान् है तथा जो प्रिय-अप्रियको बराबर समझता है, अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समानभाववाला है, मान-अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है वह सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हुआ पुरुष गुणातीत कहा जाता है (गीता १४। २२—२५)। यह गुणातीत ही जीवन्मुक्त है। दूसरी विदेहमुक्ति मरणके अनन्तर होती है। अत्यन्त ऊँची स्थितिमें मरनेवालेकी यही गति होती है। गीतामें कहा है—

'स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।'

(२। ७२)

'अन्तकालमें भी इस निष्ठामें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है।'

प्र०—दान देनेवाले और दान लेनेवाले—इन दोनोंमें किसको पुण्य होता है और किसको पाप होता है?

उ०—आसक्ति और स्वार्थको त्यागकर सत्पात्रमें जो दान दिया-लिया जाता है उसमें देने और लेनेवाले—दोनोंको ही परम धर्म-लाभ होता है। स्वार्थबुद्धिसे लेनेवाले सुपात्रका पुण्य क्षय होता है और कुपात्रको नरककी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार स्वार्थबुद्धिसे सुपात्रके प्रति दान देनेवालेको पुण्य और कुपात्रके प्रति देनेवालेको पाप होता है।

शंका-समाधान

प्र०—उद्देश्यहीनता एवं निष्काम कर्ममें क्या अन्तर है?

उ०—उद्देश्यहीन कर्म एवं निष्काम कर्म दो पृथक् वस्तु हैं। उद्देश्यहीन कर्म व्यर्थ होनेके कारण प्रमादस्वरूप, तमोगुणके कार्य एवं आत्माको हानि पहुँचानेवाले हैं। शास्त्रोंमें इनका निषेध किया गया है। पर निष्काम कर्म अन्तःकरणको पवित्र करनेवाले, परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक एवं कर्म-बन्धनसे छुड़ानेवाले हैं। निष्काम कर्म उद्देश्यहीन नहीं, पर फलेच्छारहित अवश्य होते हैं। जिस प्रकार एक नौकर स्वामीकी आज्ञा-पालनको कर्तव्य जानकर, स्वामीको प्रसन्न करनेके लिये कर्म करता है, उसका उद्देश्य केवल मालिकको प्रसन्न करना और उसकी आज्ञा पालन करना है। इसके अतिरिक्त वह कर्मके किसी फलसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता। फलका भागी तो मालिक ही होता है। इसी प्रकार परम पिता परमेश्वरकी आज्ञा पालन करते हुए, कर्मफलकी इच्छाको त्याग करके केवल भगवत्प्रीत्यर्थ कर्तव्यपालनस्वरूप किये हुए कर्म निष्काम कर्म होते हैं, इनमें आसक्ति और ममताको स्थान नहीं रहता।

प्र०—गन्तव्य स्थानके निश्चय बिना राह चलना कैसे सम्भव है? क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि कोई भी कार्य लक्ष्य स्थिर किये बिना नहीं होते।

उ०—उत्तम उद्देश्य यानी परमात्माकी प्रसन्नताका लक्ष्य रखकर कर्म करने चाहिये। उद्देश्य रखना पाप नहीं। इच्छा, कामना, आसक्ति और ममता ही पापका मूल है।

प्र०—यदि कोई ईश्वरसे किसी वस्तुकी याचना न करके केवल ईश्वर-भक्ति और ईश्वर-प्रेमकी ही याचना करता है तो क्या इसको कामना नहीं कहेंगे? क्या यह माँग निष्काम कहलायेगी? धन-धान्यके याचक कौड़ीके याचक हैं और भक्त अमूल्य रत्नके याचक हैं। भक्तोंके लिये भक्ति सुख है और धन चाहनेवालेके लिये धन सुख है। हुए तो दोनों याचक ही, फिर भक्तोंमें निष्कामता कहाँ रही?

उ०—जो प्रेम केवल प्रेमके लिये ही होता है वही विशुद्ध प्रेम है, उसके समान संसारमें और कोई पदार्थ नहीं है। इसी प्रेमका लक्ष्य कर जो स्वार्थरहित हो परमेश्वरसे प्रेम करता है, मुक्ति तो बिना चाहे ही उसके चरणोंमें लोटती है। इस प्रेमकी कामना निर्मल पवित्र कामना है, इस उद्देश्यसे किये जानेवाले कर्म सकाम नहीं होते। क्योंकि ईश्वरमें प्रेम होना किसी भी कर्मका फल नहीं है, यह तो कर्मोंके फल-त्यागका फल है; निष्कामकर्मी कर्मोंके फलका त्याग करता है, पर वह त्यागके फलका त्याग नहीं करता। श्रीभरत और श्रीहनूमान् आदिने ईश्वरमें प्रेम होनेकी याचना की थी। अवश्य ही यह याचना थी, पर कर्मोंके फलकी याचना नहीं थी; इसीसे उनकी निष्कामतामें कोई दोष नहीं आया, वे सकाम नहीं समझे गये। क्योंकि सकाम कर्मोंका फल तो पुत्र-धनादि या स्वर्गादिकी प्राप्ति है जो संसारमें फँसानेवाले हैं; ईश्वर-प्रेम या ईश्वर-प्राप्ति संसारसे उद्धार करनेवाले हैं।

हाँ, त्यागके फलका त्याग और भी श्रेष्ठ है; पर वह साधककी समझमें आना कठिन है, उसे तो सिद्ध पुरुष ही समझ सकते हैं। ऐसा त्याग ईश्वर और ईश्वर-प्राप्त भक्त ही कर सकते हैं। तुलसीदासजीने कहा भी है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

अतः प्रेमका भिखारी बननेमें कोई आपत्ति नहीं, प्रेमका भिखारी तो हम भगवान्‌को भी कह सकते हैं। कोई मनुष्य किसीसे किसी बातकी इच्छा न रखकर हेतुरहित प्रेम करे तो वह प्रशंसाका ही पात्र है, फिर उस परम प्यारे परमेश्वरसे प्रेम करना तो बहुत ही प्रशंसनीय है। इस प्रेमके त्यागकी बात भगवान्‌ने कहीं नहीं कही, इसे तो धारण करनेयोग्य ही बतलाया गया है।

प्र०—गीतामें '**जहि शत्रुम्**' इत्यादि वचनोंमें भगवान् इच्छाको शत्रुवत् बतलाते हैं, पर '**धर्माविरुद्धो भूतेषु**' इत्यादिमें धर्मानुकूल इच्छाको विधेय भी कहते हैं एवं बिना इच्छाके कार्य हो नहीं सकते, क्योंकि विद्याध्ययनकी इच्छाके बिना पढ़ा नहीं जाता, भूखके बिना खाया नहीं जाता, तो फिर धार्मिक कार्योंकी भी इच्छा करनी चाहिये या नहीं? यदि करनी चाहिये तो '**यक्ष्ये दास्यामि**' इसको गीतामें अनुचित क्यों बतलाते हैं? क्या दान करना धर्म नहीं है? यदि सकाम कर्म मुक्तिदायक नहीं है तो 'धर्माविरुद्ध' यह क्यों कहा गया?

उ०—उद्देश्यपूर्तिके लिये की हुई इच्छा और फलप्राप्तिकी इच्छामें बहुत अन्तर है। उद्देश्यपूर्तिकी इच्छा फलेच्छा नहीं है। निष्काम कर्मोंमें फलकी इच्छाका त्याग है, कर्म करनेकी इच्छाका त्याग नहीं, अतः धार्मिक कर्म करनेकी इच्छा करनेमें कोई दोष नहीं, पर उन कर्मोंके फलकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। भगवान्‌ने श्रीगीतामें कहा है—

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

(१८।६)

'हे पार्थ! यह यज्ञ, दान और तपरूप कर्म तथा और भी सम्पूर्ण श्रेष्ठ कर्म, आसक्तिको और फलोंको त्यागकर अवश्य करने चाहिये, ऐसा मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।'

स्वार्थरहित उत्तम कर्म करनेकी इच्छा निर्मल पवित्र इच्छा है, यह कर्मोंको सकाम नहीं बनाती। इसको सकाम मानकर कर्म न करना तो भ्रममें पड़ना है। फिर उत्तम कर्म होंगे ही कैसे? '**जहि शत्रुम्**' इस श्लोकमें भगवान्‌ने जिस इच्छाका निषेध किया है वह संशय और राग-द्वेषमूलक इच्छा है, जिसका परिणाम पाप है। इस श्लोकके पूर्वका श्लोक, '**अथ केन**' (३।३६) जिसमें अर्जुनने शंका की है, देखनेसे ही इस बातका साफ पता चल जाता है। यह निन्दनीय इच्छा है, पर '**धर्माविरुद्धो**' इस श्लोकके अनुसार जो धर्मानुकूल कामना है, उसकी भगवान्‌ने प्रशंसा ही की है। भगवान्‌में प्रेम करनेकी इच्छा या भगवान्‌में प्रेम होनेके लिये कर्म करनेकी इच्छा विशुद्ध इच्छा है, एवं भगवत्-प्राप्तिमें हेतु होनेके कारण उसको भगवान्‌ने अपना स्वरूप ही बतलाया है। स्वार्थरहित धर्मपालनकी इच्छा विधेय है और उसके फलकी इच्छा त्याज्य है। अतः विवेकपूर्वक विचार करनेसे गीताका कथन कहीं असंगत प्रतीत नहीं होता। केवल श्लोकोंके अर्थभेदको न समझनेके कारण ही विरोध-सा प्रतीत होता है, समझ लेनेपर विरोध नहीं रहता।

'**यक्ष्ये दास्यामि**' इस श्लोकमें यज्ञ-दान आदिके करनेकी इच्छाको निन्दनीय नहीं बतलाया गया है। अभिमान और अहंकारपूर्वक दम्भसे यज्ञ-दानादि करनेके भाव प्रकाशित करनेवाले आसुरी प्रकृतिके मनुष्योंकी निन्दा की गयी है। यज्ञ, दान अवश्य करने चाहिये, पर उनका विधिपूर्वक करना कर्तव्य है; केवल दिखौवा दम्भपूर्वक किये हुए यज्ञ-दानादि कर्म धर्म नहीं हैं। अतः इस श्लोकमें आसुरी भाववाले मनुष्योंकी निन्दा की गयी है, यज्ञ-दानादिकी नहीं।

सकाम कर्म धर्मानुकूल होनेपर भी मुक्तिदायक नहीं हैं यह ठीक है, परन्तु कामनारूप दोष निकाल देनेपर वे मुक्तिदायक हो जाते हैं। ऐसा ही करनेके लिये भगवान्‌ने कहा है एवं धर्म-पालनकी इच्छा भगवान्‌का स्वरूप ही है, अतः '**धर्माविरुद्धो**' इस श्लोकमें कोई दोष नहीं आता।

प्र०—**प्रायः देखा जाता है कि मन जिस ओर जाता है इन्द्रियाँ भी उसी ओर जाती हैं, मनके बिना कर्मेन्द्रियाँ कोई काम नहीं कर सकतीं, यदि किया भी जाता है तो ठीक नहीं**

होता। यदि मन ही ईश्वरमें लगा रहा तो इन्द्रियाँ सांसारिक काम कैसे कर सकेंगी? फिर *'तनसे काम, मनसे राम'* **'मच्चित्ता मद्गतप्राणाः'** के साथ **'युध्यस्व'** कैसे होगा?

उ०—यद्यपि आरम्भमें *'तनसे काम, मनसे राम'* होना बहुत ही कठिन है, क्योंकि यह स्वाभाविक बात है कि इन्द्रियाँ जिस ओर जाती हैं, मन भी दौड़कर उसी तरफ चला जाता है, पर विशेष अभ्यास करनेसे इस स्वभावका परिवर्तन हो सकता है—यह आदत बदली जा सकती है। जिस प्रकार नटी अपने पैरोंके तलुओंमें सींग बाँधकर बाँसपर चढ़ जाती है और गाती-बजाती हुई रस्सीको हिलाते हुए उसी रस्सीपरसे दूसरे बाँसपर चली जाती है, उसके प्रायः सब इन्द्रियोंसे ही अलग-अलग काम होते हुए भी मन पैरोंमें रहता है, यह उसके साधनाका फल है। इसी प्रकार अभ्यास करनेसे मनुष्यका मन भी परमेश्वरमें रह सकता है एवं इन्द्रियोंके कार्योंमें बाधा उपस्थित नहीं होती। भगवान्ने गीतामें कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(८।७)

'हे अर्जुन! तू सब समय निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त हुआ निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

यदि ऐसा सम्भव न होता तो भगवान् इसका निर्देश ही कैसे करते? भगवान् तो यहाँ मन-बुद्धितक अर्पण करके युद्ध करनेको कह रहे हैं। यदि युद्ध करते हुए भी भगवान्में मन-बुद्धि लगाये जा सकते हैं तो दूसरे कामोंको करते हुए भगवान्में मन-बुद्धि लगानेमें कठिनता ही क्या है?

मनकी मुख्य वृत्तिको ईश्वरमें लगाकर गौणवृत्तिसे अन्य कार्योंका करना तो साधारण बात है, सहजसाध्य है। क्योंकि मनुष्योंमें प्रायः देखा जाता है कि वे मन दूसरी जगह रहते हुए पुस्तक पढ़ते रहते एवं सुनकर लिखते रहते हैं। अतः इन्द्रियोंका कार्य मन दूसरी जगह रहते हुए भी हो सकता है। ईश्वरका तत्त्व जान लेनेपर तो ईश्वरमें नित्य-निरन्तर चित्त रहते हुए सम्पूर्ण इन्द्रियोंका कार्य सुचारुरूपसे होनेमें कोई आपत्ति ही नहीं आती। जिस प्रकार सुवर्णके अनेक आभूषणोंको अनेक प्रकारसे देखते हुए भी सुनारकी सुवर्णबुद्धि नित्य बनी रहती है, वैसे ही परमेश्वरको जाननेवाले पुरुषकी सर्वत्र परमेश्वरबुद्धि निरन्तर बनी रहती है। गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(६।३१)

'इस प्रकार जो पुरुष एकीभावमें स्थित हुआ सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें बर्तता है, क्योंकि उसके अनुभवमें मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।'

प्र०—क्या प्रारब्धके प्रकोपसे कर्मस्वातन्त्र्यमें बाधा नहीं पड़ती? जीवसे ***'जैसी हो भवितव्यता वैसी उपजै बुद्धि'*** इसके अनुसार जबरदस्ती काम करवाकर सजा क्यों दी जाती है? इसमें उसका क्या दोष है?

क्या गोस्वामीजीके—

'जैसी हो भवितव्यता वैसी उपजै बुद्धि'

एवं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

क्या इन दोनोंमें आपसमें विरोध नहीं पड़ता?

उ०—प्रारब्धके प्रकोपसे कर्मस्वातन्त्र्यमें विशेष बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि सुख-दुःख आदिकी प्राप्तिमें हेतुभूत स्त्री-पुत्रादिकी प्राप्ति और नाशमें ही प्रारब्धकी प्रधानता है। नवीन पुण्य-पापके करनेमें प्रारब्धकी प्रधानता नहीं समझी जाती।

'जैसी हो भवितव्यता वैसी उपजै बुद्धि' **'मतिरुत्पद्यते तादृग् यादृशी भवितव्यता' 'करतलगतमपि नश्यति यस्य भवितव्यता नास्ति'**—ये कथन प्रारब्धकृत सुख-दुःखादिके भोग करानेके विषयहीमें कहे गये हैं। नवीन कर्मोंसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। नवीन कर्म करनेमें तो राग-द्वेषादि ही हेतु हैं और उनका चेष्टा करनेसे नाश हो सकता है। अतः नवीन कर्मोंमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता है और इसीलिये यह उनके फलका भागी समझा जाता है। ईश्वर या प्रारब्धकी इसमें कोई जबरदस्ती नहीं है।

तुलसीदासजीके दोनों दोहे युक्तिसंगत एवं न्याययुक्त हैं। इन दोनोंका आपसमें कोई सम्बन्ध नहीं है। ***'जैसी हो भवितव्यता वैसी उपजै बुद्धि'*** यह प्रारब्धभोगके विषयमें एवं ***'सो परत्र दुख पावइ'*** कर्तव्यपालनके विषयमें है। जो मनुष्य कर्तव्यपालन नहीं करता उसको अवश्य ही कष्ट उठाना पड़ता है। अतः इनमें कोई विरोध नहीं है।

प्र०—यदि ईश्वर सर्वद्रष्टा, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् है तो फिर अन्धेको गिरनेसे क्यों नहीं बचाता, निर्बलकी रक्षा क्यों नहीं करता, मूर्खको विष खानेसे क्यों नहीं रोकता? यदि वह न्यायपरायण और शरणागतवत्सल है तो निर्बल, अन्धे, मूर्ख जीवकी प्रबल शत्रुओंसे रक्षा क्यों नहीं करता? क्या दयावान्के लिये बिना पूछे रास्ता बतलाना मना है? क्यों वह जीवोंके दुःख-दृश्योंको देखता रहता है?

उ०—ईश्वर सर्वद्रष्टा, सर्वान्तर्यामी, न्यायकर्ता और सर्वशक्तिमान् है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। वह अन्धेको

बचानेके लिये, निर्बलकी रक्षाके लिये, मूर्खको विष खानेसे रोकनेके लिये महात्माओं एवं शास्त्रोंद्वारा बराबर चेष्टा करता है। हृदयमें स्थित रहकर बराबर सचेत करता रहता है। इसपर भी यदि मनुष्य शास्त्र और महात्माओंकी आज्ञाका उल्लंघन करके, हृदयस्थित ईश्वरकी दी हुई सत्-परामर्शको न मानकर जबरदस्ती विष भोजन करे, गड्ढेमें पड़े एवं निषिद्ध कर्मोंका आचरण करे तो उसको उन नियमोंके भंग करनेसे बलपूर्वक रोकनेका नियम ईश्वरके न्यायालयमें नहीं है।

जीव मोहवश अन्धा एवं निर्बल-सा हो रहा है। इसीलिये काम-क्रोधादि प्रबल शत्रु इसे सताते हैं, फिर भी यह अभागा उस ईश्वरकी दयाकी ओर खयाल नहीं करता। जो ईश्वर बार-बार इसको सचेत करता एवं इन शत्रुओंसे बचनेके लिये बराबर सत्परामर्श देता रहता है, उस सर्वज्ञसे इस जीवकी परिस्थिति छिपी नहीं है। वह सर्वशक्तिमान् तथा न्यायकर्ता भी है। जीवोंको बचानेके लिये न्यायानुकूल सहायता भी देता है, पद-पदमें सावधान करता रहता है, पर अज्ञताके कारण जीव न समझे तो इसमें उस ईश्वरका क्या दोष? यदि सूर्यके प्रकाशमें नेत्रोंके दोषके कारण उल्लूको अन्धकार मालूम हो तो सूर्यका क्या दोष?

परमेश्वर बिना पूछे मार्ग बतानेवाला एवं हेतुरहित प्रेम करनेवाला है। वह तो शास्त्र एवं महात्माओंद्वारा सत्परामर्श और सत्-शिक्षा देता है, जीवोंको दुःख देकर तमाशा देखना उस दयालुके प्रेमी स्वभावसे बाहरकी बात है। ये जीव अज्ञानवश अपने-आप भूलसे दुःख पाते हैं। वह दयालु परमेश्वर तो इन दुःखी जीवोंको पूर्णतया सहायता करनेके लिये सब प्रकारसे तैयार है। पर पापी जीव अश्रद्धा और अज्ञानके कारण उस परमेश्वरसे लाभ नहीं उठाते। जिस प्रकार दीपकके पास पतंगोंको देखकर दयालु पुरुष उन पतंगोंको बचानेकी अनेक चेष्टा करते हैं, पर इस रहस्यको वे पतंग नहीं समझ सकते, जबरन् जल ही मरते हैं। उसी प्रकार ईश्वरके बार-बार बचानेपर भी ये अभागे जीव संसारके इस अनित्य तुच्छ विषयजन्य सुखकी लोभनीय चमकमें चौंधियाकर उस अतुलनीय आनन्ददाताकी दयाको भूल जाते हैं एवं इसीमें फँस मरते हैं।

प्र०—भगवान् जिनके लिये **'योगक्षेमं वहाम्यहम्,** (९।२२) **ददामि बुद्धियोगं तम्,** (१०।१०) **नचिरात् मृत्युसंसारसागरात् उद्धर्ता,** (१२।७) **गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्,** (९।१८) **अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामि'** (वा० रा० ६।१८।३३) आदि कहते हैं, उनके सदृश भगवान्‌का कृपापात्र मनुष्य कैसे बने? क्या मनमें काम-क्रोधादि विकारोंको भरे रखनेवाले मनुष्य भी ईश्वरके कृपापात्र माने जायँ? एवं ईश्वरके मित्र रहते हुए भी क्या राग-द्वेषादि चोर-डाकू जीवोंकी फजीहत करते हैं?

उ०—ऐसा कृपापात्र बननेका उपाय भगवान्‌ने इन श्लोकोंके पहले श्लोकोंमें ही बतलाया है। जैसे—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(गीता १०।९)

'वे निरन्तर मेरेमें मन लगानेवाले और मेरेमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन, सदा ही मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं।'

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥

(गीता १२।६)

'जो मेरे परायण हुए भक्तजन, सम्पूर्ण कर्मोंको मेरेमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही तैलधाराके सदृश अनन्य ध्यानयोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं।'

इन उपायोंका साधन करना चाहिये। इनका साधन करनेसे मनुष्य भगवान्‌की पूर्ण दयाका पात्र बन जाता है। उसको भगवान् अपना वास्तविक तत्त्व जना देते हैं। तुलसीदासजीका यह कहना बहुत ही ठीक है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।

जिसके मनमें काम-क्रोधादि विकार भरे हुए हैं वह भी ईश्वरकी दयाका समानभावसे अवश्य पात्र है, पर अज्ञानवश वह भगवद्दयाका लाभ नहीं उठा सकता। जिस प्रकार अज्ञानी पुरुषको गंगाके किनारे रहते हुए भी बिना ज्ञानके उससे लाभ नहीं होता, दरिद्र मनुष्यको घरमें पारस रहते हुए भी उसको पत्थर समझनेके कारण लाभ नहीं मिलता। इसी प्रकार ईश्वरका तत्त्व न जाननेके कारण अज्ञानी उससे लाभ नहीं उठा सकता, क्योंकि ईश्वरके विषयमें जो जितना जानता है वह उतना ही लाभ उठा सकता है।

यद्यपि ईश्वर सबका प्रेमी, सुहृद् और रक्षक है पर जो ईश्वरको प्रेमी और मित्र समझता है, परमेश्वर उसीकी सब प्रकार रक्षा करता है। जो उसको ऐसा नहीं समझता, उसकी रक्षाका भार ईश्वरपर न होनेके कारण उसे ये काम-क्रोधादि डाकू लूटते रहते हैं, क्योंकि जो ईश्वरको नहीं मानता या उससे सहायता नहीं चाहता, ईश्वर उसकी सहायता करनेके लिये बाध्य नहीं है। ईश्वर न्यायप्रिय है एवं न्यायपरायणताको रखते हुए ही दयालु है।

प्र०—वह कौन-सा उपाय है जिससे ईश्वर प्राणसे भी बढ़कर प्यारा लगे?

उ०—'ईश्वर क्या है?' इस बातका रहस्य जान

लेनेपर अर्थात् ईश्वरको यथार्थरूपसे जान लेनेपर ईश्वर प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा लग सकता है।

प्र०—तुलसीदासजीने कहा है कि 'ईश्वरका कृपापात्र उसीको समझना चाहिये जिसके मनोविकार दूर हो गये हों एवं जिसके प्रभु साक्षी, गति, सुहृद् हों।' मैं तो ईश्वरको अपना हितैषी तभी समझूँ जब वे मेरी राग-द्वेषादिसे रक्षा करें।

उ०—ईश्वर समानभावसे सबका प्रभु, सुहृद्, साक्षी होते हुए भी जो उसको वैसा समझ लेता है उसीके लिये ये गुण फलीभूत होते हैं। जिस क्षण आप ईश्वरको परम हितैषी, प्राणोंसे बढ़कर प्यारा समझ लेंगे, उसी क्षण आपके मनोविकार राग-द्वेषादि डाकू समूल नाश हो जायँगे। उसी समय आप ईश्वरकी विशेष दयाके पात्र समझे जायँगे। इसी भावको सामने रखकर तुलसीदासजीने कहा है—उसीको ईश्वरका कृपापात्र समझना चाहिये, जिसके मनोविकार दूर हो गये हों।

प्र०—विविध साधनमार्गोंमें अर्थात् ज्ञानयोग, धर्माचरण, भक्ति आदि सभी साधनोंमें प्रेमयोगको श्रेष्ठ बतलाया गया है, क्योंकि गीताके '**बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते**' (७।१९) इस कथनके अनुसार दूसरे साधन दीर्घकालके बाद परम पद देते हैं। जो सिद्धि प्रेमोपासक नामदेवजीको तीन-चार दिनमें ही प्राप्त हो गयी, वही ज्ञानियोंको बहुत जन्मोंके बाद मिलती है। क्या यह ठीक है?

उ०—ज्ञान, योग, धर्माचरण, भक्ति आदि सभी साधनोंमें प्रधान प्रेमयोग है। यानी प्रेमसे—अनन्य भक्तिसे भगवान् बहुत शीघ्र प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं और वे तत्त्वसे जाने भी जाते हैं। गीतामें कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(११।५४)

'हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन! अनन्यभक्ति करके तो, इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

इसमें कोई सन्देह नहीं, पर आपने जो अन्य साधनोंको बहुत कालके बाद मोक्षफल देनेवाले बतलाते हुए '**बहूनां जन्मनामन्ते**' इस गीताके श्लोकका उदाहरण दिया सो ठीक नहीं है, क्योंकि यह ज्ञान और भक्तिके साधनके फलका भेद नहीं बतलाता, परन्तु भक्तिके फलका ही वर्णन करता है। चार प्रकारके भक्तोंमेंसे ज्ञानी भक्तको श्रेष्ठ और दुर्लभ बतलानेके लिये यह श्लोक कहा गया है। अत: इसका अभिप्राय यों समझना चाहिये कि बहुत जन्मोंके बादके अन्तिम जन्ममें मनुष्य भगवान् वासुदेवको सर्वरूप समझकर प्राप्त करता है।

प्र०—आत्महत्या किसे कहते हैं? क्या ऋषि शरभंग, कुमारिल भट्ट आदिकी मृत्यु आत्महत्या नहीं कहलायेगी? क्या ईश्वरके लिये विवश होकर प्राणत्याग करना आत्महत्या नहीं कहलायेगी?

उ०—आत्महत्या दो प्रकारकी होती है—एक न्यायविरुद्ध काम, क्रोध, लोभ आदिके वशमें होकर प्रयत्न करके हठपूर्वक देहसे प्राणोंका वियोग करना, एवं दूसरी मनुष्य-जन्म पाकर आत्माके उद्धारके लिये प्रयत्न न करनेके कारण पुन: संसारके जन्म-मरणरूप चक्करमें पड़ जाना।

ऋषि शरभंगका चितामें प्रवेश, कुमारिल भट्टका तुषमें जलना आत्महत्या नहीं कहलाती, क्योंकि इनका कार्य न्यायोचित था।

ईश्वरके लिये विवश होकर प्राणत्याग करनेवालेकी भी मृत्यु 'आत्महत्या' नहीं कहलायेगी, पर शास्त्रोंमें ऐसे हठको ईश्वर-प्राप्तिका साधन नहीं बतलाया है।

जीव-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

एक सज्जनका प्रश्न है कि 'इस देहमें जीव कहाँसे, कैसे और क्यों आता है, क्या-क्या वस्तुएँ साथ लाता है, गर्भसे बाहर कैसे निकलता है और प्राण निकलनेपर कहाँ, कैसे और क्यों जाता है तथा क्या-क्या वस्तुएँ साथ ले जाता है?' प्रश्नकर्ताने शास्त्रप्रमाण और युक्तियोंसहित उत्तर लिखनेका अनुरोध किया है।

प्रश्न वास्तवमें बड़ा गहन है, इसका वास्तविक उत्तर तो सर्वज्ञ योगी महात्मागण ही दे सकते हैं, मेरा तो इस विषयपर कुछ लिखना एक विनोदके सदृश है। मैं किसीको यह माननेके लिये आग्रह नहीं करता कि इस प्रश्नपर मैं जो कुछ लिख रहा हूँ, सो सर्वथा निर्भ्रान्त और यथार्थ है, क्योंकि ऐसा कहनेका मैं कोई अधिकार नहीं रखता। अवश्य ही शास्त्र, सन्त-महात्माओंके प्रसादसे मैंने अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार जो कुछ समझा है, उसमें मुझे तत्त्वत: कोई शंका नहीं है।

इस विषयमें मनस्वियोंमें बड़ा मतभेद है, जो लोग जीवकी सत्ता केवल मृत्युतक ही समझते हैं और पुनर्जन्म आदि बिलकुल नहीं मानते, उनकी तो कोई बात ही नहीं है, परन्तु पुनर्जन्म माननेवालोंमें भी मतभेदकी कमी नहीं है, इस अवस्थामें अमुक मत ही सर्वथा सत्य है, यह

कहनेका मैं अपना कोई अधिकार नहीं समझता तथापि अपने विचारोंको नम्रताके साथ पाठकोंके सम्मुख इसीलिये रखता हूँ कि वे इस विषयका मनन अवश्य करें।

वेदान्तके मतसे तो संसार मायाका कार्य होनेसे वास्तवमें गमनागमनका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता, परन्तु यह सिद्धान्त समझानेकी वस्तु नहीं है, यह तो वास्तविक स्थिति है, इस स्थितिमें स्थित पुरुष ही इसका यथार्थ रहस्य जानते हैं। जिस यथार्थतामें एक शुद्ध सत्-चित्-आनन्दघन ब्रह्मके सिवा अन्यका सर्वथा अभाव है उसमें तो कुछ भी कहना-सुनना सम्भव नहीं होता, जहाँ व्यवहार है, वहाँ सृष्टि, जीव, जीवके कर्म, कर्मानुसार गमनागमन और भोग आदि सभी सत्य हैं। अतएव यही समझकर यहाँ इस विषयपर कुछ विचार किया जाता है।

जीव अपनी पूर्वकी योनिसे, योनिके अनुसार साधनोंद्वारा प्रारब्ध कर्मका फल भोगनेके लिये पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मराशिके अनन्त संस्कारोंको साथ लेकर सूक्ष्म शरीरसहित परवश नयी योनिमें आता है। गर्भसे पैदा होनेवाला जीव अपनी योनिका गर्भकाल पूरा होनेपर प्रसूतिरूप अपानवायुकी प्रेरणासे बाहर निकलता है और मृत्युके समय प्राण निकलनेपर सूक्ष्म शरीर और शुभाशुभ कर्मराशिके संस्कारोंसहित कर्मानुसार भिन्न-भिन्न साधनों और मार्गोंद्वारा मरणकालकी कर्मजन्य वासनाके अनुसार परवशतासे भिन्न-भिन्न गतियोंको प्राप्त होता है। संक्षेपमें यही सिद्धान्त है। परन्तु इतने शब्दोंसे ही यह बात ठीक समझमें नहीं आती, शास्त्रोंके विविध प्रसंगोंमें भिन्न-भिन्न वर्णन पढ़कर भ्रम-सा हो जाता है, इसलिये कुछ विस्तारसे विवेचन किया जाता है—

तीन प्रकारकी गति

भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें मनुष्यकी तीन गतियाँ बतलायी हैं—अधः, मध्य और ऊर्ध्व। तमोगुणसे नीची, रजोगुणसे बीचकी और सत्त्वगुणसे ऊँची गति प्राप्त होती है। भगवान्‌ने कहा है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

(गीता १४।१८)

'सत्त्वगुणमें स्थित हुए पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं एवं तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित हुए तामस पुरुष, अधोगति अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको एवं नरकको प्राप्त होते हैं।' यह स्मरण रखना चाहिये कि तीनों गुणोंमेंसे किसी एक या दोका सर्वथा नाश नहीं होता, संग और कर्मोंके अनुसार कोई-सा एक गुण बढ़कर शेष दोनों गुणोंको दबा लेता है। तमोगुणी पुरुषोंकी संगति और तमोगुणी कार्योंसे तमोगुण बढ़कर रज और सत्त्वको दबाता है, रजोगुणी पुरुषकी संगति और कार्योंसे रजोगुण बढ़कर तम और सत्त्वको दबा लेता है तथा इसी प्रकार सत्त्वगुणी पुरुषकी संगति और कार्योंसे सत्त्वगुण बढ़कर रज और तमको दबा लेता है (गीता १४।१०)। जिस समय जो गुण बढ़ा हुआ होता है, उसीमें मनुष्यकी स्थिति समझी जाती है और जिस स्थितिमें मृत्यु होती है, उसीके अनुसार उसकी गति होती है। यह नियम है कि अन्तकालमें मनुष्य जिस भावका स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उसी प्रकारके भावको वह प्राप्त होता है (गीता ८।६)। सत्त्वगुणमें स्थिति होनेसे अन्तकालमें शुभ भावना या वासना होती है। शुभ वासनामें—सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्यु होनेसे मनुष्य निर्मल ऊर्ध्वके लोकोंको जाता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि वासनाके अनुसार ही अच्छे-बुरे लोकोंकी प्राप्ति होती है तो कोई मनुष्य अशुभ वासना ही क्यों करेगा? सभी कोई उत्तम लोकोंको पानेके लिये उत्तम वासना ही करेंगे? इसका उत्तर यह है कि अन्तकालकी वासना या कामना अपने-आप नहीं होती, वह प्रायः उसके तात्कालिक कर्मोंके अनुसार ही हुआ करती है। आयुके शेषकालमें यानी अन्तकालके समय मनुष्य जैसे कर्मोंमें लिप्त रहता है, करीब-करीब उन्हींके अनुसार उसकी मरणकालकी वासना होती है। मृत्युका कोई पता नहीं, कब आ जाय, इससे मनुष्यको सदा-सर्वदा उत्तम कर्मोंमें ही लगे रहना चाहिये। सर्वदा शुभ कर्मोंमें लगे रहनेसे ही वासना शुद्ध रहेगी, सर्वथा शुद्ध वासनाका रहना ही सत्त्वगुणी स्थिति है; क्योंकि देहके सभी द्वारोंमें चेतनता और बोधशक्तिका उत्पन्न होना ही सत्त्वगुणकी वृद्धिका लक्षण है (गीता १४।११) और इस स्थितिमें होनेवाली मृत्यु ही ऊर्ध्वलोकोंकी प्राप्तिका कारण है।

जो लोग ऐसा समझते हैं कि अन्तकालमें सात्त्विक वासना कर ली जायगी, अभीसे उसकी क्या आवश्यकता है? वे बड़ी भूल करते हैं। अन्तकालमें वही वासना होगी, जैसी पहलेसे होती रही होगी। जब साधक ध्यान करने बैठता है—कुछ समय स्वस्थ और एकान्त चित्तसे परमात्माका चिन्तन करना चाहता है, तब यह देखा जाता है कि पूर्वके अभ्यासके कारण उसे प्रायः उन्हीं कार्यों या भावोंकी स्फुरणा होती है, जिन कार्योंमें वह सदा लगा रहता है। वह साधक बार-बार मनको विषयोंसे हटानेका प्रयत्न करता है, उसे धिक्कारता है, बहुत पश्चात्ताप भी करता है तथापि पूर्वका अभ्यास उसकी वृत्तियोंको सदाके कार्योंकी ओर खींच ले जाता है। भगवान् भी कहते हैं—**'सदा तद्भावभावितः'** जब मनुष्य सावधान अवस्थामें भी मनकी भावनाको सहसा अपने इच्छानुसार नहीं बना सकता,

तब जीवनभरके अभ्यासके विरुद्ध मृत्युकालमें हमारी वासना अनायास ही शुभ हो जायगी, यह समझना भ्रमके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

यदि ऐसा ही होता तो शनैः-शनैः उपरामताको प्राप्त करने और बुद्धिद्वारा मनको परमात्मामें लगानेकी आज्ञा भगवान् कैसे देते? (गीता ६। २५)। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यके कर्मोंके अनुसार ही उसकी भावना होती है, जैसी अन्तकालकी भावना होती है—जिस गुणमें उसकी स्थिति होती है, उसीके अनुसार परवश होकर जीवको कर्मफल भोगनेके लिये दूसरी योनिमें जाना पड़ता है।

ऊर्ध्वगतिके दो भेद—इस ऊर्ध्वगतिके दो भेद हैं। एक ऊर्ध्वगतिसे वापस लौटकर नहीं आना पड़ता और दूसरीसे लौटकर आना पड़ता है। इसीको गीतामें शुक्ल-कृष्ण-गति और उपनिषदोंमें देवयान-पितृयान कहा है। सकामभावसे वेदोक्त कर्म करनेवाले, स्वर्ग-प्राप्तिके प्रतिबन्धक देव-ऋणरूप पापसे छूटे हुए पुण्यात्मा पुरुष धूम-मार्गसे पुण्यलोकोंको प्राप्त होकर वहाँ दिव्य देवताओंके विशाल भोग भोगकर, पुण्य क्षीण होते ही पुनः मृत्युलोकमें लौट आते हैं और निष्कामभावसे भगवद्भक्ति या ईश्वरार्पण-बुद्धिसे भेदज्ञानयुक्त श्रौत-स्मार्त कर्म करनेवाले परोक्षभावसे परमेश्वरको जाननेवाले योगिजन क्रमसे ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥

(गीता ८। २४—२६)

'दो प्रकारके मार्गोंमेंसे जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्नि-अभिमानी देवता, दिनका अभिमानी देवता, शुक्लपक्षका अभिमानी देवता और उत्तरायणके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता अर्थात् परमेश्वरकी उपासनासे, परमेश्वरको परोक्षभावसे जाननेवाले योगिजन उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गये हुए ब्रह्मको प्राप्त होते हैं तथा जिस मार्गमें धूमाभिमानी देवता, रात्रि-अभिमानी देवता, कृष्णपक्षका अभिमानी देवता और दक्षिणायनके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गया हुआ सकाम कर्मयोगी उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गया हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर, स्वर्गमें अपने शुभ कर्मोंका फल भोगकर वापस आता है। जगत्के यह शुक्ल और कृष्ण नामक दो मार्ग सनातन माने गये हैं, इनमें एक—(शुक्ल-मार्ग-)के द्वारा गया हुआ वापस न लौटनेवाली परम गतिको प्राप्त होता है और दूसरे (कृष्ण-मार्ग-) द्वारा गया हुआ वापस आता है, अर्थात् जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है।'

शुक्ल—अर्चि या देवयानमार्गसे गये हुए योगी नहीं लौटते और कृष्ण—धूम या पितृयानमार्गसे गये हुए योगियोंको लौटना पड़ता है। श्रुति कहती है—

'ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धाᳪसत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति, अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान् वैद्युतान् पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः।'

(बृह० ६। २। १५)

'जिनको ज्ञान होता है, जो अरण्यमें श्रद्धायुक्त होकर सत्यकी उपासना करते हैं, वे अर्चिरूप होते हैं, अर्चिसे दिनरूप होते हैं, दिनसे शुक्लपक्षरूप होते हैं, शुक्लपक्षसे उत्तरायणरूप होते हैं, उत्तरायणसे देवलोकरूप होते हैं, देवलोकसे आदित्यरूप होते हैं, आदित्यसे विद्युद्रूप होते हैं, यहाँसे अमानव पुरुष उन्हें ब्रह्मलोकमें ले जाते हैं, वहाँ अनन्त वर्षोंतक वह रहते हैं, उनको वापस लौटना नहीं पड़ता।' यह देवयानमार्ग है। एवं—

'अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिᳪरात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान्षण्मासान् दक्षिणादित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति ताᳪस्तत्र देवा यथा सोमᳪराजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनाᳪस्तत्र भक्षयन्ति'......'(बृह० ६। २। १६)

'जो सकामभावसे यज्ञ, दान तथा तपद्वारा लोकोंपर विजय प्राप्त करते हैं, वे धूमको प्राप्त होते हैं, धूमसे रात्रिरूप होते हैं, रात्रिसे कृष्णपक्षरूप होते हैं, कृष्णपक्षसे दक्षिणायनको प्राप्त होते हैं, दक्षिणायनसे पितृलोकको और वहाँसे चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं, चन्द्रलोक प्राप्त होनेपर वे अन्नरूप होते हैं... और देवता उनको भक्षण करते हैं।' यहाँ 'अन्न' होने और 'भक्षण' करनेसे यह मतलब है कि वे देवताओंकी खाद्य वस्तुमें प्रविष्ट होकर उनके द्वारा खाये जाते हैं और फिर उनसे देवरूपमें उत्पन्न होते हैं। अथवा 'अन्न' शब्दसे उन जीवोंको देवताओंका आश्रयी समझना चाहिये। नौकरको भी अन्न कहते हैं, सेवा करनेवाले पशुओंको अन्न कहते हैं, '**पशवः अन्नम्।**' आदि वाक्योंसे यह सिद्ध है। वे देवताओंके नौकर होनेसे अपने सुखोंसे वंचित नहीं हो सकते। यह पितृयानमार्ग है।

ये धूम, रात्रि और अर्चि, दिन आदि नामक भिन्न-भिन्न लोकोंके अभिमानी देवता हैं, जिनका रूप भी उन्हीं

नामोंके अनुसार है। जीव इन देवताओंके समान रूपको प्राप्तकर क्रमशः आगे बढ़ता है। इनमेंसे अर्चिमार्गवाला प्रकाशमय लोकोंके मार्गसे प्रकाशपथके अभिमानी देवताओंद्वारा ले जाया जाकर क्रमशः विद्युत्-लोकतक पहुँचकर अमानव पुरुष-(भगवद्-पार्षद-) के द्वारा बड़े सम्मानके साथ भगवान्‌के सर्वोत्तम दिव्य परम धाममें पहुँच जाता है। इसीको ब्रह्मोपासक ब्रह्मलोकका शेष भाग—सर्वोच्च गति, श्रीकृष्णके उपासक दिव्य गोलोक, श्रीरामके उपासक दिव्य साकेतलोक, शैव शिवलोक, जैन मोक्षशिला, मुसलमान सातवाँ आसमान और ईसाई स्वर्ग कहते हैं। इसीको उपनिषदोंमें विष्णुका परम धाम कहा है। इस दिव्यधाममें पहुँचनेवाला महापुरुष सारे लोकों और मार्गोंको लाँघता हुआ एक प्रकाशमय दिव्य स्थानमें स्थित होता है, जहाँ उसे सभी सिद्धियाँ और सभी प्रकारकी शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। वह कल्पपर्यन्त अर्थात् ब्रह्माके आयुतक वहाँ दिव्यभावसे रहकर अन्तमें भगवान्‌में मिल जाता है। अथवा भगवदिच्छासे भगवान्‌के अवतारकी-ज्यों बन्धनमुक्त अवस्थामें ही लोक-हितार्थ संसारमें आ भी सकता है। ऐसे ही महात्माको कारक पुरुष कहते हैं।

धूममार्गके अभिमानी देवगण और इनके लोक भी प्रकाशमय हैं, परन्तु इनका प्रकाश अर्चिमार्गवालोंकी अपेक्षा दूसरा ही है तथा ये जीवको मायामय विषयभोग भोगनेवाले मार्गोंमें ले जाकर ऐसे लोकमें पहुँचाते हैं जहाँसे वापस लौटना पड़ता है, इसीसे यह अन्धकारके अभिमानी बतलाये गये हैं। इस मार्गमें भी जीव देवताओंकी तद्रूपताको प्राप्त करता हुआ चन्द्रमाकी रश्मियोंके रूपमें होकर उन देवताओंके द्वारा ले जाया हुआ अन्तमें चन्द्रलोकको प्राप्त होता है और वहाँके भोग भोगनेपर पुण्यक्षय होते ही वापस लौट आता है।

वापस लौटनेका क्रम—स्वर्गादिसे वापस लौटनेका क्रम उपनिषदोंके अनुसार यह है—

'तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते, यथैतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वाभ्रं भवति। अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति, त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिंचति तद्भूय एव भवति।' (छान्दो० ५।१०।५-६)

कर्मभोगकी अवधितक देवभोगोंको भोगनेके बाद वहाँसे गिरते समय जीव पहले आकाशरूप होता है, आकाशसे वायु, वायुसे धूम, धूमसे अभ्र और अभ्रसे मेघ होते हैं, मेघसे जलरूपमें बरसते हैं और भूमि, पर्वत, नदी आदिमें गिरकर, खेतोंमें वे व्रीहि, यव, ओषधि, वनस्पति, तिल आदि खाद्य पदार्थोंमें सम्बन्धित होकर पुरुषोंके द्वारा खाये जाते हैं। इस प्रकार पुरुषके शरीरमें पहुँचकर रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि आदि होते हुए अन्तमें वीर्यमें सम्मिलित होकर शुक्र-सिंचनके साथ माताकी योनिमें प्रवेश कर जाते हैं, वहाँ गर्भकालकी अवधितक माताके खाये हुए अन्न-जलसे पालित होते हुए समय पूरा होनेपर अपानवायुकी प्रेरणासे मल-मूत्रकी तरह वेग पाकर स्थूलरूपमें बाहर निकल आते हैं। कोई-कोई ऐसा भी मानते हैं कि गर्भमें शरीरका पूरा निर्माण हो जानेपर उसमें जीव आता है, परन्तु यह बात ठीक नहीं मालूम होती। बिना चैतन्यके गर्भमें बालकका बढ़ना सम्भव नहीं और यह कहना युक्ति तथा नियमके विरुद्ध है। यहाँ लौटकर आनेवाले जीव कर्मानुसार मनुष्य या पशु आदि योनियोंको प्राप्त होते हैं। श्रुति कहती है—

'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।'

(छान्दो० ५।१०।७)

'इनमें जिनका आचरण अच्छा होता है यानी जिनका पुण्य संचय होता है वे शीघ्र ही किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्यकी रमणीय योनिको प्राप्त होते हैं। ऐसे ही जिनके आचरण बुरे होते हैं अर्थात् जिनके पापका संचय होता है वे किसी श्वान, सूकर या चाण्डालकी अधम योनिको प्राप्त होते हैं।'

यह ऊर्ध्वगतिके भेद और एकसे वापस न आने और दूसरीसे लौटकर आनेका क्रम बतलाया गया।

मध्यगति—मध्यगति या मनुष्य लोकको प्राप्त होनेवाले जीवोंकी रजोगुणकी वृद्धिमें मृत्यु होनेपर उनका प्राण-वायु सूक्ष्म-शरीरसहित समष्टि-लौकिक वायुमें मिल जाता है। व्यष्टि-प्राण-वायुको समष्टि-प्राण-वायु अपनेमें मिलाकर इस लोकमें जिस योनिमें जीवको जाना चाहिये, उसीके खाद्य पदार्थमें उसे पहुँचा देता है। यह वायुदेवता ही इसके योनि-परिवर्तनका प्रधान साधक होता है, जो सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी आज्ञा और उसके निर्भ्रान्त विधानके अनुसार जीवको उसके कर्मानुसार भिन्न-भिन्न मनुष्योंके खाद्य पदार्थोंद्वारा उनके पक्वाशयमें पहुँचाकर उपर्युक्त प्रकारसे वीर्यरूपमें परिणत कर-कर मनुष्यरूपमें उत्पन्न कराता है।

अधोगति—अधोगतिको प्राप्त होनेवाले वे जीव हैं, जो अनेक प्रकारके पापोंद्वारा अपना समस्त जीवन कलंकित किये हुए होते हैं, उनके अन्तकालकी वासना कर्मानुसार तमोमयी ही होती है, इससे वे नीच गतिको प्राप्त होते हैं।

जो लोग अहंकार, बल, घमण्ड, काम और क्रोधादिके परायण रहते हैं, पर-निन्दा करते हैं, अपने तथा पराये सभीके शरीरोंमें स्थित अन्तर्यामी परमात्मासे द्वेष करते हैं,

ऐसे द्वेषी, पापाचारी, क्रूरकर्मी नराधम मनुष्य सृष्टिके नियन्त्रणकर्ता भगवान्‌के विधानसे बारम्बार आसुरी योनियोंमें उत्पन्न होते हैं और आगे चलकर वे उससे भी अति नीच गतिको प्राप्त होते हैं (गीता १६।१८—२०)।

इस नीच गतिमें प्रधान हेतु काम, क्रोध और लोभ हैं, इन्हीं तीनोंसे आसुरी सम्पत्तिका संग्रह होता है। भगवान्‌ने इसीलिये इनका त्याग करनेकी आज्ञा दी है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १६।२१)

'काम, क्रोध तथा लोभ—यह तीन प्रकारके नरकके द्वार अर्थात् सब अनर्थोंके मूल और नरककी प्राप्तिमें हेतु हैं, यह आत्माका नाश करनेवाले यानी उसे अधोगतिमें ले जानेवाले हैं, इससे इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।'

नीच गतिके दो भेद—जो लोग आत्म-पतनके कारणभूत काम, क्रोध, लोभरूपी इस त्रिविध नरक-द्वारमें निवास करते हुए आसुरी, राक्षसी और मोहिनी सम्पत्तिकी पूँजी एकत्र करते हैं, गीताके उपर्युक्त सिद्धान्तोंके अनुसार उनकी गतिके प्रधानतः दो भेद हैं—

(१) बारम्बार तिर्यक् आदि आसुरी योनियोंमें जन्म लेना और (२) उनसे भी अधम भूत, प्रेत, पिशाचादि गतियोंका या कुम्भीपाक, अवीचि, असिपत्र आदि नरकोंको प्राप्त होकर वहाँकी रोमांचकारी दारुण यन्त्रणाओंको भोगना।

इनमें जो तिर्यगादि योनियोंमें जाते हैं, वे जीव मृत्युके पश्चात् सूक्ष्म शरीरसे समष्टि-वायुके साथ मिलकर जरायुज योनियोंके खाद्य पदार्थोंमें मिलकर वीर्यद्वारा शरीरमें प्रवेश करके गर्भकी अवधि बीतनेपर उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार अण्डज प्राणियोंकी भी उत्पत्ति होती है। उद्भिज्ज, स्वेदज जीवोंकी उत्पत्तिमें भी वायुदेवता ही कारण होते हैं, जीवोंके प्राणवायुको समष्टि वायुदेवता अपने रूपमें भरकर जल-पसीने आदिद्वारा स्वेदज प्राणियोंको और पृथिवी-जल आदिके साथ उनको सम्बन्धित कर बीजमें प्रविष्ट करवाकर पृथिवीसे उत्पन्न होनेवाले वृक्षादि जड योनियोंमें उत्पन्न कराते हैं।

यह वायुदेवता ही यमराजके दूतके स्वरूपमें उस पापीको दीखते हैं, जो नारकी या प्रेतादि योनियोंमें जानेवाला होता है। इसीकी चर्चा गरुडपुराण तथा अन्यान्य पुराणोंमें जहाँ पापीकी गतिका वर्णन है, वहाँ की गयी है। यह समस्त कार्य सबके स्वामी और नियन्ता ईश्वरकी शक्तिसे ऐसा नियमित होता है कि जिसमें कहीं किसी भूलकी गुंजाइश नहीं होती। इसी परमात्मशक्तिकी ओरसे नियुक्त देवताओंद्वारा परवश होकर जीव अधम, मध्यम और उत्तम गतियोंमें जाता-आता है। यह नियन्त्रण न होता तो, न तो कोई जीव कम-से-कम व्यवस्थापकके अभावमें पापोंका फल भोगनेके लिये कहीं जाता और न भोग ही सकता। अवश्य ही सुख भोगनेके लिये जीव लोकान्तरमें जाना चाहता, पर वह भी ले जानेवालेके अभावमें मार्गसे अनभिज्ञ रहनेके कारण नहीं जा पाता।

जीव साथ क्या लाता, ले जाता है—अब प्रधानतः यही बतलाना रहा कि जीव अपने साथ किन-किन वस्तुओंको ले जाता है और किनको लाता है। जिस समय यह जीव जाग्रत्-अवस्थामें रहता है, उस समय इसकी स्थिति स्थूल शरीरमें रहती है। तब इसका सम्बन्ध पाँच प्राणोंसहित चौबीस तत्त्वोंसे रहता है। (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवीका सूक्ष्म भावरूप) पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, मन, त्रिगुणमयी मूल प्रकृति, कान, त्वचा, आँख, जीभ, नाक—यह पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा—यह पाँच कर्मेन्द्रियाँ एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—यह इन्द्रियोंके पाँच विषय (गीता १३।५)। यही चौबीस तत्त्व हैं। इन तत्त्वोंका निरूपण करनेवाले आचार्योंने प्राणोंको इसीलिये अलग नहीं बतलाया कि प्राणवायुका ही भेद है, जो पंचमहाभूतोंके अन्दर आ चुका है। योग, सांख्य, वेदान्त आदि शास्त्रोंके अनुसार प्रधानतः तत्त्व चौबीस ही माने गये हैं। प्राणवायुके अलग माननेकी आवश्यकता भी नहीं है। भेद बतलानेके लिये ही प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान नामक वायुके पाँच रूप माने गये हैं।

स्वप्नावस्थामें जीवकी स्थिति सूक्ष्म शरीरमें रहती है, सूक्ष्म शरीरमें सत्रह तत्त्व माने गये हैं—पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, उनके कारणरूप पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ तथा मन और बुद्धि। यह सत्रह तत्त्व हैं। कोई-कोई आचार्य पाँच सूक्ष्म तन्मात्राओंकी जगह पाँच कर्मेन्द्रियाँ लेते हैं। पंचतन्मात्रा लेनेवाले कर्मेन्द्रियोंको ज्ञानेन्द्रियोंके अन्तर्गत मानते हैं और पाँच कर्मेन्द्रियाँ माननेवाले पंच तन्मात्राओंको उनके कार्यरूप ज्ञानेन्द्रियोंके अन्तर्गत मान लेते हैं। किसी तरह भी मानें, अधिकांश मनस्वियोंने तत्त्व सत्रह ही बतलाये हैं, कहीं इनका ही कुछ विस्तार और कहीं कुछ संकोच कर दिया गया है।

इस सूक्ष्म शरीरके अन्तर्गत तीन कोश माने गये हैं—प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय। (सब पाँच कोश हैं, जिनमें स्थूल देह तो अन्नमय कोश है। यह पंचभौतिक शरीर पाँच भूतोंका भण्डार है, इसके अन्दरके सूक्ष्म शरीरमें) पहला प्राणमय कोश है, जिसमें पंच प्राण हैं। उसके अन्दर मनोमय कोश है, इसमें मन और इन्द्रियाँ हैं। उसके अन्दर विज्ञानमय (बुद्धिरूपी) कोश है, इसमें बुद्धि और पंच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, यही सत्रह तत्त्व हैं। स्वप्नमें इस सूक्ष्म रूपका अभिमानी जीव ही पूर्वकालमें देखे-सुने पदार्थोंको अपने अन्दर सूक्ष्मरूपसे देखता है।

जब इसकी स्थिति कारण-शरीरमें होती है, तब अव्याकृत माया प्रकृति-रूपी एक तत्त्वसे इसका सम्बन्ध रहता है। इस समय सभी तत्त्व उस कारणरूप प्रकृतिमें लय हो जाते हैं। इसीसे उस जीवको किसी बातका ज्ञान नहीं रहता। इसी गाढ़ निद्रावस्थाको सुषुप्ति कहते हैं। मायासहित ब्रह्ममें लय होनेके कारण उस समय जीवका सम्बन्ध सुखसे होता है। अतएव इसीको आनन्दमय कोश कहते हैं। इसीसे इस अवस्थासे जागनेपर यह कहता है कि 'मैं बहुत सुखसे सोया', उसे और किसी बातका ज्ञान नहीं रहता, यही अज्ञान है, इस अज्ञानका नाम ही माया—प्रकृति है। सुखसे सोया, इससे सिद्ध होता है कि उसे आनन्दका अनुभव था। सुखरूपमें नित्य स्थित होनेपर भी वह प्रकृति यानी अज्ञानमें रहनेके कारण वापस आता है। घटमें जल भरकर उसका मुख अच्छी तरह बन्द करके उसे अनन्त जलके समुद्रमें छोड़ दिया गया और फिर वापस निकाला तब वह घड़ेके अन्दरका जल ज्यों-का-त्यों रहा, घड़ा न होता तो वह जल समुद्रके अनन्त जलमें मिलकर एक हो जाता। इसी प्रकार अज्ञानमें रहनेके कारण सुखरूप ब्रह्ममें स्थित होनेपर भी जीवको ज्यों-का-त्यों लौट आना पड़ता है। अस्तु!

चौबीस तत्त्वोंके स्थूल शरीरमेंसे निकलकर जब यह जीव बाहर जाता है, तब स्थूल देह तो यहीं रह जाता है। प्राणमय कोशवाला सत्रह तत्त्वोंका सूक्ष्म शरीर इसमेंसे निकलकर अन्य शरीरमें जाता है। भगवान्ने कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

(गीता १५।७-८)

'इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है और वही इन त्रिगुणमयी मायामें स्थित पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है। जैसे गन्धके स्थानसे वायु गन्धको ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिका स्वामी जीवात्मा भी जिस पहले शरीरको त्यागता है, उससे मनसहित इन इन्द्रियोंको ग्रहण करके, फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें जाता है।'

प्राणवायु ही उसका शरीर है, उसके साथ प्रधानतासे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और छठाँ मन (अन्तःकरण) जाता है, इसीका विस्तार सत्रह तत्त्व हैं। यही सत्रह तत्त्वोंका शरीर शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारके सहित जीवके साथ जाता है।

यहाँ यह एक शंका बाकी रह जाती है कि श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायके २२वें श्लोकमें कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नवीन वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त करता है।' इसका यदि यह अर्थ समझा जाय कि इस शरीरसे वियोग होते ही जीव उसी क्षण दूसरे शरीरमें प्रवेश कर जाता है तो इससे दूसरा शरीर पहलेसे तैयार होना चाहिये और जब दूसरा तैयार ही है, तब कहीं आने-जाने, स्वर्ग-नरकादि भोगनेकी बात कैसे सिद्ध होगी तथा गीता स्वयं तीन गतियाँ निर्देशकर आना-जाना स्वीकार करती है, इसमें परस्पर विरोध आता है, इसका क्या समाधान है?

इसका समाधान यह है कि यह शंका ही ठीक नहीं है। क्योंकि भगवान्ने इस मन्त्रमें यह नहीं कहा कि मरते ही जीवको दूसरी 'स्थूल' देह 'उसी समय तुरन्त ही' मिल जाती है। एक मनुष्य कई जगह घूमकर घर आता है और घर आकर वह अपनी यात्राका बयान करता हुआ कहता है—'मैं बम्बईसे कलकत्ते पहुँचा, वहाँसे कानपुर और कानपुरसे दिल्ली चला आया।' इस कथनसे क्या यह अर्थ निकलता है कि वह बम्बई छोड़ते ही कलकत्तेमें प्रवेश कर गया या कानपुरसे दिल्ली उसी दम आ गया? रास्तेका वर्णन स्पष्ट न होनेपर भी इसके अन्दर है ही, इसी प्रकार जीवका भी देह-परिवर्तनके लिये लोकान्तरोंमें जाना समझना चाहिये। रही नयी देह मिलनेकी बात, सो देह तो अवश्य मिलती है परन्तु वह स्थूल नहीं होती है। समष्टि-वायुके साथ सूक्ष्म शरीर मिलकर एक वायुमय देह बन जाती है, जो ऊर्ध्वगामियोंका प्रकाशमय तैजस, नरकगामियोंका तमोमय प्रेत-पिशाच आदिका होता है, यह सूक्ष्म होनेसे हमलोगोंकी स्थूल-दृष्टिसे दीखता नहीं। इसलिये यह शंका निरर्थक है। सूक्ष्म देहका आना-जाना कर्मबन्धन न छूटनेतक चला ही करता है।

प्रलयमें भी सूक्ष्म शरीर रहता है—प्रलयकालमें भी जीवोंके यह सत्रह तत्त्वोंके शरीर ब्रह्माके समष्टि सूक्ष्म शरीरमें अपने-अपने संचित कर्म-संस्कारोंसहित विश्राम करते हैं और सृष्टिके आदिमें उसीके द्वारा पुनः इनकी रचना हो जाती है (गीता ८।१८)। महाप्रलयमें ब्रह्मासहित समष्टि-व्यष्टि सम्पूर्ण सूक्ष्म शरीर ब्रह्माके शान्त होनेपर शान्त हो जाते हैं, उस समय एक मूल प्रकृति रहती है, जिसको अव्याकृत माया कहते हैं। उसी महाकारणमें जीवोंके समस्त कारण-शरीर अभुक्त कर्म-संस्कारोंसहित अविकसितरूपसे विश्राम पाते हैं।

सृष्टिके आदिमें सृष्टिके आदिपुरुषद्वारा ये सब पुनः रचे जाते हैं (गीता १४। ३-४)। अर्थात् परमात्मारूप अधिष्ठाताके सकाशसे प्रकृति ही चराचरसहित इस जगत्को रचती है, इसी तरह यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता रहता है (गीता ९। १०)। महाप्रलयमें पुरुष और उसकी शक्तिरूपा प्रकृति यह दो ही वस्तुएँ रह जाती हैं, उस समय अज्ञानसे आच्छादित जीवोंका ही प्रकृतिसहित पुरुषमें लय हुआ रहता है, इसीसे सृष्टिके आदिमें उनका पुनरुत्थान होता है।

आवागमनसे छूटनेका उपाय

जबतक परमात्माकी निष्काम भक्ति, कर्मयोग और ज्ञानयोग आदि साधनोंद्वारा यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होकर उसकी अग्निसे अनन्त कर्मराशि सम्पूर्णतः भस्म नहीं हो जाती, तबतक फल भोगनेके लिये जीवको परवश होकर शुभाशुभ कर्मोंके संस्कार मूल-प्रकृति और अन्तःकरण तथा इन्द्रियोंको साथ लिये लगातार बारम्बार जाना-आना पड़ता है। जाने और आनेमें ये ही वस्तुएँ साथ जाती-आती हैं। जीवके पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्म ही इसके गर्भमें आनेके हेतु हैं और अनेक जन्मार्जित संचित कर्मोंके अंशविशेषसे निर्मित प्रारब्धका भोग करना ही इसके जन्मका कारण है। कर्म या तो भोगसे नाश होते हैं या प्रायश्चित्तसे या निष्काम कर्म-उपासनादि साधनोंसे नष्ट होते हैं।* इनका सर्वतोभावसे नाश तो परमात्माकी प्राप्तिसे ही होता है। जो निष्कामभावसे सदा-सर्वदा परमात्माका स्मरण करते हुए—मन-बुद्धि परमात्माको अर्पण करके समस्त कार्य परमात्माके लिये ही करते हैं, उनकी अन्त समयकी वासना परमात्मविषयक ही होती है और उसीके अनुसार उन्हें परमात्माकी प्राप्ति होती है। इसलिये भगवान् कहते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(गीता ८। ७)

'हे अर्जुन! तू सब समय निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त हुआ तू निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

इस स्थितिमें तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होनेके कारण अज्ञानसहित पुरुषके सभी कर्म नाश हो जाते हैं, इनसे उसका आवागमन सदाके लिये मिट जाता है, यही मुक्ति है, इसीका नाम परम पदकी प्राप्ति है, यही जीवका चरम लक्ष्य है। इस मुक्तिके दो भेद हैं—एक सद्योमुक्ति और दूसरी क्रममुक्ति। इनमें क्रममुक्तिका वर्णन तो देवयानमार्गके प्रकरणमें ऊपर आ चुका है। सद्योमुक्ति भी दो प्रकारकी है—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति।

तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर जीवन्मुक्त पुरुष लोकदृष्टिमें जीता हुआ और कर्म करता हुआ-सा प्रतीत होता है, परन्तु वास्तवमें उसका कर्मसे सम्बन्ध नहीं होता। यदि कोई कहे कि सम्बन्ध बिना उससे कर्म कैसे होते हैं? इसका उत्तर यह है कि वास्तवमें वह तो किसी कर्मका कर्ता है नहीं, पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धका जो शेष भाग अवशिष्ट है, उसके भोगके लिये उसीके वेगसे, कुलालके न रहनेपर भी, कुलालचक्रकी भाँति कर्ताके अभावमें भी परमेश्वरकी सत्ता-स्फूर्तिसे पूर्व-स्वभावानुसार कर्म होते रहते हैं परन्तु वे कर्तृत्व-अभिमानसे शून्य कर्म किसी पुण्य-पापके उत्पादक न होनेके कारण वास्तवमें कर्म ही नहीं समझे जाते (गीता १८। १७)।

अन्तकालमें तत्त्वज्ञानके द्वारा तीनों शरीरोंका अत्यन्त अभाव होनेसे जब शुद्ध सच्चिदानन्दघनमें तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है (गीता ५। १७) तब उसे विदेहमुक्ति कहते हैं। जिस मायासे कहीं भी नहीं आने-जानेवाले निर्मल निर्गुण सच्चिदानन्दरूप आत्मामें भ्रमवश आने-जानेकी भावना होती है, भगवान्की भक्तिके द्वारा उस मायासे छूटकर इस परमपदकी प्राप्तिके लिये ही हम सबको प्रयत्न करना चाहिये!

जीवात्मा

एक सज्जनने पूछा है—जीव क्या है, जीवका आना-जाना कैसे होता है और यदि जीव और आत्मा एक है तथा आत्मा असंग और अचल है तो फिर उसका आना-जाना कैसे सम्भव है?

अपनी सामान्य बुद्धिके अनुसार इन प्रश्नोंका उत्तर देनेकी चेष्टा की जाती है।

जो समष्टि-चेतन परब्रह्म परमात्माका शुद्ध अंश है, उसे आत्मा कहते हैं। माया और मायाके कार्योंके साथ सम्बन्धित हो जानेपर इसी आत्माकी जीव-संज्ञा समझी जाती है। प्रकृति और प्रकृतिके सत्रह कार्योंके साथ रहनेसे ही आत्मा जीव कहलाता है, सत्रह कार्योंमें पाँच प्राण, दस इन्द्रियाँ और दो मन-बुद्धि समझने चाहिये। परमात्माका जो सर्वथा विशुद्ध अंश है उसमें तो आने-जानेकी कल्पना ही नहीं की जा सकती, वह तो आकाशकी भाँति निर्लेप और

* 'कल्याण-प्राप्तिके उपाय' में 'कर्मरहस्य' नामक लेख देखना चाहिये।

समभावसे सर्वदा सर्वत्र स्थित है। शरीरोंके साथ सम्बन्ध होनेसे उसका आना-जाना-सा प्रतीत होता है। स्थूल शरीरके संसारमें उत्पन्न और नाश होनेको आत्मापर आरोपित करके लोग आत्माके आने-जानेकी कल्पना करते हैं, यह जैसे आत्मामें औपचारिक है वैसे ही स्थूल शरीरके नाश होनेपर सूक्ष्मका आवागमन भी—जिसको लोग मृत्यु कहते हैं—वास्तवमें औपचारिक ही है। आत्मा अचल होनेके कारण स्थूल या सूक्ष्म—किसी भी शरीरकी स्थितिमें उसका गमनागमन उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार किसी घटके लाने, ले जानेसे घटाकाशका नहीं हुआ करता। यद्यपि आकाशका दृष्टान्त आत्माके लिये सब देशोंमें सर्वथा नहीं घटता, परन्तु दूसरे किसी दृष्टान्तके अभावमें समझानेके लिये इसीका उल्लेख किया जाता है।

इस सिद्धान्तसे कोई यह कहे कि जब आत्माका गमनागमन वास्तवमें होता ही नहीं, उपचारसे प्रतीत होता है, तो फिर आवागमनसे छूटनेके लिये क्यों चेष्टा की जाती है और क्यों शास्त्रकार तथा सन्त-महात्मा ऐसा उपदेश करते हैं एवं इसके औपचारिक गमनागमनमें सुख-दुःख भी किसको होते हैं? इसका उत्तर यह है कि शुद्ध आत्मामें वास्तवमें गमनागमनकी क्रिया न होनेपर भी सुख-दुःख जीवात्माको ही होते हैं और इसीलिये उनसे मुक्त होनेको कहा जाता है, गमनागमनके वास्तविक स्वरूपको तत्त्वसे न जाननेके कारण शरीरके साथ सम्बन्धवाला जीवात्मा सुख-दुःखका भोक्ता माना गया है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(गीता १३। २१)

प्रकृति-(भगवान्‌की त्रिगुणमयी माया-) में स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका संग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेमें कारण है। यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि न तो सुख-दुःख प्रकृति और उसके कार्योंसे मुक्त होनेपर शुद्ध आत्माको हो सकते हैं और न जड होनेके कारण अन्तःकरणको ही। यह उसी अवस्थामें होते हैं जब यह पुरुष—जीवात्मा प्रकृतिमें स्थित होता है।

कुछ लोगोंका कहना है कि सुख-दुःख आदि अन्तःकरणके धर्म हैं, ये उसमें रहते आये हैं और रहेंगे ही, परन्तु यह बात ठीक नहीं है। ये अन्तःकरणके धर्म नहीं, विकार हैं और साधनसे न्यूनाधिक हो सकते हैं तथा इनका नाश भी हो सकता है। विकारोंको ही कोई धर्मके नामसे पुकारे तो कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदिका भोक्ता अन्तःकरण है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि जड होनेके कारण कर्ता-भोक्ता नहीं हो सकते। ये मायाके विकार हैं और अन्तःकरण इनके रहनेका आधारस्थल है। अतएव मायाके सम्बन्धवाला पुरुष ही भोक्ता है।

इस सुख-दुःखकी निवृत्ति तबतक नहीं हो सकती जबतक कि इस चेतन आत्माका शरीरोंके साथ अज्ञानजन्य सम्बन्ध छूट नहीं जाता। प्रकृतिसे सम्बन्ध छूटकर 'स्व-स्थ' अर्थात् स्व-स्वरूपमें स्थित होनेपर ही आत्मा कृतकृत्य और मुक्त हो सकता है। महर्षि पतंजलिने भी योगदर्शनमें यही बात कही है।

अब यह विचार करना है कि प्रकृतिके साथ आत्माका संयोग होनेमें हेतु क्या है? वह हेतु अविद्या है—

'तस्य हेतुरविद्या' (२। २४)

इस अविद्याके नाशसे प्रकृतिसे छूटकर आत्माकी स्व-स्वरूपमें स्थिति होती है, तभी वह सुख-दुःखसे मुक्त होता है। अविद्याका नाश तत्त्वज्ञानसे होता है। ईश्वर, माया और मायाके कार्यका यथार्थ ज्ञान ही संक्षेपमें तत्त्वज्ञान है। भगवान् कहते हैं—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥

(गीता १३। १-२, ३४)

'हे अर्जुन! यह शरीर क्षेत्र है, ऐसा कहा जाता है और इसको जो जानता है उसको क्षेत्रज्ञ, ऐसा उनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं। हे अर्जुन! तू सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझको ही जान; क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका अर्थात् विकारसहित प्रकृतिका और पुरुषका जो तत्त्वसे जानना है वह ज्ञान है, ऐसा मेरा मत है। इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा विकारसहित प्रकृतिसे छूटनेके उपायको जो पुरुष ज्ञान-नेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं वे महात्माजन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं।'

उपर्युक्त विवेचनसे यह समझा जा सकता है कि प्रकृति और उसके कार्योंमें सम्बन्धित आत्मा ही जीवात्मा है और इसी सम्बन्धके कारण उसका आना-जाना-सा प्रतीत होता है। जीव किस प्रकारसे भिन्न-भिन्न योनियोंमें कर्मोंके वश जाता-आता है, यह भिन्न विषय है और इसका विस्तृत वर्णन 'कल्याण-प्राप्तिके उपाय' में 'कर्मका रहस्य' नामक लेखमें आ चुका है, इसलिये उसको यहाँ नहीं लिखा। ऊपर यह कहा जा चुका है कि तत्त्वज्ञानसे ही मायाका सम्बन्ध छूटता है और उस तत्त्वज्ञानका स्वरूप भी बतलाया जा चुका है। अब यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है

कि इस तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति कैसे हो? श्रीमद्भगवद्गीतामें इसकी प्राप्तिके प्रधानतया तीन उपाय बतलाये गये हैं— ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। ज्ञानयोगकी व्याख्या श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १८ श्लोक ४९ से ५५ तक, कर्मयोगकी व्याख्या अध्याय २ श्लोक ३९ से ५३ तक और भक्तियोगकी व्याख्या अध्याय १२ श्लोक २ से २० तक की गयी है। इन व्याख्याओंको ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये। समष्टि-चेतन परब्रह्म परमेश्वरकी उपासना और उसके स्वरूपके तात्त्विक विवेककी आवश्यकता तो तीनोंमें ही है। अवश्य ही प्रकारमें भेद है। ज्ञानके सिद्धान्तसे अभेदोपासना एवं कर्म तथा भक्तियोगसे प्रधानतया भेदरूपसे उपासना की जाती है। इन दोनोंमें भक्तियोगमें भक्तिकी मुख्यता और कर्मकी गौणता है तथा कर्मयोगमें कर्मकी मुख्यता और भक्तिकी गौणता है।

जन्म-मरणके चक्करसे छुड़ानेवाले तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये इन तीनों उपायोंमेंसे अपनी रुचि और अधिकारके अनुसार किसी एक उपायको ग्रहण करना मनुष्यमात्रके लिये परम कर्तव्य है।

तत्त्व-विचार

प्रत्येक मनुष्यको इन प्रश्नोंपर विचार करना चाहिये कि 'प्रकृति क्या है? पुरुष किसे कहते हैं? संसार क्या है? हम कौन हैं? राग-द्वेष, काम-क्रोधादि जीवके अन्तःकरणमें रहते ही हैं या इनका समूल नाश भी हो सकता है? संसारमें हमारा क्या कर्तव्य है? परमात्मा, जीव, प्रकृति और संसार— ये अनादि हैं या आदिवाले हैं? इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है और बन्ध एवं मोक्ष क्या है?' इन प्रश्नोंपर गहरा विचार करनेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है और उत्तरोत्तर ज्ञानके बढ़नेसे आत्मामें इनका यथार्थ बोध हो जाता है—जीवन कृतकृत्य हो जाता है। थोड़े शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि मनुष्य-जीवनका परम उद्देश्य सिद्ध हो जाता है। यद्यपि इन प्रश्नोंका विषय बहुत ही गहन है और सभी प्रश्न अति महत्त्वके हैं, इनपर विवेचन करना साधारण बात नहीं है; वास्तवमें इनका तत्त्व महात्मा पुरुष ही जानते हैं तथापि मैं अपने विनोदके लिये साधारण बुद्धिके अनुसार इन प्रश्नोंपर अपने मनके विचार संक्षेपमें पाठकोंके सामने उपस्थित कर रहा हूँ और विनय करता हूँ कि आपलोग यदि उचित समझें तो इस विषयपर विचार करें।

प्रकृति, पुरुष और संसार

प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

(१३। १९)

'हे अर्जुन! प्रकृति और पुरुष—इन दोनोंको तू अनादि जान।' इनमें पुरुष तो अनादि और अनन्त है तथा प्रकृति अनादि, सान्त है। पुरुष सर्वव्यापी, नित्य, चेतन एवं आनन्दरूप है और प्रकृति विकारवाली होनेके कारण जड, अनित्य और दुःखरूप है। यह समस्त जडवर्ग संसार प्रकृतिका ही विकार है। प्रकृति जब अक्रियरूप हो जाती है, तब प्रकृतिका विकाररूप यह जडवर्ग संसार प्रकृतिमें लय हो जाता है, इसीको महाप्रलय कहते हैं और जब यह प्रकृति पुरुषके सकाशसे क्रियावाली होती है तब सर्गके आदिमें इससे इस जडवर्ग संसारका विस्तार होता है। इसीलिये कार्य और करण* के विस्तारमें प्रकृतिको ही हेतु बतलाया गया है—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।

(गीता १३। २०)

सबसे पहले प्रकृतिसे महत्तत्त्वकी उत्पत्ति होती है, इस महत्तत्त्वको ही समष्टि-बुद्धि कहते हैं। सम्पूर्ण जीवोंकी व्यष्टि-बुद्धियाँ इस समष्टि-बुद्धिका ही विस्तार है। तदनन्तर इस महत्तत्त्वसे समष्टि-अहंकार उत्पन्न होता है, समष्टि-अहंकारसे संकल्पात्मक समष्टि-मनकी उत्पत्ति होती है और उसी अहंकारसे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथिवी, इस प्रकार क्रमसे पाँच सूक्ष्म महाभूतोंकी उत्पत्ति होती है, यही इस जडवर्ग संसारके कारण हैं। कोई-कोई महर्षि इनको सूक्ष्म तन्मात्राएँ और इन्द्रियोंके कारणभूत अर्थ भी कहते हैं। महर्षि पतंजलि इन सूक्ष्म तन्मात्राओंकी उत्पत्ति अहंकारसे बतलाते हैं और भगवान् कपिल महत्तत्त्वसे। वास्तवमें इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है, क्योंकि समष्टि-बुद्धि, समष्टि-अहंकार और समष्टि-मन—ये तीनों अन्तःकरणके ही अवस्थाभेदसे तीन भिन्न-भिन्न नाम हैं। तदनन्तर इन सूक्ष्म भूतोंसे या कारणरूप तन्मात्राओंसे पंच-ज्ञानेन्द्रिय, पंच-कर्मेन्द्रिय और इन्द्रियोंके पाँच विषयोंकी उत्पत्ति अथवा विस्तार होता है। या यों कहिये कि यह जडवर्ग संसार उन पंच सूक्ष्म भूतोंका ही विस्तार या कार्य है।

पुरुषके भी दो भेद हैं—परमात्मा और जीवात्मा।

* आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध —इनका नाम कार्य है। बुद्धि, अहंकार और मन तथा श्रोत्र, त्वचा, रसना, नेत्र और घ्राण एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा—इन १३ का नाम करण है।

परमात्मा एक है परन्तु जीव असंख्य हैं। परमात्माके दो स्वरूप हैं—एक गुणातीत, जिसे सच्चिदानन्द कहते हैं, जो सदा ही माया और मायाके कार्य संसारसे अतीत है एवं जो अनादि और अनन्त है। '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' (तै० २।१) '**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**' (बृह० ३।९।२८) '**आनन्दो ब्रह्मेति**' (तै० ३।६) '**रसो वै सः**' (तै० २।७) '**एकमेवाद्वितीयम्**' (छा० ६।२।१) '**एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पत्...... एषोऽस्य परम आनन्दः**' (बृह० ४।३।३२) आदि विशेषणोंसे श्रुतियाँ जिसका वर्णन करती हैं। दूसरा सगुण ब्रह्म जो मायाविशिष्ट ईश्वर, महेश्वर, सृष्टिकर्ता, परमेश्वर प्रभृति अनेक नामोंसे श्रुति-स्मृतियोंमें वर्णित है। वस्तुतः विज्ञानानन्दघन निराकार ब्रह्म और महेश्वर सगुण ब्रह्म सर्वथा अभिन्न हैं, दो नहीं हैं। परमात्माके जिस अंशमें सत्त्व-रज-तम त्रिगुणमय संसार है, श्रुति-स्मृतियोंने, उसको सगुण ब्रह्म और जहाँ त्रिगुणमयी प्रकृति और संसारका अत्यन्त अभाव है उसको गुणातीत विज्ञानानन्दघन नामसे वर्णन किया है। वास्तवमें 'परमात्मा' शब्दसे सगुण-निर्गुण दोनों मिलकर समग्र ब्रह्म ही समझना चाहिये। यों तो सगुण ब्रह्मके सम्बन्धमें भी दो भेदोंकी कल्पना की गयी है। एक निराकार सर्वव्यापी सृष्टिकर्ता ईश्वर और दूसरा साकार ब्रह्म—ब्रह्मका अवतार, जैसे भगवान् श्रीरामचन्द्र और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र प्रभृति। यहाँ सर्वव्यापी निराकार सगुण ब्रह्ममें और अपनी लीलासे साकाररूपमें प्रकट होनेवाले श्रीराम-कृष्ण आदि अवताररूपी भगवान्में कोई अन्तर या भिन्नता नहीं है। कुछ लोग बिना समझे-बूझे कह दिया करते हैं कि सर्वव्यापी निराकार ब्रह्म साकार नहीं हो सकते। इन लोगोंके सम्बन्धमें यह कहनेका तो मुझे अधिकार नहीं कि 'ऐसा कहना उनकी भूल है' हाँ, इतना जरूर कहा जाता है कि इन्हें अपने इस सिद्धान्तपर फिरसे विचार जरूर करना चाहिये। जिस प्रकार व्यापक निराकार अव्यक्त अग्नि तथा किसी स्थानविशेषमें प्रज्वलित व्यक्त अग्निमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है, एक ही अग्निके दो रूप हैं, इसी प्रकार निराकार और साकार परमात्माको भी समझना चाहिये। साधनोंद्वारा सर्वव्यापी परमात्माका सब जगह व्याप्त रहते हुए ही प्रज्वलित अग्निकी भाँति प्रकट हो जाना शास्त्रसम्मत और युक्तियुक्त ही है। भगवान्ने स्वयं श्रीमुखसे कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४।६)

'मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूत-प्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ।' इसके अतिरिक्त केन-उपनिषद्में इन्द्र, अग्नि आदि देवोंके सामने ब्रह्मका यक्षरूपमें प्रकट होना प्रसिद्ध है। किसी-किसीका कहना है कि जब भगवान् इस प्रकार एक जगह प्रकट हो जाते हैं तब अन्य सब स्थानोंमें तो उनका अभाव हो जाना चाहिये। परन्तु ऐसा कथन भगवान्के तत्त्वको न जाननेके कारण ही होता है। हम देखते हैं कि यह बात तो अग्निमें भी चरितार्थ नहीं होती। जब पत्थर या दियासलाईकी रगड़से अग्नि प्रकट होती है—निराकारसे साकाररूपमें परिणत होती है तब क्या अन्य सब स्थानोंमें उसका अस्तित्व मिट जाता है? फिर भगवान्की तो बात ही क्या है? भगवान् तो ऐसे सर्वव्यापी हैं कि अग्नि आदि पंचभूतोंकी कारणरूपा प्रकृति भी उनके किसी अंशमें उनके संकल्पके आधारपर स्थित है। ऐसे परमेश्वरके सम्बन्धमें इस प्रकारका कुतर्क करना अपनी बुद्धिका ही परिचय देना है।

अब जीवात्माकी बात रही। भलीभाँति विचारकर देखनेसे तो यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा परमात्मासे भिन्न नहीं है, क्योंकि श्रुति-स्मृतियोंमें जीवात्माको परमात्माका अंश बतलाया है। भगवान् कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५।७)

'इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है।' गोसाईंजी भी *'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'* कहकर इसी सिद्धान्तकी पुष्टि करते हैं। अंश अंशीसे उसी प्रकार भिन्न नहीं होता जिस प्रकार तरंगें समुद्रसे भिन्न दीखती हुई भी वस्तुतः उससे भिन्न नहीं हैं।

जीवके भी दो भेद हैं—एक बद्ध, दूसरा मुक्त। बद्ध वह है जो शरीरकी उत्पत्ति और विनाशमें अज्ञानके कारण आत्माका जन्मना-मरना मानता है और मुक्त उसे कहते हैं जिसके अज्ञानका नाश हो गया हो और जो भावी आवागमनके चक्रसे सर्वथा छूट गया हो। वास्तवमें तो ऐसे पुरुषकी जीव-संज्ञा ही नहीं है। यह भेद तो केवल समझानेके लिये किया गया है। उसकी स्थिति तो अनिर्वचनीय ही होती है।

मुक्ति भी दो प्रकारकी है—एक निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभेदरूपसे मिल जाना और दूसरी साकार सगुण ब्रह्मके परमधाममें (जिसको सत्यलोकादि नामोंसे शास्त्रोंने निर्देश किया है) जाकर सगुण पुरुषोत्तमभगवान्की सन्निधिमें निवास करना। इस दूसरी प्रकारकी मुक्तिके भी चार भेद हैं—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। कोई-कोई महानुभाव सार्ष्टि नामक एक प्रकारकी मुक्ति और बताकर

इसके पाँच भेद करते हैं, परन्तु 'सार्ष्टि' मुक्ति 'सारूप्य' के अन्तर्गत आ जाती है।

जबतक जीवको अज्ञान रहता है, तभीतक उसकी 'बद्ध' संज्ञा है। जब उसे परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब उसकी 'मुक्त' संज्ञा हो जाती है। परमात्माके चेतन अंशकी यह जीव-संज्ञा अनादि और अन्तवाली है अर्थात् है तो अनादिकालसे परन्तु मिट सकती है। जब यह जीव स्थूल शरीरमें आता है और जाग्रत्-अवस्थामें रहता है, उस समय इसका चौबीस[१] तत्त्वोंवाले तीनों (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) शरीर और पाँचों[२] कोशोंसे सम्बन्ध रहता है। जब प्रलय या स्वप्नावस्थाको प्राप्त होता है, तब इसका प्रकृतिसहित सत्रह[३] तत्त्वोंके सूक्ष्म शरीरसे सम्बन्ध रहता है। जब यह ब्रह्माजीके शान्त होनेपर महाप्रलयमें या सुषुप्ति-अवस्थामें रहता है, तब इसका केवल प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रहता है। इसीको कारण-शरीर कहते हैं जो मूल-प्रकृतिका एक अंश है। सर्गके अन्तमें गुण और कर्मोंके संस्कारोंका समुदाय कारणरूपा प्रकृतिमें लय हो जाता है और सर्गके आदिमें पुनः उसीसे प्रकट हो जाता है और उसी गुण-कर्म-समुदायके अनुसार ही परमेश्वर सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंको संसारमें रचते हैं। भगवान्ने कहा है—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

(गीता ९। ७)

'हे अर्जुन! कल्पके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रकृतिमें लय होते हैं और कल्पके आदिमें उनको मैं फिर रचता हूँ।'

जीवमें जो चेतनता है वह परमात्माका अंश होनेसे वस्तुतः परमात्मस्वरूप ही है, अतः उस चेतनत्वको अनादि और अनन्त ही मानना चाहिये। परन्तु जीवके साथ जो प्रकृतिका सम्बन्ध है वह अनादि और सान्त है, क्योंकि प्रकृति स्वयं ही अनादि एवं सान्त है।

प्रकृतिके दो भेद हैं—एक विद्या और दूसरी अविद्या। विद्याके द्वारा परमात्मा संसारकी रचना करते हैं और अविद्याके द्वारा जीव मोहित हो रहे हैं। जब जीव अविद्याजनित रज और तमको लाँघकर केवल सत्त्वमें स्थित हो जाता है, तब उसके अन्तःकरणमें विद्या अर्थात् ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। फिर उस ज्ञानके द्वारा अज्ञानका नाश होनेपर वह ज्ञान भी स्वयमेव शान्त हो जाता है। जैसे काठसे उत्पन्न अग्नि काठको जलाकर स्वयं भी शान्त हो जाती है, इसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरणमें उत्पन्न ज्ञान, अज्ञानको मिटाकर स्वयं भी मिट जाता है। उस समय यह जीव विद्या और अविद्या उभयरूपा प्रकृतिसे सर्वथा मुक्त होकर सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपको अभिन्नरूपसे प्राप्त हो जाता है। इसीको अभेदमुक्ति कहते हैं। फिर उसकी दृष्टिमें न ज्ञान है और न अज्ञान ही है। वह सम्पूर्ण उपाधियोंसे रहित केवल शुद्ध चेतनस्वरूप है। उसके स्वरूपका वर्णन हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह वाणीसे अतीत है। वर्णनकी बात तो अलग रही, उसकी स्थितिको मन, बुद्धिसे समझ लेना भी अत्यन्त दुर्गम है, क्योंकि वह मन-बुद्धिसे परे है, उसके सम्बन्धमें जो कुछ भी वर्णन, मनन या निश्चय किया जाता है, वस्तुतः वह इन सबसे अत्यन्त विलक्षण है। उसकी इस विलक्षणताको समझ लेना मनुष्यकी बुद्धिसे बाहरकी बात है। जिसको वह स्थिति प्राप्त है, वही इस बातको समझता है। वस्तुतः यह कहना भी केवल समझानेके लिये ही है।

एक ही निराकार आकाश जिस प्रकार अनेक भिन्न-भिन्न घड़ोंके सम्बन्धसे उनमें भिन्न-भिन्न रूपसे प्रतीत होता है और जिस प्रकार एक ही जल विशेष सर्दीके कारण ओलोंके रूपमें परिणत होकर अनेक रूपमें भासता है, इसी प्रकार एक ही चेतन प्रकृतिके सम्बन्धसे अनेक भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रतीत हो रहा है। यद्यपि घटाकाश और महाकाशमें कोई भिन्नता नहीं तथापि उपाधिभेदसे वह आकाश विभिन्न नाना रूपोंमें दिखलायी पड़ता है। परन्तु जिस प्रकार घटाकाश महाकाशका अंश है, ठीक उसी प्रकार जीव परमात्माका अंश नहीं है, क्योंकि आकाश निराकार, निरवयव तो है परन्तु जड होनेके कारण उसमें जैसे देशके विभागकी कल्पना की जा सकती है, विज्ञानानन्दघन परमात्मा देश और कालसे सर्वथा अतीत होनेके कारण उसमें आकाशकी भाँति अंशांशी-भावकी कल्पना नहीं की जा सकती। वास्तवमें परमात्माके अंशांशी-भावकी कल्पनाको बतलानेवाला संसारमें कोई दूसरा उदाहरण है ही नहीं। दूसरा स्वप्नका उदाहरण भी दिया जाता है कि 'जैसे एक ही जीव स्वप्नावस्थामें

१-चौबीस तत्त्व ये हैं—पंचमहाभूत, अहंकार, बुद्धि, मूलप्रकृति, दस इन्द्रियाँ, मन और पंचतन्मात्रा। (गीता १३। ५)

२-पंचकोश ये हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। स्थूलमें तीनों शरीर और पाँचों कोश हैं। सूक्ष्ममें दो शरीर 'अन्नमय' को छोड़कर शेष चार कोश हैं एवं कारण-शरीरमें सिर्फ आनन्दमय कोश है।

३-मन, बुद्धि, दस इन्द्रियाँ तथा पंचतन्मात्रा—ये सत्रह तत्त्व हैं। अहंकार बुद्धिके अन्तर्गत आ जाता है और प्रकृति सबमें व्यापक है ही। पंचप्राण, सूक्ष्म वायुके अन्तर्गत होनेसे उन्हें तन्मात्राओंके अन्तर्गत समझ लेना चाहिये।

मनोकल्पित सृष्टिको रचकर आप ही अपने अनेक रूपोंकी कल्पनाकर सुख-दुःखको प्राप्त होता है, परन्तु स्वप्नकी सृष्टिमें प्रतीत होनेवाले वे अनेक पदार्थ उसीकी अपनी कल्पना होनेके कारण उससे भिन्न नहीं है, इसी प्रकार संसारके सारे जीव भी ईश्वरके ही अंश हैं।' पर यह उदाहरण भी समीचीन नहीं, क्योंकि जीव अज्ञानके कारण निद्राके वशीभूत हो स्वप्नमें कल्पित सृष्टिका अनुभव करता है, परन्तु सच्चिदानन्दघन परमात्मामें यह बात नहीं। परमात्माके यथार्थ अंशांशी-भावकी स्थिति तो परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान होनेसे ही समझमें आ सकती है। उदाहरणों और शास्त्रोंसे जो बातें जानी जाती हैं, वे तो केवल शाखाचन्द्र-न्यायसे तत्त्वका लक्ष्य करानेके लिये हैं। वास्तविक स्वरूप तो अत्यन्त ही विलक्षण है।

प्रकृति, प्रकृतिके विकार संसार और पुरुष अर्थात् जीवात्मा एवं परमात्माका वर्णन संक्षेपमें किया जा चुका। अब अगले प्रश्नोंपर विचार करना है।

हम कौन हैं?

जीवात्मा ही इस मनुष्य-शरीरमें 'अहं' अर्थात् 'हम' शब्दका वाच्य है। वह वस्तुतः नित्य, चेतन और आनन्दरूप है तथा इस चौबीस तत्त्वोंवाले जड-दृश्य शरीरसे अत्यन्त विलक्षण है। शरीर अनित्य, क्षणभंगुर और नाशवान् है, अज्ञानसे इसकी स्थिति और ज्ञानसे ही इसका अन्त है। इसीलिये श्रीभगवान्ने सब शरीरोंको अन्तवाले बतलाया है।

'अन्तवन्त इमे देहाः' (गीता २। १८)

परन्तु मायाके कार्यरूप शरीरके साथ सम्बन्ध होनेके कारण अविनाशी, अप्रमेय, नित्य-चेतन जीवात्मा सुख-दुःखका भोक्ता और नाना प्रकारकी योनियोंमें गमनागमन करनेवाला कहा गया है। यथा—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(गीता १३। २१)

अर्थात् 'प्रकृतिमें स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृति (त्रिगुणमयी माया)-से उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका संग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।'

जबतक इसको परमात्माके तत्त्वकी उपलब्धि नहीं हो जाती तबतक अनन्तकोटि जन्मोंके बीत जानेपर भी आवागमनरूपी दुःखसे इसका छुटकारा नहीं होता। ज्ञानके द्वारा जिसके अज्ञानका सर्वथा नाश हो गया है, वह पुरुष इस देहके अन्दर जीता हुआ भी मुक्त है।

राग-द्वेषादिका नाश हो जाता है

मुक्त पुरुषके हृदयमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक और काम-क्रोध आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है। किसी-किसीका कथन है कि ज्ञानके अनन्तर भी ज्ञानीके हृदयमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध और सुख-दुःखादि होते हैं एवं किसी-किसीने तो यहाँतक कह डाला है कि प्रारब्धके कारण ज्ञानीमें झूठ, कपट, चोरी और व्यभिचार आदि दुराचार भी रह सकते हैं। परन्तु मेरी साधारण समझके अनुसार इस प्रकार कहना मुनि-प्रणीत आर्ष ग्रन्थों एवं युक्तियोंके सर्वथा विरुद्ध है। श्रुति-स्मृति आदि प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थोंके प्रमाणसे विधि-वाक्योंद्वारा जीवन्मुक्तके अन्तःकरणमें अर्थात् ज्ञानोत्तर-कालमें दुराचारोंका होना किसी महाशयको ज्ञात हो तो वे कृपापूर्वक मुझे अवश्य सूचना दें। हाँ, उनके विरुद्ध तो श्रुति-स्मृतियोंमें प्रचुर प्रमाण मिलते हैं, उनमेंसे कुछ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

हर्षशोकौ जहाति। (कठ० २। १२)
तरति शोकमात्मवित्। (छा० ७। १। ३)
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।

(ईश० ७)

'हर्ष-शोक त्याग देता है', 'आत्मज्ञानी शोकसे तर जाता है', 'जब सर्वत्र आत्माकी एकताका निश्चय कर लेता है तब शोक-मोह कुछ भी नहीं रह जाते।'

गीतामें कहा है—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

(५। २६)

'काम-क्रोधसे रहित जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही प्राप्त है।'

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।

(गीता १२। १७)

'जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है।'

बल्कि काम-क्रोधादिको तो भगवान्ने साक्षात् नरकके द्वार और आत्माका नाशकतक बतलाये हैं और इनके अत्यन्त अभाव होनेपर ही आत्माके कल्याणके लिये साधन करनेसे मुक्ति बतलायी है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥

(गीता १६। २१-२२)

अर्थात् 'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले हैं, यानी अधोगतिमें

ले जानेवाले हैं। इससे इन तीनोंको त्याग देना चाहिये। क्योंकि हे अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है। इससे (वह) परमगतिको जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त होता है।'

उपर्युक्त बाईसवें श्लोकमें 'विमुक्त' शब्द आया है जो काम, क्रोध, लोभके आत्यन्तिक अभावका द्योतक है यानी परमगति चाहनेवालेमें काम, क्रोधादिकी गन्ध भी नहीं होनी चाहिये। काम-क्रोधादिका कारण है आसक्ति। आसक्तिका नाम ही रस या राग है, इसीको संग भी कहते हैं। भगवान्ने स्पष्ट कहा है कि 'संग' से ही 'काम' की उत्पत्ति होती है और क्रोध कामसे उत्पन्न होता है।

संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।

(गीता २। ६२)

'काम-क्रोधादिके कारणरूप इस आसक्तिका परमात्माके साक्षात्कारसे सर्वथा नाश हो जाता है।'

—रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(गीता २। ५९)

अर्थात् 'इस पुरुषका राग भी परमात्माका साक्षात्कार होनेपर निवृत्त हो जाता है।'

जब कारणका अत्यन्त अभाव हो जाता है, तब उसके कार्य काम-क्रोधादिका अस्तित्व मानना भारी भोलेपनके अतिरिक्त और क्या है? जिस कामरूपी कारणका कार्य क्रोध है, उस कामको श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने सम्पूर्ण अनर्थोंका कारण और साधकके लिये महान् शत्रु बतलाया है और उसे मारनेकी स्पष्ट आज्ञा दी है।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

अर्थात् 'रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यही महा अशन यानी अग्निके सदृश भोगोंसे न तृप्त होनेवाला और बड़ा पापी है। इस विषयमें इसको ही तू वैरी जान।'

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

(गीता ३। ४२-४३)

'इन्द्रियोंको पर अर्थात् श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं तथा इन्द्रियोंसे परे मन है एवं मनसे परे बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त परे है वह आत्मा है। इस प्रकार बुद्धिसे परे अर्थात् सूक्ष्म तथा सब प्रकार बलवान् और श्रेष्ठ अपने आत्माको जानकर तथा बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके हे महाबाहो! अपनी शक्तिको समझकर इस दुर्जय कामरूप शत्रुको मार।'

अस्मिता, राग, द्वेष और भय—इन चारोंका कारण अविद्या है। अविद्या ही जीवके सुख-दुःखमें हेतु है और उस अविद्याका अभाव होनेसे ही जीवकी मुक्ति होती है। अविद्यारूप कारणके अभावसे उसके चारों कार्योंका आप ही अभाव हो जाता है। योगदर्शनमें लिखा है—

'तस्य हेतुरविद्या', 'तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।' (२। २४-२५)

'उस संयोगका हेतु अविद्या है', 'उस अविद्याके अभावसे संयोगका अभाव हो जाता है। उसका नाम हान है। वही द्रष्टाकी कैवल्य यानी मुक्त-अवस्था है।'

इस अवस्थामें सुख-दुःख, हर्ष-शोक, काम-क्रोध, भय आदि विकार रह ही कैसे सकते हैं?

कुछ लोग इन राग-द्वेष, सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदिको अन्तःकरणका धर्म मानते हैं और शरीर रहते इनका सर्वथा नाश होना असम्भव बतलाते हैं। परन्तु यह मानना युक्तियुक्त नहीं है; बल्कि श्रुति-स्मृति शास्त्र-प्रमाणोंसे तो शरीरके रहते हुए ही इनका अभाव होना सिद्ध है। उपर्युक्त विवेचनमें यह बात दिखलायी जा चुकी है। अब यह दिखलाना है कि ये अन्तःकरणके स्वाभाविक धर्म नहीं, किन्तु विकार हैं। क्षेत्रके वर्णन-प्रसंगमें भगवान् कहते हैं—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

(गीता १३। ६)

'इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल देहका पिण्ड, चेतनता और धृति—इस प्रकार यह क्षेत्र विकारोंके सहित संक्षेपमें कहा गया।'

इससे इनका विकार होना सिद्ध है और इन विकारोंसे आत्यन्तिक मुक्तिका नाम ही मोक्ष है। शास्त्र-प्रमाणोंके अतिरिक्त युक्तिसे भी यही बात सिद्ध है। भला यदि राग-द्वेष, हर्ष-शोक, सुख-दुःख आदि विकार ही न छूटे तो मुक्ति किस बन्धनसे हुई और ऐसी मुक्तिका मूल्य ही क्या है? यदि सुख-दुःख, हर्ष-शोक, काम-क्रोधादि स्वाभाविक धर्म होते तो वे धर्मीसे कदापि अलग नहीं हो सकते और धर्मीके नाश होनेपर ही उनका नाश होता, परन्तु ऐसा न होकर अन्तःकरणरूप धर्मीके रहते हुए ही इनका घटना-बढ़ना और नष्ट होना देखा जाता है। इससे ये धर्म नहीं, किन्तु विकार ही सिद्ध होते हैं। ज्ञानीमें तो ये रहते ही नहीं, परन्तु अज्ञानीके अन्दर भी ये घटते-बढ़ते देखे जाते हैं और

इनके घटने-बढ़नेसे अन्तःकरणका घटना-बढ़ना नहीं देखा जाता। वास्तवमें ये धर्म नहीं, किन्तु अविद्याजनित विकार हैं और विवेकसे इनका शमन होता है। जब विवेकसे ही ऐसा होता है तब पूर्ण ज्ञानसे तो इनका सर्वथा नाश हो जाना बिलकुल ही युक्तियुक्त है। कुछ लोग चोरी, झूठ, कपट और व्यभिचार आदि पापोंकी उत्पत्ति भी ज्ञानीके प्रारब्धसे मानते हैं और ऐसे प्रारब्धका आरोप करके ज्ञानीके मत्थे भी इन पापोंका होना मढ़ते हैं। मेरी साधारण बुद्धिसे इस प्रकार मानना ज्ञानीके मस्तकपर कलंक लगाना है। ज्ञानीकी तो बात ही क्या है किसी भी मनुष्यके लिये दुराचारोंकी उत्पत्तिमें प्रारब्धको हेतु माननेसे शास्त्र और युक्तियोंके साथ अत्यन्त विरोध उपस्थित हो जाता है। जैसे—

१—**'सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। धर्मान्न प्रमदितव्यम्।'** (तैत्ति० १। ११। १)

—आदि श्रुतिके विधि-वाक्योंका और **'सुरां न पिबेत्'** आदि निषेधवाक्योंका कोई मूल्य ही नहीं रह जायगा और सारे विधि-निषेधात्मक शास्त्र सर्वथा व्यर्थ हो जायँगे।

२—झूठ, कपट, चोरी-जारी आदि पाप यदि पूर्वकृत पापोंके फलरूप प्रारब्ध हैं तो फिर इनका कभी नाश होना सम्भव ही नहीं, क्योंकि पापका फल पाप, फिर उस पापका फल पाप, इस प्रकार पापोंकी शृंखला कभी टूट ही नहीं सकती यानी अनवस्था-दोष आ जायगा।

३—पापोंका होना प्रारब्धसे मान लेनेपर उनके लिये किसीको कोई दण्ड नहीं मिलना चाहिये। क्योंकि पाप करनेवाला तो बेचारा प्रारब्धवश बाध्य होकर पापोंको करता है फिर वह दण्डका पात्र क्यों समझा जाय। जिस ईश्वरने इस प्रकारके प्रारब्धकी रचना की, असलमें उसीपर यह दोष भी आना चाहिये।

४—काम-क्रोधादि पापोंके फलस्वरूप दण्डका विधान ही युक्तियुक्त है न कि पुनः पाप करनेका। दुनियामें हम देखते हैं कि चोरी, व्यभिचारादि करनेवाले अपराधियोंको जेल आदिकी सजा होती है, न कि फिर वैसे ही पाप करनेके लिये उन्हें उत्साह दिलाया जाता हो। जब जगत्के न्यायमें भी ऐसा नहीं होता तब परम दयालु, परम न्यायकारी ईश्वर पाप-कर्मोंका फल चोरी, झूठ, कपट, व्यभिचार आदि कैसे रच सकते हैं?

५—प्रारब्ध उसी कर्मका नाम है जो पूर्वकृत कर्मोंका फल भुगतानेवाला हो। नवीन क्रियमाण कर्मकी उत्पत्तिका नाम प्रारब्ध नहीं है। नवीन क्रियमाण कर्म तो प्रारब्धसे सर्वथा भिन्न है। जहाँ कर्मोंकी तीन संज्ञाएँ बतलायी गयी हैं वहाँ पुण्य-पापादि नवीन कर्मोंको क्रियमाण, सुख-दुःखादि भोगोंको प्रारब्ध और पूर्वकृत अभुक्त कर्मोंको संचित कहा है। जिन लोगोंको उपर्युक्त तीनों कर्मोंके तत्त्वका ज्ञान होगा, वे पाप-पुण्यादि क्रियमाण कर्मोंको प्रारब्ध कैसे बतला सकते हैं? अतएव यह सिद्ध हो गया कि राग-द्वेष, काम-क्रोधादि अज्ञानसे उत्पन्न विकार ज्ञान न होनेतक जीवके अन्तःकरणमें न्यूनाधिक रूपमें रहते हैं और ज्ञान होते ही इनका समूल नाश हो जाता है।

हमारा क्या कर्तव्य है?

चौरासी लाख योनियोंमें मनुष्य ही कर्म-योनि है। अर्थात् इस मनुष्य-शरीरमें किये हुए कर्मोंका फल ही जीवको अन्यान्य सारी योनियोंमें भोगना पड़ता है। मनुष्य, पितृ और देव—ये तीन उत्तम योनियाँ मानी गयी हैं। इनके अतिरिक्त शेष सभी पाप-योनियाँ हैं। इन तीनोंमें भी मुक्तिके सम्बन्धमें तो मनुष्यकी ही प्रधानता है। यद्यपि मनुष्यकी अपेक्षा देव और पितृ अधिक पुण्य-योनि हैं और उनमें बुद्धि तथा सामर्थ्यकी भी विशेषता है, परन्तु भोगोंकी बाहुल्यताके कारण देव और पितृयोनिके जीव मुक्तिके मार्गपर आरूढ़ होनेमें प्रायः असमर्थ ही रहते हैं। जब इस लोकमें भी विशेष समृद्धिशाली मनुष्य भोग-विलासमें फँसे रहनेके कारण मुक्तिके मार्गपर नहीं आते, तब स्वर्गादि लोकोंमें अनेक सिद्धियोंको प्राप्त और भोग-सामग्रीमें अनुरक्त लोग मुक्ति-मार्गमें कैसे लग सकते हैं? अतएव बड़े ही सुकृतोंके संग्रह होनेपर भगवत्कृपासे यह परम दुर्लभ और मुक्तिका साधन मनुष्य-शरीर मिलता है। भगवान् दया करके जीवको मुक्त होनेका यह एक सुअवसर देते हैं—

आकर चारि लच्छ चौरासी।
जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

ऐसे अमूल्य शरीरको पाकर हमलोगोंको उस परम दयालु परमात्माको तत्त्वसे जाननेके लिये परमात्माके भजनके निमित्त प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्ने श्रीगीतामें कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
(९। ३३)

'इस सुखरहित और क्षणभंगुर मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर तू निरन्तर मेरा भजन ही कर।'

क्योंकि यह शरीर परम दुर्लभ और पुण्यसे मिलनेवाला होनेपर भी विनाशी और क्षण-क्षणमें क्षय होनेवाला है। यदि

इस अवसरको हम हाथसे खो देंगे तो फिर हमारे पछतानेकी सीमा न रहेगी। यह शरीर न तो भोगोंके लिये है और न स्वर्गकी प्राप्तिके लिये ही। जो इस मनुष्य-शरीरको पाकर इसे केवल विषय-भोगोंमें लगा देते हैं उनकी महात्माओंने बड़ी निन्दा की है। गोस्वामीजी कहते हैं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं।
पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई।
गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

(११। २०। १७)

'अति दुर्लभ मनुष्य-देह भगवत्-कृपासे सुलभतासे प्राप्त है, यह संसार-समुद्रसे पार जानेके लिये सुन्दर दृढ़ नौका है, गुरुरूपी इसमें कर्णधार है, भगवान् इसके अनुकूल वायु है, इस प्रकार होनेपर भी जो भव-समुद्रसे नहीं तरता वह आत्महत्यारा है।'

जो न तरै भव सागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

यह शरीर तो आत्माके कल्याणके लिये है। शास्त्रोंमें आत्मकल्याणके अनेक उपाय और युक्तियाँ बतलायी गयी हैं। गीताके चौथे अध्यायमें विविध यज्ञोंके नामसे, पातंजलयोगदर्शनमें चित्तनिरोधके नामसे, उपनिषदादिमें ज्ञानके नामसे और शाण्डिल्य, नारद और व्यास आदिने भक्तिके नामसे परमात्माका तत्त्व जाननेके लिये अनेक उपाय बतलाये हैं। परन्तु इन सबमें सर्वोत्तम उपाय परमात्माकी अनन्य भक्ति या अनन्य शरण ही समझनी चाहिये।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा। (योग० १। २३)

'ईश्वर-शरणागतिसे चित्त ईश्वरमें निरुद्ध हो सकता है।'

सा परानुरक्तिरीश्वरे। (शाण्डिल्यसूत्र २)

'ईश्वरमें परम अनुरक्ति ही भक्ति है।'

तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।

(नारद० १९)

'समस्त आचार भगवान्‌के अर्पण करके भगवान्‌को ही स्मरण करते रहना और विस्मरण होते ही परम व्याकुल हो जाना।'

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। २०—२२)

'हे उद्धव! मेरी प्राप्ति करानेमें मेरी दृढ़ भक्तिके समान योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप अथवा दान—कोई भी समर्थ नहीं है। साधुजनोंका प्रिय आत्मारूप मैं एकमात्र श्रद्धासम्पन्न भक्तिसे ही सुलभ हूँ; मेरी भक्ति चाण्डालादिको भी उनके जातीय दोषसे छुड़ाकर पवित्र कर देती है। मेरी भक्तिसे हीन पुरुषोंको सत्य और दयासे युक्त धर्म अथवा तपसहित विद्या भी पूर्णतया पवित्र नहीं कर सकती।'

गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

(११। ५३)

'हे अर्जुन! न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं देखा जानेको शक्य हूँ कि जैसे मुझको तुमने देखा है।'

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६५-६६)

(इसलिये) 'तू केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य प्रेमसे नित्य-निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही अतिशय श्रद्धा, भक्तिसहित निष्कामभावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मेरा (शंख, चक्र, गदा, पद्म और किरीट, कुण्डल आदि भूषणोंसे युक्त पीताम्बर, वनमाला और कौस्तुभमणिधारी, विष्णुका) मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वशक्तिमान्, विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे सम्पन्न सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक भक्तिसहित साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम कर, ऐसा करनेसे तू मुझको ही प्राप्त होगा यह मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है। इससे सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको

त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

अनएव मनुष्य-शरीर पाकर ऋषियोंके और साक्षात् भगवान्के वचनोंमें विश्वासकर हमें भगवान्के भजन, ध्यानमें तत्पर होकर लग जाना चाहिये।

परमात्मा, जीवात्मा, संसार और प्रकृतिका विषय

परमात्मा, जीवात्मा तथा संसारसहित प्रकृति और इनका परस्पर सम्बन्ध अर्थात् जीव और परमात्माका सम्बन्ध, जीव और प्रकृतिका सम्बन्ध तथा प्रकृति और परमात्माका सम्बन्ध, परस्परका भेद और कर्म—ये छः अनादि हैं। इनमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा अपने चेतन अंशसहित अनादि और अनन्त हैं। शेष सभी अनादि और सान्त हैं। जीव और परमात्माका अंशांशी-सम्बन्ध है। यह अंशांशी-सम्बन्ध अनेक भावोंसे माना जाता है। जैसे दास्यभाव, सख्यभाव और माधुर्यभाव आदि। इस सम्बन्धकी अवधि जीवकी इच्छापर अवलम्बित है। जीव और प्रकृतिमें भोक्ता और भोग्य सम्बन्ध है। जीव चेतन होनेके कारण भोक्ता है और प्रकृति जड होनेसे भोग्य।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥

(गीता १३। २०)

'जीवात्मा सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें हेतु कहा जाता है।'

परन्तु कोई-कोई अन्तःकरणको भोक्ता मानते हैं। पर उनका मानना युक्तियुक्त नहीं। कारण अन्तःकरण जड होनेसे उसमें भोक्तृत्व सम्भव नहीं। शुद्ध आत्मा भी भोक्ता नहीं है। जो केवल शुद्ध आत्माको भोक्ता मानता है उसे भगवान्ने मूढ़ कहा है। अतएव 'प्रकृतिस्थ पुरुष' ही भोक्ता है।

प्रकृति और परमात्माका सम्बन्ध शक्ति और शक्तिमान्के सदृश है। सम्पूर्ण संसारकी उत्पत्ति महासर्गके आदिमें प्रकृति और परमेश्वरके सम्बन्धसे ही होती है। शास्त्रोंमें जहाँ जहाँ प्रकृतिसे संसारकी उत्पत्ति बतलायी है, वहाँ-वहाँ भगवान्की अध्यक्षतामें ही बतलायी है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

(गीता ९। १०)

'मेरी अध्यक्षतामें ही प्रकृति (माया) चराचरसहित समस्त जगत्को रचती है।'

जहाँ परमेश्वरके द्वारा संसारकी उत्पत्ति बतलायी है, वहाँ कहीं प्रकृतिको द्वार कहा है और कहीं योनि।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।

(गीता १४। ३)

'मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति (त्रिगुणमयी माया) सब भूतोंकी योनि है और मैं उसमें चेतनरूप बीज स्थापन करता हूँ।'

योनि कारणका नाम है। वहाँ वह शरीरोंके जडसमुदायका कारण है। चेतन-अंशका कारण तो स्वयं परमात्मा है।

बन्धन और मुक्ति

प्रकृति या वैष्णवी मायाका विकार जो अज्ञान है, उस अज्ञानसहित प्रकृतिके साथ जीवका अनादि कालसे सम्बन्ध है। इसीका नाम बन्धन है और इसी कारणसे ईश्वरका चेतनांश जीवात्मा अहंता-ममता, राग-द्वेष, हर्ष-शोक और काम-क्रोधादि प्रकृतिके विकारोंसे बँधा हुआ प्राप्त होता है। ज्ञानके द्वारा प्रकृतिका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना ही मुक्ति है और अहंता-ममता, राग-द्वेष, हर्ष-शोक तथा काम-क्रोधादि विकारोंका अन्तःकरणसे सर्वथा नाश हो जाना ही अज्ञानके नाशका लक्षण है। क्योंकि जीवन्मुक्त पुरुषोंमें उपनिषद्, गीता प्रभृति आर्ष शास्त्रोंद्वारा इन विकारोंका सर्वथा अभाव ही प्रतिपादित है। अतएव अविद्याके अत्यन्त अभावका नाम ही मुक्ति है। अविद्याका अभाव होनेपर उसके कार्य इन विकारोंका नाश स्वाभाविक ही हो जाता है। क्योंकि कारणके साथ ही कार्यका अभाव सर्वथा सिद्ध है।

अनन्य शरणागति

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६२, ६६)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे ही परम शान्ति और सनातन परमधामको प्राप्त होगा। (वह परमात्मा मैं ही हूँ, अतएव) सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझे समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर!'

भगवान्की उपर्युक्त आज्ञाके अनुसार हम सबको उनके शरण हो जाना चाहिये। लज्जा-भय, मान-बड़ाई और आसक्तिको त्यागकर शरीर और संसारमें अहंता-ममतासे रहित होकर केवल एक परमात्माको ही परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझना तथा अनन्य भावसे

अतिशय श्रद्धा, भक्ति एवं प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना एवं भगवान्‌का भजन-स्मरण करते हुए ही भगवदाज्ञानुसार कर्तव्य-कर्मोंका निःस्वार्थ-भावसे केवल परमेश्वरके लिये ही आचरण करना तथा सुख-दुःखोंकी प्राप्तिको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर उनमें समचित्त रहना। संक्षेपमें इसीका नाम अनन्य-शरण है।

चित्तसे भगवान् सच्चिदानन्दघनके स्वरूपका चिन्तन, बुद्धिसे 'सब कुछ एक नारायण ही है' ऐसा निश्चय, प्राणोंसे (श्वासद्वारा) भगवन्नाम-जप, कानोंसे भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपकी महिमाका भक्तिपूर्वक श्रवण, नेत्रोंसे भगवान्‌की मूर्ति और भगवद्भक्तोंके दर्शन, वाणीसे भगवान्‌के गुण, प्रभाव और पवित्र नामका कीर्तन एवं शरीरसे भगवान् और उनके भक्तोंकी निष्काम सेवा—ये सभी कर्म शरणागतिके अन्दर आ जाते हैं। इस प्रकार भगवत्सेवा-परायण होनेसे भगवान्‌में प्रेम होता है।

संसारमें जिन वस्तुओंको मनुष्य 'मेरी' कहता है, वे सब भगवान्‌की हैं। मनुष्य मूर्खतासे उनपर अधिकार आरोपण कर सुखी-दुःखी होता है। भगवान्‌की सब वस्तुएँ भगवान्‌के ही काममें लगनी चाहिये। भगवान्‌के कार्यके लिये यदि संसारकी सारी वस्तुएँ मिट्टीमें मिल जायँ तो भी बड़े आनन्दकी बात है और उनके कार्यके लिये बनी रहें तो भी बड़े हर्षका विषय है। उन वस्तुओंको न तो अपनी सम्पत्ति समझनी चाहिये और न उन्हें अपने भोगकी सामग्री ही माननी चाहिये। क्योंकि वास्तवमें तो सब कुछ नारायणका ही है, इसलिये नारायणकी सर्व वस्तु नारायणके अर्पण की जाती है। यों समझकर संसारमें जो कार्य किये जाते हैं, वही भगवत्-प्रेमरूप शरणकी प्राप्तिका साधन है।

उपर्युक्त प्रकारसे जो कुछ भी कर्म किया जाय, सब भगवान्‌के लिये करना चाहिये। इसीका नाम अर्पण है। जो कुछ भी हो रहा है, सब भगवान्‌की इच्छासे हो रहा है, लीलामयकी इच्छासे लीला हो रही है। इसमें व्यर्थके बुद्धिवादका बखेड़ा नहीं खड़ा करना चाहिये। अपनी सारी इच्छाएँ भगवान्‌की इच्छामें मिलाकर अपना जीवन सर्वतोभावसे भगवान्‌को सौंप देना चाहिये। जब इस प्रकार जीवन समर्पण होकर प्रत्येक कर्म केवल भगवदर्थ ही होने लगेगा, तभी हमें भगवत्प्रेमकी कुछ प्राप्ति हुई है—हम भगवान्‌के शरण होने चले हैं, ऐसा समझा जायगा।

सच्चिदानन्दघन परमात्माकी पूर्ण शरण हो जानेपर एक सच्चिदानन्दघनके सिवा और कुछ भी नहीं रह जाता। वह अपार, अचिन्त्य, पूर्ण, सर्वव्यापक एक परमात्मा ही अचल अनन्त आनन्दरूपसे सर्वत्र परिपूर्ण हैं। उस आनन्दको कभी नहीं भुलाना चाहिये। आनन्दघनके साथ मिलकर आनन्दघन ही बन जाना चाहिये। जो कुछ भासता है, जिसमें भासता है और जिसको भासता है, वह सब एक आनन्दघन परमात्मा ही परिपूर्ण है। इस पूर्ण आनन्दघनका ज्ञान भी उस आनन्दघनको ही है। वास्तवमें यही अनन्य शरणागति है!

गीतोक्त सांख्ययोग

काशीस्थ एक सम्माननीय विद्वान् लिखते हैं कि—

'गीतोक्त सांख्ययोग' शीर्षक लेखमें तीन पक्षोंपर विचार करते हुए तृतीय पक्ष समीचीन सिद्ध किया गया है। उसमें 'सांख्ययोग और कर्मयोग ये दो भिन्न-भिन्न निष्ठाएँ हैं और दोनों सर्वथा स्वतन्त्र मुक्तिके साधन हैं' यही गीताका प्रतिपाद्य विषय निर्धारित किया गया है। इसपर मुझे शंका है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

इत्यादि वाक्योंसे पता लगता है कि गीतामें प्रतिपाद्य विषय ही उपनिषदोंका रहस्य है। किसी अंशमें भी उपनिषदोंसे गीताका पार्थक्य नहीं हो सकता। उपनिषद् भगवान्‌के निःश्वास हैं। '**यस्य निश्वसितं वेदाः**' (मनु०) और गीता भगवन्मुखसे निःसृत वाणी है। उसमें किसी प्रकार भेद सम्भव नहीं हो सकता। उपनिषदोंमें '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**' '**ज्ञानादेव तु कैवल्यम्**' '**ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः**' '**ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः**' '**तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**' '**तरति हि शोकमात्मवित्**' '**स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति**' '**ब्रह्मविदाप्नोति परम्**' इत्यादि। जैसे ये वाक्य ज्ञानसे मोक्षप्राप्तिका प्रतिपादन करते हैं, यदि कर्मसे भी मुक्ति होती तो कर्मसे मोक्षप्रतिपादक वाक्य भी इसी प्रकार मिलते, पर ऐसे वाक्य नहीं मिलते, प्रत्युत कर्मसे मोक्ष नहीं होता, इस बातके परिपोषक वाक्य अनेक मिलते हैं। '**न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुः**' '**नास्त्यकृतः कृतेन**' (**कृतेन अकृतो मोक्षो नास्ति**)।

श्रुति कितने बलसे प्रतिपादन करती है कि कर्मसे मोक्ष नहीं हो सकता। कर्मकी आवश्यकता तो अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये प्रारम्भमें होती है।

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः'

इसी बातका प्रतिपादन भगवान्‌ने भी गीतामें स्वयं श्रीमुखसे किया है—

'कायेन मनसा बुद्ध्या कैवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥'

(५। ११)

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥'

(६। ३)

'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥'

(१८। ५)

श्रीमद्भागवतमें उद्धवके प्रति भगवान्‌ने यही बात कही है—

'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥'

(११। २०। ९)

'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।'

(गीता ५। ६)

इत्यादि वाक्योंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कर्म ज्ञानका कारण है न कि मोक्षका। अब जो तृतीय पक्षके समर्थनमें आपने हेतु दिये हैं, उनमें—

'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।'

(गीता ५। ४)

'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।'

(गीता ५। ५)

'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।'

(गीता ३। ३)

—इत्यादि वचनोंपर विचार करना है। **'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानम्'** इस वचनका यह अर्थ है कि सांख्य (ज्ञानी) ज्ञानसे जिस मोक्षपदको प्राप्त होते हैं, कर्मयोगी ज्ञानद्वारा उसी पदको प्राप्त होते हैं। कर्मसे साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति होती है, यह अर्थ इस वाक्यका नहीं करना चाहिये। अन्यथा उक्त वचनोंसे विरोध हो जायगा। **'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा....'** इससे भगवान्‌ने दो निष्ठाएँ दिखायी हैं। ये दोनों स्वतन्त्र मोक्षके कारण हैं, यह अर्थ उक्त श्लोकसे नहीं निकलता। **'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते'** ये वचन उन लोगोंके लिये हैं जिनका चित्त शुद्ध नहीं है और जो ज्ञानके अधिकारी नहीं हैं। तभी सब वाक्योंका समन्वय होगा। इसीसे भगवान् आगे चलकर कहते हैं कि **'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः'** यदि कर्मसे ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती तो उसे (अर्जुनको) ज्ञानकी आवश्यकता ही क्या थी, जिसके लिये उसको ज्ञानियोंसे उपदेश सुननेका आदेश किया गया।

यदि कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों ही स्वतन्त्र निष्ठाएँ भगवान्‌को स्वीकार होतीं तो **'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।'** (गीता ५। ६) कर्मयोगके बिना संन्यास दुःखसे प्राप्त होता है अर्थात् कर्म ज्ञानका कारण है—भगवान् यह कैसे कहते?

अब इस बातपर विचार किया जाता है कि ज्ञानसे ही मोक्षप्राप्ति (भगवत्प्राप्ति) होती है, कर्मसे नहीं, इसमें क्या विनिगमक है। यदि मोक्ष स्वर्गकी तरह यज्ञादि व्यापारजन्य (उत्पाद्य) होता तो कर्मकी आवश्यकता होती, किन्तु ऐसा होनेसे मोक्ष परिच्छिन्न और अनित्य हो जायगा। यदि दधि, घटकी तरह मोक्ष विकार्य होता तो भी क्रियाकी आवश्यकता होती, परन्तु ऐसा होनेपर भी परिच्छिन्नता और अनित्यता नहीं हटती है। यदि मोक्ष संस्कार्य होता तो भी कर्मकी आवश्यकता होती। संस्कार दो प्रकारसे किया जाता है—बाह्य गुणोंको ग्रहण करने एवं दोषोंको दूर करनेसे; सो ब्रह्मप्राप्तिरूपी मोक्ष अनाधेय अतिशय होनेसे किन गुणोंसे संस्कृत होगा और नित्य शुद्धस्वरूप होनेसे दोष ही सम्भव नहीं है तो किन दोषोंको दूर करेगा। यदि भगवान् हम (जीवों)-से बिलकुल भिन्न हों या हमारी तरह या हमसे विलक्षण उनके कहीं शरीरादि हों तो कायिक, वाचिक अथवा मानसिक क्रिया साध्य हों, परन्तु भगवान् तो आत्मा हैं। **'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवँ स देवानाम्'** (बृ० १। ४। १०)

'तद् योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्'
'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि'
'वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः'

यदि पृथक् भी मानें तो भी भगवान् आकाशकी भाँति सर्वगत हैं।

'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः'

आकाशकी तरह कहना भी नहीं बनता, क्योंकि आकाशकी उत्पत्ति तो भगवान्‌से है।

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।'

(तैत्ति० उ० २। १)

'अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥'

(गीता १०। ४२)

'तावानस्य महिमा ततो ज्यायाꣳश्च पूरुषः।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति॥'

(छान्दो० ३। १२। ६)

'यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥'

(गीता ९। ६)

वास्तवमें 'न च मत्स्थानि भूतानि·····' क्योंकि सृष्टि तो प्रतीतिमात्र है, इसलिये भगवान्‌की आकाशसे जो उपमा दी गयी है वह औपचारिक है।

'प्राणबुद्धिमनःस्वात्मदारापत्यधनादयः ।
यत्सम्पर्कात्प्रिया आसंस्ततः को न्वपरः प्रियः॥'

अतएव परम प्रेमास्पद भगवान् नित्य प्राप्त हैं। उनकी प्राप्तिके लिये किस कर्मकी आवश्यकता है!

यदि आत्मा (जीव) स्वाभाविक बन्धनाश्रय होता तो स्वाभाविक धर्मोंकी निवृत्ति धर्मोंके निवृत्त हुए बिना नहीं हो सकती, इसलिये कभी मुक्त नहीं होता।

'आत्मा कर्त्रादिरूपश्चेन्माकाङ्क्षीस्तर्हि मुक्तताम्।
न हि स्वभावो भावानां व्यावर्ततौष्ण्यवद्रवेः॥'

(वार्तिककार)

'आत्मानमेवात्मतयाविजानतां
तेनैव जातं निखिलं प्रपंचितम्।
ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते
रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा॥'
'अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ
द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्।
अजस्रचित्यात्मनि केवले परे
विचार्यमाणे तरणाविवाहनी॥'

(श्रीमद्भागवत १०।१४।२५-२६)

तत्तु समन्वयात्।' (ब्रह्मसूत्र १।१।४)

'सर्वापेक्षा च यज्ञादि श्रुतेरश्ववत्।'

(ब्र० सू० ३।४।२६)

'शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदंगतया।'
'तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्।' (ब्र० सू० ३।४।२७)
'सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्।'

(ब्र० सू० ४।४।१)

'मुक्तः प्रतिज्ञानात्।' (ब्र० सू० ४।४।२)
'आत्मा प्रकरणात्।' (ब्र० सू० ४।४।३)
'अविभागेन दृष्टत्वात्।' (ब्र० सू० ४।४।४)

इन सूत्रोंपर भगवान् श्रीशंकराचार्यजीके भाष्यको देखिये। लेख बहुत बढ़ गया है। अतः इन सूत्रोंका अभिप्राय उद्धृत नहीं किया गया।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि ज्ञानी कर्म नहीं करता है अथवा ज्ञानीके लिये कर्म बन्धनका हेतु है।

'न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान्' (बृहदारण्यक)
'प्रारब्धकर्मनानात्वाद्बुद्धानामन्यथान्यथा ।
वर्तनं तेन शास्त्रार्थे भ्रमितव्यं न पण्डितैः॥'
'देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्तताम् वपुः।
तारं जपतु वाक् तद्वत् पठत्वाम्नाय मस्तकम्॥
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विनीयताम्।
साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये॥'

(पंचदशी)

'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥'

(गीता ५।९-१०)

इन बातोंपर विचारकर केवल कर्मसे मुक्ति-प्राप्ति मेरी बुद्धिमें नहीं जँचती। हाँ, यदि यह सोचकर कि वर्तमानकालमें ज्ञानके अधिकारी प्रायः नहीं हैं। जो लोग ऊपरकी बातोंको सुनकर तत्त्व-ज्ञानके हुए बिना ही कर्मको छोड़ देते हैं, उनको रौरवादि नरकोंकी प्राप्ति अवश्य होती है। निष्काम कर्मसे मुक्ति होती है। ऐसा प्रतिपादन नहीं करेंगे तो निष्काम कर्ममें किसीकी श्रद्धा नहीं होगी। अतएव उसमें कोई प्रवृत्त नहीं होगा। यदि निष्काम कर्ममें कोई लग जाय तो अन्तःकरणकी शुद्धि अवश्य होगी। अन्तःकरणके शुद्ध हो जानेपर ज्ञानद्वारा मुक्ति होना अनिवार्य है। इसीसे जनताके कल्याणार्थ यदि निष्काम कर्मयोगसे मुक्तिका प्रतिपादन किया गया है तो मुझे कोई शंका नहीं है।

उत्तर

'गीतोक्त सांख्ययोग' शीर्षक लेखके सम्बन्धमें आपने जो शंका प्रकट की है उसका संक्षेपमें निम्नलिखित उत्तर है।

उक्त लेखको भलीभाँति देखना चाहिये। उसमें ज्ञानके बिना केवल कर्मोंको मुक्तिका साधन नहीं बतलाया गया है। सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग दोनों ही मोक्षके समान साधन बतलाये गये, इसका अभिप्राय यह समझना चाहिये कि जिस प्रकार सांख्ययोगीको साधन करते-करते पूर्ण ज्ञानकी प्राप्तिके साथ ही मोक्ष मिल जाता है, उसी प्रकार निष्काम कर्मयोगीको भी साधन करते-करते पूर्ण ज्ञानकी प्राप्तिके साथ-ही-साथ मुक्ति मिल जाती है। केवल साधनकालमें दोनों निष्ठाओंमें भेद है। फल दोनोंका एक ही है। इसीलिये भगवान्‌ने—

'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।'

(गीता ५।४)

'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।'

(गीता ५।५)

—इत्यादि वचन कहे हैं। पूर्ण ज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर न तो सांख्ययोग है और न निष्काम कर्मयोग ही। वह तो इन दोनोंका फल है। उस ज्ञानकी प्राप्ति और मोक्षकी प्राप्ति पृथक्-पृथक् नहीं है। भगवान्‌ने कहा है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
(गीता १३। २४)

इससे यह पता लगता है कि आत्म-साक्षात्काररूप पूर्ण ज्ञान सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग दोनों निष्ठाओंका फल है। अतएव बिना ज्ञानके मुक्ति बतलानेकी शंका तो उक्त लेखमें कहीं नहीं रह जाती है।

पाँचवें अध्यायके छठे श्लोकमें जो—

'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।'

—कहकर बिना निष्काम कर्मयोगके संन्यासका प्राप्त होना कठिन बतलाया है, उससे यह सिद्ध नहीं होता कि निष्काम कर्मयोग मुक्तिका साधन नहीं है। क्योंकि इसी श्लोकके उत्तरार्द्धमें—

'योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।'

—से योगयुक्त मुनिके लिये तुरन्त ही ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी है। यहाँ इसका अर्थ यदि यह मान लिया जाय कि वह सांख्ययोगको प्राप्त होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है, तब तो पूर्वकथित—

'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।'

'कर्म-संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है' इन वचनोंका कोई मूल्य ही नहीं रह जाता तथा न निष्काम कर्मयोग कोई स्वतन्त्र निष्ठा ही रह जाता है। ऐसा माननेसे तो वह एक प्रकारसे सांख्ययोगका अंगभूत हो जाता है जो भगवान्‌के वचनोंसे विरोधी होनेके कारण युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

मोक्ष अकार्य है, उसके लिये कर्मोंकी आवश्यकता नहीं है, यह सर्वथा सत्य है। परन्तु निष्काम कर्मयोगका जो इतना माहात्म्य है सो कर्मोंकी महत्ताके हेतुसे नहीं है, वह माहात्म्य है कामनाके त्यागका—सब कुछ भगवदर्पण करनेके वास्तविक भावका। बड़े-से-बड़ा सकाम कर्म मुक्तिप्रद नहीं हो सकता, परन्तु छोटे-से-छोटे कर्ममें जो निष्कामभाव है वह मुक्ति देनेवाला होता है। निष्काम कर्मयोगकी महिमा भी वास्तवमें त्यागकी ही महिमा है, कर्मोंकी नहीं। उसमें विशेषता यही है कि समस्त कर्मोंको करता हुआ भी मनुष्य उनमें लिपायमान नहीं होता और गृहस्थ-आश्रममें रहकर भी वह भगवत्-कृपासे अनायास मुक्तिलाभ कर सकता है। इन दोनों साधनोंके साधनकालमें क्या अन्तर रहता है, इस बातका विस्तृत वर्णन उक्त लेखमें है ही।

केवल निष्काम कर्ममें लोगोंकी श्रद्धा उत्पन्न करानेके लिये बिना ही हुए मुक्तिका होना सिद्ध करना किसी प्रकार भी हितकर नहीं कहा जा सकता। फिर ऐसे उद्देश्यको सामने रखकर भगवान् या कोई भी विज्ञ पुरुष लोगोंको उलटे भ्रममें डालनेके लिये इस प्रकारका प्रतिपादन कैसे कर सकते हैं? भगवान्‌के स्पष्ट वाक्योंमें यह भावना करनी कि, लोगोंकी श्रद्धा करानेके लिये कर्मयोगकी अयथार्थ प्रशंसा की गयी है, मेरी समझसे उचित नहीं है।

गीतोक्त सांख्ययोगका स्पष्टीकरण

रावबहादुर राजा श्रीदुर्जनसिंहजीद्वारा लिखित 'गीताका सांख्ययोग' शीर्षक लेख 'कल्याण' में प्रकाशित हुआ था। काशीस्थ एक सम्माननीय विद्वान्‌की शंकाके समाधान-स्वरूप मैंने जो भाव प्रकट किये थे उन्हींका विश्लेषण उपर्युक्त लेखमें किया गया है। उस लेखके पढ़नेसे प्रतीत होता है कि मेरे मूल लेखको उन्होंने नहीं देखा, इसीलिये इस विषयको वे भलीभाँति अपने अनुभवमें नहीं ला सके एवं उनके द्वारा मेरे सिद्धान्तका निर्णय भी भिन्न प्रकारसे हो गया है। ऐसी अवस्थामें अपना वक्तव्य स्पष्ट कर देनेके लिये मैं पाठकोंकी सेवामें कुछ निवेदन करना उचित समझता हूँ।

'बिना पूर्ण ज्ञानके मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, इस विषयमें दोनों पक्षोंकी एकता है'—राजासाहबका यह समझना बिलकुल ठीक है, परन्तु इन दोनों पक्षोंमें प्रधान अन्तर क्या है, इसे अच्छी तरह समझनेकी और भी अधिक आवश्यकता है। मूल लेखमें सांख्ययोगी और निष्काम कर्मयोगीके भेदोंका विस्तृत विवेचन कर देनेके कारण समाधानवाले लेखमें उसकी पुनरावृत्ति करना आवश्यक नहीं समझा गया था। मूल लेखमें दोनोंके साधनका भेद इस प्रकार दिखाया गया है—

'निष्काम कर्मयोगी साधन-कालमें कर्म, कर्मफल, परमात्मा और अपनेको भिन्न-भिन्न मानता हुआ कर्मफल और आसक्तिको त्यागकर ईश्वरपरायण हो, ईश्वरार्पण-बुद्धिसे ही सब कर्म करता है (गीता ३। ३०; ४। २०; ५। १०; ९। २७, २८; १२। ११, १२; १८। ५६, ५७)।'

परन्तु 'सांख्ययोगी मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं—ऐसे समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अनन्यभावसे निरन्तर स्थित रहता है' (गीता ३। २८; ५। ८; ९। १३; ६। २९—३१; १३। २९, ३०; १४। १९-२०; १८। १७ तथा ४९ से ५५ तक)।

निष्काम कर्मयोगी अपनेको कर्मोंका कर्ता मानता है (५। ११), सांख्ययोगी अपनेको कर्ता नहीं मानता (५। ८-९), निष्काम कर्मयोगी अपने द्वारा किये जानेवाले

कर्मोंके फलको भगवदर्पण करता है (९।२७-२८); सांख्ययोगी मन और इन्द्रियोंद्वारा होनेवाली क्रियाओंको कर्म ही नहीं मानता (१८।१७), निष्काम कर्मयोगी परमात्माको अपनेसे भिन्न मानता है (१२।६-७), सांख्ययोगी सदा अभेद मानता है (६।२९—३१; ७।१९; १८।२०), निष्काम कर्मयोगी प्रकृति और प्रकृतिके पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार करता है (१८।९, ११, ४६, ५६, ६१), सांख्ययोगी एक ब्रह्मके सिवा अन्य किसी भी सत्ताको नहीं मानता (१३।३०) और यदि कहीं कुछ मानता हुआ देखा जाता है तो वह केवल दूसरोंको समझानेके लिये अध्यारोपसे यथार्थमें नहीं, क्योंकि वह प्रकृतिको मायामात्र मानता है, वास्तवमें कुछ भी नहीं मानता। निष्काम कर्मयोगी कर्म करता है, परन्तु सांख्ययोगीके अन्तःकरण और शरीरद्वारा स्वभावसे ही कर्म होते हैं—वह करता नहीं (५।८-९, १३,१४ इत्यादि)।

उपर्युक्त विवेचनको विचारपूर्वक पढ़कर पाठक दोनों प्रकारके साधकोंके साधन-भेदको भलीभाँति समझ सकते हैं। दोनों निष्ठाओंके फलकी एकता बतलानेके कारण प्रचलित वेदान्तकी भाँति मेरे लेखका राजासाहब जो यह भाव निकालते हैं कि कर्मोंकी आवश्यकता केवल अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ही है, सो ठीक नहीं है; क्योंकि गीताके मतानुसार लोकसंग्रहके लिये कर्मोंकी बहुत आवश्यकता है, यह मैं मानता हूँ। 'ज्ञान-प्राप्तिके अनन्तर न तो सांख्ययोग ही है और न निष्काम कर्मयोग ही'—इस वाक्यका यह आशय कभी नहीं समझना चाहिये कि पूर्वपक्षी एवं शांकर सम्प्रदायके अनुसार मैं भी ज्ञान-प्राप्तिके अनन्तर कर्मोंका स्वरूपसे त्याग हो जाना सिद्ध करता हूँ; क्योंकि शरीरके रहते हुए कर्मोंका सर्वथा त्याग हो ही नहीं सकता। हाँ, यह बात निर्विवाद है कि 'ज्ञानीके कर्मोंमें फल उत्पन्न करनेकी शक्ति न रहनेके कारण वे कर्म वास्तवमें अकर्म ही हैं। ऐसी अवस्थामें, वह ज्ञानी यदि गृहस्थ हो तो विस्तृत कर्म करनेवाला भी हो सकता है और यदि संन्यासी हो तो अपने आश्रम-धर्मानुसार शरीर-निर्वाह और उपदेशादिरूप संक्षिप्त कर्म कर सकता है। यह व्यवस्था उसके वर्ण, आश्रम और स्वभावसे सम्बन्ध रखती है, ज्ञानसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।'

'ज्ञान-प्राप्तिके अनन्तर न सांख्य है और न निष्काम कर्मयोग ही'—इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञानी सिद्धावस्थाको पहुँच चुका है, उसके द्वारा होनेवाले कर्म किसी भी साधनकोटिमें परिगणित नहीं हो सकते। उसका तो प्रत्येक व्यवहार अनिर्वचनीय और अलौकिक है। उसके द्वारा होनेवाले आदर्श कर्मोंसे शिक्षा ग्रहणकर हमें अपने जीवनको पवित्र बनाना चाहिये।

पूर्वपक्षीके साथ प्रधान मतभेद इस विषयमें था कि उनके मतानुसार गीतोक्त निष्काम कर्मयोग सांख्ययोगका साधन है और सांख्ययोग मोक्षका स्वतन्त्र साधन है परन्तु मेरी समझसे गीताकार अधिकारी-भेदसे दोनोंको मोक्षके स्वतन्त्र साधन बतलाते हैं तथा पूर्णज्ञानमें और मोक्षमें कोई अन्तर नहीं मानते। निष्काम कर्मयोग और सांख्ययोग—इन दोनों ही साधनोंका फल तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति है। बस, इसी भावको स्पष्ट कर देना मेरे उस लेखका उद्देश्य था।

इसके सिवा पाठकोंकी सेवामें यह निवेदन कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि लोकमान्य तिलककी भाँति अथवा श्रीराजासाहबके मतानुसार मुझे ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोगका समुच्चय मान्य नहीं है, क्योंकि गीता दोनों साधनोंको स्पष्टरूपसे मोक्षके भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र साधन बतलाती है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

(१३।२४)

'हे अर्जुन! उस परम पुरुष परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं तथा अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा देखते हैं और दूसरे (कितने ही) निष्काम कर्मयोगके द्वारा देखते हैं।' श्रीभगवान्‌के इन वाक्योंपर ध्यान देनेसे ज्ञान और कर्मके समुच्चयकी कल्पनाके लिये कोई स्थान नहीं रह जाता है और भी कई स्थानोंपर इन दोनोंका स्वतन्त्र साधनके रूपमें प्रतिपादन किया गया है। गीता ३।३; ५।५ इत्यादि।

श्रीराजासाहबका परिश्रम परम स्तुत्य है। इस प्रकार विवेचन होते रहनेसे अनेक जटिल विषयोंका सरल हो जाना सुगम है।

गीताका उपदेश

एक सज्जनने कुछ प्रश्न किये हैं। प्रश्नोंका सुधारा हुआ स्वरूप यह है—

(१) भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं, उनके लिये **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'** कहा गया है। ऐसे साक्षात् ज्ञानस्वरूप परमात्माने उपनिषद्‌रूपी गायोंसे तत्त्वरूपी दूध किसलिये दोहन किया? और क्यों उनका आश्रय लिया?

(२) क्या वर्तमान समयके गीता-भक्तोंकी भाँति अर्जुन श्रद्धासम्पन्न नहीं थे? यदि श्रद्धालु थे तो श्रीभगवान्‌को उन्हें समझानेके लिये शब्दप्रमाणका क्यों प्रयोग करना पड़ा और अन्तमें क्यों विश्वरूप दिखलानेकी आवश्यकता हुई?

(३) अर्जुनको 'गीताका ज्ञान हो गया था' फिर आगे चलकर उन्होंने ऐसा क्यों कहा कि 'हे भगवन्! आपने सख्यभावसे मुझे जो कुछ कहा था, उसे मैं भूल गया?' तो क्या अर्जुन प्राप्त-ज्ञानको भूल गये थे?

(४) भगवान् श्रीकृष्णने इसके उत्तरमें कहा कि 'हे धनंजय! मैंने उस समय योगयुक्त होकर तुमसे वह ज्ञान कहा था, अब पुनः मैं उसे कहनेमें असमर्थ हूँ। तो क्या सर्वज्ञ भगवान् भी आत्मविस्मृत हो गये थे, जिससे उन्होंने पुनः वह ज्ञान कहनेमें अपनी असमर्थता प्रकट की और योगयुक्त होनेका क्या अर्थ है?

(५)यदि यह मान लिया जाय कि भगवान् गीताज्ञान अर्जुनको फिरसे नहीं सुना सके, तब फिर व्यासजीने अनेक दिनों बाद उसे कैसे दुहरा दिया?

(६) अगर गीता भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखकी वाणी है तो भगवान् व्यासके इन शब्दोंका क्या अर्थ है जो उन्होंने श्रीगणेशजीके प्रति कहे हैं—

लेखको भारतस्यास्य भव त्वं गणनायक।
मयैव प्रोच्यमानस्य मनसा कल्पितस्य च॥

(महा०, आदि० १। ७७)

'हे गणनायक! तुम मेरे मन:कल्पित और वक्तव्यरूप इस भारतके लेखक बनो' गीता महाभारतके अन्तर्गत है, इससे यह भी क्या व्यासजीकी मन:कल्पना है और क्या सारे श्लोक उन्हींके रचे हुए हैं?

उपर्युक्त प्रश्नोंका क्रमशः उत्तर इस प्रकार है—

(१) भगवान्‌के नि:श्वासरूप वेदका अंग होनेसे उपनिषद् भी भगवान्‌के ही अनादि और नित्य उपदेश माने गये हैं। उनके आश्रयकी कोई बात नहीं, भगवान्‌ने संसारमें उनकी विशेष महिमा बढ़ानेके लिये ही उनका प्रयोग किया। इसके सिवा उपनिषद्‌की भाषा और वर्णनशैली जटिल होनेसे उनको अधिकांश लोग समझनेमें भी असमर्थ हैं, इसलिये लोककल्याणार्थ भगवान्‌ने उपनिषदोंका सार निकालकर गीतारूपी अमृतका दोहन किया। वास्तवमें उपनिषद् और गीता एक ही वस्तु है।

(२) आजकलके लोगोंके साथ अर्जुनकी तुलना नहीं की जा सकती। अर्जुन तो महान् श्रद्धासम्पन्न, परम विश्वासी प्रिय भक्त थे। भगवान्‌ने स्वयं श्रीमुखसे स्वीकार किया है—

'भक्तोऽसि मे सखा चेति' (गीता ४। ३)
'इष्टोऽसि मे दृढमिति' (गीता १८। ६४)
'प्रियोऽसि मे' (गीता १८। ६५)

'तू मेरा भक्त है, मित्र है, दृढ़ इष्ट है, प्रिय है आदि। ऐसे अपने प्रिय सखा अर्जुनके प्रेमके कारण ही भगवान् सदा उसके साथ रहे, यहाँतक कि उसके रथके घोड़े स्वयं हाँके। आजके भक्तोंकी पुकारसे तो भगवान् पूजामें भी नहीं आते। अतएव यह नहीं मानना चाहिये कि अर्जुन श्रद्धालु नहीं था। भगवान्‌ने शब्द-प्रमाण तो वेदोंकी सार्थकता और उनका आदर बढ़ानेके लिये दिया। विश्वरूप-दर्शन करानेमें तो अर्जुनकी श्रद्धा प्रधान है ही। गीताके दशम अध्यायमें अर्जुनने जो कुछ कहा है वही उसकी श्रद्धाका पूरा प्रमाण है। अर्जुन कहता है—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ १२॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥ १४॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ १५॥

'आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं; सनातन दिव्य पुरुष एवं देवोंके भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी हैं, हे केशव! आप मेरे प्रति जो कुछ भी कहते हैं, उस समस्तको मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! आपके लीलामय स्वरूपको न दानव जानते हैं और न देवता ही जानते हैं। हे भूतोंके उत्पन्न करनेवाले, हे भूतोंके ईश्वर, हे देवोंके देव, हे जगत्‌के स्वामी, हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं।'

इन शब्दोंमें अर्जुनकी श्रद्धा छलकी पड़ती है। इस प्रकार भगवान्‌की महिमाको जानने और बखाननेवाला अर्जुन जब (एकादश अध्यायमें) यह प्रार्थना करता है कि 'नाथ! आप अपनेको जैसा कहते हैं (यानी दशम अध्यायमें जैसा कह आये हैं) ठीक वैसे ही हैं, परन्तु हे पुरुषोत्तम! मैं आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजयुक्त रूपको प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ— **'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्'** अर्जुन परम विश्वासी था, भगवान्‌के प्रभावको जानता और मानता था। इसीलिये भगवान्‌की परम दयासे उनके दिव्य विराट्‌रूपके दर्शन करना चाहता है, भक्तकी इच्छा पूर्ण करना भगवान्‌की बान है। इसलिये भगवान्‌ने कृपा करके उसे विश्वरूप दिखलाया। यह विश्वरूप श्रद्धासे ही दिखाया गया, श्रद्धा या विश्वास करवानेके हेतुसे नहीं। भगवान्‌ने स्वयं ही कहा है कि 'अनन्य भक्तके सिवा किसी दूसरेको यह रूप मैं नहीं दिखा सकता। मेरा यह स्वरूप वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, क्रिया और उग्र तपोंसे नहीं दीख सकता।' इससे यह सिद्ध है कि अर्जुन परम श्रद्धालु, भगवत्परायण और महान् भक्त था। भगवान्‌ने अनन्य

भक्तिका स्वरूप और फल यह बतलाया है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(गीता ११। ५५)

'हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये, सब कुछ मेरा समझता हुआ—यज्ञ, दान और तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है और मेरे परायण है अर्थात् मुझको परम आश्रय और परम गति मानकर मेरी प्राप्तिके लिये तत्पर है तथा मेरा भक्त है अर्थात् मेरे नाम, गुण, प्रभाव और रहस्यके श्रवण, मनन, ध्यान और पठन-पाठनका प्रेमसहित निष्काम-भावसे निरन्तर अभ्यास करनेवाला है और आसक्तिरहित है अर्थात् स्त्री, पुत्र और धनादि सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थोंमें स्नेहरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है। ऐसा वह अनन्य भक्तिवाला पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

(३) अर्जुनने 'निष्काम कर्मयोगसहित शरणागतिरूप भक्ति' को ही अपने लिये प्रधान उपदेश समझकर उसीको विशेष स्मरण रखा था। भगवान्के कथनानुसार इसीको 'सर्वगुह्यतम' माना था। ज्ञानके उपदेशको शरणागतिकी अपेक्षा गौण समझकर उसकी इतनी परवा नहीं की थी। इस प्रसंगमें भी अर्जुन उस 'सर्वगुह्यतम' शरणागतिके लिये कुछ नहीं पूछता। यह भक्तिसहित तत्त्वज्ञान तो उसे स्मरण ही है। इसीलिये भगवान्ने भी उससे कहा कि मैंने उस समय तुम्हें 'गुह्य' सनातन ज्ञान सुनाया था—

श्रावितस्त्वं मया गुह्यं ज्ञापितश्च सनातनम्।

(महा०, आश्व० १६। ९)

इस 'गुह्य' शब्दसे भी यही सिद्ध होता है। उलाहना देनेके बाद भगवान्ने अर्जुनको जो कुछ सुनाया, उसमें भी गीताकी भाँति निष्काम कर्मयोग और शरणागतिके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा। केवल वही ज्ञानभाग सुनाया, जिनको कि अर्जुन भूल गया था।

(४) भगवान्के अपनेको असमर्थ बतलानेका यह अर्थ नहीं कि आप उस ज्ञानको पुनः सुना नहीं सकते थे या वे उसको भूल गये थे। सच्चिदानन्दघन भगवान्के लिये ऐसी कल्पना करना सर्वथा अनुचित है। भगवान्के कहनेका अभिप्राय ज्ञानयोगका सम्मान बढ़ाना है। गुरु अपने शिष्यसे कहता है कि 'तुझको मैंने बड़ा ऊँचा उपदेश दिया था, उसे तूने याद नहीं रखा। आत्मज्ञानका उपदेश कोई बाजारू बात नहीं है जो जब चाहे तभी कह दी जाय।' इस प्रकार यहाँ 'असमर्थता' का अर्थ यही है, मैं इतनी ऊँची बात इस तरह लापरवाही रखनेवालेको नहीं कह सकता। उद्दालक, दधीचि, सत्यकाम आदि ऋषियोंका ब्रह्मविद्याके सम्बन्धमें एक ही बार कहना माना जाता है। ब्रह्मविद्या एक ऐसी वस्तु है जो एक ही बार पात्रके प्रति कहनी पड़ती है, दुबारा नहीं। इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'ब्रह्मविद्याका उपदेश तुमने भुला दिया, यह बड़ी भूल की।' इसके बाद अर्जुनकी तीव्र इच्छा देखकर भगवान्ने पुनः ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। भगवान् न जानते तो उपदेश कैसे करते? 'योगयुक्त' का अर्थ यही है कि 'उस समय मैंने बहुत मन लगाकर तुमको वह ज्ञान सुनाया था।' इससे अर्जुनको एक तरहकी धमकी भी दी गयी कि 'मैं बार-बार वैसे मन लगाकर तुमसे नहीं कह सकता, इतना निकम्मा नहीं बैठा हूँ जो बार-बार तुमसे कहूँ और तुम उसे फिर भुला दो। तुम-सरीखे पुरुषके लिये ऐसा उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा करना पवित्र ब्रह्मविद्याका तिरस्कार करना है।' यहाँ भगवान्ने अर्जुनके बहाने सबको शिक्षा दी है कि ब्रह्मविद्याको बड़े ध्यानसे सुनना चाहिये और वक्ताको भी उसका ऐसे अधिकारी पुरुषके प्रति कथन करना चाहिये जो सुननेके साथ ही उसे धारण कर ले।

यद्यपि अर्जुन ब्रह्मविद्याका अधिकारी नहीं था, निष्काम कर्मयोगयुक्त शरणागतिका अधिकारी था, इसीसे उसे 'सर्वगुह्यतम' शरणागतिका ही अन्तिम उपदेश दिया गया था तथापि भगवान्का यह उलाहना देना तो सार्थक ही था कि तुम मेरी कही हुई बातोंको क्यों भूल गये। शरणागतको अपने इष्टकी बात कभी नहीं भूलनी चाहिये। परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि ज्ञानका अधिकार ऊँची श्रेणीका है और निष्काम कर्मयोगयुक्त शरणागति भक्तिका नीची श्रेणीका। जब दोनोंका फल एक है तब इनमें कोई भी छोटा-बड़ा नहीं है। अर्जुन कर्मी और भक्त था, अतः उसके लिये वही मार्ग उपयुक्त था।

(५) भगवान् सब सुना सकते थे, यह बात तो ऊपरके विवेचनसे सिद्ध है। भगवान् व्यास महान् योगी थे, उन्होंने योगबलसे सारी बातें जानकर सुना दी। जिनकी योगशक्तिसे संजय दिव्य दृष्टि प्राप्त करनेमें समर्थ हो गया, उनके लिये यह कौन बड़ी बात थी?

(६) व्यासजीके कहनेका मतलब यह है कि उन्होंने कुछ तो संवाद ज्यों-के-त्यों रख दिये, कुछ संवादोंको संग्रह करके उन्हें सजा दिया। भगवान्ने अर्जुनको जो उपदेश दिया था उसमेंसे बहुत-से श्लोक तो ज्यों-के-त्यों रख दिये गये, कुछ गद्य भागके पद्य बना दिये और कुछ इतिहास कहा। दुर्योधन, संजय, अर्जुन और धृतराष्ट्र आदिकी दशाका वर्णन व्यासजीकी रचना है। इससे यह नहीं मानना चाहिये कि यह मनःकल्पित उपन्यासमात्र है। वास्तवमें व्यासजीने अपने योगबलसे सारी बातें जानकर ही सच्चा इतिहास लिखा है।

गीता और योगदर्शन

योगदर्शन बड़े ही महत्त्वका शास्त्र है। इसके प्रणेता महर्षि श्रीपतंजलि महाराज हैं। योगदर्शनके सूत्रोंका भाव बहुत ही गम्भीर, उपादेय, सरस और लाभकारी है। कल्याणकामियोंको योगदर्शनका अध्ययन अवश्य करना चाहिये। पता नहीं, योगदर्शनकी रचना श्रीमद्भगवद्गीताके बाद हुई है या पहले। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनोंके कई स्थलोंमें समानता है। कहीं शब्दोंमें समानता है तो कहीं भाव या अर्थोंका सादृश्य है। उदाहरणार्थ यहाँ कुछ दिखलाये जाते हैं।

पातंजलयोगदर्शन

(१) अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः (१।१२)

(२) स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः। (१।१४)

(३) तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्। (१।२७-२८)

(४) परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (२।१५)

श्रीमद्भगवद्गीता

(१) अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। (६।३५)

(२) अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। (८।१४)

(३) ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्। (८।१३)

(४) ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ (५।२२)

इनके अतिरिक्त केवल भावमें सदृशतावाले स्थल भी हैं, जैसे योगदर्शन (२।१९) का सूत्र है '**विशेषाविशेषलिंगमात्रालिंगानि गुणपर्वाणि**' अर्थात् 'पाँच महाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन—इन सोलह विकारोंका समुदायरूप विशेष; अहंकार और पंचतन्मात्रा'—इन छःका समुदायरूप अविशेष; समष्टि-बुद्धिरूपी लिंग और अव्याकृत प्रकृतिरूप अलिंग—ये चौबीस तत्त्व प्रकृतिकी अवस्थाविशेष हैं। इसी बातको बतलानेवाला गीताका तेरहवें अध्यायका ५ वाँ श्लोक है—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः॥

पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, मूलप्रकृति, दस इन्द्रियाँ, मन और पंचतन्मात्रा।

उपर्युक्त अवतरणोंके अनुसार दोनोंके कई स्थल मिलते-जुलते होनेके कारण कुछ लोगोंका मत है कि श्रीमद्भगवद्गीता पातंजलयोगदर्शनके बाद बनी है और इसमें यह सब भाव उसीसे लिये गये हैं। कुछ लोग तो गीताको योगदर्शनका रूपान्तर या उसीका प्रतिपादक ग्रन्थ मानते हैं। मेरी समझसे यह मत ठीक नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीताकी रचना योगदर्शनके बाद हुई हो या पहले, इस विषयमें तो मैं कुछ भी नहीं कह सकता। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भगवद्गीताका सिद्धान्त योगदर्शनकी अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक और सर्वदेशीय है।

योगदर्शनका योग केवल एक ही अर्थमें प्रयुक्त है, परन्तु गीताका योग शब्द अनन्त समुद्रकी भाँति विशाल है, उसमें सबका समावेश है। परमात्माकी प्राप्तितकको गीतामें योग कहा गया है। इसके सिवा निष्काम कर्म, भक्ति, ध्यान, ज्ञान आदिको भी योगके नामसे कहा गया है। योग शब्द किस-किस अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, यह इसी पुस्तकमें अन्यत्र दिखाया गया है। योगदर्शनमें ईश्वरका स्वरूप है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। (१।२४)

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। (१।२५)

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (१।२६)

जो अविद्या, अहंता, राग, द्वेष, भय, शुभाशुभ कर्म, कर्मोंके फलरूप सुख-दुःख और वासनासे सर्वथा रहित है, पुरुषोंमें उत्तम है, जिसकी सर्वज्ञता निरतिशय है एवं जो कालकी अवधिसे रहित होनेके कारण पूर्वमें होनेवाले समस्त सृष्टिरचयिता ब्रह्मा आदिका स्वामी है, वह ईश्वर है।

अब गीताके ईश्वरका निरूपण संक्षेपसे कुछ श्लोकोंमें पढ़कर दोनोंकी तुलना कीजिये—

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ (८।९)

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ (१३।१४)

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ (१४।२७)

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ (१५।१८)

इन श्लोकोंके अनुसार जो सर्वज्ञ, अनादि, सबका नियन्ता, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, सबका धारण-पोषण करनेवाला, अचिन्त्य-स्वरूप, नित्य चेतन, प्रकाशस्वरूप, अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन, सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला होनेपर भी सब इन्द्रियोंसे रहित, आसक्तिहीन, गुणातीत होनेपर भी सबका धारण-पोषण करनेवाला और गुणोंका भोक्ता, अविनाशी परब्रह्म, अमृत, नित्यधर्म और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय, नाशवान् जडवर्ग क्षेत्रसे सर्वथा अतीत और मायास्थित अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम पुरुषोत्तम है वह ईश्वर है।*

पातंजलयोग-दर्शनके अनुसार ईश्वर त्रिगुणोंके विकारसे रहित है, परन्तु गीताके अनुसार वह गुणोंसे अतीत ही है। योगदर्शनका ईश्वर क्लेश, शुभाशुभ कर्म, सुख-दुःख और वासनारहित एवं पुरुषविशेष होनेसे पुरुषोत्तम है, पर गीताका ईश्वर जड जगत्से सर्वथा अतीत, सर्वव्यापी और मायास्थित जीवसे भी उत्तम होनेके कारण पुरुषोत्तम है। योगदर्शनका ईश्वर कालके अवच्छेदसे रहित होनेके कारण पूर्व-पूर्व सर्गमें होनेवाले सृष्टि-रचयिताओंका गुरु है; परन्तु गीताका ईश्वर अव्यय परब्रह्म, शाश्वतधर्म और ऐकान्तिक आनन्दका भी परम आश्रय है। गुणातीत होकर भी अपनी अचिन्त्य शक्तिसे गुणोंका भोक्ता और सबका भरण-पोषण करनेवाला है।

इसी प्रकार 'ईश्वर-शरणागति' के सिद्धान्तमें भी गीताका अभिप्राय बहुत उच्च है। योगदर्शनका 'ईश्वर-प्रणिधान' चित्तवृत्ति-निरोधके लिये किये जानेवाले अभ्यास और वैराग्य आदि अन्य साधनोंके समान एक साधन है, इसीसे **'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'** (१।२३) सूत्रमें 'वा' लगाया गया है। परन्तु गीतामें ईश्वर-शरणागतिका साधन समस्त साधनोंका सम्राट् है (गीता ९।३२; १८।६२, ६६ देखना चाहिये)।

गीताके ध्यानयोगका फल भी योगदर्शनसे महत्त्वका है। योगदर्शन कहता है—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः। (२।११)

अर्थात् 'ध्यानसे क्लेशोंकी वृत्तियोंका नाश होता है।' परन्तु गीता कहती है—

'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।' (१३।२४)

'कितने ही मनुष्य शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें परमात्माको देखते हैं। वहाँ केवल क्लेशोंकी वृत्तियोंका ही नाश है, पर यहाँ ध्यानसे परमात्म-साक्षात्कारतक होनेकी बात है।

इसी तरहसे अन्य कई स्थल हैं। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात यह है कि गीता साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्माके श्रीमुखकी दिव्य वाणी है और योगदर्शन एक ज्ञानी महात्मा महर्षिके विचार हैं। भगवान्के साथ ज्ञानीकी अभिन्नता रहनेपर भी भगवान् भगवान् ही हैं।

इस विवेचनसे यह प्रतीत होता है कि गीताका महत्त्व सभी तरह ऊँचा है तथा गीताके प्रतिपाद्य विषय भी विशेष महत्त्वपूर्ण, भावमय, सर्वदेशीय, सुगम और परम आदर्श हैं।

इससे कोई यह न समझे कि मैं योगदर्शनको किसी तरहसे भी मामूली वस्तु समझता हूँ या उसमें किसी प्रकारकी त्रुटि मानता हूँ। योगदर्शन परम उपादेय और आदरणीय शास्त्र है। केवल गीताके साथ तारतम्यताकी दृष्टिसे ऐसा लिखा गया है।

गीताके अनुसार जीवन्मुक्तका लक्षण

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(गीता ६।३२)

'हे अर्जुन! जो योगी (जीवन्मुक्त) अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

गीताके अनुसार जीवन्मुक्त वही है, जिसका सर्वदा-सर्वथा सर्वत्र समभाव है। जहाँ-जहाँपर मुक्त पुरुषका गीतामें वर्णन है, वहाँ-वहाँ समताका ही उल्लेख पाया जाता है। गीताके अनुसार जिसमें समता है वही स्थितप्रज्ञ ज्ञानी, गुणातीत, भक्त और जीवन्मुक्त है। ऐसे जीवन्मुक्तमें राग-द्वेषरूपी विकारोंका अत्यन्त अभाव होता है; मान-अपमान, हानि-लाभ, जय-पराजय, शत्रु-मित्र, निन्दा-स्तुति आदि समस्त द्वन्द्वोंमें वह समतायुक्त रहता है। अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति उसके हृदयमें किसी प्रकारका भी विकार उत्पन्न नहीं कर सकती। किसी भी कालमें किसीके साथ किसी प्रकारसे भी उसकी साम्य-स्थितिमें परिवर्तन नहीं होता। निन्दा करनेवालेके प्रति उसकी द्वेष या वैर-बुद्धि और स्तुति करनेवालेके प्रति राग या प्रेम-बुद्धि नहीं होती। दोनोंमें समान वृत्ति रहती है। मूढ़ अज्ञानी

* परमात्माका स्वरूप जाननेके लिये 'कल्याण-प्राप्तिके उपाय' में प्रकाशित 'भगवान् क्या हैं?' शीर्षक लेख पढ़ना चाहिये।

मनुष्य ही निन्दा सुनकर दुःखी और स्तुति सुनकर सुखी हुआ करते हैं। सात्त्विक पुरुष निन्दा सुनकर सावधान और स्तुति सुनकर लज्जित होते हैं। पर जीवन्मुक्तका अन्तःकरण इन दोनों भावोंसे शून्य रहता है, क्योंकि उसकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त अपनी भी भिन्न सत्ता नहीं रहती, तब निन्दा-स्तुतिमें उसकी भेदबुद्धि कैसे हो सकती है? वह तो सबको एक परमात्माका ही स्वरूप समझता है—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

(गीता १३। ३०)

'जिस समय यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावोंको एक परमात्माके संकल्पके आधारपर स्थित देखता है तथा उस परमात्माके संकल्पसे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है उस समय वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको ही प्राप्त होता है।' इसलिये उसकी बुद्धिमें एक परमात्माके सिवा अन्य कुछ रह ही नहीं जाता। लोकसंग्रह और शास्त्रमर्यादाके लिये सबके साथ यथायोग्य बर्ताव करते हुए भी, व्यवहारमें बड़ी विषमता प्रतीत होनेपर भी उसकी समबुद्धिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसीसे भगवान्ने कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(गीता ५। १८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समभावसे देखनेवाले ही होते हैं।' इस श्लोकसे व्यवहारका भेद स्पष्ट है। यदि केवल मनुष्योंकी ही बात होती तो व्यवहार-भेदका खण्डन भी किसी तरह खींचतानकर किया जा सकता, परन्तु इसमें तो ब्राह्मणादिके साथ कुत्ते आदि पशुओंका भी समावेश है। कोई भी विवेकसम्पन्न पुरुष इस श्लोकमें कथित पाँचों प्राणियोंके साथ व्यवहारमें समताका प्रतिपादन नहीं कर सकता। मनुष्य और पशुकी बात तो अलग रही, इन तीनों पशुओंमें भी व्यवहारकी बड़ी भारी भिन्नता है। हाथीका काम कुत्तेसे नहीं निकलता, गौकी जगह कुतिया नहीं रखी जाती। जो लोग इस श्लोकसे व्यवहारमें अभेद सिद्ध करना चाहते हैं, वे वस्तुतः इसका मर्म नहीं समझते। इस श्लोकमें तो समदर्शी जीवन-मुक्तकी आध्यात्मिक स्थिति बतलानेके लिये ऐसे पाँच जीवोंका उल्लेख किया गया है, जिनके व्यवहारमें बड़ा भारी भेद है और इस भेदके रहते भी ज्ञानी सबमें उपाधियोंके दोषसे रहित ब्रह्मको सम देखता है। यद्यपि उसकी दृष्टिमें किसी देश, काल, पात्र या पदार्थमें कोई भेदबुद्धि नहीं होती, तथापि वह व्यवहारमें शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार भेद-बुद्धिवालोंको विपरीत मार्गसे बचानेके लिये आसक्तिरहित होकर उन्हींकी भाँति न्याययुक्त व्यवहार करता है (गीता ३। २५-२६), क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषोंके आदर्शको सामने रखकर ही अन्य लोग व्यवहार किया करते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उस-उसके ही अनुसार बर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, अन्य लोग भी उसीके अनुसार बर्तते हैं।' वास्तवमें जीवन्मुक्त पुरुषके लिये कोई कर्तव्याकर्तव्य या विधि-निषेध नहीं है, तथापि लोकसंग्रहार्थ, मुक्तिकामी पुरुषोंको असत्-मार्गसे बचानेके लिये जीवन्मुक्तके अन्तःकरणद्वारा कर्मोंकी स्वाभाविक चेष्टा हुआ करती है। उसका सबके प्रति समान सहज प्रेम रहता है। सबमें समान आत्मबुद्धि रहती है। इस प्रकारके समतामें स्थित हुए पुरुष जीते हुए ही मुक्त हैं। उनकी स्थिति बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥

(गीता ५। २०)

'जो पुरुष प्रियको अर्थात् जिसको लोग प्रिय समझते हैं उसको प्राप्त होकर हर्षित न हो और अप्रियको अर्थात् जिसको लोग अप्रिय समझते हैं उसको प्राप्त होकर उद्वेगवान् न हो, ऐसा स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है।' सुख-दुःख, अहंता, ममता आदिके नातेसे भी वह सबमें समबुद्धि रहता है। अज्ञानीका जैसे व्यष्टि शरीरमें आत्मभाव है, वैसे ही ज्ञानीका समष्टिरूप समस्त संसारमें है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसे दूसरेके दर्दका दर्दके रूपमें ही अनुभव होता है। एक अँगुलीके कटनेका अनुभव दूसरी अँगुलीको नहीं हो सकता, परन्तु जैसे दोनोंका ही अनुभव आत्माको होता है, इसी प्रकार ज्ञानीका आत्मरूपसे सबमें समभाव है। यदि ब्राह्मण, चाण्डाल और गौ, हाथी आदिके बाह्य शारीरिक खान-पान आदिमें समान व्यवहार करनेको ही समताका आदर्श समझा जाय तो यह आदर्श तो बहुत सहजमें ही हो सकता है, फिर भेदाभेदरहित आचरण करनेवाले पशुमात्रको ही जीवन्मुक्त समझना चाहिये। आचाररहित मनुष्य और पशु तो सबके साथ स्वाभाविक ही ऐसा व्यवहार करते हैं और करना चाहते हैं, कहीं रुकते हैं तो भयसे रुकते हैं। पर इस समवर्तनका नाम ज्ञान नहीं है। आजकल कुछ लोग सिद्धान्तकी दृष्टिसे भी समवर्तनके व्यवहारकी व्यर्थ चेष्टा करते हैं, परन्तु उनमें जीवन्मुक्तिके

कोई लक्षण नहीं देखे जाते। अतएव गीताके समदर्शनको सबके साथ समवर्तन करनेका अभिप्राय समझना अर्थका अनर्थ करना है। ऐसी जीवन्मुक्ति तो प्रत्येक मनुष्य सहजमें ही प्राप्त कर सकता है। जिस जीवन्मुक्तिकी शास्त्रोंमें इतनी महिमा गायी गयी है और जिस स्थितिको प्राप्त करना महान् कठिन माना जाता है, वह क्या इतनेसे उच्छृंखल समवर्तनसे ही प्राप्त हो जाती है? वास्तवमें समदर्शन ही यथार्थ ज्ञान है। समवर्तनका कोई महत्त्व नहीं है। यह तो मामूली क्रियासाध्य बात है, जो जंगली मनुष्यों तथा पशुओंमें प्रायः पायी जाती है।

गीताके समदर्शनका यह अभिप्राय कदापि नहीं है। शत्रु-मित्र, मान-अपमान, जय-पराजय, निन्दा-स्तुति आदिमें समदर्शन करना ही यथार्थ समता है।

यह समता ही एकता है। यही परमेश्वरका स्वरूप है। इसमें स्थित हो जानेका नाम ही ब्राह्मी स्थिति है। जिसकी इसमें गाढ़ स्थिति होती है उसके हृदयमें सात्त्विकी, राजसी, तामसी किसी भी कार्यके आने-जानेपर किसी भी कालमें कभी हर्ष-शोक और राग-द्वेषका विकार नहीं होता। इस समबुद्धिके कारण वह अपनी स्थितिसे कभी विचलित नहीं होता, इसीसे उस धीर पुरुषको स्थितप्रज्ञ कहते हैं। किसी भी गुणके कार्यसे वह विकारको प्राप्त नहीं होता, इसीसे वह गुणातीत है। एक ज्ञानस्वरूप परमात्मामें नित्य स्थित है, इसीसे वह ज्ञानी है। परमात्मा वासुदेवके सिवा कहीं कुछ भी नहीं देखता, इसीसे वह भक्त है। उसे कोई कर्म कभी बाँध नहीं सकता, इसीसे वह जीवन्मुक्त है। इच्छा, भय और क्रोधका उसमें अत्यन्त अभाव हो जाता है। वह मुक्त पुरुष लोकदृष्टिमें सब प्रकार योग्य आचरण करता हुआ प्रतीत होनेपर भी, उसके कार्योंमें अज्ञानी मनुष्योंको भेदकी प्रतीति होनेपर भी वह विज्ञानानन्दघन परमात्मामें तद्रूप हुआ उसीमें एकीभावसे सदा-सर्वदा स्थित रहता है। उसका वह आनन्द नित्य शुद्ध और बोधस्वरूप है, सबसे विलक्षण है। लौकिक बुद्धिसे उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता।

गीताके अनुसार जीव, ईश्वर और ब्रह्मका विवेचन

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

(गीता १३। २२)

'वास्तवमें यह पुरुष देहमें स्थित हुआ भी पर (त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत) ही है। केवल साक्षी होनेसे उपद्रष्टा, यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता, सबको धारण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता, ब्रह्मादिका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा है, ऐसा कहा गया है।'

पण्डितजन भी कहते हैं कि गीताके सिद्धान्तानुसार ब्रह्म, ईश्वर और जीवमें कोई भेद नहीं है। उपर्युक्त श्लोकसे यह स्पष्ट है कि यह परपुरुष परमात्मा ही भोगनेके समय जीव, सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहारके समय ईश्वर और निर्विकार-अवस्थामें ब्रह्म कहा जाता है। इस श्लोकमें भोक्ता शब्द जीवका; उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता और महेश्वर शब्द ईश्वरके एवं परमात्मा शुद्ध ब्रह्मका वाचक है। परम पुरुषके विशेषण होनेसे सब उसीके रूप हैं। इन्हीं तीनों रूपोंका वर्णन आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके सात प्रश्नोंमेंसे तीन प्रश्नोंके उत्तरमें आया है। अर्जुनका प्रश्न था कि '**किं तद्ब्रह्म**' 'वह ब्रह्म क्या है?' इसके उत्तरमें भगवान्ने कहा, '**अक्षरं ब्रह्म परमम्**' 'परम अविनाशी सच्चिदानन्दघन परमात्मा ब्रह्म है।' '**किं अध्यात्मम्**' 'अध्यात्म क्या है?' के उत्तरमें '**स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते**' 'अपना भाव यानी जीवात्मा' और '**कः अधियज्ञः**' 'अधियज्ञ कौन है?' के उत्तरमें '**अधियज्ञोऽहमेवात्र**' 'मैं ईश्वर इस शरीरमें अधियज्ञ हूँ।' ऐसा कहा है। इसी बातको अवतारका कारण बतलानेके पूर्वके श्लोकमें भगवान्ने कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(४।६)

'मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूत-प्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ।' आगे चलकर भगवान्ने स्पष्ट कहा है कि मैं जो श्रीकृष्णके रूपमें साधारण मनुष्य-सा दीखता हूँ सो मैं ऐसा नहीं, पर असाधारण ईश्वर हूँ। सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढ़लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं यानी अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझको साधारण मनुष्य मानते हैं (९।११)। भगवान् श्रीकृष्णने ईश्वर और ब्रह्मका अभेद गीतामें कई जगह बतलाया है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(१४।२७)

'हे अर्जुन! अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य धामका एवं अखण्ड एकरस आनन्दका मैं ही आश्रय हूँ। अर्थात् ब्रह्म, अमृत, अव्यय और शाश्वत-धर्म तथा ऐकान्तिक सुख यह सब मेरे ही नाम हैं, इसलिये मैं इनका परम आश्रय हूँ।' गीताके कुछ श्लोकोंसे यह सिद्ध होता है कि जीव ईश्वरसे भिन्न नहीं है। जैसे—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥

(१०।२०)

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।

(१३।२)

'हे अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ, तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ। सब (शरीररूप) क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझको ही जान।' इत्यादि।

इसके अतिरिक्त यह बतलानेवाले भी शब्द हैं कि एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा और कुछ भी नहीं है। जैसे—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(७।७)

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥

(९।१९)

वासुदेवः सर्वमिति............................।

(७।१९)

'हे धनंजय! मुझसे अतिरिक्त किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है, यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है। मैं ही सूर्यरूप हुआ तपता हूँ, मैं ही वर्षाका आकर्षण करता और बरसाता हूँ, हे अर्जुन! अमृत और मृत्यु एवं सत् तथा असत् भी सब कुछ मैं ही हूँ। यह सब कुछ वासुदेव ही है।' इस प्रकार गीतासे जीव, ईश्वर और ब्रह्मका अभेद सिद्ध होता है।

इस अभेदका स्वरूप बतलाते हुए पण्डितगण जीवात्माको घटाकाश, ईश्वरको मेघाकाश और ब्रह्मको महाकाशके दृष्टान्तसे समझाया करते हैं। जैसे एक ही आकाश उपाधिभेदसे त्रिविध प्रतीत होता है, इसी प्रकार एक ब्रह्ममें ही त्रिविध कल्पना है। यह व्याख्या आंशिकरूपसे मान्य और लाभदायक भी है, परन्तु वास्तवमें ब्रह्ममें ऐसा विभाग नहीं समझ लेना चाहिये। आकाश विकारी है, उसमें विकारसे भेद सम्भव है, परन्तु ब्रह्म निर्विकार शुद्ध बोधस्वरूप अटल है, अतएव उसमें आकाशकी भाँति विकार सम्भव नहीं। वास्तवमें यह बड़ा ही गहन विषय है। भगवान्‌ने भी समझानेके लिये कहा है, '**ममैवांशो जीवलोके**' जीवात्मा मेरा ही अंश है, परन्तु वह किस प्रकारका अंश है यह समझना कठिन है। कुछ विद्वान् इसके लिये स्वप्नका दृष्टान्त देते हैं। जैसे स्वप्नकालमें पुरुष अपने ही अन्दर नाना प्रकारके पदार्थों और व्यक्तियोंको देखता तथा उनसे व्यवहार करता है, परन्तु जागनेके बाद अपने सिवा स्वप्नदृष्ट समस्त पदार्थोंका अत्यन्त अभाव समझता है, स्वप्नमें दीखनेवाले समस्त पदार्थ उसके कल्पित अंश थे, इसी प्रकार ये समस्त जीव परमात्माके अंश हैं। यद्यपि यह दृष्टान्त बहुत उपादेय और आदर्श है तथापि इससे यथार्थ वस्तुस्थितिकी सम्यक् उपलब्धि नहीं हो सकती। क्योंकि नित्य चेतन, निर्भ्रान्त, ज्ञानघन परमात्मामें निद्रा, भ्रान्ति और मोहका आरोप किसी भी कालमें नहीं किया जा सकता। अतएव उदाहरण-युक्तियोंके बलपर इस रहस्यको समझना-समझाना असम्भव-सा ही है। गीतोक्त साधनोंद्वारा परमात्माकी और महान् पुरुषोंकी दयासे ही इसका तत्त्व जाना जा सकता है। इसीसे यमराजने नचिकेतासे कहा है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

(कठ० ३।१४)

'उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंके समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो।' भगवान्‌ने भी कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४।३४)

'इसलिये तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंसे भली प्रकार दण्डवत्, प्रणाम तथा सेवा और निष्कपटभावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान। वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

परन्तु इससे यही न मान लेना चाहिये कि गीतामें भेदके प्रतिपादक शब्द ही नहीं हैं। ऐसे बहुत-से स्थल हैं जहाँ भेद-मूलक शब्द भी पाये जाते हैं। भिन्न-भिन्न लक्षणोंसे तीनोंका भिन्न-भिन्न वर्णन है। शुद्ध ब्रह्मको मायासे अतीत, गुणोंसे अतीत, अनादि, शुद्ध, बोध-ज्ञान-आनन्दस्वरूप अविनाशी आदि बतलाया है। जैसे—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

(गीता १३।१२)

'जो जाननेके योग्य है तथा जिसको जानकर (मनुष्य) परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको मैं अच्छी प्रकारसे कहूँगा, वह आदिरहित परम ब्रह्म न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है, वह दोनोंसे अतीत है।' '**अक्षरं ब्रह्म परमम्**', '**अचिन्त्यम्, सर्वत्रगम्, अनिर्देश्यम्, कूटस्थम्,**

ध्रुवम्, अचलम्, अव्यक्तम्, अक्षरम्' आदि नामोंसे वर्णन किया गया है, श्रुतियाँ भी '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' (तैत्ति० २।१) '**प्रज्ञानं ब्रह्म**' (ऐत० ३।३) आदि कहती हैं।

ईश्वरका वर्णन सृष्टिके उत्पत्ति-पालन-संहारकर्ता और शासनकर्ता आदिके रूपमें किया गया है। यथा—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

(गीता ९।१०)

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥

(गीता १०।६)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(गीता १८।६१)

'हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे यह मेरी माया चराचरसहित सर्व जगत्को रचती है। इस हेतुसे ही यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता है। सातों महर्षि और उनसे भी पूर्वमें होनेवाले चारों सनकादि तथा स्वायंभुव आदि चौदह मनु मेरेमें भाववाले मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसारमें यह सम्पूर्ण प्रजा है। हे अर्जुन! शरीररूपी यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूत-प्राणियोंके हृदयमें स्थित है।' इसी तरह अ० ४।१३ में 'चातुर्वर्ण्यके कर्ता'; अ० ५।२९ में 'सर्वलोकमहेश्वर'; अ० ७।६ में 'सम्पूर्ण जगत्के उत्पत्ति-प्रलयरूप'; अ० ११।३२में 'लोक-संहारमें प्रवृत्त महाकाल' इत्यादि रूपोंसे वर्णन है।

जीवात्माका भोक्ता, कर्ता, ज्ञाता, अंश, अविनाशी, नित्य आदि लक्षणोंसे निरूपण किया गया है। जैसे अ० २।१८में 'नित्य अविनाशी अप्रमेय'; अ० १३।२१ में 'प्रकृतिमें स्थित गुणोंके भोक्ता और गुणोंके संगसे अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेवाला'; अ० १५।७ में 'सनातन अंश'; अ० १५।१६ में 'अक्षर कूटस्थ' आदि लक्षणोंसे वर्णन है।

इस प्रकार गीतामें अभेद-भेद दोनों प्रकारके वर्णन पाये जाते हैं। एक ओर जहाँ अभेदकी बड़ी प्रशंसा है, वहाँ दूसरी ओर (अध्याय १२।२ में) सगुणोपासककी प्रशंसा कर भेदकी महिमा बढ़ायी गयी है। इससे स्वाभाविक ही यह शंका होती है कि गीतामें भेदका प्रतिपादन है या अभेदका? जब भेद और अभेद दोनोंका स्पष्ट वर्णन मिलता है तब उनमेंसे किसी एकको गलत नहीं कहा जा सकता। परन्तु सत्य कभी दो नहीं हो सकते, वह तो एक ही होता है। अतः इस विषयपर विचार करनेसे यही अनुमान होता है कि वास्तवमें जो वस्तुतत्त्व है उसको न भेद ही कहा जा सकता है और न अभेद ही। वह सबसे विलक्षण है, मन-वाणीसे परे है, वह वस्तुस्थिति वाणी या तर्क-युक्तियोंसे समझी या समझायी नहीं जा सकती, जो जानते हैं वे ही जानते हैं। जाननेवाले भी उसका वाणीसे वर्णन नहीं कर सकते। श्रुति कहती है—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥

(केन० २।२)

'मैं ब्रह्मको भली प्रकार जानता हूँ ऐसा नहीं मानता और यह भी नहीं मानता कि मैं नहीं जानता; क्योंकि जानता भी हूँ। हमलोगोंमेंसे जो कोई उस ब्रह्मको जानता है वह भी इस बातको जानता है कि मैं नहीं जानता, ऐसा नहीं मानता, क्योंकि जानता भी हूँ।'

जबतक वास्तविक तत्त्वको मनुष्य नहीं समझ लेता, तबतक इनका भेद मानकर साधन करना अधिक सुरक्षित और लाभदायक है, गीतामें दोनों प्रकारके वर्णनोंसे यह प्रतीत होता है कि दयामय भगवान्ने दो प्रकारके अधिकारियोंके लिये दो अवस्थाओंका वर्णन किया है। वास्तविक स्वरूप अनिर्वचनीय है। वह अतर्क्य विषय परमात्माकी कृपासे ही जाननेमें आ सकता है। उस तत्त्वको यथार्थरूपसे जाननेका सरल उपाय उस परमात्माकी शरणागति है। इसमें सबका अधिकार है। भगवान्ने कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९।३२)

'स्त्री, वैश्य और शूद्रादि तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवें वे भी मेरे शरण होकर तो परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'—

आगे चलकर भगवान्ने स्पष्ट कह दिया है कि—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८।६२)

'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे ही परम शान्तिको और सनातन परमधामको प्राप्त होगा।' वह परमेश्वर श्रीकृष्ण ही हैं, इसलिये अन्तमें उन्होंने कहा है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६६)

'सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझको समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर।'*

गीताके अनुसार कर्म, विकर्म और अकर्मका स्वरूप

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

(गीता ४। १७)

कर्मकी गति बड़ी ही गहन है, इसीसे भगवान् बड़ा जोर देकर उसे समझनेके लिये कहते हैं और समझाते हैं। यहाँ कर्मकी तीन संज्ञा की गयी है—कर्म, विकर्म और अकर्म। यद्यपि इस बातका निर्णय करना बहुत कठिन है कि भगवान्का अभिप्राय वास्तवमें क्या है, परन्तु विचार करनेपर जो कुछ समझमें आता है वही लिखा जाता है। साधारणतया विद्वज्जन इनका स्वरूप यही समझते हैं कि, १—इस लोक या परलोकमें जिसका फल सुखदायी हो उस उत्तम क्रियाका नाम कर्म है। २—जिसका फल इस लोक या परलोकमें दुःखदायी हो उसका नाम विकर्म है और ३—जो कर्म या कर्मत्याग किसी फलकी उत्पत्तिका कारण नहीं होता उसका नाम अकर्म है। इन तीनोंकेरहस्यको समझना इसलिये भी बड़ा कठिन हो रहा है कि हमलोगोंने मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंको ही कर्म नाम दे रखा है, परन्तु यथार्थमें यह बात नहीं है। यदि यही बात हो तो फिर ऐसा कौन-सा रहस्य था जो सर्वसाधारणके समझमें न आता? भगवान् भी क्यों कहते कि कर्म और अकर्म क्या हैं, इस विषयमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं—

'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।'

(गीता ४। १६)

—और क्यों इसे गहन ही बतलाते?

इससे यह सिद्ध होता है कि मन, वाणी, शरीरकी स्थूल क्रिया या अक्रियाका नाम ही कर्म, विकर्म या अकर्म नहीं है। कर्ताके भावोंके अनुसार कोई भी क्रिया कर्म, विकर्म और अकर्मरूपमें परिणत हो सकती है। साधारणतः तीनोंका भेद इस प्रकार समझना चाहिये।

कर्म

मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली विधिसंगत उत्तम क्रियाको ही कर्म मानते हैं, पर ऐसी विधिरूप क्रिया भी कर्ताके भावोंकी विभिन्नताके कारण कर्म, विकर्म या अकर्म बन जाती हैं। इसमें भाव ही प्रधान है, जैसे—

(१) फलकी इच्छासे शुद्ध भावनापूर्वक जो विधिसंगत उत्तम कर्म किया जाता है उसका नाम कर्म है।

(२) फलकी इच्छापूर्वक बुरी नीयतसे जो यज्ञ, तप, दान, सेवा आदि रूप विधेय कर्म भी किया जाता है वह कर्म तमोगुणप्रधान होनेसे विकर्म यानी पापकर्म हो जाता है। यथा—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥

(गीता १७। १९)

'जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे मन, वाणी, शरीरकी पीड़ासहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेकी नीयतसे किया जाता है वह तामस कहा गया है।'

(३) क—फलासक्तिरहित हो भगवदर्थ या भगवदर्पण-बुद्धिसे अपना कर्तव्य समझकर जो कर्म किया जाता है (गीता ९। २७-२८, १२। १०-११)। मुक्तिके अतिरिक्त अन्य फलोत्पादक न होनेके कारण उस कर्मका नाम अकर्म है।

अथवा—

ख—परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित होकर कर्तापनके अभिमानसे रहित पुरुषद्वारा जो कर्म किया जाता है वह भी मुक्तिके अतिरिक्त अन्य फल नहीं देनेवाला होनेसे अकर्म ही है (गीता ३। २८; ५। ८-९; १४। १९)।

विकर्म

साधारणतः मन, वाणी, शरीरसे होनेवाले हिंसा, असत्य, चोरी आदि निषिद्ध कर्ममात्र ही विकर्म समझे जाते हैं, परन्तु वे भी कर्ताके भावानुसार कर्म, विकर्म या अकर्मके रूपमें बदल जाते हैं। इनमें भी भाव ही प्रधान है—

(१) इहलौकिक या पारलौकिक फलेच्छापूर्वक शुद्ध नीयतसे किये जानेवाले हिंसादि कर्म (जो देखनेमें विकर्म-से लगते हैं) कर्म समझे जाते हैं (गीता २। ३७)।

(२) बुरी नीयतसे किये जानेवाले निषिद्ध कर्म तो सभी विकर्म हैं।

(३) आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर शुद्ध नीयतसे कर्तव्य प्राप्त होनेपर किये जानेवाले हिंसादि कर्म (जो देखनेमें विकर्म यानी निषिद्ध कर्म-से प्रतीत होते हैं)

* शरणागतिके विषयमें सविस्तर देखना हो तो 'कल्याण-प्राप्तिके उपाय' में 'शरणागति' शीर्षक लेख देखें।

भी फलोत्पादक न होनेके कारण अकर्म समझे जाते हैं (गीता २।३८; १८।१७)।

अकर्म

मन, वाणी, शरीरकी क्रियाके अभावका नाम ही अकर्म नहीं है। क्रिया न करनेवाले पुरुषोंके भावोंके अनुसार उनका क्रिया-त्यागरूप अकर्म भी कर्म, विकर्म और अकर्म बन सकता है। इसमें भी भाव ही प्रधान है।

(१) मन, वाणी, शरीरकी सब क्रियाओंको त्यागकर एकान्तमें बैठा हुआ क्रियारहित साधक पुरुष जो अपनेको सम्पूर्ण क्रियाओंका त्यागी समझता है, उसके द्वारा स्वरूपसे कोई काम होता हुआ न दीखनेपर भी त्यागका अभिमान रहनेके कारण उससे वह 'त्याग' रूप कर्म होता है। यानी उसका वह त्यागरूप अकर्म भी कर्म बन जाता है।

(२) कर्तव्य प्राप्त होनेपर भय या स्वार्थके कारण, कर्तव्यकर्मसे मुँह मोड़ना, विहित कर्मोंको न करना और बुरी नीयतसे लोगोंको ठगनेके लिये कर्मोंका त्याग कर देना आदिमें भी स्वरूपसे कर्म नहीं होते, परन्तु यह अकर्म दुःखरूप फल उत्पन्न करता है, इससे इसको विकर्म या पापकर्म समझना चाहिये (३। ६; १८। ७)।

(३) परमात्माके साथ अभिन्न भावको प्राप्त हुए जिस पुरुषका कर्तृत्वाभिमान सर्वथा नष्ट हो गया है, ऐसे स्थितप्रज्ञ पुरुषके अन्दर समाधिकालमें जो क्रियाका आत्यन्तिक अभाव है, वह अकर्म यथार्थ अकर्म है (२। ५५, ५८; ६। १९,२५)।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि कर्म, विकर्म और अकर्मका निर्णय केवल क्रियाशीलता और निष्क्रियतासे ही नहीं होता, भावोंके अनुसार ही कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म आदि हो जाते हैं। इस रहस्यको तत्त्वसे जाननेवाला ही गीताके मतसे मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगी और सम्पूर्ण कर्मोंका करनेवाला है।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ (४। १८)

और वही संसार-बन्धनसे सर्वथा छूटता है—

यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ (४। १६)

गीतोक्त क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम

सातवें अध्यायके चौथे, पाँचवें और छठे श्लोकोंमें 'अपरा', 'परा' और 'अहम्' के रूपमें जिस तत्त्वका वर्णन है, उसीका तेरहवें अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकमें 'क्षेत्र', 'क्षेत्रज्ञ' और 'माम्' के नामसे एवं पंद्रहवें अध्यायके सोलह और सत्रहवें श्लोकमें 'क्षर', 'अक्षर' और 'पुरुषोत्तम' के नामसे है। इन तीनोंमें 'अपरा', 'क्षेत्र' और 'क्षर' प्रकृतिसहित इस जड जगत्‌के वाचक हैं, 'परा', 'क्षेत्रज्ञ' और 'अक्षर' जीवके वाचक हैं तथा 'अहम्', 'माम्' और 'पुरुषोत्तम' परमेश्वरके वाचक हैं।

क्षर—प्रकृतिसहित विनाशी जड तत्त्वोंका विस्तार तेरहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें है—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवीके सूक्ष्म भावरूप पंच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, मूलप्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया, (श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण, वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा) दस इन्द्रियाँ, एक मन और पंच ज्ञानेन्द्रियोंके (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) पाँच विषय इस प्रकार चौबीस क्षर तत्त्व हैं। सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें इन्हींका संक्षेप अष्टधा प्रकृतिके रूपमें किया गया है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

और भूतोंसहित इसी प्रकृतिका और भी संक्षेप रूप पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें '**क्षरः सर्वाणि भूतानि**' है। या यों समझना चाहिये कि '**क्षरः सर्वाणि भूतानि**' का विस्तार अष्टधा प्रकृति और उसका विस्तार चौबीस तत्त्व हैं। वास्तवमें तीनों एक ही वस्तु हैं। सातवें अध्यायके तीसवें और आठवें अध्यायके पहले तथा चौथे श्लोकमें 'अधिभूत' के नामसे, तेरहवें अध्यायके बीसवें श्लोकके पूर्वार्द्धमें (दस) कार्य, (तेरह) करण और (एक) प्रकृतिके नामसे (**कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते**) एवं चौदहवें अध्यायके तीसरे और चौथे श्लोकमें '**महद्ब्रह्म**' और '**मूर्तयः**' शब्दोंसे भी इसी प्रकृतिसहित विनाशी जगत्‌का वर्णन किया गया है।

अक्षर—सातवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें 'परा प्रकृति' के नामसे, तेरहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'क्षेत्रज्ञ' के नामसे और पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'कूटस्थ' और 'अक्षर' के नामसे जीवका वर्णन है। यह जीवात्मा प्रकृतिसे श्रेष्ठ है, ज्ञाता है, चेतन है तथा अक्षर होनेसे नित्य है। पंद्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें '**कूटस्थोऽक्षर उच्यते**' के अनुसार जीवका विशेषण 'कूटस्थ' होनेके कारण कुछ सज्जनोंने इसका अर्थ प्रकृति या भगवान्‌की मायाशक्ति किया है, परन्तु गीतामें 'अक्षर'

और 'कूटस्थ' शब्द कहीं भी प्रकृतिके अर्थमें व्यवहृत नहीं हुए, बल्कि ये दोनों ही स्थान-स्थानमें जीवात्मा और परमात्माके वाचकरूपसे आये हैं। जैसे—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः॥

(६।८)

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥

(१२।३)

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।

(८।२१)

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।

(३।१५)

दूसरी बात यह विचारणीय है कि आगे चलकर पंद्रहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि मैं 'क्षर' से अतीत हूँ और 'अक्षर' से भी उत्तम हूँ। यदि 'अक्षर' प्रकृतिका वाचक होता तो 'क्षर' की भाँति इससे भी भगवान् अतीत ही होते, क्योंकि प्रकृतिसे तो परमात्मा अतीत हैं। भगवान्ने कहा है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

(७।१३-१४)

इन श्लोकोंसे सिद्ध है कि प्रकृति गुणमयी है और भगवान् गुणोंसे अतीत हैं। कहीं भी ऐसा वचन नहीं मिलता, जहाँ ईश्वरको प्रकृतिसे उत्तम बतलाया गया हो। इससे यही समझमें आता है कि यहाँ 'अक्षर' शब्द जीवका वाचक है। मायाबद्ध चेतन जीवसे शुद्ध निर्विकार परमात्मा उत्तम हो सकते हैं, अतीत नहीं हो सकते। इसलिये यहाँ अक्षरका अर्थ प्रकृति न मानकर जीव मानना ही उत्तम और युक्तियुक्त है। स्वामी श्रीधरजीने भी यही माना है।

इसी जीवात्माका वर्णन सातवें अध्यायके उनतीसवें और आठवें अध्यायके पहले तथा तीसरे श्लोकमें 'अध्यात्म' के नामसे एवं तेरहवें अध्यायके श्लोक १९, २०, २१में 'पुरुष' शब्दसे है। वहाँ सुख-दुःखोंके भोक्ता प्रकृतिमें स्थित और सदसद्योनिमें जन्म लेनेवाला बतलानेके कारण 'पुरुष' शब्दसे 'जीवात्मा' सिद्ध है। पंद्रहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें 'जीवभूत' नामसे और आठवेंमें 'ईश्वर' नामसे, चौदहवें अध्यायके तीसरेमें 'गर्भ' और 'बीज' के नामसे भी जीवात्माका ही कथन है। जीवात्मा चेतन है, अचल है, ध्रुव है, नित्य है, भोक्ता है, इन सब भावोंको समझानेके लिये ही भगवान्ने विभिन्न नाम और भावोंसे वर्णन किया है।

पुरुषोत्तम—यह तत्त्व परम दुर्विज्ञेय है, इसीसे भगवान्ने अनेक भावोंसे इसका वर्णन किया है। कहीं सृष्टि-पालन और संहारकर्तारूपसे, कहीं शासकरूपसे, कहीं धारणकर्ता और पोषणकर्ताके भावसे, कहीं पुरुषोत्तम, परमेश्वर, परमात्मा, अव्यय और ईश्वर आदि नाना नामसे वर्णन है। '**अहम्**', '**माम्**' आदि शब्दोंसे जहाँ-तहाँ इसी परम अव्यक्त, पर, अविनाशी, नित्य, चेतन, आनन्द, बोधस्वरूपका वर्णन किया गया है। जैसे—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥

(७।६)

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।

(१५।१७)

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

(१५।१८)

—वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

(१५।१५)

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।

(१३।२७)

उपर्युक्त क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके वर्णनमें क्षर प्रकृति तो जड और विनाशशील है। अक्षर जीवात्मा नित्य, चेतन, आनन्दरूप प्रकृतिसे अतीत और परमात्माका अंश होनेके कारण परमात्मासे अभिन्न होते हुए भी अविद्यासे सम्बन्ध होनेके कारण भिन्न-सा प्रतीत होता है। ज्ञानके द्वारा अविद्याका सम्बन्ध नाश हो जानेपर जब वह परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त हो जाता है, तब उसे परमात्मासे भिन्न नहीं कहा जाता, अतएव वास्तवमें वह परमात्मासे भिन्न नहीं है। पुरुषोत्तम परमात्मा नित्यमुक्त, प्रकृतिसे सदा अतीत, सबका महाकारण, अज, अविनाशी है। प्रकृतिके सम्बन्धसे उसे भर्ता, भोक्ता, महेश्वर आदि नामोंसे कहते हैं। प्रकृति और समस्त कार्य परमात्मामें केवल अध्यारोपित है। वस्तुतः परमात्माके सिवा अन्य कोई वस्तु है ही नहीं। इस रहस्यका तत्त्व जाननेको ही परम पदकी प्राप्ति और मुक्ति कहा जाता है। अतः इसको जाननेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥

(६।२३)

'जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है, जिसका नाम योग है उसको जानना चाहिये, वह परमात्माकी प्राप्तिरूप योग तत्पर-चित्तसे निश्चयपूर्वक ही करना चाहिये।

गीता मायावाद मानती है या परिणामवाद ?

श्रीमद्भगवद्गीतामें दोनों ही वादोंके समर्थक शब्द मिलते हैं, इससे निश्चयरूपसे यह नहीं कहा जा सकता कि गीताको वास्तवमें कौन-सा वाद स्वीकार है। मेरी समझसे गीताका प्रतिपाद्य विषय कोई वादविशेषको लेकर नहीं है। सच्चिदानन्दघन सर्वशक्तिमान् परमात्माको प्राप्त करना गीताका उद्देश्य है। जिसके उपायस्वरूप कई प्रकारके मार्ग बतलाये गये हैं, जिसमें परिणामवाद और मायावाद दोनों ही आ जाते हैं। जैसे—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥

(८।१८-१९)

'इसलिये वे यह भी जानते हैं कि सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लय होते हैं। और वह ही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर, प्रकृतिके वशमें हुआ, रात्रिके प्रवेशकालमें लय होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है, हे अर्जुन! इस प्रकार ब्रह्माके एक सौ वर्ष पूर्ण होनेसे अपने लोकसहित ब्रह्मा भी शान्त हो जाता है।'

इन श्लोकोंसे यह स्पष्ट प्रकट है कि समस्त व्यक्त जड पदार्थ अव्यक्त समष्टि-शरीरसे उत्पन्न होते हैं और अन्तमें उसीमें लय हो जाते हैं। यहाँ यह नहीं कहा कि उत्पन्न या लय होते हुए-से प्रतीत होते हैं, वास्तवमें नहीं होते, परन्तु स्पष्ट उत्पन्न होना अर्थात् उस अव्यक्तका ही व्यक्तरूपमें परिणामको प्राप्त होना और दूसरा परिणाम व्यक्तसे पुनः अव्यक्तरूप होना बतलाया है। इन अव्यक्त तत्त्वोंका संघात (सूक्ष्म समष्टि) भी महाप्रलयके अन्तमें मूल अव्यक्तमें विलीन हो जाता है और उसीसे उसकी उत्पत्ति होती है। उस मूल अव्यक्त प्रकृतिको ही भगवान्ने चौदहवें अध्यायके श्लोक ३, ४ में 'महद्ब्रह्म' कहा है। महासर्गके आदिमें सम्पूर्ण मूर्तियों (शरीरों)-की उत्पत्तिमें महद्ब्रह्मको ही कारण बतलाया है। अर्थात् जडवर्गके विस्तारमें इस प्रकृतिको ही हेतु माना है। अध्याय १३। १९-२० में भी कार्यकरणरूप तेईस तत्त्वोंको ही प्रकृतिका विस्तार बतलाया है।* इससे यह सिद्ध होता है कि जो कुछ देखनेमें आता है, सो सब प्रकृतिका कार्य है। यानी प्रकृति ही परिणामको प्राप्त हुई है। जीवात्मासहित जो चतुर्विध देहोंकी उत्पत्ति होती है, वह प्रकृति और उस पुरुषके संयोगसे होती है। इनमें जितने देह—शरीर हैं, वे सब प्रकृतिका परिणाम हैं और उन सबमें जो चेतन है सो परमेश्वरका अंश है। चेतनरूप बीज देनेवाला पिता भगवान् हैं।

भगवान् कहते हैं—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

(१४।४)

'हे अर्जुन! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी

* आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवीरूप पाँच सूक्ष्मभूत एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच विषय—इन दसको कार्य कहते हैं। बुद्धि, अहंकार, मन (अन्तःकरण), श्रोत्र, त्वक्, रसना, नेत्र, घ्राण (ज्ञानेन्द्रियाँ) एवं वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ, गुदा (कर्मेन्द्रियाँ)—इन तेरहके समुदायका नाम करण है। सांख्यकारिका ३में कहा है—मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ मूल प्रकृति-विकृति नहीं है, महत् आदि सात प्रकृति-विकृति हैं, सोलह विकार हैं और पुरुष न प्रकृति है, न विकृति।

अव्याकृत मायाका नाम मूल-प्रकृति है। वह किसीका विकार न होनेके कारण किसीकी विकृति नहीं है, ऐसा कहा जाता है। महत्तत्त्व (समष्टि-बुद्धि), अहंकार, भूतोंकी सूक्ष्म पंच तन्मात्राएँ—ये सात प्रकृति-विकृति हैं। मूल-प्रकृतिका विकार होनेसे इनको विकृति कहते हैं एवं इनसे अन्य विकारोंकी उत्पत्ति होती है, इसीसे इन्हें ही प्रकृति कहते हैं, अतएव दोनों मिलकर इनका नाम प्रकृति-विकृति है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन और पाँच स्थूल भूत—ये सोलह विकृति हैं। सात प्रकृति-विकृति अहंकार और तन्मात्रासे इनकी उत्पत्ति होनेके कारण इन्हें विकृति कहते हैं। इनसे आगे अन्य किसीकी उत्पत्ति नहीं है इससे ये किसीकी प्रकृति नहीं हैं विकृतिमात्र हैं। सांख्यके अनुसार मूल-प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार, अहंकारसे पंच तन्मात्रा, फिर अहंकारसे ११ मनेन्द्रियाँ और पंच तन्मात्रासे पंच स्थूल भूत। गीताके १३वें अध्यायके ५वें श्लोकमें भी प्रायः ऐसा ही वर्णन है।

माया तो गर्भको धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ।' गीतामें इस प्रकार समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिमें प्रकृतिसहित पुरुषका कथन जगह-जगह मिलता है, कहीं परमेश्वरकी अध्यक्षतासे प्रकृति उत्पन्न करती है, ऐसा कहा गया है (९।१०) तो कहीं मैं उत्पन्न करता हूँ (९।८) ऐसे वचन मिलते हैं। सिद्धान्त एक ही है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि यह सारा चराचर जगत् प्रकृतिका परिणाम है। परमेश्वर अपरिणामी है, गुणोंसे अतीत है। इस संसारके परिणाममें परमेश्वर प्रकृतिको सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करता है, सहायता करता है; परन्तु उसके परिणामसे परिणामी नहीं होता। आठवें अध्यायके बीसवें श्लोकमें यह स्पष्ट कहा है कि 'अव्यक्त प्रकृतिसे परे जो एक सनातन अव्यक्त परमात्मा है, उसका कभी नाश नहीं होता अर्थात् वह परिणामरहित एकरस रहता है।' इसीलिये गीताने उसीका समझना यथार्थ बतलाया है जो सम्पूर्ण भूतोंके नाश होनेपर भी परमात्माको अविनाशी एकरस समझता है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

(१३।२७)

इससे सिद्ध होता है कि नित्य शुद्ध बोधस्वरूप परमात्मामें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। वास्तवमें इस परिवर्तनशील संसारका ही परिवर्तन होता है। इस प्रकारके परिणामवादका गीतामें समर्थन किया गया है।

इसके विपरीत गीतामें ऐसे श्लोक भी बहुत हैं जिनके आधारपर अद्वैत-मतके अनुसार व्याख्या करनेवाले विद्वान् मायावाद सिद्ध करते हैं। भगवान्ने कहा है—'मेरी योगमायाका आश्चर्यजनक कार्य देख, जिससे बिना ही हुआ जगत् मुझसे परिणामको प्राप्त हुआ-सा दीखता है (**न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्** ९।५) यानी वास्तवमें संसार मुझ (परमात्मा) -में है नहीं। पर दीखता है, इस न्यायसे है भी। अतः यह सब मेरी मायाका खेल है। जैसे रज्जुमें बिना ही हुए सर्प दीखता है वैसे ही बिना ही हुए अज्ञानसे संसार भी भासता है। आगे चलकर भगवान्ने जो यह कहा है कि जैसे आकाशसे उत्पन्न हुआ सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा ही आकाशमें स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्पद्वारा उत्पत्तिवाले होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसे जान।' इससे यह नहीं समझना चाहिये कि आकाशसे उत्पन्न होकर उसीमें रहनेवाले वायुके समान संसार भगवान्में है। यह दृष्टान्त केवल समझानेके लिये है। सातवें अध्यायमें भगवान्ने कहा है कि सात्त्विक, राजस, तामस-भाव मुझसे उत्पन्न होते हैं परन्तु वास्तवमें उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं (**न त्वहं तेषु ते मयि** ७।१२)।

'मेरे अतिरिक्त किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है' (**मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय** ७।७); 'सब कुछ वासुदेव ही है' (**वासुदेवः सर्वमिति** ७।१९); 'इस संसार-वृक्षका जैसा स्वरूप कहा है, वैसा यहाँ (विचारकालमें) पाया नहीं जाता' (**न रूपमस्येह तथोपलभ्यते** १५।३) आदि वचनोंसे मायावादकी पुष्टि होती है। एक परमात्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जो कुछ प्रतीत होता है सो केवल मायामात्र है।

इस तरह दोनों प्रकारके वादोंको न्यूनाधिकरूपसे समर्थन करनेवाले वचन गीतामें मिलते हैं। मेरी समझसे गीता किसी वादविशेषका प्रतिपादन नहीं करती, वह किसी वादके तत्त्वको समझानेके लिये अवतरित नहीं हुई, वह तो सब वादोंको समन्वय करके ईश्वर-प्राप्तिके भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाती है। गीतामें दोनों ही वादोंके माननेवालोंके लिये पर्याप्त वचन मिलते हैं, इससे गीता सभीके लिये उपयोगी है। अपने-अपने मत और अधिकारके अनुसार गीताका अनुसरणकर भगवत्प्राप्तिके मार्गपर आरूढ़ होना चाहिये।

गीतामें ज्ञान, योग आदि शब्दोंका पृथक्-पृथक् अर्थोंमें प्रयोग

श्रीमद्भगवद्गीतामें कई शब्द ऐसे हैं जिनका प्रसंगानुसार भिन्न-भिन्न अर्थोंमें प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ ज्ञान, योग, योगी, युक्त, आत्मा, ब्रह्म, अव्यक्त और अक्षरके कुछ भेद प्रमाणसहित बतलाये जाते हैं। एक-एक अर्थके लिये प्रमाणमें विस्तारभयसे केवल एक ही प्रसंगका उदाहरण दिया जाता है। परन्तु ऐसे प्रसंग प्रत्येक अर्थके लिये एकाधिक या बहुत-से मिल सकते हैं—

ज्ञान

'ज्ञान' शब्दका प्रयोग गीतामें सात अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) तत्त्वज्ञान—अ० ४। ३७-३८—इनमें ज्ञानको सम्पूर्ण कर्मोंके भस्म करनेवाले अग्निके समान और अतुलनीय पवित्र बतलाया है, जो तत्त्वज्ञान ही हो सकता है।

(२) सांख्यज्ञान—अ० ३। ३—इसमें सांख्यनिष्ठामें स्पष्ट 'ज्ञान' शब्दका प्रयोग है।

(३) परोक्षज्ञान—अ० १२। १२—इसमें ज्ञानकी अपेक्षा ध्यान और कर्म-फल-त्यागको श्रेष्ठ बतलाया है, इससे यह ज्ञान तत्त्वज्ञान न होकर परोक्षज्ञान है।

(४) साधनज्ञान—अ० १३। ११—यह ज्ञान तत्त्वज्ञानके

अर्थरूप परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु है, इससे साधन-ज्ञान है।

(५) विवेकज्ञान—अ० १४। १७—यह सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेवाला है, इससे विवेकज्ञान है।

(६) लौकिक ज्ञान—अ० १८। २१—इस ज्ञानसे मनुष्य सब प्राणियोंमें भिन्न-भिन्न भाव देखता है, इसलिये यह राजस या लौकिक ज्ञान है।

(७) शास्त्रज्ञान—अ० १८। ४२—इसमें विज्ञान शब्द साथ रहने और ब्राह्मणका स्वाभाविक धर्म होनेके कारण यह शास्त्रज्ञान है।

योग

'योग' शब्दका प्रयोग सात अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) भगवत्-प्राप्तिरूप योग—अ० ६। २३—इसके पूर्व श्लोकमें परमानन्दकी प्राप्ति और इसमें दुःखोंका अत्यन्त अभाव बतलाया गया है, इससे यह योग परमात्माकी प्राप्तिका वाचक है।

(२) ध्यानयोग—अ० ६। १९—वायुरहित स्थानमें स्थित दीपककी ज्योतिके समान चित्तकी अत्यन्त स्थिरता होनेके कारण यह ध्यानयोग है।

(३) निष्काम-कर्मयोग—अ० २। ४८—योगमें स्थित होकर आसक्ति-रहित हो तथा सिद्धि-असिद्धिमें समान बुद्धि होकर कर्मोंके करनेकी आज्ञा होनेसे यह निष्काम-कर्मयोग है।

(४) भगवत्-शक्तिरूप योग—अ० ९। ५—इसमें आश्चर्यजनक प्रभाव दिखलानेका कारण होनेसे यह शक्तिका वाचक है।

(५) भक्तियोग—अ० १४। २६—निरन्तर अव्यभिचाररूपसे भजन करनेका उल्लेख होनेसे यह भक्तियोग है। इसमें स्पष्ट 'भक्तियोग' शब्द है।

(६) अष्टांगयोग—अ० ८। १२—धारणा शब्द साथ होने तथा मन-इन्द्रियोंके संयम करनेका उल्लेख होनेके साथ ही मस्तकमें प्राण चढ़ानेका उल्लेख होनेसे यह अष्टांगयोग है।

(७) सांख्ययोग—अ० १३। २४—इसमें सांख्ययोगका स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख है।

योगी

'योगी' शब्दका प्रयोग नौ अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) ईश्वर—अ० १०। १७—भगवान् श्रीकृष्णका सम्बोधन होनेसे ईश्वरवाचक है।

(२) आत्मज्ञानी—अ० ६। ८—ज्ञान-विज्ञानमें तृप्त और स्वर्ण-मिट्टी आदिमें समतायुक्त होनेसे आत्मज्ञानीका वाचक है।

(३) ज्ञानी-भक्त—अ० १२। १४—परमात्मामें मन-बुद्धि लगानेवाला होने तथा 'मद्भक्त' का विशेषण होनेसे ज्ञानी-भक्तका वाचक है।

(४) निष्काम-कर्मयोगी—अ० ५। ११—आसक्तिको त्यागकर आत्मशुद्धिके लिये कर्म करनेका कथन होनेसे निष्काम-कर्मयोगीका वाचक है।

(५) सांख्ययोगी—अ० ५। २४—अभेदरूपसे ब्रह्मकी प्राप्ति इसका फल होनेके कारण यह सांख्ययोगीका वाचक है।

(६) भक्त—अ० ८। १४—अनन्यचित्तसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌के स्मरणका उल्लेख होनेसे यह भक्तका वाचक है।

(७) साधकयोगी—अ० ६। ४५—अनेकजन्मसंसिद्ध होनेके अनन्तर ज्ञानकी प्राप्तिका उल्लेख है, इससे यह साधकयोगीका वाचक है।

(८) ध्यानयोगी—अ० ६। १०—एकान्त स्थानमें स्थित होकर मनको एकाग्र करके आत्माको परमात्मामें लगानेकी प्रेरणा होनेसे यह ध्यानयोगीका वाचक है।

(९) सकाम कर्मयोगी—अ० ८। २५—वापस लौटनेवाला होनेसे यह सकाम कर्मयोगीका वाचक है।

युक्त

'युक्त' शब्दका प्रयोग सात अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) तत्त्वज्ञानी—अ० ६। ८—ज्ञानविज्ञानसे तृप्तात्मा होनेसे यह तत्त्वज्ञानीका वाचक है।

(२) निष्काम-कर्मयोगी—अ० ५। १२—कर्मोंका फल परमेश्वरके अर्पण करनेवाला होनेसे यह निष्काम-कर्मयोगीका वाचक है।

(३) सांख्ययोगी—अ० ५। ८—सब क्रियाओंके होते रहनेपर कर्तापनके अभिमानका न रहना बतलाया जानेके कारण सांख्ययोगीका वाचक है।

(४) ध्यानयोगी—अ० ६। १८—वशमें किया हुआ चित्त परमात्मामें स्थित हो जानेका उल्लेख होनेसे यह ध्यानयोगीका वाचक है।

(५) संयमी—अ० २। ६१—समस्त इन्द्रियोंका संयम करके परमात्म-परायण होनेसे यह संयमीका वाचक है।

(६) संयोगसूचक—अ० ७। २२—श्रद्धाके साथ संयोग बतानेवाला होनेसे यह संयोगसूचक है।

(७) यथायोग्य व्यवहार—अ० ६। १७—यथायोग्य आहार, विहार, शयन और चेष्टा आदि लक्षणवाला होनेसे यह यथायोग्य व्यवहारका वाचक है।

आत्मा

'आत्मा' शब्दका प्रयोग ग्यारह अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) परमात्मा—अ० ३। १७—ज्ञानीकी उसीमें प्रीति, उसीमें तृप्ति और उसीमें सन्तुष्टि होनेके कारण परमात्माका वाचक है।

(२) ईश्वर—अ० १०। २०—सब भूतोंके हृदयमें स्थित होनेसे ईश्वरका वाचक है।

(३) शुद्धचेतन—अ० १३। २९—अकर्ता होनेसे शुद्ध चेतनका वाचक है।

(४) स्वरूप—अ० ७। १८—ज्ञानीको अपना आत्मा बतलानेके कारण वह स्वरूप ही समझा जाता है। इससे स्वरूपका वाचक है।

(५) परमेश्वरका सगुणस्वरूप—अ० ४। ७—अवताररूपसे प्रकट होनेका उल्लेख रहनेसे सगुणस्वरूपका वाचक है।

(६) जीवात्मा—अ० १६। २१—अधोगतिमें जानेका वर्णन होनेसे जीवात्माका वाचक है।

(७) बुद्धि—अ० १३। २४—(आत्मना) ध्यानके द्वारा हृदयमें परमात्माको देखनेका वर्णन है, यह देखना बुद्धिसे ही होता है। अतः यह बुद्धिका वाचक है।

(८) अन्तःकरण—अ० १८। ५१—इसमें '**आत्मानं नियम्य**' यानी आत्माको वशमें करनेका उल्लेख होनेसे यह अन्तःकरणका वाचक है।

(९) हृदय—अ० १५। ११—इसमें '**यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्**' 'योगीजन' अपने आत्मामें स्थित हुए इस आत्माको यत्न करते हुए ही तत्त्वसे जानते हैं। आत्मा हृदयमें स्थित होता है, अतः यहाँ यह (आत्मनि) हृदयका वाचक है।

(१०) शरीर—अ० ६। ३२— '**आत्मौपम्येन**' अपनी सादृश्यतासे लक्षित होनेके कारण यहाँ आत्मा शरीरका वाचक है।

(११) निजवाचक—अ० ६। ५—आत्मा ही आत्माका मित्र और आत्मा ही आत्माका शत्रु है, ऐसा उल्लेख रहनेसे यह निजवाचक है।

ब्रह्म

'ब्रह्म' शब्दका प्रयोग सात अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) परमात्मा—अ० ७। २९—भगवान‍्के शरण होकर जरा-मरणसे छूटनेके लिये यत्न करनेवाले ब्रह्मको जानते हैं, ऐसा कथन होनेसे यहाँ परमात्माका वाचक है।

(२) ईश्वर—अ० ५। १०—सब कर्म ब्रह्ममें अर्पण करनेका उल्लेख होनेसे यह ईश्वरका वाचक है।

(३) प्रकृति—अ० १४। ४—महत् विशेषण होनेसे प्रकृतिका वाचक है।

(४) ब्रह्मा—अ० ८। १७—कालकी अवधिवाला होनेसे यहाँ 'ब्रह्म' शब्द ब्रह्माका वाचक है।

(५) ओंकार—अ० ८। १३—'एकाक्षर' विशेषण होने और उच्चारण किये जानेवाला होनेसे यहाँ ब्रह्म शब्द ओंकारका वाचक है।

(६) वेद—अ० ३। १५—(पूर्वार्ध) कर्मकी उत्पत्तिका कारण होनेसे वेदका वाचक है।

(७) परमधाम—अ० ८। २४—शुक्ल-मार्गसे प्राप्त होनेवाला होनेसे परमधामका वाचक है।

अव्यक्त

'अव्यक्त' शब्दका प्रयोग चार अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) परमात्मा—अ० १२। १—अक्षर विशेषण होनेसे परमात्माका वाचक है।

(२) शुद्ध चेतन—अ० २। २५—स्पष्ट है।

(३) प्रकृति—अ० १३। ५—स्पष्ट है।

(४) ब्रह्माका सूक्ष्मशरीर—अ० ८। १८—स्पष्ट है।

अक्षर

'अक्षर' शब्दका प्रयोग चार अर्थोंमें हुआ है, जैसे—

(१) परमात्मा—अ० ८। ३—ब्रह्मका विशेषण होनेसे परमात्माका वाचक है।

(२) जीवात्मा—अ० १५। १६—कूटस्थ विशेषण होने और अगले श्लोकमें उत्तम पुरुष परमात्माका अन्य रूपसे उल्लेख होनेसे यह जीवात्माका वाचक है।

(३) ओंकार—अ० ८। १३—स्पष्ट है।

(४) वर्ण—अ० १०। ३३—स्पष्ट है।

श्रीमद्भगवद्गीताका प्रभाव

गीता ज्ञानका अथाह समुद्र है—इसके अन्दर ज्ञानका अनन्त भण्डार भरा पड़ा है। इसका तत्त्व समझानेमें बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् और तत्त्वालोचक महात्माओंकी वाणी भी कुण्ठित हो जाती है। क्योंकि इसका पूर्ण रहस्य भगवान् श्रीकृष्ण ही जानते हैं। उनके बाद कहीं इसके संकलनकर्ता व्यासजी और श्रोता अर्जुनका नम्बर आता है। ऐसी अगाध रहस्यमयी गीताका आशय और महत्त्व समझना मेरे लिये ठीक वैसा ही है जैसा एक साधारण पक्षीका अनन्त आकाशका पता लगानेके लिये प्रयत्न करना। गीता अनन्त भावोंका अथाह समुद्र है। रत्नाकरमें गहरा गोता लगानेपर

जैसे रत्नोंकी प्राप्ति होती है वैसे ही इस गीता-सागरमें गहरी डुबकी लगानेसे जिज्ञासुओंको नित्य नूतन विलक्षण भाव-रत्नराशिकी उपलब्धि होती है।

गीता सर्वशास्त्रमयी है—यह सब उपनिषदोंका सार है। सूत्रोंमें जैसे विशेष भावोंका समावेश रहता है उससे भी कहीं बढ़कर भावोंका भण्डार इसके श्लोकोंमें भरा पड़ा है। इसके श्लोकोंको श्लोक नहीं, मन्त्र कहना चाहिये। भगवान्‌के मुखसे कहे जानेके कारण वस्तुतः मन्त्रोंसे भी बढ़कर ये परम मन्त्र हैं। इतनेपर भी ये श्लोक क्यों कहे जाते हैं? इसलिये कि वेद-मन्त्रोंसे जैसे स्त्री और शूद्रादि वंचित रह जाते हैं, कहीं वैसे ही वे बेचारे इस अनुपम गीता-शास्त्रसे भी वंचित न रह जायँ। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने सब जीवोंके कल्याणार्थ अर्जुनके बहाने इस तात्त्विक ग्रन्थ-रत्नको संसारमें प्रकट किया है। इसके प्रचारककी प्रशंसा करते हुए भगवान्‌ने, चाहे वे कोई हों, भक्तोंमें इसके प्रचारकी स्पष्ट आज्ञा दी है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

(गीता १८। ६८-६९)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्यमय गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा। न तो उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई है और न उससे बढ़कर मेरा अत्यन्त प्रिय पृथिवीमें दूसरा कोई होवेगा।'

गीताका प्रचार-क्षेत्र संकीर्ण और शिथिल नहीं है। भगवान् यह नहीं कहते कि अमुक जाति, वर्णाश्रम अथवा देश-विदेशमें ही इसका प्रचार किया जाना चाहिये। भक्त होनेपर चाहे मुसलमान हो, चाहे ईसाई, ब्राह्मण हो या शूद्र सभी इसके अधिकारी हैं, परन्तु भगवान् यह अवश्य कहते हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

(गीता १८। ६७)

'तेरे हितार्थ कहे हुए इस गीतारूप परम रहस्यको किसी कालमें भी न तो तपरहित मनुष्यके प्रति कहना चाहिये और न भक्तिरहितके प्रति तथा न बिना सुननेकी इच्छावालेके ही प्रति और जो मेरी निन्दा करता है उसके प्रति भी नहीं कहना चाहिये।' यह निषेध भी ठीक है, ब्राह्मण होनेपर भी यदि वह अभक्त है तो इसका अधिकारी नहीं है। शूद्र भी भक्त हो तो इसका अधिकारी है। जाति-पाँति और नीच-ऊँचका इसमें कोई बन्धन नहीं। अनधिकारियोंके लिये और भी तो विशेषण कहे गये हैं? यह ठीक है। जब भक्तोंके लिये खुली आज्ञा है तो जो भक्त होता है वह निन्दा नहीं कर सकता, भक्तको अपने भगवान्‌के अमृतवचन सुननेकी उत्कण्ठा रहती ही है। अपने प्रियतमकी बातको न सुननेका तो प्रेमी भक्तके सामने कोई प्रश्न ही नहीं है। ईश्वरकी भक्ति होनेपर तप तो उसमें आ ही गया, अतः इससे यह सिद्ध हुआ कि चाहे कोई भी मनुष्य हो भगवान् श्रीकृष्णका भक्त होनेपर वह गीताका अधिकारी है। इसके प्रत्येक श्लोकको मन्त्र या सूत्र कुछ भी मानकर जितना भी इसे महत्त्व दिया जाय उतना ही थोड़ा है। मक्खन जैसे दूधका सार है वैसे ही गीता सब उपनिषदोंका निचोड़ है। इसीलिये व्यासजीने कहा है कि—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

सब उपनिषदें गौ हैं, भगवान् गोपालनन्दन श्रीकृष्ण दुहनेवाले हैं, पार्थ बछड़ा है, गीतारूप महान् अमृत ही दूध है, अच्छी बुद्धिवाले अधिकारी उसके भोक्ता हैं।

इस प्रकारका गीताका ज्ञान हो जानेपर मनुष्यको किसी दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रहती। इसमें सब शास्त्रोंका पर्यवसान है। गहरा गोता लगानेपर इसमें अनेक अनोखे रत्नोंकी प्राप्ति होती है। अधिक मननसे ज्ञानका भण्डार खुल जाता है। इसीसे कहा गया है कि—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

(महा० भीष्म० ४३। १)

गीता भगवान्‌का स्वरूप है, श्वास है—भाव है। इस श्लोकके 'पद्मनाभ' और 'मुखपद्म' शब्दोंमें बड़ा विलक्षण भाव भरा पड़ा है। इनके पारस्परिक अन्तर और रहस्यपर भी ध्यान देना चाहिये। भगवान् 'पद्मनाभ' कहलाते हैं, क्योंकि उनकी नाभिसे कमल निकला और उस कमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई। इन्हीं ब्रह्माजीके मुखसे चारों वेद कहे गये हैं और उन वेदोंका ही विस्तार सब शास्त्रोंमें किया गया है। अब गीताकी उत्पत्तिपर विचार कीजिये। वह स्वयं परमात्माके मुख-कमलसे निकली है, अतः गीता भगवान्‌का हृदय है। इसीलिये यह मानना पड़ता है कि सर्वशास्त्र गीताके पेटमें समाये हुए हैं। जिसने केवल गीताका ही सम्यक् अभ्यास कर लिया, उसे अन्य शास्त्रोंके विस्तारकी आवश्यकता ही क्या है? उसके कल्याणके लिये तो गीताका एक ही श्लोक पर्याप्त है।

अब 'सुगीता' के अर्थपर विचार करना चाहिये। यह ठीक है कि गीताका केवल पाठ करनेवालेका भी कल्याण हो सकता है, क्योंकि भगवान्‌ने प्रतिज्ञा की है कि—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥
(गीता १८।७०)

पर त्रुटि इतनी ही है कि वह उसके तत्त्वको नहीं जानता। इससे उत्तम वह है जो इसका पाठ अर्थ और भावोंको समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक करता है। इस प्रकार एक श्लोकका भी पाठ करनेवाला उससे बढ़कर माना जायगा। इस हिसाबसे गीताका पाठ यद्यपि प्रायः दो वर्षोंमें समाप्त होगा, पर उसके ७०० श्लोकोंके केवल नित्यपाठके फलसे भी इसका फल विशेष ही रहेगा। इस प्रकार अर्थ और भावको समझकर गीताका अभ्यास करनेवालेसे भी वह उत्तम माना जायगा जो उसके अनुसार अपने जीवनको बना रहा है। चाहे यह व्यक्ति दो वर्षोंमें केवल एक ही श्लोकको काममें लाता है, पर इस प्रकार परमात्म-प्राप्तिके साधनवाले श्लोकोंमेंसे किसी एकको धारण करनेवाला सर्वोत्तम है। एक पुरुष तो लाखों श्लोकोंका पाठ कर गया, दूसरा सात सौका और केवल तीसरा एकहीका। पर हमें यह मानना पड़ेगा कि केवल एक ही श्लोकको आचरणमें लानेवाला मनुष्य लाखोंका पाठमात्र करनेवालेकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, इस प्रकार गीताके सम्पूर्ण श्लोकोंका अध्ययन करके जो उन्हें पूर्णतया जीवनमें कार्यान्वित कर लेता है उसीका 'गीता सुगीता' कर लेना है। गीताके अनुसार इस प्रकार चलनेवाला ज्ञानी तो गीताकी चैतन्यमय मूर्ति है।

अब यदि यह पूछा जाय कि गीतामें ऐसे कौन-से श्लोक हैं जिनमेंसे केवल एकको ही काममें लानेपर मनुष्यका कल्याण हो जाय, इसका ठीक-ठीक निश्चय करना बहुत ही कठिन है; क्योंकि गीताके प्रायः सभी श्लोक ज्ञानपूर्ण और कल्याणकारक हैं। फिर भी सम्पूर्ण गीतामें एक तिहाई श्लोक तो ऐसे दीखते हैं कि जिनमेंसे एकको भी भलीभाँति समझकर काममें लानेसे अर्थात् उसके अनुसार आचरण बनानेसे मनुष्य परमपदको प्राप्त कर सकता है। उन श्लोकोंकी पूर्ण संख्या विस्तारभयसे न देकर पाठकोंकी जानकारीके लिये कतिपय श्लोकोंकी संख्या नीचे लिखी जाती है—

अ० २ श्लो० २०, ७१; अ० ३ श्लो० १७—३०; अ० ४ श्लो० २०—२७; अ० ५ श्लो० १०, १७, १८, २९; अ० ६ श्लो० १४, ३०, ३१, ४७; अ० ७ श्लो० ७, १४, १९; अ० ८ श्लो० ७, १४, २२; अ० ९ श्लो० २६, २९, ३२, ३४; अ० १० श्लो० ९, ४२; अ० ११ श्लो० ५४, ५५; अ० १२ श्लो० २, ८, १३, १४; अ० १३ श्लो० १५, २४, २५, ३०; अ० १४ श्लो० १९, २६; अ० १५ श्लो० ५, १५; अ० १६ श्लो० १; अ० १७ श्लो० १६ और अ० १८ श्लो० ४६, ५६, ५७, ६२, ६५, ६६।

इस प्रकार उपर्युक्त श्लोकोंमेंसे एक श्लोकको भी अच्छी तरह काममें लानेवाला पुरुष मुक्त हो सकता है। जो सम्पूर्ण गीताको अर्थ और भावसहित समझकर श्रद्धा-प्रेमसे अध्ययन करता हुआ उसके अनुसार चलता है उसके तो रोम-रोममें गीता ठीक उसी प्रकार रम जाती है जैसे परम भागवत श्रीहनुमान्‌जीके रोम-रोममें 'राम' रम गये थे। जिस समय वह पुरुष श्रद्धा और प्रेमसे गीताका पाठ करता है उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उसके रोम-रोमसे गीताका सुमधुर संगीत-स्वर प्रतिध्वनित हो रहा है।

गीताका विषय-विभाग

गीताका विषय बड़ा ही गहन और रहस्यपूर्ण है। साधारण पुरुषोंकी तो बात ही क्या, इसमें बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं। कोई-कोई तो अपने आशयके अनुसार ही इसका अर्थ कर लेते हैं। उन्हें अपने मतके अनुसार इसमें मसाला भी मिल जाता है। क्योंकि इसमें कर्म, उपासना, ज्ञान सभी विषयोंका समावेश है और जहाँ जिस विषयका वर्णन आया है वहाँ उसकी भगवान्‌ने वास्तविक प्रशंसा की है। अतः अपने-अपने मतको पुष्ट करनेके लिये इसमें सभी विद्वानोंको अपने अनुकूल सामग्री मिल ही जाती है। इसलिये ये अपने सिद्धान्तके अनुसार मोमके नाककी तरह खींचातानी करके इसे अपने मतकी ओर ले जाते हैं। जो अद्वैतवादी (एक ब्रह्मको माननेवाले) हैं वे गीताके प्रायः सभी श्लोकोंको अभेदकी तरफ, द्वैतवादी द्वैतकी तरफ और कर्मयोगी कर्मकी तरफ ही ले जानेकी चेष्टा करते हैं अर्थात् ज्ञानियोंको यह गीताशास्त्र ज्ञानका, भक्तोंको भक्तियोगका और कर्मयोगियोंको कर्मका प्रतिपादक प्रतीत होता है। भगवान्‌ने बड़ी गम्भीरताके साथ अर्जुनके प्रति इस रहस्यमय ग्रन्थका उपदेश किया, जिसे देखकर प्रायः सभी संसारके मनुष्य इसे अपनाते और अपनी ओर खींचते हुए कहते हैं कि हमारे विषयका प्रतिपादन इसमें किया गया है। परन्तु भगवान्‌ने द्वैत, अद्वैत या विशिष्टाद्वैत आदि किसी वादको या किसी धर्म-सम्प्रदाय, जाति अथवा देशविशेषको लक्ष्यमें रखकर इसकी रचना नहीं की। इसमें न तो किसी धर्मकी निन्दा और न किसीकी पुष्टि ही की गयी है। यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और भगवान्‌द्वारा कथित होनेसे इसे स्वतः प्रामाणिक मानना चाहिये। इसे दूसरे शास्त्रके प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं है—यह तो स्वयं दूसरोंके लिये प्रमाण-स्वरूप है। अस्तु!

कोई-कोई आचार्य कहते हैं कि इसके प्रथम छः अध्यायोंमें कर्मका, द्वितीय षट्कमें उपासनाका और तृतीयमें ज्ञानका विषय वर्णित है। उनका यह कथन किसी अंशमें माना जा

सकता है, पर वास्तवमें ध्यानपूर्वक देखनेसे यह पता लग सकेगा कि द्वितीय अध्यायसे अठारहवें अध्यायतक सभी अध्यायोंमें न्यूनाधिक रूपमें कर्म, उपासना और ज्ञान-विषयका प्रतिपादन किया गया है। अतः गम्भीर विचारके बाद इसका विभाग इस प्रकार किया जाना उचित है—

प्रथम अध्यायमें तो मोह और स्नेहके कारण अर्जुनके शोक और विषादका वर्णन होनेसे उसका नाम अर्जुन-विषादयोग पड़ा। इसमें कर्म, उपासना और ज्ञानके उपदेशका विषय नहीं है। इस अध्यायका उद्देश्य अर्जुनको उपदेशका अधिकारी सिद्ध करना ही है। द्वितीय अध्यायमें सांख्य और निष्काम कर्मयोग-विषयका वर्णन है। प्रधानतया अ० २ श्लोक ३९से अ० ६ श्लोक ४ तक भगवान्ने विस्तारपूर्वक निष्काम-कर्मयोगके विषयका अनेक प्रकारकी युक्तियोंसे वर्णन किया है। भक्ति और ज्ञानका विषय भी प्रसंगवश आ गया है, जैसे अ० ५ श्लोक १३ से २६ तक ज्ञान और अ० ४ श्लोक ६ से ११ तक भक्ति। शेष छठे अध्यायमें ध्यानयोगका प्रतिपादन किया गया है। दूसरे शब्दोंमें हम इसे मनके संयमका विषय कह सकते हैं। इसीलिये इसका नाम आत्मसंयमयोग रखा गया। अध्याय ७ से १२ तक तत्त्व और प्रभावके सहित भगवान्की भक्तिका रहस्य अनेक प्रकारकी युक्तियोंद्वारा समझाया गया है। इसीसे भक्तिके साथ भगवान्ने ज्ञान-विज्ञान आदि शब्दोंका प्रयोग किया है। इन छः अध्यायोंके षट्कको भक्तियोग या उपासना-काण्ड पद दिया जा सकता है। अध्याय १३ और १४में तो मुख्यतया ज्ञानयोगका ही प्रतिपादन किया गया है। १५ वें अध्यायमें भगवान्के रहस्य और प्रभावसहित भक्तियोगका वर्णन है। १६ वें अध्यायमें दैवी और आसुरी सम्पदावाले पुरुषोंके लक्षण अर्थात् श्रेष्ठ और नीच पुरुषोंके आचरणका उल्लेख किया गया है। इसके द्वारा मनुष्यको विधि-निषेधका बोध होता है, अतः इसे ज्ञानयोगप्रतिपादक किसी अंशमें मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है। १७ वें अध्यायमें श्रद्धाका तत्त्व समझानेके लिये प्रायः निष्काम कर्मयोग-बुद्धिसे यज्ञ, दान और तपादि कर्मोंका विभाग किया गया है, अतः इसे निष्काम-कर्मयोग-विषयका ही अध्याय समझना चाहिये। १८ वें में उपसंहार-रूपसे भगवान्ने सभी विषयोंका वर्णन किया है। जैसे श्लोक १ से १२ और ४१ से ४८ तक कर्मयोग, १३ से ४० और ४९ से ५५ तक ज्ञानयोग तथा ५६से ६६ तक कर्मसहित भक्तियोग।

गीतोपदेशका आरम्भ और पर्यवसान

गीताके मुख्य उपदेशका आरम्भ '**अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्**' आदि श्लोकसे हुआ है। इसीसे लोग इसे गीताका बीज कहते हैं, परन्तु '**कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः**' (२।७) आदि श्लोक भी बीज कहा गया है; क्योंकि अर्जुनके भगवत्-शरण होनेके कारण ही भगवान्द्वारा यह गीतोपनिषद् कहा गया। गीताका पर्यवसान—समाप्ति शरणागतिमें है। यथा—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८।६६)

'सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्यशरणको प्राप्त हो, मैं तुझको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

प्र०—भगवान् अर्जुनको क्या सिखलाना चाहते थे?

उ०—तत्त्व और प्रभावसहित भक्तिप्रधान कर्मयोग।

प्र०—गीतामें प्रधानतः धारण करनेयोग्य विषय कितने हैं?

उ०—भक्ति, कर्म, ध्यान और ज्ञानयोग। ये चारों विषय दोनों निष्ठाओं (सांख्य और कर्म) के अन्तर्गत हैं।

प्र०—गीताके अनुसार परमात्माको प्राप्त हुए सिद्ध पुरुषके प्रायः सम्पूर्ण लक्षणोंका, मालाकी मणियोंके सूत्रकी तरह, आधाररूप लक्षण क्या है?

उ०—'समता।'

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(गीता ५।१९)

जिनका मन समत्वभावमें स्थित है; उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया अर्थात् वे जीते हुए ही संसारसे मुक्त हैं, क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम हैं, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं।

मान-अपमान, सुख-दुःख, मित्र-शत्रु और ब्राह्मण-चाण्डाल आदिमें जिनकी समबुद्धि है, गीताकी दृष्टिसे वे ही ज्ञानी हैं।

प्र०—गीता क्या सिखलाती है?

उ०—आत्मतत्त्वका ज्ञान और ईश्वरकी भक्ति, स्वार्थका त्याग और धर्म-पालनके लिये प्राणोत्सर्ग! इन चारोंमेंसे जो एक गुणको भी जीवनमें क्रियात्मकरूप दे देता है—एकका भी सम्यक् पालन कर लेता है, वह स्वयं मुक्त और पवित्र होकर दूसरोंका कल्याण करनेमें समर्थ हो सकता है। जिनको परमात्म-दर्शनकी अतीव तीव्र उत्कण्ठा हो—जो यह चाहते हों कि हमें शीघ्र-से-शीघ्र परमात्माकी प्राप्ति हो, उन्हें धर्मके लिये अपने प्राणोंको हथेलीमें लिये रहना चाहिये। जो ईश्वरकी आज्ञा समझकर धर्मकी वेदीपर

प्राणोंको विसर्जन करता है वस्तुतः उसका प्राण-विसर्जन परमात्माके लिये ही है, अतः ईश्वरको भी तत्काल उसका कल्याण करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। जैसे गुरु गोविन्दसिंहके पुत्रोंने धर्मार्थ अपने प्राणोंकी आहुति देकर मुक्ति प्राप्त की, वैसे ही जो धर्म अर्थात् ईश्वरके लिये सर्वस्व होम देनेको सदा-सर्वदा प्रस्तुत रहता है उसके कल्याणमें सन्देह ही क्या है?

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः।' (गीता ३।३५)

आत्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर मनुष्य निर्भय हो जाता है, क्योंकि वह इस बातको अच्छी तरह समझ जाता है कि आत्माका कभी नाश होता ही नहीं।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(गीता २।२०)

जबतक मनुष्यके अन्तःकरणमें किसीका किंचित् भी भय है, तबतक समझ लेना चाहिये कि वह आत्मतत्त्वसे बहुत दूर है। जिनको ईश्वरकी शरणागतिके रहस्यका ज्ञान है, वही पुरुष धर्मके लिये—ईश्वरके लिये—हँसते-हँसते प्राणोंको होम सकता है। यही उसकी कसौटी है। वास्तवमें स्वार्थका त्याग भी यही है। भगवद्-वचनोंके महत्त्व और रहस्यको समझनेवाला व्यक्ति आवश्यकता पड़नेपर स्त्री, पुत्र और धनादिकी तो बात ही क्या, प्राणोत्सर्गतक कर देनेमें तिलभर भी पीछे नहीं रहता—सदा तैयार रहता है। जो व्यक्ति धर्म अर्थात् कर्तव्य-पालनका तत्त्व जान जाता है उसकी प्रत्येक क्रियामें मान-बड़ाई आदि बड़े-से-बड़े स्वार्थका आत्यन्तिक अभाव झलकता रहता है। ऐसे पुरुषोंका जीवन-धारण केवल भगवत्प्रीत्यर्थ अथवा लोकहितार्थ ही समझा जाता है।

प्र०—गीतामें सबसे बढ़कर श्लोक कौन-सा है?

उ०—सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
उ०—अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८।६६)

इस श्लोकमें कथित शरणके प्रकारकी व्याख्या श्रीमद्भगवद्गीताके अध्याय ९ श्लोक ३४ एवं अध्याय १८ श्लोक ६५ में भलीभाँति की गयी है।

प्र०—भगवान्ने अपने दिये हुए उपदेशोंमें गुह्यतम उपदेश किसको बतलाया है?

उ०—'**मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।**' '**सर्वधर्मान्परित्यज्य**' आदिको (१८।६५-६६)।

प्र०—गीता सुनानेमें भगवान्का लक्ष्य क्या था?

उ०—अर्जुनको पूर्णतया अपनी शरणमें लाना।

प्र०—इसकी पूर्ति कहाँ होती है?

उ०—अध्याय १८ श्लोक ७३में—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

'हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है, मुझे स्मृति प्राप्त हुई है, इसलिये मैं संशयरहित हुआ स्थित हूँ और आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।'

तेरह आवश्यक बातें

(१) प्रत्येक यज्ञोपवीतधारी द्विजको कम-से-कम दोनों कालकी सन्ध्या ठीक समयपर करनी चाहिये, समयपर की हुई सन्ध्या बहुत ही लाभदायक होती है। स्मरण रखना चाहिये कि समयपर बोये हुए बीज ही उत्तम फलदायक हुआ करते हैं। ठीक कालपर सन्ध्या करनेवाले पुरुषके धर्म-तेजकी वृद्धि महर्षि जरत्कारुके समान हो सकती है।

(२) वेद और शास्त्रमें गायत्री-मन्त्रके समान अन्य किसी भी मन्त्रका महत्त्व नहीं बतलाया गया, अतएव शुद्ध होकर पवित्र स्थानमें अवकाशके अनुसार अधिक-से-अधिक गायत्री मन्त्रका जप करना चाहिये। कम-से-कम प्रातः और सायं १०८ मन्त्रोंकी एक-एक मालाका जप तो अवश्य ही करना चाहिये।

(३) **हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।**
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस षोडश नामके मन्त्रका जप सभी जातियोंके स्त्री-पुरुष सब समय कर सकते हैं। यह बहुत ही उपयोगी मन्त्र है। कलि-सन्तरण-उपनिषद्में इस मन्त्रका बहुत माहात्म्य बतलाया गया है।

(४) श्रीमद्भगवद्गीताका पठन और अध्ययन सबको करना चाहिये। बिना अर्थ समझे हुए भी गीताका पाठ बहुत लाभकारी है, परन्तु वास्तवमें बिना मतलब समझकर किये हुए अठारह अध्यायके मूल पाठकी अपेक्षा एक अध्यायका भी अर्थ समझकर पाठ करना श्रेष्ठ है; इसलिये प्रत्येक मनुष्यको यथासाध्य गीताके एक अध्यायका अर्थसहित पाठ तो अवश्य ही करना चाहिये।

(५) प्रत्येक मनुष्यको अपने घरमें अपने भावनानुसार भगवान्की मूर्ति रखकर प्रेमके साथ प्रतिदिन उसकी पूजा करनी चाहिये। इससे भगवान्में श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धि होती है, शुभ संस्कारोंका संचय होता है और समयका सदुपयोग होता है।

(६) मनुष्यको प्रतिदिन (गीता अध्याय ६ श्लोक १०से १३ के अनुसार) एकान्तमें बैठकर कम-से-कम एक घण्टे अपनी रुचिके अनुसार साकार या निराकार भगवान्‌का ध्यान करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इससे पाप और विक्षेपोंका समूल नाश होता है और कल्याण-मार्गमें बहुत उन्नति होती है।

(७) प्रत्येक गृहस्थको प्रतिदिन बलिवैश्वदेव करके भोजन करना चाहिये, क्योंकि गृहस्थाश्रममें नित्य होनेवाले पापोंके नाशके लिये जिन पंच महायज्ञोंका विधान है वे इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

(८) मनुष्यको सब समय भगवान्‌के नाम और स्वरूपका स्मरण करते हुए ही अपने धर्मके अनुसार शरीर-निर्वाह और अन्य प्रकारकी चेष्टा करनी चाहिये (गीता ८। ७)।

(९) परमात्मा सारे विश्वमें व्याप्त है, इसलिये सबकी सेवा ही परमात्माकी सेवा है; अतएव मनुष्यको परम सिद्धिकी प्राप्तिके लिये सम्पूर्ण जीवोंको उन्हें ईश्वररूप समझकर अपने न्याययुक्त कर्तव्य-कर्मद्वारा सुख पहुँचानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये (गीता १८। ४६)।

(१०) अपने द्वारपर आये हुए याचकको कुछ देनेकी शक्ति या किसी कारणवश इच्छा न होनेपर भी उसके साथ विनय, सत्कार और प्रेमका बर्ताव करना चाहिये।

(११) सम्पूर्ण जीव परमात्माका अंश होनेके कारण परमात्माके ही स्वरूप हैं, अतएव निन्दा, घृणा, द्वेष और हिंसाको त्यागकर सबके साथ निःस्वार्थभावसे विशुद्ध प्रेम बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

(१२) धर्म और ईश्वरमें श्रद्धा तथा प्रेम रखनेवाले स्वार्थ-त्यागी, सदाचारी सत्पुरुषोंका संग कर उनकी आज्ञा तथा अनुकूलताके अनुसार आचरण करते हुए संगका विशेष लाभ उठाना चाहिये।

(१३) भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और धर्मकी वृद्धिके लिये श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रोंके पठन-पाठन और श्रवण-मननके द्वारा उनका तत्त्व समझकर अपनी आत्माको उन्नत बनाना चाहिये।

मनन करनेयोग्य

विशेष महत्त्वका भजन वह है जिनमें ये छः बातें होती हैं—

१—जिस मन्त्र या नामका जप हो उसके अर्थको भी समझते जाना।

२—भजनसे मनमें किसी प्रकारकी भी लौकिक-पारलौकिक कामना न रखना।

३—मन्त्र-जपके या भजनके समय बार-बार शरीरका पुलकित होना, मनमें आनन्दका उत्पन्न होना। आनन्द न हो तो आनन्दका संकल्प या भावना करनी चाहिये।

४—यथासाध्य भजन निरन्तर करना।

५—भजनमें श्रद्धा रखना और उसे सत्कारबुद्धिसे करना।

६—जहाँतक हो भजनको गुप्त रखना।

ध्यानके सम्बन्धमें—

१—एकान्त स्थानमें अकेले ध्यान करते समय मन अपने ध्येयमें प्रसन्नताके साथ अधिक-से-अधिक समयतक स्वाभाविक ही तल्लीन रहे; तभी ध्यान अच्छा होता है। इस प्रकारकी स्थितिके लिये अभ्यासकी आवश्यकता है। अभ्यासमें निम्नलिखित साधनोंसे सहायता मिल सकती है—

क—श्वासद्वारा जप।

ख—अर्थसहित जप।

ग—भगवान्‌के प्रेम, ज्ञान, भक्ति और वैराग्य-सम्बन्धी बातें पढ़नी-सुननी।

२—एकान्तमें ध्यानके समय किसी भी सांसारिक विषयकी ओर मनको नहीं जाने देना चाहिये। उस समय तो एकमात्र ध्येयका ही लक्ष्य रखना चाहिये। दूसरी बड़ी-से-बड़ी बातका भी मनसे तिरस्कार कर देना लाभदायक है।

३—सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघनमें स्थित होकर ज्ञान-नेत्रोंद्वारा ऐसे देखना चाहिये मानो सब कुछ मेरे ही संकल्पके आधारपर स्थित है। संकल्प करनेसे ही सबकी उत्पत्ति है और संकल्पके अभावसे ही अभाव है। यों समझकर फिर संकल्प भी छोड़ देना चाहिये। संकल्पत्यागके बाद जो कुछ बच रहता है वही अमृत है, वही सत्य है, वही आनन्दघन है। इस प्रकार अचिन्त्यके ध्यानका तीव्र अभ्यास एकान्तमें करना चाहिये।

साधकोंके लिये आवश्यक बातें—

१—रुपयोंकी कामनासे संसारका काम करनेपर मन संसारमें रम जाता है। इसलिये संसारके काम बड़ी ही सावधानीसे केवल भगवत्-प्राप्तिके उद्देश्यसे करने चाहिये।

२—संसारके पदार्थों और सांसारिक विषयी मनुष्योंका संग जहाँतक हो कम करना चाहिये। सांसारिक विषयोंकी बातें भी यथासाध्य कम ही करनी चाहिये।

३—किसी दूसरेके दोष नहीं देखने चाहिये, स्वभाववश दीख जायँ तो बिना पूछे बतलाने नहीं चाहिये।

४—सबमें निष्काम और समभावसे प्रेम रखनेका अभ्यास करना चाहिये।

५—निरन्तर नाम-जपके अभ्यासको कभी छोड़ना नहीं चाहिये। उसमें जिस कार्यसे बाधा आती हो, उसे ही छोड़ देना उचित है। परम हर्ष और प्रेमसे नित्य-निरन्तर भजन होता रहे तो फिर भगवद्दर्शनकी भी आवश्यकता नहीं है। भजनका प्रेम ऐसा बढ़ जाना चाहिये कि जिसमें शरीरका भी ज्ञान न रहे। भगवान् स्वयं पधारकर चेत करावें तो भी सुतीक्ष्णकी भाँति प्रेम-समाधि न टूटे।

६—इन सब साधनोंकी शीघ्र सिद्धिके लिये इन्द्रियोंका संयम करके तत्परतासे अभ्यास करना चाहिये। इसके लिये किसी बातकी भी परवा न करनी चाहिये। शरीरकी भी नहीं।

७—शरीरमें अहंकार होनेसे ही शरीरके निर्वाहकी चिन्ता होती है। अतएव यथासाध्य शरीररूपी जेलमें जान-बूझकर कभी प्रवेश नहीं करना चाहिये।

सार बातें

'सत्संगकी बातें सुननेसे जो असर होता है वह पाँच मिनटके कुसंगसे कम हो जाता है, क्योंकि कुसंग पाते ही पूर्वके कुविचार जग उठते हैं, इसलिये कुसंगका सर्वथा त्याग करे।'

'बुरे कर्म करनेवालोंकी दुर्गति होनेमें तो आश्चर्य ही क्या है, बुरे कर्म करनेवालोंका जो चिन्तन करते हैं, उनकी भी हानि होती है। व्यभिचारीको याद करनेसे कामकी जागृति होती है।'

'भगवान्‌का भजन गुप्तरूपसे करना चाहिये, नहीं तो कपूरकी भाँति मान-बड़ाईमें उड़ जाता है।'

'स्वार्थको छोड़कर दूसरेके हितके लिये चेष्टा करनी, यही उसे प्रेममें बाँधनेका उपाय है।'

'दूसरेको सुख पहुँचाना ही उसे अपना बना लेना है। अपना तन, मन, धन जो कुछ दूसरेके काममें लग जाय वही सार्थक है, बाकी तो सब व्यर्थ जाता है। जो इस बातको ध्यानमें रखकर चलता है उसे कभी पछताना नहीं पड़ता।'

'भगवान्‌को बुलाना हो तो अनन्य प्रेम करना चाहिये। प्यारे मनमोहनकी माधुरी मूर्तिको मनसे कभी न भुलावे। आर्तभावसे भगवान्‌के लिये रोवे। भगवान् अपने प्रेमी भक्तके साथ रहते हैं। तुम अनन्य प्रेम करोगे तो तुम्हें भगवत्‌की प्राप्ति अवश्य हो जायगी।'

'चाहे सारी दुनियासे नाता टूट जाय और प्राण अभी चले जायँ, परन्तु भगवान्‌के प्रेममें किंचित् भी कलंक नहीं लगने देना चाहिये।'

'जैसे विषनाशिनी विद्या जाने बिना सर्पको पकड़ रखनेसे वह काट लेता है, फिर विष चढ़ जानेसे मनुष्यकी मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य विषयोंको पकड़कर अन्तमें उनमें मतवाला होकर मृत्युको प्राप्त हो जाता है।'

'ज्ञानी पुरुषोंकी वाणीसे निकली हुई ज्ञानरूपी चिनगारियाँ जिसके कानोंद्वारा अन्तःकरणतक पहुँच जाती हैं, उसके सारे पाप जलकर भस्म हो जाते हैं।'

'काम, क्रोध तभीतक रहते हैं जबतक अज्ञान है। अज्ञानरूप कारणका नाश हो जानेपर कामादि कार्य नहीं रह सकते।'

'भगवान्‌का भजन अमृतसे भी बढ़कर है, यह बात कहनेसे समझमें नहीं आ सकती। जिनका भजनमें प्रेम होता है, वे इस बातका अनुभव करते हैं।'

'जिस मनुष्यकी भगवान् या किसी महात्मामें पूर्ण श्रद्धा हो जाती है वह तो उनके परायण ही हो जाता है। परायणतामें जितनी कमी है, उतनी ही कमी विश्वासमें भी समझनी चाहिये।'

'महापुरुषोंद्वारा किये गये उत्तम बर्तावको भगवान्‌का बर्ताव ही समझना चाहिये। क्योंकि महापुरुषके अन्दरसे भगवान् ही सब कुछ करते-कराते हैं।'

'एक श्रीसच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सब जगह परिपूर्ण है। जैसे समुद्र सब ओरसे जलसे व्याप्त है, उसी प्रकार यह संसार परमात्मासे व्याप्त है।'

'भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंद्वारा भगवान्‌के प्रभाव और प्रेमरहस्यकी बातें सुननी चाहिये और उन्हींके अनुसार साधन करना चाहिये। ऐसा करनेसे उद्धारमें कोई शंका नहीं।'

'समय बीत रहा है, बहुत सोच-समझकर इसे कीमती काममें लगाना चाहिये। वह कीमती काम भगवान्‌का भजन और सन्तोंका संग ही है।'

'भगवान्‌को सर्वोत्तम समझनेके बाद एक क्षणके लिये भी भगवान्‌का ध्यान नहीं छूट सकता। जबतक भगवान्‌के ध्यानका आनन्द-रस नहीं मिलता, तभीतक वह संसारके विषयोंकी धूल चाटता है।'

'जो मनुष्य संसारके क्षणभंगुर नाशवान् पदार्थोंको सच्चे और सुखदायी समझकर उनका चिन्तन करता है, उनसे प्रेम करता है और अज्ञानसे उनमें अपना जीवन लगाता है वह महामूर्ख है।'

'श्रीनारायणदेवके समान अपना परम सुहृद्, दयालु, निःस्वार्थ प्रेमी और कोई भी नहीं है, इतना होनेपर भी अज्ञानी जीव उन्हें भुलाकर क्षणविनाशी विषय-भोगोंमें लग

रहा है, अपने अमूल्य जीवनको धूलमें मिला रहा है। अज्ञानकी यही महिमा है।'

'मान, बड़ाई, स्वाद, शौकीनी, सुख-भोग, आलस्य-प्रमाद सबको छोड़कर श्रीपरमात्माके शरण होना चाहिये। भगवान्‌की शरणागति बिना कल्याण होना कठिन है।'

'भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन, भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें सन्तुष्ट रहना, भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना और निष्कामभाव रखना—यही भगवान्‌की शरणागति है।'

'ध्यानके लिये वैराग्य और उपरामता ही मुख्य साधन है। आनन्दकी नदी बह रही है। मायाका बाँध तोड़ डालो, फिर तुम्हारा अन्त:करणरूपी खेत आप ही आनन्दसे भर जायगा, तुम आनन्दस्वरूप हो जाओगे।'

'मनुष्यको अपने दोषोंपर विचार करना चाहिये। दोषोंपर ध्यान देनेसे उनके नाशके लिये आप ही चेष्टा हो सकती है।'

'जहाँ मन जाय, वहाँ या तो परमेश्वरका चिन्तन करना चाहिये या उसे वहाँसे हटाकर पुन: जोरसे भगवान्‌में लगाना चाहिये। नाम-जप करते रहनेसे मन लगानेमें बहुत सहायता मिलती है।'

'निष्काम-भावसे जीवोंकी सेवा करनेसे और किसीकी भी आत्माको कष्ट न पहुँचानेसे भगवान्‌में प्रेम हो सकता है।'

'जो मनुष्य भगवान्‌की नित्य समान दयाका प्रभाव जान लेता है, वह भगवत्-भजनके सिवा अन्य कुछ भी नहीं कर सकता।'

'विषयोंमें फँसे हुए मनुष्योंको प्रेमपूर्वक सत्संगमें लगाना चाहिये। जीवोंको श्रीनारायणके शरण करनेके समान उनकी दूसरी कोई भी सेवा नहीं है; यह सेवा सच्चे प्रेमियोंको अवश्य ही करनी चाहिये।'

'मनसे निरन्तर श्रीभगवान्‌का ध्यान करना और उन्हें प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा करनी चाहिये। वाणीसे श्रीभगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन सदा-सर्वदा करना चाहिये। शरीरसे प्राणिमात्रको भगवान्‌का स्वरूप समझकर निष्काम-भावसे उनकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिये।'

'मन बड़ा ही पाजी और हरामी है। इससे दबना नहीं चाहिये। संसारके आरामोंसे हटाकर इसे बहुत जोरसे श्रीहरिके भजन-ध्यानमें लगाना चाहिये।'

'संसारके अनित्य पदार्थोंमें प्रेम करके अमूल्य जीवनको व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये। सच्चे दयालु और परम धन परमात्माके साथ प्रेम करना चाहिये और उनकी शरण होकर उनकी दयालुता और प्रेमका आनन्द लूटना चाहिये।'

'श्रीभगवान्‌में अनन्य प्रेम होना चाहिये, निरन्तर विशुद्ध प्रेमसे उनका स्मरण होना चाहिये। दर्शन न हो तो कोई परवा नहीं, प्रेमको छोड़कर दर्शनोंकी अभिलाषा भी नहीं करनी चाहिये। सच्चे प्रेमी भक्त दर्शनके भूखे नहीं होते, प्रेमके पिपासु होते हैं। प्रेमके सामने मुक्ति भी कोई वस्तु नहीं है।'

'प्रभुके मिलनेमें इसीलिये विलम्ब होता है कि साधक भक्त उस विलम्बको सह रहा है, जिस क्षण उसके लिये प्रभुका वियोग असह्य हो जायगा, प्रभु बिना उसके प्राण निकलने लगेंगे, उसी क्षण भगवान्‌का मिलन होगा। जबतक भगवान्‌के बिना उसका काम चल रहा है, तबतक भगवान् भी देखते हैं कि इसका मेरे बिना काम तो चल ही रहा है फिर मुझे ही इतनी क्या जल्दी है?'

'जो मायाके वशमें है, माया उन्हींके लिये प्रबल है। परमात्मा और उसके प्रभावको जाननेवाले भक्तोंके सामने मायाकी शक्ति कुछ भी नहीं है। यदि मनुष्य परमात्माके शरण होकर उसके रहस्य और स्वरूपको जान ले तो मायाकी शक्ति कुछ भी नहीं रह जाती। जीव परमात्माका सनातन अंश है, अपनी शक्तिको भूल रहा है, इसीसे उसे माया प्रबल प्रतीत होती है, यदि भगवत्कृपासे अपनी शक्तिको जाग्रत् कर ले तो मायाकी शक्ति सहज ही परास्त हो जाय।'

'गुणातीतकी वास्तविक स्थितिको दूसरा कोई भी नहीं जान सकता। वह स्वसंवेद्य अवस्था है। परन्तु जो अपनेमें ज्ञानीके लक्षण हैं कि नहीं, इस बातकी परीक्षा करता है, उसे ज्ञानी नहीं समझना चाहिये। क्योंकि लक्षणोंके खोजनेसे उसकी स्थिति शरीरमें सिद्ध होती है। ज्ञानीकी सत्ता ब्रह्मसे भिन्न है नहीं, फिर खोजनेवाला कौन?'

'जो द्रव्य परोपकार यानी लोक-सेवामें खर्च किया जाता है, वह इस लोक और परलोकमें सुख देनेवाला होता है। यदि निष्काम-भावसे खर्च किया जाय तो वही मुक्तिदायक बन जाता है, यह बात युक्ति और शास्त्र दोनों ही प्रमाणोंसे सिद्ध है।'

'श्रीभगवान्‌के नाम-जपसे मनकी स्फुरणाएँ रुकती हैं, पापोंका नाश होता है, मनुष्य गिरनेसे बचता है, उसे शान्ति मिलती है। नाम-जप ईश्वर-प्राप्तिमें सर्वश्रेष्ठ साधन है। यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि कुछ भी न बन सके तो केवल नाम-जपसे ही भगवान्‌की स्मृति रह सकती है। नाम-महिमा सर्व शास्त्रसम्मत है और युक्ति तथा अनुभवसे सिद्ध है, इसीलिये निरन्तर निष्कामभावसे नाम-जपकी चेष्टा करनी चाहिये।'

तत्त्वचिन्तामणि भाग—३

धर्मसे लाभ और अधर्मसे हानि

युगके प्रभाव और जड़ भोगमयी सभ्यताके विस्तारसे आज जगत्‌में धर्मके सम्बन्धमें बड़ी ही कुरुचि हो रही है। जहाँ प्राणोंको न्योछावर करके भी धर्मका पालन कर्तव्य समझा जाता था, वहाँ आज धर्मको ही प्राणविघातक शत्रु मानकर उसके विनाशकी चेष्टा हो रही है। धर्म क्या वस्तु है? इसको जाननेका प्रयास कुछ भी न कर आज उलटे धर्मका नाम-निशान मिटानेमें ही बहादुरी समझी जाती है और आवेशमें आये हुए धर्मज्ञानशून्य मनुष्य उच्छृंखलतारूप स्वतन्त्रताके उन्मादसे ग्रस्त होकर ईश्वर और धर्मका अस्तित्व नाश करनेपर तुले हुए हैं और डंकेकी चोट ईश्वर और धर्मको अपराधी ठहराकर पुकार रहे हैं कि 'इस धर्म और ईश्वरने ही जगत्‌का सत्यानाश कर दिया। धर्म और ईश्वरके कारण ही संसारमें गरीबों और दुर्बलोंपर अत्याचार हुए और हो रहे हैं। धर्म और ईश्वरकी गुलामीने मनुष्यको गुलाम बननेका आदी बना दिया और इस धर्म और ईश्वरकी मान्यतासे ही भोले-भाले लोग लूटे गये और लूटे जा रहे हैं।'

इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वार्थी, कामभोगलोलुप, दाम्भिक, पाखण्डी लोगोंने कामिनी, कांचन और मान-बड़ाईकी कामनासे काम, क्रोध और लोभके वश होकर धर्मके नामपर अनाचार किये और कर रहे हैं। यह भी सत्य है कि ईश्वरके पूजक कहलानेवाले पुजारी और याजकोंमें भी अनेकों पाखण्डी दुराचारियोंने लोगोंके ठगनेके लिये नये-नये स्वाँग बनाये और आज भी ऐसे लोगोंकी कमी नहीं है। मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और धनके मदमें अन्धे हुए स्वार्थपरायण, धर्मज्ञानरहित, विषयलोलुप मनुष्य अवश्य ही बेचारे गरीब, दुःखी किसान मजदूर ग्रामीण भोले-भाले लोगोंसे पशुओंकी भाँति काम लेते हैं, उनपर अत्याचार करते हैं, और उनका हक मारते हैं; परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह धर्म और ईश्वरका दोष है या इसलिये धर्म और ईश्वरको नहीं मानना चाहिये। बल्कि यों कहना चाहिये कि लोगोंमें धर्मबुद्धि और ईश्वरमें आस्था न रहनेसे ही यह पाखण्ड और अनाचार फैला। यदि वास्तवमें लोगोंकी धर्ममें प्रवृत्ति और सर्वव्यापी, सर्वदर्शी, न्यायकारी, दयालु ईश्वरकी सत्तामें विश्वास होता तो इस प्रकारका अनाचार कदापि नहीं फैलता। अनाचार, अत्याचार, पाखण्ड और गरीबोंके उत्पीड़नमें यह धर्मका ह्रास ही प्रधान कारण है।

आज तीर्थोंमें जो काम और लोभके वशमें हुए कुछ दाम्भिक पुरुष किसी प्रकारसे प्रविष्ट होकर श्रद्धावान् यात्रियोंकी श्रद्धासे अनुचित लाभ उठा रहे हैं, अथवा आज जो कामभोगपरायण नीच वृत्तिके मनुष्य भक्तिके उत्तम चिह्नोंको धारणकर धन और स्त्रियोंके सतीत्वका हरण कर रहे हैं, वे अवश्य ही महान् अपराधी हैं। धर्मके स्थानोंको दूषित करनेवाले, काम और लोभवश जनताको ठगनेवाले, अपने कुकर्मों और दुराचारोंसे धर्मात्मा, साधु-संत और भक्तोंके नामपर कलंक लगानेवाले इन नरपिशाचोंकी जितनी निन्दा की जाय थोड़ी है; परन्तु ईश्वर और धर्मकी सत्तामें श्रद्धा न रखकर धर्मका ढोंग करनेवाले इन स्वार्थी, दम्भी और पाखण्डियोंको धर्मात्मा, भक्त या ईश्वरवादी बतलाकर, इनका उदाहरण पेशकर अविवेकवश तीर्थ, मन्दिर, धर्म या ईश्वरकी निन्दा करना—धर्म और ईश्वरपर अश्रद्धा पैदा करनेकी चेष्टा करना एक प्रकारसे धर्मपर अत्याचार करना और जान-बूझकर घोर अपराध करना है। जगत्‌में न्यूनाधिकरूपमें दम्भी, पाखण्डी मनुष्य सदा ही रहे हैं और इस घोर कलिकालमें तो उनकी संख्या बढ़ी हुई है ही। जहाँ जिस वेषके धारण करने और जिस प्रकारका काम करनेसे उनका स्वार्थसाधन होता है, वे तुरंत दम्भपूर्वक उसी वेषको धारणकर वैसा ही कर्म अपना नीच मनोरथ सिद्ध करनेके लिये करने लगते हैं। पिछले दिनों जब खादीका बहुत अधिक आदर था तब यह देखा गया था कि कितने ही मनुष्य स्वार्थसाधनके लिये ही खादीमें श्रद्धा न रहनेपर भी खादी पहनने लगे थे। परन्तु इससे खादी बदनाम नहीं की जा सकती। आज भी यदि सच्चे देशसेवकोंमें कोई देशद्रोही मिल जाय और देशसेवकका बाना पहनकर देशका अहित करने लगे तो इससे न तो देशसेवा बुरी बात ठहरती है और न सच्चे देशसेवकोंपर ही न्यायतः कोई अभियोग लग सकता है। यही न्याय धर्मके लिये भी लागू है। परन्तु आज तो मानो धर्म और ईश्वरसे लोगोंका कुछ द्वेष-सा हो गया है। न्यायान्यायका विचार छोड़कर किसी भी बहाने धर्मकी और ईश्वरकी व्यर्थ निन्दा करना ही कुछ लोगोंने अपना कर्तव्य-सा मान लिया है।

खेदकी बात है कि धर्मप्राण भारतकी आर्य जातिमें उत्पन्न पुरुषोंमें भी आज ऐसे लोग हो गये हैं; इसका एक बड़ा कारण है भोगमयी पाश्चात्य संस्कृतिसे प्रभावान्वित आजकलकी दूषित धर्महीन शिक्षा। बचपनसे लड़कोंको ऐसी शिक्षा दी जाती है जिसमें धर्मका ज्ञान तो होता ही नहीं वरं उलटी धीरे-धीरे धर्ममें अरुचि बढ़ने लगती है। यही कारण है कि जिनके पिता-पितामह संस्कृतके बहुत सच्चे विद्वान्, धर्मके ज्ञाता और धर्मपथपर दृढ़तासे आरूढ़ थे, आज उन्हींके पुत्र-पौत्रोंको यह भी पता नहीं है कि ऋषिसेवित सनातनधर्म किसे कहते हैं? अधिकांशमें ऐसे ही लोग धर्म और ईश्वरके विरोधी बनते हैं। जैसे आज जंगलोंमें रहनेवाली पहाड़ी जातियोंमें धर्मका ज्ञान नहीं रहा, प्राय: इसी प्रकारकी स्थिति अधिकांश पाश्चात्य शिक्षा पाये हुए लोगोंकी है। एक विशेषता और भी है। पहाड़ी जातिके भोले-भाले भाइयोंको समझा-बुझाकर धर्मके मार्गपर लाना सहज है; परन्तु जिन भाइयोंको विद्या, बुद्धि और नवीन संस्कृतिका अभिमान है और जो इसीको उन्नति मान बैठे हैं उनका धर्मपथपर आना बहुत ही कठिन है। ईश्वरकी दयाके सामने तो कुछ भी कठिन नहीं है; ईश्वर सर्वशक्तिमान् हैं, वे जो चाहें, सो कर सकते हैं। कुछ समय पूर्व भारतवर्षमें कोई भी भाई इस प्रकार धर्म और ईश्वरके विरुद्ध खुले आम कुछ भी कहनेका साहस नहीं करता था, जैसा कि आजकल लोग पत्रों और सभाओंमें अनर्गल वाणीमें ईश्वर और धर्मका नाम मिटानेके उद्देश्यसे धर्म और ईश्वरपर गंदे-से-गंदा आक्षेप करते हैं। उन ईश्वरके और धर्मके विरोधी भाइयोंसे मेरा नम्र निवेदन है कि आपलोग आवेशमें न आकर गम्भीर विचार करें। उन्नति और उद्धारके नामपर ईश्वर और धर्मके विरुद्ध आन्दोलन कर इस पवित्र आर्यभूमिको महान् संकटमें डालनेका प्रयत्न न करें। प्राचीन कालके धर्मप्रचारक और धर्मसेवी महर्षियोंके त्यागपूर्ण जीवनकी ओर ध्यान दें। वे कितने बड़े त्यागी और विरक्त थे। धर्मके लिये उन्होंने कैसे-कैसे संकट सहे थे। देश और धर्मकी रक्षाके लिये उन्होंने किस प्रकार अपने जीवन अर्पण कर रखे थे। वृत्रासुरके उपद्रवसे दुनियाको बचानेके लिये महर्षि दधीचिने शरीरका मांस गायोंको चटवाकर अपनी अस्थियाँतक दे दी थीं। ऐसे बहुत-से उदाहरण प्राचीन इतिहासोंमें मिलेंगे। आपलोग विचार कीजिये कि धर्मका ह्रास होनेपर देश और जातिकी क्या दशा होगी। ईश्वरका आश्रय और धर्ममें प्रवृत्ति—यही दो ऐसी चीजें हैं, जिनसे हम दु:खोंसे छूटकर परम सुखके अधिकारी हो सकते हैं। ईश्वरमें अविश्वास और धर्मका लोप होनेपर हमारा जीवन पशुओंसे भी अधिक खराब हो जायगा।

ईश्वरकी सत्ता न मानने और धर्मका विरोध करनेसे अधर्मकी वृद्धि होगी। अधर्मके विस्तारसे संसार नष्ट-भ्रष्ट होने लगेगा। आचारकी मर्यादा नष्ट हो जायगी। परधन, पर-स्त्रीका विचार उठ जायगा। आगे चलकर अधर्मीलोग बहिनों और कन्याओंके साथ व्यभिचाररूपी घोर पाप करने लगेंगे। इस बातका संकेत अभीसे लोगोंके लेखोंमें होने लगा है। यह इतना बड़ा पाप है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने इसको महान् घृणित कार्य बतलाकर ऐसा करनेवाले नीच मनुष्योंको मार डालनेतककी प्रेरणा की है—

अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधें कछु पाप न होई॥

जब धर्मकी मर्यादा नहीं रहेगी, पशुधर्म फैल जायगा तब ऐसे घोर पाशविक कर्मसे कौन किसे रोकेगा? माता-पिता, गुरुजनोंकी सेवा तो दूर रही, उनकी अवहेलना और अपमान होने लगेगा। जिसके मनमें जो बात अच्छी लगेगी, उसीको सिद्धान्त बतलाया जायगा। जिसका फल इस लोक और परलोकमें कहीं भी लाभप्रद नहीं होगा। श्रीभगवान्ने कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता १६।२३)

'जो पुरुष शास्त्रकी विधिको त्यागकर अपनी इच्छासे बरतता है, वह न तो सिद्धिको प्राप्त होता है, न परम गतिको और न सुखको ही प्राप्त होता है।'

ईश्वर और धर्मका शासन न रहनेके कारण अधर्मीलोग अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये पाखण्ड रचकर दुनियाको धोखा देंगे। बलवान् और अधिकारसम्पन्न लोग क्रोध और मोहके वश हो दुर्बलों और गरीबोंपर वैसे ही अत्याचार करेंगे जैसे वनके बलवान् पशु निर्बल, निरपराधी पशुओंको दु:ख देते हैं। नृशंसता बढ़ते-बढ़ते घोर राक्षसीपन आ जायगा और निरपराध पशु-पक्षियोंकी तो बात ही क्या, स्वार्थवश हुए मनुष्य ही मनुष्यको खाने लगेंगे। मान, मोह और मदमें भूले हुए अधर्मीलोग स्वार्थसिद्धिके लिये मनमाना आचरण करेंगे। बलवान्, धनी और शिक्षित कहलानेवाले मनुष्य ही ईश्वर, महात्मा, योगी समझे जायँगे। ऐसी अवस्थामें जगत् दु:खमय हो जायगा। अधर्मके कारण ही आज पुण्यभूमि भारतवर्ष पराधीन, दीन, दु:खी हो रहा है। अधर्मकी वृद्धिका ही यह परिणाम है जो आज भारतवर्षमें नित नयी महामारियाँ बढ़ रही हैं, मनुष्योंकी आयु कम हो गयी है, पशुधन नष्ट हो रहा है। भूकम्प और बाढ़ आदि दैवी प्रकोपोंसे प्राणी दु:खी हो रहे हैं और

अन्न-वस्त्रके बिना प्राण-त्याग कर रहे हैं। फिर अधर्मकी विशेष वृद्धि होनेपर तो दुःख और भी बढ़ जायँगे। अधर्मका फल निश्चय ही दुःख है। परन्तु धर्मका फल दुःख कदापि नहीं हो सकता। संसारका इतिहास देखनेसे पता लगता है कि सच्चे धर्मकी ही सदा जय हुई। क्योंकि जहाँ धर्म होता है वहीं ईश्वरकी सहायता मिलती है। महाभारतमें गुरु द्रोणाचार्य धर्मराज युधिष्ठिरको विजयका आश्वासन देते हुए कहते हैं—

यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः।

(भीष्मपर्व)

'जहाँ धर्म है, वहीं ईश्वर (कृष्ण) हैं और जहाँ ईश्वर हैं, वहीं जय है।'

अधर्म करनेवाले सब प्रकारसे धन, जन, शक्ति और सत्तासे सम्पन्न बड़े-से-बड़े बलवान् लोग भी धर्मात्माओंद्वारा मारे गये हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि असुर विपुल धन-जनसे सम्पन्न थे, उनके पास युद्धके असाधारण उपकरण मौजूद थे। किन्तु पापके कारण वे भगवान्‌की दयासे युक्त साधारण वानरोंद्वारा ही परास्त किये गये। यह बात न्याययुक्त और सिद्ध है कि जो मनुष्य दुःखी, अनाथ और निर्बलोंपर अत्याचार करता है वह अपनी उस अत्याचारमयी अनीतिके द्वारा स्वयं ही मारा जाता है। उसीका पाप उसे खा जाता है। पापका परिणाम अवश्य ही भोगना पड़ेगा; किसी कारणवश कुछ विलम्ब भले ही हो जाय। दीर्घकालके बाद मिलनेवाले फलको दीर्घदृष्टि न होनेके कारण हम प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। इसीसे हमें भ्रम हो जाता है कि पापीलोग फलते-फूलते हैं और संसारमें पापका फल नहीं मिलता। इसीसे लोग धर्मकी अवहेलनाकर अधर्ममें प्रवृत्त होते हैं। पर यह सोचना चाहिये कि सभी कुपथ्योंका फल तत्काल नहीं होता। किसीका जल्दी होता है तो किसीका बीसों वर्ष बाद फल सामने आता है। निपुण वैद्य-डॉक्टरोंको भी पता नहीं लगता कि वह किसका परिणाम है। परन्तु है वह अवश्य ही किसी समय किये हुए किसी पाप या कुपथ्यका परिणाम। कोई बीज जमीनमें तुरंत अंकुरित होता है, कोई महीनों बाद होता है। किसी पेड़में हाथोंहाथ फल लगने लगते हैं तो कोई पेड़ बीसों सालके बाद फल देता है। यह निश्चय रखना चाहिये कि बीजके अनुसार फल अवश्य होगा। इसी प्रकार हमारे किये हुए कर्मोंका फल भी निस्संदेह हमें भोगना पड़ेगा। अतएव अधर्मसे सदा बचना चाहिये और धर्मपालनमें तत्पर होना चाहिये।

धर्मके आचरणसे मनुष्यमें समता, शान्ति, दया, सन्तोष, सरलता, साहस, निर्भयता, वीरता, धीरता, गम्भीरता, क्षमा आदि गुणोंका स्वाभाविक ही विकास होता है। धर्मरूपी तपके आचरणसे अग्निसे ईंधनकी भाँति सारे पाप और अवगुण जल जाते हैं और विषयोंसे विरक्ति तथा ईश्वरके तत्त्वका ज्ञान हो जाता है, जिससे समस्त सद्गुण उसमें अपने-आप ही प्रकट हो जाते हैं। ऐसा धर्मात्मा पुरुष किसी भी प्राणीको किंचिन्मात्र भी दुःख नहीं पहुँचा सकता। वह सबमें ईश्वरका या अपने आत्माका दर्शन करता है। सर्वत्र ईश्वर अथवा आत्माका दर्शन करनेवाला पुरुष कैसे किसीको दुःख दे सकता है। जैसे अज्ञानी पुरुष अपने स्वार्थमें रत रहता है, वैसे ही ऐसा धर्मात्मा पुरुष चींटीसे लेकर इन्द्रपर्यन्त समस्त जीवोंके हितमें रत रहता है। इसीके परिणामस्वरूप वह पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता १२।४)

धर्मको जाननेवाले पुरुषोंद्वारा निर्बल गरीबोंपर अत्याचार होना तथा उनके द्वारा किसीका धन हरण होना और सताया जाना तो एक किनारे रहा, वे समझ-बूझकर एक क्षुद्र चींटीको भी पीड़ा नहीं पहुँचा सकते। जो जान-बूझकर किसी भी जीवको किंचिन्मात्र भी पीड़ा पहुँचाता है, उसके लिये धर्मके तत्त्वकी बात तो दूर रही, उसने धर्मका तत्त्व जाननेवाले पुरुषोंसे शिक्षा भी नहीं पायी। क्योंकि शास्त्रोंमें अहिंसाको ही परम धर्म बतलाया है।

अहिंसा परमो धर्मः।

गोस्वामीजीने कहा है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

हमलोगोंको शम, दम, यम, नियम, आदि उत्तम धर्मोंका पालन करके अपने भूले हुए भाइयोंको मार्ग दिखलाना चाहिये, जिससे सब धर्मपर आरूढ़ हों और देश सुखी हो जाय। जिस देशमें भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णने अवतार लिया और जिसमें साक्षात् श्रीभगवान्‌के मुखकमलसे निकले हुए गीता-जैसे सच्चे धर्मको बतलानेवाला ग्रन्थ हो, उस देशकी प्रजा अशान्ति और दुःखका भोग करे, यह बहुत ही लज्जाकी बात है। गीतामें बतलाये हुए धर्मका पालन करनेसे हम स्वयं शान्त और सुखी होकर समस्त भारतको सुखी और स्वावलम्बी बना सकते हैं। समस्त गीताकी बात तो दूर रही, केवल सोलहवें अध्यायमें बतलाये हुए दैवी-सम्पदारूप धर्मका पालन और आसुरी-सम्पदारूप अधर्मका त्याग करनेसे ही मनुष्य सदाके लिये परम शान्ति और परमानन्दको प्राप्त हो सकता है। वह

स्वयं ही सुखी होता है सो बात नहीं, वह जिस गाँव, जिस नगरमें रहता है, उसमें जितने लोग रहते हैं प्रायः सबको अपने धर्मबलसे सुखी बना सकता है। जहाँ सच्चा धर्मात्मा पुरुष रहता है वहाँ उसके धर्मके प्रतापसे भूकम्प, महामारी, अकाल आदि दैवी कोपसे प्रजा पीड़ित नहीं हो सकती। दैवयोगसे कदाचित् ऐसी कोई विपत्ति आ जाती है तो उनके प्रतापसे यानी उनकी परोपकार-वृत्तिसे लोग उस विपत्तिसे सहज ही छूट जाते हैं। महाराज धर्मराज युधिष्ठिर जब अपने चारों भाइयों तथा रानी द्रौपदीके साथ विराटनगरमें छिपे हुए थे, उस समय उनका पता लगानेके लिये व्यग्र दुर्योधनको पितामह भीष्म उनकी पहचान बतलाते हुए कहते हैं—

पुरे जनपदे चापि यत्र राजा युधिष्ठिरः।
दानशीलो वदान्यश्च निभृतो ह्रीनिषेवकः।
जनो जनपदे भाव्यो यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
प्रियवादी सदा दान्तो भव्यः सत्यपरो जनः।
हृष्टः पुष्टः शुचिर्दक्षो यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
नासूयको न चापीर्षुर्नाभिमानी न मत्सरी।
भविष्यति जनस्तत्र स्वयं धर्ममनुव्रतः॥
ब्रह्मघोषाश्च भूयांसः पूर्णाहुत्यस्तथैव च।
क्रतवश्च भविष्यन्ति भूयांसो भूरिदक्षिणाः॥
सदा च तत्र पर्जन्यः सम्यग्वर्षी न संशयः।
सम्पन्नसस्या च मही निरातंका भविष्यति॥
गुणवन्ति च धान्यानि रसवन्ति फलानि च।
गन्धवन्ति च माल्यानि शुभशब्दा च भारती॥
वायुश्च सुखसंस्पर्शो निष्प्रतीपं च दर्शनम्।
न भयं त्वाविशेत्तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
गावश्च बहुलास्तत्र न कृशा न च दुर्बलाः।
पयांसि दधिसर्पींषि रसवन्ति हितानि च॥
गुणवन्ति च पेयानि भोज्यानि रसवन्ति च।
तत्र देशे भविष्यन्ति यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
रसाःस्पर्शाश्च गन्धाश्च शब्दाश्चापि गुणान्विताः।
दृश्यानि च प्रसन्नानि यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
धर्माश्च तत्र सर्वैस्तु सेविताश्च द्विजातिभिः।
स्वैः स्वैर्गुणैश्च संयुक्ता अस्मिन् वर्षे त्रयोदशे॥
देशे तस्मिन्भविष्यन्ति तात पाण्डवसंयुते।
सम्प्रीतिमान् जनस्तत्र सन्तुष्टः शुचिरव्ययः॥
देवतातिथिपूजासु सर्वभावानुरागवान्।
इष्टे दाने महोत्साहः स्वस्वधर्मपरायणः॥
अशुभाद्धि शुभप्रेप्सुरिष्टयज्ञः शुचिव्रतः।
भविष्यति जनस्तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
त्यक्तवाक्यानृतस्तात शुभकल्याणमंगलः।
शुभार्थेप्सुः शुभमतिर्यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
भविष्यति जनस्तत्र नित्यं चेष्टप्रियव्रतः।
धर्मात्मा शक्यते ज्ञातुं नापि तात द्विजातिभिः॥
किं पुनः प्राकृतैस्तात पार्थो विज्ञायते क्वचित्।
यस्मिन्सत्यं धृतिर्दानं परा शान्तिर्ध्रुवा क्षमा॥
ह्रीः श्रीः कीर्तिः परं तेज आनृशंस्यमथार्जवम्।

(महा० विराटपर्व २८। १४—३२)

'जिस नगर और ग्राममें राजा युधिष्ठिर रहते होंगे उस देशके मनुष्य दानशील, उदार, जितेन्द्रिय तथा बुरे कामोंमें लज्जा करनेवाले होने चाहिये। राजा युधिष्ठिर जहाँ रहते होंगे वहाँके मनुष्य प्रिय बोलनेवाले, सदा इन्द्रियोंको जीते हुए, श्रीसम्पन्न, सत्यपरायण, हृष्ट, पुष्ट, पवित्र तथा चतुर होने चाहिये। जहाँ राजा युधिष्ठिर रहते होंगे, वहाँके लोग दूसरेके गुणोंमें दोषारोपण करनेवाले, डाह करनेवाले, अभिमानी, मत्सरतावाले नहीं होकर सब धर्मका अनुसरण करनेवाले होंगे। वहाँ अत्यधिक वेदध्वनियाँ, यज्ञोंकी पूर्णाहुतियाँ और बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले बहुत-से यज्ञ होते रहेंगे। वहाँ मेघ आवश्यकतानुसार सदा अच्छी वर्षा करता होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। और पृथ्वी पीड़ारहित तथा बहुत अन्न पैदा करनेवाली होगी। वहाँ गुणकारी अन्न, रसभरे फल, सुगन्धित पुष्प और शुभ शब्दोंसे युक्त वाणी होगी। जहाँ युधिष्ठिर रहते होंगे, वहाँ सुखस्पर्श वायु चलती होगी। वहाँके मनुष्योंका धर्म और ब्रह्मविषयक ज्ञान पाखण्डरहित होगा तथा भयको कहीं प्रवेश करनेकी जगह नहीं मिलेगी। वहाँ बहुत-सी गायें होंगी और वे निर्बल तथा दुबली-पतली नहीं होंगी। वहाँ दूध, दही और घृत रसयुक्त तथा हितकारक होंगे। वहाँ खाने-पीनेके पदार्थ रसभरे और गुणकारी होंगे। जहाँ राजा युधिष्ठिर रहते होंगे उस देशमें रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श गुणोंसे भरे होंगे तथा रूप (दृश्य) भी रमणीय दिखायी देंगे। इस तेरहवें वर्षमें राजा युधिष्ठिर जहाँ रहते होंगे, वहाँके सब द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) धर्मका पालन करते होंगे और धर्म स्वयं अपने गुणोंसे सम्पन्न होंगे। हे तात! जिस देशमें पाण्डव रहते होंगे वहाँ सब लोग परस्पर प्रेम करनेवाले, सन्तोषी, पवित्र और अकालमृत्युसे रहित होंगे। वहाँ लोग देवता और अतिथिकी पूजामें सर्वात्मभावसे प्रीति रखनेवाले, इष्ट और दानमें महान् उत्साह रखनेवाले, और अपने-अपने धर्ममें तत्पर होंगे। जहाँ राजा युधिष्ठिर रहते होंगे, वहाँके मनुष्य अशुभका

त्याग करके शुभकी चाह करनेवाले, यज्ञमें प्रीति करनेवाले और शुभ व्रतोंको धारण करनेवाले होंगे। हे तात! जहाँ युधिष्ठिर रहते होंगे, वहाँके मनुष्य असत्य वचनोंका त्याग करनेवाले, शुभ कल्याण तथा मंगलसे युक्त, कल्याणकी इच्छावाले और शुभ बुद्धिवाले होंगे। वे नित्य परमसुख देनेवाले शुभ कार्योंमें तत्पर होंगे। हे तात! ऐसे जिन धर्मात्मा युधिष्ठिरमें सत्य, धैर्य, दान, पराशान्ति, अविचल क्षमा, लज्जा, श्री, कीर्ति, महान् तेज, दयालुता, सरलता आदि गुण नित्य निवास करते हैं, उन धर्मराजको ब्राह्मण भी नहीं पहचान सकते, फिर साधारण मनुष्य तो पहचान ही कैसे सकते हैं?' अतएव सबको धर्मपरायण होना चाहिये। खास करके धर्माचार्य और धर्मप्रेमी कहलानेवाले पुरुषोंको (जिनमें आज कुछ थोड़े-से महात्माओंको छोड़कर अधिकांश स्वार्थमें रत हो रहे हैं) अज्ञाननिद्रासे सचेत होकर धर्मपालनके लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये और पाश्चात्य भोगमयी सभ्यताकी चकाचौंधसे पथच्युत हुए भाइयोंको बहुत प्रेम, विनय और नम्रताके साथ धर्मका मर्म समझाकर धर्ममार्गपर लानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

नारीधर्म

स्त्रीधर्मके विषयमें न तो मुझे विशेष ज्ञान और न मैं अधिकारी ही हूँ तथापि अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार कुछ लिखनेका प्रयास कर रहा हूँ।

स्वतन्त्रताके लिये स्त्रियोंकी अयोग्यता

स्त्री-जातिके लिये स्वतन्त्र न होना ही सब प्रकारसे मंगलदायक है। पूर्वमें होनेवाले ऋषि-महात्माओंने स्त्रियोंके लिये पुरुषोंके अधीन रहनेकी जो आज्ञा दी है वह उनके लिये बहुत ही हितकर जान पड़ती है। ऋषिगण त्रिकालज्ञ और दूरदर्शी थे। उनका अनुभव बहुत सराहनीय था। जो लोग उनके रहस्यको नहीं जानते हैं वे उनपर दोषारोपण करते हैं और कहते हैं कि ऋषियोंने जो स्त्रियोंकी स्वतन्त्रताका अपहरण किया, यह उनके साथ अत्याचार किया गया। ऐसा कहना उनकी भूल है परन्तु यह विषय विचारणीय है। स्त्रियोंमें काम, क्रोध, दु:साहस, हठ, बुद्धिकी कमी, झूठ, कपट, कठोरता, द्रोह, ओछापन, चपलता, अशौच, दयाहीनता आदि विशेष अवगुण होनेके कारण वे स्वतन्त्रताके योग्य नहीं हैं। तुलसीदासजीने भी स्वाभाविक कितने ही दोष बतलाये हैं—

नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया॥

अतएव उनके स्वतन्त्र हो जानेसे—अत्याचार, अनाचार, व्यभिचार आदि दोषोंकी वृद्धि होकर देश, जाति, समाजको बहुत ही हानि पहुँच सकती है। इन्हीं सब बातोंको सोचकर मनु आदि महर्षियोंने कहा है—

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किंचित्कार्यं गृहेष्वपि॥
बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम्॥

(मनु० ५। १४७-१४८)

'बालिका, युवती वा वृद्धा स्त्रीको भी (स्वतन्त्रतासे बाहरमें नहीं फिरना चाहिये और) घरोंमें भी कोई कार्य स्वतन्त्र होकर नहीं करना चाहिये। बाल्यावस्थामें स्त्री पिताके वशमें, यौवनावस्थामें पतिके आधीन और पतिके मर जानेपर पुत्रोंके आधीन रहे, किन्तु स्वतन्त्र कभी न रहे।'

यह बात प्रत्यक्ष भी देखनेमें आती है कि जो स्त्रियाँ स्वतन्त्र होकर रहती हैं वे प्राय: नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं। विद्या, बुद्धि एवं शिक्षाके अभावके कारण भी स्त्री स्वतन्त्रताके योग्य नहीं है।

वर्तमान कालमें स्त्री-शिक्षाकी कठिनाई

स्त्री-जातिमें विद्या एवं शिक्षाका भी बहुत ही अभाव है। इनके लिये शिक्षाका मार्ग भी प्राय: बंद-सा हो रहा है और न अति शीघ्र कोई सरल राह ही नजर आती है। कन्या एवं स्त्रियोंको यदि पुरुषोंद्वारा शिक्षा दिलायी जाय तो प्रथम तो पढ़े-लिखे मिलनेपर भी अच्छी शिक्षा देनेवाले पुरुष नहीं मिलते। उनके स्वयं सदाचारी न होनेके कारण उनकी शिक्षाका अच्छा असर नहीं पड़ता वरं दुराचारकी वृद्धिकी ही शंका रहती है, शंका ही नहीं प्राय: ऐसा देखनेमें भी आता है कि जहाँ कन्याओं और स्त्रियोंको पुरुष शिक्षा देते हैं वहाँ व्यभिचारादि दोष बढ़ जाते हैं। जहाँ कहीं स्त्रियोंके साथ पुरुषोंका सम्बन्ध देखनेमें आता है, वहाँ प्राय: दूषित वातावरण देखा जाता है। कहीं-कहीं तो उनका भण्डाफोड़ हो जाता है और कहीं-कहीं नहीं भी होता। स्कूल, कॉलेज, पाठशाला, अबलाश्रम, थियेटर, सिनेमाकी तो बात ही क्या है, कथा, कीर्तन, देवालय और तीर्थ-स्थानादिका भी वातावरण स्त्री-पुरुषोंके मर्यादाहीन सम्बन्धसे दूषित हो जाता है। इसलिये स्त्री-पुरुषोंका सम्बन्ध जहाँतक कम हो उतना ही हितकर है।

यदि स्त्रियोंके द्वारा कन्या एवं स्त्रियोंको शिक्षा दिलायी जाय तो प्रथम तो विदुषी, सुशिक्षित स्त्रियोंका प्राय: अभाव-सा ही है। इसपर कोई मिल भी जाय तो

सदाचारिणी होना तो अत्यन्त ही कठिन है। शिक्षा-पद्धतिको कुछ जाननेवाली होनेपर भी स्वयं सदाचारिणी न होनेसे उनका दूसरोंपर अच्छा असर होना सम्भव नहीं। आज भारतवर्षमें सैकड़ों कन्यापाठशालाएँ हैं, परंतु यह कहना बहुत ही कठिन है कि उनमेंसे कोई भी पूर्णतया हमारे सनातन-आदर्शके अनुसार संचालित हो रही है।

प्राचीन कालकी स्त्री-शिक्षा

पूर्वकालमें जिस शिक्षापद्धतिसे शिक्षिता होकर बहुत-सी अच्छी सदाचारिणी, विदुषी, सुशिक्षिता स्त्रियाँ हुआ करती थीं, वह शिक्षापद्धति अब प्रायः नष्ट हो गयी है। पहले जमानेमें कन्याएँ पिताके घरमें ही माता-पिता, भाई-बहिन आदि अपने घरके ही लोगोंद्वारा एवं विवाहके उपरान्त ससुरालमें पति, सासु आदिके द्वारा अच्छी शिक्षा पाया करती थीं। वर्तमान कालकी तरह कहीं बाहर जाकर नहीं। इसीलिये वे सदाचारिणी और सुशिक्षिता हुआ करती थीं। कन्याओंके गुरुकुल, पाठशाला और विश्वविद्यालयका उल्लेख श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणादिमें कहीं नहीं पाया जाता। लड़कोंके साथ लड़कियोंके पढ़नेकी बात भी कहीं नहीं पायी जाती। उस समय ऊपर कहे अनुसार घरहीमें शिक्षाका प्रबन्ध किया जाता था या किसी विदुषी स्त्रीके पास अपने घरवालोंके साथ जाकर भी शिक्षा ग्रहण की जाती थी। जैसे श्रीरामचन्द्रजीके साथ जाकर सीताजीने अनसूयाजीसे शिक्षा प्राप्त की थी। उस कालमें बड़ी-बड़ी सुशीला सुशिक्षिता विदुषियाँ हुई हैं जिनके चरित्र आज भी हमारे लिये आदर्श हैं।

हमें भी इस समय स्त्रियोंके लिये शिक्षा और विद्या पानेका प्रबन्ध अपने घरोंमें ही करनेकी कोशिश करनी चाहिये। हर एक भाईको अपने-अपने घरोंमें धार्मिक पुस्तकोंके आधारपर अपने-अपने बाल-बच्चों और स्त्रियोंको नियमितरूपसे शिक्षा देनी चाहिये।

प्रथम मनुष्यमात्रके सामान्य धर्मकी एवं स्त्रीमात्रके सामान्य धर्मकी शिक्षा देकर फिर कन्याओंके लिये, विवाहिता स्त्रियोंके लिये एवं विधवा स्त्रियोंके लिये अलग-अलग, विशेष धर्मकी शिक्षा देनी चाहिये।

मनुष्यमात्रके कर्तव्य

मनुष्यमात्रके सामान्य धर्म संक्षेपसे निम्नलिखित हैं—स्त्रियोंको इनके भी पालन करनेकी कोशिश करनी चाहिये। महर्षि पतंजलिने यम-नियमके नामसे और मनुने धर्मके नामसे ये बातें बतायी हैं।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

(योगदर्शन २।३०)

यम

किसी प्राणीको किसी प्रकार भी किंचिन्मात्र कभी कष्ट न देनेका नाम अहिंसा है।

हितकारक प्रिय शब्दोंमें न अधिक और न कम अपने मनके अनुभवका जैसा-का-तैसा निष्कपटतापूर्वक प्रकट कर देनेका नाम सत्य है।

किसी प्रकार भी किसीकी वस्तुको न छीनने और चुरानेका नाम अस्तेय है।

सब प्रकारके मैथुनोंका त्याग करके वीर्यकी रक्षा करनेका नाम ब्रह्मचर्य* है।

शरीरनिर्वाहके अतिरिक्त भोग्य पदार्थोंका कभी संग्रह न करनेका नाम अपरिग्रह है।

ये पाँच यम हैं। इन्हींको महाव्रत भी कहते हैं।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

(योगदर्शन २।३२)

नियम

सब प्रकारसे बाहर और भीतरकी पवित्रताका नाम शौच है। दैवेच्छासे प्राप्त सुख-दुःखादिमें सदा-सर्वदा सन्तुष्ट रहनेका नाम सन्तोष है।

मन और इन्द्रिय-संयमरूप धर्मपालनके लिये कष्ट सहन करनेका नाम तप है।

ईश्वरके नाम और गुणोंका कीर्तन एवं कल्याणप्रद शास्त्रोंके अध्ययनका नाम स्वाध्याय है।

सर्वस्व ईश्वरके अर्पण करके नित्य उसके स्वरूपका ध्यान रखते हुए उसकी आज्ञा-पालन करनेका नाम ईश्वरप्रणिधान है—ये पाँच नियम हैं।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनु० ६।९२)

धर्मके दस लक्षण

भारी दुःख आ पड़नेपर भी बुद्धिके विचलित न होने और धैर्य धारण करनेका नाम धृति है। अपकार करनेवालेसे बदला लेना न चाहनेका नाम क्षमा है। मनको वशमें करनेका नाम दम है।

अस्तेय और शौचका अर्थ ऊपर लिखा ही है।

इन्द्रियोंको वशमें करनेका नाम इन्द्रिय-निग्रह है।

सात्त्विकबुद्धिका नाम धी है।

सत्य और असत्य पदार्थके यथार्थ ज्ञानका नाम विद्या है। सत्यका अर्थ भी ऊपर दिया जा चुका है।

* कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा। सर्वथा मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रकीर्तितम्॥

मनकी प्रतिकूलतामें वृत्तियोंके उत्तेजित न होनेका नाम अक्रोध है।

इसलिये ईश्वरभक्ति, योग्यता और शक्तिके अनुसार सेवा करना, काम-क्रोध-लोभ-मोहादि दुर्गुणोंका त्याग, लज्जा, शील, समता, सन्तोष, दया, सरलता, शान्ति, कोमलता, निर्भयता आदि सद्‌गुणोंका सेवन, चोरी, जारी, झूठ, कपट, हिंसा आदि दुराचारों एवं मादक वस्तुओंका तथा परनिन्दा आदि दुर्व्यसनोंका त्याग करना मनुष्यमात्रका कर्तव्य है।

शास्त्रोंमें मनुष्यमात्रके लिये आत्माके उद्धारके प्रायः तीन उपाय बतलाये हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान। उनमें ज्ञानका मार्ग कठिन होनेके कारण स्त्रियोंके लिये कर्म और उपासना—ये दो ही सरल, सुसाध्य हैं। अतएव स्त्रियाँ निष्कामभावसे कर्म और उपासना (ईश्वरभक्ति) करके ही आत्माका शीघ्र उद्धार कर सकती हैं।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि अपने-अपने कर्मोंके द्वारा ईश्वरको पूजकर मनुष्य परमगतिको प्राप्त होता है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८।४६)

'हे अर्जुन! जिस परमात्मासे सर्व भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्व जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होता है।'

अतएव स्वार्थका त्याग करके सभी स्त्रियोंको उत्तम कर्मोंका आचरण निष्कामभावसे करना चाहिये। निष्कामभावसे सदाचारका पालन करनेसे शीघ्र ही आत्माका कल्याण हो सकता है।

जिस आचरणसे यावन्मात्र जीवोंको सुख पहुँचे उसीका नाम सदाचार है।

स्त्रीमात्रके कर्तव्य

कर्म

प्रथम तो नैहर और ससुरालवालोंके साथ उत्तम आचरणका अभ्यास करें। घरमें जो बड़े स्त्री-पुरुष हों उनकी सेवा, उनसे शिक्षाका ग्रहण, नित्य उनके चरणोंमें प्रणाम और उनकी आज्ञाका पालन करें। समान अधिकारवालोंसे प्रेमका व्यवहार करके प्रीति बढ़ावें और छोटोंका वास्तवमें वात्सल्यभावसे पालन करें एवं खान-पान, लेन-देन आदिमें स्वार्थका त्याग करके सबके साथ सम व्यवहार करें। वस्त्राभूषण एवं खान-पान आदिके पदार्थ जो बाहरसे आ प्राप्त हों या घरमें ही तैयार किये जायँ, उनमें सबसे उत्तम पदार्थ यदि नैहरमें निवास हो तो माता-पिता, भाई-बहिन, भौजाई-भतीजे आदिको मिले ऐसी कोशिश करें। अपने और अपने बालकोंके लिये नहीं। यदि माता-पिता, भाई-भौजाई इत्यादि विशेष आग्रह करें और उनकी प्रसन्नताके लिये चीज स्वीकार करनी ही पड़े तो जहाँतक हो वे देना चाहें उससे कम लेकर ही स्वयं सन्तोष एवं प्रसन्नता प्रकट करें एवं उनको भी सन्तोष करावें। बिना दिये एवं बिना उनकी मर्जी कोई भी चीज अपने या अपने बालकोंके लिये न तो माँगें ही और न लेनेकी इच्छा ही करें। यदि माता-पिता, भाई-भौजाईसे छिपाकर कोई वस्तु देवें तो वह उनके सन्तोषके लिये भी न लें एवं भाई-भौजाईकी मर्जी बिना प्रकटमें भी कोई चीज दें तो वह भी स्वीकार न करें, क्योंकि संसारमें त्याग ही सबसे बढ़कर मूल्यवान्, महत्त्वपूर्ण, मुक्तिदायक पदार्थ है।

इसी प्रकार यदि ससुरालमें हो तो सास-ससुर, जेठ-जेठानी, देवर-देवरानी, फूफी-ननद आदि एवं उनके बालकोंको उपयुक्त उत्तम पदार्थ देकर बचे हुए पदार्थ अपने पति, पुत्र, नौकरादिको देकर सबके बाद सीता, सावित्री, द्रौपदी*, दमयन्तीकी तरह आप ग्रहण करें।

अपनी निजी चीज पीहर या ससुरालके दूसरे लोग काममें लावें तो अपना अहोभाग्य समझें और आनन्द मानें। यही नहीं, वह उनकी सेवामें लगे इसके लिये कोशिश भी करें तथा इस प्रकारकी सेवा करके किसीके आगे प्रकाश न करें, दूसरोंके अधिकारकी चीज स्वयं लेनेके लिये कभी इच्छा एवं कोशिश न करें।

देवरानी, जेठानी, ननद आदिके बालकोंका अपने बालकोंकी अपेक्षा भी अधिक लाड़ और प्रेम करें। बालक थोड़ेमें ही प्रसन्न हो जाते हैं और बालकोंकी प्रसन्नता उनके माता-पिताको लाड़-चाव करनेवालेके प्रति कृतज्ञ बना देती है। इससे घरमें बड़ा प्रेम और सद्‌भाव रहता है।

पीहर या ससुरालमें सेवा-शुश्रूषा एवं रसोई-चौका-बर्तन आदि गृहकार्य तथा सीना-पिरोना-कातना आदि शिल्पकार्य या और कोई भारी कठिन काम आ प्राप्त हो तो सबसे पहले उत्साहके साथ उसको परमधर्म समझकर स्वयं करनेकी चेष्टा करें। दूसरे करते हों तो उनसे

* स्त्रीशिक्षाके विषयमें द्रौपदीने सत्यभामाको महाभारत, वनपर्व अध्याय २३३-२३४ में जो कहा है वह देखना चाहिये। यह विषय गीताप्रेससे प्रकाशित 'नैवेद्य' (भगवच्चर्चा भाग-२) नामक पुस्तकमें भी है।

प्रेमाग्रहपूर्वक छीनकर भी स्वयं ही करनेकी चेष्टा करें। 'काममें अगाड़ी और भोगमें पिछाड़ी' वाली कहावतको अक्षरशः चरितार्थ कर दिखा दें। इस प्रकारका निःस्वार्थभावका कर्तव्यपालन ही शीघ्र आत्माका कल्याण करनेवाला है।

कोई काम दूसरे पाँच आदमियोंके साथ मिलकर करें तो उसकी सफलताका श्रेय सत्यकी रक्षा करते हुए स्वयं न लेकर दूसरोंको ही देनेका प्रयत्न करें। तथा कुछ बिगड़ जाय तो नम्रतापूर्वक स्वयं अपना ही दोष कायम करें।

सबको यथायोग्य मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा दें, किन्तु इन्हें मुक्तिमें बाधक समझकर स्वयं स्वीकार न करें। हित और सुखकर पदार्थ एवं कार्यको दूसरोंको देनेकी और कष्टप्रद एवं अधिक परिश्रमके कार्य और अपेक्षाकृत अल्प मूल्यवाले पदार्थ अपने लिये लेनेकी सदा कोशिश रखें। गृहकार्य, सेवा-उपकार करके न किसीको कहें और न उसे मनमें ही रखें। अपने द्वारा की हुई भलाई और दूसरोंद्वारा की हुई अपनी बुराईको भूल जायँ किन्तु दूसरेके द्वारा किये गये उपकारको कभी न भूलें। सबके साथ प्रेमका व्यवहार और सम्मानपूर्वक बातचीत करें। अपने साथ अनुचित व्यवहार करनेवालेके साथ भी ईर्ष्या, क्रोध, द्वेष, घृणा आदिसे रहित होकर उसका हित करनेकी कोशिश करें। इस प्रकारके व्यवहारसे शत्रु भी मित्र बन जाते हैं और स्वामी भी अनुकूल बन जाते हैं। किन्तु ऐसा व्यवहार स्वामीको अनुकूल बनानेके उद्देश्यसे नहीं, अपना कर्तव्य समझकर ही करना चाहिये।

पीहर या ससुरालमें जो गृहकार्य सफाई आदि आवश्यक हो उसको बिना पूछे ही करने लग जायँ। भोजनादिके विषयमें ऐसा व्यवहार करना चाहिये—बलिवैश्वदेव होनेके बाद प्रथम तो अतिथिको भोजन कराना चाहिये। उसके बाद वृद्ध, बालक, रोगी, गर्भिणी स्त्री, प्रसूतिका, नव विवाहिता वधू आदिको भोजन कराना चाहिये। फिर घरके पुरुषोंको, उनके बाद नौकर आदि सबको भोजन कराके स्वयं भोजन करना श्रेष्ठ माना गया है। गृहिणी स्त्रियोंके लिये यही यज्ञशिष्ट समझा गया है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(गीता ३। १३)

'यज्ञसे शेष बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ लोग सब पापोंसे छूटते हैं और जो पापीलोग अपने शरीर-पोषणके लिये ही पकाते हैं वे तो पापको ही खाते हैं।'

बने हुए पदार्थोंमेंसे अच्छे-अच्छे पदार्थ अपने या अपने घरवालोंके लिये बचा लिये जायँ तो वे यज्ञसे बचे हुए नहीं वरं बचाये हुए हैं। इसलिये वे विषके समान हैं। बचाया हुआ भोजन करनेवाले पापके भागी होते हैं। अतएव अपने या अपने पति-पुत्रादिके लिये भी श्रेष्ठ पदार्थ अलग बचाकर नहीं रखने चाहिये। रसोईमें बने पाँच पदार्थोंमेंसे लोगोंके भोजन करते-करते अपने लिये थोड़े या दो-तीन ही पदार्थ बच जायँ और वे भी स्वरूप और स्वाद और रसमें उतने अच्छे नहीं हैं किन्तु यज्ञशिष्ट होनेके कारण वे अमृतके तुल्य हैं।

अतिथि देवताके समान होता है। उसको प्रेमयुक्त सेवा और भोजनादिसे सदा सन्तुष्ट करना चाहिये। अतिथि-सेवा गृहस्थका एक मुख्य धर्म माना गया है। किये गये खर्च और मेहनत बराबर होनेपर भी प्रेमपूर्वक की गयी सेवा बड़ी लाभदायक होती है और बिना प्रेम की हुई सेवा परिश्रममात्र है।

मनु आदि स्मृतिकारोंने स्त्रियोंके लिये विवाहकी विधिको ही वैदिक-संस्कार, पति ही गुरु होनेके कारण पतिगृहमें निवास ही गुरुकुलवास और गृहकार्यको ही अग्निहोत्र बताया है।

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥

(मनु० २। ६७)

शास्त्रमें बताये अनुसार कार्य करनेसे ही स्त्री कल्याणको प्राप्त होती है, अतएव ऊपर लिखे शास्त्रोक्त कार्य करनेके लिये स्त्रियोंको सदा तत्पर रहना चाहिये।

साध्वी स्त्रियोंको इस बातपर भी विशेष ध्यान देना चाहिये कि घरमें किसी प्रकार कलह, लड़ाई-झगड़ा न होने पावे; क्योंकि कलह साक्षात् कलियुगकी मूर्ति है। जहाँ कलह होता है वहाँ क्रोध और क्लेशकी वृद्धि होकर बड़ा अनर्थ हो जाता है। कोई-कोई तो उत्तेजित होकर कुएँमें गिरकर, फाँसी लगाकर या जहर-विष खाकर कालकी ग्रास बन जाती हैं। काल, क्लेश, कल्पना, कलि—इन सबकी उत्पत्ति कलहसे होती है, इसलिये सुख चाहनेवाली स्त्रियोंको चाहिये कि इसको अपने घरमें प्रवेश ही नहीं होने दें। कलह धन, धर्म, गुण, शरीर और कुलको नाश करनेवाला अग्नि है। यह इस लोक और परलोकको कलंक लगानेवाला है। इसलिये इसका सूत्रपात होते ही प्रेमभरे विनययुक्त हितकारक सरल ठंडे वचनरूपी जल सींचकर इस कलह-अग्निको तुरंत बुझानेकी चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकारका व्यवहार करनेवाली स्त्री मनुष्योंके द्वारा ही नहीं देवताओंद्वारा भी पूजनीया बन जाती है। उसे मनुष्य न समझकर देवी समझनी चाहिये।

स्त्रियोंको जहाँतक हो सके घरका सारा काम स्वयं करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। घरके कामके लिये जहाँतक

हो बाहरके किसी स्त्री-पुरुषकी आवश्यकता न पड़े ऐसी चेष्टामें सदा रहना चाहिये। जिन घरोंमें रसोइया आदिसे रसोई और नौकर आदिसे गृहकार्य कराये जाते हैं उन घरोंकी स्त्रियाँ प्रायः कर्महीनता और निर्लज्जताको प्राप्त हो जाती हैं। इनमेंसे कोई-कोई तो अपने धर्मको भी खो बैठती हैं और अपने पीहर, ससुरालको कलंकित बनाकर लोक-परलोक भ्रष्ट कर लेती हैं।

स्त्रियोंको उचित है कि प्रसन्नचित्त होकर घरके कामोंमें कुशलता और घरकी सामग्रियोंकी भलीभाँति सँभाल, कम खर्च करना, धन और आय-व्ययका हिसाब रखना, अतिथि-सेवा, सन्तानकी उत्पत्ति और पालन, धर्मकार्य और सेवामें रति, सीना-पिरोना, चर्खा कातना, चक्की पीसना, झाड़ू देना, चौका-बर्तन आदि सभी काम स्वयं कर्तव्य समझ करके प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे करें। इससे वे इस लोकमें यश पाती हैं और परलोकमें उत्तम गतिको प्राप्त करती हैं।

तंबाकू, भाँग, मदिरादि मादक वस्तुओंका सेवन, दुर्जनोंका संसर्ग, पतिसे अलग रहना, इधर-उधर स्वतन्त्रतासे घूमना, दूसरोंके घरमें रहना, असमयमें सोना—ये छः बातें स्त्रियोंके लिये मनुजीने भारी दोष बताये हैं। अतः सभी स्त्रियोंको सावधानीपूर्वक इनसे बचकर रहना चाहिये।

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वपनोऽन्यगेहवासश्च नारीसन्दूषणानि षट्॥

(मनु० ९। १३)

स्त्रियोंको थियेटर-सिनेमा, विवाह, सभा, समुदाय, होली आदिमें पुरुषसमाजके सामने या स्त्रियोंके समुदायमें भी गाना, बजाना, नाचना, बुरे गीत आदि कार्य नहीं करने चाहिये; क्योंकि ऐसे कार्यसे उनमें कामोद्दीपन होकर उनके नष्ट-भ्रष्ट होनेकी संभावना है। देवर, भानजे, जवाँई, ननदोई, बहनोई आदिके साथ एकान्तमें या समुदायमें हँसी-मसखरी, अश्लील बात करना महापाप है। स्त्रियोंको अपने पतिके अतिरिक्त दूसरे पुरुषका दर्शन, स्पर्श, भाषण, चिन्तन और उसके साथ एकान्तवासादि भी नहीं करना चाहिये। विशेष आवश्यकता हो तो नीची नजर रखकर उनको पिता और भाईके समान समझकर किसी अच्छी स्त्री, बालक आदिको साथमें रखकर पवित्र बातें करनेमें दोष नहीं है। किन्तु अकेले पुरुषके साथ एकान्तमें कभी वार्तालाप या वास नहीं करना चाहिये, चाहे पिता, भाई, पुत्र ही क्यों न हों; क्योंकि इन्द्रियोंका समुदाय बलवान् है, वह बुद्धिमानोंको भी मोहित कर देता है। अतः सदा सावधान रहना चाहिये।

समता समता ही अमृत है और विषमता ही विष है। इसलिये सबके साथ समताका ही व्यवहार करना चाहिये। जो चीज तुम अपने लिये उत्तम समझती हो उसको सबके लिये उत्तम समझकर जिसको देना उचित समझो उसको भेद-भाव न रखकर समभावसे दो। जो चीज तुम अपने लिये खराब समझती हो उसको सबके लिये खराब समझकर किसीको भी कभी मत दो। घरमें बने या बाहरसे आये हुए भोजनादि पदार्थ भेद-भावको छोड़कर समभावसे प्रदान करो यानी जो भोजनादिकी सामग्री तुम अपने पतिको प्रदान करती हो वही आये हुए अतिथि और नौकरादिको भी दो।

चोरी, जारी, झूठ, कपट, आदि बुरे कर्मोंका कतई त्याग करके दान, तप, तीर्थ, व्रत, सेवा और गृहकार्य आदि उत्तम कर्मोंको फल और आसक्तिको त्यागकर निष्कामभावसे अभिमानरहित होकर एवं कर्तव्य समझकर करो। गृहकार्यके बनने-बिगड़नेमें हर्ष-शोक मत करो। संयोगसे अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थ एवं सुख-दुःखादिके प्राप्त होनेपर उनमें भी राग-द्वेष मत करो। उसको ईश्वरका भेजा हुआ पुरस्कार समझकर प्रसन्नचित्तसे स्वीकार करो। इस प्रकार करनेसे समत्वभावकी प्राप्ति होती है और समता ही अमृत है। निन्दा-स्तुति और मान-अपमान तथा वैरी और मित्रमें भी समबुद्धि रखो। इस प्रकार करनेसे सारे पाप, क्लेश और दुःखोंसे छूटकर परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति होती है। मुक्त पुरुषके लक्षणोंको बतलाते हुए भगवान्ने कहा है—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिदात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

(गीता १४। २४-२५)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ, दुःख-सुखको समान समझनेवाला है तथा मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समान भाववाला और धैर्यवान् है तथा जो प्रिय और अप्रियको बराबर समझता है और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है तथा जो मान और अपमानमें सम है एवं मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है, वह सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हुआ पुरुष गुणातीत कहा जाता है।'

ऊपर निष्कामभावसे कर्म करनेके द्वारा कल्याणके प्राप्त होनेकी कुछ बातें कहीं। अब ईश्वरकी उपासनाके विषयमें संक्षेपसे लिखा जाता है। ईश्वरकी भक्तिमें सभीका अधिकार है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(९।३२)

'क्योंकि हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य और शूद्रादिक तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवें वे भी मेरी शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त होते हैं।'

अतएव सभी स्त्रियोंको निष्कामभावसे ईश्वरकी अनन्य भक्ति करनी चाहिये। ईश्वरकी शरण एवं भक्तिसे उनका दर्शन, उसके तत्त्वका ज्ञान और उसकी प्राप्ति हो सकती है (गीता अध्याय ११।५४)। अनन्य भक्ति यह है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
(गीता ११।५५)

'हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये (सब कुछ मेरा समझता हुआ) यज्ञ, दान और तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको करनेवाला है और मेरे परायण है अर्थात् मुझको परम आश्रय और परमगति मानकर मेरी प्राप्तिके लिये तत्पर है तथा मेरा भक्त है अर्थात् मेरे नाम, गुण, प्रभाव और रहस्यके श्रवण, कीर्तन, मनन, ध्यान और पठन-पाठनका प्रेमसहित निष्कामभावसे निरन्तर अभ्यास करनेवाला है और आसक्तिरहित है अर्थात् स्त्री, पुत्र और धनादि सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थोंमें स्नेहरहित है और सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है ऐसा वह अनन्य भक्तिवाला पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।'

ईश्वरकी अनन्य भक्ति—अव्यभिचारिणी भक्ति, अनन्य शरण वस्तुतः एक ही बात है। भगवान्ने अर्जुनके प्रति शरणके लक्षण बतलाते हुए कहा है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(गीता ९।३४)

'केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य प्रेमसे नित्य-निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही श्रद्धा-प्रेमसहित निष्कामभावसे नाम-गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मेरे स्वरूपका मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वशक्तिमान् विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे सम्पन्न सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक भक्तिसहित साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर, इस प्रकार मेरी शरण हुआ तू आत्माको मेरेमें एकीभाव करके मुझको ही प्राप्त होगा।'

अतएव स्त्रियोंको प्रातःकाल उठकर ईश्वर-स्मरण करके शौच-स्नान आदि क्रियाओंसे निपटकर पीहरमें माता-पिता आदिकी, ससुरालमें सास-ससुर, पति आदि बड़ोंकी पूजा, उनको नमस्कार और उनकी सेवाका कार्य करना चाहिये। तदनन्तर ईश्वरकी भक्ति करनी चाहिये। एकान्त स्थानमें आसनपर बैठकर पवित्र होकर करुणा और प्रेमभावपूर्वक प्रफुल्लित मनसे भगवान्की स्तुति करके फिर उस सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् विज्ञानानन्दघन निराकार परमात्माका ध्यान करना चाहिये। यदि साकार भगवान्में प्रेम हो तो करुणाभावसे उनका आह्वान करके प्रभाव और गुणोंके सहित उनके स्वरूपका ध्यान करना चाहिये। निराकारसहित साकारका ध्यान किया जाय तो और भी उत्तम है। परन्तु निराकारके तत्त्वको न समझे तो केवल साकारका ही ध्यान किया जा सकता है। फिर ध्यानावस्थामें भगवान्को आये हुए समझकर प्रेममें मुग्ध हो जाना चाहिये। बादमें सावधान होनेपर भगवान्की मानसिक यानी मनसे सारी सामग्रियोंको रचकर पूजा करनी चाहिये।* मनसे ही भगवान्के भोग लगाकर उनकी आरती करनी चाहिये। फिर मन-ही-मन भगवान्की स्तुति गाकर भगवान्में अनन्य प्रेम होनेके लिये और उनके साक्षात् दर्शनके लिये उनसे प्रार्थना करनी चाहिये। उसके बाद गुण और प्रभावसहित भगवान्के स्वरूपका चिन्तन करते हुए भगवान्की आज्ञानुसार ही गृह-कार्य करनेकी आदत डालनी चाहिये, क्योंकि पीसते, पोते, चौका-बरतन करते अर्थात् प्रत्येक काम करते समय उनके नामका जप और स्वरूपका चिन्तन निरन्तर करनेकी चेष्टा करनी ईश्वरभक्ति है।

नवधा भक्ति

श्रीमद्भागवतमें प्रह्लादने अपने पिताके प्रति इस भक्तिके लक्षण बतलाते हुए नौ भेद कहे हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

भगवान्के नाम, रूप, गुण और लीलाओंको प्रभावसहित प्रेमपूर्वक राजा परीक्षित्के अनुसार सुननेका नाम श्रवणभक्ति, और शुकदेव, नारदादिकी भाँति वाणीसे उच्चारण करने या दूसरोंके प्रति कहनेका नाम कीर्तनभक्ति, तथा ध्रुव-प्रह्लादादिकी तरह मनसे चिन्तन करनेका नाम स्मरणभक्ति है।

* गीताप्रेससे प्रकाशित 'श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश' नामक पुस्तकमें मानसिक पूजाकी विधि लिखी है।

उस प्रभुके चरणोंकी भरत और लक्ष्मीके अनुसार सेवा करनेका नाम पादसेवनभक्ति है और उसके स्वरूपकी मानसिक या पार्थिव धातु आदिकी मूर्तिकी गुण और प्रभावसहित राजा पृथु और अम्बरीषके माफिक पूजा करना अर्चनभक्ति है।

अक्रूर एवं भीष्मादिकी भाँति नमस्कार और प्रणाम करना वन्दनभक्ति है।

लक्ष्मण और हनुमान् आदिकी भाँति दासभावसे आज्ञाका पालन करना दास्यभक्ति है।

अर्जुन और उद्धवकी तरह सखाभावसे उसके अनुकूल चलना सख्यभक्ति है।

राजा बलिकी भाँति सर्वस्व अर्पण कर देना आत्मनिवेदनभक्ति है।

इन ऊपर बतलायी हुई नव प्रकारकी भक्तियोंमेंसे एकको भी अच्छी प्रकार धारण करनेसे प्राय: सभी भक्तियाँ अपने-आप आ जाती हैं, इसलिये इनमेंसे एकका भी भलीप्रकार पालन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति सहजमें ही हो सकती है। यह भक्तिका विषय स्थान-संकोचके कारण केवल सगुण-साकारके विषयमें ही बहुत संक्षेपसे बतलाया गया है। सभी स्त्रियोंको अपना जो इष्ट हो उस देवी या देवको परमेश्वर समझकर उपर्युक्त भक्ति निष्काम-प्रेमभावसे सभी अंगोंसहित करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकार करनेसे अपने इष्टदेवका साक्षात्कार होकर परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति होती है।

कुरीतियाँ

स्त्रियोंमें स्वाभाविक ही बहुत-सी कुरीतियाँ हैं, उनका त्याग कर देना चाहिये। जैसे किसी स्त्रीके सन्तान नहीं होती है तो वह सन्तानके लिये ठगोंके पंजेमें पड़कर निषिद्ध चीजोंका भक्षण एवं जादू-टोना आदि अनेक निकृष्ट क्रियाओंका सम्पादन कर लिया करती है। किसीका बालक बीमार होता है तो वह मूर्ख स्त्रियोंके बहकानेसे मूर्खताके वश हो भंगीसे झाड़ा दिवाना तथा किसी नीच यवनादि विधर्मी पुरुषसे थुथकारा डलवाना यानी थुकाना और निषिद्ध चीजोंका खिलाना-पिलाना आदि अनेक लोक-परलोकको नाश करनेवाली क्रियाएँ कर लिया करती है; किन्तु इससे न तो लड़का ही पैदा होता है और न इससे लड़केकी बीमारी ही मिटती है। तथा लड़कोंकी रक्षाके लिये देवी-देवता, जात-झडूला भी बोलती-करती हैं; किन्तु यह विचारनेका विषय है, सिरके बाल देवताको चढ़ाना न तो धर्म है और न कोई इससे देवी-देवता ही खुश होते हैं। यह केवल स्त्रियोंकी मूर्खता है। आप बताइये यदि कोई मनुष्य कहे कि आप हमारा उपकार करें तो हम उसके बदलेमें आपके घरपर जाकर बाल बनवावेंगे तो क्या आप हड्डीके समान अपवित्र बालोंको अपने घरपर बिखेरने या डालनेसे खुश हो सकते हैं? यदि नहीं तो फिर देवता भी इससे कैसे खुश होंगे? झडूला आदि षोडश संस्कारोंमेंसे चूडाकर्म नामक एक संस्कार है, इसकी शास्त्रोंमें जो विधि लिखी है उसके अनुसार ही इसका सम्पादन करना चाहिये। इसी प्रकार कर्णवेध-संस्कार जो आजकल मनोकल्पित रीतिसे 'प्रयोजन' के नामपर प्रचलित है वह भी शास्त्रविधिके अनुसार होना चाहिये। और भी संस्कार यथाशक्ति शास्त्रोक्त रीति-अनुसार करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। शास्त्रोक्त सारे देवी-देवताओंकी पूजा शास्त्रानुकूल निष्कामभावसे भगवत्-प्रीत्यर्थ की जाय तो सबसे उत्तम समझी जा सकती है।

बड़े शोककी बात है कि बहुत-से शास्त्रोक्त कर्म भोली-भाली स्त्रियोंने नष्ट करके अनेक कुरीतियाँ चला दी हैं। बहुत-सी नयी कल्पित बातें भी खड़ी कर दी हैं; जैसे विवाहमें टूँटियाँ करना, चाक पूजना, जूआ खेलना, गंदे गीत गाना इत्यादि। इनका सुधार करना चाहिये।

अपने घरवाला कोई किसी मृतकके साथ श्मशान जाकर आता है तो कुछ भोली स्त्रियाँ उसको एक दिनके लिये अपने घरमें नहीं आने देतीं। यदि आने देती हैं तो दूध या मिठाई खानेको नहीं देतीं। उनको यह वहम होता है कि ऐसा करनेसे इसके प्रेत लग जायगा। इस प्रकारका मूर्खतापूर्ण व्यवहार तो अपने घरवालोंके साथ करती हैं। यदि कोई दूसरे घरका आदमी मृतकपर मुण्डन करवाकर कार्यवश घरमें आना चाहता है और घरमें कोई बालक उत्पन्न हुआ होता है या कोई बीमार होता है तो उसका घरमें आना हानिकर समझती हैं। इस तरह बात-बातमें अनेक प्रकारके वहमोंका भूत घुस गया है। इसे हम कहाँतक लिखकर निवेदन करें। अतएव माता और बहिनोंको इन कुरीतियोंको हटानेके लिये जी-तोड़ परिश्रम करना चाहिये।

बहुत-सी स्त्रियाँ तो अपने बालकोंको यज्ञोपवीत भी नहीं दिलातीं। वे कह दिया करती हैं कि इसके चाचेने जनेऊ ली थी वह दो वर्ष बाद मर गया। भला बताइये क्या यह जनेऊका फल हो सकता है? जनेऊ लेनेसे तो अच्छी शिक्षा ही मिलती है। जिसके पालनसे मनुष्य पवित्र और दीर्घजीवी हो सकता है। यज्ञोपवीत एक उत्तम संस्कार है, इसलिये त्रैवर्णिकोंको अपने बालकोंको यज्ञोपवीत अवश्य दिलाना चाहिये।

स्त्रियोंके लिये पर्दा रखना एक लज्जाका अंग है।

पर्दा बहुत-से भाई लोग इसको स्वास्थ्य, सभ्यता और उन्नतिमें बाधक समझकर हटानेकी जी-तोड़ कोशिश करते हैं, यह समझना उनकी दृष्टिमें ही ठीक हो सकता है, किन्तु वास्तवमें पर्देकी प्रथा अच्छी है और पूर्वकालसे चली आती है। राजपूताना आदि देशोंमें जहाँ पर्देकी प्रथा है, वहाँकी स्त्रियोंके स्वास्थ्यको देखते हुए कौन कह सकता है कि पर्देसे स्वास्थ्य बिगड़ता है। स्वास्थ्य बिगड़नेमें स्त्रियोंकी अकर्मण्यता प्रधान है, न कि पर्दा। स्त्रियोंकी सभ्यता तो लज्जामें है न कि पर्दा उठाकर पुरुषोंके साथ घूमने-फिरने, मोटर आदिमें बैठने या थियेटर-सिनेमा आदिमें जानेमें। जो स्त्रियाँ सदासे पर्दा रखती आयी हैं उनमें उसके त्यागसे निर्लज्जताकी वृद्धि होकर, व्यभिचार आदि दोष आकर उनके नष्ट-भ्रष्ट होनेकी सम्भावना है जो महान् अवनति या पतन है।

कन्याओंके कर्तव्य

कन्याओंको प्रात:काल उठकर ईश्वरस्मरण, शौच, स्नान करनेके बाद माता, पिता, भाई, भौजाई आदि घरके पूज्य लोगोंको नमस्कार-प्रणाम आदि करना एवं उनसे उत्तम विद्या पढ़नी और उत्तम शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और उनकी आज्ञाका पालन तथा उनकी सेवा, सीना-पिरोना, कातना आदि गृहकार्य और शिल्पकार्य सीखना तथा गृहशुश्रूषा करनी चाहिये। ससुरालमें जाकर सबके साथ कैसे सद्बर्ताव करना, सेवा करना और शुश्रूषा करना—इन सारी बातोंकी शिक्षा अपने घरवालोंके उपदेश और चरित्रोंद्वारा ग्रहण करनी चाहिये। बुरी लड़की-लड़कोंका संग न करना एवं किसीके साथ मार-पीट, लड़ाई-झगड़ा, गाली-गुप्ता एवं दुर्व्यवहार न करना और लड़कोंके साथ खेलना-कूदना भी नहीं चाहिये। उत्तम आचरण और सुशील स्वभाववाली स्त्रियों और लड़कियोंका साथ करना चाहिये। व्यर्थ बकवाद, दूसरोंकी निन्दा, व्यर्थ चेष्टा, चाय, भाँग आदि नशीली वस्तुओंका सेवन इत्यादि बुरे व्यसनोंकी आदत नहीं डालनी चाहिये। बिस्कुट, बर्फ, सोडावाटर, लेमोनेड, विलायती औषध आदिका सेवन नहीं करना चाहिये, विलायती औषधमें लहसुन, प्याज, मदिरा, मांस, चर्बी, खून और अण्डा आदितकका प्राय: ही मिश्रण रहता है। इससे धर्म, धन और स्वास्थ्यकी भी हानि होती है। खट्टा, चरपरा, पान, सुपारी आदिकी भी आदत नहीं डालनी चाहिये। बालकपनसे ही हाथके बुने देशी कपड़े पहननेकी एवं काँच आदिकी पवित्र चूड़ियाँ पहननेकी आदत डालनी चाहिये। विलायती और मिलके बुने कपड़े और लाख तथा हाथी-दाँतकी बनी चूड़ियोंका कभी व्यवहार नहीं करना चाहिये। लाखकी चूड़ियोंमें बहुत हिंसा होती है और वे अपवित्र भी हैं।

खाने, पीने और खेल-कूद आदिमें मन न लगाकर बुद्धि, ज्ञान और विवेक आदिकी वृद्धिके लिये विद्या एवं धार्मिक पुस्तकें पढ़ने, सुनने और बाँचनेका अभ्यास करना चाहिये। शरीर, कपड़े, घरकी पवित्रताके लिये सफाई रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये। मनको पवित्र बनानेके लिये अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य आदि उत्तम आचरणोंका पालन करना चाहिये। शरीरमें बल बढ़ानेके लिये बरतन आदिका मलना, घरको झाड़ना-बुहारना, आटा पीसना, चावल कूटना, जल भरना, बड़ोंकी सेवा-शुश्रूषा आदि परिश्रमके काम करने चाहिये। कन्याओंके लिये यही उत्तम व्यायाम है, इनसे शरीरमें बलकी वृद्धि एवं मनकी पवित्रता भी होती है। शारीरिक और मानसिक कष्ट सहने आदिकी आदत डालनी चाहिये। पूर्वमें बताये हुए पुरुषोंके और स्त्री-जातिके सामान्य धर्मोंको सीखनेकी भी कोशिश करनी चाहिये। बड़ों और दूसरोंके कहे हुए कठोर वचनोंको भी शिक्षा मानकर प्रसन्नतासे सुनना और उनमें शिक्षा हो सो ग्रहण करनी चाहिये। दूसरोंके कहे हुए कड़वे और अप्रिय वचनोंमें भी हित खोजना चाहिये। देवी और देवताओंका पूजन, साधु-महात्मा, ज्ञानी और ब्राह्मणोंका सदैव सत्कार करना चाहिये। ऊपर बताये हुए सारे काम ईश्वरको याद रखते हुए ही करनेका स्वभाव बनाना चाहिये।

अपने भाई-बहिन आदिके साथ प्रेमपूर्वक रहने एवं उनकाप्यार करने और लालन-पालन करनेकी सभी बातें सीखनी और करनी चाहिये जिससे आगे चलकर अपनी सन्तानका भी पालन कर सकें।

कन्याको उचित है कि पिता या पिताकी सलाहसे भ्राता एवं पिताका देहान्त होनेके उपरान्त केवल भ्राता जिस पुरुषके साथ विवाह कर दे उसकी आजीवन सेवा एवं आज्ञाका पालन करे और पतिका देहान्त होनेके बाद भी उसके बताये हुए व्रतका कभी उल्लंघन न करे। क्योंकि मनु आदि महर्षियोंने कन्याके धर्म बतलाये हैं—

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वानुमते पितुः।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत्॥

(मनु० ५। १५१)

इस स्त्रीको उसका पिता अथवा पिताकी अनुमतिसे भाई जिस पुरुषके लिये दे दें उसके जीवनपर्यन्त उसकी भलीभाँति सेवा करनी चाहिये और मरनेके बाद भी उसके प्रतिकूल आचरण नहीं करना चाहिये।

विवाहिता स्त्रियोंके कर्तव्य

विवाहिता स्त्रीके लिये पातिव्रतधर्मके समान कुछ भी नहीं है, इसलिये मनसा-वाचा-कर्मणा पतिके सेवापरायण होना चाहिये। स्त्रीके लिये पतिपरायणता ही मुख्य धर्म है। इसके सिवा सब धर्म गौण हैं। महर्षि मनुने साफ लिखा है कि स्त्रियोंको पतिकी आज्ञाके बिना यज्ञ, व्रत, उपवास आदि कुछ भी न करने चाहिये। स्त्री केवल पतिकी सेवा-शुश्रूषासे ही उत्तम गति पाती है एवं स्वर्ग- लोकमें देवतालोग भी उसकी महिमा गाते हैं।[१]

जो स्त्री पतिकी आज्ञा बिना व्रत, उपवास आदि करती है वह अपने पतिकी आयुको हरती है और स्वयं नरकमें जाती है।[२]

इसलिये पतिकी आज्ञा बिना यज्ञ, दान, तीर्थ, व्रत आदि भी नहीं करने चाहिये, दूसरे लौकिक कर्मोंकी तो बात ही क्या है। स्त्रीके लिये पति ही तीर्थ है, पति ही व्रत है, पति ही देवता एवं परम पूजनीय गुरु भी पति ही है। ऐसा होते हुए भी जो स्त्रियाँ दूसरेको गुरु बनाती हैं, वे घोर नरकको प्राप्त होती हैं। जो लोग पर-स्त्रियोंके गुरु बनते हैं, यानी पर-स्त्रियोंको अपनी चेली बनाते हैं वे ठग हैं। वे इस पापके कारण घोर दुर्गतिको प्राप्त होते हैं। आजकल बहुत-से लोग साधु-महन्त और भक्तोंके वेषमें बिना गुरुके मुक्ति नहीं होती ऐसा भ्रम फैलाकर भोली-भाली स्त्रियोंको मुक्तिका झूठा प्रलोभन देकर उनके धन और सतीत्वका हरण करते हैं और घोर नरकके भागी बनते हैं। उन चेली बनानेवाले गुरुओंसे माताओं और बहिनोंको खूब सावधान रहना चाहिये। ऐसे पुरुषोंका मुख देखना भी धर्म नहीं है। मनु आदि शास्त्रकारोंने स्त्रियोंकी मुक्ति तो केवल पातिव्रतसे ही बतलायी है। गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा।
कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥
मन बच कर्म पतिहि सेवकाई।
तियहि न यहि सम आन उपाई॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई।
पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥

वही स्त्री पतिव्रता है जो अपने मनसे पतिका हित-चिन्तन करती है, वाणीसे सत्य, प्रिय और हितके वचन बोलती है, शरीरसे उसकी सेवा एवं आज्ञा-पालन करती है। जो पतिव्रता होती है वह अपने पतिकी इच्छाके विरुद्ध कुछ भी आचरण नहीं करती। वह स्त्री पतिसहित उत्तम गतिको प्राप्त होती है और उसीको लोग साध्वी कहते हैं।[३]

स्त्रियोंके लिये इस लोक और परलोकमें पति ही नित्य सुखका देनेवाला है।[४]

इसलिये स्त्रियोंको किंचिन्मात्र भी पतिके प्रतिकूल आचरण नहीं करना चाहिये। जो नारी ऐसा करती है यानी पतिकी इच्छा और आज्ञाके विरुद्ध चलती है उसको इस लोकमें निन्दा और मरनेपर नीच गतिकी प्राप्ति होती है।

पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई।
बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥

इस प्रकार पतिकी इच्छाके विरुद्ध चलनेवालीकी ही यह गति लिखी है, फिर जो नारी दूसरे पुरुषोंके साथ रमण करती है उसकी घोर दुर्गति होती है इसमें तो बात ही क्या है?

पति बंचक परपति रति करई।
रौरव नरक कल्प सत परई॥

अत: स्त्रियोंको जाग्रत्‌की तो बात ही क्या स्वप्नमें भी परपुरुषका चिन्तन नहीं करना चाहिये। वही उत्तम पतिव्रता है जिसके दिलमें ऐसा भाव है—

उत्तम के अस बस मन माहीं।
सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥

पति यदि कामी हो, शील एवं गुणोंसे रहित हो तो भी साध्वी यानी पतिव्रताको ईश्वरके समान मानकर उसकी सदा सेवा-शुश्रुषा करनी चाहिये।

१-नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्। पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥ (मनु० ५। १५५)
स्त्रियोंको पतिसे अलग यज्ञ, व्रत और उपवासका अधिकार नहीं है; क्योंकि वह जो पतिकी सेवा करती है उसीसे स्वर्गमें आदर पाती है।

२-पत्यौ जीवति या तु स्त्री उपवासं व्रतं चरेत्। आयुष्यं हरते भर्तुर्नरकं चैव गच्छति॥
जो स्त्री पतिके जीवित रहते उपवास-व्रतका आचरण करती है वह पतिकी आयु क्षीण करती है और अन्तमें नरकमें पड़ती है।

३-पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता। सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते॥ (मनु० ५। १६५)
जो स्त्री मन, वाणी और शरीरको वशमें रखती हुई पतिके [अनुकूल आचरण करती है] प्रतिकूल आचरण कभी नहीं करती वह [मृत्युके पश्चात्] पतिलोकको प्राप्त होती है और सज्जन पुरुष उसे साध्वी (पतिव्रता) कहते हैं।

४-अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः। सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः॥ (मनु० ५। १५३)
मन्त्रोंद्वारा संस्कार करनेवाला पति स्त्रीको ऋतुकालमें या अन्य समय एवं इस लोक और परलोकमें सदा ही सुख देता है।

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥

(मनु० ५। १५४)

अपमान तो अपने पतिका कभी नहीं करना चाहिये; क्योंकि जो नारी अपने पतिका अपमान करती है वह परलोकमें जाकर महान् दुःखोंको भोगती है।

बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना।
अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना।
नारि पाव जमपुर दुख नाना॥

साध्वी स्त्रियोंको पुरुषों और स्त्रियोंके जो सामान्य धर्म बतलाये हैं उनका भी पालन करना चाहिये। पातिव्रतधर्मके रहस्यको जाननेवाली स्त्रियोंको अपने पतिसे बड़ों—सास, ससुरादिकी पतिके समान ही सेवा-पूजा और आज्ञापालन करनी चाहिये; क्योंकि वे पतिके भी पति हैं। पातिव्रतधर्मके आदर्शस्वरूप सीता-सावित्री आदिने ऐसा ही किया है। जब सावित्री अपने पतिके साथ वनमें गयी तब पतिकी आज्ञा होनेपर भी सास-ससुरकी आज्ञा लेकर ही गयी थी। श्रीसीताजी भी श्रीरामचन्द्रजीके साथ माता कौसल्यासे आज्ञा, शिक्षा और आशीर्वाद लेकर ही गयी थीं।

साध्वी स्त्रियोंको उचित है कि अपने लड़के-लड़कियोंको आचरण एवं वाणीद्वारा उत्तम शिक्षा दें। माता-पिता जो आचरण करते हैं, बालकोंपर उनका विशेष असर पड़ता है। अतः स्त्रियोंको झूठ-कपट आदि दुराचार एवं काम, क्रोध आदि दुर्गुणोंका सर्वथा त्याग करके उत्तम आचरण करने चाहिये। बहुत-सी स्त्रियाँ लड़कियोंको 'राँड' और लड़कोंको 'तू मर जा', 'तेरा सत्यानाश हो जाय' इत्यादि कटु और दुर्वचन बोलती हैं एवं उनको भुलानेके लिये 'मैं तुझे अमुक चीज मँगवा दूँगी' इत्यादि झूठा विश्वास दिलाती हैं और 'बिल्ली आयी' 'हाऊ आया' इत्यादि झूठा भय दिखाती हैं। इनसे बहुत नुकसान होता है, अतएव ऐसी बातोंसे स्त्रियोंको बचना चाहिये। बालकका दिल कोमल होता है, अतः उसमें ये बातें जम जाती हैं और वह झूठ बोलना, धोखा देना आदि सीख जाता है एवं अत्यन्त भीरु और दीन बन जाता है। बालकोंके दिलमें वीरता, धीरता, गम्भीरता उत्पन्न हो ऐसे ओज और तेजसे भरे हुए सच्चे वचनोंद्वारा उनको आदेश देना चाहिये। उनमें बुद्धि और ज्ञानकी उत्पत्तिके लिये सत्-शास्त्रकी शिक्षा देनी चाहिये। बालकोंको गाली आदि नहीं देनी चाहिये; क्योंकि गाली देना उनको गाली सिखाना है। अश्लील गंदे-कड़वे अपशब्दोंका प्रयोग भी नहीं करना चाहिये। संगका बहुत असर पड़ता है। पशु-पक्षी भी संगके प्रभावसे सुशिक्षित और कुशिक्षित हो जाते हैं। सुना जाता है कि मण्डन मिश्रके द्वारपर रहनेवाले पक्षी भी शास्त्रके वचन बोला करते थे। देखा भी जाता है कि गाली बकनेवालोंके पास रहनेवाले पक्षी भी गाली बका करते हैं। अतः सदा सत्य, प्रिय, सुन्दर और मधुर हितकर वचन ही बहुत प्रेमसे धीमे स्वरसे और शान्तिसे बोलने चाहिये। बालकोंके सम्मुख पतिके साथ हँसी-मजाक एवं एक शय्यापर सोना-बैठना कभी नहीं करना चाहिये। जो स्त्रियाँ ऐसा करती हैं वे अपने बालकोंको व्यभिचारकी शिक्षा देती हैं।

पर-पुरुषका दर्शन, स्पर्श, एकान्तवास एवं उसके चित्रका भी चिन्तन नहीं करना चाहिये। लोभ, मोह, शोक, हिंसा, दम्भ, पाखण्ड आदिसे सदा बचकर रहना चाहिये। और उत्तम गुण एवं आचरणोंके लिये गीता, रामायण, भागवत, महाभारत एवं सती-साध्वी स्त्रियोंके चरित्र पढ़नेका अभ्यास रखना चाहिये और उनके अनुसार ही बालकोंको शिक्षा देनी चाहिये।

बच्चोंको खिलाने-पिलाने इत्यादिमें भी अच्छी शिक्षा देनी चाहिये। मदालसाने अपने बालकोंको बाल्यावस्थामें ही ज्ञान और वैराग्यकी शिक्षा देकर उन्हें उच्च श्रेणीके बना दिया था। बच्चे बुरे बालकों एवं बुरे स्त्री-पुरुषोंका संग करके कुशिक्षा ग्रहण न कर लें, इसके लिये माता-पिताको विशेष ध्यान रखना चाहिये। हाथके बुने स्वदेशी वस्त्र स्वयं पहनने और बालकोंको भी पहनाने चाहिये। बच्चोंको ऐसी शिक्षा देनी चाहिये जिससे उनका प्रेम शृंगारादिमें न होकर ईश्वर और उत्तम शिक्षा आदिमें हो।

बालकोंको गहने पहनाकर नहीं सजाना चाहिये। इससे स्वास्थ्यकी हानि एवं कहीं-कहीं प्राणोंकी भी जोखिम हो जाती है। बल बढ़नेके लिये व्यायाम और बुद्धिकी वृद्धिके लिये विद्या एवं उत्तम शिक्षा देनी चाहिये। थियेटर-सिनेमा आदि देखनेका व्यसन और बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, भाँग, गाँजा, सुलफादि मादक वस्तुओंका सेवन करनेकी आदत न पड़ जाय इसके लिये भी माता-पिताको ध्यान रखना चाहिये। लड़की और लड़केके खान-पान, लाड़-प्यार और व्यवहारमें भेद-भाव नहीं रखना चाहिये। प्रायः स्त्रियाँ खान-पान, लाड़-प्यार और दुःख-सुख, मरण आदिमें भी लड़कोंके साथ जैसा व्यवहार करती हैं लड़कियोंके साथ वैसा नहीं करतीं। उनका अपमान करती हैं। जो स्त्रियाँ इस प्रकार अपने ही बालकोंमें विषमताका व्यवहार करती हैं उनसे समताकी आशा कैसे की जा सकती है? इस प्रकारकी विषमतासे इस लोकमें अपकीर्ति और परलोकमें

दुर्गति होती है। अतः बालकोंके साथ समताका ही व्यवहार रखना चाहिये।

बहुत-सी स्त्रियाँ भूत, प्रेत, देवता, पीर आदिका किसीमें आवेश समझकर भय करने लग जाती हैं। यह प्रायः फजूल बात है। ऐसी बातोंपर कभी वहम—विश्वास नहीं करना चाहिये। इस प्रकारकी बातें अधिकांशमें तो हिस्टीरिया आदिकी बीमारीसे होती हैं। बहुत-सी जगह जान-बूझकर ऐसा चरित्र किया जाता है। कभी-कभी वहम या भयसे भी आवेश-सा आ जाता है। अतः इनपर विश्वास नहीं करना चाहिये। यह सब वाहियात बातें हैं। इसलिये स्त्रियोंको जादू-टोना, आखा दिखाना, झाड़-फूँक, मन्त्र आदि अपने या अपने घरवालोंपर नहीं करवाने चाहिये एवं ऐसा करनेवाली स्त्रियोंका संग भी नहीं करना चाहिये।

वेश्या, व्यभिचारिणी, लड़ाई-झगड़ा करनेवाली, निर्लज्ज और दुष्टा स्त्रियोंका संग कभी नहीं करना चाहिये; परन्तु उनमें घृणा और द्वेष भी नहीं करना चाहिये। उनके अवगुणोंसे ही घृणा करनी चाहिये। बड़ोंकी, दुःखियोंकी और घरपर आये हुए अतिथियोंकी एवं अनाथोंकी सेवापर विशेष ध्यान देना चाहिये।

यज्ञ, दान, तप, सेवा, तीर्थ, व्रत, देवपूजन आदि पतिके साथ उसकी आज्ञाके अनुसार उसके सन्तोषके लिये अनुगामिनी होकर ही करें, स्वतन्त्र होकर नहीं!

पतिका जो इष्ट है वही स्त्रीका भी इष्ट है। अतः पतिके बताये हुए इष्टदेव परमात्माके नामका जप और रूपका ध्यान करना चाहिये। स्त्रियोंके लिये पति ही गुरु है। यदि पतिको ईश्वरकी भक्ति अच्छी न लगती हो तो पिताके घरसे प्राप्त हुई शिक्षाके अनुसार भी ईश्वरकी भक्ति बाहरी भजन, सत्संग, कीर्तन आदि न करके गुप्तरूपसे मनमें ही करें। भक्तिका मनसे ही विशेष सम्बन्ध होनेके कारण यह जहाँतक बन सके गुप्तरूपसे ही करनी चाहिये; क्योंकि गुप्तरूपसे की हुई भक्ति विशेष महत्त्वकी होती है।

पति जो कुछ भी कहे उसका अक्षरशः पालन करें; किन्तु जिस आज्ञाके पालनसे पति नरकका भागी हो उसका पालन नहीं करना चाहिये। जैसे पति काम, क्रोध, लोभ, मोहवश चोरी या किसीके साथ व्यभिचार करने, किसीको विष पिलाने, जानसे मारने, भ्रूणहत्या, गोहत्या आदि घोर पाप करनेके लिये कहे तो वह नहीं करे। ऐसी आज्ञाका पालन न करनेसे अपराध भी समझा जाय तो भी पतिको नरकसे बचानेके लिये उसका पालन नहीं करना चाहिये, जिस कामसे पतिका परम हित हो वह काम स्वार्थ छोड़कर करनेकी सदा चेष्टा रखनी चाहिये।

विधवा स्त्रियोंकी सेवापर विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि अपने धर्ममें रहनेवाली विधवा स्त्री देवीके समान है। उसकी सेवा-शुश्रूषा करने, उसके साथ प्रेम करनेसे स्त्री इस लोकमें सुख और परलोकमें उत्तम गति पाती है। जो स्त्री विधवाको सताती है वह उसकी हायसे इस लोकमें दुखिया हो जाती है और मरनेपर नरकमें जाती है।

ऊपर बताये हुए पातिव्रतधर्मको स्वार्थ छोड़कर पालन करनेवाली साध्वी स्त्री इस लोकमें परमशान्ति एवं परम आनन्दको प्राप्त होती है और मरनेके बाद परम गतिको प्राप्त होती है।

विधवाओंके कर्तव्य

पतिके शान्त होनेके बाद विधवा स्त्रीको उचित है कि जिस प्रकार पतिकी जीवित अवस्थामें उसके मनके अनुकूल आचरण करती थी उसी प्रकार उसके मरनेपर भी करना चाहिये। धर्मका ऐसा आचरण करनेवाली स्त्री पतिके मरनेपर भी साध्वी कहलाती है और वह उत्तम गतिको प्राप्त होती है। वह पवित्र पुष्प, मूल और फलोंद्वारा अपने शरीरका निर्वाह करती हुई पवित्रताके साथ अपना जीवन बितावे। परपुरुषके दर्शन, भाषण, चिन्तनकी बात तो दूर रही उसका नाम भी उच्चारण न करे।

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु॥
आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम्॥

(मनु० ५। १५७-१५८)

'पवित्र पुष्प-मूल-फलोंके द्वारा निर्वाह करते हुए अपनी देहको दुर्बल भले ही कर दे, परन्तु पतिके मरनेपर दूसरेका नाम भी न ले। पतिव्रता स्त्रियोंके सर्वोत्तम धर्मको चाहनेवाली विधवा स्त्री मरणपर्यन्त क्षमायुक्त नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यसे रहे।'

इस प्रकार ब्रह्मचर्यका पालन करती हुई विधवा स्त्री साध्वी पतिव्रता स्त्रीके अनुसार पतिके उत्तम लोकोंको प्राप्त होती है। केवल फल-मूलादिसे काम न चले तो साधारण शाक-अन्नद्वारा एक समय भोजन करके जीवन धारण करे। यदि ऐसा करके न रहा जाय तो दोनों समय भी हलका और अल्पाहार कर ले। किन्तु मादक और अपवित्र एवं कामोद्दीपक पदार्थोंका कभी सेवन न करे तथा घृत, दूध, चीनी, मसाला आदिका भी जहाँतक हो त्याग करे; क्योंकि ये भी उत्तेजक हैं। कर्तव्य समझकर निष्कामभावसे पालन किया हुआ धर्म परमगतिको प्राप्त कराता है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(गीता २। ४०)

'इस निष्कामकर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं होता है, इसलिये इस निष्कामकर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा भी साधन, जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है।'

अत: विधवा स्त्रियोंको निष्कामभावसे पतिव्रता स्त्रियोंकी भाँति पतिके मरनेके बादमें भी पतिको जिस कार्यमें सन्तोष होता था वही कार्य करके अपना काल व्यतीत करना चाहिये। वर्तमान समयमें कई भाई जिनको शास्त्रका अनुभव नहीं है विधवा स्त्रियोंको फुसलाकर उनका दूसरा विवाह करवा देते हैं; किन्तु शास्त्रोंमें कहीं विधवाविवाहकी विधि नहीं है। मनुजी कहते हैं—

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः॥

(मनु० ९। ६५)

'वैवाहिक मन्त्रोंमें कहीं भी नियोगका विधान नहीं किया गया है और विवाह-संस्कारकी विधिमें कहीं विधवाका पुनर्विवाह करना भी नहीं बताया गया है।'

क्योंकि पिता तो कन्यादान दे चुका अत: उसका अब फिर दान देनेका अधिकार नहीं और पति मर चुका ऐसी अवस्थामें कौन किसको दान दे? इसलिये शास्त्रकारोंने इसका घोर निषेध करते हुए कहा है कि कन्याका दान एक बार ही होता है।

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्॥

(मनु० ९। ४७)

'पिताके धनका भाग एक ही बार मिलता है, कन्यादान एक ही बार किया जाता है, किसी वस्तुको देनेकी प्रतिज्ञा एक ही बार की जाती है, इस तरह सत्पुरुषोंके ये तीनों कार्य एक ही बार हुआ करते हैं।'

असलमें तो स्त्री-पुरुषोंके लिये आजीवन ब्रह्मचर्यपालन करना ही सर्वोत्तम है परन्तु ऐसा होना असम्भव-सा है। इसलिये शास्त्रकारोंने विवाह करनेकी आज्ञा दी है। किन्तु साथमें यह भी आज्ञा दी है कि जो एक सन्तान उत्पन्न होनेके बाद आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन करता है वह भी अत्युत्तम है। इस व्यवस्थाको देखते विधवाविवाहकी तो बात भी नहीं चलायी जा सकती। अतएव जिस स्त्रीका पति और जिस पतिकी स्त्री शान्त हो जाय उनको तो ब्रह्मचर्यसे ही रहना चाहिये, ब्रह्मचर्यका पालन इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला और परमशान्ति एवं आनन्द देनेवाला है। जो लोग विधवाओंको विषय-सुखका प्रलोभन दिखाकर उनके मनको खराब करते हैं, वे वास्तवमें उनकी आत्माका पतन करनेवाले हैं। अतएव उन लोगोंकी बातोंपर अपना कल्याण चाहनेवाली स्त्रियोंको कभी ध्यान नहीं देना चाहिये।

जो स्त्री ईश्वरके रहस्यको जानती है वह पतिकी मृत्युपर भी दु:खित नहीं होती; क्योंकि वह समझती है कि ईश्वर जो कुछ करता है वह भलेके लिये ही करता है। वह पतिकी मृत्यु-सरीखे शोकमें भी ईश्वरकी दयाका दर्शन करती रहती है। भारी पापका फल पतिकी मृत्यु है और पापके फलके उपभोगसे पाप शान्त होता है। ईश्वरने भारी पापसे मुक्त होनेके लिये एवं भविष्यमें पापसे बचनेके लिये तथा नाशवान् क्षणभंगुर भोगोंसे मुक्ति पानेके लिये और अपनेमें अनन्य भक्ति करनेके लिये एवं हमारे हितके लिये ही हमें यह दण्ड देकर हमपर अनुग्रह किया है। इस प्रकार पद-पदपर दु:खमें भी ईश्वरकी दयाका अनुभव करनेवाली स्त्री ईश्वरकी अनन्य भक्ति करके परमगतिको प्राप्त हो जाती है। अत: माताओं और बहिनोंको ईश्वरके द्वारा दिये हुए दु:खोंमें भी दयाका दर्शन करते हुए उसकी अनन्य भक्ति करनी चाहिये।

ऊपर बताये हुए पुरुष और स्त्रियोंके सामान्य धर्मका भी पालन करना एवं क्षणस्थायी इन्द्रियोंके भोगोंका त्यागकर संयमसे रहना चाहिये।

प्रात:काल शौच, स्नान आदि करके अपने घरमें ही एकान्त स्थानमें जप, तप, पूजा, पाठ, स्तुति, ध्यान आदि ईश्वरकी भक्ति करे। इसके बाद बड़ोंके चरणोंमें प्रणाम करके उनकी सेवा एवं उनकी आज्ञाके अनुसार गृहकार्य ईश्वरकी याद रखते हुए ही करे। माता कुन्तीकी तरह गृहकार्य एवं बड़ोंकी सेवामें ही दिन बितावें, उसीको अपना परम धन एवं धर्म समझें। जब सेवा एवं गृहकामसे छुट्टी पावें तब एकान्तमें बैठकर अनन्य मनसे ईश्वर-भक्तिमें लगें। किन्तु एक क्षण भी निकम्मी न रहें; क्योंकि उत्तम कर्म ही परम धन है। इस प्रकार निष्कामभावसे की हुई सेवाद्वारा स्त्री सारे पापोंसे छूटकर उत्तम गति पाती है।

स्त्रियोंकी दृष्टि स्वाभाविक ही पुरुषोंकी तरफ चली जाती है। इसके निरोधके लिये विशेष संयम रखना चाहिये। यदि स्वभावके दोषके कारण भूलसे भी किसी पुरुषका दर्शन हो जाय तो या तो उस दिन एक समय ही भोजन करें या ईश्वरके नामका जप और अधिक करें।

ससुरालमें या पीहरमें जहाँ कहीं रहना हो अपने घरके पुरुषोंकी आज्ञामें ही रहना चाहिये, घरके बाहर तो उनकी आज्ञा बिना जाना ही न चाहिये; परन्तु घरमें रहकर भी

उनके आज्ञानुसार ही कार्य करना चाहिये। क्योंकि स्त्रियोंके लिये स्वतन्त्रता सर्वथा निषिद्ध है। स्वतन्त्रतासे उनका पतन हो जाता है। जो स्त्री स्वतन्त्रतासे बाहर फिरती है वह दूषित वातावरणको पाकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है।

सभी स्त्रियोंको अपने पिता, भाई, पति, देवर, जेठ और पुत्रके बिना कथा, कीर्तन, भजन, सत्संग, व्याख्यान, मन्दिर, तीर्थ और किसी धार्मिक संस्था या स्थानमें भी कभी अकेले नहीं जाना चाहिये, क्योंकि आजकल बहुत-से धार्मिक स्थानोंमें भी स्थानके अधिकारी लोग धन, गहने और धर्मका अपहरण करने एवं और भी भारी अत्याचार करने लग गये हैं। स्त्रियोंके लिये पतिके मरनेके बाद भी पतिके अतिरिक्त गुप्त या प्रकटरूपसे गुरु बनाना, उनकी सेवा करना, दूसरे पुरुषोंका उच्छिष्ट खाना, उनकी पूजा करना, घरवालोंसे छिपकर उनको रुपये देना, उनके साथ एकान्तवास करना सर्वथा निषिद्ध है। इसलिये इन बातोंसे स्त्रियोंको विशेष सावधान रहकर बचना चाहिये। क्योंकि आजकल बहुत-सी स्त्रियाँ मन्दिर, तीर्थ, गंगास्नान और सत्संग आदिका बहाना लेकर असदाचरण करती हैं। इसी बहाने बाहर निकलकर उन चेली बनानेवाले ठगोंके पंजेमें पड़कर धन, जेवर और सतीत्वको नष्ट कर देती हैं। इस समय तो शास्त्रविपरीत बहुत-से वैश्य, शूद्र और चमारतक भी अपनी जीविका छोड़कर साधु और भक्तोंके वेषमें तीर्थों आदिपर रहकर स्त्रियोंसे सेवा करवाते हैं और गुप्तरूपसे उनसे धन मँगवाते हैं, उनके कण्ठी बाँधते हैं, उनको गुरुमन्त्र देते हैं, उनसे पैर पुजवाते हैं, उनके स्थानपर जाकर या उनको अपने स्थानपर बुलवाकर कथा, कीर्तन, सत्संगके बहाने अनेक प्रकारसे जाल बिछाकर भोली-भाली स्त्रियोंका धन और सतीत्व हरते हैं।

विधवा बहिनोंके लिये तो एकमात्र ईश्वर ही पति और ईश्वर ही गुरु है। उस परमपूजनीय सर्वव्यापी सगुण-निर्गुणरूप परमात्माकी अपने हृदयरूपी मन्दिरमें चिन्मय दिव्य मनोहर मूर्तिका ध्यान एवं पूजन करना सर्वोत्तम है। यदि ऐसा न हो सके तो सर्वव्यापी अपने इष्टदेवके दिव्यमूर्तिकी बाहर देशमें मनसे स्थापना करके उस मानसिक दिव्यमूर्तिकी मानसिक ही पूजा करनी चाहिये! यदि ऐसा न बन पड़े तो मीराबाईकी तरह अपने घरमें ही इष्टदेव परमात्माकी धातु आदिकी मूर्ति या चित्र रखकर उसकी सेवा, पूजा करनी चाहिये और उसीपर ध्यान जमाना चाहिये।

पीहर या ससुरालमें घरमें कोई निकटवर्ती पुरुष न हो अथवा होकर भी भोजन-वस्त्रादि देकर पालन न करे तो ऐसे विपत्तिकालमें भी उनकी सेवा करते हुए ही गृह-शिल्प या मेहनत-मजदूरी आदिद्वारा अपने शरीरका निर्वाह करें; परन्तु काम, क्रोध, लोभ, और मोहके वशीभूत होकर अपने धर्म और लज्जाका कभी त्याग न करें, अपने पीहर और ससुरालवालोंको कलंक लगे और अपना लोक-परलोक नष्ट हो ऐसा कार्य भारी आपत्ति आ पड़नेपर भी न करें।

पलंग, रंगीन वस्त्र, आभूषण, शृंगार एवं ऐश-आराम, स्वाद, भोग, प्रमाद, आलस्य, दुर्गुण और दुराचारोंका एकदम त्याग कर दें। शृंगार करनेवाली स्त्रियोंके संगका राग और द्वेषसे रहित होकर यथाशक्ति त्याग करें; क्योंकि वह ज्ञान, वैराग्य, ईश्वरभक्ति एवं तपमें बाधा डालनेवाला है। गाने-बजाने, नाच-विवाह आदि कार्योंसे बचकर रहें। तप-उपवास आदिको यथाविधि धारण-पालन करें।

फालतू बातचीत एवं व्यर्थ चेष्टा करके अपने अमूल्य समयको न बितावें। मृत्युको नजदीक समझकर सारा समय अपने कल्याणके कार्यमें ही लगानेकी कोशिश रखें। मन और इन्द्रियोंका संयम एवं यम-नियमादि सामान्य धर्मोंके पालनपर ध्यान रखते हुए ईश्वरके भक्ति-परायण होकर पवित्रताके साथ अपना जीवन बितावें।

उपर्युक्त प्रकारसे जीवन बितानेवाली विधवा स्त्री देवताओंद्वारा भी पूजनके योग्य होती है। इस प्रकारकी पवित्र स्त्रियोंकी सेवा करनेवाले पुरुष भी पवित्र हो जाते हैं। जिन घरोंमें ऐसी स्त्रियाँ वास करती हैं वे घर भी पवित्र समझे जाते हैं।

पुरुषोंका स्त्रियोंके साथ व्यवहार

माताओं और बहिनोंके दोषोंको दिखाते हुए हमने बहुत-सी बातें लिखी हैं; किन्तु पुरुषोंके दोषोंकी तरफ देखा जाय तो उनमें इनसे भी कहीं अधिक दोष मिलेंगे। परन्तु स्त्रियोंका विषय होनेके कारण उनके सुधार और ज्ञानके लिये इतनी बातें लिखी हैं। अपेक्षाकृत देखा जाय तो सभी स्त्रियाँ पुरुषोंके साथमें सेवादिका व्यवहार करती हैं पर बदलेमें पुरुष उनके साथ वैसा नहीं करते। कोई-कोई तो बात-बातमें अपनी स्त्रियोंका अपमान करते हैं, उनको गालियाँ देते हैं और मार-पीटतक भी करने लग जाते हैं। यह मनुष्यताके बाहरकी बात है। उन भाइयोंसे हमारा नम्र निवेदन है कि स्त्रियोंके साथ अमानुषिक व्यवहार कदापि न करें। इस प्रकारके व्यवहारसे इस लोकमें अपकीर्ति और परलोकमें दुर्गति होती है।

कोई-कोई भाई लोभके वशीभूत होकर अपनी कन्याको वृद्ध, रोगी, मूर्ख, अंगहीन आदि अपात्रोंके प्रति दे देते हैं। वे देने और लेनेवाले दोनों कन्याके जीवनको

नष्ट करते हैं और स्वयं नरकके भागी होते हैं। अतः ऐसे पापोंसे मनुष्यको अवश्य बचकर रहना चाहिये।

स्त्रियोंके साथ सत्कारपूर्वक अच्छा व्यवहार करना चाहिये। स्त्रियोंका जहाँ सत्कार होता है वहाँ सब देवता निवास करते हैं। जहाँ सत्कार नहीं होता है वहाँ सारे कर्म निष्फल हो जाते हैं। जब घरमें कोई पुरुष बीमार पड़ता है तो उसके लिये जितनी कोशिश होती है उतनी जब कोई स्त्री बीमार पड़ती है तब नहीं होती। यह विषमताका व्यवहार विषके समान फल देनेवाला है। अतः पुरुषोंको उचित है कि स्त्री-पुरुष सबके साथ समताका व्यवहार करें।

स्त्रियोंमें जो कई प्रकारके दोष दिखाये गये हैं उनका कारण भी अधिकांशमें पुरुष ही हैं; क्योंकि पुरुष स्त्रियोंके साथ बुरा व्यवहार करते हैं। अतः उनको पुरुषोंसे ही बुरी शिक्षा प्राप्त होती है। यदि पुरुष स्त्रियोंके साथ अपना व्यवहार सुधार लें तो उनका बहुत-सा सुधार होना स्वाभाविक ही है। क्योंकि यह न्याय है कि जब कोई किसीके साथ अच्छा व्यवहार करता है तो दूसरा भी उसके साथ अच्छा ही व्यवहार करता है।

विधवा स्त्रियोंके साथ तो पुरुषोंका व्यवहार प्रायः निन्दनीय ही है। उसके सुधारकी बहुत ही आवश्यकता है। जिसका पति मर जाता है वह बेचारी अनाथा हो जाती है, उसका लोग कहीं आदर नहीं करते, न पीहरमें न ससुरालमें! बहुत-से पुरुष अपनी पत्नियोंके वशमें होकर धर्म पालनेवाली सुशीला विधवा स्त्रीके साथमें भी सद्व्यवहार नहीं करते और न उसका पालन-पोषण ही करते हैं। प्रथम तो इस घोर कलिकालमें विधवाका धर्म रहना स्वाभाविक ही कठिन है तिसपर कोई रखना चाहती है तो उसको मदद देना तो दूर रहा बल्कि लोग अनेक प्रकारके संकटोंमें डालनेकी चेष्टा करते हैं। इसमें कोई-कोई तो दुःखित होकर धर्मको छोड़ देती हैं। अतएव जिनके घरमें विधवा स्त्री हों उन मनुष्योंको स्वयं संयमसे रहकर उनको संयमकी शिक्षा देनी चाहिये। ऐश-आराम-भोगोंको तुच्छ समझकर स्वयं उत्तम आचरणोंको करते हुए उनको क्रियाके द्वारा सीख देनी चाहिये। उनकी तन-मन-धनसे मदद करनी चाहिये। विशेष मदद न दे सकें तो उनके स्वत्वपर तो बुरी नीयत कभी न करनी चाहिये। बहुत-से लोग तो ऐसे देखे गये हैं जो पुत्र, भाई आदिके मरनेके बाद उनकी स्त्रियोंके धनपर अधिकार जमाकर उनपर झूठा-सच्चा कलंक लगाकर उनको भोजनतक भी नहीं देते और कोई-कोई तो लोभमें आकर धन छीननेके लिये निकालनेतककी चेष्टा करते हैं। उस दुखियाकी हायसे उनका यह लोक और परलोक नष्ट हो जाता है। उन पुरुषोंको ईश्वरकी तरफ और मृत्युकी तरफ खयाल करके इस राक्षसी कर्मसे विरत होना चाहिये। यह लेख स्त्रियोंके विषयका होनेके कारण पुरुषोंके विषयोंको यहाँ विशेष नहीं लिखकर संक्षेपसे ही कुछ निवेदनमात्र किया है।

मिल और नीलसे हानि

वर्तमान युग प्रायः यन्त्रयुग हो रहा है, जहाँ देखिये वहीं यन्त्रका साम्राज्य है। प्रायः बड़े-से-बड़े राष्ट्रोंसे लेकर मामूली खाने-पीने-पहननेतककी वस्तु आज यन्त्रके आश्रित है। परन्तु इस यन्त्रसे दुनियामें जो दुःखका दावानल धधक उठा है, उसे देख-सुनकर हृदय काँप उठता है। यन्त्र प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षरूपसे अबाधित गतिसे मानव-प्राणियोंके सुखका सतत संहार कर रहा है। मानवेतर प्राणियोंकी तो यन्त्रको कोई परवा ही नहीं है। यह इस प्रकारका संहारक पदार्थ है कि जो मानवसंहारी असुरोंसे भी किसी अंशमें बढ़ गया है। आज संसारमें जो चारों ओर पेटकी ज्वालासे जलते हुए प्राणियोंका हाहाकार मच रहा है, करोड़ों मनुष्य बेकार हो रहे हैं, असंख्य नर-नारी विविध रोगोंसे ग्रस्त हैं, कर्मशील मानव अकर्मण्य और आलसी बन गये हैं—इसका एक प्रधान कारण यह भयानक यन्त्रविस्तार है। यान्त्रिक सभ्यताका यदि इसी प्रकार विस्तार होता रहा तो सम्भवतः एक समय ऐसा आवे, जब कि सब प्रकारसे धर्म-कर्म-शून्य होकर मनुष्य ही मनुष्यका घातक बन जाय। प्रकारान्तरसे तो यह स्वरूप अब भी प्रत्यक्ष ही है।

खेदका विषय है कि ऋषि-मुनि-सेवित पवित्र भारत-भूमिमें भी यन्त्रका विस्तार दिनोदिन बढ़ रहा है। पहले तो कपड़े और पाट आदिकी ही मिलें थीं, जिनसे गरीबोंका गृह-उद्योग चर्खा आदि तो नष्ट ही हो गया था। अब छोटी-बड़ी सब तरहकी मिलें बन रही हैं, जिनमें ग्राम-उद्योगका बचा-खुचा स्वरूप भी नष्ट हो रहा है। स्त्रियाँ धान कूटकर काम चलाती थीं, अब चावलोंकी मिलें हो गयीं। गरीब विधवा बहिनें आटा पीसकर अपना और अपने बच्चोंका पेट भरती थीं, अब गाँव-गाँवमें आटा पीसनेवाली कलकी चक्कियाँ बैठ गयीं। तेलियोंके कोल्हूको मिलोंने प्रायः हड़प लिया। चीनीका सबसे बड़ा गरीबोंका रोजगार तो मिलोंके द्वारा बड़ी ही बुरी तरहसे मारा गया। अब कपड़े धोनेका काम भी मशीनोंसे शुरू हो गया है, जिससे बेचारे गरीब धोबियोंकी रोटी भी मारी जानेकी

सम्भावना हो गयी है। यह तो निश्चित है कि सैकड़ों-हजारों आदमियोंका काम जहाँ एक मिलसे होगा, वहाँ लोगोंमें बेकारी ही फैलती दृष्टि आती है। बेकारीमें असहाय होकर, अपने और परिवारकी पेटकी ज्वालासे पीड़ित होकर, इच्छा न होनेपर भी परिस्थितिमें पड़कर, मनुष्यको किस-किस प्रकारसे बुरे कर्म करने पड़ते हैं और कहीं-कहीं तो परिवार-का-परिवार आँसुओंसे तन-वदनको धोता हुआ चुपचाप एक ही साथ जीवनलीला समाप्त कर लेता है। इस बातका पता बेकारोंको तो प्राय: है ही, अखबार पढ़नेवाले लोग भी ऐसी घटनाओंसे अनजान नहीं हैं।

साथ ही हाथकी बनी चीजोंमें जो जीवनीशक्ति, एक विशिष्ट सौन्दर्य, धर्मकी एक पवित्र भावना रहती है, वैसी मिलके बने पदार्थोंमें ढूँढ़नेपर भी नहीं मिलती। प्राकृतिक और कृत्रिममें अथवा असली और नकलीमें जो भेद रहता है वही भेद प्राय: इनमें भी समझना चाहिये। आटे और चावलको ही लीजिये, जाँतेमें हाथसे पिसे आटे और ढेकीसे कुटे चावलमें जो जीवनीशक्ति रहती है, बल और आरोग्यवर्धक तत्त्व रहता है, मिलके पिसे आटे या मिलके कुटे चावलमें प्राय: वैसा नहीं रहता। घर फूँककर रोशनी देखनेकी भाँति अवश्य ही उनका कृत्रिम सौन्दर्य तो बढ़ ही जाता है।

अभी बेरी-बेरी रोगके सम्बन्धमें जाँच पड़ताल होनेपर, यह बात निश्चित हो चुकी है कि इस रोगके उत्पन्न और विस्तार होनेमें आटा, चावल आदि मिलोंके पिसे-कुटे पदार्थ ही विशेष कारणरूप हैं। यही हाल चीनीका है। जो जीवन-तत्त्व ग्रामोंके हाथसे बने गुड़में है, उससे अनेकों हिस्से कम हाथकी बनी चीनीमें है और मिलकी बनी चीनीमें कहा जाता है कि जीवन-तत्त्व (विटामिन) बहुत ही कम है। यही हाल तैल इत्यादि वस्तुओंका समझना चाहिये। चीनीकी मिलोंमें सीरेकी, धानकलोंमें चावलके पानीकी तथा मिलके चावलसे बने हुए भातकी दुर्गन्धसे स्वास्थ्यकी भयानक हानि होती है। ऐसी अवस्थामें इन वस्तुओंके प्रचारसे देशके स्वास्थ्यका कितना अधिक ह्रास होगा, इसपर विचार करनेसे भविष्य बहुत ही भयानक प्रतीत होता है।

मिलोंके अधिक प्रचारसे मशीनोंकी खरीदीमें विदेशमें जो धन जाता है उसकी संख्या भी थोड़ी नहीं है। साथ ही मिलोंमें काम करनेवाले गरीब मजदूर भाई-बहिनोंके स्वास्थ्यकी ओर यदि देखा जाय तो उसमें भी बड़ी हानि मालूम होती है। मिलोंसे किसानोंकी जो हानि हो रही है, वह भी हृदय हिला देनेवाली है। मनुष्येतर प्राणियोंका अर्थात् छोटे-मोटे जीवोंका, कीड़े-मकोड़ोंका जो संहार होता है, उसकी तो कोई संख्या ही नहीं है। दु:ख है कि आज मनुष्यने अपने स्वार्थ-साधनके लिये इतर प्राणियोंके तो जीवनका मूल्य ही नहीं मान रखा है। सम्भव है कि विविध कला और विद्याओंमें निष्णात भारतीय ऋषि-मुनि और विद्वानोंने यन्त्रोंके दुष्परिणामको जानकर ही उनका आविष्कार और प्रचार नहीं किया था। आज तो ऐसी दशा हो गयी है कि मिलोंके बने हुए पदार्थोंका व्यवहार करना दूषित प्रतीत होनेपर भी उसका छोड़ना कठिन हो गया है। हमारे व्यापारमें, हमारी आजीविकाके साधनमें और हमारी घर-गृहस्थीमें मिलका इतना अधिक प्रवेश हो गया है कि दोष प्रतीत होनेपर भी सहसा उसे निकाल देना असम्भव नहीं तो बहुत ही कठिन है। मेरा तो यहाँपर यही निवेदन है कि मिलके दोषोंको समझकर जहाँतक बन पड़े हमलोगोंको मिलोंसे कम सम्बन्ध रखना चाहिये। वर्तमान परिस्थितिको देखते, न तो यह कहा जा सकता है कि मिलोंके संचालक सहसा सब मिलोंको बंद कर दें और न मिलोंसे सम्बन्धित व्यापार छोड़ना और सम्पूर्ण रूपसे घरको मिलकी चीजोंसे रहित करना ही सम्भव है। शनै:-शनै: यह काम करना चाहिये। जहाँतक हो सके मिलोंसे सम्बन्ध हटाकर, ग्राम-उद्योगोंसे सम्बन्ध जोड़ना, उनको पुनर्जीवित करना और उनका विस्तार करना प्रत्येक सहृदय देशवासीका अपने देश, जाति, धर्म और स्वास्थ्यके लाभके लिये अति आवश्यक कर्तव्य है।

खास करके उन लोगोंसे निवेदन है कि जो अपने व्यक्तिगत जीवनमें और अपने घरोंमें मिलोंकी बनी वस्तुओंका व्यवहार करना आवश्यक समझते हैं या करते हैं। ये भाई-बहिन यदि मिलकी बनी वस्तुओंके बदले हाथकी बनी वस्तुओंका व्यवहार करना आरम्भ कर दें— अवश्य ही ऐसा करनेमें उन्हें अपनी शौकीनीकी वासनाको और बाहरी सजावटके प्रलोभनको कुछ कम करना होगा—तो सहज ही मिलका विस्तार कम हो सकता है और ग्राम-उद्योगकी श्री-वृद्धि होनेसे फलस्वरूप गरीब भाई-बहिनोंकी जीवन-रक्षा, देशके स्वास्थ्यकी उन्नति, देशके धनका संरक्षण, बेकारीका नाश, आलस्य और अकर्मण्यताका लोप और धर्मकी वृद्धि हो सकती है।

यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि हाथसे बनी वस्तुओंका निर्माण करनेमें जितनी धार्मिक भावना रहती है, उतनी मिलके काममें नहीं रह सकती। उदाहरणस्वरूप चीनीको ही लीजिये। आजकल चीनीको चमकदार बनानेके लिये उसमें नील दी जाती है। हमारे शास्त्रोंके अनुसार नील सर्वथा हानिकर, धर्मनाशक और अशुभको पैदा करनेवाली है। सर्वज्ञ ऋषि-मुनियोंने इस विषयपर क्या लिखा है और कहाँतक नीलके व्यवहारमें हानि बतलायी है, इसका पता नीचे उद्धृत किये हुए कुछ श्लोकोंसे लग सकता है।

एकपङ्क्त्युपविष्टानां भोजनेषु पृथक्पृथक्।
यद्येको लभते नीलीं सर्वे तेऽशुचयः स्मृताः॥
यस्य पटे पट्टसूत्रे नीलीरक्तो हि दृश्यते।
त्रिरात्रं तस्य दातव्यं शेषाश्चैवोपवासिनः॥

(अत्रिसंहिता २४४-२४५)

'भोजनके निमित्त एक ही पंक्तिमें पृथक्-पृथक् बैठे हुए अनेकों मनुष्योंमेंसे यदि एक मनुष्य भी नीलका वस्त्र पहने हो तो वे सभी अपवित्र माने जाते हैं। उस समय जिसके साधारण या रेशमी वस्त्रमें नीलसे रँगा हुआ अंश दीख जाय उसे त्रिरात्रव्रत करना चाहिये और उसके साथ बैठनेवाले शेष मनुष्य उस दिन उपवास करें।'

पालनाद् विक्रयाच्चैव तद्वृत्त्या चोपजीवनात्।
पतितस्तु भवेद्विप्रस्त्रिभिः कृच्छ्रैर्विशुद्ध्यति॥

(अंगिरःस्मृति)

'नीलकी खेती, विक्रय और उसीकी वृत्तिद्वारा जीविका चलानेसे ब्राह्मण पतित हो जाता है, फिर तीन कृच्छ्रव्रत करनेसे वह शुद्ध होता है।'

नीलीदारु यदा भिन्द्याद् ब्राह्मणस्य शरीरकम्।
शोणितं दृश्यते तत्र द्विजश्चान्द्रायणं चरेत्॥

(आपस्तम्बस्मृति ६।६)

'यदि ब्राह्मणका शरीर नीलकी लकड़ीसे बिंध जाय और रक्त निकल आवे तो वह चान्द्रायणव्रतका आचरण करे।'

नीलीवृक्षेण पक्वं तु अन्नमश्नाति चेद् द्विजः।
आहारवमनं कृत्वा पंचगव्येन शुद्ध्यति॥

(अंगिरःस्मृति)

'यदि ब्राह्मण नीलकी लकड़ीके पकाया हुआ अन्न भोजन कर ले तो उस आहारका वमन करके पंचगव्य लेनेसे वह शुद्ध होता है।'

भक्षेत्प्रमादतो नीलीं द्विजातिस्त्वसमाहितः।
त्रिषु वर्णेषु सामान्यं चान्द्रायणमिति स्थितम्॥

(अंगिरःस्मृति)

'यदि द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) असावधानतावश नील भक्षण कर लें तो तीनों द्विजातियोंके लिये सामान्यरूपसे चान्द्रायणव्रत करना बतलाया गया है।'

नीलीरक्तेन वस्त्रेण यदन्नमुपदीयते।
नोपतिष्ठति दातारं भोक्ता भुङ्क्ते तु किल्बिषम्॥

(अंगिरःस्मृति)

'नीलसे रँगे हुए वस्त्रको धारण करके जो अन्न दिया जाता है वह दाताको नहीं मिलता और उसे भोजन करनेवाला भी पाप ही भोगता है।'

मृते भर्तरि या नारी नीलीवस्त्रं प्रधारयेत्।
भर्ता तु नरकं याति सा नारी तदनन्तरम्॥

(अंगिरःस्मृति)

'पतिदेवके मर जानेपर जो स्त्री नीलमें रँगा हुआ वस्त्र धारण करती है उसका पति नरकमें जाता है, उसके बाद वह स्त्री भी नरकमें ही पड़ती है।'

नील्या चोपहते क्षेत्रे सस्यं यत्तु प्ररोहति।
अभोज्यं तद् द्विजातीनां भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥

(अंगिरःस्मृति)

'नील बोनेसे दूषित हुए खेतमें जो अन्न पैदा होता है वह द्विजातियोंके भोजन करनेयोग्य नहीं होता, उसे खा लेनेपर चान्द्रायणव्रत करना चाहिये।'

स्नानं दानं जपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम्।
पंचयज्ञा वृथा तस्य नीलीवस्त्रस्य धारणात्॥

(आपस्तम्बस्मृति ६।३)

'नीलमें रँगे वस्त्रको धारण करनेसे मनुष्यके स्नान, दान, जप, होम, स्वाध्याय, पितृतर्पण और पंचयज्ञ सभी निष्फल हो जाते हैं।'

रोमकूपैर्यदा गच्छेद्रसो नील्यास्तु कर्हिचित्।
पतितस्तु भवेद्विप्रस्त्रिभिः कृच्छ्रैर्विशुद्ध्यति॥

(आपस्तम्बस्मृति ६।५)

'यदि कभी रोमकूपोंद्वारा नीलका रस अंदर चला जाय तो ब्राह्मण पतित हो जाता है और फिर तीन कृच्छ्रव्रत करनेसे शुद्ध होता है।'

नीलरक्तेन वस्त्रेण यदन्नमुपनीयते।
अभोज्यं तद् द्विजातीनां भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥

(आपस्तम्बस्मृति ६।८)

'नीलसे रँगे हुए वस्त्रद्वारा यदि अन्न लाया जाय तो वह द्विजातियोंके भोजनयोग्य नहीं रह जाता, उसे खा लेनेपर चान्द्रायणव्रत करना चाहिये।'

उपर्युक्त ऋषि-वाक्योंसे नीलका सर्वथा अपवित्र होना एवं पाप और दुःखोंकी उत्पत्तिमें कारण होना तथा अन्तःकरणको दूषित करके अध्यात्ममार्गसे गिरानेवाला होना सिद्ध है। आजकल हमलोग प्रायः न तो शास्त्रके वाक्योंका अध्ययन ही करते हैं और न उनपर विश्वास ही; इसी कारणसे मनमाना आचरण करने लगे हैं। धोबियोंतकसे कपड़ेकी चमकके लिये कपड़े धुलवानेमें नील दी जाती है। वस्त्रके किनारे और वस्त्रोंका नीला-काला तो शौकीनीका अंग हो गया है। चीनीके साथ मिलकर अब तो नील हमारे पेटोंमें भी जाने लगी, अतएव केवल पवित्रताका विज्ञापन देखकर ही हमें नहीं भूलना चाहिये।

ऋषिवाक्योंके अनुसार पवित्रताकी जाँच करनी चाहिये और जहाँतक बने अपवित्र वस्तुओंका तन-मनसे त्याग करना चाहिये।

इसी प्रकार मिलके बने हुए वस्त्रोंपर प्राय: पशुओंकी चर्बीसे पालिश की जाती है, शायद ही कोई ऐसी मिल हो जिसमें चर्बीका उपयोग न होता हो। इसके लिये प्रतिवर्ष लाखों निरीह, निरपराध और मूक पशुओंका वध होता है। ऐसी अवस्थामें मिलके वस्त्रोंका व्यवहार करनेसे धर्म, जाति, पवित्रता, स्वास्थ्य, धन आदि सभीका नाश होता है। अतएव जहाँतक हो सके मिलके बने चीनी, चावल, आटा और वस्त्र आदि सभी पदार्थोंका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

प्रतिकूलताका नाश

प्रतिकूलतामें ही दु:ख है, अतएव दु:खोंके आत्यन्तिक अभावके लिये प्रतिकूलताका त्याग करना चाहिये। इसके लिये भक्ति और ज्ञान—ये दो उपाय हैं एवं दोनों ही उत्तम हैं। अधिकारी-भेदके अनुसार ज्ञानियोंके लिये ज्ञानयोग और भक्तोंके लिये कर्मयोग भगवान्‌ने (गीता अध्याय ३ श्लोक ३ में) बतलाया है। तथापि ज्ञानकी अपेक्षा सर्व-साधारणके लिये भक्तिका उपाय ही सुगम है। ईश्वर-भक्तिके प्रतापसे सम्पूर्ण दु:खोंकी मूल प्रतिकूलताका अत्यन्त अभाव हो जाता है। ईश्वर-भक्तकी किसी भी जीवमें और किसी भी पदार्थमें प्रतिकूलता नहीं रहती; क्योंकि वह समझता है कि ईश्वर ही सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंके हृदयमें आत्मारूपसे विराजमान हो रहे हैं, अतएव किसीसे भी द्वेष करना परमेश्वरसे ही द्वेष करना है। इसके अतिरिक्त वह सम्पूर्ण पदार्थोंकी उत्पत्ति और विनाशमें भी ईश्वरकी अनुकूलताका ही दर्शन करता है। इस हालतमें वह किससे कैसे द्वेष करे? जीवोंके कर्मोंके अनुसार ही उनके सुख-दु:ख-भोगके लिये परमेश्वर सम्पूर्ण पदार्थोंको रचते हैं। जो पुरुष इस प्रकार समझता है, वह ईश्वरके किये हुए प्रत्येक विधानमें वैसे ही प्रसन्नचित्त रहता है जैसे मित्रके किये हुए विधानमें मित्र और पतिके विधानमें उत्तम स्त्री रहती है। उत्तम पतिव्रता स्त्री पतिकी अनुकूलतामें ही अपनी अनुकूलता जानती है। अर्थात् पतिकी अनुकूलता ही उसके लिये अपनी अनुकूलता है। पति जो भी कुछ भली-बुरी चीज लाता है अथवा जो कुछ भी चेष्टा करता है, वह उसीमें प्रसन्न रहती है, इसी प्रकार भगवान्‌का भक्त भी, भगवान् जो भी कुछ करते हैं हमारे अच्छेके लिये करते हैं, यह समझकर उनकी की हुई प्रत्येक चेष्टामें, एवं पदार्थोंकी उत्पत्ति और विनाशमें सदा प्रसन्नचित्त रहता है; यानी परेच्छा या अनिच्छासे जो भी कुछ अच्छे-बुरे पदार्थोंकी एवं सुख-दु:खोंकी प्राप्ति होती है वे सब ईश्वरकी इच्छासे होनेके कारण ईश्वरकी लीला हैं, इस प्रकार समझकर वह हर समय आनन्दमें मग्न रहता है। वस्तुत: पतिव्रता स्त्रीका उदाहरण भी ईश्वरके साथ लागू नहीं हो सकता; क्योंकि मनुष्यमें स्वार्थ रहता है, एवं ज्ञानकी कमी होनेके कारण उससे भूल भी हो सकती है किन्तु ईश्वर निर्भ्रान्त हैं, इसलिये उनकी लीला न्याय और ज्ञानसे पूर्ण है, और उसमें जीवोंका हित भरा हुआ है।

विचार-दृष्टिसे देखा जाय तो सांसारिक पदार्थोंमें होनेवाली अनुकूलता भी त्याज्य है; क्योंकि सांसारिक सुख क्षणिक, नाशवान् एवं परिणाममें दु:खरूप होनेके कारण सांसारिक अनुकूलतामें होनेवाला सुख भी वस्तुत: दु:ख ही है। जहाँ संसारके पदार्थोंमें अनुकूलता होती है, वहीं उनके प्रतिपक्षमें प्रतिकूलता रहती है और जहाँ अनुकूलता-प्रतिकूलता हैं, वहीं राग-द्वेष पैदा होते हैं। राग-द्वेषसे काम-क्रोधादि अनेक प्रकारके विकार उत्पन्न होकर महान् दु:खोंकी उत्पत्ति होती है, अतएव सांसारिक अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनोंहीको अनन्त दु:खोंका कारण समझकर त्याग करना चाहिये। इसीलिये भगवान्‌ने गीता अध्याय १३ श्लोक ९ में लिखा है कि इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिमें सदा-सर्वदा समचित्त रहना चाहिये।

इस प्रकारकी समता ईश्वरकी शरण होनेसे अनायास ही प्राप्त हो जाती है। ईश्वर सुहृद् हैं, दयालु हैं, प्रेमी हैं और ज्ञानस्वरूप हैं, इस प्रकार समझनेवाला पुरुष ईश्वरको कभी नहीं भूलता तथा अपनी इच्छाका सर्वथा त्याग करके केवल एक ईश्वरकी इच्छाके ही परायण हो जाता है। वह अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको ईश्वरके अर्पण कर देता है, ईश्वरकी कठपुतली बन जाता है। ईश्वर ज्यों कराता है त्यों ही करता है, अपनी इच्छासे कुछ भी नहीं करता एवं ईश्वरके किये हुए विधानमें सदा-सर्वदा प्रसन्नचित्त रहता है। इसीका नाम शरण है।

सुखकारक पदार्थमें अनुकूलता और दु:खकारक पदार्थमें प्रतिकूलता स्वभावसिद्ध है। विचार करनेसे संसारका कोई भी पदार्थ वास्तवमें सुखकारक नहीं है। परम आनन्दस्वरूप एवं परम आनन्ददायक, परम हितकारी केवल एक परमात्मा ही हैं; इसलिये वास्तवमें परमात्मामें ही अनुकूलता होनी चाहिये। जो इस रहस्यको समझता है वह परमात्माके अनुकूल बन जाता है और उसकी

सम्पूर्ण क्रियाएँ परमात्माके अनुकूल हो जाती हैं। वह उन लीलामयकी प्रत्येक लीलामें उन लीलामयका दर्शन करता रहता है; इससे उसके लिये प्रतिकूलताका एवं सम्पूर्ण दु:खोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है। वह उन लीलामयकी लीलाको और प्रेमास्पद परमात्माको अपने परम अनुकूल देखकर प्रतिक्षण मुग्ध होता रहता है।

ज्ञानकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो सांसारिक अनुकूलता और प्रतिकूलता वास्तवमें कोई वस्तु ही नहीं ठहरती; क्योंकि संसार स्वप्नवत् है और स्वप्नके पदार्थ सब मायामय हैं, इसलिये उससे उत्पन्न होनेवाली अनुकूलता और प्रतिकूलता भी मायामयी ही हैं। जब मनुष्य स्वप्नसे जागता है तब स्वप्नके किसी पदार्थको भी नहीं देखता और स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले पदार्थोंको मायामय समझता है, इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंको मायामय समझता है। इस प्रकार जब मनुष्य सम्पूर्ण पदार्थोंको स्वप्नसदृश मायामय समझ लेता है तब अनुकूलता और प्रतिकूलताकी कुछ भी सत्ता नहीं रह जाती। फिर एक चेतन विज्ञानानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त कोई भी वस्तु उसको प्रतीत नहीं होती। उसकी दृष्टिमें एक सर्वव्यापी नित्य विज्ञानानन्दघन ही रहता है और वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है। इसलिये जिसकी स्थिति उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे हो जाती है, उसकी दृष्टि भी सम्पूर्ण संसारमें सम हो जाती है और सांसारिक अनुकूलता और प्रतिकूलताकी दृष्टिका अत्यन्त अभाव हो जाता है। जब अनुकूलता और प्रतिकूलताका अत्यन्त अभाव हो जाता है तब राग-द्वेषादि सम्पूर्ण अनर्थोंका एवं सम्पूर्ण दु:खोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है, तथा उसे परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। वास्तवमें वह परम आनन्द ब्रह्म ही परम अनुकूल है एवं वही सबका आत्मा होनेसे अपना आत्मा है। जब इस प्रकारका ज्ञान हो जाता है तब फिर उसकी प्रतिकूल बुद्धि कहीं नहीं हो सकती; क्योंकि अपने-आपमें प्रतिकूलता नहीं होती। इस प्रकारके ज्ञानके द्वारा या उपर्युक्त ईश्वर-भक्तिद्वारा सम्पूर्ण दु:खोंके मूलभूत प्रतिकूलताका सर्वदा नाश करना चाहिये।

पाप और पुण्य

प्र०—(क) पाप और पुण्य क्या है?

(ख) जो मनुष्य ईश्वर और किसी धर्मशास्त्रपर विश्वास नहीं करता, वह शास्त्रीय विधि-निषेधको तो पुण्य-पाप मानता नहीं, फिर उसके लिये पाप-पुण्यकी व्यवस्था किस प्रकार हो सकती है?

उ०—(क) यद्यपि पाप-पुण्यका विषय बहुत गम्भीर है तथा इसका दायरा बहुत विस्तृत है तथापि संक्षेपमें साररूपसे यही कहा जा सकता है कि 'मानव-कर्तव्य ही पुण्य या सुकृत है, और अकर्तव्य ही पाप या दुष्कृत है।'

(ख) पुण्य-पाप अथवा कर्तव्य-अकर्तव्यके निर्णयमें शास्त्र (धर्मग्रन्थ) ही प्रमाण हैं इसीलिये श्रीभगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है कि—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता १६। २४)

'अतएव तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है, ऐसा जानकर तुझे शास्त्र-विधिसे नियत किये हुए कर्म ही करने चाहिये।' परन्तु जिस मनुष्यका ईश्वर और शास्त्रमें विश्वास नहीं है, शास्त्रकी व्यवस्था न माननेपर भी, उसके लिये भी मानव-कर्तव्य ही पुण्य है और अकर्तव्य ही पाप है। अब यह प्रश्न आता है कि शास्त्रको न माननेवाला मनुष्य कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय किस प्रकार करे? इसका उत्तर यह है कि उसे प्राचीन और वर्तमान महापुरुषोंके किये हुए निर्णय और आचरणको प्रमाण मानकर अपने कर्तव्याकर्तव्यका निश्चय करना चाहिये। इसपर यदि कहा जाय कि किसीकी दृष्टिमें कोई महापुरुष हैं और किसीकी दृष्टिमें कोई, और उन महापुरुषोंमें मतभेद है, ऐसी स्थितिमें वह क्या करे? इसका उत्तर यह है कि जिसकी दृष्टिमें जो महापुरुष हैं, उसको उन्हींका आचरण और निर्णय मानना चाहिये। इसपर यदि यह कहा जाय कि तब तो माननेवालेकी बुद्धि ही प्रधान रही, सो ठीक ही है; जो धर्मशास्त्र और ईश्वरको नहीं मानते, उन्हें तो अपनी ही बुद्धिपर निर्भर रहना पड़ेगा। अपनी बुद्धिके निर्णयमें भूल हो सकती है, इसीलिये महापुरुषोंने शास्त्र-प्रमाण माननेके लिये कहा है। शास्त्रको प्रमाण न माननेवालोंको किसी महापुरुषके वचन प्रमाणरूप मानने पड़ेंगे, और यदि किसी महापुरुषपर भी विश्वास न हो तो उन्हें अपनी बुद्धिका ही आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा। अतएव ऐसे पुरुषोंको अपनी बुद्धिसे किये हुए निश्चयके अनुसार ही कर्तव्य-अकर्तव्यकी व्यवस्था करनी पड़ती है।

अब यह बात बुद्धिसे सोचनी चाहिये कि मनुष्यके

लिये वस्तुतः कर्तव्य और अकर्तव्य क्या हो सकता है। इस प्रकारसे सोचनेकी बुद्धि मनुष्यमें ही है, पशु-पक्षी आदि अन्यान्य जीवोंमें नहीं। इसलिये यह बात मनुष्यपर ही लागू पड़ती है। जो मनुष्यका शरीर प्राप्त करके कर्तव्याकर्तव्यका विचार किये बिना ही कार्य करता है, वह मनुष्यत्वसे गिर जाता है, वास्तवमें ऐसा मनुष्य मानव-शरीरमें भी पशुके ही तुल्य है।

संसारमें दो वस्तुएँ प्रत्यक्ष देखनेमें आती हैं—(१) चेतन, (२) जड। जो द्रष्टा है वह चेतन है और जो दृश्य है वह जड है। द्रष्टा भोक्ता है, दृश्य भोज्य है। द्रष्टाके ही लिये दृश्य है। त्याग-बुद्धिसे ज्ञानपूर्वक दृश्यका उपभोग करनेमें मुक्ति है अर्थात् इस चेतनका दुःख और पापोंसे मुक्त होकर परम आनन्द और परमा शान्तिमें निवास है। बिना समझके उपभोगसे बन्धन, पतन, दुःख और अशान्ति है।

अतएव जो कर्म अपने या किसी भी अन्य चेतन जीवके लिये इस लोक और परलोकमें वस्तुतः लाभजनक है वही कर्तव्य है, और जिससे अपना या अन्य किसी जीवका इहलोक और परलोकमें अहित होता है वही अकर्तव्य है, इसी कर्तव्य-अकर्तव्यको शुभ-अशुभ, कार्य-अकार्य, विधि-निषेध या पुण्य-पाप कहा जा सकता है।

इसी प्रकार इस लोक और परलोकमें प्राप्त होनेवाले सुखके साधनरूप जो जड पदार्थ हैं, उनकी भी वृद्धिका यत्न करना पुण्य और क्षयका प्रयत्न पाप है। यही पुण्य-पापका संक्षिप्त विवेचन है।

प्र०—मांसाहारको कुछ लोग पुण्य बतलाते हैं और कुछ लोग पाप; वास्तवमें यह क्या है? यदि पाप है तो जिस मनुष्यका जन्म मांसाहारी कुल और वातावरणमें हुआ है और लड़कपनसे ही मांस खाना जिसका स्वभाव है वह मांसाहारको पाप कैसे मान सकता है?

उ०—मांसाहारमें सबसे बढ़कर दोष यह है कि किसीकी हिंसा किये बिना मांस मिल नहीं सकता और किसी भी जीवको किसी प्रकारसे किंचिन्मात्र भी कष्ट पहुँचाना पाप है। उसे समूल नष्ट कर देना तो महापाप है। ऐसी परिस्थितिमें मांसाहारको पुण्य किसी प्रकार नहीं माना जा सकता; क्योंकि वास्तवमें वह पाप ही है। जो लोग मांसाहारको पुण्य समझते हैं अथवा जो पाप नहीं समझते, वे भी गम्भीरताके साथ विचार करें तो सम्भव है कि उनकी बुद्धिमें भी मांसाहार पाप दीखने लगे। क्योंकि जिनका मांस खाया जाता है, उन जीवोंको प्रत्यक्षमें ही महान् कष्ट होता है और उनका नाश हो जाता है। किसी प्रकारसे किसीको दुःख पहुँचाना ही पाप है। अपने शरीरका उदाहरण सामने रखकर इसपर विचार करना चाहिये। विवेकशील मनुष्यका कभी यह कर्तव्य नहीं हो सकता कि वह जिस कार्यको अपने लिये महान् दुःख समझता है, उसीको दूसरोंके प्रति करे। यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है कि चोट लगनेपर या मारनेपर जैसी पीड़ा हमलोगोंको होती है वैसी ही पशु-पक्षियोंको होती है। मारनेके समय उनके रुदन, विलाप और छूटनेकी चेष्टासे यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। फिर अपने शरीरपोषणके लिये या स्वादकेलिये तो दूसरे जीवोंका जानसे मार डालना किसी प्रकार भी मनुष्यत्व नहीं कहला सकता!

पशु-पक्षी आदिको मारकर उनका मांसाहार करनेमें उनका या अपना किसी प्रकार हित भी नहीं है; वे तो प्रत्यक्ष पीड़ित होते और मरते ही हैं; परन्तु मांसाहारीका भी बड़ा नुकसान होता है। मांसाहारसे मनुष्यका स्वभाव क्रूर और तामसी हो जाता है, दया उसके हृदयसे चली जाती है। वह जिनका मांस खाता है उन जीवोंके रोग और दुष्ट स्वभावके परमाणु अंदर जानेसे नाना प्रकारकी शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ हो जाती हैं; पाप तो होता ही है। मनुष्यके मुखकी आकृति और उसके दाँतों तथा दाढ़ोंको देखनेसे इस बातका भी प्रत्यक्ष पता लगता है कि मांस मनुष्यका आहार भी नहीं है। जो जिसका आहार नहीं है वह उसके लिये अखाद्य है और स्वास्थ्यनाशक है। दुर्गन्धके कारण भी मांस अखाद्य है। फिर यह ऐसा आवश्यक भी नहीं है इसके बिना जीवन न चले। इसके अतिरिक्त अधिकार भी नहीं है। किसी भी जीवको सहायता देने, बढ़ाने और उसके जीवन-धारणमें मददगार होनेका ही अधिकार है, मारनेका कदापि नहीं। क्योंकि ईश्वरने मनुष्यको सम्पूर्ण चराचरके रक्षणके लिये उत्पन्न किया है, भक्षणके लिये नहीं। यह बात इसकी विद्या, बुद्धि, आकृति और योग्यतासे भी सिद्ध होती है। यह भी विचार करना चाहिये कि मांसाहारीको मांसाहारसे क्षणिक सुख मिलता है और थोड़े-से कालके लिये उसका निर्वाह होता है, परन्तु उस प्राणीका तो सदाके लिये विनाश हो जाता है। इन सब बातोंपर विचार करनेसे कोई भी समझदार मनुष्य मांसाहारको न तो पुण्य बतला सकता है और न यही कह सकता है कि यह पाप नहीं है। यह तो एक प्रकारकी जबरदस्ती है। पशु-पक्षियोंमें हम देखते हैं कि बलवान् पशु-पक्षी निर्बल जीवोंको मारते हैं। मनुष्य बुद्धिमान् होनेके कारण सबसे बलवान् है, अतः वह यदि अपने छल, बल और कौशलसे निरीह, निर्बल, मूक पशुओंको मारता है तो यह उसका मानवदेहमें ही पशुपन है। पशुमें तो कर्तव्याकर्तव्यकी बुद्धि नहीं है, इसलिये हम कह सकते हैं कि उसके लिये वह पाप नहीं होता; परन्तु मनुष्यको तो यह बुद्धि प्राप्त

है। अतएव वह यदि दूसरे जीवोंको मारकर या उन्हें मरवाकर मांसाहार करता है तो वह पशुसे भी गया गुजरा है। पशु-पक्षी ही नहीं, गम्भीर विचार करनेपर तो जान पड़ेगा कि सजीव हरे वृक्ष और व्रीहि आदिके छेदनमें भी किसी अंशमें हिंसा है। परंतु संसारमें कोई भी आरम्भ निर्दोष नहीं होता, और मनुष्यको अपने जीवननिर्वाहके लिये इनका उपयोग करना पड़ता है और उसकी आकृतिसे भी पता लगता है कि यह फल, व्रीहि इत्यादि ही इसका खाद्य है; तथापि जहाँतक हो सके इनका उपयोग भी आवश्यकतानुसार कम-से-कम ही करना चाहिये। अनावश्यक फल-मूल-वृक्षादिका छेदन कदापि नहीं करना चाहिये। फिर वृक्षोंका तो उनकी उन्नति या वृद्धिके लिये भी छेदन किया जा सकता है। कलम करनेसे पेड़ बढ़ते हैं, फलोंसे बीज होते हैं और उन बीजोंसे पुनः वृक्षोंकी वृद्धि होती है; परन्तु मांसाहारमें तो केवल क्षय-ही-क्षय है। अतएव मांसाहार सर्वथा पाप और त्याज्य है।

संसारमें जितने जड पदार्थ हैं वे सभी किसी-न-किसी रूपमें चेतनोंके लिये ही हैं, परंतु उनको भी व्यर्थ नुकसान पहुँचाना पाप है, फिर चेतन प्राणियोंका शरीरवियोग करना पाप है इसमें तो कहना ही क्या है?

जिस मनुष्यका जन्म और पालन-पोषण मांसाहारी कुल और वातावरणमें हुआ है, और लड़कपनसे जिसका वैसा स्वभाव है, उसके लिये भी मांसाहार सर्वथा त्याज्य है। मनुष्यको विवेककी बड़ी सम्पत्ति प्राप्त है, जब उसको यह समझ आ जाय कि दूसरोंके द्वारा पीड़ा पहुँचानेपर या मारनेपर मुझे दुःख होता है, तभीसे उसको यह सोचना चाहिये कि जैसा दुःख मुझको होता है, ऐसा ही दूसरे प्राणियोंको भी होता है। और दूसरे प्राणियोंके मरने-मारनेके समय होनेवाले भयंकर कष्टको मांसाहारी देखता-सुनता भी है। ऐसी हालतमें मनुष्य होनेके कारण उसके लिये मांसाहार करना पाप ही है और उसे मांसाहारको पाप समझकर तुरंत ही त्याग देना चाहिये।

मांस-भक्षण-निषेध

य इच्छेत् पुरुषोऽत्यन्तमात्मानं निरुपद्रवम्।
स वर्जयेत मांसानि प्राणिनामिह सर्वशः॥

(महा०, अनु० ११५। ४८)

'जो पुरुष अपने लिये आत्यन्तिक शान्ति लाभ करना चाहता है, उसको जगत्‌में किसी भी प्राणीका मांस किसी भी निमित्त नहीं खाना चाहिये।'

यद्यपि जगत्‌में बहुत-से लोग मांस खाते हैं, परंतु विचार करनेपर यही सिद्ध होता है कि मांस-भक्षण सर्वथा हानिप्रद है। इससे लोक-परलोक दोनों बिगड़ते हैं। बहुत-से लोग तो ऐसे हैं जो मांस-भक्षणको हानिकर समझते हुए भी बुरी आदतके वशमें होनेके कारण नहीं छोड़ सकते। कुछ ऐसे हैं जो आराम और भोगासक्तिके वशमें हुए मांस-भक्षणका समर्थन करते हैं; परन्तु उन लोगोंको भी विवेकी पुरुषोंके समुदायमें नीचा देखना पड़ता है। मांस-भक्षणसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंका पार नहीं है। उनमेंसे यहाँ संक्षेपमें कुछ बतलाये जाते हैं। निवेदन यही है कि पाठक इस लेखको मननपूर्वक पढ़ें और उनमें जो मांस खाते हों वे कृपापूर्वक मांस खाना छोड़ दें।

१-मांस-भक्षण भगवत्प्राप्तिमें बाधक है।
२-मांस-भक्षणसे ईश्वरकी अप्रसन्नता प्राप्त होती है।
३-मांस-भक्षण महापाप है।
४-मांस-भक्षणसे परलोकमें दुःख प्राप्त होता है।
५-मांस-भक्षण मनुष्यके लिये प्रकृतिविरुद्ध है।
६-मांस-भक्षणसे मनुष्य पशुत्वको प्राप्त होता है।
७-मांस-भक्षण मनुष्यकी अनधिकार चेष्टा है।
८-मांस-भक्षण घोर निर्दयता है।
९-मांस-भक्षणसे स्वास्थ्यका नाश होता है।
१०-मांस-भक्षण शास्त्रनिन्दित है।

अब उपर्युक्त दस विषयोंपर संक्षेपसे पृथक्-पृथक् विचार कीजिये।

(१) सम्पूर्ण रूपसे अभयपदकी प्राप्तिको ही मुक्ति—परमपद-प्राप्ति या भगवत्-प्राप्ति कहते हैं। इस अभयपदकी प्राप्ति उसीको होती है जो दूसरोंको अभय देता है। जो अपने उदर-पोषण अथवा जीभके स्वादके लिये कठोरहृदय होकर प्राणियोंकी हिंसा करता-कराता है, वह प्राणियोंको भय देनेवाला और उनका अनिष्ट करनेवाला मनुष्य अभयपदको कैसे प्राप्त हो सकता है? श्रीभगवान्‌ने निराकार उपासनामें लगे हुए साधकके लिये '**सर्वभूतहिते रताः**' और भक्तके लिये '**अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च**' कहकर सर्वभूतहित और प्राणिमात्रके प्रति मैत्री और दया करनेका विधान किया है। भूतहित और भूतदयाके बिना परमपदकी प्राप्ति अत्यन्त दुष्कर है। अतएव आत्माके उद्धारकी इच्छा रखनेवाले पुरुषका कर्तव्य है कि वह किसी भी जीवको किसी समय किसी प्रकार किंचिन्मात्र भी कष्ट न पहुँचावे। भगवत्-प्राप्तिकी तो बात ही दूर है, मांस खानेवालेको तो स्वर्गकी प्राप्ति भी नहीं होती। मनु महाराज कहते हैं—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥
(५।४८)

'प्राणियोंकी हिंसा किये बिना मांस उत्पन्न नहीं होता और प्राणिवध करनेसे स्वर्ग नहीं मिलता, अतएव मांसका त्याग करना चाहिये।'

(२) समस्त चराचर जगत्के रचयिता परम पिता परमात्माकी दृष्टिमें सभी जीव समान हैं, या यों कहना चाहिये कि उनके द्वारा रचित होनेके कारण सब उन्हींकी सन्तान हैं। इसलिये भक्तकी दृष्टिमें सभी जीव अपने भाईके समान होते हैं, इस रहस्यके जाननेवाले ईश्वर भक्तके लिये परम पिता परमात्माकी सन्तान अपने बन्धुरूप किसी भी प्राणीको मारना तो दूर रहा, वह किसीको किंचित् कष्ट भी नहीं पहुँचा सकता। जो लोग इस बातको न समझकर स्वार्थवश दूसरे जीवोंकी हिंसा करते हैं, और हिंसा करते हुए ही अपने ऊपर ईश्वरकी दया चाहते हैं और ईश्वर-प्राप्तिकी कामना करते हैं वे बड़े भ्रममें हैं। प्राणिवध करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्योंपर ईश्वर कैसे प्रसन्न हो सकते हैं? किसी पिताका एक लड़का लोभवश अपने दूसरे निर्दोष भाइयोंको सताकर या मारकर जैसे पिताका कोपभाजन होता है वैसे ही प्राणियोंको पीड़ा पहुँचानेवाले लोग ईश्वरकी अप्रसन्नता और कोपके पात्र होते हैं।

(३) धर्ममें सबसे पहला स्थान अहिंसाको दिया गया है और सब तो धर्मके अंग हैं, परंतु अहिंसा परम धर्म है—'**अहिंसा परमो धर्मः।**' (महाभारत, अनु० ११५।२५)। धर्मका तात्पर्य अहिंसासे है। धर्मको माननेवाले सभी लोग अहिंसा और त्यागकी प्रशंसा करते हैं। जो धर्म मनुष्यकी वृत्तियोंको अहिंसा, त्याग, निवृत्ति और संयमकी ओर ले जाता है, वही यथार्थ धर्म है। जिस धर्ममें इन बातोंकी कमी है वह धर्म अधूरा है, मांस-भक्षण करनेवाले अहिंसा-धर्मका हनन करते हैं, धर्मका हनन ही पाप है। कोई यह कहे कि हम स्वयं जानवरोंको न तो मारते हैं और न मरवाते हैं, दूसरोंके द्वारा मारे हुए पशु-पक्षियोंका मांस खरीदकर खाते हैं इसलिये हम प्राणिहिंसाके पापी क्यों माने जायँ? इसका उत्तर स्पष्ट है। हिंसा मांसाहारियोंके लिये ही की जाती है। कसाईखाने मांस खानेवालोंके लिये ही बने हैं। यदि मांसाहारीलोग मांस खाना छोड़ दें तो प्राणिवध कोई किसलिये करे? फिर यह भी समझनेकी बात है कि केवल अपने हाथों किसीको मारनेका नाम ही हिंसा नहीं है। महर्षि पतंजलिने अहिंसाके मुख्यतया सत्ताईस भेद बतलाये हैं। यथा—

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्।
(योग० २।३४)

अर्थात् 'स्वयं हिंसा करना, दूसरेसे करवाना और हिंसाका समर्थन करना—यह तीन प्रकारकी हिंसा है। ये तीन प्रकारकी हिंसा लोभ, क्रोध और अज्ञानके हेतुओंसे होनेके कारण (३×३=९) नौ प्रकारकी हो जाती है। और नौ प्रकारकी हिंसा मृदु, मध्य और अधिमात्रासे होनेसे (९×३=२७) सत्ताईस प्रकारकी हो जाती है। इसी तरह मिथ्या भाषण आदिका भी भेद समझ लेना चाहिये। ये हिंसादि सभी दोष कभी नहीं मिटनेवाले दुःख और अज्ञानरूप फलको देनेवाले हैं ऐसा विचार करना ही प्रतिपक्ष-भावना है, यही २७ प्रकारकी हिंसा शरीर, वाणी और मनसे होनेके कारण इक्यासी भेदोंवाली बन जाती है। इसलिये स्वयं न मारकर दूसरोंके द्वारा मरे हुए पशुओंका मांस खानेवाला भी वास्तवमें प्राणिहिंसक ही है। मनु महाराज कहते हैं।

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥
(५। ५१)

'सलाह-आज्ञा देनेवाला, अंग काटनेवाला, मारनेवाला, मांस खरीदनेवाला, बेचनेवाला, पकानेवाला, परोसनेवाला और खानेवाला—ये सभी घातक कहलाते है।' इसी प्रकार महाभारतमें कहा है—

धनेन क्रयिको हन्ति खादकश्चोपभोगतः।
घातको वधबन्धाभ्यामित्येष त्रिविधो वधः॥
आहर्ता चानुमन्ता च विशस्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपभोक्ता च खादकाः सर्व एव ते॥
(महा० अनु० ११५।४०, ४९)

'मांस खरीदनेवाला धनसे प्राणीकी हिंसा करता है, खानेवाला उपभोगसे करता है और मारनेवाला मारकर और बाँधकर हिंसा करता है, इसपर तीन तरहसे वध होता है। जो मनुष्य मांस लाता है, जो मँगाता है, जो पशुके अंग काटता है, जो खरीदता है, जो बेचता है, जो पकाता है और जो खाता है, वे सभी मांस खानेवाले (घातकी) हैं।'

अतएव मांस-भक्षण धर्मका हनन करनेवाला होनेके कारण सर्वथा महापाप है। धर्मके पालन करनेवालेके लिये हिंसाका त्यागना पहली सीढ़ी है। जिसके हृदयमें अहिंसाका भाव नहीं है वहाँ धर्मको स्थान ही कहाँ है?

(४) भीष्मपितामह राजा युधिष्ठिरसे कहते हैं—

मां स भक्षयते यस्माद्भक्षयिष्ये तमप्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वमनुबुद्ध्यस्व भारत॥

(महा० अनु० ११६।२५)

'हे युधिष्ठिर! वह मुझे खाता है इसलिये मैं भी उसे खाऊँगा यह मांस शब्दका मांसत्व है ऐसा समझो।' इसी प्रकारकी बात मनु महाराजने कही है—

मां स भक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥

(५।५५)

'मैं यहाँ जिसका मांस खाता हूँ, वह परलोकमें मुझे (मेरा मांस) खायेगा। मांस शब्दका यह अर्थ विद्वान् लोग किया करते हैं।'

आज यहाँ जो जिस जीवके मांसको खावेगा किसी समय वही जीव उसका बदला लेनेके लिये उसके मांसको खानेवाला बनेगा। जो मनुष्य जिसको जितना कष्ट पहुँचाता है समयान्तरमें उसको अपने किये हुए कर्मके फलस्वरूप वह कष्ट और भी अधिक मात्रामें (मय व्याजके) भोगना पड़ता है, इसके सिवा यह भी युक्तिसंगत बात है कि जैसे हमें दूसरेके द्वारा सताये और मारे जानेके समय कष्ट होता है वैसा ही सबको होता है। परपीड़ा महापातक है, पापका फल सुख कैसे होगा? इसीलिये भीष्मपितामह कहते हैं—

कुम्भीपाके च पच्यन्ते तां तां योनिमुपागताः।
आक्रम्य मार्यमाणाश्च भ्राम्यन्ते वै पुनः पुनः॥

(महा० अनु० ११६।२१)

'मांसाहारी जीव अनेक योनियोंमें उत्पन्न होते हुए अन्तमें कुम्भीपाक नरकमें यन्त्रणा भोगते हैं और दूसरे उन्हें बलात् दबाकर मार डालते हैं और इस प्रकार वे बार-बार भिन्न-भिन्न योनियोंमें भटकते रहते हैं।'

(५) भगवान्‌ने सृष्टिमें जिस प्रकारके जीव बनाये हैं उनके लिये उसी प्रकारके आहारकी रचना की है। मांसाहारी सिंह, कुत्ते, भेड़िये आदिकी आकृति, उनके दाँत, जबड़े, पंजे, नख और हड्डी आदिसे मनुष्यकी आकृति और उसके दाँत, जबड़े, पंजे, नख और हड्डीकी तुलना करके देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मनुष्यका खाद्य अन्न, दूध और फल ही है। जलचिकित्साके प्रसिद्ध आविष्कारक लूईकूने महोदयने भी कहा है कि 'मनुष्य मांसभक्षी प्राणी नहीं है। वह तो मांसभक्षण करके मनुष्यकी प्रकृतिके विरुद्ध कार्य कर नाना प्रकारकी विपत्तियोंको बुलाता है' मनुष्यकी प्रकृति स्वाभाविक ही सौम्य है, सौम्य प्रकृतिवाले जीवोंके लिये अन्न, दूध, फल, आदि सौम्य पदार्थ ही स्वाभाविक भोज्य पदार्थ हैं। गौ, बकरी, कबूतर आदि सौम्य प्रकृतिके पशु-पक्षी भी मांस न खाकर घास, चारा, अन्न आदि ही खाते हैं। मांसाहारी पशु-पक्षियोंकी आकृति सहज ही क्रूर और भयानक होती है। शेर, बाघ, बिल्ली, कुत्ते आदिको देखते ही इस बातका पता लग जाता है। महाभारतमें कहा है—

इमे वै मानवा लोके नृशंसा मांसगृद्धिनः।
विसृज्य विविधान् भक्ष्यान् महारक्षोगणा इव॥
अपूपान् विविधाकारान् शाकानि विविधानि च।
खाण्डवान् रसयोगान्न तथेच्छन्ति यथाऽऽमिषम्॥

(महा०, अनु०, ११६।१-२)

'शोक है कि जगत्‌में क्रूर मनुष्य नाना प्रकारके पवित्र खाद्य पदार्थोंको छोड़कर महान् राक्षसकी भाँति मांसके लिये लालायित रहते हैं तथा भाँति-भाँतिकी मिठाइयों, तरह-तरहके शाकों, खाँड़की बनी हुई वस्तुओं और सरस पदार्थोंको भी वैसा पसंद नहीं करते जैसा मांसको।'

इससे यह सिद्ध हो गया कि मांस मनुष्यका आहार कदापि नहीं है।

(६) भोजनसे ही मन बनता है, 'जैसा खावे अन्न, वैसा बने मन' कहावत प्रसिद्ध है। मनुष्य जिन पशु-पक्षियोंका मांस खाता है उन्हीं पशु-पक्षियोंके-से गुण, आचरण आदि उसमें उत्पन्न हो जाते हैं, उसकी आकृति क्रमशः वैसी ही बन जाती है। इससे वह इसी जन्ममें मनुष्योचित स्वभावसे प्रायः च्युत होकर पशुस्वभावापन्न, क्रूर और अमर्यादित जीवनवाला बन जाता है और मरनेपर वैसी ही भावनाके फलस्वरूप तथा अपने कर्मोंका बदला भोगनेके लिये उन्हीं पशु-पक्षियोंकी योनियोंको प्राप्त होकर महान् दुःख भोगता है। भीष्मपितामह कहते हैं—

येन येन शरीरेण यद्यत्कर्म करोति यः।
तेन तेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते॥

(महा० अनु० ११६।२७)

'प्राणी जिस-जिस शरीरसे जो-जो कर्म करता है उस-उस शरीरसे वैसा ही फल पाता है।'

इससे सिद्ध है कि मांसाहारी मनुष्य जिन पशु-पक्षियोंका मांस खाता है, वैसा ही पशु-पक्षी आगे चलकर स्वयं बन जाता है।

(७) जब हम किसी जीवके प्राणोंका संयोग करनेकी शक्ति नहीं रखते, तब हमें उनके प्राणहरण करनेका वस्तुतः कोई अधिकार नहीं है। यदि करते हैं, तो वह एक प्रकारसे महान् अत्याचार और पाप है। मांसाहारी ऊपर लिखे अनुसार स्वयं प्राणी-वध न करनेवाला हो तो भी प्राणी-वधका दोषी है ही, क्योंकि प्रकारान्तरसे वही तो प्राणीहिंसामें कारण है।

(८) मांसाहारी मनुष्य निर्दय हो ही जाता है और जिसमें दया नहीं है उसके अधर्मी होनेमें क्या सन्देह है? मांसभक्षी मनुष्य इस बातको भूल जाता है कि 'मांस खाकर कितना बड़ा निर्दय कार्य कर रहा हूँ। मेरी तो थोड़ी देरके लिये केवल क्षुधाकी निवृत्ति होती है, परन्तु बेचारे पशु-पक्षीके प्राण सदाके लिये चले जाते हैं।' प्राणनाशके समान कौन दु:ख है, संसारमें सभी प्राणी प्राणनाशसे डरते हैं।

अनिष्टं सर्वभूतानां मरणं नाम भारत।
मृत्युकाले हि भूतानां सद्यो जायेत वेपथुः॥

(महा० अनु० ११६। २७)

'हे भारत! मरण सभी जीवोंके लिये अनिष्ट है, मरणके समय सभी जीव सहसा काँप उठते हैं।'

जिस मनुष्यके हृदयमें दया होती है, वह तो दूसरेके दु:खको देख-सुनकर ही काँप उठता है और उसके दु:खको दूर करनेमें लग जाता है। परन्तु जो क्रूरहृदय मनुष्य पापी पेटको भरते और जीभको स्वाद चखानेके लिये प्राणियोंका वध करते हैं, वे तो स्वाभाविक ही निर्दयी हैं। निर्दयी मनुष्य भगवान्‌से या अन्यान्य जीवोंसे कभी दयाकी माँग नहीं कर सकता।

दयालु पुरुष ही संकटके समय ईश्वरकी तथा अन्यान्य जीवोंकी दयाका पात्र होता है। बड़े ही खेदका विषय है कि मनुष्य स्वयं तो किसीके द्वारा जरा-सा कष्ट पानेपर ही घबड़ा उठते हैं और चिल्लाने लगते हैं परन्तु निर्दोष मूक जीवोंको, इन्द्रियलोलुपता, बुरी आदत और प्रमादवश मार या मरवाकर खानेतकमें नहीं हिचकते।

मनुष्य सबमें बुद्धिमान् और स्वभावसे ही सबका उपकारी जीव माना गया है। यदि वह अपने स्वभावको भुलाकर निर्दयताके साथ पशु-पक्षियोंकी हिंसामें इसी प्रकार उतारू रहेगा तो बेचारे पशु-पक्षियोंका संसारमें निर्वाह ही कठिन हो जायगा, अतएव मनुष्यको दयालु बनना चाहिये।

न हि प्राणात् प्रियतरं लोके किंचन विद्यते।
तस्माद्दयां नरः कुर्याद् यथाऽऽत्मनि तथा परे॥

(महा० अनु० ११६। ८)

'इस संसारमें प्राणोंके समान कोई और प्रिय वस्तु नहीं है, अतएव मनुष्य जैसे अपने ऊपर दया करता है उसी प्रकार दूसरोंपर भी करे।'

(९) मांसाहार स्वाभाविक ही स्वास्थ्यका नाशक है, इस बातको अब तो यूरोपके भी अनेकों विद्वान् और डॉक्टर लोग मानने लगे हैं। इसके सिवा एक बात यह भी है कि जिन पशु-पक्षियोंका मांस मनुष्य खाता है, उनमें जो पशु-पक्षी रोगी होते हैं, उनके रोगके परमाणु मांसके साथ ही मनुष्यके शरीरमें प्रवेशकर उसे भी रोगी बना डालते हैं। इंगलैंडके एक प्रसिद्ध डॉक्टरने लिखा था कि 'इंगलैंडमें कैंसरके रोगी दिनोदिन बढ़ते जा रहे हैं। एक इंगलैंडमें इस भयानक रोगसे तीस हजार मनुष्य प्रतिवर्ष मरते हैं। यह रोग मांसाहारसे होता है। यदि मांसाहार इसी तेजीसे बढ़ता रहा तो इस बातका भय है कि भविष्यकी सन्तानमें ढाई करोड़ मनुष्य इस रोगके शिकार होंगे।'

मांस बहुत देरसे पचता है, इससे मांसाहारी मनुष्य प्राय: पेटकी बीमारियोंसे पीड़ित रहते हैं। इसके सिवा अन्य भी अनेक प्रकारके रोग मांसाहारसे होते हैं। शास्त्रोंमें भी कहा है कि मांसाहारियोंकी आयु घट जाती है।

यस्माद् ग्रसति चैवायुर्हिंसकानां महाद्युते।
तस्माद्विवर्जयेन्मांसं य इच्छेद् भूतिमात्मनः॥

(महा० अनु० ११५। ३३)

'हिंसाजनित पाप हिंसा करनेवालोंकी आयुको नष्ट कर देता है, अतएव अपना कल्याण चाहनेवालोंको मांसभक्षण नहीं करना चाहिये।'

(१०) यद्यपि शास्त्रोंमें कहीं-कहीं मांसका वर्णन आता है; परन्तु उनमें मांसत्यागके सम्बन्धमें बहुत ही जोरदार वाक्य हैं। प्राय: सभी शास्त्रोंने मांस-भक्षणकी निन्दा करके मांसत्यागको अत्युत्तम बतलाया है। ऐसे हजारों वचन हैं, उनमें कुछ थोड़े-से यहाँ दिये जाते हैं—

मनुस्मृति—

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते॥
समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्॥

(५। ४५, ४९)

'जो निरपराध जीवोंकी अपने सुखकी इच्छासे हिंसा करता है वह जीता रहकर अथवा मरनेके बाद भी (इहलोक अथवा परलोकमें) कहीं सुख नहीं पाता। मांसकी उत्पत्तिका विचार करते हुए प्राणियोंकी हिंसा और बन्धनादिके दु:खको देखकर मनुष्यको सब प्रकारके मांस-भक्षणका त्याग कर देना चाहिये।'

यमस्मृति—

सर्वेषामेव मांसानां महान् दोषस्तु भक्षणे।
निवर्तने महत्पुण्यमिति प्राह प्रजापतिः॥

'प्रजापतिका कथन है कि सभी प्रकारके मांसोंके भक्षणमें महान् दोष है और उससे बचनेमें महान् पुण्य है।'

महाभारत, अनुशासनपर्व—

लोभाद्वा बुद्धिमोहाद्वा बलवीर्यार्थमेव च।
संसर्गादथ पापानामधर्मरुचिता नृणाम्॥
स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
उद्विग्नवासो वसति यत्र यत्राभिजायते॥
इज्यायज्ञश्रुतिकृतैर्यो मार्गैरबुधोऽधमः।
हन्याज्जन्तून् मांसगृध्नुः स वै नरकभाङ्नरः॥

(११५। ३५-३६, ४७)

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात्स नृशंसतरो नरः॥

(११६।७)

शुक्राच्च तात सम्भूतिर्मांसस्येह न संशयः।
भक्षणे तु महान् दोषो निवृत्त्या पुण्यमुच्यते॥

(११६।९)

'लोभसे, बुद्धिके मोहित हो जानेसे अथवा पापियोंका संसर्ग करनेसे बल और पराक्रमकी प्राप्तिके लिये मनुष्योंकी (हिंसारूप) अधर्ममें रुचि होती है।'

'जो मनुष्य अपने मांसको दूसरेके मांससे बढ़ाना चाहता है, वह जिस किसी योनिमें जन्म ग्रहण करता है वहाँ दुःखी होकर ही रहता है।'

'जो अज्ञानी और अधम पुरुष देवपूजा, यज्ञ तथा वेदोक्त मार्गका आसरा लेकर मांसके लोभसे जीवोंकी हिंसा करता है वह नरकोंको प्राप्त होता है।'

'जो मनुष्य दूसरोंके मांससे अपने मांसको बढ़ाना चाहता है उससे बढ़कर कोई नीच नहीं है, वह अत्यन्त निर्दयी है।'

'हे तात! वीर्यसे मांसकी उत्पत्ति होती है इसमें कोई सन्देह नहीं है (इसलिये यह बहुत घृणित पदार्थ है)। इसके भक्षणमें महान् दोष और त्यागसे पुण्य होता है।'

मांस न खानेका फल

मनुस्मृति—

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम्॥

(५।५३)

'जो सौ वर्षतक प्रतिवर्ष अश्वमेध यज्ञ करता है और जो किसी प्रकारका मांस नहीं खाता उन दोनोंको बराबर पुण्य होता है।'

महाभारत, अनुशासनपर्व—

शरण्यः सर्वभूतानां विश्वास्यः सर्वजन्तुषु।
अनुद्वेगकरो लोके न चाप्युद्विजते सदा॥

(११५।२८)

अधृष्यः सर्वभूतानामायुष्मान्नीरुजः सदा।
भवत्यभक्षयन् मांसं दयावान् प्राणिनामिह॥
हिरण्यदानैर्गोदानैर्भूमिदानैश्च सर्वशः।
मांसस्याभक्षणे धर्मो विशिष्ट इति नः श्रुतिः॥

(११५।४२-४३)

'मांस न खानेवाला और प्राणियोंपर दया करनेवाला मनुष्य समस्त जीवोंका आश्रयस्थान एवं विश्वासपात्र बन जाता है; उससे संसारमें किसीको उद्वेग नहीं होता और न उसको ही किसीसे उद्वेग होता है। उसे कोई भी भय नहीं पहुँचा सकता, वह दीर्घायु होता है और सदा नीरोग रहता है। मांसके न खानेसे जो पुण्य होता है उसके समान पुण्य न तो सुवर्णदानसे होता है, न गोदानसे और न भूमिदानसे होता है।'

उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध हो जाता है कि मांसभक्षण सभी प्रकारसे त्यागके योग्य है। मेरा नम्र निवेदन है कि जो भाई प्रमादवश मांस खाते हों वे इसपर भलीभाँति विचारकर, मनुष्यत्वके नाते, दया और न्यायके नाते, शरीर-स्वास्थ्य और धर्मकी रक्षाके लिये और भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये, इन्द्रिय-संयम कर मांस-भक्षण सर्वथा छोड़कर, सब जीवोंको अभयदान देकर स्वयं अभयपद प्राप्त करनेकी योग्यता लाभ करें। जो भाई मेरी प्रार्थनापर ध्यान देकर मांस-भक्षणका त्याग कर देंगे, उनका मैं आभारी रहूँगा और उनकी बड़ी दया समझूँगा। महात्मा तुलाधार श्रीजाजलिमुनिसे कहते हैं—

यस्मान्नोद्विजते भूतं जातु किंचित् कथंचन।
अभयं सर्वभूतेभ्यः स प्राप्नोति सदा मुने॥
यस्मादुद्विजते विद्वन् सर्वलोको वृकादिव।
क्रोशतस्तीरमासाद्य यथा सर्वे जलेचराः॥
तपोभिर्यज्ञदानैश्च वाक्यैः प्रज्ञाश्रितैस्तथा।
प्राप्नोत्यभयदानस्य यद्यत्फलमिहाश्नुते॥
लोके यः सर्वभूतेभ्यो ददात्यभयदक्षिणाम्।
स सर्वयज्ञैरीजानः प्राप्नोत्यभयदक्षिणाम्।
न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन॥

(महा० शान्ति० २६२। २४, २५, २८, २९, ३०)

'हे मुनिवर! जिस मनुष्यसे किसी भी प्राणीको किसी प्रकार कष्ट नहीं पहुँचता उसे किसी भी प्राणीसे भय नहीं रह जाता। जिस प्रकार बडवानलसे भयभीत होकर सभी जलचर जन्तु समुद्रके तीरपर इकट्ठे हो जाते हैं उसी प्रकार हे विद्वद्वर! जिस मनुष्यसे भेड़ियेकी भाँति सब लोग डरते हैं वह स्वयं भयको प्राप्त होता है।'

'अनेक प्रकारके तप, यज्ञ और दानसे तथा प्रज्ञायुक्त उपदेशसे जो फल मिलता है वही फल जीवोंको अभयदान देनेसे प्राप्त होता है।'

'जो मनुष्य इस संसारके सभी प्राणियोंको अभयदान दे देता है; वह सारे यज्ञोंका अनुष्ठान कर चुकता है और बदलेमें उसे सबसे अभय प्राप्त होता है, अतएव प्राणियोंको कष्ट न पहुँचानेसे बढ़कर कोई दूसरा धर्म ही नहीं है।'

चित्त-निरोधके उपाय

किसी भाईका प्रश्न है कि 'चित्त बड़ा चंचल एवं प्रमादी है। इसे रोकना बड़ा कठिन है, यद्यपि शास्त्रकारोंने इसके निरोधके अनेक उपाय बतलाये हैं। उन उपायोंको पढ़ने, सुनने और समझनेकी चेष्टा भी की जाती है एवं उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार साधन करनेका यत्किंचित् प्रयत्न भी किया जाता है; किन्तु फिर भी मन स्थिर नहीं होता अत: इसके निरोधका सुगम उपाय क्या है?'

दु:खोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति एवं परमानन्दकी प्राप्तिके लिये चित्तका निरोध करना आवश्यक है। श्रुति, स्मृति तथा शास्त्रोंमें बतलाये हुए साधनोंके अनुसार तत्पर होकर चेष्टा करनेसे इसका निरोध हो सकता है, किन्तु असल बात तो यह है कि साधकगण इसके लिये यथेष्ट प्रयत्न तो करते नहीं, केवल सुगम उपाय ही पूछते रहते हैं। इसीलिये अधिक मनुष्योंकी प्राय: यही शिकायत रहती है कि मन स्थिर नहीं होता। शास्त्रकारोंने चित्त-निरोधके अनेक उपाय बतलाये हैं। उनमेंसे किसीके लिये कोई उपाय सुगम पड़ता है और किसीके लिये कोई। स्वभावकी विभिन्नताके कारण महर्षियोंने अधिकारी-भेदसे नानाविध साधनोंका उल्लेख किया है। उनमेंसे मुझे अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार जो-जो साधन सुगम प्रतीत होते हैं, उन्हें बतलानेका प्रयत्न करता हूँ।

सबसे पहले इस बातको ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है कि मन वशमें हुए बिना उसका निरोध होना कठिन है और पवित्र हुए बिना मनका वशमें होना कठिन है। इसलिये सर्वप्रथम मनको शुद्ध बनाना चाहिये। उसकी शुद्धिके लिये महात्माओंने एवं स्वयं भगवान्‌ने अनेक साधन बतलाये हैं। महर्षि पतंजलिने सुखी पुरुषोंसे मित्रता, दु:खियोंपर दया, पुण्यात्माओंको देखकर हर्ष और पापियोंके प्रति उदासीनता रखनेको चित्त-शुद्धिका साधन बतलाया है और चित्तके शुद्ध होनेसे ही प्रसन्नता होती है। तब चित्त-निरोध होता है।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदु:खपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

(योग० १। ३३)

भगवान् श्रीकृष्णने गीता अध्याय ५ श्लोक ११ में मन-शुद्धिके लिये आसक्तिको त्यागकर कर्म करनेकी आज्ञा दी है। अन्य सभी साधु-महात्माओंने भी लगभग इसी प्रकार कहा है।

इन सबका निचोड़ यही निकलता है कि सब भूतोंके हितमें रत रहकर निरभिमान एवं नि:स्वार्थभावसे सबकी आत्माको सुख पहुँचाना ही अन्त:करण-शुद्धिका उत्तम उपाय है; किंतु इससे भी बढ़कर एक और उपाय है और वह है हरिके नाम-गुणका कीर्तन।

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृत:।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावक:॥

(बृ० नारद० १। ११। १००)

'बिना इच्छाके स्पर्श करनेपर भी जिस प्रकार अग्नि निश्चय ही जला देती है, उसी प्रकार दुष्टचित्तवाले मनुष्योंद्वारा भी स्मरण किये हुए हरि पापोंको हर लेते हैं।'

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्य: सम्यग्व्यवसितो हि स:॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त हुआ, निरन्तर मुझे भजता है वह साधु ही माना जानेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

उपर्युक्त साधनोंसे पापोंका नाश हो जानेपर मन शुद्ध और स्वाधीन हो जाता है। फिर एकाग्र और निरोध हो जाना तो अत्यन्त ही सहज है। इस प्रकार शुद्ध और स्वाधीन हुआ मन परमानन्द-प्राप्तिके योग्य बन जाता है।

प्रथम यह समझ लेनेकी आवश्यकता है कि मनका स्वरूप क्या है? इस सम्बन्धमें शास्त्रकारोंने अनेक बातें बतलायी हैं।

महर्षि पतंजलिने भी—

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय: ।

(योग० १। ६)

'प्रमाण, विपर्यय (मिथ्या ज्ञान), विकल्प (कल्पना), निद्रा और स्मृति—चित्त (मन)-की ये पाँच वृत्तियाँ बतलायी हैं। इनके निरोधका नाम ही योग है।'

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

(योग० १। २)

किसी महात्माने चित्तकी क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ, एकाग्र और निरुद्ध—ये पाँच अवस्थाएँ बतलायी हैं और किसीने केवल संकल्पको ही इसका स्वरूप कहा है। अपने-अपने सिद्धान्तोंके अनुसार सभीकी मान्यता ठीक है। अतः साररूपसे यह कहा जा सकता है कि संकल्पोंका आधार अर्थात् संकल्प जिसमें उत्पन्न होते हैं उसका नाम मन है। संकल्पोंका आधार होनेके कारण मन संकल्परूप भी कहा जा सकता है। अब विचारणीय विषय यह है कि संकल्पोंका निरोध किस सहज और सुगम उपायसे हो सकता है। किन्तु इससे भी पूर्व यह जान लेनेकी आवश्यकता है कि संकल्पोंके बार-बार उठने तथा साधनके लिये रुचि न होनेमें प्रधान हेतु कौन-से हैं? इसके साथ ही साधनकालमें उपस्थित होनेवाले विघ्नोंको भी समझ लेना नितान्त आवश्यक है।

इन विघ्नोंके विषयमें महर्षि पतंजलि अपने योग-दर्शनमें इस प्रकार लिखते हैं—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानिचित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।
दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।

(१। ३०-३१)

'रोग, अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद (व्यर्थ चेष्टा), आलस्य, वैराग्यका अभाव, भ्रम, चित्तभूमिकी अप्राप्ति, चित्तका विशेष समयतक स्थिर न रहना—ये नौ चित्तके विक्षेप हैं।'

'दुःख, क्षोभ, अंगोंका फड़कना और श्वासोंका आना-जाना—ये सभी उपर्युक्त नौ विक्षेपोंके साथ रहनेवाले हैं।' अन्य शास्त्रकारोंका भी न्यूनाधिकरूपसे प्रायः यही कहना है। इन सब विघ्नोंमें व्याधि, अकर्मण्यता, प्रमाद, आलस्य, आसक्ति और स्फुरणा—ये छः प्रधान हैं और इनमें भी आलस्य और स्फुरणा विशेष बाधक हैं।

अन्तःकरणमें अनेक संकल्पोंके उत्पन्न होनेमें पूर्वार्जित संचित एवं प्रारब्ध कर्मोंका संस्कार तथा बुरी आदत और विषयोंकी आसक्ति तथा साधनकी ओर रुचि न होनेमें पूर्वकृत पाप-कर्मोंका समुदाय एवं संशय, भ्रम और अश्रद्धा ही प्रधान हेतु हैं।

आसक्तिके नाशके लिये इस संसारके अनित्य नाशवान् और क्षणभंगुर सम्पूर्ण पदार्थों और विषयभोगोंमें दोष और दुःखोंका बार-बार विचारकर उनमें वैराग्य एवं उनका यथोचित त्याग करना चाहिये।

प्रारब्धकर्मका क्षय तो प्रायः भोगसे ही होता है और संचित कर्मोंका यानी सम्पूर्ण पापोंका नाश निष्कामभावसे दुःखी मनुष्योंकी सेवा तथा ईश्वरके नाम-जपसे होता है।

बुरी आदत, संशय, भ्रम और अश्रद्धाके नाशके लिये सत्पुरुषोंका संग और सत्-शास्त्रोंका विचार ही विशेष लाभप्रद है।

मन-निरोधके विषयमें गीता अध्याय ६ श्लोक ३४ में अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे पूछा था। अर्जुनकी शंकाको स्वीकार कर उन्होंने यही उपदेश दिया कि यद्यपि मन चंचल और अस्थिर है तथापि अभ्यास और वैराग्यसे वह स्थिर हो सकता है।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(गीता ६। ३५)

'हे महाबाहो! निःसन्देह मन चंचल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है; पर अभ्यास और वैराग्यसे यह वशमें होता है।' फिर सहजमें ही उसका निरोध हो जाता है।

महर्षि पतंजलिका भी यही कथन है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

(योग० १। १२)

'अभ्यास और वैराग्यसे उसका निरोध होता है।'

सांख्यके रचयिता भगवान् कपिलदेवने भी अभ्यास और वैराग्यको चित्त-निरोधका साधन बतलाया है—'**वैराग्याभ्यासात्**'। अन्य सभी शास्त्रकारोंका भी इस विषयमें प्रायः यही सिद्धान्त है। किसी भक्तका कहना है—

मन फुरनासे रहित कर, जौने विधिसे होय।
चहै भक्ति चहै योगसे, चहै ज्ञानसे खोय॥

उपर्युक्त विवेचनसे यही सिद्ध होता है कि अभ्यास और वैराग्य ही चित्त-निरोधके उत्तम उपाय हैं। इसलिये विषयोंसे वैराग्य करके मनके निरोधार्थ कटिबद्ध होकर अभ्यास करना चाहिये। इस प्रसंगपर अभ्यास और वैराग्यका स्वरूप समझ लेनेकी आवश्यकता है। त्रिगुणात्मक संसारके विषयभोगों और समस्त पदार्थोंमें तृष्णा और आसक्तिके आत्यन्तिक अभावका नाम वैराग्य है। इस सम्बन्धमें अन्य शास्त्रोंकी भी प्रायः यही मान्यता है। अभ्यास एक व्यापक शब्द है। उसकी व्याख्या विस्तृत है; किन्तु विस्तार न कर केवल सार बातें ही बतलायी जाती हैं। इस विषयमें महर्षि पतंजलिजीका कहना है—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।

(योग० १। १३)

अर्थात् 'परमात्मामें' स्थितिके लिये यत्न करनेका नाम अभ्यास है।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

(योग० १। १४)

'वह अभ्यास निरन्तर दीर्घकालतक आदरपूर्वक किया हुआ दृढ़भूमि (स्थिति) वाला होता है।' भगवान् श्रीकृष्णका भी प्रायः यही कहना है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(गीता ६। २६)

'स्थिर न रहनेवाला यह चंचल मन जिस-जिस कारणसे सांसारिक पदार्थोंमें विचरता है उस-उससे रोककर बार-बार परमात्मामें ही निरोध करे।' समस्त विघ्नोंके नाश एवं मनकी स्थिरताके लिये सबसे उत्तम और सहज उपाय ईश्वरके नामका जप और उसके स्वरूपका चिन्तन ही है। महर्षि पतंजलिका भी यही कथन है—

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (योग० १। २३)

'ईश्वरकी भक्तिसे चित्तकी वृत्तिका निरोध होता है।'

तस्य वाचकः प्रणवः।
तज्जपस्तदर्थभावनम्।
ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

(योग० १। २७—२९)

अर्थात् 'उस ईश्वरका नाम ॐकार है। उस ईश्वरके नामका जप और उसके स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये। उससे समस्त विघ्नोंका अभाव और आत्माका साक्षात्कार भी हो जाता है।'

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

अर्थात् 'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्तसे स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मुझे स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।' इसलिये ईश्वरके नामका जप और स्वरूपका चिन्तन निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर करना चाहिये।

अभ्यासके विषयमें और भी अनेक युक्तियाँ शास्त्रोंमें मिलती हैं। उनमेंसे किसी एकके अनुसार साधन करनेपर मन स्थिर होना सम्भव है। उनमेंसे कतिपय प्रधान युक्तियाँ ये हैं—

(१) मन जहाँ जाय वहाँसे हटाकर उसको अपने अधीन करके परमात्मामें लगानेकी अपेक्षा भी, मन जहाँ-जहाँ जाय वहीं परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करना और भी सहज तथा सुगम उपाय है। अतएव चित्तकी वृत्तियोंका निरोध करनेके लिये इस युक्तिको काममें लानेकी कोशिश करनी चाहिये। ईश्वर सब जगह व्यापक है ही, अपनी समझके अनुसार श्रद्धा और प्रेमसे उस परमेश्वरका सर्वत्र चिन्तन करनेसे चित्तकी वृत्तियोंका निरोध हो जाता है।

(२) भगवान् शिव या विष्णुकी अथवा अपनेको जो देव इष्ट हो उसीकी मूर्ति या चित्रको सम्मुख रखकर श्रद्धा और प्रेमसे उस भगवान्‌के मुखारविन्दपर नेत्रोंकी वृत्तिको स्थिर स्थापन करके अपने ऊपर भगवान्‌की अपार दया और प्रेमका अनुभव करता हुआ उस आनन्दमय परमेश्वरके मुखकमलपर मनरूपी भँवरको स्थिर स्थापन करनेसे भी चित्तकी वृत्तियाँ एकाग्र होकर निरुद्ध हो सकती हैं।

(३) प्रातःकाल सूर्यके सम्मुख खड़े होकर नेत्र मूँदकर सूर्यकी ओर देखनेसे एक महान् प्रकाशका पुंज सर्वत्र समभावसे प्रतीत होता है, उसको लक्ष्य करके, उससे हजारों गुना अधिक एक प्रकाशका पुंज आकाशकी तरह सर्वत्र समानभावसे परिपूर्ण हो रहा है, उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, वही परमात्माका तेजोमय स्वरूप है, इस प्रकार समझकर सम्पूर्ण संसारको भूलकर उस तेजोमय परमात्माके स्वरूपमें चित्तकी वृत्तियोंको लगानेसे भी चित्त स्थिर हो सकता है।

(४) दधीचि, ऋषभदेव, जडभरत, शुकदेव आदि विरक्त मुनियोंके चरित्रोंकी ओर लक्ष्य जानेसे स्वाभाविक ही वैराग्यकी प्राप्ति होती है। इसलिये जो वीतराग मुनि हैं, संसारमें जिनकी आसक्ति बिलकुल नहीं है, ऐसे ज्ञानी महात्माओंका ध्यान करनेसे भी चित्तमें वैराग्य होकर चित्तकी वृत्तियोंका निरोध हो सकता है। चित्तकी वृत्तियोंके निरोध करनेका यह भी एक सरल उपाय है। महर्षि पतंजलिने भी कहा है—

वीतरागविषयं वा चित्तम्।

(योग० १। ३७)

'अथवा वीतराग पुरुषोंके चिन्तनसे चित्त स्थिर होता है।'

(५) हृदयदेशमें एक सुषुम्ना नामकी नाड़ी है, उसी नाड़ीमें परमानन्द विराजमान है। गीतामें लिखा है—**'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः'** 'मैं सबके हृदयमें स्थित हूँ।' परमात्मा विज्ञानानन्दरूप हैं इसलिये उस नाड़ीमें चेतन और आनन्दकी भावना करनी चाहिये। उस नाड़ीका शरीरकी सम्पूर्ण नाड़ियोंसे सम्बन्ध है। इसलिये उसके बंद हो जानेसे सारी नाड़ियाँ बंद हो जाती हैं। उस नाड़ीकी चाल साधारणतया एक मिनटमें ७५ या ८० बार समझी जाती है। उसी नाड़ीकी चालपर हमारे हाथोंकी और मस्तककी नाड़ियाँ टकराती हैं। उसकी प्रत्येक चालके साथ ॐका

जप करते हुए विज्ञानानन्दघन परमात्माकी भावना उस नाड़ीमें की जाय तो चित्तकी वृत्तियाँ स्थिर होकर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। यह साधन कुछ कठिन अवश्य है; परन्तु शब्दरहित-जहाँ विशेष बाधा देनेवाले शब्द न सुनायी दें, ऐसे एकान्त स्थानमें एकाकी रहकर प्रयत्न किया जाय तो सिद्ध हो सकता है। महर्षि पतंजलिने भी लिखा है—

विशोका वा ज्योतिष्मती।

(योग० १। ३६)

'अथवा शोकरहित प्रकाशमय चित्तकी अवस्थाविशेष भी मनको स्थिर करनेवाली होती है।' यह अवस्था उपर्युक्त प्रकारसे सुषुम्नानाड़ीमें ध्यान लगानेसे प्राप्त होती है।

(६) जहाँपर बाधा पहुँचानेवाली बाहरकी जोरकी ध्वनि न सुनायी दे, ऐसे एकान्त और पवित्र स्थानमें अकेला स्वस्तिक आदि किसी आसनसे सुखपूर्वक बैठकर दोनों अँगुलियोंसे कानोंके दोनों छिद्रोंको बंदकर अपने भीतर अपने-आप ही होनेवाले अनहदशब्द सुननेमें ध्यान लगावे। प्रथम उसको अनेक प्रकारके शब्द सुनायी देंगे। आगे चलकर जेबघड़ीके खटकेके समान सूक्ष्म शब्द सुनायी देगा, उसकी संख्या एक मिनिटमें करीब ७५ या ८० के लगभग हो सकती है। उस शब्दमें 'राम' 'शिव' या 'ॐ' की भावना करनेसे भावनाके अनुसार ही ध्वनि सुनायी देने लगेगी। उस शब्दमें ब्रह्मकी भावना करनेसे चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होकर मनुष्यको विज्ञानानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। यह साधन देखनेमें कुछ कठिन-सा प्रतीत होता है परन्तु रात्रिके मध्यमें या उषाकालमें तत्पर होकर साधन करनेसे कोई विशेष दुर्गम नहीं है।

(७) भ्रमरके गुंजारकी तरह एकतार ॐकारकी ध्वनि करते हुए उसमें परमेश्वरके स्वरूपकी भावना करनेसे चित्तकी वृत्तियाँ परमात्मामें स्थिर हो सकती हैं।

(८) जिस स्वरूपमें अपनी श्रद्धा और प्रेम हो उसका ध्यान करनेसे भी चित्तकी वृत्तियाँ रुक जाती हैं। महर्षि पतंजलिने भी कहा है—

यथाभिमतध्यानाद्वा।

(योग० १। ३९)

'जिसका जो अभीष्ट हो उसीमें ध्यान लगानेसे भी चित्तकी एकाग्रता होकर वृत्तियोंका निरोध हो सकता है।'

(९) ॐकारका स्मरण करते हुए श्वासको बाहर निकालकर उसे यथाशक्ति सुखपूर्वक बाहर ही बार-बार स्थिर करने और उसमें परमेश्वरकी भावना करनेसे चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होता है। महर्षि पतंजलिने कहा है—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।

(योग० १। ३४)

'अथवा प्राणोंको बाहर फेंकने और ठहरानेसे चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होता है।'

(१०) पवित्र एकान्त स्थानमें सुखपूर्वक आसनसे बैठकर नेत्रोंको बंद करके और सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको विषयोंसे रोककर सम्पूर्ण कामनाओं और संकल्पोंका त्याग करके विज्ञानानन्दघन परमात्माका चिन्तन करना चाहिये। कोई स्फुरणा चित्तमें हो तो उसी समय उसका त्याग कर देना चाहिये अर्थात् वैराग्ययुक्त चित्तसे संसार और शरीरको इस प्रकार विस्मरण कर देना चाहिये मानो वे हैं ही नहीं। इस प्रकार करना ही वैराग्यरूपी शस्त्रके द्वारा संसारवृक्षको काटना है। परन्तु खयाल रखना चाहिये कि शरीर और संसारके विस्मरण करनेवालेकी वृत्तियाँ प्रकृतिमें लय होकर उसे निद्रा आनेका डर रहता है। इसलिये शरीर और संसारका विस्मरण करनेके साथ-साथ विज्ञानानन्दघन परमात्माका ध्यान करना चाहिये और दृढ़ताके साथ उसमें स्थित रहना चाहिये। यही उस परमात्माके स्वरूपकी शरण है। इस प्रकार अभ्यास करनेसे परमात्माके स्वरूपमें चित्तकी स्थिर स्थिति हो जाती है।

(११) विवेक-बुद्धिके द्वारा साम, दाम, दण्ड और भेद-नीतिसे मनको समझानेसे भी परमात्मामें चित्तकी एकाग्रता और स्थिर स्थिति होकर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। यह भी परमात्माकी प्राप्तिका एक बहुत उत्तम उपाय है।

(क) मनको मित्र समझकर प्रेमसे समझानेका नाम साम-नीति है। जैसे कोई समझदार मनुष्य अपने भोले मित्रको समझाता है वैसे ही मनको भी समझाना चाहिये कि प्यारे मित्र! तुम्हारा स्वभाव चंचल है, तुम बिना विचारे हर काममें पड़ जाते हो और फँस जाते हो, इससे बहुत हैरान होना पड़ता है इसलिये तुम मेरी सलाहके बिना कोई काम न किया करो। विचार करके देखो, जब-जब तुम मेरी सम्मतिके बिना गये तब-ही-तब भारी विपत्तियोंका सामना करना पड़ा और पड़ रहा है। इसलिये तुम्हें अपनी इस मूढ़ता और चंचल स्वभावका त्याग करना चाहिये और मेरी सम्मतिके बिना एक क्षण भी तुम्हें न तो कहीं जाना चाहिये तथा न कुछ करना ही चाहिये। हे मन! जिस संसारके विषयोंको तुम सुखरूप समझकर चिन्तन करते हो, वास्तवमें उनमें सुखका लेशमात्र भी नहीं है, भ्रान्तिसे ही तुमको उनमें सुख प्रतीत होता है। इसलिये तुमको विचार करना चाहिये, नहीं तो, आगे चलकर बड़ा भारी पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

(ख) मनको लोभ देकर समझानेका नाम दाम-नीति है। जैसे—हे मन! विषयोंमें जो सुख है वह देश और कालद्वारा परिमित होनेके कारण अनित्य और क्षणभंगुर है। जैसे स्वादु भोजन जिह्वाको प्रिय होता है किन्तु श्रोत्र-त्वचादिको नहीं, सो भी थोड़े ही कालके लिये, सदा नहीं। ऐसे ही रुचिकर संगीतसे श्रोत्रकी तृप्ति होती है; किन्तु जिह्वा, नासिकादिकी नहीं, वह भी अल्पकालके लिये ही। इससे यह समझ लेना चाहिये कि प्रत्येक सांसारिक सुख देश और कालके द्वारा परिमित होनेके कारण नाशवान् और क्षणभंगुर है।

परमानन्द परमात्माकी प्राप्तिके सामने तो यह सांसारिक सुख सूर्यके सम्मुख खद्योतके सदृश भी नहीं है। विषयोंमें जो सांसारिक सुखोंकी प्रतीति होती है वह वास्तवमें सुख नहीं है, सुखका आभास है। क्योंकि जब असली सुखकी प्राप्ति होती है तब ये सांसारिक सुख, सूर्यके उदय होनेपर तारोंके समान छिप जाते हैं। ऐसे इन नाशवान्, क्षणभंगुर सांसारिक सुखोंकी ओरसे वृत्तियोंको हटाकर नित्य शान्तिमय और परमानन्दमय सुखके लिये ही चेष्टा करनी चाहिये।

सांसारिक सुखोंकी प्राप्तिमें जितना परिश्रम होता है, परमानन्दकी प्राप्तिमें उतना परिश्रम भी नहीं है। ज्यों-ज्यों इसका रहस्य समझमें आता है त्यों-ही-त्यों साधनकालमें भी उत्तरोत्तर सात्त्विक सुखकी वृद्धि होती चली जाती है। इसलिये इन सांसारिक भोगोंकी ओरसे हटकर तुम्हें उस सच्चे सुखकी प्राप्तिके लिये कटिबद्ध होकर परमात्मामें ही अपनेको लगाना चाहिये।

(ग) यदि मन साम या दाम-नीतिसे नहीं माने तो फिर उसे दण्ड-नीतिसे रोकनेकी चेष्टा करनी चाहिये। भय दिखलाकर वशमें करनेका नाम दण्ड-नीति है। जिस प्रकार राजा शत्रुको भय दिखलाकर उसको अपने अधीन कर लेता है, उसी प्रकार मनको अपने अधीन करना चाहिये। यथा—

हे मन! यदि तू संसार और विषयोंका चिन्तन करेगा तो मैं सम्पूर्ण भोगोंको त्यागकर वनमें या गिरि-गुहामें जाकर व्रत-उपवासादि तपसे वृत्तियोंका शमन करूँगा। भूखके कारण मेरे प्राण भले ही चले जायँ, उनकी परवा नहीं, किन्तु तेरा मूलोच्छेद अवश्य कर दूँगा। संसारके चिन्तनसे तेरी और मेरी इतनी भयानक दुर्दशा हुई और हो रही है। मूर्खता और चपलताके कारण तू इस बातको नहीं समझता। इसलिये यम-नियमादि साधनोंद्वारा जिस किसी प्रकारसे भी हो, तेरे नाशके लिये उपाय किया जायगा। क्योंकि जब मैं ईश्वरका ध्यान करने बैठता हूँ, तभी तू नाना प्रकारके सांसारिक चित्रोंको लाकर उच्चाटन पैदाकर मुझे ईश्वर-चिन्तनसे वंचित कर देता है और जब मैं जप या पाठ करता हूँ, तब तू उसमें संसारके मिथ्या कामोंकी आवश्यकता दिखलाकर जप और पाठमें शीघ्रता कराता है; जिसमें मैं कृतकार्य नहीं हो पाता। जब मैं नित्यकर्म और ईश्वरकी भक्तिको धैर्यके साथ करना चाहता हूँ तब तू निद्राका आश्रय लेकर मुझको मोहित कर देता है। विचार करनेसे मालूम होता है कि तू ही मेरा महान् शत्रु है। इसलिये जिस किसी प्रकारसे हो, तेरा नाश करना उचित है। नहीं तो इस दुःखमय संसारका चिन्तन छोड़कर शीघ्र अमृतमय परमात्माका चिन्तन कर जिससे तेरा-मेरा दोनोंका कल्याण हो।

(घ) अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये दो मित्रोंमें या सम्बन्धियोंमें परस्पर दोष दिखलाकर उनमें वैमनस्य उत्पन्न करा देनेका नाम भेद-नीति है। विषय-भोगोंको लेकर मन और इन्द्रियोंकी जो परस्परकी प्रीति है, उसे तोड़नेके लिये इस भेद-नीतिसे भी काम लेना चाहिये।

पहले इन्द्रियोंको यों समझाना चाहिये।

मन लोभी मन लालची, मन चंचल मन चोर।
मनके मते न चालिये, पलक-पलक मन और॥

हे इन्द्रियो! यह मन बड़ा चंचल, लोभी एवं मूर्ख है, मनकी बात सुनकर बिना विचारे हठात् किसी कार्यमें नहीं लगना चाहिये। यदि काम, क्रोध और लोभके पंजेमें फँसे हुए मनकी बात सुनकर झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार और हिंसादि कर्म किये जायँगे तो इस लोक और परलोकके भारी दुःखोंका सामना करना पड़ेगा। जैसे झूठ, कपट करनेसे राजदण्ड, इज्जतकी हानि एवं नरककी प्राप्ति होती है वैसे ही चोरी और व्यभिचार आदिके करनेसे भी गाली, मार, अपकीर्ति और राजदण्ड होता है और फिर घोर नरकोंकी प्राप्ति होती है। अतएव तुम यदि अपना हित चाहती हो तो पापाचार और विषयोंके सेवनका त्याग करो एवं बुद्धिका आश्रय ग्रहण करके अपने कल्याणके लिये सदाचार और परमेश्वरकी सेवा-पूजादि कार्यमें लग जाओ।

मनको समझाना चाहिये कि ये इन्द्रियाँ अपना मतलब गाँठनेके लिये तुम्हारी सहायतासे विषयोंका सेवन करती हैं और अपना मतलब निकालकर तुम्हें बड़े भारी दुःखके गड़हेमें गिरा देती हैं। जैसे जिह्वा-इन्द्रियकी प्रेरणासे कुपथ्यको पथ्य मानकर उसे खानेमें और स्पर्शेन्द्रियकी प्रेरणासे स्त्री-सहवासके समय क्षणिक और नाशवान् विषयसुखमें आनन्दका अनुभव होता है परन्तु परिणाममें अनेक प्रकारके रोगोंकी वृद्धि होकर नाना प्रकारकी पीड़ा और भारी दुःखोंका सामना करना एवं सदाके लिये पश्चात्ताप करना पड़ता है एवं बल, वीर्य, तेज, कीर्ति,

पुण्य और आयुका नाश हो जाता है। वैसे ही अन्यान्य इन्द्रियोंके विषयमें भी समझना चाहिये। कहनेका तात्पर्य यह कि इन्द्रियोंके वशमें हुआ तू नाना प्रकारके पाप करके नरककी घोर यातनाका पात्र बन जाता है। इसलिये हे मन! यदि तू असावधानीके कारण अपनेको नहीं सँभालेगा तो करोड़ों जीवोंकी जो दशा होती है वही दशा अपनी होगी। आज पशु, पक्षी, कीट-पतंगादि जीव जो घोर कष्ट पा रहे हैं वह उनके मनुष्य-जन्ममें समझकर न चलनेका ही तो परिणाम है। इसलिये इस बार तू चेत जायगा तो बहुत उत्तम है, नहीं तो महान् हानि है। अतएव तू सावधान हो एवं मनुष्यके अमूल्य जीवनका एक क्षण भी व्यर्थ न बिता। मनुष्य-जीवनका एक पल भी ईश्वर-चिन्तनके बिना बिताना अपने-आपको मृत्युके मुखमें ढकेलना है। क्योंकि अन्तकालमें मनुष्य जिसका चिन्तन करता हुआ जाता है उसीको प्राप्त होता है। और सदा जैसा अभ्यास करता है प्रायः अन्तकालमें उसीका चिन्तन होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस नाशवान् संसारका चिन्तन करना ही पुनः-पुनः मृत्युके मुखमें पड़ना है। अतएव संसारके चिन्तनको मृत्युके समान समझकर उससे हटकर हर समय ईश्वरका चिन्तन करना चाहिये। व्यवहार-कालमें भी जब सब वृत्तियाँ संसारके पदार्थोंकी ओर जायँ, सर्वत्र ईश्वरका ही चिन्तन करना चाहिये। गीतामें कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है।' इस प्रकार मनको समझाकर नित्य-निरन्तर भगवान्‌के चिन्तनमें लगानेसे वह स्थिर हो जाता है और साधकको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

मनुष्य-जीवनका अमूल्य समय

मनुष्य-जीवनका समय अमूल्य है। समयकी कीमत न जाननेके कारण ही लोगोंका बहुत-सा समय व्यर्थ ही चला जाता है, इसीलिये आत्मकल्याणमें विलम्ब हो रहा है, कहा जा सकता है कि कानूनपेशा वकील-बैरिस्टर प्रभृति तो समयका सदुपयोग करते हैं, क्योंकि वे अपने समयके प्रत्येक मिनटका पैसा ले लेते हैं, किन्तु पैसोंसे मनुष्य-जीवनका वास्तविक ध्येय सिद्ध नहीं होता। जो मनुष्य अपने अनमोल समयको पैसोंके बदले बेच डालते हैं, पैसोंसे होनेवाले भावी दुष्परिणामको नहीं समझनेके कारण पैसे इकट्ठे करते चले जाते हैं और जीवित कालमें उनसे कुछ भौतिक सुखकी प्राप्ति करते हैं, वे वस्तुतः कल्याण-मार्गमें कुछ भी अग्रसर नहीं होते।

मरनेके समय उन्हें एकत्र किया हुआ धन यहीं छोड़ जाना पड़ता है, उससे भी उन्हें कोई लाभ नहीं होता; प्रत्युत वह शोक और चिन्ताको बढ़ानेवाला ही होता है। अतएव जो धन, मान आदिके मोलपर अपने अमूल्य समयको बेच डालते हैं वे अपनी समझसे बुद्धिमान् होनेपर भी वास्तवमें बुद्धिमान् नहीं हैं। बुद्धिमान् तो वही कहे जा सकते हैं, जो जीवनके अमूल्य समयको अमूल्य कार्योंमें ही लगाते हैं, और अमूल्य कार्य भी उसीको समझना चाहिये, जिससे अमूल्य वस्तुकी प्राप्ति हो। वह अमूल्य वस्तु है—परमात्माके तत्त्व-ज्ञानसे होनेवाली आत्मोन्नतिकी चरम सीमा—परमेश्वरके स्वरूपकी प्राप्ति; इसीको दूसरे शब्दोंमें परमपदकी प्राप्ति अथवा मुक्ति भी कहते हैं।

दुःखकी बात है कि बहुत-से भाई तो ऐसे हैं, जो अपने समयको चौपड़, ताश, शतरंज आदि खेलनेमें, सांसारिक भोगोंमें एवं निद्रा, आलस्य और प्रमादमें व्यर्थ ही बिता देते हैं। बहुत-से ऐसे मूढ़ हैं जो जीवनके अमूल्य समयको चोरी, जारी, झूठ, कपट आदि कुकर्मोंमें बिताकर इस लोक और परलोक दोनोंसे भ्रष्ट होकर दुःखके भाजन बनते हैं; और कितने ऐसे हैं जो सुल्फा, गाँजा, कोकिन और मदिरा आदि मादक द्रव्योंके सेवनमें समय नष्ट करके नरकके भागी बनते हैं, यह समयका अत्यन्त ही दुरुपयोग है।

उचित तो यह है कि हमारा प्रत्येक श्वास श्रीभगवान्‌के स्मरणमें ही बीते। एक क्षण भी व्यर्थ न जाय। फिर पाप और प्रमादमें बिताना तो अत्यन्त ही मूर्खता है। असलमें बात यह है कि समयकी उपयोगिताको हमलोगोंने अभी समझा नहीं। जैसे पैसेकी उपयोगिता समझी हुई है, वैसे ही यदि समयकी उपयोगिता समझी होती तो भूलकर भी हमारा एक क्षणका समय ईश्वर-स्मरण बिना नहीं बीत सकता। हम किरायेकी मोटरपर सवार होकर कहीं जाते हैं और रास्तेमें किसी सज्जनसे बातें करनेके लिये मोटरको रोकना पड़ता है तो उस समय हम उनसे अच्छी तरह बात नहीं करना चाहते, क्योंकि हमारी नजर तो प्रति मिनट करीब दो आने चार्ज करनेवाले मीटरपर लगी रहती है। यह पैसेकी उपयोगिता समझनेका नमूना है। प्रति मिनटके

दो आने पैसेसे भी हम समयकी उपयोगिताको अधिक नहीं समझते। हमारे लिये उचित तो यह है कि जैसे मोटरमें बैठे किसीसे बात करते समय हमारा मन पैसोंमें लगा रहता है इसी प्रकार संसारका प्रत्येक कार्य करते समय अमूल्य जीवनका एक-एक क्षण मुख्यरूपसे श्रद्धा और प्रेमके साथ परम प्रेमास्पद परमात्माके चिन्तनमें ही लगाना चाहिये।

इस प्रकार चिन्तन करते-करते भगवान्‌की दयासे किसी भी क्षण हमें भगवत्-प्राप्ति हो सकती है। जिस क्षणमें भगवत्-प्राप्ति होती है, उसी क्षणका जीवन अत्यन्त अमूल्य है। उस समयकी तुलना किसीके साथ भी नहीं की जा सकती। परन्तु वैसा समय श्रद्धा और प्रेमपूर्वक चिन्तन करनेसे ही प्राप्त होता है। इसलिये हमें श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् परमेश्वरके स्वरूपके सदा-सर्वदा चिन्तन करनेका अभ्यास करना चाहिये। ऐसा करनेपर हमारा सभी समय अमूल्य समझा जायगा। यदि प्रेम और श्रद्धाकी कमीके कारण जीवनभरमें भगवत्-प्राप्ति न भी हुई, तो भी कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि अभ्यासके बलसे अन्त समयमें तो भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन अवश्य होगा ही और गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं कि जो अन्त समय मेरा चिन्तन करता हुआ जाता है वह निश्चय ही मुझको प्राप्त होता है, इसमें कोई भी संशय नहीं है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(८।५)

किन्तु खेदकी बात है कि हमलोग ईश्वरके भजनकी कीमत, कौड़ियोंके जितनी भी नहीं करते। मान लीजिये, एक पुरुष सालभरमें आठ हजार एक सौ रुपये कमाता है, वह यदि रोजगार छोड़कर* भजन करे तो उसका भी वह भजन कौड़ियोंसे सस्ता पड़ता है।

वार्षिक ८,१०० रुपयेके हिसाबसे एक महीनेके ६७५ रुपये, एक दिनके २२.५० रुपये, एक घंटेका साठ पैसे एवं एक मिनटका एक पैसा होता है। एक पैसेकी अधिक-से-अधिक साठ कौड़ी समझी जाय, ईश्वरका नामस्मरण एक मिनटमें कम-से-कम एक सौ बीस बार किया जाय यानी एक सेकंडमें दो नाम लिये जायँ तो भी वह कौड़ियोंसे मंदा पड़ता है। जब ८,१००) रुपये सालाना कमानेवालेसे भजनकी परता कौड़ियोंसे मंदी पड़ती है, फिर हजार-पाँच सौ रुपये सालाना कमानेवालेकी गिनती ही क्या है?

कंचन, कामिनी, मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाकी आसक्तिमें फँसकर जो लोग अपने अमूल्य समयको बिताते हैं, उनका वह समय और परिश्रम तो व्यर्थ जाता ही है, इसके अतिरिक्त उनकी आत्माका अधःपतन भी होता है।

धनकी आसक्तिमें फँसा हुआ लोभी मनुष्य अनेक प्रकारके अनर्थ करके धन कमाता है। धनके कमाने और उसकी रक्षा करनेमें बड़ा भारी क्लेश और परिश्रम होता है। उसके खर्च करनेमें भी कम दुःख नहीं होता और फिर धनको त्यागकर जानेके समय तो किसी-किसीको प्राण-वियोगसे भी बढ़कर दुःख होता है। जैसे निर्धन आदमी धन-उपार्जनकी चिन्ता करता है और ऋणी ऋण चुकानेके लिये व्याकुल रहता है, वैसे ही धनी आदमी धनकी रक्षाके लिये व्याकुल रहता है।

वस्तुतः धन कमानेकी लालसा आत्माका अधःपतन करनेवाली है, इसी प्रकार स्त्री-संगकी इच्छा उससे भी बढ़कर आत्माका पतन करती है। पर-स्त्री-गमनकी तो बात ही क्या है, वह तो अत्यन्त ही निन्दनीय और घोर नरकमें ले जानेवाला कर्म है, परन्तु अपनी विवाहिता स्त्रीका सहवास भी शास्त्र-विपरीत हो तो कम हानिकर नहीं है। आसक्तिके कारण शास्त्र-विपरीत होना मामूली बात है। जब साधन करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषकी इन्द्रियाँ भी बलात् मनको विषयोंमें लगा देती हैं, तो फिर साधनरहित विषयासक्त पामर मूर्खोंका तो पतन होना कौन बड़ी बात है?

जैसे मूर्ख रोगी स्वादके वश हुआ कुपथ्य करके मर जाता है, वैसे ही कामी पुरुष स्त्रीका अनुचित सेवन करके अपना नाश कर डालता है। विलासिताकी बुद्धिसे स्त्रीका सेवन करनेसे कामोद्दीपन होता है और कामका वेग बढ़नेसे बुद्धिका नाश हो जाता है, कामसे मोहित हुआ नष्टबुद्धि पुरुष चाहे जैसा विपरीत आचरण कर बैठता है, जिससे उसका सर्वथा अधःपतन हो जाता है। स्त्रीके सेवनसे बल, वीर्य, बुद्धि, तेज, उत्साह, स्मृति और सद्‌गुणोंका नाश हो जाता है एवं शरीरमें अनेक प्रकारके रोगोंकी वृद्धि होकर मनुष्य मृत्युके समीप पहुँच जाता है; तथा इस लोकके सुख, कीर्ति और धर्मको खोकर नरकमें गिर पड़ता है। यही आत्माका पतन है, इसीलिये साधुजन कंचन और कामिनीका भीतर और बाहरसे सर्वथा त्याग कर देते हैं। वास्तवमें भीतरका त्याग ही असली त्याग है, क्योंकि ममता, अभिमान और आसक्तिसे रहित हुआ गृही मनुष्य, न्याययुक्त कंचन और कामिनीके साथ सम्बन्ध रखनेपर भी त्यागी ही माना गया है।

* वास्तवमें रोजगारको स्वरूपसे छुड़ानेका हमारा अभिप्राय नहीं है, केवल भजनकी महिमा दिखानेके लिये लिखा गया है। उत्तम बात तो यह है कि मुख्य वृत्तिसे परमात्माको याद रखता हुआ गौणी वृत्तिसे व्यवहार करे।

मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाके जालमें तो अच्छे-अच्छे साधक भी फँस जाते हैं। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छा साधनपथमें भी दूरतक मनुष्यका पिण्ड नहीं छोड़ती। आरम्भमें तो यह अमृतके तुल्य प्रतीत होती है, परन्तु परिणाममें विषसे भी बढ़कर है। अज्ञानवशतः यह बहुत-से अच्छे-अच्छे पुरुषोंके चित्तको डाँवाडोल कर देती है।

साधक पुरुष भी मोहके कारण इस प्रकार मान लेते हैं कि मेरी पूजा और प्रतिष्ठा करनेवाले पवित्र होते हैं, इससे मेरी कुछ भी हानि नहीं। परंतु ऐसा समझनेवालोंकी बुद्धि उन्हें धोखा देती है और वे मोह-जालमें फँसकर साधनपथसे गिर जाते हैं। बहुत-से पुरुष तो मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छाके लिये ही ईश्वरभक्ति, सदाचार और लोक-सेवादि उत्तम कर्ममें प्रवृत्त होते हैं।

दूसरे जो जिज्ञासु अर्थात् अपनी आत्माके कल्याणके उद्देश्यसे ईश्वरभक्ति, सदाचार और लोक-सेवादि उत्तम कर्म करते हैं वे भी मान बड़ाई प्रतिष्ठाको पाकर फिसल जाते हैं और उनके ध्येयका परिवर्तन हो जाता है। ध्येयके बदल जानेसे मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये ही उनके सब काम होने लगते हैं और झूठ, कपट, दम्भ और घमंडको उनके हृदयमें स्थान मिल जाता है, इससे उनका भी अध:पतन हो जाता है।

कुछ जो अच्छे साधक होते हैं, उनका ध्येय तो नहीं बदलता, परन्तु स्वाभाविक ही मनको प्रिय लगनेके कारण मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाके जालमें फँसकर वे भी उत्तम मार्गसे रुक जाते हैं। आजकल जो साधु, महात्मा, भक्त और ज्ञानी माने जाते हैं, उनमेंसे तो कोई बिरले ही ऐसे होंगे, जो इनके जालमें न फँसे हों।

पामर और विषयासक्त पुरुषोंको तो ये अमृतके तुल्य दीखते ही हैं; किन्तु बुद्धिमान् साधक पुरुषको भी ये देखनेमें अमृतके तुल्य प्रतीत होते हैं। परन्तु बुद्धिमान् साधक तत्त्वज्ञानी और विरक्त पुरुषोंके संगके प्रतापसे विचार बुद्धिके द्वारा परिणाममें विषके सदृश समझकर इनको नहीं चाहते।

इनमेंसे भी जो मुलाहिजेमें फँसकर या मनके धोखेसे स्वीकार कर लेते हैं, वे भी प्राय: गिर जाते हैं।

जो उच्च श्रेणीके साधक हैं और जिन्हें इन सबमें वास्तविक वैराग्य उत्पन्न हो गया है, उन विरक्त पुरुषोंकी इन सबमें प्रत्यक्ष घृणा हो जाती है। इसलिये वे इनसे उपराम हो जाते हैं। जैसे मद्य और मांस न खानेवालेके चित्तकी वृत्तियाँ मद्य-मांसकी ओर स्वाभाविक ही नहीं जातीं, वैसे ही उन विरक्त पुरुषोंके चित्तकी वृत्तियाँ मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी ओर नहीं जातीं। बुद्धिमान् रोगी जैसे कुपथ्यसे डरते हैं वैसे ही ये उनके संसर्ग और सेवनसे (मृत्युके सदृश) डरते हैं। जहाँ मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा होती है, वहाँ प्रथम तो प्राय: वे लोग जाते ही नहीं, यदि जाते हैं तो उन सबको स्वीकार नहीं करते। कोई बलात् मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा कर देता है तो उनके दिलमें वे सब खटकते हैं।

जो ज्ञानवान् हैं अर्थात् ईश्वरके तत्त्वज्ञानसे जिन्हें परम वैराग्य और परम उपरामता प्राप्त हो गयी है, उनके विषयमें तो कुछ लिखना बनता ही नहीं। वे तो समुद्रके सदृश गम्भीर, निर्भय और धीर होते हैं। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाको तो वे चाहते ही नहीं, यदि बलात् कोई कर देते हैं तो वे इतने उपराम होते हैं कि श्रीशुकदेवजीकी भाँति वे उनकी परवा ही नहीं करते।

जब उनकी दृष्टिमें परमात्माके अतिरिक्त संसार ही नहीं है तो फिर राग, वैराग्य, मान, अपमान, निन्दा, स्तुतिको स्थान ही कहाँ है! उन पुरुषोंको छोड़कर और कोई विरला ही पुरुष होगा जो मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाको पाकर नहीं गिरता।

अतएव कंचन, कामिनी, मान-बड़ाई और प्रतिष्ठाके मोहमें फँसकर अपने मनुष्य-जीवनके अमूल्य समयको व्यर्थ गँवाकर आत्माका पतन नहीं करना चाहिये।

मनुष्य-जीवनका एक-एक श्वास ऐसा अमूल्य है कि जिसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती, क्योंकि ईश्वरकृपाके प्रभावसे उत्तम देश, काल और सत्संगको पाकर यह मनुष्य एक क्षणमें भी परमपदको प्राप्त हो सकता है। किसी कविने भी कहा है—

ऐसे महँगे मोलका एक स्वास जो जाय।
तीन लोक नहिं पटतरे काहे धूरि मिलाय॥

मनुष्यके जीवनका समय बहुत ही अनमोल है। एक-एक श्वासपर सौ-सौ रुपये खर्च करनेसे भी एक श्वासका समय नहीं बढ़ सकता। रुपये खर्च करनेसे समय मिल जाता तो राजा-महाराजा कोई नहीं मरते।

पैसोंहीसे नहीं, रत्नोंके मोलपर भी मनुष्य-जीवनका समय हमको नहीं मिल सकता। इसलिये ऐसे अमूल्य समयको जो व्यर्थ खोयेगा, उसको अवश्य ही पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इस क्षणभंगुर परिवर्तनशील संसारके सभी पदार्थ जीर्ण और नाशको प्राप्त होते हुए क्षण-क्षणमें हमलोगोंको चेतावनी दे रहे हैं, परन्तु हमलोग नहीं चेतते।

प्रति सेकंड टिक-टिक करती हुई घड़ी हमें समय बतलाती है परन्तु हम ध्यान नहीं देते। हमारे शरीरके नख, रोम और अवस्थाओंका परिवर्तन, इन्द्रियोंका ह्रास तथा बीमारियोंकी उत्पत्ति हमको समय-समयपर मौतकी याद

दिलाती है तो भी हम सावधान नहीं होते। इससे बढ़कर और क्या आश्चर्य होगा?

हमलोग मायारूपी मदिराको पीकर ऐसे मोहित हो गये हैं कि उसका नशा कभी उतरता ही नहीं। संत कवियोंने भी हमें कम चेतावनी नहीं दी है, परन्तु हम किसीकी परवा ही नहीं करते, फिर हमारा कल्याण कैसे हो?

नारायण स्वामी कहते हैं—

दो बातनको भूल मत जो चाहत कल्यान।
नारायण इक मौतको दूजे श्रीभगवान॥

श्रीकबीरदासजीके वचन तो चेतावनीसे भरे हुए हैं—

कबीर नौबत आपनी दिन दस लेहु बजाय।
यह पुर पट्टन यह गली बहुरि न देखो आय॥
आजकलकी पाँच दिन जंगल होगा बास।
ऊपर ऊपर हल फिरैं ढोर चरैंगे घास॥
मरहुगे मरि जाओगे कोई न लेगा नाम।
ऊजड़ जाय बसाओगे छाँड़ि बसंता गाम॥
हाड़ जलै ज्यों लाकड़ी केस जलै ज्यों घास।
सब जग जलता देखकर भया कबीर उदास॥
कबिरा सूता क्या करै जागो जपो मुरारि।
एक दिना है सोवना लंबे पाँव पसारि॥

जब कबीर-सदृश संतकी चेतावनी सुनकर भी हमारी अज्ञान-निद्रा भंग नहीं होती तो दूसरोंकी तो हम सुनें ही क्या?

कर्तव्यको भूलकर भोग, प्रमाद, आलस्य और सांसारिक स्वार्थ-सिद्धिमें मोहित होकर तल्लीन हो जाना ही निद्रा है।

चराचर भूतप्राणी ईश्वरका अंश होनेके कारण ईश्वरका स्वरूप ही है। इस प्रकार समझकर उनके हितमें रत होकर उनकी सेवा करना और सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन परमात्माके तत्त्वको जानकर उनको कभी नहीं भूलना, यही जागना है।

श्रुति भी इसी बातको लक्ष्य कराती हुई डंकेकी चोट हमें जगा रही है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

(केन० २।५)

यदि इस मनुष्य-शरीरमें ही उस परमात्म-तत्त्वको जान लिया तो सत्य है यानी उत्तम है, यदि इस जन्ममें उसको नहीं जाना तो महान् हानि है। धीर पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें परमात्माका चिन्तनकर परमात्माको समझकर इस देहको छोड़ अमृतको प्राप्त होते हैं अर्थात् इस देहसे प्राणोंके निकल जानेपर वे अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

(कठ० १।३।१४)

उठो, जागो और महापुरुषोंके समीप जाकर तत्त्वज्ञानके रहस्यको समझो।

ऐसे चेतानेपर भी हमलोग नहीं चेतेंगे तो फिर हमलोगोंका उसी दशाको प्राप्त होना अनिवार्य है जैसा कि तुलसीदासजीने कहा है—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

समयका सदुपयोग

समयकी अमूल्यताके रहस्यको समझकर मनुष्यको चाहिये कि वह अपना सारा समय भगवान्के प्रभाव और रहस्यको समझते हुए श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक निरन्तर केवल ईश्वरके चिन्तनमें ही लगावे। यदि मनुष्य भगवच्चिन्तनका ऐसा अभ्यास करे तो उसको बहुत अल्प समयमें ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकारके अभ्याससे सम्पूर्ण दुर्गुणों, दुराचारों एवं दुःखोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है और मनुष्य अनायास ही सदाचार और सद्गुणोंसे सम्पन्न होकर परम शान्ति और परम आनन्दको प्राप्त होता है।

संसारमें चौरासी लाख जातिके अनन्त जीव शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं। इन सबमें परमात्माकी प्राप्तिका अधिकार केवल मनुष्यको ही माना गया है। परमात्माकी असीम दयाके प्रभावसे तो अनधिकारी पशु-पक्षी तिर्यक् योनिके जीवोंको भी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकारकी बातें इतिहासोंमें मिलती हैं। परन्तु वह अपवादरूप है, नियम नहीं। सारी सृष्टिके जीवोंकी संख्याका अनुमान करना तो वस्तुतः लड़कपन है; परन्तु मनुष्यकी साधारण बुद्धिसे इतना कहा जा सकता है कि समस्त सृष्टिके अनन्तकोटि जीवोंमें मनुष्यकी संख्या अपार समुद्रमें एक क्षुद्र तरंगके समान ही है। यदि प्रत्येक योनिको भोगते हुए ठीक क्रमसे जीवको मनुष्य-शरीर मिले तब तो अनेकों युगोंके बाद उसका मिलना सम्भव है। आचरणोंकी ओर देखनेपर भी निराशा ही होती है, आचरण तो ऐसे हैं कि उनसे शीघ्र मनुष्य-शरीर मिलनेकी आशा ही नहीं की जा सकती। जिसको मनुष्य-शरीर मिलता है उसपर ईश्वरकी महान् दया समझनी चाहिये। इसीसे श्रीरामचरितमानसमें कहा गया है—

आकर चारि लच्छ चौरासी।
जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

अतएव बुद्धिमान् पुरुषोंको यह समझ रखना चाहिये कि अनन्त युगोंसे भटकते हुए अनन्तकोटि जीवोंमें जो अत्यन्त ही भाग्यशाली और मुक्तिके अधिकारी समझे जानेयोग्य जीव होते हैं उन्हींको ईश्वर यह दुर्लभ मुक्तिदायक मनुष्य-शरीर प्रदान करते हैं। ऐसे दुर्लभ और क्षणभंगुर अनित्य मनुष्य-शरीरको पाकर जो जीव शीघ्र-से-शीघ्र अपने आत्माके कल्याणके लिये तत्पर नहीं होता, उसके समान मूर्ख और कोई भी नहीं है। जब मनुष्यका शरीर मिल गया, तब यह समझ लेना चाहिये कि सामान्यभावसे मुक्तिके अधिकारी तो हम हैं ही। ऐसा न होता तो मनुष्य-शरीर ही हमें क्यों दिया जाता। दयामयकी अपार दया है जिसने हमें मुक्तिका अधिकारी बनाया। इस अधिकारको पाकर भी यदि हम उस दयामयकी दयाकी अवहेलना कर अपने समयको व्यर्थ भोग, प्रमाद, पाप और आलस्यमें बितावें तो उसे मूढ़ताके अतिरिक्त और क्या कहा जाय? आहार, निद्रा और मैथुनादि तो प्रायः सभी योनियोंमें प्राप्त होते ही रहते हैं फिर मनुष्यके शरीरको पाकर भी यदि जीव उन्हीं विषयोंमें अपना जीवन बिताता रहे तो फिर उस मनुष्यमें और पशुमें अन्तर ही क्या रह जाता है, कुतियाके साथ कुत्तेको जो सुख प्राप्त होता है, वही राजाको रानीके साथ और इन्द्रको इन्द्राणीके साथ प्राप्त होता है। पुष्पोंकी सुकोमल शय्यापर सोनेमें जो सुख विलासी मनुष्यको मिलता है, वही सुख गदहेको घूरेकी राखपर लोटनेमें मिलता है। नाना प्रकारके मेवा-मिष्टान्न खानेमें मनुष्यको जो आनन्द मिलता है, वही आनन्द कुत्ते, कौवे आदि पशु-पक्षियोंको अपने-अपने आहारमें मिलता है। ईश्वरकी दयाके फलस्वरूप दुर्लभ मनुष्य-शरीरको और ऐसी मानवी बुद्धिको पाकर भी यदि हम इन पशु-पक्षियोंकी भाँति आहार, निद्रा और मैथुनादिको ही सर्वोत्तम सुख समझकर इन्हींमें अपना समय बितावें तो वास्तवमें हमारा दर्जा इन पशु-पक्षियोंसे भी बहुत नीचा हो जाता है। क्योंकि उन बेचारोंमें तो इस प्रकार समझने और विचार करनेकी बुद्धि नहीं है। इसीलिये वे इतने दोषी नहीं हैं परन्तु मनुष्यत्वके अभिमानको रखनेवाला प्राणी यदि उन्हींकी भाँति आचरण करता है तो उसके लिये यह अत्यन्त ही शोक और लज्जाकी बात है।

याद रखना चाहिये कि मनुष्यकी आयु परिमित है और वह भी बहुत ही कम है। अधिक-से-अधिक वर्तमान समयमें सौ वर्षकी आयु मानी गयी है। वह भी आजकल सौ पीछे लगभग पाँचको भी प्राप्त नहीं होती। इस आयुका कितना अंश तो लड़कपनमें ही बीत जाता है। वृद्धावस्थामें साधन प्रायः बन ही नहीं पड़ता। जो लोग यह मानते हैं कि हम वृद्धावस्थामें साधन कर लेंगे, वे बहुत भूल करते हैं। बचा हुआ समय भी अनेक प्रकारके विघ्न-बाधाओंसे पूर्ण है। हमारे पूर्वसंचित पाप, वर्तमानकी कुसंगति और विषयासक्तिके कारण विघ्न-बाधाएँ आती ही रहती हैं। शरीर भी सदा नीरोग नहीं रहता। मनुष्यकी बुद्धि और उसके विचार भी सदा एक-से नहीं रहते। कुसंगमें बुद्धि बिगड़ ही जाती है और जगत्‌में प्रायः कुसंग ही अधिक होता है। आलसी, भोगी, प्रमादी, दुराचारी, अहंकारी और नास्तिक मनुष्योंका संग ही कुसंग है। फिर पता नहीं, मौत किस क्षणमें आ जाय। ऐसे घोर विघ्नोंसे बचकर इतने अल्पकालमें अपने ध्येयकी सिद्धि वही बुद्धिमान् पुरुष कर सकता है जो सब ओरसे मन हटाकर अत्यन्त तत्परताके साथ सम्पूर्णरूपसे ध्येयकी सिद्धिके प्रयत्नमें ही लग जाय। वास्तविक बुद्धिमान् वही है जो ऐसे अमूल्य समयका एक भी क्षण आलस्य और प्रमादमें न बिताकर प्रतिक्षण अपने लक्ष्यपर लगा रहता है। मनुष्यको अपनी इस आयुका एक-एक क्षण बड़ी सावधानीके साथ उसी प्रकार परम आवश्यक साधनमें लगाना चाहिये जिस प्रकार कोई अत्यन्त गरीब और आजीविकासे रहित कंजूस मनुष्य अपने थोड़े-से परिमित पैसोंको अत्यावश्यक कार्यमें ही व्यय करता है। समयकी अमूल्यताके रहस्यको जाननेवाले पुरुष कदापि समयका व्यर्थ व्यय नहीं कर सकते। अतएव हमलोगोंको चाहिये कि मृत्युके समीप पहुँचने और वृद्धावस्थाको प्राप्त होनेके पहले-पहले ही तत्परतासे प्रयत्न करके अपने ध्येयकी सिद्धि कर लें। नहीं तो पीछे बड़ा भारी पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

अभी बहुत अच्छा मौका है। क्योंकि इस घोर कलिकालमें निष्काम भावसे किया हुआ थोड़ा-सा भी भगवद्भजनरूप साधन कल्याणकारी माना गया है। तिसपर ईश्वरकी दयाका तो पार ही नहीं है। इतनेपर भी यदि हम उसकी दया, प्रेम और प्रभावके रहस्यको समझकर उसका भजन करनेके लिये कटिबद्ध न हों तो फिर कर्मोंके और समयके मत्थे दोष मढ़ना सर्वथा असंगत है। अतएव उठो, सावधान होओ और महर्षियोंद्वारा बतलाये हुए अपने परम ध्येयकी सिद्धिके लिये कमर कसकर प्रयत्नमें लग जाओ।

आजसे कल और कलसे परसों—यों उत्तरोत्तर जो आत्मोन्नतिके पथपर आगे बढ़ते हैं, वे बुद्धिमान् हैं। श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणादि शास्त्रोंमें बतलायी हुई बातोंमें जो सर्वोत्तम प्रतीत हों उन्हींके आचरणमें अपना समय लगाना चाहिये। साथ ही अपनी दृष्टिमें जो शास्त्रानुमोदित लक्षणोंवाले महापुरुष हों, उनके बतलाये हुए पथपर चलना चाहिये। ऐसे महापुरुषोंके उत्तम गुण और उत्तम आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये। यदि उत्तम पुरुषोंका समागम न मिले तो पूर्वमें होनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंके जीवन-चरित्र पढ़कर उनके गुण और आचरणोंको आदर्श मानकर तदनुसार अपने जीवनको उत्तरोत्तर सर्वोत्कृष्ट बनाते रहना चाहिये। जबतक जीवन रहे तबतक आगे बढ़ता ही रहे। कहींपर यह न मान बैठे कि मेरी सर्वोपरि उन्नति हो गयी, इसके आगे और कोई गुंजाइश नहीं है। ऐसा मानना उन्नतिके मार्गको रोक देना है। रोक देना ही नहीं, इस प्रकार मान बैठनेवाले अनेकों मनुष्य तो अपनी स्थितिसे ही गिर जाते हैं।

मानवी बुद्धिरूपी गजसे वास्तविक उन्नतिका माप हो ही नहीं सकता। वह गज उसकी सीमातक नहीं पहुँच सकता। जहाँ सीमा शेष हो जाती है, देहाभिमानका सर्वथा नाश हो जाता है, वहाँ तो इस बातको माननेवाला या कहनेवाला कोई धर्मी रह नहीं जाता कि मुझको अब कोई कर्तव्य नहीं है। और जबतक देहाभिमान है अर्थात् जबतक देहको आत्मा माननेवाला या देहका स्वामी बना हुआ कोई धर्मी है तबतक कर्तव्यका अन्त मान लेना बड़ी भारी भूल है। जबतक देहमें किसी भी रूपमें अपनी व्यवस्था करनेवाला, अपनी स्थिति समझनेवाला कोई धर्मी है तबतक उसको उत्तरोत्तर उन्नतिके प्रयत्नमें लगे रहना चाहिये। जो पुरुष परमात्माको तत्त्वसे जानकर उसे प्राप्त हो जाता है, यद्यपि उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता, तथापि लोक-उद्धारके लिये उसके द्वारा भी कर्म होते रहते हैं। अवश्य ही उसके कर्म अकर्म ही बतलाये गये हैं।

उन्नति चाहनेवाले पुरुषके लिये कर्तव्यकी समाप्ति कभी होती ही नहीं। संसारमें निषिद्ध कर्म करनेवालोंकी अपेक्षा निषिद्ध कर्म न करनेवाले उत्तम हैं, उनसे उत्तम वे हैं जो धन, पुत्र, स्त्री, मान, बड़ाई या स्वर्गादिकी कामनासे उत्तम आचरण और ईश्वरकी भक्ति करते हैं। उनसे श्रेष्ठ वे हैं जो सदाचार-पालन और ईश्वरकी भक्ति करते समय तो भगवान्से कुछ भी नहीं माँगते; परन्तु पीछे किसी संकटमें पड़नेपर उस संकटकी निवृत्तिके लिये ईश्वरसे याचना करते हैं। उनसे भी वे श्रेष्ठ हैं जो आत्मोद्धारके अतिरिक्त अन्य किसी भी बातके लिये कभी इच्छा नहीं रखते, वे तो अति श्रेष्ठ हैं जो ईश्वरके तत्त्वको जानकर बिना ही किसी हेतुके स्वाभाविक ही ईश्वरकी भक्ति और सदाचारका प्रेमपूर्वक पालन करते हैं और उन महापुरुषोंके लिये तो कुछ कहना ही नहीं बनता जो ईश्वरको प्राप्त हो चुके हैं। ईश्वरप्राप्त पुरुषोंमें भी वे सर्वोत्तम हैं जिनको ईश्वरकी ओरसे संसारमें सदाचार और भक्तिके प्रचारके लिये आदेश या अधिकार प्राप्त है। ईश्वरके यहाँसे जो इस बातका अधिकार लेकर आते हैं उन्हींको कारक पुरुष और अंशावतार भी कहते हैं। और दयामय भगवान् तो सबसे उत्तम और समस्त उत्तमताके आधार ही हैं जो जीवोंके उद्धारके लिये स्वयं समय-समयपर अवतीर्ण होकर शाश्वत धर्म और परमपावनी भक्तिका प्रचार करते हैं। अतएव मनुष्यको चाहिये कि वह सर्वोत्तम पुरुषको अपना आदर्श और ध्येय मानकर उनके आचरण और गुणोंका अनुकरण तथा उनकी आज्ञाका पालन करते हुए अपने जीवनको उत्तरोत्तर उन्नत बनानेमें ही अपना समय लगावे। इसीमें मनुष्यकी बुद्धिमत्ता है।

इस प्रकारकी सर्वोत्तम उन्नतिके लिये अर्थात् श्रीपरमात्माकी प्राप्तिके लिये श्रद्धा और प्रेमकी सबसे बढ़कर आवश्यकता है। श्रद्धा पहले होती है, तभी प्रेम होता है। सबसे उत्तम श्रद्धाके पात्र तो परमेश्वर ही हैं! दूसरे वे भी श्रद्धाके पात्र हैं जिनके संगसे हमारी परमेश्वरमें श्रद्धा होती है, जिनको परमेश्वरकी प्राप्ति हो चुकी है अथवा जो परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर रहे हैं। परमेश्वर, साधु-महात्मा और उनके वचन, आचरण तथा गुणोंमें जो प्रत्यक्षवत् विश्वास और उच्चभाव है, उसीका नाम श्रद्धा है। जैसे एक पत्थर है और किसी महापुरुषने उसे पारस बतला दिया, तो ऐसी अवस्थामें महापुरुषमें श्रद्धालु मनुष्यको वह पत्थर उसी क्षण पारस ही दीखने लगता है। यानी हमने एक चीजको देखा है, सुना है और समझा है, उसी चीजको यदि महापुरुष दूसरी चीज (हमारे प्रत्यक्ष अनुभवसे विपरीत) बतावें, और उनके बतलाते ही हमारे मनमें और हमारी दृष्टिमें हमारी समझी हुई चीज न रहकर महापुरुषकी बतलायी हुई चीज ही प्रत्यक्ष हो जाय। यह सर्वोत्तम श्रद्धा है। चीज वैसी दीखे तो नहीं परन्तु श्रद्धाके कारण विश्वास कर लिया जाय, यह मध्यम श्रद्धा है, और महापुरुषके द्वारा बतलायी हुई बातमें विश्वास करनेकी कोशिश करना कनिष्ठ श्रद्धा है। हमें महापुरुषोंमें श्रद्धा करनी चाहिये। परन्तु आज-कल प्रथम तो संसारमें परमेश्वरकी प्राप्तिवाले महापुरुष हैं ही बहुत कम। यदि कोई हैं तो उनका मिलना कठिन है और मिल जायँ भी तो उनको पहचानना अति

दुर्गम है। यदि दैवयोगसे हमें महापुरुष मिल जायँ तो ईश्वरकी बड़ी कृपा समझनी चाहिये। न मिलें तो, उनके दिये हुए सदुपदेश और उनके जीवनके शुद्ध आचरणोंको आदर्श मानकर उनमें श्रद्धा करनी चाहिये। इस मार्गमें चलनेवाले साधकोंका संग भी बहुत सहायक होता है। उनमें भी यथायोग्य श्रद्धा रखनी चाहिये।

श्रद्धासे प्रेम तो आप ही हो जाता है। ईश्वरके प्रति किया हुआ प्रेम तो ईश्वरमें है ही; परन्तु ईश्वरकी प्राप्तिके उद्देश्यसे ईश्वरप्राप्त पुरुषोंमें, साधकोंमें और शास्त्रोंमें जो प्रेम किया जाता है वह भी प्रकारान्तरसे ईश्वरमें ही है। अवश्य ही प्रेम स्वार्थरहित होना चाहिये। स्वार्थरहित प्रेमसे ही परमात्माकी शीघ्र प्राप्ति होती है। अपने प्रेमास्पदके गुण, स्वभाव, आचरण, नाम और स्वरूपका श्रवण, पठन और चिन्तन होते ही शरीरमें रोमांच, अश्रुपात, कम्प, कण्ठावरोध, प्रफुल्लता आदि लक्षणोंका प्रकट हो जाना प्रेमके बाहरी चिह्न हैं। संयोगमें परम प्रसन्नता, परम शान्ति और आत्मविस्मृति आदिका होना तथा वियोगमें परम व्याकुलता, अत्यन्त असहनशीलता और निरन्तर चिन्तन आदि होना प्रेमके भीतरी चिह्न हैं। प्रेमास्पदके ध्यानमें परम शान्ति और आनन्द तथा व्यवहारकालमें उसके नाम, रूप, गुण और आचरणोंका सतत स्मरण एवं उसके अनुकूल आचरण आदि प्रेमको बढ़ानेवाले हैं। इन सबके मूलमें श्रद्धा रहती है। ये श्रद्धा और प्रेम परमेश्वरके तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और गुणोंको समझनेसे होते हैं। अतएव अब हमें तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और गुणके सम्बन्धमें कुछ विचार करना चाहिये। परमात्माके तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और गुणोंका विस्तार अनन्त है और यह बड़ा ही निगूढ़ विषय है। इसलिये इसका सूक्ष्म बुद्धिसे विचार करना चाहिये।

तत्त्व

जैसे जलके परमाणु, बादल, जल और बरफ यह सब तत्त्वसे एक जल ही है, वैसे ही अनिर्वचनीय, ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप और मनोहर साकार विग्रह सब एक भगवान् ही है। आकाश शुद्ध निर्मल है, उसमें परमाणुरूपसे जल है, परन्तु वह न तो नेत्रोंद्वारा दीखता है और न किसी यन्त्रद्वारा ही दिखायी देता है। तथापि उसका होना विज्ञानसिद्ध है। वही जल जब बादलके रूपमें आता है तब भी जल तो नहीं दीखता परन्तु विचार करनेसे यह बात समझमें आ जाती है कि बादलमें जल है फिर हवाके संसर्गसे वह बरसने लगता है और वही जल सर्दी पाकर बरफके रूपमें आ जाता है। ऐसे ही ब्रह्म अनिर्वचनीय, अलक्ष्य, अचिन्त्य और गुणातीत है, उसके किसी एक अंशमें गुणका सम्बन्ध-सा प्रतीत होता है। अर्थात् अनन्त ब्रह्मके किसी एक अंशमें सत्त्व-रज-तम त्रिगुणमयी प्रकृति (अव्याकृत माया) स्थित है। उसी ब्रह्मके अंशको सगुण ब्रह्म कहा जाता है। इस मायाविशिष्ट ब्रह्मको ही सगुण निराकार ब्रह्म समझना चाहिये। अव्याकृत माया निराकार है, परन्तु वह है गुणमयी, इसीलिये उससे सम्बन्ध रखनेवाला ब्रह्म सगुण निराकार माना गया है। सत्-चित्-आनन्दस्वरूपसे इसी निराकार ब्रह्मकी उपासना की जाती है। गुणातीतकी उपासना नहीं बन सकती। क्योंकि गुणोंसे अतीत वस्तु किसीका विषय नहीं हो सकती। परन्तु गुणातीतके भावको लक्ष्यमें रखकर सगुण निराकारकी उपासना की जाती है। उसीका फल गुणातीत शुद्ध ब्रह्मकी प्राप्ति बतलाया गया है। वह विज्ञानानन्दघन सर्वव्यापी निराकार ब्रह्म ही अपनी इच्छासे तेजोमय प्रकाशस्वरूपमें आता है। उसको ज्योतिर्मय भी कहते हैं। सूर्य, चन्द्र आदि सम्पूर्ण ज्योतियोंका प्रकाशक होनेके कारण उसे ज्योतियोंका ज्योति कहा गया है। वही ज्योतिर्मय ब्रह्म चतुर्भुजरूपसे महाविष्णुके आकारमें दिव्य विग्रह धारण करता है। उसी चतुर्भुज महाविष्णुको सगुण-साकार ब्रह्म कहते हैं। वही महाविष्णु ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपसे उत्पत्ति, पालन और संहारका कार्य करता है। जैसे परमाणु, बादल, जल और बर्फ तत्त्वसे विचार करनेपर एक जल ही है। इन सबको लेकर ही जलका एक समग्र रूप है। इसी प्रकार गुणातीत, सगुण-निराकार ज्योतिर्मय और सगुण-साकार सब मिलकर ही एक समग्र ब्रह्म है। इस समग्रको उपर्युक्तरूपसे जानना ही भगवान्‌को तत्त्वसे जानना है। परन्तु यह बात ध्यानमें रहे कि जल जैसे जड, विकारी और अनित्य है, वैसे भगवान् जड, विकारी और अनित्य नहीं है। संसारमें दूसरा कोई उसकी तुलनामें उदाहरण नहीं है, इसीलिये जलका उदाहरण समझानेके लिये दिया गया है।

मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदिके शरीर, वृक्ष, पहाड़, वनस्पति एवं सोना, चाँदी आदि धातुएँ और घट-पटादि सम्पूर्ण पार्थिव पदार्थ एक पृथ्वीके ही रूपान्तर हैं, इन सबकी उत्पत्ति मिट्टीसे होती है और अन्तमें ये सब मिट्टीमें ही जाकर समाप्त हो जाते हैं। विज्ञानके द्वारा विचार करके देखनेसे वर्तमान कालमें भी सब मिट्टी ही सिद्ध होते हैं। इस समग्रका नाम जैसे पृथ्वी है इसी प्रकार निर्गुण, सगुण, साकार आदि समग्रका नाम ही परमेश्वर है। जो साकार सगुण ब्रह्मकी उपासना करनेवाले ब्रह्मको एकदेशमात्रमें मानकर निर्गुण-निराकार और सगुण-निराकारकी निन्दा करते हैं वे ब्रह्मकी ही निन्दा करते हैं। इसी प्रकार जो निर्गुण-निराकारके उपासक निर्गुणके अतिरिक्त निराकार

और साकाररूप सगुण ब्रह्मको उससे भिन्न समझकर निन्दा करते हैं वे भी उसी ब्रह्मकी निन्दा करते हैं। अतएव वे दोनों ही ब्रह्मके तत्त्वको नहीं जानते। भगवान् तो कहते हैं कि सब कुछ वासुदेव ही हैं '**वासुदेवः सर्वमिति**' (गीता ७। १९)। भगवान्‌की शरण लेकर किसी भी रूपकी उपासना करनेवाले श्रद्धालु पुरुष उस समग्र ब्रह्मको जानकर उसे प्राप्त हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

(गीता ७। २९-३०)

'जो मेरे शरण होकर जरा और मरणसे छूटनेके लिये यत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्मको तथा सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको जानते हैं। जो पुरुष अधिभूत और अधिदैवके सहित तथा अधियज्ञके सहित (सबका आत्मरूप) मुझको जानते हैं वे युक्तचित्तवाले पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं।'

रहस्य

ईश्वरका रहस्य अद्भुत और अलौकिक है। वह ईश्वर-कृपासे ही यत्किंचित् जाना जा सकता है। '**रहस्य**' छिपे हुए तत्त्वको कहते हैं। रहस्य (मर्म) हर किसीको नहीं बतलाया जाता। कोई भी मनुष्य अपनी पूँजीका रहस्य पूछनेपर भी अपने परम विश्वासी और अन्तरंग प्रेमीके सिवा और किसीको नहीं बतलाता। साधु-महात्मागण भी अपनी स्थितिका हाल बिना अधिकारीके नहीं कहते। भगवान् भी अपने अधिकारी प्रिय भक्तको ही अपना रहस्य बतलाते हैं। भगवान्‌ने गीतामें जहाँ-जहाँपर ऐसा कहा है कि 'यह रहस्यका विषय है,' 'यह गोपनीय है', 'यह गुह्यतम है' या 'सर्वगुह्यतम' है,' वहाँ-वहाँपर यही तत्त्व बतलाया है कि 'मैं ही परमात्मा हूँ, मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूँ, तू मेरी ही भक्ति कर, मेरी ही शरण हो' आदि। इस प्रकार अपनी वास्तविक स्थिति अपने प्रिय प्रेमीको बतला देना ही असली रहस्यका खोल देना है। जैसे गीता अध्याय ४ श्लोक १ से १४ तकमें भगवान्‌ने यह रहस्य समझाया है कि 'मैं साक्षात् परमात्मा पृथ्वीका भार हरण करने, साधुओंका परित्राण करने और धर्मकी संस्थापना करनेके लिये लीलासे प्रकट होता हूँ।' गीता अध्याय १८। ६४ में 'मैं' तुझे सर्वगुह्यतम रहस्य कहता हूँ' ऐसा कहकर अगले श्लोक ६५-६६ में स्पष्ट कह दिया है कि 'मैं' ईश्वर हूँ, तू एकमात्र मेरी ही शरण आ जा।'

इसी प्रकार उत्तंक मुनिने जब भगवान् श्रीकृष्णको शाप देना चाहा तब आपने उनको अपना रहस्य बतलाकर शान्त किया। वहाँ यह कहा कि 'समय-समयपर अवताररूपसे मैं ही प्रकट होता हूँ। मैं ही साक्षात् परमात्मा इस समय मनुष्यरूपमें श्रीकृष्ण-नामसे प्रकट हूँ। आप मुझको नहीं जानते, इसीलिये शाप देनेकी बात कहते हैं। आप मुझे शाप न दें। मुझपर आपके शापका कोई असर नहीं होगा और आप तपोभ्रष्ट हो जायँगे।' फिर उत्तंकके प्रार्थना करनेपर उन्हें अपना विश्वरूप दिखलाकर आश्वासन दिया (महाभारत, अश्वमेधपर्व अध्याय ५३-५४)।

इसी तरह अन्यान्य भक्तोंको भी भगवान्‌ने समय-समयपर अपना रहस्य बतलाया है। जो मनुष्य गुरु, शास्त्र, संत या सत्संग आदि किसी भी साधनसे ईश्वरके रहस्यको यानी छिपे हुए परम तत्त्वको समझ जाता है वह फिर एक क्षणके लिये भी ईश्वरको नहीं भूल सकता। वह नित्य-निरन्तर ईश्वरको ही भजता है। वह जान लेता है कि ईश्वर ही सर्वोत्कृष्ट है। सर्वोत्कृष्टको छोड़कर निकृष्टको कौन बुद्धिमान् भजेगा? एक खानि है, उसमें सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, पत्थर, कोयला आदि कई चीजें हैं। जिसको जिस चीजकी इच्छा हो, वह उससे वही चीज निकाल ले सकता है। खोदने आदिका परिश्रम एक-सा ही है और समय भी समान ही लगता है। ऐसी अवस्थामें कोई मूढ़ व्यक्ति भले ही सोनेको छोड़कर पत्थर और कोयला आदि निकालने लगे। सोनेके तत्त्वको जाननेवाला बुद्धिमान् पुरुष तो एक मिनटके लिये भी दूसरी चेष्टा न करके सोना निकालनेमें ही लग जायगा। इसी प्रकार ईश्वरके तत्त्व—रहस्यको जाननेवाला पुरुष यह समझ जाता है कि ईश्वरसे बढ़कर और कोई भी वस्तु नहीं है। इसलिये वह सबसे मुँह मोड़कर केवल ईश्वरको भजनेमें ही लग जाता है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

'हे अर्जुन! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

वास्तवमें सारा विश्व परमेश्वरका ही स्वरूप है। किन्तु इस रहस्यको लोग जानते नहीं, इसीसे संसारके विविध रूपोंको देख-देखकर सुखी-दुःखी होते हैं। एक बहुरूपिया था, वह पुलिसके किसी बड़े अफसरका स्वाँग धरकर बाजारमें पहुँचा। एक दूकानदारका माल सड़कपर पड़ा था, बहुरूपियेने वहाँ जाकर दूकानदारको धमकाना शुरू किया

कि तुमने सड़क रोक रखी है, अतएव तुमपर मुकद्दमा चलाया जायगा। दूकानदार डरकर काँपता हुआ खुशामदें करने लगा। बहुरूपियेका स्वाँग सफल हो गया। तब उसने अपना यथार्थ परिचय देकर दूकानदारसे इनाम माँगा। बस, बहुरूपिये का परिचय मिलते ही दूकानदार निर्भय होकर हँसने लगा। उसकी सारी विकलता क्षणभरमें हँसीके रूपमें बदल गयी। बहुरूपिया अब भी अफसरके वेषमें ही है, वही रूप दूकानदारको दीख रहा है परन्तु रहस्य खुल जानेसे भावमें महान् अन्तर पड़ गया। इसी प्रकार परमेश्वर अपनी योगमायासे विश्वरूप बने हुए क्षण-क्षणमें स्वाँग बदल रहे हैं और लोग उनका रहस्य न जाननेके कारण डरते और व्याकुल होते हैं। यदि हम प्रत्येक रूपमें भगवान्‌को पहचान लें, भगवान्‌का यह रहस्य हमारे लिये खुल जाय तो फिर कोई भी भय या व्याकुलता नहीं रह सकती। जैसे बहुरूपिया अपना भेद खोल देता है, वैसे ही भगवान् भी जब दया करके अपना रहस्य खोल देते हैं, तब भक्त उसी क्षण निर्भय और सुखमय बन जाता है; क्योंकि वह फिर सर्वत्र, सब समय, केवल एक आनन्दरूप भगवान्‌को ही देखता है।

प्रभाव

सामर्थ्य, शक्तिविशेष या तेजको प्रभाव कहते हैं। ईश्वरका प्रभाव अपरिमेय है। इसीलिये कहा जाता है कि ईश्वर असम्भवको सम्भव कर सकते हैं। समस्त संसारका उद्धार होना असम्भव-सा है; परन्तु ईश्वर चाहें तो एक ही क्षणमें कर सकते हैं। क्योंकि वे अपरिमित प्रभावशाली और सर्वशक्तिमान् हैं। उनके पूर्ण प्रभावको देव, दानव और महर्षिगण भी नहीं जानते। वे स्वयं ही अपने आपको जानते हैं। एक क्षणमें वे समस्त संसारका सृजन और संहार कर सकते हैं। श्रुति, स्मृति, गीता आदि ग्रन्थोंमें उनके प्रभावका वर्णन भरा पड़ा है। सारी शक्तियाँ उन्हींकी शक्तिका एक अंश हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(१०। ४१-४२)

'जो-जो मेरी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है उस-उसको तू मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई जान। अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है? मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को (अपनी योगमायाके) एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

जो मूढ़तासे किसी भी शक्तिविशेषको अपनी मान बैठता है, वह गिर जाता है। एक बार इन्द्र, अग्नि और वायु देवताओंने असुरोंपर विजय प्राप्तकर अपनी शक्तिका गर्व किया था, इसलिये उन्हें यक्षरूप ब्रह्मके सामने नीचा देखना पड़ा। यह कथा केन उपनिषद्‌में है।

भगवान्‌का वास्तविक प्रभाव भगवान्‌की शरण लेनेपर भगवान्‌की कृपासे ही जाना जा सकता है, अतएव हम सबको भगवान्‌की शरण होना चाहिये।

गुण

परमेश्वर गुणातीत हैं और सर्वसद्‌गुणोंसे पूर्ण हैं। उनके गुण अनन्त हैं, असीम हैं, शेष-शारदा आदि भी उनके गुणोंका वर्णन करनेमें असमर्थ हैं। मुझ-सरीखा साधारण मनुष्य क्या वर्णन करे। उनके गुणोंका वाणीसे वर्णन करना वैसा ही है जैसे अनन्त धनराशिके स्वामीको लखपती कहना अथवा सूर्यके साथ जुगुनूके समुदायकी उपमा देना। उस अनन्त गुणसागर प्रभुके एक गुणका भी भलीभाँति समझना और समझाना अत्यन्त ही कठिन है, फिर सब गुणोंका वर्णन तो हो ही कैसे सकता है? तथापि शास्त्रोंके आधारपर कुछ लिखा जाता है।

भगवान् परम प्रेममय हैं। सारे संसारका प्रेम एक जगह इकट्ठा किया जाय तो वह भी प्रेममय प्रभुके प्रेमसागरकी एक बूँदके समान भी शायद ही हो।

भगवान्‌का प्रकाश अलौकिक है। करोड़ों सूर्योंके इकट्ठे होनेपर भी शायद ही उनके प्रकाशके सदृश प्रकाश हो। समस्त संसारको एक सूर्य प्रकाशित करता है। ऐसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके अनन्त कोटि सूर्योंको प्रकाश देनेवाले परमेश्वरके प्रकाशको समझानेका प्रयास करना खद्योतमण्डलीके प्रकाशसे सूर्यके प्रकाशको समझानेकी चेष्टाके समान ही है।

सर्वज्ञ परमात्माके ज्ञानकी तो बात ही विलक्षण है। वह ज्ञानरूप ही है। सारे संसारके जीवोंका ज्ञान एकत्र करनेपर भी उसे परमात्माके ज्ञानके एक क्षुद्र परमाणुका आभास बतलाना भी अत्युक्ति न होगा।

भगवान्‌की उदारताका तो कहना ही क्या है। विष देनेवाली पूतनाको भी जिसने परमगति दी, उसकी उदारताका अन्दाजा कैसे लगाया जाय?

अभय तो भगवान्‌का स्वरूप ही है। जिस प्रभुके रहस्य और प्रभावको जान लेनेमात्रसे अथवा जिसके नाम-स्मरणसे ही मनुष्य सदाके लिये अभय हो जाता है, उस अभयरूप भगवान्‌के अभय-गुणोंको कैसे समझाया जाय?

दयाके तो आप सागर ही हैं। पापी-से-पापी जीव भी यदि उनकी शरण चला जाता है तो उसे सदाके लिये पापमुक्त कर अपना अभयपद दे देते हैं। जिसको कोई नहीं अपनाता, उसे भी शरणागत होनेपर प्रभु अपना लेते हैं।

भगवान्‌की पवित्रताका अनुमान कौन करे? जिसके नाम-जप, गुण-गान और स्वरूप-चिन्तनसे महापापी मनुष्य भी परम पवित्र बन जाता है, इसीलिये पितामह भीष्मने '**पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानां च मंगलम्**' कहा था। उस भगवान्‌की पवित्रताका स्वरूप कैसे बतलाया जाय?

भगवान् महान् ब्रह्मचारी हैं। कामदेव तो उनके चिन्तन करनेवाले भक्तोंके पास भी नहीं आ सकता। भगवान्‌ने श्रीकृष्णरूपमें प्रकट होकर गोप-बालाओंके साथ निर्दोष काम-गन्ध-शून्य रासक्रीड़ा करते हुए गोप-बालाओंके द्वारा कामका मद चूर्ण करवाया था। जिसके ध्यान और चिन्तनसे ही मनुष्य ब्रह्मचारी बन जाता है, उस महान् ब्रह्मचारीके ब्रह्मचर्यकी महिमा कौन गा सकता है?

भगवान् क्षमाकी तो मूर्ति ही हैं। बिना ही कारण भृगुजीने आपके वक्षःस्थलपर लात मार दी, उसकी ओर कुछ भी ध्यान न देते हुए आपने उनके पैर पलोटते हुए उलटे यह कहा कि 'मेरी छाती कठोर है, कहीं आपको चोट तो नहीं लग गयी' और उस लातके चिह्नको सदाके लिये भूषणरूपसे आपने धारण कर लिया। भरी सभामें गाली देनेवाले शिशुपालके सैकड़ों अपराधोंको क्षमा करके उसे आपने मुक्ति दे दी।

अद्वेष्टा तो आपका स्वभाव ही है। द्वेषकी आपमें गन्ध ही नहीं है। द्वेष करनेवालोंको भी आप दण्ड देकर उद्धार करते हैं। भगवान्‌की तो बात ही क्या है, भगवान्‌के भक्तोंका भी स्वाभाविक धर्म अपकार करनेवालोंका उपकार करना होता है।

सत्य तो भगवान्‌का स्वरूप ही है। समस्त संसारमें जो सत्ता प्रतीत होती है, उसके वही अधिष्ठान हैं। सूर्य, चन्द्र, समुद्र, पृथ्वी आदि सब जिस सत्यके आधारपर स्थित हैं वह सत्य उन भगवान्‌का ही स्वरूप है। समस्त संसार उन सत्यस्वरूप परमात्माके सत्यके आधारपर ही स्थित है।

भगवान् परम वैराग्यवान् हैं। गुणमय समस्त संसारको धारण करके भी आप गुणोंसे सर्वथा अतीत हैं। सारा संसार जिनका कुटुम्ब है ऐसे सबका भरण-पोषण करनेवाले बहुकुटुम्बी होनेपर भी आप किसीमें आसक्त नहीं हैं। सदा सबसे निर्लेप रहते हैं।

भगवान् बड़े अमानी हैं। सम्पूर्ण लोकोंके परम माननीय होनेपर भी स्वयं सर्वथा अमानी हैं और सबको मान देते हैं। इसीसे आपके नाम हैं—'**अमानी मानदः।**'

दानशीलता तो आपकी अनोखी ही है। कल्पवृक्षसे भी उसकी उपमा नहीं दी जा सकती। क्योंकि कल्पवृक्ष तो मुँहमाँगा बुरा-भला दे देता है, वह हिताहित नहीं देखता। परन्तु आप तो ऐसे हैं कि बुरी चीज तो माँगनेपर भी नहीं देते। नारदजीको विवाह नहीं करने दिया। और उचित समझनेपर, थोड़ा माँगनेवालोंको भी बहुत दे देते हैं। जैसे ध्रुवको राज्य माँगनेपर आपने मुक्ति भी दे दी।

शान्ति और आनन्द तो भगवान्‌का स्वरूप ही है, जिसकी शरण होनेसे मनुष्य परम शान्ति और परम आनन्दको प्राप्त हो जाता है, उसके शान्ति और आनन्दकी उपमा किसके साथ दी जाय?

भगवान्‌के अनन्त और अपरिमेय गुण हैं, श्रीपुष्पदन्ताचार्य कहते हैं—

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥

'हे परमेश्वर! यदि समुद्रकी दावात बनाकर उसमें कज्जलगिरिकी स्याही बनायी जाय और कल्पवृक्षकी शाखाको कलम बनाकर उससे पृथ्वीरूपी कागजपर स्वयं सरस्वतीदेवी सदा-सर्वदा आपके गुणोंको लिखती रहें तब भी आपके गुणोंका पार नहीं पा सकतीं।'

उपर्युक्त सब बातोंको समझकर मनुष्यको उचित है कि नित्य-निरन्तर सब प्रकारसे श्रीपरमात्माकी शरण होनेमें ही अपना अमूल्य समय लगावे। जीवनका एक क्षण भी व्यर्थ न बितावे। बस, यही समयका सदुपयोग है।

विषयसुखकी असारता

यह बात प्रायः देखनेमें आती है कि भगवद्भजनकी आवश्यकताको समझ लेनेपर भी उस ओर वैसी प्रगति नहीं होती—सब बातोंको जान-बूझकर भी चित्त प्रायः भगवान्‌से दूर ही रहता है—इसका क्या कारण है? सो विचारना चाहिये। मेरे विचारसे इसमें मुख्य हेतु श्रद्धा-विश्वासकी कमी है, क्योंकि पूर्वसंचित पाप और अज्ञानके कारण लोग विषयोंमें आसक्त हो रहे हैं—प्रभुमें पूर्ण श्रद्धा और उनकी दयालुतामें पूरा विश्वास नहीं रखते। इसीलिये

लोग प्रायः उनसे दूर ही रहते हैं। अज्ञानवश ही विषयी पुरुषोंको क्षण-क्षणमें बदलनेवाले, देश-कालसे परिच्छिन्न, अनित्य, विनाशी और दुःखरूप तथा दुःखके हेतु इन विषयोंमें सुख प्रतीत होता है, इसीसे वे इनमें आसक्त रहते हैं। परन्तु जो बुद्धिमान् पुरुष विषयोंके यथार्थ स्वरूपको जान लेते हैं वे कदापि इनमें आसक्त नहीं होते। इसीलिये श्रीभगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको भ्रमसे सुखरूप भासते हैं, परन्तु ये निःसन्देह दुःखके ही हेतु और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसीलिये हे कौन्तेय! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष इनमें नहीं रमता।'

अतएव विषयोंके स्वरूपको समझकर इनकी आसक्तिसे छूटनेके लिये हमें यह विचार करना चाहिये कि जिस सुखसे आकृष्ट होकर लोग विषयोंमें फँसते हैं, क्या वस्तुतः वह विषयोंमें है? यदि विषय ही सुखस्वरूप होते तो उनकी सन्निधिमें सर्वदा ही सुख होना चाहिये था। परन्तु यह बात देखी नहीं जाती। उनमें सुखकी तो केवल क्षणिक प्रतीतिमात्र ही होती है। वस्तुतः तो वे क्षणभंगुर और दुःखरूप ही हैं। रसनेन्द्रियके विषयको ही लीजिये। हमें लड्डू बहुत प्रिय है। परन्तु उसकी प्रियता जैसी भूखके समय जान पड़ती है वैसी तृप्ति हो जानेपर नहीं रहती; यही नहीं, पूर्ण तृप्ति हो जानेपर तो वह हमें अरुचिकर हो जाता है और उसे खिलानेका आग्रह भी बुरा मालूम होने लगता है। इसी प्रकार भोगान्तरक्षणमें स्त्री आदि जो अन्य इन्द्रियोंके विषय हैं वे भी नीरस हो जाते हैं।

अतः अब यह विचारना चाहिये कि वस्तुतः सुख कहाँ है? विचारपूर्वक देखनेपर यही निश्चय होता है कि सम्पूर्ण सुखका भण्डार एकमात्र विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही है; जहाँ-जहाँ भी सुखकी अनुभूति होती है उसीकी सत्तासे होती है—सम्पूर्ण प्रिय पदार्थोंमें उसीका सुख प्रतिबिम्बित हो रहा है।

एक मनुष्य समुद्रतटपर खड़ा हुआ है। उसके सामने अपार और अगाध जलनिधि उत्ताल तरंगोंमें उछल-कूद मचा रहा है। इतनेमें ही उसकी दृष्टि समुद्रतलमें टिमटिमाती हुई एक मणिपर जाती है। जल किनारेपर भी बहुत गम्भीर है, परन्तु मणि-प्राप्तिका प्रलोभन उसे अधीर कर देता है। वह कपड़े उतारकर सागरमें डुबकी लगाता है; परन्तु बार-बार बहुत गहरे पानीमें जानेपर भी मणि उसके हाथ नहीं आती; वह विफलमनोरथ ही रहता है। परन्तु मणिकी दिपती हुई चमचमाहट उसे बेचैन कर रही है; इसलिये वह बहुत क्लान्त और दुःखी हो जानेपर भी बार-बार डुबकी लगानेसे नहीं हटता। इस प्रकार उसे डूबते-उतराते बहुत समय हो गया।

इतनेमें वहाँ कोई अनुभवी महात्मा स्नान करनेके लिये आते हैं। वे देखते हैं कि एक मनुष्य बार-बार डुबकी लगाता है और हताश चित्तसे निकल आता है। उसकी आकृतिसे वह बहुत ही उद्विग्न और दुःखी जान पड़ता है, मानो किसी वस्तुको पानेके लिये अत्यन्त व्यग्र है और वह उसे मिल नहीं रही है। उन्होंने उसके समीप जाकर पूछा—'क्यों भाई! तुम किसलिये इतने व्यग्र हो रहे हो और क्यों बार-बार समुद्रमें डुबकी लगाते हो?' किन्तु वह मनुष्य अपना भेद खोलना नहीं चाहता, क्योंकि उसे यह आशंका है कि कहीं बाबाजी ही उस मणिको न निकाल ले जायँ। अतः वह बातको टाल देता है।

किन्तु इतनेहीमें महात्माजीकी दृष्टि भी उस मणिपर पड़ जाती है। उसे देखकर वे उसकी व्यग्रताका मर्म समझ गये और उससे बोले—'क्यों भाई! तू इस मणिको लेनेके लिये ही बारंबार डुबकी लगाता है न?' अब भेद खुला देखकर उसे भी स्वीकार करना ही पड़ा। बाबाजीने कहा—'तुझे इस प्रकार डुबकी लगाते कितना समय हो गया?'

उसने कहा—बहुत समय हो गया।

बाबाजी—तुमने कितनी डुबकियाँ लगायीं होंगी?

मनुष्य—कुछ गिनती ही नहीं, मैं तो आया तबसे गोते ही लगा रहा हूँ।

बाबाजी—कुछ हाथ भी लगा?

मनुष्य—कुछ नहीं।

बाबाजी—तो फिर क्यों डुबकी लगा रहा है?

मनुष्य—इसीलिये कि डुबकी लगाते-लगाते कभी तो मणि मिल ही जायगी।

बाबाजी—भाई! इसी प्रकार तू सारी आयु भी गोते लगाता रहे तो भी तुझे यह मणि नहीं मिल सकती।

मनुष्य—क्यों?

बाबाजी—तुझे जो मणि दिखायी दे रही है वह वस्तुतः वहाँ है ही नहीं।

मनुष्य—यह आप कैसी बात कह रहे हैं, वह तो प्रत्यक्ष दिखायी दे रही है।

बाबाजी—(हँसकर) अच्छा कुछ देर ठहर, तुझे अभी सारा भेद ज्ञात हो जायगा। इसपर वह मनुष्य रुक गया। थोड़ी देरमें जब जल ठहर गया तो बाबाजीने कहा—क्यों भाई! जहाँ तुझे मणि दिखायी देती है वहाँ कुछ और भी है क्या?

मनुष्य—हाँ, एक वृक्ष तो दिखायी देता है।

बाबाजी—तो क्या वस्तुतः वह वहाँ है। और यदि है तो इतनी बार डुबकी लगानेपर क्या तेरे हाथ उसकी कोई डाली भी आयी?

मनुष्य—नहीं, डाली या पत्ता आदि तो कुछ भी हाथ नहीं लगा, परन्तु यदि वह वहाँ नहीं है तो फिर कहाँ है?

बाबाजी—अरे, यदि वहाँ वृक्ष होता तो तेरे हाथ अवश्य उसका कोई पत्ता तो लगता ही। वस्तुतः वहाँ कोई वृक्ष है नहीं। देख, यह किनारेका वृक्ष। यही जलमें प्रतिबिम्बित हो रहा है। ऐसा कहकर बाबाजीने किनारेके उस वृक्षकी एक टहनी हिलायी। उसके हिलनेसे जलमें प्रतिबिम्बित वृक्षकी टहनी भी हिलती देखकर वह मनुष्य सहम गया और उसने महात्माजीसे कहा—आपका कथन ठीक है, वस्तुतः यह इस वृक्षकी ही परछाईं है। कृपया अब इस मणिके मिलनेका उपाय भी बतलाइये।

बाबाजी—यदि तुझे यह मणि प्राप्त करनी है तो तू इस वृक्षपर चढ़कर देख। प्रतिबिम्बमें जहाँ मणिकी प्रतीति होती है उसीकी बिम्बभूत डालीपर तुझे यह रत्न मिल सकता है।

तब उस मनुष्यने वृक्षपर चढ़कर देखा तो उसे वह अनुपम लाल उसकी सबसे ऊँची टहनीपर पड़ा मिला। वह लालको पाकर निहाल हो गया और महात्माजीके प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करने लगा।

यह संसार ही समुद्र है, विषय ही उसमें जल है, विषयसुख ही मणिकी परछाईं है, जीव ही डुबकी लगानेवाला मनुष्य है, बार-बार जन्मना-मरना ही डुबकी लगाना है, सद्गुरु ही महात्माजी हैं, दृढ़ वैराग्य ही किनारेका वृक्ष है, साधन उस वृक्षपर चढ़ना है और परमानन्दरूप परमात्माका स्वरूप ही उसपर स्थित सच्ची मणि है।

इस प्रकार जलमें मणिकी परछाईंकी भाँति तुम्हें यहाँ विषयोंमें जो आनन्द प्रतीत होता है, वह उस विज्ञानानन्दघन परमात्माका ही प्रतिबिम्ब है। यदि उसे पानेकी इच्छा है तो इस संसार-समुद्रमें प्रतीत होनेवाले विषयोंकी आपातरमणीयतासे आकृष्ट न होकर किसी सद्गुरुके बतलाये हुए दृढ़ वैराग्यरूप वृक्षपर चढ़कर उसे ढूँढ़ो। तभी तुम्हें उस विशुद्ध परमानन्दकी प्राप्ति हो सकती है।

एक मनुष्य किसी कुटियामें बैठा हुआ है। प्रातःकालका समय है। उस कमरेके बाहर वह देखता है कि प्रातःकालीन मन्द-मन्द घाम फैल गया है। इससे वह निश्चय कर लेता है कि सूर्योदय हो गया। यद्यपि इस समय सूर्य उसके सामने नहीं है, तो भी उस घामसे ही उसकी सत्ताका निश्चय हो जानेमें कोई त्रुटि नहीं रहती। प्रकाश तो उसकी कुटियामें भी है परन्तु वह सूर्यसे सीधा न आकर उस घामसे ही प्रतिफलित हो रहा है। इस प्रकार सूर्य न दीखनेपर भी वह उसीके प्रकाशसे प्रकाशित हो रहा है। यदि किसी प्रकार उस कुटियाके छप्परको हटा दिया जाय तो वह वहाँ बैठे-बैठे ही सूर्यका दर्शन कर सकता है। इसी प्रकार परमात्मा भी अविद्याके कारण हमसे छिपा हुआ है। उस परमानन्दका प्रकाशरूप जो सात्त्विक आनन्द है, उसीकी आभा इन विषयोंमें पड़ी हुई है और उसीके कारण ये सुखमय जान पड़ते हैं। यदि किसी प्रकार वह अविद्याका पर्दा हटा दिया जाय तो हमें उस आनन्दघनका स्फुट साक्षात्कार हो सकता है। परन्तु इस विषयानन्दसे भी तो उस परमानन्दघनका निश्चय हो जानेमें कोई बाधा नहीं रहनी चाहिये। जब हम स्पष्ट ही सर्वत्र अल्प सुखका अनुभव करते हैं, तो उसके अधिष्ठानभूत पूर्णानन्दघन परमात्माकी सत्ता निश्चय ही सिद्ध होती है। इसमें अविश्वास या अश्रद्धाके लिये तनिक भी अवकाश नहीं है।

परन्तु इस विषयानन्दकी अपेक्षा भगवान्‌में कितना अधिक आनन्द है, इसका परिचय उसी प्रकार नहीं कराया जा सकता, जिस प्रकार कि खद्योतोंके समूहसे सूर्यका। मानवबुद्धि उसका आकलन करनेमें सर्वथा असमर्थ है। भगवदानन्दकी बात तो दूर रही, विषयासक्त पुरुषोंके लिये तो शुद्ध सात्त्विक आनन्द भी अत्यन्त दुर्लभ है। प्रभुके परमानन्दको समझानेके लिये एक दृष्टान्तपर ध्यान देना चाहिये। एक दर्पण है। उसमें सूर्यका प्रतिबिम्ब दिखायी देता है और उस सूर्यप्रतिबिम्बयुक्त दर्पणका चिलका दीवारपर पड़ रहा है, तथा उस चिलकेकी आभासे ही वह दीवार भी प्रकाशित हो रही है। इस प्रकार दीवारपर जो सामान्य प्रकाश है वह सूर्यप्रकाशके प्रतिबिम्बके प्रकाशका भी आभास है। इसी प्रकार विषयानन्द भी भगवान्‌के परमानन्दके प्रतिबिम्बके प्रकाशकी केवल आभामात्र ही है। विषयानन्द दीवारपर पड़े हुए सामान्य प्रकाशके समान है, दीवारपर पड़ा हुआ चिलका सात्त्विक आनन्द है। दर्पणप्रतिबिम्बित सूर्य अथवा घाम मानो सात्त्विक आनन्दका पुंज है और भगवान् साक्षात् सूर्यदेव हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि विषयानन्दकी अपेक्षा प्रभुका परमानन्द असंख्य कोटि गुना अधिक बतलाया जाय तो भी उसकी उपमा नहीं बनती।

थोड़ी-सी विचार-दृष्टिसे देखा जाय तो विषयोंकी असारता, अस्थिरता और तुच्छता स्पष्ट प्रतीत होती है। देखिये, आकाशमें उड़नेवाला वायुयान जब पृथ्वीपर होता है तो पचीस-तीस फुट लंबा होता है। आकाशमें उड़ते समय वह प्रायः चार-पाँच फुटका दिखायी देता है, और भी ऊँचा चढ़ जानेपर केवल एक पक्षीके समान दिखायी

देता है, यदि और दूर चला जाय तो दिखलायी भी नहीं देगा। इसी प्रकार यह देखा जाता है कि संसारमें प्रत्येक वस्तु अवस्थाभेदसे भिन्न-भिन्न रूपसे दिखायी देती है, और अवस्था क्षणिक है। क्षण-क्षणमें प्रत्येक पदार्थका भी क्षय हो रहा है। अभी एक सुगन्धित पुष्प तोड़ा गया है। वह घ्राणेन्द्रियको बड़ा ही प्रिय जान पड़ता है, परन्तु दो-चार बार सूँघनेपर वह उत्तरोत्तर अप्रिय होता जाता है। फिर वह सूखकर किसी कामका नहीं रह जाता और अन्तमें नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जब कि देश और कालके भेदसे प्रत्येक पदार्थ भिन्न-भिन्न प्रकारका प्रतीत होता है और प्रतिपल क्षय होता है तो उसे सत्य कैसे माना जा सकता है? सत्य तो वही वस्तु मानी जा सकती है जो सदा-सर्वदा एकरस रहे और जिसमें कभी कोई विकार-व्यभिचार न होता हो। स्थानभेद अथवा कालभेदके कारण कुछ-की-कुछ प्रतीत होनेवाली वस्तुएँ सत्य नहीं मानी जा सकतीं। जो सत्य है उसका कभी अभाव नहीं होता और जिसका अभाव या क्षय होता है, वह सत्य नहीं हो सकता। भगवान्‌ने भी कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २। १६)

अर्थात् 'असत् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं है, और सत्‌का अभाव नहीं है, इस प्रकार ज्ञानी पुरुषोंद्वारा इन दोनोंका ही तत्त्व देखा गया है।'

किसी न्यायाधीशके यहाँ एक अभियोग उपस्थित होता है। उसकी पुष्टिके लिये वादी पाँच गवाह उपस्थित करता है। उसका दावा है कि अमुक व्यक्तिको मैंने दस हजार रुपये दिये थे, जिन्हें वह अन्यायपूर्वक दबाना चाहता है। न्यायाधीश पूछता है—इसमें कोई गवाह भी है?

वादी—जी हाँ, अमुक-अमुक पाँच व्यक्ति गवाह हैं, मैंने उनकी उपस्थितिमें उसे दस सहस्र रुपये दिये थे। इनमेंसे एक तो मेरे गिने रुपयोंको दुबारा गिन-गिनकर उसे दे रहा था।

न्यायाधीश—तुमने रुपये दिये थे या नोट?

वादी—रुपये।

न्यायाधीश—कहाँपर दिये थे?

वादी—अमरूदों और फूलोंके बगीचेमें।

न्यायाधीश—किस समय दिये थे?

वादी—दोपहरके समय।

इसके पश्चात् उसे हटाकर न्यायाधीश एक-एक गवाहको बुलाकर पूछने लगा। उसने पहले गवाहसे पूछा—क्या इस मनुष्यने तुम्हारे सामने अमुक मनुष्यको कुछ रुपये दिये थे?

पहला गवाह—जी हाँ, आठ हजार रुपये दिये थे।

न्यायाधीश—उस समय और भी कोई था?

पहला गवाह—जी हाँ, तीन आदमी और थे।

न्यायाधीश—वह दिनका कौन समय था?

पहला गवाह—प्रातःकाल था।

न्यायाधीश—ठीक है, अच्छा जाओ।

फिर दूसरे गवाहको बुलाकर पूछा—इस आदमीने अमुक मनुष्यको कितने रुपये दिये थे?

दूसरा गवाह—दस हजार।

न्यायाधीश—वह दिनका कौन-सा समय था?

दूसरा गवाह—सायंकालका समय सुना गया था।

न्यायाधीश—ठीक है, अच्छा जाओ।

फिर तीसरे गवाहसे पूछा।

न्यायाधीश—इस आदमीने अमुक मनुष्यको कितने रुपये दिये थे?

तीसरा गवाह—बारह हजार।

न्यायाधीश—तुमने स्वयं देखा था?

तीसरा गवाह—देखा क्या! मैंने दुबारा गिन-गिनकर दिये थे।

न्यायाधीश—वह कौन-सा समय था?

तीसरा गवाह—रातको भोजनके बाद।

न्यायाधीश—अच्छा जाओ।

इसी प्रकार चौथे और पाँचवें गवाहको भी बुलाकर पूछा गया। एकने कहा—मैं बगीचेमें बड़े तड़के फूल लेने जाया करता हूँ, मैंने रुपये देते नहीं देखा। दूसरेने कहा—मैं तो वहाँ जाकर अमरूद खाया करता हूँ, रुपयोंकी बात मैं नहीं जानता। इस तरह सबकी अव्यवस्थित और विषम बातें सुनकर न्यायाधीशने अभियोगको मिथ्या ठहराकर खारिज कर दिया। जब वादीने आकर अनुनय-विनय की और अभियोग खारिज करनेका कारण पूछा तो न्यायाधीशने कहा—तुम्हारा एक गवाह कहता है कि आठ हजार रुपये दिये गये थे।

वादी—जी सरकार, आठ हजार ही थे, मैंने भूलसे दस हजारकी नालिश की थी।

न्यायाधीश—दूसरा बारह हजार कहता है।

वादी—हुजूर! उसे याद नहीं रहा होगा।

न्यायाधीश—गवाह कहते हैं रुपये नहीं, नोट दिये गये थे।

वादी—जी हाँ, नोट ही दिये गये थे।

न्यायाधीश—गवाह कहता है, उस समय हम दो ही व्यक्ति थे।

वादी—जी!

न्यायाधीश—वह प्रातःकालका समय बतलाता है।

वादी—जी हुजूर, प्रातःकाल ही था। मैं कहनेमें भूल गया।

इस प्रकार अपनी बातोंका ही खण्डन करते देख न्यायाधीशको निश्चय हो गया कि यह आदमी झूठा है और इसका अभियोग एक जाल ही है। इसी तरह इन विषयोंको ग्रहण करनेवाली—इनकी साक्षी हमारे पास पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनमेंसे किसी भी एकका अनुभव दूसरीसे नहीं मिलता। कर्ण केवल शब्द ही ग्रहण करता है, घ्राणेन्द्रिय केवल गन्धका साक्षी है, रसना केवल रस बतला सकती है, त्वचा केवल स्पर्श ही जान सकती है और नेत्रोंसे बस रूपका ही ज्ञान होता है। इस प्रकार जब सभी गवाहोंका अनुभव एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न है, तो उनमेंसे किसीकी भी बातको प्रामाणिक कैसे मान सकते हैं?

इस तरह जो विषय न सबको एक-से दीखते हैं, न सबको उसमें एक-सा सुख-दुःख होता है, जो पल-पलमें बदलते रहते हैं, अभी हैं, दूसरे ही क्षणमें नष्ट हो जाते हैं, ऐसे विषयोंको सत् मानकर उनमें आसक्त होना मूर्खताके सिवा और क्या है?

अतएव विषयोंकी असारता, अस्थिरता और दुःखरूपतासे उनकी असत्ताका निश्चयकर एकमात्र परमात्माको ही सर्वाधिष्ठान, पूर्णानन्दघन और सत्पदार्थ समझकर श्रद्धा, भक्ति और वैराग्यपूर्वक निरन्तर उन्हींका भजन-चिन्तन करना चाहिये, उन्हींके भक्तोंका सहवास करना चाहिये और एकमात्र उन्हींकी कृपामें दृढ़ विश्वास रखना चाहिये। इससे अविद्या, आसक्ति आदि सब प्रकारके क्लेशोंका एवं पाप और सम्पूर्ण दुःखोंका सर्वथा अभाव होकर सदाके लिये परम शान्ति एवं परमानन्दकी प्राप्ति हो सकती है।

कर्मयोगका रहस्य

कर्मयोगका रहस्य बड़ा ही गहन है। इसका वास्तविक तत्त्व या तो श्रीपरमेश्वर जानते हैं या वे महापुरुष भी जानते हैं जिन्होंने कर्मयोगद्वारा परमेश्वर (परमात्मा)-को प्राप्त कर लिया है। मुझ-जैसे व्यक्तिके लिये तो इस रहस्यका व्यक्त करना अत्यन्त ही कठिन है, क्योंकि कर्मयोगके रहस्यको वास्तवमें मैं अच्छी प्रकार नहीं जानता। इसके अतिरिक्त यत्किंचित्—जितना कुछ जानता हूँ उतना कह नहीं सकता और जितना कहता हूँ उतना स्वयं काममें नहीं ला सकता, तथापि अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार कर्मयोगके रहस्यका कुछ अंश प्रश्नोत्तरके रूपमें व्यक्त करनेका प्रयत्न करता हूँ। श्रीभगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(गीता २। ४०)

'इस निष्काम कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है (और) उलटा फलरूप दोष (भी) नहीं होता है (इसलिये) इस (निष्कामकर्मयोगरूप) धर्मका थोड़ा भी (साधन) जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है।'

प्रश्न—निष्काम कर्मयोगके आरम्भका नाश नहीं होता इसका क्या अभिप्राय है? क्या एक बार प्रारम्भ होनेपर यह चालू ही रहता है, या जितना बन गया, उसका नाश नहीं होता?

उत्तर—पूर्वसंचित पाप, अहंता-ममता और आसक्ति आदि अवगुणोंके कारण तथा विषय-भोगोंका एवं प्रमादी विषयी पुरुषोंका संग होनेसे मार्गमें रुकावट तो हो जाती है; किन्तु निष्कामकर्मयोगरूप धर्मका जितना पालन हो जाता है, उसका नाश नहीं होता। क्योंकि फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार समत्वभावसे किये हुए साधनके नाश होनेका कोई भी कारण नहीं है। फलकी इच्छासे किया हुआ कर्म ही फलको देकर समाप्त होता है।

प्रश्न—प्रत्यवाय यानी उलटे फलरूप दोषका भागी नहीं होता—इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—मनुष्य जैसे अपना उपकार करनेवालेकी सेवा न करनेसे दोषका भागी होता है तथा जैसे देव, पितर, राजा, मनुष्यादिकी सेवामें किसी कारणवश त्रुटि हो जानेपर उनके रुष्ट होनेसे उसका अनिष्ट भी हो सकता है; किन्तु निष्काम कर्मयोगके पालनमें त्रुटि रहनेपर भी उसका उलटा फल यानी कर्ताका अनिष्ट नहीं होता तथा नहीं पालन करनेसे वह दोषका भागी भी नहीं होता।

प्रश्न—कोई-कोई प्रत्यवाय शब्दका विघ्न अर्थ करते हैं; क्या यह भी बन सकता है?

उत्तर—'विघ्न' अर्थ युक्तिसंगत नहीं है। निष्काम-कर्मयोगरूप धर्मके पालनमें विघ्न-बाधा तो आ सकती है, किन्तु उसका परिणाम बुरा नहीं होता। अच्छा ही होता है। (गीता ६। ४०—४२)

प्रश्न—यहाँ 'अपि' शब्द किस बातका द्योतक है?

उत्तर—जब कि इस निष्काम कर्मयोगका थोड़ा साधन भी महान् भयसे उद्धार करनेवाला है तब इसका पूर्ण

साधन महान् भयसे मुक्त कर देता है, इसमें तो कहना ही क्या है।

प्रश्न—इस निष्काम कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा भी पालन महान् भयसे कैसे उद्धार करता है?

उत्तर—निष्काम कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा भी पालन संस्कारके बलसे क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होकर अन्तमें साधकको मुक्त कर देता है।

प्रश्न—जब कि यह निष्काम कर्मयोगका थोड़ा साधन वृद्धिको प्राप्त होकर ही महान् भयसे उद्धार करता है तब फिर थोड़ेका क्या महत्त्व रहा?

उत्तर—निष्कामभावका परिणाम संसारसे उद्धार करना है। अतः वह अपने परिणामको सिद्ध किये बिना न तो नष्ट होता है और न उसका कोई दूसरा फल ही हो सकता है, अन्तमें साधकको पूर्ण निष्कामी बनाकर उसका उद्धार कर ही देता है यही इसका महत्त्व है।

प्रश्न—जो लोग धार्मिक संस्थाओंमें स्वार्थ त्यागकर बिना वेतन लिये या स्वल्प वेतन लेकर तन-मनसे काम करनेवाले हैं, उनका कर्म स्वार्थरहित होनेके कारण उसे तो निष्काम कर्मयोग ही मानना चाहिये, किंतु निष्काम कर्मयोगके पालन करनेसे जितना लाभ बतलाया जाता है उतना लाभ देखनेमें नहीं आता, इसका क्या कारण है?

उत्तर—निष्काम कर्मयोगसे जितना लाभ होना चाहिये, उतना लाभ अपने साधनसे होता नजर नहीं आता, इस प्रकार वे सेवा करनेवाले भाई भी कहते हैं; अतः सम्भव है कि निष्काम कर्मयोगके रहस्यको न जाननेके कारण उनमें वास्तविक त्यागकी कमी है, इसीलिये वे पूरा लाभ नहीं उठा सकते, नहीं तो उन लोगोंको निष्काम कर्मयोगके साधनका जितना लाभ गीतादि शास्त्रोंमें बतलाया है, उसके अनुसार लाभ उन्हें अवश्यमेव मिलता। केवल कंचन-कामिनीके बाहरी त्यागसे ही मनुष्य सर्व-त्यागी नहीं होता। वास्तवमें कंचन-कामिनीका बाहरी त्याग निष्काम कर्मयोगके साधनमें उतना आवश्यक भी नहीं है, उसमें तो भावकी ही प्रधानता है। अतः इसमें स्त्री, पुत्र और धनादिसे मिलनेवाले विषयभोगरूप सुखत्यागके साथ-साथ मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं राग, द्वेष, अहंता, ममता आदिके त्यागकी भी बड़ी आवश्यकता है, जबतक इन सबका त्याग नहीं होता तबतक साधकको पूरा लाभ नहीं मिल सकता।

प्रश्न—निष्काम कर्मयोगके अनुसार क्या इन लोगोंका थोड़ा भी साधन नहीं होता?

उत्तर—जो जितना त्याग करता है उतने अंशमें उसका साधन अवश्य होता है तथा लाभ भी उसके अनुसार उसे अवश्य ही मिलना चाहिये।

प्रश्न—जब कि कर्मयोगका थोड़ा भी साधन महान् भयसे तार देता है तो फिर अधिक न भी हो तो क्या आपत्ति है? क्योंकि उद्धार तो उसका हो ही जायगा।

उत्तर—उद्धार तो होगा किन्तु समयका नियम नहीं। न मालूम इस जन्ममें हो या जन्मान्तरमें; क्योंकि वह थोड़ा-सा साधन क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होकर ही उद्धार करेगा। अतएव साधनकी कमीको मिटानेके लिये शीघ्र कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको तो तत्पर होकर ही प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

प्रश्न—कर्मयोगके थोड़े साधनसे यहाँ क्या अभिप्राय है?

उत्तर—प्रथम तो कर्मयोगका स्वरूप समझना चाहिये। शास्त्रविहित उत्तम क्रियाका नाम कर्म है, उसमें आसक्ति और स्वार्थके सर्वथा त्यागपूर्वक समत्वभावका यानी निष्कामभावका नाम योग है। यह निष्कामभाव ही इसका स्वरूप, प्राण और रहस्य है। इसलिये जिस कर्ममें निष्कामभाव है उसीकी 'कर्मयोग' संज्ञा है। जिन शास्त्रोक्त उत्तम क्रियाओंमें निष्कामभाव नहीं है उनकी 'कर्म' संज्ञा है किन्तु 'कर्मयोग' नहीं। इसलिये सकामभावसे आजीवन किये हुए यज्ञ, दान, तप आदि ऊँचे-से-ऊँचे अनेकों कर्म भी क्षणभंगुर फल देनेवाले होनेके कारण महत्त्वके नहीं हैं, परन्तु निष्कामभावसे अल्प मात्रामें किये हुए शास्त्रविहित कृषि, वाणिज्य, नौकरी और शिल्पक्रिया आदि साधारण कर्म भी परम कल्याणदायक होनेके कारण महान् हैं। अतएव जिसका नाम निष्काम कर्मयोग है उसका थोड़ा भी पालन यानी अल्प मात्रामें किया हुआ भी वह साधन क्रमसे वृद्धिको प्राप्त होकर महान् भयसे मुक्त कर देता है; किन्तु सकामभावसे किये हुए शास्त्रविहित बहुत-से कर्म भी जन्म-मरणरूप महान् भयसे मुक्त नहीं कर सकते।

प्रश्न—निष्काम कर्मयोगका स्वरूप विस्तारपूर्वक बतलाइये।

उत्तर—शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंमें फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार समत्वबुद्धिसे केवल भगवत् अर्थ या भगवत्-अर्पण कर्म करनेका नाम निष्काम कर्मयोग है। इसीको समत्वयोग, बुद्धियोग, कर्मयोग, तदर्थकर्म, मदर्थकर्म, मत्कर्म इत्यादि नामोंसे कहा है।

प्रश्न—कर्मोंमें फलके त्यागका क्या स्वरूप है?

उत्तर—स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्य, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्ग आदि सांसारिक सुखदायक सम्पूर्ण पदार्थों इच्छा या कामनाका सर्वथा त्याग ही कर्मोंके फलका त्याग है।

प्रश्न—आसक्तिका त्याग किसे कहते हैं?

उत्तर—मन और इन्द्रियोंके अनुकूल सांसारिक सुखदायक पदार्थों और कर्मोंमें चित्तको आकर्षण करनेवाली जो

स्नेहरूपा वृत्ति है; 'राग', 'रस', 'संग' आदि जिसके नाम हैं उसके सर्वथा त्यागका नाम आसक्तिका त्याग है।

प्रश्न—भगवत्-आज्ञासे यहाँ क्या अभिप्राय है?

उत्तर—श्रुति, स्मृति, गीतादि सत्-शास्त्र तथा महापुरुषोंकी आज्ञा भगवत-आज्ञा है।

प्रश्न—समत्वबुद्धि किसे कहते हैं?

उत्तर—सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, यश-अपयश, जीवन-मरण आदि इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिसे सदा-सर्वदा सम रहना समत्वबुद्धि है।

प्रश्न—भगवत्-अर्थ और भगवत्-अर्पण कर्ममें क्या भेद है?

उत्तर—फलमें कोई भेद नहीं। फल तो सबका ही परम श्रेय है। यानी परमेश्वरकी प्राप्ति है, साधनकी प्रणालीमें कुछ भेद है।

(क) भगवत्-अर्थ कर्म

स्वयं भगवत्की पूजा-सेवारूप कर्मोंको या भगवत्-आज्ञानुसार शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंको भगवत्-प्रेम, प्रसन्नता या प्राप्तिके लिये कर्तव्य समझकर केवल भगवान्की आज्ञापालनके लिये करना यानी कर्म करनेके पूर्व ही इन सब उद्देश्योंको या इनमेंसे किसी भी उद्देश्यको रखकर कर्मोंका करना भगवत्-अर्थ कर्म है (गीता १२। १०)।

(ख) भगवत्-अर्पण कर्म

शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंको तथा मन, वाणी, शरीरसहित अपने-आपको प्रभुकी वस्तु समझकर प्रभुके समर्पण कर देना यानी कर्मोंके करनेमें अपने-आपको सर्वथा भगवान्के परतन्त्र समझकर कठपुतलीकी भाँति स्वामीके हाथोंमें सौंप देना। कठपुतलियोंका तो जड होनेके कारण स्वयं नटके अधीन होकर रहना नहीं है, नट ही उनको अपने अधीन रखता है, किन्तु इसका तो स्वयं स्वामीके अधीन होकर रहना है इसलिये इसमें यह और विशेषता है। इसके सिवा पद-पदपर स्वामीके स्वरूप और दयाका दर्शन करते हुए क्षण-क्षणमें मुग्ध होते रहना और सर्वस्व स्वामीका ही समझते हुए अभिमानसे रहित रहकर निमित्तमात्र बनकर प्रभुके आज्ञानुसार कर्मोंका करना सर्वोत्तम भगवत्-अर्पण कर्म है (गीता ९। २७-२८)।

प्रश्न—क्या निष्काम कर्मयोगका यह साधन कष्टसाध्य है?

उत्तर—वास्तवमें कष्टसाध्य नहीं है। हाँ, जो कष्टसाध्य मानते हैं उनके लिये कष्टसाध्य है और जो सुखसाध्य मानते हैं उनके लिये सुखसाध्य है।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो साधकको सुखसाध्य ही मानना चाहिये। किंतु जो कंचन, कामिनी, कुटुम्ब और शरीरके आरामको छोड़कर साधन करते हैं, उनको भी यह कष्टसाध्य क्यों प्रतीत होता है?

उत्तर—मनकी चंचलता तथा मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिकी इच्छा एवं राग, द्वेष, ममता, अहंकार और अज्ञान आदि दोषोंके कारण तथा श्रद्धा और प्रेमकी कमी एवं इसके रहस्य और प्रभाव न जाननेके कारण यह कष्टसाध्य प्रतीत हो सकता है।

प्रश्न—इस साधनमें रुकावट डालनेवाले दोषोंमें भी विशेष दोष कौन-कौन-से हैं?

उत्तर—श्रद्धा और प्रेमकी कमी, मान और बड़ाईकी इच्छा, मनकी चंचलता, प्रमाद, आलस्य, अज्ञान, आसक्ति और अहंकार प्रभृति विशेष दोष हैं।

प्रश्न—इन सबके नाशके लिये साधकको क्या करना चाहिये?

उत्तर—विवेक और वैराग्यद्वारा सारे विषय-भोगोंसे मनको हटाकर भगवान्की शरण रहते हुए श्रद्धा और प्रेम-पूर्वक निष्काम कर्मयोगके साधनके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकार चेष्टा करनेसे सम्पूर्ण दुःख और दोषोंका नाश होकर परम आनन्द और परम शान्तिकी प्राप्ति शीघ्र हो सकती है।

प्रश्न—'प्राणपर्यन्त चेष्टा करना किसे कहते हैं?'

उत्तर—कंचन, कामिनी, भोग और आरामकी तो बात ही क्या है, निष्काम कर्मयोगरूप धर्मके थोड़े-से भी पालनके मुकाबलेमें मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और अपने प्राणोंको भी तुच्छ समझना एवं परम तत्पर होकर उसके पालनके लिये सदा-सर्वदा प्रयत्न करनेको प्राणपर्यन्त चेष्टा करना कहते हैं।

प्रश्न—इस प्रकारकी चेष्टा तत्परतासे न होनेमें क्या कारण है?

उत्तर—इसके प्रभाव और रहस्यको तत्त्वसे न समझना।

प्रश्न—प्रभाव और रहस्यको तत्त्वसे जाननेके लिये क्या करना चाहिये?

उत्तर—इसके प्रभाव और रहस्यको बतलानेवाले गीतादि शास्त्रोंका मनन एवं इसके तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंका संग करके उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार कटिबद्ध होकर चेष्टा करनेसे इसके प्रभाव और रहस्यको मनुष्य तत्त्वसे जान सकता है। जो इस निष्काम कर्मयोगके रहस्य और प्रभावको तत्त्वसे जान जाता है वह फिर इसको छोड़ नहीं सकता। तथा साधन करते-करते अहंता, ममता और आसक्ति आदि सारे दोषोंसे मुक्त हो जाता है, और उसका सारे संसारमें भी सदा-सर्वदा समभाव हो जाता है। इस प्रकार जिसकी समतामें निश्चल-स्थिर स्थिति है

उसकी परमात्मामें ही स्थिति है; क्योंकि परमात्मा सम है, इसलिये वह सारे दु:ख, पाप और क्लेशोंसे छूटकर परम आनन्द और परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति जिसकी अन्तकालमें भी हो जाती है, वह भी जन्म-मृत्युके महान् भयसे छूटकर विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। (गीता २।७२)

ध्यानसहित नाम-जपकी महिमा

आज उस परम दयालु परमात्माकी कृपासे ध्यानसहित नामके जपपर कुछ लिखनेका सुअवसर प्राप्त हुआ है। वास्तवमें तो इस विषयपर वे ही पुरुष लिख सकते हैं जो भगवान्के भजन और ध्यानके तत्त्वको जाननेवाले हैं और निरन्तर भगवान्के प्रेममें मुग्ध रहते हैं एवं भगवान्की स्मृतिसे जिनके शरीरमें रोमांच और नेत्रोंमें अश्रुपात होते रहते हैं। जलके वियोगमें मछलीकी भाँति भगवान्की विस्मृतिसे विकल हो उठते हैं और भगवान्का भजन-ध्यान जिनको प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय है, ऐसे महापुरुषोंका ही इस विषयमें लिखनेका अधिकार है। उन्हींके लेखोंसे संसारको लाभ पहुँच सकता है।

मुझ-सरीखे पुरुषका इस विषयमें लिखना अनधिकार चेष्टा करना है; किन्तु प्रेमी सज्जनोंकी प्रेरणासे, अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार पाठकोंकी सेवामें कुछ लिखनेका प्रयास कर रहा हूँ। त्रुटियोंके लिये विज्ञजन क्षमा करेंगे।

जो लोग भगवान्के भजन-ध्यानरूप साधनके रहस्यको नहीं जानते, वे लोग थोड़े ही दिनोंमें साधनसे ऊब जाते हैं और कुछ तो साधनको छोड़ भी देते हैं। जैसे कोई विद्या पढ़ता हुआ बालक खेल-तमाशेमें आसक्त या इम्तहानमें फेल होनेके कारण अथवा और किसी कारणसे उकताकर विद्याके अभ्यासको छोड़नेपर विद्यारूपी धनसे वंचित रह जाता है, वैसे ही वे भगवत्-प्राप्तिरूप अमूल्य रत्नसे वंचित रह जाते हैं।

कोई-कोई मन्द साधन करते भी रहते हैं और पूछनेपर वे ऐसा कहा करते हैं कि जब हम भजन-ध्यान करनेके लिये बैठते हैं तब संसारके संकल्प, निद्रा और आलस्य आदि आ घेरते हैं अतएव विशेष आनन्द नहीं आता। इसलिये उससे रुचि हटकर हमारा साधन ढीला पड़ गया। वे लोग भजन-ध्यानके द्वारा आरम्भमें ही पूर्ण आनन्दका अनुभव करना चाहते हैं। यह भारी भूल है। अभी तो भजन-ध्यानका जैसा साधन होना चाहिये वैसा साधन ही नहीं हुआ, फिर आनन्द कैसा?

हाथसे माला फेरते हैं, मुँहसे राम-राम कहते हैं और मनसे संसारके विषयोंका चिन्तन करते हैं, यह तो संसारका भजन है, रामका नहीं।

करमें तो माला फिरे, जीभ फिरे मुख मायँ।
मनुवाँ तो चहुँदिसि फिरे, यह तो सुमिरन नायँ॥

किसी-किसीके हाथसे माला गिर जाती है और निद्राके वशीभूत होकर वे आसनपर ही ऊँघते रहते हैं। वे भगवान्के उपासक नहीं हैं, निद्रादेवीके उपासक हैं। ऐसे लोग असली आनन्दसे बहुत दूर हैं। उनका मन ही उनको धोखा दे रहा है। वास्तवमें भजन-ध्यानके प्रभाव और रहस्यको उन लोगोंने नहीं समझा।

भजन-ध्यानके प्रभाव और रहस्यको समझ लेनेपर निद्रा, आलस्य और संसारकी स्फुरणाकी तो बात ही क्या है, खान-पानकी भी चिन्ता नहीं रह सकती। रात-दिन भजन-ध्यानकी ही धुन सवार हो जाती है। जैसे रुपयोंके प्रभावसे मोहित हुए व्यापारी, वैद्य, डॉक्टर, वकील-बैरिस्टर आदि सभी लोग विषय-सम्पत्तिको प्रधान समझनेवाले समयको धन कमानेमें ही व्यय करते हैं; इससे अतिरिक्त उनको दूसरी बात अच्छी ही नहीं लगती, वैसे ही उनको भी भगवद्भजनके सिवा और कोई चीज अच्छी नहीं लगती। उनको तो मधुरसे भी मधुर और पवित्रसे भी पवित्र ध्यानसहित हरिका नाम ही मंगलमय प्रतीत होता है।

इस घोर कलिकालमें सुखसाध्य और सर्वोत्तम साधन ध्यानसहित भगवान्का भजन ही है। ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सारा संसार क्षणभंगुर और नाशवान् है। केवल एक विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही सत् वस्तु है। इसलिये जो सदा-सर्वदा हम लोगोंको भगवान्का भजन, ध्यान करना ही सिखलाता है, वही माता, पिता, गुरु एवं हमारा सच्चा बन्धु है। संसारमें इससे बढ़कर हमारे लिये और कोई भी आवश्यक कार्य नहीं है। श्वासका कुछ विश्वास नहीं है। इसलिये जबतक स्वास्थ्य अच्छा है, वृद्ध-अवस्था और मृत्यु दूर है तभीतक जो कुछ करना हो, अति शीघ्रताके साथ कर लेना चाहिये।

अहो! भयंकर कष्ट है, भारी आपत्ति है, जो कि विषयरूपी काँचके लिये भजन-ध्यानरूपी अमूल्य रत्नको लोग बिसार रहे हैं।

प्रिय पाठकगण! उठो, जागो, सावधान होओ और अमृतमय हरिके नाम और गुणोंको कानोंके द्वारा सुनो तथा वाणीके द्वारा कीर्तन करो और मनसे उनके स्वरूपका ध्यान करो। सम्पूर्ण संसारके भोगोंको तृणके समान

त्यागकर शरीरसे भगवान्‌की सेवा करो और अपने इस अमूल्य समयका अमोलक कार्यमें ही उपयोग करो!

कर्मोंका अनुष्ठान करते समय भी चित्तसे भगवान्‌को मत भूलो। पाप, प्रमाद और आलस्यमें दुःख और दोषोंको देखकर इनसे दूर हटो। विषयासक्त, नास्तिक और प्रमादी पुरुषोंके नजदीक भी मत जाओ और दीन-दुःखी मनुष्योंकी सेवा करो।

मान, प्रतिष्ठा, कीर्तिको कलंकके समान समझो। शम, दम, तितिक्षा आदि अमृतमय साधनोंका सेवन करो। काम, क्रोध, लोभ, मोहादि, कूड़े-कचूड़ेको निकालकर हृदयरूपी घरको पवित्र करो।

शीत-उष्ण, सुख-दुःखादि क्षणिक और नाशवान् हैं, इसलिये इनसे व्यथित मत होओ अर्थात् सदा समचित्त रहो या पूर्वकृत कर्मोंके अनुसार ईश्वरका किया हुआ विधान समझकर इनको सहर्ष स्वीकार करो।

शील, विद्या, गुण, त्याग और तेज आदिमें जो वृद्ध हैं ऐसे सदाचारी सज्जन महात्माओंके चरणोंका सेवन करो। ऐसे पुरुषोंका संग तीर्थसेवनसे भी बढ़कर है। इसलिये कुतर्कको छोड़कर उनके दिये हुए अमृतमय उपदेशका भगवत्-वाक्योंके समान आदर करो। अथवा निर्जन पवित्र एकान्त स्थानमें बैठकर ध्यानसहित भगवान्‌के नामका जप तथा भगवत्-तत्त्वका विचार करो।

ऊपर बतलाये हुए साधनोंके अनुसार चलनेवाला पुरुष भगवान्‌की दयासे भगवान्‌के प्रभावको जानकर शीघ्रातिशीघ्र परमपदको प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न—किस प्रकारका नाम-जप करना उत्तम एवं लाभप्रद है। वाचिक, उपांशु या मानसिक?

उत्तर—वाचिक जपसे उपांशु दसगुना अधिक है और उपांशुसे मानसिक दसगुना अधिक फलदायक है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

(मनु० २। ८५)

'अग्निहोत्र आदि क्रियायज्ञकी अपेक्षा जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है, उपांशु जप सौगुना श्रेष्ठ है और मानस जप हजारगुना श्रेष्ठ है।'

इससे मानसिक जप ही सबसे उत्तम है। मानसिक जप श्रद्धापूर्वक नित्य-निरन्तर किया जाय तो वह और भी विशेष लाभप्रद हो जाता है। वही जप निष्काम प्रेमभावसे किया जाय तो फिर उसकी महिमाका कोई वर्णन ही नहीं कर सकता।

प्रश्न—(क) क्या केवल नामके जपसे ही इष्टदेवके स्वरूपका दर्शन हो सकता है, या—

(ख) जपके साथ-साथ इष्टदेवके स्वरूपका चिन्तन करना भी आवश्यक है?

उत्तर—(क) श्रद्धापूर्वक प्रेमसे किये हुए केवल जपसे भी इष्टदेवका साक्षात् दर्शन हो सकता है।

महर्षि पतंजलिने कहा है—

'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।' (योग० २। ४४)

इष्टदेवके नामके जपसे इष्टदेवका साक्षात् दर्शन होता है। यदि इष्टदेवका निरन्तर चिन्तन करते हुए उपर्युक्त प्रकारसे जप किया जाय तो उसकी प्राप्ति और भी शीघ्र हो जाती है। इसलिये—

(ख) जपके साथ-साथ ईश्वरके स्वरूपका चिन्तन अवश्य करना चाहिये। महर्षि पतंजलिने कहा है—

'तज्जपस्तदर्थभावनम्'। (योग० १। २८)

उस परमेश्वरके नामका जप और उसके अर्थका यानी स्वरूपका चिन्तन करना—इसीका नाम ईश्वर-प्रणिधान एवं ईश्वरकी शरण समझना चाहिये।

इससे सब विघ्नोंका नाश एवं परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति भी हो जाती है।

प्रश्न—जपके सात्त्विक, राजस और तामस—तीन भेद किस कारणसे होते हैं?

उत्तर—जपके सात्त्विक राजस और तामस भेद होनेमें भाव ही प्रधान कारण है। श्रद्धा, प्रेम तथा निष्कामभावसे भगवत्-प्रीत्यर्थ किया हुआ जप सात्त्विक समझा जाता है।

इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये एवं मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके लिये किया हुआ जप राजसिक समझा जाता है।

दूसरोंके अनिष्टके लिये अज्ञानपूर्वक किया हुआ जप तामसी समझा जाता है।

प्रश्न—कौन-से नामका जप विशेष लाभप्रद है। 'राम-राम' या 'ॐ-ॐ' या 'शिव-शिव' या 'नारायण-नारायण' इत्यादि-इत्यादि?

उत्तर—ईश्वरके सभी नाम समान हैं। इसलिये जिसका जिस नाममें प्रेम हो, उसके लिये वही नाम विशेष लाभप्रद है।

प्रश्न—जपके साथ ध्यान भगवान्‌के निराकार स्वरूपका करना चाहिये या साकार स्वरूपका?

उत्तर—इसमें भी साधककी रुचि ही प्रधान है। जिसकी निराकार स्वरूपमें रुचि हो, उसके लिये निराकारका ध्यान और जिसकी साकारमें रुचि हो, उसके लिये साकारका ध्यान लाभदायक है। निराकार और साकारको व्यापक अग्नि और प्रज्वलित अग्निकी भाँति अभिन्न रूप समझकर उसके रहस्य और प्रभावको जानते

हुए जो निराकारके सहित साकारका ध्यान करता है वह सर्वोत्तम है।

प्रश्न—कितनी संख्यामें जप करनेसे इष्टदेवके साक्षात् दर्शन हो सकते हैं? और शास्त्रोंमें कौन-से नाम-जपकी विशेष महिमा लिखी है?

उत्तर—संख्याके विषयमें सब जगह एक नियम नहीं मिलता; किन्तु भगवान्‌के नाम-जपकी महिमा अधिकांशमें सभी शास्त्रोंमें पायी जाती है। कलिसन्तरणोपनिषद्‌में लिखा है कि—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस षोडश नामवाले मन्त्रका साढ़े तीन करोड़ जप करनेसे सब पापोंका नाश होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। रामायणमें श्रीरामनामकी, श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्ण आदि नामोंकी एवं महाभारतमें गोविन्द, हरि, नारायण, वासुदेव आदि बहुत-से नामोंकी तथा श्रुतिस्मृतियोंमें ॐ, तत्, सत् आदि नामोंके जपकी विशेष महिमा लिखी है। ऐसे ही प्रायः सभी नामोंकी शास्त्रोंमें जगह-जगह भूरि-भूरि महिमा गायी गयी है।

कलिकल्मषमत्युग्रं नरकार्तिप्रदं नृणाम्।
प्रयाति विलयं सद्यः सकृत्कृष्णस्य संस्मृतेः॥

(विष्णुपु० ६। ८। २१)

'कलिके अत्यन्त उग्र पाप जो कि मनुष्योंको नरककी पीड़ा देनेवाले हैं, श्रीकृष्णका एक बार भी भली प्रकार स्मरण करनेसे तुरंत विलीन हो जाते हैं।'

सकृत्स्मृतोऽपि गोविन्दो नृणां जन्मशतैः कृतम्।
पापराशिं दहत्याशु तूलराशिमिवानलः॥

'श्रीगोविन्द' एक बार भी स्मरण किये जानेसे मनुष्योंके सैकड़ों जन्मोंमें किये हुए पापोंके समूहको उसी प्रकार शीघ्र ही भस्म कर देते हैं जैसे रूईके ढेरको अग्नि।'

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥

(बृ० नार० १। ११। १००)

'दुष्टचित्त पुरुषोंद्वारा भी स्मरण किये जानेपर भगवान् श्रीहरि उनके समस्त पापोंको हर लेते हैं। जैसे अग्नि अनिच्छासे स्पर्श करनेपर भी जला ही डालता है।'

न तावत्पापमस्तीह यावन्नामाहतं हरेः।
अतिरेकभयादाहुः प्रायश्चित्तान्तरं वृथा॥

'हरिके नामका जप करनेसे जितने पाप नष्ट हो सकते हैं उतने पाप संसारमें हैं ही नहीं, इसलिये अधिक पापोंके भयसे अन्य प्रायश्चित्तोंका करना व्यर्थ बतलाया है।'

आचारहीनोऽपि मुनिप्रवीर
भक्त्या विहीनोऽपि विनिन्दितोऽपि।
किं तस्य नारायणशब्दमात्रतो
विमुक्तपापो विशतेऽच्युतां गतिम्॥

'हे मुनिश्रेष्ठ! भगवान्‌के नामका जप करनेवाला मनुष्य यदि आचारहीन, भक्तिहीन तथा निन्दनीय भी है, तो भी उसको क्या भय है? क्योंकि 'नारायण' शब्दके उच्चारणमात्रसे वह पापरहित होकर परम अविनाशी गतिको प्राप्त हो जाता है।'

ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि वासुदेवस्य कीर्तनात्।
तत्सर्वं विलयं याति तोयस्थं लवणं यथा॥

'जानकर अथवा बिना जाने भी वासुदेवका कीर्तन करनेसे समस्त पाप, जलमें पड़े हुए लवणके समान लीन हो जाते हैं।'

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

(गीता ८। १३)

'जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थरूप मेरा चिन्तन करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है वह परमगतिको प्राप्त होता है।'

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः।
पुमान्विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्वृकैरिव॥

(विष्णुपु० ६। ८। १९)

'जिसके नामका विवश होकर भी कीर्तन करनेसे पुरुष, सिंहसे डरे हुए गीदड़ोंके समान सम्पूर्ण पापोंसे तुरन्त मुक्त हो जाता है।'

यहाँतक भी लिखा है कि एक हरिके नामके जपसे ही सम्पूर्ण पापोंका नाश हो जाता है—

सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥

(पद्म० ६। ८०। १६१)

'जिसने एक बार भी 'हरि' इन दो अक्षरोंका उच्चारण किया है, उसने मानो मोक्षकी ओर जानेके लिये कमर कस ली है।' इस प्रकार नामके जपकी महिमा शास्त्रोंमें स्थल-स्थलपर भरी पड़ी है। लेखका कलेवर बढ़ जानेके संकोचसे शास्त्रोंके वाक्योंका विस्तृत उल्लेख नहीं किया गया।

हरिके नामकी महिमाको अर्थवाद नहीं समझना चाहिये। जो कुछ महिमा शास्त्रोंमें लिखी है वह ध्रुव सत्य है। परन्तु श्रद्धा और प्रेमकी कमीके कारण नामका प्रभाव समझमें नहीं आता तथा फल भी पूरा नहीं मिलता।

ईश्वरकी प्राप्तिके विषयमें संख्याका नियम सब जगह ठीक-ठीक लागू नहीं पड़ता। प्रेम और श्रद्धा जिसमें जितनी अधिक होती है, उसको उतनी ही जल्दी भगवत्प्राप्ति होती है।

यदि कहो कि फिर संख्याकी क्या आवश्यकता है? यह ठीक है, पर इसमें शास्त्रका विधान है एवं जप भी अधिक बन जाता है इसलिये भी संख्या सब प्रकारसे लाभप्रद है।

किन्तु भगवत्‌की प्राप्तिके लिये संख्याका ठेका नहीं करना चाहिये। ठेका करनेवाला सच्चा भक्त नहीं है जो भगवान्‌की प्राप्तिसे भी बढ़कर भगवान्‌के प्रेमको एवं भजनको समझता है, वही भगवान्‌के नामके प्रभावको जाननेवाला सच्चा भक्त है। क्योंकि प्रेम और श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे किया हुआ भगवान्‌का भजन, भगवान्‌से भी बढ़कर है। तब फिर भगवान्‌से मिलनेके लिये भगवान्‌के नाम-जपकी संख्याका ठेका करना भारी भूल नहीं तो और क्या है?

राग, द्वेष, ममता और अभिमानको छोड़कर निन्दा-स्तुति, मान-अपमानको समान समझता हुआ जो पुरुष परवा छोड़कर भगवान्‌के भजन-ध्यानमें मस्त हुआ विचरता है, वही पुरुष मुक्त है।

प्रश्न—भगवत्-प्राप्तिको कोई-कोई तो बहुत ही कष्टसाध्य बतलाते हैं?

उत्तर—भगवत्-प्राप्ति कष्टसाध्य भी है और सुखसाध्य भी। जो कष्टसाध्य मानते हैं, उनके लिये कष्टसाध्य है और जो सुखसाध्य मानते हैं उनके लिये सुखसाध्य। भगवान्‌में जिनकी श्रद्धा और प्रेम कम है उनके लिये भगवत्-प्राप्ति कष्टसाध्य है और जिनका भगवान्‌में प्रेम और विश्वास है उनके लिये भगवान्‌की प्राप्ति सुलभ है।

भगवत्-प्राप्तिमें श्रद्धा और प्रेम ही प्रधान है। नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेवाले भक्तोंके लिये तो भगवान्‌की प्राप्ति सुलभ एवं सुखसाध्य ही है; क्योंकि भगवान्‌ने स्वयं गीतामें कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मेरेमें अनन्यचित्तसे स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मेरेको स्मरण करता है, उस निरन्तर मेरेमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् सहजमें ही प्राप्त हो जाता हूँ।' और भी कहा है—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

(गीता ९। २)

'यह रहस्यसहित भगवत्-तत्त्वका ज्ञान सब विद्याओंका राजा तथा सब गोपनीयोंका भी राजा एवं अति पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला और धर्मयुक्त है। साधन करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी है।'

भगवान्‌के इन वचनोंसे और युक्तियोंसे भी भगवान्‌की प्राप्ति कष्टसाध्य प्रतीत नहीं होती।

भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिका सुलभ उपाय अपना निरन्तर चिन्तन करना ही बतलाया है।

भला बतलाओ तो सही, भगवान्‌के निरन्तर चिन्तन करनेमें भी क्या कोई कष्ट है? यदि इसमें भी कष्ट है तो फिर सुख किसमें है? भगवान्‌का चिन्तन करनेसे तो सर्व पापोंका, अवगुणोंका और दुःखोंका नाश होकर उत्तरोत्तर परमानन्द एवं परम शान्तिकी वृद्धि होती जाती है। आरम्भसे लेकर अन्ततक साधन और सिद्धिमें आनन्द-ही-आनन्द है। इसलिये उस आनन्दस्वरूप साध्यदेवने इससे बढ़कर दूसरा कोई सुलभ उपाय नहीं बतलाया। फिर कष्टसाध्य कैसे? बल्कि सुलभ और सुखसाध्य ही कहना युक्तियुक्त है।

प्रश्न—भगवान्‌के भजन, ध्यानको आरम्भसे लेकर अन्ततक आनन्ददायक समझकर, साधक निरन्तर भजन, ध्यान करना चाहता है और अपनी शक्तिके अनुसार कोशिश भी करता है किन्तु फिर भी वह होता नहीं, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—श्रद्धा और प्रेमकी कमी होनेके कारण यथोचित चेष्टा नहीं की जाती। इसीलिये भजन, ध्यान निरन्तर नहीं बनता।

प्रश्न—भगवान्‌में अतिशय प्रेम और श्रद्धा होनेके लिये साधकको क्या करना चाहिये?

उत्तर—भगवान्‌के गुण और प्रभावका तत्त्व जाननेसे श्रद्धा होती है और श्रद्धासे प्रेम होता है। भगवान्‌के प्रेम, प्रभाव, गुण और रहस्यकी अमृतमयी कथाओंका उनके प्रेमी भक्तोंद्वारा एवं शास्त्रोंद्वारा श्रवण, पठन और मनन करके उनके अनुसार चलनेसे भगवान्‌के गुण, प्रभावका रहस्य समझमें आ जाता है। इससे उनमें पूर्ण श्रद्धा और अनन्य प्रेम हो सकता है।

किसीमें भी क्यों न हो, जितना-जितना उसका प्रभाव समझमें आता है उतनी-उतनी श्रद्धा बढ़ती चली जाती है। जितनी श्रद्धा होती है उतना ही प्रेम हो जाता है। श्रद्धा, प्रेमके अनुसार ही भजन-ध्यानका साधन तेज होता चला जाता है। अतएव भगवान्‌में पूर्ण श्रद्धा और अनन्य प्रेम होनेके लिये उन महापुरुषोंका संग करना चाहिये, जिनका भगवान्‌में अनन्य प्रेम और अतिशय श्रद्धा है, जो नित्य-

निरन्तर निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌को भजते हैं, ऐसे महापुरुषोंके संगसे ही भगवान्‌में पूर्ण श्रद्धा और अनन्य प्रेम होता है। ऐसे पुरुषोंका संग नहीं मिले तो श्रद्धालु उत्तम जिज्ञासु पुरुषोंका संग और सत्-शास्त्रोंका श्रद्धापूर्वक विचार करना चाहिये।

सारांश यह है कि संसारमें निष्कामभावसे किये हुए भजन-ध्यानके समान भगवत्प्राप्तिका और कोई भी सहज और सुगम उपाय नहीं है। वह होता है सत्पुरुषोंके संग और सत्-शास्त्रोंके विचार करनेसे। अतएव निष्काम प्रेमभावसे निरन्तर भजन, ध्यान होनेके लिये सत्पुरुषोंका संग एवं सत्-शास्त्रोंका विचार तत्पर होकर करना चाहिये।

प्रेम और शरणागति

प्रेमका वास्तविक वर्णन हो नहीं सकता। प्रेम जीवनको प्रेममय बना देता है। प्रेम गूँगेका गुड़ है। प्रेमका आनन्द अवर्णनीय होता है। रोमांच, अश्रुपात, प्रकम्प आदि तो उसके बाह्य लक्षण हैं, भीतरके रसप्रवाहको कोई कहे भी तो कैसे? वह धारा तो उमड़ी हुई आती है और हृदयको आप्लावित कर डालती है। पुस्तकोंमें प्रेमियोंकी कथा पढ़ते हैं किन्तु सच्चे प्रेमीका दर्शन तो आज दुर्लभ ही है। परमात्माका सच्चा प्रेमी एक ही व्यक्ति करोड़ों जीवोंको पवित्र कर सकता है।

बरसते हुए मेघ जिधरसे निकलते हैं उधरकी ही धराको तर कर देते हैं। इसी प्रकार प्रेमी भी प्रेमकी वर्षासे यावत् चराचरको तर कर देता है। प्रेमीके दर्शनमात्रसे ही हृदय तर हो जाता है और लहलहा उठता है। तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा।
राम ते अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा।
चंदन तरु हरि संत समीरा॥

समुद्रसे जल लेकर मेघ उसे बरसाते हैं और वह बड़ा ही उपकारी होता है। भगवान् समुद्र हैं और संत मेघ। भगवान्‌से ही प्रेम लेकर संत संसारपर प्रेम बरसाते हैं और जिस प्रकार मेघका जल नदियों, नालोंसे होकर पृथ्वीको उर्वरा बनाते हुए समुद्रमें प्रवेश कर जाता है, ठीक उसी प्रकार संत भी प्रेमकी वर्षा कर अन्तमें प्रभुके प्रेमको प्रभुमें ही समर्पित कर देते हैं।

प्रभु चन्दनके वृक्ष हैं और संत बयार। जिस प्रकार हवा चन्दनकी सुगन्धिको दिग्दिगन्तमें फैला देती है उसी प्रकार संत भी प्रभुके दिव्य गन्धको प्रवाहित करते रहते हैं। संतको देखकर प्रभुकी स्मृति आती है। अतएव संत प्रभुके स्वरूप हैं। जैसे पपीहा और किसान तो केवल मेघके ही आश्रित हैं इसी प्रकार श्रद्धालु पुरुष भी केवल संतोंके ही आश्रय रहते हैं।

प्रेमीके वाणी और नेत्र आदिसे प्रेमकी वर्षा होती रहती है। उसका मार्ग प्रेमसे पूर्ण होता है। वह जहाँ जाता है वहाँके कण-कणमें, हवामें, धूलिमें उसके स्पर्शके कारण प्रेम-ही-प्रेम दृष्टिगोचर होता है। उसका स्पर्श ही प्रेममय होता है, स्नेहसे ओत-प्रोत होता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह प्रेम कैसे प्राप्त हो? इस सम्बन्धमें गोस्वामीजीने कहा है—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

किन्तु शोक है, हमलोगोंका प्रेम तो कांचन-कामिनी, मान-प्रतिष्ठामें हो रहा है। हम तो सच्चे प्रेमके लिये हृदयमें कभी कामना ही नहीं करते। जबतक प्रेमके लिये हृदय तरस नहीं जाता, व्याकुल नहीं होता, तबतक प्रेमकी प्राप्ति हो भी कैसे सकती है? अभी तो हमलोगोंका कामी मन नारी-प्रेममें ही आनन्दकी उपलब्धि कर रहा है। अभी तो हमलोगोंका लोभी चित्त कांचनकी प्राप्तिमें ही पागल है। अभी तो हमलोगोंका चंचल चित्त मान-बड़ाईके पीछे मारा-मारा फिरता है। जबतक हमलोगोंका यह काम और लोभ सब ओरसे सिमटकर एकमात्र प्रभुके प्रति नहीं हो जाता, तबतक हम प्रभुके प्रेमको प्राप्त भी कैसे कर सकते हैं?

प्रेमी मूक रहते हुए भी भाषण देता है। मानो उसका अंग-अंग बोलता है। उसके सभी अवयवोंसे मानो एक शुद्ध संकेत एक निर्मल ध्वनि निकलती है। प्रेमी उपदेश देने नहीं जाता, वह क्या बोले, कैसे बोले? गोपियोंने प्रेमकी शिक्षा किसे और कब दी थी? भरतजीने भक्तिका उपदेश कब और किसे दिया? उनके चरित्र उपदेश देते रहे और देते रहेंगे। प्रेममें जिस अनन्यता और आत्मसमर्पणकी सराहना की गयी है उसकी सजीव मूर्ति गोपियाँ हैं। इसी प्रकार रामायणमें उसके प्राणस्वरूप प्रेम-मूर्ति श्रीभरतजी हैं।

यह हमारा शरीर ही क्षेत्र है। इस खेतमें कर्मरूप जैसा बीज बोया जायगा वैसा ही फल उपजेगा। बीज तो परमात्माका प्रेमपूर्वक ध्यानसहित जप है। परन्तु जलके बिना यह बीज उग नहीं सकता। वह जल है हरि-कथा और हरि-कृपा। खेतमें गेहूँ बोनेसे गेहूँ, आम बोनेसे आम

और राम बोनेसे राम ही निपजेगा। हम प्रेमपूर्वक भगवान्‌के ध्यान और जपका बीज बोवेंगे तो फलरूपमें हमें प्रेममय भगवान् ही मिलेंगे। प्रेममय भगवान्‌का साक्षात्कार ही इस बीजका फल है। साधारण बीज तो धूलिमें पड़कर नष्ट भी हो जाता है परन्तु निष्काम राम-नामका वह अमर बीज कभी नष्ट नहीं होता। जल है हरि-कथा और हरि-कृपा, जो संतोंके संगसे ही प्राप्त होती है। उस हरि-कथा और हरि-कृपासे ही हरिमें विशुद्ध प्रेम होता है। अतएव प्रेमकी प्राप्तिका उपाय सत्संग ही है।

प्रभुमें हमारा प्रेम कैसा हो? श्रीरामका उदाहरण लीजिये। भगवान् श्रीराम लता-पतासे पूछते हैं—'तुमने मेरी सीताको देखा है?' गोपियोंको देखिये, वे वन-वन 'कृष्ण', 'कृष्ण' पुकार-पुकारकर अपने हृदय-धनको खोज रही हैं; जितनी ही अधिक तीव्र उत्कण्ठा प्रेममें होती है उतना ही शीघ्र प्रेममय ईश्वर मिलते हैं।

भगवान् जल्दी-से-जल्दी कैसे मिलें—यह भाव जाग्रत् रहनेपर ही भगवान् मिलते हैं। यह लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती चले। ऐसी उत्कट इच्छा ही प्रेममयके मिलनेका कारण है और प्रेमसे ही प्रभु मिलते हैं। प्रभुका रहस्य और प्रभाव जाननेसे ही प्रेम होता है। थोड़ा-सा भी प्रभुका रहस्य जाननेपर हम उसके बिना एक क्षणभर भी नहीं रह सकते।

पपीहा मेघको देखकर आतुर होकर विह्वल हो उठता है। ठीक उसी प्रकार हमें प्रभुके लिये पागल हो जाना चाहिये। हमें एक-एक पल उसके बिना असह्य हो जाना चाहिये।

मछलीका जलमें, पपीहेका मेघमें, चकोरका चन्द्रमामें जैसा प्रेम है वैसा ही हमारा प्रेम प्रभुमें हो। एक पल भी उसके बिना चैन न मिले, शान्ति न मिले। ऐसा प्रेम प्रेममय संतोंकी कृपासे ही प्राप्त होता है। चन्दनके वृक्षकी गन्धको लेकर वायु समस्त वृक्षोंको चन्दनमय बना देता है। बनानेवाली तो गन्ध ही है। परन्तु वायुके बिना उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार संतलोग आनन्दमयके आनन्दकी वर्षा कर विश्वको आनन्दमय कर देते हैं, प्रेम और आनन्दके समुद्रको उमड़ा देते हैं। गौरांग महाप्रभु जिस पथसे निकलते थे, प्रेमका प्रवाह बहा देते थे। गोस्वामीजीकी लेखनीमें कितना अमृत भरा पड़ा है। पर ऐसे प्रेमी संतोंके दर्शन भी प्रभुकी पूर्ण कृपासे होते हैं। प्रभुकी कृपा तो सबपर पूर्ण है ही, किन्तु पात्र बिना वह कृपा फलवती नहीं होती। शरणागत भक्त ही प्रभुकी ऐसी कृपाके पात्र हैं। अतएव हमें सर्वतोभावसे भगवान्‌के शरण होना चाहिये। सर्वथा उसका आश्रित बनकर रहना चाहिये। सर्व प्रकारसे उसके चरणोंमें अपनेको सौंप देना चाहिये। भगवान्‌ने कहा भी है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८। ६२)

'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो। उसकी कृपासे ही परम शान्तिको और सनातन परम धामको प्राप्त होगा।'

मनसे, वाणीसे और कर्मसे शरण होना चाहिये। तभी सम्पूर्ण समर्पण होता है यानी उस परमेश्वरको मनसे भी पकड़ना चाहिये, वाणीसे भी पकड़ना चाहिये और कर्मसे भी पकड़ना चाहिये।

उनके किये हुए विधानोंमें प्रसन्न रहना, उनके नाम, रूप, गुण और लीलाओंका चिन्तन करना मनसे पकड़ना है। नामोच्चारण करना, गुणगान करना वाणीसे पकड़ना है और उनके आज्ञानुसार चलना कर्मसे यानी क्रियाओंसे पकड़ना है।

मनसे प्रभुको पकड़ना

(१) सच्चा भक्त प्रभुके प्रत्येक विधानमें दयाका दर्शन करता रहता है, प्रभु तो दया और न्यायके समुद्र हैं। परम प्रेमी और सच्चे सुहृद् तो केवल वही हैं। उनकी दयामें न्याय और न्यायमें दया ओत-प्रोत है। सब कुछ प्रभुका पुरस्कार ही है। मृत्यु भी उनकी दयाका ही चिह्न है। मयूरध्वजका पुत्र कितना प्रसन्न हुआ जब उसने यह जाना कि उसको चीरकर उसका मांस श्रीकृष्णके सिंहको परसा जायगा। भक्त तो मृत्युको भी प्रभुका प्रसाद जानकर प्रेमसे गले लगाता है। वह उसे ईश्वरका भेजा हुआ पुरस्कार समझकर उसीमें आनन्द और कल्याण मानता है। प्रभु तो बहुरूपियेके रूपमें सर्वत्र सर्वदा हमारे आस-पास, भीतर-बाहर गुप्तरूपसे विचरते हैं। जो प्रभुके तत्त्वको जान जाता है वह सर्वत्र प्रभुकी दया-ही-दयाका दर्शन करता है।

इस प्रकार शरण चले जानेपर सभी विधानोंमें आनन्द-ही-आनन्द मिलने लगता है। प्राणाधारकी लात खानेमें एक अपूर्व मिठास है। उसमें प्यारसे भी अधिक मिठास है, दिलवरकी जूतियोंमें भी एक अपूर्व रस है।

(२) दीवालपर या हृदयपर या प्रभुकी मूर्तिपर मनसे प्रभुके नामको लिखकर चिन्तन करना या मनसे जप करना प्रभुके नामका चिन्तन है।

(३) सच्चिदानन्दरूपसे परमेश्वरका सर्वत्र आकाशकी भाँति नित्य-निरन्तर चिन्तन करना निराकार स्वरूपका चिन्तन करना है। वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही अपनी योगमायासे तेजोमय दिव्य विग्रहको देवता-मनुष्य आदिकी आकृतिमें धारण करते हैं—ऐसा समझकर उनकी दिव्य माधुरी मूर्तिका चिन्तन करना प्रभुके साकार स्वरूपका चिन्तन करना है। जैसे निर्मल आकाशमें परमाणुरूपसे एवं

बादल, बूँद और ओलोंके रूपमें रहनेवाले जलको जो जल समझता है वही जलके सारे तत्त्वको जाननेवाला है। वैसे ही निराकार और साकार मिलकर ही प्रभुका समग्र रूप होता है। इसी तत्त्वको भगवान्ने गीताके ७ वें अध्यायमें विस्तारसे बतलाया है। इस रहस्यको समझकर ही प्रभुका चिन्तन करना असली चिन्तन करना है।

(४) प्रभु सारे सात्त्विक गुणोंके समुद्र हैं। उनमें क्षमा, दया, शान्ति, समता, सरलता, उदारता, पवित्रता अपरिमित हैं। वे ज्ञान, वैराग्य, तेज और ऐश्वर्यसे पूर्ण हैं। सारे संसारके जीवोंमें जो दया और प्रेम दीखते हैं वह सब मिलकर प्रेममय दयासागरकी दया और प्रेमके एक बूँदके समान नहीं है।

सारे संसारका तेज और ज्ञान इकट्ठा किया जाय तो भी उस तेजोमय ज्ञानस्वरूप परमात्माके तेजके एक अंशके बराबर भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार उनके सारे गुणोंकी विवेचना करना उनके गुणोंका चिन्तन करना है।

(५) प्रभुने दशरथके यहाँ मनुष्य-आकृतिमें प्रकट होकर भाइयोंके साथ नीति और प्रेमका व्यवहार करके नीति और प्रेमकी शिक्षा दी। माता-पिताकी आज्ञाका पालन करके सेवाभाव सिखलाया। दुष्टोंको दण्ड दिया तथा ऋषि, मुनि और साधुओंका उद्धार किया। बड़े त्याग और सुहृदताके साथ प्रजाका पालन किया। यज्ञ, दान, तप, सेवा, व्रत, सत्य, ब्रह्मचर्यादि सदाचारोंको चरितार्थ करके हमलोगोंको दिखलाया। इस प्रकार उनके पवित्र चरित्रोंका अवलोकन करना उनकी लीलाओंका चिन्तन करना है।

वाणीसे प्रभुको पकड़ना

प्रभुके नाम एवं मन्त्रका जाप, प्रभुका गुण और स्तोत्रोंके पठन-पाठन, उनके नाम और गुणोंका कीर्तन, प्रभुके नाम, रूप, गुण, प्रेम और प्रभावका विस्तारपूर्वक उनके भक्तोंमें वर्णन करना, परस्पर भगवत्-विषयक ही चर्चा करना, विनयपूर्वक सत्य और प्रिय वचन बोलना इत्यादि जो प्रभुके अनुकूल वाणीका व्यवहार करना है वह वाणीद्वारा प्रभुको पकड़ना है।

कर्मसे प्रभुको पकड़ना

प्रभुकी इच्छा एवं आज्ञानुसार निःस्वार्थभावसे केवल प्रभुके ही लिये कर्तव्यकर्मोंका आचरण करना। जैसे पतिव्रता स्त्री पतिके लिये ही पतिके आज्ञानुसार ही काम करती है वैसे ही प्रभुकी आज्ञाके अनुसार चलना।

बंदर अपने प्रभुको प्रसन्न करनेके लिये जैसा नाच वह नचावे वैसा ही नाचता है। बाजीगरको खुश करनेके लिये ही बंदर नाचता है, कूदता है, खेलता है और कुतूहल करता है। हम भी तो अपने 'बाजीगर' के हाथके बंदर ही हैं, फिर वह जिस प्रकार प्रसन्न हो वही नाच हमें प्रिय होना चाहिये। फूल तो वही जो चतुर-चिन्तामणिके चरणोंपर चढ़े, जीवन तो वही जो प्रभुके चरणोंमें चढ़ जाय!

कपड़ेकी चादरको जिस प्रकार मालिक चाहे ओढ़े, चाहे बिछावे, चाहे फाड़ दे, चाहे जला दे, चादर हर प्रकारसे तैयार है। ठीक उसी प्रकार भक्तको भी होना चाहिये। चाहे प्रभु भक्तको तारे, चाहे मारे; वह जिस प्रकार चाहे रखे। फाड़ डाले चाहे जला डाले—जैसे चाहे वैसे रखे, भक्तको तो हर क्रियामें मालिकका प्यारा हाथ देखकर सदा हर्षपूर्ण ही रहना चाहिये।

हम तो प्रभुके हाथकी केवल कठपुतली हों। वह चाहे जैसा नाच नचावे। मालिककी इच्छामें ही प्रसन्न रहना हमारा परम धर्म है।

सर्वत्र ईश्वरका दर्शन करते हुए यज्ञ, दान, तप, ब्रह्मचर्य आदि उत्तम कर्मोंका आचरण करना एवं सब भूतोंके हितमें रत होकर सबके साथ विनय और प्रेमपूर्वक व्यवहार करना कर्मोंके द्वारा प्रभुको पकड़ना है।

याद रखिये, उसकी शरणमें चले जानेपर अहित भी 'हित' बन जाता है—

गरल सुधा सम अरि हित होई।

शरणमें जाकर यदि मर जाय तो वह मरण भी मुक्तिसे बढ़कर है। प्रभु कहते हैं—

जे करे आमार आस, ताँर करि सर्वनास।
तवु जे छाँड़े ना आस, ताँर हई दासेर दास॥

अर्थात् 'जो मेरी आशा करता है मैं उसका सर्वनाश कर देता हूँ, इसपर भी जो मेरी आशा नहीं छोड़ता उसका मैं दासानुदास बन जाता हूँ।'

उपर्युक्त प्रकारसे शरण होनेपर वह प्रभुकी कृपाका सच्चा पात्र बन जाता है और प्रभुकी कृपासे ही उसे विशुद्ध प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है तथा उसको परमात्माका साक्षात् दर्शन होकर परमानन्द एवं परम शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

अतएव हमलोगोंको संसारके सारे पदार्थोंको लात मारकर प्रभुकी शरणमें जाना चाहिये। ऋद्धि-सिद्धि, मान-बड़ाई और प्रतिष्ठा आदिसे भी वृत्तियाँ हटा लेनी चाहिये। यह अपार संसार एक अथाह सागर है। इसके पार जानेके दो ही साधन हैं—नावसे जाना अथवा तैरकर जाना। नाव प्रभुका प्रेम है और तैरना है सांख्ययोग यानी ज्ञान। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि तैरनेकी अपेक्षा नावमें जाना सुगम, निश्चित और सुरक्षित है।

प्रेमरूपी नौकाकी प्राप्तिके लिये प्रभुकी शरण जाना चाहिये। तैरनेके लिये तो हिम्मत और त्यागकी आवश्यकता है। तैरनेमें हाथ और पैरसे लहरें चीरते हुए आगे बढ़ा

जाता है। संसारसागरमें विषयरूपी जलको हाथ और पैरसे फेंकते हुए हम तैर जा सकते हैं—उस पार जानेका लक्ष्य न भूलें और लहरोंमें हाथ-पैर न लिपटें। तैरनेके समय शरीरपर कुछ भी बोझ न होना चाहिये। इसी प्रकार विषयोंकी लहरोंको चीरकर आगे बढ़नेके लिये हमारे भीतर तीव्र और दृढ़ वैराग्यरूपी उत्साहका होना आवश्यक है। इसके बिना तो एक हाथ भी बढ़ना असम्भव है। हाथोंसे लहरें चीरता जाय, पैरोंसे जल फेंकता जाय।

सच्चे आत्मसमर्पणमें तो विषयासक्तिका त्याग अनिवार्य है ही। विषयोंमें प्रेम भी हो और समर्पण भी हो यह सम्भव नहीं।

कांचन-कामिनीसे भी अधिक मीठी छुरी मान-बड़ाई है। इसने तो बहुत ही बड़े-बड़े साधकोंको फँसा दिया, रोक दिया और अन्ततोगत्वा डुबा दिया। इससे सदा बचे रहना चाहिये।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि ज्ञानसे तैरनेकी अपेक्षा प्रेममयी नित्य-नवीन नौकामें जाना सुखप्रद, सहज और आनन्ददायक है।

वह विशुद्ध प्रेम प्रभुकी अनन्य शरण होनेसे ही प्राप्त होता है, अतएव अनन्य शरण होकर जाना ही नौकासे जाना है। संसार-सागरको तो हर दशामें लाँघना ही पड़ेगा। 'उस पार' गये बिना तो प्राणवल्लभकी झाँकी होनेकी नहीं। फिर क्यों न उसीके शरणमें जाकर उसीके हाथका सहारा बनकर चले भगवान्ने स्वयं प्रतिज्ञा भी की है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ६-७)

'हे अर्जुन! जो मेरे परायण हुए भक्तजन, सम्पूर्ण कर्मोंको मेरेमें अर्पण करके, मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही तैलधाराके सदृश अनन्य ध्यानयोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, उन मेरेमें चित्तको लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।' यह संसार-समुद्र बड़ा ही दुस्तर है, इससे तरनेका सहज उपाय भगवान्की शरण ही है। भगवान्ने कहा है कि—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता ७। १४)

'यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है। परन्तु जो पुरुष मुझको ही निरन्तर भजते हैं वे इस मायाको उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

अतएव हमलोगोंको प्रेम और प्रेममय भगवान्की प्राप्तिके लिये मनसा, वाचा, कर्मणा सब प्रकार भगवान्की अनन्यशरण[१] होना चाहिये।

भावनाशक्ति

भावना अन्त:करणकी एक वृत्ति है। संकल्प, निश्चय, चिन्तन, मनन आदि इसीके नाम हैं। भावना तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। आत्माका कल्याण करनेवाली जो ईश्वर-विषयक भावना है वह सात्त्विकी है। सांसारिक विषयभोगोंकी राजसी एवं अज्ञानसे भरी हुई हिंसात्मक भावना तामसी है। संसारके बन्धनसे छुड़ानेवाली होनेके कारण सात्त्विकी भावना उत्तम और ग्राह्य है एवं राजसी-तामसी भावना अज्ञान और दु:खोंके द्वारा बाँधनेवाली होनेके कारण निकृष्ट एवं त्याज्य है।

स्वभावके अनुसार भावना, भावनाके अनुसार इच्छा, इच्छाके अनुसार कर्म, कर्मोंके संस्कारोंके अनुसार स्वभाव एवं स्वभावके अनुसार पुन: भावना होती है इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है। उत्तम कर्म एवं उत्तम भावना[२] से बुरे कर्म एवं बुरी भावनाका[३] नाश हो जाता है। फिर अन्त:करण पवित्र होनेपर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इसलिये हमलोगोंको उत्तम कर्म एवं उत्तम भावनाकी वृद्धिके लिये सदा सत्पुरुषोंका संग[४] करना चाहिये। क्योंकि मनुष्यपर संगका बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है।

१- अनन्ययोगसे उपासना, अव्यभिचारिणी भक्ति एवं अनन्यशरण—यह तीनों एक ही हैं।

२-शास्त्रानुकूल यज्ञ, दान, तप, सेवा और भक्ति आदि उत्तम कर्म एवं भगवान्के नाम, रूप और गुणका चिन्तन करना आदि उत्तम भावना है।

३-झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि बुरे कर्म एवं अज्ञान और आसक्तिसे विषयोंका तथा द्वेषबुद्धिसे जीवोंका अहित-चिन्तन करना आदि बुरी भावना है।

४-सत्पुरुषोंके गुण, आचरण और उनके द्वारा दी हुई शिक्षाकी आलोचना एवं सत्-शास्त्रका अभ्यास करना भी सत्संगके ही समान है।

सत्संगके प्रभावसे दुष्ट मनुष्य भी उत्तम एवं कुसंगके प्रभावसे अच्छा साधक पुरुष भी बुरा बन जाता है। अतएव कल्याण चाहनेवाले पुरुषको दुराचारी, नास्तिक, दुष्ट स्वभाववाले नीच पुरुषोंके संगसे सदा बचकर रहना चाहिये, यानी उनकी उपेक्षा करनी चाहिये। किन्तु उनमें घृणा या द्वेषबुद्धि कभी नहीं करनी चाहिये। घृणा और द्वेष करना मानसिक पाप है, इससे अन्तःकरण दूषित होता है और उससे बुरा संकल्प पैदा होकर मनुष्यका पतन हो जाता है।

याद रखनेकी बात है कि बुरे संगका प्रभाव तुरंत होता है एवं अच्छे संगका प्रभाव कुछ विलम्बसे होता है। इसके सिवा उत्तम पुरुष संसारमें हैं भी बहुत कम। फिर उनका मिलना दुर्लभ है एवं मिलनेपर भी उनमें प्रेम और श्रद्धा होना कठिन है। श्रद्धा और बुद्धिकी कमी, विषयोंकी आसक्ति, हृदयकी मलिनता, चित्तकी चंचलता, साधनोंकी कठिनाई, आलस्य तथा अकर्मण्यता और स्वभावके प्रतिकूल होनेके कारण सत्पुरुषोंके उपदेशका प्रभाव विलम्बसे होता है।

उपर्युक्त दोषोंके अतिरिक्त साधनमें सुगमता, सुखकी प्रतीति, मन, इन्द्रिय और स्वभावके अनुकूल होनेके कारण संसारी पुरुषोंपर कुसंगका असर तुरंत पड़ता है। किन्तु ऐसा समझकर हमलोगोंको निराश नहीं होना चाहिये; क्योंकि ईश्वरकी प्राप्ति असाध्य नहीं है। गुणातीत अव्यक्तके उपासकोंके लिये वह कष्टसाध्य (गीता १२।५) और सगुणके उपासकोंके लिये सुखसाध्य (गीता १२।७) बतलायी गयी है।

जो मनुष्य किसी भी कार्यको असम्भव नहीं मानते, उनके लिये कष्टसाध्य कार्य भी सुखसाध्य बन जाते हैं। यूरोपमें नेपोलियन बोनापार्टने यह बात प्रत्यक्ष करके दिखला दी थी कि संसारमें उत्साह एक ऐसी वस्तु है; जो अल्प बलवालेको भी महान् वीर और धीर बना देती है। कहाँ तो यूरोपके बड़े-बड़े राजाओंकी बड़ी भारी सेना और कहाँ अकेले नेपोलियनके इने-गिने मनुष्योंका छोटा-सा दल! केवल उत्साहके बलपर उसने सारे यूरोपको हिला दिया था। नेपोलियनका यह सिद्धान्त था कि पुरुषप्रयत्नसाध्य कोई कैसा भी कठिन कार्य क्यों न हो, उसको असाध्य मानकर छोड़ देना अपनी कायरता और मूर्खताका परिचय देना है। नेपोलियनके हृदयरूपी कोशमें असम्भव शब्दको कहीं स्थान ही नहीं था। नेपोलियनने जैसे सांसारिक विजयके लिये कोशिश की थी, वैसे ही कल्याणकी इच्छावाले भाइयोंको बहुत उत्साहके साथ भगवत्प्राप्तिके लिये तत्पर होकर साधनकी चेष्टा करनी चाहिये। क्योंकि मनुष्य-शरीर बहुत दुर्लभ है और यह भगवान्की बड़ी भारी दयासे ही मिलता है।

असंख्यकोटि जीवोंमें मनुष्य-संख्या परिमित है, इससे सिद्ध है कि मनुष्यका शरीर मिलना बहुत ही कठिन है। मनुष्योंमें भी बहुत-से नास्तिक हो जाते हैं, जो ईश्वरको भी नहीं मानते और माननेवालोंमें भी कितने ही ईश्वरकी प्राप्तिको भूलसे असम्भव समझकर उससे उपराम रहते हैं। कितने ही लोग कष्टसाध्य समझते हैं, इसलिये उत्साहके साथ साधन न करनेके कारण ईश्वरकी प्राप्तिसे वंचित रह जाते हैं। जो सुगम समझते हैं वे परमात्माकी कृपासे परमात्माको सहज ही प्राप्त कर सकते हैं।

यद्यपि हमलोग अधिकारी नहीं, किन्तु भगवान्ने जब हमलोगोंको मनुष्य-शरीर दे दिया तो फिर हमलोग अपनेको अनधिकारी भी क्यों समझें? प्रभु बड़े दयालु हैं, महापापी पुरुषोंको भी वे आत्मोद्धारके लिये मनुष्यका शरीर देकर मौका देते हैं।

'**कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥**'

(तु० रा० उ०)

इतना ही नहीं, जो प्रेमपूर्वक अनन्यभावसे भजते हैं उनको अपनी प्राप्तिके लिये वे सब प्रकारसे सहायता भी करते हैं। (देखिये गीता अध्याय १०। १० एवं ९। २२) साधनमें लगानेके लिये भगवान् उत्साह भी दिलाते हैं।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

(गीता २। ३)

'हे अर्जुन! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, यह तेरे योग्य नहीं है। हे परंतप! तुच्छ हृदयकी दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो।'

इसलिये हमलोगोंको भी हृदयकी कायरता (कमजोरी)-को त्यागकर अर्जुनकी भाँति भगवान्के वचनोंमें विश्वास करके श्रद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान्की प्राप्तिके लिये कटिबद्ध होकर कोशिश करनी चाहिये। भगवान्के अंश होनेके नाते भी हमलोगोंको अपनी कमजोरी नहीं माननी चाहिये। अग्निकी चिनगारीकी भाँति जीवात्मा परमात्माका ही अंश है (गीता १५। ७)। जैसे अग्निकी छोटी-सी भी चिनगारी वायुके बलसे सारे ब्रह्माण्डको जला सकती है ऐसे ही यह जीवात्मा सत्संगरूपी वायुके बलसे समस्त पापोंको जलाकर संसार-समुद्रको गोपदकी भाँति लाँघ सकता है। समुद्र लाँघनेके समय हनुमान् जिस प्रकार अपनी शक्तिको भूले हुए थे, वैसे ही हमलोग अपनी शक्तिको भूले हुए हैं। और जाम्बवन्तके याद दिलानेपर जैसे हनुमान्

तुरंत समुद्रको लाँघ गये, वैसे ही हमलोगोंको भी महात्मा पुरुषोंके वचनोंको सुनकर संसार-समुद्रको गोपदकी भाँति लाँघनेके लिये कोशिश करनी चाहिये। सारे बंदरोंमेंसे समुद्र लाँघनेकी शक्ति केवल हनुमान्‌में ही थी। वैसे ही सारे जीवोंके अंदर संसार-समुद्रके लाँघनेकी शक्ति केवल मनुष्यमें ही बतलायी गयी है। जैसे श्रीरामचन्द्रजीने हनुमान्‌को ही पात्र समझकर अपनी अँगूठी दी थी, वैसे ही भगवान्‌ने मनुष्यको ही आत्मोद्धारका अधिकार दिया है।

ऐसे परम दुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर आत्मोद्धारके लिये तन्मय होकर वैसे ही कोशिश करनी चाहिये जैसे संसारी मनुष्य अर्थ और कामके लिये तन्मय होकर चेष्टा करते हैं।

संसारके अर्थ और भोगोंमें जिनकी प्रीति है वे रात-दिन अर्थ और भोगोंका ही चिन्तन करते रहते हैं। उनकी अर्थ और भोगोंमें ही दृढ़ भावना हो रही है। कामी पुरुषोंको सारा संसार प्रायः स्त्रीमय दीखता है, यानी उनके मनमें प्रायः स्त्रीका ही चिन्तन होता रहता है। लोभी पुरुषोंकी वृत्ति अर्थमयी बन जाती है, वे जो भी कुछ कार्य करते हैं, उनमें रुपयोंके हानि-लाभको ही प्रधानता देते हैं। रुपयोंका लाभ ही उनकी दृष्टिमें लाभ है और रुपयोंकी हानि ही उनकी दृष्टिमें हानि है, क्योंकि वे अर्थके दास हैं। जब वे कोई कार्य करना चाहते हैं तो उसके पूर्व ही उनके हृदयमें यह भाव पैदा होता है कि इस कामके करनेमें हमें क्या लाभ होगा। लाभ-हानिका निश्चय करके ही वे उस कार्यमें प्रवृत्त होते हैं, नहीं तो नहीं। प्रभुके भक्तोंको इन अर्थी पुरुषोंसे भी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। अर्थी पुरुष जिस प्रकार अर्थके लिये कार्यमें प्रवृत्त होते हैं वैसे ही प्रभुके भक्तोंको प्रभुके लिये प्रवृत्त होना चाहिये। श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि
लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर
प्रिय लागहु मोहि राम॥

यह संसार भगवान्‌मय है; किंतु मनुष्यको भ्रमसे अपनी-अपनी भावनाके अनुसार नाना रूपसे दीखता है। जैसे कोई एक महान् पुरुष है, वह किसीकी दृष्टिमें महात्मा, किसीकी दृष्टिमें अभिमानी, किसीकी दृष्टिमें लोभी, किसीकी दृष्टिमें पाखण्डी और किसीकी दृष्टिमें भोगी दीखता है। अपने-अपने भावोंके अनुसार ही लोगोंको नाना प्रकारसे प्रतीति होती है।

साक्षात् भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण भक्तोंको ईश्वर, स्त्रियोंको कामदेव, दुष्टोंको काल, राजाओंको वीर, माता-पिताओंको बालक और योगियोंको ब्रह्म इत्यादि रूपसे दीखते थे—

जिन्ह कें रही भावना जैसी।
प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥
देखहिं रूप महा रनधीरा।
मनहुँ बीर रसु धरें सरीरा॥
रहे असुर छल छोनिप बेषा।
तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा॥
हरिभगतन्ह देखे दोउ भ्राता।
इष्टदेव इव सब सुख दाता॥

(तु० रामायण)

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः
स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां
शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां
तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो
रङ्गं गतः साग्रजः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४३। १७)

'रंग-भूमिमें पहुँचनेपर बलदेवजीसहित भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी मल्लोंको वज्र-जैसे, साधारण पुरुषोंको पुरुषश्रेष्ठ, स्त्रियोंको मूर्तिमान् कामदेव, गोपगणको स्वजन, दुष्ट राजाओंको शासन करनेवाले, अपने माता-पिताको बालक, कंसको साक्षात् मृत्यु, अविद्वानोंको संसारी, योगियोंको परम तत्त्व परब्रह्म और यादवोंको परम देवतारूपसे विदित हुए।'

एक युवती सुन्दरी स्त्री सिंहकी भावनामें उसका खाद्य पदार्थ है, वह उसे खानेकी दृष्टिसे देखता है, वहाँ रूप, रंग और रमणीयताका कोई मूल्य नहीं है; किंतु कामी पुरुषको वही रमणीय और सुन्दर दीखती है, वह उसके रूप-लावण्यको देखकर मुग्ध हो जाता है। वही स्त्री पुत्रको माताके रूपमें दूध पिलानेवाली, शरीरका पोषण करनेवाली और जीवनका आधार दीखती है एवं वैराग्यवान् विरक्त पुरुषको वही त्याज्यरूप और ज्ञानीको परमात्माके रूपमें प्रतीत होती है। वस्तु एक होनेपर भी अपनी-अपनी भावनाके अनुसार वह भिन्न-भिन्न रूपसे प्रतीत होती है।

इसी प्रकार यह सारा संसार वस्तुतः एक परमात्माका स्वरूप होनेपर भी भ्रमसे अपने-अपने भावनानुसार भिन्न-भिन्न रूपमें प्रतीत होता है। जिसकी जैसी भावना होती है उसको यह वैसा ही दीखता है। किसीको सत् दीखता है तो किसीको असत् तथा किसी-किसीको परमात्मामय

दीखता है। परिणाम भी प्रायः भावनाके अनुसार ही देखनेमें आता है।

भूत, भविष्य, वर्तमान कालके दु:खोंका चिन्तन करनेसे मनुष्य तत्काल ही दु:खी-सा हो जाता है, सुखोंका स्मरण करनेसे सुखी-सा हो जाता है।

नित्य चेतन, आनन्दस्वरूप यह जीवात्मा भी परमात्माका अंश* होनेके कारण परमात्माका ही स्वरूप है, पर यह भूलसे अपनेको देहस्वरूप मानने लग गया है।

आपने भावते भूलि पर्‍यो भ्रम
देह स्वरूप भयो अभिमानी।
आपने भावते चंचलता अति,
आपने भावते बुद्धि बिरानी॥
आपने भावते आप बिसारत,
आपने भावते आतमज्ञानी।
सुन्दर जैसो ही भाव है आपनो,
तैसो हि होइ गयो यह प्रानी॥

(सुन्दरविलास)

इस भूलको मिटानेके लिये सबसे उत्तम उपाय भगवान्‌की अनन्य भक्ति है। सर्वशक्तिमान् वासुदेवको ही अपना स्वामी मानते हुए, स्वार्थ और अभिमानको त्यागकर, श्रद्धा और प्रेमभावसे निरन्तर उसका सर्वत्र चिन्तन करना अनन्य भक्ति है। भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे सारे दुःख, अवगुण और पापोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है, फिर मनुष्यका अन्तःकरण पवित्र हो जाता है, उसकी सारी भूलें एवं संशय मिट जाते हैं, उसको सारा संसार भगवत्-रूप दीखने लग जाता है। उसकी वाणी और संकल्प सत्य हो जाते हैं, भगवान्‌की भक्तिके प्रतापसे उसके लिये विष भी अमृत बन जाता है।

गरल सुधा सम अरि हित होई।

(तुलसी० रा० ७।१२०।७)

भक्त प्रह्लादने यह बात प्रत्यक्ष दिखला दी कि विष भी उनके लिये अमृत हो गया, अग्नि शीतल हो गयी, अस्त्र-शस्त्र निरर्थक हो गये। सर्पोंके विषका कुछ भी असर नहीं हुआ कहाँतक कहें, जड स्तम्भमें भी चेतनमय, सर्वशक्तिमान् भगवान् नरसिंहके रूपमें प्रत्यक्ष प्रकट हो गये। प्रह्लाद भगवान्‌के भक्त थे, उनका संकल्प सत्य और अन्तःकरण पवित्र था। इसीसे ऐसा हुआ। यह सब उत्तम भावनाका फल है। अतएव मनुष्यको अपनी उत्तम-से-उत्तम भावना बनानेके लिये कोशिश करते रहना चाहिये। विज्ञानानन्दघन परमात्माको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापी समझकर प्रभावसहित उसके नाम, रूप और गुणोंका निष्कामभावसे चिन्तन करना, या सारे संसारको प्रभुके अन्तर्गत देखना एवं सम्पूर्ण संसारको प्रभुमय देखना या जहाँ दृष्टि एवं मन जाय वहीं प्रभुका चिन्तन करना सबसे उत्तम भावना है। इसलिये हर समय हमलोगोंको प्रभुका ही चिन्तन करते रहना चाहिये। इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करनेसे यह सम्पूर्ण जगत् आनन्दमय प्रभुके रूपमें प्रतीत होने लगेगा। क्योंकि वस्तुतः यह प्रभुका ही स्वरूप है। भगवान्‌ने भी कहा है—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९।१९), इसीलिये इस प्रकारका अभ्यास करनेसे प्रभुकी प्राप्ति यहीं हो सकती है। यदि अभ्यासकी कमीके कारण प्रभुकी प्राप्ति यहाँ नहीं हुई तो आगे हो सकती है, क्योंकि यह मनुष्य जैसा संकल्प करता हुआ जाता है आगे जाकर वह उसीको प्राप्त होता है। कहा भी है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत॥

(छान्दोग्य० ३।१४।१)

'यह सारा जगत् ब्रह्मका ही स्वरूप है; क्योंकि ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुआ है, ब्रह्ममें ही स्थित है तथा ब्रह्ममें ही लीन होता है। इस प्रकार शान्तभावसे उपासना करनी चाहिये यानी शान्तचित्तसे संसारमें ब्रह्मकी भावना करनी चाहिये। यह पुरुष निश्चय संकल्पमय है। इसलिये इस लोकमें मनुष्य जैसे संकल्पवाला होता है यानी जैसा संकल्प करता है, मरकर वह आगे जाकर वैसे ही बन जाता है (फिर वहाँ जाकर पुनः) वह वैसा ही संकल्प करता है।'

क्योंकि यह नियम है कि मनुष्य सदा जिसका चिन्तन करता है अन्तकालमें भी प्रायः उसीका चिन्तन होता है और अन्तकालमें जिस वस्तुका चिन्तन करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है, वह उसीको प्राप्त होता है।

भगवान्‌ने कहा है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८।६)

इसलिये भी मनुष्यको नित्य-निरन्तर परमात्माका ही चिन्तन करना चाहिये। नित्य-निरन्तर परमात्माका चिन्तन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति सुलभतासे होती है। परमात्मा सर्वव्यापी होनेके कारण उनका नित्य-निरन्तर चिन्तन होना कठिन भी नहीं है। सर्वत्र परमेश्वरबुद्धि करना ही सबसे

* ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥ (तु० रामायण ७।११७।२)
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। (गीता १५।७)

उत्तम और सद्भावना है, इसलिये जिसकी सर्वत्र परमेश्वरबुद्धि हो जाती है, उसीकी विशेष प्रशंसा की गयी है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है अर्थात् वासुदेवके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं, इस प्रकार मुझको भजता है वह महात्मा अति-दुर्लभ है।'

अतएव हमलोगोंको सर्वत्र भगवत्-बुद्धि करनेके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये, इससे बढ़कर और कुछ भी कर्तव्य नहीं है।

सर्वोच्च ध्येय

एक सज्जनके दो प्रश्न हैं—

प्रश्न १—अबतककी उम्रमें आपको श्रवण, भाषण, सहवास, शिक्षण, अध्ययन, मनन, निदिध्यासन, कृति, भ्रमण, निरीक्षण, सत्संग और सद्गुरु तथा अनुभव इत्यादिके द्वारा ऐसा कौन-सा सिद्धान्त, उच्च ध्येय जँचा है जिसमें शील, सदाचार, मानवकर्तव्य, आनन्द, मोक्ष, योगादि तथा आत्मिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, जागतिक उन्नति अथवा समाज-सुधार आदि सभी सिद्ध होते हों और जिस (उच्च ध्येय)-को सुलभ साधनोंद्वारा पृथ्वीभरके सभी मनुष्य सदा प्राप्त कर सकें?

उत्तर १—जिस उच्च ध्येयके विषयमें आपका प्रश्न है उसका यथार्थ वर्णन तो वही पुरुष कर सकता है जिसने उस सर्वोत्तम उच्च ध्येयको प्राप्त कर लिया हो। मैं तो साधारण मनुष्य हूँ, मुझे इतना ज्ञान नहीं है जिससे आपको मेरे उत्तरसे सन्तोष हो सके। क्योंकि विशेष करके न तो मैंने सत्-शास्त्रोंका श्रवण-मनन, पठन-पाठन ही किया है, न सद्गुरु एवं महात्मा पुरुषोंका सेवन, सत्संग, सहवास और अनुकरण ही कर सका हूँ और न उनकी आज्ञाओंका इतना पालन ही कर पाया हूँ। मनन और निदिध्यासन भी विशेष नहीं हैं। किन्तु मुझे जो रुचिकर है, जिसे मैं अच्छा समझता हूँ वही अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार आपकी प्रसन्नताके लिये आपकी सेवामें संक्षेपमें निवेदन कर रहा हूँ—

केवल एक विज्ञानानन्दघन परमात्माके सब प्रकारसे अनन्य शरण होना ही सर्वोत्तम सिद्धान्त एवं उच्च ध्येय है और यही परम धर्म तथा परम कर्तव्य है। अतएव इसको परम कर्तव्य समझकर इसका पालन करनेसे मनुष्य अनायास सदाचार और सद्गुणसम्पन्न होकर पूर्ण शान्ति एवं मोक्षतकके आनन्दको सुलभतासे प्राप्त कर सकता है। इसीसे कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, जागतिक उन्नति और सुधारका होना सम्भव है एवं पृथ्वीभरके सारे मनुष्य सुलभतासे इसे प्राप्त कर सकते हैं तथा मनुष्यमात्रका ही इसमें अधिकार है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने गीतामें कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(९। ३२)

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्रादि और पापयोनिवाले भी जो कोई होवें वे भी मेरी शरण होनेसे परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

इसलिये भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने अन्तिम उपदेश भी यही दिया है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८। ६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल मुझ एक सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता न कर।'

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भी यही घोषणा की है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा० रा० ६। १८। ३३)

'जो एक बार भी मेरी शरण आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मुझसे अभय माँगता है उसे मैं समस्त प्राणियोंसे निर्भय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत है।'

श्रुति भी कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥

'यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही परम है, इस अक्षरको ही जानकर जो पुरुष जैसी इच्छा करता है उसको वही प्राप्त होता है। यह अक्षर ही सर्वोत्कृष्ट आश्रय

है, इसका आश्रय लेना ही परम उत्तम है। इस आश्रयका रहस्य जानकर मनुष्य ब्रह्मलोकमें पूजित होता है।'

इसलिये लज्जा, भय, मान, बड़ाई, आसक्तिको त्यागकर अहंता-ममतासे रहित होकर केवल एक परमात्माको ही परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उस व्यक्त-अव्यक्तस्वरूप सर्वव्यापी विज्ञानानन्द परमेश्वरके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीरादिद्वारा सब प्रकारसे शरण होनेके लिये तत्पर होना चाहिये।

अनन्य शरणका स्वरूप

(क) उस परमेश्वरके नामका जप और प्रभाव एवं रहस्यसहित स्वरूपका ध्यान (चिन्तन) निष्काम प्रेमभावसे श्रद्धापूर्वक सदा-सर्वदा करते रहना। हरि, ॐ, तत्सत्, नारायण, वासुदेव, शिव इत्यादि उसके अनेक नाम हैं। इन नामोंमेंसे, जिसकी जिसमें विशेष श्रद्धा और रुचि हो उसके लिये उसी नामका जप विशेष लाभप्रद है। उस परमेश्वरके दो रूप हैं—निर्गुण और सगुण। इनमें निर्गुण (गुणातीत)-का चिन्तन तो बन नहीं सकता। जो चिन्तन किया जाता है वह सगुणका ही किया जाता है। सगुणके भी दो भेद हैं—अव्यक्त और व्यक्त। या यों समझिये, एक निराकार और दूसरा साकार। महासर्गके आदिमें जिससे सम्पूर्ण संसार उत्पन्न होता है तथा महाप्रलयके अन्तमें सम्पूर्ण संसार जिसमें विलीन होता है एवं जो सर्वत्र समभावसे व्याप्त है और सम्पूर्ण संसारका नाश होनेपर भी जिसका नाश नहीं होता, ऐसे अव्यक्त, सर्वव्यापी, अनन्त, विज्ञानानन्दघन परमात्माको निराकार ब्रह्म कहते हैं। वही विज्ञानानन्दघन परमात्मा जब संसारके उद्धारके लिये मनुष्य या देवतादिके रूपमें प्रकट होकर ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सदाचारादि धर्मका प्रचार करता है, तब उस प्रेम, दया और आनन्दमय मूर्तिको साकार ब्रह्म कहते हैं। इनमें जिसकी जिसमें विशेष श्रद्धा-प्रेम हो, उसके लिये उसी स्वरूपका ध्यान करना विशेष लाभप्रद है।

(ख) उस परमेश्वरकी आज्ञा एवं इच्छाके अनुसार यथासाध्य चलनेके लिये सदा-सर्वदा कोशिश करते रहना, अर्थात् ईश्वरको जो (अनुकूल) प्रिय हो, तत्परतासे वही करना। सत्-शास्त्रों और महात्मा पुरुषोंकी आज्ञाको ही ईश्वरकी आज्ञा समझना, उनके द्वारा समझे हुए विषयपर मनन करनेसे अपनी आत्मामें निरपेक्षभावसे जो निर्णय हो उसको ईश्वरकी इच्छा समझना एवं उसीको परम कर्तव्य समझकर उसके अनुसार सदा-सर्वदा चलनेकी चेष्टा करना। शास्त्रमें बतलाये हुए लक्षण और आचरण जिसमें पाये जाते हों ऐसे महापुरुषोंमेंसे जिसकी बुद्धिमें जो सबसे श्रेष्ठ पुरुष पहले हो गये हों या वर्तमान हैं, वे ही उसके लिये महात्मा पुरुष समझे जाते हैं। श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि आर्ष-ग्रन्थ ही सत्-शास्त्र हैं। इनके अतिरिक्त महापुरुषोंद्वारा रचे हुए जिन शास्त्रोंमें जिसकी श्रद्धा-भक्ति हो उसके लिये वे भी सत्-शास्त्र समझे जाते हैं। वर्तमान कालके लिये श्रीमद्भगवद्गीता श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि सम्पूर्ण शास्त्रोंका सार एवं पक्षपातरहित, सार्वभौम, धार्मिक सद्ग्रन्थ है। इसीसे कहा गया है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

(भीष्म० ४३। १)

'गीता सुगीता करनेयोग्य है अर्थात् श्रीगीताजीको भली प्रकार पढ़कर अर्थ और भावसहित अन्तःकरणमें धारण कर लेना मुख्य कर्तव्य है, जो स्वयं श्रीपद्मनाभ विष्णु भगवान्‌के मुखारविन्दसे निकली हुई है। फिर अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है! इसलिये विशेष शास्त्रोंका अभ्यास न हो सके तो श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन तो अवश्यमेव करना चाहिये।

(ग) सुख-दुःखकी एवं सुख-दुःखदायक पदार्थोंकी प्राप्ति और विनाशमें तथा हानि और लाभमें परम दयालु सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी परमेश्वरका ही किया हुआ विधान समझकर सदा-सर्वदा प्रसन्नचित्त रहना, अर्थात् परेच्छा या अनिच्छासे जो कुछ भी प्रारब्धानुसार प्राप्त हो उसमें उस प्रेमास्पद, दयासिन्धु परमेश्वरकी दयाका पद-पदपर अनुभव करते हुए सदा-सर्वदा आनन्दमें मुग्ध रहना।

(घ) संसारकी किसी भी वस्तुको न तो अपनी सम्पत्ति समझना चाहिये एवं न अपने भोगकी सामग्री ही। क्योंकि वास्तवमें सब कुछ नारायणसे उत्पन्न होनेके कारण नारायणका ही है। इसलिये उनमेंसे ममताको हटाकर सब वस्तुएँ नारायणके ही अर्पण कर देनी चाहिये। अर्थात् नारायणके आज्ञानुसार नारायणके काममें ही उन्हें लगा देना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि बुद्धिसे परमात्माके रहस्य और प्रभावसहित तत्त्वको समझना, श्रद्धा-प्रेमपूर्ण चित्तसे उस परमात्माके स्वरूपका चिन्तन, श्वासद्वारा भगवन्नाम-जप, कानोंसे भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपकी महिमाका श्रवण, नेत्रोंसे भगवान्‌की मूर्तिका एवं उनके भक्तोंका दर्शन तथा सत्-शास्त्रोंका अवलोकन, वाणीसे उनके गुणोंका कीर्तन एवं शरीरसे भगवान् और उनके भक्तोंकी सेवा-पूजा, नमस्कारादि तथा उनकी इच्छामें अपनी इच्छाको मिलाकर उनके आज्ञानुसार केवल उन परमेश्वरके लिये ही फल और आलस्यको छोड़कर सम्पूर्ण कर्मोंको करना। यही उनकी सब प्रकारसे शरण होना है।

उपर्युक्त प्रकारसे मनुष्य जैसे-जैसे भगवान्‌की शरण जाता है वैसे-वैसे ही उसमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, क्षमा, दया, संतोष, समता आदि सद्‌गुणोंकी तथा शम, दम, तप, दान, त्याग, सेवा, सत्य, ब्रह्मचर्यादि उत्तम आचरणोंकी एवं अतिशय शान्ति और परमानन्दकी क्रमशः वृद्धि होती चली जाती है। इस प्रकारसे उन्नत होता हुआ वह फिर उस परम दयालु परमात्माकी दयासे सारी उन्नतियोंकी शेष सीमाके परमोच्च शिखरपर पहुँच जाता है अर्थात् परम धाम, परम पद, परम गतिरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। फिर उसके लिये कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता।

प्रश्न २—प्रत्येक मनुष्यको प्रतिदिन चौबीस घंटेमें कितना-कितना समय आत्मिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, जागतिक, समाजसुधार, आजीविका आदि कार्योंमें लगाना चाहिये, जिससे स्वार्थ और परमार्थ दोनों सधें। कायिक, वाचिक, मानसिक, बौद्धिक सुधार, आत्मसुधार आदि प्रत्येक कार्यमें मनुष्यको कितना समय और अर्थ व्यय करना चाहिये जिससे इनका पूरा विकास हो और समय, अर्थ तथा श्रम सार्थक सिद्ध हो?

उत्तर २—समय बहुत ही अमूल्य है। लाखों रुपये खर्च करनेपर भी जीवनका एक क्षण नहीं मिल सकता। ऐसे मनुष्य-जीवनका एक क्षण भी प्रमाद, आलस्य, पाप, भोग और अकर्मण्यतामें कदापि नहीं खोना चाहिये। जो मनुष्य अपने इस अमूल्य समयको बिना सोचे-विचारे व्यर्थ प्रमादमें बितावेगा, उसे आगे चलकर अवश्य ही पश्चात्ताप करना पड़ेगा। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

कविराय गिरधर ने भी कहा है—

बिना बिचारे जो करै, सो पाछे पछिताय।
काम बिगारै आपनो, जगमें होत हँसाय॥
जगमें होत हँसाय, चित्तमें चैन न पावै।
खान, पान, सनमान, राग-रँग मन नहिं भावै॥
कह गिरधर कबिराय करम गति टरत न टारे।
खटकत है जियमाहिं कियौ जो बिना बिचारे॥

अतएव मनुष्यको उचित है कि ऊपर बतलाये हुए अनन्य शरणरूप परम धर्ममय कर्तव्यके पालनमें ही अपने सम्पूर्ण अमूल्य समयका व्यय करे। प्रत्येक कर्म करनेके पूर्व ही सावधानीके साथ यह सोच लेना चाहिये कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह मेरे लिये सर्वथा लाभप्रद है या नहीं। यदि उसमें कहीं जरा भी त्रुटि मालूम पड़े तो उसका तुरंत सुधार कर लेना चाहिये।

इस प्रकार सावधानीसे समयका व्यय करनेसे उसका स्वार्थ भी परमार्थके रूपमें परिणत होकर उसके सम्पूर्ण कार्योंकी सफलता हो जाती है अर्थात् वह कृतकार्य हो जाता है।

वर्णाश्रम और स्वभावकी विभिन्नताके कारण समयके विभागमें भेद होना सम्भव है। अतएव सब मनुष्योंके लिये समयका विभाग एक-सा नियत नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखकर अपनी-अपनी बुद्धिसे ही अपने-अपने सुभीतेके अनुसार सबको यथायोग्य समयका विभाग कर लेना चाहिये। आपकी प्रसन्नताके लिये समय विभागके विषयमें कुछ निवेदन भी किया जाता है।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(६। १७)

'दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालोंका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालोंका और यथायोग्य शयन करनेवाले तथा जागनेवालोंका ही सिद्ध होता है।'

गीताके उपर्युक्त श्लोकका विवेचन करनेसे यह बात प्रकट होती है। साधारणतः प्रत्येक मनुष्यको दिन-रातके २४ घंटोंके चार विभाग कर लेने चाहिये। उनमेंसे ६ घंटे तो लोक-सेवा एवं स्वास्थ्य-रक्षाके लिये यथायोग्य आहार, विहार, आदिमें, ६ घंटे न्यायपूर्वक द्रव्योपार्जनरूपी कर्ममें, ६ घंटे शयन करनेमें और ६ घंटे केवल आत्मोद्धार करनेके लिये योगसाधनमें लगाने चाहिये। अर्थात् ६ घंटे तो शौच, स्नान, भोजनादि स्वास्थ्य-रक्षाके लिये एवं कौटुम्बिक, सामाजिक तथा अपनी शक्ति हो तो राष्ट्रीय और जागतिक सेवा एवं सुधारके लिये लगाने चाहिये। कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और जागतिक आदिके विशेष कार्य उपस्थित होनेपर दूसरे विभागमेंसे भी समय निकाला जा सकता है। ६ घंटे फल और आसक्तिको छोड़कर कर्तव्यबुद्धिसे वर्णाश्रमके अनुसार यथासाध्य ईश्वरप्रीत्यर्थ शरीर-निर्वाहके लिये न्यायपूर्वक द्रव्य कमानेमें बिताने चाहिये, ६ घंटे समयपर स्वास्थ्य-रक्षाके लिये शयनमें व्यतीत करने चाहिये और शेष ६ घंटे केवल आत्मोद्धारके लिये ही पवित्र और एकान्त स्थानमें अकेले बैठकर संसारके भोगोंसे मन, बुद्धि और इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको हटाकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक वैराग्ययुक्त अनन्य मनसे परमेश्वरके नामका जप और स्वरूपका ध्यान एवं सत्संग और सत्-

शास्त्रोंका विचार करना चाहिये। सामान्यतः उपर्युक्त समय-विभागका कार्यक्रम नीचे लिखे अनुसार नियत किया जा सकता है।

कार्यक्रम

प्रात:काल सूर्योदयसे करीब डेढ़ या दो घंटे पहले बिछौनेसे उठ जाना चाहिये। प्रातः चार बजे उठकर यथासाध्य ईश्वर-स्मरण करके शौच-स्नानादिसे पाँच बजेतक निवृत्त हो जाना चाहिये। पाँचसे आठ बजेतकका समय एकान्त और पवित्र स्थानमें बैठकर आत्मोद्धारके लिये ही यथारुचि शास्त्रविधिके अनुसार उपर्युक्त प्रकारसे केवल भजन, ध्यान, आदि ईश्वरोपासनामें ही बिताना चाहिये। ८ से १० बजेतकका समय कौटुम्बिक, सामाजिक आदि सेवा और सुधारके कार्य तथा भोजनादि स्वास्थ्योपयोगी कार्योंमें लगाना चाहिये। १० से ४ बजेतकका समय जीविकाके लिये वर्णाश्रमके अनुसार न्यायानुकूल द्रव्योपार्जनमें लगाना चाहिये। ४ से ६ बजेतकका समय कौटुम्बिक, सामाजिक और अपनी रुचि और शक्ति हो तो राष्ट्रीय और जागतिक सेवा, उन्नतिके कार्यमें व्यतीत करना चाहिये। ६ से ९ बजेतक आत्मोद्धारके लिये यथारुचि शास्त्रविधिके अनुसार भजन, ध्यान, सत्संग, कथा-कीर्तन एवं शास्त्रके विचार और पठन-पाठन आदि ईश्वरोपासनामें ही बिताना चाहिये। ९ से १० बजेतक भोजन एवं स्वास्थ्य-रक्षाके निमित्त समय बिताना चाहिये और रात्रिके १० से प्रातः ४ बजेतक शयन करना चाहिये।

उपर्युक्त समय-विभागमें अपनी रुचि और सुविधाके अनुसार परिवर्तन भी किया जा सकता है; क्योंकि जाति, देश, काल, स्वभाव आदिकी विभिन्नताके कारण सबके लिये समयका विभाग एक-सा अनुकूल नहीं हो सकता।

अपने शरीर और कुटुम्बका निर्वाह जितने कम धनसे हो सके उतने ही कममें करना चाहिये। इसके लिये यथासाध्य बराबर चेष्टा रखनी चाहिये। इसके बाद बचे हुए द्रव्यका अंश अपने वर्णधर्मके अनुसार स्वार्थ त्यागकर शास्त्रानुकूल यथासाध्य देव, पितृ, मनुष्य और प्राणिमात्रके हितमें व्यय करना चाहिये।

यह बात विशेष खयाल रखनेकी है कि परमेश्वरके नामका जप और स्वरूपका ध्यान हर समय ही करनेके लिये चेष्टा करनी चाहिये अर्थात् परमेश्वरके नामका जप और स्वरूपका ध्यान नित्य-निरन्तर करते हुए ही परमेश्वरप्रीत्यर्थ शारीरिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, जागतिक एवं जीविकादिके भी सम्पूर्ण कर्म फलासक्तिको त्यागकर ही करने चाहिये।

भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। (इस प्रकार) मेरेमें अर्पण किये हुए मन और बुद्धिसे युक्त हुआ निःसन्देह मेरेको ही प्राप्त होगा।'

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

(गीता १८।५७)

'सब कर्मोंको मनसे मेरेमें अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्वबुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगका अवलम्बन करके निरन्तर मेरेमें चित्तवाला हो।'

इस प्रकार करनेसे मनुष्योंके कायिक, वाचिक, मानसिक, बौद्धिक आदि सम्पूर्ण कर्मोंका सुधार होकर उनका समय, श्रम और पैसे सार्थक हो जाते हैं एवं परमात्माकी दयासे अनायास ही परम शान्ति एवं परमानन्दकी अर्थात् परमपदकी प्राप्ति हो जाती है।

तत्त्व-विचार

एक सज्जन निम्नलिखित चार प्रश्न करते हैं—

प्रश्न १—केवल एक ईश्वरकी शरणसे ही मनुष्य परमपदको प्राप्त हो सकता है और ईश्वरकी शरणके समान दूसरा कोई सरल तथा सुगम मार्ग नहीं है तो फिर हठयोग, राजयोग, कर्मयोग और सांख्ययोग आदि नाना प्रकारके कठिन मार्ग क्यों बतलाये जाते हैं?

उत्तर १—ईश्वरकी शरणके समान दूसरा कोई सरल मार्ग नहीं है, यह सर्वथा सत्य है। इसीलिये भगवान्‌ने गीतामें मुक्तिके नाना मार्ग दिखलाकर अन्तमें सबका सार यही बतलाया है कि 'तू सम्पूर्ण धर्मों (के आश्रय)-को छोड़कर केवल एक मेरी शरण हो जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे छुड़ा दूँगा, शोक मत कर।'

महर्षि पतंजलिने भी योगदर्शनमें ईश्वर-शरणागतिको ही सबसे सहज उपाय बतलाया है।

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (१।२३)

'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।' (१।२९)

'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' (२।४५)

इत्यादि सूत्रोंद्वारा केवल ईश्वरप्रणिधानसे ही सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमपदकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

जिस समय विभीषण भगवान्‌की शरण आये हैं, उस समय स्वयं भगवान् सुग्रीवको कहते हैं।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥
(वा० रा० ६। १८। ३३)

'जो पुरुष एक बार भी मेरी शरण होकर प्रार्थना करता है कि मैं तेरा हूँ उसको मैं सम्पूर्ण भूतोंसे अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है'—

'मम पन सरनागत भयहारी'

महाभारतके अनुशासनपर्वमें युधिष्ठिरके प्रति पितामह भीष्मजीने कहा है—

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम्॥
(१४९। १३०)

'भगवान् वासुदेवके आश्रित और वासुदेवके परायण हुआ मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे पवित्र होकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

इसी प्रकार कठोपनिषद्‌में नचिकेताके प्रति भगवान् यमने भी कहा है—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥
(१। २। १७)

'इसका आश्रय यानी शरण श्रेष्ठ है, यह आश्रय सर्वोत्कृष्ट है, इस आश्रयको जानकर ब्रह्मलोकमें पूजित होता है।'

इस तरह श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण और शास्त्रोंमें जगह-जगह 'ईश्वर-शरण' की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। अतएव केवल एक परमेश्वरकी शरणसे ही मनुष्य परमपदको प्राप्त हो सकता है इसमें कोई संशय नहीं और यही सबकी अपेक्षा सुगम और सरल मार्ग भी है। परन्तु जैसे कोई उदरके अनेक रोगोंसे पीड़ित मूर्ख रोगी हरीतकीके गुण और प्रभावको न जाननेके कारण उसमें विश्वास नहीं करता, केवल हरीतकी मात्रके सेवनसे उदरके सब रोगोंकी निवृत्तिको असम्भव समझता है, अतः उसके लिये चतुर वैद्य हरीतकीको छोड़कर या अन्य प्रकारकी हरीतकी-मिश्रित अन्यान्य नाना प्रकारकी कठिन ओषधियोंके सेवनका प्रबन्ध करता है, वैसे ही ईश्वरके दया आदि गुण और प्रभावके रहस्यको न जाननेके कारण, जिनकी ईश्वरमें श्रद्धा और प्रेम कम है या बिलकुल ही प्रेम नहीं है अथवा जो केवल ईश्वरशरणमात्रसे मुक्ति नहीं मानते हैं, उनके लिये हठयोग, राजयोग, कर्मयोग और सांख्ययोग आदि नाना प्रकारके कठिन मार्ग बतलाये गये हैं?

प्रश्न २—स्त्री, पुत्र, धन, मकान एवं अन्य सब पदार्थ सांसारिक सुख देनेवाले हैं और पूर्वकृत सुकृतके फलरूपसे मिलते हैं, उनके क्षय और नाशमें ईश्वरकी दयाका दर्शन कैसे किया जाय?

उत्तर २—स्त्री, पुत्र, धन एवं मकान आदि सांसारिक वस्तु भोगकालमें सुखरूप दीखते हैं; किन्तु यदि विवेक-बुद्धिद्वारा देखा जाय तो सांसारिक सम्पूर्ण सुखदायक पदार्थ भी दुःखरूप ही हैं, परन्तु मोहके कारण अज्ञानी मनुष्य दुःखको ही सुख मानकर फँस जाते हैं।

जैसे मोहके कारण अज्ञानवश पतंग साक्षात् मृत्युरूप दीपशिखा, लालटैन, बिजलीकी रोशनी इत्यादिको सुख मानकर उसके संगसे जल मरते हैं, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य मोहवश साक्षात् मृत्युरूप स्त्री-धनादि सांसारिक विषय-भोगोंको सुख मानकर उनके संगसे बारंबार मृत्युके मुखमें पड़ते हैं। श्रुति कहती है—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥
(कठ० १। २। ६)

'जो मूढ धनके मोहसे मोहित होकर प्रमत्त हो रहा है, उसको परलोक नहीं भासता। यह लोक है, परलोक नहीं है इस प्रकार माननेवाला बारंबार मेरे वशमें होता है यानी मृत्युको प्राप्त होता है।'

कोई दयालु पुरुष पतंगोंको मोहवश मृत्युकी ओर जाते देख उनके दुःखसे द्रवितचित्त हो उनके हितके लिये दीपक, बिजली या लालटैन इत्यादिकी रोशनीको कम कर देता है या बुझा देता है, किन्तु इस रहस्यको न जाननेके कारण पतंग उलटे दुःखी होते हैं और समझते हैं कि हमारी मनोकामना अपूर्ण रह गयी तो भी रोशनीको बुझानेवाले पुरुषकी तो उनपर बड़ी भारी दया समझी जाती है। ऐसे ही कंचन, कामिनी आदि विषयभोगोंके क्षय और नाशमें भी परम दयालु परमात्माकी दयाका ही दर्शन करना चाहिये।

प्रश्न ३—सिंह, सर्प, चोर, डाकू, रोग एवं विष आदि सब वस्तुएँ दुःखदायक हैं और पूर्वकृत पापकर्मके फलरूपमें प्राप्त होती हैं, इन मानसिक और शारीरिक दुःखोंकी प्राप्ति और वृद्धिमें ईश्वरकी दयाका दर्शन कैसे करें?

उत्तर ३—सिंह, सर्प, चोर, डाकू, रोग एवं विष

आदिद्वारा शारीरिक और मानसिक सम्पूर्ण व्याधियोंकी प्राप्तिमें यानी शारीरिक और मानसिक सम्पूर्ण दुःखोंकी उत्पत्ति और वृद्धिमें भी विवेक-बुद्धिद्वारा विचार करनेपर ईश्वरकी दया पद-पदपर दिखलायी देती है।

(क) जैसे न्यायकारी दयालु राजा अपराध करनेवाली प्रजाको दण्ड भुगताकर पवित्र कर देता है वैसे ही परमदयालु परमात्मा पापी मनुष्यको शरीर और मनके द्वारा सांसारिक दुःख भुगताकर पवित्र कर देता है।

(ख) जैसे दयालु वैद्य कुपथ्य करनेवाले रोगीको कुपथ्यके परिणाममें प्रत्यक्ष दोष दिखाकर कुपथ्यसे बचा देता है, वैसे ही परमदयालु परमात्मा पापोंके परिणामरूप दुःखके समय भक्तके हृदयमें इस प्रकार प्रेरणा कर देता है कि यह दुःख तेरे पूर्वमें किये हुए पापोंका फल है। इससे उसकी पाप करनेकी वृत्ति क्षय होती जाती है।

(ग) विवेक-बुद्धिद्वारा दुःखोंको सहन करनेसे आत्मबलकी वृद्धि होती है, उसमें वीरता, धीरता, गम्भीरता और तितिक्षा आदि गुण बढ़ते हैं। सुन्दरदासजीने कहा है—

सुन्दर सोई सूरमा लोट-पोट हो जाय।
ओट कछू राखे नहीं चोट हृदयपर खाय॥

—इस प्रकार सहन करते-करते वे वीर पुरुष भगवत्की दयासे भगवत्-प्राप्तिके पात्र बन जाते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

(गीता २। १५)

'हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको यह इन्द्रियोंके विषय व्याकुल नहीं कर सकते, वह मोक्षके योग्य होता है।'

(घ) शारीरिक क्लेशकी प्राप्ति होनेपर उसको परम तप मानकर सहन करनेसे परम तपके फलकी प्राप्ति है, बृहदारण्यक उपनिषद्के ११वें ब्राह्मणमें इसका वर्णन है।

(ङ) भगवान् श्रीकृष्ण जब कुन्तीदेवीको वर देने लगे तब कुन्तीदेवीने कहा कि विपत्तिकालमें आप विशेष याद आते हैं, अतएव मैं आपसे सदा विपत्ति ही माँगती हूँ। किसी कविने भी कहा है—

सुखके माथे सिल पड़ो, जो नाम हृदयसे जाय।
बलिहारी वा दुःखकी जो पल पल राम जपाय॥

(च) शर-शय्यापर शयन करते हुए पितामह भीष्म कहते हैं कि 'मैंने जो कुछ भी पाप किये हैं वे सब रोगरूपसे प्राप्त हो जायँ और मुझे सदाके लिये उऋण बना दें, मेरा पुनर्जन्म न हो।'

अतएव मनुष्यको उचित है कि वह पद-पदपर ईश्वरकी दयाका दर्शन करते हुए दुःखोंको ईश्वरका प्रदान किया पुरस्कार समझकर आनन्दके साथ उन्हें स्वीकार करे।

प्रश्न ४—श्रीमद्भगवद्गीताके दूसरे अध्यायके १९वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि 'जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इस आत्माको मरनेवाला समझता है वे दोनों ही ठीक नहीं समझते, क्योंकि यह आत्मा न किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जा सकता है।' और २०वें श्लोकमें कहते हैं कि 'शरीरके नाश होनेपर आत्माका नाश नहीं होता।' इस कथनका असली आशय क्या है? क्योंकि इसके तात्पर्यको न समझनेवाले मूर्ख लोग इसका विपरीत अर्थ मान लेते हैं और कहते हैं कि श्रीभगवान् अर्जुनको इस प्रकारका उपदेश देकर जब मनुष्योंको ही मारनेके लिये उत्साहित करते हैं तो फिर पशु, पक्षियोंको मारनेमें हिंसा और पाप क्यों मानना चाहिये?

उत्तर ४—श्रीमद्भगवद्गीताके दूसरे अध्यायके श्लोक १९ एवं २० में भगवान्‌का तात्पर्य शोक, स्नेह और मोहके कारण क्षात्र-धर्मसे विचलित हुए अर्जुनके कल्याणके लिये विकार और क्रियारहित अविनाशी आत्माकी नित्यता और नाशवान् शरीरकी अनित्यता दिखलाकर तत्त्व-ज्ञानका उपदेश देना एवं दुष्टोंका संहार करनेके उद्देश्यसे अर्जुनको उत्साह दिलाकर धर्मयुक्त युद्धमें लगाना प्रतीत होता है।

यहाँ पशु, पक्षी आदि जीवोंके प्राण-वियोगके विषयमें भगवान्‌का कुछ भी कहना नहीं है। इन श्लोकोंसे मोहवश पशु-पक्षी आदि जीवोंके प्राण-वियोगका आशय निकालना सर्वथा अनुचित एवं प्रसंगविरुद्ध है। निरपराधी पशु-पक्षी आदि जीवोंके प्राण-वियोगको हिंसा न समझकर मोहसे या स्वार्थ-सिद्धिके लिये किसी जीवको मारना केवल मूर्खता ही नहीं, पाप है।

(क) विकार और क्रियारहित नित्य, अचल, चेतन, अव्यक्त, अव्यय, अज, अविनाशी आत्माका किंचिन्मात्र भी किसी प्रकार क्षय या नाश नहीं हो सकता और यह शरीर अन्तवन्त यानी क्षणभंगुर, अनित्य होनेके कारण अवश्यमेव ही नाशवान् है। इस प्रकार आत्मा और शरीरका तत्त्व भगवान्‌ने अर्जुनको इसलिये बतलाया कि वह युद्धमें अपने या प्रियजनोंके शरीर-नाशसे आत्माका नाश एवं आत्मामें विकार न मान ले। क्योंकि आत्मा न तो हनन-क्रियाका कर्म है और न कर्ता ही है।

(ख) नीति और धर्मसे सम्मत होनेके कारण क्षात्र-

धर्मके अनुसार युद्धमें मनुष्योंका मारना भी पाप नहीं है। बारह वर्षका वनवास एवं एक वर्षका अज्ञातवास भोगकर भी धरोहररूपसे रखा हुआ राज्य न मिलनेके कारण अर्जुनको दुर्योधनादिके साथ युद्ध करनेके लिये तैयार होना पड़ा था। इसी हेतु अर्जुनके लिये यह युद्ध धर्ममय बतलाया गया। नहीं तो क्रोध, लोभ या मोहके वशमें होकर मन, वाणी या शरीरसे किसी भी जीवको किंचिन्मात्र भी दुःख पहुँचाना पाप है, फिर प्राण-वियोगकी तो बात ही क्या है।

(ग) नीति और धर्मके विरुद्ध होनेके कारण दुर्योधनादिके लिये यह युद्ध पापमय था। क्योंकि वनवाससे आये हुए पाण्डवोंको धरोहररूपसे रखा हुआ उनका राज्य माँगनेसे समयपर न लौटाना महापाप था।

इतना ही नहीं, दुर्योधन आदि स्वार्थ और मोहके वशमें होकर पाण्डवोंके साथ बहुत अत्याचार किया करते थे। भीमको विष देना, पाण्डवोंको लाक्षाभवनमें जलाकर नाश करनेकी व्यवस्था करना, युधिष्ठिरको छलसे जुएमें हरा देना, निरपराधिनी सती द्रौपदीका भरी सभामें वस्त्र हरण करना एवं उसके केश पकड़कर खींचना, वनमें पाण्डवोंको क्लेश देनेके लिये जाना, बिना ही अपराध विराटकी गौओंको हरण करना, न्याययुक्त सन्धि न कर पापमय युद्धके लिये हठ करना, भगवान् श्रीकृष्णके समझानेपर भी न मानना एवं उनको कैद करनेके लिये कोशिश करना इत्यादि बहुत-से पापोंके कारण वे कुटुम्बसहित मारनेके योग्य समझे गये।

(घ) पाण्डव धर्मात्मा थे और दुर्योधनादि पापी थे। इसीलिये दलदलमें फँसी हुई गौकी तरह राज्य और प्रजाको दुष्टोंके हाथसे छुड़ाकर धर्मात्मा पाण्डवोंको सौंपने एवं उनका यश बढ़ानेके उद्देश्यसे भगवान्ने अर्जुनको निमित्त बनाकर संसारके हितके लिये कर्ण, दुर्योधनादिकोंका नाश करना उचित समझा। शास्त्रमें ऐसे आततायियोंको बिना ही विचारे मारनेका विधान है।

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः॥
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥

(वसिष्ठस्मृति, अ० ३। १९-२०)

'आग लगानेवाला, विष देनेवाला, बिना शस्त्रवालेपर शस्त्रसे प्रहार करनेवाला, धन हरनेवाला, खेत-मकान आदि छीननेवाला एवं स्त्रीको हरनेवाला—ये छः प्रकारके आततायी होते हैं। अनिष्ट करनेके लिये आते हुए आततायीको बिना ही विचारे मार देना चाहिये। आततायीको मारनेसे मारनेवालेको कोई भी दोष नहीं होता।' तो भी धर्म और दयाकी दृष्टिसे मारनेकी अपेक्षा समझाकर काम निकालना उत्तम है। इसलिये भगवान् श्रीकृष्णजीने दुर्योधनादि दुष्टोंको सन्धि करनेके लिये नाना प्रकारसे स्वयं समझानेकी चेष्टा की, किन्तु दुर्योधनने किसी प्रकार भी सन्धि करना स्वीकार नहीं किया। उसका मरण अवश्यम्भावी था इसीलिये भगवान्ने अर्जुन, भीम आदिके द्वारा उन सबको मरवाया। भगवान्के अवतार ग्रहण करनेमें भी यही कारण था। गीतामें भगवान्ने कहा भी है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(४। ८)

'साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करनेके लिये एवं धर्मके स्थापन करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ।' इसीलिये दुष्टोंका संहार करके प्रजाके हितके लिये धर्मात्मा युधिष्ठिरके हाथमें राज्य सौंपकर भगवान्ने धर्मकी स्थापना की एवं वेदव्यासादि ऋषियोंद्वारा और पितामह भीष्मद्वारा उपदेश दिलाकर तथा स्वयं उपदेश देकर प्रिय भक्त युधिष्ठिर और अर्जुन आदिका उद्धार किया।

(ङ) क्षत्रियोंके लिये नीति और धर्मयुक्त युद्ध करना परम धर्म एवं स्वार्थ-बुद्धिसे भी लाभप्रद कहा है—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥

(गीता २। ३१)

'अपने धर्मको देखकर भी तू भय करनेको योग्य नहीं है; क्योंकि धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारक कर्तव्य क्षत्रियके लिये नहीं है।'

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

(गीता २। ३७)

'तू या तो मरकर स्वर्गको प्राप्त होगा अथवा जीतकर पृथ्वीको भोगेगा। इससे हे अर्जुन! युद्धके लिये निश्चयवाला होकर खड़ा हो।'

स्वार्थबुद्धिको एवं अहंकारको सर्वथा त्यागकर न्यायसे किसीका मारना तो वास्तवमें मारना ही नहीं है।

भगवान् कहते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८। १७)

'जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव

नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है।' जैसे अग्नि, वायु और जलके द्वारा अनायास किसीके मर जानेपर उन्हें कोई पाप नहीं होता, इसी प्रकार कर्तृत्वाभिमानसे रहित निःस्वार्थी पुरुष पापका भागी नहीं होता। देहाभिमान और स्वार्थसे रहित केवल संसारके हितके लिये प्रारब्धवश जिसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं, उस पुरुषके शरीर और इन्द्रियोंद्वारा यदि किसी प्राणीकी हिंसा होती हुई लोकदृष्टिमें देखी जाय तो भी वह वास्तवमें हिंसा नहीं है। क्योंकि आसक्ति, स्वार्थ और अहंकारके न होनेसे किसी प्राणीकी हिंसा हो नहीं सकती और बिना कर्तृत्वाभिमानके किया हुआ कर्म वास्तवमें अकर्म ही है। इसलिये वह पुरुष पापसे नहीं बँधता।

अमूल्य शिक्षा

अपने आत्माके समान सब जगह सुख-दुःखको समान देखना तथा सब जगह आत्माको परमेश्वरमें एकीभावसे प्रत्यक्षकी भाँति देखना बहुत ऊँचा ज्ञान है।

चिन्तनमात्रका अभाव करते-करते अभाव करनेवाली वृत्ति भी शान्त हो जाय, कोई भी स्फुरणा शेष न रहे तथा एक अर्थमात्र वस्तु ही शेष रह जाय, यह समाधिका लक्षण है।

श्रीनारायणदेवके प्रेममें ऐसी निमग्नता हो कि शरीर और संसारकी सुधि ही न रहे, यह बहुत ऊँची भक्ति है।

नेति-नेतिके अभ्याससे 'नेति-नेति' रूप निषेध करनेवाले संस्कारकी भी शान्त आत्मामें या परमात्मामें शान्त हो जानेके समान ध्यानकी ऊँची स्थिति और क्या होगी?

परमेश्वरका हर समय स्मरण न करना और उसका गुणानुवाद सुननेके लिये समय न मिलना बहुत बड़े शोकका विषय है।

मनुष्यमें दोष देखकर उससे घृणा या द्वेष नहीं करना चाहिये। घृणा या द्वेष करना हो तो मनुष्यके अंदर रहनेवाले दोषरूपी विकारोंसे करना चाहिये। जैसे किसी मनुष्यके प्लेग हो जानेपर उसके घरवाले प्लेगके भयसे उसके पास जाना नहीं चाहते, परन्तु उसको प्लेगकी बीमारीसे बचाना अवश्य चाहते हैं, इसके लिये अपनेको बचाते हुए यथासाध्य चेष्टा भी पूरी तरहसे करते हैं, क्योंकि वह उनका प्यारा है। इसी प्रकार जिस मनुष्यमें चोरी, जारी आदि दोषरूपी रोग हों, उसको अपना प्यारा बन्धु समझकर उसके साथ घृणा या द्वेष न कर उसके रोगसे बचते हुए उसे रोगमुक्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

भगवान् बड़े ही सुहृद् और दयालु हैं, वह बिना ही कारण हित करनेवाले और अपने प्रेमीको प्राणोंके समान प्रिय समझनेवाले हैं। जो मनुष्य इस तत्त्वको जान जाता है, उसको भगवान्‌के दर्शन बिना एक पलके लिये भी कल नहीं पड़ती। भगवान् भी अपने भक्तके लिये सब कुछ छोड़ सकते हैं, पर उस प्रेमी भक्तको एक क्षण भी नहीं त्याग सकते।

मृत्युको हर समय याद रखना और समस्त सांसारिक पदार्थोंको तथा शरीरको क्षणभंगुर समझना चाहिये। साथ ही भगवान्‌के नामका जप और ध्यानका बहुत तेज अभ्यास करना चाहिये। जो ऐसा करता है, वह परिणाममें परम आनन्दको प्राप्त होता है।

मनुष्य-जन्म सिर्फ पेट भरनेके लिये ही नहीं मिला है। कीट, पतंग, कुत्ते, सूअर और गदहे भी पेट भरनेके लिये चेष्टा करते रहते हैं। यदि उन्हींकी भाँति जन्म बिताया तो मनुष्य-जीवन व्यर्थ है। जिनकी शरीर और संसार अर्थात् क्षणभंगुर नाशवान् जडवर्गमें सत्ता नहीं है वही जीवन्मुक्त हैं, उन्हींका मनुष्य-जन्म सफल है।

जो समय भगवद्भजनके बिना जाता है वह व्यर्थ जाता है। जो मनुष्य समयकी कीमत समझता है, वह एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खो सकता। भजनसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, तब शरीर और संसारमें वासना और आसक्ति दूर होती है, इसके बाद संसारकी सत्ता मिट जाती है। एक परमात्मसत्ता ही रह जाती है।

संसार स्वप्नवत् है। मृगतृष्णाके जलके समान है, इस प्रकार समझकर उसमें आसक्तिके अभावका नाम वैराग्य है। वैराग्यके बिना संसारसे मन नहीं हटता और इससे मन हटे बिना उसका परमात्मामें लगना बहुत ही कठिन है, अतएव संसारकी स्थितिपर विचारकर इसके असली स्वरूपको समझना और वैराग्यको बढ़ाना चाहिये।

भगवान् हर जगह हाजिर हैं; परन्तु अपनी मायासे छिपे हुए हैं। बिना भजनके न तो कोई उनको जान सकता है और न विश्वास कर सकता है। भजनसे हृदयके स्वच्छ होनेपर ही भगवान्‌की पहचान होती है। भगवान् प्रत्यक्ष हैं, परन्तु लोग उन्हें मायाके पर्देके कारण देख नहीं पाते।

शरीरसे प्रेम हटाना चाहिये। एक दिन तो इस शरीरको छोड़ना ही पड़ेगा, फिर इसमें प्रेम करके मोहमें पड़ना कोई बुद्धिमानी नहीं है। समय बीत रहा है, बीता हुआ समय

फिर नहीं मिलता, इससे एक क्षण भी व्यर्थ न गँवाकर शरीर तथा शरीरके भोगोंसे प्रेम हटाकर परमेश्वरमें प्रेम करना चाहिये।

जब निरन्तर भजन होने लगेगा, तब आप ही निरन्तर ध्यान होगा। भजन ध्यानका आधार है। अतएव भजनको खूब बढ़ाना चाहिये। भजनके सिवा संसारमें उद्धारका और कोई सरल उपाय नहीं है। भजनको बहुत ही कीमती चीज समझना चाहिये। जबतक मनुष्य भजनको बहुत दामी नहीं समझता, तबतक उससे निरन्तर भजन होना कठिन है। रुपये, भोग, शरीर और जो कुछ भी हैं, भगवान्‌का भजन इन सभीसे अत्यन्त उत्तम है। यह दृढ़ धारणा होनेसे ही निरन्तर भजन हो सकता है।

सर्वोपयोगी प्रश्न

एक सज्जनने कुछ उपयोगी प्रश्न किये हैं, यहाँ वे उत्तरसहित प्रकाशित किये जाते हैं—

(१) **प्रश्न**—सच्चा वैराग्य किस प्रकार हो?

उत्तर—संसारके सम्पूर्ण पदार्थ क्षणभंगुर और नाशवान् होनेके कारण दुःखप्रद और अनित्य हैं, इस रहस्यको सच्चे वैराग्यवान् पुरुषोंके संगसे समझनेपर सच्चा वैराग्य हो सकता है।

(२) **प्रश्न**—ईश्वर-प्राप्ति पुरुषार्थ और भगवत्कृपाद्वारा होती है, वह पुरुषार्थ किस प्रकार किया जाय और भगवत्कृपा किस तरह समझी जाय?

उत्तर—सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन भगवान्‌की सब प्रकारसे शरण होना ही असली पुरुषार्थ है। अतएव भगवान्‌की शरण होनेके लिये वैराग्ययुक्त चित्तसे तत्पर होना चाहिये। भगवान्‌के नामका जप, उनके स्वरूपका ध्यान, उनकी आज्ञाका पालन और सुख-दुःखोंकी प्राप्तिके साधनोंमें एवं सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें उन परमात्माकी कृपाका पद-पदपर अनुभव करनेका नाम शरण है। और उनकी शरण होनेसे ही उनकी कृपाका रहस्य समझमें आ सकता है।

(३) **प्रश्न**—ईश्वरके दर्शन और प्राप्तिका सहज उपाय क्या है?

उत्तर—अनन्य-भक्ति ही सहज उपाय है। भगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गीता ११। ५४)

'हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन! अनन्य-भक्तिके द्वारा तो मैं इस प्रकार प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ, तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ तथा एकीभावसे प्राप्त भी किया जा सकता हूँ।'

अनन्य-भक्तिका स्वरूप यह है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
(गीता ११। ५५)

'हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे लिये ही कर्म करता है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिसे रहित है और सम्पूर्ण प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह (अनन्य भक्तिवाला पुरुष) मुझको (ही) प्राप्त होता है।'

सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति तो ज्ञानयोगद्वारा भी हो सकती है। परन्तु सगुण रूपके साक्षात् दर्शन केवल ईश्वरकी अनन्य-भक्तिसे ही होते हैं। अनन्य-भक्ति और अनन्य-शरण वस्तुतः एक ही है। परन्तु व्याख्या करते समय शरणकी व्याख्यामें अनन्य-भक्तिका और अनन्य-भक्तिकी व्याख्यामें अनन्य-शरणका वर्णन हुआ करता है। जैसे उपर्युक्त श्लोकके '**मत्परमः**' शब्दसे भगवत्-शरणका कथन किया गया है, वैसे ही गीता अध्याय ९ के ३४ वें श्लोकमें शरणके अन्तर्गत अनन्य-भक्तिका कथन आया है। गीता अध्याय ९ के ३२वें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—स्त्री, वैश्य, शूद्र और पापयोनिवाले (अन्त्यज) भी मेरी शरण होकर परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

इस उपदेशके बाद आगे चलकर भगवान्‌ने ३४ वें श्लोकमें शरणका स्वरूप इस प्रकार बतलाया—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त हो, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझे प्रणाम कर। इस प्रकार मेरे शरण हुआ (तू) आत्माको मुझमें एकीभाव करके मुझको ही प्राप्त होगा।'

यों तो इस सारे ही श्लोकमें 'शरण' के नामसे अनन्य-भक्तिका ही वर्णन है, परंतु '**मद्भक्तो भव**' शब्दसे स्पष्टरूपमें भक्तिका कथन है।

(४) **प्रश्न**—मनुष्य ईश्वरकी जरूरत क्यों नहीं समझता? और उस जरूरतके समझनेका उपाय क्या है?

उत्तर—ईश्वरके स्वरूप, रहस्य, स्वभाव, गुण, प्रभाव और तत्त्वको न जाननेके कारण ही ईश्वरकी जरूरत मनुष्यकी समझमें नहीं आती। इस अज्ञानके नाश होते ही जरूरत समझमें आ जाती है। ईश्वरके

उपर्युक्त स्वरूपादिको यथार्थतः जाननेवाले पुरुषोंके संगसे ही इस अज्ञानका नाश हो सकता है।

(५) **प्रश्न**—

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना।
ताहि भजनु तजि भाव न आना॥

भगवान्‌का ऐसा कौन-सा स्वभाव है जिसके जान लेनेपर भजन किये बिना न रहा जाय?

उत्तर—भगवान् पुरुषोत्तम बिना ही कारण सबपर दया और प्रेम करनेवाले परम सुहृद् हैं, शरणागतवत्सल हैं एवं दीनबन्धु हैं इत्यादि अनेकों गुणोंसे युक्त उनके स्वभावको तत्त्वसे जान लेनेपर मनुष्य उनका भजन किये बिना नहीं रह सकता।

श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

'हे भारत! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मुझको पुरुषोत्तम जानता है वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(गीता ५। २९)

'मुझको यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित प्रेमी तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

(गीता ४। ११)

'हे अर्जुन! जो मुझको जैसे भजते हैं, मैं (भी) उनको वैसे ही भजता हूँ। (इस रहस्यको जानकर ही) बुद्धिमान् मनुष्यगण सब प्रकारसे मेरे मार्गके अनुसार बर्तते हैं।'

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा० रा० यु० १८। ३३)

'मेरा यह व्रत है कि जो एक बार भी मेरी शरण आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मुझसे अभय चाहता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे निर्भय कर देता हूँ।'

(६) **प्रश्न**—हम बड़ी-बड़ी बातें करना ही जानते हैं, साधन नहीं करते, ऐसा क्यों होता है?

उत्तर—बुरी आदतके कारण ऐसा होता है। सत्पुरुषोंके और उत्तम साधकोंके संगसे एवं शास्त्रके विचारसे यह आदत नष्ट हो सकती है।

(७) **प्रश्न**—सच्चे महात्माओंके प्रति भी कभी-कभी अविश्वास होनेमें क्या कारण है?

उत्तर—नास्तिक पुरुषोंका संग और पूर्वकृत पापोंके संस्कारोंका उदय; इन दो कारणोंसे सच्चे महात्माओंके प्रति भी कभी-कभी अविश्वास उत्पन्न हो जाता है। अतएव विचारके द्वारा नास्तिक पुरुषोंके संगका त्याग और कुसंस्कारोंका परिहार करना चाहिये। कुसंस्कारोंके नाशके लिये ईश्वरसे प्रार्थना भी करनी चाहिये।

(८) **प्रश्न**—यदि हम पुरुषार्थ नहीं करें, केवल भगवत्कृपा समझते रहें तो क्या उद्धार नहीं हो सकता?

उत्तर—भगवत्कृपाके समझनेका यह दुष्परिणाम नहीं हो सकता कि जिसमें समझनेवाला भगवत्‌के अनुकूल पुरुषार्थसे रहित हो जाय। क्योंकि भगवान्‌की शरण होना ही असली पुरुषार्थ है और शरण होनेसे ही मनुष्य भगवान्‌की कृपाके रहस्यको समझ सकता है। फिर उस कृपाके रहस्यको समझनेवाला पुरुष पुरुषार्थहीन कैसे हो सकता है?

(९) **प्रश्न**—भगवान् हर जगह मौजूद हैं, हमारी प्रार्थना दयार्द्र हृदयसे सुनते हैं और व्याकुल होनेपर प्रकट होकर दर्शन भी दे सकते हैं, ऐसा दृढ़ विश्वास कैसे हो?

उत्तर—भगवान्‌के गुण, प्रेम, प्रभाव, रहस्य, लीला और तत्त्वके अमृतमय वचन उनके तत्त्वको जाननेवाले भक्तोंद्वारा पुनः-पुनः श्रवण करके मनन करनेसे एवं उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेसे दृढ़ विश्वास हो सकता है।

(१०) **प्रश्न**—कोई अपनेको नीचा समझता है तो वह नीचा हो जाता है, किन्तु गोसाईं तुलसीदासजी तो अपनेको दीन समझकर ही परमपदको पा गये। यह कैसे हुआ?

उत्तर—नीचा कर्म करनेसे ही मनुष्य नीचा होता है, अपनेको दीन समझनेसे नहीं। परमेश्वरके सम्मुख दीनभावसे प्रार्थना करनेवाला तो नीच भी परमपदको प्राप्त हो जाता है। फिर गोस्वामी तुलसीदासजी परमपदको प्राप्त हुए, इसमें आश्चर्य ही क्या है? जो सच्चे हृदयसे अपनेको सबसे लघु, दीन समझता है, उसीका प्रभु उद्धार करते हैं क्योंकि प्रभुका नाम दीनबन्धु बतलाया गया है। दूसरोंसे अपनेको श्रेष्ठ माननेवाला तो नीचे गिरता है। क्योंकि उसमें अहंकार-बुद्धि होती है और अहंकार अज्ञानजनित होनेसे पतनका कारण है। दूसरोंसे अपनेको श्रेष्ठ

मानना ही मूढ़ता है। दीन मानना तो गुण है। अपनेको नीचा समझनेसे कोई नीचा नहीं होता, बल्कि वह तो सबसे ऊँचा समझा जाता है।

(११) **प्रश्न**—ईश्वरके प्रति सच्ची परायणता कैसे **हो**?

उत्तर—ईश्वरपरायण भक्तोंके संग और उनकी आज्ञाका पालन करनेसे हो सकती है?

(१२) **प्रश्न**—भगवान्को यन्त्री और अपनेको यन्त्र कैसे बनाया जा सकता है?

उत्तर—जो भगवान्के यन्त्र बन चुके हैं अर्थात् शरण हो चुके हैं, उन पुरुषोंके संग और कथनानुसार साधनसे बनाया जा सकता है।

(१३) **प्रश्न**—भगवान्के सच्चे भक्तोंके दर्शन कैसे हो सकते हैं?

उत्तर—पूर्वसंचित उत्तम कर्मोंके समुदायसे, भगवान्के भक्तोंमें सच्ची श्रद्धा होनेसे एवं भगवान् और भगवद्भक्तोंकी कृपासे सच्चे भक्तोंके दर्शन होते हैं।

परमार्थ-प्रश्नोत्तरी

प्रश्न—श्रीकृष्ण तथा अन्य अवतारोंकी भक्तिसे मुक्ति मिल सकती है या नहीं और मुक्तिके लिये ज्ञान तथा निर्गुण-निराकारकी उपासनाके अतिरिक्त अन्य क्या साधन हैं?

उत्तर—हाँ, श्रीकृष्णादि अवतारोंकी भक्तिसे मुक्ति मिल सकती है। ज्ञानके अतिरिक्त मुक्ति प्राप्त करनेके दो साधन और हैं। सगुण परमात्माकी उपासना और निष्काम कर्म। इन्हींको लक्ष्य करके भगवान्ने गीतामें कहा है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(३। ३)

'हे निष्पाप अर्जुन! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है, ज्ञानियोंकी ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्काम कर्मयोगसे।'

यहाँ कर्मयोगमें निष्काम कर्म और भक्ति (सगुणोपासना) दोनों ही अन्तर्गत हैं। सगुणोपासनासे प्रसन्न होकर भगवान् अपनी कृपासे भक्तोंको तत्त्वज्ञान दे देते हैं जिसके द्वारा मनुष्य भगवत्तत्त्वमें प्रवेश कर जाता है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ कि जिससे वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं।'

यद्यपि वेद-शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है कि '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**' अर्थात् ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती, तथापि भगवान्की कृपासे भक्तको वह ज्ञान सहजहीमें प्राप्त हो जाता है, जैसा कि ऊपर कहा गया है।

इसलिये भक्तिसे मुक्ति मिल सकती है, यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। भक्त तो ऐसा मानते हैं कि मुक्ति भगवान्के अनन्य प्रेमियोंके चरणोंमें लोटती है यानी उनके चरणोंकी सेवासे मिल सकती है। किंतु वे उसकी ओर भूलकर भी नहीं ताकते, उसकी इच्छा करना तो दूर रहा। भोग और मुक्तिकी स्पृहाको भक्तोंने पिशाची बताया है—

'**भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।**'

फिर वे उसकी इच्छा क्यों करने लगे?

स्वामी विवेकानन्दने यह कहा है कि भक्ति करनेसे भगवान् ज्ञान देते हैं तब मुक्ति होती है, यह ठीक ही है। परन्तु भक्ति करनेवालोंको भगवान् ज्ञान ही देते हैं, यह बात नहीं है। प्रेम चाहनेवालेको वे प्रेमदान देते हैं और जो उनसे कुछ भी नहीं चाहता उसके तो वे ऋणी बन जाते हैं। भगवान्के प्रेमी भक्त मुक्तिकी अपेक्षा भगवान्के समीप रहना अधिक पसंद करते हैं!

मुक्ति दो प्रकारकी होती है—(१) धाम-मुक्ति अर्थात् साकार भगवान्के धामकी प्राप्ति और (२) कैवल्य-मुक्ति अर्थात् निर्गुण-निराकार ब्रह्ममें लय हो जाना अथवा भगवत्तत्त्वमें प्रवेश कर जाना। इनमेंसे दूसरे प्रकारकी मुक्ति तो ज्ञानसे ही होती है। भक्ति करनेवालोंको भी यह मुक्ति '**ददामि बुद्धियोगं तम्**' इस वाक्यके अनुसार भगवत्प्रसादसे ज्ञान प्राप्ति होकर होती है। '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**' इत्यादि वचन इसी मुक्तिको लक्ष्यमें रखकर कहे गये हैं। पहली अर्थात् धाम-मुक्ति जिसके सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—इस प्रकार चार भेद शास्त्रोंमें कहे गये हैं—यह भेदभावकी मुक्ति प्रेमा भक्तिसे ही मिलती है। ज्ञान अर्थात् अभेदोपासनासे नहीं मिलती। अभेदोपासनासे ब्रह्ममें लय हो जानेवाली मुक्ति ही मिलती है। भेदरूपसे भगवान्की भक्ति करनेवाला यदि चाहे तो उसे भगवान्की कृपासे कैवल्य-मुक्ति भी मिल सकती है, किंतु अभेदोपासना करनेवालोंको धाम-मुक्ति नहीं मिल सकती। यही भक्तिकी विशेषता है।

प्रश्न—श्रीकृष्णादि अवतार-विग्रह मायिक हैं अथवा अमायिक? उनका महत्त्व निर्गुण-निराकार ब्रह्मके समान ही है अथवा कुछ न्यूनाधिक?

उत्तर—भगवान्‌के अवतार-विग्रह मायाके दिव्य स्वरूपसे प्रकट होनेके कारण मायिक होनेपर भी अमायिक ही हैं। इसीलिये उस मायाको योगमाया अथवा भगवान्‌की लीला इत्यादि नामोंसे निर्दिष्ट किया गया है। अब रही परमात्माके निर्गुण और सगुण स्वरूपके तारतम्यकी बात, सो निर्गुण ब्रह्मके स्वरूपका तो वर्णन ही नहीं हो सकता, वह तो मन, वाणी और बुद्धिसे अगोचर, अनिर्वचनीय है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'

'न तत्र बुद्धिर्गच्छति न वाग्गच्छति...'

जो कुछ वर्णन होता है वह सगुण परमात्माका ही होता है। सगुण ब्रह्मके दो भेद हैं—साकार और निराकार। प्रभुके जितने भी विशेषण पाये जाते हैं सभी उनके आभूषण रूप हैं, सभी उनके स्वरूपको सजानेवाले हैं, उनकी ओर जीवको आकर्षण करनेवाले हैं। यद्यपि वास्तवमें उनके स्वरूपका वर्णन हो ही नहीं सकता, फिर भी जो कुछ किया जाता है सभी कल्याणकारक है। इसलिये प्रभुके निराकार और साकार दोनों ही विशेषण अतिशय महत्त्ववाले हैं, किसको छोटा और किसको बड़ा कहा जाय? दोनों ही विशेषणोंसे विशिष्ट जो धर्मी है वह एक है, आवश्यकतानुसार नटकी भाँति अपनी योगमायासे स्वरूप बदलता रहता है। प्रधान वस्तु धर्मी है और वह एक ही है।

प्रश्न—गीताप्रेसकी टीकामें श्रीमद्भगवद्गीताके ७वें अध्यायके २४ वें श्लोककी व्याख्यासे यह ध्वनि निकलती है कि साकार विग्रह मायिक है, असली स्वरूप नहीं है?

उत्तर—यहाँ मायिक शब्दका तात्पर्य क्या है—यह भलीभाँति हृदयंगम कर लेना चाहिये। माया कहते हैं ईश्वरकी प्रकृति अथवा शक्तिको और वह शक्ति शक्तिमान् अर्थात् ईश्वरसे भिन्न नहीं है। जैसे अग्नि अपनी दाहिका शक्तिसे भिन्न नहीं है। ईश्वर अपनी शक्तिसे ही प्रकट होते हैं और अपनी शक्तिसे ही अन्तर्हित हो जाते हैं अर्थात् छिप जाते हैं। यही उनकी लीला है और वह अत्यन्त रहस्यमयी है। यही भगवान्‌की ज्ञानमयी विशुद्ध दिव्य माया है और वह अलौकिक है, इसलिये भगवान्‌की लीलासे आविर्भूत हुए साकार विग्रहको नकली नहीं मानना चाहिये।

प्रश्न—**'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'** इस भगवद्वाक्यका उपर्युक्त सिद्धान्तसे विरोध पड़ता है?

उत्तर—विरोध नहीं है। उक्त श्लोकसे तो उलटे इस सिद्धान्तकी पुष्टि होती है, **'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'** का यह अर्थ नहीं है कि ब्रह्म मेरे आधारपर स्थित है, अर्थात् मैं आधार हूँ और ब्रह्म आधेय है। सगुण-साकार और निर्गुण-निराकार कोई दो तत्त्व नहीं हैं कि उनमें आधाराधेयभाव अथवा व्याप्य-व्यापकभाव-सम्बन्ध घट सके। दोनों एक ही तत्त्वके दो स्वरूप हैं। स्वरूपगत भेद होते हुए भी वस्तुतः एक ही है और इसी एकतामें उपर्युक्त श्लोकका तात्पर्य है। **'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'** का अर्थ यही है कि जिसे ब्रह्म कहते हैं वह मैं ही हूँ। मुझमें और ब्रह्ममें कोई भेद नहीं है।

प्रश्न—शिव और विष्णुको मोह क्यों हुआ?

उत्तर—शैवपुराणोंमें विष्णु और वैष्णवपुराणोंमें शिवके मोहका जो वर्णन मिलता है उसके भी रहस्यको समझना चाहिये। भगवान्‌के भिन्न-भिन्न साकार विग्रहोंकी महत्ता सिद्ध करनेके लिये ही भिन्न-भिन्न पुराणोंकी सृष्टि हुई है। भगवान्‌के सभी विग्रह महत्त्ववाले हैं और भिन्न होते हुए भी वस्तुतः एक ही हैं। सभी पुराणोंमें ग्रन्थकारका लक्ष्य तत्तदिष्टके रूपमें ब्रह्मकी ओर ही है। शिवपुराणके शिव, विष्णुपुराणके विष्णु और ब्रह्मवैवर्त तथा भागवतपुराणके कृष्ण एक ही हैं अर्थात् शुद्ध विज्ञानानन्द ब्रह्म ही हैं। वही ब्रह्मा, विष्णु और शिवके रूपमें प्रकट होकर संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारका कार्य करते हैं। यह सब उनकी लीला है। लीलासे की हुई उनकी क्रियाओंमें दोष नहीं है, भूलसे दोष-सा प्रतीत होता है। क्योंकि ईश्वरकी लीलाओंका रहस्य प्रत्येक साधारण बुद्धिवाले मनुष्यके लिये दुर्विज्ञेय है। वास्तवमें उन्हें मोह नहीं हुआ।

प्रश्न—श्रीमद्भगवद्गीतामें जहाँ-जहाँ अहम्, माम्, मम, मे, मया, मयि इत्यादि उत्तम पुरुषके प्रयोग आये हैं वे सब आत्माके वाचक हैं, भगवान् श्रीकृष्णके नहीं।

उत्तर—यह युक्तिसंगत नहीं है। **'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'** इत्यादि श्लोकोंमें आये हुए, अहम्, माम्, मम, मे, मया, मयि आदिका यह अभिप्राय समझना चाहिये कि सबका आत्मा मैं ही हूँ अर्थात् मैं जो श्रीकृष्णरूपसे तुम्हारे सामने खड़ा हूँ वही निराकाररूपसे सबमें व्याप्त हूँ—सबके हृदयमें स्थित हूँ (गीता १५। १५; १८। ६१)। यहाँ आत्माकी प्रधानता नहीं अपितु परमात्मा श्रीकृष्णकी प्रधानता है। आपके कथनानुसार आत्माकी प्रधानता कदापि इष्ट नहीं है।

प्रश्न—परमात्माका सर्वोत्कृष्ट साकार विग्रह कौन-सा है?

उत्तर—इस सम्बन्धमें सिद्धान्त तो यह है कि भगवान्‌के सभी विग्रह दिव्य एवं श्रेष्ठ हैं, किन्तु आप यदि चतुर्भुजरूपको श्रेष्ठ मानें तो मान सकते हैं इसमें कोई आपत्ति नहीं है। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि

भगवान् श्रीकृष्णके द्विभुज श्यामसुन्दर रूपका उपासक उसी रूपको सर्वोत्तम मान सकता है। जिसके लिये शास्त्रानुकूल जो रूप रुचिकर हो और जिसको वह सर्वश्रेष्ठ मानकर उपासना करता है उसके लिये वही सबसे बढ़कर है। शास्त्रोंमें जहाँ जिस रूपका प्रसंग होता है, भक्तोंकी श्रद्धा और रुचि बढ़ानेके लिये वहाँ उसीको बड़प्पन दिया जाता है। यह नियम युक्तिसंगत है और एकांगी उपासनाके लिये इसकी आवश्यकता है।

प्रश्न—भगवान्‌का चतुर्भुजरूप देखनेके लिये दिव्यचक्षुकी आवश्यकता है। द्विभुजरूपके लिये उसकी जरूरत नहीं?

उत्तर—भगवान्‌के दिव्य चतुर्भुजरूपके दर्शन उनकी दयासे इन चक्षुओंसे भी हो सकते हैं। बालक ध्रुवको इन्हीं नेत्रोंसे भगवान्‌के दर्शन हुए थे। चतुर्भुजरूपका ही क्यों, भगवान्‌के सभी दिव्य विग्रहोंके दर्शन उनकी दयासे चर्मदृष्टिसे भी हो सकते हैं। हाँ, जिस चर्मदृष्टिसे भगवान्‌के दर्शन होते हैं उसको भी पवित्र होनेके नाते हम दिव्य कह सकते हैं।

प्रश्न—अनधिकारियोंको भी दर्शन हो सकते हैं या नहीं? दर्शन होनेपर भी क्या पाप रह सकते हैं?

उत्तर—जिस समय भगवान् पृथ्वीपर अवतार लेते हैं उस समय अधिकारी, अनधिकारी जो कोई भी उनके सम्मुख अथवा सम्पर्कमें आ जाते हैं उन सबको भगवान्‌के दर्शन अनायास ही हो जाते हैं; किन्तु भगवान्‌को बिना पहचाने, उनके तत्त्वको बिना समझे जो उनके दर्शन होते हैं वे विशेष मूल्यवान् नहीं कहे जा सकते और न वे मुक्तिदायक ही होते हैं। दर्शन हो जानेपर भी प्रभुको पहचाननेसे ही मनुष्यके सारे पाप छूटते हैं और तभी वह परमपदका अधिकारी बनता है। गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(४। ९)

'हे अर्जुन! मेरा वह जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे जानता है, वह शरीरको त्याग कर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता है, किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है।'

भगवान् श्रीराम-कृष्णादिरूपसे जिस समय पृथ्वीपर विराजते थे उस समय जिन लोगोंको उनके दर्शन हुए वे सभी धन्य थे, किन्तु उनमेंसे सभी मुक्त हो गये हों, यह बात नहीं कही जा सकती; क्योंकि वे सभी भगवान्‌को भगवान्‌के रूपमें नहीं देखते थे।

प्रश्न—भगवद्दर्शनके बाद जो दशा ध्रुवकी हुई वह उन राक्षसों आदिकी क्यों नहीं होती थी जो भगवान्‌के सम्मुख आकर उनसे लोहा लेते थे?

उत्तर—वे राक्षसादि भगवान्‌के सम्मुख आनेपर भी उन्हें भगवान्‌के रूपमें पहचानते नहीं थे, इसीसे भगवद्दर्शन होनेपर भी उनकी ध्रुवकी-सी दशा नहीं होती थी। हाँ, जो लोग भगवान्‌के हाथसे मारे जाते थे वे उन्हें न पहचाननेपर भी मुक्त हो जाते थे। यह भगवान्‌की विशेष दयालुता है। पारसका दृष्टान्त इसीमें घटाना चाहिये। जैसे पारसके स्पर्शसे लोहा भी सोना हो जाता है उसी प्रकार भगवान्‌के हाथसे जिनकी मृत्यु होती थी वे महान्-से-महान् पापी होनेपर भी अथवा भगवान्‌को भगवान् न जाननेपर भी मुक्त हो जाते थे। जैसे विष देनेवाली पूतनाको भी भगवान्‌ने उत्तम गति दी। यह तो दयामय प्रभुकी अतिशय दयालुता एवं अनुपम उदारताका ही परिचायक है। मरते समय जिस किसी भावसे भी भगवान्‌का स्पर्श हो जानेपर जीवकी मुक्ति हो जाती है, यह भगवान्‌का विशेष कानून है और इसके अंदर उनकी अतिशय दया भरी हुई है। अन्त समयमें भगवान्‌के नाम-स्मरणसे ही जब मनुष्यका कल्याण हो जाता है तब उनके साक्षात् दर्शन अथवा स्पर्श हो जानेपर यदि किसीकी मुक्ति हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

भगवान्‌की शरण होने पर तो पापी-से-पापी भी शाश्वत सुखके अधिकारी हो जाते हैं। वास्तवमें पारसका दृष्टान्त भी भगवान्‌के महत्त्वको समझानेके लिये पर्याप्त नहीं है; क्योंकि पारसके साथ लोहेका स्पर्श होनेसे ही वह सोना बनाता है, दर्शनमात्रसे नहीं—किन्तु भगवान्‌को भगवान्‌के रूपमें देखनेसे तो मनुष्य कल्याणका भाजन हो जाता है। इसके अतिरिक्त पारस तो लोहेको सोना ही बनाता है, पारस नहीं बना सकता, किन्तु भगवान्‌को भगवान्‌के रूपमें देख लेनेपर मनुष्य भगवद्रूप ही हो जाता है। वह दूसरोंको भी भगवद्रूप बना सकता है।

भगवान्‌के संग क्रीडा करनेवाले गोपबालक और गोपबालाएँ तो परम अधिकारी हो गयीं। गीध और शबरीको भी उन्होंने योगिदुर्लभ गति दे दी; रीछ और वानरोंको भी उन्होंने जगत्पावन बना दिया और उनके हाथसे मरे हुए असंख्य राक्षस एवं आततायी सहजहीमें मुक्त हो गये। भगवान् श्रीरामके सम्बन्धमें श्रीरामायणादि ग्रन्थोंमें लेख मिलता है कि परमधामको पधारते समय वे सारे अयोध्यावासियोंको—मनुष्योंको ही नहीं अपितु पशु, पक्षी आदि असंख्य जीवोंको भी अपने लोकमें ले गये।

प्रश्न—नर-ऋषिके अवतार दैवी-सम्पदासे विभूषित भक्तश्रेष्ठ अर्जुनकी गीतोपदेशसे पूर्व भगवान्‌के साथ खाने-पीने, सोने और उठने-बैठनेपर भी क्या मुक्ति नहीं हुई?

उत्तर—अर्जुन तो वास्तवमें एक प्रकारसे मुक्त ही थे। उनके अंदर जो कुछ यत्किंचित् कमी थी वह भी लोककल्याणकारी ही हुई, क्योंकि उसकी पूर्तिके बहाने भगवान्ने गीताके अनुपम ज्ञानका जगत्को उपदेश दिया।

प्रश्न—भगवान्के किस साकार-विग्रहकी पूजा स्वयं भगवान्की पूजा है?

उत्तर—भगवान्के राम, कृष्ण, विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्यादि सभी साकार-विग्रहोंकी पूजा साक्षात् भगवान्की ही पूजा है तथा आर्षग्रन्थोंमें जिन देवताओंको ईश्वरका दर्जा दिया गया है, उनकी ईश्वरभावसे की गयी पूजा स्वयं भगवान्की ही पूजा है। वास्तवमें ये सब नाम परब्रह्म परमात्माके ही वाचक हैं, क्योंकि पुराणोंके रचयिता महर्षि वेदव्यासने भिन्न-भिन्न पुराणोंमें इन-इन देव-विग्रहोंके द्वारा जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय आदिका वर्णन किया है और ये सभी धर्म सगुण ब्रह्मके हैं। यही नहीं, उन्होंने इन विग्रहोंके अंदर ब्रह्मके और-और लक्षण भी घटाये हैं। वास्तवमें जिसके अंदर ब्रह्मके पूर्ण लक्षण विद्यमान हों वही ब्रह्म है। अनेक नाम-रूपोंसे एक ही ब्रह्मकी लीला अनेक प्रकारसे बतलायी है। इसलिये प्रामाणिक आर्षग्रन्थोंमें जिनको ईश्वरत्व दिया गया है उनकी पूजा ईश्वरकी ही पूजा है। इनके अतिरिक्त सारे देवता अन्य देवता माने जाने चाहिये। उनकी पूजा भी भगवान्की पूजा है, क्योंकि उनके अंदर भी ब्रह्मकी ही सत्ता है; परन्तु भगवान्से भिन्न माननेके कारण सकामभावसे की हुई वह पूजा अविधिपूर्वक मानी गयी है।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

(गीता ९। २३)

'हे अर्जुन! यद्यपि श्रद्धासे युक्त हुए जो सकामी भक्त दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी मेरेको ही पूजते हैं, किन्तु उनका वह पूजना अविधिपूर्वक है, अर्थात् अज्ञानपूर्वक है।'

प्रश्न—स्त्रीके लिये पतिकी, शिष्यके लिये गुरुकी, पुत्रके लिये माता-पिताकी सेवाभक्ति भी क्या मोक्षदायक हो सकती है?

उत्तर—अवश्य हो सकती है जबकि वह ईश्वरकी आज्ञा मानकर ईश्वरके लिये एवं ईश्वर-बुद्धिसे की जाय। क्योंकि शास्त्र सब ईश्वरकी आज्ञा है और ईश्वर मानकर की हुई सेवाभक्ति ईश्वरकी ही भक्ति समझी जाती है।

प्रश्न—चराचर प्राणियोंको ईश्वर मानकर उनकी सेवा करना अर्थात् विश्वरूप भगवान्की पूजा करना उत्तम है अथवा मूर्तिपूजा?

उत्तर—चराचर विश्वको ईश्वरका स्वरूप मानकर उसकी पूजा करना और उनकी पार्थिव अथवा मानसिक मूर्तिकी भगवद्भावसे पूजा-अर्चा करना दोनों ही उत्तम हैं। श्रद्धा और भक्तिसे की जानेवाली दोनों प्रकारकी पूजा एक ही फलको देनेवाली है। जिसकी जैसी रुचि हो वह दोनोंमेंसे किसी प्रकारकी पूजा कर सकता है। यदि वह दोनों ही प्रकारकी पूजा एक साथ करे तो और भी उत्तम है!

प्रश्न—क्या ब्रह्महत्यादिकी अपेक्षा भी झूठ बोलनेमें अधिक पाप है?

उत्तर—यह बात नहीं है। झूठकी पापोंमें गणना है और ब्रह्महत्या आदिको शास्त्रोंमें महापातक बतलाया है। इसलिये झूठको ब्रह्महत्यादिकी अपेक्षा बड़ा पाप नहीं कह सकते। हाँ, अन्य पापोंकी (महापातकोंकी नहीं) अपेक्षा झूठ बोलनेमें अधिक पाप माना गया है, क्योंकि झूठ एक प्रकारसे प्रायः सब पापोंकी जड़ है। झूठसे और-और भी पाप मनुष्य करने लगता है। इसीलिये झूठको और-और पापोंसे अधिक बताया गया है।

प्रश्न—आजकल लोग सत्यको विशेष आदर नहीं देते और कामिनी-कांचन तथा अभिमानके त्यागियोंमें भी असत्यका सर्वथा अभाव नहीं पाया जाता?

उत्तर—इतने अंशकी उनके अंदर कमी ही माननी चाहिये। इस प्रकारके त्यागियोंमें प्रथम तो असत्यका दोष जान-बूझकर घटना ही नहीं चाहिये। क्योंकि राग-द्वेषके वश ही मनुष्य प्रायः झूठ बोलता है और ऐसे निरभिमानी पुरुषोंमें राग-द्वेषादि नहीं होने चाहिये; और यदि किसी अंशमें उनके अंदर ये दोष घटते हैं तो इतने अंशमें उनके लिये लांछन ही है और उनके त्यागके महत्त्वको घटानेवाले हैं। यदि वे लोग सत्यको जितना आदर देना चाहिये उतना नहीं देते तो यह उनकी भूल ही है। इसके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? सत्य परमात्माका स्वरूप है। केवल सत्यके आश्रयसे मनुष्य मोक्षका अधिकारी बन सकता है। सत्य अमृत है; सत्य सब गुणोंकी खानि है और यही सनातन धर्म है। अतएव—

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

(मनु० ४। १३८)

'सत्य और प्रिय बोले, किन्तु सत्य होनेपर भी अप्रिय न बोले यानी मौन रहे और प्रिय होनेपर भी झूठ न बोले—यह सनातन धर्म है।'

प्रश्न—क्या कायिक तपकी अपेक्षा वाचिक, मानसिक तप विशेष मूल्यवान् हैं?

उत्तर—श्रीमद्भगवद्गीतामें तपके कायिक, वाचिक और मानसिक—इस प्रकार तीन विभाग किये गये हैं। वे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं अर्थात् कायिककी अपेक्षा वाचिक श्रेष्ठ है और मानसिक वाचिकसे भी श्रेष्ठ है, क्योंकि इनके आचरणका उत्तरोत्तर अधिक महत्त्व है। किन्तु तीनों ही परस्पर सम्बद्ध एवं एक-दूसरेके सहायक हैं। इसलिये किसीको भी अनावश्यक नहीं कहा जा सकता। कायिक और वाचिक तप, मानसिक तपमें सहायक हैं और मनोनिग्रह हो जानेपर शरीर और इन्द्रियोंका निग्रह अपने-आप हो जाता है, क्योंकि मन इन सबका राजा है। भगवान्ने तीनों ही प्रकारके सात्त्विक तपको पावन करनेवाला एवं अवश्य कर्तव्य बताया है। इसलिये भगवान्की आज्ञा समझकर भगवान्की प्राप्तिके लिये निष्कामभावसे तीनों प्रकारके ही तपका साधन करना चाहिये।

प्रश्न—क्या भगवान्का अनन्य-चित्तसे नित्य-निरन्तर स्मरण अन्य सब साधनोंसे श्रेष्ठ है?

उत्तर—इसकी श्रेष्ठता तो सर्वप्रमाणसिद्ध है ही। नित्य-निरन्तर अनन्य-चित्त होकर स्मरण करनेवालेके लिये भगवान्ने अपनेको सुलभ बताया है और अर्जुनको स्पष्टरूपसे यह आज्ञा दी है कि तू मुझे सर्वकालमें स्मरण करता हुआ ही युद्ध कर, यह नहीं कि सर्वकालमें युद्ध करता हुआ मुझे स्मरण कर, क्योंकि युद्ध तो सर्वकालमें हो नहीं सकता और स्मरण सर्वकालमें—खाते, पीते, उठते, बैठते, बात करते हो सकता है। इस प्रकार सब साधनोंमें स्मरणकी प्रधानता तो स्वयं भगवान्ने जगह-जगह बतलायी है। यज्ञ, दान, तप आदि वर्णाश्रमोचित कर्तव्य कर्म भी भगवत्स्मरण करते हुए ही होने चाहिये। यदि भगवत्स्मरणके कारण इनमें किसी प्रकारकी कमी आ जाय तो इतनी आपत्तिकी बात नहीं है, किन्तु स्मरणमें भूल नहीं होनी चाहिये। क्योंकि यही सबसे बड़ा साधन है और इसीमें प्रधानरूपसे सबको तत्पर हो जाना चाहिये। इस एकके सध जानेसे सब कुछ अपने-आप सध जाते हैं और इस एककी कमी है तो सभी बातोंकी कमी है—

नाम रामको अंक है सब साधन हैं सून।
अंक गएँ कछु हाथ नहिं अंक रहें दस गून॥

प्रश्नोत्तर

दो सज्जनोंने श्रीभगवान् एवं श्रीमद्भगवद्गीताके सम्बन्धमें कुछ प्रश्न किये हैं। प्रश्न सार्वजनिक हैं और ऐसे प्रश्न अनेकों पुरुषोंके मनमें उठते होंगे। इसलिये उनका उत्तर यहाँ दिया जाता है।

पहले सज्जनके—

(१) प्रश्न—

(क) मैं चाहता हूँ मेरा भगवान्से प्रेम हो जाय।

(ख) मुझे उनके समान प्रेमी और सुहृद् अन्य कोई न जान पड़े और—

(ग) मैं उनके लिये सच्चे दिलसे रोऊँ, परन्तु ऐसा होता नहीं, इसका क्या कारण है?

उत्तर—

(क) भगवान्में प्रेम न होनेका प्रधान कारण श्रद्धाकी कमी है। यद्यपि भगवान्में प्रेम होनेकी चाहना ही प्रेमकी प्राप्तिका एक प्रधान उपाय है परन्तु यह चाहना बहुत ही उत्कट होनी चाहिये। ऐसी उत्कट इच्छा होनेका उपाय श्रद्धाकी अतिशयता ही है। भगवान्के प्रभाव और गुणोंको जाननेसे भगवान् क्या हैं और उनके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है, इसके रहस्यको तत्त्वसे समझनेसे श्रद्धा होकर प्रेम हो सकता है।

वास्तवमें सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ भगवान् विज्ञानानन्दरूपसे सर्वत्र विराजमान हैं; अंश और अंशीरूपसे उनके साथ प्राणी-मात्रका अटूट सम्बन्ध है तथा उनसे बढ़कर हमारा कोई भी सुहृद् नहीं है। इस बातको समझ लेनेपर भगवान्का वियोग असह्य हो जाता है। जैसे छोटे बालकका माता-पितामें स्वाभाविक प्रेम होता है, अंशी होनेके नाते वैसा ही स्वभावसिद्ध अनिवार्य प्रेम हमारा परमेश्वरमें होना चाहिये। यदि नहीं होता तो यह बात सिद्ध होती है कि हमलोगोंने इस विषयको यथार्थ समझा नहीं। यही बात गुण और प्रभावके विषयमें है। जब परिमित गुण-प्रभाववाले मनुष्योंके गुण-प्रभाव जान लेनेपर उनमें भी प्रेम हो जाता है, तब जिनमें प्रेम, दया, शान्ति, सुहृदता, वत्सलता आदि गुण और बुद्धि, बल, ज्ञान, ऐश्वर्य आदि प्रभाव अपरिमित हैं, उन अपने अंशी यानी स्वामी परमात्मामें स्वाभाविक ही अनन्य प्रेम न होना इसी बातको प्रमाणित करता है कि हम उन्हें तत्त्वसे जानते नहीं।

(ख) वास्तवमें भगवान्के समान प्रेमी, सुहृद् अन्य कोई भी नहीं है परन्तु ऐसा मालूम नहीं होता; इसका कारण यह है कि साधारण लोगोंकी दृष्टिसे तो भगवान् अदृश्य हैं और भगवान्को जाननेवाले

लोगोंसे हमारा पूरा परिचय या प्रेम नहीं है। इसलिये यदि हम यह समझना चाहते हों कि एक परमेश्वर ही सबसे बढ़कर प्रेमी और सुहृद् हैं तो उनके प्रेम, प्रभाव और तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक संग करके उनके बतलाये हुए मार्गपर चलनेकी चेष्टा करनी चाहिये। यदि ऐसे पुरुषोंसे परिचय न हो या उनका मिलना और पहचानना कठिन हो तो महान् पुरुषोंकी जीवनी, उनके द्वारा रचित ग्रन्थ एवं ऐसे सत्-शास्त्रोंका अध्ययन-मनन करना चाहिये जिनमें भगवान्‌के गुण, प्रेम, प्रभाव और तत्त्वकी विशेष आलोचना की गयी हो।

(ग) भगवान्‌के लिये सच्चे दिलसे रोना न आनेमें दो कारण हैं—श्रद्धाकी कमी और पूर्वसंचित पाप। भगवान् अदृश्य होनेके कारण उनमें और उनके गुण-प्रभाव आदिमें पूरा विश्वास नहीं होता, यह बात निश्चयरूपसे मनमें नहीं जँचती कि वे सब जगह सदा-सर्वदा मौजूद हैं और हमारी करुण पुकार तत्काल सुनते और उसपर दयार्द्र-हृदयसे ध्यान देते हैं। इसके लिये पूर्वोक्त उपायसे श्रद्धा बढ़ानी चाहिये और संचित पापोंके नाशके लिये निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌की आज्ञाका पालन और भजन-ध्यान करना चाहिये।

(२) **प्रश्न**—मनको जीतनेमें अशक्तिका अनुभव क्यों होता है?

उत्तर—इसमें चार कारण हैं—

(क) जीवात्मा अपने सामर्थ्यको भूला हुआ है।

(ख) साधारण चेष्टा करके बार-बार विफल होनेसे निराशा-सी हो गयी है।

(ग) मनको स्वतन्त्रता दे रखी है। और—

(घ) विषयोंमें आसक्ति है।

जैसे कोई समर्थ पिता स्नेहासक्तिवश बालकको स्वतन्त्रता दे देता है जिससे बालककी आदत बिगड़ जाती है और वह उद्दण्ड होकर मनमाना आचरण करने लगता है, परन्तु वही पिता जब बालककी स्वतन्त्रता छीनकर अपनी शक्तिका बड़ी सावधानीके साथ पूरा प्रयोग करता है और साम, दाम आदि नीतिसे उसे वशमें करनेकी चेष्टा करता है तब सम्भवतः वह बिगड़ा हुआ बालक पुनः ठीक रास्तेपर आ जाता है, बस यही दशा मनकी है; मन स्वतन्त्र होकर उद्दण्ड हो गया है। अतएव मनुष्यको उचित है कि वह अपनी सामर्थ्यकी ओर ध्यान देकर साम, दाम आदि नीतिके द्वारा मनकी बुरी आदतोंको दूरकर उसकी उद्दण्डताका नाश करके उसे ठीक राहपर लानेके लिये तीव्र अभ्यास करे। बालक तो शायद पिताके शक्तिप्रयोग करनेपर भी उद्दण्डता छोड़कर ठीक राहपर न भी आवे परन्तु मनके लिये तो दूसरा आश्रय ही नहीं है। उसे तो बाध्य होकर ठीक रास्तेपर आना ही पड़ेगा। सम्भव है कि पहले-पहले कुछ निष्फलता-सी हो परन्तु उत्साह कम न होने देना चाहिये। निष्फल होनेपर भी पूर्ण उत्साहसे पुनः-पुनः प्रयत्न करना चाहिये। उत्साही पुरुष निश्चय ही मनको अपने वशमें कर लेते हैं। यह याद रखना चाहिये कि आत्माके सामने मनकी शक्ति अत्यन्त तुच्छ है। आत्मा मनकी अपेक्षा सब प्रकार श्रेष्ठ और बलवान् है। भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

(गीता ३। ४२)

अर्थात् (इस शरीरसे तो) इन्द्रियोंको परे (श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म)कहते हैं, इन्द्रियोंसे परे मन है और मनसे परे बुद्धि है और जो बुद्धिसे (भी) अत्यन्त परे है वह (आत्मा) है। इसीलिये भगवान् मनको जीतकर आत्माको हानि पहुँचानेवाले आसक्तिरूप कामको मारनेका आदेश करते हैं—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

(गीता ३। ४३)

अर्थात् इस प्रकार बुद्धिसे परे यानी सूक्ष्म तथा सब प्रकार बलवान् और श्रेष्ठ अपने आत्माको जानकर, बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके हे महाबाहो! (अपनी शक्तिको समझकर इस) दुर्जय कामरूप शत्रुको मार!

(३) **प्रश्न**—विषयोंके त्याग करनेमें असमर्थता क्यों मालूम होती है?

उत्तर—विषयोंके भोगमें प्रथम क्षणिक सुख और आरामका प्रत्यक्ष प्रतीत होना और उसके परिणाममें होनेवाला दुःख प्रत्यक्ष न होकर दूर होनेके कारण उसमें पूरा विश्वास न होना, (यानी कौन जानता है आगे चलकर कब क्या दुःख होगा, अभी तो प्रत्यक्ष सुख है ऐसी धारणा) यही विषयोंके त्यागमें असमर्थता-सी प्रतीत होनेका कारण है। वास्तवमें तो विषयोंमें सुख है ही नहीं, क्योंकि विषयोंसे उत्पन्न होनेवाला सुख क्षणिक, भोगकालमें सदा एक-सा न रहकर सतत बदलनेवाला तथा नाशवान् है। सुखका मिथ्या आभास ही अज्ञानके कारण मनुष्यको सुखमय प्रतीत होता है। जैसे सूर्यका प्रतिबिम्ब जलके अंदर सूर्य-सा दिखायी देता है परन्तु वास्तवमें वह सूर्य नहीं है, इसी प्रकार उन आनन्दघन परमात्माके केवल किसी एक अंशमात्रका, विषयोंमें प्रतीत होनेवाला प्रतिबिम्ब वस्तुतः सुख नहीं है। इस रहस्यके समझमें आते ही विषय-

त्यागमें प्रतीत होनेवाली असमर्थता नष्ट हो जाती है फिर स्वाभाविक ही विषयोंका त्याग हो जाता है। विचार करना चाहिये कि जो वस्तु वास्तवमें सत् होती है उसका कभी अभाव नहीं होता और जिसका आदि-अन्तमें अभाव है वह वस्तु वास्तवमें सत् नहीं है। ऐसी वस्तुका मध्यमें भी अभाव ही समझना चाहिये, जैसे स्वप्नका संसार। इसी तत्त्वको समझकर ज्ञानीजन नाशवान् दु:खपूर्ण क्षणिक विषयोंमें आसक्त नहीं होते। श्रीभगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दु:खयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्त: कौन्तेय न तेषु रमते बुध:॥

(गीता ५। २२)

अर्थात् '(ये) जो इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं वे (यद्यपि अज्ञानी विषयी पुरुषोंको सुखस्वरूप भासते हैं तो भी) नि:सन्देह दु:खके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले यानी अनित्य हैं (इसलिये) हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

अतएव विषयोंके त्याग करनेके लिये बारंबार उनमें दु:ख और दोष-दृष्टि करके उनसे मनको हटाना चाहिये!

(४) प्रश्न—भगवान्‌में श्रद्धा क्रमश: घटनेका क्या कारण है?

उत्तर—इसमें कई कारण हैं, जैसे—

(क) अज्ञानवश संसारके विषयोंमें आसक्ति होना।
(ख) विषयोंका तथा विषयासक्त पुरुषोंका संसर्ग।
(ग) सच्छास्त्र और सत्पुरुषोंके संगकी कमी।
(घ) निष्कामभावसे भगवान्‌के नाम-जप और स्वरूपके ध्यानका उचित अभ्यास न होना।
(ङ) मुख्यत: भगवान्‌के गुण, प्रेम, प्रभाव और तत्त्वको न जानना।

असलमें तत्त्वको जानकर निष्कामभावसे होनेवाली वास्तविक श्रद्धाके घटनेका तो कोई कारण ही नहीं है। वह तो साधनको प्रबल बनाती है और उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। परन्तु अज्ञानपूर्वक किसी कामनाके हेतुसे होनेवाली श्रद्धा घट भी सकती है। इसके लिये विषयोंका, विषयासक्त पुरुषोंका एवं आसक्ति तथा कामनाओंका यथासाध्य त्यागकर निष्कामभावसे यथासाध्य सच्छास्त्र और सत्पुरुषोंमें श्रद्धा, प्रेमसे उनका संग एवं सतत भजन-ध्यानका अभ्यास विशेषरूपसे करना चाहिये। ऐसा करनेसे अन्त:करण शुद्ध होनेसे वह भगवान्‌का तत्त्व जान लेता है तब श्रद्धा वास्तविक होती है और फिर उसके घटनेकी कोई सम्भावना नहीं रहती।

(५) प्रश्न—अपनेको यन्त्र और भगवान्‌को यन्त्री किस प्रकार समझा जाय?

उत्तर—ईश्वरकी दया और महापुरुषोंके संगसे ही भगवान्‌को यन्त्री और अपनेको यन्त्र समझा जा सकता है। यदि कहा जाय कि ईश्वरकी दया तो सबपर सदा ही समानभावसे अपार है ही फिर ऐसा क्यों नहीं समझा जाता? इसका समाधान यह है कि अवश्य ही ईश्वरकी सब लोगोंपर अपार दया है, परन्तु इस बातको लोग मानते नहीं, इसी कारण दया उनके लिये फलती नहीं। ईश्वरकी नित्य अपार दयाका मनुष्यको पद-पदपर अनुभव करना चाहिये। ईश्वरकी दयाका रहस्य समझमें आ जानेपर उसी क्षण मनुष्य अपने-आपको सम्पूर्णरूपसे उन यन्त्री भगवान्‌के प्रति समर्पण कर देता है। यानी सब प्रकारसे वह श्रीभगवान्‌के शरण होकर अपनेको सदाके लिये उन्हें सौंप देता है। वह फिर ऐसा किये बिना रह ही नहीं सकता।

(६) प्रश्न—भगवान्‌के सच्चे भक्तोंके दर्शन और उनकी पहचान किस प्रकार हो?

उत्तर—सच्चे भक्तोंके दर्शन होनेमें हेतु पूर्वकृत पुण्यसंचय, ईश्वरकी दया, उनके भक्तोंकी दया और ऐसे महात्मा भक्त पुरुषोंमें श्रद्धा और प्रेमका होना ही है। भक्तके मिलनेपर भी उनको पहचानना बहुत कठिन है। वास्तवमें ईश्वरकी दया और भक्तोंकी दयासे ही भक्तकी पहचान हो सकती है। क्योंकि साधारण पुरुष अपनी बुद्धिसे भक्तोंको यथार्थरूपमें नहीं पहचान सकता। यद्यपि श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १२में श्लोक १३ से २० तक भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन है, परन्तु उन लक्षणोंसे यथार्थ निर्णय करके भक्तको पहचानना साधारण बुद्धिका काम नहीं है। हाँ, जिनके दर्शन, भाषण, स्पर्श और चिन्तन आदिसे अवगुणों और दुराचारोंका क्रमश: नाश और सद्‌गुण, सदाचार एवं ईश्वर-भक्तिकी क्रमश: वृद्धि हो, साधारणतया उन्हींको ईश्वरके यथार्थ भक्त समझना चाहिये।

दूसरे सज्जनके—

(१) प्रश्न—

(क) गीता अध्याय ९ श्लोक २३ के अनुसार जब सात्त्विक देवोंकी पूजा भी भगवान्‌की अविधिपूर्वक पूजा है तो फिर विधिपूर्वक कौन-सी है और उसका क्या स्वरूप है?
(ख) वे अन्य देवता कौन-से हैं?
(ग) 'माम्' शब्दसे यहाँ भगवान् श्रीकृष्णका आदेश केवल श्रीकृष्णस्वरूपकी पूजासे ही है अथवा श्रीराम,

नारायण या निर्गुण ब्रह्मकी पूजा भी इसके अनुसार हो सकती है?

उत्तर—

(क) भगवान्‌ने यहाँ अन्य देवताओंकी सकाम पूजाको ही देवताओंके लिये विधिपूर्वक होते हुए भी अपने लिये अविधिपूर्वक बतलाया है, क्योंकि उन देवताओंद्वारा जो फल मिलता है वह तो श्रीभगवान्‌का ही विधान किया हुआ होता है। **'मयैव विहितान् हि तान्'** और फल उनको अन्तवन्त प्राप्त होता है इसलिये अन्य देवताओंकी सकामोपासना करनेवाला श्रीभगवान्‌के प्रभावको नहीं जानता है। परन्तु फल और आसक्तिको छोड़कर भगवान्‌की आज्ञा मानकर निष्कामभावसे देव-पूजा करना भगवान्‌की ही पूजा है। इसीको भगवान् अपनी सात्त्विक और विधिपूर्वक पूजा बताते हैं।

(ख) अन्य देवताओंसे श्रीभगवान्‌का उद्देश्य शास्त्रोक्त देवताओंसे है जिनमें मुख्यत: ३३ हैं—आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, इन्द्र और प्रजापति। इसके सिवा विश्वेदेवा देवता, अश्विनीकुमार, मरुद्गण आदि और भी बहुत-से शास्त्रोक्त देव हैं। इनमेंसे जिस किसी देवताको परात्पर ब्रह्म मानकर साधक पूजा करता है, उससे भिन्न सारे ही देवता उस साधकके लिये अन्य देवता समझे जाने चाहिये।

(ग) **'माम्'** शब्दसे यथार्थत: इस प्रसंगमें तो भगवान्‌ने अर्जुनको अपने श्रीकृष्णस्वरूपका ही आदेश दिया है, परन्तु श्रीकृष्ण भगवान् राम, विष्णु आदि स्वरूपोंसे और निर्गुण ब्रह्मसे भिन्न न होनेके कारण सभीका समझना चाहिये।

(२) प्रश्न—

(क) वेदान्त-मतमें अनन्यताका भाव **'वासुदेवः सर्वमिति'** और **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** के अनुसार एक ब्रह्मके सिवा अन्यकी सत्ता ही स्वीकार न कर सर्वत्र परमात्मा-ही-परमात्मा देखना समझमें आता है परन्तु साथ ही द्वैत-मतके ***'जीव कि ईस समान'*** इत्यादि वचनोंसे जीव-ईश्वरका भेद प्रतीत होता है, अत: अनन्यता किसे कहते हैं?

(ख) शिव या विष्णुके उपासकोंको एक-दूसरेके इष्टके प्रति मैत्री, उदासीनता या द्वेष कैसा भाव रखना चाहिये? पार्वतीके ये वचन—

महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥

—से तो शैवकी विष्णुके प्रति पूर्ण उदासीनता प्रकट होती है। ऐसे ही और भी प्रसंग देखनेमें आते हैं।

(ग) गीता अध्याय १७। १४ में **'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्'** को शारीरिक तप कहा है। यहाँ कौन-सी देवपूजा अभिप्रेत है, नित्य अथवा नैमित्तिक? इस देवपूजाका स्वरूप क्या है?

(घ) गीताके अनुसार जिस ज्ञानद्वारा एकसे दूसरेमें भेद प्रतीत होता है, वह राजसी ज्ञान है, सात्त्विक नहीं। तो क्या द्वैतमतानुयायियोंका अनन्यभाव राजसी ज्ञानका समर्थक नहीं है?

उत्तर—

(क) वेदान्तके मतानुसार उनका अनन्यताका भाव ठीक ही है और जीव-ईश्वरका भेद माननेवाले द्वैतानुयायियोंका कहना भी युक्तियुक्त ही है। परन्तु अर्जुनके प्रति गीतामें जहाँ-जहाँ अनन्य शब्द आया है, वह प्राय: भेदकी दृष्टिसे ही प्रतीत होता है। भेदोपासनाके अनुसार अनन्यताका स्वरूप केवल एक अपने स्वामीको ही परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझकर श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे निरन्तर उनका स्मरण करना ही है।

(ख) शैव और वैष्णव सबको अपने-अपने इष्टके प्रति अनन्यभाव रखते हुए एक-दूसरेके प्रति उदासीनता या द्वेष-भाव न रखकर अपने इष्टदेवकी आज्ञा समझकर पूज्य-भाव ही रखना चाहिये। भगवान् श्रीरामने अपने भक्तोंको शंकर-भजनकी आज्ञा दी है। जैसे—

औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥

इसलिये अपने स्वामीकी आज्ञा मानकर उनमें पूज्यभाव रखना चाहिये। पार्वतीका कहना उस जगह श्रीशिवजीसे विवाहके प्रसंगमें है। वैसे प्रसंगमें वही कहना उचित है।

(ग) गीता अध्याय १७। १४ के अनुसार देव-पूजासे शास्त्रानुसार यथाशक्ति नित्य और नैमित्तिक प्राप्त देवताओंकी सभी पूजाएँ शास्त्रकी विधिके अनुसार षोडशोपचारसे करनी चाहिये।

(घ) गीताका राजस ज्ञान सब भूतोंमें पृथक्-पृथक् भाव देखनेका निर्देश करता है, परन्तु ईश्वरको पृथक् मानकर जो उपासना की जाती है उसको राजस नहीं

कहता, क्योंकि* श्रीभगवान्‌ने स्वयं आज्ञा दी है—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥

(गीता ९। १५)

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने तो इसकी विशेष प्रशंसा की है—

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥

भगवत्प्राप्तिके उपाय

संसारमें सबसे बढ़कर और सबसे उत्तम प्राप्त करनेयोग्य वस्तु है परमानन्द एवं परम प्रेममय परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति। किन्तु वह होती है सम्पूर्ण संसारमें अत्यन्त वैराग्य होकर भगवान्‌में अनन्य एवं विशुद्ध प्रेम होनेसे। भगवान्‌का तत्त्व जाननेसे ही भगवान्‌में अनन्य प्रेम होता है, जो भगवान्‌को तत्त्वसे जान लेता है वह फिर एक क्षण भी भगवान्‌से अलग नहीं रह सकता। उसको सदा-सर्वदा सर्वत्र भगवान्‌के दर्शन होते रहते हैं। गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं कभी अदृश्य नहीं होता हूँ तथा वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है' क्योंकि वह मेरेमें एकीभावसे स्थित है। यही परमात्माका रहस्य है, इसीको गीतामें भगवान्‌ने गुह्यतम बतलाया है—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

(९। १)

'हे अर्जुन! तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय ज्ञानको रहस्यके सहित कहूँगा कि जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा।' इसलिये यह अति दुर्लभ मनुष्यका शरीर पाकर तो भगवान्‌के प्रभाव और रहस्यको जानकर विशुद्ध प्रेमके द्वारा केवल उसकी प्राप्तिके लिये ही तत्पर होकर चेष्टा करनी चाहिये।

प्रश्न—मनुष्यका शरीर कैसे मिलता है?

उत्तर—ईश्वरकी अहैतुकी दयासे।

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

कैसा भी दुराचारी एवं नास्तिक क्यों न हो, मुक्तिके लिये भगवान् उसको भी अवसर देते हैं।

प्रश्न—क्या इस घोर कलियुगमें भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है?

उत्तर—निश्चय हो सकती है, बल्कि और युगोंकी अपेक्षा और भी सुगमतासे।

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

× × ×

सुमिरि सुमिरि भव उतरहु पारा॥

(तुलसीदासजी)

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

(विष्णुपुराण ६। २। १७)

'सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञानुष्ठानसे और द्वापरमें भगवान्‌के पूजनसे मनुष्य जो गति प्राप्त करता है वही कलियुगमें श्रीकेशवके नाम-संकीर्तन करनेसे पा लेता है।'

शमायालं जलं वह्नेस्तमसो भास्करोदयः।
शान्तिः कलौ ह्यघौघस्य नामसंकीर्तनं हरेः॥

'अग्निको शान्त करनेमें जल और अन्धकारको दूर करनेमें सूर्य समर्थ है तथा कलियुगमें पापसमूहकी शान्तिका उपाय श्रीहरिका नाम-संकीर्तन है।'

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(बृ० नारद० १। ४१। १५)

'केवल श्रीहरिका नाम ही मेरा जीवन है, इसके अतिरिक्त कलियुगमें और कोई उपाय है ही नहीं।'

प्रश्न—भगवान्‌की प्राप्तिरूप मुक्ति प्रारब्धसे मिलती है या पुरुषार्थसे? यदि प्रारब्धसे मिलती है तो उसके लिये परिश्रम करना व्यर्थ है और यदि पुरुषार्थसे मिलती है तो उस पुरुषार्थका स्वरूप क्या है?

उत्तर—परमानन्दमय परमात्माकी प्राप्तिरूप मुक्ति न

* यहाँ साधक ईश्वरको एकदेशीय न मानकर सर्वव्यापक समझता है और उन्हें सब भूतोंमें व्यापक देखता हुआ ही उनकी एकदेशमें पूजा करता है; केवल अपनेको उनसे पृथक् मानता है।

प्रारब्धसे मिलती है और न केवल पुरुषार्थसे ही। मिलती है महापुरुषोंकी दयासे। जिसपर भगवान्‌की दया होती है उसीपर महापुरुषोंकी दया होती है।

जापर कृपा राम कर होई।
तापर कृपा करै सब कोई॥

इसलिये भगवान्‌की प्राप्ति भगवान्‌की ही दयासे होती है। जो पुरुष ईश्वरकी प्राप्तिको प्रारब्धसे होना मानता है वह अकर्मण्य एवं आलसी है। ऐसे प्रारब्धके भरोसेपर रहनेवाले उद्यमहीन मूढ़के सभी कर्म जघन्य (घृणित) होकर उसका पतन हो जाता है।

जो पुरुष परमात्माकी प्राप्तिको केवल अपने पुरुषार्थके बलपर ही मानता है वह भी अभिमानके फंदेमें फँसकर गिर जाता है, किन्तु जो ईश्वरकी शरण हुआ अपनेको निमित्त बनाकर उत्साहके सहित प्रसन्नचित्तसे, न उकताकर कटिबद्ध रहता हुआ, ईश्वरके बल और भरोसेपर कोशिश करता है उसीका पुरुषार्थ ईश्वरकी दयासे सिद्ध होता है।

प्रश्न—भगवान्‌की दया तो सभीपर समानभावसे है, फिर सबको भगवान्‌की प्राप्ति क्यों नहीं होती?

उत्तर—भगवान्‌की पूर्ण दया सभीपर समानभावसे है, इसमें कुछ भी संशय नहीं। किन्तु जैसे कोई दरिद्री मनुष्य अपने घरमें गड़े हुए धनको न जाननेके कारण तथा अपने पासमें पड़े हुए पारसको न जाननेके कारण लाभ नहीं उठा सकता, वैसे ही मूर्खलोग भगवान्‌को एवं भगवान्‌की दयाके रहस्यको न जाननेसे ही लाभ नहीं उठा सकते। भगवान्‌की दयाके रहस्यको समझनेसे शोक, भयका अत्यन्त अभाव होकर सदाके लिये परम शान्ति एवं परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है, जैसे कोई भयातुर मनुष्य राजाकी दयाका सहारा पाकर निर्भय और सुखी हो जाता है। भीष्म, युधिष्ठिर, अर्जुन आदि भगवान्‌की दयाके रहस्यको जानते थे, इसलिये वे कृतकृत्य हो गये; किन्तु अज्ञानके कारण दुर्योधनादि न हो सके।

प्रश्न—प्रभावसहित भगवान्‌को एवं भगवान्‌की दयाके रहस्यको जाननेके लिये सरल उपाय क्या है?

उत्तर—भगवान्‌की अनन्यशरण।

प्रश्न—अनन्यशरण किसको कहते हैं?

उत्तर—भगवान्‌के किये हुए प्रत्येक विधानमें प्रसन्नचित्त रहना, निष्काम प्रेमभावसे नित्य-निरन्तर उसके स्वरूपका चिन्तन करते हुए उसके नामका जप करना एवं उसकी आज्ञाका पालन करना, यही भगवान्‌की अनन्यशरण है।

प्रश्न—अनन्यशरण होनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये?

उत्तर—जो पुरुष भगवान्‌के प्रभाव एवं तत्त्वको जाननेवाले हैं तथा जो भगवान्‌की अनन्यशरण हो चुके हैं ऐसे प्रेमी भक्तोंका संग करके, उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेसे ही, मनुष्य भगवान्‌की अनन्य शरण हो सकता है।

प्रश्न—प्रथम तो ऐसे भक्त ही संसारमें कम हैं, इसलिये उनका मिलना भी दुर्लभ है। यदि मिल भी जायँ तो उनको पहचाना नहीं जा सकता, ऐसी अवस्थामें मनुष्यको क्या करना चाहिये?

उत्तर—यद्यपि ऐसे पुरुष संसारमें कम हैं, किन्तु श्रद्धा और प्रेमयुक्त मिलनेकी उत्कट इच्छा होनेसे मिल सकते हैं और पहचाननेमें भी आ सकते हैं। यदि भगवान्‌की प्राप्तिवाले पुरुष न मिलें, तो जिनके हृदयमें भगवान्‌से मिलनेकी अत्यन्त उत्कट इच्छा जाग्रत् हो गयी है और जो भगवान्‌को ही सर्वोत्तम मानकर उनका ही भजन-ध्यान करते हैं, जैसे अत्यन्त लोभी धनकी प्राप्तिके लिये तत्पर होकर चेष्टा करते हैं वैसे ही जो भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही चेष्टा करते हैं तथा केवल भगवान् ही जिनको अत्यन्त प्रिय हैं उन जिज्ञासु पुरुषोंका संग करना चाहिये। तथा भगवान् और भगवान्‌के भक्तोंद्वारा कथित सत्-शास्त्रोंका अध्ययन एवं मनन करके उनके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये।

प्रश्न—भगवान् एवं भगवान्‌के भक्तोंद्वारा कथित सत्-शास्त्र कौन-से हैं?

उत्तर—सामान्यतासे तो सभी आर्ष-ग्रन्थ सत्-शास्त्र हैं। वेद, उपनिषद् स्वत:प्रमाण एवं भगवान्‌के श्वास होनेके कारण तथा गीता स्वयं भगवान्‌की वाणी होनेके कारण यह सब तो भगवत्-कथित ही ग्रन्थ हैं। स्मृतियाँ, दर्शनशास्त्र, रामायण, इतिहास, पुराण आदि महात्मा एवं महर्षियोंद्वारा रचे गये हैं। इसलिये ये सब भगवान्‌के भक्तोंद्वारा कथित ग्रन्थ हैं, अतएव सभी सत्-शास्त्र हैं।

प्रश्न— विस्तार एवं दुर्गम होनेके कारण इन सबका अभ्यास सभी मनुष्य नहीं कर सकते? इसलिये इन सबमें सर्वोत्तम कल्याणकारक एवं सबके लिये सुगम कौन-सा शास्त्र है?

उत्तर—शास्त्र सभी कल्याणकारक हैं, इसलिये शास्त्रोंका जितना अधिक अभ्यास किया जा सके उतना ही उत्तम है, परन्तु आत्माके कल्याणके लिये तो केवल एक गीताशास्त्र ही पर्याप्त है। सम्पूर्ण गीताकी तो बात ही क्या, इसमें सैकड़ों श्लोक तो ऐसे हैं कि जिनमेंसे एक श्लोकके

अनुसार जीवन बना लिया जाय तो भी कल्याण हो सकता है। जैसे—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(गीता ११। ५५)

'हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये, सब कुछ मेरा समझता हुआ, यज्ञ, दान और तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको करनेवाला है और मेरे परायण है, अर्थात् मेरेको परम आश्रय और परमगति मानकर, मेरी प्राप्तिके लिये तत्पर है तथा मेरा भक्त है अर्थात् मेरे नाम, गुण, प्रभाव और रहस्यके श्रवण, कीर्तन, मनन, ध्यान और पठन-पाठनका प्रेमसहित, निष्कामभावसे, निरन्तर अभ्यास करनेवाला है और आसक्तिरहित है अर्थात् स्त्री, पुत्र और धनादि सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थोंमें स्नेहरहित है और सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है* ऐसा वह अनन्य भक्तिवाला पुरुष मेरेको ही प्राप्त होता है।'

यह गीता स्वयं भगवान्‌के मुखसे निकली हुई है तथा शास्त्रोंका सार इसमें भरा हुआ है। इसलिये इस गीताशास्त्रको सर्वोत्तम कहा जाय तो भी अत्युक्ति न होगी, महाभारतमें कहा भी है।

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

(भीष्मपर्व ४३। १)

'गीता सुगीता करनेयोग्य है अर्थात् श्रीगीताजीको भली प्रकार पढ़कर अर्थ और भावसहित अन्तःकरणमें धारण कर लेना मुख्य कर्तव्य है। जो कि स्वयं श्रीपद्मनाभ विष्णुभगवान्‌के मुखारविन्दसे निकली है, ऐसे गीताशास्त्रके रहते हुए अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है?'

इसकी संस्कृत भी बड़ी मधुर और सरल है। इसलिये जिनको थोड़ा भी संस्कृतका ज्ञान है वे भी अभ्यास करनेसे इसको समझ सकते हैं। इसका अर्थ साधारण भाषाटीकामें भी लिखा गया है, इसलिये हिन्दी जाननेवालोंके लिये भी सुगम है तथा इसका अनुवाद प्रायः सभी भाषाओंमें हो गया है। अतएव सभीके लिये सुगम और सुलभ है।

प्रश्न—सत्संग करनेके समय मनुष्यकी जैसी सात्त्विक वृत्तियाँ रहती हैं वैसी वृत्तियाँ निरन्तर नहीं रहतीं, इसका क्या कारण है?

उत्तर—सत्-शास्त्र और सत्पुरुषोंके संगके साधनकी कमी एवं विषयासक्ति और संचित पापोंका समूह तथा कुसंग ही इसमें प्रधान कारण है। जैसे अमावस्याकी रात्रिमें जंगलमें पड़े हुए मनुष्यके लिये प्रज्वलित दीपक, बिजली एवं अग्नि आदिकी रोशनीसे जंगलमें भी मंगल (उजियाला) हो जाता है और उनके अभावमें पुनः अन्धकार छा जाता है, वैसे ही रजोगुण, तमोगुणरूप रात्रिमें पड़े हुए मनुष्यके लिये सत्संग ही महाप्रकाश है। उसकी प्राप्ति होनेसे हृदयमें उजियाला हो जाता है, दूर होनेसे पुनः अन्धकार छा जाता है। विषयोंका एवं नीच पुरुषोंका संग पाकर वह रजोगुण-तमोगुणमयी रात्रि, अमावस्याकी रात्रिमें आँधी आनेकी भाँति विशेष अन्धकारमय बन जाती है। इसलिये विषयोंमें आसक्ति एवं कुसंगका त्यागकर सत्पुरुष और सत्-शास्त्रोंका संग निरन्तर करनेके लिये चेष्टा करनी चाहिये एवं उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेकी कोशिश करनी चाहिये।

प्रश्न—सत्-शास्त्र और सत्पुरुषोंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेकी इच्छा होनेपर भी सर्वथा चला नहीं जाता, इसका क्या कारण है?

उत्तर—विषयोंमें आसक्ति एवं श्रद्धा-प्रेमकी कमी ही प्रधान कारण है। क्योंकि शारीरिक आरामकी बुरी आदत पड़ी हुई है, इसलिये भोग, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सांसारिक सुख प्रत्यक्ष दीखता है। परिणाम चाहे उसका कैसा भी बुरा क्यों न हो, किन्तु मूर्खताके वशमें होकर मनुष्य उसका सेवन कर लेता है। जैसे वैद्यके बतलाये हुए पथ्यको हितकर समझता हुआ भी मूर्ख रोगी आसक्तिवश कुपथ्य कर लेता है। शास्त्र और महापुरुषोंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेमें प्रथम परिश्रम-सा मालूम देता है, यद्यपि परिणाम इसका बहुत ही उत्तम है। किन्तु पूरा विश्वास न होनेके कारण उसमें श्रद्धा और प्रेमकी कमी आ ही जाती है। इसलिये इच्छा होनेपर भी उनके अनुसार नहीं चला जाता।

प्रश्न—विषयोंमें आसक्तिका नाश होकर भगवान्‌में अतिशय श्रद्धा और अनन्य प्रेम होनेके लिये साधकको क्या करना चाहिये?

उत्तर—भगवान्‌के गुण और प्रभावका तत्त्व जाननेसे भगवान्‌में अतिशय श्रद्धा होती है तथा अतिशय श्रद्धासे अनन्य प्रेम होनेसे संसारके विषयभोगोंमें आसक्तिका अत्यन्त अभाव हो जाता है। अतएव भगवान्‌के गुण और प्रभावका तत्त्व जाननेके लिये भगवान्‌के प्रेम, प्रभाव और रहस्यकी अमृतमयी कथाओंका उनके प्रेमी भक्तोंद्वारा एवं शास्त्रोंद्वारा श्रवण,

* सर्वत्र भगवत्-बुद्धि हो जानेसे उस पुरुषका अति अपराध करनेवालेमें भी वैरभाव नहीं होता है, फिर औरोंमें तो कहना ही क्या है।

पठन और मनन करके उनके कथनानुसार अपना जीवन बनानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकार साधन करनेसे अन्त:करण पवित्र होकर भगवान्‌के गुण और प्रभावका तत्त्व सहजमें ही जाना जा सकता है।

भगवान्‌के लिये काम कैसे किया जाय?

प्रश्न—प्रसन्नतापूर्वक भगवान्‌का काम समझकर भगवान्‌को याद रखते हुए किसीसे भी राग-द्वेष न करके अपने कर्तव्यका पालन किस प्रकार किया जा सकता है?

उत्तर—सब कुछ परमेश्वरका ही है, परमेश्वर खेल कर रहे हैं, परमेश्वर बाजीगर हैं, मैं उनका झमूरा (जमूरा) हूँ, यों समझकर सब कुछ ईश्वरकी लीला समझते हुए परमेश्वरके आज्ञानुसार आसक्ति और फलकी इच्छा छोड़कर, परमेश्वरकी सेवाके लिये उन्हींकी प्रेरणा तथा शक्तिसे प्रेरित होकर कार्य करता रहे। यह समझकर बार-बार गद्‌गद होता रहे कि अहा! मुझपर परमेश्वरकी कितनी अपार दया है कि मुझ-जैसे तुच्छको साथ लेकर भगवान् अपनी लीला कर रहे हैं। भगवान्‌के प्रेम, दया, प्रभाव, स्वरूप और रहस्यपर बारम्बार विचार करता हुआ मुग्ध होता रहे।

(प्रेम) भगवान्‌के समान कोई प्रेमी नहीं है, वे प्रेमका इतना महत्त्व जानते हैं कि असंख्य ब्रह्माण्डके महेश्वर होते हुए भी अपनेको प्रेमीके हाथ बेच डालते हैं।

(दया) मैं कैसा नीच हूँ, कैसा निकृष्ट और महापामर हूँ, परन्तु उस परम प्रभुकी मुझपर कितनी अपार दया है कि वे मुझको साथ लेकर लीला कर रहे हैं। प्रभुने सब पाप-तापोंसे बचाकर मुझे ऐसा बना लिया है।

(प्रभाव) प्रभुके प्रभावका कौन वर्णन कर सकता है, वे चाहें तो करोड़ों ब्रह्माण्डोंको एक पलमें उत्पन्न, पालन और संहार कर सकते हैं।

(स्वरूप) सारे संसारका सौन्दर्य प्रभुके एक रोमके समान भी नहीं है। वे आनन्दमूर्ति हैं। उनका दर्शन परम सुखमय है। वे चेतनमय हैं। जैसे तारके द्वारा बिजली अनेक प्रकारसे कार्य कर रही है, वैसे ही प्रभुकी शक्ति सब कुछ कर रही है। वे विज्ञानानन्दघन परमात्मा सब जगह परिपूर्ण हैं। वही नित्य विज्ञानानन्दघन प्रभु श्रीराम-कृष्ण आदिके रूपमें अवतार लेते हैं।

(रहस्य) उनका रहस्य कौन जान सकता है। वे सबमें समाये हैं परन्तु कोई उन्हें नहीं पकड़ पाता। मर्मका नाम ही रहस्य है। भगवान् श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए, उस रूपमें बहुत लोगोंने उन्हें भगवान् नहीं समझा। कोई ग्वालबालक समझता था तो कोई वसुदेवपुत्र। जो महात्मा पुरुष उनको भगवान्‌के रूपमें जान गये, उन्हींपर उनका रहस्य प्रकट हुआ। प्रभुके रहस्यको जान लेनेपर चिन्ता, दुःख और शोकका तो कहीं नाम-निशान ही नहीं रहता। प्रभु सब जगह विराजमान हैं, इस रहस्यको जानना चाहिये। अर्जुन भगवान्‌के रहस्यको कुछ जानते थे और उनसे रथ हँकवाते थे, परन्तु वे भी भगवान्‌के विश्वरूपको देखकर भय और हर्षके मिश्रित भावोंमें डूब गये। तब भगवान्‌ने कहा—'भय मत कर!' जबतक अर्जुनको भय हुआ तबतक उन्होंने भगवान्‌के पूरे रहस्यको नहीं समझा। पहचानना तो वस्तुत: यथार्थमें प्रह्लादका था, जो भगवान् नृसिंहदेवको विकरालरूपमें देखकर भी बेधड़क उनके पास चले गये। प्रह्लादको किंचित् भी भय नहीं हुआ। इसी प्रकार परमात्माके रहस्यको जाननेवाला सर्वदा सर्वत्र निर्भय हो जाता है।

प्रश्न—जीवमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह प्रभुके रहस्यको जान सके। जब प्रभु जनाते हैं तभी जान सकता है। प्रह्लादको प्रभुने जनाया तभी तो वे भगवान्‌को जान सके। वे हमलोगोंको अपना रहस्य किस उपायसे जना सकते हैं?

उत्तर—इसके लिये प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिये। वे कृपा करके जना सकते हैं। परन्तु यह नियम है कि पात्र होनेसे ही प्रभु अपनेको जनाते हैं, इसलिये भगवान्‌की दयापर दृढ़ विश्वास करना चाहिये। भक्तशिरोमणि भरतजीने भी कहा था—

जौं करनी समुझै प्रभु मोरी।
नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।
दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई।
मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥

ऐसा दृढ़ भरोसा रखनेवालेकी प्रभु सँभाल करते हैं। अतएव प्रभुसे सच्चे दिलसे ऐसी कातर-प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे नाथ! मैं अति नीच हूँ, किसी प्रकार भी पात्र नहीं हूँ। गोपियोंकी भाँति जिसमें प्रेमका बल है, उसके हाथ तो आप स्वयं ही बिक जाते हैं। हे प्रभो! मेरे पास प्रेमका बल होता तो फिर रोने और प्रार्थना करनेकी क्या जरूरत थी! मैं जब अपने पापों और अवगुणोंकी तथा बलकी ओर देखता हूँ तो मनमें कायरता और निराशा छा जाती है; परन्तु हे नाथ! आपकी दया तो अपार है, आप

दयासिन्धु हैं, पतितपावन हैं, मुझे वह बल दीजिये जिससे मैं आपके रहस्यको जान जाऊँ।'

सारे कामोंको प्रभुका काम समझना चाहिये। हम लीलामयके साथ काम कर रहे हैं। इससे प्रभुकी इच्छाके अनुसार ही चलना चाहिये। यदि आसक्ति या स्वभावदोषके कारण उनकी आज्ञाका कहीं उल्लंघन हो जाय तो पुनः वैसा न होनेके लिये भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये।

अपनी समझसे कोई अनुचित कार्य नहीं करना चाहिये। हमलोग किसीकी भलाईके लिये कोई कार्य कर रहे हैं और कदाचित् दैव-इच्छासे उसकी कोई हानि हो जाय तो उसमें चिन्ता या पश्चात्ताप नहीं करना चाहिये। हमको अपने कृत्यकी भूलके लिये ही पश्चात्ताप करना उचित है।

हमको सूचना मिली कि यहाँ बहुत जल्दी बाढ़ आनेवाली है, हट जाना चाहिये। इस बातको जानकर भी हम नहीं हटे और हमारा सब कुछ बह गया तो हमें पश्चात्ताप करना चाहिये। क्योंकि भगवान्ने हमको सचेत कर दिया था और हमने उसको माननेमें अवहेलना की। परन्तु यदि अचानक बाढ़ आकर सब डूब जाय तो चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि वहाँ हमारी भूल नहीं हुई है।

एक जगह बाढ़ आयी, बीज बह गये। हमलोगोंने बोनेके लिये किसानोंको बीज दिये, फिर बाढ़ आयी और वे बीज भी बह गये। इसपर हमलोगोंको न तो शोक करना चाहिये और न यह विचार करना चाहिये कि बीज तो बह ही रहे हैं, व्यर्थ देकर क्यों नष्ट करें। हमलोगोंको तो स्वामीकी यही आज्ञा है कि बीज जहाँतक बने, उन्हें देते रहो। अतः हमको तो प्रभुके आज्ञानुसार ही करना चाहिये। उसमें कोई कसर नहीं रखनी चाहिये। प्रभु अपनी इच्छानुसार करें। सेवकको तो प्रभुका काम करके हर्षित होना चाहिये और मुस्तैदीसे अपने कर्तव्य-पथपर डटे रहना चाहिये।

रोगी कुपथ्य कर ही लिया करते हैं। इसमें अपना क्या वश है। कुपथ्य करनेपर सद्वैद्य रोगीको धमका तो देता है परन्तु नाराज नहीं होता। वह समझता है कि मेरी पाँच बातोंमेंसे तीन तो इसने मान लीं। दोके लिये फिर चेष्टा करेंगे। वैद्य बारंबार चेष्टा करता है, जिससे वह कुपथ्य न करे। परन्तु चेष्टा करनेपर भी उसका हित न हो तो वैद्यको उकतानेकी जरूरत नहीं है। न क्रोध ही करनेकी आवश्यकता है। फलको भगवान्की इच्छापर छोड़ देना चाहिये और बिना उकताये प्रभुकी लीलामें उनके इच्छानुसार लगे रहना चाहिये।

ईश्वर और परलोक

ईश्वर, माया, जीव, सृष्टि, कर्म, मोक्ष, और परलोक आदिके विषयमें कतिपय मित्रोंके प्रश्न हैं। प्रश्न बड़े गहन और तात्त्विक हैं। इन प्रश्नोंका वास्तविक उत्तर तो परमेश्वर ही जानते हैं तथा वे महान् पुरुष भी जानते हैं जो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हैं। मुझ-जैसे व्यक्तिके लिये तो इन प्रश्नोंका उत्तर देना महान् ही कठिन है तथापि मित्रोंके अनुरोध करनेपर अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार मैं अपने भावोंको प्रकट करता हूँ। त्रुटियोंके लिये विज्ञजन क्षमा करेंगे।

प्रश्न—ईश्वर है या नहीं?

उत्तर—ईश्वर निश्चय ही है।

प्रश्न—ईश्वरके होनेमें क्या प्रमाण है?

उत्तर—ईश्वर स्वतः प्रमाण है। इसके लिये अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता ही नहीं है। सम्पूर्ण प्रमाणोंकी सिद्धि भी उसीकी सत्ता-स्फूर्तिसे होती है। तुम्हारा प्रश्न भी ईश्वरको सिद्ध करता है; क्योंकि मिथ्या वस्तुके विषयमें तो प्रश्न ही नहीं बनता जैसे 'वन्ध्यापुत्र है या नहीं'—यह प्रश्न नहीं बनता।

प्रश्न—सन्दिग्धतामें भी प्रश्न बन सकता है और मुझे शंका है इसलिये ईश्वरके विषयमें आप प्रमाण बतावें?

उत्तर—यद्यपि ईश्वरकी सिद्धिसे ही हम सबकी सिद्धि है इसलिये प्रमाणोंद्वारा ईश्वरको सिद्ध करनेका प्रयत्न लड़कपन ही है तथापि सन्दिग्ध मनुष्योंकी शंका-निवृत्तिके लिये श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणादि शास्त्र ईश्वरकी सत्ताको स्थल-स्थलपर घोषित कर रहे हैं। ईश्वरको जाननेके लिये ही उन सबकी व्युत्पत्ति है।

यथा—

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (गीता १५। १५)

'ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।' (यजुर्वेद ४०। १)

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (योग० १। २३)

'आत्मा द्विविध आत्मा परमात्मा च' (तर्कसंग्रह)

प्रमाणोंका विशेष विस्तार 'कल्याण' के 'ईश्वरांक' में देखना चाहिये।

प्रश्न—क्या आप युक्तियोंद्वारा भी ईश्वर-सिद्धि कर सकते हैं?

उत्तर—यद्यपि जिस ईश्वरसे सब युक्तियोंकी सिद्धि होती है, उस ईश्वरको युक्तियोंद्वारा सिद्ध करना अनधिकार चेष्टा है तथापि संशययुक्त एवं नास्तिकोंको समझनेके लिये

विभिन्न सज्जनोंने 'कल्याण' के ईश्वरांक और उसके परिशिष्टांकमें बहुत-सी युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि पदार्थोंकी उत्पत्ति और नाना प्रकारकी योनियोंके यन्त्रोंकी भिन्न-भिन्न अद्भुत रचना और नियमित संचालन क्रियाको देखनेसे यह सिद्ध होता है कि बिना कर्ताके उत्पत्ति और बिना संचालकके नियमित संचालन होना असम्भव है। जो इनकी उत्पत्ति और संचालन करनेवाला है, वही ईश्वर है। जीवोंके सुख, दुःख, जाति, आयु, स्वभावकी भिन्नताका गुण कर्मानुसार यथायोग्य विभाग करना ज्ञानस्वरूप ईश्वरके बिना जड प्रकृतिसे होना सम्भव नहीं है क्योंकि सृष्टिके प्रत्येक कार्यमें सर्वत्र प्रयोजन देखा जाता है। ऐसी प्रयोजनवती सृष्टिकी रचना एवं विभाग किसी परम चेतन कर्ताके बिना होना सम्भव नहीं है।

प्रश्न—ईश्वरका स्वरूप कैसा है?

उत्तर—ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सम्पूर्ण गुण-सम्पन्न, निर्विकार, अनन्त, नित्य, विज्ञान-आनन्दघन है।

प्रश्न—ईश्वर सगुण है या निर्गुण?

उत्तर—वह चिन्मय परमात्मा सगुण भी है और निर्गुण भी। यह त्रिगुणमय सम्पूर्ण संसार उस परमात्माके किसी एक अंशमें है, जिस अंशमें यह संसार है उस अंशका नाम सगुण है, और संसारसे रहित अनन्त असीम जो नित्य विज्ञान आनन्दघन परमात्माका स्वरूप है उसका नाम निर्गुण है। सगुण और निर्गुण समग्रको ही ईश्वर कहा गया है।

प्रश्न—वह सगुण ईश्वर निराकार है या साकार?

उत्तर—साकार भी है और निराकार भी। जैसे निराकाररूपसे व्यापक अग्नि संघर्षण आदि साधनोंद्वारा साधकके सम्मुख प्रकट हो जाता है वैसे ही सर्वान्तर्यामी दयालु परमात्मा निराकाररूपसे चराचर सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें व्यापक रहता हुआ ही धर्मके स्थापन और जीवोंके उद्धारके लिये भक्तोंकी भावनाके अनुसार भी श्रद्धा, भक्ति, प्रेम आदि साधनोंद्वारा साकाररूपसे समय-समयपर प्रकट होता है। जहाँ साकाररूपसे भगवान् प्रकट हुए हों वहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि वे इतने ही हैं, निर्गुण और सगुणरूपमें सब जगह स्थित रहता हुआ ही अर्थात् सम्पूर्ण शक्तिसम्पन्न समग्र ब्रह्म ही सगुण-साकार-स्वरूपमें प्रकट होता है। वह सगुण परमात्मा सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और विनाशकालमें सदा ही ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूपसे विराजमान है।

प्रश्न—माया किसे कहते हैं?

उत्तर—ईश्वरकी शक्तिका नाम माया है जिसको प्रकृति भी कहते हैं।

प्रश्न—प्रकृतिका क्या स्वरूप है?

उत्तर—जो अनादि हो (प्राकृत हो), जिसकी किसीसे उत्पत्ति नहीं हुई हो और जो अन्य पदार्थोंकी उत्पत्तिमें कारण हो, उसको प्रकृति कहते हैं।

प्रश्न—यह माया स्वतन्त्र है या परतन्त्र?

उत्तर—परतन्त्र है।

प्रश्न—किसके परतन्त्र है?

उत्तर—ईश्वरके।

प्रश्न—यह माया अनादि-अनन्त है या अनादि-सान्त है?

उत्तर—अनादि-सान्त है।

प्रश्न—जो वस्तु अनादि हो वह तो अनन्त ही होनी चाहिये?

उत्तर—यह कोई नियम नहीं है।

प्रश्न—ऐसा कोई दृष्टान्त बतलाइये जो अनादि होकर सान्त हो?

उत्तर—सूर्य-चन्द्रादि सभी दृश्य वस्तुओंका अज्ञान अर्थात् उनका न जाननापन अनादि है, किन्तु मनुष्य जिस समाज जिस वस्तुको यथार्थ जान जाता है उसी समय उस वस्तु-विषयका वह अज्ञान नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार यह माया भी अज्ञानकी तरह अनादि-सान्त है।

प्रश्न—यह माया सत् है या असत्?

उत्तर—सत् भी है और असत् भी। अनादि होनेसे सत् है और सान्त होनेसे असत् है। वास्तवमें इसको सत् या असत् कुछ भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि तत्त्वज्ञानके द्वारा सान्त हो जानेके कारण सत् नहीं कहा जा सकता और सदासे इसकी प्रतीति होती चली आयी है इसलिये असत् भी नहीं कह सकते। इसीलिये मायाको सत्-असत् दोनोंसे विलक्षण एवं अनिर्वचनीय कहा गया है।

प्रश्न—माया जड है या चेतन?

उत्तर—जड है, क्योंकि जो वस्तु दृश्य और विकारी होती है वह जड ही होती है।

प्रश्न—मायाका स्वरूप क्या है?

उत्तर—जो कुछ देखने, सुनने और समझनेमें आता है वह सब मायाका कार्य होनेके कारण मायाका स्वरूप है।

प्रश्न—माया कितने प्रकारकी है?

उत्तर—दो प्रकारकी है। विद्या और अविद्या।

प्रश्न—विद्या किसे कहते हैं।

उत्तर—जिसके द्वारा ईश्वर सृष्टिकी रचना करते हैं और गुणकर्मोंके अनुसार यथायोग्य ऊँच-नीच योनियोंका विभाग करते हैं तथा साकाररूपसे प्रकट होकर जिस विद्याके द्वारा धर्मकी स्थापना करके जीवोंका उद्धार करते हैं।

प्रश्न—अविद्या किसे कहते हैं?

उत्तर—अज्ञानको कहते हैं, जिसके द्वारा सब जीव मोहित हो रहे हैं अर्थात् अपने स्वरूप और कर्तव्यको भूले हुए हैं।

प्रश्न—जीवका स्वरूप क्या है?

उत्तर—जीव नित्य आनन्द चेतन (द्रष्टा) और ईश्वरका अंश है। प्रकृति और उसके कार्यसे भिन्न एवं अत्यन्त विलक्षण होनेपर भी प्रकृतिके सम्बन्धसे कर्ता और भोक्ता भी है (देखिये गीता अ० १३ श्लो० २०,२१)

प्रश्न—जीव ईश्वरका किस प्रकारका अंश है?

उत्तर—वास्तवमें तो इसके सदृश संसारमें कोई उदाहरण ही नहीं है। यदि सूर्यके प्रतिबिम्बकी तरह जीवको ईश्वरका अंश बताया जाय तो वह बताना युक्तियुक्त नहीं होगा, क्योंकि सूर्यमण्डल जड है और उसका प्रतिबिम्बी वस्तुतः कोई वस्तु नहीं है। परन्तु जीवात्मा तो वस्तुतः नित्य और चेतन है। यदि घटाकाश और महाकाशका उदाहरण दिया जाय तो वह भी समीचीन नहीं, क्योंकि आकाश भी जड है और ईश्वर चेतन है। यदि स्वप्नकी सृष्टिके जीवोंका उदाहरण दिया जाय तो वह भी पूर्ण समीचीनरूपसे नहीं, क्योंकि स्वप्न-सृष्टिकी उत्पत्ति स्वप्न-द्रष्टा पुरुषके मोहसे हुई है और वह पुरुष उस मोहके अधीन है परन्तु ईश्वर स्वतन्त्र और निर्भ्रान्त है। ऊपर बताये हुए सब उदाहरणोंकी अपेक्षा तो योगीकी सृष्टिका उदाहरण सर्वोत्तम है, क्योंकि योगी अपनी योग-शक्तिसे अपनी सृष्टिकी रचना कर सकता है और उसकी सृष्टिमें रचित जीव सब उसके अंश एवं अधीन भी होते हैं, इसी प्रकार जीवको ईश्वरका अंश समझना चाहिये।

प्रश्न—सृष्टिकी उत्पत्ति कैसे होती है?

उत्तर—शास्त्रोंमें जैसा वर्णन है।

प्रश्न—शास्त्रोंमें तो अनेक प्रकारका वर्णन है।

उत्तर—विचार करनेपर करीब-करीब सबका परिणाम एक-सा ही निकलता है।

प्रश्न—महासर्गके आदिमें सृष्टिकी उत्पत्ति कैसे होती है, संक्षेपसे व्याख्या कीजिये।

उत्तर—महासर्गके आदिके समय सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन निराकार परमात्मामें सृष्टिके रचनेके लिये स्वाभाविक ऐसी स्फुरणा होती है कि 'मैं एक बहुत रूपोंमें होऊँ' तब उसकी शक्तिरूप प्रकृतिमें क्षोभ होता है अर्थात् सत्, रज, तम—तीनों गुणोंकी साम्यावस्थामें न्यूनाधिकता हो जाती है जिससे महत्तत्त्व यानी समष्टि-बुद्धिकी उत्पत्ति होती है। उस महत्तत्त्वसे समष्टि अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकारसे मन और पाँच सूक्ष्म महाभूत उत्पन्न होते हैं। इन महाभूतोंको योग और सांख्य आदि शास्त्रोंमें तन्मात्राओंके नामसे कहा है। वैशेषिक और न्यायशास्त्र इन्हींको परमाणु मानते हैं। उपनिषदोंमें इन्हींको अर्थके नामसे भी कहा है और इन्द्रियोंके कारणरूप होनेसे इन्द्रियोंसे परे बतलाया है। गीतामें इन पाँच सूक्ष्म महाभूतोंको मन, बुद्धि और अहंकारके सहित अपरा प्रकृतिके नामसे कहा है। मूल-प्रकृतिसे उत्पन्न हुए इन आठ पदार्थोंसे ही संसारकी उत्पत्ति होती है। इसलिये इनको भी प्रकृति कहा जाता है। सांख्य और योगशास्त्र मनको प्रकृति नहीं मानते।

प्रश्न—सूक्ष्म महाभूतोंकी उत्पत्तिका क्रम बतलाइये?

उत्तर—समष्टि अहंकारसे सूक्ष्म आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल और जलसे पृथ्वीकी तन्मात्राएँ उत्पन्न हुईं।

प्रश्न—इन आठ पदार्थोंकी उत्पत्तिके बाद सृष्टिकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई?

उत्तर—आकाशादि सूक्ष्म महाभूतोंसे अर्थात् तन्मात्राओंसे श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, घ्राण—क्रमशः इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंकी उत्पत्ति हुई। तदनन्तर उन्हीं पाँच सूक्ष्म महाभूतोंसे वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ, गुदा—क्रमशः इन पाँच कर्मेन्द्रियोंकी उत्पत्ति हुई। ऊपर बताये हुए अठारह तत्त्वोंमें अहंकारको बुद्धिके अन्तर्गत मानकर इन सत्रह तत्त्वोंके समुदायको समष्टि-सूक्ष्म शरीर कहते हैं। इसका जो अधिष्ठाता है उसीको हिरण्यगर्भ सूत्रात्मा एवं ब्रह्मा कहते हैं। उसी हिरण्यगर्भके द्वारा उसके समष्टि-अव्यक्त-शरीरसे जीवोंके गुण और कर्मानुसार सम्पूर्ण स्थूल लोकोंकी एवं स्थूल शरीरोंकी उत्पत्ति होती है।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥

(गीता ८। १८-१९)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लय होते हैं और वह ही भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिके वशमें हुआ रात्रिके प्रवेशकालमें लय होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है।'

कोई-कोई आचार्य पाँच सूक्ष्म भूतोंको इन्द्रियोंके अन्तर्गत मानकर पंचप्राणोंको सूक्ष्म शरीरके साथ और सम्मिलित करते हैं किन्तु वायुके अन्तर्गत भी पंचप्राणोंको मान लिया जा सकता है।

प्रश्न—कर्म कितने प्रकारके होते हैं?

उत्तर—तीन प्रकारके होते हैं—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण।

प्रश्न—इन तीनोंका स्वरूप बतलाइये?

उत्तर—(१) अनेक जन्मोंसे लेकर अबतकके किये हुए सुकृत-दुष्कृतरूप कर्मोंके संस्कार समूह, जो अन्तःकरणमें संगृहीत हैं उन्हें संचित कहते हैं।

(२) पाप-पुण्यरूप संचितका कुछ अंश जो किसी एक जन्ममें सुख-दुःखरूप फल भुगतानेके लिये सम्मुख हुआ है उसका नाम प्रारब्धकर्म है।

(३) अपनी इच्छासे जो शुभाशुभ नवीन कर्म किये जाते हैं उन्हें क्रियमाण कर्म कहते हैं।

प्रश्न—मोक्ष किसे कहते हैं?

उत्तर—सम्पूर्ण दुःखों और क्लेशोंसे* एवं सम्पूर्ण कर्मोंसे छूटकर नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मामें स्थित होनेका नाम मोक्ष है।

प्रश्न—मुक्त हुए पुरुषोंका पुनर्जन्म होता है या नहीं?

उत्तर—नहीं।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥

(गीता १४। २)

'हे अर्जुन! वे पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते।'

भगवान् कहते हैं—

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

(गीता ८। १६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता।'

न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते॥

(छान्दोग्य० ४। १५। १)

'वह मुक्त पुरुष पुनः वापस नहीं आता, पुनः वापस नहीं आता।'

प्रश्न—नवीन जीव उत्पन्न होते हैं या नहीं?

उत्तर—नहीं। क्योंकि बिना हेतु जीवोंकी नवीन सृष्टि होना युक्तिसंगत नहीं।

प्रश्न—इस तरह माननेसे फिर जीवोंकी संख्या कम हो जायगी।

उत्तर—हो जाय, इसमें क्या आपत्ति है?

प्रश्न—इस न्यायसे तो सभीकी मुक्ति सम्भव है।

उत्तर—ठीक है, किन्तु मोक्षका अधिकारी केवल मनुष्य ही है। मनुष्योंमें भी लाखों-करोड़ोंमें किसी एकको ही मुक्ति होती है।

भगवान् कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७। ३)

'हे अर्जुन! हजारों मनुष्योंमें कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मेरेको तत्त्वसे जानता है अर्थात् यथार्थ मर्मसे जानता है।' इसलिये सभीका मुक्त हो जाना असम्भव-सा है।

प्रश्न—असम्भव-सा होनेपर भी न्यायसे किसी-न-किसी दिन सबकी मुक्ति हो तो सकती है, क्योंकि इसमें तो कोई रुकावट नहीं है?

उत्तर—रुकावटकी क्या आवश्यकता है? तथा न्याय भी नहीं है, क्योंकि सभीका समान अधिकार है।

प्रश्न—तब तो एक दिन सृष्टिकी समाप्ति भी हो सकती है?

उत्तर—ऐसा होना असम्भव-सा है, क्योंकि जीव असंख्य हैं, तथापि सब जीवोंका मोक्ष हो भी जाय तो इसमें क्या आपत्ति है?

प्रश्न—यदि ऐसा न्याय होता तो अबसे पहले ही सृष्टि समाप्त हो जानी चाहिये थी?

उत्तर—नहीं भी हुई तो सिद्धान्तमें क्या हानि है?

प्रश्न—इस सिद्धान्तसे सृष्टिकी समाप्ति हो तो सकती है?

उत्तर—ठीक है, यदि हो जाय तो बहुत ही उत्तम है। इसीलिये महान् पुरुष सबके कल्याणके लिये कोशिश करते हैं।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

'सभी सुखी तथा सभी नीरोग होवें, सभी कल्याणका अनुभव करें, कोई भी जीव दुःखभागी न बनें अर्थात् दुःखी न हों।'

प्रश्न—यदि मुक्तिको प्राप्त जीव वापस आता है यह बात मान ली जाय तो क्या हानि है?

उत्तर—इस प्रकार माननेवालेकी नित्यमुक्ति नहीं होती क्योंकि वापिस आनेकी भावना रहनेसे साधक सदाके लिये मुक्त नहीं हो सकता।

* 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा पंच क्लेशाः।' (योगसूत्र २। ३) अर्थात् अज्ञान, अहंता (चिद्‌जडग्रन्थि) राग, द्वेष और मरणभय—ये पाँच क्लेश हैं।

प्रश्न—मुक्ति कितने प्रकारकी होती है?

उत्तर—दो प्रकारकी। एक सद्योमुक्ति, दूसरी क्रममुक्ति। विज्ञान-आनन्दघन ब्रह्ममें तद्रूप हो जाना सद्योमुक्ति है और अर्चि-मार्गके द्वारा परमात्माके धामविशेषमें जाना क्रममुक्ति है।

प्रश्न—क्रममुक्ति कितने प्रकारकी है?

उत्तर—चार प्रकारकी है। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य।

(क) नित्यधाममें जाकर वास करना सालोक्यमुक्ति है।

(ख) सगुण भगवान्‌के समीप रहना सामीप्यमुक्ति है।

(ग) भगवान्‌के सदृश स्वरूप धारणकर रहना सारूप्यमुक्ति है।

(घ) सगुण भगवान्‌में लय हो जाना सायुज्यमुक्ति है।

प्रश्न—मुक्तिका उपाय क्या है?

उत्तर—तत्त्वज्ञान।

प्रश्न—तत्त्वज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर—परमात्माको यथार्थरूपसे जैसा है वैसा ही जाननेका नाम तत्त्वज्ञान है।

गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(१८। ५५)

'हे अर्जुन! उस परा भक्तिके द्वारा मेरेको तत्त्वसे भली प्रकार जानता है कि मैं जो और जिस प्रभाववाला हूँ तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रवेश हो जाता है।'

प्रश्न—तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके अनेक साधन शास्त्रोंमें वर्णित हैं उनमें सच्चा मार्ग कौन-सा है?

उत्तर—सभी सच्चे हैं।

प्रश्न—प्रधानतया कितने मार्ग हैं?

उत्तर—तीन उपाय प्रधान हैं। भक्तियोग, सांख्योग और निष्काम कर्मयोग।

यथा—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

(गीता १३। २४)

'हे अर्जुन! परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानयोगके द्वारा यानी भक्तियोगके द्वारा हृदयमें देखते हैं तथा अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा देखते हैं और अपर कितने ही निष्काम कर्मयोगके द्वारा देखते हैं।'

प्रश्न—भक्तियोग किसे कहते हैं?

उत्तर—परमेश्वरके स्वरूपको निष्काम प्रेमभावसे नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेका नाम भक्तियोग है।

प्रश्न—वह चिन्तन विज्ञान-आनन्दघन निर्गुण ब्रह्मका करना चाहिये या सगुणका?

उत्तर—वास्तवमें तो निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन हो ही नहीं सकता, सगुणका ही होता है, किन्तु निर्गुणकी भावनासे उस विज्ञान-आनन्दघन निराकार ब्रह्मका जो चिन्तन किया जाता है वह निर्गुणका ही समझा जाता है।

प्रश्न—सगुण ब्रह्मका ध्यान साकारका करना चाहिये या निराकारका?

उत्तर—साधकको इच्छापर निर्भर है। निराकारका करे या साकारका करे, किन्तु निष्काम प्रेमभावसे निरन्तर करना ही शीघ्र लाभदायक होता है।

प्रश्न—सांख्ययोग किसका नाम है?

उत्तर—मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं—ऐसे समझकर तथा मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमानन्दमें एकीभावसे नित्य स्थित रहनेका नाम सांख्ययोग है।

प्रश्न—निष्काम कर्मयोगका क्या स्वरूप है?

उत्तर—फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार केवल भगवत्-प्रीत्यर्थ कर्म करनेका नाम निष्काम कर्मयोग है। यह दो प्रकारका होता है, एक भक्तिप्रधान, दूसरा कर्मप्रधान।

प्रश्न—भक्तिप्रधानका क्या लक्षण है?

उत्तर—निष्काम प्रेमभावसे हर समय भगवान्‌का चिन्तन करते हुए भगवत्-आज्ञानुसार केवल भगवत्प्रीत्यर्थ ही कर्म करनेका नाम भक्ति-प्रधान निष्काम कर्मयोग है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

(गीता १८। ५७)

'हे अर्जुन! तू सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्व-बुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगको अवलम्ब करके निरन्तर मेरेमें चित्तवाला हो।'

प्रश्न—कर्मप्रधानका क्या स्वरूप है?

उत्तर—कर्मप्रधानमें भी भक्ति रहती है किन्तु वह सामान्य भावसे रहती है। फल और आसक्तिको त्याग कर भगवदाज्ञानुसार समत्व बुद्धिसे कर्म करनेका नाम कर्मप्रधान निष्काम कर्मयोग है।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २। ४८)

'हे धनंजय! आसक्तिको त्याग कर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको कर। यह समत्व भाव ही योग नामसे कहा जाता है।'

प्रश्न—परलोक है या नहीं?

उत्तर—अवश्य है।

प्रश्न—क्या प्रमाण है?

उत्तर—श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण स्थल-स्थलमें घोषित कर रहे हैं।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

(क० उ० १। २। ६)

'जो धनके मोहसे मोहित हो रहा है, ऐसे प्रमादी, मूढ़, अविवेकी पुरुषको परलोकमें श्रद्धा नहीं होती। यह लोक ही है परलोक नहीं है इस प्रकार माननेवाला वह मूढ़ मुझ मृत्युके वशमें बार-बार पड़ता है अर्थात् पुनः-पुनः जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है।'

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

(गीता १४। १८)

'सत्त्वगुणमें स्थित हुए पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं और रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं एवं तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित हुए तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं, इत्यादि शास्त्रोंमें कर्मानुसार परलोककी प्राप्तिके जगह-जगह प्रमाण मिलते हैं किन्तु लेखका कलेवर बढ़ जानेके संकोचसे तथा यह बात प्रसिद्ध ही है, इसलिये शास्त्रोंके विशेष प्रमाणोंका उल्लेख नहीं किया गया।

प्रश्न—युक्तिप्रमाण दीजिये।

उत्तर—प्राणियोंके गुण, कर्म, स्वभाव, जाति, आयु, सुख, दुःखादि भोगोंकी परस्पर भिन्नता देखनेसे भूत और भविष्यत्-जन्मकी सिद्धि होती है।

(क) बालक जन्मते ही रोता है, जन्मनेके बाद कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी सोता है, जब माता मुखमें स्तन देती है तब दूधको खींचता है और भयसे काँपता हुआ भी नजर आता है इत्यादि—उस बालकके आचरण पूर्वजन्मका लक्ष्य कराते हैं। क्योंकि इस जन्ममें तो उसने उपर्युक्त शिक्षाएँ प्राप्त की नहीं। पूर्वजन्मके अभ्याससे ही यह सब बातें उसमें स्वाभाविक ही प्रतीत होती हैं।

(ख) एक ही कालमें कोई मनुष्य, कोई पशु, कोई कीट, कोई पतंग इत्यादि योनियोंमें जन्म लेते हैं, उनमें भी गुण, कर्म, स्वभाव, आयु, सुख-दुःखादि भोग समान नहीं देखे जाते।

(ग) एक देश और एक जातिमें पैदा हुए बालकोंमें भी स्वभाव, आचरण, आयु, सुख-दुःखादि भोग एकके दूसरेकी अपेक्षा अत्यन्त भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं, जैसे एक माताके एक साथ पैदा हुए दो बालकोंमें।

—इत्यादि युक्तियोंसे पूर्व-जन्मकी सिद्धि होती है और पूर्व-जन्मके लिये यह जन्म परलोक है, इससे परलोककी सिद्धि हो चुकी। जबतक इस पुरुषको ज्ञान न होगा तबतक इसी प्रकार गुण, कर्म और स्वभावके अनुसार भावी जन्म होते रहेंगे।

प्रश्न—परलोक न माननेसे क्या हानि है?

उत्तर—पशुओंकी अपेक्षा भी अधिक उच्छृंखलता आ जायगी और उच्छृंखल मनुष्यमें झूठ, कपट, चोरी, जारी, हिंसा आदि पाप-कर्मोंकी एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि अवगुणोंकी वृद्धि होकर उसका पतन हो जाता है जिसके परिणाममें वह महान् दुःखी बन जाता है।

प्रश्न—परलोकको माननेसे लाभ क्या है?

उत्तर—परलोक सत्य है और सत्य बातको सत्य माननेमें ही कल्याण है, क्योंकि आत्मा नित्य है, शरीरके नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता (गीता २। २०) इसलिये इस जन्ममें किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल अगले जन्ममें अवश्य ही भोगना पड़ता है। जब वास्तवमें इस प्रकारका निश्चय हो जायगा तब मनुष्य जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधिके दुःखोंसे छूटनेके लिये निष्कामभावसे यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि उत्तम कर्मोंके तथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि ईश्वरकी उपासनाके द्वारा सम्पूर्ण दुराचार, दुर्गुण एवं दुःखोंसे मुक्त होकर उस विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जायगा, इसलिये परलोकको अवश्यमेव मानना चाहिये।

ईश्वर-तत्त्व

प्रश्न—सर्वज्ञ, सर्वेश, सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी आदि शब्दोंसे जिस ईश्वरका संकेत किया जाता है वह ईश्वर किसका ज्ञाता, ईश और अन्तर्यामी आदि है? जिसका ज्ञाता ईश आदि है, उसका नामरूप क्या है? वह उससे भिन्न है या नहीं?

उत्तर—विज्ञानानन्द ब्रह्म अनादि और अनन्त है, उसके किसी एक अंशमें त्रिगुणमयी मायासहित जड-चेतनमय यह समस्त संसार है। ब्रह्मके जिस अंशमें यह संसार है, उस अंशको सगुण ब्रह्म और जिस अंशमें संसार नहीं है उसको निर्गुण ब्रह्म कहते हैं। उस सगुण ब्रह्मको ही सर्वज्ञ, सर्वेश, सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी आदि शब्दोंसे संकेत किया जाता है। वही इस मायासहित जड-चेतन सम्पूर्ण संसारका ज्ञाता, ईश और अन्तर्यामी है; उसीके सकाशसे मन मनन करता है, बुद्धि निश्चय करती है और सम्पूर्ण संसार प्रकाशित होता है। वह अनन्त है, अपार है, अनादि है, अचल है, ध्रुव है, नित्य है, सत्य और आनन्दमय है।

माया जड और विकारी है, मायाको ही प्रकृति कहते हैं। यह प्रकृति परमेश्वरकी शक्ति है और उसीके अधीन है। इसके दो भेद हैं—विद्या और अविद्या। जिसके द्वारा सत्-असत् समस्त वस्तुएँ यथार्थरूपसे जाननेमें आती हैं उस ज्ञानशक्तिका नाम विद्या है; और जिसके द्वारा आवृत हुए सारे जीव मोहित हो रहे हैं उसका नाम अविद्या है। इस अविद्याका नाश उपर्युक्त विद्यासे ही होता है। चौबीस तत्त्वोंमें विभक्त हुआ जड संसार प्रकृतिका ही विस्तार या कार्य (विकार) है। मूल-प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार और अहंकारसे पंचतन्मात्राओंकी उत्पत्ति होती है; फिर अहंकारसे मन और पंचतन्मात्राओंसे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच स्थूल महाभूतोंकी उत्पत्ति होती है।* इस प्रकार मूलप्रकृतिसहित चौबीस तत्त्व माने गये हैं।

मायाके द्वारा आवृत हुए व्यष्टि चेतनको जीव कहते हैं। ये जीव मायाके सम्बन्धसे नाना और असंख्य हैं। परमेश्वरका अंश होनेपर भी मायाके साथ सम्बन्ध रहनेके कारण इसकी जीव-संज्ञा मानी गयी है और मायाका यह सम्बन्ध अनादि एवं सान्त है। उस मायाके अविद्या अंश यानी अज्ञानसे जीव मोहित है। विद्याके द्वारा अविद्याका नाश होनेसे जीव परमात्माको प्राप्त हो जाता है और जैसे ईंधनको जलाकर अग्नि स्वयं शान्त हो जाता है वैसे ही अविद्या या अज्ञानका नाश करके विद्या या ज्ञान भी शान्त होता है। तब मायासे रहित जीव केवल अवस्थाको अर्थात् सच्चिदानन्दघन परमात्मामें तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है।

जीव-समुदायके भी दो भेद हैं—स्थावर और जंगम। देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि चलनेवाले जीवोंको जंगम एवं वृक्ष, लता, पर्वत आदि स्थिर रहनेवाले जीवोंको स्थावर कहा गया है।

इस जड-चेतनमय संसारसे परमेश्वर भिन्न भी है और अभिन्न भी। जैसे पुरुषसे स्वप्नकी सृष्टि है और आकाशसे वायु। वायुकी उत्पत्ति आकाशसे होती है और उसका आधार भी आकाश है। आकाशसे उत्पन्न होनेके कारण वायु उससे अभिन्न है; और आकाशमें आकाशसे अलग होकर रहती हुई प्रतीत होनेसे उससे भिन्न भी है। इसी प्रकार जिस पुरुषको स्वप्न आता है, उसीसे स्वप्नसृष्टिकी उत्पत्ति होती है और वही उस स्वप्नके संसारका आधार है। पुरुषसे ही उत्पन्न होनेसे स्वप्न उससे अभिन्न है और स्वप्न-कालमें पृथक् प्रतीत होनेके कारण भिन्न भी है। इसी तरह सगुण ब्रह्म परमेश्वर अभिन्न निमित्तोपादान-कारण होते हुए ही भिन्न और अभिन्न है तथा वही ईश, ज्ञाता, व्यापक और अन्तर्यामी है। जीवको स्वप्न-सृष्टिकी प्रतीति मोहसे होती है और ईश्वरको सृष्टिकी प्रतीति अपनी योगशक्ति या लीलासे होती है। ईश्वर स्वतन्त्र है और जीव परतन्त्र है।

प्रश्न—आवरण या बन्धन है या नहीं? यदि है तो किसको है? और वह स्वाभाविक है या आगन्तुक? यदि स्वाभाविक है तो उससे मुक्ति कैसी और आगन्तुक है तो फिर भी हो सकता है? आवरण किसको कहते हैं और वह आवरण किसको है?

उत्तर—आवरण या बन्धन है भी और नहीं भी है। जिसको संसार भिन्नरूपसे प्रतीत होता है उसको बन्धन है और जिसको नहीं होता उसको नहीं है। यह बन्धन न स्वाभाविक है और न आगन्तुक, परन्तु अनादि सान्त है। आवरण या बन्धन अज्ञान या अविद्याको कहते हैं। यह आवरण मायामोहित जीवको है। इसलिये इस बन्धनसे छूटनेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये। बन्धनसे छूटनेका उपाय है तत्त्वज्ञान, जो सांख्ययोग, भक्तियोग, निष्काम कर्मयोग आदि साधनोंसे प्राप्त होता है।

---

* श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना और नासिका—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है। हाथ, पैर, मुख, गुदा और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धतन्मात्रा—ये पंचतन्मात्राएँ हैं। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पंच महाभूत हैं।

प्रश्न—पूजा कौन करता है और किसकी करता है? ब्रह्म देश, काल, निमित्तके परे है या नहीं? यदि नहीं तो वह बद्ध है और यदि हाँ तो वह असाध्य है। वह पूजा कैसी और उससे क्या लाभ?

उत्तर—पूजा जीव करता है और परमेश्वरकी करता है। ब्रह्म देश, काल, निमित्तसे परे भी है और अंदर भी है। क्योंकि देश, काल, निमित्त आदि सब उस ब्रह्मके किसी अंशमें हैं और उसीके अधीन हैं, अतएव वह उनसे बद्ध नहीं है। उसकी पूजा आदि अवश्य करनी चाहिये। पूजाके दो प्रकार हैं—

(क) सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर सम्पूर्ण चराचर जीवोंका आत्मा है इसलिये सम्पूर्ण चराचर जीवोंको परमेश्वरका स्वरूप समझ फलासक्तिको त्यागकर, निष्कामप्रेमभावसे, अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार, कर्मोंद्वारा उनका सेवा-सत्कार करना उस सर्वव्यापी निराकार ब्रह्मकी पूजा है। भगवान्ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

'जिस परमात्मासे सर्वभूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्व जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।'

(ख) अपने-अपने भाव और रुचिके अनुसार उसी सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन परमात्माकी, शिव, विष्णु आदि किसी भी एककी मानसिक या पार्थिव-प्रतिमाको निमित्त बनाकर, उस परमेश्वरके प्रभावको समझते हुए श्रद्धा और प्रेमभावसे शास्त्रविधिके अनुसार, पत्र-पुष्पादिसे उसकी अर्चना करना साकार परमेश्वरकी पूजा है। (गीता ९। २६)

इस प्रकार पूजा करनेसे मनुष्य इस दुःखरूप संसार-बन्धनसे सदाके लिये छूटकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

मैं कौन हूँ और मेरा क्या कर्तव्य है?

प्रत्येक मनुष्यको विचार करना चाहिये कि 'मैं कौन हूँ' और 'मेरा क्या कर्तव्य है?' मैं नाम, रूप—देह, इन्द्रिय, मन या बुद्धि हूँ या इनसे कोई भिन्न वस्तु हूँ? विचारपूर्वक निर्णय करनेसे यही बात ठहरती है कि मैं नाम नहीं हूँ, मुझे आज जयदयाल कहते हैं परन्तु जब प्रसव हुआ था उस समय इसका नाम जयदयाल नहीं था। यद्यपि मैं मौजूद था। घरवालोंने कुछ दिन बाद नामकरण किया। उन्होंने उस समय जयदयाल नाम न रखकर महादयाल रखा होता तो आज मैं महादयाल कहलाता और अपनेको महादयाल ही समझता! मैं न पूर्वजन्ममें जयदयाल था, न गर्भमें जयदयाल था और न शरीरनाशके बाद जयदयाल रहूँगा। यह तो केवल घरवालोंका निर्देश किया हुआ सांकेतिक नाम है। यह नाम एक ऐसा कल्पित है कि जो चाहे जब बदला जा सकता है और उसीमें उसका अभिमान हो जाता है। जो विवेकवान् पुरुष इस रहस्यको समझ लेता है कि मैं नाम नहीं हूँ, वह नामकी निन्दा-स्तुतिसे कदापि सुखी-दुःखी नहीं होता। जब वह मनुष्य 'नाम' की निन्दा-स्तुतिमें सम नहीं है, निन्दा-स्तुतिसे सुखी-दुःखी होता है तब वह नाम न होनेपर भी 'नाम' बना बैठा है, जो सर्वथा भ्रमपूर्ण है। जो इस रहस्यको जान लेता है उसमें इस भ्रमकी गन्धमात्र भी नहीं रहती। इसीलिये श्रीभगवान्ने तत्त्ववेत्ता पुरुषोंके लक्षणोंको बतलाते हुए उन्हें निन्दा और स्तुतिमें सम बतलाया है—

'तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी' (गीता १२। १९)
'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' (गीता १४। २४)

फिर यह प्रसिद्ध भी है कि जयदयाल 'मेरा' नाम है 'मैं' जयदयाल नहीं हूँ। इससे यह सिद्ध हुआ नाम 'मैं' नहीं हूँ।

इसी प्रकार रूप—देह भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि देह जड है और मैं चेतन हूँ, देह क्षय, वृद्धि, उत्पत्ति और विनाशधर्मवाला है, मैं इनसे सर्वथा रहित हूँ। बालकपनमें देहका और ही स्वरूप था, युवापनमें दूसरा था और अब कुछ और ही है, किन्तु मैं तीनों अवस्थाओंको जाननेवाला तीनोंमें एक ही हूँ। किसी पुरुषने मुझको बाल्यावस्थामें देखा था, अब वह मुझसे मिलता है तो मुझे पहचान नहीं सकता। देहका रूप बदल गया। शरीर बढ़ गया, मूँछें आ गयीं इससे वह नहीं पहचानता। किन्तु मैं पहचानता हूँ, मैं उससे कहता हूँ, आपका शरीर युवावस्थासे वृद्ध होनेके कारण उसमें कम अन्तर पड़ा है, इससे मैं आपको पहचानता हूँ। मैंने आपको अमुक जगह देखा था। उस समय मैं बालक था, अब मेरे शरीरमें बहुत परिवर्तन हो गया, अतः आप मुझे नहीं पहचान सके। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर 'मैं' नहीं हूँ। किन्तु 'शरीर मैं हूँ' ऐसा अभिमान भी पूर्वोक्त नामके समान ही सर्वथा भ्रमपूर्ण है। जो पुरुष इस रहस्यको जानते हैं वे शरीरके मानापमान और सुख-दुःखमें सर्वथा सम रहते हैं। क्योंकि वे इस बातको समझ जाते हैं कि मैं शरीरसे सर्वथा पृथक् हूँ। इसीलिये तत्त्ववेत्ताओंके लक्षणोंमें भगवान् कहते हैं—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
(गीता १२। १८)

'मानापमानयोस्तुल्यः' (गीता १४। २५)

'समदुःखसुखः स्वस्थः' (गीता १४। २४)

अतएव विचार करनेसे यह प्रत्यक्ष सिद्ध होता है कि यह जड शरीर भी मैं नहीं हूँ, मैं इस शरीरका ज्ञाता हूँ; और प्रसिद्धि भी यही है कि शरीर 'मेरा' है। मनुष्य भ्रमसे ही शरीरमें आत्माभिमान करके इसके मानापमान और सुख-दुःखसे सुखी-दुःखी होता है।

इसी तरह इन्द्रियाँ भी मैं नहीं हूँ। हाथ-पैरोंके कट जाने, आँखें नष्ट हो जाने और कानोंके बहरे हो जानेपर भी मैं ज्यों-का-त्यों पूर्ववत् रहता हूँ, मरता नहीं। यदि मैं इन्द्रिय होता तो उनके विनाशमें मेरा विनाश होना सम्भव था। अतएव थोड़ा-सा भी विचार करनेपर यह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि मैं जड इन्द्रिय नहीं हूँ वरं इन्द्रियोंका द्रष्टा या ज्ञाता हूँ।

इसी प्रकार मैं मन भी नहीं हूँ। सुषुप्तिकालमें मन नहीं रहता परन्तु मैं रहता हूँ। इसीलिये जागनेके बाद मुझको इस बातका ज्ञान है कि मैं सुखसे सोया था। मैं मनका ज्ञाता हूँ। दूसरोंकी दृष्टिमें भी मनके अनुपस्थितिकालमें (सुषुप्ति या मूर्च्छित अवस्थामें) मेरी जीवित सत्ता प्रसिद्ध है। मन विकारी है, इसमें भाँति-भाँतिके संकल्प-विकल्प होते रहते हैं। मनमें होनेवाले इन सभी संकल्प-विकल्पोंका मैं ज्ञाता हूँ। खान, पान, स्नान आदि करते समय यदि मन दूसरी ओर चला जाता है तो उन कर्मोंमें कुछ भूल हो जाती है, फिर सचेत होनेपर मैं कहता हूँ, मेरा मन दूसरी जगह चला गया था इस कारण मुझसे भूल हो गयी। क्योंकि मनके बिना केवल शरीर और इन्द्रियोंसे सावधानीपूर्वक काम नहीं हो सकता। अतएव मन चंचल और चल है परन्तु मैं स्थिर और अचल हूँ। मन कहीं भी रहे, कुछ भी संकल्प-विकल्प करता रहे, मैं उसको जानता रहता हूँ, अतएव मैं मनका ज्ञाता हूँ, मन नहीं हूँ।

इसी तरह मैं बुद्धि भी नहीं हूँ, क्योंकि बुद्धि भी क्षय और वृद्धि-स्वभाववाली है। मैं क्षय-वृद्धिसे सर्वथा रहित हूँ। बुद्धिमें मन्दता, तीव्रता, पवित्रता, मलिनता आदि भी विकार होते हैं, परन्तु मैं इन सबसे रहित और इन सब स्थितियोंको जाननेवाला हूँ। मैं कहता हूँ उस समय मेरी बुद्धि ठीक नहीं थी, अब ठीक है। बुद्धि कब क्या विचार रही है और क्या निर्णय कर रही है इसको मैं जानता हूँ। बुद्धि दृश्य है, मैं उसका द्रष्टा हूँ। अतएव बुद्धिका मुझसे पृथक्त्व सिद्ध है, मैं बुद्धि नहीं हूँ।

इस प्रकार मैं नाम, रूप—देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि प्रभृति नहीं हूँ। मैं इन सबसे सर्वथा अतीत, इनसे सर्वथा पृथक्, चेतन, साक्षी, सबका ज्ञाता, सत्, नित्य, अविनाशी, अविकारी, अक्रिय, सनातन, अचल और समस्त सुख-दुःखोंसे रहित केवल शुद्ध आनन्दमय आत्मा हूँ। यही मैं हूँ। यही मेरा सच्चा स्वरूप है। क्लेश[१], कर्म और सम्पूर्ण दुःखोंसे विमुक्त होकर परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्य-शरीरकी प्राप्ति हुई है। इस परम शान्ति और परमानन्दको प्राप्त करना ही मनुष्यका एकमात्र कर्तव्य है। मनुष्य-शरीरके बिना अन्य किसी भी देहमें इसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस स्थितिकी प्राप्ति तत्त्वज्ञानसे होती है और वह तत्त्वज्ञान विवेक, वैराग्य, विचार, सदाचार और सद्‌गुण आदिके सेवनसे होता है। और इन सबका होना इस घोर कलिकालमें ईश्वरकी दयाके बिना सम्भव नहीं। यद्यपि ईश्वरकी दया सम्पूर्ण जीवोंपर पूर्णरूपसे सदा-सर्वदा है; किन्तु बिना उनकी शरण हुए उस दयाके रहस्यको मनुष्य समझ नहीं सकता। एवं दयाके तत्त्वको समझे बिना उस दयाके द्वारा होनेवाले लाभको वह प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारसे ईश्वरके शरण होकर उनकी दयाके रहस्यको समझकर उससे पूर्ण लाभ उठाना चाहिये। ईश्वरकी शरणसे ही हमें परम शान्ति मिल सकती है। श्रीभगवान् कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(गीता १८। ६२)

'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्ति और सनातन परमधामको प्राप्त होगा।'

जब यह मनुष्य परमेश्वरके शरण[२] होकर परमेश्वरके तत्त्वको जान जाता है, तब उस परमेश्वरकी कृपासे अज्ञान नाश होकर वह परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है। जैसे निद्राके नाशसे मनुष्य जाग्रत्‌को, दर्पणके नाशसे प्रतिबिम्ब बिम्बको तथा घटके फूटनेसे घटाकाश महाकाशको प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार अज्ञानके नाशसे यह जीवात्मा विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। जब यह साधक नाम, रूप—देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिसे अपनेको सर्वथा पृथक् समझ लेता है, तब यह ईश्वरकी शरण और कृपासे,

१- अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः (योग० २। ३) अज्ञान, चिज्जडग्रन्थि, राग, द्वेष और मरणभय—ये पाँच क्लेश हैं।

२- शरणका सार अर्थ है श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे प्रभुकी आज्ञाका पालन करना, गुण और प्रभावसहित उसके स्वरूपका चिन्तन करना, एवं हमारे कर्मोंके अनुसार परमेश्वरकृत सुख-दुःखादि विधानमें सर्वथा समचित्त रहना।

देहादि सम्बन्धसे होनेवाले समस्त क्लेशों और पापोंसे सदाके लिये सर्वथा मुक्त हो जाता है, एवं विज्ञानानन्दघन परमात्माका सनातन अंश होनेके कारण सदाके लिये उस विज्ञानानन्दघन प्रभुको प्राप्त हो जाता है। प्रभुको प्राप्त करनेके लिये अनन्यभावसे इस प्रकार प्रयत्न करना और प्रभुको प्राप्त हो जाना ही मनुष्यका परम कर्तव्य है।

सांख्ययोग और कर्मयोग

गीता अध्याय ५ श्लोक ५में भगवान् कहते हैं—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है निष्काम कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है, इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोगको एक देखता है वही यथार्थ देखता है।' परन्तु इस विषयमें यह शंका होती है कि यहाँ भगवान् सांख्य और योगके फलको एक कहते हैं या दोनोंका सिद्धान्त ही एक बतलाते हैं। यदि फल एक कहते हैं तो सिद्धान्त भिन्न-भिन्न होनेसे फल एक कैसे हो सकता है और यदि दोनोंका सिद्धान्त ही एक कहा जाय तो उचित नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि योग और सांख्यके सिद्धान्तमें परस्पर बड़ा अन्तर है।

योगके सिद्धान्तमें फलासक्तिको त्यागकर मनुष्य ईश्वरके लिये कर्म करता है तो भी उसमें कर्तापनका अभिमान रहता है।

सांख्यके सिद्धान्तसे कर्मका कर्ता मनुष्य नहीं है, उसके द्वारा कर्म होते हैं तो भी उन कर्मोंमें उस पुरुषका अभिमान नहीं रहता, वह तो केवल साक्षीमात्र ही रहता है।

कर्मयोगी अपनेको, ईश्वरको तथा कार्यसहित प्रकृतिको पृथक्-पृथक् तीन सत्य पदार्थ मानता है; परन्तु सांख्ययोगी ईश्वरकी सत्ताको अपनेसे अलग नहीं मानता, केवल एक आत्मसत्ता ही है ऐसे मानता है तथा विकारसहित प्रकृतिको अन्तवन्त यानी नाशवान् मानता है। अतएव दोनोंका सिद्धान्त भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, फिर सांख्य और योगको यहाँ किस विषयमें एक बतलाया गया है?

उपर्युक्त शंकाका उत्तर यह है—

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
(गीता ५। ४)

'सांख्य और योग इन दोनोंमेंसे एकमें भी अच्छी प्रकारसे स्थित हुआ पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है।' परमात्माकी प्राप्तिरूप फल दोनोंका एक ही है। परमधाम, परमपद और परमगतिकी प्राप्ति भी इसीको कहते हैं।

इससे यह बात सिद्ध हुई कि सांख्य और योग इन दोनों साधनोंका फल एक होनेके कारण इन्हें एक कहा है। फल एक होनेसे सिद्धान्त भी एक ही होना चाहिये, यह ठीक है परन्तु यह कोई नियम नहीं है। मार्ग (साधन) और लक्ष्य भिन्न-भिन्न भी हो सकते हैं।

जैसे एक ही ग्रामको जानेके लिये अनेक रास्ते होते हैं, किसी रास्तेसे जाइये, परिणाम सबका एक ही होता है। जैसे किसी एक देश (अमेरिका)-को जानेवालोंमें एक तो अपनी दिशा (भारतवर्ष)-से पश्चिम-ही-पश्चिम जाता है और दूसरा पूर्व-ही-पूर्व जाता है; किन्तु चलते-चलते अन्तमें दोनों ही वहाँ पहुँच जाते हैं। रास्ता भिन्न-भिन्न होनेके कारण परस्पर एकसे दूसरेका बड़ा अन्तर मालूम होता है; परन्तु उस देशमें पहुँचनेपर वह अन्तर नहीं रहता।

इस प्रकार एक ग्रामको जानेके लिये जैसे अनेक मार्ग होते हैं, वैसे ही एक कार्यकी सिद्धिके लिये साधन भी अनेक हो सकते हैं।

जैसे सूर्य और चन्द्रग्रहणको सिद्ध करनेवाले पुरुषोंमें एक पक्ष तो कहता है कि पृथ्वी स्थिर है, सूर्य और चन्द्रमा चलते हैं और दूसरा कहता है कि पृथ्वी भी चलती है। दोनोंका मत भिन्न-भिन्न होनेके कारण एकसे दूसरेका बड़ा अन्तर है, किन्तु फल दोनोंका एक होता है।

इसलिये साधन और मतकी अत्यन्त भिन्नता होनेपर भी दोनोंका उद्देश्य और परिणाम एक ईश्वरकी प्राप्ति होनेसे वह एक ही है।

अब सांख्य[1] और कर्मयोग[2] की एकताके विषयमें लिखा जाता है। उपासना दोनों ही साधनोंमें रहती है। उपासनारहित ज्ञान और कर्मयोग वैसे ही शुष्क हैं, जैसे बिना जलके नदी।

गीताके अनुसार सांख्ययोगीकी निष्ठामें विज्ञानानन्दघन केवल एक आत्मतत्त्व ही अनादि, नित्य और सत्य है। उस विज्ञानानन्दघनके संकल्पके आधारपर एक अंशमें संसारकी प्रतीति होती है जैसे निर्मल आकाशके किसी एक अंशमें

१- २. गीतोक्त सांख्य और कर्मयोगको महर्षि कपिलप्रणीत सांख्यदर्शनसे तथा महर्षि पतंजलिप्रणीत योगदर्शनसे भिन्न समझना चाहिये।

बादलकी। इसलिये सांख्ययोगी विशुद्ध बुद्धिसे युक्त होकर शोक, भय, राग-द्वेष, ममता, अहंकार और परिग्रहसे रहित हुआ पवित्र और एकान्तदेशका सेवन करता है एवं मन, वाणी तथा शरीरको वशमें किये हुए, सम्पूर्ण भूतोंमें समभाव होकर आत्मतत्त्वका विवेचन करता हुआ प्रशान्त-चित्तसे परमात्माके स्वरूपका एकीभावसे इस प्रकार ध्यान करता है कि एक आनन्दघन विज्ञानस्वरूप पूर्णब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण है। उससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उस ब्रह्मका ज्ञान भी उस ब्रह्मको ही है। वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है, उसका कभी अभाव नहीं होता। इसलिये उसे सत्य, सनातन और नित्य कहते हैं। वह सीमारहित, अपार और अनन्त है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि जो भी कुछ है, सब ब्रह्मस्वरूप ही है। वास्तवमें एक पूर्णब्रह्म परमात्माके सिवा अन्य कोई भी वस्तु नहीं है।

वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा 'पूर्ण-आनन्द' 'अपार-आनन्द' 'शान्त-आनन्द' 'घन-आनन्द' 'बोधस्वरूप-आनन्द' 'ज्ञानस्वरूप-आनन्द' 'परम-आनन्द' 'नित्य-आनन्द' 'सत्-आनन्द' 'चेतन-आनन्द' 'आनन्द-ही-आनन्द' है। एक 'आनन्द' के सिवा और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार मनन करते-करते जब मनके समस्त संकल्प उस परमात्मामें विलीन हो जाते हैं, जब एक बोधस्वरूप, आनन्दघन परमात्माके सिवा अन्य किसीके भी अस्तित्वका संकल्प ही नहीं रहता, तब उसकी स्थिति उस आनन्दमय अचिन्त्य परमात्मामें निश्चल हो जाती है। इस प्रकारसे ध्यानका नित्य नियमपूर्वक अभ्यास करते-करते साधन परिपक्व होनेपर जब साधकके ज्ञानमें उसकी अपनी तथा इस संसारकी सत्ता ब्रह्मसे भिन्न नहीं रहती, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी कुछ एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मस्वरूप बन जाते हैं, तब वह कृतार्थ हो जाता है।

सांख्ययोगी व्यवहारकालमें चौबीस तत्त्वोंवाले* क्षेत्रको जड़, विकारी, नाशवान् और अनित्य समझता है और सम्पूर्ण क्रिया—कर्मोंको प्रकृतिके कार्यरूप उस क्षेत्रसे ही किये हुए समझता है अर्थात् इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बर्त रही हैं इस प्रकार समझता है। एवं नित्य, चेतन, अविनाशी आत्माको निर्विकार, अकर्ता तथा शरीरसे विलक्षण समझता है। यों समझकर वह सांख्ययोगी मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर कर्म करता हुआ भी कर्मोंद्वारा नहीं बँधता।

वह सम्पूर्ण भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको केवल एक परमात्माके संकल्पके आधार स्थित देखता है और उस परमात्माके संकल्पसे सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिके विस्तारको देखता है। इस प्रकार अभ्यास करते-करते अभ्यासके परिपक्व होनेसे वह ब्रह्मको एकीभावसे प्राप्त हो जाता है। यानी वह उस ब्रह्मको तद्रूपतासे प्राप्त हो जाता है। जैसे गीतामें भगवान्ने कहा है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
(५। १७)

'हे अर्जुन! तद्रूप है बुद्धि जिनकी, तद्रूप है मन जिनका और उस सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही है निरन्तर एकीभावसे स्थिति जिनकी ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानद्वारा पापरहित हुए अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं।'

ब्रह्मको प्राप्त होनेके बाद पुरुषकी जो स्थिति होती है, उसके विषयमें कुछ भी लिखना वस्तुतः बड़ा ही कठिन है। तथापि साधु, महात्मा और शास्त्रोंके द्वारा यत्किंचित् जो कुछ समझमें आया है, वह पाठकोंकी जानकारीके लिये लिखा जाता है, त्रुटियोंके लिये विज्ञजन क्षमा करें।

जैसे मनुष्य, बादलोंके पृथक्-पृथक् विकारके कारण, प्रतीत होनेवाले पृथक्-पृथक् आकाशके खण्डोंको बादलोंके नाश हो जानेपर उस एक अनन्त निर्मल महाकाशके अन्तर्गत ही देखता है अर्थात् केवल एक अनन्त निर्मल आकाशके अतिरिक्त कुछ भी नहीं देखता, वैसे ही ज्ञानी महात्मा मायासे उत्पन्न हुए शरीरोंके पृथक्-पृथक् विकारके कारण (अज्ञानसे) प्रतीत होनेवाले भूतों (जीवों)-के पृथक्-पृथक् भावोंको अज्ञानके नाश हो जानेपर उन जीवोंकी नाना सत्ताको केवल उस एक अनन्त, नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माके अन्तर्गत ही देखता है अर्थात् वह केवल एक विशुद्ध, नित्य, विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके सिवा और कुछ भी नहीं देखता। यद्यपि उस ज्ञानीके लिये संसारका अत्यन्त

* महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः॥ (गीता १३। ५)

पाँच महाभूत अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीका सूक्ष्मभाव; अहंकार, बुद्धि और मूल-प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया भी तथा दस इन्द्रियाँ अर्थात् श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध।

अभाव हो जाता है तो भी प्रारब्धके कारण उसके अन्त:करणमें संसारकी प्रतीतिमात्र होती भी है।

जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नकी सृष्टिका उपादान-कारण और निमित्त-कारण अपने-आपको ही देखता है, वैसे ही वह सम्पूर्ण चराचर भूतप्राणियोंका उपादान-कारण[1] और निमित्त-कारण[2] केवल विज्ञानानन्दघन ब्रह्मको ही देखता है; क्योंकि जब एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं रहती, तब वह उस ब्रह्मसे भिन्न किसको कैसे देखे? यही उस परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति है। इसीको परमपद, परमधाम और परमगतिकी प्राप्ति भी कहते हैं।

गीताके अनुसार कर्मयोगकी निष्ठामें प्रकृति यानी माया, जीवात्मा और परमेश्वर यह तीन पदार्थ माने गये हैं। सातवें अध्यायमें भगवान्‌ने मायाके विस्तारको अपरा प्रकृति, जीवात्माको परा और परमेश्वरको अहंके नामसे वर्णन किया है। पंद्रहवें अध्यायमें इन्हीं तीनों पदार्थोंको क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके नामसे कहा है। वे सर्वशक्तिमान् सबके कर्ता-हर्ता, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी परमेश्वर उस नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हैं[3] यानी विज्ञानानन्दघन ब्रह्म भी वही हैं। उन्होंने ही अपनी योगमायाके एक अंशसे सम्पूर्ण संसारको अपनेमें धारण कर रखा है।[4] माया ईश्वरकी शक्ति है तथा जड़, अनित्य और विकारी है एवं ईश्वरके अधीन है तथा जीवात्मा भी ईश्वरका अंश होनेके कारण नित्य विज्ञानानन्दघनस्वरूप है।[5] किन्तु मायामें स्थित होनेके कारण परवश हुआ वह गुण और कर्मोंके अनुसार सुख-दुःखादिको भोगता एवं जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है। परन्तु परमात्माकी शरण होनेसे वह मायासे छुटकारा पाकर परमपदको प्राप्त हो सकता है। गीता अध्याय ७ श्लोक १४ में कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

'क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्‌भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है; परन्तु जो पुरुष मुझको ही निरन्तर भजते हैं, यानी मेरी शरण आ जाते हैं, वे इस मायाको उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

इसलिये कर्मयोगी पवित्र और एकान्त स्थानमें स्थित होकर भी शरीर, इन्द्रिय और मनको स्वाधीन किये हुए परमात्माकी शरण हुआ प्रशान्त और एकाग्र मनसे श्रद्धा और प्रेमपूर्वक परमात्माका ध्यान करता है, ऐसे योगीकी भगवान्‌ने स्वयं प्रशंसा की है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

व्यवहारकालमें कर्मयोगी कर्मोंके फल और आसक्तिको त्यागकर समत्वबुद्धिसे भगवदाज्ञानुसार भगवदर्थ कर्म करता है, इसलिये उसको कर्म नहीं बाँध सकते। क्योंकि राग-द्वेष ही बाँधनेवाले हैं। समत्वबुद्धि होनेसे राग-द्वेषका नाश हो जाता है। इसलिये उसको कर्म नहीं बाँध सकते। ऐसे योगीकी प्रशंसा करते हुए स्वयं भगवान् कहते हैं कि 'उसको नित्य-संन्यासी जानना चाहिये।'

ज्ञेयः स नित्य संन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥

(गीता ५। ३)

'हे अर्जुन! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकांक्षा करता है, वह निष्काम कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है; क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित हुआ पुरुष सुखपूर्वक संसाररूप बन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

भगवत्‌की आज्ञासे भगवदर्थ कर्म किये जानेके कारण उसमें कर्तापनका अभिमान भी निरभिमानके समान ही है। इसलिये वह निष्काम कर्मयोगी व्यवहारकालमें भगवान्‌की शरण होकर निरन्तर भगवान्‌को याद रखता हुआ भगवान्‌के

१-उपादान-कारण उसे कहते हैं, जिससे कार्यकी उत्पत्ति होती है। जैसे घड़ेका उपादान-कारण मिट्टी और आभूषणोंका सुवर्ण है।
२-निमित्त-कारण उसे कहते हैं जिसके द्वारा वस्तुका निर्माण होता है। जैसे घड़ेका निमित्त-कारण कुम्हार और आभूषणोंका सुनार।
३-ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च। शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ (गीता १४। २७)
४-विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ (गीता १०। ४२)
५-ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। (गीता १५। ७)
इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है।
ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

आज्ञानुसार सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌की प्रीतिके लिये ही करता है, जैसे गीता अध्याय १८ श्लोक ५६-५७ में भगवान्‌ने कहा है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

'मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब कर्मोंको मनसे मेरे अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्व-बुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगको अवलम्बन करके निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो।'

इस प्रकार अभ्यास करते-करते जब भगवान्‌की कृपासे उनके प्रभावको समझ जाता है तब वह सब प्रकारसे नित्य-निरन्तर भगवान् वासुदेवको ही भजता है। जैसे गीतामें कहा है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(१५। १९)

'हे भारत! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मेरेको पुरुषोत्तम जानता है वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

फिर उसको भजनके प्रभावसे सर्वत्र एक वासुदेव ही दीखता है। इसलिये वह वासुदेवसे कभी अलग नहीं हो सकता।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

इससे वह भगवान् वासुदेवको ही प्राप्त हो जाता है और उसके लिये यह सम्पूर्ण संसार भी वासुदेवके रूपमें परिणत हो जाता है। एक वासुदेवके सिवा कोई भी वस्तु नहीं रहती। वहाँ मायाका अत्यन्त अभाव हो जाता है।

भक्ति, भक्त, भगवन्त सब एक ही रूपमें परिणत हो जाते हैं। इसलिये इस भक्तकी भगवान्‌से कोई अलग सत्ता नहीं रहती। तद्रूपतासे उस परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

इन शब्दोंसे जो सांख्ययोगके द्वारा साधन करनेवाले ज्ञानीको प्राप्त होनेयोग्य परमधाम बतलाया गया है, भगवान्‌की कृपासे वही परमधाम निष्काम कर्मयोगके साधन करनेवाले भक्तको प्राप्त होता है।

उसी महात्माकी प्रशंसा करते हुए भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

'जो बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है अर्थात् वासुदेवके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है, इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है।'

परन्तु कोई-कोई भक्त अविद्याके नाश होनेपर भी भगवान्‌के रहस्यको जानता हुआ प्रेमके सामने मुक्तिको तुच्छ समझता है और वह भगवान्‌को सेव्य और अपनेको सेवक या सखा समझकर भगवान्‌के प्रेमरसका पान करता है, उसके लिये भगवान्‌की माया लीलाके रूपमें परिणत हो जाती है। इसलिये वह पुरुष भगवान्‌में तद्रूपताको न प्राप्त होकर भगवान्‌की कृपासे दिव्य देहको धारण करके अर्चिमार्गके द्वारा स्थान-विशेष भगवान्‌के परम दिव्य नित्यधामको प्राप्त होता है, वहाँ उस लीलामय भगवान्‌के साथ लीला करता हुआ नित्य प्रेममय अमृतका पान करता है; फिर दुःखके आलय इस अनित्य पुनर्जन्मको वह प्राप्त नहीं होता।

साधनकी परिपक्व अवस्था होनेसे दोनोंके ही राग-द्वेष, अहंता-ममता, भय एवं अज्ञान आदि विकार नाश हो जाते हैं और वे तेज, क्षमा, धृति, शौच, सन्तोष, समता, शान्ति, सत्यता और दया आदि गुणोंसे सम्पन्न हो जाते हैं।

सांख्ययोगीका कर्मोंमें कर्तृत्व-अभिमान न रहनेके कारण कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं रहता और कर्मयोगी फलासक्तिको त्यागकर कर्मोंको ईश्वर-अर्पण कर देता है, इसलिये उसका कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं रहता। सांख्ययोगी संसारका बाध करके विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपकी स्थापना करता है और निष्काम कर्मयोगी प्रकृतिसहित संसारको और अपने-आपको भी परमात्माके स्वरूपमें परिणत कर देता है। फलतः बात एक ही है। इसीलिये भगवान्‌ने सांख्य और योगको फलमें एकता होनेके कारण एक कहा है।

उपसंहार

परमात्माकी प्राप्तिका यह विषय इतना गहन है कि इसे लिखकर समझाना असम्भव है; क्योंकि यह वाणीका विषय ही नहीं है। यह परम गोपनीय रहस्य है और सम्पूर्ण साधनोंका फल है। जो इसको प्राप्त होता है वही इसको जानता है परन्तु इस प्रकार भी कहना नहीं बनता। जो भी कुछ कहा जाता है या समझा जाता है उससे वह विलक्षण ही रह जाता है। जाननेवाले ही उसको ज़ानते हैं और जाननेवालोंसे ही जाना जा सकता है। अतएव जाननेवालोंसे जानना चाहिये। श्रुति कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

(कठ० १।३।१४)

'उठो, जागो और महापुरुषोंके समीप जाकर उनके द्वारा तत्त्वज्ञानके रहस्यको समझो। कविगण इसे क्षुरके तीक्ष्ण धारके समान अत्यन्त कठिन मार्ग बतलाते हैं।' परन्तु कठिन मानकर हताश होनेकी कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि भगवान्‌में चित्त लगानेसे मनुष्य सारी कठिनाइयोंसे अनायास ही तर जाता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८।१४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्य-चित्तसे स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मुझको स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ। यानी सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

किन्तु बिना प्रेमके निरन्तर चिन्तन नहीं होता और बिना श्रद्धा प्रेम होना कठिन है तथा वह श्रद्धा महान् पुरुषोंके द्वारा भगवान्‌के गुण, प्रेम, प्रभाव और रहस्यको समझनेसे होती है।

इसलिये महान् पुरुषोंका संग करके* परमेश्वरमें श्रद्धा और प्रेम बढ़ाना चाहिये। जिनकी परमेश्वरमें श्रद्धा और प्रीति नहीं है उन्हींके लिये सब कठिनाइयाँ हैं।

ईश्वर-महिमा

(१) ईश्वर कल्पना नहीं, ध्रुव सत्य है

कुछ भाई ऐसे हैं, जो ईश्वरको कल्पित मानते हैं परन्तु विचार करके देखनेसे यही सिद्ध होता है कि वे ईश्वरके तत्त्वको नहीं जानते। ईश्वर शेखचिल्लीके घरकी कल्पनाकी भाँति मनमोदक नहीं हैं। जो कल्पित होता है वह असत्य होता है और जो असत्य होता है वह विचार करनेपर ठहरता नहीं। वह वस्तु उत्पत्ति-विनाश-धर्मवाली होती है, प्रत्यक्षमें दीखती हुई भी एक रूपमें नहीं रह सकती और उसका परिवर्तन होता रहता है, परन्तु जो वस्तु सत् होती है, उसकी न उत्पत्ति होती है न उसका विनाश होता है। वह सदा अनादि होती है, एक रूपमें रहती है और उसमें परिवर्तन नहीं होता।

यदि किसीको उस सत् वस्तुमें भूलसे विपरीतता प्रतीत होती हो तो यह उसकी भ्रान्ति है। इससे सत् वस्तुमें कोई कलंक नहीं आता, जैसे किसीको नेत्रोंके दोषसे चन्द्रमा पीतवर्ण प्रतीत होता हो तो इससे चन्द्रमा पीला नहीं समझा जा सकता। चन्द्रमा तो पीतवर्णके दोषसे रहित शुद्ध और श्वेत ही है।

जो वस्तु सत् होती है, उसका कभी अभाव नहीं होता। जिसका कभी किसी कालमें अभाव नहीं होता वही वस्तु सत्य है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी सत्‌के लक्षण करते हुए गीतामें इस प्रकार कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२।१६)

'असत् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं होता है और सत्‌का अभाव नहीं है, इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

ऐसी सत् वस्तु एक विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा है जो परमेश्वर, ब्रह्म, पुरुषोत्तम, अल्लाह, खुदा, गॉड आदि अनेक नामोंसे संसारमें माना गया है। सबके परिवर्तित होनेपर भी उसमें परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन होनेवाले पदार्थ परिवर्तन होते-होते जिसमें जाकर शेष हो जाते हैं, जिसको सब लोग नित्य, ध्रुव, सत्य कहते हैं और जो सबका द्रष्टा है उसीको हम ईश्वर मानते हैं। तर्कसे बाध करनेपर भी जिसका बाध नहीं होता और जो विज्ञानवान् पुरुषोंद्वारा निर्णय किया हुआ सत् पदार्थ है उसीका नाम परमात्मा है। उसको चित्-शक्ति या चेतन-तत्त्व भी कहते हैं।

* संसारमें जो सबसे उत्तम सदाचारी, त्यागी, ज्ञानी, महात्मा दीखें, उन्हींके पास जाकर उनके आज्ञानुसार साधनमें तत्परताके साथ लगना संग करना है।

संसारमें दो पदार्थ हैं—एक चेतन और दूसरा जड। उनको पुरुष और प्रकृति भी कहते हैं। चेतनके दो भेद हैं—एक जीवात्मा और दूसरा परमात्मा। उनमें जीवात्मा अंश है, परमात्मा अंशी है। जीवात्मा नाना और परमात्मा एक है। यह चौबीस तत्त्वोंवाला संसार जड है।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः॥

(गीता १३। ५)

'पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि और मूल प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया भी तथा दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय—ये चौबीस तत्त्व हैं।'

जो जड है वह दृश्य है। जो चेतन है वह द्रष्टा है। जडको ज्ञेय और चेतनको ज्ञाता भी कहते हैं। वह ज्ञेय ज्ञाताके ही आधारपर है। भगवान्ने कहा है—

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।

(गीता ७। ५)

'जीवस्वरूप चेतन प्रकृतिके द्वारा यह सारा संसार धारण हो रहा है।'

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १०। ४२)

'अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगमायाके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

जड अल्प है, चेतन अनन्त है। जड उत्पत्ति-विनाश-धर्मवाला है, चेतन अजन्मा, नित्य, अविनाशी है। जडमें हर समय परिवर्तन होता रहता है, इसलिये उसको क्षणभंगुर भी कहते हैं। चेतनमें परिवर्तन नहीं होता तो भी मूढ़ बुद्धिवालोंको भ्रान्तिके कारण जडके सम्बन्धसे चेतनमें परिवर्तन भासित होता है, परन्तु विचार करनेपर नहीं ठहरता, जैसे निर्लेप आकाशमें अपने नेत्रोंके दोषसे मोरपक्षकी भाँति प्रतीत होनेवाले तिरवरोंका होना विचारसे सिद्ध नहीं होता।

परमात्मा कल्पित नहीं, ध्रुव सत्य है। यह बात सब शास्त्रोंसे भी सिद्ध होती है। ध्रुव, प्रह्लाद-सरीखे भक्तोंकी आख्यायिकाएँ यह बिलकुल प्रमाणित कर देती हैं। जैसे—खम्भोंसे प्रकट होकर नृसिंह भगवान्का हिरण्यकशिपुको मारना, प्रह्लादकी रक्षा करना और प्रह्लादको शिक्षा देना। जैसे ध्रुवको वनमें दर्शन देना और उसको दिये हुए वरदानके अनुसार उसकी प्रत्यक्ष सिद्धि होना। ध्रुवको राज्य मिल जाना और बिना पढ़े ही केवल भगवान्के शंखके स्पर्शमात्रसे श्रुति-स्मृतिका ज्ञान हो जाना। इस प्रकारका कार्य किसी कल्पित ईश्वरसे सिद्ध नहीं हो सकता।

ऐसी कथाएँ श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि शास्त्रोंमें अनेकों मिलती हैं। ये सब ऐतिहासिक सच्ची घटनाएँ हैं। कपोलकल्पित नहीं हैं। इन सबको उपन्यासोंकी भाँति कल्पित समझना अत्यन्त भूल है। बिना हुई घटनाओंका इस प्रकार प्रचार होना तथा अनेक युगोंसे इतिहासरूपमें श्रद्धासहित उनका प्रचलित होना सम्भव नहीं।

आधुनिक कालमें भी सूरदास, तुलसीदास, तुकाराम, नरसी, चैतन्य महाप्रभु और मीराबाई आदि अनेक भक्त महात्मा हो गये हैं। उन महापुरुषोंके वचनोंसे भी ईश्वरका अस्तित्व इतिहाससहित सिद्ध है। ऐसे पुरुषोंकी जीवनीमें और उनके वचनोंपर सर्वथा अविश्वास करना अपनी बुद्धिका परिचय देना है। उन महापुरुषोंके जीवनकी जो घटनाएँ हैं उनपर विचार करनेसे ईश्वरके अस्तित्वमें उत्तरोत्तर श्रद्धा बढ़ती है। ऐसे त्यागी और सच्चे पुरुषोंपर अविश्वास करना और यह कहना कि दुनियाको धोखा देनेके लिये उन्होंने ये बातें फैला दीं, उनपर कलंक लगाना है। ऐसे पुरुषोंपर कलंक लगानेवाले अज्ञानियोंके लिये तो फिर कोई भी विश्वासका आधार नहीं ठहरता।

ईश्वरकी सिद्धिमें अनेकों बलवान् युक्तियाँ भी प्रमाण हैं। विचार करके देखा जाय तो ईश्वरके अस्तित्वको पशु और पक्षी भी सिद्ध करते हैं। फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? जब कोई पुरुष लाठी लेकर कुत्तेको मारने जाता है तो वह कुत्ता दूरसे ही उस लाठीको देखकर चिल्लाता है। अभी उसके चोट नहीं लगी, न उसके शरीरमें कोई पीड़ा ही होती है; परन्तु आनेवाले भयको देखकर वह चिल्ला उठता है। उसके चिल्लानेका मतलब यही है कि मेरे चिल्लानेसे आनेवाले दुःखकी निवृत्ति हो जायगी। क्योंकि मेरी चिल्लाहटको सुनकर रक्षा करनेवाली शक्ति मेरी रक्षा करेगी। इस प्रकार चिल्लानेसे उस कुत्तेकी रक्षा होती हुई भी देखनेमें आती है।

जिस दयामयी शक्तिका सभी चराचर जीव आसरा लेकर दुःख मिटानेके लिये करुणाभावसे आर्तनाद करते हैं और जिस दयामयी शक्तिसे दुःखियोंका दुःख मिटता है, उस शक्तिशालीको हम परमात्मा मानते हैं।

जो ईश्वरको नहीं मानते हैं, वे पुरुष भी जब उनपर भारी विपत्ति पड़ती है तब किसी एक शक्तिका आश्रय करके अपनी विपत्तिके नाशके लिये दीन होकर करुणापूर्ण वचनोंका उच्चारण करते हैं। वे जिस शक्तिके आश्रयसे अपना दुःख मिटाना चाहते हैं, जिस शक्तिको मानकर दीनता स्वीकार करते हैं और जिस शक्तिके द्वारा उनकी दीनतासे की हुई माँग पूरी होती है, उन लोगोंको भी उस

शक्तिशाली चेतन दयासिन्धु दीनबन्धुको ईश्वर समझकर कृतज्ञ होना चाहिये।

वर्तमानमें भी जो पुरुष ईश्वरमें विश्वास करके और उनकी शरण होकर प्रसन्न करते हैं उनको भी सफलता मिली है और मिल रही है। बिना हुई वस्तुके अस्तित्वका प्रचार होना सम्भव नहीं है। यदि हो भी जाय तो उसकी इतनी स्थिर स्थिति नहीं रह सकती।

संसारमें जो भी कुछ प्रतीत होता है उसके मूलमें अवश्य ही कोई महान् शक्ति है। प्रतीत होनेवाले पदार्थका परिवर्तन माना जा सकता है परन्तु अभाव नहीं। क्योंकि बिना हुई वस्तुका अस्तित्व सम्भव नहीं है। जो सम्पूर्ण संसारका आधार है, जिसको मूल कारण भी कहा जा सकता है, उसीको ईश्वर समझना चाहिये। क्योंकि कार्यके मूलमें अवश्य कारण रहता है। कोई भी कार्य बिना कारणके देखनेमें नहीं आता। कोई भी पदार्थ बिना आधारके नहीं रह सकता, अतएव इस सम्पूर्ण संसारका जो आधार और मूल कारण है वह परमात्मा है। वह चेतन है, क्योंकि जड पदार्थमें नियमितरूपसे यथायोग्य विभाग और संचालन करनेकी और उसको नियममें रखनेकी योग्यता नहीं होती। परमात्मा केवल युक्ति और शास्त्र-प्रमाणसे ही सिद्ध हों, सो बात नहीं, वह प्रत्यक्ष भी हैं। क्योंकि उनकी प्राप्तिके लिये जिन्होंने यत्न किया है उनको वे मिले हैं, मिल रहे हैं, अब भी किसीको उनका प्रत्यक्ष करना हो तो वह शास्त्रोक्त साधनोंके द्वारा प्रत्यक्ष कर सकता है। जिन पुरुषोंको प्रत्यक्ष हुआ है, उनके बताये हुए साधनके अनुसार चेष्टा करनेसे भी चेष्टा करनेवालोंको प्रत्यक्ष होता है। अवश्य ही ऐसी अमूल्य वस्तुके लिये जितने प्रयत्नकी आवश्यकता है उतना प्रयत्न होना चाहिये। साधारण वस्तुको प्राप्त करनेमें साधारण प्रयत्न करना पड़ता है, एक विशेष वस्तुके लिये विशेष प्रयत्नकी आवश्यकता है। किसी देशके बादशाह विलायतमें हैं। यदि कोई उनसे प्रत्यक्ष मिलना चाहे तो विलायत जाकर मिलनेके लिये उचित चेष्टा करनेपर मिलना हो सकता है। यदि किसी कारणसे न भी जाना हो तो उसको यह तो समझ लेना चाहिये कि बादशाह विलायतमें हैं; क्योंकि दूसरे मिलनेवालोंसे सुना जाता है और राज्यकी व्यवस्था भी उनके आज्ञानुसार नियमानुकूल होती देखी जाती है। इसी प्रकारसे उस असंख्य ब्रह्माण्डोंके मालिकसे कोई मिलना चाहे तो उसीके अनुसार प्रयत्न करनेसे उसका मिलना सम्भव है। किसी राजासे तो मिलना चाहनेपर मिलना हो भी सकता है और नहीं भी, क्योंकि राजा प्रायः स्वार्थी होते हैं और बिना प्रयोजन मिलना नहीं चाहते। परन्तु सर्वशक्तिमान्, सबके सुहृद् एवं बिना कारण दया करनेवाले भगवान्‌की तो यह नीति है कि जो भी कोई उनसे मिलना चाहे वे उससे मिलते ही हैं। वे कहते हैं—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

(गीता ४। ११)

राजाके मिलनेके लिये थोड़ा प्रयत्न करके छोड़ देनेसे किया हुआ प्रयत्न व्यर्थ भी हो जाता है; परन्तु ईश्वरके लिये किया हुआ थोड़ा-सा भी प्रयत्न व्यर्थ नहीं जाता। **'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'** ईश्वरके लिये किये हुए कर्मका नाश नहीं होता। ईश्वरका मिलना भी राजासे मिलनेकी अपेक्षा बहुत ही विलक्षण है। **'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्।'**

इन्द्रियों और मन-बुद्धिके द्वारा प्रत्यक्ष की हुई वस्तुकी अपेक्षा आत्मानुभवसे प्रत्यक्ष की हुई वस्तुमें अत्यन्त विशेषता होती है। क्योंकि इन्द्रियाँ और अन्तःकरण अल्पशक्तिवाले होनेके कारण वस्तुका यथार्थ निर्णय नहीं कर सकते। जैसे विमान, पक्षी आदि बहुत दूरमें स्थित वस्तु नेत्रोंसे नहीं दीखती, अंजन नेत्रोंके अत्यन्त समीप होनेपर भी नहीं दीखता, तारे दिनमें आकाशमें स्थित होते हुए भी सूर्यके प्रकाशसे तिरोहित होनेके कारण नहीं दीखते, रात्रिके समय सूर्य पृथ्वीकी ओटमें आ जानेके कारण नहीं दीखता इत्यादि। सूर्यकी किरणोंमें जलके परमाणु रहते हैं; परन्तु सूक्ष्म होनेके कारण नेत्रोंसे प्रतीत नहीं होते और बहुत-से विषय इन्द्रियोंके खराब हो जानेके कारण नहीं प्रतीत होते। जैसे बहरेको शब्दका न सुनना, अन्धेको रूपका न दीखना इत्यादि। इन्द्रियाँ मिले हुए सजातीय पदार्थोंको भी अलग-अलग करने और पहचाननेमें असमर्थ हैं, जैसे गाय और बकरीके दूधको मिला देनेपर वह न अलग ही किया जा सकता है और न पहचाना ही जा सकता है। बहुत-से ऐसे पदार्थ हैं जहाँ इन्द्रियोंकी गम्य ही नहीं है। जैसे मनुष्यमें मन-बुद्धि होते हैं परन्तु वे इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष नहीं होते। मन-बुद्धिका ज्ञान भी अल्प और भ्रान्त है। किसी एक मनुष्यको आज हम बुद्धिके द्वारा धर्मात्मा समझते हैं, फिर उसीको थोड़े दिन बाद पापी समझने लग जाते हैं, एक मनुष्य कथा बाँच रहा है और बहुत-से मनुष्य कथा सुन रहे हैं। सुननेवालोंका उस पुरुषपर अपना-अपना अलग-अलग निश्चय है। कथा बाँचकर चले जानेपर श्रोतागण परस्पर विचार करने लगते हैं। एक कहता है कि पण्डितजी दम्भी हैं, क्योंकि ये दूसरोंको उपदेश देते हैं और स्वयं पालते नहीं। दूसरा कहता है दम्भी तो नहीं हैं परन्तु स्वार्थी हैं, कोई भेंट चढ़ाता है तो उसको बड़ी प्रसन्नतासे ले लेते हैं। तीसरा कहता है पण्डितजी भेंटके लिये कथा

नहीं बाँचते, यह बात जरूर है कि वे मान-बड़ाई चाहते हैं। चौथा कहता है—भेंट और पूजा तो इनको श्रोताओंकी प्रसन्नताके लिये स्वीकार करनी पड़ती है, असलमें तो इनका कथा करना इसलिये है कि श्रोताओंके सम्बन्धसे भगवच्चर्चा करनेसे मेरी आत्मा भी पवित्र हो जायगी। इस उद्देश्यसे पण्डितजी अपने और श्रोताओंके कल्याणके लिये कथा करते हैं। एक परम श्रद्धालु कहता है कि पण्डितजी तो स्वयं कल्याणस्वरूप हैं; हमलोगोंके कल्याणके लिये ही इनकी सम्पूर्ण क्रिया है।

अब विचारणीय विषय यह है कि एक ही देशमें, एक ही कालमें, एक ही पुरुषद्वारा और एक ही क्रिया हो रही है, उसमें भी लोग अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार भिन्न-भिन्न निश्चय कर रहे हैं। हो सकता है कि इन पाँचोंमेंसे किसी एकका निश्चय ठीक हो परन्तु चारकी गलती अवश्य ही माननी पड़ेगी। इससे यह बात निश्चय हुई कि बुद्धिद्वारा किया हुआ निर्णय भी ठीक नहीं समझा जा सकता।

एक मनुष्य किसी एक मजहबको अच्छा समझता है, फिर थोड़े दिनके बाद वही उसको खराब समझकर दूसरेको अच्छा समझने लग जाता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि जबतक मन-बुद्धि पवित्र नहीं हो जाते तबतक उनका किया हुआ निर्णय भी यथार्थ नहीं समझा जा सकता। इस विषयमें बहुत बड़े-बड़े बुद्धिमान् पुरुष भी चक्करमें पड़ जाते हैं; फिर एक साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है। जिन पुरुषोंकी आत्मा पवित्र है, जिन्होंने आत्मासे परमात्माका साक्षात्कार कर लिया है उन पुरुषोंका जो निर्णय है वही ठीक है। जबतक परमात्माका साक्षात्कार नहीं होता तबतक अज्ञानी पुरुषोंको तो अपने-आपके नित्य अस्तित्वके विषयमें भी अनेक प्रकारकी शंकाएँ होती हैं। फिर ईश्वर, लोक, परलोक, शास्त्र और महात्माओंमें शंका होनेमें तो आश्चर्य ही क्या है।

शंका, विचार, श्रद्धा और निर्णयादि मन-बुद्धिमें होते हैं। मन-बुद्धि परिवर्तनशील होनेके कारण श्रद्धा और विचार आदिमें भी समय-समयपर परिवर्तन होता रहता है।

स्वप्नमें मनुष्य निद्राके दोषसे अनेक प्रकारके पदार्थोंको देखता है, उनको वह पुरुष उस कालमें प्रत्यक्ष और सत्य मान लेता है; परन्तु जागनेके बाद उनका अत्यन्त अभाव देखकर असत् मानता है। इसी प्रकारसे जाग्रत्-अवस्थामें भी अज्ञानके कारण असत्‌में सत्-बुद्धि कर लेता है। इसलिये मन और बुद्धिके पवित्र और स्थिर हुए बिना उनका किया हुआ अनुमान और निश्चय ठीक नहीं समझा जाता। साधनोंके द्वारा जब मन और बुद्धि पवित्र हो जाते हैं तभी उनका किया हुआ निर्णय यथार्थ होता है।

बुद्धिके द्वारा निर्णय किये हुए पदार्थोंकी प्रत्यक्षताकी अपेक्षा भी आत्मानुभवके द्वारा निर्णय किये हुए पदार्थोंकी प्रत्यक्षता विशेष है। जैसे पुरुष अपने अस्तित्वके विषयमें समझता है कि मैं निश्चय हूँ, इस निश्चयका तीनों काल (भूत, भविष्य, वर्तमान), तीनों अवस्था (कुमार, युवा, जरा), (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) और तीनों शरीर (स्थूल, सूक्ष्म, कारण)-में कभी भी अभाव नहीं होता। जो बात तीनों कालमें है वही सत्य है। स्वयं अपनी आत्मा तीनों कालमें होनेके कारण नित्य सत्य है। इस सत्यका किया हुआ अनुभव ही सत्य है। परमात्माका प्रत्यक्ष अनुभव आत्मासे ही हो सकता है। जब आत्माका सम्बन्ध मन-बुद्धिसे छूटकर परमात्मामें जुड़ जाता है तभी आत्मा परमात्माका यथार्थरूपमें अनुभव करता है। वही असली अनुभव है। उसमें भूल नहीं हो सकती। अतएव आत्मानुभवकी प्रत्यक्षताके समान मन-बुद्धिकी प्रत्यक्षता नहीं समझी जाती। जिन पुरुषोंको परमात्माका यथार्थ अनुभव हुआ है, उन पुरुषोंका ऐसा कथन पाया जाता है।

तीनों शरीरोंमें, तीनों अवस्थाओंका हर समय परिवर्तन होनेपर भी तीनों अवस्था और तीनों कालमें आत्मा निर्विकाररूपमें सदा एकरस रहता है। इसी प्रकारसे एक शरीरसे दूसरे शरीरकी प्राप्तिमें भी आत्माका परिवर्तन नहीं होता।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(गीता २। १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें कुमार, युवा और वृद्ध-अवस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है, इस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।' भगवान् कहते हैं—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥

(गीता १५। १०-११)

'शरीरको छोड़कर जाते हुएको अथवा शरीरमें स्थित हुएको और विषयोंको भोगते हुएको अथवा तीनों गुणोंसे युक्त हुएको अज्ञानीजन नहीं जानते। केवल ज्ञानरूप नेत्रवाले ज्ञानीजन ही तत्त्वसे जानते हैं, योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित हुए इस आत्माको यत्न करते हुए ही तत्त्वसे जानते हैं और जिन्होंने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करनेपर भी इस आत्माको नहीं जानते।'

इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि कुमार, युवा और

जरावस्थामें देहके विकारसे आत्मा विकारी नहीं होता। इसी प्रकारसे देहान्तरकी प्राप्तिसे भी आत्मा विकारी नहीं होता। अतएव आत्मा अविकारी है और जो अविकारी है वही नित्य है। जो नित्य है वही सत्य है। वह सत्य ही परमात्मा है और परमात्मा ही सबकी आत्मा है; क्योंकि आत्मा ईश्वरका अंश होनेके कारण सबकी आत्मा परमात्मा ही है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥

(गीता १०। २०)

'हे अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।' अतएव परमात्मा निर्विकार, अजन्मा, अविनाशी, नित्य, ध्रुव सत्य प्रमाणित हैं।

(२) ईश्वरके दण्डविधानमें भी दया है

भगवान् दयाके असीम, अनन्त, अथाह सागर हैं, वे जो कुछ भी करते हैं, उसमें जीवोंके प्रति दया भरी रहती है। इसका यह अर्थ नहीं कि वे अन्याय करते हैं या उनकी दया लोगोंको पाप करनेमें सहायक होती है; बात यह है कि उनका कानून ही ऐसा है जो लोगोंको पापसे बचाता है और दण्ड या पुरस्काररूपसे जो कुछ भी विधान करता है, उसमें उनकी दया पूर्णरूपेण रहती है। घरमें माता-पिता और राष्ट्रमें राजा आदिके जो नियम या कानून होते हैं उनमें भी दया रहती है परन्तु वह दया परिमित है, उसमें कहीं स्वार्थ भी रह सकता है अथवा भ्रान्तिवश ऐसा विधान भी हो सकता है जो लोगोंके लिये अहितकर हो। राग-द्वेष, अहंकार और अल्पज्ञताके कारण भूल भी हो सकती है, परन्तु श्रीभगवान्‌में ऐसी कोई बात नहीं है। इसीसे उनका कानून निर्भ्रान्त, शंकारहित, ज्ञानपूर्ण और स्नेहपूरित रहता है। जो मनुष्य ईश्वर-कृपासे श्रीभगवान्‌के कानूनका रहस्य समझ लेता है, वह तो फिर अपना जीवन उसीके अनुसार चलनेमें लगा देता है। उसमें ईश्वर-प्रेम, निर्भयता, शान्ति और आनन्दकी उत्तरोत्तर अपार वृद्धि होती है और अन्तमें वह श्रीभगवान्‌को प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है। अब यह समझना है कि भगवान्‌के कानूनका स्वरूप क्या है? विचार करनेपर मालूम होता है कि भगवान्‌की विधिका प्रधान लक्ष्य है—

जीवमात्रकी सर्वांगीण उन्नति और उन्हें परम श्रेयकी प्राप्ति

इसी लक्ष्यतक जीव आसानीसे पहुँच सके, इसीके लिये उनके नियम हैं। उन नियमोंका पालन वास्तवमें उसी मनुष्यके द्वारा सुगमतासे हो सकता है जो ईश्वरमें परम श्रद्धा और परम प्रेम रखता हो। ईश्वरमें परम श्रद्धा और परम प्रेम होनेपर स्वाभाविक ही मनुष्यमें सदाचार और सद्‌गुणोंकी उत्पत्ति और उनका विकास होता है एवं दुराचार और दुर्गुणोंका सर्वथा विनाश हो जाता है। शास्त्रोंमें जिन्हें सदाचार बतलाया है, वे ही ईश्वरीय कानूनमें सेव्य और पालनीय नियम हैं और जिन्हें दुराचार कहा है, वे ही ईश्वरीय कानूनके निषिद्ध और त्याज्य पदार्थ हैं। संक्षेपमें सदाचार, सद्‌गुण और दुराचार, दुर्गुणोंका स्वरूप यह है—

अहिंसा, सत्य, तप, त्याग, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, यज्ञ, दान, सेवा, पूजा और महापुरुषोंकी आज्ञापालन आदि सदाचार हैं।

दया, पवित्रता, शम, दम, समता, क्षमा, धैर्य, प्रसन्नता, ज्ञान, वैराग्य और निरभिमानता आदि सद्‌गुण हैं।

हिंसा, असत्य, चोरी, जारी, अभक्ष्य-भक्षण, मादक वस्तु-सेवन, प्रमाद, निन्दा, द्यूत और कटुभाषण आदि दुराचार हैं।

काम, क्रोध, लोभ, अविवेक, अभिमान, दम्भ, मत्सरता, आलस्य, भय और शोक आदि दुर्गुण हैं।

सदाचारसे सद्‌गुणोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है तथा सद्‌गुणोंसे सदाचारकी उत्पत्ति-वृद्धि होती है, इसी प्रकार दुराचारसे दुर्गुणोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है तथा दुर्गुणोंसे दुराचारकी उत्पत्ति एवं वृद्धि होती है। ये बीज-वृक्षकी-ज्यों अन्योन्याश्रित हैं।

सदाचार और सद्‌गुणोंका सेवन ही ईश्वरीय कानूनको मानना है और दुराचार और दुर्गुणोंका सेवन ही उस कानूनका भंग करना है। ईश्वरके कानूनको माननेवाला पुरस्कारका पात्र होता है और कानूनको तोड़नेवाला दण्डका पात्र होता है। अवश्य ही उनका दण्ड भी दयासे ओतप्रोत है, इस विषयपर आगे चलकर विचार करना है। यहाँ तो गम्भीरताके साथ यह विचार करना चाहिये कि भगवान्‌के इस कानूनमें कितनी दया—अपरिमित दया भरी है। संक्षेपमें विचार कीजिये। अहिंसाके पालनसे मनुष्य निर्वैर और निर्भय हो जाता है, सत्यके पालनसे सत्यको प्राप्त होता है, चोरी न करनेसे विश्वासका पात्र होता है, ब्रह्मचर्यके सेवनसे उसके तेज और पराक्रममें वृद्धि होती है। परिग्रहके त्यागसे ज्ञान बढ़ता है, यज्ञ-तपसे इन्द्रियोंपर विजय और अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। त्याग, सेवा और महापुरुषोंके आज्ञापालनसे सम्पूर्ण दोषोंका नाश, शम-दमादि समस्त सद्‌गुणोंका आविर्भाव और वृद्धि होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इस सदाचारके पालनसे लोक-परलोकमें कितना अपरिमित लाभ होता है, यह ईश्वरके कानूनकी ही महिमा है।

अज्ञानके कारण मनुष्य काम-क्रोध-लोभादिके वश होकर असत्य, कपट, चोरी-जारी आदि कुकर्म करके अपना और संसारके जीवोंका अहित करता है। इन दुराचारों और दुर्गुणोंसे अपनी और जगत्‌की बड़ी हानि होती है, सबके सुख-शान्तिका नाश हो जाता है। इसी अध:पतनसे बचानेके लिये भगवान्‌ने इनको निषिद्ध और त्याज्य बतलाया है। इस निषेधकी आज्ञामें भी उनकी दया भरी है। जो मोहवश भगवान्‌की निषेधाज्ञाको न मानकर कानून-भंगरूपी पाप करते हैं, उनके लिये दयापूर्ण दण्डकी व्यवस्था की गयी है। श्रीभगवान्‌के कानूनमें प्रधानतया जो दण्ड दिया जाता है, उसका स्वरूप यह है—

प्राप्त विषय-भोगोंका नाश कर देना, भविष्यमें विषय-भोगोंकी प्राप्ति न होने देना या कम होने देना, अथवा विषय-भोगमें अक्षम बना देना।

विचार कीजिये, इस दण्ड-विधानमें कितनी दया भरी है—भोगोंके संसर्गसे कितनी हानि होती है, इसका निम्नलिखित कुछ बातोंपर विचार करनेसे पता लगेगा—

(क) विषयोंके भोगसे आदत बिगड़ती है।

(ख) विषय-भोगोंमें रत मनुष्य ईश्वरकी प्राप्तिके मार्गपर आरूढ़ नहीं हो सकता तथा आरूढ़ हुआ गिर जाता है।

(ग) विषय-भोगोंकी अधिकतासे बीमारियाँ होती हैं, शरीर-सुखका नाश होता है, शरीर क्षयको प्राप्त होता है।

(घ) मन दुर्बल होता है, अन्त:करण अशुद्ध होता है।

(ङ) विषय-सुख केवल भ्रमसे ही देखनेमें सुख-सा प्रतीत होता है, वस्तुत: वह परिणाममें दु:खरूप है।

(च) विषय-सेवनसे पुण्योंका नाश और पापोंकी वृद्धि होती है।

(छ) बिना आरम्भके विषयोंका उपभोग नहीं होता, हिंसा बिना आरम्भ नहीं होता, हिंसासे संसारकी हानि और कर्ताको नरककी प्राप्ति होती है।

ऐसे दु:खरूप विषयोंके संयोगको नाश कर देना, भविष्यमें प्राप्त न होने देना या उन्हें घटा देना एक प्रकारसे वर्तमान और भावी दु:खोंकी प्राप्तिसे बचा लेना है। जैसे आगमें पड़ते हुए पतंगके सामनेसे दीपक हटा लेना या उसको बुझा देना, अथवा उसके पास आते हुए पतंगोंके मार्गमें रुकावट डालना उनपर दया करना है, इसी प्रकार ईश्वर दण्डविधानके रूपमें जीवोंको विषय-भोगसे वंचित करके उनपर महान् दया करते हैं।

कभी-कभी ईश्वर जीवके पूर्व-पापोंके कारण उनके स्त्री-पुत्रादि प्रिय वस्तुओंका वियोग न कराकर उनके द्वारा उसकी इच्छाके विरुद्ध इस प्रकारके आचरण करवाते हैं, जिनसे उसको दु:खरूप फल मिलता है। इसमें पापका फल दु:ख भोगनेसे पापका नाश तो है ही, साथ ही स्त्री-पुत्रादिके मनके विपरीत आचरण करने या उनके द्वारा अपमानित होनेसे उनके प्रति मनमें स्नेह-ममता हटकर एक प्रकारकी विरक्ति उत्पन्न होती है, विरक्तिसे चित्तकी वृत्ति उपराम होकर किसी-किसीको तो परमात्माके मार्गमें लग जानेके कारण शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

किसी-किसीको पापोंके फलस्वरूप ईश्वर बीमारी आदि देते हैं, जिससे दु:खी हुआ मनुष्य करुण-स्वरमें आर्तनाद करता है, कोई-कोई तो आर्त होकर भगवान्‌से दु:खनिवारणार्थ गजराजकी भाँति प्रार्थना करते हैं। जिसके द्वारा वे दु:खसे मुक्त तो होते ही हैं साथ ही भगवान्‌की भक्ति भी पा जाते हैं।

पापोंके फलस्वरूप किसी-किसीकी श्रीभगवान् मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाका नाश कर देते हैं, इससे उसका वस्तुत: बड़ा ही उपकार होता है। क्योंकि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाका रोग बहुत अच्छे-अच्छे बुद्धिमान् पुरुषोंको भी पतनके गढ़ेमें डाल देता है। अज्ञानी जीव मान-बड़ाईरूपी जहरीले भावोंको सुन्दर सुहावने समझकर उनसे लिपटे रहते हैं। दयामय परमात्मा दया करके उनके कल्याणके लिये इनका नाश करते हैं। मान-बड़ाईके सुखका नाश करना एक प्रकारसे शापके रूपमें महान् वरदान है। क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिके मार्गकी मान-बड़ाईरूपी भारी बाधा इससे हट जाती है।

किसी-किसीके पूर्व-पापोंके फलस्वरूप उसकी शरीर-यात्राका निर्वाह भी कठिनतासे होता है। उसे पर्याप्त अन्न-वस्त्र नहीं मिलता, इससे वह दु:खी और आर्त होकर भगवान्‌को पुकारता है। इसके सिवा वह आलस्य और अभिमानको त्यागकर—अकर्मण्यता और अहंकारको छोड़कर अनेक प्रकारके परिश्रम और उद्यम करनेको तैयार हो जाता है, जिससे उसकी अकर्मण्यता मिटती है, झूठा बड़प्पन, आलस्य और अभिमान नष्ट होता है।

इस प्रकार ईश्वरके प्रत्येक दण्ड-विधानमें ईश्वरकी अपार दया भरी है। जैसे रत्नोंके गहरे समुद्रमें डुबकी लगानेसे एक-से-एक बढ़कर रत्न मिलते हैं, वैसे ही विचारद्वारा श्रीभगवान्‌के दण्ड-विधानरूपी दयाके सागरमें डुबकी लगानेपर इस लोक और परलोकके हितकारक अनेक अमूल्य रत्न मिलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वरका कानून और उसका दण्ड-विधान दयासे परिपूर्ण है।

संसारमें अनुकूल और प्रतिकूल दो पदार्थ हैं। मनुष्य अपने अनुकूल पदार्थकी प्राप्तिमें ईश्वरकी दया समझता है,

सुख-शान्तिको प्राप्त होता है तथा उस पदार्थसे प्रेम करता है। प्रतिकूलमें मूर्खताके कारण ईश्वरका कोप समझता है, अशान्ति और शोकको प्राप्त होता है एवं उससे द्वेष करता है। परन्तु जो पुरुष उस सर्वशक्तिमान् दयामय सर्वज्ञ परम सुहृद् परमात्माके तत्त्वको जानता है, वह शोक और मोहसे तरकर परम शान्ति और निर्भयताको प्राप्त हो जाता है। ईश्वरके कानूनका रहस्य समझकर तो मनुष्य उसपर मुग्ध हो जाता है। ईश्वरका प्रत्येक नियम पापियोंके पाप और दु:खियोंके दु:खको नाश करनेवाला है। वह पापोंकी वृद्धिमें सहायक नहीं है, जो पुरुष तत्त्व समझे बिना ही ईश्वरको दयालु समझकर ईश्वर-दयाके भरोसेपर नये-नये पापाचरण करता है, उसके पाप तो इतने वज्रलेप हो जाते हैं कि फिर वे जप, ध्यान आदि प्रायश्चित्तोंसे भी भोगे बिना प्राय: नाश नहीं होते। बल्कि भजन-ध्यान होनेमें भी वे पाप प्रतिबन्धकरूप हो जाते हैं।

ईश्वरकी दया और न्यायके तत्त्वको जाननेवाले पुरुष प्रतिकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें अपरिमित सुख-शान्तिका अनुभव करते हैं, उनका वह दर्शन उन यज्ञोंकी अपेक्षा, जो विषय-भोगोंकी प्राप्तिमें सुख-शान्तिका अनुभव करते हैं, अत्यन्त ही विलक्षण होता है। वे समझते हैं कि—

१-यह अपने परम-प्रेमी न्यायकारी दयालु ईश्वरका किया हुआ विधान है।

२-प्रतिकूल पदार्थ, जो जगत्‌की दृष्टिमें दु:ख कहलाते हैं, प्राप्त होते हैं, तब पापोंके ऋणानुबन्धसे मुक्ति मिलती है।

३-व्याधि आदिको परम तप समझकर भोगनेसे पापोंका नाश होता है, अन्त:करण स्वर्ण-सदृश विशुद्ध और निर्मल हो जाता है।

४-भविष्यमें निषिद्ध पापकर्म न करनेकी ईश्वरीय आज्ञाका पालन करनेमें सावधानी होती है, इससे आगामी पापोंका नाश हो जाता है। भोगसे पूर्वकृत पापोंके प्रारब्धका नाश हो गया, वर्तमानमें तप समझकर पापोंका फल भोगनेसे अन्त:करण शुद्ध हो गया, वर्तमानमें पाप नहीं हुए और संचित पापोंका नाश हुआ तथा निषिद्ध कर्मोंके त्यागसे भविष्यके पाप मिट गये, इस प्रकार वह पापोंसे सर्वथा रहित होकर परमात्माका प्रेमी बन जाता है। आपत्तिकालमें आस्तिक पुरुषोंको ईश्वरकी स्मृति अधिक होती है, ईश्वर-स्मरणसे बढ़कर ईश्वर-प्राप्तिका कोई सुलभ साधन दूसरा नहीं है, इसीलिये तो किसी भक्तने कहा है—

सुखके माथे सिल पड़ो जो नाम हृदयसे जाय।
बलिहारी वा दु:खकी जो पल पल नाम जपाय॥

अतएव हम सबको श्रीभगवान्‌के कानूनका रहस्य समझकर उसके अनुसार चलना चाहिये। माता, पिता, गुरु और स्वामी आदिके कानूनके अनुकूल चलनेसे उनके अधिकारमें जो परिमित पदार्थ हैं, वही हमें मिल सकते हैं, परन्तु दयामय ईश्वरके कानूनके अनुकूल चलनेसे हम समस्त पापोंसे मुक्त होकर परमात्माके उस परमपदको प्राप्त हो सकते हैं जो मनुष्य-जीवनका सर्वोपरि प्रधान उद्देश्य है।

(३) ईश्वर-प्रेम ही विश्व-प्रेम है

ईश्वर अनन्त और असीम हैं, चराचर विश्व ईश्वरके एक अंशमें उनके संकल्पके आधारपर स्थित है। ईश्वर अपनी योगमायाके प्रभावसे विश्वकी रचना और उसका विनाश करते हैं। जब ईश्वर संकल्प करते हैं, विश्व उत्पन्न हो जाता है और जब संकल्पका त्याग करते हैं तब विश्व नष्ट या तिरोहित हो जाता है। स्वप्न-स्थित पुरुष जिस प्रकार अपने अंदर संकल्पबलसे स्वप्न-सृष्टिकी रचना करता है, उसी प्रकार ईश्वर आत्मरूपमें व्याप्त रहते हुए ही संसारको रचते हैं। भेद इतना ही है कि स्वप्नद्रष्टा पुरुष अज्ञानमें स्थित और पराधीन होता है; परन्तु ईश्वर ज्ञानस्वरूप और सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं। अतएव उन अनन्त चेतन परमेश्वरके किसी एक अंशमें यह संसार वैसे ही प्रतिभासित है जैसे अनन्त आकाशके किसी एक देशमें तारा चमकता है। आकाशकी तुलना केवल समझानेके लिये है, वस्तुत: आकाशकी अनन्तता अल्प है और वह देश-कालसे परिमित, पक्षान्तरमें परमेश्वरकी अनन्तता उनके देश-कालसे रहित होनेके कारण सर्वथा अपरिमित है, आकाशकी अनन्तता तो उसी प्रकार परमेश्वरके संकल्पके एक अंशके अन्तर्गत है जिस प्रकार स्वप्नकी सृष्टि स्वप्नद्रष्टा पुरुषके संकल्पके एक अंशके अन्तर्गत होती है। ईश्वरकी अनन्तता किसी भी सांसारिक दृष्टान्तसे नहीं समझायी जा सकती, क्योंकि ईश्वरके सदृश संसारमें कोई पदार्थ है ही नहीं। यह समस्त अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड परमात्माके एक रोममें स्थित है, वास्तवमें जिन ईश्वरका यहाँ वर्णन किया जाता है, वे निरवयव होनेके कारण रोमयुक्त नहीं हैं। पर क्या किया जाय, लौकिक बुद्धिको समझानेके लिये इन लौकिक पदार्थोंके अतिरिक्त और साधन ही क्या है? अतएव ईश्वरका कोई भी तत्त्व, जो किसी सांसारिक उदाहरणके द्वारा समझाया जाता है, वह उनका एक अंशमात्र ही होता है। वस्तुत: अंशमात्रका समझाना भी समीचीनरूपसे नहीं होता। इसलिये यही मानना पड़ता है कि ईश्वरके तत्त्वको समझना और समझाना अत्यन्त ही दुष्कर है, वह तो अनुभवरूप है, अति गम्भीर और रहस्यमय है, भगवत्कृपासे ही जाना जाता है। भगवान्‌ने श्रीगीतामें कहा है—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
(२। २९)

'कोई (महापुरुष) ही इस आत्माको आश्चर्यकी ज्यों देखता है और वैसे ही दूसरा कोई (महापुरुष) ही आश्चर्यकी ज्यों (इसके तत्त्वको) कहता है।'

इस प्रकार जो महापुरुष ईश्वरके तत्त्वका अनुभव कर लेते हैं वे भी जब दूसरोंको सहजमें नहीं समझा सकते, तब औरोंकी तो बात ही क्या है? समझाना वाणीका विषय है। बुद्धिके द्वारा ईश्वरके तत्त्वका जितना अनुभव होता है, उतना वाणी कह ही नहीं सकती और वास्तवमें तो ईश्वरका तत्त्व बुद्धिमें भी पूर्णरूपेण नहीं आ सकता। तथापि महापुरुषोंद्वारा जो कुछ कहा जाता है उससे उस तत्त्वका समझना सहज हो सकता है; परन्तु उनसे सुननेवाले मनुष्य भी श्रद्धा, प्रेम, एकाग्रता और बुद्धिकी तीक्ष्णता तथा पवित्रतामें कमी रहनेके कारण यथार्थ समझ नहीं पाते। इसी कारण यह विषय समझने-समझानेमें अत्यन्त ही कठिन है। परन्तु इतना समझ लेना चाहिये कि उस अनन्त विज्ञानानन्दघन परमात्माके किसी अंशमें प्रकृति या माया है और उस मायाके किसी अंशमें यह समस्त चराचर विश्व है। इस अवस्थामें ईश्वरके प्रति किया जानेवाला प्रेम स्वाभाविक ही समस्त विश्वके प्रति हो जाता है। क्योंकि ईश्वर ही विश्वके आधार हैं, ईश्वर ही विश्वके आत्मा हैं, ईश्वर ही विश्वमें व्याप्त हैं और ईश्वर ही विश्वके एकमात्र (अभिन्न निमित्तोपादान) कारण हैं; वे अंशी हैं और यह समस्त विश्व उनका अंश है, या यों कहिये कि उनका अंग है। श्रीभगवान्ने स्वयं अर्जुनसे कहा है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(गीता १०। ४२)

'अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं इस सम्पूर्ण जगत्को (अपनी योगमायाके) एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

भगवान्के उपर्युक्त वाक्योंका अभिप्राय समझ लेनेपर यह निश्चय हो जाता है कि यह समस्त जगत् भगवान्के एक अंशमें स्थित है, भगवान् ही इस जगत्-रूपसे अभिव्यक्त हो रहे हैं, ऐसी स्थितिमें भगवत्प्रेमीका स्वाभाविक ही जगत्के साथ अकृत्रिम प्रेम होता है। जिस मनुष्यने सोनेके तत्त्वको समझ लिया, उसका सोनेके आभूषणोंके साथ निश्चय ही प्रेम होता है, वह फिर कभी उनकी अवहेलना नहीं कर सकता, यह प्रत्यक्ष प्रमाणित है; यदि करता है तो वह स्वर्णके तत्त्वको नहीं जानता, इसी प्रकार परमात्माके तत्त्वको जाननेवाला परमात्म-प्रेमी पुरुष जगत्के जीवोंकी कदापि अवहेलना नहीं कर सकता।

जो मनुष्य किसी एक पूज्य पुरुषके सारे अंगोंकी श्रद्धा और प्रेमसे पूजा करता हो, वह उस पूज्य पुरुषके किसी एक उपांगको जला दे या किसी एक अंगको काट डाले चाहे वह कितना ही छोटा हो, यह कैसे सम्भव हो सकता है? क्योंकि उसके लिये तो पूज्य पुरुषका प्रत्येक अंग ही पूज्य और प्रिय होता है। इसी प्रकार परमात्माके तत्त्वको जाननेवाला परमात्माका प्रेमी पुरुष अपने आराध्यदेव परमात्माके अंश या अंगरूप किसी जीवके साथ क्या कभी द्वेष कर सकता है, क्या कभी उसका अहित कर सकता है या उसको दुःख पहुँचा सकता है? कदापि नहीं। अतएव जो मनुष्य ईश्वरका प्रेमी है, वह स्वाभाविक ही विश्वका प्रेमी है। जैसे पूज्य पुरुषके सब अंगोंको प्रेमसे पूजकर भी जो उनके किसी एक अंगको जलाता है, वह भक्त, प्रेमी या सच्चा पुजारी नहीं है, वैसे ही भगवान्से प्रेम करनेवाला पुरुष भी यदि किसी भी जीवका किंचित् भी अहित करता है या उसे कष्ट पहुँचाता है तो वह न परमात्माका भक्त है, न प्रेमी है और न सच्चा पुजारी ही है। असलमें उसने परमात्माका तत्त्व ही नहीं समझा है।

तत्त्वका ज्ञाता तो विश्वका स्वाभाविक प्रेमी होगा ही, परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि केवल विश्वप्रेम ही ईश्वरप्रेम है; क्योंकि विश्वके परे भी परमात्माका स्वरूप अनन्त और अपार है; विश्व उस परमात्माके एक अंशमें होनेके नाते विश्वप्रेम भी ईश्वरप्रेमके ही अन्तर्गत है। वस्तुतः विश्वसहित समग्र परमात्माके साथ होनेवाला प्रेम ही ईश्वरप्रेम है।

परमेश्वरकी दो प्रकृति हैं—एक जड और दूसरी चेतन। इन्हींको भगवान्ने गीतामें अपरा और परा प्रकृति कहा है। इनमें आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, मन, बुद्धि और अहंकार—ऐसे आठ प्रकारवाली अपरा प्रकृति जड है, जिसका यह चौबीस विकारोंवाला जड शरीर है और जीवात्मा परा प्रकृति है जिसको चेतन कहते हैं और जिसने उपर्युक्त अष्टधा अपरा प्रकृतिको धारण कर रखा है। शरीरयुक्त इस जीवके भी दो भेद हो जाते हैं—चर और अचर। मनुष्य, पशु-पक्षी आदि चर हैं और वृक्ष-लता आदि अचर हैं; उपर्युक्त दोनों प्रकृतियोंसे संयुक्त संसारको ही विश्व कहते हैं; इस विश्वके साथ जो मनुष्य किसी हेतुको लेकर प्रेम करता है, वह भी ईश्वरके साथ ही प्रेम करता है, परन्तु उसका वह प्रेम क्षुद्र है। किसी भी हेतुसे किया जानेवाला प्रेम हेतुकी पूर्ति होनेके साथ ही समाप्त हो जाता है, इसीलिये वह देश-कालसे सीमित होने और फलकी अल्पताके कारण

क्षुद्र कहा जाता है। विशाल अनन्य ईश्वर-प्रेमके अन्तर्गत तो वह विश्व-प्रेम आ सकता है जो परमात्माके तत्त्वको जानकर इस जड-चेतन विश्वके साथ निःस्वार्थभावसे किया जाता है। यद्यपि इसमें भी देश-कालकी परिमितता है तथापि यह तत्त्वज्ञानयुक्त और निष्काम होनेके कारण देशकालावच्छिन्न होनेपर भी सच्चा और सराहनीय माना जाता है। वास्तविक और सर्वोत्कृष्ट ईश्वर-प्रेम तो वही है जो इस जड-चेतन जगत्सहित, देशकालरहित अपरिमित परमात्मामें बिना किसी हेतुके होता है!

अब यह समझना है कि चेतन और जड-जगत्के साथ—परा और अपरा प्रकृतिके साथ किस प्रकारका प्रेम करना चाहिये।

चेतनके साथ प्रेम

१-मनुष्यादि मुक्तिके अधिकारी जीवोंको, इस लोक और परलोकके यथार्थ अभ्युदय और परम कल्याणके लिये अपनी शक्तिके अनुसार तन-मन-धनसे हेतुरहित सहायता पहुँचाना।

२-पशु, पक्षी आदि जीवोंको, जिनको आत्मज्ञानकी प्राप्ति विधेय नहीं है, इस लोकमें रक्षा, वृद्धि और उनके हितके लिये अपनी शक्तिके अनुसार तन-मन-धनसे हेतुरहित सहायता करना।

३-इसी प्रकार वृक्ष-लता आदिके साथ स्वार्थरहित हित-व्यवहार करना।

जडके साथ प्रेम

जो पदार्थ जीवोंके लिये उपयोगी हैं और उत्तम गुण तथा कर्मोंकी वृद्धिमें सहायक हैं, उन पदार्थोंकी उन्नति, वृद्धि और रक्षाके लिये चेष्टा करना और आसक्ति तथा कामनाको त्यागकर लोक-शिक्षाके लिये उनका यथायोग्य प्रयोग करना।

जो पदार्थ जीवोंके लिये अहितकारक हैं और दुर्गुण तथा दुष्कर्मोंको बढ़ानेवाले हैं उनके घटाने और नष्ट करनेके लिये प्रयत्न करना और द्वेष तथा कामनाको त्यागकर लोकसंग्रहार्थ उनका यथोचितरूपसे सर्वथा त्याग करना।

जिस प्रकार उपयोगी पदार्थोंकी वृद्धि, रक्षा और उपयोगमें उनके साथ प्रेम करना है, इसी प्रकार हानिकारक पदार्थोंके क्षय और त्यागमें भी उनके साथ प्रेम करना है, हानिकारक पदार्थोंका अस्तित्व न रहनेमें ही हित है और हितकी चेष्टा ही प्रेम है।

इसी प्रकार मन, बुद्धि, अहंकार और समस्त इन्द्रियाँ आदिको दुराचार, दुर्गुण और भोग-विषयोंसे हटाकर सद्गुणोंकी वृद्धिके लिये उन्हें ईश्वर-भक्तिमें—ईश्वर-सम्बन्धी विषयोंमें लगाना उनके साथ प्रेम करना है।

यह प्रेम साधकको ईश्वरकी प्राप्तिके लिये और सिद्ध पुरुषोंको लोक-संग्रहके लिये करना चाहिये।

यह विश्व-प्रेम ईश्वर-प्रेमके अन्तर्गत है, ईश्वरमें प्रेम होनेपर यह आप ही हो जाता है, अतएव मनुष्यमात्रको ईश्वरके प्रति विशुद्ध और अनन्य प्रेम करनेके लिये प्राणपर्यन्त प्रयत्न करना चाहिये। इस ईश्वर-प्रेमके कुछ साधन निम्नलिखित हैं—

१-ईश्वरके गुण, प्रेम, प्रभाव और रहस्यकी अमृतमयी कथाओंका श्रवण, मनन और पठन-पाठन।

२-भगवान्में श्रद्धा और निष्काम प्रेम करनेवाले पुरुषोंका संग।

३-भगवान्के स्वरूपको याद रखते हुए प्रेमपूर्वक उनके नामका जप और कीर्तन।

४-भगवान्की आज्ञाका पालन और प्रत्येक सुख-दुःखको भगवान्का विधान समझकर प्रसन्नचित्त रहना।

५-सम्पूर्ण जीवोंको भगवान्का अंश मानकर सबके हितके लिये कोशिश करना।

६-ईश्वरके तत्त्वको जानने और उनका दर्शन प्राप्त करनेके लिये उत्कण्ठित रहना।

७-एकान्तमें करुणभावसे ईश्वर-प्रार्थना करना।

इस प्रकार साधन करनेसे ईश्वरमें अनन्य विशुद्ध प्रेम होकर ईश्वरकी साक्षात् प्राप्ति होती है। फिर जड-चेतन संसारमें तो उसका हेतुरहित प्रेम होना अनिवार्य ही है। ऐसे तत्त्वके जाननेवाले प्रेमी भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(गीता १२। १३-१४)

'जो सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, सबका स्वार्थरहित प्रेमी और हेतुरहित दयालु है एवं जो ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम तथा क्षमावान् यानी अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है, जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ निरन्तर लाभ-हानिमें सन्तुष्ट है, मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो गया कि ईश्वर-प्रेम ही विश्वप्रेम है।

ईश्वरमें विश्वास

ईश्वरके विषयमें जो प्रश्न किये गये हैं उनको सुनकर मुझको आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि यह विषय बुद्धिकी पहुँचके बाहरका है। आश्चर्य तो इसमें मानना चाहिये कि जो ईश्वरको मानते हुए भी नहीं मानते। ईश्वरके तत्त्वको न जानकर ईश्वरको माननेवाले कहते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, कर्मफलदाता, सत्य-विज्ञान-आनन्दघन है, इस प्रकार ईश्वरके स्वरूपको बतलाते हैं, पर ईश्वरके निर्माण किये हुए नियमोंका पालन नहीं करते। ऐसे पुरुषोंका मानना केवल कथनमात्र है, ऐसे ही मनुष्योंकी मूर्खताका यह फल है कि आज संसारमें ईश्वरके अस्तित्वमें सन्देह किया जाता है। ईश्वरको सर्वथा न माननेवालोंकी अपेक्षा अन्धश्रद्धासे भी ईश्वरके माननेवालोंको उत्तम समझता हुआ ही मैं उनकी निन्दा इसलिये करता हूँ कि ऐसे अन्धश्रद्धावाले मनुष्य भी अनीश्वरवादके प्रचारमें एक प्रधान कारण हुए हैं। जो वास्तवमें ईश्वरको समझकर ईश्वरको मानते हैं, उन्हींका मानना सराहनीय है। क्योंकि जो ईश्वरके तत्त्वको जान जाता है उसके आचरण परमेश्वरकी मर्यादाके प्रतिकूल नहीं होते, प्रत्युत उसीके आचरण प्रमाण-भूत और आदरणीय होते हैं। भगवान् कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उस-उसके ही अनुसार बर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसके अनुसार बर्तते हैं।' ऐसे पुरुष ही ईश्वरवादके सच्चे प्रचारक हैं, मैं तो एक साधारण पुरुष हूँ। यद्यपि ईश्वर-विषयक प्रश्नोंके उत्तर देनेमें मैं असमर्थ हूँ, तथापि पाठकोंके लिये साधु पुरुषोंके संग और अपने विचारसे उत्पन्न हुए भावोंका अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार कुछ अंश अपने मनोविनोदके लिये उनकी सेवामें रखता हूँ। सज्जनगण मुझे बालक समझकर मेरी त्रुटियोंपर क्षमा करेंगे। ईश्वरका विषय बड़ा गहन और रहस्यपूर्ण है, इस विषयमें बड़े-बड़े पण्डितजन भी मोहित हो जाते हैं, फिर मुझ-सरीखे साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है।

१-(क) ईश्वर बिना ही कारण सबपर दया करता है, प्रत्युपकारके बिना न्याय करता है और सबको समान समझकर सबसे प्रेम करता है। इसलिये उसको मानना कर्तव्य है और कर्तव्य पालन करना ही मनुष्यका मनुष्यत्व है।

(ख) ईश्वरको माननेसे उसकी प्राप्तिके लिये उसके गुण, प्रेम, प्रभावको जाननेकी खोज होती है और उसके नामका जप, स्वरूपका ध्यान, गुणोंके श्रवण-मननकी चेष्टा होती है, जिससे मनुष्यके पापों, अवगुणों एवं दुःखोंका नाश होकर उसे परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

(ग) अच्छी प्रकारसे समझकर ईश्वरको माननेसे मनुष्यके द्वारा किसी प्रकारका दुराचार नहीं हो सकता। जिन पुरुषोंमें दुराचार देखनेमें आते हैं, वे वास्तवमें ईश्वरको मानते ही नहीं हैं। झूठे ही ईश्वरवादी बने हुए हैं।

(घ) सच्चे हृदयसे ईश्वरको माननेवालोंकी सदासे जय होती आयी है। ध्रुव-प्रह्लादादि-जैसे अनेकों ज्वलन्त उदाहरण शास्त्रोंमें भरे हैं। वर्तमानमें भी सच्चे हृदयसे ईश्वरको मानकर उसकी शरण लेनेवालोंकी प्रत्यक्ष उन्नति देखी जाती है।

(ङ) सम्पूर्ण श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रोंकी सार्थकता भी ईश्वरके माननेसे ही सिद्ध होती है। क्योंकि सम्पूर्ण शास्त्रोंका ध्येय ईश्वरके प्रतिपादनमें ही है।

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते॥

(महा०, स्वर्गारोहण०, अ० ६)

इसी प्रकार ईश्वरको माननेसे और भी अनन्त लाभ हैं।

२-(क) कर्मोंके अनुसार फल भुगतानेवाले सर्वव्यापी परमात्माकी सत्ता न माननेसे मनुष्यमें उच्छृंखलता बढ़ती है। उच्छृंखल मनुष्यमें झूठ, कपट, चोरी, जारी, हिंसादि पाप-कर्मोंकी एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि अवगुणोंकी वृद्धि होकर उसका पतन हो जाता है, जिसके परिणाममें वह और महादुःखी बन जाता है।

(ख) ईश्वरको न माननेसे ईश्वरके तत्त्वज्ञानकी खोज नहीं हो सकती और तत्त्वज्ञानकी खोजके बिना ईश्वरके तत्त्वका ज्ञान नहीं होता और ज्ञान बिना कल्याण नहीं हो सकता।

(ग) ईश्वरको न माननेसे कृतघ्नताका दोष आ जाता है, क्योंकि जो पुरुष सर्व संसारके उत्पन्न तथा पालन करनेवाले सबके सुहृद् उस परमपिता परमात्माको ही नहीं मानते, वह यदि अपनेको जन्म देनेवाले माता-पिताको भी न मानें तो क्या आश्चर्य है? और जन्मसे उपकार करनेवाले माता-पिताको न माननेवालेके समान दूसरा कौन कृतघ्न है?

(घ) ईश्वरको न माननेसे मनुष्यकी आध्यात्मिक स्थिति नष्ट हो जाती है और उसमें पशुपन आ जाता है। संसारमें जो लोग ईश्वरको नहीं माननेवाले हैं, गौर करके देखनेसे उनमें यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आती है।

इसी प्रकार ईश्वरको न माननेमें अन्य अनेकों महान् हानियाँ हैं, पर विस्तारके भयसे अधिक नहीं लिखा गया।

३—ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण पूछना कोई आश्चर्यजनक बात या बुद्धिमत्ता नहीं है। इस विषयमें प्रश्न करना साधारण है। स्थूलबुद्धिसे न समझमें आनेवाले विषयमें समझदार पुरुषोंको भी शंका हो जाती है, फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? परन्तु विचारनेकी बात है कि जो परमात्मा स्वत: प्रमाण है और जिस परमात्मासे ही सब प्रमाणोंकी सिद्धि होती है उसके विषयमें प्रमाण पूछना आश्चर्य भी है, जैसे किसी मनुष्यका अपने ही सम्बन्धमें शंका करना कि 'मैं हूँ या नहीं' व्यर्थ है, वैसे ही ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें पूछना है। यदि कहो कि 'मैं तो प्रत्यक्ष हूँ, ईश्वर तो ऐसा नहीं है' सो यह कहा तो जा सकता है, परन्तु असल बात तो यह है कि परमात्मा इससे भी बढ़कर प्रत्यक्ष है। कोई पूछे कि 'हमसे बढ़कर परमात्माकी प्रत्यक्षता कैसे है?' इसका उत्तर यह है कि जैसे स्वप्न-अवस्थाके अनुभव किये हुए पदार्थ जाग्रत्-अवस्थामें नहीं रहते, इसी बातको लेकर यह शंका हो सकती है कि यह जाग्रत्-अवस्थामें दीखनेवाले पदार्थ भी किसीका स्वप्न हो, क्योंकि स्वप्नके पदार्थोंका स्वप्न-अवस्थामें परिवर्तन देखते हैं, वैसे ही जाग्रत्-अवस्थाके पदार्थोंका जाग्रत्-अवस्थामें परिवर्तन देखते हैं, परन्तु जिससे इन सबकी सत्ता है और जो सबके नाश होनेपर भी नाश नहीं होता, जो सबका आधार और अधिष्ठान है, उस निर्विकार परमात्माकी प्रत्यक्षता हमारे व्यक्तिगत अस्तित्वकी अपेक्षा बहुत विशेष है, पर इस प्रकारकी प्रत्यक्षता उन्हीं महात्मा पुरुषोंको होती है कि जिनकी महिमा सब शास्त्र गाते हैं। जो सूक्ष्मदर्शी हैं वे ही सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा परमात्माका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते हैं। इस विषयमें श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि शास्त्र और महात्मा पुरुषोंके वचन प्रमाण हैं। जिनको स्वयं साक्षात् करनेकी इच्छा हो वे श्रुति, स्मृति तथा महात्मा पुरुषोंके बताये हुए मार्गके अनुसार साधनके लिये प्रयत्न करनेसे परमात्माको प्रत्यक्ष कर सकते हैं। परमात्माके अस्तित्वकी सिद्धिमें युक्तिप्रमाण भी हैं। कार्यकी सिद्धिसे कारणके निश्चय करनेको युक्तिप्रमाण कहते हैं। संसारमें किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति और उसका संचालन किसी कर्ताके बिना नहीं देखा जाता। इसीसे यह निश्चय होता है कि पृथ्वी, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा और काल आदिकी रचना और नियमानुसार उनका संचालन करनेवाली कोई बड़ी भारी शक्ति है, उसी शक्तिको परमात्मा समझना चाहिये। यदि कहो, 'बिना कर्ताके प्रकृतिसे ही अपने-आप सब उत्पन्न हो जाते हैं इसमें कर्ताकी कोई आवश्यकता नहीं, जैसे वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्ष अपने-आप ही उत्पन्न होते हुए देखनेमें आते हैं' सो ठीक है, किन्तु यह कहना युक्तियुक्त नहीं है। प्रथम तो यह बात विचारनी चाहिये कि पहले बीजकी उत्पत्ति हुई या वृक्षकी? यदि वृक्षकी कहो तो वृक्ष कहाँसे आया? और बीजकी कहो तो बीज कहाँसे आया? यदि दोनोंकी उत्पत्ति एक साथ कहो तो किसके द्वारा किससे हुई? क्योंकि बिना किसी कारणके कार्यकी उत्पत्ति सम्भव नहीं। जिससे और जिसके द्वारा बीज, वृक्ष आदिकी उत्पत्ति हुई है वे ही परमात्मा हैं।

दूसरा प्रश्न होता है कि यह प्रकृति जड है या चेतन। यदि जड कहो तो चेतनकी सत्ता-स्फूर्तिके बिना किसी पदार्थका उत्पन्न और संचालन होना सम्भव नहीं और यदि चेतन कहो तो फिर हमारा कोई विरोध नहीं; क्योंकि चेतन-शक्ति ही परमात्मा है, जिनके द्वारा इस संसारकी उत्पत्ति हुई है। केवल संसारकी उत्पत्ति ही नहीं, चेतनकी सत्ता बिना इस संसारका संचालन भी नियमानुसार नहीं हो सकता। बिना यन्त्रीके किसी छोटे-से-छोटे यन्त्रका भी संचालन होता नहीं दिखायी देता। किसी भी कार्यका संचालन हो, बिना संचालकके वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है अतएव जिससे इस संसारका नियमानुसार संचालन होता है, उसीको परमात्मा समझना चाहिये। जीवोंके किये हुए कर्मोंके फलोंका भी सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, परमात्माके बिना यथायोग्य भुगताया जाना सम्भव नहीं है, यदि कहो—कर्मोंके अनुसार कर्ता पुरुषको किये हुए कर्मोंका फल अपने-आप मिल जाता है, तो यह कहना युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि कर्म जड होनेके कारण उनमें यथायोग्य फल-विभाग करनेकी शक्ति नहीं है और जीव बुरे कर्मोंका फल दुःख स्वयं भोगना चाहता नहीं। चोर चोरी करता है और चोरीके अनुसार राजा उसे दण्ड देता है; परन्तु न तो वह चोर जेलखानेमें स्वयं जाता है और न वह चोरीरूप कर्म ही उसे जेल पहुँचा सकता है। राजाकी आज्ञासे नियत किये हुए अधिकारी लोग ही चोरीके अपराधके अनुसार उसे जेलका दण्ड देते हैं, इसी प्रकार पाप-कर्म करनेवाले पुरुषोंको परमेश्वरके नियत किये हुए अधिकारी देवता पाप-कर्मोंका दुःखरूप दण्ड देते हैं। ऐसे ही यह जीव किये हुए सुकृत-कर्मोंका फलरूप सुख भोगनेमें भी असमर्थ है। जैसे कोई राजाके कानूनके अनुसार चलनेवाले व्यक्तिको राजा या उनके नियत किये हुए पुरुषोंद्वारा कर्मोंके अनुसार नियत किया हुआ ही पुरस्कार मिलता है, उसी प्रकारसे सुकृत कर्म करनेवाले पुरुषोंको भी उनके कर्मोंके अनुसार परमेश्वरद्वारा नियत किया हुआ फल मिलता है।

अज्ञानके द्वारा मोहित होनेके कारण जीवोंको अपने

कर्मोंके अनुसार स्वतन्त्रतासे एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेका सामर्थ्य और ज्ञान भी नहीं है।

इसके सिवा सृष्टिके प्रत्येक कार्यमें सर्वत्र प्रयोजन देखा जाता है। ऐसी प्रयोजनवती सृष्टिकी रचना बिना किसी परम बुद्धिमान् चेतन कर्ताके नहीं हो सकती।

इस उपर्युक्त विवेचनसे यही बात सिद्ध होती है, कि परमेश्वरके बिना न तो संसारकी उत्पत्ति सम्भव है, न संचालन हो सकता है, न जीवोंको उनके कर्मफलका यथायोग्य फल प्राप्त हो सकता है और न सप्रयोजन सृष्टि हो सकती है।

ईश्वर 'स्वतः प्रमाण' प्रसिद्ध है, क्योंकि सम्पूर्ण प्रमाणोंकी सिद्धि ईश्वरके प्रमाणसे ही सिद्ध होती है, इसलिये उसमें अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं।

ईश्वरके होनेमें शास्त्र भी प्रमाण हैं, सम्पूर्ण श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणोंका तात्पर्य भी ईश्वरके प्रतिपादनमें ही है। इसके लिये जगह-जगह असंख्य प्रमाण देख सकते हैं।

यजुर्वेद—

ईशावास्यमिद ँ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।

(४०।१)

'इस जगत्‌में जो कुछ भी है वह सब-का-सब ईश्वरसे व्याप्त है।'

ब्रह्मसूत्र—

'जन्माद्यस्य यतः।' 'शास्त्रयोनित्वात्॥'

(१।२-३)

'जिससे उत्पत्ति, स्थिति और पालन होता है, वह ईश्वर है। शास्त्रका कारण होनेसे अर्थात् जो शास्त्रका उत्पादक है तथा शास्त्रद्वारा प्रमाणित है, वह ईश्वर है।'

गीता—

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो-
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो-
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

(१५।१५)

'मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेयोग्य हूँ तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ।'

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(१८।६१)

'हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूतप्राणियोंके हृदयमें स्थित है।'

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

(१३।१७)

'वह ब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अति परे कहा जाता है तथा परमात्मा बोधस्वरूप और जाननेयोग्य है एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाला और सबके हृदयमें स्थित है।'

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

(१५।१७)

'उन (क्षर, अक्षर) दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है कि जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा, ऐसे कहा गया है।'

योगदर्शन—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्॥
पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

(समाधिपाद २४—२६)

'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश (मरणभय)—इन पाँच क्लेशोंसे, पाप-पुण्य आदि कर्मोंसे, सुख-दुःखादि भोगोंसे और सम्पूर्ण वासनाओंसे रहित पुरुषविशेष (पुरुषोत्तम) ईश्वर है। उस परमेश्वरमें सर्वज्ञताका कारण ज्ञान निरतिशय है। वह पूर्वमें होनेवाले ब्रह्मादिका भी उत्पादक और शिक्षक है; क्योंकि कालके द्वारा उसका अवच्छेद नहीं होता।'

उपनिषद्—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म।

(तैत्तिरीय० ३।१)

'जिससे सब भूत उत्पन्न होते हैं तथा उत्पन्न हुए प्राणी जिसके अनुग्रहसे जीते हैं और मृत्युके पश्चात् जिसमें लीन होते हैं, उसको तू जान, वह ब्रह्म है।'

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

(श्वेता० ६।११)

'एक ही देव (परमात्मा) सब भूतोंके अन्तस्तलमें विराजमान है, वह सर्वव्यापी है, सब भूतोंका अन्तरात्मा है। वही कर्मोंका अध्यक्ष, सब भूतोंका निवासस्थान, साक्षी, चेतन, केवल और निर्गुण है।'

भागवतमें श्रीभगवान् कहते हैं—

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः॥
आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम्॥

(४।७।५०-५१)

'हे ब्राह्मण! मैं ही ब्रह्मा हूँ, शिव हूँ और जगत्का परम कारण हूँ। मैं ही आत्मा और ईश्वर हूँ, अन्तर्यामी हूँ, स्वयं प्रकाश हूँ तथा निर्गुण हूँ। मैं अपनी त्रिगुणमयी मायामें समाविष्ट होकर विश्वका पालन, पोषण और संहार करता हुआ क्रियानुसार नाम धारण करता हूँ।'

महाभारत अनुशासनपर्वके १४९वें अध्यायमें कहा है—

अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम्।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत्॥ ६॥
ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम्।
लोकनाथं महद्भूतं सर्वभूतभवोद्भवम्॥ ७॥
परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम्॥ ८॥
पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानां च मंगलम्।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता॥ ९॥

'उस अनादि, अनन्त, सर्वलोकव्यापक, सर्वलोकमहेश्वर, सब लोकोंके अध्यक्षकी सदा स्तुति करनेवाला सब दुःखोंको लाँघ जाता है।' 'जो परम ब्रह्मण्य, सब धर्मोंको जाननेवाले, लोकोंकी कीर्तिको बढ़ानेवाले, लोकनाथ, सर्वभूतोंको उत्पन्न करनेवाले महान् भूत हैं।' 'जो तेजके परम और महान् पुंज हैं, जो बड़े-से-बड़े तपोरूप हैं, जो परम महान् ब्रह्मरूप हैं और जो बड़े-से-बड़े श्रेष्ठ आश्रय हैं।' 'जो पवित्र वस्तुओंमें सबसे अधिक पवित्र हैं, जो मंगलोंके भी मंगलरूप हैं, जो देवताओंके परम देवता हैं और जो प्राणिमात्रके अविनाशी पिता हैं।'

वाल्मीकीय रामायण युद्धकाण्ड—

कर्ता सर्वस्य लोकस्य श्रेष्ठो ज्ञानविदां विभुः।
अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव।
लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः॥

(११७। ६, १४)

ब्रह्मा कहते हैं, 'हे राघव! आप समस्त लोकोंके कर्ता, ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ विभु हैं। आप ही सब लोकोंके आदि, मध्य, अन्तमें विराजित अक्षर ब्रह्म और सत्य हैं, आप सब लोकोंके परमधर्म विष्वक्सेन चतुर्भुज हरि हैं।'

जैन, बौद्ध और चार्वाक् आदि कतिपय मतोंको छोड़कर ऐसा कोई भी वेद-शास्त्र नहीं है, जिसमें ईश्वरका प्रतिपादन न किया गया हो। यहाँतक कि मुसलमान, ईसाई आदि भी ईश्वरके अस्तित्वको मानते हैं। यथा—

कुरान—पूर्व और पश्चिम सब खुदाके ही हैं, तुम जिधर भी अपना मुँह घुमाओगे, उधर ही खुदाका मुख रहेगा। खुदा वास्तवमें अत्यन्त ही उदार है, सर्वशक्तिमान् है।

ईसाने कहा है—जिसका ईश्वरमें विश्वास है तथा जो भगवान्की शक्तिके आश्रित है, वह संसारसे तर जायगा, पर अविश्वासियोंकी बड़ी दुर्गति होगी।

४—मनुष्य यदि विचारदृष्टिसे देखे तो उसे न्यायकारी और परम दयालु ईश्वरकी सत्ता और दयाका पद-पदपर परिचय मिलता है। प्राचीन और अर्वाचीन बहुत-से महात्माओंकी जीवनियोंमें इस प्रकारकी घटनाओंके अनेकों प्रमाण प्राप्त होते हैं। मैं अपने सम्बन्धमें इस विषयपर क्या लिखूँ? अवश्य ही मैं यह विनय कर सकता हूँ कि सर्वशक्तिमान् विज्ञानानन्दघन परमात्माकी सत्ता और दयापर तथा उससे होनेवाली महात्माओंकी जीवन-घटनाओंपर विश्वास करनेसे अवश्य लाभ होता है।

शिव-तत्त्व

शान्तं पद्मासनस्थं शशधरमुकुटं पंचवक्त्रं त्रिनेत्रं
शूलं वज्रं च खड्गं परशुमभयदं दक्षभागे वहन्तम्।
नागं पाशं च घण्टां प्रलयहुतवहं सांकुशं वामभागे
नानालंकारयुक्तं स्फटिकमणिनिभं पार्वतीशं नमामि॥*

शिव-तत्त्व बहुत ही गहन है। मुझ सरीखे साधारण व्यक्तिका इस तत्त्वपर कुछ लिखना एक प्रकारसे लड़कपनके समान है। परन्तु इसी बहाने उस विज्ञानानन्दघन महेश्वरकी चर्चा हो जायगी, यह समझकर अपने मनोविनोदके लिये कुछ लिख रहा हूँ। विद्वान् महानुभाव क्षमा करें।

श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास आदिमें सृष्टिकी उत्पत्तिका

* जो शान्तस्वरूप हैं, कमलके आसनपर विराजमान हैं, मस्तकपर चन्द्रमाका मुकुट धारण करनेवाले हैं, जिनके पाँच मुख हैं, तीन नेत्र हैं, जो अपने दाहिने भागकी भुजाओंमें शूल, वज्र, खड्ग, परशु और अभयमुद्रा धारण करते हैं तथा वामभागकी भुजाओंमें सर्प, पाश, घण्टा, प्रलयाग्नि और अंकुश धारण किये रहते हैं, उन नाना अलंकारोंसे विभूति एवं स्फटिकमणिके सामान श्वेतवर्ण भगवान् पार्वतीपतिको नमस्कार करता हूँ।

भिन्न-भिन्न प्रकारसे वर्णन मिलता है। इसपर तो यह कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न ऋषियोंके पृथक्-पृथक् मत होनेके कारण उनके वर्णनमें भेद होना सम्भव है; परन्तु पुराण तो अठारहों एक ही महर्षि वेदव्यासके रचे हुए माने जाते हैं, उनमें भी सृष्टिकी उत्पत्तिके वर्णनमें विभिन्नता ही पायी जाती है। शैवपुराणोंमें शिवसे, वैष्णवपुराणोंमें विष्णु, कृष्ण या रामसे और शाक्तपुराणोंमें देवीसे सृष्टिकी उत्पत्ति बतलायी गयी है इसका क्या कारण है? एक ही पुरुषद्वारा रचित भिन्न-भिन्न पुराणोंमें एक ही खास विषयमें इतना भेद क्यों? सृष्टिके विषयमें ही नहीं, इतिहासों और कथाओंका भी पुराणोंमें कहीं-कहीं अत्यन्त भेद पाया जाता है। इसका क्या हेतु है?

इस प्रश्नपर मूल-तत्त्वकी ओर लक्ष्य रखकर गम्भीरताके साथ विचार करनेपर यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि सृष्टिकी उत्पत्तिके क्रममें भिन्न-भिन्न श्रुति, स्मृति और इतिहास-पुराणोंके वर्णनमें एवं योग, सांख्य, वेदान्तादि शास्त्रोंके रचयिता ऋषियोंके कथनमें भेद रहनेपर भी वस्तुतः मूल सिद्धान्तमें कोई खास भेद नहीं है; क्योंकि प्रायः सभी कोई नाम-रूप बदलकर आदिमें प्रकृति-पुरुषसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति बतलाते हैं। वर्णनमें भेद होने अथवा भेद प्रतीत होनेके निम्नलिखित कई कारण हैं—

१—मूल-तत्त्व एक होनेपर भी प्रत्येक महासर्गके आदिमें सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम सदा एक-सा नहीं रहता; क्योंकि वेद, शास्त्र और पुराणोंमें भिन्न-भिन्न सर्ग और महासर्गोंका वर्णन है, इससे वर्णनमें भेद होना स्वाभाविक है।

२—महासर्ग और सर्गके आदिमें भी उत्पत्ति-क्रममें भेद रहता है। ग्रन्थोंमें कहीं महासर्गका वर्णन है तो कहीं सर्गका, इससे भी भेद हो जाता है।

३—प्रत्येक सर्गके आदिमें भी सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम सदा एक-सा नहीं रहता, यह भी भेद होनेका एक कारण है।

४—सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहारके क्रमका रहस्य बहुत ही सूक्ष्म और दुर्विज्ञेय है, इसे समझानेके लिये नाना प्रकारके रूपकोंसे उदाहरण-वाक्योंद्वारा नाम-रूप बदलकर भिन्न-भिन्न प्रकारसे सृष्टिकी उत्पत्ति आदिका रहस्य बतलानेकी चेष्टा की गयी है। इस तात्पर्यको न समझनेके कारण भी एक दूसरे ग्रन्थके वर्णनमें विशेष भेद प्रतीत होता है।

ये तो सृष्टिकी उत्पत्ति आदिके सम्बन्धमें वेद-शास्त्रोंमें भेद होनेके कारण हैं। अब पुराणोंके सम्बन्धमें विचार करना है। पुराणोंकी रचना महर्षि वेदव्यासजीने की। वेदव्यासजी महाराज बड़े भारी तत्त्वदर्शी विद्वान् और सृष्टिके समस्त रहस्यको जाननेवाले महापुरुष थे। उन्होंने देखा कि वेद-शास्त्रोंमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शक्ति आदि ब्रह्मके अनेक नामोंका वर्णन होनेसे वास्तविक रहस्यको न समझकर अपनी-अपनी रुचि और बुद्धिकी विचित्रताके कारण मनुष्य इन भिन्न-भिन्न नाम-रूपवाले एक ही परमात्माको अनेक मानने लगे हैं और नाना मत-मतान्तरोंका विस्तार होनेसे असली तत्त्वका लक्ष्य छूट गया है। इस अवस्थामें उन्होंने सबको एक ही परम लक्ष्यकी ओर मोड़कर सर्वोत्तम मार्गपर लानेके लिये एवं श्रुति, स्मृति आदिका रहस्य स्त्री, शूद्रादि अल्पबुद्धिवाले मनुष्योंको समझानेके लिये उन सबके परम हितके उद्देश्यसे पुराणोंकी रचना की। पुराणोंकी रचनाशैली देखनेसे प्रतीत होता है कि महर्षि वेदव्यासजीने उनमें इस प्रकारके वर्णन, उपदेश और आदेश किये हैं, जिनके प्रभावसे परमेश्वरके नाना प्रकारके नाम और रूपोंको देखकर भी मनुष्य प्रमाद, लोभ और मोहके वशीभूत हो सन्मार्गका त्याग करके मार्गान्तरमें नहीं जा सकते। वे किसी भी नाम-रूपसे परमेश्वरकी उपासना करते हुए ही सन्मार्गपर आरूढ़ रह सकते हैं। बुद्धि और रुचि-वैचित्र्यके कारण संसारमें विभिन्न प्रकारके देवताओंकी उपासना करनेवाले जनसमुदायको एक ही सूत्रमें बाँधकर उन्हें सन्मार्गपर लगा देनेके उद्देश्यसे ही शास्त्र और वेदोक्त देवताओंको ईश्वरत्व देकर भिन्न-भिन्न पुराणोंमें भिन्न-भिन्न देवताओंसे भिन्न-भिन्न भाँतिसे सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका क्रम बतलाया गया है। जीवोंपर महर्षि वेदव्यासजीकी परम कृपा है। उन्होंने सबके लिये परमधाम पहुँचनेका मार्ग सरल कर दिया। पुराणोंमें यह सिद्ध कर दिया है कि जो मनुष्य भगवान्के जिस नाम-रूपका उपासक हो वह उसीको सर्वोपरि, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सम्पूर्ण गुणाधार, विज्ञानानन्दघन परमात्मा माने और उसीको सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु, महेशके रूपमें प्रकट होकर क्रिया करनेवाला समझे। उपासकके लिये ऐसा ही समझना परम लाभदायक और सर्वोत्तम है कि मेरे उपास्यदेवसे बढ़कर और कोई है ही नहीं। सब उसीका लीला-विस्तार या विभूति है।

वास्तवमें बात भी यही है। एक निर्विकार, नित्य, विज्ञानानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही हैं। उन्हींके किसी अंशमें प्रकृति है। उस प्रकृतिको ही लोग माया, शक्ति आदि नामोंसे पुकारते हैं। वह माया बड़ी विचित्र है। उसे कोई अनादि, अनन्त कहते हैं तो कोई अनादि, सान्त मानते हैं; कोई उस ब्रह्मकी शक्तिको ब्रह्मसे अभिन्न मानते हैं तो कोई भिन्न बतलाते हैं; कोई सत् कहते हैं तो कोई असत् प्रतिपादन करते हैं। वस्तुतः मायाके सम्बन्धमें जो कुछ भी कहा जाता है, माया उससे विलक्षण है। क्योंकि उसे न

असत् ही कहा जा सकता है, न सत् ही। असत् तो इसलिये नहीं कह सकते कि उसीका विकृत रूप यह संसार (चाहे वह किसी भी रूपमें क्यों न हो) प्रत्यक्ष प्रतीत होता है और सत् इसलिये नहीं कह सकते कि जड दृश्य सर्वथा परिवर्तनशील होनेसे उसकी नित्य सम स्थिति नहीं देखी जाती एवं ज्ञान होनेके उत्तरकालमें उसका या उसके सम्बन्धका अत्यन्त अभाव भी बतलाया गया है और ज्ञानीका भाव ही असली भाव है। इसीलिये उसको अनिर्वचनीय समझना चाहिये।

विज्ञानानन्दघन परमात्माके वेदोंमें दो स्वरूप माने गये हैं। प्रकृतिरहित ब्रह्मको निर्गुण ब्रह्म कहा गया है और जिस अंशमें प्रकृति या त्रिगुणमयी माया है उस प्रकृतिसहित ब्रह्मके अंशको सगुण कहते हैं। सगुण ब्रह्मके भी दो भेद माने गये हैं—एक निराकार, दूसरा साकार। उस निराकार, सगुण ब्रह्मको ही महेश्वर, परमेश्वर आदि नामोंसे पुकारा जाता है। वही सर्वव्यापी, निराकार, सृष्टिकर्ता परमेश्वर स्वयं ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इन तीनों रूपोंमें प्रकट होकर सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहार किया करते हैं। इस प्रकार पाँच रूपोंमें विभक्त-से हुए परात्पर, परब्रह्म परमात्माको ही शिवके उपासक सदाशिव, विष्णुके उपासक महाविष्णु और शक्तिके उपासक महाशक्ति आदि नामोंसे पुकारते हैं। श्रीशिव, विष्णु, ब्रह्मा, शक्ति, राम, कृष्ण आदि सभीके सम्बन्धमें ऐसे प्रमाण मिलते हैं। शिवके उपासक नित्य विज्ञानानन्दघन निर्गुण ब्रह्मको सदाशिव, सर्वव्यापी, निराकार; सगुण ब्रह्मको महेश्वर; सृष्टिके उत्पन्न करनेवालेको ब्रह्मा; पालनकर्ताको विष्णु और संहारकर्ताको रुद्र कहते हैं और इन पाँचोंको ही शिवका रूप बतलाते हैं। भगवान् विष्णुके प्रति भगवान् महेश्वर कहते हैं—

त्रिधा भिन्नो ह्यहं विष्णो ब्रह्मविष्णुहराख्यया।
सर्गरक्षालयगुणैर्निष्कलोऽपि सदा हरे॥
यथा च ज्योतिषः संगाज्जलादेः स्पर्शता न वै।
तथा ममागुणस्यापि संयोगाद्बन्धनं न हि॥
यथैकस्या मृदो भेदो नाम्नि पात्रे न वस्तुतः।
यथैकस्य समुद्रस्य विकारो नैव वस्तुतः॥
एवं ज्ञात्वा भवद्भ्यां च न दृश्यं भेदकारणम्।
वस्तुतः सर्वदृश्यं च शिवरूपं मतं मम॥
अहं भवानयं चैव रुद्रोऽयं यो भविष्यति।
एकं रूपं न भेदोऽस्ति भेदे च बन्धनं भवेत्॥
तथापीह मदीयं वै शिवरूपं सनातनम्।
मूलभूतं सदा प्रोक्तं सत्यं ज्ञानमनन्तकम्॥

(शिव०, ज्ञान० ४। ४१, ४४, ४८—५१)

'हे विष्णो! हे हरे!! मैं स्वभावसे निर्गुण होता हुआ भी संसारकी रचना, स्थिति एवं प्रलयके लिये रज, सत्त्व आदि गुणोंसे क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र—इन नामोंके द्वारा तीन रूपोंमें विभक्त हो रहा हूँ। जिस प्रकार जलादिके संसर्गसे अर्थात् उनमें प्रतिबिम्ब पड़नेसे सूर्य आदि ज्योतियोंमें उसका सम्पर्क नहीं होता, उसी प्रकार मुझ निर्गुणका भी गुणोंके संयोगसे बन्धन नहीं होता। मिट्टीके नाना प्रकारके पात्रोंमें केवल नाम और आकारका ही भेद है, वास्तविक भेद नहीं है—एक मिट्टी ही है। समुद्रके भी फेन, बुद्बुदे, तरंगादि विकार लक्षित होते हैं; वस्तुतः समुद्र एक ही है। यह समझकर आपलोगोंको भेदका कोई कारण न देखना चाहिये। वस्तुतः सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ शिवरूप ही हैं, ऐसा मेरा मत है। मैं, आप, ये ब्रह्माजी और आगे चलकर मेरी जो रुद्रमूर्ति उत्पन्न होगी—ये सब एकरूप ही हैं, इनमें कोई भेद नहीं है। भेद ही बन्धनका कारण है। फिर भी यहाँ मेरा यह शिवरूप नित्य, सनातन एवं सबका मूलस्वरूप कहा गया है। यही सत्य, ज्ञान एवं अनन्तरूप गुणातीत परब्रह्म है।'

साक्षात् महेश्वरके इन वचनोंसे उनका '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**'—नित्य विज्ञानानन्दघन निर्गुणरूप, सर्वव्यापी, सगुण, निराकाररूप और ब्रह्मा, विष्णु, रुद्ररूप—ये पाँचों सिद्ध होते हैं। यही सदाशिव पंचवक्त्र हैं।

इसी प्रकार श्रीविष्णुके उपासक निर्गुण परात्पर ब्रह्मको महाविष्णु, सर्वव्यापी, निराकार, सगुण ब्रह्मको वासुदेव तथा सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले रूपोंको क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहते हैं। महर्षि पराशर भगवान् विष्णुकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने।
सदैकरूपरूपाय विष्णवे सर्वजिष्णवे॥
नमो हिरण्यगर्भाय हरये शंकराय च।
वासुदेवाय ताराय सर्गस्थित्यन्तकारिणे॥
एकानेकस्वरूपाय स्थूलसूक्ष्मात्मने नमः।
अव्यक्तव्यक्तरूपाय विष्णवे मुक्तिहेतवे॥
सर्गस्थितिविनाशानां जगतोऽस्य जगन्मयः।
मूलभूतो नमस्तस्मै विष्णवे परमात्मने॥
आधारभूतं विश्वस्याप्यणीयांसमणीयसाम्।
प्रणम्य सर्वभूतस्थमच्युतं पुरुषोत्तमम्॥

(विष्णु० १। २। १—५)

'निर्विकार, शुद्ध, नित्य, परमात्मा, सर्वदा एकरूप, सर्वविजयी हरि, हिरण्यगर्भ, शंकर, वासुदेव आदि नामोंसे प्रसिद्ध संसार-तारक, विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लयके कारण, एक और अनेक स्वरूपवाले, स्थूल, सूक्ष्म—उभयात्मक व्यक्ताव्यक्तस्वरूप एवं मुक्तिदाता भगवान् विष्णुको

मेरा बारम्बार नमस्कार है। जो जगन्मय भगवान् इस संसारकी उत्पत्ति, पालन एवं विनाशके मूलकारण हैं, उन सर्वव्यापी भगवान् वासुदेव परमात्माको मेरा नमस्कार है। विश्वाधार, अत्यन्त सूक्ष्मसे अति सूक्ष्म, सर्वभूतोंके अंदर रहनेवाले, अच्युत पुरुषोत्तम भगवान्‌को मेरा प्रणाम है।'

यहाँ अव्यक्तसे निर्विकार, नित्य शुद्ध परमात्माका निर्गुण स्वरूप समझना चाहिये। व्यक्तसे सगुण स्वरूप समझना चाहिये। उस सगुणके भी स्थूल और सूक्ष्म—दो स्वरूप बतलाये गये हैं। यहाँ सूक्ष्मसे सर्वव्यापी भगवान् वासुदेवको समझना चाहिये, जो कि ब्रह्मा, विष्णु और महेशके भी मूल कारण हैं एवं सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म पुरुषोत्तम नामसे बतलाये गये हैं तथा स्थूलस्वरूप यहाँ संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और महेशके वाचक हैं जो कि हिरण्यगर्भ हरि और शंकरके नामसे कहे गये हैं। इन्हीं सब वचनोंसे श्रीविष्णुभगवान्‌के उपर्युक्त पाँचों रूप सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार भगवती महाशक्तिकी स्तुति करते हुए देवगण कहते हैं—

सृष्टिस्थितिविनाशानां शक्तिभूते सनातनि।
गुणाश्रये गुणमयि नारायणि नमोऽस्तु ते॥

(मार्कण्डेय० ९१। १०)

'ब्रह्मा, विष्णु और महेशके रूपसे सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और विनाश करनेवाली हे सनातनी शक्ति! हे गुणाश्रये! हे गुणमयी नारायणी देवी! तुम्हें नमस्कार हो।'

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

त्वमेव सर्वजननी मूलप्रकृतिरीश्वरी।
त्वमेवाद्या सृष्टिविधौ स्वेच्छया त्रिगुणात्मिका॥
कार्यार्थे सगुणा त्वं च वस्तुतो निर्गुणा स्वयम्।
परब्रह्मस्वरूपा त्वं सत्या नित्या सनातनी॥
तेजस्स्वरूपा परमा भक्तानुग्रहविग्रहा।
सर्वस्वरूपा सर्वेशा सर्वाधारा परात्परा॥
सर्वबीजस्वरूपा च सर्वपूज्या निराश्रया।
सर्वज्ञा सर्वतोभद्रा सर्वमंगलमंगला॥

(ब्रह्मवै० प्रकृति० २। ६६। ७—११)

'तुम्हीं विश्वजननी, मूल-प्रकृति ईश्वरी हो, तुम्हीं सृष्टिकी उत्पत्तिके समय आद्याशक्तिके रूपमें विराजमान रहती हो और स्वेच्छासे त्रिगुणात्मिका बन जाती हो। यद्यपि वस्तुतः तुम स्वयं निर्गुण हो तथापि प्रयोजनवश सगुण हो जाती हो। तुम परब्रह्मस्वरूप, सत्य, नित्य एवं सनातनी हो; परमतेजःस्वरूप और भक्तोंपर अनुग्रह करनेके हेतु शरीर धारण करनेवाली हो; तुम सर्वस्वरूपा, सर्वेश्वरी, सर्वाधार एवं परात्पर हो। तुम सर्वबीजस्वरूप, सर्वपूज्या एवं आश्रयरहित हो। तुम सर्वज्ञ, सर्वप्रकारसे मंगल करनेवाली एवं सर्वमंगलोंका भी मंगल हो।'

ऊपरके उद्धरणसे महाशक्तिका विज्ञानानन्दघनस्वरूपके साथ ही सर्वव्यापी सगुण ब्रह्म एवं सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और विनाशके लिये ब्रह्मा, विष्णु और शिवके रूपमें होना सिद्ध है।

इसी प्रकार ब्रह्माजीके बारेमें कहा गया है—

जय देवाधिदेवाय त्रिगुणाय सुमेधसे।
अव्यक्तजन्मरूपाय कारणाय महात्मने॥
एतत्त्रिभावभावाय उत्पत्तिस्थितिकारक।
रजोगुणगुणाविष्ट सृजसीदं चराचरम्॥
सत्त्वपाल महाभाग तमः संहरसेऽखिलम्।

(देवीपुराण ८३। १३—१६)

'आपकी जय हो। उत्तम बुद्धिवाले, अव्यक्त-व्यक्तरूप त्रिगुणमय, सबके कारण, विश्वकी उत्पत्ति, पालन एवं संहारकारक ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूप तीनों भावोंसे भावित होनेवाले महात्मा देवाधिदेव ब्रह्मदेवके लिये नमस्कार है। हे महाभाग! आप रजोगुणसे आविष्ट होकर हिरण्यगर्भरूपसे चराचर संसारको उत्पन्न करते हैं तथा सत्त्वगुणयुक्त होकर विष्णुरूपसे पालन करते हैं एवं तमोमूर्ति धारण करके रुद्ररूपसे सम्पूर्ण संसारका संहार करते हैं।'

उपर्युक्त वचनोंसे ब्रह्माजीके भी परात्पर ब्रह्मसहित पाँचों रूपोंका होना सिद्ध होता है। अव्यक्तसे तो परात्पर परब्रह्मस्वरूप एवं कारणसे सर्वव्यापी, निराकार सगुणरूप तथा उत्पत्ति, पालन और संहारकारक होनेसे ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूप होना सिद्ध होता है।

इसी तरह भगवान् श्रीरामके प्रति भगवान् शिवके वाक्य हैं—

एकस्त्वं पुरुषः साक्षात् प्रकृतेः पर ईर्यसे।
यः स्वांशकलया विश्वं सृजत्यवति हन्ति च॥
अरूपस्त्वमशेषस्य जगतः कारणं परम्।
एक एव त्रिधा रूपं गृह्णासि कुहकान्वितः॥
सृष्टौ विधातृरूपस्त्वं पालने स्वप्रभामयः।
प्रलये जगतः साक्षादहं शर्वाख्यतां गतः॥

(पद्म० पाता०, ४६। ६-८)

'आप प्रकृतिसे अतीत साक्षात् अद्वितीय पुरुष कहे जाते हैं, जो अपनी अंशकलाके द्वारा ब्रह्मा, विष्णु, रुद्ररूपसे विश्वकी उत्पत्ति, पालन एवं संहार करते हैं। आप अरूप होते हुए भी अखिल विश्वके परम कारण

हैं। आप एक होते हुए भी माया-संवलित होकर त्रिविध रूप धारण करते हैं। संसारकी सृष्टिके समय आप ब्रह्मारूपसे प्रकट होते हैं, पालनके समय स्वप्रभामय विष्णुरूपसे व्यक्त होते हैं और प्रलयके समय मुझ शर्व (रुद्र)-का रूप धारण कर लेते हैं।'

श्रीरामचरितमानसमें भी भगवान् शंकरने पार्वतीजीसे भगवान् श्रीरामके सम्बन्धमें कहा है—

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें॥
राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके परब्रह्म परमात्मा होनेका विविध ग्रन्थोंमें उल्लेख है। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें कथा है कि एक महासर्गके आदिमें भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य अंगोंसे भगवान् नारायण और भगवान् शिव तथा अन्यान्य सब देवी-देवता प्रादुर्भूत हुए। वहाँ श्रीशिवजीने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कहा है—

विश्वं विश्वेश्वरेशं च विश्वेशं विश्वकारणम्।
विश्वाधारं च विश्वस्तं विश्वकारणकारणम्॥
विश्वरक्षाकारणं च विश्वघ्नं विश्वजं परम्।
फलबीजं फलाधारं फलं च तत्फलप्रदम्॥

(ब्रह्मवै० १। ३। २५-२६)

'आप विश्वरूप हैं, विश्वके स्वामी हैं, विश्वके स्वामियोंके भी स्वामी हैं, विश्वके कारणके भी कारण हैं, विश्वके आधार हैं, विश्वस्त हैं, विश्वरक्षक हैं, विश्वका संहार करनेवाले हैं और नाना रूपोंसे विश्वमें आविर्भूत होते हैं। आप फलोंके बीज हैं, फलोंके आधार हैं, फलस्वरूप हैं और फलदाता हैं।'

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं भी अपने लिये श्रीमुखसे कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(१४। २७)

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥

(९। १८-१९)

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(७। ७)

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

(१०। ३)

'हे अर्जुन! उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य-धर्मका एवं अखण्ड एकरस आनन्दका मैं ही आश्रय हूँ; अर्थात् उपर्युक्त ब्रह्म, अमृत, अव्यय और शाश्वतधर्म तथा ऐकान्तिक सुख—यह सब मैं ही हूँ तथा प्राप्त होनेयोग्य, भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, शुभाशुभका देखनेवाला, सबका वासस्थान, शरण लेनेयोग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करनेवाला, उत्पत्ति-प्रलयरूप, सबका आधार, निधान[1] और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ। मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ तथा वर्षाको आकर्षण करता हूँ और बरसाता हूँ एवं हे अर्जुन! मैं ही अमृत और मृत्यु एवं सत् और असत्—सब कुछ मैं ही हूँ।'

'हे धनंजय! मेरे सिवा किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंके सदृश मेरेमें गुँथा हुआ है। जो मुझको अजन्मा (वास्तवमें जन्मरहित), अनादि[2] तथा लोकोंका महान् ईश्वर तत्त्वसे जानता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् पुरुष सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

ऊपरके इन अवतरणोंसे यह सिद्ध हो गया कि भगवान् श्रीशिव, विष्णु, ब्रह्मा, शक्ति, राम, कृष्ण तत्त्वतः एक ही हैं। इस विवेचनपर दृष्टि डालकर विचार करनेसे यही निष्कर्ष निकलता है कि सभी उपासक एक सत्य, विज्ञानानन्दघन परमात्माको मानकर सच्चे सिद्धान्तपर ही चल रहे हैं। नाम-रूपका भेद है, परन्तु वस्तु-तत्त्वमें कोई भेद नहीं। सबका लक्ष्यार्थ एक ही है। ईश्वरको इस प्रकार सर्वोपरि, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, निर्विकार, नित्य, विज्ञानानन्दघन समझकर शास्त्र और आचार्योंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार किसी भी नाम-रूपसे उसकी जो उपासना की जाती है, वह उस एक ही परमात्माकी उपासना है।

विज्ञानानन्दघन सर्वव्यापी परमात्मा शिवके उपर्युक्त तत्त्वको न जाननेके कारण ही कुछ शिवोपासक भगवान् विष्णुकी निन्दा करते हैं और कुछ वैष्णव भगवान् शिवकी निन्दा करते हैं। कोई-कोई यदि निन्दा और द्वेष नहीं भी

१-प्रलयकालमें सम्पूर्ण भूत सूक्ष्मरूपसे जिसमें लय होते हैं उसका नाम 'निधान' है।
२-अनादि उसको कहते हैं जो आदिरहित होवे और सबका कारण होवे।

करते हैं तो प्रायः उदासीन-से तो रहते ही हैं। परन्तु इस प्रकारका व्यवहार वस्तुतः ज्ञानरहित समझा जाता है। यदि यह कहा जाय कि ऐसा न करनेसे एकनिष्ठ अनन्य उपासनामें दोष आता है, तो वह ठीक नहीं है, जैसे पतिव्रता स्त्री एकमात्र अपने पतिको ही इष्ट मानकर उसके आज्ञानुसार उसकी सेवा करती हुई, पतिके माता-पिता, गुरुजन तथा अतिथि-अभ्यागत और पतिके अन्यान्य सम्बन्धी और प्रेमी बन्धुओंकी भी पतिके आज्ञानुसार पतिकी प्रसन्नताके लिये यथोचित आदरभावसे मन लगाकर विधिवत् सेवा करती है और ऐसा करती हुई भी वह अपने एकनिष्ठ पातिव्रत-धर्मसे जरा भी न गिरकर उलटे शोभा और यशको प्राप्त होती है। वास्तवमें दोष पाप-बुद्धि, भोग-बुद्धि और द्वेष-बुद्धिमें है अथवा व्यभिचार और शत्रुतामें है। यथोचित वैध-सेवा तो कर्तव्य है। इसी प्रकार परमात्माके किसी एक नाम-रूपको अपना परम इष्ट मानकर उसकी अनन्यभावसे भक्ति करते हुए ही अन्यान्य देवोंकी भी अपने इष्टदेवके आज्ञानुसार उसी स्वामीकी प्रीतिके लिये श्रद्धा और आदरके साथ यथायोग्य सेवा करनी चाहिये। उपर्युक्त अवतरणोंके अनुसार जब एक नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही हैं तथा वास्तवमें उनसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु ही नहीं है तब किसी एक नाम-रूपसे द्वेष या उसकी निन्दा, तिरस्कार और उपेक्षा करना उस परब्रह्मसे ही वैसा करना है। कहीं भी श्रीशिव या श्रीविष्णुने या श्रीब्रह्माने एक-दूसरेकी न तो निन्दा आदि की है और न निन्दा आदि करनेके लिये किसीसे कहा ही है, बल्कि निन्दा आदिका निषेध और तीनोंको एक माननेकी प्रशंसा की है। शिवपुराणमें कहा गया है—

एते परस्परोत्पन्ना धारयन्ति परस्परम्।
परस्परेण वर्धन्ते परस्परमनुव्रताः॥
क्वचिद्ब्रह्मा क्वचिद्विष्णुः क्वचिद्रुद्रः प्रशस्यते।
नानेव तेषामाधिक्यमैश्वर्यं चातिरिच्यते॥
अयं परस्त्वयं नेति संरम्भाभिनिवेशिनः।
यातुधाना भवन्त्येव पिशाचा वा न संशयः॥

'ये तीनों (ब्रह्मा, विष्णु और शिव) एक-दूसरेसे उत्पन्न हुए हैं, एक-दूसरेको धारण करते हैं, एक-दूसरेके द्वारा वृद्धिंगत होते हैं और एक-दूसरेके अनुकूल आचरण करते हैं। कहीं ब्रह्मा की प्रशंसा की जाती है, कहीं विष्णुकी और कहीं महादेवकी। उनका उत्कर्ष एवं ऐश्वर्य एक-दूसरेकी अपेक्षा इस प्रकार अधिक कहा है मानो वे अनेक हों। जो संशयात्मा मनुष्य यह विचार करते हैं कि अमुक बड़ा है और अमुक छोटा है वे अगले जन्ममें राक्षस अथवा पिशाच होते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।'

स्वयं भगवान् शिव श्रीविष्णुभगवान्से कहते हैं—

मद्दर्शने फलं यद्वै तदेव तव दर्शने।
ममैव हृदये विष्णुर्विष्णोश्च हृदये ह्यहम्॥
उभयोरन्तरं यो वै न जानाति मतो मम।

(शिव०, ज्ञान० ४। ६१-६२)

'मेरे दर्शनका जो फल है वही आपके दर्शनका है। आप मेरे हृदयमें निवास करते हैं और मैं आपके हृदयमें रहता हूँ। जो हम दोनोंमें भेद नहीं समझता, वही मुझे मान्य है।'

भगवान् श्रीराम भगवान् श्रीशिवसे कहते हैं—

ममासि हृदये शर्व भवतो हृदये त्वहम्।
आवयोरन्तरं नास्ति मूढाः पश्यन्ति दुर्धियः॥
ये भेदं विदधत्यद्धा आवयोरेकरूपयोः।
कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते नराः कल्पसहस्रकम्॥
ये त्वद्भक्ताः सदासंस्ते मद्भक्ता धर्मसंयुताः।
मद्भक्ता अपि भूयस्या भक्त्या तव नतिंकराः॥

(पद्म०, पाता० ४६। २०—२२)

'आप शंकर मेरे हृदयमें रहते हैं और मैं आपके हृदयमें रहता हूँ। हम दोनोंमें कोई भेद नहीं है। मूर्ख एवं दुर्बुद्धि मनुष्य ही हमारे अंदर भेद समझते हैं। हम दोनों एकरूप हैं, जो मनुष्य हम दोनोंमें भेद-भावना करते हैं वे हजार कल्पपर्यन्त कुम्भीपाक नरकोंमें यातना सहते हैं। जो आपके भक्त हैं वे धार्मिक पुरुष सदा ही मेरे भक्त रहे हैं और जो मेरे भक्त हैं वे प्रगाढ़ भक्तिसे आपको भी प्रणाम करते हैं।

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भी भगवान् श्रीशिवसे कहते हैं—

त्वत्परो नास्ति मे प्रेयांस्त्वं मदीयात्मनः परः।
ये त्वां निन्दन्ति पापिष्ठा ज्ञानहीना विचेतसः॥
पच्यन्ते कालसूत्रेण यावच्चन्द्रदिवाकरौ।
कृत्वा लिंगं सकृत्पूज्य वसेत्कल्पायुतं दिवि॥
प्रजावान् भूमिमान् विद्वान् पुत्रबान्धववांस्तथा।
ज्ञानवान्मुक्तिमान् साधुः शिवलिंगार्चनाद्भवेत्॥
शिवेति शब्दमुच्चार्य प्राणांस्त्यजति यो नरः।
कोटिजन्मार्जितात् पापान्मुक्तो मुक्तिं प्रयाति सः॥

(ब्रह्मवैवर्त० १। ६। ३१-३२, ४५, ४७)

'मुझे आपसे बढ़कर कोई प्यारा नहीं है, आप मुझे अपनी आत्मासे भी अधिक प्रिय हैं। जो पापी, अज्ञानी एवं बुद्धिहीन पुरुष आपकी निन्दा करते हैं, जबतक चन्द्र और सूर्यका अस्तित्व रहेगा तबतक कालसूत्रमें (नरकमें) पचते रहेंगे। जो शिवलिंगका निर्माण कर एक बार भी उसकी पूजा कर लेता है, वह दस हजार कल्पतक स्वर्गमें निवास करता है, शिवलिंगके अर्चनसे मनुष्यको प्रजा,

भूमि, विद्या, पुत्र, बान्धव, श्रेष्ठता, ज्ञान एवं मुक्ति सब कुछ प्राप्त हो जाता है। जो मनुष्य 'शिव' शब्दका उच्चारण कर शरीर छोड़ता है वह करोड़ों जन्मोंके संचित पापोंसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है।'

भगवान् विष्णु श्रीमद्भागवत (४। ७। ५४)-में दक्षप्रजापतिके प्रति कहते हैं—

त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमधिगच्छति॥

'हे विप्र! हम तीनों एकरूप हैं और समस्त भूतोंकी आत्मा हैं, हमारे अंदर जो भेद-भावना नहीं करता, नि:सन्देह वह शान्ति (मोक्ष)-को प्राप्त होता है।'

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामने कहा है—

संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥
औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥

ऐसी अवस्थामें जो मनुष्य दूसरेके इष्टदेवकी निन्दा या अपमान करता है, वह वास्तवमें अपने ही इष्टदेवका अपमान या निन्दा करता है। परमात्माकी प्राप्तिके पूर्वकालमें परमात्माका यथार्थ रूप न जाननेके कारण भक्त अपनी समझके अनुसार अपने उपास्यदेवका जो स्वरूप कल्पित करता है, वास्तवमें उपास्यदेवका स्वरूप उससे अत्यन्त विलक्षण है; तथापि उसकी अपनी बुद्धि, भावना तथा रुचिके अनुसार की हुई सच्ची और श्रद्धायुक्त उपासनाको परमात्मा सर्वथा सर्वांशमें स्वीकार करते हैं; क्योंकि ईश्वर-प्राप्तिके पूर्व ईश्वरका यथार्थ स्वरूप किसीके भी चिन्तनमें नहीं आ सकता। अतएव ईश्वरके किसी भी नाम-रूपकी निष्कामभावसे उपासना करनेवाला पुरुष शीघ्र ही उस नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। हाँ, सकाम-भावसे उपासना करनेवालेको विलम्ब हो सकता है। तथापि सकाम-भावसे उपासना करनेवाला भी श्रेष्ठ और उदार ही माना गया है (गीता ७। १८), क्योंकि अन्तमें वह भी ईश्वरको ही प्राप्त होता है। **'मद्भक्ता यान्ति मामपि'** (गीता ७। २३)।

'शिव' शब्द नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माका वाचक है। यह उच्चारणमें बहुत ही सरल, अत्यन्त मधुर और स्वाभाविक ही शान्तिप्रद है। 'शिव' शब्दकी उत्पत्ति 'वश कान्तौ' धातुसे हुई है, जिसका तात्पर्य यह है कि जिसको सब चाहते हैं उसका नाम 'शिव' है। सब चाहते हैं अखण्ड आनन्दको। अतएव 'शिव' शब्दका अर्थ आनन्द हुआ। जहाँ आनन्द है वहीं शान्ति है और परम आनन्दको ही परम मंगल और परम कल्याण कहते हैं, अतएव 'शिव' शब्दका अर्थ परम मंगल, परम कल्याण समझना चाहिये। इस आनन्ददाता, परम कल्याणरूप शिवको ही शंकर कहते हैं। 'शं' आनन्दको कहते हैं और 'कर' से करनेवाला समझा जाता है, अतएव जो आनन्द करता है वही 'शंकर' है। ये सब लक्षण उस नित्य विज्ञानानन्दघन परम ब्रह्मके ही हैं।

इस प्रकार रहस्य समझकर शिवकी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उपासना करनेसे उनकी कृपासे उनका तत्त्व समझमें आ जाता है। जो पुरुष शिव-तत्त्वको जान लेता है उसके लिये फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता। शिव-तत्त्वको हिमालयतनया भगवती पार्वती यथार्थरूपसे जानती थीं, इसीलिये छद्मवेषी स्वयं शिवके बहकानेसे भी वे अपने सिद्धान्तसे तिलमात्र भी नहीं टलीं। उमा-शिवका यह संवाद बहुत ही उपदेशप्रद और रोचक है।

शिवतत्त्वैकनिष्ठ पार्वती शिवप्राप्तिके लिये घोर तप करने लगीं। माता मेनकाने स्नेहकातरा होकर उ (वत्से!) मा (ऐसा तप न करो) कहा, इससे उसका नाम 'उमा' हो गया। उन्होंने सूखे पत्ते भी खाने छोड़ दिये, तब उनका 'अपर्णा' नाम पड़ा। उनकी कठोर तपस्याको देख-सुनकर परम आश्चर्यान्वित हो ऋषिगण भी कहने लगे कि 'अहो, इसको धन्य है, इसकी तपस्याके सामने दूसरोंकी तपस्या कुछ भी नहीं है।' पार्वतीकी इस तपस्याको देखनेके लिये एक समय स्वयं भगवान् शिव जटाधारी वृद्ध ब्राह्मणके वेषमें तपोभूमिमें आये और पार्वतीके द्वारा फल-पुष्पादिसे पूजित होकर उसके तपका उद्देश्य शिवसे विवाह करना है, यह जानकर कहने लगे—

'हे देवि! इतनी देर बातचीत करनेसे तुमसे मेरी मित्रता हो गयी है। मित्रताके नाते मैं तुमसे कहता हूँ, तुमने बड़ी भूल की है। तुम्हारा शिवके साथ विवाह करनेका संकल्प सर्वथा अनुचित है। तुम सोनेको छोड़कर काँच चाह रही हो, चन्दन त्यागकर कीचड़ पोतना चाहती हो। हाथी छोड़कर बैलपर मन चलाती हो। गंगाजल परित्याग कर कुएँका जल पीनेकी इच्छा करती हो। सूर्यका प्रकाश छोड़कर खद्योतको और रेशमी वस्त्र त्याग कर चमड़ा पहनना चाहती हो। तुम्हारा यह कार्य तो देवताओंकी सन्निधिका त्याग कर असुरोंका साथ करनेसे समान है। उत्तमोत्तम देवोंको छोड़कर शंकरपर अनुराग करना सर्वथा लोकविरुद्ध है।

जरा सोचो तो सही कहाँ तुम्हारा कुसुम-सुकुमार शरीर और त्रिभुवन-कमनीय सौन्दर्य और कहाँ जटाधारी, चिताभस्मलेपनकारी, श्मशानविहारी, त्रिनेत्र, भूतपति महादेव! कहाँ तुम्हारे घरके देवतालोग और कहाँ शिवके पार्षद भूत-प्रेत! कहाँ तुम्हारे पिताके घरके बजनेवाले सुन्दर

बाजोंकी ध्वनि और कहाँ उस महादेवके डमरू, सिंगी और गाल बजानेकी ध्वनि! न महादेवके माँ-बापका पता है, न जातिका! दरिद्रता इतनी कि पहननेको कपड़ातक नहीं है! दिगम्बर रहते हैं, बैलकी सवारी करते हैं और बाघका चमड़ा ओढ़े रहते हैं! न उनमें विद्या है और न शौचाचार ही है। सदा अकेले रहनेवाले, उत्कट विरागी, मुण्डमालाधारी महादेवके साथ रहकर तुम क्या सुख पाओगी?'

पार्वती और अधिक शिव-निन्दा न सह सकीं। वे तमककर बोलीं—'बस, बस, बस रहने दो, मैं और अधिक सुनना नहीं चाहती। मालूम होता है, तुम शिवके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं जानते। इसीसे यों मिथ्या प्रलाप कर रहे हो। तुम किसी धूर्त ब्रह्मचारीके रूपमें यहाँ आये हो। शिव वस्तुतः निर्गुण हैं, करुणावश ही वे सगुण होते हैं। उन सगुण और निर्गुण—उभयात्मक शिवकी जाति कहाँसे होगी? जो सबके आदि हैं, उनके माता-पिता कौन होंगे और उनकी उम्रका ही क्या परिमाण बाँधा जा सकता है? सृष्टि उनसे उत्पन्न होती है, अतएव उनकी शक्तिका पता कौन लगा सकता है? वही अनादि, अनन्त, नित्य, निर्विकार, अज, अविनाशी, सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणाधार, सर्वज्ञ, सर्वोपरि, सनातनदेव हैं। तुम कहते हो, महादेव विद्याहीन हैं। अरे, ये सारी विद्याएँ आयी कहाँसे हैं? वेद जिनके निःश्वास हैं उन्हें तुम विद्याहीन कहते हो? छिः! छिः!! तुम मुझे शिवको छोड़कर किसी अन्य देवताका वरण करनेको कहते हो। अरे, इन देवताओंको जिन्हें तुम बड़ा समझते हो, देवत्व प्राप्त ही कहाँसे हुआ? यह उन भोलेनाथकी ही कृपाका तो फल है। इन्द्रादि देवगण तो उनके दरवाजेपर ही स्तुति-प्रार्थना करते रहते हैं और बिना उनके गणोंकी आज्ञाके अंदर घुसनेका साहस नहीं कर सकते। तुम उन्हें अमंगलवेष कहते हो? अरे, उनका 'शिव'—यह मंगलमय नाम जिनके मुखमें निरन्तर रहता है, उनके दर्शनमात्रसे सारी अपवित्र वस्तुएँ भी पवित्र हो जाती हैं, फिर भला स्वयं उनकी तो बात ही क्या है? जिस चिताभस्मकी तुम निन्दा करते हो, नृत्यके अन्तमें जब वह उनके अंगोंसे झड़ती है उस समय देवतागण उसे अपने मस्तकोंपर धारण करनेको लालायित होते हैं। बस, मैंने समझ लिया, तुम उनके तत्त्वको बिलकुल नहीं जानते। जो मनुष्य इस प्रकार उनके दुर्गम तत्त्वको बिना जाने उनकी निन्दा करते हैं, उनके जन्म-जन्मान्तरोंके संचित किये हुए पुण्य विलीन हो जाते हैं। तुम-जैसे शिव-निन्दकका सत्कार करनेसे भी पाप लगता है। शिव-निन्दकको देखकर भी मनुष्यको सचैल स्नान करना चाहिये, तभी वह शुद्ध होता है। बस, अब मैं यहाँसे जाती हूँ। कहीं ऐसा न हो कि यह दुष्ट फिरसे शिवकी निन्दा प्रारम्भ कर मेरे कानोंको अपवित्र करे। शिवकी निन्दा करनेवालेको तो पाप लगता ही है, उसे सुननेवाला भी पापका भागी होता है।' यह कहकर उमा वहाँसे चल दीं। ज्यों ही वे वहाँसे जाने लगीं, वटु वेषधारी शंकरने उन्हें रोक लिया। वे अधिक देरतक पार्वतीसे छिपे न रह सके, पार्वती जिस रूपका ध्यान करती थीं उसी रूपमें उनके सामने प्रकट हो गये और बोले—'मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, वर माँगो'।

पार्वतीकी इच्छा पूर्ण हुई, उन्हें साक्षात् शिवके दर्शन हुए। दर्शन ही नहीं, कुछ कालमें शिवने पार्वतीका पाणिग्रहण कर लिया।

जो पुरुष उन त्रिनेत्र, व्याघ्राम्बरधारी, सदाशिव परमात्माको निर्गुण, निराकार एवं सगुण, निराकार समझकर उनकी सगुण, साकार दिव्य मूर्तिकी उपासना करता है, उसीकी उपासना सच्ची और सर्वांगपूर्ण है। इस समग्रतामें जितना अंश कम होता है, उतनी ही उपासनाकी सर्वांगपूर्णतामें कमी है और उतना ही वह शिव-तत्त्वसे अनभिज्ञ है।

महेश्वरकी लीलाएँ अपरम्पार हैं। वे दया करके जिनको अपनी लीलाएँ और लीलाओंका रहस्य जनाते हैं, वही जान सकते हैं। उनकी कृपाके बिना तो उनकी विचित्र लीलाओंको देख-सुनकर देवी, देवता एवं मुनियोंको भी भ्रम हो जाया करता है, फिर साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है? परन्तु वास्तवमें शिवजी महाराज हैं बड़े ही आशुतोष! उपासना करनेवालोंपर बहुत ही शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं। रहस्यको जानकर निष्काम-प्रेमभावसे भजनेवालोंपर प्रसन्न होते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है? सकामभावसे, अपना मतलब गाँठनेके लिये जो अज्ञानपूर्वक उपासना करते हैं उनपर भी आप रीझ जाते हैं, भोले-भण्डारी मुँहमाँगा वरदान देनेमें कुछ भी आगा-पीछा नहीं सोचते। जरा-सी भक्ति करनेवालेपर ही आपके हृदयका दयासमुद्र उमड़ पड़ता है। इस रहस्यको समझनेवाले आपको व्यंगसे 'भोलानाथ' कहा करते हैं। इस विषयमें गोसाईं तुलसीदासजी महाराजकी कल्पना बहुत ही सुन्दर है। वे कहते हैं—

बावरो रावरो नाह भवानी।

दानि बड़ो दिन देत दये बिनु, बेद-बड़ाई भानी॥

निज घरकी बरबात बिलोकहु, हौ तुम परम सयानी।

सिवकी दई सम्पदा देखत, श्रीसारदा सिहानी॥

जिनके भाल लिखी लिपि मेरी, सुखकी नहीं निसानी।

तिन रंकनकौ नाक सँवारत, हौं आयो नकबानी॥

दुख दीनता दुखी इनके दुख, जाचकता अकुलानी।

यह अधिकार सौंपिये औरहिं, भीख भली मैं जानी॥
प्रेम-प्रसंसा-बिनय-ब्यंगजुत, सुनि बिधिकी बर बानी।
तुलसी मुदित महेस मनहिं मन, जगत-मातु मुसुकानी॥

ऐसे भोलेनाथ भगवान् शंकरको जो प्रेमसे नहीं भजते, वास्तवमें वे शिवके तत्त्वको नहीं जानते, अतएव उनका मनुष्य-जन्म लेना ही व्यर्थ है। इससे अधिक उनके लिये और क्या कहा जाय। अतएव प्रिय पाठकगणो! आपलोगोंसे मेरा नम्र निवेदन है, यदि आपलोग उचित समझें तो नीचे लिखे साधनोंको समझकर यथाशक्ति उन्हें काममें लानेकी चेष्टा करें—

(क) पवित्र और एकान्त स्थानमें गीता अध्याय ६, श्लोक १० से १४ के अनुसार भगवान् शिवकी शरण होकर—

(१) भगवान् शंकरके प्रेम, रहस्य, गुण और प्रभावकी अमृतमयी कथाओंका उनके तत्त्वको जाननेवाले भक्तोंद्वारा श्रवण करके, मनन करना एवं स्वयं भी सत्-शास्त्रोंको पढ़कर उनका रहस्य समझनेके लिये मनन करना और उनके अनुसार आचरण करनेके लिये प्राणपर्यन्त कोशिश करना।

(२) भगवान् शिवकी शान्त-मूर्तिका पूजन-वन्दनादि श्रद्धा और प्रेमसे नित्य करना।

(३) भगवान् शंकरमें अनन्य प्रेम होनेके लिये विनय-भावसे रुदन करते हुए गद्‌गद वाणीद्वारा स्तुति और प्रार्थना करना।

(४) **'ॐ नमः शिवाय'**—इस मन्त्रका मनके द्वारा या श्वासोंके द्वारा प्रेमभावसे गुप्त जप करना।

(५) उपर्युक्त रहस्यको समझकर प्रभावसहित यथारुचि भगवान् शिवके स्वरूपका श्रद्धा-भक्तिसहित निष्कामभावसे ध्यान करना।

(ख) व्यवहारकालमें—

(१) स्वार्थको त्यागकर प्रेमपूर्वक सबके साथ सद्-व्यवहार करना।

(२) भगवान् शिवमें प्रेम होनेके लिये उनकी आज्ञाके अनुसार फलासक्तिको त्यागकर शास्त्रानुकूल यथाशक्ति यज्ञ, दान, तप, सेवा एवं वर्णाश्रमके अनुसार जीविकाके कर्मोंको करना।

(३) सुख, दुःख एवं सुख-दुःखकारक पदार्थोंकी प्राप्ति और विनाशको शंकरकी इच्छासे हुआ समझकर उनमें पद-पदपर भगवान् सदाशिवकी दयाका दर्शन करना।

(४) रहस्य और प्रभावको समझकर श्रद्धा और निष्काम प्रेमभावसे यथारुचि भगवान् शिवके स्वरूपका निरन्तर ध्यान होनेके लिये चलते-फिरते, उठते-बैठते उस शिवके नाम-जपका अभ्यास सदा-सर्वदा करना।

(५) दुर्गुण और दुराचारको त्यागकर सद्‌गुण और सदाचारके उपार्जनके लिये हर समय कोशिश करते रहना।

उपर्युक्त साधनोंको मनुष्य कटिबद्ध होकर ज्यों-ज्यों करता जाता है, त्यों-ही-त्यों उसके अन्तःकरणकी पवित्रता, रहस्य और प्रभावका अनुभव तथा अतिशय श्रद्धा एवं विशुद्ध प्रेमकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती चली जाती है। इसलिये कटिबद्ध होकर उपर्युक्त साधनोंको करनेके लिये कोशिश करनी चाहिये। इन सब साधनोंमें भगवान् सदाशिवका प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करना सबसे बढ़कर है। अतएव नाना प्रकारके कर्मोंके बाहुल्यके कारण उसके चिन्तनमें एक क्षणकी भी बाधा न आवे, इसके लिये विशेष सावधान रहना चाहिये। यदि अनन्य प्रेमकी प्रगाढ़ताके कारण शास्त्रानुकूल कर्मोंके करनेमें कहीं कमी आती हो तो कोई हर्ज नहीं, किन्तु प्रेममें बाधा नहीं पड़नी चाहिये। क्योंकि जहाँ अनन्य प्रेम है। वहाँ भगवान्‌का चिन्तन (ध्यान) तो निरन्तर होता ही है। और उस ध्यानके प्रभावसे पद-पदपर भगवान्‌की दयाका अनुभव करता हुआ मनुष्य भगवान् सदाशिवके तत्त्वको यथार्थरूपसे समझकर कृतकृत्य हो जाता है, अर्थात् परमपदको प्राप्त हो जाता है। अतएव भगवान् शिवके प्रेम और प्रभावको समझकर उनके स्वरूपका निष्काम प्रेमभावसे निरन्तर चिन्तन होनेके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

शक्तिका रहस्य

शक्तिके विषयमें कुछ लिखनेके लिये भाई हनुमानप्रसाद पोद्दारने प्रेरणा की, किन्तु 'शक्ति' शब्द बहुव्यापक होनेके कारण इसके रहस्यको समझानेकी मैं अपनेमें शक्ति नहीं देखता; तथापि उनके आग्रहसे अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार यत्किंचित् लिख रहा हूँ।

शक्तिके रूपमें ब्रह्मकी उपासना

शास्त्रोंमें 'शक्ति' शब्दके प्रसंगानुसार अलग-अलग अर्थ किये गये हैं। तान्त्रिक लोग इसीको पराशक्ति कहते हैं और इसीको विज्ञानानन्दघन ब्रह्म मानते हैं। वेद, शास्त्र, उपनिषद्, पुराण आदिमें भी 'शक्ति' शब्दका प्रयोग देवी, पराशक्ति, ईश्वरी मूलप्रकृति आदि नामोंसे विज्ञानानन्दघन निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्मके लिये भी किया गया है? विज्ञानानन्दघन ब्रह्मका तत्त्व अतिसूक्ष्म एवं गुह्य होनेके कारण शास्त्रोंमें उसे नाना प्रकारसे समझानेकी चेष्टा की

गयी है। इसलिये 'शक्ति' नामसे ब्रह्मकी उपासना करनेसे भी परमात्माकी ही प्राप्ति होती है। एक ही परमात्मतत्त्वकी निर्गुण, सगुण निराकार, साकार, देव, देवी, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, राम, कृष्ण आदि अनेक नाम-रूपसे भक्तलोग उपासना करते हैं। रहस्यको जानकर शास्त्र और आचार्योंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार उपासना करनेवाले सभी भक्तोंको उसकी प्राप्ति हो सकती है। उस दयासागर प्रेममय सगुण-निर्गुणरूप परमेश्वरको सर्वोपरि, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सम्पूर्ण, गुणाधार, निर्विकार, नित्य, विज्ञानानन्दघन परब्रह्म परमात्मा समझकर श्रद्धापूर्वक निष्काम प्रेमसे उपासना करना ही उसके रहस्यको जानकर उपासना करना है, इसलिये श्रद्धा और प्रेमपूर्वक उस विज्ञानानन्दस्वरूपा महाशक्ति भगवती देवीकी उपासना करनी चाहिये। वह निर्गुणस्वरूपा देवी जीवोंपर दया करके स्वयं ही सगुणभावको प्राप्त होकर ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपसे उत्पत्ति, पालन और संहारकार्य करती है।

स्वयं भगवान् श्रीकृष्णजी कहते हैं—

त्वमेव सर्वजननी मूलप्रकृतिरीश्वरी।
त्वमेवाद्या सृष्टिविधौ स्वेच्छया त्रिगुणात्मिका॥
कार्यार्थे सगुणा त्वं च वस्तुतो निर्गुणा स्वयम्।
परब्रह्मस्वरूपा त्वं सत्या नित्या सनातनी॥
तेजःस्वरूपा परमा भक्तानुग्रहविग्रहा।
सर्वस्वरूपा सर्वेशा सर्वाधारा परात्परा॥
सर्वबीजस्वरूपा च सर्वपूज्या निराश्रया।
सर्वज्ञा सर्वतोभद्रा सर्वमंगलमंगला॥

(ब्रह्मवैवर्त०, प्रकृति० २। ६६। ७—१०)

'तुम्हीं विश्वजननी मूलप्रकृति ईश्वरी हो, तुम्हीं सृष्टिकी उत्पत्तिके समय आद्याशक्तिके रूपमें विराजमान रहती हो और स्वेच्छासे त्रिगुणात्मिका बन जाती हो। यद्यपि वस्तुतः तुम स्वयं निर्गुण हो तथापि प्रयोजनवश सगुण हो जाती हो। तुम परब्रह्मस्वरूप, सत्य, नित्य एवं सनातनी हो। परमतेजस्वरूप और भक्तोंपर अनुग्रह करनेके हेतु शरीर धारण करती हो। तुम सर्वस्वरूपा, सर्वेश्वरी सर्वाधार एवं परात्पर हो। तुम सर्वबीजस्वरूप, सर्वपूज्या एवं आश्रयरहित हो। तुम सर्वज्ञ, सर्वप्रकारसे मंगल करनेवाली एवं सर्व मंगलोंकी भी मंगल हो।'

उस ब्रह्मरूप चेतनशक्तिके दो स्वरूप हैं—एक निर्गुण और दूसरा सगुण। सगुणके भी दो भेद हैं—एक निराकार और दूसरा साकार। इसीसे सारे संसारकी उत्पत्ति होती है। उपनिषदोंमें इसीको पराशक्तिके नामसे कहा गया है।

तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्। विष्णुरजीजनत्। रुद्रोऽजीजनत्। सर्वे मरुद्गणा अजीजनन्। गन्धर्वाप्सरसः किन्नरा वादित्रवादिनः समन्तादजीजनन्। भोग्यमजीजनत्। सर्वमजीजनत्। सर्वशक्तिमजीजनत्। अण्डजं स्वेदजमुद्भिज्जं जरायुजं यत्किंचैतत्प्राणि स्थावरजंगमं मनुष्यमजीजनत्। सैषा परा शक्तिः।

(बह्वृचोपनिषद्)

उस पराशक्तिसे ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र उत्पन्न हुए। उसीसे सब मरुद्गण, गन्धर्व, अप्सराएँ और बाजा बजानेवाले किन्नर सब ओरसे उत्पन्न हुए। समस्त भोग्य पदार्थ और अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, जरायुज जो कुछ भी स्थावर, जंगम मनुष्यादि प्राणिमात्र उसी पराशक्तिसे उत्पन्न हुए। ऐसी वह पराशक्ति है।

ऋग्वदेमें भगवती कहती है—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्य-
हमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्य-
हमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥

(ऋग्वेद० अष्टक ८। ७। ११)

अर्थात् 'मैं रुद्र, वसु, आदित्य और विश्वेदेवोंके रूपमें विचरती हूँ। वैसे ही मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि और अश्विनीकुमारोंके रूपको धारण करती हूँ।'

ब्रह्मसूत्रमें भी कहा है कि—

'सर्वोपेता तद्दर्शनात्' (द्वि० अ० प्रथमपाद ३०)

'वह पराशक्ति सर्वसामर्थ्यसे युक्त है; क्योंकि यह प्रत्यक्ष देखा जाता है।'

यहाँ भी ब्रह्मका वाचक स्त्रीलिंग शब्द आया है। ब्रह्मकी व्याख्या शास्त्रोंमें स्त्रीलिंग, पुँल्लिंग और नपुंसकलिंग आदि सभी लिंगोंमें की गयी है। इसलिये महाशक्तिके नामसे भी ब्रह्मकी उपासना की जा सकती है। बंगालमें श्रीरामकृष्ण परमहंसने माँ, भगवती, शक्तिके रूपमें ब्रह्मकी उपासना की थी। वे परमेश्वरको माँ, तारा, काली आदि नामोंसे पुकारा करते थे और भी बहुत-से महात्मा पुरुषोंने स्त्रीवाचक नामोंसे विज्ञानानन्दघन परमात्माकी उपासना की है। ब्रह्मकी महाशक्तिके रूपमें श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभावसे उपासना करनेसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

शक्ति और शक्तिमान्‌की उपासना

बहुत-से सज्जन इसको भगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति

मानते हैं। महेश्वरी, जगदीश्वरी, परमेश्वरी भी इसीको कहते हैं। लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा, राधा, सीता आदि सभी इस शक्तिके ही रूप हैं। माया, महामाया, मूलप्रकृति, विद्या, अविद्या आदि भी इसीके रूप हैं। परमेश्वर शक्तिमान् है और भगवती परमेश्वरी उसकी शक्ति हैं। शक्तिमान्से शक्ति अलग होनेपर भी अलग नहीं समझी जाती। जैसे अग्निकी दाहिका शक्ति अग्निसे भिन्न नहीं है। यह सारा संसार शक्ति और शक्तिमान्से परिपूर्ण है और उसीसे इसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं। इस प्रकार समझकर वे लोग शक्तिमान् और शक्ति युगलकी उपासना करते हैं। प्रेमस्वरूपा भगवती ही भगवान्को सुगमतासे मिला सकती है। इस प्रकार समझकर कोई-कोई केवल भगवतीकी ही उपासना करते हैं। इतिहास-पुराणादिमें सब प्रकारके उपासकोंके लिये प्रमाण भी मिलते हैं।

इस महाशक्तिरूपा जगज्जननीकी उपासना लोग नाना प्रकारसे करते हैं। कोई तो इस महेश्वरीको ईश्वरसे भिन्न समझते हैं और कोई अभिन्न मानते हैं। वास्तवमें तत्त्वको समझ लेना चाहिये। फिर चाहे जिस प्रकार उपासना करे कोई हानि नहीं है। तत्त्वको समझकर श्रद्धाभक्तिपूर्वक उपासना करनेसे सभी उस एक प्रेमास्पद परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं।

सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी उपासना

श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहासादि शास्त्रोंमें इस गुणमयी विद्या-अविद्यारूपा मायाशक्तिको प्रकृति, मूल प्रकृति, महामाया, योगमाया आदि अनेक नामोंसे कहा है। उस मायाशक्तिकी व्यक्त और अव्यक्त यानी साम्यावस्था तथा विकृतावस्था दो अवस्थाएँ हैं। उसे कार्य, कारण एवं व्याकृत, अव्याकृत भी कहते हैं। तेईस तत्त्वोंके विस्तारवाला यह सारा संसार तो उसका व्यक्त स्वरूप है। जिससे सारा संसार उत्पन्न होता है और जिसमें यह लीन हो जाता है वह उसका अव्यक्त स्वरूप है।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

(गीता ८। १८)

अर्थात् 'सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लय होते हैं।'

संसारकी उत्पत्तिका कारण कोई परमात्माको और कोई प्रकृतिको तथा कोई प्रकृति और परमात्मा दोनोंको बतलाते हैं। विचार करके देखनेसे सभीका कहना ठीक है। जहाँ संसारकी रचयिता प्रकृति है वहाँ समझना चाहिये कि पुरुषके सकाशसे ही गुणमयी प्रकृति संसारको रचती है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

(गीता ९। १०)

अर्थात् 'हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे यह मेरी माया चराचरसहित सर्व जगत्को रचती है और इस ऊपर कहे हुए हेतुसे ही यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता है।'

जहाँ संसारका रचयिता परमेश्वर है वहाँ सृष्टिके रचनेमें प्रकृति द्वार है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥

(गीता ९। ८)

अर्थात् 'अपनी त्रिगुणमयी मायाको अंगीकार करके स्वभावके वशसे परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदायको बारंबार उनके कर्मोंके अनुसार रचता हूँ।'

वास्तवमें प्रकृति और पुरुष दोनोंके संयोगसे ही चराचर संसारकी उत्पत्ति होती है।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

(गीता १४। ३)

अर्थात् 'हे अर्जुन! मेरी महद्ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतनरूप बीजको स्थापन करता हूँ। उस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है।'

क्योंकि विज्ञानानन्दघन, गुणातीत परमात्मा निर्विकार होनेके कारण उसमें क्रियाका अभाव है और त्रिगुणमयी माया जड होनेके कारण उसमें भी क्रियाका अभाव है इसलिये परमात्माके सकाशसे जब प्रकृतिमें स्पन्द होता है तभी संसारकी उत्पत्ति होती है। अतएव प्रकृति और परमात्माके संयोगसे ही संसारकी उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं। महाप्रलयमें कार्यसहित तीनों गुण कारणमें लय हो जाते हैं तब उस प्रकृतिकी अव्यक्तस्वरूप साम्यावस्था हो जाती है। उस समय सारे जीव स्वभाव, कर्म और वासनासहित उस मूल प्रकृतिमें तन्मय-से हुए अव्यक्तरूपसे स्थित रहते हैं। प्रलयकालकी अवधि समाप्त होनेपर उस माया-शक्तिमें ईश्वरके सकाशसे स्फूर्ति होती है, तब विकृत अवस्थाको प्राप्त हुई प्रकृति तेईस तत्त्वोंके रूपमें परिणत हो जाती है, तब उसे व्यक्त कहते हैं। फिर ईश्वरके सकाशसे ही वह गुण, कर्म और वासनाके अनुसार फल भोगनेके लिये चराचर जगत्को रचती है।

त्रिगुणमयी प्रकृति और परमात्माका परस्पर आधेय और आधार एवं व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध है। प्रकृति आधेय और परमात्मा आधार है। प्रकृति व्याप्य और परमात्मा व्यापक है। नित्य चेतन, विज्ञानानन्दघन परमात्माके किसी एक अंशमें चराचर जगत्‌के सहित प्रकृति है। जैसे तेज, जल, पृथ्वीके सहित वायु आकाशके आधार है, वैसे ही यह परमात्माके आधार है। जैसे बादल आकाशसे व्याप्त है, वैसे ही परमात्मासे प्रकृतिसहित यह सारा संसार व्याप्त है।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥

(गीता ९। ६)

अर्थात् 'जैसे आकाशसे उत्पन्न हुआ सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा ही आकाशमें स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्पद्वारा उत्पत्तिवाले होनेसे सम्पूर्ण भूत मेरेमें स्थित हैं—ऐसे जान।'

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १०। ४२)

अर्थात् 'अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है? मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योगमायाके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।

(ईश० १)

अर्थात् 'त्रिगुणमयी मायामें स्थित यह सारा चराचर जगत् ईश्वरसे व्याप्त है।'

किन्तु उस त्रिगुणमयी मायासे वह लिपायमान नहीं होता; क्योंकि विज्ञानानन्दघन परमात्मा गुणातीत, केवल और सबका साक्षी है।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

(श्वेता० ६। ११)

अर्थात् 'जो देव सब भूतोंमें छिपा हुआ, सर्वव्यापक, सर्वभूतोंका अन्तरात्मा, कर्मोंका अधिष्ठाता, सब भूतोंका आश्रय, सबका साक्षी, चेतन, केवल और निर्गुण यानी सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंसे परे है, वह एक है।'

इस प्रकार गुणोंसे अतीत परमात्माको अच्छी प्रकार जानकर मनुष्य इस संसारके सारे दुःखों और क्लेशोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है। इसके जाननेके लिये सबसे सहज उपाय उस परमेश्वरकी अनन्य शरण है। इसलिये उस सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सच्चिदानन्द परमात्माकी सर्वप्रकारसे शरण होना चाहिये।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता ७। १४)

अर्थात् 'क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्‌भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

विद्या-अविद्यारूप त्रिगुणमयी यह महामाया बड़ी विचित्र है। इसे कोई अनादि, अनन्त और कोई अनादि, सान्त मानते हैं तथा कोई इसको सत् और कोई असत् कहते हैं एवं कोई इसको ब्रह्मसे अभिन्न और कोई इसे ब्रह्मसे भिन्न बतलाते हैं। वस्तुतः यह माया बड़ी विलक्षण है, इसलिये इसको अनिर्वचनीय कहा है।

अविद्या—दुराचार, दुर्गुणरूप, आसुरी, राक्षसी, मोहिनी प्रकृति, महत्तत्त्वका कार्यरूप यह सारा दृश्यवर्ग इसीका विस्तार है।

विद्या—भक्ति, पराभक्ति, ज्ञान, विज्ञान, योग, योगमाया, समष्टि बुद्धि, शुद्ध बुद्धि, सूक्ष्म बुद्धि, सदाचार, सद्‌गुणरूप दैवी सम्पदा यह सब इसीका विस्तार है।

जैसे ईंधनको भस्म करके अग्नि स्वतः शान्त हो जाता है, वैसे ही अविद्याका नाश करके विद्या स्वतः ही शान्त हो जाती है, ऐसे मानकर यदि मायाको अनादि-सान्त बतलाया जाय तो यह दोष आता है कि यह माया आजसे पहले ही सान्त हो जानी चाहिये थी। यदि कहें भविष्यमें सान्त होनेवाली है तो फिर इससे छूटनेके लिये प्रयत्न करनेकी क्या आवश्यकता है? इसके सान्त होनेपर सारे जीव अपने-आप ही मुक्त हो जायँगे। फिर भगवान् किसलिये कहते हैं कि यह त्रिगुणमयी मेरी माया तरनेमें बड़ी दुस्तर है; किन्तु जो मेरी शरण हो जाते हैं, वे इस मायाको तर जाते हैं।

यदि इस मायाको अनादि, अनन्त बतलाया जाय तो इसका सम्बन्ध भी अनादि अनन्त होना चाहिये। सम्बन्ध अनादि अनन्त मान लेनेसे जीवका कभी छुटकारा हो ही नहीं सकता और भगवान् कहते हैं कि क्षेत्र, क्षेत्रज्ञके अन्तरको तत्त्वसे समझ लेनेपर जीव मुक्त हो जाता है—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥

(गीता १३। ३४)

अर्थात् 'इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको* तथा विकारसहित प्रकृतिसे छूटनेके उपायको जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे महात्माजन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं।'

इसलिये इस मायाको अनादि, अनन्त भी नहीं माना जा सकता। इसे न तो सत् ही कहा जा सकता है और न असत् ही। असत् तो इसलिये नहीं कहा जा सकता कि इसका विकाररूप यह सारा संसार प्रत्यक्ष प्रतीत होता है और सत् इसलिये नहीं बतलाया जाता कि यह दृश्य जडवर्ग सर्वदा परिवर्तनशील होनेके कारण इसकी नित्य सम स्थिति नहीं देखी जाती।

इस मायाको परमेश्वरसे अभिन्न भी नहीं कह सकते; क्योंकि माया यानी प्रकृति जड, दृश्य, दु:खरूप विकारी है और परमात्मा चेतन, द्रष्टा, नित्य, आनन्दरूप और निर्विकार हैं। दोनों अनादि होनेपर भी परस्पर इनका बड़ा भारी अन्तर है।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

(श्वेता० ४। १०)

'त्रिगुणमयी मायाको तो प्रकृति (तेईस तत्त्व जडवर्गका कारण) तथा मायापतिको महेश्वर जानना चाहिये।'

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते
विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या
विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥

(श्वेता० ५। १)

'जिस सर्वव्यापी, अनन्त, अविनाशी, परब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मामें विद्या, अविद्या दोनों गूढभावसे स्थित हैं। अविद्या क्षर है, विद्या अमृत है (क्योंकि विद्यासे अविद्याका नाश होता है) तथा जो विद्या, अविद्यापर शासन करनेवाला है, वह परमात्मा दोनोंसे ही अलग है।'

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

(गीता १५। १८)

अर्थात् 'क्योंकि मैं नाशवान् जडवर्ग क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूँ और मायामें स्थित अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूँ' इसलिये लोकमें और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ।'

तथा इस मायाको परमेश्वरसे भिन्न भी नहीं कह सकते। क्योंकि वेद और शास्त्रोंमें इसे ब्रह्मका रूप बतलाया है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्य० ३। १४। १)

'वासुदेवः सर्वमिति' (गीता ७। १९)

'सदसच्चाहमर्जुन' (गीता ९। १९)

तथा माया ईश्वरकी शक्ति है और शक्तिमान्से शक्ति अभिन्न होती है। जैसे अग्निकी दाहिका शक्ति अग्निसे अभिन्न है, इसलिये परमात्मासे इसे भिन्न भी नहीं कह सकते।

चाहे जैसे हो तत्त्वको समझकर उस परमात्माकी उपासना करनी चाहिये। तत्त्वको समझकर की हुई उपासना ही सर्वोत्तम है। जो उस परमेश्वरको तत्त्वसे समझ जाता है, वह उसको एक क्षण भी नहीं भूल सकता; क्योंकि सब कुछ परमात्मा ही है, इस प्रकार समझनेवाला परमात्माको कैसे भूल सकता है? अथवा जो परमात्माको सारे संसारसे उत्तम समझता है, वह भी परमात्माको छोड़कर दूसरी वस्तुको कैसे भज सकता है? यदि भजता है तो परमात्माके तत्त्वको नहीं जानता; क्योंकि यह नियम है कि मनुष्य जिसको उत्तम समझता है उसीको भजता है यानी ग्रहण करता है।

मान लीजिये एक पहाड़ है। उसमें लोहे, ताँबे, शीशे और सोनेकी चार खानें हैं। किसी ठेकेदारने परिमित समयके लिये उन खानोंको ठेकेपर ले लिया और वह उससे माल निकालना चाहता है तथा चारों धातुओंमेंसे किसीको भी निकाले, समय करीब-करीब बराबर ही लगता है। इन चारोंकी कीमतको जाननेवाला ठेकेदार सोनेके रहते हुए सोनेको छोड़कर क्या लोहा, ताँबा, शीशा निकालनेके लिये अपना समय लगा सकता है? कभी नहीं। सर्व प्रकारसे वह तो केवल सुवर्ण ही निकालेगा। वैसे ही माया और परमेश्वरके तत्त्वको जाननेवाला परमेश्वरको छोड़कर नाशवान् क्षणभंगुर भोग और अर्थके लिये अपने अमूल्य समयको कभी नहीं लगा सकता। वह सब प्रकारसे निरन्तर परमात्माको ही भजेगा।

गीतामें भी कहा है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

अर्थात् 'हे अर्जुन! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

इस प्रकार ईश्वरकी अनन्य भक्ति करनेसे मनुष्य परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है। इसलिये श्रद्धापूर्वक निष्काम प्रेमभावसे नित्य निरन्तर परमेश्वरका भजन, ध्यान करनेके लिये प्राणपर्यन्त प्रयत्नशील रहना चाहिये।

---

* क्षेत्रको जड, विकारी, क्षणिक और नाशवान् तथा क्षेत्रज्ञको नित्य, चेतन, अविकारी और अविनाशी जानना ही उनके भेदको जानना है।

गीतामें चतुर्भुज रूप

एक सज्जनका प्रश्न है कि भगवान्‌ने गीताके ११वें अध्यायके ४५वें और ४६वें श्लोकमें अर्जुनके प्रार्थना करनेपर कौन-सा रूप दिखलाया? वह मनुष्यरूप था या देवरूप? यदि देवरूप था तो अर्जुनने ४१वें एवं ४२वें श्लोकमें प्रभाव नहीं जाननेकी बात कैसे कही?

उत्तर

श्रीमद्भगवद्गीताके ११वें अध्यायके ४५वें श्लोकमें अर्जुनने कहा है—

तदेव मे दर्शय देवरूपं-
प्रसीद देवेश जगन्निवास।

इस श्लोकार्धका अर्थ—'हे देव! आप उसी रूपको मेरे लिये दिखलाइये, हे देवेश! हे जगन्निवास! प्रसन्न होइये' यह भी हो सकता है, और 'हे देवेश! आप उसी देवरूपको मेरे लिये दिखलाइये, हे जगन्निवास! प्रसन्न होइये' यह भी हो सकता है। 'देव' शब्दके साथ 'रूपम्' का समास कर देनेसे 'देवरूप' स्पष्ट हो जाता है। अलग-अलग रखनेसे 'देव' सम्बोधन हो जाता है। वहीं 'देवेश' सम्बोधन है इसलिये 'देव' सम्बोधनकी आवश्यकता नहीं है, परन्तु यदि 'देव' सम्बोधन मान लिया तो भी कोई आपत्ति नहीं है। प्रायः संस्कृत टीकाकारोंने सम्बोधन ही माना है। गीताप्रेसकी साधारण टीकामें भी सम्बोधन माना गया है। ऐसा मानकर भी अर्जुनकी प्रार्थनाका भाव 'देवरूप' दिखलानेमें ही है ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि ४६वें श्लोकमें अर्जुन स्पष्ट कहते हैं—

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥

'मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए, गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूँ, इसलिये हे विश्वरूप! हे सहस्रबाहो! आप उस ही चतुर्भुजरूपसे युक्त हो जाइये।'

भगवान् श्रीकृष्ण भी समय-समयपर चतुर्भुजरूपसे, केवल अर्जुनको ही नहीं, दूसरोंको भी दर्शन दिया करते थे, जिसके लिये महाभारत और भागवत आदि ग्रन्थोंमें प्रमाण मिलते हैं—

पर्यंकादवरुह्याशु तामुत्थाप्य चतुर्भुजः।

(श्रीमद्भा० १०। ६०। २६)

'पलंगसे शीघ्र उतरकर नीचे पड़ी हुई रुक्मिणीको चतुर्भुज भगवान्‌ने उठाया।'

न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम्।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ८६। ५४)

'यह मेरा चतुर्भुजरूप भी मुझे ब्राह्मणोंसे अधिक प्रिय नहीं है; क्योंकि ब्राह्मण सर्ववेदमय हैं और मैं सर्वदेवमय हूँ।'

तया स सम्यक् प्रतिनन्दितस्तत-
स्तथैव सर्वैर्विदुरादिभिस्तथा।
विनिर्ययौ नागपुराद्गदाग्रजो
रथेन दिव्येन चतुर्भुजः स्वयम्॥

(महा०, आश्व० ५२। ५४)

'कुन्तीने भलीभाँति आशीर्वाद दिया, विदुर आदि सबने सम्मान किया, तब चतुर्भुज श्रीकृष्ण स्वयं दिव्य रथमें बैठकर हस्तिनापुरसे बाहर निकले।'

सोऽयं पुरुषशार्दूलो मेघवर्णश्चतुर्भुजः।
संश्रितः पाण्डवान् प्रेम्णा भवन्तश्चैनमाश्रिताः॥

(महा०, अनु० १४८। २२)

'वे पुरुषोंमें सिंहके समान हैं, मेघवर्ण हैं, चार भुजावाले हैं, वे प्रेमके कारण तुम पाण्डवोंके अधीन हैं और तुमने उनका आश्रय लिया है।'

इन प्रमाणोंसे तो चतुर्भुज मनुष्यरूप मान लेनेमें भी कोई आपत्ति नहीं आती, परन्तु यहाँ वैसा नहीं माना जा सकता। क्योंकि ४८वें श्लोकमें भगवान्‌ने, '**न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैः**' आदि कहकर विश्वरूपकी प्रशंसा की है फिर आगे चलकर ५३वें श्लोकमें भी '**नाहं वेदैर्न तपसा**' आदि कहकर करीब-करीब इसी प्रकारकी प्रशंसा पुनः की है। यह प्रशंसा विश्वरूपकी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि अत्यन्त समीपमें इस प्रकार पुनरुक्तिदोष आना युक्तिसंगत नहीं है।

दूसरे, वहाँ ५४ वें श्लोकमें यह कहा गया है कि अनन्यभक्तिके द्वारा मैं अपना ऐसा रूप दिखा सकता हूँ, परन्तु विश्वरूपके लिये भगवान् पहले कह चुके हैं कि 'यह मेरा परम तेजोमय विश्वरूप तेरे सिवा दूसरे किसीने पहले नहीं देखा। मनुष्यलोकमें इस विश्वरूपको मैं वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, क्रिया और उग्र तपसे भी तेरे सिवा दूसरेको नहीं दिखा सकता।' इसका यह अर्थ नहीं कि अनन्यभक्तिके द्वारा भगवान्‌का विश्वरूप नहीं देखा जा सकता, या यह भी अर्थ नहीं कि श्रीभगवान् विश्वरूपके दिखलानेमें असमर्थ हैं। अभिप्राय यह है कि जैसा रूप अर्जुनको दिखलाया, वैसे दूसरेको नहीं दिखाया जा सकता। क्योंकि वह महाभारतकालका रूप है। भीष्मादि दोनों

सेनाओंके वीर भगवान्‌के दाढ़ोंमें हैं। यह रूप सदा एक-सा नहीं रहता, बदलता रहता है, इसीलिये भगवान्‌ने स्पष्ट कहा कि 'इस नर-लोकमें दूसरे किसीने न तो यह रूप पहले देखा है और न आगे देख सकता है। यद्यपि संजयने भी यह रूप देखा था परन्तु वह समकालीन था। भगवान् श्रीकृष्णने गीतासे पूर्व एक बार कौरवोंकी राजसभामें विश्वरूप दिखलाया था, परन्तु वह रूप इस विश्वरूपसे भिन्न था। तीसरी बात यह है कि इस विशाल विश्वरूपको देखनेके लिये दिव्य चक्षुकी आवश्यकता थी। भगवान्‌ने **'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्'** कहकर अर्जुनको विश्वरूप देखनेके लिये दिव्य चक्षु दिये थे, परन्तु यहाँ दिव्य चक्षुकी कोई बात नहीं है। अनन्यभक्ति करनेवाला कोई भी उस स्वरूपको देख सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि ५२ से ५४ श्लोकमें की गयी महिमा विश्वरूपकी नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि वह महिमा विश्वरूपकी तो नहीं है, परन्तु भगवान्‌के चतुर्भुज मनुष्यरूपकी है तो यह भी युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि वहाँ ५२वें श्लोकमें कहा गया है कि मेरा यह दुर्लभ रूप जो तुमने देखा है, इस रूपको देखनेकी देवता भी सदा आकांक्षा करते हैं—**'देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः'**—देवता मनुष्यरूप चतुर्भुजकी आकांक्षा क्यों करने लगे? वह तो मनुष्योंको भी दीख सकता था, फिर देवताओंके लिये कौन-सी दुर्लभ बात थी? यदि यह कहा जाय कि देवता विश्वरूपके दर्शनकी आकांक्षा करते हैं सो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि जिसके मुखारविन्दमें दोनों सेनाओंके वीर जा रहे हैं और चूर्ण हो रहे हैं, ऐसे घोर रूपके दर्शनकी आकांक्षा देवतागण क्यों करेंगे? इससे यही सिद्ध होता है कि दूसरी बार की हुई महिमा भगवान्‌के देवरूप चतुर्भुजकी है। अर्जुनके **'गदिनं चक्रिणम्'** शब्दोंसे भी यही सिद्ध होता है, क्योंकि नररूप भगवान् तो युद्धमें शस्त्र ग्रहण न करनेकी दुर्योधनसे प्रतिज्ञा कर चुके थे। फिर गदादि धारण करनेके लिये अर्जुन उनसे क्योंकर कहते! संजयके वचनोंसे भी यही सिद्ध होता है कि पहले भगवान्‌ने अर्जुनकी प्रार्थनाके अनुसार अपना चतुर्भुज देवरूप दिखलाया, फिर तुरंत ही सौम्यवपु द्विभुज मनुष्यरूप होकर अर्जुनको आश्वासन दिया।

चतुर्भुज देवरूपके प्राकट्यके बाद और मनुष्यरूप होनेके पूर्व अर्जुनकी कैसी स्थिति रही इसका कोई वर्णन नहीं मिलता। भगवान्‌के मनुष्यरूप हो जानेके बाद ही अर्जुन अपनी स्थितिका वर्णन करते हैं कि 'अब मैं अपनी प्रकृतिको प्राप्त हो गया।' इससे अनुमान होता है कि भगवान् श्रीकृष्णके सौम्य मनुष्यरूप धारण करनेपर ही अर्जुन अपनी पूर्व स्थितिमें आये। चतुर्भुज देवरूप-दर्शनके समय उसकी स्थिति सम्भवतः आश्चर्ययुक्त और हर्षोन्मत्त-सी हो गयी होगी। किन्तु इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसीसे बहुत-से संस्कृत-टीकाकारोंने चतुर्भुज देवरूपके प्रकट होनेका वर्णन नहीं किया। परन्तु संजयके कथनमें इसका स्पष्ट वर्णन है, संजय कहते हैं—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं-
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥

(गीता ११। ५०)

इस श्लोकका सरल और स्पष्ट अन्वय यों होता है—

वासुदेवः अर्जुनम् इति उक्त्वा भूयः तथा स्वकं रूपं दर्शयामास च पुनः महात्मा सौम्यवपुः भूत्वा एनं भीतम् आश्वासयामास।

अर्थात् 'वासुदेव भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुज (देव) रूपको दिखाया और फिर महात्मा कृष्णने सौम्यमूर्ति होकर इस भयभीत हुए अर्जुनको धीरज दिया।'

उपर्युक्त आधे श्लोकके **'भूयः तथा स्वकं रूपं दर्शयामास'** इन वचनोंसे यह सिद्ध है कि श्रीभगवान्‌ने ४९ वें श्लोकमें जो यह—**'व्यपेतभीः प्रीतमनाः त्वं तद् एव मे इदं रूपं पुनः प्रपश्य।'** अर्थात् 'भयरहित हुआ प्रीतियुक्त मनवाला तू मेरे उसी रूपको देख' कहा था, वही अर्जुनका वांछनीय देवरूप दिखलाया। इसके बादके आधे उत्तरार्धमें पुनः सौम्य मनुष्यवपु होकर धीरज देनेकी बात आ गयी।

ऐसा सीधा अन्वय न लगाकर कोई-कोई **'सौम्यवपु'** को **'स्वकं रूपम्'** का विशेषण मान लेते हैं; परन्तु वैसा नहीं बन सकता; क्योंकि **'स्वकं रूपम्'** द्वितीया विभक्तिका एकवचन और कर्म है, यहाँ **'सौम्यवपु'** महात्मा कृष्णका विशेषण है और कर्तामें प्रथमा विभक्तिका एकवचन है। इसके सिवा ऐसा माननेमें **'भूत्वा'** अव्यय भी व्यर्थ हो जाता है। कोई-कोई क्लिष्ट कल्पना करके खींचतानकर ऐसा अन्वय करते हैं—

महात्मा वासुदेवः अर्जुनम् इति उक्त्वा पुनः सौम्यवपुः भूत्वा तथा स्वकं रूपं दर्शयामास च एनं भीतं पुनः आश्वासयामास।

इस अन्वयके अनुसार ऐसा अर्थ बनता है कि भगवान् पहले सौम्यवपु हुए और तब अर्जुनको अपना रूप दिखलाया। जब सौम्यवपु हो ही गये तो फिर दिखलाया क्या, सौम्यवपु

होते ही अर्जुनने देख ही लिया। '**भूत्वा**' अव्यय किसी दूसरी क्रियाकी अपेक्षा करता है और वह क्रिया '**आश्वासयामास**' ही होनी चाहिये क्योंकि वही नजदीकमें है। परन्तु इसको न लेकर '**स्वकं रूपं दर्शयामास**' क्रिया लेनेसे अन्वयकी कल्पना अत्यन्त क्लिष्ट हो जाती है और अर्थ भी ठीक नहीं बैठता। 'महात्मा' शब्दको भी 'वासुदेव' का विशेषण नहीं लेना चाहिये; क्योंकि वह '**सौम्यवपु**' के समीप है। परमार्थप्रथा-टीकामें भी यही अर्थ लिया गया है कि भगवान्‌ने पहले चतुर्भुज देवरूप दिखलाया, पीछे सौम्यवपु होकर आश्वासन दिया।

अब यह शंका रह जाती है कि अर्जुनने ४५वें श्लोकमें **तदेव (तद् एव)** और ४६ वें श्लोकमें **तेनैव (तेन एव)** यानी उसी रूपको देखनेकी प्रार्थना की है। यहाँ इन '**तत्**' और '**तेन**' शब्दोंसे यह अर्थ निकलता है कि अर्जुनका संकेत पहले देखे हुए स्वरूपको देखनेके लिये ही है। यदि यह कहा जाय कि '**तत्**' शब्दसे अत्यन्त समीपका रूप लिया जानेके कारण मनुष्यरूप ही मिलता है सो ठीक है, परन्तु उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो चुका है कि अर्जुनकी प्रार्थना मनुष्यरूप दिखलानेकी नहीं, देवरूप दिखलानेके लिये थी। तब यह शंका होती है कि 'क्या वह देवरूप पहले कभी अर्जुनने देखा था और यदि देखा था तो फिर ४१वें और ४२वें श्लोकोंमें प्रभाव न जाननेकी बात उसने कैसे कही?' इस शंकाका समाधान यह है कि अर्जुनके '**देवरूपं किरीटिनं गदिनम्**' '**तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन**' आदि शब्दोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि अर्जुनने किसी समय भगवान्‌के देवस्वरूपका गुप्तरूपसे दर्शन किया था, तभी इतने विशेषणोंसे उसका लक्ष्य करवा रहा है, नहीं तो '**तदेव मे दर्शय देव रूपम्**' इतना ही कहना काफी था, अन्य किसी विशेषणकी आवश्यकता ही नहीं थी। चतुर्भुज देवरूपसे अर्जुनके दर्शन करनेका वर्णन महाभारतमें इससे पूर्व कहीं आया हो तो मुझे ध्यान नहीं है। किन्तु वर्णन न भी आया हो तो भी इन शब्दोंसे यही मान लेना चाहिये कि अर्जुनने किसी समय पहले चतुर्भुज देवस्वरूपका दर्शन किया था। भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनकी सभी लीलाएँ ग्रन्थोंमें नहीं लिखी गयीं; उनके चरित्रोंका विस्तारसे वर्णन नहीं मिलता है और यह बात भी गुप्त थी, इसीसे '**तदेव**' 'वही' कहकर अर्जुन इशारा करते हैं।

अब रही प्रभाव न जाननेकी बात, सो यद्यपि ४१वें और ४२वें श्लोकमें आये हुए शब्दोंसे यह प्रतीत होता है कि मानो अर्जुन भगवान्‌के प्रभावको नहीं जानते थे, परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। अपनी लघुता दिखलाना तो भक्तोंका स्वभाव ही होता है। क्योंकि प्रभावके सम्बन्धमें स्वयं अर्जुनने गीतामें इससे पहले कहा है—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥

(१०।१२-१३)

'आप परम ब्रह्म, परम धाम एवं परम पवित्र हैं, क्योंकि आपको सब ऋषिजन सनातन दिव्य पुरुष, देवोंके भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। वैसे ही देवर्षि नारद, असित, देवल ऋषि, महर्षि व्यास और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं।'

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥

(११।३७-३८)

'हे महात्मन्! ब्रह्माके आदिकर्ता और सबसे बड़े आपके लिये वे कैसे नमस्कार नहीं करें, क्योंकि हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है वह आप ही हैं और हे प्रभो! आप आदिदेव सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत्‌के परम आश्रय और जाननेवाले तथा जाननेयोग्य और परम धाम हैं। हे अनन्तरूप! आपसे यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है।'

इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन भगवान्‌के प्रभावको जानते थे और उनके प्रेमी भक्त थे। न जानते होते तो ऐसे वचन क्योंकर कहते और क्यों स्वयं भगवान् अपने श्रीमुखसे उन्हें '**भक्तोऽसि मे सखा चेति**' कहते और क्यों उनके रथके घोड़े हाँकनेका काम करते। अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णको हृदयसे साक्षात् परमात्मा मानते थे परन्तु कभी न देखे हुए भयंकर विराट्‌रूपको देखकर उन्हें आश्चर्यचकित और भयभीत होकर ४१वें और ४२वें श्लोकमें वैसे वचन कह दिये। इसीलिये भगवान्‌ने आश्वासन देते हुए उन्हें '**मा ते व्यथा मा च विमूढभावः व्यपेतभीः**' आदि कहकर एवं

अपने देवरूपके दर्शन करवाकर निर्भय और शान्त किया। यदि भगवान्‌का प्रभाव जाननेमें अर्जुनकी यत्किंचित् कमी मानी जाय तो गीताके उपदेशसे उसकी भी सर्वथा पूर्ति हो गयी।

इस विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्णने विश्वरूपके बाद अर्जुनको चतुर्भुज देवरूपसे दर्शन दिये और फिर सौम्यवपु द्विभुज मनुष्यरूप होकर उन्हें आश्वासन दिया।

गीतोक्त साम्यवाद

आजकल संसारमें साम्यवादकी बड़ी चर्चा है। सब बातोंमें समताका व्यवहार हो, इसीको लोग साम्यवाद समझ रहे हैं और ऐसा ही उद्योग कर रहे हैं जिससे व्यवहारमात्रमें समता आ जाय। परन्तु विचारकर देखनेसे पता लगता है कि परमात्माकी इस विषम सृष्टिमें सभी व्यवहारोंमें समता कभी हो ही नहीं सकती और होनेकी आवश्यकता भी नहीं है। न संसारमें सबकी आकृति एक-सी है, न बुद्धि, बल, शरीर, स्वभाव, गुण और कर्म आदिमें ही समता है। ऐसी अवस्थामें देश, काल, पात्र और पदार्थोंमें सर्वत्र समानभावसे समता कदापि सम्भव नहीं है। इसीसे ऐसा साम्यवाद सफल नहीं होता और न कभी हो सकता है।

यथार्थ साम्यवादका विकास भारतीय ऋषियोंकी प्रज्ञासे हुआ था, जिसका वर्णन हमारे शास्त्रोंमें खूब मिलता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें तो श्रीभगवान्‌ने जीवन्मुक्तका प्रधान लक्षण 'समता' ही प्रतिपादन किया है। यह 'समता' ही सर्वोच्च साम्यवाद है, यही सच्ची एकता है, यही परमेश्वरका स्वरूप है। यह धर्ममय है, इसमें अमर्यादित उच्छृंखल जीवनको अवकाश नहीं है, यह परम आस्तिक है, रसमय है, शान्तिप्रद है, रहस्यमय है, समस्त दुःखोंका सदाके लिये नाश करनेवाला है, मुक्ति देनेवाला है अथवा साक्षात् मुक्तिरूप ही है; इसमें स्थित होनेका नाम ही ब्राह्मी स्थिति है। जो पुरुष इस साम्यवादमें स्थित है वही स्थितप्रज्ञ है, वही गुणातीत है, वही ज्ञानी है वही भक्त है और वही जीवन्मुक्त है। यह साम्यवाद केवल कल्पना नहीं है; आचरणके योग्य है और इसका आचरण सभी कोई कर सकते हैं, यह समता ही परमात्मा है। जिसने सर्वत्र ऐसी समता प्राप्त कर ली, उसने मानो समस्त संसारको जीतकर परमात्माको ही प्राप्त कर लिया। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(५। १९)

'जिनका मन समत्वभावमें स्थित है उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया, अर्थात् वे जीते हुए ही संसारसे मुक्त हैं; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं।'

जहाँ यह समता है, वहीं सर्वोच्च न्याय है; न्याय ही सत्य है और सत्य परमात्माका स्वरूप है; जहाँ परमात्मा है, वहाँ नास्तिकता, अधर्म-भावना, काम, क्रोध, लोभ, मोह, असत्य, कपट, हिंसा आदिके लिये गुंजाइश ही नहीं है। अतएव जहाँ यह समता है, वहाँ सम्पूर्ण अनर्थोंका अत्यन्त अभाव होकर सम्पूर्ण सद्‌गुणोंका विकास आप ही हो जाता है। क्योंकि अनुकूलता-प्रतिकूलतासे ही राग-द्वेषादि सब दोषों और दुराचारोंकी उत्पत्ति होती है और समतामें इनका अत्यन्त अभाव है, इसलिये वहाँ किसी प्रकारके दोष और दुराचारके लिये स्थान नहीं है।

समता साक्षात् अमृत है, विषमता ही विष है? यह बात संसारमें प्रत्यक्ष देखी जाती है। इसलिये सम्पूर्ण पदार्थों, सम्पूर्ण क्रियाओं और सम्पूर्ण चराचर भूतोंमें जिनकी समता है वे ही सच्चे महापुरुष हैं। इस समताका तत्त्व सुगमताके साथ भलीभाँति समझानेके लिये श्रीभगवान्‌ने गीतामें अनेकों प्रकारसे सम्पूर्ण क्रिया, भाव, पदार्थ और भूतप्राणियोंमें समताकी व्याख्या की है। जैसे—

मनुष्योंमें समता

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

(६। ९)

'(जो पुरुष) सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओं और पापियोंमें भी समानभाववाला है, वह अति श्रेष्ठ है।'

मनुष्यों और पशुओंमें समता

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(५। १८)

'ज्ञानीजन विद्याविनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी और कुत्तेमें एवं चाण्डालमें भी समभावसे देखनेवाले होते हैं।'

सम्पूर्ण जीवोंमें समता

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६। ३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दु:खको भी (सबमें सम देखता है), वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

कहीं-कहींपर भगवान्‌ने व्यक्ति, क्रिया, पदार्थ और भावकी समताका एक ही साथ वर्णन किया है। जैसे—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥

(१२। १८)

'(जो पुरुष) शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सर्दी-गर्मी और सुख-दु:खादिमें सम है और (सब संसारमें) आसक्तिसे रहित है (वह भक्त है)।'

यहाँ शत्रु-मित्र 'व्यक्ति' के वाचक हैं, मान-अपमान 'परकृत क्रिया' हैं, शीत-उष्ण 'पदार्थ' हैं और सुख-दु:ख 'भाव' हैं।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥

(गीता १४। २४)

'(जो) निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ दु:ख-सुखको समान समझनेवाला है, (तथा) मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला और धैर्यवान् है, (तथा) जो प्रिय और अप्रियको तुल्य समझता है और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है (वही गुणातीत) है।'

इसमें भी दु:ख-सुख 'भाव' हैं, लोष्ट, अश्म और कांचन 'पदार्थ' हैं, प्रिय-अप्रिय 'सर्ववाचक' हैं और निन्दा-स्तुति 'परकृत क्रिया' हैं।

इस प्रकार जो सर्वत्र समदृष्टि है, व्यवहारमें अहंता-ममता रहते हुए भी जो सबमें सर्वत्र समबुद्धि रहता है, जिसका समष्टिरूप समस्त संसारमें आत्मभाव है वह समतायुक्त पुरुष है और वही सच्चा साम्यवादी है।

इस समताका सम्बन्ध प्रधानतया आन्तरिक भावोंसे है; इसमें सर्वत्र समदर्शन है, समवर्तन नहीं है। यह समत्व बाहरी व्यवहारोंमें सर्वत्र एक-सा नहीं है। बाहरी व्यवहारोंमें तो दाम्भिक और शास्त्रकी अवहेलना करनेवाले भी ऐसा कर सकते हैं। इस समताका रहस्य इतना गूढ़ है कि क्रिया और व्यवहारमें यथायोग्य भेद रहते हुए भी इसमें वस्तुतः कोई बाधा नहीं आती। बल्कि देश, काल, जाति और पदार्थोंकी विभिन्नताके कारण कहीं-कहीं तो बाहरी व्यवहारमें विषमता न्यायसंगत और आवश्यक समझी जाती है। परन्तु वह विषमता न तो दूषित है और न उससे असली समतामें कोई अड़चन ही आती है।

एक विपद्ग्रस्त देश है और दूसरा सम्पन्न है, इन दोनों देशोंमें व्यवहारमें विषमता रहेगी ही; विपद्ग्रस्त देशकी सेवा करना आवश्यक होगा, सम्पन्न देशकी नहीं। व्यवहारकी इस विषमताकी आवश्यकताको कौन दूषित बतला सकता है? हाँ, उस विपत्तिग्रस्त देशमें यदि ममता और स्वार्थके भावसे दु:खी लोगोंकी सेवामें भेद किया जाय तो वह विषमता अवश्य दूषित है। मान लीजिये, एक जगह बाढ़ आ गयी; लोग डूब रहे हैं। वहाँ यदि यह भाव हो कि अमुक यूरोपियन है, हम भारतीय हैं, इससे भारतीयको ही बचावेंगे, यूरोपियनको नहीं; अथवा अमुक मुसलमान है, हम हिन्दू हैं, हम अपनी जातिवालेकी रक्षा करेंगे, विजातीयकी नहीं। इस प्रकारकी देश और जातिगत आन्तरिक भेदबुद्धिजनित विषमता अवश्य दूषित है। आपत्तिकालमें देश, काल, जाति और कुटुम्बका अभिमान त्यागकर सबकी समभावसे सेवा करनी चाहिये। ममता, स्वार्थ और आसक्तिवश जो देश, काल, पदार्थ, जाति आदिमें विषमताका व्यवहार किया जाता है वास्तवमें वही विषमता है ऐसी विषमता महापुरुषोंमें नहीं होती।

इसी प्रकार काल-भेदसे भी व्यवहारमें विषमता रहती है, हम रातको सोते हैं, दिनमें व्यवहार करते हैं, प्रात:सायं सन्ध्या-वन्दनादि ईश्वरोपासना करते हैं; यह विषमता आवश्यक है। ऐसे ही जिस समय दुर्भिक्ष पड़ता है, उसी समय अन्नदान दिया जाता है। जलदान ग्रीष्ममें आवश्यक है, सर्दीमें उतना नहीं। वस्त्रदान शीतमें आवश्यक है, गर्मीमें इतना नहीं। अग्नि जलाकर जाड़ेमें तापा जाता है, गर्मीमें नहीं। छाता वर्षाकालमें लगाया जाता है, जाड़ेमें नहीं लगाया जाता। परन्तु यह विषमताका व्यवहार सर्वथा युक्तियुक्त ही नहीं, आवश्यक माना जाता है।

खान-पान और व्यवहारमें गौ, कुत्ते, हाथी, चाण्डाल और ब्राह्मणमें विषमता सर्वथा युक्तियुक्त है। गौ और हाथीका खाद्य घास-पात है, मनुष्यका नहीं। कुत्ता मांस भी खाता है, परन्तु वह गौ तथा हाथीके लिये उपयोगी नहीं; मनुष्यके लिये तो अत्यन्त ही अनुपयोगी है। इन सबका परस्पर एक-दूसरेके साथ खान-पान कभी सम्भव नहीं। कोई भी बुद्धिमान् पुरुष इन पाँचों प्राणियोंके साथ व्यवहारमें समताका प्रतिपादन नहीं कर सकता। मनुष्य और पशुकी बात तो अलग रही, तीनों पशुओंमें भी व्यवहारमें बड़ी विषमता है। हाथीकी जगह कुत्तेपर सवारी कोई नहीं कर सकता, गौकी जगह कुतियाका दूध नहीं पिया जा सकता। जो लोग समदर्शनको समवर्तन सिद्ध कर व्यवहारमें अभेद लाना चाहते हैं, वे वस्तुतः इसका मर्म ही नहीं समझते। इनका भेद तो प्रकृतिगत है जो किसी तरह भी मिटाया नहीं जा सकता। परन्तु हाँ, इन ब्राह्मण, चाण्डाल, हाथी, गौ और कुत्ते आदि किसी भी प्राणीको दु:खकी

प्राप्ति होनेपर उसके दुःखको निवारण करके उसको सुख पहुँचानेके लिये वैसा ही समान व्यवहार करना चाहिये जैसा हम अपने हाथ, पैर, मस्तक आदिका दुःख निवारण करके सुख पहुँचानेके लिये करते हैं। इसी प्रकार 'आत्मत्व' भी सबमें ठीक वैसा ही होना चाहिये जैसा हमारा अपनी देहमें है। इसी समताका नाम समता है।

इसी प्रकार मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेमें भी व्यावहारिक भेद आवश्यक है। मिट्टीके ढेलेको सँभालकर रखनेकी जरूरत नहीं, परन्तु सोना सुरक्षित रखना पड़ता है। सोनेके बदले मिट्टी या पत्थरका आदान-प्रदान नहीं हो सकता। इनके संग्रह-ग्रहण, आदान-प्रदान, व्यवहार और मूल्य आदिमें विषमता रहती ही है; परन्तु हाँ, आन्तरिक भावमें इनमें भेद नहीं होना चाहिये। अपना संकट-निवारण करनेके लिये जैसे धनको मिट्टीकी तरह समझकर खर्च किया जाता है, उसी प्रकार न्याय-प्राप्त होनेपर दूसरे प्राणीके हितके लिये भी धनको धूलके समान समझकर व्यवहार करना चाहिये। लोभवश धनका संग्रह करने और न्यायसंगत आवश्यकता आनेपर खर्च न करनेमें विषमता है। जहाँ यह विषमता होगी, वहाँ न्यायान्यायका विचार छोड़कर धनका संग्रह होगा और न्यायसंगत खर्चमें हिचकिचाहट होगी। अतएव अन्यायसे उपार्जन करनेके समय और न्याययुक्त खर्चके समय धनको धूलके समान समझकर वैसे उपार्जनसे हट जाना और खर्च करनेमें संकोच नहीं करना चाहिये। यही '**समलोष्टाश्मकांचनः**' है। एकके कुछ भी धन नहीं है, दूसरा धन और भोग-पदार्थोंका संग्रह करता है; परन्तु यदि वह अपने और कुटुम्बके लिये या भोगसुखके लिये न करके सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके हितके लिये ही करता है तो इस संग्रहमें विषमता होनेपर भी यह दूषित नहीं है वरं आवश्यक है।

पदार्थोंकी विषमता लीजिये—अग्नि और जलमें विषमता है, विष और अमृतमें विषमता है, मीठे और कटुमें विषमता है, पथ्य और कुपथ्यमें विषमता है। व्यवहारमें पुरुष और स्त्री-जातिमें विषमता है; पुरुष-पुरुषमें भी पिता और पुत्रमें भेद आवश्यक है, स्त्री-स्त्रीमें भी माता और स्त्रीमें भेद रखना धर्म है। अपने ही शरीरमें दाहिने और बायें हाथमें भी व्यवहारका भेद युक्तिसंगत है। संसारमें जहाँ विशेष समताका उदाहरण दिया जाता है वहाँ कहा जाता है कि 'ये दोनों हमारे दायें-बायें हाथके समान एक-से हैं।' परन्तु देखा जाता है कि दाहिने-बायें हाथके व्यवहारमें परस्पर बड़ा अन्तर है। खान, पान, दान, सम्मान आदि उत्तम व्यवहार और प्रधान-प्रधान क्रियाएँ अधिकांशमें दाहिने हाथसे की जाती हैं और शौचादि अपवित्र व्यवहार बायेंसे होते हैं। इसी प्रकारका व्यवहारका भेद अपने अंगोंमें भी है। पैर, हाथ, मस्तक आदि एक ही शरीरके अंग हैं; परन्तु चरणसे शूद्रका, हाथोंसे क्षत्रियका और मस्तकसे ब्राह्मणका-सा व्यवहार होता है। किसीका सत्कार करते समय सिर झुकाया जाता है न कि पैर सामने किया जाता है। सिरपर लाठी आती हो तो हाथोंकी आड़से उसे बचाते हैं न कि पैरोंकी आड़ की जाती है। पैरोंपर लाठी लगनेकी सम्भावना होनेपर उन्हें सिकोड़कर बैठ जाते हैं और पैरोंको बचाकर हाथोंपर और पीठपर चोट सह लेते हैं। किसी दूसरे मनुष्यके चरणका स्पर्श हो जानेपर मस्तक नवाकर और हाथ जोड़कर क्षमा-प्रार्थना करते हैं। अंग सभी हमारे हैं, फिर पैर लगा तो क्या और हाथ छू गया तो क्या। परन्तु व्यवहारमें ऐसा नहीं माना जाता। मस्तकके हाथ स्पर्श करनेसे हाथको अपवित्र नहीं मानते; किन्तु उपस्थ-गुदादि इन्द्रियोंसे छू जानेपर हाथ धोते हैं। जब अपने एक ही शरीरमें व्यवहारका इतना भेद आवश्यक और युक्तियुक्त समझा जाता है, तब देश, काल, जाति और पदार्थोंमें रहनेवाले अनिवार्य भेदको दूषित मानना तो सर्वथा अयुक्त और न्यायविरुद्ध है। इतना भेद होनेपर भी आत्मदृष्टिमें कोई भेद नहीं है। किसी भी अंगके चोट लगनेपर उसे बचानेकी चेष्टा समान ही होती है और दुःख-दर्द भी समान ही होता है। प्रसूति और रजस्वला-अवस्थामें हम अपनी पूजनीया माताके साथ भी अस्पृश्यताका व्यवहार करते हैं; किन्तु वही माता यदि बीमार हो तो हम उसी अवस्थामें आदरपूर्वक उनकी सेवा करते हैं और तदनन्तर स्नान करके पवित्र हो जाते हैं। इसी प्रकार पशु, पक्षी या मनुष्य आदिमें जो अस्पृश्य माने जाते हैं, उनके साथ अन्य समय व्यवहारमें भेद होनेपर भी उनकी दुःखकी स्थितिमें प्रेमपूर्वक सबकी सेवा करनी चाहिये। सेवा करनेके बाद स्नान करनेपर मनुष्य पवित्र हो जाता है। इस प्रकार शास्त्रानुमोदित व्यवहारकी विषमता आवश्यक और उचित है। इसको अनुचित मानना ही अनुचित है। अवश्य ही आत्मामें इससे कोई भेद नहीं आता और न भेद मानना ही चाहिये। भगवान्ने गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(६। २९)

'हे अर्जुन! सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त हुए आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है। जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है, वैसे

ही वह पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्माके अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है।'

श्रुति कहती है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

(ईश० ६-७)

'जो विद्वान् सब भूतोंको आत्मामें ही देखता है और आत्माको सब भूतोंमें देखता है वह फिर किसी भी प्राणीसे घृणा नहीं करता। तत्त्ववेत्ता पुरुषके लिये जिस कालमें सम्पूर्ण भूतप्राणी आत्मा ही हो जाते हैं अर्थात् वह सबको आत्मा ही समझ लेता है, उस समय एकत्वको देखनेवालेको कहाँ शोक और कहाँ मोह है?'

इस प्रकार व्यवहारमें शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार भगवत्-प्रीत्यर्थ या लोकसंग्रहके लिये ममता और स्वार्थसे रहित होकर न्याययुक्त विषमताका व्यवहार करते हुए भी सबमें उपाधियोंके दोषसे रहित ब्रह्मको सम देखना और राग-द्वेष आदि विकारोंसे रहित होकर मान-अपमान, लाभ-हानि, जय-पराजय, शत्रु-मित्र, निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख, शीत-उष्ण आदि समस्त द्वन्द्वोंमें सर्वदा समतायुक्त रहना ही यथार्थ साम्यवाद है। इसी साम्यवादसे परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है।

आजकलका साम्यवाद ईश्वरविरोधी है और यह गीतोक्त साम्यवाद सर्वत्र ईश्वरको देखता है; वह धर्मका नाशक है, यह पद-पदपर धर्मकी पुष्टि करता है; वह हिंसामय है, यह अहिंसाका प्रतिपादक है; वह स्वार्थमूलक है, यह स्वार्थको समीप भी नहीं आने देता; वह खान-पान-स्पर्शादिमें एकता रखकर आन्तरिक भेदभाव रखता है, यह खान-पान-स्पर्शादिमें शास्त्रमर्यादानुसार यथायोग्य भेद रखकर भी आन्तरिक भेद नहीं रखता और सबमें आत्माको अभिन्न देखनेकी शिक्षा देता है; उसका लक्ष्य केवल धनोपासना है, इसका लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति है; उसमें अपने दलका अभिमान है और दूसरोंका अनादर है, इसमें सर्वथा अभिमानशून्यता है और सारे जगत्में परमात्माको देखकर सबका सम्मान करना है, कोई दूसरा है ही नहीं; उनमें बाहरी व्यवहारकी प्रधानता है, इसमें अन्तःकरणके भावकी प्रधानता है; उसमें भौतिक सुख मुख्य है, इसमें आध्यात्मिक सुख मुख्य है; उसमें परधन और परमतसे असहिष्णुता है, इसमें सबका समान आदर है; उसमें राग-द्वेष है, इसमें राग-द्वेषरहित व्यवहार है।

अतएव इन सब बातोंपर विचार करके बुद्धिमान् पुरुषोंको इस गीतोक्त साम्यवादका ही आदर करना चाहिये।

देश-काल-तत्त्व

देश और कालके सम्बन्धमें हमलोगोंका जो ज्ञान है वह बहुत ही सीमित और संकुचित है। हमलोग प्रायः इस स्थूल देशको ही देश और युग, वर्ष आदि स्थूल कालको ही काल समझते हैं। इनकी गहराईमें नहीं जाते। देश क्या वस्तु है, उसका मूल स्वरूप क्या है; समय या काल क्या वस्तु है और उसका मूल स्वरूप क्या है, इसे ठीक-ठीक हृदयंगम कर लेनेपर देश और कालविषयक हमारा अधूरा ज्ञान बहुत अंशोंमें पूर्ण हो सकता है और हमारी दृष्टि सीमित देश और परिमित कालसे परे पहुँच जा सकती है।

विचारणीय विषय यह है कि हम जिस आकाशादिको देश और युग, वर्ष, मास, दिन, आदिको काल समझते हैं वह देश-काल तो प्रकृतिसे उत्पन्न है और प्रकृतिके अन्तर्गत है। परन्तु महाप्रलयके समय जब यह कार्यरूप सम्पूर्ण जगत् अपने कारणरूप प्रकृतिमें लय हो जाता है उस समय देश-कालका क्या स्वरूप होता है? वह देश-काल प्रकृतिका कार्य होता है या कारण?

इस प्रश्नपर विचार करनेसे यह प्रतीत होता है कि स्थूल देश-काल जिस प्रकृतिरूप देश-कालमें लय हो जाता है वह प्रकृतिरूप देश-काल तो प्रकृतिका स्वरूप ही है और इस प्रकृतिका जो अधिष्ठान है अर्थात् यह प्रकृति अपने कार्य सम्पूर्ण जड दृश्यवर्गके लय हो जानेके बाद भी जिसमें स्थित रहती है, वह अधिष्ठान प्रकृतिका कार्य कभी नहीं हो सकता। वह तो सबका परम कारण है और सबका परम कारण वस्तुतः एकमात्र विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही है। उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके किसी अंशमें मूलप्रकृति या माया स्थित है। वह प्रकृति कभी साम्यावस्थामें रहती है और कभी विकारको प्राप्त होती है। जिस समय वह साम्यावस्थामें रहती है उस समय अपने कार्य समस्त जड दृश्यवर्गको अपनेमें लीन करके परमात्माके किसी एक अंशमें स्थित रहती है और जिस समय वही परमात्माके सकाशसे विषमताको प्राप्त होती है, उस समय उससे परमात्माकी अध्यक्षतामें संसारका सृजन होता है। सांख्य और योगके अनुसार सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिके स्वरूप हैं, परन्तु गीता आदि वेदान्तशास्त्रोंके अनुसार ये प्रकृतिके कार्य हैं।

गुणाः प्रकृतिसम्भवाः। (गीता १४। ५)

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ (१३। १९)

प्रकृतिमें विकार होनेपर पहले सत्त्वगुणकी उत्पत्ति होती है, फिर रजोगुणकी और उसके बाद तमोगुणकी। सत्त्वगुणसे बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियाँ, रजोगुणसे प्राण और कर्मेन्द्रियाँ तथा तमोगुणसे पंच स्थूलभूतोंकी उत्पत्ति हुई है। इन्हीं भूतोंमें आकाश है और यही आकाश[1] हमारे इस व्यक्त स्थूल देशका आधार है। इसी प्रकार हमारा युग, वर्ष, मास, दिन आदिरूप स्थूल काल भी प्रकृतिसे प्रादुर्भूत है। यह देश-कालका स्थूल रूप है। यह जड और अनित्य है। सबका अधिष्ठान होनेसे परमात्मा ही सबको सत्तास्फूर्ति देता है, इस प्रकार वह समस्त ब्रह्माण्डमें प्रत्येक वस्तुमें व्याप्त होनेपर भी इस स्थूल देश-कालसे, और इस देश-कालके कारणरूप प्रकृतिसे भी परे है। स्थूल देश-कालको तो हमारी इन्द्रियाँ और मन समझ सकते हैं; परन्तु सूक्ष्म देश-कालतक उनकी पहुँच नहीं है। महाप्रलयके समय प्रकृति जिस परमात्मामें स्थित रहती है और जबतक स्थित रहती है, वह अधिष्ठानरूप देश और काल वास्तवमें परमात्मा ही है। वही मूल महादेश और महाकाल है। वह चेतन, उपाधिरहित, नित्य, निर्विकार और अव्यभिचारी है। वह कालका भी महाकाल[2] और देशका भी महादेश है। सारे काल और देश एक उसीमें समा जाते हैं। परमात्माका यह नित्य सनातन, शाश्वत और चिन्मय स्वरूप ही देश-कालका आधार है। यह सदा-सर्वदा एकरस है। अव्याकृत मूलप्रकृति महाप्रलयके समय इसी परमात्मारूप देश-कालमें रहती है। हमारी बुद्धिमें आनेवाला यह मायारचित जड और अनित्य देश-काल तो बुद्धिका कार्य है और बुद्धिके अन्तर्गत है। बुद्धि स्वयं मायाका कार्य है। इस मायाके स्वरूपको बुद्धि नहीं बतला सकती; क्योंकि यह बुद्धिसे परे है, बुद्धिका कारण है। इस मायाके दो रूप माने गये हैं—एक विद्या, दूसरा अविद्या। समष्टिबुद्धि विद्यारूपा है और जिसके द्वारा बुद्धि मोहको प्राप्त हो जाती है, वह अज्ञान ही अविद्या है। अस्तु,

उपर्युक्त विवेचनके अनुसार देश-कालके ये तीन भेद होते हैं—

१-नित्य महादेश या नित्य महाकाल।

२-प्रकृतिरूप देश या प्रकृतिरूप काल।

३-प्राकृत यानी प्रकृतिका कार्यरूप स्थूल देश या स्थूल काल।

इनमें पहला चेतन, नित्य अविनाशी, अनादि और अनन्त है। शेष दोनों जड, परिवर्तनशील, अनादि और सान्त हैं।

जिसको सनातन, शाश्वत, अनादि, अनन्त, कालस्वरूप, नित्य, ज्ञानस्वरूप और सर्वाधिष्ठान कहते हैं, निर्विकार परमात्माका वह स्वरूप ही मूल नित्य महादेश और महाकाल है।

महाप्रलयके बाद जितनी देर प्रकृतिकी साम्यावस्था रहती है, वही प्रकृतिरूप काल है और अपने कार्यरूप समस्त स्थूल दृश्यवर्गको धारण करनेवाली होनेसे यह कारणरूपा मूलप्रकृति ही प्रकृतिरूप देश है।

आकाश, दिशा, लोक, द्वीप, नगर और कल्प, युग, वर्ष, अयन, मास, दिन आदि स्थूल रूपोंमें प्रतीत होनेवाला प्रकृतिका कार्यरूप यह व्यक्त देश-काल ही स्थूल देश और स्थूल काल है।

इस कार्यरूप स्थूल देश या स्थूल कालकी अपेक्षा तो बुद्धिकी समझमें न आनेवाला प्रकृतिरूप देश-काल सूक्ष्म और पर है; और इस प्रकृतिरूप देश-कालसे भी वह सर्वाधिष्ठानरूप देश-काल अत्यन्त सूक्ष्म, परातिपर और परम श्रेष्ठ है जो नित्य, शाश्वत, सनातन, विज्ञानानन्दघन परमात्माके नामसे कहा गया है। वस्तुतः परमात्मा देश-कालसे सर्वथा रहित है, परन्तु जहाँ प्रकृति और उसके कार्यरूप संसारका वर्णन किया जाता है, वहाँ सबको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला होनेके कारण उस सबके अधिष्ठानरूप विज्ञानानन्दघन परमात्माको ही देश-काल बतलाया जाता है। संक्षेपमें यही देश-काल-तत्त्व है।

१-यह आकाश प्रकृतिका कार्य होनेसे उत्पत्ति, स्थिति और लय धर्मवाला है। माया यानी प्रकृति इसका आधार है। प्रकृतिका आधार विज्ञानानन्दघन परमात्मा है, यह पोलरूपी आकाश मूल तन्मात्रारूप आकाशका एक स्थूलस्वरूप है। यह पोल समष्टि अन्तःकरणमें है, समष्टि अन्तःकरण मायामें है और माया परमात्मामें वैसे ही है जैसे स्वप्नका देश-काल स्वप्नद्रष्टा पुरुषके अन्तर्गत रहता है। वस्तुतः यह आकाश या पोल परमात्माका संकल्पमात्र है। इस संकल्पका अभाव होनेपर, जिसका संकल्प है, वह अपनी प्रकृतिसहित स्वयं अधिष्ठानरूपसे रहता है, वह किस प्रकार रहता है सो नहीं बतलाया जा सकता, क्योंकि वह वाणीका विषय नहीं है।

२-यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥ (कठ० १। २। २५)

'जिस आत्माके ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये दोनों भात हैं और मृत्यु जिसका उपसेचन (शाक-दाल आदि) हैं वह जहाँ है उसे इस प्रकार (ज्ञानीके सिवा और) कौन जान सकता है?'

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

तत्त्वचिन्तामणि भाग-४

अमूल्य वचन

'सात्त्विक आचरण और भगवान्‌की विशुद्ध भक्तिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर जब भ्रम मिट जाता है, तभी साधक कृतकृत्य हो जाता है।'

'भगवान् गुणातीत हैं, बुरे-भले सभी गुणोंसे युक्त हैं और केवल सद्गुण-सम्पन्न हैं।'

'भगवान् चाहे जैसे, चाहे जब, चाहे जहाँ, चाहे जिस रूपमें प्रकट हो सकते हैं।'

'चराचर ब्रह्माण्ड ईश्वर है, उसकी सेवा ईश्वरकी सेवा है। संसारको सुख पहुँचाना परमात्माको सुख पहुँचाना है।'

'निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक विधिसहित जप करनेवाला साधक बहुत शीघ्र अच्छा लाभ उठा सकता है।'

'भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी विशुद्ध प्रेमभक्ति और भगवत्-साक्षात्कारके सिवा अन्य किसी भी सांसारिक वस्तुकी कामना, याचना या इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये।'

'भगवान्‌में सच्चा प्रेम होने तथा भगवान्‌की मनोमोहिनी मूर्तिके प्रत्यक्ष दर्शन मिलनेमें विश्वास ही मूल कारण है।'

'निराकार-साकार सब एक ही तत्त्व है।'

'वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वसमर्थ, सर्वसाक्षी, सत्, चित्, आनन्दघन परमात्मा ही अपनी लीलासे भक्तोंके उद्धारके लिये भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करके अनेक लीलाएँ करता है।'

'उस परमात्माके शरण होना साधकका कर्तव्य है, शरण होनेके बाद तो प्रभु स्वयं सारा भार सँभाल लेते हैं।'

महाराज युधिष्ठिरके जीवनसे आदर्श शिक्षा

महाराज युधिष्ठिरके सम्बन्धमें यह कहना अयुक्त न होगा कि इस संसारमें उनका जीवन महान् आदर्श था। जिस प्रकार त्रेतायुगमें साक्षात् मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी धर्मपालनमें परम आदर्श थे, लगभग उसी प्रकार द्वापरयुगमें केवल नीति और धर्मका पालन करनेमें महाराज युधिष्ठिरको आदर्श पुरुष कहा जा सकता है। अतः महाभारतके समस्त पात्रोंमें नीति और धर्मका पालन करनेके विषयमें महाराज युधिष्ठिरका आचरण सर्वथा आदर्श एवं अनुकरणीय है। भारतवासियोंके लिये तो युधिष्ठिरका जीवन सन्मार्गपर ले चलनेवाला एक अलौकिक पथप्रदर्शक है। वे सद्गुण और सदाचारके भण्डार थे। जहाँ उनका निवास हो जाता था, वह स्थान सद्गुण और सदाचारसे परिप्लावित हो जाता था। वे अपनेसे वैर करनेवाले व्यक्तियोंसे भी दयापूर्ण प्रेमका व्यवहार करते थे, इसलिये उनको लोग अजातशत्रु कहा करते थे। क्षात्रधर्ममें उनकी इतनी दृढ़ता थी कि प्राण भले ही चले जायँ परन्तु उन्हें युद्धसे मुँह मोड़ना कभी नहीं आता था—इसी कारण वे 'युधिष्ठिर' नामसे प्रसिद्ध थे। उनके जैसा धर्मपालनका उदाहरण संसारके इतिहासमें कम ही मिलता है। उनमें प्रायः कोई भी बात नहीं थी, जो हमारे लिये शिक्षाप्रद न हो। एक जुआ खेलनेको छोड़कर उनमें और कोई भी दुर्व्यसन नहीं था। वह भी बहुत कम मात्रामें था। ऐसे तो बड़े-से-बड़े धार्मिक पुरुषोंके जीवनकी सूक्ष्म आलोचना करनेपर ऐसी कई बातें प्रतीत हो सकती हैं जो अनुकरणके योग्य न हों, किन्तु महाराज युधिष्ठिरकी तो प्रायः सभी बातें अनुकरणीय हैं। गुरु द्रोणाचार्यके पूछनेपर अश्वत्थामाकी मृत्युके सम्बन्धमें उन्होंने जो छलयुक्त मिथ्या भाषण किया था, उसके लिये वे सदा पश्चात्ताप किया करते थे। घरमें उनका बर्ताव इतना शुद्ध और उत्तम होता था कि उनके भाई, माता, स्त्री, नौकर आदि सभी उनसे सदा प्रसन्न रहते थे। इतना ही नहीं, वे जिस देशमें निवास करते थे, वहाँकी सारी प्रजा भी उनके सद्व्यवहारके कारण उनको श्रद्धा और पूज्यभावसे देखा करती थी। ब्राह्मण और साधुसमाज तो उनके विनम्र एवं मधुर स्वभावको देखकर सदा ही उनपर मुग्ध रहा करता था। तात्पर्य यह है कि महाराज युधिष्ठिर एक बड़े भारी सद्गुणसम्पन्न, सदाचारी, स्वार्थत्यागी, सत्यवादी, ईश्वरभक्त, धीर, वीर और गम्भीर स्वभाववाले तथा क्षमाशील धर्मात्मा थे, कल्याण चाहनेवाले महानुभावोंके लाभार्थ उनके जीवनकी कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओंका दिग्दर्शनमात्र यहाँ कराया जाता है। मेरा विश्वास है कि महाराज युधिष्ठिरके गुण और आचरणोंको समझकर तदनुसार आचरण करनेसे बहुत भारी लाभ हो सकता है।

निर्वैरता

एक समयकी बात है, राजा दुर्योधन कर्ण, शकुनि और दुःशासन आदि भाइयोंके सहित बड़ी भारी सेना लेकर गौओंके निरीक्षणका बहाना करके पाण्डवोंको सन्ताप पहुँचानेके विचारसे उस द्वैत नामक वनमें गया, जहाँपर पाण्डव निवास करते थे। दुर्योधनका उद्देश्य बुरा तो था ही, देवराज इन्द्र उसकी इस बातको जान गये। बस, उन्होंने चित्रसेन गन्धर्वको आज्ञा दी कि 'जल्दीसे जाकर उस दुष्ट दुर्योधनको बाँध लाओ।' देवराजकी यह आज्ञा पाकर वह गन्धर्व दुर्योधनको युद्धमें परास्त करके उसको साथियोंसहित बाँधकर ले गया। किसी प्रकार जान बचाकर दुर्योधनका वृद्ध मन्त्री कुछ सैनिकोंके साथ तुरंत महाराज युधिष्ठिरकी शरणमें पहुँचा और वहाँपर उसने इस घटनाका सारा समाचार सुनाया और उसने दुर्योधन आदिको गन्धर्वके हाथसे छुड़ानेकी भी प्रार्थना की। इतना सुनकर महाराज युधिष्ठिर कब चुप रहनेवाले थे। वे तुरंत दुर्योधनकी रक्षाके लिये प्रस्तुत हो गये। उन्होंने कहा—'नरव्याघ्र अर्जुन, नकुल, सहदेव और अजेय वीर भीमसेन! उठो, उठो। तुम सब लोग शरणमें आये हुए इन पुरुषोंकी और अपने कुलवालोंकी रक्षाके लिये शस्त्र ग्रहण करके तैयार हो जाओ। जरा भी विलम्ब मत करो; देखो दुर्योधनको गन्धर्व कैद करके लिये जा रहे हैं ! उसे तुरंत छुड़ाओ।'* महाराज युधिष्ठिरने फिर कहा—'मेरे वीर श्रेष्ठ बन्धुओ! शरणागतकी यथाशक्ति रक्षा करना सभी क्षत्रिय राजाओंका महान् कर्तव्य है! शत्रुकी रक्षाका माहात्म्य तो और भी बड़ा है! मैंने यदि यह यज्ञ आरम्भ न किया होता तो मैं स्वयं ही उस बन्दी दुर्योधनको छुड़ानेके लिये दौड़ पड़ता, पर अब विवशता है। इसीलिये कहता हूँ, वीरवरो! जाओ—जल्दी जाओ; हे कुरुनन्दन भीमसेन! यदि वह गन्धर्वराज समझानेसे न माने तो तुमलोग अपना प्रबल पराक्रम दिखलाकर किसी तरह अपने भाई दुर्योधनको उसकी कैदसे छुड़ाओ।' इस प्रकार अजातशत्रु धर्मराजके इन वचनोंको सुनकर भीमसेन आदि चारों भाइयोंके मुखपर प्रसन्नता छा गयी। उन लोगोंके अधर और भुजदण्ड एक साथ फड़क उठे। उन सबकी ओरसे महावीर अर्जुनने कहा—'महाराज! आपकी जो आज्ञा! यदि गन्धर्वराज समझाने-बुझानेपर दुर्योधनको छोड़ देंगे; तब तो ठीक ही है; नहीं तो यह माता पृथ्वी गन्धर्वराज का रक्तपान करेगी।' अर्जुनकी इस प्रतिज्ञाको सुनकर दुर्योधनके बूढ़े मन्त्री आदिको शान्ति मिली। इधर ये चारों पराक्रमी पाण्डव दुर्योधनको मुक्त करनेके लिये चल पड़े। सामना होनेपर अर्जुनने धर्मराजके आज्ञानुसार दुर्योधनको यों ही मुक्त कर देनेके लिये गन्धर्वोंको बहुत समझाया, परन्तु उन्होंने उनकी एक न सुनी। तब लाचार होकर अर्जुनने घोर युद्धद्वारा गन्धर्वोंको परास्त कर दिया। तत्पश्चात् परास्त चित्रसेनने अपना परिचय दिया और दुर्योधनादिको कैद करनेका कारण बताया। यह सुनकर पाण्डवोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे चित्रसेन और दुर्योधनादिको लेकर धर्मराजके पास आये। धर्मराजने दुर्योधनकी सारी करतूत सुनकर भी बड़े प्रेमके साथ दुर्योधन और उसके सब साथी बंदियोंको मुक्त करा दिया। फिर उसको स्नेहपूर्वक आश्वासन देते हुए उन्होंने सबको घर जानेकी आज्ञा दे दी। दुर्योधन लज्जित होकर सबके साथ घर लौट गया। ऋषि-मुनि तथा ब्राह्मण लोग धर्मराज युधिष्ठिरकी प्रशंसा करने लगे!

यह है महाराज युधिष्ठिरके आदर्श जीवनकी एक घटना! निर्वैरता तथा धर्मपालनका अनूठा उदाहरण! उनके मनमें दुष्ट दुर्योधनकी काली करतूतोंको सुनकर भी क्रोधकी छायाका भी स्पर्श नहीं हुआ। इतना ही नहीं, उसके दोषोंकी ओर उनकी दृष्टि भी नहीं गयी। बल्कि उनका हृदय उलटे दयासे भर गया। उन्होंने जल्दी ही उसको गन्धर्वराजके कठिन बन्धनसे मुक्त करवा दिया। यहींतक नहीं, उनकी इन क्रियासे दुर्योधन दुःखी और लज्जित न हो, इसके लिये उन्होंने प्रेमपूर्ण वचनोंसे उसको आश्वासन भी दिया। मित्रोंकी तो बात ही क्या दुःखमें पड़े हुए शत्रुओंके प्रति भी हमारा क्या कर्तव्य है, इसकी शिक्षा स्पष्टरूपसे हमें धर्मराज युधिष्ठिर दे रहे हैं।

धैर्य

यह बात तो संसारमें प्रसिद्ध ही है कि दुर्योधनने कर्णकी सम्मतिसे शकुनिके द्वारा धर्मराज युधिष्ठिरको छलसे जूएमें हराकर दाँवपर रखी हुई द्रौपदीको जीत लिया था। उसके पश्चात् दुर्योधनकी आज्ञासे दुःशासनने द्रौपदीको केश पकड़कर खींचते हुए भरी सभामें उपस्थित किया। द्रौपदी अपनी लाज बचानेके लिये रुदन करती हुई पुकारने

* शरणं च प्रपन्नानां त्राणार्थं च कुलस्य च। उत्तिष्ठध्वं नरव्याघ्राः सज्जीभवत मा चिरम्॥
अर्जुनश्च यमौ चैव त्वं च वीरापराजितः। मोक्षयध्वं नरव्याघ्रा ह्रियमाणं सुयोधनम्॥
(वन० २४३। ६-७)

लगी। सारी सभा द्रौपदीके व्याकुलतासे भरे हुए करुणापूर्ण रुदनको देखकर दु:खी हो रही थी। किन्तु दुर्योधनके भयसे विदुर और विकर्णके सिवा किसीने भी उसके इस घृणित कुकर्मका विरोधतक नहीं किया। द्रौपदी उस समय रजस्वला थी और उसके शरीरपर एक ही वस्त्र था। ऐसी अवस्थामें भी दु:शासनने भरी सभामें उसका वस्त्र खींचकर उसे नंगी कर देना चाहा। कर्ण नाना प्रकारके दुर्वचनोंद्वारा द्रौपदीका अपमान करने लगा। दुष्ट दुर्योधनने तो अपनी बायीं जाँघ दिखलाकर उसपर बैठनेका संकेत करके द्रौपदीके अपमानकी हद ही कर दी! वस्तुत: भारतकी एक सती अबलाके प्रति अत्याचारकी यह पराकाष्ठा थी? अब भीमसेनसे नहीं रहा गया। क्रोधके मारे उनके होठ फड़क उठे, रोमकूपोंसे चिनगारियाँ निकलने लगीं, किन्तु धर्मराजकी आज्ञा और संकेतके बिना उनसे कुछ भी करते न बना। परंतु धर्मात्मा युधिष्ठिर तो वचनबद्ध थे, इसलिये वे यह सब देख-सुनकर भी मौनव्रत धारण किये हुए चुपचाप शान्तभावसे बैठे रहे। द्रौपदी चीख उठी, उसने अपनी रक्षाके लिये आँखोंमें आँसू भरकर सारी सभासे अनुरोध किया, पर सबने सिर नीचा कर लिया। अन्तमें उसने सबसे निराश होकर भगवान् श्रीकृष्णको सहायताके लिये पुकारा और आर्त भक्तकी पुकार सुनकर भगवान्ने ही द्रौपदीकी लाज बचायी। हमें यहाँ युधिष्ठिर महाराजके धैर्यको देखना है। वे जरा-सा इशारा कर देते तो एक क्षणमें वहाँपर प्रलयका दृश्य उपस्थित हो गया होता, परन्तु उन्होंने उस समय धैर्यका सच्चा स्वरूप क्या हो सकता है, इसको प्रत्यक्ष करके दिखला दिया! धन्य हैं अपूर्व धैर्यवान् युधिष्ठिरजी महाराज!

अक्रोध, क्षमा

महाराज युधिष्ठिर अक्रोध और क्षमाके मूर्तिमान् विग्रह थे। महाभारतके वनपर्वमें१ एक कथा आती है कि द्रौपदीने एक बार महाराज युधिष्ठिरके मनमें क्रोधका संचार करानेके लिये अतिशय चेष्टा की। उसने महाराजसे कहा—'नाथ! मैं राजा द्रुपदकी कन्या हूँ, पाण्डवोंकी धर्मपत्नी हूँ, धृष्टद्युम्नकी भगिनी हूँ; मुझको जंगलोंमें मारी-मारी फिरती देखकर तथा अपने छोटे भाइयोंको वनवासके घोर दु:खसे व्याकुल देखकर भी यदि आपको धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर क्रोध नहीं आता तो इससे मालूम होता है कि आपमें जरा भी तेज और क्रोधकी मात्रा नहीं है। परंतु देव! जिस मनुष्यमें तेज और क्रोधका अभाव है, जो क्रोधके पात्रपर भी क्रोध नहीं करता, वह तो क्षत्रिय कहलानेयोग्य ही नहीं है। जो उपकारी हो, जिसने भूल या मूर्खतासे कोई अपराध कर दिया हो, अथवा अपराध करके जो क्षमा-प्रार्थी हो गया हो, उसको क्षमा करना तो क्षत्रियका परम धर्म है, परन्तु जो जान-बूझकर बार-बार अपराध करता हो उसको भी क्षमा करते रहना क्षत्रियका धर्म नहीं है। अत: स्वामी! जान-बूझकर नित्य ही अनेकों अपराध करनेवाले ये धृतराष्ट्र-पुत्र क्षमाके पात्र नहीं, बल्कि क्रोधके पात्र हैं। इन्हें समुचित दण्ड मिलना ही चाहिये।' यह सुनकर महाराज युधिष्ठिरने उत्तर दिया—'द्रौपदी, तुम्हारा कहना ठीक है, किन्तु जो मनुष्य क्रोधके पात्रको भी क्षमा कर देता है वह अपनेको और उसको—दोनोंको ही महान् संकटसे बचानेवाला होता है।२ अत: हे द्रौपदी! धीर पुरुषोंद्वारा त्यागे हुए क्रोधको मैं अपने हृदयमें कैसे स्थान दे सकता हूँ!३ क्रोधसे वशीभूत हुआ मनुष्य तो सभी पापोंको कर सकता है। वह अपने गुरुजनोंका नाश कर डालता है। श्रेष्ठ पुरुषोंका तिरस्कार कर देता है। क्रोधी पुत्र अपने पिताको तथा क्रोध करनेवाली स्त्री अपने पतितकको मार डालती है। क्रोधी पुरुषको अपने कर्तव्य या अकर्तव्यका ज्ञान बिलकुल नहीं रहता, वह जो चाहे सो अनर्थ बात-की-बातमें कर डालता है, उसे वाच्य-अवाच्यका भी ध्यान नहीं रहता,४ वह जो मनमें आता है वही बकने लगता है। अत: तुम्हीं बतलाओ, महान् अनर्थोंके मूल कारण क्रोधको मैं कैसे आश्रय दे सकता हूँ! द्रौपदी! क्रोधको तेज मानना मूर्खता है। वास्तवमें जहाँ तेज है, वहाँ तो क्रोध रह ही नहीं सकता। ज्ञानियोंका यह वचन है तथा मेरा भी यही निश्चय है कि जिस पुरुषमें क्रोध होता ही नहीं अथवा क्रोध होनेपर भी जो अपने विवेकद्वारा उसे शान्त कर देता है, उसीको तेजस्वी कहते हैं, न कि क्रोधीको तेजस्वी कहा जाता है। सुनो, जो क्रोधपात्रको भी क्षमा कर देता है, वह सनातन लोकको प्राप्त होता है। महामुनि कश्यपने तो कहा है कि क्षमा ही धर्म है, क्षमा ही यज्ञ है, क्षमा ही वेद है और क्षमा ही

१-वनपर्वमें २७, २८, २९ अध्याय देखिये।

२-आत्मानं च परांश्चैव त्रायते महतो भयात्। क्रुध्यन्तमप्रतिक्रुध्यन् द्वयोरेष चिकित्सकः॥ (वन० २९। ९)

३-तं क्रोधं वर्जितं धीरैः कथमस्मद्विधश्चरेत्। एतद् द्रौपदि सन्धाय न मे मन्युः प्रवर्धते॥ (वन० २९। ९)

४-वाच्यावाच्यो हि कुपितो न प्रजानाति कर्हिचित्। नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते तथा॥ (वन० २९। ५)

शास्त्र है। इस प्रकार क्षमाके स्वरूपको जाननेवाला सबको क्षमा ही करता है।[१] क्षमा ही ब्रह्म, क्षमा ही भूत, भविष्य, तप, शौच, सत्य सब कुछ है। इस चराचर जगत्को भी क्षमाने ही धारण कर रखा है।[२] तेजस्वियोंका तेज, तपस्वियोंका ब्रह्म, सत्यवादियोंका सत्य, याज्ञिकोंका यज्ञ तथा मनको वशमें करनेवालोंकी शान्ति भी क्षमा ही है।[३] जिस क्षमाके आधारपर सत्य, ब्रह्म, यज्ञ और पवित्र लोक स्थित हैं, उस क्षमाको मैं कैसे त्याग सकता हूँ।[४] तपस्वियोंको, ज्ञानियोंको, (सकाम) कर्मियोंको जो गति मिलती है, उससे भी उत्तम गति क्षमावान् पुरुषोंको मिलती है। जो सब प्रकारसे क्षमाको धारण किये होते हैं, उनको ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। अतः सबको निरन्तर क्षमाशील बनना चाहिये।[५] हे द्रौपदी! तू भी क्रोधका परित्याग करके क्षमा धारण कर।'

कितना सुन्दर उपदेश है, कितने भव्य भाव हैं! जंगलमें दुःखसे कातर बनी हुई अपनी धर्मपत्नीके प्रति निकले हुए धर्मराजके ये वचन अक्रोधके ज्वलन्त उदाहरण हैं! तेज, क्षमा और शान्तिका इतना सुन्दर सम्मिश्रण और किसीमें प्रायः ढूँढ़नेसे भी नहीं मिलता।

सत्य

महाराज युधिष्ठिर सत्यवादी थे, यह शास्त्र तथा लोक—दोनोंमें ही प्रसिद्ध है। भीमसेनने एक समय धर्मराजसे अपने भाइयों तथा द्रौपदीके कष्टोंकी ओर ध्यान दिलाकर जूएमें हारे हुए अपने राज्यको बलपूर्वक वापस कर लेनेकी प्रार्थना की।[६] इसपर महाराज युधिष्ठिरने उत्तर दिया—'भीमसेन! राज्य, पुत्र, कीर्ति, धन—ये सब एक साथ मिलकर सत्यके सोलहवें हिस्सेके समान भी नहीं हैं। अमरता और प्राणोंसे भी बढ़कर मैं सत्यपालनरूप धर्मको मानता हूँ। तू मेरी प्रतिज्ञाको सच मान।[७] कुरुवंशियोंके सामने की गयी अपनी उस सत्य प्रतिज्ञासे मैं जरा भी विचलित नहीं हो सकता। तू बीज बोकर फलकी प्रतीक्षा करनेवाले किसानकी तरह वनवास तथा अज्ञातवासके समाप्तिकालकी प्रतीक्षा कर।' भीमसेनने फिर प्रार्थना की—'महाराज, हमलोग तेरह महीनेतक तो वनवास कर ही चुके हैं, वेदके आज्ञानुसार आप इसीको तेरह वर्ष क्यों न समझ लें?'[८] किन्तु धर्मराजने इसको भी छलयुक्त सत्यका आश्रय लेना समझा और उसे स्वीकार नहीं किया। वे अपने यथार्थ सत्यपर ही डटे रहे।

धर्मराजकी सत्यतापर उनके शत्रु भी विश्वास करते थे। सत्यपालनकी महिमाके कारण उनका रथ पृथ्वीसे चार अंगुल ऊपर उठकर चला करता था। सत्यपालनका इतना माहात्म्य है! महाभारतमें तो एक जगह कहा गया है कि एक बार सहस्र अश्वमेधयज्ञोंके फल केवल सत्यके महाफलके साथ तौले गये तो उनकी अपेक्षा सत्यका फल ही अधिक भारी सिद्ध हुआ।[९]

परन्तु कहाँ सत्यके आदर्शस्वरूप महाराज युधिष्ठिर और कहाँ प्रायः पग-पगपर मिथ्याका आश्रय ग्रहण करनेवाला आजकलका साधारण जनसमुदाय!

विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता, समता

एक समय साक्षात् धर्मने महाराज युधिष्ठिरकी परीक्षा लेनेके उद्देश्यसे हरिणका रूप धारण किया। वे किसी अग्निहोत्री ब्राह्मणकी अरणी (जिससे अग्नि प्रकट किया जाता है) को अपने सींगोंमें उलझाकर जंगलमें चले गये। ब्राह्मण व्याकुल होकर महाराज युधिष्ठिरके पास पहुँचा और उनसे हरिणद्वारा अपनी अरणीके ले जानेकी बात कही। ब्राह्मणने धर्मराज युधिष्ठिरसे यह याचना की कि वे किसी प्रकार उस अरणीको ढुँढ़वाकर उसे दे दें ताकि अग्निहोत्रका काम बंद न हो। यह सुनना था कि महाराज युधिष्ठिर अपने चारों भाइयोंको साथ लेकर उस हरिणके पदचिह्नोंका अनुसरण करते हुए जंगलमें बहुत दूरतक चले गये। किन्तु

१-क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम्। य एतदेवं जानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति॥ (वन० २९।३६)

२-क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च। क्षमा तपः क्षमां शौचं क्षमयेदं धृतं जगत्॥ (वन० २९।३७)

३-क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम्। क्षमा सत्यं सत्यवतां क्षमा यज्ञः क्षमा शमः॥

४-तां क्षमां तादृशीं कृष्णे कथमस्मद्विधस्त्यजेत्। यस्यां ब्रह्म च सत्यं च यज्ञा लोकाश्च धिष्ठिताः॥

५-क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता। यदा हि क्षमते सर्वं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ (वन० २९।४०—४२)

६-महाभारत वनपर्वके अध्याय ३३-३४ में यह प्रसंग है।

७-मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां वृणे धर्मममृताज्जीविताच्च। राज्यं च पुत्राश्च यशो धनं च सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति॥ (वन० ३४।२२)

८-अस्माभिरुषिताः सम्यग्वने मासास्त्रयोदश। परिमाणेन तान् पश्य तावतः परिवत्सरान्॥ (वन० ३५।३२)
'यो मासः स संवत्सरः' इति श्रुतेः॥

९-अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्। अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥ (शान्ति० १६२।२६)

अन्तमें वह हरिण अन्तर्धान हो गया और सभी भाई प्याससे व्याकुल होकर और थककर एक वटवृक्षके नीचे बैठ गये। कुछ देर बाद धर्मराजकी आज्ञा लेकर नकुल जलकी खोजमें निकले। वे जल्दी ही एक जलाशयपर पहुँच गये परंतु ज्यों ही उन्होंने वहाँके निर्मल जलको पीना चाहा, त्यों ही यह आकाशवाणी हुई—'माद्रीपुत्र नकुल! यह स्थान मेरा है, मेरे प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना कोई इसका जल नहीं पी सकता। इसलिये तुम पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो, फिर स्वयं जल पीओ तथा भाइयोंके लिये भी ले जाओ।' किन्तु नकुल तो प्यासके मारे बेचैन हो रहे थे। उन्होंने उस आकाशवाणीकी ओर ध्यान नहीं दिया और जल पी लिया। फलस्वरूप जल पीते ही उनकी मृत्यु हो गयी। इधर नकुलके लौटनेमें विलम्ब हुआ देखकर धर्मराजकी आज्ञासे क्रमशः सहदेव, अर्जुन और भीम ये तीनों भाई भी उस जलाशयके निकट आये और इन तीनोंने भी प्याससे व्याकुल होनेके कारण यक्षके प्रश्नोंकी परवाह न करते हुए जलपान कर ही लिया और उसी प्रकार इन लोगोंकी भी क्रमशः मृत्यु हो गयी। अन्तमें महाराज युधिष्ठिरको स्वयं ही उस जलाशयपर पहुँचना पड़ा। वहाँ उन्हें अपने चारों भाइयोंको मरा हुआ देखकर, बड़ा भारी दुःख तथा आश्चर्य हुआ। वे उनकी मृत्युका कारण सोचने लगे। जलकी परीक्षा करनेपर उसमें कोई दोष नहीं दिखायी पड़ा और न उन मृत भाइयोंके शरीरपर कोई घाव ही दीख पड़े। अतः उन्हें उनकी मृत्युका कोई कारण समझमें नहीं आया। थोड़ी देर बाद अत्यन्त प्यास लगनेके कारण जब वे भी जल पीनेके लिये बढ़े तब फिर वही आकाशवाणी हुई। उसे सुनकर धर्मराजने आकाशचारीसे उसका परिचय पूछा। आकाशचारीने अपनेको यक्ष बतलाया तथा उसने यह भी कहा कि 'तुम्हारे भाइयोंने सावधान करनेपर भी मेरे प्रश्नोंका उत्तर नहीं दिया—लापरवाहीके साथ जल पी लिया। इसीलिये मैंने ही इनको मार डाला है। तुम भी मेरे प्रश्नोंका उत्तर देकर ही जल पी सकते हो। अन्यथा तुम्हारी भी यही गति होगी।' महाराज युधिष्ठिरने कहा—'यक्ष! तुम प्रश्न करो। मैं अपनी बुद्धिके अनुसार तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर देनेकी चेष्टा करूँगा।' इसपर यक्षने बहुतेरे प्रश्न किये और महाराज युधिष्ठिरने उसके सब प्रश्नोंका यथोचित उत्तर दे दिया। यहाँ उन सारे-के-सारे प्रश्नोंका उल्लेख न करके केवल धर्मराजद्वारा दिये गये उत्तरोंका अधिकांश भाग दिया जाता है। महाराज युधिष्ठिरने यक्षसे कहा—

वेदका अभ्यास करनेसे मनुष्य श्रोत्रिय होता है। तपस्यासे महत्ताको प्राप्त करता है। धैर्य रखनेसे दूसरे सहायक बन जाते हैं। वृद्धोंकी सेवा करनेसे मनुष्य बुद्धिमान् होता है। तीनों वेदोंके अनुसार किया हुआ कर्म नित्य फल देता है। मनको वशमें रखनेसे मनुष्यको कभी शोकका शिकार नहीं होना पड़ता। सत्पुरुषोंके साथ की हुई मित्रता जीर्ण नहीं होती। मानके त्यागसे मनुष्य सबका प्रिय होता है। क्रोधके त्यागसे शोकरहित होता है। कामनाके त्यागसे अर्थकी सिद्धि होती है। लोभके त्यागसे वह सुखी होता है। स्वधर्मपालनका नाम तप है, मनको वशमें करना दम है, सहन करनेका नाम क्षमा है, कर्तव्यसे विमुख हो जाना लज्जा है, तत्त्वको यथार्थरूपसे जानना ज्ञान है, चित्तके शान्तभावका नाम शम है, सबको सुखी देखनेकी इच्छाका नाम आर्जव है। क्रोध मनुष्यका वैरी है। लोभ असीम व्याधि है। जो सब भूतोंके हितमें रत है वह साधु है और जो निर्दयी है वह असाधु है। धर्मपालनमें मूढ़ता ही मोह है, आत्माभिमान ही मान है, धर्ममें अकर्मण्यता ही आलस्य है, शोक करना ही मूर्खता है, स्वधर्ममें डटे रहना ही स्थिरता है। इन्द्रिय निग्रह धैर्य है, मनके मैलका त्याग करना स्नान है। प्राणियोंकी रक्षा करना दान है। धर्मका जाननेवाला ही पण्डित तथा नास्तिक ही मूर्ख है। जन्म-मरणरूप संसारको प्राप्त करानेवाली वासनाका नाम काम है। दूसरेकी उन्नतिको देखकर जो मनमें सन्ताप होता है, उसका नाम मत्सरता है। अहंकार ही महा अज्ञान है। मिथ्या धर्माचरण दिखानेका नाम दम्भ है। दूसरेके दोषोंको देखना पिशुनता है। जो पुरुष वेद, धर्मशास्त्र, ब्राह्मण, देवता, श्राद्ध और पितर आदिमें मिथ्या बुद्धि रखता है, वह अक्षय नरकको पाता है। प्रिय वचन बोलनेवाला लोगोंको प्रिय होता है। विचारकर कार्य करनेवाला प्रायः विजय पाता है। मित्रोंकी संख्या बढ़ानेवाला सुखपूर्वक रहता है। धर्ममें रत पुरुष सद्गुणोंको प्राप्त करता है। प्रतिदिन प्राणी यमलोककी यात्रा करते हैं, इसको देखकर भी बचे हुए लोग सदा स्थिर रहना चाहते हैं, इससे बढ़कर और आश्चर्य क्या है?[१] जिसके लिये प्रिय, अप्रिय, सुख-दुःख, भूत-भविष्य आदि सब समान हैं, वह निःसन्देह सबसे बड़ा धनी है।[२] इस प्रकार अनेकों प्रश्नोंका समुचित उत्तर पानेके बाद यक्ष प्रसन्न हुआ। उसने महाराज युधिष्ठिरको जल पीनेकी आज्ञा दी और कहा—'इन चारों भाइयोंमेंसे तुम जिस एकको कहो, मैं उसे जिला दूँगा।' इसपर महाराज

१- अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्। शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

२-तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च। अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः॥ (वन० ३१३। ११६, १२१)

युधिष्ठिरने अपने भाई नकुलको जिलानेके लिये कहा। यक्षने आश्चर्यचकित होकर पूछा—'अजी, दस हजार हाथियोंका बल रखनेवाले भीमको तथा जिसके अपार बाहुबलका तुम लोगोंको भरोसा है उस अर्जुनको छोड़कर तुम नकुलको क्यों जिलाना चाहते हो?' महाराज युधिष्ठिरने कहा—'जो मनुष्य अपने धर्मका नाश कर देता है, या यों कहो कि त्याग कर देता है उसका धर्म भी नाश कर देता है। परंतु जो धर्मकी रक्षा करता है उसकी रक्षा धर्म करता है।[१] यक्ष! मुझको लोग सदा धर्मपरायण रहनेवाला समझते हैं इसलिये मेरा भाई नकुल ही जीवित हो, मैं धर्मको नहीं छोड़ सकता।[२] मेरे पिताकी कुन्ती और माद्री दो स्त्रियाँ थीं, वे दोनों पुत्रवती बनी रहें, ऐसा मेरा निश्चित विचार है।[३] क्योंकि मेरे लिये जैसी मेरी माता कुन्ती है, वैसी ही माद्री है। उन दोनोंमें कोई भी मेरे लिये न्यूनाधिक नहीं है। इसलिये मैं उन दोनों माताओंपर समान भाव रखना चाहता हूँ। (कुन्तीका पुत्र मैं तो जीवित हूँ ही, अब माद्रीका पुत्र) नकुल भी जीवित हो जाय।[४] क्योंकि समता ही सब धर्मोंमें सबसे बड़ा धर्म है!' महाराज युधिष्ठिरका यह धर्ममय उत्तर सुनकर यक्ष बड़ा ही प्रसन्न हुआ। उसने कहा—'हे युधिष्ठिर! तुम सचमुच बड़े धर्मात्मा हो, अर्थ और कामसे बढ़कर तुम धर्मको मानते हो। तुम्हारे सभी भाई जीवित हो जायँ।' यक्षके यह कहते ही चारों भाई तत्काल जी उठे। महाराज युधिष्ठिरने यक्षसे यथार्थ परिचय देनेकी प्रार्थना की। तब यक्षने खुलकर कहा—'वत्स युधिष्ठिर! मैं तुम्हारा पिता साक्षात् धर्म हूँ। तुम्हारी परीक्षा लेनेके लिये मैंने ही हरिणका रूप धारण किया था और उस ब्राह्मणकी अरणी उठा ले गया था।' इसके पश्चात् धर्मने महाराज युधिष्ठिरको अरणी लौटा दी तथा युधिष्ठिरसे वर माँगनेके लिये कहा। महाराज युधिष्ठिरने प्रार्थना की—'देव! आप सनातनदेवोंके देव हैं। मैं आपके दर्शनोंसे ही कृतार्थ हो गया। आप जो कुछ मुझे वर देंगे, उसे मैं शिरोधार्य करूँगा। विभो! मुझको आप यही वर दें कि मैं क्रोध, लोभ, मोह आदिको सदाके लिये जीत लूँ तथा मेरा मन दान, तप और सत्यमें निरन्तर लगा रहे।'[५] धर्मने कहा—'पाण्डव! ये गुण तो स्वभावसे ही तुममें वर्तमान हैं। तुम तो साक्षात् धर्म हो, तथापि तुमने मुझसे जितनी वस्तुएँ माँगी हैं वे सब तुम्हें प्राप्त हों।'[६] यह कहकर धर्म अन्तर्धान हो गये।

महाराज युधिष्ठिरद्वारा दिये गये इन उत्तरोंकी मार्मिकताको सम्भव है, आजके नास्तिकयुगमें पैदा होनेके कारण हमलोग न समझ सकें तथा महाराज युधिष्ठिरका मूल्य न आँक सकें, किन्तु यदि सरल मनसे विचार किया जाय तो हमलोगोंको धर्मराजके महान् व्यक्तित्वका प्रत्यक्षीकरण हो सकेगा और हम सब लोग उनकी विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता एवं समतासे भरे हुए इन वचनोंको सुनकर 'धन्य-धन्य' कह उठेंगे! धर्मराजके जीवनमें क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणोंका लेश भी नहीं था; दान, तप, सत्य आदि दैवी गुणोंके वे अधिष्ठान थे; फिर भी उन्होंने उपर्युक्त वरकी ही याचना की! धन्य है उनकी निरभिमानता!!

पवित्रताका प्रभाव

जब महाराज युधिष्ठिर अपने सब भाइयोंके साथ विराट-नगरमें छिपे हुए थे तब कौरवोंके द्वारा उन लोगोंकी खोजके लिये अनेकों प्रयत्न किये गये, पर कहीं भी उनका पता न चला। सभी सभासदोंने नाना प्रकारके उपाय बतलाये, परन्तु सभी निष्फल हो गये। अन्तमें भीष्मपितामहने एक युक्ति बतलायी। उन्होंने कहा—'अबतक पाण्डवोंका पता लगानेके लिये जितने भी उपाय काममें लाये गये हैं तथा अभी काममें लाये जानेवाले हैं, वे सब मेरी सम्मतिमें सर्वथा अनुपयुक्त हैं। क्योंकि साधारण दूतोंद्वारा क्या उनका पता लग सकता है? उनकी खोज करनेका साधन यह है,

१-धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः॥

२-धर्मशीलः सदा राजा इति मां मानवा विदुः। स्वधर्मान्न चलिष्यामि नकुलो यक्ष जीवतु॥

३-कुन्ती चैव तु माद्री च द्वे भार्ये तु पितुर्मम। उभे सपुत्रे स्यातां वै इति मे धीयते मतिः॥

(वन० ३१३। १२८, १३०, १३१)

४-यथा कुन्ती तथा माद्री विशेषो नास्ति मे तयोः। मातृभ्यां सममिच्छामि नकुलो यक्ष जीवतु॥

(वन० ३१३। १३२)

५-जयेयं लोभमोहौ च क्रोधं चाहं सदा विभो। दाने तपसि सत्ये च मनो मे सततं भवेत्॥

६-उपपन्नो गुणैरेतैः स्वभावेनासि पाण्डव। भवान् धर्मः पुनश्चैव यथोक्तं ते भविष्यति॥

(वन० ३१४। २४-२५)

आपलोग इसको ध्यानपूर्वक सुनें। जिस देश और राज्यमें पवित्रात्मा जितेन्द्रिय राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँके राजाका अमंगल नहीं हो सकता। उस देशके मनुष्य निश्चय ही दानशील, उदार, शान्त, लज्जाशील, प्रियवादी, जितेन्द्रिय, सत्यपरायण, हृष्ट, पुष्ट, पवित्र तथा चतुर होंगे। वहाँकी प्रजा असूया, ईर्ष्या, अभिमान और मत्सरतासे रहित होगी तथा सब लोग स्वधर्मके अनुसार आचरण करनेवाले होंगे।[1] वहाँ निस्सन्देह अच्छी तरहसे वर्षा होगी। सारा-का-सारा देश प्रचुर धन-धान्यसम्पन्न और पीड़ारहित होगा। वहाँके अन्न सारयुक्त होंगे, फल रसमय होंगे, पुष्प सुगन्धित होंगे, वहाँका पवित्र पवन सुखदायक होगा, वहाँ प्रचुर मात्रामें दूध देनेवाली हृष्ट-पुष्ट गायें होंगी। धर्म वहाँ स्वयं मूर्तिमान् होकर निवास करेंगे। वहाँके सभी मनुष्य सदाचारी, प्रीति करनेवाले, संतोषी तथा अकाल-मृत्युसे रहित होंगे। देवताओंकी पूजामें प्रीति रखनेवाले, उत्साहयुक्त और धर्मपरायण होंगे। वहाँके मनुष्य सदा परोपकारपरायण होंगे। हे तात! महाराज युधिष्ठिरके शरीरमें सत्य, धैर्य, दान, परमशान्ति, ध्रुव क्षमा, शील, कान्ति, कीर्ति, प्रभाव, सौम्यता, सरलता आदि गुण निरन्तर निवास करते हैं। ऐसे महाराज युधिष्ठिरको बड़े-बड़े ब्राह्मण भी नहीं पहचान सकते, फिर साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है?'[2] इस प्रकार भीष्म महाराजके वचनोंको सुनकर कृपाचार्यने उनका समर्थन किया।

पाठक विचार करें, महाराज युधिष्ठिरके जीवनमें कितनी पवित्रता थी। इस वर्णनमें तो पवित्रताकी पराकाष्ठा हो गयी है। जिस धर्मराजके निवास करनेसे वहाँका देश पवित्रताकी चरम सीमापर पहुँच जाता था, उनकी पवित्रताकी हमलोग कल्पना भी नहीं कर सकते।

उदारता

महाराज युधिष्ठिरमें इसी प्रकार उदारता भी अद्भुत थी। जिस धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको जला देनेके लिये लाक्षाभवनमें भेजा था, जिसके हृदयमें पाण्डवोंको तेरह वर्षके लिये वनवासकी यात्रा करते देखकर जरा भी दया नहीं आयी, उसी धृतराष्ट्रने महाभारतकी लड़ाईके १५ वर्ष बाद तपस्या करनेके लिये वन जाते समय दान-पुण्यमें खर्च करनेके लिये, विदुरको भेजकर जब धनकी याचना की और उसपर उसके साथ महाराज युधिष्ठिरने जैसा व्यवहार किया उसको देखकर हृदय मुग्ध हो जाता है। महाराज युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रका यह सन्देश सुनते ही विदुरसे कहला भेजा कि 'मेरा शरीर और मेरी सारी सम्पत्ति आपकी ही है। मेरे घरकी प्रत्येक वस्तु आपकी है। आप इन्हें इच्छानुसार संकोच छोड़कर व्यवहारमें ला सकते हैं।' इस वचनको सुनकर धृतराष्ट्रकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा। वे भीष्म, द्रोण, सोमदत्त, जयद्रथ, दुर्योधन आदि पुत्र, पौत्रोंका एवं समस्त मृत सुहृदोंका श्राद्ध करके दान देने लगे। वस्त्र, आभूषण, सोना, रत्न, गहनोंसे सजाये हुए घोड़े, ग्राम, गौएँ आदि अपरिमित वस्तुएँ दान दी गयीं। धृतराष्ट्रने जिसको सौ देनेको कहा था उसे हजार और जिसे हजार देनेको कहा था उसे दस हजार, बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरकी आज्ञासे दिये गये।[3] तात्पर्य यह कि जिस प्रकार मेघ वृष्टिद्वारा भूमिको तृप्त कर देता है, उसी प्रकार भाँति-भाँतिके द्रव्योंके प्रचुर दानसे ब्राह्मणोंको तृप्त कर दिया गया। लगातार दस दिनोंतक इच्छापूर्वक दान देते-देते धृतराष्ट्र थक गये।

हमलोग महाराज युधिष्ठिरकी इस अनुपम उदारताकी ओर देखें और फिर आजकलकी संकीर्णतासे उसका मुकाबला करें। आकाश-पातालका अन्तर दिखायी देगा। अपनी बुराई करनेवालोंकी बात तो दूर रही, आजकलके अधिकांश लोग अपने माता-पिता एवं सुहृदोंके प्रति भी कैसा असत्य व्यवहार करते हैं, यह किसीसे छिपा नहीं है।

१-तत्र तात न तेषां हि राज्ञां भाव्यमसाम्प्रतम्। पुरे जनपदे चापि यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
दानशीलो वदान्यश्च निभृतो ह्रीनिषेवकः। जनो जनपदे भाव्यो यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
प्रियवादी सदा दान्तो भव्यः सत्यपरो जनः। हृष्टः पुष्टः शुचिर्दक्षो यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
नासूयको न चापीषुर्नाभिमानी न मत्सरी। भविष्यति जनस्तत्र स्वयं धर्ममनुव्रतः॥
(विराट० २८।१४—१७)

२-धर्मात्मा शक्यते ज्ञातुं नापि तात द्विजातिभिः॥
किं पुनः प्राकृतैस्तात पार्थो विज्ञायते क्वचित्। यस्मिन् सत्यं धृतिर्दानं परा शान्तिर्ध्रुवा क्षमा॥
ह्रीः श्रीः कीर्तिः परं तेज आनृशंस्यमथार्जवम्। (विराट० २८।३०—३२)

३-शते देये दशशतं सहस्रे चायुतं तथा। दीयते वचनाद्राज्ञः कुन्तीपुत्रस्य धीमतः॥
(आश्रम० १४।१०)

उनकी वृद्धावस्था आनेपर उनके लिये साधारण अन्न-वस्त्रकी भी व्यवस्था नहीं हो पाती।

त्याग

स्वर्गारोहणके समयकी कथा है, महाराज युधिष्ठिर हिमालयपर चढ़ने गये। द्रौपदी तथा उनके चारों भाई एक-एक करके बर्फमें गिरकर मर गये। किसी प्रकार साथका एक कुत्ता बच गया था, वही धर्मराज युधिष्ठिरका अनुसरण करता जा रहा था। उसी समय देवराज इन्द्र रथ लेकर महाराज युधिष्ठिरके सम्मुख उपस्थित हुए। उन्होंने महाराज युधिष्ठिरको रथपर बैठनेके लिये आज्ञा दी। युधिष्ठिरने कहा—'यह कुत्ता अबतक मेरे साथ चला आ रहा है। यह भी मेरे साथ स्वर्ग चलेगा।' देवराज इन्द्रने कहा—'नहीं, कुत्ता रखनेवालोंके लिये स्वर्गमें स्थान नहीं है। तुम कुत्तेको छोड़ दो।' इसपर महाराज युधिष्ठिरने कहा—'देवराज! आप यह क्या कह रहे हैं? भक्तोंका त्याग करना ब्रह्महत्याके समान महापातक बतलाया गया है। इसलिये मैं अपने सुखके लिये इस कुत्तेको किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता।[१] डरे हुएको, भक्तको, 'मेरा कोई नहीं है' ऐसा कहनेवाले शरणागतको, निर्बलको तथा प्राणरक्षा चाहनेवालेको छोड़नेकी चेष्टा मैं कभी नहीं कर सकता, चाहे मेरे प्राण भी क्यों न चले जायँ। यह मेरा सदाका दृढ़ व्रत है।'[२] यह सुनकर देवराज इन्द्रने कहा—'हे युधिष्ठिर! जब तुमने अपने भाइयोंको छोड़ दिया, धर्मपत्नी प्यारी द्रौपदी छोड़ दी, फिर इस कुत्तेपर तुम्हारी इतनी ममता क्यों है?' युधिष्ठिरने उत्तर दिया— 'देवराज! उन लोगोंका त्याग मैंने उनके मरनेपर किया है, जीवित अवस्थामें नहीं। मरे हुएको जीवनदान देनेकी क्षमता मुझमें नहीं है। मैं आपसे फिर निवेदन करता हूँ कि शरणागतको भय दिखलाना, स्त्रीका वध करना, ब्राह्मणका धन हरण कर लेना और मित्रोंसे द्रोह करना, इन चारके पापोंके बराबर केवल एक भक्तके त्यागका पाप है, ऐसी मेरी सम्मति है।[३] अतः मैं इस कुत्तेको किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता।'

युधिष्ठिरके इन दृढ़ वचनोंको सुनकर साक्षात् धर्म, जो कि कुत्तेके रूपमें विद्यमान थे, प्रकट हो गये। उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—'युधिष्ठिर! कुत्तेको तुमने अपना भक्त बतलाकर स्वर्गतकका परित्याग कर दिया। अतः तुम्हारे त्यागकी बराबरी कोई स्वर्गवासी भी नहीं कर सकता। तुमको दिव्य उत्तम गति मिल चुकी।' इस प्रकार साक्षात् धर्मने तथा उपस्थित इन्द्रादि देवताओंने महाराज युधिष्ठिरकी प्रशंसा की और वे प्रसन्नतापूर्वक महाराज युधिष्ठिरको रथमें बैठाकर स्वर्गमें ले गये।

पाठक! तनिक आधुनिक जगत्‌की ओर तो ध्यान दें! आज भी सहस्रों नर-नारी बदरिकाश्रम आदि तीर्थोंकी यात्रा करते हैं, परन्तु साथियोंके प्रति उनका व्यवहार कैसा होता है? कुत्ते आदि जानवरोंकी बात छोड़ दें, आजकलके तीर्थ-यात्रियोंके यदि निकटसम्बन्धी भी संयोगवश मार्गमें बीमार पड़ जाते हैं तो वे उन्हें वहीं छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं। उनके करुणक्रन्दनकी उपेक्षा करके वे मुक्तिकी खोजमें चले जाते हैं। परन्तु यह उनका भ्रममात्र है। दयामय भगवान् केवल भावके भूखे हैं। भावरहितके लिये उनका द्वार सदा बंद है। यथार्थ बात तो यह है कि भगवान् हमारी परीक्षाके लिये ही ऐसे अवसर उपस्थित करते हैं। यदि ऐसा अवसर प्राप्त हो जाय तो हमलोगोंको बड़ी प्रसन्नतासे प्रेमपूर्वक भगवान्‌की आज्ञा समझकर अनाथों, व्याधिपीड़ितों और दुःख-ग्रस्तोंकी सहायता करनी चाहिये। उन्हें मार्गमें छोड़ जाना तो स्वयं अपने हाथोंसे मंगलमय भगवान्‌के पवित्र धामके पटको बंद कर देना है। यदि हम अपने इन कर्तव्योंका पालन करते हुए तीर्थयात्रा करें तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस प्रकार धर्मके लिये कुत्तेको अपनानेके कारण महाराज युधिष्ठिरके सामने साक्षात् धर्म प्रकट हो गये थे, ठीक उसी प्रकार हमारे सामने भगवान् भी प्रकट हो सकते हैं।

उपसंहार

इस संसारमें बहुतसे धार्मिक महापुरुष हुए हैं, किन्तु 'धर्मराज' शब्दसे केवल महाराज युधिष्ठिर ही सम्बोधित किये गये हैं। महाराज युधिष्ठिरका सम्पूर्ण जीवन ही धर्ममय था। इसी कारण आजतक वे 'धर्मराज' के नामसे प्रसिद्ध हैं ! शास्त्रोंमें धर्मके जितने लक्षण बतलाये गये हैं

१-भक्तत्यागं प्राहुरत्यन्तपापं तुल्यं लोके ब्रह्मवध्याकृतेन।तस्मान्नाहं जातु कथंचनाद्य त्यक्ष्याम्येनं स्वसुखार्थी महेन्द्र॥ (महाप्रस्थानिक० ३।११)

२-भीतं भक्तं नान्यदस्तीति चार्तं प्राप्तं क्षीणं रक्षणेप्राणलिप्सुम्।प्राणत्यागादप्यहं नैव मोक्तुं यतेयं वै नित्यमेतद् व्रतं मे॥ (महाप्रस्थानिक० ३।१२)

३-भीतिप्रदानं शरणागतस्य स्त्रिया वधो ब्राह्मणस्वापहारः।मित्रद्रोहस्तानि चत्वारि शक्र भक्तत्यागश्चैव समो मतो मे॥ (महाप्रस्थानिक० ३।१६)

वे प्राय: सभी उनमें विद्यमान थे। स्मृतिकार महाराज मनुने जो धर्मके दस लक्षण बतलाये हैं[१] वे तो मानो उनमें कूट-कूटकर भरे थे। गीतोक्त दैवी सम्पदाके छब्बीस लक्षण[२] तथा महर्षि पतंजलिके बतलाये हुए दस यम-नियमादि[३] भी प्राय: उनमें मौजूद थे। और महाभारतमें वर्णित सामान्य धर्मके तो आप आदर्श ही थे। इस लेखमें उनके जीवनकी केवल आठ घटनाओंका ही उल्लेख किया गया है, परन्तु उनका सारा ही जीवन सद्‌गुण और सदाचारसे ओतप्रोत था।

महराज युधिष्ठिरने अवसर उपस्थित होनेपर अपने निर्वैरता, धैर्य, क्षमा, अक्रोध आदि सद्‌गुणोंका केवल वाचिक ही नहीं, बल्कि क्रियात्मक आदर्श सामने रखा। सत्यपालन तो उनका प्राण था। इस विषयमें आज भी वे अद्वितीय एवं अप्रतिम माने जाते हैं। धर्मराजका प्रत्येक वचन विद्वत्ता और बुद्धिमत्तासे परिपूर्ण होता था, यह यक्षकी आख्यायिकासे भी स्पष्ट हो जाता है। समताकी रक्षाके लिये तो उन्होंने अपने सहोदर भाइयोंतककी उपेक्षा कर दी और उनकी पवित्रता तो यहाँतक बढ़ी हुई थी कि उनकी निवासभूमि भी परम पवित्र बन जाती थी। उनके शम-दमादि शुभगुणोंसे प्रभावित होकर प्राय: समूचा देश संयमी बन जाता था। स्वार्थत्यागकी तो उनमें बात ही निराली थी। एक क्षुद्र कुत्तेके लिये उन्होंने स्वर्गको भी ठुकरा दिया। उनका प्रत्येक कर्म स्वार्थत्याग और दयासे परिपूर्ण होता था। धृतराष्ट्रकी याचनापर उन्होंने जो महान् औदार्य दिखलाया, वह भी उनके अपूर्व स्वार्थत्यागकी भावनाका ही परिचायक है। यज्ञ, दान, तप, तेज, शान्ति, लज्जा, सरलता, निरभिमानता, निर्लोभता, भक्तवत्सलता आदि अनेकों गुण उनमें एक साथ ही भरे थे। ऐसे सर्वगुणसम्पन्न महाराज युधिष्ठिरके जीवनको यदि हम आदर्श मानकर चलें तो हमारे कल्याणमें तनिक भी सन्देह न रह जायगा। प्रेमी पाठक महानुभावोंसे मेरा यह विनम्र निवेदन है कि वे महाराज युधिष्ठिरके इन गुणोंको तथा उनके आदर्श आचरणोंको यथाशक्ति अपनानेकी चेष्टा करें।

संत-महिमा

संतभावकी प्राप्ति भगवत्कृपासे होती है

संसारमें संतोंका स्थान सबसे ऊँचा है। देवता और मनुष्य, राजा और प्रजा—सभी सच्चे संतोंको अपनेसे बढ़कर मानते हैं। संतका ही जीवन सार्थक होता है। अतएव सभी लोगोंको संतभावकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌के शरण होना चाहिये। यहाँ एक प्रश्न होता है कि 'संतभावकी प्राप्ति प्रयत्नसे होती है या भगवत्कृपासे अथवा दोनोंसे? यदि यह कहा जाय कि वह केवल प्रयत्नसाध्य है तो सब लोग प्रयत्न करके संत क्यों नहीं बन जाते? यदि कहें कि भगवत्कृपासे होती है तो भगवत्कृपा सदा सबपर अपरिमित है ही, फिर सबको संतभावकी प्राप्ति क्यों नहीं हो जाती? दोनोंसे कही जाय तो फिर भगवत्कृपाका महत्त्व ही क्या रह जायगा, क्योंकि दूसरे प्रयत्नोंके सहारे बिना केवल उससे भगवत्प्राप्ति हुई नहीं? इसका उत्तर यह है कि भगवत्प्राप्ति यानी संतभावकी प्राप्ति भगवत्कृपासे ही होती है। वास्तवमें भगवत्प्राप्त पुरुषको ही संत कहा जाता है। 'सत् पदार्थ केवल परमात्मा है और परमात्माके यथार्थ तत्त्वको जो जानता है और उसे उपलब्ध कर चुका है वही संत है। हाँ, गौणी वृत्तिसे उन्हें भी संत कह सकते हैं जो भगवत्प्राप्तिके पात्र हैं, क्योंकि वे भगवत्प्राप्तिरूप लक्ष्यके समीप पहुँच गये हैं और शीघ्र उन्हें भगवत्प्राप्तिकी सम्भावना है।

इसपर यह शंका होती है कि जब परमात्माकी कृपा सभीपर है, तब सभीको परमात्माकी प्राप्ति हो जानी चाहिये। परंतु ऐसा क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि यदि परमात्माकी प्राप्तिकी तीव्र चाह हो और भगवत्कृपामें विश्वास हो तो सभीको प्राप्ति हो सकती है। परंतु परमात्माकी प्राप्ति चाहते ही कितने मनुष्य हैं तथा परमात्माकी कृपापर विश्वास ही कितनोंको है? जो चाहते हैं और जिनका विश्वास है उन्हें प्राप्ति होती ही है। यदि

१-धृति: क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह:। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(मनु० ६। ९२)

'धृति, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी न करना), शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण हैं।'

२-गीतामें अध्याय १६ श्लोक १,२,३ देखिये।

३-अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा:। (योग० २। ३०)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये यम हैं।'

शौचसन्तोषतप:स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा:। (योग० २। ३२)

'शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये नियम हैं।'

यह कहा जाय कि परमात्माकी प्राप्ति तो सभी चाहते हैं, तो यह ठीक नहीं है; ऐसी चाह वास्तविक चाह नहीं है। हम देखते हैं जिसको धनकी चाह होती है, वह धनके लिये सब कुछ करने तथा इतर सबका त्याग करनेको तैयार हो जाता है, इसी प्रकारकी भगवत्प्राप्तिकी तीव्र चाह कितनोंको है? धन तो चाहनेपर भी प्रारब्धमें होता है तभी मिलता है, प्रारब्धमें नहीं होता तो नहीं मिलता। परंतु भगवान् तो चाहनेपर अवश्य मिल जाते हैं, क्योंकि भगवान् धनकी भाँति जड नहीं हैं। जड धन हमारी चाहके बदलेमें वैसी चाह नहीं कर सकता, परंतु भगवान् तो, जो उनको चाहता है, उसको स्वयं चाहते हैं, और यह निश्चित सत्य है कि भगवान्‌की चाह कभी निष्फल नहीं होती, वह अमोघ होती है। अतएव भगवान्‌की चाहसे बिना ही प्रयत्न किये भक्तकी चाह अपने-आप पूर्ण हो जाती है। पर इतना स्मरण रखना चाहिये कि भक्तके चाहनेपर ही भगवान् उसे चाहते हैं। यदि यह कहें कि भक्तके बिना चाहे भगवान् क्यों नहीं चाहते? तो इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌में वस्तुतः 'चाह' है ही नहीं, भक्तकी चाहसे ही उनमें चाह पैदा होती है। इसपर यह शंका है कि जब भक्तकी चाहसे ही भगवान्‌में चाह होकर भगवान् मिलते हैं तब केवल भगवत्कृपाकी प्रधानता कहाँ रही? चाह भी तो एक प्रयत्न ही है? इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छामात्रको प्रयत्न नहीं कहा जा सकता। और यदि इसीको प्रयत्न मानें तो इतना प्रयत्न तो अवश्य ही करना पड़ता है। परंतु ध्यान देकर देखनेसे मालूम होगा कि इच्छा करने मात्रसे प्राप्त होनेवाले एक श्रीभगवान् ही हैं। दुनियामें लोग नाना प्रकारके पदार्थोंकी इच्छा करते हैं; परंतु इच्छा करनेसे ही उन्हें कुछ नहीं मिलता। इच्छा हो, प्रारब्धका संयोग हो और फिर प्रयत्न हो तब भौतिक पदार्थ मिलता है। पर भगवान्‌के लिये तो इच्छामात्रसे ही काम हो जाता है। इच्छा करनेपर जो प्रयत्न होता है वह प्रयत्न तो भगवान् स्वयं करा लेते हैं। साधक तो केवल निमित्तमात्र बनता है। अर्जुनसे भगवान्‌ने कहा—'ये सब मेरे द्वारा मारे हुए हैं तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा।' (गीता ११। ३३) इसी प्रकार अपनी प्राप्तिरूप कार्यकी सिद्धिमें भी सब कुछ भगवान् ही कर लेते हैं। इच्छा करनेवाले भक्तको केवल निमित्तमात्र बनाते हैं। जो लोग भगवत्प्राप्तिको केवल अपने पुरुषार्थसे सिद्ध होनेवाली मानते हैं, उनको भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन नहीं देते। हाँ, उन्हें बड़ी कठिनाईसे ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है परंतु उसमें भी गुरुकी शरण तो ग्रहण करनी ही पड़ती है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४। ३४)

'उस ज्ञानको तू समझ; श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके पास जाकर उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

श्रुति कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

(कठ० १। ३। १४)

'उठो, जागो और महान् पुरुषोंके समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो। जिस प्रकार छुरेकी धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है, तत्त्वज्ञानी लोग उस पथको भी वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं।'

भगवत्प्राप्तिमें केवल अपना पुरुषार्थ माननेका कारण—अहंकाररूपी दोष है। भक्तके इस अहंकार दोषको नष्ट करनेके लिये भगवान् उसे भीषण संकटमें डालकर यह बात प्रत्यक्ष दिखला देते हैं कि कार्यसिद्धिमें अपनी सामर्थ्य मानना मनुष्यकी एक बड़ी गलती है। इस प्रकार अहंकारनाशके लिये जो विपत्तिमें डालना है, यह भी भगवान्‌की विशेष कृपा है। केनोपनिषद्‌में एक कथा है—इन्द्र, अग्नि, वायु और देवोंने विजयमें अपने पुरुषार्थको कारण समझा, इसलिये उन्हें गर्व हो गया। तब भगवान्‌ने उनपर कृपा करके यक्षके रूपमें अपना परिचय दिया और उनके गर्वका नाश किया। जब अग्नि, वायुदेवता परास्त हो गये और यह समझ गये कि हमारे अन्दर वस्तुतः कुछ भी सामर्थ्य नहीं है, तब भगवान्‌ने विशेष दया करके भगवती उमाके द्वारा इन्द्रको अपना यथार्थ परिचय दिया। सफलतामें अपना पुरुषार्थ मानकर मनुष्य गर्व करता है परन्तु अनिवार्य विपत्तिमें जब वह अपने पुरुषार्थसे निराश हो जाता है तब निरुपाय होकर भगवान्‌की शरण जाता है और आर्त होकर पुकार उठता है—'नाथ, मुझे इस घोर संकटसे बचाइये। मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। मैं जो अपने बलसे अपना उद्धार मानता था, वह मेरी भारी भूल थी। राग-द्वेष और काम-क्रोधादि शत्रुओंके दबानेसे अब मुझे इस बातका पूरा पता लग गया कि आपकी कृपाके बिना मेरे लिये इनसे छुटकारा पाना कठिन ही नहीं, वरं असम्भव-सा है।' जब अहंकारको छोड़कर इस तरह सरल भावसे और सच्चे हृदयसे मनुष्य भगवान्‌के शरण हो जाता है तब भगवान् उसे अपना लेते हैं और आश्वासन देते हैं, क्योंकि भगवान्‌की यह घोषणा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥
(वा० रा० ६। १८। ३३)

'जो एक बार भी मेरी शरण होकर कहता है, मैं तुम्हारा हूँ, (तुम मुझे अपना लो) मैं उसे सब भूतोंसे अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है।' इसपर भी मनुष्य उनके शरण होकर अपना कल्याण नहीं करता, यह बड़े आश्चर्यकी बात है!

दयासागर भगवान्‌की जीवोंपर इतनी अपार दया है कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं। वस्तुतः उन्हें दयासागर कहना भी उनकी स्तुतिके व्याजसे निन्दा ही करना है। क्योंकि सागर तो सीमावाला है, परंतु भगवान्‌की दयाकी तो कोई सीमा ही नहीं है। अच्छे-अच्छे पुरुष भी भगवान्‌की दयाकी जितनी कल्पना करते हैं, वह उससे भी बहुत ही बढ़कर है। उसकी कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती। कोई ऐसा उदाहरण नहीं जिसके द्वारा भगवान्‌की दयाका स्वरूप समझाया जा सके। माताका उदाहरण दें तो वह भी उपयुक्त नहीं है। कारण, दुनियामें असंख्य जीव हैं और उन सबकी उत्पत्ति माताओंसे ही होती है, उन सारी माताओंके हृदयोंमें अपने पुत्रोंपर जो दया या स्नेह है, वह सब मिलकर भी उन दयासागरकी दयाकी एक बूँदके बराबर भी नहीं है। ऐसी हालतमें और किससे तुलना की जाय? तो भी माताका उदाहरण इसीलिये दिया जाता है कि लोकमें जितने उदाहरण हैं, उन सबमें इसकी विशेषता है। माता अपने बच्चेके लिये जो कुछ भी करती है, उसकी प्रत्येक क्रियामें दया भरी रहती है। इस बातका बच्चेको भी कुछ-कुछ अनुभव रहता है। जब बच्चा शरारत करता है तो उसके दोषनिवारणार्थ माँ उसे धमकाती मारती है और उसको अकेला छोड़कर कुछ दूर हट जाती है। ऐसी अवस्थामें भी बच्चा माताके ही पास जाना चाहता है। दूसरे लोग उससे पूछते हैं—'तुम्हें किसने मारा?' वह रोता हुआ कहता है—'माँने!' इसपर वे कहते हैं—'तो आइन्दा उसके पास नहीं जाना।' परंतु वह उनकी बातपर ध्यान न देकर रोता है और माताके पास ही जाना चाहता है। उसे भय दिखलाया जाता है कि 'माँ तुझे फिर मारेगी।' पर इस बातका उसपर कोई असर नहीं होता, वह किसी भी बातकी परवा न करके अपने सरल भावसे माताके ही पास जाना चाहता है। रोता है, परंतु चाहता है माताको ही। जब माता उसे हृदयसे लगाकर उसके आँसू पोंछती है, आश्वासन देती है, तभी वह शान्त होता है। इस प्रकार माताकी दयापर विश्वास करनेवाले बच्चेकी भाँति जो भगवान्‌के दया-तत्त्वको जान लेता है और भगवान्‌की मारपर भी भगवान्‌को ही पुकारता है, भगवान् उसे अपने हृदयसे लगा लेते हैं। फिर जो भगवान्‌की कृपाको विशेषरूपसे जान लेता है, उसकी तो बात ही क्या है?

लड़का नीचेके तल्लेसे ऊपरके तल्लेपर जब चढ़ना चाहता है तो माता उसे सीढ़ियोंके पास ले जाकर चढ़नेके लिये उत्साहित करती है। कहती है—'बेटा! चढ़ो, गिरोगे नहीं, मैं साथ हूँ न? लो, मैं हाथ पकड़ती हूँ।' यों साहस और आश्वासन देकर उसे एक-एक सीढ़ी चढ़ाती है, पूरा खयाल रखती है, कहीं गिर न जाय; जरा-सा भी डिगता है तो तुरंत हाथका सहारा देकर थाम लेती और चढ़ा देती है; बच्चा जब चढ़नेमें कठिनाईका अनुभव करता है तब माँकी ओर ताककर मानो इशारेसे माँकी मदद चाहता है। माँ उसी क्षण उसे अवलम्बन देकर चढ़ा देती है और पुनः उत्साह दिलाती है। बच्चा कहीं फिसल जाता है तो माँ तुरंत उसे गोदमें उठा लेती है, गिरने नहीं देती। इसी प्रकार जो पुरुष बच्चेकी भाँति भगवान्‌पर भरोसा (निर्भर) करता है, भगवान् उसकी उन्नति और रक्षाकी व्यवस्था स्वयं करते हैं, उसे तो केवल निमित्त बनाते हैं। सांसारिक माता तो कदाचित् असावधानी और सामर्थ्यके अभावसे या भ्रमसे गिरते हुए बच्चेको न भी बचा सके, परंतु वे सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, परमदयालु, सर्वज्ञ प्रभु तो अपने आश्रितोंको कभी गिरने देते ही नहीं। वरन् उत्तरोत्तर उसे सहायता देते हुए, एक-एक सीढ़ी चढ़ाते हुए सबसे ऊपरके तल्लेपर, जहाँ पहुँचना ही जीवका अन्तिम ध्येय है, पहुँचा ही देते हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रयत्न भगवान् ही करते हैं, भक्तको तो केवल इच्छा करनी पड़ती है और उसीसे भगवान् उसे निमित्त बना देते हैं। बच्चा कभी अभिमानवश यह सोचता है कि मैं अपने ही पुरुषार्थसे चढ़ता हूँ, तब माता कुछ दूर हटकर कहती है, 'अच्छा चढ़।' परंतु सहारा न पानेसे वह चढ़ नहीं सकता। गिरने लगता है और रोता है, तब माता दौड़कर उसे बचाती है। इसी प्रकार अपने प्रयत्नका अभिमान करनेवाला भी गिर सकता है। परन्तु यह ध्यान रहे, भगवान्‌की कृपाका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि मनुष्य सब कुछ छोड़कर हाथ-पर-हाथ धरकर बैठ जाय, कुछ भी न करे। ऐसा मानना तो प्रभुकी कृपाका दुरुपयोग करना है। जब माता बच्चेको ऊपर चढ़ाती है, तब सारा कार्य माता ही करती है, परन्तु बच्चेको माताके आज्ञानुसार चेष्टा तो करनी ही पड़ती है। जो बच्चा माँके इच्छानुसार चेष्टा नहीं करता या उससे विपरीत करता है, उसको माता उसके हितार्थ डराती-धमकाती है तथा कभी-कभी मारती भी है।

इस मारमें भी माँके हृदयका प्यार भरा रहता है, यह

भी उसकी परम दयालुता है। इसी प्रकार भगवान् भी दयापरवश होकर समय-समयपर हमको चेतावनी देते हैं। मतलब यह कि जैसे बच्चा अपनेको और अपनी सारी क्रियाओंको माताके प्रति सौंपकर मातृपरायण होता है, इसी प्रकार हमें भी अपने-आपको और अपनी सारी क्रियाओंको परमात्माके हाथोंमें सौंपकर उनके चरणोंमें पड़ जाना चाहिये। इस प्रकार बच्चेकी तरह परम श्रद्धा और विश्वासके साथ जो अपने-आपको परमात्माकी गोदमें सौंप देता है वही पुरुष परमात्माकी कृपाका इच्छुक और पात्र समझा जाता है और इसके फलस्वरूप वह परमात्माकी दयासे परमात्माको प्राप्त हो जाता है। सारांश यह है कि परमात्माकी प्राप्ति परमात्माकी दयासे ही होती है; दया ही एकमात्र कारण है। परन्तु यह दया मनुष्यको अकर्मण्य नहीं बना देती। परमात्माकी दयासे ही ऐसा परम पुरुषार्थ बनता है। जीवका अपना कोई पुरुषार्थ नहीं, वह तो निमित्तमात्र होता है।

संतकी विशेषता

उपर्युक्त दयासागर भगवान्‌की दयाके तत्त्व और रहस्यको यथार्थ जाननेवाला पुरुष भी दयाका समुद्र और सब भूतोंका सुहृद् बन जाता है, भगवान्‌ने कहा है—'**सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।**' (गीता ५। २९) इस कथनका रहस्य यही है कि दयामय भगवान्‌को सब भूतोंका सुहृद् समझनेवाला पुरुष उस दयासागरके शरण होकर निर्भय हो जाता है तथा परम शान्ति और परमानन्दको प्राप्त होकर स्वयं दयामय बन जाता है। इसलिये भगवान् ठीक ही कहते हैं कि मुझको सबका सुहृद् समझनेवाला शान्तिको प्राप्त हो जाता है, ऐसे भगवत्प्राप्त पुरुष ही वास्तवमें संत-पदके योग्य हैं। ऐसे संतोंको कोई-कोई तो विनोदमें भगवान्‌से भी बढ़कर बता दिया करते हैं। तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा।
राम ते अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा।
चंदन तरु हरि संत समीरा॥

'भगवान् समुद्र हैं तो संत मेघ हैं, भगवान् चन्दन हैं तो संत समीर (पवन) हैं। इस हेतुसे मेरे मनमें ऐसा विश्वास होता है कि रामके दास रामसे बढ़कर हैं।' दोनों दृष्टान्तोंपर ध्यान दीजिये। समुद्र जलसे परिपूर्ण है, परंतु वह जल किसी काममें नहीं आता। न कोई उसे पीता है और न उससे खेती ही होती है। परंतु बादल जब उसी समुद्रसे जलको उठाकर यथायोग्य बरसाते हैं तो केवल मोर, पपीहा और किसान ही नहीं—सारे जगत्‌में आनन्दकी लहर बह जाती है। इसी प्रकार परमात्मा सच्चिदानन्दघन सब जगह विद्यमान हैं, परन्तु जबतक परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले भक्तजन उनके प्रभावका सब जगह विस्तार नहीं करते, तबतक जगत्‌के लोग परमात्माको नहीं जान सकते। जब महात्मा संत पुरुष सर्वसद्‌गुणसागर परमात्मासे समता, शान्ति, प्रेम, ज्ञान और आनन्द आदि गुण लेकर बादलोंकी भाँति संसारमें उन्हें बरसाते हैं, तब जिज्ञासु साधकरूप मोर, पपीहा, किसान ही नहीं, अपितु सारे जगत्‌के लोग उससे लाभ उठाते हैं। भाव यह है कि भक्त न होते तो भगवान्‌की गुणगरिमा और महत्त्व-प्रभुत्वका विस्तार जगत्‌में कौन करता? इसलिये भक्त भगवान्‌से ऊँचे हैं। दूसरी बात यह है कि जैसे सुगन्ध चन्दनमें ही है, परंतु यदि वायु उस सुगन्धको वहन करके अन्य वृक्षोंतक नहीं ले जाता तो चन्दनकी गन्ध चन्दनमें ही रहती, नीम आदि वृक्ष कदापि चन्दन नहीं बनते। इसी प्रकार भक्तगण यदि भगवान्‌की महिमाका विस्तार नहीं करते तो दुर्गुणी, दुराचारी मनुष्य भगवान्‌के गुण और प्रेमको पाकर सद्‌गुणी, सदाचारी नहीं बनते। इसलिये भी संतोंका दर्जा भगवान्‌से बढ़कर है। वे संत जगत्‌के सारे जीवोंमें समता, शान्ति, प्रेम, ज्ञान और आनन्दका विस्तारकर सबको भगवान्‌के सदृश बना देना चाहते हैं।

संतोंकी दया

उन महात्माओंमें कठोरता, वैर और द्वेषका तो नाम ही नहीं रहता। वे इतने दयालु होते हैं कि दूसरेके दुःखको देखकर उनका हृदय पिघल जाता है। वे दूसरेके हितको ही अपना हित समझते हैं। उन पुरुषोंमें विशुद्ध दया होती है। जो दया कायरता, ममता, लज्जा, स्वार्थ और भय आदिके कारण की जाती है, वह शुद्ध नहीं है। जैसे भगवान्‌की अहैतुकी दया समस्त जीवोंपर है—इसी प्रकार महापुरुषोंकी अहैतुकी दया सबपर होती है। उनकी कोई कितनी ही बुराई क्यों न करे, बदला लेनेकी इच्छा तो उनके हृदयमें होती ही नहीं। कहीं बदला लेनेकी-सी क्रिया देखी जाती है, तो वह भी उसके दुर्गुणोंको हटाकर उसे विशुद्ध करनेके लिये ही होती है। इस क्रियामें भी उनकी दया छिपी रहती है। जैसे माता-पिता-गुरुजन बच्चेके सुधारके लिये स्नेहपूर्ण हृदयसे उसे दण्ड देते हैं—इसी प्रकार संतोंमें भी कभी-कभी ऐसी क्रिया होती है, परंतु इसमें भी परम हित भरा रहता है। वे संत करुणाके भण्डार होते हैं। जो कोई उनके समीप जाता है, वह मानो दयाके सागरमें गोते लगाता है। उन पुरुषोंके दर्शन, भाषण, स्पर्श और चिन्तनमें भी मनुष्य उनके दयाभावको देखकर मुग्ध हो जाता है। वे जिस मार्गसे निकलते हैं, मेघकी ज्यों दयाकी वर्षा करते हुए ही निकलते हैं। मेघ सब समय और

सब जगह नहीं बरसता, परन्तु संत तो सदा सर्वदा सर्वत्र बरसते ही रहते हैं। उनके दर्शन, भाषण, चिन्तन और स्पर्शसे सारे जीव पवित्र हो जाते हैं, उनके चरण जहाँ टिकते हैं, वह भूमि पावन हो जाती है। उनके चरणोंसे स्पर्श की हुई रज स्वयं पवित्र होकर दूसरोंको पवित्र करनेवाली बन जाती है। उनके द्वारा देखे, चिन्तन किये हुए और स्पर्श किये हुए पदार्थ भी पवित्र हो जाते हैं। फिर उनके कुलकी— विशेषतः उन्हें जन्म देनेवाले माता-पिताकी तो बात ही क्या है। ऐसे महापुरुष जिस देशमें जन्मते हैं और शान्त होते हैं, वे देश तीर्थ माने जाते हैं। आजतक जितने तीर्थ बने हैं, वे सब परमेश्वर और परमेश्वरके भक्तोंके निमित्तसे ही बने हैं। इतना ही नहीं, सब लोकोंको पवित्र करनेवाले तीर्थ भी उनके चरणस्पर्शसे पवित्र हो जाते हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर महात्मा विदुरसे कहते हैं—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥

(श्रीमद्भा० १।१३।१०)

'हे स्वामिन्! आप-सरीखे भगवद्भक्त स्वयं तीर्थरूप हैं। (पापियोंके द्वारा कलुषित हुए) तीर्थोंको आपलोग अपने हृदयमें स्थित भगवान् श्रीगदाधरके प्रभावसे पुनः तीर्थत्व प्रदान करा देते हैं।'

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिन्-
लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

(स्कन्द० माहेश्वर० कौमार० ५५।१४०)

'जिसका चित्त अपार संवित्सुखसागर परब्रह्ममें लीन है, उसके जन्मसे कुल पवित्र होता है, उसकी जननी कृतार्थ होती है और पृथ्वी पुण्यवती होती है।'

यह सब उनके द्वारा स्वाभाविक ही होता है, उन्हें करना नहीं पड़ता। भगवान् तो भजनेवालोंको भजते हैं, परंतु वे दयालु संत नहीं भजनेवालेका, यहाँतक कि गाली देने और अहित करनेवालेका भी हित ही करनेमें तुले रहते हैं। कुल्हाड़ा चन्दनको काटता है, पर चन्दन उसे स्वाभाविक ही अपनी सुगन्ध दे देता है।

काटइ परसु मलय सुनु भाई।
निज गुन देइ सुगंध बसाई॥

प्रह्लाद, अम्बरीष आदिके इतिहास इसमें प्रमाण हैं। अतएव विनोदमें भक्तको भगवान्से बढ़कर बतलाना भी युक्तियुक्त ही है। संतजन सुरसरि और सुरतरुसे भी विशेष उपकारी हैं। गंगा और कल्पवृक्ष उनके शरण होनेपर क्रमशः पवित्र करते और मनोरथ पूर्ण करते हैं। परन्तु संत तो इच्छा करनेवाले और न करनेवाले सभीके घर स्वयं जाकर उनके इस लोक और परलोकके कल्याणकी चेष्टा करते हैं। इसपर यदि यह कहा जाय कि संत जब सबका हित चाहते हैं तो सबका हित हो क्यों नहीं जाता? तो इसका उत्तर यह है कि सामान्यभावसे तो संतसे जिन लोगोंकी भेंट हो जाती है, उन सभीका हित होता है। परंतु विशेष लाभ तो श्रद्धा और प्रेम होनेपर ही होता है। यदि यह कहा जाय कि जबरदस्ती सबका हित संत क्यों नहीं कर देते? तो इसका उत्तर यह है कि जबरदस्ती कोई किसीका परम हित नहीं कर सकता। पतंग दीपकमें जलकर मरते हैं। दयालु पुरुष उनपर दया करके उन्हें बचानेके लिये उस दीपक या लालटेनको बुझाकर उनका परम हित करना चाहते हैं, परन्तु वे पतंग जहाँ दूसरे दीपक जलते रहते हैं, वहाँ जाकर जल मरते हैं। इसी प्रकार जिन लोगोंको कल्याणकी स्वयं इच्छा नहीं होती उनका कल्याण करना बहुत ही कठिन है।

यदि यह कहा जाय कि श्रद्धा-प्रेम करनेवालोंका तो विशेष कल्याण करते हैं और दूसरोंका सामान्यभावसे करते हैं, तो इसमें विषमताका दोष आता है। इसका उत्तर यह है कि ऐसी बात नहीं है। श्रद्धा और प्रेमकी कमीके कारण यदि लोग संतोंकी सबपर छायी हुई समान अपरिमित दयासे लाभ नहीं उठा सकते तो इसमें उनका दोष नहीं है। सूर्य बिना किसी पक्षपात या संकोचके सभीको समानभावसे प्रकाश देता है, परंतु दर्पणमें प्रतिबिम्ब पड़ता है और सूर्यकान्त शीशा सूर्यके प्रकाशको पाकर दूसरी वस्तुको जला दे सकता है। इसमें सूर्यका दोष या पक्षपात नहीं है। इसी प्रकार जिनमें श्रद्धा, प्रेम नहीं है वे काष्ठकी भाँति कम लाभ उठाते हैं और श्रद्धा, प्रेमवाले सूर्यकान्त शीशेकी भाँति अधिक लाभ उठाते हैं। सूर्य सबको स्वाभाविक ही प्रकाश देता है; परंतु उल्लूके लिये वह अन्धकाररूप होता है। चन्द्रमाकी सर्वत्र बिखरी हुई चाँदनीको चोर बुरा समझता है, इसमें चन्द्रमाका कोई दोष नहीं है, वे तो सबका उपकार ही करते हैं। इसी प्रकार महापुरुष तो सभीका उपकार ही करते हैं; किन्तु अत्यन्त दुष्ट और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य उल्लूकी भाँति अपनी बुद्धिहीनताके कारण उनसे द्वेष करते हैं और चोरकी भाँति उनकी निन्दा करते हैं—इसमें संतोंका क्या दोष?

यदि कहा जाय कि ऐसे दयालु पुरुषोंसे जब प्रत्यक्ष ही सबको परम लाभ है, तब सभी लोग उनका संग और सेवन करके लाभ क्यों नहीं उठाते? इसका यह उत्तर है कि वे लोग संतोंके गुण, प्रभाव और तत्त्वको नहीं जानते।

तत्त्व जाने बिना कोई विशेष लाभ नहीं उठा सकता। एक कुत्ता था। उसने गुड़की हाँड़ीमें मुँह डाल दिया। इतनेमें खड़खड़ाहटकी आवाज हुई। कुत्तेने भागना चाहा। इसी गड़बड़में हाड़ी फूट गयी। हाँड़ीकी गर्दनी कुत्तेके गलेमें रह गयी। कुत्तेको कष्ट पाते देखकर एक दयालु मनुष्य हाथमें लाठी लेकर इसलिये कुत्तेके पीछे दौड़ा कि लाठीसे हाँड़ीकी गर्दनी तोड़ दी जाय तो कुत्ता कष्टसे छूट जाय। कुत्तेने अपने पीछे लाठी लिये दौड़ते हुए मनुष्यके असली उद्देश्यको न समझकर यह समझा कि यह मुझे मारनेको दौड़ रहा है। वह और भी जोरसे भागा और उसका कष्ट दूर नहीं हो सका। इसी प्रकार महापुरुषोंके तत्त्वको न समझकर उनकी क्रियामें भी विपरीत भावना कर सब लोग लाभ नहीं उठा सकते।

संतोंमें समता

ऐसे महापुरुषोंकी दया ही नहीं, समता भी बड़ी अद्‌भुत होती है, उन्हें यदि समताकी मूर्ति कहें तब भी अत्युक्ति नहीं। भगवान् सम हैं और उन संतोंकी भगवान्‌में स्थिति है—इसलिये वे भी स्वाभाविक ही समताको प्राप्त हैं। जैसे सुख-दुःखकी प्राप्ति होनेपर अज्ञानी पुरुषकी शरीरमें समता रहती है वैसे ही संतोंकी चराचर सब जीवोंमें समता रहती है।

प्र०-अज्ञानियोंका देहमें जैसा प्रेम है क्या संतोंका सारे चराचरमें वैसा प्रेम हो जाता है? या संतोंका जैसे देहमें प्रेम नहीं है, वैसे क्या चराचर भूतोंसे उनका प्रेम हट जाता है? उनकी समताका क्या स्वरूप है?

उ०-उनकी समता वस्तुतः इतनी विलक्षण है कि उदाहरणके द्वारा वह समझायी नहीं जा सकती; क्योंकि अज्ञानीका देहमें जैसा अहंकार रहता है, संतका संसारमें वैसा अहंकार नहीं रहता। इसलिये यह कहना नहीं बनता कि संतका अज्ञानियोंकी देहकी भाँति सबमें प्रेम हो जाता है और सबमें प्रेमका अभाव इसलिये नहीं बतलाया जा सकता कि अज्ञानी लोग अपने देहके स्वार्थके लिये जहाँ दूसरेका अहित कर डालते हैं, वहाँ ये संत पुरुष दूसरोंके हितके लिये हँसते-हँसते अपने शरीरकी बलि चढ़ा देते हैं। परन्तु उनकी वह समता इतनी अद्‌भुत है कि दूसरेके हितके लिये शरीरका बलिदान करनेपर भी उसमें कोई विषमता नहीं आ सकती। इसलिये किसी उदाहरणके द्वारा इस समताका स्वरूप समझाना बहुत कठिन है। तथापि लोक और वेदमें समझानेके लिये ऐसा ही कहा जाता है कि जैसे अज्ञानीको सुख-दुःखकी प्राप्तिमें सारे शरीरमें समता होती है, वैसे ही संतोंको सब जीवोंके सुख-दुःखकी प्राप्तिमें ममता और अहंकार न होते हुए भी समता होती है। अर्थात् जैसे अज्ञानी मनुष्य अपने सुख-दुःखसे सुखी-दुःखी होता है, संतजन ममता और अहंकारसे रहित होनेपर भी और अपने सुख-दुःखसे सुखी-दुःखीसे प्रतीत न होनेपर भी दूसरे समस्त जीवोंके सुख-दुःखमें सुखी-दुःखीसे प्रतीत होते हैं। ऐसी स्थिति मनुष्यको प्रतिपक्ष भावनासे प्राप्त होती है। [अज्ञानी मनुष्य जैसे अपनी देहमें अहंभावना और दूसरोंमें परभावना करते हैं—इससे विपरीत दूसरोंमें आत्मभावना और अपने शरीरमें परकी-सी भावना करनेका नाम प्रतिपक्ष (उलटी) भावना है।] बहुत-से लोग संतोंकी समदृष्टिके रहस्यको न जानकर समदृष्टिसम्बन्धी शास्त्रवाक्योंका दुरुपयोग करते हैं। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(५।१८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं।'

इसका उलटा अर्थ करते हुए वे लोग कहते हैं कि 'खान-पान आदिमें समव्यवहार करना ही समदर्शन है।' परन्तु ऐसा समव्यवहार न तो सम्भव है, न आवश्यक है और न भगवान्‌के कथनका यह उद्देश्य ही है। क्योंकि हाथी सवारीके योग्य है, कुत्ता सवारीके योग्य नहीं। गौका दूध सेवन योग्य है, कुतिया और हथिनीका नहीं। इन सबके खाद्य, व्यवहार, स्वरूप, आकृति, जाति और गुण एक-दूसरेसे अत्यन्त विलक्षण और भिन्न होनेके कारण इन सबमें समान व्यवहार नहीं हो सकता है, न करना ही चाहिये और न करनेके लिये कोई कह ही सकता है। जैसे अपने लिये सुख और सुखके साधनकी प्राप्ति और दुःखके साधनकी निवृत्तिके लिये प्रयत्न किया जाता है, वैसे ही सबमें एक ही आत्मा समरूपसे स्थित है, इस बातका अनुभव करते हुए, सबके लिये उनका जिस प्रकारसे हित हो उसी प्रकारसे यथायोग्य व्यवहार करना ही वास्तविक समता है।

जैसे हम अपने देहमें हाथोंसे ग्रहण करनेका, आँखोंसे देखनेका, कानोंसे सुननेका—इस प्रकार विभिन्न इन्द्रियोंके द्वारा यथायोग्य विभिन्न व्यवहार करते हैं, परन्तु आत्मीयताकी दृष्टिसे सबमें समता है। वैसे ही सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करते हुए आत्मीयताकी दृष्टिसे सबमें समता रहनी चाहिये। शास्त्रीय विषमता व्यवहारमें दूषित नहीं है, बल्कि परमार्थमें सहायक है। जिस विषमतासे किसीका अहित हो, वही वास्तविक विषमता है। स्त्रियोंके अवयव एकसे होनेपर भी माता, बहिन और पत्नीके साथ सम्बन्धके अनुसार ही यथायोग्य विभिन्न व्यवहार होते हैं और यह

विषमता शास्त्रीय और न्यायसंगत होनेसे सेवनीय है। इतना ही नहीं, परम पूजनीया मातामें पूज्यभाव होनेपर भी रजस्वला या प्रसवकी स्थितिमें हम उसका स्पर्श नहीं करते, करनेपर स्नान करनेकी विधि है। ऐसी विषमता वस्तुतः विषमता नहीं है। इसके माननेमें लाभ है और न माननेमें हानि। घरमें कुत्तेको रोटी देते हैं, गायको घास देते हैं, बीमारको दवा दी जाती है परन्तु सभीको घास, दवा या रोटी समान नहीं दी जाती। यह विषमता विषमता नहीं है। जैसे कोई भी अपने आत्माका जान-बूझकर अहित नहीं करता, उसे दुःख नहीं देता और अपना कल्याण चाहता है एवं सुख तथा कल्याणके लिये चेष्टा करता है—इसी प्रकार किसीको दुःख न पहुँचाकर, अहित न चाहकर सबका कल्याण चाहना और सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना ही समता है। फिर व्यवहारमें यथायोग्य कितनी ही विषमता क्यों न हो, विषमता नहीं है।

मान लीजिये, हमसे कोई मित्रता करता है और दूसरा कोई वैर करता है। उन दोनोंके न्यायका भार प्राप्त हो जाय तो हमें पक्षपातरहित होकर न्याय करना चाहिये, बल्कि कहीं अपने मित्रको समझाकर उसकी सम्मतिसे शत्रुता रखनेवालेका कुछ पक्ष भी कर लें तो वह भी समता ही है।

अनुकूल हितकर पदार्थके प्राप्त होनेपर सबके लिये समभावसे विभाग करना चाहिये, परन्तु कहीं दूसरोंको अधिक और श्रेष्ठ वस्तु दे दें स्वयं कम लें—निकृष्ट लें या बिलकुल ही न लें तो यह विषमता विषमता नहीं है! क्योंकि इसमें किसीका अहित नहीं है, बल्कि अपने स्वार्थका त्याग है! इसी प्रकार विपत्ति और दुःखकी प्राप्तिमें सबके लिये न्याययुक्त समविभाग करते समय भी यदि कहीं दूसरोंको बचाकर विपत्ति या दुःख अपने हिस्सेमें ले लिया जाय तो यह विषमता भी विषमता नहीं है, बल्कि स्वार्थका त्याग होनेके कारण इसमें उलटा गौरव है। प्रभुमें स्थित होनेके कारण संतमें प्रभुकी समताका समावेश हो जाता है। अतएव इस अनोखी समताका पूरा रहस्य तो प्रभुको प्राप्त करनेपर ही मनुष्य समझ सकता है।

मान-अपमान और निन्दा-स्तुतिमें भी संतमें समता रहती है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि व्यवहारमें सब जगह समताका ही प्रदर्शन हो। हृदयमें मान-अपमानकी प्राप्तिमें हर्ष, शोक आदि विकार नहीं होते।

प्र०-साधारण मनुष्योंको निन्दा और अपमानकी प्राप्तिमें जैसा दुःख होता है, क्या संतोंको वैसा ही स्तुति या मानमें होता है? अथवा स्तुति या मानमें लोगोंको जैसी प्रसन्नता होती है, संतोंको निन्दा या अपमानमें क्या वैसी ही प्रसन्नता होती है? इन दोनोंमेंसे संतकी समतामें हार्दिक भाव कैसा होता है?

उ०-दोनोंसे ही विलक्षण होता है, अर्थात् मान-अपमान और निन्दा-स्तुतिमें यथायोग्य न्याययुक्त व्यवहार-भेद होनेपर भी उन्हें हर्ष शोक नहीं होते।

प्र०-तो क्या अपमान और निन्दाका प्रतीकार भी संत करते हैं?

उ०-यदि अपमान या निन्दा करनेवालेका या अन्य किसीका हित हो तो प्रतीकार भी कर सकते हैं।

प्र०-क्या वे मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी प्राप्तिको व्यवहारमें स्वीकार कर लेते हैं या उनका विरोध ही करते हैं।

उ०-देश, काल और परिस्थितिको देखकर शास्त्रानुकूल दोनों ही बातें कर सकते हैं। विरोध करनेमें किसीका हित होता है तो विरोध करते हैं और स्वीकार करनेमें किसीका हित होता है तो न्यायसे प्राप्त होनेपर स्वीकार भी कर लेते हैं।

प्र०-तब फिर व्यवहारमें महापुरुषकी पहचान कैसे हो?

उ०-व्यवहारकी क्रियासे महापुरुषको पहचानना बहुत कठिन है। इतना ही जान सकते हैं कि ये अच्छे पुरुष हैं। फिर चाहे वे सिद्ध हों या साधक! दोनोंको ही संत माननेमें कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि साधक भी तो सिद्ध संत बननेवाला है। वस्तुतः जिसका व्यवहार सत् है वही संत है।

लाभ हानि और जय-पराजयमें भी संतकी विलक्षण समता होती है।

प्र०-साधारण मनुष्योंको जैसे लाभ और जयमें प्रीति-प्रसन्नता होती है, तो क्या संतको इसके विपरीत हानि और पराजयमें प्रसन्नता होती है? अथवा साधारण मनुष्योंको जैसे हानि-प्राप्तिमें द्वेष, घृणा, भय, शोक आदि होते हैं, तो क्या संतको लाभ और जयमें द्वेष, घृणा, भय, शोक आदि होते हैं।

उ०-नहीं, उसकी समता इन सबसे विलक्षण है; क्योंकि वे हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि समस्त विकारोंसे सर्वथा रहित होते हैं।

प्र०-ऐसी अवस्थामें क्या हानि-पराजय होनेपर साधारण मनुष्योंकी भाँति संतका व्यवहार ईर्ष्या और भयका-सा भी हो सकता है।

उ०-यदि संसारका हित हो या न्याययुक्त मर्यादाकी रक्षा हो तो हो भी सकता है; परन्तु उनके मनमें किसी प्रकारका भी विकार नहीं होता।

प्र०-जो कुछ भी बाहरी क्रिया होती है वह पहले मनमें आती है। बिना मनमें आये बाहरी क्रिया कैसे सम्भव है?

उ०-नाटकके पात्रोंमें जैसे सभी प्रकारके बाहरी व्यवहार होते हैं; परन्तु उनके मनमें अभिनय बुद्धिके अतिरिक्त कोई वास्तविकता नहीं होती, इसी प्रकार संतोंके द्वारा नाटकवत् बाहरी व्यवहार होनेपर भी उनके मनमें वस्तुतः कोई विकार नहीं होता।

इसी प्रकार शीतोष्ण, सुख-दुःख आदि प्रिय-अप्रिय सभी पदार्थोंके सम्बन्धमें उनका समभाव रहता है। सबमें एक अखण्ड नित्य भगवत्स्वरूप समता सदा-सर्वदा सर्वत्र बनी रहती है।

संतोंमें विशुद्ध विश्वप्रेम

संतमें केवल समता ही नहीं, समस्त विश्वमें हेतु और अहंकाररहित अलौकिक विशुद्ध प्रेम भी होता है। जैसे भगवान् वासुदेवका सबमें अहैतुक प्रेम है, वैसे ही भगवान् वासुदेवकी प्राप्ति होनेपर संतका भी समस्त चराचर जगत्‌में अहैतुक प्रेम हो जाता है; क्योंकि साधन अवस्थामें वह सबको वासुदेवस्वरूप ही समझकर अभ्यास करता है। अतएव सिद्धावस्थामें तो उसके लिये यह बात स्वभावसिद्ध होनी ही चाहिये।

प्र०-ऐसा अहैतुक प्रेम भक्तिके साधनसे होता है या ज्ञानके साधनसे?

उ०-दोनोंमेंसे किसी एकके साधनसे हो सकता है। जो भक्तिका साधन करता है, वह सब भूतोंको ईश्वर समझकर अपने देह और प्राणोंसे बढ़कर उनमें प्रेम करता है; और जो ज्ञानका साधन करता है, वह सम्पूर्ण भूतोंको अपना आत्मा समझकर उनसे देह, प्राण और आत्माके समान प्रेम करता है।

प्र०-जैसे एक अज्ञानी मनुष्यका अपने शरीर, घर, स्त्री, पुत्र, धन, जमीन आदिमें प्रेम होता है, क्या संत पुरुषका सारे विश्वमें वैसा ही प्रेम होता है?

उ०-नहीं, इससे अत्यन्त विलक्षण होता है। अज्ञानी मनुष्य तो शरीर, घर, स्त्री, पुत्र आदिके लिये नीति, धर्म, न्याय, ईश्वर और परोपकारतकका त्याग कर देता है तथा अपने देह, प्राणकी रक्षाके लिये स्त्री, पुत्र, धन आदिका भी त्याग कर देता है; परन्तु संत तो नीति, धर्म, न्याय, ईश्वर और विश्वके लिये केवल स्त्री, पुत्र, धनका ही नहीं, अपने शरीरका भी त्याग कर देते हैं। वे विश्वकी रक्षाके लिये पृथ्वीका, पृथ्वीकी रक्षाके लिये द्वीपका, द्वीपके लिये ग्रामका, ग्रामके लिये कुटुम्बका, कुटुम्ब और उपर्युक्त सबके हितके लिये अपने प्राणोंका आनन्दपूर्वक त्याग कर देते हैं! फिर धर्म, ईश्वर और समस्त विश्वके लिये त्याग करना तो उनके लिये कौन बड़ी बात है। जैसे अज्ञानी मनुष्य अपने आत्माके लिये सबका त्याग कर देता है, वैसे ही संत पुरुष धर्म, ईश्वर और विश्वके लिये सब कुछ त्याग कर देते हैं; क्योंकि धर्म, ईश्वर और विश्व ही उनका आत्मा है; परन्तु अज्ञानीका जैसे देहमें अहंकार और स्त्री पुत्रादि कुटुम्बमें ममत्व होता है, वैसा संतका अहंकार और ममत्व कहीं नहीं होता। उनका सबमें हेतुरहित विशुद्ध और अत्यन्त अलौकिक अपरिमित प्रेम होता है।

प्र०-भक्तिमार्गपर चलनेवाले भक्तका सम्पूर्ण चराचरमें प्राणोंसे बढ़कर अत्यन्त विलक्षण प्रेम क्यों और कैसे हो जाता है?

उ०-इसलिये होता है कि वे सारे विश्वको अपने इष्टदेवका साक्षात् स्वरूप समझते हैं।

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

वे भक्त समस्त विश्वके लिये अपने तन, मन, धनको न्योछावर किये रहते हैं। अपनी चीजें स्वामीके काममें आती देखकर वे इस भावसे बड़े ही आनन्दित होते हैं कि स्वामीने कृपापूर्वक हमको और हमारी वस्तुओंको अपना लिया। भक्त अपना यह ध्येय समझता है कि हमारी सब चीजें भगवान्‌की ही हैं, इसीलिये उन्हींकी सेवामें लगनी चाहिये; परंतु जबतक भगवान् उनको काममें नहीं लाते, तबतक भगवान्‌ने उनको स्वीकार कर लिया, ऐसा भक्त नहीं समझता और जबतक भगवान्‌ने स्वीकार नहीं किया, तबतक वह अपने ध्येयकी सिद्धि नहीं मानता; परन्तु जब वे वस्तुएँ प्रसन्नतापूर्वक विश्वरूप भगवान्‌के काममें आ जाती हैं तब वह अपने ध्येयकी सिद्धि समझकर परम प्रसन्न होता है। विश्वरूप भगवान्‌की प्रसन्नतामें ही उसकी प्रसन्नता है। इसीलिये वह अपने प्राणोंसे बढ़कर समस्त चराचर विश्वमें प्रेम करता है। यदि कहा जाय कि फिर उसका प्रेम हेतुरहित और विशुद्ध कैसे माना जा सकता है, जब कि वह अपने इष्टको सन्तुष्ट और प्रसन्न करनेके हेतुसे प्रेम करता है? तो इसका उत्तर यह है कि यह हेतु वस्तुतः हेतु नहीं है यह पवित्र भाव है। यही मनुष्यका परम लक्ष्य होना चाहिये।

जो प्रेम अपने व्यक्तिगत स्वार्थको लेकर होता है, वही कलंकित और दूषित है; परन्तु जब दूसरेके हितके लिये किया जानेवाला प्रेम भी पवित्र माना जाता है, तब दूसरे सबको साक्षात् भगवान्‌का स्वरूप समझकर ही उनसे प्रेम करना तो परम पवित्र प्रेम है।

प्र०-ज्ञानके मार्गमें चलनेवालेका देह, प्राण और आत्माके समान प्रेम क्यों और कैसे हो जाता है?

उ०-ज्ञानके मार्गमें चलनेवाला सबके आत्माको अपना आत्मा ही समझता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(गीता ६। २९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त हुए आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें, बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है।'

जब सबको वह आत्मा ही समझता है तब सारे विश्वमें आत्माके सदृश उसका प्रेम होना युक्तियुक्त ही है। इसीलिये जैसे देहको आत्मा माननेवाला अज्ञानी अपने ही हितमें रत रहता है, वैसे ही संत पुरुष सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत रहते हैं और ऐसे सर्वभूतहितमें रत ज्ञानमार्गी साधक ही निर्गुण परमात्माको प्राप्त होते हैं। भगवान्ने कहा है—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
(गीता १२। ३-४)

'जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीय स्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत और सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

परंतु जैसे अज्ञानी मनुष्यका देहमें अहंकार, अभिमान, ममता और आसक्ति होती है, वैसे संतका विश्वमें अहंकार, अभिमान, ममता और आसक्ति नहीं होती। उनका विश्वप्रेम विशुद्ध ज्ञानपूर्ण होता है। अहंकार, अभिमान, ममता, आसक्ति आदि दोषोंको लेकर अथवा व्यक्तिगत स्वार्थवश जो प्रेम होता है, वही दूषित समझा जाता है। क्षणभंगुर, नाशवान् दृश्य पदार्थोंको सत्य मानकर उनके सम्बन्धसे होनेवाले भ्रमजन्य सुखको सुख मानकर उनमें प्रेम करना अज्ञानपूर्ण प्रेम है। ये दोनों बातें संतमें नहीं होतीं—इसलिये उस ज्ञानी संतका प्रेम विशुद्ध और ज्ञानपूर्ण होता है।

प्र०-जैसे भक्त सम्पूर्ण विश्वको साक्षात् अपना इष्टदेव भगवान् समझकर काम पड़नेपर विश्व-हितके लिये प्रसन्नतापूर्वक अपने सम्पूर्ण ऐश्वर्यसहित अपने-आपको बलि-वेदीपर चढ़ा देता है, क्या ज्ञानमार्गपर चलनेवाला भी अवसर आनेपर ऐसा ही कर सकता है?

उ०-हाँ, कर सकता है; क्योंकि प्रथम तो उसकी दृष्टिमें ऐश्वर्य और देहका कोई मूल्य ही नहीं है। और दूसरे, अज्ञानी मनुष्य ऐश्वर्य और देहको आनन्ददायक मानकर मूल्यवान् समझते हैं। अतएव इनकी दृष्टिसे उन्हें सुख पहुँचानेके लिये ज्ञानी पुरुष ऐश्वर्य और देहका त्याग कर दें—इसमें आश्चर्य और शंका ही क्यों होनी चाहिये?

ज्ञानमार्गपर चलनेवाला पुरुष समस्त चराचर विश्वको अपने चिन्मय आत्मरूपसे ही अनुभव करता है। अतएव उसका सबके साथ आत्मवत् व्यवहार होता है। जैसे किसी समय अपने ही दाँतोंसे जीभके कट जानेपर कोई भी मनुष्य दाँतोंको दण्ड नहीं देना चाहता, वह जानता है कि दाँत और जीभ दोनों मेरे ही हैं। जीभमें तो तकलीफ है ही, दाँतोंमें और तकलीफ क्यों उत्पन्न की जाय। इसी प्रकार ज्ञानमार्गी संत सबको अपना आत्मा समझनेके कारण किसीके द्वारा अनिष्ट किये जानेपर भी उसे दण्ड देनेकी भावना नहीं करते। कभी-कभी यदि ऐसी कोई बात देखी जाती है तो उसका हेतु भी आत्मोपम प्रेम ही होता है। जैसे अपने दूसरे अच्छे अंगोंकी रक्षाके लिये मनुष्य समझ-बूझकर सड़े हुए अंगको कटवा देनेमें अपना हित समझता है, इसी प्रकार संतोंके द्वारा भी विश्वहितार्थ स्वाभाविक ही कभी-कभी ऐसी क्रिया होती देखी जाती है।

संतोंके उपर्युक्त विश्वप्रेमका तत्त्व और रहस्य बड़ा ही विलक्षण है। वास्तवमें जो संत होते हैं, वे ही इसको जानते हैं। ऐसे संतोंके गुण, आचरण, प्रभाव और तत्त्वका अनुभव उनका संग और सेवन करनेसे ही हो सकता है।

संतोंके आचरण और उपदेश

प्र०-ऐसे संत महात्माओंके आचरण अनुकरणीय हैं या उपदेश?

उ०-आचरण और उपदेश दोनों ही अनुकरणीय हैं। केवल आचरण और उपदेश ही क्यों, उनके एक-एक गुणको अपने हृदयमें भलीभाँति धारण करना चाहिये। हाँ, यदि आचरण और उपदेशमें भिन्नता प्रतीत हो तो वहाँ उपदेशको ही प्रधान समझा जाता है। यद्यपि महापुरुषोंके आचरण शास्त्रके अनुकूल ही होते हैं और शास्त्रानुकूल ही वे उपदेश-आदेश करते हैं, परन्तु उन पुरुषोंके तत्त्व और रहस्यको न जाननेके कारण जो-जो आचरण शास्त्रके अनुकूल न प्रतीत हों, उनका अनुकरण नहीं करना चाहिये।

यद्यपि उन महापुरुषोंके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथापि स्वाभाविक ही वे लोगोंपर दया कर लोकहितके लिये शास्त्रानुकूल आचरण करते हैं। उनसे शास्त्रविपरीत आचरण होनेका तो कोई कारण ही नहीं है; परन्तु शास्त्रके अनुकूल जितने कर्म होने चाहिये, उनमें स्वभावकी उपरामताके कारण अथवा शरीरका बाह्यज्ञान न रहनेके कारण या और किसी कारण उनमें कमी प्रतीत हो तो उनको इसके लिये

कोई बाध्य भी नहीं कर सकता; क्योंकि वे विधि-निषेधरूप शास्त्रसे पार पहुँचे हुए हैं। उनपर 'यह ग्रहण करो' और 'यह त्याग करो'—इस प्रकारका शासन कोई भी नहीं कर सकता। उनके गुण और आचरण ही सदाचार हैं। उनकी वाणी उपदेश-आदेश ही वेदवाणी हैं। फिर उनके लिये विधान करनेवाला कौन? अतएव उनके द्वारा होनेवाले आचरण सर्वथा अनुकरणीय ही हैं, तथापि जिस आचरणमें सन्देह हो, जो शास्त्रके विपरीत प्रतीत होता हो उसके लिये या तो उन्हीं पुरुषोंसे पूछकर सन्देह मिटा लेना चाहिये अथवा उसको छोड़कर जो शास्त्रानुकूल प्रतीत हों उन्हींके अनुसार आचरण करना चाहिये।

प्र०-जब ऐसे महापुरुषोंपर विधि-निषेध शास्त्रका कोई शासन ही नहीं, तब वे कर्मोंका आचरण क्यों करते हैं?

उ०-लोगोंपर दया कर केवल लोकहितके लिये। स्वयं भगवान् वासुदेव भी तो अवतार लेकर लोकहितार्थ कर्माचरण करते हैं। संतको करनेके लिये भी कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

(गीता ३। २१-२२)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं, वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य समुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है। हे अर्जुन! मुझे तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ।'

भगवान्के इस आदर्शके अनुसार यदि संत पुरुष आचरण करें तो इसमें उनका गौरव है और लोगोंका परम कल्याण है और इसीलिये संतोंके द्वारा स्वाभाविक ही लोकहितकर कर्म होते हैं। ऐसे संतोंका जीवन लोगोंके उपकारके निमित्त ही होता है। अतएव लोगोंको भी इस प्रकारके संत बननेके लिये भगवान्की शरण होकर पद-पदपर भगवान्की दयाका दर्शन करते हुए हर समय प्रसन्नचित्त रहना चाहिये। भगवान्को यन्त्री मानकर अपनेको उनके समर्पण करके उनके हाथका यन्त्र बनकर उनके आज्ञानुसार चलना चाहिये और यह याद रखना चाहिये कि जो इस प्रकार अपने-आपको भगवान्के अर्पण कर देता है, उसके सारे आचरण भगवत्कृपासे भगवान्के अनुकूल ही होते हैं—यही शरणागतिकी कसौटी है। इस शरणागतिसे ही भगवान्की अनन्त दयाके दर्शन होते हैं और भगवान्की दयासे ही देवताओंके द्वारा भी पूजनीय परम दुर्लभ संतभावकी प्राप्ति होती है।

भगवद्भक्तोंकी महिमा

भगवान्के भक्तोंकी महिमा अनन्त और अपार है। श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदिमें जगह-जगह उनकी महिमा गायी गयी है; किन्तु उसका किसीने पार नहीं पाया। वास्तवमें भक्तोंकी तथा उनके गुण, प्रभाव और संगकी महिमा कोई वाणीके द्वारा गा ही नहीं सकता। शास्त्रोंमें जो कुछ कहा गया है अथवा वाणीके द्वारा जो कुछ कहा जाता है उससे भी उनकी महिमा अत्यन्त बढ़कर है। रामचरितमानसमें स्वयं श्रीभगवान्ने भाई भरतसे संतोंके लक्षण बताते हुए उनकी इस प्रकार महिमा कही है—

बिषय अलंपट सील गुनाकर।
पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी।
लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमलचित दीनन्ह पर दाया।
मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी।
भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
बिगत काम मम नाम परायन।
सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मयत्री।
द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं।
परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥
निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुन मंदिर सुख पुंज॥

भगवान्के भक्त क्षमा, शान्ति, सरलता, समता, सन्तोष, पवित्रता, चतुरता, निर्भयता, शम, दम, तितिक्षा, धृति, त्याग, तेज, ज्ञान, वैराग्य, विनय, प्रेम और दया आदि गुणोंके सागर होते हैं।

भगवान्के भक्तोंका हृदय भगवान्की भाँति वज्रसे भी बढ़कर कठोर और पुष्पोंसे बढ़कर कोमल होता है। अपने ऊपर कोई विपत्ति आती है तो वे भारी-से-भारी विपत्तिको भी प्रसन्नतासे सह लेते हैं। भक्त प्रह्लादपर नाना प्रकारके प्रहार किये गये, पर वे किंचित् भी नहीं घबड़ाये

और प्रसन्नतासे सब सहते रहे ऐसी स्थितिमें भक्तोंका हृदय वज्रसे भी कठोर बन जाता है, किन्तु दूसरोंका दुःख उनसे नहीं सहा जाता, उस समय उनका हृदय पुष्पसे भी बढ़कर कोमल हो जाता है। सर्वत्र भगवद्-बुद्धि होनेके कारण किसीके साथ उनका वैर या द्वेष तो हो ही नहीं सकता और न किसीपर उनकी घृणा ही होती है। उन महापुरुषोंके साथ कोई कैसा ही क्रूर व्यवहार क्यों न करे, वे तो बदलेमें उसका हित ही करते रहते हैं। दयाके तो वे समुद्र ही होते हैं। दूसरोंके हितके लिये वे अपने आपको महर्षि दधीचि और राजा शिबिकी भाँति बलिदान कर सकते हैं। दूसरोंकी प्रसन्नतासे उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती है, सब जीवोंके परम हितमें उनकी स्वाभाविक ही प्रीति होती है। दूसरोंके हितके मुकाबले वे मुक्तिको भी कोई चीज नहीं समझते।

इसपर एक दृष्टान्त है—एक धनी दयालु दानी पुरुष नित्य हजारों अनाथ, गरीब और भिक्षुकोंको भोजन देता था। एक दिन उसका सेवक, जो कि बड़ा कोमल और दयालु स्वभावका था, मालिकके साथ लोगोंको भोजन परोसनेका काम करने लगा; समय बहुत अधिक होनेके कारण मालिकने सेवकसे कहा कि 'जाओ, तुम भी भोजन कर लो।' यह सुनकर सेवकने कहा, 'स्वामिन्! मैं इन सबको भोजन करानेके बाद भोजन कर लूँगा, आपको बहुत समय हो गया है इसलिये आप विश्राम कर सकते हैं। मुझे जितना आनन्द इन दुःखी अनाथोंके भोजन करानेमें आता है उतना आनन्द अपने भोजन करनेमें नहीं आता।' किन्तु मालिक कब जानेवाला था, दोनों मिलकर ही सब दुःखी अनाथोंको भोजन कराने लगे। थोड़ी देरके बाद उस धनिकने फिर अपने उस सेवकसे कहा कि 'समय बहुत अधिक हो गया है। तुमको भी तो भोजन करना है, जाओ भोजन कर लो।' यह सुनकर सेवकने कहा, 'प्रभो! मैं बड़ा अकर्मण्य, स्वार्थी हूँ। इसीलिये आप मुझे इस कार्यको छोड़कर बार-बार भोजन करनेके लिये कह रहे हैं। यदि मैं अपने भोजन करनेकी अपेक्षा इनको भोजन कराना अधिक महत्त्वकी बात समझता तो क्या आप मुझे ऐसा कह सकते? परन्तु अच्छे स्वामी अकर्मण्य सेवकको भी निबाहते ही हैं! मैं आपकी आज्ञाकी अवहेलना करता हूँ, आप मेरी इस धृष्टताकी ओर ध्यान न देकर मुझे क्षमा करें। प्रभो! इन अनाथ भूखोंके रहते मैं भोजन कैसे करूँ?' यह सुनकर मालिक बहुत प्रसन्न हुआ और सबको भोजन कराके अपने उस सेवकके साथ घर चला गया। वहाँ जाकर उसने सेवकसे कहा—'मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, जो कहो, करनेको तैयार हूँ, बोलो, तुम क्या चाहते हो? तुम जो माँगोगे मैं तुम्हें वही दूँगा।' सेवकने कहा—'प्रभो! दीन-दुःखियोंको भोजन करानेका जो काम आप नित्य स्वयं करते हैं—मुझे तो वही काम सबसे बढ़कर जान पड़ता है, अतएव वही मुझे दे दीजिये; काम चाहे अपने साथ रखकर करावें या मुझे अकेला रखकर।'

यह दृष्टान्त है। दार्ष्टान्तमें ईश्वरको स्वामी, भक्तको सेवक, जिज्ञासुओंको भूखे अनाथ दुःखी और उनको संसारसे मुक्त करना ही भोजन कराना एवं परमधामको जानेको ही घर जाना समझना चाहिये।

भगवान्‌के जो सच्चे प्रेमी भक्त होते हैं, वे अपनी मुक्तिकी परवा न करके सबके कल्याणके लिये प्रसन्नताके साथ तत्पर हो जाते हैं; और भगवान्‌से वर भी माँगते हैं तो यही कि 'सारे जीवोंका कल्याण हो जाय।' ऐसे ही भक्तोंके लिये गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा।
राम ते अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा।
चंदन तरु हरि संत समीरा॥

अर्थात् हे स्वामिन्! मेरे मनमें तो ऐसा विश्वास है कि रामके दास रामसे भी बढ़कर हैं। राम समुद्र हैं और संत मेघ हैं, राम चन्दन वृक्ष हैं और संत पवन हैं। मेघ समुद्रका जल लेकर सब जगह बरसाते हैं और सारे जगत्‌को तृप्त कर देते हैं, वैसे ही संत-महात्मा भी अक्षय सुख और शान्तिको देनेवाली भगवान्‌के गुण, प्रेम और प्रभावकी बातें जिज्ञासुओंको सुनाकर उन्हें तृप्त करते हैं। एवं जैसे वायु चन्दनकी गन्धको लेकर नीम और साल आदि अन्य वृक्षोंको भी चन्दन बना देता है वैसे ही महात्मा पुरुष विज्ञानानन्दघन परमेश्वरके भावको लेकर जिज्ञासुओंको विज्ञानानन्दमय बना देते हैं।

स्वयं भगवान्‌ने भी अपने भक्तोंके महत्त्वका वर्णन करते हुए उनको अपनेसे बड़ा बतलाया है। राजा अम्बरीष भगवान्‌के बड़े प्रेमी भक्त थे। वे एकादशीका व्रत किया करते थे। एक समय द्वादशीके दिन दुर्वासा ऋषि राजा अम्बरीषके घर पहुँचे और राजाके प्रार्थना करनेपर भोजन करना स्वीकार करके वे स्नानादि नित्यकर्म करनेके लिये यमुना तटपर चले गये। उस समय द्वादशी केवल एक घड़ी शेष रह गयी थी। तदनन्तर त्रयोदशी आती थी। व्रतका पारण द्वादशीमें ही करना अभीष्ट था। दुर्वासाजी स्नान करके समयपर नहीं लौटे, तब राजाने सोचा कि 'पारण न करनेसे तो व्रत भंग होता है और अतिथि ब्राह्मणको

भोजन कराये बिना स्वयं भोजन कर लेनेसे पापका भागी होना पड़ता है।' इसलिये राजाने विद्वान् ब्राह्मणोंसे परामर्श किया और उनकी आज्ञासे केवल चरणोदक लेकर पारण कर लिया। इतनेहीमें दुर्वासाजी भी स्नान करके लौट आये। इस बातका पता लगनेपर उन्हें बहुत क्रोध हुआ। राजाने बहुत प्रकारसे क्षमा-प्रार्थना की; किन्तु ऋषिने एक भी न सुनी। क्रोधमें भरकर राजाका नाश करनेके लिये उन्होंने तुरंत ही अपनी जटासे केश उखाड़कर एक कृत्या उत्पन्न की। राजा उस समय भी हाथ जोड़े उनके सामने ही खड़े रहे। न तो कृत्याको देखकर भयभीत हुए और न उसका कोई प्रतीकार ही किया; किन्तु भगवान्के सुदर्शनचक्रसे यह नहीं सहा गया। वह कृत्याका नाश करके दुर्वासाकी ओर दौड़े। चक्रको देखते ही ऋषि घबड़ा गये और उससे छुटकारा पानेके लिये ब्रह्मा, शिव आदिकी शरणमें गये; किन्तु भगवान्के भक्तका अपराधी समझकर उन्हें किसीने भी सहायता नहीं दी। अन्तमें वे भगवान् विष्णुकी शरणमें गये तो उन्होंने भी असमर्थता व्यक्त कर दी। श्रीमद्भागवतमें वहाँका वर्णन इस प्रकार है। भगवान् कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
ब्रह्मंस्तद्गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं नृपम्।
क्षमापय महाभागं ततः शान्तिर्भविष्यति॥

(९। ४। ६३,६५,७१)

'हे ब्रह्मन्! मैं भक्तजनोंका प्रिय और उनके अधीन हूँ। मेरे साधु भक्तोंने मेरे हृदयपर अधिकार प्राप्त कर लिया है, अतः मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। जो स्त्री, पुत्र, घर, कुटुम्ब और उत्तम धन तथा अपने प्राणोंतकको न्योछावर करके मेरी शरण हो गये हैं, उन प्रिय भक्तोंका त्याग मैं कैसे कर सकता हूँ। इसलिये हे द्विज! तुम्हारा कल्याण हो, तुम महाभाग राजा अम्बरीषके पास जाकर उनसे क्षमा-याचना करो, इसीसे तुम्हें शान्ति मिलेगी, इसके लिये कोई दूसरा उपाय नहीं है।'

ऋषि लौटकर अम्बरीषकी शरणमें आये, तबतक राजा बिना भोजनके उसी तरह खड़े ऋषिके आगमनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। दण्डवत् प्रणाम करके ऋषिके क्षमा-प्रार्थना करनेपर राजाको बहुत ही संकोच हुआ। राजाने स्तुति प्रार्थना करके सुदर्शन चक्रको शान्त किया। ऋषिको बहुत प्रकारसे सान्त्वना देकर भली प्रकारसे भोजन कराया और उनकी सेवा की। बादमें स्वयं भोजन किया। धन्य है! भगवान्के भक्त ऐसे ही होने चाहिये।

भगवान्से भी भगवान्के भक्तोंको बढ़कर बतलानेमें भगवान्की निन्दा नहीं है। भक्तोंको उनसे बड़ा बतलानेमें भी बड़ाई भगवान्की ही होती है; क्योंकि भक्तोंका बड़प्पन भगवान्से ही है।

भगवान्की भक्तिका प्रचार अवश्यम्भावी नहीं होता। वह भगवान्के भक्तोंपर निर्भर है। अपनी भक्ति और महिमाके प्रचार करनेमें स्वाभाविक ही सबको संकोच होता है। इसलिये भगवान् भी अपनी भक्तिका विस्तारसे प्रचार स्वयं न करके अपने भक्तोंके द्वारा ही कराते हैं। अतएव भगवान्की भक्ति और महिमाका प्रचार विशेषतासे भगवान्के भक्तोंपर ही निर्भर करता है। इसलिये भगवान्के भक्त भगवान्से बढ़कर हैं।

सारा संसार भगवान्के एक अंशमें स्थित है (गीता १०। ४२) और भगवान् भक्तके हृदयमें स्थित हैं—इस युक्तिसे भी भगवान्के भक्त भगवान्से बड़े हैं।

पवित्रतामें तो भगवान्के भक्त तीर्थोंसे भी बढ़कर हैं; क्योंकि सारे तीर्थोंकी उत्पत्ति उन्हींके निमित्तसे या प्रतापसे हुई है। यदि कहो, बहुत-से तीर्थोंका निर्माण भगवान्के अवतार या लीलासे हुआ है, सो ठीक है। पर भगवान्का अवतार भी तो प्रायः भक्तोंके लिये ही होता है। अतएव उसमें भी भगवान्के भक्त ही निमित्त होते हैं। तीर्थ सारे संसारको पवित्र करनेवाले हैं; परंतु भगवान्के भक्त तो तीर्थोंको भी पवित्र करनेवाले हैं।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि।

(नारदभक्तिसूत्र ६९)

'ऐसे भक्त तीर्थोंको सुतीर्थ, कर्मोंको सुकर्म और शास्त्रोंको सत्-शास्त्र बना देते हैं।'

महाराज भगीरथके घोर तपसे प्रसन्न होकर वर देनेके लिये आविर्भूत हुई भगवती श्रीगंगाजीने उनसे कहा—'भगीरथ! मैं पृथ्वीपर कैसे आऊँ! संसारके सारे पापी तो आ-आकर मुझमें अपने पापोंको धो डालेंगे; परंतु उन पापियोंके अपार पापपंकको मैं कहाँ धोने जाऊँगी, इसपर आपने क्या विचार किया है?' इसके उत्तरमें भगीरथने कहा—

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसंगात्तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः॥

(श्रीमद्भा० ९। ९। ६)

'हे मातः! समस्त विश्वको पवित्र करनेवाले, विषयोंके त्यागी, शान्तस्वरूप, ब्रह्मनिष्ठ साधु-महात्मा आकर तुम्हारे प्रवाहमें स्नान करेंगे तब उनके अंगके संगसे तुम्हारे सारे पाप धुल जायँगे; क्योंकि उनके हृदयमें समस्त पापोंका नाश करनेवाले श्रीहरि निवास करते हैं।'

गंगा, यमुना आदि तीर्थ तो स्नान-पान आदिसे पवित्र करते हैं; किन्तु भगवान्‌के भक्तोंका तो दर्शन और स्मरण करनेसे भी मनुष्य तुरंत पवित्र हो जाता है; फिर भाषण और स्पर्शकी तो बात ही क्या है? तीर्थोंमें तो लोगोंको जाना पड़ता है और जाकर स्नानादि करके वे पवित्र होते हैं; किन्तु महात्माजन तो श्रद्धा-भक्ति होनेसे स्वयं घरपर आकर पवित्र कर देते हैं।

महात्माओंकी पवित्रताके विषयमें जितना कहा जाय थोड़ा ही है। स्वयं भगवान्‌ने इनकी महिमा अपने मुखसे गायी है।

श्रद्धापूर्वक किया हुआ महापुरुषोंका संग भजन और ध्यानसे भी बढ़कर है। इसीलिये सनकादिक महर्षिगण ध्यानको छोड़कर भगवान्‌के गुणानुवाद सुना करते थे। राजा परीक्षित् तो केवल भगवान्‌के गुणानुवाद सुननेसे मुक्त हो गये; क्योंकि सत्संगद्वारा भगवान्‌के गुण, प्रभाव और प्रेमकी बातोंको सुननेसे ही भगवान्‌में श्रद्धा एवं प्रेम होता है।

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम होनेसे ही भजन-ध्यान होता है। श्रद्धा और प्रेमपूर्वक किये हुए भजन-ध्यानसे ही भगवान् शीघ्र मिलते हैं। अतएव भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम होनेके लिये महापुरुषोंका संग करके भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी अमृतमयी बातें सुनने और समझनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

महापुरुषोंका संग मुक्तिसे भी बढ़कर बतलाया गया है।

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

शास्त्र कहते हैं—मुक्ति तो महापुरुषोंकी चरणरजमें विराजमान रहती है अर्थात् श्रद्धा और प्रेमपूर्वक महापुरुषोंकी चरणरजको मस्तकपर धारण करनेसे मनुष्य मुक्त हो जाता है। भागवतमें उद्धवजी कहते हैं—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
(१०।४७।६१)

'अहो! क्या ही उत्तम हो, यदि मैं आगामी जन्ममें इस वृन्दावनकी लता, ओषधि या झाड़ियोंमेंसे कोई होऊँ, जिनपर इन गोपियोंकी चरणधूलि पड़ती है।'

भागवतमें अपने भक्तोंकी महिमाका वर्णन करते हुए स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥
(११।१४।१६)

'सब प्रकारकी अपेक्षासे रहित, मननशील, किसीसे भी वैर न रखनेवाले, समदर्शी एवं शान्त भक्तके पीछे-पीछे मैं सदा इस उद्देश्यसे फिरा करता हूँ कि इनके चरणोंकी धूलि पड़नेसे मैं पवित्र हो जाऊँगा।'

जो मनुष्य महापुरुषोंके तत्त्वको समझकर उनका संग करता है वह तो स्वयं दूसरोंको पवित्र करनेवाला बन जाता है। मुक्ति तो बिना इच्छा ही जबरदस्ती उसको प्राप्त होती है, किन्तु वह मुक्तिका तिरस्कार करके भगवान्‌के गुण और प्रभावकी बातोंको सुन-सुनकर प्रेममें मुग्ध होता है और प्रेममें विह्वल होकर भगवान्‌को आह्लादित करता है। इस प्रकार भगवान्‌को आह्लादित करनेको वह मुक्तिसे भी बढ़कर समझता है।

संसारमें तीन प्रकारके पुरुष होते हैं—उनमें एक तो ऐसे हैं जो न्याययुक्त परिश्रमसे धन कमाकर अपना पेट भरते हैं, दूसरे ऐसे हैं जो माँगकर क्षेत्रोंसे या सदावर्तद्वारा शरीरका निर्वाह करते हैं और तीसरे ऐसे हैं जो नित्य सदावर्त बाँटते हैं और सबको खिलाकर खाते हैं। पेट तीनोंका ही भरता है। तुष्टि, पुष्टि भी तीनोंकी ही समानरूपसे होती है। वर्णाश्रमानुसार न्याययुक्त जीविका करनेसे तीनों ही श्रेष्ठ होनेपर भी विशेष प्रशंसाके पात्र वे ही हैं जो नित्य सबको भोजन कराके यज्ञशिष्ट अमृतका भोजन करते हैं। इसी प्रकार मुक्तिके विषयमें भी समझना चाहिये।

जो भजन, ध्यान आदि साधन करके मुक्ति पाते हैं वे परिश्रम करके पेट भरनेवालोंके समान हैं। जो काशी आदि क्षेत्रोंकी एवं महात्मा पुरुषोंकी शरण लेकर मुक्ति प्राप्त करते हैं वे माँगकर शरीर-निर्वाह करनेवालोंके समान हैं और जो भगवान्‌के देनेपर भी मुक्तिको ग्रहण न करके सबके कल्याण होनेके लिये भगवान्‌के गुण, प्रेम, तत्त्व, रहस्य और प्रभावयुक्त भगवान्‌के सिद्धान्तका संसारमें प्रचार करते हैं, वे सबको खिलाकर भोजन करनेवालोंके समान हैं। यद्यपि सभीका कल्याण होता है और परम शान्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिमें सभी समान हैं, पर इन तीनोंमें यदि किन्हींको ऊँचा दर्जा दिया जाय तो वे ही सबसे श्रेष्ठ रहते हैं जो मुक्तिको भी न चाहकर सबका कल्याण करनेपर ही तुले हुए हैं। ऐसा अधिकार भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है; अतएव ऐसे पुरुषोंका संग मुक्तिसे भी बढ़कर है, ऐसे पुरुषोंकी स्वयं भगवान्‌ने भी गीता अध्याय १८ श्लोक ६८-६९ में अपने श्रीमुखसे प्रशंसा की है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

'जो पुरुष मुझसे परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है। मेरा उससे बढ़कर प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा मेरा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।'

ऐसे भक्तोंको जब भगवान् स्वयं मुक्ति देना चाहते हैं तब वे कहा करते हैं कि—'भगवन्! मैं तो यही चाहता हूँ कि केवल आपके गुण, प्रेम, तत्त्व, रहस्य और प्रभावकी बातोंमें ही रात-दिन बिताऊँ, मुझे इससे बढ़कर और कुछ भी अच्छा नहीं लगता। यदि आप मुझे कुछ देना ही चाहें तो मैं आपसे यही प्रार्थना करता हूँ कि सारे जीवोंका कल्याण कर दीजिये।' क्या ही उत्तम भाव हैं ! यह याचना होते हुए भी निष्कामभाव है।

ऐसे महात्माओंके अमोघ संग और महती कृपासे जो व्यक्ति परमात्माके रहस्यसहित गुण और प्रभावको तत्त्वसे जान जाता है वह स्वयं परम पवित्र होकर इस अपार संसार-सागरसे तरकर दूसरोंको भी तारनेवाला बन सकता है। इसलिये महापुरुषोंका संग अवश्यमेव करना चाहिये, क्योंकि सत्पुरुषोंका संग बड़े रहस्य और महत्त्वका विषय है। श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सत्संग करनेवाले ही इसका कुछ महत्त्व जानते हैं। पूरा-पूरा रहस्य तो स्वयं भगवान् ही जानते हैं, जो कि भक्तोंके प्रेमके अधीन हुए उनके पीछे-पीछे फिरते हैं।

गीताके अनुसार स्थितप्रज्ञ, भक्त और गुणातीतके लक्षण तथा आचरण

वास्तवमें जीवन्मुक्त महापुरुषोंके व्यवहारका वर्णन वाणीद्वारा प्रकट करना असम्भव-सा है। उनके व्यवहारके रहस्यको साधारण मनुष्य कैसे समझ सकता है, उसका वर्णन करनेमें न तो मेरा अधिकार है और न योग्यता ही है; तथापि अपने मित्रोंकी प्रेरणासे, गीतादि शास्त्रोंके आधारपर अपनी साधारण बुद्धिसे जो कुछ समझमें आया है उसे पाठकोंकी सेवामें निवेदन करता हूँ।

जीवन्मुक्त महापुरुषोंका व्यवहार, उनका निजी स्वार्थ एवं राग-द्वेष और अहंकार न रहनेके कारण, केवल लोकहितार्थ ही हुआ करता है। उनके आचरण संसारमें प्रमाणस्वरूप माने जाते हैं, उनके आचरणोंमें पाप और स्वार्थकी गन्ध भी नहीं रहती, उनकी प्रत्येक क्रियामें परम उपदेश भरा रहता है। मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण आदि समस्त पदार्थोंमें पशु, पक्षी, कीट, पतंग, मनुष्य और देवादि समस्त प्राणियोंमें; तथा सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, शीत-उष्ण, प्रिय-अप्रिय आदि समस्त भावोंमें और समस्त कर्मोंमें सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा उनका समभाव रहता है। उसके अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें स्वार्थ, अहंकार, राग-द्वेष, विषमता और भयका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण उनकी सारी क्रियाएँ साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा विलक्षण, परम पवित्र और दिव्य हुआ करती हैं। उनके आचरणोंमें किसी प्रकारका लेशमात्र भी दोष नहीं रहता। उनके अन्तःकरणमें समभाव, प्रसन्नता, परम शान्ति और ज्ञान, ये सब नित्य-निरन्तर अविच्छिन्न और अपार रहते हैं। यह सब होते हुए भी वास्तवमें वे महापुरुष इस त्रिगुणमयी माया और उसके कार्यरूप शरीरादिसे सर्वथा अतीत होते हैं। अतः उनको न तो प्रिय वस्तुकी प्राप्ति और अप्रियके वियोगमें हर्ष होता है और न किसी अप्रियकी प्राप्ति और प्रियके वियोगमें शोक ही होता है। यदि ऐसे महापुरुषोंको किसी भी प्रकारका कोई भारी दुःख पहुँचाया जाय, तो भी वे महापुरुष अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होते।

श्रीमद्भगवद्गीतामें परमपदकी प्राप्तिको भगवान्‌ने कहीं ब्रह्मनिर्वाण, सनातन ब्रह्म और ब्रह्मकी प्राप्तिके नामसे; कहीं आत्यन्तिक सुख, अनन्त सुख, अक्षय सुख और उत्तम सुखकी प्राप्तिके नामसे; कहीं अविनाशी शाश्वतपद, परमगति, परमधाम, परम दिव्य पुरुष, परम सिद्धि, संसिद्धि, शान्ति, परमशान्ति, निर्वाण परमशान्ति, शाश्वत शान्ति, अव्यक्त, अक्षर, अमृत, परमस्थान, शाश्वतस्थान, मद्भाव, मम साधर्म्य, परम और अपनी प्राप्ति इत्यादिके नामसे कहा है।

उस परमपदको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण और आचरण गीता अध्याय २ के अन्तमें स्थितप्रज्ञके नामसे, अध्याय १२ के अन्तमें भक्तके नामसे और अध्याय १४ के अन्तमें गुणातीतके नामसे भगवान्‌ने बतलाये हैं; इसके सिवा अन्यान्य अध्यायोंमें भी योगी, युक्त और ज्ञानी आदिके नामसे जीवन्मुक्तकी स्थितिका संक्षिप्त वर्णन आया है—ये सभी परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषके लक्षण हैं।

गीतापर भलीभाँति विचार करनेसे मालूम होता है कि अध्याय २के श्लोक ५५ से ७२ तक स्थितप्रज्ञके नामसे

कर्मयोगद्वारा परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण और आचरण बतलाये गये हैं।

अध्याय १२ में श्लोक १३ से २० तक भक्तियोगद्वारा परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण और आचरण बतलाये गये हैं एवं अध्याय १४ में श्लोक २२ से २५ तक ज्ञानयोग यानी सांख्ययोगद्वारा परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण और आचरण बतलाये गये हैं।

इन तीनों स्थलोंको सामने रखकर उनपर विचार करनेसे यही प्रतीत होता है कि इनमेंके बहुत-से लक्षण और आचरण एक-दूसरेसे मिलते-जुलते-से ही हैं। क्योंकि परमात्माको प्राप्त होनेके बाद सबकी स्थिति एक ही हो जाती है, इसलिये उनके लक्षण और आचरण भी प्राय: एक-से ही हुआ करते हैं। तथापि प्रकृति (स्वभाव) और साधनकालके अभ्यास तथा वर्णाश्रमके भेदसे गुण और आचरणोंमें किसी-किसी स्थलमें भिन्नता भी आ जाती है, पर वह शास्त्रानुकूल ही होती है। भगवान्ने भी कहा है—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

(गीता ३। ३३)

'सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं, अर्थात् अपने स्वभावके परवश हुए कर्म करते हैं। ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा।'

सभी प्रकारके साधनोंसे परमात्माको प्राप्त हुए पुरुष परम पवित्र और साधारण मनुष्योंसे बहुत उत्तम होते हैं। ऐसे जीवन्मुक्त पुरुषोंकी प्रकृति साधनकालमें ही शुद्ध हो जाती है। अत: सभी प्रकारके जीवन्मुक्त महापुरुषोंके आचरण शास्त्रसम्मत, आदर्शरूप, पवित्र और सर्वथा दिव्य होते हैं।

कर्मयोगीके लिये तो फलासक्तिरहित कर्मोंका करना ही योगकी सिद्धिमें हेतु बतलाया गया है (गीता ६। ३)। इसलिये उसके द्वारा कर्मोंका विस्तार होना स्वाभाविक ही हो जाता है और कर्मोंके विस्तारसे उसमें फँसाव होकर बन्धन हो जानेका डर रहता है। अतएव उसके लिये मन-इन्द्रियोंके निग्रह एवं काम-क्रोध, राग-द्वेष, ममता और अपेक्षा आदिके त्यागपर विशेष जोर दिया गया है। भक्तियोगके साधकके लिये इन बातोंपर इतना जोर नहीं दिया गया। उनके लिये तो सर्वकर्म भगवान्के समर्पण करके भगवत्स्मरण करनेपर विशेष जोर दिया गया है। इस प्रकार करनेसे भगवान्की दयासे उपर्युक्त सारे दोष अपने-आप ही नष्ट हो जाते हैं। और ज्ञानमार्गसे चलनेवाले पुरुष तो सारे कर्म और सारे विकार प्रकृतिपर छोड़ देते हैं, अपनेसे उनका सम्बन्ध ही नहीं रखते; इस कारण उनके बाहरी कर्मोंका विस्तार नहीं भी हो सकता।

कर्मयोगद्वारा परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषमें, परमात्माकी प्राप्तिके उत्तरकालमें भी कर्मोंका बाहुल्य रह सकता है। उसके द्वारा स्वार्थ, आसक्ति, अहंकार आदिके बिना ही केवल लोकसंग्रहार्थ स्वाभाविक कर्मोंकी क्रियाएँ विस्तारपूर्वक भी होती हैं और उसमें उसकी महिमा है। भगवान्ने भी कहा है—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

(गीता ४। १९)

'जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं।'

वे ममता, अहंकार, कामना आदिसे रहित हुए संसारमें विचरते हैं—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २। ७१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।'

क्योंकि साधनकालमें ही कर्मयोगीके साधनमें मन इन्द्रियोंके संयमपूर्वक राग-द्वेष और स्वार्थके बिना केवल कर्तव्यबुद्धिसे किये हुए कर्म ही उसकी स्थितिको बढ़ाकर परमात्माका साक्षात्कार करानेमें हेतु होते हैं।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(गीता २। ६४-६५)

'परंतु अपने अधीन किये हुए अन्त:करणवाला साधक वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्त:करणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्त:करणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दु:खोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

पूर्वमें भी इस प्रकार साधन करके जनकादि परमपदको प्राप्त हो चुके हैं—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥

(गीता ३। २०)

'जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे। इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तू कर्म करनेको ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है।'

इस कारण सिद्धावस्थाको प्राप्त होनेके बाद भी उन पुरुषोंद्वारा बहुलतासे कर्म हो सकते हैं। ऐसे पुरुषमें राग-द्वेषादि अवगुणोंका सर्वथा अभाव होनेके कारण, कर्मोंकी बहुलता होनेपर भी, उसके द्वारा किये हुए कर्मोंमें कोई दुराचारिता नहीं आ सकती; क्योंकि दुराचारिताका मूल कारण राग-द्वेषादि अवगुण ही हैं। अर्जुनके पूछनेपर भगवान्‌ने आसक्तिसे उत्पन्न होनेवाले काम-क्रोधको ही पापाचारमें हेतु बताया है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

'हे अर्जुन! रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान।'

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मोंकी बहुलता स्थितिमें बाधक नहीं है, राग-द्वेष और काम-क्रोधादि अवगुण ही बाधक हैं और इनका उन महापुरुषोंमें सर्वथा अभाव होता है। स्वार्थ और राग-द्वेषको छोड़कर किये हुए कर्म ही कर्मयोगके साधकके लिये भगवत्प्राप्ति करानेवाले हैं और सिद्धोंकी शोभा बढ़ानेवाले हैं।

शास्त्रविहित स्वाभाविक कर्मोंमें जो अनिवार्य हिंसादि दोष हुआ करते हैं, वे दुराचार नहीं हैं (गीता १८। ४८); एवं ऐसे हिंसादि दोष फलेच्छा, राग-द्वेष और अहंकाररहित मनुष्यको दूषित नहीं कर सकते (गीता १८। १७)।

यद्यपि परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषको कर्म करने या न करनेसे कोई अपना प्रयोजन नहीं रह जाता, तथापि लोगोंको उन्मार्गसे बचाने और सन्मार्गमें प्रवृत्त करनेके लिये ही उनके द्वारा निषिद्ध कर्मोंका त्याग और विहित कर्मोंका आचरण हुआ करता है। मोहसे कर्मोंको छोड़ बैठनेवाला अज्ञानी वास्तवमें त्यागी नहीं है (गीता १८। ७); परन्तु इस प्रकार कर्म करनेवाला मनुष्य ही वास्तवमें बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है।

भगवान्‌ने कहा है—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥

(गीता १८। १०-११)

'हे अर्जुन! जो मनुष्य अकुशल कर्मसे तो द्वेष नहीं करता और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता, वह शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित, ज्ञानवान् और सच्चा त्यागी है। क्योंकि शरीरधारी किसी भी मनुष्यके द्वारा सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका त्यागा जाना शक्य नहीं है; इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वही सच्चा त्यागी है, यह कहा जाता है।'

भक्तियोगद्वारा परमेश्वरको प्राप्त हुए महापुरुषमें परमेश्वरकी प्राप्तिके उत्तरकालमें भी सभी मनुष्योंके साथ दया और प्रेमका भाव अधिक व्यक्त हुआ करता है। क्योंकि उसके साधनकालमें ही ईश्वर-विषयक श्रद्धा, भक्ति, प्रेम और शरण आदि भावोंकी बहुलता उसकी स्थितिको बढ़ाकर परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु हुआ करती है; इससे उसका स्वभाव अत्यन्त कोमल हो जाता है और उसे सभी प्राणियोंमें अपने स्वामी आराध्यदेवको विराजमान देखनेका अभ्यास हो जाता है।

उसमें कोमलता, क्षमा और सुहृदता आदि गुणोंकी बहुलता होनेके कारण न्याय प्राप्त होनेपर भी उसके द्वारा किसी जीवको दण्ड दिया जाना कठिन-सा हो जाता है। इस कारण उससे किसी भी जीवको उद्वेग नहीं होता और अन्य जीवोंद्वारा अनुचित कष्ट दिये जानेपर भी वह स्वयं उद्वेगवान् नहीं होता और उनसे वह न्यायपूर्वक भी बदला लेना नहीं चाहता।

भगवान्‌ने भी कहा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

(गीता १२। १३—१५)

'जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है।'

'तथा जो योगी निरन्तर सन्तुष्ट है; मन, इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है,

वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

'जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता; तथा जो हर्ष-अमर्ष[1], भय और उद्वेगादिसे रहित है वह भक्त मुझको प्रिय है।'

दया, प्रेम और क्षमा आदि सद्गुणोंसे उसका अन्तःकरण प्रभावित हो जानेके कारण, वह अपने साथ बुरा बर्ताव करनेवालेको भी प्रेमपूर्वक उसके हितकी चेष्टाओंद्वारा उसके अन्तःकरणमें साधुभाव उत्पन्न करते हुए ही शिक्षा देनेका प्रयत्न किया करता है।

नीतिकी आवश्यकता पड़नेपर भी साम और दामसे ही काम लेनेका उसका स्वभाव हो जाता है। दण्ड और भेदनीतिका प्रयोग प्रायः उसके द्वारा नहीं हो सकता।

उसकी प्रत्येक क्रियामें ईश्वरभक्ति, श्रद्धा, स्वार्थत्याग, चतुरता, कोमलता, विनय, प्रेम, दया और चित्तकी प्रसन्नता आदि भाव विशेषरूपसे झलकते रहते हैं। क्योंकि साधनकालमें इन भावोंसे ही उसकी स्थिति बढ़कर उसे परमेश्वरकी प्राप्ति होती है, अतः उसका स्वभाव ही ऐसा बन जाता है।

ऐसे महापुरुषकी सभी क्रियाएँ भगवान्‌की प्रेरणाके अनुसार समस्त प्राणियोंको अभयदान देते हुए ही हुआ करती हैं।

दूसरोंका सत्कार करना और उनको मान-बड़ाई देना उसका साधारण स्वभाव हो जाता है। ऐसे महापुरुषके मन और बुद्धि निरन्तर भगवान्‌में ही समर्पित रहते हैं। अतः उसके जीवनका अधिक समय भगवान्‌के भजन, ध्यान, गुणानुवाद और सेवा आदिमें ही लगता है।

उसके द्वारा कर्मयोगीकी भाँति व्यावहारिक कर्मोंका विस्तार होना कठिन है। क्योंकि अहर्निश भगवच्चिन्तनका स्वभाव हो जानेके कारण साधनकालमें ही उसकी रुचि लौकिक कर्मोंसे हट-सी जाती है। आवश्यकतानुसार सब कुछ करते हुए भी ऐसे महापुरुषोंकी स्थिति निरन्तर परमेश्वरमें ही रहती है। भगवान्‌ने कहा भी है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(गीता ६। ३१)

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है।'

ज्ञानयोग (सांख्ययोग) द्वारा परमात्माको प्राप्त हुए जीवन्मुक्त पुरुषमें ज्ञान, वैराग्य, उपरामता, निरहंकारता आदि गुणोंकी प्रधानता होनेके कारण एवं दृश्य संसारमें अनित्यबुद्धि होनेसे, उसके द्वारा शास्त्रविहित लौकिक और धार्मिक कर्मोंका भी विस्तार प्रायः कम होता है।

वर्णाश्रमके अनुसार जीविकानिर्वाह आदिके आवश्यक कर्म भी उसके द्वारा कर्तृत्वाभिमानके बिना होते हुए-से प्रतीत होते हैं। क्योंकि साधनकालमें भी उसका ऐसा ही अभ्यास रहता है कि समस्त कर्म प्रकृतिद्वारा ही किये हुए हैं, इन्द्रियाँ ही अपने-अपने अर्थोंमें बर्तती हैं, गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं, मेरा इन कर्मोंसे, भोगोंसे, शरीरसे और संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। भगवान्‌ने कहा भी है—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

(गीता ५। ८-९)

'हे अर्जुन! तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बर्त रही हैं, इस प्रकार समझकर निःसन्देह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।'

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

(गीता ३। २८)

'हे महाबाहो! गुणविभाग[2] और कर्मविभागके[3] तत्त्वको[4] जाननेवाला ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरतते हैं, ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता।'

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

(गीता १४। १९)

१-दूसरेकी उन्नतिको देखकर सन्ताप होनेका नाम 'अमर्ष' यानी ईर्ष्या है।

२-३-त्रिगुणात्मक मायाके कार्यरूप पाँच महाभूत और मन, बुद्धि, अहंकार तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय, इन सबके समुदायका नाम 'गुणविभाग' है और इनकी परस्परकी चेष्टाओंका नाम 'कर्मविभाग' है।

४-उपर्युक्त 'गुणविभाग' और 'कर्मविभाग' से आत्माको पृथक् अर्थात् निर्लेप जानना ही इनका तत्त्व जानना है।

'हे अर्जुन! जिस कालमें द्रष्टा अर्थात् समष्टिचेतनमें एकीभावसे स्थित हुआ साक्षी पुरुष तीनों गुणोंके सिवा अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता, अर्थात् गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं*, ऐसा देखता है और तीनों गुणोंसे अति परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस कालमें वह पुरुष मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है।'

ममता अहंकारादि विकारोंका अत्यन्त अभाव और परिग्रहका त्याग, एकान्त देशका सेवन, मन-इन्द्रियोंका संयम, सांसारिक मनुष्योंसे, सर्व पदार्थोंसे और कर्मोंसे वैराग्य और उपरामता, निरन्तर विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके स्वरूपमें स्थित रहना—उसके मनका स्वाभाविक धर्म-सा हो जाता है; क्योंकि साधनकालमें भी उसने ऐसा ही अभ्यास किया है। भगवान्ने भी कहा है—

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥

(गीता १८। ५२)

'जो एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, हलका, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला, भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला और निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला है।'

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(गीता १८। ५३)

'वह अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्न भावसे स्थित होनेका पात्र होता है।' इस कारण उसके द्वारा कर्मोंका विस्तार नहीं हो सकता।

इस तरहसे तीनों प्रकारके महापुरुषोंके आचरण परम पवित्र, दिव्य और अलौकिक होते हैं। ऐसे महापुरुषोंके आचरणको ही शास्त्रकारोंने सदाचारके नामसे कहा है और बारंबार उनका अनुकरण करनेके लिये जोर दिया है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं; वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

राजा युधिष्ठिरने भी यक्षके पूछनेपर ऐसे पुरुषोंको लक्ष्य बनाकर ही कहा था—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

(महा० वन० ३१३। ११७)

'धर्मके विषयमें तर्ककी कोई प्रतिष्ठा (स्थिरता) नहीं, श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न तात्पर्यवाली हैं, तथा ऋषि-मुनि भी कोई एक नहीं हुआ है, जिससे उसीके मतको प्रमाणस्वरूप माना जाय, धर्मका तत्त्व गुहामें छिपा हुआ है अर्थात् धर्मकी गति अत्यन्त गहन है, इसलिये (मेरी समझमें) जिस मार्गसे कोई महापुरुष गया हो, वही मार्ग है अर्थात् ऐसे महापुरुषका अनुकरण करना ही धर्म है।'

अतः मनुष्यमात्रको उचित है कि ऐसे महापुरुषोंके आचरणको आदर्श मानकर उनका अनुकरण करनेके लिये अर्थात् अपने जीवनको उन्हींके जैसा बनानेके लिये विशेष प्रयत्न करें।

प्र०-ज्ञानीके प्रारब्ध कर्म नष्ट होते हैं या नहीं?

उ०-परमात्माको प्राप्त हुए ज्ञानी पुरुषके वास्तवमें प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण, सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं। कहा भी है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

(गीता ४। ३७)

'हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनको भस्ममय कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देता है।'

तथापि व्यावहारिक दृष्टिसे यह माना जाता है कि ज्ञानीके प्रारब्धकर्म रहते हैं, इसीसे उसका शरीर बना रहता है, प्रारब्धकर्म अपना फल भुगताकर ही समाप्त होते हैं इत्यादि। किन्तु कर्मका फल जाति, आयु और भोग बतलाया गया है। उनमें जन्मरूप फल तो हो ही चुका, आयु समयपर अपने-आप समाप्त हो ही जायगी; रही भोगकी बात, सो सुख-दुःखका भोक्ता प्रकृतिस्थ पुरुषको ही माना गया है (गीता १३। २१) शुद्ध आत्मामें भोक्तापन नहीं है। ज्ञानीकी स्थिति परब्रह्म परमात्मामें हो जाती है। अतः उसे सुख-दुःखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। सुतरां यही सिद्ध हुआ कि प्रारब्धका भोग केवल लोक-दृष्टिसे ही ज्ञानीको होता हुआ-सा प्रतीत

* त्रिगुणमयी मायासे उत्पन्न हुए अन्तःकरणके सहित इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंमें विचरना ही गुणोंका गुणोंमें बर्तना है।

होता है, वास्तवमें ज्ञानीका प्रारब्धकर्मसे भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

सुख-दु:खादिकी प्राप्तिके हेतु जो खान-पान, रोग, पीड़ादि हैं, वे सब शरीरमें होते हुए भी ज्ञानीको उसकी स्थितिसे विचलित नहीं कर सकते। वह सदा निर्विकार रहता है, हर्ष-शोकादिसे सर्वथा रहित हो जाता है। श्रुतिमें भी कहा है—'**हर्षशोकौ जहाति**' (कठ० १। २। १२), अर्थात् वह हर्ष और शोकको छोड़ देता है। '**तरति शोकमात्मवित्**' (छान्दोग्य ७। १। ३), अर्थात् आत्मवेत्ता शोकसे तर जाता है। वास्तवमें हर्ष-शोकका होना ही प्रारब्धका फल है, उससे ज्ञानी पार हो जाता है; स्त्री, पुत्र, धन, गृह आदि प्रिय वस्तुओंकी उत्पत्ति और विनाशमें उसको किंचिन्मात्र भी हर्ष-शोक नहीं होता। क्योंकि उसने साधनकालमें ही शरीर और स्त्री-पुत्र-गृहादिमें अहंता, ममता और आसक्तिके अभाव तथा समभावका अभ्यास किया है (गीता १३। ९)। हर्ष-शोककी प्राप्तिमें राग-द्वेष, अहंता, ममता आदि दुर्गुण ही कारण हैं। इनके अभावके अभ्याससे साधनकालमें ही हर्ष-शोक आदि विकार प्राय: क्षीण हो जाते हैं, फिर सिद्धावस्थामें तो अहंता-ममता आदिका अत्यन्त अभाव हो जानेसे हर्ष-शोक आदि विकारोंका होना असम्भव ही है।

संसारमें भी यह बात देखी जाती है कि जिन स्त्री-पुत्रोंमें या गृह आदि समस्त पदार्थोंमें हमारा स्नेह और ममत्व नहीं होता, उनके बनने-बिगड़नेमें हमें सुख-दु:ख, हर्ष-शोक आदि नहीं होते। इसी तरह ज्ञानीका अपने शरीरमें अहंभाव न रहनेसे और शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले स्त्री, पुत्र, गृह आदिमें ममत्व और स्नेह न रहनेसे किसी अवस्थामें भी हर्ष-शोकका न होना उचित ही है। अत: लोकदृष्टिमात्रसे उनके स्त्री, पुत्र, गृह आदि पदार्थोंका बनना-बिगड़नारूप प्रारब्धकर्मका भोग होते हुए भी न होनेके समान ही है।

ज्ञानीके शरीरद्वारा लोकदृष्टिसे क्रियमाण कर्म होते हुए-से दिखलायी देते हैं; परन्तु अहंकार, स्वार्थ और राग-द्वेषका अभाव होनेके कारण उनके कर्म वास्तवमें कर्म नहीं हैं। कोई-कोई कह दिया करते हैं कि ज्ञानीद्वारा किये हुए क्रियमाण पुण्यकर्मोंका फल उनकी स्तुति करनेवालोंको और पापकर्मोंका फल उनकी निन्दा करनेवालोंको मिलता है। किन्तु यह कहना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि ज्ञानीद्वारा पापकर्मोंका आचरण होता ही नहीं। साधनावस्थामें ही उसके अंदर राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि दुर्गुणोंका एवं चोरी, जारी, हिंसा, मिथ्याभाषणादि दुराचारोंका प्राय: अभाव हो जाता है; फिर सिद्धावस्थाकी तो बात ही क्या है? अविद्या, अहंकार, राग-द्वेष और भय—यही सब पापाचारके कारण हैं। इनका सर्वथा अभाव होनेके बाद पापाचार कैसे हो सकता है। बुद्धिपूर्वक पापकर्म तो ज्ञानीद्वारा हो नहीं सकते और अज्ञात हिंसादिका पाप लगता नहीं। इनके सिवा जो शास्त्रविहित स्वाभाविक कर्मोंमें हिंसादि पापकर्म होते हुए दिखलायी देते हैं वे भी वास्तवमें अहंकार और राग-द्वेषरहित होनेके कारण पापकर्म नहीं हैं। कहा भी है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८। १७)

'हे अर्जुन! जिस पुरुषके अन्त:करणमें 'मैं कर्ता हूँ', ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और सम्पूर्ण कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है।'*

ऐसे पुरुषके द्वारा शास्त्रविहित पुण्यकर्म केवल लोक-संग्रहार्थ होते हैं। वे कर्म भी फलेच्छा, आसक्ति या अहंकारपूर्वक नहीं किये जाते, तब वे दूसरे किसीको भी फलदायक कैसे हो सकते हैं? उनका तो यही प्रत्यक्ष फल है कि जो कोई उनके आचरणोंपर श्रद्धा करके उनका अनुकरण करने लग जाता है वह अपने जीवनका सुधार कर लेता है। अश्रद्धालु उनके कर्मोंसे विशेष लाभ नहीं उठा सकते।

उनकी निन्दा या स्तुति करनेवालोंको पाप-पुण्य अवश्य होता है; पर वह ज्ञानीके कर्मोंका फल नहीं है, उन्हींकी क्रियाका फल उन्हें मिलता है। साधारण मनुष्यकी निन्दा करनेसे भी पाप होता है; पर ज्ञानी, शास्त्र और ईश्वरकी निन्दाका पाप अधिक होता है। क्योंकि उनकी निन्दासे लोगोंकी विशेष हानि होती है। संचित कर्म तो

* जैसे अग्नि, वायु और जलके द्वारा प्रारब्धवश किसी प्राणीकी हिंसा होती देखनेमें आवे, तो भी वह वास्तवमें हिंसा नहीं है; वैसे ही जिस पुरुषका देहमें अभिमान नहीं है और जिसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ स्वार्थरहित तथा केवल संसारके हितके लिये ही होती हैं, उस पुरुषके शरीर और इन्द्रियोंद्वारा यदि किसी प्राणीकी हिंसा होती हुई लोकदृष्टिमें देखी जाय, तो भी वह वास्तवमें हिंसा नहीं है; क्योंकि आसक्ति, स्वार्थ और अहंकारके न होनेसे किसी प्राणीकी हिंसा हो ही नहीं सकती तथा बिना कर्तृत्व-अभिमानके किया हुआ कर्म वास्तवमें अकर्म ही है, इसलिये वह पुरुष पापसे नहीं बँधता।

ज्ञानीके सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, प्रारब्धकर्मोंका फल दूसरोंको मिल नहीं सकता और क्रियमाण कर्म भुने हुए बीजकी भाँति फल उत्पन्न करनेकी शक्तिसे रहित होते हैं। अतः ज्ञानीके पुण्य-पापोंका सर्वथा अभाव होनेके कारण ज्ञानीके कर्मोंका फल निन्दा-स्तुति करनेवालोंको मिलनेका प्रसंग ही कैसे आ सकता है।

कोई-कोई विद्वान् ज्ञान होनेके अनन्तर भी प्रारब्धकर्मके आधारपर लेशाविद्याका आश्रय लेकर राग-द्वेष, काम-क्रोधादिको अन्तःकरणका धर्म मानकर झूठ, चोरी, व्यभिचारादि दुराचरणोंका भी उस ज्ञानीके द्वारा होना मानते हैं। किन्तु वस्तुतः ज्ञानोत्तरकालमें जीवन्मुक्त पुरुषके अंदर सर्व कर्मोंका सर्वथा अभाव बतलाया गया है (गीता ४। ३७); उसका देह अज्ञानियोंकी दृष्टिमें प्रारब्ध-भोगके लिये रहता है। जो तत्त्ववेत्ता पुरुष हैं उनकी दृष्टिमें तो एक नित्य विज्ञान-आनन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त शरीर और संसारका सर्वथा अभाव है; फिर वहाँ लेशमात्र भी अविद्या (अज्ञान) को गुंजाइश कहाँ है? यदि लेशमात्र भी अविद्या (अज्ञान) माना जाय तो इस लेशाविद्याका धर्मी किसको माना जायगा? जैसे सूर्योदयके उत्तरकालमें रात्रिका लेशमात्र भी रहना सम्भव नहीं, उसी प्रकार ज्ञानरूपी सूर्यके उदय होनेपर, अज्ञानका लेशमात्र भी रहना सम्भव नहीं। अतएव उन ज्ञानी महात्माओंमें लेशमात्र भी अविद्याका मानना भूल है।

वे लोग यह भी कहते हैं कि 'प्रारब्धवश ज्ञानीद्वारा भी चोरी, परस्त्रीगमनादि पापकर्म हो सकते हैं। क्योंकि काम-क्रोधादि अवगुण अन्तःकरणके धर्म होनेके कारण जबतक शरीर रहेगा तबतक ये रहेंगे ही, साक्षीका इनसे कुछ सम्बन्ध नहीं है; अतः प्रारब्धकर्म अपना भोग देनेके लिये ज्ञानीको भी बलात् पापकर्मोंमें प्रवृत्त कर देते हैं, पर इतने मात्रसे उनका तत्त्वज्ञान नष्ट नहीं हो जाता' इत्यादि। तथा अपने मतकी पुष्टिके लिये वे यह भी कहते हैं कि 'कुपथ्यसेवी, राजाकी स्त्रीसे प्रेम रखनेवाला और चोरी करनेवाला—ये तीनों भविष्यमें दण्ड मिलना जानते हुए भी, प्रारब्धभोगके वशमें होकर स्वेच्छासे कुपथ्यसेवन, चोरी और परस्त्रीगमनादि पापकर्म करते हैं, पर यह कहना न तो शास्त्रसम्मत है और न युक्तियुक्त ही है।

किसी पापकर्मका फल भोगनेके लिये पुनः पापकर्म करना पड़ेगा, इस कथनको शास्त्रसम्मत माननेसे पापकर्मोंकी अनवस्थाका दोष आवेगा; ऐसी व्यवस्था करनेवालेमें भी मूर्खता और निर्दयताका दोष आवेगा; 'धर्मका आचरण करो, सत्य बोलो, पाप मत करो' इत्यादि शास्त्रोक्त विधि-निषेधबोधक वचन व्यर्थ होंगे और शास्त्रोंमें पापकर्मका फल दुःख बतलानेवाले वचन मिलते हैं, उन वचनोंमें विरोध आवेगा। अतः चोरी, व्यभिचार आदि पापकर्मोंका फल दुःखभोग होना शास्त्रसम्मत है, न कि पुनः पाप करना। यदि पापकर्म प्रारब्धका फल हो तो उस पापका फल दुःख कैसे होगा और उससे बचनेके लिये शास्त्रोंमें प्रेरणा क्यों की जायगी।

साधारण न्यायकर्ता राजा भी ऐसा कानून नहीं बनाता कि अमुक पापकर्म करनेवालेको उसके फलस्वरूप पुनः पापकर्म करना पड़ेगा, बल्कि लोगोंको पापकर्मसे रोकनेके लिये ऐसा कानून बनाता है कि अमुक आज्ञाका पालन नहीं करनेसे यह दण्ड मिलेगा। और जो कोई उसकी आज्ञाके विरुद्ध चलता है उसको राजा दण्ड देता भी है, ताकि दूसरे उसे देखकर सावधान हो जायँ और आज्ञाका पालन करें। फिर परम दयालु सर्वशक्तिमान् ईश्वरद्वारा ऐसा कानून कैसे बनाया जा सकता है कि अमुक निषिद्ध कर्मका फल भोगनेके लिये अमुक निषिद्ध कर्म करना पड़ेगा।

गीता (३। ३३) में जो यह लिखा गया है कि ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, वहाँ प्रकृति उसके स्वभावका नाम है। उसका स्वभाव साधनकालमें ही शुद्ध हो जाता है, अतः उसकी चेष्टा पापरूप नहीं होती। उसके द्वारा स्वेच्छापूर्वक प्रारब्धभोगके लिये जो कुछ चेष्टा होती है, सभी न्याययुक्त होती है और लोकहितार्थ जो क्रियमाण कर्मोंकी चेष्टा होती है, वह भी न्याययुक्त ही होती है। ज्ञानियोंके लोकदृष्टिसे अवशिष्ट प्रारब्ध-भोग भिन्न-भिन्न रहते हैं एवं साधनकालमें भिन्न-भिन्न ही अभ्यास होता है। इस उद्देश्यको लेकर यह कहा गया है कि सब ज्ञानियोंकी चेष्टा एक-सी नहीं होती, अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार होती है। अभिप्राय यह है कि सभी मनुष्योंको अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार कर्म करने पड़ते हैं, बिना कर्म किये कोई रह नहीं सकता, इसके लिये हठ करना व्यर्थ है। मनुष्यको उचित है कि प्रत्येक इन्द्रियके भोगमें जो राग और द्वेषरूप शत्रु छिपे हुए हैं, जो पापकर्मोंमें प्रवृत्त करनेवाले हैं, उनके वशमें न हो और धर्मपालनमें डटा रहे। यदि भगवान्‌का यहाँ यह सिद्धान्त मान लिया जाय कि प्रारब्धवश मनुष्यको पापकर्म करने पड़ते हैं, तब तो राग-द्वेषके वशमें न होने और धर्मपालनके लिये तत्पर होनेके लिये जो अगले श्लोकोंमें जोर दिया गया है उन श्लोकोंकी कोई संगति ही न बैठेगी और भगवान्‌का महत्त्वपूर्ण उपदेश व्यर्थ हो जायगा। अतः गीताके श्लोकका ऐसा उलटा अर्थ समझाना लोगोंको भ्रममें डालना है। अवश्यम्भावीका प्रतीकार नहीं हो सकता, उसे कोई टाल नहीं सकता, यह कहना सर्वथा सत्य है;

परन्तु प्रारब्धकर्मके भोगरूप सुख-दुःखादिकी प्राप्तिके लिये फिर नया पापकर्म स्वेच्छापूर्वक अवश्य करना पड़े, ऐसा अवश्यम्भावी नहीं हो सकता, क्योंकि यह न्यायसंगत नहीं है। यदि धनप्राप्तिके लिये चोरी करनी पड़ेगी या स्त्रीसुखभोगके लिये परस्त्रीगमन करना पड़ेगा या राजदण्ड पानेके लिये चोरी-व्यभिचार आदि पापकर्म करना पड़ेगा—ऐसा अवश्यम्भावी प्रारब्ध होता तो शास्त्रोंमें न्यायपूर्वक धन प्राप्त करनेकी, स्त्रीसुखभोगके लिये विवाहादिकी, रोगादिसे बचनेके लिये औषध और पथ्यकी, चोरी, व्यभिचार आदि पापकर्मोंसे बचनेके लिये राजदण्ड आदिकी व्यवस्था ही क्यों की जाती?

प्रत्यक्षमें भी देखा जाता है कि साधनद्वारा जो मनुष्य अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें कर लेता है एवं राग-द्वेष और काम-क्रोधादि शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर लेता है, उसकी भी प्राय: पापाचारमें प्रवृत्ति नहीं होती और साधनहीन मनुष्य काम-क्रोधसे प्रेरित होकर पापाचार करते हैं। इसके सिवा उपर्युक्त सिद्धान्त माननेसे परस्त्री-गमनरूप पापकर्म करना या किसी पुरुषका स्वस्त्रीव्रती होना स्वाधीन नहीं हो सकेगा, पापकर्मोंके करनेमें और धर्मके त्यागमें भी प्रारब्धको कारण मानना होगा, जो कि सर्वथा न्यायविरुद्ध है।

धनकी प्राप्ति या रतिभोगकी प्राप्ति आदि सुखभोगके निमित्त अवश्यम्भावी बनाये जाते हैं, ऐसा माननेसे कोई राजा या धनी वैराग्य होनेपर भी गृहस्थका त्याग न कर सके, ऐसा न्याय प्राप्त होगा। इससे '**यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्**' (जाबाल० ४) अर्थात् 'जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो उसी दिन गृहस्थको छोड़कर संन्यास ग्रहण करना चाहिये' इस प्रकार कहनेवाली श्रुतियाँ व्यर्थ हो जायँगी। तथा आश्रमका परिवर्तन और मुक्तिका होना भी प्रारब्धपर ही निर्भर हो जायगा जो सर्वथा अयुक्त है। अत: यही सिद्ध होता है कि शुभ कर्मोंका फल जो प्रारब्धफलरूप सुखभोग है उसका त्याग करनेमें सदा ही स्वतन्त्र है। '**त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः**' (कैवल्य० १।२)—त्यागसे ही मुक्तिका होना शास्त्र बतलाता है, यदि त्यागमें यह स्वतन्त्रता न होगी तो मुक्ति कैसे होगी।

हाँ, यह बात अवश्य है कि पापकर्मका फल जो दुःखभोग है, उसका त्याग करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है। परन्तु प्रारब्धरूप पापकर्मका फल भोगनेके लिये नया पापकर्म करना पड़े, यह मानना न्यायसंगत नहीं है। क्योंकि ऐसा माननेसे होनेवाला दुःखरूप फल कौन-से पापकर्मका फल है, यह निर्णय होना भी मुश्किल हो जायगा और पापकर्मोंमें अनवस्थाका दोष आवेगा। संसारमें भी देखा जाता है कि कोई राजा चोरी, जारी आदि बुरे कर्मोंका फल यह नहीं देता कि ऐसा करनेवाला राजाज्ञाके विरुद्ध कर्म फिर करे, बल्कि फिर कभी वह राजाज्ञाका उल्लंघन न करे इसके लिये उसे दण्ड देता है।

प्र०—तब स्वेच्छापूर्वक प्रारब्धकर्मका फलभोग किस प्रकार होता है?

उ०—स्वेच्छासे न्याययुक्त चेष्टा करते हुए जो उसका परिणामस्वरूप सुखभोग होता है, वह प्रारब्धरूप पुण्यकर्मका फल है और जो दुःखभोग होता है वह प्रारब्धरूप पापकर्मका फल है। जैसे अपनी धर्मपत्नीके साथ न्यायपूर्वक रतिसुखभोग, स्ववर्णोचित न्याययुक्त वृत्तिद्वारा धनलाभ होना, उससे न्यायपूर्वक भोगोंका भोगना, न्यायपूर्वक चेष्टासे पुत्रादिका उत्पन्न होना एवं न्यायपूर्वक व्यवहार करते हुए भी धनादिकी हानि, अपने या स्त्री-पुत्रादिके शरीरमें बीमारी होनेपर न्याययुक्त उपाय करते हुए भी आराम न होना बल्कि उलटा परिणाम हो जाना इत्यादि अनेक प्रकारसे स्वेच्छापूर्वक प्रारब्धकर्मका फलभोग होता है।

इसलिये प्रारब्धकर्मका फल भोगनेके लिये पापकर्म करना अवश्यम्भावी नहीं है, चेष्टा करनेसे मनुष्य पापोंसे बच सकता है। ऐसा होते हुए भी जो लोग धनोपार्जन या स्त्रीभोगादिके लोभसे पापाचरण करते हैं, वे राग-द्वेषादि अवगुणोंके वशीभूत होकर भारी भूल करते हैं। सुखभोगके अनुसार उनके पुण्यका क्षय होगा और पापकर्मका फल आगे जाकर अवश्य भोगना पड़ेगा और अन्यायाचारकी चेष्टा करनेसे भी बिना प्रारब्धके सुख नहीं मिलेगा। यह सोचकर भी मनुष्यको उचित है कि भोगोंके लोभसे पापाचरण न करे।

इसके सिवा उन विद्वानोंका यह भी कहना है कि अनिच्छापूर्वक प्रारब्धभोगके लिये भी मनुष्यको अपनी इच्छा न रहते हुए भी पापाचार करना पड़ता है; इसकी पुष्टिमें वे गीताके इन श्लोकोंका प्रमाण देते हैं—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(३।३६)

'हे कृष्ण! यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?'

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(३।३७)

(इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्ण महाराज बोले—)'हे अर्जुन! रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही

क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान।'

किन्तु ऐसा सिद्धान्त मानकर गीताद्वारा उसका समर्थन करना गीताका दुरुपयोग करना और लोगोंको भ्रममें डालना है, क्योंकि यहाँ अर्जुनका प्रश्न अनिच्छाप्रारब्धभोगके विषयमें नहीं है, क्रियमाण पापकर्मके विषयमें है। अर्जुनके प्रश्नका भाव यह है कि भगवान् मनुष्यसे पापकर्म कराना नहीं चाहते, फिर भी उसके द्वारा पापकर्म होते हैं, मानो कोई जबरन् उनसे ऐसा कराता है, तो इसमें कारण क्या है?

उसके उत्तरमें भगवान् नवीन क्रियमाण पापकर्मोंके होनेमें न तो ईश्वरको कारण बताते हैं और न प्रारब्धको ही कारण मानते हैं। वे तो स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि 'हे अर्जुन! काम और उसीका दूसरा रूप क्रोध, जो मनुष्यके ज्ञान और विज्ञानके नाशक प्रबल शत्रु तथा नरकके द्वाररूप हैं, यही नवीन पापकर्ममें हेतु हैं। अतः इन्द्रियोंको वशमें करके तू इनका नाश कर।'

यदि काम-क्रोध भी प्रारब्धके ही परिणाम होते तो भगवान् उन्हें नाश करनेकी बात कैसे कहते? क्योंकि प्रारब्ध तो अवश्यम्भावी है। अतः यह प्रसंग अनिच्छाप्रारब्ध-भोगविषयक नहीं है, क्रियमाण-कर्मविषयक है। उसका दुरुपयोग करना लोगोंको भ्रममें डालना है।

प्र०—तब फिर अनिच्छासे प्रारब्धकर्मका भोग कैसे हो सकता है?

उ०—अनिच्छासे यानी किसी दैवी घटनासे, अपने-आप, अपनी या दूसरेकी इच्छाके बिना ही जो सुख और दुःखोंका भोग होता है वह अनिच्छापूर्वक प्रारब्ध भोग है; जैसे बिजली गिरनेसे लोग मर जाते हैं, धन और मकानकी हानि हो जाती है। इसी प्रकार जलकी बाढ़से, भूकम्पसे, रोगसे या अन्य किन्हीं कारणोंसे शरीर, धन, स्त्री, पुत्र आदिका वियोग हो जाना, अथवा धनादि सुख-भोगोंका प्राप्त हो जाना इत्यादि अनेक भोग हुआ करते हैं। ये सभी अनिच्छापूर्वक प्रारब्धभोग हैं। इनमें अन्यथा कल्पना करके उनमें पापाचारका समावेश कर देना लोगोंको धोखेमें डालना है।

प्र०—तो परेच्छापूर्वक प्रारब्धभोगका क्या स्वरूप है?

उ०—इसी तरह दूसरोंकी इच्छा और प्रयत्नसे जो मनुष्यको सुख और दुःखोंका भोग प्राप्त होता है, वह परेच्छापूर्वक प्रारब्ध-कर्मका भोग है; जैसे चोर, डाकू आदिके द्वारा धनहरण, मृत्यु या स्त्री-पुत्रादिका नाश या अन्य किसी प्रकारकी हानिका होना इत्यादि।

यदि किसीको दत्तक पुत्र बना लेनेके नाते कोई धन देता है, तो ऐसे पुत्रको उस धनका मिलना; कोई स्त्री न्यायपूर्वक किसीको अपना पति बनाती है, तो ऐसे पतिको स्त्रीका मिलना, कोई अपने जामाता या बेटी आदिको जो धन देते हैं, ऐसी हालतमें उन जामाता, बेटी आदिको धनका मिलना—ये सब परेच्छापूर्वक प्रारब्धभोगके उदाहरण हैं।

अतः स्वेच्छा, अनिच्छा और परेच्छापूर्वक प्रारब्धकर्म-फलभोगकी अन्यथा कल्पना करके प्रारब्धकर्मका फल भोगनेके लिये पापकर्मोंका अवश्यम्भावी होना मानना या ज्ञान होनेके उपरान्त भी ज्ञानीके अन्तःकरणमें राग-द्वेष, काम-क्रोधादि अवगुणोंका होना स्वीकार करना सर्वथा शास्त्रविरुद्ध, न्यायविरुद्ध और भ्रमपूर्ण है।

मनका धर्म मनन करना और बुद्धिका धर्म निश्चय करना होते हुए भी इस रहस्यको न जाननेके कारण ही काम-क्रोध, राग-द्वेष, सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंको लोग अन्तःकरणके धर्म बतलाते हैं। किन्तु ये अन्तःकरणके धर्म नहीं, विकार हैं। भगवान्‌ने भी इनको गीतामें विकार माना है—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥
(१३।६)

'इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और स्थूल देहका पिण्ड एवं चेतनता[१] और धृति, इस प्रकार यह क्षेत्र विकारोंके सहित[२] संक्षेपसे कहा गया।'

इनको अन्तःकरणके धर्म माननेसे, जबतक अन्तःकरण रहेगा तबतक इनका नाश नहीं होगा और विकार माननेसे नाश हो सकता है। तत्त्ववेत्ता पुरुषोंमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध आदिका अत्यन्त अभाव बतलाया है, इसलिये भी ये विकार ही सिद्ध होते हैं।

ज्ञानोत्तरकालमें ज्ञानीके मन-बुद्धि भी भुने हुए बीजके समान रह जाते हैं। फिर भला, उनमें काम-क्रोधादि विकारोंके लिये गुंजाइश कहाँ? काम-क्रोधादि तो आसुरी सम्पदावालोंमें होते हैं और वे नरकके द्वार माने गये हैं (गीता १६। २१); ये आत्माके पतन करनेवाले हैं। इसीलिये कल्याणकामी मनुष्यको इनसे मुक्त होनेके लिये भगवान् कहते हैं और सिद्धमें तो ये हो ही नहीं सकते।

भगवान्‌ने कहा है—

१-शरीर और अन्तःकरणकी एक प्रकारकी चेतनशक्ति।
२-पाँचवें श्लोकमें कहा हुआ तो क्षेत्रका स्वरूप समझना चाहिये और इस श्लोकमें कहे हुए इच्छादि क्षेत्रके विकार समझने चाहिये।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

(गीता ५। २६)

'काम-क्रोधसे रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं।'

निर्मानमोहा जितसंगदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताःसुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

(गीता १५। ५)

'जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं—वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं।'

भगवत्प्राप्तिके कुछ साधन

मनुष्यजन्म सबसे उत्तम एवं अत्यन्त दुर्लभ और भगवान्‌की विशेष कृपाका फल है। ऐसे अमूल्य जीवनको पाकर जो मनुष्य आलस्य, भोग, प्रमाद और दुराचारमें अपना समय बिता देता है वह महान् मूढ़ है। उसको घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

छः घंटेसे अधिक सोना एवं भजन, ध्यान, सत्संग आदि शुभकर्मोंमें ऊँघना आलस्य है।

करनेयोग्य कार्यकी अवहेलना करना एवं इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरसे व्यर्थ चेष्टा करना प्रमाद है। शौक, स्वाद और आरामकी बुद्धिसे इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन करना भोग है।

झूठ, कपट, हिंसा, चोरी, जारी आदि शास्त्रविपरीत आचरणोंका नाम दुराचार (पाप) है।

अपने हितकी इच्छा करनेवाले मनुष्यको इन सब दोषोंको मृत्युके समान समझकर सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

क्लेश, कर्म और सारे दुःखोंसे मुक्ति, अपार, अक्षय और सच्चे सुखकी प्राप्ति एवं पूर्णज्ञानका हेतु होनेके कारण यह मनुष्य-शरीर चौरासी लाख योनियोंमें सबसे बढ़कर है। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार, मुक्ति और शिक्षाकी प्रणाली सदासे बतलानेवाली होनेके कारण यह भारतभूमि सर्वोत्तम है। सारे मत-मतान्तरोंका उद्‌गम स्थान, विद्या, शिक्षा और सभ्यताका जन्मदाता तथा स्वार्थत्याग, ईश्वरभक्ति, ज्ञान, क्षमा, दया आदि गुणोंका भण्डार, सत्य, तप, दान और परोपकार आदि सदाचारका सागर और सारे मत-मतान्तरोंका आदि और नित्य होनेके कारण वैदिक सनातनधर्म सर्वोत्तम धर्म है। केवल भगवान्‌के भजन और कीर्तनसे ही अल्पकालमें सहज ही कल्याण करनेवाला होनेके कारण कलियुग सर्वयुगोंमें उत्तम युग है। ऐसे कलिकालमें सर्व वर्ण, आश्रम और जीवोंका पालन-पोषण करनेवाला होनेके कारण सर्व आश्रमोंमें गृहस्थाश्रम उत्तम है। यह सब कुछ प्राप्त होनेपर भी जिसने अपना आत्मोद्धार नहीं किया वह महान् पामर एवं मनुष्यरूपमें पशुके समान ही है। उपर्युक्त सारे संयोग ईश्वरकी अहैतुकी और अपार दयासे ही प्राप्त होते हैं, क्योंकि जीवोंकी संख्याके अनुसार यदि बारीका हिसाब लगाकर देखा जाय तो इस जीवको पुनः मनुष्यका शरीर लाखों, करोड़ों वर्षोंके बाद भी शायद ही मिले। वर्तमानमें मनुष्योंके आचरणोंकी ओर ध्यान देकर देखा जाय तो भी ऐसी ही बात प्रतीत होती है। प्रथम तो मनुष्यका शरीर ही मिलना कठिन है और यदि वह मिल जाय तो भी भारतभूमिमें जन्म होना, कलियुगमें होना तथा वैदिक सनातनधर्म प्राप्त होना दुर्लभ है। इससे भी दुर्लभतर शास्त्रोंके तत्त्व और रहस्यके बतलानेवाले पुरुषोंका संग है। इसलिये जिन पुरुषोंको उपर्युक्त संयोग प्राप्त हो गये हैं, वे यदि परम शान्ति और परम आनन्ददायक परमात्माकी प्राप्तिसे वंचित रहें तो इससे बढ़कर उनकी मूढ़ता क्या होगी। ऐसे क्षणिक, अल्पायु, अनित्य और दुर्लभ शरीरको पाकर जो अपने अमूल्य समयका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताते, जिनका तन, मन, धन, जन और सारा समय केवल सब लोगोंके कल्याणके लिये ही व्यतीत होता है वे ही जन धन्य हैं। वे देवताओंके लिये भी पूजनीय हैं। उन्हीं बुद्धिमानोंका जन्म सफल और धन्य है।

प्रथम तो जीवन है ही अल्प और जितना है वह भी अनिश्चित है। न मालूम मृत्यु कब आकर हमें मार दे। यदि आज ही मृत्यु आ जाय तो हमारे पास क्या साधन है जिससे हम उसका प्रतीकार कर सकें। यदि नहीं कर सकते तो अनाथकी तरह मारे जायँगे। इसलिये जबतक देहमें प्राण हैं और मृत्यु दूर है तबतक हमलोगोंको अपना समय ऊँचे-से-ऊँचे काममें लगाना चाहिये। शरीर और कुटुम्बका पोषण एवं धनका संग्रह भी यदि सबके मंगलके कार्यमें लगे तभी करना चाहिये; यदि ये सब चीजें हमें

सच्चे सुखकी प्राप्तिमें सहायता नहीं पहुँचातीं तो इनका संग्रह करना मूर्खता नहीं तो और क्या है? देहपातके बाद धन, सम्पत्ति, कुटुम्बकी तो बात ही क्या, हमारी इस सुन्दर देहसे भी हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रह जायगा और हम अपने देह और सम्पत्ति आदिको अपने उद्देश्यके अनुसार अपने और संसारके कल्याणके काममें नहीं लगा सकेंगे। सम्पत्ति तो यहाँ ही रह जायगी और देहकी मिट्टी या राख हो जायगी, अतः वह किसी भी काममें नहीं आवेगी।

सब बातें सोचकर हमको अपनी सब वस्तुएँ ऐसे काममें लगानी चाहिये जिससे हमें पश्चात्ताप न करना पड़े। परम शान्ति, परम आनन्द और परम प्रेमरूप परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें ही इस जीवनको बितानेकी तत्परताके साथ प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

उस परमात्माकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें अनेक साधन बतलाये गये हैं। उनमेंसे किसी भी एक साधनको यदि मनुष्य स्वार्थ त्याग कर निष्कामभावसे करे तो सहजमें और शीघ्र ही सफलता मिल सकती है। उन साधनोंमेंसे कुछका वर्णन किया जाता है—

(१) सांख्ययोग

इसके कई प्रकार हैं—

(क) एकान्त और पवित्र स्थानमें सुखपूर्वक स्थिर, सम एवं अपने अनुकूल आसनसे बैठकर भोग, आराम और जीवनकी सम्पूर्ण इच्छाओं एवं वासनाओंको छोड़कर मनके द्वारा इन्द्रियोंको वशमें करके बाहरके सारे विषय-भोगों तथा अन्य पदार्थोंसे इन्द्रियोंको हटाना चाहिये। तदनन्तर मनके द्वारा होनेवाले विषयचिन्तनका भी विवेक और विचारके द्वारा परित्याग कर देना चाहिये। इसके पश्चात् धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके ध्यानमें लगाना चाहिये अर्थात् केवल एक नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपका ही चिन्तन करना चाहिये। उसके सिवा अन्य किसीका भी चिन्तन नहीं करना चाहिये। अर्थात् शरीर और संसारको इस प्रकार एकदम भुला देना चाहिये कि पुनः इसकी स्मृति हो ही नहीं। यदि पूर्वाभ्यासवश हो जाय तो पुनः उसे विस्मरण कर देना चाहिये। इस प्रकार करते-करते जब बहुत कालतक चित्तकी वृत्ति उस परमात्माके स्वरूपमें ठहर जाती है अर्थात् मनमें कोई भी संसारकी स्फुरणा नहीं होती तो उसके सम्पूर्ण पापोंका नाश होकर सुखपूर्वक सहजमें ही नित्य और अतिशय सर्वोत्तम परम आनन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति सदाके लिये हो जाती है। जैसे घड़ेके फूटनेसे घटाकाश और महाकाशकी एकता हो जाती है, यद्यपि घटाकाश और महाकाशकी वस्तुसे नित्य एकता है, केवल घड़ेकी उपाधिसे ही भेद प्रतीत होता है, घड़ेके फूटनेसे प्रतीत होनेवाले भेदका भी सदाके लिये अत्यन्त अभाव हो जाता है, ऐसे ही अज्ञानके कारण संसारके सम्बन्धसे जीवात्मा और परमात्माका भेद प्रतीत होता है। विवेक और विचारके द्वारा संसारके चिन्तनको छोड़कर परमात्माके चिन्तनके अभ्याससे मन और बुद्धिकी वृत्तियाँ परमात्माके स्वरूपमें तन्मय होकर तत्त्वज्ञानद्वारा अज्ञानके कारण प्रतीत होनेवाले जीव और ईश्वरके भेदका सदाके लिये अत्यन्त अभाव हो जाता है अर्थात् साधकको उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपकी अभेदरूपसे यानी एकीभावसे सदाके लिये प्राप्ति हो जाती है।

परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद व्युत्थान अवस्थामें भी अर्थात् समाधिसे उठनेके बाद भी यह संसार उस योगीके अन्तःकरणमें निद्रासे जाग्रत् हुए पुरुषको स्वप्नके संसारकी भाँति सत्तारहित प्रतीत होता है, अर्थात् एक विज्ञानानन्दघन परमात्माके सिवा अन्य सत्ता वहाँ नहीं रहती।

(ख) संसारमें जो कुछ भी क्रिया हो रही है, वह गुणोंके द्वारा ही हो रही है, अर्थात् इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयोंमें बरत रही हैं; ऐसा समझकर साधक अपनेको सब प्रकारकी क्रियासे अलग, उन सब क्रियाओंका द्रष्टा समझे। अभी हमलोगोंने इस साढ़े तीन हाथके स्थूल शरीरके साथ अपना तादात्म्य कर रखा है अर्थात् इस शरीरको ही हम अपना स्वरूप समझे हुए हैं। किन्तु इस शरीरसे परे पृथ्वी है, पृथ्वीके परे जल है, जलके परे तेज है, तेजके परे वायु है, वायुके परे आकाश है, आकाशके परे मन है, मनके परे बुद्धि है, बुद्धिके परे समष्टिबुद्धि अर्थात् महत्तत्त्व है। समष्टिबुद्धिके परे अव्याकृत माया है और उसके परे सच्चिदानन्दघन परमात्मा है। मायापर्यन्त यह सब दृश्यवर्ग द्रष्टारूप परमात्माके आधारपर स्थित है, जो इन सबके परे है। उस परमात्मामें एकीभावसे स्थित होकर समष्टिबुद्धिके द्वारा इस सारे दृश्यवर्गको अपने उस अनन्त निराकार चेतन स्वरूपके अन्तर्गत उसीके संकल्पके आधार, क्षणभंगुर देखे। इस प्रकारका निरन्तर अभ्यास करनेसे संसारका सारा व्यवहार करते हुए भी उसको एकीभावसे परमात्माकी प्राप्ति होती है अर्थात् सबका अभाव होकर केवल एक विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही शेष रह जाता है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

(१४।१९)

'हे अर्जुन! जिस कालमें द्रष्टा अर्थात् समष्टि चेतनमें एकीभावसे स्थित हुआ साक्षी पुरुष तीनों गुणोंके सिवा

अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता है अर्थात् गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं ऐसा देखता है और तीनों गुणोंसे अति परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है उस कालमें वह पुरुष मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है।'

(ग) साधक अपने तथा सम्पूर्ण चराचर जगत्के बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे सब ओर एक सर्वव्यापक विज्ञानानन्दघन परमात्माको ही परिपूर्ण देखे और अपने शरीरसहित इस सारे दृश्यप्रपंचको भी परमात्माका ही स्वरूप समझे। जैसे आकाशमें स्थित बादलोंके ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर सब ओर एकमात्र आकाश ही परिपूर्ण हो रहा है और स्वयं बादल भी आकाशसे भिन्न नहीं है, क्योंकि आकाशसे वायु, वायुसे तेज और तेजसे जलकी उत्पत्ति होनेसे जलरूप मेघ भी आकाश ही हैं। इसी प्रकार साधक अपने सहित इस सारे ब्रह्माण्डको सब ओर एकमात्र परमात्मासे ही घिरा हुआ एवं परमात्माका ही स्वरूप समझे। वह परमात्मा ही सबकी आत्मा होनेके कारण निकट-से-निकट एवं दूर-से-दूर है। इस प्रकारका निरन्तर अभ्यास करते रहनेसे केवल एक विज्ञानानन्दघन परमात्माकी ही सत्ता रह जाती है और साधक उस परमात्माको एकीभावसे प्राप्त हो जाता है। गीता कहती है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥
(१३। १५)

'वह परमात्मा चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है और वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है तथा अति समीपमें और दूरमें भी स्थित वही है।'

(घ) सम, अनन्त, नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माके साथ साधक अपनेको अभिन्न समझकर अर्थात् स्वयं उस परमात्माका स्वरूप बनकर सारे भूतप्राणियोंको अपने संकल्पके आधार एवं अपनेको उन भूतप्राणियोंके अंदर आत्मारूपसे व्याप्त देखे यानी अपनेको सबका आत्मा समझे। जैसे आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी— इन चारों भूतोंका आधार एवं कारण होनेसे ये सब भूत आकाशमें ही स्थित हैं और इन सबमें आत्मरूपसे अनुस्यूत होनेके कारण आकाश इन सबके अंदर भी है, अथवा जैसे स्वप्नका जगत् स्वप्न देखनेवालेके संकल्पके आधार है और वह स्वयं इस जगत्में तद्रूप होकर समाया हुआ है; उसी प्रकार साधक भी चराचर विश्वको अपने संकल्पके आधार और अपनेको उस विश्वके अंदर आत्मरूपसे देखे। ऐसा अभ्यास करनेपर भी साधकको उस नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(६। २९)

'हे अर्जुन, सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त हुए आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है।' अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है, वैसे ही वह पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्माके अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है।

(ङ) पवित्र और एकान्त स्थानमें सम, स्थिर और सुखपूर्वक आसनसे बैठकर पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द— इन शब्दोंके भावका पुनः-पुनः मनके द्वारा मनन करे। इस प्रकार करते-करते मन तद्रूप बन जाता है। तब इन विशेषणोंसे विशिष्ट परमात्माके स्वरूपका निश्चय होकर बुद्धिके द्वारा उसका ध्यान होने लगता है। इस प्रकार ध्यान करते-करते बुद्धि परमात्माकी तद्रूपताको प्राप्त होकर सविकल्प समाधिमें स्थित हो जाती है, जिसमें उस सच्चिदानन्द परमात्माके शब्द, अर्थ और ज्ञानका ही विकल्प रह जाता है, अर्थात् परमात्माके नाम और रूपका ही वहाँ ज्ञान रहता है। इस प्रकार उस साधककी परमात्माके स्वरूपमें दृढ़ निष्ठा होकर फिर उसकी निर्विकल्प स्थिति हो जाती है, जिसमें केवल अर्थमात्र एक नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माका ही स्वरूप रह जाता है और वह साधक उस परमात्माके परायण हो जाता है अर्थात् परमात्मामें मिल जाता है। उपर्युक्त प्रकारसे साधन करनेवाला पुरुष पापरहित हुआ परमात्माके तत्त्वको जानकर परमगति अर्थात् परमात्माके स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

(२) कर्मयोग

(क) सब कुछ भगवान्का समझकर सिद्धि-असिद्धिमें समत्वभाव रखते हुए आसक्ति और फलकी इच्छाका त्याग करके भगवदाज्ञानुसार केवल भगवान्के ही लिये शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करनेसे तथा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मन, वाणी और शरीरसे सब प्रकार भगवान्की शरण होकर नाम, गुण और प्रभावसहित उनके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करनेसे भगवान्की प्राप्ति शीघ्र हो जाती है।

(ख) परमात्मा ही सबका कारण एवं सबकी आत्मा होनेसे सारे भूतप्राणी परमात्माके ही स्वरूप हैं, ऐसा

समझकर जो मनुष्य भगवत्प्रीत्यर्थ दूसरोंकी स्वार्थरहित, निष्काम सेवा करता है और ऐसा करनेमें अतिशय प्रसन्नता एवं परम शान्तिका अनुभव करता है, उसे इस प्रकारके साधनसे परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है। इस प्रकारकी सेवाके द्वारा परमात्माकी प्राप्तिके अनेकों उदाहरण शास्त्रोंमें मिलते हैं। अभी कुछ ही शताब्दियों पूर्व दक्षिणमें एकनाथजी नामके प्रसिद्ध महात्मा हो चुके हैं। उनके सम्बन्धमें यह इतिहास मिलता है कि वे एक समय गंगोत्रीकी यात्रा करके वहाँका जल काँवरमें भरकर रामेश्वरधामकी ओर जा रहे थे। रास्तेमें बरार प्रान्तमें उन्हें एक ऐसा मैदान मिला, जहाँ जलका बड़ा अभाव था और एक गदहा प्यासके मारे तड़पता हुआ जमीनपर पड़ा था। उसकी प्यास बुझानेके लिये एकनाथजी महाराजने उस जलको, जिसे वे इतनी दूरसे रामेश्वरके शिवलिंगपर चढ़ानेके लिये लाये थे, उस गदहेको भगवान् शंकरका रूप समझकर पिला दिया। इस प्रकार प्रत्येक भूतप्राणीमें परमात्माकी भावना करके उसकी निःस्वार्थभावसे सेवा करनेसे परमात्माकी प्राप्ति सहजमें ही हो जाती है।

(ग) राम, कृष्ण, शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति या विश्वरूप अथवा केवल ज्योतिरूप आदि किसी भी स्वरूपको सर्वोपरि, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् परम दयालु परमात्माका स्वरूप समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादिके द्वारा उनके चित्रपट, प्रतिमा आदिकी अथवा मानसिक* पूजा करनेसे भगवान् प्रकट होकर भक्तको दर्शन देकर कृतार्थ कर देते हैं। गीतामें भी कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(९। २६)

'हे अर्जुन! (मेरे पूजनमें यह सुगमता भी है कि) जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र, पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

(घ) भगवान्‌को ही अपना इष्ट एवं सर्वस्व मानकर प्रेमपूर्वक अनन्यभावसे गुण और प्रभावसहित उनके स्वरूपका निरन्तर तैलधारावत् चिन्तन करते रहनेसे और इस प्रकार चिन्तन करते हुए ही समस्त लौकिक व्यवहार करनेसे भी भगवान् सहजमें ही प्राप्त हो जाते हैं। प्रेमस्वरूपा परम भक्तिमती गोपियोंके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें ऐसा उल्लेख मिलता है कि वे सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, गाय दुहते, गोबर पाथते, बच्चोंको खिलाते-पिलाते, पतियोंकी सेवा करते, धान कूटते, आँगन लीपते, दही बिलोते, झाड़ू लगाते तथा गृहस्थीके अन्य सब धंधोंको करते हुए हर समय भगवान् श्रीकृष्णका मनसे चिन्तन और वाणीसे गुणानुवाद करती रहती थीं—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४४। १५)

गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(८। ७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

(ङ) कठिनसे भी कठिन विपत्ति आनेपर, यहाँतक कि मृत्यु उपस्थित होनेपर भी उस विपत्ति अथवा मृत्युको अपने प्रियतम भगवान्‌का भेजा हुआ मंगलमय विधानरूप पुरस्कार समझकर उसे प्रसन्नतापूर्वक सादर स्वीकार करनेसे और किंचिन्मात्र भी विचलित न होनेसे तथा उस विपत्ति अथवा मृत्युके रूपमें अपने इष्टदेवका ही दर्शन करते रहनेसे अति शीघ्र भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। जैमिनीयाश्वमेधमें भक्त सुधन्वाकी कथा आती है। उसे जब पिताने उबलते हुए तेलके कड़ाहमें डालनेकी आज्ञा दी तो वह भगवान्‌को स्मरण करता हुआ सहर्ष उसमें कूद पड़ा; किन्तु तेल उसके शरीरको नहीं जला सका। भक्तशिरोमणि प्रह्लादका चरित्र तो प्रसिद्ध ही है। वे तो अपने पिताके दिये हुए प्रत्येक दण्डमें अपने इष्टदेवका ही दर्शन करते थे, जिससे उन्हें सहजहीमें भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी। इस प्रकार भयंकर-से-भयंकर रूपमें भी अपने प्रियतमका दर्शन करनेवाले भक्तको सहजहीमें भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है।

(च) राम, कृष्ण, शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति आदि किसी भी नामको भगवान्‌का ही नाम समझकर निष्काम प्रेमसहित केवल जप करनेसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। शास्त्रोंमें नाम और नामीमें अभेद माना गया है

* मानसिक पूजा तथा ध्यानकी विधिके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित 'प्रेमभक्तिप्रकाश' नामक पुस्तक देखनी चाहिये।

और गीतामें भी भगवान्‌ने नाम-जपको अपना ही स्वरूप बतलाया है—'**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।**' यों तो नामकी सभी युगोंमें महिमा है; परन्तु कलियुगमें तो उसका विशेष महत्त्व है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(नारदपु० १।४१।१५)

गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है—

कलिजुग केवल नाम अधारा।
सुमिरि सुमिरि भव उतरहु पारा॥

यह जप वाणीसे, मनसे, श्वाससे, नाड़ीसे कई प्रकारसे हो सकता है। जिस किसी प्रकारसे भी हो; निष्कामभावसे तथा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक करनेसे इससे शीघ्र ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। योगसूत्रमें भी कहा है—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। (२।४४)

'स्वाध्याय अर्थात् गुण और नामके कीर्तनसे इष्टदेवताकी प्राप्ति हो जाती है।'

(छ) महान् पुरुषोंका अर्थात् भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषोंका श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक संग करनेसे भी संसारके विषयोंसे वैराग्य एवं भगवान्‌में अनन्य प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है। देवर्षि नारदने अपने भक्तिसूत्रमें कहा है—

महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च। (३९)

महान् पुरुषोंका संग बड़ा दुर्लभ है और मिल जानेपर उन्हें पहचानना कठिन है, किन्तु पहचानकर उनका संग करनेसे परमात्मस्वरूप महान् फलकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है; क्योंकि महत्पुरुषोंका संग कभी निष्फल नहीं होता। महान् पुरुषोंका संग बिना जाने करनेसे भी वह खाली नहीं जाता क्योंकि वह अमोघ है। योगदर्शनमें तो यहाँतक कहा है कि महत्पुरुषोंके चिन्तनमात्रसे चित्तवृत्तियोंका निरोध होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है—

वीतरागविषयं वा चित्तम्। (१।३७)

(ज) गीतामें कहे हुए उपदेशोंके यथाशक्ति पालन करनेका उद्देश्य रखकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अर्थ एवं भावसहित उसका अध्ययन करनेसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने भी स्वयं गीताके अन्तमें कहा है—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥

(१८।७०)

'हे अर्जुन! जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है।'

(झ) सब भूतोंके सुहृद् परमात्माकी अपने ऊपर अहैतुकी दया एवं परम प्रेम समझकर क्षण-क्षणमें उसे याद करके मुग्ध होनेसे मनुष्य परम पवित्र होकर परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

(ञ) माता, पिता, आचार्य, महात्मा, पति, स्वामी आदि अपने किसी भी अभीष्ट व्यक्तिमें परमेश्वरबुद्धि करके श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनकी सेवा अथवा ध्यान करनेसे भी चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। योगसूत्रमें भी कहा है—

'**यथाभिमतध्यानाद्वा।**' (१।३९)

इसी प्रकार और भी बहुत-से अन्य उपाय श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थोंमें बताये गये हैं। ऊपर बताये हुए साधनोंमेंसे जो मनको रुचिकर एवं अनुकूल प्रतीत हो, उस किसी भी एक साधनका अभ्यास करनेसे परम गतिरूप परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

यदि कहें कि जिसकी मृत्यु आज ही होनेवाली है, क्या वह भी इस प्रकारसे साधन करके परम कल्याणको प्राप्त हो सकता है? हाँ, यदि प्रेमभावसे भजन-ध्यान तत्परताके साथ मृत्युके क्षणतक निरन्तर किया जाय तो ऐसा हो सकता है। भगवान्‌के वचन हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८।५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८।१४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

अन्तमें जो लोग नियमित रूपसे साधन करना चाहते हैं, उनके लिये कुछ थोड़ेसे सामान्य नियम तथा साधन जो अवश्य ही करने चाहिये, नीचे बताये जाते हैं—

प्रातःकाल सोकर उठते ही सबसे पहले भगवान्‌का स्मरण करना चाहिये और फिर शौच-स्नानादि आवश्यक कृत्यसे निवृत्त होकर यथासमय (सूर्योदयसे पूर्व) सन्ध्या तथा गायत्री-मन्त्रका कम-से-कम १०८ जप करे। फिर इनके साथ-साथ गीताके कम-से-कम एक अध्यायका

अर्थसहित पाठ तथा षोडश मन्त्रकी १४ माला या अपने इष्टदेवके नामका २२,००० जप प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये। तथा परमात्माके गुणप्रभावसहित अपने इष्टस्वरूपका ध्यान तथा मानसिक पूजा करे। इसके अनन्तर यदि घरमें कोई देवविग्रह हो तो उसका शास्त्रोक्त विधिसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पूजन करे, माता-पिता तथा अन्य गुरुजनोंको प्रणाम करे तथा हवन, तर्पण एवं बलिवैश्वदेव करके फिर भगवान्‌को अर्पण कर और अतिथि-सत्कार करके भोजन करे। इसी प्रकार सायंकालको भी यथासमय (सूर्यास्तसे पूर्व) सन्ध्या और गायत्रीका जप करे तथा प्रातःकालकी भाँति ही नाम-जप, ध्यान और मानसिक पूजा करे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीन वर्णोंको छोड़कर अथवा इनमेंसे भी जिनका उपनयनसंस्कार नहीं हुआ हो उन्हें सन्ध्या तथा गायत्री-जप नहीं करना चाहिये।

भगवत्प्राप्तिके चार साधनोंकी सुगमताका रहस्य

ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग आदि साधन करनेके विषयमें उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, योगदर्शन, श्रीमद्भागवत और गीता आदि शास्त्रोंको देखनेपर अधिकांश मनुष्योंको चित्तमें अनेक प्रकारकी शंकाएँ उठा करती हैं और किसी-किसीके चित्तमें तो किंकर्तव्यविमूढ़ताका-सा भाव आ जाता है।

उपनिषद् और ब्रह्मसूत्रको देखकर जब वेदान्तके सिद्धान्तके अनुसार साधक जगत्‌को स्वप्नवत् समझता हुआ सम्पूर्ण संकल्पोंका यानी स्फुरणामात्रका और जिन वृत्तियोंसे संसारके चित्रोंका अभाव किया, उनका भी त्याग करके केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अभेदरूपसे नित्य-निरन्तर स्थित रहनेका अभ्यास करता है, तब आलस्यके कारण चित्तकी वृत्तियाँ मायामें विलीन हो जाती हैं और साधक कृतकार्य नहीं होने पाता। ऐसी अवस्थामें विचारवान् पुरुष भी चिन्तातुर-सा हो जाता है। बहुत-से जो इस तत्त्वको नहीं जानते हैं वे तो इस लय-अवस्थाको ही समाधि समझकर अपनी ब्रह्ममें स्थिति मान बैठते हैं। उस सुषुप्तिका जो तामस सुख है उसको ही वे ब्रह्मप्राप्तिका सुख मानकर गाढ़ निद्रामें अधिक सोना ही पसंद करते हैं। जो इस प्रकार भ्रमसे निद्रासुखको मानते हुए विशेष समय सोनेमें ही बिता देते हैं, अज्ञानके कारण उनका जीवन नष्टप्राय हो जाता है। किन्तु जो विवेकशील इस निद्राके सुखको तामस सुख मानते हुए इस लयदोषसे अपनेको बचाना चाहते हैं, वे भी बलात् आलस्य और निद्राके शिकार बन जाते हैं। अतएव इनको क्या करना कर्तव्य है?

जब साधक योगदर्शनके अनुसार एकान्तमें बैठकर ध्यानयोगद्वारा चित्तकी वृत्तियोंके निरोधरूप समाधि लगानेकी चेष्टा करता है तब विक्षेप और आलस्यदोषके कारण चित्त उकता जाता है। उनमें भी आलस्य तो इतना घेर लेता है कि साधक तंग आ जाता है। आलस्यमें स्वाभाविक ही आराम प्रतीत होता है, इससे साधकका स्वभाव तामसी बनकर उसे साधनसे गिरा देता है बुद्धि और विवेकद्वारा आलस्यको हटानेके लिये साधक अनेक प्रकारसे प्रयत्न करता है। भोजन भी सात्त्विक और अल्प करता है। आसन लगाकर भी बैठता है। विशेष शारीरिक परिश्रम भी नहीं करता। रोगनिवृत्तिकी भी चेष्टा करता रहता है। समयपर सोनेकी चेष्टा रखता है। इस प्रकार प्रयत्न करनेपर भी मनुष्यको आलस्य दबा लेता है। इसलिये साधक कृतकार्य हो नहीं पाता और किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो जाया करता है। ऐसी अवस्थामें उसे क्या करना चाहिये?

कितने ही जो श्रीमद्भागवतमें बतायी हुई नवधा भक्तिके अनुसार जप, स्तुति, प्रार्थना, ध्यान, सेवा-पूजा, नमस्कार आदि करते हुए अपने समयको बिताते हैं, उन लोगोंको भी जैसा आनन्द आना चाहिये वैसा आनन्द नहीं आता और उनका चित्त साधनसे ऊब जाता है तथा अकर्मण्यता बढ़ जाती है। एवं कितने ही लोग भगवान्‌की रासलीलाको देखकर प्रसन्न होते हैं; किन्तु उनमें भी झूठ, कपट, हँसी, मजाक, विलासिता आदि दोष देखनेमें आ जाते हैं।

दूसरे जो गीतोक्त भक्तियुक्त कर्मयोगकी दृष्टिसे अपनी बुद्धिके अनुसार स्वार्थ, आराम और आसक्तिको त्यागकर लोकोपकारकी बुद्धिसे लोकसेवारूप निष्काम कर्मका साधन करते हैं, उनके चित्तमें भी अनेक प्रकारकी स्फुरणाएँ और विक्षेप होते हैं, इससे उनको बड़ा झंझट-सा प्रतीत होने लगता है और भगवत्-स्मृति भी काम करते हुए निरन्तर नहीं होती, अतः उनके चित्तमें उकताहट पैदा हो जाती है। न कर्मयोगकी सिद्धि होती है और न काम करते हुए भजन-ध्यानरूप ईश्वरभक्ति ही बनती है; इसलिये वे तंग आकर यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि उस लोकोपकाररूप शुभ कर्मोंको स्वरूपसे ही छोड़नेकी इच्छा करने लगते हैं। जब एकान्तमें जाकर ध्यान करने बैठते हैं तब आलस्य आने लगता है, इसलिये वे भी किंकर्तव्यविमूढ़-से हो जाते हैं। ऐसी परिस्थितमें कैसे क्या करना चाहिये?

इसी प्रकार परमात्माकी प्राप्तिके और भी जितने साधन शास्त्रोंमें बतलाये हैं तथा महात्मालोग बतलाते हैं उन सभी साधनोंको करनेवाले साधकोंको कार्यकी सिद्धि कठिन-सी प्रतीत होती है। किन्तु बहुत-से महात्मा और शास्त्र साधनोंको सहज और सुगम बतलाते हैं एवं उनका परिणाम भी सर्वोत्तम बतलाते हैं तथा विचारनेपर युक्तियोंसे भी यह बात ऐसी ही समझमें आती है। फिर भी उपर्युक्त साधन उन्हें सुगम क्यों नहीं प्रतीत होते तथा सभी पुरुष प्रयत्न क्यों नहीं करते; क्योंकि सभी क्लेश, कर्म और दुःखोंसे रहित होकर सुख-शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं। फिर वे कृतकार्य नहीं होते—इसका क्या कारण है? ऐसे-ऐसे बहुत-से प्रश्न साधकोंकी ओरसे आते हैं; अतः इनपर कुछ विचार किया जाता है।

देहाभिमान रहनेके कारण तो ज्ञानयोगमें और आलस्यके कारण ध्यानयोगमें तथा तत्त्व और रहस्यको न जाननेके कारण भक्तियोगमें एवं स्वार्थ-बुद्धि होनेके कारण कर्मयोगमें कठिनता प्रतीत होती है, पर वास्तवमें कठिनता नहीं है।

परमात्माकी प्राप्तिके सभी साधन सुगम होनेपर भी सुगम माननेसे सुगम हैं और दुर्गम माननेसे दुर्गम हैं। श्रद्धापूर्वक तत्त्व और रहस्य समझकर साधन करनेसे सभी साधन सुगम हो सकते हैं। इनमें भी भक्तिसहित कर्मयोग या केवल भगवान्‌की भक्ति सबके लिये बहुत ही सुगम है।

किन्तु प्रायः सभी मनुष्य अज्ञानके कारण आलस्य, भोग और प्रमादके वशीभूत हो रहे हैं। इसलिये परमात्माकी प्राप्तिके साधनोंके तत्त्व, रहस्य और प्रभावको नहीं जानते। अतः उन्हें ये सब कठिन प्रतीत होते हैं तथा इसी कारण उनमें श्रद्धा और प्रेमकी कमी रहती है और इसीसे सभी लोग साधनमें नहीं लगते।

शास्त्रोंमें जो अनेक उपाय बतलाये हैं वे अधिकारीके भेदसे सभी ठीक हैं; किन्तु इस तत्त्वको न जाननेके कारण साधक कभी किसी साधनमें लग जाता है और कभी किसीमें। बहुत-से तो इस हेतुसे कृतकार्य नहीं होते और बहुत-से अपनेको क्या करना कर्तव्य है इस बातको न समझकर अपनी योग्यताके विपरीत साधनका आरम्भ कर देते हैं—इस कारण भी कृतकार्य नहीं होते और कितने ही विवेकी पुरुष अपनी योग्यताके अनुसार कार्य करते हुए भी उसका तत्त्व और रहस्य न जाननेके कारण अहंता, ममता, अज्ञान, राग-द्वेष, संशय, भ्रम, अश्रद्धा आदि स्वभावदोष तथा पूर्वसंचित पाप और कुसंगके कारण शीघ्र कृतकार्य नहीं होने पाते। इसलिये उन पुरुषोंको महात्माओंका संग करके उपर्युक्त ज्ञानयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग आदिका तत्त्व-रहस्य समझकर अपनी रुचि और अधिकारके अनुसार महात्माके बतलाये हुए किसी एक साधनको विवेक, वैराग्य और धैर्ययुक्त बुद्धिसे आजीवन करनेका निश्चय करके उसी साधनके लिये तत्परताके साथ प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकार श्रद्धा-भक्तिपूर्वक साधन करनेसे साधकके सम्पूर्ण दुर्गुणोंका, पापोंका और दुःखोंका मूलसहित नाश हो जाता है। एवं वह कृतकृत्य होकर सदाके लिये परमानन्द और परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

ज्ञानयोगका साधन देहाभिमानसे रहित होकर करना चाहिये। सच्चिदानन्द परमात्मामें अभेदरूपसे स्थित होकर व्यवहारकालमें तो सम्पूर्ण दृश्यवर्गको 'गुण ही गुणोंमें बर्त रहे हैं अर्थात् इन्द्रियाँ अपने अर्थोंमें बर्त रही हैं'—ऐसा मानकर उन सारे पदार्थोंको मृगतृष्णाके जल या स्वप्नके सदृश अनित्य समझना चाहिये। और ध्यानकालमें वृत्तियोंसहित सम्पूर्ण पदार्थोंके संकल्पोंका त्याग करके केवल एक नित्य विज्ञानरूप परमात्मामें ही अभेदरूपसे स्थित होना चाहिये। ऐसी अवस्थामें चिन्मय (विज्ञानमय)का लक्ष्य न रहनेके कारण स्वाभाविक आलस्यदोषसे लयवृत्ति हो जाती है अर्थात् मनुष्यकी तन्द्रा-अवस्था हो जाती है। इसलिये ध्यानावस्थामें केवल ज्ञानकी दीप्ति यानी चेतनताकी बहुलता रहना अत्यावश्यक है। क्योंकि जहाँ ज्ञान है, वहाँ अज्ञान और अज्ञानके कार्यरूप निद्रा, आलस्य और लय आदि दोषोंका रहना सम्भव नहीं। इस रहस्यको जाननेवाले वेदान्तमार्गी विवेकी पुरुष निद्रा और आलस्यके शिकार न बनकर कृतकृत्य हो जाते हैं।

पातंजलयोगदर्शनके अनुसार साधन करनेवालोंको भी आत्मसाक्षात्कारके लिये केवल चितिशक्ति अर्थात् गुणोंसे रहित केवल चेतनका ही ध्यान रखना चाहिये। इस प्रकार जहाँ केवल चेतनका ही लक्ष्य रहता है वहाँ जैसे सूर्यके पास अन्धकार नहीं आ सकता वैसे ही उनके पास भी निद्रा-आलस्य नहीं आ सकते। अतएव इनको भी युक्त आहार, निद्रा और आसन आदिका पालन करते हुए विशेषरूपसे विज्ञानमय चेतनताकी तरफ ही लक्ष्य रखना चाहिये। इस प्रकार उस शुद्ध निरतिशय ज्ञानमय परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान करनेसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश हो जाता है साधक कृतार्थ हो जाता है।

परमेश्वर और उसकी प्राप्तिके साधनोंमें श्रद्धा और प्रेमकी कमी होनेके कारण ही साधन करनेमें उत्साह नहीं होता। आरामतलब स्वभावके कारण आलस्य और अकर्मण्यता बढ़ जाती है इसीसे उन्हें परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये श्रीमद्भागवतमें बतलायी हुई नवधा भक्तिका तत्त्व-रहस्य महापुरुषोंसे

समझकर श्रद्धा और प्रेमपूर्वक तत्परताके साथ भक्तिका साधन करना चाहिये।

भगवान्‌के रासका विषय तो अत्यन्त ही गहन है। भगवान् और भगवान्‌की क्रीडा दिव्य, अलौकिक, पवित्र, प्रेममय और मधुर है। जो माधुर्यरसके रहस्यको जानता है, वही उससे लाभ उठा सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण और गोपियोंकी जो असली रासक्रीडा थी, उसको तो जाननेवाले ही संसारमें बहुत कम हैं। उनकी वह क्रीडा अति पवित्र, अलौकिक और अमृतमय थी। वर्तमानमें होनेवाले रासमें तो बहुत-सी कल्पित बातें भी आ जाती हैं तथा अधिकांशमें रास करनेवाले आर्थिक दृष्टिसे ही करते हैं। उनका उद्देश्य दर्शकोंको प्रसन्न करना ही रहता है। इसलिये दर्शकोंके चित्तपर यह असर पड़ता है कि भगवान् भी ये सब आचरण किया करते थे तथा यह बात स्वाभाविक ही है कि साधक जो इष्टमें देखता है, वह बात उसमें भी आ जाती है। भगवान्‌के तत्त्व और रहस्यको न जाननेके कारण उनकी प्रेममय लीला काममय दीखने लगती है और निर्दोष बात दोषयुक्त प्रतीत होने लगती है। इस कारण ही देखनेवाले किसी-किसी स्त्री-पुरुष और बालकोंमें झूठ, कपट, हँसी, मजाक, विलासिता आदि दोष आ जाते हैं। अतः सर्वसाधारणको तो भागवतमें बतलायी हुई नवधा भक्तिका* साधन ही करना चाहिये।

जिन्हें माधुर्य रसवाली प्रेमलक्षणा भक्तिकी ही इच्छा हो उनको भी प्रथम नवधा भक्तिका अभ्यास करना चाहिये; क्योंकि बिना नवधा भक्तिका अभ्यास किये वह साधक प्रेमलक्षणा भक्तिका सच्चा पात्र नहीं बन सकता और उस प्रेमलक्षणा भक्तिका रहस्य भगवत्प्राप्त पुरुष ही बतला सकते हैं। इसलिये उस प्रेमलक्षणा भक्तिके जिज्ञासुओंको उन महापुरुषोंके संग और सेवाद्वारा उसका तत्त्व और रहस्य समझकर उसका साधन करना चाहिये।

गीतोक्त भक्तियुक्त कर्मयोगके साधकोंको तो भगवान्‌पर ही भरोसा रखकर सारी चेष्टाएँ करनी चाहिये। सब समय भगवान्‌को याद रखते हुए ही भगवान्‌में प्रेम होनेके उद्देश्यसे भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार ही सारे कर्म करने चाहिये। अथवा अपनी बागडोर भगवान्‌के हाथमें सौंप देनी चाहिये, जिस प्रकार भगवान् करवावें वैसे ही कठपुतलीकी भाँति कर्म करे। इस प्रकार जो अपने आपको भगवान्‌के हाथमें सौंप देता है उसके द्वारा शास्त्रनिषिद्ध कर्म तो हो ही नहीं सकते। यदि शास्त्रविरुद्ध किंचिन्मात्र भी कर्म होता है तो समझना चाहिये कि हमारी बागडोर भगवान्‌के हाथमें नहीं है, कामके हाथमें है; क्योंकि अर्जुनके इस प्रकार पूछनेपर—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(गीता ३। ३६)

'हे कृष्ण! यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?' स्वयं भगवान्‌ने कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

'हे अर्जुन! रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान।'

इसके अतिरिक्त शास्त्रानुकूल कर्मोंमें भी उससे काम्य कर्म नहीं होते। यज्ञ, दान, तप और सेवा आदि सम्पूर्ण कर्म केवल निष्काम भावसे हुआ करते हैं। भगवदर्थ या भगवदर्पण कर्म करनेवाले पुरुषके द्वारा दृढ़ अभ्यास होनेपर भगवत्स्मृति होते हुए ही सारे कर्म होने लगते हैं। तभी तो भगवान्‌ने कहा है कि—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

(गीता ८। ७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब कालमें मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर।'

अतएव हमलोगोंको भी इसी प्रकार अभ्यास डालना चाहिये। भगवदर्थ या भगवदर्पण कर्म तो साक्षात् भगवान्‌की ही सेवा है। यह रहस्य समझनेके बाद उसे प्रत्येक क्रियामें प्रसन्नता और शान्ति ही मिलनी चाहिये। क्या पतिव्रता स्त्रीको कभी पतिके अर्थ या पतिके अर्पण किये हुए कर्मोंमें झंझट प्रतीत होता है? यदि होता है तो वह पतिव्रता कहाँ? कोई स्त्री पतिके नामका जप और स्वरूपका ध्यान तो करती है; किन्तु पतिकी सेवाको झंझट समझकर उससे जी चुराती है, वह क्या कभी पतिव्रता कही जा सकती है? वह तो पतिव्रतधर्मको ही नहीं जानती। जो सच्ची

* श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ (श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

१. भगवान्‌के नाम और गुणोंका श्रवण, २. कीर्तन, ३. भगवान्‌का स्मरण, ४. भगवान्‌के चरणोंकी सेवा, ५. भगवद्-विग्रहका पूजन, ६. भगवान्‌को प्रणाम करना, ७. अपनेको भगवान्‌का दास समझकर उनकी सेवामें तत्पर रहना, ८. अपनेको भगवान्‌का सखा मानकर उनसे प्रेम करना और ९. भगवान्‌को आत्मसमर्पण करना—यही नौ प्रकारकी भक्ति है।

पतिव्रता स्त्री होती है वह तो पतिको अपने हृदयमें रखती हुई ही पतिके आज्ञानुसार उसकी सेवा करती हुई हर समय पतिप्रेममें प्रसन्न रहती है। पतिकी प्रत्येक आज्ञाके पालनमें उसकी प्रसन्नता और शान्तिका ठिकाना नहीं रहता। फिर साक्षात् परमेश्वर-जैसे पतिकी आज्ञाके पालनमें कितनी प्रसन्नता और शान्ति होनी चाहिये। अतएव जिन्हें भगवदर्थ या भगवदर्पण कर्मोंमें झंझट प्रतीत होता है वे न कर्मोंके, न भक्तिके और न भगवान्‌के ही तत्त्वको जानते हैं।

एक राजाका चपरासी राजाकी आज्ञाके अनुसार किसी भी राजकार्यको करता है तो उसे हर समय यह खयाल रहता है कि मैं राजाका कर्मचारी हूँ—राजाका चपरासी हूँ। फिर भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार भगवत्-कार्य करनेवाले भगवद्भक्तको हर समय यह भाव क्यों नहीं रहना चाहिये कि मैं भगवान्‌का सेवक हूँ।

जो भगवत्कार्य करते हुए भगवान्‌को भूल जाते हैं वे खास करके सभी कार्योंको भगवान्‌के कार्य नहीं मानते, अपना कार्य मानने लग जाते हैं। इसी कारण वे भगवान्‌के नाम और रूपको भूल जाते हैं। अतएव साधकोंको दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये कि सारे संसारके पदार्थ भगवान्‌के ही हैं। जैसे कोई भृत्य अपने स्वामीका कार्य करता है तो यही समझता है कि यह स्वामीका ही है, मेरा नहीं; अर्थात् स्वामीकी नौकरी करनेवाले उस भृत्यका क्रियाओंमें, उनके फलमें एवं पदार्थोंमें सदा सर्वदा यही निश्चय रहता है कि ये सब स्वामीके ही हैं। उसी प्रकार साधकको भी सम्पूर्ण पदार्थोंको, क्रियाओंको और अपने आपको परमात्माकी ही वस्तु समझनी चाहिये। साधारण स्वामीकी अपेक्षा परमात्मामें यह और विशेषता है कि परमात्मा प्रत्येक क्रिया और पदार्थोंमें व्याप्त होकर स्वयं स्थित है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ और क्रियामें स्वामीका जो निश्चय और स्मरण है वह स्वामीका भजन ही है। इसलिये उपर्युक्त तत्त्वको जाननेवाले पुरुषको उस परमात्माकी विस्मृति होना सम्भव नहीं। यदि स्मृति निरन्तर नहीं होती तो समझना चाहिये कि वह तत्त्वको यथार्थरूपसे नहीं जानता। अतएव हमलोगोंको सम्पूर्ण संसारके रचयिता लीलामय परमात्माको सर्वदा और सर्वत्र व्याप्त समझते हुए उसकी आज्ञाके अनुसार उसके लिये ही कर्म करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकारका अभ्यास करते-करते परमात्माका तत्त्व और रहस्य जान लेनेपर न तो कर्मोंमें उकताहट ही होगी और न भगवान्‌की विस्मृति ही होगी, बल्कि भगवत्-स्मरण और भगवदाज्ञाके पालनसे प्रत्येक क्रिया करते हुए शरीरमें प्रेमजनित रोमांच होगा और पद-पदपर अत्यन्त प्रसन्नता और परम शान्तिका अनुभव होता रहेगा।

कल्याणप्राप्तिकी कई युक्तियाँ

सभी कार्योंमें स्वार्थत्याग प्रधान है। किसी भी वैध कार्यमें स्वार्थका त्याग होनेसे नीच-से-नीच प्राणीका भी कल्याण हो जाता है।

उतने ही भोगोंका अनासक्त भावसे ग्रहण किया जाय जितने शरीर-निर्वाहके लिये आवश्यक हैं। तथा केवल आसक्तिका त्याग कर देनेसे भी कल्याण हो जाता है।

जो कुछ भी कार्य करे उसमें अहंकारका त्याग कर दे। किसी भी उत्तम कार्यमें अहंकारको पास न आने दे।

घरमें भगवान्‌की मूर्ति रखकर भक्तिभावसे उसकी पूजा, आरती, स्तुति एवं प्रार्थना करनेसे भी कल्याण हो जाता है।

प्रतिदिन नियमपूर्वक एकान्तमें बैठकर मनसे सम्पूर्ण संसारको भूल जावे। इस प्रकार संसारको भुला देनेसे केवल एक चैतन्य आत्मा शेष रह जायगा। तब उस चैतन्य स्वरूपका ध्यान करे। ध्यान करनेसे समाधि हो जाती है और मुक्ति हो जाती है।

यह नियम ले ले कि शरीरसे वही कार्य निष्काम भावके साथ किया जायगा कि जिससे दूसरेका उपकार हो। इसके समान कोई भी धर्म नहीं है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने कहा है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

इस नियमको धारण कर लेनेसे भी संसारसे मुक्ति हो जाती है।

यदि इन्द्रियाँ और मन वशमें हों तो भगवान्‌का ध्यान ही सबसे बढ़कर कल्याणका साधन है। यदि मन, इन्द्रियाँ वशमें न हों तो ऐसी अवस्थामें बिना किसी कामनाके केवल आत्माके कल्याणके लिये व्रत एवं उपवास आदिका साधन करना चाहिये। परमात्माकी प्राप्तिके अतिरिक्त उनसे और कुछ भी कामना नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार साधन करनेसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है। सारांश यह है कि यदि मन एवं इन्द्रियाँ वशमें हों तब तो ध्यानयोगका साधन करे। नहीं तो बिना किसी कामनाके केवल भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही तप एवं उपवास आदिका साधन करे। लेकिन इन सबसे भी सुगम उपाय तो भजन ही है।

उठते, बैठते, चलते हर समय नामहीका जप किया जाय। नामको कभी भी न भूले, यह भगवत्प्राप्तिका बहुत सुगम उपाय है। कहा भी है—

कलिजुग केवल नाम अधारा।
सुमिरि सुमिरि भव उतरहु पारा॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू।
अपने बस करि राखे रामू॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ।
भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥

एक ऐसा साधन भी है कि जिससे हर समय आनन्द रहता है और जिसमें परिश्रम भी नहीं करना पड़ता। वह है आनन्दमयका अभ्यास '**आनन्दमयोऽभ्यासात्।**' (ब्र० सू० १। १। १२) आनन्द परमात्माका स्वरूप है। चारों तरफ बाहर-भीतर आनन्द-ही-आनन्द भरा हुआ है, सारे संसारमें आनन्द छाया हुआ है। यदि ऐसा दिखलायी न दे तो वाणीसे केवल कहते रहो और मनसे मानते रहो। जलमें डूब जाने, गोता खा जानेके समान निरन्तर आनन्दहीमें डूबा रहे और गोता लगाता रहे। रात-दिन आनन्दमें मग्न रहे। किसीकी मृत्यु हो जाय, घरमें आग लग जाय अथवा और भी कोई अनिष्ट कार्य हो जाय तो भी आनन्द-ही-आनन्द, कुछ भी हो केवल आनन्द-ही-आनन्द। इस प्रकारका अभ्यास करनेसे सम्पूर्ण दु:ख एवं क्लेश नष्ट हो जाते हैं। वाणीसे उच्चारण करे तो केवल आनन्दहीका, मनसे मनन करे तो आनन्दहीका तथा बुद्धिसे विचार करे तो आनन्दहीका; परन्तु यदि ऐसी प्रतीति न हो तो कल्पितरूपसे ही आनन्दका अनुभव करे। इसका भी फल बहुत अच्छा होता है। ऐसा करते-करते आगे चलकर नित्य आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। इस साधनको सब कर सकते हैं। पुराने जमानेमें मुसलमानोंके राज्यमें हिंदुओंसे कहा गया कि तुम मुसलमान मत बनो, हिंदू ही रहो एवं हिंदूधर्मका ही पालन करो, केवल मुसलमानोंमें अपना नाम लिखा दो। कोई पूछे तो कहो कि हम मुसलमान हैं। इसमें तुम्हारा क्या बिगड़ता है। उन्होंने यह बात स्वीकार कर ली। आगे चलकर उनकी सन्तानसे काजियोंने कहा कि तुम तो मुसलमान हो इसलिये मुसलमानोंके धर्मका पालन करो। अन्तमें यहाँतक हुआ कि वे लोग कट्टर मुसलमान बन गये। इसी प्रकार हमलोगोंको भी यह निश्चय कर लेना चाहिये कि हम सब एक आनन्द ही हैं। ऐसा निश्चय कर लेनेसे आनन्द-ही-आनन्द हो जायगा।

भगवान्‌की मूर्ति या चित्रको सामने रखकर तथा आँखें खोलकर उनके नेत्रोंसे अपने नेत्र मिलावे। त्राटककी भाँति आँख खोलकर उसमें ध्यान लगा दे। ध्यानके समय यह विश्वास रखे कि इसमें भगवान् प्रकट होंगे। विश्वासपूर्वक ऐसा ध्यान करनेपर इससे भी भगवान् मिल जाते हैं। यह भी भगवत्प्राप्तिका सुगम साधन है।

वृक्ष, पत्थर, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि संसारकी जो भी वस्तुएँ दिखलायी दें उन सबमें यह भाव करे कि भगवान्‌ने ही ये सब रूप धारण कर रखे हैं। मनसे कहे जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहीं जाओ, सब रूप तो भगवान्‌ने ही धारण कर रखे हैं। जो भी वस्तुएँ दिखलायी देती हैं वे सब परमात्मा नारायणका ही रूप हैं। सारे संसारमें सबको भगवान्‌का रूप समझकर मन-ही-मन भगवद्बुद्धिसे सबको प्रणाम करे। एक परमात्माने ही अनन्त रूप धारण कर लिये हैं, इस प्रकारके अभ्याससे भी कल्याण हो जाता है। इस प्रकार शास्त्रोंमें बहुत उपाय बतलाये गये हैं। जिसको जो सुगम मालूम पड़े उसको उसीका साधन करना चाहिये। क्योंकि उनमेंसे किसी भी एकका साधन करनेसे कल्याण हो सकता है।

वृत्तियाँ दो हैं—अनुकूल और प्रतिकूल। जो मनको अच्छी लगे वह अनुकूल एवं जो मनके विरुद्ध हो वह प्रतिकूल कही जाती है। कोई भी काम जो मनके अनुकूल होता है उसमें स्वाभाविक ही प्रसन्नता होती है और जो मनके प्रतिकूल होता है उसमें दु:ख होता है। उस दु:खको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर उसमेंसे प्रतिकूलताको निकाल दे और यह विचार करे कि जो कुछ भी होता है भगवान्‌की इच्छासे होता है। भगवान्‌की इच्छाके बिना पेड़का एक पत्तातक नहीं हिल सकता।

हमलोग अनुकूलमें तो प्रसन्न होते हैं और प्रतिकूलमें द्वेष करते हैं। भला इस प्रकार कहीं भगवान् मिल सकते हैं? भगवान्‌की प्रसन्नतामें ही प्रसन्नताका निश्चय करना चाहिये। जो बात मनके अनुकूल होती है उसमें तो ऐसा निश्चय करनेमें कोई कठिनाई है ही नहीं, लेकिन जो मनके प्रतिकूल हो उसको अनुकूल बना लेना चाहिये। स्मरण रखना चाहिये कि भगवान्‌के प्रतिकूल तो वह है नहीं, उनके प्रतिकूल होता तो होता ही कैसे? इस साधनसे भी उद्धार हो सकता है।

वाणीसे सत्य बोले, व्यवहार सत्य करे, सत्यका आचरण करे। इससे कल्याण हो जाता है।

साँच बरोबर तप नहीं झूठ बरोबर पाप।
जाके हिरदै साँच है ता के हिरदै आप॥

संसारके जितने पदार्थ जिस रूपमें दिखलायी देते हैं वे सब सचमुच नाशवान् हैं। वे जैसे हैं हमारी आँखोंके सामने हैं। उन सब पदार्थोंमें समबुद्धि कर ले। उनमेंसे भेदभाव उठा दे। किसी भी वस्तुमें भेद न रखे। जैसे

शरीरमें अपनापन है, भेद नहीं, अंगोंमें अन्तर नहीं; इसी तरह एक-दूसरेसे भेद न रखे। सबमें समता कर ले, भेदबुद्धि उठा दे। इस भेदबुद्धिके उठानेसे भी कल्याण हो जायगा।

गंगाजीके प्रवाहका, हवा, पशु, पक्षी आदिका जो भी शब्द सुनायी दे उसमें ऐसी भावना करे कि शब्द ही भगवान् है। किसी प्रकारका भी शब्द सुनायी क्यों न दे। '**नादं ब्रह्म**' शब्दको ही ब्रह्म समझे। जो कुछ भी सुनायी दे वह भगवान् है। चाहे कोई गाली दे, चाहे आशीर्वाद दे, दोनोंको ही भगवान् समझे। यदि गाली सुनकर हमें दु:ख होता है तो फिर हमने शब्दको भगवान् कहाँ समझा? भगवान् समझनेपर तो आनन्द-ही-आनन्द होगा। भगवान्के दर्शनोंसे जो आनन्द हो, गाली सुननेसे भी उसी आनन्दका अनुभव करे। इस बातसे भी कल्याण हो जाता है।

संकल्पमात्र (स्फुरणामात्र) को भगवान्का स्वरूप समझकर एकान्तमें आँखें मीचकर बैठ जावे। मन जहाँ जाता है और जो कुछ देखता है सब भगवान् है ऐसी भावना करे। यह निश्चय कर ले कि मेरा मन भगवान्के सिवा और किसी भी वस्तुका चिन्तन ही नहीं करता है। मन घट, पट आदि जिस किसी भी पदार्थका चिन्तन करे उसीको भगवान् समझ ले, उसमें भगवद्बुद्धि कर ले। यह विश्वास कर ले कि जो कुछ मन चिन्तन करता है वह भगवान् है। भगवान्का स्वरूप वही है जो मन चिन्तन करता है। चाहे वह स्त्री, पुत्र, धन आदिका ही चिन्तन करे; उनको स्त्री, पुत्र एवं धन न समझे किन्तु भगवान् समझे। पत्थर तथा वृक्ष जिस किसीका भी चिन्तन करे सब भगवान् है। जैसा दीखे वैसा ही भगवान्का स्वरूप मान ले। यह भी कल्याण-प्राप्तिका सीधा रास्ता है। ऊपर जितनी बातें बतलायी गयी हैं उनमेंसे एक-एकके पालनसे कल्याण हो सकता है। हाँ, यह बात जरूर है कि श्रद्धा और रुचिके तारतम्यके कारण किसी साधनमें समय अधिक लगता है और किसीमें कम। लेकिन कल्याण सभीसे होता है।

स्वप्नमें जो संसार दीखता है, आँखें खोलनेसे जागनेपर वह नहीं दीखता। इसी तरह यह विश्वास कर ले कि मैं स्वप्नमें हूँ, मुझे जो कुछ भी प्रतीत होता है वह सब स्वप्न है। जब स्वप्न समाप्त हो जायगा तब अपने-आप ही असली सत्य वस्तु दीखने लगेगी। यह विश्वास कर ले कि जो दीखती है वह सच्ची वस्तु नहीं है यह स्वप्नवत् है। जो भासती है वह है नहीं। स्वप्न मिटनेवाला जरूर है। आँख खुलते ही मिट जायगा। इसपर यदि यह कहा जाय कि आजतक आँख क्यों नहीं खुली? तो इसका उत्तर यह है कि आजतक संसारके स्वप्नवत् होनेका निश्चय ही कब किया था? आत्माका संकल्प सत्य है। इसलिये यह निश्चय करो कि यह संसार स्वप्न है। चाहे वह सत्य ही क्यों न दिखायी दे, उसे स्वप्नवत् मानते रहो। मानते-मानते एक दिन स्वप्नका नाश हो जायगा और सत्य वस्तु प्राप्त हो जायगी।

सबको प्राण ही सबसे बढ़कर प्यारे हैं। प्राणके समान प्यारा कुछ भी नहीं है, प्रिय-से-प्रिय वस्तु तो याद रहेगी ही। इसलिये प्राणोंमें ब्रह्मकी भावना करे। आने-जानेवाले श्वासकी तरफ लक्ष्य रखे। श्वास तो अन्ततक आता ही है। यदि इस तरह अभ्यास किया जायगा तो अन्त समयमें उद्धार हो जायगा। प्राणको ब्रह्म मान ले! उसमें होनेवाले शब्दको ब्रह्मका नाम मान ले; क्योंकि प्राणोंसे '**सोऽहं सोऽहं**' शब्दका उच्चारण होता रहता है। यह भी परमात्माका नाम है। इसलिये प्राण ही ब्रह्म है ऐसा निश्चय करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, अब जिसको जो उपाय सुगम एवं प्यारा मालूम हो वह उसीका साधन करे।

इस प्रकार कल्याणकी प्राप्तिके और भी सैकड़ों उपाय हैं, परन्तु कुछ-न-कुछ तो करना ही होगा। साधन किये बिना कल्याण नहीं हो सकता। वे सब साधन गीता, वेद तथा श्रुतिमें बतलाये गये हैं। श्रेयार्थियोंको उनमेंसे कोई-सा भी एक साधन, जो उन्हें पसंद हो, करना चाहिये।

परमानन्दकी प्राप्तिके लिये साधनकी आवश्यकता

संसारमें सभी लोग सुखकी खोजमें हैं, सभी परमानन्द पाना चाहते हैं। रात-दिन सुख ही प्राप्त करनेकी चेष्टामें लगे हुए हैं, परन्तु सुख तो दूर रहा, असली सुखकी तो छाया भी नहीं मिलती! इसमें क्या कारण है? इतना प्रयत्न करनेपर भी सुख क्यों नहीं मिलता?

इस प्रश्नपर विचार करनेसे यह मालूम होता है कि हमारे सुखकी प्राप्तिमें तीन बड़े बाधक शत्रु हैं। उन्हींके कारण हम सुखके समीप नहीं पहुँच पाते। वे हैं मल, विक्षेप और आवरण।

मल है मनकी मलिनता, विक्षेप है चंचलता और आवरण है अज्ञानका पर्दा। जबतक इन तीनोंका नाश नहीं होता तबतक यथार्थ सुखकी प्राप्ति असम्भव है। इनमें आवरणका नाश तो सहज ही हो सकता है। आवरणको हटानेके लिये खास प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् स्वयं बुद्धियोग प्रदान करके सारा मोह हर लेते हैं। भगवान् कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०।९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं, उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

जबतक मन मलिन और चंचल है तबतक प्रेमपूर्वक भजन ही नहीं होता फिर बुद्धियोग कहाँसे मिले। पापके कारण मनमें जो अनेकों प्रकारके मलिन विचार उठा करते हैं, एकान्तमें ध्यानके लिये बैठनेपर जो बुरे-बुरे भाव मनमें उत्पन्न होते हैं, यही मनकी मलिनता है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, अभिमान, कपट, ईर्ष्या आदि दुर्गुण और दुर्भाव मलके ही कारण होते हैं। जिस व्यक्तिमें ये दोष जितने अधिक हैं, उसका चित्त उतना ही मलसे आच्छन्न है।

मल-दोषके नाशके लिये कई उपाय बतलाये गये हैं। इनमेंसे प्रधान दो हैं—भगवान्‌के नामका जप और निष्काम कर्म। भगवान्‌का नाम पापके नाशमें जादूका-सा काम करता है। नाममें पापनाशकी अपरिमेय शक्ति है, परन्तु नाममें प्रीति, श्रद्धा और विश्वास होना चाहिये। जैसे लोभी व्यापारीका एकमात्र ध्येय रुपया पैदा करना और इकट्ठा करना होता है और वह जैसे निरन्तर उसी ध्येयको ध्यानमें रखकर सब काम करता है, ठीक इसी प्रकार भगवत्प्रेमका लक्ष्य बनाकर हमें रामनाम रूपी सच्चा धन एकत्र करना चाहिये—

कबिरा सब जग निरधना धनवंता नहिं कोय।
धनवंता सोइ जानिये जाके रामनाम धन होय॥

इसी प्रकार निष्काम कर्मयोगसे भी मलका नाश होता है। निष्काम कर्मयोगके प्रधान दो भेद हैं—भक्तिप्रधान कर्मयोग और कर्मप्रधान कर्मयोग। पहलेमें भक्ति मुख्य होती है और दूसरेमें कर्मकी मुख्यता होती है। इन दोनोंमें भक्तिप्रधान कर्मयोग विशेषरूपसे श्रेष्ठ है। वास्तवमें दोनोंमें ही भगवत्-प्रीति ही लक्ष्य है। अन्य कोई भी स्वार्थ नहीं है। स्वार्थका अभाव हुए बिना कर्मयोग बनता ही नहीं। फलासक्तिको त्याग कर भगवत्प्रेमके लिये जो शास्त्रोक्त कर्म किये जाते हैं उन्हींको निष्काम कर्मयोग समझना चाहिये। इस निष्काम कर्मयोगसे हमारे मनके मलरूप दुर्गुणों और दुराचारोंका नाश होकर सद्‌गुण, सदाचार, शान्ति और सुखकी प्राप्ति होती है। सात्त्विक भावों और गुणोंका परम विकास होता है। इस प्रकार मलदोषका नाश होनेपर विक्षेप अपने-आप ही मिट जाता है और चित्त परम निर्मल और शान्त होकर भगवान्‌की भक्तिमें लग जाता है। तदनन्तर भगवत्कृपासे आवरण भंग हो जाता है। आवरणका नाश होते ही परमानन्दकी प्राप्ति होती है और मानव-जीवन सफल हो जाता है। मुक्ति अथवा भगवत्साक्षात्कार करनेके लिये निष्कामभावसे की हुई भगवान्‌की भक्तिसे बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं है। हमारा लक्ष्य यही रहे कि भगवान्‌में हमारा अनन्य प्रेम हो। इसीके लिये तत्परतासे चेष्टा हो, सफलता चाहनेवाले सभी लोग अपना लक्ष्य बनाकर चलते हैं, सब अपने जीवनका एक ध्येय रखते हैं और अपनी बुद्धिके अनुसार उसी ध्येयको परम श्रेष्ठ, सर्वोत्तम मानते हैं। ध्येयमें सर्वश्रेष्ठ बुद्धि न होगी तो उस ओर बढ़ना कठिन ही नहीं, असम्भव है। संसारमें सबसे बढ़कर हमारा लक्ष्य हो। उस लक्ष्यसे विचलित करनेवाला राग-द्वेषसे उत्पन्न हुआ मोह है; क्योंकि मोहके वश होकर हम अपने यथार्थ लक्ष्यको नहीं देख पाते—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥

(गीता ७। २७)

'हे भारत! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञानताको प्राप्त हो रहे हैं।' यह प्रायः सभी प्राणियोंकी दशा है।

बहुत-से भाई यह कहते हैं कि इतने दिनोंसे साधन कर रहे हैं पर अभीतक भगवत्प्राप्ति नहीं हुई। इसका एकमात्र कारण यही है कि मन-बुद्धि पवित्र और स्थिर नहीं हैं। साधनकी सफलता मन और बुद्धिकी पवित्रता और स्थिरतापर ही निर्भर है। मन और बुद्धि पवित्र और स्थिर नहीं है तो फिर साधनका फल प्रत्यक्ष होगा ही कैसे? निष्ठापूर्वक साधनसे ही मन और बुद्धिमें निर्मलता तथा स्थिरता आती है। मन और इन्द्रियाँ शुद्ध और स्थिर होकर भगवान्‌में प्रवेश कर जायँ इसके लिये पहले आवश्यकता इस बातकी है कि मन और इन्द्रियोंको अपने वशमें किया जाय। जबतक ये काबूमें नहीं आते तबतक भगवान्‌के स्वरूपमें स्थिर होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो नहीं सकती।

महर्षि पतंजलिने मनको वशमें करनेका उपाय बतलाया है—अभ्यास और वैराग्य। इससे चित्त वशमें होता है।

वृत्तियाँ एकाग्र होती हैं और चित्तका 'निरोध' होता है। यही भाव भगवान्‌ने गीतामें व्यक्त किया है—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(६।३५)

'अभ्यास और वैराग्यसे मन वशमें होता है।' जिसका चित्त संयत है वही प्रयत्न करनेपर भगवान्‌की प्राप्ति कर सकता है। व्यभिचारिणी वृत्तियोंसे भगवान्‌को पकड़ना कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव-सा है।

जबतक चित्तमें विषयासक्ति है, तबतक चित्तका वशमें होना कठिन है। विषयासक्तिके नाशके लिये वैराग्य ही प्रधान उपाय है। विचार करना चाहिये कि संसारके विषय सभी दुःखरूप हैं। भगवान्‌ने संसारके भोगोंको दुःखमूलक और क्षणिक बतलाकर यह कहा है कि बुधजन इनमें नहीं रमते—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५।२२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

अतएव बुद्धिमान् मनुष्योंको विचार करना चाहिये कि जब मूर्ख ही इन विषयोंमें रमते हैं तब हम समझदार कहलाते हुए मूर्ख क्यों बनें! विषयोंमें जो रमता है वह मूर्ख इसलिये है कि उसका समय और धन व्यर्थ जाता है, जीवन पापमय होता है और पापके कारण उसे दुःख उठाना पड़ता है।

जो मनुष्य अपने-आप दुःखका कारण बनता है वही मूर्ख है। इसलिये चित्तकी वृत्तियोंको विषयोंसे बराबर हटाते रहना चाहिये। संसारके जितने भोग हैं उनमें दुःख और दोषका दर्शन करे। यद्यपि मोह और आसक्तिके कारण विषय अमृतके समान सुखकारी लगते हैं परन्तु परिणाममें विषके समान घातक हैं, प्राण हर लेनेवाले हैं, लोक-परलोक बिगाड़नेवाले हैं। विषयोंका भोक्ता संसारमें बार-बार जन्मता-मरता है और नाना प्रकारके दुःखोंमें घुलता रहता है। विषयोंका भोग विष-भक्षणसे भी अधिक बुरा है। विचारके द्वारा विषयोंमें जो केवल दुःख-ही-दुःख देखता है वही बुद्धिमान् है। दोष-दर्शनका अभिप्राय यही है कि सारे विषय अत्यन्त अपवित्र हैं, घृणा करनेलायक हैं; और उनमें रमना पाप है। साथ ही यह भी विचार करना चाहिये कि यदि ये विषय कदाचित् स्थायी होते तो सदा सुख देनेवाले समझे जा सकते, परन्तु ये क्षणभंगुर हैं; पल-पलमें इनका रूप बदलता रहता है। इसके सिवा इनमें सुख भी क्षणिक ही होता है (यद्यपि वह भी भ्रमसे ही होता है)। क्षणभरके लिये सुख देकर महान् दुःखके सागरमें डुबा जाते हैं। वे यदि वस्तुतः सुखरूप होते तो सदा ही सुखरूप ही होते। अतएव विषय अनित्य हैं, अस्थायी हैं, असुख हैं, विषरूप हैं, नरकमें गिरानेवाले हैं। विषयोंके प्रति हमारी रागदृष्टि है और वैराग्यके प्रति जो हमारी विरक्ति है इसीके कारण सारी व्यवस्था उलटी हो गयी है और विषयोंमें हमें सुख भासता है और वैराग्यमें दुःख।

असलमें तो नित्य न होनेके कारण विषय सर्वथा असत् हैं। विषयोंकी यह अनित्यता और उनका असत्पन प्रत्यक्ष देखते हुए और अनुभव करते हुए भी हम उनके उपभोगके लिये प्रवृत्त होते हैं, यही हमारी मूर्खता है। इस मूर्खताको विचारसे हटाना चाहिये। विचारसे विवेक उत्पन्न होगा और फिर विवेकसे ही वैराग्यका शुभोदय होगा। इस दृढ़ वैराग्यशस्त्रसे विषयरूप संसारवृक्षको काटना गन्नेको काटनेके समान सुगम हो जाता है। विषयोंकी ओर वृत्तियोंका कदापि न जाना, उनसे परम उपरामता हो जाना, उनका चिन्तन न होना ही इनका काटना है। सारे अनर्थोंकी उत्पत्ति इन्हींके चिन्तनसे होती है। भगवान्‌ने कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गीता २।६२-६३)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है तथा क्रोधसे अत्यन्त मूढभाव उत्पन्न हो जाता है, मूढभावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है और स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है।'

सत्ता और आसक्तिको लेकर विषयोंका चिन्तन करना ही गिरनेका कारण है। नाशवान्, क्षणभंगुर और अनित्य समझकर इनको दुःखका कारण समझें तो ये हमें स्पर्श भी नहीं कर सकते।

भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—जिसके सारे कर्म और सारे पदार्थोंमें आसक्ति नहीं है वही सर्वसंकल्पोंका संन्यासी है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

(गीता ६।४)

'जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारुढ कहा जाता है।'

जिसका मन पदार्थों और कर्मोंमें आसक्त नहीं होता वही योगी है। क्रिया करता है पर आसक्त नहीं होता। स्फुरणा हो पर आसक्ति नहीं, ऐसा सर्वसंकल्पोंका त्यागी ही योगारूढ है। इससे यही सिद्ध हुआ कि पदार्थोंको क्षणभंगुर, नाशवान् समझ लेनेपर उनका स्मरण होना स्फुरणामात्र है अतएव यह अनर्थकारी नहीं है। सत्ता होनेपर ही आसक्ति होती है, असत् अर्थात् अभावमें आसक्ति नहीं होती। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि ये चराचर जीव भी असत् हैं। वे असत् नहीं हैं। कार्यरूप हमारा यह शरीर असत् है, क्षणभंगुर है, नाशवान् है, आदि और अन्तवाला है। जो असत् है उसका भाव नहीं होता, जो सत् है उसका कभी अभाव नहीं होता। भगवान्ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २।१६)

तथा—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥*

(गीता २।१८)

देह नाशवान् है पर देही (आत्मा) अविनाशी है। देह असत् है, देही सत् है। देहके सभी पदार्थ अनित्य और क्षणभंगुर हैं। संसारमें जो कुछ भी सत्ता-स्फूर्ति हम देख रहे हैं वह सब परमात्माकी ही है। वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा नित्य है, शाश्वत है, सनातन है, अव्यय है। उसी एकसे सब सत्ता, सब स्फूर्ति है। सारी चेतना और स्फुरणा उसीकी है। वही नित्य-सत्यस्वरूप है। संसारकी सत्ताके मूलमें परमात्माका निवास है। यह सारी दमकती हुई चेतनता परमात्माकी स्फूर्ति है। यह सब परमात्माका स्वरूप है। सबके नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता; वह सर्वदा, सर्वत्र प्रत्यक्ष विद्यमान है। ऐसे उस परमेश्वरकी शरण ग्रहण करके आनन्दके समुद्रमें गोते लगाना चाहिये। इसके लिये प्रभुने कई उपाय बतलाये हैं—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(गीता १३।२४-२५)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं; अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं। परन्तु इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं।'

महात्माजन क्या उपाय बतलाते हैं? वे किसी एकके अंगमात्रको बतला दें—उस एक अंगमात्रके साधनसे भी उस साधकका कल्याण हो जाता है।

छान्दोग्योपनिषद्में उद्दालकने सत्यकामको गौओंकी सेवा ब्रह्मज्ञानके लिये बतलायी। केवल गौओंकी सेवामात्रसे सत्यकामको भगवान्की प्राप्ति हो गयी। महात्माके द्वारा बतलाये जानेके कारण गौकी सेवा ही परम साधन हो गया। महर्षि पतंजलिके बतलाये हुए अष्टांगयोगमेंसे भी किसी एक अंग अथवा किसी उपांगमात्रसे भी ब्रह्मकी प्राप्ति हो सकती है। केवल ध्यानसे या प्राणायामसे भी भगवान्की प्राप्ति हो सकती है। नियमके एक अंग स्वाध्याय अथवा ईश्वरप्रणिधानसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा। (योग० १।२३)

अतएव इससे यही प्रमाणित हुआ कि एक अंग अथवा एक उपांगसे भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है। हृदयको पवित्र, मन-बुद्धिको स्थिर करनेके लिये शास्त्रोंमें बतलाये हुए विभिन्न मार्गोंमेंसे किसी भी मार्गको निश्चित कर प्राणपणसे प्रयत्न करना चाहिये। भगवत्कृपासे विजय निश्चित है, सफलता मिलेगी ही।

बारहवें अध्यायमें भगवान्ने यह बतलाया है कि जो मेरे परायण हुए भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मेरेमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही तैलधाराके सदृश अनन्य ध्यानयोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, उन मेरेमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूपी संसारसागरसे उद्धार कर देता हूँ। इसके अनन्तर भगवान्ने अर्जुनको उपदेश दिया कि तू मेरेमें मन लगा, मेरेमें ही बुद्धिको लगा, इसके अनन्तर तू मेरेमें ही निवास करेगा अर्थात् मेरेको ही प्राप्त होगा इसमें कुछ भी संशय नहीं

* इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर।

है। फिर यदि तू मनको अचलरूपसे मुझमें नहीं लगा सकता तो अभ्यासके द्वारा मेरेको प्राप्त होनेके लिये इच्छा कर। यदि तू इस अभ्यासको करनेमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो। इस प्रकार मेरे अर्थ कर्मोंको करता हुआ मुझे ही प्राप्त होगा। यदि इसको भी करनेमें तू अपनेको असमर्थ पाता है तो सब कर्मोंके फलका त्याग कर। ऐसे त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है।

ऊपरके अवतरणमें भगवान्ने साधनाके विभिन्न मार्ग सुझाये हैं। जिसको जो रुचे, जिसकी जैसी योग्यता हो वह उसीको कर सकता है। इसी प्रकार चौथे अध्यायमें भी भगवान्ने यज्ञके नामसे साधनकी कई युक्तियाँ और मार्ग बतलाये हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥

(गीता ४। २४—३०)

'जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले पुरुषद्वारा प्राप्त किये जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही है। दूसरे योगीजन देवताओंके पूजनरूप यज्ञका ही भलीभाँति अनुष्ठान किया करते हैं और अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्निमें अभेददर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मारूप यज्ञका हवन किया करते हैं। अन्य योगीजन श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियोंको संयमरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं और दूसरे योगीलोग शब्दादि समस्त विषयोंको इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं। दूसरे योगीजन इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें हवन किया करते हैं। कई पुरुष द्रव्यसम्बन्धी यज्ञ करनेवाले हैं, कितने ही तपस्यारूप यज्ञ करनेवाले हैं तथा दूसरे कितने ही योगरूप यज्ञ करनेवाले हैं और कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं। दूसरे कितने ही योगीजन अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायुमें अपानवायुको हवन करते हैं तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करनेवाले—प्राणायाम-परायण पुरुष प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंको प्राणोंमें ही हवन किया करते हैं। ये सभी साधक यज्ञोंद्वारा पापोंका नाश कर देनेवाले और यज्ञोंको जाननेवाले हैं।'

ऊपरके श्लोकोंमें भगवान्ने साधनाके भिन्न-भिन्न मार्ग तथा कल्याणके अनेक उपाय बतलाये हैं। इनमेंसे किसी एकको भी चरितार्थ करनेवाला व्यक्ति परमात्माको प्राप्त कर सकता है। यहाँ 'यज्ञ' शब्द साधनका वाचक है जिसके द्वारा सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा—इन्हीं दोके भेद विस्तारसे बतलाये गये हैं। इनके अंग-उपांग हैं। उनमेंसे किसी एक मार्गका भी साधन महात्मा पुरुष बतला दें तो हम संसारसागरसे तर जायँ और हमें भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय। कर्मयोग और सांख्ययोगके साधनोंसे जो अध्यात्मपथमें प्रवेश करते हैं उनकी सफलता तो निश्चित ही है। पर संत महापुरुषोंके बतलाये हुए किसी भी एक मार्गका जो अनुसरण करते हैं वे भी परमपदको प्राप्त हो जाते हैं।

ऊपर बताये हुए साधनोंमेंसे किसी एक साधनका अवलम्बन करनेसे मल, विक्षेप और आवरणका सर्वथा नाश हो जाता है अर्थात् उसके सारे दुर्गुण, दुराचार, दुःख और विघ्नोंका एवं मोहका अत्यन्त अभाव हो जाता है और मन, बुद्धि स्थिर होकर भगवत्कृपासे भगवत्तत्त्वको जानकर साधक परम शान्ति और परम आनन्दको प्राप्त हो जाता है।

ब्राह्मणत्वकी रक्षा परम आवश्यक है

हिंदूजातिकी आज जो दुर्दशा है, वह पराधीन है, दीन है, दुःखी है और सभी प्रकारसे अवनत है; इसके कारणपर विचार करते समय आजकल कुछ भाई ऐसा मत प्रकट किया करते हैं कि वर्णाश्रम-धर्मके कारण ही हिंदू जातिकी ऐसी दुर्दशा हुई है। वर्णाश्रम-धर्म न होता तो हमारी ऐसी स्थिति न होती। परन्तु विचार करनेपर मालूम होता है कि इस मतको प्रकट करनेवाले भाइयोंने वर्णाश्रम-धर्मके तत्त्वको वस्तुतः समझा ही नहीं है। सच्ची बात तो यह

है कि जबतक इस देशमें वर्णाश्रम-धर्मका सुचारुरूपसे पालन होता था, तबतक देश स्वाधीन था तथा यहाँपर प्रायः सभी प्रकारकी सुख-समृद्धि थी। जबसे वर्णाश्रम-धर्मके पालनमें अवहेलना होने लगी, तभीसे हमारी दशा बिगड़ने लगी। इतनेपर भी वर्णाश्रम-धर्मकी दृढ़ताने ही हिंदूजातिको बचाये रखा। वर्णाश्रम न होता और उसपर हिंदूजातिकी आस्था न होती तो शताब्दियोंमें होनेवाले आक्रमणोंसे और विजेताओंके प्रभावसे हिंदूजाति अबतक नष्ट हो गयी होती!

पर-देशीय और पर-धर्मीय लोगोंकी सभ्यता, भाषा, आचरण, व्यवहार, रहन-सहन और पोशाक-पहनावा आदिके अनुकरणने वर्णाश्रम-धर्मकी शिथिलतामें बड़ी सहायता दी है। पहले तो मुसलमानी शासनमें हमलोग उनके आचारोंकी ओर झुके—किसी अंशमें उनके आचार-व्यवहारकी नकल की, परन्तु उस समयतक हमारी अपने शास्त्रोंमें, अपने पूर्वजोंमें, अपने धर्ममें, अपनी नीतिमें श्रद्धा थी, इससे उतनी हानि नहीं हुई, परन्तु वर्तमान पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता और संस्कृतिकी आँधीमें तो हमारी आँखें सर्वथा बंद-सी ही हो गयीं। हम मानो आँखें मूँदकर—अन्धे होकर उनकी नकल करने लगे हैं। इसीसे वर्णाश्रम-धर्ममें आजकल बहुत शिथिलता आ गयी है। और यदि यही गति रही तो कुछ समयमें वर्णाश्रम-धर्मका बहुत ही ह्रास हो जायगा। और हमारा ऐसा करना अपने ही हाथों अपने पैरोंमें कुल्हाड़ी मारनेके समान होगा। धर्म और नीतिके त्यागसे एक बार भ्रमवश चाहे कुछ सुख-सा प्रतीत हो, परन्तु वह सुखकी चमक उस बिजलीके प्रकाशकी चमकके समान है जो गिरकर सब कुछ जला देती है। धर्म और नीतिका त्याग करनेवाले रावण, हिरण्यकशिपु, कंस और दुर्योधन आदिकी भी एक बार कुछ उन्नति-सी दिखायी दी थी, परन्तु अन्तमें उनका समूल विनाश हो गया!

दुःखकी बात है कि पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृतिके मोहमें पड़कर आज हिंदू-जातिके अधिकांश पढ़े-लिखे लोग दूसरोंके आचार-व्यवहारका अनुकरण कर बोलचाल, रहन-सहन और खान-पानमें धर्मविरुद्ध आचरण करने लगे हैं और इसके परिणामस्वरूप वर्णाश्रम-धर्मको न माननेवाली, विधर्मी जातियोंमें विवाहादि सम्बन्ध स्थापित करके वर्णमें संकरता उत्पन्न कर रहे हैं। वर्णमें संकरता आनेसे जब वर्ण-धर्म, जाति-धर्म नष्ट हो जायगा तब आश्रम-धर्म तो बचेगा ही कैसे? अतएव सब लोगोंको बहुत चेष्टा करके पाश्चात्य आचार-व्यवहारोंके अनुकरणसे स्वयं बचना और भ्रमवश अनुकरण करनेवाले लोगोंको बचाना चाहिये।

हिंदू सनातनधर्ममें अत्यन्त छोटेसे लेकर बहुत बड़ेतक सभी कार्योंका धर्मसे सम्बन्ध है। हिंदूका जीवन धर्ममय है। उसका जन्मना-मरना, खाना-पीना, सोना-जागना, देना-लेना, उपार्जन करना और त्याग करना—सभी कुछ धर्मसंगत होना चाहिये। धर्मसे बाहर उसकी कोई क्रिया नहीं होती। इस धर्मका तत्त्व ही वर्णाश्रम-धर्ममें भरा है। वर्णाश्रम-धर्म हमें बतलाता है कि किसके लिये, किस समय, कौन-सा कर्म, किस प्रकार करना उचित है। और इसी कर्म-कौशलसे हिंदू अपने इहलौकिक जीवनको सुखमय बिताकर अपने सब कर्म भगवान्के अर्पण करता हुआ अन्तमें मनुष्य-जीवनके परम ध्येय परमात्माको प्राप्त कर सकता है। इस धर्ममय जीवनमें चार वर्ण हैं और उन चार वर्णोंमें धर्मकी सुव्यवस्था रखनेके लिये सबसे प्रथम ब्राह्मणका अधिकार और कर्तव्य माना गया है। ब्राह्मण धर्म-ग्रन्थोंकी रक्षा, प्रचार और विस्तार करता है और उसके अनुसार तीनों वर्णोंसे कर्म करानेकी व्यवस्था करता है। इसीसे हमारे धर्मग्रन्थोंका सम्बन्ध आज भी ब्राह्मणजातिसे है और आज भी ब्राह्मणजाति धर्म-ग्रन्थोंके अध्ययनके लिये संस्कृत भाषा पढ़नेमें सबसे आगे है। यह स्मरण रखना चाहिये कि संस्कृत अनादि भाषा है और सर्वांगपूर्ण है। संस्कृतके समान वस्तुतः सुसंस्कृत भाषा दुनियामें और कोई है ही नहीं। आज जो संस्कृतकी अवहेलना है उसका कारण यही है कि संस्कृत राजभाषा तो है ही नहीं, उसे राज्यकी ओरसे यथायोग्य आश्रय भी प्राप्त नहीं है और तबतक होना बहुत ही कठिन भी है जबतक हिंदू-सभ्यताके प्रति श्रद्धा रखनेवाले संस्कृतके प्रेमी शासक न हों। इसलिये जबतक वैसा नहीं होता, कम-से-कम तबतक प्रत्येक धर्म-प्रेमी पुरुषका कर्तव्य होता है कि वह सनातन वैदिक वर्णाश्रम-धर्मकी रक्षाके हेतुभूत ब्राह्मणत्वकी और परम धर्मरूप संस्कृत ग्रन्थोंकी एवं संस्कृत भाषाकी रक्षा करे।

धर्मग्रन्थ और संस्कृत भाषाकी रक्षा होनेसे ही सनातनधर्मकी रक्षा होगी; परन्तु इसके लिये ब्राह्मणके ब्राह्मणत्वकी रक्षाकी सर्वप्रथम आवश्यकता है। आजकल जो ब्राह्मणजाति ब्राह्मणत्वकी ओरसे उदासीन होती जा रही है और क्रमशः वर्णान्तरके कर्मोंको ग्रहण करती जा रही है, यह बड़े खेदकी बात है। परन्तु केवल खेद प्रकट करनेसे काम नहीं होगा। हमें वह कारण खोजने चाहिये जिससे ऐसा हो रहा है। इसमें कई कारण हैं। जैसे—

(१) पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यताके प्रभावसे धर्मके प्रति अनास्था।

(२) धर्म, अर्थ, काम, मोक्षके लिये किये जानेवाले हमारे प्रत्येक कर्मका सम्बन्ध धर्मसे है और धार्मिक कार्यमें

ब्राह्मणका संयोग सर्वथा आवश्यक है, इस सिद्धान्तको भूल जाना।

(३) ज्ञानमार्गी और भक्तिमार्गी पुरुषोंके द्वारा जो वस्तुतः ज्ञान और भक्तिके तत्त्वको नहीं जानते, ज्ञान और भक्तिके नामपर कर्मकाण्डकी उपेक्षा होना, और इसी प्रकार निष्काम कर्मके तत्त्वको न जानकर निष्काम कर्मकी बात कहनेवाले लोगोंद्वारा सकाम कर्मकी उपेक्षा करनेके भावसे प्रकारान्तरसे कर्मकाण्डका विरोधी हो जाना।

(४) संस्कृतज्ञ ब्राह्मणका सम्मान न होना। शास्त्रीय कर्मकाण्डकी अनावश्यकता मान लेनेसे ब्राह्मणका अनावश्यक समझा जाना।

(५) कर्मकाण्डके त्याग और राज्याश्रय न होनेसे ब्राह्मणकी आजीविकामें कष्ट होना और उसके परिवार-पालनमें बाधा पहुँचना।

(६) त्यागका आदर्श भूल जानेसे ब्राह्मणोंकी भी भोगमें प्रवृत्ति होना और भोगोंके लिये अधिक धनकी आवश्यकताका अनुभव होना।

(७) शास्त्रोंमें श्रद्धाका घट जाना।

इस प्रकारके अनेकों कारणोंसे आज ब्राह्मणजाति ब्राह्मणत्वसे विमुख होती जा रही है, जो वर्णाश्रम-धर्मके लिये बहुत ही चिन्ताकी बात है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि ब्राह्मणत्वकी रक्षा ब्राह्मणके द्वारा ही होगी। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने सदाचार, सद्गुण, भक्ति तथा ज्ञान आदिके प्रभावसे भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं; परन्तु वे ब्राह्मण नहीं बन सकते। ब्राह्मण तो वही है जो जन्मसे ही ब्राह्मण है और उसीको वेदादि पढ़ानेका अधिकार है। मनु महाराजने कहा है—

अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः।
प्रब्रूयाद् ब्राह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः॥

(मनु० १०।१)

'अपने-अपने कर्मोंमें लगे हुए (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—तीनों) द्विजाति वेद पढ़ें, परन्तु इनमेंसे वेद पढ़ावे ब्राह्मण ही, क्षत्रिय-वैश्य नहीं। यह निश्चय है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मणके बिना वेदकी शिक्षा और कोई नहीं दे सकता। और वेदके बिना वैदिक वर्णाश्रम-धर्म नहीं रह सकता, इसलिये ब्राह्मणकी रक्षा अत्यन्त आवश्यक है।

शास्त्रोंमें ब्राह्मणको सबसे श्रेष्ठ बतलाया है। ब्राह्मणकी बतलायी हुई विधिसे ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चारोंकी सिद्धि मानी गयी है। ब्राह्मणका महत्त्व बतलाते हुए शास्त्र कहते हैं—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्या ँ शूद्रो अजायत॥

(यजुर्वेद ३१।११)

'श्रीभगवान्‌के मुखसे ब्राह्मणकी, बाहुसे क्षत्रियकी, ऊरुसे वैश्यकी और चरणोंसे शूद्रकी उत्पत्ति हुई है।'

उत्तमांगोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद्ब्रह्मणश्चैव धारणात्।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः॥
तं हि स्वयम्भूःस्वादास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत्।
हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये॥

(मनु० १।९३-९४)

'उत्तम अंगसे (अर्थात् भगवान्‌के श्रीमुखसे) उत्पन्न होने तथा सबसे पहले उत्पन्न होनेसे और वेदके धारण करनेसे ब्राह्मण इस जगत्‌का धर्मसे स्वामी होता है। ब्रह्माने तप करके हव्य-कव्य पहुँचानेके लिये और इस सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षाके लिये अपने मुखसे सबसे पहले ब्राह्मणको उत्पन्न किया।'

वैशेष्यात्प्रकृतिश्रैष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात्।
संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः॥

(मनु० १०।३)

'जातिकी श्रेष्ठतासे, उत्पत्तिस्थानकी श्रेष्ठतासे, वेदके पढ़ने-पढ़ाने आदि नियमोंको धारण करनेसे तथा संस्कारकी विशेषतासे ब्राह्मण सब वर्णोंका प्रभु है।'

भगवान् श्रीऋषभदेवजी कहते हैं—

भूतेषु वीरुद्भ्य उदुत्तमा ये
सरीसृपास्तेषु सबोधनिष्ठाः।
ततो मनुष्याः प्रमथास्ततोऽपि
गन्धर्वसिद्धा विबुधानुगा ये॥
देवासुरेभ्यो मघवत्प्रधाना
दक्षादयो ब्रह्मसुतस्तु तेषाम्।
भवः परः सोऽथ विरिंचवीर्यः
स मत्परोऽहं द्विजदेवदेवः॥
न ब्राह्मणैस्तुलये भूतमन्यत्
पश्यामि विप्राः किमतः परं तु।
यस्मिन्नृभिः प्रहुतं श्रद्धयाह-
मश्नामि कामं न तथाग्निहोत्रे॥

(श्रीमद्भा० ५।५।२१—२३)

'समस्त भूतोंमें स्थावर (वृक्ष) श्रेष्ठ हैं। उनसे सर्प आदि कीड़े श्रेष्ठ हैं। उनसे बोधयुक्त पशु आदि प्राणी श्रेष्ठ हैं। उनसे मनुष्य और मनुष्योंसे प्रमथगण श्रेष्ठ हैं। प्रमथगणसे गन्धर्व और गन्धर्वोंसे सिद्धगण, सिद्धगणसे देवताओंके भृत्य किन्नर आदि श्रेष्ठ हैं। किन्नरों और

असुरोंकी अपेक्षा इन्द्र आदि देवता श्रेष्ठ हैं। इन्द्रादि देवताओंसे दक्ष आदि ब्रह्माके पुत्र श्रेष्ठ हैं। दक्ष आदिकी अपेक्षा शंकर श्रेष्ठ हैं और शंकर ब्रह्माके अंश हैं, इसलिये शंकरसे ब्रह्मा श्रेष्ठ हैं! ब्रह्मा मुझे अपना परम आराध्य परमेश्वर मानते हैं, इसलिये ब्रह्मासे मैं श्रेष्ठ हूँ और मैं द्विजदेव ब्राह्मणोंको अपना देवता या पूजनीय समझता हूँ, इसलिये ब्राह्मण मुझसे भी श्रेष्ठ हैं। इस कारण ब्राह्मण सर्वपूज्य हैं, हे ब्राह्मणो! मैं इस जगत्‌में दूसरे किसीकी ब्राह्मणोंके साथ तुलना भी नहीं करता फिर उनसे बढ़कर तो किसीको मान ही कैसे सकता हूँ। ब्राह्मण क्यों श्रेष्ठ हैं? इसका उत्तर यही है कि मेरे ब्राह्मणरूप मुखमें जो श्रद्धापूर्वक अर्पण किया जाता है (ब्राह्मण भोजन कराया जाता है) उससे मुझे परम तृप्ति होती है; यहाँतक कि मेरे अग्निरूप मुखमें हवन करनेसे भी मुझे वैसी तृप्ति नहीं होती!'

उपर्युक्त शब्दोंसे ब्राह्मणोंके स्वरूप और महत्त्वका अच्छा परिचय मिलता है। इसी प्रकार मनु महाराजने भी कहा है—

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥
ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥
ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधि जायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये॥

(मनु० १।९६, ९७, ९९)

'स्थावर जीवोंमें प्राणधारी श्रेष्ठ हैं, प्राणधारियोंमें बुद्धिमान्; बुद्धिमानोंमें मनुष्य और मनुष्योंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ कहे गये हैं। ब्राह्मणोंमें विद्वान्, विद्वानोंमें कृतबुद्धि (अर्थात् जिनकी शास्त्रोक्त कर्ममें बुद्धि है), कृतबुद्धियोंमें शास्त्रोक्त कर्म करनेवाले और उनमें भी ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। उत्पन्न हुआ ब्राह्मण पृथ्वीपर सबसे श्रेष्ठ है; क्योंकि वह सब प्राणियोंके धर्मसमूहकी रक्षाके लिये समर्थ माना गया है।'

ब्राह्मणोंकी निन्दाका निषेध करते हुए भीष्मपितामह युधिष्ठिरसे कहते हैं—

परिवादं च ये कुर्युर्ब्राह्मणानामचेतसः।
सत्यं ब्रवीमि ते राजन् विनश्येयुर्न संशयः॥

(महा० अनु० ३३।१८)

'हे राजन्! जो अज्ञानी मनुष्य ब्राह्मणोंकी निन्दा करते हैं, मैं सत्य कहता हूँ कि वे नष्ट हो जाते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।'

परिवादो द्विजातीनां न श्रोतव्यः कथंचन।
आसीताधोमुखस्तूष्णीं समुत्थाय व्रजेच्च वा॥
न स जातो जनिष्यन्वा पृथिव्यामिह कश्चन।
यो ब्राह्मणविरोधेन सुखं जीवितुमुत्सहेत्॥

(महा० अनु० ३३।२५-२६)

'ब्राह्मणोंकी निन्दा कभी नहीं सुननी चाहिये। यदि कहीं ब्राह्मणनिन्दा होती हो तो वहाँ या तो नीचा सिर करके चुपचाप बैठा रहे अथवा वहाँसे उठकर चला जाय। इस पृथ्वीपर ऐसा कोई भी मनुष्य न जन्मा है और न जन्मेगा ही जो ब्राह्मणोंसे विरोध करके सुखसे जीवन व्यतीत कर सके।'

इसपर यदि कोई कहे कि ब्राह्मणोंकी जो इतनी महिमा कही जाती है, यह उन ग्रन्थोंके कारण ही तो है, जो प्रायः ब्राह्मणोंके बनाये हुए हैं और जिनमें ब्राह्मणोंने जान-बूझकर अपने स्वार्थसाधनके लिये नाना प्रकारके रास्ते खोल दिये हैं। तो इसका उत्तर यह है कि ऐसा कहना वस्तुतः शास्त्र-ग्रन्थोंसे यथार्थ परिचय न होनेके कारण ही है। शास्त्रों और प्राचीन ग्रन्थोंके देखनेसे यह बात सिद्ध होती है, ब्राह्मणने तो त्याग-ही-त्याग किया। राज्य क्षत्रियोंके लिये छोड़ दिया, धनके उत्पत्तिस्थान कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य आदिको और धनभण्डारको वैश्योंके हाथ दे दिया। शारीरिक श्रमसे अर्थोपार्जन करनेका कार्य शूद्रोंके हिस्सेमें आ गया। ब्राह्मणोंने तो अपने लिये रखा केवल संतोषसे भरा हुआ त्यागपूर्ण जीवन!

इसका प्रमाण शास्त्रोंके वे शब्द हैं, जिनमें ब्राह्मणकी वृत्तिका वर्णन है—

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन॥
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्॥
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते।
सेवाश्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥

(मनु० ४।४—६)

'ब्राह्मण ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत या सत्यानृतसे अपना जीवन बितावे परन्तु श्ववृत्ति अर्थात् सेवावृत्ति—नौकरी न करे। उञ्छ और शिल* को ऋत जानना चाहिये। बिना माँगे मिला हुआ अमृत है। माँगी हुई भिक्षा मृत कहलाती है और खेतीको प्रमृत कहते हैं। वाणिज्यको सत्यानृत कहते

* खेतमें पड़े हुए अन्नके दाने बीननेको उञ्छ कहते हैं और धानोंकी फलियाँ बीननेको शिल कहते हैं।

हैं उससे भी जीविका चलायी जा सकती है किन्तु सेवाको[1] श्ववृत्ति कहते हैं इसलिये उसका त्याग कर देना चाहिये।'

उपर्युक्त वृत्तियोंमें ब्राह्मणोंके लिये उञ्छ और शिल ये दो वृत्तियाँ सबसे उत्तम मानी गयी हैं। वेद पढ़ाना, यज्ञ करवाकर दक्षिणा ग्रहण करना तथा बिना याचनाके दान लेना भी बहुत उत्तम अमृतके तुल्य कहा गया है। एवं भिक्षावृत्ति भी उनके लिये धर्मसंगत है। ब्राह्मणधर्मका पालन करनेवाले ब्राह्मणोंके लिये अधिक-से-अधिक सालभरके अन्नका संग्रह करनेकी आज्ञा दी गयी है। जो एक माससे अधिक अन्नका संग्रह नहीं करता उसको उससे श्रेष्ठ माना है, उससे श्रेष्ठ तीन दिनके लिये अन्न-संग्रह करनेवालेको और उससे भी श्रेष्ठ केवल एक दिनका अन्न-संग्रह करनेवालेको बताया गया है।

आपत्तिकालमें क्षत्रिय या वैश्यकी वृत्तिसे भी ब्राह्मण अपनी जीविका चलावे तो वह निन्दनीय नहीं है। धर्मशास्त्रका यही आदेश है। विडालवृत्ति और वकवृत्ति*[2] ये दो वृत्तियाँ वर्जित हैं, इन दो वृत्तियोंको और श्ववृत्तिको छोड़कर उपर्युक्त किसी भी वृत्तिसे जीविका चलानेवाला ब्राह्मण पूजनीय और सेवनीय है। ब्राह्मणोंकी जीवननिर्वाहकी वृत्ति ही इतनी कठिन है, यही नहीं है; ब्राह्मणके जीवनका उद्देश्य और उसके जीवनकी स्थिति कितनी कठोर, तपोमयी और त्यागपूर्ण है, यह भी देखिये!

धृता तनूरुशती मे पुराणी
येनेह सत्त्वं परमं पवित्रम्।
शमो दमः सत्यमनुग्रहश्च
तपस्तितिक्षानुभवश्च यत्र॥
मत्तोऽप्यनन्तात्परतः परस्मा-
त्स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किंचित्।
येषां किमु स्यादितरेण तेषा-
मकिंचनानां मयि भक्तिभाजाम्॥

(श्रीमद्भा० ५।५।२४-२५)

'उन ब्राह्मणोंने इस लोकमें अति सुन्दर और पुरातन मेरी वेदरूपा मूर्तिको अध्ययनादिद्वारा धारण किया है। उन्हींमें परम पवित्र सत्त्वगुण, शम, दम, सत्य, अनुग्रह, तप, सहनशीलता और अनुभव आदि मेरे गुण विराजमान हैं। वे ब्राह्मण द्वार-द्वारपर भिक्षा माँगनेवाले नहीं होते, साधारण मनुष्यसे कुछ माँगना तो दूर रहा, देखो मैं अनन्त हूँ और सर्वोत्तम परमेश्वर हूँ, एवं स्वर्ग और मोक्षका स्वामी हूँ, किन्तु मुझसे भी कुछ नहीं चाहते [उनके आगे राज्य आदि वस्तुएँ केवल तुच्छातितुच्छ पदार्थ ही नहीं, विषतुल्य हैं]। वे अकिंचन (सर्वत्यागी) महात्मा विप्रगण मेरी भक्तिमें ही सन्तुष्ट रहते हैं।'

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं न सुखाय कदाचन।
तपःक्लेशाय धर्माय प्रेत्य मोक्षाय सर्वदा॥

(बृहद्धर्मपुराण, उत्तरखण्ड २। ४४)

'ब्राह्मणकी देह विषयसुखके लिये कदापि नहीं है, वह तो सदा-सर्वदा तपस्याका क्लेश सहने, धर्मका पालन करने और अन्तमें मुक्तिके लिये ही उत्पन्न होती है।'

इसी प्रकार भागवतमें कहा है—

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च॥

(११।१७।४२)

'ब्राह्मणका यह शरीर क्षुद्र विषयभोगोंके लिये नहीं है, यह तो जीवनभर कठिन तपस्या और अन्तमें आत्यन्तिक सुखरूप मोक्षकी प्राप्तिके लिये है।'

इससे पता चलता है कि ब्राह्मणका जीवन कितना महान् तपसे पूर्ण है। वह अपने जीवनको साधनमय रखता है। जिस मान-सम्मानको सब लोग चाहते हैं, ब्राह्मण उस मानसे सदा डरता है और अपमानका स्वागत करता है—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥

(मनु० २।१६२)

'ब्राह्मणको चाहिये कि वह सम्मानसे सदा विषके समान डरता रहे और अपमानकी अमृतके समान इच्छा करता रहे।'

१-नौकरीसे यहाँ अध्यापनादि कार्य नहीं लेना चाहिये। केवल शूद्रवृत्ति समझनी चाहिये।

२-धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छाद्मिकोलोकदम्भकः। वैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसंधकः॥
अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः। शठो मिथ्याविनीतश्च वकव्रतचरो द्विजः॥ (मनु० ४। १९५-१९६)
दम्भी, सदा लोभी, कपटी, लोगोंको ठगनेवाले हिंसक और सबकी निन्दा करनेवालेको वैडालवृत्तिवाला जानना चाहिये। जिसकी दृष्टि नीचेकी ओर रहती है, जो निष्ठुर, स्वार्थ-साधनमें तत्पर, शठ और मिथ्या-विनयी है वह ब्राह्मण वकव्रती कहलाता है।
ये वकव्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिंगिनः। ते पतन्त्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा॥ (मनु० ४। १९७)
जो ब्राह्मण बगुलावृत्तिसे और विडालवृत्तिसे रहते हैं वे उस पापसे अन्धतामिस्रनामक नरकमें पड़ते हैं।

इतना ही नहीं, उसकी साधनामें जरा-सी भूल भी क्षम्य नहीं है—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥

(मनु० २। १०३)

'जो ब्राह्मण न प्रातःकालकी सन्ध्या करता है और न सायं संध्या करता है वह ब्राह्मणोंके सम्पूर्ण कर्मोंसे शूद्रके समान बहिष्कार कर देने योग्य है।'

ऐसे तप, त्याग और सदाचारकी मूर्ति ब्राह्मणोंको स्वार्थी बतलाना अनभिज्ञताके साथ ही उसपर अयथार्थ दोषारोपण करनेके अपराधके सिवा और क्या है?

अतएव धर्मपर श्रद्धा रखनेवाले क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र प्रत्येकका यह कर्तव्य होना चाहिये कि वे दान, मान, पूजन आदिसे ब्राह्मणोंका सत्कार करें, सेवा और सद्व्यवहारके द्वारा ब्राह्मणोंको अपने ब्राह्मणत्वके गौरवकी बात याद दिलाकर उन्हें ब्राह्मणत्वकी रक्षाके लिये उत्साहित करें। शास्त्रीय कर्म, षोडश संस्कार (इनमें अधिक-से-अधिक जितने हो सकें), सकाम-निष्काम कर्मानुष्ठान, देवपूजन आदिके द्वारा ब्राह्मणोंकी सम्मानरक्षा और उनकी आजीविकाकी सुविधा कर दें, स्वयं ब्राह्मणोंकी जीविका कदापि न करें, जहाँतक हो सके संस्कृत भाषाका आदर करें और अपने बालकोंको अधिकारानुसार ब्राह्मणोंके द्वारा संस्कृतका जानकार बनावें, संस्कृत पाठशालाओंमें वृत्ति देकर ब्राह्मणबालकोंको पढ़ावें। धर्मग्रन्थोंमें श्रद्धा करके धर्मानुष्ठानका अधिकारानुसार प्रचार करें और शास्त्रोक्त रीतिसे जिस किसी प्रकारसे भी ऐसी चेष्टा करते रहें, जिसमें ब्राह्मणोंको आजीविकाकी चिन्ता न हो, उनके शास्त्रज्ञ होनेसे उनका आदर बढ़े और ब्राह्मणत्वमें उनकी श्रद्धा बढ़े। क्योंकि ब्राह्मणत्वकी रक्षाके लिये—जो वर्णाश्रमधर्मका प्राण है—स्वयं भगवान् पृथ्वीतलपर अवतार लिया करते हैं।

ब्राह्मणसेवा और ब्राह्मणोंको दान देनेका क्या महत्त्व है, उससे किस प्रकार अनायास ही अर्थ, धर्म, काम, मोक्षकी सिद्धि होती है। इसपर नीचे उद्धृत थोड़े-से शास्त्रवचनोंको देखिये। महाराज पृथु कहते हैं—

यत्सेवयाशेषगुहाशयः स्वराड्-
विप्रप्रियस्तुष्यति काममीश्वरः।
तदेव तद्धर्मपरैर्विनीतैः
सर्वात्मना ब्रह्मकुलं निषेव्यताम्॥
पुमाँल्लभेतानतिवेलमात्मनः
प्रसीदतोऽत्यन्तशमं स्वतः स्वयम्।
यन्नित्यसम्बन्धनिषेवया ततः
परं किमत्रास्ति मुखं हविर्भुजाम्॥
अश्नात्यनन्तः खलु तत्त्वकोविदैः
श्रद्धाहुतं यन्मुख इज्यनामभिः।
न वै तथा चेतनया बहिष्कृते
हुताशने पारमहंस्यपर्यगुः॥
यद् ब्रह्म नित्यं विरजं सनातनं
श्रद्धातपोमंगलमौनसंयमैः।
समाधिना बिभ्रति हार्थदृष्टये
यत्रेदमादर्श इवावभासते॥

(श्रीमद्भा० ४। २१। ३९—४२)

'सबके हृदयमें स्थित, ब्राह्मण-प्रिय एवं स्वयं प्रकाशमान ईश्वर हरि जिसकी सेवा करनेसे यथेष्ट सन्तोषको प्राप्त होते हैं उस ब्राह्मणकुलकी ही भागवतधर्ममें तत्पर होकर विनीत भावसे सब प्रकार सेवा करो। ब्राह्मणकुलके साथ नित्य सेवारूप सम्बन्ध होनेसे शीघ्र ही मनुष्यका चित्त शुद्ध हो जाता है। तब अपने-आप ही परम शान्ति अर्थात् मोक्ष मिलता है। भला ऐसे ब्राह्मणोंके मुखसे बढ़कर दूसरा कौन देवताओंका मुख हो सकता है? ज्ञानरूप, सबके अन्तर्यामी अनन्त हरिकी भी तृप्ति ब्राह्मणमुखमें ही होती है। तत्त्वज्ञानी पण्डितोंद्वारा पूजनीय इन्द्रादि देवोंका नाम लेकर श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणमुखमें हवन किये हुए हविष्यको श्रीहरि जितनी प्रसन्नताके साथ ग्रहण करते हैं उतनी प्रसन्नताके साथ अचेतन अग्निमुखमें डाली हुई हविको नहीं स्वीकार करते। जिसमें यह सम्पूर्ण विश्व आदर्शकी भाँति भासित होता है, उसी नित्य शुद्ध सनातन वेदको ये ब्राह्मणलोग श्रद्धा, तपस्या, मंगलकर्म,* मौन (मननशीलता या भगवद्विरोधी बातोंका त्याग), संयम (इन्द्रियोंका दमन) एवं समाधि (चित्तकी भगवान्में स्थिति) करते हुए यथार्थ अर्थके देखनेके लिये नित्यप्रति धारण करते हैं अर्थात् अध्ययन करते रहते हैं।'

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

ब्राह्मणप्रतिपूजायामायुः कीर्तिर्यशो बलम्।
लोका लोकेश्वराश्चैव सर्वे ब्राह्मणपूजकाः॥
त्रिवर्गे चापवर्गे च यशःश्रीरोगशान्तिषु।
देवतापितृपूजासु सन्तोष्याश्चैव नो द्विजाः॥

(महा० अनु० १५९। ९-१०)

* प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तस्य वर्जनम्। एतद्धि मंगलं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥

'ब्राह्मणकी पूजा करनेसे आयु, कीर्ति, यश और बल बढ़ता है। सभी लोग और लोकेश्वरगण ब्राह्मणोंकी पूजा करते हैं। धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्गको और मोक्षको प्राप्त करनेमें तथा यश, लक्ष्मीकी प्राप्ति और रोग-शान्तिमें और देवता एवं पितरोंकी पूजामें ब्राह्मणोंको सन्तुष्ट करना चाहिये।'

न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति।
तस्माद्राज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः॥
न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित्।
वरिष्टमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम्॥

(मनु० ७। ८३-८४)

'ब्राह्मणोंको दी हुई अक्षय निधिको शत्रु अथवा चोर नहीं हर सकते और न वह नष्ट होती है, इसलिये राजाको ब्राह्मणोंमें इस अनन्त फलदायक अक्षय निधिको स्थापित करना चाहिये अर्थात् ब्राह्मणोंको धन-धान्यादि देना चाहिये। अग्निमें घृतकी आहुति देनेकी अपेक्षा ब्राह्मणोंके मुखमें होमा हुआ अर्थात् उन्हें भोजन देनेका फल अधिक होता है; क्योंकि न वह कभी झरता है, न सूखता है और न नष्ट होता है।'

इतना ही नहीं, राजाके लिये तो मनु महाराज आज्ञा करते हैं—

यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा।
तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति॥
श्रुतवृत्ते विदित्वास्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत्।
संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम्॥
संरक्ष्यमाणो राज्ञा यं कुरुते धर्ममन्वहम्।
तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च॥

(मनु० ७। १३४—१३६)

'जिस राजाके देशमें वेदपाठी (श्रोत्रिय ब्राह्मण) भूखसे दुःखी होता है उस राजाका देश भी दुर्भिक्षसे पीड़ित हो शीघ्र नष्ट हो जाता है। इसलिये राजाको चाहिये कि वह श्रोत्रिय ब्राह्मणका शास्त्रज्ञान और आचरण जानकर उसके लिये धर्मानुकूल जीविका नियत कर दे और जैसे पिता अपने खास पुत्रकी रक्षा करता है वैसे ही इस वेदपाठीकी सब भाँति रक्षा करे। राजासे रक्षित होकर (वेदपाठी) जो नित्य धर्मानुष्ठान करता है उससे राजाके राज्य, धन और आयुकी वृद्धि होती है।'

यहाँतक कहा गया है—

न विप्रपादोदकपङ्किलानि
न वेदशास्त्रध्वनिगर्जितानि।
स्वाहास्वधाकारविवर्जितानि
श्मशानतुल्यानि गृहाणि तानि॥

'जिन घरोंमें भोजन करनेके लिये आये हुए ब्राह्मणोंके चरणोंकी धोवनसे कीचड़ नहीं होती, जिनमें वेद-शास्त्रोंकी ध्वनि नहीं गूँजती, जहाँ हवनसम्बन्धी स्वाहा और श्राद्धसम्बन्धी स्वधाकी ध्वनि नहीं होती वे घर श्मशानके समान हैं।'

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्।
पितापुत्रौ विजानीयाद् ब्राह्मणस्तु तयोः पिता॥

(मनु० २। १३५)

'ब्राह्मण दस वर्षका हो और राजा सौ वर्षका हो तो उनको पिता-पुत्रके समान जानना चाहिये अर्थात् उन दोनोंमें छोटी उम्रके ब्राह्मणोंके प्रति राजाको पिताके समान मान देना चाहिये।'

ब्राह्मण सद्गुण और सदाचार सम्पन्न होनेके साथ ही विद्वान् हो तब तो कहना ही क्या है, विद्वान् न हो तो भी वह सर्वथा पूजनीय है।

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत्॥

(मनु० ९। ३१७)

'अग्नि वेदमन्त्रोंसे प्रकट की हुई हो या दूसरे प्रकारसे, वह जैसे परम देवता है वैसे ही विद्वान् हो या अविद्वान्, ब्राह्मण भी परम देवता है। अर्थात् वह सभी स्थितियोंमें पूज्य है।'

ब्राह्मणोंकी इतनी महिमा गानेवाले शास्त्र ब्राह्मणोंको सावधान करते हुए जो कुछ कहते हैं, उससे उनका पक्षपातरहित होना सिद्ध हो जाता है। शास्त्रकारोंको पक्षपाती बतलानेवाले भाई नीचे लिखे शब्दोंपर ध्यान दें—

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति॥
तस्मादविद्वान् बिभियाद् यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात्।
स्वल्पकेनाप्यविद्वान् हि पङ्के गौरिव सीदति॥

(मनु० ४। १९०-१९१)

'जो ब्राह्मण तप और विद्यासे हीन होकर दान लेनेकी इच्छा करता है वह उस दातासहित इस प्रकार नरकमें डूबता है जैसे पत्थरकी नावपर चढ़ा हुआ मनुष्य नावसहित डूब जाता है। इसलिये अविद्वान् ब्राह्मणको जैसे-तैसे प्रतिग्रहसे डरना चाहिये; क्योंकि अनधिकारी अज्ञ ब्राह्मण थोड़े-से ही दानसे कीचमें फँसी गौके समान नरकमें दुःख पाता है।' अस्तु, ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्णाश्रमधर्मकी रक्षा हिंदूजातिके जीवनके लिये अत्यावश्यक है और वर्णाश्रमकी रक्षाके लिये ब्राह्मणकी। ब्राह्मणका स्वरूप तप और त्यागमय है। और उस तप और त्यागपूर्ण ब्राह्मणत्वकी पुनः जागृति हो, इसके लिये चारों वर्णोंके धर्मप्रेमी पुरुषोंको भरपूर चेष्टा करनी चाहिये।

ब्राह्मणकी अपने षट्कर्मोंपर* श्रद्धा बढ़े, ब्रह्मचिन्तन, सन्ध्योपासना और गायत्रीकी सेवामें उसका मन लगे और वेदाध्ययनकी ओर उसकी प्रवृत्ति हो इसकी बड़ी आवश्यकता है और यह ब्राह्मणकी सेवा-पूजा, सम्मान-दान आदिके द्वारा ब्राह्मणोचित कर्मोंके प्रति उसके मनमें उत्साह उत्पन्न करनेसे ही हो सकता है।

यदि ब्राह्मणत्व जाग्रत् हो गया और उसने फिरसे अपना स्थान प्राप्त कर लिया तो ब्राह्मण फिर पूर्वकी भाँति जगद्गुरुके पदपर प्रतिष्ठित हो सकता है और मनु महाराजका यह कथन भी शायद सत्य हो सकता है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(२।२०)

'इस देश (भारतवर्ष)में उत्पन्न हुए ब्राह्मणसे पृथ्वीपर सब मनुष्य अपना-अपना आचार सीखें।'

इसपर यदि कोई कहे कि यह तो अतीत युगके ब्राह्मणोंके स्वरूपकी और उन्हींकी पूजाकी बात है। वर्तमान कालमें ऐसे आदर्श त्यागी ब्राह्मण कहाँ हैं जो उनकी सेवा-पूजा की जाय? तो इसका उत्तर यह है कि अवश्य ही यह सत्य है कि ऐसे ब्राह्मण इस कालमें बहुत ही कम मिलते हैं। कलियुगके प्रभाव, भिन्नधर्मी शासक, पाश्चात्य सभ्यताके कुसंग और जगत्के अधार्मिक वातावरण आदि कारणोंसे इस समय केवल ब्राह्मण ही नहीं, सभी वर्णोंमें धर्मप्रेमी सच्चे आचारवान् पुरुष कम मिलते हैं। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि हैं ही नहीं। बल्कि ऐसा कहना असंगत नहीं होगा कि इस गये-गुजरे जमानेमें भी वेदाध्ययन करनेवाले निःस्पृही, त्यागी, सदाचारी, ईश्वर और धर्ममें अत्यन्त निष्ठा रखनेवाले ब्राह्मण मिल सकते हैं। चारों ओर अनादर और तिरस्कार पानेपर भी आज ब्राह्मणवर्णने ही सनातन संस्कृति और सनातन संस्कृत भाषाको बना रखा है। भीख माँगकर भी ब्राह्मण आज संस्कृत पढ़ते हैं। शौचाचारकी ओर देखा जाय तो भी यह कहना अत्युक्ति न होगा कि क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रवर्णकी अपेक्षा ब्राह्मणोंमें अपेक्षाकृत आज भी आचरणकी पवित्रता कहीं अधिक है। ऐसी स्थितिमें उनपर दोषारोपण न कर, उनकी निन्दा न कर, उनसे घृणा न कर, उनकी यथायोग्य सच्चे मनसे सेवा करनी चाहिये जिससे वे पुनः अपने स्वरूपपर स्थित होकर संसारके सामने ब्राह्मणत्वका पवित्र आदर्श उपस्थित कर सकें और उचित उपदेश और आदर्श आचरणके द्वारा समस्त जगत्का इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण करते हुए उन्हें परमात्माकी ओर अग्रसर कर सकें। सबसे मेरी यही विनीत प्रार्थना है।

बाल-शिक्षा

मित्रोंकी प्रेरणासे आज बालकोंके हितार्थ उनके कर्तव्यके विषयमें कुछ लिखा जाता है। यह खयाल रखना चाहिये कि जबतक माता-पिता, आचार्य जीवित हैं या कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान नहीं है तबतक अवस्थामें बड़े होनेपर भी सब बालक ही हैं। किन्तु बालक-अवस्थामें तो विद्या पढ़नेपर विशेष ध्यान देना चाहिये, क्योंकि बड़ी अवस्था होनेपर विद्याका अभ्यास होना बहुत ही कठिन है। जो बालक बाल्यावस्थामें विद्याका अभ्यास नहीं करता है, उसको आगे जाकर सदाके लिये पछताना पड़ता है। किन्तु ध्यान रखना चाहिये, बालकोंके लिये लौकिक विद्याके साथ-साथ धार्मिक शिक्षाकी भी बहुत ही आवश्यकता है, धार्मिक शिक्षाके बिना मनुष्यका जीवन पशुके समान है। धर्मज्ञानशून्य होनेके कारण आजकलके बालक प्रायः बहुत ही स्वेच्छाचारी होने लगे हैं। वे निरंकुशता, उच्छृंखलता, दुर्व्यसन, झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, आलस्य, प्रमाद आदि अनेकों दोष और

* अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ (मनु० १।८८)
पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना, दान लेना—ये छः कर्म ब्राह्मणोंके लिये रचे हैं।
वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्यन् द्विजोत्तमः। वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते॥ (मनु० २।१६६)
ब्राह्मण तप करता हुआ सदा वेदका ही अभ्यास करता रहे; क्योंकि इस लोकमें वेदका अभ्यास ही ब्राह्मणका बड़ा भारी तप कहा गया है।

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्। कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च॥
उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः। पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरांचिरम्॥ (मनु० ४।९२-९३)

ब्राह्ममुहूर्तमें (अर्थात् रात्रिके पिछले पहरमें) जागना चाहिये और धर्म-अर्थके उपार्जनके हेतुओंका, कारणसहित शरीरके क्लेशोंका और वेदके तत्त्वार्थ अर्थात् ब्रह्मका बारंबार चिन्तन करना चाहिये। ब्राह्मणको चाहिये कि (शय्यासे) उठकर (मल-मूत्रादि) आवश्यक कामसे शुद्ध और सावधान होकर प्रातः-सन्ध्या और सायं-सन्ध्याके अपने-अपने कालमें बहुत देरतक गायत्रीका जप करते हुए उपासना करे।

दुर्गुणोंके शिकार हो चले हैं जिससे उनके लोक-परलोक दोनों नष्ट हो रहे हैं।

उन्हें पाश्चात्य भाषा, वेष, सभ्यता अच्छे लगते हैं और ऋषियोंके त्यागपूर्ण चरित्र, धर्म एवं ईश्वरमें उनकी ग्लानि होने लगी है। यह सब पश्चिमीय शिक्षा और सभ्यताका प्रभाव है।

मेरा यह कहना नहीं कि पाश्चात्य शिक्षा न दी जाय किन्तु पहले धार्मिक शिक्षा प्राप्त करके, फिर पाश्चात्य विद्याका अभ्यास कराना चाहिये। ऐसा न हो सके तो धार्मिक शिक्षाके साथ-साथ पाश्चात्य विद्याका अभ्यास कराया जाय। यद्यपि विषका सेवन करना मृत्युको बुलाना है, किन्तु जैसे वही विष ओषधिके साथ अथवा ओषधियोंसे संशोधन करके खाया जाय तो वह अमृतका फल देता है। वैसे ही हमलोगोंको भी धार्मिक शिक्षाके साथ-साथ या धर्मके द्वारा संशोधन करके पाश्चात्य विद्याका भी अभ्यास करना चाहिये।

क्योंकि धर्म ही मनुष्यका जीवन, प्राण और इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला है। परलोकमें तो केवल एक धर्म ही साथ जाता है। स्त्री, पुत्र और सम्बन्धी आदि कोई भी वहाँ मदद नहीं कर सकते। अतएव अपने कल्याणके लिये मनुष्यमात्रको नित्य-निरन्तर धर्मका संचय करना चाहिये। अब हमको यह विचार करना चाहिये कि वह धारण करने योग्य धर्म क्या वस्तु है।

ऋषियोंने सद्‌गुण और सदाचारके नामसे ही धर्मकी व्याख्या की है। भगवान्‌ने गीता अध्याय १६ में जो दैवीसम्पत्तिके नामसे तथा अध्याय १७ में तपके नामसे जो कुछ कहा है सो धर्मकी ही व्याख्या है। महर्षि पतंजलिने योगदर्शनके दूसरे पादमें इसी धर्मकी व्याख्या सूत्ररूपसे यम-नियमके नामसे की है और मनुजीने भी संक्षेपमें ६।९२ में धर्मके दस लक्षण बतलाये हैं। इन सबको देखते हुए यह सिद्ध होता है कि सद्‌गुण और सदाचारका नाम ही धर्म है।

जो आचरण अपने और सारे संसारके लिये हितकर है यानी मन, वाणी और शरीरद्वारा की हुई जो उत्तम क्रिया है वही सदाचार है और अन्तःकरणमें जो पवित्र भाव हैं उन्हींका नाम सद्‌गुण है।

अब यह प्रश्न है कि ऐसे धर्मकी प्राप्ति कैसे हो? इसका यही उत्तर हो सकता है कि सत्पुरुषोंके संगसे ही इस धर्मकी प्राप्ति हो सकती है। क्योंकि वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी रुचिके अनुसार परिणाममें हितकर—यह चार प्रकारका धर्मका साक्षात् लक्षण है। मनुजीने भी ऐसा ही कहा है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

(२।१२)

सत्संगसे ही इन सबकी एकता हो सकती है। इनके परस्पर विरोध होनेपर यथार्थ निर्णय भी सत्संगसे ही होता है, अतएव महापुरुषोंका संग करना चाहिये। याद रहे कि इतिहास और पुराणोंमें भी श्रुति-स्मृतिमें बतलाये हुए धर्मकी ही व्याख्या है, इसलिये उनमें दी हुई शिक्षा भी धर्म है।

अतएव मनुष्यको उचित है; प्राण भी जाय तब भी धर्मका त्याग न करे; क्योंकि धर्मके लिये मरनेवाला उत्तम गतिको प्राप्त होता है।

गुरु गोविन्दसिंहके लड़कोंने धर्मके लिये ही प्राण देकर अचल कीर्ति और उत्तम गति प्राप्त की। मनुने भी कहा है—

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥

(२।९)

'जो मनुष्य वेद और स्मृतिमें कहे हुए धर्मका पालन करता है वह इस संसारमें कीर्तिको और मरकर परमात्माकी प्राप्तिरूप अत्यन्त सुखको पाता है।'

इसलिये हे बालको! तुम्हारे लिये सबसे बढ़कर जो उपयोगी बातें हैं, उनपर तुमलोगोंको विशेष ध्यान देना चाहिये। यों तो बहुत-सी बातें हैं, किन्तु नीचे लिखी हुई छः बातोंको तो जीवन और प्राणके समान समझकर इनके पालन करनेके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

वे बातें हैं—

सदाचार, संयम, ब्रह्मचर्यका पालन, विद्याभ्यास, माता-पिता और आचार्य आदि गुरुजनोंकी सेवा और ईश्वरकी भक्ति!

सदाचार

शास्त्रानुकूल सम्पूर्ण विहित कर्मोंका नाम सदाचार है। इस न्यायसे संयम, ब्रह्मचर्यका पालन, विद्याका अभ्यास, माता, पिता, आचार्य आदि गुरुजनोंकी सेवा एवं ईश्वरकी भक्ति इत्यादि सभी शास्त्रविहित होनेके कारण सदाचारके अन्तर्गत आ जाते हैं। किन्तु ये सब प्रधान-प्रधान बातें हैं, इसलिये बालकोंके हितार्थ इनका कुछ विस्तारसे अलग-अलग विचार किया जाता है। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-सी बातें बालकोंके लिये उपयोगी हैं जिनमेंसे यहाँ सदाचारके नामसे कुछ बतलायी जाती हैं।

बालकोंको प्रथम आचारकी ओर ध्यान देना चाहिये, क्योंकि आचारसे ही सारे धर्मोंकी उत्पत्ति होती है।

महाभारत अनुशासनपर्व अध्याय १४९, श्लोक १३७ में भीष्मजीने कहा है—

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः॥

'सब शास्त्रोंमें सबसे पहले आचारकी ही कल्पना की जाती है, आचारसे ही धर्म उत्पन्न होता है और धर्मके प्रभु श्रीअच्युत भगवान् हैं।'

इस आचारके मुख्य दो भेद हैं— शौचाचार और सदाचार। जल और मृत्तिका आदिसे शरीरको तथा भोजन, वस्त्र, घर और बर्तन आदिको शास्त्रानुकूल साफ रखना शौचाचार है।

सबके साथ यथायोग्य व्यवहार एवं शास्त्रोक्त उत्तम कर्मोंका आचरण करना सदाचार है। इससे दुर्गुण और दुराचारोंका नाश होकर बाहर और भीतरकी पवित्रता होती है तथा सद्‌गुणोंका आविर्भाव होता है।

प्रथम प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व ही उठकर शौच* स्नान करना चाहिये। फिर नित्यकर्म करके बड़ोंके चरणोंमें प्रणाम करना चाहिये। इसके बाद शरीरकी आरोग्यता एवं बलकी वृद्धिके लिये पश्चिमोत्तान, शीर्षासन, विपरीतकरणी आदि आसन एवं व्यायाम करना चाहिये। फिर दुग्धपान करके विद्याका अभ्यास करें। आसन और व्यायाम सायंकाल करनेकी इच्छा हो तो बिना दुग्धपान किये ही विद्याभ्यास करें।

विद्या पढ़नेके बाद दिनके दूसरे पहरमें ठीक समयपर आचमन करके सावधानीके साथ आदरपूर्वक पवित्र और सात्त्विक भोजन करें।

मनुजी कहते हैं—

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्‌भिः खानि च संस्पृशेत्॥

(२।५३)

'द्विजको चाहिये कि सदा आचमन करके ही सावधान हो अन्नका भोजन करे और भोजनके अनन्तर भी अच्छी प्रकार आचमन करे और छः छिद्रोंका (अर्थात् नाक, कान और नेत्रोंका) जलसे स्पर्श करे।'

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्चसर्वशः॥

(२।५४)

'भोजनका नित्य आदर करे और उसकी निन्दा न करता हुआ भोजन करे, उसे देख हर्षित होकर प्रसन्नता प्रकट करे और सब प्रकारसे उसका अभिनन्दन करे।'

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम्॥

(२।५५)

'क्योंकि नित्य आदरपूर्वक किया हुआ भोजन बल और वीर्यको देता है और अनादरसे खाया हुआ अन्न उन दोनोंका नाश करता है।'

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥

(२।५७)

'अधिक भोजन करना आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्यका नाशक है और लोकनिन्दित है इसलिये उसे त्याग दे।'

भोजन करनेके बाद दिनमें सोना और मार्ग चलना नहीं चाहिये। विद्याका अभ्यास भी एक घंटे ठहरकर ही करना चाहिये। विद्याके अभ्यास करनेके बाद सायंकालके समय पुनः शौच-स्नान करके नित्यकर्म करना चाहिये। फिर रात्रिमें भोजन करके कुछ देर बाद रात्रिके दूसरे पहरके आरम्भ होनेपर शयन करना चाहिये। कम-से-कम बालकोंको सात घंटे सोना चाहिये। यदि सोते-सोते सूर्योदय हो जाय तो दिनभर गायत्रीका जप करते हुए उपवास करना चाहिये। मनुजीने कहा है—

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः।
निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद् दिनम्॥

(२।२२०)

'इच्छापूर्वक सोते हुए ब्रह्मचारीको यदि सूर्य उदय हो जाय या इसी तरह भूलसे अस्त हो जाय तो गायत्रीको जपता हुआ दिनभर व्रत करे।'

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा॥

(२।२२१)

'जिस ब्रह्मचारीके सोते रहते हुए सूर्य अस्त या उदय हो जाय वह यदि प्रायश्चित्त न करे तो उसे बड़ा भारी पाप लगता है।'

नित्यकर्ममें भगवान्‌के नामका जप और ध्यान तथा

* मलत्याग करके तीन बार मृत्तिकासहित जलसे गुदा धोवे, फिर जबतक दुर्गन्ध एवं चिकनाई रहे तबतक केवल जलसे धोवे। मल या मूत्रके त्याग करनेके बाद उपस्थको भी जलसे धोवे। मल त्यागनेके बाद मृत्तिका लेकर दस बार बायें हाथको और सात बार दोनों हाथोंको मिलाकर धोना चाहिये। जलसे मृत्तिकासहित पैरोंको एक बार तथा पात्रको तीन बार धोना चाहिये। हाथ और पैर धोनेके उपरान्त मुखके सारे छिद्रोंको धोकर दातुन करके कम-से-कम बारह कुल्ले करने चाहिये।

कम-से-कम गीताके एक अध्यायका पाठ अवश्य ही करना चाहिये। यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो तो हवन, सन्ध्या, गायत्री-जप, स्वाध्याय, देवपूजा और तर्पण भी करना चाहिये। इनमें भी सन्ध्या और गायत्री जप तो अवश्य ही करना चाहिये। न करनेसे वह प्रायश्चित्तका भागी एवं पतित समझा जाता है। ब्रह्मचारीके लिये तो सूतक कभी है ही नहीं, किन्तु नित्यकर्म करनेके लिये किसीको भी आपत्ति नहीं है।[1]

अतएव नित्यकर्म तो सदा ही करें—मनुजीने कहा है—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥

(२।१७६)

'ब्रह्मचारीको चाहिये कि नित्य स्नान करके और शुद्ध होकर देव, ऋषि और पितरोंका तर्पण तथा देवताओंका पूजन और अग्निहोत्र अवश्य करे।'

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विज कर्मणः॥

(२।१०३)

'जो मनुष्य न तो प्रातःसन्ध्योपासन करता है और न सायंसन्ध्योपासन करता है वह शूद्रके समान सम्पूर्ण द्विज-कर्मोंसे अलग कर देनेके योग्य है।'

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम्।

(२।१०६)

'नित्यकर्ममें अनध्याय नहीं है; क्योंकि उसे ब्रह्मयज्ञ कहा है।'

श्रुति और स्मृतियोंमें गायत्री-जपका बड़ा माहात्म्य बतलाया है। गायत्रीका जप स्नान करके पवित्र होकर ही करना चाहिये—चलते-फिरते नहीं। गायत्रीका नित्य एक सहस्र जप करनेसे मनुष्य एक महीनेमें पापोंसे छूट जाता है। तीन वर्षतक करनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है, ऐसा मनुने कहा है—

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥

(२।७८)

'इस ओम् अक्षर और इस व्याहृतिपूर्वक सावित्रीको दोनों सन्ध्याओंमें जपता हुआ वेदज्ञ ब्राह्मण वेदपाठके पुण्यफलका भागी होता है।'

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥

(२।७९)

'ब्राह्मण इन तीनोंका यानी प्रणव, व्याहृति और गायत्रीका बाहर (एकान्त स्थानमें) सहस्र बार जप करके एक मासमें बड़े भारी पापसे भी वैसे ही छूट जाता है जैसे साँप केंचुलीसे।'

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्॥

(२।८१)

'जिनके पहले ओंकार है ऐसी अविनाशिनी (भूः भुवः स्वः) तीन महाव्याहृति और तीन पदवाली सावित्रीको ब्रह्मका मुख जानना चाहिये।'

योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥

(२।८२)

'जो मनुष्य आलस्य छोड़कर नित्यप्रति तीन वर्षतक गायत्रीका जप करता है वह पवनरूप और आकाशरूप होकर परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।'

किन्तु खयाल रखना चाहिये—क्षत्रिय और वैश्यकी तो बात ही क्या है जबतक यज्ञोपवीत न हो, तबतक वेदका अभ्यास, वेदोक्त हवन और सन्ध्या-गायत्री-जप आदि वेदोक्त क्रियाएँ ब्राह्मणको भी नहीं करनी चाहिये; क्योंकि बिना यज्ञोपवीतके उनको भी करनेका अधिकार नहीं है। करें तो प्रायश्चित्तके भागी होते हैं। अतएव ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंको यज्ञोपवीत अवश्य लेना चाहिये।

यदि व्रात्य[2] (पतित) संज्ञा हो गयी हो तो भी शास्त्रविधिके अनुसार प्रायश्चित्त कराकर यज्ञोपवीत लेना चाहिये। उपनयनका काल मनुजीने इस प्रकार बतलाया है—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥

(२।३६)

'ब्राह्मणका उपनयन (जनेऊ) गर्भसे आठवें वर्षमें,

१. जन्म और मृत्युके सूतकमें सन्ध्या, गायत्री-जप आदि वैदिक नित्यक्रिया बिना जलके मनसे मन्त्रोंका उच्चारण करके करनी चाहिये। केवल सूर्य भगवान्‌को जलसे अर्घ्य देना चाहिये।

२. अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः। सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः॥ (२।३९)
'यदि ऊपर बताये हुए समयपर इनका संस्कार न हो तो उस कालके अनन्तर ये तीनों सावित्रीसे पतित होनेके कारण शिष्टजनोंसे निन्दित और व्रात्यसंज्ञक हो जाते हैं।'

क्षत्रियका गर्भसे ग्यारहवेंमें और वैश्यका गर्भसे बारहवें वर्षमें करना चाहिये।'

आ षोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आ द्वाविंशात्क्षत्रबन्धोरा चतुर्विंशतेर्विशः॥

(२।३८)

'सोलह वर्षतक ब्राह्मणके लिये, बाईस वर्षतक क्षत्रियके लिये और चौबीस वर्षतक वैश्यके लिये सावित्रीके कालका अतिक्रमण नहीं होता अर्थात् इस अवस्थातक उनका उपनयन (जनेऊ) हो सकता है।'

द्विजातियोंके लिये यज्ञोपवीतका कर्म और काल बतलाकर अब सभी बालकोंके लिये आचरण करनेयोग्य बातें बतलायी जाती हैं।

हे बालको! संसारमें सबसे बढ़कर प्रेम है, प्रेम साक्षात् परमात्माका स्वरूप है, इसलिये जहाँ प्रेम है वहीं सुख और शान्तिका साम्राज्य है। वह प्रेम स्वार्थ-त्यागपूर्वक माता, पिता, गुरुजन और सहपाठियोंकी तो बात ही क्या है, सभीके साथ सदा-सर्वदा सच्चे, हितकर, विनययुक्त वचन बोलकर एवं मनसे, वाणीसे, शरीरसे जिस किसी प्रकारसे दूसरोंका हित हो ऐसा प्रयत्न तुमलोगोंको करना चाहिये।

दूसरोंकी वस्तुको चुराना-छीनना तो दूर रहा किन्तु वे खुशीसे तुम्हें दें तो भी अपने स्वार्थके लिये न लेकर विनय और प्रिय वचनसे उन्हें सन्तोष कराना चाहिये, यदि न लेनेपर उन्हें कष्ट होता हो एवं प्रेममें बाधा आती हो तो आवश्यकतानुसार ले भी लें तो कोई आपत्ति नहीं।

दूसरेके अवगुणोंकी तरफ खयाल न करके उनके गुणोंको ग्रहण करना चाहिये। किसीकी भी निन्दा, चुगली तो करनी ही नहीं, इससे उनका या अपना किसीका भी हित नहीं है। आवश्यकता हो तो सच्ची प्रशंसा कर सकते हो।

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी इच्छा तो कभी करनी ही नहीं, किन्तु अपने आप प्राप्त होनेपर भी कल्याणमें बाधक होनेके कारण मनसे स्वीकार न करके मनमें दुःख या संकोच करना चाहिये।

परेच्छा या दैवेच्छासे मनके प्रतिकूल पदार्थोंके प्राप्त होनेपर भी ईश्वरका भेजा हुआ पुरस्कार मानकर आनन्दित होना चाहिये। ऐसा न हो सके तो अपने पापका फल समझकर ही सहन करना उचित है।

बड़ोंकी सभी आज्ञा पालनीय है किन्तु जिसके पालनसे उन्हींका या और किसीका अनिष्ट हो या जिसके कारण ईश्वरकी भक्तिमें विशेष बाधा आती हो वहाँ उपराम हो सकते हैं।

गुरुजनोंकी तो बात ही क्या है, वृथा तर्क और विवाद तो किसीके साथमें भी कभी न करें।

कितनी भी आपत्ति आ जाय, पर धैर्य और निर्भयताके साथ सबको सहन करना चाहिये; क्योंकि भारी-से-भारी आपत्ति आनेपर भी निर्भयताके साथ उसे सहन करनेसे आत्मबलकी वृद्धि होती है। ऐसा समझकर तुमलोगोंको आपत्तिमें भी धैर्य और धर्मको नहीं त्यागना चाहिये।

कोई भी उत्तम कर्म करके मनमें अभिमान या अहंकार नहीं लाना चाहिये; किन्तु धन, विद्या, बल और ऐश्वर्य आदिके प्राप्त होनेपर स्वाभाविक ही चित्तमें जो दर्प, अहंकार और अभिमान आता है उसको मृत्युके समान समझकर सबके साथ विनययुक्त, दीनतासे बर्ताव करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे वे दुर्गुण नहीं आ सकते।

गीता-रामायणादि धार्मिक ग्रन्थोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक विचार करनेके लिये भी अवश्य कुछ समय निकालना चाहिये।

उपर्युक्त सदाचारका पालन करनेसे मनुष्यके सारे दुर्गुण और दुराचारोंका नाश हो जाता है। तथा उसमें स्वाभाविक ही क्षमा, दया, शान्ति, तेज, सन्तोष, समता, ज्ञान, श्रद्धा, प्रेम, विनय, पवित्रता, शीतलता, शम, दम आदि बहुत-से गुणोंका प्रादुर्भाव हो जाता है। क्योंकि यह नियम है कि बीज और वृक्षकी तरह सद्‌गुणसे सदाचारकी एवं सदाचारसे सद्‌गुणोंकी वृद्धि होती है और दुर्गुण एवं दुराचारोंका नाश होता है।*

इसलिये बालकोंको उचित है कि सद्‌गुणोंकी वृद्धि एवं सदाचारके पालनके लिये तत्परताके साथ चेष्टा करें। इस प्रकार करनेसे इस लोक और परलोकमें सुख और शान्ति मिल सकती है।

संयम

मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके संयमकी बहुत ही आवश्यकता है, क्योंकि बिना संयम किये हुए ये मनुष्यका पतन कर ही डालते हैं। भगवान्‌ने भी कहा है—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

(गीता २।६०)

'हे अर्जुन! क्योंकि आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथन स्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात् हर लेती हैं।'

* यहाँ सद्‌गुणोंको बीज और सदाचारको वृक्षस्थानीय समझना चाहिये।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

(गीता २। ६७)

'क्योंकि वायु जलमें चलनेवाली नावको जैसे हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है।'

मनुजीने भी कहा है—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम्॥

(२।९९)

'सब इन्द्रियोंमेंसे जो एक भी इन्द्रिय विचलित हो जाती है उसीसे इस मनुष्यकी बुद्धि ऐसे जाती रहती है जैसे एक भी छिद्र हो जानेसे बर्तनका समस्त जल निकल जाता है।'

अन्तःकरणके संयमका नाम शम और इन्द्रियोंके संयमका नाम दम है, इनको प्रायः स्मृतिकारोंने धर्मका अंग माना है। गीतामें शम और दमको ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म और वेदान्तमें इनको साधनके अंग माना है।

वशमें किये हुए मन-इन्द्रिय मित्र और नहीं वशमें किये हुए शत्रुके समान हैं; मुक्ति और बन्धनमें भी प्रधान हेतु यही हैं। क्योंकि वशमें करनेपर ये मुक्तिके देनेवाले, नहीं वशमें किये हुए दुःखदायी बन्धनके हेतु होते हैं। जल जैसे स्वभावसे नीचेकी ओर जाता है। वैसे ही इन्द्रियगण आसक्तिके कारण स्वभावसे विषयोंकी ओर जाते हैं। विषयोंके संसर्गसे दुराचार और दुर्गुणोंकी वृद्धि होकर मनुष्यका पतन हो जाता है। मनुजी भी कहते हैं—

इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥

(२।९३)

'मनुष्य इन्द्रियोंमें आसक्त होकर निःसन्देह दोषको प्राप्त होता है और उनको ही रोककर उस संयमसे सिद्धि प्राप्त कर लेता है।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रियोंके साथ विषयोंका संसर्ग ही सारे अनर्थोंका मूल है। इसलिये हे बालको! इन सब विषयभोगोंको नाशवान्, क्षणभंगुर, दुःखरूप समझकर यथाशक्ति त्याग करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

बहुत-से भाई कहते हैं कि विषयोंके भोगते-भोगते इच्छाकी पूर्ति अपने-आप ही हो जायगी, किन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि मनुजीने कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

(२।९४)

'नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा विषयोंके उपभोगसे कभी शान्त नहीं होती बल्कि घृतसे अग्निके समान बार-बार अधिक ही बढ़ती जाती है।'

कितने ही लोग विषयोंके भोगनेमें ही सुख और शान्ति मानते हैं किन्तु यह उनका भ्रम है। जैसे पतंगोंको प्रज्वलित दीपक आदिमें सुख और शान्ति प्रतीत होती है, पर वास्तवमें वह दीपक उनका नाशक है। इसी प्रकार संसारके विषय-भोगोंमें मोहवश मनुष्यको क्षणिक शान्ति और सुख प्रतीत होता है किन्तु वास्तवमें विषयोंका संसर्ग उसका नाशक यानी पतन करने वाला है। इसलिये विवेक, विचार, भय या हठसे किसी भी प्रकार हो मन इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर वशमें करनेके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। मनुने कहा है—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्॥

(२।८८)

'पण्डितको चाहिये कि मनको हरनेवाले विषयोंमें विचरनेवाली इन्द्रियोंके रोकनेमें ऐसा यत्न करे कि जैसे घोड़ोंके रोकनेमें सारथी करता है।'

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम्॥

(२।१००)

'मनुष्यको चाहिये कि इन्द्रिय समूहको वशमें करके तथा मनको रोककर योगसे शरीरको पीड़ा न देते हुए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि समस्त पुरुषार्थोंको सिद्ध करे।'

इसलिये हे बालको! प्रथम वाणी आदि इन्द्रियोंका, फिर मनका संयम करना चाहिये (गीता अध्याय ३ श्लोक ४१—४३)।

जो मनुष्य अपनी निन्दा करे या गाली दे उसके बदलेमें शान्तिदायक, सत्य, प्रिय और हितकर कोमल वचन कहना चाहिये। क्योंकि यदि वह अपनी सच्ची निन्दा करता है तो उससे तुम्हारी कोई हानि नहीं है बल्कि तुम्हारे गुणोंको ढकता है, यह उपकार ही है। यदि कोई तुम्हारे साथ मार-पीट करे या तुम्हारी कोई चीज चुरा ले या जबरदस्ती छीन ले अथवा किसी भी प्रकारसे तुम्हारे साथ अनुचित व्यवहार करे तो तुम्हें उसे भी सहन करना चाहिये। अपने पूर्वके किये हुए अपराधके फलस्वरूप

भगवान्‌का ही किया हुआ विधान समझकर चित्तमें प्रसन्न होना चाहिये; क्योंकि बिना अपराध किये और बिना भगवान्‌की प्रेरणाके कोई भी प्राणी किसीका अनिष्ट नहीं कर सकता।

सहन करनेसे धीरता, वीरता, गम्भीरता और आत्मबलकी वृद्धि भी होती है। अवश्य ही क्षमा-बुद्धिसे सहन होना चाहिये, कायरता या डरसे नहीं। आत्मरक्षाके लिये या अन्यायका विरोध करनेके लिये आवश्यकतानुसार उचित प्रतीकार करना भी दोषकी बात नहीं है किन्तु इस बातका विशेष ध्यान रखना चाहिये कि कहीं किसीका अनिष्ट न हो जाय। मनुने कहा है—

नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत्॥

(२।१६१)

'मनुष्यको चाहिये कि दूसरेके द्वारा दुःख दिये जानेपर या दैवयोगसे कोई दुःख प्राप्त हो जानेपर भी मनमें दुःखी न हो तथा दूसरेसे द्रोह करनेमें कभी मन न लगावे। अपनी जिस वाणीसे किसीको दुःख हो ऐसी लोकविरुद्ध वाणी कभी न बोले।'

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥

(२।१६२)

'ब्राह्मणको चाहिये कि सम्मानसे विषके समान नित्य डरता रहे (क्योंकि अभिमान बढ़नेसे बहुत हानि है) और अमृतके समान सदा अपमानकी इच्छा करता रहे अर्थात् तिरस्कार होनेपर खेद न करे।'

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति॥

(२।१६३)

'अपमान सह लेनेवाला मनुष्य सुखसे सोता है, सुखसे जागता है और इस संसारमें सुखसे विचरता है, परंतु दूसरोंका अपमान करनेवाला नष्ट हो जाता है।'

इसलिये किसीका अनिष्ट करना, किसीके साथ वैर करना या किसीमें द्वेष या घृणा करना, अपने आपका पतन करना है।

बालकका जबतक विवाह नहीं होता तबतक वह गुरुके पास या माता-पिताके पास कहीं रहे वह ब्रह्मचारी ही है।

ब्रह्मचारीको लहसुन, प्याज, मदिरा, मांस, भाँग, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, गाँजा आदि घृणित एवं मादक पदार्थोंका सेवन करना तो दूर रहा उनका तो स्मरण भी नहीं करना चाहिये।

अतर, फुलेल, तैल, पुष्पोंकी माला, आँखोंका अंजन, बालोंका शृंगार, नाचना, गाना, बजाना, स्त्रियोंका दर्शन-भाषण-स्पर्श एवं सिनेमा, थियेटर आदि खेल-तमाशोंका देखना—इन सबको सारे अनर्थोंका मूल कामोद्दीपन करनेवाला वीर्यनाशक समझकर त्याग कर देना चाहिये।

झूठ, कपट, छल, छिद्र, जुआ, झगड़ा, विवाद, निन्दा, चुगली, हिंसा, चोरी, जारी आदिको महापाप समझकर इन सबका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष, ईर्ष्या, वैर, अहंकार, दम्भ, दर्प, अभिमान और घृणा आदि दुर्गुणोंको सारे पाप और दुःखोंका मूल कारण समझकर हृदयसे हटानेके लिये विशेष प्रयत्नशील रहना चाहिये।

बालक एवं ब्रह्मचारियोंके लिये मनुजी कहते हैं—

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥

(२।१७७)

'शहद, मांस, सुगन्धित वस्तु, फूलोंके हार, रस, स्त्री, सिरकेकी भाँति बनी हुई समस्त मादक वस्तुएँ और प्राणियोंकी हिंसा—इन सबको त्याग दें।'

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥

(२।१७९)

'जुआ, गाली-गलौज, निन्दा तथा झूठ एवं स्त्रियोंको देखना, आलिंगन करना और दूसरेका तिरस्कार करना, (इन सबका भी ब्रह्मचारीको त्याग कर देना चाहिये)।'

अभ्यंगमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥

(२।१७८)

'उबटन लगाना, आँखोंका आँजना, जूते और छत्र धारण करना एवं काम, क्रोध, लोभ और नाचना, गाना, बजाना—इन सबको भी त्याग दें।'

सोडावाटर, बर्फ, बिस्कुट, डॉक्टरी दवा, होटलका भोजन आदि भी उच्छिष्ट एवं महान् अपवित्र हैं*। इसलिये धर्ममें बाधक समझकर इनका त्याग करना चाहिये ऐसे भोजनको भगवान्‌ने तामसी बतलाया है।

* प्रायः सोडावाटर और बर्फ उच्छिष्ट, बिस्कुटमें मुर्गीका अंडा, डॉक्टरी औषधमें मद्य, मांस आदिका मिश्रण, होटलके भोजनमें मद्य-मांसादिका संसर्ग होनेसे यह सब ही महान् अपवित्र हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

(गीता १७।१०)

'जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है—वह (भोजन) तामस पुरुषको प्रिय होता है।'

उपर्युक्त दुर्गुण और दुराचारोंको न त्यागनेवाले पुरुषके यज्ञ, दान, तप, नियम आदि उत्तम कर्म सफल नहीं होते। मनुजी कहते हैं—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥

(२।९७)

'दुष्ट स्वभाववाले मनुष्यके वेद, दान, यज्ञ, नियम और तप—ये सब कभी भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होते हैं, अर्थात् इन सबका उत्तम फल उसे नहीं मिलता।'

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥

(४।१५७)

'दुराचारी पुरुष सदा ही लोकमें निन्दित, दुःख भोगनेवाला, रोगी और अल्पायु होता है।'

अतएव दुर्गुण और दुराचारोंका त्याग करके मन और इन्द्रियोंको विषय-भोगोंसे हटाकर अपने स्वाधीन करना चाहिये। मन और इन्द्रियोंका संयम होनेसे राग-द्वेष, हर्ष-विषादका नाश सहजमें ही हो सकता है। जब प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें हर्ष-शोक नहीं होता तथा मन और इन्द्रियोंके साथ विषयोंका संसर्ग होनेपर भी चित्तमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होता, तब समझना चाहिये कि सच्चा जितेन्द्रिय 'संयमी' पुरुष है। मनुजी भी कहते हैं—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥

(२।९८)

'जो मनुष्य सुनकर, छूकर, देखकर, खाकर और सूँघकर न तो प्रसन्न होता है और न उदास होता है, उसे जितेन्द्रिय जानना चाहिये।'

मन और इन्द्रियोंके वशमें होनेके बाद राग-द्वेषसे रहित होकर विषयोंका संसर्ग किया जाना ही लाभदायक है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

(२।६४)

'परन्तु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है।'

ब्रह्मचर्य

जिसने सब प्रकारसे मैथुनका त्याग कर दिया है* वही ब्रह्मचारीके नामसे प्रसिद्ध है। क्योंकि सब प्रकारसे वीर्यकी रक्षा करना रूप ब्रह्मचर्यका पालन ब्रह्म (परमात्मा) की प्राप्तिमें मुख्य हेतु हैं। ऊपर बतलाये हुए व्रतका आचरण करनेवाला चाहे गुरुके गृहमें वास करे या अपने माता-पिताके घरपर रहे वह ब्रह्मचारी ही है। हे बालको! ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना भी तुम्हारे लिये सबसे बढ़कर मुख्य कर्तव्य है। इसीसे बल, बुद्धि, तेज, सद्गुण और सदाचारकी वृद्धि होकर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

इसलिये तुमलोगोंको स्त्रियोंके संगसे बहुत सावधान रहना चाहिये। स्त्रियोंके दर्शन, भाषण, स्पर्श और चिन्तनकी तो बात ही क्या है उनकी मूर्ति एवं चित्र भी ब्रह्मचारीको नहीं देखने चाहिये। यदि अत्यन्त आवश्यकता पड़ जाय तो नीची दृष्टिसे अपने चरणोंकी तरफ या जमीनको देखते हुए उनको अपनी माँ और बहिनके समान समझकर बातचीत करे। किन्तु एकान्तमें तो माता और बहिनके साथमें भी न रहे क्योंकि स्त्रियोंका संसर्ग पाकर बुद्धिमान् पुरुषकी भी बुद्धि भ्रष्ट होकर इन्द्रियाँ विचलित हो जाती हैं। मनुने भी कहा है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

(२।२१५)

'मनुष्यको चाहिये कि माता, बहिन या लड़कीके साथ भी एकान्तमें न बैठे, क्योंकि इन्द्रियोंका समूह बड़ा बलवान् है,अतः वह पण्डितको भी अपनी ओर खींच लेता है।'

महावीर हनुमान्का नाम ब्रह्मचर्यव्रतके पालनमें प्रसिद्ध है। रामायणके पाठक उनकी जीवनीसे भी परिचित हैं। हनुमान् एक अलौकिक वीर पुरुष थे। हनुमान्ने समुद्रको लाँघ, रावण-पुत्र अक्षयकुमारको मार और लंकाको जला श्रीजानकीजीका समाचार श्रीरामके पास पहुँचाया। और

* स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥
'स्त्रीका स्मरण, स्त्रीसम्बन्धी बातचीत, स्त्रियोंके साथ खेलना, स्त्रीको देखना, स्त्रीसे गुप्त भाषण करना, स्त्रीसे मिलनेका संकल्प करना, चेष्टा करना और स्त्रीसंग करना—ये आठ प्रकारके मैथुन माने गये हैं।'

लक्ष्मणके शक्तिबाण लगनेपर सुषेण वैद्यकी बतलायी हुई बूटीको न पहचाननेके कारण बूटीसहित पहाड़को उखाड़कर सूर्योदयके पूर्व ही लंकामें ला उपस्थित किया। किष्किन्धा और सुन्दरकाण्डको देखनेसे मालूम होता है कि हनुमान् केवल वीर ही नहीं, सदाचारी, विद्वान् ऋद्धि-सिद्धिके ज्ञाता और भगवान्‌के महान् भक्त थे। जिनकी महिमा गाते हुए स्वयं भगवान्‌ने कहा है कि हे हनुमान्! तुमने जो हमारी सेवा की है, उसका प्रत्युपकार न करनेके कारण मैं लज्जित हूँ।

प्रति उपकार करौं का तोरा।
सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥

भारतवासी आज भी उनको नैष्ठिक ब्रह्मचारी मानकर पूजते हैं, भक्तगण स्तुति गाते हैं, व्यायाम करनेवाले अपने दलका नाम 'महावीरदल', रखकर बल बढ़ाना चाहते हैं। वास्तवमें मनुष्य महावीर हनुमान्‌के जिस गुणका स्मरण करता है आंशिकरूपसे उसमें उस गुणका आविर्भाव-सा हो जाता है।

राजकुमार वीर लक्ष्मणजीके विषयमें तो कहना ही क्या है, वे तो साक्षात् भगवान्‌के सेवक एवं शेषजीके अवतार थे। उन्होंने तो श्रीरामजीके साथ अवतार लेकर लोगोंके हितार्थ लोक-मर्यादाके लिये आदर्श व्यवहार किया। वे सदाचारी, गुणोंकी खान, भगवान्‌के अनन्य भक्त एक महान् वीर पुरुषके नामसे प्रसिद्ध थे। उन्होंने जिसको इन्द्र भी न जीत सका था उस वीर मेघनादको भी मार डाला। काम पड़नेपर कालसे भी नहीं डरते थे। यह सब ब्रह्मचर्यव्रतका ही प्रभाव बतलाया गया।

गंगापुत्र पितामह भीष्मका नाम आपलोगोंने सुना ही होगा। वे बड़े तेजस्वी, शीलवान् अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले, ईश्वरके भक्त और बड़े धर्मात्मा वीर पुरुष थे। उन्होंने अपने पिताकी सेवाके लिये क्षणमात्रमें कंचन और कामिनीका सदाके लिये त्यागकर दिया और उसके प्रतापसे उन्होंने कालको भी जीत लिया। एक समय देवव्रत (पितामह भीष्म) ने अपने पिता शान्तनुको शोकाकुल देखकर उनसे शोकका कारण पूछा, उन्होंने पुत्रवृद्धिके लिये विवाह करनेकी इच्छा प्रकट की। इस प्रकार अपने पिताके शोकका कारण जानकर बुद्धिमान् देवव्रतने अपने पिताके बूढ़े मन्त्रीके पास जाकर उनसे भी अपने पिताके शोकका कारण पूछा—तब मन्त्रीने धीवरराजकी पालिता कन्याके सम्बन्धके विषयकी सब बातें कहीं और धीवरराजकी इच्छाका वृत्तान्त भी सुनाया। तब देवव्रत बहुत-से क्षत्रियोंको साथ लेकर उस धीवरराजके पास गये और अपने पिताके लिये उस धीवरराजसे कन्या माँगी। धीवरराजने देवव्रतका विधिपूर्वक सत्कार किया और इस प्रकार कहा—देवव्रत! अपने पिताके आप बड़े पुत्र हैं और आप राजा होनेके योग्य हैं किन्तु मैं कन्याका पिता हूँ, इसलिये आपसे कुछ कहना चाहता हूँ, बात यह है कि इस कन्यासे जो पुत्र उत्पन्न हो, वही राजगद्दीपर बैठे, इस शर्तपर मैं अपनी कन्याका विवाह आपके पिताके साथ कर सकता हूँ, नहीं तो नहीं। उस दासराज (धीवरराज) के वचनको सुनकर गंगापुत्र देवव्रतने सब राजाओंके सामने यह उत्तर दिया कि हे दासराज! तुम जैसा कहते हो, मैं वैसा ही करूँगा। यह मेरा सत्य वचन है इसे तुम निश्चय ही मानो। इस कन्यासे जो पुत्र उत्पन्न होगा, वही हमारा राजा होगा। तब धीवरराजने कहा—'हे सत्यधर्मपरायण! आपने मेरी कन्या सत्यवतीके लिये सब राजाओंके बीचमें जो प्रतिज्ञा की है, वह आपके योग्य ही है, आप इस प्रतिज्ञाका पालन करेंगे, इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है, किन्तु आपके जो पुत्र होंगे—उनसे मुझे बड़ा सन्देह है—वे इस कन्याके पुत्रसे राज्य ले सकते हैं।' तदनन्तर गंगापुत्र देवव्रतने अपने पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे दूसरी प्रतिज्ञा की, देवव्रत बोले—'हे दासराज! अपने पिताके लिये इन सब राजाओंके सामने मैं जो वचन कहता हूँ, उसको सुनो। (मैं राज्यको तो पहले त्याग ही चुका हूँ) आजसे मैं आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन करूँगा अर्थात् विवाह न करके आजीवन ब्रह्मचारी रहूँगा।' राजकुमार देवव्रतके ऐसे वचनोंको सुनकर बड़ी प्रसन्नतासे धीवरराज बोले—'हे देवव्रत! मैं यह कन्या आपके पिताके लिये अर्पण करता हूँ।' उस समय देवता और ऋषिगण बोले—'यह दुष्कर कर्म करनेवाला है इसलिये यह भीष्म है।' ऐसा कहते हुए आकाशसे फूलोंकी वर्षा करने लगे। (तबसे गंगापुत्र देवव्रतका नाम भीष्म विख्यात हुआ।) उसके बाद भीष्मने अपने पिताके लिये उस धीवरराजकी यशस्विनी कन्या सत्यवतीसे कहा—'मातः! इस रथपर चढ़िये, हम लोग घर चलेंगे।' ऐसा कह उस कन्याको अपने रथमें बैठाकर हस्तिनापुर आये, और उस कन्याको पिताको अर्पण कर दिया। उनके इस दुष्कर कर्मको देखकर सब राजालोग उनकी प्रशंसा करने लगे और यह कहने लगे—इसने बड़ा दुष्कर कर्म किया है। इस कारण हम सब इसका 'भीष्म' नाम रखते हैं। जब राजा शान्तनुने सुना कि देवव्रतने ऐसा दुष्कर कार्य किया है तो उन्होंने प्रसन्न होकर महात्मा भीष्मको अपने तपके बलसे स्वच्छन्द मरणका वर दिया। वे बोले—'हे निष्पाप! तुम जबतक जीवित रहना चाहोगे तबतक मृत्युका तुम्हारे ऊपर कोई प्रभाव न होगा, तुम्हारी आज्ञा होनेपर ही तुम्हें मृत्यु मार सकेगी।' (महाभारत आदिपर्व अध्याय १००)

आजीवन ब्रह्मचर्यके प्रभावसे अकेले भीष्म काशीमें समस्त राजाओंको परास्त करके अपने भाई विचित्रवीर्यके साथ विवाह करनेके लिये बलपूर्वक स्वयंवरसे काशिराजकी अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका नामवाली तीनों कन्याओंको ले आये। उन तीनों कन्याओंमें शाल्वराजकी इच्छा करनेवाली अम्बा नामवाली कन्याका त्याग कर दिया और उस अम्बाके पक्षको लेकर आये हुए जमदग्निपुत्र परशुरामके साथ बहुत दिनोंतक घोर युद्ध करके अपनी प्रतिज्ञाकी रक्षा की।

महाभारतको देखनेसे ज्ञात होता है कि भीष्म केवल शूरवीर ही थे इतनी ही बात नहीं, वे बड़े भारी सदाचारी, सद्गुणसम्पन्न, शास्त्रके ज्ञाताओंमें सूर्यरूप एवं भक्तोंमें शिरोमणि थे। भीष्मने भगवान् श्रीकृष्णजीके कहनेसे राजा युधिष्ठिरको भक्ति, ज्ञान, सदाचार आदि धर्मके विषयमें अलौकिक उपदेश दिया था जिससे शान्ति और अनुशासनपर्व भरा पड़ा है। आजीवन ब्रह्मचर्यके पालनके प्रभावसे वे अचल कीर्ति और इच्छामृत्युको प्राप्त करके सर्वोत्तम परमगतिको प्राप्त हो गये।

ब्रह्मचर्यकी महिमा बतलाते हुए भगवान्ने गीतामें कहा है—

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

(८।११)

'जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचारीलोग ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं उस परमपदको मैं तेरे लिये संक्षेपमें कहूँगा।'

प्रायः इसी प्रकारका वर्णन कठोपनिषद्में भी आता है—

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(१।२।१५)

'जिसकी इच्छा करते हुए ब्रह्मचारीगण ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं उस परमपदको मैं तेरे लिये संक्षेपसे कहता हूँ। वह पद यह 'ॐ' है।'

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

(कठ० १।२।१६)

'यह ॐकार अक्षर ही ब्रह्म (सगुण ब्रह्म) है, यही परब्रह्म (निर्गुण ब्रह्म) है, इस ॐकाररूप अक्षरको जानकर मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है उसको वही मिलती है।'

एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥

(कठ० १।२।१७)

'यह सबसे उत्तम आलम्बन है, यह ही सबसे ऊँचा आलम्बन है। जो मनुष्य इस आलम्बनको जान जाता है वह ब्रह्मलोकमें महिमावाला होता है।' यानी ब्रह्मलोकनिवासी भी उसकी महिमा गाते हैं।

अतएव बालकोंको ब्रह्मचर्यके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये। यदि आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन न हो सके तो शास्त्रके आज्ञानुसार चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्यका पालन करे, यदि इतना भी न हो सके तो, कम-से-कम आजकलके समयके अनुसार अठारह वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन तो अवश्य ही करना चाहिये, इससे पूर्व ब्रह्मचर्यका नाश करनेवाले बालकको सदाके लिये पश्चात्ताप एवं रोगोंका शिकार होकर असमयमें मृत्युका शिकार बनना पड़ता है। विषय-भोगोंके अधिक भोगनेसे बल, वीर्य, तेज, बुद्धि, ज्ञान,स्मृतिका नाश और दुर्गुण-दुराचारोंकी वृद्धि होकर उसका पतन हो जाता है। इसलिये गृहस्थी भाइयोंसे भी नम्र निवेदन है कि महीनेमें एक बार ऋतुकालके अतिरिक्त स्त्री-सहवास न करें। क्योंकि उपर्युक्त नियमपूर्वक सहवास करनेवाला गृहस्थी भी यति और ब्रह्मचारीके सदृश माना गया है।

विद्या

संसारमें विद्याके समान कोई भी पदार्थ नहीं है। संसारके पदार्थोंका तात्त्विक ज्ञान भी विद्यासे ही होता है। विद्या तो बाँटनेसे भी बढ़ती है। आदर, सत्कार, प्रतिष्ठा भी विद्यासे मिलते हैं; क्योंकि विद्वान् जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ उसका आदर-सत्कार होता है। विद्याके प्रभावसे मनुष्य जो चाहे सो कर सकता है, विद्या गुप्त और परमधन है।

भोगके द्वारा विद्या कामधेनु और कल्पवृक्षकी भाँति फल देनेवाली है। विद्याकी बड़ाई कहाँतक की जाय मुक्तितक विद्यासे मिलती है क्योंकि ज्ञान विद्याका ही नाम है और बिना ज्ञानके मुक्ति होती नहीं; इसलिये विद्या मुक्तिको देनेवाली भी है।

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्याभोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनःपशुः॥

(भर्तृहरिनीतिशतक २१)

'विद्या ही मनुष्यका अधिक-से-अधिक रूप और ढका हुआ गुप्त धन है, विद्या ही भोग, यश और सुखको देनेवाली है तथा गुरुओंकी भी गुरु है। विदेशमें गमन करनेपर विद्या ही बन्धुके समान सहायक हुआ करती है, विद्या परा देवता है, राजाओंके यहाँ भी विद्याकी ही पूजा

होती है, धनकी नहीं। इसलिये जो मनुष्य विद्यासे हीन है, वह पशुके समान है।'

कामधेनुगुणा विद्या ह्यकाले फलदायिनी।
प्रवासे मातृसदृशी विद्या गुप्तं धनं स्मृतम्॥

(चाणक्य ४।५)

'विद्यामें कामधेनुके समान गुण हैं, यह अकालमें भी फल देनेवाली है, यह विद्या मनुष्यका गुप्त धन समझा गया है। विदेशमें यह माताके समान (मदद करती) है।'

न चौरहार्यं न च राजहार्यं
न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं
विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्॥

'विद्याको चोर या राजा नहीं छीन सकते। भाई इसका बँटवारा नहीं करा सकते और इसका कुछ भार भी नहीं लगता तथा दान करनेसे यानी दूसरोंको पढ़ानेसे यह विद्या नित्य बढ़ती रहती है अत: विद्यारूपी धन सब धनोंमें प्रधान है।'

धर्मशास्त्रोंका ज्ञान भी विद्यासे ही होता है। शास्त्रका अभ्यास वाणीका तप है, ऐसा गीतामें भी कहा है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

(१७।१५)

'जो उद्वेगको न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पढ़ने एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है—वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

अतएव बालकोंको शास्त्रोंके अभ्यासके लिये तो विद्याका अभ्यास विशेषरूपसे करना चाहिये। विद्या पढ़नेमें माता-पिताको भी पूरी सहायता करनी चाहिये। क्योंकि जो माता-पिता अपने बालकको विद्या नहीं पढ़ाते हैं वे शत्रुके समान माने गये हैं—

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥

(चाणक्य २।११)

'वे माता और पिता वैरीके समान हैं जिन्होंने अपने बालकको विद्या नहीं पढ़ायी, क्योंकि बिना पढ़ा हुआ बालक सभामें वैसे ही शोभा नहीं पाता, जैसे हंसोंके बीच बगुला।'

बालकोंको भी स्वयं पढ़नेके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये। क्योंकि चाणक्यने कहा है—

रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः॥

(३।८)

'विद्यारहित मनुष्य रूप और यौवनसे सम्पन्न एवं बड़े कुलमें उत्पन्न होनेपर भी विद्वानोंकी सभामें उसी प्रकार शोभा नहीं पाते जैसे बिना गन्धका पुष्प।'

इसलिये हे बालको! विद्याका अभ्यास भी तुम्हारे लिये अत्यन्त आवश्यकीय है। अबतक जितने विद्वान् हुए और वर्तमानमें जो हैं, इनका विद्याके प्रतापसे ही आदर-सत्कार हुआ और हो रहा है।

बड़प्पन और गौरवमें भी विद्याके समान जाति, आयु, अवस्था, धन, कुटुम्ब कुछ भी नहीं है। मनुजी कहते हैं—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पंचमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥

(२।१३६)

'धन, कुटुम्ब, आयु, कर्म और पाँचवी विद्या—ये बड़प्पनके स्थान हैं। इसमें जो-जो पीछे है वही पहलेसे बड़ा है अर्थात् धनसे कुटुम्ब बड़ा है इत्यादि।'

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥

(२।१५४)

'न बहुत वर्षोंकी अवस्थासे, न सफेद बालोंसे, न धनसे, न भाई- बन्धुओंसे कोई बड़ा होता है। ऋषियोंने यह धर्म किया है कि जो अंगोंसहित वेद पढ़ानेवाला है वही हमलोगोंमें बड़ा है।'

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥

(२।१५६)

'सिरके बाल सफेद होनेसे कोई बड़ा नहीं होता। तरुण होकर भी जो विद्वान् होता है उसे देवता वृद्ध मानते हैं।'

यही क्या, विद्यासे सब कुछ मिल सकता है किन्तु कल्याणके चाहनेवाले मनुष्योंको केवल वेद, शास्त्र और ईश्वरका तत्त्व जाननेके लिये ही अभ्यास करना चाहिये। अभ्यास करनेमें सांसारिक सुखोंका त्याग और महान् कष्टका सामना करना पड़े तो भी हिचकना नहीं चाहिये।

इसलिये हे बालको! तुमलोगोंको भी स्वाद, शौक, भोग, आराम, आलस्य और प्रमादको विद्यामें बाधक समझकर इन सबका एकदम त्याग करके विद्याभ्यास करनेके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

माता, पिता, आचार्य आदि गुरुजनोंकी सेवा

माता, पिता, आचार्यकी सेवा और आज्ञापालनके

समान बालकोंके लिये दूसरा कोई भी धर्म नहीं है। मनुने भी कहा है—इन सबकी सेवा ही परमधर्म है, शेष सब उपधर्म हैं—

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥

(२। २३७)

'इन तीनोंकी सेवासे ही पुरुषका सब कृत्य समाप्त हो जाता है यानी उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता। यही साक्षात् परमधर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं।'

बात यह है, शास्त्रोंमें माता, पिता, आचार्यको तीनों लोक, तीनों वेद और देवता बतलाया गया है। श्रुति कहती है—

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।

(तैत्ति० १। ११। २)

'माता, पिता और आचार्यको देवता माननेवाला हो।'

मनुने कहा है—

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः॥

(२। २३०)

'वे ही तीनों लोक, वे ही तीनों आश्रम, वे ही तीनों वेद और वे ही तीनों अग्नि कहे गये हैं।'

भगवान्ने तपकी व्याख्या करते हुए प्रथम बड़ोंकी सेवा-पूजाको शरीरका तप कहा है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(गीता १७। १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीर सम्बन्धी तप कहा जाता है।'

इसलिये बालकोंको उचित है कि आलस्य और प्रमादको छोड़कर माता-पिता आदि गुरुजनोंकी सेवाको परमधर्म समझकर उनकी पूजा-सेवा एवं आज्ञाका पालन तत्पर होकर करें।

गुरुकी सेवा

मनुष्य केवल गुरुकी सेवासे भी परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें भी कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(१३। २५)

'परन्तु इनसे दूसरे, अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं।'

इस प्रकारके वेद और शास्त्रोंमें बहुत-से उदाहरण भी मिलते हैं। एक समय आयोदधौम्य मुनिने पंजाब निवासी आरुणि नामक शिष्यसे कहा—'हे आरुणे! तुम खेतमें जाकर बाँध बाँधो।' आरुणि गुरुकी आज्ञाको पाकर वहाँ गया, पर प्रयत्न करनेपर भी किसी प्रकारसे वह जलको नहीं रोक सका। अन्तमें उसे एक उपाय सूझा और वह स्वयं क्यारीमें जाकर लेट रहा। उसके लेटनेसे जलका प्रवाह रुक गया। समयपर आरुणिके न लौटनेसे, आयोदधौम्य मुनिने अन्य शिष्योंसे पूछा—'पंजाबनिवासी आरुणि कहाँ है?' शिष्योंने उत्तर दिया—आपने ही उसे खेतका 'बाँध बाँधनेके लिये भेजा है।' शिष्योंकी बात सुनकर मुनिने कहा—'चलो जहाँ आरुणि गया है वहीं हम सब लोग चलें।' तदनन्तर गुरुजी वहाँ बाँधके पास पहुँचकर उसे बुलानेके लिये पुकारने लगे—'बेटा आरुणे! कहाँ हो, चले आओ।' आरुणि उपाध्यायकी बात सुनकर उस बाँधसे सहसा उठकर उनके निकट उपस्थित हुआ और बोला—'हे भगवन्! आपके खेतका जल निकल रहा था, मैं उसे किसी प्रकारसे रोक नहीं सका, तब अन्तमें मैं वहाँ लेट गया, इसीसे जलका निकलना बंद हो गया। इस समय आपके पुकारनेपर सहसा आपके पास आया हूँ और प्रणाम करता हूँ—आप आज्ञा दीजिये, इस समय मुझको कौन-सा कार्य करना होगा।' गुरु बोले—'बेटा! बाँधका उद्दलन करके निकले हो इसलिये तुम उद्दालक नामसे प्रसिद्ध होओगे।' यह कहकर उपाध्याय उसपर कृपा दिखलाते हुए बोले—'तुमने तन, मनसे मेरी आज्ञाका पालन किया है, इसलिये सम्पूर्ण वेद और धर्मशास्त्र तुम्हारे मनमें बिना पढ़े ही प्रकाशित रहेंगे और तुम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।' इसके उपरान्त वह गुरुके प्रसादको पाकर आरुणि (उद्दालक) गुरुकी आज्ञासे अपने देशको चला गया (महाभारत आदिपर्व अध्याय ३)।

जबाला नामकी एक स्त्री थी, उसके पुत्रका नाम सत्यकाम था। एक समय उसने हारिद्रुमतगौतमके पास जाकर कहा—'मैं आपके यहाँ ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ वास करूँगा, इसलिये मैं आपके पास आया हूँ।' गुरुने कहा—'हे सौम्य! तू किस गोत्रवाला है!' तब सत्यकाम बोला—'भगवन्! मैं नहीं जानता।' तब गौतमने कहा, 'ऐसा स्पष्ट भाषण ब्राह्मणेतर नहीं कर सकता, अतएव तू ब्राह्मण है, क्योंकि तुमने सत्यका त्याग नहीं किया है।'

फिर गौतमने उसका उपनयन-संस्कार करनेके अनन्तर, गौओंके झुंडमेंसे चार सौ कृश और दुर्बल गौएँ अलग

निकालकर उससे कहा कि 'हे सौम्य! तू इन गौओंके पीछे-पीछे जा।' गुरुकी इच्छा जानकर सत्यकामने कहा— 'इनकी एक सहस्र संख्या पूरी हुए बिना मैं नहीं लौटूँगा।' तब वह एक अच्छे वनमें गया जहाँ जल और तृणकी बहुतायत थी और बहुत कालपर्यन्त उनकी सेवा करता रहा। जब वे एक हजारकी संख्यामें हो गयीं, तब एक साँड़ने उससे कहा 'हे सत्यकाम! हम एक सहस्र हो गये हैं, अब तुम हमें आचार्यकुलमें पहुँचा दो।' इसके बाद सत्यकाम उन गौओंको आचार्यकुलमें ले आया और गुरुकी आज्ञा-पालनके प्रतापसे ही उसको रास्ते चलते-चलते ही साँड़, अग्नि, हंस और मुद्गलद्वारा विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके स्वरूपकी प्राप्ति हो गयी। यह कथा छान्दोग्योपनिषद् अध्याय ४, खण्ड ४ से ९ तकमें है।

एक समय जबालाके पुत्र सत्यकामसे कमलके पुत्र उपकोशलने यज्ञोपवीत लेकर बारह वर्षतक उनकी सेवा की। तब सत्यकामकी भार्याने स्वामीसे कहा—'यह उपकोशल खूब तपस्या कर चुका है, इसने अच्छी तरह आपके आज्ञानुसार अग्नियोंकी सेवा की है। अतएव इसे ब्रह्मविद्याका उपदेश करना चाहिये।' पर सत्यकामने उसे कुछ उत्तर नहीं दिया और उपदेश बिना दिये ही बाहर चले गये। उनके चले जानेपर उपवास करनेवाले उपकोशलको अग्नियोंने ब्रह्मका उपदेश दिया। उसके बाद गुरु लौटकर वापस आये और उससे पूछा—'हे सौम्य! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ताके समान प्रतीत होता है, तुम्हें किसने उपदेश दिया है?' तब उपकोशलने इशारोंसे अग्नियोंको बतलाया। उसके बाद आचार्यने पूछा— 'क्या उपदेश दिया है?' तब उसने सारी बातें ज्यों-की-त्यों कह दीं। तब आचार्य बोले—'हे सौम्य! अब तुझे उस ब्रह्मका उपदेश मैं करूँगा, जिसे जान लेनेपर तू जलसे कमल-पत्तेके सदृश पापसे लिपायमान नहीं होगा।' उपकोशलने कहा—'मुझे बतलाइये।' तब आचार्यने उसे ब्रह्मका उपदेश दिया और उससे वह ब्रह्मको प्राप्त हो गया। यह कथा छान्दोग्योपनिषद् अध्याय ४ खण्ड १०से १५ तकमें है।

आजकलके प्रायः बालक किसके साथमें कैसा बर्ताव करना चाहिये, इस बातको भूल गये। औरोंकी तो बात ही क्या है—उपाध्याय, गुरु, आचार्य और शिक्षा देनेवाले गुरुजनोंके साथ भी सद्व्यवहार करना तो दूर रहा कुछ विद्यार्थी तो घृणा एवं तुच्छ दृष्टिसे उनको देखते हैं और कोई-कोई तो तिरस्कारपूर्वक उनका हँसी मजाक उड़ाते हैं। यह सब शास्त्रकी शिक्षाके अभावका परिणाम है। गुरुओंके पास जाकर किस प्रकारसे उनकी सेवा-पूजा, सत्कार करते हुए व्यवहार करना चाहिये यह मनु आदि महर्षियोंकी शिक्षाको देखनेसे ही मालूम हो सकता है। हमारे इस देशका कितना ऊँचा आदर्श था, गुरुजनोंके साथमें कैसा व्यवहार था और कैसी सभ्यता थी, उसका स्मरण करनेसे मनुष्य मुग्ध हो जाता है। मनुजी कहते हैं—

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम्॥

(२।१९२)

'शरीर, वाणी, बुद्धि, इन्द्रियाँ और मन—इन सबको रोककर हाथ जोड़े, गुरुके मुखको देखता हुआ खड़ा रहे।'

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्॥

(मनु० २।१९४)

'गुरुके सामने सदा साधारण अन्न, वस्त्र और वेषसे रहे तथा गुरुसे पहले उठे और पीछे सोवे।'

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः॥

(मनु० २।१९६)

शिष्यको चाहिये कि 'बैठे हुए गुरुसे खड़े होकर, खड़े हुएसे उनके सामने जाकर, अपनी ओर आते हुएसे कुछ पद आगे जाकर, दौड़ते हुएसे उनके पीछे दौड़कर बातचीत करे।'

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत्॥

(मनु० २।१९८)

'गुरुके समीप शिष्यकी शय्या और आसन सदा नीचा रहना चाहिये। गुरुकी आँखोंके सामने शिष्यको मनमाने आसनसे नहीं बैठना चाहिये। गुरुके साथ असत्य आचरण करनेसे उसकी दुर्गति होती है।' मनुजीने कहा है—

परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी॥

(मनु० २।२०१)

'गुरुको झूठा दोष लगानेवाला गधा, उनकी निन्दा करनेवाला कुत्ता, अनुचित रीतिसे उनके धनको भोगनेवाला कृमि और उनके साथ डाह करनेवाला कीट होता है।'

इसलिये उनके साथ असत् व्यवहार कभी नहीं करना चाहिये।

हे बालको! जब तुम गुरुजनोंके पास विद्या सीखने जाओ, तब मन, वाणी, इन्द्रियोंको वशमें करके सादगीके साथ श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गुरुजनोंके समीप उनसे नीचे कायदेमें रहते हुए, विनय और सरलताके साथ, उनको प्रणाम करते हुए विद्याका अभ्यास एवं प्रश्नोत्तर किया करो।

इस प्रकार व्यवहार करनेसे गुरुजन प्रेमसे उपदेश, शिक्षा, विद्यादिका प्रदान प्रसन्नतापूर्वक कर सकते हैं। सेवा करनेवाला सेवक उनसे विद्या सहजमें ही पा सकता है। भगवान्ने भी गीतामें कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(४। ३४)

'उस ज्ञानको तू समझ। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके पास जाकर उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

अब यह बतलाया जाता है कि गुरुजनोंके पास जाकर कैसे प्रणाम करना चाहिये। मनुने कहा है—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः॥

(२। ७२)

'हाथोंको हेरफेर करके गुरुके चरण छूने चाहिये। बायें हाथसे बायाँ और दाहिने हाथसे दाहिना चरण छूना चाहिये।'

माता-पितादि अन्य पूज्यजनोंके साथ भी इसी प्रकारका व्यवहार करना चाहिये। क्योंकि बड़ी बहिन, बड़े भाईकी स्त्री, मौसी, मामी, सास, फूआ आदि भी गुरुपत्नी और माताके समान हैं और इनके पति गुरु और पिताके समान हैं। इसलिये इन सबकी सेवा, सत्कार, प्रणाम करना मनुष्यका कर्तव्य है।

अपनेसे कोई किसी भी प्रकार बड़े हों उन सबकी सेवा और उन्हें आदरपूर्वक प्रणाम करना चाहिये। उनमें भी वेद और शास्त्रको जाननेवाला विद्वान् ब्राह्मण तो सबसे बढ़कर सत्कार करनेयोग्य है।

माता-पिताकी सेवा

माता-पिताकी सेवाकी तो बात ही क्या है—वे तो सबसे बढ़कर सत्कार करनेयोग्य हैं। मनुने भी कहा है—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥

(२। १४५)

'बड़प्पनमें दस उपाध्यायोंसे एक आचार्य, सौ आचार्योंसे एक पिता और हजार पिताओंसे एक माता बड़ी है।'

इसलिये कल्याण चाहनेवालेको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तत्परताके साथ उनकी सेवा करना उचित है। देखो, महाराज युधिष्ठिर बड़े सदाचारी, गुणोंके भण्डार, ईश्वरभक्त, अजातशत्रु एवं महान् धर्मात्मा पुरुष थे; उनके गुण और आचरणोंकी व्याख्या कौन लिख सकता है। ये सब बात होते हुए भी वे अपने माता-पिताके भी असाधारण भक्त थे। इतना ही नहीं, वे अपने बड़े पिता धृतराष्ट्र एवं गान्धारीके भी कम भक्त नहीं थे। वे उनकी अनुचित आज्ञाका पालन करना भी अपना धर्म समझते थे। राजा धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको भस्म करनेके उद्देश्यसे लाक्षाभवन बनवाया और उसमें बुरी नीयतसे पाण्डवोंको मातासहित वास करनेकी आज्ञा दी। इस कपटभरी आज्ञाको भी युधिष्ठिरने शिरोधार्य करके राजा धृतराष्ट्रके षड्यन्त्रपूर्ण भावको समझते हुए भी वारणावत नगरमें जाकर लाक्षाभवनमें निवास किया। किन्तु धर्मका सहारा लेनेके कारण इस प्रकारकी आज्ञाका पालन करनेपर भी धर्मने उनकी रक्षा की। साक्षात् धर्मके अवतार विदुरजीने सुरंग खुदवाकर लाक्षागृहसे मातासहित पाण्डवोंको निकालकर बचाया। क्योंकि जो पुरुष धर्मका पालन करता है, धर्मको बाध्य होकर उसकी अवश्यमेव रक्षा करनी पड़ती है। शास्त्रोंमें ऐसा कहा है कि धर्म किसीको नहीं छोड़ता—लोग ही उसे छोड़ देते हैं। अतएव मनुष्यको उचित है कि घोर आपत्ति पड़नेपर भी काम, लोभ, भय और मोहके वशीभूत होकर धर्मका त्याग कभी न करे।

राजा युधिष्ठिरपर बहुत आपत्तियाँ आयीं, पर उन्होंने बराबर धर्मका पालन किया, इसलिये धर्म भी उनकी रक्षा करते रहे।

जुआ खेलना महापाप है और सारे अनर्थोंका कारण है, ऐसा समझते हुए भी धृतराष्ट्रकी आज्ञा होनेके कारण राजा युधिष्ठिरने जुआ खेला। उसके फलस्वरूप द्रौपदीका घोर अपमान और वनवासके महान् कष्टको सहन किया, किन्तु आज्ञापालनरूप धर्मका त्याग न करनेके कारण भगवान्की कृपासे अन्तमें उनकी विजय हुई।

इसके बाद उस अतुल राजलक्ष्मीको पाकर भी राजा युधिष्ठिरने अपने साथ घोर अन्याय करनेवाले धृतराष्ट्र और गान्धारीको नित्य प्रणाम करते हुए उनकी सेवा की। जब धृतराष्ट्र वनमें जाने लगे उस समय अपने मरे हुए बन्धु-बान्धवों और पुत्रोंके उद्देश्यसे अपरिमित धन ब्राह्मणोंको दान देनेके लिये इच्छा प्रकट की। उस समय राजा युधिष्ठिरने साफ शब्दोंमें विदुरके हाथ यह सन्देश भेजा कि 'मेरा जो कुछ धन है वह सब आपका है। मेरा शरीर भी आपके अधीन है, आप इच्छानुसार जो चाहें सो कर सकते हैं! (महाभारत आश्रमवासिकपर्व अध्याय १२)। पाठकगण! जरा सोचिये और ध्यान दीजिये अपने साथ इस प्रकारका विरोध करनेवाले एवं प्राण लेनेकी चेष्टा रखनेवालोंके साथ भी ऐसा धर्मयुक्त उदारतापूर्ण

व्यवहार करना साधारण बात नहीं है। इसीलिये आज संसारमें राजा युधिष्ठिर धर्मराजके नामसे विख्यात हैं। और धर्मपालनके प्रभावसे ही वे सदेह स्वर्ग को जाकर उसके बाद अतुलनीय परमगतिको प्राप्त हो गये। अतएव हमलोगोंको अपने साथ अनुचित व्यवहार करनेपर भी माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा तो श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सरलताके साथ करनी ही चाहिये।

फिर जन्म देनेवाले माता-पिताकी तो बात ही क्या है, वे तो सबसे बढ़कर सत्कार करनेके योग्य हैं। क्योंकि हमलोगोंके पालन-पोषणमें उन्होंने जो क्लेश सहा है उनका स्मरण करनेसे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मनुने कहा है—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥

(२।२२७)

'मनुष्यकी उत्पत्तिके समयमें जो क्लेश माता-पिता सहते हैं, उसका बदला सौ वर्षोंमें भी सेवादि करके नहीं चुकाया जा सकता।'

इसलिये हमलोगोंको बदला चुकानेका उद्देश्य न रखकर उनकी सेवा-पूजा और आज्ञाका पालन अपना परम-कर्तव्य समझकर करना चाहिये। ऐसा करना ही परमधर्म और परमतप है अर्थात् माता-पिताकी सेवाके समान न कोई धर्म है और न कोई तप है। देखो, धर्मव्याध व्याध होनेपर भी माता-पिताकी सेवाके प्रतापसे त्रिकालज्ञ हुए। उन्होंने श्रद्धा-भक्ति, विनय और सरलतापूर्वक अपने माता-पिताकी सेवा की।

वे अपने माता-पिताको सबसे उत्तम देवमन्दिरके समान सुन्दर घरमें रखा करते थे—उसमें बहुत-से पलंग आसन आरामके लिये रहते थे। जैसे मनुष्य देवताओंकी पूजा करते हैं, वैसे ही वे अपने माता-पिताको ही यज्ञ, होम, अग्नि वेद और परमदेवता मानकर पुष्पोंसे, फलोंसे, धनसे उनको प्रसन्न करते थे। वे स्वयं ही उन दोनोंके पैर धोते, स्नान कराके उन्हें भोजन कराते तथा उनसे मीठे और प्रिय वचन कहते और उनके अनुकूल चलते थे। इस प्रकार वे आलस्यरहित होकर शम, दम आदि साधनमें स्थित हुए अपना परमधर्म समझकर मन, वाणी, शरीरद्वारा तत्परतासे पुत्र, स्त्रीके सहित उनकी सेवा करते थे। जिसके प्रतापसे वे इस लोकमें अचल कीर्ति, दिव्यदृष्टिको प्राप्त होकर उत्तम गतिको प्राप्त हुए (महाभारत वनपर्व अध्याय २१४-२१५)।

कौशिकमुनि जो माता-पिताकी आज्ञा लिये बिना तप करने चले गये थे, वह भी इन धर्मव्याधके साथ वार्तालाप करके तपसे भी माता-पिताकी सेवाको बढ़कर समझ पुनः माता-पिताकी सेवा करके उत्तम गतिको प्राप्त हुए।

जो माता-पिताकी सेवा और आज्ञापालन न करके और उससे विपरीत आचरण करता है उसकी इस लोकमें भी निन्दा एवं दुर्गति होती है—यह बात लोकमें प्रसिद्ध ही है कि राजा कंसने बलपूर्वक राज्य छीनकर अपने माता-पिताको कैदमें डाल दिया था। इस कारण उसपर आजतक कलंककी कालिमा लगी हुई है, आज भी कोई लड़का माता-पिताके साथ दुर्व्यवहार करता है, उसके माता-पिता उसपर आक्षेप करते हुए गालीके रूपमें उस बालकको कंसका अवतार बतलाया करते हैं; किन्तु जो बालक माता-पिताकी सेवा, प्रणाम तथा उनकी आज्ञाका पालन करता हुआ उनके अनुकूल चलता है उसके माता-पिता उसके आचरणोंसे मुग्ध हुए गद्‌गद वाणीसे तपस्वी श्रवणकी उपमा देकर उसका गुणगान करते हैं। अतएव बालकोंसे हमारा सविनय निवेदन है कि उन्हें कभी कंस नहीं कहलाकर, श्रवण कहलाना चाहिये।

आपलोगोंको मालूम होगा कि श्रवण एक तपस्या करनेवाले वैश्य-ऋषिका पुत्र था। श्रवणकी कथा वाल्मीकीयरामायणके अयोध्याकाण्डके ६३ और ६४ सर्गमें विस्तारपूर्वक वर्णित है।

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी पिताकी आज्ञाको शिरोधार्य करके प्रसन्नतापूर्वक जब वनको चले गये थे तब राजा दशरथ आज्ञाकारी भगवान् श्रीरामचन्द्रके विरहमें व्याकुल हुए कौशल्याके भवनमें जाकर रामके शील, सेवा, आचरणोंको याद करके रुदन करने लगे। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके वनमें चले जानेपर छठी रात्रिको अर्धरात्रिके समय पुत्रविरहसे पीड़ित होकर राजा कौशल्यासे बोले—'हे देवि! जब हमलोगोंका विवाह नहीं हुआ था और मैं युवराजपदको प्राप्त हो गया था ऐसे समय बुरी आदतके कारण एक दिन मैं धनुष-बाण लेकर रथपर सवार होकर शिकार खेलनेके लिये, जहाँ महिष, हाथी आदि वनके पशु जल पीनेके लिये आया करते थे वहाँ सरयूके तीरपर गया। तदनन्तर उस घोर वर्षाकी अँधियारी रात्रिमें कोई जलमें घड़ा डुबाने लगा तो उसके घड़ा भरनेका शब्द मुझको ऐसा प्रतीत हुआ मानो कोई हाथी जल पी रहा है, इस प्रकार अनुमान करके उस शब्दको निशाना बनाकर मैंने बाण छोड़ा। इतनेमें ही किसी वनवासीका शब्द सुनायी पड़ा—'हाय! हाय! यह बाण मुझको किसने मारा। मैं तपस्वी हूँ, इस घोर रात्रिमें नदीके किनारे जल लेने आया था, वनके फल-मूल खाकर वनमें वास करनेवाले जटा-वल्कल मृगचर्मधारी मेरा वध अस्त्रके द्वारा कैसे किसने किया, मुझे मारकर किसीका क्या काम सिद्ध होगा! मैंने किसीका कुछ

बुरा भी नहीं किया, फिर किसने मुझपर अकारण यह शस्त्र चलाया। मुझे अपने प्राणोंका शोक नहीं है, शोक तो केवल अपने वृद्ध माता-पिताका है। उन वृद्धोंका अबतक तो मेरे-द्वारा पालन-पोषण होता रहा किन्तु मेरे मरनेपर वे मेरे बूढ़े माता-पिता अपना निर्वाह किस प्रकार करेंगे, अतएव हम सभी मारे गये।'

हे कौशल्ये! इस करुणाभरी वाणीको सुनकर मैं बहुत ही दु:खित हुआ और मेरे हाथसे धनुष-बाण गिर पड़ा। मैं कर्तव्य-अकर्तव्यके ज्ञानसे रहित शोकसे व्याकुल होकर वहाँ गया। मैंने जाकर देखा तो सरयूके तटपर जलका घड़ा हाथसे पकड़े रुधिरसे भीगा हुआ बाणसे व्यथित एक तपस्वी युवक पड़ा तड़प रहा है। मुझे देखकर वह बोला कि 'हे राजन्! मैंने आपका क्या अपराध किया? मैं वनवासी हूँ, अपने माता-पिताके पीनेके लिये जल लेनेको आया था। वे दोनों दुर्बल, अंधे और प्यासे हैं, वे मेरे आनेकी बाट देखते हुए बहुत ही दु:खित होंगे। मेरी इस दशाको भी पिताजी नहीं जानते हैं, इसलिये हे राघव! जबतक हमारे पिताजी आपको भस्म न कर डालें उससे पहले ही आप शीघ्रतासे जाकर यह वृत्तान्त मेरे पिताजीसे कह दीजिये। हे राजन्! मेरे पिताजीके आश्रमपर जानेका यह छोटा-सा पगडंडीका मार्ग है, आप वहाँ शीघ्रतासे जाकर पिताजीको प्रसन्न करें जिससे वे क्रोधित होकर आपको शाप न दें और मेरे मर्मस्थानसे यह पैना बाण निकालकर मुझे दु:खरहित कीजिये।'

हे कौशल्ये! इसके अनन्तर मेरे मनके भावको जाननेवाले मरणासन्न हुए उस ऋषिने बोलनेकी शक्ति न होनेपर भी मेरी चिन्तायुक्त दशाको देखकर धैर्य धारण करके स्थिरचित्तसे कहा—'हे राजन्! आप ब्रह्महत्याके डरसे बाण नहीं निकालते हैं—उसको दूर कीजिये, मैं वैश्यका पुत्र हूँ।' जब ऋषिकुमारने ऐसा कहा, तब मैंने उसकी छातीसे बाण निकाल लिया। बाणके निकालनेसे उसे बहुत ही कष्ट हुआ और उसने उसी समय वहीं प्राणोंका त्याग कर दिया। उसको मरा हुआ देखकर मैं बहुत ही दु:खित हुआ। हे देवि! फिर चिन्ता करने लगा कि अब किस प्रकारसे मंगल हो। उसके बाद बहुत समझ-सोच घड़ेमें सरयूका जल भरकर उस तपस्वीके बतलाये हुए मार्गसे उसके पिताके आश्रमकी ओर चला और वहाँ जाकर उसके वृद्ध माता-पिताको देखा। उनकी अवस्था अति शोचनीय और शरीर अत्यन्त दुर्बल थे। वे पुत्रके जल लानेकी प्रतीक्षामें थे। मैं शोकाकुल चित्तसे डरके मारे चेतनारहित-सा तो हो ही रहा था और उस आश्रममें जाकर उनकी दशा देखकर मेरा शोक और भी बढ़ गया। मेरे पैरोंकी आहट सुनकर ऋषि अपना पुत्र समझकर बोले—'हे वत्स! तुम्हें इतना विलम्ब किस कारणसे हुआ, अच्छा अब जल्दीसे जल ले आ। हम नेत्रोंसे हीन हैं—इसलिये तुम्हीं हमारी गति, नेत्र, और प्राण हो, फिर तुम आज क्यों नहीं बोलते।' तब मैंने बहुत ही डरते हुए-से सावधानीके साथ, धीमे स्वरसे अपना परिचय देते हुए, आद्योपान्त श्रवणका मृत्युविषयक सारा वृत्तान्त, ज्यों-का-त्यों कह सुनाया।

मेरे किये हुए उस दारुण पापके सारे वृत्तान्तको सुनकर नेत्रोंमें आँसू भर शोकसे व्याकुल हो, वे तपस्वी मुझ हाथ जोड़कर खड़े हुएसे बोले—'हे राजन्! तुमने यह दुष्कर्म किया, यदि इसको तुम अपने मुखसे न कहते तो तुम्हारे मस्तकके अभी सैकड़ों-हजारों टुकड़े हो जाते और आज ही सारे रघुवंशका नाश भी हो जाता। हे राजन्! अब जो कुछ हुआ सो हुआ, अब हमें वहाँ पुत्रके पास ले चलो। हम एक बार अपने उस पुत्रकी सूरतको देखना चाहते हैं; क्योंकि फिर उसके साथ इस जन्ममें हमारा साक्षात् नहीं होगा।'

तत्पश्चात् मैं, पुत्रशोकसे व्याकुल हुए उन दोनों वृद्ध पति-पत्नीको वहाँ ले गया। वे दोनों पुत्रके निकट पहुँचकर और उसको छूकर गिर पड़े और विलाप करते हुए बोले—'हे वत्स! जब आधी रात बीत जाती थी, तब तुम उठकर धर्मशास्त्र आदिका पाठ करते थे जिसको सुनकर हम बहुत ही प्रसन्न होते थे। अब हम किसके मुखसे शास्त्रकी बातोंको सुनकर हर्षित होंगे। हे पुत्र! अब प्रात:काल स्नान, सन्ध्योपासन और होम करके हमें कौन प्रमुदित करेगा? हे बेटा! अंधे होनेके कारण हममें तो यह भी सामर्थ्य नहीं है कि कन्द, मूल, फल इकट्ठा करके अपना पेट भर सकें। तुम्हीं हमारे स्नान, पान, भोजन आदिका प्रबन्ध करते थे। अब तुम हम लोगोंको छोड़कर चले गये। अब कन्द, मूल, फल वनसे लाकर प्रिय पाहुनेके समान हमें कौन भोजन करावेगा। अब तुम्हें छोड़कर अनाथ, असहाय और शोकसे व्याकुल हुए हम किसी प्रकार भी इस वनमें नहीं रह सकेंगे, शीघ्र ही यमलोकको चले जायँगे। हे वत्स! तुम पापरहित हो, पर पूर्वजन्ममें कोई तो पाप किया ही होगा जिससे तुम मारे गये। अतएव शस्त्रके बलसे मरे हुए वीरगण जिस लोकमें गमन करते हैं, तुम भी हमारे सत्यबलसे उसी लोकमें चले जाओ तथा सगर, शैब्य, दिलीप आदि राजर्षियोंकी जो उत्तम गति हुई है वही गति तुम्हें मिले। परलोकके लिये अच्छे कर्म करनेवालेकी देह त्यागनेके बाद जो गति होती है, वही तुम्हारी हो।'

इस प्रकार उस ऋषिने करुणस्वरसे बारंबार विलाप करते हुए अपनी स्त्रीके सहित पुत्रके लिये जलांजलि दी। तदनन्तर वह धर्मवित् ऋषिकुमार अपने कर्मबलसे दिव्य रूप धारण कर शीघ्र विमानपर चढ़ सर्वोत्तम दिव्य लोकको जाने लगा। उस समय एक मुहूर्ततक अपने माता-पिता दोनोंको आश्वासन देता हुआ पितासे बोला—'हे पिता! मैंने जो आपकी सेवा की थी उस पुण्यके बलसे मुझे सर्वोत्तम स्थान मिला है और आपलोग भी बहुत शीघ्र मेरे पास आवेंगे।' यह कहकर इन्द्रियविजयी ऋषिकुमार अपने अभीष्ट दिव्यलोकको चला गया।

उसके बाद वह परम तपस्वी अंधे मुनि मुझ हाथ जोड़कर खड़े हुएसे बोले—'हे राजन्! तुम क्षत्रिय हो और तुमने विशेष करके अनजानमें ही ऋषिको मारा है, इस कारण तुम्हें हत्या तो नहीं लगेगी, किन्तु हमारे समान इसी प्रकारकी तुम्हारी भी घोर दुर्दशा होगी अर्थात् पुत्रके वियोगजनित व्याकुलतामें ही तुम्हारे प्राण जायँगे।' इस प्रकार वे अंधे तपस्वी हमें शाप देकर करुणायुक्त विलाप करते हुए चिता बनाकर मृतकके सहित दोनों भस्म होकर स्वर्गको चले गये।

'हे देवि! शब्दवेधी होकर मैंने अज्ञानतासे जो पाप किया था उसके कारण मेरी यह दशा हुई है। अब उसका समय आ गया है'—इस प्रकार इतिहास कहकर राजा दशरथ रुदन करने लगे और मरणभयसे भयभीत होकर पुनः कौशल्यासे बोले—'हे कल्याणि! मैंने रामचन्द्रके साथ जो व्यवहार और बर्ताव किया है वह किसी प्रकार भी योग्य नहीं है; परन्तु उन्होंने जो मेरे साथ बर्ताव किया है वह उनके योग्य ही है। भला इस प्रकार वनवास देनेपर भी पितासे कुछ भी न कहे ऐसा कोई पुत्र संसारमें है? अतएव न तो मेरे जैसा दयारहित पिता ही है और न परम शीलवान् रामचन्द्र-जैसा पुत्र ही है। हे देवि! इससे अधिक और क्या दुःख होगा कि मरणके समयमें भी सत्यपराक्रम रामचन्द्रको मैं नहीं देख सकता। आजसे पंद्रहवें वर्ष वनवाससे लौटकर अयोध्यामें आये हुए शरद्-ऋतुके चन्द्रमा एवं खिले हुए कमलपुष्पके समान श्रीरामचन्द्रके मुखारविन्दको जो लोग देखेंगे वे ही पुरुष धन्य हैं और सुखी हैं। हे कौशल्ये! रामचन्द्रको वनमें भेजकर मैं एकदम ही अनाथ हो गया।' इस प्रकार शोकसे व्याकुल हुए दशरथजी विलाप करने लगे। हा राम! हा महाबाहो! हा पितृवत्सल! हा शोकके निवारण करनेवाले! तुम्हीं हमारे नाथ हो और तुम्हीं हमारे पुत्र हो। तुम कहाँ गये? हा कौशल्ये! हा सुमित्रे! अब तुम हमें दिखायी नहीं देती हो। इस प्रकार राजा दशरथने दुःखसे बहुत ही व्याकुल और आतुर होकर विलाप करते-करते आधी रातके समय प्राण छोड़ दिये।

अतएव हे बालको! तुमलोगोंको भी वैश्यऋषि श्रवणकुमार एवं मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीकी तरह माता-पिताके चरणोंमें नित्य प्रणाम करना चाहिये तथा श्रद्धा, भक्ति, विनय और सरलतापूर्वक उनकी आज्ञाका पालन करते हुए उनकी सेवा करनेके लिये तत्परताके साथ परायण होना चाहिये। जो पुरुष उपर्युक्त प्रकारसे माता-पिताकी सेवाके परायण होते हैं उनकी आयु, विद्या और बलकी तो वृद्धि होती ही है—उत्तम गति तथा इस लोक और परलोकमें चिरकालतक रहनेवाली कीर्ति भी होती है।

आज संसारमें श्रवणकी कीर्ति विख्यात है, भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी तो बात ही क्या है वे तो साक्षात् परमात्मा थे। उन्होंने तो लोकमर्यादाके लिये ही अवतार लिया था। उन मर्यादापुरुषोत्तम भगवान्‌का व्यवहार तो लोक-हितके लिये आदर्शरूप था। श्रीरामचन्द्रजीका व्यवहार माता-पिता-गुरुजनोंके साथ तो श्रद्धा, भक्ति, विनय और सरलतापूर्वक था ही, किन्तु सीता और अपने भाइयोंके साथ एवं समस्त प्रजाओंके साथ भी अलौकिक दया और प्रेमपूर्ण था। अतएव आपलोगोंको श्रीरामचन्द्रजी महाराजको आदर्श मानकर उनका लक्ष्य रखते हुए उनकी आज्ञा, स्वभाव एवं आचरणोंके अनुसार अपने स्वभाव और आचरणोंको बनानेके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकारका निष्काम भावसे पालन किया हुआ धर्म शीघ्र ही भगवत्-प्राप्तिरूप परम कल्याणका करनेवाला है, ऐसे धर्मके पालन करनेसे मृत्यु भी हो जाय तो उस मृत्युमें भी कल्याण है।

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' (गीता ३। ३५)

भक्ति

ईश्वरकी भक्ति सबके लिये ही उपयोगी है। किन्तु बालकोंके लिये तो विशेष उपयोगी है। बालकका हृदय कोमल होता है, वह जैसी चेष्टा करता है उसके अनुसार संस्कार दृढ़तासे उसके हृदयमें जमते जाते हैं।

जबतक बालक विवाह नहीं करता है तबतक वह ब्रह्मचारी ही समझा जाता है। 'ब्रह्म' परमात्माका नाम है, उसमें जो विचरता है वह भी ब्रह्मचारी है, यानी परमेश्वरके नाम, रूप, गुण और चरित्रोंका श्रवण, मनन, कीर्तनादि करना ही उस ब्रह्ममें विचरना है। इसको ईश्वरकी भक्ति एवं ईश्वरकी शरण भी कहते हैं। इसलिये हे बालको! परमात्माके नाम, रूप, गुण, चरित, प्रेम, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी बातोंको महात्माओंसे सुनकर या सद्ग्रन्थोंमें पढ़कर सदा प्रेमपूर्वक हृदयमें धारण करके पालन करना चाहिये।

इस प्रकार करनेसे भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको जानकर सुगमतासे मनुष्य भगवान्को प्राप्त हो सकता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(१०।९)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं।'

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०।१०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

ध्रुवका नाम संसारमें प्रसिद्ध ही है, जब उनकी पाँच वर्षकी अवस्था थी, तब एक समय ध्रुवजी पिताकी गोदमें बैठने लगे। तब गर्वसे भरी हुई रानी सुरुचि राजाके सामने ही सौतेले पुत्र ध्रुवसे ईर्ष्यासे भरे हुए वचन बोली—'हे ध्रुव! तुम गोदमें बैठने और राज्य शासन करनेके अधिकारी नहीं हो, क्योंकि तुम्हारा जन्म मेरे गर्भसे नहीं हुआ है। यदि राजाके आसनपर बैठनेकी इच्छा हो तो तप करके ईश्वरकी आराधना करो और उस ईश्वरके अनुग्रहसे मेरे गर्भसे जन्म ग्रहण करो।'

सौतेली माताके कहे हुए ये कटु वचन बालक ध्रुवके हृदयमें बाणकी तरह चुभ गये। तदनन्तर ध्रुवजी वहाँसे रोते हुए अपनी जननी सुनीतिके पास गये। सुनीतिने देखा ध्रुवकी आँखोंमें आँसू भर रहे हैं। ध्रुव रुदन करता हुआ लंबे-लंबे श्वास ले रहा है, तब सुनीतिने उसे उठाकर गोदमें ले लिया। इतनेहीमें दासोंने आकर सब वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों कह सुनाया। तब सौतके वाक्योंको सुनकर सुनीतिको बड़ा दुःख हुआ और वह आँसूकी वर्षा करने लगी। सुनीतिके दुःखसागरका पार न रहा। तब वह ध्रुवसे बोली—'बेटा! इस विषयमें दूसरोंको दोष देना ठीक नहीं; क्योंकि यह सब अपने पूर्वमें किये हुए कर्मोंका फल है। तू मुझ अभागिनीके गर्भसे जन्मा है। बेटा! मैं अभागिनी हूँ क्योंकि मुझे दासी मानकर भी अंगीकार करनेमें राजाको लज्जा आती है। तुम्हारी सौतेली माता सुरुचिने बहुत ही ठीक कहा है। तुम्हें यदि उत्तम (सुरुचिके पुत्र)के समान राज्यासन पानेकी इच्छा है तो हरि भगवान्के चरणकमलकी आराधना करो। बेटा! मैं भी यही कहती हूँ। तुम ईर्ष्या छोड़कर शुद्ध चित्तसे भक्तवत्सल हरिके चरणोंकी शरण ग्रहण करो। उस भगवान्के सिवा तुम्हारे दुःखको दूर करनेवाला संसारमें कोई भी नहीं है।' इस प्रकार माताके वचनोंको सुनकर ध्रुव अपनी बुद्धिसे अपने मनमें धीरज धारणकर माताका कहा पूरा करनेके लिये पिताके पुरसे वनकी तरफ चले गये।

नारदमुनि अपने योगबलसे यह सब वृत्तान्त जान गये, तब वे राहमें आकर ध्रुवसे मिले और अपना हाथ उसके मस्तकपर रखकर बोले—'हे बालक! तुम्हारा मान या अपमान क्या! यदि तुम्हें मान-अपमानका खयाल है तो सिवा अपने कर्मके और किसीको दोष नहीं देना चाहिये। मनुष्य अपने कर्मके अनुसार सुख, दुःख, मान-अपमानको पाता है। सुखके पानेपर पूर्वकृत पुण्योंका क्षय और दुःखको पानेपर पूर्वकृत पापोंका क्षय होता है। ऐसा जानकर चित्तको सन्तुष्ट करो। गुणोंमें अपनेसे अधिकको देखकर सुखी होना एवं अधमको देखकर उसपर दया करना और समान पुरुषसे मित्रता रखनी चाहिये। इस प्रकार करनेसे मनुष्यके पीड़ा और ताप नहीं होते। तुम जिस योगेश्वरको योगसे प्रसन्न करना चाहते हो वह ईश्वर अजितेन्द्रिय पुरुषद्वारा प्राप्त होना कठिन है, अतएव ऐसा विचार छोड़ दो।' तब ध्रुवने कहा—'हे भगवन्! आपने जो कृपा करके शान्तिका मार्ग दिखलाया इसको मेरे-जैसे अज्ञानीजन नहीं कर सकते। मैं क्षत्रिय-स्वभावके वश हूँ इसलिये नम्रता एवं शान्ति मुझमें नहीं है। हे ब्रह्मन्! मैं उस पदको चाहता हूँ जिसको मेरे बाप-दादा नहीं प्राप्त कर सके। इसलिये त्रिभुवनमें सबसे श्रेष्ठ पदपर पहुँचनेका कोई सुगम मार्ग बतलाइये।'

भगवान् नारद ध्रुवके ऐसे वचन सुनकर उनकी दृढ़ प्रतिज्ञाको देखकर प्रसन्न हुए और बोले, 'हे पुत्र! तुम्हारी माताने जो उपदेश दिया है—उसी प्रकार तुम हरि भगवान्को भजो और अपने मनको शुद्ध करके हरिमें लगाओ; क्योंकि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पदार्थोंके मिलनेका सरल उपाय एक हरिकी सेवा ही है। हे पुत्र! तुम्हारा कल्याण हो! तुम यमुनाके तटपर स्थित मधुवन (मथुरा) में जाओ, जहाँ सर्वदा हरि भगवान् वास करते हैं। वहाँ यमुनाके पवित्र जलमें स्नान करके आसनपर बैठ, स्थिर मनसे हरिका ध्यान करना चाहिये। भगवान् सम्पूर्ण देवताओंमें सुन्दर हैं, उनके मुख और नेत्र प्रसन्न हैं, उनकी नासिका, भौंहें, कपोल परम सुन्दर और मनोहर हैं। उनकी तरुणावस्था है, उनके अंग रमणीय हैं। ओष्ठ, अधर और नेत्र अरुणवर्ण हैं, हृदयमें भृगुलताका चिह्न है,

शरीरका वर्ण मेघके समान श्याम और सुन्दर है। गलेमें वनमाला है। चारों भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म लिये हुए हैं। मुकुट, कुण्डल, कंकण और केयूर आदि अमूल्य आभूषण धारण किये हुए हैं। रेशमी पीताम्बर धारण किए हुए हैं। गलेमें कौस्तुभमणि है। कटिमें कंचनकी करधनी और चरणोंमें सोनेके नूपुर पहने हुए हैं, दर्शनीय शान्तमूर्ति हैं। जिनके देखनेसे मन और नेत्र सुखी होते हैं, वे मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं, प्रेमभरे चितवनसे देख रहे हैं। देखनेसे जान पड़ता है, मानो वे वर देनेके लिये तैयार हैं। वे शरणागतके प्रतिपालक एवं दयाके सागर हैं। इस प्रकार कल्याणरूप भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करते रहनेपर मनको अनूठा आनन्द मिलता है, फिर मन उस आनन्दको छोड़कर कहीं नहीं जा सकता, भगवान्‌में तन्मय हो जाता है और हे राजकुमार! मैं तुमको एक परम गुप्त मन्त्र बतलाता हूँ उसका जप करना। वह '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**' यह बारह अक्षरका मन्त्र है। इस मन्त्रको पढ़कर पवित्र जल, माला, वनके फूल, मूल, दूर्वा और तुलसीदल आदिसे भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये।

मनको वशमें करके मनसे हरिका चिन्तन करना, शान्त स्वभावसे रहना, वनके फल-मूल आदिका थोड़ा आहार करना, भगवान्‌के चरित्रोंका हृदयमें ध्यान करते रहना और इन्द्रियोंको विषयभोगोंसे निवृत्त करके भक्तियोगद्वारा अनन्यभावसे भगवान् वासुदेवका भजन करना चाहिये।'

देवर्षि नारदका यह उपदेश सुनकर राजकुमार ध्रुवने नारदजीकी प्रदक्षिणा करके प्रणाम किया, फिर उनसे विदा होकर मधुवनको चले गये।

ध्रुवने मधुवनमें पहुँचकर स्नान किया और उस रातको व्रत किया। उसके बाद एकाग्र होकर देवर्षिके उपदेशके अनुसार भगवान्‌की आराधना करने लगा।

पहले-पहल बेरके फल खाकर फिर सूखे पत्ते खाकर, तदनन्तर जल पीकर फिर वायु भक्षण करके ही उन्होंने समय बिताया। फिर पाँचवें महीनेमें राजकुमार ध्रुव श्वासको रोककर एक पैरसे निश्चल खड़े हो हृदयमें स्थित भगवान्‌का ध्यान करने लगे। मनको सब ओरसे खींचकर हृदयमें स्थित भगवान्‌के ध्यानमें लगा दिया। उस समय ध्रुवको भगवान्‌के स्वरूपके सिवा और कुछ भी नहीं दीख पड़ा।

तदनन्तर भगवान् भक्त ध्रुवको देखनेके लिये मथुरामें आये। ध्रुवकी बुद्धि ध्यानयोगसे दृढ़ निश्चल थी। वह अपने हृदयमें स्थित बिजलीके समान प्रभाववाले भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान कर रहे थे। उसी समय सहसा भगवान्‌की मूर्ति हृदयसे अन्तर्धान हो गयी। तब ध्रुवने घबड़ाकर नेत्र खोले तो देखा वैसे ही रूपसे सामने भगवान् खड़े हैं। उस समय ध्रुवने मारे आनन्दके आश्चर्ययुक्त हो भगवान्‌के चरणोंमें साष्टांग प्रणाम किया। फिर मानो नेत्रोंसे पी लेंगे, मुखसे चूम लेंगे, भुजाओंसे लिपटा लेंगे, इस भाँति प्रेमसे ध्रुव हरिको देखने लगे। ध्रुव अंजलि बाँधकर खड़े हुए और हरिकी स्तुति करना चाहते थे पर पढ़े-लिखे न होनेके कारण कुछ स्तुति न कर सके। इस बातको अन्तर्यामी भगवान् जान गये और उन्होंने अपना शंख ध्रुवजीके गाल (कपोल) से छुआ दिया, उसी समय ध्रुवजीको तत्त्वज्ञान और अभयपदकी प्राप्ति हो गयी और ध्रुवजीको बिना पढ़े ही ईश्वरकी कृपासे वेद और शास्त्रोंका ज्ञान हो गया, फिर वह धीरे-धीरे भक्तिभावपूर्वक सर्वव्यापी दयासागर भगवान् हरिकी स्तुति करने लगे।

तब भक्तवत्सल भगवान् प्रसन्न होकर बोले—'हे राजकुमार! तुम्हारा कल्याण हो। मेरी कृपासे तुम्हें ध्रुवपद मिलेगा, वह लोक परम प्रकाशयुक्त है, कल्पान्तपर्यन्त रहनेवाले लोकोंके नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता। उसको सब लोक नमस्कार करते हैं। वहाँ जाकर योगीजन फिर इस संसारमें लौटकर नहीं आते, तथा यहाँ भी तुम्हें तुम्हारे पिता राज्य देकर वनमें चले जायँगे। तुम छत्तीस हजार वर्षपर्यन्त पृथ्वीपर राज्य करोगे; किन्तु तुम्हारा अन्तःकरण मेरी कृपासे विषयभोगोंमें लिप्त न होगा। इस प्रकार भगवान् ध्रुवको वर देकर ध्रुवके देखते-देखते ही अपने लोकको चले गये।

प्रह्लाद तो भक्तशिरोमणि थे ही, उनकी तो बात ही क्या है—हे बालको! जब प्रह्लाद गर्भमें थे तभी नारदजीने उनको भक्तिका उपदेश दिया था। उसीके प्रभावसे वह संसारमें भक्तशिरोमणि हो गये। प्रह्लादके पिताने प्रह्लादको मारनेके लिये जलमें डुबाना, पहाड़से गिरा देना, विष देना, सर्पोंसे डसवाना, हाथीसे कुचलवाना, शस्त्रोंसे कटवाना, आगमें जलाना आदि अनेकों उपचार किये किन्तु प्रह्लादका बाल भी बाँका न हुआ। यह सब भगवद्भक्तिका प्रभाव है। इतना ही नहीं, जब हिरण्यकशिपु स्वयं हाथोंमें खड्ग लेकर मारनेके लिये उद्यत हुआ तब कृपासिन्धु प्रेमी भगवान्‌से रहा नहीं गया—वे खम्भ फाड़कर स्वयं प्रकट ही हो गये और हिरण्यकशिपुको मारकर प्रह्लादसे बोले—'हे वत्स! मेरे आनेमें विलम्ब हो गया है। मेरे कारण तुझे बहुत कष्ट सहन करना पड़ा है इसलिये मेरे अपराधको क्षमा करना चाहिये।' किन्तु प्रह्लाद तो भक्तशिरोमणि थे; भला, वह भगवान्‌का अपराध तो समझ ही कैसे सकते थे, वह तो विलम्बमें भी दयाका ही दर्शन करते थे। तदनन्तर प्रह्लादने भगवान्‌की स्तुति की। तब प्रसन्न होकर भगवान् बोले—'हे प्रह्लाद! तुम्हारा कल्याण

हो। मैं तुमपर प्रसन्न हूँ जो चाहो वर माँगो। मैं ही मनुष्योंकी सब कामनाएँ पूर्ण करनेवाला हूँ।' तब प्रह्लाद बोले—'हे भगवन्! मेरी जाति स्वभावतः कामासक्त है, ये सब वर दिखलाकर मुझको प्रलोभन न दीजिये। जो व्यक्ति आपके दुर्लभ दर्शन पाकर आपसे सांसारिक सुख माँगता है, वह भृत्य नहीं, व्यापारी है। हे भगवान्! कामसे बहुत ही अनिष्ट होते हैं, कामना उत्पन्न होनेसे इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धीरज, बुद्धि, लज्जा, सम्पत्ति, तेज, स्मृति एवं सत्यका विनाश होता है। इसलिये हे ईश! हे वर देनेवालोंमें श्रेष्ठ! आप यदि मुझको मनचाहा वर देते ही हैं तो यही वर दें कि मेरे हृदयमें अभिलाषाओंका अंकुर ही न जमे। मैं आपसे यही माँगता हूँ।'

हे बालको! खयाल करो! प्रह्लाद भक्तिके प्रतापसे दैत्यकुलमें जन्म लेकर भी भगवान्के अनन्य निष्कामी भक्त-शिरोमणि बनकर परमपदको प्राप्त हो गये। प्रह्लादकी भक्तिका यह स्वरूप है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७।५।२३)

'भगवान् विष्णुके नाम, रूप, गुण, लीला और प्रभावादिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण तथा भगवान्की चरण-सेवा, पूजन और वन्दन एवं भगवान्में दासभाव, सखाभाव और अपनेको समर्पणकर देना।'

यदि ऐसा न बने तो केवल भगवान्के नामका जप और उनके स्वरूपका पूजन और ध्यान करनेसे भी अति उत्तम गतिकी प्राप्ति हो सकती है।

भगवान्के हजारों नाम हैं। उनमेंसे जो आपको रुचिकर हो, उसीका जाप कर सकते हैं और उनके अनेक रूप हैं, उनमें आप, साकार या निराकार जो रूप प्रिय हो, उसीका पूजन और ध्यान कर सकते हैं! किन्तु वे सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, प्रेम, दया आदि गुणोंके सागर हैं! इस प्रकार उनके गुण और प्रभावको समझकर ही पूजा और ध्यान करना चाहिये। यदि ध्यान और पूजा न हो सके तो केवल उनके नामका जप ही करना चाहिये! केवल उनके नामका जप करते-करते ही उनकी कृपासे अपने-आप ध्यान लग सकता है। नामका जप निष्काम भावसे श्रद्धा और प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर मनके द्वारा करनेसे बहुत शीघ्र सब पाप, अवगुण और दुःखोंका नाश होकर सम्पूर्ण सद्गुण और आचरण अपने-आप प्राप्त होकर मनुष्य शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और उसे परमानन्द और नित्य शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९।३०)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है, अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।'

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९।३१)

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

क्योंकि भगवान्के नामका जप सब यज्ञोंसे उत्तम है एवं भगवान्ने अपना स्वरूप बतलाया है—

'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।' (गीता १०।२५)

तथा मनुजीने नामकी प्रशंसा करते हुए सारे यज्ञोंमें जपयज्ञको ही सबसे बढ़कर बताया है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

(१।८५)

'विधियज्ञ (अग्निहोत्रादि) से जपयज्ञ दशगुना बढ़कर है और उपांशु जप* विधियज्ञसे सौ गुना और मानस जप हजारगुना बढ़कर कहा गया है।'

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

(मनु० २।८६)

'जो विधियज्ञसहित चार पाकयज्ञ (वैश्वदेव, होम, नित्य श्राद्ध और अतिथिभोजन) हैं वे सब जपयज्ञकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हैं।'

इसलिये और कुछ भी न बने तो उस भगवान्के गुण और प्रभावको समझकर उसके स्वरूपका ध्यान अथवा केवल नामका जप तो अवश्य ही सदा-सर्वदा करना ही चाहिये।

---

* दूसरे मनुष्यको सुनायी नहीं दे इस तरह उच्चारण करके किया जानेवाला जप उपांशु कहलाता है।

कर्मयोगकी सुगमता

शंका—बहुत-से भाई कहते हैं कि 'गीतामें श्रीभगवान्ने कर्मयोगकी प्रशंसा की है और ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोगको सुगम बतलाया है। इतना ही नहीं, बल्कि यहाँतक कहा है कि कर्मयोगके बिना ज्ञानयोगका सफल होना कठिन है (गीता ५। ६)। किन्तु यह सुगमता समझमें नहीं आती। न वर्तमान कालमें ऐसे बहुत-से कर्मयोगी और उनके द्वारा किया हुआ कर्मयोगका आचरण ही देखनेमें आता है। क्योंकि कर्मोंमें फल और आसक्तिके त्यागका नाम कर्मयोग है; किन्तु फल और आसक्तिका त्याग करके कर्म किस प्रकारसे होते हैं, इस बातको समझानेवाला या करके दिखानेवाला ऐसा कोई नहीं दीखता जिसको आदर्श मानकर हमलोग कर्मयोगके पथपर चल सकें। अतएव हम यह जानना चाहते हैं कि वास्तवमें क्या बात है। गीतामें जो कर्मयोग बतलाया है और जिसे सुगम कहा है उसका सम्पादन तो बहुत ही कठिन प्रतीत होता है। यह कर्मयोग कथनमात्र है या सम्पादनयोग्य है? यदि सम्पादनके योग्य वास्तविक साधन हो तो उसके जाननेवाले और करनेवाले होने चाहिये; और यदि कोई भी जाननेवाला और करनेवाला नहीं, तो फिर यह सुगम साधन कैसे है?'

समाधान—ज्ञानयोगका प्रकरण अति गहन, दुर्विज्ञेय और अति सूक्ष्म है; इससे सबके लिये उसका करना तो दूर रहा, समझना भी कठिन है। इसलिये उसकी अपेक्षा कर्मयोगका साधन सुगम बतलाया गया है। क्योंकि जबतक अन्तःकरण मलिन है तबतक देहाभिमान है और देहाभिमानीसे ज्ञानयोगका साधन बनना अत्यन्त दुष्कर है। इसलिये आसक्ति और स्वार्थ त्यागरूप कर्मयोगका सम्पादन करनेसे जब अन्तःकरण पवित्र होता है तब उसमें ज्ञानयोगके सम्पादनकी योग्यता आती है; परन्तु कर्मयोगमें ऐसी बात नहीं है। कर्मयोगके साधनका आरम्भ तो देहाभिमानके रहते हुए ही अन्तःकरणकी मलिन अवस्थामें भी हो सकता है और उसके द्वारा पवित्र हुई बुद्धिमें भगवत्कृपासे स्वाभाविक ही स्थिरता होकर और भगवद्भावका उदय होकर भगवान्की प्राप्ति हो सकती है। यही इसकी ज्ञानयोगकी अपेक्षा सुगमता और विशेषता है। इसलिये भगवान्ने गीतामें पाँचवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें कर्मयोगको श्रेष्ठ बतलाया है।

श्रीभगवान्ने आसक्ति और फल दोनोंके त्यागको कर्मयोग बतलाया है (गीता २। ४८; १८। ९), कहीं सम्पूर्ण कर्मों और पदार्थोंमें केवल आसक्तिके त्यागको कर्मयोग कहा है (६। ४), और कहीं केवल सर्वकर्मफलके त्याग (१८। ११), या कर्मफल न चाहने को (६। १) ही कर्मयोग कहा है। वास्तवमें इनमें सिद्धान्ततः कोई भेद नहीं है। फल और आसक्ति दोनोंके त्यागका नाम ही कर्मयोग है। इसलिये दोनोंके त्यागको कर्मयोग कहना तो ठीक है ही; जहाँ कर्मों और पदार्थोंमें केवल आसक्तिका त्याग कहा है वहाँ भी ऐसी ही बात है। कांचन, कामिनी, देह, मान-बड़ाई आदि पदार्थोंमें आसक्तिका त्याग होनेसे उन पदार्थोंके प्राप्त करनेकी इच्छाका यानी फलका त्याग स्वतः ही हो जाता है। क्योंकि फलकी इच्छाके उत्पन्न होनेमें आसक्ति ही प्रधान कारण है। कारणके त्यागमें कार्यका त्याग स्वतः ही हो जाता है। इसलिये पदार्थोंमें आसक्तिके त्यागसे फलका त्याग स्वतः हो जानेके कारण पदार्थोंमें आसक्ति न होनेको कर्मयोग कहना युक्तिसंगत ही है। अब रही केवल सर्वकर्मफलके त्यागकी या फल न चाहनेकी बात, सो कर्मफलके त्यागसे आसक्तिका त्याग हो जाता है और आसक्तिके त्यागसे कर्मफलका त्याग हो जाता है। अर्थात् एकके त्यागसे दूसरेका त्याग स्वाभाविक ही हो जाता है। इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंकी प्राप्तिकी इच्छाका त्याग ही फलकी इच्छाका त्याग है, इसीको स्वार्थत्याग कह सकते हैं। इस स्वार्थत्यागरूप धर्मके सेवनसे समस्त अनर्थोंकी मूल हेतु आसक्तिका शनैः-शनैः त्याग हो जाता है, इसलिये फलके त्यागसे स्वतः ही आसक्तिका त्याग हो जानेके कारण सर्वकर्मफलके त्यागसे या कर्मफल न चाहनेको कर्मयोग बतलाना भी युक्तिसंगत है।

यदि कोई कहे कि 'जब सर्वकर्मफलके त्याग या फलके न चाहनेको ही कर्मयोग कहते हैं, तब फिर श्रीभगवान्ने जगह-जगह कर्मफलके त्यागके साथ ही जो आसक्तिके त्यागकी बात कही है उसकी क्या आवश्यकता है?' इसका उत्तर यह है कि कर्मफलके त्यागसे आसक्तिका त्याग होकर भी कर्मयोगकी सिद्धि होती है और आसक्तिका त्याग हुए बिना सर्वथा स्वार्थत्यागपूर्वक कर्म हो नहीं सकते; अतएव आसक्तिका त्याग स्वार्थत्यागके अन्तर्गत ही समझ लेना चाहिये। असलमें दोनोंका त्याग ही कर्मयोग है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिये 'आसक्तिसहित कर्मफलका त्याग ही कर्मयोग है' भगवान्का यह कथन युक्तियुक्त ही है।

प्रायः संसारके सभी मनुष्य मोहरूपी मदिराको पीकर उन्मत्त-से हो रहे हैं। उनमें कोई-सा ही समझदार पुरुष आत्माके कल्याणके लिये कोशिश करता है और कोशिश करनेवालोंमें भी कोई-सा ही पुरुष उस परमात्माको पाता है (गीता ७। ३)। ऐसी परमात्माकी प्राप्तिरूप अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषोंसे हमारी भेंट होनी भी दुर्लभ ही है। भेंट

होनेपर भी श्रद्धाकी कमीसे हम उन्हें पहचान नहीं सकते, इसलिये वर्तमान कालमें ऐसे परमात्माको प्राप्त हुए योगी और ऐसे योगियोंद्वारा किये हुए आचरण यदि देखनेमें नहीं आते तो इसमें क्या आश्चर्य है?

भगवान्‌ने स्वयं भी (गीता ४। २ में) कहा है कि यह कर्मयोग बहुत कालसे नाशको प्राप्त हो गया है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि उस कालमें भी इस योगको समझनेवाले बहुत लोग नहीं थे और इस समय भी बहुत नहीं हैं। क्योंकि सारे भूतप्राणी राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे संसारमें मोहित हो रहे हैं। इसलिये परमात्माके बतलाये हुए इस कल्याणमय कर्मयोगके रहस्यको नहीं जानते। जिन पुरुषोंका स्वार्थ-त्यागरूप कर्मद्वारा पाप नाश हो गया है वही पुरुष इस कर्मयोगके रहस्यको जानते हैं।

वस्तुतः आजकल परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषोंका अभाव है; ऐसा नहीं कहा जा सकता; परन्तु हमें श्रद्धाकी कमीके कारण उनका दर्शन और परिचय नहीं प्राप्त होता। ऐसी अवस्थामें जब कर्मयोगका आचरण करके बतलानेवाला हमें कोई नहीं दीखता तो कल्याणकी इच्छा करनेवाले पुरुषको भगवान्‌के बतलाये हुए उपदेशोंको ही आदर्श मानकर तदनुसार आचरण करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

गीतामें बतलाया हुआ कर्मयोग कथनमात्र नहीं है, सम्पादन करनेयोग्य है; किन्तु उसके सम्पादनका तत्त्व न जानने तथा शरीर और संसारके पदार्थोंमें आसक्ति होने एवं श्रद्धाकी कमी होनेके कारण ही वह कठिन प्रतीत होता है। वास्तवमें कठिन नहीं है। भगवान्‌के कहे हुए वचनोंमें विश्वास करके उनके आज्ञानुसार स्वार्थके त्यागपूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करते रहनेसे आसक्तिका नाश और कर्मयोगके तत्त्वका ज्ञान होता चला जाता है। इस प्रकार करते हुए जब आसक्तिका नाश और कर्मयोगके तत्त्वका ज्ञान हो जाता है, तब कर्मयोगका सम्पादन कठिन नहीं प्रतीत होता।

कर्मोंमें सब प्रकारके फलकी इच्छाके त्यागका नाम ही स्वार्थत्याग है। स्वार्थत्यागयुक्त कर्मोंसे राग-द्वेषादि दुर्गुणोंका एवं राग-द्वेषादिसे होनेवाले दुराचारोंका नाश हो जाता है। अतएव मनुष्यको उचित है कि भगवान्‌की शरण होकर स्वार्थत्यागयुक्त कर्मोंका सम्पादन करे। किन्तु इस बातपर विशेष ध्यान देना चाहिये कि कर्मोंमें स्वार्थत्याग किसका नाम है। हम मन, वाणी, शरीरद्वारा किसी भी शास्त्रविहित कर्मका आरम्भ करते हैं और उसका फल स्त्री, धन, पुत्र और शरीरका आराम आदि नहीं चाहते, इतने मात्रसे ही स्वार्थका त्याग नहीं समझा जाता। इन सबका त्याग तो मनुष्य मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये भी कर सकता है। अतएव इन सबके त्यागके साथ-साथ मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाका एवं स्वर्गादिके भोगकी इच्छाका भी सर्वथा त्याग करके उस त्यागके अभिमानका भी त्याग होनेसे सर्वथा स्वार्थत्याग समझा जाता है।

हमलोग छोटे-छोटे स्वार्थोंके लिये परमात्माकी प्राप्तिरूप सच्चे स्वार्थको जो खो बैठते हैं, इसमें हमारी बेसमझी यानी मूर्खता ही कारण है। हमें इससे जो बड़ा भारी नुकसान होता है, इस बातपर मूर्खताके कारण हमारा विश्वास नहीं है। यत्किंचित् विश्वास है भी तो वह शंकायुक्त है; क्योंकि परमानन्द और परमशान्तिकी प्राप्तिकी बातें हम ग्रन्थोंमें पढ़ते हैं, इनकी प्राप्ति तो कभी हुई नहीं। शास्त्र और महात्मा पुरुष कहते हैं कि मान और बड़ाईकी इच्छाको विषके समान समझकर त्याग दो। ये मान और बड़ाई भगवत्प्राप्तिके मार्गमें बड़े भारी कण्टक हैं, साधकके लिये भगवान्‌के मार्गमें बाधा देनेवाले हैं एवं इनकी विशेष लालसा होनेसे तो ये दम्भ और पाखण्डको उत्पन्न करके साधकका पतन करनेवाले भी हो जाते हैं। बुद्धिद्वारा विचार करनेपर ऐसी प्रतीति भी होती है। परन्तु मान और बड़ाईकी प्राप्ति होनेपर प्रत्यक्षमें सुख प्रतीत होता है और उसमें आसक्ति उत्पन्न होकर मान-बड़ाईकी इच्छा हो ही जाती है। इन सभी बातोंमें हेतु हमारी बेसमझी यानी मूर्खता ही है। जैसे कोई रोगी मनुष्य आसक्तिके कारण स्वादके वशीभूत हो कुपथ्य सेवन करके अपना दुःख बढ़ा लेता है, कोई-कोई तो मृत्युको प्राप्त हो जाता है। इस कुपथ्यके सेवनमें भी विचार करके देखा जाय तो जैसे रोगीकी मूर्खता ही हेतु है, इसी प्रकार स्त्री, पुत्र, धन, देह और मान-बड़ाई आदिमें जो हमारी आसक्ति है, उसमें भी मूर्खता ही हेतु है। जो रोगी वैद्य, औषध और पथ्यपर श्रद्धा करके कुपथ्यसे बचकर औषधका सेवन और पथ्यका पालन करता है, वह आरोग्य हो जाता है। ऐसे ही जो मनुष्य शास्त्र और महापुरुषोंद्वारा बतलाये हुए दुर्गुण और दुराचाररूप कुपथ्यको त्यागकर श्रद्धापूर्वक ईश्वर-भक्तिरूप औषधका सेवन और सदाचार सद्‌गुणरूपी पथ्यका पालन करता है वह जन्म-मरणरूप महान् भवरोगसे मुक्त हो जाता है। लौकिक औषधका सेवन करनेवाला तो अदृष्ट प्रतिकूल होनेसे शायद आरोग्य नहीं भी होता, परन्तु इस औषध तथा पथ्यका सेवन करनेवाला तो निश्चय ही जन्म-मरणरूप दुःखोंसे मुक्त हो जाता है; क्योंकि इसमें अदृष्ट बाधक नहीं हो सकता।

हमलोग जितने कर्म करते हैं, सबमें प्रथम यही भाव मनमें उत्पन्न होता है कि इससे हमको क्या लाभ होगा! स्वाभाविक ही इस प्रकार हमारी बुद्धि स्वार्थकी ओर चली

जाती है। अतएव क्रियाके आरम्भके समय जब स्वार्थबुद्धि उत्पन्न हो तभी उसका बाध कर देना चाहिये। हम जिसको लाभ समझते हैं, वह सांसारिक लाभ वास्तवमें लाभ ही नहीं है। लाभ वही है जो वास्तविक हो और जिसका कभी अभाव न हो। ऐसा वास्तविक लाभ सांसारिक लाभोंके त्यागसे प्राप्त होता है। अतएव क्रियाके आरम्भके समय व्यक्तिगत भौतिक स्वार्थकी जो इच्छा उत्पन्न हो उसको अनर्थका मूल समझकर तुरंत उसका त्याग कर देना चाहिये।

हमलोगोंमें भौतिक स्वार्थकी मात्रा इतनी बढ़ गयी है कि हम अपने असली स्वार्थको तो समझ ही नहीं पाते। इसके लिये हमें पद-पदपर परमेश्वरका स्मरण करके उनसे प्रार्थना करनी चाहिये, जिससे हम सदा सावधान रह सकें और अपना असली स्वार्थ वस्तुत: किस बातमें है—उसको समझकर अनर्थकारी भौतिक स्वार्थोंसे बच सकें।

जिन पुरुषोंने भगवान्‌के गुण, प्रभाव और तत्त्वको समझकर भगवान्‌की शरण ग्रहण कर ली है, उनके लिये तो यह कर्मयोगका तत्त्व और भी सुगम है, यद्यपि पुत्र, स्त्री, गृह, धन और देहादिमें प्रीति होनेके कारण इनकी प्राप्तिरूप स्वार्थकी इच्छाका त्याग होना कठिन है तथा मान-बड़ाईका त्याग तो इनसे भी अत्यन्त ही कठिन है, तथापि जिन पुरुषोंने भगवान्‌के गुण, प्रभाव और तत्त्वको समझकर भगवान्‌की शरण ग्रहण कर ली है, उनके लिये तो यह कर्मयोगका तत्त्व और भी सुगम है। शरीर और संसारमें आसक्ति होनेके कारण संसारके पदार्थोंकी आवश्यकता प्रतीत होती है और आवश्यकताके कारण कामना होती है एवं कामनाकी पूर्तिके लिये मनुष्य कर्मोंका सम्पादन करता है। उनसे कामनापूर्ति न होनेपर वह याचनातक करनेको प्रवृत्त हो जाता है। अतएव इन सब अनर्थोंका मूल आसक्ति ही है, जिसे हम 'राग' कह सकते हैं। यह राग अनुकूलतामें होता है और सुखके देनेवाले पदार्थ ही मनुष्यको अनुकूल प्रतीत होते हैं। इससे प्रतिकूल दु:खदायी पदार्थोंमें द्वेष होता है और उस द्वेषसे वैर, ईर्ष्या, क्रोध, भय और सन्ताप आदि अनेकों दुर्भाव उत्पन्न होकर हिंसादि कर्मके द्वारा मनुष्यका पतन हो जाता है। अतएव सारे अनर्थोंके हेतु ये राग-द्वेष ही हैं। इन राग द्वेषका कारण मोह (अज्ञान) है। भगवान्‌की कृपासे जब इस बातका रहस्य पूर्णतया मनुष्यकी समझमें आ जाता है, तब उसके राग-द्वेष क्षीण हो जाते हैं और क्षीण हुए राग-द्वेष श्रीपरमेश्वरके नाम, रूप, गुण और प्रभावके स्मरण और मननसे नाशको प्राप्त हो जाते हैं। फिर मन और इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही उसके अधीन हो जाती हैं। ऐसी अवस्थामें उसके द्वारा आसक्ति और स्वार्थ-त्यागरूप कर्मयोगका सम्पादन बड़ी सुगमतासे होता है, जिससे वह परम आनन्द और परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

भगवान् अवतार कब लेते हैं?

वर्तमानके भीषण समयमें अनेक प्रकारके अत्याचारोंको फैलते देखकर धार्मिक जगत्‌में एक प्रकारकी हलचल-सी हो रही है। इस प्रकार पापोंका प्रसार देखकर सहज ही सहृदय मनुष्यके हृदयमें एक प्रश्न उठ जाता है।

प्रश्न—भगवान् अवतार कब लेते हैं? वर्तमानमें इतने अत्याचारोंके होते हुए भी भगवान् प्रकट क्यों नहीं होते? क्या गीतामें की हुई प्रतिज्ञा ठीक नहीं है?

उत्तर—गीतामें भगवान्‌ने जो प्रतिज्ञा की है वह निश्चय ही ठीक है। अभी अवतार लेनेका समय नहीं आया। नहीं तो भगवान् अवश्य ही अवतार ले लेते। भगवान् स्वयं कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४। ७-८)

'हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ। साधु-पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पापकर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

जब-जब पूर्वकालमें भगवान्‌ने अवतार लिया है उस समयकी परिस्थितिका आप जरा-सा विचार करें तो पता लग सकता है कि उस समय कितना पापपूर्ण और भीषण समय था। सत्ययुगमें हिरण्यकशिपुके राज्यमें ऐसी राजाज्ञा थी कि जो धर्माचरण और हरिकी भक्ति करे उसे फाँसी दे दो, हरिका नाम भी कोई न लेने पावे। इस प्रकारकी राजाज्ञा राजाके स्वपुत्र प्रह्लादने न मानी तो उसे भी घोर दण्ड दिया गया। एक दिन हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको गोदमें बैठाकर पूछा—बेटा! तूने क्या पढ़ा है, जरा मुझे सुना। प्रह्लादने कहा—पिताजी! मैंने जो पढ़ा है वह सुनिये—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७।५।२३)

'भगवान् विष्णुके नाम और गुणोंका श्रवण एवं कीर्तन करना, भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपका स्मरण करना, भगवान्‌के चरणोंकी सेवा करना, भगवान्‌के विग्रहका पूजन करना और उनको नमस्कार करना, दास-भावसे आज्ञाका पालन करना, सखा-भावसे प्रेम करना और सर्वस्वसहित अपने-आपको समर्पण करना।' ऐसी बात सुनकर हिरण्यकशिपु चौंक पड़ा और उसने पूछा—यह बात तुझे किसने सिखायी? मेरे राज्यमें मेरे परम शत्रु विष्णुकी भक्तिका उपदेश देकर मेरे हाथसे कौन मृत्युमुखमें जाना चाहता है? प्रह्लाद बोला कि—

शास्ता विष्णुरशेषस्य जगतो यो हृदि स्थितः।
तमृते परमात्मानं तात कः केन शास्यते॥

(विष्णुपुराण १।१७।२०)

'हे पिताजी! हृदयमें स्थित भगवान् विष्णु ही तो सम्पूर्ण जगत्‌के उपदेशक हैं। हे तात! उन परमात्माको छोड़कर और कौन किसको कुछ सिखा सकता है।'

न केवलं मद्‌धृदयं स विष्णु-
राक्रम्य लोकानखिलानवस्थितः।
स मां त्वदादींच पितस्समस्तान्
समस्तचेष्टासु युनक्ति सर्वगः॥

(विष्णुपुराण १।१७।२६)

'पिताजी! वे विष्णुभगवान् केवल मेरे ही हृदयमें नहीं बल्कि सम्पूर्ण लोकोंमें स्थित हैं। वे सर्वगामी तो मुझको, आप सबको और समस्त प्राणियोंको अपनी-अपनी चेष्टाओंमें प्रवृत्त करते हैं।'

ऐसी बातें सुनकर तो राक्षसराजका क्रोध अत्यन्त भड़क गया और वह भक्त प्रह्लादको भयानक त्रास देने लगा। हरिनाम लेनेवाले प्रह्लादको विष पिलाया गया, पर्वतसे गिराया गया, सर्पोंसे डसाया गया, आगमें जलाया गया इत्यादि अनेक प्रकारसे राक्षसोंने जबरदस्ती जोर-जुल्म ढहाये, किन्तु उसका कुछ भी अनिष्ट न कर सके—

जाको राखै साइयाँ, मारि सकै नहिं कोय।
बार न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय॥
कहा करै बैरी प्रबल, जो सहाय रघुबीर।
दस हजार गजबल घट्यो, घट्यो न दस गज चीर॥

प्रबल शत्रु सामने हो तो भी सारे संसारका वार खाली चला जाता है, उसका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता। भक्तपर अत्यन्त अत्याचार होनेपर अन्तमें खम्भेमेंसे प्रह्लादके प्यारे परम प्रभुको प्रकट होना ही पड़ा।

प्रेम बदौं पहलादहिको जिन पाहनतें परमेसुर काढ़ो।

यद्यपि उस समय लोग तो धर्मका पालन करना चाहते थे परन्तु धर्मकार्योंमें अनेक प्रकारसे बलात् बाधाएँ डाली जाती थीं। वर्तमान समयमें लोग स्वतः ही धर्मका त्याग कर रहे हैं। यदि कोई धर्मपालन करे तो उसमें जबरन् बाधा नहीं दी जाती है।

त्रेतामें देखिये—सुबाहु और मारीच यज्ञोंको ध्वंस कर देते थे। मुनियोंको खा जाते थे। इतना ही नहीं, अनेक राक्षस घोर अत्याचार करने लगे थे। आजकल जहाँ-तहाँ पशुओंकी हड्डियोंके ढेर देखे जाते हैं। परन्तु रामायणको देखनेसे मालूम होता है कि उस समय तो फलमूलाहारी तपस्वी ऋषि-मुनियोंके मांस-मज्जाको राक्षसोंने भक्षण करके उनकी हड्डियोंका ढेर लगा दिया था।

अस्थि समूह देखि रघुराया।
पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया॥
जानतहूँ पूछिअ कस स्वामी।
सबदरसी तुम्ह अंतरजामी॥
निसिचर निकर सकल मुनि खाए।
सुनि रघुबीर नयन जल छाए॥
निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

(रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड)

तब उस समय मनुष्यके रूपमें श्रीरामचन्द्रका अवतार हुआ। वैसा घोर समय अब नहीं है। जब-जब धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि होती है, तब-तब भगवान् प्रकट होते हैं। (सत्य, न्याय आदि सब धर्मके ही नाम हैं।) धर्म परमेश्वरका स्वरूप है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(गीता १४।२७)

'हे अर्जुन! उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका मैं ही आश्रय हूँ अर्थात् उपर्युक्त ब्रह्म, अमृत, अव्यय और शाश्वतधर्म तथा ऐकान्तिक सुख, यह सब मेरे ही नाम-रूप हैं, इसलिये इनका मैं परम आश्रय हूँ।'

लोककी स्थिति धर्मकी भित्तिपर ही ठहरी हुई है—

धर्मेण धार्यते पृथ्वी धर्मेण तपते रविः।
धर्मेण वाति वायुश्च सर्वं धर्मे प्रतिष्ठितम्॥

'धर्मसे ही पृथ्वी ठहरी हुई है, धर्मसे ही सूर्य तप रहा है, धर्मसे ही वायु चल रहा है—सारा संसार धर्मसे ही प्रतिष्ठित है अर्थात् सबका आधार धर्म ही है।'

वेद भी अनादि है—इसका यह अर्थ नहीं कि वेदकी पुस्तकें अनादि हैं; परन्तु उसकी शिक्षा यानी उपदेश अनादि है। जैसे '**सत्यं वद**' '**धर्मं चर**'—'सत्य बोलो', 'धर्माचरण करो' इत्यादि यह शिक्षा अनादि, सर्वव्यापक और सर्वमान्य है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान इत्यादि श्रुति-स्मृति प्रतिपादित विधिवाक्य धर्म हैं। धर्मका त्याग करके अनीति करनेवाला अन्तमें नष्ट हो ही जाता है। कंस, रावणादि अनीतिके कारण अन्तमें नष्ट हो गये।

वर्तमान काल अवतार लेने लायक है या नहीं, इसका निर्णय तो प्रभु ही कर सकते हैं। यह बुद्धिसे अतीत विषय है तथापि मनुष्य अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार कुछ अनुमान लगा ही लिया करते हैं सो मेरी साधारण बुद्धिके अनुसार तो यह समझमें आता है कि वर्तमान कालमें पापोंकी वृद्धि और धर्मका क्षय स्वाभाविक होते हुए भी ऐसा घोर समय अभी नहीं आया है कि जिसके कारण भगवान्‌को अवतार लेना पड़े। इस समय कलियुगके कारण पापाचार बढ़ रहा है तो भी मनुष्य प्रयत्न करनेसे भगवान्‌को उनकी कृपासे प्राप्त कर सकता है।

भगवान्‌के दो स्वरूप हैं—निर्गुण और सगुण। उनका वह निर्गुण स्वरूप बुद्धि और इन्द्रियोंसे अतीत है। सगुण स्वरूप बुद्धि और नेत्रोंका भी विषय है, उसे हम देख सकते हैं। सगुणके भी दो भेद हैं—साकार और निराकार। जो सच्चिदानन्दस्वरूपसे सर्वत्र व्यापक है वह सगुण निराकार स्वरूप है। जिस प्रकार सर्वत्र फैले हुए बिजलीके तारमें बिजलीका प्रवाह सदा सर्वव्यापक रहता है वैसे ही भगवान् न दीखनेपर भी सदा सर्वत्र विराजमान हैं। इसे सूक्ष्मदर्शी पुरुष अपनी तीक्ष्ण निर्मल बुद्धि द्वारा अनुभव करते हैं—

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।

(कठ० १।३।१२)

'यह आत्मा सूक्ष्मदर्शी पुरुषोंद्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्म बुद्धिसे ही देखा जाता है।'

परंतु सगुण साकारको तो हम अपने नेत्रोंके सामने प्रकट भी देख सकते हैं।

निर्गुणकी उपासनासे गुणातीत ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। यों तो गुणातीतका वर्णन नित्य, ज्ञान, अनन्त आदि शब्दोंसे किया गया है पर वास्तवमें उसका स्वरूप वाणीद्वारा नहीं बताया जा सकता, वह तो अचिन्त्य और अनिर्वचनीय है। अन्तमें वेद भी 'नेति-नेति' कहकर ही बतलाता है। वह अनुमान प्रमाणसे भी नहीं जाना जा सकता, केवल अनुभवरूप ही है। क्योंकि समस्त प्रमाण उस ब्रह्मके सकाशसे ही सिद्ध होते हैं। श्रुति कहती है—

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

(केन० १।४-५)

इत्यादि।

'जिसे वाणी प्रकाशित नहीं कर सकती, किंतु जिसके सकाशसे वाणी प्रकाशित होती है, उसे ही तू ब्रह्म जान; यह नाम-रूपात्मक दृश्य जिसकी अविवेकी लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है। जिसे मन मनन नहीं कर सकता, किंतु जिसके द्वारा मनको मनन किया हुआ बतलाते हैं, उसे ही तू ब्रह्म जान; यह नाम-रूपात्मक दृश्य जिसकी अविवेकी लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।'

अतएव वह ब्रह्म स्वतःसिद्ध है। ब्रह्म ही जब शुद्ध सत्त्वविशिष्ट होता है, तभी वह बुद्धिद्वारा समझनेमें आ सकता है और साकाररूपसे प्रकट होनेपर नेत्रोंद्वारा भी देखा जा सकता है। भगवान् अपना साकाररूपसे प्रकट होना इस प्रकार बतलाते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(गीता ४।६)

'हे अर्जुन! मेरा जन्म प्राकृत मनुष्योंके सदृश नहीं है। मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी, सम्पूर्ण प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

ऐसा कहनेपर भी जो सगुण भगवान्‌के तत्त्वको नहीं जानते अर्थात् भगवान् कृष्णको ईश्वर नहीं मानते उनके लिये भगवान् कहते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

(गीता ९।११)

'मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढ़लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वरको तुच्छ समझते हैं, अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझ परमेश्वरको साधारण मनुष्य मानते हैं।'

इसलिये भगवान्‌के साकारतत्त्वको भी जानना चाहिये। जो भगवान्‌के साकारतत्त्वको जानता है उसके लिये भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(गीता ४।९)

'हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्म ग्रहण नहीं करता; किंतु मुझे ही प्राप्त होता है।'

प्रश्न—यहाँ तत्त्वसे जानना क्या है?

उत्तर—भगवान्‌का जन्म असाधारण है, स्वतन्त्र है, वे मायाके स्वामी बनकर आते हैं—

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(गीता ४।६)

'अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

प्रभुका शरीर अनामय है अर्थात् सारे रोग और विकारोंसे रहित दिव्य है। हमारा जन्म सुख-दुःख भोगनेके लिये हुआ करता है; परन्तु प्रभु साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंका नाश और धर्मकी स्थापना करनेके लिये प्रकट होते हैं।

वे अपनी दिव्य विभूतियोंके सहित योगमायासे अवतरित होते हैं। भक्तिके द्वारा देखे और जाने जाते हैं। अब भी भक्तिद्वारा भगवान् प्रकट हो सकते हैं। भगवान्‌ने कहा भी है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गीता ११।५४)

'परंतु हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

भक्तिके द्वारा सब कुछ हो सकता है। साकार भगवान् नेत्रोंसे देखे जाते हैं, सगुण निराकार बुद्धिद्वारा समझे जाते हैं और निर्गुण निराकार अनुभवसे प्राप्त किये जाते हैं। ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानीजन ही भगवान्‌को तत्त्वसे जान सकते हैं। कृष्णावतारके समय उनका साक्षात् दर्शन बहुतोंने किया था परंतु उन्हें तत्त्वसे जाननेवाले थोड़े ही थे। भगवान् जन्मते-मरते हुए-से प्रतीत होते हैं पर वास्तवमें वह उनका अवतरण और तिरोभाव है, जन्मना-मरना नहीं है। जैसे अग्नि सर्वत्र व्याप्त है पर चेष्टा करनेसे चाहे जहाँ प्रज्वलित हो जाती है और अन्तमें विलीन हो जाती है, परंतु न दीखनेपर भी वहाँ वस्तुतः अग्निका अभाव नहीं होता। उसी प्रकार भगवान् भी सर्वत्र व्याप्त होते हुए प्रकट और अन्तर्धान हो जाते हैं। भगवान्‌की शारीरिक धातु चिन्मय और दिव्य है, प्राकृतिक नहीं है। देखनेमें नरवपु धारणकर नरलीला करते हुए प्राकृतिककी-ज्यों दीख पड़ते हैं।

सर्वशक्तिमान् पूर्णब्रह्म, परमेश्वर वास्तवमें जन्म और मृत्युसे सर्वथा अतीत हैं। उनका जन्म जीवोंकी भाँति नहीं है; वे अपने भक्तोंपर अनुग्रह करके अपनी दिव्य लीलाओंके द्वारा उनके मनको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये दर्शन, स्पर्श और भाषणादिके द्वारा उनको सुख पहुँचानेके लिये, संसारमें अपनी दिव्य कीर्ति फैलाकर उसके श्रवण, कीर्तन और स्मरणद्वारा लोगोंके पापोंका नाश करनेके लिये तथा जगत्‌में पापाचारियोंका विनाश करके धर्मकी स्थापना करनेके लिये जन्म-धारणकी केवल लीलामात्र करते हैं। उनका वह जन्म निर्दोष और अलौकिक है, जगत्‌का कल्याण करनेके लिये ही भगवान् इस प्रकार मनुष्यादिके रूपमें लोगोंके सामने प्रकट होते हैं; उनका वह विग्रह प्राकृत उपादानोंसे बना हुआ नहीं होता—वह दिव्य, चिन्मय, प्रकाशमान, शुद्ध और अलौकिक होता है; इनके जन्ममें गुण और कर्म-संस्कार हेतु नहीं होते; वे मायाके वशमें होकर जन्म धारण नहीं करते; किंतु अपनी प्रकृतिके अधिष्ठाता होकर योगमायासे मनुष्यादिके रूपमें केवल लोगोंपर दया करके ही प्रकट होते हैं—इस बातको भलीभाँति समझ लेना अर्थात् इसमें किंचिन्मात्र भी असम्भावना और विपरीत भावना न रखकर पूर्ण विश्वास करना और साकाररूपमें प्रकट भगवान्‌को साधारण मनुष्य न समझकर सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी, साक्षात् सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा समझना भगवान्‌के जन्मको तत्त्वसे दिव्य समझना है। इस अध्यायके छठे श्लोकमें यही बात समझायी गयी है। सातवें अध्यायके २४ वें और २५ वें श्लोकोंमें और नवें अध्यायके ११ वें तथा १२ वें श्लोकोंमें इस तत्त्वको न समझकर भगवान्‌को साधारण मनुष्य समझनेवालोंकी निन्दा की गयी है एवं दसवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें इस तत्त्वको समझनेवालेकी प्रशंसा की गयी है।

जो पुरुष इस प्रकार भगवान्‌के जन्मकी दिव्यताको तत्त्वसे समझ लेता है, उसके लिये भगवान्‌का एक क्षणका वियोग भी असह्य हो जाता है। भगवान्‌में परम श्रद्धा और अनन्यप्रेम होनेके कारण उसके द्वारा भगवान्‌का अनन्यचिन्तन होता रहता है।

प्रश्न-इनके कर्मोंमें क्या दिव्यता है?

उत्तर-भगवान्‌के कर्म अहंकार और स्वार्थके बिना केवल लोकहितके लिये ही होते हैं। भगवान् स्वयं कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

(गीता ३।२२)

'हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ।'

किन्तु—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

(गीता ४।१४)

'कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है; इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता।'

भगवान्‌के सारे कर्म लीलामय होते हैं। उनके कर्मोंसे लोगोंको नीति, धर्म और प्रेमका उपदेश मिलता रहता है, भगवान् सृष्टि-रचना और अवतार-लीलादि जितने भी कर्म करते हैं, उनमें उनका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है; केवल लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही वे मनुष्यादि अवतारोंमें नाना प्रकारके कर्म करते हैं (३।२२-२३)। भगवान् अपनी प्रकृतिद्वारा समस्त कर्म करते हुए भी उन कर्मोंके प्रति कर्तृत्वभाव न रहनेके कारण वास्तवमें न तो कुछ करते हैं और न उनके बन्धनमें पड़ते हैं; भगवान्‌की उन कर्मोंके फलमें किंचिन्मात्र भी स्पृहा नहीं होती (४।१३-१४)। भगवान्‌के द्वारा जो कुछ भी चेष्टा होती है, लोकहितार्थ ही होती है (४।८)। उनके प्रत्येक कर्ममें लोगोंका हित भरा रहता है। वे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके स्वामी होते हुए भी सर्वसाधारणके साथ अभिमानरहित दया और प्रेमपूर्ण समताका व्यवहार करते हैं (९।२९); जो कोई मनुष्य जिस प्रकार उनको भजता है, वे स्वयं उसे उसी प्रकार भजते हैं (४।११); अपने अनन्य भक्तोंका योगक्षेम भगवान् स्वयं चलाते हैं (९।२२), उनको दिव्य ज्ञान प्रदान करते हैं (१०।१०-११) और भक्तिरूपी नौकापर बैठे हुए भक्तोंका संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार करनेके लिये स्वयं उनके कर्णधार बन जाते हैं (१२।७)। इस प्रकार भगवान्‌के समस्त कर्म आसक्ति, अहंकार और कामनादि दोषोंसे सर्वथा रहित निर्मल और शुद्ध तथा केवल लोगोंका कल्याण करने एवं नीति, धर्म, शुद्ध प्रेम और न्याय आदिका जगत्‌में प्रचार करनेके लिये ही होते हैं; इन सब कर्मोंको करते हुए भी भगवान्‌का वास्तवमें उन कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, वे उनसे सर्वथा अतीत और अकर्ता हैं—इस बातको भलीभाँति समझ लेना, इसमें किंचिन्मात्र भी असम्भावना या विपरीत भावना न रहकर पूर्ण विश्वास हो जाना ही भगवान्‌के कर्मोंको तत्त्वसे दिव्य समझना है। इस प्रकार जान लेनेपर उस जाननेवालेके कर्म भी शुद्ध और अलौकिक हो जाते हैं—अर्थात् फिर वह भी सबके साथ दया, समता, धर्म, नीति, विनय और निष्काम प्रेमभावका बर्ताव करता है। जिनका भगवान्‌में प्रेम और श्रद्धा है वे भगवान्‌की प्रत्येक लीलामय क्रियाओंसे शिक्षा ग्रहण किया करते हैं और प्रेममें मुग्ध हुआ करते हैं। उनको आदर्श मानकर उनका अनुकरण करनेकी चेष्टा किया करते हैं, इस प्रकार भगवान्‌के लीलामय कर्मोंसे शिक्षा ग्रहण करके जो उनका अनुकरण करते हैं वे भी कर्मोंसे लिपायमान न होकर परमेश्वरको प्राप्त हो जाते हैं और उनके कर्म भी दिव्य हो जाते हैं।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

(गीता ४।१९)

'जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं।'

फलकामना, आसक्ति और कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल लोकहितार्थ ही जो कर्मोंका करना है यही वास्तवमें भगवान्‌के कर्मोंको दिव्य समझना है। जिनके कर्म ऐसे नहीं होते, जो भगवान्‌का अनुकरण नहीं करते, उन्होंने भगवान्‌के कर्मोंकी दिव्यताको वास्तवमें नहीं समझा; क्योंकि जो भगवान्‌के कर्मोंकी दिव्यताका तत्त्व समझ लेते हैं उनके भी कर्म फिर दिव्य हो जाते हैं।

पहले भी मोक्षकी इच्छावाले साधकोंने ऐसा समझकर ही कर्मोंका आचरण किया था, उसी प्रकार आसक्ति, फलेच्छा और अभिमान छोड़कर कर्म करनेके लिये भगवान् अर्जुनको आज्ञा देते हुए कर्मोंका तत्त्व इस प्रकार समझाते हैं—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

(गीता ४।१६—१८)

'कर्म क्या है? और अकर्म क्या है?—इस प्रकार इसका निर्णय करनेमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। इसलिये वह कर्मतत्त्व मैं तुझे भलीभाँति समझाकर

कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभसे अर्थात् कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा। कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये और अकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये तथा विकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये; क्योंकि कर्मकी गति गहन है। जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और वह योगी समस्त कर्मोंको करनेवाला है।'

प्रश्न-कर्ममें अकर्म देखना क्या है? तथा इस प्रकार देखनेवाला मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगी और समस्त कर्म करनेवाला कैसे है?

उत्तर-लोकप्रसिद्धिमें मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरके व्यापारमात्रका नाम कर्म है; उनमेंसे जो शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म हैं उनको कर्म कहते हैं और शास्त्रनिषिद्ध पापकर्मोंको विकर्म कहते हैं। शास्त्रनिषिद्ध पापकर्म सर्वथा त्याज्य हैं, इसलिये उनकी चर्चा यहाँ नहीं की गयी। अतः यहाँ, जो शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म हैं, उनमें अकर्म देखना क्या है—इस बातपर विचार करना है। यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविका और शरीर-निर्वाह-सम्बन्धी जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं—उन सबमें आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहंकारका त्याग कर देनेसे वे इस लोक या परलोकमें सुख-दुःखादि फल भुगतानेके और पुनर्जन्मके हेतु नहीं बनते बल्कि मनुष्यके पूर्वकृत समस्त शुभाशुभ कर्मोंका नाश करके उसे संसार-बन्धनसे मुक्त करनेवाले होते हैं—इस रहस्यको समझ लेना ही कर्ममें अकर्म देखना है। इस प्रकार कर्ममें अकर्म देखनेवाला मनुष्य आसक्ति, फलेच्छा और ममताके त्यागपूर्वक ही कर्तव्यकर्मोंका यथायोग्य आचरण करता है। अतः वह कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता, इसलिये वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है; उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, इसलिये वह योगी है; और उसे कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता—वह कृतकृत्य हो जाता है, इसलिये वह समस्त कर्मोंको करनेवाला है।

प्रश्न-अकर्ममें कर्म देखना क्या है? तथा इस प्रकार देखनेवाला मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगी और समस्त कर्म करनेवाला कैसे है?

उत्तर-लोकप्रसिद्धिमें मन, वाणी और शरीरके व्यापारको त्याग देनेका ही नाम अकर्म है; यह त्यागरूप अकर्म भी आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहंकारपूर्वक किया जानेपर पुनर्जन्मका हेतु बन जाता है। इतना ही नहीं, कर्तव्य-कर्मोंकी अवहेलनासे या दम्भाचारके लिये किया जानेपर तो यह विकर्म (पाप) के रूपमें बदल जाता है—इस रहस्यको समझ लेना ही अकर्ममें कर्म देखना है। इस रहस्यको समझनेवाला मनुष्य किसी भी वर्णाश्रमोचित कर्मका त्याग न तो शारीरिक कष्टके भयसे करता है, न राग-द्वेष अथवा मोहवश और न मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा या अन्य किसी फलकी प्राप्तिके लिये ही करता है। इसलिये वह न तो कभी अपने कर्तव्यसे गिरता है और न किसी प्रकारके त्यागमें ममता, आसक्ति, फलेच्छा या अहंकारका सम्बन्ध जोड़कर पुनर्जन्मका ही भागी बनता है, इसीलिये वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है। उसका परम पुरुष परमेश्वरसे संयोग हो जाता है, इसलिये वह योगी है और उसके लिये कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता, इसलिये वह समस्त कर्म करनेवाला है।

प्रश्न-कर्मसे क्रियमाण, विकर्मसे विविध प्रकारके संचित कर्म और अकर्मसे प्रारब्ध कर्म लेकर कर्ममें अकर्म देखनेका यदि यह अर्थ किया जाय कि क्रियमाण कर्म करते समय यह देखे कि भविष्यमें यही कर्म प्रारब्ध कर्म (अकर्म) बनकर फलभोगके रूपमें उपस्थित होंगे और अकर्ममें कर्म देखनेका यह अर्थ किया जाय कि प्रारब्धरूप फलभोगके समय उन दुःखादि भोगोंको अपने पूर्वकृत क्रियमाण कर्मोंका ही फल समझे और इस प्रकार समझकर पापकर्मोंका त्याग करके शास्त्रविहित कर्मोंको करता रहे, तो क्या आपत्ति है? क्योंकि संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध कर्मोंके ये ही तीन भेद प्रसिद्ध हैं?

उत्तर—ठीक है, ऐसा मानना बहुत लाभप्रद है और बड़ी बुद्धिमानी है; किंतु ऐसा अर्थ मान लेनेसे '**कवयोऽप्यत्र मोहिताः**', '**गहनाकर्मणो गतिः**', '**यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्**', '**स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्**', '**तमाहुः पण्डितं बुधाः**', '**नैव किंचित्करोति सः**' आदि वचनोंकी संगति नहीं बैठती। अतएव यह अर्थ लाभप्रद होनेपर भी प्रकरणविरुद्ध है।

प्रश्न—कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखनेवाला साधक भी मुक्त हो जाता है या सिद्ध पुरुष ही इस प्रकार देख सकता है?

उत्तर—मुक्त पुरुषके जो स्वाभाविक लक्षण होते हैं, वे ही साधकके लिये साध्य होते हैं। अतएव मुक्त पुरुष तो स्वभावसे ही इस तत्त्वको जानता है और साधक उनके उपदेशद्वारा जानकर उस प्रकार साधन करनेसे मुक्त हो जाता है। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है कि 'मैं तुझे कर्म-तत्त्व बतलाऊँगा, जिसे जानकर तू कर्मबन्धनसे छूट जायगा।'

उपर्युक्त प्रकारसे कर्मयोगके तत्त्वको जाननेवाला ही मनुष्योंमें बुद्धिमान् है, योगी है और सम्पूर्ण कर्मोंका करनेवाला है इसलिये वह इस कर्मरहस्यको समझकर संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

इस प्रकारसे कर्मोंका तत्त्व समझकर फल, कामना, आसक्ति और अहंकारको छोड़कर समस्त कर्मोंका करना ही भगवान्‌के कर्मोंकी दिव्यताको समझना है।

ऊपर बतलाये हुए भगवान्‌के जन्म और कर्मोंकी दिव्यताके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष सारे कर्म और दुःखोंसे छूटकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

गीतोक्त दिव्यदृष्टि

किसी भाईका प्रश्न है कि श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ११में विश्वरूप दर्शनके लिये अर्जुनको दिव्यदृष्टि प्रदान करनेका प्रसंग आता है, वह दिव्यदृष्टि क्या थी? उसके द्वारा अर्जुनने किस प्रकार विश्वरूपके दर्शन किये? और भगवान्‌ने जो अपना विराट्स्वरूप अर्जुनको दिखाया वह कैसा था?

वास्तवमें इस प्रश्नका पूरा उत्तर वे ही महापुरुष दे सकते हैं जिनको भगवान्‌की कृपासे कभी ऐसी दिव्यदृष्टिके द्वारा भगवान्‌के दिव्य विराट् रूपके दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ हो, मेरे द्वारा इस विषयमें जो कुछ निवेदन किया जाता है वह तो केवल श्रीमद्भगवद्गीता और दूसरे-दूसरे शास्त्रोंपर विवेचन करनेसे अपनी साधारण बुद्धिसे जो कुछ समझमें आ सका है उसीका प्रदर्शन है।

इस विषयमें लोगोंके भिन्न-भिन्न विचार हैं। कोई कहते हैं कि भगवान्‌ने उपदेशद्वारा अर्जुनको ऐसा ज्ञान प्रदान कर दिया, जिससे इस सारे विश्वको अर्जुन भगवान्‌का स्वरूप समझने लगे थे, अतः यहाँ ज्ञानका ही नाम दिव्यदृष्टि है; किसीका कहना है कि भगवान्‌ने अर्जुनको दूरबीनके-जैसी कोई दृष्टि दे दी होगी, जिससे अर्जुन वहीं खड़े-खड़े सारे विश्वको देख सके होंगे; किसीका कहना है कि जैसे आजकल रेडियोद्वारा बहुत दूर देशका गाना सुनाया जाता है, ऐसे ही भगवान्‌ने कोई यन्त्र अर्जुनको दिया होगा कि जिससे अर्जुन व्यवधानयुक्त दूर देशमें स्थित वस्तुओंको भी देख सके; इसी तरह अपनी-अपनी समझके अनुसार लोग कल्पना किया करते हैं।

हमें इस विषयको समझनेके लिये श्रीमद्भगवद्गीतामें कहे हुए भगवान्, अर्जुन और संजयके वचनोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये, उनपर विचार करनेसे ही यह विषय प्रायः स्पष्ट हो सकता है।

दसवें अध्यायमें अपनी विभूतियोंका वर्णन करनेके बाद, अन्तमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि तुझे यह सब विस्तार समझनेकी क्या आवश्यकता है, यह सारा विश्व मेरी योगमायाके द्वारा किसी एक अंशमें धारण किया हुआ है (१०।४२)। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ज्ञानद्वारा सारे विश्वको भगवान्‌के किसी एक अंशमें स्थित देखनेकी बात तो भगवान् पहले ही कह चुके और उसे सुनकर अर्जुनने भी स्वीकार कर लिया कि आप जो कुछ कह रहे हैं, वह सर्वथा ठीक है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। किंतु उसके बाद भी अर्जुन प्रार्थना करते हैं कि हे पुरुषोत्तम! मैं आपके उस ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजयुक्त दिव्य स्वरूपको प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ (११।३), अतः यदि आप मेरे द्वारा वह रूप देखा जाना शक्य समझते हों तो मुझे उसका दर्शन करावें (११।४)। इससे यह पाया जाता है कि अर्जुनने भगवान्‌के ऐश्वर्यमय साकार अद्भुत रूपके दर्शन करनेकी प्रार्थना की थी और भगवान्‌ने भी अपने योगबलसे वैसे ही रूपका अर्जुनको दर्शन कराया था। भगवान्‌ने स्वयं कहा है कि मेरे इस शरीरमें तू एक ही जगह स्थित, चराचर जीवोंके सहित सारे जगत्‌को देख और अन्य भी जो कुछ देखनेकी तेरी इच्छा है, वह भी देख (११।७)। भगवान्‌ने अर्जुनको जिस अद्भुत रूपका दर्शन कराया था, वह इस दृश्य जगत्‌से भिन्न था, अलौकिक था, भगवान्‌के शुद्ध सत्त्वसे बना हुआ तेजस्वरूप था, उसके समस्त वस्त्र, आभूषण और शस्त्रादि एवं पुष्पमाला और गन्धलेपन आदि भी दिव्य और अलौकिक थे (११।१०-११)। उस रूपका तेज अपार था, हजारों सूर्य एक साथ उदय होनेपर भी उस रूपके तेजकी बराबरी कर सकें या नहीं, इसमें भी सन्देह था (११।१२)। ऐसा अलौकिक रूप साधारण नेत्रोंद्वारा कैसे देखा जा सके, इसीलिये भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्यदृष्टि प्रदान की (११।८) और उसके द्वारा अर्जुनने भगवान्‌के रूपका दर्शन किया।

इसलिये यह कहना नहीं बन सकता कि इस दृश्य जगत्‌को ज्ञानद्वारा भगवान्‌का स्वरूप समझ लेना ही विश्वरूपका देखना है और ऐसा ज्ञान ही यहाँ दिव्यदृष्टि है।

भगवान्‌के विराट् रूपको देखकर अर्जुन कहते हैं कि स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका यह सारा आकाश और सब दिशाएँ एकमात्र आपके ही रूपसे व्याप्त हो रहे हैं (गीता ११।२०)। आपके शरीरमें मैं समस्त देवोंको, ब्रह्माको और महादेवको भी देख रहा हूँ (११।१५)। आप अपने तेजसे इस सारे विश्वको तपा रहे हैं, आपकी सामर्थ्य अनन्त है, आपका आदि, मध्य और अन्त नहीं है (११।१९)। कितने ही देवोंके झुंड आपमें प्रवेश कर रहे हैं, कितने ही भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए स्तुति करते

हैं, महर्षि और सिद्धोंके समुदाय भी आपकी स्तुति कर रहे हैं (११। २१)। रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य और अश्विनीकुमार आदि सब देव एवं गन्धर्व, यक्ष, राक्षसगण आपको विस्मित होकर देख रहे हैं (११। २२)। आकाशसे संलग्न हुए आपके विकराल रूपको देखकर मेरा धैर्य छूट रहा है, मुझे शान्ति नहीं मिलती है, मैं व्यथित हो रहा हूँ (११। २४)। ये सब राजाओंके सहित धृतराष्ट्रके पुत्र एवं भीष्म, द्रोण और कर्ण तथा हमारी सेनाके भी सब शूरवीर, आपके भयानक मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं और उनमेंसे कितने ही आपके दाँतोंमें चिपके हुए दिखलायी दे रहे हैं, आप उन सबको निगल रहे हैं, आपका उग्र प्रकाश अपने तेजसे सारे जगत्‌को परिपूर्ण करके तपा रहा है (११। २६,२७,३०)।

इस वर्णनसे यह पाया जाता है कि अर्जुनने भगवान्‌का विराट् रूप अपने सामने प्रत्यक्ष देखा था एवं उस रूपके अंदर उनको सारा ब्रह्माण्ड और भविष्यमें होनेवाली युद्धविषयक घटना तथा उसका परिणाम दिखलायी दे रहा था। जिस विश्वमें अर्जुन अपनेको खड़े देख रहे थे, वह भगवान्‌के शरीरमें दिखलायी देनेवाले ब्रह्माण्डसे भिन्न था, क्योंकि उस विराट्‌रूपसे दृश्य-जगत्‌के स्वर्ग-लोकसे लेकर पृथ्वीके बीचके आकाशको और सब दिशाओंको व्याप्त देखना, महर्षि और सिद्धोंके समुदायोंको भगवान्‌के स्वरूपसे बाहर खड़े हुए स्तुति करते देखना, उनके तेजसे सारे विश्वको तपायमान होते देखना, धृतराष्ट्रके पुत्रोंको, द्रोण, भीष्मादि शूरवीरोंको और अपनी सेनाके शूरवीरोंको (जो कि दृश्यजगत्‌में प्रत्यक्ष जीवित स्वस्थ खड़े थे) भगवान्‌के रूपमें मरते हुए देखना—ये सभी बातें तभी सम्भव हो सकती हैं।'

भगवान्‌के विराट् रूपका दर्शन करते हुए अर्जुनको हर्ष, आश्चर्य, मोह, व्यथा और भय एवं दिग्भ्रम भी एक साथ ही हुए। भगवान्‌की अनन्त और अलौकिक सामर्थ्यको देखकर, उनको परब्रह्म परमेश्वर समझकर, हर्ष और आश्चर्य हुआ एवं भयानक रूपदर्शनसे मोहके कारण भय, व्यथा और दिग्भ्रमादि हुए। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भगवान्‌ने उपदेशद्वारा इस दृश्य-जगत्‌को ही ईश्वरका रूप समझाया हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेसे अर्जुनको भय, व्यथा और दिग्भ्रमादि होनेका कोई कारण नहीं रह जाता।

भगवान्‌के शरीरमें दीखनेवाला विश्व, इस दृश्य-जगत्‌का प्रतिबिम्ब भी नहीं था। क्योंकि भगवान्‌के शरीरमें तो भीष्म, द्रोण आदि शूरवीरोंको और अपनी सेनाके शूरवीरोंको प्रवेश होते हुए और मरते हुए अर्जुन देख रहे हैं और इस दृश्य-जगत्‌में वे सब जीवित हैं, उनके साथ युद्ध करनेके लिये भगवान् अर्जुनको आज्ञा दे रहे हैं।

इससे यही सिद्ध होता है कि भगवान्‌ने जिस रूपका अर्जुनको दर्शन कराया था, वह भगवान्‌का अलौकिक स्वरूप था, भविष्यमें होनेवाली घटनाका परिणाम और अपना ऐश्वर्य दिखलाकर भगवान्‌ने अर्जुनके विश्वासको दृढ़ किया था।

दूरबीन और रेडियोके सदृश किसी यन्त्रद्वारा दूर देशमें स्थित केवल जड दृश्य, जो दूर देशमें वर्तमान हों, वे ही दिखलाये जा सकते हैं। लोगोंके मनकी बातें और भविष्यमें होनेवाली घटना नहीं दिखलायी जा सकती। अत: इस प्रसंगमें किसी यन्त्रद्वारा विश्वरूप दिखलाये जानेकी कल्पना करना या किसी यन्त्रविशेषको दिव्यदृष्टि समझना भूल है।

किसी प्रकारके उपदेशद्वारा अर्जुनको ऐसा समझाया गया हो कि यह दृश्य-जगत् भगवान्‌का ही रूप है एवं ऐसे ज्ञानका ही नाम यहाँ दिव्यदृष्टि है, यह मानना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेसे अर्जुनको भय, व्यथा और मोह होनेका कोई कारण नहीं रहता तथा अर्जुनका यह पूछना भी नहीं बन सकता कि विकराल रूपधारी आप कौन हैं? (११। ३१) उस समय अर्जुन अपने सामने भगवान्‌का बहुत लंबा-चौड़ा शरीर और उसीमें समस्त जगत्‌को विचित्र ढंगसे देखकर घबड़ा गये (११। २४-२५) और उस रूपका उपसंहार करनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करने लगे। किसी प्रकारके ज्ञानद्वारा दृश्य-जगत्‌को भगवान्‌का रूप समझाये जानेपर समझनेवालेका यह कहना नहीं बन सकता कि इसका उपसंहार करके, अपना किरीट, गदा और चक्र आदि भूषण और शस्त्रोंसे युक्त चतुर्भुजरूप दिखलाइये (११। ४६) एवं भगवान्‌का चतुर्भुजरूप दिखलाकर फिर मानुषरूपमें स्थित होकर अर्जुनको आश्वासन देना और उस सौम्यरूपको देखकर अर्जुनका यह कहना भी नहीं बन सकता कि अब आपके इस सौम्य मानुषरूपको देखकर, मैं शान्तचित्त और स्वस्थ हो गया हूँ।

इस प्रकार विवेचन करनेसे यही समझमें आता है कि अर्जुनके प्रार्थना करनेपर भगवान्‌ने अपने प्यारे भक्त अर्जुनको, उनपर प्रसन्न होकर उनकी श्रद्धा और प्रेम बढ़ानेके लिये एवं अपना प्रभाव, तत्त्व और रहस्य उनको समझानेके लिये अपने योगबलसे वैसा ऐश्वर्यमय रूप दिखाया था, भगवान्‌का वह विश्वरूप अलौकिक, दिव्य और तेजोमय था, साधारण जगत्‌की भाँति पांचभौतिक पदार्थोंसे बना हुआ नहीं था। यदि पांचभौतिक पदार्थोंसे बना हुआ होता तो वहीं खड़े हुए दूसरे लोगोंको भी

दिखलायी देता, किन्तु बिना दिव्यदृष्टिके उसके दर्शन किसीको नहीं हुए। भगवान् अपना प्रभाव और तत्त्व समझानेके लिये जिस-जिसपर कृपा करके अपने दिव्य अलौकिक आश्चर्यमय विश्वरूपका दर्शन कराना चाहते हैं, वही उसको देख सकता है। बिना भगवान्की कृपाके कोई योगी योगबलसे ऐसे रूपको नहीं देख सकता, तथा वेदविद्या-अध्ययनसे या यज्ञ, दान और तप आदि पुण्यकर्मोंसे भगवान्के इस प्रकारके रूपको कोई नहीं देख सकता। भगवान्से अतिरिक्त दूसरा कोई योगी या सिद्ध पुरुष ऐसे रूपकी रचना करके दूसरोंको दिखा भी नहीं सकता। जिस समय भगवान् अपने भक्तपर दया करके उसको अपना तत्त्व और रहस्य समझानेके लिये ऐसे रूपको प्रकट करते हैं उस समय भी उसके दर्शन वही मनुष्य कर सकता है—जिसको वैसे रूपका दर्शन करनेकी दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है, जो भगवान्का परमभक्त होता है और जिसको भगवान् वैसा रूप दिखाना चाहते हैं—दूसरा कोई किसी भी उपायसे नहीं देख सकता।

संजयको भगवान् वेदव्यासजीने दिव्यदृष्टि प्रदान की थी। वह भगवान्के परम प्रेमी, भक्त और विश्वासपात्र थे, इसीसे भगवान्के अद्‌भुत रूपको देखनेका सौभाग्य उन्हें भी प्राप्त हो गया, वह स्वयं कहते हैं कि मैंने भगवान् वेदव्यासजीकी कृपासे ही आज भगवान्के इस अद्‌भुत रूपके दर्शन किये और श्रीकृष्ण-अर्जुनके गुह्य संवादको सुना (१८।७५—७७)।

भगवान्ने अपने योगबलसे अर्जुनको विश्वरूपदर्शनके लिये एक प्रकारकी योगशक्ति प्रदान की थी, जिसके प्रभावसे अर्जुनकी समस्त इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि दिव्य हो गये, उनकी सामर्थ्य अलौकिक हो गयी, उनमें दिव्यरूपका दर्शन करनेकी योग्यता आ गयी, इसी योगशक्तिका नाम 'दिव्यदृष्टि' है। ऐसी ही दिव्यदृष्टि वेदव्यासजीने संजयको भी दी थी, इस दिव्यदृष्टिसे मनुष्य दूर देशकी बातें सुन सकता है, सब प्रकारके दृश्य देख सकता है, और दूसरेके मनके भावोंको भी जान सकता है। यही कारण था कि संजय समस्त महाभारतके युद्धका प्रसंग एक जगह बैठे हुए भी देख-सुनकर और समझकर, सब धृतराष्ट्रको सुना दिया करते थे, यहाँतक कि लोगोंके मनके विचार भी धृतराष्ट्रके सामने प्रकट कर दिया करते थे।

ऐसी दिव्य शक्तिका साधारण प्रकरण तो पातंजलयोगमें भी आया है, किन्तु वहाँ जिन शक्तियोंका वर्णन है वे परिमित हैं। भगवान्ने अर्जुनको जो दिव्यशक्ति प्रदान की थी वह अपरिमित थी, उसके लिये अर्जुनको किसी प्रकारकी साधना नहीं करनी पड़ी थी, भगवान्ने स्वयं ही उनपर कृपा करके वह शक्ति प्रदान की थी।

मनुष्यमात्रको उचित है कि इस प्रकार भगवान्की अनन्त और अलौकिक शक्तिको, उनके दिव्य विराट् रूपको तथा रहस्यसहित उनके प्रभाव, तत्त्व, लीला और गुणोंको बारंबार याद करके भगवान्में अनन्य प्रेम करें और उनके दर्शन करनेके पात्र बनें।

आज्ञापालन और प्रणाम

समझमें नहीं आता कि अच्छे पुरुष मान-बड़ाई और पूजा-प्रतिष्ठाको क्यों स्वीकार कर लेते हैं। युक्तियोंसे बात उचित नहीं जँचती। उच्च श्रेणीके पुरुषोंको इनकी आवश्यकता ही क्या है? यह सत्य है कि उत्तम पुरुषके दर्शन-स्पर्श और उनके साथ भाषणसे ही लाभ है; वे जिस वस्तुका चिन्तन कर लेते हैं, देख लेते हैं और स्पर्श कर लेते हैं वह वस्तु बड़े ही महत्त्वकी हो जाती है। उनके चरणोंसे स्पर्श की हुई धूलि बड़े ही महत्त्वकी है, परन्तु यदि वे उस धूलिको सिर चढ़ानेका निषेध करें तो उस अवस्थामें उनकी आज्ञाको अधिक महत्त्व देना चाहिये। आज्ञा मानकर चरण-धूलि सिर न चढ़ानेसे यही तो हुआ कि उससे जो लाभ होता वह नहीं होगा। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि उनकी आज्ञापालनसे होनेवाला लाभ बहुत ही अधिक है। यदि महापुरुषने आज्ञा दे दी कि 'मुझको प्रणाम न किया करो।' तो उनके आज्ञानुसार प्रणाम न करनेमें बहुत लाभ है। वास्तवमें प्रणाम करना तो छूटता नहीं। शरीरसे न होकर अन्तःकरणसे प्रणाम किया जाता है। फिर यह सोचना चाहिये कि एक वस्तुके ग्रहणमें जब इतना महत्त्व है तो उसके त्यागमें कितना अधिक महत्त्व होगा। विचार करना चाहिये कि एक जगह सोना पड़ा है, रत्न पड़े हैं, वे सब बहुमूल्य हैं, इस बातको जानकर भी एक आदमी उन सोने-रत्नोंको त्याग देता है; और दूसरा उनको उठा लेता है। कीमत दोनों ही समझते हैं। अब बताइये, इन दोनोंमें कौन-सा पुरुष उच्च श्रेणीका है? स्वर्ण और रत्न इकट्ठा करनेवाला या उनका त्यागी? फिर महापुरुषकी चरण-धूलि तो उनकी आज्ञासे छोड़ी जा रही है। इससे उसमें तो और भी परम लाभकी बात है।

जो पुरुष यह समझते हैं, मेरी चरण-धूलिसे मनुष्य पवित्र हो जायँगे, इसलिये उन्हें चरण-धूलि लेने दिया जाय, वह तो स्वयं ही अन्धकारमें हैं। उनसे दूसरोंका क्या

उद्धार होगा? परन्तु जो महापुरुष वास्तविक हृदयसे ऐसा नहीं चाहते कि कोई हमारी चरण-धूलि ले, तो उनकी आज्ञा माननी ही चाहिये। उनकी प्रसन्नताके लिये चरण-धूलिसे होनेवाले लाभकी तो बात ही क्या है, मुक्तितकका त्याग कर देना चाहिये!

माता-पिताके अनन्य सेवक भक्त पुण्डरीककी मातृ-पितृ-भक्तिसे प्रसन्न होकर जब भगवान् आये, उस समय उनके माता-पिता उनकी दोनों जंघाओंपर सिर टेककर सो रहे थे। मातृ-पितृ-भक्त पुण्डरीकने भगवान्‌से प्रार्थना की 'भगवन्! इस समय मेरे माता-पिता आरामसे सो रहे हैं, इनके आराममें विघ्न उपस्थित करके मैं आपकी सेवा नहीं कर सकता। यदि आप न ठहरना चाहें तो अभी वापस जा सकते हैं। जिन माता-पिताकी सेवाके प्रभावसे आप पधारे, उस महत्त्वसे आप फिर भी मुझे दर्शन देनेको पधार सकते हैं।' पुण्डरीककी बात सुनकर उसकी अनन्य निष्ठासे भगवान्‌को बड़ी प्रसन्नता हुई। यहाँपर यह विचार करना चाहिये कि हमलोग अधिक-से-अधिक लाभ मुक्तिको समझते हैं, वह मुक्ति जिन महापुरुषके द्वारा प्राप्त होती है, वही महापुरुष यदि मुक्तिका त्याग करनेके लिये कहें तो हमें यह क्यों चिन्ता होनी चाहिये कि हमारी मुक्ति कहीं चली गयी। उसे तो वे जब चाहें तभी प्राप्त करा सकते हैं।

प्रणाम करनेके समय यदि कोई महापुरुष निषेध करें तो उस समय तो शायद मनमें कुछ नाराजगी हो परन्तु हृदयपर एक बहुत अच्छा असर होगा। उन्होंने प्रणाम करनेका निषेध किया, इससे आपकी मानसिक इच्छा तो कम हुई ही नहीं, केवल सिर झुकानेसे आप रुके। सिर तो मनुष्य श्रद्धा न होनेपर भी जहाँ-तहाँ झुका देता है; फिर उनकी आज्ञा मानकर सिर न झुकाया गया तो क्या हानि है?

उत्तम पुरुष कहते हैं कि मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठा बुरी चीज है, फिर उनको वे स्वयं कैसे स्वीकार कर सकते हैं। स्वयं स्वीकार करें और केवल दूसरोंको निषेध करें, ऐसे लोगोंका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि महात्मा लोग हृदयसे प्रणाम कराना चाहते हैं तो करनेमें आपत्ति नहीं, परन्तु यदि वे नहीं चाहते, निषेध करते हैं तो उस निषेधाज्ञाको टालना भी पाप है। अवश्य ही उनकी दयालुताके प्रभावसे पाप नहीं होता। तो भी उनकी आज्ञा ही माननी चाहिये। महात्मा पुरुषोंके इच्छानुसार चलनेमें ही लाभ है।

भगवद्दर्शनकी उत्कण्ठा

बहुत-से लोग कहा करते हैं कि यथाशक्ति चेष्टा करनेपर भी भगवान् हमें दर्शन नहीं देते। वे लोग भगवान्‌को 'निष्ठुर, कठोर' आदि शब्दोंसे सम्बोधित किया करते हैं तथा ऐसा मान बैठे हैं कि उनका हृदय वज्रका-सा है और वे कभी पिघलते ही नहीं। उन्हें क्या पड़ी है कि वे हमारी सुध लें, हमें दर्शन दें और हमें अपनावें—ऐसी ही शिकायत बहुत-से लोगोंकी रहती है।

परन्तु बात है बिलकुल उलटी। हमारे ऊपर प्रभुकी अपार दया है। वे देखते रहते हैं कि जरा भी गुंजाइश हो तो मैं प्रकट होऊँ, थोड़ा भी मौका मिले तो भक्तको दर्शन दूँ। साधनाके पथमें वे पद-पदपर हमारी सहायता करते रहते हैं। लोकमें भी यह देखा जाता है कि जहाँ विशेष टान होती है, जिस पुरुषका हमारे प्रति विशेष आकर्षण होता है उसके पास और सब काम छोड़कर भी हमें जाना पड़ता है। जहाँ नहीं जाना होता वहाँ प्राय: यही मानना चाहिये कि प्रेमकी कमी है, जब हम साधारण मनुष्योंकी भी यह हालत है, तब भगवान्, जो प्रेम और दयाके अथाह सागर हैं, यदि थोड़ा प्रेम होनेपर भी हमें दर्शन देनेके लिये तैयार रहें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

भगवान्‌के प्रकट होनेमें जो विलम्ब हो रहा है उसमें मुख्य कारण हमारी टानकी कमी ही है। प्रभु तो प्रेम और दयाकी मूर्ति ही हैं। फिर वे आनेमें विलम्ब क्यों करते हैं? कारण स्पष्ट है। हम उनके दर्शनके लायक नहीं हैं। हममें अभी श्रद्धा और प्रेमकी बहुत कमी है। यदि हम उसके लायक होते तो भगवान् स्वयं आकर हमें दर्शन देते; क्योंकि भगवान् परमदयालु, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् और सर्वान्तर्यामी हैं। किन्तु हमारे अंदर उनके प्रति श्रद्धा और प्रेमकी बहुत ही कमी है। अतएव श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धिके लिये हमें उनके तत्त्व, रहस्य, गुण और प्रभावको जाननेकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम हो जानेपर वे न मिलें ऐसा कभी हो नहीं सकता। बाध्य होकर भगवान् अपने श्रद्धालु भक्तकी श्रद्धाको फलीभूत करते ही हैं। जबतक उनकी कृपापर पूरा विश्वास नहीं होता तबतक प्रभुका प्रसाद हमें कैसे प्राप्त हो सकता है? यदि हमारा यह विश्वास हो जाय कि भगवान्‌के दर्शन होते हैं और अमुक व्यक्तिने भगवान्‌के दर्शन किये हैं, तो उसके साथ हमारा व्यवहार कैसा होगा, इसका भी हमलोग अनुमान नहीं कर सकते। फिर स्वयं भगवान्‌के मिलनेसे जो दशा होती है, उसका तो अंदाजा लगाना ही असम्भव है।

रासलीलाके समय भगवान्‌के अन्तर्धान हो जानेपर गोपियोंकी कैसी दशा हुई? एक क्षणके लिये भी उन्हें भगवान्‌का वियोग असह्य हो गया, अतएव बाध्य होकर भगवान्‌को प्रकट होना पड़ा। दुर्वासाके दस हजार शिष्योंसहित भोजनके लिये असमयमें उपस्थित होनेपर, उन्हें भोजन करानेका कोई उपाय न दीखनेपर, द्रौपदी व्याकुल होकर भगवान्‌का स्मरण करने लगी और उसके पुकारते ही भगवान् इस प्रकार प्रकट हो गये जैसे मानो वहीं खड़े हों। विश्वास होनेसे प्रायः यही अवस्था सभी भक्तोंकी होती है। नरसीको दृढ़ विश्वास था कि उसकी लड़कीका भात भरनेके लिये हरि आवेंगे ही और वे मगन होकर गाने लगे ***'बाई आसी आसी आसी, हरि घणे भरोसे आसी।'*** हरिके आनेमें उन्हें तनिक भी शंका नहीं थी। अतएव भगवान्‌को समयपर आना ही पड़ा।

भगवान्‌के दर्शनमें जो विलम्ब हो रहा है उसका एकमात्र कारण दृढ़ विश्वासका अभाव ही है। चाहे जिस प्रकार निश्चय हो जाय, निश्चय हो जानेपर भगवान् न आवें ऐसा हो नहीं सकता। वे अपने भक्तको निराश नहीं करते, यही उनका बाना है। यह दूसरी बात है कि बीच-बीचमें हमारे मार्गमें ऐसे विघ्न आ खड़े हों जिनके कारण हमारा मन विचलित-सा हो जाय। परन्तु यदि साधक उस समय सँभलकर प्रभुको दृढ़तापूर्वक पकड़े रहे और विघ्नोंसे प्रह्लादकी भाँति न घबड़ावे तो उसका काम अवश्य ही बन जाता है। प्रभु तो हमारी श्रद्धाको पक्की करनेके लिये ही कभी निष्ठुर और कभी कोमल व्यवहार और व्यवस्था किया करते हैं।

वास्तविक श्रद्धा इतनी बलवती होती है कि भगवान्‌को बाध्य होकर उस श्रद्धाको फलीभूत करनेके लिये प्रकट होना पड़ता है। पारस यदि पारस है और लोहा यदि लोहा है तो स्पर्श होनेपर सोना होगा ही। उसी प्रकार श्रद्धावान्‌को भगवान्‌की प्राप्ति होती है। श्रद्धालु भक्तकी कमीकी पूर्ति करके भगवान् उसके कार्यको सिद्ध कर देते हैं। श्रद्धा होनेपर सारी कमीकी पूर्ति भगवान्‌की कृपासे अपने-आप हो जाती है। हमलोगोंमें श्रद्धा-प्रेमकी कमी मालूम होती है, इसीलिये भगवान् प्रकट नहीं होते। अन्यथा उनके दयालु और प्रेमपूर्ण स्वभावको देखते हुए तो वे दर्शन दिये बिना रह सकें ऐसा हो नहीं सकता। रावणके द्वारा सीताके हरे जानेपर उसके लिये श्रीराम ऐसे व्याकुल होते हैं जैसे कोई कामी पुरुष अपनी प्रेयसीके लिये होता है। इसका कारण क्या था? कारण यही था कि सीता एक क्षणके लिये भी रामके बिना नहीं रह सकती थी। भगवान् कहते हैं जो मुझको जैसे भजते हैं उनको मैं भी वैसे ही भजता हूँ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

भगवान् तो प्रकट होनेके लिये तैयार हैं। वे मानो चाहते हैं कि लोग मुझसे प्रेम करें और मैं प्रकट होऊँ। सीताका जैसा उत्कट प्रेम भगवान् रामचन्द्रमें था वैसा ही प्रेम यदि हमलोगोंका प्रभुमें हो जाय तो प्रभु हमारे लिये भी तैयार हैं। जो हरिके लिये लालायित है उसके लिये हरि भी वैसे ही लालायित रहते हैं।

प्रभुमें श्रद्धा-प्रेम बढ़े, उनका चिन्तन बना रहे—एक पलके लिये भी उनका विस्मरण न हो, ऐसा ही लक्ष्य हमारा सदा बना रहना चाहिये। हमें वे चाहे जैसे रखें और चाहे जहाँ रखें उनकी स्मृति अटल बनी रहनी चाहिये। उनकी राजीमें ही अपनी राजी, उनके सुखमें ही अपना सुख मानना चाहिये। प्रभु यदि हमें नरकमें रखना चाहें तो हमें वैकुण्ठकी ओर ताकना भी नहीं चाहिये बल्कि नरकमें वास करनेमें ही परम आनन्द मानना चाहिये। सब प्रकारसे प्रभुके शरण हो जानेपर फिर उनसे इच्छा या याचना करना नहीं बन सकता। जब प्रभु हमारे और हम प्रभुके हो गये तो फिर बाकी क्या रहा? हम तो प्रभुके बालक हैं। माँ बालकके दोषोंपर ध्यान नहीं देती। उसके हृदयमें बालकके लिये अपार प्यार रहता है। प्रभु यदि हमारे दोषोंका खयाल करें तो हमारा कहीं पता ही न लगे। प्रभु तो इस बातके लिये सदा उत्सुक रहते हैं कि कोई रास्ता मिले तो मैं प्रकट होऊँ। किन्तु हमीं लोग उनके प्रकट होनेमें बाधक हो रहे हैं। देखनेमें तो ऐसी बात नहीं मालूम होती, ऊपरसे हम उनके दर्शनके लिये लालायित-से दीखते हैं; परन्तु भीतरसे उसे पानेकी लालसा कहाँ है? मुँहसे हम भले ही न कहें कि अभी ठहरो, परन्तु हमारी क्रियासे यही सिद्ध होता है। प्रभुके प्रकट होनेमें विलम्ब सहन करना ही उन्हें ठहराना है। प्रभुसे हमारा विछोह इसीलिये हो रहा है कि उनके वियोग (विछोह)-में हमें व्याकुलता नहीं होती। जब हम ही उनका वियोग सहनेके लिये तैयार हैं और कभी उनके वियोगमें हमारे मनमें व्याकुलता या दुःख नहीं होता, तो प्रभुको ही क्यों परवा होने लगी? यदि हमारे भीतर तड़पन होती और इसपर भी वे न आते तो हमें कहनेके लिये गुंजाइश थी। खुशीसे हम उनके बिना जी रहे हैं। इस हालतमें वे यदि न आवें तो इसमें उनका क्या दोष है? प्रकट होनेके लिये तो वे तैयार हैं, पर जबतक हमारे अंदर उत्सुकता नहीं होती तबतक वे आवें भी कैसे? उनका दर्शन प्राप्त करनेके लिये आवश्यकता है प्रबल चाहकी। वह चाह कैसी होनी चाहिये, इस बातको प्रभु ही पहचानते हैं। जिस चाहसे वे प्रकट हो जाते हैं वही चाह असली

चाह समझनी चाहिये। अतः जबतक वे न आवें चाह बढ़ाता ही रहे। घड़ा भर जानेपर पानी अपने-आप ऊपरसे बह चलेगा।

भगवत्प्रेमकी अवस्था ही अनोखी होती है। भगवान्का प्रसंग चल रहा है, उसकी मधुर चर्चा चल रही है, उस समय यदि स्वयं भगवान् भी आ जायँ तो प्रसंग चलाता रहे, भंग न होने दे। प्रियतमकी चर्चामें एक अद्भुत मिठास होती है जिसकी चाट लग जानेपर और कुछ सुहाता ही नहीं। प्रीतिकी रीति अनोखी है। प्रभुकी प्रीतिका रस जिसने पा लिया उसे और पाना ही क्या रहा? प्रभु तो केवल प्रेम देखते हैं। स्वयं प्रभुसे बढ़कर प्रभुका प्रेम है। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रभुके गुण, प्रभाव, तत्त्व तथा रहस्यसहित ध्यानमें तन्मय होकर प्रभुके प्रेमामृतका पान करना ही प्रभुकी प्रीतिका आस्वादन करना है या हरिके रसमें डूबना है।

दो प्रेमियोंमें यदि न बोलनेकी शर्त लग जाय तो अधिक प्रेमवाला ही हारेगा। पति-पत्नीमें यदि न बोलनेका हठ हो जाय तो वही हारेगा जिसमें अधिक स्नेह होगा। इसी प्रकार जब भक्त और भगवान्में होड़ होती है तो भगवान्को ही हारना पड़ता है, क्योंकि प्रभुसे बढ़कर प्रेमी कोई नहीं है। उसे इतना व्याकुल कर देना चाहिये कि हमारे बिना वह एक क्षण भी न रह सके। फिर उसे हार माननी ही पड़ेगी—आनेके लिये बाध्य होना ही पड़ेगा। हमें व्यवस्था ही ऐसी कर देनी चाहिये, प्रेमसे उन्हें मोहित कर देना चाहिये। फिर तो धक्का देनेपर भी वे नहीं हटेंगे।

प्रभुके साथ हमारा व्यवहार वैसा ही होना चाहिये जैसा स्त्रीका अपने पतिके साथ। जैसे स्त्री अपने प्रेम और हाव-भावसे पतिको मोहित कर लेती है वैसे ही हमें भगवान्को अपने प्रेम और आचरणसे मोहित कर लेना चाहिये। उसे अपनेमें आसक्त भी कर ले और खुशामद भी न करे। फिर तो वह एक पलके लिये भी हमारे द्वारपरसे हटनेका नहीं। वह प्रेमका भिखारी प्रेमका बंदी बना बैठा है, जायगा कहाँ? पति पत्नीके प्यारको ठुकरा ही कैसे सकता है? इसी प्रकार प्रभु भी अपने भक्तके प्यारका तिरस्कार कैसे कर सकते हैं? ऐसा हो जानेपर उनसे हमारे बिना रहा ही कैसे जायगा? वे तो सदा प्रेमके अधीन रहते हैं। एक बार प्रभुको अपने प्रेम-पाशमें बाँध ले, फिर तो वे सदाके लिये बँध जाते हैं।

प्रभुको वशीभूत करनेका ढंग स्त्रीसे सीखना चाहिये। इसी प्रकारका सम्बन्ध उनसे जोड़ना चाहिये। यही माधुर्यभाव है। बाहरका वेष न बदले, भीतर प्रेमकी प्रगाढ़तामें उसीका बन जाय। यही उन्हें प्राप्त करनेका सर्वोत्तम उपाय है।

प्रभु बड़े दयालु और उदारचित्त हैं। इसलिये थोड़े प्रेमसे भी वे प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु हमलोगोंको उपर्युक्त प्रेमको लक्ष्य बनाकर ही चलना चाहिये। क्योंकि उच्च लक्ष्य बनाकर चलनेसे ही प्रेमकी प्राप्ति होती है। यदि लक्ष्यके अनुसार पूर्ण प्रेम हो जाय तब तो अत्यन्त सौभाग्यकी बात है; ऐसे पुरुष तो आदर्श एवं दर्शनीय समझे जाते हैं, उनके कृपाकटाक्षसे दूसरे भी कृतकृत्य हो जाते हैं; फिर उनकी तो बात ही क्या?

चेतावनी

शास्त्र और महापुरुष डंकेकी चोट चेतावनी देते आये हैं और दे रहे हैं। इसपर भी हमारे भाइयोंकी आँखें नहीं खुलतीं—यह बड़े आश्चर्यकी बात है। मनुष्यका शरीर सम्पूर्ण शरीरोंसे उत्तम और मुक्तिदायक होनेके कारण अमूल्य माना गया है। चौरासी लाख योनियोंमें मनुष्यकी योनि, सारी पृथ्वीमें भारतभूमि और सारे धर्मोंमें वैदिक सनातन-धर्मको सर्वोत्तम बतलाते हैं। मनुष्यसे बढ़कर कोई योनि देखनेमें भी नहीं आती, अध्यात्मविषयकी शिक्षा सारी पृथ्वीपर भारतसे ही गयी है यानी दुनियामें जितने प्रधान-प्रधान धर्मप्रचारक हुए हैं, उन्होंने अध्यात्मविषयक धार्मिक शिक्षा प्रायः भारतसे ही पायी है। तथा यह वैदिक धर्म अनादि और सनातन है, सारे मत-मतान्तर एवं धर्मोंकी उत्पत्ति इसके बाद और इसके आधारपर ही हुई है। विधर्मी लोग भी इस वैदिक सनातन-धर्मको अनादि न माननेपर भी सबसे पहलेका तो मानते ही हैं। अतएव युक्तिसे भी इन सबकी सबसे श्रेष्ठता सिद्ध होती है। ऐसे उत्तम देश, जाति और धर्मको पाकर भी जो लोग नहीं चेतते हैं, उनको बहुत ही पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

'वे लोग मृत्यु नजदीक आनेपर सिरको धुन-धुनकर दुःखित हृदयसे पश्चात्ताप करेंगे और कहेंगे कि कलिकालरूप समयके प्रभावके कारण मैं कल्याणके लिये कुछ भी नहीं कर पाया, मेरे प्रारब्धमें ऐसा ही लिखा था; ईश्वरकी ऐसी ही मर्जी थी।' किंतु यह सब कहना उनकी भूल है, क्योंकि यह कलिकाल पापोंका खजाना होनेपर भी आत्मोद्धारके लिये परम सहायक है।

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत्॥

(श्रीमद्भागवत १२। ३। ५१)

'हे राजन्! दोषके खजाने कलियुगमें एक ही यह महान् गुण है कि भगवान् श्रीकृष्णके कीर्तनसे ही आसक्तिरहित होकर मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

केवल भगवान्‌के पवित्र गुणगान करनेसे ही मनुष्य परमपदको प्राप्त हो जाता है। आत्मोद्धारके लिये साधन करनेमें प्रारब्ध भी बाधक नहीं है। इसलिये प्रारब्धको दोष देना व्यर्थ है और ईश्वरकी दयाका तो पार ही नहीं है—

आकर चारि लच्छ चौरासी।
जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

इसपर भी ईश्वरको दोष लगाना मूर्खता नहीं है तो और क्या है? आज यदि हम अपने कर्मोंके अनुसार बंदर होते तो इधर-उधर वृक्षोंपर उछलते फिरते; पक्षी होते तो वनमें, शूकर-कूकर होते तो गाँवोंमें भटकते फिरते। इसके सिवा और क्या कर सकते थे? कुछ सोच-विचारकर देखिये—परम दयालु ईश्वरकी कितनी भारी दया है, ईश्वरने यह मनुष्यका शरीर देकर हमें बहुत विलक्षण मौका दिया है, ऐसे अवसरको पाकर हमलोगोंको नहीं चूकना चाहिये। पूर्वमें भी ईश्वरने हमलोगोंको ऐसा मौका कई बार दिया था किन्तु हमलोग चेते नहीं, इसपर भी यह पुनः मौका दिया है। ऐसा मौका पाकर हमें सचेत होना चाहिये; क्योंकि महान् ऐश्वर्यशाली मान्धाता और युधिष्ठिर-सरीखे धर्मात्मा चक्रवर्ती राजा; हिरण्यकशिपु-जैसे दीर्घ आयुवाले, रावण और कुम्भकर्ण-जैसे बली और प्रतापी दैत्य; वरुण, कुबेर और यमराज-जैसे लोकपाल और इन्द्र जैसे देवताओंके भी राजा संसारमें उत्पन्न हो-होकर इस शरीर और ऐश्वर्यको यहीं त्यागकर चले गये; किसीके साथ कुछ भी नहीं गया। फिर विचार करना चाहिये कि इन तन, धन, कुटुम्ब और ऐश्वर्य आदिके साथ अल्प आयुवाले हमलोगोंका तो सम्बन्ध ही कितना है।

फिर आपलोग मदिरा पीये हुए उन्मत्तकी भाँति इन सब बातोंको भुलाकर दुःखरूप संसारके अनित्य विषयभोगोंमें एवं उनके साधनरूप धनसंग्रहमें तथा कुटुम्ब और शरीरके पालनमें ही केवल अपने इस अमूल्य मनुष्य-जीवनको किसलिये धूलमें मिला रहे हैं? इन सबसे न तो आपका पूर्वमें सम्बन्ध था और न भविष्यमें रहनेवाला ही है, फिर इन क्षणस्थायी वस्तुओंकी उन्नतिको ही अपनी उन्नतिकी पराकाष्ठा आप क्यों मानने लगे हैं? यह जीवन अल्प है और मृत्यु हमारी बाट देख रही है; बिना खबर दिये ही अचानक पहुँचनेवाली है। अतएव जबतक इस देहमें प्राण है, वृद्धावस्था दूर है, आपका इसपर अधिकार है, तबतक ही जिस कामके लिये आये हैं, उस अपने कर्तव्यका शीघ्रातिशीघ्र पालन कर लेना चाहिये। भर्तृहरिने भी कहा है कि—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

(३।७५)

'जबतक यह शरीररूपी घर स्वस्थ है, वृद्धावस्था दूर है, इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण नहीं हुई है और आयुका भी (विशेष) क्षय नहीं हुआ है, तभीतक विद्वान् पुरुषको अपने कल्याणके लिये महान् प्रयत्न कर लेना चाहिये, नहीं तो घरमें आग लग जानेपर कुआँ खोदनेका प्रयत्न करनेसे क्या होगा?'

अतएव—

काल भजंता आज भज, आज भजंता अब।
पलमें परलय होयगी, बहुरि भजैगा कब॥

हमारे लिये वही परम कर्तव्य है, जिसका सम्पादन आजतक कभी नहीं किया गया। यदि इस कर्तव्यका पालन पूर्वमें किया जाता तो आज हमलोगोंकी यह दशा नहीं होती। दुनियामें ऐसी कोई भी योनि नहीं होगी जो हमलोगोंको न मिली हो। चींटीसे लेकर देवराज इन्द्रकी योनितकको हमलोग भोग चुके हैं किन्तु साधन न करनेके कारण हमलोग भटक रहे हैं और जबतक तत्पर होकर कल्याणके लिये साधन नहीं करेंगे तबतक भटकते ही रहेंगे। हजारों-लाखों ब्रह्मा हो-होकर चले गये और करोड़ों इन्द्र हो-होकर चले गये और हमलोगोंके इतने अनन्त जन्म हो चुके कि पृथ्वीके कणोंकी संख्या गिनी जा सकती है, किन्तु जन्मोंकी संख्या नहीं गिनी जा सकती। और भी चाहे लाखों, करोड़ों कल्प बीत जायँ, बिना साधनके परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती और बिना परमात्माकी प्राप्तिके भटकना मिट नहीं सकता। इसलिये उस सर्वव्यापी परम दयालु परमात्माके नाम और रूपका सदा-सर्वदा स्मरण और उसीकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। इसीसे परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र और सुलभ है। (गीता ८। १४; १२। ६-७) इन साधनोंके लिये उन महापुरुषोंकी शरणमें जाना चाहिये, जिन पुरुषोंको परमात्माकी प्राप्ति हो चुकी है, उन पुरुषोंके संग, सेवा और दयासे ही भगवान्‌के गुण और प्रभावको जानकर भगवान्‌में परम श्रद्धा और अनन्य प्रेम होकर भगवान्‌की प्राप्ति होती है।

और जिन पुरुषोंपर प्रभुकी दया होती है, उन्हींपर महापुरुषोंकी दया होती है, क्योंकि—

जापर कृपा राम की होई।
तापर कृपा करै सब कोई॥

प्रभुकी दयासे महापुरुषोंका संग और सेवा करनेका अवसर मिलता है। यद्यपि प्रभुकी दया सबके ऊपर ही अपार है, किंतु हमलोग इस बातको अज्ञानके कारण समझते नहीं हैं, विषय-सुखमें भूले हुए हैं। इसलिये उस दयासे पूरा लाभ नहीं उठा सकते। जैसे किसीके घरमें पारस पड़ा है, पर वह उसके गुण, प्रभाव और रहस्यको न जाननेके कारण दरिद्रताके दुःखको भोगता है, उसी प्रकार हमलोग भगवान् और भगवान्‌की दयाके रहस्य, प्रभाव, तत्त्व और गुणोंको न जाननेके कारण दुःखी हो रहे हैं।

अतएव इन सबको जाननेके लिये महापुरुषोंका संग, सेवा तथा प्रभुके नाम, रूप, गुण और चरित्रोंका ग्रन्थोंमें अध्ययन करके उनका कीर्तन और मनन करना चाहिये। क्योंकि यह नियम है कि कोई भी पदार्थ हो, उसके गुण और प्रभाव जाननेसे उसमें श्रद्धा-प्रेम और अवगुण जाननेसे घृणा होती है। और यह बात प्रसिद्ध है कि परमेश्वरके समान संसारमें न कोई गुणी है और न कोई प्रभावशाली। जिसके संकल्प करनेसे तथा नेत्रोंके खोलने और मूँदनेसे क्षणमें संसारकी उत्पत्ति और विनाश हो जाता है, जिसके प्रभावसे क्षणमें मच्छरके तुल्य जीव भी इन्द्रके समान और इन्द्रके तुल्य जीव मच्छरके समान हो जाते हैं, इतना ही क्यों, वह असम्भवको सम्भव और सम्भवको भी असम्भव कर सकता है; ऐसी कोई भी बात नहीं है जो उसके प्रभावसे न हो सके। ऐसा प्रभावशाली होनेपर भी वह भजनेवालेकी कभी उपेक्षा नहीं करता, बल्कि भजनेवालेको स्वयं भी वैसे ही भजता है, इस रहस्यको किंचित् भी जाननेवाला पुरुष एक क्षणके लिये भी ऐसे प्रभुका वियोग कैसे सह सकता है?

जो परमेश्वर महापामर दीन-दुःखी अनाथको याचना करनेपर उसके दुर्गुण और दुराचारोंकी ओर खयाल न करके बच्चेको माताकी भाँति गले लगा लेता है, ऐसे उस परम दयालु सच्चे हितैषी परम पुरुषकी इस दयाके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष उसकी प्राप्तिसे वंचित कैसे रह सकता है?

उस परमात्मामें धैर्य, क्षमा, दया, त्याग, शान्ति, प्रेम, ज्ञान, समता, निर्भयता, वत्सलता, सरलता, कोमलता, मधुरता, सुहृदता आदि गुणोंका पार नहीं है और परमात्माके ये सब गुण उसको भजनेवालेमें स्वाभाविक ही आ जाते हैं—इस बातके मर्मको जाननेवाला पुरुष उसको छोड़कर एक क्षण भी दूसरेको नहीं भज सकता।

जो प्रेमका तत्त्व जानता है—साक्षात् प्रेमस्वरूप है, जो महान् होकर भी अपने प्रेमी भक्त और सखाओंके साथ उनका अनुगमन करता है, ऐसे उस निरभिमानी, प्रेमी, दयालु भगवान्‌के तत्त्वको जाननेवाला पुरुष उसकी किसी भी आज्ञाका उल्लंघन कैसे कर सकता है?

इन सब भगवान्‌के गुण और प्रभावको जान लेनेपर तो बात ही क्या है, किन्तु ऐसे गुण और प्रभावशाली प्रभुके होनेमें विश्वास (श्रद्धा) होनेपर भी मनुष्यके द्वारा पापाचार तो हो ही नहीं सकता, बल्कि उसके प्रभाव और गुणोंको स्मरण कर-कर मनुष्यमें स्वाभाविक ही निर्भयता, प्रसन्नता और शान्ति आ जाती है और पद-पदपर उसे आश्रय मिलता रहता है, जिससे उसके उत्साह और साधनकी वृद्धि होकर परमेश्वरकी प्राप्ति हो जाती है।

यदि ऐसा विश्वास न हो सके तो भी उसको अपने चित्तसे एक क्षण भी भुलाना तो नहीं चाहिये। नहीं तो भारी विपत्तिका सामना करना पड़ेगा। क्योंकि मनुष्य जिस-जिसका चिन्तन करता हुआ जाता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है, इस प्रकार शास्त्र और महात्माओंने कहा है और यह युक्तिसंगत भी है। सोते समय मनुष्य जिस-जिस वस्तुका चिन्तन करता हुआ सोता है, स्वप्नमें भी प्रायः वही वस्तु उसे प्रत्यक्ष-सी दिखलायी देती है, इसी प्रकार मरणकालमें भी जिस-जिसका चिन्तन करता हुआ मनुष्य मरता है, आगे जाकर वह उसीको प्राप्त होता है अर्थात् जो भगवान्‌को चिन्तन करता हुआ जाता है, वह भगवान्‌को प्राप्त होता है और जो संसारको चिन्तन करता हुआ जाता है, वह संसारको प्राप्त होता है। यदि कहें कि अन्तकालमें ही भगवान्‌का चिन्तन कर लेंगे—तो ऐसा मानना भूल है। अन्तकालमें इन्द्रियाँ और मन कमजोर और व्याकुल हो जाते हैं, उस समय प्रायः पूर्वका अभ्यास ही काम आता है। इसलिये मनुष्यजन्मको पाकर यह जोखिम तो अपने सिरसे उतार ही देनी चाहिये, यानी और कुछ साधन न बन पड़े तो गुण और प्रभावके सहित नित्य-निरन्तर परमेश्वरका स्मरण तो करना ही चाहिये। इसमें न तो कुछ खर्च लगता है और न कुछ परिश्रम ही है, बल्कि यह साधन प्रत्यक्ष आनन्द और शान्तिदायक है तथा करनेमें भी बहुत सुगम है। केवल विश्वास (श्रद्धा) की ही आवश्यकता है। फिर तो अपने-आप सहज ही सब काम हो सकता है। परमात्मामें विश्वास होनेके लिये परमात्माके नाम, रूप, गुण, प्रभाव, प्रेम और चरित्रकी बात महापुरुषोंसे श्रवण करके उसका मनन करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे उन महापुरुष और परमात्माकी दयासे परमेश्वरमें विश्वास और

परम प्रेम होकर उसकी प्राप्ति सहजमें ही हो सकती है। परन्तु शोकको बात है कि ईश्वर और परलोकपर विश्वास न रहनेके कारण हमलोग इस ओर खयाल न करके अपने अमूल्य जीवनको अपने आत्मोद्धाररूप ऊँचे-से-ऊँचे काममें बिताना तो दूर रहा, नाशवान् क्षणभंगुर सांसारिक विषय-भोगोंके भोगनेमें ही समाप्त कर देते हैं। सांसारिक पदार्थोंमें जो क्षणिक सुखकी प्रतीति होती है, वास्तवमें वह सुख नहीं है, धोखा है। यह बात विचार करनेसे समझमें आ सकती है। ईश्वरने हमलोगोंको बुद्धि और ज्ञान विवेकपूर्वक समय बितानेके लिये ही दिया है, अतएव जो भाई अपने जीवनको बिना विचारे बिताता है, वह अपनी अज्ञताका परिचय देता है। हर एक मनुष्यको यह विचार करना चाहिये कि मैं कौन हूँ? यह संसार क्या है? इसके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है? मैं क्या कर रहा हूँ? मुझे क्या करना चाहिये?

संसारके सारे प्राणी सुख चाहते हैं, वह सुख भी सदा-सर्वदा अपार चाहते हैं और दुःखको कोई किंचिन्मात्र भी कभी नहीं चाहता। किंतु जैसा वे चाहते हैं, वैसा होता नहीं, बल्कि उनकी इच्छाके विपरीत ही होता है। क्योंकि वे अपने समयको जैसा बिताना चाहिये मूर्खताके कारण वैसा नहीं बिताते।

संसारमें जो बड़े-बड़े विद्वान् और बुद्धिमान् समझे जाते हैं, वे भी भौतिक यानी सांसारिक सुखको ही सुख मानकर उसकी प्राप्तिके लिये मोहके वशीभूत होकर टूट पड़ते हैं और उसकी प्राप्तिके लिये चेष्टा करना ही उन्नति मानते हैं। बहुत-से लोग सांसारिक सुखोंकी प्राप्तिके साधनरूप रुपयोंको ही सर्वोपरि मानकर धनसंचय करना ही अपनी उन्नति मानते हैं और कितने ही लोकमें मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके लिये अपनी ख्याति करना ही उन्नति मानते हैं किन्तु यह सब मूर्खता है, क्योंकि ये सारी बातें अनित्य होनेके कारण इनमें भ्रमसे प्रतीत होनेवाला क्षणिक सुख भी अनित्य ही है। अनित्य होनेके कारण ही शास्त्रकारोंने इसे असत्य बतलाया है। शास्त्र और महापुरुषोंका यह सिद्धान्त है एवं युक्तिसंगत भी है। कोई भी पदार्थ हो जो सत् होगा, उसका किसी भी प्रकार कभी विनाश नहीं होगा। उसपर कितनी ही चोटें लगें, वह सदा-सर्वदा अटल ही रहेगा। जो असत् पदार्थ है, उसके लिये आप कितना ही प्रयत्न करें, वह कभी रहनेका नहीं। इन सब बातोंको समझकर क्षणभंगुर—नाशवान् सुखसे अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको हटाना चाहिये और वास्तवमें जो सच्चा सुख है उसके लिये प्रयत्न करना चाहिये। उसकी प्राप्तिके मार्गमें अग्रसर हो जाना ही असली उन्नति है।

अब हमको यह विचार करना चाहिये कि सच्चा सुख क्या है और किसमें है? तथा मिथ्या सुख क्या है और किसमें है? सर्वशक्तिमान् विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा ही नित्य वस्तु है, अतएव उस परमात्माके सम्बन्धसे होनेवाला सुख ही सत्य और नित्य सुख है। जो सांसारिक पदार्थ हैं, वे सब क्षणभंगुर और अनित्य होनेके कारण उनमें प्रतीत होनेवाला सुख क्षणिक और अनित्य है। अब यह विचार करें कि सांसारिक पदार्थ और उनमें प्रतीत होनेवाला सुख क्षणिक और अनित्य कैसे है? देखिये, जैसे प्रातःकाल गायका दूध दुहकर तुरंत पान किया जाता है तो उसका स्वाद, गुण, रूप दूसरा ही होता है और सायंकालतक पड़े रहनेपर कुछ दूसरा ही हो जाता है यानी प्रातःकाल-जैसा स्वाद और गुण उसमें नहीं रहता तथा रूप भी कुछ गाढ़ा हो जाता है। दूसरे और तीसरे दिन तो स्वाद, गुण और रूपकी तो बात ही क्या है, उसका नाम भी बदल जाता है अर्थात् कुछ क्रिया न करनेपर भी दूधका दही हो जाता है तथा मीठेका खट्टा, पित्त और वायुनाशकको जगह पित्त और वायुवर्धक एवं पतलेका अत्यन्त गाढ़ा हो जाता है। और दस दिनके बाद तो पड़ा-पड़ा स्वाभाविक ही विषके तुल्य स्वास्थ्यके लिये अत्यन्त हानिकर हो जाता है। विचार करके देखिये, कुछ क्रिया न करनेपर भी अमृतके तुल्य दूध-जैसे पदार्थमें क्षणपरिणामी होनेके कारण पहलेवाले स्वाद, गुण, रूप और नामका अत्यन्त अभाव हो जाता है। यदि वह नित्य होता तो उसका परिवर्तन और विनाश नहीं होता। इसी प्रकार अन्य सब पदार्थोंके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। अतएव इन सांसारिक पदार्थोंमें प्रतीत होनेवाला सुख वास्तवमें सुख नहीं है। यदि प्रतीत होनेवाले क्षणिक सुखको सुख माना जाय तो उससे बढ़कर उनमें दुःख भी है, इसलिये वे त्याज्य हैं। एक पुरुष रमणीके साथ रमण करता है, उस समय उसको क्षणिक सुख-सा प्रतीत होता है,पर आगे चलकर उससे रोगोंकी वृद्धि तथा बल, बुद्धि, तेज और आयुका क्षय होता है एवं वह महान् दुःखी होकर शीघ्र ही कालका ग्रास बन जाता है। उपर्युक्त कार्य धर्मसे विरुद्ध करनेपर तो इस लोकमें अपकीर्ति और मरनेपर नरककी भी प्राप्ति होती है। अब विचार करके देखिये कि क्षणिक सुखके बदलेमें कितने समयतक कितना दुःख भोगना पड़ता है। इसी प्रकार अन्य सब पदार्थोंके भोगमें भी समझना चाहिये; क्योंकि विषयोंके भोगमात्रसे ही शरीर और इन्द्रियाँ क्षीण हो जाती हैं और अन्तःकरण दूषित, दुर्बल और चंचल होता जाता है; पूर्वकृत पुण्योंका क्षय और पापोंकी वृद्धि होती है। इतना ही नहीं, धीर और वीर पुरुष भी विलासी बन जाते हैं तथा ईश्वरप्राप्तिके

मार्गपर आरूढ़ नहीं हो सकते। कोई आरूढ़ होनेका प्रयत्न करते हैं तो भी उनको सफलता शीघ्र नहीं होती।

इसलिये इन पदार्थोंके भोगनेके उद्देश्यसे अर्थ (धन)-को इकट्ठा करना भी भूल ही है—क्योंकि प्रथम तो इस अर्थ (धन)-के उपार्जन करनेमें बहुत परिश्रम होता है। इतना ही नहीं, घोर नरकदायक पाप यानी अनेकों अनर्थ करने पड़ते हैं। फिर इसकी रक्षा करनेमें बहुत कठिनाई पड़ती है। कहीं-कहीं तो इसकी रक्षा करनेमें प्राणोंपर नौबत आ जाती है। इसके खर्च और दान करनेमें भी कम दुःख नहीं होता। लोग कहते हैं कि देना और मरना समान है। इसके नाश और वियोगमें और भी बड़ा भारी दुःख होता है। जब मनुष्य इसको छोड़कर परलोकमें जाता है, उस समय तो दुःखका पार ही नहीं है। अतएव क्षणिक सुखकी प्राप्तिके लिये महान् दुःखका सामना करना मूर्खता नहीं तो और क्या है? फिर उस अर्थ (धन)-के द्वारा प्राप्त होनेवाला विषयसुख भी इसके इच्छानुसार इसको नहीं मिल सकता। संसारमें बड़े-बड़े जो व्यावहारिक दृष्टिसे विद्वान् और बुद्धिमान् समझे जाते थे, वे सब इस धनको छोड़ सिर धुन-धुनकर पछताते हुए चले गये। बड़े-बड़े प्रतापी, प्रभावशाली, बलवान् पुरुष भी इसे साथ नहीं ले जा सके, फिर हमलोगोंकी तो बात ही क्या है। संसारमें यह भी देखा जाता है कि इसे इकट्ठा कोई करता है और उसका उपभोग प्रायः दूसरा ही करता है जो कि कहीं-कहीं तो उसके उद्देश्यसे बिलकुल ही विपरीत होता है। जैसे शहदकी मक्खी शहद इकट्ठा करती है। पर उसका उपभोग प्रायः दूसरे लोग ही करते हैं। यह उसकी मूर्खताका परिचय है। मक्खियाँ तो साधारण कीट हैं किन्तु मनुष्य होकर भी जो इस विषयपर विचार नहीं करता, वह उन कीटोंसे भी बढ़कर मूर्ख है।

एक भाई रोज हजार रुपये कमाता है और आज हजार रुपयोंकी थैली उसके घरपर आ गयी, तो कलके लिये दो हजारकी चेष्टा करता है, पर थोड़ी देरके लिये समझ लीजिये कि कल उसकी मृत्यु होनेवाली है और यह बात स्पष्ट है कि मृत्यु होनेके बाद उसका इस धनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता और मृत्यु बिना खबर दिये ही अचानक आती है और सम्पूर्ण धनको खर्च कर देनेतक लाख प्रयत्न करनेपर भी किसी प्रकार मृत्युसे वह छूट नहीं सकता। उसकी मृत्यु अवश्यमेव है। ऐसी हालतमें जिन पढ़े-लिखे तथा प्रतिष्ठित टाइटल पाये हुए मनुष्योंका धनसंचय करना ही ध्येय है उनकी शहद इकट्ठा करनेवाली मक्खियोंसे भी बढ़कर अज्ञता कही जाय तो इसमें क्या अत्युक्ति है?

जो नाम-ख्यातिके लिये तन, मन, धनको लगाते हैं, वे भी बुद्धिमान् नहीं हैं, क्योंकि नाम-ख्याति सच्चे सुखमें बाधक है और मरनेके बाद भी उस नाम-ख्यातिसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अतएव उन धनी-मानी विषयासक्त भाइयोंसे सविनय निवेदन है कि एक परमेश्वर और उसके आज्ञापालनरूप धर्मके सिवा आपका इस लोक और परलोकमें कहीं भी कोई साथी तथा सहायक नहीं है। इसलिये यदि नाम-ख्यातिकी ही इच्छा हो तो भी भगवत्प्राप्तिकी ही चेष्टा करनी चाहिये। क्योंकि जब उस ब्रह्मको अभेदरूपसे प्राप्त हो जावेंगे यानी जब परमात्मा ही बन जावेंगे, तब तो वेद और शास्त्रोंमें जो विज्ञान-आनन्दघन ब्रह्मकी महिमा गायी है तथा भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णकी जो ख्याति है, वह सब तुम्हारी ही हो जायगी। इतना ही नहीं, दुनियामें जितनी भी ख्याति हो रही है और होगी, वह सब तुम्हारी ही है। क्योंकि जो पुरुष ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वह सबका आत्मा ही हो जाता है। इसलिये सबकी ख्याति ही उसकी ख्याति है और सबकी ख्याति भी उसके एक अंशमात्रमें ही स्थित है। गीतामें श्रीभगवान्ने कहा भी है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥

(१०।४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान।'

अब विचार करना चाहिये कि फिर तुच्छ लौकिक ख्यातिकी इच्छा करना और उसके लिये अपना तन, मन, धन नष्ट करना कितनी मूर्खता है। वास्तवमें भगवान्की प्राप्ति अपनी ख्यातिके लिये नहीं करनी है, वह तो हमारा परम ध्येय और आश्रय होना चाहिये, क्योंकि उस पदको प्राप्त होनेपर और कुछ भी पाना बाकी नहीं रहता। इसीको मुक्ति, परमपद और सच्चे सुखकी प्राप्ति कहते हैं। जुगुनूका जैसे सूर्यके साथ तथा बूँदका जैसे समुद्रके साथ मुकाबला सम्भव नहीं, उसी प्रकार सारी दुनियाका सम्पूर्ण सुख मिलाकर भी उस विज्ञान-आनन्दघनकी प्राप्तिरूप सच्चे सुखके साथ उसका मुकाबला नहीं किया जा सकता। भगवान् गीतामें कहते हैं—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

(२।४६)

'सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयके प्राप्त होनेपर छोटे जलाशयमें मनुष्यका जितना प्रयोजन रहता है, अच्छी प्रकार ब्रह्मको जाननेवाले ब्राह्मणका वेदोंमें उतना ही प्रयोजन रहता

है। अर्थात् जैसे बड़े जलाशयके प्राप्त हो जानेपर जलके लिये छोटे जलाशयोंकी आवश्यकता नहीं रहती, वैसे ही ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होनेपर आनन्दके लिये वेदोंकी आवश्यकता नहीं रहती।'

जैसे स्वप्नमें प्राप्त हुए त्रिलोकीके राज्य-सुखका थोड़ेसे भी जाग्रत्के सुखके साथ मुकाबला नहीं किया जा सकता तथा यदि उस स्वप्नके राज्यको कोई बेचना चाहे तो एक पैसा भी उसका मूल्य नहीं मिलता; क्योंकि जागनेके बाद उस स्वप्नके राज्यका कोई नाम-निशान ही नहीं है, वैसे ही परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद इस संसार और सांसारिक सुखका नाम-निशान भी नहीं रहता। अतएव ऐसे अनन्त सुखको छोड़कर जो क्षणभंगुर, नाशवान् मिथ्या सुखके लिये चेष्टा करता है, उससे बढ़कर कौन मूर्ख है?

दूसरा जो प्रेममें मुग्ध होकर भेदरूपसे भगवान्‌की उपासना करता है उसकी तो और भी अद्‌भुत लीला है। वह स्वामीकी प्रसन्नतामें प्रसन्न और उनके सुखमें सुखी रहता है। स्वामीमें अनन्यप्रेम, नित्य संयोग और उनकी प्रसन्नताके लिये ही उस भक्तकी सारी चेष्टाएँ होती हैं। अपने प्रेमास्पद सगुण ब्रह्मपर तन, मन, धनको और अपने-आपको न्यौछावर करके वह प्रेम और आनन्दमें मुग्ध हो जाता है। केवल एकमात्र भगवान् ही उसके परम आश्रय, जीवन, प्राण, धन और आत्मा हैं। इसलिये वह भक्त उनके वियोगको एक क्षण भी नहीं सह सकता। उस प्यारे प्रेमीके नाम, रूप, गुण, प्रेम, प्रभाव, रहस्य और चरित्रोंका श्रवण, मनन और कीर्तन करता हुआ नित्य-निरन्तर उसमें रमण करता है।

इस आनन्दमें वह इतना मुग्ध हो जाता है कि ऊपरमें अभेदरूपसे बतलायी हुई परमगति यानी मुक्तिरूप सुखकी भी वह परवा नहीं करता। मछली जैसे जलके वियोगको नहीं सह सकती वैसे ही भगवान्‌का वियोग उसको अत्यन्त असह्य हो जाता है। इतना ही नहीं, भगवान्‌के मिलनेपर भगवान् जब उसको हृदयसे लगाते हैं, तब वस्त्रादिका व्यवधान भी उसको विघ्नरूप-सा प्रतीत होने लगता है। वह अव्यवधानरूपसे नित्य-निरन्तर मिलना ही पसंद करता है और एक क्षण भी भगवान्‌से अलग होना नहीं चाहता। इस प्रकार भगवत्प्राप्तिरूप आनन्दमें जो मग्न है, उसके गुणोंका वर्णन वाणीद्वारा शेष, महेश, गणेश आदि भी नहीं कर सकते, फिर अन्यकी तो बात ही क्या है? ऋषि, मुनि, महात्मा और सारे वेद जिन परमेश्वरकी महिमाका गान कर रहे हैं वे परमेश्वर स्वयं उस भक्तकी महिमा गाते हैं और उसके प्रेममें बिक जाते हैं तथा उस भक्तके भावके अनुसार भावित हुए उसके इच्छानुसार प्रत्यक्ष प्रकट होकर उसके साथ रसमय क्रीडा करने लग जाते हैं यानी जिस प्रकारसे भक्तको प्रसन्नता हो वैसी ही लीला करने लगते हैं।

यदि कहा जाय कि भेद और अभेदरूपसे होनेवाली परमात्माकी प्राप्तिमें क्या अन्तर है तो इसका उत्तर यह है कि अभेदरूप परमात्माकी उपासना करनेवाला पुरुष तो स्वयं ही सच्चा सुख यानी विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा ही हो जाता है और भेदरूपसे उपासना करनेवाला भक्त भिन्नरूपसे उस रसमय परमात्माके स्वरूपका दिव्य रस प्राप्त करता है यानी उस अमृतमय सगुण स्वरूप परमात्माके मिलनके आनन्दका अनुभव करता है।

यहाँतक तो वाणीकी पहुँच है। इसके बाद दोनों प्रकारके भक्तोंकी एक ही फलस्वरूपा अनिर्वचनीय स्थिति होती है, जिसे वेद-शास्त्र, शिव-सनकादि, शारदा एवं साधु-महात्मा तथा इस स्थितिको प्राप्त होनेवाले भी कोई पुरुष किसी प्रकार नहीं बतला सकते। जो कुछ भी बतलाया जाता है, उस सबसे यह अत्यन्त परेकी बात है। क्योंकि यहाँ वाणीकी तो बात ही क्या है, मन और बुद्धिकी भी पहुँच नहीं है।

इसलिये दुःख और विघ्नरूप समझते हुए नाशवान्, क्षणभंगुर तुच्छ भौतिक सुखको लात मारकर परमात्माकी प्राप्तिरूप सच्चे सुखके लिये ही कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकार चेष्टा करनेवाले पुरुषको परमेश्वरकी दयासे उसकी प्राप्ति होनी सहज है।

नवधा भक्ति

भक्ति ही एक ऐसा साधन है जिसको सभी सुगमतासे कर सकते हैं और जिसमें सभी मनुष्योंका अधिकार है। इस कलिकालमें तो भक्तिके समान आत्मोद्धारके लिये दूसरा कोई सुगम उपाय है ही नहीं; क्योंकि ज्ञान, योग, तप, याग आदि इस समय सिद्ध होने बहुत ही कठिन हैं और इस समय इनके उपयुक्त सहायक सामग्री आदि साधन भी मिलने कठिन हैं। इसलिये मनुष्यको कटिबद्ध होकर केवल ईश्वरकी भक्तिका ही साधन करनेके लिये तत्पर होना चाहिये। विचार करके देखा जाय तो संसारमें धर्मको माननेवाले जितने लोग हैं उनमें अधिकांश ईश्वर-भक्तिको ही पसंद करते हैं। अब हमको यह विचार करना चाहिये कि ईश्वर क्या है और उसकी भक्ति क्या है? जो सबके शासन करनेवाले, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी हैं, न्याय और सदाचार जिनका कानून है, जो सबके साक्षी

और सबको शिक्षा, बुद्धि और ज्ञान देनेवाले हैं तथा जो तीनों गुणोंसे अतीत होते हुए भी लीलामात्रसे गुणोंके भोक्ता हैं, जिनकी भक्तिसे मनुष्य सम्पूर्ण दुर्गुण, दुराचार और दुःखोंसे विमुक्त होकर परम पवित्र बन जाता है, जो अव्यक्त होकर भी जीवोंपर दया करके जीवोंके कल्याण एवं धर्मके प्रचार तथा भक्तोंको आश्रय देनेके लिये अपनी लीलासे समय-समयपर देव, मनुष्य आदि सभी रूपोंमें व्यक्त होते हैं अर्थात् साकाररूपसे प्रत्यक्ष प्रकट होकर भक्तजनोंको उनके इच्छानुसार दर्शन देकर आह्लादित करते हैं और जो सत्ययुगमें श्रीहरिके रूपमें, त्रेतायुगमें श्रीरामरूपमें, द्वापरयुगमें श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए थे, उन प्रेममय नित्य अविनाशी विज्ञानानन्दघन, सर्वव्यापी हरिको ईश्वर समझना चाहिये।*

अब भक्ति किसका नाम है—इस विषयमें विचार करना चाहिये। महर्षि शाण्डिल्यने कहा है—'**सा परानुरक्तिरीश्वरे**' 'ईश्वरमें परम अनुराग यानी परम प्रेम ही भक्ति है।'

देवर्षि नारदने भी भक्तिसूत्रमें कहा है—'**सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा**' (२) 'उस परमेश्वरमें अतिशय प्रेमरूपता ही भक्ति है।' '**अमृतस्वरूपा च**' (३) 'और वह अमृतरूप है।'

इस प्रकार और भी बहुत-से वचन मिलते हैं। इनसे यही मालूम होता है कि ईश्वरमें जो परम प्रेम है, वही अमृत है, वही असली भक्ति है। यदि कहें कि व्याकरणसे भक्ति शब्दका अर्थ सेवा होता है; क्योंकि भक्तिशब्द '**भज सेवायाम्**' धातुसे बनता है तो यह कहना भी ठीक ही है। प्रेम सेवाका फल है और भक्तिके साधनोंकी अन्तिम सीमा है। जैसे वृक्षकी पूर्णता और गौरव फल आनेपर ही है इसी प्रकार भक्तिकी पूर्णता और गौरव भगवान्‌में परम प्रेम होनेमें ही है। प्रेम ही उसकी पराकाष्ठा है और प्रेमके ही लिये सेवा की जाती है। इसलिये वास्तवमें भगवान्‌में अनन्य प्रेमका होना ही भक्ति है।

यद्यपि ईश्वरकी भक्तिमें सभी जीवोंका अधिकार होना न्याययुक्त है; क्योंकि हनूमान्, जाम्बवन्त, गजेन्द्र, गरुड़, काकभुशुण्डि और जटायु आदि पशु-पक्षी भी भगवान्‌की भक्तिके प्रतापसे परमपदको प्राप्त हुए हैं; परंतु मनुष्यातिरिक्त पशु-पक्षी आदिमें ज्ञान और साधनका अभाव होनेके कारण वे ईश्वर-भक्ति कर नहीं पाते—इसलिये शास्त्रकार ईश्वर-भक्तिमें मनुष्योंका अधिकार बतलाते हैं।

ईश्वरकी भक्तिमें आयु और रूपका तो कुछ भी मूल्य नहीं है। विद्या, धन, जाति और बल—ये भी मुख्य नहीं हैं एवं सदाचार और सद्‌गुणकी तरफ भी भगवान् इतना खयाल नहीं करते—वे केवल प्रेमको ही देखते हैं। किसी कविने कहा भी है—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्।
कुब्जायाः कमनीयरूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

व्याधका कौन-सा (अच्छा) आचरण था? ध्रुवकी आयु ही क्या थी? गजेन्द्रके पास कौन-सी विद्या थी? विदुरकी कौन उत्तम जाति थी? यादवपति उग्रसेनका कौन-सा पुरुषार्थ था? कुब्जाका ऐसा क्या विशेष सुन्दर रूप था? सुदामाके पास कौन-सा धन था? भक्तिप्रिय माधव तो केवल भक्तिसे ही सन्तुष्ट होते हैं, गुणोंसे नहीं।

सदाचार और सद्‌गुण तो उस भक्तमें भक्तिके प्रभावसे अनायास ही आ जाते हैं, इसलिये ईश्वरकी भक्तिमें सदाचार और सद्‌गुणोंकी भी इतनी प्रधानता नहीं है; किंतु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि ईश्वरकी भक्तिमें सदाचार और सद्‌गुणोंकी आवश्यकता ही नहीं है। जैसे बीमार आदमीके लिये रोगकी निवृत्तिमें औषधका सेवन प्रधान है और साथ-ही-साथ पथ्यकी भी आवश्यकता रहती है, इसी प्रकार जन्म-मरणरूपी भवरोगकी निवृत्तिके लिये ईश्वरकी भक्ति परमौषध है और सद्‌गुण तथा सदाचारका सेवन पथ्य है। लौकिक रोगकी निवृत्तिके लिये रोगी औषधका सेवन करता हुआ यदि पथ्यकी ओर ध्यान नहीं देता तो उसके रोगकी निवृत्ति प्रायः नहीं होती; किंतु सदाचार और सद्‌गुणरूपी पथ्यकी कमी रहनेपर भी भक्तिरूपी औषधके सेवनसे भवरोगकी निवृत्ति हो जाती है; क्योंकि भक्तिरूपी औषध पथ्यका काम भी कर लेती है। इतना ही नहीं, कुपथ्य-सेवनसे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके दुर्गुण और विघ्नरूप दोषोंका नाश एवं सदाचार सद्‌गुणरूप पथ्यका उत्पादन भी ईश्वर-भक्ति कर देती है तथा सदाके लिये रोगकी जड़ उखाड़ डालती है। अतः ईश्वर-भक्ति परमौषध है।

भक्तिके प्रधान दो भेद हैं—एक साधनरूप, जिसको वैध और नवधाके नामसे भी कहा है और दूसरा साध्यरूप, जिसको प्रेमा-प्रेमलक्षणा आदि नामोंसे कहा है। इनमें नवधा साधनरूप है और प्रेम साध्य है।

अब यह विचार करना चाहिये कि वैध-भक्ति किसका नाम है। इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि स्वामी

* इस विषयमें विशेष जानना हो तो 'भगवान् क्या हैं?' इस पुस्तकको गीताप्रेससे मँगाकर देख सकते हैं।

जिससे सन्तुष्ट हो उस प्रकारके भावसे भावित होकर उसकी आज्ञाके अनुसार आचरण करनेका नाम वैध-भक्ति है। शास्त्रोंमें उसके अनेक प्रकारके लक्षण बतलाये गये हैं।

तुलसीकृत रामायणमें शबरीके प्रति भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा।
पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा।
निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा।
मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठवँ जथालाभ संतोषा।
सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना।
मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

तथा श्रीमद्भागवतमें भी प्रह्लादजीने कहा है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(७।५।२३)

'भगवान् विष्णुके नाम, रूप, गुण और प्रभावादिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण तथा भगवान्‌की चरणसेवा, पूजन और वन्दन एवं भगवान्‌में दासभाव, सखाभाव और अपनेको समर्पण कर देना—यह नव प्रकारकी भक्ति है।'

इस प्रकार शास्त्रोंमें भक्तिके भिन्न-भिन्न प्रकारसे अनेक लक्षण बतलाये गये हैं, किन्तु विचार करनेपर सिद्धान्तमें कोई भेद नहीं है। तात्पर्य सबका प्रायः एक ही है कि स्वामी जिस भाव और आचरणसे सन्तुष्ट हो उसी प्रकारके भावोंसे भावित होकर उनकी आज्ञाके अनुकूल आचरण करना ही भक्ति है।

अब श्रीमद्भागवतमें प्रह्लादके द्वारा बतलायी हुई नवधा भक्तिके विषयमें उसके स्वरूप, विधि, प्रयोजन, हेतु, फल और उदाहरणका दिग्दर्शन कराया जाता है। इस उपर्युक्त नवधा भक्तिमेंसे एकका भी अच्छी प्रकार अनुष्ठान करनेपर मनुष्य परमपदको प्राप्त हो जाता है; फिर जो नवोंका अच्छी प्रकारसे अनुष्ठान करनेवाला है उसके कल्याणमें तो कहना ही क्या है।

श्रवण

भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंद्वारा कथित भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और रहस्यकी अमृतमयी कथाओंका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक श्रवण करना एवं उन अमृतमयी कथाओंका श्रवण करके वीणाके सुननेसे जैसे हरिण मुग्ध हो जाता है, वैसे ही प्रेममें मुग्ध हो जाना श्रवणभक्तिका स्वरूप है।

उपर्युक्त श्रवणभक्तिकी प्राप्तिके लिये श्रद्धा और प्रेमपूर्वक महापुरुषोंको साष्टांग प्रणाम, उनकी सेवा और उनसे नित्य निष्कपटभावसे प्रश्न करना और उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार आचरण करनेके लिये तत्परतासे चेष्टा करना यह श्रवणभक्तिको प्राप्त करनेकी विधि है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
(४।३४)

'हे अर्जुन! उस ज्ञानको तू समझ; श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके पास जाकर उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

महापुरुषोंके द्वारा वर्णित उपर्युक्त श्रवणभक्तिको प्राप्त करके प्रभुमें अनन्य प्रेम होनेके लिये प्रभुके भक्तोंमें उसका प्रचार करना—यह उसका प्रयोजन है।

यह श्रवणभक्ति महापुरुषोंके संग बिना प्राप्त होनी कठिन है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

किन्तु महापुरुषोंके संगके अभावमें उच्च श्रेणीके साधकोंका संग एवं महापुरुषविरचित ग्रन्थोंका अवलोकन करना भी सत्संगके ही समान है।

सत्संग न होनेसे विषयोंका संग तो स्वाभाविक होता ही है। उससे मनुष्यका पतन हो जाता है और सत्संगसे प्रत्यक्ष परम लाभ होता है; क्योंकि मनुष्यके जैसा-जैसा संग होता है उस संगके अनुसार ही उसपर वैसा-वैसा प्रभाव पड़ता है। और श्रवणभक्ति भी सत्संगसे ही मिलती है इसलिये सत्संग ही श्रवणभक्तिका हेतु है।

उन सत्पुरुषोंके दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन और संगसे पापी पुरुष भी पवित्र बन जाता है। महापुरुषोंकी कृपाके बिना कोई भी परमपदको प्राप्त नहीं हो सकता। श्रीमद्भागवतमें राजा रहूगणके प्रति महात्मा जडभरत कहते हैं कि—

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।

नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥

(५। १२। १२)

'हे रहूगण! महापुरुषोंके चरणोंकी धूलमें स्नान किये बिना केवल तप, यज्ञ, दान, गृहस्थधर्मपालन और वेदाध्ययनसे तथा जल, अग्नि और सूर्यकी उपासनासे वह परमतत्त्वका ज्ञान नहीं प्राप्त होता।'

अतएव इससे यही सिद्ध होता है कि सारे कार्योंकी सिद्धि महापुरुषोंके संगसे ही होती है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् उद्धवके प्रति कहते हैं कि—

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा॥
अन्नं हि प्राणिनां प्राणा आर्तानां शरणं त्वहम्।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम्॥

(११। २६। ३१,३३)

'हे उद्धव! जिस प्रकार भगवान् अग्निदेवका आश्रय लेनेपर शीत, भय और अन्धकारका नाश हो जाता है उसी प्रकार संत-महात्माओंके सेवनसे सम्पूर्ण पापरूपी शीत, जन्म-मृत्युरूपी भय और अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश हो जाता है।'

'जैसे प्राणियोंका जीवन अन्न है और दुःखी पुरुषोंका आश्रय मैं हूँ तथा मरनेपर मनुष्योंका धर्म ही धन है, वैसे ही जन्म-मरणसे भयभीत हुए व्याकुल पुरुषोंके लिये संत-महात्माजन परमाश्रय हैं।'

न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम्॥

(११। १२। १-२)

'जैसे सम्पूर्ण आसक्तियोंका नाश करनेवाला सत्पुरुषोंका संग मुझको अवरुद्ध कर सकता है अर्थात् प्रेम-पाशसे बाँध सकता है वैसे योग, सांख्य, धर्मपालन, स्वाध्याय, तप, त्याग, यज्ञ, कूप-तड़ागादिका निर्माण, दान तथा व्रत, पूजा, वेदाध्ययन, तीर्थाटन, यम-नियमोंका पालन—ये कोई भी नहीं बाँध सकते अर्थात् इनके द्वारा मैं वशमें नहीं आ सकता।'

महापुरुषोंका संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है। इसलिये भगवत्प्राप्तिके इच्छुक पुरुषोंको उन सत्पुरुषोंका संग अवश्यमेव करना चाहिये। देवर्षि नारदजी भी कहते हैं—

महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।

(नारद० ३९)

'महापुरुषोंका संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।'

अतः—

तदेव साध्यतां, तदेव साध्यताम्।

(नारद० ४२)

'उस सत्संगकी ही साधना करो—सत्संगकी ही साधना करो अर्थात् संत-महापुरुषोंका संग, सेवा और आज्ञाका पालन करो।'

सत्पुरुषोंद्वारा प्राप्त हुई इस प्रकारकी केवल श्रवण-भक्तिसे भी मनुष्य परमपदको प्राप्त कर सकता है—यह उसका फल है। भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है कि—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(१३। २५)

'परंतु इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसन्देह तर जाते हैं।'

नारदजीने भी श्रीमद्भागवतमाहात्म्यमें सनकादिके प्रति कहा है—

श्रवणं सर्वधर्मेभ्यो वरं मन्ये तपोधनाः।
वैकुण्ठस्थो यतः कृष्णः श्रवणाद् यस्य लभ्यते॥

(६। ७७)

'हे तपोधनो! मैं भगवान्के गुणानुवादोंके श्रवणको सब धर्मोंसे श्रेष्ठ मानता हूँ; क्योंकि भगवान्के गुणानुवाद सुननेसे वैकुण्ठस्थित भगवान्की प्राप्ति हो जाती है।'

केवल श्रवणभक्तिसे भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। इसके लिये शास्त्रोंमें बहुत-से प्रमाण भी मिलते हैं तथा इतिहास और पुराणोंमें बहुत-से उदाहरण भी मिलते हैं। जैसे राजा परीक्षित् भागवतको सुननेसे ही परमपदको प्राप्त हो गये। श्रीमद्भागवतमाहात्म्यमें लिखा है—

असारे संसारे विषयविषसंगाकुलधियः
क्षणार्द्धं क्षेमार्थं पिबत शुकगाथातुलसुधाम्।
किमर्थं व्यर्थं भो व्रजत कुपथे कुत्सितकथे
परीक्षित्साक्षी यच्छ्रवणगतमुक्त्युक्तिकथने॥

(६। १००)

'हे विषयरूप विषके संसर्गसे व्याकुलबुद्धिवाले पुरुषो! किसलिये कुत्सित वार्तारूप कुमार्गमें व्यर्थ घूम रहे हो? इस असार संसारमें कल्याणार्थ (कम-से-कम) आधे क्षणके लिये तो शुकदेवजीके मुखसे निकली हुई भागवतकथारूप

अनुपम अमृतका पान करो। श्रवणसे मुक्ति हो जाती है—इस कथनके लिये परीक्षित् साक्षी (प्रमाण) है।'

धुन्धुकारी-जैसा पापी भी केवल भगवान्‌के गुणानुवादोंके सुननेके प्रभावसे तर गया तथा शौनकादि बहुत-से ऋषि भी पुराण और इतिहासके श्रवणमें ही अपने समयको व्यतीत किया करते थे—वे कभी भी नहीं अघाते थे।

इस मनुष्य-जीवनके लिये और कोई भी इससे बढ़कर आनन्ददायक श्रवणीय विषय नहीं है और यह महापुरुषोंके संगसे ही प्राप्त होता है। इसलिये महापुरुषोंके संगके समान आनन्ददायक लाभप्रद संसारमें कोई भी पदार्थ मनुष्योंके लिये नहीं है। श्रीमद्भागवतमें सूतजी कहते हैं—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

(१।१८।१३)

'भगवत्संगी अर्थात् नित्य भगवान्‌के साथ रहनेवाले अनन्य प्रेमी भक्तोंके निमेषमात्रके भी संगके साथ हम स्वर्ग तथा मोक्षकी भी समानता नहीं कर सकते, फिर मनुष्योंके इच्छित पदार्थोंकी तो बात ही क्या है?'

अतएव अपना सारा जीवन महापुरुषोंके संगमें रहते हुए ही भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रेम, प्रभाव, लीला, धाम, रहस्य और तत्त्वकी अमृतमयी कथाओंको निरन्तर सुननेमें लगाना चाहिये और उन्हें सुन-सुनकर प्रेम और आनन्दमें मुग्ध होते हुए अपने मनुष्य-जीवनको सफल बनाना चाहिये।

कीर्तन

भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, चरित्र, तत्त्व और रहस्यका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक उच्चारण करते-करते शरीरमें रोमांच, कण्ठावरोध, अश्रुपात, हृदयकी प्रफुल्लता, मुग्धता आदिका होना कीर्तन-भक्तिका स्वरूप है।

कथा-व्याख्यानादिके द्वारा भक्तोंके सामने भगवान्‌के प्रेम-प्रभावका कथन करना, एकान्तमें अथवा बहुतोंके साथ मिलकर भगवान्‌को सम्मुख समझते हुए उसके नामका उपांशु जप एवं ऊँचे स्वरसे कीर्तन करना, भगवान्‌के गुण, प्रभाव और चरित्र आदिका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक धीरे-धीरे या जोरसे, खड़े या बैठे रहकर वाद्य-नृत्यके सहित अथवा बिना वाद्य-नृत्यके उच्चारण करना तथा दिव्य स्तोत्र एवं पदोंके द्वारा भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना करना, यही उपर्युक्त भक्तिको प्राप्त करनेका प्रकार है। किंतु ये सब क्रियाएँ नामके दस अपराधोंको बचाते हुए* दम्भरहित एवं शुद्ध भावनासे स्वाभाविक होनी चाहिये।

उपर्युक्त कीर्तनभक्तिको प्राप्त करके सबको भगवान्‌में अनन्य प्रेम होकर उसकी प्राप्ति हो जाय, इस उद्देश्यसे कीर्तन करना, यह इसका प्रयोजन है।

कीर्तनभक्ति भी ईश्वर एवं महापुरुषोंकी कृपासे ही प्राप्त होती है। इसलिये इस विषयमें उनकी कृपा ही हेतु है। क्योंकि भगवान्‌के भक्तोंके द्वारा भगवान्‌के प्रेम, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी बातोंको सुननेसे एवं शास्त्रोंको पढ़नेसे भगवान्‌में श्रद्धा होती है और तब मनुष्य उपर्युक्त कीर्तन-भक्तिको प्राप्त कर सकता है। अतः भगवान् और उनके भक्तोंकी दया प्राप्त करनेके लिये उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये।

इस प्रकारकी केवल कीर्तन-भक्तिसे भी मनुष्य परमात्माकी दयासे उसमें अनन्य प्रेम करके उसे प्राप्त कर सकता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(९।३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

इतना ही नहीं इस कीर्तन-भक्तिका प्रचारक तो भगवान्‌को सबसे बढ़कर प्रिय है। भगवान्‌ने गीतामें स्वयं कहा है—

* सन्निन्दासति नामवैभवकथा श्रीशेशयोर्भेदधीरश्रद्धा श्रुतिशास्त्रदैशिकगिरां नाम्न्यर्थवादभ्रमः।
नामास्तीति निषिद्धवृत्तिविहितत्यागो हि धर्मान्तरैः साम्यं नाम्नि जपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश॥
'सत्पुरुषोंकी निन्दा, अश्रद्धालुओंमें नामकी महिमा कहना, विष्णु और शिवमें भेदबुद्धि, वेद, शास्त्र और गुरुकी वाणीमें अविश्वास, हरिनाममें अर्थवादका भ्रम अर्थात् केवल स्तुतिमात्र है ऐसी मान्यता, नामके बलसे विहितका त्याग और निषिद्धका आचरण, अन्य धर्मोंसे नामकी तुलना यानी शास्त्रविहित कर्मोंसे नामकी तुलना—ये सब भगवान् शिव और विष्णुके नामजपमें नामके दस अपराध हैं।'

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥
(१८।६८-६९)

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा अर्थात् निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक मेरे भक्तोंको पढ़ावेगा और अर्थकी व्याख्याद्वारा इसका प्रचार करके उनके हृदयमें धारण करावेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है। मेरा उससे बढ़कर अतिशय प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है; तथा मेरा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।' यही इस कीर्तन-भक्तिका फल है।

भागवत और रामायण आदि सभी भक्तिके ग्रन्थोंमें भगवान्‌के केवल नाम और गुणोंके कीर्तनसे सब पापोंका नाश एवं भगवत्-प्राप्ति बतलायी है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

ब्रह्महा पितृहा गोघ्नो मातृहाऽऽचार्यहाघवान्।
श्वादः पुल्कसको वापि शुद्ध्येरन्यस्य कीर्तनात्॥
(६।१३।८)

'ब्राह्मणघाती, पितृघाती, गोघाती, मातृघाती, गुरुघाती ऐसे पापी तथा चाण्डाल एवं म्लेच्छ जातिवाले भी जिसके कीर्तनसे शुद्ध हो जाते हैं।'

संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः॥
(श्रीमद्भा० १२।१२।४७)

'जिस तरह सूर्य अन्धकारको, प्रचण्ड वायु बादलको छिन्न-भिन्न कर देता है उसी तरह कीर्तित होनेपर विख्यात प्रभाववाले अनन्त भगवान् मनुष्योंके हृदयमें प्रवेश करके उनके सारे पापोंको निस्सन्देह विध्वंस कर डालते है।' एवं—

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन्।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम्॥
(श्रीमद्भा० १।१।१४)

'घोर संसारमें पड़ा हुआ यह मनुष्य जिस परमात्मासे स्वयं भय भी भय खाता है उस परमात्माके नामका विवश होकर भी उच्चारण करनेसे तुरंत संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत्॥
(श्रीमद्भा० १२।३।५१)

'हे राजन्! दोषके खजाने कलियुगमें एक ही यह महान् गुण है कि भगवान् कृष्णके कीर्तनसे ही मनुष्य आसक्तिरहित होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार-
वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन्मनुष्यो
भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत॥
(श्रीमद्भा० ११।३१।२८)

'इस प्रकार इस भागवतमें अथवा अन्य सब शास्त्रोंमें वर्णित भगवान् कृष्णके सुन्दर अवतारोंके पराक्रमोंको तथा परम मंगलमय बालचरितोंको कहता हुआ मनुष्य परमहंसोंकी गतिस्वरूप भगवान्‌की परा भक्तिको प्राप्त करता है।'

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥
(श्रीमद्भा० ३।३३।७)

'अहो! आश्चर्य है कि जिसकी जिह्वापर तुम्हारा पवित्र नाम रहता है, वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है; क्योंकि जो तुम्हारे नामका कीर्तन करते हैं उन श्रेष्ठ पुरुषोंने तप, यज्ञ, तीर्थस्नान और वेदाध्ययन आदि सब कुछ कर लिया।'

रामचरितमानसमें गोस्वामी तुलसीदासजीने भी नाम-जपकी महिमा कही है—

नामु सप्रेम जपत अनयासा।
भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू।
भगत सिरोमनि भे प्रहलादू॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू।
अपने बस करि राखे रामू॥
चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका।
भए नाम जपि जीव बिसोका॥
कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई।
रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

महर्षि पतंजलि भी कहते हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः। (योग० १।२७)

'उस परमात्माका वाचक अर्थात् नाम ओंकार है।'

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (योग० १।२८)

'उस परमात्माके नामका जप और उसके अर्थकी भावना अर्थात् स्वरूपका चिन्तन करना।'

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

(योग० १। २९)

उपर्युक्त साधनसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है। नारदपुराणमें भी कहा है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(१। ४१। ११५)

'कलियुगमें केवल श्रीहरिका नाम ही कल्याणका परम साधन है, इसको छोड़कर दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।' इस तरह शास्त्रोंमें और भी बहुत-से प्रमाण मिलते हैं।

इस कीर्तन-भक्तिसे पूर्वकालमें बहुत-से तर गये हैं। इतिहास और पुराणोंमें एवं रामायणमें बहुत-से उदाहरण भी मिलते हैं।

भगवान्‌के नाम और गुणोंके कीर्तनके प्रतापसे पूर्वकालमें नारद, वाल्मीकि, शुकदेव आदि तथा अर्वाचीन समयमें गौरांग महाप्रभु, तुलसीदास, सूरदास, नानक, तुकाराम, नरसी, मीराबाई आदि अनेक भक्त परमपदको प्राप्त हुए हैं। इनके जीवनका इतिहास विख्यात ही है। परम भक्तोंकी बात तो छोड़ दीजिये, जो महापापी थे वे भी तर गये हैं। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ।
भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥

अतः जैसे मेघको देखकर पपीहा जलके लिये पी-पी करता है वैसे ही भगवान्‌में परम प्रेम होनेके लिये एवं भगवान्‌की प्राप्तिके लिये भगवान्‌के नाम और गुणके कीर्तनकी नित्य-निरन्तर तत्पर होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये!

स्मरण

प्रभुके नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और रहस्यकी अमृतमयी कथाओंका जो श्रद्धा और प्रेमपूर्वक श्रवण तथा पठन किया गया है उनका मनन करना एवं इस प्रकार मनन करते-करते देहकी सुधि भुलाकर भगवान्‌के स्वरूपमें ध्रुवकी भाँति तल्लीन हो जाना स्मरण-भक्तिका स्वरूप है।

जहाँतक हो सके, एकान्त एवं पवित्र स्थानमें सुखपूर्वक स्थिर, सरल आसनसे बैठकर इन्द्रियोंको विषयोंसे रहित करके कामना और संकल्पको त्याग कर प्रशान्त और वैराग्ययुक्त चित्तसे अथवा चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते, सभी काम करते हुए भी स्वाभाविक, शुद्ध और सरलभावसे भगवान्‌के सगुण-निर्गुण, साकार*-निराकारके तत्त्वको जानकर गुण और प्रभावसहित भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करना, भगवान्‌के नामका मनसे स्मरण करना, भगवान्‌की लीलाओंका स्मरण करके मुग्ध होना, भगवान्‌के तत्त्व और रहस्य जाननेके लिये उनके गुण, प्रभावका चिन्तन करना तथा दिव्य स्तोत्र और पदोंसे मनके द्वारा स्तुति और प्रार्थना करना, इस तरह स्मरणके बहुत-से प्रकार शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं।

प्रभुमें अनन्य प्रेम होकर उसकी प्राप्ति होना इसका उद्देश्य है।

प्रेमी भक्तोंके द्वारा नाम, रूप, गुण, प्रभाव आदिकी अमृतमयी कथाओंका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक श्रवण करना, भगवद्विषयक धार्मिक पुस्तकोंका पठन-पाठन करना, भगवान्‌के नामका जप और कीर्तन करना, भगवान्‌के पद एवं स्तोत्रोंके द्वारा अथवा किसी भी प्रकारसे ध्यानके लिये करुणाभावसे स्तुति-प्रार्थना करना तथा भगवान् और

---

* श्रीमद्भागवतमें सगुण साकारके ध्यान करनेका यह भी एक प्रकार है—

समं प्रशान्तं सुमुखं दीर्घचारुचतुर्भुजम्। सुचारुसुन्दरग्रीवं सुकपोलं शुचिस्मितम्॥
समानकर्णविन्यस्तस्फुरन्मकरकुण्डलम्। हेमाम्बरं घनश्यामं श्रीवत्सश्रीनिकेतनम्॥
शंखचक्रगदापद्मवनमालाविभूषितम्। नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभया युतम्॥
द्युमत्किरीटकटककटिसूत्रांगदायुतम्।
सर्वांगसुन्दरं हृद्यं प्रसादसुमुखेक्षणम्। सुकुमारमभिध्यायेत्सर्वांगेषु मनो दधत्॥

(११। १४। ३८—४१)

'जो सम हैं, प्रशान्त हैं, जिनका मुख सुन्दर है, जिनकी लंबी-लंबी चार सुन्दर भुजाएँ हैं, जिनका कण्ठ अति सुन्दर है, जो सुन्दर कपोलवाले हैं, जिनकी मुसकान उज्ज्वल है, जो कानोंमें देदीप्यमान मकराकृत कुण्डलोंको धारण किये हुए हैं, जिनका वर्ण मेघके समान श्याम है, जो पीताम्बरधारी हैं, जिनके हृदयमें श्रीवत्स एवं लक्ष्मीका चिह्न है, जो शंख, चक्र, गदा, पद्म एवं वनमालासे विभूषित हैं, जिनके चरण नूपुरोंसे सुशोभित हैं, जो कौस्तुभमणिकी कान्तिसे युक्त हैं, जो कान्तिवाले किरीट, कड़े, मेखला और भुजबन्धों (बाजूबंद)-से युक्त हैं, जिनके सम्पूर्ण अंग सुन्दर हैं, जो मनोहर हैं, जो कृपायुक्त मुख-नेत्रवाले हैं, ऐसे सुकुमार भगवान्‌के अंगोंमें मनको लगाकर सम्यक् प्रकारसे ध्यान करे।'

महापुरुषोंकी आज्ञाका पालन करना आदि उपर्युक्त स्मरण-भक्तिको प्राप्त करनेके उपाय हैं।

ऊपर बतलायी हुई केवल स्मरण-भक्तिसे भी सारे पाप, विघ्न, अवगुण और दुःखोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है। भगवत्-स्मरणके द्वारा मनुष्य जो कुछ भी चाहे प्राप्त कर सकता है। भगवत्-प्राप्तिरूप परमशान्तिकी प्राप्ति भी इससे अति शीघ्र एवं सुगमतासे हो जाती है। श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, संत-महात्मा सबने एक स्वरसे भगवत्-स्मरण (ध्यान)-की बड़ी महिमा गायी है। कठोपनिषद्में कहा है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

(१।२।१६)

'यह ओंकार अक्षर ही ब्रह्म है, यही परब्रह्म है, इसी ओंकाररूप अक्षरको जानकर (उपासना करके) जो मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है उसको वही मिलती है।'

सन्ध्योपासनविधिके आदिमें लिखा है—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

'अपवित्र हो, पवित्र हो, किसी भी अवस्थामें क्यों न हो, जो पुरुष भगवान् पुण्डरीकाक्षका स्मरण करता है वह बाहर और भीतरसे शुद्ध हो जाता है।' श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(६।३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥

(गीता ८।७-८)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा। हे पार्थ! यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त दूसरी ओर न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ पुरुष परम प्रकाशस्वरूप दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है।'

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८।१४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्य चित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९।२२)

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

(गीता १२।६—८)

'परन्तु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे अर्जुन! उन मुझमें चित्तको लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसमुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ। इसलिये हे अर्जुन! तू मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा; इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा अर्थात् मेरेको ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

(गीता १८।५७-५८)

'हे अर्जुन! तू सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समत्वबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो। उपर्युक्त प्रकारसे मुझमें चित्तवाला होकर मेरी कृपासे समस्त संकटोंको अनायास ही पार कर जायगा।'

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

कीटः पेशस्कृता रुद्धः कुड्यायां तमनुस्मरन्।
संरम्भभययोगेन विन्दते तत्सरूपताम्॥
एवं कृष्णे भगवति मायामनुज ईश्वरे।
वैरेण पूतपाप्मानस्तमापुरनुचिन्तया॥
कामाद् द्वेषाद्भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥

(७।१।२७—२९)

'जैसे दीवालपर भँवरेके द्वारा रुद्ध किया हुआ कीड़ा भँवरेके क्रोधके भयसे उसका स्मरण करता हुआ उसके (भँवरेके) समान ही हो जाता है, वैसे ही मायासे मनुष्यरूप धारण करनेवाले परमेश्वर श्रीकृष्ण भगवान्‌का वैरभावसे भी बारंबार चिन्तन करते हुए बहुत लोग निष्पाप होकर उनको प्राप्त हो गये। इसी तरह काम, द्वेष, भय, स्नेह तथा भक्तिसे ईश्वरमें मन लगाकर बहुत-से साधक पापरहित होकर परमपदको प्राप्त हो चुके हैं।'

शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्
नामानि रूपाणि च मंगलानि ते।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयो-
राविष्टचेता न भवाय कल्पते॥

(श्रीमद्भा० १०।२।३७)

'जो पुरुष सम्पूर्ण क्रियाओंको करते समय आपके मंगलमय रूप तथा नामोंका श्रवण, कथन, स्मरण एवं चिन्तन करता हुआ आपके चरणारविन्दोंमें ध्यान रखता है, वह फिर संसारमें नहीं आता।'

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।२७)

'विषय-चिन्तन करनेवालेका मन विषयोंमें आसक्त होता है और मेरा बार-बार स्मरण करनेवालेका मन मुझमें ही लीन हो जाता है।'

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥

(श्रीमद्भा० १२।१२।५४)

'श्रीकृष्णचन्द्र महाराजके चरणकमलोंकी स्मृति सब पापोंका नाश करती है तथा अन्तःकरणकी शुद्धि, परमात्मामें भक्ति, विज्ञान-विरागसहित ज्ञान एवं शान्तिका विस्तार करती है।'

श्रीविष्णुसहस्रनामके आदिमें कहा है—

यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात्।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे॥

'जिसके स्मरणमात्रसे मनुष्य जन्मरूपी संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है, संसारको उत्पन्न करनेवाले उस विष्णुके लिये नमस्कार है।'

श्रीतुलसीकृत रामायणमें सुतीक्ष्णकी स्मरण-भक्ति सराहनीय है। सुतीक्ष्ण भगवान्‌के प्रेममें मग्न होकर मन-ही-मन भगवान्‌का स्मरण करता हुआ कहता है—

सो परम प्रिय अति पातकी
जिन्ह कबहुँ प्रभु सुमिरन कर्‌यौ।
ते आजु मैं निज नयन देखौं
पूरि पुलकित हिय भर्‌यौ॥
जे पदसरोज अनेक मुनि
करि ध्यान कबहुँक पावहीं।
ते राम श्रीरघुवंशमणि
प्रभु प्रेमतें सुख पावहीं॥

आगे जाकर भगवान्‌के ध्यानमें ऐसा मस्त हो गया कि उसे अपने तन-मनकी सुधि भी न रही।

मुनि मग माझ अचल होइ बैसा।
पुलक सरीर पनस फल जैसा॥

इतना ही नहीं, भगवान्‌के दर्शन होनेपर भी यही वर माँगा कि हे नाथ! मेरे हृदयमें आप निरन्तर वास करो।

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम॥

इससे यही सिद्ध होता है कि सुतीक्ष्णको भगवान्‌का ध्यान बहुत ही प्रिय था। इसी प्रकार स्मरण करनेवाले भक्तोंके शास्त्रोंमें बहुत-से नाम आते हैं, किन्तु सबका चरित्र न देकर केवल कतिपय भक्तोंके नाममात्र दे दिये जाते हैं। जैसे सनकादि, ध्रुव, भीष्म, कुन्ती आदि स्मरण-भक्तिसे ही परमपदको प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त नीच जातिवाली भिलनी एवं जटायु पक्षीको भी भगवत्-स्मरणसे परम गति मिली।

गुण प्रभाव एवं प्रेमसहित भगवान्‌के स्वरूपके ध्यानके समान इस संसारमें शीघ्र उद्धार करनेवाला और कोई भी साधन नहीं है। प्रायः सारे साधनोंका फल भगवत्-स्मरण है। इसलिये अपना सारा जीवन उपर्युक्त प्रकारसे भगवत्-चिन्तनमें बितानेकी कटिबद्ध होकर चेष्टा करनी चाहिये। श्रीकबीरदासजीने भी कहा है—

सुमिरनसों मन लाइये, जैसे दीप पतंग।
प्रान तजे छिन एकमें, जरत न मोड़ै अंग॥

सुमिरनसों मन लाइये, जैसे कीट भिरंग।
कबीर बिसारे आपको, होय जाय तेहि रंग॥

इसलिये भगवत्-प्राप्तिकी इच्छावाले साधक पुरुषको उचित है कि सब कार्य करते हुए भी जैसे कछुआ अण्डोंका, गऊ बछड़ेका, कामी स्त्रीका, लोभी धनका, नटी अपने चरणोंका, मोटर चलानेवाला सड़कका ध्यान रखता है, वैसे ही परमात्माका ध्यान रखे।

पाद-सेवन

संचिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं
वज्रांकुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम्।
उत्तुंगरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम्॥
यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्।
ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम्॥

(श्रीमद्भा० ३। २८। २१-२२)

'जो वज्र, अंकुश, ध्वजा एवं कमल आदि चिह्नोंसे युक्त हैं, जिनके शोभायुक्त, रक्तवर्ण, उन्नत नखमण्डलकी प्रभा भक्तोंके हृदयके महान् अन्धकारको पूर्णतः नष्ट कर देती है, श्रीभगवान्के उन चरणकमलोंका बड़े प्रेमसे चिन्तन करना चाहिये।'

'जिनके चरणोंके प्रक्षालन जलसे निकली हुई गंगाजीके पवित्र जलको सिरपर धारण करके शिवने शिवत्व प्राप्त किया है और जो ध्यान करनेवाले पुरुषोंके अन्तःकरणमें रहनेवाले पापरूप पहाड़ोंके लिये इन्द्रद्वारा छोड़े हुए वज्रके समान हैं अर्थात् जिनके ध्यानसे पापराशि नष्ट हो जाती है, भगवान्के उन चरणकमलोंका चिरकालतक चिन्तन करना चाहिये।'

श्रीभगवान्के दिव्य मंगलमय स्वरूपकी धातु आदिकी मूर्ति, चित्रपट अथवा मानस-मूर्तिके मनोहर चरणोंका श्रद्धापूर्वक दर्शन, चिन्तन, पूजन और सेवन करते-करते भगवत्प्रेममें तन्मय हो जाना ही 'पाद-सेवन' कहलाता है।

बार-बार अतृप्त नयनोंसे भगवान्के चरणारविन्दका दर्शन करना, हाथोंसे भगवच्चरणोंका पूजन और सेवन करना तथा चरणोदक लेना, मनसे भगवच्चरणोंका चिन्तन-पूजन-सेवन करना, भगवान्की चरणपादुकाओंका हाथोंसे पूजन और मनसे चिन्तन, सेवन तथा पूजन करना, भगवान्की चरणरजको मनसे मस्तकपर धारण करना, हृदयसे लगाना, भगवान्के चरणोंसे स्पर्श किये हुए शय्यासन आदिको तीर्थसे बढ़कर समझ उनका समादर करना, अयोध्या, चित्रकूट, वृन्दावन, मथुरा आदि स्थानोंको जहाँ-जहाँ भगवान्का अवतार या प्राकट्य हुआ है, या जहाँ-जहाँ भगवान्के चरण टिके हैं, परम तीर्थ समझकर—वहाँकी धूलिको भगवान्की चरणधूलि मानकर मस्तकपर धारण करना, जिस वस्तुको भगवान्का चरणस्पर्श प्राप्त हुआ है, उस वस्तुका हृदयसे आदर करना और उसे मस्तकपर धारण करना तथा श्रीगंगाजीके जलको भगवान्का चरणोदक समझकर प्रणाम-पूजन, स्नान-पानादिके द्वारा उसका सेवन करना आदि सभी 'पाद-सेवन' भक्तिके ही विभिन्न प्रकार हैं।

ममता, अहंकार और अभिमान आदिका नाश होकर प्रभुके चरणोंमें अनन्य प्रेमकी प्राप्ति होनेके उद्देश्यसे पाद-सेवन-भक्ति की जाती है।

भगवान्के अनन्य भक्तोंका संग करनेसे भगवान्की चरण-सेवाका तत्त्व, रहस्य और प्रभाव सुननेको मिलता है, उससे श्रद्धा होकर तब यह भक्ति प्राप्त होती है।

केवल इस पाद-सेवन-भक्तिसे भी मनुष्यके सम्पूर्ण दुराचार, दुर्गुण और दुःख सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और भगवान्में सहज ही अतिशय श्रद्धा और प्रेम होकर उसे आत्यन्तिकी परमा शान्तिकी प्राप्ति होती है। उसके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता।

शास्त्र और महात्माओंने पाद-सेवन-भक्तिकी बड़ी महिमा गायी है। श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि भगवान्की चरणकमलरूपी नौका ही संसार-सागरसे पार उतारनेवाली है—

अपारसंसारसमुद्रमध्ये
सम्मज्जतो मे शरणं किमस्ति।
गुरो कृपालो कृपया वदैतद्
विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका॥

शिष्य—'हे कृपालु गुरुदेव! आप कृपा करके यह बतावें कि इस अपार संसाररूपी समुद्रमें मुझ डूबते हुएके लिये सहारा क्या है?' गुरु—'भगवान् विश्वेश्वरके चरण-कमलरूप जहाज ही एकमात्र सहारा है।'

भगवान्के चरणोदकका पान करनेसे और उसे मस्तकपर धारण करनेसे भी कल्याण होता है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका चरणामृत पीकर उन्हें नौकासे उस पार ले जाते समयके प्रसंगमें केवटकी महिमा गाते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥

नित्य-निरन्तर प्रभुके चरणोंका दर्शन और सेवन करके पल-पलमें किस प्रकार आनन्दित होना चाहिये, इसका आदर्श श्रीसीताजी हैं। वनगमनके समय आप भगवान्से कहती हैं—

छिनु छिनु प्रभु पद कमल बिलोकी। रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी॥
मोहि मग चलत न होइहि हारी। छिनु छिनु चरन सरोज निहारी॥
पाय पखारि बैठि तरु छाहीं। करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं॥
सम महि तृन तरुपल्लव डासी। पाय पलोटिहि सब निसि दासी॥

भगवान् श्रीरामके चरणचिह्न, चरणरज और चरणपादुकाके दर्शन तथा सेवनसे भरतजीको कितना आनन्द प्राप्त होता है और उनकी कैसी प्रेमतन्मय दशा हो जाती है। भगवान् शिवके शब्दोंमें सुनिये—

स तत्र वज्रांकुशवारिजांचित-
ध्वजादिचिह्नानि पदानि सर्वतः।
ददर्श रामस्य भुवोऽतिमंगला-
न्यचेष्टयत्पादरजःसु सानुजः॥
अहो सुधन्योऽहममूनि राम-
पादारविन्दांकितभूतलानि।
पश्यामि यत्पादरजो विमृग्यं
ब्रह्मादिदेवैः श्रुतिभिश्च नित्यम्॥

(अध्यात्मरामायण २। ९। २-३)

'वहाँ उन्होंने सब ओर श्रीरामचन्द्रके वज्र, अंकुश, कमल और ध्वजा आदिके चिह्नोंसे सुशोभित तथा पृथ्वीके लिये अति मंगलमय चरणचिह्न देखे, उन्हें देखकर भाई शत्रुघ्नके साथ वे उस चरणरजमें लोटने लगे और मन-ही-मन कहने लगे—'अहो! मैं परम धन्य हूँ जो आज भगवान् श्रीरामजीके उन चरणारविन्दोंके चिह्नोंसे विभूषित भूमिको देख रहा हूँ, जिनकी चरणरजको ब्रह्मादि देवता और श्रुतियाँ भी सदा खोजती रहती हैं।'

गोसाईं श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं।
रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥
नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राजकाज बहु भाँति॥

अहल्या भगवान्‌के चरणरजको पाकर कृतार्थ हो जाती है और कहती है—

अहो कृतार्थास्मि जगन्निवास ते
पादाब्जसंलग्नरजःकणादहम्।
स्पृशामि यत्पद्मजशंकरादिभि-
र्विमृग्यते रन्धितमानसैः सदा॥

(अ० रा० १। ५। ४३)

'हे जगन्निवास! आपके चरणकमलोंमें लगे हुए रजःकणोंका स्पर्श पाकर आज मैं कृतार्थ हो गयी। अहो! आपके जिन चरणारविन्दोंका ब्रह्मा, शंकर आदि सदा चित्त लगाकर अनुसन्धान किया करते हैं, आज मैं उन्हींका स्पर्श कर रही हूँ।'

भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेनेसे मनुष्यके सब दोषोंका नाश हो जाता है, उसकी सारी विपत्तियाँ टल जाती हैं और गोपदके समान संसार-सागरसे तर जाता है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीतलोकः॥

(३। ९। ६)

'हे प्रभो? जबतक लोग तुम्हारे अभय चरणकमलोंका सच्चे हृदयसे आश्रय नहीं लेते तभीतक धन, घर, मित्र आदिके निमित्तसे भय, शोक, स्पृहा, पराजय एवं महान् लोभ—ये सब होते हैं और तभीतक सम्पूर्ण दुःखोंका मूल 'यह मेरा है' ऐसी झूठी धारणा रहती है। अर्थात् भगवान्‌की चरण-शरणमें आनेपर यह सब नष्ट हो जाते हैं।'

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं
महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं
पदं पदं यद्विपदां न तेषाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ५८)

'जिन्होंने संतोंके आश्रयणीय, पवित्र यशवाले भगवान्‌के पदपल्लवरूपी जहाजका आश्रय लिया है, उनके लिये संसारसागर, बछड़ेका पैर टिके इतना-सा हो जाता है, उन्हें पद-पदमें परम पद प्राप्त है, इसलिये कभी भी उन्हें विपत्तियोंके दर्शन नहीं होते।'

त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि
समाधिनाऽऽवेशितचेतसैके।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन
कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम्॥

(श्रीमद्भा० १०। २। ३०)

'हे कमलनयन! कई संतलोग सम्पूर्ण सत्त्वके धाम तुममें समाधिके द्वारा अपना चित्त तल्लीन करके महात्माओंके द्वारा अनुभूत तुम्हारे चरणकमलोंका जहाज बनाकर संसार-सागरको गोवत्सपदके समान पार कर जाते हैं।'

भगवान्‌की चरणरजके शरण हुए प्रेमी भक्त तो स्वर्गादिकी तो बात ही क्या, मोक्षतकका तिरस्कार कर

चरणरजके सेवनमें ही संलग्न रहना चाहते हैं। नागपत्नियाँ कहती हैं—

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजः प्रपन्नाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १६। ३७)

'आपकी चरणधूलिकी शरण ग्रहण करनेवाले भक्तजन न स्वर्ग चाहते हैं, न चक्रवर्तिता, न ब्रह्माका पद, न सारी पृथ्वीका स्वामित्व और न योगसिद्धियाँ ही; अधिक क्या, वे मोक्षपदकी भी वाञ्छा नहीं करते।'

भगवान्की केवल पाद-सेवन-भक्तिसे ही भगवान्के अनन्य प्रेमको प्राप्त करनेवाले अनेकों भक्तोंका शास्त्रोंमें वर्णन आता है। अतएव भगवान्के पवित्र चरणोंमें श्रद्धापूर्वक मन लगाकर उनका नित्य सेवन करना चाहिये।

अर्चन

श्रीविष्णोरर्चनं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि।
ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम्॥

(विष्णुरहस्य)

'जो लोग इस संसारमें श्रीभगवान्की अर्चा-पूजा करते हैं वे श्रीभगवान्के अविनाशी आनन्दस्वरूप परमपदको प्राप्त होते हैं।'

भगवान्के भक्तोंसे सुने हुए, शास्त्रोंमें पढ़े हुए, धातु आदिसे बनी मूर्ति या चित्रपटके रूपमें देखे हुए अपने मनको रुचनेवाले किसी भी भगवान्के स्वरूपका बाह्य सामग्रियोंसे, भगवान्के किसी भी अपनी अभिलषित स्वरूपकी मानसिक मूर्ति बनाकर मानसिक सामग्रियोंसे अथवा सम्पूर्ण भूतोंमें परमात्माको स्थित समझकर सबका आदर-सत्कार करते हुए यथायोग्य नानाविध उपचारोंसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनका सेवन-पूजन करना और उनके तत्त्व, रहस्य तथा प्रभावको समझ-समझकर प्रेममें मुग्ध होना अर्चन-भक्ति है।

पत्र, पुष्प, चन्दन आदि सात्त्विक, पवित्र और न्यायोपार्जित द्रव्योंसे भगवान्की प्रतिमाका श्रद्धापूर्वक पूजन करना, भगवान्की प्रीतिके लिये शास्त्रोक्त यज्ञादि करना, सबको भगवान्का स्वरूप समझकर अपने वर्णाश्रमके अनुसार उनकी यथायोग्य सेवा करना तथा सत्कार, मान, पूजा आदिसे सन्तुष्ट करना और दुःखी, अनाथ, अपंग, पीड़ित प्राणियोंमें—भूखोंकी अन्नसे, प्यासोंकी जलसे, वस्त्रहीनोंकी वस्त्रादिसे, रोगियोंकी औषधादिसे, अनाथोंकी आश्रयदानसे यथावश्यक यथाशक्ति श्रद्धा और सत्कारपूर्वक सबको भगवत्स्वरूप समझकर भगवत्प्राप्तिके लिये सेवा करना आदि सभी भगवान्की बाह्य पूजाके प्रकार हैं।

शास्त्रोंमें वर्णन किये हुए, अपने चित्तको अनायास ही आकर्षित करनेवाले भगवान्के किसी भी अलौकिक रूप-लावण्ययुक्त, अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यमय परम तेजोमण्डित स्वरूपका प्रत्येक अवयव, वस्त्राभूषण, आयुधादिसे युक्त और हस्तपादादिके मंगलचिह्नोंसहित मनके द्वारा चिन्तन करके आह्लादपूर्वक मनमें उसका आवाहन, स्थापन और नानाविध मानसिक सामग्रियोंके द्वारा अत्यन्त श्रद्धा और प्रेमके साथ पूजन करना मानस-पूजाका प्रकार है।

भगवान्में अनन्य प्रेम होकर सबको उसकी प्राप्ति हो जाय, इस उद्देश्यसे परम श्रद्धापूर्वक स्वयं आचरण करना या करवाना इसका प्रयोजन है।

अर्चन-भक्तिका स्वरूप और तत्त्व जाननेके लिये भगवान्के परम प्रेमी भक्तोंका संग और सेवन करना चाहिये।

उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्की पूजा करनेसे मनुष्य जो कुछ चाहता है, वही उसे मिल जाता है और सहज ही उसे भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम्।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्॥

(१०। ८१। १९)

'श्रीभगवान्के चरणोंका अर्चन-पूजन करना जीवोंके स्वर्ग और मोक्षका एवं मर्त्यलोक और पाताललोकमें रहनेवाली समस्त सम्पत्तियोंका और सम्पूर्ण सिद्धियोंका भी मूल है।'

अपने-अपने कर्मोंके द्वारा भगवान्की पूजासे भगवत्प्राप्ति होती है, इस बातकी घोषणा स्वयं भगवान्ने गीतामें की है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

इतना ही नहीं, परम श्रद्धा और प्रेमके साथ भगवान्की पूजा की जाय तो वे स्वयं अपने दिव्य मंगल-विग्रह स्वरूपमें प्रकट होकर भक्तके अर्पण किये हुए पदार्थोंको खाते हैं। भगवान् स्वयं कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(९। २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये पत्र, पुष्प, फल, जल आदि प्रेमसे अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुण रूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

राजा पृथु, अम्बरीष आदि बहुतोंने विधिपूर्वक नाना उपचारोंसे और मन, इन्द्रियोंसे भगवान्‌की पूजा की और वे अनायास ही भगवान्‌को प्राप्त हो गये। इनकी तो बात ही क्या, नाना उपचारोंके बिना भी भक्तिपूर्वक पूजा करनेवाले सुदामाने केवल चावलोंकी कनियोंसे, गजेन्द्रने एक पुष्पसे, द्रौपदीने शाकपत्रसे भगवान्‌को पूजकर परम सिद्धि प्राप्त की। शबरी-जैसी हीन जातिकी स्त्री भी केवल बेरोंसे ही भगवान्‌को सन्तुष्ट कर परमपदको प्राप्त हो गयी।

अतएव भगवान्‌के प्रेममें विह्वल होकर श्रद्धापूर्वक अपनी-अपनी रुचि और भावनाके अनुसार भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये।

वन्दन

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिंचिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥

(श्रीमद्भा० ११। ५। ३३)

'हे पुरुषोत्तम! हे प्रभो! जो सर्वदा ध्यान करनेयोग्य हैं, तिरस्कारको नष्ट करनेवाले हैं, समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले हैं, जो तीर्थोंके आधार हैं, जिन्हें शिव और ब्रह्मा सिरसे नमस्कार करते हैं और जो शरणागतोंकी रक्षा करनेमें प्रवीण हैं, जो सेवकोंकी विपत्तिके नाशक हैं, नमस्कार करनेवालोंके रक्षक एवं संसार-सागरके जहाज हैं, तुम्हारे उन चरण-कमलोंकी मैं वन्दना करता हूँ।'

भगवान्‌के शास्त्रवर्णित स्वरूप, भगवान्‌के नाम, भगवान्‌की धातु आदिकी मूर्ति, चित्र अथवा मानसिक मूर्तिको शरीर अथवा मनसे श्रद्धासहित साष्टांग प्रणाम करना या समस्त चराचर भूतोंको परमात्माका स्वरूप समझकर श्रद्धापूर्वक शरीर या मनसे प्रणाम करना और ऐसा करते हुए भगवत्प्रेममें मुग्ध होना वन्दन-भक्ति है।

भगवान्‌के मन्दिरोंमें जाकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भगवान्‌की मूर्तिको साष्टांग प्रणाम करना, अपने-अपने घरोंमें भगवान्‌की प्रतिमा या चित्रपटको, भगवान्‌के नामको, भगवान्‌के चरण और चरणपादुकाओंको, भगवान्‌के तत्त्व, रहस्य, प्रेम, प्रभाव और भगवान्‌की मधुर लीलाओंका जिनमें वर्णन हो, ऐसे सत्-शास्त्रोंको और सम्पूर्ण चराचर जीवोंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर या उनके हृदयमें भगवान्‌को स्थित समझकर नियमपूर्वक श्रद्धाभक्तिसहित गद्गदभावसे प्रणाम करना वन्दन-भक्तिके प्रकार हैं। श्रीमद्भागवतमें योगीश्वर कवि कहते हैं—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(११। २। ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, दिशाएँ और वृक्ष-लता आदि एवं नदियाँ, समुद्र और सम्पूर्ण भूतप्राणी भगवान्‌के शरीर हैं; अतः भगवान्‌का अनन्यभक्त यावन्मात्र जगत्‌को भगवद्भावसे प्रणाम करे।'

भगवान्‌को सर्वत्र और सब ओर समझकर उन्हें किस प्रकार प्रणाम करना चाहिये, इसके लिये अर्जुनका उदाहरण बड़ा सुन्दर है। अर्जुन भगवान्‌को नमस्कार करते हुए कहते हैं—

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥

(गीता ११। ४०)

'हे अनन्त सामर्थ्यवाले! आपके लिये आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार, हे सर्वात्मन्! आपके लिये सब ओरसे ही नमस्कार हो; क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप सब संसारको व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं।'

श्रीतुलसीदासजी महाराज समस्त जगत्‌को 'सीय-राममय' देखकर प्रणाम करते हैं—

सीय राममय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

भगवान्‌में अनन्य प्रेम होकर भगवान्‌को प्राप्त करना इस भक्तिका उद्देश्य है। भगवान्‌के प्यारे प्रेमी भक्तोंका संग और सेवन करके उनके द्वारा भगवान्‌की वन्दन-भक्तिका रहस्य, प्रभाव और तत्त्व समझनेसे इस वन्दन-भक्तिकी प्राप्ति होती है।

भगवान्‌के रहस्यको समझकर उन्हें प्रणाम करनेवाला सब दुःखोंसे छूट जाता है। मनुस्मृतिके वचन हैं—

न वासुदेवात्परमस्ति मंगलं
न वासुदेवात्परमस्ति पावनम्।
न वासुदेवात्परमस्ति दैवतं
तं वासुदेवं प्रणमन्न सीदति॥ १०१॥

'भगवान् वासुदेवसे अधिक और कुछ मंगलमय नहीं

है, वासुदेवसे अधिक और कुछ पावन नहीं है एवं वासुदेवसे श्रेष्ठ और कोई आराध्य देवता नहीं है, उन वासुदेवको नमस्कार करनेवाला कभी दुःखी नहीं होता।'

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥

(भीष्मस्तवराज ९१)

'भगवान् श्रीकृष्णको किया हुआ एक भी प्रणाम दस अश्वमेधयज्ञोंके अवभृथस्नानके बराबर है, (इतना ही नहीं, विशेषता यह है कि) दस अश्वमेध करनेवालेको तो फिर जन्म लेना पड़ता है, किन्तु भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवालेको फिर जन्म नहीं लेना पड़ता है।'

श्रद्धापूर्वक भगवान्‌को प्रणाम करनेवालेकी तो बात ही क्या है, किसी भी अवस्थामें भगवान्‌को प्रणाम करनेसे भी सब पापोंका नाश हो जाता है—

पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन्।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्॥

(श्रीमद्भा० १२। १२। ४६)

'पतित, स्खलित, आर्त, छींकता हुआ अथवा किसी प्रकारसे परवश हुआ पुरुष भी यदि ऊँचे स्वरसे '**हरये नमः**' इस प्रकार बोल उठता है तो वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

भगवान्‌के अनेकों भक्त इस प्रकार केवल नमस्कार करके ही परमपदको प्राप्त हो गये। देखिये, अक्रूरजी किस प्रकार मुग्ध होकर नमस्कार करते हैं—

रथात्तूर्णमवप्लुत्य सोऽक्रूरः स्नेहविह्वलः।
पपात चरणोपान्ते दण्डवद् रामकृष्णयोः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३८। ३४)

'अक्रूर प्रेमविह्वल होकर बड़ी शीघ्रताके साथ रथसे कूदकर भगवान् बलराम और श्रीकृष्णके चरणोंके पास दण्डवत् गिर पड़े।'

पितामह भीष्म गद्गद होकर भगवान्‌को नमस्कार करते हैं और भगवान् तत्काल ही उन्हें अपना दिव्य ज्ञान दे देते हैं। वैशम्पायन मुनि कहते हैं—

एतावदुक्त्वा वचनं भीष्मस्तद्गतमानसः।
नम इत्येव कृष्णाय प्रणाममकरोत्तदा॥
अभिगम्य तु योगेन भक्तिं भीष्मस्य माधवः।
त्रैलोक्यदर्शनं ज्ञानं दिव्यं दत्त्वा ययौ हरिः॥

(भीष्मस्तवराज १००-१०१)

'जिनका मन भगवान्‌में तन्मय हो चुका है ऐसे भीष्मने अनेक प्रकारसे भगवान्‌की स्तुति करनेके बाद '**नमः कृष्णाय**' इतना कहकर भगवान्‌को प्रणाम किया, तब भगवान् श्रीकृष्ण योगशक्तिद्वारा भीष्मकी भक्तिको समझकर उसे त्रिलोकीको (भगवत्स्वरूपसे) प्रत्यक्ष करनेवाला दिव्य ज्ञान देकर चले गये।'

अतएव श्रीभगवान्‌के प्रेममें विभोर होकर उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌की वन्दना-भक्ति करनेकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

दास्य

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

भगवान्‌के गुण, तत्त्व, रहस्य और प्रभावको जानकर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करना और उनकी आज्ञाका पालन करना दास्य-भक्ति है।

मन्दिरोंमें भगवान्‌के विग्रहोंकी सेवा करना, मन्दिर-मार्जनादि करना, मनसे प्रभुके स्वरूपका ध्यान करके उनकी सेवा करना, सम्पूर्ण चराचरको प्रभुका स्वरूप समझकर सबकी यथाशक्ति, यथायोग्य सेवा करना, गीता आदि शास्त्रोंको भगवान्‌की आज्ञा मानकर उसके अनुसार आचरण करना और जो कर्म भगवान्‌की रुचि, प्रसन्नता और इच्छाके अनुकूल हों उन्हीं कर्मोंको करना, ये सभी दास्य-भक्तिके प्रकार हैं।

भगवान्‌के रहस्यको जाननेवाले प्रेमी भक्तोंके संग और सेवनसे दास्य-भक्तिकी प्राप्ति होती है।

भगवान्‌में अनन्य प्रेमकी प्राप्ति और नित्य-निरन्तर सेवाके लिये भगवान्‌के समीप रहनेके उद्देश्यसे दास्य-भक्ति की जाती है।

केवल इस दास्य-भक्तिसे भी मनुष्यको सहज ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

गोस्वामी तुलसीदासजी तो कहते हैं कि दास्यभावके बिना भवसागरसे उद्धार ही नहीं हो सकता—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥

श्रीलक्ष्मण, हनुमान्, अंगद आदि इस दास्य-भक्तिके आदर्श उदाहरण हैं। भगवान् श्रीरामके वन जाते समय लक्ष्मणजीकी दशाका वर्णन करते हुए गोसाईंजी कहते हैं—

उतरु न आवत प्रेम बस गहे चरन अकुलाइ।
नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह तजहु त काह बसाइ॥

माता सुमित्राने लक्ष्मणको रामके साथ जाकर उनकी

सेवा करनेका कैसा सुन्दर उपदेश दिया है—

रागु रोषु इरिषा मदु मोहू।
जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई।
मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥
जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू।
सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥

श्रीहनुमान्‌जीका तो सारा जीवन ही दास्य-भक्तिसे ओतप्रोत है। प्रथम ही ऋष्यमूक पर्वतपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको पहचानकर हनुमान्‌जी कहते हैं—

एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान॥
जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें।
सेवक प्रभुहि परै जनि भोरें॥
नाथ जीव तव मायाँ मोहा।
सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा॥
सेवक सुत पति मातु भरोसें।
रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥

भगवान् भी अपनी सेवक-वत्सलताका परिचय देते हुए हनुमान्‌को उठाकर हृदयसे लगा लेते हैं और प्रेमाश्रुओंसे उनके अंगोंका सिंचन करते हुए कहते हैं—

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना।
तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥
समदरसी मोहि कह सब कोऊ।
सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥

दास्य-भक्तिका भक्त अपने स्वामीकी कृपाका कितना विश्वासी होता है, इसके सम्बन्धमें हनुमान्‌जीने विभीषणसे जो कुछ कहा है वह स्मरण रखनेयोग्य है—

सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती।
करहिं सदा सेवक पर प्रीती॥
कहहु कवन मैं परम कुलीना।
कपि चंचल सबहीं बिधि हीना॥
अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥

अंगदजीको जब भगवान् श्रीराम अयोध्यासे लौट जानेको कहते हैं तब अंगदजी भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं—

मोरें तुम्ह प्रभु गुर पितु माता।
जाउँ कहाँ तजि पद जलजाता॥
तुम्हहि बिचारि कहहु नरनाहा।
प्रभु तजि भवन काज मम काहा॥
बालक ग्यान बुद्धि बल हीना।
राखहु सरन नाथ जन दीना॥
नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ।
पद पंकज बिलोकि भव तरिहउँ॥

ऐसे अनेकों उदाहरण हैं, अतएव सबको चाहिये कि भगवान्‌के प्रेम-विह्वल होकर तन-मन-धन सब कुछ अर्पण करके भगवान्‌की दास्य-भक्ति करें।

सख्य

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ३२)

'उन नन्दगोपके व्रजमें रहनेवाले लोगोंका भाग्य धन्य है! धन्य है! जिनका मित्र परमानन्द परिपूर्ण सनातन ब्रह्म है।'

भगवान्‌के प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और महिमाको समझकर परम विश्वासपूर्वक मित्रभावसे उनकी रुचिके अनुसार बन जाना, उनमें अनन्य प्रेम करना और उनके गुण, रूप और लीलापर मुग्ध होकर नित्य-निरन्तर प्रसन्न रहना सख्य-भक्ति है।

अपने आवश्यक-से-आवश्यक कामको छोड़कर प्यारे प्रेमीके कामको आदरपूर्वक करना, प्यारे प्रेमीके कामके सामने अपने कामको तुच्छ समझकर उससे लापरवाह हो जाना, प्यारे प्रेमीके लिये महान् परिश्रम करनेपर भी उसे अल्प ही समझना, प्यारा जिस बातसे प्रसन्न होता हो उसी बातको लक्ष्यमें रखकर हर समय उसीके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करना, वह जो कुछ भी करे उसीमें सदा सन्तुष्ट रहना, अपनी कोई भी वस्तु किसी भी प्रकारसे प्रेमीके काम आ जाय तो परम प्रसन्न होना, अपने शरीरपर और अपनी वस्तुपर जैसी अपनी आत्मीयता और अधिकार है वैसा ही अपने प्यारे प्रेमीका समझे और इसी प्रकार उसकी वस्तु और शरीरपर अपना अधिकार और आत्मीयता माने, अपने धन, जीवन और देहादि प्यारे प्रेमीके काममें लग सकें तो उनको सफल समझना, उसके साथ रहनेकी निरन्तर इच्छा रखना, उसके दर्शन, भाषण, चिन्तन और स्पर्शसे प्रेममें निमग्न हो जाना, उसके नाम, रूप, गुण और चरित्रोंको सुनकर, कहकर, पढ़कर और यादकर अत्यन्त प्रसन्न होना, किसीके द्वारा मित्रका सन्देश पाकर परम प्रसन्न होना और उसके वियोगमें व्याकुल होना तथा प्रतिक्षण उससे मिलनेकी आशा और प्रतीक्षा करते रहना आदि सखाभावके प्रकार हैं।

प्यारे प्रेमीको परम सुख हो, उसमें अपना सख्य-प्रेम पूर्णरूपसे बढ़ जाय और उससे अपना कभी वियोग न हो इसी उद्देश्यसे सख्य-भक्ति की जाती है।

सख्य-भक्तिकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌के प्रेमी सखाओंका संग, सेवन, उनके जीवनचरित्रोंका अध्ययन और उनके तथा भगवान्‌के गुण, लीला और प्रभावका उनके प्रेमी भक्तोंद्वारा श्रवण करना चाहिये।

इस प्रकारकी केवल सख्य-भक्तिसे भी मनुष्यके दुःख और दोषोंका अत्यन्त अभाव होकर भगवान्‌की प्राप्ति और भगवान्‌में परम प्रेम हो जाता है। यहाँतक कि भगवान् उस प्रेमी भक्तके अधीन हो जाते हैं और फिर उसके आनन्द और शान्तिका पार नहीं रहता।

मित्रका मित्रके प्रति क्या कर्तव्य होना चाहिये, इस विषयपर भगवान् श्रीराम सखा सुग्रीवसे कहते हैं—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी।
तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना।
मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
जिन्ह कें असि मति सहज न आई।
ते सठ कत हठि करत मिताई॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा।
गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई।
बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा।
श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

इस सख्य-भक्तिके उदाहरण श्रीविभीषण, सुग्रीव, उद्धव, अर्जुन, सुदामा, श्रीदामादि व्रजसखा आदि हैं।

लंकाविजयके बाद विभीषण चाहते हैं—भगवान् एक बार मेरे घर पधारकर मुझे कृतार्थ करें और भगवान्‌से इसके लिये प्रार्थना करते हैं। सखाकी बात सुनकर भगवान् प्रेमविभोर हो जाते हैं, उनके नेत्रोंमें प्रेमाश्रु आ जाते हैं—और कहते हैं—भाई! तुम्हारा सब कुछ मेरा है, परन्तु इस समय भरतकी दशाका स्मरण करके मैं ठहर नहीं सकता।

तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥

सुग्रीवके साथ सख्य स्थापित करके भगवान् अपनी प्राणप्रिया सीताको भूल जाते हैं और पहले सुग्रीवकी चिन्तामें लग जाते हैं।

तिय-बिरही सुग्रीव सखा लखि, प्रानप्रिया बिसराई।

और सुग्रीवसे आप कहते हैं—

सखा सोच त्यागहु बल मोरें।
सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

उद्धवके साथ भगवान् इतना प्रेम करते थे कि एक बार उनसे बोले—'भैया उद्धव! तुम-जैसे प्रेमी मुझको जितने प्यारे हैं, उतने प्यारे मुझे ब्रह्मा, शंकर, संकर्षण, लक्ष्मी और अपनी आत्मा भी नहीं है।'

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १५)

उद्धवजीका भगवान् श्रीकृष्णसे बहुत गहरा सख्य-प्रेम था। इसीसे भगवान् उनके सामने मनकी कोई बात छिपाते नहीं थे। अपनी परम प्रेमिका गोपियोंको सन्देश भेजनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवको ही सर्वोत्तम पात्र चुनते हैं। उस समयके वर्णनमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः॥
तमाह भगवान् प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित्।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्तिहरो हरिः॥
गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय॥

(श्रीमद्भा० १०। ४६। १—३)

'यदुवंशियोंके श्रेष्ठ मन्त्री, बृहस्पतिके साक्षात् शिष्य एवं अत्यन्त बुद्धिमान् उद्धव भगवान् श्रीकृष्णके परम प्रिय सखा थे।' शरणागतका दुःख दूर करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने एक दिन उस अनन्य एवं अत्यन्त प्रिय भक्त उद्धवका हाथसे हाथ पकड़कर कहा—'प्यारे उद्धव! तुम व्रजमें जाकर मेरी माता एवं पिताको प्रसन्न करो तथा मेरे संदेशोंके द्वारा गोपियोंको वियोगके रोगसे मुक्त करो।'

अर्जुनके सख्यभावकी तो भगवान् स्वयं घोषणा करते हैं—

'भक्तोऽसि मे सखा चेति'—तुम मेरे भक्त और सखा हो (गीता ४। ३); **'इष्टोऽसि मे दृढमिति'**—तुम मेरे परम प्यारे हो (गीता १८। ६४)।

अश्वत्थामाके द्वारा उत्तराके गर्भस्थ बालक परीक्षित्‌के मारे जानेपर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—यदि यह सत्य है कि मैंने अपनी जानमें अर्जुनसे कभी भी मित्रतामें कोई बाधा नहीं आने दी है तो यह मरा हुआ बालक जी उठे।

यथाहं नाभिजानामि विजयेन कदाचन।
विरोधं तेन सत्येन मृतो जीवत्वयं शिशुः॥

(महा०, अश्वमेध० ६९। २१)

मित्र सुदामाको देखकर भगवान् कैसे प्रेमविह्वल हो

जाते हैं और किस प्रकार सुदामाका आदर करते हैं। इस प्रसंगमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरंगसंगातिनिर्वृतः।
प्रीतो व्यमुंचदब्बिन्दून् नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः॥
अथोपवेश्य पर्यंके स्वयं सख्युः समर्हणम्।
उपहृत्यावनिज्यास्य पादौ पादावनेजनीः॥
अग्रहीच्छिरसा राजन् भगवाँल्लोकपावनः।
व्यलिम्पद् दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुंकुमैः॥

(श्रीमद्भा० १०।८०।१९—२१)

'कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रिय सखा ब्रह्मर्षि सुदामाके अंगस्पर्शसे अत्यन्त हर्षित हुए एवं उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहने लगे। इसके बाद उन्हें शय्यापर बैठाकर स्वयं भगवान्ने अपने हाथों उनके चरण धोये और उनकी पूजा की। लोकपावन भगवान्ने उनका चरणोदक अपने सिरपर रखा और उनके शरीरपर दिव्य गन्ध, चन्दन, अगुरु और कुंकुम आदि लगाया।'

इन भगवान्के परम प्यारे सखाओंकी तो बात ही क्या है, भीलोंका राजा गुह भी भगवान्से सख्य करके संसार-सागरसे तर गया।

अतएव भगवान्को ही अपना एकमात्र परम प्रियतम समझकर, अपना सर्वस्व उनको मानकर परम प्रेमभावसे सख्य-भक्ति करनी चाहिये।

आत्मनिवेदन

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम्॥

(वि० स० १३०)

'जिस मनुष्यने भगवान् वासुदेवका आश्रय लिया है और जो उन्हींके परायण है, उसका अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो जाता है एवं वह सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

परमात्माके तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और महिमाको समझकर, ममता और अहंकाररहित होकर अपने तन-मन-धन-जनसहित अपने-आपको और सम्पूर्ण कर्मोंको श्रद्धा और परम प्रेमपूर्वक परमात्माको समर्पण कर देना आत्म-निवेदन भक्ति है।

लाभ-हानि, जय-पराजय, यश-अपयश, मान-अपमान, सुख-दुःख आदिकी प्राप्तिमें, उन्हें भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार मानकर प्रसन्न रहना; तन-धन, स्त्री-पुत्र आदि सभीमें ममता और अहंकारका अभाव हो जाना; भगवान् यन्त्री हैं और मैं उनके हाथका यन्त्र हूँ ऐसा निश्चय करके कठपुतलीकी भाँति भगवान्के इच्छानुकूल ही सब कुछ करना; भगवान्के रहस्य और प्रभावको जाननेके लिये उनके नाम, रूप, गुण, लीलाके श्रवण, मनन, कथन, अध्ययन और चिन्तनादिमें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तन-मन आदिको लगा देना; इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभीपर एकमात्र भगवान्का ही अधिकार समझना; भगवान्की ही वस्तु भगवान्के अर्पण की गयी है ऐसा भाव होना; जिस किसी भी प्रकारसे भगवान्की सेवा बनती रहे इसीमें आनन्द मानना; सब कुछ प्रभुके अर्पण करके स्वाद, शौक, विलास, आराम, भोग आदिकी इच्छाका सर्वथा अभाव हो जाना; सर्वत्र-सर्वदा और सर्वथा एक भगवान्का ही अनुभव करना, भगवान्की इच्छाके अतिरिक्त स्वतन्त्र कोई इच्छा न करना; भगवान्के भरोसेपर सदा निर्भय, निश्चिन्त और प्रसन्न रहना; और भगवान्की भक्तिको छोड़कर मुक्तिकी भी इच्छा न होना आदि सभी इस आत्मनिवेदन भक्तिके प्रकार हैं।

भगवान्में अनन्य परम प्रेम और भगवान्की प्राप्तिके लिये यह आत्मनिवेदन-भक्ति की जाती है।

भगवान्के शरणागत प्रेमी भक्तोंका संग-सेवन करनेसे और उनके द्वारा भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, तत्त्व, महिमा आदिका श्रवण और मनन करनेसे यह भक्ति प्राप्त होती है।

भगवान्ने स्वयं इस आत्मनिवेदनरूपा शरणभक्तिका महत्त्व प्रकट करते हुए इसके परम फलकी गीतामें बड़ी प्रशंसा की है। आप कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(७।१४)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(९।३२)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(९।३४)

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(१८।६२)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८।६६)

'क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, यानी मेरी शरण आते हैं वे इस मायाको उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य और शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

'केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्यप्रेमसे नित्य-निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही श्रद्धाप्रेमसहित निष्कामभावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वशक्तिमान्, विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे सम्पन्न सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक, भक्तिसहित साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर, इस प्रकार मेरे शरण हुआ तू आत्माको मेरेमें एकीभाव करके मेरेको ही प्राप्त होवेगा।'

'हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा।'

'सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्याग कर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

इस प्रकार जो पुरुष भगवान्के प्रति आत्मनिवेदन कर देता है उसके सम्पूर्ण अवगुण, पाप और दुःखोंका अत्यन्त नाश हो जाता है और उसमें श्रवण-कीर्तनादि सभी भक्तियोंका विकास हो जाता है। उसके आनन्द और शान्तिका पार नहीं रहता। भगवान् उससे फिर कभी अलग नहीं हो सकते। भगवान्का सर्वस्व उसका हो जाता है। वह परम पवित्र हो जाता है; उसके दर्शन, भाषण और चिन्तनसे भी पापात्मा लोग पवित्र हो जाते हैं। वह तीर्थोंके लिये तीर्थरूप बन जाता है। महाराज परीक्षित् श्रीशुकदेवजीसे कहते हैं—

सांनिध्यात्ते महायोगिन् पातकानि महान्त्यपि।
सद्यो नश्यन्ति वै पुंसां विष्णोरिव सुरेतराः॥

(श्रीमद्भा० १। १९। ३४)

'जैसे भगवान् विष्णुके सान्निध्यमात्रसे तुरंत दैत्योंका नाश हो जाता है वैसे ही हे महायोगिन् शुकदेव! आपके सान्निध्यमात्रसे बड़े-से-बड़े पापसमूह नष्ट हो जाते हैं।'

धर्मराज युधिष्ठिर श्रीविदुरजीसे कहते हैं—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥

(श्रीमद्भा० १। १३। १०)

'भगवन्! आप-जैसे भगवद्भक्त स्वयं तीर्थस्वरूप हैं, वे अपने हृदयमें स्थित भगवान्के द्वारा तीर्थोंको तीर्थ बनाते हैं।' प्रचेतागण भगवान्की स्तुति करते हुए कहते हैं—

तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया।
भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः॥

'जो तुम्हारे भक्त तीर्थोंको पावन बनानेके लिये भूतलपर विचरते रहते हैं, भला, संसारसे भयभीत हुए किस मनुष्यको उनका समागम न रुचेगा।'

श्रीशुकदेवजी महाराज भगवान्की स्तुति करते हुए कहते हैं—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकंका यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

(श्रीमद्भा० २। ४। १८)

'जिनके आश्रित भक्तोंका आश्रय लेकर किरात, हूण, आन्ध्र, भील, कसाई, आभीर, कंक, यवन, खस आदि तथा अन्य बड़े-से-बड़े पापी भी शुद्ध हो जाते हैं उन भगवान्के चरणोंमें नमस्कार है।'

भगवान्के प्रेमका मूर्तिमान् विग्रह बने हुए ऐसे भक्तको सारा संसार परम प्रेममय और परम आनन्दमय प्रतीत होने लगता है। वह जिस मार्गसे जाता है उसी मार्गमें श्रद्धा, प्रेम, भक्ति, आनन्द, समता और शान्तिका प्रवाह बहने लगता है। ऐसे भक्तको अपने ऊपर धारण कर धरणी धन्य और सनाथ होती है, पितरगण प्रमुदित हो जाते हैं और देवता नाचने लगते हैं।

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति॥

(नारदभक्तिसूत्र ७१)

श्रीगोपियाँ, महाराजा बलि आदि इस आत्मनिवेदन भक्तिके परम भक्त हुए हैं।

इसलिये मनुष्यमात्रको मन, वाणी, शरीरसे, सब प्रकारसे श्रीभगवान्के शरण होनेके लिये कटिबद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये।

उपसंहार

भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिय कर्म, योग, ज्ञान, सभी मार्ग उत्तम हैं, परन्तु भक्तिकी तो शास्त्रोंमें बड़ी ही प्रशंसा की गयी है। नवधा भक्तिमेंसे जिनमें एक भी भक्ति होती है वह संसारसागरसे अनायास तरकर भगवान्‌को पा जाता है, फिर प्रह्लादकी भाँति जिनमें नवों भक्तियोंका विकास है उनका तो कहना ही क्या है। ऊपर नवों भक्तियोंके वर्णनमें जिन-जिन भक्तोंके नाम उदाहरणमें दिये गये हैं उनमें केवल एक ही भक्तिका विकास था ऐसी बात नहीं है। जिनमें जिस भावकी प्रधानता थी उनका उसीमें नाम लिखा गया है। दुबारा नाम न आनेका भी खयाल रखा गया है। वस्तुतः वे लोग धन्य हैं जो भगवान्‌की भक्तिमें अपना मन लगाते हैं और वह कुल धन्य है जिसमें भगवान्‌के भक्त उत्पन्न होते हैं। भगवान् श्रीशिवजी पार्वतीसे कहते हैं—

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत॥

श्रीमद्भागवतमें श्रवणादि भक्तिकी महिमामें कहा है—

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥

(१।८।३६)

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥

(२।४।१५)

'जो लोग बारंबार तुम्हारे चरित्रोंका श्रवण, गायन, वर्णन एवं स्मरण करते हैं और आनन्दमग्न होते रहते हैं वे ही शीघ्रातिशीघ्र संसारके प्रवाहको शान्त कर देनेवाले आपके चरणकमलोंका दर्शन पाते हैं।'

'जिनका कीर्तन, स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण एवं पूजन लोगोंके समस्त पापोंको तुरंत धो डालता है उन कल्याणमयी कीर्तिवाले भगवान्‌को बारंबार नमस्कार है।'

देवराज इन्द्र कहते हैं—

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः॥

(श्रीमद्भा० ६।१२।२२)

'परम कल्याणके स्वामी भगवान् श्रीकृष्णमें जिनका प्रेम है वे तो अमृतके समुद्रमें क्रीड़ा कर रहे हैं, उन्हें तुच्छ विषयरूप गड्ढेके जलोंसे क्या प्रयोजन है?'

भगवान् स्वयं अपनी तरन-तारिनी भक्तिकी प्रशंसा करते हुए उद्धवजीसे कहते हैं—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥
वागगद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।२०—२२,२४)

'हे उद्धव! मैं जिस प्रकार अनन्य भक्तिसे प्रसन्न होता हूँ उस प्रकार योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तपस्या, त्याग आदिसे प्रसन्न नहीं होता। संतोंका परम प्रिय आत्मारूप मैं एकमात्र श्रद्धा-भक्तिसे ही प्रसन्न होता हूँ। मेरी भक्ति जन्मतः चाण्डालोंको भी पवित्र कर देती है। मेरी भक्तिसे रहित जीवको सत्य और दया आदिसे युक्त धर्म तथा तपस्यायुक्त विद्या भी पूर्णतः पवित्र नहीं कर सकती।'

'जिसकी वाणी मेरे नाम, गुण और लीलाका वर्णन करती-करती गद्गद हो जाती है, जिसका चित्त मेरे रूप, गुण, प्रभाव और लीलाओंको याद करते-करते द्रवित हो जाता है, जो बार-बार रोता रहता है और कभी-कभी हँसने लग जाता है एवं जो लज्जा छोड़कर प्रेममें मग्न हुआ पागलकी भाँति ऊँचे स्वरसे गायन करता है और नाचने लग जाता है ऐसा मेरा भक्त संसारको पवित्र कर देता है।'

भगवान् गीताजीमें अर्जुनसे कहते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

(११।५३-५४)

'जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है—इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ। परन्तु हे परन्तप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश

करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

भक्त श्रीकाकभुशुण्डिजी कहते हैं—

राम भगति चिंतामनि सुंदर। बसइ गरुड़ जाके उर अंतर॥
परम प्रकासरूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती॥
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥
प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई॥
खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाके उर माहीं॥
गरल सुधासम अरि हित होई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥
ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी॥
राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥

अतएव सब लोगोंको उपर्युक्त सब प्रकारसे भगवान्‌की भक्तिका आश्रय ग्रहण करके जीवन और जन्मको सफल करना चाहिये।

अर्थ और प्रभावसहित नाम-जपका महत्त्व

प्रात:-सायं जो हम नित्य-कर्म करते हैं वही हमारे जीवनकी एक मुख्य लाभकी बात है। उसकी ओर हमें अधिक-से-अधिक ध्यान देना चाहिये। प्राय: लोग नित्य-कर्मको बेगारकी तरह करते हैं और उसमें चित्त नहीं लगाते। यही कारण है कि उससे जो लाभ होना चाहिये वह नहीं होता। चौबीस घंटेके भीतर जितना समय इस नित्य-कर्ममें लगता है वही परम उत्तम और परम पुण्यकाल है। दोनों काल रात और दिनकी सन्धिमें जो हम सन्ध्योपासना करते हैं वही ईश्वरोपासना है। प्राणायाम, ध्यान, जप, गीतापाठ, स्तोत्रपाठ, स्तुति आदि सब उपासना ही हैं। यह उपासना ही ईश्वरकी पूजा है।

सन्ध्योपासनादि नित्य-कर्ममें जितना ध्यान देना चाहिये उतना ध्यान हम देते नहीं। हमारे नित्यके जीवनसे उसका घना गहरा सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। प्राय: लोगोंको मन धोखा देता है। शीघ्र कर लेनेकी इच्छा होती है। किसी तरह कर डालें जिसमें भार उतर जाय ऐसा भाव बहुधा हमें सन्ध्योपासना आदिका आनन्द लेने नहीं देता और हम वास्तविक उपासनासे बहुत दूर रहते हैं। यह मनका पाजीपन है। बुरी आदत है। यह आदत प्राय: सभीमें पायी जाती है। इस नित्य-कर्मको यदि आदर और प्रेमके भावसे किया जाय तो बहुत शीघ्र लाभ हो सकता है। उपासनामें प्रेम और आदर ही मुख्य है। प्रेममें मुग्ध होकर जो कुछ भी किया जाता है उसका प्रभाव अमिट होता है, स्थायी होता है और वह बहुत शीघ्र लाभ देनेवाला होता है। आदर और प्रेमके बिना वर्षोंतक की हुई उपासनाका विशेष लाभ नहीं दीखेगा, परन्तु एक दिन, एक वेला ही प्रेम और आदरसे पूर्ण हृदयके साथ जो उपासना होगी उसका परम महान् फल बहुत शीघ्र दिखलायी पड़ेगा और हृदयमें एक अपूर्व आनन्द और शान्ति मिलेगी।

उपासनामें हृदयका पूर्ण योग होना चाहिये। ध्यान, जप, प्राणायाममें सम्पूर्ण मनोयोग रहे—इसपर खूब ध्यान देना चाहिये। नाम-जपके समान सरल और साथ-ही-साथ महान् साधन दूसरा है ही नहीं। जपमें अधिक फल देनेवाला जप गुप्त जप ही है। जप अत्यन्त गुप्त होना चाहिये। कोई जान न जाय। किया हुआ गुप्त जप यदि किसीपर प्रकट कर दिया जाता है तो उसका महत्त्व घट जाता है। किसी प्रकार संकेतसे भी उसे प्रकाशित नहीं करना चाहिये। स्मरण रहे, जप जितना ही गुप्त होगा उतना ही लाभदायक होगा। गुप्त जपका फल अद्भुत होता है। गुप्त पाप और गुप्त पुण्य—दोनोंका ही फल अधिक होता है। गुप्त साधनसे ईश्वरमें प्रेम बढ़ता है और चित्तमें शान्ति और प्रसन्नता होती है।

जप करते समय उसके अर्थका खयाल अवश्य करना चाहिये। अर्थपर जितनी अधिक दृष्टि जायगी जपमें उतना ही अधिक रस आयेगा और उसके द्वारा अधिकाधिक आनन्द उमड़ेगा—उदाहरणार्थ इस मन्त्रके अर्थपर ध्यान दीजिये—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(कलिसन्तरणोपनिषद्)

इस मन्त्रमें हरि, राम और कृष्ण—ये तीन नाम आगे-पीछे सोलह बार आये हैं। इस मन्त्रका जाप करते समय भगवान् राम, कृष्ण और हरिके रूपका स्मरण करना चाहिये। ये नाम साकार-निराकार दोनोंके बोधक हैं। वास्तवमें ये नाम एक प्रभुके हैं इसलिये इसे जाप करते समय जिसका जो इष्टदेव हो वह उसीका ध्यान करे। भगवान् राम, कृष्ण और विष्णु तीनों एक ही हैं। सृष्टिके आदिमें भगवान् विष्णु हुए, त्रेतामें भगवान् राम और द्वापरमें भगवान् कृष्णका आविर्भाव हुआ। यह इनका सगुण साकार दिव्यरूप है। इनका ध्यान करना चाहिये। जप करते समय अपने जो इष्टदेव हों, उनकी मूर्ति मनके सामने स्पष्ट आ जानी चाहिये। दूसरा अर्थ निराकारपरक इस प्रकार है—रामका अर्थ है सर्वत्र रमनेवाला सच्चिदानन्दघन परमात्मा जो कण-कणमें व्याप्त है या योगीगण जिसमें रमते हैं।[1] 'कृष्ण' में 'कृष्' का अर्थ है सत् और 'ण' का अर्थ है 'आनन्द'। जिस आनन्दका कभी अभाव नहीं होता, जो आनन्द नित्य है, अविनाशी है, वही 'कृष्ण' है।[2] 'हरि' का अर्थ है जो सब पापोंको हर लेता है, जिसके उच्चारणसे ही सब पाप भस्म हो जाते हैं वही 'हरि' है। 'हरि' नाम लेते ही सब पाप मिट जाते हैं।[3] जप करते समय इन अर्थोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये। विश्वास रखना चाहिये कि सर्वव्यापी परमात्मा ही इस रूपमें हमारे सामने आये हैं। इससे अद्भुत शान्ति मिलती है अथवा जप करते समय निरन्तर अपने इष्टकी मूर्तिका ध्यान रखना चाहिये। उस समय चित्त ध्यानमें ही डूबा रहे।

किसी प्रकारकी कामना नहीं रखनी चाहिये। प्रह्लादजी कहते हैं कि वरदानकी इच्छासे जो भक्ति करता है वह तो वणिक् है। भगवान्ने जब वर माँगनेके लिये बहुत अधिक आग्रह किया तो प्रह्लादने यही वरदान माँगा कि मेरे मनमें माँगनेकी इच्छा ही न हो। मूर्ति और अर्थका खयाल रखते हुए इस प्रकार निष्कामभावसे जप करना चाहिये। जप निरन्तर हर समय, उठते-बैठते, सोते-जागते करना चाहिये। प्रियके स्मरणसे ही हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। प्रेममें मुग्ध होकर भगवान्के नामका जप और स्वरूपका ध्यान करना चाहिये। प्रेम और श्रद्धासहित निष्कामभाव और गुप्तरूपसे ध्यानसहित जो जप है वह महान् फल देनेवाला होता है।

प्रेम और आदरके साथ नाम-जपमें निम्नलिखित तीन बातें आवश्यक हैं, जिनका वर्णन ऊपर किया गया है।

(१) गुप्त होना चाहिये।

(२) अर्थसहित होना चाहिये।

(३) निष्कामभावसे होना चाहिये।

ध्यानके समय भगवान्की लीला, गुण, रहस्य और प्रभावकी ओर ध्यान जाय तो ध्यानमें एक विचित्र मधुरता मालूम होगी। प्रभु अवतार लेकर जो प्रेमकी लीलाएँ करते हैं वे सभी आनन्दमयी और दिव्य हैं। वह लीला जिससे रोम-रोममें प्रेम छा रहा हो, ध्यानके समय चित्तमें उतर जाय तो फिर उस ध्यानको छोड़नेकी ही इच्छा न होगी, उस लीलामें मन-चित्त-प्राण इतने लीन हो जायँगे कि वहाँसे हटना ही नहीं चाहेंगे। यही ध्यान वास्तविक ध्यान है और उसमें श्रम नहीं करना पड़ता, न वहाँसे हटनेकी ही इच्छा होती है। भगवान्के गुण, प्रभाव और रहस्यके जाननेसे ही असली ध्यान होता है।

भगवान्के गुणोंकी महिमा कैसे गायी जाय। वे सभी गुणोंके समुद्र हैं। प्रभु प्रेममय हैं। प्रेमकी मूर्ति हैं। प्रेम ही उनका स्वभाव है। प्रभु दयामय हैं,दयाकी मूर्ति हैं, दया ही उनका स्वभाव है। उनके एक-एक गुणकी ओर ध्यान जाता है तो ऐसा दीखता है कि मानो वे उस गुणकी मूर्ति ही हैं। सारे गुण प्रभुमें अतिशय हैं। इसी प्रकार उनका

१-रमन्ते योगिनो यस्मिन् नित्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनैतत्परं ब्रह्माभिधीयते॥ (पद्मपुराण)

जिस नित्यानन्दमय बोधस्वरूप परमात्मामें योगीलोग रमण करते हैं, वह 'राम' हैं—इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'राम' पदसे इस 'परब्रह्म' का ही बोध होता है।

२-कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। विष्णुस्तद्भवयोगाच्च कृष्णो भवति शाश्वतः॥

(महा०, उद्योग० ७०।५)

'कृष्' शब्द सत्ताका वाचक है और 'ण' यह अक्षर आनन्दका वाचक है, इन दोनों भावोंसे युक्त होनेसे सनातन भगवान् विष्णु सच्चिदानन्दमय श्रीकृष्ण कहे जाते हैं।'

३-हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः। अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥

(वृ० ना० १।११।१००)

जिनका चित्त अनेकों प्रकारके दोषोंसे दूषित है, ऐसे पुरुष भी यदि 'हरि' ऐसा कहकर भगवान्का स्मरण करें तो भगवान् हरि उनके समस्त पापोंको हर लेते हैं; क्योंकि बिना इच्छाके भी यदि आगका स्पर्श कर लिया जाय तो भी वह जला ही देती है [अर्थात् जैसे छू जानेपर जलाना आगका स्वभाव है, उसी प्रकार उच्चारण करनेपर पापोंको भस्म कर डालना भगवन्नामोंका स्वभाव ही है]।

प्रभाव भी अमित है। संसारमें जो कुछ भी किसीका प्रभाव देखनेमें आता है वह सब प्रभुका ही है। अग्निमें जो दाहिका शक्ति है, सूर्यमें जो प्रकाश है, चन्द्रमामें जो शीतलता तथा पोषणशक्ति है वह सभी यदि इकट्ठी कर लें तो प्रभुके प्रभावके एक अंशके समान भी शायद ही हो। भगवान्‌ने गीताके दसवें अध्यायमें अपनी विभूतिका वर्णन करते हुए अन्तमें कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

(१०। ४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान।'

प्रभुके संकल्पसे संसार होता है और उस संकल्पके न रहनेसे यह ढह जाता है। प्रभुके संकल्पमात्रसे असंख्य जन्मोंके महापापीके भी सारे पाप एक क्षणमें भस्म हो जाते हैं। प्रभुके संकल्पसे क्षणभरमें सारे संसारका उद्धार हो सकता है। संकल्प क्या प्रभुके संकेतमात्रसे, एक इशारेसे ब्रह्माण्डका उद्धार हो सकता है।

उनके दर्शन और ध्यानकी कौन कहे, प्रभुके स्मरणमात्रसे एक क्षणमें मनुष्य पवित्र हो सकते हैं; इतना ही क्यों? प्रभुकी दयाके प्रतापसे उनके नामके उच्चारणमात्रसे मनुष्यका उद्धार हो सकता है। यही शास्त्रोंकी वाणी और संतोंका अनुभव है।

इसपर एक प्रश्न होता है कि आज लोग इतना नाम लेते हैं और उद्धार नहीं होता। तो क्या शास्त्र और संत झूठे हैं? शास्त्र और संत असत्य नहीं कहते। हमारा उद्धार इसीलिये नहीं हो रहा है कि जिस प्रकार नाम लेना चाहिये वैसे नहीं लेते, केवल बला टालनेके लिये, संख्या पूरी करनेके लिये भजन करते हैं। नामके प्रति हमारे हृदयमें यथार्थ श्रद्धा नहीं है, हृदयका आकर्षण और प्रेम नहीं है, निष्कामभाव नहीं है, आदरबुद्धि नहीं है।

इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि शास्त्रोंने तो यहाँतक कहा है कि चाहे नाम जिस प्रकार भी लिया जाय, जैसे आगकी एक चिनगारी ईंधनको जला देती है ठीक उसी प्रकार एक नाम असंख्य पापोंको भस्म कर देता है। नामकी महिमा इतनी अधिक है कि गायी नहीं जा सकती। साधारण जपका भी महान् फल है तो फिर हममें कमी क्या है?

कमी इतनी ही है कि हमें ऐसा विश्वास नहीं है, श्रद्धा नहीं है। नाम रटते हुए भी हम नामके प्रभाव और रहस्यको नहीं समझते इसीलिये हम उसकी महिमाको समझ नहीं रहे हैं। हम समझते हैं कि वे बातें शास्त्रोंमें अर्थवाद हैं प्रत्यक्ष अनुभवकी नहीं। इसी अविश्वास और अश्रद्धाके कारण हमें पूरा फल नहीं मिलता। यह अविश्वास ही हमारा अपराध है। जिसे पूरा विश्वास है उसे पूरा फल मिलता है। परमेश्वरके प्रभाव और तत्त्वको समझते ही अत्यन्त श्रद्धा हो जाती है। उसके साथ ही अतुल प्रेम हो जाता है। जो विश्वासपूर्वक श्रद्धाके साथ भगवान्‌का प्रेमभरे हृदयसे नाम लेते हैं उन्हें प्रत्यक्ष शान्ति और आनन्द मिलता है।

इस प्रकार नामके स्मरणसे ही सारे पाप भस्म हो जाते हैं और सारे फल स्पष्ट होने लगते हैं। प्रभुकी अपार दया है पर हम मानते नहीं। विश्वास किये बिना पूरा फल भी नहीं मिल सकता। रहस्य खुलनेमें देर नहीं लगती, प्रभु दया कर एक क्षणमें आँखें खोल देते हैं और तब अपने अविश्वास और काल्पनिक दरिद्रतापर महान् सन्ताप होता है कि इतने काल इस महिमासे हम अपरिचित रहे।

एक दरिद्र था। उसके घर एक साधु आये। 'नारायण हरि' की आवाज लगायी। दरिद्र घरसे बाहर आकर देखता है तो एक साधु भिक्षाकी प्रतीक्षामें द्वारपर खड़े हैं। वह बेचारा रोकर, गिड़गिड़ाकर कहने लगा—'महात्मन्! मेरा यह सौभाग्य है कि आप दयाकर पधारे हैं। पर घरमें अन्नका एक दाना भी नहीं है, पड़ोसवाले मुझे कुछ देंगे भी नहीं, बाजारसे कोई चीज उधार मिल नहीं सकती, इसलिये लाचार हूँ और चाहते हुए भी आपकी सेवा नहीं कर सकता। मेरे समान संसारमें दुःखी कौन है?' साधुने कहा—'तुम्हारे समान संसारमें कोई भाग्यवान् नहीं।' दरिद्र व्यक्तिको साधुके वचनपर कैसे विश्वास होता? साधु महाराज भीतर गये और सिलवटपर रखे हुए लोढ़ेको उठाकर पूछने लगे—'यह क्या वस्तु है?' उस गरीब आदमीने कहा—'महाराज! यह पत्थरका एक टुकड़ा है। इससे चटनी पीसा करता हूँ।' साधुने कहा—'नहीं, यह पत्थर नहीं है, यह तो पारस है।' बेचारा गरीब सामने देख ही रहा था कि यह प्रत्यक्ष ठोस पत्थर है। उसे साधुकी बात समझमें कैसे आती? साधुने कहा—'अच्छा, इसकी परख कर लो और घरमें लोहेके जितने बर्तन हों उन्हें ले आओ।' उस गरीबके घर तो लोहेके ही कुछ बर्तन बच गये थे—तवा, करछी, सँड़सी, चिमटा, चाकू आदि उठा लाया। उस 'लोढ़े' से स्पर्श कराते ही

वे सभी सोना बन गये। साधुने कहा—'अरे, तुम तो संसारमें सबसे बड़े भाग्यशाली हो, तुमसे बढ़कर भाग्यवान् कौन है। तुम चाहो तो संसारभरके लोहेको सोना बना दो। अपने अज्ञानसे इस पारससे तुम चटनी पीसा करते थे और इसे पत्थर मान बैठे थे। तुम्हारी अकलपर ही पत्थर पड़ गया था। तुम तो सारे संसारकी दरिद्रताको मिटा सकते हो। सारा संसार इसको पत्थर बतावे पर मेरी दृष्टिमें तो यह पारस ही है' अब क्या था, एक क्षणमें ही उस गरीबकी सारी दरिद्रता मिट गयी, आँखें खुल गयीं।

ठीक ऐसी ही हमारी मूर्खता है। पारससे चटनी पीसते हैं। जब आँखें खुलती हैं तो एक ही क्षणमें उस पारसके मूल्यको समझ जाते हैं। फिर तो प्राण भले ही छूटें पर वह पारस न छूटे। यह समझनेमें देर ही क्या लगती है? प्रभुकी कृपासे हमारी आँखें भी जब खुलती हैं तो बस, अपने घरमें पड़ा हुआ और इतने दिनतक तिरस्कृत पारसको पाकर हमें अपनी मूर्खता और तज्जन्य दरिद्रतापर बड़ा अफसोस होता है। प्रभुका रहस्य खुलते एक क्षण भी नहीं लगता। यही रहस्य है। अज्ञानवश पारसको वह पत्थर मान रहा था। अज्ञान मिटते ही पारसका रहस्य खुल पड़ा। प्रभु बाहरसे नहीं आते। वह तो पहलेहीसे भीतर विराजमान हैं, अज्ञानवश हम उन्हें देखते नहीं, खोये बैठे हैं। प्रभुका मिलन भी पारसकी प्राप्तिकी भाँति है—वह तो हमारे घरमें है, अज्ञानवश हम उसे पहचानते नहीं। अज्ञान हटा और अंदरकी आँखें खुलीं कि बस फिर नारायण हमारे सामने हैं।

प्रभुका रहस्य खुलते ही हम प्रभुके तत्त्वको जान जाते हैं। लोहेको सोना बना देना उसका प्रभाव है। तत्त्व जानना भी यही है कि पत्थर नहीं, पारस है। पारसको पारस समझ जाना ही तत्त्व समझना है। फिर तो सहज ही उसपर अगाध ममता, असीम प्रेम हो जाता है।

पारस तो केवल लोहेको सोना बना देता है; वह मुक्ति नहीं दे सकता। प्रभुका नाम तो हमें संसार-सागरसे ही तार देता है। उनके गुणोंका तो खयाल आते ही ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी थाह ही नहीं, कोई पार ही नहीं, कोई सीमा ही नहीं। फिर तो एक क्षणके लिये भी प्रभुको छोड़ा नहीं जा सकता। दीन-दरिद्रको जब पारस मिल जाता है तो उसे वह प्राणोंसे बढ़कर अपना लेता है। प्रभु तो अनन्त गुणोंके सागर हैं—वे मिलें तो उस दशाका क्या अंदाजा लगाया जाय? उस प्रेमको कौन कहे, उस आनन्द और शान्तिकी क्या व्याख्या हो?

जप करते समय इस प्रकार प्रभुके गुण, प्रभाव और रहस्यको समझकर जप करना चाहिये। गुप्तरूपसे, निष्कामभावसे और प्रेममें विमुग्ध होकर ध्यान करते हुए हरिका इस प्रकार स्मरण करे। ऐसा जप एक क्षणका भी बहुत लाभदायक और परम फलका देनेवाला है।

ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप

साधक एकान्त और पवित्र स्थानमें कुश या ऊनके आसनपर स्वस्तिक, सिद्ध या पद्मासन आदि किसी आसनसे स्थिर, सीधा और सुखपूर्वक बैठे और इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर सम्पूर्ण सांसारिक कामनाओंका त्याग करके स्फुरणासे रहित हो जाय। पश्चात् आलस्यरहित और वैराग्ययुक्त पवित्र चित्तसे अपने इष्टदेव भगवान्का आह्वान करे। यह खयाल रखना चाहिये कि जब ध्यानावस्थामें भगवान् आते हैं तब नेत्रोंको बंद करनेपर चित्तमें बड़ी प्रसन्नता, शान्ति, ज्ञानकी दीप्ति एवं सारे भूमण्डलमें महाप्रकाश प्रत्यक्ष-सा प्रतीत होता है। जहाँ शान्ति है, वहाँ विक्षेप नहीं होता और जहाँ ज्ञानकी दीप्ति होती है, वहाँ निद्रा-आलस्य नहीं आते। और यह विश्वास रखना चाहिये कि भगवान्से स्तुति और प्रार्थना करनेपर ध्यानावस्थामें भगवान् आते हैं। अपने इष्टदेवके साकार रूपका ध्यान करनेमें कोई कठिनाई भी नहीं है। यदि कहो कि देखी हुई चीजका ध्यान होना सहज है, बिना देखी हुई चीजका ध्यान कैसे हो सकता है? सो ठीक है; किन्तु शास्त्र और महात्माओंके वचनोंके आधारपर तथा अपने इष्टदेवके रुचिकर चित्रके आधारपर भी ध्यान हो सकता है। इसलिये साधकको उचित है कि नेत्रोंको मूँदकर अपने इष्टदेव परमेश्वरका आह्वान करे और साधारण आह्वान करनेसे न आनेपर उनके नाम और गुणोंका कीर्तन एवं दिव्य स्तोत्र और पदोंके द्वारा स्तुति और प्रार्थना करते हुए श्रद्धा और प्रेमपूर्वक करुणाभावसे गद्‌गद होकर भगवान्का पुनः-पुनः आह्वान करे और भगवान्के आनेकी आशा और प्रतीक्षा रखते हुए इस चौपाईका उच्चारण करे—

एक बात मैं पूछहु तोही।
कारन कवन बिसारेहु मोही॥

फिर यह विश्वास करना चाहिये कि हमारे इष्टदेव भगवान् आकाशमें हमारे सम्मुख करीब दो फीटकी दूरीपर प्रत्यक्ष ही खड़े हैं। तत्पश्चात् चरणोंसे लेकर मस्तकतक उस दिव्य मूर्तिका अवलोकन करते हुए यह चौपाई पढ़नी चाहिये—

नाथ सकल साधन मैं हीना।
कीन्ही कृपा जानि जन दीना॥

हे नाथ! मैं तो सम्पूर्ण साधनोंसे हीन हूँ, आपने मुझे दीन जानकर दया की है अर्थात् मैंने तो कोई भी ऐसा साधन नहीं किया कि जिसके बलपर ध्यानमें भी आपके दर्शन हो सकें। किन्तु आपने मुझे दीन जानकर ही ध्यानमें दर्शन दिये हैं। इस प्रकार भगवान्‌के आ जानेपर साधक ध्यानावस्थामें भगवान्‌से वार्तालाप करना आरम्भ करता है।

साधक—प्रभो! आप ध्यानावस्थामें भी प्रकट होनेमें इतना विलम्ब क्यों करते हैं? पुकारनेके साथ ही आप क्यों नहीं आ जाते? इतना तरसाते क्यों हैं?

भगवान्—तरसानेमें ही तुम्हारा परम हित है।

साधक—तरसानेमें क्या हित है मैं नहीं समझता। मैं तो आपके पधारनेमें ही हित समझता हूँ।

भगवान्—विलम्बसे आनेमें विशेष लाभ होता है। विरहव्याकुलता होती है, उत्कट इच्छा होती है। उस समय आनेमें विशेष आनन्द होता है। जैसे विशेष क्षुधा लगनेपर अन्न अमृतके समान लगता है।

साधक—ठीक है, किन्तु विशेष विलम्बसे आनेपर निराश होकर साधक ध्यान छोड़ भी तो सकता है।

भगवान्—यदि मुझपर इतना ही विश्वास नहीं है और मेरे आनेमें विलम्ब होनेके कारण जो साधक उकताकर ध्यान छोड़ सकता है, उसको दर्शन देकर ही क्या होगा?

साधक—ठीक है, किन्तु आपके आनेसे आपमें रुचि तो बढ़ेगी ही और उससे साधन भी तेज होगा, इसलिये आपको पुकारनेके साथ ही पधारना उचित है।

भगवान्—उचित तो वही है जो मैं समझता हूँ और मैं वही करता हूँ, जो उचित होता है।

साधक—प्रभो! मुझे वैसा ही मानना चाहिये जैसा आप कहते हैं किन्तु मन बड़ा पाजी है। वह मानने नहीं देता। आप कहते हैं वही बात सही है फिर भी मुझे तो यही प्रिय लगता है कि मैं बोलाऊँ और तुरंत आप आ जायँ। यह बतलाइये वह कौन-सी पुकार है जिस एक ही पुकारके साथ आप आ सकते हैं?

भगवान्—गोपियोंकी भाँति जब साधक मेरे ही लिये विरहसे तड़पता है तब वैसे आ सकता हूँ या मुझमें प्रेम और विश्वास करके द्रौपदी और गजेन्द्रकी भाँति जब आतुरतासे व्याकुल होकर पुकारता है तब आ सकता हूँ अथवा प्रह्लादके सदृश निष्कामभावसे भजनेवालेके लिये बिना बुलाये भी आ सकता हूँ।

साधक—विरहसे व्याकुल करके आते हैं यह आपकी कैसी आदत है? आप विरहकी वेदना देकर क्यों तड़पाते हैं?

भगवान्—विरहजनित व्याकुलताकी तो बड़ी ऊँचे दर्जेकी स्थिति है। विरहव्याकुलतासे प्रेमकी वृद्धि होती है। फिर भक्त क्षणभरका भी वियोग सहन नहीं कर सकता। उसको सदाके लिये मेरी प्राप्ति हो जाती है। एक दफा मिलनेके बाद फिर कभी छोड़ता ही नहीं। जैसे भरत चौदह सालतक विरहसे व्याकुल रहा, फिर मेरा साथ उसने कभी नहीं छोड़ा।

साधक—आपको कभी कार्य होता तो आप प्रायः लक्ष्मण और शत्रुघ्नको ही सुपुर्द करते, भरतको नहीं। इसका क्या कारण था?

भगवान्—प्रेमकी अधिकताके कारण भरत मेरा वियोग सहन नहीं कर सकता था।

साधक—फिर उन्होंने चौदह सालतक वियोग कैसे सहन किया?

भगवान्—मेरी आज्ञासे बाध्य होकर उसको वियोग सहन करना पड़ा और उसी विरहसे प्रेमकी इतनी वृद्धि हुई कि फिर उसका मुझसे कभी वियोग नहीं हुआ।

साधक—पर उस विरहमें आपने भरतका क्या हित सोचा?

भगवान्—चौदह सालका विरह सहन करनेसे वह विरह और मिलनके तत्त्वको जान गया। फिर एक क्षणभरका वियोग भी उसको एक युगके समान प्रतीत होने लगा। यदि ऐसा नहीं होता तो मेरी ओर इतना आकर्षण कैसे होता?

साधक—विरहकी व्याकुलतासे निराशा भी तो हो सकती है?

भगवान्—कह ही चुका हूँ कि ऐसे पुरुषोंके लिये फिर दर्शन देनेकी आवश्यकता ही क्या है?

साधक—फिर ऐसे पुरुषोंको आपके दर्शनके लिये क्या करना चाहिये?

भगवान्—जिस किस प्रकारसे मुझमें श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धि हो ऐसी कोशिश करनी चाहिये।

साधक—क्या बिना श्रद्धा और प्रेमके दर्शन हो ही नहीं सकते?

भगवान्—हाँ! नहीं हो सकते यही नीति है।

साधक—क्या आप रियायत नहीं कर सकते?

भगवान्—किसीपर रियायत की जाय और किसीपर नहीं की जाय तो विषमताका दोष आता है। सबपर रियायत हो नहीं सकती।

साधक—क्या ऐसी रियायत कभी हो भी सकती है?

भगवान्—हाँ, अन्तकालके लिये ऐसी रियायत है।

उस समय बिना श्रद्धा और प्रेमके भी केवल मेरा स्मरण करनेसे ही मेरी प्राप्ति हो जाती है।

साधक—फिर उसके लिये भी यह विशेष रियायत क्यों रखी गयी?

भगवान्—उसका जीवन समाप्त हो रहा है। सदाके वास्ते वह इस मनुष्य-शरीरको त्याग कर जा रहा है। इसलिये उसके वास्ते यह खास रियायत रखी गयी है।

साधक—यह तो उचित ही है कि अन्तकालके लिये यह विशेष रियायत रखी गयी है। किन्तु अन्त समयमें मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ अपने काबूमें नहीं रहते; अतएव उस समय आपका स्मरण करना भी वशकी बात नहीं है।

भगवान्—इसके लिये सर्वदा मेरा स्मरण रखनेका अभ्यास करना चाहिये। जो ऐसा अभ्यास करेगा उसको मेरी स्मृति अवश्य होगी।

साधक—आपकी स्मृति मुझे सदा बनी रहे इसके लिये मैं इच्छा रखता हूँ और कोशिश करता हूँ, किंतु चंचल और उद्दण्ड मनके आगे मेरी कोशिश चलती नहीं। इसके लिये क्या उपाय करना चाहिये?

भगवान्—जहाँ-जहाँ तुम्हारा मन जाय, वहाँ-वहाँसे उसको लौटाकर प्रेमसे समझाकर मुझमें पुनः-पुनः लगाना चाहिये अथवा मुझको सब जगह समझकर जहाँ-जहाँ मन जाय वहाँ ही मेरा चिन्तन करना चाहिये।

साधक—यह बात मैंने सुनी है, पढ़ी है और मैं समझता भी हूँ। किन्तु उस समय यह युक्ति मुझे याद नहीं रहती इस कारण आपका स्मरण नहीं कर सकता।

भगवान्—आसक्तिके कारण यह तुम्हारी बुरी आदत पड़ी हुई है। अतः आसक्तिका नाश और आदत सुधारनेके लिये महापुरुषोंका संग तथा नामजपका अभ्यास करना चाहिये।

साधक—यह तो यत्किंचित् किया भी जाता है और उससे लाभ भी होता है; किन्तु मेरे दुर्भाग्यसे यह भी तो हर समय नहीं होता।

भगवान्—इसमें दुर्भाग्यकी कौन बात है? इसमें तो तुम्हारी ही कोशिशकी कमी है।

साधक—प्रभो! क्या भजन और सत्संग कोशिशसे होता है? सुना है कि सत्संग पूर्वपुण्य इकट्ठे होनेपर ही होता है।

भगवान्—मेरा और सत्पुरुषोंका आश्रय लेकर भजनकी जो कोशिश होती है वह अवश्य सफल होती है। उसमें कुसंग, आसक्ति और संचित बाधा तो डालते हैं, किन्तु इसके तीव्र अभ्याससे सब बाधाओंका नाश हो जाता है और उत्तरोत्तर साधनकी उन्नति होकर श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धि होती है और फिर विघ्न-बाधाएँ नजदीक भी नहीं आ सकतीं। प्रारब्ध केवल पूर्वजन्मके किये हुए कर्मोंके अनुसार भोग प्राप्त कराता है, वह नवीन शुभ कर्मोंके होनेमें बाधा नहीं डाल सकता। जो बाधा प्राप्त होती है वह साधककी कमजोरीसे होती है। पूर्वसंचित पुण्योंके सिवा श्रद्धा और प्रेमपूर्वक कोशिश करनेपर भी मेरी कृपासे सत्संग मिल सकता है।

साधक—प्रभो! बहुत-से लोग सत्संग करनेकी कोशिश करते हैं पर जब सत्संग नहीं मिलता तो भाग्यकी निन्दा करने लग जाते हैं! क्या यह ठीक है?

भगवान्—ठीक है किन्तु उसमें धोखा हो सकता है। साधनमे ढीलापन आ जाता है। जितना प्रयत्न करना चाहिये उतना करनेपर यदि सत्संग न हो तो ऐसा माना जा सकता है, परन्तु इस विषयमें प्रारब्धकी निन्दा न करके अपनेमें श्रद्धा और प्रेमकी जो कमी है उसीकी निन्दा करनी चाहिये, क्योंकि श्रद्धा और प्रेमसे नया प्रारब्ध बनकर भी परम कल्याणकारक सत्संग मिल सकता है।

साधक—प्रभो! आप सत्संगकी इतनी महिमा क्यों करते हैं?

भगवान्—बिना सत्संगके न तो भजन, ध्यान, सेवादिका साधन ही होता है और न मुझमें अनन्य प्रेम ही हो सकता है। इसके बिना मेरी प्राप्ति होनी कठिन है। इसीसे मैं सत्संगकी इतनी महिमा करता हूँ।

साधक—प्रभो! बतलाइये, सत्संगके लिये क्या उपाय किया जाय?

भगवान्—पहले मैं इसका उपाय बतला ही चुका हूँ कि श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सत्संगके लिये कोशिश करनेपर मेरी कृपासे सत्संग मिल सकता है।

साधक—अब मैं सत्संगके लिये और भी विशेष कोशिश करूँगा। आपसे भी मैं निष्काम प्रेमभावसे भजन-ध्यान निरन्तर होनेके लिये मदद माँगता हूँ।

भगवान्—तुम अपनी बुद्धिके अनुसार ठीक माँग रहे हो, किन्तु वह तुम्हारे मनको उतना अच्छा नहीं लगता जितने कि विषयभोग लगते हैं।

साधक—हाँ! बुद्धिसे तो मैं चाहता हूँ, पर मन बड़ा ही पाजी है, इससे रुचि कम होनेके कारण उसको भजन-ध्यान अच्छा न लगे तो उसके आगे मैं लाचार हूँ। इसलिये ही आपको विशेष मदद करनी चाहिये।

भगवान्—मनकी भजन-ध्यानकी ओर कम रुचि हो तो भी यही कोशिश करते रहो कि वह भजन-ध्यानमें लगा रहे। धीरे-धीरे उसमें रुचि होकर भजन-ध्यान ठीक हो सकता है।

साधक—मैं शक्तिके अनुसार कोशिश करता रहा हूँ किन्तु अभीतक सन्तोषजनक काम नहीं बना। इसीसे उत्साह भंग-सा होता है। यही विश्वास है कि आपकी दयासे ही यह काम हो सकता है। अतएव आपको विशेष दया करनी चाहिये।

भगवान्—उत्साहहीन नहीं होना चाहिये। मेरे ऊपर भार डालनेसे सब कुछ हो सकता है। यह तो ठीक है, किन्तु मेरी आज्ञाके अनुसार कटिबद्ध होकर चलनेकी भी तो तुम्हें कोशिश करनी ही चाहिये। ऐसा मत मानो कि हमने सब कोशिश कर ली है, अभी कोशिश करनेमें बहुत कमी है। तुम्हारी शक्तिके अनुसार अभी कोशिश नहीं हुई है। इसलिये खूब तत्परतासे कोशिश करनी चाहिये।

साधक—आपका आश्रय लेकर और कोशिश करनेकी चेष्टा करूँगा; किन्तु काम तो आपकी दयासे ही होगा।

भगवान्—यह तो तुम्हारे प्रेमकी बात है कि तुम मुझपर विश्वास रखते हो। किन्तु सावधान रहना कि भूलसे कहीं हरामीपन न आ जाय। मैं कहता हूँ कि तुम्हें उत्साह बढ़ाना चाहिये। जब मेरा यह कहना है तो तुम्हारे उत्साहमें कमी होनेका कोई भी कारण नहीं है। केवल मन ही तुम्हें धोखा दे रहा है। उत्साह भंगकी बात मनमें आने ही मत दो, हमेशा उत्साह रखो।

साधक—शान्ति और प्रसन्नता न मिलनेपर मेरा उत्साह ढीला पड़ा जाता है।

भगवान्—जब तुम मुझपर भरोसा रखते हो तो फिर कार्यकी सफलताकी ओर क्यों ध्यान देते हो? वह भी तो कामना ही है।

साधक—कामना तो है किन्तु वह है तो केवल भजन-ध्यानकी वृद्धिके लिये ही।

भगवान्—जब तुम हमारी शरण आ गये हो तो भजन-ध्यानकी वृद्धिके लिये शान्ति और प्रसन्नताकी तुम्हें चिन्ता क्यों है? तुझे तो मेरे आज्ञापालनपर ही विशेष ध्यान रखना चाहिये। कार्यके फलपर नहीं।

साधक—कार्य सफल न होनेसे उत्साह भंग होगा और उत्साह भंग होनेसे भजन-ध्यान नहीं बनेगा।

भगवान्—यह तो ठीक है, किन्तु सफलताकी कमी देखकर भी उत्साहमें कमी नहीं होनी चाहिये। मुझपर विश्वास करके उत्तरोत्तर मेरी आज्ञासे उत्साह बढ़ाना चाहिये।

साधक—यह बात तो ठीक और युक्तिसंगत है, किन्तु फिर भी शान्ति और प्रसन्नता न मिलनेपर उत्साहमें कमी आ ही जाती है।

भगवान्—ऐसा होता है तो तुमने फिर मेरी बातपर कहाँ ध्यान दिया? इसमें तो केवल तुम्हारे मनका धोखा ही है।

साधक—भगवन्! क्या इसमें मेरे संचित पाप कारण नहीं हैं? क्या वे मेरे उत्साहमें बाधा नहीं डाल रहे हैं?

भगवान्—मेरी शरण हो जानेपर पाप रहते ही नहीं।

साधक—यह मैं जानता हूँ किन्तु मैं वास्तवमें आपकी पूर्णतया शरण कहाँ हुआ हूँ? अभीतक तो केवल वचनमात्रसे ही मैं आपकी शरण हूँ।

भगवान्—वचनमात्रसे भी जो एक बार मेरी शरण आ जाता है उसका भी मैं परित्याग नहीं करता। किन्तु तुम्हें तो तुम्हारा जैसा भाव है उसके अनुसार मेरे शरण होनेके लिये खूब कोशिश करनी चाहिये।

साधक—कोशिश तो खूब करता हूँ, किन्तु मनके आगे मेरी कुछ चलती नहीं।

भगवान्—खूब कोशिश करता हूँ यह मानना गलत है। कोशिश थोड़ी करते हो और उसको मान बहुत लेते हो।

साधक—इसके सुधारके लिये मैं विशेष कोशिश करूँगा; किन्तु शरीरमें और सांसारिक विषयोंमें आसक्ति रहने तथा मन चंचल होनेके कारण आपकी दया बिना पूर्णतया शरण होना बहुत कठिन प्रतीत होता है।

भगवान्—कठिन मानते हो इसीलिये कठिन प्रतीत हो रहा है। वास्तवमें कठिन नहीं है।

साधक—कठिन कैसे नहीं मानूँ? मुझे तो ऐसा प्रत्यक्ष मालूम होता है।

भगवान्—ठीक मालूम हो तो होता रहे, किन्तु तुम्हें हमारी बातकी ओर ही ध्यान देना चाहिये।

साधक—आजसे मैं आपकी दयापर भरोसा रखकर कोशिश करूँगा जिससे वह मुझे कठिन भी मालूम न पड़े। किन्तु सुना है कि आपके थोड़े-से भी नाम-जप तथा ध्यानसे सब पापोंका नाश हो जाता है। शास्त्र और आप भी ऐसा ही कहते हैं, फिर वृत्तियाँ मलिन होनेका क्या कारण है? थोड़ा-सा भजन-ध्यान तो मेरे द्वारा भी होता ही होगा।

भगवान्—भजन-ध्यानसे सब पापोंका नाश होता है यह सत्य है किन्तु इसमें कोई विश्वास करे तब न। तुम्हारा भी तो इसमें पूरा विश्वास नहीं है, क्योंकि तुम मान रहे हो कि पापोंका नाश नहीं हुआ। वे अभी वैसे ही पड़े हैं।

साधक—विश्वास न होनेमें क्या कारण है?

भगवान्—नीच[1] और नास्तिकोंका[2] संग, संचित पाप और दुर्गुण।

साधक—पाप और दुर्गुण क्या अलग-अलग वस्तु हैं?

भगवान्—चोरी, जारी, झूठ, हिंसा और दम्भ-पाखण्ड आदि पाप हैं तथा राग, द्वेष, काम, क्रोध, दर्प और अहंकार आदि दुर्गुण हैं।

साधक—इन सबका नाश कैसे हो?

भगवान्—इनके नाशके लिये निष्कामभावसे भजन, ध्यान, सेवा और सत्संग आदि करना ही सबसे बढ़कर उपाय है।

साधक—सुना है कि वैराग्य होनेसे भी राग-द्वेषादि दोषोंका नाश हो जाता है और उससे भजन-ध्यानका साधन भी अच्छा होता है।

भगवान्—ठीक है, वैराग्यसे भजन-ध्यानका साधन बढ़ता है। किन्तु अन्तःकरण शुद्ध हुए बिना दृढ़ वैराग्य भी तो नहीं होता। यदि कहो कि शरीर और सांसारिक भोगोंमें दुःख और दोषबुद्धि करनेसे भी वैराग्य हो सकता है, सो ठीक है पर यह वृत्ति भी उपर्युक्त साधनोंसे ही होती है। अतएव भजन, ध्यान, सेवा और सत्संग आदि करनेकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

× × ×

साधक—भगवन्! अब यह बतलाइये कि आप प्रत्यक्ष दर्शन कब देंगे?

भगवान्—इसके लिये तुम चिन्ता क्यों करते हो? जब हम ठीक समझेंगे उसी वक्त दे देंगे। वैद्य जब ठीक समझता है तब आप ही सोचकर रोगीको अन्न देता है। रोगीको तो वैद्यपर ही निर्भर रहना चाहिये।

साधक—आपका कथन ठीक है। किन्तु रोगीको भूख लगती है तो वह 'मुझे अन्न कब मिलेगा' ऐसा कहता ही है। जो अन्नके वास्ते आतुर होता है वह तो पूछता ही रहता है।

भगवान्—वैद्य जानता है कि रोगीकी भूख सच्ची है या झूठी। भूख देखकर भी यदि वैद्य रोगीको अन्न नहीं देता तो उस न देनेमें भी उसका हित ही है।

साधक—ठीक है, किन्तु आपके दर्शन न देनेमें क्या हित है, यह मैं नहीं समझता। मुझे तो दर्शन देनेमें ही हित दीखता है। रोटीसे तो नुकसान भी हो सकता है किन्तु आपके दर्शनसे कभी नुकसान नहीं हो सकता बल्कि परम लाभ होता है, इसलिये आपका मिलना रोटी मिलनेके सदृश नहीं है।

भगवान्—वैद्यको जब जिस चीजके देनेसे सुधार होना मालूम पड़ता है उसीको उचित समयपर वह रोगीको देता है। इसमें तो रोगीको वैद्यपर ही निर्भर रहना चाहिये। वैद्य सच्ची भूख समझकर रोगीको रोटी देता है और उससे नुकसान भी नहीं होता। यद्यपि मेरा मिलना परम लाभदायक है किन्तु मुझमें पूर्ण प्रेम और श्रद्धारूप सच्ची भूखके बिना मेरा दर्शन हो नहीं सकता।

साधक—श्रद्धा और प्रेमकी तो मुझमें बहुत ही कमी है और मुझे उसकी पूर्ति होनी भी बहुत कठिन प्रतीत होती है। अतएव मेरे लिये तो आपके दर्शन असाध्य नहीं तो कष्टसाध्य जरूर ही हैं।

भगवान्—ऐसा मानना तुम्हारी बड़ी भूल है, ऐसा माननेसे ही तो दर्शन होनेमें विलम्ब होता है।

साधक—नहीं मानूँ तो क्या करूँ? कैसे न मानूँ। पूर्ण श्रद्धा और प्रेमके बिना तो दर्शन हो नहीं सकते और उनकी मुझमें बहुत ही कमी है।

भगवान्—क्या कमीकी पूर्ति नहीं हो सकती?

साधक—हो सकती है, किन्तु जिस तरहसे होती आयी है यदि उसी तरहसे होती रही तो इस जन्ममें तो इस कमीकी पूर्ति होनी सम्भव नहीं।

भगवान्—ऐसा सोचकर तुम स्वयं ही अपने मार्गमें क्यों रुकावट डालते हो? क्या सौ बरसका कार्य एक मिनिटमें नहीं हो सकता?

साधक—हाँ, आपकी कृपासे सब कुछ हो सकता है।

भगवान्—फिर यह हिसाब क्यों लगा लिया कि इस जन्ममें अब सम्भव नहीं।

साधक—यह मेरी मूर्खता है पर अब आप ऐसी कृपा कीजिये जिससे आपमें ही पूर्ण श्रद्धा और अनन्य प्रेम हो जाय।

भगवान्—क्या मुझमें तुम्हारी पूर्ण श्रद्धा और प्रेम होना मैं नहीं चाहता? क्या मैं इसमें बाधा डालता हूँ?

साधक—इसमें बाधा डालनेकी तो बात ही क्या है? आप तो मदद ही करते हैं। किन्तु श्रद्धा और प्रेमकी पूर्तिमें विलम्ब हो रहा है, इसलिये प्रार्थना की जाती है।

भगवान्—ठीक है। किन्तु पूर्ण प्रेम और श्रद्धाकी जो कमी है उसकी पूर्ति करनेके लिये मेरा आश्रय लेकर खूब प्रयत्न करना चाहिये।

साधक—भगवन्! मैंने सुना है कि रोनेसे भी उसकी पूर्ति होती है। क्या यह ठीक है?

१-झूठ, कपट, चोरी, जारी, हिंसा आदि शास्त्रविपरीत कर्म करनेवालेको नीच कहते हैं।
२-ईश्वरको तथा श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रको न माननेवालेको नास्तिक कहते हैं।

भगवान्—वह रोना दूसरा है।

साधक—दूसरा कौन-सा और कैसा?

भगवान्—वह रोना हृदयसे होता है; जैसे कि कोई आर्त दुःखी आदमी दुःखनिवृत्तिके लिये सच्चे हृदयसे रोता है।

साधक—ठीक है। चाहता तो वैसा ही हूँ, किन्तु सब समय वैसा रोना आता नहीं।

भगवान्—इससे यह निश्चित होता है कि बुद्धिके विचारद्वारा तो तुम रोना चाहते हो, किन्तु तुम्हारा मन नहीं चाहता।

साधक—भगवन्! यदि मन ही चाहने लगे तो फिर आपसे प्रार्थना ही क्यों करूँ? मन नहीं चाहता इसीलिये तो आपकी मदद चाहता हूँ।

भगवान्—मेरी आज्ञाओंके पालन करनेमें तत्पर रहनेसे ही मेरी पूरी मदद मिलती है। यह विश्वास रखो कि इसमें तत्पर होनेसे कठिन-से-कठिन भी काम सहजमें हो सकता है।

साधक—भगवन्! आप जैसा कहते हैं वैसा ही करूँगा, किन्तु होगा सब आपकी कृपासे ही। मैं तो निमित्तमात्र हूँ। इसलिये आपकी यह आज्ञा मानकर अब विशेषरूपसे कोशिश करूँगा, मुझे निमित्त बनाकर जो कुछ करा लेना है, सो करा लीजिये।

भगवान्—ऐसा मान लेनेसे तुम्हारेमें कहीं कमकसपना न आ जाय!

साधक—भगवन्! क्या आपसे मदद माँगना भी कमकसपना है।

भगवान्—मदद तो माँगता रहे, किन्तु काम करनेसे जी चुराता रहे और आज्ञापालन करे नहीं, इसीका नाम कमकसपना है। जो कुछ मैंने बतलाया है मुझमें चित्त लगाकर वैसा ही करते रहो। आगे-पीछेका कुछ भी चिन्तन मत करो। जो कुछ हो प्रसन्नतापूर्वक देखते रहो। इसीका नाम शरणागति है! विश्वास रखो कि इस प्रकार शरण होनेसे सब कार्योंकी सिद्धि हो सकती है।

साधक—विश्वास तो करता हूँ किन्तु आतुरताके कारण भूल हो जाती है और परमशान्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिकी ओर लक्ष्य चला ही जाता है।

भगवान्—जैसे कार्यके फलकी ओर देखते हो वैसे कार्यकी तरफ क्यों नहीं देखते? मेरी आज्ञाके अनुसार कार्य करनेसे ही मेरेमें श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धि होकर मेरी प्राप्ति होती है।

साधक—किन्तु प्रभो! आपमें श्रद्धा और प्रेमके हुए बिना आज्ञाका पालन भी तो नहीं हो सकता।

भगवान्—जितनी श्रद्धा और प्रेमसे मेरी आज्ञाका पालन हो सके उतनी श्रद्धा और प्रेम तो तुममें है ही।

साधक—फिर आपकी आज्ञाका अक्षरशः पालन न होनेमें क्या कारण है।

भगवान्—संचित पाप एवं राग, द्वेष, काम, क्रोधादि दुर्गुण ही बाधा डालनेमें हेतु हैं।

साधक—इनका नाश कैसे हो?

भगवान्—यह तो पहले ही बतला चुका हूँ, भजन, ध्यान, सेवा, सत्संग आदि साधनोंसे होगा।

साधक—इसके लिये अब और भी विशेषरूपसे कोशिश करनेकी चेष्टा करूँगा। किन्तु यह भी तो आपकी मददसे ही होगा।

भगवान्—मदद तो मुझसे चाहो जितनी ही मिल सकती है।

× × ×

साधक—प्रभो! कोई-कोई कहते हैं कि प्रभुके प्रत्यक्ष दर्शन ज्ञानचक्षुसे ही होते हैं, चर्मचक्षुसे नहीं, सो क्या बात है?

भगवान्—उनका कहना ठीक नहीं है। भक्त जिस प्रकार मेरा दर्शन चाहता है उसको मैं उसी प्रकार दर्शन दे सकता हूँ।

साधक—आपका विग्रह तो दिव्य है फिर चर्मचक्षुसे उसके दर्शन कैसे हो सकते हैं?

भगवान्—मेरे अनुग्रहसे। मैं उसको ऐसी शक्ति प्रदान कर देता हूँ जिसके आश्रयसे वह चर्मचक्षुके द्वारा भी मेरे दिव्य स्वरूपका दर्शन कर सकता है।

साधक—जहाँ आप दिव्य साकारस्वरूपसे प्रकट होते हैं वहाँ जितने मनुष्य रहते हैं उन सबको आपके दर्शन होते हैं या उनमेंसे किसी एक-दोको?

भगवान्—मैं जैसा चाहता हूँ वैसा ही हो सकता है।

साधक—चर्मदृष्टि तो सबकी ही समान है फिर किसीको दर्शन होते हैं और किसीको नहीं, यह कैसे?

भगवान्—इसमें कोई आश्चर्य नहीं। एक योगी भी अपनी योगशक्तिसे ऐसा काम कर सकता है कि बहुतोंके सामने प्रकट होकर भी किसीके दृष्टिगोचर हो और किसीके नहीं।

साधक—जब आप सबके दृष्टिगोचर होते हैं तब सबको एक ही प्रकारसे दीखते हैं या भिन्न-भिन्न प्रकारसे?

भगवान्—एक प्रकारसे भी दीख सकता हूँ और भिन्न-भिन्न प्रकारसे भी। जो जैसा पात्र होता है अर्थात् मुझमें जिसकी जैसी भावना, प्रीति और श्रद्धा होती है उसको मैं उसी प्रकार दिखायी देता हूँ।

साधक—आपके प्रत्यक्ष प्रकट होनेपर भी दर्शकोंमें श्रद्धाकी कमी क्यों रह जाती है? उदाहरण देकर समझाइये।

भगवान्—मैं श्रद्धाकी कमी और अभाव होते हुए भी सबके सामने प्रकट हो सकता हूँ और प्रकट होनेपर भी श्रद्धाकी कमी-वेशी रह सकती है; जैसे दुर्योधनकी सभामें मैं विराट्स्वरूपसे प्रकट हुआ और अपनी-अपनी भावनाओंके अनुसार दीख पड़ा और बहुत लोग मुझे देख भी नहीं सके।

साधक—जब आप प्रत्यक्ष अवतार लेते हैं तब तो सबको समान भावसे दीखते होंगे?

भगवान्—अवतारके समय भी जिसकी जैसी भावना रहती है उसी प्रकार उसको दीखता हूँ।*

साधक—बहुत-से लोग कहते हैं कि सच्चिदानन्दघन परमात्मा साकाररूपसे भक्तके सामने प्रकट नहीं हो सकते। लोगोंको अपनी भावना ही अपने-अपने इष्टदेवके साकाररूपमें दीखने लगती है।

भगवान्—वे सब भूलसे कहते हैं। वे मेरे सगुणस्वरूपके रहस्यको नहीं जानते। मैं स्वयं सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही अपनी योगशक्तिसे दिव्य सगुण साकाररूपमें भक्तोंके लिये प्रकट होता हूँ। हाँ, साधनकालमें किसी-किसीको भावनासे ही मेरे दर्शनोंकी प्रतीति भी हो जाती है, किन्तु वास्तवमें वे मेरे दर्शन नहीं समझे जाते।

साधक—साधक कैसे समझे कि दर्शन प्रत्यक्ष हुए या मनकी भावना ही है।

भगवान्—प्रत्यक्ष और भावनामें तो रात-दिनका-सा अन्तर है। जब मेरा प्रत्यक्ष दर्शन होता है तो उसमें भक्तोंके सब लक्षण घटने लग जाते हैं और उस समयकी सारी घटनाएँ भी प्रमाणित होती हैं, जैसे ध्रुवको मेरे प्रत्यक्ष दर्शन हुए और शंख छुआनेसे बिना पढ़े ही उसे सब शास्त्रोंका ज्ञान हो गया, प्रह्लादके लिये मैं प्रत्यक्ष प्रकट हुआ और हिरण्यकशिपुका नाश कर डाला। ऐसी घटनाएँ भावनामात्र नहीं समझी जा सकतीं। किन्तु जो भावनासे मेरे स्वरूपकी प्रतीति होती है उसकी घटनाएँ इस प्रकार प्रमाणित नहीं होतीं।

साधक—कितने ही कहते हैं कि भगवान् तो सर्वव्यापी हैं फिर वे एक देशमें कैसे प्रकट हो सकते हैं? ऐसा होनेपर क्या आपके सर्वव्यापीपनमें दोष नहीं आता?

भगवान्—नहीं, जैसे अग्नि सर्वव्यापी है। कोई अग्निके इच्छुक अग्निको साधनद्वारा किसी एक देशमें या एक साथ अनेक देशोंमें प्रज्वलित करते हैं तो वे अग्निदेव सब देशोंमें मौजूद रहते हुए ही अपनी सर्वशक्तिको लेकर एक देशमें या अनेक देशोंमें प्रकट होते हैं और मैं तो अग्निसे भी बढ़कर व्याप्त और अपरिमित शक्तिशाली हूँ, फिर मुझ सर्वव्यापीके लिये सब जगह स्थित रहते हुए ही एक साथ एक या अनेक जगह सर्वशक्तिसे प्रकट होनेमें क्या आश्चर्य है।

साधक—आप निर्गुण-निराकार होते हुए दिव्य सगुण-साकाररूपसे कैसे प्रकट होते हैं?

भगवान्—निर्मल आकाशमें जो परमाणुरूपमें जल रहता है वही जल बूँदोंके रूपमें आकर बरसता है और फिर वही उससे भी स्थूल बर्फ और ओलेके रूपमें भी आ जाता है। वैसे ही मैं सत् और असत्से परे होनेपर भी दिव्य ज्ञानके रूपमें शुद्ध सूक्ष्म हुई बुद्धिके द्वारा जाननेमें आता हूँ। तदनन्तर मैं नित्य विज्ञानानन्द हुआ ही अपनी योगशक्तिसे जब दिव्य प्रकाशके रूपमें प्रकट होता हूँ तब ज्योतिर्मय रूपसे योगियोंको हृदयमें दर्शन देता हूँ और फिर दिव्य प्रकाशरूप हुआ ही मैं दिव्य सगुण साकाररूपमें प्रकट होकर भक्तको प्रत्यक्ष दीखता हूँ। जैसे सूर्य प्रकट होकर सबके नेत्रोंको अपना प्रकाश देकर अपना दर्शन देता है।

साधक—कोई-कोई कहते हैं कि जल तो जड है, उसमें इस प्रकारका विकार हो सकता है; किन्तु निर्विकार चेतनमें यह सम्भव नहीं।

भगवान्—मुझ निर्विकार चेतनमें यह विकार नहीं है। यह तो मेरी शक्तिका प्रभाव है। मैं तो असम्भवको भी सम्भव कर सकता हूँ। मेरे लिये कुछ भी अशक्य नहीं है।

साधक—अच्छा, यह बतलाइये कि आपके साक्षात् दर्शन होनेके लिये सबसे बढ़कर क्या उपाय है?

भगवान्—मुझमें अनन्य भक्ति अर्थात् मेरी अनन्य शरणागति।

साधक—अनन्य भक्तिद्वारा किन-किन लक्षणोंसे युक्त होनेपर आप मिलते हैं?

भगवान्—दैवी सम्पत्तिके लक्षणोंसे युक्त होनेपर (गीता १६। १ से ३ तक)।

साधक—दैवी सम्पत्तिके सब लक्षण आनेपर ही आप मिलते हैं या पहले भी?

भगवान्—यह कोई खास नियम नहीं है कि दैवी सम्पत्तिके सब गुण होने ही चाहिये; किन्तु अनन्य भक्ति अवश्य होनी चाहिये।

साधक—दैवी सम्पत्तिके गुण कम होनेपर भी आप केवल अनन्य भक्तिसे मिलते हैं तो फिर मिलनेके बाद दैवी सम्पत्तिके सब लक्षण आ जाते होंगे?

* जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥

भगवान्—दैवी सम्पत्तिके लक्षण ही क्या और भी विशेष गुण आ जाते हैं।

साधक—वे विशेष गुण कौन-कौन-से हैं?

भगवान्—समता आदि (गीता १२। १३ से २० तक)।

साधक—वे लक्षण आपकी प्राप्ति होनेके पीछे ही आते हैं या पहले भी?

भगवान्—पहले भी कुछ आ जाते हैं किन्तु मेरी प्राप्ति होनेके बाद तो आ ही जाते हैं।

साधक—आपकी प्राप्तिके लिये भक्तका क्या कर्तव्य है?

भगवान्—यह तो बतला ही चुका कि केवल मेरी सब प्रकारसे शरण होना।

साधक—शरणमें भी आप स्वयं क्यों नहीं ले लेते?

भगवान्—किसीको जबरदस्ती शरणमें ले लेना मेरा कर्तव्य नहीं है, शरण होना तो भक्तका कर्तव्य है।

साधक—इस विषयमें विवेक-विचारसे जो शरण होना चाहता है उसको आप मदद देते हैं या नहीं?

भगवान्—जो सरल चित्तसे मदद माँगता है, उसको अवश्य देता हूँ।

साधक—जो आपकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारसे आपकी शरण होना चाहता है उसके साधनमें ऋद्धि, सिद्धि, देवता आदि विघ्न डाल सकते हैं या नहीं?

भगवान्—कोई भी विघ्न नहीं डाल सकते।

साधक—देखनेमें तो आता है कि आपकी भक्ति करनेवाले पुरुषोंको अनेक विघ्नोंका सामना करना पड़ता है और उसके साधनमें रुकावटें भी पड़ जाती हैं।

भगवान्—वे सब प्रकारसे मेरी शरण नहीं हैं।

साधक—आपको प्राप्त होनेके बाद अणिमादि सिद्धियाँ भी उसमें आ जाती हैं क्या?

भगवान्—भक्तको इनकी आवश्यकता ही नहीं है।

साधक—यदि भक्त इच्छा करे तो भी ये प्राप्त हो सकती हैं या नहीं?

भगवान्—मेरा भक्त इन सबकी इच्छा करता ही नहीं और करे तो वह मेरा अनन्य भक्त ही नहीं।

साधक—आपकी प्राप्ति होनेके बाद आपके भक्तका क्या अधिकार होता है?

भगवान्—वह अपना कुछ भी अधिकार नहीं मानता है और न चाहता ही है।

साधक—उसके न चाहनेपर भी आप तो दे सकते हैं?

भगवान्—हाँ, मुझे आवश्यकता होती है तो दे देता हूँ।

साधक—आपको भी आवश्यकता?

भगवान्—हाँ, संसारमें जीवोंके कल्याणके लिये, जो धर्म और भक्तिके प्रचार करनेकी आवश्यकता है वही मेरी आवश्यकता है।

साधक—उस समय आप उसको कितना अधिकार देते हैं?

भगवान्—जितना मुझको उससे कार्य लेना होता है।

साधक—यह अधिकार क्या आप सभी भक्तोंको दे सकते हैं? या किसी-किसीको?

भगवान्—उदासीनको छोड़कर जो प्रसन्नताके साथ लेना चाहता है उन सभीको यह अधिकार दे सकता हूँ?

साधक—धर्म, सदाचार और भक्तिके प्रचारार्थ पूर्ण अधिकार देनेके योग्य आप किसको समझते हैं? कैसे स्वभाववाले भक्तको आप पूरा अधिकार दे सकते हैं?

भगवान्—जिसका दूसरोंके हितके लिये अनायास ही सर्वस्व त्याग करनेका स्वभाव है, जिसमें सबका कल्याण हो, ऐसी स्वाभाविक वृत्ति सदासे चली आ रही है और जो दूसरोंकी प्रसन्नतापर ही सदा प्रसन्न रहता है, ऐसे उदार स्वभाववाले परम दयालु प्रेमी भक्तको मैं अपना पूर्ण अधिकार दे सकता हूँ।

साधक—क्या आपकी प्राप्तिके बाद भी सबके स्वभाव एक-से नहीं होते?

भगवान्—नहीं, क्योंकि साधनकालमें जिसका जैसा स्वभाव होता है प्रायः वैसा ही सिद्धावस्थामें भी होता है। किन्तु हर्ष, शोक, राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि विकारोंका अत्यन्ताभाव सभीमें हो जाता है एवं समता, शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति भी सबको समानभावसे ही होती है तथा शास्त्राज्ञाके प्रतिकूल कर्म तो किसीके भी नहीं होते। किन्तु सारे कर्म (शास्त्रानुकूल क्रियाएँ) मेरी आज्ञाके अनुसार होते हुए भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

साधक—फिर उनकी बाहरी क्रियाओंमें अन्तर होनेमें क्या हेतु है?

भगवान्—किसीका एकान्तमें बैठकर साधन करनेका स्वभाव होता है और किसीका सेवा करनेका। स्वभाव, प्रारब्ध और बुद्धि भिन्न-भिन्न होनेके कारण तथा देश-काल और परिस्थितिके कारण भी बाहरकी क्रियाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं।

साधक—ऐसी अवस्थामें सबसे उत्तम तो वही है जिसको आप पूरा अधिकार दे सकते हों।

भगवान्—इसमें उत्तम-मध्यम कोई नहीं है। सभी उत्तम हैं। जिसके स्वभावमें स्वाभाविक ही काम करनेका उत्साह विशेष होता है उसके ऊपर कामका भार विशेष दिया जाता है।

साधक—आपके बतलाये हुए काममें तो सबको उत्साह होना चाहिये।

भगवान्—मेरे बतलाये हुए काममें उत्साह तो सभीको होता है किन्तु मैं उनके स्वभावके अनुसार ही कामका भार देता हूँ, किसीका स्वभाव मेरे पास रहनेका होता है तो मैं उसको बाहर नहीं भेजता। जिसका लोकसेवा करनेका स्वभाव होता है उसके जिम्मे लोकसेवाका काम लगाता हूँ। जिसमें विशेष उपरामता देखता हूँ उसके जिम्मे काम नहीं लगाता। जिसका जैसा स्वभाव और जैसी योग्यता देखता हूँ उसके अनुसार ही उसके जिम्मे काम लगाता हूँ।

साधक—किन्तु भक्तको तो ऐसा ही स्वभाव बनाना चाहिये जिससे आप नि:संकोच होकर उसके जिम्मे विशेष काम लगा सकें। अत: इस प्रकारका स्वभाव बनानेके लिये सबसे बढ़कर उपाय क्या है?

भगवान्—केवल एकमात्र मेरी अनन्य शरण ही।

साधक—अनन्य शरण किसे कहते हैं, कृपया बतलाइये?

भगवान्—गुण और प्रभावके सहित मेरे नाम और रूपका अनन्य भावसे निरन्तर चिन्तन करना, मेरा चिन्तन रखते हुए ही केवल मेरे प्रीत्यर्थ मेरी आज्ञाका पालन करना तथा मेरे किये हुए विधानमें हर समय प्रसन्न रहना।

साधक—प्रभो! आपका ध्यान (चिन्तन) करना मुझे भी अच्छा मालूम पड़ता है। किन्तु मन स्थिर नहीं होता। जल्दीसे इधर-उधर भाग जाता है। इसका क्या कारण है?

भगवान्—आसक्तिके कारण मनको संसारके विषय-भोग प्रिय लगते हैं तथा अनेक जन्मोंके जो संस्कार इकट्ठे हो रहे हैं वे मनको स्थिर नहीं होने देते।

साधक—जिनसे न तो मेरे किसी प्रयोजनकी सिद्धि होती है और न जिनमें मेरी आसक्ति ही है ऐसे व्यर्थ पदार्थोंका चिन्तन क्यों होता है?

भगवान्—मन स्वाभाविक ही चंचल है इसलिये उसे व्यर्थ पदार्थोंके चिन्तन करनेकी आदत पड़ी हुई है और उसे उनका चिन्तन रुचिकर भी है, यह भी एक प्रकारकी आसक्ति ही है, इसीलिये वह उनका चिन्तन करता है।

साधक—इसके लिये क्या उपाय करना चाहिये?

भगवान्—मनकी सँभाल रखनी चाहिये कि वह मेरे रूपका ध्यान छोड़कर दूसरे किसी भी पदार्थोंका चिन्तन न करने पावे। इसपर भी यदि दूसरे पदार्थोंका चिन्तन करने लगे तो तुरंत इसे समझाकर या बलपूर्वक वहाँसे हटाकर मेरे ध्यानमें लगानेकी पुन:-पुन: तत्परतासे चेष्टा करनी चाहिये।

साधक—मनको दूसरे पदार्थोंसे कैसे हटाया जाय?

भगवान्—जैसे कोई बच्चा हाथमें चाकू या कैंची ले लेता है तो माता उसको समझाकर छुड़ा लेती है। यदि मूर्खताके कारण बच्चा नहीं छोड़ना चाहता तो माता उसके रोनेकी परवा न रखकर बलात् भी छुड़ा लेती है। वैसे ही इस मनको समझाकर दूसरे पदार्थोंका चिन्तन छुड़ाना चाहिये क्योंकि यह मन भी बालककी भाँति चंचल है। परिणाममें होनेवाली हानिपर विचार नहीं करता।

साधक—यह तो मालूम ही नहीं पड़ता कि मन धोखा देकर कहाँ और कब किस चीजको चुपचाप जाकर पकड़ लेता है; इसके लिये क्या किया जाय?

भगवान्—जैसे माता बच्चेका बराबर ध्यान रखती है वैसे ही मनकी निगरानी रखनी चाहिये।

साधक—मन बहुत ही चंचल, बलवान् और उद्दण्ड है, इसलिये इसका रोकना बहुत ही कठिन प्रतीत होता है?

भगवान्—कठिन तो है पर जितना तुम मानते हो उतना नहीं है, क्योंकि यह प्रयत्न करनेसे रुक सकता है। अतएव इसको कठिन मानकर निराश नहीं होना चाहिये। माता बच्चेकी रक्षा करनेमें कभी कठिनता नहीं समझती, यदि समझे तो उसका पालन ही कैसे हो?

साधक—क्या मन सर्वथा बच्चेके ही समान है?

भगवान्—नहीं, बच्चेसे भी बलवान् और उद्दण्ड अधिक है।

साधक—तब फिर इसका निग्रह कैसे किया जाय?

भगवान्—निग्रह तो किया जा सकता है क्योंकि मनसे बुद्धि बलवान् है और बुद्धिसे भी तू अत्यन्त बलवान् है, इसलिये जैसे माता अपनी समझदार लड़कीके द्वारा अपने छोटे बच्चेको समझाकर या लोभ देकर यदि वह नहीं मानता तो भय दिखलाकर भी अनिष्टसे बचाकर इष्टमें लगा देती है, वैसे ही मनको बुद्धिके द्वारा भोगोंमें भय दिखाकर उसे इन नाशवान् और क्षणभंगुर सांसारिक पदार्थोंसे हटाकर पुन:-पुन: मुझमें लगाना चाहिये।

साधक—इस प्रकार चेष्टा करनेपर भी मैं अपनी विजय नहीं देख रहा हूँ।

भगवान्—यदि विजय न हो तो भी डटे रहो, घबड़ाओ मत। जब मेरी मदद है तो निराश होनेका कोई कारण ही नहीं है। विश्वास रखो कि लड़ते-लड़ते आखिरमें तुम्हारी विजय निश्चित है।

साधक—प्रभो! अब यह बतलाइये कि जब मैं आपका ध्यान करनेके लिये एकान्तमें बैठता हूँ तो निद्रा, आलस्य सताने लगते हैं इसके लिये क्या करना चाहिये?

भगवान्—हलका (लघु) और सात्त्विक तो भोजन करना चाहिये। शरीरको स्थिर और सीधा रखते हुए एवं नेत्रोंकी दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर रखकर पद्मासन या स्वस्तिकादि किसी आसनसे सुखपूर्वक बैठना चाहिये तथा

दिव्य स्तोत्रोंके द्वारा मेरी स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये एवं मेरे नाम, रूप, गुण, लीला और प्रभावादि जो तुमने महापुरुषोंसे सुने हैं या शास्त्रोंमें पढ़े हैं, उनका बारंबार कीर्तन और मनन करना चाहिये। ऐसा करनेसे सात्त्विक भाव होकर बुद्धिमें जागृति हो जाती है फिर तमोगुणके कार्य निद्रा और आलस्य नहीं आ सकते।

साधक—भगवन्! आपने गीतामें कहा है कि मेरा सर्वदा निरन्तर चिन्तन करनेसे मेरी प्राप्ति सुलभ है, क्योंकि मैं किये हुए साधनकी रक्षा और कमीकी पूर्ति करके बहुत ही शीघ्र संसार-सागरसे उद्धार कर देता हूँ। किन्तु आप अपनी प्राप्ति जितनी सुलभ और शीघ्रतासे होनेवाली बतलाते हैं वैसी मुझे प्रतीत नहीं होती।

भगवान्—मेरा नित्य-निरन्तर चिन्तन नहीं होता है, इसीसे मेरी प्राप्ति तुझे कठिन प्रतीत होती है।

साधक—आपका कहना यथार्थ है। आपका निरन्तर चिन्तन करनेसे अवश्य आपकी प्राप्ति शीघ्र और सुगमतासे हो सकती है। किन्तु निरन्तर आपका चिन्तन होना ही तो कठिन है। उसके लिये क्या करना चाहिये?

भगवान्—मेरे गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको न जाननेके कारण ही निरन्तर मेरा चिन्तन करना कठिन प्रतीत होता है। वास्तवमें वह कठिन नहीं है।

साधक—आपका गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्य क्या है? बतलाइये।

भगवान्—अतिशय समता, शान्ति, दया, प्रेम, क्षमा, माधुर्य, वात्सल्य, गम्भीरता, उदारता, सुहृदतादि मेरे गुण हैं। सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्य, तेज, शक्ति, सामर्थ्य और असम्भवको भी सम्भव कर देना आदि मेरा प्रभाव है। जैसे परमाणु, भाप, बादल, बूँदें और ओले आदि सब जल ही हैं, वैसे ही सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार, व्यक्त, अव्यक्त, जड, चेतन, स्थावर, जंगम, सत्, असत् आदि जो कुछ भी है तथा जो इससे भी परे है वह सब मैं ही हूँ। यह मेरा तत्त्व है। मेरे दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन, कीर्तन, अर्चन, वन्दन, स्तवन आदिसे पापी भी परम पवित्र हो जाता है, यह विश्वास करना तथा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वत्र समभावसे स्थित मुझ मनुष्यादि शरीरोंमें प्रकट होनेवाले और अवतार लेनेवाले परमात्माको पहचानना यह रहस्य है।

साधक—इन सबको कैसे जाना जाय?

भगवान्—जैसे छोटा बच्चा आरम्भमें विद्या पढ़नेसे जी चुराता है किन्तु जब विद्या पढ़ते-पढ़ते उसके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको जान लेता है तो फिर बड़े प्रेम और उत्साहके साथ विद्याभ्यास करने लगता है तथा दूसरोंके छुड़ानेपर भी नहीं छोड़ना चाहता, वैसे ही सत्संगके द्वारा मेरे भजन, ध्यान आदिका साधन करते-करते मनुष्य मेरे गुण, प्रभाव, रहस्यको जान सकता है फिर उसे ऐसा आनन्द और शान्ति मिलती है कि वह छुड़ानेपर भी नहीं छोड़ सकता।

साधक—प्रभो! क्या आपका निरन्तर चिन्तन रखते हुए आपकी आज्ञाके अनुसार शरीर और इन्द्रियोंके द्वारा व्यापार भी हो सकता है?

भगवान्—दृढ़ अभ्याससे हो सकता है। जैसे कछुएका अपने अण्डोंमें, गौका अपने छोटे बच्चेमें, कामीका स्त्रीमें, लोभीका धनमें, मोटर-ड्राइवरका सड़कमें, नटनीका अपने पैरोंमें ध्यान रहते हुए उनके शरीर और इन्द्रियोंके द्वारा सब चेष्टाएँ भी होती हैं इसी प्रकार मेरा निरन्तर चिन्तन करते हुए मेरी आज्ञाके अनुसार शरीर और इन्द्रियोंके द्वारा सब काम हो सकते हैं।

साधक—आपकी आज्ञा क्या है?

भगवान्—सत्-शास्त्र, महापुरुषोंके वचन, हृदयकी सात्त्विक स्फुरणाएँ—ये तीनों मेरी आज्ञाएँ हैं। इन तीनोंमें मतभेद प्रतीत होनेपर जहाँ दोकी एकता हो उसीको मेरी आज्ञा समझकर काममें लाना चाहिये।

साधक—जहाँ तीनोंका भिन्न-भिन्न मत प्रतीत हो वहाँ क्या किया जाय?

भगवान्—वहाँ महापुरुषोंकी आज्ञाका पालन करना चाहिये।

साधक—क्या इसमें शास्त्रोंकी अवहेलना नहीं होगी?

भगवान्—नहीं, क्योंकि महापुरुष शास्त्रोंके विपरीत नहीं कह सकते। सर्वसाधारणके लिये शास्त्रोंका निर्णय करना कठिन है तथा इसका यथार्थ तात्पर्य देश और कालके अनुसार महात्मालोग ही जान सकते हैं। इसीलिये महापुरुष जो मार्ग बतलावें वही ठीक है।

साधक—केवल हृदयकी सात्त्विक स्फुरणाको ही भगवत्-आज्ञा मान लें तो क्या आपत्ति है?

भगवान्—मान सकते हो। किन्तु वह स्फुरणा शास्त्र या महापुरुषोंके वचनोंके अनुकूल होनी चाहिये। क्योंकि साधकको शासककी आवश्यकता है, नहीं तो अज्ञानवश कहीं राजसी, तामसी स्फुरणाको सात्त्विक माननेसे साधकमें उच्छृंखलता आकर उसका पतन हो सकता है।

साधक—यहाँ शास्त्रसे आपका क्या अभिप्राय है?

भगवान्—श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि जो आर्ष ग्रन्थ हैं, वे सभी शास्त्र हैं। किन्तु यहाँपर भी मतभेद प्रतीत होनेपर श्रुतिको ही बलवान् समझना चाहिये; क्योंकि स्मृति, इतिहास, पुराणादिका आधार श्रुति ही है।

साधक—श्रुति, स्मृति आदि सारे शास्त्रोंका ज्ञान होना साधारण मनुष्योंके लिये कठिन है, ऐसी अवस्थामें उनके लिये क्या आधार है?

भगवान्—उन पुरुषोंको शास्त्रोंके ज्ञाता महापुरुषोंका आश्रय लेना चाहिये।

साधक—महापुरुष किसे माना जाय?

भगवान्—जिसको तुम अपने हृदयसे सबसे श्रेष्ठ मानते हो वे ही तुम्हारे लिये महापुरुष हैं।

साधक—प्रभो! मेरी मान्यतामें भूल एवं उसके कारण मुझे धोखा भी तो हो सकता है।

भगवान्—उसके लिये कोई चिन्ता नहीं। मेरे आश्रित जनकी मैं स्वयं सब प्रकारसे रक्षा करता हूँ।

साधक—प्रभो! मैं महापुरुषकी जाँच किस आधारपर करूँ? महापुरुषोंके लक्षण क्या हैं?

भगवान्—गीताके दूसरे अध्यायमें श्लोक ५५से ७१ तक स्थितप्रज्ञके नामसे अथवा छठे अध्यायमें श्लोक ७ से ९ तक योगीके नामसे या अध्याय १२ श्लोक १३ से १९ तक भक्तिमान्के नामसे अथवा अध्याय १४ श्लोक २२ से २५ तक गुणातीतके नामसे बतलाये हुए लक्षण जिस पुरुषमें हों वही महापुरुष है।

साधक—ऐसे महापुरुषोंका मिलना कठिन है। ऐसी परिस्थितिमें क्या करना चाहिये?

भगवान्—ऐसी अवस्थामें सबके लिये समझनेमें सरल और सुगम सर्वशास्त्रमयी गीता ही आधार है जो कि अर्जुनके प्रति मेरे द्वारा कही गयी है।

साधक—प्रधानतासे गीतामें बतलाये हुए किन-किन श्लोकोंको लक्ष्यमें रखकर साधक अपना गुण और आचरण बनावे?

भगवान्—इसके लिये गीतामें बहुत-से श्लोक हैं; उनमेंसे मुख्यतया ज्ञानके नामसे बतलाये हुए अध्याय १३ के श्लोक ७ से ११ तक या दैवी सम्पत्तिके नामसे बतलाये हुए अध्याय १६ के श्लोक १ से ३ तक अथवा तपके नामसे बतलाये हुए अध्याय १७ के श्लोक १४ से १७ तकके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये।

साधक—प्रभो! अब यह बतलाइये आपने कहा कि मेरे किये हुए विधानमें हर समय प्रसन्न रहना चाहिये। इसका क्या अभिप्राय है?

भगवान्—सुख-दुःख, लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय आदिकी प्राप्तिरूप मेरे किये हुए विधानको मेरा भेजा हुआ पुरस्कार मानकर सदा ही सन्तुष्ट रहना।

साधक—इन सबके प्राप्त होनेपर सदा प्रसन्नता नहीं होती। इसका क्या कारण है?

भगवान्—मेरे प्रत्येक विधानमें दया भरी हुई है, इसके तत्त्व और रहस्यको लोग नहीं जानते।

साधक—स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि जो सांसारिक सुखदायक पदार्थ हैं वे सब मोह और आसक्तिके द्वारा मनुष्यको बाँधनेवाले हैं। इन सबको आप किसलिये देते हैं? और इस विधानमें आपकी दयाके रहस्यको जानना क्या है?

भगवान्—जैसे कोई राजा अपने प्रेमीको अपने पास शीघ्र बुलानेके लिये मोटर आदि सवारी भेजता है वैसे ही मैं पूर्वकृत पुण्योंके फलस्वरूप स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि सांसारिक पदार्थोंको दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिये एवं सदाचार, सद्गुण और मुझमें प्रेम बढ़ाकर मेरे पास शीघ्र आनेके लिये देता हूँ। इस प्रकार समझना ही मेरी दयाके रहस्यको जानना है।

साधक—स्त्री, पुत्र, धनादि सांसारिक पदार्थोंके विनाशमें आपकी दयाका तत्त्व और रहस्य क्या है?

भगवान्—जैसे पतंगे आदि जन्तु रोशनीको देखकर मोह और आसक्तिके कारण उसमें गिरकर भस्म हो जाते हैं और उनकी ऐसी दुर्दशा देखकर दयालु मनुष्य उस रोशनीको बुझा देता है, ऐसा करनेमें यद्यपि वे जीव नहीं जानते तो भी उसकी उनके ऊपर महान् दया ही होती है। इसी प्रकार मनुष्यको भोग और आसक्तिके द्वारा बाँधकर नरकमें डालनेवाले इन पदार्थोंका नाश करनेमें भी मेरी महान् दया ही समझनी चाहिये।

साधक—आप मनुष्यको आरोग्यता, बल और बुद्धि आदि किसलिये देते हैं?

भगवान्—सत्संग, सेवा और निरन्तर भजन-ध्यानके अभ्यासद्वारा मेरे गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझनेके लिये।

साधक—व्याधि और संकट आदिकी प्राप्तिमें आपकी दयाका दर्शन कैसे करें?

भगवान्—व्याधि और संकट आदिके भोगद्वारा पूर्वकृत किये हुए पापरूप ऋणसे मुक्ति तथा दुःखका अनुभव होनेके कारण भविष्यमें पाप करनेमें रुकावट होती है। मृत्युका भय बना रहनेसे शरीरमें वैराग्य होकर मेरी स्मृति होती है। इसके अतिरिक्त यदि व्याधिको परम तप समझकर सेवन किया जाय तो मेरी प्राप्ति भी हो सकती है। ऐसा समझना मेरी दयाका दर्शन करना है।

साधक—महापुरुषोंके संगमें आपकी दया प्रत्यक्ष है, किन्तु उनके वियोगमें आपकी दया कैसे समझी जाय?

भगवान्—प्रकाशके हटानेसे ही मनुष्य प्रकाशके महत्वको समझता है। इसलिये महापुरुषोंसे पुनः मिलनेकी उत्कट

इच्छा उत्पन्न करने और उनमें प्रेम बढ़ानेके लिये एवं उनकी प्राप्ति दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण है इस बातको जाननेके लिये ही मैं उनका वियोग देता हूँ ऐसा समझना चाहिये।

साधक—कुसंगके दोषोंसे बचानेके लिये आप दुष्ट-दुराचारी पुरुषोंका वियोग देते हैं इसमें तो आपकी दया प्रत्यक्ष है, किन्तु बिना इच्छा आप उनका संग क्यों देते हैं?

भगवान्—दुराचारसे होनेवाली हानियोंका दिग्दर्शन कराकर दुर्गुण और दुराचारोंसे वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये मैं ऐसे मनुष्योंका संग देता हूँ। किन्तु स्मरण रखना चाहिये, जो जान-बूझकर कुसंग करता है वह मेरा दिया हुआ नहीं है।

साधक—सर्वसाधारण मनुष्योंके संयोग और वियोगमें आपकी दया कैसे देखें?

भगवान्—उनमें दया और प्रेम करके उनकी सेवा करनेके लिये तो संयोग एवं उनमें वैराग्य करके एकान्तमें रहकर निरन्तर भजन-ध्यानका साधन करनेके लिये वियोग देता हूँ, ऐसा समझना ही मेरी दयाका देखना है।

साधक—नीति-धर्म और भजन-ध्यानमें बाधा पहुँचानेवाले मामले- मुकद्दमे आदि झंझटोंमें आपकी दयाका अनुभव कैसे करें?

भगवान्—नीति-धर्म, भजन-ध्यान आदिमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय तथा कमजोरीके कारण ही बाधा आती है। जो मनुष्य न्यायसे प्राप्त हुए मुकद्दमे आदि झंझटोंको मेरा भेजा हुआ पुरस्कार मानकर नीति और धर्म आदिसे विचलित नहीं होता है। उसमें आत्मबलको बढ़ानेवाले धीरता, वीरता, गम्भीरता आदि गुणोंकी वृद्धि होती है। यह समझना ही मेरी दयाका अनुभव करना है।

साधक—भक्तकी मान, बड़ाई, प्रतिष्ठादिको आप क्यों हर लेते हैं, इसमें क्या रहस्य है?

भगवान्—अज्ञानरूपी निद्रासे जगाने एवं साधनकी रुकावटको दूर करने तथा दम्भको हटाकर सच्ची भक्ति बढ़ानेके लिये ही मैं मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिको हर लेता हूँ। यही रहस्य है।

साधक—आपकी विशेष दया क्या है?

भगवान्—मेरे भजन, ध्यान, सेवा, सत्संग, सद्गुण और सदाचार आदिकी जो स्मृति, इच्छा और प्राप्ति होती है—यह विशेष दया है।

साधक—जब ऐसा है तब कर्मोंके अनुसार आपके किये हुए इन सब विधानोंको आपका भेजा हुआ पुरस्कार मानकर क्षण-क्षणमें मुग्ध होना चाहिये।

भगवान्—बात तो ऐसी ही है; किन्तु लोग समझते कहाँ हैं।

साधक—इसके समझनेके लिये क्या करना चाहिये?

भगवान्—गुण और प्रभावके सहित मेरे नाम-रूपका अनन्यभावसे निरन्तर चिन्तन तथा मेरा चिन्तन रखते हुए ही मेरी आज्ञाके अनुसार निष्कामभावसे कर्मोंका आचरण और मेरी दयाके रहस्यको जाननेवाले सत्पुरुषोंका संग करना चाहिये।

परमात्माके ज्ञानसे परम शान्ति

परमात्मा समस्त भूतोंकी आत्मा हैं, सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी हैं; इसलिये सबकी सेवा भगवान्‌की ही सेवा है, इस बातके समझ लेनेपर मनुष्य परमात्माको यथार्थरूपसे जानकर परमात्माको प्राप्त हो सकता है परन्तु ध्यान रखना चाहिये कि जो इस प्रकार परमात्माको जानता है वह पुरुष किसी भी सेवा करनेयोग्य पुरुषकी सेवा करता हुआ, पूजनेयोग्यकी पूजा करता हुआ उस सेवा-पूजाको भगवान्‌की ही सेवा-पूजा समझता है और उसे उसी आनन्द और शान्तिका अनुभव होता रहता है जो भगवान्‌की सेवा-पूजासे हुआ करता है। राजा रन्तिदेवकी भाँति वह इस बातको अच्छी तरह समझता है कि एक भगवान् ही अनेक रूपोंमें प्रकट होकर अपने प्यारे प्रेमीके प्रेमपूर्वक किये हुए दान, यज्ञ, सेवा और पूजन आदिको ग्रहण करते हैं।

महाराज रन्तिदेव राजा नरके पौत्र और राजा संकृतिके पुत्र थे। इनकी महिमा स्वर्ग और पृथ्वी दोनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। एक बार सारी सम्पत्तिका सम्पूर्णतया दान करके राजा रन्तिदेव निर्धन होकर सपरिवार भूखके मारे कृश हो गये। उन्हें लगातार अड़तालीस दिनतक अन्नकी तो बात ही क्या, जलतक पीनेको न मिला। सारा परिवार आहारके अभावमें कष्ट पाने लगा। धर्मात्मा राजाका कृश शरीर भूख-प्यासके मारे काँपने लगा। उनचासवें दिन उन्हें घीसहित खीर, हलुआ और जल प्राप्त हुआ। राजा परिवारसमेत भोजन करना ही चाहते थे कि उसी समय एक अतिथि ब्राह्मण आ गये। सबमें हरिके दर्शन करनेवाले राजाने श्रद्धा और सत्कारपूर्वक ब्राह्मणदेवताको भोजन दे दिया। ब्राह्मण भोजन करके चले गये। राजा बचे हुए अन्नको अपने परिवारमें बाँटकर भोजन करनेका विचार कर रहे थे कि इतनेमें एक शूद्र अतिथि आ पहुँचा। रन्तिदेवने भगवान् हरिका स्मरण करके बचे हुए अन्नमेंसे उस अतिथिको भी भोजन करा दिया। भोजन करके शूद्र अतिथि गया ही था

कि एक और अतिथि अपने कुत्तोंसहित आया और बोला—'राजन्! मैं और मेरे ये कुत्ते भूखे हैं। हमलोगोंको भोजन दीजिये।' राजाने उसका भी सम्मान किया और आदरपूर्वक बचा हुआ अन्न उसको और उसके कुत्तोंको खिला दिया। अब केवल एक मनुष्यकी प्यास बुझ सके इतना जल ही बच रहा था। राजा उसे पीना ही चाहते थे कि अकस्मात् एक चाण्डाल आया और दीनस्वरसे पुकारने लगा—'महाराज! मैं बहुत ही थका हुआ हूँ, मुझ नीचको पीनेके लिये थोड़ा जल दीजिये।' उसके करुणाभरे शब्द सुनकर और उसे थका हुआ देखकर राजाको बड़ी दया आयी और स्वयं प्यासके मारे मृतप्राय रहते हुए भी उन्होंने वह जल उसको दे दिया। ब्रह्मा, विष्णु और महादेव ही राजा रन्तिदेवके धर्मकी परीक्षा लेनेके लिये मायाके द्वारा ब्राह्मणादिका वेष बनाकर आये थे। राजाका धैर्य और उदारता देखकर तीनों बहुत ही सन्तुष्ट हुए और उन्होंने अपने निज स्वरूपसे राजाको दर्शन दिये। महाराज रन्तिदेवने साक्षात् परमात्मस्वरूप उन तीनोंको प्रणाम किया और उनके इतने अधिक सन्तुष्ट होनेपर भी उनसे राजाने कोई वरदान नहीं माँगा। राजाने आसक्ति और स्पृहाका त्याग करके मनको केवल भगवान् वासुदेवमें लगा दिया। इस प्रकार भगवान्में तन्मय हो जानेके कारण त्रिगुण (सत्त्व, रज, तम)-मयी माया उनके निकट स्वप्नके समान अन्तर्हित हो गयी। रन्तिदेवके संगके प्रभावसे उनके परिवारके सब लोग नारायणपरायण होकर योगियोंकी परम गतिको प्राप्त हो गये।

भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञ एवं क्षर और अक्षर दोनोंसे अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। ईश्वरोंके भी महान् ईश्वर हैं और अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके स्वामी हैं। उनसे बढ़कर संसारमें कोई भी नहीं है। जब इस प्रकारसे मनुष्य समझ जाता है तो फिर वह भगवान्को ही भजता है, क्योंकि भगवान् स्वयं कहते हैं—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

'हे भारत! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

यह बात लोकमें भी प्रसिद्ध है कि मनुष्य अपनी बुद्धिमें जिस वस्तुको सबसे बढ़कर समझता है उसीको ग्रहण करता है। मान लीजिये कोई एक राजाधिराज अपने मनके अनुकूल चलनेवाले एक अत्यन्त प्रेमी गरीब सेवकको उसके कार्यसे प्रसन्न होकर कुछ देना चाहता है। उसके यहाँ एक ओर कोयले, कंकड़, पत्थर आदिके ढेर लगे हैं, दूसरी ओर ताँबा, लोहा, पीतल आदि धातुओंके ढेर हैं, कहीं चाँदी और रुपयोंकी राशि है, कहीं सोना और सोनेकी मोहरें जमा हैं और कहीं बहुत-से हीरे, पन्ने, नीलम, माणिक आदि बहुमूल्य रत्न रखे हैं। वह राजा कहता है कि इनमेंसे जो भी चीज तुम्हें पसंद हो, अभी सबेरेसे लेकर शामतक जितनी ले जा सको ढोकर ले जा सकते हो। आप विचारकर बताइये कि जरा भी समझदार आदमी क्या हीरे-माणिक आदि रत्नोंको छोड़कर कंकड़, पत्थर ढोनेमें अपने समयका एक क्षण भी बितावेगा? कभी नहीं! फिर भला, भगवान्के तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और गुणोंको जाननेवाला भगवान्का भक्त, भजन-ध्यानादि बहुमूल्य रत्नोंको छोड़कर संसारके विषयरूप कंकड़-पत्थरोंमें अपना एक क्षण भी क्यों नष्ट करेगा? यदि वह आनन्दमय परमात्माको छोड़कर संसारके नाशवान् विषयभोगोंके सेवनमें अपने जीवनका अमूल्य समय लगाता है तो समझना चाहिये कि उसने सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर परमात्माके महान् प्रभाव और रहस्यको समझा ही नहीं।

दीनबन्धु, पतितपावन, सर्वज्ञ परमात्मा समस्त गुणोंके सागर हैं। कृपा और प्रेमकी तो वे साक्षात् मूर्ति ही हैं। इस प्रकारके परमात्माके गुणोंके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष निर्भय हो जाता है। उसके आनन्द और शान्तिका पार नहीं रहता। इसपर यदि कोई कहे कि जब ऐसी बात है कि भगवान् प्रेम और कृपाकी मूर्ति हैं तो उनकी अपार और अपरिमित कृपा सभीके ऊपर होनी चाहिये और यदि है तो फिर हमको सुख और शान्ति क्यों नहीं मिलती? इसका उत्तर यह है कि प्रभु निश्चय ही अपार और असीम कृपाके सागर हैं और उनकी वह कृपा सभीपर है, परन्तु सच्ची बात तो यह है कि हमलोग ऐसा विश्वास ही नहीं करते! प्रभुकी समस्त जीवोंपर इतनी दया है कि जिसका हम अनुमान भी नहीं कर सकते। हमलोग जितनी दयाका अनुमान करते हैं, उससे अत्यन्त ही अधिक और अपार दया सभी जीवोंपर है किन्तु उस अनन्त दयाके तत्त्व और प्रभावको न जाननेके कारण हम इस बातपर विश्वास नहीं करते और इसी कारण उस नित्य और अपार दयाके फलस्वरूप सुख और शान्तिसे वंचित रह जाते हैं। यद्यपि भगवान्की दया सामान्यभावसे सभी जीवोंपर है परन्तु मुक्तिका खास अधिकारी होनेके कारण मनुष्य उस दयाका विशेष पात्र है। मनुष्योंमें भी वही विशेष अधिकारी है जो उस दयाके रहस्य और प्रभावको जाननेवाला है। जैसे सूर्यका प्रकाश समभावसे सर्वत्र होनेपर भी उज्ज्वल होनेके कारण काँच उसका विशेष पात्र है, क्योंकि वह सूर्यका प्रतिबिम्ब भी ग्रहण कर लेता है और काँचोंमें भी सूर्यमुखी

काँच तो सूर्यकी शक्तिको लेकर वस्त्रादि पदार्थोंको जला भी डालता है। इसी प्रकार सब जीवोंपर प्रभुकी दया समानभावसे रहते हुए भी जो मनुष्य उस दयाके तत्त्व और प्रभावको विशेषरूपसे जानते हैं वे तो उस दयाके द्वारा समस्त पाप-तापोंको सहज ही भस्म कर डालते हैं। ज्यों-ही-ज्यों प्रभुकी दयाके तत्त्व और प्रभावको मनुष्य अधिक-से-अधिक जानता चला जाता है, त्यों-ही-त्यों उसके दुःख, दुर्गुण और पापोंका नाश होता चला जाता है और फलतः वह निर्भय और निश्चिन्त होकर परम शान्ति और परमानन्दको प्राप्त हो जाता है।

मान लीजिये एक धर्मात्मा और ज्ञानी राजा थे। अपनी प्रजापर उनकी स्वाभाविक ही बड़ी भारी दया थी, किन्तु सब लोग इस बातको नहीं जानते थे। वे अपने मन्त्रिमण्डल और गुप्तचरोंद्वारा अपनी असहाय और दीन-दुःखी प्रजाकी हर समय खबर रखा करते थे और सबको यथायोग्य सहायता पहुँचाया करते थे। उनकी राजधानीमें एक क्षत्रिय बालक रहता था, जो बहुत ही सुशील, सदाचारी, बुद्धिमान् और चतुर था तथा राजामें उसकी भक्ति थी। उसके माता-पिता उसे छोटी अवस्थामें ही छोड़कर चल बसे थे। उस बालकने अपने माता-पितासे सुनकर पहलेसे ही यह समझ रखा था कि हमारे राजा बड़े ही दयालु और अनाथरक्षक हैं। इसलिये जब माता-पिता मरे तब उसे जितनी चिन्ता होनी चाहिये थी, उतनी नहीं हुई। वह समझता था कि दयालु राजा आप ही मेरी व्यवस्था कर देंगे। वह बालक स्कूलमें पढ़ता था। उसके सहपाठियोंने उसे अनाथ होनेपर भी निश्चिन्त देखकर पूछा कि 'तुम्हारे माता-पिता तो मर गये, अब तुम्हारा निर्वाह कैसे होगा?' लड़केने उत्तर दिया कि हमारे राजा बड़े दयालु हैं, वे स्वयं ही सारी व्यवस्था कर देंगे। यह बात गुप्तचरोंके द्वारा राजाके कानतक पहुँची। राजाने मन्त्रियोंके द्वारा उसका पता लगाया। मन्त्रियोंने कहा कि 'वह बालक बड़ा ही सुन्दर, सुशील, सदाचारी, धर्मात्मा, बुद्धिमान् और राजभक्त है। उसके माता-पिता मर गये हैं, इसलिये इस समय वह सर्वथा अनाथ हो गया है। अब उसे केवल आपका ही एकमात्र भरोसा है।' राजाने पूछा कि 'उसके लिये क्या प्रबन्ध किया जाय?' मन्त्रियोंने कहा 'जो सरकारकी इच्छा।' राजाने उसके खान-पान और विद्याध्ययनके लिये प्रबन्ध करनेकी और रहनेके लिये मकान बनवा देनेकी आज्ञा दे दी। राजाकी इस उदारतासे मन्त्रीलोग बहुत प्रसन्न हुए। यह बात जब उस बालकके कानोंतक पहुँची तो उसके आनन्दका पार ही नहीं रहा। उसकी भक्ति राजामें और भी बढ़ गयी; साथ ही विश्वास भी दूना-चौगुना हो गया।

एक दिन जब वह लड़का स्कूलमें पढ़ रहा था तो उसके किसी प्रेमी सहपाठीने आकर दुःखी मनसे कहा कि 'भैया! तुमसे ऐसा क्या अपराध हो गया है जो राजाके सिपाही तुम्हारी झोंपड़ी तुड़वा रहे हैं?' बालकने बहुत प्रसन्नतासे उत्तर दिया कि 'भाई! राजाकी मुझपर बड़ी भारी दया है। सम्भव है वे झोपड़ीको तुड़वाकर मेरे लिये अच्छा मकान बनवा दें।' यह बात भी गुप्तचरोंद्वारा राजातक पहुँची। राजाका प्रेम लड़केके प्रति और भी बढ़ गया। एक दिन राजाने अपने मन्त्रियोंसे पूछा कि 'आपलोग जानते हैं, मैं अब वृद्ध हो चला हूँ। मेरे कोई पुत्र नहीं है, इसलिये अब युवराजपद किसे दिया जाय?' मन्त्रियोंने कहा, 'जिसे सरकार योग्य समझें।' राजाने कहा कि 'मैंने तो उस अनाथ क्षत्रिय बालकको, जिसकी आपलोग सदा प्रशंसा करते रहे हैं, इस पदके योग्य समझा है। आपलोगोंकी क्या सम्मति है?' बस इतना कहनेकी देर थी, तमाम मन्त्रियोंने एक स्वरसे कहा—'हाँ, सरकार, बड़ी अच्छी बात है। वह कुमार बहुत ही सुन्दर, सुशील, सच्चरित्र, बुद्धिमान्, राजभक्त और धर्मात्मा है। वह सब प्रकारसे युवराजपदके योग्य है। हमलोगोंने भी उसीको इस पदके योग्य समझा है।' सबकी बात सुनकर राजाने उसे युवराज बनाना निश्चित कर लिया। यह बात राज्यके उच्च पदाधिकारियोंको भी विदित हो गयी। एक दिन कुछ बड़े-बड़े अफसर उस बालकके घर गये। बालकने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। अफसर बोले, 'आपपर महाराजा साहबकी बहुत भारी कृपा है।' क्षत्रिय कुमारने कहा—'मैं इस बातको भलीभाँति जानता हूँ कि सरकारकी मुझपर बड़ी भारी कृपा है, तभी तो उन्होंने मेरे भोजन, वस्त्र, पठन-पाठन और जमीन-मकानका सब प्रबन्ध कर दिया है।' अफसर बोले—'इतना ही नहीं, आपपर महाराजा साहबकी बहुत भारी कृपा है, इतनी कृपा है कि जिसे आप कल्पनामें भी नहीं ला सकते।' लड़का कहने लगा—'क्या महाराजा साहबने मेरे विवाहका खर्च देना भी मंजूर कर लिया?' अफसरोंने कहा—'विवाह तो मामूली बात है, महाराजा साहबकी तो आपपर बहुत भारी दया है।' बालकने कहा—'क्या महाराजा साहब मुझे दो-चार गाँव देना चाहते हैं?' अफसर बोल उठे—'यह भी कुछ नहीं।' बालकने पूछा—'बतलाइये न क्या महाराजा साहबने दस-बीस गाँवोंकी जागीर देनेका निश्चय किया है?' अफसर बोले—'सरकारकी आपपर इससे भी बहुत अधिक दया है।' बालकने कहा—'मैं तो इसके आगे कुछ नहीं जानता, आप ही बताइये कि क्या बात है?' अफसरोंने कहा—'क्या कहें हम सभी लोग सदा अपने ऊपर आपकी कृपा

चाहते हैं।' बालकने कहा—'ऐसा न कहिये, मैं तो आप सबका सेवक हूँ, आपलोगोंकी कृपासे ही महाराजकी मुझपर कृपा हुई है; महाराजा साहबकी विशेष दयाकी बात बतलाइये।' अफसरोंने कहा कि हमने तो आपको बता दिया कि हमलोग सदा आपकी कृपा चाहते हैं। क्या आप हमारे कथनका अर्थ नहीं समझे?' कुमारने कहा—'कृपा करके स्पष्ट बतलाइये।'

वह बेचारा अनाथ बालक यह कल्पना भी कैसे करता कि महाराजा साहब मुझे अपने राज्यका उत्तराधिकारी बनाकर युवराजपदतक दे सकते हैं।

अफसर बोल उठे—'श्रीमान्ने आपको युवराज बनाया है।' सुनते ही बालक आश्चर्यमें भरकर बोल उठा—'युवराज बनाया है?' अफसरोंने कहा—'जी हाँ! युवराज बनाया है।' अब बालकके आनन्दका पार नहीं रहा, वह आनन्दमुग्ध हो गया।

यह तो दृष्टान्त है। इसे दार्ष्टान्तमें इस प्रकार घटाना चाहिये। यहाँ भगवान् राजा हैं, साधक क्षत्रिय बालक है। भगवद्भक्ति ही राजभक्ति है, साधकका 'योगक्षेम' ही खान-पान-मकान आदि व्यवस्था है। भगवत्प्राप्त पुरुष ही मन्त्री हैं। दैवी सम्पदाप्राप्त मुमुक्षु पुरुष ऊँचे अफसर हैं और भक्तशिरोमणि कारक-पुरुषोंका सर्वोच्च पद ही युवराजपद है।

इस प्रकार जो साधक परमपिता परमात्माकी असीम दयाका अनुभव कर उसके प्रत्येक विधानमें पद-पदपर आह्लादित होता रहता है, वह इस अविनाशी युवराजपदका अधिकारी बन जाता है।

इसलिये हमलोगोंको उचित है कि परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्तिके लिये उन सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, परम दयालु और सबके सुहृद् परमेश्वरको उनके स्वरूप, प्रभाव और गुणोंके सहित जाननेकी चेष्टा करें। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(५।२९)

'मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

प्रश्न—'यज्ञ' और 'तप' से क्या समझना चाहिये, भगवान् उनके भोक्ता कैसे हैं और उनको भोक्ता जाननेसे मनुष्यको शान्ति कैसे मिलती है?

उत्तर—अहिंसा, सत्य आदि धर्मों (यम-नियमों)-का पालन, देवता, ब्राह्मण, माता-पिता आदि गुरुजनोंका सेवन-पूजन, दीन-दुःखी, गरीब और पीड़ित जीवोंकी स्नेह और आदरयुक्त सेवा और उनके दुःखनाशके लिये किये जानेवाले उपयुक्त साधन एवं यज्ञ, दान आदि जितने भी शुभ कर्म हैं, सभीका समावेश 'यज्ञ' और 'तप' शब्दोंमें समझना चाहिये। भगवान् सबके आत्मा हैं (१०।२०); अतएव देवता, ब्राह्मण, दीन-दुःखी आदिके रूपमें स्थित होकर भगवान् ही समस्त सेवा-पूजादि ग्रहण कर रहे हैं। इसलिये वस्तुतः वे ही समस्त यज्ञ और तपोंके भोक्ता हैं (९।२४)। भगवान्के तत्त्व और प्रभावको न जाननेके कारण ही मनुष्य जिनकी सेवा-पूजा करते हैं, उन देव-मनुष्यादिको ही यज्ञ और सेवा आदिके भोक्ता समझते हैं, इसीसे वे अल्प और विनाशी फलके भागी होते हैं (७।२३) और उनको यथार्थ शान्ति नहीं मिलती। परन्तु जो पुरुष भगवान्के तत्त्व और प्रभावको जानता है, वह सबके अंदर आत्मरूपसे विराजित भगवान्को ही देखता है। इस प्रकार प्राणिमात्रमें भगवद्बुद्धि हो जानेके कारण जब वह उनकी सेवा करता है, तब उसे यही अनुभव होता है कि मैं देव-ब्राह्मण या दीन-दुःखी आदिके रूपमें अपने परम पूजनीय, परम प्रेमास्पद सर्वव्यापी श्रीभगवान्की ही सेवा कर रहा हूँ। मनुष्य जिसको कुछ भी श्रेष्ठ या सम्मान्य समझता है, जिसमें थोड़ी भी श्रद्धाभक्ति होती है, जिसके प्रति कुछ भी आन्तरिक सच्चा प्रेम होता है, उसकी सेवामें उसको बड़ा भारी आनन्द और विलक्षण शान्ति मिलती है। क्या पितृभक्त पुत्र, स्नेहमयी माता और प्रेमप्रतिमा पत्नी अपने पिता, पुत्र और पतिकी सेवा करनेमें कभी थकते हैं? क्या सच्चे शिष्य या अनुयायी मनुष्य अपने श्रद्धेय गुरु या पथदर्शक महात्माकी सेवासे किसी भी कारणसे हटना चाहते हैं? जो पुरुष या स्त्री जिनके लिये गौरव, प्रभाव या प्रेमके पात्र होते हैं, उनकी सेवाके लिये उनके अंदर क्षण-क्षणमें नयी-नयी उत्साह-लहरी उत्पन्न होती है; ऐसा मन होता है कि इनकी जितनी सेवा की जाय उतनी ही थोड़ी है! वे इस सेवासे यह नहीं समझते कि हम इनका उपकार कर रहे हैं; उनके मनमें इस सेवासे अभिमान नहीं उत्पन्न होता, वरं ऐसी सेवाका अवसर पाकर वे अपना सौभाग्य समझते हैं और जितनी ही सेवा बनती है, उनमें उतनी ही विनयशीलता और सच्ची नम्रता बढ़ती है। वे अहसान तो क्या करें, उन्हें पद-पदपर यह डर रहता है कि कहीं हम इस सौभाग्यसे वंचित न हो जायँ। ये ऐसा इसीलिये करते हैं कि इससे उन्हें अपने चित्तमें अपूर्व शान्तिका अनुभव होता है; परन्तु यह शान्ति उन्हें सेवासे हटा नहीं देती, क्योंकि उनका चित्त निरन्तर आनन्दातिरेकसे

छलकता रहता है और वे इस आनन्दसे न अघाकर उत्तरोत्तर अधिक-से-अधिक सेवा ही करना चाहते हैं। जब सांसारिक गौरव, प्रभाव और प्रेममें सेवा इतनी सच्ची, इतनी लगनभरी और इतनी शान्तिप्रद होती है, तब भगवान्‌का जो भक्त सबके रूपमें अखिल जगत्‌के परमपूज्य, देवाधिदेव, सर्वशक्तिमान्, परम गौरव तथा अचिन्त्य प्रभावके नित्य धाम अपने परम प्रियतम भगवान्‌को पहचानकर अपनी विशुद्ध सेवावृत्तिको हृदयके सच्चे विश्वास और अविरल प्रेमकी निरन्तर उन्हींकी ओर बहनेवाली पवित्र और सुधामयी मधुर धारामें पूर्णतया डुबा-डुबाकर उनकी पूजा करता है, तब उसे कितना और कैसा अलौकिक आनन्द तथा कितनी और कैसी अपूर्व दिव्य शान्ति मिलती होगी—इस बातको कोई नहीं बतला सकता। जिनको भगवत्कृपासे ऐसा सौभाग्य प्राप्त होता है, वे ही वस्तुतः इसका अनुभव कर सकते हैं।

प्रश्न—भगवान्‌को 'सर्वलोकमहेश्वर' समझना क्या है और ऐसा समझनेवालेको कैसे शान्ति मिलती है?

उत्तर—इन्द्र, वरुण, कुबेर, यमराज आदि जितने भी लोकपाल हैं तथा विभिन्न ब्रह्माण्डोंमें अपने-अपने ब्रह्माण्डका नियन्त्रण करनेवाले जितने भी ईश्वर हैं, भगवान् उन सभीके स्वामी और महान् ईश्वर हैं। इसीसे श्रुतिमें कहा है—'**तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्**' 'उन ईश्वरोंके भी परम महेश्वरको' (श्वे० उ० ६। ७)। अपनी अनिर्वचनीय मायाशक्तिके द्वारा भगवान् अपनी लीलासे ही सम्पूर्ण अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हुए सबको यथायोग्य नियन्त्रणमें रखते हैं और ऐसा करते हुए भी वे सबसे ऊपर ही रहते हैं। इस प्रकार भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता, सर्वाध्यक्ष और सर्वेश्वरेश्वर समझना ही उन्हें '**सर्वलोकमहेश्वर**' समझना है। इस प्रकार समझनेवाला भक्त भगवान्‌के महान् प्रभाव और रहस्यसे अभिज्ञ होनेके कारण क्षणभर भी उन्हें नहीं भूल सकता। वह सर्वथा निर्भय और निश्चिन्त होकर उनका अनन्य चिन्तन करता है। शान्तिमें विघ्न डालनेवाले काम-क्रोधादि शत्रु उसके पास भी नहीं फटकते। उसकी दृष्टिमें भगवान्‌से बढ़कर कोई भी नहीं होता। इसलिये वह उनके चिन्तनमें संलग्न होकर नित्य-निरन्तर परम शान्ति और आनन्दके महान् समुद्र भगवान्‌के ध्यानमें ही डूबा रहता है।

प्रश्न—भगवान् सब प्राणियोंके सुहृद् किस प्रकार हैं और उनको सुहृद् जाननेसे शान्ति कैसे मिलती है?

उत्तर—सम्पूर्ण जगत्‌में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो भगवान्‌को न प्राप्त हो और जिसके लिये भगवान्‌का कहीं किसीसे कुछ भी स्वार्थका सम्बन्ध हो। भगवान् तो सदा-सर्वदा सभी प्रकारसे पूर्णकाम हैं (३। २२); तथापि दयामयस्वरूप होनेके कारण वे स्वाभाविक ही सबपर अनुग्रह करके सबके हितकी व्यवस्था करते हैं और बार-बार अवतीर्ण होकर नाना प्रकारके ऐसे विचित्र चरित्र करते हैं, जिन्हें गा-गाकर ही लोग तर जाते हैं। उनकी प्रत्येक क्रियामें जगत्‌का हित भरा रहता है। भगवान् जिनको मारते या दण्ड देते हैं उनपर भी दया ही करते हैं, उनका कोई भी विधान दया और प्रेमसे रहित नहीं होता। इसीलिये भगवान् सब भूतोंके सुहृद् हैं। लोग इस रहस्यको नहीं समझते, इसीसे वे लौकिक दृष्टिसे इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिमें सुखी-दुःखी होते रहते हैं और इसीसे उन्हें शान्ति नहीं मिलती। जो पुरुष इस बातको जान लेता है और विश्वास कर लेता है कि 'भगवान् मेरे अहैतुक प्रेमी हैं, वे जो कुछ भी करते हैं, मेरे मंगलके लिये ही करते हैं। वह प्रत्येक अवस्थामें जो कुछ भी होता है, उसको दयामय परमेश्वरका प्रेम और दयासे ओत-प्रोत मंगलविधान समझकर सदा ही प्रसन्न रहता है।' इसलिये उसे अटल शान्ति मिल जाती है। उसकी शान्तिमें किसी प्रकारकी भी बाधा उपस्थित होनेका कोई कारण ही नहीं रह जाता। संसारमें यदि किसी साधारण मनुष्यके प्रति, किसी शक्तिशाली उच्चपदस्थ अधिकारी या राजा-महाराजाका सुहृद्भाव हो जाता है और वह मनुष्य यदि इस बातको जान लेता है कि अमुक श्रेष्ठ शक्तिसम्पन्न पुरुष मेरा यथार्थ हित चाहते हैं और मेरी रक्षा करनेको प्रस्तुत हैं तो—यद्यपि उच्चपदस्थ अधिकारी या राजा-महाराजा सर्वथा स्वार्थरहित भी नहीं होते, सर्वशक्तिमान् भी नहीं होते और सबके स्वामी भी नहीं होते तथापि—वह अपनेको बहुत भाग्यवान् समझकर एक प्रकारसे निर्भय और निश्चिन्त होकर आनन्दमें मग्न हो जाता है, फिर यदि सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, सर्वदर्शी, अनन्त अचिन्त्य गुणोंके समुद्र, परमप्रेमी परमेश्वर अपनेको हमारा सुहृद् बतलावें और हम इस बातपर विश्वास करके उन्हें सुहृद् मान लें तो हमें कितना अलौकिक आनन्द और कैसी अपूर्व शान्ति मिलेगी? इसका अनुमान लगाना भी कठिन है।

प्रश्न—इस प्रकार जो भगवान्‌को यज्ञ-तपोंके भोक्ता, समस्त लोकोंके महेश्वर और समस्त प्राणियोंके सुहृद्—इन तीनों लक्षणोंसे युक्त जानता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है या इनमेंसे किसी एकसे युक्त समझनेवालेको भी शान्ति मिल जाती है?

उत्तर—भगवान्‌को इनमेंसे किसी एक लक्षणसे युक्त समझनेवालेको भी शान्ति मिल जाती है, फिर तीनों लक्षणोंसे

युक्त समझनेवालेकी तो बात ही क्या है? क्योंकि जो किसी एक लक्षणको भी भलीभाँति समझ लेता है, वह अनन्यभावसे भजन किये बिना रह ही नहीं सकता। भजनके प्रभावसे उसपर भगवत्कृपा बरसने लगती है और भगवत्कृपासे वह अत्यन्त ही शीघ्र भगवान्‌के स्वरूप, प्रभाव, तत्त्व तथा गुणोंको समझकर पूर्ण शान्तिको प्राप्त हो जाता है। अहा! उस समय कितना आनन्द और कैसी शान्ति प्राप्त होती होगी, जब मनुष्य यह जानता होगा कि 'सम्पूर्ण देवताओं और महर्षियोंसे पूजित भगवान्, जो समस्त यज्ञ-तपोंके एकमात्र भोक्ता हैं और सम्पूर्ण ईश्वरोंके तथा अखिल ब्रह्माण्डोंके परम महेश्वर हैं, मेरे परमप्रेमी मित्र हैं! कहाँ क्षुद्रतम और नगण्य मैं और कहाँ अपनी अनन्त अचिन्त्य महिमामें नित्यस्थित महान् महेश्वर भगवान्! अहा! मुझसे अधिक सौभाग्यवान् और कौन होगा?' और उस समय वह हृदयकी किस अपूर्व कृतज्ञताको लेकर, किस पवित्र भाव-धारासे सिक्त होकर, किस आनन्दार्णवमें डूबकर भगवान्‌के पावन चरणोंमें सदाके लिये लोट पड़ता होगा!

प्रश्न—भगवान् सब यज्ञ और तपोंके भोक्ता, सब लोकोंके महेश्वर और सब प्राणियोंके परम सुहृद् हैं—इस बातको समझनेका क्या उपाय है? किस साधनसे मनुष्य इस प्रकार भगवान्‌के स्वरूप, प्रभाव, तत्त्व और गुणोंको भलीभाँति समझकर उनका अनन्य भक्त हो सकता है?

उत्तर—श्रद्धा और प्रेमके साथ महापुरुषोंका संग, सत्-शास्त्रोंका श्रवण-मनन और भगवान्‌की शरण होकर अत्यन्त उत्सुकताके साथ उनसे प्रार्थना करनेपर उनकी दयासे मनुष्य भगवान्‌के इन प्रभाव और गुणोंको समझकर उनका अनन्य भक्त हो सकता है।

प्रश्न—यहाँ 'माम्' पदसे भगवान्‌ने अपने किस स्वरूपका लक्ष्य कराया है?

उत्तर—जो परमेश्वर अज, अविनाशी और सम्पूर्ण प्राणियोंके महान् ईश्वर होते हुए भी समय-समयपर अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके लीला करनेके लिये योगमायासे संसारमें अवतीर्ण होते हैं और जो श्रीकृष्णरूपमें अवतीर्ण होकर अर्जुनको उपदेश दे रहे हैं, उन्हीं निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार और अव्यक्त-व्यक्तस्वरूप, सर्वरूप, परब्रह्म परमात्मा, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वाधार और सर्वलोकमहेश्वर समग्र परमेश्वरको लक्ष्य करके 'माम्' पदका प्रयोग किया गया है।

उपर्युक्त श्लोकमें '**भोक्तारं यज्ञतपसाम्**' यह विशेषण परमात्मा ही सबके आत्मा हैं इस भावका वाचक होनेसे उनके सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामीस्वरूपका निर्देश करता है। '**सर्वलोकमहेश्वरम्**' यह विशेषण परमात्मा ही सबके स्वामी हैं इस भावका द्योतक होनेसे उनकी सर्वशक्तिमत्ता, सर्वैश्वर्य और अपरिमित प्रभावको बतलाता है और '**सुहृदं सर्वभूतानाम्**' यह विशेषण परमात्मा बिना ही कारण सब भूतोंके परम हितैषी हैं, इस भावका बोधक होनेके कारण उनकी अपार और अपरिमित दया, प्रेम आदि श्रेष्ठ गुणोंका प्रकाशक है।

ऐसे दयासिन्धु भगवान्‌की शरण होकर उनके गुण, प्रभाव और रहस्यको तत्त्वसे जानने एवं उन्हें प्राप्त करनेके लिये उनसे इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये—

'हे नाथ! आप दयासागर, सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ हैं, आपकी किंचित् दयासे ही सम्पूर्ण संसारका एक क्षणमें उद्धार हो सकता है, फिर हम-जैसे तुच्छ जीवोंकी तो बात ही क्या है? इसलिये हम आपको साष्टांग प्रणाम करके सविनय प्रार्थना करते हैं कि हे दयासिन्धो! हमपर दयाकी दृष्टि कीजिये जिससे हमलोग आपको यथार्थरूपसे जान सकें। यद्यपि आपकी सबपर अपार दया है किन्तु उसका रहस्य न जाननेके कारण हम सब उस दयासे वंचित हो रहे हैं, अतएव ऐसी कृपा कीजिये जिससे हमलोग आपकी दयाके रहस्यको समझ सकें। यदि आप केवल दयासागर ही होते और अन्तर्यामी न होते तो हमारी आन्तरिक पीड़ाको नहीं पहचानते; किन्तु आप तो सबके हृदयमें विराजमान सर्वान्तर्यामी भी हैं, इसलिये आपके वियोगमें हमारी जो दुर्दशा हो रही है उसे भी आप जानते हैं। आप दयासागर और सर्वान्तर्यामी होकर भी यदि सर्वेश्वर और सर्वसामर्थ्यवान् नहीं होते तो हम आपसे अपने कल्याणके लिये प्रार्थना नहीं करते परन्तु आप तो सर्वलोकमहेश्वर और सर्वशक्तिमान् हैं, इसलिये हमारे-जैसे तुच्छ जीवोंका इस मृत्युरूप संसार-सागरसे उद्धार करना आपके लिये अत्यन्त साधारण बात है।

हम तो आपसे यही चाहते हैं कि आपमें ही हमारा अनन्य प्रेम हो, हमारे हृदयमें निरन्तर आपका ही चिन्तन बना रहे और आपसे कभी वियोग न हो। आप ऐसे सुहृद् हैं कि केवल भक्तोंका ही नहीं परन्तु पतित और मूर्खोंका भी उद्धार करते हैं। आपके पतितपावन, पातकीतारण आदि नाम प्रसिद्ध ही हैं, इसलिये ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और सदाचारसे हीन हम-जैसे मूढ़ और पतितोंका उद्धार करना आपका परम कर्तव्य है।'

एकान्तमें बैठकर इस प्रकार सच्चे हृदयसे करुणाभावसे

गद्गद होकर उपर्युक्त भावोंके अनुसार किसी भी भाषामें प्रभुसे प्रार्थना करनेपर भगवत्कृपासे गुण, प्रभाव और तत्त्वसहित भगवान्‌को जानकर मनुष्य परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

भगवत्कृपा

(पद-पदपर दर्शन करनेका प्रकार)

किसी भाईका प्रश्न है कि भगवत्कृपा सहैतुक होती है या निर्हेतुक? मनुष्यको सभी अवस्थाओंमें भगवान्‌की दयाका दर्शन किस प्रकार करना चाहिये?

इसके उत्तरमें मेरा निवेदन है कि भगवत्कृपाके महत्त्वको वाणीद्वारा पूर्णरूपसे वर्णन करना असम्भव है। क्योंकि भगवान्‌की दयाका महत्त्व अपार है और वाणीद्वारा जो कुछ कहा जाता है वह स्वल्प ही है; भगवान्‌की कृपाके रहस्यको जो कोई महापुरुष यत्किंचित् भी समझते हैं, वे भी जितना समझते हैं उतना वाणीद्वारा बता नहीं सकते। भगवान्‌की कृपा सब जीवोंपर सदा-सर्वदा अपार है। लोगोंका इस विषयमें जितना अनुमान है उससे भी भगवान्‌की कृपा बहुत अधिक है, इस विषयमें 'भगवान्‌की दया' शीर्षक एक लेख 'कल्याण' में पहले छप चुका है[1]। विषय एक होनेके कारण कुछ पुनरुक्तियाँ आ सकती हैं, तथापि दोनों लेखोंको मिलाकर पढ़नेसे भगवान्‌की दयाका महत्त्व समझनेमें अधिक सहायता मिल सकती है।

वास्तवमें भगवान्‌की दया सभी प्राणियोंपर बिना किसी कारणके समभावसे सदा ही स्वाभाविक है, अतः उसे निर्हेतुक ही कहना चाहिये। परन्तु जो मनुष्य भगवान्‌की दयापर जितना अधिक विश्वास करता है, अपनेपर जितनी अधिक दया मानता है, वह उनकी दयाका तत्त्व उतना ही अधिक समझता है तथा उसे उतना ही अधिक प्रत्यक्ष लाभ मिलता है; इसलिये उसको सहैतुक भी कहा जा सकता है किन्तु भगवान्‌का इसमें अपना कोई हेतु नहीं है।

भगवान् तो सर्वथा पूर्णकाम, सर्वशक्तिमान्, महान् ईश्वर हैं। उनमें किसी प्रकारकी कामना या इच्छाकी कल्पना ही कैसे हो सकती है, जिससे उनकी दयामें किसी प्रकारके स्वार्थरूप हेतुको स्थान मिल सके। वे तो स्वभावसे ही—बिना कारण परम दयालु हैं, सबके सुहृद् हैं; उनकी सब क्रिया सम्पूर्ण जीवोंके हितके लिये ही होती है; वास्तवमें अकर्ता होते हुए भी वे दयावश जीवोंके हितकी चेष्टा करते हैं। अजन्मा होते हुए भी साधु पुरुषोंका उद्धार, धर्मका प्रचार और दुष्टोंका संहार[2] करनेके लिये एवं संसारमें अपनी पुनीत लीलाका विस्तार करके लोगोंमें प्रेम और श्रद्धाका संचार करनेके लिये समय-समयपर अवतार धारण करते हैं; निर्गुण, निराकार और निर्विकार होते हुए भी अपने भक्तोंके प्रेमके अधीन होकर सगुण और साकाररूपसे दर्शन देनेके लिये बाध्य होते हैं; सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् एवं सर्वथा स्वतन्त्र होते हुए भी प्रेममें पिघलकर भक्तके अधीन हो जाते हैं; इन सबमें उनकी निर्हेतुकी परम दया ही कारण है।

जो भगवान्‌को प्राप्त हुए भगवद्भक्त हैं, जो भगवान्‌की दयाके महत्त्वको समझ गये हैं, जिनमें उस दयामय परमेश्वरकी दयाका अंश व्याप्त हो गया है, उन महापुरुषोंका भी अन्य जीवोंसे किसी प्रकारका स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता। उनकी समस्त क्रियाएँ केवल लोकहितके लिये, किसी प्रकारके स्वार्थरूप हेतुके बिना ही होती हैं; तब फिर भगवान्‌की दया हेतुरहित हो, इसमें तो कहना ही क्या है! महापुरुषोंका किसी भी जीवके साथ किसी प्रकारका स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता, इस विषयमें भगवान् स्वयं कहते हैं—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(गीता ३। १८)

'उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।' तो भी उसके द्वारा केवल लोकहितार्थ कर्म किये जाते हैं।

इसी तरह अपने विषयमें भी भगवान् कहते हैं—

१-यह लेख 'कल्याण' वर्ष ५, अंक १२ में छपा था तथा तत्त्वचिन्तामणि भाग २ (लेख नं० १७) में भी संगृहीत है।

२-यहाँ 'संहार' रूपसे भी भगवान् कल्याण ही करते हैं। कहा भी है—

लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथार्भके। तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः॥

'जिस प्रकार बच्चेको प्यार करने और ताड़ना देने, दोनोंमें माताकी दया ही है, उसी प्रकार जीवोंके गुण-दोषोंका नियन्त्रण करनेवाले भगवान्‌की सब प्रकारसे उनपर कृपा ही है।'

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

(गीता ३। २२)

'हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ।'

तुलसीदासजीने भी कहा है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी।
तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं।
सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥

इस वर्णनसे यह पाया जाता है कि महापुरुषोंका और भगवान्‌का कोई कर्तव्य और प्रयोजन न रहते हुए भी लोगोंको उन्मार्गसे बचानेके लिये एवं नीति, धर्म और ईश्वरभक्तिरूप सन्मार्गमें लगानेके लिये केवल लोकहितार्थ उनके द्वारा सब क्रियाएँ हुआ करती हैं; इसमें उनकी अपार दया ही कारण है।

भगवान्‌के परम दयालु और सर्वशक्तिमान् होते हुए भी, समदर्शी और निःस्पृह होनेके कारण उनके द्वारा अपने-आप कोई क्रिया नहीं की जाती। श्रद्धा-प्रेमपूर्वक शरणागत होनेसे भक्तके हितके लिये ही, उनमें क्रियाका प्रादुर्भाव होता है और उनकी दयाका विकास होता है!

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि इस प्रकार भगवान्‌की समान भावसे सब जीवोंपर अपार दया है, तब फिर सभी जीवोंका कल्याण क्यों नहीं हो जाता? विवेचन करनेसे इसका यही उत्तर मिलता है कि उनकी दयाके तत्त्वको न जाननेके कारण लोग उस दयासे विशेष लाभ नहीं उठा सकते। जैसे जगत्तारिणी भागीरथी गंगाका प्रवाह लोकहितार्थ निरन्तर बहता रहता है, तथापि जो गंगाके प्रभावको नहीं जानते, जो श्रद्धा-भक्तिकी कमी होनेके कारण स्नान-पानादि नहीं करते, वे उससे विशेष लाभ नहीं उठा सकते; इसी तरह भगवान्‌की दयाका प्रवाह अहर्निश गंगाके प्रवाहसे भी बढ़कर सर्वत्र बह रहा है, तो भी मनुष्य उसका प्रभाव न जाननेके कारण एवं श्रद्धा-भक्तिकी कमी होनेके कारण, भगवान्‌की शरण लेकर उनकी दयासे विशेष लाभ नहीं उठा सकते।

समान भावसे भगवान्‌की दयाका साधारण लाभ तो सब जीवोंको मिलता ही है; परन्तु जो उसकी दयाका पात्र बन जाता है, वह उससे विशेष लाभ उठा सकता है। सूर्यकी धूप और रोशनी सर्वत्र समान भावसे सबको प्राप्त होती है, अतः समान भावसे उसका लाभ सबको मिलता है किन्तु सूर्यमुखी काँचपर उसकी शक्तिका विशेष प्रादुर्भाव होता है, उसमें तुरंत अग्नि प्रकट हो जाती है। सूर्यमुखी काँचकी भाँति जिसका अन्तःकरण शुद्ध होता है, जिसके अन्तःकरणमें भगवान्‌पर विशेष श्रद्धा और प्रेम होता है वह उनकी दयासे विशेष लाभ उठा सकता है।

मनुष्यके संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण, तीनों प्रकारके कर्मोंसे ही भगवान्‌की दयाका सम्बन्ध है—पूर्वकृत पुण्यकर्मोंका संचय भगवान्‌की दयासे ही हुआ है तथा उन संचित कर्मोंके अनुसार ही प्रारब्धभोगका विधान भगवान् दयापूर्वक जीवोंके हितके लिये ही करते हैं। अतः भगवान्‌की दयाके रहस्यको समझनेवाला प्रारब्ध-भोगके समय हर एक अवस्थामें भगवान्‌की दयाका दर्शन किया करता है। क्रियमाण शुभ कर्म भी भगवान्‌की दयासे ही बनते हैं, उनकी दयासे ही मनुष्य सन्मार्गमें अग्रसर हो सकता है। अतः सभी कर्मोंसे भगवान्‌की दयाका नित्य सम्बन्ध है।

श्रद्धा-भक्तिपूर्वक विचार करनेसे क्षण-क्षणमें, पद-पदपर, हर एक अवस्थामें मनुष्यको भगवान्‌की दयाके दर्शन होते रहते हैं। सब जीवोंको जल, वायु, प्रकाश आदि तत्त्वोंसे सुखभोग मिल रहा है, उनके जीवनका निर्वाह हो रहा है, खान-पान आदि कार्य चल रहे हैं, इन सबमें ईश्वरकी समान दया व्याप्त है।

मनुष्यके शुभ और अशुभ कर्मोंके अनुसार फलभोगकी व्यवस्था कर देनेमें भगवान्‌की दयाका ही हाथ है।

थोड़ा-सा जप, ध्यान और सत्संग करनेसे मनुष्यके जन्म-जन्मान्तरके पापोंका नाश होनेका जो भगवान्‌ने कानून बनाया है, इसमें तो भगवान्‌की अपार दया भरी हुई है।

भगवान्‌के शरण होकर प्रेम और करुणाभावसे प्रार्थना करनेपर प्रत्यक्ष प्रकट हो जाना, भक्तके हर प्रकारके दुःखों और संकटोंको दूर करना, सब प्रकारसे शरणागतकी रक्षा करना, हर एक प्रकारके पापकर्मसे उसे बचाना, यह उनकी विशेष दयाका प्रदर्शन है। बिना इच्छा और प्रार्थनाके भी भक्त प्रह्लादकी भाँति दृढ़ विश्वास रखकर भक्ति करनेवाले भक्तके हितके लिये स्वयं प्रकट होकर उसे दर्शन देना और सम्पूर्ण संकटोंसे उसकी रक्षा करना, यह भगवान्‌की दयाका अतिशय विशेष प्रदर्शन है।

महात्मा और शास्त्रोंके द्वारा या स्वतः लोगोंके अन्तःकरणमें प्रेरणा करके अथवा स्वयं अवतार लेकर लोगोंको बुरे कर्मोंसे हटाकर अच्छे कर्मोंमें लगा देना, यह भी भगवान्‌की विशेष दयाका प्रदर्शन है।

स्त्री, पुत्र, धन और मकान आदि सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति और उनका विनाश होनेमें एवं शरीरका स्वास्थ्य

ठीक रहने और न रहनेमें, रोग और संकटादिकी प्राप्ति और उनके विनाशमें तथा सुख-सम्पत्ति और दुःखोंकी प्राप्तिमें भी—हर एक अवस्थामें मनुष्यको भगवान्‌की दयाका दर्शन करनेका अभ्यास करना चाहिये।

स्त्री, पुत्र, धन और मकान आदि सांसारिक पदार्थोंकी वृद्धिमें समझना चाहिये कि भगवान्‌ने पूर्वकृत पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप ये सब पदार्थ दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिये, श्रेष्ठ कर्म करनेके लिये, भगवान्‌में प्रेम बढ़ानेके लिये और हर प्रकारसे ईश्वरभक्तिमें इनका प्रयोग करनेके लिये ही दिये हैं। ऐसा समझकर उन सांसारिक पदार्थोंसे जो केवल शरीरनिर्वाहमात्र ही अपना सम्बन्ध रखता है और उन सबको ईश्वरके ही काममें लगा देता है, वही ईश्वरकी दयाका रहस्य ठीक समझता है; जो उन पदार्थोंको भोगोंमें खर्च करता है, वह भगवान्‌की दयाके तत्त्वको नहीं समझता।

इन सब सांसारिक भोग-पदार्थोंके नाशके समय समझना चाहिये कि इन सबमें मेरी भोगबुद्धि और आसक्ति होनेके कारण ये ईश्वरभक्तिमें बाधक थे! अतः परम दयालु भगवान्‌ने दयावश अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये इन सबको हटाया है, इसमें भगवान्‌की परम दया है। जिस प्रकार संसारमें देखा जाता है कि पतंगे या दूसरे इसी प्रकारके जन्तु रोशनीको देखकर उसपर आसक्त हो जाते हैं, मोहवश उसमें उछल-उछलकर पड़ते और भस्म हो जाते हैं; उनकी ऐसी बुरी दशा देखकर, दयालु मनुष्य उस रोशनीको वहाँसे हटा देता या बुझा देता है; इस कार्यमें उस मनुष्यकी उन पतंगोंपर महान् दया है, यद्यपि वे पतंग इस बातको नहीं समझते; उनकी समझमें तो उस रोशनीको हटानेवाला अत्यन्त निर्दयी और महान् शत्रु है; पर यह उनका अज्ञान है, उनकी भूल है; इसी तरह हमारे भोले भाई जो ईश्वरकी दयाका रहस्य नहीं जानते, वे भी इन सब सांसारिक पदार्थोंका अभाव होते देखकर नाना प्रकारसे ईश्वरको दोष दिया करते हैं; परन्तु भगवान् तो परम दयालु हैं, इसलिये वे उनके अपराधकी ओर नहीं देखते। तथा मुझपर परम दया करके भगवान्‌ने पूर्वकृत पापकर्मोंसे उऋण करनेके लिये, भविष्यमें पापोंसे बचानेके लिये और समस्त भोगसामग्रीको प्रत्यक्ष क्षणभंगुर दिखाकर उनमें वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये इन सबका वियोग किया है—ऐसा समझकर जो सांसारिक भोग-पदार्थोंके वियोगमें भी भगवान्‌की दयाका दर्शन करके सदा प्रसन्न रहता है, वही उनकी दयाके रहस्यको ठीक समझता है।

ऐसे ही जब शरीर आरोग्य रहे तो समझना चाहिये कि भगवान्‌को सर्वव्यापी समझकर सबमें भगवान्‌का दर्शन करते हुए दूसरोंकी सेवा करनेके लिये, श्रेष्ठ पुरुषोंका संग करके भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझनेके लिये और उनके भजन-ध्यानका निरन्तर अभ्यास करनेके लिये भगवान् दया करके मुझे नीरोग रखते हैं। ऐसा समझकर इस क्षणभंगुर शरीरको जो परम दयालु परमात्माके काममें उपर्युक्त उद्देश्यानुसार लगा देता है, वही उनकी दयाके रहस्यको ठीक समझता है।

शरीर रोगग्रस्त होनेसे समझना चाहिये कि पूर्वकृत पापकर्मोंसे उऋण करनेके लिये, भविष्यमें पापोंसे बचानेके लिये, शरीरमें वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये और रोगादिमें तपबुद्धि करके उसका लाभ देनेके लिये एवं बार-बार अपनी स्मृति दिलानेके लिये, भगवान्‌ने परम दया करके पुरस्काररूप यह अवस्था दी है। यह समझकर जो रोगादिकी प्राप्तिमें भी किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं करके आनन्दपूर्वक अपने मनको निरन्तर भगवान्‌के चिन्तनमें लगा देता है, तथा भगवान्‌के उपर्युक्त उद्देश्योंको समझ-समझकर सदा हर्षित रहता है, वही भगवान्‌की दयाके रहस्यको ठीक समझता है।

इसी तरह सुखी और दुःखी, महात्मा और पापी जीवोंके साथ मिलन और विछोह होनेके समय एवं उनसे किसी प्रकारका भी सम्बन्ध होते समय, सदा भगवान्‌की दयाका दर्शन करना चाहिये।

अच्छे पुरुषोंसे भेंट हो तो समझना चाहिये कि इनके गुणों और आचरणोंका अनुकरण करवानेके लिये, इनके उपदेशोंको काममें लाकर भगवान्‌में प्रेम बढ़ानेके लिये, भगवान्‌ने परम दया करके इनसे भेंट करायी है।

उनके साथ वियोग होनेपर समझना चाहिये कि ऐसे पुरुषोंका संग सदा रहना दुर्लभ है, इस महत्त्वको समझानेके लिये, पुनः उनसे मिलनेकी उत्कट इच्छा उत्पन्न करनेके लिये और उनमें प्रेम बढ़ानेके लिये भगवान् दया करके ही उनसे वियोग कराते हैं।

दुष्ट, दुराचारी पुरुषोंसे भेंट होनेपर समझना चाहिये कि दुराचारोंसे होनेवाली हानियोंको प्रत्यक्ष दिखाकर, दुर्गुण और दुराचारमें विरक्ति उत्पन्न करनेके लिये भगवान् ऐसे मनुष्योंसे भेंट कराते हैं।

उनके वियोगमें समझना चाहिये कि कुसंगके दोषोंसे बचानेके लिये ही भगवान् अपनी दयासे ऐसे दुराचारी मनुष्योंसे वियोग कराते हैं।

दुःखी मनुष्यों और जीवोंसे भेंट होनेपर समझना चाहिये कि अन्तःकरणमें करुणाभावकी वृद्धि करनेके लिये, उनकी सेवा करनेका मौका देनेके लिये और संसारमें

वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये दयामय भगवान् दया करके ही ऐसे जीवोंसे भेंट कराते हैं।

सुखी मनुष्योंसे और जीवोंसे भेंट होनेपर समझना चाहिये कि इन सबको सुखी देखकर प्रसन्न होनेकी शिक्षा देनेके लिये, भगवान्ने दया करके इनसे भेंट करायी है।

इन सबके वियोगमें समझना चाहिये कि जनसमुदायकी आसक्तिको दूर करके, संसारमें परम वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये और एकान्तमें रहकर भजन-ध्यानका दृढ़ अभ्यास करनेके लिये भगवान्ने दयापूर्वक ऐसा मौका दिया है।

इसी तरह अन्य सब घटनाओंमें सदा-सर्वदा, सभी अवस्थाओंमें, भगवान्की दयाका दर्शन करना चाहिये। ऐसा अभ्यास करके मनुष्य, सब जीवोंपर जो भगवान्की अपार दयाका प्रवाह बह रहा है, उसके रहस्यको समझकर, उससे विशेष लाभ उठा सकता है।

दयामय परमेश्वरकी सब जीवोंपर इतनी दया है कि सम्पूर्ण रूपसे तो मनुष्य उसे समझ ही नहीं सकता; मनुष्य अपनी बुद्धिसे अपने ऊपर जितनी अधिक-से-अधिक दया समझता है, उतना समझना भी बहुत ही है; मनुष्य ईश्वरकृपाकी यथार्थरूपसे तो कल्पना भी नहीं कर सकता।

लोग भगवान्को दयासागर कहते हैं; किन्तु विचार करनेपर मालूम होता है कि यह उपमा भी पर्याप्त नहीं है, यह तो उसकी अपार दयाका किंचित् परिचयमात्र है। समुद्र परिमित—सीमाबद्ध है और भगवान्की दया असीम और अपार है, तथापि संसारमें समुद्रसे बड़ी वस्तु प्रत्यक्ष न होनेके कारण लोग उसीकी उपमा देकर भगवान्की दयाके महत्त्वको समझानेकी चेष्टा किया करते हैं।

इस प्रकार सब जीवोंपर भगवान्की अपार दया होते हुए भी उसके रहस्यको न समझनेके कारण मनुष्य उससे विशेष लाभ नहीं उठा सकते और अपनी मूर्खताके कारण निरन्तर दुःखोंमें मग्न रहते हैं।

भगवान्की दयाका महत्त्व अपार है; उससे जो मनुष्य जितना लाभ उठाना चाहेगा, उतना ही उठा सकता है। भगवान्की दयाको एवं उसके रहस्य और तत्त्वको बिना समझे वह दया समान भावसे साधारण फल देती है; उसे जो जितना अधिक समझता है उसे वह उतना ही अधिक फल देती है और समझकर उसीके अनुसार क्रिया करनेसे अत्यधिक फल देती है।

भगवान्की दयाका ऐसा प्रभाव है कि उसका रहस्य और तत्त्व जाननेवालेसे वह पारसमणिकी भाँति स्वयं क्रिया करवा लेती है अर्थात् जैसे किसी दरिद्री मनुष्यके घरमें पारस पड़ा हो पर उसे उसका ज्ञान न हो, वह उसे साधारण पत्थर ही समझ रहा हो, तो वह मनुष्य उससे विशेष लाभ नहीं उठा सकता, केवल पत्थर-जैसा ही काम ले सकता है। किन्तु ऐसा करते-करते यदि अकस्मात् उस पारसका लोहेसे सम्बन्ध हो जाय तो वह उसे विशेष लाभ भी दे देता है; एवं ऐसा अद्‌भुत चमत्कार देखकर या किसी दूसरे गुणज्ञ पुरुषके समझानेसे, वह उस पारसको ठीक पारस समझ लेता है, उस पारसके गुण और प्रभावका उसे भलीभाँति ज्ञान हो जाता है, तब ऐसा ज्ञान उस मनुष्यसे विशेष क्रिया करवाकर, उसे पूर्ण फलका भागी बना देता है। इसी तरह जब किसी विशेष घटनासे या किसी महापुरुषके संगसे, भगवान्की दयाके रहस्य, तत्त्व और प्रभावका मनुष्यको कुछ ज्ञान हो जाता है तो वह ज्ञान उससे स्वयं क्रिया करवाकर उसे पूर्ण फलका भागी बना देता है।

जो मनुष्य इस रहस्यको समझ जाता है कि भगवान् परम दयालु तथा सबके सुहृद् हैं, उसे तुरंत ही परम शान्ति मिल जाती है। भगवान्ने स्वयं कहा है—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(गीता ५। २९)

'हे अर्जुन! मेरा भक्त मुझे सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी तत्त्वतः जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

क्यों न हो। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जब किसी साधारण राजाधिराज या सेठ-साहूकारके विषयमें हमारा यह विश्वास हो जाता है कि अमुक राजा या सेठ बड़ा दयालु और शक्तिशाली है, वह सबपर दया करता है एवं मुझसे मिलना चाहता है और प्रेम करना चाहता है तो हमें कितना आनन्द होता है कितना आश्वासन मिलता है, कितनी शान्ति मिलती है एवं किस प्रकार उससे मिलकर उसकी दयासे लाभ उठानेकी चेष्टा होती है। फिर सर्वशक्तिमान्, असंख्य कोटि ब्रह्माण्डोंके मालिक भगवान्के विषयमें जिसको यह विश्वास हो जाय कि भगवान् परमदयालु, सबके सुहृद् हैं, वे मुझसे प्रेम करना चाहते हैं, मुझपर उनकी अपार दया है, मिलनेकी इच्छावालोंसे वे स्वयं मिलना चाहते हैं, पर वह श्रद्धालु भक्त भगवान्की उस दयासे परम लाभ उठानेकी चेष्टा करे और उसे परम शान्ति प्राप्त हो, इसमें तो आश्चर्य ही क्या है। इस प्रकार भगवान्की दयाके रहस्यको समझनेवाला स्वयं भी परम दयालु और सबका सुहृद् बन जाता है, उसे स्वयं भगवान् मिल जाते हैं, वह भगवान्का अतिशय प्यारा बन जाता है, भगवान्की और उसकी एकता हो जाती है।

उस परम दयालु, सबके सुहृद्, सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी अपार दया हमलोगोंपर स्वाभाविक है। क्षण-क्षणमें उसकी

दयाका स्वाभाविक लाभ हमको मिल रहा है, वे स्वयं अवतार लेकर अपनी दयाका प्रत्यक्ष दर्शन करा गये हैं; इसलिये उसकी ओर लक्ष्य करके भगवान्‌की दयाके रहस्य, प्रभाव और तत्त्वको समझनेके लिये हमें तत्पर हो जाना चाहिये। क्योंकि यह मनुष्य-शरीर भगवान्‌की निर्हेतुकी दयासे ही प्राप्त हुआ है, इसीमें यह जीव भगवान्‌की दयाको समझकर उनका परम प्रेमपात्र बन सकता है। क्षण-क्षणमें आयु नष्ट हो रही है, फिर ऐसा मौका मिलना असम्भव है। गया हुआ समय वापस नहीं मिल सकता, अतः ऐसे अमूल्य मनुष्य-जीवनको विषय-भोगोंके भोगनेमें, मोह-मायामें, आलस्य और प्रमादमें व्यर्थ नहीं खोना चाहिये।

शरणागतिका स्वरूप और फल

शरणागतिका प्रारम्भिक स्वरूप क्या है तथा बादमें उसका क्या स्वरूप हो जाता है—इसी विषयपर इस निबन्धमें विचार करना है। यह विषय बहुत ही गम्भीर और रहस्यपूर्ण है। जो व्यक्ति इस रहस्यको हृदयंगम कर लेता है वह सदाके लिये कृतार्थ हो जाता है। महर्षि पतंजलिने भी योगदर्शनमें पहले मनोनिरोधके लिये अभ्यास और वैराग्यका कथन किया है और फिर 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (१।२३) कहकर शरणागतिका महत्त्व प्रतिपादन किया है। रामायण और गीता आदिमें भी ईश्वरशरणको ही भगवत्प्राप्तिका मुख्य साधन बतलाया गया है। शरणागति और भक्ति—दोनोंका एक ही तात्पर्य है। इनके पूर्व 'अनन्य' शब्द जोड़ देनेपर भक्ति और शरणागतिमें पूर्णता आ जाती है।

शरणका आरम्भ 'हे नाथ! मैं आपका हूँ' इस कथनमात्रसे ही हो जाता है। यही कथन आगे चलकर यथार्थ शरणागतिके रूपमें परिणत हो जाता है। मारवाड़में क्यामख्यानी नामकी एक मुसलमान जाति है। सुना जाता है कि पहले ये लोग हिंदू थे। जिस जगह ये प्रधानतासे रहा करते थे वहाँके शासकने इन्हें मुसलमान बना लेनेकी नीयतसे यह कहा कि 'तुमलोगोंसे मैं एक बातकी आशा करता हूँ। वह यह कि तुमलोग वास्तवमें चाहे मुसलमान न भी बनो पर कम-से-कम पूछनेपर अपनेको मुसलमान बतलाते रहो।' इस राजाज्ञाको मान लेनेमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं हुई। उनके घरू व्यवहार और वैयक्तिक रहन-सहन ठीक हिंदुओंके-जैसे ही बने रहे, पर पूछनेपर वे अपनेको मुसलमान ही बतलाते थे। आश्चर्य है कि मुसलमान शासककी यह दूरदर्शितापूर्ण नीति शीघ्र ही काम कर गयी और आज उनके खान-पान और रहन-सहन आदि समस्त व्यवहार मुसलमानी ढाँचेमें पूर्णरूपसे ढल गये। अब वे लोग अपनेको वास्तवमें पूरे मुसलमान मानने लगे हैं। इस दृष्टान्तके अनुसार यदि हम अपने ईश्वररूप राजाके व्यापक राज्यमें रहकर यह स्वीकार कर लें कि 'हे प्रभो! हम आपके हैं।' तो फिर हमें सच्चा भक्त बन जानेमें देर नहीं लगेगी, क्योंकि उस दयालु परमेश्वरने तो डंकेकी चोटपर यह घोषणा ही कर रखी है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा० रा० ६। १८। ३३)

अर्थात् 'मेरी शरण आनेके लिये जो एक बार भी यह कह देता है कि 'हे नाथ! मैं आपका हूँ।' तो मैं उसे समस्त भूतोंसे निर्भय कर देता हूँ। यह मेरा व्रत है।' महाभारत-युद्ध-आरम्भके समय गीतामें अर्जुन भी इसी प्रकार शरणागतके रूपमें हमें दृष्टिगत होते हैं। वे मनस्तापसे व्यथित होकर अपने चिरन्तन सखा भगवान् श्रीकृष्णके सामने कातर स्वरमें कह उठते है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

(गीता २। ७)

अर्थात् 'कायरतारूप दोष करके उपहत हुए स्वभाववाला तथा धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपको पूछता हूँ कि जो साधन निश्चय ही कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ; इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये।'

इसके पूर्व गीतामें कहीं भी शरणागतिका वर्णन नहीं आया इसलिये यह शरणागति प्रारम्भिक समझनी चाहिये, क्योंकि इसके बाद ही वे कहने लगते हैं कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा।' संजय कहते हैं—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥

(गीता २। ९)

'हे राजन्! निद्राको जीतनेवाले अर्जुन अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराजके प्रति इस प्रकार कहकर फिर श्रीगोविन्दभगवान्‌से 'युद्ध नहीं करूँगा' यह स्पष्ट कहकर चुप हो गये।'

अर्जुनकी इस '**न योत्स्ये**' वाली उक्तिको सुनकर भगवान् अपनी मुसकराहटको रोक न सके, क्योंकि एक तरफ तो वे कह रहे हैं कि 'मैं आपके शरण हूँ, मुझे उपदेश दीजिये' और दूसरी ओर अपनी मनमानी कहते है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा।' यह व्यवहार तो उस झगड़ालूकी तरहका-सा हुआ कि जो अपने किसी विश्वास-भाजन पंचके पास जाकर कहता है कि 'मेरा एक नालीके सम्बन्धमें पड़ोसीसे झगड़ा हो गया है। आप उसका निपटारा कर दीजिये। मुझे आपका निर्णय सर्वथा मान्य होगा। किन्तु इस बातका ध्यान रहे कि इस नालीका पानी तो जहाँ गिरता है वहीं गिरेगा।' इस बातको सुनकर पंच उसके इस आग्रहको देखकर मन-ही-मन हँसता है और न्यायके लिये किसी दूसरेके पास जानेकी सलाह देता है। यहाँ अर्जुनकी भी दशा इसी तरहकी-सी देखी जाती है। वह कहते है कि मैं आपके शरण हूँ, आप कहेंगे सो करूँगा, परन्तु युद्ध नहीं करूँगा। इस दशामें भी दयामय भगवान्‌को अर्जुनके इस कथनपर कोई अन्यथाभाव नहीं हुआ, उन्होंने उन्हें अपने शरणसे दूर नहीं किया। बल्कि हर तरहसे समझा-बुझाकर मार्गपर लानेकी सफल चेष्टा की। क्योंकि वे '**त्वां प्रपन्नम्**' 'मैं आपके शरण हूँ' ऐसा एक बार कह चुके थे।

इस कथनसे यह नहीं समझना चाहिये कि वास्तवमें अर्जुनकी भगवद्भक्तिमें कमी थी। उनकी भक्तिमें कमी होती तो भगवान् उनके रथके घोड़े ही क्यों हाँकते? बात यह है कि भगवान्‌ने अपनी लीलासे अर्जुनको मोहित-सा करके यहाँ लोकशिक्षार्थ प्रारम्भिक शरणागतिका स्वरूप दिखलाया है।

यह तो प्रारम्भिक शरणकी बात हुई। अब शरणागतिके स्वरूपको समझनेकी आवश्यकता है। इन्द्रिय, मन, शरीर और आत्मा सबसे सर्वथा निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌के शरण होनेका नाम ही अनन्य शरणागति है। परमेश्वरके नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला और रहस्यका सदा मनन करते रहना मनसे भगवान्‌के शरण होना है। वाणीसे भगवन्नामका उच्चारण करना, चरणोंसे भगवान्‌के मन्दिर आदिमें जाना, नेत्रोंसे भगवान्‌की मूर्ति आदिके दर्शन एवं शास्त्रावलोकन करना, कानोंसे उनके गुणानुवादादि सुनना तथा हाथोंसे उनके विग्रहकी पूजा करना और सबमें भगवद्बुद्धि करके सबकी सेवा करना तथा श्रीहरिकी आज्ञाओंका पालन करना इत्यादि इन्द्रियोंसे उनके शरण होना है। और उनके चरणोंमें साष्टांग प्रणाम करना आदि शरीरसे भगवान्‌के शरण होना है। तथा भगवत्प्रेमके सिवा और किसीको भी हृदयमें स्थान न देकर भगवान्‌के परायण होना ही अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर देना है, यही अनन्य शरण है। शास्त्रोंमें तो परम दयालु परमात्माको केवल एक ही बार प्रणाम कर देनेका भी बहुत अधिक माहात्म्य बतलाया गया है—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥

(महा०, शान्ति० ४७।९१)

'भगवान् श्रीकृष्णको किया हुआ एक भी प्रणाम दस अश्वमेधयज्ञोंके अवभृथस्नानके बराबर है, (इतना ही नहीं, विशेषता यह है कि) दस अश्वमेध करनेवालेको तो फिर जन्म लेना पड़ता है, किन्तु भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवालेको फिर जन्म नहीं लेना पड़ता।'

इसी प्रकार श्रीहरिके पावन नामका केवल एक ही बार उच्चारण कर देनेसे भी समस्त पापोंका नाश होकर अकथनीय फलकी प्राप्ति होती है। प्रत्यक्षमें वैसा फल दृष्टिगत न होनेमें हमारी अश्रद्धा ही प्रधान कारण है।

वाणीसे शरण होना जितना सुगम है, शरीरकी शरणागति उतनी सुगम नहीं है। एक आदमी किसीका अपराध कर देता है तब वह अपनेको संकटापन्न समझकर क्षमा-याचनाके लिये उसके शरणमें जाता है। उस समय वह अपने मुँहसे तो उससे क्षमा माँग लेता है पर उसके चरणोंमें गिरने आदिमें उसे संकोच होता है। फिर भी वह केवल कथनद्वारा भी अपने अपराधोंकी क्षमा करवा ही लेता है। वाणी और शरीरसे शरण होनेकी अपेक्षा इन्द्रियोंसहित अन्तःकरणद्वारा शरण होना और भी कठिन है। क्योंकि मनुष्य वाणीसे कह देता है कि मैं आपके शरण हूँ और शरीरसे भी चरणोंमें गिरकर शरणागत हो जाता है परन्तु मनसे शरण होना इससे भी कठिन है। मनसे शरण हो जानेका फल यह है कि भगवान्‌के सिवा किसी अन्य वस्तुका चिन्तन ही नहीं होता। उसे तो नित्य-निरन्तर अपने प्रियतम वासुदेव ही सर्वत्र विराजित दीखने लगते हैं।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।

(गीता ७।१९)

उपर्युक्त प्रकारसे परमात्माके शरण हो जानेपर किसी-किसी साधकको तो अपने तनकी भी सुधि नहीं रहती। वह भगवान्‌से परे और किसीको भी नहीं जानता और भगवान्‌के ही अनन्य प्रेममें मग्न रहता है। इस शरणागतिमें पूर्वोक्त सभी भेदोंका अन्तर्भाव है।

अब यह प्रश्न उठ सकता है कि हम उस प्रभुकी शरणके लिये कहाँ जायँ? मन्दिरमें जाकर उसके विग्रहकी शरण लें अथवा सब जगह प्रतिष्ठित सर्वव्यापक विभुकी शरण ग्रहण करें? इसके उत्तरमें निवेदन है कि जिसकी

जैसी रुचि हो वह उसीके अनुसार भगवान्‌की शरण ले सकता है। यदि कारणविशेषसे मन्दिरोंमें जानेमें सुविधा या रुचि न हो तो जो जहाँ हो वह वहीं भगवान्‌की शरण हो सकता है। क्योंकि भगवान् सर्वव्यापक हैं, कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ वे न हों। यदि हम उन्हें कोई वस्तु अर्पण करना चाहें तो वे तत्काल उसे ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि वे '**सर्वतःपाणि**' अर्थात् सब ओर हाथोंवाले हैं। यदि हम उन्हें नमस्कार करना चाहें तो वे हमारे नमस्कारको भी सब जगह स्वीकार कर सकते हैं; क्योंकि वे '**सर्वतःपाद**' अर्थात् सब जगह पैरवाले हैं। यदि हम उन्हें अपनी श्रद्धामयी पूजा-क्रियादिको दिखलाना चाहें तो वे उन्हें देख भी सकते हैं; क्योंकि वे '**सर्वतोऽक्षि**' अर्थात् सब जगह नेत्रोंवाले हैं। यदि हम उनके मस्तकपर प्रेमपुष्पांजलि समर्पित करना चाहें तो वे उसे भी सहर्ष स्वीकार कर सकते हैं; क्योंकि वे '**सर्वतःशिरः**' अर्थात् सब स्थानोंपर सिरवाले हैं। हमारे द्वारा किये गये गुणानुवादोंको भी वे प्रभु सब जगह सुन सकते हैं; क्योंकि वे '**सर्वतःश्रुतिमत्**' अर्थात् सभी जगह कानोंवाले हैं। इस प्रकार प्रेमसे अर्पण किये हुए हमारे नैवेद्यको भी वे '**सर्वतोमुखः**' भगवान् निःसंकोच खा सकते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता ९। २६)

अर्थात् 'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रेमसे खाता हूँ।'

ऊपरकी पंक्तियोंमें भगवान्‌के निमित्त पूजा आदि क्रियाओंको करनेकी विधिका निरूपण किया गया। अब निराकार सर्वत्र व्यापक भगवान् विभुकी आज्ञाएँ कैसे प्राप्त की जायँ इस विषयपर कुछ लिखा जाता है। गीताके उपदेशोंको ही भगवान्‌की आज्ञा मानकर अर्जुनकी तरह अपने-आपको उसके अनुगत बना दे। इसपर यह शंका हो सकती है कि किसी सन्दिग्ध विषयको न समझ सकनेकी दशामें उसका समाधान किस प्रकार किया जाय। इसका उत्तर यह है कि एकान्तमें बैठकर 'सर्वभूताशयस्थित' भगवान्‌को अपने मनके समस्त सन्देह सुना दे, ऐसा करनेपर वे स्वतः ही हृदयमें प्रेरणा कर देंगे। इसपर भी हृदयकी मलिनताके कारण यदि कोई बात समझमें न आ सके तो भगवान्‌के भक्तोंको पूछना चाहिये। उन भक्तोंका पता भी भगवान् ही बतला सकेंगे, वे जिनके लिये हृदयमें प्रेरणा करें वे ही हमारे लिये भक्त कहे जा सकते हैं।

हम भगवान्‌की पूर्णतया शरण हो गये—इसका निश्चय कैसे हो? इस शंकाका समाधान करनेके लिये अर्जुनका दृष्टान्त देते हैं। अर्जुनसे भगवान् कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(गीता १८। ६५)

'हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।'

इस श्लोकमें शरणागतिकी चारों बातें आ गयीं। '**मन्मनाः!**' अर्थात् मेरेमें मन लगानेवाला हो। '**मद्भक्तः**' मुझमें ही, स्त्री-पुत्रादिमें नहीं प्रेम करनेवाला हो। '**मद्याजी**' से भगवान्‌की पूजा और आज्ञापालन समझना चाहिये। '**नमस्कुरु**' अर्थात् मेरे चरणोंमें प्रणाम कर। प्रणाम करनेका महत्त्व तो लोकमें भी प्रत्यक्ष ही देखनेमें आता है। जब अपराधी चरणोंमें गिर पड़ता है तो चाहे कोई कितना ही निष्ठुर हृदय क्यों न हो उसे उसको क्षमा प्रदान करनी ही पड़ती है। छोटा बालक अपराध करके अपनी माताकी गोदमें जा बैठता है और बड़ा चरणोंमें गिर पड़ता है। इसी प्रकार भक्त अपने परम सुहृद् परमात्माके पादपद्मोंमें गिर पड़े। फिर वे चाहे मारें या तारें; इसकी कोई परवा नहीं, भगवान्‌के द्वारा किये हुए विधानमें सदा प्रसन्न रहे, भारी-से-भारी दुःख पड़नेपर भी कभी विचलित न हो। जिस समय बालकके फोड़ेकी चीराफाड़ी होती है उस समय वह अपनी माताकी गोदमें सुखसे बैठा रहता है, जरा भी घबड़ाता नहीं। वह रोता हुआ भी इस बातको जानता है कि मेरी स्नेहमयी जननी कभी स्वप्नमें भी मेरा अहित नहीं कर सकती। उसका प्रत्येक विधान मेरे लिये सदा मंगलमय ही होता है। इसी प्रकार भक्त निःशंक होकर विश्वासपूर्वक भगवान्‌के चरणोंमें पड़ा रहता है। भारी-से-भारी दुःखके उपस्थित होनेपर भी बुद्धिके विचारसे वह उसके गर्भमें अपने कल्याणको देखता रहता है किन्तु कभी-कभी प्रणयकोप भी कर बैठता है और कभी-कभी रोने भी लगता है। प्रभु उसके बालकपनको समझकर उसके दुःखकी, उसके रोनेकी परवा नहीं करते और अन्तमें उसे ऐसा बना देते हैं कि वह प्रत्येक अवस्थामें सन्तुष्ट रहता है। अनिकेत बन जाता है—देह और गेह उसके निकेत नहीं रहते। उसका देहाभिमान छूट जाता है और उसकी गृहासक्ति नष्ट हो जाती है।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

(गीता १२। १९)

इस प्रकार बुद्धिके स्थिर हो जानेपर वह प्रत्येक विधानमें प्रसन्न रहता है। गीताके १२ वें अध्यायके श्लोक १३ से २० तकमें भक्तोंके जितने लक्षण भगवान्‌ने बतलाये हैं यदि वे हममें घटने लगें तो समझ लेना चाहिये कि हम भगवान्‌के पूर्णतया शरण हो गये।

यहाँतक शरणागतिकी प्रारम्भिक और अन्तिम स्थितिका प्रतिपादन किया गया। अब उसकी बीचकी सीढ़ियोंपर भी कुछ प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। जिस प्रकार हनुमान्‌जीने छलाँग मारकर ही समुद्रको पार कर लिया था उसी प्रकार भक्त भी बीचकी सीढ़ियोंपर चढ़े बिना भी संसारसमुद्रसे पार होकर परमात्माकी दयासे अपने अभीष्ट धामको पहुँच सकता है।

भगवान् श्रीकृष्णद्वारा वर्णित अध्याय १६ के आरम्भके '**अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः**' आदि दैवी सम्पदाके २६ गुणोंको अपने हृदयमें धारण कर लेना ही शरणागतिकी बीचकी अवस्था है इसका फल भगवत्प्राप्ति है।

यदि कहें कि दैवी सम्पत्तिके लक्षण भक्तिमार्गके साधन क्यों माने जायँ, तो भगवान्‌ने नवें अध्यायमें स्पष्ट कहा है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

(गीता ९। १३)

'परन्तु हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं।'

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

(गीता ९। १४)

'वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्य प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं।'

इस श्लोकमें भक्ति (शरणागति)-के लक्षणोंका वर्णन किया है इसलिये दैवी सम्पत्तिको भक्तिके प्रकरणमें लेना उचित ही है।

शरणागतिके मार्गपर चलनेवाले साधकके हृदयमें दुर्गुण और दुराचार स्वतः ही नष्ट होते जाते हैं तथा सदाचार और सद्‌गुणका विकास भी भगवान्‌की दयासे अपने-आप ही होता जाता है। दैवी सम्पदाकी प्राप्ति और आसुरी सम्पदाके नाशमें भगवान्‌की दया ही प्रधान हेतु है। यदि सद्‌गुणोंकी वृद्धि होती न दीखे तो समझना चाहिये कि शरणमें अभी त्रुटि है। जैसे सूर्यकी शरण ले लेनेपर अन्धकारको कहीं भी स्थान नहीं रह जाता वैसे ही भगवान्‌के शरण हो जानेपर हृदयमें किसी प्रकारका दोष रह ही नहीं सकता! शरणागतिकी दृढ़ताके लिये साधकको सदा आत्मनिरीक्षण करते रहना चाहिये। वह अपने मनको सदा देखता रहे कि उसमें सद्‌गुणोंका और भगवान्‌का वास हो रहा है या विषयोंका। वह ध्यान रखे कि उसकी वाणी भगवद्‌गुणानुवादका रसानुभव कर रही है या नहीं। उसकी क्रियाएँ भगवान्‌के बदले कहीं भोगोंके लिये तो नहीं हो रही हैं? शरीरको समर्पित कर देनेपर तत्सम्बन्धी सुख-दुःखोंमें साधकको भगवान्‌की दया स्पष्टरूपसे दीखने लगती है। ज्यों-ज्यों भगवान्‌में प्रेम बढ़ता है त्यों-त्यों विषयोंमें आनन्द कम होता जाता है और भगवान्‌में बढ़ता जाता है यही प्रेमकी कसौटी है। भगवान्‌में जितना प्रेम बढ़ता जायगा, भगवान्‌का उतना ही ज्ञान होता जायगा, उतना ही सांसारिक विषयोंमें वैराग्य होकर उनमें स्वतः ही आनन्द कम प्रतीत होने लगेगा। धीरे-धीरे भगवान्‌के प्रेमका आनन्द बढ़ेगा और फिर उसके सामने त्रिलोकीका आनन्द भी तुच्छ प्रतीत होगा।

भगवान्‌के शरणार्थीको ऐसा मानना चाहिये कि भगवान् जो कुछ करते हैं, सब मंगल ही करते हैं। उनके प्रत्येक विधानमें दया और न्याय मानकर आनन्दित होना चाहिये। उन्हीं नवीन कर्मोंको करना चाहिये जिनसे भगवान् प्रसन्न हों। भगवान्‌को हर समय याद रखना चाहिये। स्त्री-पुत्र आदिके प्राप्त होनेपर यह समझे कि भगवत्-प्राप्तिमें सहायताके लिये ये मिले हैं, और इनके नाश होनेपर यह समझे कि मैं इनकी आसक्तिमें फँस गया था इसलिये भगवान्‌ने दया करके इनको हटा लिया है। इसी प्रकार अन्य विषयोंकी प्राप्ति और विनाशमें भी समझना चाहिये।

यों समझते-समझते मनका जितना-जितना विकार हटता जाता है, उतना-उतना ही वह प्रभुके नजदीक जाता रहता है। प्रभुकी दयासे उसमें सद्‌गुणोंकी वृद्धि होती रहती है। वह किसीकी सेवा करता है तो यह समझता है कि मैं प्रभुकी ही सेवा कर रहा हूँ। हरेक कालमें उसका निःस्वार्थ भाव रहता है। जैसे पतिव्रता स्त्री अतिथियोंकी सेवा करती है परन्तु उनमें आसक्त नहीं होती, इसी प्रकार भक्त भी सारी दुनियाकी सेवा करता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं होता।

किसी-किसी भक्तमें ऐसा भी होता है कि जब सेवा करनेसे उसकी प्रतिष्ठा होने लगती है तब आरम्भमें तो वह उससे प्रसन्न-सा होता है और खूब सेवा करता है परन्तु आगे जाकर विचार करता है कि मैं तो मान-बड़ाईके लिये सेवा कर रहा हूँ, प्रभुके लिये कहाँ? धीरे-धीरे

उसकी मान-बड़ाईकी चाह कम होती जाती है और वह स्वयं मान-बड़ाईके उद्देश्यको छोड़ता जाता है; परन्तु फिर भी दूसरोंके द्वारा दी गयी मान-बड़ाईको कहीं स्वीकार कर बैठता है। इसके बाद वह मान-बड़ाईके प्राप्त होनेपर लज्जित हो जाता है। मनमें समझता है कि पृथ्वी फट जाय तो उसमें धँस जाऊँ और इसके बाद तो जहाँ ऐसा मौका आनेकी सम्भावना होती है वहाँ वह जाना ही नहीं चाहता, जैसे पतिव्रता स्त्री बुरे वातावरणमें नहीं जाना चाहती। ऐसी अवस्थामें उसे मान-बड़ाईमें दुःख और अपमान तथा निन्दामें सुख-सा प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार क्रमशः उसके अहंकारका कतई नाश होता जाता है, वह विचार करता है कि मुझमें जो 'मैं' था, वह 'मैं' तो प्रभुके शरण हो गया। अब तो मैं प्रभुकी कठपुतलीमात्र हूँ। इसी स्थितिको बतलाते हुए भगवान् कह रहे हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ६-७)

'परन्तु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं। हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसमुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

मतलब यह कि जिस प्रकार कठपुतलीको सूत्रधार जैसे नचाता है वह वैसे ही नाचती है। अपनी ओरसे कोई चेष्टा नहीं करती वैसे ही वह भक्त अपने अहंकारसे कुछ भी नहीं करता। उसके द्वारा जो कुछ होता है, सब भगवान् ही करते हैं, इसीलिये उसकी प्रत्येक क्रिया परम पवित्र और आदर्श होती है। उससे ऐसा कोई कार्य होता ही नहीं जो भगवान्‌की आज्ञा और रुचिके प्रतिकूल हो। यही कर्मोंका अर्पण है। उसके मन, शरीर और इन्द्रियाँ सब कुछ भगवान्‌के ही अर्पित होती हैं। इसी प्रकार वह सुख-दुःखकी प्राप्तिमें भी किसी प्रकार अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होता। वरं उसे भगवान्‌का विधान समझकर पद-पदमें भगवान्‌की दयाका दर्शन करता हुआ मुग्ध रहता है। उसका चित्त अनन्यरूपसे केवल भगवान्‌के ही चिन्तनमें लगा रहता है, दूसरे किसी विषयके अस्तित्वकी भी कल्पना उसकी वृत्तिमें नहीं आती। इस प्रकार कर्मसे, शरीर और इन्द्रियोंसे और मन-बुद्धिसे जो सर्वथा भगवान्‌के अर्पित हो जाता है उसे भगवान् स्वयं अति शीघ्र संसार-सागरसे उद्धार कर अपना परमप्रेमी बना लेते हैं और स्वयं उसके परमप्रेमी बन जाते हैं। ऐसी स्थितिमें उसको सब ओर प्रभुका ही रूप दीखने लगता है। वह अपने-आपको सर्वथा भूलकर प्रेममय बन जाता है। तब उसे नीतिका भी ज्ञान नहीं रहता। वह मस्त हो जाता है। यही पूर्ण शरणागति है, इसीको अनन्यभक्ति और अनन्य शरण कहते हैं, यही अपने-आपको भगवान्‌के पूर्णतया समर्पण करना है।

भगवान्‌की शरणसे परमपदकी प्राप्ति

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८। ६२)

भगवान् कहते हैं—'हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको* प्राप्त हो। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको और सनातन परमधामको प्राप्त होगा।'

सब प्रकारसे भगवान्‌के शरण होनेके लिये बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और शरीर—इन सबको सम्पूर्णरूपसे भगवान्‌के अर्पण कर देनेकी आवश्यकता है। परन्तु यह अर्पण केवल मुखसे कह देनेमात्रसे नहीं हो जाता। इसलिये इसके अर्पणका क्या स्वरूप है, इसको समझानेकी कुछ चेष्टा की जाती है।

बुद्धिका अर्पण

भगवान् 'हैं' इस बातका बुद्धिमें प्रत्यक्षकी भाँति नित्य-निरन्तर निश्चय रहना, संशय, भ्रम और अभिमानसे सम्पूर्णतयारहित होकर भगवान्‌में परम श्रद्धा करना, बड़ी-से-बड़ी विपत्ति पड़नेपर भी भगवान्‌की आज्ञासे तनिक भी न हटना यानी प्रतिकूल भाव न होना तथा पवित्र हुई बुद्धिके द्वारा गुण और प्रभावसहित भगवान्‌के स्वरूप और तत्त्वको जानकर उस तत्त्व और स्वरूपमें बुद्धिका अविचलभावसे नित्य-निरन्तर स्थित रहना—यह बुद्धिका भगवान्‌में अर्पण करना है।

* लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्तिको त्यागकर, शरीर और संसारमें अहंता-ममतासे रहित होकर केवल एक परमात्माको ही परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझना तथा अनन्य भावसे अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना एवं भगवान्‌का भजन, स्मरण रखते हुए ही उनके आज्ञानुसार कर्तव्यकर्मोंका निःस्वार्थभावसे केवल परमेश्वरके लिये ही आचरण करना यह 'सब प्रकारसे परमात्माके अनन्य शरण' होना है।

मनका अर्पण

प्रभुकी अनुकूलतामें अनुकूलता, उनके इच्छानुसार ही इच्छा और उनकी प्रसन्नतामें ही प्रसन्न होना, प्रभुके मिलनेकी मनमें उत्कट इच्छा होना, केवल प्रभुके नाम, रूप, गुण, प्रभाव, रहस्य और लीला आदिका ही मनसे नित्य-निरन्तर चिन्तन करना, मन प्रभुमें रहे और प्रभु मनमें वास करें—मन प्रभुमें रमे और प्रभु मनमें रमण करें। यह रमण अत्यन्त प्रेमपूर्ण हो और वह प्रेम भी ऐसा हो कि जिसमें एक क्षणका भी प्रभुका विस्मरण जलके वियोगमें मछलीकी व्याकुलतासे भी बढ़कर मनमें व्याकुलता उत्पन्न कर दे। यह भगवान्‌में मनका अर्पण करना है।

इन्द्रियोंका अर्पण

कठपुतली जैसे सूत्रधारके इशारेपर नाचती है—उसकी सारी क्रिया स्वाभाविक ही सूत्रधारकी इच्छाके अनुकूल ही होती है, इसी प्रकार अपनी सारी इन्द्रियोंको भगवान्‌के हाथोंमें सौंपकर उनकी इच्छा, आज्ञा, प्रेरणा और संकेतके अनुसार कार्य होना और इन्द्रियोंद्वारा जो कुछ भी क्रिया हो उसे मानो प्रभु ही करवा रहे हैं ऐसे समझते रहना—अपनी इन्द्रियोंको प्रभुके अर्पण करना है।

इस प्रकार जब सारी इन्द्रियाँ प्रभुके अर्पण हो जायँगी तब वाणीके द्वारा जो कुछ भी उच्चारण होगा, सब भगवान्‌के सर्वथा अनुकूल ही होगा। अर्थात् उसकी वाणी भगवान्‌के नाम-गुणोंके कीर्तन, भगवान्‌के रहस्य, प्रेम, प्रभाव और तत्त्वादिके कथन; सत्य, विनम्र, मधुर और सबके लिये कल्याणकारी भाषणके अतिरिक्त किसीको जरा भी हानि पहुँचानेवाले, दोषयुक्त या व्यर्थ वचन बोलेगी ही नहीं। उसके हाथोंके द्वारा भगवान्‌की सेवा, पूजा और इस लोक और परलोकमें सबका यथार्थ हित हो, ऐसी ही क्रिया होगी। इसी प्रकार उसके नेत्र, कर्ण, चरण आदि इन्द्रियोंके द्वारा भी लोकोपकार आदि क्रियाएँ भगवान्‌के अनुकूल ही होंगी। और उन क्रियाओंके होनेके समय अत्यन्त प्रसन्नता, शान्ति, उत्साह और प्रेम-विह्वलता रहेगी। भगवत्प्रेम और आनन्दकी अधिकतासे कभी-कभी रोमांच और अश्रुपात भी होंगे।

शरीरका अर्पण

प्रभुके चरणोंमें प्रणाम करना, यह शरीर प्रभुकी सेवा और उनके कार्यके लिये ही है ऐसा समझकर प्रभुकी सेवामें और उनके कार्यमें शरीरको लगा देना, खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना सब कुछ प्रभुके कार्यके लिये ही होना यह शरीरका अर्पण है। जैसे शेषनागजी अपने शरीरकी शय्या बनाकर निरन्तर उसे भगवान्‌की सेवामें लगाये रहते हैं; जैसे राजा शिबिने अपना शरीर कबूतरकी रक्षाके लिये लगा दिया, जैसे मयूरध्वज राजाके पुत्रने अपने शरीरको प्रभुके कार्यमें अर्पण कर दिया, वैसे ही प्रभुकी इच्छा, आज्ञा, प्रेरणा और संकेतके अनुसार लोकसेवाके रूपमें या अन्य किसी रूपमें शरीरको प्रभुके कार्यमें लगा देना ही शरीरका प्रभुके अर्पण करना है।

बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और शरीरको प्रभुके अर्पण करनेके बाद कैसी स्थिति होती है, इसको समझनेके लिये एक पतिव्रता स्त्रीके उदाहरणपर विचार कीजिये।

समझ लीजिये एक पतिव्रता देवी थी, उसकी सारी क्रियाएँ इसी भावसे होती थीं कि मेरे पति मुझपर प्रसन्न रहें। यही उसका मुख्य ध्येय था। पातिव्रत-धर्म भी यही है। उसके पतिको भी इस बातका अनुभव था कि मेरी स्त्री पतिव्रता है। एक बार पतिने अपनी स्त्रीके मनके अत्यन्त विरुद्ध क्रिया करके उसकी परीक्षा लेनी चाही। परीक्षा सन्देहवश ही होती हो सो बात नहीं है, ऊपर उठाने और उत्साह बढ़ानेके लिये भी परीक्षाएँ हुआ करती हैं।

एक समय पतिदेवके भोजन कर चुकनेपर वह पतिव्रता देवी भोजन करने बैठी। उसने अभी दो-चार कौर ही खाये थे कि इतनेमें पतिने आकर उसकी थालीमें एक अंजलि बालू डाल दी और वह हँसने लगा। स्त्री भी हँसने लगी। पतिने पूछा—'तू क्यों हँसती है?' स्त्रीने कहा—'आप हँसते हैं, इसीलिये मैं भी हँसती हूँ। मेरी प्रसन्नताका कारण आपकी प्रसन्नता ही है।' पतिने कहा—'मैं तो तेरे मनमें विकार उत्पन्न करनेके लिये हँसता था किन्तु विकार तो उत्पन्न नहीं हुआ।' स्त्री बोली—'मुझे इस बातका पता नहीं था कि आप मुझमें विकार देखना चाहते हैं। विकारका होना तो स्वाभाविक ही है; किन्तु आप मुझमें विकार नहीं देखते, यह आपकी ही दया है।' इस कथनपर पतिको यह निश्चय हो गया कि उसकी स्त्री पतिव्रता है।

जो पुरुष सब प्रकारसे अपने-आपको भगवान्‌के अर्पण कर देता है, उसकी भी सारी क्रियाएँ पतिव्रता स्त्रीकी भाँति स्वामीके अनुकूल होने लगती हैं। वह अपने इच्छानुसार कोई कार्य कर रहा है परन्तु ज्यों ही उसे पता लगता है कि स्वामीकी इच्छा इससे पृथक् है, उसी क्षण उसकी इच्छा बदल जाती है और वह स्वामीके इच्छानुकूल कार्य करने लगता है। चाहे वह कार्य उसके बलिदानका ही क्यों न हो! वह बड़े हर्षके साथ उसे करता है। स्वामीके पूर्णतया शरण होनेपर तो स्वामीके इशारेमात्रसे ही उनके हृदयका भाव समझमें आने लगता है। फिर तो वह प्रेमपूर्वक आनन्दके साथ उसीके अनुसार कार्य करने लगता है।

दैवयोगसे अपने मनके अत्यन्त विपरीत भारी संकट आ पड़नेपर भी वह उस संकटको—अपने दयामय स्वामीके दयापूर्ण विधानको पुरस्कार समझकर अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करता है।

यह सारा संसार उस नटवरका क्रीडास्थल है, प्रभु स्वयं इसमें बड़ी ही निपुणताके साथ नाट्य कर रहे हैं, उनके समान चतुर खिलाड़ी दूसरा कोई भी नहीं है, यह जो कुछ हो रहा है सब उन्हींका खेल है। उनके सिवा कोई भी ऐसा अद्भुत खेल नहीं कर सकता। इस प्रकार इस संसारकी सम्पूर्ण क्रियाओंको भगवान्‌की लीला समझकर वह शरणागत भक्त क्षण-क्षणमें प्रसन्न होता रहता है और पग-पगपर प्रभुकी दयाका दर्शन करता रहता है।

यही भगवान्‌की अनन्य शरण है और यही अनन्य भक्ति है। इस प्रकार भगवान्‌के शरण होनेसे मनुष्य भगवान्‌के यथार्थ तत्त्व, रहस्य, गुण, महिमा और प्रभावको जानकर अनायास ही परमपदको प्राप्त हो जाता है।

गीताका रहस्य

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

(महा० भीष्म० ४३।१)

'गीता सुगीता करनेयोग्य है, अर्थात् श्रीगीताजीको भली प्रकार पढ़कर अर्थ और भावसहित अन्तःकरणमें धारण कर लेना मुख्य कर्तव्य है, क्योंकि यह स्वयं श्रीपद्मनाभ (विष्णु) भगवान्‌के मुखारविन्दसे निकली हुई है। फिर अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है?'

ऐसा कहकर श्रीव्यासजीने अन्य शास्त्रोंकी निन्दा नहीं की; उनका तात्पर्य तो केवल गीताकी प्रशंसामें है। यहाँ एक बात विशेष विचारणीय है। इस श्लोकमें 'पद्मनाभ' और 'मुखपद्म'—इन दो शब्दोंका प्रयोग क्यों किया गया है? 'पद्मनाभ' तो भगवान् विष्णुका नाम है और गीता भगवान् कृष्णके मुख-कमलसे निकली है। फिर उनके लिये 'पद्मनाभ' क्यों कहा गया? इसका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌ने यह स्पष्टतया गीता (४।६)-में कहा है कि मैं अजन्मा और ईश्वर होनेपर भी संसारके उद्धारके लिये प्रकट होता हूँ। भगवान् विष्णु ही कृष्णके रूपमें प्रकट हुए हैं। अतः भगवान् विष्णु और कृष्णमें कोई अन्तर नहीं है।

यह गीता उन्हीं भगवान्‌के मुखकमलसे निकली है जिनकी नाभिसे कमल निकला था। उस कमलसे ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। ब्रह्माजीसे चारों वेद प्रकट हुए और उनके आधारपर ही समस्त ऋषिगणोंने सम्पूर्ण शास्त्रोंकी रचना की है। अतः गीताको अच्छी प्रकार भावसहित समझकर धारण कर लेनेपर, अन्य सब शास्त्रोंकी आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि सारे शास्त्रोंका विस्तार तो भगवान्‌की नाभिसे हुआ और गीता स्वयं भगवान्‌के मुखकमलसे कही गयी है। यही नहीं, गीता सारे उपनिषदोंका सार है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।

'सारे उपनिषद् तो गाय हैं, भगवान् श्रीकृष्ण उनके दुहनेवाले हैं।' तात्पर्य यह है—सारे उपनिषदोंका सार निकालकर गीताके रूपमें वर्णन किया है।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥

(गीता १३।४)

'यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे कहा गया है और विविध वेदमन्त्रोंद्वारा भी विभागपूर्वक कहा गया है तथा भलीभाँति निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है।' (वही तू मुझसे सुन।)

अब यह विचारना है कि गीताका सारभूत श्लोक कौन-सा है। विचार करनेपर १८ वें अध्यायका ६६ वाँ श्लोक ही उसका सार मालूम होता है, जो इस प्रकार है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'सर्वधर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।' इस श्लोकमें ही गीताका उपसंहार हुआ है और यह नियम है कि किसी भी ग्रन्थके उपक्रम और उपसंहारमें जो बात रहती है वह उसका मुख्य तात्पर्य हुआ करता है। अतः गीताका उपसंहाररूप होनेके कारण यह श्लोक ही मुख्य सारभूत होना चाहिये।

अब यह देखना है कि यह श्लोक किस उपक्रमका उपसंहार है। गीताका उपक्रम इस प्रकार होता है।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

(२।११)

'हे अर्जुन! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है। परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते।' इस श्लोकका प्रथम पद '**अशोच्यान्**' है, उपसंहारमें भी अन्तिम पद '**मा शुचः**' है। इससे सिद्ध होता है कि शोकनिवृत्ति ही गीताका प्रधान उद्देश्य है।

युद्धके 'आरम्भमें अपने कुटुम्बियोंको ही अपने विरुद्ध खड़े हुए देखकर अर्जुन मोहग्रस्त हो गया था। उसकी मोहनिवृत्तिके लिये ही गीताका उपदेश किया गया। उस उपदेशका उपसंहार करते हुए भगवान्ने चार बातें कही हैं—

१-तू सारे धर्मोंको त्याग दे।

२-तू केवल एक मेरी शरण हो जा।

३-मैं तुझे पापोंसे छुड़ा दूँगा।

४-तू शोक न कर।

यहाँ '**सर्वधर्मान् परित्यज्य**' का भाव किन्हीं-किन्हीं महानुभावोंने सर्वकर्मोंके फलका त्याग बतलाया है, परन्तु शब्दोंसे ऐसा भाव व्यक्त नहीं होता। दूसरे पक्षका कथन है कि ऐसा कहकर भगवान्ने स्वरूपसे समस्त धर्मोंका त्याग बतलाया है। किन्तु ऐसा अर्थ भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि अर्जुनने भगवान्की आज्ञासे युद्ध ही किया—एकान्तसेवन नहीं किया। तीसरा पक्ष कहता है कि अपने कर्तव्यकर्मोंको करता हुआ उसमें अकर्तृत्वबुद्धि रखे यही भगवान्का आशय है। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा कहना ज्ञानकी दृष्टिसे सम्भव है किन्तु यहाँ प्रकरण भक्तियोगका है।

अब हमें यह देखना है कि इसका अर्थ किस प्रकार करना चाहिये। सबसे पहले इस बातपर विचार करना है कि 'शरण' शब्दका अभिप्राय क्या है? हमें इसका वही अर्थ लेना चाहिये जो भगवान्ने गीतामें लिया हो। नवम अध्यायके अन्तमें भगवान् कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

इसके पूर्व बत्तीसवें और तैंतीसवें श्लोकोंमें भगवान् कहते हैं—'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं। फिर इसमें तो कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन मेरी शरण होकर परम गतिको प्राप्त होते हैं। इसलिये तू सुखरहित और क्षणभंगुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।' इस प्रकार भगवदाश्रय अर्थात् शरणकी आवश्यकता बतलाकर उपर्युक्त श्लोकमें भगवान्ने शरणका स्वरूप बतलाया है। यहाँ भगवान् कहते हैं कि 'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन* करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।' अतः भगवत्-स्मरण और भगवत्सेवा पूजा-नमस्कार आदिमें तत्पर रहते हुए भगवान्के आज्ञानुसार कर्म करना ही गीतोक्त 'शरणागति' है। जहाँ ईश्वराज्ञा और धर्मपालनमें विरोध-सा प्रतीत हो, वहाँ भगवत्-शरणापन्न भक्तका भगवदाज्ञा मानना ही मुख्य कर्तव्य है। इस विषयमें हमें महाभारतके कर्णवध-प्रसंगपर ध्यान देना चाहिये—

वीर कर्णके रथका पहिया पृथ्वीमें धँस गया है; वह उसे बाहर निकालनेमें व्यस्त है।

उस समय अर्जुनको अपने ऊपर बाण चलाते हुए देखकर कर्णने अर्जुनसे कहा—'हे महाधनुषधारी अर्जुन! तुम जगत्प्रसिद्ध महावीर और महात्मा हो, सहस्त्रार्जुनके समान योद्धा हो, शस्त्र और शास्त्रोंके ज्ञाता हो, अतएव तुम क्षणभर ठहरो। जबतक मैं पहियेको न निकाल लूँ, तबतक तुम बाण न छोड़ो। क्योंकि यह धर्म नहीं है।'

(महा० कर्णपर्व ९०।१०८—११६)

तब श्रीकृष्णभगवान्ने कर्णसे कहा कि 'हे राधापुत्र! तुमने आज प्रारब्धसे ही धर्मको याद किया, किन्तु तुमलोग अपने कर्मोंकी तरफ खयाल नहीं करते। हे कर्ण! तुमलोगोंने भीमको विष दिया, पाण्डवोंको लाक्षाभवनमें जलाया, द्रौपदीको सभामें बुलाकर नाना प्रकारके कुवचन कहे और उसको अपमानित किया, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था?'

वनवासे व्यतीते च वर्षे कर्ण त्रयोदशे।
न प्रयच्छसि यद् राज्यं क्व ते धर्मस्तदा गतः॥

(महा० कर्णपर्व ९१।४)

'हे कर्ण! जब तेरह वर्ष वनमें रहकर पाण्डव आये, तब भी तुमलोगोंने उनको राज्य न दिया; उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था?'

यदाभिमन्युं बहवो युद्धे जघ्नुर्महारथाः।
परिवार्य रणे बालं क्व ते धर्मस्तदा गतः॥

(महा० कर्णपर्व ९१।११)

'जब तुम अनेक महारथियोंने मिलकर बालक अभिमन्युको

* गीता १८।४६ तथा ९।२६-२७ के अनुसार यहाँ पूजा समझनी चाहिये।

युद्धमें चारों तरफसे घेरकर मारा था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था?'

'क्या इन सब प्रसंगोंमें धर्मकी आवश्यकता नहीं थी? इस समय ही तुम्हें धर्म याद आया है। विशेष बोलनेसे कुछ लाभ नहीं। अब तुम जीते न बचोगे।'

इस प्रकार श्रीकृष्णकी बातोंको सुनकर कर्णने लज्जासे सिर नीचा कर लिया। तब श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा कि इस समय तुम कर्णको दिव्य बाणसे मारो। यद्यपि उस समय शस्त्ररहित पृथ्वीपर खड़े हुए कर्णके धर्मयुक्त वचनोंको सुनकर अर्जुन बाण चलानेमें हिचकिचाते थे, किन्तु भगवान्‌के वचनोंको सुनकर उनका सारा संकोच निवृत्त हो गया और वह निःशंक होकर कर्णपर बाण छोड़ने लगे।* इसी प्रकार प्रत्येक भक्तका कर्तव्य भगवदाज्ञा-पालन ही है। इसीका नाम भगवच्छरणागति है। भगवदाज्ञाके सामने अन्य किसी धर्मका न मानना 'सर्वधर्मपरित्याग' है। ईश्वराज्ञा और धर्मशास्त्रमें विरोध-सा प्रतीत होनेपर भगवदाज्ञा ही माननीय है; क्योंकि धर्मका तत्त्व गहन है, साधारण पुरुष उसका निर्णय नहीं कर सकते।

दूसरे श्लोकार्द्धमें भगवान् कहते हैं—

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

यहाँ '**मा शुचः**' यह पद उपक्रमका उपसंहार करनेके लिये है। अर्जुनको मोहवश भविष्यमें होनेवाले बन्धुवधका शोक था। अतः भगवान्‌ने उसकी शोकनिवृत्तिके लिये ही गीताशास्त्रका उपदेश दिया। उन्होंने अर्जुनको बतलाया कि आत्मा तो अशोच्य है ही, किन्तु यदि तू शरीरोंकी ओर विचार करे तो वे भी अशोच्य ही हैं। क्योंकि—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

(गीता २। २८)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद भी अप्रकट हो जानेवाले हैं, केवल बीचमें ही प्रकट हैं; फिर ऐसी स्थितिमें क्या शोक करना है?'

अतः स्वभावतः नाशवान् होनेके कारण शरीरके लिये शोक करना व्यर्थ है। आत्माकी दृष्टिसे विचार करें तो भी शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवान्‌ने कहा है कि—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

(गीता २। २४)

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥

(गीता २। २५)

'यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और निःसन्देह अशोष्य है। तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है। यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है और यह आत्मा विकाररहित कहा जाता है। इससे हे अर्जुन! इस आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे जानकर तू शोक करनेको योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है।'

अतः आत्माके लिये भी चिन्ता करना सर्वथा अयुक्त है। यही उपदेश भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने ताराको दिया था—

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा।
जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥
उपजा ग्यान चरन तब लागी।
लीन्हेसि परम भगति बर माँगी॥

(रा० च० मा०, कि० ११। ४—६)

इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि शरीर या आत्मा किसीके लिये भी शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! यदि तू कहे कि शरीरसे आत्माका वियोग होनेके लिये मैं चिन्तित हूँ। तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(गीता २। २२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।'

इस श्लोकमें श्रीभगवान्‌ने पूर्व शरीरको त्यागकर दूसरे नवीन शरीरकी प्राप्तिके सम्बन्धमें वस्त्रोंके बदलनेका दृष्टान्त देकर अर्जुनको आत्माकी नित्यता समझायी है। वस्त्रोंके उदाहरणके विषयमें कई प्रकारकी शंकाएँ की जाती हैं, अतः यहाँ उनका समाधान किया जाता है।

* वास्तवमें अर्जुनका कर्णपर बाण चलाना अधर्म नहीं था, क्योंकि आततायियोंको किसी प्रकार भी मारना, धर्मशास्त्रमें न्याय बताया गया है और कर्ण आततायी था, यह बात भगवान्‌के वचनोंसे सिद्ध हो चुकी है।

शंका—पुराने वस्त्रोंके त्याग और नवीन वस्त्रोंके धारण करनेमें मनुष्यको सुख होता है, किन्तु पुराने शरीरके त्याग और नये शरीरके ग्रहणमें तो क्लेश होता है, अतएव यह उदाहरण समीचीन नहीं है।

समाधान—पुराने शरीरके त्याग और नये शरीरके ग्रहणमें यानी मृत्यु और जन्ममें अज्ञानीको ही दुःख होता है और अज्ञानी तो बालकके समान है। धीर, विवेकी एवं भक्तको शरीरपरित्यागमें दुःख नहीं होता। भगवान्‌ने कहा है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(गीता २। १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता। रामायणमें भी लिखा है—श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें दृढ़ प्रीति करके बालिने उसी प्रकार देहका त्याग कर दिया था जैसे हाथी अपने गलेसे फूलकी मालाका त्याग कर देता है। यानी मृत्युके दुःखका उसे पता ही नहीं लगा—

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥

(रा० च० मा०, कि० १०)

पुराने वस्त्रोंको त्यागने और नये वस्त्र धारण करनेमें भी हर्ष उन्हींको होता है जो नये-पुराने वस्त्रके तत्त्वको जानते हैं। छः महीने या सालभरके बच्चेकी माँ जब उसके पुराने गंदे वस्त्रको उतारती है तब वह बालक रोता है और नया साफ-सुथरा वस्त्र पहनाती है तब भी वह रोता है। किन्तु माता उसके रोनेकी परवा न करके उसके हितके लिये वस्त्र बदल ही देती है। इसी प्रकार मातारूप भगवान् भी अपने प्रिय बालकरूप जीवके हितार्थ उसके रोनेकी कुछ भी परवा न करके उसकी देहको बदल देते हैं। अतएव यह उदाहरण सर्वथा समीचीन है।

शंका—भगवान्‌ने यहाँ शरीरोंके साथ '**जीर्णानि**' पदका प्रयोग किया है, परन्तु यह कोई नियम नहीं है कि वृद्ध होनेपर या शरीर पुराना होनेपर ही मनुष्यकी मृत्यु होती हो। हम नवीन उम्रके जवान और बच्चोंको भी मरते हुए देखते हैं। अतएव यह उदाहरण भी युक्तियुक्त नहीं जँचता।

समाधान—यहाँ '**जीर्णानि**' पदसे अस्सी या सौ वर्षकी आयुसे तात्पर्य नहीं है। प्रारब्धवश युवा या बाल जिस किसी अवस्थामें प्राणी मरता है वही उसकी आयु समझी जाती है और आयुकी समाप्तिका नाम ही जीर्णावस्था है। वस्त्रके दृष्टान्तसे यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है। अमुक वस्त्र नया है या पुराना इस बातको हम दूरसे देखकर ही नहीं पहचान सकते। धोबीके यहाँसे धुलकर आया हुआ पुराना वस्त्र भी देखनेमें नया ही मालूम होता है, किन्तु वह अधिक दिन नहीं ठहरता। इसी प्रकार जिस मनुष्यकी आयु शेष हो चुकी है उसका शरीर देखनेमें बालक अथवा युवावस्थावाला होनेपर भी वास्तवमें जीर्ण ही है, क्योंकि वह देखनेमें नवीन होनेपर भी आयुकी दृष्टिसे अधिक दिन ठहरनेवाला नहीं है। यहाँ प्रायः सब योद्धाओंकी आयु शेष हो चुकी थी। भगवान् कहते हैं—

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे।

(गीता ११। ३२)

निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥

(गीता ११। ३३)

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः।

(गीता ११। ३४)

वे तो मरनेवाले ही थे, इसलिये जवान भी जीर्ण ही थे। इस बातको भगवान् जानते थे और कोई नहीं जानता था। अतएव यह उदाहरण सर्वथा युक्तिसंगत है।

शंका—यहाँ '**वासांसि**' और '**शरीराणि**' दोनों ही पद बहुवचनान्त हैं। कपड़ा बदलनेवाला मनुष्य तो एक साथ भी तीन-चार पुराने वस्त्र त्यागकर नये धारण कर सकता है, परन्तु देही यानी जीवात्मा तो एक ही पुराने शरीरको छोड़कर दूसरे एक ही नये शरीरको प्राप्त होता है। एक साथ बहुत-से शरीरोंका त्याग या ग्रहण युक्तिसे सिद्ध नहीं है, अतएव यहाँ शरीरके लिये बहुवचनका प्रयोग अनुचित प्रतीत होता है।

समाधान—(क) यहाँ श्रीभगवान्‌का तात्पर्य यह है कि मनुष्य जैसे अपने जीवनमें अनेक बार अनेकों पुराने वस्त्रोंको छोड़ता और नये वस्त्रोंको धारण करता आया है इसी प्रकार जीवात्मा भी अबतक न जाने कितने शरीर छोड़ चुका है और कितने नये शरीर धारण कर चुका है और भविष्यमें भी जबतक उसे तत्त्वज्ञान नहीं होगा, तबतक न जाने कितने असंख्य पुराने शरीरोंका त्याग और नये शरीरोंको धारण करता रहेगा। इसलिये बहुवचनका प्रयोग किया गया है।

(ख) स्थूल, सूक्ष्म और कारणभेदसे शरीर तीन हैं, जब जीवात्मा इस शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाता है तब यह तीनों ही शरीर बदल जाते हैं। मनुष्य जैसा कर्म करता है उसके अनुसार ही उसका स्वभाव (प्रकृति)

बनता जाता है। कारण शरीरमें स्वभाव ही मुख्य है। प्रायः स्वभावके अनुसार ही अन्तकालमें स्फुरणा यानी संकल्प होता है और संकल्पके अनुसार ही उसका १७ तत्त्वोंवाला* सूक्ष्म शरीर बन जाता है। कारण और सूक्ष्म शरीरके सहित ही यह जीवात्मा इस शरीरसे निकलकर अन्तकालके संकल्पके अनुसार ही स्थूल शरीरको प्राप्त होता है।

कर्मोंके अनुसार कारण और सूक्ष्म शरीर तो पहले ही बदल चुके और स्थूल शरीर तदनुसार ही यथायोग्य जाति, देश, कालमें बननेवाला है। इसलिये स्थूल-सूक्ष्म-कारण-भेदसे तीनों शरीरोंके परिवर्तन होनेके कारण ही भगवान्ने बहुवचनका प्रयोग किया है।

शंका—आत्मा तो अचल है, उसमें गमनागमन नहीं होता; फिर देहीके दूसरे शरीरमें जानेकी बात कैसे कही गयी?

समाधान—वास्तवमें आत्माका अचल और अक्रिय होनेके कारण किसी भी हालतमें गमनागमन नहीं होता; पर जैसे घड़ेको एक मकानसे दूसरे मकानमें ले जानेके समय, उसके भीतरसे आकाशका यानी घटाकाशका भी घटके सम्बन्धसे गमनागमन-सा प्रतीत होता है, वैसे ही सूक्ष्म शरीरका गमनागमन होनेसे उसके सम्बन्धसे आत्मामें भी गमनागमनकी प्रतीति होती है। अतएव लोगोंको समझानेके लिये आत्मामें गमनागमनकी औपचारिक कल्पना की जाती है। यहाँ 'देही' शब्द देहाभिमानी चेतनाका वाचक है, अतः देहके सम्बन्धसे उसमें भी गमनागमन होता-सा प्रतीत होता है। इसीलिये देहीके अन्य शरीरोंमें जानेकी बात कही गयी। देही यानी देहाभिमानी जैसे जीवनकालमें स्थूल शरीरके गमनागमनको 'मैं जाता हूँ', 'मैं आता हूँ' इस प्रकार अपने अंदर मानता है, उसी प्रकार स्थूल देहके वियोगके समय तथा देहान्तरकी प्राप्तिके समय, पहले देहको छोड़कर दूसरे स्थूल देहमें सूक्ष्म और कारण शरीरके जाने-आनेको देही यानी जीवात्मा अपना गमनागमन अज्ञानसे अनुभव करता है, इसलिये समझानेके लिये ही देहीका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाना-आना बताया गया है।

शंका—इसमें क्रियाका प्रयोग भी ठीक नहीं हुआ है। वस्त्रोंके लिये '**गृह्णाति**' तथा शरीरके लिये '**संयाति**' कहा है। एक ही क्रियासे काम चल जाता क्योंकि दोनों समानार्थक हैं और ऐसा करनेमें छन्दोभंगकी भी कोई सम्भावना नहीं थी, फिर दो तरहका प्रयोग क्यों किया गया?

समाधान—यद्यपि दोनों क्रियाओंके फलमें कोई भेद नहीं है, तथापि 'गृह्णाति' क्रियाका मुख्य अर्थ ग्रहण करना और 'संयाति' का मुख्य अर्थ गमन करना है। वस्त्र ग्रहण किये जाते हैं इसलिये वहाँ 'गृह्णाति' क्रिया दी गयी और एक शरीरको छोड़कर दूसरेमें जाना प्रतीत होता है इसलिये नवीन शरीरमें जानेकी बात 'संयाति' क्रियाद्वारा व्यक्त की गयी। अतएव क्रियाभेद होनेपर भी फलमें अभेद होनेके कारण ऐसा करना सर्वथा युक्तिसंगत ही है।

प्रश्न—'**नरः**' और '**देही**'—इन दो पदोंका प्रयोग क्यों किया गया, एक-से भी काम चल सकता था?

उत्तर—'**नरः**' तथा '**देही**' दोनों ही सार्थक हैं; क्योंकि वस्त्रका ग्रहण या त्याग 'नर' ही करता है, अन्य जीव नहीं। किन्तु एक शरीरसे दूसरे शरीरमें गमनागमन सभी जीवोंका होता है, इसलिये वस्त्रोंके साथ '**नरः**' का तथा शरीरके साथ '**देही**' शब्दका प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यही कहना होगा कि संसारमें गीताके समान कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है। गीतामें प्रत्येक पदार्थ, भाव और क्रियाके तीन-तीन भेद किये गये हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। जिस पदार्थ, भाव और क्रियामें यथार्थ ज्ञान निष्कामभाव हो और जो परिणाममें कल्याणकारी हो उसे सात्त्विक समझना चाहिये। जिस पदार्थ, भाव और क्रियामें आरम्भमें सुख-सा प्रतीत हो, सकाम भाव हो और जो परिणाममें दुःखदायी हो, उसे राजसी समझना चाहिये। जिस पदार्थ, भाव और क्रियामें हिंसा, अज्ञान, शास्त्रविपरीतता हो तथा जो दुःख और मोहकारक हो उसे तामसी समझना चाहिये। इस प्रकार तत्त्व समझ लेनेपर गीताके मुख्य-मुख्य बहुत-से प्रकरण जाने जा सकते हैं।

गीतामें जितने सद्भाव यानी उत्तम गुण बतलाये गये हैं उन सबमें एक ऐसा गुण है जिस एकसे ही महापुरुषकी पहचान हो जाती है, उसका नाम है 'समता'।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

(गीता १४। २४-२५)

* मन, बुद्धि, दस इन्द्रियाँ (श्रोत्र, चक्षु, रसना, त्वचा, नासिका, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा) तथा पंच-तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) ये सत्रह तत्त्व हैं। अहंकार बुद्धिके अन्तर्गत आ जाता है और प्रकृति सबमें व्यापक है ही। पंचप्राण सूक्ष्म वायुके अन्तर्गत होनेसे उन्हें तन्मात्राओंके अन्तर्गत ही समझ लेना चाहिये। कोई-कोई इन पंच-तन्मात्राओंको न लेकर बदलेमें प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान—इन पाँच प्राणोंको ही लेते हैं।

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है तथा जो मान और अपमानमें सम है एवं मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है, सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है।'

यहाँ सुख-दुःखकी समता भावविषयक समता है, निन्दा-स्तुति, मान-अपमानकी समता दूसरेकी क्रियासे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाविषयक समता है और प्रिय-अप्रिय एवं सोने-मिट्टी आदिमें समान दृष्टि रखना पदार्थ-विषयक समता है। समता ही ज्ञानीका प्रधान गुण है।* गीतामें जहाँ-जहाँ भी प्राप्त हुए योगी, भक्त और ज्ञानीके लक्षणोंका वर्णन है वहाँ कहीं-न-कहीं समताकी बात अवश्य आ जाती है। इसलिये महात्माओंके लक्षणोंमें समता ही सर्वोत्तम गुण है।

गीताके समान संसारमें कोई ग्रन्थ नहीं है। सभी मत इसकी उत्कृष्टता स्वीकार करते हैं। अतः हमें गीताका इतना अभ्यास करना चाहिये कि हमारी आत्मा गीतामय हो जाय। हमें उसे अपने हृदयमें बसाना चाहिये। गीता गंगासे भी बढ़कर है, क्योंकि गंगा भगवान्के चरणोंसे निकली है और गीता भगवान्के मुखकमलसे निकली है; गंगा तो अपनेमें स्नान करनेवालोंको ही पवित्र करती है किन्तु गीता धारण करनेसे, घर बैठे हुएको पवित्र कर देती है। गंगामें स्नान करनेवाला स्वयं मुक्त हो सकता है पर गीतामें अवगाहन करनेवाला तो दूसरोंको भी मुक्त कर सकता है।

अतएव यह सिद्ध हुआ कि गीता गंगासे भी बढ़कर है। गीताका पाठमात्र करनेवालेकी अपेक्षा उसके अर्थ और भावको समझनेवाला श्रेष्ठ है और गीताके अनुसार आचरण करनेवाला तो उससे भी श्रेष्ठ है।

इसलिये सबको अर्थ और भावसहित गीताका अध्ययन करते हुए उसके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये।

प्रकृति-पुरुषका विवेचन

संसारमें दो ही पदार्थ हैं—जड और चेतन। पुरुष चेतन है, प्रकृति जड है। पुरुष द्रष्टा है, प्रकृति दृश्य है। पुरुष निर्विकार है, प्रकृति विकारशीला है। ये दोनों पदार्थ एकदम प्रत्यक्ष हैं। हम सभीके बीचमें इन दोनोंको मानना पड़ेगा। इनमें देखनेवाला द्रष्टा है और दूसरा जगत्-रूपमें दीखनेवाला दृश्य है।

जितने भी जीव हैं; वे सब परमात्माके अंश हैं। जिस प्रकार अग्निकी चिनगारियाँ अग्निसे भिन्न नहीं हैं—वस्तुतः दोनों एक ही हैं; उसी प्रकार जीव भी परमात्मासे भिन्न नहीं है। दृश्य जडवर्ग भी प्रकृतिका कार्य होनेसे तत्त्वतः प्रकृति ही है। वह प्रकृतिका ही विकृत रूप है।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।

(गीता १३। २०)

अर्थात् 'कार्य और करणके उत्पन्न करनेमें प्रकृति हेतु कही गयी है।' आकाश आदि पाँच भूत (तत्त्व) तथा शब्द आदि पाँच विषय यानी गुण—इन दसका नाम कार्य है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा मन, बुद्धि और अहंकार—इन तेरहका नाम करण है। प्रकृति इन सबका कारण है। अतः प्रकृतिसे उत्पन्न होनेके कारण यह सारा जगत् प्रकृतिका ही स्वरूप है।

अब प्रकृति और पुरुषका सम्बन्ध समझना चाहिये। प्रकृति पुरुषका अंश नहीं है, वह उसकी शक्ति है। शक्ति भी शक्तिमान्से भिन्न नहीं होती।

जब महाप्रलय होता है, उस समय सारा दृश्य-जगत् प्रकृतिमें समा जाता है। उस समय केवल प्रकृति ही रहती है, दृश्य-जगत् नहीं रहता। वेदान्तशास्त्रमें प्रकृतिको अनादि, सान्त और सांख्यमें उसे अनादि, नित्य माना गया है। योगमें भी उसे ऐसा ही बतलाया गया है। जब वह क्रियारूपमें होती है तब दृश्यरूपमें दीखने लगती है, और जब अक्रियरूपमें होती है, उस समय वह अव्यक्तरूपमें रहती है। व्यक्तरूपका उत्पत्तिक्रम इस प्रकार है—

मूलप्रकृतिसे महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ, उसको ही समष्टि-बुद्धि कहते हैं। समष्टि-बुद्धिसे समष्टि-अहंकार और समष्टि-अहंकारसे समष्टि-मनकी उत्पत्ति होती है। उसी अहंकारसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पाँच सूक्ष्म तन्मात्राओंकी उत्पत्ति हुई, इनको इन्द्रियोंके कारणभूत अर्थ कहा है। किसी-किसीने इन सूक्ष्म तन्मात्राओंकी उत्पत्ति अहंकारसे बतलायी है, और किसी-किसीने महत्तत्त्वसे। वस्तुतः बात एक ही है। समष्टि-बुद्धि, समष्टि-अहंकार और समष्टि-मन—ये तीनों एक ही अन्तःकरणकी विभिन्न अवस्थाके तीन नाम हैं। इन पाँचों

* क्योंकि समता साक्षात् ब्रह्मका स्वरूप है इसलिये समतामें जिसकी स्थिति है उसकी ब्रह्ममें स्थिति बतलायी गयी है (गीता ५। १९)।

सूक्ष्मभूतोंसे यानी तन्मात्राओंसे पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और आकाशादि पाँच स्थूल भूतोंकी उत्पत्ति होती है। यही दृश्य-जगत् है।

इस वर्णनसे यह बात स्पष्टरूपसे सिद्ध हो जाती है कि इस दृश्य-जगत्का कारण प्रकृति है। उस प्रकृतिका स्वरूप वाणीसे नहीं समझाया जा सकता, क्योंकि वाणी उसका कार्य है। इसीसे प्रकृति अनिर्वचनीय है। मन और बुद्धि भी प्रकृतिके कार्य हैं, अतएव ये भी उसको नहीं जान सकते। इसीसे प्रकृति अचिन्त्य और अतर्क्य भी है। इस प्रकार यद्यपि वह वाणी और मन-बुद्धिका विषय नहीं है तो भी उसका होना उसके कार्यरूप इस दृश्य-जगत्से स्पष्ट ही सिद्ध होता है।

प्रकृति और पुरुष दोनों ही व्यापक हैं। कारण अपने कार्यमें सदा व्याप्त रहता है। बर्फमें जलकी व्यापकताकी तरह प्रकृतिकी व्यापकता तो स्पष्ट ही समझमें आ सकती है किन्तु अति सूक्ष्म होनेके कारण पुरुषकी व्यापकता उतनी शीघ्र और स्पष्टरूपमें समझमें न आनेपर भी वह प्रकृतिकी अपेक्षा विशेष व्यापक है। प्रकृति तो कारण ही है। किन्तु पुरुष—ईश्वर महाकारण है। उसीसे यह संसार धारण किया गया है।

प्रकृति और उसके कार्यमें यह महाकारण ईश्वर सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है! यह ऊपर कहा गया है कि कारण अपने कार्यमें सदा व्यापक रहता है। आकाशसे वायुकी उत्पत्ति हुई, इसलिये आकाश उसमें व्याप्त है। वायुसे तेजकी उत्पत्ति हुई, इसलिये तेजमें वायु और आकाश दोनों ही व्याप्त हैं! तेजसे जल और जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई, इसलिये पृथ्वीमें आकाश, वायु, तेज और जल—ये चारों तत्त्व परिपूर्ण हैं। इसी प्रकार इन सबकी कारणरूपा प्रकृति इन सबमें व्यापक ठहरती है। किन्तु उस शक्तिमान् पुरुषकी यह प्रकृति शक्तिमात्र है। अतः सबका महाकारण वह चेतन पुरुष इस जड़ प्रकृति और उसके कार्यरूप इस समस्त दृश्य-संसारमें व्याप्त हो रहा है।

अब यह समझनेकी बात है कि ईश्वर-चेतन-पुरुष इस सृष्टिका उपादानकारण है या निमित्तकारण! वस्तुतः यह पुरुष सृष्टिका निमित्त और उपादान दोनों ही कारण है। भगवान्ने श्रीगीताजीमें कहा है कि—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

(४। १३)

अर्थात् 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है।' यहाँपर श्रीभगवान्ने अपनेको निमित्तकारण बतलाया है; किन्तु—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

(गीता ९। १०)

—इस उक्तिमें उन्होंने प्रकृतिको निमित्तकारण बतलाया है। तो फिर दो निमित्तकारण कैसे हुए? इसका उत्तर यह है कि चेतन पुरुषको स्वामी बनाकर, उसकी अध्यक्षतामें जब प्रकृति सृष्टिकी रचना करती है, तब वास्तवमें उसका रचयिता ईश्वर ही हुआ। प्रकृति तो द्वारमात्र है। अतएव वस्तुतः ईश्वर ही इस सृष्टिका निमित्तकारण है। और चेतन-ईश्वरको निमित्तकारण माननेमें प्रायः सभी एकमत भी हैं। उपादानकारणमें कुछ मतभेद है। परन्तु विचार करनेपर यही सिद्ध होता है कि ज्ञान और भक्ति दोनों ही सिद्धान्तोंसे उपादानकारण भी ईश्वर ही है। ज्ञानके सिद्धान्तसे तो ऐसा समझना चाहिये कि जैसे स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा पुरुष अपने ही अंदर अपनी ही कल्पनासे आप ही संसार बन जाता है और आप ही उसे देखता है, वहाँ उस चेतन द्रष्टाके सिवा उस स्वप्न-जगत्का दूसरा कोई भी उपादानकारण नहीं है। इसी प्रकार मोहके कारण जहाँ गुणोंसहित प्रकृतिकी प्रतीति होती है, वहाँ वस्तुतः परमात्माके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

परमात्मामें ही अपने कार्यसहित प्रकृति अध्यस्त है। और भक्तिके सिद्धान्तसे ऐसा मानना चाहिये कि प्रकृति परमात्माकी शक्ति है और शक्ति कभी शक्तिमान्से भिन्न नहीं होती। यह दृश्य जो कुछ है, सब परमात्माकी शक्तिरूप प्रकृतिका ही विस्तार है, अतएव वस्तुतः यह परमात्माका ही स्वरूप है। अतएव परमात्मा ही इसका उपादानकारण है। गीतामें **'वासुदेवः सर्वमिति'**, **'मया ततमिदं सर्वम्'**, **'मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति'**, **'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्'** **'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते'** आदिसे ईश्वरका अभिन्न निमित्तोपादानकारण होना स्पष्ट सिद्ध है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि ईश्वर कर्ता है तो उसमें कर्तृत्वभाव आ गया! इसका उत्तर यह है कि ईश्वर वास्तवमें कर्ता नहीं, अकर्ता ही है—

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

(गीता ४। १३)

भगवान् कहते हैं कि 'उस चातुर्वर्ण्यके रचयिता होते हुए भी मुझ अविनाशीको तू अकर्ता ही समझ।'

पुरुषको ही आत्मा कहते हैं। पुरुषके सम्बन्धमें सांख्यदर्शनका मत है कि पुरुष नाना हैं और योगदर्शन भी पुरुषको नाना मानता है परन्तु वह पुरुषविशेष ईश्वरको भी मानता है, इनमें जीव नाना हैं तथा पुरुषविशेष ईश्वर एक है। पूर्वमीमांसा भी पुरुषको नाना मानता है। वैशेषिक और

न्याय पुरुषके दो भेद मानते हैं—जीवात्मा और परमात्मा। वेदान्त पुरुषको नाना नहीं मानकर 'एक' मानता है। सभी सिद्धान्तवालोंने (किसी भी रूपमें हो) आत्मा—पुरुषको चेतन ही माना है। यों एक और अनेक अपने-अपने सिद्धान्तके अनुसार सभीका मानना ठीक है क्योंकि सबका ध्येय आत्माके कल्याणमें है और आत्माके कल्याणकारक होनेके कारण सभीका कथन उचित है। एक माननेसे और नाना माननेसे दोनों ही प्रकारसे साधन करनेपर आत्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान होकर पुरुष मुक्त हो जाता है। मुक्त होनेके उत्तरकालमें आत्माके स्वरूपको कोई किसी प्रकार भी बतला नहीं सकता। क्योंकि वह अनिर्वचनीय स्थिति है। अतएव यथार्थमें यह बात है कि जिसको उसकी प्राप्ति होती है, वही वस्तुतः इस बातको समझता है कि उसका स्वरूप कैसा है। जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती; तबतक मनुष्यके लिये निम्नलिखित प्रकारसे मानकर चलना सुगम और उत्तम है।

पुरुषके विषयमें तो यों मानना चाहिये कि उसके दो भेद हैं—जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा नाना हैं और परमात्मा एक है। परमात्मा एक है परन्तु उसके भी दो भेद हैं—एक सगुण, दूसरा निर्गुण। सत्, रज, तम तीनों गुणोंको उत्पन्न करनेवाली प्रकृतिके सहित जो परमात्माका स्वरूप है, वह सगुण है अर्थात् जो गुणसहित है, वह सगुण है और जो गुणोंसे रहित है वह निर्गुण है। यह याद रखना चाहिये कि सगुण और निर्गुण परमात्मा वस्तुतः दो नहीं है। दोनोंका एक समग्ररूप ही परमात्मा है। जैसे आकाशके किसी एक अंशमें वायु, तेज, पृथ्वीके समुदाय हैं, उसको हम चारों भूतोंके सहित आकाश कह सकते हैं और जहाँ इन चारों भूतोंसे पृथक् केवल आकाश है, उसको हम केवल आकाश कह सकते हैं।

आकाश वायु आदिका आधार है, कारण है और उनमें सर्वत्र व्यापक भी है। इसी प्रकार परमात्मा चराचर समस्त भूतोंके आधार, कारण और उनमें व्यापक हैं। जरा इस विषयको फिरसे समझ लेना चाहिये। जैसे आकाशमें बादल है, उसकी उत्पत्ति आकाशसे हुई, वह आकाशमें ही स्थित है और आकाशमें ही विलीन हो जाता है। ऐसे ही वायु, तेज, जल और पृथ्वी आदिकी उत्पत्ति आकाशसे हुई, ये सब आकाशमें ही स्थित हैं और आकाशमें ही क्रमशः विलीन होते हैं। अतएव आकाशसे इनकी उत्पत्ति होनेके कारण आकाश ही इनका कारण है। और ये आकाशके कार्य हैं, कार्य व्याप्य और कारण व्यापक होता है। इसलिये आकाश इनमें व्यापक है और इन सबकी स्थिति आकाशमें है, इसलिये आकाश ही इनका आधार है। इन आकाशादि सब भूतोंका प्रधान कारण प्रकृति होनेसे प्रकृति इनका कारण है, प्रकृति ही समस्त दृश्यवर्गमें व्यापक है। और प्रकृतिके आधारपर ही ये सब स्थित हैं। प्रकृति परमात्माकी शक्ति है, अतएव वस्तुतः प्रकृतिके परम आधार होनेके कारण प्रकृतिसहित इस समस्त विश्वके परमात्मा ही महाकारण हैं। परमात्मा ही इसमें व्यापक हैं और परमात्मा ही इसके एकमात्र आधार हैं। अस्तु!

इस चराचर जगत्के सहित जो परमात्माका स्वरूप है, वह सगुण है, इससे अतीत जहाँ चराचर संसार नहीं है, जो केवल है, वह गुणातीत है। सगुणके भी दो भेद हैं—साकार और निराकार। जैसे पृथ्वीके दो भेद हैं—गन्ध निराकार है और पुष्प साकार है। जिस तरह अग्नि अप्रकटरूपमें निराकार और प्रकटरूपमें साकार है जैसे जल आकाशमें परमाणुरूपमें निराकार तथा बादल, बूँद और ओलेके रूपमें साकार है, और वह निराकार जल ही साकाररूपसे प्रकट होता है। इसी प्रकार सर्वव्यापी सगुण परमात्मा निराकाररूपमें रहते हुए ही साकाररूपसे भी गुणोंके सहित संसारमें प्रकट होते हैं। जैसे तेज, जल, पृथ्वीके निराकार और साकाररूप दो-दो होनेपर भी वस्तुतः एक ही हैं, इनमें कोई भेद नहीं है; इसी प्रकार परमात्माके निर्गुण निराकार, सगुण निराकार और सगुण साकाररूपमें कोई भेद नहीं है। सब मिलकर ही एक समग्ररूप हैं। इसी बातको **'साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः'** आदिसे भगवान्ने (गीता ७। ३० में) कहा है। इसीका नाम समग्र ब्रह्म है। यही पुरुषोत्तम है। ऐसा जो प्रभुका स्वरूप है, वही उपासनीय है। यदि कोई पुरुष सगुणको छोड़कर केवल निर्गुणकी उपासना करता है तो वह भी उसी परमेश्वरकी उपासना करता है। सगुणमें भी जो निराकार या साकार किसी भी रूपकी उपासना करता है, तो वह भी परमेश्वरकी ही उपासना करता है। और ऐसी उपासना करनेवाले सभी उपासक अन्तमें उसी परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु इस ब्रह्मके समग्ररूपको अच्छी प्रकार समझकर जो उपासना करता है, वह सर्वोत्तम है। क्योंकि उसको परमात्माकी प्राप्ति सुगमतासे और अति शीघ्र हो जाती है। यदि कहा जाय कि फिर जीवात्मा और परमात्मामें क्या भेद है; तो इसका उत्तर यह है कि जीवात्मा उपासक है और परमात्मा उपास्य है। परमात्मा राग-द्वेषादि अवगुण, पुण्य-पापादि कर्म और हर्ष-शोकादि विकारोंसे सर्वदा और सर्वथारहित है और जीवमें अज्ञानके कारण इन सबका सम्बन्ध है। प्रभुकी कृपासे प्रभुके तत्त्वका ज्ञान होकर इन सबका सम्बन्ध छूट सकता है। अज्ञानके कारण ही ये सब हैं और इनका अभाव प्रभुके तत्त्वज्ञानसे

होता है। प्रभुके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि साधनोंके द्वारा होता है।

यदि कहो कि परमात्मतत्त्वके यथार्थ ज्ञान होनेके उत्तरकालमें भेद रहता है या अभेद? तो इसका उत्तर यह है कि साधक जिस प्रकार समझता है, वैसी ही उसको प्रतीति होती है। यदि कहो कि जबतक प्रतीति होती है, तबतक तो वह उसकी धारणा ही है। इन दोनोंका जो फल है, जिसको परमतत्त्वकी प्राप्ति—परमात्माकी प्राप्ति कहा जाता है, जिसको वेद अनिर्वचनीय स्थिति बतलाते हैं, उस स्थितिके बादकी बात हम पूछते हैं तो इसका उत्तर यह है कि जिस स्थितिको वेदोंने ही अनिर्वचनीय बतलाया है, उसको फिर दूसरा कौन कैसे बतला सकता है? अतः यही समझना चाहिये कि वह स्थिति बतलायी जानेयोग्य नहीं है। यदि कहा जाय कि जब वह स्थिति बतलायी नहीं जा सकती तब उस स्थितिके अस्तित्वमें ही क्या प्रमाण है? तो इसके उत्तरमें यह कहना होगा कि उसके लिये प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। वह स्वतः प्रमाण है। सबसे बढ़कर बात उसके लिये यह है कि उसीसे समस्त प्रमाणोंकी और सबके अस्तित्वकी सिद्धि होती है। वेद, शास्त्र और महात्माओंका अनुभव उसको प्रत्यक्ष बतलाता है। सब वेदोंका प्रधान लक्ष्य उसीकी प्राप्तिके लिये है, वही अनिर्वचनीय वस्तु है।

वह पुरुष है और उसकी शक्ति प्रकृति है। तीनों गुण उस प्रकृतिके कार्य हैं। वेदान्त और सांख्यने प्रकृतिको तीनों गुणोंकी साम्यावस्था माना है, तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाको ही उसका स्वरूप माना है। किन्तु भगवान्ने गीतामें गुणोंको प्रकृतिका कार्य बतलाया है। जैसे—

'प्रकृतिजैर्गुणैः' (३।५)
'गुणान्…विद्धि प्रकृतिसंभवान्' (१३।१९)
'प्रकृतिजान् गुणान्' (१३।२१)
'गुणाः प्रकृतिसंभवाः' (१४।५)
'प्रकृतिजैः त्रिभिः गुणैः' (१८।४०)

'वेदान्त' प्रकृतिको अनादि और सान्त मानता है; सांख्य और योग प्रकृतिको अनादि और नित्य मानते हैं। भगवान्ने गीतामें प्रकृतिको अनादि तो बतलाया है परन्तु नित्य नहीं बतलाया। नित्य वस्तु तो एक सनातन चेतन अव्यक्तको ही बतलाया है (८। २०)। भगवान्ने प्रकृतिके लिये सान्त और अनित्य भी नहीं कहा। इसलिये इसको अनिर्वचनीय ही मानना चाहिये। भगवान्ने प्रकृतिको प्रथम तो नित्य इसलिये नहीं बतलाया कि नित्य वस्तु तो एक अनादि, सनातन, अव्यक्त परमात्मा ही है। दूसरे, प्रकृतिको नित्य बतलानेसे ज्ञानमार्गकी सिद्धि ही नहीं होती। इसी प्रकार भगवान्ने प्रकृतिको अनित्य भी प्रथम तो इसलिये नहीं बतलाया कि महाप्रलयके समय समस्त दृश्यवर्गके प्रकृतिमें विलीन होनेपर भी प्रकृति रहती है और महासर्गके आदिमें उसी प्रकृतिसे परमात्माके सकाशद्वारा पुनः दृश्यकी उत्पत्ति होती है, जिससे उसका नित्य-सा प्रतीत होना सिद्ध है। और दूसरे यदि प्रकृतिको अनादि और सान्त (या अनित्य) बतला दिया जाता तो भक्तिमार्गका महत्त्व ही क्या रह जाता? अतः भगवान्को दोनों ही मार्ग अभिप्रेत हैं और इसीलिये उन्होंने प्रकृतिको न तो स्पष्ट शब्दोंमें नित्य कहा और न अनित्य ही!

इससे यह सिद्ध होता है कि प्रकृति अनिर्वचनीय है। परमात्माके तत्त्वका ज्ञान होनेके बाद तो योग और सांख्यके अनुसार भी चेतन जीवात्माके साथ प्रकृतिके सम्बन्धका अत्यन्त विच्छेद हो जाता है। अस्तु, सभी सिद्धान्तोंके अनुसार आत्मतत्त्वका साक्षात्कार होनेके उपरान्त 'केवल' अवस्था हो जाती है। यानी फिर कार्यसहित इस प्रकृतिके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। वेदान्त कहता है कि एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं। सांख्य और योग कहते हैं कि आत्मज्ञानके उत्तरकालमें भी प्रकृति है तो सही, पर जिसको आत्माका साक्षात्कार हो गया है, उसका प्रकृतिसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वस्तुतः परिणाममें एक ही बात हुई। साक्षात्कार होनेके बाद प्रकृतिसे सम्बन्ध कोई नहीं मानते और जब सम्बन्ध ही नहीं तब वह रहे भी तो कोई आपत्ति नहीं और न रहे तो भी कोई आपत्ति नहीं। स्वप्नसे जागनेके बाद स्वप्नके संसारसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, फिर चाहे वह स्वप्नका संसार कहीं रहे भी तो क्या आपत्ति है?

इससे यह सिद्ध होता है कि जबतक संसारकी प्रतीति है और इसके साथ सम्बन्ध है, तबतक चेतन और जड या द्रष्टा और दृश्य अथवा ज्ञाता और ज्ञेय नामक पुरुष और प्रकृति दो पदार्थ हैं और इन्हींसे सबका विस्तार है। किन्तु जब संसारकी प्रतीति नहीं होती, संसारसे सदाके लिये सम्बन्धविच्छेद हो जाता है तब परमात्माकी प्राप्ति होती है। उसके उत्तरकालकी अवस्थाका वर्णन कोई भी नहीं कर सकता। अतएव यथार्थमें यह बात है कि जिसको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। वही पुरुष उस बातको यथार्थ समझता है। इसलिये हमलोगोंको परमात्माकी प्राप्तिके लिये जी तोड़ प्रयत्न करना चाहिये।

समाधियोग

कितने ही मित्र पातंजलयोगदर्शनके अनुसार समाधिविषयक लेखके लिये मुझे प्रेरणा कर रहे हैं। उन लोगोंका आग्रह देखकर मेरी भी लिखनेकी प्रवृत्ति होती है, परन्तु मैंने इसका सम्पादन किया नहीं। समाधिका विषय बड़ा दुर्गम और गहन है। महर्षि पतंजलिजीका समाधिके विषयमें क्या सिद्धान्त था, यह बात भाष्य आदि टीकाओंको देखनेपर भी अच्छी प्रकारसे समझमें नहीं आती। पातंजलयोगके अनुसार योगका भलीभाँति सम्पादन करनेवाले योगी भी संसारमें बहुत ही कम होते हैं। इस विषयके तत्त्वज्ञ योगीसे मेरी तो भेंट भी नहीं हुई। ऐसी परिस्थितिमें समाधिके विषयमें न तो मुझमें लिखनेकी योग्यता ही है और न मेरा अधिकार ही है। तथापि अपने मनके विनोदके लिये पातंजलयोगदर्शनके आधारपर, समाधिविषयक अपने भावोंको पाठकोंकी सेवामें निवेदन करता हूँ। अतएव पाठकगण मेरी त्रुटियोंके लिये क्षमा करेंगे।

पातंजलयोगदर्शनके अनुसार समाधिके मुख्यतया दो भेद हैं—१-सम्प्रज्ञात और २-असम्प्रज्ञात।

असम्प्रज्ञातकी अपेक्षा सम्प्रज्ञात बहिरंग है।

तदपि बहिरंगं निर्बीजस्य। (योग० ३। ८)

वह (संयमरूप) सम्प्रज्ञात समाधि भी निर्बीज समाधिकी अपेक्षा बहिरंग ही है। इस असम्प्रज्ञातयोगको ही निर्बीज समाधि, कैवल्य चितिशक्तिरूप स्वरूपप्रतिष्ठा[1] आदि नामोंसे पातंजलयोगदर्शनमें कहा है और उस योगीकी सदाके लिये अपने चिन्मय स्वरूपमें स्थिति हो जाती है तथा उसका किसीके साथ सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिये उसको चितिशक्तिरूप स्वरूपप्रतिष्ठा कहते हैं। उस अवस्थामें संसारके बीजका अत्यन्त अभाव है। इसलिये यह निर्बीज समाधिके नामसे प्रसिद्ध है।[2]

सम्प्रज्ञातयोगके मुख्य चार भेद हैं।

वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः। (१। १७)

वितर्कके सम्बन्धसे जो समाधि होती है उसका नाम 'वितर्कानुगम', विचारके सम्बन्धसे होनेवालीका नाम 'विचारानुगम', आनन्दके सम्बन्धसे होनेवालीका 'आनन्दानुगम' और अस्मिताके सम्बन्धसे होनेवाली समाधिका नाम 'अस्मितानुगम' है।

(१) आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—ये पाँच स्थूलभूत और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच स्थूलविषय, इन पदार्थोंमें होनेवाली समाधिका नाम 'वितर्कानुगम' समाधि है। इसमें केवल पांचभौतिक स्थूल शरीर एवं सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदिसहित यह स्थूल ब्रह्माण्ड- अन्तर्गत है। इस वितर्कानुगम समाधिके दो भेद हैं—१-सवितर्क और २-निर्वितर्क।

(१) सवितर्क

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः। (१। ४२)

ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करनेयोग्य उन स्थूल पदार्थोंमें शब्द, अर्थ, ज्ञानके विकल्पोंसे संयुक्त, समापत्तिका नाम 'सवितर्क' समाधि है। जैसे कोई सूर्यमें समाधि लगाता है, तो उसमें सूर्यका नाम, सूर्यका रूप और सूर्यका ज्ञान—वह तीनों प्रकारकी कल्पना रहती है,[3] इसलिये इसे सवितर्क समाधि कहते हैं, यह 'सविकल्प' है।

(२) निर्वितर्क

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का। (१। ४३)

स्मृतिके परिशुद्ध होनेपर अर्थात् शब्द और ज्ञानके विकल्पोंसे चित्तवृत्तिके भलीभाँति रहित होनेपर, जिसमें साधकको अपने स्वरूपके ज्ञानका अभाव-सा होकर, केवल अर्थ यानी ध्येयमात्रकी ही प्रतीति रहती है, उसका नाम 'निर्वितर्क' समापत्ति अर्थात् समाधि है। जैसे सूर्यका ध्यान करनेवाला पुरुष मानो अपना ज्ञान भूलकर तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है और उसे केवल सूर्यका स्वरूपमात्र ही प्रतीत होता है, उसका नाम निर्वितर्क समाधि है। इसमें विकल्पोंका अभाव होनेके कारण इसे निर्विकल्प भी कहते हैं।

१-पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति। (४। ३४)

२-तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः। (१। ५१)

३-जिस पदार्थमें योगी समाधि लगाता है, उस पदार्थके वाचक या नामको तो शब्द, तथा वाच्य यानी स्वरूपको अर्थ और जिससे शब्द-अर्थके सम्बन्धका बोध होता है, उसको ज्ञान कहते हैं। जैसे सूर्य यह शब्द तो सूर्यदेवका वाचक है, सारे विश्वको प्रकाशित करनेवाला आकाशमें जो सूर्यमण्डल दीख पड़ता है, वह सूर्य शब्दका वाच्य है और उस मण्डलको देखकर यह सूर्य है—ऐसा जो बोध होता है, उसका नाम ज्ञान है।

(२) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि सूक्ष्म तन्मात्राएँ, मन, बुद्धि, अहंकार और मूलप्रकृति एवं दस इन्द्रियाँ, इनमें होनेवाली समाधिका नाम 'विचारानुगम' समाधि है। कोई-कोई इन्द्रियोंमें होनेवाली समाधिको आनन्दानुगम समाधि मानते हैं, परन्तु ऐसा मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता; क्योंकि महर्षि पतंजलि कहते हैं—

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता। (१।४४)

इस सवितर्क और निर्वितर्कके भेदके अनुसार ही सूक्ष्म विषयवाली, सविचार और निर्विचार समाधिकी व्याख्या समझनी चाहिये। सूक्ष्म विषयकी मर्यादा स्थूल पंचभूतोंको और स्थूल विषयोंको बाद देकर मूलप्रकृतिपर्यन्त बतलायी है। इससे सूक्ष्म विषयकी व्याख्याके अन्तर्गत ही इन्द्रियाँ और मन, बुद्धि आदि आ जाते हैं—

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्। (१।४५)

तथा सूक्ष्मविषयताकी सीमा अलिंग यानी मूलप्रकृतितक है। मूलप्रकृतितक होनेसे दृश्यका सारा सूक्ष्मविषय, 'विचारानुगम' समाधिके अन्तर्गत आ जाता है।

इस विचारानुगम समाधिके भी दो भेद हैं।

१-सविचार, २-निर्विचार।

(१) सविचार—स्थूल पदार्थोंको छोड़कर शेष मूल प्रकृतिपर्यन्त सम्पूर्ण ग्रहण और ग्राह्योंमें नाम (शब्द), रूप (अर्थ), ज्ञानके विकल्पोंसे संयुक्त समापत्ति अर्थात् समाधिका नाम सविचार समाधि है। तीनों प्रकारके विकल्पोंसे युक्त होनेके कारण इस सविचार समाधिको सविकल्प भी कहते हैं[१]।

(२) निर्विचार—जिसमें उपर्युक्त स्थूल पदार्थोंको छोड़कर शेष मूलप्रकृतिपर्यन्त सम्पूर्ण ग्रहण और ग्राह्योंमें स्मृतिके परिशुद्ध होनेपर अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पोंसे चित्तवृत्तिके भलीभाँति रहित होनेपर जिसमें योगीको अपने स्वरूपके ज्ञानका अभाव-सा होकर केवल अर्थमात्रकी ही प्रतीति रहती है, उसका नाम निर्विचार समाधि है। इसमें विकल्पोंका अभाव होनेके कारण इसे निर्विकल्प भी कहते हैं।

ग्रहण तेरह हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन, बुद्धि, अहंकार। ग्राह्य पदार्थोंके ग्रहण करनेमें द्वार होनेसे इन्हें ग्रहण कहा गया है।

इनके अलावा—स्थूल, सूक्ष्म समस्त जड दृश्यवर्ग ग्राह्य हैं। ये उपर्युक्त तेरह ग्रहणोंके द्वारा पकड़े जानेवाले होनेसे इन्हें 'ग्रहाय' कहते हैं।

उपर्युक्त विवेचनका तात्पर्य यह है कि प्रकृतिका कार्यरूप यह दृश्यमात्र जड है और इस जडमें होनेवाली समाधिका नाम 'वितर्कानुगम' और 'विचारानुगम' समाधि है।

कार्यसहित प्रकृति जो दृश्यवर्ग है, इसीका नाम बीज है; इसलिये इसको लेकर होनेवाली समाधिका नाम सबीज समाधि है—

ता एव सबीजः समाधिः। (१।४६)

(३) अन्त:करणकी स्वच्छतासे उत्पन्न होनेवाले आह्लाद यानी प्रिय, मोद, प्रमोद आदि वृत्तियोंमें जो समाधि होती है, उसका नाम 'आनन्दानुगम' समाधि है। उपर्युक्त वितर्क और विचार—ये दोनों समाधियाँ तो केवल जडमें अर्थात् दृश्य-पदार्थोंमें हैं परन्तु यह केवल जडमें नहीं है। क्योंकि आनन्दकी उत्पत्ति जड और चेतनके सम्बन्धसे होती है। इस आनन्दमें आत्माकी भावना करनेसे विवेकख्याति[२] द्वारा आत्म-साक्षात्कार भी हो जाता है।

(४) चेतन द्रष्टाकी चिन्मयशक्ति एवं बुद्धिशक्ति इन दोनोंकी जो एकता-सी है उसका नाम 'अस्मिता' है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता। (२।६)

पुरुष और बुद्धिकी एकरूपताकी-सी प्रतीति होना 'अस्मिता' है[३] इसलिये बुद्धिवृत्ति और पुरुषकी चेतनशक्तिकी

१-ध्यानमें तो ध्याता, ध्यान, ध्येयकी त्रिपुटी रहती है और इस सवितर्क और सविचार समापत्तिमें केवल ध्येयविषयक ही शब्द, अर्थ, ज्ञानसे मिला हुआ विकल्प रहता है तथा समाधिमें केवल ध्येयका स्वरूपमात्र ही रह जाता है। इसलिये यह समापत्ति, ध्यानसे उत्तर एवं समाधिकी पूर्वावस्था है, अतएव इसको भी समाधि ही समझना चाहिये।

२-सत्त्व और पुरुषकी ख्यातिमात्रसे तो सब पदार्थोंपर स्वामित्व और ज्ञातृत्वकी प्राप्ति होती है और उसमें वैराग्य होनेसे संशय-विपर्ययसे रहित निर्मल विवेकख्याति होती है। इसीको 'सर्वथा विवेकख्याति' भी कहते हैं, इससे 'धर्ममेघ समाधि-लाभ और क्लेश-धर्मकी निवृत्ति होकर कैवल्य पदकी प्राप्ति हो जाती है।'

यह 'धर्ममेघ समाधि' सम्प्रज्ञात योग नहीं है। असम्प्रज्ञात योग यानी निर्बीज समाधिकी पूर्वावस्था है, क्योंकि इससे समस्त क्लेश-कर्मोंकी निवृत्ति होकर कैवल्यपदकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

३-वितर्कानुगम और विचारानुगम समाधिके जैसे सवितर्क और निर्वितर्क तथा सविचार और निर्विचार दो-दो भेद होते हैं वैसे ही आनन्द और अस्मिताके भी दो-दो भेद किये जा सकते हैं।

एकताके-से स्वरूपमें जो समाधि होती है उसका नाम '**अस्मितानुगम**' समाधि है। '**आनन्दानुगम**' तो चेतन पुरुष और बुद्धिके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले आनन्द—आह्लादमें होती है; किन्तु यह समाधि चेतन पुरुष और बुद्धिकी एकात्मताकी-सी स्थितिमें होती है। इस समाधिसे पुरुष और प्रकृतिका पृथक्-पृथक् रूपसे ज्ञान हो जाता है। उस तत्त्व और पुरुषके पृथक्-पृथक् ज्ञानमात्रसे समस्त पदार्थोंके स्वामित्व और ज्ञातृत्वकी प्राप्ति होती है।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।

(३। ४९)

फिर इन सबमें वैराग्य होनेपर, क्लेश-कर्मके मूलभूत अविद्यारूप दोषकी निवृत्ति होकर, पुरुष 'कैवल्य' अवस्थाको प्राप्त हो जाता है—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।

(३। ५०)

असम्प्रज्ञात योग अर्थात् निर्बीज समाधि तो संकल्पोंका अत्यन्त अभाव होनेके कारण, निर्विकल्प है ही किन्तु सम्प्रज्ञात योगमें निर्वितर्क और निर्विचार आदि सबीज समाधियाँ भी, विकल्पोंका अभाव होनेके कारण, निर्विकल्प हैं।

'ग्रहण' और 'ग्राह्यों' में तथा आनन्द और बुद्धिसहित ग्रहीतामें सम्प्रज्ञात योगको बतलाकर, अब केवल ग्रहीतामें होनेवाला असम्प्रज्ञात योग बतलाया जाता है। चेतनरूप ग्रहीताके स्वस्वरूपमें होनेवाली समाधिका नाम असम्प्रज्ञात योग है। इसमें दृश्यके अभावसे द्रष्टाकी अपने स्वरूपमें समाधि होती है।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।

(१। १८)

चित्तवृत्तियोंके अभावके अभ्याससे उत्पन्न हुई स्थिति, जिसमें केवल चित्तनिरोधके संस्कार ही शेष रहते हैं, वह अन्य है अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि है। इसमें चित्तकी वृत्तियोंका सर्वथा निरोध हो जाता है और चित्तनिरोधके संस्कार ही रह जाते हैं।

गुण और गुणोंके कार्यमें अत्यन्त वैराग्य होनेसे समस्त दृश्यका आलम्बन चित्तसे छूट जाता है, दृश्यसे अत्यन्त उपरामता होकर चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होता है और क्लेशकर्मोंका नाश हो जाता है तथा क्लेशकर्मोंका नाश हो जानेसे उस योगीका चित्तके साथ अत्यन्त सम्बन्धविच्छेद हो जाता है। सत्, रज, तम-गुणमयी प्रकृति उस योगीको मुक्ति देकर कृतकार्य हो जाती है। यही योगीकी कैवल्य अवस्था अथवा चितिशक्तिरूप स्वरूपप्रतिष्ठा है। इसीको निर्बीज समाधि कहते हैं।

सम्प्रज्ञात योगमें जिस पदार्थका आलम्बन किया जाता है, उस पदार्थका यथार्थ ज्ञान होकर, योगीकी भूमियोंमें वृद्धि होते-होते, शेषमें प्रकृति पुरुषतकका यथार्थ ज्ञान हो जाता है और उसमें वैराग्य होनेसे कैवल्यपदकी प्राप्ति हो जाती है। किन्तु असम्प्रज्ञात योगमें तो शुरूसे ही दृश्यके आलम्बनका त्याग किया जाता है जिससे दृश्यका अत्यन्त अभाव होकर, त्याग करनेवाला केवल चेतन पुरुष ही बच रहता है, वही उसकी कैवल्य अवस्था है। अर्थात् सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञातका प्रधान भेद यह है कि सम्प्रज्ञात योग तो किसीको ध्येय बनाकर यानी किसीका आलम्बन करके किया जाता है। यहाँ आलम्बन ही बीज है, इसलिये किसीको आलम्बन बनाकर, उसमें समाधि होती है, उसका नाम सबीज समाधि है। किन्तु असम्प्रज्ञात योगमें आलम्बनका अभाव है। आलम्बनका अभाव करते-करते, अभाव करनेवाली वृत्तियोंका भी अभाव होनेपर, जो समाधि होती है, वह असम्प्रज्ञात योग है। निरालम्ब होनेके कारण इसको निर्बीज समाधि भी कहते हैं।

ऊपर बताये हुए असम्प्रज्ञात योगकी सिद्धि दो प्रकारसे होती है। जिनमें एकका नाम 'भव-प्रत्यय' है और दूसरेका नाम 'उपाय-प्रत्यय'। जो पूर्वजन्ममें विदेह और प्रकृतिलयतक पहुँच चुके थे वे ही योगभ्रष्ट पुरुष इस जन्ममें भव-प्रत्ययके अधिकारी हैं, शेष सब मनुष्य उपाय-प्रत्ययके अधिकारी हैं। उनमें भव-प्रत्यय यह है—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।

(१। १९)

विदेही और प्रकृतिलयोंको भव-प्रत्यय होता है!

भव नाम है जन्मका, प्रत्यय नाम है प्रतीति—प्रकट होनेका। जन्मसे ही जिसकी प्रतीति होती है अर्थात् जो जन्मसे ही सम्प्रज्ञात योग प्रकट है, उसे 'भव-प्रत्यय' कहते हैं। अथवा '**भवात् प्रत्ययः भवप्रत्ययः।**' भवात् नाम जन्मसे, प्रत्यय नाम ज्ञान, जन्मसे ही है ज्ञान जिसका अर्थात् जिस सम्प्रज्ञात योगकी प्राप्तिका, उसका नाम है 'भव-प्रत्यय'। सारांश यह है कि विदेही और प्रकृतिलय योगियोंको जन्मसे ही, सम्प्रज्ञात योगकी प्राप्तिविषयक ज्ञान है। उनको श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञाकी आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि इन सबका साधन उनके पूर्वजन्ममें हो चुका है।

इसलिये पूर्वजन्मके संस्कारबलसे[1] उनको परवैराग्य होकर विराम प्रत्ययके अभ्यासपूर्वक यानी चित्तवृत्तियोंके अभावके अभ्यास अर्थात् दृश्यरूप आलम्बनके अभावके अभ्याससे असम्प्रज्ञात यानी निर्बीज समाधि हो जाती है।

(१) विदेही उन्हें कहते हैं, जिनका देहमें अभिमान नहींके तुल्य है। सम्प्रज्ञात योगकी जो चौथी समाधि अस्मिता है, उसमें समाधिस्थ होनेसे पुरुष और बुद्धिका पृथक्-पृथक् ज्ञान हो जाता है, उस ज्ञानसे आत्माको ज्ञाता और बुद्धिको ज्ञेयरूपसे समझकर, शरीरसे आत्माको पृथक् देखता है। तब उसको 'विदेह' ऐसा कहा जाता है।

(२) 'प्रकृतिलय' उन्हें कहते हैं जिनमें निर्विचार समाधिद्वारा प्रकृतिपर्यन्त संयम करनेकी योग्यता हो गयी है। इस प्रकारके योगियोंको अध्यात्मप्रसाद होकर ऋतम्भरा प्रज्ञाकी प्राप्ति हो जाती है।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः। (१।४७)

निर्विचार समाधिमें वैशारद्य यानी प्रवीणता होनेपर, अध्यात्मप्रसाद होता है। रज, तमरूप मल और आवरणका क्षय होकर, प्रकाशस्वरूप बुद्धिका स्वच्छ प्रवाह निरन्तर बहता रहता है, इसीका नाम 'वैशारद्य' है। इससे प्रकृति और प्रकृतिके सारे पदार्थोंका, संशयविपर्ययरहित प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है; इसका नाम 'अध्यात्मप्रसाद' है। यह सम्प्रज्ञात योगकी निर्विचार समाधि है।

विदेह और प्रकृतिलय योगियोंका विषय बतलाकर अब साधारण मनुष्योंके लिये, असम्प्रज्ञात योग प्राप्त करनेके लिये 'उपाय-प्रत्यय' कहते हैं—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्। (१।२०)

जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं हैं, उन पुरुषोंका श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक, विरामप्रत्ययके अभ्यासद्वारा असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है।

श्रद्धा—योगकी प्राप्तिके लिये अभिरुचि या उत्कट इच्छाको उत्पन्न करनेवाले विश्वासका नाम श्रद्धा है। जिसका अन्त:करण जितना स्वच्छ यानी मल-दोषसे रहित होता है, उतनी ही उसमें श्रद्धा[2] होती है। श्रद्धा ही कल्याणमें परम कारण है, इसलिये आत्माका कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको श्रद्धाकी वृद्धिके लिये विशेष कोशिश करनी चाहिये।

वीर्य—योगकी प्राप्तिके लिये साधनकी तत्परता उत्पन्न करनेवाले उत्साहका नाम 'वीर्य' है। क्योंकि श्रद्धाके अनुसार उत्साह और उत्साहके अनुसार ही साधनमें तत्परता होती है। और उस तत्परतासे मन और इन्द्रियोंके संयमकी भी सामर्थ्य हो जाती है।

स्मृति—अनुभूत विषयका न भूलना यानी उसके निरन्तर स्मरण रहनेका नाम 'स्मृति' है। इसलिये यहाँ अध्यात्मबुद्धिके द्वारा सूक्ष्म विषयमें जो चित्तकी एकाग्रता होकर, एकतानता है अर्थात् स्थिर स्थिति (ध्यान) है, उसको स्मृति नामसे कहा है।

समाधि—फिर उसीमें अपने स्वरूपका अभाव-सा होकर, जहाँ केवल अर्थमात्र ध्येय वस्तुका ही ज्ञान रह जाता है उसका नाम 'समाधि' है।

प्रज्ञा—ऋतम्भरा प्रज्ञा ही यहाँ प्रज्ञा नामसे कथित हुई है। उपर्युक्त समाधिके फलस्वरूप यह ऋतम्भरा प्रज्ञा योगीको प्राप्त होती है।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। (१।४८)

वहाँ ऋतम्भरा प्रज्ञा होती है। ऋत सत्यका नाम है। उसको धारण करनेवाली बुद्धिका नाम ऋतम्भरा है।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्त्वात्॥ (१।४९)

विशेष अर्थवाली होनेसे यह प्रज्ञा, श्रुत और अनुमानजन्य प्रज्ञासे अन्य विषयवाली है।

१-भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने भी योगभ्रष्ट पुरुषकी गति बतलाते हुए कहा है—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्। यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः। (६।४३-४४)

और वह योगभ्रष्ट पुरुष, वहाँ उस पहले शरीरमें संग्रह किये हुए बुद्धि-संयोगको अर्थात् समत्वबुद्धियोगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है, और हे कुरुनन्दन! उसके प्रभावसे वह फिर परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये पहलेसे भी बढ़कर प्रयत्न करता है। वह श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पराधीन हुआ भी उस पहलेके अभ्याससे ही नि:सन्देह भगवान्‌की ओर आकर्षित किया जाता है।

२-भगवद्गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ (१७।३)

हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्त:करणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं ही वही है अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा है, वैसा ही उसका स्वरूप है।

अर्थात् श्रुति, स्मृतिद्वारा सुने हुए और अपनी साधारण बुद्धिके द्वारा अनुमान किये हुए, विषयोंसे भी इस बुद्धिके द्वारा विशेष अर्थका यानी यथार्थ अर्थका अनुभव होता है।

इस ऋतम्भरा प्रज्ञाके द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञानसे संसारके पदार्थोंमें वैराग्य और उपरति उत्पन्न होकर, उससे आत्मविषयक साधनमें आनेवाले विक्षेपोंका अभाव हो जाता है।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी। (१।५०)

उस ऋतम्भरा प्रज्ञासे उत्पन्न ज्ञानरूप संस्कार अन्य दृश्यजन्य संस्कारोंका बाधक है।

इसलिये उपर्युक्त प्रज्ञाके संस्कारोंद्वारा विराम-प्रत्ययका अभ्यास करना चाहिये अर्थात् विषयसहित चित्तकी समस्त वृत्तियोंके विस्मरणका अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकारका अभ्यास करते-करते दृश्यका अत्यन्त अभाव हो जाता है। दृश्यका अत्यन्ताभाव होनेपर दृश्यका अभाव करनेवाली बुद्धिवृत्तिका भी स्वयमेव निरोध हो जाता है और इसके निरोध होनेपर निर्बीज समाधि हो जाती है।* यही इस योगीकी स्वरूपमें स्थिति है या यों कहिये कि कैवल्यपदकी प्राप्ति है।

इनका सार निकालनेसे यही प्रतीत होता है कि अन्तःकरणकी स्वच्छतासे श्रद्धा होती है। श्रद्धासे साधनमें तत्परता होती है, तत्परतासे मन और इन्द्रियोंका निरोध होकर परमात्माके स्वरूपमें निरन्तर ध्यान होता है, उस ध्यानसे परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान होता है। और ज्ञानसे परम शान्तिकी प्राप्ति होती है। इसीको भगवत्प्राप्ति, परमधामकी प्राप्ति आदि नामोंसे गीतामें बतलाया गया है और यहाँ इस प्रकरणमें इसीको 'निर्बीज समाधि' या 'कैवल्यपद' की प्राप्ति कहा है।

अष्टांगयोग

अनेकों व्यक्ति ध्यान करने और समाधि लगानेकी चेष्टा करते हैं परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि समाधिकी सिद्धिके लिये यम-नियमोंके पालनकी विशेष आवश्यकता है। यम-नियमोंके पालन किये बिना ध्यान और समाधिका सिद्ध होना अत्यन्त कठिन है। झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचारकी वृत्तियोंके नष्ट हुए बिना चित्तका एकाग्र होना कठिन है और चित्त एकाग्र हुए बिना ध्यान और समाधि नहीं हो सकती। यों तो समाधिकी इच्छावाले पुरुषोंको योगके आठों ही अंगोंका साधन करना चाहिये, किन्तु यम और नियमोंका पालन तो अवश्यमेव करना चाहिये। जैसे नींवके बिना मकान नहीं ठहर सकता, ऐसे ही यम-नियमोंके पालन किये बिना ध्यान और समाधिका सिद्ध होना असम्भव-सा है। यम-नियमोंमें भी जो पुरुष यमोंका पालन न करके केवल नियमोंका पालन करना चाहता है, उससे नियमोंका पालन भी अच्छी प्रकार नहीं हो सकता। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष नित्य-निरन्तर यमोंका पालन करता हुआ ही नियमोंका पालन करे, इनका साधन किये बिना ध्यान और समाधिकी सिद्धि होनी कठिन है। अतः योगकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुषको यम-नियमोंका साधन अवश्यमेव करना चाहिये। इनके पालनसे चोरी, जारी, झूठ, कपट आदि दुराचारोंका और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणोंका नाश होकर अन्तःकरणकी पवित्रता होती है और उसमें उत्तम गुणोंका समावेश होकर इष्टदेवताके दर्शन एवं आत्माका साक्षात्कार भी हो सकता है। परन्तु यम-नियमोंके पालन किये बिना ध्यान और समाधिकी बात तो दूर रही, अच्छी प्रकारसे प्राणायामका होना भी कठिन है।

बहुत-से लोग प्राणायामके लिये यत्न करते हैं, किन्तु सफलता नहीं पाते। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुण एवं झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचार एवं प्राणायामविषयक क्रियाके ज्ञानका अभाव ही इस सफलतामें प्रधान बाधक है। यम-नियमोंका पालन करनेसे उपर्युक्त दुराचार और दुर्गुणोंका नाश हो जाता है। अतएव प्राणायामका साधन करनेवालेको भी प्रथम यम-नियमोंका पालन करना चाहिये। उपर्युक्त दुर्गुण और दुराचार सभी साधनोंमें बाधक हैं। इसलिये ध्यान और समाधिकी इच्छा करनेवाले साधकोंको दोषोंका नाश करनेके लिये प्रथम यम-नियमोंका पालन करके ही योगके अन्य अंगोंका अनुष्ठान करना चाहिये। जो पुरुष योगके आठों अंगोंका अच्छी प्रकारसे साधन कर लेता है, उसका अन्तःकरण पवित्र होकर ज्ञानकी अपार दीप्ति हो जाती है, जिससे उसको इच्छानुसार सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं और सिद्धियाँ न चाहनेवाला पुरुष तो क्लेश और कर्मोंसे छूटकर आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर सकता है।

योगके आठ अंग ये हैं—

* तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः। (१।५१)

उस अन्य (ऋतम्भरा प्रज्ञाजन्य) संस्कारके भी निरोध होनेपर सबके निरोध होनेसे निर्बीज (निर्विकल्प) समाधि होती है।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि।

(योगदर्शन २। २९)

'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अंग हैं।'

इन आठ अंगोंकी दो भूमिकाएँ हैं—१-बहिरंग, २-अन्तरंग। ऊपर बतलाये हुए आठ अंगोंमेंसे पहले पाँचको बहिरंग कहते हैं, क्योंकि उनका विशेषतया बाहरकी क्रियाओंसे ही सम्बन्ध है। शेष तीन अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरंग हैं। इनका सम्बन्ध केवल अन्तःकरणसे होनेके कारण इनको अन्तरंग कहते हैं। महर्षि पतंजलिने एक साथ इन तीनोंको 'संयम' भी कहा है—

त्रयमेकत्र संयमः। (योगदर्शन ३। ४)

अब इन आठों अंगोंका संक्षिप्त विवेचन किया जाता है।

१—यम

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

(योगदर्शन २। ३०)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँचोंका नाम यम है।'

(क) किसी भूतप्राणीको या अपनेको* भी मन, वाणी, शरीरद्वारा, कभी, किसी प्रकार, किंचिन्मात्र भी कष्ट न पहुँचानेका नाम अहिंसा है।

(ख) अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जैसा निश्चय किया हो, हितकी भावनासे, कपटरहित प्रिय शब्दोंमें वैसा-का-वैसा ही प्रकट करने (यथार्थ भाषण)-का नाम सत्य है।

(ग) मन, वाणी, शरीरद्वारा किसी प्रकारके भी किसीके स्वत्व (हक)-को न चुराना और न छीनना अस्तेय है।

(घ) मन, इन्द्रिय और शरीरसे सम्पूर्ण अवस्थाओंमें सदा-सर्वदा सब प्रकारके मैथुनोंका अर्थात् काम-विकारके सर्वथा अभावका नाम ब्रह्मचर्य है।

(ङ) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धके उत्पादक किसी भी भोगसामग्रीका कभी संग्रह न करना अपरिग्रह है।

इन पाँचों यमोंका सब जाति, सब देश और सब कालमें पालन होनेसे एवं किसी निमित्तसे भी इनके विपरीत हिंसादि दोषोंके न घटनेसे इनकी संज्ञा 'महाव्रत' हो जाती है।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।

(योगदर्शन २। ३१)

'जाति, देश, काल और निमित्तसे अनवच्छिन्न यमोंका सार्वभौम पालन महाव्रत होता है।' सार्वभौमके निम्नलिखित प्रकार हैं—

मनुष्य और मनुष्येतर—स्थावर-जंगम प्राणी तथा मनुष्योंमें हिंदू-मुसलमान, सनातनी-असनातनी आदि भेदोंसे किसीके साथ भी यमोंके पालनमें भेद न करना 'जातिगत सार्वभौम' महाव्रत है।

भिन्न-भिन्न खण्डों, देशों, प्रान्तों, ग्रामों, स्थानों एवं तीर्थ-अतीर्थ आदिके भेदसे यमके पालनमें किसी प्रकारका भेद न रखनेसे वह 'देशगत सार्वभौम' महाव्रत होता है।

वर्ष, मास, पक्ष, सप्ताह, दिवस, मुहूर्त, नक्षत्र एवं पर्व-अपर्व आदिके भेदोंसे यमके पालनमें किसी प्रकार भी भेद न रखना 'कालगत सार्वभौम' महाव्रत कहलाता है।

यज्ञ, देव-पूजन, श्राद्ध, दान, विवाह, न्यायालय, क्रय, विक्रय, आजीविका आदिके भेदोंसे यमके पालनमें किसी प्रकारका भेद न रखना 'समय (निमित्त) गत सार्वभौम' महाव्रत है। तात्पर्य यह है कि किसी देश अथवा कालमें, किसी जीवके साथ, किसी भी निमित्तसे, हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदिका कभी किसी प्रकार भी आचरण न करना तथा परिग्रह आदि न रखना 'सार्वभौम महाव्रत' है।

२—नियम

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

(योगदर्शन २। ३२)

'पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये पाँच नियम हैं।'

(क) पवित्रता दो प्रकारकी होती है—१-बाहरी और २-भीतरी। जल-मिट्टीसे शरीरकी, स्वार्थ-त्यागसे व्यवहार और आचरणकी तथा न्यायोपार्जित द्रव्यसे प्राप्त सात्त्विक पदार्थोंके पवित्रतापूर्वक सेवनसे आहारकी; यह बाहरी पवित्रता है। अहंता, ममता, राग-द्वेष, ईर्ष्या, भय और काम-क्रोधादि भीतरी दुर्गुणोंके त्यागसे भीतरी पवित्रता होती है।

(ख) सुख-दुःख, लाभ-हानि, यश-अपयश, सिद्धि-असिद्धि, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदिके प्राप्त होनेपर सदा-सर्वदा सन्तुष्ट प्रसन्नचित्त रहनेका नाम संतोष है।

(ग) मन और इन्द्रियोंके संयमरूप धर्मपालन करनेके

---

* स्वधर्मरक्षा, परोपकार, इन्द्रियसंयम और ईश्वरभक्ति आदि सत्कार्योंमें कष्ट सहन करना तो योगकी सिद्धिमें सहायक है; यहाँ केवल अशास्त्रीय, अनुचित कष्ट पहुँचानेका निषेध है।

लिये कष्ट सहनेका और तितिक्षा, व्रत एवं उपवासादिका नाम तप है।

(घ) कल्याणप्रद शास्त्रोंका अध्ययन और इष्टदेवके नामका जप तथा स्तोत्रादि पठन-पाठन एवं गुणानुवाद करनेका नाम स्वाध्याय है।

(ङ) ईश्वरकी भक्ति अर्थात् सर्वस्व ईश्वरके अर्पण करके ईश्वरके लिये मन-वाणी और शरीरद्वारा ईश्वरके अनुकूल ही चेष्टा करनेका नाम ईश्वरप्रणिधान है।

उपर्युक्त यम और नियमोंके पालनमें बाधक हिंसा आदि विपरीत वृत्तियोंके नाशके लिये महर्षि पतंजलि उपाय बतलाते हैं।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्। (योगदर्शन २। ३३)

'हिंसादि वितर्कोंसे बाधा होनेपर प्रतिपक्षका चिन्तन करना चाहिये।

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्त फला इति प्रतिपक्षभावनम्।

(योगदर्शन २। ३४)

कृत, कारित और अनुमोदितभेदसे, लोभ, क्रोध और मोहके हेतुसे, मृदु, मध्य और अधिमात्रस्वरूपसे ये हिंसादि वितर्क अनन्त दुःख और अज्ञानरूपी फलके देनेवाले हैं—ऐसी भावनाका नाम 'प्रतिपक्षभावना' है।

अर्थात् हिंसादि दोष, अनन्त दुःख और अनन्त अज्ञानरूप फलके देनेवाले हैं; इस प्रकारकी बारंबार भावना करनेका नाम 'प्रतिपक्षभावना' है।

हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, भोगपदार्थोंका संग्रह, अपवित्रता और असन्तोषकी वृत्ति एवं तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधानके विरोधकी वृत्ति, इनका नाम वितर्क है।

उपर्युक्त हिंसादिको मन, वाणी-शरीरद्वारा स्वयं करनेका नाम 'कृत' दूसरोंके द्वारा करवानेका नाम 'कारित' और अन्योंद्वारा किये जानेवाले हिंसादि दोषोंके समर्थन, अनुमोदन या उनमें सम्मतिका नाम 'अनुमोदित' है। उपर्युक्त तीनों प्रकारके हिंसादि समस्त दोषोंके होनेमें लोभ, क्रोध और मोह—ये तीन हेतु हैं। तीनों प्रकारके दोष, तीन हेतुओंसे बननेवाले होनेके कारण नौ तरहके हो जाते हैं। आसक्ति या कामनासे उत्पन्न होनेवाले हिंसा, असत्यादि दोषोंमें लोभ; ईर्ष्या, द्वेष, वैरादिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंमें क्रोध और मूढता, विपरीत-बुद्धि आदिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंमें मोह हेतु होता है। ये नौ प्रकारके दोष मृदु, मध्य और अधिमात्रके भेदसे सत्ताईस प्रकारके हो जाते हैं। अत्यन्त अल्पका नाम मृदु, बीचकी मात्राका नाम मध्य और अधिक मात्रामें यानी पूर्णरूपसे होनेवाले हिंसादि दोषका स्वरूप अधिमात्र कहा जाता है।

यम नियमोंके पालनका महान् फल

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः॥

(योगदर्शन २। ३५)

'अहिंसारूपी महाव्रतके पूर्ण पालन होनेपर उस योगीके समीप दूसरे (स्वाभाविक वैर रखनेवाले) प्राणी भी वैरका अर्थात् हिंसादिवृत्तिका त्याग कर देते हैं।'

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

(योगदर्शन २। ३६)

सत्यके अच्छी प्रकार पालनसे उस सत्यवादीकी वाणी सफल हो जाती है, अर्थात् वह जो कुछ कहता है वही सत्य हो जाता है।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।

(योगदर्शन २। ३७)

चोरीकी वृत्तिका सर्वथा त्याग हो जानेपर उसे सब रत्नोंकी उपस्थिति हो जाती है, अर्थात् समस्त रत्न उसके दृष्टिगोचर हो जाते हैं और समस्त जनता उसका पूर्णरूपसे विश्वास करने लग जाती है।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।

(योगदर्शन २। ३८)

ब्रह्मचर्यका अच्छी प्रकारसे पालन होनेपर शरीर, मन और इन्द्रियोंमें अत्यन्त सामर्थ्यकी प्राप्ति हो जाती है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।

(योगदर्शन २। ३९)

अपरिग्रहके स्थिर होनेपर यानी विषय-भोग पदार्थोंके संग्रहका भलीभाँति त्याग होनेपर, वैराग्य और उपरति होकर मनका संयम होता है और मनःसंयमसे भूत, भविष्यत्, वर्तमान जन्मोंका और उनके कारणोंका ज्ञान हो जाता है।

शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः।

(योगदर्शन २। ४०)

पूर्णतया बाहरकी पवित्रतासे अपने अंगोंमें घृणा तथा दूसरे शरीरोंमें अरुचि हो जानेसे उनका संसर्ग नहीं किया जाता।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।

(योगदर्शन २। ४१)

अन्तःकरणकी पवित्रतासे मनकी प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियोंपर विजय और आत्माके साक्षात् दर्शन करनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है।

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः। (योगदर्शन २। ४२)

सन्तोषसे सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ।

(योगदर्शन २। ४३)

तपके अनुष्ठानसे अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ और दूरसे देखना-सुनना आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ।

(योगदर्शन २। ४४)

स्वाध्यायसे इष्टदेवका साक्षात् दर्शन हो जाता है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।

(योगदर्शन २। ४५)

ईश्वरप्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि होती है।

३—आसन और आसनसिद्धिका फल

आसन अनेकों प्रकारके हैं। उनमेंसे आत्मसंयम चाहनेवाले पुरुषके लिये पद्मासन, स्वस्तिकासन और सिद्धासन—ये तीन बहुत उपयोगी माने गये हैं। इनमेंसे कोई-सा भी आसन हो; परन्तु मेरुदण्ड, मस्तक और ग्रीवाको सीधा अवश्य रखना चाहिये और दृष्टि नासिकाग्रपर अथवा भृकुटीमें रखनी चाहिये। आलस्य न सतावे तो आँखें मूँदकर भी बैठ सकते हैं। जिस आसनसे जो पुरुष सुखपूर्वक दीर्घकालतक बैठ सके, वही उसके लिये उत्तम आसन है।

स्थिरसुखमासनम्। (योगदर्शन २। ४६)

सुखपूर्वक स्थिरतासे बहुत कालतक बैठनेका नाम आसन है।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ।

(योगदर्शन २। ४७)

शरीरकी स्वाभाविक चेष्टाके शिथिल करनेपर अथवा अनन्तमें मनके तन्मय होनेपर आसनकी सिद्धि होती है। कम-से-कम एक पहर यानी तीन घंटेतक एक आसनसे सुखपूर्वक स्थिर और अचल भावसे बैठनेको आसनसिद्धि कहते हैं।

ततो द्वन्द्वानभिघातः। (योगदर्शन २। ४८)

उस आसनोंकी सिद्धिसे (शरीर पूर्णरूपसे संयत हो जानेके कारण) शीतोष्णादि द्वन्द्व बाधा नहीं करते।

४—प्राणायाम

अब संक्षेपमें प्राणायामकी क्रियाका उल्लेख किया जाता है। असलमें प्राणायामका विषय अनुभवी योगियोंके पास रहकर ही उनसे सीखना चाहिये, नहीं तो इससे शारीरिक हानि भी हो सकती है।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

(योगदर्शन २। ४९)

आसनके सिद्ध हो जानेपर श्वास और प्रश्वासकी गतिके अवरोध हो जानेका नाम प्राणायाम है। बाहरी वायुका भीतर प्रवेश करना श्वास है और भीतरकी वायुका बाहर निकालना प्रश्वास है; इन दोनोंके रुकनेका नाम प्राणायाम है।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।

(योगदर्शन २। ५०)

देश, काल और संख्या (मात्रा)-के सम्बन्धसे बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्तिवाले—ये तीनों प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं।

भीतरके श्वासको बाहर निकालकर बाहर ही रोक रखना 'बाह्य कुम्भक' कहलाता है। इसकी विधि यह है—आठ प्रणव (ॐ)-से रेचक करके, सोलहसे बाह्य कुम्भक करना और फिर चारसे पूरक करना—इस प्रकारसे रेचक-पूरकके सहित बाहर कुम्भक करनेका नाम बाह्यवृत्तिप्राणायाम है।

बाहरके श्वासको भीतर खींचकर भीतर रोकनेको 'आभ्यन्तर' कुम्भक कहते हैं। इसकी विधि यह है कि चार प्रणवसे पूरक करके सोलहसे आभ्यन्तर कुम्भक करे, फिर आठसे रेचक करे। इस प्रकार पूरक-रेचकके सहित भीतर कुम्भक करनेका नाम आभ्यन्तरवृत्तिप्राणायाम है।

बाहर या भीतर, जहाँ कहीं भी सुखपूर्वक प्राणोंके रोकनेका नाम स्तम्भवृत्तिप्राणायाम है अथवा चार प्रणवसे पूरक करके आठसे रेचक करे; इस प्रकार पूरक-रेचक करते-करते सुखपूर्वक जहाँ कहीं प्राणोंको रोकनेका नाम स्तम्भवृत्तिप्राणायाम है।

इनके और भी बहुत से भेद हैं; जितनी संख्या और जितना काल पूरकमें लगाया जाय, उतनी संख्या और काल रेचक तथा कुम्भकमें भी लगा सकते हैं।

प्राणवायुका नाभि, हृदय, कण्ठ या नासिकाके भीतरके भागतकका नाम 'आभ्यन्तर' देश है और नासिकापुटसे वायुका बाहर सोलह अंगुलतक 'बाहरी देश' है। जो साधक पूरक प्राणायाम करते समय नाभितक श्वासको खींचता है, वह सोलह अंगुलतक बाहर फेंके; जो हृदयतक अंदर खींचता है, वह बारह अंगुलतक बाहर फेंके; जो कण्ठतक श्वासको खींचता है, वह आठ अंगुल बाहर निकाले और जो नासिकाके अंदर ऊपरी अन्तिम भागतक ही श्वास खींचता है, वह चार अंगुल बाहरतक श्वास फेंके। इसमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तरवालेको 'सूक्ष्म' और पूर्व-पूर्ववालेको 'दीर्घ' समझना चाहिये।

प्राणायाममें संख्या और कालका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण, इनके नियमोंमें व्यतिक्रम नहीं होना चाहिये।

जैसे चार प्रणवसे पूरक करते समय एक सेकंड समय लगा तो सोलह प्रणवसे कुम्भक करते समय चार सेकंड और आठ प्रणवसे रेचक करते समय दो सेकंड समय लगना चाहिये। मन्त्रकी गणनाका नाम 'संख्या या मात्रा' है, उसमें लगनेवाले समयका नाम 'काल' है। यदि सुखपूर्वक हो सके तो साधक ऊपर बताये काल और मात्राको दूनी, तिगुनी, चौगुनी या जितनी चाहे यथासाध्य बढ़ा सकता है। काल और मात्राकी अधिकता एवं न्यूनतासे भी प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होता है।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः॥

(योगदर्शन २।५१)

बाह्य और भीतरके विषयोंके त्यागसे होनेवाला जो 'केवल' कुम्भक होता है, उसका नाम चतुर्थ प्राणायाम है।

शब्द, स्पर्शादि जो इन्द्रियोंके बाहरी विषय हैं और संकल्प-विकल्पादि जो अन्तःकरणके विषय हैं, उनके त्यागसे—उनकी उपेक्षा करनेपर अर्थात् विषयोंका चिन्तन न करनेपर प्राणोंकी गतिका जो स्वतः ही अवरोध होता है, उसका नाम 'चतुर्थ प्राणायाम' है। पूर्वसूत्रमें बतलाये हुए प्राणायामोंमें प्राणोंके निरोधसे मनका संयम है और यहाँ मन और इन्द्रियोंके संयमसे प्राणोंका संयम है। यहाँ प्राणोंके रुकनेका कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं है—जहाँ कहीं भी रुक सकते हैं तथा काल और संख्याका भी विधान नहीं है।

प्राणायामका फल

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। (योगदर्शन २।५२)

उस प्राणायामके सिद्ध होनेपर विवेकज्ञानको आवृत करनेवाले पाप और अज्ञानका क्षय हो जाता है।

धारणासु च योग्यता मनसः। (योगदर्शन २।५३)

तथा प्राणायामकी सिद्धिसे मन स्थिर होकर, उसकी धारणाओंके योग्य सामर्थ्य हो जाती है।

५—प्रत्याहार और उसका फल

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

(योगदर्शन २।५४)

अपने-अपने विषयोंके संयोगसे रहित होनेपर, इन्द्रियोंका चित्तके-से रूपमें अवस्थित हो जाना 'प्रत्याहार' है।

प्रत्याहारके सिद्ध होनेपर प्रत्याहारके समय साधकको बाह्यज्ञान नहीं रहता। व्यवहारके समय बाह्यज्ञान होता है; क्योंकि व्यवहारके समय साधक शरीरयात्राके हेतुसे प्रत्याहारको काममें नहीं लाता।

अन्य किसी साधनसे यदि मनका निरोध हो जाता है तो इन्द्रियोंका निरोधरूप प्रत्याहार अपने-आप ही उसके अन्तर्गत आ जाता है।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। (योगदर्शन २।५५)

उस प्रत्याहारसे इन्द्रियाँ अत्यन्त वशमें हो जाती हैं, अर्थात् इन्द्रियोंपर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है।

योगके आठ अंगोंमें पाँच बहिरंग साधनोंका वर्णन हुआ। अब शेष तीन अन्तरंग साधनोंका वर्णन किया जाता है। इनमें प्रथम धारणाका लक्षण बतलाया जाता है, क्योंकि धारणासे ध्यान और समाधि होती है। यह योगका छठा अंग है।

६—धारणा

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। (योगदर्शन ३।१)

चित्तको किसी एक देशविशेषमें स्थिर करनेका नाम धारणा है। अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म या बाह्य-आभ्यन्तर, किसी एक ध्येय स्थानमें चित्तको बाँध देना, स्थिर कर देना अर्थात् लगा देना 'धारणा' कहलाता है।

७—ध्यान

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (योगदर्शन ३।२)

उस पूर्वोक्त ध्येय वस्तुमें चित्तवृत्तिकी एकतानताका नाम ध्यान है। अर्थात् चित्तवृत्तिका गंगाके प्रवाहकी भाँति या तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे निरन्तर ध्येय वस्तुमें ही अनवरत लगा रहना 'ध्यान' कहलाता है।

८—समाधि

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

(योगदर्शन ३।३)

वह ध्यान ही 'समाधि' हो जाता है। जिस समय केवल ध्येय स्वरूपका (ही) भान होता है और अपने स्वरूपके भानका अभाव-सा रहता है; ध्यान करते-करते जब योगीका चित्त ध्येयाकारको प्राप्त हो जाता है और वह स्वयं भी ध्येयमें तन्मय-सा बन जाता है, ध्येयसे भिन्न अपने-आपका ज्ञान उसे नहीं-सा रह जाता है, उस स्थितिका नाम समाधि है। ध्यानमें ध्याता, ध्यान, ध्येय यह त्रिपुटी रहती है। समाधिमें केवल अर्थमात्र वस्तु यानी ध्येयवस्तु ही रहती है; अर्थात् ध्याता, ध्यान, ध्येय—तीनोंकी एकता हो जाती है।

ऐसी समाधि स्थूल पदार्थमें होती है तब उसे 'निर्वितर्क' कहते हैं और सूक्ष्म पदार्थमें होती है तब उसे 'निर्विचार' कहते हैं। यह समाधि सांसारिक पदार्थोंमें होनेसे तो सिद्धिप्रद होती है, जो कि अध्यात्मविषयमें हानिकर है और यही समाधि ईश्वरविषयक होनेसे मुक्ति प्रदान करती है। इसलिये कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको अपने इष्टदेव परमात्माके स्वरूपमें ही समाधि लगानी चाहिये। इसमें

परिपक्वता होनेपर, अर्थात् उपर्युक्त योगके आठों अंगोंके भलीभाँति अनुष्ठानसे मल और आवरणादि दोषोंके क्षय होनेपर, विवेकख्यातिपर्यन्त ज्ञानकी दीप्ति होती है[१] और उस विवेकख्यातिसे अविद्याका नाश होकर, कैवल्यपदकी प्राप्ति याने आत्मसाक्षात्कार हो जाता है।

समाधिपर्यन्त अष्टांगयोगका यह अर्थ प्रायः ग्रन्थोंके आधारपर लिखा गया है। महर्षि पतंजलिके सूत्रोंपर अपने भावका यह विवेचन है। इसका असली तात्पर्य या तो महर्षि पतंजलि जानते हैं अथवा इसके अनुसार साधन करके जिन्होंने समाधि अवस्था प्राप्त की है, वे कुछ जानते हैं। मैंने अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार जो कुछ लिखा है, पाठकगण उसे पढ़कर त्रुटियोंके लिये क्षमा करेंगे।

विद्या, अविद्या और सम्भूति, असम्भूतिका तत्त्व

ईशोपनिषद् यजुर्वेदमन्त्रसंहिताका ४०वाँ अध्याय है। वेदका आशय बहुत ही गहन है। हरेक मनुष्य वेदका तत्त्व नहीं समझ सकता। कोई महापुरुष ही ऐसे गूढ़ विषयोंका तात्पर्य बता सकते हैं। मेरा न तो वेदका तत्त्व बतानेका अधिकार है और न ऐसी योग्यता ही है तथापि प्रेमी भाइयोंकी प्रेरणासे अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार जैसा समझमें आया, लिखा जाता है।

विद्या, अविद्या और सम्भूति, असम्भूतिका अर्थ विद्वानोंने अनेक प्रकारसे किया है। परन्तु मन्त्रोंमें जो इनके ज्ञानसे महान् फल बतलाया है, वह फल किस प्रकारकी उपासनासे मिल सकता है, इसका ठीक-ठीक निर्णय समझमें नहीं आता, अतः इसका विवेचन करके समझनेकी आवश्यकता है; सुतरां पहले विद्या और अविद्याके अर्थपर विचार किया जाता है।

मेरी समझमें यहाँ विद्याका अर्थ ब्रह्मविद्या और अविद्याका अर्थ यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंका करना तथा स्ववर्णोचित स्वाभाविक कर्मोंका करना, इस प्रकार मानना ठीक है[२] क्योंकि यहाँपर विद्या और अविद्याके तत्त्वको न समझनेवालेकी निन्दा करके, इन दोनोंके तत्त्वको समझनेवालेकी प्रशंसा की गयी है और इनका तत्त्व समझनेका फल मृत्युसे तरकर अमृतत्वकी प्राप्ति बतलायी गयी है और ऐसा फल उपर्युक्त अर्थ माननेसे ही हो सकता है। कोई-कोई विद्वान् यहाँ विद्यामें रत रहनेका अर्थ देवोंकी उपासना मानते हैं, किन्तु यह अर्थ युक्तिसंगत समझमें नहीं आता। क्योंकि यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंकी अपेक्षा, देवोपासनाका फल नीचा बतलाना यानी देवोपासना करनेवाला, उनसे भी बढ़कर घोर अन्धकारमें प्रवेश करता है, यह कहना नहीं बन सकता; क्योंकि स्वर्गादिकी प्राप्तिको अन्धकारमें प्रवेश करना मान लेनेसे, उससे बढ़कर घोर अन्धकार शूकर-कूकर आदि तिर्यक्-योनियोंकी या रौरवादि नरकोंकी प्राप्तिको ही मानना पड़ेगा, सो देवोपासनाका ऐसा फल मानना युक्तिसंगत या शास्त्रसंगत नहीं प्रतीत होता।

अतएव यहाँ 'विद्यामें रत होनेका' अभिप्राय ब्रह्मविद्याका केवल अभिमानमात्र करना समझना चाहिये, क्योंकि यहाँपर यथार्थ न समझकर रत होनेवालेकी निन्दा की गयी है, उपासना करनेवालेकी नहीं। इसलिये जो मनुष्य विवेक, वैराग्य और उपरामतादिसे रहित हैं, वास्तवमें जिनका देहाभिमान नष्ट नहीं हुआ है, केवल शास्त्रोंके अभ्याससे ब्रह्मविद्याकी बातें पढ़-सुनकर अपनेको ज्ञानी मानने लग जाते हैं तथा ऐसे ज्ञानाभिमानमें रत रहनेके कारण स्ववर्णाश्रमोचित शास्त्रविहित कर्मोंकी अवहेलना करके स्वेच्छाचारी हो जाते हैं, उनको यहाँ विद्यामें रत बतलाया है। अतएव उनके लिये घोर नरकोंकी प्राप्ति बतलाना उचित ही है। गोस्वामीजीने भी कहा है कि—

ब्रह्मग्यान जान्यो नहीं, कर्म दिये छिटकाय।
तुलसी ऐसी आतमा, सहज नरकमें जाय॥

इसी तरह स्वामी शंकराचार्यजीने भी कहा है—

कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः।
ते ह्यज्ञानितमा नूनं पुनरायान्ति यान्ति च॥

(अपरोक्षानुभूति १३३)

'जो ब्रह्मवार्तामें कुशल हैं किन्तु ब्राह्मी वृत्तिसे रहित और रागयुक्त हैं, निश्चय ही वे अत्यन्त अज्ञानी हैं और बारम्बार जन्मते-मरते रहते हैं।'

जो इस प्रकारके विपरीत ज्ञानसे अपनेको ज्ञानी समझते हैं, वे मनुष्य इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बर्तती हैं, गुण ही गुणोंमें बर्त रहे हैं, काम-क्रोधादि दुर्गुण अन्तःकरणके धर्म हैं, इनका अन्तःकरणमें रहना अनिवार्य

१-योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। (योग० २।२८)

२-शास्त्रनिषिद्ध चोरी, व्यभिचार और मिथ्याभाषणादि पापकर्म भी अविद्या ही है पर इनकी उपासना नहीं बन सकती, अतः इनकी गणना उनके साथ नहीं की गयी है।

है, इत्यादि बहाना करके सदा भोगोंके भोगनेमें फँसे रहते हैं और ईश्वरको तथा शास्त्रोंको एवं धर्म-अधर्मको कल्पित समझकर, विहित कर्मोंका त्याग कर बैठते हैं, निषिद्ध कर्मोंसे निर्भय हो जाते हैं, फिर ऐसे मिथ्याज्ञानियोंको घोर नरककी प्राप्ति हो, इसमें कहना ही क्या है?

यहाँ विद्यामें रत होनेका फल घोर अन्धकारकी प्राप्ति बतलाया जानेके कारण, पहले-पहल साधारण दृष्टिसे यह शंका होती है कि यदि विद्याका तात्पर्य ब्रह्मविद्या होता तो उसका ऐसा उलटा फल कैसे बतलाया जाता, परन्तु मन्त्रोंकी उक्तिपर विशेष लक्ष्य करनेसे इस प्रकारकी शंकाको स्थान नहीं रहता। क्योंकि मन्त्रमें विद्याकी उपासनाका फल घोर अन्धकारकी प्राप्ति नहीं बताया गया है, उसका फल तो परब्रह्मकी प्राप्ति है। किन्तु जो विद्याके तत्त्वको न जाननेके कारण उसकी उपासना नहीं करके केवल विद्याके अभिमानमें रत हैं यानी सत्यासत्यके विवेकपूर्वक अनात्म-वस्तुओंसे सर्वथा विरक्त होना और तत्त्वज्ञानके अर्थका निरन्तर चिन्तन करना आदि साधनोंकी चेष्टा न करके, शरीरमें अहंता, ममता और आसक्ति रहते हुए ही केवल ब्रह्मविद्याका अभिमानमात्र करके, अपनेको पण्डित और ज्ञानी मान बैठते हैं, उनके लिये घोर अन्धकारकी प्राप्ति बतायी गयी है।

अविद्या अज्ञानका नाम है। अतः अज्ञानके कार्यरूप यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रविहित कर्मोंके अनुष्ठानको यहाँ अविद्याकी उपासना बतलायी गयी है।

एकादश मन्त्रमें, विद्या और अविद्याको एक साथ जाननेके लिये कहा गया है, इससे यह शंका उपस्थित होती है कि यदि विद्याका अर्थ ब्रह्मविद्या और अविद्याका अर्थ यज्ञादि कर्म मान लिया जाय तो दोनोंका समुच्चय यानी एक साथ उपासना कैसे हो सकेगी। क्योंकि यज्ञ, दान और तप आदि कर्मोंका अनुष्ठान करते समय साधककी ईश्वरमें और अपनेमें एवं कर्म और कारकादिमें भेददृष्टि रहती है तथा विद्याकी उपासनामें यानी ब्रह्म-विचाररूप ज्ञानाभ्यासमें अभेददृष्टि होती है, अतः दोनोंकी उपासना एक साथ नहीं हो सकती। सो ठीक है, यहाँ यह कहना भी नहीं है, यहाँ तो दोनोंका तत्त्व एक साथ समझनेवालेकी प्रशंसा की है।

यहाँ दसवें मन्त्रमें केवल संकेतमात्रसे ही दोनोंका फल बताया है, उसका स्पष्टीकरण नहीं किया—इससे इस प्रकरणका तात्पर्य समझनेमें बहुत कठिनता पड़ जाती है। शास्त्रका तात्पर्य समझकर उपासना करनेसे विद्या और अविद्या अर्थात् ज्ञान और कर्मानुष्ठानका दूसरा ही फल होता है। विचार करनेसे मालूम होता है कि यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंका और स्ववर्णाश्रमोचित स्वाभाविक कर्मोंका, जो सकामभावसे अनुष्ठान करना है, यह तो वास्तविक अर्थ बिना समझे अविद्याकी उपासना करना है। अतः इसका फल स्वर्गादिकी प्राप्तिरूप अन्धतमकी प्राप्ति बतायी गयी है पर इन्हीं कर्मोंका जो अभिमान, राग, द्वेष और फलकामना छोड़कर अनुष्ठान करना है, यह तात्पर्य समझकर अविद्याकी उपासना करना है, अतः इसका फल उससे दूसरा अर्थात् राग-द्वेष आदि समस्त दुर्गुणोंका और हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मिथ्याभाषणादि दुराचारोंका तथा हर्ष, शोक आदि समस्त विकारोंका सर्वथा अभाव हो जाना बताया गया है।

इसी तरह शास्त्रके तात्पर्यको न समझकर ब्रह्मविद्याका केवल अभिमानमात्र कर लेना उसकी उपासना नहीं है, उसमें अज्ञानपूर्वक रत होना है। इसलिये उसका फल घोर अन्धतमकी प्राप्ति बतायी गयी है। किन्तु नित्यानित्य वस्तुके विवेकसे क्षणभंगुर, नाशवान्, अनित्य शरीर और संसार आदि दृश्य पदार्थोंसे और सम्पूर्ण क्रियाओंसे विरक्त होकर उपराम होना एवं निरन्तर केवल नित्यविज्ञानानन्दघन ब्रह्मके ध्यानमें अभेद-भावसे स्थित होना, यह शास्त्रोंके तात्पर्यको समझकर विद्याकी उपासना करना है। अतः इसका फल उससे दूसरा अर्थात् तत्त्वज्ञानपूर्वक परब्रह्मकी प्राप्ति बतायी गयी है।

इस प्रकार मन्त्रोंके प्रत्येक अक्षरपर ध्यान देकर अर्थका विचार करनेसे किसी प्रकारकी शंका नहीं रह जाती, इस विवेचनके अनुसार मन्त्रोंका अर्थ इस प्रकार मानना चाहिये—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳरताः॥

(ईश० ९)

'जो मनुष्य अविद्याकी उपासना करते हैं अर्थात् सकामभावसे यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्म और स्वाभाविक कर्मोंका आचरण करते हैं, वे अज्ञानरूप अन्धकारमें प्रवेश करते हैं यानी इस लोकमें और स्वर्गादि परलोकमें भोगोंको भोगते हैं।'*

और जो विद्यामें रत हैं अर्थात् जो शास्त्रोंको पढ़-सुनकर ब्रह्मविद्यामें अभिमान करके अपनेको धीर और पण्डित, ज्ञानी मानते हैं (किन्तु वास्तवमें ज्ञानी नहीं हैं) वे मानो उस सकाम कर्म करनेवालेसे भी बढ़कर घोर अन्धकारमें ही प्रविष्ट होते हैं यानी पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि योनियोंको या रौरवादि घोर नरकोंको प्राप्त होते हैं।

* सम्पूर्ण संसार मायामय अनित्य होनेके कारण वास्तवमें समस्त भोग अन्धकाररूप ही हैं, इसलिये स्वर्गादिको अन्धतम बतलाया गया है।

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे॥

(ईश० १०)

शास्त्रके तात्पर्यको समझकर विद्याकी उपासना करनेसे दूसरा ही फल बताया है अर्थात् नित्यानित्यवस्तुके विवेकपूर्वक क्षणभंगुर, नाशवान्, अनित्य शरीर और स्त्री-पुत्र-धनादि सम्पूर्ण दृश्यमात्रसे विरक्त होकर, केवल एक नित्यविज्ञानानन्दघन ब्रह्मके ध्यानमें अभेद-भावसे स्थित रहनेसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होकर, परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप फल बताया है। तथा अविद्यासे दूसरा ही फल बताया है अर्थात् कर्तृत्वाभिमान, राग-द्वेष और फल-कामना छोड़कर शास्त्रविहित यज्ञ, दान, तपादिका और स्ववर्णाश्रमोचित स्वाभाविक कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे उसका फल राग-द्वेष आदि समस्त दुर्गुणोंका और हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मिथ्याभाषणादि दुराचारोंका एवं हर्ष-शोकादि विकारोंका सर्वथा अभाव होकर संसारसे पार होना बताया है, इस प्रकार हमने उन पुरुषोंके वचनोंसे सुना है जिन धीर महापुरुषोंने हमें इस विषयकी शिक्षा दी थी।

अब विद्या और अविद्या—इन दोनोंके तत्त्वको एक साथ समझनेका फल बताते हैं—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयँ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

(ईश० ११)

जो मनुष्य विद्या और अविद्याके तत्त्वको एक साथ भली प्रकार समझ लेता है अर्थात् ब्रह्मविद्याद्वारा बताये हुए विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके तत्त्वको भली प्रकार समझ लेता है तथा मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले समस्त शास्त्रविहित कर्मोंमें फल, अभिमान तथा राग-द्वेष आदिको त्यागनेसे दुर्गुण, दुराचार एवं समस्त विकारोंका अभाव होकर अन्तःकरण पवित्र हो जाता है, इस रहस्यको भी भली प्रकार समझ लेता है; वह—इस प्रकार समझनेवाला मनुष्य, अविद्या अर्थात् कर्मोंके रहस्यज्ञानसे, मृत्युको तरकर यानी पुनर्जन्मरूप संसारसे पार होकर, विद्यासे अर्थात् ज्ञानसे अमृतत्वको प्राप्त होता है यानी अविनाशी परमात्माके स्वरूपमें लीन हो जाता है।

इस प्रकार इन मन्त्रोंका अर्थ मान लेनेसे सब प्रकारकी शंकाओंका समाधान हो जाता है और श्रुतिका महत्त्वपूर्ण विशाल आशय प्रतीत होने लगता है।

इसी प्रकार अब सम्भूति और असम्भूतिके अर्थपर भी विचार किया जाता है।

मेरी समझमें सम्भूतिका अर्थ नित्य, अविनाशी, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है, जिससे इस सारे विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है। और असम्भूतिका अर्थ विनाशशील देव आदिके नाना भेदोंको मानना ठीक है। क्योंकि सम्भूति शब्द सम्पूर्वक 'भू' धातुका रूप है, 'भू' धातुका अर्थ सत्ता है, अतः जिसकी सत्ता सम्यक्‌रूपसे हो, जिसका कभी किसी अवस्थामें भी नाश न हो सके, जो उत्पत्ति, विनाशादि समस्त विकारोंसे रहित हो; ऐसा परब्रह्म परमेश्वर ही सम्भूतिका वाच्यार्थ हो सकता है। उससे अतिरिक्त अन्य देव आदिके नाना भेद प्रकृतिजनित विनाशशील होनेके कारण, उन सबको असम्भूतिका वाच्यार्थ समझा जा सकता है।

इसके सिवा सम्भूतिके ज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्तिरूप फल बतलाया गया है। इससे भी सम्भूतिका अर्थ परमेश्वरको मानना ही ठीक प्रतीत होता है।

कोई-कोई विद्वान् यहाँ असम्भूतिका अर्थ अव्याकृत प्रकृति और सम्भूतिका अर्थ हिरण्यगर्भ—कार्यब्रह्म मानते हैं। किन्तु इस प्रकार मानना युक्तिसंगत नहीं मालूम होता। क्योंकि हिरण्यगर्भकी उपासनाका फल, घोर अन्धकाररूप कीट-पतंगादि योनियोंकी प्राप्ति या रौरव आदि नरकोंकी प्राप्तिरूप नहीं हो सकता। और दोनोंकी समुचित उपासनाका जो विशेष फल उन्होंने बतलाया है, वह भी मन्त्रके शब्दोंके अनुकूल महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ता, इसके सिवा ऐसा अर्थ माननेके लिये उनको अक्षरार्थमें भी बहुत क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है। अर्थात् 'विनाश' शब्दको 'सम्भूति' का पर्याय माननेके लिये चतुर्दश मन्त्रमें, सम्भूति शब्दके साथ दो जगह अकारका अध्याहार करना पड़ा है। परन्तु विद्या, अविद्याके प्रसंगका क्रम देखते हुए 'विनाश' शब्द असम्भूतिका ही पर्याय माना जाना उचित है। एवं प्रत्येकको अलग-अलग उपासनाका बुरा फल बताते हुए, अव्याकृतकी उपासनाका फल उसके अनुरूप अदर्शनात्मक तमकी प्राप्ति बतलाया है और दोनोंकी समुचित उपासनाका विशिष्ट फल बतलाते हुए भी, अव्याकृत प्रकृतिकी उपासनाका फल अमृतत्वके अर्थमें उस प्रकृतिमें लीन होना बतलाया है; सो विचार करनेसे मालूम होता है कि अव्याकृत प्रकृति स्वयं अदर्शनात्मक है, अतः उसमें लीन होना भी तो अदर्शनात्मक तममें ही लीन होना है, फिर अलग-अलग फल क्या हुआ? इसके सिवा उन विद्वानोंने यह भी नहीं बतलाया कि शास्त्रोंमें ऐसी उपासनाका कहाँ विधान है? इत्यादि कारणोंसे उनका बतलाया हुआ अर्थ ठीक समझमें नहीं आता।

मन्त्रके अक्षरोंपर ध्यान देकर विचार करनेसे प्रत्यक्ष

प्रतीत होता है कि बारहवें मन्त्रके पूर्वार्द्धमें असम्भूतिकी 'उपासना' का फल बतलाया है, किन्तु उत्तरार्द्धमें सम्भूतिकी 'उपासना' का फल नहीं बतलाया है, केवल उसमें अज्ञानपूर्वक 'रत' होनेका यानी सम्भूतिमें स्थित होनेके मिथ्या अभिमानका फल बतलाया है। उसके बाद तेरहवें मन्त्रमें विद्या और अविद्याकी भाँति ही उपासनाके तात्पर्यको समझकर, सम्भूति और असम्भूतिकी उपासना करनेसे जो विशिष्ट फल मिलता है उसका लक्ष्य कराया है, फिर चौदहवें मन्त्रमें दोनोंके तत्त्वको एक साथ समझनेका फल बतलाया है।

श्रुतिका भाव ऐसा प्रतीत होता है कि जो मनुष्य शास्त्रोक्त विधिके अनुसार देव आदिकी सकामभावसे उपासना करते हैं वे अज्ञानरूप अन्धकारमें प्रवेश करते हैं। अर्थात् उन-उन देवके लोकों या योनियोंको प्राप्त होते हैं!

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान्ने कहा है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥

(७। २०)

'नाना प्रकारकी कामनासे जिनका विवेकज्ञान नष्ट हो गया है, ऐसे (विषयासक्त) सकामी मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृतिसे प्रेरित होकर, उन नाना देवोंकी उपासनाके (संसारमें प्रचलित) नियमोंको धारण करके, ईश्वरसे भिन्न अन्य देवोंकी पूजा-उपासना करते हैं।'

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥

(गीता ७। २३)

'परन्तु उन अल्पबुद्धिवालोंका वह फल नाशवान् है तथा वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

(गीता ९। २५)

'देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंको पूजनेवाले पितरोंको या उनकी योनियोंको प्राप्त होते हैं, भूतोंको पूजनेवाले भूतोंको या उनकी योनियोंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं। इसीलिये मेरे भक्तोंका पुनर्जन्म नहीं होता है।'

उन-उन देवोंके लोक एवं योनियाँ विनाशशील और मायामय होनेके नाते उनकी प्राप्तिको अन्धकारकी प्राप्ति बतलाया गया है।

उत्तरार्द्धमें कहा गया है कि जो मनुष्य सम्भूतिमें रत है उसे उन असम्भूतिकी उपासना करनेवालोंसे भी बढ़कर घोर अन्धकारकी प्राप्ति अर्थात् शूकर-कूकर, कीट-पतंग आदि तिर्यक्-योनियोंकी और रौरव आदि नरकोंकी प्राप्ति होती है। यहाँ साधारण दृष्टिसे ऐसी शंका हो सकती है कि सम्भूतिका अर्थ यदि अविनाशी परब्रह्म परमेश्वर मान लिया जाय, तब फिर उनकी उपासनाका फल नरकादिकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? किन्तु इसका उत्तर पहले ही बता दिया गया है कि इस मन्त्रके उत्तरार्धमें सम्भूतिकी 'उपासना' का फल नहीं बताया गया है पर उसमें 'रत' होनेका अर्थात् मिथ्या अभिमान कर लेनेका फल बताया गया है।

जो मनुष्य शास्त्रके तात्पर्यको न समझनेके कारण भगवान्का भजन-ध्यान नहीं करते, जिनका विषय-भोगमें वैराग्य नहीं हुआ है, जो भगवान्को सर्वभूतोंमें व्यापक समझकर भगवद्बुद्धिसे उनको सुख पहुँचानेकी चेष्टा नहीं करते, जो भगवान्के तत्त्व और रहस्यको नहीं समझते, ऐसे विषयासक्त मनुष्य ईश्वरोपासनाका मिथ्याभिमान करके लोगोंसे अपनी पूजा कराने लग जाते हैं। वे इस अभिमानके कारण अन्य देव आदिमें तुच्छ बुद्धि करके, शास्त्रविधिके अनुसार करनेयोग्य, देवपूजनादिका त्याग कर देते हैं। दूसरोंको भी ऐसी ही शिक्षा देकर देवादिकी उपासनामें अश्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं। ईश्वरोपासनामें मिथ्याभिमानके कारण स्वयं अपनेको ईश्वरके तुल्य मानकर स्वेच्छाचारी हो जाते हैं और लोगोंसे अपनेको पुजवाने लग जाते हैं; ऐसे पुरुषोंको ही यहाँ घोर अन्धकारकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

जो पुरुष शास्त्रके इस तत्त्वको समझता है कि सम्पूर्ण यज्ञ और तपोंका भोक्ता परमेश्वर ही है (गीता ५। २९)। अन्यान्य देवादिमें भी उनकी आत्माके रूपमें भगवान् ही व्याप्त हैं, सब भूत-प्राणियोंकी सेवा, पूजा, सम्मान आदि करना, उस सर्वव्यापी परमदेव परमेश्वरकी ही पूजा है; वह निष्कामभावसे शास्त्राज्ञानुसार, देव आदिकी उपासना प्राप्त होनेपर विधिपूर्वक उनकी उपासना करता है। उसको ऐसी उपासनाका फल बारहवें मन्त्रमें बतायी हुई सकामभावसे की जानेवाली देवादिकी उपासनाकी अपेक्षा विलक्षण मिलता है अर्थात् निष्कामभावसे इस प्रकार की हुई देवादिकी उपासनासे, उसका अन्तःकरण बहुत शीघ्र पवित्र हो जाता है, उसके समस्त, दुर्गुण-दुराचार और समस्त दोषोंका नाश हो जाता है।

इसी तरह शास्त्रके तात्पर्यको समझकर जो अक्षर, अविनाशी, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी उपासना करते हैं, जैसे भगवान्ने कहा है कि—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥

(गीता ८। ८)

'हे पार्थ! यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त दूसरी ओर न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ पुरुष परम प्रकाशस्वरूप दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है।'

कविं पुराणमनुशासितार
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥

(गीता ८। ९)

इससे जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता[१], सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप, अविद्यासे परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका स्मरण करता है।'

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(गीता ८। १०)

'वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापित करके, फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ, उस दिव्यस्वरूप परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है।'

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥

(गीता ८। २२)

हे पार्थ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्यभक्तिसे ही प्राप्त होनेयोग्य है।'

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

(गीता ९। १३)

'तथा हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं।'

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

(गीता ९। १४)

'वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्य प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं।'

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(गीता १०। ९)

'वे निरन्तर मेरेमें मन लगानेवाले और मेरेमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले[२] भक्तजन सदा ही मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं।'

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ कि जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इस प्रकार जो भगवान्‌के भजन-ध्यानमें निरन्तर लगे रहते हैं, उनको ऐसी उपासनाका दूसरा ही फल मिलता है अर्थात् वे अपने आराध्यदेव अविनाशी परमेश्वरको प्राप्त हो जाते हैं। तथा जो अविनाशी परमेश्वरको और विनाशशील देव आदिको तत्त्वसे समझ लेते हैं, वे उन देवादिके विनाशशील लोक और योनियोंके तत्त्वको समझ लेनेके कारण, उन-उन लोकोंको लाँघकर (अतिक्रमणकर) परमेश्वरको प्राप्त हो जाते हैं।

इस विवेचनके अनुसार सम्भूति और असम्भूति-विषयक तीनों मन्त्रोंका अर्थ इस प्रकार मानना चाहिये।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यांरताः॥

(ईश० १२)

जो मनुष्य असम्भूतिकी उपासना करते हैं अर्थात्

१-अन्तर्यामीरूपसे सब प्राणियोंके शुभ और अशुभ कर्मके अनुसार शासन करनेवाला।

२-मुझ वासुदेवके लिये ही जिन्होंने अपना जीवन अर्पण कर दिया है उनका नाम है 'मद्गतप्राणाः'।

शास्त्रके तात्पर्यको न समझनेके कारण विनाशशील देव आदिकी सकामभावसे उपासना करते हैं, वे अज्ञानरूप अन्धकारमें प्रवेश करते हैं अर्थात् उन-उन देव आदिके लोकोंको और योनियोंको पाते हैं।*

इनसे अन्य जो सम्भूतिमें रत हैं अर्थात् ईश्वरमें श्रद्धा न होनेके कारण, ईश्वरकी भक्तिका साधन किये बिना ही अपनेको भक्त मानते हैं, वे सकामभावसे देवादिकी उपासना करनेवालोंसे भी बढ़कर घोर अन्धकारमें ही प्रवेश करते हैं अर्थात् शूकर-कूकरादि तिर्यक्-योनियोंको और रौरवादि नरकोंको प्राप्त होते हैं।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥

(ईश० १३)

सम्भूतिकी उपासनासे यानी नित्य, अविनाशी, सर्वव्यापी, विज्ञानानन्दघन परमेश्वरकी भक्तिसे दूसरा ही फल बताया है अर्थात् उन सम्भूतिमें 'रत' होनेवालोंको जो फल मिलता है उससे भिन्न अपने आराध्यदेव परमेश्वरकी प्राप्तिरूप फलका मिलना बताया है और असम्भूतिसे अर्थात् भगवान्‌की आज्ञा समझकर देवादिकी उपासना शास्त्रोक्त विधिके अनुसार निष्कामभावसे करनेपर उसका दूसरा ही फल बताया है अर्थात् सकामभावसे उपासना करनेवालोंके फलसे भिन्न अन्तःकरणकी शुद्धिरूप फल बताया है; इस प्रकार हमने उन धीर तत्त्वज्ञ पुरुषोंके वचनोंसे सुना है, जिन्होंने हमें इस तत्त्वकी शिक्षा दी थी।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयंसह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥

(ईश० १४)

जो मनुष्य सम्भूतिको और विनाशको अर्थात् नित्य, अविनाशी, विज्ञानानन्दघन परमेश्वरको और विनाशशील देवादिको तत्त्वसे जानता है यानी नित्य अविनाशी परमात्मा सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सबका आत्मा और सर्वोत्तम है, इस प्रकार परमेश्वरके निर्गुण-सगुणरूप समग्र तत्त्वको भलीभाँति समझता है एवं सब देवादिकी योनियाँ और इनके सब लोक विनाशशील, क्षणभंगुर हैं, इनमें जो कुछ शक्ति है वह भी भगवान्‌की ही है, इस प्रकार उन देवादिके तत्त्वको समझता है, वह उन विनाशशील देवादिके तत्त्वको समझनेके कारण मृत्युको लाँघकर अर्थात् विनाशशील मृत्युरूप उन-उन लोकोंमें आसक्त न होता हुआ यानी उनमें न अटककर, सम्भूतिके तत्त्वज्ञानसे अर्थात् अविनाशी, नित्य विज्ञानानन्दघन परमेश्वरके समग्र स्वरूपको भलीभाँति समझनेसे अमृतको यानी अमृतस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार इन मन्त्रोंका अर्थ मान लेनेसे सब प्रकारकी शंकाओंका समाधान हो जाता है और श्रुतिका महत्त्वपूर्ण आशय झलकने लगता है।

आध्यात्मिक प्रश्नोत्तर

एक सज्जन कुछ उपयोगी प्रश्न लिख भेजे हैं। उनका उत्तर अपनी स्वल्प बुद्धिके अनुसार नीचे देनेकी चेष्टा की जाती है। प्रश्नोंकी भाषा आवश्यकतानुसार सुधार दी गयी है। प्रश्न इस प्रकार हैं—

(१) जीव, आत्मा और परमात्मामें क्या भेद है?

(२) सुख-दुःख किसको होते हैं—शरीरको या आत्माको? यदि कहा जाय कि शरीरको होते हैं तो शरीर तो जड पदार्थोंका बना हुआ है, जड पदार्थोंको सुख-दुःखकी अनुभूति कैसे होगी? और शरीर तो मरनेके बाद भी कायम रहता है, उस समय उसे कुछ भी अनुभूति नहीं होती। यदि यह कहा जाय कि सुख-दुःखकी अनुभूति आत्माको होती है तो यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं मालूम होता; क्योंकि गीता आदि शास्त्रोंमें आत्माको निर्लेप साक्षी एवं जन्म-मरण तथा सुख-दुःखादिसे रहित बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त चीर-फाड़ करते समय डॉक्टर लोग रोगीको क्लोरोफार्म सुँघाकर बेहोश कर देते हैं। आत्मा तो उस समय भी मौजूद रहता है, फिर रोगीको कष्टका अनुभव क्यों नहीं होता?

उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः नीचे दिया जाता है—

(१) प्राणिमात्रकी 'जीव' संज्ञा है; स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण—इन तीन प्रकारके व्यष्टिशरीरोंमेंसे एक, दो या तीनोंसे सम्बन्धित चेतनका नाम 'जीव' है। इन तीनों शरीरोंके सम्बन्धसे रहित व्यष्टि-चेतनका नाम 'आत्मा' है। इसीको 'कूटस्थ' भी कहते हैं। वैसे तो गीतादि शास्त्रोंमें मन, बुद्धि,

* ब्रह्मलोकतकके सभी लोक और योनियाँ विनाशशील हैं। अतः वहाँतक जानेवाले जीवोंका भी पुनरागमन होता है (गीता ८।१६) एवं ब्रह्मलोकतक सभी लोक मायामय हैं, इसलिये इन सबकी प्राप्तिको भी अन्धकारमें प्रवेश करना कहा गया है, क्योंकि इनको प्राप्त होना भी अज्ञानरूप संसारको ही प्राप्त होना है।

शरीर तथा इन्द्रिय आदिके लिये भी 'आत्मा' शब्दका व्यवहार हुआ है; परन्तु प्रश्नकर्ताने मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रिय आदिसे भिन्न शुद्ध चेतनके अर्थमें 'आत्मा' शब्दका प्रयोग किया है। अतः उसीके अनुसार 'आत्मा' का लक्षण किया गया है तथा शुद्ध सच्चिदानन्दघन गुणातीत अक्षर ब्रह्मको परमात्मा कहते हैं। आकाशके दृष्टान्तसे उक्त तीनों पदार्थोंका भेद कुछ-कुछ समझमें आ सकता है। जो आकाश अनन्त घटोंमें समान रूपसे व्याप्त है, उसे वेदान्तकी परिभाषामें महाकाश कहते हैं और जो किसी एक घटके अंदर सीमित है, उसे घटाकाश कहते हैं। महाकाशस्थानीय परमात्मा हैं घटाकाशस्थानीय आत्मा अथवा शुद्ध चेतन है और जलसे भरे हुए घड़ेके अंदर रहनेवाले जलसहित आकाशके स्थानमें जीवको समझना चाहिये। इसीको जीवात्मा भी कहते हैं। स्थूल-सूक्ष्म एवं कारण—इन तीनों प्रकारके शरीरोंमेंसे एक, दो या तीनों शरीरोंसे सम्बन्ध होनेपर ही इसकी 'जीव' संज्ञा होती है। इनमेंसे कारणशरीरके साथ तो जीवका अनादि सम्बन्ध है। महासर्गके आदिमें उसका सूक्ष्मशरीरके साथ सम्बन्ध हो जाता है, जो महाप्रलयपर्यन्त रहता है और देव, तिर्यक्, मनुष्यादि योनियोंसे संयुक्त होनेपर उसका स्थूलशरीरके साथ सम्बन्ध हो जाता है। एक शरीरको छोड़कर जब यह जीव दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है, उस समय पहला शरीर छोड़ने और दूसरे शरीरमें प्रवेश करनेके बीचके समयमें उसका सम्बन्ध सूक्ष्म और कारण दोनों शरीरोंमेंसे रहता है और जब यह किसी योनिके साथ सम्बद्ध रहता है, उस समय इसका स्थूल, सूक्ष्म, कारण—तीनों शरीरोंसे सम्बन्ध रहता है।

(२) दूसरा प्रश्न यह है कि सुख-दुःखका भोक्ता शरीर है या आत्मा। इस सम्बन्धमें प्रश्नकर्ताका यह कहना ठीक ही है कि सुख-दुःखका भोक्ता न केवल शरीर है और न शुद्ध आत्मा ही। तो फिर इनका भोक्ता कौन है? इसका उत्तर यह है कि शरीरके साथ सम्बद्ध हुआ यह जीव ही सुख-दुःखका भोक्ता है, गीतामें भी कहा है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(१३। २१)

'प्रकृतिमें स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका संग ही उस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।'

योगदर्शनमें भी प्रायः ऐसी ही बात कही गयी है। महर्षि पतंजलि कहते हैं—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।

(यो० द० २। १७)

'द्रष्टा और दृश्य अर्थात् पुरुष और प्रकृतिका संयोग ही हेय अर्थात् दुःखका हेतु है।'

इस संयोगका कारण अविद्या अर्थात् अज्ञान है—

तस्य हेतुरविद्या। (यो० द० २। २४)

अज्ञानके कारण ही चेतन आत्मा 'मैं देह हूँ' ऐसा मानने लगता है और इसीलिये सुखी-दुःखी होता है। इस अविद्यारूप कारणके नाश हो जानेपर उक्त संयोगरूप कार्यका भी नाश हो जाता है; इसीको आत्माका कैवल्य अर्थात् मोक्ष कहते हैं—

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।

(यो० द० २। २५)

समाधि, गाढ़ निद्रा, (सुषुप्ति) तथा मूर्च्छाके समय सुख-दुःखका अनुभव नहीं होता—इसका कारण यही है कि उस समय मन-बुद्धि, जो सुख-दुःखकी अनुभूतिके द्वार हैं, अपने कारण प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं। इसीलिये डॉक्टरलोग चीर-फाड़के समय क्लोरोफार्म आदिका प्रयोग करके कृत्रिम मूर्च्छाकी स्थिति ले आते हैं। महाप्रलयके समय जब जीवका केवल कारण-शरीरके साथ सम्बन्ध रहता है; उस समय भी सुख-दुःखका अनुभव नहीं होता। सुख-दुःखका अनुभव सूक्ष्मशरीरके साथ सम्बन्ध होनेपर ही होता है। अतएव जाग्रत्-अवस्था अथवा स्वप्नावस्थामें ही सुख-दुःखका अनुभव होता है। स्वप्नावस्थामें स्थूल-शरीरके साथ सम्बन्ध न रहनेपर भी मन-बुद्धिके साथ तो सम्बन्ध रहता ही है, अतएव उस समय जीवको प्रत्यक्षवत् ही सुख-दुःखकी अनुभूति होती है।

आचरण करनेयोग्य पचीस बातें

१-सन्ध्या अत्यन्त प्रेमपूर्वक करनी चाहिये; अर्थपर ध्यान रखते हुए गायत्रीमन्त्रका जप करना चाहिये तथा '*हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥*' इस मन्त्रका भी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जप-कीर्तन करना चाहिये।

२-सब भाइयोंको गीताका अर्थ समझनेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। गीताका खूब अभ्यास करे; जिस समय पाठ करे उस समय अर्थपर खूब ध्यान रखे। पहले अर्थ पढ़ ले, पीछे श्लोक पढ़े।

३-अपने घरपर रहते हुए भी हर एक भाईको एकान्तसेवन करते रहना चाहिये। एकान्तमें भगवान्का ध्यान करे। पहले विचार करे कि आत्माका कल्याण कैसे होगा। यदि कोई विचार न सूझे तो भगवान्से प्रार्थना करे—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

(गीता २। ७)

'कायरतारूप दोषसे उपहत हुए स्वभाववाला और धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चय ही कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये।'

इस श्लोकके अनुसार शरण होकर रुदन करे। फिर ध्यान करे। ध्यानके लिये अलग कमरा रखे, उसके लिये आसन भी अलग ही होना चाहिये।

४-सेवाका अभ्यास डालना चाहिये। हमलोगोंमें सेवाका अभ्यास बहुत कम है। अपने घरपर आये हुए अतिथिका खूब सत्कार करना चाहिये। यदि कोई सत्संगी मिले तो उससे भगवद्विषयक प्रश्न करे। भगवत्सम्बन्धी बातोंकी खोजमें खूब तत्परतासे रहे। यदि कोई सत्संग करके आया हो अथवा कोई सत्संग-सम्बन्धी पत्र मिला हो तो आपसमें मिलकर चर्चा करनी चाहिये। गीताके श्लोकोंमें कोई नयी बात जान पड़े तो उसे कण्ठस्थ कर ले।

५-जो साधन बतलाया गया हो उसे कठिन न समझे। सदा ऐसा साहस रखे कि दुर्गुण-दुराचार आ ही कैसे सकता है? यदि हम सावधान रहेंगे तो चोर हमारे घरमें कैसे घुस सकता है।

६-डॉक्टरी दवा नहीं लेनी चाहिये। डॉक्टरी दवासे बहुत अधिक हानि होती है। बाजारकी मिठाई, पूड़ी, दूध-दही, चाय आदि नहीं खाने चाहिये। भाँग आदि मादक द्रव्योंको भी त्याग देना चाहिये।

७-वास्तविक बात यह है कि सत्संगमें जितनी बातें बतलायी जाती हैं यदि उनकी धारणा कर ले, उनका नियम-सा कर ले तो अवश्य सुधार हो जायगा।

८-रसोई पवित्रतासे बनानी चाहिये। बालक आदि रसोईघरमें न जाने चाहिये। रसोई बनाते समय धुले हुए वस्त्र धारण करे! आहार शुद्ध होनेसे मन भी शुद्ध होता है। 'जैसा खावे अन्न तैसा बने मन।' मुख्यतासे अन्न तीन प्रकारसे पवित्र होता है—सात्त्विक कमाईसे, पवित्रतापूर्वक तैयार करनेसे तथा सात्त्विक भोजन होनेसे।

९-वाणीके संयमपर खूब ध्यान रखना चाहिये। सदा विचारकर बोले। वाणीके तपका बहुत बड़ा महत्त्व है। नेत्रोंके संयमकी भी बड़ी आवश्यकता है। संसारी पदार्थोंकी ओर नेत्रोंको न जाने दे, ऐसा न हो तो स्त्रियोंकी ओर तो उनकी प्रवृत्ति होने ही न दे। यदि चले जायँ तो उपवास करे। ऐसा करनेसे अच्छा सुधार हो सकता है। हाथोंका भी संयम करे, उनसे कोई कामोद्दीपक कुचेष्टा न करे, कामवृत्तिको जड़से उखाड़ डाले। क्रोधको तो ऐसा जीते कि सामनेवाला मनुष्य कितना ही उत्तेजित हो जाय, स्वयं शान्त ही रहे।

१०-दूसरोंका उपकार करनेकी आदत डालनी चाहिये। यह बड़े महत्त्वकी बात है कि अपनेसे किसीका उपकार बन जाय। किन्तु वह उपकार होना चाहिये उदारता और दयाबुद्धिसे।

११-प्रत्येक मनुष्यके साथ जो व्यवहार किया जाय उसमें स्वार्थदृष्टिको त्याग देना चाहिये। व्यवहार स्वार्थसे ही बिगड़ता है। एक स्वार्थके त्याग देनेसे ही व्यवहार सुधर जाता है।

१२-लोगोंसे छोटे-छोटे जीवोंकी बहुत हिंसा होती है। हमें चलने, हाथ धोने, कुल्ला करने तथा मल-मूत्र त्याग करनेमें इस बातका ध्यान रखना चाहिये। हम इन जीवोंके जीवनका कुछ मूल्य नहीं समझते। किंतु स्मरण रखना चाहिये कि इस उपेक्षाके कारण बदलेमें हमें भी ऐसी ही निर्दयताका शिकार होना पड़ेगा। जो मनुष्य

जीवोंके हिंसाका कानून बनाता है उसे तरह-तरहके कष्ट उठाने पड़ेंगे। यदि कोई पुरुष कुत्तेको रोटी देना बंद करेगा तो उसे भी कुत्ता बनकर भूखों मरना पड़ेगा। यदि किसीने म्युनिसिपलिटीमें कुत्तोंको मारनेका कानून बनाया तो उसे भी कुत्ता बनकर निर्दयतापूर्वक मृत्युका सामना करना पड़ेगा। कसाइयोंकी तो बड़ी ही दुर्दशा होगी। धन्य है, उन राजाओंको जिनके राज्यमें हिंसा नहीं थी।

१३-सूर्योदयसे पूर्व प्रातःसन्ध्या और सूर्यास्तसे पूर्व सायंसन्ध्या नियमानुसार आदर और प्रेमपूर्वक करनी चाहिये। सन्ध्यासे लाभ नहीं मालूम होता इसमें हमारी श्रद्धा और प्रेमकी न्यूनता ही कारण है।

१४-व्यापारमें नियम कर ले कि मुझे झूठ या कपटका व्यवहार नहीं करना है। खानेको न मिले तो भी कोई परवा मत करो। मेरा तो विश्वास है कि सचाईका व्यवहार जैसा चलता है वैसा झूठ-कपटका कभी नहीं चल सकता। पहले मिथ्या भाषण किया है, इसलिये आरम्भमें लोग विश्वास नहीं करते; सो कोई चिन्ता नहीं, पहले कियेका प्रायश्चित्त भी तो करना ही चाहिये। यदि यह सूत्र याद रखा जाय कि 'लोभ ही पापका मूल है' तो व्यवहारमें पाप नहीं हो सकता!

१५-हमारे साथ पथप्रदर्शकरूपसे गीतादि शास्त्रोंके रहते हुए भी यदि हमारी दुर्गति हो तो बड़ी लज्जाकी बात है। श्रीमद्भगवद्गीताकी ध्वजा फहरा रही है; फिर हमारी अवनति क्यों होनी चाहिये? हमें भजन करनेकी स्वतन्त्रता है; फिर संसारमें भगवान्का नाम रहते हुए भी हमारी दुर्गति क्यों हो।

१६-कुसंग कभी न करना चाहिये। जो पुरुष विषयी, पामर, दुराचारी, पापी या नास्तिक हैं उनका संग कभी न करे और न उन्हें अपने पड़ोसमें ही बसावे। उनसे सर्वदा दूर रहे। वे प्लेगकी बीमारीके समान हैं, इसलिये उनके आचरण और दुर्गुणोंसे घृणा करे, किन्तु उनसे घृणा न करे।

१७-किसी भी प्रकारका न्याय करना हो तो समदृष्टि रखे; यदि विषमता करनी हो तो अपने पक्षमें पौने सोलह आने रखे और विपक्षके लिये सवा सोलह आने।

१८-यदि कोई कठिन कार्य आकर प्राप्त हो तो उसे स्वयं करनेको तैयार हो जाय।

१९-हानि-लाभ, जय-पराजय एवं सुख-दुःखादिमें समानरूपसे ईश्वरकी दयाका दर्शन करे।

२०-ईश्वरकी प्राप्तिमें खूब विश्वास रखे। ऐसा विचार करे कि मेरे और कोई आधार नहीं है, केवल भगवान्की दयालुता देखकर मुझे पूरा भरोसा है कि वे अवश्य मेरी सुधि लेंगे।

२१-सब प्रकारके विषयोंको विषके समान त्याग देना चाहिये। विष मिला हुआ मधुर पदार्थ भी सेवन करनेयोग्य नहीं होता, इसी प्रकार विषय सुखरूप जान पड़ें तो भी त्याज्य ही हैं।

२२-ज्ञान या प्रेम किसी भी मार्गका अवलम्बन करके उत्तरोत्तर उन्नति करता चला जाय। कलकी अपेक्षा आज कुछ-न-कुछ साधन बढ़ा ही देना चाहिये। इस प्रकार निरन्तर उन्नति करे। चलते-फिरते, उठते-बैठते किसी भी समय एक मिनटके लिये भी भगवान्को न भूले। भगवान् कहते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

(गीता ८। ७)

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।

(गीता ८। १४)

२३-भगवान्की दया और प्रेमका स्मरणकर हर समय भगवत्प्रेममें मुग्ध और निर्भय रहे। भगवच्चिन्तनमें खूब प्रेम और श्रद्धाकी वृद्धि करे। यह बड़ी ही मूल्यवान् चीज है।

२४-कुतर्क करनेवालोंसे विशेष बातें नहीं करनी चाहिये। अपने हृदयकी गूढ़ और मार्मिक बातें हर किसीसे नहीं कहनी चाहिये।

२५-अपने गुणोंको छिपावे तथा किसीकी निन्दा-स्तुति न करे। करनी ही हो तो स्तुति भले ही करे। निन्दा अपनी की जा सकती है, स्तुति करनेके योग्य तो केवल एक परमात्मा ही है।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

तत्त्वचिन्तामणि भाग-५

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके गुण और चरित्र

जिन मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके नाम, रूप, गुण, लीला, प्रेम और प्रभावकी अमृतमयी कथाओंका श्रवण, पठन और मनन ही परम कल्याण करनेवाला है, उन प्रभुके स्वरूपको लक्ष्यमें रखकर, उनके गुण और चरित्रोंको सर्वथा आदर्श मानकर और उनके वचनोंको परमधर्म समझकर जो मनुष्य तदनुसार आचरण करता है उसकी तो बात ही क्या है! ऐसे पुरुषके दर्शन, स्पर्श, भाषण आदिका सौभाग्य जिस मनुष्यको प्राप्त है, वह भी अत्यन्त धन्य है!

कुछ भाई कहा करते हैं कि हम भगवान्के नामका जप बहुत दिनोंसे करते हैं, परन्तु जितना लाभ बतलाया जाता है, उतना हमें नहीं हुआ। इसका उत्तर यह है कि भगवान्के नामकी महिमा तो इतनी अपार है कि उसका जितना गान किया जाय उतना ही थोड़ा है। नाम-जप करनेवालोंको लाभ नहीं दीखता, इसमें प्रधान कारण है दस नामापराधोंको छोड़कर जप न करना। दस* अपराधोंका त्याग करके जप करनेपर नाम-जपका शास्त्रवर्णित फल अवश्य प्राप्त हो सकता है। दस अपराधोंको सर्वथा त्यागकर नाम-जप करनेवालेको प्रत्यक्ष महान् फल प्राप्त होनेमें तो सन्देह ही क्या है; केवल श्रद्धा और प्रेम—इन दो बातोंपर खयाल रखकर जो अर्थसहित नामका जप करता है, उसे भी प्रत्यक्ष परमानन्दकी प्राप्ति बहुत शीघ्र हो सकती है। नाम-जपके साथ-साथ परमात्माके अमृतमय स्वरूपका ध्यान होते रहनेसे क्षण-क्षणमें उनके दिव्य गुण और प्रभावोंकी स्मृति होती है और वह स्मृति अपूर्व प्रेम और आनन्दको उत्पन्न करती है। यदि यह कहा जाय कि रामचरितमानसमें नाम-महिमामें यह कहा गया है—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ।
नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

—फिर श्रद्धासहित नाम जपनेसे ही फल हो, ऐसे ही जपनेसे फल न हो, यह बात कैसे हो सकती है? तो इसका उत्तर यह है कि 'भाव-कुभाव' किसी प्रकार भी नाम-जपसे दसों दिशाओंमें कल्याण होता है, इस बातपर तो श्रद्धा होनी ही चाहिये। इसपर भी श्रद्धा न हो तब वैसा फल क्योंकर हो सकता है? इसपर यदि कोई कहे कि 'विचारद्वारा तो हम श्रद्धा करना चाहते हैं, परन्तु मन इसे स्वीकार नहीं करता; इसके लिये क्या करें?' तो इसका उत्तर यह है कि बुद्धिके विचारसे विश्वास करके ही नाम-जप करते रहना चाहिये। भगवान्पर विश्वास होनेके कारण तथा नाम-जपके प्रभावसे आगे चलकर पूर्ण श्रद्धा और प्रेम आप ही प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु यदि अर्थसहित जप किया जाय तो और भी शीघ्र परमानन्दकी प्राप्ति हो सकती है।

बहुत-से भाई कहते हैं कि 'हमलोग वर्षोंसे मन्दिरोंमें भगवान्के दर्शन करने जाते हैं, परन्तु हमें कोई विशेष लाभ नहीं हुआ—इसका क्या कारण है?' तो इसका उत्तर यह है कि विशेष लाभ न होनेमें एक कारण तो है श्रद्धा और प्रेमकी कमी तथा दूसरा कारण है भगवान्के विग्रह-दर्शनका रहस्य न जानना। मन्दिरमें भगवान्के दर्शनका रहस्य है—उनके रूप, लावण्य, गुण, प्रभाव और चरित्रका स्मरण-मनन करके उनके चरणोंमें अपनेको अर्पित कर देना। परन्तु ऐसा नहीं होता, इसका कारण रहस्य और प्रभाव जाननेकी त्रुटि ही है। मन्दिरमें जाकर भगवान्के स्वरूप और गुणोंका स्मरण करना चाहिये और भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये, जिससे उनके मधुर स्वरूपका चिन्तन सदा बना रहे और उनकी आदर्श लीला तथा आज्ञाके अनुसार आचरण होता रहे। जो ऐसा करते हैं, उन्हें भगवत्कृपासे बहुत ही शीघ्र प्रत्यक्ष शान्तिकी प्राप्ति होती है। देह-त्यागके बाद परमगति मिलनेमें तो सन्देह ही क्या है।

श्रीभगवान्के अनन्त गुण हैं, उनका वर्णन कोई नहीं कर सकता। वे भगवान् जीवोंपर दया करके अवतार ग्रहण करते हैं और ऐसी लीला करते हैं जिसके श्रवण, गायन और अनुकरणसे जीवोंका परम कल्याण होता है। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ऐसे ही परम दयालु

* १. सत्पुरुषोंकी निन्दा, २. अश्रद्धालुओंमें नाम-महिमा कहना, ३. विष्णु और शंकरमें भेदबुद्धि, ४. वेदोंमें अश्रद्धा, ५. शास्त्रोंमें अश्रद्धा, ६. गुरुमें अश्रद्धा, ७. नाममाहात्म्यमें अर्थवादकी कल्पना, ८. शास्त्रनिषिद्ध कर्मका आचरण, ९. नामके बलपर शास्त्र-विहित कर्मका त्याग तथा १०. अन्य धर्मोंसे नामकी तुलना—ये दस नामापराध हैं।

अवतार हैं। इनके गुण, प्रभाव, आचरण, लीला आदिकी महिमा शेष, महेश, गणेश और सरस्वती भी नहीं गा सकते; तब मुझ-सरीखा एक साधारण मनुष्य तो क्या कह सकता है। तथापि जिन सज्जन महापुरुषोंने अपनी वाणीको पवित्र करनेके लिये महाराजके कुछ गुण शास्त्रोंमें गाये हैं, उन्हींके आधार बलपर बालककी भाँति मैं भी कुछ कहनेकी चेष्टा करता हूँ।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके गुण और चरित्र परम आदर्श थे और उनका इतना प्रभाव था जिसकी तुलना नहीं हो सकती। उनकी अपनी तो बात ही क्या है, उनके गुणों और चरित्रोंका प्रभाव उनके शासनकालमें सारी प्रजापर ऐसा विलक्षण पड़ा कि रामराज्यमें त्रेतायुग सत्ययुगसे भी बढ़कर हो गया। रामराज्यके वर्णनमें आता है—

सब लोग अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुकूल वेदमार्गपर चलते हैं और सुख पाते हैं। भय, शोक, रोग तथा दैहिक, दैविक और भौतिक ताप कहीं नहीं हैं। राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, झूट-कपट, प्रमाद-आलस्य आदि दुर्गुण देखनेको भी नहीं मिलते। सब लोग परस्पर प्रेम करते हैं और स्वधर्ममें दृढ़ हैं। धर्मके चारों चरणों—सत्य, शौच, दया और दानसे जगत् परिपूर्ण है। स्वप्नमें भी कहीं पाप नहीं है। स्त्री-पुरुष सभी रामभक्त हैं और सभी परमगतिके अधिकारी हैं। प्रजामें न छोटी उम्रमें किसीकी मृत्यु होती है, न कोई पीड़ा है; सभी सुन्दर और नीरोग हैं। दरिद्र, दुःखी, दीन और मूर्ख कोई भी नहीं है। सभी नर-नारी दम्भरहित, धर्मपरायण, अहिंसापरायण, पुण्यात्मा, चतुर, गुणवान्, गुणोंका आदर करनेवाले, पण्डित, ज्ञानी और कृतज्ञ हैं—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं।
पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥
राम भगति रत नर अरु नारी।
सकल परम गति के अधिकारी॥
अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा।
सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।
नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥
सब निर्दंभ धर्मरत पुनी।
नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी।
सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥

सभी उदार, परोपकारी, ब्राह्मणोंके सेवक और तन, मन, वचनसे एकपत्नीव्रती हैं। स्त्रियाँ सभी पतिव्रता हैं। ईश्वरकी भक्ति और धर्ममें सभी नर-नारी ऐसे संलग्न हैं मानो भक्ति और धर्म साक्षात् मूर्तिमान् होकर उनमें निवास कर रहे हों। पशु-पक्षी सभी सुखी और सुन्दर हैं। भूमि सदा हरी-भरी और वृक्षादि सदा फूले-फले रहते हैं। सूर्य-चन्द्रमादि देवता बिना ही माँगे समस्त सुखदायी वस्तुएँ प्रदान करते हैं। सारे देशमें सुख-सम्पत्तिका साम्राज्य छाया हुआ है। श्रीसीताजी और तीनों भाई तथा सारी प्रजा श्रीरामकी सेवामें ही अपना सौभाग्य मानते हैं और श्रीरामजी सदा उनके हितमें लगे रहते हैं। रामराज्यकी यह व्यवस्था महान् आदर्श है। आज भी संसारमें जब कोई किसी राज्यकी प्रशंसा करता है या महान् आदर्श राज्यकी बात कहता है तो सबसे ऊँची प्रशंसामें वह यही कहता है कि बस, वहाँ तो 'रामराज्य' है।

जिनके गुणोंसे प्रभावित राज्यमें प्रजा ऐसी हो, उनके गुण और चरित्र कैसे होंगे, इसका अनुमान करते ही हृदय भक्तिसे गद्गद हो उठता है। भगवान्‌के अनन्त गुणों और चरित्रोंका जरा-सा भी स्मरण-मनन महान् कल्याणकारी और परम पावन है, इसी खयालसे यहाँ उनके कुछ गुणोंका बहुत ही संक्षेपमें वर्णन किया जाता है—

गुरुभक्ति

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी गुरुभक्ति आदर्श है। गुरुके प्रति कितनी आदरबुद्धि, कितना विश्वास, उनकी सेवामें कैसी प्रसन्नता और उनके साथ बोलचालमें कैसी विनय होनी चाहिये, इन बातोंका आदर्श श्रीरामकी गुरुभक्तिमें मिलता है। मुनि विश्वामित्रजी आपके शिक्षागुरु हैं, 'विद्यानिधि भगवान्' ने उनसे विद्या ग्रहण की है। मुनिके साथ श्रीराम-लक्ष्मण दोनों भाई जनकपुरमें पधारते हैं और गुरुकी आज्ञासे नगरकी शोभा देखनेके बहाने नगरनिवासी नर-नारियोंको नेत्रोंका परम लाभ प्रदान करनेके लिये जनकपुरमें जाते हैं। वहाँ कुछ देर हो जाती है, तब मनमें संकोच करते हैं कि गुरुजी कहीं नाराज तो न होंगे। इस प्रसंगमें श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कौतुक देखि चले गुरु पाहीं।
जानि बिलंबु त्रास मन माहीं॥
जासु त्रास डर कहुँ डर होई।

भजन प्रभाउ देखावत सोई॥

....

सभय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ।
गुर पद पंकज नाइ सिर बैठे आयसु पाइ॥

रातको दोनों भाई नियमपूर्वक मानो प्रेमसे जीते हुए प्रेमपूर्वक श्रीगुरुजीके चरणकमल दबाते हैं—

तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते।
गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥

मुनि श्रीवसिष्ठजी आपके कुलगुरु हैं। आप सब प्रकारसे गुरुकी सेवा करनेमें मानो अपना सौभाग्य समझते हैं। वनमें जब वसिष्ठजी भरतजीका पक्ष लेकर भगवान्से कहते हैं—

सब के उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।
पुरजन जननी भरत हित होइ सो कहिअ उपाउ॥

—तब भगवान् श्रीभरतजीपर गुरुका स्नेह देखकर भरतजीके भाग्यकी सराहना करते हुए कहते हैं—

जे गुर पद अंबुज अनुरागी।
ते लोकहुँ बेदहुँ बड़भागी॥
राउर जा पर अस अनुरागू।
को कहि सकइ भरत कर भागू॥

'जो मनुष्य गुरुके चरणकमलोंके प्रेमी हैं, वे लोक और वेद दोनोंमें बड़भागी हैं। फिर जिसपर आपका ऐसा स्नेह है, उस भरतके भाग्यको तो कौन बखान सकता है?' और इसी प्रसंगमें वसिष्ठजीसे कहते हैं—

....।

नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ॥
सब कर हित रुख राउरि राखें।
आयसु किएँ मुदित फुर भाषें॥
प्रथम जो आयसु मो कहुँ होई।
माथें मानि करौं सिख सोई॥

'हे नाथ! उपाय तो आपके ही हाथ है। आपका रुख रखनेमें और आपकी आज्ञाको सत्य कहकर प्रसन्नतापूर्वक पालन करनेमें ही सबका हित है। पहले तो मुझे जो आज्ञा हो, मैं उसी शिक्षाको सिर चढ़ा कर करूँ।'

एक बार वसिष्ठजी भगवान्से उनके चरणकमलोंमें जन्म-जन्मान्तरतक प्रेम बना रहे, यह वर माँगने आते हैं और भगवान्से एकान्तमें मिलते हैं, उस समय भी मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् गुरुभक्तिका आदर्श स्थापित करनेके लिये—

अति आदर रघुनायक कीन्हा।
पद पखारि पादोदक लीन्हा॥

—उनका अत्यन्त आदर करते हैं और चरण धोकर चरणामृत लेते हैं। धन्य!

पितृभक्ति

मर्यादापुरुषोत्तमकी पितृभक्ति भी अनूठी है। पिताकी स्पष्ट आज्ञाके पालन करनेकी तो बात ही क्या, पिताका संकेत पाकर आपने प्रसन्नतापूर्वक चौदह वर्षके लिये अयोध्याका त्याग कर दिया। श्रीदशरथजीने वनगमनके लिये इन्हें स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा नहीं दी थी। कैकेयी माताके द्वारा ही आपको पिता दशरथकी मौन सम्मतिका पता लगा था, उसको आपने स्वीकार किया। भारी-से-भारी विपत्तिको सम्पत्ति मानकर उसे सिर चढ़ा लिया। जब माता कैकेयीने बड़ी कठोरताके साथ सब बातें सुनायीं, तब आपने बड़े हर्षके साथ विनयपूर्ण शब्दोंमें उत्साह दिखलाते हुए कहा—

अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।

(वा० रा०, अयो० १८। २८, २९)

'हे माता! मैं महाराज पिताजीकी आज्ञासे आगमें भी कूद सकता हूँ, तीक्ष्ण विष भी खा सकता हूँ और समुद्रमें भी कूद सकता हूँ!'

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी।
जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा।
दुर्लभ जननि सकल संसारा॥
मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू।
बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा।
प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥

माता कौसल्याजीके पास जब आप विदा माँगने गये, तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने अपना दुःख सुनाकर इन्हें रोकना चाहा, तब आपने कहा—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम्॥

(वा० रा०, अयो० २१। ३०)

'हे माता! पिताजीकी आज्ञाका उल्लंघन करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। मैं सिरसे प्रणाम करता हूँ, तुम प्रसन्न होओ; मैं वनको जाना चाहता हूँ।'

इसी प्रकार आपने लक्ष्मणजीको धर्मकी महिमा और बड़ोंकी आज्ञाके पालनका महत्त्व समझाते हुए कहा—

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्मसंश्रितमप्येतत् पितुर्वचनमुत्तमम्॥
सोऽहं न शक्ष्यामि पुनर्नियोगमतिवर्तितुम्।
पितुर्हि वचनाद् वीर कैकेय्याहं प्रचोदितः॥

(वा० रा०, अयो० २१। ४१, ४३)

'लोकमें धर्म ही श्रेष्ठ है, धर्ममें ही सत्य (सत्यस्वरूप परमात्मा) प्रतिष्ठित है। पिताजीका यह वचन भी धर्मसे युक्त है, इसलिये श्रेष्ठ है। अतः मैं पिताजीकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सकूँगा। हे भाई! पिताजीके कथनानुसार माता कैकेयीने मुझे वन जानेकी आज्ञा दी है।'

सत्यः सत्याभिसन्धश्च नित्यं सत्यपराक्रमः।
परलोकभयाद् भीतो निर्भयोऽस्तु पिता मम॥

(वा० रा०, अयो० २२। ९)

'हे भाई! मेरे पिताजी नित्य सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ और सत्यपराक्रमी हैं। वे सत्यच्युत होनेके भयसे परलोकके डरसे डर रहे हैं। मेरेद्वारा उनका यह भय दूर हो, वे निर्भय हो जायँ। अर्थात् मैं वनको चला जाऊँ, जिससे उनके वचन मिथ्या न हों।'

आप अपने शोकमग्न पिताजीसे कहते हैं—'महाराज! इस बहुत ही छोटी-सी बातके लिये आपने इतना दुःख पाया! मुझे पहले किसीने यह बात नहीं जनायी। महाराजको इस दशामें देखकर मैंने माता कैकेयीसे पूछा और उनसे सब प्रसंग सुनकर हर्षके मारे मेरे सब अंग शीतल हो गये अर्थात् मुझे बड़ी शान्ति मिली। हे पिताजी! इस मंगलके समय स्नेहवश सोच करना त्याग दीजिये और हृदयमें हर्षित होकर मुझे आज्ञा दीजिये।' इतना कहते-कहते प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके सब अंग पुलकित हो गये।

अति लघु बात लागि दुखु पावा।
काहुँ न मोहि कहि प्रथम जनावा॥
देखि गोसाइँहि पूँछिउँ माता।
सुनि प्रसंगु भए सीतल गाता॥
मंगल समय सनेह बस सोच परिहरिअ तात।
आयसु देइअ हरषि हियँ कहि पुलके प्रभु गात॥

धन्य है आपकी पितृभक्तिको, जिसके कारण स्नेहवश होकर सत्यसन्ध दशरथजीने आपका स्मरण करते हुए ही शरीरका त्याग कर दिया।

मातृभक्ति

आपकी मातृभक्ति बड़ी ही ऊँची है। जन्म देनेवाली माता कौसल्याके प्रति तो आपका महान् आदरभाव है ही। विशेष बात तो यह है कि उनसे भी बढ़कर आदर आप उन माता कैकेयीजीका करते हैं जिन्होंने आपको कठोर वचन कहे तथा वनमें भेजा। माता कौसल्याने जब कहा कि पितासे माताकी आज्ञा बढ़कर होती है, इसलिये तुम वनमें न जाओ, तब आपने माता कैकेयीकी आज्ञा बतलायी। माता कौसल्याने उसे स्वीकार किया और कहा—

जौं पितु मातु कहेउ बन जाना।
तौ कानन सत अवध समाना॥

श्रीभरतजीके साथ जब कैकेयीजी वनमें पहुँचती हैं तब श्रीरामचन्द्रजी सबसे पहले उन्हींसे मिलते हैं और उन्हें समझा-बुझाकर उनका संकोच दूर करते हैं—

प्रथम राम भेंटी कैकेई।
सरल सुभायँ भगति मति भेई॥
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी।
काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥

'सबसे पहले रामजी कैकेयी मातासे मिले और अपने सरल स्वभाव तथा भक्तिसे उनकी [तपती हुई] बुद्धिको तर (शीतल) कर दिया। फिर चरणोंमें गिरकर काल, कर्म और विधाताके सिर दोष मढ़कर उनको सान्त्वना दी।'

पंचवटीमें एक दिन बात-ही-बातमें लक्ष्मणजीने भरतजीकी बड़ाई करते हुए माता कैकेयीकी निन्दा कर दी। उन्होंने कहा—

भर्ता दशरथो यस्याः साधुश्च भरतः सुतः।
कथं नु साम्बा कैकेयी तादृशी क्रूरदर्शिनी॥

(वा० रा०, अर० १६। ३५)

'जिसके पति महाराज दशरथजी और पुत्र साधुस्वभाव भरतजी हैं, वह माता कैकेयी ऐसी निर्दय स्वभाववाली कैसे हुई?'

यह सुनते ही भगवान् श्रीरामजीने कहा—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु॥

(वा० रा०, अर० १६। ३७)

'हे तात! तुमको मझली माता कैकेयीकी निन्दा कभी नहीं करनी चाहिये। इक्ष्वाकुकुलनाथ भरतकी ही बात करो।'

और तो क्या, लंका-विजयके पश्चात् जब दिव्यधामसे महाराज दशरथजी आये तब उनसे भी आप हाथ जोड़कर यह प्रार्थना करते हैं— 'हे धर्मज्ञ! आप मेरी माता कैकेयी और भाई भरतपर प्रसन्न हों। आपने जो कैकेयीको यह शाप दिया था कि मैं तुम्हारा पुत्रसहित त्याग करता हूँ— हे प्रभो! यह भयंकर शाप, पुत्रसहित माता कैकेयीको स्पर्श भी न करे।'

इति ब्रुवाणं राजानं रामः प्राञ्जलिरब्रवीत्।
कुरु प्रसादं धर्मज्ञ कैकेय्या भरतस्य च॥
सपुत्रां त्वां त्यजामीति यदुक्ता केकयी त्वया।
स शापः केकयीं घोरः सुपुत्रां न स्पृशेत् प्रभो॥

(वा० रा०, युद्ध० ११९। २५-२६)

जब अयोध्या लौटते हैं, तब भी पहले माता कैकेयीसे मिलते हैं और समझा-बुझाकर उन्हें सुखी करते हैं। इससे बढ़कर मातृभक्तिका और क्या उदाहरण होगा?

भ्रातृप्रेम

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामका भ्रातृप्रेम भी अतुलनीय है। रामके भ्रातृप्रेमका आदर्श जगत् मान ले तो सारी कलह मिटकर सब भाइयोंमें शान्ति हो जाय! आप लड़कपनसे ही अपने तीनों भाइयोंसे अत्यन्त प्रेम करते थे। सदा उनकी देख-भाल करते और उन्हें सुख पहुँचाने तथा प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करते। समय-समयपर खेलमें स्वयं हार मानकर उन्हें जिता देते थे। तीनों भाइयोंको एक साथ लेकर ही भोजन करते। विवाह भी चारोंके साथ ही हुए।

जब महाराज दशरथजीने रामजीके राज्याभिषेकका आयोजन किया, तब यह सुनकर आपके मनमें बड़ा ही खेद हुआ। आपने पश्चात्ताप करते हुए कहा—हमारे निर्मल कुलमें यह एक प्रथा बड़ी अनुचित है जो दूसरे भाइयोंको छोड़कर अकेले बड़े भाईको राज्य दिया जाता है। अरे, हम सब जन्मे एक साथ, खाना-पीना, सोना-जागना, लड़कपनके खेल, कर्णवेध और उपनयन-संस्कार सब एक साथ हुए और विवाहोत्सव भी सबके एक साथ हुए, अब यह राज्य मुझ अकेलेको क्यों मिलता है?

जनमे एक संग सब भाई।
भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा।
संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू।
बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥

श्रीरामजीको अपने राज्याभिषेकका प्रस्ताव बहुत ही अनुचित जँचा; केवल पिताजीकी आज्ञा, प्रजाके हित और भाइयोंकी प्रसन्नताके लिये ही उन्होंने अपना राज्याभिषेक स्वीकार किया था। इसीसे वन जानेके समय भरतको राज्य मिलनेकी बातसे आपको बड़ी प्रसन्नता हुई। वनमें आपने लक्ष्मणजीसे स्पष्ट शब्दोंमें कहा—

'हे लक्ष्मण! मैं सत्यपूर्वक और आयुधको छूकर प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि मैं धर्म, अर्थ, काम और समस्त पृथ्वी तथा और जो कुछ भी चाहता हूँ, सब तुम्हीं लोगोंके लिये। मैं भाइयों (तुम्हीं लोगों)-के संग्रह और सुखके लिये राज्यकी इच्छा करता हूँ। हे लक्ष्मण! भरत, तुम और शत्रुघ्नको छोड़कर यदि मुझे कोई सुख मिले तो उसको आग जला दे!'

धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
इच्छामि भवतामर्थे एतत् प्रतिशृणोमि ते॥
भ्रातॄणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे॥
यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं वापि मानद।
भवेन्मम सुखं किञ्चिद् भस्म तत् कुरुतां शिखी॥

(वा० रा०, अयो० ९७। ५, ६, ८)

लक्ष्मणजीके सामने आप भरतजीकी प्रशंसा करते-करते नहीं अघाते और भरतका गुण, शील, स्वभाव कहते-कहते प्रेमार्णवमें डूब जाते हैं—

कहत भरत गुन सीलु सुभाऊ।
पेम पयोधि मगन रघुराऊ॥

चित्रकूटमें भरतने जब श्रीरामजीको लौटानेके लिये बहुत ही अनुरोध किया तब आपने कह दिया, 'भरत! सुनो, पिताजीने मेरे प्रेमका प्रण निबाहनेके लिये प्राण त्याग दिये, परन्तु सत्यके रक्षार्थ उन्होंने मुझको वनमें भेजा। ऐसे सत्यवादी पिताके वचन टालनेमें मुझको बड़ा संकोच है, परन्तु उससे भी बढ़कर संकोच मुझे तुम्हारा है। तुम संकोच छोड़कर जो कह दो मैं वही करनेको तैयार हूँ। प्रसन्न होकर कहो'—

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।
सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाजु॥

श्रीभरतजी भी तो आपके ही भाई थे। उन्होंने स्वामीको संकोचमें डालना अनुचित समझा और उन्हींको संकोच छोड़कर आज्ञा देनेको कहा, परन्तु श्रीरामजीका भ्रातृप्रेम यहाँपर पराकाष्ठाको पहुँच गया। वे जन्म देनेवाली माताके वचनोंको न मानकर वनमें चले आये थे, परन्तु आज भरतको कह रहे हैं कि तुम जो कहो सो करनेको तैयार हूँ।

श्रीरामचन्द्रजीने पिताजीकी आज्ञाको निमित्त बनाकर, वसिष्ठ-जनकादि गुरुजनोंको तथा भरतको समझा-बुझाकर सन्तोष प्रदान किया और अन्तमें जिस किसी प्रकारसे भी राज्यका पालन भरतजीके जिम्मे लगाया। राज्य और भोग तुच्छ वस्तु हैं—यहाँ आपने इस बातको अपने व्यवहारसे प्रत्यक्ष सिद्ध करके त्यागका एक महान् आदर्श उपस्थित कर दिया। भरतजी भी त्यागमूर्ति थे, उन्होंने प्रभुकी आज्ञा मानकर केवल राज्यका पालन ही स्वीकार किया, राज्य नहीं। वे चौदह वर्षकी अवधितक अयोध्याके राज्यमें वैसे

ही निर्लिप्त रहे जैसे चम्पाके बागमें भ्रमर रहता है— **'चंचरीक जिमि चंपक बागा।'**

लंका-विजयके पश्चात् जब विभीषण एक बार लंकामें पधारनेके लिये आपसे प्रार्थना करते हैं, तब आप कहते हैं—'भाई! तुम्हारा खजाना और घर सब मेरा ही है, यह तुम सत्य जानो, परन्तु भाई भरतकी दशाका स्मरण करके मुझे एक-एक निमेष कल्पके समान बीत रहा है। वह शरीर सुखाये तपस्वीके वेषमें निरन्तर मुझे ही याद कर रहा है, हे मित्र! अब तो वह यत्न करो जिससे मैं उसे जल्दी देख सकूँ। हे भाई! यदि मैं अवधि बीतनेपर जाऊँगा तो प्यारे भाईको जीता न पाऊँगा।' यों कहकर भरतजीके प्रेमका स्मरण करके प्रभुका शरीर बार-बार पुलकित होने लगा।

बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥

जब अयोध्यामें पहुँचते हैं, तब तो प्रेमका समुद्र उमड़ पड़ता है। जमीनपर पड़े हुए भरतजीको जबर्दस्ती उठाकर आप हृदयसे लगा लेते हैं, शरीर रोमांचित हो जाता है और कमलके समान नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बहने लगती है।

फिर जब राज्याभिषेककी तैयारी होती है, सबका स्नान-मार्जन होता है तब प्रभु स्वयं अपने हाथोंसे भरतजीकी जटाको सुलझाते हैं और तीनों भाइयोंको स्वयं भलीभाँति नहलाते हैं। धन्य भ्रातृप्रेम!

पुनि करुनानिधि भरतु हँकारे।
निज कर राम जटा निरुआरे॥
अन्हवाए प्रभु तीनिउ भाई।
भगत बछल कृपाल रघुराई॥

श्रीलक्ष्मणजीको शक्ति लगती है और वे बेहोश हो जाते हैं। उस समयकी रामकी दशा तो भ्रातृप्रेमका बहुत ही सुन्दर आदर्श है। वे कहते हैं—

परित्यक्ष्याम्यहं प्राणान् वानराणां तु पश्यताम्।
यदि पञ्चत्वमापन्नः सुमित्रानन्दवर्धनः॥
(वा० रा०, यु० ४९। ७)

'यदि सुमित्राका आनन्द बढ़ानेवाले लक्ष्मणके प्राण चले जायँगे तो मैं भी वानरोंके देखते-देखते ही अपने प्राणोंको त्याग दूँगा।'

गोस्वामी तुलसीदासजीने यहाँपर श्रीरामजीके प्रलापका जो वर्णन किया है, उससे भ्रातृप्रेमकी बड़ी सुन्दर शिक्षा मिलती है।

श्रीरामका राज्यग्रहण वास्तवमें भाइयोंको सुख पहुँचानेके लिये ही था। ये समय-समयपर जो उपदेश-आदेश दिया करते थे, वह भी भाइयोंके हितके लिये ही। उनका बर्ताव ऐसा होता था जिसमें भाइयोंको कोई संकोच न हो। एक बार जब भरतजी कुछ पूछना चाहते थे और संकोचवश स्वयं न पूछकर उन्होंने जब हनुमान्‌जीके द्वारा पुछवाया तब आपने कहा था—

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ।
भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ॥

अधिक क्या, आप अपने भाइयोंके गुण-गान और उनके स्मरणमें ही सुखी रहते थे—

भरत सरिस को राम सनेही।
जगु जप राम रामु जप जेही॥

हनुमान्‌जीने कहा है—

रघुबीर निज मुख जासु गुन
गन कहत अग जग नाथ जो।
काहे न होइ बिनीत परम
पुनीत सदगुन सिंधु सो॥

इस प्रकार भ्रातृप्रेमका आदर्श उपस्थित करके आपने परमधामकी यात्रा भी अपने भाइयोंके साथ ही की थी। आज भी इन चारों भाइयोंका आदर्श प्रेम जगत्‌में सबके लिये महान् शिक्षाप्रद बना है और सदा बना रहेगा।

पत्नीप्रेम और एकपत्नीव्रत

भगवान् श्रीरामका सीताजीके प्रति जो आदर्श प्रेम था वह उनके महान् एकपत्नीव्रतका साक्षात् उदाहरण है। सीताजीकी प्रसन्नताके लिये ही आप उनको वनमें साथ ले जाते हैं और वहाँ नाना प्रकारके इतिहास, धर्मशास्त्र आदि सुनाकर उनको सुख पहुँचाते हैं। जब रावणद्वारा सीताजीका हरण हो जाता है, तब साधारण मानवकी तरह **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (जो मुझे जैसे भजता है उसको मैं वैसे ही भजता हूँ) इस नीतिके अनुसार भाँति-भाँतिसे विलाप करते हुए अपनी विरह-वेदना प्रकट करते हैं। यहाँतक कि उनकी उस विरहदशाको देखकर जगज्जननी सतीतकको मोह हो जाता है। श्रीरामजी उन्मत्तकी भाँति—

हा गुन खानि जानकी सीता।
रूप सील ब्रत नेम पुनीता॥

—आदि पुकारते हुए लताओं, वृक्षों, पक्षियों, पशुओं और भ्रमरोंकी पंक्तियोंसे सीताजीका पता पूछते हैं। आकाशपथसे गिराये हुए सीताजीके वस्त्राभूषण जब सुग्रीवजी आपको देते हैं तब आप उन्हें हृदयसे लगाकर चिन्ता करने लगते हैं—**'पट उर लाइ सोच अति कीन्हा।'** जब हनुमान्‌जी लंका जाते हैं तब उनके द्वारा आप जो

सन्देश भेजते हैं, वह तो इतना सुन्दर और इतना ऊँचा है कि उसमें प्रेमका समस्त स्वरूप ही आ जाता है। वे कहते हैं—'हे प्रिये! मेरे और तुम्हारे प्रेमका तत्त्व जानता है केवल एक मेरा मन, और वह मन सदा रहता है तुम्हारे पास। बस, इतनेमें ही मेरे प्रेमका सार समझ लो।'

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा।
जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं।
जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

महारानी जानकीजीके पातिव्रत-धर्मके गौरवको और भी उज्ज्वल करनेके लिये प्रजारंजनके व्याजसे जब उन्हें वनमें भेज देते हैं, तब पीछेसे अश्वमेधयज्ञमें सीताजीकी स्वर्ण-प्रतिमा बनवाकर आप अपने एकपत्नीव्रतका बड़ा ही पवित्र आदर्श उपस्थित करते हैं। धन्य!

भक्तवत्सलता

भक्तवत्सलता तो भगवान्‌का विख्यात बाना ही है। ऐसा कोई काम नहीं जो भगवान् अपने भक्त या सेवकके लिये नहीं कर सकते। वस्तुतः भगवान्‌के अवतारका प्रधान हेतु भक्तोंपर अनुग्रह करना ही होता है—'**परित्राणाय साधूनाम्।**' जब भक्त भगवान्‌से मिलनेके लिये व्याकुल होकर उन्हें पुकारता है, तब भगवान्‌को स्वयं पधारना पड़ता है। दण्डकारण्यमें सुतीक्ष्ण नामक अगस्त्यजीके शिष्य एक मुनि रहते थे। वे श्रीरामजीके बड़े ही अनन्य भक्त थे। उन्हें समाचार मिला कि भगवान् श्रीराम दण्डकवनमें आये हैं। वे दर्शनके लिये व्याकुल हो गये और पागलकी भाँति उठ दौड़े। वे प्रेममें ऐसे मग्न हो गये कि शरीरकी सुधितक भूल गये। श्रीशिवजी कहते हैं—

निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी।
कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा।
को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई।
कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥

भक्तवत्सल भगवान् अपने प्रिय भक्तकी यह दशा वृक्षकी ओटसे देख-देखकर मुग्ध हो रहे थे। मुनिका अत्यन्त प्रेम देखकर भगवान् उनके हृदयमें प्रकट हो गये। मुनि हृदयमें भगवान् अवधनाथके दर्शन पाकर पुलकित हो गये और रास्तेमें ही बैठ गये। भगवान् समीप आकर मुनिको ध्यानसे जगाते हैं, परन्तु ध्यानानन्दमें मतवाले मुनि जागते ही नहीं; तब श्रीरामजीने उनके हृदयसे अपना श्रीरामरूप हटा लिया, तब मुनिने व्याकुल होकर आँखें खोलीं। देखते हैं—नेत्रोंके सामने सुखधाम राम उपस्थित हैं। मुनि कृतार्थ हो गये और प्रेममग्न होकर चरणोंपर गिर पड़े—

आगें देखि राम तन स्यामा।
सीता अनुज सहित सुख धामा॥
परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी।
प्रेम मगन मुनिबर बड़भागी॥

इसी प्रकार भगवान्‌ने शबरीजीके यहाँ स्वयं पधारकर उनकी अभिलाषा पूर्ण की। और—

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई।
धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा।
बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

—कहकर उन्हें बड़ाई दी। उनके प्रेमभरे बेरोंको खा-खाकर आप अघाये ही नहीं। काकभुशुण्डिजीको तो प्रत्येक अवतारमें ही अपनी परम मधुर बाललीलाका आनन्द प्रदान करते हैं। धन्य हैं!

श्रीहनुमान्‌जीके तो आप अपनेको ऋणी मानते हैं। कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी।
नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा।
सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।
देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥

वाल्मीकीय रामायणमें भगवान्‌ने हनुमान्‌से कहा है—

चरिष्यति कथा यावदेषा लोके च मामिका॥
तावत्ते भविता कीर्तिः शरीरेऽप्यसवस्तथा।
लोका हि यावत्स्थास्यन्ति तावत्स्थास्यन्ति मे कथाः॥
एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥
मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥

(वा० रा०, उ० ४०। २१—२४)

'हे हनुमान्! इस लोकमें जबतक मेरी यह कथा चालू रहेगी, तबतक तेरी कीर्ति और तेरे शरीरमें प्राण रहेंगे और जबतक जगत् रहेगा तबतक मेरी कथा रहेगी। तेरे एक-एक उपकारके बदलेमें मैं अपने प्राण दे दूँ तो भी तेरे शेष उपकारोंके लिये तो मैं तेरा ऋणी ही बना रहूँगा। हे हनुमान्! तूने मेरा जो कुछ उपकार किया है वह मेरे शरीरमें ही जीर्ण हो जाय, ऐसा अवसर ही न आवे जब तुझे

उपकारोंका बदला पानेयोग्य पात्र बनना पड़े; क्योंकि आपत्ति पड़नेपर ही मनुष्य प्रत्युपकारका पात्र होता है।'

शरणागतवत्सलता

भगवान्‌की शरणागतवत्सलता प्रसिद्ध है। उनकी घोषणा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा० रा०, यु० १८। ३३)

'जो एक बार भी मेरी शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मुझसे अभय चाहता है उसको मैं सब भूतोंसे अभयदान दे देता हूँ, यह मेरा व्रत है।'

रावणको सुन्दर सीख देनेके बदलेमें चरणप्रहार पाकर विभीषण नाना प्रकारके सात्त्विक मनोरथ करते हुए भगवान्‌के शरण आते हैं। जब शिविरके द्वारपर पहुँचते हैं तो वानर उन्हें घेर लेते हैं। भगवान्‌के पास संवाद पहुँचता है। भगवान् श्रीरामजी अपने सब मन्त्रियों, सखाओं और सेनापतियोंसे सम्मति चाहते हैं। वाल्मीकीय रामायणके अनुसार वहाँ अंगद, जाम्बवान्, मैन्द, नल, हनुमान् आदि सब अपनी-अपनी सम्मति देते हैं। हनुमान्‌के सिवा सभीकी सम्मति विभीषणके विरुद्ध ही होती है। रामचरितमानसमें सुग्रीव कहते हैं— राक्षसोंकी माया जानी नहीं जाती; पता नहीं, यह क्यों आया है। यह रावणका भेजा हुआ दुष्ट हमारा भेद लेने आया होगा। मेरा मन तो ऐसा कहता है कि इसे कैद कर लेना चाहिये—

जानि न जाइ निसाचर माया। कामरूप केहि कारन आया॥
भेद हमार लेन सठ आवा। राखिअ बाँधि मोहि अस भावा॥

भगवान् श्रीरामजीने कहा—मित्र! तुम्हारी नीति तो ठीक है, परन्तु मेरा प्रण है शरणागतके भयको हरना—

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भयहारी॥

× × ×

सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पावँर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि॥

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

अतएव हे सुग्रीव! जाओ, उसे ले आओ। सुग्रीव आदिके स्नेहवश आपत्ति करनेपर रामजीने स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया—

जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥

यहाँतक कि—

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥

(वा० रा०, यु० १८। ३४)

'हे वानरश्रेष्ठ सुग्रीव! (तुम घबड़ाते क्यों हो?) यह व्यक्ति विभीषण अथवा स्वयं रावण भी हो, तो भी उसको लिवा लाओ। मैंने उसे भी अभयदान दे दिया।'

सुग्रीवजी उन्हें ले आये। भगवान्‌ने उनको अपनी शरणमें रखकर कृतार्थ कर दिया।

लंकामें युद्धके समय एक बार रावणने क्रुद्ध होकर विभीषणपर शक्ति छोड़ी। शक्तिके लगते ही विभीषणका मरण हो जायगा, यह जानकर शरणागतवत्सल भगवान् श्रीरामजी तुरंत ही विभीषणको पीछे करके स्वयं सामने आ गये और भयानक शक्तिको अपने वक्षःस्थलपर ले लिया।

आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा॥
तुरत बिभीषन पाछें मेला। सन्मुख राम सहेउ सोइ सेला॥

विभीषणको राज्य तो मिला ही। उन्हें भगवान्‌ने अपनी परम दुर्लभ भक्ति प्रदान की।

सखाओंसे प्रेम

यों तो भगवान् सभीके परम सुहृद् तथा स्वाभाविक ही मित्र हैं, परन्तु लीलामें वे मित्रोंके साथ कैसा व्यवहार करते हैं—यहाँ आज यही देखना है। मनुष्योंको तो सभी अपना मित्र बनाते हैं, भगवान्‌ने राक्षस और वानर-भालुओंतकको अपना सखा बनाकर उन्हें धन्य किया। हनुमान्‌जीकी प्रेरणासे दुःखमें डूबे हुए सुग्रीवको अग्निकी साक्षी देकर आप अपना मित्र बनाते हैं और उनका दुःख सुनते ही आपकी भुजाएँ फड़क उठती हैं और आप कहते हैं—

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान॥

तदनन्तर मित्रका धर्म बतलाते हुए आप कहते हैं—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥

जिन्ह कें असि मति सहज न आई।
ते सठ कत हठि करत मिताई॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा।
गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई।
बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा।
श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

मित्रके ये लक्षण सदा ध्यानमें रखनेयोग्य हैं। इसके बाद भगवान् सुग्रीवको आश्वासन देते हुए कहते हैं—

सखा सोच त्यागहु बल मोरें।
सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

मित्र सुग्रीवके सुखके लिये बड़ा भारी उलाहना सहकर भी भगवान् उसके शत्रु भाई बालीका वध कर डालते हैं और सुग्रीवकी मैत्रीको निबाहते हैं।

निषादको सखा बनाकर इतना ऊँचा बना दिया कि स्वयं वसिष्ठजी महाराज उसे हृदयसे लगाकर मिलने लगे—

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू।
कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥
रामसखा रिषि बरबस भेंटा।
जनु महि लुठत सनेह समेटा॥

जब भगवान् स्वयं किसी प्रकारका विचार न करके सखाभावसे निषादको हृदयसे लगाकर मिलते हैं, तब वसिष्ठजी इस प्रकार मिलें, इसमें क्या आश्चर्य है—

हिंसारत निषाद तामस बपु
पसु समान बनचारी।
भेंट्यो हृदयँ लगाइ प्रेमबस
नहिं कुल जाति बिचारी॥

लंकाविजय करके अयोध्या लौटनेपर अपने इन वानर-भालु और विभीषणादि सखाओंको बुलाकर उनसे गुरुजीके चरणोंमें प्रणाम कराते हैं और परिचय देते हुए आप कहते हैं—

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे।
भए समर सागर कहँ बेरे॥
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे।
भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे॥

राज्याभिषेकके पश्चात् अपने इन सब मित्रोंको बुलाकर आपने कहा—

अनुज राज संपति बैदेही।
देह गेह परिवार सनेही॥
सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना।
मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥

फिर वस्त्राभूषण मँगवाकर तीनों भाइयोंसहित स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपने हाथोंसे उनको वस्त्राभूषण पहनाकर विदा किया।

भगवान्के उन बालसखाओंकी महिमा तो कह ही कौन सकता है, जिन्होंने श्रीअवधपुरीमें चारों भाइयोंके साथ खेलने-खानेका सौभाग्य प्राप्त किया था।

दयालुता

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको दयाका सागर कहें, तब भी उनकी अपरिमित दयाका तिरस्कार ही होता है। जीवोंपर उनकी जो दया है, वह कल्पनातीत है। मनुष्य अपनी ऊँची-से-ऊँची कल्पनासे उनकी दयाका जहाँतक अनुमान लगाता है, भगवान्की दया उससे अनन्तगुना अधिक ही नहीं, असीम और अत्यन्त विलक्षण है। भगवान् वस्तुतः दयामय ही हैं। ***'है तुलसिहि परतीति एक प्रभु मूरति कृपामयी है।'*** गीतामें भगवान् कहते हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति'** (५। २९) मुझको सब भूतोंका सुहृद् जानकर मनुष्य शान्तिको प्राप्त होता है।

अवश्य ही भगवान्की दया दोनों रूपोंसे सामने आती है। कहीं वह प्रेमके रूपमें दर्शन देती है, कहीं दण्डके रूपमें। राक्षसोंको भगवान्ने मारा, परन्तु मारा नहीं, वास्तवमें तार दिया। भगवान्का क्रोध भी मुक्ति देनेवाला है—***'निर्बानदायक क्रोध जाकर'।*** भगवान्के हाथोंसे जितने राक्षस मरे, सबको दुर्लभ गति प्राप्त हुई। कुछके नमूने देखिये—

ताड़काको—

एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा।
दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥

विराधको—

तुरतहिं रुचिर रूप तेहिं पावा।
देखि दुखी निज धाम पठावा॥

खर-दूषणादिको—

राम राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्बान।

मारीचको—

अंतर प्रेम तासु पहिचाना।
मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना॥

वालीको—**राम बालि निज धाम पठावा।**

कुम्भकर्णको—**तासु तेज प्रभु बदन समाना।**

रावणको—**तासु तेज समान प्रभु आनन।**

सभी राक्षसोंको—

रामाकार भए तिन्ह के मन।
मुक्त भए छूटे भव बंधन॥

इस प्रकार अपनेको दीन न समझनेवाले अति दीन राक्षसोंपर दया करके भगवान्‌ने उनको मारकर तार दिया।

प्रेमसे तो आपने अनेकोंको अपनाया है। सारे वानर-भालुओंको वह गौरव दिया जो बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंको भी दुर्लभ है—

प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किए आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम से साहिब सीलनिधान॥

गौतम मुनिकी पत्नी अहल्या पतिके शापवश पाषाणकी शिला हो गयी थी। उस बेचारीमें यह भी शक्ति नहीं थी कि आर्त होकर भगवान्‌को पुकार सके। उसकी दीन दशा देखकर दयामय भगवान्‌ने स्वयं वहाँ पधारकर अपने चरण-स्पर्शसे उसका उद्धार किया।

केवटसे पैर धुलवाकर उसे अपना सुर-मुनि-दुर्लभ चरणोदक देकर परिवारसहित पार कर दिया।

पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥

दण्डकवनको स्वयं पधारकर शापमुक्त किया और वहाँ एक स्थानपर ऋषियोंकी हड्डियोंका ढेर देखकर प्रभु दयापरवश हो गये।

अस्थि समूह देखि रघुराया।
पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया॥

मुनियोंने दुःखी मनसे कहा—भगवन्!—

निसिचर निकर सकल मुनि खाए।
सुनि रघुबीर नयन जल छाए॥

—राक्षसोंने सारे मुनियोंके समूहोंको खा डाला। यह हड्डियोंका ढेर उन्हीं मुनियोंके शरीरोंका है। यह सुनकर और उनके दुःखको देखकर श्रीरघुनाथजीके नेत्रोंमें जल छा गया और उन्होंने प्रतिज्ञा की—

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।

दीन सुग्रीवको वालीके महान् अत्याचारसे बचाया। अंगदको दीन जानकर अपनाया और उसे युवराजपद दिलाया।

गीधराज जटायुपर जो दया हुई, वह तो सर्वथा अनूठी है। रावणके द्वारा घायल होकर जटायु दीन दशामें पड़ा है। श्रीरघुनाथजी उसके समीप पहुँचते हैं और उसकी दीन दशा देखकर दुःखी हो जाते हैं, उठाकर उसे अपनी गोदमें ले लेते हैं और नेत्रोंमें जल भरकर उसे आश्वासन देते हुए अपने कोमल कर-कमलोंको उसके मस्तकपर फिराते हुए उसे सुखी करते हैं। किसी कविने क्या ही सुन्दर कहा है—

दीन मलीन दयालु बिहंग पर्‌यो
महि सोचत खिन्न दुखारी।
राघव दीनदयालु कृपालु को
देख दुखी करुना भइ भारी॥
गीधको गोद में राखि कृपानिधि
नैन सरोजन में भरि बारी।
बारहिं बार सुधारहिं पंख
जटायु की धूरि जटान सों झारी॥

श्रीरघुनाथजीने कहा—'हे तात! आप कुछ दिन और जीवन धारण कीजिये और मुझे पिताका सुख दीजिये।' गीध बड़ा चतुर था, उसने कहा—

जा कर नाम मरत मुख आवा।
अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥
सो मम लोचन गोचर आगें।
राखौं देह नाथ केहि खाँगें॥

इतना कहकर भगवान्‌की गोदमें ही उनकी ओर निर्निमेष दृष्टिसे देखते हुए और मुखसे श्रीरामका पवित्र नाम उच्चारण करते हुए जटायुने मुनिदुर्लभ शान्ति प्राप्त की। तदनन्तर दयामय प्रभुने अपने हाथोंसे उसकी वैसे ही अन्त्येष्टि क्रिया की जैसे अपने पिताकी करते हैं—

पितु-ज्यों गीध-क्रिया करि रघुपति अपने धाम पठायो।
ऐसो प्रभु बिसारि तुलसी सठ! तू चाहत सुख पायो॥

(गीतावली अरण्यकाण्ड, १६)

दयालुताका कैसा अनुपम उदाहरण है!

प्रजावत्सलता

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने सुन्दर बर्ताव और वत्सलतापूर्ण क्रियाओंसे प्रजाके कितने अधिक प्रेमभाजन हो गये थे, इसका पता तब लगता है जब उनके वनगमनकी तैयारी होती है। राज्याभिषेकके उत्सवसे तमाम प्रजामें आनन्द छा रहा है। प्रजामें हर्षका सागर उमड़ उठा है। अचानक दृश्य बदल जाता है। श्रीराम लक्ष्मण और सीताजीको साथ लेकर मुनि-वेषमें वनको पधार रहे हैं। प्रजा इस दृश्यको देख न सकी। प्रजा उनके विरह-दुःखको सहनेमें अपनेको असमर्थ पाकर उनके साथ हो ली। श्रीरघुनाथजीने उन्हें बहुत प्रकारसे समझाया, परन्तु प्रेमवश कोई भी अयोध्यामें रहना नहीं चाहता।

सबहिं बिचारु कीन्ह मन माहीं।
राम लखन सिय बिनु सुखु नाहीं॥
जहाँ रामु तहँ सबुइ समाजू।
बिनु रघुबीर अवध नहिं काजू॥

यह निश्चय करके बालक और वृद्धोंको घरोंमें छोड़कर सब लोग उनके साथ हो लिये—

बालक बृद्ध बिहाइ गृहँ लगे लोग सब साथ।

आखिर श्रीरामजीको उन्हें सोये छोड़कर ही आगे बढ़ना पड़ा। जब श्रीभरतजी चित्रकूट जाने लगे, तब प्रजामें श्रीरामदर्शनकी इतनी उत्सुकता बढ़ी कि घरोंकी रखवालीके लिये किसीने घर रहना स्वीकार नहीं किया। जिसको घर रहनेके लिये कहा जाता वही समझता मानो मेरी गर्दन कट रही है।

जेहि राखहिं रहु घर रखवारी।
सो जानइ जनु गरदनि मारी॥

सब लोग भरतजीके साथ चित्रकूट गये।

जब श्रीरघुनाथजी लंका-विजय करके लौटे तब तो प्रजाके हर्षका पार न रहा। समाचार पाते ही वे सब-के-सब नर-नारी, जो बैठे थे, वैसे ही उठकर दौड़ पड़े। श्रीभगवान्‌को लक्ष्मणजी और जानकीजीसहित देखकर सब अयोध्यावासी हर्षित हो गये, उनकी वियोगजनित विपत्ति नष्ट हो गयी। सब लोगोंको प्रेमविह्वल तथा मिलनेके लिये अत्यन्त आतुर देखकर भगवान् श्रीरामजीने एक चमत्कार किया। उसी समय कृपालु श्रीरामजी असंख्य रूपोंमें प्रकट हो गये और सबसे एक ही साथ यथायोग्य मिले। श्रीरघुवीरजीने कृपादृष्टिसे देखकर सब नर-नारियोंको शोकरहित कर दिया। भगवान् क्षणमात्रमें इस प्रकार सबसे मिल लिये। शिवजी कहते हैं—हे उमा! यह रहस्य किसीने नहीं जाना।

प्रभु बिलोकि हरषे पुरबासी।
जनित बियोग बिपति सब नासी॥
प्रेमातुर सब लोग निहारी।
कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला।
जथाजोग मिले सबहि कृपाला॥
कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी।
किए सकल नर नारि बिसोकी॥
छन महिं सबहि मिले भगवाना।
उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

सच पूछिये तो प्रजाके सुख और सन्तोषके लिये ही श्रीरामजीने राज्यपद स्वीकार किया और वास्तवमें यही आदर्श है। जो प्रजाके सुखके लिये ही राजा बनता है वही राजा यथार्थ राजा है। अवधवासियोंके भाग्यका तो कहना ही क्या है, जहाँ प्रेमपरवश स्वयं भगवान् राजा बने हैं। शिवजी कहते हैं—

उमा अवधबासी नर नारि कृतारथ रूप।
ब्रह्म सच्चिदानंद घन रघुनायक जहँ भूप॥

आपकी प्रजावत्सलताका एक ऐसा उदाहरण है जिसकी तुलना जगत्‌में कहीं नहीं है। जिन सीताजीके लिये आप वन-वनमें विलाप करते भटके, जिनके लिये रावणसे घोर युद्ध किया—केवल प्रजारंजनके लिये हृदयको अत्यन्त कठोर बनाकर उन्हीं सीताजीको निर्दोष समझते हुए भी आपने वनमें भेज दिया। धन्य है!

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके गुणोंकी गाथा गाकर कौन पार पा सकता है। वे परम दयालु, परम प्रेमी, परम सुहृद्, परम संयमी, परम कल्याणाश्रय, महान् वीर्यवान्, महान् बुद्धिमान्, शस्त्रविद्याविशारद, सौन्दर्य-माधुर्यके निधि, कान्तिमान्, धृतिमान्, जितेन्द्रिय, अत्यन्त गम्भीर, परम विनयी, महान् धीर, अनुपम प्रियदर्शन, मधुरभाषी, महान् क्षमाशील, परम उदार, परम ब्रह्मण्य, संगीतकलानिपुण, आदर्श सत्यवादी और सत्यव्रती, कुसुमसे भी कोमल, किन्तु कर्तव्यपालनमें वज्रसे भी कठोर, परम यशस्वी, महान् वाग्मी, सर्वशास्त्रतत्त्वज्ञ, महान् प्रतिभाशाली, आदर्श पुत्र, आदर्श शिष्य, आदर्श पति, आदर्श भाई, आदर्श स्वामी, आदर्श राजा, आदर्श मित्र, आदर्श शूरवीर, आदर्श आश्रयदाता, आदर्श गुणवान्, आदर्श सदाचारी, आदर्श धर्मव्रती, आदर्श त्यागी, नीतिपरायण, साधुजनप्रिय, परम प्रतापवान्, धर्मरक्षक, सर्वप्रिय, सर्वान्तर्यामी और सर्वशक्तिमान् हैं।

सत्यवादिताके सम्बन्धमें तो उन्होंने स्वयं घोषणा की है—**'रामो द्विर्नाभिभाषते'** (वा० रा० अयोध्या० १८। ३०)—राम दो बार नहीं बोलते। अर्थात् एक बार जो कह दिया सो निश्चित हो गया।

धर्मपरायणताका क्रियात्मक उदाहरण तो उनका समस्त जीवन ही है। साक्षात् भगवान् होनेपर भी आप धर्मकी मर्यादारक्षाके लिये नियमितरूपसे सन्ध्या-अग्निहोत्रादि कर्म स्वयं करते हैं। वर्णाश्रमके अनुसार ब्राह्मणों, ऋषियों तथा गुरुजनोंका पूजन करते हैं, यज्ञ-यागादि करते हैं, मन्दिरोंकी स्थापना और मूर्तिपूजन करते हैं, श्राद्ध-तर्पणादि क्रिया सावधानीसे करते हैं।

चित्रकूटमें भरतजीके साथ गये हुए ऋषियोंमें जाबालि नामक एक ऋषि थे। वे महाराज दशरथजीकी सभाके एक प्रधान सदस्य थे। श्रीरामजीको अयोध्या लौटनेकी बात समझाते हुए उन्होंने कुछ ऐसी बातें कहीं जो नास्तिकवादका समर्थन करनेवाली थीं। उनकी बातोंको सुनकर मर्यादापुरुषोत्तम

भगवान् लीलासे उनपर रुष्ट हो गये और उन्होंने मुनिको फटकारकर बहुत कुछ कहा—

निन्दाम्यहं कर्म कृतं पितुस्तद्
यस्त्वामगृह्णाद् विषमस्थबुद्धिम्।
बुद्ध्यानयैवंविधया चरन्तं
सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम्॥

(वा० रा०, अयो० १०९। ३३)

'इस प्रकारकी बुद्धिसे आचरण करनेवाले तथा परम नास्तिक एवं धर्ममार्गसे हटे हुए आपको जो मेरे पिताजीने अपना याजक बनाया मैं उनके इस कार्यकी निन्दा करता हूँ; क्योंकि आप बुरे मार्गमें स्थित बुद्धिवाले हैं।'

इन वचनोंसे पता लगता है कि महाराज श्रीरामचन्द्रजी नास्तिकवादको कितना बुरा समझते थे। नास्तिकवादकी निन्दामें अपने उन पिताके कार्यकी भी निन्दा की, जिनके वचनोंकी रक्षाके लिये आज वनमें बस रहे हैं।

अन्तमें जाबालि मुनिके यह कहनेपर कि मैं नास्तिक नहीं हूँ, मैंने तो केवल आपको लौटानेके लिये तर्कके तौरपर ये बातें कही थीं। यह मेरा मत नहीं है और गुरु वसिष्ठजीके द्वारा जाबालिजीके इस कथनका समर्थन होनेपर भगवान् श्रीरघुनाथजी शान्त हुए।

भगवान् श्रीरामजीके सभी भाव विलक्षण हैं। आपका जन्म, बालभाव, कुमारभाव, मिथिलाका मधुरभाव, वनका तापसभाव, लंकाका वीरभाव, राजभाव, प्रेमभाव सभी आदर्श और महान् अनुकरणीय हैं। आपके आदर्श जीवनसे जो लाभ नहीं उठाता, वह बड़ा ही मन्दभागी है।

श्रीरामचन्द्रजीके सभी गुण और आचरण आदर्श हैं। उनमें एक भी ऐसी बात नहीं है जो परम आदर्श और अनुकरण करनेयोग्य न हो। कहीं कोई बात असंगत या अपने मनके प्रतिकूल प्रतीत होती है तो उसमें प्रधान कारण है श्रद्धाकी कमी। श्रद्धा कम होनेसे भगवान्के तत्त्व, रहस्य, गुण और प्रभावका ज्ञान नहीं होता; इसी कारण उनकी लीलामें भ्रमवश मनमें शंका हो जाती है। कोई लीला न समझमें आवे तो उसके अतिरिक्त अन्यान्य आचरणोंका अनुकरण और उनके उपदेशोंका पालन अवश्य ही करना चाहिये। भगवान्ने अपने भाइयोंको तथा प्रजाको जो परम सुन्दर उपदेश दिये हैं, उनका अक्षरशः पालन करनेकी चेष्टा करनी चाहिये और प्रभुकी आज्ञा या उनके आचरणके अनुसार यत्किंचित् भी चेष्टा होने लगे तो इसमें प्रभुकी ही कृपा समझनी चाहिये तथा भगवान्की इस कृपाका बारंबार लक्ष्य और अनुभव करते हुए क्षण-क्षणमें मुग्ध होना चाहिये। महाराजकी प्रत्येक लीलामें प्रेम, दया, क्षमा, सत्य आदि गुण भरे हैं; उनका अपरिमित प्रभाव सब लीलाओंमें व्याप्त है—यह निश्चय करके प्रत्येक क्रियामें उनके आदर्श व्यवहार, उनके महान् गुण, उनके प्रभाव, तत्त्व और रहस्यका चिन्तन करते हुए तथा उनकी अमृतमय रूपलावण्ययुक्त मनोमोहिनी मूर्तिका प्रत्यक्षवत् ध्यान रखते हुए सदा प्रसन्न होना चाहिये। वे पुरुष धन्य हैं जो साक्षात् पूर्णब्रह्म परमेश्वर मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी महाराजके नाम, रूप, गुण, चरित्र, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझ-समझकर प्रेम और आनन्दमें तन्मय हुए संसारमें उनका अनुकरण करते हुए विचरते हैं। वह पृथ्वी धन्य है जहाँ ऐसे पुरुष निवास करते हैं। ऐसे साक्षात् कल्याणमय पुरुषोंका जो दर्शन, भाषण, स्पर्श, स्मरण और संग लाभ करते हैं, वे भी पवित्र हो जाते हैं। ऐसे पुरुषोंके जहाँ चरण टिकते हैं, वह देश तीर्थ बन जाता है और वहाँ प्रेम, आनन्द और शान्तिका स्रोत बहने लगता है। वह कुल धन्य, जगत्पूज्य और परमपवित्र है जहाँ ऐसे भगवत्परायण पुरुषरत्न उत्पन्न होते हैं। भगवान् शिवजी महाराज कहते हैं—

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत॥

हमारा लक्ष्य और कर्तव्य

मनुष्य सबसे श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है, वह अपनेको श्रेष्ठ समझता है और विचार करनेपर यह सिद्ध होता है कि भगवान्ने उसकी रचनामें विशेषता रखी भी है; परन्तु वह वास्तवमें श्रेष्ठ तभी है, जब अपने जीवनके प्रधान लक्ष्यको ध्यानमें रखकर अपना कर्तव्य पालन करता है। आजके संसारकी ओर देखते हैं तो मालूम होता है, लक्ष्यको जानकर कर्तव्य पालन करना तो दूर रहा, लक्ष्य और कर्तव्य क्या है, इस बातको भी प्रायः लोग नहीं जानते और न जानना चाहते ही हैं!

बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह शास्त्रोंसे, शास्त्रोंके वाक्य न समझमें आवें तो किन्हीं भगवत्प्राप्त पुरुषसे, वैसे पुरुष न मिलें तो धर्मको जानकर धर्मका आचरण करनेवाले किसी पुरुषसे, वह भी न मिले तो अपनी समझसे जो धर्मका जाननेवाला जान पड़े, उसीसे पूछकर अपने कर्तव्यको जान ले। कुछ भी न हो, तो कम-से-कम अपने अन्तरात्मासे तो पूछते ही रहना चाहिये। एक आदमी कहता है 'सत्य बोलना धर्म है' दूसरा कहता है 'धर्म-कर्म कुछ भी नहीं है।' ऐसी अवस्थामें अपने

अन्तरात्मासे पूछना चाहिये। बुद्धिसे कहना चाहिये कि वह निष्पक्षभावसे अपना मत जनावे। ऐसा किया जायगा तो अन्तरात्माकी आवाज या बुद्धिका निर्णय यही मिलेगा कि—'सत्य बोलना ही ठीक है।' क्योंकि सत्य सभीको प्रिय है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य, अहिंसादि अन्यान्य प्रसंगोंपर भी विचार करना चाहिये और अन्तरात्माका या बुद्धिका निर्णय प्राप्त हो जानेपर तदनुसार करनेके लिये तत्पर हो जाना चाहिये। ऐसे निर्णयको पाकर भी जो तदनुसार नहीं करते, वे अपना पतन आप ही करते हैं। अच्छी बात समझकर भी उसका पालन न करे और बुरी समझकर भी उसका त्याग न करे, उसका पतन अवश्य ही होना चाहिये। श्रीभगवान् कहते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

(गीता ६। ५)

'मनुष्यको चाहिये कि वह अपने द्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।'

हमें जो राग-द्वेष, शोक-भय आदि होते हैं, वे क्यों होते हैं? लोग समझते हैं कि प्रारब्धसे होते हैं परन्तु बात ऐसी नहीं है। ये सब होते हैं अज्ञानसे। राग-द्वेष ही शोक-भयमें कारण हैं और राग-द्वेष ही क्लेश हैं। अविद्या यानी अज्ञान ही इनका हेतु है। अविद्याका नाश होते ही इन सबका अपने-आप ही नाश हो जाता है।

धन प्राप्त होना या नष्ट हो जाना, बीमारी होना या स्वस्थ हो जाना और जन्म होना या मर जाना आदि-आदि—इन सबमें तो प्रारब्ध हेतु है; परन्तु चिन्ता, भय, शोक, मोह आदिमें तो अज्ञान ही प्रधान कारण है। अज्ञानका नाश होनेपर शोक-मोह नहीं रहते। श्रुति कहती है—

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥'

(ईश० ७)

'हर्षशोकौ जहाति' (कठ० १। २। १२)

शोकादिमें यदि प्रारब्ध हेतु होता तो भगवान् अर्जुनके प्रति यह कैसे कहते कि—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

(गीता २। ११)

'तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है। परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते।'

अज्ञानका नाश ज्ञानसे होता है। हमें साधन करके उस ज्ञानको प्राप्त करना चाहिये जिससे शोक-मोह, चिन्ता-भय, चोरी-व्यभिचार, झूठ-कपट और आलस्य-अकर्मण्यता आदि दोषोंका सर्वथा नाश हो जाय। ज्ञान होनेपर अज्ञानका कार्य रह नहीं सकता। बड़ी अच्छी रसोई बनी है, मिठाई बहुत ही स्वादिष्ट है, हम बड़े चावसे खानेको बैठे हैं। दो ही ग्रास लिये थे कि एक मित्रने चुपकेसे आकर सूचना दी कि 'मिठाईमें जहर है खाना मत' बस, इतना सुनते ही हम मुँहका ग्रास उसी क्षण थूक देते हैं, थाली दूर हटा देते हैं और पेटमें गये हुए ग्रासको भी जल्दी वमन करके वापस निकालनेकी चेष्टा करते हैं। जहरका ज्ञान हो जानेपर पदार्थ कितना ही मधुर और स्वादिष्ट क्यों न हो, हम अब उसे नहीं खा सकते। मित्रकी बातपर विश्वास जो ठहरा, उसने जो बतलाया सो ठीक ही बतलाया है। बस, यही हाल संसारके भोगोंका है। हम यदि शास्त्र, भगवान् या संतपुरुषोंकी वाणीपर विश्वास कर लें तो फिर इन भोगोंमें कभी मन न लगावें। भगवान् स्वयं कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमता।'

इतना जानकर भी यदि मनुष्य इन्हींमें मन लगाता है तो वह महान् मूर्ख है। तुलसीदासजी महाराज भी कहते हैं—

नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं।
पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

लोग कह सकते हैं कि विषका असर तो तुरंत होता है, परन्तु इसका तो कोई असर नहीं दिखलायी पड़ता। इसका उत्तर यह है कि विष भी तो कई प्रकारके होते हैं, ऐसे विष भी होते हैं, जिनका असर पड़ता तो है धीरे-धीरे, परन्तु पड़ता है बड़ा ही भयानक! भोग ऐसे ही धीरे-धीरे असर करनेवाला भयानक मीठा विष है।

इसीलिये राजस विषय-सुखको भगवान्ने परिणाममें विष-तुल्य बतलाया है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

(गीता १८। ३८)

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है वह पहले भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य है। इसलिये वह सुख राजस कहा गया है।'

यदि कहा जाय कि 'हमलोग तो बहुत विष खा चुके हैं, इसके लिये क्या उपाय करें?' उपाय बहुत हैं। पहले खाया हुआ विष निकाला भी जा सकता है और पचाया भी! अच्छे वैद्य इसका उपाय बतला सकते हैं, परन्तु पहले यह विश्वास भी तो हो कि यह वस्तुतः विष है। विश्वास होता तो कम-से-कम भविष्यमें तो विष खाना बंद हो ही जाता। जब खाना उसी प्रकार चालू है, तब कैसे माना जाय कि हमने भगवान्‌के वचनोंपर विश्वास करके इन्हें दुःखदायी और विष मान लिया है?

सुनते हैं, पढ़ते हैं परन्तु विश्वास नहीं होता। पूरा विश्वास होनेपर मनुष्य बिना उपाय किये रह ही कैसे सकता है? विश्वास ही विषनाशक साधनकी लगनकी आधारभूमि है। सच्ची लगन कैसी होती है?

लगन लगन सब कोइ कहै, लगन कहावै सोय।
नारायन जेहि लगनमें तन-मन डारै खोय॥
जो सिर काटे हरि मिले तो हरि लीजै दौर।
ना जाने या देरमें गाँहक आवै और॥

परन्तु इस विष-सेवनका त्याग तो करना ही चाहिये और शीघ्र ही करना चाहिये; क्योंकि विलम्ब होनेसे रक्षा कठिन हो जायगी। जबतक मृत्यु दूर है, देहमें प्राण है, तभीतक शीघ्र-से-शीघ्र उपाय कर लेना चाहिये। यह नहीं सोचना चाहिये कि अभी क्या है, कुछ दिन बाद कर लेंगे। कौन जानता है, मृत्यु कब आ जायगी। दीर्घजीवनका पट्टा थोड़े ही है! इधर विष तो लगातार चढ़ ही रहा है। रातको ही मौत आ गयी तो फिर क्या होगा? अतएव इसी क्षणसे जग जाना चाहिये और लग जाना चाहिये पूरी लगनसे!

हमारा लक्ष्य होना चाहिये परमात्माकी प्राप्ति; क्योंकि परमात्मा ही एकमात्र परम सुख और शाश्वती शान्तिके केन्द्र हैं, वे ही सर्वश्रेष्ठ और सबसे बढ़कर प्राप्त करनेयोग्य परम वस्तु हैं, उनकी प्राप्तिमें ही जीवनकी पूर्ण और यथार्थ सफलता है और इस परम लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये सतत प्रयत्न करना ही मनुष्य-जीवनके कर्तव्यका पालन करना है। इस कर्तव्य-पालनमें जो कुछ भी त्याग करना पड़े, वही थोड़ा है। बस, त्यागकी तैयारी होनी चाहिये, फिर शास्त्र कहते हैं कि 'परमात्मा मिल सकते हैं और उनका मिलना भी सहज ही है और यह भी विश्वास रखना चाहिये कि हम परमात्माकी प्राप्तिके अधिकारी हैं। तभी तो भगवान्‌ने मनुष्य-शरीर दिया है। दूसरी योनियोंकी कमी तो थी ही नहीं; पशु, पक्षी, रीछ, बंदर कुछ भी बना सकते थे। फिर उन्होंने हमको 'मनुष्य' क्यों बनाया? इसीसे सिद्ध है कि हम इसके अधिकारी थे। भगवान्‌ने हमें मुक्तिका पासपोर्ट दे दिया है। अब जो कुछ कमी है, वह केवल हमारी ही ओरसे है। उन्होंने मनुष्य-शरीर देकर हमें मुक्तिका अधिकारी बना दिया, हम यदि अब प्रमाद और पाप करें तो हमारी बड़ी भारी मूर्खता है। ऐसे ही मूर्खोंके लिये भगवान् कहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

(गीता १६। १९)

'ऐसे, उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ।'

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६। २०)

'हे अर्जुन! जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त वे मूढ़ पुरुष मुझको न प्राप्त होकर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं। अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं।'

पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंके लिये आसुरी योनि और नरकोंका विधान तो ठीक ही है। परन्तु भगवान्‌ने जो 'मुझे न प्राप्त होकर' कहा, इसका क्या रहस्य है? ऐसे पापियोंके लिये भगवत्प्राप्तिकी बात ही कैसी? सरकारका यह कहना तो ठीक है, कि अमुक चोर है, बदमाश है, उसे बार-बार जेलमें और कालेपानीमें भेजना है। परन्तु उसे राज्य न देकर जेलमें भेजना है, इस कथनका क्या अभिप्राय है? बात यह है कि भगवान् जब किसी जीवको मानव-शरीरमें भेजते हैं तो उसे मुक्तिका अधिकार देकर ही भेजते हैं। और वह मुक्तिका अधिकार प्राप्त करके आया हुआ जीव जब भगवान्‌को भूलकर—अपने जन्मसिद्ध अधिकारकी उपेक्षा कर पाप करता है और पुनः नरकोंमें जानेयोग्य बन जाता है, तब मानो भगवान् खेद प्रकट करते हुए-से कहते हैं कि, 'देखो, इसको मैंने अपनी प्राप्तिका अधिकार देकर भेजा था, परन्तु आज इसे नरकमें भेजनेकी व्यवस्था करनी पड़ती है, इससे बढ़कर खेदकी बात और क्या होगी?'

जैसे किसी राजाके पुत्रका राज्यपर जन्मसिद्ध अधिकार होता है परन्तु उस समय वह नाबालिग होनेके कारण राज्यशासनके योग्य नहीं समझा जाता। राजा स्वयं ही राज्यकी समस्त व्यवस्था करता है और राजकुमारके बालिग होनेपर उसे सारे अधिकार सौंप देनेकी इच्छा

रखता है परन्तु; वह यदि अयोग्य निकलता है और बुरी संगतमें पड़कर ऐसे नीच कर्म कर बैठता है जिनके फलस्वरूप प्रजाका विनाश होता है तो ऐसी परिस्थितिमें जन्मसिद्ध स्वत्व होनेपर भी उसे राज्याधिकारसे वंचित कर दिया जाता है, इतना ही नहीं प्रत्युत उसे और भी दण्ड दिया जाता है और उसे दण्ड देते समय जैसे राजा पश्चात्ताप करता है, ठीक वैसी ही बात मनुष्योंके लिये भी है। मनुष्यको परमात्माकी प्राप्तिका जन्मसिद्ध अधिकार है तथापि अपनी अयोग्यता और विपरीताचरणके कारण उसे अपने अधिकारसे वंचित रहकर उलटा दण्ड भोग करना पड़ता है। इससे अधिक उसका दुर्भाग्य और क्या होगा? इसीलिये भगवान्ने उपर्युक्त श्लोकमें 'मुझे न प्राप्त होकर' नीच गतिको प्राप्त होते हैं, ऐसा कहा है।

वस्तुतः यह हमारे लिये बड़े ही परिताप और लज्जाकी बात है कि इस प्रकार हम दयालु भगवान्की दयाका तिरस्कार कर अपने मानव-जीवनको व्यर्थ खो रहे हैं। यही मानव-जीवनकी सबसे बड़ी विफलता है और यही मनुष्यकी सबसे बड़ी भूल है। भगवान् कहते हैं—जल्दी चेतो; कालका भरोसा करके विषयभोगोंमें जरा भी मत फँसो। यह मत समझो कि शरीर सदा रहेगा; यह भी मत समझो कि मुझे भूलकर तुम इसमें कहीं भी सुखकी तनिक छाया भी पा सकोगे। यह मनुष्य-शरीर तो मैंने तुम्हें विशेष दया करके दिया है, अपनी ओर खींचकर परमानन्दरूप परमधाममें ले जानेके लिये। यह बड़ा ही दुर्लभ है। परन्तु यह है अनित्य, क्षणभंगुर और जो मुझको भूल जाता है, उसके लिये नितान्त सुखरहित भी! इसको प्राप्त होकर तो बस, निरन्तर प्रेमपूर्वक मेरा भजन ही करो। तभी तुम जीवनके परम लक्ष्यरूप मुझको प्राप्त करके धन्य हो सकोगे!

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥'

(गीता ९। ३३)

जीवनका रहस्य

संसारकी विचित्र दशा है। मनुष्य जन्मता है, बड़ा होता है, विषय-भोग करता है, सन्तान उत्पन्न करता है, उनका पालन-पोषण करता है, धन, जमीन, मकान तथा अन्य भोगकी सामग्री एकत्र करता है, इनके संग्रहमें न्याय-अन्यायकी परवा नहीं करता और अन्तमें इन सबको यहीं छोड़कर असफलता और अतृप्तिका बोध करता हुआ चिन्ताओं और पापोंका बोझ सिरपर लिये हुए इस असार संसारसे चल देता है। अधिकांश मनुष्योंकी यही दशा है। इस प्रकारके जीवनमें और पशु-जीवनमें क्या अन्तर है?

पशु भी अपना पेट भरते हैं, सन्तान उत्पन्न करते हैं और अन्तमें मर जाते हैं; बल्कि कई बातोंमें पशु आजके मनुष्योंसे कहीं अच्छे हैं। उन्हें भविष्यकी चिन्ता नहीं होती, वे संग्रह नहीं करते और संग्रहके लिये दूसरोंका गला नहीं घोटते। फिर पशुओंमें तो अपना हिताहित सोचनेकी बुद्धि नहीं है, मनुष्यको भगवान्ने बुद्धि दी है। फिर भी वह सोचता नहीं कि यह मनुष्य-जीवन हमें किसलिये मिला है—क्या खाने-कमाने, भोग-भोगने और अन्तमें असहायकी भाँति सब कुछ यहीं छोड़कर मर जानेके लिये ही हमें यह जीवन मिला है? जिस मनुष्य-जीवनको शास्त्रोंने देव-दुर्लभ बताया है, क्या उसकी चरितार्थता भोग- भोगनेमें ही है? ये भोग तो हमें अन्य योनियोंमें भी सुलभतासे प्राप्त हो जाते हैं। जो सुख इन्द्रको अमरावतीमें इन्द्राणीके साथ रहनेमें मिलता है, वही सुख एक कुत्तेको कुतियाके सहवाससे प्राप्त होता है। जो स्वाद हमें षट्रस भोजन करनेमें मिलता है, वही स्वाद विष्ठा खानेवाली शूकरीको विष्ठामें मिलता है। जिस आरामका बोध हमें मखमलके गद्दोंपर लेटनेपर होता है, उसी आरामका बोध एक गदहेको घूरेपर पड़ी हुई राखकी ढेरीपर लोटनेमें होता है। फिर पशुओंमें और हममें क्या अन्तर रहा? हम अपनेको पशुओंसे श्रेष्ठ क्यों मानते हैं? आज हममेंसे कितने भाई इन प्रश्नोंपर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं? हमारा जीवन भोगमय बन गया है, हम रात-दिन इस शरीरकी ही चिन्तामें व्यस्त रहते हैं। हमने शरीरको ही अपना आत्मा मान रखा है, इस शरीरके परे भी कोई वस्तु है, इस बातको जाननेकी हमें आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। मरनेके बाद हम कहाँ जायँगे, इस जीवनके परे भी कोई जीवन है, इस जीवनमें किये हुए पाप और पुण्यका फल हमें इस जीवनके बाद भी मिल सकता है—इन सब बातोंको हम सोचते ही नहीं। इस जीवनमें हम सुखसे रहें, हमारा मान हो, हमें अधिक-से-अधिक भोग प्राप्त हों—यही हमारे जीवनका लक्ष्य हो गया है। परन्तु क्या यह लक्ष्य ठीक है, आज हम इसी विषयपर कुछ विचार करेंगे।

यह जीवन हमें सांसारिक भोग भोगनेके लिये नहीं मिला है। भोग सभी अनित्य, अस्थिर एवं क्षणभंगुर हैं। जिस प्रकार जुगनूकी चमक एक क्षणके लिये अपनी छटा दिखलाकर तुरंत विलीन हो जाती है, उसी प्रकार विषयसुख केवल भोगकालमें सुखदायी प्रतीत होते हैं—भोगके पूर्वकालमें हम उनकी कामनासे जलते हैं और परिणाम भी उनका

दुःखदायी होता है। भोगकालमें भी हमें विषयोंमें सुखकी प्रतीतिमात्र होती है। वस्तुतः उनमें सुख नहीं है। यदि सुख होता तो वह ठहरता, उसका विनाश नहीं होता; क्योंकि सत् और असत्की व्याख्या करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें हमें यही बतलाया कि सत् वस्तुका कभी विनाश नहीं होता और असत्का भाव नहीं होता—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (२।१६)। अतएव जो सुख अटल है, नित्य है, ध्रुव है, अविनाशी है, वही वास्तविक सुख है। जो सुख क्षणस्थायी है, एक क्षणमें उत्पन्न होता है और दूसरे क्षणमें विनाश हो जाता है, वह सुख, सुख ही नहीं है; वह मिथ्या सुख है, सुखकी भ्रान्ति है। विषयोंके सम्बन्धसे होनेवाले सुखको भगवान्ने राजस और परिणाममें विषके समान दुःखदायी बतलाया है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

(गीता १८।३८)

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले—भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य है, इसलिये वह सुख राजस कहा गया है।'

इसी प्रकार प्रमाद, आलस्य और निद्रासे उत्पन्न होनेवाले सुखको भगवान्ने तामस और मोहकारक बतलाया है—

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥

(गीता १८।३९)

'जो भोगकालमें तथा परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है—वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न हुआ सुख तामस कहा गया है।'

विषयोंमें सुखकी प्रतीतिमात्र होती है, वास्तवमें उनमें कोई सुख नहीं है—इस तथ्यको समझानेके लिये महात्मालोग एक दृष्टान्त दिया करते हैं। कहते हैं, किसी सरोवरके किनारे एक वृक्षकी शाखामें एक अत्यन्त प्रकाशयुक्त मणि लटक रही थी। मणिकी परछाईं उस सरोवरके जलपर पड़ रही थी। किसी मनुष्यकी दृष्टि उस परछाईंपर गयी और उस परछाईंको मणि समझकर वह उसको पानेके लिये बार-बार जलमें गोता लगाने लगा। किन्तु मणि तो वहाँ थी नहीं, फिर वह उसके हाथ कैसे आती? एक महात्माने उसके व्यर्थ प्रयासको देखकर उससे कहा कि 'जिसे मणि समझकर पानेके लिये तुम बार-बार जलमें गोता लगा रहे हो, वह मणि नहीं है अपितु मणिकी परछाईंमात्र है। मणि तो ऊपर वृक्षकी शाखामें लटक रही है। परछाईंको पकड़नेकी चाहे तुम जीवनभर चेष्टा करते रहो, वह तुम्हारी पकड़में नहीं आनेकी। मणि प्राप्त करना चाहते हो तो परछाईंके लिये व्यर्थमें परेशान होना छोड़कर ऊपरकी ओर दृष्टि करो और वृक्षपर चढ़कर मणिको ले आओ।' अब तो उस मनुष्यको अपनी भूल समझमें आ गयी और उसने परछाईंको पकड़नेकी भूलभरी चेष्टा छोड़कर महात्माके बतलाये हुए मार्गसे वृक्षपर चढ़कर उस मणिको पा लिया। जो लोग सुखकी आशासे विषयोंके पीछे भटकते रहते हैं, उनकी दशा मणिको पानेकी आशासे उसकी परछाईंको पकड़नेके लिये व्यर्थ प्रयास करनेवाले उस मूढ़ मनुष्यकी-सी है। आज संसारमें यही हो रहा है। इसीलिये हमलोग असली सुखसे वंचित होकर जीवनभर दुःख ही पाते रहते हैं। परन्तु बार-बार दुःख पानेपर भी हम विषयोंसे सुख पानेकी आशाको छोड़ते नहीं और बार-बार उन्हींको पकड़ते हैं। यही तो मोहकी महिमा है। मदिरा पीकर मनुष्य जैसे मतवाला हो जाता है और उसे पूर्वापरका ज्ञान नहीं रहता, उसी प्रकार हमलोग भी मोहरूपी मदिराको पीकर विवेकशून्य हो गये हैं और विषयोंके पीछे पागल हुए-से भटक रहे हैं—'**पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।**'

थोड़ी देरके लिये यदि मान लिया जाय कि विषयोंमें सुख है—क्योंकि हमें उसकी अनुभूति होती है—तो कम-से-कम इतनी बात तो स्पष्ट है कि वह सुख अल्प है, अनित्य है, क्षणिक है, सदा रहनेवाला नहीं है। यदि वह नित्य होता तो जिन्हें विषयसुख प्रचुरतासे प्राप्त है, वे कभी दुःखी होते ही नहीं, सदा सुखी ही रहते। परन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता। जिनके पास जितनी ही अधिक विषय-भोगकी सामग्री है, वह उतना ही अधिक दुःखी देखा जाता है। बात भी ठीक ही है। जो वस्तु स्वयं अनित्य है, वह हमें नित्य सुख कैसे दे सकती है? संसारका प्रत्येक पदार्थ नश्वर है, विनाशकी ओर जा रहा है; बल्कि यों कहना चाहिये कि प्रतिक्षण उसका विनाश हो रहा है। जैसे दीपककी लौ दीखनेमें एक होनेपर भी प्रतिक्षण बदलती रहती है अथवा जैसे नदीका जल एक दीखनेपर भी प्रतिक्षण बदलता रहता है, उसी प्रकार संसारके प्रत्येक पदार्थका प्रतिक्षण रूपान्तर होता रहता है। आज किसी वस्तुको हम जिस रूपमें देखते हैं, कल उसका दूसरा ही रूप हो जायगा और परसों उसका रूप कुछ और ही हो जायगा। उदाहरणके लिये दूधको लीजिये। दूधकी जो आकृति, गुण और स्वाद आज है, कल उसकी वह आकृति, गुण और स्वाद नहीं रह जायगा। परसों उसकी आकृति, गुण और स्वादमें और भी अन्तर आ जायगा। आज जो दूध हमें अमृतके समान लगता है, कल वह खट्टा लगने लगेगा, परसों उसमें खट्टी बदबू आने लगेगी तथा

उसका गुण और स्वाद भी बिगड़ जायगा एवं यदि कुछ दिन उसे और पड़ा रखा जाय तो जो दूध एक दिन स्वाद और गुणमें अमृतके समान था, वही विष-तुल्य हो जायगा। यही बात न्यूनाधिक रूपमें संसारके सभी पदार्थोंके सम्बन्धमें समझनी चाहिये। किसीका रूपान्तर जल्दी हो जाता है, किसीका देरसे होता है; किन्तु होता सबका है। ऐसे क्षणभंगुर पदार्थोंसे हम नित्य सुखकी आशा ही कैसे कर सकते हैं?

फिर विषयोंके साथ हमारा सम्बन्ध भी नित्य नहीं है। आज जिस पदार्थको हम अपना मानकर इतराते हैं, कल ही उसके साथ हमारा सम्बन्ध छूट सकता है। यह शरीर भी जब हमारा नहीं है, जिसको लेकर हम विषयोंको अपना माने हुए हैं, तब विषय तो हमारे हो ही कैसे सकते हैं? इस शरीरके साथ हमारा सम्बन्ध कब छूट जाय, पता नहीं। शरीर छूट जानेपर उन समस्त पदार्थोंसे, जिन्हें हम अपना माने हुए हैं, हमारा सम्बन्ध अपने-आप छूट जायगा। पूर्वजन्ममें हमारा जिन पदार्थोंसे अथवा व्यक्तियोंसे सम्बन्ध था, आज, सम्बन्धकी बात तो अलग रही, उनकी हमें स्मृति भी नहीं है। उसी प्रकार इस जन्मके पदार्थोंसे हमारा मृत्यु हो जानेपर कोई सम्बन्ध नहीं रह जायगा; बल्कि हमें इनकी स्मृतितक नहीं रह जायगी। लाख प्रयत्न करनेपर भी इनमेंसे एक भी पदार्थ हमारे साथ नहीं जा सकेगा और मृत्यु हमारी एक-न-एक दिन निश्चित है। उसे हम एक क्षणके लिये भी नहीं टाल सकते। ऐसी दशामें यहाँके पदार्थोंसे सम्बन्ध जोड़ना, उन्हें अपना मानना और उनके बटोरनेमें आयु बिता देना कहाँतक बुद्धिमानी है—इसे हम स्वयं सोच सकते हैं।

इसके अतिरिक्त जितने भी विषय-सुख हैं, वे सब क्षणिक होनेके साथ ही विषयुक्त मधुकी भाँति दुःखमय हैं। भोगकालमें सुखरूप भासनेपर भी वे परिणाममें दुःखरूप ही हैं। उदाहरणतः स्त्रीप्रसंगके सुखको ही लीजिये। उससे क्षणभरके लिये हमें जो सुख प्रतीत होता है, उसके मुकाबलेमें दुःखकी मात्रा कितनी अधिक होती है—इसका भी अंदाजा लगाइये। उससे हमारे बल, वीर्य, बुद्धि, तेज, आयु आदिका नाश होता है, लोक-परलोक बिगड़ता है और शरीरमें भी शिथिलता और क्लान्तिका अनुभव होता है। ऐसी दशामें इन क्षणिक विषयोंके भोगनेमें ही जीवन बिता देना मूर्खता नहीं तो क्या है? अतः विषय-सुखोंका त्यागकर जो वास्तविक एवं स्थायी सुख है, जिसका कभी नाश नहीं होता और जो मृत्युके बाद भी बना रहता है, उस सुखको प्राप्त करनेकी हमें प्राणपणसे चेष्टा करनी चाहिये। इस सुखको प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवनका लक्ष्य है। यही परम पुरुषार्थ है। वेद-शास्त्र इसीको प्राप्त करनेकी हमें आज्ञा देते हैं। इसीको पा लेनेपर मनुष्य सदाके लिये निहाल हो जाता है, कृतकृत्य हो जाता है, जन्म-मृत्युको लाँघ जाता है, सब प्रकारके दुःख, भय, शोक और चिन्ताओंसे मुक्त हो जाता है, सब प्रकारके बन्धनोंसे छूट जाता है। इसीको परमात्मा अथवा परमपदकी प्राप्ति कहते हैं। इसीको प्राप्त करना हमारा सबसे बड़ा एवं मुख्य कर्तव्य है और इसीके लिये हमें यह जीवन मिला है।

भोग-सुख तो हमें देव, तिर्यक् आदि अन्यान्य योनियोंमें भी प्राप्त हो सकते हैं। न जाने अबतक हमारे कितने जन्म हो चुके हैं; न जाने कितनी बार हमने स्वर्गसुख भोगा है, कितनी बार हम इन्द्र बन चुके हैं, कितनी बार हम चक्रवर्ती सम्राट् हो चुके हैं, कितनी बार हमने स्त्री-सुख, सन्तान-सुख और जिह्वा आदि इन्द्रियोंके सुख भोगे हैं; परन्तु फिर भी इनसे हमारी तृप्ति नहीं हुई। हमारी सुखकी खोज अभी बनी ही हुई है और जबतक हम परमात्मरूप नित्य एवं निरतिशय सुखकी प्राप्ति नहीं कर लेंगे, तबतक हमारी यह सुखकी खोज बनी ही रहेगी, हमारी तृप्ति कभी होनेकी नहीं। अनन्त सुखकी खोज ही जीवका धर्म है। जबतक यह सुख उसे प्राप्त नहीं हो जायगा, तबतक उसे चैन नहीं मिलेगा; न उसका भटकना ही बंद होगा और न तो उसे विश्राम ही मिलेगा। इसलिये विषयोंके लिये भटकना छोड़कर उस परम सुखकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्यको निरन्तर अथकरूपसे चेष्टा करनी चाहिये और जबतक वह प्राप्त न हो जाय, तबतक उसे दूसरी ओर ताकना भी नहीं चाहिये।

इस परम सुखकी प्राप्ति मनुष्य-योनिमें ही सम्भव है, अन्य किसी योनिमें नहीं; क्योंकि और सब योनियाँ तो भोगयोनियाँ हैं। मनुष्य-जीवनमें किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल हम अन्य योनियोंमें भोगते हैं। कर्म करनेका अधिकार तो केवल मनुष्य-योनिमें है। इसीलिये इसे कर्मयोनि कहते हैं, इसीलिये इसे सब योनियोंमें श्रेष्ठ कहा गया है, इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने इसे 'साधन-धाम' और 'मोक्षका द्वार' कहा है, इसीलिये देवतालोग भी मनुष्य-योनिमें जन्म लेनेके लिये तरसते रहते हैं और इसीलिये इस मनुष्यदेहको क्षणभंगुर होनेपर भी देवदुर्लभ कहा गया है। यह देवदुर्लभ देह हमें भगवान्‌की कृपासे ही प्राप्त होती है। जब यह जीव चौरासी लाख योनियोंमें भटककर हैरान हो जाता है, तब भगवान् करुणा करके उसे मनुष्य-शरीर देते हैं—

कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

ऐसे देवदुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर भी यदि हमने अपना असली काम नहीं बनाया—जिसके लिये हम इस संसारमें आये हैं—तो हमसे बढ़कर मूर्ख कौन होगा? शास्त्रोंने तो ऐसे मनुष्यको कृतघ्न और आत्महत्यारा बतलाया है। गुसाईंजी महाराज शास्त्रोंका ही अनुवाद करते हुए कहते हैं—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

यह मनुष्य-शरीर हमें बार-बार नहीं मिलनेका। ऐसे दुर्लभ अवसरको यदि हमने हाथसे खो दिया तो फिर सिवा पछतानेके और कुछ हाथ नहीं लगेगा। मनुष्येतर प्राणियोंमें न तो भले-बुरेकी पहचान होती है, न कार्याकार्यका ज्ञान होता है और न शास्त्रानुकूल आचरण करते हुए उस परम सुखको प्राप्त करनेका साधन ही बन सकता है। इसलिये शीघ्र-से-शीघ्र इस जीवनमें ही हमें उस परम सुखको प्राप्त कर लेना चाहिये और उसके लिये कोई उपाय छोड़ न रखना चाहिये। इसीमें हमारी बुद्धिमत्ता है और इसीमें हमारे जीवनकी सफलता है। यदि जीवनमें हमने बहुत-सी भोगसामग्री एकत्र कर ली, बहुत-सा मान-सम्मान प्राप्त किया, बहुत नाम कमाया, हजारों-लाखों रुपये, विपुल सम्पत्ति, हाथी-घोड़े, नौकर-चाकर तथा बहुत बड़े परिवारका संग्रह किया; किन्तु यदि जीवनका वास्तविक उद्देश्य सिद्ध नहीं किया तो हमारा किया-कराया सब व्यर्थ ही नहीं हो गया; बल्कि यह सब करनेमें जो हमने पापाचरण किया उसके फलरूपमें हमें नरकोंकी प्राप्ति होगी, हम नीचेकी योनियोंमें ढकेले जायँगे। इसके विपरीत यदि हमारा जीवन लौकिक दृष्टिसे कष्टोंमें बीता, हमें मान प्राप्त नहीं हुआ; बल्कि जगह-जगह हम दुरदुराये गये, हमारा किसीने आदर नहीं किया, किसीने हमारी बात नहीं पूछी; किन्तु हमने अपने जीवनका सदुपयोग किया, जिस कार्यके लिये हम आये थे उस कार्यको बना लिया तो हम कृतकार्य हो गये, हमारा जीवन धन्य हो गया।

अब हमें यह देखना है कि दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और अविनाशी सुखकी प्राप्तिका उपाय क्या है? हम देखते हैं कि सभी प्राणी सुख चाहते हैं, दुःख कोई भी नहीं चाहता। परन्तु संसारमें सुख कहीं ढूँढ़नेसे भी नहीं मिलता। जहाँ देखिये वहीं हाय-हाय मची हुई है। सभी लोग दुःख और अशान्तिकी ज्वालासे जल रहे हैं। कोई हमारे देखनेमें सुखी है भी तो वह अधिक सुखके लिये लालायित है, अपनी स्थितिसे उसे सन्तोष नहीं है, दूसरोंको अपनेसे अधिक सुखी देखकर वह ईर्ष्यासे जलता रहता है, दूसरोंको नीचा दिखानेके लिये वह उपाय सोचता है, जो कुछ मान-मर्यादा और धन-सम्पत्ति उसे प्राप्त है, उसके नष्ट हो जानेका भय उसे सदा बना रहता है। जरा-सी प्रतिकूलता भी उसे सहन नहीं होती, प्रतिकूल आचरण करनेवाले और अपनी कामना-पूर्तिमें बाधा पहुँचानेवालेके प्रति उसकी द्वेषाग्नि भभक उठती है, प्रतिहिंसाके भाव जाग उठते हैं, बदलेमें दूसरे भी उसके प्रति वैसे ही भावोंका पोषण करते हैं। फलतः चारों ओर भय, आशंका, ईर्ष्या, द्वेष और कलहका वातावरण बन जाता है और उसीमें सभी मनुष्य रात-दिन जला करते हैं, दुःखी रहते हैं, अशान्तिमय जीवन व्यतीत करते हैं और मरनेपर नरकोंकी असह्य यन्त्रणा भोगते हैं। इसीलिये जगत्‌को भगवान्‌ने 'दुःखालय'—दुःखोंका घर बतलाया है। सभी लोग किसी-न-किसी अभावका अनुभव करते हैं और अभाव दुःखका कारण है। ऐसी स्थितिमें इस दुःखमय जगत्‌से मुँह मोड़कर—उससे सुख पानेकी आशा छोड़कर नित्य सुखके आकर सुखस्वरूप परमात्माका आश्रय ग्रहण करना, उसके तत्त्वको समझकर उसकी भक्ति करना, उसके नामका जप और उसके स्वरूपका चिन्तन करना, उसकी आज्ञाओंका पालन करना तथा उसके विधानमें सन्तुष्ट रहना—यही उसकी कृपाको प्राप्त करनेका सुगम उपाय है और उसकी कृपासे ही मनुष्य सब प्रकारके क्लेशोंसे मुक्त होकर परम सुखका अधिकारी बन जाता है—जिसके पा लेनेपर और कुछ पाना बाकी नहीं रह जाता, मनुष्य सदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है, द्वन्द्वोंसे छूट जाता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि मनुष्यको चिन्ता, शोक, भय, दुःख आदि क्यों होते हैं? यदि यह कहा जाय कि प्रारब्धकर्मोंके फलस्वरूप ही हमें सुख-दुःख आदिकी प्राप्ति होती है तो इसपर यह शंका होती है कि प्रारब्धभोग तो जीवन्मुक्त महापुरुषोंका भी शेष रहता है, बिना प्रारब्धभोग शेष रहे उनका शरीर ही नहीं रह सकता। उन्हें शारीरिक कष्ट, रोग, पीड़ा आदि भी होते देखे जाते हैं; परन्तु उन्हें सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि नहीं होते। श्रुति कहती है—'**हर्षशोकौ जहाति**' (कठ० १। २। १२), '**तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥**' (ईश० ७) इत्यादि। गीतामें भी कहा है—'**गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥**' (२। ११)। इस प्रकारके और भी अनेकों वचन शास्त्रोंमें मिलते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानी महात्माओंको हर्ष-शोक तथा सुख-दुःख आदि नहीं होते। सुख-दुःखकी घटना घटनेपर तथा सुख-दुःखके निमित्त प्राप्त होनेपर भी उनके अन्तःकरणमें हर्ष-शोक आदि विकार नहीं होते, उनकी स्थिति सदा अविचल, सम

रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि हर्ष-शोक आदिके होनेमें प्रारब्ध हेतु नहीं है; बल्कि हमारा अज्ञान ही हेतु है। अज्ञानका नाश हो जानेपर राग-द्वेष, चिन्ता, शोक, भय आदिका भी अत्यन्ताभाव हो जाता है और अज्ञानका नाश होता है परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे। जिस प्रकार अन्धकारका नाश प्रकाशसे ही होता है, उसी प्रकार अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश भी ज्ञानरूपी सूर्यके उदय होनेपर ही होता है। अतः दुःख एवं शोकसे छूटनेके लिये मनुष्यको चाहिये कि वह अपना सारा समय परमात्माके तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके साधनमें ही लगावे और उसे प्राप्त करके ही विश्राम ले। वह परमात्माका यथार्थ ज्ञान विवेक एवं वैराग्यपूर्वक सद्‌गुण और सदाचारके सेवनसे—जिन्हें गीतामें दैवी सम्पत्तिके नामसे कहा गया है—होता है और दैवी सम्पत्तिका अर्जन भगवान्‌की भक्तिसे सुलभ हो जाता है। इस प्रकार भगवान्‌की भक्ति ही उनका तत्त्वज्ञान करानेमें सर्वोपरि साधन है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक भगवद्भक्तिका ही अभ्यास करे।

भगवद्भक्तिमें मनुष्यमात्रका समान अधिकार है। कोई किसी वर्णाश्रमका, किसी जातिका, किसी समाजका और किसी अवस्थाका क्यों न हो, भगवान्‌की भक्ति करनेमें उसके लिये कोई रुकावट नहीं है। भक्तिमें न विद्याकी आवश्यकता है, न बुद्धिकी। मूर्ख-से-मूर्ख और पापी-से-पापी भी भगवान्‌की भक्ति करनेसे परम पवित्र होकर उनकी कृपा प्राप्त कर सकता है और उस कृपाके बलसे उसे बहुत जल्दी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान् गीतामें अर्जुनसे कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको निरन्तर भजता है, तो वह साधु ही माना जानेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। उस भक्तिके प्रभावसे वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

यही नहीं, भक्ति करनेवालेको भगवान् स्वयं ज्ञान प्रदानकर उसके अज्ञानरूपी अन्धकारका सर्वथा नाश कर देते हैं, जैसा कि गीतामें कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(१०। १०-११)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं और हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकद्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

भगवान्‌का भजन और ध्यान करनेवाला उनकी कृपासे परमानन्द एवं परम शान्तिको प्राप्त कर ले, इसमें तो आश्चर्य ही क्या है? भगवान्‌के भक्तोंका आश्रय ग्रहण करके उनके वचनोंके अनुसार चलनेवाला अतिशय मूढ़ पुरुष भी दुःखोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(१३। २५)

'परन्तु इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए, दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं। और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं।'

यहाँ यह प्रश्न होता है कि भगवान्‌का निरन्तर भजन करनेसे समस्त दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति होकर उनकी प्राप्ति हो जाती है, इसमें युक्ति क्या है? निम्नलिखित उत्तरसे यह बात अच्छी तरहसे स्पष्ट हो जायगी। यह एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि मनुष्य जीवनकालमें जिस बातका निरन्तर अभ्यास करता है, अन्तकालमें भी उसीकी स्मृति होती है और अन्तकालमें मनुष्यको जिस वस्तुकी स्मृति होती है, मृत्युके बाद उसे उसी स्वरूपकी प्राप्ति होती है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८। ६)

इसीलिये भगवान् कहते हैं कि जो पुरुष अन्तकालमें मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर त्याग कर जाता है, वह साक्षात् मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८। ५)

इससे यह बात सिद्ध हुई कि कोई कैसा ही पापी, कैसा ही मूर्ख क्यों न हो, भगवान्‌के स्मरणके अभ्याससे उसका एक क्षणमें उद्धार हो सकता है। अतः हमको चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सब समय भगवान्‌के स्मरणका अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे सारे दुर्गुण-दुराचारोंका मूलसहित नाश होकर मनुष्यका जीवन सद्गुण एवं सदाचारमय बन जाता है तथा उस परमपुरुष परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान होकर सदाके लिये परमानन्द एवं परम शान्तिकी प्राप्ति अनायास और अति शीघ्र हो जाती है।

कुछ धारण करनेयोग्य अमूल्य बातें

आज आपलोगोंको कुछ ऐसी बातें बतलायी जाती हैं, जिनको नियमकी भाँति काममें लाना चाहिये। ये बातें बहुत अनमोल, सबके हितकी, अधिक-से-अधिक लाभदायक और लोक-परलोकमें कल्याण करनेवाली हैं। इन्हें नित्य काममें लानेकी इच्छासे पढ़ना चाहिये। केवल पढ़नेसे काम नहीं बनता, इनको जीवनमें उतारनेकी पूरी चेष्टा करनी चाहिये। बातें ये हैं—

१-प्रत्येक भाई-बहिनको अपने कल्याणके लिये नित्य नियमपूर्वक अधिक-से-अधिक संख्यामें भगवन्नामका जप करना चाहिये। रोज जितना करते हैं उससे अधिक करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

२-चलते-फिरते, उठते-बैठते, काम-काज करते, सब समय भगवान्‌को याद रखनेका अभ्यास करना चाहिये। पहले आध घंटेपर, फिर पंद्रह मिनटके अन्तरसे, फिर दस मिनटपर, फिर पाँच मिनटपर, इस प्रकार करते-करते निरन्तर भगवत्स्मरण करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इसके लिये सबसे बढ़कर चार उपाय हैं। आपलोग इन्हें काममें लावें तो इनसे बड़ी सहायता मिल सकती है। उपाय ये हैं—

(क)—एकान्तमें बैठकर करुणभाव और गद्गद वाणीसे भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे परमेश्वर! मैं हृदयसे आपकी स्मृति चाहता हूँ। आपसे आपकी स्मृति बनी रहनेकी भीख माँगता हूँ।' इस प्रकार नित्य अपने-अपने भावोंके अनुसार भगवान्‌से कातर प्रार्थना करे। एक मिनटकी सच्ची प्रार्थनासे भी बड़ा लाभ होता है।

(ख)—नित्य नियमपूर्वक सत्संग करे, यदि कहीं सत्संग न मिले तो सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय एवं भगवद्वाक्योंका संग करे।

(ग)—समय बड़ा मूल्यवान् है। मनुष्यका शरीर मिल गया, यह भगवान्‌की बड़ी दया है। अब भी यदि भगवत्-प्राप्तिसे वंचित रह गये तो हमारे समान मूर्ख कौन होगा। हमें अपने अमूल्य समयको अमूल्य कार्यमें ही लगाना चाहिये। भगवान्‌की स्मृति ही अमूल्य है। इस प्रकार नित्य विचार करना चाहिये।

(घ)—मृत्यु न मालूम कब आ जाय, वह प्रतिक्षण हमारे सामने मुँह बाये खड़ी है! अतः जबतक निरन्तर भजन न होने लगे तबतक बड़ा खतरा है। इस प्रकार बराबर मृत्युको याद रखनेसे भी विषयोंमें वैराग्य होकर भगवत्स्मृति बनी रह सकती है।

इन चार उपायोंको काममें लानेसे भगवान्‌की स्मृतिमें मदद मिल सकती है।

३-नित्य प्रातः-सायं बड़ोंको प्रणाम करना चाहिये। यदि इसका अभ्यास छूट गया हो तो फिरसे प्रारम्भ कर देना चाहिये। दिनमें कम-से-कम एक बार तो अवश्य ही गुरुजनोंको प्रणाम करना चाहिये। ऐसा करनेसे घरमें कलह नहीं होता, जो कि बहुत बड़ा लाभ है तथा तप, तेज, आयु, कीर्ति, विनय, बल और धर्मकी वृद्धि एवं मरनेपर उत्तम गति प्राप्त होती है।

४-चौथी बात बहुत ही कीमती है। इसे आजसे ही काममें लानेकी चेष्टा करनी चाहिये। इससे बहुत थोड़े समयमें आपलोगोंके भाव सुधर सकते हैं। भगवान् भी जल्दी ही मिल सकते हैं। बात कुछ कठिन भी नहीं है। सबसे प्रेम बढ़ाइये। मेरे द्वारा दूसरेका हित कैसे हो, निरन्तर यही बात सोचते रहना चाहिये। यथाशक्ति सबकी सेवा-सहायता करनी चाहिये। स्वयं भगवान्‌ने गीतामें डंकेकी चोट कहा है—

'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।'

(१२। ४)

'जो सब भूतोंके हितमें लगे रहते हैं वे मुझे ही प्राप्त होते हैं।'

अतः सबकी सेवा करनी चाहिये। अपनेसे जो बड़े हैं, पूज्य हैं, दुःखी हैं, लाचार हैं, उनकी सेवाका और भी अधिक महत्त्व है। कोई भी मिल जाय, उसे देखकर प्रसन्न होना चाहिये। सबसे मीठा वचन बोलना चाहिये। प्रेमका व्यवहार करना चाहिये। अपनी दृष्टिसे सबको भगवान्‌का स्वरूप समझना चाहिये। सेवा भी इसी भावसे करनी चाहिये। सेवाका इतना भारी प्रभाव है कि उससे भगवान्

अपने-आप मिल सकते हैं। इसलिये तन-मन-धनसे दीन-दु:खियोंकी, माता-पिता आदि गुरुजनोंकी, सबकी सेवा करनी चाहिये।

सेवा करनेके दो साधन हैं—दाम (धन) और काम (कर्म)। हमें भगवान्ने रुपये, भोग-पदार्थ, ऐश्वर्य आदि जो कुछ भी दिया है, वह यदि किसी प्रकार भी दूसरोंकी सेवामें लगे तो अपना अहोभाग्य समझना चाहिये। उसे दूसरोंको देकर बहुत प्रसन्न होना चाहिये और यह मानना चाहिये कि इस प्रकार आज मैंने भगवान्की ही सेवा की है। इसी प्रकार शरीरसे करनेयोग्य सेवाका कोई कार्य सामने आ जाय तो उसे खूब परिश्रमके साथ प्रसन्नचित्तसे करना चाहिये।

सेवाके ये दो साधन—दाम और काम—बड़े महत्त्वके हैं। एकमें ऐश्वर्यका त्याग है, दूसरेमें शारीरिक परिश्रम है अथवा यों कहें कि एकमें ममताका त्याग है, दूसरेमें अहंताका त्याग है। अहंता और ममता—ये दो बड़ी व्याधियाँ हैं। इनका त्याग होना अत्यावश्यक है। अत: कहीं भी सेवाका अवसर मिल जाय तो समझना चाहिये कि असली धन मिल गया। सेवाका काम मिल गया तो ऐसी प्रसन्नता होनी चाहिये मानो राम मिल गये।

अच्छे पुरुष अपने समयका एक-एक मिनट काममें लेते हैं। आयु समाप्त हो जाती है, पर काम नहीं समाप्त होता। भगवान्ने गीता २। ४० में कर्मयोगकी बड़ी प्रशंसा की है। स्वार्थका त्याग ही कर्मयोग है। यही असली धर्म है। इसका उलटा फल कभी नहीं होता, न इसका कभी नाश ही होता है। इसका थोड़ा-सा भी पालन किया जाय तो वह जन्म-मरणके बन्धनसे छुड़ा सकता है। इसीलिये सेवाको साक्षात् राम समझकर उसका आदर करना चाहिये और उसे तत्परताके साथ करनेकी पूरी चेष्टा करनी चाहिये।

सेवाके कई स्वरूप हैं। दूसरोंको मान-बड़ाई देना भी सेवा ही है। सेवा रत्नोंकी ढेरी है। उसे लूटनेकी चीज समझकर खूब लूटना चाहिये। कोई भी नीचा काम—जैसे पैर धुलाना, हाथ धुलाना, पत्तल उठाना आदि—मिल जाय तो समझना चाहिये कि भगवान्की विशेष दया है। यदि किसी बीमारकी टट्टी-पेशाब उठानेका काम मिल जाय तब तो भगवान्की पूर्ण दया समझनी चाहिये। सेवाकार्यमें जितना उच्च-भाव रखा जा सके, रखना चाहिये। यदि सेवाकार्यको साक्षात् परमात्माकी सेवा समझा जाय तब तो कहना ही क्या है? उससे परमात्मा बहुत जल्दी मिल सकते हैं।

यदि कोई व्यक्ति हमसे सेवा करावे तो हमें अपने ऊपर उसकी बड़ी दया समझनी चाहिये। समझना चाहिये कि वही दाता है। हमें मुक्त करनेके लिये हमसे सेवा करवा रहा है। किसीने हमारी सेवा स्वीकार कर ली तो समझना चाहिये कि उसने हमारा उद्धार कर दिया और यदि सेव्यको ईश्वर मानकर उसकी सेवा की जाय तब तो खुला दरबार है। सेवकको साक्षात् नारायणकी सेवाका लाभ हो सकता है। यह बड़े ऊँचे दर्जेका भाव है। सेवाको नारायणकी सेवा बनाना सेवकके हाथकी बात है।

अपने धन और ऐश्वर्यको अपने पूज्यजनों एवं दीन-दु:खियोंकी सेवामें समर्पित कर देना चाहिये। इससे भी ऊँचा भाव यह समझकर देना है कि साक्षात् नारायण ही उनके रूपमें प्रकट होकर हमारे धन और ऐश्वर्यको सेवाके रूपमें स्वीकार कर रहे हैं। इससे दूसरा लाभ यह समझना चाहिये कि हमारी ममताका परित्याग हो रहा है। हमारा बोझा हलका हो रहा है। तीसरा लाभ यह है कि धन और ऐश्वर्यके त्यागसे उदारता बढ़ती है, दया बढ़ती है, ये सद्गुण धन और ऐश्वर्यसे कहीं अधिक मूल्यवान् हैं। आज यदि हमारी मृत्यु हो जाय तो धन-ऐश्वर्य सब यहीं छूट जायँगे, अत: इन्हें बटोरकर रखनेसे कोई लाभ नहीं। ये उलटे हमारे लिये बन्धनरूप हैं। परन्तु यदि हमने इनको दूसरोंके उपकारमें लगा दिया, इनसे दूसरोंका उपकार हो गया तो समझ लीजिये कि उससे हमारा बड़ा हित हो गया। भगवान्की चीजें भगवान्के काममें लग गयीं। हमारा भार उतर गया। जीवनकी जोखिम बिक गयी। यदि ऐसा समझकर निष्कामभावसे अपना सारा स्वत्व दूसरोंकी सेवामें अर्पित कर दिया जाय तो उससे बड़ा भारी लाभ है।

इतनी बातें तो सबके लिये कही गयीं। अब कुछ स्त्रियोंके कामकी बातें विशेषरूपसे कहनी हैं। स्त्रियोंमें कुछ अज्ञानता अधिक होती है। उनमें लड़ाई-झगड़ा प्राय: अधिक होता है, इसका कारण उनकी बेसमझी ही है। घरमें प्रेम बढ़ानेके लिये उन्हें सबसे हँसकर बोलना चाहिये, सबके साथ विनयपूर्वक व्यवहार करना चाहिये। यदि कोई उनपर क्रोध करे तब भी उन्हें प्रसन्नतासे हँसकर मीठा उत्तर देना चाहिये। मिष्टभाषिता स्त्रियोंका प्रधान गुण है। जो स्त्री दूसरोंको मान-बड़ाई देती है सबके साथ विनय और प्रेमका बर्ताव करती है उसपर भगवान् बहुत शीघ्र प्रसन्न होते हैं और साथ-साथ उसके अहंकार तथा कठोरताका नाश होता है। यदि किसी स्त्रीके कारणसे घरमें कलह हो गया तो उसे ऐसा मानना चाहिये मानो मुझपर कलंक लग गया। इस बातका बराबर ध्यान रखना चाहिये कि अपने तो भलाई ही लेकर जाना है और भलाई तभी मिल सकती है जब हमारा व्यवहार सबके अनुकूल होगा।

स्त्रियाँ प्राय: भोली होती हैं, उनमें मोह और

आसक्तिकी मात्रा अधिक होती है। उनकी गहनोंमें, कपड़ोंमें, शरीरमें, बाल-बच्चोंमें आसक्ति अधिक होती है; यह आसक्ति बन्धन है, मुक्तिमें बाधा डालनेवाली वस्तु है। दूसरेके हितके लिये उदारतापूर्वक इन वस्तुओंका त्याग करना चाहिये।

स्त्रियोंमें उदारताकी भी कमी होती है। किसी लक्षाधीशके घरकी मालकिन भी सालभरमें शायद ही सौ-दो-सौ रुपये अच्छे काममें खर्च करती हो! उदारताकी बड़ी आवश्यकता है। खासकर मारवाड़ी समाजकी स्त्रियोंमें इसकी बड़ी कमी है।

स्त्रियोंमें पुरुषोंकी ओर देखनेकी भी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, यद्यपि स्त्रियोंकी अपेक्षा भी पुरुषोंमें यह आदत अधिक पायी जाती है। स्त्री-पुरुष दोनोंहीके लिये परपुरुष अथवा परस्त्रीकी ओर देखना ब्रह्मचर्यमें कलंक समझना चाहिये। विधवा स्त्रीको तो यह समझना चाहिये कि यदि किसी पुरुषकी ओर उसकी दृष्टि चली गयी तो उसका धर्म नष्ट हो गया।

स्त्रियाँ झाड़-फूँक और टोना आदिपर अधिक विश्वास करती हैं, यह सब वहम है। इस वहमका एकदम त्याग कर देना चाहिये। इन सबमें विश्वास करना धूर्तोंके चंगुलमें फँसना है। यदि कोई बीमार हो जाय तो उसके लिये औषधोपचारका प्रयत्न करना चाहिये। कोई कामना करनी हो तो सीधे परमेश्वरसे करनी चाहिये। पतिव्रता स्त्री तो कभी कामना करती ही नहीं। यदि करती भी है तो अपने पतिसे ही करती है, किसी दूसरेसे नहीं। इसी प्रकार ईश्वरको छोड़कर किसी दूसरेसे कामना न करे! परमपतिके रहते किसी दूसरेसे याचना क्यों की जाय? और सर्वोत्तम बात तो यह है कि किसीसे याचना करे ही नहीं। स्त्रियोंको चाहिये कि वे किसी कल्पित देवी-देवताके मन्दिरमें भूलकर भी न जायँ। बनावटी देवी-देवताओंकी रचना धूर्तोंने की है। उनकी मान्यता छोड़कर शास्त्रीय देवी-देवताकी उपासना करनी चाहिये। पार्वती, लक्ष्मी, सावित्री आदि देवियों; ब्रह्मा, शिव, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदि देवताओं; व्यास, वसिष्ठ, नारद आदि ऋषि-महात्माओं और ध्रुव-प्रह्लाद, हनुमान् आदि महान् भक्तोंकी ही पूजा-उपासना करनी चाहिये। इनके स्मरणमात्रसे आत्मा पवित्र हो जाती है। इनके अलावा किसीके बहकावेमें पड़कर अशास्त्रीय देवी-देवताओंकी पूजा कदापि नहीं करनी चाहिये। नहीं तो धूर्तोंकी बन आती है। पीर, पैगम्बर इत्यादिका पूजन तो बिलकुल ही उठा देना चाहिये। इनका पूजन-अर्चन करना और इनसे किसी कामनाकी सिद्धि चाहना पाप और मूर्खताके सिवा और कुछ भी नहीं है। इनका परित्याग करके प्रत्येक स्त्रीको अपना घर शुद्ध-पवित्र बनाना चाहिये। पूजा या तो भगवान्‌की करनी चाहिये या शास्त्रीय देवी-देवताओंकी। भगवान्‌के भक्त तो देवताओंसे भी बढ़कर होते हैं।

स्त्रियोंको खान-पानमें भी भेदभाव नहीं रखना चाहिये। जो स्त्री घरमें खान-पानके सम्बन्धमें भेद-बुद्धि रखती है, वह मरकर चमगादड़ होती है—ऐसी बात शास्त्रोंमें लिखी है। इसलिये स्त्रियोंको चाहिये कि वे घरमें छोटे-बड़े सबको एक-सा भोजन परोसें, किसीको अच्छा और किसीको हलका नहीं।

स्त्रियोंके साथ-साथ पुरुषोंको भी अपने कर्तव्योंका पालन भलीभाँति करना चाहिये। पुरुषोंको लोभके त्यागका विशेष ध्यान रखना चाहिये। साथ-ही-साथ सत्यके पालनपर भी पूर्ण ध्यान देना चाहिये। प्राण जायँ तो भले ही जायँ, परन्तु सत्य कभी न जाय—यह व्रत बना लेना चाहिये। यदि पुरुष झूठ-कपट, पराया हक मारनेकी चेष्टा तथा लोभका त्याग कर दें तो बहुत जल्दी सुधार हो सकता है। पुरुषोंके लिये आसक्तिका त्याग सर्वप्रधान कर्तव्य है। विशेषकर कंचन, कामिनी और देहकी आसक्तिका त्याग बड़ी दृढ़ताके साथ करना चाहिये, काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रबल शत्रु हैं—साक्षात् नरकमें ले जानेवाले हैं। इसलिये इनसे विशेष सावधान रहना चाहिये।

मान-बड़ाई अथवा प्रतिष्ठाकी इच्छा करना मृत्युकी इच्छा करनेके समान है। अच्छे-अच्छे आदमी इसमें फँसकर साधनसे च्युत हो जाते हैं। यहाँतक कि कंचन-कामिनीका त्याग करनेवाले भी इसमें फँसकर रुक जाते हैं, साधन-मार्गमें आगे नहीं बढ़ पाते। इनके आघातसे न जाने कितने पुरुष गिरकर चकनाचूर हो गये। इसलिये बड़ी सावधानीके साथ इनसे बचना चाहिये। वैराग्यका अभ्यास करना चाहिये और जीवनको कठोर संयमके साथ बिताना चाहिये। संयम मनुष्यकी रक्षा करनेके लिये एक सुदृढ़ किला है। उसे हर एक शत्रु नहीं तोड़ सकता। मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना ही संयम है। सांसारिक भोग-पदार्थोंसे इन्द्रियों और मनकी वृत्तियोंको वैराग्य, विवेक या भय दिखलाकर हठसे रोकना चाहिये। इसीसे रक्षा होती है।

प्रत्येक मनुष्यको अधिकारानुसार स्वाध्याय करना चाहिये। गीता, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, वेद, उपनिषद् आदिका स्वाध्याय करना सबसे बढ़कर है। गीता, रामायण और महापुरुषोंके वचनोंमें तो सबका अधिकार है और वे सबके लिये लाभप्रद हैं। इसलिये प्रतिदिन नियमसे एवं प्रेमपूर्वक उनका स्वाध्याय करना चाहिये। प्यारे मनमोहनको कभी बिसारना नहीं चाहिये, हृदयसे सदा-सर्वदा उनका स्मरण

करते रहना चाहिये। प्राण चाहे छूट जायँ पर प्राणप्यारेकी स्मृति एक क्षणके लिये भी हृदयसे न हटे। नेत्र उन्हींको देखें, कान उन्हींकी चर्चा सुनें, वाणीसे उन्हींके गुणोंका कीर्तन और नामका जप हो, शरीरके द्वारा उन्हींको प्रणाम किया जाय और हाथ उन्हींकी सेवा-पूजामें लगे रहें। अर्थात् शरीर एवं मनसहित सारी इन्द्रियाँ भगवान्‌में लग जायँ, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये। यही सच्चा पौरुष है।

अब कुछ बालकोंके लाभकी बातें कही जाती हैं। ये बड़ोंके भी कामकी हैं—

१-प्रत्येक बालकको इस बातकी चेष्टा करनी चाहिये कि उसके बलकी वृद्धि हो। इसमें चार बातें सहायक हैं—

क-ब्रह्मचर्यका पालन; इससे शरीरके साथ-साथ आत्मबलकी भी वृद्धि होती है।

ख-नित्यप्रति नियमपूर्वक व्यायाम करना; इससे शरीरमें पौरुष एवं स्फूर्तिका उदय होता है।

ग-सायं-प्रातः उचित मात्रामें दुग्ध-पान करना। दूध साक्षात् अमृत है, बल एवं बुद्धिकी वृद्धि करनेवाला इससे बढ़कर और कोई पदार्थ नहीं है। व्यायाम करके दूध पीनेसे विशेष लाभ होता है। दूधसे मन सात्त्विक बनता है।

घ-स्वास्थ्यकी बातोंपर विशेष ध्यान रखना; नीरोग रहनेके लिये अपना घर और शरीरके वस्त्रोंको साफ रखना अत्यन्त आवश्यक है।

२-प्रत्येक बालकको अपनी बुद्धिका विकास करना चाहिये। विद्या और सत्-शास्त्रोंके अभ्याससे बुद्धि बढ़ती है, वृद्ध और अच्छे पुरुषोंका संग, सेवा और नमस्कार करनेसे विचार निर्मल होते हैं। उत्तम गुणोंका संग्रह, उत्तम आचरण एवं शौचाचारका पालन करनेसे भी बुद्धि पवित्र एवं तीक्ष्ण होती है।

३-सब बालकोंको भगवान्‌की भक्ति अपने हृदयमें धारण करनी चाहिये। भगवद्भक्तिसे सदाचार और सद्‌गुणोंकी वृद्धि अपने-आप होने लगती है। भगवद्भक्ति उत्तम आचरणोंकी जड़ है। भगवान्‌का भजन, ध्यान, पूजा, प्रार्थना, नमस्कार, स्तुति—ये सब भक्तिके अंग हैं। बालकोंको इनपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्यका यौगिक अर्थ है ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये वेदोंका अध्ययन करना। प्राचीन कालमें छात्रगण ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये गुरुके यहाँ रहकर सावधानीके साथ वीर्यकी रक्षा करते हुए वेदाध्ययन करते थे। इसलिये धीरे-धीरे 'ब्रह्मचर्य' शब्द वीर्यरक्षाके अर्थमें रूढ़ हो गया। आज हमें इसी वीर्यरक्षाके सम्बन्धमें कुछ विचार करना है। वीर्यरक्षा ही जीवन है और वीर्यका नाश ही मृत्यु है। वीर्यरक्षाके प्रभावसे ही प्राचीन कालके लोग दीर्घजीवी, नीरोग, हृष्ट-पुष्ट, बलवान्, बुद्धिमान्, तेजस्वी, शूरवीर और दृढ़संकल्प होते थे। वीर्यरक्षाके कारण ही वे शीत, आतप, वर्षा आदिको सहकर नाना प्रकारके तप करनेमें समर्थ होते थे। ब्रह्मचर्यके बलसे ही वे प्राणवायुको रोककर शरीर और मनकी शुद्धिके द्वारा नाना प्रकारके योग-साधनोंमें सफलता प्राप्त करते थे। ब्रह्मचर्यके बलसे ही वे थोड़े ही समयमें नाना प्रकारकी विद्याओंको सीखकर अपने ज्ञानके द्वारा अपना और जगत्‌का लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों प्रकारका कल्याण करनेमें समर्थ होते थे। शरीरमें सार वस्तु वीर्य ही है। इसीके नाशसे आज हमारा देश रसातलको पहुँच गया है। ब्रह्मचर्यके नाशके कारण ही आज हमलोग नाना प्रकारकी बीमारियोंके शिकार हो रहे हैं, थोड़ी ही अवस्थामें कालके गालमें जा रहे हैं। इसीके कारण आज हमलोग अपने बल, तेज, वीरता और आत्मसम्मानको खोकर पराधीनताकी बेड़ीमें जकड़े हुए हैं और जो हमारा देश किसी समय विश्वका सिरमौर और सभ्यताका उद्‌गमस्थान बना हुआ था, वही आज दूसरोंके द्वारा लांछित और पददलित हो रहा है। विद्या-बुद्धि, बल-वीर्य, कला-कौशल—सबमें आज हम पिछड़े हुए हैं। इसीके कारण आज हम चरित्रसे भी गिर गये हैं। सारांश यह है कि किसी भी बातको लेकर आज हम संसारके सामने अपना मस्तक ऊँचा नहीं कर सकते। वीर्यका नाश ही हमारी इस गिरी हुई दशाका प्रधान कारण मालूम होता है। वीर्यके नाशसे शरीर, बल, तेज, बुद्धि, धन, मान, लोक, परलोक—सबकी हानि होती है। परमात्माकी प्राप्ति तो वीर्यकी रक्षा न करनेवालेसे कोसों दूर रहती है।

ब्रह्मचर्यके बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। रोगसे मुक्त होनेके लिये, स्वास्थ्य-लाभके लिये, बल-बुद्धिके विकासके लिये, विद्याभ्यासके लिये तथा योगाभ्यासके लिये तो ब्रह्मचर्यकी बड़ी भारी आवश्यकता है। उत्तम सन्तानकी प्राप्ति, स्वर्गकी प्राप्ति, सिद्धियोंकी प्राप्ति, अन्तःकरणकी शुद्धि तथा परमात्माकी प्राप्ति—ब्रह्मचर्यसे सब कुछ सम्भव है और ब्रह्मचर्यके बिना कुछ भी नहीं हो सकता। सांख्ययोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, राजयोग, हठयोग—सभी साधनोंमें ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता होती है। अतः लोक-परलोकमें अपना हित चाहनेवालेको बड़ी

सावधानी एवं तत्परताके साथ वीर्यरक्षाके लिये चेष्टा करनी चाहिये।

सब प्रकारके मैथुनके त्यागका नाम ही ब्रह्मचर्य है। मैथुनके निम्नलिखित प्रकार शास्त्रोंमें कहे गये हैं—

(१) स्मरण—किसी सुन्दर युवती स्त्रीके रूप-लावण्य अथवा हाव, भाव, कटाक्ष एवं शृंगारका स्मरण करना, कुत्सित पुरुषोंकी कुत्सित क्रियाओंका स्मरण करना, अपने द्वारा पूर्वमें घटी हुई मैथुन आदि क्रियाका स्मरण करना, भविष्यमें किसी स्त्रीके साथ मैथुन करनेका संकल्प अथवा भावना करना, माला, चन्दन, इत्र, फुलेल, लवेंडर आदि कामोद्दीपक एवं शृंगारके पदार्थोंका स्मरण करना, पूर्वमें देखे हुए किसी सुन्दर स्त्री अथवा बालकके चित्रका अथवा अश्लील चित्रका स्मरण करना—ये सभी मानसिक मैथुनके अन्तर्गत हैं। इनसे वीर्यका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपमें नाश होता है और मनपर तो बुरा प्रभाव पड़ता ही है। मन खराब होनेसे आगे चलकर वैसी क्रिया भी घट सकती है। इसलिये सर्वांगमें ब्रह्मचर्यका पालन करनेवालेको चाहिये कि वह उक्त सभी प्रकारके मानसिक मैथुनका त्याग कर दे, जिससे मनमें कामोद्दीपन हो ऐसा कोई संकल्प ही न करे और यदि हो जाय तो उसका तत्काल विवेक एवं विचारके द्वारा त्याग कर दे।

(२) श्रवण—गंदे तथा कामोद्दीपक एवं शृंगार-रसके गानोंको सुनना, शृंगार-रसका गद्य-पद्यात्मक वर्णन सुनना, स्त्रियोंके रूप-लावण्य तथा अंगोंका वर्णन सुनना, उनके हाव, भाव, कटाक्षका वर्णन सुनना, कामविषयक बातें सुनना आदि—ये सभी श्रवणरूप मैथुनके अन्तर्गत हैं। ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह उक्त सभी प्रकारके श्रवणका त्याग कर दे।

(३) कीर्तन—अश्लील बातोंका कथन, शृंगार-रसका वर्णन, स्त्रियोंके रूप-लावण्य, यौवन एवं शृंगारकी प्रशंसा तथा उनके हाव, भाव, कटाक्ष आदिका वर्णन, विलासिताका वर्णन, कामोद्दीपक अथवा गंदे गीत गाना तथा ऐसे साहित्यको स्वयं पढ़ना और दूसरोंको सुनाना तथा कथा आदिमें ऐसे प्रसंगोंको विस्तारके साथ कहना—ये सभी कीर्तनरूप मैथुनके अन्तर्गत हैं। ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह इन सबका त्याग कर दे।

(४) प्रेक्षण—स्त्रियोंके रूप-लावण्य, शृंगार तथा उनके अंगोंकी रचनाको देखना, किसी सुन्दरी स्त्री अथवा सुन्दर बालकके रूप या चित्रको देखना, नाटक-सिनेमा देखना, कामोद्दीपक वस्तुओं तथा सजावटके सामानको देखना, दर्पण आदिमें अपना रूप तथा शृंगार देखना—यह सभी प्रेक्षणरूप मैथुनके अन्तर्गत हैं। ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह जान-बूझकर तो इन वस्तुओंको देखे ही नहीं; यदि भूलसे इनपर दृष्टि पड़ जाय तो इन्हें स्वप्नवत्, मायामय, नाशवान् एवं दुःखरूप समझकर तुरंत इनपरसे दृष्टिको हटा ले, दृष्टिको इन पर ठहरने न दे।

(५) केलि—स्त्रियोंके साथ हँसी-मजाक करना, नाचना-गाना, आमोद-प्रमोदके लिये क्लब वगैरहमें जाना, जलविहार करना, फाग खेलना, गंदी चेष्टाएँ करना, स्त्रीसंग करना आदि—ये सभी केलिरूप मैथुनके अन्तर्गत हैं। ब्रह्मचारीको इन सबका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

(६) शृंगार—अपनेको सुन्दर दिखलानेके लिये बाल सँवारना, कंघी करना, काकुल रखना, शरीरको वस्त्राभूषणादिसे सजाना, इत्र, फुलेल, लवेंडर आदिका व्यवहार करना, फूलोंकी माला धारण करना, अंगराग लगाना, सुरमा लगाना, उबटन करना, साबुन-तेल लगाना, पाउडर लगाना, दाँतोंमें मिस्सी लगाना, दाँतोंमें सोना जड़वाना, शौकके लिये बिना आवश्यकताके चश्मा लगाना, होठ लाल करनेके लिये पान खाना—यह सभी शृंगारके अन्तर्गत है। दूसरोंके चित्तको आकर्षण करनेके उद्देश्यसे किया हुआ यह सभी शृंगार कामोद्दीपक, अतएव मैथुनका अंग होनेके कारण ब्रह्मचारीके लिये सर्वथा त्याज्य है। कुमारी कन्याओं, बालकों, विधवाओं, संन्यासियों एवं वानप्रस्थोंको तो उक्त सभी प्रकारके शृंगारसे सर्वथा बचना चाहिये। विवाहित स्त्री-पुरुषोंको भी ऋतुकालमें सहवासके समयके अतिरिक्त और समयमें इन सभी शृंगारोंसे यथासम्भव बचना चाहिये।

(७) गुह्यभाषण—स्त्रियोंके साथ एकान्तमें अश्लील बातें करना, उनके रूप-लावण्य, यौवन एवं शृंगारकी प्रशंसा करना, हँसी-मजाक करना—यह सभी गुह्यभाषण रूप मैथुनके अन्तर्गत है, अतएव ब्रह्मचारीके लिये सर्वथा त्याज्य है।

(८) स्पर्श—कामबुद्धिसे किसी स्त्री अथवा बालकका स्पर्श करना, चुम्बन करना, आलिंगन करना, कामोद्दीपक पदार्थोंका स्पर्श करना आदि यह सभी स्पर्शरूप मैथुनके अन्तर्गत है, अतएव ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवालेके लिये त्याज्य है।

उपर्युक्त बातें पुरुषोंको लक्ष्यमें रखकर ही कही गयी हैं। स्त्रियोंको भी पुरुषोंके सम्बन्धमें यही बात समझनी चाहिये। पुरुषोंको परस्त्रीके साथ और स्त्रियोंको परपुरुषके साथ तो इन आठों प्रकारके मैथुनका त्याग हर हालतमें करना ही चाहिये, ऐसा न करनेवाले महान् पापके भागी होते हैं और इस लोकमें तथा परलोकमें महान् दुःख भोगते हैं। गृहस्थोंको अपनी विवाहिता पत्नीके साथ भी ऋतुकालकी

अनिन्दित रात्रियोंको छोड़कर शेष समयमें उक्त आठों प्रकारके मैथुनसे बचना चाहिये। ऐसा करनेवाले गृहस्थ होते हुए भी ब्रह्मचारी हैं। बाकी तीन आश्रमवालों तथा विधवा स्त्रियोंके लिये तो सभी अवस्थाओंमें उक्त आठों प्रकारके मैथुनका त्याग सर्वथा अनिवार्य है।

परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे किये गये उपर्युक्त ब्रह्मचर्यके पालनमात्रसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है, यह बात भगवान् श्रीकृष्णने गीताके आठवें अध्यायके ११ वें श्लोकमें कही है। भगवान् कहते हैं—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

'वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपदको अविनाशी कहते हैं, आसक्तिरहित यत्नशील संन्यासी महात्माजन जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उस परमपदको मैं तेरे लिये संक्षेपमें कहूँगा।'

कठोपनिषद्में भी इस श्लोकसे मिलता-जुलता मन्त्र आया है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(१। २। १५)

'सारे वेद जिस पदका वर्णन करते हैं, समस्त तपोंको जिसकी प्राप्तिका साधन बतलाते हैं तथा जिसकी इच्छा रखनेवाले ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस पदको मैं तुम्हें संक्षेपसे बताता हूँ—'ओम्' यही वह पद है।'

उक्त दोनों ही मन्त्रोंमें परमपदकी इच्छासे ब्रह्मचर्यके पालनकी बात आयी है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे किये गये ब्रह्मचर्यके पालनमात्रसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है। क्षत्रियकुल-चूडामणि वीरवर भीष्मकी जो इतनी महिमा है, वह उनके अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रतको लेकर ही है। इसीके कारण उनका 'भीष्म' नाम पड़ा और इसीके प्रतापसे उन्हें अपने पिता शान्तनुसे इच्छामृत्युका वरदान मिला, जिसके कारण वे संसारमें अजेय हो गये। यही कारण था कि वे सहस्रबाहु-जैसे अप्रतिम योद्धाकी भुजाओंका छेदन करनेवाले तथा इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय कर देनेवाले महाप्रतापी परशुरामसे भी नहीं हारे। इतना ही नहीं, परात्पर भगवान् श्रीकृष्णको भी इनके कारण महाभारतयुद्धमें शस्त्र ग्रहण करना पड़ा। उनकी यह सब महिमा ब्रह्मचर्यके ही कारण थी। वे भगवान्के अनन्य भक्त, आदर्श पितृभक्त तथा महान् ज्ञानी एवं शास्त्रोंके ज्ञाता भी थे; परन्तु उनकी महिमाका प्रधान कारण उनका आदर्श ब्रह्मचर्य ही था। इसीके कारण वे अपने अस्त्रविद्याके गुरु भगवान् परशुरामके कोपभाजन हुए, परन्तु विवाह न करनेका अपना हठ नहीं छोड़ा। धन्य ब्रह्मचर्य! भक्तश्रेष्ठ हनुमान्, सनकादि मुनीश्वर, महामुनि शुकदेव तथा बालखिल्यादि ऋषि भी अपने ब्रह्मचर्यके लिये प्रसिद्ध हैं।

ब्रह्मचर्यकी रक्षासे लाभ और उसके नाशसे हानियाँ

ब्रह्मचर्यकी रक्षासे शरीरमें बल, तेज, उत्साह एवं ओजकी वृद्धि होती है, शीत, उष्ण, पीड़ा आदि सहन करनेकी शक्ति आती है, अधिक परिश्रम करनेपर भी थकावट कम आती है, प्राणवायुको रोकनेकी शक्ति आती है, शरीरमें फुर्ती एवं चेतनता रहती है, आलस्य तथा तन्द्रा कम आती है, बीमारियोंके आक्रमणको रोकनेकी शक्ति आती है, मन प्रसन्न रहता है, कार्य करनेकी क्षमता प्रचुरमात्रामें रहती है, दूसरेके मनपर प्रभाव डालनेकी शक्ति आती है, सन्तान दीर्घायु, बलिष्ठ एवं स्वस्थ होती है, इन्द्रियाँ सबल रहती हैं, शरीरके अंग-प्रत्यंग सुदृढ़ रहते हैं, आयु बढ़ती है, वृद्धावस्था जल्दी नहीं आती, शरीर स्वस्थ एवं हलका रहता है, स्मरणशक्ति बढ़ती है, बुद्धि तीव्र होती है, मन बलवान् होता है, कायरता नहीं आती, कर्तव्यकर्म करनेमें अनुत्साह नहीं होता, बड़ी-से-बड़ी विपत्ति आनेपर भी धैर्य नहीं छूटता, कठिनाइयों एवं विघ्न-बाधाओंका वीरतापूर्वक सामना करनेकी शक्ति आती है, धर्मपर दृढ़ आस्था होती है, अन्तःकरण शुद्ध रहता है, आत्मसम्मानका भाव बढ़ता है, दुर्बलोंको सतानेकी प्रवृत्ति कम होती है, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदिके भाव कम होते हैं, क्षमाका भाव बढ़ता है, दूसरोंके प्रति सहिष्णुता तथा सहानुभूति बढ़ती है, दूसरोंका कष्ट दूर करने तथा दीन-दुःखियोंकी सेवा करनेका भाव बढ़ता है, सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, वीर्यमें अमोघता आती है, पर-स्त्रीके प्रति मातृभाव जाग्रत् होता है, नास्तिकता तथा निराशाके भाव कम होते हैं; असफलतामें भी विषाद नहीं होता, सबके प्रति प्रेम एवं सद्भाव रहता है तथा सबसे बढ़कर भगवत्प्राप्तिकी योग्यता आती है, जो मनुष्य-जीवनका चरम फल है, जिसके लिये यह मनुष्यदेह हमें मिला है।

इसके विपरीत ब्रह्मचर्यके नाशसे मनुष्य नाना प्रकारकी

बीमारियोंका शिकार हो जाता है, शरीर खोखला हो जाता है, थोड़ा-सा भी परिश्रम अथवा कष्ट सहन नहीं होता, शीत, उष्ण आदिका प्रभाव शरीरपर बहुत जल्दी होता है, स्मरणशक्ति कमजोर हो जाती है, सन्तान उत्पन्न करनेकी शक्ति नष्ट हो जाती है, सन्तान होती भी है तो दुर्बल एवं अल्पायु होती है, मन अत्यन्त दुर्बल हो जाता है, संकल्पशक्ति कमजोर हो जाती है, स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, जरा भी प्रतिकूलता सहन नहीं होती, आत्मविश्वास कम हो जाता है, काम करनेमें उत्साह नहीं रहता, शरीरमें आलस्य छाया रहता है, चित्त सदा सशंकित रहता है, मनमें विषाद छाया रहता है, कोई भी नया काम हाथमें लेनेमें भय मालूम होता है, थोड़े-से भी मानसिक परिश्रमसे दिमागमें थकान आ जाती है, बुद्धि मन्द हो जाती है, अधिक सोचनेकी शक्ति नहीं रहती, असमयमें ही वृद्धावस्था आ घेरती है और थोड़ी ही अवस्थामें मनुष्य कालके गालमें चला जाता है, चित्त स्थिर नहीं हो पाता, मन और इन्द्रियाँ वशमें नहीं हो पातीं और मनुष्य भगवत्प्राप्तिके मार्गसे कोसों दूर हट जाता है। वह न इस लोकमें सुखी रहता है और न परलोकमें ही। ऐसी अवस्थामें मनुष्यको चाहिये कि बड़ी सावधानीसे वीर्यकी रक्षा करे। वीर्यरक्षा ही जीवन है और वीर्यनाश ही मृत्यु है, इस बातको सदा स्मरण रखे। गृहस्थाश्रममें भी केवल सन्तानोत्पादनके उद्देश्यसे ऋतुकालमें अधिक-से-अधिक महीनेमें दो बार स्त्रीसंग करे।

ब्रह्मचर्यरक्षाके उपाय

उपर्युक्त प्रकारके मैथुनके त्यागके अतिरिक्त निम्नलिखित साधन भी ब्रह्मचर्यकी रक्षामें सहायक हो सकते हैं—

(१) भोजनमें उत्तेजक पदार्थोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। मिर्च, राई, गरम मसाले, अचार, खटाई, अधिक मीठा और अधिक गरम चीजें नहीं खानी चाहिये। भोजन खूब चबाकर करना चाहिये। भोजन सदा सादा, ताजा और नियमित समयपर करना चाहिये। मांस, लहसुन, प्याज आदि अभक्ष्य पदार्थ और मद्य, गाँजा, भाँग आदि अन्य नशीली वस्तुएँ तथा केशर, कस्तूरी एवं मकरध्वज आदि वाजीकरण औषधोंका भी सेवन नहीं करना चाहिये।

(२) यथासाध्य नित्य खुली हवामें सबेरे और सायंकाल पैदल घूमना चाहिये।

(३) रातको जल्दी सोकर सबेरे ब्राह्ममुहूर्तमें अर्थात् पहरभर रात रहे अथवा सूर्योदय से कम-से-कम घंटेभर पूर्व अवश्य उठ जाना चाहिये। सोते समय पेशाब करके, हाथ पैर धोकर तथा कुल्ला करके भगवान्का स्मरण करते हुए सोना चाहिये।

(४) कुसंगका सर्वथा त्याग कर यथासाध्य सदाचारी, वैराग्यवान्, भगवद्भक्त सत्पुरुषोंका संग करना चाहिये, जिससे मलिन वासनाएँ नष्ट होकर हृदयमें अच्छे भावोंका संग्रह हो।

(५) पति-पत्नीको छोड़कर अन्य स्त्री-पुरुष अकेलेमें कभी न बैठें और न एकान्तमें बातचीत ही करें।

(६) भगवद्गीता, रामायण, महाभारत, उपनिषद्, श्रीमद्भागवत आदि उत्तम ग्रन्थोंका नित्य नियमपूर्वक स्वाध्याय करना चाहिये। इससे बुद्धि शुद्ध होती है और मनमें गंदे विचार नहीं आते।

(७) ऐश, आराम, भोग, आलस्य, प्रमाद और पापमें समय नहीं बिताना चाहिये। मनको सदा किसी-न-किसी अच्छे काममें लगाये रखना चाहिये।

(८) मूत्रत्याग और मलत्यागके बाद इन्द्रियोंको ठंढे जलसे धोना चाहिये और मल-मूत्रकी हाजतको भी नहीं रोकना चाहिये।

(९) यथासाध्य ठंढे जलसे नित्य स्नान करना चाहिये।

(१०) नित्य नियमितरूपसे किसी प्रकारका व्यायाम करना चाहिये। हो सके तो नित्यप्रति कुछ आसन एवं प्राणायामका भी अभ्यास करना चाहिये।

(११) लँगोटा या कौपीन रखना चाहिये।

(१२) नित्य नियमितरूपसे कुछ समयतक परमात्माका ध्यान अवश्य करना चाहिये।

(१३) यथाशक्ति भगवान्के किसी भी नामका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक जप तथा कीर्तन करना चाहिये। कामवासना जाग्रत् हो तो नाम-जपकी धुन लगा देनी चाहिये अथवा जोर-जोरसे कीर्तन करने लगना चाहिये। कामवासना नाम-जप और कीर्तनके सामने कभी ठहर नहीं सकती।

(१४) जगत्में वैराग्यकी भावना करनी चाहिये। संसारकी अनित्यताका बार-बार स्मरण करना चाहिये। मृत्युको सदा याद रखना चाहिये।

(१५) पुरुषोंको स्त्रीके शरीरमें और स्त्रियोंको पुरुषके शरीरमें मलिनत्व-बुद्धि करनी चाहिये। ऐसा समझना चाहिये कि जिस आकृतिको हम सुन्दर समझते हैं, वह वास्तवमें चमड़ेमें लपेटा हुआ मांस, अस्थि, रुधिर, मज्जा, मल, मूत्र, कफ आदि मलिन एवं अपवित्र पदार्थोंका एक घृणित पिण्डमात्र है।

(१६) महीनेमें कम-से-कम दो दिन अर्थात् प्रत्येक एकादशीको उपवास करना चाहिये और अमावास्या तथा पूर्णिमाको केवल एक ही समय अर्थात् दिनमें भोजन करना चाहिये।

(१७) भगवान्‌की लीलाओं तथा महापुरुषों एवं वीर ब्रह्मचारियोंके चरित्रोंका मनन करना चाहिये।

(१८) यथासाध्य सबमें परमात्मभावना करनी चाहिये।

(१९) नित्य-निरन्तर भगवान्‌को स्मरण रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

ऊपर जितने साधन बताये गये हैं, उनमें अन्तिम साधन सबसे उत्तम तथा सबसे अधिक कारगर है। यदि नित्य-निरन्तर अन्तःकरणको भगवद्भावसे भरते रहनेकी चेष्टा की जाय तो मनमें गंदे भाव कभी उत्पन्न हो ही नहीं सकते। किसी कविने क्या ही सुन्दर कहा है—

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
सपनेहुँ कबहुँक रहि सकैं रबि रजनी इक ठाम॥

जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेपर रात्रिके घोर अन्धकारका नाश हो जाता है, उसी तरह जिस हृदयमें भगवान् अपना डेरा जमा लेते हैं, अर्थात् नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण होता है, वहाँ कामका उदय भी नहीं हो सकता। भगवद्भक्तिके प्रभावसे हृदयमें विवेक एवं वैराग्यका अपने-आप उदय हो जाता है। पद्मपुराणान्तर्गत श्रीमद्भागवतके माहात्म्यमें ज्ञान और वैराग्यको भक्तिके पुत्ररूपमें वर्णन किया गया है। अतः ब्रह्मचर्यकी रक्षा करनेके लिये नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करते रहना चाहिये। भगवत्स्मरणके प्रभावसे अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध होकर बहुत शीघ्र भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है, जो मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य और ब्रह्मचर्यका अन्तिम फल है। भगवान्‌ने स्वयं गीताजीमें कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८। १४)

त्रिविध तप

शास्त्रोंमें तीन प्रकारके पाप बतलाये गये हैं—(१) कायिक अर्थात् शरीरसे होनेवाले, (२) वाचिक अर्थात् वाणीसे होनेवाले और (३) मानसिक अर्थात् केवल मनसे होनेवाले। वैसे तो तीनों प्रकारके पापोंमें मनका संयोग रहता है; क्योंकि मनके बिना कोई भी क्रिया फलदायक नहीं हो सकती।

भगवान् मनुने कायिक पाप तीन बतलाये हैं—बिना दिया हुआ धन लेना, शास्त्रविरुद्ध हिंसा और परस्त्रीगमन।[1] वाचिक पाप चार हैं—कठोर वचन कहना, झूठ बोलना, चुगली करना और बे-सिर-पैरकी व्यर्थ बातें करना।[2] और मानसिक पाप तीन हैं—दूसरेका माल मारनेका दाँव सोचना, मनसे दूसरेका अनिष्ट-चिन्तन करना और मैं शरीर हूँ, इस प्रकारका झूठा अभिमान करना।[3]

इन त्रिविध पापोंका नाश करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें तीन प्रकारके तप बतलाये हैं—शारीरिक तप, वाङ्मय तप और मानस तप। उक्त तीन प्रकारके तपका स्वरूप भगवान्‌ने इस प्रकार बतलाया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(१७। १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु एवं ज्ञानीजनोंका पूजन, शरीर, द्रव्य एवं आचरणकी पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

(१७। १५)

'जो उद्वेगको न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठन एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है, वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है।' तथा—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

(१७। १६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवत्-चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अच्छी प्रकार अन्तःकरणकी पवित्रता—इस प्रकारका यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

शारीरिक पापोंमें बिना दिये हुए धनके ग्रहणरूपी पापका नाश शौच अर्थात् द्रव्यकी पवित्रतासे होता है। न्यायोपार्जित द्रव्य ही पवित्र होता है और जिसने हकका पैसा ग्रहण करनेका ही नियम ले लिया है, उससे फिर बिना हुक्म या बिना दिये हुए किसीका धन या किसीकी

१-अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः। परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्॥ (मनु० १२। ७)
२-पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः। असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥ (मनु० १२। ६)
३-परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्। वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥ (मनु० १२। ५)

वस्तुको लेनारूप, पापकर्म नहीं बन सकता। हिंसारूपी पापका नाश अहिंसारूपी तपसे होता है; जिसने अहिंसाका व्रत ले लिया है, उसके द्वारा किसी प्रकारकी हिंसा कभी हो ही नहीं सकती और जिसने ब्रह्मचर्यका व्रत ले लिया है, उसके द्वारा परस्त्रीगमन हो ही कैसे सकता है?

इसी प्रकार जिसने अनुद्वेगकर एवं प्रिय वचन बोलनेका नियम ले लिया है, उसके मुखसे परुष वचन कभी निकल नहीं सकते। जिसने हितकर वाणी बोलनेका संकल्प कर लिया है, वह किसीकी चुगली कैसे कर सकता है और जिसने सत्यभाषण तथा स्वाध्यायके अभ्यासका नियम ले लिया है, वह न तो झूठ बोल सकता है और न असम्बद्ध प्रलाप ही कर सकता है; क्योंकि वह सदा सतर्क रहेगा कि मेरे मुखसे कोई झूठ बात भूलसे भी न निकल जाय, किन्तु जो असम्बद्ध तथा व्यर्थकी बातें करता है उसके द्वारा पद-पदपर असत्यभाषणकी गुंजाइश रहती है। सत्यभाषणके लिये मितभाषणकी भी आवश्यकता होती है। जिसकी वाणीपर लगाम नहीं है, जो अनर्गल बोलता रहता है, उसके द्वारा और नहीं तो, भूलमें ही असत्यभाषण हो सकता है।

मानस पापोंमें दूसरेके धनको हड़पनेका भाव एवं दूसरेका अनिष्टचिन्तन तथा मैं देह हूँ, इस प्रकारका मिथ्याभिमान—ये तीनों ही अन्तःकरणकी संशुद्धिरूपी तपसे नष्ट हो जाते हैं।

उक्त तीनों प्रकारके तपकी विस्तृत व्याख्या गीता-तत्त्वविवेचनीमें* ऊपर उद्‌धृत किये हुए तीनों श्लोकोंकी व्याख्यामें देखनी चाहिये।

इस प्रकारके तपको भगवान्‌ने मनुष्यमात्रके लिये अवश्यकर्तव्य बतलाया है। 'तप' का अर्थ है तपाना। तपके द्वारा मन, इन्द्रिय एवं शरीरको तपाया जाता है, इसीलिये उसे 'तप' कहते हैं। जैसे सोनेको अग्निमें तपानेसे उसके सारे विकार जल जाते हैं और उसका शुद्ध निखरा हुआ रूप सामने आ जाता है, उसी प्रकार तपके द्वारा मनुष्यके अन्तःकरण तथा इन्द्रियोंका मल नष्ट होकर वे पवित्र हो जाते हैं। गीताने तपको पुनः तीन भेदोंमें विभक्त किया है—सात्त्विक, राजस, तामस। सात्त्विक तपका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥
(१७। १७)

'फलको न चाहनेवाले साधक पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किये हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं।' राजस तपका स्वरूप इस प्रकार है—

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥
(१७। १८)

'जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये अथवा केवल पाखण्डसे ही किया जाता है, वह अनिश्चित एवं क्षणिक फलवाला तप यहाँ राजस कहा गया है।' और तामस तपका लक्षण इस प्रकार है—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥
(१७। १९)

'जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे, मन, वाणी और शरीरकी पीड़ाके सहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तामस कहा गया है।'

मनुष्य यदि उपर्युक्त कायिक, वाचिक, मानसिक तपसे जो स्थायी लाभ उठाना चाहे अर्थात् अतीत एवं अनागत सभी प्रकारके शुभाशुभ कर्मोंसे छूटकर परमात्माकी प्राप्ति करना चाहे तो उसे ऊपर कहे हुए सात्त्विक तपका ही आचरण करना चाहिये; क्योंकि मोक्ष अथवा भगवत्प्राप्तिके लिये कर्मकी उतनी प्रधानता नहीं है जितनी भावकी। कर्म चाहे ऊँचा न हो, कर्ताका भाव यदि ऊँचा है तो उसका फल ऊँचा ही होगा। इसके विपरीत यदि कर्म ऊँचे-से-ऊँचा हो, किन्तु भाव नीचा हो, तो उसका फल नीचा ही होगा। पूर्ण निष्कामभावसे केवल कर्तव्य समझकर अथवा भगवत्प्राप्ति, भगवत्प्रेम अथवा मुक्तिकी कामनासे किये हुए शिल्प, व्यापार एवं सेवा आदि लौकिक दृष्टिसे छोटे माने जानेवाले कर्म भी महान् फलके देनेवाले होते हैं और लौकिक फलकी कामनासे किये हुए यज्ञ, दान, तप आदि ऊँचे-से-ऊँचे कर्म भी तुच्छ फल देनेवाले ही होते हैं; क्योंकि जिस उद्देश्यसे जो कर्म किया जाता है, उसका वैसा ही फल मिलता है। जो कर्म स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा अथवा स्वर्गसुख आदिके लिये किया जाता है, उसके फलरूपमें यही नाशवान् पदार्थ मिलते हैं। स्वर्गसुख यद्यपि इहलौकिक सुखोंकी अपेक्षा अधिक स्थायी है, किन्तु है वह अनित्य ही; क्योंकि स्वर्गप्राप्ति करानेवाले शुभ कर्मके समाप्त हो जानेपर स्वर्गस्थ जीव पुनः मर्त्यलोकमें ढकेल दिये जाते हैं (गीता ९। २१)। इसीलिये सत्कार, मान, पूजा आदिके लिये अथवा दम्भसे किये जानेवाले राजस तपको भगवान्‌ने अध्रुव और चल बतलाया है।

* 'गीता-तत्त्वविवेचनी' गीताप्रेससे प्रकाशित है, कृपया मँगाकर पढ़ लेनी चाहिये।

अध्रुव तो उसे इसलिये कहा कि उससे सत्कार, मान, पूजा आदिका मिलना निश्चित नहीं है और वे मिल जायँ तो भी क्षणिक हैं; और अस्थायी उसको इसलिये कहा कि मान, सत्कार आदि उससे मिलनेवाली वस्तुएँ अनित्य हैं, उनका सम्बन्ध इसी लोकसे है और जबतक हम मान-सत्कारके योग्य कर्म करते हैं तभीतक हमें ये मिलते हैं। अवश्य ही तामस तपकी भाँति राजस तप निषिद्ध नहीं है।

इसलिये ऊँचे-से-ऊँचा फल चाहनेवालोंको ऊपर कहे हुए सात्त्विक तपका ही आचरण करना चाहिये; क्योंकि उपर्युक्त तपरूप कर्म स्वरूपतः सात्त्विक होनेपर भी वास्तवमें सात्त्विक तभी होता है जब हमारा भाव भी सात्त्विक हो अर्थात् उसे हम किसी लौकिक कामनाके लिये न करें। हमारा भाव यदि राजस है तो उसका फल भी उसके अनुसार ही होगा। रजोगुण एवं तमोगुणका फल भगवान्ने क्रमशः दुःख एवं अज्ञान बतलाया है (गीता १४। १६)। अतएव कल्याणकामी पुरुषके लिये राजस एवं तामस दोनों ही प्रकारके तप त्याज्य हैं।

तामस तप तो स्वरूपसे ही त्याज्य है; क्योंकि उसका तो आरम्भ ही अज्ञान एवं हठसे होता है और अज्ञान एवं हठ तमोगुणके कार्य होनेसे अधोगतिको ले जानेवाले हैं (गीता १४। १८)। इसलिये जो तप दूसरेका अनिष्ट करनेके उद्देश्यसे किया जाता है, वह तो प्रत्यक्ष ही हानिकारक है, उसके तो मूलमें ही हिंसा रहती है; अतः उसका फल नरकोंकी प्राप्ति होना ही चाहिये।

जो अशास्त्रविहित घोर तप करते हैं, उनको भगवान्ने अज्ञानी एवं आसुर स्वभाववाला बतलाया है। भगवान् कहते हैं—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥

(गीता १७। ५-६)

'जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित केवल मनःकल्पित घोर तपको तपते हैं तथा दम्भ और अहंकारसे युक्त एवं कामना, आसक्ति और बलके अभिमानसे भी युक्त हैं तथा जो शरीर-रूपसे स्थित भूतसमुदायको और अन्तःकरणमें स्थित मुझ अन्तर्यामीको भी कृश करनेवाले हैं, उन अज्ञानियोंको तू आसुर स्वभाववाले जान।' इसलिये अशास्त्रविहित तप वास्तवमें तप ही नहीं है, वह तो तामसी पुरुषोंकी दृष्टिमें ही तप है।'

शास्त्रविधिका उल्लंघन करके जो मनमाने ढंगसे तप आदि करते हैं, उनके विषयमें भगवान्ने कहा है कि उन्हें न तो लौकिक सिद्धि (ऐश्वर्य आदि) मिलती है, न सात्त्विक सुख मिलता है और न मोक्ष अथवा भगवत्प्राप्तिरूप परमगति ही मिलती है*। इसलिये कौन-सा तप करना चाहिये और कौन-सा नहीं करना चाहिये, इसका निर्णय भी हमें शास्त्रोंके द्वारा ही करना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता १६। २४)

'इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करनेयोग्य है।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि तप भी हमें वही करना चाहिये, जो शास्त्रविहित हो। इस प्रकारके तपको ही भगवान्ने (गीता १८। ५ में) अवश्यकर्तव्य बताया है।

केवल तपसे ही मनुष्य सारे पापोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो सकता है, यह बात भगवान्ने गीताके चौथे अध्यायमें कही है। चौथे अध्यायके २८ वें तथा ३१ वें श्लोकोंको मिलाकर पढ़नेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। २८ वें श्लोकमें भगवान्ने तपको भी एक यज्ञ बतलाया है और ३१ वें श्लोकमें भगवान्ने यज्ञशेषरूप अमृत खानेवालोंको सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी है। ४। ३१ में 'यज्ञ' शब्द परमात्मप्राप्तिके सभी साधनोंका उपलक्षण है और उन साधनोंके अनुष्ठान करनेसे साधकोंका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसमें जो प्रसादरूप प्रसन्नताकी उपलब्धि होती है (गीता २। ६४-६५; १८। ३६-३७), वही यहाँ यज्ञसे बचा हुआ अमृत समझना चाहिये। उस विशुद्ध भावसे उत्पन्न सुखमें नित्य तृप्त रहना ही उस यज्ञशेष अमृतको खाना है और उसको खानेवाला समस्त पापोंसे छूटकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, यही बात भगवान्ने ४। ३१ में कही है।

अब जब यह बात सिद्ध हो गयी कि यज्ञरूपमें केवल तपके आचरणसे ही मनुष्य समस्त पापोंसे छूटकर परमात्माको प्राप्त हो सकता है, तब यह प्रश्न होता है कि इस प्रकारके तपरूपी यज्ञमें सबका अधिकार है अथवा किसी खास वर्ण अथवा आश्रमवालोंका ही? इसका उत्तर यह है कि गीतामें

* यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ (गीता १६। २३)

बताये हुए शारीरिक, वाचिक, मानसिक—तीनों प्रकारके तपका सभी वर्ण और सभी आश्रमवालोंको अधिकार है। केवल कुछ बातें ऐसी हैं जिनका स्वरूप अधिकारके अनुसार कुछ बदल जाता है। उदाहरणके लिये शारीरिक तपमें ब्रह्मचर्यका रूप गृहस्थाश्रमियोंके लिये कुछ और है और इतर आश्रमवालोंके लिये कुछ और है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं संन्यासीके लिये स्त्रीसंगका सर्वथा त्याग कहा गया है; अतएव उनके लिये अष्टविध मैथुनका त्याग ही ब्रह्मचर्य है। किन्तु गृहस्थोंके लिये, जिन्हें पितृ-ऋणसे मुक्त होनेके लिये सन्तानोत्पादनके हेतु ऋतुकालमें शास्त्रानुकूल अपनी विवाहिता पत्नीके साथ सहवास करनेकी आज्ञा दी गयी है, ऋतुकालकी भी सोलह रात्रियोंमेंसे छः निन्दित रात्रियाँ और शेष दस रात्रियोंमेंसे आठ और रात्रियाँ छोड़कर केवल दो ही रात्रियोंमें सन्तानोत्पादनके हेतु स्त्रीसहवास करना ब्रह्मचर्यके ही अन्तर्गत माना गया है। भगवान् मनु कहते हैं—

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥

(३।५०)

अर्थात् जो मनुष्य निन्दित छः रात्रियोंमें तथा आठ अन्य रात्रियोंमें स्त्रीसंगका त्याग कर देता है, वह चाहे जिस आश्रममें रहे, ब्रह्मचारी ही है।

निन्दित छः रात्रियाँ कौन हैं, इस सम्बन्धमें मनुजीका वचन है—

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः॥

(३।४७)

अर्थात् ऋतुकालकी सोलह रात्रियोंमें पहली चार रात्रियाँ तथा ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रियाँ निन्दित हैं, शेष दस रात्रियाँ प्रशस्त हैं।

इन दस रात्रियोंमेंसे भी पुत्रकी कामनावालेको चार अयुग्म रात्रियाँ अर्थात् पाँचवीं, सातवीं, नवीं और पंद्रहवीं रात्रि टाल देनी चाहिये; क्योंकि भगवान् मनु कहते हैं—

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु।
तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम्॥

(३।४८)

अर्थात् छठी, आठवीं, दसवीं, बारहवीं, चौदहवीं तथा सोलहवीं रात्रिमें स्त्रीसंग करनेसे पुत्र उत्पन्न होते हैं और अयुग्म रात्रियोंमें संगम करनेसे कन्याएँ होती हैं। इसलिये पुत्र चाहनेवालेको ऋतुकालमें स्त्रीके पास युग्म रात्रियोंमें ही जाना चाहिये।

इस प्रकार सोलह रात्रियोंमेंसे पुत्र चाहनेवालेके लिये छः निन्दित और चार अयुग्म—यों दस रात्रियाँ तो टल गयीं। शेष बची हुई छः युग्म रात्रियोंमें भी पर्वदिनोंको छोड़कर स्त्रीसंगम करनेकी आज्ञा है—'**पर्ववर्जं व्रजेच्चैनाम्**' (मनु० ३।४५)। पर्वके दिन हैं चार—अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या और पूर्णिमा। इसी प्रकार एकादशी, संक्रान्ति आदि पुण्यतिथियाँ भी स्त्रीसंगके लिये वर्जित हैं। इनमेंसे कुछ तो पहले बतलाये हुए दस वर्जित दिनोंके अन्तर्गत ही आ जायँगी। इस प्रकार महीनेभरमें शायद दो ही दिन ऐसे मिलेंगे जिनमें गृहस्थ स्त्रीसंग कर सकता है। इसीलिये मनुजीने ऋतुकालकी भी चौदह रात्रियोंको टालनेवालेको ब्रह्मचारी बतलाया है। महीनेभरमें केवल एक बार स्त्रीसंग करनेवालेकी शास्त्रोंने विशेष प्रशंसा की है।

इसी प्रकार यदृच्छा अर्थात् अनिच्छासे प्राप्त हुए धर्मसंगत युद्धको शास्त्रोंने क्षत्रियोंके लिये धर्म बतलाया है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥

(२।३१)

'तथा (युद्ध करनारूप) अपने धर्मको देखकर भी तू भय करनेयोग्य नहीं है, अर्थात् तुझे भय नहीं करना चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है' और युद्धमें हिंसा आवश्यक होती है। ऐसी दशामें क्षत्रियके लिये धर्मयुद्धमें अनिवार्यरूपसे की जानेवाली हिंसा अहिंसाके ही अन्तर्गत मानी जायगी; वैसी हिंसासे उसे पाप नहीं लगेगा। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

(गीता १८।४७)

'अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है; क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता।'

यही नहीं; भगवान् तो यहाँतक कह देते हैं कि अपने स्वाभाविक कर्मका, चाहे वह दोषयुक्त ही क्यों न हो, त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि जिस प्रकार अग्निके साथ धूएँका सम्बन्ध किसी-न-किसी मात्रामें रहता ही है, उसी प्रकार क्रियामात्रमें—चाहे वह कितनी ही सात्त्विक क्यों न

हो कोई-न-कोई दोष रहता ही है।* अतः अनिच्छासे प्राप्त धर्मयुक्त युद्धमें उसके द्वारा अनिवार्यरूपमें होनेवाली हिंसा क्षत्रियके लिये अहिंसा ही है।

वाचिक तपमें शूद्रके लिये स्वाध्यायका अर्थ भगवन्नामका जप ही लेना चाहिये; क्योंकि शूद्रके लिये वेदाध्ययनकी आज्ञा शास्त्रोंने नहीं दी है। किन्तु द्विजाति वर्णोंके लिये वेद-शास्त्रोंका अध्ययन तथा भगवन्नामका जप दोनों ही स्वाध्यायके अन्तर्गत माने गये हैं। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि वेदाध्ययनका अधिकार न देकर शास्त्रोंने शूद्रोंको घाटेमें रखा है। जो फल द्विजातियोंको भगवन्नामजप तथा वेदाध्ययनरूप तपसे प्राप्त हो सकता है, वही शूद्रोंको केवल भगवन्नामजपसे मिल सकता है। परमात्माकी प्राप्तिमें सभीका समान अधिकार माना गया है।

मानसिक तपका आचरण सभी वर्णों और सभी आश्रमोंके लोग समानरूपसे कर सकते हैं और मानसिक तप कायिक, वाचिक दोनों प्रकारके तपसे श्रेष्ठ एवं कठिन भी है। मानसिक तपके द्वारा जिसका मन निगृहीत, शुद्ध एवं शान्त हो गया है, उसके द्वारा शारीरिक एवं वाचिक तप तो स्वाभाविक ही होने लगेंगे; क्योंकि शरीर एवं वाणीके द्वारा जितने दोष होते हैं, उनका हेतु कोई-न-कोई मानसिक विकार ही होता है। अतः कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि गीतोक्त तीनों प्रकारके तपको परम श्रद्धा एवं तत्परताके साथ निष्कामभावसे करे।

धर्मके नामपर पाप

कलियुग अपना प्रभाव सर्वत्र दिखा रहा है। प्रायः सभी क्षेत्रोंमें दिखावटीपन आ गया है। मिथ्याचारी लोग प्रायः सभी क्षेत्रोंमें घुसकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे हैं। दम्भी मनुष्य अनेक रूप बनाकर, अनेक वेष धारणकर लोगोंको ठगनेमें लगे हुए हैं। धार्मिक क्षेत्रमें, जहाँ अधिकांश बातें विश्वाससे सम्बन्ध रखनेवाली होती हैं, दम्भके लिये अधिक गुंजाइश रहती है। इसीसे धर्मध्वजीलोग धर्मका बाना ग्रहणकर भोली-भाली जनताको अनेक प्रकारके प्रलोभन देकर, सब्ज बाग दिखाकर ठगा करते हैं और इस प्रकार अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। भक्तिके नामपर भी लोग इसी प्रकार भोले-भाले लोगोंको चंगुलमें फँसाकर उनका धन अपहरण करते हैं। स्त्रियाँ इन बगुले भक्तोंके हथकंडोंकी अधिक शिकार होती हैं; क्योंकि वे विवेकशक्तिसे कम काम लेती हैं और विश्वासकी मात्रा भी उनमें अधिक होती है। इसीसे वे बहुत जल्दी धोखेमें आ जाती हैं और अपने धन तथा सतीत्वको भी, जो भारतीय स्त्रियोंकी सबसे बड़ी सम्पत्ति है, खो बैठती हैं। तीर्थोंमें, देवालयोंमें, धर्मस्थानोंमें आये दिन इस प्रकारकी घटनाएँ हुआ करती हैं। इसीसे आज धर्म और ईश्वरके प्रति लोगोंकी आस्था कम होती जा रही है। जगत्‌में बढ़ती हुई नास्तिकता तथा धर्मके प्रति उदासीनताके लिये ऐसे ही लोग अधिक जिम्मेवार हैं, जो अपनेको आस्तिक तथा धर्मप्रेमी कहकर अपने आचरणोंद्वारा धर्म और आस्तिकताकी जड़पर कुठाराघात करते हैं। जनताको चाहिये कि ऐसे धर्मध्वजी लोगोंसे खूब सावधान रहे।

स्त्रियोंको इस सम्बन्धमें विशेष सावधानी रखनेकी आवश्यकता है। उनमें प्रायः बुद्धिकी अपेक्षा श्रद्धाकी मात्रा अधिक होती है। यद्यपि अध्यात्ममार्गमें श्रद्धाकी अधिक आवश्यकता है, परन्तु विवेकरहित श्रद्धा बहुधा हानिकारक होती है, इसीलिये हमारे शास्त्रोंमें स्त्रियोंको स्वतन्त्रता नहीं दी गयी है। स्त्रियोंके लिये पति ही परमेश्वर है, पति ही परम देवता है, पति ही तीर्थ है, पति ही गुरु है। सौभाग्यवती स्त्रीके लिये पतिकी सेवासे बढ़कर और कोई साधन नहीं है। पतिकी अवहेलना करके व्रत-उपवास, तीर्थसेवन, देवदर्शन, गंगा-स्नान आदि करनेसे स्त्रीको कोई पुण्य नहीं होता। विधवा स्त्रीके लिये भी यही उचित है कि वह घरसे बाहर किसी तीर्थ अथवा देवालयमें, गंगा-स्नान आदिके लिये अथवा कथा-कीर्तन आदिमें जाय तो अपने घरवालोंसे पूछकर घरवालोंके साथ जाय, उनकी आज्ञा लेकर भी अकेले कहीं न जाय। भगवान् मनु कहते हैं—

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित्कार्यं गृहेष्वपि॥
बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम्॥
नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥

(मनुस्मृति ५। १४७, १४८, १५५)

'लड़की, जवान या वृद्ध स्त्रीको भी घरोंमें भी कोई कार्य स्वतन्त्र होकर नहीं करना चाहिये। बाल्यावस्थामें स्त्री पिताके अधीन रहे, जवानीमें पतिके अधीन और पतिके मर जानेपर पुत्रोंके अधीन होकर रहे, स्त्री स्वतन्त्र होकर

* सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्। सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ (गीता १८। ४८)

कभी न रहे। स्त्रियोंको पतिके बिना अलग यज्ञ, व्रत और उपवास करनेका अधिकार नहीं है। स्त्री तो केवल पतिकी सेवासे ही स्वर्गमें आदर पाती है।'

पुनश्च—

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसंगेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः॥

(मनु० ९। ५)

'जहाँ थोड़े-से भी संगदोषकी सम्भावना जान पड़े, ऐसे प्रसंगोंसे भी स्त्रियोंकी विशेष यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि अरक्षित स्त्रियाँ पिता और पति दोनोंके कुलोंको सन्तापित करती हैं।'

सुना गया है आजकल बंबई, कलकत्ता, लाहौर, लखनऊ, आदि बड़े-बड़े नगरोंमें कीर्तन-भजनके नामपर बड़ा पाप फैलाया जा रहा है। कलकत्तेमें तो कुछ स्त्रियाँ गंगास्नानके अथवा देवदर्शनके बहाने टोलियाँ बनाकर कुछ निर्दिष्ट स्थानोंपर एकत्र होती हैं, नाचती-गाती हैं और कीर्तन करती हैं। आगे चलकर उनके आचरणोंमें इतनी अश्लीलता आ जाती है, जिसका स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख नहीं किया जा सकता। वहाँ बहुत-सी ऐसी स्त्रियाँ हैं, जिन्होंने गीता आदि धार्मिक ग्रन्थ पढ़ाना और इसी बहाने भले घरोंकी स्त्रियोंको अपने यहाँ एकत्रित कर उन्हें कुमार्गमें प्रवृत्त करना यही पेशा बना लिया है। हमारे भाइयोंको चाहिये कि वे ऐसी स्त्रियोंसे सावधान हो जायँ, अपने घरकी स्त्रियोंको किसी दूसरेके घर किसी निमित्तसे अकेले न जाने दें और न इस प्रकारकी स्त्रियोंको गीता आदि पढ़ानेके बहाने अपने घरोंमें आने दें। सुननेमें तो यहाँतक आया है कि कुछ स्त्रियाँ इस प्रकारकी पेशेवर स्त्रियोंके बहकावेमें आकर अपने पिता, पुत्र, पति आदिका विरोध करके भी उपर्युक्त स्थानोंपर जाती हैं और वहाँ धर्म और भक्तिके नामपर अनर्थ होता है।

जो लोग इस प्रकार कथा-कीर्तनके बहाने परायी स्त्रियोंको अपने घरपर बुलाकर पाप करते हैं, उनके सम्बन्धमें तो क्या कहा जाय? वे मूढ़ तो अपने ही हाथों अपने लिये नरकका द्वार खोलते हैं। उन्हें यह सोचना चाहिये कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी स्त्रियोंके संगमें रहकर अपनेको नहीं बचा सके; फिर हम मनुष्य-कीटोंकी तो बात ही क्या है, जो कामके किंकर बने हुए हैं? स्त्रियोंके संगकी तो बात ही क्या है, शास्त्रोंने तो स्त्रियोंका संग करनेवालोंके संगको भी अत्यन्त त्याज्य बतलाया है—

स्त्रीणां स्त्रीसंगिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।

(श्रीमद्भा० ११। १४। २९)

—उसी भागवतमें अन्यत्र स्त्रियोंका संग करनेवालोंके संगको नरकका द्वार बतलाया गया है। ऐसी दशामें ऐसा कौन मनुष्य है जो स्त्रियोंके संगमें रहकर अपनेको पवित्र रख सके। ऊपर कहे हुए लोग तो वास्तवमें बड़े दयनीय हैं, वे तो धर्मकी आड़में पाप कमाते हैं। उनपर तो कामका भूत सवार है। जैसे रोगग्रस्त मनुष्य विषयासक्तिके वशीभूत होकर कुपथ्य कर बैठता है और पीछे रोता है, उसी प्रकार ये लोग भी बुरी नीयतसे अधर्माचरणरूपी कुपथ्यका सेवन करते हैं और अन्तमें जब वे इस मनुष्यशरीरसे हाथ धो बैठेंगे, उस समय रोनेके सिवा और कुछ भी उनके हाथ नहीं आनेका। जो पुरुष कथा-कीर्तन आदिके नामपर, भक्ति और धर्मकी आड़में पाप करता है वह तो महान् नीच है; उसके तो दर्शन करनेवालेको पाप लगता है। अतः सभी भाइयोंको चाहिये कि इस प्रकारके घोर पापसे अपनी माता-बहिनोंको बचानेकी तत्परतापूर्वक चेष्टा करें। इस कार्यमें साम, दान, दण्ड, भेद सभी प्रकारकी नीति व्यवहारमें लायी जा सकती है। जिस किसी प्रकारसे भी हो, समाजको इस महान् पतनसे बचानेकी पूरी चेष्टा करनी चाहिये।

सौभाग्यवती स्त्रियोंके लिये सबसे बड़ा कर्तव्य है पातिव्रत-धर्मका पालन करना—शरीर और मनसे पतिके अनुकूल आचरण करना, सब तरहसे पतिको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करना और उसीकी आज्ञासे, उसीकी प्रसन्नताके लिये घरके अन्य लोगोंकी तथा अतिथियोंकी श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सेवा करना। ईश्वरभक्ति, सद्गुण-सदाचारका सेवन, दुर्गुण-दुराचारका त्याग तथा सेवा—इनमें सबका अधिकार है। परन्तु सौभाग्यवती स्त्रियोंके लिये तो पतिको ही ईश्वरका प्रतिनिधिरूप मानकर पातिव्रत-धर्मका पालन ही मुख्य कर्तव्य है। उपर्युक्त साधनोंसे जिस वस्तुकी प्राप्ति होती है, सौभाग्यवती स्त्रीको ईश्वरबुद्धिसे केवल पतिकी सेवा करनेसे ही वह वस्तु प्राप्त हो जाती है। ऐसी दशामें पतिको छोड़कर सौभाग्यवती स्त्रीको कहीं अन्यत्र जानेकी आवश्यकता नहीं है। उसके लिये पति ही सब कुछ है। भगवान्‌की पूजा-अर्चा आदि भी उन्हें घरहीमें रहकर करना चाहिये। भक्तिमें कहीं दिखावटीपन नहीं आना चाहिये।

पुरुषके लिये परस्त्रीके साथ और स्त्रीके लिये परपुरुषके साथ एकान्तवास, परस्पर हँसी-मजाक या कामबुद्धिसे दर्शन, स्पर्श, सम्भाषण आदि भी व्यभिचार ही माना गया है। इसलिये कल्याण चाहनेवालोंको इन सबसे परहेज रखना चाहिये। स्त्रियोंके साथ पुरुषोंको और पुरुषोंके साथ स्त्रियोंको किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। अत्यावश्यक होनेपर परस्पर अत्यन्त

पवित्रभावसे बातचीत और प्रणामादि व्यवहार हो सकता है। इससे अधिक सम्बन्ध वांछनीय नहीं है। मनुजी महाराजने तो अपनी माता, बहिन, पुत्री आदिके साथ भी एकान्तमें बैठनेतकको मना किया है; क्योंकि यद्यपि इन सबके साथ हमारा स्वाभाविक ही परम पवित्र सम्बन्ध है, फिर भी इन्द्रियाँ बड़ी बलवान् हैं; वे बड़े-बड़े मनस्वी तथा विचारवान् पुरुषोंके मनको भी आकर्षित कर लेती हैं—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

(मनु० २। २१५)

ऐसी दशामें स्त्रियोंको परपुरुषसे और पुरुषोंको परस्त्रीसे अलग ही रहना चाहिये। इसीमें दोनोंका भला है।

उपर्युक्त कथनसे कोई यह न समझे कि मैं स्त्रियोंके लिये भजन-ध्यान, व्रत-उपवास आदि करना तथा कथा-कीर्तन आदिमें सम्मिलित होना बुरा समझता हूँ। इन्हें बहुत उत्तम मानता हुआ भी मैं इस बुरे समयको और पुरुषजातिकी नीच प्रवृत्तिको देखकर एक स्थानपर बहुत-सी स्त्रियोंके एकत्र होने तथा किसीके घरपर, देवालयमें अथवा तीर्थस्थानपर एकत्र होकर स्वतन्त्रतापूर्वक कथा-कीर्तनके उद्देश्यसे भी गाने, बजाने, नाचने आदिका विरोध करता हूँ; क्योंकि इसका परिणाम बहुधा विपरीत होता है। स्त्रियोंके लिये मैं यही ठीक समझता हूँ कि वे अपने घरहीमें रहकर इन सब साधनोंको करें; कहीं अन्यत्र जायँ तो अपने घरवालोंके साथ जायँ, अकेले कहीं न जायँ। वर्तमान युग स्त्रियोंके लिये विशेष भयानक है। उनके लिये पद-पदपर खतरा है। ऐसी स्थितिमें उनके सतीत्वकी रक्षाके लिये विशेष सावधानीकी आवश्यकता है।

जो भोले-भाले मनुष्य अच्छे भावसे भी स्त्रियोंको इकट्ठा करके गाना, बजाना, नाचना आदि करते हैं, वे भी भूल करते हैं। प्रारम्भमें शुद्ध भाव रहनेपर भी आगे चलकर उनमें भी दोष आ जानेकी बहुत सम्भावना रहती है। ऐसी स्थितिमें उन्हें स्त्रियोंके संगसे सर्वथा बचना चाहिये। जो लोग अपनी इस अनधिकार चेष्टाके समर्थनमें यह दलील पेश करते हैं कि ब्याह-शादीके अवसरोंमें भी तो स्त्रियाँ एकत्र होकर गाना, बजाना, नाचना आदि करती हैं; बल्कि गालियोंके रूपमें गंदे गीत भी गाती हैं, दामादके साथ अश्लील बातें करती हैं; फिर यदि वे भगवद्भजन-कीर्तन आदिके लिये एकत्र हों तो इसमें क्या आपत्ति है? इसका उत्तर यह है कि ब्याह-शादीके अवसरोंपर भी स्त्रियोंका एकत्र होकर गाना, बजाना, नाचना आदि प्रमाद ही है। उसे मैं ठीक नहीं समझता। गंदे गीत गाना और किसी भी पुरुषके साथ अश्लील बातें करना तो बड़ा भारी प्रमाद और पाप है तथा व्यभिचारमें सहायक होनेके नाते एक प्रकारका व्यभिचार ही है। ऐसी स्थितिमें उसका उदाहरण देकर स्त्रियोंके एक स्थानपर एकत्र होकर गाने, बजाने, नाचने आदिका समर्थन करना कदापि युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। फिर जो लोग महंत बनकर स्त्रियोंसे पैर पुजाते हैं, उन्हें अपने शरीरका धोवन, पादोदक अथवा उच्छिष्ट देते हैं तथा अपना फोटो पूजाके लिये देते हैं अथवा स्वयं कृष्ण बनकर स्त्रियोंके साथ रासलीला करते हैं, वे तो महान् पाप करते हैं और अपना तथा अपनी पूजा करनेवालोंका महान् अहित करते हैं। इसलिये उनका चरणोदक आदि लेना, उनके शरीरकी अथवा फोटोकी पूजा करना अत्यन्त निषिद्ध है और स्त्रियोंके लिये तो अपने पतिको छोड़कर किसी भी दूसरे पुरुषके शरीरका स्पर्श करना, चरणोदक लेना सर्वथा वर्जित है। सतीशिरोमणि जगज्जननी जानकीने तो हनुमान्-जैसे आदर्श यति तथा परम भक्तके द्वारा भी लंकासे श्रीरामके पास ले जाया जाना इसीलिये अस्वीकार कर दिया कि वे जान-बूझकर किसी भी पर पुरुषका स्पर्श नहीं कर सकतीं, चाहे वह अपना पुत्र ही क्यों न हो। यह कथा वाल्मीकिरामायणके सुन्दरकाण्डमें आती है। ऐसी दशामें स्त्रियोंका अपने पतिको छोड़कर किसी भी दूसरे पुरुषका स्पर्श करना तथा चरणोदक अथवा उच्छिष्ट लेना कदापि न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। इसका जहाँतक हो सके खूब विरोध करना चाहिये। बहुत जगह तो ऐसा होता है कि स्त्रियाँ अपने सम्बन्धियोंके यहाँ—मामा, बहिन आदिके यहाँ—अथवा ससुरालसे नैहर और नैहरसे ससुराल जाने तथा देवालय, तीर्थ आदिमें जानेका बहाना करके इस प्रकारके गुटोंमें शामिल हो जाती हैं और इसका परिणाम प्रायः महान् भयंकर होता है।

इस प्रकार धर्मकी आड़में जब पाप होने लगता है, आस्तिकताके नामपर नास्तिकताका ताण्डवनृत्य होने लगता है, तब स्वयं भगवान् अथवा उनकी विभूतियाँ धर्म तथा आस्तिकताको शुद्ध रूपमें प्रकट करनेके लिये धर्म एवं आस्तिकताका विरोध तथा अधर्म एवं नास्तिकताका प्रचार करने लगते हैं। आज भी जब कथा-कीर्तन आदिके नामपर जगह-जगह व्यभिचारको आश्रय दिया जाने लगा है, ऐसे समयमें यदि कोई शुद्ध नीयतसे कथा-कीर्तनका विरोध करे तो वह अनुचित नहीं कहा जायगा; क्योंकि वे लोग वास्तवमें कथा-कीर्तनका विरोध नहीं करते, बल्कि उसके नामपर होनेवाले पापाचरणका विरोध करते हैं।

ऐसी स्थितिमें देश और समाजका हित चाहनेवाले प्रत्येक व्यक्तिका यह कर्तव्य है कि वह धर्मके नामपर

होनेवाले ऐसे पापोंको रोकनेकी पूरी चेष्टा करे। किसी भी बहाने अपने घरकी स्त्रियोंको दूसरोंके यहाँ न जाने दे, तीर्थों और देवालयोंमें तथा अपने विश्वासपात्रके घर भी अकेले न जाने दे। जो स्त्रियाँ मूर्खतावश ऐसा करती हैं, उन्हें सब प्रकारकी नीतिसे समझानेकी चेष्टा करे। गड्ढेमें गिरते हुए अपने स्वजन-सम्बन्धीको बलपूर्वक बचाना भी कर्तव्य होता है। जिस किसी प्रकारसे भी हो, उनकी बुद्धिमें इस बातको जचा देनेकी आवश्यकता है कि स्त्रियोंका स्वतन्त्रतापूर्वक एकत्र होना उनके लिये खतरेसे खाली नहीं है, पतिको छोड़कर किसी भी पुरुषका चरणोदक अथवा उच्छिष्ट लेना पाप है, चाहे वह साधु ही क्यों न हो। देश, धर्म और समाजके नेताओं, सुधारकों, महात्माओं तथा देश और समाजकी सेवा करनेवाले उत्साही नवयुवकोंसे मेरी अपील है कि जहाँ कहीं वे इस प्रकारका अत्याचार देखें, वहीं वे इसका जोरके साथ विरोध करें। जिस किसी प्रकारसे हो, नारीजातिकी पवित्रताकी रक्षा करना, समाजको पापसे बचाना हमलोगोंका प्रधान कर्तव्य है। सतीत्व ही नारीका भूषण है। याद रखना चाहिये कि सती स्त्रियाँ ही देश और धर्मकी रक्षा करनेवाली वीर एवं धार्मिक सन्तान उत्पन्न कर सकती हैं।

स्त्रियोंका पुरुषोंके साथ स्वतन्त्ररूपसे घूमना, सैर-सपाटेके लिये बाहर जाना, नाटक-सिनेमा आदिमें जाना, पार्टियोंमें सम्मिलित होना, ताश, चौपड़, शतरंज आदि खेलना, क्लबोंमें जाना, युवक अध्यापकोंद्वारा युवती कन्याओंका पढ़ाया जाना, युवक-युवतियोंका एक साथ पढ़ना आदि तो और भी खतरनाक हैं। पाश्चात्योंकी देखा-देखी हमारे शिक्षित समाजमें भी धीरे-धीरे स्त्री-पुरुषोंका संसर्ग बढ़ता जाता है, जो देशके लिये कभी हितकर नहीं कहा जा सकता। पाश्चात्य देशोंमें स्त्रियोंको सब प्रकारकी स्वतन्त्रता देनेका जो भयंकर दुष्परिणाम दृष्टिगोचर हो रहा है, उससे हमें शिक्षा लेनी चाहिये और हम भी उसका कटु अनुभव करें इससे पहले ही हमें चेत जानेकी आवश्यकता है। हमलोगोंको चाहिये कि सभी बातोंमें पाश्चात्योंका अनुकरण न कर केवल उनके गुणोंको ग्रहण करें। इसीमें हमारा कल्याण है। ऐसा न कर यदि हम अंधाधुंध पाश्चात्योंका सभी बातोंमें अनुकरण करनेमें लगे रहे तो भगवान् जानें हमलोगोंकी क्या दुर्दशा होगी, हमलोग पतनके किस गर्तमें गिरेंगे। इसलिये बुद्धिमानी इसीमें है कि हमलोग समय रहते चेत जायँ और अपनी प्राचीन संस्कृतिके महत्त्वको समझकर उसे पुनर्जीवित करनेकी चेष्टा करें।

सच्ची वीरता

महाराज युधिष्ठिरने शकुनिके द्वारा छलपूर्ण जूएमें हराये जानेपर बारह वर्षतक वनवास और एक वर्ष अज्ञातवासके आपद्धर्मका पालन करनेके अनन्तर धरोहररूपसे रखे हुए अपने राज्यको लौटानेके लिये साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णको दूतरूपसे दुर्योधनके पास भेजकर अपनी न्याययुक्त माँग पेश की। भगवान् श्रीकृष्णने नीति और धर्मयुक्त वचनोंके द्वारा दुर्योधनको बहुत समझाया, परन्तु वह कब माननेवाला था। उसने स्पष्ट कह दिया—

यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति॥

(महा०, उद्योग० १२७। २५)

'हे केशव! तीखी सूईकी नोकसे भूमिका जितना भाग बिंध सके उतना भी हमें पाण्डवोंके लिये नहीं देना है।'

भगवान् वहाँसे निराश होकर कुन्तीदेवीके पास गये और उन्हें दुर्योधनकी कही हुई सारी बातें सुनायीं। इन बातोंको सुनकर माता कुन्तीने वीर क्षत्राणी विदुलाका उदाहरण देते हुए युधिष्ठिर, भीम और अर्जुनको वीरतापूर्वक युद्ध करनेका सन्देश भेजा।* माताने युधिष्ठिर आदिको कहलाया—

युध्यस्व राजधर्मेण मा निमज्जीः पितामहान्।
मा गमः क्षीणपुण्यस्त्वं सानुजः पापिकां गतिम्॥

(महा०, उद्योग० १३२। ३४)

'[हे कृष्ण! युधिष्ठिरसे कहना कि] तू क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्ध कर, अपने पितामहोंको नरकमें न डाल तथा अपने भाइयोंसहित पुण्यहीन होकर पापियोंकी गतिको न प्राप्त हो।'

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः।
एतद्धनञ्जयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः॥
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः।
न हि वैरं समासाद्य सीदन्ति पुरुषर्षभाः॥

(महा०, उद्योग० १३७। ९-१०)

'मैं महान् (सर्वश्रेष्ठ) धर्मको प्रणाम करती हूँ; क्योंकि वह सब प्रजाको धारण कर रहा है। तुम अर्जुनसे तथा युद्धके लिये नित्य तैयार रहनेवाले भीमसेनसे कहना कि क्षत्राणी अपने पुत्रोंको जिस कामके लिये उत्पन्न

* इसका विस्तार महाभारत उद्योगपर्व अध्याय १३२ से १३७ में है।

करती है, उस कामको पूर्ण करनेका यह समय अब आ पहुँचा है, श्रेष्ठ पुरुष किसीसे वैर-भाव होनेपर शिथिल नहीं रहते।'

माताके उपर्युक्त सन्देशको पाकर युधिष्ठिर आदिको बिना इच्छा भी युद्धमें प्रवृत्त होना पड़ा।

इससे हमें यह उपदेश मिलता है कि यदि कोई हमपर अत्याचार करे तो उसको ठीक रास्तेपर लानेके लिये जहाँतक हो सके उसे प्रेमपूर्वक समझाकर काम लेना चाहिये। इसपर भी न समझे तो उसका स्वार्थ दिखलाकर दाननीतिसे काम लेना चाहिये। यदि इस नीतिसे भी काम न चले और हमें दण्डनीतिसे काम लेना पड़े तो संसारके हितकी दृष्टि रखकर वैसा बर्ताव करना चाहिये। बिना दण्डनीतिका प्रयोग किये यदि संसारका भारी अहित होता हो तो ऐसी परिस्थितिमें दण्डनीतिका प्रयोग न करना नीतिमान् पुरुषके लिये दया नहीं, अपितु कायरता है। जिस समय दोनों सेनाओंके बन्धु-बान्धवोंको देखकर युद्ध न करनेकी इच्छा प्रकट करते हुए अर्जुनने यह कहा कि—

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥

(गीता १। ३५-३६)

'हे मधुसूदन! मुझे मारनेपर भी अथवा तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता फिर पृथ्वीके लिये तो कहना ही क्या है? हे जनार्दन! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियोंको मारकर तो हमें पाप ही लगेगा।'

—उस समय इसके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके इस भावको कायरतापूर्ण बतलाकर उसे युद्धमें प्रवृत्त होनेकी आज्ञा दी। श्रीभगवान् बोले—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

(गीता २। २-३)

'हे अर्जुन! तुझे इस असमयमें यह मोह किस हेतुसे प्राप्त हुआ? क्योंकि न तो यह श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा आचरित है, न स्वर्गको देनेवाला है और न कीर्तिको करनेवाला ही है। इसलिये हे अर्जुन! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती। हे परन्तप! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो जा।'

अतएव गीताके इस आशयको समझकर ऐसे मौकेपर धीरता और गम्भीरतापूर्वक वीरताको काममें लाना चाहिये।

पूर्वापरके परिणामको बिना सोचे-समझे, द्वेषपूर्ण बुद्धिसे, क्रोधके आवेशमें आकर मन, वाणी और शरीरके द्वारा किसीका किसी प्रकार भी अहित करना वीरता नहीं है, वह तो उद्दण्डतापूर्ण हिंसा है। इसलिये जहाँ कोई अपने या दूसरे किसीपर अत्याचार करता हो उस मौकेपर उस अत्याचारका प्रतीकार करनेके लिये बहुत धैर्यके साथ पूर्वापरको सोचकर काम करना चाहिये। जैसे पाण्डवोंके राजसूय-यज्ञमें जब शिशुपाल भगवान् श्रीकृष्णकी अग्रपूजासे क्षुब्ध होकर अनेक प्रकारके न कहने योग्य दुर्वचन कहने लगा तो भगवान् श्रीकृष्णने धीरतासे उनको सहन करते हुए विचारपूर्वक निर्भयताके साथ सभासदोंसे कहा कि यह शिशुपाल अनुचित कर रहा है। इसपर वह दुष्ट हँसकर भगवान्‌का तिरस्कार करता हुआ और भी बकने लगा। जब उसके अत्याचारकी मात्रा अत्यन्त बढ़ गयी तो भगवान्‌को उसे दण्ड देना पड़ा। यह धीरता और गम्भीरतासे युक्त वीरताका निदर्शन है।* अतएव अहंकार, आसक्ति, ममता और स्वार्थको त्यागकर लोक-हितके लिये कर्तव्य-बुद्धिसे किसीको जानसे मार डालना भी वास्तवमें हिंसा नहीं है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(१८। १७)

'जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है।'

इसलिये मनुष्योंको उचित है कि यदि कहीं किसी स्त्री, अनाथ, बालक, दीन, दुःखी और निर्बल प्राणीपर कोई बलवान् किसी प्रकारका भी अत्याचार करता हो तो उस अत्याचारको मिटानेके लिये साम और दानसे काम न चलनेपर अहंकार, स्वार्थ और आसक्तिको त्यागकर दण्डका प्रयोग करना चाहिये। ऐसी परिस्थितियोंमें पड़नेपर प्राणोंका भी नाश हो जाय तो उसमें कल्याण ही है। यदि कोई हमारे साथ भी अत्याचार करे और उससे हमारी या किसीकी हानि होती हो तो उस समय राग-द्वेषरहित होकर आत्मरक्षाके लिये उसका प्रतीकार करना कोई पाप नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

* महाभारत सभापर्व अध्याय ३७ से ४५ तक इसका विस्तृत वर्णन है।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(२। ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख समान समझकर उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

यदि कोई आदमी किसी विधर्मीद्वारा धर्मत्यागके लिये दबाया जाय तो उस स्थानपर धर्मकी रक्षाके लिये अपना प्राण भले ही त्याग दे पर धर्मका त्याग न करे; इसीमें कल्याण है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

(३। ३५)

'अपने धर्ममें मरना भी कल्याणकारक है, पर दूसरेका धर्म भय देनेवाला है।'

जो देहात्मवादी अज्ञलोग शरीरको ही आत्मा मानते हैं अर्थात् शरीरके नाशसे आत्माका मरना मानते हैं, वे लोग ही अनुचित आक्रमणका सामना करनेमें काँपने लग जाते हैं और वीरतापूर्वक प्रतीकार नहीं कर सकते; किन्तु जिन्होंने श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन करके आत्मतत्त्वका रहस्य जान लिया है, वे शरीरके नाशसे आत्माका विनाश नहीं मानते। भगवान्‌ने गीतामें यह सिद्धान्त बतलाया है कि जो सत् वस्तु है, उसका विनाश नहीं होता और मिथ्या वस्तु कायम नहीं रहती। इस सिद्धान्तके अनुसार अकर्ता, निर्विकारी, चेतन आत्माको नित्य और अविनाशी होनेसे सत् बतलाया गया है और नाशवान् क्षणभंगुर विकाररूप इस जड देहको अनित्य होनेसे असत् बतलाया गया है।*

इसलिये वे आत्मतत्त्वको जाननेवाले मृत्युसे निर्भय होकर धीरता और गम्भीरतापूर्वक वीरताके द्वारा अत्याचारोंका अन्त कर डालते हैं।

वास्तवमें तो यदि कोई किसीपर अत्याचार करता है तो वह अत्याचार स्वयं ही उस अत्याचारीका विनाश कर डालता है। जैसे प्रह्लादपर किये गये अत्याचारने हिरण्यकशिपुका, दमयन्तीपर किये गये अत्याचारने व्याधका, सीतापर किये गये अत्याचारने रावणका, शचीपर किये गये अत्याचारने राजा नहुषका, वसुदेव-देवकी और उनके पुत्रोंपर किये गये अत्याचारोंने कंसका, द्रौपदीपर किये गये अत्याचारने दुर्योधन, दुःशासन और जयद्रथादिका, ईसा पर किये गये अत्याचारोंने यहूदियोंके शासनका और गुरु गोविन्दसिंहके लड़कोंपर किये गये अत्याचारने मुगलशासनका विनाश कर डाला।

इसी प्रकारके और भी बहुत-से उदाहरण हैं। यद्यपि अत्याचार स्वयं ही अत्याचारीका नाश कर डालता है; किन्तु जिसपर अत्याचार होता है वह भी यदि आत्मरक्षाके लिये प्रत्याक्रमण करे तो कोई दोष नहीं है, इसलिये सब कुछ भगवान्‌की लीला समझकर निरन्तर भगवान्‌का स्मरण रखते हुए भगवान्‌की प्रीतिके लिये ही यह सब करना चाहिये। जो मनुष्य इस प्रकार भगवान्‌में मन-बुद्धि लगाकर भगवान्‌को निरन्तर याद रखता हुआ भगवान्‌के आज्ञानुसार कर्तव्यकर्मका आचरण करता है, वह भगवान्‌को ही प्राप्त होता है।

भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(गीता ८। ७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

समाजके कुछ त्याग करनेयोग्य दोष

भली और बुरी—दोनों ही बातें समाजमें रहती हैं। कभी भली बढ़ती हैं तो कभी बुरी। परिवर्तन होता ही रहता है। यह ठीक नहीं कि पुरानी सभी बातें बुरी ही होती हैं अथवा नयी सभी बातें अच्छी ही होती हैं। अच्छी-बुरी दोनोंमें ही हैं। मनुष्यको विवेक-विचार तथा साहसके साथ बुरीका त्याग और अच्छीका ग्रहण करना चाहिये। जो मनुष्य मिथ्या आग्रहसे किसी बातपर अड़ जाता है, उसका विकास नहीं होता। यही हाल समाजका है। हमारे हिन्दू-समाजमें भी अच्छी-बुरी बातें हैं—जो अच्छी हैं उनके सम्बन्धमें तो कुछ कहना नहीं है; जो बुरी हैं—फिर चाहे वे नयी हों या पुरानी—उन्हींपर विचार करना है। यहाँ संक्षेपमें कुछ ऐसी बुराइयोंपर विचार किया जाता है जिनका त्याग समाजके लिये आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक और आर्थिक सभी दृष्टियोंसे परम आवश्यक है।

रहन-सहन

समय, वातावरण तथा स्थितिके अनुसार रहन-सहनमें

* यह सिद्धान्त श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय २में श्लोक ११ से ३० तक विस्तारसे समझाया गया है।

परिवर्तन तो होता ही है, परन्तु ऐसी कोई बात नहीं होनी चाहिये जो घातक हो। इस समय हम देखते हैं कि समाजका रहन-सहन बहुत तीव्र गतिसे पाश्चात्य ढंगका होता चला जा रहा है। पाश्चात्य रहन-सहन बहुत अधिक खर्चीला होनेसे हमारे लिये आर्थिक दृष्टिसे तो घातक है ही, हमारी सभ्यता और सदाचारके विरुद्ध होनेसे आध्यात्मिक और नैतिक पतनका भी हेतु है। उदाहरणके लिये—जूता पहने घरोंमें घूमना, एक साथ बैठकर खाना, खानेमें काँटे-छुरीका उपयोग करना, टेबल-कुर्सियोंपर बैठकर खाना, जूतियोंके कई जोड़े रखना, रोज चर्बीमिश्रित साबुन लगाना, खाने-पीनेकी चीजोंमें संयम न रखना, भोजन करके कुल्ले न करना, मल-मूत्र-त्यागके बाद मिट्टीके बदले साबुनसे हाथ धोना या बिलकुल ही न धोना, फैशनके पीछे पागल रहना, बहुत अधिक कपड़ोंका संग्रह करना, बार-बार पोशाक बदलना, आदि-आदि। इन सबका त्याग होना आवश्यक है।

खान-पान

खान-पानकी पवित्रता और संयम—आर्य जातिके लोगोंके जीवनका प्रधान अंग है। आज इसपर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। रेलोंमें देखिये—हर किसीका जूठा सोडावाटर, लेमन पीना और जूठा भोजन खाना आमतौरपर चलता है। इसमें अपवित्रता तो है ही, एक-दूसरेकी बीमारीके और गंदे विचारोंके परमाणु एक-दूसरेके अन्दर प्रवेश कर जाते हैं। होटल, हलवाईकी दूकान या चाटवालेके खोंचेके सामने जूते पहने खड़े-खड़े खाना, हर किसीके हाथसे खा लेना, मांस-मद्यका आहार करना, लहसुन-प्याज, अण्डोंसे युक्त बिस्कुट, बाजारू चाय, तरह-तरहके पानी, अपवित्र आइसक्रीम और बरफ आदि चीजें खाने-पीनेमें आज बहुत ही कम हिचक रह गयी है। शोककी बात है कि निरामिषभोजी जातियोंमें भी डॉक्टरी दवाओंके द्वारा और होटलों तथा पार्टियोंके संसर्गदोषसे अण्डे और मांस-मद्यका प्रचार हो रहा है। मांसमें प्रत्यक्ष हिंसा होती है। मांसाहारियोंकी बुद्धि तामसी हो जाती है और स्वभाव क्रूर बन जाता है। नाना प्रकारके रोग तो होते ही हैं।

इसी प्रकार आजकल बाजारकी मिठाइयोंमें भी बड़ा अनर्थ होने लगा है। असली घी तो मिलना मुश्किल है ही। वेजीटेबल नकली घी भी असली नहीं मिलता, उसमें भी मिलावट शुरू हो गयी। मावा, बेसन, मैदा, चीनी, आटा, मसाले, तैल आदि चीजें भी शुद्ध नहीं मिलतीं। हलवाईलोग तो दो पैसेके लोभसे नकली चीजें बरतते ही हैं। समाजके स्वास्थ्यका ध्यान न दूकानदारोंको है, न हलवाइयोंको। होता भी कैसे? जब बुरा बतलानेवाले ही बुरी चीजोंका लोभवश प्रसार करते हैं, तब बुरी बातोंसे कोई कैसे परहेज रख सकता है? आज तो लोग आप ही अपनी हानि करनेको तैयार हैं। यही तो मोहकी महिमा है!

अन्यायसे कमाये हुए पैसोंका, अपवित्र तामसी वस्तुओंसे बना हुआ, अपवित्र हाथोंसे बनाया और परोसा हुआ, अपवित्र स्थानमें रखा हुआ, हिंसा और मादकतासे युक्त, विशेष खर्चीला, अस्वास्थ्यकर पदार्थोंसे युक्त, सड़ा हुआ, व्यसनरूप, अपवित्र और उच्छिष्ट भोजन धर्म, बुद्धि, धन, हिन्दू-सभ्यता और स्वास्थ्य सभीके लिये हानिकर होता है। इस विषयपर सबको विशेषरूपसे ध्यान देना चाहिये।

वेष-भूषा

वेष-भूषा सादा, कम खर्चीला, सुरुचि उत्पन्न करनेवाला, पवित्र और संयम बढ़ानेवाली होनी चाहिये। आजकल ज्यों-ज्यों फैशन बढ़ रहा है, त्यों-ही-त्यों खर्च भी बढ़ रहा है। सादा मोटा वस्त्र किसीको पसंद नहीं। जो खादी पहनते हैं, उनमें भी एक तरहकी बनावट आने लगी है। वस्त्रोंमें पवित्रता होनी चाहिये। विदेशी और मिलोंके बने वस्त्रोंमें चर्बीकी माँड लगती है, यह बात सभी जानते हैं। देशकी हाथकी कारीगरी मिलोंकी प्रतियोगितामें नष्ट होती है। इससे गरीब मारे जाते हैं, इसलिये मिलके बने वस्त्र नहीं पहनने चाहिये। विदेशी वस्त्रोंका व्यवहार तो देशकी दरिद्रताका प्रधान कारण है ही। रेशमी वस्त्र जीवित कीड़ोंको उबालकर उनसे निकाले हुए सूतसे बनता है, वह भी अपवित्र और हिंसायुक्त है। वस्त्रोंमें सबसे उत्तम हाथसे काते हुए सूतकी हाथसे बनी खादी है। परन्तु इसमें भी फैशन नहीं आना चाहिये। खादी हमारे संयम और स्वल्प व्ययके लिये है—फैशन और फिजूलखर्चीके लिये नहीं। खादीमें फैशन और फिजूलखर्ची आ जायगी तो इसमें भी अपवित्रता आ जायगी। मिलके बने हुए वस्त्रोंकी अपेक्षा तो मिलके सूतसे हाथ-करघेपर बने वस्त्र उत्तम हैं; क्योंकि उसके बुनाईके पैसे गरीबोंके घरमें जाते हैं और उसमें चर्बी भी नहीं लगती।

स्त्रियोंके गहनोंमें भी फैशनका जोर है। आजकल असली सोनेके सादे गहने प्रायः नहीं बनाये जाते। हलके सोनेके और मोतियोंके फैशनेबल गहने बनाये जाते हैं, जिनमें मजदूरी ज्यादा लगती है, बनवाते समय मिलावटका अधिक डर रहता है और जरूरत पड़नेपर बेचनेके समय बहुत ही कम कीमत मिलती है। पहले स्त्रियोंके गहने ठोस सोनेके होते थे, जो विपत्तिके समय काम आते

थे। अब वह बात प्रायः चली गयी। इसी प्रकार कपड़ोंमें फैशन आ जानेसे कपड़े ऐसे बनते हैं, जो पुराने होनेपर किसी काम नहीं आते और न उनमें लगी हुई जरी, सितारे, कलाबत्तू आदिके ही विशेष दाम मिलते हैं। ऐसे कपड़ोंके बनवानेमें जो अपार समय और धन व्यर्थ जाता है सो तो जाता ही है।

नये पढ़े-लिखे बाबुओं और लड़कियोंमें तो इतना फैशन आ गया है कि वे खर्चके मारे तंग रहनेपर भी वेष-भूषामें खर्च कम नहीं कर सकते। साथ ही शरीरकी सजावट और सौन्दर्य-वृद्धिकी चीजें—साबुन, तेल, फुलेल, इत्र, एसेन्स, क्रीम, लवेन्डर, सेन्ट, पाउडर आदि इतने बरते जाने लगे हैं और उनमें एक-एक व्यक्तिके पीछे इतने पैसे लगते हैं कि उतने पैसोंसे एक गरीब गृहस्थका काम चल सकता है। इन चीजोंके व्यवहारसे आदत बिगड़ती है, अपवित्रता आती है और स्वास्थ्य भी बिगड़ता ही है। धर्मकी दृष्टिसे तो ये सब चीजें त्याज्य हैं ही। एक बात और है, सौन्दर्यकी भावनामें छिपी काम-भावना रहती है। जो स्त्री-पुरुष अपनेको सुन्दर दिखलाना चाहते हैं वे कामभावनाका विस्तार करके बल, बुद्धि और वीर्यके नाशद्वारा अपना और समाजका बड़ा अपकार करते हैं।

रस्म-रिवाज

रस्म-रिवाजोंमें सुधार चाहनेवाली सभाओंके द्वारा जहाँ एक ओर एक बुरी प्रथा मिटती है तो उसकी जगह दो दूसरी नयी आ जाती हैं। जबतक हमारा मन नहीं सुधर जाता तबतक सभाओंके प्रस्तावोंसे कुछ भी नहीं हो सकता। खर्च घटानेके लिये सभाओंमें बड़ी पुकार मची। खर्च कुछ घटा भी, परन्तु नये-नये इतने रिवाज बढ़ गये कि खर्चकी रकम पहलेकी अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गयी। दहेजकी प्रथा बड़ी भयंकर है, इस बातको सभी मानते हैं। धारा-सभाओंमें इस प्रथाको बंद करनेके लिये बिल भी पेश होते हैं। चारों ओरसे पुकार भी काफी होती है, परन्तु यह प्रथा ज्यों-की-त्यों—नहीं-नहीं—बढ़े हुए रूपमें वर्तमान है और इसका विस्तार अभी जरा भी रुका नहीं है। साधारण स्थितिके गृहस्थके लिये तो एक कन्याका विवाह करना मृत्युकी पीड़ा भोगनेके बराबर-सा है। आजकल मोल-तौल होते हैं। दहेजका इकरार तो पहले हो चुकता है, तब कहीं सम्बन्ध होता है और पूरा दहेज न मिलनेपर सम्बन्ध तोड़ दिया जाता है। दहेजके दुःखसे व्यथित माता-पिताओंकी मानसिक पीड़ाको देखकर बहुत-सी सहृदया कुमारियोंने आत्महत्या करके समाजके इस बूचड़खानेपर अपनी बलियाँ चढ़ा दी हैं। इतना होनेपर भी यह पाप अभी बढ़ता ही जा रहा है। सुना था—दहेजके डरसे राजपूतोंमें कन्याओंको जीते-जी मार दिया जाता था। अब भी बहुत-से समाजोंमें जो कन्याका तिरस्कार होता है, उसके जीवनका मूल्य नहीं समझा जाता, बीमार होनेपर उसका उचित इलाज नहीं कराया जाता, यहाँतक कि कन्याका जन्म होते ही कई माता-पिता तो रोने लगते हैं, दहेजकी पीड़ा ही इसका एक प्रधान कारण है। इस समय ऐसे धर्मभीरु साहसी सज्जनोंकी आवश्यकता है जो लोभ छोड़कर अपने लड़कोंके विवाहमें दहेज लेनेसे इनकार कर दें, या कम-से-कम लेवें। लड़केवालोंके स्वार्थत्यागसे ही यह पाप रुकेगा। अन्यथा यदि यह चलता रहा तो समाजकी बड़ी ही भीषण स्थिति होनी सम्भव है।

विवाह वगैरहमें शास्त्रीय प्रसंगोंको कायम रखते हुए जहाँतक हो सके कम-से-कम रस्में रहनी चाहिये और वे भी ऐसी, जो सुरुचि और सदाचार उत्पन्न करनेवाली हों, कम खर्चकी हों और ऐसी हों जो साधारण गृहस्थोंके द्वारा भी आसानीसे सम्पन्न की जा सकें। अवश्य देनेके वस्त्र और अलंकार भी ऐसे हों, जिनमें व्यर्थ धनव्यय न हुआ हो; सौ रुपयेकी चीज, किसी भी समय अस्सी-नब्बे रुपये कीमत तो दे ही दे। दस-बीस प्रतिशतसे अधिक घाटा हो, ऐसा गहना चढ़ाना तो जान-बूझकर अभाव और दुःखको निमन्त्रण देना है। इसके साथ ही संख्यामें भी चीजें ज्यादा न हों और फैशनसे बची हुई हों।

विवाह आदिमें वेश्याओंके नाच, फुलवाड़ी, आतिशबाजी, भँडुओंके स्वाँग, गंदे मजाक, स्त्रियोंके गंदे गाने, सिनेमा, नाटक, जुआ, शराब आदि तो सर्वथा बंद होने ही चाहिये—जहाँतक हो गाँजा, भाँग, सिगरेट, तम्बाकू, बीड़ी आदि मादक वस्तुओंकी तथा सोडावाटर बर्फकी मेहमानदारी भी नहीं होनी चाहिये। बरातियोंकी संख्या थोड़ी होनी चाहिये और उनके स्वागतमें कम-से-कम खर्च हो, सादगी और सदाचारकी रक्षा हो, ऐसा प्रयत्न स्वयं बरातियोंको करना चाहिये। लड़कीवालेके घर जाकर उससे अनाप-शनाप माँग करना और न मिलनेपर नाराज होना तो एक तरहका कमीनापन है।

गुजरात और महाराष्ट्रमें विवाहके अवसरपर हरिकीर्तनकी बड़ी सुन्दर प्रथा है। हरिकीर्तनमें एक कीर्तनकार होते हैं, जो किसी भक्तचरित्रको गा-गाकर सुनाते हैं—बीच-बीचमें नाम-कीर्तन भी होता रहता है। सुन्दर मधुर स्वरके वाद्योंका सहयोग होनेसे कीर्तन सभीके लिये रुचिकर और मनोरंजक भी होता है और उससे बहुत अच्छी शिक्षा भी मिलती है। उत्तर और पश्चिम भारतके धनीलोग

उपर्युक्त कुप्रथाओंको छोड़कर इस प्रथाको अपनावें तो बड़ा अच्छा है।

लड़कियोंके विवाह भी आजकल बहुत बड़ी उम्रमें होने लगे हैं। बाल-विवाहसे बड़ी हानि हुई है, परन्तु लड़कीको युवती बनाकर विवाह करना बहुत हानिकर है। शास्त्रीय मर्यादाके अनुसार रजोदर्शन होनेके बाद विवाह करना अधर्म तो है ही, आजकलके बिगड़े हुए समाजमें तबतक चरित्रका पवित्र रहना भी असम्भव-सा ही है। युवती-विवाहके कारण कुमारी अवस्थामें आजकल व्यभिचारकी मात्रा जिस तीव्र गतिसे बढ़ रही है, उसे देखते भविष्य बहुत ही भयानक मालूम होता है। यही हाल स्कूली लड़कोंका है। अतएव लड़कीका विवाह रजोदर्शनसे पूर्व और लड़केका अठारह वर्षकी आयुतकमें कर देना उचित जान पड़ता है। अवश्य ही स्त्री-पुरुषका संयोग तो स्त्रीके रजोदर्शनके बाद ही होना चाहिये। नहीं तो धर्मकी हानिके अतिरिक्त स्त्रियोंके हिस्टीरिया, क्षय (तपेदिक) और प्रदर आदिकी भयंकर बीमारियाँ होकर उनका जीवन नष्टप्राय हो जाता है।

घरमें किसीकी मृत्यु हो जानेपर श्राद्धभोज और बन्धुभोजकी प्राचीन प्रथा है। यह वास्तवमें कोई दूषित प्रथा नहीं है, परन्तु निर्दोष प्रथा भी जब देश, काल और पात्रके अनुकूल नहीं होती तो वह दूषित हो जाती है। जिस समय खाद्य पदार्थ बहुत सस्ते थे और गृहस्थके दूसरे खर्च कम थे, उस समयकी बात दूसरी थी। अब तो बहुधा यह देखा जाता है कि इस प्रथाकी रक्षाके लिये ब्राह्मण-भोजन और बन्धु-भोजनमें साधारण मध्यवित्त गृहस्थोंके स्त्री-धन और घर-मकान तथा जगह-जमीनतक बिक जाते हैं। परिणाम यह होता है कि पूरे परिवारमें सभी लोगोंके जीवन दुःखपूर्ण हो जाते हैं। इस प्रथामें शास्त्रोक्त ब्राह्मण-भोजन तो अवश्य कराना चाहिये, परन्तु कुटुम्बियोंको छोड़कर बन्धु-भोजनकी कोई आवश्यकता नहीं है।

विवाह और औसर आदिपर दूर देशसे कुटुम्बियोंका जो आना-जाना है इसकी भी कमी करनी चाहिये; क्योंकि इसमें भी विशेष धन व्यय होता है तथा लोगोंको जाने-आनेमें हैरानी भी बहुत होती है।

बड़े शहरोंमें बड़े आदमियोंके यहाँ विवाहोंमें आजकल बिजलीका खर्च, मेहमानदारीका खर्च और ऊपरी आडम्बरका खर्च इतना बढ़ गया है कि गरीब गृहस्थोंके यहाँ उतने खर्चमें कई विवाह हो सकते हैं। मान-सम्मान, कीर्ति और पोजीशनका मिथ्या मोह, मूढ़ता और हठधर्मी ही इन सारे रस्म-रिवाजोंके चलते रहनेमें प्रधान कारण हैं। अतएव इन सबको छोड़कर साहसके साथ ऐसे रस्मोंको त्याग देना चाहिये।

चरित्रगठन और स्वास्थ्य

असंयम, अमर्यादित खान-पान और गंदे साहित्य आदिके कारण समाजके चरित्र और स्वास्थ्यका बुरी तरहसे ह्रास हो रहा है। बीड़ी-सिगरेट पीना, दिनभर पान खाते रहना, दिनमें पाँच-सात बार चाय पीना, भाँग, तम्बाकू, गाँजा, चरस आदिका व्यवहार करना, उत्तेजक पदार्थोंका सेवन करना, विज्ञापनी बाजीकरण दवाएँ खाना, मिर्च-मसाले, चाट तथा मिठाइयाँ खाना, कुरुचि उत्पन्न करनेवाली गंदी कहानियों और उपन्यास-नाटकोंका पढ़ना, शृंगारके काव्य और कोकशास्त्रादिके नामसे प्रचलित पुस्तकोंको पढ़ना, गंदे समाचार-पत्र पढ़ना, अश्लील चित्रोंको देखना, पुरुषोंका स्त्रियोंमें और स्त्रियोंका पुरुषोंमें अमर्यादित जाना-आना, सिनेमा देखना, शृंगारी गाने सुनना और प्रमादी, विषयी, व्यभिचारी तथा नास्तिक पुरुषोंका संग करना आदि कई दोष समाजमें आ गये हैं। कुछ पुराने थे, कुछ नये—सभ्यताके नामपर—आ घुसे हैं, जो समाजरूप शरीरमें घुनकी तरह लगकर उसका सर्वनाश कर रहे हैं। काम-सम्बन्धी साहित्य पढ़ना, शृंगार-रसके काव्यों तथा नाटक-उपन्यासोंका अध्ययन करना, सिनेमा देखना, सिनेमामें युवक-युवतियोंका शृंगारके अभिनय करना और निःसंकोच एक साथ रहना तो आजकल सभ्यताका एक निर्दोष अंग माना जाता है। कलाके नामपर कितना भी अनर्थ हो जाय, सभी क्षम्य मान लिया जाता है!

लड़कपनसे ही बालक-बालिकाओंका फैशनसे रहना, चरित्रहीन नौकर-नौकरानियोंके संसर्गमें रहना, शृंगारकी पुस्तकें पढ़ना, शृंगार करना, सिनेमा देखना, स्कूल-कॉलेजमें लड़के-लड़कियोंका एक साथ पढ़ना, कॉलेज-जीवनमें असंयमपूर्ण छात्रावासोंमें रहना आदि बातें चरित्रनाशमें प्रधान कारण होती हैं और आजके युगमें इन्हींका विस्तार देखा जाता है। दुःख तो यह है कि ऐसा करना आज समाजकी उन्नतिके लक्षणोंके अन्तर्गत आ गया है।

रात-रातभर जागना, प्रातःकालसे लेकर दिनके नौ-दस बजेतक सोना, चाहे सो खाना, ऐश-आरामकी सामग्रियाँ जुटाने और उनके उपभोग करनेमें ही लगे रहना, विलासिता और अमीरीको जीवनका अंग मानना, भद्दी-भद्दी दिल्लगियाँ करना, केशों और जूतोंको सजानेमें ही घण्टों बिता देना, दाँतोंसे नख छीलते रहना, ईश्वर और धर्मका मखौल उड़ाना, संत-महात्माओंकी निन्दा करना, शास्त्रों और शास्त्रनिर्माता ऋषि-मुनियोंका अनादर करना, सन्ध्या-प्रार्थना करनेका नाम

भी न लेना, माता-पिताको कभी भूलकर भी प्रणाम न करना, केवल शरीरका आराम चाहना, मेहनतका काम करनेसे जी चुराना और लजाना, थोड़ी देरमें हो जानेलायक काममें अधिक समय बिता देना, कर्तव्यकर्ममें आलस्य करना और व्यर्थके कामोंमें समय नष्ट कर देना आदि दोष जहाँ समाजमें फैल रहे हों, वहाँ चरित्र-निर्माण, स्वास्थ्य-लाभ, धर्म और आत्मोन्नतिकी सम्भावना कैसे हो सकती है? इन सब दोषोंको छोड़कर समाज संयम और सदाचारके पथपर चले इसके लिये सबको प्रयत्न करना चाहिये। इन बातोंके दोष बतलाने चाहिये और स्वयं वैसा आचरण करके आदर्श स्थापित करना चाहिये। केवल वाणीसे कहना छोड़कर यदि लोग स्वयं करना शुरू कर दें तो बहुत जल्दी कामयाबी हो सकती है।

कुविचारोंका प्रचार

ईश्वर नहीं है, ईश्वरको मानना ढोंग है, ईश्वरभक्ति मूर्खता है, शास्त्र और पुराणोंके रचयिता दम्भ और पाखण्डके प्रचारक थे, मुक्ति या भगवत्प्राप्ति केवल कल्पना है, खान-पानमें छूआछूत और किसी नियमकी आवश्यकता नहीं, वर्णभेद जन्म और कर्मसे नहीं, केवल कर्मसे है, शास्त्र न माननेमें कोई हानि नहीं है, पूर्व पुरुष आजके समान उन्नत नहीं थे, जगत्‌की क्रमशः उन्नति हो रही है, अवतार उन्नत विचारके महात्माओंका ही नामान्तर है, माता-पिताकी आज्ञा मानना आवश्यक नहीं है, स्त्रीको पतिके त्यागका और नवीन पति-निर्वाचनका अधिकार होना चाहिये, स्त्री-पुरुषोंका सभी क्षेत्रोंमें समान कार्य होना चाहिये, परलोक और पुनर्जन्म किसने देखे हैं, पाप-पुण्य और नरक-स्वर्गादि केवल कल्पना हैं, ऋषि-मुनिगण स्वार्थी थे, ब्राह्मणोंने स्वार्थसाधनके निमित्त ही ग्रन्थोंकी रचना की, पुरुषजातिने स्त्रियोंको पददलित बनाये रखनेके लिये ही पातिव्रत और सतीत्वकी महिमा गायी, देवतावाद कल्पना है, उच्च वर्णोंने नीच वर्णोंके साथ सदा अत्याचार ही किया, विवाहके पूर्व लड़के-लड़कियोंका अश्लील रहन-सहन व्यभिचार नहीं है, सबको अपने मनके अनुसार सब कुछ करनेका अधिकार है—आदि ऐसी-ऐसी बातें आजकल इस ढंगसे फैलायी जा रही हैं कि भोले-भाले नर-नारी ईश्वरमें अविश्वासी होकर धर्म, कर्म और सदाचारका त्याग कर रहे हैं। इस ओर सभी विचारशील पुरुषोंको ध्यान देना चाहिये।

वहम और मिथ्या विश्वास

इसीके साथ-साथ यह भी सत्य है कि समाजमें अभीतक नाना प्रकारके मिथ्या विश्वास और वहम फैले हुए हैं। भूत-प्रेत-योनि है, परन्तु वहमी नर-नारी तो बात-बातमें भूत-प्रेतकी आशंका करते हैं—हिस्टीरियाकी बीमारी हुई तो प्रेत-बाधा, मृगी या उन्माद हो गया तो प्रेतका सन्देह और न मालूम कहाँ-कहाँ वहम भरे हैं, इसीलिये ठग और धूर्तलोग—झाड़-फूँक, टोना, जादू, जन्त्र और तन्त्र-मन्त्रके नामपर—नाना प्रकारके लोगोंको ठगते हैं। पीरपूजा, कब्रपूजा, ताजियोंके नीचेसे बच्चोंको निकालना, गाजीमियाँकी मनौती आदि पाखण्ड इसी वहमके आधारपर चल रहे हैं। इन मिथ्या विश्वासोंको हटानेके लिये भी समाजके समझदार लोगोंको प्रयत्न करना चाहिये।

व्यवहार-बर्ताव

प्रायः मालिक लोग नेक नौकरों और मजदूरोंके साथ भी अच्छा व्यवहार नहीं करते। उन्हें पेट भरनेलायक वेतन नहीं देते, बात-बातपर अपमान और तिरस्कार करते हैं। नौकर और मजदूर भले मालिकोंको भी कोसते और उनका बुरा चाहते हैं। भाई अपने भाईके साथ दुर्व्यवहार करते हैं। पिता पुत्रके साथ अच्छा बर्ताव नहीं करता। पुत्र माता-पिताका अपमान करता है। सास अपनी पुत्रवधूको गालियाँ बकती है तो अधिकारारूढ़ पुत्रवधू अपनी सासको कष्ट पहुँचाती है। ननद-भौजाईमें कलह रहती है। माता अपनी ही सन्तान—पुत्र और कन्याके साथ भेदयुक्त बर्ताव करती है। जमींदार किसानोंको लूट लेना चाहते हैं, किसान जमींदारोंका बुरा ताकते हैं। राजा अपनी प्रजाका मान, धन और अधिकार छीननेपर उतारू है तो प्रजा राजाका सर्वस्वान्त देखना चाहती है। ब्राह्मण शूद्रोंका अपमान करते हैं तो शूद्र ब्राह्मणोंको कोसते हैं। पड़ोसी-पड़ोसीमें भी दुर्व्यवहार और कलह है। जगत्‌में इस दुर्व्यवहार और कलहके कारण दुःखका प्रवाह बह चला है। प्रायः सभी एक-दूसरेसे शंकित और भीत हैं। यह दशा वस्तुतः बड़ी ही भयावनी है। इसपर भी विशेष विचार करके इसका सुधार करना चाहिये।

व्यापारके नामपर जूआ

जीवन अधिक खर्चीला तथा आडम्बरपूर्ण हो जानेसे धनकी लालसा समाजमें बहुत बढ़ गयी। धन एक साथ प्रचुर मात्रामें प्राप्त होनेके लिये सट्टा (Speculation) ही एकमात्र साधन सूझता है, इसीसे आजकल रूई, पाट, हैसियन, सोना, चाँदी आदि पदार्थोंका सट्टा-फाटका खूब चलता है। माल डिलेवर न लेकर जहाँ केवल भाव पटाया जाता हो, वह सब एक प्रकारका जूआ ही है। वर्षाका सौदा, आँकफरक (आखर, दड़ा) लगाना-खाना, बाजी लगाकर तास, चौपड़, शतरंज आदि खेलना, घुड़दौड़पर बाजी लगाना, लॉटरी डालना, चिट्ठी खेला करना आदि जूए तो प्रसिद्ध ही हैं। इस व्यसनमें पड़कर लोग बरबाद

हो जाते हैं। घाटा लगनेपर बाप-दादोंकी जगह-जमीन, घर, स्त्रियोंके गहने आदि चीजें बन्धक रखकर तबाह हो जाते हैं और रात-दिन चिन्ताके मारे जलते रहते हैं। कहीं-कहीं तो आत्महत्यातक कर बैठते हैं। नफा होनेपर व्यर्थका प्रमाद, भोग, आलस्य, अकर्मण्यता और व्यर्थ खर्च आदि बढ़कर पतनके कारण बन जाते हैं। इस व्यसनकी अधिकता बुद्धि, स्वास्थ्य, समाज और धर्मके लिये भी घातक होती है। बड़े-बड़े लोग इसके फेरमें पड़कर बर्बाद हो चुके हैं। इतना ही नहीं, इससे लोक-परलोक दोनों भ्रष्ट होते हैं, इसलिये शास्त्रकारोंने सजीव और निर्जीव पदार्थोंको लेकर किसी प्रकार भी जूआ खेलना बड़ा भारी पाप और राज्यके लिये घातक बतलाया है। भगवान् मनुने तो जुआरियोंको देशसे निकाल देने आदिकी आज्ञा दी है।

इसलिये अपना हित चाहनेवाले पुरुषोंको इस विनाशकारी दुर्व्यसनसे सर्वथा बचना चाहिये।

उपर्युक्त विवेचन वर्तमान समयकी थोड़ी-सी कुरीतियों, फिजूलखर्ची और दुर्व्यसनोंका एक साधारण दिग्दर्शनमात्र है। इनके अतिरिक्त देश, समाज और जातिमें और भी जो-जो हानिकर, घातक और पतनकारक दुर्व्यसन, फिजूलखर्ची एवं बुरी प्रथाएँ प्रचलित हैं, उनको हटानेके लिये भी सब लोगोंको विवेकपूर्वक तत्परताके साथ प्रयत्न करना चाहिये।

प्राचीन तथा आधुनिक संस्कृति

जगत् स्वभावतः परिवर्तनशील है। 'जगत्' और उसका पर्याय 'संसार' दोनों ही शब्द गतिवाचक हैं। 'जगत्' का अर्थ ही है गतिशील—जो सदा चलता रहे, कभी स्थिर न रहे। 'संसार' का अर्थ भी चलना ही है। परिवर्तन ही संसारका स्वरूप है। एक आत्मा ही अचल, अविनाशी एवं स्थिर है; आत्माके अतिरिक्त सब कुछ चल, विनाशी एवं परिवर्तनशील है। जगत् प्रवाहरूपसे अनादि है। अनादिकालसे इसका रूप बदलता आया है। उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, परिणाम, क्षय और नाश—ये छः विकार सदा इसके साथ लगे रहते हैं। भारतीय संस्कृति भी समयके फेरसे क्रमशः उन्नति और अवनतिको प्राप्त होती रहती है। एक समय था जब कि हमारा भारतवर्ष सभ्य देशोंका सिरमौर बना हुआ था। विद्या-बुद्धि, कलाकौशल, धनबल-जनबल तथा ज्ञान-विज्ञान आदिमें सबसे बढ़ा-चढ़ा था। लौकिक एवं पारलौकिक सभी प्रकारकी विद्याओंका यह उद्गमस्थान था। यहींसे ज्ञान-सूर्यका उदय होकर समस्त देशोंमें उसका प्रकाश फैला था। इसीलिये मनु महाराजने कहा है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(२। २०)

'इस देश (भारतवर्ष)-में उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंसे अखिल भूमण्डलके मनुष्य अपने-अपने आचारकी शिक्षा ग्रहण करें।'

जिस समय योरोप एवं अमेरिका आदि देशोंमें रहनेवाली सभ्य जातियोंके पूर्वज अर्द्धनग्न अवस्थामें जंगलोंमें वन्य पशुओंकी भाँति रहते थे, उस समय यह देश सभ्यताके उच्चतम शिखरपर आरूढ़ था। भारतीय संस्कृतिका प्रचार दूर-दूरतक हुआ था। उसके चिह्न अब भी अमेरिकातकमें मिलते हैं। बौद्धकालीन सभ्यताके चिह्न तो प्रचुर संख्यामें अफगानिस्तान आदि देशोंमें तथा भारतके समीपवर्ती द्वीपोंमें पाये जाते हैं। चीन और जापानके राष्ट्रोंमें तो स्पष्ट ही बौद्ध संस्कृतिका प्रभाव लक्षित होता है। अप्रत्यक्षरूपसे तो भारतीय संस्कृतिका प्रभाव सभी देशों और सभी राष्ट्रोंपर अमिटरूपसे पड़ा है। परन्तु सबका समय एक-सा नहीं रहता। जिस संस्कृतिकी भारतेतर देशोंपर भी गहरी छाप पड़ी, वही संस्कृति आज समयके फेरसे पाश्चात्य संस्कृतिके प्रभावमें आकर अपना स्वरूप खो देना चाहती है। चारों ओरसे उसपर विजातीय संस्कृतियोंके आक्रमण हो रहे हैं। परन्तु युगके प्रभावसे इस संस्कृतिका चाहे कितना ही ह्रास क्यों न हो जाय, इसका लोप नहीं हो सकता; क्योंकि इसकी भित्ति अत्यन्त सुदृढ़ है। भारतीय संस्कृतिका आधार उसकी आध्यात्मिकता है। यही कारण है कि जहाँ ग्रीस, रोम, बेबीलोन, मिश्र आदि देशोंकी सभ्यता आज केवल स्मृतिका विषय रह गयी है, भारतीय सभ्यता इतने विजातीय आक्रमण होनेपर भी आज उसी प्रकार अपना सिर ऊँचा किये खड़ी है। इस युगमें भी, जबकि हम भारतवासी सदियोंसे दासताकी बेड़ियोंसे जकड़े हुए हैं, हमारी सभ्यता संसारके लिये आदरका विषय बनी हुई है। इस युगके बड़े-बड़े दार्शनिक तथा विचारक हमारी सभ्यताके कायल हैं और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। यही नहीं, इस घोर अशान्तिके युगमें, जबकि सर्वत्र हाहाकार मचा हुआ है शान्ति चाहनेवाले योरोपनिवासी भारतकी ओर ही आँख उठाये हुए हैं और आशा करते हैं कि उन्हें यहींसे विश्वशान्ति और विश्वप्रेमका सन्देश प्राप्त हो सकता है। यहाँके प्राचीन तथा अर्वाचीन आध्यात्मिक साहित्यको वहाँके लोग बड़े चावसे पढ़ते हैं

और यहाँके प्रमुख व्यक्तियोंका बड़ा सम्मान करते हैं। आज हम उसी भारतीय ऋषियोंद्वारा प्रवर्तित प्राचीन आर्यसभ्यता तथा वर्तमान भोगप्रधान पाश्चात्य संस्कृतिकी तुलनामें कुछ विचार करेंगे।

यह ऊपर निवेदन किया जा चुका है कि भारतीय संस्कृतिका आधार उसकी आध्यात्मिकता है। यहाँ ऐहिक तथा पारलौकिक सभी विषयोंपर आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे ही विचार किया जाता है। यहाँका धर्म, यहाँका आचार-व्यवहार, यहाँकी राजनीति, यहाँकी समाजनीति, यहाँकी युद्धनीति, यहाँकी समाज-व्यवस्था, यहाँकी शिक्षापद्धति, यहाँकी शासनपद्धति, यहाँका रहन-सहन तथा वेष-भूषा, यहाँका आहार-विहार, सब कुछ आध्यात्मिक भित्तिपर स्थित है। आजका शिक्षित संसार विश्वबन्धुत्वके आदर्शको सबसे ऊँचा मानता है। विश्वके सभी राष्ट्र, सभी जातियाँ तथा सभी मनुष्य आपसमें भाई-भाईकी तरह प्रेमपूर्वक रहें—यही उनकी उच्चतम कल्पना है। परन्तु भारतीय आदर्श इससे कहीं ऊँचा है। भाई-भाईमें भी कलह हो सकता है और होता है। संसारमें श्रीराम और भरत-जैसे भाई तो विरले ही होते हैं। श्रीराम और भरत-जैसा भ्रातृप्रेम तो जगत्के इतिहासमें अन्यत्र कहीं देखनेको नहीं मिलता। ऐसी स्थितिमें बन्धुत्वका आदर्श प्रेमकी परमावधि नहीं माना जा सकता। भारतीय संस्कृति मनुष्यमात्रमें ही नहीं, प्राणिमात्रमें—यहाँतक कि वृक्ष आदि स्थावर जीवोंमें भी आत्मबुद्धि करनेका उपदेश देती है। वह हमें यह सिखलाती है कि जीवमात्रको अपनी आत्मा समझो। कलह अथवा द्वेष दूसरेके साथ ही सम्भव है। अपने प्रति किसीका द्वेष, घृणा अथवा वैर नहीं हो सकता। अपना अहित कोई नहीं करना चाहेगा। अपनेसे सबका स्वाभाविक ही प्रेम होता है। इस अद्वैत-दृष्टिकी शिक्षा हमें भारतीय संस्कृतिसे प्राप्त होती है।

इसी प्रकार आजकी सबसे ऊँची शिक्षा मनुष्यमात्रके प्रति प्रेम करना है। परन्तु भारतीय संस्कृति हमें मनुष्यमात्रके प्रति ही नहीं, अपितु, जीवमात्रके प्रति प्रेम करनेको कहती है। गीतामें जहाँ-जहाँ दूसरोंका हित करनेकी बात आयी है, वहाँ-वहाँ '**सर्वभूतहिते रताः**' (५। २५; १२।४) पदका ही प्रयोग हुआ है। किसी जंगम (चर) प्राणीको कष्ट पहुँचानेकी बात तो दूर रही, पेड़-पौधोंको भी काटनेकी हमारे शास्त्रोंने मनाही की है। जहाँ मूक प्राणियोंकी हिंसा आजकल सभी देशों और सभी राष्ट्रोंमें वैध मानी गयी है, वहाँ हमारे यहाँ अनावश्यक एक पत्तेको अथवा एक तिनकेको तोड़नेकी भी आज्ञा नहीं दी गयी है, एक दँतुअन तोड़नेके लिये भी शास्त्रोंने वृक्षसे प्रार्थना करनेकी आवश्यकता बतलायी है। यहाँतक कि स्नान आदिमें आवश्यकतासे अधिक जल गिरानेका भी शास्त्रोंमें निषेध किया गया है। भोजनके लिये भी पके हुए अनाज और फलको ही ग्रहण करनेकी शास्त्रोंने आज्ञा दी है। वनस्पतियोंमें जल देनेका शास्त्रोंने बड़ा माहात्म्य बतलाया है। अतिथिसेवा, देवताओं, पितरों और ऋषियोंकी सेवा—यहाँतक कि सारे भूत-प्राणियोंकी सेवा गृहस्थके लिये अनिवार्य मानी गयी है। शरीरसे किसी प्राणीको कष्ट पहुँचानेकी तो बात ही क्या, मन तथा वाणीके द्वारा भी किसीको कष्ट पहुँचाना हिंसाके अन्तर्गत ही माना गया है। शास्त्रोंका इस सम्बन्धमें यही आदेश है कि दूसरोंके प्रति हमें वैसा बर्ताव कदापि नहीं करना चाहिये, जिसे हम अपने लिये पसंद न करें—'**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।**' हमारे पूर्वज ऋषियोंने प्राणिमात्रके लिये यही प्रार्थना की है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

'सब प्राणी सुखी हों, सब नीरोग हों, सभी कल्याणके भागी बनें, कोई भी दुःखी न हो।'

संसारके प्रति इससे ऊँची भावना और क्या हो सकती है? 'सब लोग जियें, सब लोग सुखी हों, सब लोग फूलें-फलें'—भारतीय संस्कृतिका सदासे यही सिद्धान्त-वाक्य रहा है। यही कारण है कि भारतवासियोंने शक्ति रहते भी कभी दूसरे देशोंपर अन्याय आक्रमण नहीं किया। धार्मिक सहिष्णुताका भाव तो भारतीयोंका सदासे आदर्श रहा है। उन्होंने तलवारके जोरपर कभी विधर्मियोंको अपने धर्ममें लानेकी चेष्टा नहीं की। धर्मके मामलोंमें उन्होंने दूसरोंके अत्याचार सहे, परन्तु स्वयं दूसरोंपर अत्याचार नहीं किये। विधर्मियोंको उन्होंने सदा आश्रय दिया और इस प्रकार अपनी आतिथेयताका परिचय दिया। आज इन सिद्धान्तोंको यदि संसार अंशतः भी मानने लगे तो व्यर्थके झगड़ों और रक्तपातसे बच जाय और सर्वत्र सुख-शान्ति तथा प्रेमका साम्राज्य हो जाय।

अब रही ज्ञानकी बात, सो लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकारके ज्ञानमें हमारे देशने पूर्वकालमें बहुत बड़ी उन्नति की थी। हमारा ऋग्वेद संसारका सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। वेदोंमें लौकिक एवं पारलौकिक सब प्रकारका ज्ञान भरा है। काव्य-साहित्य, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद (गानविद्या), दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र, शिल्पविद्या, स्थापत्यकला, चित्रकला, तक्षणकला, पशुपालन, कृषिविज्ञान, राजनीति आदि सभी विषयोंमें हमारे देशने आश्चर्यजनक उन्नति की थी, जिसका सारा संसार आजतक लोहा मानता है। अध्यात्मविद्या और

परलोकविद्यामें तो इस देशकी समता आजतक किसी देशने की ही नहीं और भविष्यमें भी कोई कर सकेगा, इसमें सन्देह है। परलोकके सम्बन्धमें जो बातें हमारे शास्त्रोंमें बतलायी गयी हैं, उनका खण्डन आजतक कोई नहीं कर सका है। खण्डन करना तो दूर रहा, वहाँतक कोई पहुँच ही नहीं पाया है। यहाँके पूर्वजन्म-सिद्धान्तको आज संसारके बड़े-बड़े वैज्ञानिक मानने लगे हैं। हमारे उपनिषदोंमें तथा भगवद्गीता आदि ग्रन्थोंमें जो तत्त्वज्ञान भरा है, उसकी सारा जगत् मुक्तकण्ठसे प्रशंसा कर रहा है। हमारे वेदान्तका सिद्धान्त तो ज्ञानकी परमावधिको सूचित करता है। उससे ऊँचे ज्ञानकी संसार कल्पना भी नहीं कर सकता। हमारे पूर्वज ऋषियोंने तपस्या, संयम, सद्गुण, सदाचार, भगवद्भक्ति एवं योगके बलसे जिस सर्वलोक-विस्मापक तत्त्वज्ञानका अर्जन किया, उसके मुकाबलेमें पाश्चात्य जगत्का ऊँचे-से-ऊँचा भौतिक ज्ञान समुद्रके मुकाबलेमें एक बूँदके समान भी नहीं है। पाश्चात्य विज्ञानकी समाप्ति स्थूल पंचभूतोंके ज्ञानमें ही हो जाती है। पंचभूतोंके आगे जाना तो दूर रहा, पंचभूतोंका भी पूरा-पूरा ज्ञान अभी पाश्चात्य वैज्ञानिकोंको नहीं हो पाया है। स्थूल पंचभूतोंके परे इन्द्रिय हैं, इन्द्रियोंके परे सूक्ष्म पंचभूत अथवा तन्मात्र हैं, उनके परे मन है, मनके परे बुद्धि है, बुद्धिके परे महत्तत्त्व है, महत्तत्त्वके परे अव्याकृत माया है और अव्याकृत मायाके परे परमात्मतत्त्व है, उस परमात्मतत्त्वसे परे कुछ भी नहीं है, वही परमावधि है।*

जिस परमात्मतत्त्वका ज्ञान हमारे शास्त्रोंमें भरा पड़ा है, इसीको उलटे क्रमसे कहें तो यों कह सकते हैं कि परमात्माके एक अंशमें माया है, मायाके एक अंशमें महत्तत्त्व है, महत्तत्त्वके एक अंशमें बुद्धि है, बुद्धिके एक अंशमें मन है, मनके किसी अंशमें सूक्ष्मभूत हैं, सूक्ष्मभूतोंके किसी अंशमें इन्द्रियाँ हैं और इन्द्रियोंके किसी अंशमें स्थूल भूत हैं। परमात्मा अथवा मूलप्रकृति (अव्याकृत माया)-के ज्ञानकी बात तो दूर रही, आधुनिक वैज्ञानिकोंको इन्द्रिय, मन तथा बुद्धिके तत्त्वका भी ज्ञान नहीं है। केवल आकाशादि स्थूल भूतोंके तत्त्वका आंशिक ज्ञान सदियोंके अथक परिश्रमके बाद आजके वैज्ञानिक प्राप्त कर पाये हैं। अतः हमें विचार करना चाहिये कि परमात्माके तत्त्वज्ञानके सामने इस भौतिक ज्ञानका क्या मूल्य है, जिसके चकाचौंधसे आज हम मोहित हो रहे हैं। यह सारा जगत् जब परमात्माकी मायाके एक अंशमें स्थित है, तब उस जगत्का सारा ज्ञान स्वाभाविक ही परमात्मज्ञानके एक अंशमें आ जाता है। गीताके दसवें अध्यायमें अपनी सारी विभूतियोंका वर्णन करके उसके उपसंहारमें भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे यही कहते हैं—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(१०। ४२)

'अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है? मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ। [इसलिये बहुत-सी बातोंको जाननेके झंझटमें न पड़कर एक मुझको ही तत्त्वसे जान।]'

उस एकके जान लेनेसे सब कुछ अपने-आप जाना जाता है—**'तेन ज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति।'** बड़े खेदका विषय है कि आज हम उस सर्वश्रेष्ठ ज्ञानको भुलाकर भौतिक ज्ञानके पीछे पागल हो रहे हैं और त्रिकालदर्शी महर्षियोंके रहस्यमय तात्त्विक उपदेशकी अवहेलना कर पाश्चात्य विचारकोंका अन्धानुकरण करनेपर उतारू हो रहे हैं।

पाश्चात्योंके संसर्गसे तथा पाश्चात्य शिक्षाके प्रभावसे आज बहुत-सी अवांछनीय बातें हमारे समाजमें प्रवेश कर हमारी संस्कृतिका मूलोच्छेद कर रही हैं। पाश्चात्योंकी देखा-देखी हम अपने युवक-युवतियोंको सहशिक्षा देकर उनके चरित्रनाशमें सहायक बन रहे हैं। **'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'** (छान्दोग्य० ७। २६। २) 'आहारकी शुद्धिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है' —इस सिद्धान्तको भुलाकर हमलोग खान-पानके विषयमें बिलकुल स्वतन्त्र होकर भ्रष्ट होते जा रहे हैं। शौचाचारकी ओर हमारा तनिक भी ध्यान नहीं रह गया है। मादक द्रव्योंका क्रमशः अधिकाधिक प्रचार हो रहा है। चाय-तंबाकू तथा गाँजा-भाँग और बीड़ी-सिगरेट आदिकी तो बात ही क्या है, औषधके रूपमें तथा शौकिया तौरपर भी मदिराका सेवन बढ़ रहा है। मछली, मांस, अण्डे आदिका व्यवहार भी होटलोंके द्वारा सभ्य-समाजमें खुल्लमखुल्ला होने लगा है। इन सब बातोंसे शौचाचार तो नष्ट हो ही रहा है, साथ-ही-साथ सदाचारका भी नाश हो रहा है।' व्यभिचारकी वृद्धि हो रही है और उसके सम्बन्धमें पापबुद्धि क्रमशः नष्ट हो रही है। (अर्थात् व्यभिचारको अधिकांश लोग अब पाप भी नहीं मान रहे हैं।) शरीर और घरोंकी सजावटमें तथा आमोद-प्रमोदमें रुपया पानीकी तरह बहाया जा रहा है। खर्चीलापन बढ़ रहा है। गंदे साहित्य एवं गंदे चित्रपटोंका

* इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥ (कठ० १। ३। १०-११)

प्रचार क्रमशः बढ़ रहा है, जिससे हमारे युवक-युवतियोंके चरित्रपर बहुत बुरा प्रभाव पड़ रहा है। इन सब बातोंसे हमारे धन, धर्म, स्वास्थ्य, आयु, बल, बुद्धि, लोक, परलोकका नाश हो रहा है और हमलोग क्रमशः पतनकी ओर अग्रसर हो रहे हैं, अपने ही हाथों अपना सर्वनाश कर रहे हैं। झूठ, कपट, चोरी और हिंसा आदि पापोंकी बड़ी तेजीसे वृद्धि हो रही है। इसलिये समाजके कर्णधारोंको चाहिये कि वे इन बुराइयोंसे समाजको बचावें और प्राचीन संस्कृतिकी रक्षा करें।

प्राचीन संस्कृतिकी ओर जब हम दृष्टि डालते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक संस्कृतिमें और उसमें महान् अन्तर है। दोनोंके दृष्टिकोणमें अन्तर है। आधुनिक संस्कृतिका उद्देश्य है—खाना-पीना, मौज करना, शरीरको अधिक-से-अधिक आराम देना, अधिक-से-अधिक भोग भोगना, जिस किसी प्रकारसे हो, वर्तमान जीवनको सुखी बनाना। इसके आगे उसकी दृष्टि नहीं जाती। इसके विपरीत प्राचीन संस्कृतिका लक्ष्य था—जल्दी-से-जल्दी परमात्माकी प्राप्ति करना, चिरशान्ति एवं शाश्वत सुखको प्राप्त करना। इसीलिये जहाँ आधुनिक संस्कृतिमें भोगकी प्रधानता है, प्राचीन संस्कृतिमें त्याग-वैराग्य एवं तपकी प्रधानता थी। जिसमें त्यागकी मात्रा जितनी अधिक होती थी, उसका उतना ही अधिक मान होता था। इसीलिये ब्राह्मणों तथा साधु-महात्माओंका सबसे अधिक आदर होता था; क्योंकि वे लोग त्यागकी मूर्ति होते थे। उनके जीवनमें सादगी बहुत अधिक थी, खर्चीलापन नहीं था। खान-पान, पहनावा, बोलचाल तथा व्यवहार—सब कुछ सादा और पवित्र होता था। चौबीस वर्षकी अवस्थातक वे लोग ब्रह्मचर्यसे रहकर गुरुसेवा तथा विद्याभ्यास करते थे। उतने समयतक वे लोग शृंगार तथा विलासितासे बिलकुल दूर रहते थे। उनका खर्च बहुत परिमित होता था। इसीलिये उन्हें धनके लिये धनिकोंकी गुलामी नहीं करनी पड़ती थी। छल-कपट वे जानते ही न थे। वनमें रहकर कन्द-मूल-फलसे अपना जीवन-निर्वाह करते थे। वे लोग स्वावलम्बी एवं कष्टसहिष्णु होते थे। इसीलिये उन्हें नौकरोंकी आवश्यकता नहीं होती थी। वे अपना काम अपने हाथसे करते थे। उनके त्याग और वैराग्यका इतना प्रभाव था कि बड़े-बड़े राजालोग उनकी चरणधूलिको मस्तकमें लगाकर अपनेको पवित्र मानते थे। उनमेंसे कई ऐसे थे, जिनके पास हजारों विद्यार्थी रहते थे। वे लोग कुलपति कहलाते थे। उनके आश्रम एक-एक विश्वविद्यालय होते थे। परन्तु इसके लिये उन्हें बड़ी-बड़ी इमारतोंकी—लाखों-करोड़ों रुपये संचय करनेकी आवश्यकता नहीं होती थी। वे वृक्षोंके नीचे बैठकर अपने छात्रोंको पढ़ाया करते थे और घास-फूस तथा पत्तोंकी झोपड़ियाँ बनाकर उनमें रहते थे। उन्हें सब प्रकारकी आवश्यक सामग्री वनोंसे ही मिल जाया करती थी। इसलिये उन्हें पैसेकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी। स्वाद, शौक, ऐश-आरामकी उनमें गन्धतक नहीं थी। खेल-तमाशे तथा किसी भी प्रकारकी मादक वस्तुको वे पास भी नहीं फटकने देते थे। राजा-महाराजाओंतकपर उनका शासन चलता था, परन्तु उनपर किसीका शासन नहीं था, उनके पास था ही क्या, जिसको लेकर कोई उनपर शासन करने जाता। वे सारे भूतोंको अभयदान देकर विचरते थे। प्राणिमात्रका हित करना ही उनका एकमात्र व्रत था। इसीलिये उनके आश्रमोंमें हिंसक जन्तु भी हिंसक-वृत्ति छोड़कर सामान्य जीवोंकी तरह रहते थे। क्षमा, दया, शान्ति, सरलता आदि सद्गुण तथा यज्ञ, दान, तप, परोपकार, सत्यभाषण, दीन-दुःखियोंकी सेवा तथा ईश्वरोपासना आदि सदाचार ही उनकी सम्पत्ति थी। इसीको गीतामें दैवी सम्पत्तिके नामसे कहा गया है।

वर्तमान समयमें इससे बिलकुल विपरीत स्थिति दृष्टिगोचर हो रही है। छल-कपट, झूठ तथा कलाकौशलके द्वारा तथा विविध प्रकारके यन्त्रों एवं गैसों आदिका आविष्कार करके स्वल्पातिस्वल्प समयमें अधिक-से-अधिक जीवोंकी हिंसा करनेकी सामर्थ्य प्राप्त करना ही वर्तमान समयमें उन्नतिका प्रधान लक्षण माना जाता है। बड़े-बड़े राष्ट्रोंका छोटे-छोटे राष्ट्रोंको—सबलोंका दुर्बलोंको हड़प जाना ही आजकलका परम पुरुषार्थ है। इसीका नाम आसुरी सम्पदा है। आज संसारमें सर्वत्र इसीका साम्राज्य देखनेमें आता है।

ऊपरके वर्णनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीन संस्कृतिमें दैवी सम्पदाकी प्रधानता थी और वर्तमान संस्कृतिमें आसुरी सम्पदाका प्राधान्य है। यही दोनों सभ्यताओंमें अन्तर है। इनमेंसे एक ऊँचे उठानेवाली और दूसरी नीचे गिरानेवाली है। प्रत्येक कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि वह पहलीका संग्रह तथा दूसरीका त्याग करे। दैवी सम्पत्ति ही असली धन है। लौकिक धन तो मरनेके बाद यहीं रह जाता है। किन्तु यह धन ऐसा है जिसका शरीरके नाश होनेपर भी नाश नहीं होता। इसीको मानव-धर्म भी कहते हैं। इसीसे सच्चे सुखकी प्राप्ति होती है। यदि साधनकी शिथिलताके कारण इसी जन्ममें उस सुखकी प्राप्ति नहीं हुई तो दूसरे जन्ममें हो जाती है और इस प्रकार मनुष्य उस सच्चे सुखका अधिकारी बन जाता है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि लौकिक धन शरीरके साथ यहीं रह जाता है और दैवी धन परलोकमें भी जीवका साथ नहीं छोड़ता,

इसमें क्या कारण है? बात यह है कि मृत्यु हो जानेपर मनुष्यका शरीर तो यहीं रह जाता है किन्तु इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा प्राण उसके साथ ही जाते हैं; क्योंकि उनका अस्तित्व मुर्देमें नहीं देखा जाता। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस धनका समावेश इन्द्रिय, मन तथा बुद्धिमें हो सकता है वही धन परलोकमें जीवके साथ जा सकता है। सद्‌गुण और सदाचार ही ऐसा धन है जिसका समावेश इन्द्रिय, मन और बुद्धिमें होता है। अतः यही धन जीवके साथ जाता है, बाकी धन यहीं पड़ा रह जाता है। विद्या, विवेक एवं शुभ निश्चय बुद्धिमें रहते हैं। इन्द्रियोंद्वारा जो उत्तम क्रियाएँ की जाती हैं, वे संस्काररूपसे मनमें संचित रहती हैं और उत्तम गुण तो स्वरूपसे ही मनमें रहते हैं। इन सबकी प्राप्ति ईश्वरभक्तिसे सुलभ हो जाती है, अतः ईश्वरभक्ति ही कल्याणका मुख्य साधन है। मनुष्यजन्म पाकर जीवनमें इसीका अभ्यास करना चाहिये। यही भारतीय संस्कृतिका मूल मन्त्र है।

धर्म-तत्त्व

धर्मका तत्त्व बहुत ही गहन है। धर्म शब्द 'धृ' धातुसे बनता है, जिसका अर्थ यह है कि समस्त ब्रह्माण्डको जो धारण करता है वह धर्म है।

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

(महाभारत०, शान्ति० १०९। ११)

'धर्म धारण करता है इसलिये उसे धर्म कहा गया है। धर्म प्रजाको धारण करता है। जो धारण करनेकी योग्यता रखता है वही धर्म है।' समस्त विश्वको धारण करनेवाला है सर्वशक्तिमान् भगवान्‌का परमसमर्थ न्याय या कानून। उस न्याय या कानूनको मानकर उसके अनुसार चलना ही धर्मका आचरण करना है। यह धर्म ऐसा है जो इहलोक और परलोक दोनोंमें कल्याण करता है, इसीसे वैशेषिक दर्शनके रचयिता महर्षि कणाद धर्मका लक्षण करते हुए कहते हैं—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(१। २)

'जिससे इस लोकमें अभ्युदय हो और परमकल्याणरूप मोक्षकी प्राप्ति हो, वही धर्म है।'

जैसे ईश्वर अनादि हैं वैसे ही यह ईश्वरीय न्याय भी अनादि है, इसीसे इसको सनातन कहते हैं। सृष्टि, पालन और संहार आदि जितने भी स्वाभाविक कर्म विश्वमें होते हैं, सब ईश्वरके कानूनसे ही होते हैं। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथ्वी, वायु, अग्नि, समुद्र आदि जितने भी प्राकृत पदार्थ हैं, सब ईश्वरीय कानूनमें बँधे हुए ठीक नियमसे चलते हैं। ईश्वरके कानूनके अनुसार चलनेवाला संसारमें सुखी होता है और अन्तमें मुक्त हो जाता है; किन्तु जो इसका विरोध करता है वह टकराकर गिर जाता है, दुःखी होता है और अन्तमें बुरी गतिको प्राप्त होता है। जैसे रेलका सामना करनेवाला टकराकर कट जाता है परन्तु उसके अनुकूल चलनेवाला या उसपर सवार होकर चलनेवाला सुखपूर्वक अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँच जाता है, वैसे ही धर्मके विरुद्ध आचरण करनेवाला नष्ट हो जाता है और अनुकूल आचरण करनेवाला सुखपूर्वक जीवननिर्वाह करके परमात्माको प्राप्त हो जाता है। सच्चे सुख और परम शान्ति प्राप्त करनेका प्रधान साधन ईश्वरीय कानून यानी धर्मके अनुकूल आचरण करना ही है।

प्रकृतिके कार्यरूप पृथ्वी, वायु आदि जितने दृष्ट पदार्थ हैं वे तो सब बिना किसी हेर-फेरके ईश्वरीय कानूनके अनुसार ही चलते हैं। नियमका कभी उल्लंघन नहीं करते। रही चेतनकी बात। चेतनके हम दो भेद कर सकते हैं—१-मनुष्य और २-पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि जीव। इनमें पशु-पक्षी आदिमें ज्ञानका अभाव होनेसे वे ईश्वरीय कानूनका समझ-सोचकर पालन नहीं कर सकते, (जो कुछ स्वाभाविक है उसे तो वे भी करते ही हैं) साथ ही ज्ञान न होनेसे उनपर उतना दायित्व भी नहीं है, इसीलिये नियम पालन न करनेसे उन्हें भविष्यमें कोई दण्ड भी नहीं मिलता और न उनका परम कल्याण ही होता है। कर्तव्यपालनका जैसा ज्ञान मनुष्यमें है, वैसा उनमें न होनेसे न उन्हें लाभ ही होता है और न विशेष हानि ही होती है। वे कर्मानुसार अपना जड जीवन बिताते हैं। इसीसे ईश्वरीय कानून उनपर लागू नहीं है, मनुष्यपर लागू है, क्योंकि मनुष्यमें ही इन सब बातोंको समझनेकी योग्यता है। ईश्वरकी रचना ही ऐसी पूर्ण और कौशलयुक्त है कि कौन वस्तु किसके लिये उपयोगी है, इसका पता उसकी रचनापर विचार करनेसे अपने-आप ही लग जाता है। बाघके नख, दाँत आदि देखनेसे पता लगता है कि उसके लिये मांसाहार उपयोगी है, वह घास नहीं खा सकता, खायेगा तो जीयेगा नहीं। इसी प्रकार बंदरके हाथ, पैर, दाँत देखनेसे मालूम होता है कि वह वनस्पति और फल-अन्नादि ही खा सकता है। बंदर मांस नहीं खा सकता, खायेगा तो वह उसके अनुकूल नहीं होगा। याद रखना चाहिये जो जिसके अनुकूल है वही उसके लिये ईश्वरीय कानून है, विपरीत ही विरुद्ध है।

मनुष्यके भी हाथ, पैर और दाँत देखनेसे मालूम होता है कि इसका खाद्य मांस नहीं है किन्तु वह यदि मांसादि खाता है तो वह इस लोक और परलोक दोनोंमें ही अपना नुकसान करता है; क्योंकि उसमें विवेक है, इसलिये उसके दायित्वका क्षेत्र भी बहुत विस्तृत है। संसारमें जो चौरासी लाख प्रकारकी योनियाँ बतलायी गयी हैं, उन सबमें एक मनुष्य ही ऐसा है जिसमें सबके भरण-पोषण करने और सबको सुख पहुँचानेकी योग्यता है। उसकी रचनाका ढंग, बुद्धि, कौशल और कार्य देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है। गम्भीरताके साथ विवेकपूर्वक विचार करनेसे यही निर्णय होता है कि संसारकी सुव्यवस्था करने, सबको सुख पहुँचाने और ऐसा करते-करते परमात्माको प्राप्त कर लेनेके लिये ही मनुष्यकी रचना की गयी है और जिस कार्यके लिये वह बनाया गया है, उसे करना ही उसका कर्तव्य हो जाता है। एक वाक्यमें कहें तो प्राणिमात्रका हित करना ही मनुष्यका कर्तव्य है, उसके लिये यही ईश्वरीय कानून है या धर्म है और जो सबके हितमें रत रहेगा उसका अपना हित तो निश्चित ही है। अतएव विश्वके समस्त जीवोंको सुख-सुविधा पहुँचाना और उनके हितकी व्यवस्था करना ही मनुष्यका मनुष्यत्व है, इसीमें उसकी धार्मिकता है और ऐसा न करना या इसके विपरीत करना ही अधर्म है। अधर्म विनाशमें और लोक-परलोकको महान् हानिमें हेतु होता है। इसी बातको लक्ष्यमें रखकर तुलसीदासजीने कहा है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

भगवान्ने कहा है—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६। १९-२०)

'उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ अर्थात् शूकर-कूकर आदि नीच योनियोंमें ही उत्पन्न करता हूँ। हे अर्जुन! जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त वे मूढ़ पुरुष मुझको न प्राप्त होकर, उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं।'

जो दूसरोंके हितमें लगे रहते हैं उन्हें भगवान्की प्राप्ति होती है।

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता १२। ४)

'वे इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार वशमें करके सबमें समान भाववाले योगी सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत हुए मुझको (भगवान्को) ही प्राप्त होते हैं।'

किसी भी सिद्धान्तको मानकर चलिये, परिणाम एक ही होगा, क्योंकि श्रीभगवान् एक ही हैं। वेदान्तके सिद्धान्तको सामने रखकर विचार कीजिये। वेदान्तका सिद्धान्त है कि 'सब कुछ मेरा आत्मा ही है।' इस सिद्धान्तके अनुसार किसीका भी नुकसान अपना ही नुकसान है। जैसे कोई अबोध बालक अज्ञानवश चाकूसे अपने हाथ-पैर काटता है या आगमें हाथ डालता है और उसके अंग कट जाते हैं या जल जाते हैं जिससे वह दुःखी होकर रोता है; वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार यही बात किसी दूसरेको कष्ट पहुँचानेमें है। दूसरेको कष्ट पहुँचाना अपने ही आत्माको कष्ट पहुँचाना है; क्योंकि अपने आत्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

यदि कहें कि 'बालक जब अपना हाथ काटता या जलाता है तब वह तो प्रत्यक्षमें कट जाता है या जल जाता है परन्तु इसमें तो ऐसा नहीं दीखता। दूसरोंको होनेवाला कष्ट अपनेको ही होता है ऐसा तो बोध नहीं होता; बल्कि दूसरोंको तकलीफमें देखकर अपनेको आराम मालूम होता है।' तो यह कहना ठीक नहीं है। जिसने वेदान्तके सिद्धान्तको भलीभाँति समझकर हृदयंगम कर लिया है और जो वास्तवमें सबको अपना आत्मा ही समझता है, उसको कैसा बोध होता है, वह अपने ही समान दूसरेके कष्टका अनुभव करता है या नहीं। इसका अनुभव अज्ञानकी स्थितिमें नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि सभी कर्मोंका फल तत्काल ही हो जाय ऐसी बात नहीं है। किसी-किसी कर्मका फल उसी क्षण हो जाता है तो किसीका कालान्तरमें प्रकट होता है। लड्डू या दूधमें कोई विष मिलाकर खिला दिया जाय तो उसका फल कुछ देर बाद होता है। खाने-पीनेमें तो वे मीठे ही लगते हैं परन्तु मृत्यु विषका असर होनेपर दो-चार घंटे बाद होती है। इससे यह नहीं कहा जाता कि फल नहीं होता। विषका असर होनेपर जब वैद्य-डॉक्टर बुलाये जाते हैं तब वे परिणाम देखकर बतलाते हैं कि 'इसने कैसे और कब कौन-सा विष खाया है, यह तो बिना जाँचके नहीं बतलाया जा सकता परन्तु विष अवश्य खाया है।' आज संसारमें जो इतने मनुष्य नाना प्रकारके दुःखोंसे पीड़ित होकर आर्तनाद कर रहे हैं, यह उनके असत्कर्मोंका ही परिणाम है। वैद्य-डॉक्टरोंकी भाँति कर्मका रहस्य जाननेवाले महात्मा ज्ञानीजन भी यही बतला रहे हैं कि 'इन्होंने कब कौन-से दुष्कर्म किये हैं यह तो पता नहीं

परन्तु दुष्कर्म अवश्य किये हैं। दुष्कर्म न किये होते तो ऐसा परिणाम कदापि न होता!'

किसी भी प्राणीको जो सुख-दुःखकी प्राप्ति होती है वह उसकी अपनी ही की हुई क्रियाओंका परिणाम है। गम्भीरताके साथ विचार करनेपर यह सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य यदि किसीको दुःख दे रहा है तो वह वस्तुतः प्रकारान्तरसे अपनेको ही दे रहा है और यदि किसीको सुख पहुँचा रहा है तो वह भी अपनेको ही पहुँचा रहा है।

आत्मा वस्तुतः एक ही है; एक होनेपर भी जो विभिन्न दीख रही है इसमें अपना अज्ञान ही कारण है। एक मनुष्य स्वप्न देखता है—स्वप्नके पदार्थोंमें किसीमें उसकी अहंबुद्धि होती है, किसीमें पर-बुद्धि होती है, वह राग-द्वेषवश बातों-ही-बातोंमें लड़ पड़ता है, मार-पीट होती है, सुख-दुःखका भोग भी होता है। परन्तु जब आँखें खुल जाती हैं तब देखता है कि मेरे सिवा यहाँ दूसरा कोई था ही नहीं। स्वप्नकी सृष्टि मेरे अपने ही संकल्पसे हुई थी। मैं ही शत्रु बना था और मैं ही अपनेको मार रहा था और अपने अज्ञानसे आप ही सुखी-दुःखी हो रहा था। बस, यही बात यहाँ इस अज्ञाननिद्रामें है। अज्ञाननिद्रासे जागनेपर यह सिद्धान्त प्रत्यक्ष हो जाता है कि एक अनन्त आत्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। ज्ञानियोंका यह प्रत्यक्ष अनुभव है और उनका अनुभव ही सर्वथा आदर करने और मानने योग्य है। यह तो अभेदके सिद्धान्तकी बात हुई। अब भेदके अर्थात् भक्तिके सिद्धान्तसे इसी बातको समझना है।

भक्तिके सिद्धान्तसे हम सम्पूर्ण प्राणी एक ही परमपिता परमेश्वरकी सन्तान हैं और इस नाते सभी परस्पर भाई-भाई हैं। जो पुरुष प्रत्येक जीवको अपना प्रिय भाई मानकर सबका हित चाहता हुआ सबके साथ यथायोग्य सद्व्यवहार करता है, परमपिता परमेश्वर स्वाभाविक ही उसपर प्रसन्न होते हैं और सारे भाई भी उससे प्यार करते हैं। जो पुरुष किसीको भी दुःख नहीं देता उसे दूसरा कोई दुःख कैसे दे सकता है; और देनेका कोई कारण भी नहीं है। यदि कोई मूर्खतावश दुःख देना चाहता भी है तो दे नहीं सकता; क्योंकि सर्वसमर्थ परमदयालु पिता परमेश्वर सदैव उसकी रक्षा करनेको तैयार रहते हैं। जो मनुष्य यह समझता है कि सरकारके कानूनके अनुसार चलनेसे पुरस्कार और उसके विरुद्ध आचरण करनेसे दण्ड मिलता है, वह कानूनके विरुद्ध कभी नहीं चलता। फिर सरकारको तो लोग धोखा भी दे सकते हैं, छिपकर भी बच सकते हैं, उसके राज्यसे बाहर भी जा सकते हैं, झूठ बोलकर भी अपना बचाव कर सकते हैं, कहीं-कहीं रिश्वतसे भी काम निकल सकता है, इस प्रकार बचावके मार्ग मिल सकते हैं परन्तु सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता, सर्वज्ञ परमात्माके कानूनके विरुद्ध कार्य करके उपर्युक्त किसी भी उपायसे कभी कोई बच ही नहीं सकता। अतएव परमेश्वर और परमेश्वरके कानूनके प्रभावको जाननेवाला कोई भी पुरुष उनके विरुद्ध आचरण कभी कर ही नहीं सकता। उसकी सारी क्रियाएँ स्वाभाविक ही परमेश्वरके कानूनके अनुकूल ही होती हैं। उसके द्वारा किसी भी जड़-चेतन जीवका किसी कालमें किसी परिस्थितिमें किसी प्रकार भी अहित हो ही नहीं सकता। किसी हालतमें किसीका किसी प्रकारसे अहित करना ही ईश्वरके कानूनके विरुद्ध कार्य करना है। इसीका नाम अन्याय, अधर्म या पाप है। यह तो भक्तिसिद्धान्तकी बाहरी बात है। कुछ गहराईमें पैठनेपर तो इसमें बहुत ही अद्भुत रहस्य प्राप्त होता है। वास्तवमें हम विचार करके देखें तो ये सब चराचर प्राणी हमारे भाई नहीं हैं, इनके हृदयमें हमारे परम पूजनीय इष्टदेव परमेश्वर विराजमान हैं। वे ही इनके रूपमें प्रकट हो रहे हैं। इस नातेसे इन्हें सुख पहुँचाना परमेश्वरको सुख पहुँचाना है और इन्हें दुःख देना परमेश्वरको दुःख देना है। इसी भावसे प्रेरित होकर गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

सीय राममय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥
उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

परमेश्वर ही सबकी उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाले हैं, वे ही सबके अंदर आत्मारूपसे विराजमान हैं। सारा जगत् उन्हींकी प्रकृतिका खेल है। वे सबमें सदा अनुस्यूत हैं। इस प्रकार जो मनुष्य परमात्माके रहस्यको और तत्त्वको जान लेता है वह भला उनके कानूनके विरुद्ध कैसे चल सकता है; वह तो उन परम दयालु, परम प्रेमी, परम सुहृद्, परम आत्मीय और परम उदार परमात्माकी दया, प्रेम और सुन्दरताको देख-देखकर अपनी निष्काम सेवाके द्वारा उन्हें आह्लादित और मुग्ध करता हुआ और उनकी प्रसन्नतासे ही अपनेको परम प्रसन्न और परम धन्य अनुभव करता हुआ नित्य आनन्द-सागरमें डूबा परम शान्तिमय जीवन बिताता है। उसको अपने इष्टदेवकी प्रसन्नतामें ही प्रसन्नता होती है, उसकी और कोई चाह होती ही नहीं। इस सिद्धान्तके अनुसार मनुष्य किसी भी जीवसे द्वेष तो कर ही नहीं सकता, वरं सबके साथ नित्य सुहृदताका व्यवहार करता हुआ भगवान्‌की प्रीति-सम्पादन करता रहता है। भगवान्‌ने स्वयं ऐसे भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए कहा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(गीता १२। १३-१४)

'जो सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है; तथा ममतासे रहित और अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है। तथा जो योगी निरन्तर सन्तुष्ट है तथा मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

इस सिद्धान्तके अनुसार भी सबको सुख पहुँचानेमें सुख होता है और सबके हितसाधनमें ही अपना हित निहित है। अतएव उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तोंमेंसे किसीकी दृष्टिसे भी मनुष्यमात्रका यह परम कर्तव्य हो जाता है कि वह प्राणपणसे ऐसी ही चेष्टा करे जिसमें सब चराचर जीवोंका परम हित हो।

जो लोग इनमेंसे किसी भी सिद्धान्तको नहीं मानते और ईश्वर तथा पुनर्जन्मको भी नहीं मानते और जिनको लोग नास्तिक कहते हैं; उनके लिये भी विचार करनेपर यही उपयुक्त प्रतीत होता है कि वे भी दूसरोंका हित ही करें। वे चाहे इसे धर्मका स्वरूप न दें, परन्तु मनुष्यके नाते न्याय समझकर— कम-से-कम अपने सुख-साधनके लिये ही उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि वे किसीको भी हानि न पहुँचाकर सबका हित करें। क्योंकि यह निर्विवाद बात है कि जो जैसा बर्ताव करता है, उसे बदलेमें प्रायः वैसा ही प्राप्त होता है। प्रेम करनेवालेको प्रेम मिलता है और द्वेष करनेवालेको द्वेष। मुझे तभी सुख-शान्ति मिलेगी जब मैं दूसरोंको सुख-शान्ति पहुँचानेकी चेष्टा करूँगा। आज यदि मैं किसीके अनिष्टकी चेष्टा करूँगा तो मौका मिलनेपर कल वह मेरे अनिष्टका प्रयत्न करेगा। परिणाम यह होगा कि उसको भी दुःख होगा और मुझको भी। दोनोंकी ही मूर्खता समझी जायगी। इसके विरुद्ध यदि मैं आपका हित सोचूँगा तो आप मेरा हित सोचेंगे और ऐसा करनेसे परिणाममें दोनों ही सुखी होंगे। इस न्यायसे भी यह सिद्ध होता है कि दूसरोंके हितमें हमारा हित है और उनकी हानिमें ही अपनी हानि है। यह बात तो पशुओंमें भी देखी जाती है। एक गदहा दूसरे गदहेका बदन खुजलाकर उसे आराम पहुँचाता है तो दूसरा भी उसका खुजलाने लगता है। एक कुत्ता दूसरेको चाटता है, उसे प्यार करता है तो दूसरा भी बदलेमें वैसा ही करने लगता है। दुलत्तियाँ झाड़ने तथा भौंकनेवाले गदहे-कुत्तोंको बदलेमें दुलत्तियाँ और भौंक ही मिलती हैं। अपने ही व्यवहारसे परस्पर सुखी-दुःखी हुआ जा सकता है। इन सब बातोंको समझकर भी जो मनुष्य दूसरोंसे घृणा, द्वेष और वैर करता है अथवा उनके अनिष्टकी इच्छा करता है, वह मनुष्यत्वसे तो गिरा हुआ है ही, सच पूछिये तो पशुओंसे भी गया-गुजरा है।

यदि यह कहा जाय कि मनुष्योंको मनुष्योंसे ही परस्पर प्रेम करना चाहिये—अपने आरामके लिये पशु-पक्षी, कीट-पतंगोंको दुःख पहुँचानेमें और इस प्रकार अपना स्वार्थ साधन करनेमें कोई हर्ज नहीं है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। इस विषयपर जरा विचार करके देखिये। पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि जीव बेचारे मनुष्यकी अपेक्षा दीन, निर्बल, अनाथ और असहाय हैं; मनुष्य अपने बुद्धिकौशलसे उनके प्राण हरण कर सकता है; क्योंकि वह उनसे अधिक साधनसम्पन्न है। परन्तु इससे हमें क्या यह नहीं समझ रखना चाहिये कि यदि हम बलवानोंको निर्बलोंपर अत्याचार करनेका अधिकार है तो हमसे जो अधिक बलवान् होंगे वे हमपर भी ऐसा ही अत्याचार करेंगे। जब हमें किसीके द्वारा सताये जानेपर दुःख होता है तब हमें यह क्यों नहीं मानना चाहिये कि हमारे द्वारा सताये जानेपर उनको भी दुःख होता होगा। यह याद रखना चाहिये कि आज हम जैसा बर्ताव करेंगे, कालान्तरमें हमें भी वैसे ही बर्तावकी प्राप्ति होगी। अनाथ जीवोंपर अत्याचार करनेवाला एक दिन निश्चय ही उसी प्रकारके अत्याचारोंका शिकार होगा। अन्यायकी जब प्रतिक्रिया होती है तब अन्याय करनेवालेको उसका प्रतिफल भोगना ही पड़ता है। निर्दोष पशु-पक्षी आदिको अपने स्वार्थके लिये मारना अन्याय नहीं है यह कहना बन नहीं सकता; क्योंकि हमें यदि कोई अपने स्वार्थसाधनके लिये मारना चाहता है तो हम उसे अन्याय कहते हैं। अतएव पशु-पक्षी आदि मूक प्राणियोंकी हिंसाका प्रचार करनेवालों और इसको न्याय बतलानेवालोंको यह निश्चय समझ रखना चाहिये कि एक दिन उन्हें भी दूसरे बलवानोंद्वारा इसी प्रकार अपना विनाश करवाना पड़ेगा। यह तो कोई कह ही नहीं सकता कि मैं सभी बातोंमें सबसे अधिक बलवान् और अजेय हूँ और मुझसे अधिक बलवान् और बुद्धिमान् कभी कोई दूसरा होगा ही नहीं। संसारमें एक-से-एक बढ़कर बलवान् और बुद्धिमान् देखनेमें आते हैं। अन्यायका फल तुरंत नहीं तो कुछ दिन बाद अवश्य ही मिलेगा। अन्यायकी शिक्षा एक दिन उस शिक्षा देनेवालेके सामने भीषण मृत्युके रूपमें आती है और तब उसे अपनी

करनीपर पछताना पड़ता है। दीन और असहायका अहित या वध करना तो सरासर अन्याय है। जो मनुष्य ईश्वर और धर्मको नहीं मानते, उनको अपने हितके खयालसे इस न्यायकी ओर ध्यान देना चाहिये। सबलके द्वारा निर्बलका और बुद्धिमान्‌के द्वारा मूर्खका नष्ट कर दिया जाना क्या न्याय है? ऐसा करना क्या मनुष्यत्व है?

एक बात और है, गम्भीर विचार करके देखनेसे यह भी सिद्ध हो जाता है कि गरीब, असहाय मूक पशु-पक्षियोंको मारनेमें अज्ञानसे जो क्षणिक सुख होता है, उनको पालनेसे उससे लाखोंगुना अधिक सुख हो सकता है। सोनेकी बीट देनेवाले पक्षीका सोनेके लोभसे मार डालनेपर सम्भव है तोला-आधतोला सोना मिल जाय परन्तु यदि उसे न मारकर उसका पालन किया जाय तो वह जबतक जीता रहेगा तबतक उससे रोज सोना मिल सकता है। इसी प्रकारकी बात पशु-पक्षियोंके मारने और पालनेके सम्बन्धमें समझनी चाहिये। मनुष्यकी तो रचना ही की गयी है इन सब जीवोंके यथायोग्य पालन और संरक्षणके लिये। वही यदि इन्हें मारनेपर उतारू हो जायगा तो फिर इनको कौन पालेगा और यह कैसे जी सकेंगे! यदि सभी मनुष्य इन दीन जीवोंको मारनेपर तुल जायँ और थोड़ी देरके लिये मान लें, सबको मार डालें और उसीमें सुखका अनुभव करें तो फिर सदाके लिये इन जीवोंके द्वारा होनेवाले सुखसे हाथ धो बैठें! एक बात और है—यदि पशु-पक्षियोंका विनाश हो जाय तो मनुष्यका जीवन भी नहीं रह सकता। विचार करनेपर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पृथ्वीमें पशु-पक्षी और कीट-पतंगादिकी तो बात ही क्या है, पहाड़, नदी, वृक्ष, लता और अंकुरादि सभी अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार एक-दूसरेका सदा उपकार करते हैं। जलके जीव जलकी गंदगीको भक्षणकर उसको स्वच्छ और निर्मल बनाते हैं, साँप और अजगर जहरीली हवाको पीकर वायुको पवित्र करते हैं, वृक्ष-लतादि फल-पुष्पादिके द्वारा सबका उपकार करते और वर्षा बरसानेमें मदद पहुँचाते हैं। परमात्माकी सृष्टिमें जड-चेतन सभी अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार परस्पर सबका उपकार-साधन कर रहे हैं। इसलिये सबकी यथायोग्य उन्नतिमें ही अपनी उन्नति है और विनाशमें ही अपना विनाश है। इन्हीं सब बातोंको ध्यानमें रखकर दीर्घदर्शी सर्वज्ञ महात्मा ऋषियोंने वेदके आधारपर कर्तव्यका निर्धारण करनेवाले स्मृति, इतिहास और पुराणादि शास्त्रोंकी रचना करके हमलोगोंका परम हित किया है। हमें उनकी शिक्षापर श्रद्धापूर्वक ध्यान देना और उनका पालन करना चाहिये। श्रुति और स्मृतिमें बतलाये हुए धर्मको और सदाचारी महात्माओंके आचरणको आदर्श मानकर तथा अपने आत्माके अनुकूल जानकर यानी अपनी बुद्धिसे परिणाममें हितकर सोचकर उसका आचरण करना चाहिये। मनु महाराज ऐसा ही कहते हैं—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

(मनु० २। १२)

'वेद, स्मृति, सत्पुरुषोंका आचार तथा जिसके आचरणसे अपना हित और मन प्रसन्न हो वह, इस तरह चार प्रकारका यह धर्मका साक्षात् लक्षण कहा गया है।'

महात्माओंके द्वारा रचित संसारमें जितने भी धर्मग्रन्थ हैं, सभीको उन लोगोंने इहलोक और परलोकका हित सोचकर ही बनाया है। देश, काल, बुद्धि, परिस्थिति और स्वभावकी विभिन्नताके कारण मत-मतान्तरोंमें विभिन्नता आ गयी है। उद्देश्य प्रायः सबका यह एक ही है—'वर्तमानमें और भविष्यमें सबका हित हो!'

हमारे ऋषियोंने मनुष्यकी प्रत्येक चेष्टाको धर्मके साथ इसीलिये जोड़ दिया है जिससे श्रद्धा और प्रेमपूर्वक उसका पालन हो। क्योंकि मनुष्यमात्र अपना हित चाहते हैं और वर्तमान तथा भविष्यमें जो हितकर हो वही वस्तुतः कर्तव्य, न्याय या धर्म है। धर्मके अनुकूल चलनेमें ही मनुष्यका मनुष्यत्व, उत्थान और परम लाभ है और प्रतिकूल चलनेमें ही मनुष्यत्वसे पतन, अवनति और महान् हानि है। यह स्मरण रखना चाहिये कि जबतक संसार है, तबतक ईश्वरका कानून या धर्म उसके साथ अनिवार्यरूपसे रहता है। इसके बिना कोई जीवित ही नहीं रह सकता। ईश्वरीय कानून या न्यायका कोई कितना ही विरोध करे उसका कभी विनाश नहीं हो सकता और यथार्थमें सत्य भी वही है जो अविनाशी हो। ईश्वरका यह न्याय ही सत्य है। मनुष्य यदि न्यायका अनुसरण नहीं करता तो इससे न्यायका नाश नहीं होता, वरं उस अनुसरण न करनेवालेका ही पतन या विनाश हो जाता है। महाप्रलयके समय जब सारी सृष्टि प्रकृतिमें विलीन हो जाती है, ईश्वरीय कानून (धर्म या न्याय) तब भी बना ही रहता है; क्योंकि सृष्टिका प्रकृतिमें विलीन होना, उसमें रहना और फिर प्रकट होना—यह भी तो ईश्वरीय कानूनके ही अन्तर्गत है। अतएव जो पुरुष परमेश्वरके और परमेश्वरके कानूनके तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और महत्त्वको समझ जाता है, वह उस कानूनका पालन करके प्रत्यक्षमें सुख-शान्तिको प्राप्त होता है और अन्तमें उसे परमानन्द और परम शान्तिकी प्राप्ति होती है। जो कोई भी इसके तत्त्वको जानेगा वही इसका पालन करेगा और जो जितना पालन करेगा, उतना

ही वह अधिकाधिक तत्त्वको जानता रहेगा। संसारमें सभी मनुष्य सुख-शान्ति चाहते हैं परन्तु उन्हें सुख-शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती वरं वे सदा दुःख और अशान्तिका ही अनुभव करते हैं, इसमें प्रधान कारण परमेश्वरके और उनके कानूनके तत्त्व, प्रभाव, रहस्य और महत्त्वका न जानना ही है। न जाननेके कारण ही इसमें उनकी रुचि और श्रद्धा नहीं है। इसीसे वे इसका पालन न करके विपरीत आचरण करते हैं और परिणाममें महान् दुःखोंसे दबे हुए सदा संसारमें भटकते रहते हैं। जबतक विपरीत आचरण करेंगे तबतक भटकना छूटेगा भी नहीं। अतएव जो बुद्धिमान् पुरुष अपना परमकल्याण चाहते हैं उनको उचित है कि वे ईश्वरीय कानून या धर्मके पालनको अपना परम कर्तव्य समझें और पूरी तत्परताके साथ धर्मका पालन करें।

पशु-धन

आज भारतवर्षकी जैसी दुर्दशा है, उसे देखकर विचारवान् पुरुषमात्र प्रायः दहल उठेंगे; भारतवर्षकी वह पुरानी सभ्यता, उसकी शिक्षाप्रणाली और उसका बल-बुद्धि, तेज आदिसे भरा हुआ जीवन आज कहाँ है? जिस भारतवर्षसे अन्य समस्त देशोंके सहस्रों नर-नारी शिक्षा ग्रहण कर अपना जीवन उन्नत बनाते थे, आज उसका वह अलौकिक गौरव कहाँ है? आज तो वह सर्वथा बलहीन, विद्याहीन, बुद्धिहीन, गौरवहीन और धनहीन होकर पराधीन हो गया है। इस अवनतिका कारण क्या है? विचार करनेसे अनेकों कारण जान पड़ते हैं। उन्हीं कारणोंमेंसे पशुओंका ह्रास भी एक प्रधान कारण है। इसी विषयपर कुछ लिखनेका प्रयत्न किया जा रहा है।

पूर्वकालमें इस देशमें पशुओंकी कितनी अधिकता थी, यदि इस बातपर पूर्णरूपसे विचार किया जाय तथा उनकी संख्याका हिसाब लगाया जाय तो बहुत-से लोग उस संख्याको असम्भव-सा समझेंगे। किन्तु यह ऐतिहासिक और प्रामाणिक बात है। वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डमें कथा आती है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके पास त्रिजट नामका एक ब्राह्मण आया और उसने उनसे धनकी याचना की। महाराजने उससे कहा कि 'मेरे पास बहुत-सी गौएँ हैं, आप अपने हाथसे एक डंडा फेंकिये, वह डंडा जहाँ जाकर गिरे, यहाँसे वहाँतक जितनी गौएँ खड़ी हो सकें, आप ले जाइये।' विचार करनेसे पता चलता है कि जहाँ विनोदरूपमें एक याचकको इस प्रकार हजारों गौएँ दानमें दी जा सकती हैं, वहाँ दान देनेवालेके पास कितनी गौएँ हो सकती हैं? भागवतमें राजा नृगका इतिहास बहुत ही प्रसिद्ध है, वे हजारों गौओंका दान प्रतिदिन किया करते थे। केवल पाँच हजार वर्ष पहलेकी बात है कि नन्द-उपनन्द आदि गोपोंके पास लाख-लाख गौएँ रहा करती थीं, यह बात भी भागवतमें ही है। महाभारतके विराटपर्वसे भी यह पता चलता है कि राजा विराटके पास करीब लाख गौएँ थीं, जिनका हरण करनेके लिये कौरवोंकी विशाल सेनाने दो भागोंमें विभक्त होकर विराटनगरपर चढ़ाई की थी।

उस समय जिस प्रकार गौओंकी अधिकता थी, उसी प्रकार अन्य पशुओंकी भी बहुलता थी। घोड़े, हाथी आदि पशुओंकी संख्याका अनुमान लगाइये, एक अक्षौहिणी सेनामें इक्कीस हजार आठ सौ सत्तर (२१,८७०) हाथी, पैंसठ हजार छः सौ दस (६५,६१०) घुड़सवारोंके घोड़े और सतासी हजार चार सौ अस्सी (८७,४८०) रथोंके घोड़े होते हैं। ऐसी तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर जरासन्धने सत्रह बार भगवान् श्रीकृष्णपर चढ़ाई की थी एवं प्रतिबार भगवान्ने सबका विनाश कर दिया था। महाभारतके उद्योगपर्वमें कौरवोंकी ओरसे ग्यारह अक्षौहिणी और पाण्डवोंकी ओरसे सात अक्षौहिणी सेना कुरुक्षेत्रके मैदानमें इकट्ठी हुई थी, ऐसा उल्लेख मिलता है। उनमें केवल ग्यारह मनुष्य ही शेष बचे थे, बाकी सब-की-सब सेना मारी गयी थी। इस प्रकारके बड़े-बड़े संहार होते रहनेपर भी करोड़ों पशु वर्तमान थे। किन्तु बड़े दुःखके साथ लिखना पड़ता है कि आज उस अनुपातसे विचार करनेपर रुपयेमें एक आना भी पशुओंकी संख्या नहीं रही है।

देश, जाति, धर्म, समाज, व्यापार तथा स्वास्थ्यकी रक्षा और वृद्धिमें पशु-धन एक मुख्य हेतु माना गया है। आर्थिक दृष्टिसे पशु-धनका होना सबके लिये गौरवकी बात समझी गयी है। खासकर वैश्यजातिके लिये तो यह केवल आर्थिक महत्त्व ही नहीं रखता, बल्कि पशुपालन उनके धर्मका एक मुख्य अंग भी है। मनुस्मृतिमें कहा है—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥

(१।९०)

अर्थात् 'वैश्योंका धर्म पशुओंका पालन करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद-शास्त्रोंको पढ़ना, व्यापार, व्याज और कृषिद्वारा जीविका चलाना है।'

यहाँ यह बात भी ध्यानमें रखनेकी है कि कृषिकर्म

करनेवाले सभी मनुष्य वैश्योंके ही तुल्य हैं। अतः उन सबके लिये भी पशुपालन धर्मका एक मुख्य अंग हो जाता है किन्तु आज भारतवर्षमें बहुत ही कम वैश्य और कृषिकर्म करनेवाले लोग ऐसे हैं जो आर्थिक और धार्मिक दृष्टिसे इतना महत्त्व रखनेवाली वस्तुकी ओर यथोचित ध्यान देते हों। वैश्य और किसान पशुओंकी सहायतासे खेत जोतकर उपजाये हुए अन्नसे सम्बन्ध रखते हैं, उनकी नस-नसमें पशुओंके परिश्रमसे उत्पन्न हुए अन्नका रक्त दौड़ता है। किन्तु मूक पशुओंकी दशा सुधरे, उनकी वृद्धि हो, वे पुष्ट हों, इस बातकी ओर उनका ध्यान बहुत ही कम रहता है।

सब पशुओंकी उन्नतिकी बात तो दूर रही, पशुओंमें सर्वश्रेष्ठ गौएँ जिनका महत्त्व शास्त्रोंमें धर्मकी दृष्टिसे भी बहुत अधिक बतलाया गया है और जिसका आदर्श स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने व्रजमें गौओंको चराकर दिखलाया है तथा जिसे वैश्योंके लिये धर्मका प्रधान अंग बतलाया है (गीता १८। ४४)। जो देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य आदि सबको अपने दूध-दहीके द्वारा तृप्त करनेवाली हैं, आज उनकी कितनी उपेक्षा हो रही है, यह देखकर चित्तमें खेद हुए बिना नहीं रह सकता। प्रतिवर्ष लाखोंकी संख्यामें गौओंका ह्रास होता चला जा रहा है तथापि हिंदू-जनता उनकी रक्षासे इस प्रकार उपराम-सी हो रही है, मानो उसे इस बातकी खबर ही नहीं है। इसका भयानक परिणाम यह हो रहा है कि मनुष्य-जीवनके लिये धर्म और स्वास्थ्य दोनोंकी दृष्टिसे अत्यन्त आवश्यक माने हुए दूध, घी, दही आदिका सर्वसाधारणके लिये प्राप्त होना कठिन होता जा रहा है। दूध, दहीके अभावसे भारतीय सन्तानका स्वास्थ्य किस प्रकार गिरता जा रहा है, यह तो धर्मको न माननेवाले भी प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। जहाँ कुछ दिन पहले इसी देशमें पवित्र दूध पैसे सेर, पवित्र घी तीन-चार आने सेर मिलता था, वहाँ आज (सं० २०००) पवित्र दूध दो आने सेर और पवित्र घी एक रुपये सेर भी सब जगह सर्वसाधारणको नहीं मिल पाता है। यदि समय रहते भारतवासी सावधान नहीं होंगे, इसी तरह गोधनकी उपेक्षा करते रहेंगे तथा गौओंके बढ़ते हुए ह्रासको रोकनेकी चेष्टा नहीं करेंगे तो भविष्य और भी भयानक हो सकता है। उस समय कोई उपाय करना भी कठिन हो जायगा; इसलिये विचारवान् मनुष्योंको चाहिये कि वे पहलेसे ही सावधान हो जायँ। खासकर प्रत्येक हिंदूके लिये तो इस समय यह एक प्रधान कर्तव्य हो गया है कि वे इस ओर ध्यान दें और सब प्रकारसे गौओंकी रक्षाके लिये चेष्टा करें।

गौओंका ह्रास होनेमें निम्नलिखित कारण मुख्य हैं—

१-(क) जनताके अंदर प्रतिदिन धर्म और ईश्वरका भय कम होता जा रहा है। अतः कम दूध देनेवाली और दूध न देनेवाली गौओंको कसाईके हाथ बेचनेमें अधिकांश हिंदू-जनता भय नहीं करती।

(ख) बहुत-से निर्दय किसान दूध न देनेवाली गौओंको अपने घरसे निकाल देते हैं। वे मारी-मारी फिरती हैं और अन्तमें मवेशीखानेमें पहुँचायी जाकर कसाईके हाथमें पड़ जाती हैं।

२- प्रतिवर्ष सूखे और ताजे मांसके लिये तथा चमड़ेके लिये लाखों जीवित गौओंकी हत्या की जाती है।

३- बहुत-से धनके लोभी हीनवृत्तिवाले मनुष्य अधिक दूध देनेवाली गौओंको खरीदकर उनके बछड़ोंको तो निरर्थक समझकर कसाईके हाथ बेच देते हैं और फूँकेके द्वारा उन गौओंको विवश करके उनका सारा दूध निकाल लेते हैं। परिणाम यह होता है कि कुछ ही दिनोंमें वे गौएँ निकम्मी हो जाती हैं और उस समय वे उन्हें भी कसाईके हाथ बेच डालते हैं।

४- साँड़ अच्छे न मिलनेके कारण गौओंकी नस्ल बिगड़ती जाती है, उनसे अच्छी सन्तान उत्पन्न नहीं हो सकती। उनके बच्चे बहुत ही कम आयुवाले, कमजोर और दुबले-पतले होते हैं।

५- गौओंके निमित्त छोड़ी हुई गोचरभूमिको जमींदार और किसान आदि लोभवश जोतते जाते हैं। अतः चारेके अभावमें प्रतिवर्ष हजारों गौएँ मर जाती हैं।

६- मांस खानेवाले मनुष्योंके लिये और बाढ़, महामारी, अकाल आदि दैवी कोपके कारण प्रतिवर्ष लाखोंकी संख्यामें गौएँ नष्ट हो जाती हैं।

इस ह्रासको रोकनेके लिये निम्नलिखित उपाय काममें लाये जा सकते हैं—

१- धार्मिक पुरुषोंको चाहिये कि पत्र और व्याख्यानादिद्वारा लोगोंमें धार्मिक भाव उत्पन्न करें, जिससे धार्मिक भावोंकी वृद्धि होकर लोगोंमें गौओंके प्रति दयाका संचार हो और वे लोग गौओंको कसाईके हाथ न बेचें तथा दूध न देनेवाली गौओंकी उपेक्षा भी न करें।

२- पशुओंके अभावसे देशकी दुर्दशा दिखलाकर सरकारके पास अपील करते हुए, जो प्रतिवर्ष हजारों टन मांस विदेशमें भेजनेके लिये गौओंकी हत्या की जाती है, उसे बंद कराना चाहिये।

३- मांस खानेवाले भारतवासियोंको मांसकी अपेक्षा दूध-घीमें अधिक लाभ दिखलाकर तथा गौओंके ह्राससे देशका पतन अनिवार्य है, यह समझाकर प्रेमपूर्वक शान्तिसे मांस खानेसे रोकना चाहिये।

४- अतिशय तत्परताके साथ फूँकेकी प्रथा (जो कि कानूनके भी सर्वथा विरुद्ध है)-को ग्राम-ग्राममें चेष्टा करके सरकारके द्वारा बंद कराना चाहिये।

५- प्रत्येक ग्राममें अच्छी नस्लकी गौओंकी वृद्धि हो, इसके लिये धनिक एवं गोशालाध्यक्षोंको अच्छी नस्लके साँड़ोंको पालना चाहिये अथवा सरकारसे अच्छी नस्लके साँड़ोंका प्रबन्ध करवाना चाहिये।

६- सरकार, धनिक, जमींदार, किसान आदिसे प्रार्थना करके सभी ग्रामोंमें गोचरभूमि छुड़वानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

७- जहाँ बाढ़, भूकम्प, अकाल आदि दैवी कोपसे चारेके अभावके कारण गौएँ मरती हों, वहाँ तन, मन, धन लगाकर उनके चारे आदिका प्रबन्ध करके उनको मृत्युके मुखसे बचानेके लिये यथेष्ट परिश्रम करना चाहिये।

८- प्रत्येक किसान और गृहस्थको अपने-अपने घरोंमें यथाशक्ति कम-से-कम एक या दो गौओंको अवश्य पालना चाहिये।

९- पूर्णरूपसे आन्दोलन करके ऐसे कानून बनवाने चाहिये, जिनसे गोवध कतई बंद हो जाय।

विचारवानोंको उचित है कि उपर्युक्त उपायोंको काममें लाते हुए यथाशक्ति गौओंकी रक्षा करें। अर्जुनने तो केवल गोरक्षाके लिये बारह वर्षका वनवास स्वीकार किया था, इस समय यदि उतना न हो सके तो जितनी बन सके उतनी चेष्टा तो तन, मन, धनसे करनी ही चाहिये।

वनस्पति घीसे हानि

आजकल जो वेजिटेबल (वनस्पति) घीका प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ रहा है, यह हमारे देशके लिये बड़ा ही घातक है। इससे स्वास्थ्य और धर्मकी बड़ी हानि हो रही है। असलमें यह घी है ही नहीं। यह तो जमाया हुआ तेल है। यह मूँगफली, नारियल तथा बिनौले आदिके तेलोंसे एवं मछलीके तेलसे तैयार होता है। इसके बनानेमें निकेल धातु तथा हाइड्रोजन गैस काममें लिया जाता है। वह चीजें अपवित्र तो हैं ही, स्वास्थ्यके लिये भी महान् हानिकर हैं। निकेलमें एक प्रकारका विष होता है। इनसे तेल जम जाता है। उसकी गन्ध नष्ट हो जाती है और सफेद रंग बन जाता है।

इस विषयमें बंगालके प्रसिद्ध रासायनिक तथा 'खादी-प्रतिष्ठान' के संचालक सोदपुरनिवासी श्रीसतीशबाबूसे गीताप्रेसके मन्त्री श्रीघनश्यामदास जालान तथा मैनेजर श्री बजरंगलाल चाँदगोठिया मिले थे। उन्होंने यही कहा कि यह वेजिटेबल घी सभी प्रकारके तेल या चर्बी आदिसे बन सकता है और निकेल डाल देनेके कारण इसके बननेपर इसकी परीक्षा करनेके लिये कोई ऐसा यन्त्र नहीं है जिससे यह पता चल सके कि यह मूँगफलीके तेलसे बनाया गया है या मछलीके तेलसे। जिस समय जो तेल सस्ता होता है उसीसे यह बनाया जा सकता है। इस समय बंगाल आदिमें मूँगफलीका तथा मछलीका तेल अन्य सब तेलोंसे सस्ते हैं, इसलिये इस समय यह मूँगफली तथा मछलीके तेलसे बनाया जाता है।

वेजिटेबल घी बनानेवाले कई भाई यह गारंटी भी देते हैं कि यह मूँगफलीके तेलसे बना है किन्तु उस गारंटीका कोई मूल्य नहीं; क्योंकि इस घीके बननेपर इसकी कोई परीक्षा नहीं कर सकता कि यह किससे बना है। रही विश्वासकी बात, सो विश्वास इसलिये नहीं किया जा सकता कि जिस समय मूँगफलीके तेलकी अपेक्षा मछलीका तेल सस्ता मिलता होगा उस समय वे मूँगफलीके तेलसे ही यह चीज बनायें यह बात नहीं समझमें आती। क्योंकि मनुष्य लोभके वशमें होकर कौन-सा पाप नहीं कर सकता?

मछलीका तेल महान् अपवित्र तो है ही, इसके अलावा, इसमें निरपराध मछलियोंकी हिंसा भी होती है और फिर इसे बनानेके लिये इसमें जो निकेलका प्रयोग किया जाता है, उससे धर्मकी हानिके साथ-साथ स्वास्थ्यकी हानि भी होती है। देशके पशुओंकी हानि भी होती है क्योंकि इसके सामने गाय-भैंसका घी मूल्यमें नहीं टिक सकता। असली घीकी बिक्री हुए बिना किसान लोग गाय-भैंस नहीं पाल सकेंगे। गायोंके बिना बैल नहीं मिलेंगे, बैलोंके बिना खेती नहीं हो सकेगी और खेतीके बिना प्रजाका जीवन बहुत ही कष्टमय और निराशापूर्ण हो जायगा। यह बात बहुत लोग अनुभव कर चुके हैं कि वेजिटेबल घीके खानेसे अनेकों बीमारियाँ होकर मनुष्यकी आयुका ह्रास होता है। अतः यह वस्तु देश, धर्म, खेती, पशु और स्वास्थ्य सभीके लिये महान् ही हानिकारक है।

बाजारमें असली घीके नामसे जो घी बिकता है, उस घीमें भी लोग सस्ता होनेके कारण लोभवश इसका मिश्रण कर देते हैं। घीमें इसका मिश्रण कर देनेपर इसका पता लगाना बहुत मुश्किल है। असल-नकलकी जाँचके लिये मशीनें भी आयीं किन्तु उनसे भी इसका पूरा निर्णय न हो सका। नारियल और मूँगफली दोनोंके तेलोंको मिलाकर अथवा मछलीका तेल तथा मूँगफली या नारियलका तेल

मिलाकर वेजिटेबल घी बनाया जाय और वह असली घीमें मिला दिया जाय तो इन मशीनोंसे उसका कुछ भी पता नहीं लगाया जा सकता।

इस वेजिटेबल घीके इतने अधिक चल पड़नेके कारण देश, धर्म और स्वास्थ्यकी रक्षा चाहनेवाले भाइयोंको आजकल (सं० २०००) पवित्र घी मिलना बहुत ही कठिन हो गया है। मेरी तो यह राय है कि देश, धर्म और स्वास्थ्यकी रक्षाके लिये मिले तो शुद्ध घी खाना चाहिये, नहीं तो मूँगफलीका तेल खाना चाहिये। वेजिटेबल घी करीब २० मन मिलता है और मूँगफलीका तेल करीब १० मन। वेजिटेबल घी खानेसे व्यर्थ ही अधिक खर्च लगता है और धर्म तथा स्वास्थ्यकी हानि होती है, शुद्ध मूँगफलीका तेल खानेसे पैसोंकी बचत होती है तथा धर्म एवं स्वास्थ्यकी भी हानि नहीं होती। अत: वेजिटेबलकी अपेक्षा तो शुद्ध मूँगफलीका तेल ही खाना अच्छा है। घी ही खाना हो तो दूध खरीदकर उसमेंसे मक्खन, क्रीम या घी निकालकर उसे खाना चाहिये। इससे पशु, खेती, देश, धर्म और स्वास्थ्य—इन सबकी रक्षा हो सकती है। इस वेजिटेबल घीको तो किसी प्रकारसे भी नहीं खाना चाहिये, चाहे वह केवल वेजिटेबल हो अथवा असली घीमें मिला हुआ। न इस घीका लोभवश व्यापार ही करना चाहिये। बल्कि देश, धर्म, पशु, कृषि और स्वास्थ्यकी रक्षा चाहनेवाले देशसेवक तथा धर्मप्रेमी भाइयोंको तो इस घीका प्रचार रोकनेके लिये कानूनकी रक्षा करते हुए यथाशक्ति घोर विरोध करना चाहिये। खेदकी बात है कि लोभके कारण हमारे व्यवसायी सज्जन इसके व्यापारमें अधिक अग्रसर हैं। उनसे मेरी खास तौरसे प्रार्थना है कि इसे देश और धर्मके लिये महान् हानिकर समझकर इसको सर्वथा त्याग देनेकी कृपा करें।

प्राचीन हिन्दू राजाओंका आदर्श

हिन्दुओंकी समाजव्यवस्था सभी दृष्टियोंसे आदर्श है। क्योंकि उसके निर्माता वे क्रान्तिदर्शी ऋषि थे, जिन्होंने ज्ञान, तप, योग, भक्ति एवं सदाचारके प्रभावसे अखिल विश्वके रहस्यको हृदयंगम कर लिया था, जिनकी दृष्टि सर्वथा राग-द्वेषशून्य एवं निर्भ्रान्त थी, जो समदर्शी थे, जिन्हें तीनों कालोंका ज्ञान था और जिनका एकमात्र व्रत लोककल्याणका अनुष्ठान था। वे वनोंमें रहकर फल-मूलसे अपना निर्वाह करते थे, वल्कल धारण करते थे और बदलेमें कुछ भी न चाहकर सदा लोकहितमें तत्पर रहते थे। उनमें स्वार्थकी गन्ध भी नहीं थी, अतएव उन्होंने संसारको जो कुछ ज्ञान दिया है, वह सर्वथा निर्भ्रान्त है और उसको आचरणमें लानेसे ही संसारमें सुख-शान्तिका संचार हो सकता है और सब लोग अपने-अपने कर्तव्यका पालन कर लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकारका सुख प्राप्त कर सकते हैं। जितने अंशमें जगत्ने उनके बतलाये हुए मार्गका अनुसरण किया, उतने ही अंशमें वह सुखी रहा और उस मार्गसे जितना दूर वह हट रहा है, सुख-शान्ति भी उससे उतने ही दूर भागते जा रहे हैं। आज जगत्में जो भयंकर महासमर छिड़ा हुआ है और पहले भी जब-जब संसारमें इस प्रकारके उपद्रव हुए, वे ऋषियोंके चलाये हुए मार्गका अनुसरण न करनेके कारण ही हुए और अब भी संसार यदि अपना कल्याण चाहता है तो उसे ऋषियोंके बतलाये हुए मार्गपर चलना चाहिये; अन्यथा सुख-शान्तिकी आशा दुराशामात्र होगी।

समाज विराट्रूप भगवान्का शरीर है। ब्राह्मण उक्त समाजरूपी शरीरका मुख अथवा मस्तकस्थानीय है, क्षत्रिय बाहु हैं, वैश्य ऊरु (जंघा) और शूद्र पैर हैं—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याꣳशूद्रो अजायत॥

(यजुर्वेद ३१। ११)

मस्तकका कार्य है बुद्धिके द्वारा शरीरका संचालन करना, भुजाओंका कार्य है उसकी भौतिक आपत्तियोंसे रक्षा करना, ऊरुओंका कार्य है उसको स्थिर रखना तथा पैरोंका कार्य है उसे गति प्रदान करना, उसके सारे कार्योंको चलाना। शरीरके लिये उपर्युक्त अंगोंकी जो उपयोगिता है, वही समाजके लिये चारों वर्णोंकी है। इसी सिद्धान्तपर चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि हुई और जबतक यह व्यवस्था सुचारुरूपसे चलती रही, तबतक समाजमें सर्वत्र सुख-शान्तिका साम्राज्य रहा। जबसे यह व्यवस्था बिगड़ी, लोगोंने अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्तव्योंका पालन छोड़ दिया, तभीसे संसारके लिये विपत्तिका सूत्रपात हुआ और सर्वत्र कलह, राग-द्वेष एवं अशान्तिका विस्तार होने लगा।

ब्राह्मणोंका कार्य है संसारको ज्ञान प्रदान करना—पथप्रदर्शन करना, लोकहितकी व्यवस्था करना—कानून बनाना। क्षत्रियोंका कार्य है अस्त्र-शस्त्रके द्वारा राष्ट्रकी बाहरी आक्रमणोंसे तथा चोर-डाकुओंसे रक्षा करना, न्यायकी समुचित व्यवस्था करना, अत्याचारियोंका निग्रह करना, ब्राह्मणोंके बतलाये हुए मार्गपर लोगोंको चलाना। वैश्योंका कार्य है खेती, व्यापार और गोरक्षाके द्वारा समाजमें सुख-समृद्धिका विस्तार करना, राष्ट्रकी सम्पत्तिको

बढ़ाना, धनका अर्जन कर उसे लोकोपकारी कार्योंमें लगाना और इस प्रकार समाजका पोषण करना। तथा शूद्रोंका कार्य है शिल्प, कला तथा उद्योग-धंधोंद्वारा समाजकी विभिन्न आवश्यकताओंको पूर्ण करना एवं सेवा करना तथा समाजको सुखी बनाना।

आज हमें अन्य वर्णोंकी चर्चा न कर केवल क्षत्रियों, विशेषकर राजाओंके कर्तव्यों एवं आदर्शके सम्बन्धमें कुछ विचार करना है। 'क्षत्रिय' शब्दका अर्थ ही है रक्षा करना (**क्षतात् त्रायते**)। अतः क्षत्रियोंका, विशेषकर राजाओंका प्रधान कर्तव्य है—प्रजाके जान-मालकी, विशेषकर गौ-ब्राह्मणोंकी (जो धर्मके आधार हैं) तथा लोगोंके चरित्रकी, सदाचारकी, विशेषकर स्त्रियोंके सतीत्वकी रक्षा करना (क्योंकि उसीपर रक्तकी पवित्रता निर्भर है), प्रजाको सब प्रकारसे सुखी एवं समृद्ध बनाना, उसके कष्टोंको दूर करना, उसकी सभी उचित आवश्यकताओंको पूर्ण करना, उसे धर्ममार्गपर चलाना, उसकी सब प्रकारसे उन्नति करना। इस प्रकार राजाका प्रजाके प्रति वही कर्तव्य है, जो पिताका अपनी सन्तानके प्रति होता है। इसीलिये राजस्थानमें अब भी प्रजाजन राजाको 'माँ-बाप' तथा 'अन्नदाता' आदि शब्दोंसे सम्बोधित करते हैं। राजा दिलीपके सम्बन्धमें महाकवि कालिदासने क्या ही सुन्दर कहा है—

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥

(रघुवंश १। २४)

'प्रजाजनोंको शिक्षा-दीक्षाका समुचित प्रबन्ध करने, उन्हें धर्ममार्गपर चलाने तथा उनकी रक्षा एवं भरण-पोषण करनेके कारण वही (राजा दिलीप) उनके वास्तविक पिता (पाता=रक्षक) थे; लौकिक पिता तो केवल जन्म देनेवाले थे।' रक्षा करना विष्णुका कार्य है; इसीलिये हमारे शास्त्रोंमें राजाको विष्णुरूप तथा ईश्वरका अंश अथवा विभूति कहा गया है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें भी राजाको अपनी विशेष विभूति बतलाया है—'**नराणां च नराधिपम्**' (१०। २७)। जो राजा अपने इस कर्तव्यसे च्युत हो जाते हैं, जो रक्षकके बदले प्रजाके भक्षक बन जाते हैं, जो प्रजाको शोषणकर अपने ही ऐश-आराम तथा सुखकी सामग्री जुटानेमें व्यस्त रहते हैं तथा प्रजाके कष्टोंकी ओरसे आँख मूँद लेते हैं, जो स्त्रियोंके सतीत्वकी रक्षा न कर उलटा उनका सतीत्व नष्ट करते हैं, उन्हें बहुधा इसी जन्ममें इसका दुष्परिणाम भोगना पड़ता है और मरनेपर उन्हें नरककी भीषण यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ती हैं।

शासनकी समुचित व्यवस्थाके लिये, प्रजाजनोंकी शिक्षा-दीक्षा, उनके जान-माल तथा स्वास्थ्यकी रक्षाके प्रबन्धके लिये, उनकी उचित आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये तथा उनके कष्टोंके निवारणके लिये द्रव्यकी भी अपेक्षा होती ही है। अतएव राजाको प्रजासे उचित मात्रामें कर वसूल करनेकी आज्ञा दी गयी है। परन्तु करकी रकम उतनी ही होनी चाहिये जितनी आसानीसे अदा की जा सके, जिसे देनेमें भार न मालूम हो और जिसकी अदायगीके बाद भी खाने-पहनने तथा अन्य उचित आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये प्रजाजनोंके पास काफी द्रव्य बच रहे। और जितना द्रव्य करके रूपमें वसूल किया जाय, उसे प्रजाहितके ही काममें खर्च किया जाय; जितना वसूल किया जाय, उसका लाभ दूसरे रूपमें उन्हें ही पहुँचाया जाय। इसके लिये राजाको सूर्यका उदाहरण अपने सामने रखना चाहिये। सूर्य जितना जल अपनी किरणोंद्वारा समुद्रादिसे खींचता है, उसे वर्षाके रूपमें बरसाकर वह पृथ्वीको तर कर देता है और उसे नाना प्रकारके अन्न, फल, ओषधि आदि उत्पन्न करनेके योग्य बना देता है, जिससे प्रजा सुखी हो जाती है। राजा दिलीपके सम्बन्धमें महाकवि कालिदासने यही बात कही है—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥

(रघुवंश १। १८)

'प्रजाकी सुख-समृद्धिके लिये ही वह (दिलीप) उनसे कर लिया करता था। क्योंकि हजारगुने रूपमें पृथ्वीपर बरसानेके लिये ही भगवान् सूर्य जलका आकर्षण करते हैं।'

इसी बातको गोस्वामी तुलसीदासजीने दूसरे दृष्टान्तसे समझाया है। वे कहते हैं—

मुखिआ मुखु सो चाहिऐ खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥

(अयोध्या० ३१५)

'मुखिया (स्वामी अथवा राजा) मुखके समान होना चाहिये, जो खाने-पीनेको तो एक (अकेला) है परन्तु विवेकपूर्वक सब अंगोंका पालन-पोषण करता है।'

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मुख खाता है भोजनके रसको सारे अंगोंमें पहुँचाकर उन्हें पुष्ट बनानेके लिये, केवल अपने लिये नहीं, उसी प्रकार राजाको चाहिये कि वह प्रजाके काममें उपयोग करनेके लिये ही उससे कर वसूल करे, अपने ऐश-आराम एवं भोगके लिये नहीं। गोस्वामीजीने इसीको राजधर्मका सार-सर्वस्व बतलाया है—'**राजधरम सरबसु एतनोई।**'

इसी आदर्शका पालन करनेके लिये प्राचीन कालमें

राजालोग विश्वजित् यज्ञ किया करते थे, जिसमें वे अपना सर्वस्व लुटा देते थे और स्वयं अकिंचन बन जाते थे। दिलीपके पुत्र महाराज रघुके सम्बन्धमें, जिनके वंशमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अवतीर्ण हुए और जिनके नामसे उनका कुल विख्यात हुआ, यह वर्णन आता है कि उन्होंने विश्वजित् यज्ञमें अपना सब कुछ दान दे दिया था—यहाँतक कि उनके पास धातुके पात्रतक नहीं रह गये थे, मिट्टीके बर्तनोंको वे व्यवहारमें लाते थे। उनकी इस दीन-दशाको देखकर कौत्सनामक स्नातक ब्राह्मणकुमारको, जो गुरुदक्षिणाके लिये द्रव्यकी याचना करने उनके पास आया था—साहस नहीं हुआ कि उनसे कुछ माँगे।

तात्पर्य यह है कि राजाका सब कुछ प्रजाके लिये ही होता था। राजकीय कोषपर भी राजा अपना निजी स्वत्व नहीं मानते थे। वे तो ट्रस्टीकी भाँति अपनेको उसका रक्षकमात्र समझते थे। इसीलिये प्रजाके लिये उसे वितीर्ण कर देनेमें उन्हें तनिक भी कष्ट नहीं होता था। जो जिसकी सम्पत्ति है, उसे उसके लिये खर्च करनेमें खजानचीको कष्ट क्यों होने लगा। यही कारण था कि राजा और प्रजामें परस्पर बड़ा सद्भाव रहता था। राजा प्रजाके लिये सर्वस्व होमनेको तैयार रहते थे और प्रजा भी राजाके लिये प्राणतक देनेको तैयार रहती थी। यही कारण था कि भगवान् श्रीरामको वन जाते देखकर सारे अयोध्यावासी घर और कुटुम्बकी ममताको त्याग कर उनके पीछे हो लिये और उनकी खोजमें जंगलोंमें भटके। आज भगवान् रामकी-सी प्रजावत्सलता और अयोध्यावासियोंका-सा त्याग कहाँ देखनेको मिलता है। बात यह है कि उस समय सबका ध्यान अपने-अपने कर्तव्यपालनकी ओर था, लोग अधिकारके लिये नहीं लड़ते थे, बल्कि कर्तव्यके पीछे अपने न्याय अधिकारका त्याग कर देते थे। यही कारण था कि जहाँ आज एक-एक बित्ता जमीनके लिये भाइयोंकी तो बात ही क्या है, पिता और पुत्रमें मुकद्दमेबाजी होती देखी जाती है, वहाँ भगवान् श्रीरामने जेठे होनेके कारण राज्यके अधिकारी एवं प्रजाके अतिशय अनुरागभाजन होनेपर भी अपने छोटे भाई भरतके लिये हँसते-हँसते उसका त्याग कर दिया और स्वयं चौदह वर्षतक वनमें रहना स्वीकार किया। और इधर भरतने भी रामके द्वारा त्यागे हुए उस राज्य-वैभवको स्वीकार नहीं किया और धरोहरकी भाँति उसकी रक्षा करते हुए भी मनसे अपनेको उससे सर्वथा दूर रखा।

महाभारतके वनपर्वमें एक बड़ा सुन्दर आख्यान मिलता है। एक बार महर्षि अगस्त्यकी पत्नी लोपामुद्राने अपने पतिसे आभूषणोंकी याचना की। अगस्त्यजी अपनी पत्नीकी अभिलाषाको पूर्ण करनेकी इच्छासे श्रुतर्वा नामक राजर्षिके पास गये और उनसे कहा कि 'हे राजन्! मैं तुमसे धनकी याचना करने आया हूँ; अतः तुम दूसरोंको दुःख न देकर प्राप्त किये हुए धनमेंसे कुछ भाग मुझे दो।' राजा श्रुतर्वाने महर्षिके इस आदेशको सुनकर अपने आय और व्ययका पूरा ब्यौरा उनको दिखलाया और कहा कि इसमेंसे जो धन आप ठीक समझें, ले सकते हैं। समान दृष्टिवाले अगस्त्य मुनिने जब आय-व्ययको देखा तो उन्होंने दोनोंका जोड़ बराबर पाया। तब उन्होंने सोचा कि यदि मैं इस राजासे धन लेता हूँ तो इसकी प्रजाको कष्ट होगा। अतः उन्होंने उस राजासे धन लेना अस्वीकार कर दिया और उस राजाको साथ लेकर वे दूसरे राजा (व्रध्नश्व)-के पास गये, किन्तु वहाँ भी उन्होंने यही कैफियत पायी। वहाँसे व्रध्नश्वको भी साथ लेकर वे तीसरे राजा त्रसद्दस्युके पास गये, किन्तु वहाँ भी उन्होंने आय-व्ययका हिसाब बराबर पाया। अन्तमें सब मिलकर इल्वल नामके दैत्यके पास गये, जिसकी आय व्ययकी अपेक्षा बहुत अधिक थी। उसने महर्षिको बहुत-सा धन दिया। इस कथासे यह पता चलता है कि प्राचीन कालके राजालोग अपना आय-व्यय बराबर रखते थे, वे जो कुछ प्रजासे करके रूपमें वसूल करते थे, उसे सारा-का-सारा प्रजाके काममें ही लगा देते थे। आज भी यदि राजालोग इस आदर्शका पालन करें तो प्रजाके लिये कोई असन्तोषका कारण न रह जाय और वे सब उन्हें हृदयसे चाहने लगें।

जिस प्रकार सन्तानके सुधरने और बिगड़नेकी सारी जिम्मेवारी माता-पिताके ऊपर होती है, उसी प्रकार प्रजाकी भलाई-बुराईका सारा भार राजाके ऊपर होता है। कहा भी है—'**यथा राजा तथा प्रजा।**' यदि राजा धर्मात्मा, सदाचारी एवं न्यायशील होता है तो प्रजामें भी ये सारे गुण क्रमशः उतर आते हैं। इसके विपरीत यदि राजा दुराचारी, अन्यायी एवं प्रजापीडक होता है तो प्रजामें भी उच्छृंखलता, अनाचार, पापाचार एवं प्रतिहिंसाके भाव फैल जाते हैं और इस प्रकार राजा और प्रजा दोनों ही अधोगतिको प्राप्त होते हैं।

जिस प्रकार पिताको अथवा गुरुको अपने आचरणके सम्बन्धमें सदा सतर्क रहना चाहिये, उसे कोई ऐसी चेष्टा नहीं करनी चाहिये जिसका प्रभाव उसकी सन्तानपर अथवा शिष्योंपर अच्छा न पड़े, जिसके कारण उसकी सन्तान अथवा शिष्योंके बिगड़नेका डर हो, उसी प्रकार राजाके लिये भी यह आवश्यक है कि वह प्रजाको धर्ममार्गपर चलानेके लिये स्वयं तत्परताके साथ त्यागपूर्वक धर्मका आचरण करे। साधारण व्यक्तियोंकी अपेक्षा नेताओं, धर्मगुरुओं, अध्यापकों और राजाओंकी जिम्मेवारी कहीं अधिक होती है। साधारण व्यक्ति तो केवल अपने तथा

अपनी सन्तानके ही आचरणके लिये उत्तरदायी होते हैं; किन्तु नेता, गुरु, अध्यापक और राजा क्रमशः अपने अनुयायियों, शिष्यों तथा प्रजाजनोंके आचरणके लिये भी उत्तरदायी होते हैं। शिष्य बिगड़ता है तो उसके लिये लोग गुरु और अध्यापकको ही दोष देते हैं, अनुयायियोंका दोष उनके नेतापर मँढ़ा जाता है और प्रजाके अधर्माचरणके लिये लोग राजाको ही दोषी ठहराते हैं। इसीलिये राजाओंको विशेष चरित्रवान् एवं धर्मात्मा होना चाहिये, जिससे प्रजाजन भी उनका अनुकरण कर चरित्रवान् एवं धर्मात्मा बन सकें।

हमारे शास्त्रोंमें तो यहाँतक कहा गया है कि यदि किसी देशमें दैवी प्रकोप अधिक होते हैं—दुर्भिक्ष, बाढ़, भूकम्प, महामारी आदिके दौरे होते हैं, लोगोंकी अकालमृत्यु होती है, विधवाओंकी संख्या अधिक होती है तो इसके लिये उस देशका राजा दोषका भागी समझा जाना चाहिये। राजा यदि धर्मात्मा होता है तो उपर्युक्त उपद्रव हो ही नहीं सकते।

महाराज युधिष्ठिरके सम्बन्धमें महाभारतमें यह वर्णन मिलता है कि जब वे अपने भाइयोंके साथ विराटनगरमें छिपकर रह रहे थे, उस समय कौरवोंके द्वारा उनकी खोजके लिये अनेकों प्रयत्न किये गये; परन्तु सब निष्फल रहे। तब महात्मा भीष्मपितामहने उनको खोज निकालनेकी एक युक्ति बतलायी। वे बोले—'जिस नगर अथवा देशमें महाराज युधिष्ठिर रहते होंगे, वहाँके राजाओंका अमंगल नहीं हो सकता। उस देशके मनुष्य निश्चय ही दानशील, उदार, शान्त, लज्जाशील, प्रियवादी, जितेन्द्रिय, सत्यपरायण, हृष्ट-पुष्ट पवित्र तथा चतुर होंगे। वहाँकी प्रजा असूया, ईर्ष्या, अभिमान और मत्सरतासे रहित होगी तथा सब लोग स्वधर्मके अनुसार आचरण करनेवाले होंगे। वहाँ निःसन्देह अच्छी तरहसे वर्षा होगी। सारा-का-सारा देश प्रचुर धन-धान्य-सम्पन्न और पीड़ारहित होगा। वहाँके अन्न सारयुक्त होंगे, वहाँकी पवित्र वायु सुखदायक होगी, पाखण्डरहित धर्मका स्वरूप देखनेमें आवेगा और किसीको भी भय न होगा। वहाँ प्रचुर मात्रामें दूध देनेवाली हृष्ट-पुष्ट गायें होंगी। धर्म वहाँ स्वयं मूर्तिमान् होकर निवास करेंगे। वहाँके सभी मनुष्य सदाचारी, प्रेम करनेवाले, सन्तोषी तथा अकालमृत्युसे रहित होंगे। वे देवता और अतिथियोंकी पूजामें प्रीति रखनेवाले, यथेष्ट दान देनेवाले, उत्साहयुक्त और धर्मपरायण होंगे। वहाँके मनुष्य सदा परोपकारपरायण होंगे। जिस नगर अथवा देशमें ये सब लक्षण देखनेको मिलें, महाराज युधिष्ठिर वहीं निवास करते हैं—यह निश्चय जानना।'*

जिस राजाके निवासमात्रसे दूसरे देशोंमें यह हालत होती थी, वह राजा स्वयं कितना धार्मिक होगा और उसकी प्रजा कैसी सुखी और सदाचारपरायण होगी—वर्तमान युगमें इसका अनुमान करना भी कठिन है। इसीलिये तो महाराज युधिष्ठिर धर्मराजके नामसे विख्यात हुए। यह पदवी आजतक किसी भी राजाको प्राप्त नहीं हुई।

एक बारकी बात है, इन्द्रप्रस्थमें महाराज युधिष्ठिर अपनी सभामें बैठे थे। इतनेमें ही देवर्षि नारद भगवान्‌का गुणगान करते हुए वहाँ आ पहुँचे। युधिष्ठिरने उनका बड़ा सम्मान किया। कुशल-प्रश्नके अनन्तर देवर्षि नारद धर्मराजसे कहने लगे—'कहो राजन्! अर्थचिन्तन करते हुए क्या धर्मचिन्तनमें भी तुम्हारा मन लगता है? सुखोंके उपभोगमें अत्यन्त आसक्त होकर तुमने मनको दूषित तो नहीं कर डाला? धर्म, अर्थ और कामका सेवन करनेमें अपने पूर्व पुरुषोंके किये हुए सज्जनताके बर्तावको तो तुम नहीं भूल जाते हो? धर्माचरणमें उदासीनता तो नहीं करते? तुम्हारी दुर्गपति आदि सात प्रकृतियाँ दुर्व्यसनोंमें लिप्त तो नहीं हैं? तुम कहीं निद्राके वशीभूत तो नहीं रहते? ठीक समयपर तुम जागते तो हो? रात्रिके पिछले भागमें तुम उचित-अनुचितका विचार तो करते हो? किसानलोग तुम्हारे परोक्षमें ठीक-ठीक व्यवहार तो करते हैं? क्योंकि निःसन्देह प्रभुके ऊपर सच्चा प्रेम हुए बिना ऐसा होना असम्भव है। विश्वासपात्र, निर्लोभ, कुलपरम्परागत कर्मचारियोंसे तुम काम लेते हो न? कार्योंको आरम्भ करनेके पूर्व उनकी

* तत्र तात न तेषां हि राज्ञां भाव्यमसाम्प्रतम्। पुरे जनपदे चापि यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
दानशीलो वदान्यश्च निभृतो ह्रीनिषेवकः। जनो जनपदे भाव्यो यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
प्रियवादी सदा दान्तो भव्यः सत्यपरो जनः। हृष्टः पुष्टः शुचिर्दक्षो यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
नासूयको न चापीर्षुर्नाभिमानी न मत्सरी। भविष्यति जनस्तत्र स्वयं धर्ममनुव्रतः॥
सदा च तत्र पर्जन्यः सम्यग्वर्षी न संशयः। सम्पन्नसस्या च मही निरातङ्का भविष्यति॥
वायुश्च सुखसंस्पर्शो निष्प्रतीपं च दर्शनम्। न भयं त्वाविशेत्तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः॥
गावश्च बहुलास्तत्र न कृशा न च दुर्बलाः। सम्प्रीतिमाञ्जनस्तत्र सन्तुष्टः शुचिरव्ययः॥
देवतातिथिपूजासु सर्वभावानुरागवान्। इष्टदानो महोत्साहः स्वस्वधर्मपरायणः॥
(विराटपर्व २८। १४—१७, १९, २१, २२, २६, २७)

परीक्षाके लिये तुम धर्मज्ञ एवं शास्त्रोंमें प्रवीण परीक्षकोंको नियत करते हो न? युद्धविद्यामें प्रवीण वीर पुरुषोंके द्वारा कुमारोंको युद्धकी शिक्षा तो दिलाते हो न? विनययुक्त, कुलीन, पूर्ण विद्वान्, किसीसे डाह न करनेवाले, उदारचित्त पुरुषको सत्कार करके तुमने अपना पुरोहित तो बनाया है? तुमने निष्कपट, कुलपरम्परागत, पवित्र स्वभाववाले श्रेष्ठ मन्त्रियोंको उत्तम कार्योंपर नियुक्त किया है न? प्रचण्ड दण्ड देकर तुम प्रजाजनोंको उद्वेजित तो नहीं करते? हे भरतश्रेष्ठ! मन्त्री तुम्हारे आज्ञानुसार राज्यका शासन तो करते हैं? तुम्हारी सेनाके मुख्य योधा सब प्रकारके युद्धमें प्रवीण, प्रबल पराक्रमी, सच्चरित्र, साहसी और तुमसे उचित सम्मान तो पाये हुए हैं? तुम अपनी सेनाको यथोचित वेतन और अन्न ठीक समयपर देते हो न? उनको परेशान तो नहीं करते? युद्धके समस्त कार्योंको करनेके लिये तुमने एक ही यथेच्छाचारी पुरुषको तो नियुक्त नहीं कर दिया है? क्योंकि स्वेच्छाचारी पुरुष शासनकी मर्यादाके बाहर हो जाता है। यदि कोई पुरुष अपने पुरुषार्थसे तुम्हारे कार्यको उत्तम रीतिसे सिद्ध करता है, तो वह तुमसे अधिक सम्मान और नियमितसे अधिक अन्न और वेतन पाता है न? ज्ञानके प्रकाशयुक्त, विद्यावान्, अति विनीत गुणी पुरुषोंका उनके गुणोंके अनुसार यथोचित धन देकर सम्मान तो करते हो? हे महाराज! जो तुम्हारे उपकारके लिये कालके गालमें चले जाते हैं या बड़ी भारी विपत्तिमें फँस जाते हैं, उनके स्त्री-पुत्रादिका भरण-पोषण करते हो न? हे पार्थ! बलहीन अथवा युद्धमें हारा हुआ शत्रु भयभीत होकर जब तुम्हारी शरणमें आता है तो तुम उसकी पुत्रके समान रक्षा करते हो न? जैसे पिता-माता सब सन्तानोंपर समान प्रेम करते हैं, वैसे ही आप भी सम्पूर्ण पृथ्वीको समदृष्टिसे देखते हो न? वृद्धलोग, जातिके मनुष्य, गुरुजन, व्यापारी, कारीगर, आश्रित, दीन, दरिद्र और अनाथोंको सदा धन-धान्य देकर उनपर अनुग्रह करते हो न? कार्य-कुशल, सावधान, हितैषी कर्मचारियोंको पहले उनका कोई अपराध, बिना देखे तो उनके अधिकारसे अलग नहीं कर देते? हे महाराज! पुरुषोंकी उत्तम, मध्यम और अधम योग्यताको जानकर तुम उनको यथोचित कार्योंपर नियुक्त करते हो न? हे राजन्! तुम लोभी, चोर, वैरी अथवा पहले परीक्षा न किये हुए पुरुषोंको तो अपने कामोंपर नियुक्त नहीं करते? चोर, लोभी, बालक अथवा स्त्रियोंकी प्रबलतासे अथवा तुम्हारे अत्याचारसे प्रजा दुःख तो नहीं पाती? राज्यके किसान तो सन्तुष्ट चित्तसे समय बिताते हैं? राज्यमें स्थान-स्थानपर जलसे भरे बड़े-बड़े सरोवर तो तुमने खुदवा रखे हैं? खेतीका काम केवल वर्षाके भरोसे तो नहीं है? तुम्हारे किसानोंके पास बीज और अन्न तो कम नहीं हो जाता? आवश्यकता पड़नेपर अनुग्रहपूर्वक उन्हें ऋण दे देते हो न? डाकू-चोर तुम्हारे राज्यमें सम-विषम स्थलोंमें दल बाँधकर नगरोंको लूटते तो नहीं फिरते? स्त्रियोंको सन्तुष्ट और सुरक्षित तो रखते हो? रात्रिके पहले दो पहर सोनेमें बिताकर रात्रिके पिछले पहरमें उठकर धर्मार्थका चिन्तन करते हो न? हे राजन्! दण्डके योग्य और पूजाके योग्य पुरुषोंकी यथोचित परीक्षा करके तुम धर्मराज यमके समान बर्ताव करते हो न? हे पार्थ! शरीरकी पीड़ाको औषध और पथ्यके द्वारा तथा मनकी पीड़ाको निरन्तर वृद्धोंकी सेवासे दूर करते हो न? हे राजन्! तुम किसी प्रकार लोभ, मोह वा अभिमानके वशमें होकर तो वादी-प्रतिवादियोंके कार्योंको नहीं देखते? कहीं लोभसे, मोहसे, विश्वाससे अथवा प्रेमभावसे आश्रित पुरुषोंका वेतन तो नहीं रोक लेते? दुर्बल शत्रुको बलात् तुम अधिक पीड़ा तो नहीं देते? बल और मन्त्रसे किसीका सर्वनाश तो नहीं करते? सब विद्याओंके विषयमें गुणोंका विचार करके ब्राह्मण और सज्जनोंका सम्मान करते हो न? हे महाराज! यत्नके साथ पूर्वपुरुषोंके आचरण किये हुए वेदोक्त धर्मका आचरण करनेमें तुम प्रवृत्त रहते हो न? एकाग्रचित्त होकर मनको वशमें किये हुए अनेकों यज्ञोंको पूर्ण रीतिसे करते हो न? गुरुजन, ज्ञातिके वयोवृद्ध, देवता, तपस्वी, चैत्यवृक्ष तथा कल्याणकर्ता ब्राह्मणोंको नमस्कार करते हो न? हे अनघ! तुम एकाएकी शोक वा क्रोधसे दब तो नहीं जाते? तुम्हारे लोभान्ध, अनभिज्ञ अधिकारी पुरुषोंद्वारा चोरीका मिथ्या लांछन लगाये हुए सच्चरित्र विशुद्धस्वभाव निष्पाप पुरुष मरणका दण्ड तो नहीं पाते? हे नरश्रेष्ठ! दुष्ट, अहितकारी, खोटे स्वभाववाले, दण्डके योग्य चोरको चोरी की हुई वस्तुके साथ पकड़कर भी तुम्हारे कर्मचारी धनके लोभसे उसे छोड़ तो नहीं देते? हे भारत! तुम्हारे मन्त्री धनके लोभमें पड़े हुए धनी और दरिद्रका विवाद होनेपर झूठा फैसला तो नहीं देते? नास्तिकता, मिथ्याभाषण, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानवान् पुरुषोंसे न मिलना, आलस्य, चित्तकी चंचलता, निरन्तर धनकी चिन्ता इत्यादि दोषोंका तो तुमने सर्वथा त्याग कर दिया है न? हे राजन्! तुम्हारे नगर और राज्यमें व्यापारियोंका सम्मान तो होता है और तुम्हारे अधिकारियोंके परीक्षा ले लेनेपर ही वे व्यापारके पदार्थोंको राज्यमें लाने पाते हैं न? हे तात! तुम धर्मार्थदर्शी और तत्त्वज्ञानी वृद्ध पुरुषोंकी धर्मभरी उपदेशकी बातें नित्य सुनते हो न? हे महाराज! कोई तुम्हारा उपकार करे तो उसे याद तो रखते हो? कोई सत्कर्म करे तो उसकी प्रशंसा और सज्जनोंमें

आदर करके उसका सत्कार तो करते हो? अग्निके भयसे तथा रोग और राक्षसी स्वभाववाले दुष्ट पुरुषोंके भयसे तुम अपने सम्पूर्ण राज्यकी रक्षा तो करते हो? हे महाराज! निद्रा, आलस्य, भय, क्रोध, अधिक नर्मी और दीर्घसूत्रीपन—इन छः अनर्थोंका तो तुमने एक साथ त्याग कर दिया है न?' राजा युधिष्ठिरने बड़े ध्यानसे इन सब प्रश्नोंको सुना और नारदजीके चुप होनेपर वे उनसे कहने लगे—'हे भगवन्! आपने जो धर्मका निश्चयरूप उपदेश दिया, वह बहुत ही ठीक और यथार्थ है और मैं यथाशक्ति न्यायानुकूल ऐसा ही करता हूँ। राजाओंको जो कार्य जिस प्रकार करना चाहिये तथा पूर्वकालके राजा न्यायपूर्वक धनका संग्रह कर जिन सकल आवश्यक कार्योंको करते थे, उन्हें मैं भी करता हूँ।'[१]

ऊपरके संवादसे यह बात भलीभाँति विदित हो जाती है कि राजाको किस प्रकारका आचरण करना चाहिये और वे सब आचरण महाराज युधिष्ठिरमें विद्यमान थे।

छान्दोग्य उपनिषद्के पाँचवें अध्यायमें महाराज अश्वपतिकी कथा आती है। उनके पास एक बार अरुणके पुत्र उद्दालकके भेजे हुए कुछ मुनि वैश्वानर विद्या (अध्यात्मविद्या) सीखनेके लिये आये। उनका राजाने बड़ा सत्कार किया और उन्हें धनकी इच्छासे आया हुआ जान बहुत-सा धन देना चाहा। ऋषि तो दूसरे ही प्रयोजनसे आये थे, अतः उन्होंने धन लेनेसे इनकार किया। इसपर राजाने सोचा कि मेरे धनको निषिद्ध समझकर ये लोग स्वीकार नहीं कर रहे हैं। अतः अपने धनकी पवित्रताको सिद्ध करनेके लिये वह कहने लगा—'हे मुनियो! मेरे राज्यमें कोई चोर—दूसरेका धन हरण करनेवाला नहीं है, न कोई कदर्य—सम्पत्ति रहते हुए दान न करनेवाला है, न कोई मद्यपान करनेवाला है, न अनाहिताग्नि है, न अविद्वान् है, न कोई स्वैरी—परस्त्रियोंके प्रति गमन करनेवाला है; अतः स्वैरिणी (कुलटा स्त्री) भी कैसे हो सकती है?'[२] क्या आज कोई राजा इस प्रकारका दावा कर सकता है?

रामराज्यकी सुख-सम्पदा तो प्रसिद्ध ही है। यही कारण है कि 'रामराज्य' शब्द आदर्श राज्यके पर्यायरूपमें बरता जाने लगा है। उसका वर्णन गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसमें बड़े ही सुन्दर शब्दोंमें किया है। वे कहते हैं कि 'भगवान् श्रीरामके राजगद्दीपर आसीन होते ही तीनों लोक शोकरहित हो गये। कोई किसीसे वैर नहीं करता था। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके प्रतापसे सबकी विषमता (आन्तरिक भेद-भाव) नष्ट हो गयी। सब लोग अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुकूल धर्ममें तत्पर हुए वेदमार्गपर चलते थे और सुख पाते थे। उन्हें न किसी बातका भय था, न शोक था और न कोई रोग ही सताता था। रामराज्यमें दैहिक, दैविक और भौतिक ताप किसीको नहीं व्यापते थे। सब मनुष्य परस्पर प्रेम करते थे और वेदोंमें बतलायी हुई नीति (मर्यादा)-के अनुसार अपने धर्ममें लगे रहकर उसका आचरण करते थे। धर्म अपने चारों चरणों (सत्य, शौच, दया और दान)-से जगत्में परिपूर्ण हो रहा था। स्वप्नमें भी कहीं पाप नहीं था। पुरुष और स्त्री सभी रामभक्तिके परायण थे और सभी परमगति (मोक्ष)-के अधिकारी थे। छोटी अवस्थामें मृत्यु नहीं होती थी, न किसीको पीडा होती थी। सभीके शरीर सुन्दर और नीरोग थे। न कोई दरिद्र था, न दुःखी था और न दीन ही था। न कोई मूर्ख था और न शुभ लक्षणोंसे हीन था। सभी लोग दम्भरहित, धर्मपरायण और पुण्यात्मा थे। पुरुष और स्त्री सभी चतुर और गुणवान् थे। सभी गुणोंका आदर करनेवाले और पण्डित तथा सभी ज्ञानी थे। सभी कृतज्ञ (दूसरेके किये हुए उपकारको माननेवाले) थे, कपट-चतुराई किसीमें नहीं थी। श्रीरामके राज्यमें जड-चेतन सारे जगत्में काल, कर्म, स्वभाव और गुणोंसे उत्पन्न हुए दुःख किसीको भी नहीं होते थे (अर्थात् इनके बन्धनमें कोई नहीं था)।

'सभी नर-नारी उदार, सभी परोपकारी और सभी ब्राह्मणोंके चरणोंके सेवक थे। सभी पुरुष एकपत्नीव्रती थे। इसी प्रकार स्त्रियाँ भी मन, वचन और कर्मसे पतिका हित करनेवाली थीं। वनोंमें वृक्ष सदा फूलते और फलते थे। हाथी और सिंह वैर भूलकर एक साथ रहते थे। पक्षी और पशु सभीने स्वाभाविक वैर भुलाकर आपसमें प्रेम बढ़ा लिया था। शीतल, मन्द, सुगन्धित पवन चलता रहता था। लताएँ और वृक्ष माँगनेसे मधु टपका देते थे, गौएँ

१-भगवन् न्यायमाहैतं यथावद्धर्मनिश्चयम्। यथाशक्ति यथान्यायं क्रियतेऽयं विधिर्मया॥
राजभिर्यद्यथा कार्यं पुरा वै तन्न संशयः। यथान्यायोपनीतार्थं कृतं हेतुमदर्थवत्॥
(महाभारत, सभापर्व ६। २-३)

२-तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयाञ्चकार स ह प्रातः सञ्जिहान उवाच—
न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः। नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥
(छान्दोग्य० ५। ११। ५)

मनचाहा दूध देती थीं और पृथ्वी सदा खेतीसे भरी रहती थी। समुद्र अपनी लहरोंके द्वारा किनारोंपर रत्न डाल देते थे, जिन्हें मनुष्य उठा लिया करते थे। सूर्य उतना ही तपते थे, जितना आवश्यक होता था और मेघ माँगनेसे जब जहाँ जितना चाहिये, उतना ही जल देते थे। त्रेतायुगमें सत्ययुगकी-सी स्थिति हो गयी थी।'

जैमिनीयाश्वमेध नामक ग्रन्थमें भक्त सुधन्वाकी कथा आती है, जिसमें सुधन्वाके पिता राजा हंसध्वजके सम्बन्धमें यह उल्लेख मिलता है कि उनके राज्यमें सब लोग एकपत्नीव्रती थे तथा देशके सभी नर-नारी भगवान्‌के परम भक्त थे। राज्यमें नौकरीके लिये बाहरसे कोई आदमी आता तो राजा सबसे पहले उससे यही कहते—

एकपत्नीव्रतं तात यदि ते विद्यतेऽनघ।
ततस्त्वां धारयिष्यामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥
न शौर्यं न कुलीनत्वं न च क्वापि पराक्रमः।
स्वदाररसिकं वीरं विष्णुभक्तिसमन्वितम्॥
वासयामि गृहे राष्ट्रे तथान्येऽपि हि सैनिकाः।
अनंगवेगं स्वान्ते ये धारयन्ति महाबलाः॥

(१७। १४—१६)

'हे निष्पाप! यदि तुम एकपत्नीव्रतका पालन करनेवाले हो, तो मैं तुम्हें अपने यहाँ रख सकता हूँ; भाई! मैं सत्य कहता हूँ कि निकम्मी शूरता, कुलीनता और पराक्रम मैं नहीं चाहता। जो वीर केवल अपनी एक ही पत्नीमें प्रेम करनेवाला और भगवान्‌की भक्तिसे सम्पन्न होगा, मैं उसीको अपने घरमें अथवा राष्ट्रमें स्थान दे सकता हूँ। तथा दूसरे भी जो सैनिक कामदेवके प्रबल वेगको धारण कर सकते हैं, वे ही वास्तवमें महाबली सैनिक हैं [अतः उन्हें ही मैं आश्रय दे सकता हूँ]।' राजाकी सेनामें सभी योद्धा भगवद्भक्त, रणवीर, दीनोंपर दया करके उन्हें दान देनेवाले, एकपत्नीव्रती, सम्मान्य और प्रिय बोलनेवाले थे—

सर्वे ते वैष्णवा वीराः सदा दानपरायणाः।
एकपत्नीव्रतयुताः संमतास्ते प्रियंवदाः॥

(१७। १२)

राजा स्वयं पक्के एकपत्नीव्रती थे, इसीसे वे अपनी प्रजासे भी इस नियमका पालन करा सके।

श्रीरामका एकपत्नीव्रत तो प्रसिद्ध ही है। अश्वमेध-यज्ञमें स्त्रीका होना आवश्यक है। परन्तु वहाँ भी उन्होंने भगवती सीताकी स्वर्णमयी प्रतिमाको पास बिठलाकर ही काम निकाला किन्तु दूसरा विवाह नहीं किया और इस प्रकार अपने अखण्ड एकपत्नीव्रतका परिचय दिया। धन्य मर्यादा!

भगवान् श्रीरामने तो अवतार ही लिया था जगत्‌में मर्यादा स्थापन करनेके लिये, इसीलिये वे मर्यादापुरुषोत्तम कहलाये। उनका तो प्रत्येक चरित्र शिक्षासे भरा हुआ है। जगत्‌में उनका उदाहरण देकर कोई भूलसे भी अनाचारको आश्रय न दे, इसके लिये उन्होंने लोकापवादको आदर देते हुए प्राणोंसे भी प्यारी सतीशिरोमणि निर्दोष जानकीका परित्याग कर दिया, यद्यपि उनके मनमें देवी जानकीकी पवित्रताके सम्बन्धमें कोई शंका नहीं थी और उनकी अग्निपरीक्षा भी हो चुकी थी। स्नेह, दया और सुखकी कोई परवा न कर वे प्रजाके सन्तोषके लिये इतना निष्ठुर व्यवहार करनेमें भी नहीं हिचकिचाये और जगत्‌में लोकरंजनका अलौकिक आदर्श स्थापित किया। स्नेह और दया आदिके वैयक्तिक भावोंको कुचलकर उन्होंने इस बातको प्रमाणित कर दिया कि राजाका अस्तित्व ही प्रजाके लिये होता है, उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती।

ऐसे आदर्शका पालन करते हुए महाराज हंसध्वजने अपने पुत्र सुधन्वाको युद्धमें विलम्बसे उपस्थित होनेके लिये घोर प्राणदण्ड दिया। राजा शिबिने एक शरणागत कबूतरकी रक्षाके लिये अपना शरीरतक देना स्वीकार कर लिया। सत्यकी रक्षाके लिये राजा हरिश्चन्द्रने अपने राज्यको तृणवत् त्याग दिया और स्त्रीतकको बेच डाला। अतिथिके प्रति अपना कर्तव्य पालन करनेके लिये महाराज रन्तिदेवने ४८ दिनतक भूखे रहनेके बाद मिले हुए अन्न-जलका भी परित्याग कर दिया। इस प्रकारके आदर्श त्यागसे ही प्राचीन कालके राजा लोग जगत्‌में धर्मकी स्थापना करनेमें समर्थ होते थे। यही कारण था कि उनकी प्रजा भी उन्हींके समान धर्ममें रत रहती थी और जगत्‌में सर्वत्र सुख-शान्तिका साम्राज्य था। क्या वर्तमान कालके राजा लोग भी इस प्राचीन आदर्शका अनुसरण कर जगत्‌में सुख-शान्तिका विस्तार करेंगे?

ऊपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी तथा महाराज युधिष्ठिर आदिके शासनकी जो बातें दिखलायी गयी हैं तथा देवर्षि नारदने युधिष्ठिरको जो राजधर्मका उपदेश दिया है, वह सभी राजाओंके लिये अनुकरणीय एवं पालनीय है। केवल राजा ही नहीं, हमारे देशके जमींदार, धनी तथा अन्य सद्‌गृहस्थ भी यदि इन बातोंपर ध्यान दें और इन्हें अपने जीवनमें उतारनेकी चेष्टा करें तो इससे उनका, उनके वर्गका तथा उनकी प्रजा एवं आश्रितजनोंका बड़ा कल्याण हो सकता है। राजाओंद्वारा आय-व्ययको बराबर रखे जानेका जो प्राचीन आदर्श है, वह भी सबके लिये

अनुकरणीय है। प्रजासे करके रूपमें जो कुछ भी वसूल किया जाय, उसे पूरा-का-पूरा उन्हींके काममें लगाया जाना चाहिये। ऐसा करनेसे राजा और प्रजाके बीच पिता-पुत्रका जो भाव है, वह सदा बना रह सकता है और ऐसा करनेवाले राजाकी प्रजा कभी उससे असन्तुष्ट नहीं होती।

परलोक और पुनर्जन्म

परलोक और पुनर्जन्मका सिद्धान्त हिन्दूधर्मकी खास सम्पत्ति है। जैन और बौद्धमत भी एक प्रकारसे हिन्दूधर्मकी ही शाखाएँ मानी जा सकती हैं; क्योंकि वे इस सिद्धान्तको मानते हैं। इसलिये वे हिन्दूधर्मके अन्तर्गत हैं। मुसलमान और ईसाईमत इस सिद्धान्तको नहीं मानते; परन्तु थियॉसफी सम्प्रदायके उद्योगों तथा प्रेतविद्या (Spiritualism)-के चमत्कारोंने (जिसका इधर कुछ वर्षोंमें पाश्चात्य जगत्‌में काफी प्रचार हुआ है) इस ओर लोगोंका काफी ध्यान आकृष्ट किया है और अब तो हजारों-लाखोंकी संख्यामें योरोप और अमेरिकाके लोग भी ईसाई होते हुए भी परलोकमें विश्वास करने लगे हैं। हमारे भारतवर्षका तो बच्चा-बच्चा इस सिद्धान्तको मानता और उसपर अमल करता है। यही नहीं, यह सिद्धान्त हमारे जीवनके प्रत्येक अंगके साथ सम्बद्ध हो गया है; हमारा कोई धार्मिक कृत्य ऐसा नहीं है, जिसका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपसे परलोकसे सम्बन्ध न हो और हमारा कोई धार्मिक ग्रन्थ ऐसा नहीं है, जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपसे परलोक एवं पुनर्जन्मका समर्थन न करता हो। इधर तो कई स्थानोंमें ऐसी घटनाएँ भी प्रकाशमें आयी हैं जिनमें अबोध बालक-बालिकाओंने अपने पूर्वजन्मकी बातें कही हैं, जो जाँच-पड़ताल करनेपर सच निकली हैं।

आत्माकी उन्नति तथा जगत्‌में धार्मिक भाव, सुख-शान्ति तथा प्रेमके विस्तारके लिये तथा पाप-तापसे बचनेके लिये परलोक एवं पुनर्जन्मको मानना आवश्यक भी है। आज संसारमें, विशेषकर पाश्चात्य देशोंमें आत्महत्याओंकी संख्या जो दिनोंदिन बढ़ रही है—आये दिन लोगोंके जीवनसे निराश होकर अथवा असफलतासे दुःखी होकर, अपमान एवं अपकीर्तिसे बचनेके लिये अथवा इच्छाकी पूर्ति न होनेके दुःखसे डूबकर, फाँसी खाकर, जलकर, विषपान करके अथवा गोली खाकर प्राणत्याग करनेकी बातें पढ़ी-सुनी और देखी जाती हैं—उसका एकमात्र प्रधान कारण आत्माकी अमरतामें तथा परलोकमें अविश्वास है। यदि हमें यह निश्चय हो जाय कि हमारा जीवन इस शरीरतक ही सीमित नहीं है, इसके पहले भी हम थे और इसके बाद भी हम रहेंगे, इस शरीरका अन्त कर देनेसे हमारे कष्टोंका अन्त नहीं हो जायगा, बल्कि इस शरीरके भोगोंको भोगे बिना ही प्राणत्याग कर देनेसे तथा आत्महत्यारूप नया घोर पाप करनेसे हमारा भविष्य जीवन और भी अधिक कष्टमय होगा, तो हम कभी आत्महत्या करनेका साहस न करें। अत्यन्त खेदका विषय है कि पाश्चात्य जडवादी सभ्यताके सम्पर्कमें आनेसे यह पाप हमारे आधुनिक शिक्षाप्राप्त नवयुवकोंमें भी घर कर रहा है और आजकल ऐसी बातें हमारे देशमें भी देखी-सुनी जाने लगी हैं। हमारे शास्त्रोंने आत्महत्याओंको बहुत बड़ा पाप माना है और उसका फल सूकर, कूकर आदि अन्धकारमय योनियोंकी प्राप्ति बतलाया है। श्रुति कहती है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

(ईशोपनिषद् ३)

अर्थात् वे असुर-सम्बन्धी लोक [अथवा आसुरी योनियाँ] आत्माके अदर्शनरूप अज्ञानसे आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्माका हनन करनेवाले लोग हैं, वे मरनेके अनन्तर उन्हींमें जाते हैं।

संसारमें जो पापोंकी वृद्धि हो रही है—झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार एवं अनाचार बढ़ रहे हैं, व्यक्तियोंकी भाँति राष्ट्रोंमें भी परस्पर द्वेष और कलहकी वृद्धि हो रही है, बलवान् दुर्बलोंको सता रहे हैं, लोग नीति और धर्मके मार्गको छोड़कर अनीति और अधर्मके मार्गपर आरूढ़ हो रहे हैं, लौकिक उन्नति और भौतिक सुखको ही लोगोंने अपना ध्येय बना लिया है और उसीकी प्राप्तिके लिये सब लोग यत्नवान् हैं, विलासिता और इन्द्रियलोलुपता बढ़ती जा रही है, भक्ष्याभक्ष्यका विचार उठता जा रहा है, जीभके स्वाद और शरीरके आरामके लिये दूसरोंके कष्टकी तनिक भी परवा नहीं की जाती, मादक द्रव्योंका प्रचार बढ़ रहा है, बेईमानी और घूसखोरी उन्नतिपर है, एक-दूसरेके प्रति लोगोंका विश्वास कम होता जा रहा है, मुकदमेबाजी बढ़ रही है, अपराधोंकी संख्या बढ़ती जा रही है, दम्भ और पाखण्डकी वृद्धि हो रही है—इन सबका कारण यही है कि लोगोंने वर्तमान जीवनको ही अपना जीवन मान रखा है; इसके आगे भी कोई जीवन है, इसमें उनका विश्वास नहीं है। इसीलिये वे वर्तमान जीवनको ही सुखी बनानेके प्रयत्नमें लगे हुए हैं। 'जबतक जियो, सुखसे

जियो; कर्जा लेकर भी अच्छे-अच्छे पदार्थोंका उपभोग करो। मरनेके बाद क्या होगा, किसने देख रखा है।'[१] इसी सर्वनाशकारी मान्यताकी ओर आज प्रायः सारा संसार जा रहा है। यही कारण है कि वह सुखके बदले अधिकाधिक दुःखमें ही फँसता जा रहा है। परलोक और पुनर्जन्मको न माननेका यह अवश्यम्भावी फल है। आज हम इसी परलोक और पुनर्जन्मके सिद्धान्तकी कुछ चर्चा करते हैं और इस सिद्धान्तको माननेवालोंका क्या कर्तव्य है—इसपर भी विचार कर रहे हैं।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, परलोक और पुनर्जन्मके सिद्धान्तका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपसे हमारे सभी शास्त्रोंने समर्थन किया है। वेदोंसे लेकर आधुनिक दार्शनिक ग्रन्थोंतक सभीने एक स्वरसे इस सिद्धान्तकी पुष्टि की है। स्मृतियों, पुराणों तथा महाभारतादि इतिहासग्रन्थोंमें तो इस विषयके इतने प्रमाण भरे हैं कि उन सबको यदि संगृहीत किया जाय तो एक बहुत बड़ी पुस्तक तैयार हो सकती है। इसके लिये न तो अवकाश है और न इसकी उतनी आवश्यकता ही प्रतीत होती है। प्रस्तुत निबन्धमें उपनिषद्, गीता, मनुस्मृति, योगसूत्र आदि कुछ थोड़े-से चुने हुए प्रामाणिक ग्रन्थोंमेंसे ही कुछ प्रमाण लेकर इस सिद्धान्तकी पुष्टि की जायगी और युक्तियोंके द्वारा भी इसे सिद्ध करनेकी चेष्टा की जायगी।

कठोपनिषद्का नाचिकेतोपाख्यान इस सिद्धान्तका जीता-जागता प्रमाण है। उपनिषद्का पहला श्लोक ही परलोकके अस्तित्वको सूचित करता है। नचिकेताने जब देखा कि उसके पिता वाजश्रवस ऋत्विजोंको बुड्ढी और निकम्मी गायें दानमें दे रहे हैं, तो उससे न रहा गया। वह सोचने लगा कि ऐसी गायें देनेवालेको तो आनन्दरहित लोकोंकी प्राप्ति होती है—

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्॥[२]
(१।१।३)

अतएव उसने पिताको उस कामसे रोकनेका प्रयत्न किया पर इसमें वह सफल न हो सका। इसके बाद उसके पिताने कुपित होकर जब उसे मृत्युको सौंप देनेकी बात कही तो वह प्रसन्नतापूर्वक पिताकी आज्ञाको शिरोधार्य कर यमलोकमें चला गया। इसके बाद उसके और यमराजके बीचमें जो संवाद हुआ है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यमराजने उसे तीन वर देनेको कहे। उनमेंसे तीसरा वर माँगता हुआ नचिकेता यमराजसे यह प्रश्न करता है—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः॥
(१।१।२०)

अर्थात् मरे हुए मनुष्यके विषयमें जो यह शंका है कि कोई तो कहते हैं मरनेके अनन्तर 'आत्मा रहता है' और कोई कहते हैं 'नहीं रहता'—इस सम्बन्धमें मैं आपसे उपदेश चाहता हूँ, जिससे मैं इस विषयका ज्ञान प्राप्त कर सकूँ। मेरे माँगे हुए वरोंमें यह तीसरा वर है।

यमराजने इस विषयको टालना चाहा और नचिकेतासे कहा कि तू कोई दूसरा वर माँग ले; क्योंकि यह विषय अत्यन्त गूढ़ है और देवताओंको भी इस विषयमें शंका हो जाया करती है। नचिकेता कोई सामान्य जिज्ञासु नहीं था। अतः विषयकी गूढ़ताको सुनकर उसका उत्साह कम नहीं हुआ, बल्कि उसकी जिज्ञासा और भी प्रबल हो उठी। वह बोला कि इसीलिये तो इस विषयको मैं आपसे जानना चाहता हूँ; क्योंकि इस विषयका उपदेश करनेवाला आपके समान और कौन मिलेगा। इसपर यमराजने पुत्र-पौत्र, हाथी-घोड़े, सुवर्ण, विशाल भूमण्डल, दीर्घजीवन, इच्छानुकूल भोग, अनुपम रूपलावण्यवाली स्त्रियाँ तथा और भी बहुत-से भोग जो मनुष्यलोकमें दुर्लभ हैं, उसे देने चाहे; परन्तु नचिकेता अपने निश्चयसे नहीं टला। वह बोला—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्-
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥
(१।१।२६)

'हे यमराज! ये भोग 'कल रहेंगे या नहीं'—इस प्रकारके सन्देहसे युक्त हैं अर्थात् अस्थिर हैं और सम्पूर्ण इन्द्रियोंके तेजको जीर्ण कर देते हैं। यह सारा जीवन भी स्वल्प ही है। अतः आपके वाहन (हाथी-घोड़े) और नाच-गान आपहीके पास रहें, मुझे उनकी आवश्यकता नहीं है।'

नचिकेताके इस आदर्श निष्कामभाव और दृढ़ निश्चयको देखकर यमराज बहुत ही प्रसन्न हुए और उसकी प्रशंसा करते हुए बोले—

१-यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥ (चार्वाक)

२-जो जल पी चुकी हैं, जिनका घास खाना समाप्त हो चुका है, जिनका दूध भी दुह लिया गया है और जिनमें बछड़ा देनेकी शक्ति भी नहीं रह गयी है, उन गौओंका दान करनेसे वह दाता आनन्दशून्य लोकोंको जाता है।

स त्वं प्रियान् प्रियरूपाꣳश्च कामा-
नभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।
नैताꣳसृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो
यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः॥

(१। २। ३)

'हे नचिकेता! तूने प्रिय अर्थात् पुत्र, धन आदि इष्ट पदार्थोंको और प्रियरूप—अप्सरा आदि लुभानेवाले भोगोंको असार समझकर त्याग दिया और जिसमें अधिकांश मनुष्य डूब (फँस) जाते हैं, उस धनिकोंकी निन्दित गतिको तूने स्वीकार नहीं किया। धन्य है तेरी निष्ठा!'

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

(१। २। ६)

'जो मूर्ख धनके मोहसे अंधे होकर प्रमादमें लगे रहते हैं, उन्हें परलोकका साधन नहीं सूझता। यही लोक है, परलोक नहीं है—ऐसा माननेवाला पुरुष बारम्बार मेरे चंगुलमें फँसता है (जन्मता और मरता है)।'

नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि
त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा॥

(१। २। ९)

'हे प्रियतम! सम्यक् ज्ञानके लिये कोरा तर्क करनेवालोंसे भिन्न किसी शास्त्रज्ञ आचार्यद्वारा कही हुई यह बुद्धि, जिसको तुमने पाया है, तर्कद्वारा प्राप्त नहीं होती। अहा! तेरी धारणा बड़ी सच्ची है। हे नचिकेता! हमें तेरे समान जिज्ञासु सदा प्राप्त हों।'

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां
क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा
धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः॥

(१। २। ११)

'हे नचिकेता! तूने बुद्धिमान् होकर भोगोंकी परम अवधि, जगत्की प्रतिष्ठा, यज्ञका अनन्त फल, अभयकी पराकाष्ठा, स्तुत्य और महती गति तथा प्रतिष्ठाको देखकर भी उसे धैर्यपूर्वक त्याग दिया। शाबाश!'

उपर्युक्त वचनोंसे इस विषयकी महत्ता तथा उसे जाननेके लिये कितने ऊँचे अधिकारकी आवश्यकता है, यह बात द्योतित होती है।

इस प्रकार नचिकेताकी कठिन परीक्षा लेकर और उसे उसमें उत्तीर्ण पाकर यमराज उसे आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमें उपदेश देते हैं। वे कहते हैं—

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(१। २। १८)

'यह नित्य चिन्मय आत्मा न जन्मता है न मरता है; यह न तो किसी वस्तुसे उत्पन्न हुआ है और न स्वयं ही कुछ बना है (अर्थात् न तो यह किसीका कार्य है न कारण है, न विकार है न विकारी है)। यह अजन्मा, नित्य (सदासे वर्तमान, अनादि), शाश्वत (सदा रहनेवाला, अनन्त) और पुरातन है तथा शरीरके विनाश किये जानेपर भी नष्ट नहीं होता।'[1]

उपर्युक्त वर्णनसे आत्माकी अमरता सिद्ध होती है। वे फिर कहते हैं—

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳ हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायꣳ हन्ति न हन्यते॥

(१। २। १९)

'यदि मारनेवाला आत्माको मारनेका विचार करता है और मारा जानेवाला उसे मरा हुआ समझता है, तो वे दोनों ही उसे नहीं जानते; क्योंकि यह न तो मारता है और न मारा जाता है।'[2]

आगे चलकर यमराज उन मनुष्योंकी गति बतलाते हैं, जो आत्माको बिना जाने हुए ही मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं। वे कहते हैं—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥

(२। २। ७)

'अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार कितने ही देहधारी तो शरीर धारण करनेके लिये किसी देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनिको प्राप्त होते हैं और कितने ही स्थावरभाव (वृक्षादि योनि) को प्राप्त होते हैं।'

ऊपरके मन्त्रसे भी पुनर्जन्मकी सिद्धि होती है।

१. यही मन्त्र कुछ हेर-फेरसे गीतामें भी आया है (देखिये २। २०)।
२. यह मन्त्र भी कुछ शब्दोंके हेर-फेरसे गीतामें पाया जाता है (देखिये २। १९)।

गीतामें भी परलोक तथा पुनर्जन्मका प्रतिपादन करनेवाले अनेक वचन मिलते हैं। उनमेंसे कुछ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। गीताके दूसरे अध्यायमें भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

(२। १२)

'न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।'

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(२। १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।'

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(२। २२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्याग कर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।'

चौथे अध्यायमें भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥

'हे परंतप अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं। उन सबको तू नहीं जानता, किन्तु मैं जानता हूँ।'

गीतामें स्वर्गादि लोकोंका भी कई जगह उल्लेख आता है; पुनर्जन्म, परलोक, आवृत्ति-अनावृत्ति, गतागत (गमनागमन) आदि शब्द भी कई जगह आये हैं। छठे अध्यायके ४१-४२ वें श्लोकोंमें योगभ्रष्ट पुरुषके दीर्घकालतक स्वर्गादि लोकोंमें निवास कर शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषोंके घरमें अथवा ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेनेकी बात आयी है तथा ४५ वें श्लोकमें अनेक जन्मोंकी बात भी आयी है। इसी प्रकार १३वें अध्यायके २१ वें श्लोकमें पुरुषके सत्-असत् योनियोंमें जन्म लेनेकी बात कही गयी है, १४ वें अध्यायके १४-१५ तथा १८ वें श्लोकोंमें गुणोंके अनुसार मनुष्यके उच्च, मध्य तथा अधोगतिको प्राप्त होनेकी बात आयी है तथा १५ वें अध्यायके श्लोक ७-८ में एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जानेका स्पष्टरूपमें उल्लेख हुआ है। १६ वें अध्यायके श्लोक १६, १९ और २० में भगवान्ने आसुरी सम्पदाओंको बारम्बार तिर्यक् योनियों और नरकमें गिरानेकी बात कही है। इन सब प्रसंगोंसे भी पुनर्जन्म तथा परलोकको पुष्टि होती है।

योगसूत्रमें भी पुनर्जन्मका विषय आया है। महर्षि पतंजलि कहते हैं—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।

(साधन० १२)

अर्थात् 'क्लेश[1] जिनकी जड़ हैं, वे कर्माशय (कर्मोंकी वासनाएँ) वर्तमान अथवा आगेके जन्मोंमें भोगे जा सकते हैं।'

उन वासनाओंका फल किस रूपमें मिलता है, इसके विषयमें महर्षि पतंजलि कहते हैं—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

(साधन० १३)

अर्थात् 'क्लेशरूपी कारणके रहते हुए उन वासनाओंका फल जाति (योनि), आयु (जीवनकी अवधि) और भोग (सुख-दुःख) होते हैं।'

मनुस्मृतिमें भी पुनर्जन्मके प्रतिपादक अनेकों वचन मिलते हैं। उनमेंसे कुछ चुने हुए वचन नीचे उद्धृत किये जाते हैं। किन-किन कर्मोंसे जीव किन-किन योनियोंको प्राप्त होते हैं, इस विषयमें भगवान् मनु कहते हैं—

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः॥

(१२। ४०)

अर्थात् 'सत्त्वगुणी लोग देवयोनिको, रजोगुणी मनुष्ययोनिको और तमोगुणी तिर्यग्योनिको प्राप्त होते हैं। जीवोंकी सदा यही तीन प्रकारकी गति होती है।'

'जो लोग इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें ही लगे रहते हैं तथा धर्माचरणसे विमुख रहते हैं, उनके विषयमें भगवान् मनु कहते हैं कि वे मूर्ख और नीच मनुष्य मरनेपर निन्दित गतिको पाते हैं।'[2]

इसके आगे भगवान् मनु ब्रह्महत्या, सुरापान, गुरुपत्नीगमन आदि कुछ महापातकोंका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि

१-योगशास्त्रमें अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (मृत्युभय)—इनको 'क्लेश' नामसे कहा गया है।
२-इन्द्रियाणां प्रसंगेन धर्मस्यासेवनेन च। पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः॥ (१२। ५२)

इन पापोंको करनेवाले अनेक वर्षतक नरक भोगकर फिर नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं। उदाहरणतः ब्रह्महत्या करनेवाला कुत्ते, सूअर, गदहे, चाण्डाल आदि योनियोंको प्राप्त होता है; ब्राह्मण होकर मदिरा पान करनेवाला कृमि-कीट-पतंगादि तथा हिंसक योनियोंमें जन्म लेता है; गुरुपत्नीगामी तृण, गुल्म, लता आदि स्थावर योनियोंमें सैकड़ों बार जन्म ग्रहण करता है तथा अभक्ष्य भक्षण करनेवाला कृमि होता है।*

इस प्रकार परलोक एवं पुनर्जन्मके प्रतिपादक अनेकों प्रमाण शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं। उनको कहाँतक लिखा जाय। अब हम युक्तियोंसे भी परलोक एवं पुनर्जन्मको सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं।

(१) शरीरकी तरह आत्माका परिवर्तन नहीं होता। शरीरमें तो हम सभीके अवस्थानुसार परिवर्तन होता देखा जाता है। आज जो हमारा शरीर है कुछ वर्ष बाद वह बिलकुल बदल जायगा, उसके स्थानमें दूसरा ही शरीर बन जायगा—जैसे नख और केश पहलेके कटते जाते हैं और नये आते रहते हैं। बाल्यावस्थामें हमारे सभी अंग कोमल और छोटे होते हैं, कद छोटा होता है, स्वर मीठा होता है, वजन भी कम होता है तथा मुखपर रोएँ नहीं होते। जवान होनेपर हमारे अंग पहलेसे कठोर और बड़े हो जाते हैं, आवाज भारी हो जाती है, कद लंबा हो जाता है, वजन बढ़ जाता है तथा दाढ़ी-मूँछ आ जाती है। इसी प्रकार बुढ़ापेमें हमारे अंग शिथिल हो जाते हैं, शरीरकी सुन्दरता नष्ट हो जाती है, चमड़ा ढीला पड़ जाता है, बाल पक जाते हैं, दाँत ढीले हो जाते हैं तथा गिर जाते हैं एवं शरीर तथा इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण हो जाती है। यही कारण है कि बालकपनमें देखे हुए किसी व्यक्तिको उसके युवा हो जानेपर हम सहसा नहीं पहचान पाते। परन्तु शरीर बदल जानेपर भी हमारा आत्मा नहीं बदलता। दस वर्ष पहले जो हमारा आत्मा था; वही आत्मा इस समय भी है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। यदि होता तो आजसे दस वर्ष अथवा बीस वर्ष पहले हमारे जीवनमें घटी हुई घटनाका हमें स्मरण नहीं होता। दूसरेके द्वारा अनुभव किये हुए सुख-दुःखका जिस प्रकार हमें स्मरण नहीं होता, उसी प्रकार यदि हमारा आत्मा बदल गया होता तो हमें अपने जीवनकी बातोंका भी कालान्तरमें स्मरण नहीं रहता। परन्तु आजकी घटनाका हमें दस वर्ष बाद अथवा बीस वर्ष बाद भी स्मरण होता है, इससे मालूम होता है कि अनुभव करनेवाला और स्मरण करनेवाला दो व्यक्ति नहीं बल्कि एक ही व्यक्ति है। जिस प्रकार वर्तमान शरीरमें इतना परिवर्तन होनेपर भी आत्मा नहीं बदला, उसी प्रकार मरनेके बाद दूसरा शरीर मिलनेपर भी यह नहीं बदलनेका। इससे आत्माकी नित्यता सिद्ध होती है।

(२) मनुष्य अपना अभाव कभी नहीं देखता, वह यह कभी नहीं सोचता कि एक दिन मैं नहीं रहूँगा अथवा मैं पहले नहीं था। अपने अभावके बारेमें आत्माकी ओरसे उसे कभी गवाही नहीं मिलती। वह यही सोचता है कि मैं सदासे हूँ और सदा रहूँगा। इससे भी आत्माकी नित्यता सिद्ध होती है।

(३) बालक जन्मते ही रोने लगता है और जन्मनेके बाद कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी सोता है; जब माता उसके मुखमें स्तन देती है, तो वह उसमेंसे दूध खींचने लगता है और धमकाने आदिपर भयसे काँपता हुआ भी देखा जाता है। बालकके ये सब आचरण पूर्वजन्मका लक्ष्य कराते हैं; क्योंकि इस जन्ममें तो उसने ये सब बातें सीखी नहीं। पूर्वजन्मके अभ्याससे ही ये सब बातें उसके अंदर स्वाभाविक ही होने लगती हैं। पूर्वजन्ममें अनुभव किये हुए सुख-दुःखका स्मरण करके ही वह हँसता और रोता है, पूर्वमें अनुभव किये हुए मृत्यु-भयके कारण ही वह काँपने लगता है तथा पूर्वजन्ममें किये हुए स्तनपानके अभ्याससे ही वह माताके स्तनका दूध खींचने लगता है।

(४) जीवोंमें जो सुख-दुःखका भेद, प्रकृति अर्थात् स्वभाव और गुण-कर्मका भेद—काम-क्रोध, राग-द्वेष आदिकी न्यूनाधिकता—तथा क्रियाका भेद एवं बुद्धिका भेद दृष्टिगोचर होता है, उससे भी पूर्वजन्मकी सिद्धि होती है। एक ही माता-पितासे उत्पन्न हुई सन्तान—यहाँतक कि एक ही साथ पैदा हुए बच्चे भी इन सब बातोंमें एक-दूसरेसे विलक्षण पाये जाते हैं। पूर्वजन्मके संस्कारोंके अतिरिक्त इस विचित्रतामें कोई हेतु नहीं हो सकता। जिस प्रकार ग्रामोफोनकी चूड़ीपर उतरे हुए किसी गानेको सुनकर हम यह अनुमान करते हैं कि इसी प्रकार किसी मनुष्यने इस गानेको कहीं अन्यत्र गाया होगा, तभी उसकी प्रतिध्वनिको आज हम इस रूपमें सुन पाते हैं, उसी प्रकार आज हम किसीको सुखी अथवा दुःखी देखते हैं अथवा अच्छे-बुरे स्वभाव और बुद्धिवाला पाते हैं तो उससे यही अनुमान होता है कि उसने पूर्वजन्ममें वैसे ही कर्म किये होंगे, जिनके संस्कार उसके अन्तःकरणमें संगृहीत हैं, जिन्हें वह अपने साथ लेता आया है। यदि किसीको वर्तमान जीवनमें हम

२- देखिये मनुस्मृति १२।५४—५६, ५८, ५९।

सुखी पाते हैं, तो इसका मतलब यही है कि उसने पूर्वजन्ममें अच्छे कर्म किये होंगे और दुःखी पाते हैं तो इसका मतलब यह होता है कि उसने पूर्वजन्ममें अशुभ कर्म किये होंगे। यही बात स्वभाव, गुण और बुद्धि आदिके सम्बन्धमें समझनी चाहिये।

यदि कोई कहे कि संस्कारोंके भेदके लिये पूर्वजन्मको माननेकी क्या आवश्यकता है, ईश्वरकी इच्छाको ही इसमें हेतु क्यों न मान लिया जाय, तो इसका उत्तर यह है कि इस वैचित्र्यका कारण ईश्वरको माननेसे उनमें वैषम्य एवं नैर्घृण्य (निर्दयता)-का दोष आवेगा। वैषम्यका दोष तो इस बातको लेकर आवेगा कि उन्होंने अपने मनसे किसीको सुखी और किसीको दुःखी बनाया; और निर्दयताका दोष इसलिये आवेगा कि उन्होंने कुछ जीवोंको बेमतलब ही दुःखी बना दिया। ईश्वरमें कोई दोष घट नहीं सकता, इसलिये पूर्वकृत कर्मोंको ही लोगोंके स्वभावके भेद तथा भोगके वैषम्यमें हेतु मानना पड़ेगा।

इन सब युक्तियोंसे यह सिद्ध होता है कि प्राणियोंका पुनर्जन्म होता है। अब जब यह सिद्ध हो गया कि पुनर्जन्म होता है, तब दूसरा प्रश्न यह होता है कि ऐसी स्थितिमें मनुष्यको क्या करना चाहिये। विचार करनेपर मालूम होता है कि शाश्वत एवं निरतिशय सुखकी प्राप्ति तथा दुःखोंसे सदाके लिये छुटकारा पा जाना ही जीवमात्रका ध्येय है और उसीके लिये मनुष्यको यत्नवान् होना चाहिये। शास्त्रोंमें पुनर्जन्मको ही दुःखका घर बतलाया है और परमात्माकी प्राप्ति ही इस दुःखसे छूटनेका एकमात्र उपाय है। भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

(८। १५)

'परम सिद्धिको प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखोंके घर एवं क्षणभंगुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्माकी प्राप्ति ही दुःखोंसे सदाके लिये छूटनेका एकमात्र उपाय है और यह मनुष्य जन्ममें ही सम्भव है। अतः जो इस जन्मको पाकर परमात्माको प्राप्त कर लेते हैं, वे ही संसारमें धन्य हैं और वे ही बुद्धिमान् एवं चतुर हैं। मनुष्य-जन्मको पाकर जो इसे विषय-भोगमें ही गँवा देते हैं, वे अत्यन्त जडमति हैं और शास्त्रोंने उनको कृतघ्न एवं आत्महत्यारा बतलाया है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् उद्धव से कहते हैं—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

(११। २०। १७)

'यह मनुष्यशरीर समस्त शुभ फलोंकी प्राप्तिका आदिकारण तथा अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी ईश्वरकी कृपासे हमारे लिये सुलभ हो गया है; वह इस संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिये सुदृढ़ नौका है, जिसे गुरुरूप नाविक चलाता है और मैं (श्रीकृष्ण) वायुरूप होकर उसे आगे बढ़ानेमें सहायता देता हूँ। ऐसी सुन्दर नौकाको पाकर भी जो मनुष्य इस भवसागरको नहीं तरता, वह निश्चय ही आत्माका हनन करनेवाला अर्थात् पतन करनेवाला है।'

गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

(रामचरित०, उत्तर० ४४)

यहाँ यह प्रश्न होता है कि इसके लिये हमें क्या करना चाहिये। इसका उत्तर हमें स्वयं भगवान्‌के शब्दोंमें इस प्रकार मिलता है। वे कहते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

(गीता ६। ५)

'मनुष्यको चाहिये कि वह अपने द्वारा अपना संसारसमुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले।'

उद्धारका अर्थ है उत्तम गुणों एवं उत्तम भावोंका संग्रह तथा उत्तम आचरणोंका अनुष्ठान और पतनका अर्थ है दुर्गुण एवं दुराचारोंका ग्रहण; क्योंकि इन्हींसे क्रमशः मनुष्यकी उत्तम एवं अधम गति होती है। इन्हींको भगवान्‌ने क्रमशः दैवी सम्पत्तिके नामसे गीताके सोलहवें अध्यायमें वर्णन किया है और यह भी बतलाया है कि दैवी सम्पत्ति मोक्षकी ओर ले जानेवाली है—'**दैवी सम्पद्विमोक्षाय**' और आसुरी सम्पत्ति बाँधनेवाली अर्थात् बार-बार संसारचक्रमें गिरानेवाली है—'**निबन्धायासुरी मता।**' यही नहीं, आसुरी सम्पदावालोंके आचरणोंका वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि 'उन अशुभ आचरणवाले द्वेषी, क्रूर (निर्दय) एवं मनुष्योंमें अधम पुरुषोंको मैं संसारमें बार-बार पशु-पक्षी आदि तिर्यक् योनियोंमें गिराता हूँ और जन्म-जन्ममें उन योनियोंको प्राप्त हुए वे मूढ़ पुरुष मुझे न पाकर उससे भी अधम गति (घोर नरकों)-

को प्राप्त होते हैं।'* इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तम गुण, भाव और आचरण ही ग्रहण करनेयोग्य हैं और दुर्गुण, दुर्भाव तथा दुराचार त्यागनेयोग्य हैं। गीताके १३ वें अध्यायके ७ वेंसे ११ वें श्लोकतक भगवान्ने इन्हींका ज्ञान और अज्ञानके नामसे वर्णन किया है। ज्ञानके नामसे वहाँ जिन गुणोंका वर्णन किया गया है, वे आत्माका उद्धार करनेवाले—ऊपर उठानेवाले हैं और इससे विपरीत जो अज्ञान है—'**अज्ञानं यदतोऽन्यथा**', वह गिरानेवाला-पतन करनेवाला है।

सद्‌गुण और सदाचार कौन हैं तथा दुर्गुण एवं दुराचार कौन-से हैं, ग्रहण करनेयोग्य आचरण कौन हैं तथा त्यागने योग्य कौन-से हैं—इसका निर्णय हम शास्त्रोंद्वारा ही कर सकते हैं। शास्त्र ही इस विषयमें प्रमाण हैं। भगवान्ने भी गीतामें कहा है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(१६। २४)

'इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करनेयोग्य है।'

यदि नाना प्रकारके शास्त्रोंको देखनेसे तथा उनमें कहीं-कहीं आये हुए परस्परविरोधी वाक्योंको पढ़नेसे बुद्धि भ्रमित हो जाय और शास्त्रके यथार्थ तात्पर्यका निर्णय न कर सके तो पूर्वकालमें हमारी दृष्टिमें शास्त्रके मर्मको जाननेवाले जो भी महापुरुष हो गये हों उनके बतलाये हुए मार्गका अनुसरण करना चाहिये। शास्त्रोंकी भी यही आज्ञा है। महाभारतकार कहते हैं—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

(वन० ३१३। ११७)

'धर्मके विषयमें तर्ककी कोई प्रतिष्ठा (स्थिरता) नहीं, श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न तात्पर्यवाली हैं तथा ऋषि-मुनि भी कोई एक नहीं हुआ है जिससे उसीके मतको प्रमाणस्वरूप माना जाय, धर्मका तत्त्व गुहामें छिपा हुआ है, अर्थात् धर्मकी गति अत्यन्त गहन है, इसलिये (मेरी समझमें) जिस मार्गसे कोई महापुरुष गया हो, वही मार्ग है, अर्थात् ऐसे महापुरुषका अनुकरण करना ही धर्म है।' उन्हींके आचरणको अपना आदर्श बना लेना चाहिये और उसीके अनुसार चलनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

यदि किसीको ऐसे महापुरुषोंके मार्गमें भी संशय हो तो फिर उसे यही उचित है कि यह वर्तमानकालके किसी जीवित सदाचारी महात्मा पुरुषको जिसमें भी उसकी श्रद्धा हो और जिसे वह श्रेष्ठ महापुरुष समझता हो—अपना आदर्श बना ले और उनके बतलाये हुए मार्गको ग्रहण करे, उनके आदेशके अनुसार चले। और यदि किसीपर भी विश्वास न हो तो अपने अन्तरात्मा, अपनी बुद्धिको ही पथप्रदर्शक बना ले—एकान्तमें बैठकर विवेक-वैराग्ययुक्त बुद्धिसे शान्ति एवं धीरजके साथ स्वार्थत्यागपूर्वक निष्पक्षभावसे विचार करे कि मेरा ध्येय क्या है, मुझे क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। इस प्रकार अपने हिताहितका विचार करके संसारमें कौन-सी वस्तु मेरे लिये ग्राह्य है और कौन-सी अग्राह्य है, इसका निर्णय कर ले और फिर दृढ़तापूर्वक उस निश्चयपर स्थित हो जाय। जो मार्ग उसे ठीक मालूम हो, उसपर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ हो जाय और जो आचरण उसे निषिद्ध जँचें उन्हें छोड़नेकी प्राणपणसे चेष्टा करे, भूलकर भी उस ओर न जाय। इस प्रकार निष्पक्षभावसे विचार करनेपर, अन्तरात्मासे पूछनेपर भी उसे भीतरसे यही उत्तर मिलेगा कि अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और परोपकार आदि ही श्रेष्ठ हैं; हिंसा, असत्य, व्यभिचार और दूसरेका अनिष्ट आदि करनेके लिये उसका अन्तरात्मा उसे कभी न कहेगा। नास्तिक-से-नास्तिकको भी भीतरसे यही आवाज सुनायी देगी। इस प्रकार अपना लक्ष्य स्थिर कर लेनेके बाद फिर कभी उसके विपरीत आचरण न करे। अच्छी प्रकार निर्धारित किये हुए अपने ध्येयके अनुसार चलना ही आत्माका उत्थान करना है और उस निश्चयके अनुसार न चलकर उसके विपरीत मार्गपर चलना ही उसका पतन है। जो आचरण अपनी दृष्टिमें तथा दूसरोंकी दृष्टिमें भी हेय है, उसे जान-बूझकर करना मानो अपने-आप ही फाँसी लगाकर मरना, अपने ही पैरोंपर कुल्हाड़ी मारना, अपने ही हाथों अपना अहित करना है। इसीलिये भगवान् कहते हैं—'**नात्मानमवसादयेत्**' (गीता ६। ५), जान-बूझकर अपने-आप अपना पतन न करे।

हमारे शास्त्रोंमें मन, वाणी और शरीरसे होनेवाले कुछ दोष गिनाये हैं और साथ ही मन, वाणी और शरीरके

* तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ (१६। १९-२०)

पाँच-पाँच तप भी बतलाये हैं। आत्माका उद्धार चाहनेवाले मनुष्यको चाहिये कि वह उपर्युक्त मन, वाणी और शरीरके दोषोंका त्याग करे और शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक—तीनों प्रकारके तपका आचरण करे। शरीरसे होनेवाले दोष तीन हैं—बिना दिया हुआ धन लेना, शास्त्रविरुद्ध हिंसा और परस्त्रीगमन।[१] वाचिक पाप चार हैं—कठोर वचन कहना, झूठ बोलना, चुगली करना और बे-सिर-पैरकी ऊलजलूल बातें करना।[२] मानसिक पाप तीन हैं—दूसरेका माल मारनेका दाँव सोचना, मनसे दूसरेका अनिष्टचिन्तन करना और मैं शरीर हूँ—इस प्रकारका झूठा अभिमान करना।[३]

इन त्रिविध पापोंका नाश करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें तीन प्रकारके तप बतलाये हैं—शारीरिक तप, वाचिक तप और मानस तप। उक्त तीन प्रकारके तपका स्वरूप भगवान्‌ने इस प्रकार बतलाया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(गीता १७। १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु (माता-पिता एवं आचार्य आदि) और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

(गीता १७। १५)

'जो उद्वेगको न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठन एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है—वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

(गीता १७। १६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवत्-चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणकी पवित्रता—इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

प्रत्येक कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि वह उपर्युक्त तीनों प्रकारके तपका सात्त्विक[४] भावसे अभ्यास करे।

अन्तमें हम एक बात और कहकर इस लेखको समाप्त करते हैं। दुःखरूप संसारसे छूटनेका एक सर्वोत्तम उपाय है—परमात्माकी शरण लेकर विवेक और वैराग्ययुक्त बुद्धिसे दुःख, शोक, भय और चिन्ताका त्याग। इसपर यदि कोई कहे कि दुःख-सुख तो प्रारब्धके अनुसार भोगने ही पड़ते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि दुःख-सुखके निमित्तोंका प्राप्त होना और हट जाना ही प्रारब्धका फल है, उन निमित्तोंको लेकर हमें जो चिन्ता, शोक, भय एवं विषाद होता है वह हमारी मूर्खतासे होता है, अज्ञानसे होता है। उनके होनेमें प्रारब्ध हेतु नहीं है। पुत्रका वियोग हो जाना, धनका अपहरण हो जाना, व्यापारमें घाटा लग जाना, इज्जत-आबरूका चला जाना, बीमारी और अपकीर्तिका होना—ये सब घटनाएँ प्रारब्धके कारण होती हैं; परन्तु इनसे जो हमें विषाद होता है, उसमें हमारा अज्ञान हेतु है, प्रारब्ध नहीं। यदि हम स्वयं इन घटनाओंसे दुःखी न हों, तो इन घटनाओंकी ताकत नहीं कि वे हमें दुःखी कर सकें। यदि इन घटनाओंमें दुःखी करनेकी शक्ति होती तो उनसे ज्ञानियोंको भी दुःख होता; परन्तु ज्ञानी जीवन्मुक्त महापुरुषोंके लिये शास्त्र डंकेकी चोट यह कहते हैं कि उन्हें अप्रिय-से-अप्रिय घटनाको लेकर भी दुःख नहीं होता, वे सुख-दुःखसे परे हो जाते हैं। उनकी दृष्टिमें प्रिय-अप्रिय कुछ रह नहीं जाता। उनके विषयमें श्रुति कहती है—'**तरति शोकमात्मवित्।**' (छा० ७। १। ३) आत्माको जान लेनेवाला शोकसे तर जाता है। '**हर्षशोकौ जहाति**' (कठ० १। २। १२)—ज्ञानी पुरुष हर्ष और शोकका त्याग कर देता है, दोनों ही स्थितियोंको लाँघ जाता है। '**तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः**' (ईश० ७)—सर्वत्र एक परमात्माको ही देखनेवाले आत्मदर्शी पुरुषके लिये शोक और मोहका कोई कारण नहीं रह जाता। भगवान् भी गीतामें अर्जुनसे अपने उपदेशके प्रारम्भमें ही कहते हैं—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

(२। ११)

'हे अर्जुन! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है;

१-अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः। परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्॥ (मनु० १२।७)
२-पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः। असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥ (मनु० १२।६)
३-परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्। वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥ (मनु० १२।५)
४-श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः। अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ (गीता १७। १७)
'फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किये हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं।'

परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते।'

इससे यह सिद्ध होता है कि शोक न करना हमारे हाथमें है। यदि ऐसी बात न होती और इसका सम्बन्ध प्रारब्धसे होता, तो ज्ञानोत्तर कालमें ज्ञानीको भी शोक होता और भगवान् भी शोक छोड़नेके लिये अर्जुनको कभी न कहते। शरीरोंका उत्पत्ति-विनाश और क्षय-वृद्धि तथा सांसारिक पदार्थोंका संयोग-वियोग ही प्रारब्धसे सम्बन्ध रखता है; उनके विषयमें जो चिन्ता, भय और शोक होता है वह अज्ञानके कारण ही होता है। सांसारिक विपत्तिके आनेपर भी जो शोक नहीं करते—रोते नहीं, उनकी उससे कोई हानि नहीं होती। अत: परमात्माकी शरण ग्रहण करके प्रमाद, आलस्य, पाप, भोग, शोक-मोह, विषाद, चिन्ता एवं भयका त्याग कर हमें परमात्माके स्वरूपमें अचल भावसे स्थित हो जाना चाहिये।

तीर्थोंमें पालन करने योग्य कुछ उपयोगी बातें

संसारमें चार पदार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। तीर्थोंमें (पवित्र स्थानोंमें) यात्रा करते समय अर्थ (धन) तो व्यय होता है। अब रहे धर्म, काम और मोक्ष—जो राजसी पुरुष होते हैं वे तो तीर्थोंमें सांसारिक कामनापूर्तिके लिये जाते हैं और जो सात्त्विक लोग होते हैं वे धर्म और मोक्षके लिये जाते हैं। धर्मका पालन भी वे आत्मोद्धारके लिये ही निष्कामभावसे करते हैं। अतएव कल्याणकामी पुरुषोंको तो अन्त:करणकी शुद्धि और परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही तीर्थोंमें जाना चाहिये। तीर्थोंमें जाकर किस प्रकार क्या-क्या करना चाहिये, ये बातें बतलायी जाती हैं।

(१) पैदल यात्रा करते समय मनके द्वारा भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान और वाणीके द्वारा नामजप करते हुए चलना चाहिये। यदि बहुत आदमी साथ हों तो सबको मिलकर भगवान्‌का नाम-कीर्तन करते हुए चलना चाहिये। रेलगाड़ी आदि सवारियोंपर यात्रा करते समय भी भगवान्‌को याद रखते हुए ही धार्मिक पुस्तकोंका अध्ययन अथवा भगवान्‌के नामका जप करते रहना चाहिये।

(२) गंगा, सिन्धु, सरस्वती, यमुना, गोदावरी, नर्मदा, कावेरी, कृष्णा, सरयू, मानसरोवर, कुरुक्षेत्र, पुष्कर, गंगासागर आदि तीर्थोंमें उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और महिमाका स्मरण करते हुए आत्मशुद्धि और कल्याणके लिये स्नान करना चाहिये।

(३) तीर्थस्थानोंमें श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीशिव, श्रीविष्णु आदि भगवद्विग्रहोंका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक दर्शन करते हुए उनके गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व, रहस्य और महिमा आदिका स्मरण करके दिव्य स्तोत्रोंके द्वारा आत्मोद्धारके लिये उनकी स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये।

(४) तीर्थोंमें साधु, महात्मा, ज्ञानी, योगी और भक्तोंके दर्शन, सेवा, सत्संग, नमस्कार, उपदेश, आदेश और वार्तालापके द्वारा विशेष लाभ उठानेके लिये उनकी खोज करनी चाहिये। भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति गीतामें कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन:॥
(४। ३४)

'उस ज्ञानको तू समझ; श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके पास जाकर उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

(५) कंचन-कामिनीके लोलुप, अपने नामरूपको पुजवाकर लोगोंको उच्छिष्ट (जूँठन) खिलानेवाले, मान-बड़ाई और प्रतिष्ठाके गुलाम, प्रमादी और विषयासक्त पुरुषोंका भूलकर भी संग नहीं करना चाहिये, चाहे वे साधु, ब्रह्मचारी और तपस्वीके वेषमें भी क्यों न हों। मांसाहारी, मादक पदार्थोंका सेवन करनेवाले, पापी, दुराचारी और नास्तिक पुरुषोंका तो दर्शन भी नहीं करना चाहिये।

तीर्थोंमें किसी-किसी स्थानपर तो पण्डे-पुजारी और महन्त आदि यात्रियोंको अनेक प्रकारसे तंग किया करते हैं। जैसे—यात्रा सफल करवानेके नामपर दुराग्रहपूर्वक अधिक धन लेनेके लिये अड़ जाना, देवमन्दिरोंमें बिना पैसे लिये दर्शन न करवाना, बिना भेंट लिये स्नान न करने देना, यात्रियोंको धमकाकर और पापका भय दिखलाकर जबरदस्ती रुपये ऐंठना, मन्दिरों और तीर्थोंपर भोग-भण्डारे और अटके आदिके नामपर भेंट लेनेके लिये अनुचित दबाव डालना, अपने स्थानोंपर ठहराकर अधिक धन प्राप्त करनेका दुराग्रह करना, सफेद चील (गिद्ध) पक्षियोंको ऋषि और देवताका रूप देकर और उनकी जूँठन खिलाकर भोले-भाले यात्रियोंसे धन ठगना तथा देवमूर्तियोंद्वारा शर्बत पिये जाने आदि झूठी करामातोंको प्रसिद्ध करके लोगोंको ठगना इत्यादि। यात्रियोंको इन सबसे सावधान रहना चाहिये।

(६) साधु, ब्राह्मण, तपस्वी, ब्रह्मचारी, विद्यार्थी आदि सत्पात्रोंकी तथा दुःखी, अनाथ, आतुर, अंगहीन, बीमार और साधक पुरुषोंकी अन्न, वस्त्र, औषध और धार्मिक पुस्तकें आदिके द्वारा यथायोग्य सेवा करनी चाहिये।

(७) भोग और ऐश्वर्यको अनित्य समझते हुए विवेक-वैराग्यपूर्वक वशमें किये हुए मन और इन्द्रियोंको शरीरनिर्वाहके अतिरिक्त अपने-अपने विषयोंसे हटानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

(८) अपने-अपने अधिकारके अनुसार सन्ध्या, तर्पण, जप, ध्यान, पूजा-पाठ, स्वाध्याय, हवन, बलिवैश्व, सेवा आदि नित्य और नैमित्तिक कर्म ठीक समयपर करनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये। यदि किसी विशेष कारणवश समयका उल्लंघन हो जाय तो भी कर्मका उल्लंघन नहीं करना चाहिये।

गीता, रामायण आदि शास्त्रोंका अध्ययन, भगवन्नामजप, सूर्यभगवान्‌को अर्घ्यदान, इष्टदेवकी पूजा, ध्यान, स्तुति, नमस्कार और प्रार्थना आदि तो सभी वर्ण और आश्रमके स्त्री-पुरुषोंको अवश्य ही करने चाहिये।

(९) काम, क्रोध, लोभ आदिके वशमें होकर किसी भी जीवको किसी प्रकार किंचिन्मात्र भी दुःख कभी नहीं पहुँचाना चाहिये।

(१०) कीर्तन और स्वाध्यायके अतिरिक्त समयमें मौन रहनेकी चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि मौन रहनेसे जप और ध्यानके साधनमें विशेष मदद मिलती है। यदि विशेष कार्यवश बोलना पड़े तो सत्य, प्रिय और हितकारक वचन बोलने चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें वाणीके तपका लक्षण करते हुए कहा है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

(१७। १५)

'जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठन एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है—वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

(११) निवासस्थान और बरतनोंके अतिरिक्त किसीकी कोई भी चीज काममें नहीं लानी चाहिये। बिना माँगे देनेपर भी बिना मूल्य स्वीकार नहीं करनी चाहिये। तीर्थोंमें सगे-सम्बन्धी, मित्र आदिकी भेंट-सौगात आदि भी नहीं लेनी चाहिये। बिना अनुमतिके तो किसीकी कोई भी वस्तु काममें लेना चोरीके समान है। बिना मूल्य औषधादि लेना भी दान लेनेके समान ही है।

(१२) मन, वाणी और शरीरसे ब्रह्मचर्यके पालनपर विशेष ध्यान रखना चाहिये। स्त्रीको परपुरुषका और पुरुषको परस्त्रीका तो दर्शन, स्पर्श, भाषण और चिन्तन आदि भी कभी नहीं करना चाहिये। यदि विशेष आवश्यकता हो जाय तो स्त्रियाँ परपुरुषोंको पिता या भाईके समान समझती हुई और पुरुष परस्त्रियोंको माता या बहिनके समान समझते हुए नीची दृष्टि करके संक्षेपमें वार्तालाप कर सकते हैं। यदि एक- दूसरेकी किसीके ऊपर पापबुद्धि हो जाय तो कम-से-कम एक दिनका उपवास करे।

(१३) ऐश, आराम, स्वाद, शौक और भोगबुद्धिसे तीर्थोंमें न तो किसी पदार्थका संग्रह करना चाहिये और न सेवन ही करना चाहिये। केवल शरीरनिर्वाहमात्रके लिये त्याग और वैराग्यबुद्धिसे अन्न-वस्त्रका उपयोग करना चाहिये।

(१४) तीर्थोंमें अपनी कमाईके द्रव्यसे पवित्रतापूर्वक बनाये हुए अन्न और दूध-फल आदि सात्त्विक पदार्थोंका ही भोजन करना चाहिये। सबके साथ स्वार्थ और अहंकारको त्यागकर दया, विनय और प्रेमपूर्वक सात्त्विक व्यवहार करना चाहिये।

(१५) तीर्थोंमें बीड़ी, सिगरेट, तमाखू, गाँजा, भाँग, चरस, कोकीन आदि मादक वस्तुओंका, लहसुन, प्याज, बिस्कुट, बर्फ, सोडा, लेमोनेड आदि अपवित्र पदार्थोंका; ताश, चौपड़, शतरंज खेलना और नाटक-सिनेमा देखना आदि प्रमादका तथा गाली-गलौज, चुगली-निन्दा, हँसी-मजाक, फालतू बकवाद, आक्षेप आदि व्यर्थ वार्तालापका कतई त्याग करना चाहिये।

(१६) गंगा, यमुना और देवालय आदि तीर्थस्थानोंसे बहुत दूरीपर मल-मूत्रका त्याग करना चाहिये। जो मनुष्य गंगा-यमुना आदिके तटपर मल-मूत्रका त्याग करता है तथा गंगा-यमुना आदिमें दतुअन और कुल्ले करता है, वह स्नान-पानके पुण्यको न पाकर पापका ही भागी होता है।

(१७) काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मात्सर्य, राग-द्वेष, दम्भ-कपट, प्रमाद-आलस्य आदि दुर्गुणोंका तीर्थोंमें सर्वथा त्याग करना चाहिये।

(१८) सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख और अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थोंके प्राप्त होनेपर उनको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार मानकर सदा-सर्वदा प्रसन्नचित्त और सन्तुष्ट रहना चाहिये।

(१९) तीर्थयात्रामें अपने संगवालोंमेंसे किसी साथी तथा आश्रितको भारी विपत्ति आनेपर काम, क्रोध या भयके कारण उसे अकेले कभी नहीं छोड़ना चाहिये। महाराज युधिष्ठिरने तो स्वर्गका तिरस्कार करके परम धर्म समझकर अपने साथी कुत्तेका भी त्याग नहीं किया। जो

लोग अपने किसी साथी या आश्रितके बीमार पड़ जानेपर उसे छोड़कर तीर्थ-स्नान और भगवद्विग्रहके दर्शन आदिके लिये चले जाते हैं उनपर भगवान् प्रसन्न न होकर उलटे नाराज होते हैं; क्योंकि 'परमात्मा ही सबकी आत्मा है' इस न्यायसे उस आपद्ग्रस्त साथीका तिरस्कार परमात्माका ही तिरस्कार है। इसलिये विपत्तिग्रस्त साथीका त्याग तो भूलकर भी कभी नहीं करना चाहिये।

(२०) जैसे तीर्थोंमें किये हुए स्नान, दान, जप, तप, यज्ञ, व्रत, उपवास, ध्यान, दर्शन, पूजा-पाठ, सेवा-सत्संग आदि महान् फलदायक होते हैं, वैसे ही वहाँ किये हुए झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि पापकर्म भी वज्रपाप हो जाते हैं। इसलिये तीर्थोंमें किसी प्रकारका किंचिन्मात्र भी पाप कभी नहीं करना चाहिये।

शास्त्रोंमें तीर्थोंकी अनेक प्रकारकी महिमा मिलती है। महाभारतमें पुलस्त्य ऋषिने कहा है—

पुष्करे तु कुरुक्षेत्रे गंगायां मगधेषु च।
स्नात्वा तारयते जन्तुः सप्त सप्तावरांस्तथा॥

(वनपर्व ८५। ९२)

'पुष्करराज, कुरुक्षेत्र, गंगा और मगधदेशीय तीर्थोंमें स्नान करनेवाला मनुष्य अपनी सात-सात पीढ़ियोंका उद्धार कर देता है।'

पुनाति कीर्तिता पापं दृष्टा भद्रं प्रयच्छति।
अवगाढा च पीता च पुनात्यासप्तमं कुलम्॥

(वनपर्व ८५। ९३)

'गंगा अपना नाम उच्चारण करनेवालेके पापोंका नाश करती है, दर्शन करनेवालेका कल्याण करती है और स्नान-पान करनेवालेकी सात पीढ़ियोंतकको पवित्र करती है।'

ऐसे-ऐसे वचनोंको लोग अर्थवाद और रोचक मानने लगते हैं, किन्तु इनको रोचक एवं अर्थवाद न मानकर यथार्थ ही समझना चाहिये। इनका फल यदि पूरा देखनेमें न आता हो तो उसका कारण हमारे पूर्वसंचित पाप, वर्तमान नास्तिक वातावरण, पण्डे और पुजारियोंके दुर्व्यवहार तथा तीर्थोंमें पाखण्डी, नास्तिक और भयानक कर्म करनेवालोंके निवास आदिसे लोगोंकी तीर्थोंमें श्रद्धा और प्रेमका कम हो जाना ही है।

अतएव कुसंगसे बचकर तीर्थोंमें श्रद्धा-प्रेम रखते हुए सावधानीके साथ उपर्युक्त नियमोंका भलीभाँति पालन करके तीर्थोंसे लाभ उठाना चाहिये। यदि इन नियमोंके पालनमें कहीं कुछ कमी भी रह जाय तो इतना हर्ज नहीं परन्तु चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, भगवान्‌के नामका जप तथा गुण, प्रभाव और लीलाके सहित उनके स्वरूपका ध्यान तो सदा-सर्वदा निरन्तर ही करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

शोकनाशके उपाय

दुःख अथवा शोकके दो ही हेतु होते हैं—प्रियवियोग एवं अप्रियसंयोग अथवा इष्टका विनाश एवं अनिष्टकी प्राप्ति। इन्हीं दो हेतुओंसे मनुष्यको दुःख, शोक, चिन्ता, भय अथवा व्याकुलता होती है। इन्हीं दो बातोंको लेकर सारा संसार दुःखी हो रहा है, ऐसा कहा जाय तो भी अत्युक्ति न होगी। कोई-कोई तो इनके कारण इतने अधिक दुःखी हो जाते हैं कि उन्हें सारा संसार अन्धकारमय दीखने लगता है, उन्हें चारों ओरसे निराशाके बादल घेर लेते हैं, शोकके मारे दिन-रात उनकी छाती जला करती है, दिनमें चैन नहीं पड़ता और रातको नींद नहीं आती, शरीर सूखकर काँटा हो जाता है, खाना-पीना हराम हो जाता है—यहाँतक कि कुछ लोगोंको तो जीवन भारी हो जाता है और वे घुल-घुलकर शरीर छोड़ देते हैं। कुछ लोग तो और भी आगे बढ़ जाते हैं—वे मूर्खतासे विषादिका प्रयोग करके, जलमें डूबकर, फाँसी लगाकर अथवा आगमें जलकर प्राण त्याग देते हैं। प्रायः लोग स्त्री, पुत्र, धन, मान, कीर्ति अथवा स्वास्थ्य आदि इष्ट पदार्थोंके नाश हो जाने अथवा किसी मुकद्दमेमें फँस जाने, किसी भयानक रोगके शिकार हो जाने या किसी प्राणसंकटके उपस्थित हो जानेपर ही ऐसा करते हैं। ऐसे पुरुषोंके चित्तको शान्त करनेका क्या उपाय है, इसीपर आज कुछ विचार किया जाता है।

वास्तवमें बात यह है कि ज्ञान, भक्ति अथवा विवेक-विचार किसी भी दृष्टिसे शोक करना अज्ञानके सिवा और कुछ नहीं है। अतएव मनुष्यको न तो धन-मकान, जमीन-जायदाद आदि जड वस्तुओंके लिये और न स्त्री, पुत्र आदि चेतन प्राणियोंके लिये शोक करना चाहिये। जिनका विनाश हो चुका है, उनके लिये तो शोक करना बिलकुल ही बेकार है; बल्कि जिनका विनाश होनेवाला है, उनके लिये भी बुद्धिमान् मनुष्यको शोक नहीं करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने गीताके आरम्भमें अर्जुनको शोककी निवृत्तिके लिये ज्ञानकी दृष्टिसे यही उपदेश दिया है। भगवान् कहते हैं—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

(गीता २। ११)

'हे अर्जुन! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है; परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण अभी नहीं गये हैं अर्थात् जो मरनेवाले हैं उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते।'

ऊपरके श्लोकसे भगवान्का तात्पर्य यह है कि किसीके लिये किसी प्रकार किंचिन्मात्र भी शोक कदापि न करना चाहिये।

ज्ञानके सिद्धान्तके अनुसार दो ही पदार्थ माने गये हैं—(१) जड और (२) चेतन। इन्हींको दूसरे शब्दोंमें (१) असत् और (२) सत् भी कह सकते हैं। सत् वह है जिसका नाश न हो और असत् अथवा मिथ्या वह है जो कायम नहीं रहता—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २। १६)

उपर्युक्त वचनसे भगवान्ने यह सिद्ध किया है कि इन्द्रियोंद्वारा दीखनेवाले जितने पदार्थ हैं, वे सब जड, अनित्य, क्षणिक एवं नाशवान् हैं—कुछ गहरा विचार करनेपर प्रतीत होता है कि वे स्वप्नवत् हैं और स्वप्नवत् होनेसे वे वास्तवमें हैं ही नहीं। इसलिये जो ये नाशवान् जड पदार्थ हैं, उनके लिये शोक करना किसी प्रकार भी नहीं बनता।

दूसरा जो चेतन-तत्त्व है, वह नित्य है, सत् है—उसका कभी विनाश नहीं होता। इसलिये उसके लिये भी शोक करना नहीं बनता। बालीके मारे जानेपर उसकी पत्नी ताराको भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भी यही उपदेश दिया था। वे क्या कहते हैं, इसे गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें सुनिये—

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा।
जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥

(राम०, किष्कि० १०। २-३)

'पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु—इन पंचतत्त्वोंसे यह अत्यन्त अधम शरीर बना हुआ है। वह शरीर तो तुम्हारे सामने पड़ा है और जीव नित्य है, फिर तुम किसके लिये रोती हो?'

ऊपरके वचनोंसे भी भगवान्ने यही दिखलाया है कि शरीर विनाशी है और आत्मा नित्य—अविनाशी है, इसलिये दोनोंकी ही दृष्टिसे शोक करना नहीं बनता। जो वस्तु विनाशी है, नाश होनेके पूर्व भी उसे नष्ट ही समझना चाहिये; क्योंकि वह वस्तु एक-न-एक दिन अवश्य नष्ट होगी, स्थिर नहीं रहनेकी। इस प्रकार इष्ट वस्तुके वियोगमें शोक नहीं करना चाहिये, यह बात ज्ञानकी दृष्टिसे बतलायी गयी।

इसी प्रकार अनिष्टकी प्राप्तिमें भी ज्ञानकी दृष्टिसे शोक करना नहीं बनता। इस बातको स्वप्नके दृष्टान्तसे समझाया जाता है। स्वप्नमें किसीको कोई रोग हो जाय, कैद या बन्धन हो जाय अथवा जलप्लावन आदि कोई अन्य संकट उपस्थित हो जाय या बाघ, भालू, सर्पादिसे भय प्राप्त हो तो नेत्र खुलनेपर उस अनिष्टकी सत्ता नही रहती। जब नेत्र खुलनेपर—जाग्रत्में उस वस्तुकी सत्ता नहीं रहती, तब विचारसे ऐसा समझमें आता है कि स्वप्नके समय भी उसका अभाव ही था—अज्ञानके कारण निद्रा-दोषसे बिना हुए ही उसकी प्रतीति हुई थी, जिसके कारण उस स्वप्नका देखनेवाला दुःखी हो गया था। उपर्युक्त स्वप्नके दृष्टान्तसे यह मानना चाहिये कि यदि जाग्रत्में हमें अपने मनके प्रतिकूल किसी अनिष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती है तो वह भी वास्तवमें असत् ही है; क्योंकि कुछ समयके बाद उस वस्तुका अभाव हो जाता है और जिस वस्तुका अभाव हो जाता है वह वास्तवमें है ही नहीं, केवल प्रतीत होती है। ज्ञान होनेके उत्तरकालमें तो इस दृश्य जगत्का अत्यन्त अभाव हो जाता है। ऐसा समझकर विवेकी पुरुषको अनिष्टकी प्राप्तिमें भी शोक नहीं करना चाहिये।

ऊपर ज्ञानकी दृष्टिसे इष्ट वस्तुके विनाश और अनिष्टके संयोगमें शोक करनेका अनौचित्य बतलाया। अब भक्तिकी दृष्टिसे शोक करनेकी अनावश्यकता बतलाते हैं। ऊँचे भक्तोंकी बात तो जाने दीजिये; साधारण कोटिके भक्तोंको भी, यदि उन्हें भक्तिका सिद्धान्त मान्य है, उपर्युक्त दोनों हेतुओंमेंसे किसी भी हेतुको लेकर शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि भक्तिके सिद्धान्तमें जड-चेतन सभी पदार्थ, यहाँतक कि भक्त स्वयं भी—अर्थात् उसका शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, सब कुछ भगवान्के ही होते हैं। ऐसी स्थितिमें यदि किसीका पुत्र मर गया, स्त्री जाती रही, पति मर गया, धन नष्ट हो गया, इज्जत-आबरू चली गयी, पैठ मारी गयी, तो उसे ऐसा समझना चाहिये कि वह वस्तु कहीं गयी नहीं; क्योंकि जब सब कुछ भगवान्का है और भगवान् सर्वव्यापी हैं—वे सब जगह और सब कालमें हैं, तब जो वस्तु हमसे छिन जाती है वह भगवान्के राज्यको छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं चली जाती, भगवान्के ही भण्डारमें रहती है। जब सब कुछ भगवान्का है और भगवान् ही जड-चेतन सबके मालिक हैं, तब वे यदि अपनी किसी वस्तुको एक जगहसे हटाकर दूसरी जगह ले जाते हैं, तो हमें उसके लिये दुःखी क्यों होना चाहिये? इसी बातको दृष्टान्तके द्वारा समझानेकी चेष्टा की जाती है।

एक सेठकी कई जगह दूकानें हैं अथवा सरकारी डाकखाने जगह-जगह हैं। यदि सेठ अपनी एक दूकानका माल दूसरी जगह भेजता है अथवा सरकार यदि एक पोस्ट-ऑफिसका रुपया दूसरे पोस्ट-ऑफिसमें भेजती है, तो मुनीमको अथवा पोस्टमास्टरको इसके लिये रोनेकी अथवा मन मैला करनेकी क्या आवश्यकता है? यदि वे ऐसा करते हैं तो यह उनकी सरासर मूर्खता एवं अन्याय है। मालिककी खुशी है, वह अपनी चीजको चाहे जहाँ रखे। सच्चा भक्त अथवा नौकर तो वह है जो मालिक जैसा कहे वैसा करे, मालिककी राजीमें ही राजी रहे। इसके विपरीत जो नौकर मालिककी चीजको मालिकके माँगनेपर देनेमें आनाकानी करता है अथवा दुःखी होता है वह सच्चा नौकर नहीं, नमकहराम है। मुनीम दूकानके मालको और पोस्टमास्टर डाकखानेके खजानेको अपना समझने लगे और बदनीयतीसे अपने ही पास रखना चाहे तो वह दण्डका पात्र होता है। इसी प्रकार जो मनुष्य भगवान्‌की चीजको अपनी मानकर भगवान्‌के माँगनेपर देनेमें आनाकानी करता है अथवा मन मैला करता है, वह बेईमान है, भक्त नहीं। भक्तको तो प्रभुके विधानमें सदा सन्तुष्ट रहना चाहिये। भगवान्‌की प्रत्येक क्रिया निर्भ्रान्त एवं हितसे भरी हुई होती है और जो कुछ होता है भगवान्‌की आज्ञासे ही होता है—ऐसा समझकर उसे प्रत्येक घटनामें प्रसन्न रहना चाहिये।

भक्तोंकी बात तो जाने दीजिये; संसारमें जो नेकनीयत मनुष्य होते हैं, वे भी ऐसे स्थलोंपर शोक नहीं करते। मान लीजिये कोई मनुष्य अपने किसी विश्वस्त मित्र अथवा बन्धुके पास धरोहरके रूपमें कुछ रुपया अथवा गहने इत्यादि रख देता है और आवश्यकता होनेपर जब उन्हें वापस ले जाता है तो जो ईमानदार होता है वह उस धरोहरको वापस देते समय न आनाकानी करता है और न उस धरोहरके हाथसे चले जानेपर शोक ही करता है, बल्कि जिसकी जो वस्तु थी उसे उसके हवाले करके वह सुखी होता है और ऐसा समझता है मानो उसके सिरसे एक बोझा उतर गया। शोक करनेका तो उसके लिये कोई प्रश्न ही नहीं उठता। किसी मित्रकी धरोहरको अपने पास रखकर उसे लौटानेमें जो आनाकानी करता है वह तो बेईमान है और विश्वासघाती कहलाता है। इसी प्रकार स्त्री, पुत्र, धन आदि भगवान्‌की दी हुई धरोहरको जो अपनी मानकर वापस देनेमें आनाकानी करता है अथवा भगवान्‌के द्वारा जबर्दस्ती वापस ले लिये जानेपर रोता है, वह भगवान्‌पर विश्वास रखनेवाला भी नहीं समझा जा सकता, फिर भक्त तो उसे कहा ही कैसे जाय? उसे तो भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌को सौंप देनेमें प्रसन्नता होनी चाहिये और ऐसा करके चिन्तासे मुक्त हो जाना चाहिये।

यदि कोई स्त्री, पुत्र आदिको भगवान्‌की वस्तु न समझे तो भी उसे यह समझकर प्रसन्नता होनी चाहिये कि मेरी स्त्री, मेरा पति अथवा पुत्र भगवान्‌के पास उनकी रक्षामें पहुँच गया। जितनी सँभाल उसकी भगवान् कर सकते हैं, उतनी वह कर ही नहीं सकता था। ऐसी दशामें अपनी प्यारी वस्तुको अपनेसे कहीं अधिक समर्थ एवं प्रेमी रक्षककी देख-रेखमें गयी समझकर उसे शोकके बदले प्रसन्नता ही होनी चाहिये।

यह तो हुई इष्ट वस्तुके वियोगमें शोक न करनेकी बात। इसी प्रकार अनिष्टकी प्राप्तिमें भी भक्तको शोक नहीं करना चाहिये, यह बात आगे समझायी जाती है। जो कुछ भी अनिष्ट हमें प्राप्त होता है, प्रभुकी आज्ञासे ही प्राप्त होता है। कोई वस्तु अथवा घटना अपने कितनी भी प्रतिकूल क्यों न हो, वह मेरे स्वामीके तो अनुकूल ही है—ऐसा समझकर भक्तको सदा प्रसन्न रहना चाहिये। मेरे स्वामीसे भूल तो कभी होती ही नहीं; वे जो कुछ करते हैं, समझ-बूझकर ही करते हैं। ऐसी स्थितिमें अनिष्टरूपमें जो कुछ मुझे प्राप्त होता है, वह तो मेरे प्रभुका भेजा हुआ पुरस्कार है, ऐसा समझकर प्रह्लादकी भाँति उसे प्रतिक्षण मुग्ध होते रहना चाहिये। इसके विपरीत जो किसी अनिष्ट प्रसंगपर क्षुब्ध होता है, वह भगवान्‌का भक्त नहीं कहा जा सकता। भक्तको तो ऐसा मानना चाहिये कि जो कुछ प्रभु करते हैं हमारे हितके लिये ही करते हैं, हम अज्ञतावश उसे समझ नहीं पाते। जिसको हम अनिष्ट समझते हैं, थोड़ा भीतर प्रवेश करनेपर हमें मालूम होगा कि वह तो वास्तवमें हमारे लिये परमानन्दका विषय है। अनिष्ट कहलानेवाले प्रसंगोंसे, थोड़ा-सा भी विचार करनेपर हमें निम्नलिखित लाभ प्रत्यक्ष दिखायी देंगे। इनके अतिरिक्त न मालूम कितने लाभ भगवान्‌की उन मनको प्रतिकूल लगनेवाली क्रियाओंसे हमें होते हैं—उनका हम अंदाजा नहीं लगा सकते।

(१) पहली बात तो यह है कि हमें अपने मनके प्रतिकूल जिस दुःखदायक पदार्थकी प्राप्ति होती है, वह हमारे ही किसी पूर्वकृत अपराधका फल है; क्योंकि भगवान्‌के राज्यमें बिना अपराध किसीको दण्ड नहीं मिल सकता। इस प्रकार हमारे अपराधोंका दण्ड देकर भगवान् हमें पापमुक्त करते हैं, शुद्ध बनाते हैं।

(२) इस प्रकारकी शिक्षा देकर भगवान् हमें भविष्यमें पाप करनेसे रोकते हैं।

(३) इस प्रकार कष्ट देकर भगवान् हमारे आत्माको बलिष्ठ बनाते हैं। आगमें तपानेसे जैसे सोना निखर उठता

है, उसी प्रकार कष्ट सहनेसे आत्मा शुद्ध और बलिष्ठ होता है—यह सबका अनुभव है।

(४) कभी-कभी हमलोग अपनी भक्तिका झूठा अभिमान करने लगते हैं और वास्तवमें भगवान्‌में जैसा विश्वास होना चाहिये, वैसा न होनेपर भी अपनेको विश्वासी मान बैठते हैं। इसलिये इस प्रकारके कष्ट देकर भगवान् हमारी परीक्षा लेते हैं और हमें अपनी असली स्थितिका परिचय कराते हैं तथा हमारा अभिमान भंग करते हैं।

(५) हमारे अपराधोंका दण्ड देकर भगवान् अपनी न्यायशीलता सिद्ध करते हैं और हमें चेतावनी देते हैं कि मेरे भजनके सहारे पापमें कभी प्रवृत्त न होना, नहीं तो इस प्रकारका दण्ड फिर तैयार है; मैं भजनके बलपर पाप करनेवालोंकी रू-रियायत नहीं करता।

(६) अन्तिम और सबसे बड़ा लाभ यह है कि कष्टमें हमें भगवान् याद आते हैं। हमलोग संसारके तुच्छ, नाशवान् भोगोंके पीछे भगवान्‌को भूले रहते हैं। इसलिये बीच-बीचमें कष्ट देकर भगवान् हमें चेतावनी देते रहते हैं कि मुझे भूलो मत, नहीं तो बड़ी दुर्दशा होगी; यह मनुष्यशरीर भोगोंके लिये नहीं मिला है, मुझे प्राप्त करनेके लिये ही मिला है—इसलिये इसे व्यर्थ कामोंमें न गँवाओ।

इसके अतिरिक्त हमारे मनको प्रतिकूल लगनेवाली भगवान्‌की क्रियाओंमें हमारा कितना हित भरा रहता है, इसे हमलोग समझ नहीं सकते। अतः प्रभु हमारे लिये जो कुछ करते हैं, उसमें उनकी अपार दया एवं अपना परम हित मानकर हमें खूब प्रसन्न रहना चाहिये।

विवेक एवं विचारकी दृष्टिसे भी हमें इष्ट वस्तुके वियोग एवं अनिष्टकी प्राप्तिमें शोक नहीं करना चाहिये। इष्टका वियोग एवं अनिष्टका संयोग दोनों ही क्षणिक हैं। जिस वस्तुके साथ संयोग होता है, उसका वियोग भी अवश्यम्भावी है। संसारके संयोग और वियोग वैसे ही हैं जैसे किसी मुसाफिरखाने अथवा पान्थशालामें यात्रियोंका एकत्रित होना तथा अलग-अलग हो जाना अथवा रेलगाड़ीमें मुसाफिरोंका चढ़ना-उतरना। जैसे किसी मुसाफिरखाने अथवा सरायमें रात्रिमें विश्राम करनेके लिये यात्री लोग ठहरते हैं और सबेरा होते ही अपने-अपने निर्दिष्ट स्थानको चल देते हैं, उसी प्रकार एक परिवारमें कई प्राणी एकत्र होते हैं और समय पूरा होते ही बिछुड़ जाते हैं। रेलगाड़ीमें जैसे भिन्न-भिन्न स्थानोंको जानेवाले मुसाफिर चढ़ते-उतरते रहते हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न जीव इस संसारमें जन्मते-मरते रहते हैं। रेलगाड़ीमें हम जिस डिब्बेमें बैठे हुए होते हैं उसमें यदि कोई दूसरा मुसाफिर सवार होता है, तो उसके आनेपर हम खुशी नहीं मनाते और उसके उतर जानेपर हम दुःखी नहीं होते। इसी प्रकार अपने परिवारवालोंके जन्मने-मरनेपर हमें हर्ष-शोक नहीं करना चाहिये। बल्कि रेलगाड़ीमें तो कभी-कभी इसके विपरीत भी होता है। हमारे डिब्बेमें दूसरेके घुस आनेपर हम अप्रसन्न होते हैं और उतर जानेपर हम प्रसन्न होते हैं; किन्तु ऐसा भी होना ठीक नहीं है। रेलगाड़ीमें हमारे पास जिस स्टेशनका टिकट होता है उसके आगे हम नहीं जा सकते, उसी प्रकार जितनी आयु लेकर मनुष्य इस संसारमें आता है, उससे अधिक वह नहीं जी सकता। इसलिये विवेक एवं विचारकी दृष्टिसे भी हमें इष्टविनाश एवं अनिष्टसंयोगपर दुःखी नहीं होना चाहिये।

इसके अतिरिक्त इष्टविनाश एवं अनिष्टसंयोगपर शोक अथवा चिन्ता करना, रोना-चिल्लाना, लौकिक दृष्टिसे भी महान् मूर्खता है। इससे प्रत्यक्षमें हमारी हानि होती है। लोगोंकी दृष्टिमें हम गिर जाते हैं, दुर्बलहृदय समझे जाते हैं। जगत्‌में हमारी मूर्खता ही प्रकट होती है। स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, शरीर चिन्तासे जर्जर हो जाता है, ओज, बल एवं नेत्रकी हानि होती है और हम दुःखी होकर रोते-रोते मरते हैं। इसलिये विवेकी पुरुषकी तो बात ही क्या है, जो थोड़ा भी समझदार है, उसे भी शोक नहीं करना चाहिये, बल्कि ईश्वरके प्रत्येक विधानमें उसकी दया मानकर प्रसन्न रहना चाहिये। यदि दया समझमें न आवे तो कम-से-कम होनीको प्रबल समझकर ही शोक नहीं करना चाहिये। चाहे हम ज्ञान, भक्ति—इनमेंसे किसी भी सिद्धान्तको न मानें, बल्कि ईश्वरमें भी हमारा विश्वास न हो तो भी जो कुछ होनेको है वह तो होकर ही रहेगा, हमारे टाले टलेगा नहीं—यही समझकर हमें धैर्य धारण करना चाहिये। जो निरुपाय बात है, उसके लिये चिन्ता करनेसे क्या लाभ है? फिर जो बात हो चुकी, उसके लिये शोक करना तो और भी बेकार है। हमारे शोक करनेसे वह अन्यथा तो हो नहीं सकती, फिर उसके लिये शोक करना अपनी ही हानि करना है।

जो लोग शोकसे अभिभूत होकर अथवा आवेशमें आकर आत्महत्या कर बैठते हैं, वे तो अत्यन्त ही मूर्ख हैं। वे लोग अज्ञानवश वर्तमान कष्टसे मुक्त होनेके लिये शरीरका नाश कर देते हैं; परन्तु इससे सुख पाना तो दूर रहा, उलटा उन्हें अधिक कष्ट भोगना पड़ता है। ऐसा करनेसे प्रथम तो उन्हें अमूल्य मानव-जीवनसे हाथ धोना पड़ता है, जिसके द्वारा मनुष्य नित्यसुखरूप परमात्माको पाकर कृतार्थ हो जाता है और जन्म-मरणरूप बन्धनसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है, जिसे शास्त्रोंने अत्यन्त दुर्लभ बतलाया है और जिसे यह जीव चौरासी लाख योनियोंमें

भटकता-भटकता कभी परमात्माकी अहैतुकी कृपासे ही प्राप्त करता है।* इसके अतिरिक्त प्राणोंके वियोगके समय भी उसे इतना कष्ट होता है जिसकी सीमा नहीं है। पहले उसे उस कष्टका अनुमान नहीं होता, परन्तु पीछे जब उसके प्राण निकलते हैं, उस समय उसे इतना कष्ट होता है जिसके समान और कोई दुःख नहीं है। साधारण मृत्युके समय भी लोग कहते हैं हजारों बिच्छुओंके डंक मारने जैसा कष्ट होता है फिर जो स्वयं जान-बूझकर मरता है उसके कष्टका तो कहना ही क्या है!

तीसरी बात यह है कि मरनेके बाद उसे घोर नरकोंकी प्राप्ति होती है। ईशोपनिषद्में कहा है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

(ईश० ३)

अर्थात् वे असुरसम्बन्धी लोक आत्माके अदर्शनरूप अज्ञानसे आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्माका हनन करनेवाले लोग हैं वे मरनेके अनन्तर उन्हें प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान, भक्ति अथवा विवेक-विचार—किसी भी दृष्टिसे शोक करना उचित नहीं है। वास्तवमें इष्टवियोग अथवा अनिष्टसंयोग दुःखदायक नहीं होता, अज्ञानमूलक ममता ही दुःखका हेतु है। मान लीजिये किसी सड़कके दोनों ओर दो मकान हैं। उनमेंसे एकमें हमारी ममता है और दूसरेमें पारक्यबुद्धि है। जिसमें ममता नहीं है, उसपर यदि कोई आपत्ति आती है—कोई उसे तोड़ता है अथवा उसमें आग लग जाती है तो हमें दुःख नहीं होता; किन्तु जिसमें हमारी ममता है, उसकी यदि कोई एक ईंट भी निकालता है तो हमें ऐसा दुःख होता है मानो हमारे शरीरको ही कोई नोचता हो। कुछ दिन बाद उसी मकानको हम पूरा मूल्य लेकर बेच डालते हैं। उसके बाद यदि कोई उसको भी तोड़ता है अथवा उसमें आग लगाता है, तो हम खड़े-खड़े हँसते हैं, हमें दुःख नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि मकानका टूटना या नष्ट होना दुःखदायी नहीं है; उसमें जो हमारी ममता है, वही दुःखका हेतु है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव संसारमें, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी जमीन है, यह मेरी सम्पत्ति है, यह मेरा शरीर है—इस प्रकार ममता कर लेता है और फिर उनके विनाशसे दुःखी होता है। अतः ममताका नाश ही दुःखनाशका उपाय है और ममताके नाशके लिये दो ही उपाय हैं—(१) ज्ञानी महात्माओंके संगसे ज्ञान प्राप्तकर ममताके मूल अज्ञानका नाश करना अथवा (२) ईश्वरकी भक्ति करके उनकी कृपासे अज्ञानका नाश करना। गीतामें भी दुःखनाश और परम शान्ति प्राप्त करनेके यही दो मुख्य उपाय बतलाये गये हैं—

(१) तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(४। ३४)

'उस ज्ञानको तू समझ; श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके पास जाकर उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके तत्काल ही भगवत्-प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

(२) तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(१८। ६२)

'हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परमशान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त हो जायगा।'

यह ईश्वरकी शरणागति ही दुःखसे सदाके लिये छूटनेका सर्वोत्तम उपाय है और किसी रास्तेसे दुःख नहीं मिटेगा, चाहे हम जीवनभर रोते और कलपते रहें।

जो सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वलोकमहेश्वर भगवान् सबके प्रेरक, सर्वान्तर्यामी और सबके परम सुहृद् हैं—अपने मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रिय, प्राण और समस्त धन-

* मानव-देहके लिये गोस्वामीजीने रामचरितमानसमें लिखा है—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी।
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही।
नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥

जनादिको उनके समर्पण करके उन्हींपर निर्भर और निर्भय हो जाना सब प्रकारसे परमेश्वरके शरण होना है। अर्थात् बुद्धिके द्वारा भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व और स्वरूपका श्रद्धापूर्वक निश्चय करके भगवान्‌को ही परम प्राप्य, परमगति, परम आश्रय और सर्वस्व समझना, उनको अपना एकमात्र स्वामी, भर्ता, प्रेरक, रक्षक और परम हितैषी मानकर सब प्रकारसे उनपर निर्भर और निर्भय हो जाना और सब कुछ भगवान्‌का समझकर और भगवान्‌को सर्वव्यापी जानकर समस्त कर्मोंमें ममता, अभिमान, आसक्ति और कामनाका त्याग करके भगवान्‌के आज्ञानुसार अपने कर्मोंद्वारा समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित परमेश्वरकी सेवा करना; जो कुछ भी दुःख-सुख प्राप्त हों, उनको भगवान्‌के द्वारा भेजे हुए समझकर पुरस्काररूपमें उन्हें सिर चढ़ाकर सदा सन्तुष्ट रहना; भगवान्‌के किसी भी विधानमें कभी किंचिन्मात्र भी असन्तुष्ट न होना; मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाका त्याग करके भगवान्‌के सिवा किसी भी सांसारिक वस्तुमें ममता और आसक्ति न रखना; अतिशय श्रद्धा और अनन्य प्रेमपूर्वक भगवान्‌के गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व, नाम और स्वरूपका नित्य-निरन्तर चिन्तन करते रहना—ये सभी भाव तथा क्रियाएँ सब प्रकारसे परमेश्वरके शरण ग्रहण करनेके अन्तर्गत हैं। शरणागतिके इस भावको आदर्श रखकर जहाँतक बने भजन, ध्यान, सेवा, सत्संगमें ही अपने समयको बितानेके लिये तत्परतासे प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

श्रद्धा-विश्वास और प्रेम

प्रश्न—भगवान् और महात्मा पुरुषोंके प्रभाव और गुणोंको सुनकर भी श्रद्धा-विश्वास नहीं होता और उसके अनुसार तत्परतासे चेष्टा नहीं होती—इसमें क्या कारण है?

उत्तर—भगवान्‌के तथा महापुरुषोंके प्रभाव और गुणोंको सुनकर भी श्रद्धा नहीं होती—इसमें कारण है अन्तःकरणकी मलिनता और तदनुकूल चेष्टा न होनेमें कारण है श्रद्धाका अभाव! अन्तःकरणके अनुरूप ही श्रद्धा होती है। भगवान्‌ने कहा है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

(गीता १७। ३)

'हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है। अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा है वैसा ही उसका स्वरूप है।'

अन्तःकरणकी मलिनता दूर होनेसे ही उत्तम श्रद्धा होती है और श्रद्धा होनेसे ही तत्परता होती है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

(४। ३९)

अन्तःकरणकी मलिनता दूर करनेका उपाय इस समय सबसे बढ़कर भगवान्‌के नामका जप है। इसलिये कैसे भी हो—हठसे या प्रेमसे—नाम-जप करता रहे। नाम-जपसे अन्तःकरणकी मलिनता नष्ट हो जायगी, उसमें सात्त्विक श्रद्धा उत्पन्न होगी और फिर भगवान् तथा महात्माओंमें आप ही श्रद्धा हो जायगी और उनके कथनानुसार तत्परतासे चेष्टा होने लगेगी।

प्रश्न—सत्संग करते हैं फिर भी मन जैसा होना चाहिये वैसा नहीं होता—इसमें क्या कारण है?

उत्तर—इसमें भी सत्संगका प्रभाव न जानना एवं अन्तःकरणकी मलिनता ही हेतु है। अन्तःकरण मलिन होनेसे सत्संगका रंग नहीं चढ़ता। मैला कपड़ा रंगमें डुबोनेपर उसमें रंग अच्छा नहीं चढ़ता। साफ होता है तो रंग अच्छा चढ़ता है। (प्रेम, आसक्ति, रुचि, राग—इन सबका अर्थ एक ही है।) पारससे लोहा छुआ देनेसे लोहा सोना बन जाता है—यह बात सत्य है; किन्तु बीचमें यदि व्यवधान होता है तो वह सोना नहीं होता। इसी तरह महात्माओंके संगसे रंग चढ़ता ही है, किन्तु यदि अविश्वासका व्यवधान होता है तो नहीं चढ़ता। जिसको पूर्ण विश्वास होता है उसके रंग चढ़ता ही है।

भगवान् न्यायकारी हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, यह विश्वास हमारा हो जाय तो फिर हम एक भी पाप नहीं कर सकते। ईश्वरकी सत्ता मान लेनेसे ही पापका नाश हो जाता है। मानते हुए भी यदि पाप करते हैं तो यही समझना चाहिये कि किसी एक अंशमें ही मानते हैं, पूरा विश्वास नहीं है। सरकार जिस कामसे प्रसन्न नहीं है यानी जो काम सरकारके प्रतिकूल है, उसे हम नहीं करते। यह सरकार तो सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् भी नहीं है। परमात्मा सर्वज्ञ हैं, सब जगह हैं और सर्वसमर्थ हैं। जो कोई भी उन्हें सर्वज्ञ समझ लेता है उससे पाप नहीं हो सकते।

प्रश्न—जैसे पिता पुत्रको अनुचित कामसे जबरन् मना कर देता है वैसे ही ईश्वरको भी मना कर देना चाहिये। पर वह मना क्यों नहीं करता?

उत्तर—मना करता है—महात्मापुरुषोंद्वारा—मनके द्वारा—सब प्रकारसे मना करता है। किन्तु ईश्वरने जीवोंको

स्वतन्त्रता दे रखी है। इसलिये जीव परतन्त्र होनेपर भी स्वतन्त्र हैं। जैसे हमको बंदूक चलानेका लाइसेन्स है। हम राज्यके कानूनोंके हिसाबसे ही बंदूक चला सकते हैं। कानूनसे बँधे हुए हैं किन्तु फिर भी हम चाहे जिस किसीपर कानूनके विरुद्ध भी चला तो सकते हैं न? फिर चाहे दण्ड मिले। ठीक वही बात यहाँ भी है।

प्रश्न—जब कभी कोई बात एक-दो मिनटोंके लिये समझमें आ जाती है तो वह ठहरती क्यों नहीं? ईश्वरको उसे ठहरा देना चाहिये—इतनी तो मदद करनी चाहिये।

उत्तर—भगवान्‌से जो मदद चाहता है उसे मदद मिलती है। जो यह प्रार्थना करता है कि हे भगवन्! मेरा मन निरन्तर भजन-ध्यानमें लगा रहे तो उसे भगवान् मदद देते हैं। सामान्य मदद तो सभीको है किन्तु विशेष मदद जो चाहता है, उसे दी जाती है। इसलिये उनसे प्रार्थना करनी चाहिये जिससे कि वह स्थिति छूटे नहीं। जिसका ऐसा विश्वास होता है कि मैं भगवान्‌की शरण हूँ—मेरी धारणाको दृढ़ और अन्तःकरणकी शुद्धि भगवान् ही करते हैं, उसकी हो जाती है। एक सज्जन चाहते हैं कि मैं अमुकके आज्ञानुकूल चेष्टा करूँ, कभी-कभी कुछ चेष्टा भी करते हैं पर मौका पड़नेपर पीछे हट जाते हैं तो यही समझना चाहिये कि उनका इस बातमें पूरा विश्वास नहीं है कि चाहे प्राण भले ही चले जायँ इनकी आज्ञा ही पालनीय है। अगर भगवान्‌में पूरा विश्वास करके भगवान्‌से मदद माँगे तो भगवान् इसके लिये भी मदद दे सकते हैं।

प्रश्न—श्रद्धा, प्रेम और दयापर कुछ विशेषरूपसे कहिये।

उत्तर—ऐसा प्रतीत होता है कि मुझे कहनेकी आदत पड़ गयी है और आपलोगोंको सुननेकी। बार-बार कहा जाता है। आप सुनते ही हैं। किन्तु जबतक बात समझमें नहीं आती, काममें नहीं लायी जाती, तबतक हमेशा ही नयी है और हमेशा ही बार-बार सुननेकी जरूरत है।

बात है बड़ी अच्छी! इसमें कुछ भी खर्च नहीं होता। मूर्ख-से-मूर्ख भी इसे कर सकता है। इसमें बलकी, बुद्धिकी, धनकी, जातिकी, वर्णकी या कुलकी—किसीकी भी जरूरत नहीं है। यह साधनकालमें भी प्रत्यक्ष शान्ति देनेवाली है। फिर सुनकर भी यदि काममें नहीं लायी जाती है तो यही समझना चाहिये कि विश्वासकी कमी है। संसारमें जो प्रत्यक्षमें सुख-शान्ति देनेवाली होती है उसको तो लोग करनेको तैयार रहते हैं। फिर यह तो आदि, मध्य और अन्त सर्वत्र आनन्द देनेवाली है। अभी आरम्भ कीजिये, अभी शान्ति-आनन्द तैयार है। यह नहीं कि कोई घंटे-दो-घंटे बाद आनन्द मिलेगा।

बात यह है—प्रथम तो यह विश्वास कर लेना चाहिये कि परमात्मा दीखते नहीं—तब भी हैं और सब जगह हैं। जैसे प्रेत दीखता नहीं है पर है—ऐसी झूठी कल्पना करके भी लोग भयभीत हो जाते हैं और दुःखी हो जाते हैं। फिर सच्ची धारणा करनेपर सुख और शान्ति प्रत्यक्ष मिलें इसमें तो कहना ही क्या है? इसलिये परमात्मा न भी दीखें तो भी मान लेना चाहिये कि वे हैं—अवश्य हैं।

ईश्वर दयालु हैं, प्रेमी हैं। उनकी दया और प्रेम सब जगह परिपूर्ण हो रहे हैं। अणु-अणुमें उनकी दया और प्रेमको देख-देखकर हमें मुग्ध होना चाहिये। हर समय प्रसन्न रहना चाहिये। इसको साधन बना लेना चाहिये। इसमें न कुछ परिश्रम है और न किसी अन्य चीजकी आवश्यकता है।

ईश्वरकी दया और प्रेम अपार है—असीम है। यह बात मनमें है तो ईश्वरकी स्मृति निरन्तर रहनी चाहिये। सब जगह ईश्वरकी दया और प्रेम परिपूर्ण है जैसे बादलमें सब जगह जल परिपूर्ण है। दया और प्रेमका बड़ा भारी समुद्र उमड़ा हुआ है—भरा हुआ है। उसमें अपने-आपको डुबो दे। चारों तरह बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर सर्वत्र ईश्वरकी दया और प्रेमका समुद्र परिपूर्ण है। जैसे सूर्यकी धूपमें हम बैठते हैं—हमारे चारों ओर धूप-ही-धूप पूर्ण है उसी तरह परमात्माकी दया और प्रेम सब जगह पूर्ण है। सूर्यका प्रकाश तो केवल बाहर ही है। किन्तु दया और प्रेम तो बाहर-भीतर सब जगह पूर्ण हो रहे हैं। इस प्रकार देख-देखकर हर समय मुग्ध होते रहना चाहिये। अहा! हम धन्य हैं! हमपर ईश्वरकी कितनी भारी दया है! सब देशमें, सब कालमें, सब वस्तुमें ईश्वरकी दयाका दर्शन करें और इसी प्रकार प्रेम बढ़ावें।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(गीता ५। २९)

ईश्वर परम सुहृद् हैं। सुहृद्‌का अर्थ क्या है? दया और प्रेम जिसमें हो उसका नाम सुहृद् है। उसकी दया और प्रेम अनन्त है, अपार है। अणु-अणुमें, जर्रे-जर्रेमें व्याप्त हो रहे हैं। एक बादशाहकी दया हो जाती है तो आनन्दका ठिकाना नहीं रहता। एक महात्माकी दया हो जाती है तो आनन्द समाता नहीं फिर ईश्वरकी दया तो अपार है। फिर क्या बात है? (सहजमें ही हमारी स्थिति बदल सकती है। हम बहुत शीघ्र परमात्माको पा सकते हैं।) हर समय यह भाव जाग्रत् रहना चाहिये। अहा! ईश्वरकी हमपर कितनी दया है। ईश्वरका हमपर कितना प्रेम है। सबपर समानभावसे अपार दया है। जब इतनी दया है, तब हमको भय, चिन्ता, शोक करनेकी क्या आवश्यकता है। हम चिन्ता-भय करें

यह तो हमारी मूर्खता है। भय किसका? न वहाँ भय है, न चिन्ता है, न मोह है। यह हमारी बेसमझी थी—हम जानते नहीं थे कि प्रभु इतने दयालु हैं। अब कहाँ चिन्ता? कहाँ भय? कहाँ शोक? प्रभुकी अपार दया है। यह साधन बना लें। हर समय खयाल रखें, मनसे इस प्रकार अनुभव करें तो उसी समय शान्ति और आनन्दका भण्डार भरा पड़ा है। इस साधनसे थोड़े ही कालमें साक्षात् प्रभुकी प्राप्ति हो जाय।

एक समृद्धिशाली पुरुष है, स्वप्नमें भिखारी बन गया—इसलिये दुःखी हो रहा है। किन्तु जागनेपर दुःख कहाँ? दुःख था ही नहीं, उसने बिना हुए ही दुःख मान लिया। इसी तरह हम भी बेसमझीके कारण ही दुःखी हो रहे हैं। ईश्वरकी दया और प्रेम तो सब जगह पूर्ण हो ही रहे हैं। हम मानते नहीं तभी हम दुःखी होते हैं। पर हम नहीं मानते हैं उस समय भी ईश्वरकी दया तो है ही। बस, मान लें तो आनन्द-ही-आनन्द है। ऐसा अमृतमय आनन्द प्रत्यक्ष है, इसमें कुछ भी शंका नहीं है फिर उसे क्यों छोड़ते हैं? **'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्'** प्रत्यक्ष आनन्दका अनुभव हो रहा है फिर उसमें प्रमाण क्या? केवल मान लेना ही साधन है। जप या ध्यान—कुछ भी करनेकी बात नहीं कही। केवल मान लो, बस, इतना ही करना है। वह परम सुहृद् है जिसमें अपार दया हो— हेतुरहित प्रेम हो। भगवान्‌की दया अपार है। वह अपार दयादृष्टिसे हमें देख रहा है फिर किस बातकी चिन्ता है। माता स्नेहसे बच्चेको पकड़कर यदि फोड़ेको चिरवा रही है तो चिन्ता क्यों करनी चाहिये। माँ देख रही है न? बच्चा यदि रोता है तो उसका बालकपन है। समझदार तो रोता भी नहीं। हमपर कोई भी दुःख आवे तो समझना चाहिये—हमारी माँ, भगवान् हमें सुखी करनेके लिये, पवित्र करनेके लिये गोदमें लेकर चिरवा रहे हैं।

कितनी दयाभरी दृष्टि है। अपार दयाकी छटा छायी हुई है। कोई स्थान उसकी दया और प्रेमसे खाली नहीं। उसकी दया, प्रेम सर्वत्र परिपूर्ण हो रहे हैं। वे दर्शन देनेको तैयार हैं। वे सब प्राणियोंके सुहृद् हैं। यदि पूरा विश्वास हो जाय कि भगवान् हमें दर्शन देंगे तो उसी क्षण दर्शन देना पड़ेगा—एक क्षण भी वे नहीं रुक सकेंगे।

नास्तिक पुरुषोंको तो विश्वास नहीं है। वे समझते हैं ईश्वर है या नहीं। जिनका होनेमें विश्वास है वे समझते हैं कि पता नहीं मिलते हैं या नहीं। दूसरे यह समझते हैं कि मिलते तो हैं पर बहुत भजन-ध्यान करनेसें मिलते हैं यह भी भूल है। भगवान् बड़े ही दयालु हैं। यदि भजन-ध्यान कराकर मिलते हैं तो फिर दयालु क्या हुए? यदि हम दृढ़ विश्वास कर लें कि वे तो बड़े ही दयालु हैं, उनके न मिलनेमें हमारी बेसमझी ही कारण है। हमको मिलेंगे, जरूर मिलेंगे और आज ही मिलेंगे—ऐसा दृढ़ निश्चय कर लें तो आज ही मिल जायँगे इसमें तनिक भी शंका नहीं है।

जो कुछ भी ईश्वरका विधान है उसमें हित ही भरा है। कहीं भी अहित दीखता है तो यह अपनी समझकी कमी है। अणु-अणुमें सब समय, सब देश और सब वस्तुमें अपना हित ही देखे, यह देखना ही सर्वत्र उसकी दयाको देखना है। विश्वासपूर्वक मान लें, बस, फिर काम खतम। उसके आनन्दका ठिकाना ही नहीं है। प्रत्यक्ष शान्ति और आनन्द है। इन बातोंके पढ़ने-सुननेमात्रसे ही महान् शान्ति और आनन्द होते हैं तो फिर बार-बार मनन करनेसे बड़ी भारी शान्ति और आनन्दका अनुभव क्यों नहीं होगा?

ईश्वरकी दया सर्वत्र है। सर्वत्र उसके प्रेमकी छटा छा रही है। फिर हम क्यों भय करें। वह प्रेमका महान् समुद्र है, उसमें हम डूबे हुए हैं—प्रेम-जलसे भीगे हुए हैं—मग्न हो रहे हैं। यह भाव जब दृढ़ हो जायगा तब शान्ति और आनन्दकी बाढ़ प्रत्यक्ष दीखने लगेगी। फिर प्रेम आनन्दके रूपमें परिणत हो जायगा, वही परमात्माका स्वरूप है। परमात्मा आनन्दमय है। परमात्मा प्रेममय है। वह प्रेम ही प्रत्यक्ष प्रकट होकर दर्शन देता है। इस समय वह प्रेम अदृश्य है। जब प्रेम हो जाता है तो भगवान् प्रत्यक्ष मूर्तिमान् होकर प्रकट हो जाते हैं। भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णका स्वरूप प्रेमका ही पुंज है। प्रेमके सिवा दूसरी वस्तु नहीं है। प्रेम ही आनन्द है और आनन्द ही प्रेम है। एक ही चीज है। भगवान् सगुण-साकारकी उपासना करनेवालोंके लिये प्रेममय बन जाते हैं और निर्गुण-निराकारकी उपासना करनेवालोंके लिये आनन्दमय बन जाते हैं।

संसारमें भी यह बात है कि जिससे जितना प्रेम बढ़ेगा उससे उतना ही अधिक आनन्द होगा। यही बात इस विषयमें है। वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही भक्तोंका प्रेमानन्द है और वही पूर्णब्रह्म परमात्मा मूर्तिमान् होकर प्रकट होते हैं।

तुलसीदासजी कहते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना।
प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

हरि सब जगह परिपूर्ण हैं। वे प्रेममय हैं। वे प्रेमसे ही प्रकट होते हैं; क्योंकि वे स्वयं प्रेममय हैं।

यदि कहो कि बात तो सही है पर हमलोगोंमें प्रेम नहीं है। तो यह तो आपकी ही मान्यता है न? ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ प्रेम न हो। प्रेमियोंका प्रेम और ज्ञानियोंका आनन्द सब जगह है। वेदान्तमें अस्ति, भाति, प्रिय कहा है। समझना चाहिये—प्रिय क्या वस्तु है। प्रिय और प्रेममें

कोई अन्तर नहीं है। संसारमें कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसमें आनन्द व्याप्त न हो। प्रेम उसका स्वरूप है। वह सब जगह है।

भगवान्ने वाल्मीकिमुनिसे रहनेका स्थान पूछा। उन्होंने कहा—'भगवन्! बतलाइये, आप कहाँ नहीं हैं?' वह प्रेममय परमात्मा बाहर-भीतर सब जगह परिपूर्ण है।'

हममें प्रेम नहीं है, भजन-साधनकी कमीके कारण हमें भगवान् नहीं मिलते—यह हमारी मान्यता नीतिके अनुसार ठीक है। ऐसा मानकर हम भगवान्का भजन करें, सत्संग करें तो आगे जाकर हमारा कल्याण हो सकता है। नीति तो यही है किन्तु इसीसे विलम्ब हो रहा है। एक बात इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। हम कानून माननेवाले हैं इसलिये भगवान्ने यह कानून बना दिया। पर हम यह मान लें कि कानूनकी बात तो वही है—अपनी दृष्टिसे तो वही बात है पर प्रभु असम्भवको भी सम्भव करनेवाले हैं—वे अपने दासोंके दोषोंकी ओर देखते ही नहीं। वे बिना ही कारण दासोंपर दया और प्रेम करते हैं। उनका स्वभाव ही ऐसा है। उनके स्वभावपर हम दृढ़ विश्वास कर लें तो फिर हम इस बातकी प्रतीक्षा करें कि एक क्षणका भी विलम्ब क्यों हो रहा है? हम इस बातपर अड़ जायँ कि एक क्षणका भी विलम्ब क्यों होना चाहिये? बस, फिर विलम्ब हो नहीं सकता।

हमारा प्रेम, हमारी करनी तो विलम्ब ही करनेवाले हैं किन्तु इस अपनी मान्यताको छोड़कर प्रभुकी ओर खयाल करें तो फिर विलम्ब नहीं होना चाहिये। हमारी धारणा बलवती होनी चाहिये। "प्रभो! आप तो परम दयालु हैं, आप तो दासोंके दोषोंको देखते ही नहीं। आपकी दया तो प्रत्यक्ष है। आप परम प्रेमी हैं—आपका प्रेम तो बिना हेतु ही होता है। प्रभो! मैं जब ऐसा मानता था कि 'प्रभु न्यायकारी हैं, जब हम भजन करेंगे तो वे दर्शन देंगे' उस समयतक तो विलम्ब होना ठीक ही था, किन्तु प्रभो! अब तो मैं यह मानता हूँ कि आप परम दयालु हैं, आपका दया करना ही एकमात्र स्वभाव है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि आप अब एक क्षण भी विलम्ब नहीं करेंगे।" ऐसा दृढ़ विश्वास रखें तो फिर उस कानूनसे जो विलम्ब हो रहा है वह नहीं हो।

यह एक असम्भव-सी बात लगती है कि एक क्षणमें हमारा कल्याण हो जायगा। लोगोंकी यह धारणा हो रही है कि भगवान् न्यायकारी हैं—जब हम पात्र होंगे तब भगवान् दर्शन देंगे। यह बात युक्तिसंगत होते हुए भी भगवान्पर लागू नहीं हो सकती। भगवान्के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। असम्भव बात भी सम्भव हो सकती है—प्रभु ऐसे ही प्रभावशाली हैं। प्रभुका प्रभाव ही ऐसा है। वहाँ सारा असम्भव भी सम्भव है। यह बात हम समझ लें तो उसी समय कल्याण हो जाय। दया, प्रेम प्रभुके गुण हैं। असम्भवको भी सम्भव कर देना यह प्रभाव है। प्रभुके गुणोंमें या प्रभावमें—किसी एकमें भी विश्वास हो जाय तो फिर बस, आप कैसे भी हों, आपको एक-एक मिनट प्रभुका विलम्ब सहन नहीं हो सकेगा। आप प्रतिक्षण व्याकुल होकर प्रतीक्षा करेंगे और प्रभु उसी क्षण प्रकट हो जायँगे। बस, केवल उसकी दयापर निर्भर होना चाहिये। फिर हम-सरीखोंकी तो बात क्या, हमसे भी गये-बीते लोगोंको एक क्षणमें दर्शन हो सकते हैं। हमें दर्शन होनेमें विलम्ब इसीलिये हो रहा है कि हम विश्वास नहीं करते हैं।

प्रश्न—यह निश्चय कैसे हो?

उत्तर—भगवान् और भक्तोंकी दयासे यह निश्चय करानेके लिये ही यह सब बातें कही जाती हैं। जब हम यह मान लें कि भगवान् ही इस प्रकारकी श्रद्धा कराते हैं और इस तरहकी श्रद्धा करानेका वातावरण भी भगवान् ही उपस्थित करते हैं और उनकी अहैतुकी कृपासे ही यह सब सम्भव है तो फिर हम यह क्यों शंका करें कि प्रभु कृपा नहीं करते। प्रभु तो कृपा कर ही रहे हैं। तुम जो यह कह रहे हो कि प्रभु कृपा क्यों नहीं करते यही तो विलम्बका कारण है।

ये जो भगवद्विषयकी बातें हैं—ये ही रहस्यकी बातें हैं। मनुष्य यदि प्रभुके गुण और प्रभावका रहस्य समझ जाय तो उसको धारण ही कर ले। समझकी ही बात है। समझ लेनेपर काम बाकी नहीं रहता। 'संसारके जितने भी पदार्थ हैं, वे विष हैं।' यह बात समझ लेनेवाला फिर इनका सेवन नहीं कर सकता। जब यह पता लग जाय कि लड्डुओंमें जहर है तो भला, कौन उनको खावेगा! खाता है तो समझना चाहिये कि वह समझा ही नहीं। किसी दरिद्रीको पारस मिल जाय और फिर भी वह दरिद्री ही रहे तो समझना चाहिये कि उसने पारसको जाना ही नहीं।

भगवान्के प्रेम और दयाका तत्त्व समझना चाहिये। उसकी दया, प्रेम और प्रभाव अपार हैं, उसका तत्त्व नहीं जानते तभी हम लाभ नहीं उठाते। भगवान्का प्रभाव भगवान्के लिये थोड़े ही है, वह तो हमलोगोंके लाभ उठानेके लिये ही है। ऐसे प्रभावशालीका प्रभाव संसारके उद्धारके लिये ही है। हृदयसे जो उसका ऐसा प्रभाव मानता है वही लाभ उठा लेता है।

जगत्में एक दयावान् पुरुष है—उसके पास धन है। उसके धनसे वही लाभ उठाता है जो उसको पैसेवाला और दयालु मानता है। पैसेवाला मानकर भी यदि दयालु नहीं

मानता तो लाभ नहीं उठा सकता और दयालु मानकर भी यदि उसे धनी नहीं मानता तब भी लाभसे वंचित ही रहता है। प्रत्यक्ष बात है। इसी प्रकार महात्मासे लाभ वही उठा सकता है जो उसे महात्मा समझता है। दूसरे भी उठाते हैं पर थोड़ा। समझनेवाला तो पूरा और तुरंत लाभ उठा लेता है। दयालु धनीको जो दयालु नहीं मानता वह भी लाभ तो उठा सकता है किन्तु थोड़ा। इसी प्रकार भगवान्‌को दयालु न माननेवाले भी लाभ तो उठाते ही हैं। सामान्यभावसे सभी लाभ उठाते हैं किन्तु जो उसे दयालु और प्रभावशाली मानता है वह विशेष लाभ उठा सकता है। अग्निसे सामान्य गर्मी सभीको मिलती है किन्तु जो जानता है कि यहाँ अग्नि पड़ी है वह अधिक लाभ उठा लेता है।

पारस घरमें पड़ा है। वह लोहेसे छुआ गया—लोहा सोना हो गया। हमने समझा काकतालीयन्यायसे हो गया। हमको पता नहीं कि कैसे हुआ, तो थोड़ा लाभ है और जान जावें तो पूरा लाभ उठा सकते हैं।

इसी प्रकार संत-महात्माओंकी दया, प्रेम, प्रभाव अपार हैं। भगवान्‌का अवतार हुआ। अब हम पश्चात्ताप करते हैं कि उस समय हम भी तो किसी-न-किसी योनिमें थे ही—हमने लाभ नहीं उठाया। अब यदि भगवान्‌का अवतार हो तो हम भी लाभ उठावें। किन्तु समझनेकी बात है। भगवान् तो भक्तोंके प्रेमसे बाध्य होकर अवतार लेते हैं। भगवान्‌का प्रकट होना तो भक्तोंके अधीन है।

यदि हम ऐसा विश्वास कर लें तो जो लाभ हमको अवतारसे हो सकता है वह हम उन भक्तोंसे ही उठा सकते हैं। भगवान्‌की तो यह समझ है कि मेरे भक्त मुझसे भी श्रेष्ठ हैं; क्योंकि मैं तो कानूनमें बँधा हुआ हूँ। मैं ही कानूनको बनानेवाला हूँ, इसलिये मैं कानून तोड़ना नहीं चाहता। पर भक्त इतने बलवान् होते हैं कि उनके वशमें होकर तो मुझे कहीं कानूनको भी लाँघना पड़ता है। इसलिये भक्त मुझसे श्रेष्ठ हैं। किन्तु भक्तोंकी मान्यता यह नहीं है। वे तो यही समझते हैं कि भगवान् ही सर्वोत्तम हैं। उनसे बढ़कर कोई नहीं। भक्त जब भगवान्‌को सर्वोत्तम मानता है तब भगवान् भी भक्तको सर्वोत्तम मानते हैं। भगवान् सत्यसंकल्प हैं। उनका मानना सत्य ही है। अतः किसको छोटा-बड़ा कहें।

हमलोगोंको तो यही मानना चाहिये कि यह उनकी प्रेमकी लड़ाई है—अपने लिये तो दोनों ही बड़े हैं। हमारी दरिद्रताको मेटनेके लिये दोनों ही असंख्यपति हैं। भगवान्‌के भक्त सभी समयमें मिलते हैं। यह ठीक है किन्तु करोड़ोंमें कोई एक विरला ही महात्मा होता है। भगवान् कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७। ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे जानता है।' पर भक्त हैं तो सही न। नहींकी बात तो नहीं कहते। वे सदा ही रहते हैं। भगवान्‌के भक्त न हों तो फिर भगवान्‌की भक्तिका प्रचार ही कौन करे। भगवान् स्वयं अपनी भक्तिका प्रचार नहीं करते। उनके सहायक रहते हैं। अपनी भक्तिका तो कोई भी अच्छा मनुष्य प्रचार नहीं करता। फिर भगवान् तो पुरुषोत्तम हैं। यदि संसारमें भक्त न होते तो भगवान्‌की भक्तिका नाम संसारमें शायद ही रहता, इसीलिये भगवान् भक्तोंके ऋणी होते हैं। आजतक हनुमान्‌जीके ऋणसे न भगवान् मुक्त हुए और न भरतजी। पर हनुमान्‌जी कभी ऐसा नहीं मानते।

जो काम भगवान् नहीं करते उसको भी भक्त कर देते हैं। इस न्यायसे भगवान्‌से भी बढ़कर भगवान्‌के भक्त हैं।

कुछ साधनसम्बन्धी बातें

एक सज्जनने पत्रद्वारा साधनसम्बन्धी निम्नलिखित कुछ प्रश्न पूछे हैं—

(१) शुद्ध, सात्त्विक जीवन किस तरह बिताया जाय?

(२) भक्ति किस प्रकार करनी चाहिये?

(३) मन बड़ा ही चंचल है, उसे वशमें करनेका क्या उपाय है?

प्रश्न बहुत ही सुन्दर हैं। इनका उत्तर अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार नीचे दिया जाता है—

(१) सद्‌गुण एवं सदाचारका सेवन तथा दुर्गुण एवं दुराचारका त्याग ही शुद्ध, सात्त्विक जीवनका स्वरूप है। सद्‌गुण एवं सदाचार तथा दुर्गुण एवं दुराचारकी व्याख्या संक्षेपसे भगवान्‌ने गीताके सोलहवें अध्यायमें की है। उसीका सारांश नीचे दिया जाता है। सद्‌गुण एवं सदाचारको भगवान्‌ने दैवी सम्पदाके नामसे कहा है और दुर्गुण एवं दुराचारका आसुरी सम्पदाके नामसे उल्लेख किया है। दैवी सम्पदाका स्वरूप इस प्रकार है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।

(गीता १६। १—३)

अर्थात् किसी भी कारणसे भयका न होना; अन्तःकरणका भलीभाँति स्वच्छ होना; परमात्माके स्वरूपको तत्त्वसे जाननेके लिये उनके ध्यानरूपी योगमें निरन्तर दृढ़तापूर्वक स्थित रहना; देश, काल, पात्रका विचार करके केवल कर्तव्यबुद्धिसे द्रव्य अथवा आवश्यक वस्तुका दान करना; इन्द्रियोंको अपने वशमें रखना अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा निषिद्ध विषयोंका सेवन न करना और विहित भोगोंका भी उचित मात्रासे अधिक सेवन न करना, भगवान्के अथवा किसी शास्त्रोक्त देवताके साकार विग्रहकी शास्त्रोक्त विधिसे अधिकारानुसार पूजा करना तथा अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण करना; वेद-शास्त्रोंके पठन-पाठनपूर्वक भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन करना; स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहना तथा शास्त्रानुमोदित व्रत-उपवास, तीर्थाटन आदि करना; शरीर एवं इन्द्रियोंसहित अन्तःकरणकी सरलता; मन, वाणी, शरीरसे किसीको किसी प्रकार भी कष्ट न देना; अन्तःकरण एवं इन्द्रियोंके द्वारा जैसा निश्चय किया हो, ठीक वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहना; अपना बुरा करनेवालेके प्रति भी क्रोध न करना; कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग; अन्तःकरणकी उपरामता अर्थात् चित्तकी चंचलताका अभाव; किसीकी निन्दा, चुगली आदि न करना; सब प्राणियोंपर हेतुरहित दया करना; इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी आसक्तिका न होना; स्वभावकी कोमलता; लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा; व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव; तेज;* क्षमा; बड़े-से-बड़ा दुःख आनेपर भी विचलित न होना; पवित्रता; किसी भी प्राणीके प्रति वैरभाव न रखना तथा वर्ण, जाति, कुल, विद्या, रूप, धन, बल आदिका अभिमान न करना—ये दैवी सम्पत्तिके लक्षण हैं। इनको दैवी सम्पत्ति बतलानेसे यह बात अपने-आप आ जाती है कि इनके विरोधी जितने भी गुण एवं आचरण हैं, वे सब आसुरी सम्पदाके अन्तर्गत हैं।

इनके अतिरिक्त आसुरी सम्पत्तिके अलग लक्षण भगवान्ने इस प्रकार किये हैं—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥

(गीता १६। ४)

अर्थात् दिखौआपन, घमंड, अभिमान, क्रोध, कठोरता तथा अज्ञान—ये आसुरी सम्पत्तिके लक्षण हैं। इसी अध्यायके ७ वेंसे लेकर २१ वें श्लोकतक भगवान्ने विस्तारसे आसुरी सम्पदाका वर्णन किया है।

ऊपर कहे हुए दैवी गुणोंके ग्रहण एवं आसुरी भावके त्यागपूर्वक स्वधर्मानुकूल जीवन बिताना ही शुद्ध, सात्त्विक जीवन बिताना है। इस प्रकारका जीवन ही मोक्ष अथवा भगवत्प्राप्तिमें सहायक होता है। अतएव कल्याणकी कामनावाले मनुष्यको चाहिये कि वह दैवी सम्पदाका अर्जन और आसुरी सम्पदाका त्याग करे।

(२) दूसरा प्रश्न भक्तिके सम्बन्धमें है। भक्तिकी कई प्रणालियाँ शास्त्रोंमें बतलायी गयी हैं। उनमेंसे केवल दो प्रणालियोंका वर्णन हम यहाँ करेंगे।

एक प्रणाली तो वह है जिसमें भजन-ध्यान, जप-कीर्तन, पूजा-अर्चा, स्वाध्याय-सत्संग आदिकी प्रधानता है; दूसरी प्रणाली वह है जिसमें समस्त चराचर विश्वको भगवान्का रूप समझकर अपने स्वभावनियत कर्मोंके द्वारा उस विश्वरूप भगवान्की पूजा की जाती है। पहली प्रणालीका उल्लेख भगवद्गीताके और-और स्थलोंमें तो आया ही है, यहाँ हम केवल नवें अध्यायके १३ वें तथा १४ वें श्लोकोंकी ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षित करते हैं। भगवान् कहते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

'परन्तु हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं। वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्य प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं।'

इस प्रकारकी भक्तिके लिये भगवान्ने पहली शर्त तो यह बतलायी है कि उपर्युक्त भक्तिके साधन करनेवालोंको ऊपर कही हुई दैवी सम्पत्तिका आश्रय लेना चाहिये। दूसरी आवश्यकता है भगवान्को सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जाननेकी। जिस किसीकी भक्ति हम करना चाहते हैं, उसके स्वरूपको पहले जान लेना

* श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिका नाम 'तेज' है, जिसके प्रभावसे उनके सामने विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः अन्यायाचरणसे रुककर, उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं।

आवश्यक है। जिसकी भक्ति हम करना चाहते हैं, वह कौन है और कैसा है—इसे जाने बिना हम उसकी भक्ति क्या करेंगे? भगवान्‌के स्वरूपका यथार्थ ज्ञान तो उनकी भक्ति करनेसे ही होता है; परन्तु इसके पहले शास्त्रों एवं महात्माओंके द्वारा उनका सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। बिना उसके हम भक्तिमें प्रवृत्त ही नहीं होंगे। भगवान्‌की भक्तिके द्वारा यदि हम भगवान्‌के अविनाशी परम धाम—शाश्वत स्थानको प्राप्त करना चाहते हैं तो हमारे लिये यह जान लेना आवश्यक है कि हमारे उपास्य भी अनादि एवं अव्यय हैं। जो स्वयं आदि-अन्तवाला है, उसकी उपासना करके हम अक्षय स्थानकी प्राप्ति कैसे कर सकते हैं? इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्‌भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्‌भक्ता यान्ति मामपि॥

(गीता ७। २३)

'उन [अनादि-अनन्त भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य देवताओंकी उपासना करनेवाले] अल्पबुद्धिवालोंका वह फल नाशवान् होता है; क्योंकि वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जिस प्रकारसे एवं चाहे जिस भावसे मुझे भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।' भगवान्‌को छोड़कर और सभी अल्प हैं, अतएव अन्य देवताओंको भगवान्‌से पृथक् मानकर उनकी सकाम उपासना करनेवालोंको भगवान्‌ने 'अल्पबुद्धि' बतलाया है; किन्तु इस प्रकारसे देवताओंकी पूजा करना अशास्त्रीय नहीं है; इसीलिये भगवान्‌ने उक्त प्रकारसे पूजा करनेवालोंको अल्पबुद्धि बतलाया है, बुद्धिहीन अथवा मूढ़ नहीं। भगवान्‌की आज्ञा मानकर निष्कामभावसे जो देवताओंकी उपासना की जाती है, उसकी तो भगवान्‌ने बड़ी ही महिमा कही है (गीता ३। ११), किन्तु यहाँ तो सकाम उपासनाका विषय है।

तीसरी और सबसे मुख्य बात है अनन्य मनसे युक्त होकर भगवान्‌को निरन्तर भजना। भगवान्‌के लिये ही भगवान्‌को प्रेमपूर्वक निरन्तर भजना उन्हें अनन्य मनसे भजना है। जो लोग किसी सांसारिक कामना—स्त्री, पुत्र, धन, कीर्ति, स्वर्गसुख आदिके लिये भगवान्‌को भजते हैं, वे अनन्य मनसे युक्त नहीं कहे जा सकते; क्योंकि उनका मन तो भोगोंमें फँसा रहता है, भगवान्‌को तो वे उन भोगोंकी प्राप्तिका साधनमात्र समझते हैं। यद्यपि भोगोंके लिये भी अपनेको भजनेवालोंको भगवान्‌ने सुकृती एवं उदार बतलाया है (गीता ७। १६, १८) और ऊपर (गीता ७। २३)-के श्लोकमें भगवान्‌ने सकामभावसे भी भजनेवाले अपने भक्तोंको अन्तमें अपनी ही प्राप्ति बतलायी है, किन्तु निष्काम भक्तोंकी अपेक्षा उन्हें भगवान् देरीसे तथा कठिनतासे प्राप्त होते हैं और दूसरी बात यह है कि भगवान्‌ने उन्हें महात्मा नहीं बतलाया है। महात्मा तो वही हैं जिन्होंने अपने आत्मा अर्थात् मन-बुद्धिको अनन्यभावसे भगवान्‌में ही जोड़ दिया है अथवा जिन्होंने सबसे महान् भगवान्‌को ही अपना आत्मा बना लिया है। इसीलिये भगवान्‌ने भी ऐसे अनन्य मनवाले भक्तोंको अपना आत्मा बतलाया है—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' (गीता ७। १८); क्योंकि उनका तो विरद है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।' ऐसे भक्तोंके लिये ही भगवान्‌ने कहा है—'**मयि ते तेषु चाप्यहम्**' (गीता ९। २९) (वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ)। ऐसे भक्तोंकी भगवान्‌के साथ पूर्ण एकता हो जाती है, भगवान् और भक्त कहनेको ही दो होते हैं। नारदजीने भी अपने भक्तिसूत्रोंमें ऐसे भक्तोंको भगवान्‌का स्वरूप ही बतलाया है—'**तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्**' (नारदभक्तिसूत्र ४१) (भगवान् और उनके जनमें कोई अन्तर नहीं है)।

अनन्य भजनका स्वरूप भगवान्‌ने नवें अध्यायके १४ वें श्लोकमें बतलाया है। भगवान्‌का अनन्य प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर चिन्तन ही इसका मुख्य अंग है। इसीपर भगवान्‌ने स्थान-स्थानपर जोर दिया है (गीता ९। २२, ३०, ३४; १०। ९-१०; १२। ८) और इसीसे भगवान्‌ने अपनी प्राप्ति सुलभ बतलायी है (गीता ८।१४)। भगवान्‌का नाम-गुण-कीर्तन अनन्य चिन्तनमें विशेष सहायक है, अतएव उसका भी यहाँ प्रधानरूपसे उल्लेख किया गया है।

भक्तिकी दूसरी प्रणालीका वर्णन भगवान्‌ने अठारहवें अध्यायके ४६वें श्लोकमें किया है। भगवान् कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा भगवान्‌की पूजा करना क्या है—यहाँ इस बातको समझ लेना आवश्यक है; क्योंकि यद्यपि यहाँ कर्मके द्वारा ही भगवान्‌को पूजनेकी बात कही गयी है, किन्तु प्रधानता यहाँ भगवान्‌के पूजनकी है, कर्मकी नहीं; क्योंकि अपना-अपना कर्म तो संसारमें बहुत लोग

करते हैं, परन्तु सबको सिद्धि तो मिलती हुई नहीं देखी जाती। इसीलिये ऐसा मानना पड़ता है कि यहाँ केवल कर्म करनेकी बात नहीं है, कर्मके द्वारा भगवान्‌को पूजनेकी बात कही गयी है। कहनेको तो सभी कर्मवादी ऐसा कह सकते हैं कि 'कर्म ही भगवान्‌की पूजा है' (Work is Worship); एकान्तमें बैठकर राम-राम कहने, भगवान्‌का ध्यान करने अथवा सामूहिक कीर्तन करनेकी अपेक्षा जनतारूपी जनार्दनकी सेवा करना कहीं उत्तम है—उससे भगवान् जल्दी प्रसन्न होते हैं, जल्दी मिलते हैं, इत्यादि। हम भी लोकसेवाका विरोध नहीं करते और लोकसेवाको भगवान्‌को प्रसन्न करनेका बहुत उत्तम साधन मानते हैं; परन्तु बात इतनी ही है कि होनी चाहिये वह भगवान्‌को प्रसन्न करनेके ही उद्देश्यसे, किसी लौकिक कामनाके लिये नहीं। हमारे द्वारा सेवा होनी चाहिये वास्तवमें जनतारूपी जनार्दनकी ही, अपने किसी स्वार्थकी नहीं—चाहे वह सेवा व्यक्तिविशेषकी हो अथवा किसी समुदायविशेषकी।

यहाँ एक बात और समझ लेनेकी है। कुछ लोग यह कहते हैं कि विश्वप्रेम ही ईश्वरप्रेम है, विश्वसे भिन्न और कोई ईश्वर नहीं है। इसलिये उपर्युक्त श्लोकका आशय समझनेके लिये यह जान लेना आवश्यक है कि यहाँ कर्मोंके द्वारा जिन ईश्वरको पूजनेकी बात कही गयी है, उनका वास्तविक स्वरूप क्या है—वे विश्वमें ओतप्रोत हैं या विश्वसे अतीत हैं अथवा दोनों ही हैं। इसका उत्तर यह है कि ईश्वर अनन्त और असीम हैं, चराचर विश्व ईश्वरके एक अंशमें उनके संकल्पके आधारपर स्थित है। ईश्वर अपनी योगमायाके प्रभावसे विश्वकी रचना और उसका विनाश करते हैं। उन अनन्त विज्ञानानन्दघन परमात्माके किसी अंशमें प्रकृति या माया है और उस मायाके किसी अंशमें यह समस्त चराचर विश्व है। इस अवस्थामें ईश्वरके प्रति किया जानेवाला प्रेम स्वाभाविक ही समस्त विश्वके प्रति हो जाता है; क्योंकि ईश्वर ही विश्वके आधार हैं, ईश्वर ही विश्वके आत्मा हैं, ईश्वर ही विश्वमें व्याप्त हैं और ईश्वर ही विश्वके एकमात्र (अभिन्ननिमित्तोपादान) कारण हैं; वे अंशी हैं और यह समस्त विश्व उनका अंश है या यों कहिये कि उनका अंग है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें अर्जुनसे कहा है—

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(१०। ४२)

'मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को (अपनी योगशक्तिके) एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

भगवान्‌के उपर्युक्त वचनका अभिप्राय समझ लेनेपर यह निश्चय हो जाता है कि यह समस्त जगत् भगवान्‌के एक अंशमें स्थित है, भगवान् ही इस जगत्‌के रूपमें अभिव्यक्त हो रहे हैं; ऐसी स्थितिमें भगवत्प्रेमीका स्वाभाविक ही जगत्‌के साथ अकृत्रिम प्रेम होता है। परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि केवल विश्वप्रेम ही ईश्वरप्रेम है; क्योंकि विश्वके परे भी परमात्माका स्वरूप अनन्त और अपार है, बल्कि हम यों कह सकते हैं कि विश्व उस परमात्माके एक अंशमें होनेके नाते विश्वप्रेम भी ईश्वरप्रेमके ही अन्तर्गत है। वस्तुतः विश्वसहित समग्र परमात्माके साथ होनेवाला प्रेम ही ईश्वरप्रेम है।

भगवान्‌ने १८ वें अध्यायके ४६ वें श्लोकमें ईश्वरके उपर्युक्त स्वरूपको लक्ष्यमें रखते हुए ही अपने कर्मोंके द्वारा उन्हें पूजनेकी बात कही है। अब हमें यह देखना है कि किस प्रकार कर्म करनेसे हमारे द्वारा उन ईश्वरकी पूजा हो सकती है। हमारा कर्म भगवान्‌की पूजा तभी कहला सकता है जब उसमें दो बातें प्रधानरूपसे हों। पहली बात तो यह है कि उसमें ममता, आसक्ति एवं फलेच्छाका त्याग होना चाहिये। इनमेंसे सबसे स्थूल बात फलेच्छाका त्याग है और उसकी पहचान है सिद्धि-असिद्धिमें समता। यदि हमें अपनी सफलतापर हर्ष एवं असफलतापर विषाद होता है तो हमने उस कर्मके द्वारा भगवान्‌की पूजा की है, यह नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक कर्म करते समय हमें इस बातका स्मरण होना चाहिये कि हम इस कर्मके द्वारा भगवान्‌की पूजा कर रहे हैं और जिसकी हम सेवा कर रहे हैं, वह भगवान्‌का ही स्वरूप है। उदाहरणतः अध्यापकको यह समझना चाहिये कि विद्यार्थीरूपमें भगवान् ही हमारी सेवाको ग्रहण कर रहे हैं। डॉक्टर यह समझे कि रोगीके रूपमें भगवान् ही हमसे चिकित्सा करवा रहे हैं। वकील यह समझे कि मुवक्किलके रूपमें भगवान् ही हमसे अपने मुकद्दमेकी पैरवी करवा रहे हैं। दूकानदार यह समझे कि ग्राहकके रूपमें भगवान् ही हमारे यहाँ सौदा लेने आये हैं। न्यायाधीश यह समझे कि वादी-प्रतिवादीके रूपमें भगवान् ही हमसे न्याय कराने आये हैं। सेवक यह समझे कि मालिकके रूपमें साक्षात् भगवान् ही हमारे सेव्य बने हुए हैं। माता-पिता यह समझें कि सन्तानके रूपमें भगवान् ही हमारी सेवा स्वीकार कर रहे हैं। स्त्री यह समझे कि पतिके रूपमें भगवान् ही हमारी सेवा स्वीकार कर रहे हैं। राजा यह समझे कि प्रजाके रूपमें भगवान् ही हमारी सेवा ग्रहण कर रहे हैं। ऐसा भाव होनेपर हमारे द्वारा न तो किसीके प्रति अन्याय होगा, न किसीके साथ दुर्व्यवहार होगा, न किसीको ठगने, लूटने, धोखा देने अथवा किसीसे अनुचित लाभ उठानेकी चेष्टा होगी और व्यवहारमें ऊँच-नीचका बर्ताव होनेपर भी हमारे हृदयमें किसीके प्रति

ऊँच-नीचका भाव नहीं होगा; क्योंकि जिनसे भी हमारा व्यवहार होगा उनके प्रति हमारी भगवद्बुद्धि होगी। अतः सभीको हृदयमें उपर्युक्त भाव रखते हुए ही सबके साथ अपने-अपने वर्णाश्रमानुसार व्यवहार करना चाहिये।

फिर हमारे द्वारा सारी चेष्टाएँ अभिनयवत् होंगी। नाटकमें कम्पनीका मालिक यदि नौकरका पार्ट करता है और उसका एक अदना-सा कर्मचारी राजा बनता है तो वह राजा बना हुआ कर्मचारी जबतक रंगमंचपर रहेगा तबतक उस नौकर बने हुए अपने मालिकके साथ वह नौकरका-सा ही व्यवहार करेगा, उसमें कहीं भी त्रुटि नहीं आने देगा; क्योंकि वह जानता है कि यदि मैं अपना पार्ट ठीक नहीं करूँगा तो मेरा मालिक मुझपर प्रसन्न नहीं होगा। किन्तु मनमें वह एक क्षणके लिये भी इस बातको नहीं भूलता कि नौकरके वेषमें मेरे मालिक ही मेरे सामने हैं। अतः यद्यपि वह ऊपरसे उन्हें डाँटे-डपटेगा, उनका शासन करेगा, किन्तु भीतरसे सदा सावधान रहेगा कि जिनके साथ मैं आवश्यकतावश उन्हींके आज्ञानुसार इस प्रकारका व्यवहार कर रहा हूँ, वास्तवमें वे मेरे मालिक हैं, वे मेरी प्रत्येक क्रियाकी जाँच कर रहे हैं कि मैं कौन-सा पार्ट ठीक कर रहा हूँ, कौन-सा बेठीक कर रहा हूँ, इत्यादि। इसी प्रकार भगवान्‌की पूजा-बुद्धिसे कर्म करनेवाला व्यवहारमें सबके साथ अपने अधिकारके अनुसार बर्ताव करता हुआ भी भीतर सजग रहेगा कि इन सब रूपोंमें वह मायावी ही खेल कर रहा है। पिताके साथ पुत्र-जैसा, स्त्रीके साथ पतिके अनुरूप, शिष्यके साथ अध्यापकके समान और सेवकके साथ स्वामीके सदृश बर्ताव करता हुआ भी वह उन सब रूपोंमें अपने इष्टदेवको ही देखेगा। पहले इसके लिये अभ्यास करना होगा। अभ्यास करते-करते फिर ऐसी बात स्वाभाविक हो सकती है। परन्तु दिनभर ऐसा अभ्यास करनेके लिये प्रतिदिन कुछ समय एकान्तमें भजन-ध्यान, स्वाध्याय-सत्संगके लिये भी निकालनेकी आवश्यकता है; अन्यथा भगवान् सब जगह सब रूपोंमें हैं, यह बात हमें याद ही नहीं आवेगी और हम केवल कर्मके प्रवाहमें बहते रहेंगे। अतः भक्तिके मार्गपर चलनेवालेको दोनों ही प्रकारके साधन करनेकी आवश्यकता है। श्रद्धा-विश्वासपूर्वक एवं तत्परताके साथ निरन्तर उक्त दोनों प्रकारका साधन करते रहनेसे बहुत शीघ्र भगवान्‌में सच्चा प्रेम होकर उनकी प्राप्ति हो सकती है। भगवान् वास्तवमें कैसे हैं इसका पता भी तभी लगेगा।

इस प्रकारकी भक्तिसे भगवान्‌के सगुण-साकार रूपका दर्शन, उसके समग्र रूपका ज्ञान तथा उसकी यथार्थरूपमें प्राप्ति—सभी कुछ सम्भव है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५४)

'हे परंतप अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

(३) तीसरे प्रश्नमें प्रश्नकर्ताने मनको चंचल बतलाते हुए उसको वशमें करनेके उपाय पूछे हैं। मन बड़ा चंचल है, इसको सभी एकमतसे स्वीकार करते हैं और सबका अनुभव भी इसमें साक्षी है। गीतामें अर्जुनने भी मनको चंचल एवं बलवान् कहा है और उसका निग्रह दुःसाध्य बतलाया है (६। ३४)। इतना ही नहीं, भगवान्‌ने भी उनके इस कथनका विरोध नहीं किया, अपितु समर्थन ही किया (६। ३५)। इससे यह तो स्पष्ट है कि मन वास्तवमें बड़ा चंचल एवं दुर्जेय है; परन्तु उसे निगृहीत करनेके उपाय भी शास्त्रोंमें अनेक बतलाये हैं। योगदर्शनमें तो प्रधानतया चित्तवृत्तिके निरोधकी ही बात कही गयी है; क्योंकि योगदर्शनकारने योगका लक्षण ही चित्तवृत्तिका निरोध बतलाया है—'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' (१। २)। अतः इस सम्बन्धमें हम पहले योगदर्शनकी ही कुछ बातें कहेंगे।

चित्तवृत्तिके निरोधके लिये पहला उपाय योगदर्शनकारने अभ्यास और वैराग्य बतलाया है—'**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः**' (१। १२)। अभ्यास किसे कहते हैं, इस सम्बन्धमें महर्षि पतंजलिका सूत्र है—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः॥

(१। १३)

'इन (अभ्यास और वैराग्य)-मेंसे चित्तको ठहरानेके लिये जो साधन किया जाता है, उसीका नाम 'अभ्यास' है।'

दूसरे शब्दोंमें चित्तको स्थिर करनेके लिये बार-बार उसे किसी एक विषयपर टिकानेका प्रयत्न करना ही 'अभ्यास' है।

वैराग्यका लक्षण महर्षि पतंजलि इस प्रकार करते हैं—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥

(१। १५)

अर्थात् 'कांचन, कामिनी आदि दृष्ट विषयोंमें तथा श्रुतियोंमें कहे हुए स्वर्गादि अदृष्ट विषयोंमें तृष्णारहित वशमें किये हुए चित्तकी रागरहित स्थितिका नाम ही 'वैराग्य' है।'

उपर्युक्त दोनों ही साधन चित्तवृत्तिके निरोधके लिये उपयोगी हैं एवं एक-दूसरेके सहायक हैं, इस बातको

भाष्यकार व्यासजीने बड़े सुन्दर ढंगसे समझाया है। उन्होंने चित्तको एक नदीकी उपमा दी है, जो दो धाराओंमें बहती है। उसकी एक धारा कल्याणकी ओर बहती है तथा दूसरी धारा पापोंकी ओर बहती है **'चित्तनदी नामोभयतोवाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च'** (योग० १२ व्यासभाष्य)। विवेक मार्गका अनुसरण करनेवाली धारा कल्याणकी ओर बहती है और अविवेकके मार्गसे चलनेवाली धारा पापोंकी ओर बहती है। वैराग्यका बाँध लगा देनेपर अविवेक अर्थात् विषयोंके मार्गसे बहनेवाली धारा रुक जाती है **'वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते'** (योग० १२ व्यासभाष्य) और विवेकपूर्वक अभ्यास करते रहनेसे उसका विवेक-मार्ग खुल जाता है। इस प्रकार एक ओरसे चित्तरूपी नदीका प्रवाह रोक देनेसे तथा दूसरी ओर उसे खोल देनेसे ही चित्तवृत्तिका निरोध हो सकता है, ऐसा भाष्यकारका तात्पर्य है। अस्तु,

चित्तवृत्तिके निरोधका दूसरा उपाय महर्षि पतंजलिने 'ईश्वरप्रणिधान' बतलाया है—**'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'** (१। २३)। 'ईश्वरप्रणिधान' कहते हैं— ईश्वरकी भक्तिको। महर्षि पतंजलिके मतमें ईश्वर उस पुरुषविशेषका नाम है जिसका अविद्यादि पंचक्लेश*, शुभाशुभ कर्म तथा उनके फल एवं वासनाओंसे सम्बन्ध नहीं है। उपर्युक्त लक्षणवाले ईश्वरके नाम—ओंकारका जप तथा उनके स्वरूपका बार-बार चिन्तन करना ही ईश्वरप्रणिधान है। ऐसा करनेसे सारे विघ्नोंका अभाव होकर परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार हो जाता है।

इनके अतिरिक्त चित्तवृत्तिके निरोधका एक और उपाय महर्षि पतंजलिने बतलाया है। वे कहते हैं—

'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य॥'
(१। ३४)

श्वासको विशेष प्रयत्नपूर्वक नासिकामार्गसे बाहर निकालनेका नाम है 'प्रच्छर्दन' और उसे बाहर ही रोक रखना 'विधारण' कहलाता है। इस उपायसे भी मनको रोका जा सकता है।

जिनसे उपर्युक्त साधनोंमेंसे कोई भी न बन सके, उनके लिये महर्षि पतंजलिने एक और सुगम उपाय बतलाया है—वह है वैराग्यवान् पुरुषोंका ध्यान। **'वीतरागविषयं वा चित्तम्'** (१। ३७)। अर्थात् वीतराग पुरुषोंको विषय करनेवाला चित्त स्थिर हो जाता है। इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि पूर्वकालमें जो वैराग्यवान् पुरुष हो गये हैं, उनके स्वरूपको तो हम जानते नहीं; फिर उनका ध्यान किस प्रकार करें और वर्तमान युगमें जो वीतराग पुरुष हैं उन्हें हम पहचानते नहीं, अतः उनका भी ध्यान सम्भव नहीं है। इसपर महर्षि पतंजलि कहते हैं कि जो कोई भी पुरुष तुम्हारी दृष्टिमें वीतराग हो, जिसके प्रति तुम्हारी श्रद्धा एवं पूज्यबुद्धि हो, उसीका ध्यान कर सकते हो— **'यथाभिमतध्यानाद्वा'** (१। ३९); उसके ध्यानसे ही तुम्हारी चित्तवृत्तिका निरोध हो सकता है। इसी प्रकार मनके निरोध करनेकी और भी कई युक्तियाँ योगदर्शन तथा अन्यान्य शास्त्रोंमें पूज्यपाद ऋषियोंने बतलायी हैं।

गीतामें मनको निगृहीत करनेके दो ही प्रधान उपाय भगवान् श्रीकृष्णने बतलाये हैं—अभ्यास और वैराग्य (६। ३५)। इनमेंसे अभ्यास कई प्रकारसे हो सकता है। योगदर्शनमें तो ईश्वरप्रणिधान आदि सब साधनोंको अभ्याससे पृथक् माना है और अभ्यासको इन सबसे स्वतन्त्र साधन माना है; परन्तु भगवद्गीतामें 'अभ्यास' शब्दका व्यापक अर्थमें प्रयोग हुआ है। किसी भी क्रियाकी पुनः-पुनः आवृत्तिको अभ्यास कहते हैं; ऊपर कहे हुए सभी साधन अभ्यासके अन्तर्गत आ सकते हैं। भगवद्गीतामें अभ्यास और वैराग्यके कई प्रकार बतलाये गये हैं। उनमेंसे कुछ गीता-तत्त्वांकके अ० ६। ३५ की व्याख्यामें तथा केवल अभ्यासके कई प्रकार अ० १२। ९ की व्याख्यामें दिये गये हैं, उन्हें वहीं देखना चाहिये। उनमें सबसे प्रधान साधन जिस-जिस कारणसे मन भागता है उस-उस कारणसे मनको हटाकर बार-बार परमात्मामें लगाना है (देखिये गीता ६। २६)।

इनके अतिरिक्त कुछ और साधन नीचे दिये जाते हैं—

(१) रात्रिके समय सोनेसे पूर्व या कुछ रात्रि शेष रहते ही जागकर जब आलस्य बिलकुल न आता हो, नेत्रों और कानोंको उँगलीसे बंद करके भीतर होनेवाली अनहद ध्वनिको सुने और उसमें अपने इष्टदेवके नामकी भावना करे। नाम बहुत छोटा—दो ही अक्षरोंका होना चाहिये—जैसे ओम्, राम, शिव, हरि, विष्णु, कृष्ण इत्यादि। पहले रेलके इंजनका-सा शब्द सुनायी देगा, फिर घड़ीका-सा खटका सुनायी देगा और तब धीरे-धीरे जिस नामकी हम भावना करते हैं वह नाम हमें स्पष्टरूपसे सुनायी पड़ने लगेगा और उसमें हमारा मन टिक जायगा।

(२) कलेजेके भीतर हृदयाकाशमें जो एक नाड़ी है, जिसे सुषुम्णा कहते हैं, उसके अंदर सब भूतोंके हृदयदेशमें स्थित परमात्माके विज्ञानानन्दघन स्वरूपका ध्यान करे। ऐसा समझे कि वहाँ चेतनता एवं आनन्दका पुंज एकत्रित

* अविद्या, अस्मिता (अहंकार), राग, द्वेष और अभिनिवेश (मृत्युभय)—इनको महर्षि पतंजलिने पंचक्लेशके नामसे कहा है।

हो रहा है। चेतनता उस गुणका नाम है जिसके कारण हम जड पदार्थोंसे चेतन जीवका और मुर्दे प्राणीसे जीवित प्राणीका भेद करते हैं। अथवा शुद्ध आनन्दका या केवल चेतनताका ध्यान करनेसे भी चित्त स्थिर हो जाता है।

(३) भ्रुकुटीके मध्यमें स्थित आज्ञाचक्रमें पूर्णिमाके चन्द्रमाके प्रकाशकी भाँति शीतल एवं सौम्य प्रकाशके रूपमें परमात्माका ध्यान करनेसे भी मनका निग्रह हो सकता है।

(४) श्वास एवं प्रश्वासकी स्वाभाविक गतिके साथ भगवान्‌के किसी नामको जोड़कर साक्षीरूपसे उसका श्रवण करनेका अभ्यास भी मनको निगृहीत करनेमें सहायक है।

(५) परमात्माके स्वरूपके सम्बन्धमें जो कुछ हमने पढ़-सुन रखा है, उसीका मननपूर्वक विचार करनेपर बुद्धिके द्वारा उसका जो रूप हमारी समझमें आवे उसीमें ध्यान लगानेसे मनका निरोध हो सकता है।

(६) भगवान्‌के श्रीराम, कृष्ण, शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति या विश्वरूप आदि किसी भी स्वरूपको सर्वोपरि, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं परम दयालु, प्रेमास्पद परमात्माका ही स्वरूप समझकर अपनी रुचिके अनुसार उनके चित्रपट या प्रतिमाकी स्थापना करके अथवा मनके द्वारा हृदयमें या बाहर उनको प्रत्यक्षके सदृश निश्चय करके अतिशय श्रद्धा और भक्तिके साथ निरन्तर उनमें मन लगाने तथा पत्र-पुष्प-फलादिके द्वारा अथवा अन्यान्य उचित प्रकारोंसे उनकी सेवा-पूजा करनेसे भी बहुत शीघ्र मन स्थिर हो सकता है।

इनके अतिरिक्त निम्नलिखित उपाय भी मनको निगृहीत करनेमें बहुत सहायक हो सकते हैं—

(१) नियमानुवर्तिताका पालन करना, सारे कार्य नियमित रूपसे करना।

(२) मनकी प्रत्येक चेष्टापर विचार करते हुए उसे बुरे चिन्तनसे बचाना।

(३) मनके कहनेके अनुसार न चलना।

(४) मनको सदा शुभकार्यमें लगाये रखना।

(५) अनन्य मनसे भगवान्‌के शरण हो जाना।

(६) मनसे अलग होकर उसके कार्योंका निरीक्षण करना।

(७) प्रेमपूर्वक भगवन्नामका कीर्तन करना।

काम करते हुए भगवत्-प्राप्तिकी साधना

काम करते हुए भी हम ईश्वरको सदा-सर्वदा याद रखते हुए अपना कल्याण किस प्रकार कर सकते हैं—इस सम्बन्धमें कुछ निवेदन किया जाता है। निश्चय ही सभी लोग कामको छोड़कर भजन-ध्यानमें नहीं लग सकते। वास्तवमें गीताके अनुसार कामको छोड़ देनेकी आवश्यकता भी नहीं है। लोग भूलसे ही यह धारणा कर लेते हैं कि गीता तो संन्यास ले लेनेका ही उपदेश देती है। किन्तु यह बात ठीक नहीं; क्योंकि अर्जुन तो सब कुछ छोड़कर भीखके द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करनेको तैयार ही हो गये थे। उन्होंने भगवान्‌से स्पष्ट कह दिया था कि—

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥

(गीता २। ५)

'इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर मैं इस लोकमें भिक्षाका अन्न भी खाना कल्याणकारक समझता हूँ; क्योंकि गुरुजनोंको मारकर भी इस लोकमें रुधिरसे सने हुए अर्थ और कामरूप भोगोंहीको तो भोगूँगा।'

किन्तु भगवान्‌ने उसे अपना स्मरण करते हुए ही स्वधर्मरूप युद्ध करनेकी आज्ञा दी।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

(गीता ८। ७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

भगवान्‌के इस उपदेशके अनुसार जब भगवत्स्मृतिके रहते हुए युद्ध-जैसी क्रिया भी हो सकती है तो फिर हमलोगोंके साधारण कार्योंके होनेमें तो कठिनाई ही क्या है? गीता अध्याय १८ श्लोक ५६ में तो सदा कर्म करते हुए भी भगवत्प्राप्ति होनेकी बात कही गयी है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

अतः भगवान्‌की शरण होकर कर्म करने चाहिये। कई भाइयोंका कहना है कि काम करते हुए भजन करनेसे काम अच्छी तरह नहीं होता और कामको अच्छी तरह करनेसे

भजन निरन्तर नहीं होता। उनका यह कहना ठीक है। आरम्भमें ऐसी कठिनाई हो सकती है, किन्तु आगे चलकर अभ्यासके बढ़ जानेपर भगवत्कृपासे यह कठिनाई नहीं रहती। इसलिये काम करते समय भी हमें भजनका अभ्यास डालना चाहिये। इस सम्बन्धमें नटनीका उदाहरण सामने रखा जा सकता है। नटनी बाँसपर चढ़ते समय ढोल भी बजाती रहती है और गायन भी करती रहती है; किन्तु इन सब क्रियाओंको करते हुए भी उसका ध्यान निरन्तर अपने पैरोंपर ही रहता है। इसी प्रकार गाने-बजानेकी भाँति हमें सब काम करने चाहिये और उसके पैरोंके ध्यानकी तरह हमें परमात्मामें अपना मन रखना चाहिये।

जब हमलोग कोई भी काम करें, उस समय हमें श्वास या वाणीके द्वारा भगवान्‌के नामका जप तथा गुण-प्रभावके सहित उनके स्वरूपका ध्यान करते हुए ही काम करनेका अभ्यास डालना चाहिये। काम करते समय यह भाव रहना चाहिये कि यह काम भगवान्‌का है और उन्हींके आज्ञानुसार मैं इसे उन्हींकी प्रसन्नताके लिये कर रहा हूँ। प्रभु मेरे पास खड़े हुए मेरे कामको देख रहे हैं—ऐसा समझकर सदा प्रसन्न रहना चाहिये।

इस प्रकार मनसे परमात्माका चिन्तन और श्वास या वाणीसे उनके नामका जप करते हुए ही काम करनेका अभ्यास करनेसे परमात्माकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है। ऐसा अभ्यास करनेसे आरम्भमें यदि काममें कमी भी आवे तो कोई हर्ज नहीं। वास्तवमें जप-ध्यानमें कमी नहीं आनी चाहिये।

हमलोगोंको प्रातः-सायं दोनों समय नियमितरूपसे अपने-अपने अधिकारके अनुसार ईश्वरकी उपासना अवश्य ही करनी चाहिये; क्योंकि प्रातःकालकी उपासना करनेपर परमात्माकी कृपासे दिनभर उनकी स्मृति रह सकती है। स्मृतिको तैलधाराकी तरह अखण्ड बनाये रखनेके लिये हमें चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते तथा प्रत्येक कार्य करते हुए भगवान्‌को अपने साथ समझना चाहिये। मनमें सदा-सर्वदा यह निश्चय रखना चाहिये कि हम जो कुछ करते हैं उसे भगवान् ही करवाते हैं। गुरु जिस प्रकार बच्चेका हाथ पकड़कर उससे अक्षर लिखवाते हैं, उसी प्रकार परमात्मा हमें प्रेरित करके समस्त कार्योंका आचरण हमसे करवाते हैं। कठपुतली जिस प्रकार सूत्रधारके इशारेपर नाचती है उसी प्रकार हमें भगवान्‌के हाथमें अपनी बागडोर सँभलाकर उनके इशारेपर काम करना चाहिये। इस प्रकारके अभ्याससे हमें प्रत्यक्षमें शान्तिका अनुभव होने लगेगा और हमारे इस साधनसे परमात्मा विशेष प्रसन्न होंगे। इसी प्रकार सायंकालकी उपासना करनेपर भगवत्कृपासे रात्रिमें और सोनेके समय भी भगवान्‌की स्मृति रह सकती है। उससे दुःस्वप्नोंका नाश होकर वृत्तियाँ सात्त्विक हो जाती हैं और निरन्तर प्रसन्नता तथा शान्ति रहती है। इसलिये हमें अपने मस्तकपर प्रभुका हाथ समझकर सदा आनन्दित रहना चाहिये और भोग, आराम, पाप, आलस्य तथा प्रमाद आदिको मृत्युके समान समझकर अपने जीवनके क्षणोंका उपयोग उत्तम-से-उत्तम कार्योंमें ही करना चाहिये। भगवान्‌के नामका जप और गुण तथा प्रभावके सहित उनके स्वरूपका ध्यान करते हुए ही उनकी आज्ञाके अनुसार तत्परताके साथ काम करना चाहिये।

परन्तु इस साधनामें निम्नलिखित बातें अत्यन्त बाधक हैं—क्रोध, वैमनस्य, ईर्ष्या, भय, शोक, मोह, अभिमान, मनोमालिन्य, राग-द्वेष और घृणा आदि। इन विघ्नोंको मृत्युके समान समझते हुए इनका सर्वथा परित्याग कर देना ही उचित है। इनसे छुटकारा पानेका मुख्य उपाय है—ईश्वरकी शरण। इस शरणागतिका यदि पूर्णतया पालन कर लिया जाय तो उपर्युक्त विघ्नोंसे सहज ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है—इसमें तो सन्देह ही क्या है; किन्तु परेच्छा और अनिच्छासे जो कुछ भी प्राप्त हो उसे ईश्वरका भेजा हुआ पुरस्कार मानकर प्रसन्न होनेसे भी इन विघ्नोंसे छुटकारा हो सकता है। मनके प्रतिकूल जो कार्य होता है उसे दैवेच्छा यानी भगवदिच्छासे होनेवाला मान लें तो तुरंत ऊपर लिखे विघ्न नष्ट हो सकते हैं। जब कोई कार्य हमारे मनके प्रतिकूल हो तो हमें समझना चाहिये कि इसमें निश्चय ही भगवान्‌का हाथ है। यह उनकी हमपर बड़ी भारी दया हो रही है कि वे सब कुछ जानते हुए भी आज हमारे हितके लिये हमारी परीक्षा ले रहे हैं। अब हमें सावधान रहना चाहिये कि कहीं हम उस परीक्षामें अनुत्तीर्ण न हो जायँ। इस प्रकार जो उस स्थलपर भी आनन्दका ही अनुभव करता है वही वास्तविक भक्त है। भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें प्रसन्न रहना ही तो भक्तका परम कर्तव्य है। अतएव भगवान्‌का भक्त बननेकी इच्छावालोंको चाहिये कि वे उनके प्रत्येक विधानमें प्रसन्न रहें। भगवान् हमें पापोंसे मुक्त करके विशुद्ध बनाने तथा सहनशील और धैर्यवान् होनेके लिये हमारे मनके प्रतिकूल पदार्थ भेजकर हमें चेतावनी दिया करते हैं। बाढ़, भूकम्प, महामारी और दुर्भिक्ष आदि अनिच्छासे होनेवाले अनिष्ट भगवान्‌के द्वारा ही भेजे हुए होते हैं। मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों आदि द्वारा परेच्छासे जो अनिष्ट होते हैं, उनमें भी भगवान्‌की ही प्रेरणा समझनी चाहिये। यह समझकर हमें उन विपरीत परिस्थितियोंमें भी इतना आनन्द होना चाहिये जितना कि एक दरिद्र पुरुषको प्राप्त पारसके होनेपर भी नहीं होता।

निन्दा और अपमान हमको जिस दिन अच्छे मालूम होने लगेंगे, उस दिन समझना चाहिये कि हम भगवान्‌के सन्निकट पहुँच रहे हैं। वर्तमान स्थितिसे वह स्थिति बिलकुल विपरीत होगी। जो मान और स्तुति आज हमको अमृतके समान मधुर लगते हैं, वे ही भगवत्-शरणापन्न होनेपर विषके समान लगने लगेंगे। जिस प्रकार स्तुति सुनकर हमारे हृदयमें प्रसन्नताकी लहर उठती है, उसी प्रकार जब निन्दा सुनकर भी हमारे हृदयकी वही स्थिति बनी रहेगी, हमारे हृदयमें स्तुति सुननेके समान ही प्रसन्नताकी लहर उठेगी, तब समझना चाहिये कि हम भगवान्‌के समीप आ गये हैं। आज पुष्पमाला पहनकर जिस हर्षका अनुभव हम करते हैं, ठीक उसी हर्षकी अनुभूति तब हमें जूतोंसे तिरस्कृत होनेपर भी होगी।

हमें चाहिये कि हम उन पुरुषोंको, जो हमारी निन्दा करते हैं, उसी भावसे देखें जिस भावसे हम अपनी प्रशंसा करनेवालेको देखते हैं। महात्मा कबीरदासजी तो यहाँतक कहते हैं कि निन्दक पुरुषको अपनी कुटिया देकर अपने पास बसाना चाहिये।

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निरमल करै सुभाय॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस किसी भी प्रकारसे हो अपनी निन्दा करनेवालेको अधिक-से-अधिक अपने सम्पर्कमें रखा जाय; क्योंकि वह हमारे जिस कार्यकी निन्दा करेगा उसे सुधारनेकी चेष्टा हमारे द्वारा अवश्य ही होगी। मनुष्यको अपने दोष शीघ्र दिखलायी नहीं पड़ते, परन्तु किसीके द्वारा अपने दोषोंके लिये चेतावनी दिये जानेपर कल्याणकामी पुरुष उन्हें दूर करनेकी चेष्टा करता है। अतएव हमें प्रसन्नतापूर्वक अपनी निन्दा सुननेका स्वभाव बनाना चाहिये। ऐसा स्वभाव बना लेनेपर हमारे द्वारा होनेवाले निन्दनीय कार्योंका तथा निन्दाश्रवणसे उत्पन्न होनेवाले हमारे अन्तःकरणके विकारोंका विनाश हो जायगा। इसी बातका स्पष्टीकरण करनेके लिये एक काल्पनिक उदाहरण दिया जाता है—

एक दूकानदार था। उसके हृदयमें किसीके प्रति जरा भी क्रोध, द्वेष या घृणाका भाव नहीं था। वह सभी कार्योंमें भगवत्प्रेरणाका ही अनुभव किया करता था। वह अपने-आपको प्रभुके चरणोंमें समर्पित कर चुका था। एक बार पासके एक दूकानदारने उसे इस प्रकार प्रत्येक विधानमें सन्तुष्ट और कभी क्रोध न करते हुए देखकर विचार किया कि आज चाहे जैसे हो उसको क्रोध दिलाना चाहिये। यह निश्चय करके वह उसकी दूकानपर गया और प्रत्येक बातमें उसके विपरीत बोलने लगा। उसने उसके प्रति न जाने कितनी कटूक्तियाँ—कितने अपशब्द कहे पर वह अपनी स्थितिसे तिलभर भी विचलित न हुआ। अन्तमें उसे किसी प्रकार भी क्रोध न करते देखकर उस दूकानदारको अपनी असफलतापर कुछ निराशा हुई किन्तु फिर भी उसने मन-ही-मन इस बातका दृढ़ संकल्प किया कि मैं इसे क्रोध दिलाकर ही विश्राम लूँगा। कुछ दिनों बाद मौका देखकर वह फिर उसके पास गया और कहने लगा—'आज मुझे अपने ससुराल जाना है। मैं चाहता हूँ कि तुम भी मेरे साथ चलो।' उस भक्तने उसके सन्तोषके लिये उसकी बातको स्वीकार कर लिया और साथ जानेके लिये तैयार हो गया। जब वे दोनों चलने लगे तब उसने उस भक्तसे कहा कि इस समय मेरे पास कोई नौकर नहीं है और मेरी इस मिठाईकी हँडियाको ससुरालतक ले जाना जरूरी है। क्या तुम अपने सिरपर रखकर उसे वहाँतक ले चलोगे? उस भक्तने सहर्ष उस हँडियाको अपने सिरपर रख लिया और उस दूकानदारके आगे-आगे चलने लगा। जब वे लोग एक ऐसे स्थानपर पहुँचे जहाँपर बड़ा भारी जनसमूह एकत्र था, उपयुक्त अवसर देखकर दूकानदारने पीछेसे अपने डंडेसे उस हँडियाको फोड़ दिया। हँडियाका फूटना था कि उसके भीतरका सारा कीचड़ और सारा मैला उस भक्तके बदनपर फैल गया। उस भक्तको इस दशामें देखकर सारा जनसमाज हँस पड़ा। वह दूकानदार भी भक्तके सामने खड़ा होकर खूब हँसने लगा। उन सबको हँसते देखकर वह भक्त भी खिलखिलाकर हँसने लगा। तब दूकानदारने पूछा कि 'भाई! मैं तो तुम्हारी इस दुरवस्थापर हँस रहा हूँ पर तुम्हारे हँसनेका क्या कारण है?' उस भक्तने कहा—'मैं अपने ऊपर भगवान्‌की महती अनुकम्पाका अनुभव करके हँस रहा हूँ। आपकी भी मुझपर कितनी दया है जो कि आप पद-पदपर मेरी सँभाल रखते हैं। नहीं तो किसको क्या गरज पड़ी है कि वह बिना किसी स्वार्थके दूसरेका भला करे—उसकी पूरी सँभाल रखे। आप तो हमेशा ही मुझपर कृपा करके ऐसा कार्य करते रहते हैं जिससे मैं अक्रोधकी कसौटीपर खरा उतर सकूँ।' इस बातको सुनते ही वह दुष्टात्मा दूकानदार पानी-पानी हो गया। उसकी कलुषित भावनाएँ एकदम विलुप्त हो गयीं। उसकी आँखें खुल गयीं। वह उस भक्तके चरणोंमें लोट गया और अपने अपराधोंके लिये क्षमा-प्रार्थना करने लगा। उस भक्तने उसे अपने हाथोंसे उठा लिया और कहा—'भाई! आप तो मेरे गुरु हैं। आपके द्वारा ही तो मैं अक्रोधका पाठ पढ़ सका हूँ। मेरे हितकी दृष्टिसे ही भगवान्‌ने आपके द्वारा यह कार्य करवाया है। आप चिन्ता न कीजिये। इस कार्यके करवानेमें भगवान्‌की इच्छा थी।'

कहनेका अभिप्राय यह है कि सब कार्योंमें भगवदिच्छाका अनुभव करनेके कारण ही उस महात्माके मनमें स्वयं जनसमाजमें अपमानित किये जानेपर भी किंचिन्मात्र भी विपरीत भाव उत्पन्न ही नहीं हुआ। अस्तु,

भगवान् अपने भक्तोंके सम्मुख उनके हितके लिये इस प्रकारकी प्रतिकूल परिस्थितियाँ पैदा करते रहते हैं। उन विपरीत विधानोंके प्राप्त होनेपर भी जो जरा भी उद्विग्न न होकर उन्हें भगवान्के भेजे हुए पुरस्कार समझकर उनमें सदा सन्तुष्ट रहते हैं, वे ही सच्चे भक्त हैं। इसके विपरीत यदि हम उनके विधानमें आनन्द नहीं मानते, उनकी प्रसन्नतामें प्रसन्न नहीं होते तो हम भगवान्के भक्त कहाँ? इसलिये इन सब विपरीत विधानोंमें भी हमें हर्ष मानना चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे हमारे पूर्वकृत पापोंका नाश होता है, आत्मबल और सहनशक्तिकी वृद्धि होती है और साथ-ही-साथ भगवत्स्मृति होकर शास्त्रविपरीत कर्मोंका होना रुक जाता है तथा शत्रु मित्र बन जाता है और विष अमृतके रूपमें परिणत हो जाता है।

श्रीतुलसीदासजीने भी यही कहा है—

गरल सुधासम अरि हित होई।
तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥

इसकी चरितार्थता प्रह्लाद और मीरा आदिके जीवनमें प्रत्यक्ष देखी जाती है। मीराबाई भगवान्की अनन्य उपासिका थी। उसकी भक्तिसे चिढ़कर राणाने उसके प्राणोंका हनन करनेके लिये उसके पास विषका प्याला यह कहकर भेजा कि मीरा! यह तेरे उपास्यदेवका चरणामृत है। कहना नहीं होगा कि भक्तिमती मीरा भगवान्का नाम लेकर उसे पी गयी। भगवान्के चरणामृतसे बढ़कर उत्तम वस्तु उसके लिये और हो ही क्या सकती थी? भगवान् भी अपने भक्तोंका अनिष्ट कैसे होने देते? तुरंत मीराका वह विष अमृत हो गया। यह दृश्य देखकर राणा अवाक् रह गया और मीराकी भक्तिके प्रभावसे प्रभावित होकर अन्तमें उसका भक्त बन गया। यह है ईश्वर-भक्तिका प्रताप!

इसलिये हमलोगोंको भी अपने मनके प्रतिकूल जो कुछ भी हो उसे भगवान्का विधान समझकर हर समय सन्तुष्ट रहना चाहिये; क्योंकि उन प्रभुकी प्रेरणाके बिना वृक्षका एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। अतएव चाहे हमारा कोई कितना ही अनिष्ट क्यों न करे, हमें उसको भगवान्की ही प्रेरणा जानकर उससे प्रेम ही करना चाहिये—उसके प्रति आदर-बुद्धि ही रखनी चाहिये। यह भी ईश्वरशरणागतिका तत्त्व है। अपनेसे प्रेम करनेवालेके साथ तो पशु भी प्रेम करते हैं। कुत्ते, गधे आदि सभी इसके प्रमाण हैं। देखा जाता है कि एक जब दूसरेसे प्रेम करता है तो दूसरा भी उससे प्रेम करता है। जब एक कुत्ता दूसरेको चाटता है तो दूसरा भी उसको चाटता है। इसी प्रकार वैरके विषयमें भी समझ लेना चाहिये। यदि हमलोग भी अपनेसे प्रेम करनेवालेके साथ प्रेम और अपनेसे द्वेष रखनेवालेके साथ द्वेष करें तो फिर हममें और पशुओंमें अन्तर ही क्या है? हमें तो अपनेसे वैर करनेवालेके साथ भी अधिक-से-अधिक प्रेम करना चाहिये। ऐसा करनेसे ही हमारा वास्तविक मनुष्यत्व सिद्ध होगा।

इस विषयमें हमारे सामने मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने प्रेमके व्यवहारका जो आदर्श रखा है वह कितना उच्च है? निरपराधी रामको कैकेयी दशरथजीकी इच्छा न रहते हुए भी चौदह वर्षके लिये वनमें भेज रही है। भगवान् राम उसकी आज्ञाको शिरोधार्य करके सहर्ष वन जानेको तैयार हैं। कैकेयीके बाणके समान मर्मवेधी वचनोंका उत्तर भगवान् कितनी नम्रता और मधुरताके साथ देते हैं। वे कहते हैं—'माता! 'वनमें जानेसे मुनियोंके दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त होगा। वन जानेमें पिताजीकी आज्ञा और आपकी भी सम्मति है। मेरे वन जानेसे भाई भरतको राज्य मिलेगा। इससे बढ़कर मेरे लिये सौभाग्यकी और बात ही क्या हो सकती है?' श्रीतुलसीदासजीने अयोध्याकाण्डमें कहा है—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू।
बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा।
प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥

इतने विनय और प्रेमपूर्ण व्यवहारके होनेपर भी कैकेयीने निष्ठुरताका ही व्यवहार किया।

सहज सरल रघुबर बचन कुमति कुटिल करि जान।
चलइ जोंक जल बक्र गति जद्यपि सलिलु समान॥

जब सीता भी रामचन्द्रजीके साथ वन जानेको तैयार हो गयी तब कैकेयी उसे कहती है—'हे सीते! लो, तुम भी वल्कल वस्त्र धारण कर लो।' सीता वल्कल वस्त्र अपने हाथमें ले लेती है। परन्तु वह राजकुमारी, जिसने कभी अपने हाथसे आभूषणादि भी नहीं पहने, वल्कल वस्त्र पहनना क्या जाने? वह भगवान्की ओर देखने लग जाती है। ऐसी परिस्थितिमें भगवान् लज्जाकी परवा न करके सीताको वल्कल वस्त्र पहनाते हैं। इस अनुचित और करुणापूर्ण दृश्यको देखकर रनवासकी स्त्रियाँ रो पड़ती हैं और वसिष्ठजी कैकेयीके इस कठोर व्यवहारकी कड़ी आलोचना करके सीताको वल्कल वस्त्र नहीं पहनानेका

विधान करते हैं। अन्तमें अपनी विमाताके दुर्व्यवहारोंकी ओर तनिक भी ध्यान न देकर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी प्रसन्नवदन होकर हँसते-हँसते वनकी ओर चले जाते हैं। इतना ही नहीं, अपितु चित्रकूटमें तथा चौदह वर्षकी अवधि पूर्ण होनेपर अयोध्या लौटकर सबसे प्रथम कैकेयीका ही आदर करते हैं। उनके इस आदर्श व्यवहारसे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि अपने साथ कोई चाहे कितना ही कठोरतापूर्ण व्यवहार करे किन्तु हमें उसके साथ प्रेमका ही व्यवहार करना चाहिये।

जब किसीको हमपर क्रोध होता है तो हमें समझना चाहिये कि हमारा कोई अपराध बन गया है इसीसे तो इनको क्रोध आया है। यदि हमारा कोई भी अपराध न होता तो इन्हें अकारण ही क्यों क्रोध आता। इस प्रकार अपनेपर दूसरेके क्रोधित होनेमें अपनेको ही उसका कारण मानकर अपनेको ही अपराधी समझना चाहिये। परन्तु यदि अपनेको भी क्रोध आ गया तो फिर अपनी नीचताकी चरम सीमा ही समझनी चाहिये। किसी भी जीवपर क्रोध करना भगवान्पर ही क्रोध करना है। इसलिये किसीपर भी क्रोध न करके सबके साथ अहैतुक प्रेम करना चाहिये; क्योंकि किसीके साथ जो प्रेम करना है वह भगवान्के साथ ही प्रेम करना है। इस प्रकारके प्रेमपूर्ण व्यवहारके प्रभावसे हम भगवान्के परम प्रिय बन जायँगे। गीताके १२ वें अध्यायके १५ वें श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रेमी भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते हुए कहते हैं—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

'जिससे कोई भी उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता; तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है—वह भक्त मुझको प्रिय है।'

अतः साधकोंको निरन्तर भगवान्का स्मरण करते हुए ही उनकी आज्ञाके अनुसार काम करना चाहिये और अपने मनके प्रतिकूल कार्योंको भी भगवान्का विधान समझकर सदा उनमें सन्तुष्ट रहना चाहिये; क्योंकि भगवान्का प्रत्येक विधान जीवोंके कल्याणके लिये होता है। यदि यह रहस्य याथातथ्य समझमें आ जाय तो भगवत्साक्षात्कार होकर सदाके लिये परमानन्द और परमशान्तिकी प्राप्ति हो सकती है।

कुछ उपयोगी साधन

साधन शब्दका अर्थ बहुत ही व्यापक है। परन्तु वास्तविक साधन तो उसे ही समझना चाहिये जो परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला हो। परमात्माकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें अनेकों प्रकारके साधन बतलाये गये हैं। उनमें सुगमतापूर्वक हो सकनेवाले कुछ सरल साधनोंका उल्लेख यहाँ किया जाता है। विवेकदृष्टिसे विचार करनेपर सारे साधन ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा—इन दोनों निष्ठाओंके अन्तर्गत आ जाते हैं। जीवात्मा और परमात्माकी एकताके आधारपर होनेवाले जितने भी साधन हैं, वे सब ज्ञाननिष्ठाके अन्तर्गत हैं तथा जीवात्मा और परमात्माके भेदके आधारपर होनेवाले योगनिष्ठाके अन्तर्गत हैं। इसी बातको लक्ष्यमें रखते हुए भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अभेदनिष्ठाको सांख्य, संन्यास अथवा ज्ञानयोगके नामसे कहा है और भेदनिष्ठाको योग, कर्मयोग तथा भक्तियोग आदि नामोंसे। श्रीमद्भागवतमें भी अभेद और भेदनिष्ठाओंका विशद वर्णन है। इसी प्रकार गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें ज्ञानदीपकके नामसे अभेदनिष्ठाका और भक्तिमणिके नामसे भेदनिष्ठाका वर्णन किया है।

वेद और उपनिषदोंके '**अहं ब्रह्मास्मि**' (बृह० उ० १।४।१०), '**तत्त्वमसि**' (छान्दोग्य० ६।८।७) आदि महावाक्य अभेदनिष्ठा (अभेदज्ञान)-का प्रतिपादन करते हैं और '**द्वा सुपर्णा**'* आदि श्रुतियाँ भेदनिष्ठाका प्रतिपादन करती हैं। इस प्रकार श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि वैदिक सनातनधर्मके प्रायः सभी आर्ष ग्रन्थोंमें भेदनिष्ठा और अभेदनिष्ठाका ही भेदोपासना और अभेदोपासना आदि नामोंसे वर्णन किया गया है। इन्हीं दोनों निष्ठाओंके आधारपर यहाँ कुछ साधनोंका वर्णन किया जाता है।

अचिन्त्य ब्रह्मकी उपासना

नेत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ अनुभव किया जाता है एवं मनसे जो कुछ चिन्तन किया जाता है, अनुभव और चिन्तन करनेवाले इन्द्रियों और मनके सहित उस सम्पूर्ण दृश्यको नाशवान्, क्षणभंगुर और स्वप्नवत् समझकर उसका अभाव करना अर्थात् उसे अनित्य होनेके कारण असत् समझकर उससे रहित हो जाना और जिस बुद्धिवृत्तिके द्वारा सबका अभाव किया जाता है उस वृत्तिका त्याग करके उससे भी रहित हो जानेपर द्रष्टाका जो केवल चिन्मयस्वरूप बच रहता है अर्थात् दृश्यमात्रका अभाव हो जानेपर चिन्तन करनेवाला जो द्रष्टा शेष बच जाता है उसमें स्थित होना ही

* द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ (मुण्डक उप० ३।१।१)

अचिन्त्य ब्रह्मकी उपासना है। इस अभेद उपासनारूप साधनसे दृश्य, दर्शनका बाध हो जाता है और द्रष्टाका परब्रह्म परमात्माके साथ तादात्म्य हो जाता है। यही परमात्माकी प्राप्ति है। जैसे घटाकाश और महाकाशके बीच व्यवधानरूप केवल घटकी आकृति ही भेद-दर्शनमें हेतु है, इसी प्रकार जड दृश्यमात्र जीवात्मा और परमात्माके भेद-दर्शनमें हेतु है। जब तत्त्वज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण दृश्य और दर्शनका बाध हो जाता है, तब स्वभावतः ही जीवात्मा परमात्माको प्राप्त हो जाता है। जैसे घटके फूट जानेपर घटाकाशस्थानीय आकाश महाकाशके साथ एक हो जाता है उसी प्रकार जीवात्माका सच्चिदानन्दघन परमात्माके साथ एकीभाव हो जाता है अर्थात् वह अभेदरूपसे ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

चराचररूप ब्रह्मकी उपासना

जो भी कुछ चर-अचर, जड-चेतन संसार है, वह सब परमात्मासे ही उत्पन्न है, परमात्मामें ही स्थित है और परमात्मामें ही लीन हो जाता है, इसलिये वस्तुतः परमात्मस्वरूप ही है।

जो पुरुष इस सम्पूर्ण संसारको परमात्माका स्वरूप समझकर परमात्मभावसे इसकी उपासना करता है, वह परमात्माको ही प्राप्त होता है।

यह उपासना भेद और अभेद दोनों ही दृष्टियोंसे की जा सकती है। भेददृष्टिवाला साधक समझता है कि जो कुछ है सो परमात्मा है और मैं उसका सेवक हूँ। जैसे गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

और अभेद दृष्टिवाला साधक सारे संसारको एवं अपने-आपको भी परमात्माका स्वरूप मानता है। जैसे श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
(१३।१५)

'परमात्मा चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है।'

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥
(१३।३०)

'जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

इस प्रकार इस सम्पूर्ण दृश्यमात्रको परमात्माका स्वरूप मानकर उसकी उपासना करते-करते साधककी सर्वत्र समबुद्धि हो जाती है और वह राग-द्वेषरहित होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

संकल्पब्रह्मकी उपासना

संकल्पब्रह्मकी उपासनामें जो भी कुछ अच्छे या बुरे संकल्प मनमें उठते हैं उनको ब्रह्म मानकर उपासना की जाती है। इस प्रकार मनमें उठनेवाले प्रत्येक संकल्पको ब्रह्म मानकर उपासना करनेवालेके लिये कोई भी संकल्प (स्फुरणा) विघ्नकारक नहीं होते तथा उनमें समबुद्धि हो जानेके कारण अनुकूल और प्रतिकूल संकल्पोंमें राग-द्वेष नहीं होता।

संकल्पमात्रमें निरन्तर ब्रह्माकारवृत्ति बनी रहनेके कारण साधकको विज्ञानानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

शब्दब्रह्मकी उपासना

शब्दब्रह्मकी उपासना करनेवालेको जो भी कुछ भला या बुरा शब्द सुनायी देता है उसे वह ब्रह्म मानकर उपासना करता है। ब्रह्म सम और एक है, इसलिये साधककी शब्दमात्रमें समबुद्धि हो जाती है। अतएव वह अनुकूल और प्रतिकूल शब्दोंमें राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे रहित हो जाता है। कोई उसकी स्तुति या निन्दा करता है तो इससे उसके चित्तमें कोई विकार नहीं होता। शब्दमात्रको ब्रह्म माननेके कारण उसकी वृत्ति हर समय ब्रह्माकार बनी रहती है, जिससे उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

निःस्वार्थ कर्म-साधन

स्वार्थ (स्व-अर्थ)-का अभिप्राय है—'अपने लिये,' अपने व्यक्तिगत लाभके लिये और निःस्वार्थका अर्थ है—'अपने लिये नहीं' अर्थात् दूसरों (समष्टि)-के हितके लिये। साधारण मनुष्य यज्ञ, दान, तप, सेवा, तीर्थ, व्रत, उपवास, कृषि, वाणिज्य, खान-पान, शौच-स्नान, लेन-देन आदि जो कुछ भी कर्म करता है, किसी-न-किसी व्यक्तिगत स्वार्थको लेकर ही करता है। जैसे क्रय-विक्रय करनेवाला लोभी व्यापारी दूकान खोलनेके समयसे लेकर उसे बंद करनेतक दिनभर जो भी कुछ क्रय-विक्रय, लेन-देन आदि व्यापार करता है, सबमें उसका लक्ष्य हर समय यही रहता है कि अधिक-से-अधिक रुपये पैदा हों। जिसमें जरा भी अर्थकी हानि होती हो, ऐसा कोई भी काम वह जान-बूझकर कभी नहीं करना चाहता। इसी प्रकार यज्ञ, दान, तपादि कार्य करनेवाले सकामी लोग धन, स्त्री, पुत्र आदि इहलौकिक और स्वर्गादि पारलौकिक भोगोंकी कामनासे ही उन कामोंमें प्रवृत्त होते हैं।

यह स्वार्थ इतना व्यापक है कि किसी भी छोटे-से-छोटे कामका आरम्भ करनेके समय मनुष्य यही सोचता है कि इसके करनेसे मुझे व्यक्तिगत क्या लाभ होगा। किसी लाभका निश्चय करके ही वह कार्यमें प्रवृत्त होता है। बिना प्रयोजन एक पैंड भी चलना नहीं चाहता। उसके मनमें पद-पदपर स्वार्थकी भावना भरी रहती है। इसी स्वार्थ-बुद्धिसे मनुष्यको बार-बार दुःखरूप संसारचक्रमें भटकना पड़ता है। अतएव यथार्थ कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको स्वार्थरहित होकर लोकहितके लिये ही कर्म करने चाहिये। जैसे स्वार्थी मनुष्य प्रत्येक कामके आरम्भमें यह सोचता है कि मुझे इसमें क्या लाभ होगा, ऐसे ही निःस्वार्थी पुरुषके मनमें यह भाव होना चाहिये कि इससे अन्य प्राणियोंका क्या हित होगा। जिस कामके आरम्भमें संसारका हित सोचकर प्रवृत्त हुआ जाता है, वही निष्काम कर्म है।

बहुत-से सज्जन लोकोपकारके कामोंमें धन-सम्पत्ति और शरीरके आरामका त्याग करते हैं और यह बहुत उत्तम है, परन्तु वे जो इसके बदलेमें मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा चाहते हैं, इससे उनका वह त्याग निःस्वार्थ नहीं रह जाता। मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी कामनासे शुभ कर्म करनेवाले लोग अवश्य ही शुभ कर्म न करनेवालोंकी अपेक्षा तो बहुत ही अच्छे हैं, किन्तु वास्तविक कल्याणमें तो उनकी यह कामना भी बाधक ही है और यदि कहीं राग-द्वेषके वश होना पड़ा तब तो इस कामनासे पतन भी हो सकता है। अतएव वास्तविक हित चाहनेवाले पुरुषको मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी इच्छाका भी सर्वथा त्याग करके विशुद्ध निःस्वार्थभावसे ही लोकहितार्थ कर्म करने चाहिये।

कुछ सज्जन मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गकी इच्छाका भी त्याग करके केवल अपने आत्माके उद्धारकी इच्छासे यज्ञ, दान, तप, सेवा, सत्संग और व्यापार आदि शास्त्रविहित कर्म करते हैं। यद्यपि इस प्रकार कर्म करनेवाले लोग उपर्युक्त सभी साधकोंसे श्रेष्ठ हैं, तथापि केवल अपने ही आत्माके उद्धारकी यह इच्छा भी मुक्तिरूप स्वार्थ-बुद्धिके कारण कभी-कभी मोहमें डालकर साधकको कर्तव्यच्युत कर देती है। कहीं-कहीं तो यह राग-द्वेषको उत्पन्न करके साधकका पतन भी कर डालती है। इसलिये केवल अपने उद्धारकी इच्छा न रखकर सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणके उद्देश्यसे ही मनुष्यको शास्त्रविहित कर्मोंमें प्रवृत्त होना चाहिये। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे कर्म करनेवाला मनुष्य सहज ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

संसारका हित चाहनेवाले ऐसे दयालु निष्कामी भक्तोंके सम्बन्धमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने तो यहाँतक कहा है—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा।
राम ते अधिक राम कर दासा॥

इसका कुछ रहस्य निम्नलिखित दृष्टान्तके द्वारा समझना चाहिये—

भगवान्‌के एक निष्कामी भक्त जगत्‌के परम हितैषी थे। वे सदा-सर्वदा जगत्‌के हितमें रत रहा करते थे। इसके फलस्वरूप एक दिन भगवान् स्वयं उनको दर्शन देनेके लिये उनके सामने प्रकट हुए और बोले—'तुम्हारी जो इच्छा हो वही वर माँगो।'

भक्तने कहा—'भगवन्! आपकी मुझपर जो अनन्त कृपा है, इससे बढ़कर और कौन-सी वस्तु है, जिसकी मैं याचना करूँ—आपकी कृपासे मुझे किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है।'

भगवान्‌ने विशेष आग्रहपूर्वक कहा—'मेरे सन्तोषके लिये तुम्हें कुछ तो अवश्य ही माँगना चाहिये।'

भक्तने कहा—'प्रभो! यदि आपका इतना आग्रह है तो मैं यही चाहता हूँ कि मेरे मनमें यदि कुछ माँगनेकी इच्छा हो तो आप उसका सर्वथा विनाश कर दीजिये।'

भगवान् बोले—'यह तो तुमने कुछ भी नहीं माँगा। मेरी प्रसन्नताके लिये तुम्हें अवश्य कुछ माँगना पड़ेगा। तुम जो चाहो सो माँग सकते हो।'

भक्तने कहा—'जब आप इतना बाध्य करते हैं तो मैं यह माँगता हूँ कि आप संसारके सभी जीवोंका कल्याण कर दीजिये।'

भगवान्‌ने कहा—'यदि सब जीवोंका कल्याण कर दिया जाय तो उनके किये हुए पापोंका फल कौन भोगेगा?'

भक्तने कहा—'प्रभो! सबके पापोंका फल मुझे भुगता दीजिये।'

भगवान् बोले—'तुम-सरीखे भक्तको सब जीवोंके पापोंका दण्ड कैसे भुगताया जा सकता है?'

भक्तने कहा—'तो फिर सबको क्षमा कर दीजिये।'

भगवान्‌ने कहा—'इस प्रकार सबको पापोंका फल न भुगताकर उन्हें क्षमा कर देना तो असम्भव है।'

भक्तने कहा—'भगवन्! आप तो असम्भवको भी सम्भव करनेवाले सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हैं। आपके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है।'

भगवान्‌ने कहा—'इस प्रकार करनेके लिये मैं असमर्थ हूँ।'

भक्तने कहा—'यदि आप अपनेको असमर्थ कहते हैं, तो फिर आपने इच्छानुसार वर माँगनेके लिये इतना आग्रह

क्यों किया था? आपको स्त्री, पुत्र, धन, मान-बड़ाई, स्वर्ग, मोक्ष आदि किसी एक वस्तुके माँगनेके लिये कहना चाहिये था। जो इच्छा हो सो माँगनेका वचन देनेपर तो याचककी माँग पूरी करनी ही चाहिये।'

भगवान्ने कहा—'भाई! मेरी हार और तुम्हारी जीत हुई। मैं भक्तोंके सामने सदा ही हारा हुआ हूँ।'

भक्तने कहा—'प्रभो! हार तो मेरी हुई। जीत तो तब होती जब आप सबका कल्याण कर देते।'

भगवान्ने कहा—'तुम्हारे इस निःस्वार्थभावसे मैं अति प्रसन्न हुआ हूँ। मैं तुम्हें यह वर देता हूँ कि जो कोई भी तुम्हारा दर्शन, स्पर्श और चिन्तन आदि करेगा, उसका भी कल्याण हो जायगा।'

इस प्रकार संसारका कल्याण चाहनेवाले निःस्वार्थ भक्तको विनोदमें भगवान्से भी बढ़कर कहना कोई अत्युक्ति नहीं है। अतएव कल्याणकामी पुरुषोंको निःस्वार्थभावसे लोकहितार्थ ही सारे कर्म करने चाहिये।

सेवा-साधन

धन-सम्पत्ति, शारीरिक सुख और मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिको न चाहते हुए ममता, आसक्ति और अहंकारसे रहित मन, वाणी, शरीर और धनके द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत होकर उन्हें सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना 'सेवा-साधन' कहलाता है। इस साधनसे साधकके चित्तमें निर्मलता और प्रसन्नता होकर उसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

उपर्युक्त प्रकारकी सेवा-साधना तीन प्रकारके भावोंसे की जा सकती है—सब एक ईश्वरकी ही सन्तान होनेके कारण सबको अपना 'बन्धु' मानते हुए, आत्मदृष्टिसे सबको अपना 'स्वरूप' समझते हुए और परमात्मा ही सब भूतोंके हृदयमें स्थित है इसलिये सबको साक्षात् 'परमेश्वर' समझते हुए। इन तीनों भावोंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है। बन्धुभावसे होनेवाली सेवामें एक-दूसरेके प्रति पर-बुद्धि होनेके कारण राग-द्वेषवश कभी झगड़ा भी हो सकता है, परन्तु आत्मभावमें इसकी सम्भावना नहीं है, अतः बन्धुभावसे की हुई सेवाकी अपेक्षा आत्मभावसे की हुई सेवा उत्तम है। आत्मभावसे की हुई सेवाकी अपेक्षा भी परमात्मभावसे की हुई सेवा उत्तम है; क्योंकि मनुष्य अपने इष्टकी सेवाके लिये प्रसन्नतापूर्वक अपने प्राणोंका भी बलिदान कर सकता है। तीनों प्रकारके भावोंसे की हुई सेवाका परिणाम एक होनेपर भी भगवत्प्राप्तिमें शीघ्रताकी दृष्टिसे ही उत्तरोत्तर श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया गया है।

उत्तम देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर जो न्यायानुकूल सेवा की जाती है, वही सेवा महत्त्वपूर्ण होती है। जैसे—अन्य देशोंकी अपेक्षा आर्यावर्त देश उत्तम माना गया है, उसमें भी काशी आदि तीर्थ अधिक उत्तम माने गये हैं। परन्तु यदि काशी आदि तीर्थोंमें अन्नकी फसल अच्छी हो और मगध आदि देशोंमें भयंकर अकाल पड़ा हो तो अन्नदानके लिये काशीकी अपेक्षा मगध अधिक उपयुक्त देश है। इसी प्रकार यद्यपि साधारण कालकी अपेक्षा एकादशी, पूर्णिमा, सोमवती, व्यतिपात, ग्रहण और पर्वकाल दानके लिये श्रेष्ठ हैं तथापि यदि अन्य कालमें अन्नके बिना प्राणी मरते हों तो पर्वकालकी अपेक्षा भी वह पर्वातिरिक्त काल अन्नदानके लिये श्रेष्ठ काल है। पात्रके विषयमें भी ऐसा ही समझना चाहिये। जिस प्राणीके द्वारा जितना अधिक उपकार होता है, उतना ही वह सेवाका अधिक पात्र है। जैसे कीड़े, चींटी आदिकी अपेक्षा पशु आदि, पशुओंमें भी अन्य पशुओंकी अपेक्षा गाय आदि, गाय आदि पशुओंकी अपेक्षा मनुष्य, मनुष्योंमें भी दूसरोंकी अपेक्षा उत्तम गुण और आचरणवाले पुरुष सेवाके विशेष पात्र हैं। उदाहरणके लिये—यदि देशमें बाढ़ या अकाल आदिके कारण प्राणी भूखों मर रहे हों और साधकके पास थोड़ा-सा परिमित अन्न हो तो ऐसी स्थितिमें पूर्वमें बतलाये हुए प्राणियोंकी अपेक्षा बादमें बतलाये हुए उत्तरोत्तर सेवाके अधिक पात्र हैं; क्योंकि उनके द्वारा उत्तरोत्तर लोकोपकार अधिक होता है। परन्तु इसमें भी यह बात है कि जिसके पास अन्नका जितना अधिक अभाव हो उतना ही उसे अधिक पात्र समझना चाहिये। जैसे—किसी देशमें अकाल होनेपर भी गायोंके लिये चारेकी कमी न हो पर कुत्ते भूखों मरते हों तो वहाँ कुत्ते अधिक पात्र हैं। इसी प्रकार सबके विषयमें समझना चाहिये। प्यासेको पानी, नंगोंको वस्त्र, बीमारको औषध और आतुरको अभयदान आदिके विषयमें भी यही बात समझनी चाहिये।

परन्तु विशेष ध्यान देनेकी बात तो यह है कि सेवा-साधनमें क्रियाकी अपेक्षा भावकी प्रधानता है। स्त्री-पुत्र, धन-मान, बड़ाई-प्रतिष्ठा और स्वर्गादिकी प्राप्तिके उद्देश्यसे तत्परताके साथ आजीवन किये हुए उपर्युक्त विशाल सेवाकार्यकी अपेक्षा ममता, आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर निःस्वार्थभावसे की हुई थोड़ी सेवा भी अधिक मूल्यवाली होती है।

पंच महायज्ञ-साधन

पंच महायज्ञसे हमारे नित्यके पापोंका प्रायश्चित्त तो होता ही है, यदि स्वार्थत्यागपूर्वक निष्कामभावसे केवल भगवत्प्रीत्यर्थ इनका साधन किया जाय तो इनसे भगवत्प्राप्ति भी हो जाती है।

ब्रह्मयज्ञ (ऋषियज्ञ), पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ (बलिवैश्व) और मनुष्ययज्ञ—ये पंच महायज्ञ कहलाते हैं।[१] जिस कर्मसे बहुतोंकी तृप्ति हो उसे यज्ञ कहते हैं और जिससे सारे संसारकी तृप्ति हो उसे महायज्ञ कहते हैं। इस दृष्टिसे इनका महत्त्व बहुत अधिक है।

देवयज्ञसे मुख्यतासे देवताओंकी, ऋषियज्ञसे ऋषियोंकी, पितृयज्ञसे पितरोंकी, मनुष्ययज्ञसे मनुष्योंकी और भूतयज्ञसे भूतोंकी तृप्ति होती है और गौणरूपसे इनके द्वारा सारे संसारकी तृप्ति होती है वैदिक सनातनधर्मके इन महायज्ञोंमें सम्पूर्ण संसारके जीवोंके हितके लिये जैसा दया और उदारतापूर्ण स्वार्थत्यागका भाव भरा है, वैसा अन्य धर्मोंमें देखनेमें नहीं आता।

वेद और शास्त्रोंका पठन-पाठन जगत्के हितार्थ ऋषियोंको सन्तुष्ट करनेके लिये ही किया जाता है, अपने स्वार्थके लिये नहीं। सन्ध्योपासनमें भी **'पश्येम शरदः'** आदिमें सबके हितकी ही प्रार्थना की गयी है और इसी प्रकार गायत्रीमन्त्रमें स्तुति और ध्यान बतलाकर सभीकी बुद्धियोंको सत्कार्यमें लगानेकी प्रार्थना की गयी है।

पितृतर्पणमें भी देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर एवं सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको जलदान करनेकी विधि है। यहाँतक कि पहाड़, वनस्पति और शत्रु आदिको भी जल देकर तृप्त किया जाता है।

देवयज्ञमें अग्निमें आहुति दी जाती है। वह सूर्यको प्राप्त होती है और सूर्यसे वृष्टि और वृष्टिसे अन्न और प्रजाकी उत्पत्ति होती है।[२]

भूतयज्ञसे भी सारे प्राणियोंकी तृप्ति होती है। इसको बलिवैश्वदेव भी कहते हैं; क्योंकि इसमें सारे विश्वके लिये बलि दी जाती है।

मनुष्ययज्ञमें अपने-आप घर आये हुए अतिथिका सत्कार करके उसे विधिपूर्वक यथाशक्ति भोजन कराया जाता है।[३] यदि भोजन करानेकी सामर्थ्य न हो तो उसे बैठनेके लिये जगह, आसन, जल और मीठे वचनोंका दान तो गृहस्थको अवश्य ही करना चाहिये।[४]

उपर्युक्त पाँच प्रकारके महायज्ञोंपर ऋषियोंने बहुत जोर दिया है। अतएव स्वाध्यायसे ऋषियोंका, हवनसे देवताओंका, तर्पण और श्राद्धसे पितरोंका, अन्नसे मनुष्योंका और बलिकर्मसे सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका यथायोग्य सत्कार करना चाहिये।[५] इस प्रकार जो मनुष्य नित्य सब प्राणियोंका सत्कार करता है वह तेजोमय मूर्ति धारण कर सरल अर्चिमार्गके द्वारा परमधामको प्राप्त होता है।[६] इसके विपरीत जो मनुष्य दूसरोंको भोजन न देकर केवल अपने ही उदर-पोषणके लिये भोजन बनाता है, वह पापायु मनुष्य पाप ही खाता है। सबको भोजन देनेके बाद शेष बचा हुआ अन्न यज्ञशिष्ट होनेके कारण अमृतके तुल्य है, इसलिये ऐसे अन्नको ही सज्जनोंके खानेयोग्य कहा गया है।[७]

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें भी प्रायः ऐसी ही बात कही है।[८]

उपर्युक्त सभी महायज्ञोंका तात्पर्य है सम्पूर्ण भूतप्राणियोंकी अन्न और जलके द्वारा सेवा करना एवं अध्ययन-अध्यापन, जप, उपासना आदि स्वाध्यायद्वारा सबका हित चाहना। अपने स्वार्थके त्यागकी बात तो पद-पदमें बतलायी गयी है।

हवनके और बलिवैश्वदेवके मन्त्रोंमें भी स्वार्थत्यागकी ही बात कही गयी है। जैसे **'ॐ इन्द्राय स्वाहा, इदमिन्द्राय न मम। ॐ ब्रह्मणे स्वाहा, इदं ब्रह्मणे न मम।'** इस **'न मम'** का अभिप्राय यह है कि यह आहुति इन्द्रके लिये दी जाती है, इसका फल मैं नहीं चाहता। यह आहुति ब्रह्मके लिये दी जाती है, इसका फल मैं नहीं चाहता। अन्य मन्त्रोंमें भी इसी प्रकारके त्यागकी बात

१-अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ (मनु० ३।७०)

'वेद-शास्त्रका पठन-पाठन एवं सन्ध्योपासन, गायत्रीजप आदि ब्रह्मयज्ञ (ऋषियज्ञ) है, नित्य श्राद्धतर्पण पितृयज्ञ है, हवन देवयज्ञ है, बलिवैश्वदेव भूतयज्ञ है और अतिथि-सत्कार मनुष्ययज्ञ है।'

२-अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ (मनु० ३।७६)

३-सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके। अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम्॥ (मनु० ३।९९)

४-तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता। एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ (मनु० ३।१०१)

५-स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि। पितॄञ्छ्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥ (मनु० ३।८१)

६-एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति। स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिः पथर्जुना॥ (मनु० ३।९३)

७-अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्। यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते॥ (मनु० ३।११८)

८-यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः। भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ (गीता ३।१३)

जगह-जगहपर कही गयी है। इन सबसे यही शिक्षा मिलती है कि मनुष्यको अपने स्वार्थका त्याग करके संसारके हितके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये।

सम्पूर्ण संसारके प्राणियोंमें एक मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जो प्राणिमात्रकी सेवा कर सकता है। अन्य प्राणियोंके द्वारा भी जगत्का बहुत उपकार होता है, किन्तु सबकी सेवा तो केवल मनुष्य ही कर सकता है। मनुष्यका शरीर खान-पान, ऐश-आराम और भोग भोगनेके लिये नहीं मिला है। ये सब तो अन्य योनियोंमें भी प्राप्त हो सकते हैं। मनुष्यका जन्म तो प्राणिमात्रके हितकी चेष्टा करनेके लिये ही मिला है। अतएव सब लोगोंको चाहिये कि अपने तन, मन और धनद्वारा निःस्वार्थभावसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी सेवाके लिये तत्परतासे चेष्टा करें और इस प्रकार प्राणिमात्रमें विराजित भगवान्की सेवा करके उनको प्राप्त कर सफलजीवन हों।

विषय-हवनरूप साधन

इन्द्रियोंके विषयोंको राग-द्वेषरहित होकर इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है। शब्द, स्पर्श, रूप आदिका श्रवण, स्पर्श और दर्शन आदि करते समय अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थोंमें राग-द्वेषरहित होकर उनका न्यायोचित सेवन करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और उसमें 'प्रसाद' का अनुभव होता है। उस 'प्रसाद' से सारे दुःखोंका नाश होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। परन्तु जबतक इन्द्रियाँ और मन वशमें नहीं होते और भोगोंमें वैराग्य नहीं होता, तबतक अनुकूल पदार्थके सेवनसे राग और हर्ष एवं प्रतिकूलके सेवनसे द्वेष और दुःख होता है। अतएव सम्पूर्ण पदार्थोंको नाशवान् और क्षणभंगुर समझकर न्यायसे प्राप्त हुए पदार्थोंका विवेक और वैराग्ययुक्त बुद्धिके द्वारा समभावसे ग्रहण करना चाहिये। श्रवण, स्पर्श, दर्शन, भोजनादि कार्य रसबुद्धिका त्याग करके कर्तव्यबुद्धिसे भगवत्प्राप्तिके लिये करने चाहिये। इन पदार्थोंमें ऐश-आराम, मौज-शौक, स्वाद-सुख और इन्द्रियतृप्ति, रमणीयता या भोग-बुद्धिकी भावना ही मनुष्यके मनमें विकार उत्पन्न करके उसका पतन करनेवाली होती है। उपर्युक्त दोषोंसे रहित होकर विवेक और वैराग्ययुक्त बुद्धिके द्वारा किये जानेवाले इन्द्रियोंके विषय-सेवनसे तो हवनके लिये अग्निमें डाले हुए ईंधनकी तरह वे सब पदार्थ अपने-आप ही भस्म हो जाते हैं। फिर उनकी कोई भी सत्ता या प्रभाव नहीं रह जाता। इस प्रकार साधन करते-करते अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर सारे दुःखों और पापोंका अभाव होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थिर और अचल स्थिति हो जाती है अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

महापुरुष-आज्ञा-पालनरूप साधन।

जो पुरुष महात्माओंके[1] पास जाकर उनके उपदेशको सुनकर उसके अनुसार साधन करता है, उसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(१३। २५)

'जो पुरुष स्वयं इस प्रकार (ध्यानयोग, सांख्ययोग और कर्मयोग) न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले महापुरुषोंसे सुनकर तदनुसार उपासना करते हैं, वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं।'

अतएव जो पुरुष श्रद्धा-भक्तिपूर्वक महात्माओंकी आज्ञाका पालन करता है, उसका कल्याण हो जाता है। शास्त्रोंमें इसके अनेक उदाहरण भी मिलते हैं।

महाभारत, आदिपर्वके तीसरे अध्यायके २० वेंसे ३२ वें श्लोकतक आयोदधौम्य और उनके शिष्य पांचालदेशीय आरुणिकी कथा है। वहाँ लिखा है कि गुरुने शिष्यको खेतमें जाकर खेतकी मेड़ बाँधनेकी आज्ञा दी। शिष्य जब चेष्टा करनेपर भी मिट्टीसे मेड़ न बाँध सका तब उसने स्वयं जलके प्रवाहके सामने सोकर जलको रोक लिया। जब शामतक वह घर न लौटा तो गुरु उसे खोजते हुए खेतमें आये और पुकारने लगे। उनकी आवाज सुनकर आरुणि उठा और जाकर सामने खड़ा हो गया। मिट्टीके स्थानपर खुद उसके पड़नेकी बात जानकर धौम्यमुनि उसकी आज्ञापालन-परायणताको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने वरदान दिया कि तुमने जो मेरी आज्ञाका पालन किया है, इससे तुम्हारा कल्याण हो जायगा। समस्त वेद और धर्मशास्त्रोंका ज्ञान तुम्हें बिना ही पढ़े अपने-आप हो जायगा।[2] इसी प्रकार छान्दोग्य-उपनिषद्के अध्याय ४, खण्ड ४ से ९ में भी एक कथा आती है। हारिद्रुमत गौतम ऋषिने अपने शिष्य सत्यकाम जाबालका उपनयनसंस्कार करके उसे ४०० कृश और दुर्बल गायोंको वनमें ले जाकर

१-ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यासी कोई भी पुरुष जो गीता अध्याय २ श्लोक ५५ से ७२ तथा अध्याय १२ श्लोक १३ से १९ और अध्याय १४ श्लोक २२ से २५ में वर्णित लक्षणोंसे युक्त हो, उसीको महात्मा समझना चाहिये।

२-यस्माच्च त्वया मद्वचनमनुष्ठितं तस्माच्छ्रेयोऽवाप्स्यसि। सर्वे च ते वेदाः प्रतिभास्यन्ति सर्वाणि च धर्मशास्त्राणीति॥

(महा०, आदि० ३। ३२)

चरानेकी आज्ञा दी। शिष्यने गुरुका भाव समझकर यह कहा कि जब इन गायोंकी संख्या पूरी १,००० हो जायगी, तब मैं लौट आऊँगा।

कई वर्ष बीतनेपर एक दिन एक साँड़ने उससे कहा कि अब हम पूरे हजार हो गये हैं, तुम हमें गुरुके पास ले चलो। सत्यकाम जब उन्हें लेकर आने लगा तो गुरुकृपासे उसे साँड़, अग्नि, हंस और मद्गु (जलचर पक्षी)-ने मार्गमें ही ब्रह्मका उपदेश दे दिया। जब वह घर लौटा तो उसे देखकर गुरुने कहा—'तुम तो ब्रह्मवेत्ता-से प्रतीत हो रहे हो, तुमको उपदेश किसने दिया?' सत्यकामने रास्तेकी सच्ची-सच्ची घटना बतलाकर कहा—'मैं अब आपके द्वारा उपदेश प्राप्त करना चाहता हूँ।' महर्षि गौतमने उसे पुनः वही ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया जो उसे रास्तेमें प्राप्त हुआ था।

इसी प्रकारके और भी अनेक उदाहरण शास्त्रोंमें आते हैं जिनमें महात्माओंके आज्ञापालनमात्रसे ही शिष्योंका कल्याण हुआ है।

महात्माओंके आज्ञापालनसे परम कल्याण हो इसमें तो कहना ही क्या है, उनका दर्शन, स्पर्श और चिन्तन भी कल्याणका परम कारण होता है।

देवर्षि नारदजीने कहा है—

महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च॥

(नारदभक्तिसूत्र ३९)

'महात्मा पुरुषोंका संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।'

महात्माओंका मिलना कठिन है, मिलनेपर उन्हें पहचानना कठिन है, परन्तु न पहचाननेपर भी उनका मिलना व्यर्थ नहीं होता, वह महान् कल्याणकारक होता है। जैसे सूर्यको न जानकर भी यदि कोई सूर्यके सामने आ जाय तो उसकी सर्दी दूर हो जाती है। यह सूर्यका स्वाभाविक गुण है। इसी प्रकार महात्माओंका मिलन अपने स्वाभाविक वस्तुगुणसे ही मनुष्योंको तारनेवाला होता है। अतएव महात्माओंके संग और उनके आज्ञापालनसे सबको लाभ उठाना चाहिये।

सन्ध्या-गायत्रीका महत्त्व

सन्ध्योपासन तथा गायत्री-जपका हमारे शास्त्रोंमें बहुत बड़ा महत्त्व कहा गया है। द्विजातिमात्रके लिये इन दोनों कर्मोंको अवश्यकर्तव्य बतलाया गया है। श्रुति भगवती कहती है—**'अहरहः सन्ध्यामुपासीत'** प्रतिदिन बिना नागा सन्ध्योपासन अवश्य करना चाहिये। शास्त्रोंमें तीन प्रकारके कर्मोंका उल्लेख मिलता है—नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य। नित्यकर्म उसे कहते हैं, जिसे नित्य नियमपूर्वक—बिना नागा—कर्तव्य-बुद्धिसे एवं बिना किसी फलेच्छाके करनेके लिये शास्त्रोंकी आज्ञा है। नैमित्तिक कर्म वे कहलाते हैं, जो किसी विशेष निमित्तको लेकर खास-खास अवसरोंपर आवश्यकरूपसे किये जाते हैं—जैसे पितृपक्ष (आश्विन कृष्णपक्ष)-में पितरोंके लिये श्राद्ध किया जाता है। नैमित्तिक कर्मोंको भी शास्त्रोंमें अवश्यकर्तव्य बतलाया गया है और उन्हें भी कर्तव्यरूपसे बिना किसी फलाभिसन्धिके करनेकी आज्ञा दी गयी है; परन्तु उन्हें नित्य करनेकी आज्ञा नहीं है। यही नित्य और नैमित्तिक कर्मोंमें भेद है। अवश्य ही नित्य एवं नैमित्तिक दोनों प्रकारके कर्मोंके न करनेमें दोष बतलाया गया है। तीसरे—काम्यकर्म वे हैं, जो किसी कामनासे—किसी फलाभिसन्धिसे किये जाते हैं और जिनके न करनेमें कोई दोष नहीं लगता। उनका करना, न करना सर्वथा कर्ताकी इच्छापर निर्भर है। जैसे पुत्रकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें पुत्रेष्टि-यज्ञका विधान पाया जाता है।

जिसे पुत्रकी कामना हो, वह चाहे तो पुत्रेष्टि-यज्ञ कर सकता है; किन्तु जिसे पुत्र प्राप्त है अथवा जिसे पुत्रकी इच्छा नहीं है या जिसने विवाह ही नहीं किया है अथवा विवाह करके गृहस्थाश्रमका त्याग कर दिया है, उसे पुत्रेष्टियज्ञ करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है और इस यज्ञके न करनेसे कोई दोष लगता हो, यह बात भी नहीं है; परन्तु नित्यकर्मोंको तो प्रतिदिन करनेकी आज्ञा है, उसमें एक दिनका नागा भी क्षम्य नहीं है और प्रत्येक द्विजातिको जिसने शिखा-सूत्रका त्याग नहीं किया है, अर्थात् चतुर्थ आश्रम (संन्यास)-को छोड़कर पहले तीनों आश्रमोंमें नित्यकर्मोंका अनुष्ठान करना ही चाहिये। नित्यकर्म ये हैं—सन्ध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव, स्वाध्याय, जप, होम आदि। इन सबमें सन्ध्या और गायत्री-जप मुख्य हैं; क्योंकि यह ईश्वरकी उपासना है और बाकी कर्म देवताओं, ऋषियों तथा पितरों आदिके उद्देश्यसे किये जाते हैं। यद्यपि इन सबको भी परमेश्वरकी प्रीतिके लिये ही करना चाहिये।

सन्ध्या न करनेवालोंको तो बड़ा दोषका भागी बतलाया गया है। देवीभागवतमें लिखा है—

सन्ध्या येन न विज्ञाता सन्ध्या येनानुपासिता।
जीवन्नेव भवेच्छूद्रो मृतः श्वा चाभिजायते॥

(११।१६।७)

'जो द्विज सन्ध्या नहीं जानता और सन्ध्योपासन नहीं करता, वह जीता हुआ ही शूद्र हो जाता है और मरनेपर कुत्तेकी योनिको प्राप्त होता है।' दक्षस्मृतिका वचन है—

सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु।
यदन्यत् कुरुते कर्म न तस्य फलभाग् भवेत्॥

(२।२३)

'सन्ध्याहीन द्विज नित्य ही अपवित्र है और सम्पूर्ण धर्मकार्य करनेमें अयोग्य है। वह जो कुछ अन्य कर्म करता है उसका फल उसे नहीं मिलता।'

भगवान् मनु कहते हैं—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥

(मनु० २।१०३)

'जो द्विज प्रातःकाल और सायंकालकी सन्ध्या नहीं करता, उसे शूद्रकी भाँति द्विजातियोंके करनेयोग्य सभी कर्मोंसे अलग कर देना चाहिये।'

बात भी बिलकुल ठीक है। यह मनुष्य-जन्म हमें ईश्वरोपासनाके लिये ही मिला है। संसारके भोग तो हम अन्य योनियोंमें भी भोग सकते हैं, परन्तु ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करने तथा उनकी आराधना करनेका अधिकार तो हमें मनुष्ययोनिमें ही मिलता है। मनुष्योंमें भी जिनका द्विजाति-संस्कार हो चुका है अर्थात् जिन्हें वेदाध्ययन यानी वेदरूप ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करनेका अधिकार प्राप्त हो चुका है, वे लोग भी यदि नित्य नियमितरूपसे ईश्वरोपासना न करें, तो वे अपने अधिकारका दुरुपयोग करते हैं, उन्हें द्विजाति कहलानेका क्या अधिकार है? जो मनुष्य-जन्म पाकर भी भगवदुपासनासे विमुख रहते हैं, वे मरनेके बाद मनुष्ययोनिसे नीचे गिरा दिये जाते हैं और इस प्रकार भगवान्‌की दयासे जन्म-मरणके चक्करसे छूटनेका जो सुलभ साधन उन्हें प्राप्त हुआ था उसे अपनी मूर्खतासे खो बैठते हैं। मनुष्योंमें भी जिन्होंने म्लेच्छ, चाण्डाल, शूद्र आदि योनियोंसे ऊपर उठकर द्विज-शरीर प्राप्त किया है, वे भी यदि ईश्वरकी आराधना नहीं करते, वेदरूपी ईश्वरीय आज्ञाका उल्लंघन करते हैं, उन्हें यदि मरनेपर कुत्ते आदिकी योनि मिले तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? अतः प्रत्येक द्विज कहलानेवालेको चाहिये कि वह नित्य नियमपूर्वक दोनों समय (अर्थात् प्रातःकाल एवं सायंकाल) वैदिक विधिसे अर्थात् वेदोक्त मन्त्रोंसे सन्ध्योपासन करे। यों तो शास्त्रोंमें सायं, प्रातः एवं मध्याह्नकालमें—तीनों समय ही सन्ध्या करनेका विधान है; परन्तु जिन लोगोंको मध्याह्नके समय जीविकोपार्जनके कार्यसे अवकाश न मिले अथवा जो और किसी अड़चनके कारण मध्याह्नकालकी सन्ध्याको बराबर न निभा सकें, उन्हें चाहिये कि वे दिनमें कम-से-कम दो बार अर्थात् प्रातःकाल और सायंकाल तो नियमितरूपसे सन्ध्या अवश्य ही करें।

सन्ध्यामें क्रियाकी प्रधानता तो है ही; परन्तु जिस-जिस मन्त्रका जिस-जिस क्रियामें विनियोग है, उस-उस क्रियाको विधिपूर्वक करते हुए उस मन्त्रका शुद्ध उच्चारण भी करना चाहिये और साथ-साथ उस मन्त्रके अर्थकी ओर लक्ष्य रखते हुए उसी भावमें भावित होनेकी चेष्टा करनी चाहिये। उदाहरणतः '**सूर्यश्च मा०**' इस मन्त्रका शुद्ध उच्चारण करके आचमन करना चाहिये और साथ ही इस मन्त्रके अर्थकी ओर लक्ष्य रखते हुए यह भावना करनी चाहिये कि जिस प्रकार यह अभिमन्त्रित जल मेरे मुँहमें जा रहा है उसी प्रकार मन, वचन, कर्मसे मैंने व्यतीत रात्रिमें जो-जो पाप किये हों वे सब रात्रिके अभिमानी देवताके द्वारा नष्ट किये जा रहे हैं और इस समय जो भी पाप मेरे अन्दर हों वे सब भगवान् सूर्यकी ज्योतिमें विलीन हो रहे हैं, भस्म हो रहे हैं; भगवान्‌के तेजके सामने पापोंकी ताकत ही क्या है कि जो वे ठहर सकें।

आजकल कुछ लोग कहते हैं कि सन्ध्याका अर्थ है ईश्वरोपासना। ईश्वरकी दृष्टिमें सभी भाषाएँ समान हैं और सभी भाषाओंमें की हुई प्रार्थना एवं स्तुति उनके पास पहुँच सकती है; क्योंकि सभी भाषाएँ उन्हींकी रची हुई हैं और ऐसी कोई भाषा नहीं है, जिसे वे न समझते हों। फिर क्यों न हमलोग अपनी मातृभाषामें ही उनकी स्तुति एवं प्रार्थना करें? संस्कृत अथवा वैदिक भाषाकी अपेक्षा अपनी निजकी भाषामें हम अपने भावोंको अधिक स्पष्टरूपमें व्यक्त कर सकते हैं। जिस समय देशमें वैदिक अथवा संस्कृत भाषा बोली जाती रही हो, उस समय लोगोंका वैदिक मन्त्रोंके द्वारा सन्ध्या करना ठीक रहा; परन्तु वर्तमान युगमें जबकि संस्कृतके जाननेवाले लोग बहुत कम रह गये हैं—यहाँतक कि वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणमें ही लोगोंको कठिनाईका अनुभव होता है, उनका अर्थ जानना और उनके भावमें भावित होना तो दूर रहा—इस लकीरको पीटनेसे क्या लाभ, बल्कि ईश्वर तो घट-घटमें व्यापक हैं, वे तो हमारे हृदयकी सूक्ष्मतम बातोंको भी जानते हैं। उनके लिये तो भाषाके आडम्बरकी आवश्यकता ही नहीं है। उनके सामने तो हृदयकी मूक प्रार्थना ही पर्याप्त है। बल्कि सच्ची प्रार्थना तो हृदयकी ही होती है। बिना हृदयके केवल तोतेकी भाँति रटे हुए कुछ शब्दोंके उच्चारणमात्रसे क्या होता है।

यह शंका सर्वथा निर्मूल नहीं है। ईश्वरकी दृष्टिमें अवश्य ही भाषाका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। उनकी दृष्टिमें सभी भाषाएँ समान हैं और सभी भाषाओंमें की हुई

प्रार्थनाको वे सुनते और उत्तर चाहनेपर उसी भाषामें वे उसका उत्तर भी देते हैं। यह भी ठीक है कि प्रार्थनामें भावकी प्रधानता है, उसका सम्बन्ध हृदयसे है और अपने भावोंको जितने स्पष्टरूपमें हम अपनी मातृभाषामें रख सकते हैं, उतना स्पष्ट हम और किसी भाषामें नहीं रख सकते। यह भी निर्विवाद है कि हृदयकी मूक प्रार्थना जितना काम कर सकती है, केवल कुछ चुने हुए शब्दोंके उच्चारणमात्रसे वह कार्य नहीं बन सकता। इन सब बातोंको स्वीकार करते हुए भी हम सन्ध्याको उसी रूपमें करनेके पक्षपाती हैं, जिस रूपमें उसके करनेका शास्त्रोंमें विधान है और जिस रूपमें लाखों-करोड़ों वर्षोंसे, बल्कि अनादि कालसे हमारे पूर्वज उसे करते आये हैं।

सन्ध्यामें ईश्वरकी स्तुति, ध्यान और प्रार्थना है और उसके उतने अंशकी पूर्ति अपनी मातृभाषामें, अपने ही शब्दोंमें की हुई प्रार्थनासे भी अथवा हृदयकी मूक प्रार्थनासे भी हो सकती है। जो लोग इस रूपमें प्रार्थना करना चाहते हैं अथवा करते हैं, वे अवश्य ऐसा करें। उनका हम विरोध नहीं करते, बल्कि हृदयसे समर्थन ही करते हैं; क्योंकि वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणका सबको अधिकार भी नहीं है और न सबका उनमें विश्वास ही है। अन्यान्य मतों एवं मजहबोंकी भाँति सनातन वैदिक धर्मकी मान्यता यह नहीं है कि अन्य मतावलम्बियोंको ईश्वरकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती, उनके लिये ईश्वरका द्वार बंद है। अधिकार न होनेके कारण जो लोग वैदिक मन्त्रोंका उच्चारण नहीं कर सकते अथवा जिनका वैदिक धर्ममें विश्वास नहीं है, वे लोग अपने-अपने ढंगकी प्रार्थनाके द्वारा ईश्वरकी प्रसन्नता प्राप्त कर सकते हैं और जिन्हें वैदिक सन्ध्या करनेका अधिकार प्राप्त है, वे लोग भी इस रूपमें प्रार्थना कर सकते हैं; परन्तु उन्हें सन्ध्याका परित्याग नहीं करना चाहिये। सन्ध्याके साथ-साथ वे ईश्वरको रिझानेके लिये चाहे जितने और साधन भी कर सकते हैं। ये सभी साधन एक-दूसरेके सहायक ही हैं, विरोधी नहीं। सबका अपना-अपना अलग महत्त्व है, कोई किसीसे छोटा अथवा बड़ा नहीं कहा जा सकता।

यह ठीक है कि ईश्वरकी दृष्टिमें भाषाका कोई विशेष महत्त्व नहीं है और वैदिक भाषा भी अन्य भाषाओंकी भाँति अपने हार्दिक अभिप्रायको व्यक्त करनेका एक साधनमात्र है; परन्तु वैदिक धर्मावलम्बियोंकी धारणा इस सम्बन्धमें कुछ दूसरी ही है। उनकी दृष्टिमें वेद अपौरुषेय हैं, वे किसी मनुष्यके बनाये हुए नहीं हैं। वे साक्षात् ईश्वरके निःश्वास हैं, ईश्वरकी वाणी हैं, '**यस्य निःश्वसितं वेदाः।**' ऋषिलोग उनके द्रष्टामात्र हैं—'**ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः।**' अनुभव करनेवाले हैं, रचयिता नहीं। सृष्टिके आदिमें भगवान् नारायण पहले-पहल ब्रह्माको उत्पन्न करते हैं और फिर उन्हें वेदोंका उपदेश देते हैं—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै.....

(श्वेताश्वतर० ६। १८)

इसीलिये हम वैदिक धर्मावलम्बियोंके लिये वेद बड़े महत्त्वकी वस्तु हैं। वेद ही ईश्वरीय ज्ञानके अनादि स्रोत हैं। उन्हींसे सारा ज्ञान निकला है। धर्मका आधार भी वेद ही हैं। हमारे कर्तव्य-अकर्तव्यके निर्णायक वेद ही हैं। सारे शास्त्र वेदके ही आधारको लेकर चलते हैं। स्मृति-आगम-पुराणादि शास्त्रोंकी प्रमाणता वेदमूलक ही है। जहाँ श्रुति और स्मृतिका परस्पर विरोध दृष्टिगोचर हो, वहाँ श्रुतिको ही बलवान् माना जाता है। तात्पर्य यह है कि वेद हमारे सर्वस्व हैं, वेद हमारे प्राण हैं, वेदोंपर ही हमारा जीवन अवलम्बित है, वेद ही हमारे आधारस्तम्भ हैं। वेदोंकी जितनी भी महिमा गायी जाय, थोड़ी है।

जिन वेदोंकी हमारे शास्त्रोंमें इतनी महिमा है, उन वेदोंके अंगभूत मन्त्रोंकी अन्य किसी भाषा अथवा अन्य किसी वाक्य-रचनाके साथ तुलना नहीं की जा सकती। भावोंको व्यक्त करनेके लिये भाषाकी सहायता आवश्यक होती ही है। भाषा और भावका परस्पर अविच्छेद्य सम्बन्ध है। हमारे शास्त्रोंने तो शब्दको भी अनादि, नित्य एवं ब्रह्मरूप ही माना है तथा वाच्य एवं वाचकका अभेद स्वीकार किया है। इसी प्रकार वैदिक मन्त्रोंका भी अपना एक विशेष महत्त्व है। उनमें एक विशेष शक्ति निहित है, जो उनके उच्चारणमात्रसे प्रकट हो जाती है, अर्थकी ओर लक्ष्य रखते हुए उच्चारण करनेपर तो वह और भी जल्दी आविर्भूत होती है। इसके अतिरिक्त अनादि कालसे इतने असंख्य लोगोंने उनकी आवृत्ति एवं अनुष्ठान करके उन्हें जगाया है कि उन सबकी शक्ति भी उनके अंदर संक्रान्त हो गयी है। ऐसी दशामें तोतेकी भाँति बिना समझे हुए भी उनका स्वरसहित शुद्ध उच्चारण करनेका कम महत्त्व नहीं है; फिर अर्थको समझते हुए उनके भावमें भावित होकर श्रद्धा और प्रेमपूर्वक उनके उच्चारणका तो इतना अधिक महत्त्व है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। वह तो सोनेमें सुगन्धका काम करता है। यही नहीं, वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणका तो एक अलग शास्त्र ही है, उसकी तो एक-एक मात्रा और एक-एक स्वरका इतना महत्त्व है कि उसके उच्चारणमें जरा-सी भी त्रुटि हो जानेसे अभिप्रेत अर्थसे विपरीत अर्थका बोध हो सकता है। कहा भी है—

एकः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।

'वेदमन्त्रके एक शब्दका भी यदि ठीक प्रयोग न हुआ, उसके स्वर, मात्रा या अक्षरके उच्चारणमें त्रुटि हो गयी, तो उससे अभीष्ट अर्थका प्रतिपादन नहीं होता।'

यही कारण है कि लाखों-करोड़ों वर्षोंसे वैदिक लोग परम्परासे पद, क्रम, घन और जटासहित वैदिक मन्त्रोंको सस्वर कण्ठस्थ करते आये हैं और इस प्रकार उन्होंने वैदिक परम्परा और वैदिक साहित्यको जीवित रखा है। इसलिये वैदिक मन्त्रोंकी उपयोगिताके विषयमें शंका न करके द्विजातिमात्रको उपनयन-संस्कारके बाद सन्ध्याको अर्थसहित सीख लेना चाहिये और फिर कम-से-कम सायंकाल और प्रातःकाल दोनों सन्धियोंके समय श्रद्धा-प्रेम और विधिपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये। ऐसा करनेसे उन्हें बहुत जल्दी लाभ प्रतीत होगा और फिर वे इसे कभी छोड़ना न चाहेंगे।

इसके अतिरिक्त द्विजातिमात्रको नित्य नियमपूर्वक सन्ध्या करनेके लिये वेदोंकी स्पष्ट आज्ञा है, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं। उस आज्ञाका पालन करनेके लिये भी हमें सन्ध्योपासन नित्य करना चाहिये; क्योंकि वेद ईश्वरकी वाणी होनेके कारण हमारे लिये परम मान्य हैं और उनकी आज्ञाकी अवहेलना करना हमारे लिये अत्यन्त हानिकर है। इस दृष्टिसे भी सन्ध्योपासन करना परमावश्यक है। पुराने जमानेमें तो लोग पूरा वेद कम-से-कम अपनी शाखा पूरी कण्ठ किया करते थे और इसके लिये वेदोंकी स्पष्ट आज्ञा भी है—**'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** वेदोंका अध्ययन अवश्य करना चाहिये। यदि हमलोग पूरा वेद अथवा पूरी शाखा कण्ठ नहीं कर सकते तो कम-से-कम सन्ध्यामात्र तो अवश्य कण्ठ कर लेनी चाहिये और उसका प्रतिदिन अनुष्ठान करना चाहिये, जिससे वैदिक संस्कृतिका लोप न हो और हमलोग अपने स्वरूप और धर्मकी रक्षा कर सकें। नियमपालन और संगठनकी दृष्टिसे भी इसकी बड़ी आवश्यकता है। नहीं तो एक दिन हमलोग विजातीय संस्कारोंके प्रवाहमें बहकर अपना सब कुछ गँवा बैठेंगे और अन्य प्राचीन जातियोंकी भाँति हमारा भी नाममात्र शेष रह जायगा। वह दिन जल्दी न आवे, इसके लिये हमें सतर्क हो जाना चाहिये और यदि हम संसारमें जीवित रहना चाहते हैं तो हमें अपनी प्राचीन संस्कृतिकी रक्षाके लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये। भगवान् तो हमारे और हमारी संस्कृतिके सहायक हैं ही; अन्यथा इसपर ऐसे-ऐसे प्रबल आक्रमण हुए कि उनके आघातसे वह कभीकी नष्ट हो गयी होती।

सन्ध्याकी हमारे शास्त्रोंने बड़ी महिमा गायी है। वेदोंमें कहा है—

'उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिध्यायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते।'

(तै० आ० प्र० २ अ० २)

अर्थात् 'उदय और अस्त होते हुए सूर्यकी उपासना करनेवाला विद्वान् ब्राह्मण सब प्रकारके कल्याणको प्राप्त करता है।'

महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं—

निशायां वा दिवा वापि यदज्ञानकृतं भवेत्।
त्रिकालसन्ध्याकरणात्तत्सर्वं हि प्रणश्यति॥

(३।३०८)

'दिनमें या रात्रिके समय अनजानमें जो पाप बन जाता है, वह सारा ही तीनों कालकी सन्ध्या करनेसे नष्ट हो जाता है।'

महर्षि कात्यायनका वचन है—

सन्ध्यालोपस्य चाकर्ता स्नानशीलश्च यः सदा।
तं दोषा नोपसर्पन्ति गरुत्मन्तमिवोरगाः॥

(११।१६)

'जो प्रतिदिन स्नान करता है तथा कभी सन्ध्या-कर्मका लोप नहीं करता, दोष उसके पास भी नहीं फटकते—जैसे गरुड़जीके पास सर्प नहीं जाते।'

समयकी गति सूर्यके द्वारा नियमित होती है। सूर्यभगवान् जब उदय होते हैं, तब दिनका प्रारम्भ तथा रात्रिका शेष होता है; इसको प्रातःकाल भी कहते हैं। जब वे आकाशके शिखरपर आरूढ़ होते हैं, उस समयको दिनका मध्य अथवा मध्याह्न कहते हैं और जब वे अस्ताचलको जाते हैं, तब दिनका शेष एवं रात्रिका प्रारम्भ होता है। इसे सायंकाल भी कहते हैं। ये तीन काल उपासनाके मुख्य काल माने गये हैं। यों तो जीवनका प्रत्येक क्षण उपासनामय होना चाहिये, परन्तु इन तीन कालोंमें तो भगवान्‌की उपासना नितान्त आवश्यक बतलायी गयी है। इन तीनों समयकी उपासनाका नाम ही क्रमशः प्रातःसन्ध्या, मध्याह्नसन्ध्या और सायंसन्ध्या है। प्रत्येक वस्तुकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—उत्पत्ति, पूर्ण विकास और विनाश। जीवनकी भी तीन ही दशाएँ होती हैं—जन्म, पूर्ण युवावस्था और मृत्यु। हमें इन अवस्थाओंका स्मरण दिलानेके लिये तथा इस प्रकार हमारे अंदर संसारके प्रति वैराग्यकी भावना जाग्रत् करनेके लिये ही मानो सूर्यभगवान् प्रतिदिन उदय होने, उन्नतिके शिखरपर आरूढ़ होने और फिर अस्त होनेकी लीला करते हैं। भगवान्‌की इस त्रिविध लीलाके साथ ही हमारे शास्त्रोंने तीन कालकी उपासना जोड़ दी है।

भगवान् सूर्य परमात्मा नारायणके साक्षात् प्रतीक हैं, इसीलिये वे सूर्यनारायण कहलाते हैं। यही नहीं, सर्गके आदिमें भगवान् नारायण ही सूर्यरूपमें प्रकट होते हैं; इसीलिये पंचदेवोंमें सूर्यकी भी गणना है। यों भी वे भगवान्‌की प्रत्यक्ष विभूतियोंमें सर्वश्रेष्ठ, हमारे इस ब्रह्माण्डके केन्द्र, स्थूल कालके नियामक, तेजके महान् आकार, विश्वके पोषक एवं प्राणदाता तथा समस्त चराचर प्राणियोंके आधार हैं। वे प्रत्यक्ष दीखनेवाले सारे देवोंमें श्रेष्ठ हैं। इसीलिये सन्ध्यामें सूर्यरूपसे ही भगवान्‌की उपासना की जाती है। उनकी उपासनासे हमारे तेज, बल, आयु एवं नेत्रोंकी ज्योतिकी वृद्धि होती है और मरनेके समय वे हमें अपने लोकमेंसे होकर भगवान्‌के परमधाममें ले जाते हैं; क्योंकि भगवान्‌के परमधामका रास्ता सूर्यलोकमेंसे होकर ही गया है। शास्त्रोंमें लिखा है कि योगीलोग तथा कर्तव्यरूपसे युद्धमें शत्रुके सम्मुख लड़ते हुए प्राण देनेवाले क्षत्रिय वीर सूर्यमण्डलको भेदकर भगवान्‌के धामको चले जाते हैं। हमारी आराधनासे प्रसन्न होकर भगवान् सूर्य यदि हमें भी उस लक्ष्यतक पहुँचा दें तो इसमें उनके लिये कौन बड़ी बात है। भगवान् अपने भक्तोंपर सदा ही अनुग्रह करते आये हैं। हम यदि जीवनभर नियमपूर्वक श्रद्धा एवं भक्तिके साथ निष्कामभावसे उनकी आराधना करेंगे, तो क्या वे मरते समय हमारी इतनी भी मदद नहीं करेंगे? अवश्य करेंगे। भक्तोंकी रक्षा करना तो भगवान्‌का विरद ही ठहरा। अतः जो लोग आदरपूर्वक तथा नियमसे बिना नागा तीनों समय अथवा कम-से-कम दो समय (प्रातःकाल एवं सायंकाल) ही भगवान् सूर्यकी आराधना करते हैं, उन्हें विश्वास करना चाहिये कि उनका कल्याण निश्चित है और वे मरते समय भगवान् सूर्यकी कृपासे अवश्य परम गतिको प्राप्त होंगे।

इस प्रकार युक्तिसे भी भगवान् सूर्यकी उपासना हमारे लिये अत्यन्त कल्याणकारक, थोड़े परिश्रमके बदलेमें महान् फल देनेवाली अतएव अवश्यकर्तव्य है। अतः द्विजातिमात्रको चाहिये कि वे लोग नियमपूर्वक त्रिकालसन्ध्याके रूपमें भगवान् सूर्यकी उपासना किया करें और इस प्रकार लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों प्रकारके लाभ उठावें। आशा है, सभी लोग इस सस्ते सौदेको सहर्ष स्वीकार करेंगे; इसमें खर्च एक पैसेका भी नहीं है और समय भी बहुत कम लगता है, परन्तु इसका फल अत्यन्त महान् है। इसलिये सब लोगोंको श्रद्धा, प्रेम एवं लगनके साथ इस कर्मके अनुष्ठानमें लग जाना चाहिये। फिर सब प्रकारसे मंगल-ही-मंगल है।

जब कोई हमारे पूज्य महापुरुष हमारे नगरमें आते हैं और उसकी सूचना हमें पहलेसे मिली हुई रहती है तो हम उनका स्वागत करनेके लिये अर्घ्य, चन्दन, फूल, माला आदि पूजाकी सामग्री लेकर पहलेसे ही स्टेशनपर पहुँच जाते हैं, उत्सुकतापूर्वक उनकी बाट जोहते हैं और आते ही उनका बड़ी आवभगत एवं प्रेमके साथ स्वागत करते हैं। हमारे इस व्यवहारसे उन आगन्तुक महापुरुषको बड़ी प्रसन्नता होती है और यदि हम निष्कामभावसे अपना कर्तव्य समझकर उनका स्वागत करते हैं तो वे हमारे इस प्रेमके आभारी बन जाते हैं और चाहते हैं कि किस प्रकार बदलेमें वे भी हमारी कोई सेवा करें। हम यह भी देखते हैं कि कुछ लोग अपने पूज्य पुरुषके आगमनकी सूचना होनेपर भी उनके स्वागतके लिये समयपर स्टेशन नहीं पहुँच पाते और जब वे गाड़ीसे उतरकर प्लेटफार्मपर पहुँच जाते हैं तब दौड़े हुए आते हैं और देरके लिये क्षमा-याचना करते हुए उनकी पूजा करते हैं। और कुछ इतने आलसी होते हैं कि जब हमारे पूज्य पुरुष अपने डेरेपर पहुँच जाते हैं और अपने कार्यमें लग जाते हैं, तब वे धीरे-धीरे फुरसतसे अपना और सब काम निपटाकर आते हैं और उन आगन्तुक महानुभावकी पूजा करते हैं। वे महानुभाव तो तीनों प्रकारके स्वागत करनेवालोंकी पूजासे प्रसन्न होते हैं और उनका उपकार मानते हैं। पूजा न करनेवालोंकी अपेक्षा देर-सबेर करनेवाले भी अच्छे हैं; किन्तु दर्जेका फरक तो रहता ही है। जो जितनी तत्परता, लगन, प्रेम एवं आदरबुद्धिसे पूजा करते हैं उनकी पूजा उतनी ही महत्त्वकी और मूल्यवान् होती है और पूजा ग्रहण करनेवालेको उससे उतनी ही प्रसन्नता होती है।

ऊपर जो बात आगन्तुक महापुरुषकी पूजाके सम्बन्धमें कही गयी है वही बात सन्ध्याके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिये। भगवान् सूर्यनारायण प्रतिदिन सबेरे हमारे इस भूमण्डलपर महापुरुषकी भाँति पधारते हैं; उनसे बढ़कर हमारा पूज्यपात्र और कौन होगा। अतः हमें चाहिये कि हम ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर शौच-स्नानादिसे निवृत्त होकर शुद्ध वस्त्र पहनकर उनका स्वागत करनेके लिये उनके आगमनसे पूर्व ही तैयार हो जायँ और आते ही बड़े प्रेमसे चन्दन, पुष्प आदिसे युक्त शुद्ध ताजे जलसे उन्हें अर्घ्य प्रदान करें, उनकी स्तुति करें, जप करें। भगवान् सूर्यको तीन बार गायत्रीमन्त्रका उच्चारण करते हुए अर्घ्य प्रदान करना, गायत्रीमन्त्रका (जिसमें उन्हींकी परमात्मभावसे स्तुति की गयी है और उनसे बुद्धिको परमात्ममुखी करनेके लिये प्रार्थना की गयी है) जप करना और खड़े होकर उनका उपस्थान करना, स्तुति करना—यही सन्ध्योपासनके मुख्य अंग हैं; शेष कर्म इन्हींके अंगभूत एवं सहायक हैं। जो लोग सूर्योदयके समय सन्ध्या करने बैठते हैं, वे एक प्रकारसे अतिथिके स्टेशनपर पहुँच जाने

और गाड़ीसे उतर जानेपर उनकी पूजा करने दौड़ते हैं और जो लोग सूर्योदय हो जानेके बाद फुरसतसे अन्य आवश्यक कार्योंसे निवृत्त होकर सन्ध्या करने बैठते हैं, वे मानो अतिथिके अपने डेरेपर पहुँच जानेपर धीरे-धीरे उनका स्वागत करने पहुँचते हैं।

जो लोग सन्ध्योपासन करते ही नहीं, उनकी अपेक्षा तो वे भी अच्छे हैं जो देर-सबेर, कुछ भी खानेके पूर्व सन्ध्या कर लेते हैं। उनके द्वारा कर्मका अनुष्ठान तो हो ही जाता है और इस प्रकार शास्त्रकी आज्ञाका निर्वाह हो जाता है। वे कर्मलोपके प्रायश्चित्तके भागी नहीं होते। उनकी अपेक्षा वे अच्छे हैं, जो प्रात:कालमें तारोंके लुप्त हो जानेपर सन्ध्या प्रारम्भ करते हैं। और उनसे भी श्रेष्ठ वे हैं, जो उषाकालमें ही तारे रहते सन्ध्या करने बैठ जाते हैं, सूर्योदय होनेतक खड़े होकर गायत्री-मन्त्रका जप करते हैं और इस प्रकार अपने पूज्य आगन्तुक महापुरुषकी प्रतीक्षामें, उन्हींके चिन्तनमें उतना समय व्यतीत करते हैं और उनका पदार्पण—उनका दर्शन होते ही जप बंद कर उनकी स्तुति—उनका उपस्थान करते हैं।* इसी बातको लक्ष्यमें रखकर सन्ध्याके उत्तम, मध्यम और अधम—तीन भेद किये गये हैं।

उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका।
अधमा सूर्यसहिता प्रात:सन्ध्या त्रिधा मता॥

(देवीभागवत ११। १६। ४)

प्रात:सन्ध्याके लिये जो बात कही गयी है, सायंसन्ध्याके लिये उससे विपरीत बात समझनी चाहिये। अर्थात् सायंसन्ध्या उत्तम वह कहलाती है, जो सूर्यके रहते की जाय; मध्यम वह है, जो सूर्यास्त होनेपर की जाय और अधम वह है, जो तारोंके दिखायी देनेपर की जाय—

उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा लुप्तभास्करा।
कनिष्ठा तारकोपेता सायंसन्ध्या त्रिधा स्मृता॥

(देवीभागवत ११। १६। ५)

कारण यह है कि अपने पूज्य पुरुषके विदा होते समय पहलेहीसे सब काम छोड़कर जो उनके साथ-साथ स्टेशन पहुँचता है, उन्हें आरामसे गाड़ीपर बिठानेकी व्यवस्था कर देता है और गाड़ीके छूटनेपर हाथ जोड़े हुए प्लेटफार्मपर खड़ा-खड़ा प्रेमसे उनकी ओर ताकता रहता है और गाड़ीके आँखोंसे ओझल हो जानेपर ही स्टेशनसे लौटता है, वही मनुष्य उनका सबसे अधिक सम्मान करता है और प्रेमपात्र बनता है। जो मनुष्य ठीक गाड़ीके छूटनेके समय हाँफता हुआ स्टेशनपर पहुँचता है और चलते-चलते दूरसे अतिथिके दर्शन कर पाता है वह निश्चय ही अतिथिकी दृष्टिमें उतना प्रेमी नहीं ठहरता, यद्यपि उसके प्रेमसे भी महानुभाव अतिथि प्रसन्न ही होते हैं और उसके ऊपर प्रेमभरी दृष्टि रखते हैं। उससे भी नीचे दर्जेका प्रेमी वह समझा जाता है, जो अतिथिके चले जानेपर पीछेसे स्टेशन पहुँचता है और फिर पत्रद्वारा अपने देरीसे पहुँचनेकी सूचना देता है और क्षमा-याचना करता है। महानुभाव अतिथि उसके भी आतिथ्यको मान लेते हैं और उसपर प्रसन्न ही होते हैं।

यहाँ यह नहीं मानना चाहिये कि भगवान् भी साधारण मनुष्योंकी भाँति राग-द्वेषसे युक्त हैं, वे पूजा करनेवालेपर प्रसन्न होते हैं और न करनेवालोंपर नाराज होते हैं या उनका अहित करते हैं। भगवान्‌की सामान्य कृपा तो सबपर समानरूपसे रहती है। सूर्यनारायण अपनी उपासना न करनेवालोंको भी उतना ही ताप एवं प्रकाश देते हैं, जितना वे उपासना करनेवालोंको देते हैं। उसमें न्यूनाधिकता नहीं होती। हाँ, जो लोग उनसे विशेष लाभ उठाना चाहते हैं, जीवन-मरणके चक्रसे छूटना चाहते हैं, उनके लिये तो उनकी उपासनाकी आवश्यकता है ही और उसमें आदर और प्रेमकी दृष्टिसे तारतम्य भी होता ही है। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(९। २९)

'मैं सब भूतों में समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है न प्रिय है; परन्तु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्ध्याके सम्बन्धमें पहली बात तो यह है कि उसे नित्य नियमपूर्वक किया जाय, कालका लोप हो जाय तो कोई बात नहीं किन्तु कर्मका लोप न हो। इस प्रकार सन्ध्या करनेवाला भी न करनेवालेसे श्रेष्ठ है। दूसरी बात यह है कि जहाँतक सम्भव हो, तीनों कालकी सन्ध्या ठीक समयपर की जाय अर्थात् प्रात:सन्ध्या सूर्योदयसे पूर्व और सायंसन्ध्या सूर्यास्तसे पूर्व की जाय और मध्याह्नसन्ध्या ठीक दोपहरके समय की जाय। समयकी पाबन्दी रखनेसे नियमकी पाबंदी तो अपने-आप हो जायगी। इसलिये इस प्रकार ठीक समयपर सन्ध्या करनेवाला पूर्वोक्तकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। तीसरी बात यह है कि तीनों कालकी अथवा दो कालकी सन्ध्या नियमपूर्वक और समयपर तो हो ही, साथ ही प्रेमपूर्वक एवं आदरभावसे हो तो और भी उत्तम

* पूर्वां सन्ध्यां सनक्षत्रामुपासीत यथाविधि। गायत्रीमभ्यसेत्तावद् यावदादित्यदर्शनम्॥ (हारीतस्मृति ४। १८)

है। किसी कार्यमें प्रेम और आदरबुद्धि होनेसे वह अपने-आप ठीक समयपर और नियमपूर्वक होने लगेगा। जो लोग इस प्रकार इन तीनों बातोंका ध्यान रखते हुए श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान् सूर्यनारायणकी जीवनभर उपासना करेंगे, उनकी मुक्ति निश्चित है।

महाभारतके आदिपर्वमें जरत्कारु ऋषिकी कथा आती है। वे बड़े भारी तपस्वी और मनस्वी थे। उन्होंने सर्पराज वासुकिकी बहिन अपने ही नामकी नागकन्यासे विवाह किया। विवाहके समय उन्होंने उस कन्यासे यह शर्त की थी कि यदि तुम मेरा कोई भी अप्रिय कार्य करोगी तो मैं उसी क्षण तुम्हारा परित्याग कर दूँगा। एक बारकी बात है, ऋषि अपनी धर्मपत्नीकी गोदमें सिर रखे हुए लेटे हुए थे कि उनकी आँख लग गयी। देखते-देखते सूर्यास्तका समय हो आया। किन्तु ऋषि जागे नहीं, वे निद्रामें थे। ऋषिपत्नीने सोचा कि ऋषिकी सांयसन्ध्याका समय हो गया; यदि इन्हें जगाती हूँ तो ये नाराज होकर मेरा परित्याग कर देगें यदि नहीं जगाती हूँ तो सन्ध्याकी वेला टल जाती है और ऋषिके धर्मका लोप होता है। धर्मप्राणा ऋषिपत्नीने अन्तमें यही निर्णय किया कि पतिदेव मेरा परित्याग चाहे भले ही कर दें, परन्तु उनके धर्मकी रक्षा मुझे अवश्य करनी चाहिये। यही सोचकर उसने पतिको जगा दिया। ऋषिने अपनी इच्छाके विरुद्ध जगाये जानेपर रोष प्रकट किया और अपनी पूर्व प्रतिज्ञाका स्मरण दिलाकर पत्नीको छोड़ देनेपर उतारू हो गये। जगानेका कारण बतानेपर ऋषिने कहा कि 'हे मुग्धे! तुमने इतने दिन मेरे साथ रहकर भी मेरे प्रभावको नहीं जाना। मैंने आजतक कभी सन्ध्याकी वेलाका अतिक्रमण नहीं किया। फिर क्या आज सूर्यभगवान् मेरा अर्घ्य लिये बिना ही अस्त हो सकते थे? कभी नहीं।

शक्तिरस्ति न वामोरु मयि सुप्ते विभावसोः॥
अस्तं गन्तुं यथाकालमिति मे हृदि वर्तते।[१]

(महा०, आदि० ४७। २५-२६)

सच है, जिस भक्तकी उपासनामें इतनी दृढ़ निष्ठा होती है, सूर्यभगवान् उसकी इच्छाके विरुद्ध कोई कार्य कर नहीं सकते। हठीले भक्तोंके लिये भगवान्‌को अपने नियम भी तोड़ने पड़ते हैं।

अन्तमें हम गायत्रीके सम्बन्धमें कुछ निवेदन कर अपने लेखको समाप्त करते हैं। सन्ध्याका प्रधान अंग गायत्री-जप ही है। गायत्रीको हमारे शास्त्रोंमें वेदमाता कहा गया है। गायत्रीकी महिमा चारों ही वेद गाते हैं। जो फल चारों वेदोंके अध्ययनसे होता है, वह एकमात्र व्याहृतिपूर्वक गायत्रीमन्त्रके जपसे हो सकता है[२]। इसीलिये गायत्री-जपकी शास्त्रोंमें बड़ी महिमा गायी गयी है। भगवान् मनु कहते हैं कि 'जो पुरुष प्रतिदिन आलस्यका त्याग करके तीन वर्षतक गायत्रीका जप करता है, वह मृत्युके बाद वायुरूप होता है और उसके बाद आकाशकी तरह व्यापक होकर परब्रह्मको प्राप्त करता है।'[३]

जप तीन प्रकारका कहा गया है—(१) वाचिक, (२) उपांशु एवं (३) मानसिक। एककी अपेक्षा दूसरेको उत्तरोत्तर अधिक लाभदायक माना गया है। अर्थात् वाचिककी अपेक्षा उपांशु और उपांशुकी अपेक्षा मानसिक जप अधिक लाभदायक है।[४] जप जितना अधिक हो, उतना ही विशेष लाभदायक होता है।

महाभारत, शान्तिपर्व (मोक्षधर्मपर्व)-के १९९ वें तथा

१-'हे सुन्दरि! सूर्यमें इतनी शक्ति नहीं है कि मैं सोता रहूँ और वे नियत समयपर [मुझसे अर्घ्य लिये बिना ही] अस्त हो जायँ। मेरे हृदयमें ऐसा दृढ़ विश्वास है।'

२-एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्। सन्ध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥ (मनुस्मृति २। ७८)

३-योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः। स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥ (२। ८२)

४-त्रिविधो जपयज्ञः स्यात्तस्य भेदं निबोधत॥

वाचिकश्च उपांशुश्च मानसस्त्रिविधः स्मृतः। त्रयाणां जपयज्ञानां श्रेयः स्यादुत्तरोत्तरम्॥
यदुच्चनीचस्वरितैः स्पष्टशब्दवदक्षरैः। शब्दमुच्चारयेद् वाचा जपयज्ञः स वाचिकः॥
शनैरुच्चारयेन्मन्त्रं ईषदोष्ठौ प्रचालयेत्। किंचिन्मन्त्रं स्वयं विद्यादुपांशुः स जपः स्मृतः॥
धिया यदक्षरश्रेण्या वर्णाद् वर्णं पदात् पदम्। शब्दार्थचिन्तनं ध्यानं तदुक्तं मानसं जपः॥
सहस्रपरमां देवीं शतमध्यां दशावराम्। गायत्रीं यो जपेन्नित्यं न स पापैर्हि लिप्यते॥

(नरसिंहपुराण ५८। ७८—८२, ८६)

अर्थात् जप-यज्ञ तीन प्रकारका होता है, उसका भेद आपलोग सुनें—वाचिक, उपांशु और मानस—यही तीन प्रकारका जप कहा गया है। इन तीनों जप-यज्ञोंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है (अर्थात् वाचिक जपकी अपेक्षा उपांशु और उसकी अपेक्षा मानस जप श्रेष्ठ है)। जप करनेवाला पुरुष आवश्यकतानुसार ऊँचे-नीचे और समान स्वरोंमें बोले जानेवाले स्पष्ट शब्दयुक्त अक्षरोंद्वारा जो वाणीसे सुस्पष्ट शब्दोच्चारण करता है, वह वाचिक जप कहलाता है। इसी प्रकार जिस जपमें मन्त्रका उच्चारण बहुत धीरे-धीरे किया जाय, होठ कुछ-कुछ हिलते

२०० वें अध्यायोंमें गायत्रीकी महिमाका एक बड़ा सुन्दर उपाख्यान मिलता है। कौशिक गोत्रमें उत्पन्न हुआ पिप्पलादका पुत्र एक बड़ा तपस्वी धर्मनिष्ठ ब्राह्मण था। वह गायत्रीका जप किया करता था। लगातार एक हजार वर्षतक गायत्रीका जप कर चुकनेपर सावित्रीदेवीने उसको साक्षात् दर्शन देकर कहा कि मैं तुझपर प्रसन्न हूँ। परन्तु उस समय पिप्पलादका पुत्र जप कर रहा था। वह चुपचाप जप करनेमें लगा रहा और सावित्रीदेवीको कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वेदमाता सावित्रीदेवी उसकी इस जपनिष्ठापर और भी अधिक प्रसन्न हुईं और उसके जपकी प्रशंसा करती वहीं खड़ी रहीं। जिनकी साधनमें ऐसी दृढ़ निष्ठा होती है कि साध्य चाहे भले ही छूट जाय परन्तु साधन नहीं छूटना चाहिये, उनसे साधन तो छूटता ही नहीं, साध्य भी श्रद्धा और प्रेमके कारण उनके पीछे-पीछे उनके इशारेपर नाचता रहता है। साधननिष्ठाकी ऐसी महिमा है। जपकी संख्या पूरी होनेपर वह धर्मात्मा ब्राह्मण खड़ा हुआ और देवीके चरणोंमें गिरकर उनसे यह प्रार्थना करने लगा कि 'यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो कृपा करके मुझे यह वरदान दीजिये कि मेरा मन निरन्तर जपमें लगा रहे और जप करनेकी मेरी इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। भगवती उस ब्राह्मणके निष्कामभावको देखकर बड़ी प्रसन्न हुईं और 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गयीं।

ब्राह्मणने फिर जप प्रारम्भ कर दिया। देवताओंके सौ वर्ष और बीत गये। पुरश्चरणके समाप्त हो जानेपर साक्षात् धर्मने प्रसन्न होकर उस ब्राह्मणको दर्शन दिये और स्वर्गादि लोक माँगनेको कहा। परन्तु ब्राह्मणने धर्मको भी यही उत्तर दिया कि 'मुझे सनातन लोकोंसे क्या प्रयोजन है, मैं तो गायत्रीका जप करके आनन्द करूँगा।' इतनेमें ही काल (आयुका परिमाण करनेवाला देवता), मृत्यु (प्राणोंका वियोग करनेवाला देवता) और यम (पुण्य-पापका फल देनेवाला देवता) भी उसकी तपस्याके प्रभावसे वहाँ आ पहुँचे। यम और कालने भी उसकी तपस्याकी बड़ी प्रशंसा की। उसी समय तीर्थयात्राके निमित्त निकले हुए राजा इक्ष्वाकु भी वहाँ आ पहुँचे। राजाने उस तपस्वी ब्राह्मणको बहुत-सा धन देना चाहा; परन्तु ब्राह्मणने कहा कि 'मैंने तो प्रवृत्ति-धर्मको त्यागकर निवृत्ति-धर्म अंगीकार किया है, अतः मुझे धनकी कोई आवश्यकता नहीं है। तुम्हीं कुछ चाहो तो मुझसे माँग सकते हो। मैं अपनी तपस्याके द्वारा तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ?' राजाने उस तपस्वी मुनिसे उसके जपका फल माँग लिया। तपस्वी ब्राह्मण अपने जपका पूरा फल राजाको देनेके लिये तैयार हो गया, किन्तु राजा उसे स्वीकार करनेमें हिचकिचाने लगे। बड़ी देरतक दोनोंमें वाद-विवाद चलता रहा। ब्राह्मण सत्यकी दुहाई देकर राजाको माँगी हुई वस्तु स्वीकार करनेके लिये आग्रह करता था और राजा क्षत्रियत्वकी दुहाई देकर उसे लेनेमें धर्मकी हानि बतलाते थे। अन्तमें दोनोंमें यह समझौता हुआ कि ब्राह्मणके जपके फलको राजा ग्रहण कर लें और बदलेमें राजाके पुण्यफलको ब्राह्मण स्वीकार कर ले। उनके इस निश्चयको जानकर विष्णु आदि देवता वहाँ उपस्थित हुए और दोनोंके कार्यकी सराहना करने लगे, आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। अन्तमें ब्राह्मण और राजा दोनों योगके द्वारा समाधिमें स्थित हो गये। उस समय ब्राह्मणके ब्रह्मरन्ध्रमेंसे एक बड़ा भारी तेजका पुंज निकला तथा सबके देखते-देखते स्वर्गकी ओर चला गया और वहाँसे ब्रह्मलोकमें प्रवेश कर गया। ब्रह्माने उस तेजका स्वागत किया और कहा कि अहा! जो फल योगियोंको मिलता है, वही जप करनेवालोंको भी मिलता है। इसके बाद ब्रह्माने उस तेजको नित्य आत्मा और ब्रह्मकी एकताका उपदेश दिया, तब उस तेजने ब्रह्माके मुखमें प्रवेश किया और राजाने भी ब्राह्मणकी भाँति ब्रह्माके शरीरमें प्रवेश किया। इस प्रकार शास्त्रोंमें गायत्री-जपका महान् फल बतलाया गया है। अतः कल्याणकामियोंको चाहिये कि वे इस स्वल्प आयाससे साध्य होनेवाले सन्ध्या और गायत्रीरूप साधनके द्वारा शीघ्र-से-शीघ्र मुक्ति लाभ करें।

अवतारका सिद्धान्त

अवतारका अर्थ है अव्यक्तरूपसे व्यक्तरूपमें प्रादुर्भाव होना। यह बहुत ही अलौकिक एवं रहस्यकी बात है। इसलिये जो पुरुष भगवान्‌के इस अवतरित होनेके दिव्य रहस्यको जानते हैं वे भगवान्‌को प्राप्त हो जाते हैं (गीता ४। ९)।

परम दयालु पूर्ण ब्रह्म परमात्मा सबपर अहैतुकी दया करके संसारके परम हितके लिये ही यहाँ अवतार लेते हैं यानी जन्म धारण करते हैं। भगवान् इतने महान्

रहें और मन्त्रका शब्द कुछ-कुछ स्वयं सुने (दूसरा नहीं सुने) वह जप उपांशु कहलाता है। बुद्धिके द्वारा मन्त्राक्षरसमूहके प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक पद और शब्दार्थका जो चिन्तन एवं ध्यान किया जाता है, वह 'मानस' जप कहलाता है। अधिक-से-अधिक एक हजार, साधारणतया एक सौ अथवा कम-से-कम दस बार जो द्विज गायत्रीका जप करता है वह पापोंसे लिप्त नहीं होता।

हैं कि उनकी महिमा वर्णन करनेमें ब्रह्मादि देवता भी अपनेको असमर्थ समझते हैं। श्रीमद्भागवतमें श्रीब्रह्माजीने स्वयं कहा है—

सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि
तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य।
जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय
प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च॥
को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्
योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति
विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम्॥

(१०। १४। २०-२१)

'हे जगन्नियन्ता प्रभो! हे विधातः! देवता, ऋषि, मनुष्य, तिर्यक् और वैसे ही जलचरादि योनियोंमें आप अजन्माके जो अवतार होते हैं वे असत्पुरुषोंके मदका मथन और सत्पुरुषोंपर कृपा करनेके लिये ही होते हैं।

'हे भगवन्! आप सर्वव्यापक परमात्मा और योगेश्वर हैं; जिस समय आप अपनी योगमायाका विस्तार कर क्रीड़ा करते हैं उस समय त्रिलोकीमें ऐसा कौन है जो यह जान सके कि आपकी लीला कहाँ किस प्रकार कितनी और कब होती है?'

वे ही भगवान् हमलोगोंके साथ क्रीड़ा करनेके लिये हमारे-जैसे बनकर हमारे इस भूमण्डलमें उतर आते हैं, इससे बढ़कर जीवोंपर भगवान्‌की और क्या कृपा होगी? वे तो कृपाके आकर हैं। कृपा करना उनका स्वभाव ही है। कृपा किये बिना उनसे रहा नहीं जाता। इसीलिये जब-जब भक्तोंपर विपत्ति आती है, पृथ्वी पापोंके भारसे दब जाती है। साधु पुरुष बुरी तरह सताये जाने लगते हैं और अत्याचारियोंके अत्याचार असह्य हो जाते हैं, तब-तब पृथ्वीका भार हरण करनेके लिये, भक्तोंको उबारनेके लिये, साधुओंकी रक्षा और दुष्टोंके अत्याचारोंका दमन करके संसारमें पुनः धर्मकी स्थापना करनेके लिये वे समय-समयपर इस पृथ्वीमण्डलपर अवतीर्ण हुआ करते हैं। भगवान् स्वयं गीताजीमें कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(४। ६—८)

'मैं अजन्मा और अविनाशी स्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी, अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ। हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ। साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'भगवान् तो सर्वशक्तिमान् हैं, वे सब कुछ करनेमें समर्थ हैं, वे बिना अवतार लिये ही अपनी शक्तिसे—अपने संकल्पसे ही सब कुछ कर सकते हैं; फिर अवतार लेनेकी उन्हें क्या आवश्यकता है?' बात बिलकुल ठीक है, भगवान् बिना अवतार लिये ही सब कुछ कर सकते थे और कर सकते हैं तथा करते भी हैं; परन्तु लोगोंपर विशेष दया करके अपने दर्शन, स्पर्श और भाषणादिके द्वारा सुगमतासे उन्हें उद्धारका सुअवसर देनेके लिये एवं अपने प्रेमी भक्तोंको अपनी दिव्य लीलाओंका आस्वादन करानेके लिये इस पृथ्वीपर साकाररूपसे प्रकट होते हैं। उन अवतारोंमें धारण किये हुए रूपका तथा उनके गुण, प्रभाव, नाम, माहात्म्य और दिव्यकर्मोंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करके सब लोग सहज ही संसार-समुद्रसे पार हो जाते हैं। यह काम बिना अवतारके नहीं हो सकता। इसीलिये भगवान् अवतार लेते हैं।

दूसरा प्रश्न यह होता है कि 'जो भगवान् निराकार रूपसे सर्वत्र व्याप्त हैं; वे अल्पकी भाँति किसी एक देशमें कैसे प्रकट हो सकते हैं और यदि होते हैं तो उतने कालके लिये अन्यत्र उनका अभाव हो जाता होगा अथवा उनकी शक्ति बहुत सीमित हो जाती होगी?' इस बातको समझनेके लिये हमें व्यापक अग्नि और प्रकट अग्निका दृष्टान्त लेना चाहिये। अग्नि निराकाररूपसे सर्वत्र व्याप्त है, इसीलिये उसे चकमक पत्थर तथा दियासलाई आदिसे चाहे जहाँ प्रकट किया जा सकता है। और जिस कालमें उसे एक जगह प्रकट किया जाता है उस कालमें अन्यत्र उसका अभाव नहीं हो जाता, बल्कि एक ही कालमें वह कई जगह प्रकट होती देखी जाती है। और जहाँ भी प्रकट होती है, उसमें पूरी शक्ति रहती है। इसी प्रकार भगवान् भी निराकाररूपसे सर्वत्र व्याप्त होते हुए ही किसी देशविशेषमें अपनी पूरी भगवत्ताके साथ प्रकट हो जाते हैं और उस समय उनका अन्यत्र अभाव नहीं हो जाता बल्कि एक ही समयमें उनके कई स्थलोंपर प्रकट होनेकी बात भी शास्त्रोंमें कई जगह आती है। श्रीमद्भागवतमें वर्णन आता है कि एक बार भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकासे मिथिलापुरी

गये। वहाँके राजा बहुलाश्व भगवान्‌के अनन्य भक्त थे। वहींपर श्रुतदेव नामके एक ब्राह्मण भक्त भी रहते थे। दोनोंने एक ही साथ भगवान्‌से अपने-अपने घर पधारनेकी प्रार्थना की। दोनों ही भगवान्‌की भक्तिमें एक-से-एक बढ़कर थे। भगवान् दोनोंमेंसे किसीका भी जी नहीं तोड़ना चाहते थे। अतः उन्होंने दोनोंका ही मन रखनेके लिये एक-दूसरेको न जनाते हुए एक ही समय दो रूप धारण करके एक साथ दोनोंके घर जाकर दोनोंको कृतार्थ किया।* एक और भी प्रसंग श्रीमद्भागवतमें आता है। एक बारकी बात है, देवर्षि नारदजी यह देखनेके लिये कि भगवान् गृहस्थाश्रममें किस प्रकार रहते हैं, द्वारकामें पहुँचे। वे अलग-अलग सब रानियोंके महलोंमें गये और सभी जगह उन्होंने श्रीकृष्णको गृहस्थधर्मका यथायोग्य पालन करते हुए पाया। वे प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रात्रिको सोनेके समयतकका समस्त दैनिक कृत्य अनेक रूपोंमें सब जगह विधिवत् करते थे। नारदजी यह सब देखकर दंग रह गये और भगवान्‌को प्रणाम करके उनकी स्तुति करते हुए (ब्रह्मलोकको) चले गये (देखिये भागवत १०। ६९। १३—४३)।

ब्रह्माजीके मोहके प्रसंगमें भी भगवान्‌के बछड़ों और गोपबालकोंका रूप धारण करने और सालभरतक इस प्रकार अनेक रूप होकर रहनेकी बात श्रीमद्भागवतमें आयी है (देखिये भागवत १०। १३)।

भगवान् श्रीरामके सम्बन्धमें भी यह वर्णन आता है कि जब भगवान् लंका-विजय कर चौदह वर्षकी अवधि शेष होनेपर अयोध्या लौटे, उस समय उन्होंने पुरवासियोंको मिलनेके लिये अत्यन्त आतुर देखकर असंख्य रूप धारण कर लिये और पलभरमें एक साथ सबसे मिल लिये।

प्रेमातुर सब लोग निहारी।
कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला।
जथाजोग मिले सबहि कृपाला॥
छन महिं सबहि मिले भगवाना।
उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

(श्रीरामचरितमानस, उत्तर० ६। ४, ५, ७)

भगवान्‌के लिये यह कोई बड़ी बात भी नहीं कही जा सकती। जिन्होंने इस सारे विश्वको अपने संकल्पके आधारपर टिका रखा है और जो एक होते हुए भी लीलासे अनेक बने हुए हैं, वे यदि इस प्रकार एक ही समयमें एकसे अधिक रूप धारण कर लें, तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। यह कार्य तो एक योगी भी कर सकता है। फिर भगवान् तो योगेश्वरोंके भी ईश्वर तथा मायाके अधिपति ठहरे, उनके लिये ऐसा करना कौन कठिन काम है!

अब प्रश्न यह होता है कि 'क्या भगवान्‌का अवतार हमलोगोंके जन्मकी भाँति कर्मोंसे प्रेरित होता है? क्या उनका शरीर भी हमलोगोंकी भाँति पंचभूतोंसे बना हुआ मायिक होता है?' इसका उत्तर यह है कि भगवान्‌के अवतारमें इनमेंसे एक भी बात नहीं होती। भगवान्‌का अवतार न तो कर्मसे प्रेरित होकर होता है, न उनका शरीर पांचभौतिक अथवा मायिक होता है। उनका जन्म और उनके कर्म दोनों ही दिव्य—अलौकिक होते हैं। उनका अवतार कर्मसे प्रेरित तो इसलिये नहीं होता कि वे काल और कर्मसे सर्वथा परे हैं। कर्मकी स्थिति तो मायाके अंदर है और वे मायासे सर्वथा अतीत हैं। अतः कर्म उनका स्पर्श भी नहीं कर सकते। वे स्वयं गीतामें कहते हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

(४। १४)

'कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता।' जब उन्हें तत्त्वसे जाननेवाला भी कर्मोंसे नहीं बँधता, तब उनके कर्मोंके वश होकर जन्म लेनेकी तो बात भी नहीं उठ सकती। वे तो अपनी इच्छासे भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये शरीर धारण करते हैं। यह बात जेलके दृष्टान्तसे भलीभाँति समझमें आ सकती है। जेलके अंदर कैदी भी रहते हैं, जेलके कर्मचारी भी रहते हैं और जेलके अफसर—जेलर भी रहते हैं तथा कभी-कभी जेलके मालिक स्वयं राजा भी जेलके अहातेके अंदर जेलका निरीक्षण करने एवं कैदियोंपर अनुग्रह करनेके लिये तथा उन्हें जेलसे मुक्त करनेके लिये चले जाया करते हैं। परन्तु उनके जानेमें और कैदियोंके जानेमें बड़ा अन्तर है। कैदी जाता है वहाँ राजाज्ञाके अनुसार सजा भोगनेके लिये। नियत अवधितक उसे बाध्य होकर वहाँ रहना पड़ता है, अपनी इच्छासे वह वहाँ नहीं रहता। परन्तु राजा वहाँ अपनी स्वतन्त्र इच्छासे जाता है, सजा भोगनेके लिये नहीं; और जबतक उसकी इच्छा होती है, तबतक वहाँ रहता है। इसी प्रकार भगवान् भी प्रकृतिको वशमें

* भगवांस्तदभिप्रेत्य द्वयोः प्रियचिकीर्षया। उभयोराविशद् गेहमुभाभ्यां तदलक्षितः॥

(श्रीमद्भा० १०। ८६। २६)

करके अपनी स्वतन्त्र इच्छासे जन्म लेते हैं और लीला-कार्य समाप्त हो जानेपर पुनः बेरोक-टोक अपने धामको वापस चले आते हैं।

भगवान्‌का अवतारविग्रह भी हमलोगोंके शरीरकी भाँति पंचभूतोंसे बना हुआ मायिक नहीं होता, अपितु चिन्मय—सच्चिदानन्दमय होता है; इसलिये वह अनामय और दिव्य है। इस विषयमें दूसरी बात ध्यान देनेयोग्य यह है कि भगवान्‌का जन्म साधारण मनुष्योंकी तरह नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्ण जब कारागारमें वसुदेव-देवकीके सामने प्रकट हुए, उस समयका श्रीमद्‌भागवतका प्रसंग देखने और विचारनेसे मनुष्य समझ सकता है कि उनका जन्म साधारण मनुष्योंकी भाँति नहीं हुआ। अव्यक्त सच्चिदानन्दघन परमात्मा अपनी लीलासे ही शंख, चक्र, गदा, पद्मसहित विष्णुके रूपमें वहाँ प्रकट हुए। उनका प्रकट होना और पुनः अन्तर्धान होना उनकी स्वतन्त्र लीला है, वह हमलोगोंके उत्पत्ति-विनाशकी तरह नहीं है। भगवान्‌की तो बात ही निराली है, एक योगी भी अपने योगबलसे अन्तर्धान हो जाता है और पुनः उसी रूपमें प्रकट हो जाता है; परन्तु उसकी अन्तर्धानकी अवस्थामें कोई उसे मरा नहीं समझता। जब महर्षि पतंजलि आदि योगके ज्ञाता एक योगीकी ऐसी शक्ति बतलाते हैं[१] तब परमात्मा ईश्वरके लिये अन्तर्धान हो जाना और पुनः प्रकट होना कौन बड़ी बात है। अवश्य ही भगवान् श्रीकृष्णका अवतरण साधारण लोगोंकी दृष्टिमें जन्म लेनेके सदृश ही था; परन्तु वास्तवमें वह जन्म नहीं था, वह तो उनका प्रकट होना ही था। इसीलिये तो उन्होंने माता देवकीकी प्रार्थनापर अपने चतुर्भुजरूपको अदृश्य करके द्विभुज बालकका रूप धारण कर लिया[२]।

गीताके ग्यारहवें अध्यायमें भी वर्णन आता है कि भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रार्थना करनेपर पहले उसे अपना विश्वरूप दिखलाया, फिर उसीकी प्रार्थनापर चतुर्भुजरूप धारण किया और अन्तमें पुनः द्विभुज मनुष्यरूप हो गये।

भगवान् श्रीरामके भी इसी प्रकार चतुर्भुजरूपमें ही माता कौसल्याके सामने प्रकट होने और फिर उनकी प्रार्थनापर द्विभुज बालकके रूपमें बदल जानेकी बात मानसमें आती है। इससे प्रकट होता है कि भगवान् अपने भक्तोंकी इच्छाके अनुसार उन्हें दर्शन देकर अन्तर्धान हो जाते हैं।

मनुष्योंके शरीरके विनाशकी तरह भगवान्‌के दिव्य वपुका विनाश भी नहीं समझना चाहिये। जिस शरीरका विनाश होता है, वह तो यहीं पड़ा रहता है; किन्तु देवकीके सामने चतुर्भुजरूपके और अर्जुनके सामने विश्वरूप तथा चतुर्भुजरूपके अदृश्य हो जानेपर उन वपुओंकी वहाँ उपलब्धि नहीं होती। इतना ही नहीं, भगवान् श्रीकृष्णने जिस देहसे यहाँ लोकहितके लिये विविध लीलाएँ की थीं, वह देह भी अन्तमें नहीं मिला। वे उसी लीलामय दिव्यवपुसे परमधामको पधार गये। इसके बाद भी जब-जब भक्तोंने इच्छा की, तब-तब ही उसी श्यामसुन्दरविग्रहसे पुनः प्रकट होकर उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ किया और करते हैं। यदि उनके देहका विनाश हो गया होता, तो (परमधाम पधारनेके अनन्तर) इस प्रकार पुनः प्रकट होना कैसे सम्भव होता।

इससे यह बात सिद्ध हुई कि भगवान्‌का परमधामप्रयाण अन्तर्धान होना है, न कि मनुष्य देहोंकी भाँति विनाश होना। श्रीमद्‌भागवतमें लिखा है—

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमंगलम्।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥

(११। ३१। ६)

'धारणा और ध्यानके लिये अति मंगलरूप अपनी लोकाभिरामा मोहिनी मूर्तिको योग-धारणाजनित अग्निके द्वारा भस्म किये बिना ही भगवान्‌ने अपने धाममें प्रवेश किया।'

श्रीरामके सम्बन्धमें भी वाल्मीकीय रामायणमें वर्णन आता है कि भगवान्‌के परमधाम-गमनके समय सब लोकोंके पितामह ब्रह्माजी भगवान्‌को लेनेके लिये देवताओंके साथ सरयूके तटपर आये और भगवान्‌से अपने वैष्णवदेहमें प्रवेश करनेकी प्रार्थना की और भगवान्‌ने उनकी प्रार्थनाको स्वीकार कर तीनों भाइयोंसहित अपने इसी शरीरसे विष्णुशरीरमें प्रवेश किया।[३]

१- महर्षि पतंजलि कहते हैं—
कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्॥ (योग० ३। २१)

२-इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तूर्ष्णीं भगवानात्ममायया। पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः॥
(श्रीमद्भा० १०। ३। ४६)
'यह कहकर भगवान् हरि चुप हो गये और माता-पिताके देखते-देखते अपनी मायासे तुरंत ही एक साधारण बालक बन गये।'

३- अथ तस्मिन् मुहूर्ते तु ब्रह्मालोकपितामहः। सर्वैः परिवृतो देवैर्ऋषिभिश्च महात्मभिः॥
ततः पितामहो वाणीं त्वन्तरिक्षादभाषत। आगच्छ विष्णो भद्रं ते दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव॥

भगवान्‌का शरीर मायिक नहीं होता—इसका एक प्रमाण यह भी है कि मायाके बन्धनसे सर्वथा मुक्त आत्माराम मुनिगण भी उनके त्रिभुवनमोहन रूपको देखकर मुग्ध हो जाते हैं, शरीरकी सुध-बुध भूल जाते हैं। यदि वह शरीर मायासे रचित त्रिगुणमय होता तो गुणोंसे सर्वथा ऊपर उठे हुए आत्माराम, आप्तकाम मुनियोंकी ऐसी दशा कैसे हो सकती थी।

जिस समय शर-शय्यापर पड़े हुए भीष्मपितामह मृत्युके समयकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, उस समय भगवान् श्रीकृष्णको अपने सम्मुख आया हुआ जान वे सबसे पहले उनके त्रिभुवनकमनीय रूपका ही ध्यान करते हैं और उसीमें प्रीति होनेकी प्रार्थना करते हैं*। यदि वह रूप मायिक होता तो भीष्म-जैसे ज्ञानी महात्मा; जिन्होंने सब ओरसे अपनी चित्तवृत्तियोंको हटा लिया था और जिनका सारा जीवन परमवैराग्यमय था, मृत्युके समय उसमें अपने मनको क्यों लगाते?

श्रीराम-लक्ष्मण जब महर्षि विश्वामित्रके साथ धनुषयज्ञ देखने जनकपुर जाते हैं तो जनक-जैसे महान् ज्ञानीकी उस अनुपम जोड़ीको देखकर जो दशा होती है, उसका चित्र गोस्वामी तुलसीदासजीने अपनी लेखनीद्वारा बड़ी मार्मिकतासे चित्रित किया है। उस प्रसंगको उन्हींके शब्दोंमें हम नीचे उद्धृत करते हैं—

मूरति मधुर मनोहर देखी।
भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥
प्रेम मगन मनु जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर।
बोलेउ मुनि पद नाइ सिरु गदगद गिरा गभीर॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा।
थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥
पुनि पुनि प्रभुहि चितव नरनाहू।
पुलक गात उर अधिक उछाहू॥

(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड)

'रामजीकी मधुर मनोहर मूर्तिको देखकर विदेह (जनक) विशेषरूपसे विदेह (देहकी सुध-बुधसे रहित) हो गये। मनको प्रेममें मग्न जान राजाने विवेकके द्वारा धीरज धारण किया और मुनिके चरणोंमें सिर नवाकर गद्गद (प्रेमभरी) गम्भीर वाणीसे कहा—'हे नाथ! मेरा मन, जो स्वभावसे ही वैराग्यरूप बना हुआ है, इन बालकोंको देखकर इस तरह मुग्ध हो रहा है जैसे चन्द्रमाको देखकर चकोर। इनको देखते ही अत्यन्त प्रेमके वश होकर मेरे मनने जबर्दस्ती ब्रह्मानन्दको त्याग दिया है। राजा बार-बार प्रभुको देखते हैं, दृष्टि वहाँसे हटना ही नहीं चाहती। प्रेमसे शरीर पुलकित हो रहा है और हृदयमें बड़ा उत्साह है।

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अवतारशरीर मायिक नहीं होता, अवतारोंके जन्म-कर्म अलौकिक होते हैं— **'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'** (गीता ४।९) और वे भक्तोंके प्रेमवश उनपर कृपा करनेके लिये स्वेच्छासे प्रकट होते हैं, कर्मोंके वश होकर नहीं। अब हमें यह देखना है कि अवतारोंकी सत्ता किन-किन शास्त्रोंसे प्रमाणित होती है। श्रीमद्भागवत, गीता, वाल्मीकिरामायण तथा तुलसीकृत रामायणके प्रमाण तो ऊपर उद्धृत किये ही हैं; अब हम उपनिषद् तथा महाभारत आदि ग्रन्थोंके आधारपर भी भगवान्‌का प्रादुर्भाव होना प्रमाणित करते हैं।

केनोपनिषद्‌में एक बड़ी सुन्दर कथा आती है। एक बारकी बात है परब्रह्म परमात्माने देवताओंको असुरोंके साथ संग्राममें जिता दिया। देवताओंको इस विजयपर बड़ा भारी गर्व हो गया। उन्होंने सोचा कि यह विजय हमींने अपने पुरुषार्थसे प्राप्त की है। यही हालत सब जीवोंकी है। वास्तवमें करते-कराते सब कुछ भगवान् हैं, परन्तु जीव अभिमानवश अपनेको कर्ता मान लेता है और फँस जाता है। भगवान् तो सर्वज्ञ ठहरे और ठहरे दर्पहारी। देवताओंके अभिप्रायको जान गये और उनके अभिमानको दूर करनेके लिये एक अद्‌भुत यक्षके रूपमें उनके सामने प्रकट हुए। देवतालोग मायासे मोहित हुए समझ नहीं सके कि यह यक्ष कौन है। भगवान् यदि अपनेको छिपाना चाहें तो किसकी शक्ति है जो उन्हें पहचान सके। वे स्वयं ही जब कृपा

भ्रातृभिः सह देवाभैः प्रविशस्व स्विकां तनुम्।
पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः। विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः॥

(वा०, उत्तरकाण्ड ११०। ३, ८, ९, १२)

* त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं रविकरगौरवराम्बरं दधाने। वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या॥

(श्रीमद्भा० १। ९। ३३)

'जो त्रिभुवनसुन्दर और तमालवृक्षके सदृश श्यामवर्ण है, सूर्यरश्मियोंके समान पीताम्बर धारण किये हुए है तथा जिसका मुखकमल अलकावलीसे आवृत है—ऐसे सुन्दर रूपको धारण करनेवाले अर्जुनसखा श्रीकृष्णमें मेरी निष्काम प्रीति हो।'

करके जिसको अपनी पहचान कराते हैं वही उन्हें पहचान पाता है, दूसरा नहीं—*'सो जानइ जेहि देहु जनाई।'* उस महामायावीने अपनेको ऐसे कौशलसे इस मायारूपी पर्देके भीतर छिपा रखा है कि उसे सहसा कोई पहचान ही नहीं सकता। भगवान्‌ने स्वयं गीतामें कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
(७। २५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ।' इन्द्रने यक्षका पता लगानेके लिये क्रमशः अग्नि, वायुको उनके पास भेजा। यह बतलानेके लिये कि सारे देवता उन्हींकी शक्तिसे काम करते हैं, देवताओंके पास जो कुछ भी शक्ति है वह उन्हींकी दी हुई है और उनकी शक्तिके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, ब्रह्मने एक तिनका अग्निदेवताके सामने रखा और कहा कि 'इसको जलाओ तो।' अग्निदेवता, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको जला डालनेका अभिमान रखते थे—अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी उस छोटे-से तिनकेको नहीं जला सके और लज्जित होकर वापस चले आये। इसके बाद वायुदेवताकी बारी आयी। उन्हें अभिमान था कि मैं पृथ्वीभरके पदार्थोंको उड़ा ले जा सकता हूँ, परन्तु वे भी एक तिनकेको नहीं हटा सके। हटा सकते भी कैसे? उनकी सारी शक्ति तो ब्रह्मने छीन ली थी, जो उस शक्तिका उद्‌गमस्थान है। फिर उनके अंदर रह ही क्या गया था, जिसके बलपर वे कोई कार्य करते। भगवान्‌के भक्तोंके सामने भी अग्नि आदि देवताओंकी शक्ति कुण्ठित हो जाती है। एक बार भक्त प्रह्लादके सामने भी अग्निका कोई बस नहीं चला था, वह उस भक्तके प्रभावसे जलकी तरह शीतल हो गया—**'पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना।'** भक्त सुधन्वाके लिये उबलता हुआ तेल ठंडा हो गया था। अस्तु,

अबकी बार देवराज इन्द्र स्वयं यक्षके पास पहुँचे। उन्हें देखते ही यक्ष अन्तर्द्धान हो गये। इतनेहीमें हैमवती उमादेवी (पार्वती) वहाँ प्रकट हुईं और उन्होंने इन्द्रको बतलाया कि जो यक्ष अभी-अभी तुम्हारे नेत्रोंसे ओझल हो गया, वह ब्रह्म ही था। अब तो इन्द्रकी आँखें खुलीं और वे समझ गये कि हमलोगोंका अभिमान चूर्ण करनेके लिये ही ब्रह्मने यह लीला की थी (केन० खं० ३)। इस प्रकार ब्रह्मके साकार रूपमें प्रकट होनेकी बात उपनिषदोंमें भी आती है; केवल पुराणादि ग्रन्थोंमें ही भगवान्‌के साकार विग्रहकी बात आयी हो इतनी ही बात नहीं है। गीताके अतिरिक्त महाभारतमें और भी अवतारवादके पोषक कई प्रसंग हैं। उनमेंसे एकाध ही प्रसंगका उल्लेख हम यहाँ करते हैं। महाभारत-युद्धकी समाप्तिके बाद जब भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकाको लौट रहे थे, रास्तेमें उनकी महातेजस्वी उत्तंक मुनिसे भेंट हुई। बातों-ही-बातोंमें जब मुनिको मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण कौरवों और पाण्डवोंके बीच सन्धि नहीं करा सके और दोनोंमें घमासान युद्ध हुआ, जिसमें सारे कौरव मारे गये, तो उन्हें श्रीकृष्णपर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने कहा कि 'हे कृष्ण! कौरव तुम्हारे सम्बन्धी थे, तुम चाहते तो युद्धको रोक सकते थे और इस प्रकार उनकी रक्षा कर सकते थे। परन्तु शक्ति रहते भी तुमने उनकी रक्षा नहीं की, इसलिये मैं तुम्हें शाप दूँगा।' मुनिके इन क्रोधभरे वचनोंको सुनकर श्रीकृष्ण मन-ही-मन हँसे और बोले कि 'कोई भी पुरुष तप करके मेरा पराभव नहीं कर सकता। मैं नहीं चाहता कि तुम्हारे तपका व्यर्थ ही नाश हो। अतः तुम पहले जान लो कि मैं कौन हूँ, पीछे शाप देनेकी बात सोचना।' यों कहकर भगवान्‌ने मुनिके सामने अपनी महिमाका वर्णन करना प्रारम्भ किया। वे कहने लगे—'हे मुनिश्रेष्ठ! सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण मेरे आश्रय रहते हैं तथा रुद्र और वसुओंको भी तुम मुझसे ही उत्पन्न हुआ जानो। सारे भूत मुझमें हैं और मैं सब भूतोंके अंदर स्थित हूँ, इसे तुम निश्चय समझो। दैत्य, सर्प, गन्धर्व, राक्षस, नाग और अप्सराओंको भी मुझीसे उत्पन्न हुआ जानो। लोग जिसे सत्-असत्, व्यक्त-अव्यक्त तथा क्षर-अक्षर नामसे पुकारते हैं, वह सब मेरा ही रूप है। चारों आश्रमोंके जो धर्म कहे गये हैं तथा वैदिक कर्म भी मेरा ही रूप है। ओंकारसे आरम्भ होनेवाले वेद, हवनकी सामग्री, हवन करनेवाले होता तथा अध्वर्यु—ये सब मुझे ही जानो। उद्‌गाता सामगानके द्वारा मेरा ही स्तवन करते हैं, प्रायश्चित्तोंमें शान्तिपाठ और मंगलपाठ करनेवाले भी मेरी ही स्तुति करते हैं। धर्मकी रक्षाके लिये और धर्मकी स्थापनाके लिये मैं बहुत-सी योनियोंमें अवतार ग्रहण करता हूँ। मैं ही विष्णु हूँ, मैं ही ब्रह्मा हूँ, मैं ही उत्पत्ति और प्रलयरूप हूँ। सम्पूर्ण भूतोंको रचनेवाला और संहार करनेवाला मैं ही हूँ। जब-जब युग पलटता है, तब-तब मैं प्रजाजनोंके हितकी कामनासे भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म धारणकर धर्मकी मर्यादा स्थापित करता हूँ। जब मैं देवयोनि ग्रहण करता हूँ, तब देवताओंका-सा बर्ताव करता हूँ; जब मैं गन्धर्व-योनिमें लीला करता हूँ, तब गन्धर्वोंका-सा व्यवहार करता हूँ; जब मैं नाग-योनिमें होता हूँ तो नागोंकी भाँति आचरण करता हूँ और जब मैं यक्ष आदि योनियोंमें स्थित होता हूँ, तब मैं उन-उन योनियोंका-सा बर्ताव करता हूँ। इस समय मैं मनुष्ययोनिमें हूँ और मनुष्योंका-सा आचरण करता हूँ। इसीलिये मैंने कौरवोंके पास जाकर उनसे सन्धिके लिये बड़ी अनुनय-विनय की;

परन्तु मोहसे अंधे हुए उन्होंने मेरी एक भी बात नहीं मानी। मैंने भय दिखाकर भी उन्हें मार्गपर लानेकी चेष्टा की; परन्तु अधर्मसे अभिभूत हुए और कालचक्रमें फँसे हुए वे माने नहीं और अन्तमें युद्ध करके मारे गये।' भगवान्के इन वचनोंको सुनकर मुनिकी आँखें खुल गयीं। फिर मुनिकी प्रार्थनापर भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें अपना विराट् रूप दिखलाया—वैसा ही जैसा अर्जुनको दिखलाया था (देखिये महाभारत, अश्वमेधपर्व अ० ५३। ५५)।

ऊपरके प्रसंगसे अवतारवादकी भलीभाँति पुष्टि होती है। केवल मनुष्य-योनिमें ही नहीं, अन्यान्य योनियोंमें भी भगवान् अवतार लेते हैं—यह बात भी इससे प्रमाणित हो जाती है; क्योंकि सभी योनियाँ उन्हींकी तो हैं। सभी रूपोंमें वे ही लीला कर रहे हैं। भगवान्के मत्स्य, कूर्म, वाराह, नरसिंह, वामनादि अवतार इसी प्रकारके अवतार थे, जिनका पुराणोंमें विस्तृत वर्णन पाया जाता है। जिनकी चर्चा करनेसे लेखका आकार बहुत बढ़ जायगा। इसीलिये यहाँ केवल भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्ण—इन दो प्रधान अवतारोंकी बात ही मुख्यतासे कही गयी है।

इनके अतिरिक्त भगवान्का एक अवतार और होता है। इसे अर्चावतार कहते हैं। पूजाके लिये भगवान्की धातु, पाषाण एवं मृत्तिका आदिसे जो प्रतिमाएँ बनायी जाती हैं, वे भगवान्के अर्चा-विग्रह कहलाती हैं। कभी-कभी उपासकके प्रेमबल और दृढ़ निष्ठासे ये मूर्तियाँ चेतन हो जाती हैं, चलने-फिरने लग जाती हैं, हँसने-बोलने लग जाती हैं। इन अर्चा-विग्रहोंमें भगवान्की शक्तिके उतर आनेको अर्चावतार कहते हैं। ऐसे अनेक भक्तोंके चरित्रोंका उल्लेख मिलता है, जिनकी इष्ट मूर्तियाँ उनके साथ चेतनवत् व्यवहार करती थीं। इनमेंसे किसी भी अवतारका आश्रय लेकर भगवान्की भक्ति करनेसे उनकी कृपासे उनके चरणोंमें सहजहीमें दृढ़ अनुराग होकर मनुष्य सदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है; यही मनुष्य-जीवनका परम ध्येय है।

अवतारके सिद्धान्तको भिन्न-भिन्न द्वैतसम्प्रदायोंके आचार्योंने तो माना ही है (उनमेंसे कई तो भगवान् श्रीरामके और कई भगवान् श्रीकृष्णके अवतार-विग्रहोंको ही अपना उपास्य एवं सर्वोपरि अवतारी मानते हैं)। अद्वैतसम्प्रदायाचार्य स्वामी श्रीशंकराचार्यजीने भी अपने श्रीमद्भगवद्गीता-भाष्यके उपोद्घातमें भगवान् श्रीकृष्णको आदिपुरुष भगवान् नारायणका अवतार माना है, वे कहते हैं—

दीर्घेण कालेन अनुष्ठातृणां कामोद्भवाद् हीयमानविवेकविज्ञानहेतुकेन अधर्मेण अभिभूयमाने धर्मे प्रवर्धमाने च अधर्मे, जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः स आदिकर्ता नारायणाख्यो विष्णुः भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वासुदेवाद् अंशेन कृष्णः किल संबभूव।

ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद् वैदिको धर्मस्तदधीनत्वाद् वर्णाश्रमभेदानाम्। स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिस्सदा सम्पन्नस्त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्य अजोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन् स्वमायया देहवान् इव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन्निव लक्ष्यते।

'बहुत कालसे धर्मानुष्ठान करनेवालोंके अन्तःकरणमें कामनाओंका विकास होनेसे विवेक-विज्ञानका ह्रास हो जाना ही जिसकी उत्पत्तिका कारण है, ऐसे अधर्मसे जब धर्म दबता जाने लगा और अधर्मकी वृद्धि होने लगी तब जगत्की स्थिति सुरक्षित रखनेकी इच्छावाले वे आदिकर्ता नारायण नामक श्रीविष्णुभगवान् भूलोकके ब्रह्मकी अर्थात् ब्राह्मणत्वकी रक्षा करनेके लिये श्रीवसुदेवजीसे श्रीदेवकीजीके गर्भमें अपने अंशसे श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए।

ब्राह्मणत्वकी रक्षासे ही वैदिक धर्म सुरक्षित होगा; क्योंकि वर्णाश्रमोंके भेद उसीके अधीन हैं।

ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज आदि गुणोंसे सदा सम्पन्न वे भगवान् यद्यपि अज, अविनाशी सम्पूर्ण भूतोंके ईश्वर और नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव हैं; तो भी अपनी त्रिगुणात्मिका मूलप्रकृति वैष्णवी मायाको वशमें करके अपनी लीलासे शरीरधारीकी तरह उत्पन्न हुए-से और लोगोंपर अनुग्रह करते हुए-से दीखते हैं।' इस प्रकार अनेक युक्तियोंसे स्वामी श्रीशंकराचार्यजीने श्रीकृष्णकी भगवत्ता और वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्मके साथ एकता दिखलायी है। अब हम उन्हीं परमदयालु परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णको बारम्बार प्रणाम करते हुए अन्तिम बात कहकर अपने लेखको समाप्त करते हैं।

जो लोग अपने पुरुषार्थसे भगवान्को पानेमें अपनेको सर्वथा असमर्थ अनुभव करते हैं, जो निरन्तर केवल उन्हींकी कृपाकी बाट जोहते रहते हैं तथा मातृपरायण शिशुकी भाँति उन्हींपर सर्वथा निर्भर हो जाते हैं उनसे मिलनेके लिये भगवान् स्वयं आतुर हो उठते हैं और उसी प्रकार दौड़ पड़ते हैं जैसे नयी ब्याई हुई गौ अपने बछड़ेसे मिलनेके लिये दौड़ पड़ती है। अतएव हमलोगोंको भी परम दयालु भगवान्के दयापात्र बननेके लिये उनके शरण होकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तत्परताके साथ नित्य-निरन्तर उनका भजन-ध्यान और उनकी आज्ञाके अनुसार आचरण करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

भगवान्‌की दया

भगवान् मनुष्योंके कल्याणके लिये और भक्तोंको विशेषरूपसे मजबूत बनानेके लिये परीक्षा लेते रहते हैं। यद्यपि वे हमारे हृदयकी एक-एक भावनाको अच्छी तरहसे जानते हैं किन्तु फिर भी, जैसे अध्यापक विद्यार्थियोंकी योग्यता-अयोग्यताको जानता हुआ भी उनकी परीक्षा लेता है उसी प्रकार निरन्तर हमारी परीक्षा लेते रहते हैं। अध्यापक तो किसी अंशमें लड़कोंकी योग्यता नहीं जानता—इसलिये भी परीक्षा ले सकता है किन्तु भगवान् तो सर्वान्तर्यामी हैं, घट-घटकी जाननेवाले हैं, उनसे तो कुछ छिपा है ही नहीं।

हमलोग जिसे आपत्ति कहते हैं, वह वास्तवमें भगवान्‌की भेजी हुई ही आती है और आती है केवल हमको कसौटीपर कसनेके लिये और हमारे उत्थानके लिये। अनिच्छा और परेच्छासे जो भी कुछ आकर प्राप्त हो जाय, उसमें भगवदिच्छा समझकर प्रसन्न होना चाहिये। यह बात केवल अनिच्छा और परेच्छासे प्राप्त हुए सुख-दु:खादि भोगोंमें ही है, नवीन कर्मके विषयमें नहीं। नवीन कर्म तो भगवान्‌का आश्रय लेकर अपनी सात्त्विक बुद्धिसे भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार सुचारुरूपसे करे। सारे कामोंमें इसी प्रकार समझना चाहिये।

अनुकूल-प्रतिकूलकी प्राप्तिमें जिसका जितना राग-द्वेष, हर्ष-शोक कम हो गया उतना ही वह आगे बढ़ा है। यह पक्की परीक्षा है। जितना-जितना विकार होता है; उतना-उतना ही नीचे गिरा है। विकार दो तरहके हैं—एक मुक्ति देनेवाला और दूसरा पतन करनेवाला। मुक्तिदायक विकार— दूसरेको दु:खी देखकर दु:खी होना और दूसरेके सुखको देखकर सुखी होना। यह विकार होनेपर भी मुक्तिदायक होनेके कारण ग्रहण करनेयोग्य है। पतन करनेवाला विकार—अपने दु:खमें दु:खी और अपने सुखमें यानी सुखदायक पदार्थोंकी प्राप्तिमें हर्षित होना। यह विकार त्यागने योग्य है। किन्तु जो इन दोनोंसे बढ़कर विकार है, वह बहुत लज्जाजनक है। दूसरेके दु:खसे सुखी होना—प्रफुल्लित होना और दूसरेको सुखी देखकर, उन्नत देखकर दु:खी होना—जलना। यह तो अति ही नीचता है। यह आसुरी प्रकृतिवालोंका लक्षण है और इससे भी बढ़कर नीचता क्या है? जो अपने साथ भलाई करे उसके साथ बुराई करना। इस प्रकारके अत्यन्त नीच प्रकृतिवालोंके लिये तो शास्त्रमें कोई शब्द नहीं है—**'ते के न जानीमहे।'**

सबसे बढ़िया बात क्या है? अपने साथ जो बुराई करे उसके साथ भी भलाई करे।

'जो तोकौ काँटा बुवै, ताहि बोव तू फूल।'

बस, इतनेमें ही अपना कल्याण है। ***'तोहि फूल को फूल है, वा को है तिरसूल॥'*** इस उत्तरार्धका भाव हमको लेनेकी जरूरत नहीं। **'वाको है तिरसूल'** यह बात श्रेष्ठ पुरुष सुनना नहीं चाहते। यह कानून जरूर है किन्तु क्षमावान् पुरुष कानूनकी ओर खयाल नहीं करते। उनका तो क्षमा करना स्वभाव होता है। वे स्वभावत: ही सम्पूर्ण भूतोंमें द्वेषरहित और सबके मित्र होते हैं। उनके हृदयमें सबके प्रति करुणा होती है। अपने साथ बुराई करनेवालेको दण्ड मिलेगा—यह बात सुनकर तो वे साधु पुरुष रो पड़ते हैं।

एक महात्मा पुरुष नावपर बैठे हुए पार जा रहे थे। उसी नावपर दो अत्याचारी दुष्ट भी बैठे हुए थे। बिना ही हेतु किसीको कष्ट देना दुष्टोंका स्वभाव होता ही है। उन्हें उस महात्माकी सौम्य, ऋजु और शान्त आकृति खटकने लगी। दोनोंने परस्परमें संकेत करके महात्माको नदीमें डुबो देनेका विचार ठान लिया। उन्होंने धीरेसे उनको नावमें ही नीचे गिरा दिया। गिराते ही आकाशवाणी हुई—'ये दोनों दुष्ट हैं, अत्याचारी हैं जो आपको कष्ट दे रहे हैं। ये आपको नदीमें डुबो देना चाहते हैं। आप कहें तो इन्हींको इस नदीमें डुबो दिया जाय।' बस, आकाशवाणीका सुनना था कि महात्मा रो पड़े और कहने लगे—'मैं कैसा अपराधी हूँ—जो मेरे कारण इन्हें डुबो देनेकी बात मैं सुन रहा हूँ।' महात्माकी करुणाभरी वाणी सुनकर पुन: आकाशवाणी हुई कि इन्हें दण्ड न दिया जाय तो क्या किया जाय? तब महात्मा बोले—'इन्होंने मेरा दर्शन किया है, स्पर्श किया है और संग किया है। अगर भगवान्‌की मुझपर कृपा है और मैं यदि साधु समझा जाता हूँ तो एक साधु पुरुषके संगसे जो लाभ वास्तवमें होना चाहिये, वही हो। ये भी साधुस्वभाव बन जायँ।'

उस महात्मा पुरुषकी और आकाशवाणीकी परस्परकी बातें सुनकर दुष्टोंपर बड़ा भारी असर हुआ। वे दोनों महात्माजीके चरणोंमें लोट-पोट हो गये और बस, उसी क्षणसे महात्मा बन गये।

यह उच्च श्रेणीका व्यवहार हुआ। इसमें दया, क्षमा, अहिंसा और अक्रोध—सब भरे हुए हैं और ये सभी उच्चभाव हैं। महात्माजीको आकाशवाणीपर रोना आ गया था, यह विकार तो था किन्तु यह विकार दूसरेके हितसाधनके लिये होनेसे मुक्तिदायक था। यह महापुरुषोंका सिद्धान्त है, उनके हृदयका उद्गार है। इस व्यवहारको कोई भी काममें ला सकता है। केवल सबका हित कैसे हो, यह बुद्धि चाहिये। इतना ही पर्याप्त है। यह व्यवहार ही

कर्मयोग है। कर्मयोग किसका नाम है? जिस कार्यमें स्वार्थ न हो, किसी फलकी आकांक्षा न हो और दूसरेका हित जिसमें भरा हो वही कर्मयोग है। इसके थोड़ेसे साधनसे ही कल्याण हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(गीता २। ४०)

'इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं है। बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उबार लेता है।'

भाव यह कि, थोड़ा-सा भी कर्म निःस्वार्थभावसे बन जाय तो वह मुक्ति करनेवाला होता है। फिर सदा-सर्वदा जिसके सम्पूर्ण कर्म निःस्वार्थभावसे होते हैं, वे तो मुक्तरूप ही हैं? उनके तो दर्शन, स्पर्श, भाषणसे दूसरे पवित्र हो जाते हैं—मुक्त हो जाते हैं। इसलिये जो भी स्वेच्छासे काम करे—सावधानीसे करे, स्वार्थको त्यागकर करे और दूसरोंके हितकी दृष्टिसे करे। वही काम करे जिससे भगवान् प्रसन्न हों और स्वयं अपने मस्तकपर भगवान्का हाथ समझ-समझकर हर समय प्रसन्न रहे। यह बड़ा अच्छा साधन है। अपनी बुद्धिके अनुसार वही कार्य करता रहे, जिस कार्यसे भगवान् प्रसन्न हों। स्वेच्छासे तो भगवान्की प्रसन्नताके अनुसार उनकी आज्ञाके अनुसार कार्य करता रहे और अनिच्छा तथा परेच्छासे होनेवालेको भगवान्का भेजा हुआ प्रसाद समझता रहे। परेच्छासे होनेवालेको यह समझे कि भगवान्की ही इच्छासे ऐसा हो रहा है, भगवान् ही ऐसा कराते हैं और अनिच्छासे होनेवालेको यों समझे कि स्वयं भगवान् ही यह करते हैं। बस, इस प्रकार समझ-समझकर खूब मुग्ध रहे। यही भक्ति है, यही शरण है और यही कर्मयोग है।

जिस क्रियामें भगवान्की सम्मति हो, वही काम करे और वह काम केवल उनके लिये ही करे। सब कुछ परमात्माका समझकर उनके अर्पण कर दे और प्रत्येक क्रिया करते समय भगवान्को याद रखे। भगवान्के दिये हुए प्रत्येक विधानमें निरन्तर उनका स्मरण करता हुआ परम सन्तोष मानकर हर समय प्रसन्न रहे। यदि कहें कि किस बातको लेकर खुश रहें तो इसका उत्तर यह है कि भगवान्की दयाको देख-देखकर। देखो! भगवान्की तुमपर कितनी दया है। अपार दया समझकर इतना आनन्द होना चाहिये कि वह हृदयमें समावे नहीं। हर समय आनन्दमें मुग्ध रहे। बार-बार प्रसन्न होवे। अहा! प्रभुकी कितनी दया है। यही सबसे बढ़कर साधन है और यही भक्ति है एवं इसीका नाम शरण है। ईश्वरकी दया, रुचि और उसके स्वरूपका स्मरण करके प्रसन्न होता रहे। सुख-दुःख जो भी प्राप्त हो, उसमें उसकी दया देखे। अपने द्वारा की जानेवाली क्रियामें 'रुचि' देखे कि भगवान्की 'रुचि' क्या है। जिसकी दया और रुचिका खयाल हो उस पुरुषके स्वरूपका खयाल तो दोनोंके साथ ही है। जब आप यह समझेंगे कि अमुक महात्माकी मुझपर कितनी दया है तो उस समय उनकी स्मृति तो साथमें है ही और जिस समय आप उनकी रुचिके अनुसार काम करेंगे, उस समय भी उनकी स्मृति तो आपको बनी ही रहेगी। इसी प्रकार भगवान्के प्रति समझना चाहिये।

अतएव भगवान्की प्रसन्नता प्राप्त करनेकी इच्छावाले प्रत्येक व्यक्तिको भगवान्की दयापर निर्भर रहना चाहिये, उसे देख-देखकर प्रसन्न रहना चाहिये और उनकी प्रसन्नताके अनुसार ही कार्य करते रहना चाहिये एवं निरन्तर उनका स्मरण करते रहना चाहिये।

अनन्य प्रेम और परम श्रद्धा

अनन्य और विशुद्ध प्रेम तथा परम श्रद्धा—ये दोनों ही विषय बड़े रहस्यपूर्ण हैं। इनकी महिमा कोई भी गा नहीं सकता। इनका रहस्य और तत्त्व वास्तवमें वे ही पुरुष जानते हैं जो भगवान्के परम भक्त हैं। जिन्हें भगवान्की प्राप्ति हो चुकी है, वे भी वाणीके द्वारा इनका महत्त्व बतला सकनेमें असमर्थ ही हैं। अनन्य प्रेम और परम श्रद्धाका वर्णन करना वैसा ही है जैसा किसी धनकुबेरको लखपति कहकर उसकी महिमा बतलाना। यह स्तुतिमें निन्दा है; किन्तु फिर भी भगवच्चर्चाके बहाने इस सम्बन्धमें कुछ निवेदन किया जाता है।

प्रेमके लिये महाराज दशरथजीका आदर्श सराहनीय है। उनका भगवान् राममें अलौकिक प्रेम था। प्रेमीके वियोगमें जहाँ प्राण व्याकुल हो उठें, वहाँ प्रेमकी पराकाष्ठा समझनी चाहिये। जलके वियोगमें मछली तड़प उठती है। यह तड़पन उच्च श्रेणीका प्रेम है। कैकेयीने दशरथजीसे दो वरदान माँगे—(१) भरतको राज्य और (२) रामको चौदह वर्षका वनवास। दूसरे वरदानकी बात सुनते ही राजा दशरथ सहम गये। उन्होंने अधीर होकर व्यग्रतापूर्ण स्वरमें कैकेयीसे कहा—'भरतके लिये राज्य तो भले ही माँग ले किन्तु रामको वनवास देनेकी याचना मुझसे न कर। उसके

वियोगमें मेरे प्राण न बच सकेंगे।' बहुत समझानेपर भी कैकेयीने किसी प्रकार भी न माना। भगवान् राम वन चले गये और उधर उनके वियोगसे अत्यन्त दुःखी होकर दशरथजी भी संसारसे चल बसे।

भरतजीके ननिहालसे लौटनेपर माता कौसल्याने कहा—'सराहनीय प्रेम तो राजाका है जिनके प्राण रामके वियोगमें रह न सके।' सुमन्तके लौटनेपर महाराज दशरथजीने उनसे पूछा, 'सुमन्त! क्या रामको वनमें छोड़ आये?' इस प्रश्नके साथ ही राजा दशरथ हाय मारकर रोने लगे और सब लोगोंको सुनाते हुए करुण स्वरमें कहने लगे, 'मेरे प्राण अब बचनेके नहीं, इसलिये मेरे मरनेपर मेरे शवको कैकेयी और इसका पुत्र (भरत) छूने न पावें, भरतका दिया हुआ पिण्ड भी मुझे न मिले।' विरहवेदनाका सजीव चित्र श्रीवाल्मीकिरामायणमें बड़े ही प्रभावपूर्ण ढंगसे खींचा गया है। अनन्यप्रेमकी सचमुच यह पराकाष्ठा है। भगवान्के साथ किसी भी भावको लेकर प्रेम किया जाय वह आदर्श ही है।

द्वापरमें भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंका जो प्रेम भागवत आदि ग्रन्थरत्नोंमें पढ़नेको मिलता है वह निःसन्देह सर्वथा स्तुत्य और अनुकरणीय है। वे जब उनके प्रेममें व्याकुल होती थीं तब भगवान्को विवश होकर प्रकट होना ही पड़ता था। कलियुगमें गौरांग महाप्रभुका प्रेम सराहनीय है।

श्रद्धाके आदर्श स्वयं भगवान् राम हैं। कैकेयीने दशरथजीसे ऐसे वर माँगे जिनकी कभी सम्भावना ही नहीं थी। रंगमें भंग हो गया। सुमन्तके बुलानेपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जैसे थे वैसे ही राजमहलमें जा पहुँचे। वहाँ कैकेयीके वरदानकी सारी बातें जानकर वे बोले—'यह तो मामूली बात है। वनमें मुनियोंके दर्शन, आपकी सम्मति तथा पिताकी आज्ञाका पालन और प्रिय भाई भरतको राजगद्दी—ऐसे स्वर्णसंयोगोंपर भी यदि मैं वन न जाऊँ तो भला मेरे समान और मूढ़ कौन होगा?' उसके बाद वे माता कौसल्याके महलमें जाते हैं। माता कहती हैं, 'मेरी आज्ञा है कि तुम वनमें न जाओ। पिताकी अपेक्षा माताकी आज्ञा बलवती होती है।' भगवान्ने नम्रतापूर्वक कहा, 'पिताकी आज्ञाका त्याग कर देनेकी मुझमें सामर्थ्य नहीं है। मैं सीताको सहर्ष त्याग सकता हूँ, हँसते-हँसते प्राणोंका भी विसर्जन कर सकता हूँ किन्तु पिताकी आज्ञा मेरे लिये सर्वथा अलंघ्य है, वह किसी भी तरह टाली नहीं जा सकती।' माताने फिर जोर देते हुए कहा, 'राम! पिताकी अपेक्षा माताकी आज्ञा सौगुनी बलवती होती है फिर तुम मेरी आज्ञाके पालनमें आनाकानी क्यों कर रहे हो?' राम बोले, 'आपका आदेश सर्वथा मान्य है किन्तु मेरे वनवासके लिये माता कैकेयीकी भी तो आज्ञा है।' इस बातको सुनकर माता कौसल्या निरुत्तर हो गयीं।

भगवान् रामने श्रद्धाकी पराकाष्ठा दिखला दी। वे प्राणोंका त्याग कर देनेके लिये तैयार हो गये, किन्तु पिताकी आज्ञाका परित्याग उनसे सहन न हो सका। श्रद्धेयकी आज्ञाकी अवहेलना होनेपर प्राणोंके त्यागका प्रसंग उपस्थित हो जाना सचमुच श्रद्धाका सर्वोत्तम आदर्श है।

भरतके जीवनमें हमें श्रद्धा और प्रेम दोनोंका ही ज्वलन्त उदाहरण मिलता है। वे ननिहालसे लौटे। राजमहलकी दशा देखकर सहम गये। कैकेयीसे पूछने लगे, 'पिताजी कहाँ हैं?' उनकी मृत्युके दुःखद संवादको सुनते ही वे हाय मारकर रोने लगे—'हा पिताजी! इस मन्द-भाग्य भरतको पूज्यचरण भाई रामको सँभलाये बिना ही आप कहाँ चल बसे?' घिग्घी बँधे हुए स्वरमें ही उन्होंने मातासे पूछा, 'मरते समय पिताजी क्या कहते थे।' वह बोली, 'हा राम! हा लक्ष्मण! हा सीते!' ये ही उनके अन्तिम शब्द थे।

श्रीभरतने पूछा, 'तो क्या राम, लक्ष्मण और सीता उनके पास नहीं थे?' माताने सारी घटना कह सुनायी। सुनते ही भरतका हृदय मानो विदीर्ण होने लगा। वे फूट-फूटकर रोने लगे। उस प्रसंगपर वाल्मीकिरामायणमें भरतको हम इस प्रकार कहते हुए पाते हैं—

न मे विकाङ्क्षा जायेत त्यक्तुं त्वां पापनिश्चयाम्।
यदि रामस्य नावेक्षा त्वयि स्यान्मातृवत् सदा॥

(अयो० ७३। १८)

अर्थात् 'यदि राम तुझे सदा माताके समान न देखते होते तो तुझ पापनिश्चयवालीको त्यागनेमें मुझे कुछ भी संकोच नहीं होता।'

गोस्वामी तुलसीदासजीके मानसमें भी भरतने जलते हुए हृदयसे कैकेयीको बहुत-सी कड़ी बातें सुनायी हैं—

बर मागत मन भइ नहिं पीरा।
गरि न जीह मुहँ परेउ न कीरा॥

इसके बाद भरतजी कौसल्याके महलमें गये। वहाँ जाकर भरतजीने अनेकों प्रकारकी शपथें खायीं और बहुत-से पाप गिनाते हुए कहा कि 'यदि रामके वन जानेमें मेरी जरा भी सम्मति रही हो तो ये सब पाप मुझे लगें।' माता कौसल्याने कहा—'बेटा! तुम्हारी निर्दोषताको मैं खूब जानती हूँ। रामने भी वन जाते समय तुम्हारी बहुत प्रशंसा की थी और यह भी कहा था कि मुझसे कहीं अधिक भरत तुम्हारी सेवा करेगा। इसलिये तुम संकोचको छोड़कर मनमें किसी प्रकारकी ग्लानि न करो।'

दशरथजीका क्रिया-कर्म विधिपूर्वक कर देनेके बाद सभामें सब लोग भरतको राज्य करनेके लिये समझाने लगे।

भरतजीने रोकर कहा—'मैं किसी प्रकार भी राज्यके योग्य नहीं हूँ।' भरतजीके इस सुन्दर भावको सभी लोग एकस्वरसे साधु! साधु! कहकर उनकी सराहना करने लगे। अन्तमें भरतजीने वन जानेकी बात सबके सामने रखी। सब लोग तैयार हो गये। भरत पैदल चलने लगे। लोगोंने माताजीसे प्रार्थना की। माताने समझाते हुए कहा कि 'तुम्हारे पैदल चलनेसे सभीको पैदल चलना पड़ेगा।' भरतजी बोले—'जब राम पैरोंके बल गये हैं तब मेरा कर्तव्य है कि मैं सिरके बल जाऊँ। क्या करूँ, आपकी आज्ञा भी माननी पड़ेगी।' इच्छा न रहते हुए भी वे रथपर सवार हो गये।

सब लोग शृंगवेरपुर पहुँचे। गुहको भरतके इस आकस्मिक आगमनपर सन्देह हुआ। उसने सारी सेनाको राम-कार्यके लिये तैयार किया। निषादपति गुहसे मिलते ही भरतके हृदयमें प्रेमका समुद्र उमड़ पड़ा। वे अपने श्रद्धास्पदके अनन्य भक्तको पाकर भावावेशमें अपनेको भूल गये। उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी झड़ी लग गयी। वास्तवमें प्रेमका तत्त्व सच्चे प्रेमी ही जान सकते हैं।

जिस वृक्षके नीचे श्रीरामने एक रात्रि निवास किया था, वहाँ जाकर उन्होंने सीताके वस्त्रके तारोंको पृथ्वीपर बिखरे देखा। वियोगसे व्यथितहृदय भरत रोने लगे। दुःखभरे स्वरमें उन्होंने कहा—'जिस सीताको सूर्य, चन्द्र, वायु आदि देवगण भी नहीं देख पाते थे उसने मेरे कारण इस शिंशपा वृक्षके नीचे कुशाकी साथरीपर रात्रि बितायी। मैं भी कैसा अभागा हूँ कि अपने पूज्योंके दुःखका इस प्रकार कारण बना।' भरतके इस प्रेम और श्रद्धाको देखकर निषादराज सकुचा गये। अपने मनमें भरतके प्रति सन्देह होनेके कारण उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ।

जब वहाँसे आगे बढ़े तो भरद्वाजके आश्रममें पहुँचे। मुनिराजने पूछा—'भरत! तुम वनमें किसलिये आये हो।' इस प्रश्नको सुनकर भरतजी रोने लगे और बोले—'महाराज! आपका पूछना ठीक ही है, मैं पामर सचमुच इसी योग्य हूँ।' भरद्वाजजी बोले—'मैं तपके बलसे तुम्हारे इधर आनेका कारण जानता हूँ। तुम रामको लौटाने जा रहे हो। हमलोग धन्य हैं जो आज तुम्हारे दर्शनका सौभाग्य प्राप्त कर रहे हैं। हमारे तपका, हमारी साधनाका फल था रामका दर्शन और राम-दर्शनका फल है तुम्हारा दर्शन। भरत! तुम जिन रामके वियोगमें कृश हो रहे हो वे ही राम एक रातके लिये यहाँ ठहरे थे। रातभर तुम्हारी प्रशंसाका गायन करके उन्होंने हमारे कानोंको पवित्र किया। सारा संसार तो रामके गुणोंका गान करता है और राम तुम्हारे ही गुणोंके गायनसे अपनेको आनन्दित मानते हैं।' भरद्वाजजीके मुखसे श्रीरामजीकी प्रेम-कथाएँ सुनकर भरतजीका हृदय गद्गद, शरीर रोमांचित और वाणी कुण्ठित हो गयी।

रातभर आश्रममें रहकर वे प्रातःकाल आगे बढ़े। मार्गमें चलते समय उनकी दशा बड़ी विचित्र थी। वे भगवान्के दयालु स्वभावकी ओर देखते तब तो उनके पैर आगे बढ़ते, माताकी करनीकी याद आनेपर पैर पीछे पड़ते और अपनी ओर देखकर वहीं रुक जाते थे। इतनेमें ही उन्हें भगवान् रामके चरण-चिह्न दीख पड़े। बस, फिर क्या था—वे प्रेममें निमग्न हो गये। उस मुग्धताको देखकर गुहको भी शरीर और मार्ग आदिका कुछ भी ज्ञान न रहा। जड चेतन और चेतन जड हो गये। सर्वत्र एकमात्र प्रेमका ही साम्राज्य छा गया। अन्तमें भगवान् रामका आश्रम दीख पड़ा। भरतजी आगे बढ़े। अपने श्रद्धास्पदके चरणोंके दर्शन पाकर दण्डवत् भूमिपर गिर पड़े। लक्ष्मणजी आवाज पहचानकर बोले, 'महाराज! भरतजी प्रणाम कर रहे हैं।' भरतजीका शरीर भगवान्के वियोगमें इतना कृश हो गया था कि लक्ष्मणजी केवल उनकी आकृतिसे पहचान न सके। महाराज श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणकी बात सुनते ही भरतको उठाकर छातीसे लगा लिया। दोनों एक-दूसरेके प्रेमाश्रुओंसे भींग गये। आश्रम मानो करुणा और प्रेमका विचित्र रंगमंच बन गया।

अपने वियोगमें पिताकी मृत्युकी बात सुनकर प्रभु बड़े दुःखी हुए। अन्तमें पिण्डोदक आदिकी सारी क्रियाके समाप्त हो चुकनेपर सब लोगोंने भगवान्से वापस लौटनेकी प्रार्थना की। भरतजीने कहा—'स्त्रीके वशीभूत होकर पिताजीने आपको जो आज्ञा दी है वह पालनीय नहीं है।' भगवान् राम बोले—'नहीं, पिताजीने कामवश होकर यह आज्ञा नहीं दी है, प्रत्युत अपने प्राणोंका त्याग करके उन्होंने अपने प्रणका पालन किया है। पिताजी पूजनीय और राजा थे इसलिये उनकी आज्ञा प्रत्येक प्रकारसे पालनीय है।' इसपर भरतजीने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया कि 'यदि यही बात है तो हमलोग भाई होनेके नाते प्रेमपूर्वक आपसमें बदला कर लें। पिताजीने जो कुछ आपको दिया है उसे आप मुझे दे दीजिये और जो मुझे दिया है उसे आप ले लीजिये।' भगवान् रामने कहा, 'नहीं, ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि इन वरदानोंकी याचना विशेषरूपसे की गयी है। उसमें मेरे वनवास और तुम्हारे राज्यग्रहणकी स्पष्ट आज्ञा है। इसलिये आपसमें बदला नहीं हो सकता। वाल्मीकिरामायणमें आया है कि भरतजीने भगवान्से बहुत प्रार्थना की कि 'मुझे भी आप साथ ले चलिये' किन्तु उन्होंने साथ ले जाना भी स्वीकार नहीं किया। तब भरतजीने दृढ़तापूर्वक यह प्रतिज्ञा की

कि 'यदि आप नहीं लौट चलेंगे तो मैं अपने प्राणोंका त्याग कर दूँगा।' वे दर्भका आसन बिछाकर वहीं जम गये। भगवान्‌ने बहुत समझाया कि ऐसा आग्रह न करो। अन्तमें वसिष्ठजीने प्रभुके संकेतके अनुसार भरतजीको समझा-बुझाकर इस बातपर राजी किया कि वे भगवान्‌की चरणपादुका प्राप्त करके उनकी आज्ञाके अनुसार किसी तरह अयोध्यामें चौदह वर्ष बितानेका यत्न करें। भरतने उनकी आज्ञाको शिरोधार्य किया और प्रभुकी चरणपादुका ग्रहण करके उनसे स्पष्ट कह दिया कि यदि चौदह वर्षकी अवधिके पूर्ण हो जानेपर पंद्रहवें वर्षके पहले दिन आप अयोध्यामें न पहुँच पायेंगे तो मैं अग्निमें अपने शरीरको होम दूँगा।

भरतजीने नन्दिग्राममें आकर मुनिव्रतसे चौदह वर्ष भगवान्‌का नाम जपते-जपते बिताये। जब एक ही दिन शेष रह गया तब वे इस प्रकार विलाप करने लगे—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा।
समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ।
जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी।
राम पदारबिंदु अनुरागी॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा।
ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी।
नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना।
अधम कवन जग मोहि समाना॥

अन्तिम पदोंमें भरतके विरह और प्रेमका कितना मार्मिक वर्णन है। ***'अधम कवन जग मोहि समाना'*** में दैन्यकी पराकाष्ठा हो गयी है। महाराजके दयालु स्वभावके आधारपर उन्हें इस बातका सन्देह नहीं कि भगवान् ठीक समयपर यहाँ नहीं पहुँच पायेंगे किन्तु फिर भी वे मन-ही-मन इस प्रकार कल्पना कर रहे थे कि यदि भगवान् न आ पाये तो मेरे प्राण चले जायँगे और यदि नहीं गये एवं मुझे आत्महत्या करनी पड़ी तो मेरे समान संसारमें कोई पापी नहीं। मेरा वह प्रेम दम्भमात्र ही था; क्योंकि यदि उसमें वास्तविकता होती तो दशरथजीकी तरह क्या ये प्राण-पखेरू भी न उड़ जाते। इस प्रकार विलाप करते हुए भरतजीके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी। ***'राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात'*** श्रीभरतजी रामविरहके अथाह समुद्रमें डूब रहे थे, इतनेमें ही श्रीहनुमान्‌जी आ पहुँचे, मानो उन्हें डूबनेसे बचानेके लिये नौका आ गयी हो।

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

श्रीरामके आगमनके शुभ सन्देशको पवनकुमारके मुखसे सुनकर भरतजीके हृदयमें जो उल्लास उत्पन्न हुआ उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। भरतजी इस सन्देशके उपकार-भारसे दब गये और अपने भावको उन्होंने कृतज्ञताभरे स्वरमें इस प्रकार प्रकट किया—

एहि संदेस सरिस जग माहीं।
करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही।
अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥

प्रेमका कैसा ऊँचा आदर्श है। श्रीहनुमान्‌जी भरतजीके इस प्रेम और श्रद्धासे सने सुन्दर भावको देखकर मन-ही-मन कहने लगे कि जिनकी प्रशंसा स्वयं भगवान् करते थे, वे भरत ऐसे क्यों न हों।

सन्देशके रूपमें भरतजीको प्राण-दान देकर हनुमान्‌जी भगवान् रामके पास लौटे। इधर अयोध्याका सारा जनसमूह भी प्रभुके दर्शनोंके लिये अधीर हो रहा था। विभीषण आदिके साथ प्रभु अयोध्यामें आ पहुँचे।

अपने गुरु श्रीवसिष्ठजी और सभी ब्राह्मणोंके चरणोंमें मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीने प्रणाम किया। तदनन्तर श्रीभरतजीने पृथ्वीपर गिरकर बड़े प्रेमसे प्रभुके चरणकमल पकड़ लिये। तब कृपाके समुद्र भगवान् रामने उन्हें बलपूर्वक उठाकर अत्यन्त प्रेमपूर्वक हृदयसे लगा लिया। प्रभुके शरीरमें रोमांच हो आया और प्रेमातिरेकके कारण उनके नेत्रोंमें आँसुओंकी बाढ़ आ गयी।

परे भूमि नहिं उठत उठाए।
बर करि कृपासिंधु उर लाए॥
स्यामल गात रोम भए ठाढ़े।
नव राजीव नयन जल बाढ़े॥
प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहिं जाति नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही॥

वास्तवमें भरतजी प्रेमके अवतार ही थे। श्रद्धाकी भी मानो वे मूर्ति ही थे। उनके प्राणोंकी रक्षा भी उनकी अटूट श्रद्धासे ही हुई। उन्हें स्वामीकी आज्ञाका पालन करना था। इसलिये विवश होकर भगवान्‌के वियोगमें उन्हें चौदह वर्षकी लंबी अवधि बितानी पड़ी। किन्तु अवधिके समाप्ति-कालमें उनकी कैसी विलक्षण दशा हुई—यह ऊपर बतलाया ही जा चुका है।

उधर प्रेमके सच्चे मर्मज्ञ—श्रद्धाके एकमात्र आधार भगवान् राम भी भरतको देखनेके लिये अधीर हो उठे थे। रावणकी मृत्युके उपरान्त विभीषणने भगवान्से प्रार्थना की कि वे कुछ दिन और लंकामें विराजें। प्रभुने कहा—

तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥

भरतकी दशाका स्मरण करके भगवान्का एक-एक निमिष कल्पके समान बीतना स्वाभाविक ही है; क्योंकि **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** के अनुसार जब भरत उनके विरहके सन्तापको नहीं सह सकते तो भगवान्को भी उनसे मिले बिना चैन कैसे मिल सकता है? उन्होंने अपने ही श्रीमुखसे भरतकी दशाका फिर इस प्रकार वर्णन किया है—

बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥

'जिअत न पावउँ बीर' में भरतके प्रेमकी पराकाष्ठा हो जाती है। हमें भी श्रीभरतजीकी तरह भगवान्के अनन्य प्रेमी और परम श्रद्धालु बननेका प्रयत्न करना चाहिये।

नामकी अनन्त महिमा

श्रीभगवान्के नामकी महिमा अनन्त है और वह बड़ी ही रहस्यमयी है। शेष, महेश, गणेशकी तो बात ही क्या, जब स्वयं भगवान् भी अपने नामकी महिमा नहीं गा सकते—*'रामु न सकहिं नाम गुन गाई'* तब मुझ-सरीखा साधारण मनुष्य नाम-महिमापर क्या कह सकता है? परन्तु महापुरुषोंने किसी भी निमित्तसे भगवान्के गुण गाकर काल बितानेकी बड़ी प्रशंसा की है, इसी हेतुसे नाम-महिमापर यत्किंचित् लिखनेकी चेष्टा की जाती है।

भगवन्नामकी महिमा सभी युगोंमें सदा ही सभी साधनोंसे अधिक है परन्तु कलियुगमें तो नामकी महिमा सर्वोपरि है—

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

(विष्णुपु० ६। २। १७)

'सत्ययुगमें ध्यान करनेसे, त्रेतामें यज्ञ करनेसे, द्वापरमें पूजा करनेसे जो फल प्राप्त होता है वही फल कलियुगमें केवल श्रीकेशवके कीर्तनसे मनुष्य प्राप्त कर लेता है।'

श्रीनारदपुराणमें तो यहाँतक कहा गया है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(१। ४१। ११५)

'कलियुगमें केवल श्रीहरिका नाम ही—हरिका नाम ही—हरिका नाम ही परम कल्याण करनेवाला है, इसको छोड़कर अन्य कोई उपाय नहीं है।'

इसका यही अभिप्राय है कि कर्म, योग, ज्ञान आदि साधनोंका सांगोपांग सम्पन्न होना इस युगमें अत्यन्त ही कठिन है। फिर, भगवन्नाम बड़ा ही सुगम साधन है; इसके सभी अधिकारी हैं, सभी इसको समझ सकते हैं, यह सबको सुलभ है, मूर्ख-से-मूर्ख मनुष्य भी नामका जप-कीर्तन कर सकते हैं। इसमें न कोई खर्च है, न परिश्रम है। किसी प्रकारकी बाधा भी अभीतक नहीं है। इतनी सुगमता होनेके साथ ही सबसे बड़ी बात यह है कि इसमें कोई भी शर्त नहीं है—

सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
पतितः स्खलितो भग्नः सन्दष्टस्तप्त आहतः।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्॥

(श्रीमद्भा० ६। २। १४-१५)

महात्मा पुरुष यह बात जानते हैं कि 'पुत्रादिके संकेतसे हो, हँसीसे हो, स्तोभसे (गीतका आलाप पूर्ण करनेके लिये) हो और अवहेलना या अवज्ञासे हो, वैकुण्ठ भगवान्का नामोच्चारण सम्पूर्ण पापोंका नाश कर देता है। जो मनुष्य ऊँचे स्थानसे गिरते समय, मार्गमें पैर फिसल जानेपर, अंग-भंग हो जानेपर, सर्पादिद्वारा डसे जानेपर, ज्वरादिसे तप्त होनेपर अथवा युद्धादिमें घायल होनेपर विवश होकर भी 'हरि' (इतना ही) कहता है वह नरकादि किसी भी यातनाको नहीं प्राप्त होता।'

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्वृकैरिव॥

(विष्णुपु० ६। ८। १९)

'विवश होकर भी जिस हरिके नामका कीर्तन करनेपर मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे वैसे ही छूट जाता है यानी उसके सम्पूर्ण पाप उसी तरह भाग जाते हैं जैसे सिंहसे डरकर भेड़िये भाग जाते हैं।'

गोसाईंजी महाराजने श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ।
नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

प्र०—यदि ऐसी ही बात है, किसी प्रकारसे भी नाम लेनेपर पापोंका नाश होकर भगवत्प्राप्ति हो जाती है तो फिर श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभाव आदिकी शर्तें क्यों लगायी जाती हैं?

उ०—श्रद्धा आदिकी शर्तें शीघ्र प्राप्तिके लिये हैं। प्राप्ति

तो नाम लेनेवाले सभीको होगी परन्तु जो श्रद्धा, प्रेम तथा निष्कामभावसे नाम जपेगा उसको बहुत शीघ्र प्राप्ति होगी।

मनु महाराजने कहा है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

(२। ८५)

'दर्शपौर्णमासादि विधियज्ञोंसे साधारण (जोर-जोरसे किया जानेवाला) जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है, उपांशु सौगुना श्रेष्ठ है और मानस जप हजारगुना श्रेष्ठ है।' और जो जप केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे प्रेम और श्रद्धापूर्वक किया जाता है उसका फल तो अनन्तगुना श्रेष्ठ है। उसकी तो कोई सीमा ही नहीं है। यहाँतक कि यदि मनुष्य भगवान्के अनन्य प्रेममें विह्वल होकर एक बार भी भगवान्का नामोच्चारण कर लेता है तो श्रीभगवान् तुरंत ही वहाँ प्रकट होकर उसे दर्शन दे सकते हैं।

प्र०—अपनी समझसे तो लोग प्रेमपूर्वक ही भगवान्के नामका जप करते हैं फिर भी भगवान्के दर्शन नहीं होते। इसमें क्या कारण है? यदि प्रेमकी कमी ही इसका कारण माना जाय तो फिर उस कमीकी पूर्ति कैसे होगी?

उ०—प्रेमभावसे जप करते-करते ही उस प्रेमकी प्राप्ति हो सकती है जिसमें विह्वल होकर एक बार भी नामोच्चारण करनेसे भगवान् दर्शन दे सकते हैं।

प्र०—ऐसे सकाम प्रेमसे भगवान् प्रकट हो सकते हैं या निष्कामसे?

उ०—प्रेमका बाहुल्य हो तो सकामसे भी भगवान् प्रकट हो सकते हैं। परन्तु वह सकाम प्रेम भी द्रौपदी या गजेन्द्रका-सा अनन्य होना चाहिये और जब सकामसे भगवान् प्रकट हो सकते हैं तब निष्कामके लिये तो कहना ही क्या है?

प्र०—नामके सम्बन्धमें ऐसा श्लोक मिलता है—

नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः।
श्वपचोऽपि नरः कर्तुं क्षमस्तावन्न किल्बिषम्॥

(अनुस्मृति ९९)

'श्रीहरिके नाममें पाप-नाश करनेकी जितनी शक्ति है, उतने पाप करनेमें चाण्डाल भी समर्थ नहीं है।'

और इसमें मानस नाम-जपकी या प्रेमपूर्वक जपकी कोई शर्त भी नहीं है। फिर पापोंका नाश होता क्यों नहीं दीखता?

उ०—नाम-महिमामें विश्वास नहीं है और नामापराधयुक्त नाम-जप होता है। नामके दस अपराध हैं, उन अपराधोंसे युक्त जप होनेसे जपका बहुत-सा अंश उन अपराधोंके नाशमें ही लग जाता है। तथापि यदि मनुष्य विश्वासपूर्वक नाम-जप करता रहे तो जप करते-करते नामापराधोंका भी नाश हो सकता है और सारे पाप नष्ट होकर भगवत्प्राप्ति भी हो सकती है।

प्र०—एक मनुष्य मृत्युकालमें भगवान्के नामका उच्चारण तो करता है परन्तु भगवान्के स्वरूपका ध्यान नहीं करता।

प्र०—ऐसी अवस्थामें उसे दूसरे जन्ममें नामकी प्राप्ति होगी—स्वरूपकी तो होगी नहीं। फिर अन्तकालके नामोच्चारणसे मुक्तिका होना कैसे माना जाता है?

उ०—भगवान् नामके अधीन हैं, नाममें यह शक्ति है कि वह नामी भगवान्का साक्षात्कार करा देता है इसलिये मुक्ति प्राप्त होनेमें कोई भी अड़चन नहीं है। श्रीचैतन्य महाप्रभुने कहा है—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन्ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥

'हे भगवन्! आपने अपने अनेकों नाम प्रकाशित किये और उनमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति अर्पित कर दी। नाम-स्मरणमें कालका भी कोई नियम नहीं रखा। आपकी तो ऐसी असीम कृपा और मेरा ऐसा दुर्भाग्य कि नाममें मेरा अनुराग ही नहीं हुआ।'

प्र०—शास्त्र तो कहते हैं कि '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**' ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती। फिर नाम-जपसे मुक्तिका होना कैसे माना जाय?

उ०—नामी भगवान्को यथार्थ तत्त्वसे जान लेना यानी भगवान् जैसे हैं वैसे ही उनको जान लेना ज्ञान है और नामीको यथार्थ तत्त्वसे जना देनेकी नाममें शक्ति है। फिर मुक्ति होनेमें क्या सन्देह रहा?

प्र०—स्नानादि करके अच्छी तरह पवित्र होकर विधिपूर्वक नाम-जप करना चाहिये या विधि-अविधिकी कुछ भी परवा न करके? और इसी प्रकार नाम-जप नियत संख्यामें करना चाहिये या जितना मन हो उतना ही?

उ०—भगवान्के नामकी यह महिमा है कि उसे कोई किसी प्रकार भी क्यों न ले, उसका फल होता ही है। खेतमें चाहे जैसे भी बीज डाल दिये जायँ, वे उगते ही हैं। परन्तु विधिपूर्वक जप करनेका विशेष महत्त्व है। यही बात संख्याके सम्बन्धमें जाननी चाहिये। विधिपूर्वक और संख्यायुक्त जप करनेसे जपका यथार्थ आदर-सत्कार होता है और सत्कारपूर्वक किया हुआ साधन विशेष फलदायक होता ही है। विधि और संख्याका नियम होनेसे ठीक

समयपर उतना जप हो ही जाता है। जो विधि या संख्याका बन्धन नहीं मानते, वे भूलसे जप छोड़ भी देते हैं। अवश्य ही स्वाभाविक ही जिनके द्वारा आठों पहर नाम-जप होता है, उनके लिये कोई विधि नहीं है।

महर्षि पतंजलि कहते हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः॥ (१।२७)

तज्जपस्तदर्थभावनम्॥ (१।२८)

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥ (१।२९)

'उस परमात्माका वाचक (नाम) ओंकार है। उसके नामका जप और उसके अर्थकी भावना यानी स्वरूपका चिन्तन करना। ऐसा करनेसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है।'

परन्तु जब केवल नाम-जपसे ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है तब अर्थसहित जपकी क्या आवश्यकता है?

उ०—जप अर्थसहित करनेसे बहुत शीघ्र लाभ होता है। जैसे किसी हौजमें दो नालोंसे जल आ सकता है परन्तु उनमें एक खुला है, दूसरा बंद है। एक नालेसे आनेवाले जलसे हौज दो घंटेमें भरता है, पर यदि दूसरा नाला खोल दिया जाय तो हौज दो घंटेके बदले एक ही घंटेमें भर सकता है। इसी प्रकार अर्थसहित जप करनेसे शीघ्र लाभ हो जाता है।

प्र०—वेद, उपनिषद् और गीतामें प्रणव (ॐ)-की महिमा बहुत मिलती है। क्या भगवान्‌के अन्य नामोंकी भी ऐसी ही महिमा है?

उ०—भगवान्‌के सभी नाम परम कल्याणकारक हैं। राम, कृष्ण, हरि, नारायण, दामोदर, शिव, शंकर आदि नामोंकी तो बात ही क्या है, अन्यधर्मीय लोगोंके अल्लाह, खुदा आदि नामोंकी भी बड़ी महिमा है। भगवान्‌को कोई किसी भी नामसे पुकारे, वे सबकी भाषा समझते हैं। पुकारनेवालेके ध्यानमें यह बात होनी चाहिये कि मैं भगवान्‌को पुकार रहा हूँ। फिर नाम चाहे कोई भी हो। अप्, जल, पानी, नीर, वाटर आदि किसी भी नामसे पुकारे, उसे जल ही मिलता है, इसी प्रकार भगवान्‌के नामोंको समझना चाहिये। इतना होनेपर भी जप करनेवाले साधकको जिस नाममें विशेष रुचि, प्रेम और विश्वास होता है उसके लिये वही विशेष लाभप्रद होता है। राम और कृष्ण नाममें कोई अन्तर नहीं परन्तु तुलसीदासजीको 'राम' नाम प्यारा था और सूरदासजीको 'कृष्ण' नाम। श्रद्धा और प्रेमके तारतम्यके अनुसार ही नामका फल भी न्यूनाधिक हो जाता है।

नामकी महिमा सभी शास्त्रोंमें गायी गयी है। जिसको जिस नाममें प्रेम हो वह उसी नामका जप-कीर्तन कर सकता है। न जपनेवालेकी अपेक्षा तो वह भी बहुत श्रेष्ठ है जो दु:खनाश, भोगोंकी प्राप्ति और मान-बड़ाई आदिके लिये नाम-जप करता है। परन्तु नामके बदलेमें जो उपर्युक्त लौकिक फल चाहता है वह है बड़ी ही गलतीमें। वास्तवमें वह ठगा ही जाता है। भगवान्‌के जिस एक नामके सामने तीनों लोकोंका सम्पूर्ण ऐश्वर्य भी कुछ नहीं, उस नामको तुच्छ विषयोंके बदले गँवा देना बुद्धिमानी नहीं है। तीनों लोकोंका राज्य अनित्य है, भगवान्‌के नामका फल नित्य है। नाम-जपका फल तो भगवत्प्राप्ति ही है। कुछ प्रेमी महात्मा तो ऐसे होते हैं जो नाम-जप केवल नाम-जपके लिये ही करते हैं। वे भगवत्प्राप्तिरूप फल भी नहीं चाहते। अतएव भगवान्‌के किसी भी नामका जप किया जाय सभी नाम मंगलमय हैं; पर निष्काम तथा प्रेमभावसे जपनेका विशेष महत्त्व है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें सब यज्ञोंसे ज्ञान-यज्ञको श्रेष्ठ बतलाया है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ (४।३३)

'हे अर्जुन! सांसारिक वस्तुओंसे सिद्ध होनेवाले द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानरूप यज्ञ सब प्रकारसे श्रेष्ठ है; क्योंकि हे पार्थ! सम्पूर्ण यावन्मात्र कर्म ज्ञानमें ही शेष होते हैं अर्थात् ज्ञान ही उनकी पराकाष्ठा है।'

इस प्रकार ज्ञानयज्ञको सबमें श्रेष्ठ बतलाया परन्तु उसे अपना स्वरूप नहीं बतलाया। लेकिन जपयज्ञको तो '**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि**' (गीता १०।२५) कहकर यही कह दिया है कि 'सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ तो मैं ही हूँ।'

अतएव भगवान्‌के किसी भी नामका जप किसी भी कालमें किसी भी निमित्तसे किसीके भी द्वारा कैसे भी किया जाय, वह परम कल्याण करनेवाला ही है। फिर जो श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अर्थसहित निष्कामभावसे और गुप्तरूपसे नाम-जप किया जाता है, वह तो उसी क्षण परम कल्याणरूप फल देनेवाला होता है। भगवत्प्राप्ति तो किसी प्रकार भी नाम-जप करनेसे हो जाती है परन्तु वह कालान्तरमें होती है। हाँ, अन्त समयके लिये कोई शर्त नहीं है। भगवान् परम दयालु हैं, उन्होंने दया करके ही जीवको यह मोक्षोपयोगी मनुष्य-शरीर दिया है और उन्हीं दयामयने यह विधान भी कर दिया है कि अन्तकालमें किसी प्रकार भी जो मेरा नाम-स्मरण कर लेगा उसे मेरी प्राप्ति हो जायगी। किसीको फाँसीकी आज्ञा होनेपर जब साधारण राजनियमके अनुसार भी मृत्युसे पहले उस मनुष्यकी इच्छा

पूर्ण करनेका सुभीता कर दिया जाता है तब परम दयालु परम सुहृद् सर्वसमर्थ प्रभु मनुष्य-जीवनके अन्तकालमें जीवके साथ ऐसा दयाका बर्ताव करें, यह उचित ही है।

ऐसे परम कारुणिक परम प्रेमी सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी परमात्माको बिसारकर एक क्षणके लिये भी दूसरी वस्तुका भजन या सेवन करना महान् मूर्खताके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। भगवान्ने स्वयं चेतावनी देते हुए कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(गीता ९। ३३)

'तू सुखरहित और क्षणभंगुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

इस कथनसे यह ध्वनि निकलती है कि यह शरीर बहुत ही दुर्लभ है परंतु है नाशवान् और सुखरहित। दुर्लभता इसीलिये है कि इस शरीरसे ही परम कल्याण हो सकता है। ऐसे शरीरको पाकर तो सब समय भगवान्का भजन ही करना चाहिये। भजन नहीं किया जायगा और अज्ञानसे सुखरूप भासनेवाले विषय-भोगोंमें मन फँस जायगा तो सुख तो मिलेगा ही नहीं (क्योंकि भगवान्को छोड़कर जगत्में कहीं सुख है ही नहीं, यह तो सुखरहित ही है) और शीघ्र ही शरीरका नाश हो जानेसे मनुष्य-शरीरमें मुक्तिका अधिकाररूप हाथमें आया हुआ सुअवसर भी निकल जायगा।

यह स्मरण रखना चाहिये कि संसारमें भगवान्के भजनके समान और कोई वस्तु है ही नहीं। इस तत्त्वको जो जान लेते हैं वे तो एक क्षणके लिये भी भगवान्को नहीं भूल सकते। भगवान्ने कहा है—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

'हे भारत! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।' क्योंकि अनन्त ब्रह्माण्डोंके समस्त ऐश्वर्यसुखको एक ओर रखा जाय और भगवान्का क्षणकालका जप या स्मरण एक ओर रखा जाय तो भी वह उस जप-कीर्तनकी बराबरी नहीं कर सकता। असंख्य ब्रह्माण्ड तो भगवान्के एक अंशमें ही स्थित हैं। भगवान्के समान तो भगवान् ही हैं और भगवान्का नाम भगवान्से अभिन्न है। इसलिये नाम-जपके साथ किसीकी तुलना नहीं हो सकती। अतएव हम सब लोगोंको श्रद्धापूर्वक निष्काम प्रेमभावसे नित्य-निरन्तर भगवान्के नामका ही जप-कीर्तन और स्मरण करना चाहिये।

ध्यान-साधन

भेद और अभेद दोनों ही निष्ठाओंमें ध्यान सबसे आवश्यक और महत्त्वपूर्ण साधन है। श्रीभगवान्ने गीतामें ध्यानकी बड़ी महिमा गायी है। जहाँ कहीं उनका उच्चतम उपदेश है, वहीं उन्होंने मनको अपनेमें (भगवान्में) प्रवेश करा देनेके लिये अर्जुनके प्रति आज्ञा की है। योगशास्त्रमें तो ध्यानका स्थान बहुत ऊँचा है ही। ध्यानके प्रकार बहुत-से हैं। साधकको अपनी रुचि, भावना और अधिकारके अनुसार तथा अभ्यासकी सुगमता देखकर किसी भी एक प्रकारसे ध्यान करना चाहिये। यह स्मरण रखना चाहिये कि निर्गुण-निराकार और सगुण-साकार भगवान् वास्तवमें एक ही हैं। एक ही परमात्माके अनेक दिव्य प्रकाशमय स्वरूप हैं। हम उनमेंसे किसी भी एक स्वरूपको पकड़कर परमात्माको पा सकते हैं; क्योंकि वास्तवमें परमात्मा उससे अभिन्न ही है। भगवान्के परम भावको समझकर किसी भी प्रकारसे उनका ध्यान किया जाय, अन्तमें प्राप्ति उस एक ही भगवान्की होगी जो सर्वथा अचिन्त्यशक्ति, अचिन्त्यानन्तगुणसम्पन्न, अनन्त दयामय, अनन्तमहिम, सर्वव्यापी, सृष्टिकर्ता, सर्वरूप, स्वप्रकाश, सर्वात्मा, सर्वद्रष्टा, सर्वोपरि, सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, अज, अविनाशी, अकर्ता, देशकालातीत, सर्वातीत, गुणातीत, रूपातीत, अचिन्त्यस्वरूप और नित्य स्वमहिमामें ही प्रतिष्ठित, सदसद्विलक्षण एकमात्र परम और चरम सत्य हैं। अतएव साधकको इधर-उधर मन न भटकाकर अपने इष्टरूपमें महान् आदर-बुद्धि रखते हुए परम भावसे उसीके ध्यानका अभ्यास करना चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीताके छठे अध्यायके ग्यारहवेंसे तेरहवें श्लोकतकके वर्णनके अनुसार एकान्त, पवित्र और सात्त्विक स्थानमें सिद्ध, स्वस्तिक, पद्मासन या अन्य किसी सुख-साध्य आसनसे बैठकर, नींदका डर न हो तो आँखें मूँदकर, नहीं तो आँखोंको भगवान्की मूर्तिपर लगाकर अथवा आँखोंकी दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर जमाकर प्रतिदिन कम-से-कम तीन घंटे, दो घंटे या एक घंटे—जितना भी समय मिल सके—सावधानीके साथ लय, विक्षेप, कषाय, रसास्वाद, आलस्य, प्रमाद, दम्भ आदि दोषोंसे बचकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तत्परताके साथ ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। ध्यानके समय शरीर, मस्तक और गला सीधा रहे और रीढ़की हड्डी भी सीधी रहनी चाहिये। ध्यानके लिये समय और स्थान भी सुनिश्चित ही होना चाहिये।

(१)

ऊपर लिखे अनुसार एकान्तमें आसनपर बैठकर साधकको दृढ़ निश्चयके साथ नीचे लिखी धारणा करनी चाहिये—

'एक सत्य सनातन असीम अनन्त विज्ञानानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं। उनके सिवा न तो कुछ है, न हुआ और न होगा। उन परब्रह्मका ज्ञान भी उन परब्रह्मको ही है; क्योंकि वे ज्ञानस्वरूप ही हैं। उनके अतिरिक्त और जो कुछ भी प्रतीत होता है, सब कल्पनामात्र है। वस्तुतः वे-ही-वे हैं।'

इसके अनन्तर चित्तमें जिस वस्तुका भी स्फुरण हो, उसीको कल्पनारूप समझकर उसका त्याग (अभाव) कर दे। एक परमात्माके सिवा और किसीकी भी सत्ता न रहने दे। ऐसा निश्चय करे कि जो कुछ प्रतीत होता है, वह वस्तुतः है नहीं। स्थूल शरीर, ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि कुछ भी नहीं है। यों अभाव करते-करते सबका अभाव हो जानेपर अन्तमें सर्वको अभाव करनेवाली एक शुद्धा वृत्ति रह जाती है। परन्तु अभ्यासकी दृढ़तासे दृश्यप्रपंचका सुनिश्चित अभाव होनेपर आगे चलकर वह भी अपने-आप ही शान्त हो जाती है। उस शुद्धा वृत्तिका त्याग करना नहीं पड़ता, अपने-आप ही हो जाता है। यहाँ त्याग, त्यागी और त्याज्यकी कल्पना सर्वथा नहीं रह जाती। इसीलिये वृत्तिका त्याग किया नहीं जाता, वह वैसे ही हो जाता है, जैसे ईंधनके अभावमें आगका। इसके अनन्तर जो कुछ बच रहता है वही विज्ञानानन्दघन परमात्मा है। वह असीम, अनन्त, नित्य, बोधस्वरूप, सत्य और केवल है। वही **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** है। वह परम आनन्दमय है। परिपूर्ण ज्ञानानन्दमय है; परन्तु वह आनन्दस्वरूप बुद्धिगम्य नहीं है, अचिन्त्य है—केवल अचिन्त्य है।

इस प्रकार विचारपूर्वक दृश्यप्रपंचका पूर्णतया अभाव करके अभाव करनेवाली वृत्तिको भी ब्रह्ममें लीन कर देना चाहिये।

(२)

सम्पूर्ण जगत् मायामय है। एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ब्रह्म ही सत्य तत्त्व हैं; उनके सिवा जो कुछ प्रतीत होता है, सब अनात्म है, अवस्तु है। उनके सिवा कोई वस्तु है ही नहीं। काल और देश भी उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। एकमात्र वही हैं और उनका वह ज्ञान भी उन्हींको है। वे नित्य ज्ञानस्वरूप, सनातन, निर्विकार, असीम, अपार, अनन्त, अकल और अनवद्य परमानन्दमय हैं। वे सदसद्विलक्षण अचिन्त्यानन्दस्वरूप हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण अनात्मवस्तुओंका अभाव करके उनके आनन्दमय स्वरूपमें वृत्तिको जमा दे। बार-बार आनन्दकी आवृत्ति करता हुआ साधक ऐसा दृढ़ निश्चय करे कि वह असीम आनन्द है, घनानन्द है, अचलानन्द है, शान्तानन्द है, कूटस्थ आनन्द है, ध्रुवानन्द है, नित्यानन्द है, बोधस्वरूपानन्द है, ज्ञानस्वरूपानन्द है, परमानन्द है, महान् आनन्द है, अनन्त आनन्द है, अव्ययानन्द है, अनामयानन्द है, अकलानन्द है, अमलानन्द है, अजानन्द है, चिन्मयानन्द है। केवलानन्द है, एकमात्र आनन्द-ही-आनन्द—परिपूर्णानन्द है। आनन्दके सिवा और कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार आनन्दमय ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ साधक अपने मन-बुद्धिको नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मामें विलीन कर दे।

(३)

जैसे कमरेमें रखे हुए घड़ेका आकाश (घड़ेके अंदरकी पोल) कमरेके आकाशसे भिन्न नहीं है और कमरेका आकाश उस महान् सुविस्तृत आकाशसे भिन्न नहीं है। कमरे और घड़ेकी उपाधिसे ही घटाकाश-मठाकाश-भेदसे छोटे-बड़े बहुत-से आकाश प्रतीत होते हैं, वस्तुतः सभीको अपने ही अंदर अवकाश देनेवाला, एक ही महान् आकाश सर्वत्र परिपूर्ण है। घड़ेका क्षुद्र-सा दिखलायी देनेवाला आकाश यदि अपनी घटाकार उपाधिरूप अल्प सीमाको त्यागकर एक महान् आकाशमें स्थित होकर—जो उसका वास्तविक स्वरूप है—उसकी महान् दृष्टिसे देखे तो उसको पता लगेगा कि सब कुछ उसीमें कल्पित है; सबके अंदर-बाहर केवल वही भरा है। अंदर-बाहर ही नहीं, घड़ेका निर्माण जिस उपादानकारणसे हुआ है, वह उपादानकारण भी मूलमें वस्तुतः वही है। उसके सिवा और कुछ है ही नहीं। वैसे ही एक ही चेतन आत्मा सर्वत्र परिपूर्ण है। उपाधिभेदसे ही यह विभिन्नता प्रतीत होती है। साधकको चाहिये कि इस प्रकार विचार करके वह व्यष्टिशरीरमेंसे आत्मरूप 'मैं' को निकालकर चिन्मय समष्टिरूप परमात्मामें स्थित हो जाय और फिर उसके समष्टिबुद्धिरूप नेत्रोंसे समस्त विश्वको अपने शरीरसहित उसीमें कल्पित देखे और यह भी देखे कि इसमें जो कुछ भी क्रिया हो रही है, सब परमात्माके ही अंदर परमात्माके ही संकल्पसे हो रही है। सबका निमित्त और उपादानकारण केवल परमात्मा ही है। वही सर्वरूप है और मैं उससे अभिन्न हूँ।

असलमें जड, परिणामी, शून्य, विकारी और सीमित अनित्य आकाशके साथ चेतन, सदा एकरस, सच्चिदानन्दघन, निर्विकार और असीम तथा नित्य परमात्माकी तुलना ही

नहीं हो सकती। यह दृष्टान्त तो केवल आंशिकरूपसे समझनेके लिये ही है। उपर्युक्त ध्यान व्यवहारकालमें भी किया जा सकता है।

(४)

साधक मानस मूर्ति बनाकर इस प्रकार ध्यान करे—

अपने सामने जमीनसे कुछ ऊँचेपर सुन्दर तेजपूर्ण दिव्य आसनपर भगवान् विष्णु विराजमान हैं। नील मेघके समान नील श्याम और नील मणिके समान चमकदार मनोहर नील वर्ण हैं। भगवान्‌के सभी अंग परम सुन्दर हैं और प्रत्येक अंग अपनी मनोहरतासे चित्तको अपनी ओर खींच रहा है। भगवान्‌के चरणारविन्द बड़े ही मनोहर हैं, चरणनखोंकी सहस्रों चन्द्रमाओंकी-सी मधुर ज्योति नील चरणोंपर पड़कर अनन्त शोभा पा रही है। चरणोंमें रत्नजटित बजनेवाले नूपुर हैं। सुन्दर जानु और कदलीखम्भ-सी चिकनी-चमकीली जंघाएँ हैं। मेघश्याम नीलपद्मवर्ण शरीरपर सुवर्णवर्ण पीताम्बर सुशोभित है। कमरमें रत्नमण्डित करधनी है। सुन्दर चार लंबी भुजाएँ हैं। दाहिने ऊपरके हाथमें अत्यन्त उज्ज्वल तीक्ष्ण किरणधारोंसे युक्त चक्र है और नीचेके हाथमें कौमोदकी गदा है। बायें ऊपरके हाथमें सुन्दर श्वेत, विशाल और विजयी पांचजन्य शंख और नीचेके हाथमें सुन्दर रक्तवर्ण कमल सुशोभित है। भुजाओंमें यथास्थान रत्नोंके कड़े, बाजूबंद शोभा पा रहे हैं। हाथोंकी अँगुलियोंमें विविध रत्नोंकी अँगूठियाँ हैं। भगवान्‌का वक्षःस्थल विशाल और परम सुन्दर है, उसमें श्रीवत्स और भृगुलताका चिह्न सुशोभित है। गलेमें रत्नोंका हार, मुक्ताओंकी माला, हृदयपर कौस्तुभमणि, तुलसीयुक्त मनोहर सुगन्धपूर्ण पुष्पमाला और वैजयन्तीमाला विभूषित हैं। भगवान्‌के ऊँचे विशाल कंधे हैं। नील कमलके समान सुन्दर भगवान्‌का गला अत्यन्त मनोहर है। मनोहर चिबुक है। लाल-लाल अधर-ओष्ठ हैं। अति सुन्दर चमकीली दन्तपंक्ति है। भगवान् मन्द-मन्द मुसकरा रहे हैं। भगवान्‌की सुन्दर नुकीली नासिका है। रमणीय मनोहर सुन्दर चमकीले कपोल हैं। दोनों कानोंमें अत्यन्त सुन्दर रत्नजटित मकराकृति कुण्डल झलमला रहे हैं। कमलके समान विशाल और प्रफुल्लित नेत्र हैं। उनसे स्वाभाविक ही दया, प्रेम, शान्ति, ज्ञान, आनन्द और समत्वकी ज्योतिधारा बह रही है। विशाल, उन्नत और प्रकाशमान ललाटपर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक सुशोभित है। काले घुँघराले मुनिमनहारी केश हैं। मस्तकपर देदीप्यमान रत्नजटित दिव्य किरीट शोभा पा रहा है। भगवान्‌के चारों ओर अनन्त सूर्योंका-सा परन्तु शीतल प्रकाश छा रहा है और उसमेंसे आनन्दका समुद्र उमड़ रहा है।

(५)

अनन्त क्षीरसमुद्रके अंदर अनन्तदेव श्रीशेषनागजी हैं, उनके एक हजार मस्तक हैं और उन सभीपर वे मुकुट धारण किये हुए हैं। उनके कमलनालके समान सफेद शरीरपर नीलवर्णका सुन्दर वस्त्र है। उनका कमनीय कलेवर हजार शिखरोंवाले कैलासपर्वतके समान है। उन शेषजीकी शय्या बनाकर भगवान् श्रीविष्णु सुखपूर्वक शयन कर रहे हैं। मेघके समान मनोहर नीलवर्ण है। रेशमी पीताम्बर धारण किये हुए हैं। उनके बड़े ही सुन्दर चरणकमल हैं, जो कोमल अँगुलियों और अंगूठोंसे शोभायमान हैं। चरणकमल मनोहर सुन्दर गुल्फोंसे युक्त हैं और अरुणवर्ण नखोंकी ज्योतिसे झलमला रहे हैं। चरणोंमें मनोहर नूपुर हैं। उनका सुन्दर कटिप्रदेश है। कटिमें मनोहर करधनी है। दो सुन्दर जानु हैं और मनोहर जंघाएँ हैं। त्रिवलीयुक्त उदर अत्यन्त शोभायमान है। गम्भीर नाभि है। वक्षःस्थलमें श्रीलक्ष्मीजी विराजमान हैं। चार विशाल, लंबी और स्थूल भुजाएँ हैं। भुजाओंमें कड़े और बाजूबंद, हृदयपर हार सुशोभित हैं। सुन्दर गला है, मनोहर चिबुक है। मुख अति मनोहर और सुप्रसन्न है। मुसकानमयी चितवन चित्त हरे लेती है। भृकुटी और नासिका ऊँची और सुहावनी हैं। मनोहर कान, कपोल, ललाट और अरुण अधर सुशोभित हैं। कानोंमें रत्नजटित मकराकृति कुण्डल हैं। नेत्र कमलदलके समान विशाल और मधुर अरुणवर्ण हैं। मस्तकपर सुन्दर सुवर्णमुकुट शोभित है। अत्यन्त शान्तमूर्ति हैं। उनके अंग-अंगसे आनन्दकी ज्योति विकसित हो रही है।

(६)

मिथिलापुरीमें महाराज जनकके दरबारमें भगवान् श्रीरामजी अपने छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजीके साथ पधारते हैं। भगवान् श्रीराम नवनीलनीरद दूर्वाके अग्रभागके समान हरित आभायुक्त सुन्दर श्यामवर्ण और श्रीलक्ष्मणजी स्वर्णाभ गौरवर्ण हैं। दोनों इतने सुन्दर हैं कि जगत्‌की सारी शोभा और सारा सौन्दर्य इनके सौन्दर्यसमुद्रके सामने एक जलकण भी नहीं है। किशोर-अवस्था है। धनुष-बाण और तरकस धारण किये हुए हैं। कमरमें सुन्दर दिव्य पीताम्बर है। गलेमें मोतियोंकी, मणियोंकी और सुन्दर सुगन्धित तुलसीमिश्रित पुष्पोंकी मालाएँ हैं। विशाल और बलकी भण्डार सुन्दर भुजाएँ हैं जो रत्नजटित कड़े और बाजूबंदसे सुशोभित हैं। ऊँचे और पुष्ट कंधे हैं। अति सुन्दर चिबुक है। नुकीली नासिका है। कानोंमें झूमते हुए मकराकृति सुवर्णकुण्डल हैं। सुन्दर अरुणिमायुक्त कपोल हैं। लाल-लाल अधर हैं। उनके सुन्दर मुख शरत्पूर्णिमाके चन्द्रमाको

भी नीचा दिखानेवाले हैं। कमलके समान बहुत ही प्यारे उनके विशाल नेत्र है। उनकी सुन्दर चितवन कामदेवके भी मनको हरनेवाली है। उनकी मधुर मुसकान चन्द्रमाकी किरणोंका तिरस्कार करती है। तिरछी भौंहें हैं। चौड़े और उन्नत ललाटपर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक सुशोभित हैं। काले, घुँघराले मनोहर बालोंको देखकर भौंरोंकी पंक्तियाँ भी लजा जाती हैं। मस्तकपर सुन्दर सुवर्णमुकुट सुशोभित है। कंधेपर यज्ञोपवीत शोभा पा रहे हैं। मत्त गजराजकी चालसे चल रहे हैं। इतनी सुन्दरता है कि करोड़ों कामदेवोंकी उपमा भी उनके लिये तुच्छ है।

(७)

महामनोहर चित्रकूट पर्वतपर वटवृक्षके नीचे भगवान् श्रीराम, भगवती श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी बड़ी सुन्दर रीतिसे विराजमान हैं। नीले और पीले कमलके समान कोमल और अत्यन्त तेजोमय उनके श्याम और गौर शरीर ऐसे लगते हैं, मानो चित्रकूटरूपी काम-सरोवरमें प्रेम, रूप और शोभामय कमल खिले हों। ये नखसे शिखतक परम सुन्दर, सर्वथा अनुपम और नित्य दर्शनीय हैं। भगवान् राम और लक्ष्मणके कमरमें मनोहर मुनिवस्त्र और सुन्दर तरकस बँधे हैं। श्रीसीताजी लाल वसनसे और नानाविध आभूषणोंसे सुशोभित हैं। दोनों भाइयोंके वक्ष:स्थल और कंधे विशाल हैं। कंधोंपर यज्ञोपवीत और वल्कल-वस्त्र धारण किये हुए हैं। गलेमें सुन्दर पुष्पोंकी मालाएँ हैं। अति सुन्दर भुजाएँ हैं। करकमलोंमें सुन्दर-सुन्दर धनुष-बाण सुशोभित हैं। परम शान्त, परम प्रसन्न मनोहर मुख-मण्डलकी शोभाने करोड़ों कामदेवोंको जीत लिया है। मनोहर मधुर मुसकान है। कानोंमें पुष्प-कुण्डल शोभित हो रहे हैं। सुन्दर अरुण कपोल हैं। विशाल कमल-जैसे कमनीय और मधुर आनन्दकी ज्योतिधारा बहानेवाले अरुण नेत्र हैं। उन्नत ललाटपर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक हैं और सिरपर जटाओंके मुकुट बड़े मनोहर लगते हैं। प्रभुकी यह वैराग्यपूर्ण मूर्ति अत्यन्त सुन्दर है।

(८)

नन्दबाबाके आँगनमें नन्हे-से गोपाल थिरक-थिरककर नाच रहे हैं। नवीन मेघके समान श्याम आभासे युक्त नयन-मनहारी सुन्दर वर्ण है। श्याम शरीरपर माताके द्वारा पहनाया हुआ बहुत पतला रेशमी चमकदार पीला कुरता ऐसा जान पड़ता है, मानो श्याम घनघटामें इन्द्रधनुष सुशोभित हो। सुन्दर नन्हे-नन्हे लाल आभायुक्त मनोहर चरणकमल हैं। चरणनखोंकी ज्योति चरणकमलोंपर पड़कर अत्यन्त सुशोभित हो रही है। चरणोंमें नूपुरोंकी और कमरमें करधनीकी ध्वनि हो रही है, जो सुननेवालोंके हृदयमें आनन्द भर रही है। सुन्दर त्रिवलीयुक्त उदर है। गम्भीर नाभि है। हृदयपर गजमुक्ताओंकी, रत्नोंकी और सुन्दर सुगन्धित पुष्पोंकी तथा तुलसीजीकी मालाएँ सुशोभित हैं। गलेमें गुंजाहार है, कौस्तुभमणि है और चौड़े वक्ष:स्थलपर श्रीवत्सका चिह्न है। अत्यन्त रमणीय और ज्ञानिजन-मनमोहन मनोहर मुखकमल है। बड़ी मीठी मुसकान है। कानोंमें कुण्डल झलमला रहे हैं। गुलाबी रंगके गोल कपोल कुण्डलोंके प्रकाशसे चमक रहे हैं। लाल-लाल होंठ बड़े ही कोमल और मनोहर हैं। बाँके और विशाल कमल-सरीखे नेत्र हैं। उनमेंसे आनन्द, प्रेम और रसकी विद्युत्-धारा निकल-निकलकर सबको अपनी ओर खींच रही है। नेत्रोंकी मनोहरताने सबके हृदयोंको आनन्द और प्रेमसे भर दिया है। उन्नत ललाट है। मस्तकपर मोरकी पाँखोंका मुकुट पहने हैं। विचित्र आभूषणोंसे और नवीन-नवीन कोमल पल्लवोंसे सारे शरीरको सजा रखा है। अंग-अंगसे करोड़ों कामदेवोंपर विजय प्राप्त करनेवाली सुन्दरता प्रवाहित हो रही है। उछलते, कूदते, हँसते, जोरसे मधुर आवाज लगाते हुए बीच-बीचमें मैया यशोदाकी ओर ताक रहे हैं। माता अतृप्त और निर्निमेष नेत्रोंसे भुवनमोहन लालकी मनोहर माधुरी छबिको निरख-निरखकर मुग्ध हो रही हैं।

(९)

कुरुक्षेत्रमें दोनों सेनाओंके बीच अर्जुनका दिव्य रथ खड़ा है। सब ओर शान्ति-सी छायी हुई है। रथके अगले भागपर वीर-वेषमें कवच-कुण्डलधारी भगवान् श्रीकृष्ण विराजित हैं। श्यामवर्ण है। शरीरपर पीताम्बर सुशोभित है। जगत्की सारी सुन्दरता उनकी सुन्दरतापर न्योछावर हो रही है। परम सुन्दर मुखकमल प्रफुल्लित है, शान्त है और अपने तेजसे सबको प्रकाशित कर रहा है। कानोंमें मकराकृति कुण्डल हैं। रक्त कमलके समान विशाल नेत्रोंसे ज्ञानकी दिव्य ज्योति प्रस्फुटित हो रही है। उन्नत ललाटपर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक सुशोभित है। काले घुँघराले मनोहर केश हैं। सिरपर रत्नमण्डित स्वर्णमुकुट शोभा पा रहा है। एक हाथमें घोड़ोंकी लगाम है, चाबुक पास रखी है और दूसरा हाथ ज्ञानमुद्रासे सुशोभित है। अर्जुन रथके पिछले भागमें बैठे हुए अत्यन्त करुणभावसे शरणापन्न हुए भगवान्‌की ओर देख रहे हैं और श्रीभगवान् बड़ी ही शान्ति और धीरताके साथ आश्वासन देते हुए और अपनी मधुर मुसकानसे अर्जुनके विषादको नष्ट करते हुए उन्हें गीताका महान् उपदेश दे रहे हैं।

(१०)

सुन्दर कैलास पर्वतपर भगवान् श्रीशंकर विराजमान हैं। रक्ताभ सुन्दर गौर वर्ण है। रत्नसिंहासनपर मृगछाला

बिछी है, उसीपर आप आसीन हैं। चार भुजाएँ हैं, दाहिने ऊपरका हाथ ज्ञानमुद्राका है, नीचेके हाथमें फरसा है, बायाँ ऊपरका हाथ मृगमुद्रासे सुशोभित है, नीचेका हाथ जानुपर रखे हुए हैं। गलेमें रुद्राक्षोंकी माला है, साँप लिपटे हुए हैं, कानोंमें कुण्डल सुशोभित हैं। ललाटपर त्रिपुण्ड्र शोभा पा रहा है, सुन्दर तीन नेत्र हैं, नेत्रोंकी दृष्टि नासिकापर लगी है, मस्तकपर अर्द्धचन्द्र है, सिरपर जटाजूट सुशोभित है। अत्यन्त प्रसन्न मुख है। देवता और ऋषि भगवान्‌की स्तुति कर रहे हैं। बड़ा ही सुन्दर विज्ञानानन्दमय स्वरूप है।

इसी प्रकार भगवान् नृसिंह, शक्ति, सूर्य आदि अपने-अपने इष्टदेवोंका ध्यान करना चाहिये।

प्रेम और समता

जिससे प्रेम बढ़ाना हो, स्वार्थ और अहंकारको त्याग कर उसके हितके कार्योंमें लग जाना ही प्रेम-वृद्धिका सर्वोत्तम उपाय है। जैसे मनुष्य अपने हितके लिये सदा सोचता रहता है, वैसे ही जिससे प्रेम करनेकी इच्छा हो उसके हितका विचार भी सदा करते रहना चाहिये।

प्रेममें स्वार्थकी गन्ध भी नहीं होनी चाहिये। जहाँ स्वार्थका भाव आया, वहीं प्रेमका टूटना प्रारम्भ हुआ। वास्तवमें स्वार्थ और अहंकार—ये दोनों ही प्रेम-मार्गमें बड़े बाधक हैं। मान लीजिये, हमने किसीके हितका काम किया और फिर यह कह दिया कि 'इसके हितसाधनमें मेरा कोई भी स्वार्थ नहीं है।' बस, इस अहंकारके उत्पन्न होते ही प्रेमकी वीणाके तार छिन्न-भिन्न होने लगते हैं। आप सेवा करके किसीको रोगादि संकटोंसे बचाते हैं—द्रव्यादिके द्वारा किसीकी विपत्तिका निवारण करते हैं। ये सभी हितपूर्ण कार्य प्रेमकी वृद्धिमें परम सहायक हैं, किन्तु आप इन सेवाओंको यदि किसीके सामने प्रकट कर देते हैं तो सब किया-कराया मिट्टी हो जाता है। इसलिये किसीकी सेवा या उपकार करके उसे कहना नहीं चाहिये; क्योंकि अपने उपकारोंको प्रकट करनेसे अभिमानकी वृद्धि होती है और अभिमानको कोई भी सहन नहीं कर सकता। मनुष्य स्वयं चाहे अहंकारका कितना ही शिकार बना रहे, किन्तु वह दूसरेके अहंकारको नहीं सह सकता।

जरा-सी खटाई पड़ जानेपर जिस प्रकार दूध एकदम फट जाता है, उसी प्रकार उत्तम सेवारूप दूधमें अहंकारपूर्ण वचनकी खटाईके पड़ जानेपर वह सारी सेवा व्यर्थ हो जाती है। जबकि सेवा और हितसाधनके कार्य ही प्रेमके आधार हैं तो उनके व्यर्थ हो जानेपर प्रेम टिक ही कैसे सकता है? इसलिये प्रेमको बढ़ाने और उसे स्थिर बनाये रखनेके लिये निःस्वार्थ और निरभिमान होकर सबके हितमें रत रहना चाहिये।

हमलोगोंमें स्वार्थ और अहंकारकी भावनाएँ बद्धमूल हो रही हैं। वास्तवमें ये स्वार्थ और परमार्थ दोनोंहीके लिये बाधक हैं। मान लीजिये, हमने अपने किसी कष्टमें पड़े हुए मित्रको आर्थिक सहायता देकर कष्टसे बचाया और अब फिर किसी दूसरे अवसरपर किसी सज्जनके सामने अपनी इस सेवाका बखान कर दिया। संयोगवश इन सज्जनके द्वारा यह बात उस दुःखित मित्रके पास पहुँचा दी गयी। इसका परिणाम क्या होगा? यही कि सेवा करनेवाले मित्रके प्रति दुःखित मित्रका प्रेम घट जायगा और उसे इस बातका पश्चात्ताप होगा कि 'मैंने उस मौकेपर इसकी सहायता लेकर बड़ा ही बुरा काम किया।' वह अपने मनमें बार-बार यही संकल्प करके दुःखित होता रहेगा कि 'मुझे यदि यह पता होता कि वह मेरी सहायताकी चर्चा दूसरोंके सामने करके मेरे आत्म-सम्मानपर इस प्रकार आघात पहुँचायेगा तो मैं उसकी सहायताको कभी स्वीकार ही न करता।'

इस तरह हम अपने एक प्रेमी मित्रकी सद्भावनाओंसे हाथ धोकर स्वार्थदृष्टिसे अपना बड़ा भारी अहित कर बैठते हैं। इसी प्रकार अपनी सेवाओं और सत्कार्योंको अपने मुखसे गिना देनेपर हम पारमार्थिक लाभसे भी वंचित हो जाते हैं। शास्त्रकारोंका तो यहाँतक कहना है कि अपने उत्तम कार्योंको गिना देनेसे वे कर्म सर्वथा व्यर्थ हो जाते हैं। राजा त्रिशंकुने अपने मुँहसे अपने कर्मोंकी प्रशंसा की थी इससे वे स्वर्गसे च्युत हो गये थे। इसलिये हमलोग जो भी भजन, ध्यान, सेवा, पूजा और परोपकारादि उत्तम कर्म करें, उनका बखान अपने मुँहसे हमें कभी नहीं करना चाहिये। पूछे जानेपर भी इस सम्बन्धमें मौन रहना अथवा उस प्रसंगको टाल देना ही श्रेयस्कर है। स्त्रियोंमें प्रायः यह दोष अधिकरूपसे देखा जाता है। वे सेवा आदि उत्तम कामोंको अधिकतर गुप्त नहीं रख सकतीं। पुरुष भी प्रेमको तोड़नेवाली इस बुरी आदतके कम शिकार नहीं हैं। इसलिये हम सभीको इस बातका विशेष प्रयत्न करना चाहिये कि किसीके प्रति किया हुआ उपकार किसीके भी सामने प्रकट न किया जाय। जिसका उपकार किया जाता है वह तो उस उपकारको जानता ही है, फिर दूसरोंके सामने यदि उसे प्रकट किया जाता है तो उसमें मान-बड़ाईकी प्राप्तिका

भाव ही छिपा हुआ समझना चाहिये। अन्यथा डिंडिम-घोष करनेसे लाभ ही क्या है? किन्तु, हाँ, यदि किसीके प्रति किये हुए हितको जनाने और कहनेसे उस उपकृत व्यक्तिका लाभ होता हो तो उसे प्रकट करना दोष नहीं है, किन्तु ऐसे स्थल बहुत ही कम प्राप्त होते हैं। मान लीजिये, किसी सज्जनको दो सौ रुपयोंकी जरूरत है। उन्होंने हमसे यह बात कही। हम उन्हें दो सौ न देकर केवल पचास ही दे सके, अब उनके शेष डेढ़ सौकी पूर्तिके उद्देश्यसे अपने द्वारा दिये हुए पचास रुपयोंका प्रसंग किसीके सामने चलानेको हम यदि विवश होते हैं और इससे उन सज्जनको और रुपये मिल जाते हैं तो निश्चय ही हमारा इस बातको प्रकट करना हानिकारक न होकर लाभदायक ही है; क्योंकि ऐसा करनेसे उनको दुःख न होकर उलटा सुख ही प्राप्त होता है और हमारा उद्देश्य भी मान-बड़ाईका न होकर केवल हितसाधनका ही है; किन्तु ऐसा करते समय भी हमें बहुत सावधान रहनेकी आवश्यकता है, स्वार्थका भाव किसी-न-किसी रूपमें आ ही जाता है। इसलिये उस समय भी अपने हृदयको अच्छी तरह टटोल लेना चाहिये कि अपने द्वारा की हुई उस सेवाके प्रकट करनेमें कहीं मान-बड़ाईकी सूक्ष्म भावना तो अंदर नहीं छिपी है?

आजकल निष्कामभावका तो प्रायः अभाव-सा ही हो गया! जिधर देखिये उधर ही स्वार्थका बोलबाला है। वास्तवमें स्वार्थकी भावना निष्काम प्रेमके लिये कलंकस्वरूप है। निष्कामभावसे किया हुआ आचरण अमृतस्वरूप माना गया है। भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे यदि किसीसे भी प्रेम किया जाता है तो वह भगवान्‌के ही लिये समझा जाता है किन्तु यदि धन अथवा मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये किया जाता है तो वह उनके लिये ही है, ईश्वरके लिये नहीं।

प्रेमकी उत्पत्ति सेवासे होती है। भगवत्-प्रेमकी प्राप्ति भी सेवा और भक्तिसे ही होती है। सेवासे भी भक्तिका दर्जा ऊँचा है। सेवा तो हर किसीकी हो सकती है, किन्तु भक्ति हर किसीकी नहीं होती। भक्तिमें सेवा तो रहती ही है, पर साथमें श्रद्धा और प्रेमका भी समावेश रहता है, प्रेमका महत्त्व तो भक्तिसे भी अधिक है। प्रेम भक्तिका फल है और वह व्यापक भी है। सेवाका फल भी प्रेम ही है।

प्रेमकी प्राप्ति भक्ति और उपकारसे हो सकती है। इसलिये प्रेमके इच्छुकोंको चाहिये कि वे यथासाध्य सबके उपकार और सेवा करनेमें तत्परताके साथ लग जायँ। सेवा और उपकारमें भी अन्तर है, सेवामें तो विनयकी अधिकता और अहंकारका अभाव है, किन्तु उपकारमें अहंकारका समावेश भी है। दूसरेके हितसाधनमें रत रहनेवालेको स्वार्थ और अहंकारका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। निःस्वार्थभावसे निरहंकार होकर सबकी सेवा करना ही सबके प्रेमको प्राप्त करना है। सेवक होकर यदि अपने सेवाकार्यको गिना दे, उसका अहसान कर दे तो उस सेवाकी कीमत वहीं घट जाती है—निष्कामभावमें कलंक लग जाता है। यदि सेवा निष्कामभावसे की गयी तो उसे प्रकट क्यों किया गया, प्रकट करते ही वह सकाम हो जाती है। सेवा करके उसे कह देनेपर सेवाका महत्त्व तो घट ही जाता है, किन्तु उसके साथ ही यदि यह कह दिया गया कि 'मैंने तो निष्कामभावसे सेवा की' तो उसका दर्जा और भी घट जाता है। निष्कामभाव तो हृदयमें रखनेयोग्य एक गोपनीय निधि है। वह ढिंढोरा पीटनेकी चीज नहीं।

हमलोगोंका प्रेम उच्च कोटिका नहीं, साधारण श्रेणीका है। जहाँ प्रेम होता है वहाँ नेम नहीं रहता। संकोच, भय और आदर आदिको प्रेमके राज्यमें कोई स्थान नहीं मिलता। मान-बड़ाई और संकोच आदिकी वहाँ गन्ध भी नहीं है। इन भावोंका जितना ही अभाव होता है उतना ही प्रेम अधिक महत्त्वका माना जाता है। प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद—ये तीनों वास्तवमें एक ही हैं। प्रेमास्पद प्रेमीका जितना ही निरादर करता है उतना ही वह आनन्दित होता है। प्रेमीको चाहे कितनी खोटी-खरी सुनायी जाय, कितना ही वह तिरस्कृत हो किन्तु फिर भी प्रेमास्पदके प्रति उसके मनमें अधिकाधिक प्रेम ही बढ़ता रहता है। जिसको हम बिना हिचकिचाहटके उपालम्भ दे सकें, निस्संकोच कड़ी बातें सुना सकें, वही सच्चा प्रेमी है। जिसमें प्रेमका अभाव है, वह कड़ी आलोचना या निन्दा सह नहीं सकता। मान लीजिये कि मैं किसीके सामने आपकी बुराई, आपके दोषोंकी चर्चा करूँ अथवा आपकी चीज किसीको दे दूँ या किसीके सामने आपकी जिम्मेवारी ले लूँ और आपके चित्तमें कोई विकार न हो तो समझा जाय कि आपका मुझपर प्रेम है। यदि प्रेमास्पद प्रेमीकी चीजको उसकी सम्मति लिये बिना ही किसीको दे देता है तो प्रेमीके चित्तमें आनन्द होता है। वह यह कभी नहीं सोचता कि मेरे पूछे बिना ही मेरी वस्तुका इस प्रकार उपयोग क्यों किया गया। प्रेमीको कठिन-से-कठिन काममें यदि प्रेमास्पद नियुक्त कर दे, यहाँतक कि उसकी सम्मतिके बिना उसका बलिदान भी कर दे तो भी प्रेमी प्रसन्न ही रहता है, उसके चित्तमें इतना उल्लास होता है कि मानो उसे साक्षात् ईश्वरके दर्शन ही हो गये किन्तु ऐसा प्रेमी मिलना बहुत मुश्किल है। अस्तु—

जिन्हें प्रेम प्राप्त करना हो उन्हें दो बातोंको भूल जाना चाहिये। दूसरेके प्रति किया हुआ उपकार और दूसरेके द्वारा किया हुआ अपना अपकार। इनका संस्काररूपमें भी

मनमें रहना निष्कामभावके लिये कलंकस्वरूप है। दो बातें कभी भुलानी नहीं चाहिये—(१) हमारे प्रति दूसरेका किया हुआ उपकार और (२) अपने द्वारा किया हुआ दूसरेका अपकार। इन बातोंको जीवनपर्यन्त याद रखना चाहिये। जो हमारा उपकार करता है उसे याद रखनेसे हमारे मनमें उसका उपकार करनेकी भावना सदा बनी रहेगी, जो हमारे कल्याणमें सहायक सिद्ध होगी। हमारे द्वारा जो अपकार बन गया है उसको याद रखनेपर हमारे मनमें पश्चात्ताप होगा। पश्चात्ताप एक प्रकारका प्रायश्चित्त है जो अन्तःकरणकी शुद्धि करके हमें कल्याण-मार्गमें अग्रसर करता है। उपकारके प्रति जब हम कृतज्ञ बने रहेंगे तो समय पड़नेपर हम उस उपकारके ऋणसे मुक्त हो सकेंगे। अपने द्वारा किये हुए अनिष्टका चिन्तन रहनेसे पश्चात्तापरूपी प्रायश्चित्तके द्वारा हम पापसे मुक्त हो सकेंगे। बार-बार जन्म होनेमें दो ही प्रधान हेतु हैं—(१) पाप, (२) ऋण। जो निष्पाप और उऋण हैं वे मुक्त ही हैं।

यदि हमने किसीका उपकार करके वाणीसे प्रकट नहीं किया किन्तु मनमें संस्काररूपसे भी उसे रहने दिया तो भी निष्कामभावके लिये, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कलंकरूप ही है। इसी प्रकार दूसरेके द्वारा किये हुए अपने अपकारको भी यदि हृदयसे सर्वथा नहीं हटाया तो हमारे मनमें इस बातकी इच्छा बनी रहेगी कि उस अपकारकको किसी प्रकार दण्ड मिल जाय तो ठीक है। अतएव प्रेमकी वृद्धिके लिये मन, वाणी और व्यवहारमें निष्कामभाव तथा अहिंसा और निरहंकारताका होना बहुत ही आवश्यक है। जहाँ स्वार्थ और अहंकार होता है वहाँ प्रेम नहीं ठहर सकता।

व्यवहारमें समताके भावकी भी बड़ी आवश्यकता है। संसारमें वस्तुतः वही मनुष्य धन्य है जिसे सम भावकी प्राप्ति हो गयी है। इस भावको कार्यरूपमें परिणत करना ही गौरवकी बात है। मनुष्यका अपने शरीरके सभी अंगोंमें आत्मीयता और प्रेमका भाव समानरूपसे रहता है। सिर, हाथ-पैर आदि शरीरके किसी भी अवयवके दुःखका अनुभव मनुष्यको समानरूपसे होता है। इसी प्रकार यदि मनुष्य सबके सुख-दुःखोंका अनुभव अपने ही सुख-दुःखोंकी भाँति करने लगे तो उसमें समताका भाव माना जा सकता है। भगवान् श्रीकृष्णने यही बात गीतामें कही है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६। ३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

वास्तवमें महात्मा वही है जो ब्रह्माण्डभरमें अपने आत्माको व्यापक देखता है। एक देशमें—अर्थात् केवल शरीरमें ही आत्माको सीमित समझनेवाला महात्मा नहीं—अल्पात्मा है। वह महात्माकी भाँति समस्त प्राणियोंके सुख-दुःखोंका अनुभव नहीं कर सकता। उसमें सहानुभूति और समवेदनाका बड़ा अभाव रहता है। समदर्शी महात्माओंकी स्थितिका ज्ञान-दृष्टिसे वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(गीता ६। २९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है।'

यह समदर्शिताकी स्थिति—यह समताका भाव भगवान्की कृपासे प्राप्त हो सकता है। इसलिये भगवान्को याद रखते हुए ऐसा भाव प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

जब भक्तिके सिद्धान्तसे विचार करते हैं तो समस्त संसारको ईश्वरका रूप समझ लेनेपर समताका भाव प्राप्त हो जाता है। श्रीतुलसीदासजी महाराजने कहा है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

वास्तवमें भगवान्का वही अनन्य भक्त है, जो समस्त सचराचर भूत-समुदायको साक्षात् ईश्वरका स्वरूप समझकर सबके साथ समताका व्यवहार करता है। ज्ञानकी दृष्टिसे यह भाव रहता है कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मेरा ही आत्मा है और भक्तिकी दृष्टिसे यह भाव रहता है कि यह सब मेरे स्वामीका ही रूप है और मैं इस समस्त भूतसमुदायका सेवक हूँ।

दोनोंमेंसे किसी एक मार्गसे भी समत्वबुद्धि प्राप्त हो जानेपर मनुष्यमें स्वाभाविक ही दया, विनय और प्रेम आदि उत्तमोत्तम गुणोंका अधिकाधिक विकास हो जाता है और उसके अन्तःकरणके राग-द्वेष आदि समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं। ऐसे राग-द्वेषरहित समदर्शी महात्माके द्वारा जो भी व्यवहार होता है वह लोगोंके लिये आदर्श और कल्याणप्रद ही होता है। अतएव समताका भाव प्राप्त करनेके लिये निरन्तर भगवान्को याद रखनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

शरणागति और प्रेम

भगवान्‌की शरणमें रहनेसे साधकको बड़ी शक्ति मिलती है। फिर उसमें दुर्गुण-दुराचार रह ही नहीं सकते। जिस प्रकार सूर्यकी सन्निधिमें रहनेवालेके पास शीत और अन्धकार नहीं फटक सकते, उसी प्रकार जिसके हृदयमें श्रीभगवान् विराजमान हैं उसके पास दुर्गुण नहीं आ सकते। यही नहीं, जिस तरह सूर्यके आश्रयसे अनायास ही गर्मी और प्रकाश प्राप्त होते हैं, वैसे ही भगवान्‌के आश्रयसे भी स्वतः ही सद्‌गुण और सदाचारकी वृद्धि होने लगती है। भगवदाश्रयका सुदृढ़ निश्चय होनेपर ही ऐसा होता है। ऐसे शरणागत भक्तको यदि कभी किसी दुर्गुणसे बाधा होगी भी तो उसके 'हे नाथ! हे नाथ!' ऐसा पुकारते ही वह दुर्गुण दूर चला जायगा। यदि निर्भरताकी कमीके कारण कभी ऐसा जान पड़े कि हमारे हृदयमें कोई कुविचार प्रवेश करना चाहता है तो हमें कातर स्वरसे 'हे नाथ! हे नाथ!' पुकारना चाहिये। प्रभुका आश्रय लेनेसे चिन्ता, भय, शोक एवं सब प्रकारके दुर्गुण-दुराचार मूलसहित नष्ट हो जाते हैं तथा सद्‌गुण, सदाचार एवं शान्ति आदिका स्वतः ही विकास होता है।

इन सारे गुणोंकी प्राप्ति भगवच्छरणागतिसे हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या, ये सब तो भगवान्‌के प्रेमियोंके सहवाससे भी प्राप्त हो सकते हैं। जो पुरुष भगवत्कृपाके रहस्यको समझ जाता है उसमें दया, गम्भीरता, शान्ति और सरलता आदि सद्‌गुण स्वयं ही आ जाते हैं। उसके हृदयमें आनन्दका समुद्र उमड़ने लगता है तथा दृष्टिमें सर्वत्र समताका साम्राज्य छा जाता है। हमलोग भगवद्दर्शनके लिये बहुत उतावले रहते हैं; परन्तु भगवान् कभी अपात्रको दर्शन नहीं देते। यदि हम पात्र होंगे तो हमारे सामने प्रभु आप ही प्रकट हो जायँगे। इसके लिये अनन्य प्रेमकी आवश्यकता है। जो सच्चे प्रेमी होते हैं, वे यदि कहीं भगवच्चर्चा या भगवन्नामकीर्तन सुनते हैं तो उनकी बड़ी विचित्र अवस्था हो जाती है। जैसे कामिनीके नूपुरोंकी झनकार सुनकर कामी पुरुषके हृदयमें काम जाग्रत् हो उठता है, वैसे ही यदि प्रेमीके कानोंमें भगवन्नामकीर्तनकी ध्वनि पड़ जाती है तो वह प्रेममें विभोर हो जाता है। वह यदि किसी भगवद्रसिक महापुरुषके दर्शन कर लेता है तो उसके नेत्र गुलाबके फूलकी तरह खिल उठते हैं और उनसे झर-झर अश्रुपात होने लगता है। हमलोग तो प्रेमका केवल नाम लेते हैं। असली प्रेम तो दूसरी ही चीज है। वह सर्वथा अलौकिक और अनिर्वचनीय है। उसतक मन और वाणीकी पहुँच नहीं है। बुद्धि भी उसका स्पर्श तो करती है, परन्तु पूरा-पूरा पता नहीं लगा सकती।

जो एक बार प्रेमसे घायल हो जाता है, उसपर कोई भी औषध काम नहीं करती। हमलोगोंको निरन्तर प्रेमकी वृद्धि करनी चाहिये—यहाँतक कि उससे बाध्य होकर प्रभुको आना पड़े। प्रेमीको प्रभु त्याग नहीं सकते। प्रेमकी लोग ठीक-ठीक कदर नहीं करते। प्रेमियोंकी बड़ी आवश्यकता है। प्रेमी बहुत कम मिलते हैं—प्रायः मिलते ही नहीं। सर्वस्व समर्पण करनेपर भी यदि एक रत्तीभर प्रेम मिले तो सर्वस्व दे डालना चाहिये। सच्चा प्रेमी ऐसा ही करता है। रत्नका वास्तविक मूल्य जौहरी ही जानता है। यदि भीलनीके सामने एक लाख रुपयेका हीरा रखा जाय तो वह उसके बदलेमें चार पैसे भी देना नहीं चाहेगी, कहेगी कि यह काँचका टुकड़ा मेरे किस कामका। परन्तु जौहरी उसके लिये खुशी-खुशी अपना सर्वस्व दे डालेगा। इसी प्रकार प्रेमका मूल्य भी कोई विरले ही जानते हैं। प्रेमके लिये जो जितना कम मूल्य देना चाहते हैं, वे प्रेमके तत्त्वको उतना ही कम जानते हैं। प्रेम तो स्वार्थत्यागसे ही मिलता है। सच्चे प्रेमी सिरकी बाजी लगाकर भी प्रभुका प्रेम प्राप्त करते हैं।

प्रेमीलोग सर्वदा वही किया करते हैं, जिससे भगवान्‌की प्रसन्नता हो। यदि उन्हें कोई भगवान्‌का प्यारा मिलता है तो उसके भजन-ध्यानादिमें सहायक होकर वे बदलेमें प्रभुकी प्रसन्नता प्राप्त करते हैं। जब दो प्रेमी मिलते हैं तो एक अपूर्व आनन्दकी बाढ़-सी आ जाती है। ऐसे प्रेम-सम्मेलनको देखकर प्रभु भी उनके हाथ बिक जाते हैं। जो उनकी छोटी-सी-छोटी आज्ञाका पालन करनेके लिये अपने सर्वस्वको निछावर करनेको तैयार रहते हैं, भगवान् उनके ऋणी हो जाते हैं। इस विषयमें अतिथिप्रेमी महाराज मयूरध्वजकी कथा प्रसिद्ध ही है। जिस समय साधु बने हुए भगवान्‌की आज्ञासे राजा अपने शरीरको अपनी रानी और कुमारके द्वारा आरेसे चिरवाकर सिंहको देनेके लिये तैयार होते हैं, उस समय उनकी यही भावना रहती है कि इस प्रकार सिंहकी तृप्ति होनेसे साधु प्रसन्न होंगे और इनकी प्रसन्नतासे भगवान् खुश होंगे। उनकी इतनी उदारता तो छद्मवेषधारी भगवान्‌के लिये थी, यदि प्रभु अपने निजरूपसे उनके सामने आते तो न जाने वे क्या करते। नामदेवजीके सामनेसे कुत्ता रोटी लेकर भागा तो वे उसके पीछे घी लेकर दौड़े कि 'भगवन्! अभी रोटी सूखी है, इसे चुपड़ देने दीजिये।' इस प्रकारकी भगवन्निष्ठा भगवान्‌को बलात् अपना ऋणी बना लेती है।

गोपियोंके विचित्र प्रेमकी बात सबपर प्रकट ही है।

उद्धवजी श्यामसुन्दरका सन्देश लेकर आते हैं, उन्हें तरह-तरहसे उपदेश देकर धैर्य बँधानेका प्रयत्न करते हैं। परन्तु अन्तमें उनका अद्‌भुत प्रेमोन्माद देखकर स्वयं भी उन्हींके चरणकिंकर होनेकी कामना करने लगते हैं। अहा! अपने प्यारेकी यादमें कितना मिठास है? कोई पुरुष प्यारेके पाससे आता है तो हम उतावले हो जाते हैं, पहले उससे पूछते हैं 'क्यों जी, क्या तुम उससे मिले थे?' उसके 'हाँ' कहनेपर हम आनन्दमग्न हो जाते हैं। फिर पूछते हैं, 'कुछ मेरी भी बात हुई थी?' वह स्वीकार करता है तो हम उछलने लगते हैं। फिर कहते हैं, 'क्या कुछ भेजा है?' वह कहता है, 'हाँ, पत्र भेजा है' तो इतना आनन्द होता है कि पत्रको लेकर स्वयं पढ़नेकी भी सामर्थ्य नहीं रहती। पत्रके ऊपर प्यारेके हाथका लिखा हुआ सिरनामा देखकर हृदयमें अपूर्व आनन्द छा जाता है। यह सब प्यारेके प्रेमकी बात है। ऐसा ही प्रेम जब प्रभुके चरणोंमें हो तो क्या कहना है?

महात्माओंसे सुना है 'भगवान् प्रेमीके अधीन हो जाते हैं।' किन्तु आज हमारी क्या दशा है? हम जगह-जगह जाते हैं, भगवान्‌की स्तुति और प्रार्थनादि भी करते हैं; परन्तु वे मिजाज किये बैठे हैं, आते ही नहीं। कारण क्या है?' हमारे अंदर प्रेम नहीं है। इसीसे वे खुशामद करनेपर भी नहीं आते। यदि प्रेम होता तो स्वयं वे ही हमारे पीछे-पीछे घूमते। इस विषयमें एक दृष्टान्त दिया जाता है। मान लीजिये कई मिलवाले मंदे भावमें गन्ना खरीद रहे हैं। इसी समय कोई बुद्धिमान् धनी पुरुष सोचता है कि यदि गन्नेके दाम बढ़ाकर इस प्रान्तका सारा गन्ना मैं खरीद लूँ तो पीछे इनसे मनमाना दाम ले सकता हूँ। यह सोचकर वह गन्नेका खेला करता है। जिस समय उसके पास रुपयेमें चार आनेभर गन्ना था, मिलके मैनेजर उसके दलालसे बात भी नहीं करते थे। अब जब उसने सारा गन्ना अपने हाथमें कर लिया और मिलको उसकी जरूरत पड़ी तो साहबको चिन्ता हुई। दलाल भेजे गये तो उसने कह दिया अभी गन्ना बेचना नहीं है। साहबने स्वयं मिलनेके विषयमें पुछवाया तो कह दिया 'अभी बेचनेकी गरज नहीं है, जब गरज होगी तब मिल लेंगे।' साहब बिना बुलाये स्वयं ही आये तो उन्हें बाहर ठहराकर भोजनादिसे निवृत्त होनेपर मिले। साहब पूछते हैं, 'सेठजी! ऐसा क्या अपराध हुआ? आप तो बात करनेका भी मौका नहीं देते?' तो सेठजी कहते हैं, 'सब समयकी बात है। आपके पास कितनी बार दलाल भेजते थे, किन्तु आप बात भी नहीं करते थे; अब आपको स्वयं ही आना पड़ा। गन्ना तो आपका ही है, आपको जितना चाहिये ले जाइये।' हमारे भगवान् भी ऐसे ही हैं। वे साधारण स्तुति-प्रार्थनासे काबूमें आनेवाले नहीं हैं। उन्हें तो प्रेमकी प्यास है। हमलोग यदि प्रेम संग्रह कर लें तो उन्हें विवश होकर आना पड़ेगा। अतः जिस भावमें भी मिले उसी भावमें प्रेम खरीदना चाहिये। यदि हमारे पास प्रेमका संग्रह होगा तो भगवान्‌का सब मिजाज ढीला पड़ जायगा। प्रेमके बिना भगवान्‌का काम नहीं चलता, उनके सब कल-कारखाने बंद हो जाते हैं। प्रेम खरीदनेके लिये भगवान्‌का नाम ही पूँजी है। इसलिये निरन्तर नाम-जपका अभ्यास करना चाहिये।

संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो प्रेमके बदले न दी जा सके। तन, मन, धन, प्राण—सभी इसपर निछावर किये जा सकते हैं। प्रह्लादको देखिये। उन्हें न राज्यकी परवा है न प्राणोंकी। उन्हें तरह-तरहके कष्ट दिये जाते हैं—बार-बार मार पड़ती है, पर्वतशिखरसे गिराया जाता है, साँपोंसे डसाया जाता है, हाथियोंसे कुचलवाया जाता है, अग्निमें गिराया जाता है, तो भी वे अपनी टेक नहीं छोड़ते—प्राणोंकी बाजी लगाकर भी भगवत्प्रेमकी रक्षा करते हैं। आखिर भगवान् प्रकट होते हैं और आनेमें विलम्ब हुआ, इसके लिये प्रह्लादसे क्षमा माँगते हैं। जिस समय साधुवेषधारी भगवान्‌ने अपने सिंहके लिये मयूरध्वजसे उसका शरीर माँगा तो राजा बड़े हर्षसे कहता है, 'महाराज! आप कोई चिन्ता न करें, मैं प्रसन्नतापूर्वक यह शरीर बाघको देनेको तैयार हूँ। यह बाघ तो साक्षात् नारायणका स्वरूप है। इनकी सेवाका सौभाग्य फिर कब प्राप्त होगा?' देखिये, कैसी ऊँची दृष्टि है! शरीरकी भिक्षा माँगनेवालेमें भी राजाको साक्षात् श्रीहरिकी ही झाँकी होती है। भगवान् ऐसे प्रेमियोंके ऋणसे किस प्रकार उऋण हो सकते हैं? हमें प्रभुकी प्राप्तिके लिये घरसे तो कुछ भी नहीं देना पड़ता। भगवान्‌की ही चीजें उनको भेंट कर देनी हैं। इसमें हमारा क्या लगता है? यह धन-ऐश्वर्य विचारवानोंकी दृष्टिमें कोई ऊँची चीज नहीं है। इसके तो त्यागमें ही सुख है। इसमें ममता करना तो अपनेको व्यर्थके बन्धनमें डालना ही है। कोई भी विवेकी पुरुष इसके मोहमें नहीं फँसते। हमारे प्रान्त (राजपूताने)-में एक बड़े अच्छे महात्मा थे। एक बार एक भक्त उनके लिये आसामसे एक अंडी (रेशमी चद्दर) गेरुआ रँगवाकर ले गये। एक दिन वे उसे ओढ़े बैठे थे कि एक पण्डितजी बोल उठे, 'बाबाजी! यह अंडी तो बहुत बढ़िया है। बाबाजीने उसे उसी समय उतारकर पण्डितजीको दे दिया। वे बोले—बढ़िया चीज हम साधुओंके कामकी नहीं होती। तुम्हारी इसमें प्रीति है, इसलिये अब इसे तुम्हीं रखो। जिस वस्तुमें दूसरेका राग हो, उसे साधुको नहीं रखना चाहिये।'

गृहस्थाश्रममें भी अपने सुखकी दृष्टिसे किसी वस्तुका सेवनकरना उचित नहीं है। घरमें पाँच फल आवें तो

पहले अतिथि-अभ्यागत और घरके अन्य व्यक्तियोंको खिलाकर पीछे गृहस्वामीको खाना चाहिये और उसके बाद गृहस्वामिनीको। यही यज्ञशिष्ट है। यह अमृत है। जो स्वादके लोभमें पड़कर पहले स्वयं खाता है, वह अमृतके भ्रमसे विष सेवन करता है। बलिवैश्वदेवका भी यही रहस्य है। ऐसा ही नियम साधु-संन्यासियोंके लिये भी है। जब रसोईघरका धुआँ बंद हो जाय, उस समय उन्हें भिक्षाके लिये जाना चाहिये, जिससे कि उनके निमित्तसे गृहस्थको अलग भोजन न बनाना पड़े। उस समय भी यदि किसी द्वारपर पहलेसे दूसरा भिखारी खड़ा हो तो वहाँ न जाय। ऐसा न हो कि दोनोंको देनेसे फिर गृहस्थके लिये अन्नकी कमी हो जाय। इन सब नियमोंमें शास्त्रका लक्ष्य क्या है, उसपर विचार करना चाहिये। इन सभीमें स्वार्थत्यागकी भावना भरी हुई है। यदि कोई चीज बाँटकर खानी है तो उसमें भी अपने लिये अधिक रखनेकी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। बहुत-से लोग मुखसे तो कहते रहते हैं कि हमारा कुछ नहीं है, सब भगवान्‌का ही है, परन्तु चित्तसे एक-एक तिनकेको पकड़े रहते हैं। यह कहनेका त्याग भी अच्छा है, परन्तु वास्तविक लाभ तो सच्चे त्यागसे ही होता है। जो समय पड़नेपर अपना सर्वस्व प्रभुके लिये निछावर करनेको तैयार रहते हैं वही श्रेष्ठ है। जो सच्चे दानी होते हैं, उन्हें तो दान देनेका कोई अभिमान ही नहीं होता। कहते हैं, किसी दानीके दानकी प्रशंसा की गयी तो वह रोने लगा। उससे रोनेका कारण पूछा गया तो वह बोला, 'धन उसका, देनेवाला वह, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ। लोग मुझे दानी कहते हैं, भला मैं प्रभुके सामने क्या मुँह दिखाऊँगा?'

अतः यदि भगवत्प्राप्तिकी इच्छा है तो वास्तविक त्याग कीजिये। हृदयसे अपना सर्वस्व प्रभुका समझिये। प्रभुके लिये ही सारे काम कीजिये। ममता, अहंता और आसक्तिको जड़से उखाड़ डालिये। इस प्रकार यदि आपकी सारी चेष्टाएँ प्रभुके ही लिये होंगी और आप अपने तन, मन, धन सबकी सार्थकता प्रभुकी प्रसन्नतामें ही समझेंगे, प्रभुकी प्रसन्नताके लिये उनके त्यागमें तनिक भी संकोच नहीं करेंगे तो प्रभुको विवश होकर आपकी खुशामद करनी होगी। ऐसी बात होनेपर भी आपको तो प्रभुकी ही प्रसन्नतामें प्रसन्न रहना चाहिये, उनसे अपनी खुशामद करानेकी इच्छा रखना भी एक प्रकारका स्वार्थ ही है।

प्रेम-साधन

व्रजराज भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अनन्य प्रेम होनेमें ही इस जीवनकी सार्थकता है। जिस बड़भागीने इस दिव्य, अनन्य एवं विशुद्ध प्रेम-पीयूषका पान कर लिया, उसका जन्म सफल हो जाता है। उसकी युग-युगकी, जन्म-जन्मोंकी विषय-पिपासा बुझ जाती, शान्त हो जाती है। भवतापसे सन्तप्त प्राणी भगवत्प्रेमकी पावन मन्दाकिनीमें निमज्जन करके ही पूर्ण शान्ति प्राप्त कर सकता है। यही वह परम रस है। जिसे पीकर मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है।[१] जिस प्रेमके प्राप्त होनेपर मनुष्य न तो किसी भी वस्तुकी इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी भी वस्तुमें आसक्त होता है और न (विषयभोगोंकी प्राप्तिमें) उसे उत्साह होता है।[२]

प्रेम साधन भी है और साधनोंका फल (साध्य) भी।[३] परमात्माकी ही भाँति प्रेमका स्वरूप भी अनिर्वचनीय है, गूँगेके स्वादकी तरह यह वाणीका विषय नहीं होता।[४] इसीलिये प्रेमका स्वरूप अलौकिक बतलाया गया है; क्योंकि वह लोकसे सर्वथा विलक्षण है। लौकिक प्रेम भोग-कामनाओं और दुर्वासनाओंसे वासित होनेके कारण शुद्ध नहीं होता। जहाँ वासनाका आधिपत्य है वह प्रेम नहीं, आसक्तिमूलक मोह है। इसके अलावे लौकिक प्रेमके आलम्बन क्षणिक एवं नाशवान् होते हैं; अतः वह भगवत्प्रेमके सामने हेय ही है। भगवत्प्रेम भी यदि किसी कामनासे किया जाय तो वह सकाम कहलाता है। सकाम प्रेममें दिव्यता, अनन्यता एवं विशुद्धताका अभाव होता है। कामना लौकिक वस्तुके लिये ही होती है, अतः लौकिकताका सम्मिश्रण हो जानेसे उसकी दिव्यता नष्ट हो जाती है तथा उक्त कामनामें वह प्रेम बँट जाता है, इसलिये उसमें एकनिष्ठता एवं अनन्यता नहीं रह जाती। इसी प्रकार कामनासे मिश्रित या दूषित हो जानेसे वह प्रेम विशुद्ध नहीं रह पाता। दिव्य, अनन्य एवं विशुद्ध प्रेम तो तीनों गुणोंसे

१-यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति॥ (नारदभक्तिसूत्र ४)

२-यत्प्राप्य न किंचिद् वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति॥ (नारदभक्तिसूत्र ५)

३-साधन सिद्धि राम पग नेहू। (रा० च० मा० २।२८९।८)

४-अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्, मूकास्वादनवत् (नारदभक्तिसूत्र ५१, ५२)

अतीत और कामनाओंसे रहित होता है, वह प्रतिक्षण बढ़ता है, कभी घटता नहीं, वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म होता है, उसे वाणीद्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता, वह तो अनुभवकी वस्तु है।[१]

हेतु या कामना ही प्रेमका दूषण है, निर्हैतुक अथवा निष्काम प्रेममें कामनाकी गन्ध भी नहीं है, इसलिये यह शुद्ध है। अपने अभिन्न प्रियतम परमात्मा श्रीकृष्णके सिवा और कोई इस प्रेमका लक्ष्य नहीं है, इसलिये यह अनन्य है तथा ऊपर कहे अनुसार लोकसे सर्वथा विलक्षण होनेके कारण यह प्रेम दिव्य है।

इस प्रेमको पाकर प्रेमी सदा आनन्दमें मस्त रहता है। संसारकी चिन्ताएँ उसका स्पर्श भी नहीं कर सकतीं, उसकी दृष्टिमें प्रेमके सिवा और कुछ रह ही नहीं जाता। वह तो प्रेमको ही देखता, प्रेमको ही सुनता और प्रेमका ही वर्णन तथा चिन्तन करता है। उसके मन, प्राण और आत्मा प्रेमकी ही गंगामें अनवरत अवगाहन करते रहते हैं। वह अपने सब धर्म और आचरण प्रेममय श्रीकृष्णको ही अर्पण कर देता है। उनकी पलभरके लिये भी याद भूलनेपर वह अत्यन्त व्याकुल—बहुत ही बेचैन हो जाता है।[२] वह सर्वत्र प्रेममय भगवान्‌को ही देखता है, सब कुछ भगवान्‌में ही देखता है; ऐसी दृष्टि रखनेवालेकी नजरसे भगवान् अलग नहीं हो सकते तथा वह भी भगवान्‌से अलग नहीं हो सकता।

इस प्रकार दोनोंका नित्य ऐक्य—शाश्वत संयोग बना रहता है। भगवान् ऐसे भक्तका लोकोत्तर अनुराग देख अपनी महेश्वरता भूल जाते और मुग्ध होकर अपने प्राणप्रिय भक्तको निहारते रहते हैं, उसके साथ उसीके अनुरूप बनकर उसकी इच्छाके अनुकूल विग्रह धारण कर खेलते, नृत्य करते, गाते, बजाते और आनन्दित होते रहते हैं।

प्रेमी भक्त मिलन और विछोहकी चिन्तासे भी परे होता है। उसे तो केवल प्रेम करना है, वह भी प्रेमके लिये। वह प्रेमतत्त्वज्ञ प्रियतम स्वयं ही मिले बिना नहीं रह सकता। उसे गरज होगी तो स्वयं ही आवेगा, भक्त क्यों मिलनेके लिये परेशान हो? तथा वह विछोहसे भी क्यों डरे? उसे अपने लिये तो सुख या आनन्दकी चाह है नहीं; वह तो सब कुछ उस प्रियतमके ही सुखके लिये करता है। उसे यदि मिलनमें सुख मिलता हो तो स्वयं ही आकर मिले। विछोहसे दुःख होता हो तो कभी यहाँसे दूर न जाय। वह तो प्रेमका लोभी है, प्रेम होगा तो अपने-आप दौड़ा आवेगा, न होगा तो बुलानेसे भी नहीं आवेगा। इसीलिये जो निष्काम प्रेमी होते हैं, वे भगवान्‌को बुलाते भी नहीं। वास्तवमें न तो भगवान्‌को दर्शन देनेके लिये बुलानेकी आवश्यकता है, न रोकनेकी। बिना किसी कामना या हेतुके ही भगवान्‌में केवल प्रेम बढ़ाना आवश्यक है। अहंकारसे दूर रहकर संयोग-वियोगकी चिन्तासे बेपरवाह होकर, उत्तरोत्तर प्रेम बढ़ता रहे—इसीके लिये, सारा प्रयत्न—सम्पूर्ण चेष्टा होनी उचित है। प्रह्लादने कभी प्रार्थना नहीं की कि 'मुझे दर्शन दो।' सब कुछ भगवान्‌ने अपने-आप ही किया।

भगवत्प्रेमीका पूजन, खाना, पीना, रोना, गाना आदि सब भगवत्प्रीत्यर्थ होना चाहिये। प्रेमीका प्रेममय भगवान्‌के सिवा और कोई लक्ष्य न हो। दर्शन-मिलन आदि तो आनुषंगिक फल हैं, अपने-आप प्राप्त होंगे। इस प्रेमकी पूर्णता उस दिव्य, अनन्य एवं विशुद्ध प्रेममें ही है, जहाँ प्रेम, प्रेमी और प्रियतमकी एकता होती है।

ऐसा प्रेमी उस दिव्य प्रेमका साक्षात् स्वरूप होता है। उसकी वाणी प्रेमसे ओत-प्रोत तथा शरीर और मन प्रेमरसमें सराबोर होते हैं। उसका रोम-रोम प्रेमानन्दसे थिरकता दिखायी देता है। उसके साथ सम्भाषण, उसका चिन्तन तथा उसके निकट गमन करनेसे अपने अंदर प्रेमके परमाणु आते हैं, उसका स्पर्श पाकर नीरस हृदयमें भी प्रेमका संचार होता है। बड़े-बड़े नास्तिक भी उसके सम्पर्कमें आनेपर सब कुछ भूलकर प्रेमदीवाने बन सकते हैं। उसके अनन्य अनुराग या अलौकिक भावोद्रेकको ठीक-ठीक हृदयंगम करानेके लिये उपयुक्त शब्द नहीं है। समझानेके लिये उसके भावको चाहे जो भी भाव कह दिया जाय; वास्तवमें वह सब भावोंसे ऊपर उठा होता है।

सख्यभावसे भी इस दिव्य प्रेमकी तुलना नहीं हो सकती। यह सख्यसे भी ऊँचा भाव है। सख्यभावके उदाहरण अर्जुन माने जाते हैं; परन्तु अर्जुनमें भी इस दिव्य अलौकिक भावकी तो कमी ही दीख पड़ती है। वे भगवान्‌का विराट्‌रूप देखकर भयभीत होते हैं। भगवान्‌के साथ किया हुआ सख्य—समानताका व्यवहार उन्हें महान् अपराध जान पड़ता है; और उसके लिये वे बारम्बार क्षमा-याचना करते देखे जाते हैं—

'तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्'॥

(गीता ११। ४२)

१-गुणरहितं कामनावर्जितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥ (नारदभक्तिसूत्र ५४)

२-नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति॥ (नारदभक्तिसूत्र १९)

'पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥'
(गीता ११। ४४)

और भगवान् भी उन्हें '**मा ते व्यथा मा च विमूढभावः**' (गीता ११। ४९) आदि कहकर आश्वासन देते हैं।

दास्यभावसे भी उस अनन्यप्रेमीका भाव अत्यन्त उत्कृष्ट है। दास्यभावमें ऊँच-नीच, स्वामि-सेवककी दृष्टि है, पर यहाँ तो पूर्ण समता है, न कोई सेवक है न स्वामी। भक्त भगवान्‌की प्रेम-गंगामें निमज्जन करके प्रसन्न होता है, तो भगवान् भी वैसे ही प्रेममें मग्न हो जाते हैं।

वात्सल्यभावसे भी इस दिव्य अनन्यभावका स्थान ऊँचा है। वहाँ उस लोकोत्तर साम्यका दर्शन नहीं होता, जो कि यहाँ सहज ही अनुभवमें आता है। उसमें छोटे-बड़े, पिता-पुत्र आदि भाव रहते हैं, किन्तु यहाँ न कोई छोटा है न बड़ा; न कोई माता-पिता, न कोई किसीका पुत्र। सब एक समान हैं।

माधुर्यभावसे भी यह अद्भुत प्रेमभाव विलक्षण है। माधुर्यभावके भी दो स्वरूप हैं—स्वकीयाभाव और परकीयाभाव। परम श्रेष्ठ सतीशिरोमणि पतिव्रता नारीका अपने प्रियतम पतिके प्रति जो भाव होता है, वही स्वकीयाभाव है तथा परस्त्रीका परपुरुषमें जो गुप्त प्रेम होता है, उसी भावसे जो भगवान्‌के दिव्य स्वरूपमें उच्च श्रेणीका प्रेम हो, उसे परकीयाभाव कहते हैं। उपर्युक्त प्रेमी इन सभी भावोंसे ऊपर उठा होता है। भगवान्‌के साथ उसका एक क्षणके लिये भी कभी वियोग नहीं होता। भगवान् उसके अधीन होते हैं, उसके हाथों बिके रहते हैं। उसका साथ छोड़कर कहीं जाते ही नहीं। वह अनन्यप्रेमी भक्त पूर्ण प्रेममय हुआ रहता है। भगवान्‌से वह भिन्न नहीं, भगवान् उससे भिन्न नहीं। इस अवस्थामें न भय है न संकोच; मान, आदर और सत्कारका भी यहाँ कुछ खयाल नहीं रहता। बड़े-छोटेका कोई लिहाज नहीं किया जाता। उन (भक्त और भगवान्)-में न कोई उत्तम है न मध्यम। दोनों समान हैं।

पतिव्रता पतिको नारायण मानती है और अपनेको उनकी दासी। यह भाव बड़ा ही उत्तम परम कल्याणकारी है। फिर भी इसमें बड़े-छोटेका दर्जा तो है ही। परन्तु उपर्युक्त दिव्य प्रेममें बड़े-छोटेकी कोई श्रेणी नहीं है। वहाँ दोनोंकी एक स्थिति—समान अवस्था है।

परकीयाभावमें भी दूसरोंसे भय है, छिपाव है, पर यहाँ इस दिव्य प्रेममें न भय है न छिपाव; फिर संकोचकी तो बात ही क्या है। भगवान्‌के गुण और प्रभावसे प्रभावित होकर ही परकीयाका मन उनकी ओर आकृष्ट होता है, जहाँ अपनेसे अन्यत्र श्रेष्ठताका अनुभव है, वहाँ अपनेमें न्यूनताका भी भाव है ही। अतः वहाँ भी निर्भीकता एवं पूर्ण समानता नहीं है। परन्तु अनन्य और विशुद्ध प्रेममें गुण और प्रभावकी विस्मृति है, स्मृति होनेपर भी उनका कोई मूल्य नहीं है। यहाँ तो दोनोंमें अनिर्वचनीय ऐक्य है। वहाँ सर्वशक्तिमान् और सर्वान्तर्यामी कहकर स्तवन नहीं किया जाता। स्तुतिकी अवस्था तो बहुत पहले ही समाप्त हो जाती है। अब तो कौन सर्वशक्तिमान् और कहाँका सर्वेश्वर! दोनों एक हैं, समान हैं, दोनों ही दोनोंके प्रेमी और प्रियतम हैं; इनमें परस्पर हेतुरहित सहज प्रेम होता है। इस स्थितिमें प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पदमें भेद नहीं रहता। भक्ति, भक्त और भगवन्त—सब एक हो जाते हैं। किसी भावुक भक्तके निम्नांकित वचनसे भी इसी भावकी पुष्टि हुई है—

त्रिधाप्येकं सदागम्यं गम्यमेकप्रभेदने।
प्रेम प्रेमी प्रेमपात्रं त्रितयं प्रणतोऽस्म्यहम्॥

'प्रेम, प्रेमी और प्रेमपात्र (प्रियतम)—ये देखनेमें तीन होनेपर भी वास्तवमें एक हैं। इनका तत्त्व सदा सबकी समझमें नहीं आता। इन्हें एक रूप ही जानना चाहिये। मैं इन तीनोंको, जो वस्तुतः एक हैं, प्रणाम करता हूँ।'

ऐसे अनन्यप्रेमीकी दृष्टिमें सर्वत्र और सदा ही दिव्य प्रेमकी अखण्ड ज्योति जगमगाती रहती है। वह सम्पूर्ण जगत्पर समानरूपसे प्रेमामृतकी वर्षा करता है। उसकी दृष्टिमें कोई घृणा या द्वेषका पात्र नहीं है। उसके लिये सर्वत्र ही प्रेमका महासागर लहराता रहता है।

ज्ञानमार्गसे चलनेवाले महात्मा अद्वैत—अभेदरूपसे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं, '**ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।**' 'ब्रह्म होता हुआ ही वह ब्रह्मको प्राप्त होता है।' पर यहाँ तो इस दिव्य प्रेम-संसारकी अनुभूति निराली ही है। यहाँ न द्वैत है न अद्वैत! दोनोंसे विलक्षण स्थिति है। प्रेमी और प्रियतमका नित्य-नूतन प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता है, '**प्रतिक्षणवर्धमानम्**' (नारदभक्तिसूत्र ५४)-की स्थितिमें पुष्ट होता है। बढ़ते-बढ़ते यह असीम—अनन्त हो जाता है। भक्त और भगवान् दोनों एक-दूसरेसे इतने मिल जाते हैं कि उनमें द्वैतका-सा भान ही नहीं होता। इनके दिव्यभावको वाणीद्वारा व्यक्त करना असम्भव है। यहाँ प्रेमके सिवा कुछ रहता ही नहीं। इन प्रेमियोंका मिलन भी बड़ा ही विलक्षण—अत्यन्त अलौकिक होता है। यहाँ अद्वैत होते हुए भी द्वैत है और द्वैत होते हुए भी अद्वैत। हमारे दोनों हाथ परस्पर मिलकर सटकर एक हो जाते हैं, उस समय ये दो होते हुए भी एक हैं और एक होते हुए भी दो। इस प्रकार यहाँ न भेद है, न अभेद।

गंगा और समुद्र मिलकर एक-से हो जाते हैं, किन्तु भगवान् और अनन्यप्रेमी भक्तका दिव्य मिलन इनसे भी

विलक्षण और उत्कृष्ट है। वह अलौकिक एवं अनिर्वचनीय अवस्था है। भेद-अभेदसे परेकी फलरूपा स्थिति है। यह मिलन नित्य है।

यहाँ वस्त्र, आभूषण या आयुधका व्यवधान भी वाञ्छनीय नहीं है। वस्त्रका व्यवधान लज्जा-निवारणके लिये अपेक्षित होता है, लज्जा दूसरेसे होती है। यहाँ तो प्रेमी और प्रियतम एकप्राण हो चुके हैं। भला अपनेसे भी कोई लज्जा करता है? बंद एकान्त कमरेमें यदि अपने सिवा कोई दूसरा न हो तो लज्जानिवारणके लिये वस्त्रकी आवश्यकता नहीं होती। इस दिव्य मिलनमें द्वैतभाव मिट चुका है, दूसरोंकी ही दृष्टिमें भेद प्रतीत होता है। इस मिलनमें तो आभूषण भी दूषण जान पड़ते हैं—यहाँ परस्पर मान-सम्मान, आदर-सत्कारका भी कोई व्यवहार नहीं है। जहाँ पूर्णरूपसे प्रेम है, वहाँ आदर-सत्कार तो एक विघ्न है। क्या कोई स्वयं ही अपना आदर करता है। यह स्थिति गोपियोंके प्रेमका फल है।

इस स्थितिमें शोक, मोह और भय आदिका नामोनिशान भी नहीं रहता—यहाँ तो देखनेमात्रकी भिन्नता होते हुए भी वास्तवमें पूर्ण एकत्व है। अनन्य प्रेमीका ऊपरी व्यवहार चाहे जैसा हो, भीतरसे वह एकनिष्ठ है, भगवन्मय है, इसीलिये वह भगवान्‌में नित्य स्थित है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(६। ३१)

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है; क्योंकि उसके अनुभवमें मेरे सिवा अन्य कुछ है ही नहीं।'

यह द्वैत-अद्वैत, भेद-अभेदसे विलक्षण अनिर्वचनीय स्थिति है। व्रजराज भगवान् श्रीकृष्णके इस अनन्य प्रेमको प्राप्त करना ही मानवमात्रका वास्तविक लक्ष्य होना चाहिये; क्योंकि इसीकी प्राप्तिमें जन्म और जीवनकी सार्थकता है।

श्रीमद्भगवद्गीताका तात्त्विक विवेचन

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्॥

गीता-महिमा

श्रीमद्भगवद्गीता साक्षात् भगवान्‌की दिव्य वाणी है। इसकी महिमा अपार है, अपरिमित है। उसका यथार्थमें वर्णन कोई नहीं कर सकता। शेष, महेश, गणेश भी इसकी महिमाको पूरी तरहसे नहीं कह सकते; फिर मनुष्यकी तो बात ही क्या है। इतिहास-पुराणोंमें जगह-जगह इसकी महिमा गायी गयी है; परन्तु जितनी महिमा इसकी अबतक गायी गयी है, उसे एकत्र कर लिया जाय तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि इसकी महिमा इतनी ही है। सच्ची बात तो यह है कि इसकी महिमाका पूर्णतया वर्णन हो ही नहीं सकता। जिस वस्तुका वर्णन हो सकता है वह अपरिमित कहाँ रही, वह तो परिमित हो गयी।

गीता एक परम रहस्यमय ग्रन्थ है। इसमें सम्पूर्ण वेद और शास्त्रोंका सार संग्रह किया गया है। इसकी रचना इतनी सरल और सुन्दर है कि थोड़ा अभ्यास करनेसे भी मनुष्य इसको सहज ही समझ सकता है, परन्तु इसका आशय इतना गूढ़ और गम्भीर है कि आजीवन निरन्तर अभ्यास करते रहनेपर भी उसका अन्त नहीं आता। प्रतिदिन नये-नये भाव उत्पन्न होते ही रहते हैं, इससे वह सदा नवीन ही बना रहता है एवं एकाग्रचित्त होकर श्रद्धा-भक्तिसहित विचार करनेसे इसके पद-पदमें परम रहस्य भरा हुआ प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव, स्वरूप, मर्म और उपासनाका तथा कर्म एवं ज्ञानका वर्णन जिस प्रकार इस गीता-शास्त्रमें किया गया है वैसा अन्य ग्रन्थोंमें एक साथ मिलना कठिन है; भगवद्गीता एक ऐसा अनुपमेय शास्त्र है जिसका एक भी शब्द सदुपदेशसे खाली नहीं है। गीतामें एक भी शब्द ऐसा नहीं है जो रोचक कहा जा सके। उसमें जितनी बातें कही गयी हैं, वे सभी अक्षरशः यथार्थ हैं; सत्यस्वरूप भगवान्‌की वाणीमें रोचकताकी कल्पना करना उसका निरादर करना है।

गीता सर्वशास्त्रमयी है। गीतामें सारे शास्त्रोंका सार भरा हुआ है। उसे सारे शास्त्रोंका खजाना कहें तो भी अत्युक्ति न होगी। गीताका भलीभाँति ज्ञान हो जानेपर सब शास्त्रोंका तात्त्विक ज्ञान अपने-आप हो सकता है, उसके लिये अलग परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं रहती।

गीता गंगासे भी बढ़कर है। शास्त्रोंमें गंगास्नानका फल मुक्ति बतलाया गया है। परन्तु गंगामें स्नान करनेवाला स्वयं मुक्त हो सकता है, वह दूसरोंको तारनेकी सामर्थ्य नहीं

रखता। किन्तु गीतारूपी गंगामें गोते लगानेवाला स्वयं तो मुक्त होता ही है, वह दूसरोंको भी तारनेमें समर्थ हो जाता है। गंगा तो भगवान्‌के चरणोंसे उत्पन्न हुई है और गीता साक्षात् भगवान् नारायणके मुखारविन्दसे निकली है। फिर गंगा तो जो उसमें आकर स्नान करता है उसीको मुक्त करती है, परन्तु गीता तो घर-घरमें जाकर उन्हें मुक्तिका मार्ग दिखलाती है। इन सब कारणोंसे गीताको गंगासे बढ़कर कहते हैं।

ऊपर यह बतलाया गया है कि गीता सर्वशास्त्रमयी है। महाभारतमें भी कहा है—'**सर्वशास्त्रमयी गीता**' (भीष्म० ४४। ४)। परन्तु इतना ही कहना पर्याप्त नहीं है; क्योंकि सारे शास्त्रोंकी उत्पत्ति वेदोंसे हुई, वेदोंका प्राकट्य भगवान् ब्रह्माजीके मुखसे हुआ और ब्रह्माजी भगवान्‌के नाभि-कमलसे उत्पन्न हुए। इस प्रकार शास्त्रों और भगवान्‌के बीचमें बहुत अधिक व्यवधान पड़ गया है। किन्तु गीता तो स्वयं भगवान्‌के मुखारविन्दसे निकली है, इसलिये उसे सभी शास्त्रोंसे बढ़कर कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। स्वयं भगवान् वेदव्यासने कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

(महा०, भीष्म० ४३। १)

'गीताका ही भली प्रकारसे गान करना चाहिये, अन्य शास्त्रोंके विस्तारकी क्या आवश्यकता है? क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुख-कमलसे निकली हुई है।'

इस श्लोकमें 'पद्मनाभ' शब्दका प्रयोग करके महाभारतकारने यही बात व्यक्त की है। तात्पर्य यह है कि यह गीता उन्हीं भगवान्‌के मुखकमलसे निकली है, जिनके नाभिकमलसे ब्रह्माजी उत्पन्न हुए और ब्रह्माजीके मुखसे वेद प्रकट हुए, जो सम्पूर्ण शास्त्रोंके मूल हैं।

गीता गायत्रीसे बढ़कर है। गायत्री-जपसे मनुष्यकी मुक्ति होती है, यह बात ठीक है; किन्तु गायत्री-जप करनेवाला भी स्वयं ही मुक्त होता है, पर गीताका अभ्यास करनेवाला तो तरन-तारन बन जाता है। जब मुक्तिके दाता स्वयं भगवान् ही उसके हो जाते हैं, तब मुक्तिकी तो बात ही क्या है। मुक्ति उसकी चरणधूलिमें निवास करती है। मुक्तिका तो वह सत्र खोल देता है।

गीताको हम स्वयं भगवान्‌से भी बढ़कर कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम्।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान् पालयाम्यहम्॥

(वाराहपुराण)

'मैं गीताके आश्रयमें रहता हूँ, गीता मेरा श्रेष्ठ गृह है। गीताके ज्ञानका सहारा लेकर ही मैं तीनों लोकोंका पालन करता हूँ।'

इसके सिवा, गीतामें ही भगवान् मुक्तकण्ठसे यह घोषणा करते हैं कि जो कोई मेरी इस गीतारूप आज्ञाका पालन करेगा वह निःसन्देह मुक्त हो जायगा; यही नहीं, भगवान् कहते हैं कि जो कोई इसका अध्ययन भी करेगा उसके द्वारा ज्ञानयज्ञसे मैं पूजित होऊँगा। जब गीताके अध्ययनमात्रका इतना माहात्म्य है, तब जो मनुष्य इसके उपदेशोंके अनुसार अपना जीवन बना लेता है और इसका रहस्य भक्तोंको धारण कराता है और उनमें इसका विस्तार एवं प्रचार करता है उसकी तो बात ही क्या है। उसके लिये तो भगवान् कहते हैं कि वह मुझको अतिशय प्रिय है। वह भगवान्‌को प्राणोंसे भी बढ़कर प्यारा होता है, यह भी कहा जाय तो कुछ अनुचित न होगा। भगवान् अपने ऐसे भक्तोंके अधीन बन जाते हैं। अच्छे पुरुषोंमें भी यह देखा जाता है कि उनके सिद्धान्तोंका पालन करनेवाला जितना उन्हें प्रिय होता है, उतने प्यारे उन्हें अपने प्राण भी नहीं होते। गीता भगवान्‌का प्रधान रहस्यमय आदेश है। ऐसी दशामें उसका पालन करनेवाला उन्हें प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है।

गीता भगवान्‌का श्वास है, हृदय है और भगवान्‌की वाङ्मयी मूर्ति है। जिसके हृदयमें, वाणीमें, शरीरमें तथा समस्त इन्द्रियों एवं उनकी क्रियाओंमें गीता रम गयी है वह पुरुष साक्षात् गीताकी मूर्ति है। उसके दर्शन, स्पर्श, भाषण एवं चिन्तनसे भी दूसरे मनुष्य परम पवित्र बन जाते हैं। फिर उसके आज्ञापालन एवं अनुकरण करनेवालोंकी तो बात ही क्या है। वास्तवमें गीताके समान संसारमें यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, संयम और उपवास आदि कुछ भी नहीं हैं।

गीता साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे निकली हुई वाणी है। इसके संकलनकर्ता श्रीव्यासजी हैं। भगवान् श्रीकृष्णने अपने उपदेशका कितना ही अंश तो पद्योंमें ही कहा था, जिसे व्यासजीने ज्यों-का-त्यों रख दिया। कुछ अंश जो उन्होंने गद्यमें कहा था, उसे व्यासजीने स्वयं श्लोकबद्ध कर लिया, साथ ही अर्जुन, संजय एवं धृतराष्ट्रके वचनोंको अपनी भाषामें ग्रथित कर लिया और इस पूरे ग्रन्थको अठारह अध्यायोंमें विभक्त करके महाभारतके अंदर मिला लिया, जो आज हमें इस रूपमें उपलब्ध है।

गीताका तात्पर्य

गीता ज्ञानका अथाह समुद्र है, इसके अंदर ज्ञानका अनन्त भण्डार भरा पड़ा है। इसका तत्त्व समझानेमें बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् और तत्त्वालोचक महात्माओंकी वाणी भी कुण्ठित हो जाती है; क्योंकि इसका पूर्ण रहस्य भगवान्

श्रीकृष्ण ही जानते हैं। उनके बाद कहीं इसके संकलनकर्ता व्यासजी और श्रोता अर्जुनका नम्बर आता है। ऐसी अगाध रहस्यमयी गीताका आशय और महत्त्व समझना मेरे-जैसे मनुष्यके लिये ठीक वैसा ही है, जैसा एक साधारण पक्षीका अनन्त आकाशका पता लगानेके लिये प्रयत्न करना। गीता अनन्त भावोंका अथाह समुद्र है। रत्नाकरमें गहरा गोता लगानेपर जैसे रत्नोंकी प्राप्ति होती है, वैसे ही इस गीता-सागरमें गहरी डुबकी लगानेसे जिज्ञासुओंको नित्यनूतन विलक्षण भाव-रत्न-राशिकी उपलब्धि होती है। परन्तु आकाशमें गरुड़ भी उड़ते हैं तथा साधारण मच्छर भी! इसीके अनुसार सभी अपने-अपने भावके अनुसार कुछ अनुभव करते ही हैं। अतएव विचार करनेपर प्रतीत होता है कि गीताका मुख्य तात्पर्य अनादिकालसे अज्ञानवश संसार-समुद्रमें पड़े हुए जीवको परमात्माकी प्राप्ति करवा देनेमें है और उसके लिये गीतामें ऐसे उपाय बतलाये गये हैं, जिनसे मनुष्य अपने सांसारिक कर्तव्यकर्मोंका भलीभाँति आचरण करता हुआ ही परमात्माको प्राप्त कर सकता है। व्यवहारमें परमार्थके प्रयोगकी यह अद्भुत कला गीतामें बतलायी गयी है और अधिकारी-भेदसे परमात्माकी प्राप्तिके लिये इस प्रकारकी दो निष्ठाओंका प्रतिपादन किया गया है। वे दो निष्ठाएँ हैं—ज्ञाननिष्ठा यानी सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठा (३। ३)। यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'प्रायः सभी शास्त्रोंमें भगवान्‌को प्राप्त करनेके तीन प्रधान मार्ग बतलाये गये हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान। ऐसी दशामें गीताने दो ही निष्ठाएँ कैसे मानी हैं? क्या गीताको भक्तिका सिद्धान्त मान्य नहीं है? बहुत-से लोग तो गीताका उपदेश भक्तिप्रधान ही मानते हैं और यत्र-तत्र भगवान्‌ने भक्तिका विशेष महत्त्व भी स्पष्ट शब्दोंमें कहा है (६। ४७) और भक्तिके द्वारा अपनी प्राप्ति सुलभ बतलायी है (८। १४; ११। ५४)।' इसका उत्तर यह है कि गीताने भक्तिको भगवत्-प्राप्तिका प्रधान साधन माना है—लोगोंकी यह मान्यता ठीक ही है। गीताने भक्तिको बहुत ऊँचा स्थान दिया है और स्थान-स्थानपर अर्जुनको भक्त बननेकी आज्ञा भी दी है (९। ३४; १२। ८; १८। ५७, ६५, ६६)। परन्तु गीताने निष्ठाएँ दो ही मानी हैं। इनमें भक्ति योगनिष्ठामें शामिल है और भक्तिके क्रियात्मिका होनेसे गीताका ऐसा मानना युक्तिविरुद्ध भी नहीं कहा जा सकता। भक्ति किस प्रकार योगनिष्ठाके साथ मिली हुई है इसपर आगे चलकर विचार किया जायगा। अस्तु,

इसके अतिरिक्त 'ज्ञान' और 'कर्म' शब्दोंका जिस अर्थमें गीतामें प्रयोग हुआ है, वह भी विशेष रहस्यमय है। गीताके कर्म और कर्मयोग तथा ज्ञान और ज्ञानयोग एक ही चीज नहीं हैं। गीताके अनुसार शास्त्रविहित कर्म ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा दोनों ही दृष्टियोंसे हो सकते हैं। ज्ञाननिष्ठामें भी कर्मका विरोध नहीं है और योगनिष्ठामें तो कर्मोंका सम्पादन ही साधन माना गया है (६। ३) और उनका स्वरूपसे त्याग उलटा बाधक माना गया है (३। ४)। दूसरे अध्यायके ४७ वेंसे लेकर ५१ वें श्लोकतक तथा तीसरे अध्यायके १९ वें और चौथे अध्यायके ४२ वें श्लोकोंमें अर्जुनको योगनिष्ठाकी दृष्टिसे कर्म करनेकी आज्ञा दी गयी है, और अध्याय ३। २८ तथा ५। ८, ९, १३ में सांख्य यानी ज्ञाननिष्ठाकी दृष्टिसे कर्म करनेकी बात कही गयी है। सकाम कर्मके लिये किसी भी निष्ठामें स्थान ही नहीं है, सकाम कर्मियोंको तो भगवान्‌ने तुच्छ बतलाया है (२। ४२ से ४४; ७। २० से २३; ९। २०, २१)।

ज्ञानका अर्थ भी गीतामें केवल ज्ञानयोग ही नहीं है; फलरूप ज्ञानको भी, जो सब प्रकारके साधनोंका फल है—जो ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा दोनोंका फल है और जिसे यथार्थ ज्ञान अथवा तत्त्वज्ञान भी कहते हैं, 'ज्ञान' शब्दसे ही कहा है। अध्याय ४। २४ तथा २५ के उत्तरार्द्धमें ज्ञानयोगका वर्णन है और अध्याय ४। ३६—३९में फलरूप ज्ञानका वर्णन है। इसी प्रकार अन्यत्र भी प्रसंगानुसार समझ लेना चाहिये।

शास्त्रोंमें कर्म और ज्ञानके अतिरिक्त जो 'उपासना' प्रकरण आया है, वह उपासना इन्हीं दो निष्ठाओंके अन्तर्गत है। जब अपनेको परमात्मासे अभिन्न मानकर उपासना की जाती है तब वह सांख्यनिष्ठाके अन्तर्गत आ जाती है और जब भेददृष्टिसे की जाती है तब योगनिष्ठाके अन्तर्गत मानी जाती है। सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठामें यही मुख्य अन्तर है। इसी प्रकार अध्याय १३। २४ में केवल ध्यानके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति बतलायी गयी है; परन्तु वहाँ भी यही बात समझनी चाहिये कि जो ध्यान अभेददृष्टिसे किया जाता है वह सांख्यनिष्ठाके अन्तर्गत है और जो भेददृष्टिसे किया जाता है वह योगनिष्ठाके अन्तर्गत है।

गीतामें केवल भजन-पूजन अथवा केवल ध्यानसे अपनी प्राप्ति बतलाकर भगवान्‌ने यह भाव दिखलाया है कि योगनिष्ठाके पूरे साधनसे तो उनकी प्राप्ति होती ही है, उसके एक-एक अंगके साधनसे भी उनकी प्राप्ति हो सकती है। यह उनकी कृपा है कि उन्होंने अपनेको जीवोंके लिये इतना सुलभ बना दिया है। अब सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठाके क्या स्वरूप हैं, उन दोनोंमें क्या अन्तर है, उनके कितने और कौन-कौनसे अवान्तर भेद हैं तथा दोनों निष्ठाएँ स्वतन्त्र हैं अथवा परस्पर-सापेक्ष हैं, इन निष्ठाओंके कौन-कौन अधिकारी हैं, इत्यादि विषयोंपर संक्षेपसे विचार किया जा रहा है—

सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठाका स्वरूप

(१) सम्पूर्ण पदार्थ मृगतृष्णाके जलकी भाँति अथवा स्वप्नकी सृष्टिके सदृश मायामय होनेसे मायाके कार्यरूप सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरतते हैं—इस प्रकार समझकर मन-इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाले समस्त कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होना (५। ८-९) तथा सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे नित्य स्थित रहते हुए एक सच्चिदानन्दघन वासुदेवके सिवा अन्य किसीके भी अस्तित्वका भाव न रहना (१३। ३०)—यह तो 'सांख्यनिष्ठा' है। 'ज्ञानयोग' अथवा 'कर्मसंन्यास' भी इसीके नाम हैं। और—

(२) सब कुछ भगवान्‌का समझकर, सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते हुए, आसक्ति और फलकी इच्छाका त्याग करके भगवत्-आज्ञानुसार सब कर्मोंका आचरण करना (२। ४७ से ५१) अथवा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मन, वाणी और शरीरसे सब प्रकार भगवान्‌के शरण होकर नाम, गुण और प्रभावसहित उनके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना (६।४७)—यह 'योगनिष्ठा' है। इसीका भगवान्‌ने समत्वयोग, बुद्धियोग, तदर्थकर्म, मदर्थकर्म एवं सात्त्विक त्याग आदि नामोंसे उल्लेख किया है।

योगनिष्ठामें सामान्यरूपसे अथवा प्रधानरूपसे भक्ति रहती ही है। गीतोक्त योगनिष्ठा भक्तिसे शून्य नहीं है। जहाँ भक्ति अथवा भगवान्‌का स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख नहीं है (२।४७ से ५१) वहाँ भी भगवान्‌की आज्ञाका पालन तो है ही और उसका फल भी भगवान्‌की ही प्राप्ति है—इस दृष्टिसे भक्तिका सम्बन्ध वहाँ भी है ही।

ज्ञाननिष्ठाके साधनके लिये भगवान्‌ने अनेक युक्तियाँ बतलायी हैं, उन सबका फल एक सच्चिदानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति ही है। ज्ञानयोगके अवान्तर भेद कई होते हुए भी उन्हें मुख्य चार विभागोंमें बाँटा जा सकता है—

(१) जो कुछ है, वह ब्रह्म ही है।

(२) जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत होता है वह मायामय है; वास्तवमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

(३) जो कुछ प्रतीत होता है, वह सब मेरा ही स्वरूप है—मैं ही हूँ।

(४) जो कुछ प्रतीत होता है, वह मायामय है, अनित्य है, वास्तवमें है ही नहीं; केवल एक चेतन आत्मा मैं ही हूँ।

इनमेंसे पहले दो साधन '**तत्त्वमसि**' महावाक्यके '**तत्**' पदकी दृष्टिसे हैं और पिछले दो साधन '**त्वम्**' पदकी दृष्टिसे हैं। इन्हींका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) इस चराचर जगत्‌में जो कुछ प्रतीत होता है, सब ब्रह्म ही है; एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं। जो कुछ कर्म हम करते हैं वह कर्म, उस कर्मके साधन एवं उपकरण तथा स्वयं कर्ता—सब कुछ ब्रह्म है (४। २४)। जिस प्रकार समुद्रमें पड़े हुए बरफके ढेलोंके बाहर और भीतर सब जगह जल-ही-जल व्याप्त है तथा वे ढेले स्वयं भी जलरूप ही हैं, उसी प्रकार समस्त चराचर भूतोंके बाहर-भीतर एकमात्र परमात्मा ही परिपूर्ण हैं तथा उन समस्त भूतोंके रूपमें भी वे ही हैं (१३। १५)।

(२) जो कुछ यह दृश्यवर्ग है, उसे मायामय, क्षणिक एवं नाशवान् समझकर—उसका अभाव करके केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही है, और कुछ भी नहीं है—ऐसा समझते हुए मन-बुद्धिको भी ब्रह्ममें तद्रूप कर देना एवं परमात्मामें एकीभावसे स्थित होकर उनके अपरोक्षज्ञानद्वारा उनमें एकता प्राप्त कर लेना (४। २५ का उत्तरार्द्ध; ५। १७)।

(३) चर, अचर सब ब्रह्म है और वह ब्रह्म मैं हूँ; इसलिये सब मेरा ही स्वरूप है—इस प्रकार विचारकर सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंको अपना आत्मा ही समझना यानी समस्त भूतोंमें अपने आत्माको देखना और आत्माके अन्तर्गत समस्त भूतोंको देखना (६। २९)।

इस प्रकारका साधन करनेवालेकी दृष्टिमें एक ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ भी नहीं रहता, वह फिर अपने उस विज्ञानानन्दघन स्वरूपमें ही आनन्दका अनुभव करता है (१८। ५४)।

(४) जो कुछ भी यह मायामय, तीनों गुणोंका कार्यरूप दृश्यवर्ग है इसको और इसके द्वारा होनेवाली सारी क्रियाओंको अपनेसे पृथक्, नाशवान् एवं अनित्य समझना तथा इन सबका अत्यन्त अभाव करके केवल भावरूप आत्माका ही अनुभव करना (१३। ३४)।

इस प्रकारकी स्थिति प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌ने गीतामें अनेक युक्तियोंसे साधकको जगह-जगह यह बात समझायी है कि आत्मा, द्रष्टा, साक्षी, चेतन और नित्य है तथा यह देहादि जड दृश्यवर्ग—जो कुछ प्रतीत होता है—अनित्य होनेसे असत् है; केवल आत्मा ही सत् है। इसी बातको पुष्ट करनेके लिये भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके ११ वेंसे ३० वें श्लोकतक नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निराकार, निर्विकार, अक्रिय, गुणातीत आत्माके स्वरूपका वर्णन किया है। अभेदरूपसे साधन करनेवाले पुरुषोंको आत्माका स्वरूप ऐसा ही मानकर साधन करनेसे आत्माका साक्षात्कार

होता है। जो कुछ चेष्टा हो रही है, गुणोंकी ही गुणोंमें हो रही है, आत्माका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है (५। ८, ९; १४। १९)—न वह कुछ करता है और न करवाता है—ऐसा समझकर वह नित्य-निरन्तर अपने-आपमें ही अत्यन्त आनन्दका अनुभव करता है (५। १३)।

उपर्युक्त ज्ञानयोगके चारों साधनोंमें पहले दो साधन तो ब्रह्मकी उपासनासे युक्त हैं एवं तीसरा और चौथा साधन अहंग्रह-उपासनासे युक्त है।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि 'उपर्युक्त चारों साधन व्युत्थान-अवस्थामें करनेके हैं या ध्यानावस्थामें या कि वे दोनों ही अवस्थाओंमें किये जा सकते हैं।' इसका उत्तर यह है कि पहले साधनका पहला अंश, जो अध्याय ४। २४ के अनुसार करनेका है तथा चौथे साधनके अन्तमें जो प्रक्रिया अध्याय ५। ८, ९ के अनुसार बतलायी गयी है—ये दोनों तो केवल व्यवहारकालमें करनेके हैं और दूसरा साधन केवल ध्यानकालमें ही करनेका है। शेष सब दोनों ही अवस्थाओंमें किये जा सकते हैं।

यहाँ कोई यह पूछ सकता है कि 'पहले साधनमें '**वासुदेवः सर्वमिति**'—जो कुछ दीखता है सब वासुदेवका ही स्वरूप है (७। १९) तथा '**सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः**।'—जो पुरुष एकीभावमें स्थित हुआ मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको ही भजता है (६। ३१)—इनका उल्लेख क्यों नहीं किया गया।' इसका उत्तर यह है कि ये दोनों श्लोक भक्तिके प्रसंगके हैं और दोनोंमें ही परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषका वर्णन है; अतः इनका उल्लेख उस प्रसंगमें नहीं किया गया। परन्तु यदि कोई इनको ज्ञानके प्रसंगमें लेकर इनके अनुसार साधन करना चाहे तो कर सकता है; ऐसा करनेमें भी कोई आपत्ति नहीं है।

जिस प्रकार ऊपर सांख्यनिष्ठाके चार विभाग किये गये हैं, उसी प्रकार योगनिष्ठाके भी तीन मुख्य भेद हैं—

१-केवल कर्मयोग।
२-भक्तिमिश्रित कर्मयोग।
३-भक्तिप्रधान कर्मयोग।

(१) केवल कर्मयोगके उपदेशमें कहीं-कहीं भगवान्ने केवल फलके त्यागकी बात कही है (५। १२; ६। १; १२। ११; १८। ११), कहीं केवल आसक्तिके त्यागकी बात कही है (३। १९; ६। ४) और कहीं फल और आसक्ति दोनोंके छोड़नेकी बात कही गयी है (२। ४७, ४८; १८। ६, ९)। जहाँ केवल फलके त्यागकी बात कही गयी है, वहाँ आसक्तिके त्यागकी बात ऊपरसे ले लेनी चाहिये और जहाँ केवल आसक्तिके त्यागकी बात कही है, वहाँ फलके त्यागकी बात ऊपरसे ले लेनी चाहिये। कर्मयोगका साधन वास्तवमें तभी पूर्ण होता है जब फल और आसक्ति दोनोंका ही त्याग होता है।

(२) भक्तिमिश्रित कर्मयोग—इसमें सारे संसारमें परमेश्वरको व्याप्त समझते हुए अपने-अपने वर्णोचित कर्मके द्वारा भगवान्की पूजा करनेकी बात कही है (१८। ४६); इसीलिये इसको भक्तिमिश्रित कर्मयोग कह सकते हैं।

(३) भक्तिप्रधान कर्मयोग—
इसके दो अवान्तर भेद हैं—
(क) 'भगवदर्पण' कर्म और
(ख) 'भगवदर्थ' कर्म।

भगवदर्पण कर्म भी दो तरहसे किया जाता है। पूर्ण 'भगवदर्पण' तो वह है जिसमें समस्त कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाको त्यागकर तथा यह सब कुछ भगवान्का है, मैं भी भगवान्का हूँ और मेरे द्वारा जो कर्म होते हैं वे भी भगवान्के ही हैं, भगवान् ही मुझसे कठपुतलीकी भाँति सब कुछ करवा रहे हैं—ऐसा समझते हुए भगवान्के आज्ञानुसार भगवान्की ही प्रसन्नताके लिये शास्त्रविहित कर्म किये जाते हैं (३। ३०; १२। ६; १८। ५७, ६६)।

इसके अतिरिक्त पहले किसी दूसरे उद्देश्यसे किये हुए कर्मोंको पीछेसे भगवान्के अर्पण कर देना, कर्म करते-करते बीचमें ही भगवान्के अर्पण कर देना, कर्म समाप्त होनेके साथ-साथ भगवान्के अर्पण कर देना अथवा कर्मोंका फलमात्र भगवान्के अर्पण कर देना—यह भी 'भगवदर्पण' का ही प्रकार है, यद्यपि यह भगवदर्पणकी प्रारम्भिक सीढ़ी है। ऐसा करते-करते ही उपर्युक्त पूर्ण भगवदर्पण होता है।

'भगवदर्थ' कर्म भी दो प्रकारके होते हैं—

भगवान्के विग्रह आदिका अर्चन तथा भजन-ध्यान आदि उपासनारूप कर्म जो भगवान्के ही निमित्त किये जाते हैं और जो स्वरूपसे भी भगवत्सम्बन्धी होते हैं, उनको 'भगवदर्थ' कह सकते हैं।

इनके अतिरिक्त जो शास्त्रविहित कर्म भगवत्प्राप्ति, भगवत्प्रेम अथवा भगवान्की प्रसन्नताके लिये भगवदाज्ञानुसार किये जाते हैं वे भी 'भगवदर्थ' कर्मके ही अन्तर्गत हैं। इन दोनों प्रकारके कर्मोंका 'मत्कर्म' और 'मदर्थ कर्म' नामसे भी गीतामें उल्लेख हुआ है (११। ५५; १२। १०)।

जिसे अनन्य भक्ति अथवा भक्तियोग कहा गया है (८। १४, २२; ९। १३, १४, २२, ३०, ३४; १०। ९; १३। १०; १४। २६), वह भी 'भगवदर्पण' और 'भगवदर्थ' इन दोनों कर्मोंमें ही सम्मिलित है। इन सबका फल एक—भगवत्प्राप्ति ही है।

अब प्रश्न यह होता है कि योगनिष्ठा स्वतन्त्ररूपसे भगवत्-प्राप्ति करा देती है या ज्ञाननिष्ठाका अंग बनकर। इसका उत्तर यह है कि गीताको दोनों ही सिद्धान्त मान्य हैं। अर्थात् भगवद्गीता योगनिष्ठाको भगवत्प्राप्ति यानी मोक्षका स्वतन्त्र साधन भी मानती है और ज्ञाननिष्ठामें सहायक भी। साधक चाहे तो बिना ज्ञाननिष्ठाकी सहायताके सीधे ही कर्मयोगसे परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है अथवा कर्मयोगके द्वारा ज्ञाननिष्ठाको प्राप्तकर फिर ज्ञाननिष्ठाके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है। दोनोंमेंसे वह कौन-सा मार्ग ग्रहण करे, यह उसकी रुचिपर निर्भर है। योगनिष्ठा स्वतन्त्र है, इस बातको भगवान्‌ने स्पष्ट शब्दोंमें अध्याय ५। ४, ५ तथा १३। २४ में कहा है। भगवान्‌में चित्त लगाकर भगवान्‌के लिये ही कर्म करनेवालेको भगवान्‌की कृपासे भगवान् शीघ्र मिल जाते हैं, यह बात जगह-जगह भगवान्‌ने कही है (८। ७; ११। ५५; १२। ६ से ८; १८। ५६ से ५८, ६२)। इसी प्रकार निष्काम कर्म और उपासना दोनों ही ज्ञाननिष्ठाके अंग भी बन सकते हैं। किन्तु अभेद-उपासना होनेसे ज्ञाननिष्ठा भेद-उपासनारूप भक्तियोग यानी योगनिष्ठाका अंग नहीं बन सकती। यह दूसरी बात है कि किसी ज्ञाननिष्ठाके साधककी आगे चलकर रुचि अथवा मत बदल जाय और वह ज्ञाननिष्ठाको छोड़कर योगनिष्ठाको पकड़ ले और उसे फिर योगनिष्ठाके द्वारा ही भगवत्प्राप्ति हो।

यदि कोई पूछे कि कर्मयोगका साधन करके फिर सांख्ययोगके साधनद्वारा जो सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त होते हैं, उनकी प्रणाली कैसी होती है तो इसे जाननेके लिये 'त्याग' के नामसे सात श्रेणियोंमें विभाग करके उसे यों समझना चाहिये—

(१) निषिद्ध कर्मोंका सर्वथा त्याग।

चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, जबरदस्ती, हिंसा, अभक्ष्यभोजन और प्रमाद आदि शास्त्रविरुद्ध नीच कर्मोंको मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी न करना। यह पहली श्रेणीका त्याग है।

(२) काम्य कर्मोंका त्याग।

स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके एवं रोग-संकटादिकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि सकाम कर्मोंको अपने स्वार्थके लिये न करना। यह दूसरी श्रेणीका त्याग है।

यदि कोई लौकिक अथवा शास्त्रीय ऐसा कर्म संयोगवश प्राप्त हो जाय, जो स्वरूपसे तो सकाम हो परन्तु उसके न करनेसे किसीको कष्ट पहुँचता हो या कर्म-उपासनाकी परम्परामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो स्वार्थका त्याग करके केवल लोकसंग्रहके लिये उसे कर लेना सकाम कर्म नहीं है।

(३) तृष्णाका सर्वथा त्याग।

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं स्त्री, पुत्र और धनादि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए हों, उनके बढ़नेकी इच्छाको भगवत्प्राप्तिमें बाधक समझकर उसका त्याग करना। यह तीसरी श्रेणीका त्याग है।

(४) स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेका त्याग।

अपने सुखके लिये किसीसे भी धनादि पदार्थोंकी अथवा सेवा करानेकी याचना करना एवं बिना याचनाके दिये हुए पदार्थोंको या की हुई सेवाको स्वीकार करना तथा किसी प्रकार भी किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी मनमें इच्छा रखना—इत्यादि जो स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेके भाव हैं, उन सबका त्याग करना। यह चौथी श्रेणीका त्याग है।

यदि कोई ऐसा अवसर योग्यतासे प्राप्त हो जाय कि शरीरसम्बन्धी सेवा अथवा भोजनादि पदार्थोंके स्वीकार न करनेसे किसीको कष्ट पहुँचता हो या लोकशिक्षामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो उस अवसरपर स्वार्थका त्याग करके केवल उनकी प्रीतिके लिये सेवादिका स्वीकार करना दोषयुक्त नहीं है; क्योंकि स्त्री, पुत्र और नौकर आदिसे की हुई सेवा एवं बन्धु-बान्धव और मित्र आदि द्वारा दिये हुए भोजनादि पदार्थोंके स्वीकार न करनेसे उनको कष्ट होना एवं लोकमर्यादामें बाधा पड़ना सम्भव है।

(५) सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंमें आलस्य और फलकी इच्छाका सर्वथा त्याग।

ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार आजीविकाद्वारा गृहस्थका निर्वाह एवं शरीरसम्बन्धी खान-पान आदि जितने कर्तव्यकर्म हैं, उन सबमें आलस्यका और सब प्रकारकी कामनाका त्याग करना।

(६) संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग।

धन, मकान और वस्त्रादि सम्पूर्ण वस्तुएँ तथा स्त्री, पुत्र और मित्रादि सम्पूर्ण बान्धवजन एवं मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा इत्यादि इस लोकके और परलोकके जितने विषय-भोगरूप पदार्थ हैं, उन सबको क्षणभंगुर और नाशवान् होनेके कारण अनित्य समझकर उनमें ममता और आसक्तिका न रहना तथा केवल एक परमात्मामें ही अनन्यभावसे विशुद्ध प्रेम होनेके कारण मन, वाणी और

शरीरके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें और शरीरमें भी ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना। यह छठी श्रेणीका त्याग है।

उक्त छठी श्रेणीके त्यागको प्राप्त हुए पुरुषोंका संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें वैराग्य होकर केवल एक परम प्रेममय भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम हो जाता है। इसलिये उनको भगवान्‌के गुण, प्रभाव और रहस्यसे भरी हुई विशुद्ध प्रेमके विषयकी कथाओंका सुनना-सुनाना और मनन करना तथा एकान्त देशमें रहकर निरन्तर भगवान्‌का भजन, ध्यान और शास्त्रोंके मर्मका विचार करना ही प्रिय लगता है। विषयासक्त मनुष्योंमें रहकर हास्य, विलास, प्रमाद, निन्दा, विषय-भोग और व्यर्थ वार्तादिमें अपने अमूल्य समयका एक क्षण भी बिताना अच्छा नहीं लगता एवं उनके द्वारा सम्पूर्ण कर्तव्यकर्म भगवान्‌के स्वरूप और नामका मनन रहते हुए ही बिना आसक्तिके केवल भगवदर्थ होते हैं।

यह कर्मयोगका साधन है; इस साधनके करते-करते ही साधक परमात्माकी कृपासे परमात्माके स्वरूपको तत्त्वतः जानकर अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है (१८। ५६)।

किन्तु यदि कोई सांख्ययोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त करना चाहे तो उसे उपर्युक्त साधन करनेके अनन्तर निम्नलिखित सातवीं श्रेणीकी प्रणालीके अनुसार सांख्ययोगका साधन करना चाहिये।

(७) संसार, शरीर और सम्पूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासना और अहंभावका सर्वथा त्याग।

संसारके सम्पूर्ण पदार्थ मायाके कार्य होनेसे सर्वथा अनित्य हैं और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण हैं—ऐसा दृढ़ निश्चय होकर शरीरसहित संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और सम्पूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासनाका सर्वथा अभाव हो जाना अर्थात् अन्तःकरणमें उनके चित्रोंका संस्काररूपसे भी न रहना एवं शरीरमें अहंभावका सर्वथा अभाव होकर मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका लेशमात्र भी न रहना तथा इस प्रकार शरीरसहित सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मोंमें वासना और अहंभावका अत्यन्त अभाव होकर एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें ही एकीभावसे नित्य-निरन्तर दृढ़ स्थिति रहना। यह सातवीं श्रेणीका त्याग है।

इस प्रकार साधन करनेसे वह पुरुष तत्काल ही सच्चिदानन्दघन परमात्माको सुखपूर्वक प्राप्त हो जाता है (६। २८)। किन्तु जो पुरुष उक्त प्रकारसे कर्मयोगका साधन न करके आरम्भसे ही सांख्ययोगका साधन करता है, वह परमात्माको कठिनतासे प्राप्त होता है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः। (५। ६)

यहाँ यह प्रश्न होता है कि कोई साधक एक ही समयमें दोनों निष्ठाओंके अनुसार साधन कर सकता है या नहीं—यदि नहीं तो क्यों? इसका उत्तर यह है कि—सांख्ययोग और कर्मयोग—इन दोनों साधनोंका सम्पादन एक कालमें एक ही पुरुषके द्वारा नहीं किया जा सकता; क्योंकि कर्मयोगी साधनकालमें कर्मको, कर्मफलको, परमात्माको और अपनेको भिन्न-भिन्न मानकर कर्मफल और आसक्तिका त्याग करके ईश्वरार्थ या ईश्वरार्पणबुद्धिसे समस्त कर्म करता है (३। ३०; ५। १०; ११। ५५; १२। १०; १८। ५६-५७) और सांख्ययोगी मायासे उत्पन्न सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं अथवा इन्द्रियाँ ही इन्द्रियोंके अर्थोंमें बरत रही हैं—ऐसा समझकर, मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अभिन्नभावसे स्थित रहता है (३। २८; ५। १३; १३। २९; १४। १९-२०; १८। ४९ से ५५)। कर्मयोगी अपनेको कर्मोंका कर्ता मानता है (५। ११), सांख्ययोगी कर्ता नहीं मानता (५। ८, ९)। कर्मयोगी अपने कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करता है (९। २७, २८), सांख्ययोगी मन और इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाली अहंतारहित क्रियाओंको कर्म ही नहीं मानता (१८। १७)। कर्मयोगी परमात्माको अपनेसे पृथक् मानता है (१२। १०), सांख्ययोगी सदा अभेद मानता है (१८। २०)। कर्मयोगी प्रकृति और ईश्वरकी भिन्न सत्ता स्वीकार करता है (१८। ६१), सांख्ययोगी एक ब्रह्मके सिवा किसीकी भी सत्ता नहीं मानता (१३। ३०)। कर्मयोगी कर्मफल और कर्मकी सत्ता मानता है, सांख्ययोगी न तो ब्रह्मसे भिन्न कर्म और उनके फलकी सत्ता ही मानता है और न उनसे अपना कोई सम्बन्ध ही समझता है। इस प्रकार दोनोंकी साधनप्रणाली और मान्यतामें पूर्व और पश्चिमकी भाँति महान् अन्तर है। ऐसी अवस्थामें दोनों निष्ठाओंका साधन एक पुरुष एक कालमें नहीं कर सकता। किन्तु जैसे किसी मनुष्यको भारतवर्षसे अमेरिका, न्यूयार्क शहरको जाना है तो वह यदि ठीक रास्तेसे होकर यहाँसे पूर्व-ही-पूर्व दिशामें जाता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा और पश्चिम-ही-पश्चिमकी ओर चलता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा; वैसे ही सांख्ययोग और कर्मयोगकी साधन-प्रणालीमें परस्पर भेद होनेपर भी जो मनुष्य किसी एक साधनमें दृढ़तापूर्वक लगा रहता है, वह दोनोंके ही एकमात्र परमलक्ष्य परमात्मातक पहुँच ही जाता है (गीता ५। ४)।

अधिकारी

अब प्रश्न यह रह जाता है कि गीतोक्त सांख्ययोग और कर्मयोगके अधिकारी कौन हैं—क्या सभी वर्णों और सभी आश्रमोंके तथा सभी जातियोंके लोग इनका आचरण कर सकते हैं अथवा किसी खास वर्ण, किसी खास आश्रम तथा किसी खास जातिके लोग ही इनका साधन कर सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि गीतामें जिस पद्धतिका निरूपण किया गया है वह सर्वथा भारतीय और ऋषिसेवित है, तथापि गीताकी शिक्षापर विचार करनेपर यह कहा जा सकता है कि गीतामें बतलाये हुए साधनोंके अनुसार आचरण करनेका अधिकार मनुष्यमात्रको है। जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णका यह उपदेश समस्त मानवजातिके लिये है—किसी खास वर्ण अथवा किसी खास आश्रमके लिये नहीं। यही गीताकी विशेषता है। भगवान्ने अपने उपदेशमें जगह-जगह '**मानवः**', '**नरः**', '**देहभृत्**', '**देही**' इत्यादि शब्दोंका प्रयोग करके इस बातको स्पष्ट कर दिया है। अध्याय ५। १३ में जहाँ सांख्ययोगका मुख्य साधन बतलाया गया है, भगवान्ने देही शब्दका प्रयोग करके मनुष्यमात्रको उसका अधिकारी बतलाया है। इसी प्रकार अध्याय १८।४६ में भगवान्ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि मनुष्यमात्र अपने-अपने शास्त्रविहित कर्मोंद्वारा सर्वव्यापी परमेश्वरकी पूजा करके सिद्धि प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार भक्तिके लिये भगवान्ने स्त्री, शूद्र तथा पापयोनितकको अधिकारी बतलाया है (९। ३२)। और भी जहाँ-जहाँ भगवान्ने किसी भी साधनका उपदेश दिया है, वहाँ ऐसा नहीं कहा है कि इस साधनको करनेका किसी खास वर्ण, आश्रम या जातिको ही अधिकार है, दूसरोंको नहीं।

ऐसा होनेपर भी यह स्मरण रखना चाहिये कि सभी कर्म सभी मनुष्योंके लिये उपयोगी नहीं होते। इसीलिये भगवान्ने वर्णधर्मपर बहुत जोर दिया है। जिस वर्णके लिये जो कर्म विहित हैं, उसके लिये वे ही कर्म कर्तव्य हैं, दूसरे वर्णके नहीं। इस बातको ध्यानमें रखकर ही कर्म करने चाहिये। ऐसे वर्णधर्मके द्वारा नियत कर्तव्यकर्मोंको अपने-अपने अधिकार और रुचिके अनुकूल योगनिष्ठाके अनुसार मनुष्यमात्र ही कर सकते हैं। वर्णधर्मके अतिरिक्त मानवमात्रके लिये पालनीय सदाचार, भक्ति आदिका साधन तो सभी कर सकते हैं।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि सांख्ययोगके साधनका अधिकार संन्यासियोंको ही है, दूसरे आश्रमवालोंको नहीं। यह बात भी युक्तिसंगत नहीं मालूम होती। अध्याय २। १८ में भगवान्ने सांख्यकी दृष्टिसे भी युद्ध ही करनेकी आज्ञा दी है। भगवान् यदि केवल संन्यासियोंको ही सांख्ययोगका अधिकारी मानते तो वे अर्जुनको उस दृष्टिसे युद्ध करनेकी आज्ञा कभी न देते; क्योंकि संन्यास-आश्रममें स्वरूपसे ही कर्ममात्रका त्याग कहा गया है, युद्धरूपी घोर कर्मकी तो बात ही क्या है। फिर अर्जुन तो संन्यासी थे भी नहीं। उन्हें भगवान्ने ज्ञानियोंके पास जाकर ज्ञान सीखनेतककी बात कही है (४। ३४)।

इसके अतिरिक्त तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकमें भगवान्ने सांख्ययोगकी सिद्धि केवल कर्मोंके स्वरूपतः त्यागसे नहीं बतलायी। यदि भगवान् सांख्ययोगका अधिकारी केवल संन्यासियोंको ही मानते तो सांख्ययोगके लिये कर्मोंका स्वरूपसे त्याग आवश्यक बतलाते और यह नहीं कहते कि कर्मोंको स्वरूपतः त्याग देनेमात्रसे ही सांख्ययोगकी सिद्धि नहीं होती। यही नहीं; अध्याय १३। ७ से ११ में जहाँ ज्ञानके साधन बतलाये गये हैं, वहाँ एक साधन स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदिमें आसक्ति एवं ममताका त्याग भी बतलाया है—

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।

स्त्री, पुत्र, मकान आदिके साथ स्वरूपतः सम्बन्ध होनेपर ही उनके प्रति आसक्ति एवं ममताके त्यागकी बात कही जा सकती है। संन्यास-आश्रममें इनका स्वरूपसे ही त्याग है; ऐसी दशामें यदि संन्यासियोंको ही ज्ञानयोगके साधनका अधिकार होता तो उनके लिये इन सबके प्रति आसक्ति और ममताके त्यागका कथन अनावश्यक था।

तीसरी बात यह है कि अठारहवें अध्यायमें जहाँ अर्जुनने खास संन्यास और त्यागके सम्बन्धमें प्रश्न किया है, वहाँ भगवान्ने १३ वेंसे लेकर ४० वें श्लोकतक संन्यासके स्थानपर सांख्ययोगका ही वर्णन किया है, संन्यास-आश्रमका कहीं भी उल्लेख नहीं किया। यदि भगवान्को 'संन्यास' शब्दसे संन्यास-आश्रम अभिप्रेत होता अथवा सांख्ययोगका अधिकारी वे केवल संन्यासियोंको ही मानते तो इस प्रसंगपर अवश्य उसका स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख करते। इन सब बातोंसे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि सांख्ययोगके साधनका अधिकार संन्यासी, गृहस्थ सभीको समानरूपसे है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि सांख्ययोगका साधन करनेके लिये संन्यास-आश्रममें सुविधाएँ अधिक हैं, इस दृष्टिसे उस आश्रमको गृहस्थाश्रमकी अपेक्षा सांख्ययोगके साधनके लिये अवश्य ही अधिक उपयुक्त कह सकते हैं।

कर्मयोगके साधनमें कर्मकी प्रधानता है और स्ववर्णोचित विहित कर्म करनेकी विशेषरूपसे आज्ञा है (३। ८); बल्कि कर्मोंका स्वरूपसे त्याग इसमें बाधक बतलाया गया है (३।४)। इसलिये संन्यास-आश्रममें द्रव्यसाध्य कर्मयोगका

आचरण नहीं बन सकता; क्योंकि वहाँ द्रव्य और कर्मोंका स्वरूपसे त्याग है; किन्तु भगवान्‌की भक्ति सभी आश्रमोंमें की जा सकती है। कुछ लोगोंमें यह भ्रम फैला हुआ है कि गीता तो साधु-संन्यासियोंके कामकी चीज है, गृहस्थीके कामकी नहीं; इसीलिये वे प्रायः बालकोंको इस भयसे गीता नहीं पढ़ाते कि इसे पढ़कर ये लोग गृहस्थका त्याग कर देंगे। परन्तु उनका ऐसा समझना सर्वथा भूल है, यह बात ऊपरकी बातोंसे स्पष्ट हो जाती है। वे लोग यह नहीं सोचते कि मोहके कारण अपने क्षात्रधर्मसे विमुख होकर भिक्षाके अन्नसे निर्वाह करनेके लिये उद्यत अर्जुनने जिस परम रहस्यमय गीताके उपदेशसे आजीवन गृहस्थमें रहकर कर्तव्यका पालन किया, उस गीताशास्त्रका यह उलटा परिणाम किस प्रकार हो सकता है। यही नहीं, गीताके उपदेष्टा स्वयं भगवान् जबतक इस धराधामपर अवताररूपमें रहे, तबतक बराबर कर्म ही करते रहे—साधुओंकी रक्षा की, दुष्टोंका संहार करके उद्धार किया और धर्मकी स्थापना की। यही नहीं, उन्होंने तो यहाँतक कहा है कि यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ तो लोग मेरी देखा-देखी कर्मोंका परित्याग कर आलसी बन जायँ और इस प्रकार लोककी मर्यादा छिन्न-भिन्न करनेका दायित्व मुझीपर रहे (३। २३-२४)। इसका यह अर्थ भी नहीं कि गीता संन्यासियोंके लिये नहीं है। गीता सभी वर्णाश्रमवालोंके लिये है। सभी अपने-अपने वर्णाश्रमके कर्मोंको करते हुए सांख्य या योग—दोनोंमेंसे किसी एक निष्ठाके द्वारा अधिकारानुसार साधन कर सकते हैं।

गीतामें भक्ति

गीतामें कर्म, भक्ति, ज्ञान—सभी विषयोंका विशदरूपसे विवेचन किया गया है; सभी मार्गोंसे चलनेवालोंको इसमें यथेष्ट सामग्री मिल सकती है। किन्तु अर्जुन भगवान्‌के भक्त थे; अतः सभी विषयोंका प्रतिपादन करते हुए जहाँ अर्जुनको स्वयं आचरण करनेके लिये आज्ञा दी है, वहाँ भगवान्‌ने उसे भक्तिप्रधान कर्मयोगका ही उपदेश दिया है (३। ३०; ८। ७; १२। ८; १८। ५७, ६२, ६५, ६६)। कहीं-कहीं केवल कर्म करनेकी भी आज्ञा दी है (देखिये २। ४८, ५०; ३। ८, ९, १९; ४। ४२; ६। ४६; ११। ३३-३४) परन्तु उसके साथ भी भक्तिका अन्य स्थलोंसे अध्याहार कर लेना चाहिये। केवल ४। ३४ में भगवान्‌ने अर्जुनको ज्ञानियोंके पास जाकर ज्ञान सीखनेकी आज्ञा दी है, वह भी ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रणाली बतलाने तथा अर्जुनको चेतावनी देनेके लिये। वास्तवमें भगवान्‌का आशय अर्जुनको ज्ञान सीखनेके लिये किसी ज्ञानीके पास भेजनेका नहीं था और न अर्जुनने जाकर उस प्रक्रियासे कहीं ज्ञान सीखा ही। उपक्रम-उपसंहारको देखते हुए भी गीताका पर्यवसान शरणागतिमें ही प्रतीत होता है। वैसे तो गीताका उपदेश '**अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्**' (२। ११) इस श्लोकसे प्रारम्भ हुआ है; किन्तु इस उपक्रमका बीज '**कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः**' (२। ७) अर्जुनकी इस उक्तिमें है, जिसमें '**प्रपन्नम्**' पदसे शरणागतिका भाव व्यंजित होता है। इसीलिये '**सर्वधर्मान् परित्यज्य**' (१८। ६६) इस श्लोकसे भगवान्‌ने शरणागतिमें ही अपने उपदेशका उपसंहार भी किया है।

गीताका ऐसा कोई भी अध्याय नहीं है, जिसमें कहीं-न-कहीं भक्तिका प्रसंग न आया हो। उदाहरणके लिये दूसरे अध्यायका ६१ वाँ, तीसरेका ३० वाँ, चौथेका ११ वाँ, पाँचवेंका २९ वाँ, छठेका ४७ वाँ, सातवेंका १४ वाँ, आठवेंका १४ वाँ, नवेंका ३४ वाँ, दसवेंका ९ वाँ, ग्यारहवेंका ५४ वाँ, बारहवेंका २ रा, तेरहवेंका १० वाँ, चौदहवेंका २६वाँ, पंद्रहवेंका १९ वाँ, सोलहवेंका १ ला (जिसमें '**ज्ञानयोगव्यवस्थितिः**' पदके द्वारा भगवान्‌के ध्यानकी बात कही गयी है), सतरहवेंका २७वाँ, अठारहवेंका ६६वाँ श्लोक देखना चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक अध्यायमें भक्तिका प्रसंग आया है। सातवेंसे लेकर बारहवें अध्यायतकमें तो भक्तियोगका प्रकरण भरा पड़ा है; इसीलिये इन छहों अध्यायोंको भक्तिप्रधान माना गया है। यहाँ उदाहरणके लिये प्रत्येक अध्यायके एक-एक श्लोककी ही संख्या दी गयी है। इसी प्रकार ज्ञानपरक श्लोक भी प्रायः सभी अध्यायोंमें मिलते हैं। उदाहरणके लिये—दूसरे अध्यायका २९ वाँ, तीसरेका २८ वाँ, चौथेके २५ वेंका उत्तरार्द्ध, पाँचवेंका १३ वाँ, छठेका २९ वाँ, आठवेंका १३ वाँ, नवेंका १५ वाँ, बारहवेंका ३ रा, तेरहवेंका ३४ वाँ, चौदहवेंका १९ वाँ और अठारहवेंका ४९ वाँ श्लोक देखना चाहिये। इनमें भी दूसरे, पाँचवें, तेरहवें, चौदहवें तथा अठारहवें अध्यायोंमें ज्ञानपरक श्लोक बहुत अधिक मिलते हैं।

गीतामें जिस प्रकार भक्ति और ज्ञानका रहस्य अच्छी तरहसे खोला गया है, उसी प्रकार कर्मोंका रहस्य भी भलीभाँति खोला गया है। दूसरे अध्यायके ३९ वेंसे ५३ वें श्लोकतक, तीसरे अध्यायके ४ थे श्लोकसे ३५ वें श्लोकतक, चौथे अध्यायके १३ वेंसे ३२ वें श्लोकतक, पाँचवें अध्यायके २ रे श्लोकसे ७ वें श्लोकतक तथा छठे अध्यायके १ ले श्लोकसे ४ थे श्लोकतक तो कर्मोंका रहस्य पूर्णरूपसे भरा हुआ है। इनमें भी अध्याय २। ४७ में कर्मका तथा ४। १६ से १८ में कर्म, अकर्म एवं विकर्मके नामसे कर्मोंके रहस्यका विशेषरूपसे विवेचन हुआ है। गीतातत्त्वांकमें उपर्युक्त श्लोकोंकी व्याख्यामें इस विषयका विस्तारसे विवरण दिया गया है।

इसी प्रकार अन्यान्य अध्यायोंमें भी कर्मोंका वर्णन है। इससे यह विदित होता है कि गीतामें केवल भक्तिका ही वर्णन नहीं है, ज्ञान, कर्म और भक्ति—तीनोंका ही सम्यक्तया प्रतिपादन हुआ है।

सगुण-निर्गुण-तत्त्व

ऊपर यह बात कही गयी कि परमात्माकी उपासना भेद-दृष्टिसे की जाय अथवा अभेद-दृष्टिसे, दोनोंका फल एक ही है—'**यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।**' (५।५) यह बात कैसे कही गयी? भेदोपासकको भगवान् साकाररूपमें दर्शन देते हैं और इस शरीरको छोड़नेके बाद वह उन्हींके परम धामको जाता है; और अभेदोपासक स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है। वह कहीं जाता-आता नहीं। फिर यह कैसे कहा जाता है कि दोनों प्रकारकी उपासनाका—सांख्यनिष्ठाका और योगनिष्ठाका फल एक ही है। इसका उत्तर यह है कि ऊपर जो बात कही गयी वह ठीक है और प्रश्नकर्ताने जो बात कही वह भी ठीक है। दोनोंका समन्वय कैसे है, अब इसीपर विचार किया जाता है।

साधनकालमें साधक जिस प्रकारके भाव और श्रद्धासे भावित होकर परमात्माकी उपासना करता है, उसको उसी भावके अनुसार परमात्माकी प्राप्ति होती है। भगवान् स्वयं भी कहते हैं कि 'जो मुझे जिस भावसे भजते हैं, मैं उन्हें उसी भावसे भजता हूँ (४।११)।' जो अभेदरूपसे अर्थात् अपनेको परमात्मासे अभिन्न मानकर परमात्माकी उपासना करते हैं, उन्हें अभेदरूपसे परमात्माकी प्राप्ति होती है; और जो भेदरूपसे उन्हें भजते हैं, उन्हें भेदरूपसे ही वे दर्शन देते हैं। साधकके निश्चयानुसार भगवान् भिन्न-भिन्न रूपसे सब लोगोंको मिलते हैं।

भेदोपासना तथा अभेदोपासना—दोनों ही उपासनाएँ भगवान्‌की उपासना हैं; क्योंकि भगवान् सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त सभी कुछ हैं। जो पुरुष भगवान्‌को निर्गुण-निराकार समझते हैं, उनके लिये वे निर्गुण-निराकार हैं (१२।३; १३।१२)। जो उन्हें सगुण-निराकार मानते हैं, उनके लिये वे सगुण-निराकार हैं (८।९)। जो उन्हें सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वोत्तम आदि उत्तम गुणोंसे युक्त मानते हैं, उनके लिये वे सर्वसद्‌गुणसम्पन्न हैं (१५।१५, १७, १९*)। जो पुरुष उन्हें सर्वरूप मानते हैं, उनके लिये वे सर्वरूप हैं (७।७ से १२; ९।१६ से १९)। जो उन्हें सगुण-साकार मानते हैं, उन्हें वे सगुण-साकाररूपमें दर्शन देते हैं (४।८; ९।२६)।

ऊपर जो बात कही गयी, वह तो ठीक है; परन्तु इससे प्रश्नकर्ताकी मूल शंकाका समाधान नहीं हुआ, वह ज्यों-की-त्यों बनी है। शंका तो यही थी कि जब भगवान् सबको अलग-अलग रूपमें मिलते हैं, तब फलमें एकता कहाँ हुई? इसका उत्तर यह है कि प्रथम भगवान् साधकको उसके भावके अनुसार ही मिलते हैं। उसके बाद जो भगवान्‌के यथार्थ तत्त्वकी उपलब्धि होती है, वह वाणीके द्वारा अकथनीय है, वह शब्दोंद्वारा बतलायी नहीं जा सकती। भेद अथवा अभेदरूपसे जितने प्रकारसे भी भगवान्‌की उपासना होती है, उन सबका अन्तिम फल एक ही होता है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये भगवान्‌ने कहीं-कहीं अभेदोपासकोंको अपनी प्राप्ति बतलायी है (१२।४; १४।१९; १८।५५) और भेदोपासकके लिये यह कहा है कि वह ब्रह्मको प्राप्त होता है (१४।२६), अनामय पदको प्राप्त होता है (२।५१), शश्वत् शान्तिको प्राप्त होता है (९।३१), ब्रह्मको जान जाता है (७।२९), अविनाशी शाश्वत पदको प्राप्त होता है (१८।५६) इत्यादि, इत्यादि। भेदोपासना तथा अभेदोपासना—दोनों प्रकारकी उपासनाका फल एक ही होता है, इसी बातको लक्ष्य करानेके लिये भगवान्‌ने एक ही बातको उलट-फेरकर कई प्रकारसे कहा है। भेदोपासक तथा अभेदोपासक दोनोंके द्वारा प्रापणीय वस्तु, यथार्थ तत्त्व अथवा 'स्थान' एक ही है (५।५); उसीको कहीं परम शान्ति और शाश्वत स्थानके नामसे कहा है (१८।६२), कहीं परमधामके नामसे (१५।६), कहीं अमृतके नामसे (१३।१२), कहीं '**माम्**' पदसे (९।३४), कहीं परम गतिके नामसे (८।१३), कहीं परम संसिद्धिके नामसे (८।१५), कहीं अव्यय पदके नामसे (१५।५), कहीं ब्रह्मनिर्वाणके नामसे (५।२४), कहीं निर्वाणपरमा शान्तिके नामसे (६।१५) और कहीं नैष्ठिक शान्तिके नामसे (५।१२) व्यक्त किया है। इनके अतिरिक्त और भी कई शब्द गीतामें उस अन्तिम फलको व्यक्त करनेके लिये प्रयुक्त हुए हैं। परन्तु वह वस्तु सभी साधनोंका फल है—इसके अतिरिक्त उसके विषयमें कुछ भी कहा नहीं जा सकता। वह वाणीका अविषय है। जिसे वह वस्तु प्राप्त हो गयी है, वही उसे जानता है; परन्तु वह भी उसका वर्णन नहीं कर सकता,

* उक्त श्लोकोंमें भगवान्‌के श्रेष्ठ गुणोंका ही वर्णन है, अतएव १५।१५ में हमने 'अपोहन' शब्दका अर्थ ज्ञान और स्मृतिका नाश न लेकर संशय-विपर्ययका नाश ही लिया है।

उपर्युक्त शब्दों तथा इसी प्रकारके अन्य शब्दोंद्वारा वह शाखाचन्द्रन्यायसे उसका लक्ष्यमात्र करा सकता है। अतः सब साधनोंका फलरूप जो परम वस्तु-तत्त्व है वह एक है, यही बात युक्तिसंगत है।

ईश्वरका यह तात्त्विक स्वरूप अलौकिक है, परम रहस्यमय है, गुह्यतम है। जिन्हें वह प्राप्त है, वे ही उसे जानते हैं। परन्तु यह बात भी उसका लक्ष्य करानेके उद्देश्यसे ही कही जाती है। युक्तिसे विचारकर देखा जाय तो यह कहना भी नहीं बनता।

गीतामें समता

गीतामें समताकी बात प्रधानरूपसे आयी है। भगवत्प्राप्तिकी तो समता ही कसौटी है। ज्ञान, कर्म एवं भक्ति—तीनों ही मार्गोंमें साधनरूपमें भी समताकी आवश्यकता बतलायी गयी है और तीनों ही मार्गोंसे परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषोंका भी समता एक असाधारण लक्षण बतलाया गया है। साधन भी उसके बिना अधूरा है, सिद्धि तो अधूरी है ही। जिसमें समता नहीं, वह सिद्ध ही कैसा? अध्याय २। १५ में **'समदुःखसुखम्'** पदसे ज्ञानमार्गके साधकोंमें समतावालेको ही अमृतत्व अर्थात् मुक्तिका अधिकारी बतलाया गया है। अध्याय २। ४८ में **'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥'** इस श्लोकार्धके द्वारा कर्मयोगके साधकको समतायुक्त होकर कर्म करनेकी आज्ञा दी गयी है। अध्याय १२। १८, १९ इन दो श्लोकोंमें सिद्ध भक्तके लक्षणोंमें समताका उल्लेख किया गया है और उसी अध्यायके २० वें श्लोकमें भक्तिमार्गके साधकके लिये भी इन्हीं गुणोंके सेवनकी बात कही गयी है। इसी प्रकार ६। ७ से ९ में सिद्ध कर्मयोगीको सम बतलाया गया है और अध्याय १४। २४-२५ में गुणातीत (सिद्ध ज्ञानयोगी)-के लक्षणोंमें भी समताका प्रधानरूपसे समावेश पाया जाता है।

इस समताका तत्त्व सुगमताके साथ भलीभाँति समझानेके लिये श्रीभगवान्‌ने गीतामें अनेकों प्रकारसे सम्पूर्ण क्रिया, भाव, पदार्थ और भूतप्राणियोंमें समताकी व्याख्या की है। जैसे—

मनुष्योंमें समता

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

(६। ९)

'सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओं और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला श्रेष्ठ है।'

मनुष्यों और पशुओंमें समता

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(५। १८)

'ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं।'

सम्पूर्ण जीवोंमें समता

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६। ३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

कहीं-कहींपर भगवान्‌ने व्यक्ति, क्रिया, पदार्थ और भावकी समताका एक ही साथ वर्णन किया है। जैसे—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥

(१२। १८)

'जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सर्दी-गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है (वह भक्त है)।'

यहाँ शत्रु-मित्र 'व्यक्ति' के वाचक हैं, मान-अपमान 'परकृत क्रिया' हैं, शीत-उष्ण 'पदार्थ' हैं और सुख-दुःख 'भाव' हैं।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥

(१४। २४)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है (वही गुणातीत है)।'

इसमें भी दुःख-सुख 'भाव' हैं; लोष्ट, अश्म और कांचन 'पदार्थ' हैं; निन्दा-स्तुति 'परकृत क्रिया' हैं और प्रिय-अप्रिय 'प्राणी', 'भाव', 'पदार्थ' तथा 'क्रिया' सभीके वाचक हैं।

इस प्रकार जो सर्वत्र समदृष्टि है, व्यवहारमें कथनमात्रकी अहंता-ममता रहते हुए भी जो सबमें समबुद्धि रखता है, जिसका समष्टिरूप समस्त संसारमें आत्मभाव है वह समतायुक्त पुरुष है और वही सच्चा साम्यवादी है।

गीताके साम्यवाद और आजकलके कहे जानेवाले साम्यवादमें बड़ा अन्तर है। आजकलका साम्यवाद ईश्वरविरोधी है और यह गीतोक्त साम्यवाद सर्वत्र ईश्वरको देखता है; वह धर्मका नाशक है, यह पद-पदपर धर्मकी पुष्टि करता है; वह हिंसामय है, यह अहिंसाका प्रतिपादक है; वह स्वार्थमूलक है, यह स्वार्थको समीप भी नहीं आने देता; वह खान-पान-स्पर्शादिमें एकता रखकर आन्तरिक भेदभाव रखता है, यह खान-पान-स्पर्शादिमें शास्त्रमर्यादानुसार यथायोग्य भेद रखकर भी आन्तरिक भेद नहीं रखता और सबमें आत्माको अभिन्न देखनेकी शिक्षा देता है; उसका लक्ष्य केवल धनोपासना है, इसका लक्ष्य ईश्वरप्राप्ति है; उसमें अपने दलका अभिमान है और दूसरोंका अनादर है, इसमें सर्वथा अभिमानशून्यता है और सारे जगत्‌में परमात्माको देखकर सबका सम्मान करना है; उसमें बाहरी व्यवहारकी प्रधानता है, इसमें अन्तःकरणके भावकी प्रधानता है; उसमें भौतिक सुख मुख्य है, इसमें आध्यात्मिक सुख मुख्य है; उसमें परधन और परमतसे असहिष्णुता है, इसमें सबका समान आदर है; उसमें राग-द्वेष है, इसमें राग-द्वेषरहित व्यवहार है।

जीवोंकी गति

गीतामें जीवोंके गुण एवं कर्मानुसार उनकी उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ—तीन गतियाँ बतलायी गयी हैं।

योग तथा सांख्यकी दृष्टिसे शास्त्रोक्त कर्म एवं उपासना करनेवाले साधकोंकी गति अध्याय ८। २४ में बतलायी गयी है। उनमें जो योगभ्रष्ट हो जाते हैं अर्थात् साधन करते-करते उसके सिद्ध होनेके पूर्व ही जिनका देहान्त हो जाता है, उनकी गतिका अध्याय ६। ४० से ४५ में वर्णन किया गया है। वहाँ यह बतलाया गया है कि मरनेके बाद वे स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होते हैं और सुदीर्घकालतक उन दिव्यलोकोंके सुख भोगकर पवित्र आचरणवाले श्रीमान् लोगोंके घरोंमें जन्म लेते हैं अथवा योगियोंके ही कुलमें जन्मते हैं और वहाँ पूर्व अभ्यासके कारण पुनः योगके साधनमें प्रवृत्त होकर परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं।

सकामभावसे विहित कर्म एवं उपासना करनेवालोंकी गतिका अध्याय ९। २०, २१ में वर्णन किया गया है—जहाँ स्वर्गकी कामनासे यज्ञ-यागादि वेद-विहित कर्म करनेवालोंको स्वर्गके भोगोंकी प्राप्ति तथा पुण्योंके क्षय हो जानेपर उनके पुनः मर्त्यलोकमें ढकेले जानेकी बात कही गयी है। वे लोग किस मार्गसे तथा किस तरह स्वर्गको जाते हैं, इसकी प्रक्रिया अध्याय ८। २५ में बतलायी गयी है। गीतातत्त्वांकमें उक्त श्लोककी व्याख्यामें उसका विस्तारसे वर्णन किया गया है।

चौदहवें अध्यायके १४ वें और १५ वें और १८ वें श्लोकोंमें सामान्य भावसे सभी पुरुषोंकी गति संक्षेपमें बतलायी गयी है। सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मरनेवाले उत्तम लोकोंमें जाते हैं, रजोगुणकी वृद्धिमें मरनेवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं तथा तमोगुणकी वृद्धिमें मरनेवाले पशु-पक्षी, कीट-पतंग तथा वृक्षादि योनियोंमें जन्मते हैं। इस प्रकार सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष मरकर ऊपरके लोकोंमें जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मनुष्यलोकमें ही रहते हैं और तमोगुणमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् नरकोंको और तिर्यक् योनियोंको प्राप्त होते हैं। सोलहवें अध्यायके १९ वेंसे २१ वें श्लोकतक आसुरी प्रकृतिके तामसी मनुष्योंके सम्बन्धमें भगवान्‌ने कहा है कि उन्हें मैं बार-बार आसुरी योनियोंमें अर्थात् कूकर-शूकर आदि योनियोंमें डालता हूँ और इसके बाद वे घोर नरकोंमें गिरते हैं। इसी प्रकार और-और स्थलोंमें भी गुणकर्मके अनुसार गीतामें जीवोंकी गति बतलायी गयी है। मुक्त पुरुषोंकी गतिका वर्णन विस्तारसे सांख्य और योगके फलरूपमें कहा गया है।

गीताकी कुछ खास बातें

(१) गुणोंकी पहचान

गीतामें सात्त्विक-राजस-तामस पदार्थों, भावों एवं क्रियाओंकी कुछ खास पहचान बतलायी गयी है। वह इस प्रकार है—

(१) जिस पदार्थ, भाव या क्रियाका स्वार्थसे सम्बन्ध न हो और जिसमें आसक्ति एवं ममता न हो तथा जिसका फल भगवत्प्राप्ति हो, उसे सात्त्विक जानना चाहिये।

(२) जिस पदार्थ, भाव या क्रियामें लोभ, स्वार्थ एवं आसक्तिका सम्बन्ध हो तथा जिसका फल क्षणिक सुखकी प्राप्ति एवं अन्तिम परिणाम दुःख हो, उसे राजस समझना चाहिये।

(३) जिस पदार्थ, भाव या क्रियामें हिंसा, मोह एवं प्रमाद हो तथा जिसका फल दुःख एवं अज्ञान हो, उसे तामस समझना चाहिये।

इस प्रकार तीनों तरहके पदार्थों, भावों एवं क्रियाओंका भेद बतलाकर भगवान्‌ने सात्त्विक पदार्थों, भावों एवं क्रियाओंको ग्रहण करने तथा राजस और तामस पदार्थों, भावों एवं क्रियाओंका त्याग करनेका उपदेश दिया है।

(२) गीतामें आचरणकी अपेक्षा भावकी प्रधानता

यद्यपि उत्तम आचरण एवं अन्तःकरणका उत्तम भाव, दोनोंहीको गीताने कल्याणका साधन माना है, किन्तु प्रधानता भावको ही दी है। दूसरे, बारहवें तथा चौदहवें

अध्यायोंके अन्तमें क्रमशः स्थितप्रज्ञ, भक्त एवं गुणातीत पुरुषोंके लक्षणोंमें भावकी ही प्रधानता बतलायी गयी है (देखिये २। ५५ से ७१; १२। १३ से १९; १४। २२ से २५)। दूसरे तथा चौदहवें अध्यायोंमें तो अर्जुनने प्रश्न किया है आचरणको लक्ष्य करके, परन्तु भगवान्‌ने उत्तर दिया है भावको ही दृष्टिमें रखकर। गीताके अनुसार सकामभावसे की हुई यज्ञ, दान, तप आदि ऊँची-से-ऊँची क्रिया एवं उपासनासे भी निष्कामभावसे की हुई शिल्प, व्यापार एवं सेवा आदि छोटी-से-छोटी क्रिया भी मुक्तिदायक होनेके कारण श्रेष्ठ है (अ० २। ४०, ४९; १२। १२; १८। ४६)। चौथे अध्यायमें जहाँ कई प्रकारके यज्ञरूप साधन बतलाये गये हैं, उनमें भी भावकी प्रधानतासे ही मुक्ति बतलायी है।

गीता और वेद

गीता वेदोंको बहुत आदर देती है। अध्याय १५। १५ में भगवान् अपनेको समस्त वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य, वेदान्तका रचनेवाला और वेदोंका जाननेवाला कहकर उनका महत्त्व बहुत बढ़ा देते हैं। अध्याय १५। १ में संसाररूपी अश्वत्थवृक्षका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि 'मूलसहित उस वृक्षको तत्त्वसे जाननेवाला ही वास्तवमें वेदके तत्त्वको जाननेवाला है।' इससे भगवान्‌ने यह बतलाया कि जगत्‌के कारणरूप परमात्माके तत्त्वसहित जगत्‌के वास्तविक स्वरूपको जनाना ही वेदोंका तात्पर्य है। अध्याय १३। ४ में भगवान्‌ने कहा है कि 'जो बात वेदोंके द्वारा विभागपूर्वक कही गयी है, उसीको मैं कहता हूँ।' इस प्रकार अपनी उक्तियोंके समर्थनमें वेदोंको प्रमाण बतलाकर भगवान्‌ने वेदोंकी महिमाको बहुत अधिक बढ़ा दिया है। अध्याय ९। १७ में तो भगवान्‌ने ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद—वेदत्रयीको अपना ही स्वरूप बतलाकर उसको और भी अधिक आदर दिया है। अध्याय ३। १५ और १७। २३ में भगवान् वेदोंको अपनेसे ही उत्पन्न हुए बतलाते हैं और अध्याय ४। ३२ में भगवान्‌ने यह कहा है कि परमात्माको प्राप्त करनेके अनेकों साधन वेदोंमें बतलाये हैं। इससे मानो भगवान् स्पष्टरूपसे यह कहते हैं कि वेदोंमें केवल भोगप्राप्तिके साधन ही नहीं हैं—जैसा कि कुछ अविवेकीजन समझते हैं—किन्तु भगवत्प्राप्तिके भी एक-दो नहीं, अनेकों साधन भरे पड़े हैं। अध्याय ८। ११ में भगवान् परमपदके नामसे अपने स्वरूपका वर्णन करते हुए कहते हैं कि वेदवेत्तालोग उसे अक्षर (ओंकार)-के नामसे निर्देश करते हैं। इससे भी भगवान् यही सूचित करते हैं कि वेदोंमें केवल सकाम पुरुषोंद्वारा प्रापणीय इस लोकके एवं स्वर्गके अनित्य भोगोंका ही वर्णन नहीं है, उनमें परमात्माके अविनाशी स्वरूपका भी विशद वर्णन है।

उपर्युक्त वर्णनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वेदोंको भगवान्‌ने बहुत अधिक आदर दिया है। इसपर यह शंका होती है कि 'फिर भगवान्‌ने कई स्थलोंपर वेदोंकी निन्दा क्यों की है। उदाहरणतः अध्याय २। ४२ में उन्होंने सकाम पुरुषोंको वेदवादमें रत एवं अविवेकी बतलाया है। अध्याय २। ४५ में उन्होंने वेदोंको तीनों गुणोंके कार्यरूप सांसारिक भोगों एवं उनके साधनोंका प्रतिपादन करनेवाले कहकर अर्जुनको उन भोगोंमें आसक्तिरहित होनेके लिये कहा है और अध्याय ९। २१ में वेदत्रयीधर्मका आश्रय लेनेवाले सकाम पुरुषोंके सम्बन्धमें भगवान्‌ने यह कहा है कि वे बारम्बार जन्मते-मरते रहते हैं, आवागमनके चक्करसे छूटते नहीं। ऐसी स्थितिमें क्या माना जाय?'

इस शंकाका उत्तर यह है कि उपर्युक्त वचनोंमें यद्यपि वेदोंकी निन्दा प्रतीत होती है, परन्तु वास्तवमें उनमें वेदोंकी निन्दा नहीं है। गीतामें सकामभावकी अपेक्षा निष्कामभावको बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है और भगवान्‌की प्राप्तिके लिये उसे आवश्यक बतलाया है। इसीसे उसकी अपेक्षा सकामभावको नीचा और नाशवान् विषय-सुखके देनेवाला बतलानेके लिये ही उसको जगह-जगह तुच्छ सिद्ध किया है, निषिद्ध कर्मोंकी भाँति उनकी निन्दा नहीं की है। अध्याय ८। २८ में जहाँ वेदोंके फलको लाँघ जानेकी बात कही है, वहाँ भी सकाम कर्मको लक्ष्य करके ही वैसा कहा गया है। उपर्युक्त विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भगवान्‌ने गीतामें वेदोंकी निन्दा कहीं भी नहीं की है, बल्कि जगह-जगह वेदोंकी प्रशंसा ही की है।

गीता और सांख्यदर्शन तथा योगदर्शन

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि गीतामें जहाँ-जहाँ 'सांख्य' शब्दका प्रयोग हुआ है, वहाँ वह महर्षि कपिलके द्वारा प्रवर्तित सांख्यदर्शनका वाचक है, परन्तु यह बात युक्तिसंगत नहीं मालूम होती। गीताके तेरहवें अध्यायमें लगातार तीन श्लोकों (१९, २० और २१)-में तथा अन्यत्र भी 'प्रकृति' और 'पुरुष' दोनों शब्दोंका साथ-साथ प्रयोग हुआ है और प्रकृति-पुरुष सांख्यदर्शनके खास शब्द हैं; इससे लोगोंने अनुमान कर लिया कि गीताको कापिलसांख्यका सिद्धान्त मान्य है। इसी प्रकार 'योग' शब्दको भी कुछ लोग पातंजलयोगका वाचक मानते हैं। पाँचवें अध्यायके प्रारम्भमें तथा अन्यत्र भी कई जगह 'सांख्य' और 'योग' शब्दोंका एक ही जगह प्रयोग हुआ है; इससे भी लोगोंने यह मान लिया कि 'सांख्य' और 'योग' शब्द क्रमशः कापिलसांख्य तथा पातंजलयोगके वाचक हैं; परन्तु यह बात युक्तिसंगत नहीं मालूम होती। न तो गीताका 'सांख्य'

कापिलसांख्य ही है और न गीताका 'योग' पातंजलयोग ही। नीचे लिखी बातोंसे यह स्पष्ट हो जाता है—

(१) गीतामें ईश्वरको जिस रूपमें माना है, उस रूपमें सांख्यदर्शन नहीं मानता।

(२) यद्यपि 'प्रकृति' शब्दका गीतामें कई जगह प्रयोग आया है, परन्तु गीताकी 'प्रकृति' और सांख्यकी 'प्रकृति' में महान् अन्तर है। सांख्यने प्रकृतिको अनादि एवं नित्य माना है; गीताने भी प्रकृतिको अनादि तो माना है (१३। १९), परन्तु गीताके अनुसार ज्ञानीकी दृष्टिमें ब्रह्मके सिवा प्रकृतिकी अलग सत्ता नहीं रहती।

(३) गीताके 'पुरुष' और सांख्यके 'पुरुष' में भी महान् अन्तर है। सांख्यके मतमें पुरुष नाना हैं; किन्तु गीता एक ही पुरुषको मानती है (१३। ३०; १८। २०)।

(४) गीताकी 'मुक्ति' और सांख्यकी 'मुक्ति' में भी महान् अन्तर है। सांख्यके मतमें दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही मुक्तिका स्वरूप है; गीताकी 'मुक्ति' में दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति तो है ही, किन्तु साथ-ही-साथ परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति भी है।

(५) पातंजलयोगमें योगका अर्थ है—'चित्तवृत्तिका निरोध।' परन्तु गीतामें प्रकरणानुसार 'योग' शब्दका विभिन्न अर्थोंमें प्रयोग हुआ है (देखिये गीतातत्त्वांक अध्याय २। ५३ की टीका)।

इस प्रकार गीता और सांख्यदर्शन तथा योगदर्शनके सिद्धान्तोंमें बड़ा अन्तर है।

वैराग्य-चर्चा

वैराग्यका विषय बड़े ही महत्त्वका है। वन हो, पहाड़ हो, गंगाका किनारा हो—ऐसे स्थलोंमें वैराग्यकी चर्चा अधिक शोभा देती है। ऋषि-महात्मालोग वनों, पहाड़ों और गंगातटपर रहकर ही तप किया करते थे। अब भी उत्तराखण्डमें रहनेसे स्वाभाविक ही वैराग्य होता है। वहाँके स्थानोंमें वैराग्यके परमाणु ओत-प्रोत हैं। वैराग्यके योग्य भूमि हो, वक्ता वैराग्यमय हो और श्रोता सत्पात्र हो तो वैराग्यका वर्णन करते ही वैराग्य जाग्रत् हो जाता है—वैसे ही, जैसे कामीके हृदयमें कामिनीके वर्णनसे काम जाग्रत् हो जाता है। वैराग्यकी बात वैराग्यवान् ही कह सकता है। सच्चे वैराग्यवान् पुरुषको तो कहनेकी भी जरूरत नहीं पड़ती, उसके साथ तो वैराग्य मूर्तिमान् होकर चलता है। वह जिस मार्गसे जाता है, उस मार्गमें मानो वैराग्यकी बाढ़ आ जाती है। उसके नेत्रोंसे वैराग्यका भाव निकलकर सब जगह व्याप्त हो जाता है।

वैराग्यके साथ उपरामता लगी रहती है और उसके साथ भगवान्‌का ध्यान लगा रहता है। आगे वैराग्य, बीचमें उपरामता, पीछे ध्यान, इस प्रकार तीनों साथ-साथ चलते हैं—जैसे वन जाते समय राम, सीता और लक्ष्मण चलते हैं। रामके साथ सीता रहती ही हैं, साथ ही रामके बिना लक्ष्मणको चैन नहीं और लक्ष्मणके बिना रामको चैन नहीं रहता। राम सीताको बीचमें रखते हैं। जहाँ सच्चा वैराग्य हो, ध्यान होता हो, साधन तीव्र हो, वहाँ उपरामता रहती ही है।

वैराग्यवान्‌के दर्शनमात्रसे वैराग्य हो जाता है, फिर उसके इशारेसे— व्याख्यानसे वैराग्य हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? वैराग्यवान्‌के व्याख्यानसे तो वेश्याका हृदय पलट सकता है। दत्तात्रेयजीके दर्शनसे ही एक वेश्याको वैराग्य हो गया। भक्त हरिदासजीके सम्पर्कमें आकर एक दूसरी वेश्या वैराग्यवती हो गयी। इसी प्रकार और भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं—

शुकदेवजी राजा परीक्षित्‌की सभामें जा रहे हैं, रास्तेमें बालक उनके ऊपर धूल फेंकते हैं, पर वे उनकी ओर ध्यानतक नहीं देते, अपनी मस्तीमें चले जाते हैं। सभामें पहुँचनेपर उनका महान् आदर होता है। शुकदेवजीमें अलौकिक उपरामता थी, अलौकिक वैराग्य था। नदीके किनारे स्त्रियाँ नहा रही थीं। शुकदेवजी उसी मार्गसे होकर निकल गये, पर किसीने लज्जा नहीं की। जब वेदव्यासजी आये तो उनको देखकर सभी स्त्रियोंने लज्जावश कपड़े पहन लिये। वेदव्यासजीने इसका कारण पूछा, तब स्त्रियोंने कहा कि 'शुकदेवजीकी दृष्टिमें स्त्री-पुरुषका भेद ही नहीं है। आप हमें स्त्री समझते हैं, इसलिये हमने मर्यादावश आपको देखकर कपड़े पहन लिये।' इतनी भारी उपरामता शुकदेवजीमें थी!

जडभरतजीपर भी वैराग्यका इतना नशा चढ़ा रहता था, मानो किसीने शराब पी ली हो! शराबका नशा तामसिक है, अन्नका राजसिक है और वैराग्यका सात्त्विक है। जडभरत वैराग्य और उपरामताके सात्त्विक नशेमें चूर रहते थे। तीनों जन्मकी बातें उनको याद थीं! मस्त बने बैठे रहते थे। घरवालोंने उन्हें मूर्ख समझ रखा था। पर जडभरतजीको किसीकी परवा नहीं थी। देवी भद्रकालीकी बलिके लिये जडभरतजीको राजाके आदमी पकड़ ले गये, उन्होंने उनकी गरदनपर तलवार मारनेको ज्यों ही हाथ उठाया कि देवी प्रकट हो गयीं और उन्होंने मारनेवालोंको

मार डाला। तत्पश्चात् देवीने जडभरतजीको वरदान माँगनेको कहा। देवीके आग्रहसे उन्होंने यही वर माँगा कि 'मेरे मारनेवालोंको जिला दो।' ऐसे ही एक बार राजा रहूगणकी पालकीमें जडभरतजी जोत दिये गये, वे अपने नित्यके अभ्यासके अनुसार कूदते-फाँदते चलने लगे। राजाने यह देखकर उन्हें बहुत डाँटा-डपटा तथा मारनेकी धमकी दी। जडभरतजी राजाकी बातोंको शान्तिपूर्वक सुनते रहे और अन्तमें उन्होंने उसकी बातोंका बड़ा सुन्दर और ज्ञानपूर्ण उत्तर दिया। जब राजाने इस प्रकारका सुन्दर उत्तर उस पालकी ढोनेवाले मनुष्यसे सुना तो उसके मनमें यह निश्चय हो गया कि हो-न-हो, ये कोई छद्मवेषधारी महात्मा हैं। वह तुरंत पालकीसे उतरकर जडभरतजीके चरणोंमें गिर पड़ा और लगा उनसे गिड़गिड़ाकर क्षमा माँगने। दयालु जडभरतजीने उसे उपदेश दिया।

ध्यान लगानेके लिये सौ युक्तियोंकी एक युक्ति वैराग्य है। युक्तियाँ तो फिर अपने-आप उपजने लगती हैं। ध्यान करनेवाले योगी महात्मालोग वैराग्यका ही आश्रय लेते हैं।

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥

(गीता १८। ५२)

फलतः—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

(गीता १८। ५४)

—इत्यादि

'फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकांक्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी परा भक्तिको प्राप्त हो जाता है।'

इन श्लोकोंके अनुसार उनकी स्थिति हो जाती है। जब वैराग्यकी इतनी महिमा है, तब पर-वैराग्यका तो कहना ही क्या है?

संसारके पदार्थोंमें आसक्ति न होनेका नाम वैराग्य है। संसारके किसी भी भोगमें आसक्ति न रहे, प्रीति न रहे, लगाव न रहे—यहाँतक कि ब्रह्मलोकके सम्पूर्ण भोग भी काकविष्ठावत् प्रतीत होने लगें; यही वैराग्य है। भोग्य पदार्थोंकी ओर वृत्तियाँ ही न जायँ, यह उपरामता है। वैराग्ययुक्त उपरामता ही श्रेष्ठ है, बिना वैराग्यके उपरामता कच्ची होती है। ऋषभदेवजीमें बड़ी भारी उपरामता थी, गौतमबुद्धसे भी बढ़कर! ऋषभदेवजीके समान उपरामताका कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। संसारमें विचरते हुए भी उन्हें संसारका ज्ञान न था। वनमें आग लगी है; किन्तु उन्हें इस बातका पता भी नहीं। अन्तमें शरीरमें आग लग गयी, शरीर आगमें जलकर भस्म हो गया; पर ऋषभदेवजीको तब भी आगका पता न चला। यह उपरामताकी सीमा है। ऐसी मस्तीमें स्थित हो जाया जाय कि कुछ पता ही न चले। शरीरका अध्यास ही न रह जाय! किसी भी संन्यासी अथवा गृहस्थमें ऐसी उपरामता आ जाय तो वह बहुत प्रशंसनीय है। केवल भीतरी उपरामता कम महत्त्वकी बात नहीं है। आत्माके कल्याणके लिये तो भीतरी उपरामताकी ही विशेष आवश्यकता है। राजा जनकमें बाहरी उपरामता नहीं थी। वास्तवमें तो उनकी दृष्टिमें जगत्का अभाव ही था। शुकदेवजीमें बाहरी-भीतरी दोनों प्रकारकी उपरामता थी। जनकजीने शुकदेवजीसे कहा था—'महाराज! आपमें बाहरी और भीतरी—दोनों प्रकारकी उपरामता है, अतः आप मुझसे श्रेष्ठ हैं। आपको कुछ सीखना नहीं है। जाकर ध्यान लगाइये।' यह सुनकर शुकदेवजी चले गये, जाकर उन्होंने ध्यान लगाया। ध्यान लगाते ही उनको समाधि लग गयी, भगवान्की प्राप्ति हो गयी।

समुद्रमें अनेकों नदियोंका जल पड़ता है; परन्तु वह ज्यों-का-त्यों गम्भीर है, अपनी महिमामें परिपूर्ण है। ऐसे ही ज्ञानी, महात्मा, विरक्त निष्कामी पुरुष अपनी महिमामें परिपूर्ण होते हैं। उन्हें संसारके पदार्थ आप-से-आप आकर प्राप्त होते हैं। वे व्यवहार भी करते हैं, परन्तु विकारको नहीं प्राप्त होते; उन्हें शान्ति ही प्राप्त होती है (देखिये गीता २। ७०)। ज्ञानी महात्माकी दृष्टिमें संसारका अत्यन्त अभाव होता है और संसारी नास्तिक पुरुषोंकी दृष्टिमें परमात्माका अत्यन्त अभाव है। विषयी पुरुषके मनमें यह शंका रहती है कि 'परमात्मा है या नहीं। किन्तु नास्तिक कहता है कि परमात्मा है ही नहीं।' इसी प्रकार ज्ञानीके लिये संसार नहीं है। सच्ची उपरामता वैराग्यसे ही होती है। उसीका फल है ब्राह्मी स्थिति। उसे जो प्राप्त कर लेता है, वह मोहको नहीं प्राप्त होता। अन्तकालमें भी उस स्थितिके प्राप्त हो जानेपर ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। गीताके दूसरे अध्यायके ६८, ६९, ७०, ७१, ७२—इन श्लोकोंमें महात्माओंके स्वाभाविक वैराग्य एवं उपरामताका दिग्दर्शन कराया गया है। ६८ वें, ६९ वें श्लोकमें उपरामताकी तथा ७० वें और ७१ वें श्लोकमें वैराग्यकी बातें कही गयी हैं। ये प्राप्त पुरुषोंके लक्षण हैं और साधकोंके लिये यही साधन हैं। इनको लक्ष्यमें रखकर साधन करनेवाले विरक्त पुरुषोंका भाव और आचरण संसारी पुरुषोंकी अपेक्षा विलक्षण होते हैं।

रागी और विरागी पुरुषोंमें रात-दिनका अन्तर है, अन्धकार और प्रकाश जितना अन्तर है। वास्तवमें तो

वैराग्यवान् पुरुषकी पहचान होना ही कठिन है। कपूर और कस्तूरीकी गन्धको कुत्ता और गदहा क्या पहचान सकता है? वैराग्यवान् पुरुष ही वैराग्यवान्की स्थितिका थोड़ा अनुमान कर सकता है। जो पदार्थ रागी पुरुषको प्रिय होते हैं, वे वैराग्यवान्को उलटे ही प्रतीत होते हैं। मान-बड़ाई रागी पुरुषको अमृत-सी लगती है, पर वैराग्यवान्को वह विष-सी प्रतीत होती है। रागीको इत्र, फुलेल, लवेंडर आदि सुगन्धित द्रव्य अच्छे लगते हैं; पर वैराग्यवान् इनको घृणाकी दृष्टिसे देखता है। दोनोंकी रुचि विपरीत होती है। मखमलका गद्दा रागीको अच्छा मालूम देता है, पर वैराग्यवान्को वह अच्छा नहीं लगता। जहाँ मन आया वहीं पड़ रहे; भूमि हो या चटाई, उसके लिये सब बराबर है—वैराग्यके नशेमें उसे सब कुछ अमृततुल्य भासता है। वैराग्यवान्की वृत्तियाँ संसारसे तनी हुई होती हैं। किसी स्थानपर रातको रागी-विरागी सभी सो रहे हों, जाड़ा पड़ रहा हो, आस-पास दुशाले, कम्बल और चट्टियाँ पड़ी हों; उस स्थितिमें रागीका हाथ सर्वप्रथम दुशालेपर पड़ेगा। कम्बलपर वह तभी हाथ डालेगा, जब दुशालेसे उसकी सर्दी दूर होती नहीं दीखेगी। परन्तु वैराग्यवान्का हाथ उस स्थितिमें भी स्वाभाविक ही चट्टियोंपर जायगा, दुशालेपर नहीं।

वैराग्यवान्को जो सुख प्राप्त होता है, वह रागीको कभी नहीं मिलता। वैराग्यवान्का सुख सात्त्विक सुख होता है। जहाँ फूलोंकी वर्षा हो रही होगी वहाँ वह जायगा ही नहीं। उसे तो संसारके सभी सुख बुरे मालूम होते हैं। संसारके सुख ही क्यों, देवता उसके सामने विमान लेकर आवें तो भी वह उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखेगा। दधीचिके पास इन्द्र जाता है, ऋषि ध्यानमें मस्त हैं। आँख खुलनेपर इन्द्र उन्हें कुछ उपदेश सुनानेके लिये कहता है। ऋषि कहते हैं—'इन्द्र! तेरा सुख कुत्तोंका-सा है।' जिस स्थितिमें इन्द्रलोकका सुख—इन्द्राणीका सुख भी कुत्तोंके सुख-सा लगता है, वह कितने अगाध सुखकी स्थिति है, जरा इसका विचार तो कीजिये! छोटे बच्चे मखमलके कोट पहनते हैं, गोटेकी कामदार टोपी पहनते हैं, खिलौनोंको लेकर खूब आमोद-प्रमोद करते हैं। वे अपने पितासे कहते हैं कि 'तुम भी खेलो।' पर पिता उनके इस आग्रहपर हँसता है। बालकके चमकीले कपड़ोंसे हम सबको स्वाभाविक ही वैराग्य होता है, वे हमें अच्छे नहीं लगते। इसी प्रकार वैराग्यवान् पुरुषोंको जो भोगकी चीजें देते हैं, उनकी इस चेष्टापर वैराग्यवान् हँसते हैं। उनकी वृत्तियोंमें वैराग्यके कारण इतना आनन्द भरा रहता है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसे अमृतकी भी उपमा नहीं दी जा सकती! उनके हृदयमें क्षण-क्षणमें आनन्दकी लहरें उठा करती हैं। हम उनकी स्थितिको कैसे समझें, वैराग्य हो तो कुछ समझें भी। साँपके काटनेपर जिस प्रकार क्षण-क्षणमें विषकी लहरें आती हैं, समुद्रमें जिस प्रकार जलकी लहरें उठती हैं, बिजलीका करेन्ट छू जानेपर जिस प्रकार रक्तमें दुःखद लहरें उठती हैं, वैसे ही वैराग्यमें सुख और शान्तिकी लहरें उठती हैं। वास्तवमें ये उदाहरण भी वैराग्यजनित सुखकी लहरोंको समझा नहीं सकते। उनको समझानेके लिये संसारमें कोई उदाहरण है ही नहीं। यदि कामी पुरुषका दृष्टान्त दें तो उसको शान्ति और सच्चे सुखका क्या पता! लोभीको पारस मिलनेपर जो आनन्द मिलता है, उसके साथ भी इसकी तुलना नहीं की जा सकती; क्योंकि उस आनन्दके साथ यह भय भी लगा रहता है कि उस पारसको कोई छीन न ले जाय। पारसके छिन जानेके भयके साथ उसे अपनी मृत्युका भी भय रहता है कि इस पारसके पीछे कोई उसे मार न दे। अस्तु, वैराग्यवान्के अनन्त सुखके सामने सांसारिक सुखका कोई भी उदाहरण नहीं ठहरता। रागीको संसारके विषयभोगोंको भोगनेमें जो आनन्द प्रतीत होता है, वैराग्यवान्को वही दुःख प्रतीत होता है। वैराग्यवान्पर वैराग्यका ऐसा नशा चढ़ा रहता है कि भोगोंकी ओर वह दृष्टि ही नहीं डालता, उनमें उसे रस ही नहीं मिलता। वह तो वैराग्यके रसमें ही सराबोर रहता है। उपरामता होनेपर जो रस मिलता है, वह वैराग्यसे भी अधिक होता है और भगवान्के ध्यानमें तो और भी विशेष सुख मिलता है। गीताके ५ वें अध्यायका २१ वाँ श्लोक देखिये—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।'

इस सुखको कैसे समझाया जाय! सारा जगत् तो परमात्मरूप अमृतसागरकी एक बूँदके आभासमें ही आनन्दित हो रहा है—मुग्ध हो रहा है; ध्यानजनित सुख उसकी एक बूँदके समान है। जिसकी बूँदमें इतना सुख है, उस सुखसागरके साक्षात् मिल जानेपर कितना अपार सुख मिलता है, उसे कोई समझा नहीं सकता। वह तो मन-

वाणीसे अतीत है। अतः इसकी प्राप्तिके लिये संसारके भोगोंसे विरक्त और उपराम होकर मनको परमात्माके ध्यानमें लगानेके लिये कटिबद्ध होकर चेष्टा करनी चाहिये।

आत्माके सम्बन्धमें कुछ प्रश्नोत्तर

आत्माके सम्बन्धमें कई सज्जनोंके कुछ प्रश्न मेरे पास आये हैं। उन सबके प्रश्नोंको एकत्र कर सबके उत्तर एक ही साथ अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार नीचे दिये जाते हैं। प्रश्नोंकी भाषा आवश्यकतानुसार कुछ बदल दी गयी है। प्रश्न संक्षेपमें इस प्रकार हैं—

(१) 'जीव', 'आत्मा' और 'परमात्मा' के अलग-अलग लक्षण बतलाते हुए आपने लिखा है कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीरोंके सम्बन्धसे रहित व्यष्टि-चेतनका नाम 'आत्मा' है। इसको कूटस्थ भी कहते हैं।' इसपर यह शंका होती है कि एक, दो या तीन शरीरोंके आवरणसहित चेतनको तो व्यष्टि-चेतन कह सकते हैं; परन्तु इन शरीरोंके आवरणके अतिरिक्त चेतनका और कौन-सा आवरण है, जिससे उसकी व्यष्टि-सत्ता बनी रह सकती है? और आवरणरहितको व्यष्टि कैसे कह सकते हैं? यदि आवरणके बिना भी चेतन व्यष्टिरूपमें रह सकता है तो फिर व्यष्टि और समष्टिमें अन्तर ही क्या रहा? और आत्माके स्वरूपको समझानेके लिये आपने जो खाली घटमें रहनेवाले आकाशका दृष्टान्त दिया है, वह आपके ही कथनानुसार आत्मामें लागू नहीं होता; क्योंकि दृष्टान्तमें घटरूपी आवरण मौजूद है। आपके उत्तरसे जान पड़ रहा है कि आपने अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार उत्तर दिया है। किन्तु आपके कथनानुसार यदि शरीरोंके आवरण बिना आत्माकी व्यष्टि-सत्ता बनी रह सकती है, तो अनेकात्मवाद मानना पड़ेगा। उस हालतमें अद्वैत-सिद्धान्त और द्वैत-सिद्धान्तमें भेद ही क्या रह जायगा?

(२) स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और कारणशरीरकी परिभाषा क्या है? तथा महाप्रलयके समय जीवका केवल कारणशरीरके साथ सम्बन्ध रहता है, यह कहनेका क्या अभिप्राय है? और मन-बुद्धिका कारणशरीरमें लय हो जाना किसे कहते हैं?

(३) जाग्रत्-अवस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्ति-अवस्था और तुरीयावस्थाका क्या स्वरूप है?

(४) डॉक्टरलोग जो क्लोरोफार्म आदिका प्रयोग करके कृत्रिम मूर्च्छा ले आते हैं, उसमें कष्टका अनुभव क्यों नहीं होता? तथा उस कृत्रिम मूर्च्छाके लानेका क्या मतलब है?

(५) स्थूलशरीरसे सूक्ष्मशरीरके साथ जीवका प्रस्थान कब होता है—हृदयकी गति बंद होनेपर या पहले ही?

(६) जीवके एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीरमें प्रवेश करनेमें कुछ समय लगता है या तुरंत उसे दूसरी योनि मिल जाती है? यदि समय लगता है तो कितना समय लगता है तथा उतने समयतक जीव कहाँ रहता है? सूक्ष्मशरीरसे जीव किसी दूसरे स्थूलशरीरमें प्रवेश कर सकता है या नहीं?

(७) एक जन्ममें जो पुरुष है, वह क्या दूसरे जन्मोंमें भी पुरुष ही रहेगा और इस जन्ममें जो स्त्री है, क्या उसे प्रत्येक जन्ममें स्त्रीका शरीर ही मिलेगा? अथवा इसमें परिवर्तन भी हो सकता है?

(८) एक बार मनुष्य-जन्म मिलनेपर क्या दुबारा मनुष्य-जन्म ही मिलेगा या दूसरी योनि भी मिल सकती है? यदि किसी मनुष्यको मरनेपर दूसरी योनि प्राप्त हुई तो वह अन्य योनियोंमें कबतक रहेगा और उसे पुनः मनुष्ययोनि कब मिलेगी?

ऊपर लिखे हुए प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः नीचे दिया जाता है—

(१) आपकी शंका बिलकुल युक्तियुक्त है। आपका यह कहना ठीक ही है कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे सम्बन्ध छूट जानेपर अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार जीवका व्यष्टिभाव नहीं रह जाता, वह समष्टिके साथ मिल जाता है। इसीका नाम कैवल्य-मुक्ति या निर्वाण है। 'जीव' और 'आत्मा' का भेद समझानेके लिये तथा इन दोनों संज्ञाओंकी पृथक्-पृथक् उपपत्ति बतलानेके लिये ही यह बात लिखी गयी थी कि उपर्युक्त शरीरोंमेंसे एक, दो या तीनोंसे सम्बन्धित चेतनका नाम 'जीव' है और इन तीनोंके सम्बन्धसे रहित व्यष्टि-चेतनका नाम 'आत्मा' है। वास्तवमें तीनों आवरणोंसे रहित आत्माकी कोई व्यष्टि-सत्ता रहती हो सो बात नहीं है। अवश्य ही, जैसा कि आपने लिखा है, अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार 'आत्मा' और 'परमात्मा' में कोई वास्तविक भेद नहीं है; केवल नामका ही भेद है। किन्तु एक या एकसे अधिक शरीरोंका आवरण रहनेपर भी चेतन तो उनके साथ रहता ही है, त्रिविध शरीरोंसे पृथक् केवल उस चेतनको द्योतित करनेके लिये ही 'आत्मा' का ऐसा लक्षण किया गया था। दृष्टान्तमें भी ऐसी ही बात समझनी चाहिये। यद्यपि घटरूप आवरणसे पृथक् घटावच्छिन्न आकाशकी कल्पना नहीं की जा

सकती, किन्तु घटसे भिन्न उसके स्वरूपको समझानेके लिये ही उसकी पृथक् संज्ञा की जाती है। सिद्धान्तकी दृष्टिसे तो आपका कहना ठीक ही है। उसके सम्बन्धमें हमको कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

(२) स्थूल पंचमहाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश)- से बने हुए देव, तिर्यक्, मनुष्य, सरीसृप, कीट-पतंगादि भेदसे अनेकों भेदवाले व्यक्त शरीरका नाम 'स्थूलशरीर' है। इस शरीरके साथ संयोग और वियोग होनेका नाम ही जन्म और मृत्यु है। इस शरीरको लेकर ही प्राणियोंके अनेक भेद-दृष्टिगोचर होते हैं।

पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण तथा मन, बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंसे बने हुए अव्यक्त शरीरका नाम सूक्ष्मशरीर है। मृत्युके समय एक स्थूलशरीरसे दूसरे स्थूलशरीरमें गमनागमन इसीका होता है। इसीके गमनागमनका आत्मापर आरोप होनेसे आत्माका गमनागमन कहा जाता है, वास्तवमें आत्मा सर्वव्यापी होनेके कारण अचल है। यह हमलोगोंकी इन्द्रियोंका विषय न होनेके कारण 'सूक्ष्म' कहलाता है। सूक्ष्मशरीर प्राणमय होनेके कारण वायुप्रधान होता है। इसे 'लिंगशरीर' भी कहते हैं। स्वप्नावस्थामें जीव प्रधानरूपसे इसीके साथ सम्बद्ध रहता है।

कारणशरीर केवल प्रकृतिका बना हुआ होता है। इसको स्वभाव भी कहते हैं। सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म होनेपर भी कारणशरीरकी अपेक्षा स्थूल है। गाढ़ निद्रा तथा मूर्च्छाकी अवस्थामें जीवका केवल इसी शरीरके साथ सम्बन्ध रहता है, स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों ही शरीरोंके साथ उसका सम्बन्ध नहीं रहता। महाप्रलयके समय जब महत्तत्त्वपर्यन्त सारी प्राकृतिक सृष्टि महाकारण अर्थात् मूल प्रकृति (अव्याकृत माया)-में लीन हो जाती है, उस समय जीव इसी कारणशरीरसे संश्लिष्ट होकर प्रकृतिरूप कारणाब्धिमें लीन रहते हैं और महासर्गके आदिमें—जब प्रकृतिमें क्षोभ होता है—पुनः पूर्वकर्मोंके अनुसार सूक्ष्मशरीरको प्राप्त हो जाते हैं और फिर क्रमशः स्थूलशरीरको ग्रहण करते हैं।

सुषुप्ति एवं मूर्च्छाकी अवस्थामें तथा महाप्रलयके समय इन्द्रिय तथा मन-बुद्धिकी प्रकृतिसे अलग सत्ता नहीं रहती। वे इन्द्रिय, मन और बुद्धि अपने कारण—प्रकृति—में लीन हो जाते हैं। इसीलिये उस समय जीवको सुख-दुःखका बोध नहीं होता; उनके कारणशरीरमें लीन हो जानेका यही भाव है।

(३) जाग्रत्-अवस्थाका अर्थ है जागनेकी अवस्था। जिस समय हमारे स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीर संयुक्त होकर कार्य करते हैं, इन्द्रिय एवं मनके साथ-साथ शरीर भी सचेष्ट रहता है, कर्मेन्द्रियाँ सजग रहती हैं, शरीरमें चेतना रहती है, उस अवस्थाको जाग्रत् अवस्था कहते हैं।

जिस समय हमारा स्थूलशरीर निश्चेष्ट रहता है; केवल सूक्ष्मशरीर जाग्रत् रहता है—एवं इन्द्रिय, मन, बुद्धिकी चेष्टा भीतर-ही-भीतर चालू रहती है, मन, बुद्धि एवं इन्द्रियोंके द्वारा हम अनेक प्रकारके दृश्योंकी कल्पना करके सुख-दुःखका अनुभव करते हैं, स्थूलशरीरके एक ही स्थानपर सोये रहनेपर भी सूक्ष्मशरीरके द्वारा भिन्न-भिन्न स्थानोंकी सैर करते हैं और भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंसे मिलते हैं, जिस समय हमारी इन्द्रियाँ स्थूलशरीरसे वियुक्त होकर कार्य करती हैं, स्थूल विषयोंके साथ संयोग न होनेपर भी सूक्ष्म विषयोंका उपभोग करती हैं—उस अवस्थाका नाम स्वप्नावस्था है।

गाढ़ निद्राकी स्थितिको सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। इसमें स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर निश्चेष्ट हो जाते हैं, दोनोंका कार्य बंद हो जाता है। केवल प्राणोंका व्यापार बंद नहीं होता, श्वास-प्रश्वासकी क्रिया चलती रहती है। इन्द्रिय तथा मन, बुद्धि इस अवस्थामें अपने कारण—प्रकृति अर्थात् अज्ञान—में लीन हो जाते हैं। इसलिये जीवको उस समय किसी पदार्थका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। गाढ़ निद्राके बाद जब हम जागते हैं तो कहते हैं कि ऐसी नींद आयी कि हमें कुछ चेत ही न रहा। सुषुप्तिकी अवस्था मूर्च्छाकी-सी अवस्था होती है। इसमें चिन्ता, शोक, पीड़ा आदिका भी उतने समयके लिये तो नाश ही हो जाता है। इसीलिये हमलोग जब बहुत थक जाते हैं अथवा मानसिक चिन्ता तथा शारीरिक पीड़ा आदिसे व्यथित होते हैं तो निद्राका आवाहन करते हैं।

यह ऊपर बतलाया जा चुका है कि जाग्रत् अवस्थामें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे आत्माका सम्बन्ध रहता है; स्वप्नावस्थामें उसका सूक्ष्म और कारण दो ही शरीरोंसे सम्बन्ध रहता है, स्थूलशरीरसे सम्बन्ध छूट जाता है। स्थूलशरीर चाहे कंकड़ोंपर पड़ा रहे अथवा उसमें घोर पीड़ा हो रही हो, स्वप्नकी अवस्थामें यदि हम इन्द्रलोककी सैर कर रहे होते हैं तो उतने समयके लिये हम अपने स्थूलशरीरमें चुभनेवाले कंकड़ोंको तथा उनसे होनेवाली पीड़ाको बिलकुल भूले रहेंगे। इसी प्रकार हम मखमलके गद्देपर लेटे हुए हों, पंखा चल रहा हो और दासियाँ हमारे पैर पलोट रही हों तथा चारों ओरसे हम सुरक्षित हों, किन्तु यदि उस समय स्वप्नमें हम किसी घोर जंगलमें पहुँच गये और वहाँ बाघ आकर हमको खाने लगा अथवा हम किसी नदीमें डूबने लगे अथवा चोर-डाकुओंद्वारा पीटे जाने लगे तो उस समय वह मखमलका गद्दा, जिसपर हम स्थूलशरीरसे

लेटे हुए हैं, हमें आराम नहीं पहुँचायेगा और हमारे दास-दासी शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित होनेपर भी हमारी उस बाघसे अथवा चोर-डाकुओंसे रक्षा नहीं कर सकेंगे और न हमें नदीमें डूबनेसे बचा सकेंगे। सुषुप्ति-अवस्थामें हमारा केवल कारणशरीरसे सम्बन्ध रहता है, स्थूल और सूक्ष्म दोनोंसे नहीं रहता। स्थूलशरीर उस समय बिलकुल निश्चेष्ट पड़ा रहता है और सूक्ष्मशरीर अपने कारणमें लीन हो जाता है; केवल प्राणोंकी क्रिया चालू रहती है। इन तीनों अवस्थाओंसे विलक्षण चौथी अवस्था-तुरीयावस्था वह है, जिसमें आत्माका उक्त तीनों शरीरोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यह जीवन्मुक्त महात्माओंकी अवस्था है। इस चौथी अवस्थाको प्राप्त होनेपर जीवका व्यष्टिभाव नष्ट होकर वह समष्टिमें मिल जाता है, इसीको आत्माकी स्वरूपावस्था कहते हैं। यह वास्तवमें कोई अवस्था नहीं है, आत्माका स्वरूप ही है। जिज्ञासुओंको पहली तीन अवस्थाओंसे इसकी विलक्षणता बतलानेके लिये ही इसको 'अवस्था' संज्ञा दी गयी है। इस अवस्थाको प्राप्त हुए महापुरुषोंका केवल दूसरोंके देखनेमें ही शरीरादिसे सम्बन्ध रहता है, वास्तवमें उनसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उनके कहलानेवाले शरीरादिका संचालन फिर प्रारब्धानुसार समष्टि-चेतनके सकाशसे होता रहता है।

(४) क्लोरोफार्म आदिके प्रयोगसे शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिकी प्रायः वही अवस्था हो जाती है जो सुषुप्ति-अवस्थामें अथवा स्वाभाविक मूर्च्छाकी दशामें होती है। अर्थात् उस समय स्थूलशरीर बिलकुल निश्चेष्ट हो जाता है और सूक्ष्मशरीरकी क्रिया भी बंद हो जाती है। केवल प्राणोंकी गति बंद नहीं होती, श्वास-प्रश्वासकी क्रिया चालू रहती है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि ही सुख-दुःखके अनुभवके द्वार हैं और ये सब उस समय अपने कारण—प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं; अतएव उस अवस्थामें अंगोंके काटे जानेपर भी पीड़ा नहीं होती और न उनके काटे जानेका ज्ञान ही रहता है। इसीलिये डॉक्टरलोग चीर-फाड़ करते समय इन द्रव्योंका उपयोग करते हैं, जिससे वह कार्य आसानीसे हो सके और रोगीको कष्ट भी न हो।

(५) स्थूलशरीरसे सूक्ष्मशरीरके साथ जीवका प्रस्थान हृदयकी गति बंद होनेके बाद ही होता है। जबतक हृदयमें धड़कन रहती है, तबतक जीवका प्रस्थान नहीं माना जा सकता। हृदयकी धड़कन बंद हो जानेके बाद भी कुछ समयतक जीव रह सकता है और यह भी सम्भव है कि हृदयकी धड़कन इतनी सूक्ष्म हो कि दूसरोंको उसका पता न लगे। अतः हृदयकी धड़कन बंद हो जानेपर भी जीवकी स्थिति शरीरमें रह सकती है; परन्तु इसके विपरीत जबतक हृदयमें धड़कन रहती है, तबतक तो जीवका रहना निश्चित ही है।

(६) प्राणोंका जिस क्षणमें शरीरसे वियोग होता है, जीवका सूक्ष्मशरीर तो उसी क्षण बदल जाता है। जीवको अन्तिम क्षणमें जिस भावकी स्मृति होती है, उसीके आकारका उसका सूक्ष्मशरीर तुरंत बन जाता है, जिस प्रकार कैमरेपर जिस वस्तुका प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसके लेंस (शीशे)-पर वैसा ही चित्र अंकित हो जाता है, उसी प्रकार प्रयाणकालमें अन्तःकरणपर जिस शरीरका चिन्तन होता है, उसका सूक्ष्मशरीर उसी आकारका बन जाता है। रह गयी स्थूलशरीरकी बात, सो जिस प्रकार कैमरेपर पड़े हुए प्रतिबिम्बके अनुसार फोटो तैयार करनेमें समयकी अपेक्षा होती है, उसी प्रकार बदले हुए सूक्ष्मशरीरके अनुरूप स्थूलशरीरके तैयार होनेमें भी समय लगता है और यह समय प्राप्त होनेवाली योनिके भेदसे न्यूनाधिक होता है। जीवकी त्रिविध गति गीता (१४। १८)-में बतलायी गयी है—'ऊर्ध्व, मध्यम और अधम।' ऊर्ध्व गतिको जानेवाले जीव धूममार्ग अथवा अर्चिमार्गसे ऊपरके लोकोंको जाते हैं, मध्यम गतिको प्राप्त होनेवाले जीव मनुष्ययोनिमें जन्म ग्रहण करते हैं और अधम गतिको प्राप्त होनेवाले जीव पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि तिर्यक् योनियों अथवा वृक्षादि स्थावर योनियोंमें जन्म लेते हैं या नरकको प्राप्त होते हैं।

सकामभावसे शुभ कर्म अथवा उपासना करनेवाले जीव धूम-मार्गसे चन्द्रलोकादि दिव्य लोकोंमें जाकर देवशरीरको प्राप्त करते हैं। उन्हें उन दिव्य लोकोंमें पहुँचनेके लिये गीतादि शास्त्रोंके अनुसार क्रमशः धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष तथा दक्षिणायन आदिके अभिमानी देवताओंके स्वरूपको प्राप्त होकर जाना होता है और वहाँ वे अपने पुण्योंके अनुसार एक निश्चित अवधितक दिव्य सुख भोगकर पुनः मर्त्यलोकमें जन्म लेते हैं।

निष्काम कर्म अथवा निष्काम उपासना करनेवाले जीवोंमेंसे जिनको आत्मज्ञान होकर यहाँ मुक्ति हो जाती है, उनका तो कहीं गमनागमन होता नहीं। उनके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता—'**न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति।**' (बृ० उ० ४। ४। ६) इनसे भिन्न जो कैवल्यमुक्ति नहीं चाहते, वे क्रमशः अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण आदिके अभिमानी देवताओंके स्वरूपको प्राप्त होते हुए अमानव पुरुषके द्वारा दिव्य अप्राकृत शरीरसे भगवान्के परमधामको ले जाये जाते हैं और अधिकारानुसार वहाँ भगवान्के सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य अथवा सायुज्यको प्राप्तकर अलौकिक सुखका अनुभव करते हैं और फिर लौटकर मर्त्यलोकमें नहीं आते।

जो जीव कर्मानुसार मरनेके बाद मनुष्ययोनिको प्राप्त होते हैं अथवा पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि मूढ़ योनियोंको प्राप्त होते हैं, वे वायुरूपसे उन-उन योनियोंके खाद्य पदार्थमें प्रवेश कर जाते हैं। जिस पिताके वीर्यसे उनका जन्म होनेको होता है, वह उसे खाता है और उसका परिपाक होकर जब वीर्य बनता है तो उस वीर्यके साथ वे माताकी योनिमें प्रवेश करते हैं और वहाँ-वहाँ उस-उस योनिके शरीरको धारण करते हैं। इनके अतिरिक्त जो मनुष्य घोर पाप करते हैं वे यातनाशरीर प्राप्तकर विविध नरकोंकी यातना भोगते हैं और भोग समाप्त होनेपर पुनः मर्त्यलोकमें आकर स्थूलशरीर धारण करते हैं।

सूक्ष्मशरीरसे जीव दूसरे स्थूलशरीरमें प्रवेश कर सकता है। जिन योगियोंको परकाय-प्रवेशकी सिद्धि प्राप्त होती है, वे अपने स्थूलशरीरमेंसे इच्छानुसार निकलकर दूसरे किसी मृतशरीरमें प्रवेश कर सकते हैं। इस प्रकारके उदाहरण इतिहासमें मिलते हैं। इसके अतिरिक्त योगबलसे एक शरीर छोड़कर दूसरे जीवित शरीरमें भी सूक्ष्मशरीरद्वारा प्रवेश करनेकी शक्ति प्राप्त की जा सकती है। महाभारत, शान्तिपर्वके ३२० वें अध्यायमें सुलभा नामकी एक संन्यासिनीका उल्लेख आता है, जिसने अपने योगबलसे राजा जनकके शरीरमें प्रवेश किया था।

(७) जो लोग एक जन्ममें पुरुष होते हैं, वे प्रायः आगेके जन्मोंमें भी पुरुष ही होते हैं और जिन्हें एक जन्ममें स्त्रीका शरीर मिला है, उन्हें प्रायः आगे भी स्त्रीका शरीर ही मिलेगा, चाहे वे किसी भी योनिमें जायँ। परन्तु यह कोई अटल नियम नहीं है। इसमें परिवर्तन भी हो सकता है। गुण, कर्म और स्वभावके अनुसार ही मनुष्यको दूसरी देह प्राप्त होती है। यदि किसी पुरुषका इस जन्ममें स्त्रियोंका-सा स्वभाव बन गया हो, उसमें स्त्रियोंके-से गुण आ गये हों अथवा उसने जीवनभर स्त्रियोंके-से कर्म किये हों तो उसे अगले जन्ममें स्त्रीका ही शरीर मिले, यह बहुत सम्भव हो जाता है। इसी प्रकार यदि किसी पुरुषका चित्त अन्त समयमें स्त्रीका चिन्तन करनेमें लगा हो, तब भी उसका अगले जन्ममें स्त्री होना सम्भव है। यही बात स्त्रियोंके लिये भी लागू होती है। दूसरे जन्मकी तो बात ही क्या है, इसी जन्ममें स्त्रीके पुरुषरूपमें और पुरुषके स्त्रीरूपमें परिवर्तन होनेकी बात इतिहासमें आती है। शिखण्डीके स्त्रीसे पुरुष हो जानेका वर्णन महाभारतमें मिलता है। अर्वाचीन कालमें भी गोस्वामी तुलसीदासजीके वरदानसे एक कन्याके बालकके रूपमें परिवर्तित हो जानेकी बात उनकी जीवनीमें आयी है। वर्तमान कालमें भी इस प्रकारकी घटनाएँ यूरोप आदि देशोंमें हुई सुनी जाती हैं।

(८) एक बार किसी जीवको मनुष्ययोनि मिल जानेपर सदाके लिये उसे मनुष्ययोनिका पट्टा मिल जाता है, ऐसी बात नहीं समझनी चाहिये। ऐसा माननेसे भगवान्‌में निर्दयता और वैषम्यका दोष घटता है और कर्मसिद्धान्तमें भी विरोध आता है। इसका अर्थ तो यह होगा कि एक बार जिसे मनुष्यजन्म मिल गया, वह चाहे कितने ही पाप क्यों न करे, उसे मनुष्ययोनिसे नीचे नहीं ढकेला जायगा। परन्तु ऐसी बात है नहीं। जीवोंको गुण-कर्मके अनुसार ही अच्छी-बुरी योनियाँ प्राप्त होती हैं (गीता ४। १३; १३। २१)। अच्छे कर्म करनेपर हमें मनुष्ययोनि ही क्यों, देवयोनि भी मिल सकती है, भगवान्‌तककी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु मनुष्य यदि पापकर्म करता है तो उसे दुबारा मनुष्ययोनि मिलनेका कोई कारण नहीं रह जाता। पापी मनुष्यको भी पुनः मनुष्य-शरीर देना उसके पापोंको प्रोत्साहन देना होगा। भगवान् ऐसा कभी नहीं कर सकते। पापी मनुष्योंके मनुष्ययोनिसे ढकेले जाने तथा बार-बार आसुरी योनियोंमें गिराये जानेकी बात तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपने श्रीमुखसे कही है (गीता १६। १९, २०)। इतिहासमें भी पापी मनुष्योंके नीचेकी योनियोंमें तथा नरकादिमें ढकेले जानेकी बात जगह-जगह आयी है। पापियोंकी तो बात ही क्या, राजर्षि भरत-जैसे धर्मात्मा तपस्वी एवं गृहत्यागी पुरुषके मरते समय एक मृगछौनेमें अन्तःकरणकी वृत्ति अटकी रह जानेके कारण मृगयोनिको प्राप्त होनेकी बात श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थोंमें आती है। इन सब बातोंसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यको मरनेके बाद मनुष्ययोनि ही मिले, यह आवश्यक नहीं है। बल्कि वर्तमान युगके मनुष्योंके आचरण देखते हुए तो उन्हें फिरसे जल्दी ही मनुष्ययोनि मिलनेकी सम्भावना कम ही मालूम होती है। युक्तिसे तो यह बात मालूम होती है कि बारी-बारीसे सभी जीवोंको मनुष्य होनेका सौभाग्य मिलना चाहिये; क्योंकि मुक्तिका अधिकार मनुष्ययोनिमें ही है, इस न्यायसे भी जल्दी मनुष्ययोनि मिलनेकी सम्भावना नहीं है। शास्त्रोंमें भी मनुष्य-शरीरको अत्यन्त दुर्लभ बतलाया गया है। इससे भी यही बात सिद्ध होती है। मनुष्यजन्मका मौका तो भगवान् जीवको कभी-कभी ही देते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

परन्तु इससे यह भी नहीं मानना चाहिये कि मनुष्ययोनिके बाद फिर मनुष्ययोनि मिल ही नहीं सकती। मनुष्योचित कर्म करनेवालोंको पुनः मनुष्ययोनि भी मिल सकती है।

मुक्तिका स्वरूप-विवेचन

आत्मा सुखस्वरूप है। प्राणिमात्र सुखकी ही अभिलाषा करते हैं। दुःखी होना कोई नहीं चाहता। **'सुखं मे भूयात्, दुःखं मे मा स्म भूत्'** (हमें सुख-ही-सुख हो, दुःखका हम कदापि अनुभव न करें) यही सबकी इच्छा रहती है। अनुकूलतामें सुख है और प्रतिकूलतामें दुःख है। इसीलिये शास्त्रोंने सुख-दुःखकी परिभाषा करते हुए कहा है— **'अनुकूलवेदनीयं सुखम्। प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्'** (तर्कसंग्रह)। अपनी स्थितिसे प्रायः किसीको सन्तोष नहीं है। किसीके पास सौ रुपये हैं वह चाहता है मेरे पास हजार रुपये हो जायँ। हजारवाला लाखकी इच्छा करता है, लाखवाला करोड़की और करोड़ रुपयेवाला राजा होनेकी इच्छा करता है। राजा चक्रवर्ती बनना चाहता है, चक्रवर्ती इन्द्रके पदकी अभिलाषा करता है। तात्पर्य यह कि सभी अधिक-से-अधिक सुख चाहते हैं। अल्पसे किसीको सन्तोष नहीं है। श्रुति भी कहती है—**'नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्।'** (छान्दोग्य० ७। २३। १) 'अल्पमें सुख नहीं है, असीम ही सुखरूप है।' तात्पर्य यह कि हम सभी निरवधि, निरतिशय सुख चाहते हैं—ऐसा सुख चाहते हैं जिसका कभी अन्त न हो, जिसमें दुःखका सम्मिश्रण न हो और जो पूर्ण हो अर्थात् जिससे बढ़कर कोई दूसरा सुख न हो। इस प्रकारके सुखकी खोज जीवको सदा ही बनी रहती है। जबतक जीवको यह अनन्त सुख प्राप्त नहीं होता, तबतक उसका भटकना बंद नहीं होता। यह अनन्त सुख ही जीवका असली लक्ष्य है। इसीको मुक्ति, मोक्ष, परमपुरुषार्थ या निःश्रेयस कहते हैं। इसे पाकर जीव कृतकृत्य हो जाता है, उसके लिये और कुछ करना अथवा पाना बाकी नहीं रह जाता। यही सुखकी परम सीमा है, यही परमगति है।

इस संघर्षमय, कोलाहलमय जीवनके पीछे एक ऐसी सुखमय स्थिति है—जहाँ पहुँचनेपर सब समस्याएँ अपने-आप हल हो जाती हैं, सारे दुःखोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है, सारे क्लेश-कर्म, शोक-सन्ताप, चिन्ता एवं भय विलीन हो जाते हैं—इस बातको तो सभी आस्तिक-नास्तिक सम्प्रदाय मानते हैं। परन्तु उसके स्वरूपके सम्बन्धमें बहुत मतभेद है। कुछ लोग तो स्वर्गको ही सुखकी अवधि मानते हैं। किन्तु इस सुखका भी नाश हो जाता है, यह अविनाशी नहीं है। यद्यपि वेदोंमें **'अपाम सोमममृता अभूम'** (अथर्वशिर उप० ३) 'हमने सोमयज्ञ करके सोमपान किया और अमर हो गये'—इत्यादि श्रुतियाँ मिलती हैं, परन्तु सोमयागादिसे प्राप्त होनेवाला यह अमरत्व (देवत्व) हमारी अपेक्षा दीर्घकालस्थायी होनेपर भी है आपेक्षिक ही। देवताओंकी आयु हमलोगोंकी अपेक्षा बहुत लंबी होनेपर भी, उसका एक दिन अन्त होता है। जिन पुण्योंसे स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है, उनका भोगद्वारा क्षय हो जानेपर जीव स्वर्गलोकसे ढकेल दिये जाते हैं और उन्हें पुनः मर्त्यलोकमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है—**'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'** (गीता ९। २१)। गीतामें अन्यत्र भी कहा है कि ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती हैं अर्थात् उत्पन्न होने और नष्ट होनेवाले हैं (८। १६); उनमें रहनेवाले जीव निश्चित अवधिके बाद पुनः मर्त्यलोकमें ढकेल दिये जाते हैं। दूसरे, स्वर्गादि ऊपरके लोकोंमें, अव्यवहित सुख होनेपर भी उसमें तारतम्य अवश्य होता है। देवताओंमें भी जिनका पुण्य अधिक होता है, उनकी आयु अधिक लंबी होती है; अन्य बहुत-से देवताओंकी अपेक्षा देवराज इन्द्रकी आयु बहुत अधिक होती है और उन्हें भोग भी अन्य देवताओंकी अपेक्षा कई गुने अधिक प्राप्त होते हैं। इस तारतम्यको लेकर वहाँके जीवोंको एक-दूसरेके प्रति ईर्ष्या और अभिमान होते हैं और इन ईर्ष्यादिसे वे जलते रहते हैं। ईर्ष्याके साथ-साथ उन्हें अधिक सुखकी कामना भी सताती रहती है और साथ ही हमारा यह सुख छिन न जाय, इसका भय भी बना रहता है। इन्द्रको भी अपने इन्द्रासनके छिन जानेका भय सदा ही बना रहता है और पृथ्वीके किसी भी जीवको वे उग्र तपस्या करते पाते हैं तो उनके मनमें यह शंका उत्पन्न हो जाती है कि कदाचित् यह पुरुष हमारा आसन लेनेके लिये ही तप कर रहा है। इसीलिये वे प्रायः इस प्रकारके तपस्वियोंको तपसे डिगानेकी चेष्टामें लगे रहते हैं और उनकी तपस्यामें विघ्न डालते देखे जाते हैं। ऊपरके विवेचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि स्वर्गसुख पृथ्वीके जीवोंकी दृष्टिमें बहुत बड़ी चीज होनेपर भी निरवधि एवं पूर्ण नहीं है। अतः पूर्ण सुख चाहनेवालोंके लिये वह भी अभीष्ट नहीं हो सकता।

वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्म ही निरतिशय पूर्ण सुखस्वरूप है। ब्रह्मका अभेदरूपसे साक्षात्कार हो जानेपर जीव सदाके लिये सब प्रकारके दुःखों एवं बन्धनोंसे मुक्त होकर परमानन्द एवं परम शान्तिको प्राप्त होता है। उसे फिर जन्म-मृत्युका भय नहीं रहता। वह हर्ष-शोकादि समस्त विकारोंसे छूट जाता है—**'हर्षशोकौ जहाति'** (कठ० १। २। १२)। उसका अज्ञान सदाके लिये नष्ट हो जाता है—उसकी अविद्यारूप ग्रन्थि खुल जाती है, वह सन्देहरहित

हो जाता है, उसके सब प्रकारके क्लेश-कर्म नष्ट हो जाते हैं। उसका संसारमें कोई कर्तव्य नहीं रह जाता।

भेदरूपसे परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर भी मनुष्य जन्म-मृत्युके बन्धन तथा सब प्रकारके क्लेशोंसे मुक्त होकर सगुण भगवान्‌के अप्राकृत नित्य धाममें अप्राकृत देहसे निवास करता है और वह भगवान्‌की सन्निधिके सुखका अनुभव करता है। भेदोपासनासे प्राप्त होनेवाली इस मुक्तिके सालोक्य (भगवान्‌के लोकमें निवास), सामीप्य (भगवान्‌की सन्निधिमें निवास), सारूप्य (भगवान्‌के समान रूपकी प्राप्ति) तथा सायुज्य (भगवान्‌में विलीन होना)—ये चार भेद हैं। उक्त चार प्रकारकी मुक्तिमेंसे किसीको भी प्राप्तकर जीव जन्म-मृत्युके चक्करसे सदाके लिये छूट जाता है और सदा निरतिशय आनन्दका अनुभव करता है। योगियोंके द्वारा यही स्थिति प्रार्थनीय है—यही जीवका अन्तिम लक्ष्य है। इसीको प्राप्त करनेके लिये भगवान् हमें मनुष्य-शरीर देते हैं; क्योंकि मनुष्य-शरीरमें ही इसके लिये साधन बन सकता है, अन्य योनियोंमें नहीं। अतः मनुष्य-शरीर पाकर हमें इसीके लिये यत्न करना चाहिये। इसे प्राप्त करनेमें ही मनुष्य-देहकी चरितार्थता है। अन्यथा भोगसुख तो हमें पशु, पक्षी आदि अन्य योनियोंमें भी प्राप्त हो सकते हैं। भोगोंसे यदि हमारी तृप्ति हो सकती होती तो कबकी हो गयी होती; क्योंकि अबतक हमने न जाने कितनी बार भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लिया है और कितने असंख्य भोग भोगे हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भोगोंमें सुख नहीं है, भोगोंके त्यागमें ही सुख है। अतः हमें भोगोंकी आसक्ति छोड़कर निष्काम कर्म, भक्ति अथवा ज्ञानके द्वारा उपर्युक्त स्थितिको प्राप्त करनेकी पूरी चेष्टा करनी चाहिये और इसी जन्ममें अपना काम बना लेना चाहिये; क्योंकि फिर न जाने यह दुर्लभ अवसर हमको कभी मिले या न मिले। मनुष्यजन्मको शास्त्रोंमें देवदुर्लभ बतलाया गया है। नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकता हुआ यह जीव जब अत्यन्त थक जाता है, तब भगवान् इसपर दया करके इसे मनुष्य-शरीर देते हैं और इस प्रकार उसे जन्म-मृत्युसे छूटनेका सुन्दर अवसर प्रदान करते हैं। परन्तु यह जीव कृतघ्नकी भाँति इस अवसरको हाथसे खो देता है और अन्तमें पछताता है। परन्तु फिर पछतानेसे क्या होता है?

इस मुक्तिके सम्बन्धमें लोगोंके मनमें कई प्रकारकी शंकाएँ उठा करती हैं। कुछ लोग मुक्तिको अपुनरावर्तनकी स्थिति नहीं मानते। उनकी मान्यता यह है कि मुक्त पुरुष महाप्रलयपर्यन्त संसारमें नहीं लौटते, अर्थात् उनकी वह स्थिति महाप्रलयतक कायम रहती है। महाप्रलयके बाद जब पुनः सृष्टि उत्पन्न होती है अर्थात् महासर्गके आदिमें मुक्त जीव पुनः संसारमें लौट आते हैं। इसके लिये वे युक्ति यह पेश करते हैं कि यदि मुक्त जीव कभी न लौटें तो एक दिन सब जीव मुक्त हो जायँगे और यह संसार फिर रह ही नहीं जायगा, बल्कि जब यह सृष्टि अनादिकालसे चली आयी है तो अबतक सब जीवोंको मुक्त हो जाना चाहिये था। किन्तु अबतक संसारका अभाव नहीं हुआ, इससे तो यही मालूम होता है कि मुक्त जीव महासर्गके आदिमें पुनः लौट आते हैं और इस प्रकार संसारका क्रम बराबर चलता रहता है।

इसका उत्तर यह है कि यदि मुक्तिकी भी अवधि मानी जाय तो फिर स्वर्गमें और मोक्षमें कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता। जिस प्रकार स्वर्गस्थ जीवोंकी आयु हमलोगोंकी अपेक्षा बहुत अधिक होनेपर भी उसका एक दिन अन्त हो जाता है, उसी प्रकार ऐसी मुक्तिकी भी अवधि इन्द्रादि देवताओंकी आयुकी अपेक्षा बहुत अधिक होनेपर भी उसकी भी समाप्ति हो जाती है। निरवधि सुख उसे भी नहीं कह सकते। अतः वह स्थिति भी आपेक्षिक एवं अन्तवाली होनेके कारण त्याज्य ही ठहरती है, वह भी गतागतरूप ही कहलायेगी। ऐसी दशामें अनन्त सुखकी कल्पना जीवके लिये स्वप्नवत् ही सिद्ध होती है। उसकी वह अभिलाषा मृगतृष्णारूप ही ठहरती है। वह कभी पूर्ण नहीं होनेकी। इसका अर्थ तो यह हुआ कि जीव अनन्त कालतक भटकता ही रहेगा, उसका भटकना कभी बंद नहीं होगा। वह कभी अनन्त सुखका भागी नहीं हो सकेगा। अतः ऐसा मानना ठीक नहीं। श्रुति भी कहती है—

'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते॥'

(छान्दोग्य० ८। १५। १)

तथा भगवान् गीतामें भी कहते हैं—

'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥'

(८। १६)

'गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥'

(५। १७)

यदि केवल युक्तिके आधारपर इसका निर्णय करें तो युक्ति भी हमारे पक्षका ही समर्थन करती है। थोड़ी देरके लिये यदि यह मान लिया जाय कि दोनों पक्ष सन्दिग्ध हैं, मुक्त जीव लौटते हैं या नहीं—यह विवादास्पद है तो भी यही मानना कि मुक्त जीव लौटते नहीं अधिक लाभदायक, युक्तियुक्त, सर्वोत्तम एवं सुरक्षित है। हम यदि यह मानते

हैं कि मुक्त जीव कभी लौटते नहीं, वे सदाके लिये जन्म-मरणके चक्करसे छूट जाते हैं, अक्षय सुखके भागी हो जाते हैं, तो हम इस आशा और विश्वासपर उक्त स्थितिके लिये प्राणपणसे चेष्टा करेंगे। और यदि ऐसी स्थिति वास्तवमें मिलती होगी और हमारा प्रयत्न ठीक तौरसे जारी रहा तो वह स्थिति हमें एक दिन इसी जन्ममें—यदि कमी रही तो दूसरे किसी जन्ममें—अवश्य प्राप्त हो जायगी। थोड़ी देरके लिये मान लिया जाय कि मुक्त पुरुषका पुनर्जन्म होता है और पुनर्जन्म न माननेवाले भूल करते हैं। किन्तु इस भूलसे उनकी हानि ही क्या है? क्योंकि इस सिद्धान्तके अनुसार पुनरागमन माननेवाला भी वापस आवेगा और न माननेवाला भी। फल दोनोंका एक ही होगा। परन्तु कदाचित् मुक्त पुरुषका पुनरागमन नहीं होता—यही सिद्धान्त सत्य हो, तब तो भूलसे पूर्वोक्त मुक्ति माननेवालेकी बड़ी भारी हानि होगी। कारण, इस पुनरागमन माननेवालेको वह अपुनरावृत्तिरूप परमगति तो कभी मिल ही नहीं सकती; क्योंकि इस आत्यन्तिक स्थितिमें उसका विश्वास ही नहीं है। यदि हम यह मानते हैं कि मुक्ति प्राप्त हो जानेपर भी हमें संसारमें लौटना ही होगा तो फिर हम उस वास्तविक मुक्तिसे—जिसका कभी अन्त नहीं होता—वंचित ही रह जायँगे, वह कभी हमें मिलनेकी ही नहीं; क्योंकि जिस स्थितिमें हमारा विश्वास ही नहीं है, वह स्थिति हमें कैसे मिल सकती है। उसके लिये प्रथम तो हम चेष्टा ही नहीं करेंगे और करेंगे भी तो पूरे जोरसे नहीं करेंगे, अतः उसमें सफल नहीं होंगे। हमें मुक्ति मिलेगी भी तो उसी कोटिकी मिलेगी, जिस कोटिकी मुक्तिमें हमारा विश्वास है। अपुनरावर्तनकी स्थिति हमें कभी प्राप्त नहीं होनेकी।

रही यह आशंका कि मुक्त जीव यदि लौटते नहीं तो फिर एक दिन अशेष जीव मुक्त हो जायँगे और संसारका अभाव हो जायगा तो इसमें हमारी क्या हानि है। प्रथम तो जितने जीव संसारमें हैं, उनके मुकाबलेमें मुक्त होनेवाले जीवोंकी संख्या समुद्रमें बूँदके समान भी नहीं है; क्योंकि मुक्तिका अधिकार केवल मनुष्योंको ही प्राप्त है और मनुष्योंकी संख्या बहुत ही परिमित है। वर्तमान युगमें मनुष्योंकी संख्या कुल मिलाकर दो अरबसे अधिक नहीं है और मनुष्योंमें भी—जैसा भगवान् श्रीकृष्णने गीता (७। ३)-में कहा है—हजारोंमें कोई एक मुक्तिरूप सिद्धिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवालोंमें भी हजारोंमें कोई एक सफलप्रयत्न होता है। इसके मुकाबलेमें जब हम मनुष्येतर प्राणियोंकी संख्याकी ओर दृष्टि डालते हैं तो हमें मालूम होता है कि अखिल भूमण्डलमें जितने मनुष्य हैं, उनसे अधिक चींटियाँ तो शायद एक साधारण वनमें ही होंगी। एक चींटियोंकी संख्यासे ही मुकाबला करनेमें मनुष्योंकी संख्या उसके सामने सरोवरके जलमें बूँदके समान ठहरती है। फिर अखिल ब्रह्माण्डके समस्त चराचर जीवोंकी संख्यासे मुक्त होनेवाले जीवोंकी संख्याका मुकाबला किया जाय तो वह समुद्रके जलमें बूँदके समान भी नहीं ठहरेगी। ऐसी दशामें यह शंका करना कि जीवोंके मुक्त होनेका क्रम जारी रहनेपर और मुक्त जीवोंके पुनः संसारमें न लौटनेपर जीवोंकी संख्या एक दिन समाप्त हो जायगी, वैसा ही है जैसा यह शंका करना कि एक चींटीके जल उलीचते रहनेसे समुद्रका जल एक दिन निःशेष हो जायगा। और थोड़ी देरके लिये यदि मान लिया जाय कि ऐसा हो ही जायगा तो यह तो हमें इष्ट ही होना चाहिये; क्योंकि आजतक अनेक श्रेष्ठ पुरुष इससे पूर्व ऐसी चेष्टा कर चुके हैं, महात्मागण अब भी कर रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे। यदि किसी दिन उनका परिश्रम सफल हो जाय और अखिल जगत्‌के जीवोंका उद्धार हो जाय तो बहुत ही अच्छी बात है, इससे सिद्धान्तमें कौन-सी बाधा है? हमारे पूर्वज ऋषियोंने प्राणिमात्रके लिये यही प्रार्थना की है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

'सभी लोग सुखी हों, सब नीरोग रहें, सबको कल्याणकी प्राप्ति हो, कोई भी दुःखका भागी न हो।'

मुक्तिके सम्बन्धमें दूसरी शंका यह उपस्थित की जाती है कि शरीर रहते मनुष्य मुक्त हो सकता है या नहीं। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जीवन रहते मुक्ति असम्भव है। किन्तु श्रुति, स्मृति, गीता आदि ऐसा नहीं मानते और उनका यह सिद्धान्त सप्रमाण एवं सयुक्तिक भी है। '**अत्र ब्रह्म समश्नुते**' (बृ० उ० ४। ४। ७)—इसी जन्ममें ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है—आदि श्रुतियाँ तथा '**इहैव तैर्जितः सर्गः**' (गीता ५। १९)—इसी जीवनमें उनके द्वारा जन्म-मरणरूप संसार जीत लिया गया है—आदि भगवद्वाक्य इस बातके पोषक हैं। इतिहासमें भी ऐसे अनेक याज्ञवल्क्य, अश्वपति आदि जीवन्मुक्त महापुरुषोंका वर्णन मिलता है, जो संसारमें रहते हुए भी संसारसे पुष्करपलाशवत् (कमलपत्रके समान) सर्वथा निर्लेप रहते थे, अर्थात् शरीरमें रहते हुए भी वास्तवमें स्थूल, सूक्ष्म, कारण—तीनों प्रकारके आवरणोंसे मुक्त थे और वे अनुकूल, प्रतिकूल घटनाओंके प्राप्त

होनेपर भी हर्ष-शोकादि विकारोंसे सर्वथा शून्य रहते थे। भगवद्गीताके दूसरे अध्यायमें 'स्थितप्रज्ञ' के नामसे, बारहवें अध्यायमें 'भक्तों' के नामसे एवं चौदहवें अध्यायमें 'गुणातीत' के नामसे ऐसे ही पुरुषोंका विशदरूपमें वर्णन किया गया है। अन्यान्य ग्रन्थोंमें भी इस प्रकारके पुरुषोंका यथेष्ट वर्णन मिलता है।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि परमात्माके तत्त्वका ज्ञान हो जानेपर भी मनुष्यके अन्तःकरणमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, राग-द्वेष आदि विकार रह सकते हैं और उनके द्वारा झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार एवं मद्यपानादि निषिद्ध आचरण भी हो सकते हैं। हमारी समझसे ऐसा मानना ठीक नहीं है। अवश्य ही ज्ञानी विधि-निषेधसे ऊपर उठ जाता है, उसके लिये कोई कर्तव्य-कर्म नहीं रह जाता; परन्तु उसके द्वारा निषिद्ध कर्म होनेका कोई हेतु नहीं रहता। निषिद्ध आचरणकी तो बात ही क्या है, शास्त्र और युक्ति दोनोंसे ही यह सिद्ध होता है कि ज्ञानीके अन्तःकरणमें काम-क्रोधादि विकार भी नहीं रह सकते; क्योंकि निषिद्ध कर्म होते हैं कामनासे (गीता ३। ३७), कामनाका मूल है आसक्ति और आसक्तिका कारण है अज्ञान। ऐसी दशामें यदि ज्ञानीके अंदर भी आसक्ति मानी जायगी तो फिर ज्ञानी और अज्ञानीमें अन्तर ही क्या रह जायगा? ज्ञानीकी तो बात ही क्या है, काम-क्रोध आदिका तो साधकको भी त्याग करना पड़ता है; तभी वह कल्याण-साधनके योग्य बनता है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥

(१६। २१-२२)

'काम, क्रोध और लोभ—ये आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये। हे अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त अर्थात् काम, क्रोध और लोभ आदि विकारोंसे छूटा हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, इससे वह परम गतिको अर्थात् मुझे प्राप्त होता है।'

अन्यत्र ज्ञानी पुरुषोंके लिये भी **'कामक्रोधवियुक्तानाम्'** (गीता ५। २६) (काम-क्रोधरहित) विशेषणका प्रयोग हुआ है। यही नहीं, ज्ञानी पुरुषके तो रागका भी नाश हो जाता है, जो कामका मूल है—**'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'** (गीता २। ५९)। ऐसी हालतमें ज्ञानी पुरुषके द्वारा निषिद्ध आचरण होनेका कोई कारण नहीं रह जाता। अतः ज्ञानी पुरुषके अंदर काम, क्रोध आदि कोई भी विकार नहीं रहते और उसके द्वारा पापकर्म भी नहीं बन सकते—यही सिद्धान्त मानना चाहिये।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि वर्तमान काल मुक्तिके अनुकूल नहीं है, कलियुगमें जीवोंकी मुक्ति नहीं हो सकती; तथा दूसरे लोग यह मानते हैं कि मुक्तिका अधिकार केवल गृहत्यागी संन्यासियोंको ही है, अन्य आश्रमवालोंको नहीं है। यह सिद्धान्त भी युक्तियुक्त नहीं मालूम होता। कलियुगकी तो शास्त्रोंने बड़ी महिमा गायी है—

स्वल्पेन हि प्रयत्नेन धर्मः सिद्ध्यति वै कलौ।

(विष्णुपुराण ६। २। ३४)

'कलियुगमें थोड़े-से प्रयाससे ही धर्म सिद्ध हो जाता है।'

अन्य युगोंमें जो काम ध्यान, यज्ञ एवं पूजासे होता था, वह कलियुगमें केवल भगवान्के नामसे हो जाता है—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

(श्रीमद्भा० १२। ३। ५२)

गोस्वामी तुलसीदासजी शास्त्रवचनोंका ही अनुवाद करते हुए कहते हैं—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

ऐसी स्थितिमें यह मानना कि कलियुगमें मुक्ति नहीं हो सकती, शास्त्रोंकी मान्यताकी अवहेलना करना और अपने लिये मुक्तिका द्वार बंद करना है; क्योंकि जो लोग कलियुगमें मुक्ति नहीं मानते, वे मुक्तिके लिये प्रयास ही नहीं करेंगे और यदि शास्त्र-वचन सत्य हुए और मुक्ति इस युगमें सम्भव हुई तो वे उससे वंचित ही रह जायँगे। इसके विपरीत जिनका यह विश्वास है कि इस युगमें मुक्ति सम्भव है, वे उसके लिये पूरी चेष्टा करेंगे और चेष्टा ठीक हुई तो उसे पा भी जायँगे। थोड़ी देरके लिये मान लीजिये कि इस युगमें मुक्ति सम्भव नहीं है, तब भी उन्हें कोई नुकसान तो होगा ही नहीं। उनका जीवन शान्तिसे बीतेगा, वे दुर्गुण एवं दुराचारोंसे बचे रहेंगे; फलतः नवीन पाप न होनेसे उनका भविष्य भी सुखमय होगा, संसारमें उनकी प्रतिष्ठा होगी, धर्मकी मर्यादा स्थापित होगी और इस दृष्टिसे उनके द्वारा लोक-कल्याण तो होगा ही। ऐसी हालतमें वे सब तरहसे लाभ-ही-लाभमें रहेंगे। अतः शास्त्र और युक्ति दोनोंकी ही दृष्टिसे यही मानना ठीक है कि

इस युगमें मुक्ति सम्भव है और ऐसा मानकर उसके साधनमें प्राणपणसे लग जाना चाहिये। मुक्तिके लिये ज्ञान और भक्ति—यही दो मुख्य साधन हैं और इनके अभ्यासके लिये कोई भी देश अथवा काल बाधक नहीं हो सकता। वर्तमान युगमें भी अनेकों ज्ञानी महात्मा तथा उच्च कोटिके भक्त संसारमें हो चुके हैं और आज भी ऐसे पुरुषोंका संसारमें अभाव नहीं है।

अब रही यह शंका कि गृहस्थोंको मुक्ति प्राप्त हो सकती है या नहीं। इस विषयमें भी सनातन वैदिक सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक एवं उदार है। इस सिद्धान्तके अनुसार मुक्ति अथवा भगवत्प्राप्तिका अधिकार मनुष्यमात्रको है। किसी खास वर्ण, किसी खास आश्रम, किसी खास जाति अथवा किसी खास सम्प्रदायको माननेवाले ही मोक्षके अधिकारी हों—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि ज्ञान और भक्ति ही मुक्तिके प्रधान साधन हैं और इनका अभ्यास सभी वर्ण, सभी आश्रम, सभी जाति एवं सभी सम्प्रदायके लोग कर सकते हैं। जीवमात्र भगवान्‌की सन्तान हैं—उनके सनातन अंश हैं; अतः सभी उन्हें प्राप्त करनेके अधिकारी हैं। मनुष्येतर प्राणियोंमें बुद्धि एवं विवेक नहीं है, साधनकी योग्यता नहीं है; इसीलिये वे इस परम लाभसे वंचित रह जाते हैं। अन्यथा भगवान्‌के दरबारमें तो उनके लिये भी किसी प्रकारकी रोक-टोक नहीं है, उनका द्वार जीवमात्रके लिये खुला है, उनका वरद हस्त सभीके ऊपर समानरूपसे है। सभी जीव उनकी कृपा प्राप्त कर सकते हैं। अन्य जीवोंके लिये यदि किसी प्रकार यह सम्भव हो जाय कि वे ज्ञान अथवा भक्तिका साधन कर सकें तो वे भी मुक्तिसे वंचित नहीं रह सकते। वानर-भालू तथा गृध्र-कौआ आदि निकृष्ट जन्तु भी उनकी कृपाको प्राप्तकर कृतार्थ हो गये, तरन-तारन बन गये—फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या। मनुष्योंमें भी स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि चाण्डालादिकोंको भी भगवान्‌ने परम गतिका अधिकारी बतलाया है (गीता ९। ३२); फिर ब्राह्मणादि उच्च वर्णोंकी तो बात ही क्या है। स्त्रियोंमें भक्तशिरोमणि गोपियों, वैश्योंमें नन्दादि गोपों, शूद्रोंमें संजय आदि तथा पापयोनियोंमें गुह निषाद आदिके उदाहरण इतिहासप्रसिद्ध ही हैं।

अवश्य ही गृहस्थोंकी अपेक्षा संन्यासियोंके लिये मुक्ति प्राप्त करना सुगम है; परन्तु गृहस्थोंको मुक्तिका अधिकार दिया ही नहीं गया है, ऐसा मानना तो सरासर भूल है। जनकादि राजर्षियोंके लिये भगवान्‌ने स्वयं कहा है कि उन्होंने कर्मके द्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त किया (गीता ३। २०)। अन्यत्र भी उन्होंने कहा है कि अपने-अपने कर्मोंमें रत रहता हुआ ही मनुष्य सिद्धिको प्राप्त कर लेता है (गीता १८। ४५)। यही नहीं, कर्मयोगकी प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं कि अग्नि तथा कर्ममात्रका त्याग करनेवाला ही संन्यासी नहीं है; जो कर्मफलके आश्रयका त्यागकर अपने वर्णाश्रमोचित कर्तव्य-कर्मका पालन करता है, वह संन्यासी और योगी है (गीता ६। १)। ऐसी स्थितिमें यह मानना कि गृहस्थोंको मुक्तिका अधिकार नहीं है, शास्त्रसम्मत कदापि नहीं कहा जा सकता।

रह गयी युक्तिकी बात, सो युक्ति भी हमारे ही पक्षका समर्थन करती है। थोड़ी देरके लिये मान लिया जाय कि गृहस्थोंके लिये मुक्तिकी प्राप्ति निश्चित नहीं है। ऐसी दशामें भी हमारे लिये तो यही मानना श्रेयस्कर है कि गृहस्थोंको भी मुक्ति प्राप्त हो सकती है; क्योंकि, जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, मुक्ति न मिलनेपर भी यदि हम उसके लिये यत्न करते रहे तो हमारी कोई क्षति तो होगी ही नहीं, बल्कि सब प्रकारसे हम लाभहीमें रहेंगे, हमारे जीवनका उत्तम-से-उत्तम उपयोग होगा—समय अच्छे-से-अच्छे काममें बीतेगा और यदि मुक्तिका मिलना सम्भव हुआ और हम यह मानकर कि गृहस्थ होनेके कारण हम मुक्तिके अधिकारी नहीं हैं उसकी ओरसे उदासीन रहे, साधनमें तत्पर नहीं हुए तो हमारी बड़ी भारी हानि हो जायगी। हमें तो फिर इस जीवनमें गृहस्थाश्रममें रहते हुए मुक्ति मिलनेकी नहीं और अगले जन्मका कोई भरोसा नहीं—न मालूम मरनेके बाद हमें कौन-सी योनि मिले। श्रुति भगवती भी कहती है—'**इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।**' (केन० २।५) (इसी जन्ममें यदि परमात्माका ज्ञान हो गया तब तो ठीक है, नहीं तो बड़ी भारी हानि होगी।) इसलिये इसी जन्ममें और जिस किसी वर्ण अथवा आश्रममें तथा जिस किसी स्थितिमें हम हैं, उसी वर्ण-आश्रम तथा उसी स्थितिमें रहते हुए हम भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं—ऐसा दृढ़ निश्चय कर हमें मुक्तिके साधनमें लग जाना चाहिये। सच्चे संकल्पमें बड़ा बल होता है। हमारा अध्यवसाय दृढ़ रहा और भगवान्‌की कृपापर भरोसा रखकर हम जी-जानसे चेष्टा करते रहे तो उनकी कृपासे हमें अवश्य सफलता मिलेगी और हम इसी जन्ममें, इसी जीवनमें अपने चरम लक्ष्यको प्राप्तकर कृतार्थ हो जायँगे।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

तत्त्वचिन्तामणि भाग-६

महात्मा भीष्मपितामह

महात्मा भीष्म प्रसिद्ध कुरुवंशी महाराज शान्तनुके पुत्र थे। वे गंगादेवीसे उत्पन्न हुए थे। वसु नामक देवताओंमें 'द्यौ' नामके वसु ही महर्षि वसिष्ठके शापसे भीष्मके रूपमें अवतीर्ण हुए थे। उन्होंने कुमारावस्थामें ही सांगोपांग वेदोंका अध्ययन तथा अस्त्रोंका अभ्यास कर लिया था। अस्त्रोंका अभ्यास करते हुए उन्होंने एक बार अपने बाणोंके प्रभावसे गंगाकी धाराको ही रोक दिया था। उन्हें बचपनमें लोग देवव्रत कहते थे।

एक दिन राजर्षि शान्तनु वनमें विचर रहे थे। उनकी दृष्टि एक सुन्दरी कैवर्तराजकी कन्यापर पड़ी, जिसका नाम सत्यवती था और उसपर वे आसक्त हो गये। उन्होंने उससे विवाह करना चाहा। सत्यवती थी तो एक राजकन्या, परंतु वह कैवर्तराजके घर पली थी। उसके पिता कैवर्तराजने उसके विवाहके लिये राजाके सामने यह शर्त रखी कि उसके गर्भसे जो पुत्र हो, वही राज्यका अधिकारी हो। राजाने उसकी यह शर्त मंजूर नहीं की। परंतु वे उस कन्याको भी भुला न सके। वे उसीको पानेकी चिन्तामें उदास रहने लगे। देवव्रतको जब उनकी उदासीका कारण ज्ञात हुआ, तो वे स्वयं कैवर्तराजके पास गये और उससे स्वयं अपने पिताके लिये कन्याकी याचना की। उन्होंने उसकी शर्त मंजूर करते हुए सबके सामने यह प्रतिज्ञा की कि 'इसके गर्भसे जो पुत्र होगा, वही हमारा राजा होगा।' परन्तु कैवर्तराजको इतनेपर भी सन्तोष नहीं हुआ। उसने कहा—'आपका वचन तो कभी अन्यथा नहीं होनेका; परन्तु आपका पुत्र राज्यका अधिकारी हो सकता है।' इसपर देवव्रतने उसी समय यह दूसरी कठिन प्रतिज्ञा की कि 'मैं आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन करूँगा।' कुमार देवव्रतकी इस भीष्म-प्रतिज्ञाको सुनकर देवताओंने पुष्पवर्षा की और तभीसे उन्हें लोग 'भीष्म' कहने लगे। भीष्मने सत्यवतीको ले जाकर अपने पिताको सौंप दिया। भीष्मका यह दुष्कर कार्य सुनकर राजा शान्तनु बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने पुत्रको इच्छामृत्युका वरदान दिया। इस प्रकार भीष्मने जीवनके आरम्भमें ही पिताकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये संसारके सामने अलौकिक त्यागका आदर्श उपस्थित किया। जिस राज्यके लिये उनकी दो ही पीढ़ीके बाद उन्हींके बेटों-पोतोंमें तथा उन्हींकी उपस्थितिमें भीषण संहारकारी महायुद्ध हुआ, उसी राज्यको उन्होंने बात-की-बातमें अपने पिताकी एक मामूली-सी इच्छापर न्योछावर कर दिया। जिन कामिनी-कांचनके लिये संसारके इतिहासमें न जाने कितनी बार खून-खराबा हुआ है और राज्य-के-राज्य ध्वंस हो गये हैं, उनका सदाके लिये तृणवत् परित्याग कर उन्होंने एक विरक्त महात्माका-सा आचरण किया। धन्य पितृभक्ति!

सत्यवतीके गर्भसे महाराज शान्तनुके दो पुत्र हुए। बड़ेका नाम था चित्रांगद और छोटेका विचित्रवीर्य। अभी चित्रांगद जवान नहीं हो पाये थे कि राजा शान्तनु इस लोकसे चल बसे। चित्रांगद राजा हुए, परन्तु वे कुछ ही दिनों बाद गन्धर्वोंके साथ युद्ध करते हुए मारे गये। विचित्रवीर्य भी अभी बालक ही थे, अतः वे भीष्मकी देख-रेखमें राज्यका शासन करने लगे। कुछ दिनों बाद भीष्मको विचित्रवीर्यके विवाहकी चिन्ता हुई। उन्हीं दिनों काशीनरेशकी तीन कन्याओंका स्वयंवर होने जा रहा था। भीष्म अकेले ही रथपर सवार हो काशी पहुँचे। उन्होंने अपने भाईके लिये बलपूर्वक कन्याओंको हरकर अपने रथपर बिठा लिया और उन्हें हस्तिनापुर ले चले। इसपर स्वयंवरके लिये एकत्र हुए सभी राजालोग उनपर टूट पड़े, परन्तु उन राजाओंकी एक भी न चली। उन्होंने अकेले ही सबको परास्त कर दिया और कन्याओंको लाकर विचित्रवीर्यके अर्पण कर दिया। उस समय संसारको उनके अलौकिक पराक्रम तथा अस्त्र-कौशलका प्रथम बार परिचय मिला।

भीष्म काशिराजकी जिन तीन कन्याओंको हरकर ले आये थे, उनमें सबसे बड़ी कन्या अम्बा मन-ही-मन राजा शाल्वको वर चुकी थी। भीष्मको जब यह मालूम हुआ, तो उन्होंने अम्बाको वहाँसे विदा कर दिया और शेष दो कन्याओंका विचित्रवीर्यसे विवाह कर दिया। परन्तु विचित्रवीर्य अधिक दिन जीवित न रहे। विवाहके कुछ ही वर्षों बाद वे क्षयरोगके शिकार हो इस संसारसे चल बसे। उनके कोई सन्तान न थी। फलतः कुरुवंशके उच्छेदका प्रसंग उपस्थित हो गया। भीष्म चाहते तो बड़ी आसानीसे राज्यपर अधिकार कर सकते थे। प्रजा उनके अनुकूल थी ही। वंशरक्षाके लिये विवाह करनेमें भी अब उनके सामने कोई अड़चन नहीं थी। परन्तु बड़े-से-बड़ा प्रलोभन तथा आवश्यकता भी भीष्मको उनके वचनसे नहीं डिगा सकी।

सत्यवतीके पितासे की हुई प्रतिज्ञाको दुहराते हुए एक समय उन्होंने कहा था—'मैं त्रिलोकीका राज्य, ब्रह्माका पद और इन दोनोंसे अधिक मोक्षका भी परित्याग कर सकता हूँ; पर सत्यका त्याग नहीं कर सकता। पाँचों भूत अपने-अपने गुणोंको त्याग दें, चन्द्रमा शीतलता छोड़ दें; और तो क्या, स्वयं धर्मराज भले ही अपना धर्म छोड़ दें, परन्तु मैं अपनी सत्यप्रतिज्ञा छोड़नेका विचार भी नहीं कर सकता।' प्रतिज्ञाका पालन हो तो ऐसा हो।

इधर अम्बाको शाल्वने स्वीकार नहीं किया। वह न इधरकी रही, न उधरकी। लज्जाके मारे वह पिताके घर भी न जा सकी। अपनी इस दुर्दशाका कारण भीष्मको समझकर वह मन-ही-मन उन्हें कोसने और उनसे बदला लेनेका उपाय सोचने लगी। अपने नाना राजर्षि होत्रवाहनकी सलाहसे वह जमदग्निनन्दन परशुरामकी शरण गयी और उनसे अपने दु:खका कारण निवेदन किया। भीष्मने परशुरामसे अस्त्रविद्या सीखी थी। उन्होंने भीष्मको कुरुक्षेत्रमें बुलाकर कहा कि 'इस कन्याका बलपूर्वक स्पर्श करके तुमने इसे दूषित कर दिया है; इसलिये शाल्वने इसे स्वीकार नहीं किया। अत: अब तुम्हींको इसका विधिपूर्वक पाणिग्रहण करना होगा। भीष्मने उनकी बात स्वीकार नहीं की। उन्होंने कहा कि 'इस कन्याने ही मुझसे कहा था कि मैं शाल्वकी हो चुकी हूँ। ऐसी हालतमें मैं उसे कैसे रख सकता था; जिसका दूसरे पुरुषपर प्रेम है, उसे कोई धार्मिक पुरुष कैसे रख सकता है?' अब तो परशुराम आगबबूला हो गये। उन्होंने कहा—'भीष्म! तुम जानते नहीं कि मैंने इक्कीस बार इस पृथ्वीको क्षत्रियोंसे हीन कर दिया था?' भीष्मने कहा—'गुरुजी! उस समय भीष्म पैदा नहीं हुए थे।' यह सुनकर उन्होंने भीष्मको युद्धके लिये ललकारा। भीष्मने उनकी चुनौती स्वीकार कर ली, फिर तो गुरु-शिष्यमें भयंकर युद्ध छिड़ गया। तेईस दिनोंतक लगातार युद्ध होता रहा, परन्तु किसीने भी हार नहीं मानी। अन्तमें देवताओंने तथा मुनियोंने बीचमें पड़कर युद्ध बन्द करा दिया। इस प्रकार भीष्मने परशुरामकी बात भी न मानकर अपने सत्यकी रक्षा की तथा अपने अद्भुत पराक्रमसे परशुराम-जैसे अद्वितीय धनुर्धरके भी छक्के छुड़ा दिये। सत्यप्रतिज्ञता और वीरताकी पराकाष्ठा हो गयी।

महाभारत-युद्धमें कौरवपक्षके सर्वश्रेष्ठ योद्धा भीष्म ही थे। अतएव कौरव-दलके प्रथम सेनानायक होनेका गौरव उन्हींको प्राप्त हुआ। पाण्डव एवं कौरव—दोनोंके पितामह होनेके नाते उनका दोनोंके प्रति समान प्रेम एवं सहानुभूति थी तथा दोनोंका ही समानरूपमें वे हित चाहते थे। फिर भी यह जानकर कि धर्म एवं न्याय पाण्डवोंके ही पक्षमें है, वे पाण्डवोंके साथ विशेष सहानुभूति रखते थे और हृदयसे उनकी विजय चाहते थे; परन्तु हृदयसे पाण्डवोंके पक्षपाती होनेपर भी उन्होंने युद्धमें कभी पाण्डवोंके साथ रियायत नहीं की और प्राणपणसे उन्हें जीतनेकी चेष्टा की। युद्धके अठारह दिनोंमेंसे दस दिनोंतक अकेले भीष्मने कौरवोंका सेनानायकत्व किया और इस बीच पाण्डवपक्षकी बहुत-सी सेनाका संहार कर डाला। वृद्ध होते हुए भी युद्धमें उन्होंने ऐसा अद्भुत पराक्रम दिखाया कि दो बार स्वयं भगवान् श्रीकृष्णको शस्त्र न लेनेकी प्रतिज्ञा होते हुए भी अर्जुनकी रक्षाके लिये उनके मुकाबलेमें खड़ा होना पड़ा। अर्जुनका बल क्षीण होते देख एक बार तो वे चक्र लेकर उनके सामने दौड़े और दूसरी बार चाबुक लेकर उन्होंने भीष्मको ललकारा और इस प्रकार एक भक्तके प्राणोंकी रक्षा करते हुए दूसरे भक्तके गौरवको बढ़ाकर अपनी उभयतोमुखी भक्तवत्सलताका परिचय दिया। अन्तमें पाण्डवोंने जब देखा कि भीष्मके रहते कौरवोंपर विजय पाना असम्भव-सा है, तब उन्होंने स्वयं पितामहसे उनकी मृत्युका उपाय पूछा और उन्होंने दया करके उसे बता दिया। उन्होंने बताया कि 'द्रुपदकुमार शिखण्डी स्त्रीरूपमें जन्मा था, यद्यपि वह अब पुरुषके रूपमें बदल गया है, फिर भी मेरी दृष्टिमें वह स्त्री ही है। ऐसी दशामें उसपर मैं शस्त्र नहीं उठा सकता। वह यदि मेरे सामने युद्ध करने आयेगा तो मैं शस्त्र नहीं चलाऊँगा। उस समय मुझे अर्जुन मार सकता है।' क्षत्रियधर्मके पालन और वीरताका उदाहरण इससे बढ़कर क्या होगा?

जिस समय युद्धमें मर्माहत होकर भीष्म धराशायी हुए, उस समय उनका रोम-रोम बाणोंसे बिंध गया था। उन्हीं बाणोंपर वे सो गये, धरतीसे उनका स्पर्श नहीं हुआ। उस समय सूर्य दक्षिणायनमें थे। दक्षिणायनको देहत्यागके लिये उपयुक्त काल न समझकर वे अयन-परिवर्तनके समयतक उसी शरशय्यापर पड़े रहे; पिताके वरदानसे मृत्यु तो उनके अधीन थी ही। भीष्मजीके गिरते ही उस दिन युद्ध बन्द हो गया। कौरव तथा पाण्डव वीर भीष्मजीको घेरकर उनके चारों ओर खड़े हो गये। भीष्मजीका सारा शरीर बाणोंसे संलग्न था, केवल उनका सिर नीचे लटक रहा था। उसके लिये उन्होंने कोई सहारा माँगा। लोगोंने उत्तमोत्तम तकिये लाकर उनके सामने रख दिये, परन्तु उन्हें वे पसन्द नहीं आये। उन्होंने अर्जुनसे कहा—'बेटा! तुम क्षत्रियधर्मको जानते हो, इसलिये मेरे अनुरूप तकिया लगा दो।' अर्जुन उन वीरशिरोमणिके अभिप्रायको समझ गये। वीरोंके संकेत

वीर ही समझ सकते हैं। उन्होंने बाण मारकर भीष्मजीके मस्तकको ऊँचा कर दिया, उन बाणोंपर उनका मस्तक टिक गया। इधर दुर्योधनने बाण निकालनेमें कुशल वैद्योंको भीष्मजीकी चिकित्साके लिये बुलवाया, परन्तु भीष्मपितामहने उन सबको सम्मानपूर्वक लौटा दिया। गौरवमयी वीरगतिको पाकर उन्होंने चिकित्सा करानेमें अपना अपमान समझा। सब लोग उनके असाधारण शौर्य, सहिष्णुता और साहसको देखकर दंग रह गये। उस समय भी युद्ध बन्द कराने तथा दोनों पक्षोंमें शान्ति स्थापन करनेकी उन्होंने पूरी चेष्टा की, परन्तु उसमें वे सफल नहीं हुए। दैवका ऐसा ही विधान था। उसे कौन टाल सकता था।

बाणोंकी असह्य वेदनासे भीष्मजीका गला सूख रहा था। उनका सारा शरीर जल रहा था। उन्होंने पीनेके लिये पानी माँगा। लोगोंने झारियोंमें भर-भरकर शीतल और सुगन्धित जल उनके सामने उपस्थित किया। भीष्मजीने उसे लौटा दिया। उन्होंने कहा कि 'पहले भोगे हुए मानवीय भोगोंको अब मैं स्वीकार नहीं कर सकता; क्योंकि इस समय मैं शरशय्यापर पड़ा हुआ हूँ।' फिर उन्होंने अर्जुनको बुलाकर कहा—'बेटा! तुम्हीं मुझे विधिवत् जल पिला सकते हो।' अर्जुनने 'जो आज्ञा' कहकर अपने भाथेमेंसे एक दमकता हुआ बाण निकाला और उसे पर्जन्यास्त्रसे संयोजितकर भीष्मके बगलवाली जमीनपर मारा। उसी समय सबके देखते-देखते पृथ्वीमेंसे दिव्य जलकी एक धारा निकली और वह ठीक भीष्मजीके मुखमें गिरने लगी। अमृतके समान उस जलको पीकर भीष्मजी तृप्त हो गये और अर्जुनके उस कर्मकी उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की। उसी समयसे भीष्मने अन्न-जलका त्याग कर दिया और फिर जितने दिन वे जीवित रहे, बाणोंकी मर्मान्तक पीड़ाके साथ-साथ भूख-प्यासकी असह्य वेदना भी सहते रहे। इस प्रकार उन्होंने वीरताके साथ-साथ धैर्य एवं सहनशक्तिकी भी पराकाष्ठा दिखा दी।

महामना भीष्म केवल आदर्श पितृभक्त, आदर्श सत्यप्रतिज्ञ एवं आदर्श वीर ही नहीं थे, वे शास्त्रोंके महान् ज्ञाता, धर्म एवं ईश्वरके तत्त्वको जाननेवाले एवं महान् भगवद्भक्त भी थे। उनके अगाध ज्ञानकी प्रशंसा करते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने यहाँतक कह दिया कि 'आपके इस लोकसे चले जानेपर सारे ज्ञान लुप्त हो जायँगे; संसारमें जो सन्देहग्रस्त विषय हैं, उनका समाधान करनेवाला आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है, इत्यादि। भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणा एवं शक्तिसे उन्होंने युधिष्ठिरको लगातार कई दिनोंतक वर्णाश्रमधर्म, राजधर्म, आपद्धर्म, मोक्षधर्म, श्राद्धधर्म, दानधर्म और स्त्रीधर्म आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयोंपर उपदेश दिया, जो महाभारतके शान्तिपर्व तथा अनुशासनपर्वमें संगृहीत है। साक्षात् धर्मके अंशसे उत्पन्न तथा धर्मकी प्रत्यक्ष मूर्ति महाराज युधिष्ठिरकी धर्मविषयक शंकाओंका निवारण करना पितामह भीष्मका ही काम था। उनका उपदेश सुननेके लिये व्यास आदि महर्षि भी उपस्थित हुए थे।

भगवान् श्रीकृष्णके माहात्म्य एवं प्रभावका ज्ञान जैसा भीष्मको था, वैसा उस समय बहुत कम लोगोंको था। धृतराष्ट्र एवं दुर्योधनको उन्होंने कई बार श्रीकृष्णकी महिमा सुनायी थी। राजसूय यज्ञमें अग्रपूजाके लिये श्रीकृष्णको ही सर्वोत्तम पात्र सिद्ध करते हुए उन्होंने भरी सभामें श्रीकृष्णकी महिमा गायी थी और उन्हें साक्षात् ईश्वर बतलाया था। श्रीकृष्ण जब अर्जुनकी ओरसे चक्र लेकर उनके सामने दौड़े तब उन्होंने उनके हाथसे मरनेमें अपना गौरव समझकर शस्त्रोंके द्वारा ही उनकी पूजा करनेके लिये उनका आवाहन किया। उन्होंने युधिष्ठिरको भगवान् विष्णुका जो सहस्रनामस्तोत्र सुनाया, उससे उनकी भगवद्भक्ति तथा भगवत्तत्त्व-ज्ञानका स्पष्ट परिचय मिलता है। आज भी उस विष्णुसहस्रनामका भक्तोंमें बड़ा आदर है। स्वामी श्रीशंकराचार्यजीने गीता, उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्रोंकी भाँति उसपर भी विस्तृत भाष्य लिखा है। उनकी भक्तिका ही यह फल था कि साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णने अन्त समयमें उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ किया। इस प्रकार भक्ति, ज्ञान, सदाचार जिस ओरसे भी हम भीष्मके चरित्रपर दृष्टि डालते हैं, उसी ओरसे हम उसे आदर्श पाते हैं। भीष्मकी कोटिके महापुरुष संसारके इतिहासमें इने-गिने ही पाये जाते हैं। यद्यपि भीष्म अपुत्र ही मरे, फिर भी सारे त्रैवर्णिक हिन्दू आजतक पितरोंका तर्पण करते समय उन्हें जल देते हैं। यह गौरव भारतके इतिहासमें किसीको भी प्राप्त नहीं है। इसीलिये सारा जगत् आज भी उन्हें पितामहके नामसे पुकारता है। भीष्मकी-सी अपुत्रता बड़े-बड़े पुत्रवानोंके लिये भी ईर्ष्याकी वस्तु है।

धर्मराज युधिष्ठिर

महाराज युधिष्ठिर भी पितामह भीष्मकी ही भाँति अत्यन्त उच्च कोटिके महापुरुष थे। ये साक्षात् धर्मके अंशसे उत्पन्न हुए थे और धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप थे। इसीसे लोग इन्हें धर्मराजके नामसे पुकारते थे। इनमें सत्य, क्षमा, धैर्य, स्थिरता, सहिष्णुता, शूरवीरता, गम्भीरता, नम्रता, दयालुता और अविचल प्रेम आदि अनेकों लोकोत्तर गुण

थे। ये अपने शील, सदाचार तथा विचारशीलताके कारण बचपनमें ही अत्यधिक लोकप्रिय हो गये थे। जब ये बहुत छोटे थे, तभी इनके पिता महात्मा पाण्डु स्वर्गवासी हो गये। तभीसे ये अपने ताऊ धृतराष्ट्रको ही पिताके तुल्य मानकर उनका बड़ा आदर करते थे और उनकी किसी भी आज्ञाको नहीं टालते थे। परंतु धृतराष्ट्र अपने कुटिल स्वभावके कारण इनके गुणोंकी प्रशंसा सुन-सुनकर मन-ही-मन इनसे कुढ़ने लगे। उनका पुत्र दुर्योधन चाहता था कि किसी तरह पाण्डव कुछ दिनोंके लिये हस्तिनापुरसे हट जायँ तो उनकी अनुपस्थितिमें उनके पैतृक अधिकारको छीनकर मैं स्वयं राजा बन बैठूँ। उसने अपने अन्धे एवं प्रज्ञाहीन पिताको समझाकर इसके लिये राजी कर लिया। धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको बुलाकर उन्हें मेला देखनेके बहाने वारणावत जानेके लिये कहा, उन्होंने उनकी आज्ञा समझकर इसपर कोई आपत्ति नहीं की और चुपचाप अपनी माता कुन्तीके साथ पाँचों भाई वारणावत चले गये। इन्हें जला डालनेके लिये पहलेसे ही वहाँ दुर्योधनने एक लाक्षाभवन तैयार करवा रखा था। उसीमें इन्हें रहनेकी आज्ञा हुई। उसमें आग लगा दी गयी पर चाचा विदुरकी सहायतासे ये लोग पहले ही वहाँसे किसी प्रकार अपने प्राण बचाकर भाग निकले और इन्होंने जंगलकी शरण ली। पीछेसे धृतराष्ट्रके पुत्रोंने मरा समझकर हस्तिनापुरके राज्यपर चुपचाप अधिकार कर लिया।

कुछ दिनोंके बाद द्रौपदीके स्वयंवरमें जब पाण्डवोंका रहस्य खुला, तब धृतराष्ट्रके पुत्रोंको यह पता लगा कि पाण्डव अभी जीवित हैं। तब तो धृतराष्ट्रने विदुरको भेजकर पाण्डवोंको हस्तिनापुर बुलवा लिया और अपने पुत्रोंके साथ उनका झगड़ा मिटा देनेके लिये आधा राज्य लेकर खाण्डवप्रस्थमें रहनेका प्रस्ताव उनके सामने रखा। युधिष्ठिरने उनकी यह आज्ञा भी स्वीकार कर ली और ये अपने भाइयोंके साथ खाण्डवप्रस्थमें रहने लगे। वहाँ इन्होंने अपनी एक अलग राजधानी बसा ली, जिसका नाम इन्द्रप्रस्थ रखा गया। इन्द्रप्रस्थमें इन्होंने एक राजसूय यज्ञ किया, जिसमें बड़े-बड़े राजाओंने आकर इन्हें बहुमूल्य उपहार दिये और अपना सम्राट् स्वीकार किया।

परंतु दुर्योधन इनके वैभवको देखकर जलने लगा। उसने एक विशाल सभाभवन तैयार कराकर पाण्डवोंको जुएके लिये आमन्त्रित किया। धृतराष्ट्रकी आज्ञा मानकर युधिष्ठिरने उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और वहाँ दुर्योधनके मामा शकुनिकी कपटभरी चालोंसे ये अपना सर्वस्व हार बैठे। यहाँतक कि भरी सभामें राजरानी द्रौपदीका घोर अपमान किया गया फिर भी धृतराष्ट्रके प्रति युधिष्ठिरका वही भाव बना रहा। धृतराष्ट्रने भी इनको इनका सारा धन और राज्य लौटा दिया और इन्हें पुनः इन्द्रप्रस्थके लिये विदा कर दिया। दुर्योधनको बहुत बुरा लगा। उसने धृतराष्ट्रको समझा-बुझाकर इस बातके लिये सहमत कर लिया कि दूत भेजकर पाण्डवोंको फिरसे बुलाया जाय और उनसे वनवासकी शर्तपर पुनः जुआ खेला जाय। युधिष्ठिर जुएका दुष्परिणाम एक बार देख चुके थे तथा कौरवोंकी नीयतका भी पता उन्हें चल गया था। फिर भी अपने ताऊकी आज्ञाको वे टाल नहीं सके और बीचमेंसे ही लौट आये। अबकी बार भी युधिष्ठिर ही हारे और फलतः इन्हें सब कुछ छोड़कर अपने भाइयों तथा राजरानी द्रौपदीके साथ बारह वर्षके वनवास तथा एक वर्षके अज्ञातवासके लिये जाना पड़ा। पिता (ताऊ) के आज्ञापालनरूप धर्मके निर्वाहके लिये इन्होंने सब कुछ चुपचाप सह लिया। धन्य पितृभक्ति!

महाराज युधिष्ठिर बड़े ही धर्मभीरु एवं सहनशील थे। ये सब प्रकारकी हानि सह सकते थे, परंतु धर्मकी हानि इन्हें सह्य नहीं थी। प्रथम बार जुएमें जब ये अपने चारों भाइयोंको तथा अपने-आपको एवं द्रौपदीतकको हार गये और कौरवलोग भरी सभामें द्रौपदीका तिरस्कार करने लगे, उस समय भी धर्मपाशसे बँधे रहनेके कारण इन्होंने चूँतक नहीं किया और चुपचाप सब कुछ सह लिया। कोई सामान्य मनुष्य भी अपनी आँखोंके सामने अपनी पत्नीकी इस प्रकार दुर्दशा होते नहीं देख सकता। इन्हींके भयसे इनके भाई भी कुछ नहीं बोले और जी मसोसकर रह गये। ये लोग चाहते तो बलपूर्वक उस अमानुषी अत्याचारको रोक सकते थे। परंतु यही सोचकर कि धर्मराज द्रौपदीको स्वेच्छासे दाँवपर रखकर हार गये हैं, ये लोग चुप रहे। जिस द्रौपदीको इनके सामने कोई आँख उठाकर भी देख लेता तो उसे अपने प्राणोंसे हाथ धोने पड़ते, उसी द्रौपदीकी दुर्दशा इन्होंने अपनी आँखोंसे देखकर भी उसका प्रतिकार नहीं किया। युधिष्ठिर यह भी जानते थे कि शकुनिने उन्हें कपटपूर्वक जीता है, फिर भी इन्होंने अपनी ओरसे धर्मका त्याग करना उचित नहीं समझा। इन्होंने सब कुछ सहकर भी सत्य और धर्मकी रक्षा की। धर्मप्रेम और सहनशीलताका इससे बड़ा उदाहरण जगत्‌में शायद ही कहीं मिले।

जब पाण्डवलोग दूसरी बार भी जुएमें हार गये और वनमें जाने लगे, उस समय हस्तिनापुरकी प्रजाको बड़ा दुःख हुआ। सब लोग कौरवोंको कोसने लगे और नगरवासी बहुत बड़ी संख्यामें अपने घर-परिवारको छोड़कर इनके साथ चलनेके लिये इनके पीछे हो लिये।

उस समय भी धर्मराजने कौरवोंके विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा और सब लोगोंको किसी प्रकार समझा-बुझाकर लौटाया। फिर भी बहुत-से ब्राह्मण जबर्दस्ती इनके साथ हो लिये। उस समय धर्मराजको यह चिन्ता हुई कि 'इतने ब्राह्मण मेरे साथ चल रहे हैं, इनके भोजनकी क्या व्यवस्था होगी?' इन्हें अपने कष्टोंकी तनिक भी परवा नहीं थी, परंतु ये दूसरोंका कष्ट नहीं देख सकते थे। अन्तमें इन्होंने भगवान् सूर्यकी आराधना करके उनसे एक ऐसा पात्र प्राप्त किया, जिसमें पकाया हुआ थोड़ा-सा भी भोजन अक्षय हो जाता। उसीसे ये वनमें रहते हुए भी अतिथि-ब्राह्मणोंको भोजन कराकर पीछे स्वयं भोजन करते। वनवासके कष्ट भोगते हुए भी इन्होंने आतिथ्य-धर्मका यथोचित पालन किया। महाराज युधिष्ठिरके इसी धर्म-प्रेमसे आकर्षित होकर बड़े-बड़े महर्षि इनके वनवासके समय इनके पास आकर रहते और यज्ञादि नाना प्रकारके धर्मानुष्ठान करते।

महाराज युधिष्ठिर अजातशत्रुके नामसे प्रसिद्ध थे। इनका वास्तवमें किसीके साथ वैर नहीं था। शत्रुओंके प्रति भी इनके हृदयमें सदा सद्भाव ही रहता था। शत्रु भी इनकी दृष्टिमें सेवा और सहानुभूतिके ही पात्र थे। अपकार करनेवालेका भी उपकार करना—यही तो सन्तका सबसे बड़ा लक्षण है। ***'उमा संत कै इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥'***—गोस्वामी तुलसीदासजीकी यह उक्ति महाराज युधिष्ठिरमें पूरी तरह चरितार्थ होती थी। एक बारकी बात है—जब पाण्डव द्वैतवनमें थे, घोषयात्राके बहाने राजा दुर्योधन अपने मन्त्रियों, भाइयों, रनिवासकी स्त्रियों तथा बहुत बड़ी सेनाको साथ लेकर वनवासी पाण्डवोंको अपने वैभवसे जलानेके पापपूर्ण उद्देश्यसे उस वनमें पहुँचा। वहाँ जलक्रीड़ाके विचारसे वह उस सरोवरके तटपर पहुँचा, जहाँ महाराज युधिष्ठिर कुटी बनाकर रहते थे। सरोवरको गन्धर्वोंने पहलेसे ही घेर रखा था। उनके साथ दुर्योधनकी मुठभेड़ हो गयी। बस, दोनों ओरसे बड़ा भीषण और रोमांचकारी युद्ध छिड़ गया। विजय गन्धर्वोंकी ओर रही। उन लोगोंने रानियोंसहित दुर्योधनको कैद कर लिया। जब महाराज युधिष्ठिरको यह समाचार मिला तो इन्होंने अपने भाइयोंको आज्ञा दी कि 'तुम सब लोग जाकर बलपूर्वक राजा दुर्योधनको छुड़ा लाओ। माना कि वे लोग हमारे शत्रु हैं, परंतु इस समय विपत्तिमें हैं। इस समय उनके अपराधोंको भुलाकर उनकी सहायता करना ही हमारा धर्म है। शत्रुता रखते हैं तो क्या हुआ, आखिर हैं तो हमारे भाई ही। हमारे रहते दूसरे लोग इनकी दुर्दशा करें, यह हमलोग कैसे देख सकते हैं।' बस, फिर क्या था। अर्जुनने बाणवर्षासे गन्धर्वोंके छक्के छुड़ा दिये और दुर्योधनको भाइयों तथा रानियोंसहित उनके बन्धनसे छुड़ा लिया। दुर्योधनकी दुरभिसन्धिको जानकर देवराज इन्द्रने ही दुर्योधनको बाँध ले आनेके लिये गन्धर्वोंको भेजा था। महाराज युधिष्ठिरके विशाल हृदयको देखकर वे सब दंग रह गये। धन्य अजातशत्रुता!

एक समयकी बात है, द्रौपदीको आश्रममें अकेली छोड़कर पाण्डव वनमें चले गये थे। पीछेसे दुर्योधनका बहनोई सिन्धुराज जयद्रथ उधर आ निकला। द्रौपदीके अनुपम रूप-लावण्यको देखकर उसका मन बिगड़ गया। उसने द्रौपदीके सामने अपना पापपूर्ण प्रस्ताव रखा, किन्तु द्रौपदीने उसे तिरस्कारपूर्वक ठुकरा दिया। तब तो उसने द्रौपदीको खींचकर जबर्दस्ती अपने रथपर बिठा लिया और ले भागा। पीछेसे पाण्डवोंको जब जयद्रथकी इस शैतानीका पता लगा तो उन्होंने उसका पीछा किया और थोड़ी ही देरमें उसे जा दबाया। पाण्डवोंने बात-की-बातमें उसकी सारी सेनाको तहस-नहस कर डाला। पापी जयद्रथने भयभीत होकर द्रौपदीको रथसे नीचे उतार दिया और स्वयं प्राण बचाकर भागा। भीमसेनने उसका पीछा किया और थोड़ी ही देरमें उसे पकड़कर धर्मराजके सामने ला उपस्थित किया। धर्मराजने सम्बन्धी समझकर दयापूर्वक उसे छोड़ दिया और इस प्रकार अपनी अद्भुत क्षमाशीलता एवं दयालुताका परिचय दिया।

महाराज युधिष्ठिर बड़े भारी बुद्धिमान्, नीतिज्ञ और धर्मज्ञ तो थे ही; उनमें समता भी अद्भुत थी। एक समयकी बात है—जिस वनमें पाण्डव रहते थे, उसमें एक ब्राह्मणके अरणिसहित मन्थनकाष्ठसे, जो किसी वृक्षकी शाखापर टँगा हुआ था, एक हरिन अपना सींग खुजलाने लगा। वह काष्ठ उसके सींगमें फँस गया। हरिन उसे लेकर भागा। मन्थनकाष्ठके न रहनेसे अग्निहोत्रमें बाधा आती देख ब्राह्मण पाण्डवोंके पास गया और उनसे उस मन्थनकाष्ठको ला देनेकी प्रार्थना की। धर्मराज युधिष्ठिर अपने चारों भाइयोंको साथ लेकर मृगके पीछे भागे, परन्तु देखते-ही-देखते वह उनकी आँखोंसे ओझल हो गया। पाण्डव बहुत थक गये थे। प्यास उन्हें अलग सता रही थी, धर्मराजकी आज्ञा पाकर नकुल पानीकी तलाशमें गये। थोड़ी ही दूरपर उन्हें एक सुन्दर जलाशय मिला। उसके समीप जाकर ज्यों ही वे जल पीनेके लिये झुके कि उन्हें यह आकाशवाणी सुनायी दी—'पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो, तब जल पीना।' परन्तु नकुलको बड़ी प्यास लगी थी। उन्होंने आकाशवाणीकी कोई परवा नहीं की। फलतः पानी पीते ही वे निर्जीव होकर जमीनपर लोट गये। तदनन्तर धर्मराजने क्रमशः सहदेव, अर्जुन और भीमसेनको भेजा;

परंतु उन तीनोंकी भी वही दशा हुई। अन्तमें धर्मराज स्वयं उस तालाबपर पहुँचे। इन्होंने भी वही आवाज सुनी और साथ ही अपने चारों भाइयोंको निश्चेष्ट होकर जमीनपर पड़े देखा। इतनेमें ही इन्हें एक विशालकाय यक्ष दीख पड़ा। उसने युधिष्ठिरको बतलाया कि 'मेरे प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना ही जल पीनेके कारण तुम्हारे भाइयोंकी यह दशा हुई है। यदि तुम भी ऐसी अनधिकार चेष्टा करोगे तो मारे जाओगे।' युधिष्ठिर उनके प्रश्नोंका उत्तर देनेको तैयार हो गये। यक्षने जो-जो प्रश्न युधिष्ठिरसे किये, सबका समुचित उत्तर देकर युधिष्ठिरने यक्षका अच्छी तरह समाधान कर दिया। इनके उत्तरोंसे प्रसन्न होकर यक्ष बोला—'राजन्! अपने भाइयोंमेंसे जिस किसी एकको तुम जिलाना चाहो, उसे मैं जीवित कर दूँ।' धर्मराजने नकुलको जीवित देखना चाहा। कारण पूछनेपर इन्होंने बताया कि 'मेरे पिताके दो भार्याएँ थीं—कुन्ती और माद्री। मेरी दृष्टिमें वे दोनों समान हैं। मैं चाहता हूँ कि वे दोनों पुत्रवती बनी रहें। कुन्तीका पुत्र तो मैं मौजूद हूँ ही; मैं चाहता हूँ कि माद्रीका भी एक पुत्र बना रहे। इसीलिये मैंने भीम और अर्जुनको छोड़कर उसे जिलानेकी प्रार्थना की है।' युधिष्ठिरकी बुद्धिमत्ता तथा धर्मज्ञताकी परीक्षाके लिये स्वयं धर्मने ही यह लीला की थी। इनकी इस अद्‌भुत समताको देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अपना परिचय देकर चारों भाइयोंको जीवित कर दिया। धर्मने इन्हें यह भी कहा कि 'मैं ही मृग बनकर उस ब्राह्मणके मन्थनकाष्ठको ले गया था; लो, यह मन्थनकाष्ठ तुम्हारे सामने है। युधिष्ठिरने वह मन्थनकाष्ठ उस ब्राह्मणको ले जाकर दे दिया।

युधिष्ठिर जैसे सदाचार-सम्पन्न थे वैसे ही विनयी भी थे। ये समयोचित व्यवहारमें बड़े कुशल थे, गुरुजनोंकी मान-मर्यादाका सदा ध्यान रखते थे। कठिन-से-कठिन समयमें भी ये शिष्टाचारकी मर्यादाको नहीं भूलते थे। महाभारत-युद्धके आरम्भमें जब दोनों ओरकी सेनाएँ युद्धके लिये सन्नद्ध खड़ी थीं, उस समय इन्होंने सबसे पहले शत्रुसेनाके बीचमें जाकर पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण एवं कृपाचार्य तथा मामा शल्यके चरणोंमें प्रणाम किया और आशीर्वाद माँगा। इनके इस विनयपूर्ण एवं शिष्टजनोचित व्यवहारसे वे सभी गुरुजन बड़े प्रसन्न हुए और इनकी हृदयसे विजय-कामना की। चारोंने ही अन्यायी कौरवोंकी ओरसे लड़नेके लिये बाध्य होनेपर खेद प्रकट किया और इसे अपनी कमजोरी बतलायी। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने, युधिष्ठिरके इस आदर्श व्यवहारका अनुमोदन किया।

युधिष्ठिरकी सत्यवादिता तो जगद्विख्यात थी। सभी जानते थे कि युधिष्ठिर भय अथवा लोभवश कभी असत्य नहीं बोलते। इनकी सत्यवादिताका ही यह फल था कि इनके रथके पहिये सदा पृथ्वीसे चार अंगुल ऊँचे रहा करते थे। जीवनमें केवल एक बार इन्होंने असत्यभाषण किया। द्रोणाचार्यके सामने अश्वत्थामा हाथीके मारे जानेके बहाने झूठ-मूठ यह कह दिये कि 'अश्वत्थामा मारा गया।' इसी एक बारकी सत्यच्युतिके फलस्वरूप इनके रथके पहिये पृथ्वीसे सटकर चलने लगे और इन्हें मुहूर्तभरके लिये कल्पित नरकका दृश्य भी देखना पड़ा।

युधिष्ठिरकी उदारता भी अलौकिक थी। जब कौरवोंने किसी प्रकार भी इनका राज्य लौटाना स्वीकार नहीं किया तब इन्होंने केवल पाँच गाँव लेकर संतोष करना स्वीकार कर लिया और भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा दुर्योधनको यह कहला भेजा कि 'यदि वह हमें हमारे इच्छानुसार केवल पाँच गाँव देना स्वीकार कर ले तो हम युद्ध नहीं करेंगे।' परन्तु दुर्योधनने इन्हें सूईकी नोकके बराबर जमीन देना भी स्वीकार नहीं किया। तब इन्हें बाध्य होकर युद्ध छेड़ना पड़ा। इतना ही नहीं, जब दुर्योधनकी सारी सेना मर-खप गयी और वह स्वयं एक तालाबमें जाकर छिप रहा, उस समय इन्होंने उसके पास जाकर उसे अन्तिम बार युद्धके लिये ललकारते हुए यहाँतक कह दिया कि 'हममेंसे जिस-किसीके साथ तुम युद्ध कर सकते हो। हममेंसे किसी एकपर भी तुम द्वन्द्वयुद्धमें विजय पा लोगे तो सारा राज्य तुम्हारा हो जायगा।' भला, इस प्रकारकी शर्त कोई दूसरा कर सकता है? जिस दुर्योधनका गदायुद्धमें भीमसेन भी, जो पाण्डवोंमें सबसे अधिक बलवान् एवं गदायुद्धमें प्रवीण थे, मुकाबला करते हिचकते थे, उसके साथ यह शर्त कर लेना कि 'हममेंसे किसी एकको तुम हरा दोगे तो राज्य तुम्हारा हो जायगा' युधिष्ठिर-जैसे महानुभावका ही काम था। अन्तमें भीमसेनके साथ उसका युद्ध होना निश्चित हुआ और भीमसेनके द्वारा वह मारा गया।

इतना ही नहीं, युद्ध-समाप्तिके बाद जब युधिष्ठिरका राज्याभिषेक हो गया और धृतराष्ट्र-गान्धारी इन्हींके पास रहने लगे, उस समय इन्होंने दोनोंको इतना सुख पहुँचाया, जितना उन्हें अपने पुत्रोंसे भी नहीं मिला था। ये सारा राज-काज उन्हींसे पूछ-पूछकर करते थे और राज-काज करते हुए भी उनकी सेवाके लिये बराबर समय निकाला करते थे। इनकी माता कुन्ती, सम्राज्ञी द्रौपदी तथा अपनी अन्य बहुओंके साथ देवी गान्धारीकी सेवा किया करती थीं। ये इस बातका सदा ध्यान रखते थे कि उनके सामने कभी कोई ऐसी बात न हो जिससे उनका पुत्र-शोक उमड़ पड़े। अन्तमें जब धृतराष्ट्र और गान्धारीने अपनी शेष आयु

वनमें बितानेका निश्चय किया, उस समय युधिष्ठिरको बड़ा दुःख हुआ और ये स्वयं उनके साथ वन जानेको तैयार हो गये। बड़ी कठिनतासे व्यासजीने आकर इन्हें समझाया, तब कहीं ये धृतराष्ट्र-गान्धारीको वन भेजनेपर राजी हुए। फिर भी कुन्तीदेवी तो अपने जेठ-जेठानीके साथ ही गयीं और अन्त समयतक उनकी सेवामें रहीं एवं उनके साथ ही प्राण-त्याग भी किया। वन जानेसे पहले धृतराष्ट्रने अपने मृत पुत्रों तथा अन्य सम्बन्धियोंका विधिपूर्वक अन्तिम बार श्राद्ध करना चाहा और उन्हींके कल्याणके लिये ब्राह्मणोंको अपरिमित दान देना चाहा। युधिष्ठिरको जब इनकी इच्छा मालूम हुई तो इन्होंने विदुरजीके द्वारा यह कहलाया कि 'अर्जुनसहित मेरा प्राणपर्यन्त सर्वस्व आपके अर्पण है।' एवं उनकी इच्छासे भी अधिक खुले-हाथों खर्च करनेका प्रबन्ध कर दिया। फिर तो धृतराष्ट्रने बड़े विधि-विधानसे अपने सम्बन्धियोंका श्राद्ध किया और ब्राह्मणोंको भरपूर दान दिया। उस समय महाराज युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रके आज्ञानुसार धन और रत्नोंकी नदी-सी बहा दी। जिसके लिये सौकी आज्ञा हुई, उसे हजार दिया गया। जब धृतराष्ट्र-गान्धारी वनको जाने लगे, उस समय अपनी रानियोंके साथ पैदल ही बड़ी दूरतक उन्हें पहुँचाने गये। जिन धृतराष्ट्रके कारण पाण्डवोंको भारी-भारी विपत्तियोंका सामना करना पड़ा, जिनके कारण उन्हें अपने पैतृक अधिकारसे वंचित रहना पड़ा और कितनी बार वनवासके कष्ट उठाने पड़े, जिनकी उपस्थितिमें उनके पुत्रोंने सती-शिरोमणि द्रौपदीका भरी सभामें घोर अपमान किया और जिन्होंने उन्हें दर-दरका भिखारी बना दिया और पाँच गाँवतक देना स्वीकार नहीं किया—जिसके फलस्वरूप दोनों ओरसे इतना भीषण नर-संहार हुआ—उन्हीं धृतराष्ट्रके प्रति इतना निश्छल प्रेमभाव रखना और अन्ततक उन्हें सुख पहुँचानेकी पूरी चेष्टा करना युधिष्ठिर-जैसी महान् आत्माका ही काम था। वैरीके प्रति ऐसा सद्व्यवहार जगत्के इतिहासमें कम ही देखनेको मिलेगा।

महाराज युधिष्ठिरकी शरणागतवत्सलता तथा प्रेम तो और भी विलक्षण था। भगवान् श्रीकृष्णके परमधामगमन तथा यादवोंके संहारकी बात जब इन्होंने सुनी तो इन्हें बड़ा दुःख हुआ। इन्होंने सोचा कि 'जब हमारे परम आत्मीय तथा हितैषी वे श्रीकृष्ण ही इस धरातलपर न रहे, जिनकी कृपासे हमने सब कुछ पाया था, तब फिर हमारे लिये यह राज्यसुख किस कामका और इस जीवनको ही रखनेसे क्या प्रयोजन। श्रीकृष्णकी बात तो अलग रही, वे तो पाण्डवोंके जीवनप्राण एवं सर्वस्व ही थे। उनके ऊपर तो इनका सब कुछ निर्भर था। कौरवोंके विनाशपर भी इन्हें इतना दुःख हुआ था कि विजय तथा राज्य प्राप्तिके प्रसंगमें हर्ष मनानेके बदले ये सब कुछ छोड़कर वन जानेको तैयार हो गये थे। बड़ी कठिनतासे भगवान् श्रीकृष्ण तथा महर्षि व्यास आदिने इन्हें समझा-बुझाकर राज्याभिषेकके लिये तैयार किया था। भीष्मपितामहने भी धर्मका उपदेश देकर इनका शोक दूर करनेकी चेष्टा की, तथा भीष्मजीकी आज्ञा मानकर इन्होंने राज्य भी किया; परन्तु स्वजनवधसे होनेवाली ग्लानि इनके चित्तसे कभी दूर नहीं हुई। अब श्रीकृष्णके परमधामगमनकी बात सुनकर तो इन्होंने वन जानेका दृढ़ निश्चय कर लिया और अर्जुनके पौत्र कुमार परीक्षित्को राजगद्दीपर बिठाकर तथा कृपाचार्य एवं धृतराष्ट्रपुत्र युयुत्सुको उनकी देख-भालमें नियुक्त कर ये अपने चारों भाइयों तथा द्रौपदीको साथ लेकर हस्तिनापुरसे चल पड़े। पृथ्वी-प्रदक्षिणाके उद्देश्यसे कई देशोंमें घूमते हुए ये हिमालयको पारकर मेरुपर्वतकी ओर बढ़ रहे थे। रास्तेमें देवी द्रौपदी तथा इनके चारों भाई एक-एक करके क्रमशः गिरते गये। उनके गिरनेकी भी परवा न कर युधिष्ठिर आगे बढ़ते ही गये। इतनेमें ही स्वयं देवराज इन्द्र रथपर चढ़कर इन्हें लेनेके लिये आये और रथपर चढ़ जानेको कहा। युधिष्ठिरने अपने भाइयों तथा पतिप्राणा देवी द्रौपदीके बिना अकेले रथपर बैठना स्वीकार नहीं किया। इन्द्रके यह विश्वास दिलानेपर कि 'वे लोग तुमसे पहले ही स्वर्गमें पहुँच चुके हैं, इन्होंने रथपर चढ़ना स्वीकार किया। परन्तु इनके साथ एक कुत्ता भी था, जो आरम्भसे ही इनके साथ चल रहा था। युधिष्ठिरने चाहा कि वह कुत्ता भी उनके साथ चले। इन्द्रके आपत्ति करनेपर इन्होंने उनसे स्पष्ट कह दिया कि 'इस स्वामिभक्त कुत्तेको छोड़कर मैं अकेला स्वर्ग जानेके लिये तैयार नहीं हूँ।' यह कुत्ता और कोई नहीं था, स्वयं धर्म ही युधिष्ठिरकी परीक्षाके लिये उनके साथ हो लिये थे। युधिष्ठिरकी इस अनुपम शरणागतवत्सलताको देखकर वे अपने असली रूपमें प्रकट हो गये और युधिष्ठिरको रथमें बिठाकर इन्द्र एवं अन्य देवताओं तथा देवर्षियोंके साथ ऊपरके लोकोंमें चले गये। उस समय देवर्षि नारदने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा कि 'महाराज युधिष्ठिरसे पहले कोई भौतिक शरीरसे स्वर्ग गया हो, ऐसा सुननेमें नहीं आया।' फिर भी देवराज इन्द्रसे युधिष्ठिरने यही कहा कि 'जहाँ मेरे भाई-बन्धु तथा देवी द्रौपदी हों, वहीं मुझे ले चलिये; वहीं जानेपर मुझे शान्ति मिलेगी, अन्यत्र नहीं। जहाँ मेरे भाई नहीं हैं, वह स्वर्ग भी मेरे किस कामका' धन्य बन्धु प्रेम!

इस प्रकार युधिष्ठिरकी प्रबल इच्छा जानकर देवताओंने इन्हें भाइयोंको दिखानेके लिये देवदूतको साथ भेजा। आगे

जाकर जब देवराज इन्द्रकी मायासे इन्हें नरकका दृश्य दिखाई पड़ा और वहाँ इन्होंने अपने भाइयोंके कराहने एवं रोनेकी आवाज सुनी, साथ ही इन्होंने लोगोंको यह कहते भी सुना कि 'महाराज! थोड़ा रुक जाइये, आपके यहाँ रहनेसे हमें नरककी पीड़ा नहीं सताती', तब तो ये वहीं रुक गये और जो देवदूत इन्हें वहाँ ले गया था, उससे इन्होंने कहा कि 'हम तो यहीं रहेंगे; जब हमारे रहनेसे यहाँके जीवोंको सुख मिलता है तो यह नरक ही हमारे लिये स्वर्गसे बढ़कर है।' धन्य दयालुता!

थोड़ी ही देर बाद वह दृश्य गायब हो गया और वहाँ इन्द्र, धर्म आदि देवता आ पहुँचे। वे सब इनके इस सुन्दर भावसे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने बतलाया कि 'तुमने छलसे गुरु द्रोणाचार्यको उनके पुत्रकी मृत्युका विश्वास दिलाया था, इसीलिये तुम्हें छलसे नरकका दृश्य दिखाया गया था। तुम्हारे सब भाई दिव्यलोकमें पहुँच गये हैं।' इसके बाद युधिष्ठिर भगवान्‌के परमधाममें गये और वहाँ इन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके उसी रूपमें दर्शन किये, जिस रूपमें वे पहले उन्हें मर्त्यलोकमें देखते आये थे। वहीं उन्होंने श्रीकृष्णकी परिचर्या करते हुए अर्जुनको भी देखा। देवी द्रौपदीको लक्ष्मीके रूपमें देखा तथा अपने भाइयोंको भी उन्होंने दूसरे-दूसरे स्थानोंमें देखा। अन्तमें वे अपने पिता धर्मके शरीरमें प्रविष्ट हो गये। इस प्रकार युधिष्ठिरने अपने धर्मके बलसे दुर्लभ गति पायी।

युधिष्ठिरकी पवित्रताका ऐसा अद्भुत प्रभाव था कि ये जहाँ भी जाते, वहाँका वातावरण अत्यन्त पवित्र हो जाता। जिस समय पाण्डव अज्ञातरूपसे राजा विराटके यहाँ रह रहे थे, उस समय कौरवोंने इनका पता लगाना चाहा। उसी प्रसंगमें भीष्मपितामहने, जो पाण्डवोंके प्रभावको भलीभाँति जानते थे, उन्हें बतलाया कि 'राजा युधिष्ठिर जिस नगर या राष्ट्रमें होंगे वहाँकी जनता भी दानशील, प्रियवादिनी, जितेन्द्रिय और लज्जाशील होगी। जहाँ वे रहते होंगे वहाँके लोग संयमी, सत्यपरायण तथा धर्ममें तत्पर होंगे; उनमें ईर्ष्या, अभिमान, मत्सर आदि दोष नहीं होंगे। वहाँ हर समय वेद ध्वनि होती होगी, यज्ञ होते होंगे, ठीक समयपर वर्षा होती होगी, वहाँकी भूमि धन-धान्यपूर्ण तथा सब प्रकारके भयों एवं उपद्रवोंसे शून्य होगी, वहाँ गायें अधिक एवं हृष्ट-पुष्ट होंगी'—इत्यादि। यही नहीं, हम ऊपर देख चुके हैं कि इनकी सन्निधिसे नरकके प्राणियोंतकको सुख-शान्ति मिलती थी। राजा नहुषने जिन्हें महर्षि अगस्त्यके शापसे अजगरयोनि प्राप्त हुई थी और जिन्होंने उसी रूपमें भीमसेनको अपने चंगुलमें फँसा लिया था, युधिष्ठिरके दर्शन तथा उनके साथ सम्भाषण करनेमात्रसे अजगरकी योनिसे छूटकर पुनः स्वर्ग प्राप्त किया। ऐसे पुण्यश्लोक महाराज युधिष्ठिरके चरित्रका जितना भी हम मनन करेंगे, उतने ही पवित्र होंगे।

'धर्मो विवर्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन।'

वीरवर अर्जुन

अर्जुन साक्षात् नर-ऋषिके अवतार थे। ये भगवान् श्रीकृष्णके परम भक्त, सखा एवं प्रेमी थे तथा उनके हाथके एक उत्तम यन्त्र थे। इनको निमित्त बनाकर भगवान्‌ने महाभारत-युद्धमें बड़े-बड़े योद्धाओंका संहार किया और इस प्रकार अपने अवतारके एक प्रधान उद्देश्य भू-भारहरणको सिद्ध किया। इस बातको स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने गीताके विश्वरूपदर्शनके प्रसंगमें यह कहते हुए स्वीकार किया है कि 'ये सब शूरवीर पहलेहीसे मेरे ही द्वारा मारे हुए हैं। हे सव्यसाचिन्! तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा' (११।३३)। इनकी भक्ति तथा मित्रताको भी भगवान्‌ने गीतामें ही **'भक्तोऽसि मे सखा चेति,'** (४।३), **'इष्टोऽसि मे दृढमिति'** (१८।६४) आदि शब्दोंमें स्वीकार किया है। जिसे स्वयं भगवान् अपना भक्त और प्यारा मानें और उद्घोषित करें, उसके भक्त होनेमें दूसरे किसी प्रमाणकी क्या आवश्यकता है? गीताके अन्तमें **'करिष्ये वचनं तव'** (१८।७३) कहकर अर्जुनने स्वयं भगवान्‌के हाथका यन्त्र बननेकी प्रतिज्ञा की है और महाभारतके अनुशीलनसे इस बातका पर्याप्त प्रमाण भी मिलता है कि इन्होंने अन्ततक इस प्रतिज्ञाका भलीभाँति निर्वाह किया। गीतासे ही इस बातका भी प्रमाण मिलता है कि ये भगवान्‌को अपना सखा मानते थे और उनके साथ बराबरीका नाता भी रखते थे। श्रीकृष्ण और अर्जुन अनेकों बार भिन्न-भिन्न अवसरोंपर एवं भिन्न-भिन्न स्थानोंमें महीनों साथ रहे थे और ऐसे अवसरोंपर स्वाभाविक ही उनका उठना-बैठना, खाना-पीना, घूमना-फिरना, सोना-लेटना साथ ही होता था और ऐसी स्थितिमें इनमें परस्पर किसी प्रकारका संकोच नहीं रह गया था। दोनोंका एक-दूसरेकेसाथ खुला व्यवहार था, अभिन्नहृदयता थी। दोनोंका एक-दूसरेके अन्त:पुरमें भी नि:संकोच आना-जाना, उठना-बैठना होता था; एक-दूसरेसे किसी प्रकारका पर्दा नहीं था। इन दोनोंमें कैसा प्रेम था, इसका वर्णन संजयने धृतराष्ट्रको पाण्डवोंका सन्देश कहते समय सुनाया था। युद्धके पूर्व जब संजय कौरवोंका संदेश लेकर उपप्लव्यमें पाण्डवोंके पास गये,

उस समय श्रीकृष्ण और अर्जुनको उन्होंने किस अवस्थामें देखा, इसका वर्णन करते हुए संजय कहते हैं—'महाराज! आपका सन्देश सुनानेके लिये मैं अर्जुनके अन्त:पुरमें गया। उस स्थानमें अभिमन्यु और नकुल-सहदेव भी नहीं जा सकते थे। वहाँ पहुँचनेपर मैंने देखा कि श्रीकृष्ण अपने दोनों चरण अर्जुनकी गोदमें रखे हुए हैं तथा अर्जुनके चरण द्रौपदी और सत्यभामाकी गोदमें हैं' इत्यादि।

× × × ×

जब पाण्डव जुएकी शर्तके अनुसार वनमें चले जाते हैं, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण उनसे मिलनेके लिये आते हैं। उस समय वे अर्जुनके साथ अपनी एकताका उल्लेख करते हुए कहते हैं—'अर्जुन! तुम एकमात्र मेरे हो और मैं एकमात्र तुम्हारा हूँ। जो मेरे हैं, वे तुम्हारे हैं और जो तुम्हारे हैं, वे मेरे हैं। जो तुमसे द्वेष करता है, वह मुझसे द्वेष करता है और जो तुम्हारा प्रेमी है, वह मेरा प्रेमी है। तुम नर हो और मैं नारायण। तुम मुझसे अभिन्न हो और मैं तुमसे। हम दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है, हम दोनों एक हैं।' अर्जुन श्रीकृष्णको कितने प्रिय थे तथा दोनोंमें कैसी एकता थी—इसका प्रमाण महाभारतकी कई घटनाओंसे मिलता है। जब अर्जुन अपने वनवासके समय तीर्थयात्राके प्रसंगसे प्रभासक्षेत्रमें पहुँचते हैं तब भगवान् श्रीकृष्ण इनका समाचार पाते ही इनसे मिलनेके लिये द्वारकासे प्रभासक्षेत्रको जाते हैं और वहाँसे इन्हें रैवतक पर्वतपर ले आकर कई दिन इनके साथ वहीं बिताते हैं। रैवतक पर्वतसे दोनों द्वारका चले आते हैं और द्वारकामें अर्जुन श्रीकृष्णके ही महलोंमें कई दिनोंतक उनके प्रिय अतिथिके रूपमें रहते हैं और रातको दोनों साथ सोते हैं। वहाँ जब श्रीकृष्णको पता चलता है कि अर्जुन उनकी बहिन सुभद्रासे विवाह करना चाहते हैं तो वे इनके बिना पूछे ही इसके लिये अनुमति दे देते हैं और उसे हरकर ले जानेकी युक्ति भी बतला देते हैं। इतना ही नहीं, अपना रथ और हथियार भी इन्हें दे देते हैं एवं सुभद्रा-हरण हो जानेके बाद जब बलरामजी इसका विरोध करते हैं तो वे उन्हें समझा-बुझाकर मना लेते हैं और वहीं द्वारकामें सुभद्राका पाणिग्रहण हो जाता है। यही नहीं, खाण्डवदाहके प्रसंगमें भगवान् श्रीकृष्ण इन्द्रसे यह वरदान माँगते हैं कि 'उनकी अर्जुनके साथ मित्रता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाय।' खाण्डवदाहके प्रसंगमें ही अर्जुन और श्रीकृष्णकी एकताका एक और प्रमाण मिलता है। खाण्डववनके भयंकर अग्निकाण्डमेंसे मय दानव निकल भागनेकी चेष्टा कर रहा था। अग्निदेव उसे जला डालनेके लिये उसके पीछे दौड़ रहे थे। उनकी सहायताके लिये भगवान् श्रीकृष्ण भी अपना चक्र लिये उसे मारनेको प्रस्तुत थे। मय दानवने अपने बचनेका कोई उपाय न देखकर अर्जुनकी शरण ली और अर्जुनने उसे अभयदान दे दिया! अब तो श्रीकृष्णने भी अपना चक्र वापस ले लिया और अग्निदेवने भी उसका पीछा करना छोड़ दिया। मय दानवके प्राण बच गये। मय दानवने इस उपकारके बदलेमें अर्जुनकी कुछ सेवा करनी चाही। अर्जुनने कहा—'तुम श्रीकृष्णकी सेवा कर दो, इसीसे मेरी सेवा हो जायगी।' मय दानव बड़ा निपुण शिल्पी था। श्रीकृष्णने उससे महाराज युधिष्ठिरके लिये एक बड़ा सुन्दर सभाभवन तैयार करवाया। इस प्रकार अर्जुन और श्रीकृष्ण सदा एक-दूसरेका प्रिय करते रहते थे।

जिस प्रकार श्रीकृष्ण अर्जुनको प्यार करते थे, उसी प्रकार अर्जुन भी श्रीकृष्णको अपना परम आत्मीय एवं हितैषी समझते थे। यही कारण था कि इन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी नारायणी सेनाको न लेकर अकेले और शस्त्रहीन श्रीकृष्णको ही सहायकके रूपमें वरण किया। जहाँ भगवान् एवं उनके ऐश्वर्यका मुकाबला होता है, वहाँ सच्चे भक्त ऐश्वर्यको त्यागकर भगवान्‌का ही वरण करते हैं। श्रीकृष्णने भी इनके प्रेमके वशीभूत होकर युद्धमें इनका सारथ्य करना स्वीकार किया। अर्जुन साथ-ही-साथ अपने जीवनरूप रथकी बागडोर भी उन्हींके हाथोंमें सौंपकर सदाके लिये निश्चिन्त हो गये। फिर तो अर्जुनकी विजय और रक्षा—योग और क्षेम—दोनोंकी चिन्ता सर्वसमर्थ श्रीकृष्णके ऊपर ही चली गयी। उनकी तो यह प्रतिज्ञा ही ठहरी कि जो कोई अनन्यभावसे उनका चिन्तन करते हुए अपनी सारी चिन्ताएँ उन्हींपर डाल देते हैं, उनके योगक्षेमका भार वे अपने कन्धोंपर ले लेते हैं। कोई भी अपना भार उनके ऊपर डालकर देख ले।

बस, फिर क्या था! अब तो अर्जुनको जिताने और भीष्म-जैसे दुर्दान्त पराक्रमी वीरोंसे इनकी रक्षा करनेका सारा भार श्रीकृष्णपर आ गया। वैसे विजय तो पाण्डवोंकी पहलेसे ही निश्चित थी; क्योंकि धर्म उनके साथ था। जिस ओर धर्म, उसी ओर श्रीकृष्ण और जिस ओर श्रीकृष्ण, उसी ओर विजय—यह तो सदाका नियम है। फिर तो युद्धके प्रारम्भमें भगवद्‌गीताके उपदेश तथा विश्वरूपदर्शनके द्वारा इनके मोहका विनाश करना, युद्धमें शस्त्र न लेनेकी प्रतिज्ञाकी परवा न कर भीष्मकी प्रचण्ड बाणवर्षाको रोकनेमें असमर्थ अर्जुनकी प्राणरक्षाके लिये एक बार चक्र लेकर तथा दूसरी बार चाबुक लेकर भीष्मके सामने दौड़ना, भगदत्तके छोड़े हुए सर्वसंहारक वैष्णवास्त्रको अपनी छातीपर ले लेना, रथको पैरोंसे दबाकर कर्णके छोड़े हुए सर्पमुख बाणसे अर्जुनकी रक्षा करना तथा

अस्त्रोंसे जले हुए अर्जुनके रथको अपने संकल्पके द्वारा अक्षुण्ण बनाये रखना आदि अनेकों लीलाएँ श्रीकृष्णने अर्जुनके योगक्षेमके निर्वाहके लिये कीं।

× × × ×

भीष्मको पाण्डवोंसे लड़ते-लड़ते नौ दिन हो गये थे। फिर भी उनके पराक्रममें किसी प्रकारकी शिथिलता नहीं आ पायी थी। प्रतिदिन वे पाण्डव-पक्षके हजारों वीरोंका संहार कर रहे थे। उनपर विजय पानेका पाण्डवोंको कोई मार्ग नहीं सूझ रहा था। महाराज युधिष्ठिरने बड़े ही करुणापूर्ण शब्दोंमें सारी परिस्थिति अपनी नौकाके कर्णधार श्रीकृष्णके सामने रखी। श्रीकृष्णने उन्हें सान्त्वना देते हुए जो कुछ कहा, उससे उनका अर्जुनके प्रति असाधारण प्रेम प्रकट होता है। साथ ही अर्जुनके सम्बन्धमें उनकी कैसी ऊँची धारणा थी, इसका भी पता लगता है। श्रीकृष्ण बोले—'धर्मराज! आप बिलकुल चिन्ता न करें। भीष्मके मारे जानेपर ही यदि आपको विजय दिखायी देती हो तो मैं अकेले ही उन्हें मार सकता हूँ। आपके भाई अर्जुन मेरे सखा, सम्बन्धी तथा शिष्य हैं; आवश्यकता हो तो मैं इनके लिये अपने शरीरका मांस भी काटकर दे सकता हूँ और ये भी मेरे लिये प्राण त्याग सकते हैं। अर्जुनने उपप्लव्यमें सबके सामने भीष्मको मारनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसकी मुझे हर तरहसे रक्षा करनी है। जिस कामके लिये अर्जुन मुझे आज्ञा दें, उसे मुझे अवश्य करना चाहिये। अथवा भीष्मको मारना अर्जुनके लिये कौन बड़ी बात है। राजन्! यदि अर्जुन तैयार हो जायँ तो ये असम्भव कार्य भी कर सकते हैं। दैत्य एवं दानवोंके साथ सम्पूर्ण देवता भी युद्ध करने आ जायँ तो अर्जुन उन्हें भी परास्त कर सकते हैं; फिर भीष्मकी तो बात ही क्या है!' सच है, **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं'** समर्थ भगवान् जिसके रक्षक एवं सहायक हों, वह क्या नहीं कर सकता।

× × × ×

पुत्रशोकसे पीड़ित अर्जुन अभिमन्युकी मृत्युका प्रधानकारण जयद्रथको समझकर दूसरे दिन सूर्यास्तसे पहले-पहले जयद्रथको मार डालनेकी प्रतिज्ञा कर बैठते हैं और साथ ही यह भी प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि 'ऐसा न कर सका तो मैं स्वयं जलती हुई आगमें कूद पड़ूँगा।' **'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** (९। २२) इस वचनके अनुसार अर्जुनकी इस प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेका भार भी भगवान् श्रीकृष्णपर आ पड़ा था। अर्जुन तो उनके भरोसे निश्चिन्त थे। इधर कौरवोंकी ओरसे जयद्रथको बचानेकी पूरी चेष्टा हो रही थी। उसी दिन श्रीकृष्ण आधी रातके समय ही जाग पड़े और सारथि दारुकको बुलाकर कहने लगे— 'दारुक! मेरे लिये स्त्री, मित्र अथवा भाई-बन्धु—कोई भी अर्जुनसे बढ़कर प्रिय नहीं है। इस संसारको अर्जुनके बिना मैं एक क्षण भी नहीं देख सकता। ऐसा हो ही नहीं सकता। कल सारी दुनिया इस बातका परिचय पा जायगी कि मैं अर्जुनका मित्र हूँ। जो इनसे द्वेष रखता है, वह मेरा भी द्वेषी है; जो इनके अनुकूल है, वह मेरे भी अनुकूल है। तुम अपनी बुद्धिमें इस बातका निश्चय कर लो कि अर्जुन मेरा आधा शरीर है। मेरा विश्वास है कि अर्जुन कल जिस-जिस वीरको मारनेका प्रयत्न करेंगे, वहाँ-वहाँ अवश्य इनकी विजय होगी।' भला, ऐसे मित्रवत्सल प्रभु जिसके लिये इस प्रकार उद्यत हों, उसकी विजयमें क्या संदेह हो सकता है। दूसरे दिन श्रीकृष्णकी बतायी हुई युक्तिसे जयद्रथको मारकर अर्जुनने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और सारे संसारने देखा कि श्रीकृष्णकी कृपासे अर्जुनका बाल भी बाँका नहीं हुआ।

× × × ×

कर्ण अर्जुनके प्रति प्रारम्भसे ही ईर्ष्या रखता था। दोनों एक-दूसरेके प्राणोंके ग्राहक थे। भीष्मके मरणके बाद भगवान् श्रीकृष्णको अर्जुनके लिये सबसे अधिक भय कर्णसे ही था। उसके पास इन्द्रकी दी हुई एक अमोघ शक्ति थी, जिसे उसने अर्जुनको मारनेके लिये ही रख छोड़ा था। उस शक्तिके बलपर वह अर्जुनको मरा हुआ ही समझता था। उसका प्रयोग एक ही बार हो सकता था। कर्णको उस शक्तिसे हीन करनेके लिये भगवान्ने उसे भीमसेनके पुत्र घटोत्कचसे भिड़ा दिया। घटोत्कचने ऐसा अद्भुत पराक्रम दिखाया कि कर्णके प्राणोंपर भी बन आयी। वह उसके प्रहारोंको नहीं सह सका। उसने बाध्य होकर वह इन्द्रदत्त शक्ति घटोत्कचपर छोड़ दी और उसने घटोत्कचका काम तमाम कर दिया। घटोत्कचके मारे जानेसे पाण्डवोंके शिविरमें शोक छा गया। सबकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी। परन्तु इस घटनासे श्रीकृष्ण बड़े प्रसन्न हुए। वे हर्षसे झूमकर नाचने लगे। उन्होंने अर्जुनको गले लगाकर उनकी पीठ ठोंकी और बारम्बार गर्जना की। अर्जुनने उनके अनवसर इस प्रकार आनन्द मनानेका रहस्य जानना चाहा; क्योंकि ये जानते थे कि भगवान्की कोई भी क्रिया अकारण नहीं होती। इसके उत्तरमें श्रीकृष्णने जो कुछ कहा, उससे उनका अर्जुनके प्रति अगाध प्रेम झलकता है। उन्होंने कहा—'अर्जुन! आज सचमुच मेरे लिये बड़े ही आनन्दका अवसर है। कारण जानना चाहते हो? सुनो। तुम समझते हो कर्णने घटोत्कचको मारा है; पर मैं कहता हूँ कि इन्द्रकी दी हुई शक्तिको निष्फल करके घटोत्कचने ही कर्णको मार डाला है। अब तुम कर्णको मरा हुआ ही समझो। कोई भी मनुष्य ऐसा

नहीं है, जो कर्णके हाथमें शक्ति रहते उसके सामने ठहर सकता।' उन्होंने यह भी बतलाया कि 'मैंने तुम्हारे ही हितके लिये जरासन्ध, शिशुपाल आदिको एक-एक करके मरवा डाला। वे लोग पहले यदि न मारे गये होते, तो इस समय बड़े भयंकर सिद्ध होते। हमलोगोंसे द्वेष रखनेके कारण वे लोग अवश्य ही कौरवोंका पक्ष लेते और दुर्योधनका सहारा पाकर वे समस्त भूमण्डलको जीत लेते। उनके समान देव-द्रोहियोंका नाश करनेके लिये ही मेरा अवतार हुआ है।' इसी प्रसंगपर उन्होंने सात्यकिसे यह भी कहा कि 'कौरवपक्षके सब लोग कर्णको यही सलाह दिया करते थे कि वह अर्जुनके सिवा किसी दूसरेपर शक्तिका प्रयोग न करे, और वह भी इसी विचारमें रहता था; परन्तु मैं ही उसे मोहमें डाल देता था। यही कारण है कि उसने अर्जुनपर शक्तिका प्रहार नहीं किया। सात्यके! अर्जुनके लिये वह शक्ति मृत्युरूप है—यह सोच-सोचकर मुझे रातों नींद नहीं आती थी। आज वह घटोत्कचपर पड़नेसे व्यर्थ हो गयी—यह देखकर मैं ऐसा समझता हूँ कि अर्जुन मौतके मुँहसे छूट गये। मैं अर्जुनकी रक्षा करना जितना आवश्यक समझता हूँ, उतनी अपने माता-पिता, तुम-जैसे भाइयों तथा अपने प्राणोंकी भी रक्षा आवश्यक नहीं समझता। तीनों लोकोंके राज्यकी अपेक्षा भी यदि कोई दुर्लभ वस्तु हो, तो उसे भी मैं अर्जुनके बिना नहीं चाहता। इसीलिये आज अर्जुन मानो मरकर जी उठे हैं, ऐसा समझकर मुझे बड़ा आनन्द हो रहा है। इसीलिये इस रात्रिमें मैंने राक्षस घटोत्कचको ही कर्णसे लड़नेके लिये भेजा था; उसके सिवा दूसरा कोई कर्णको नहीं दबा सकता था।' भगवान्के इन वाक्योंसे स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुन भगवान्को कितने प्रिय थे और उनकी वे कितनी सँभाल रखते थे। जो अपनेको भगवान्के हाथका यन्त्र बना देता है, उसकी भगवान् इसी प्रकार सँभाल रखते हैं और उसका बाल भी बाँका नहीं होने देते। ऐसे भक्तवत्सल प्रभुकी शरणको छोड़कर जो और-और सहारे ढूँढ़ते रहते हैं, उनके समान मूर्ख कौन होगा।

× × × ×

द्रोणाचार्यके वधसे अमर्षित होकर वीर अश्वत्थामाने पाण्डवोंके प्रति आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया। उसके छूटते ही आकाशसे बाणोंकी वर्षा होने लगी और सेनामें चारों ओर आग फैल गयी। अर्जुन अकेले एक अक्षौहिणी सेना लेकर अश्वत्थामाका मुकाबला कर रहे थे। उस अस्त्रके प्रभावसे उनकी सारी सेना इस प्रकार दग्ध हो गयी कि उसका नाम-निशानतक मिट गया; परन्तु श्रीकृष्ण और अर्जुनके शरीरपर आँचतक नहीं आयी। इन दोनों महापुरुषोंको अस्त्रके प्रभावसे मुक्त देखकर अश्वत्थामा चकित और चिन्तित हो गया। अपने हाथका धनुष फेंककर वह रथसे कूद पड़ा और 'धिक्कार है, धिक्कार है' कहता हुआ रणभूमिसे भाग चला। इतनेमें ही उसे व्यासजी दिखायी दिये। उसने उन्हें प्रणाम किया और उस सर्वसंहारी अस्त्रका श्रीकृष्ण और अर्जुनपर कुछ भी प्रभाव न पड़नेका कारण पूछा। तब व्यासजीने उसे बताया कि 'श्रीकृष्ण नारायण ऋषिके अवतार हैं और अर्जुन नरके अवतार हैं। इनका प्रभाव भी नारायणके ही समान है। ये दोनों ऋषि संसारको धर्म-मर्यादामें रखनेके लिये प्रत्येक युगमें अवतार लेते हैं।' व्यासजीकी इन बातोंको सुनकर अश्वत्थामाकी शंका दूर हो गयी और उसकी अर्जुन तथा श्रीकृष्णमें महत्त्व-बुद्धि हो गयी। व्यासजीके इन वचनोंसे भी श्रीकृष्ण और अर्जुनकी एकता सिद्ध होती है।

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके तो कृपापात्र थे ही, भगवान् शंकरकी भी इनपर बड़ी कृपा थी। युद्धमें शत्रु-सेनाका संहार करते समय ये देखते थे कि एक अग्निके समान तेजस्वी महापुरुष इनके आगे-आगे चल रहे हैं। वे ही इनके शत्रुओंका नाश करते थे, किन्तु लोग समझते थे कि यह अर्जुनका कार्य है। वे त्रिशूल धारण किये रहते थे और सूर्यके समान तेजस्वी थे। वेदव्यासजीसे बात होनेपर उन्होंने अर्जुनको बताया कि वे भगवान् शंकर ही थे। जिसपर श्रीकृष्णकी कृपा हो, उसपर और सब लोग भी कृपा करें—इसमें आश्चर्य ही क्या है। ***'जा पर कृपा राम कै होई। तापर कृपा करहिं सब कोई॥'*** अस्तु;

भगवान्के परम भक्त एवं कृपापात्र होनेके साथ-साथ अर्जुनमें और भी अनेक गुण थे। क्यों न हो, सूर्यके साथ सूर्य-रश्मियोंकी तरह भक्तिके साथ-साथ दैवी गुण तो आनुषंगिकरूपसे रहते ही हैं। ये बड़े धीर, वीर, इन्द्रियजयी, दयालु, कोमलस्वभाव एवं सत्यप्रतिज्ञ थे। इनमें दैवी गुण जन्मसे ही मौजूद थे, इस बातको गीतामें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने '**सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि**' कहकर स्वीकार किया है। इनके जन्मके समय आकाशवाणीने इनकी माताको सम्बोधन करके कहा था, 'कुन्ती! यह बालक कार्तवीर्य अर्जुन एवं भगवान् शंकरके समान पराक्रमी तथा इन्द्रके समान अजेय होकर तुम्हारा यश बढ़ायेगा। जैसे विष्णुने अपनी माता अदितिको प्रसन्न किया था, वैसे ही यह तुम्हें प्रसन्न करेगा।' इस आकाशवाणीको केवल कुन्तीने ही नहीं, सब लोगोंने सुना था। इससे ऋषि-मुनि, देवता और समस्त प्राणी बहुत प्रसन्न हुए। आकाशमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं, पुष्पवर्षा होने लगी। इस प्रकार इनके जन्मके समयसे ही इनकी अलौकिकता प्रकट होने

लगी थी। जब ये कुछ बड़े हुए तो इनके भाइयों तथा दुर्योधनादि धृतराष्ट्रकुमारोंके साथ-साथ इनकी शिक्षा-दीक्षाका भार पहले कृपाचार्यको और पीछे द्रोणाचार्यको सौंपा गया। सूतपुत्रके नामसे प्रसिद्ध कर्ण भी इन्हींके साथ शिक्षा पाते थे। द्रोणाचार्यके सभी शिष्योंमें शिक्षा, बाहुबल और उद्योगकी दृष्टिसे तथा समस्त शस्त्रोंके प्रयोग, फुर्ती और सफाईमें अर्जुन ही सबसे बढ़े-चढ़े थे। ये द्रोणाचार्यकी सेवा भी बहुत करते थे। इनकी सेवा, लगन और बुद्धिसे प्रसन्न होकर द्रोणाचार्यने एक दिन इनसे कहा था कि 'बेटा! मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा कि संसारमें तुम्हारे समान और कोई धनुर्धर न हो।' द्रोणाचार्य-जैसे सिद्ध गुरुकी प्रतिज्ञा क्या कभी असत्य हो सकती है? अर्जुन वास्तवमें संसारके अद्वितीय धनुर्धर निकले।

जब पाण्डव एवं कौरव-राजकुमार अस्त्र-विद्याका अभ्यास पूरा कर चुके और गुरुदक्षिणा देनेका अवसर आया, उस समय गुरु द्रोणाचार्यने अपने शिष्योंसे कहा—'तुमलोग पांचालराज द्रुपदको युद्धमें पकड़कर ला दो, यही मेरे लिये सबसे बड़ी गुरुदक्षिणा होगी'। सबने प्रसन्नतासे गुरुदेवकी आज्ञा स्वीकार की और उनके साथ अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित हो रथपर सवार होकर द्रुपद नगरपर चढ़ाई कर दी। वहाँ पहुँचनेपर पांचालराजने अपने भाइयोंके साथ इनका मुकाबला किया। पहले अकेले कौरवोंने ही इनपर धावा किया था। परन्तु उन्हें पांचालराजसे हारकर लौटना पड़ा। अन्तमें अर्जुनने भीम और नकुल-सहदेवको साथ लेकर द्रुपदपर आक्रमण किया। बात-की-बातमें अर्जुनने द्रुपदको धर दबाया और उन्हें पकड़कर द्रोणाचार्यके सामने खड़ा कर दिया। इस प्रकार अर्जुनके पराक्रमकी सर्वत्र धाक जम गयी।

× × × ×

पाण्डव द्रौपदीके स्वयंवरका समाचार पाकर एकचक्रा नगरीसे द्रुपद-नगरकी ओर जा रहे थे। रास्तेमें उनकी गन्धर्वोंसे मुठभेड़ हो गयी। अर्जुनने अपने अस्त्रकौशलसे गन्धर्वोंके छक्के छुड़ा दिये और उनके राजा अंगारपर्ण (चित्ररथ) को पकड़ लिया। अन्तमें दोनोंमें मित्रता हो गयी। द्रौपदीके स्वयंवरमें अर्जुनने वह काम करके दिखला दिया, जिसे उपस्थित राजाओंमेंसे कोई भी नहीं कर सका था। दुर्योधन, शाल्व, शिशुपाल, जरासंध एवं शल्य आदि अनेकों महाबली राजाओं तथा राजकुमारोंने वहाँपर रखे हुए धनुषको उठाकर चढ़ानेकी चेष्टा की, परन्तु सभी असफल रहे। अर्जुनने बात-की-बातमें उसे उठाकर उसपर रौंदा चढ़ा दिया और लोगोंके देखते-देखते लक्ष्यको भी वेध दिया। उस समय अर्जुन ब्राह्मणके वेषमें अपनेको छिपाये हुए थे। अतः उन्हें ब्राह्मण समझकर समस्त राजाओंने मिलकर उनका पराभव करना चाहा। परन्तु वे अर्जुन और भीमका कुछ भी न कर सके! उस समय अर्जुन और कर्णका बाणयुद्ध और भीम एवं शल्यका गदायुद्ध हुआ। परन्तु अर्जुन और भीमके सामने उनके दोनों ही प्रतिद्वन्द्वियोंको नीचा देखना पड़ा।

खाण्डवदाहके समय भी अर्जुनने अद्‌भुत पराक्रम दिखलाया था। जब अग्निदेवताने श्रीकृष्ण और अर्जुनकी सहायतासे खाण्डव-वनको जलाना प्रारम्भ किया, उस समय उसकी गर्मीसे सारे देवता त्रस्त हो देवराज इन्द्रके पास गये। तब इन्द्रकी आज्ञासे दल-के-दल मेघ उस प्रचण्ड अग्निको शान्त करनेके लिये जलकी मोटी-मोटी धाराएँ बरसाने लगे। अर्जुनने अपने अस्त्रबलसे बाणोंके द्वारा जलकी धाराओंको आकाशमें ही रोक दिया और पृथ्वीपर नहीं गिरने दिया। इन्द्रने भी अपने तीक्ष्ण अस्त्रोंकी वर्षासे अर्जुनको उत्तर दिया। दोनों ओरसे घमासान युद्ध छिड़ गया। श्रीकृष्ण और अर्जुनने मिलकर अपने चक्र और तीखे बाणोंके द्वारा देवताओंकी सारी सेनाको तहस-नहस कर डाला। भगवान् श्रीकृष्णने उस समय अपना कालरूप प्रकट कर दिया था। देवता और दानव सभी उनके पौरुषको देखकर दंग रह गये। अन्तमें इन्द्रको सम्बोधन करके यह आकाशवाणी हुई कि 'तुम अर्जुन और श्रीकृष्णको युद्धमें किसी प्रकार भी नहीं जीत सकोगे। ये साक्षात् नर-नारायण हैं। इनकी शक्ति और पराक्रम असीम है। ये सबके लिये अजेय हैं। तुम देवताओंको लेकर यहाँसे चले जाओ, इसीमें तुम्हारी शोभा है।' आकाशवाणी सुनकर देवराज अपनी सेनाके साथ लौट पड़े और अग्निने देखते-देखते उस विशाल वनको भस्म कर दिया। अर्जुनकी सेवासे प्रसन्न होकर अग्निने उन्हें दिव्य अस्त्र दिये। इन्द्रने भी उनके अस्त्रकौशलसे प्रसन्न होकर उन्हें समय आनेपर अस्त्र देनेकी प्रतिज्ञा की तथा अग्निकी प्रार्थनापर वरुणदेवने उन्हें अक्षय तरकस, गाण्डीव धनुष और वानर-चिह्नयुक्त ध्वजासे मण्डित रथ युद्धसे पहले ही दे दिया था।

जब पाण्डवलोग दूसरी बार जुएमें हारकर वनमें रहने लगे, उस समय एक दिन महर्षि वेदव्यासजी उनके पास आये और युधिष्ठिरको एकान्तमें ले जाकर उन्होंने समझाया कि 'अर्जुन नारायणका सहचर महातपस्वी नर है। इसे कोई जीत नहीं सकता, यह अच्युतस्वरूप है। यह तपस्या एवं पराक्रमके द्वारा देवताओंके दर्शनकी योग्यता रखता है। इसलिये तुम इसको अस्त्रविद्या प्राप्त करनेके लिये भगवान् शंकर, देवराज इन्द्र, वरुण, कुबेर और धर्मराजके पास भेजो। यह उनसे अस्त्र प्राप्त करके बड़ा पराक्रम करेगा

और तुम्हारा खोया हुआ राज्य वापस ला देगा।' युधिष्ठिरने वेदव्यासजीकी आज्ञा मानकर अर्जुनको उन्हीं महर्षिकी दी हुई मन्त्रविद्या सिखाकर इन्द्रके दर्शनके लिये इन्द्रकील पर्वतपर भेज दिया। वहाँ पहुँचनेपर एक तपस्वीके रूपमें इन्हें इन्द्रके दर्शन हुए। इन्द्रने इन्हें स्वर्गके भोगों एवं ऐश्वर्यका प्रलोभन दिया, परंतु इन्होंने सब कुछ छोड़कर उनसे अस्त्रविद्या सीखनेका ही आग्रह किया। इन्द्रने कहा—'पहले तुम तपद्वारा भगवान् शंकरके दर्शन प्राप्त करो, उनके दर्शनसे सिद्ध होकर तुम स्वर्गमें आना, तब मैं तुम्हें सारे दिव्य अस्त्र दे दूँगा।' अर्जुन मनस्वी तो थे ही। वे तुरंत ही कठोर तपस्यामें लग गये। इनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान् शंकर एक भीलके रूपमें इनके सामने प्रकट हुए। एक जंगली सूअरको लेकर दोनोंमें विवाद खड़ा हो गया और फिर दोनोंमें युद्ध छिड़ गया। अर्जुनने अपने अस्त्रकौशलसे भगवान् शंकरको प्रसन्न कर लिया। वे बोले—'अर्जुन! तुम्हारे अनुपम कर्मसे मैं प्रसन्न हूँ। तुम्हारे-जैसा धीर-वीर क्षत्रिय दूसरा नहीं है। तुम तेज और बलमें मेरे ही समान हो। तुम सनातन ऋषि हो। तुम्हें मैं दिव्य ज्ञान देता हूँ, तुम देवताओंको भी जीत सकोगे।' इसके बाद भगवान् शंकरने अर्जुनको देवी पार्वतीके सहित अपने असली रूपमें दर्शन देकर विधिपूर्वक पाशुपतास्त्रकी शिक्षा दी। इस प्रकार देवाधिदेव महादेवकी कृपा प्राप्त कर ये स्वर्ग जानेकी बात सोच रहे थे कि इतनेमें ही वरुण, कुबेर, यम एवं देवराज—ये चारों लोकपाल वहाँ आकर उपस्थित हुए। यम, वरुण और कुबेरने क्रमशः इन्हें दण्ड, पाश एवं अन्तर्धान नामक अस्त्र दिये और इन्द्र इन्हें स्वर्गमें आनेपर अस्त्र देनेको कह गये। इसके बाद इन्द्रके भेजे हुए रथपर बैठकर अर्जुन स्वर्गलोकमें गये और वहाँ पाँच वर्ष रहकर इन्होंने अस्त्रज्ञान प्राप्त किया और साथ-ही-साथ चित्रसेन गन्धर्वसे गान्धर्वविद्या सीखी। इन्द्रसे अस्त्रविद्या सीखकर जब अर्जुन सब प्रकारके अस्त्रोंके चलानेमें निपुण हो गये, तब देवराजने इनसे निवातकवच नामक दानवोंका वध करनेके लिये कहा। वे समुद्रके भीतर एक दुर्गम स्थानमें रहते थे। उनकी संख्या तीन करोड़ बतायी जाती थी। उन्हें देवता भी नहीं जीत सकते थे। अर्जुनने अकेले ही जाकर उन सबका संहार कर डाला। इतना ही नहीं, निवातकवचोंको मारकर लौटते समय इनका कालिकेय एवं पौलोम नामक दैत्योंसे युद्ध हुआ और उनका भी अर्जुनने सफाया कर डाला। इस प्रकार इन्द्रका प्रिय कार्य करके तथा इन्द्रपुरीमें कुछ दिन और रहकर अर्जुन वापस अपने भाइयोंके पास चले आये।

स्वर्गसे लौटकर वनमें तथा एक वर्ष अज्ञातरूपसे विराटनगरमें रहते हुए भी अर्जुनने अद्भुत पराक्रम दिखाया। वनमें इन्होंने दुर्योधनादिको छुड़ानेके लिये गन्धर्वोंसे युद्ध किया, जिसका उल्लेख युधिष्ठिरके प्रसंगमें किया जा चुका है। इसके बाद जब वनवासके बारह वर्ष पूरे हो गये और पाण्डवलोग एक वर्षके अज्ञातवासकी शर्त पूरी करनेके लिये विराटके यहाँ रहने लगे, उस समय इन लोगोंका पता लगानेके लिये दुर्योधनने विराटनगरपर चढ़ाई की। भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृप, अश्वत्थामा आदि सभी प्रधान-प्रधान वीर उनके साथ थे। ये लोग राजा विराटकी साठ हजार गौओंको घेरकर ले चले। तब विराट-कुमार उत्तर बृहन्नला बने हुए अर्जुनको सारथि बनाकर उन्हें रोकनेके लिये गये। कौरवोंकी विशाल सेनाको देखते ही उत्तरके रोंगटे खड़े हो गये, वह रथसे उतरकर भागने लगा। बृहन्नला (अर्जुन)-ने उसे पकड़कर समझाया और उसे सारथि बनाकर स्वयं युद्ध करने चले। इन्होंने बारी-बारीसे कर्ण, कृप, द्रोण,अश्वत्थामा और दुर्योधनको पराजित किया और भीष्मको भी मूर्च्छित कर दिया। इसके बाद भीष्म, दुर्योधन, कर्ण, दु:शासन, विविंशति, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और कृपाचार्य—ये सभी महारथी एक साथ अर्जुनपर टूट पड़े और उन्होंने इन्हें चारों ओरसे घेर लिया; परंतु अर्जुनने अपने बाणोंकी झड़ीसे सबके छक्के छुड़ा दिये। अन्तमें इन्होंने सम्मोहन नामक अस्त्रको प्रकट किया, जिससे सारे-के-सारे कौरव वीर बेहोश हो गये, उनके हाथोंसे शस्त्र गिर पड़े। उस समय अर्जुन चाहते तो इन सबको आसानीसे मार सकते थे, परंतु ये इन सब बातोंसे ऊपर थे। होशमें आनेपर भीष्मकी सलाहसे कौरवोंने गौओंको छोड़कर लौट जाना ही श्रेयस्कर समझा। अर्जुन विजयघोष करते हुए नगरमें चले आये। इस प्रकार अर्जुनने विराटकी गौओंके साथ-साथ उनकी मान-मर्यादाकी भी रक्षा करके अपने आश्रयदाताका ऋण कई गुने रूपमें चुका दिया। धन्य स्वामिभक्ति!

महाभारत-युद्धके तो अर्जुन एक प्रधान पात्र थे ही। पाण्डवोंकी सेनाके प्रधान सेनानायक यही थे। भगवान् श्रीकृष्णने इन्हींका सारथि बनना स्वीकार किया था तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा आदि अजेय योद्धाओंसे टक्कर लेना इन्हींका काम था। वे लोग सभी इनका लोहा मानते थे। इन्होंने जयद्रथ-वधके दिन जो अद्भुत पराक्रम एवं अस्त्रकौशल दिखलाया, वह तो इन्हींके योग्य था। इनकी भयंकर प्रतिज्ञाको सुनकर उस दिन कौरवोंने जयद्रथको सारी सेनाके पीछे खड़ा किया था। कई अक्षौहिणी सेनाके बीचमेंसे रास्ता काटते हुए अर्जुन बड़ी मुस्तैदी एवं अदम्य उत्साहके साथ अपने लक्ष्यकी ओर बढ़े

चले जा रहे थे। शत्रु-सेनाके हजारों वीर और हाथी-घोड़े उनके अमोघ बाणोंके शिकार बन चुके थे। ये रथसे एक कोसतकके शत्रुओंका सफाया करते जाते थे। इतनेमें शाम होनेको आ गयी। इनके घोड़े बाणोंके लगनेसे बहुत व्यथित हो गये थे और अधिक परिश्रमके कारण थक भी गये थे। भूख-प्यास उन्हें अलग सता रही थी। अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—'आप घोड़ोंको खोलकर इनके बाण निकाल दीजिये। तबतक मैं कौरवोंकी सारी सेनाको रोके रहूँगा।' ऐसा कहकर अर्जुन रथसे उतर पड़े और बड़ी सावधानीसे धनुष लेकर अविचल भावसे खड़े हो गये। उस समय इन्हें पराजित करनेका अच्छा मौका देखकर शत्रु-सेनाके वीरोंने एक साथ इन्हें घेर लिया और तरह-तरहके बाणों एवं शस्त्रोंसे ढक दिया, किन्तु वीर अर्जुनने उनके अस्त्रोंको अपने अस्त्रोंसे रोककर बदलेमें उन सभीको बाणोंसे आच्छादित कर दिया। इधर श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा कि घोड़े प्याससे व्याकुल हो रहे हैं; किन्तु पासमें कोई जलाशय नहीं है। इसपर अर्जुनने तुरन्त ही अस्त्र-द्वारा पृथ्वीको फोड़कर घोड़ोंके पानी पीनेयोग्य एक सुन्दर सरोवर बना दिया। इतना ही नहीं, उस सरोवरके ऊपर इन्होंने एक बाणोंका घर बना दिया। अर्जुनका यह अभूतपूर्व पराक्रम देखकर सिद्ध, चारण और सैनिकलोग दाँतोंतले अँगुली दबाने और वाह-वाह करने लगे। सबसे बढ़कर आश्चर्यकी बात तो यह हुई कि बड़े-बड़े महारथी भी पैदल अर्जुनको पीछे नहीं हटा सके। इस बीचमें श्रीकृष्णने फुर्तीसे घोड़ोंके बाण निकालकर उन्हें नहलाया, मालिश की, जल पिलाया और घास खिलाकर तथा जमीनपर लिटाकर उन्हें फिरसे रथमें जोत लिया। अर्जुन जब जयद्रथके पास पहुँचे तो इनपर आठ महारथियोंने एक साथ आक्रमण किया और दुर्योधनने अपने बहनोईकी रक्षाके उद्देश्यसे इन्हें चारों ओरसे घेर लिया; परन्तु अर्जुन उन सबका मुकाबला करते हुए आगे बढ़ते ही गये। इनके वेगको कोई रोक नहीं सका। इन्होंने श्रीकृष्णकी कृपासे सूर्यास्त होते-होते जयद्रथको अपने वज्रतुल्य बाणोंका शिकार बना लिया और श्रीकृष्णके कथनानुसार इस कौशलसे उसके मस्तकको काटा कि उसका सिर कुरुक्षेत्रसे बाहर जाकर उसके पिताकी गोदमें गिरा। इस प्रकार श्रीकृष्णकी सहायतासे सूर्यास्तसे पहले-पहल अर्जुनने जयद्रथको मारकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

× × × ×

अर्जुन जगद्विजयी वीर और अद्वितीय धनुर्धर तो थे ही; वे बड़े भारी सत्यप्रतिज्ञ, सदाचारी, धर्मात्मा एवं इन्द्रियजयी भी थे। पाण्डव जब इन्द्रप्रस्थमें राज्य करते थे, उन दिनों एक दिन लुटेरे किसी ब्राह्मणकी गौएँ लेकर भाग गये। ब्राह्मणने आकर पाण्डवके सामने पुकार की। अर्जुनने ब्राह्मणकी करुण पुकार सुनी और उन्हें गौओंको छुड़ाकर लानेका वचन दिया। परन्तु इनके शस्त्र उस घरमें थे जहाँ इनके बड़े भाई महाराज युधिष्ठिर द्रौपदीके साथ एकान्तमें बैठे हुए थे। पाँचों भाइयोंमें पहलेसे ही यह शर्त हो चुकी थी कि जिस समय द्रौपदी एक भाईके पास एकान्तमें रहे, उस समय दूसरा कोई भाई, यदि उनके कमरेमें चला जाय तो वह बारह वर्षतक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करता हुआ वनमें रहे। अर्जुन बड़े असमंजसमें पड़ गये। यदि ब्राह्मणकी गौओंकी रक्षा नहीं की जाती तो क्षत्रिय-धर्मसे च्युत होते हैं और उसके लिये शस्त्र लेने कमरेमें जाते हैं तो नियमभंग होता है। अन्तमें अर्जुनने नियमभंग करके भी ब्राह्मणकी गौओंकी रक्षा करनेका ही निश्चय किया। इन्होंने सोचा—'नियमभंगके कारण मुझे कितना भी कठिन प्रायश्चित्त क्यों न करना पड़े, चाहे प्राण ही क्यों न चले जायँ, ब्राह्मणके गोधनकी रक्षा करके अपराधियोंको दण्ड देना मेरा धर्म है और वह मेरे जीवनकी रक्षासे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।' धन्य धर्मप्रेम!

अर्जुन चुपचाप युधिष्ठिरके कमरेमें जाकर शस्त्र ले आये और उसी समय लुटेरोंका पीछा करके ब्राह्मणकी गौएँ छुड़ा लाये। वहाँसे लौटकर इन्होंने अपने बड़े भाईसे नियमभंगके प्रायश्चित्तरूपमें वन जानेकी आज्ञा माँगी। युधिष्ठिरने इन्हें समझाया कि 'बड़ा भाई अपनी स्त्रीके पास बैठा हो, उस समय छोटे भाईका उसके पास चला जाना अपराध नहीं है। यदि कोई अपराध हुआ भी हो तो वह मेरे प्रति हुआ है और मैं उसे स्वेच्छासे क्षमा करता हूँ। फिर तुमने धर्मपालनके लिये ही तो नियमभंग किया है, इसलिये भी तुम्हें वन जानेकी आवश्यकता नहीं है।' अर्जुनके लिये नियमभंगके प्रायश्चित्तसे बचनेका यह अच्छा मौका था। और कोई होता तो इस मौकेको हाथसे नहीं जाने देता। आजकल तो कानूनके फंदेसे बचनेके लिये कानूनका ही आश्रय लेना बिलकुल न्यायसंगत समझा जाता है। परंतु अर्जुन बहाना लेकर दण्डसे बचना नहीं जानते थे। इन्होंने युधिष्ठिरके समझानेपर भी सत्यकी रक्षाके लिये नियमका पालन आवश्यक समझा और वनवासकी दीक्षा लेकर वहाँसे चल पड़े। धन्य सत्यप्रतिज्ञता और नियम-पालनकी तत्परता!

× × × ×

जिस समय अर्जुन इन्द्रपुरीमें रहकर अस्त्रविद्या तथा गान्धर्वविद्या सीख रहे थे, एक दिन इन्द्रने रात्रिके समय इनकी सेवाके लिये वहाँकी सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशीको

इनके पास भेजा। उस दिन सभामें इन्द्रने अर्जुनको उर्वशीकी ओर निर्निमेष नेत्रोंसे देखते हुए पाया था। उर्वशी अर्जुनके रूप और गुणोंपर पहलेसे ही मुग्ध थी। वह इन्द्रकी आज्ञासे खूब सज-धजकर अर्जुनके पास गयी। अर्जुन उर्वशीको रात्रिमें अकेले इस प्रकार निःसंकोचभावसे अपने पास आयी देख सहम गये। इन्होंने शीलवश अपने नेत्र बन्द कर लिये और उर्वशीको माताकी भाँति प्रणाम किया। उर्वशी यह देखकर दंग रह गयी। उसे अर्जुनसे इस प्रकारके व्यवहारकी आशा नहीं थी। उसने खुल्लमखुल्ला अर्जुनके प्रति कामभाव प्रकट किया। अब तो अर्जुन मारे संकोचके धरतीमें गड़-से गये। इन्होंने अपने हाथोंसे दोनों कान मूँद लिये और बोले—'माता! यह क्या कह रही हो? देवि! निस्सन्देह तुम मेरी गुरुपत्नीके समान हो। देवसभामें मैंने तुम्हें निर्निमेष नेत्रोंसे देखा अवश्य था, परन्तु मेरे मनमें कोई बुरा भाव नहीं था। मैं यही सोच रहा था कि पुरुवंशकी यही माता हैं। इसीसे मैं तुमको देख रहा था। देवि! मेरे सम्बन्धमें और कोई बात तुम्हें सोचनी ही नहीं चाहिये। हे निष्पापा! तुम मेरे लिये बड़ोंकी बड़ी और मेरे पूर्वजोंकी जननी हो। जैसे कुन्ती, माद्री और इन्द्रपत्नी शची मेरी माताएँ हैं, वैसे ही तुम भी पुरुवंशकी जननी होनेके नाते मेरी पूजनीया माता हो। हे सुन्दर वर्णवाली देवि! मैं तुम्हारे चरणोंमें सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ, तुम मेरे लिये माताके समान पूज्या हो, और मैं तुम्हारे द्वारा पुत्रवत् रक्षा करने योग्य हूँ*।' अब तो उर्वशी क्रोधके मारे आगबबूला हो गयी। उसने अर्जुनको शाप दिया—'मैं इन्द्रकी आज्ञासे कामातुर होकर तुम्हारे पास आयी थी, परन्तु तुमने मेरे प्रेमको ठुकरा दिया। इसलिये जाओ, तुम्हें स्त्रियोंके बीचमें नचनियाँ होकर रहना पड़ेगा और लोग तुम्हें हिजड़ा कहकर पुकारेंगे।' अर्जुनने उर्वशीके शापको सहर्ष स्वीकार कर लिया, परन्तु धर्मका त्याग नहीं किया। एकान्तमें स्वेच्छासे आयी हुई उर्वशी-जैसी अनुपम सुन्दरीका परित्याग करना अर्जुनका ही काम था। धन्य इन्द्रियजय! जब इन्द्रको यह बात मालूम हुई तो उन्होंने अर्जुनको बुलाकर इनकी पीठ ठोंकी और कहा—'बेटा ! तुम्हारे-जैसा पुत्र पाकर तुम्हारी माता धन्य हुई। तुमने अपने धैर्यसे ऋषियोंको भी जीत लिया। अब तुम किसी प्रकारकी चिन्ता न करो। उर्वशीने जो शाप तुम्हें दिया है, वह तुम्हारे लिये वरदानका काम करेगा। तेरहवें वर्षमें जब तुम अज्ञातवास करोगे, उस समय यह शाप तुम्हारे छिपनेमें सहायक होगा। इसके बाद तुम्हें पुरुषत्वकी प्राप्ति हो जायगी।' सच है—'**धर्मो रक्षति रक्षितः।**'

× × × ×

विराट नगरमें अज्ञातवासकी अवधि पूरी हो जानेपर जब पाण्डवोंने अपनेको राजा विराटके सामने प्रकट किया, उस समय राजा विराटने कृतज्ञतावश अपनी कन्या उत्तराकुमारीका अर्जुनसे विवाह करना चाहा। परन्तु अर्जुनने उनके इस प्रस्तावको स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा—'राजन्! मैं बहुत कालतक आपके रनिवासमें रहा हूँ और आपकी कन्याको एकान्तमें तथा सबके सामने भी पुत्रीके रूपमें ही देखता आया हूँ। उसने भी मुझपर पिताकी भाँति ही विश्वास किया है। मैं उसके सामने नाचता था और संगीतका जानकार भी हूँ। इसलिये वह मुझसे प्रेम तो बहुत करती है, परन्तु सदा मुझे गुरु ही मानती आयी है। वह वयस्का हो गयी है और उसके साथ एक वर्षतक मुझे रहना पड़ा है। अतः आपको या किसी औरको हम दोनोंके प्रति अनुचित सन्देह न हो, इसलिये उसे मैं अपनी पुत्रवधूके रूपमें ही वरण करता हूँ। ऐसा करनेसे ही हम दोनोंका चरित्र शुद्ध समझा जायगा।' अर्जुनके इस पवित्र भावकी सब लोगोंने प्रशंसा की और उत्तरा अभिमन्युको ब्याह दी गयी। अर्जुन-जैसे महान् इन्द्रियजयी ही इस प्रकार युवती कन्याके साथ एक वर्षतक घनिष्ठ सम्पर्कमें रहकर भी अपनेको अछूता रख सके और उसका भाव भी इनके प्रति बिगड़ा नहीं। वयस्क छात्रों तथा छात्राओंके शिक्षकोंको इससे शिक्षा लेनी चाहिये।

× × × ×

जब अश्वत्थामा रात्रिमें सोये हुए पाण्डवोंके पुत्रों तथा धृष्टद्युम्न आदिको मारकर स्वयं गंगातटपर जा बैठा, तब पीछेसे उसके क्रूर कर्मका संवाद पाकर भीमसेन और अर्जुन उससे बदला लेनेके लिये उसकी तलाशमें गये। भीम और अर्जुनको आते देख अश्वत्थामा बहुत डर गया और इनके हाथोंसे बचनेका और कोई उपाय न देख उसने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। देखते-देखते वहाँ प्रलयकालकी-सी अग्नि उत्पन्न हो गयी और वह चारों ओर फैलने लगी। उसे शान्त करनेके लिये अर्जुनने भी ब्रह्मास्त्रको प्रकट किया, क्योंकि ब्रह्मास्त्रको ब्रह्मास्त्रके द्वारा ही शान्त किया जा सकता था। दोनों अस्त्रोंके आपसमें टकरानेसे बड़ी भारी गर्जना होने लगी, हजारों उल्काएँ गिरने लगीं

* यथा कुन्ती च माद्री च शची चैव ममानघे। तथा च वंशजननी त्वं हि मेऽद्य गरीयसी॥
गच्छ मूर्ध्ना प्रपन्नोऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि। त्वं हि मे मातृवत् पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत्त्वया॥
(महा० वन० ४६। ४६-४७)

और सभी प्राणियोंको बड़ा भय मालूम होने लगा। यह भयंकर काण्ड देखकर देवर्षि नारद और महर्षि व्यास दोनों वहाँ एक साथ पधारे और दोनों वीरोंको शान्त करने लगे। इन दोनों महापुरुषोंके कहनेसे अर्जुनने तो तुरन्त अपना दिव्य अस्त्र लौटा लिया। उन्होंने उसे छोड़ा ही था अश्वत्थामाके अस्त्रको शान्त करनेके लिये। उस अस्त्रका ऐसा प्रभाव था कि उसे एक बार छोड़ देनेपर सहसा उसे लौटाना अत्यन्त कठिन था। केवल ब्रह्मचारी ही उसे लौटा सकता था। अश्वत्थामाने भी उन दोनों महापुरुषोंको देखकर उसे लौटानेका बहुत प्रयत्न किया, पर वह संयमी न होनेके कारण उसे लौटा न सका। अन्तमें व्यासजीके कहनेसे उसने उस अस्त्रको उत्तराके गर्भपर छोड़ दिया और वह बालक मरा हुआ निकला; किन्तु भगवान् श्रीकृष्णने उसे फिरसे जिला दिया। इस प्रकार अर्जुनमें शूरवीरता, अस्त्रज्ञान और इन्द्रियजय—इन तीनों गुणोंका अद्भुत सम्मिश्रण था।

अर्जुनका जीवन एक दिव्य जीवन था। इनके चरित्रपर हम जितना ही विचार करते हैं, उतना ही हमें वह आदर्श एवं सत् शिक्षाओंसे पूर्ण प्रतीत होता है।

कुन्तीदेवी

कुन्तीदेवी एक आदर्श महिला थीं। ये महात्मा पाण्डवोंकी माता एवं भगवान् श्रीकृष्णकी बुआ थीं। ये वसुदेवजीकी सगी बहिन थीं तथा राजा कुन्तिभोजको गोद दी गयी थीं। जन्मसे इन्हें लोग पृथाके नामसे पुकारते थे, परन्तु राजा कुन्तिभोजके यहाँ इनका लालन-पालन होनेसे ये कुन्तीके नामसे विख्यात हुईं। ये बालकपनसे ही बड़ी सुशीला, सदाचारिणी, संयमशीला एवं भक्तिमती थीं। राजा कुन्तिभोजके यहाँ एक बार एक बड़े तेजस्वी ब्राह्मण अतिथिरूपमें आये। उनकी सेवाका कार्य बालिका कुन्तीको सौंपा गया। इसकी ब्राह्मणोंमें बड़ी भक्ति थी और अतिथि-सेवामें बड़ी रुचि थी। राजपुत्री पृथा आलस्य और अभिमानको त्यागकर ब्राह्मणदेवताकी सेवामें तन-मनसे संलग्न हो गयीं। इसने शुद्ध मनसे सेवा करके ब्राह्मणदेवताको पूर्णतया प्रसन्न कर लिया। ब्राह्मणदेवताका व्यवहार बड़ा अटपटा था। कभी वे अनियत समयपर आते, कभी आते ही नहीं और कभी ऐसी चीज खानेको माँगते, जिसका मिलना अत्यन्त कठिन होता; किन्तु पृथा उनके सारे काम इस प्रकार कर देती, मानो उसने उनके लिये पहलेसे ही तैयारी कर रखी हो। इसके शील-स्वभाव एवं संयमसे ब्राह्मणको बड़ा सन्तोष हुआ। कुन्तीकी यह बचपनकी ब्राह्मण-सेवा इनके लिये बड़ी कल्याणप्रद सिद्ध हुई और इसीसे इनके जीवनमें संयम, सदाचार, त्याग एंव सेवाभावकी नींव पड़ी। आगे जाकर इन गुणोंका इनके अन्दर अद्भुत विकास हुआ।

कुन्तीके अन्दर निष्कामभावका विकास भी बचपनसे ही हो गया था। इन्हें बड़ी तत्परता एवं लगनके साथ महात्मा ब्राह्मणकी सेवा करते पूरा एक वर्ष हो गया। इनके सेवामन्त्रका अनुष्ठान पूरा हुआ। इनकी सेवामें ढूँढ़नेपर भी ब्राह्मणको कोई त्रुटि नहीं दिखायी दी। तब तो वे इनपर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'बेटी! मैं तेरी सेवासे बहुत प्रसन्न हूँ। मुझसे कोई वर माँग ले।' कुन्तीने ब्राह्मणदेवताको बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया। श्रीकृष्णकी बुआ और पाण्डवोंकी भावी माताका वह उत्तर सर्वथा अनुरूप था। कुन्तीने कहा—'भगवन्! आप और पिताजी मुझपर प्रसन्न हैं, मेरे सब कार्य तो इसीसे सफल हो गये। अब मुझे वरोंकी कोई आवश्यकता नहीं है।' एक अल्पवयस्का बालिकाके अन्दर विलक्षण सेवाभावके साथ-साथ ऐसी निष्कामताका संयोग मणि-कांचन-संयोगके समान था। हमारे देशकी बालिकाओंको कुन्तीके इस आदर्श निष्काम सेवाभावसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। अतिथि-सेवा हमारे सामाजिक जीवनका प्राण रही है और उसकी शिक्षा भारतवासियोंको बचपनसे ही मिल जाया करती थी। सच्ची एवं सात्त्विक सेवा वही है, जो प्रसन्नतापूर्वक की जाय—जिसमें भार अथवा उकताहट न प्रतीत हो, और जिसके बदलेमें कुछ न चाहा जाय। आजकलकी सेवामें प्रायः इन दोनों बातोंका अभाव देखा जाता है। प्रसन्नतापूर्वक निष्कामभावसे की हुई सेवा कल्याणका परम साधन बन जाती है। अस्तु,

जब कुन्तीने ब्राह्मणसे कोई वर नहीं माँगा, तब उन्होंने इससे देवताओंके आवाहनका मन्त्र ग्रहण करनेके लिये कहा। वे कुछ-न-कुछ कुन्तीको देकर जाना चाहते थे। अबकी बार ब्राह्मणके अपमानके भयसे कुन्ती इनकार न कर सकीं। तब उन्होंने इसे अथर्ववेदके शिरोभागमें आये हुए मन्त्रोंका उपदेश दिया और कहा कि 'इन मन्त्रोंके बलसे तू जिस-जिस देवताका आवाहन करेगी, वही तेरे अधीन हो जायगा।' यों कहकर वे ब्राह्मण वहीं अन्तर्धान हो गये। वे ब्राह्मण और कोई नहीं, उग्रतपा महर्षि दुर्वासा थे। उनके दिये हुए मन्त्रोंके प्रभावसे कुन्ती आगे चलकर धर्म आदि देवताओंसे युधिष्ठिर आदिको पुत्ररूपमें प्राप्त कर सकीं।

कुन्तीका विवाह महाराज पाण्डुसे हुआ था। महाराज पाण्डु बड़े ही धर्मात्मा थे। उनके द्वारा एक बार भूलसे मृगरूपधारी किन्दम मुनिकी हिंसा हो गयी। इस घटनासे उनके मनमें बड़ी ग्लानि और निर्वेद हुआ और उन्होंने सब कुछ त्यागकर वनमें रहनेका निश्चय कर लिया। देवी कुन्ती बड़ी पतिभक्ता थीं। ये भी अपने पतिके साथ इन्द्रियोंको वशमें करके तथा कामजन्य सुखको तिलांजलि देकर वनमें रहनेके लिये तैयार हो गयीं। तबसे इन्होंने जीवनपर्यन्त नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया और संयमपूर्वक रहीं। पतिका स्वर्गवास होनेपर इन्होंने अपने बच्चोंकी रक्षाका भार अपनी छोटी सौत माद्रीको सौंपकर अपने पतिका अनुगमन करनेका विचार किया। परन्तु माद्रीने इसका विरोध किया। उसने कहा—'बहिन! मैं अभी युवती हूँ, अतः मैं ही पतिदेवका अनुगमन करूँगी। तुम मेरे बच्चोंकी सँभाल रखना।' कुन्तीने माद्रीकी बात मान ली और अन्ततक उसके पुत्रोंको अपने पुत्रोंसे बढ़कर समझा। सपत्नी एवं उसके पुत्रोंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, इसकी शिक्षा भी हमारी माता-बहिनोंको कुन्तीके जीवनसे लेनी चाहिये। पतिके जीवनकालमें इन्होंने माद्रीके साथ छोटी बहिनका-सा बर्ताव किया और उसके सती होनेके बाद उसके पुत्रोंके प्रति वही भाव रखा, जो एक साध्वी स्त्रीको रखना चाहिये। सहदेवके प्रति तो इनकी विशेष ममता थी और वह भी इन्हें बहुत अधिक प्यार करता था।

पतिकी मृत्युके बादसे कुन्तीदेवीका जीवन बराबर कष्टमें बीता। परन्तु ये बड़ी ही विचारशीला एवं धैर्यवती थीं। अतः इन्होंने कष्टोंकी कुछ भी परवा नहीं की और अन्ततक धर्मपर आरूढ़ रहीं। दुर्योधनके अत्याचारोंको भी ये चुपचाप सहती रहीं। इनका स्वभाव बड़ा ही कोमल और दयालु था। इन्हें अपने कष्टोंकी कोई परवा नहीं थी, परन्तु ये दूसरोंका कष्ट नहीं देख सकती थीं। लाक्षाभवनसे निकलकर जब ये अपने पुत्रोंके साथ एकचक्रा नगरीमें रहने लगी थीं, उन दिनों वहाँकी प्रजापर एक बड़ा भारी संकट था। उस नगरीके पास ही एक बकासुर नामका राक्षस रहता था। उस राक्षसके लिये नगरवासियोंको प्रतिदिन एक गाड़ी अन्न तथा दो भैंसे पहुँचाने पड़ते थे। जो मनुष्य इन्हें लेकर जाता, उसे भी वह राक्षस खा जाता। वहाँके निवासियोंको बारी-बारीसे यह काम करना पड़ता था। पाण्डवलोग जिस ब्राह्मणके घरमें भिक्षुकोंके रूपमें रहते थे, एक दिन उसके घरसे राक्षसके लिये आदमी भेजनेकी बारी आयी। ब्राह्मण-परिवारमें कोहराम मच गया। कुन्तीको इस बातका पता लगा, तब इनका हृदय दयासे भर आया। उन्होंने सोचा—'हमलोगोंके रहते ब्राह्मण-परिवारको कष्ट भोगना पड़े, यह हमारे लिये बड़ी लज्जाकी बात होगी। फिर हमारे तो ये आश्रयदाता हैं, इनका प्रत्युपकार हमें किसी-न-किसी रूपमें करना ही चाहिये। अवसर आनेपर उपकारीका प्रत्युपकार न करना धर्मसे च्युत होना है। जब इनके घरमें हमलोग रह रहे हैं तो इनका दुःख बँटाना हमारा कर्तव्य हो जाता है।' यों विचारकर कुन्ती ब्राह्मणके घर गयीं। इन्होंने देखा कि ब्राह्मण अपनी पत्नी और पुत्रके साथ बैठे हैं। वे अपनी स्त्रीसे कह रहे हैं कि 'तुम कुलीन, शीलवती और बच्चोंकी माँ हो। मैं राक्षससे अपने जीवनकी रक्षाके लिये तुम्हें उसके पास नहीं भेज सकता।' पतिकी बात सुनकर ब्राह्मणीने कहा—'नहीं, मैं स्वयं उसके पास जाऊँगी। पत्नीके लिये सबसे बढ़कर सनातन कर्तव्य यही है कि वह अपने प्राणोंको निछावर करके पतिकी भलाई करे। स्त्रियोंके लिये यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि वे अपने पतिसे पहले ही परलोकवासिनी हो जायँ। यह भी सम्भव है कि स्त्रीको अवध्य समझकर वह राक्षस मुझे न मारे। पुरुषका वध निर्विवाद है और स्त्रीका सन्देहग्रस्त, इसलिये मुझे ही उसके पास भेजिये।' माँ-बापकी दुःखभरी बात सुनकर कन्या बोली—'आप क्यों रो रहे हैं? देखिये, धर्मके अनुसार आप दोनों मुझे एक-न-एक दिन छोड़ देंगे। इसलिये आज ही मुझे छोड़कर अपनी रक्षा क्यों नहीं कर लेते? लोग सन्तान इसीलिये चाहते हैं कि वह हमें दुःखसे बचाये।' यह सुनकर माँ-बाप दोनों रोने लगे, कन्या भी रोये बिना न रह सकी। सबको रोते देखकर नन्हा-सा ब्राह्मण-बालक कहने लगा—'पिताजी! माताजी! बहिन! मत रोओ।' फिर उसने एक तिनका उठाकर हँसते हुए कहा—'मैं इसीसे राक्षसको मार डालूँगा।' तब सब लोग हँस पड़े। कुन्ती यह सब देख-सुन रही थीं। ये आगे बढ़कर उनसे बोलीं—'महाराज! आपके तो एक पुत्र और एक ही कन्या है। मेरे आपकी दयासे पाँच पुत्र हैं। राक्षसको भोजन पहुँचानेके लिये मैं उनमेंसे किसीको भेज दूँगी, आप घबरायें नहीं।' ब्राह्मणदेवता कुन्तीदेवीके इस प्रस्तावको सुनकर नट गये। उन्होंने कहा—'देवि! आपका इस प्रकार कहना आपके अनुरूप ही है; परन्तु मैं तो अपने लिये अपने अतिथिकी हत्या नहीं करा सकता।' कुन्तीने उन्हें बतलाया कि 'मैं अपने जिस पुत्रको राक्षसके पास भेजूँगी, वह बड़ा बलवान्, मन्त्रसिद्ध और तेजस्वी है; उसका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता।' इसपर ब्राह्मण राजी हो गये। तब कुन्तीने भीमसेनको उस कामके लिये राक्षसके पास भेज दिया। भला, दूसरोंकी प्राण-रक्षाके लिये इस प्रकार अपने हृदयके टुकड़ेका जान-बूझकर कोई माता बलिदान कर सकती है! कहना न होगा

कि कुन्तीके इस आदर्श त्यागके प्रभावसे संसारपर बहुत ही अच्छा असर पड़ा। अतएव सभीको इससे शिक्षा लेनी चाहिये।'

कुन्तीदेवीका सत्यप्रेम भी आदर्श था। ये विनोदमें भी कभी झूठ नहीं बोलती थीं। भूलसे भी इनके मुँहसे जो बात निकल जाती थी, उसका ये जी-जानसे पालन करती थीं। इस प्रकारकी सत्यनिष्ठा इतिहासके पन्ने उलटनेपर भी दूसरी जगह प्रायः देखनेमें नहीं आती। अर्जुन और भीम स्वयंवरमें द्रौपदीको जीतकर जब माताके पास लाये और कहा कि 'माता! आज हम यह भिक्षा लाये हैं, तो इन्होंने उन्हें बिना देखे ही कह दिया कि 'बेटा! पाँचों भाई मिलकर इसका उपयोग करो।' जब इन्हें मालूम हुआ कि ये एक कन्या लाये हैं, तब तो ये बड़े असमंजसमें पड़ गयीं। इन्होंने सोचा—'यदि मैं अपनी बात वापस लेती हूँ तो असत्यका दोष लगता है; और यदि अपने पुत्रोंको उसीके अनुसार चलनेके लिये कहती हूँ तो सनातन मर्यादाका लोप होता है।' पाँच भाइयोंका एक स्त्रीसे विवाह हो—यह पहले कभी नहीं देखा-सुना गया था। ऐसी स्थितिमें कुन्तीदेवी कुछ भी निश्चय न कर सकीं, वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गयीं। अन्तमें उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिरकी सम्मति पूछी और उन्होंने सत्यपर कायम रहनेकी ही सलाह दी। पीछे राजा द्रुपदकी ओरसे आपत्ति होनेपर वेदव्यासजीने द्रौपदीके पूर्वजन्मोंकी कथा कहते हुए उन्हें समझाया कि शंकरजीके वरदानसे ये पाँचों ही द्रुपदकुमारीका पाणिग्रहण करेंगे। इस प्रकार पाँचोंके साथ द्रुपदकुमारी विधिपूर्वक ब्याह दी गयीं। कुन्तीदेवीकी सत्यनिष्ठाकी विजय हुई। उनके मुखसे हठात् ऐसी ही बात निकली, जो होनेवाली थी। सत्यका दृढ़तापूर्वक आश्रय लेनेपर ऐसा होना किसीके लिये भी असम्भव नहीं है। अस्तु,

कुन्तीदेवीका जीवन शुरूसे अन्ततक बड़ा ही त्यागपूर्ण, तपस्यामय और अनासक्त था। पाण्डवोंके वनवास एवं अज्ञातवासके समय ये उनसे अलग हस्तिनापुरमें ही रहीं और वहींसे इन्होंने अपने पुत्रोंके लिये अपने भतीजे भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा क्षत्रियधर्मपर डटे रहनेका सन्देश भेजा। इन्होंने विदुला और संजयका दृष्टान्त देकर बड़े ही मार्मिक शब्दोंमें उन्हें कहला भेजा कि 'पुत्रो! जिस कार्यके लिये क्षत्राणी पुत्र उत्पन्न करती है, उस कार्यके करनेका समय आ गया है।* महाभारतयुद्धके समय भी ये वहीं रहीं और युद्ध-समाप्तिके बाद जब धर्मराज युधिष्ठिर सम्राट्के पदपर अभिषिक्त हुए और इन्हें राजमाता बननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ, उस समय इन्होंने पुत्रवियोगसे दुःखी अपने जेठ-जेठानीकी सेवाका भार अपने ऊपर ले लिया और द्वेष एवं अभिमानरहित होकर उनकी सेवामें अपना समय बिताने लगीं। यहाँतक कि जब वे दोनों युधिष्ठिरसे अनुमति लेकर वन जाने लगे, उस समय ये चुपचाप उनके संग हो लीं और युधिष्ठिर आदिके समझानेपर भी अपने दृढ़ निश्चयसे विचलित नहीं हुईं। जीवनभर दुःख और क्लेश भोगनेके बाद जब सुखके दिन आये, उस समय भी सांसारिक सुख-भोगको ठुकराकर स्वेच्छासे त्याग, तपस्या एवं सेवामय जीवन स्वीकार करना कुन्तीदेवी-जैसी पवित्र आत्माका ही काम था। जिन जेठ-जेठानीसे इन्हें तथा इनके पुत्रों एवं पुत्रवधुओंको कष्ट, अपमान एवं अत्याचारके अतिरिक्त कुछ नहीं मिला, उन जेठ-जेठानीके लिये इतना त्याग संसारमें कहाँ देखनेको मिलता है? हमारी माताओं एवं बहिनोंको कुन्तीदेवीके इस अनुपम त्यागसे शिक्षा लेनी चाहिये।

कुन्तीदेवीको वन जाते समय भीमसेनने समझाया कि 'माता! यदि तुम्हें अन्तमें यही करना था तो फिर व्यर्थ हमलोगोंके द्वारा इतना नर-संहार क्यों करवाया? हमारे वनवासी पिताकी मृत्युके बाद हमें वनसे नगरमें क्यों लायीं?' उस समय कुन्तीदेवीने उन्हें जो उत्तर दिया, वह हृदयमें अंकित करने योग्य है। वे बोलीं—'बेटा! तुमलोग कायर बनकर हाथ-पर-हाथ रखकर न बैठे रहो, क्षत्रियोचित पुरुषार्थको त्यागकर अपमानपूर्ण जीवन न व्यतीत करो, शक्ति रहते अपने न्यायोचित अधिकारसे सदाके लिये हाथ न धो बैठो—इसीलिये मैंने तुमलोगोंको युद्धके लिये उकसाया था, अपने सुखकी इच्छासे ऐसा नहीं किया था। मुझे राज्य-सुख भोगनेकी इच्छा नहीं है। मैं तो अब तपके द्वारा पतिलोकमें जाना चाहती हूँ। इसलिये अपने वनवासी जेठ-जेठानीकी सेवामें रहकर मैं अपना शेष जीवन तपमें ही बिताऊँगी। तुमलोग सुखपूर्वक घर लौट जाओ और धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए अपने परिजनोंको सुख दो।' इस प्रकार अपने पुत्रोंको समझा-बुझाकर कुन्तीदेवी अपने जेठ-जेठानीके साथ वनमें चली गयीं और अन्तसमयतक उनकी सेवामें रहकर इस देवीने उन्हींके साथ दावाग्निमें जलकर योगियोंकी भाँति शरीर छोड़ दिया। कुन्तीदेवी-जैसी आदर्श महिलाएँ संसारके इतिहासमें बहुत कम मिलेंगी।

---

* एतद्धनञ्जयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः। यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः। (महा० उद्योग० १३७। ९, १०)

देवी द्रौपदी

देवी द्रौपदी पांचालनरेश राजा द्रुपदकी अयोनिजा पुत्री थीं। इनकी उत्पत्ति यज्ञवेदीसे हुई थी। इनका रूप-लावण्य अनुपम था। इनके-जैसी सुन्दरी उस समय पृथ्वीभरमें कोई न थी। इनके शरीरसे तुरन्तके खिले कमलकी-सी गन्ध निकलकर एक कोसतक फैल जाती थी। इनके जन्मके समय आकाशवाणीने कहा था—'देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये क्षत्रियोंके संहारके उद्देश्यसे इस रमणीरत्नका जन्म हुआ है। इसके कारण कौरवोंको बड़ा भय होगा।' कृष्णवर्ण होनेके कारण लोग इन्हें कृष्णा कहते थे। पूर्व जन्ममें दिये हुए भगवान् शंकरके वरदानसे इन्हें इस जन्ममें पाँच पति प्राप्त हुए। अकेले अर्जुनके द्वारा स्वयंवरमें जीती जानेपर भी माता कुन्तीकी आज्ञासे इन्हें पाँचों भाइयोंने ब्याहा था।

द्रौपदी उच्च कोटिकी पतिव्रता एवं भगवद्भक्ता थीं। इनकी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अविचल प्रीति थी। ये उन्हें अपना रक्षक, हितैषी एवं परम आत्मीय तो मानती ही थीं; उनकी सर्वव्यापकता एवं सर्वशक्तिमत्तामें भी इनका पूर्ण विश्वास था। जब कौरवोंकी सभामें दुष्ट दु:शासनने इन्हें नंगी करना चाहा और सभासदोंमेंसे किसीकी हिम्मत न हुई कि इस अमानुषी अत्याचारको रोके, उस समय अपनी लाज बचानेका कोई दूसरा उपाय न देख इन्होंने अत्यन्त आतुर होकर भगवान् श्रीकृष्णको पुकारा—

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय॥
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन॥
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन।
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम्॥*

(महा०, सभा० ६८। ४१—४३)

सच्चे हृदयकी करुण पुकार भगवान् बहुत जल्दी सुनते हैं। श्रीकृष्ण उस समय द्वारकामें थे। वहाँसे वे तुरन्त दौड़े आये और धर्मरूपसे द्रौपदीके वस्त्रोंमें छिपकर उनकी लाज बचायी। भगवान्‌की कृपासे द्रौपदीकी साड़ी अनन्तगुना बढ़ गयी! दु:शासन उसे जितना ही खींचता था, उतना ही वह बढ़ती जाती थी। देखते-देखते वहाँ वस्त्रका ढेर लग गया। महाबली दु:शासनकी प्रचण्ड भुजाएँ थक गयीं; परंतु साड़ीका छोर हाथ नहीं आया। उपस्थित सारे समाजने भगवद्भक्ति एवं पातिव्रत्यका अद्भुत चमत्कार देखा। अन्तमें दु:शासन हारकर लज्जित हो बैठ गया। भक्तवत्सल प्रभुने अपने भक्तकी लाज रख ली। धन्य भक्तवत्सलता!

एक दिनकी बात है—जब पाण्डवलोग द्रौपदीके साथ काम्यक वनमें रह रहे थे, दुर्योधनके भेजे हुए महर्षि दुर्वासा अपने दस हजार शिष्योंको साथ लेकर पाण्डवोंके पास आये। दुर्योधनने जान-बूझकर उन्हें ऐसे समयमें भेजा जब कि सब लोग भोजन करके विश्राम कर रहे थे। महाराज युधिष्ठिरने अतिथिसेवाके उद्देश्यसे ही भगवान् सूर्यदेवसे एक ऐसा चमत्कारी बर्तन प्राप्त किया था, जिसमें पकाया हुआ थोड़ा-सा भी भोजन अक्षय हो जाता था। लेकिन उसमें शर्त यही थी कि जबतक द्रौपदी भोजन न करके अन्न परोसती रहे, तभीतक उस बर्तनसे यथेष्ट अन्न प्राप्त हो सकता था। युधिष्ठिरने महर्षिको शिष्य-मण्डलीके सहित भोजनके लिये आमन्त्रित किया और दुर्वासाजी मध्याह्नकालीन स्नान-सन्ध्यादि नित्यकर्मसे निवृत्त होनेके लिये सबके साथ गंगातटपर चले गये।

दुर्वासाजीके साथ दस हजार शिष्योंका एक पूरा-का-पूरा विश्वविद्यालय-सा चला करता था। धर्मराजने उन सबको भोजनका निमन्त्रण तो दे दिया और ऋषिने उसे स्वीकार भी कर लिया; परन्तु किसीने भी इसका विचार नहीं किया कि द्रौपदी भोजन कर चुकी है, इसलिये सूर्यके दिये हुए बर्तनसे तो उन लोगोंके भोजनकी व्यवस्था हो नहीं सकती थी। द्रौपदी बड़ी चिन्तामें पड़ गयीं। उन्होंने सोचा—'ऋषि यदि बिना भोजन किये वापस लौट जाते हैं तो वे बिना शाप दिये नहीं रहेंगे।' उनका क्रोधी स्वभाव जगद्विख्यात था। द्रौपदीको और कोई उपाय नहीं सूझा। तब इन्होंने मन-ही-मन भक्त-भय-भंजन भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण किया और इस आपत्तिसे उबारनेकी उनसे इस प्रकार प्रार्थना की—

कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनन्दनाव्यय॥
वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्तिविनाशन।
विश्वात्मन् विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय॥
प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर।
आकूतीनां च चित्तीनां प्रवर्तक नतास्मि ते॥

---

* 'हे गोविन्द! हे द्वारकावासी! हे सच्चिदानन्दस्वरूप प्रेमघन! हे गोपीजन-वल्लभ! हे सर्वशक्तिमान् प्रभो! कौरव मुझे अपमानित कर रहे हैं। क्या यह बात आपको मालूम नहीं है? हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे आर्तिनाशन जनार्दन! मैं कौरवोंके समुद्रमें डूब रही हूँ। आप मेरा उद्धार कीजिये। हे कृष्ण! आप सच्चिदानन्दस्वरूप महायोगी हैं! आप सर्वस्वरूप एवं सबके जीवनदाता हैं! हे गोविन्द! मैं कौरवोंसे घिरकर बड़े संकटमें पड़ गयी हूँ। आपकी शरणमें हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिये।'

वरेण्य वरदानन्त अगतीनां गतिर्भव।
पुराणपुरुष प्राणमनोवृत्त्याद्यगोचर॥
सर्वाध्यक्ष पराध्यक्ष त्वामहं शरणं गता।
पाहि मां कृपया देव शरणागतवत्सल॥
नीलोत्पलदलश्याम पद्मगर्भारुणेक्षण।
पीताम्बरपरीधान लसत्कौस्तुभभूषण॥
त्वमादिरन्तो भूतानां त्वमेव च परायणम्।
परात्परतरं ज्योतिर्विश्वात्मा सर्वतोमुखः॥
त्वामेवाहुः परं बीजं निधानं सर्वसम्पदाम्।
त्वया नाथेन देवेश सर्वापद्भ्यो भयं न हि॥
दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा।
तथैव संकटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि॥*

(महा०, वन० २६३। ८—१६)

श्रीकृष्ण तो घट-घटकी जाननेवाले हैं। वे तुरन्त वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देखकर द्रौपदीके शरीरमें मानो प्राण आ गये, डूबते हुएको मानो सहारा मिल गया। द्रौपदीने संक्षेपमें उन्हें सारी बात सुना दी। श्रीकृष्णने अधीरता प्रदर्शित करते हुए कहा—'और सब बात पीछे होगी। पहले मुझे जल्दी कुछ खानेको दो। मुझे बड़ी भूख लगी है। तुम जानती नहीं हो मैं कितनी दूरसे हारा-थका आया हूँ।' द्रौपदी लाजके मारे गड़-सी गयीं। इन्होंने रुकते-रुकते कहा—'प्रभो! मैं अभी-अभी खाकर उठी हूँ। अब तो उस बटलोईमें कुछ भी नहीं बचा है।' श्रीकृष्णने कहा—'जरा अपनी बटलोई मुझे दिखाओ तो सही।' कृष्णा बटलोई ले आयीं। श्रीकृष्णने उसे हाथमें लेकर देखा तो उसके गलेमें उन्हें एक सागका पत्ता चिपका हुआ मिला। उन्होंने उसीको मुँहमें डालकर कहा—'इस सागके पत्तेसे सम्पूर्ण जगत्के आत्मा यज्ञभोक्ता परमेश्वर तृप्त हो जायँ।' इसके बाद उन्होंने सहदेवसे कहा—'भैया! अब तुम मुनीश्वरोंको भोजनके लिये बुला लाओ।' सहदेवने गंगातटपर जाकर देखा तो वहाँ उन्हें कोई नहीं मिला। बात यह हुई कि जिस समय श्रीकृष्णने सागका पत्ता मुँहमें डालकर वह संकल्प पढ़ा, उस समय मुनीश्वरलोग जलमें खड़े होकर अघमर्षण कर रहे थे। उन्हें अकस्मात् ऐसा अनुभव होने लगा, मानो उनका पेट गलेतक अन्नसे भर गया हो। वे सब एक-दूसरेके मुँहकी ओर ताकने लगे और कहने लगे कि 'अब हमलोग वहाँ जाकर क्या खायेंगे?' दुर्वासाने चुपचाप भाग जाना ही श्रेयस्कर समझा; क्योंकि वे यह जानते थे कि पाण्डव भगवद्भक्त हैं और अम्बरीषके यहाँ उनपर जो कुछ बीती थी, उसके बादसे उन्हें भगवद्भक्तोंसे बड़ा डर लगने लगा था। बस, सब लोग वहाँसे चुपचाप भाग निकले। सहदेवको वहाँ रहनेवाले तपस्वियोंसे उन सबके भाग जानेका समाचार मिला और उन्होंने लौटकर सारी बात धर्मराजसे कह सुनायी। इस प्रकार द्रौपदीकी श्रीकृष्ण-भक्तिसे पाण्डवोंकी एक भारी बला टल गयी। श्रीकृष्णने आकर इन्हें दुर्वासाके कोपसे बचा लिया और इस प्रकार अपनी शरणागत-वत्सलताका परिचय दिया।

एक बार वनमें भगवान् श्रीकृष्ण देवी सत्यभामाके साथ पाण्डवोंसे मिलने आये। उस समय बातों-ही-बातोंमें सत्यभामाजीने द्रौपदीसे पूछा— 'बहिन! मैं तुमसे एक बात पूछती हूँ। मैं देखती हूँ कि तुम्हारे शूरवीर और बलवान् पति सदा तुम्हारे अधीन रहते हैं; इसका क्या कारण है? क्या तुम कोई जन्तर-मन्तर या औषध जानती हो? अथवा क्या तुमने जप, तप, व्रत, होम या विद्यासे उन्हें वशमें कर रखा है? मुझे भी कोई ऐसा उपाय बताओ, जिससे भगवान् श्यामसुन्दर मेरे वशमें हो जायँ।' देवी द्रौपदीने कहा—'बहिन! तुम्हारा इस प्रकार शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि तुम बुद्धिमती और श्रीकृष्णकी पटरानी हो। जब पतिको यह मालूम हो जाता है कि पत्नी उसे काबूमें करनेके लिये किसी मन्त्र-तन्त्रका प्रयोग कर रही है, तब वह उससे उसी प्रकार दूर रहता है, जिस प्रकार घरमें घुसे हुए साँपसे। अतः मन्त्र-तन्त्रसे कभी भी पति अपनी पत्नीके वशमें नहीं

* 'हे कृष्ण! हे महाबाहु श्रीकृष्ण! हे देवकीनन्दन! हे अविनाशी वासुदेव! चरणोंमें पड़े हुए दुःखियोंका दुःख दूर करनेवाले हे जगदीश्वर! तुम्हीं सम्पूर्ण जगत्के आत्मा हो। इस विश्वको बनाना और बिगाड़ना तुम्हारे ही हाथोंका खेल है। प्रभो! तुम अविनाशी हो; शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले गोपाल! तुम्हीं सम्पूर्ण प्रजाके रक्षक परात्पर परमेश्वर हो; चित्तकी वृत्तियों और भावोंके प्रवर्तक तुम्हीं हो, मैं तुम्हें प्रणाम करती हूँ। सबके वरण करनेयोग्य वरदाता अनन्त! आओ; जिन्हें तुम्हारे सिवा दूसरा कोई सहारा देनेवाला नहीं है, उन असहाय भक्तोंकी सहायता करो। पुराणपुरुष! प्राण और मनकी वृत्तियाँ तुम्हारे पासतक नहीं पहुँच पातीं। सबके साक्षी परमोत्कृष्ट देव! मैं तुम्हारी शरणमें हूँ। शरणागतवत्सल! कृपा करके मुझे बचाओ! नीलकमलदलके समान श्यामसुन्दर! कमल पुष्पके भीतरी भागके समान किंचित् लाल नेत्रोंवाले! कौस्तुभमणिविभूषित एवं पीताम्बर धारण करनेवाले! श्रीकृष्ण! तुम्हीं सम्पूर्ण भूतोंके आदि और अन्त हो, तुम्हीं परम आश्रय हो! तुम्हीं परात्पर, ज्योतिर्मय, सर्वव्यापक एवं सर्वात्मा हो। ज्ञानी पुरुषोंने तुमको ही इस जगत्का परम बीज और सम्पूर्ण सम्पदाओंका अधिष्ठान कहा है। देवेश! जब तुम मेरे रक्षक हो, तो मुझपर सारी विपत्तियाँ टूट पड़ें तो भी भय नहीं है। आजसे पहले सभामें दुःशासनके हाथसे जैसे तुमने मुझे बचाया था, उसी प्रकार इस वर्तमान संकटसे भी मेरा उद्धार करो।'

हो सकता। इसके विपरीत, इससे कई प्रकारके अनर्थ हो जाते हैं। इसलिये स्त्रीको कभी किसी प्रकार अपने पतिका अप्रिय नहीं करना चाहिये।'

इसके बाद इन्होंने बतलाया कि अपने पतियोंको प्रसन्न रखनेके लिये ये किस प्रकारका आचरण करती थीं। द्रौपदीने कहा—'बहिन! मैं अहंकार और काम-क्रोधका परित्यागकर बड़ी सावधानीसे सब पाण्डवोंकी और उनकी स्त्रियोंकी सेवा करती हूँ। मैं ईर्ष्यासे दूर रहती हूँ और मनको काबूमें रखकर केवल सेवाकी इच्छासे ही अपने पतियोंका मन रखती हूँ। मैं कटुभाषणसे दूर रहती हूँ। असभ्यतासे खड़ी नहीं होती, खोटी बातोंपर दृष्टि नहीं डालती, बुरी जगहपर नहीं बैठती, दूषित आचरणके पास नहीं फटकती तथा पतियोंके अभिप्रायपूर्ण संकेतका अनुसरण करती हूँ। देवता, मनुष्य, गन्धर्व, युवा, धनी अथवा रूपवान्—कैसा ही पुरुष क्यों न हो, मेरा मन पाण्डवोंके सिवा और कहीं नहीं जाता। अपने पतियोंके भोजन किये बिना मैं भोजन नहीं करती, स्नान किये बिना स्नान नहीं करती और बैठे बिना स्वयं नहीं बैठती। जब-जब मेरे पति घर आते हैं, तब-तब मैं खड़ी होकर उन्हें आसन और जल देती हूँ। मैं घरके बर्तनोंको माँज-धोकर साफ रखती हूँ, मधुर रसोई तैयार करती हूँ और समयपर भोजन कराती हूँ। सदा सजग रहती हूँ, घरमें अनाजकी रक्षा करती हूँ और घरको झाड़-बुहारकर साफ रखती हूँ। मैं बातचीतमें किसीका तिरस्कार नहीं करती, कुलटा स्त्रियोंके पास नहीं फटकती और सदा ही पतियोंके अनुकूल रहकर आलस्यसे दूर रहती हूँ। मैं दरवाजेपर बार-बार जाकर खड़ी नहीं होती तथा खुली अथवा कूड़ा-करकट डालनेकी जगहपर भी अधिक नहीं ठहरती, किन्तु सदा ही सत्यभाषण और पतिसेवामें तत्पर रहती हूँ। पतिदेवके बिना अकेली रहना मुझे बिलकुल पसन्द नहीं है। जब किसी कौटुम्बिक कार्यसे पतिदेव बाहर चले जाते हैं तो मैं पुष्प और चन्दनादिको छोड़कर नियम और व्रतोंका पालन करते हुए समय बिताती हूँ। मेरे पति जिस चीजको नहीं खाते, नहीं पीते अथवा सेवन नहीं करते, मैं भी उससे दूर रहती हूँ। स्त्रियोंके लिये शास्त्रने जो-जो बातें बतायी हैं, उन सबका मैं पालन करती हूँ। शरीरको यथाप्राप्त वस्त्रालंकारोंसे सुसज्जित रखती हूँ तथा सर्वदा सावधान रहकर पतिदेवका प्रिय करनेमें तत्पर रहती हूँ।'

'सासजीने मुझे कुटुम्ब-सम्बन्धी जो-जो धर्म बताये हैं, उन सबका मैं पालन करती हूँ। भिक्षा देना, पूजन, श्राद्ध, त्योहारोंपर पकवान बनाना, माननीयोंका आदर करना तथा और भी मेरे लिये जो-जो धर्म विहित हैं, उन सभीका मैं सावधानीसे रात-दिन आचरण करती हूँ; मैं विनय और नियमोंको सर्वदा सब प्रकार अपनाये रहती हूँ। मेरे विचारसे तो स्त्रियोंका सनातनधर्म पतिके अधीन रहना ही है, वही उनके इष्टदेव हैं। मैं अपने पतियोंसे बढ़कर कभी नहीं रहती, उनसे अच्छा भोजन नहीं करती, उनसे बढ़िया वस्त्राभूषण नहीं पहनती और न कभी सासजीसे वाद-विवाद करती हूँ, तथा सदा ही संयमका पालन करती हूँ। मैं सदा अपने पतियोंसे पहले उठती हूँ तथा बड़े-बूढ़ोंकी सेवामें लगी रहती हूँ। अपनी सासकी मैं भोजन, वस्त्र और जल आदिसे सदा ही सेवा करती रहती हूँ। वस्त्र, आभूषण और भोजनादिमें मैं कभी उनकी अपेक्षा अपने लिये कोई विशेषता नहीं रखती। पहले महाराज युधिष्ठिरके दस हजार दासियाँ थीं। मुझे उनके नाम, रूप, वस्त्र आदि सबका पता रहता था और इस बातका भी ध्यान रहता था कि किसने क्या काम कर लिया है और क्या नहीं। जिस समय इन्द्रप्रस्थमें रहकर महाराज युधिष्ठिर पृथ्वी-पालन करते थे, उस समय उनके साथ एक लाख घोड़े और उतने ही हाथी चलते थे। उनकी गणना और प्रबन्ध मैं ही करती थी और मैं ही उनकी आवश्यकताएँ सुनती थी। अन्तःपुरके ग्वालों और गड़ेरियोंसे लेकर सभी सेवकोंके काम-काजकी देख-रेख भी मैं ही किया करती थी।'

'महाराजकी जो कुछ आय, व्यय और बचत होती थी, उस सबका विवरण मैं अकेली ही रखती थी। पाण्डवलोग कुटुम्बका सारा भार मेरे ऊपर छोड़कर पूजा-पाठमें लगे रहते थे और आये-गयोंका स्वागत-सत्कार करते थे; और मैं सब प्रकारका सुख छोड़कर उसकी सँभाल करती थी। मेरे पतियोंका जो अटूट खजाना था, उसका पता भी मुझ एकको ही था। मैं भूख-प्यासको सहकर रात-दिन पाण्डवोंकी सेवामें लगी रहती। उस समय रात और दिन मेरे लिये समान हो गये थे। मैं सदा ही सबसे पहले उठती और सबसे पीछे सोती थी। सत्यभामाजी! पतियोंको अनुकूल करनेका मुझे तो यही उपाय मालूम है।' एक आदर्श गृहपत्नीको घरमें किस प्रकार रहना चाहिये—इसकी शिक्षा हमें द्रौपदीके जीवनसे लेनी चाहिये।

× × × ×

देवी द्रौपदीमें क्षत्रियोचित तेज और भक्तोचित क्षमा—दोनोंका अभूतपूर्व सम्मिश्रण था। ये बड़ी बुद्धिमती और विदुषी भी थीं। इनका त्याग भी अद्भुत था। इनके पातिव्रत्यका तो सभी लोग लोहा मानते थे। इन्हें जब दुष्ट दुःशासन बाल खींचते हुए सभामें घसीटकर लाया, उस समय इन्होंने

उसे डाँटते हुए अपने पतियोंके कोपका भय दिखलाया और सारे सभासदोंको धिक्कारते हुए द्रोण, भीष्म और विदुर-जैसे सम्मान्य गुरुजनोंको भी उनके चुप बैठे रहनेपर फटकारा। इन्होंने साहसपूर्वक सभासदोंको ललकारकर उनसे न्यायकी अपील की और उन्हें धर्मकी दुहाई देकर यह पूछा कि 'जब महाराज युधिष्ठिरने अपनेको हारकर पीछे मुझे दाँवपर लगाया है, ऐसी हालतमें उनका मुझे दाँवपर लगानेका अधिकार था या नहीं ?, सब-के-सब सभासद् चुप रहे। किसीसे द्रौपदीके इस प्रश्नका उत्तर देते नहीं बना। अन्तमें दुर्योधनके भाई विकर्णने उठकर सबसे द्रौपदीके प्रश्नका उत्तर देने और मौन भंग करनेके लिये अनुरोध किया और अपनी ओरसे यह सम्मति प्रकट की कि 'प्रथम तो द्रौपदी पाँचों भाईयोंकी स्त्री है, अतः अकेले युधिष्ठिरको इन्हें दाँवपर रखनेका कोई अधिकार नहीं था। दूसरे, इन्होंने अपनेको हारनेके बाद द्रौपदीको दाँवपर लगाया था, इसलिये भी यह उनकी अनधिकार चेष्टा ही समझी जायगी।' विकर्णकी बात सुनकर विदुरने उसका समर्थन किया और अन्य सभासदोंने भी उसकी प्रशंसा की। परंतु कर्णने डाँटते हुए उसे बलपूर्वक बैठा दिया। इस प्रकार भरी सभामें दुःशासनद्वारा घसीटी जाने एवं अपमानित होनेपर भी द्रौपदीकी नैतिक विजय ही हुई। इनकी बुद्धि सर्वोपरि रही। कोई भी इनकी बातका खण्डन नहीं कर सका। अन्तमें विदुरके समझानेपर धृतराष्ट्रने दुर्योधनको डाँटा और द्रौपदीको प्रसन्न करनेके लिये इनसे वर माँगनेको कहा। इन्होंने वरदानके रूपमें धृतराष्ट्रसे केवल यही माँगा कि 'मेरे पाँचों पति दासत्वसे मुक्त कर दिये जायँ।' धृतराष्ट्रने कहा—'बेटी! और भी कुछ माँग ले।' उस समय द्रौपदीने उन्हें जो उत्तर दिया, वह सर्वथा द्रौपदीके अनुरूप ही था। उससे इनकी निर्लोभता एवं धर्मप्रेम स्पष्ट झलकता था। इन्होंने कहा—'महाराज! अधिक लोभ करना ठीक नहीं और कुछ माँगनेकी मेरी बिलकुल इच्छा नहीं है। मेरे पति स्वयं समर्थ हैं। अब जब वे दासतासे मुक्त हो गये हैं, तो बाकी सब कुछ वे स्वयं कर लेंगे।' इस प्रकार द्रौपदीने अपनी बुद्धिमत्ता एवं पातिव्रत्यके बलसे अपने पतियोंको दासतासे मुक्त करा दिया।

द्रौपदीके जिन लम्बे-लम्बे, काले बालोंका कुछ ही दिन पहले राजसूय-यज्ञमें अवभृथ-स्नानके समय मन्त्रपूत जलसे अभिषेक किया गया था, उन्हीं बालोंका दुष्ट दुःशासनके द्वारा भरी सभामें खींचा जाना द्रौपदीको कभी नहीं भूला। उस अभूतपूर्व अपमानकी आग इनके हृदयमें सदा ही जला करती थी। इसीलिये जब-जब इनके सामने कौरवोंसे सन्धि करनेकी बात आयी, तब-तब इन्होंने उसका विरोध ही किया और बराबर अपने अपमानकी याद दिलाकर अपने पतियोंको युद्धके लिये प्रोत्साहित करती रहीं। अन्तमें जब यही तय हुआ कि एक बार कौरवोंको समझा-बुझाकर देख लिया जाय और जब भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंकी ओरसे सन्धिका प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर जाने लगे, उस समय भी इन्हें अपने अपमानकी बात नहीं भूली और इन्होंने अपने लम्बे-लम्बे बालोंको हाथमें लेकर श्रीकृष्णसे कहा—'श्रीकृष्ण! तुम सन्धि करने जा रहे हो, सो तो ठीक है। परंतु तुम मेरे केशोंको न भूल जाना।' इन्होंने यहाँतक कह दिया कि 'यदि पाण्डवोंकी युद्ध करनेकी इच्छा नहीं है तो कोई बात नहीं; अपने महारथी पुत्रोंके सहित मेरे वृद्ध पिता कौरवोंसे संग्राम करेंगे तथा अभिमन्युके सहित मेरे पाँचों बली पुत्र उनके साथ जूझेंगे।'

× × × ×

काम्यक वनमें जब दुष्ट जयद्रथ द्रौपदीको बलपूर्वक ले जानेकी चेष्टा करने लगा, उस समय इन्होंने उसे इतने जोरसे धक्का दिया कि वह कटे हुए पेड़की तरह जमीनपर गिर पड़ा। किन्तु वह तुरंत ही सँभलकर खड़ा हो गया और इन्हें जबर्दस्ती रथपर बैठाकर ले चला। पीछे जब भीम और अर्जुन उसे पकड़ लाये और उसकी काफी मरम्मत बना चुके, तब इन्होंने दयापूर्वक उसे छुड़ा दिया। इस प्रकार द्रौपदी क्रोधके साथ-साथ क्षमा करना भी जानती थीं। इनका पातिव्रत्य-तेज तो अपूर्व था ही। जिस किसीने इनके साथ छेड़-छाड़ अथवा दुश्चेष्टा की, उसीको प्राणोंसे हाथ धोने पड़े। दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण, जयद्रथ, कीचक आदि सबकी यही दशा हुई। भला, पतिव्रता पीड़िता नारीकी हाय किसको नहीं खा लेगी। महाभारतयुद्धमें जो कौरवोंका सर्वनाश हुआ, उसका मूल सती द्रौपदीका अपमान ही था।

पतिभक्ता गान्धारी

संसारकी पतिव्रता देवियोंमें गान्धारीका स्थान बहुत ऊँचा है। ये गान्धारराज सुबलकी पुत्री और शकुनिकी बहिन थीं। इन्होंने कुमारी-अवस्थामें ही भगवान् शंकरकी बड़ी आराधना की और उनसे सौ पुत्रोंका वरदान प्राप्त किया। जब इन्हें मालूम हुआ कि इनका विवाह नेत्रहीन धृतराष्ट्रसे होनेवाला है, उसी समयसे इन्होंने अपनी दोनों आँखोंपर पट्टी बाँध ली। इन्होंने सोचा कि जब मेरे पति ही नेत्रसुखसे वंचित हैं, तब मुझे संसारको देखनेका क्या

अधिकार है। उस समयसे जबतक ये जीवित रहीं अपने उस दृढ़ निश्चयपर अटल रहीं। पतिके लिये इन्द्रियसुखके त्यागका ऐसा अनूठा उदाहरण संसारके इतिहासमें और कहीं नहीं मिलता। इनका यह तप और त्याग अनुपम था, संसारके लिये एक अनोखी वस्तु थी। ये सदा अपने पतिके अनुकूल रहीं। इन्होंने ससुरालमें आते ही अपने चरित्र और सद्गुणोंसे पति एवं उनके सारे परिवारको मुग्ध कर लिया। धन्य पतिप्रेम!

देवी गान्धारी जैसी पतिव्रता थीं, वैसी ही निर्भीक और न्यायप्रिय भी थीं। ये सदा सत्य, नीति और धर्मका ही पक्षपात करती थीं, अन्यायका कभी समर्थन नहीं करती थीं। इनके पुत्रोंने देवी द्रौपदीके साथ भरी सभामें जो अत्याचार किया था, उसका इनके मनमें बड़ा दुःख था। ये इस बातसे अपने पुत्रोंपर प्रसन्न नहीं हुईं। जब इनके पति राजा धृतराष्ट्रने अपने पुत्रकी बातोंमें आकर दुबारा पाण्डवोंको द्यूतके लिये बुला भेजा, उस समय ये बड़ी दुःखी हुईं। इन्होंने जुएका विरोध करते हुए अपने पतिदेवसे कहा—'स्वामी! दुर्योधन जन्मते ही गीदड़के समान रोने-चिल्लाने लगा था। इसलिये उसी समय परमज्ञानी विदुरने कहा था कि इस पुत्रका परित्याग कर दो। मुझे तो वह बात याद करके यही मालूम होता है कि यह कुरुवंशका नाश करके छोड़ेगा। आर्यपुत्र! आप अपने दोषसे सबको विपत्तिमें न डालिये। इन ढीठ मूर्खोंकी 'हाँ-में-हाँ' न मिलाइये। इस वंशके नाशका कारण मत बनिये। बँधे हुए पुलको मत तोड़िये। बुझी हुई आग फिर धधक उठेगी। पाण्डव शान्त हैं और वैर-विरोधसे विमुख हैं। उनको अब क्रोधित करना ठीक नहीं है। यद्यपि यह बात आप जानते हैं, फिर भी मैं आपको याद दिलाती हूँ। दुर्बुद्धि पुरुषके चित्तपर शास्त्रके उपदेशका प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु आप वृद्ध होकर बालकोंकी-सी बात करें—यह अनुचित है। इस समय आप अपने पुत्र-तुल्य पाण्डवोंको अपनाये रखें। कहीं वे दुःखी होकर आपसे विलग न हो जायँ। कुलकलंक दुर्योधनको त्यागना ही श्रेयस्कर है। मैंने मोहवश उस समय विदुरजीकी बात नहीं मानी, उसीका यह फल है। शान्ति, धर्म और मंत्रियोंकी सम्मतिसे अपनी विचारशक्तिको सुरक्षित रखिये। प्रमाद मत कीजिये। बिना विचारे काम करना आपके लिये बड़ा दुःखदायी सिद्ध होगा, राज्यलक्ष्मी क्रूरके हाथमें पड़कर उसीका सत्यानाश कर देती है।' गान्धारीके इन वाक्योंसे धर्म, नीति और निष्पक्षता टपकी पड़ती है। ये दुर्योधनको भी उसकी अनुचित कार्रवाइयोंपर बराबर टोकती रहती थीं, उसकी उद्दण्डताके लिये उसे फटकारती थीं और उसकी अनीतिके भावी दुष्परिणामका भयंकर चित्र उसके सामने खींचा करती थीं। पर दुर्योधनके सिरपर काल जो नाच रहा था, वह उसे इन सबकी हितभरी बातोंपर ध्यान नहीं देने देता था।

पाण्डवोंकी ओरसे सन्धिका प्रस्ताव लेकर जब स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हस्तिनापुर गये और वे भी दुर्योधनको समझाकर हार गये, तब धृतराष्ट्रने देवी गान्धारीको बुलाकर इससे कहा कि 'अब तुम्हीं अपने पुत्रको समझाओ, वह हमलोगोंमेंसे तो किसीकी भी बात नहीं सुनता।' पतिकी यह बात सुनकर गान्धारीने कहा—'राजन्! आप पुत्रके मोहमें फँसे हुए हैं, इसलिये इस विषयमें सबसे अधिक दोषी तो आप ही हैं? आप यह जानकर भी कि दुर्योधन बड़ा पापी है, उसीकी बुद्धिके पीछे चलते रहे हैं। दुर्योधनको तो काम, क्रोध और लोभने अपने चंगुलमें फँसा रखा है। अब आप बलपूर्वक भी उसे इस मार्गसे नहीं हटा सकेंगे। आपने इस मूर्ख, दुरात्मा, कुसंगी और लोभी पुत्रको बिना कुछ सोचे-समझे राज्यकी बागडोर सौंप दी; उसीका आप यह फल भोग रहे हैं। आप अपने घरमें जो फूट पड़ रही है, उसकी उपेक्षा किये चले जा रहे हैं। ऐसा करके तो आप पाण्डवोंकी दृष्टिमें अपने-आपको हास्यास्पद बना रहे हैं। देखिये, यदि साम या भेदसे ही विपत्ति टाली जा सकती हो तो कोई भी बुद्धिमान् स्वजनोंके प्रति दण्डका प्रयोग क्यों करेगा?' गान्धारीकी यह उक्ति कैसी निर्भीक, निष्पक्ष, हितभरी, नीतिपूर्ण और सच्ची थी।

इसके बाद गान्धारीने अपने पुत्रको भी बुलाकर उसे समझाना शुरू किया। ये बोलीं—'बेटा! मेरी बात सुनो। तुमसे तुम्हारे पिता, भीष्मजी, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और विदुरजीने जो बात कही है, उसे स्वीकार कर लो। यदि तुम पाण्डवोंसे सन्धि कर लोगे तो सच मानो—इससे पितामह भीष्मकी, तुम्हारे पिताजीकी, मेरी और द्रोणाचार्य आदि हितैषियोंकी तुम्हारे द्वारा बड़ी सेवा होगी। बेटा! राज्यको पाना, बचाना और भोगना अपने हाथकी बात नहीं है। जो पुरुष जितेन्द्रिय होता है, वही राज्यकी रक्षा कर सकता है। काम और क्रोध तो मनुष्यको अर्थसे च्युत कर देते हैं। इन दोनों शत्रुओंको जीतकर तो राजा सारी पृथ्वीको जीत सकता है। देखो—जिस प्रकार उद्दण्ड घोड़े मार्गमें ही मूर्ख सारथिको मार डालते हैं, उसी प्रकार यदि इन्द्रियोंको काबूमें न रखा जाय तो वे मनुष्यका नाश करनेके लिये पर्याप्त हैं। इस प्रकार इन्द्रियाँ जिसके वशमें हैं और जो सब काम सोच-समझकर करता है, उसके पास चिरकाल तक लक्ष्मी बनी रहती है। तात! तुम्हारे दादा भीष्मजीने और गुरु द्रोणाचार्यजीने जो बात कही है, वह बिलकुल ठीक है। वास्तवमें श्रीकृष्ण और अर्जुनको कोई नहीं जीत सकता। इसलिये तुम श्रीकृष्णकी शरण लो। यदि

वे प्रसन्न रहेंगे तो दोनों ही पक्षोंका हित होगा। वत्स! युद्ध करनेमें कल्याण नहीं है। उसमें धर्म और अर्थ भी नहीं है तो सुख कहाँसे होगा? यदि तुम अपने मन्त्रियोंके सहित राज्य भोगना चाहते हो तो पाण्डवोंका जो न्यायोचित भाग है, वह उन्हें दे दो। पाण्डवोंको जो तेरह वर्षतक घरसे बाहर रखा गया, यह भी बड़ा अपराध हुआ है। अब सन्धि करके इसका मार्जन कर दो। तात! संसारमें लोभ करनेसे किसीको सम्पत्ति नहीं मिलती। अतः तुम लोभ छोड़ दो और पाण्डवोंसे सन्धि कर लो।' कैसा हितपूर्ण और मार्मिक उपदेश था। इससे पता चलता है कि गान्धारी विदुषी थीं तथा ये श्रीकृष्ण और अर्जुनकी महिमा भी जानती थीं।

दुष्ट दुर्योधनपर गान्धारीके इस उत्तम उपदेशका कोई असर नहीं हुआ। उसने अपनी जिद नहीं छोड़ी। परिणाम यह हुआ कि दोनों ओरसे युद्धकी तैयारियाँ होने लगीं और अठारह दिनोंतक कुरुक्षेत्रके मैदानमें भीषण मार-काट हुई। युद्धके दिनोंमें दुर्योधन प्रतिदिन इनसे प्रार्थना करता कि 'माँ! मैं शत्रुओंके साथ लोहा लेने जा रहा हूँ; आप मुझे आशीर्वाद दीजिये, जिससे युद्धमें मेरा कल्याण हो।' गान्धारीमें पातिव्रत्यका बड़ा तेज था! ये यदि पुत्रको विजयका आशीर्वाद दे देतीं तो वह अन्यथा न होता। परन्तु ये देतीं कैसे? ये जानती थीं कि दुर्योधन अत्याचारी है। अत्याचारीके हाथमें कभी राज्य-लक्ष्मी टिक नहीं सकती, इसीलिये ये हर बार यही उत्तर देतीं—'बेटा! जहाँ धर्म है, वहीं विजय है। विजय चाहते हो तो धर्मका आश्रय लो, अधर्मका परित्याग करो।' इन्होंने दुर्योधनका कभी पक्ष नहीं लिया। परन्तु जब इन्होंने सुना कि मेरे सौ-के-सौ पुत्र मारे गये तब शोकके वेगसे इनका क्रोध उभड़ पड़ा और ये पाण्डवोंको शाप देनेका विचार करने लगीं। भगवान् वेदव्यास तो मनकी बात जान लेते थे। उन्हें जब इस बातका पता लगा, तब उन्होंने गान्धारीके पास आकर इन्हें सान्त्वना दी और इनको असत्-संकल्पसे रोका। उस समय पाण्डव भी वहाँ मौजूद थे। माता गान्धारीके मनमें क्षोभ देखकर युधिष्ठिर उनके पास गये और अपनेको धिक्कारते हुए ज्यों ही उनके चरणोंपर गिरने लगे कि गान्धारीकी क्रोधभरी दृष्टि पट्टीमेंसे होकर महाराज युधिष्ठिरके नखोंपर पड़ी। इससे उनके सुन्दर लाल-लाल नख उसी समय काले पड़ गये। यह देखकर अर्जुन तो श्रीकृष्णके पीछे खिसक गये तथा और भाई भी मारे भयके इधर-उधर छिपने लगे। उन्हें इस प्रकार कसमसाते देखकर गान्धारीका क्रोध शान्त हो गया और इन्होंने माताके समान पाण्डवोंको धीरज दिया। उपर्युक्त घटनासे गान्धारीके अनुपम पातिव्रत्य तेजका पता लगता है। अन्तमें गान्धारीने अपना क्रोध श्रीकृष्णपर निकाला। अथवा यों कहना चाहिये कि अन्तर्यामी श्रीकृष्णने ही उनकी मति पलटकर पाण्डवोंको इनके कोपसे बचा लिया और इनका अभिशाप अपने ऊपर ले लिया। देवी गान्धारीने कुरुक्षेत्रमें जाकर जब वहाँका हृदयविद्रावक दृश्य देखा तो ये अपने शोकको सँभाल न सकीं। क्रोधमें भरकर श्रीकृष्णसे बोलीं—'कृष्ण! पाण्डव और कौरव अपनी फूटके कारण ही नष्ट हुए हैं; किन्तु तुमने समर्थ होते हुए भी अपने सम्बन्धियोंकी उपेक्षा क्यों कर दी? तुम्हारे पास अनेकों सेवक थे और बड़ी भारी सेना भी थी। तुम दोनोंको दबा सकते थे और अपने वाक्-कौशलसे उन्हें समझा भी सकते थे। परन्तु तुमने जान-बूझकर कौरवोंके संहारकी उपेक्षा कर दी। इसलिये अब तुम उसका फल भोगो। मैंने पतिकी सेवा करके जो तप संचय किया है, उसीके बलपर मैं तुम्हें शाप देती हूँ कि 'जिस प्रकार परस्पर युद्ध करते हुए कौरवों और पाण्डवोंकी तुमने उपेक्षा कर दी, उसी प्रकार तुम अपने बन्धु-बान्धवोंका भी वध करोगे और स्वयं भी अनाथकी तरह मारे जाओगे। आज जैसे ये भरतवंशकी स्त्रियाँ आर्तनाद कर रही हैं, उसी प्रकार तुम्हारे कुटुम्बकी स्त्रियाँ भी अपने बन्धु-बान्धवोंके मारे जानेपर सिर पकड़कर रोयेंगी।'

गान्धारीके ये कठोर वचन सुनकर महामना श्रीकृष्ण मुसकराये और बोले—'मैं तो जानता था कि यह बात इसी तरह होनेवाली है। शाप देकर तुमने होनीको ही बतलाया है। इसमें सन्देह नहीं, वृष्णिवंशका नाश दैवी कोपसे ही होगा। इसका नाश भी मेरे सिवा और कोई नहीं कर सकता। मनुष्य क्या, देवता या असुर भी इनका संहार नहीं कर सकते। इसलिये ये यदुवंशी आपसके कलहसे ही नष्ट होंगे।'

युधिष्ठिरके राज्याभिषेकके बाद देवी गान्धारी कुछ समयतक उन्हींके पास रहकर अन्तमें अपने पतिके साथ वनमें चली गयीं और वहाँ तपस्वियोंका जीवन बिताकर तपस्वियोंकी भाँति ही इन्होंने अपने पतिके साथ दावाग्निसे अपने शरीरको जला डाला और पतिके साथ ही कुबेरके लोकमें चली गयीं। इस प्रकार पतिपरायणा गान्धारीने इस लोकमें पतिकी सेवाकर परलोकमें भी पतिका सान्निध्य एवं सेवा प्राप्त की—जो प्रत्येक पतिव्रताका अभीष्ट लक्ष्य होता है। प्रत्येक पतिव्रता नारीको गान्धारीके चरित्रका मनन कर उससे शिक्षा लेनी चाहिये।

महात्मा विदुर

महात्मा विदुर साक्षात् धर्मके अवतार थे। माण्डव्य ऋषिके शापसे इन्हें शूद्रयोनिमें जन्म ग्रहण करना पड़ा। ये महाराज विचित्रवीर्यकी दासीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार ये धृतराष्ट्र और पाण्डुके एक प्रकारसे सगे भाई ही थे। ये बड़े ही बुद्धिमान्, नीतिज्ञ, धर्मज्ञ, विद्वान्, सदाचारी एवं भगवद्भक्त थे। इन्हीं गुणोंके कारण सब लोग इनका बड़ा सम्मान करते थे। ये बड़े निर्भीक एवं सत्यवादी थे तथा धृतराष्ट्र आदिको बड़ी नेक सलाह दिया करते थे। ये धृतराष्ट्रके मन्त्री ही थे। दुर्योधन जन्मते ही गधेकी भाँति रेंकने लगा था और उसके जन्मके समय अनेक अमंगलसूचक उत्पात भी हुए। यह सब देखकर इन्होंने ब्राह्मणोंके साथ राजा धृतराष्ट्रसे कहा कि 'आपका यह पुत्र कुलनाशक होगा, इसलिये इसे त्याग देना ही श्रेयस्कर है। इसके जीवित रहनेपर आपको दु:ख उठाना पड़ेगा। शास्त्रोंकी आज्ञा है कि कुलके लिये एक मनुष्यका, ग्रामके लिये कुलका, देशके लिये एक ग्रामका और आत्माके लिये सारी पृथ्वीका परित्याग कर देना चाहिये।' परन्तु धृतराष्ट्रने मोहवश विदुरकी बात नहीं मानी। फलत: उन्हें दुर्योधनके कारण जीवनभर दु:ख उठाना पड़ा और अपने जीते-जी कुलका नाश देखना पड़ा। महात्माओंकी हितभरी वाणीपर ध्यान न देनेसे दु:ख ही उठाना पड़ता है।

जब दुर्योधन पाण्डवोंपर अत्याचार करने लगा, तब इनकी सहानुभूति स्वाभाविक ही पाण्डवोंके प्रति हो गयी; क्योंकि एक तो वे पितृहीन थे और दूसरे धर्मात्मा थे। ये प्रत्यक्षरूपमें तथा गुप्तरूपसे भी बराबर उनकी रक्षा एवं सहायता करते रहते थे। धर्मात्माओंके प्रति धर्मकी सहानुभूति होनी ही चाहिये और विदुर साक्षात् धर्मके अवतार थे। ये जानते थे कि पाण्डवोंपर चाहे कितनी ही विपत्तियाँ क्यों न आयें, अन्तमें विजय उनकी ही होगी— **'यतो धर्मस्ततो जयः।'** इन्हें यह भी मालूम था कि पाण्डव सब दीर्घायु हैं, अत: उन्हें कोई मार नहीं सकता। इसीलिये जब दुर्योधनने खेल-ही-खेलमें भीमसेनको विष खिलाकर गंगाजीमें बहा दिया और उनके घर न लौटनेपर माता कुन्तीको चिन्ताके साथ-साथ दुर्योधनकी ओरसे अनिष्टकी भी आशंका हुई, तब इन्होंने जाकर उन्हें समझाया कि 'इस समय चुप साध लेना ही अच्छा है, दुर्योधनके प्रति आशंका प्रकट करना खतरेसे खाली नहीं है। इससे वह और चिढ़ जायगा, जिससे तुम्हारे दूसरे पुत्रोंपर भी आपत्ति आ सकती है। भीमसेन मर नहीं सकता, वह शीघ्र ही लौट आयेगा।' कुन्तीने विदुरजीकी नीतिपूर्ण सलाह मान ली। उनकी बात बिलकुल यथार्थ निकली। भीमसेन कुछ ही दिनों बाद जीते-जागते लौट आये।

लाक्षाभवनसे बेदाग बचकर निकल भागनेकी युक्ति भी पाण्डवोंको विदुरने ही बतायी थी। ये नीतिज्ञ होनेके साथ-साथ कई भाषाओंके जानकार भी थे। जिस समय पाण्डवलोग वारणावत जा रहे थे, उसी समय इन्होंने म्लेच्छ-भाषामें युधिष्ठिरको उनपर आनेवाली विपत्तिकी सूचना दे दी और साथ ही उससे बचनेका उपाय भी समझा दिया। इतना ही नहीं, इन्होंने पहलेसे ही एक सुरंग खोदनेवालेको लाक्षाभवनमेंसे निकल भागनेके लिये सुरंग खोदनेको कह दिया था। उसने गुप्तरूपसे जमीनके भीतर-ही-भीतर जंगलमें जानेका एक रास्ता बना दिया। लाक्षाभवनमें आग लगाकर पाण्डवलोग माता कुन्तीके साथ उसी रास्तेसे निरापद बाहर निकल आये। गंगातटपर इनके पार होनेके लिये विदुरजीने नाविकके साथ एक नौका भी पहलेसे ही तैयार रख छोड़ी थी। उसीसे ये लोग गंगापार हो गये। इस प्रकार विदुरजीने बुद्धिमानी एवं नीतिमत्तासे पाण्डवोंके प्राण बचा लिये और दुर्योधन आदिको पता भी न लगने दिया। उन लोगोंने यही समझा कि पाण्डव अपनी माताके साथ लाक्षाभवनमें जलकर मर गये। सर्वत्र केवल शारीरिक बल अथवा अस्त्रबल ही काम नहीं देता। आत्मरक्षाके लिये बुद्धि और नीतिबलकी भी आवश्यकता होती है। महात्मा विदुर धर्म एवं शास्त्रज्ञानके साथ-साथ नीतिके भी खजाने थे।

विदुरजी जिस प्रकार पाण्डवोंके प्रति सहानुभूति और प्रेम रखते थे, उसी प्रकार अपने बड़े भाई राजा धृतराष्ट्र एवं उनके पुत्रोंके प्रति भी स्नेह और आत्मीयता रखते थे। उनके हितका ये सदा ध्यान रखते थे और उन्हें बराबर अच्छी सलाह दिया करते थे। **'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः'**—इस सिद्धान्तके अनुसार अवश्य ही इनकी बातें सत्य एवं हितपूर्ण होनेपर भी दुर्योधनादिको कड़वी लगती थीं। इसीलिये दुर्योधन एवं उसके साथी सदा ही इनसे असन्तुष्ट रहते थे। परन्तु ये उनकी अप्रसन्नताकी कुछ भी परवा न कर सदा ही उनकी मंगल-कामना किया करते थे और उसे कुमार्गसे हटानेकी अनवरत चेष्टा करते रहते थे। धृतराष्ट्र भी अपने दुरात्मा पुत्रके प्रभावमें होनेके कारण यद्यपि हर समय इनकी बातपर अमल नहीं कर पाते थे और इसीलिये कष्ट भी पाते थे, फिर भी उनका इनपर बहुत अधिक विश्वास था। वे इन्हें बुद्धिमान्, दूरदर्शी एवं अपना परम हितचिन्तक मानते थे और बहुधा इनसे सलाह लिये बिना कोई काम नहीं करते थे। पाण्डवोंके साथ व्यवहार करते समय तो वे खास-तौरपर इनकी सलाह

लिया करते थे। वे जानते थे कि पाण्डवोंके सम्बन्धमें इनकी सलाह पक्षपात शून्य होगी। अस्तु,

जब मामा शकुनिकी सलाहसे दुष्टबुद्धि दुर्योधन पाण्डवोंके साथ जुआ खेलनेका प्रस्ताव लेकर अपने पिताके पास पहुँचा, तब उन्होंने नियमानुसार विदुरजीको सलाहके लिये बुलाया। उसकी बात न माननेपर दुर्योधनने उन्हें प्राण त्याग देनेका भय दिखलाया; परन्तु उन्होंने उसे स्पष्ट कह दिया कि 'विदुरजीसे सलाह लिये बिना मैं तुम्हें जुआ खेलनेकी आज्ञा कदापि नहीं दे सकता।' दुर्योधनका पापपूर्ण प्रस्ताव सुनकर विदुरजीने समझ लिया कि अब कलियुग आनेवाला है। इन्होंने उस प्रस्तावका घोर विरोध किया और अपने बड़े भाईको समझाया कि 'जुआ खेलनेसे आपके पुत्रों और भतीजोंमें वैर-विरोध ही बढ़ेगा, उनमेंसे किसीका भी हित नहीं होगा। इसलिये द्यूतका आयोजन न करना ही अच्छा है। इसीमें दोनों ओरका मंगल है।' धृतराष्ट्रने विदुरजी एवं उनके मतकी प्रशंसा करते हुए दुर्योधनको बहुत समझाया, परन्तु उसने इनकी एक न मानी। वह तो जुएमें हराकर पाण्डवोंको नीचा दिखानेपर तुला हुआ था। उससे पाण्डवोंका अतुल वैभव देखा नहीं जाता था। दुर्योधनको किसी तरह न मानते देखकर अन्तमें धृतराष्ट्रने उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और विदुरजीके द्वारा ही पाण्डवोंको इन्द्रप्रस्थसे बुलवा भेजा। यद्यपि विदुरजीको यह बात अच्छी नहीं लगी, फिर भी बड़े भाईकी आज्ञाका उल्लंघन करना इन्होंने ठीक नहीं समझा।

पाण्डवोंके पास जाकर विदुरजीने उन्हें सारी बातें कह सुनायी। महाराज युधिष्ठिरने भी जुएको अच्छा न समझते हुए भी अपने पिता (ताऊ) की आज्ञा मानकर दुर्योधनका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। जुएके समय भी इन्होंने जुएकी बुराइयाँ बताते हुए राजा धृतराष्ट्रसे कहा कि 'आप अब भी सँभल जाइये, दुर्योधनकी 'हाँ-में-हाँ' मिलाना छोड़ दीजिये और कुलको सर्वनाशसे बचाइये; पाण्डवोंसे विरोध करके उन्हें अपना शत्रु न बनाइये।' पाण्डवोंके वनमें चले जानेपर धृतराष्ट्रके मनमें बड़ी चिन्ता और जलन हुई। उन्होंने विदुरजीको बुलाकर अपने मनकी व्यथा सुनायी और उनसे यह जानना चाहा कि 'अब हमें किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये कि जिससे प्रजा हमपर सन्तुष्ट रहे और पाण्डव भी क्रोधित होकर हमारी कोई हानि न कर सकें।' इसपर विदुरजीने उन्हें समझाया कि 'राजन्! अर्थ, धर्म और काम—इन तीनों फलोंकी प्राप्ति धर्मसे ही होती है। राज्यकी जड़ है धर्म, अतः आप धर्ममें स्थित होकर पाण्डवोंकी और अपने पुत्रोंकी रक्षा कीजिये। आपके पुत्रोंने शकुनिकी सलाहसे भरी सभामें धर्मका तिरस्कार किया है; क्योंकि सत्यसन्ध युधिष्ठिरको कपटद्यूतमें हराकर उन्होंने उनका सर्वस्व छीन लिया है। यह बड़ा अधर्म हुआ। इसके निवारणका मेरी दृष्टिमें एक ही उपाय है, वैसा करनेसे आपका पुत्र पाप और कलंकसे छूटकर प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा। वह उपाय यह है कि आपने पाण्डवोंका जो कुछ छीन लिया है, वह सब उन्हें लौटा दिया जाय। राजाका यह परम धर्म है कि वह अपने ही हकमें सन्तुष्ट रहे, दूसरेका हक न चाहे। जो उपाय मैंने बतलाया है, उससे आपका लांछन छूट जायगा, भाई-भाईमें फूट नहीं पड़ेगी और अधर्म भी न होगा। यदि आपके पुत्रोंका तनिक भी सौभाग्य शेष रह गया हो तो शीघ्र-से-शीघ्र यह काम कर डालना चाहिये। यदि आप मोहवश ऐसा नहीं करेंगे तो सारे कुरुवंशका नाश हो जायगा। यदि आपका पुत्र दुर्योधन प्रसन्नतासे यह बात स्वीकार कर ले, तब तो ठीक है; अन्यथा परिवार और प्रजाके सुखके लिये उस कुलकलंक और दुरात्माको कैद करके युधिष्ठिरको राजसिंहासनपर बैठा दीजिये। युधिष्ठिरके चित्तमें किसीके प्रति राग-द्वेष नहीं है, इसलिये वे ही धर्मपूर्वक पृथ्वीका शासन करें। दुःशासन भरी सभामें भीमसेन और द्रौपदीसे क्षमा-याचना करे। और तो क्या कहूँ; बस, इतना करनेसे आप कृतकृत्य हो जायँगे।'

विदुरजीकी यह मन्त्रणा कितनी सच्ची, हितपूर्ण, धर्मयुक्त और निर्भीक थी। परन्तु जिस प्रकार मरणासन्नको ओषधि अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार धृतराष्ट्रको विदुरजीकी यह सलाह पसन्द नहीं आयी। वे विदुरजीपर खीझ गये और बोले—'विदुर! अब मुझे तुम्हारी कोई आवश्यकता नहीं है; तुम्हारी इच्छा हो तो यहाँ रहो अथवा चले जाओ। मैं देखता हूँ कि तुम बार-बार पाण्डवोंका ही पक्ष लेते हो। भला, मैं उनके लिये अपने पुत्रोंको कैसे छोड़ दूँ? विदुरजीने देखा, अब कौरव-कुलका नाश अवश्यम्भावी है; इसलिये ये चुपचाप उठकर वहाँसे चल दिये और तुरन्त रथपर सवार होकर पाण्डवोंके पास काम्यकवनमें चले गये। वहाँ पहुँचकर इन्होंने पाण्डवोंको हस्तिनापुरसे चले आनेका कारण बतलाया और उन्हें प्रसंगवश बड़े कामकी बातें कहीं। इधर जब धृतराष्ट्रको विदुरजीके पाण्डवोंके पास चले जानेकी बात मालूम हुई तब उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने सोचा कि विदुरकी सहायता और सलाह पाकर तो पाण्डव और भी बलवान् हो जायँगे। तब तो उन्होंने तुरन्त संजयको भेजकर विदुरजीको बुलवा भेजा। विदुरजी तो सर्वथा राग-द्वेष-शून्य थे। इनके मनमें धृतराष्ट्रके प्रति तनिक भी रोष नहीं था। बड़े भाईकी आज्ञा पाकर जिस प्रकार ये हस्तिनापुरसे

चले आये थे, उसी प्रकार इस बार लौट जानेकी आज्ञा पाकर ये वापस उनके पास चले गये। वहाँ जाकर इन्होंने धृतराष्ट्रसे कहा कि 'मेरे लिये पाण्डव और आपके पुत्र एक-से हैं; फिर भी पाण्डवोंको असहाय देखकर मेरे मनमें स्वाभाविक ही उनकी सहायता करनेकी बात आ जाती है। मेरे चित्तमें आपके पुत्रोंके प्रति कोई द्वेषभाव नहीं है।' बात सचमुच ऐसी ही थी। धृतराष्ट्रने भी इनसे अपने अनुचित व्यवहारके लिये क्षमा माँगी। विदुरजी पूर्ववत् ही धृतराष्ट्रके पास रहकर उनकी सेवा करने लगे।

एक समय धृतराष्ट्रको रातमें नींद नहीं आयी। तब उन्होंने रातमें ही विदुरजीको बुलाकर उनसे शान्तिका उपाय पूछा। उस समय विदुरजीने धृतराष्ट्रको धर्म और नीतिका जो सुन्दर उपदेश दिया, वह विदुरनीतिके नामसे उद्योगपर्वके ३३ से ४० तक आठ अध्यायोंमें संगृहीत है। वह स्वतन्त्ररूपसे अध्ययन और मनन करनेकी चीज है।

विदुरजीके भाषणको सुनकर धृतराष्ट्रकी तृप्ति नहीं हुई। उन्होंने इनके मुखसे और भी कुछ सुनना चाहा। इन्होंने कहा—'राजन्! मुझे जो कुछ सुनाना था, वह मैं आपको सुना चुका; अब ब्रह्माजीके पुत्र सनत्सुजात नामक जो सनातन ऋषि हैं, वे ही आपको तत्त्वविषयक उपदेश करेंगे। तत्त्वोपदेश करनेका मुझे अधिकार नहीं है; क्योंकि मेरा जन्म शूद्राके गर्भसे हुआ है।' यह कहकर इन्होंने उसी समय महर्षि सनत्सुजातका स्मरण किया और वे तुरन्त वहाँ उपस्थित हो गये। सनत्सुजातजीने राजा धृतराष्ट्रके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए परमात्माके स्वरूप तथा उनके साक्षात्कारके विषयमें बड़ा सुन्दर विवेचन किया। इस प्रकार विदुरजीने स्वयं तो धृतराष्ट्रको धर्म और नीतिकी बातें सुनायीं ही, सनत्सुजात-जैसे सिद्ध योगी एवं परमर्षिद्वारा उन्हें तत्त्वका उपदेश कराकर उनके कल्याणका मार्ग प्रशस्त किया। विदुरजीके द्वारा धृतराष्ट्र एवं उनके पुत्रोंके लिये जो कुछ भी चेष्टा होती थी, वह उनके कल्याणके लिये ही होती थी। महात्माओंका जीवन दूसरोंके कल्याणके लिये ही होता है। यद्यपि विदुरजी तत्त्वज्ञानी थे, फिर भी शूद्र होनेके नाते इन्होंने स्वयं उपदेश न देकर सनातन मर्यादाकी रक्षा की और इस प्रकार जगत्को अपने आचरणके द्वारा यह उपदेश दिया कि ज्ञानीके लिये भी शास्त्रमर्यादाकी रक्षा आवश्यक है। सनत्सुजातजीका यह उपदेश 'सनत्सुजातीय' के नामसे उद्योगपर्वके ही ४१ से ४६ तक छ: अध्यायोंमें संगृहीत है।

विदुरजी ज्ञानी एवं तत्त्वदर्शी होनेके साथ-साथ अनन्य भगवद्भक्त भी थे। इनकी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें निश्छल प्रीति थी। भगवान् श्रीकृष्ण भी इन्हें बहुत मानते थे। वे जब पाण्डवोंके दूत बनकर हस्तिनापुर गये, उस समय वे राजा धृतराष्ट्र एवं उनके सभासदोंसे मिलकर सीधे विदुरजीके यहाँ पहुँचे और उनका आतिथ्य स्वीकार किया। इसके बाद वे अपनी बुआ कुन्तीसे मिले। इतना ही नहीं, दुर्योधनके यहाँ जानेपर जब उसने सम्बन्धी होनेके नाते श्रीकृष्णसे भोजनके लिये प्रार्थना की, तब उन्होंने साफ इनकार कर दिया और पुन: विदुरके यहाँ चले आये। वहाँ भीष्म, द्रोण, कृप, बाह्लीक आदि कई सम्भावित लोग उनसे मिलने आये और उन सबने श्रीकृष्णसे अपने यहाँ चलकर आतिथ्य ग्रहण करनेकी प्रार्थना की; परंतु श्रीकृष्णने सम्मानपूर्वक सबको विदा कर दिया और उस दिन विदुरके यहाँ ही पहले ब्राह्मणोंको भोजन कराके स्वयं भोजन किया। इस घटनासे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि विदुरका श्रीकृष्णके प्रति कैसा अनुराग था। श्रीकृष्णका तो विरद ही ठहरा—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥*

(गीता ९। २६)

प्रेमशून्य बड़ी-बड़ी तैयारियाँ और राजसी ठाट-बाट उन्हें आकर्षित नहीं कर सकते, किन्तु प्रेमके रससे परिप्लुत रूखा-सूखा भोजन भी उनकी तृप्तिके लिये पर्याप्त होता है।

भोजनके बाद रात्रिमें भी श्रीकृष्ण विदुरके यहाँ ही रहे और सारी रात उन्हें बातें करते बीत गयी। सबेरे नित्यकर्मसे निवृत्त होकर श्रीकृष्ण कौरवोंकी सभामें चले गये। वहाँ जब दुर्योधनने श्रीकृष्णको पकड़कर कैद करनेका दु:साहसपूर्ण विचार किया, उस समय विदुरजीने श्रीकृष्णके बल एवं महिमाका वर्णन करते हुए उसे यह बतलाया कि 'ये साक्षात् सर्वतन्त्रस्वतन्त्र ईश्वर हैं; यदि तुम इनका तिरस्कार करनेका साहस करोगे तो उसी प्रकार नष्ट हो जाओगे, जैसे अग्निमें गिरकर पतंगा नष्ट हो जाता है।' इसके बाद जब भगवान् श्रीकृष्णने अपना विश्वरूप प्रकट किया, उस समय सब लोगोंने भयभीत होकर अपने-अपने नेत्र मूँद लिये। केवल द्रोणाचार्य, भीष्म, विदुर, संजय और उपस्थित ऋषिलोग ही उनका दर्शन कर सके। क्योंकि भगवान्ने इन सबको दिव्यदृष्टि दे दी थी। थोड़ी ही देर

* जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल (आदि) अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।

बाद अपनी इस लीलाको समेटकर भगवान् श्रीकृष्ण वापस उपप्लव्यकी ओर चले गये, जहाँसे वे आये थे। विदुरजी भी और लोगोंके साथ कुछ दूरतक उन्हें पहुँचानेके लिये गये और फिर उनसे विदा लेकर वापस चले आये।

श्रीकृष्णके असफल लौट जानेपर दोनों ओरसे युद्धकी तैयारियाँ होने लगीं। अठारह अक्षौहिणी सेना लेकर दोनों दल कुरुक्षेत्रके मैदानपर एकत्रित हुए और अठारह दिनोंमें ही अठारह अक्षौहिणी सेना घासकी तरह कट गयी। राजा धृतराष्ट्र अपने सौ-के-सौ पुत्रों तथा पौत्रोंका विनाश हो जानेसे बड़े दुःखी हुए। उस समय विदुरजीने मृत्युकी अनिवार्यताका निरूपण करते हुए यह बतलाया कि 'युद्धमें मारे जानेवालोंकी बड़ी उत्तम गति होती है, अतः उनके लिये तो शोक करना ही नहीं चाहिये।' इन्होंने यह भी बतलाया कि 'जितनी बार प्राणी जन्म लेता है, उतनी ही बार वह अलग-अलग व्यक्तियोंसे सम्बन्ध जोड़ता है और मृत्युके बाद वे सारे सम्बन्ध स्वप्नकी भाँति विलीन हो जाते हैं। इसलिये भी मरे हुए सम्बन्धियोंके लिये शोक करना बुद्धिमानी नहीं है। फिर सुख-दुःखसे सम्बन्ध रखनेवाली संयोग-वियोग आदि जितनी भी घटनाएँ होती हैं, वे सब अपने ही द्वारा किये हुए शुभाशुभ कर्मोंके फलरूपमें प्राप्त होती हैं और कर्मफल सभी प्राणियोंको भोगना ही पड़ता है।' इसके बाद विदुरजीने संसारकी अनित्यता, निःसारता और परिवर्तनशीलता, जन्म और मृत्युके क्लेश, जीवका अविवेक, मृत्युकी दृष्टिसे सबकी समानता तथा धर्मके आचरणका महत्त्व बतलाते हुए संसारके दुःखोंसे छूटनेके उपायोंका दिग्दर्शन कराया।

युधिष्ठिरका राज्याभिषेक हो जानेके बाद जब धृतराष्ट्र पाण्डवोंके पास रहने लगे, तब विदुरजी भी धृतराष्ट्रके समीप रहकर उन्हें धर्मचर्चा सुनाया करते थे। वहाँसे जब धृतराष्ट्र और गान्धारीने वन जानेका निश्चय किया तब ये भी उनके साथ हो लिये। वहाँ जाकर विदुरजीने घोर तपस्याका व्रत ले लिया। ये निराहार रहकर निर्जन वनमें एकान्तवास करने लगे। शून्य वनमें कभी-कभी लोगोंको इनके दर्शन हो जाया करते थे। कुछ दिनों बाद जब महाराज युधिष्ठिर अपने समस्त परिवार एवं सेनाको साथ लेकर वनमें अपने ताऊ-ताई तथा माता कुन्तीसे मिलने आये और वहाँ विदुरजीको न देखकर उनके विषयमें राजा धृतराष्ट्रसे पूछने लगे, उसी समय उन्हें विदुरजी कुछ दूरपर दिखायी दिये। ये सिरपर जटा धारण किये हुए थे, मुखमें पत्थर दबाये थे और दिगम्बरवेष बनाये हुए थे। इनके धूलधूसरित दुर्बल शरीरपर नसें उभर आयी थीं, मैल जम गया था। ये आश्रमकी ओर देखकर लौटे जा रहे थे। युधिष्ठिर इनसे मिलनेके लिये इनके पीछे दौड़े और जोर-जोरसे अपना नाम बताकर इन्हें पुकारने लगे। घोर जंगलमें पहुँचकर विदुरजी एक वृक्षका सहारा लेकर स्थिर-भावसे खड़े हो गये। राजा युधिष्ठिरने देखा कि विदुरजीका शरीर अस्थिपंजरमात्र रह गया है, ये बड़ी कठिनतासे पहचाने जाते थे। युधिष्ठिरने इनके सामने जाकर इनकी पूजा की, विदुरजी समाधिस्थ होकर निर्निमेष दृष्टिसे युधिष्ठिरकी ओर देखने लगे। इसके बाद ये योगबलसे उनके शरीरमें प्रवेश कर गये। इनका शरीर निर्जीव होकर उसी भाँति वृक्षके सहारे खड़ा रह गया। इस प्रकार साक्षात् धर्मके अवतार महात्मा विदुर धर्ममय जीवन बिताकर अन्तमें धर्ममूर्ति महाराज युधिष्ठिरके ही शरीरमें प्रवेश कर गये। बोलो धर्मकी जय!

मन्त्रिश्रेष्ठ संजय

संजय महाराज धृतराष्ट्रके मन्त्री थे। ये जातिके सूत थे। ये बड़े स्वामिभक्त, बुद्धिमान्, नीतिज्ञ, धर्मज्ञ, तत्त्वज्ञानी और भगवान्के अनन्यभक्त थे। ये सत्यवादी एवं निर्भीक भी थे। ये धृतराष्ट्रको बड़ी अच्छी सलाह देते थे और उनके हितकी दृष्टिसे कभी-कभी कड़ी बातें भी कह दिया करते थे। इन्होंने अन्ततक धृतराष्ट्रका साथ दिया। ये महर्षि वेदव्यासके कृपापात्र तथा अर्जुन एवं भगवान् श्रीकृष्णके प्रेमी थे। ये दुर्योधनके अत्याचारोंका बड़े जोरोंसे प्रतिवाद करते थे और उनका समर्थन होनेपर धृतराष्ट्रको भी फटकार दिया करते थे। जब पाण्डव दूसरी बार जुएमें हारकर वनमें रहने लगे थे, उस समय इन्होंने पाण्डवोंके साथ दुर्योधनके अनुचित बर्तावकी बड़ी कड़ी आलोचना करते हुए राजा धृतराष्ट्रसे कहा—'महाराज! अब यह निश्चित है कि आपके कुलका तो नाश होगा ही, निरीह प्रजा भी न बचेगी। भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य और विदुरजीने आपके पुत्रको बहुत मना किया; फिर भी उस निर्लज्जने पाण्डवोंकी प्रिय पत्नी धर्मपरायणा द्रौपदीको सभामें बुलवाकर अपमानित किया। विनाशकाल समीप आनेपर बुद्धि मलिन हो जाती है, अन्याय भी न्यायके समान दीखने लगता है। आपके पुत्रोंने अयोनिजा, पतिपरायणा, यज्ञवेदीसे उत्पन्न सुन्दरी द्रौपदीको भरी सभामें अपमानित कर भयंकर युद्धको न्योता दिया है। ऐसा निन्दनीय कर्म दुष्ट दुर्योधनके अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता।' क्या कोई निर्भीक-से-निर्भीक मन्त्री राजाके सामने युवराजके प्रति इतनी कड़ी किन्तु सच्ची

बात कह सकता है? शास्त्रोंमें भी कहा है—'**अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः**' (वा० रा० ३।३७।२)। धृतराष्ट्रने संजयकी बातका अनुमोदन करते हुए अपनी कमजोरीको स्वीकार किया, जिसके कारण वे दुर्योधनके उस अत्याचारको रोक नहीं सके थे।

संजय सामनीतिके बड़े पक्षपाती थे। इन्होंने युद्धको रोकनेकी बहुत चेष्टा की और दोनों ही पक्षोंको युद्धकी बुराइयाँ बतलाकर तथा आपसकी फूटके दुष्परिणामकी ओर ध्यान आकर्षित करते हुए बहुत समझाया। पाण्डवोंने तो इनकी बात मान ली; परन्तु दुर्योधनने इनके सन्धिके प्रस्तावको तिरस्कारपूर्वक ठुकरा दिया, जिससे युद्ध करना अनिवार्य हो गया। दैवका विधान ऐसा ही था। कौरवोंके पक्षमें भीष्म, द्रोण, विदुर और संजयका मत प्रायः एक होता था; क्योंकि ये चारों ही धर्मके पक्षपाती थे और हृदयसे पाण्डवोंके साथ सहानुभूति रखते थे। ये चारों ही राजा धृतराष्ट्र एवं उनके पुत्रोंकी अप्रसन्नताकी तनिक भी परवा न कर उन्हें सच्ची बात कहनेमें कभी नहीं हिचकते थे और सच्ची बात प्रायः कड़वी होती ही है।

जब धृतराष्ट्रने अपनी ओरसे पाण्डवोंके साथ बातचीत करनेके लिये संजयको उपप्लव्यमें भेजा, तब संजयने जाकर पाण्डवोंकी सच्ची प्रशंसा करते हुए उन्हें युद्धसे विरत होनेकी ही सलाह दी। इन्होंने कहा कि 'युद्धसे अर्थ और धर्म कुछ भी नहीं सधनेका। सन्धि ही शान्तिका सर्वोत्तम उपाय है और राजा धृतराष्ट्र भी शान्ति ही चाहते हैं, युद्ध नहीं।' श्रीकृष्ण और अर्जुनके विशेष कृपापात्र होनेके नाते इन्हें यह पूरा विश्वास था कि ये लोग मेरी बातको कभी नहीं टालेंगे। अर्जुनके सम्बन्धमें तो इन्होंने यहाँतक कह दिया कि 'अर्जुन तो मेरे माँगनेपर अपने प्राणतक दे सकते हैं।' इससे यह बात सिद्ध होती है कि संजय अर्जुन और श्रीकृष्णके अनन्य प्रेमी थे। युधिष्ठिरने बड़े प्रेमसे संजयकी बातका समर्थन किया; परन्तु उन्होंने सन्धिकी यही शर्त रखी कि हमें इन्द्रप्रस्थका राज्य लौटा दिया जाय। भगवान् श्रीकृष्णने भी धर्मराजका समर्थन किया और संजय युधिष्ठिरका सन्देश लेकर वापस हस्तिनापुर चले आये। धृतराष्ट्रके पास जाकर पहले तो इन्होंने एकान्तमें उन्हें खूब फटकारा और पीछे सबके सामने पाण्डवोंका धर्मयुक्त सन्देश सुनाकर उनकी युद्धकी तैयारी तथा पाण्डवपक्षके वीरोंके बलका विशदरूपसे वर्णन किया। साथ ही इन्होंने अर्जुन और श्रीकृष्णकी एकता सिद्ध करते हुए उन्हें बतलाया कि दोनों एक-दूसरेके साथ कैसे घुले-मिले हैं। इन्होंने कहा कि 'जिस समय मैं श्रीकृष्ण और अर्जुनसे मिलने गया, उस समय वे दोनों अन्तःपुरमें थे। वे जिस कमरेमें थे, वहाँ अभिमन्यु और नकुल-सहदेवतकका प्रवेश नहीं था। वहाँ पहुँचनेपर मैंने देखा कि श्रीकृष्ण अपने दोनों चरण अर्जुनकी गोदमें रखे हुए हैं और अर्जुनके पैर द्रौपदी और सत्यभामाकी गोदमें हैं।' संजयके इस वर्णनसे श्रीकृष्ण और अर्जुनकी एकता तो सिद्ध होती ही है, साथ ही यह भी प्रमाणित होता है कि संजय श्रीकृष्ण और अर्जुनके अनन्य प्रेमी थे। जिस स्थानमें अभिमन्यु और नकुल-सहदेवका भी प्रवेश नहीं था और जहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुन अपनी पटरानियोंके साथ एकान्तमें बिलकुल निःसंकोचभावसे बैठे थे, वहाँ संजयका बेरोक-टोक चले जाना और उनकी एकान्तगोष्ठीमें सम्मिलित होना इस बातको सिद्ध करता है कि इनका भी श्रीकृष्ण और अर्जुनके साथ बहुत खुला व्यवहार था।

संजय भगवान्के प्रेमी तो थे ही, इन्हें भगवान्के स्वरूपका भी पूरा ज्ञान था। इन्होंने आगे चलकर महर्षि वेदव्यास, देवी गान्धारी तथा महात्मा विदुरके सामने राजा धृतराष्ट्रको श्रीकृष्णकी महिमा सुनायी और उन्हें सारे लोकोंका स्वामी बतलाया। इसपर धृतराष्ट्रने इनसे पूछा कि 'श्रीकृष्ण साक्षात् ईश्वर हैं—इस बातको तुमने कैसे जान लिया और मैं उन्हें इस रूपमें क्यों नहीं पहचान सका?' इसके उत्तरमें संजयने वेदव्यासजीके सामने इस बातको स्वीकार किया कि 'मैंने ज्ञानदृष्टिसे ही श्रीकृष्णको पहचाना है, बिना ज्ञानके कोई उनके वास्तविक स्वरूपको नहीं जान सकता।' इतना ही नहीं, इन्होंने यह भी बतलाया कि 'मैं कभी कपटका आश्रय नहीं लेता, किसी मिथ्याधर्मका आचरण नहीं करता तथा ध्यानयोगके द्वारा मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया है। इसीलिये मुझे श्रीकृष्णके स्वरूपका ज्ञान हो गया है।' इसके बाद स्वयं वेदव्यासजीने संजयकी प्रशंसा करते हुए धृतराष्ट्रसे कहा कि 'इसे पुराणपुरुष श्रीकृष्णके स्वरूपका पूरा ज्ञान है; अतः यदि तुम इसकी बात सुनोगे तो यह तुम्हें जन्म-मरणके महान् भयसे मुक्त करा देगा।' संजयके ज्ञानी होनेका इससे बढ़कर प्रमाण और क्या होगा? इसके बाद धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा—'भैया! मुझे कोई ऐसा निर्भय मार्ग बताओ, जिसपर चलकर मैं भी भगवान् श्रीकृष्णको जान सकूँ और उनका परमपद पा सकूँ।' संजयने उन्हें बताया कि 'इन्द्रियोंको जीते बिना कोई श्रीकृष्णको नहीं पा सकता और इन्द्रियाँ भोगोंके त्यागसे ही जीती जा सकती हैं। प्रमाद, हिंसा और भोग—इन तीनोंका त्याग ही ज्ञानका साधन है। इन्हींके त्यागसे परमपदकी प्राप्ति सम्भव है।' अन्तमें संजयने भगवान् श्रीकृष्णके कुछ नामोंकी बड़ी सुन्दर व्याख्या करके धृतराष्ट्रको सुनायी। इससे संजयके शास्त्र-ज्ञानका भी पता लगता है।

जब दोनों ओरसे युद्धकी तैयारियाँ पूरी हो चुकीं और दोनों पक्षोंकी सेनाएँ कुरुक्षेत्रके मैदानमें जा डटीं, उस समय महर्षि वेदव्यासजीने संजयको दिव्यदृष्टिका वरदान देते हुए धृतराष्ट्रसे कहा—'राजन्! यह संजय तुम्हें युद्धका वृत्तान्त सुनायेगा। सम्पूर्ण युद्धक्षेत्रमें कोई भी ऐसी बात न होगी, जो इससे छिपी रहे। यह दिव्यदृष्टिसे सम्पन्न और सर्वज्ञ हो जायगा। सामनेकी अथवा परोक्षकी, दिनमें होनेवाली या रातमें होनेवाली तथा मनमें सोची हुई बात भी इसे मालूम हो जायगी। इतना ही नहीं, शस्त्र इसे काट नहीं सकेंगे, परिश्रमसे इसे थकान नहीं मालूम होगी और युद्धसे यह जीता-जागता निकल आयेगा।'

बस, उसी समयसे भगवान् वेदव्यासकी कृपासे संजयकी दिव्यदृष्टि हो गयी। वे वहीं बैठे युद्धकी सारी बातें प्रत्यक्षकी भाँति जान लेते थे और इन्हें ज्यों-की-त्यों महाराज धृतराष्ट्रको सुना देते थे। कोसोंके विस्तारवाले कुरुक्षेत्रके मैदानमें जहाँ अठारह अक्षौहिणियाँ आपसमें जूझ रही थीं, कौन वीर कहाँ किस समय किससे लड़ रहा है, वह किस समय किसपर कितने और कौन-कौनसे अस्त्रोंका प्रयोग करता है, कितनी बार कितने पैंतरे बदलता है और किस प्रकार किस कौशलसे शत्रुका वार बचाता है, उसका कैसा रूप है और कैसा वाहन है—ये सब बातें ये एक ही जगह बैठे जान लेते थे। भगवद्गीताका उपदेश भी जिस प्रकार श्रीकृष्णने अर्जुनको दिया, वह सब इन्होंने अपने कानोंसे सुना (गीता १८। ७४-७५)। केवल सुना ही नहीं, उपदेश देते समय श्रीकृष्णकी जैसी मुखमुद्रा थी, जो भावभंगी थी तथा जो उनका रूप था, वह इन्हें प्रत्यक्षकी भाँति ही दिखायी देता था। इतना ही नहीं, जिस समय भगवान्ने अर्जुनको अपना विश्वरूप दिखलाया, जिसे अर्जुनके सिवा और किसीने पहले नहीं देखा था और जिसके सम्बन्धमें स्वयं भगवान्ने उनसे कहा कि 'वेद और यज्ञोंके अध्ययनसे, दानसे, क्रियाओंसे तथा उग्र तपस्याओंसे भी कोई दूसरा इस रूपका दर्शन नहीं कर सकता' (गीता ११। ४८)। उस समय संजयने भी उस रूपको उसी प्रकार देखा जिस प्रकार अर्जुन देख रहे थे। इसके बाद जब भगवान्ने अपने विश्वरूपको समेटकर अर्जुनको चतुर्भुजरूपमें दर्शन दिया, जिसका दर्शन भगवान्ने देवताओंके लिये भी दुर्लभ बतलाया है तथा जिसके सम्बन्धमें उन्होंने बताया कि तप, दान और यज्ञसे भी उसका दर्शन नहीं प्राप्त किया जा सकता (गीता ११। ५३), तब उसी दिव्य झाँकीका दर्शन महाभाग संजयको भी हस्तिनापुरसे बैठे ही प्राप्त हो गया। उसी प्रसंगमें भगवान्ने अर्जुनको यह भी बताया कि 'केवल अनन्यभक्तिसे ही मेरे इस रूपका दर्शन सम्भव है' (गीता ११। ५४)। इससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि संजयको भी भगवान्की वह अनन्यभक्ति प्राप्त थी, जिसके कारण इन्हें भगवान्की उस दिव्य झाँकीका दर्शन हो सका। गीता सुननेके बाद भी उस रूपकी स्मृति संजयके लिये एक अलौकिक आनन्दकी सामग्री हो गयी। इन्होंने स्वयं अपनी उस उल्लासपूर्ण स्थितिका वर्णन करते हुए कहा है—

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः॥[1]

(गीता १८। ७६-७७)

इससे यह सिद्ध होता है कि इनका श्रीकृष्ण और अर्जुनके प्रति जो श्रद्धा-प्रेम था, वह विवेकपूर्वक था; क्योंकि ये उनके यथार्थ प्रभावको भी जानते थे। इन्होंने युद्धके पूर्व ही उनकी विजय घोषित करते हुए कह दिया था—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥[2]

(गीता १८। ७८)

युद्ध-समाप्तिके बाद कुछ दिन महाराज युधिष्ठिरके पास रहकर जब धृतराष्ट्र-गान्धारी वनकी ओर जाने लगे, तब संजय भी उनके साथ हो लिये। वहाँ भी इन्होंने अपने स्वामीकी सब प्रकारसे सेवा की और जब इन्हें देवी गान्धारी और कुन्तीके सहित दावाग्निने घेर लिया, तब ये उन्हींकी आज्ञासे वनवासी मुनियोंको उनके शरीरत्यागकी बात कहनेके लिये उन्हें छोड़कर आश्रममें चले आये और वहाँसे हिमालयकी ओर चले गये। इस प्रकार संजयका जीवन भी एक महान् जीवन था। इनके जीवनसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि मनुष्य चाहे किसी भी वर्ण अथवा जातिका क्यों न हो, भगवान्की कृपासे वह कुछ-का-कुछ बन सकता है।

१-'हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस रहस्ययुक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवादको पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ। हे राजन्! श्रीहरिके उस अत्यन्त विलक्षण रूपको भी पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं बारंबार हर्षित हो रहा हूँ।'

२-'हे राजन्! जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन हैं, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है।'

भगवान् वेदव्यास

भगवान् वेदव्यास महर्षि पराशरके पुत्र हैं। ये कैवर्तराजकी पोष्यपुत्री सत्यवतीके गर्भसे जन्मे थे। व्यासजी एक अलौकिक शक्तिसम्पन्न महापुरुष हैं। ये एक महान् कारक पुरुष हैं। इन्होंने लोगोंकी धारणाशक्तिको क्षीण होते देख वेदोंके ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये चार विभाग किये और एक-एक संहिता अपने एक-एक शिष्यको पढ़ा दी। एक-एक संहिताकी फिर अनेकों शाखा-प्रशाखाएँ हुईं। इस प्रकार इन्हींके प्रयत्नसे वैदिक वाङ्मयका बहुविध विस्तार हुआ। व्यास कहते हैं विस्तारको; क्योंकि वेदोंका विस्तार इन्हींसे हुआ, इसलिये ये 'वेदव्यास' के नामसे प्रसिद्ध हुए। इनका जन्म एक द्वीपके अन्दर हुआ था और इनका वर्ण श्याम है; इसलिये इन्हें लोग 'कृष्णद्वैपायन' भी कहते हैं। बदरीवनमें रहनेके कारण इनका एक नाम 'बादरायण' भी है। अठारह पुराण एवं महाभारतकी रचना इन्हींके द्वारा हुई और संक्षेपमें उपनिषदोंका तत्त्व समझानेके लिये इन्होंने ब्रह्मसूत्रोंका निर्माण किया, जिनपर भिन्न-भिन्न आचार्योंने भिन्न-भिन्न भाष्योंकी रचना कर अपना-अपना अलग मत स्थापित किया। व्यासस्मृतिके नामसे इनका रचा हुआ एक स्मृतिग्रन्थ भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार भारतीय वाङ्मय एवं हिन्दू-संस्कृतिपर व्यासजीका बहुत बड़ा ऋण है। श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणोक्त सनातन धर्मके व्यासजी एक प्रधान व्याख्याता कहे जा सकते हैं। इनके उपकारसे हिन्दू-जाति कदापि उऋण नहीं हो सकती। जबतक हिन्दू-जाति और भारतीय संस्कृति जीवित है, तबतक इतिहासमें व्यासजीका नाम अमर रहेगा। ये जगत्‌के एक महान् पथ-प्रदर्शक और शिक्षक कहे जा सकते हैं। इसीसे इन्हें जगद्गुरु कहलानेका गौरव प्राप्त है। गुरुपूर्णिमा-(आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा-) के दिन प्रत्येक आस्तिक हिंदू गृहस्थ इनकी पूजा करता है। भगवद्गीता-जैसा अनुपम रत्न भी संसारको व्यासजीकी कृपासे ही प्राप्त हुआ। इन्होंने ही भगवान् श्रीकृष्णके उस अमर उपदेशको अपनी महाभारतसंहितामें ग्रथित कर उसे संसारके लिये सुलभ बना दिया।

महर्षि वेदव्यास त्रिकालदर्शी एवं इच्छागति हैं। वे प्रत्येकके मनकी बात जान लेते हैं और इच्छा करते ही जहाँ जाना चाहें वहीं पहुँच जाते हैं। ये जन्मते ही अपनी माताकी आज्ञा लेकर वनमें तपस्या करने चल दिये। जाते समय ये मातासे कह गये कि 'जब कभी तुम्हें मेरी आवश्यकता जान पड़े, तुम मुझे याद कर लेना। मैं उसी समय तुम्हारे पास चला आऊँगा।'

जब पाण्डव विदुरजीकी बतायी हुई युक्तिका अनुसरण कर लाक्षाभवनसे निकल भागे और एकचक्रा नगरीमें जाकर रहने लगे, उन दिनों व्यासजी उनके पास उनसे मिलनेके लिये गये और प्रसंगवश इन्होंने उन्हें द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनाकर यह बताया कि 'वह कन्या तुम्हीं लोगोंके लिये पहलेसे निश्चित है।' इस बातको सुनकर पाण्डवोंको बड़ी प्रसन्नता एवं उत्सुकता हुई और वे द्रुपदकुमारीके स्वयंवरमें सम्मिलित होनेके लिये पांचालनगरकी ओर चल पड़े। वहाँ जाकर जब अर्जुनने स्वयंवरकी शर्त पूरी करके द्रौपदीको जीत लिया और माता कुन्तीकी आज्ञासे पाँचों भाइयोंने उससे विवाह करना चाहा, तब राजा द्रुपदने इसपर आपत्ति की। उसी समय व्यासजी वहाँ आ पहुँचे और इन्होंने द्रुपदको द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनाकर पाँचों भाइयोंके साथ अपनी कन्याका विवाह करनेके लिये राजी कर लिया।

महाराज युधिष्ठिरने जब इन्द्रप्रस्थमें राजसूय यज्ञ किया,उस समय भी वेदव्यासजी यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये अपनी शिष्यमण्डलीके साथ पधारे थे। यज्ञ समाप्त होनेपर ये विदा होनेके लिये युधिष्ठिरके पास गये और बातों-ही-बातोंमें इन्होंने युधिष्ठिरको बतलाया कि 'आजसे तेरह वर्ष बाद क्षत्रियोंका महासंहार होगा, जिसमें दुर्योधनके अपराधसे तुम्हीं निमित्त बनोगे।'

× × × ×

पाण्डवोंका सर्वस्व छीनकर तथा उन्हें बारह वर्षोंकी लम्बी अवधिके लिये वन भेजकर भी दुर्योधनको सन्तोष नहीं हुआ। वह पाण्डवोंको वनमें ही मार डालनेकी घात सोचने लगा। अपने मामा शकुनि, कर्ण तथा दुःशासनसे सलाह करके उसने चुपचाप पाण्डवोंपर आक्रमण करनेका निश्चय किया और सब लोग शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित रथोंपर सवार होकर वनकी ओर चल पड़े। व्यासजीको अपनी दिव्यदृष्टिसे उनकी इस दुरभिसन्धिका पता लग गया। ये तुरंत उनके पास गये और उन्हें इस घोर दुष्कर्मसे मना किया। इसके बाद इन्होंने धृतराष्ट्रके पास जाकर उन्हें समझाया कि 'तुमने जुएमें हराकर पाण्डवोंको वनमें भेज दिया, यह अच्छा नहीं किया। इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। तुम यदि अपना तथा अपने पुत्रोंका हित चाहते हो तो अब भी सँभल जाओ। भला, यह कैसी बात है कि दुरात्मा दुर्योधन राज्यके लोभसे पाण्डवोंको मार डालना चाहता है। मैं कहे देता हूँ कि अपने इस लाडले बेटेको इस कामसे रोक दो। वह चुपचाप घर बैठा रहे। यदि उसने पाण्डवोंको मार डालनेकी चेष्टा की तो वह स्वयं अपने

प्राणोंसे हाथ धो बैठेगा। यदि तुम अपने पुत्रकी द्वेष-बुद्धि मिटानेकी चेष्टा नहीं करोगे तो बड़ा अनर्थ होगा। मेरी सम्मति तो यह है कि दुर्योधन अकेला ही वनमें जाकर पाण्डवोंके पास रहे। सम्भव है, पाण्डवोंके सत्संगसे उसका द्वेषभाव दूर होकर प्रेमभाव जाग्रत् हो जाय। परंतु यह बात है बहुत कठिन; क्योंकि जन्मगत स्वभावका बदल जाना सहज नहीं है। यदि तुम कुरुवंशियोंकी रक्षा और उनका जीवन चाहते हो तो अपने पुत्रसे कहो कि वह पाण्डवोंके साथ मेल कर ले।' व्यासजीने धृतराष्ट्रसे यह भी कहा कि 'थोड़ी ही देरमें महर्षि मैत्रेयजी यहाँ आनेवाले हैं। वे तुम्हारे पुत्रको पाण्डवोंसे मेल कर लेनेका उपदेश देंगे। वे जैसा कहें, बिना सोचे-विचारे तुमलोगोंको वैसा ही करना चाहिये। यदि उनकी बात नहीं मानोगे तो वे क्रोधवश शाप दे देंगे।' परन्तु दुष्ट दुर्योधनने उनकी बात नहीं मानी और फलतः उसे महर्षि मैत्रेयका कोपभाजन बनना पड़ा।

व्यासजी त्रिकालदर्शी तो हैं ही, इनकी सामर्थ्य भी अद्‌भुत है। जब पाण्डवलोग वनमें रहते थे, उस समय इन्होंने एक दिन उनके पास जाकर युधिष्ठिरके द्वारा अर्जुनको प्रतिस्मृति-विद्याका उपदेश दिया, जिससे उनमें देवदर्शनकी योग्यता आ गयी। इतना ही नहीं, इन्होंने संजयको दिव्यदृष्टि दे दी, जिसके प्रभावसे उन्हें केवल युद्धकी सारी बातोंका ही ज्ञान नहीं हुआ, बल्कि उनमें भगवान्‌के विश्वरूप एवं दिव्य चतुर्भुजरूपके देवदुर्लभ दर्शनकी योग्यता भी आ गयी और वे साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे भगवद्‌गीताके दिव्य उपदेशका भी श्रवण कर सके, जिसे अर्जुनके सिवा और कोई भी नहीं सुन पाया था। जिस दिव्यदृष्टिके प्रभावसे संजयमें इतनी बड़ी योग्यता आ गयी, उस दिव्यदृष्टिके प्रदान करनेवाले महर्षि वेदव्यासमें कितनी सामर्थ्य होगी—हमलोग इसका ठीक-ठीक अनुमान भी नहीं लगा सकते। ये साक्षात् भगवान् नारायणकी कला ही जो ठहरे।

× × × ×

एक बार जब धृतराष्ट्र और गान्धारी वनमें रहते थे और महाराज युधिष्ठिर भी अपने परिवारके साथ उनसे मिलनेके लिये गये हुए थे, व्यासजी वहाँ आये और यह देखकर कि धृतराष्ट्र और गान्धारीका पुत्रशोक अभीतक दूर नहीं हुआ है और कुन्ती भी अपने पौत्रोंके वियोगसे दुःखी है, इन्होंने धृतराष्ट्रसे वर माँगनेको कहा। राजा धृतराष्ट्रने उनसे यह जानना चाहा कि महाभारतयुद्धमें उनके जिन कुटुम्बियों और मित्रोंका नाश हुआ है, उनकी क्या गति हुई होगी; साथ ही उन्होंने व्यासजीसे उन्हें एक बार दिखला देनेकी प्रार्थना की। व्यासजीने उनकी प्रार्थनाको स्वीकार करते हुए गान्धारीसे कहा कि 'आज रातको ही तुम सब लोग अपने मृत बन्धुओंको उसी प्रकार देखोगे, जैसे कोई सोकर उठे हुए मनुष्योंको देखे!' सायंकालका नित्यकृत्य करके व्यासजीकी आज्ञासे सब लोग गंगातटपर एकत्रित हुए। व्यासजीने गंगाजीके पवित्र जलमें घुसकर पाण्डव एवं कौरवपक्षके योद्धाओंको जो युद्धमें मर गये थे; आवाज दी। उसी समय जलमें वैसा ही कोलाहल सुनायी दिया, जैसा कौरव एवं पाण्डवोंकी सेनाओंके एकत्र होनेपर कुरुक्षेत्रके मैदानमें सुन पड़ा था। इसके बाद भीष्म और द्रोणको आगे करके वे सब राजा और राजकुमार, जिन्होंने युद्धमें वीरगति प्राप्त की थी, सहसा जलमेंसे बाहर निकल आये। युद्धके समय जिस वीरका जैसा वेष था, जैसी ध्वजा थी, जो वाहन थे, वे सब ज्यों-के-त्यों वहाँ दिखायी दिये। वे दिव्य वस्त्र और दिव्य मालाएँ धारण किये हुए थे। सबने चमकते हुए कुण्डल पहन रखे थे और सबके शरीर दिव्य प्रभासे चम-चम कर रहे थे। सब-के-सब निर्वैर, निरभिमान, क्रोधरहित और डाहसे शून्य प्रतीत हुए थे। गन्धर्व उनका यश गा रहे थे और वन्दीजन स्तुति कर रहे थे। उस समय व्यासजीने धृतराष्ट्रको दिव्य नेत्र दे दिये, जिससे वे उन सारे योद्धाओंको अच्छी तरह देख सकें। वह दृश्य अद्‌भुत, अचिन्त्य और रोमांचकारी था। सब लोगोंने निर्निमेष नेत्रोंसे उस दृश्यको देखा। इसके बाद वे सब आये हुए योद्धा अपने-अपने सम्बन्धियोंसे क्रोध और वैर छोड़कर मिले। इस प्रकार रातभर प्रेमियोंका वह समागम जारी रहा। इसके बाद वे सब लोग जिस प्रकार आये थे, उसी प्रकार भागीरथीके जलमें प्रवेश करके अपने-अपने लोकोंमें चले गये। उस समय वेदव्यासजीने जिन स्त्रियोंके पति वीरगतिको प्राप्त हुए थे,उनको सम्बोधन करके कहा कि 'आपमेंसे जो कोई अपने पतिके लोकमें जाना चाहती हों, उन्हें गंगाजीके जलमें गोता लगाना चाहिये।' उनके इस वचनको सुनकर बहुत-सी स्त्रियाँ जलमें घुस गयीं और मनुष्य देहको छोड़कर अपने-अपने पतिके लोकमें चली गयीं। उनके पति जिस प्रकारके दिव्य वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित होकर आये थे, उसी प्रकारके दिव्य वस्त्राभूषणोंको धारणकर तथा विमानोंमें बैठकर वे अपने-अपने अभीष्ट स्थानोंमें पहुँच गयीं।

इधर राजा जनमेजयने वैशम्पायनजीके मुखसे जब यह अद्‌भुत वृत्तान्त सुना, तब उनके मनमें बड़ा कौतूहल हुआ और उन्होंने भी अपने स्वर्गवासी पिता महाराज परीक्षित्‌के दर्शन करने चाहे। व्यासजी वहाँ मौजूद ही थे। इन्होंने राजाकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये उसी समय राजा परीक्षित्‌को वहाँ बुला दिया। जनमेजयने यज्ञान्त स्नानके अवसरपर अपने

साथ अपने पिताको भी स्नान कराया और इसके बाद परीक्षित् वहाँसे चले गये। इस प्रकार महर्षि वेदव्यासने अपने अलौकिक सामर्थ्यका प्रकाश किया। महर्षि वेदव्यास वास्तवमें एक अद्भुत शक्तिशाली महापुरुष हैं। ये कल्पान्तजीवी कहे जाते हैं। अगले मन्वन्तरमें इनकी सप्तर्षियोंमें गणना होगी। ये आज भी इस लोकमें विद्यमान हैं और समय-समयपर अधिकारी पुरुषोंको दर्शन देकर कृतार्थ किया करते हैं। कहते हैं भगवान् आदि-शंकराचार्यको इनके दर्शन हुए थे। महाभारतके रचयिता इन्हीं महर्षिके पुनीत चरणोंमें मस्तक नवाकर हम अपने इस लेखको समाप्त करते हैं।

महाभारतकी महिमा

महाभारतका भारतीय वाङ्मयमें बहुत ऊँचा स्थान है। इसे पंचम वेद भी कहते हैं। इसका विद्वानोंमें वेदोंका-सा आदर है। इसमें अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—चारों ही पुरुषार्थोंका निरूपण किया गया है। धर्मके तो प्रायः सभी अंगोंका इसमें वर्णन है। वर्णाश्रमधर्म, राजधर्म, आपद्धर्म, दानधर्म, श्राद्धधर्म, स्त्रीधर्म, मोक्षधर्म आदि विविध धर्मोंका शान्तिपर्व एवं अनुशासनपर्वमें भीष्मजीके द्वारा बहुत विशद वर्णन किया गया है। भगवद्गीता-जैसा अनुपम ग्रन्थ, जिसे सारा संसार आदरकी दृष्टिसे देखता है और जिसे हम विश्वसाहित्यका सर्वोत्तम ग्रन्थ कहें तो भी कोई अत्युक्ति न होगी, इस महाभारतके भीष्मपर्वमें है। ज्ञान, कर्म और भक्तिका एक ही स्थानपर जैसा सुन्दर विवेचन गीतामें है, वैसा अन्यत्र शायद ही कहीं मिलेगा। भगवद्गीता स्वयं भगवान्की दिव्य वाणी जो ठहरी। इस प्रकार जिस ओरसे भी हम महाभारतपर दृष्टिपात करते हैं, उसे हम परमोपयोगी पाते हैं। महाभारतके सम्बन्धमें स्वयं व्यासजीने कहा है—

अष्टादशपुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः।
वेदाः सांगास्तथैकत्र भारतं चैकतः स्थितम्॥
यथा समुद्रो भगवान् यथा हि हिमवान् गिरिः।
ख्यातावुभौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते॥
इदं भारतमाख्यानं यः पठेत् सुसमाहितः।
स गच्छेत् परमां सिद्धिमिति मे नास्ति संशयः॥
यो गोशतं कनकशृंगमयं ददाति
विप्राय वेदविदुषे सुबहुश्रुताय।
पुण्यां च भारतकथां सततं शृणोति
तुल्यं फलं भवति तस्य च तस्य चैव॥

(महा०, स्वर्गा० ५। ४६, ६५-६६, ६८)

'अठारहों पुराण, सारे धर्मशास्त्र (स्मृतिग्रन्थ) तथा व्याकरण, ज्यौतिष, छन्दःशास्त्र, शिक्षा, कल्प एवं निरुक्त—इन छहों अंगोंसहित चारों वेद—ये सब मिलाकर एक ओर, और अकेला महाभारत एक ओर। अर्थात् वेद-वेदांग, पुराण एवं धर्मशास्त्रोंके अध्ययनसे जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह अकेले महाभारतके अध्ययनसे प्राप्त हो सकता है। जिस प्रकार भगवान् समुद्र और हिमालयपर्वत दोनोंको ही रत्नोंका आकर कहा गया है, उसी प्रकार यह महाभारत-ग्रन्थ भी उपदेश-रत्नोंकी खान कहा जाता है। एकाग्र मनसे जो इस महाभारत इतिहासका पाठ करता है, वह मोक्षरूप परम सिद्धि पाता है, मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं। जो मनुष्य वेदज्ञ और अनेक शास्त्रोंके जाननेवाले ब्राह्मणोंको सोनेसे मढ़े हुए सींगोंवाली सौ गौएँ दान करता है, उसको एवं जो सदा-सर्वदा महाभारतकी पुण्यमयी कथाका श्रवण करता है, उसको समान ही फल मिलता है।'

जिस महाभारतकी स्वयं वेदव्यासजीने ऐसी महिमा गायी है, उसका संसारमें मनोयोगपूर्वक जितना भी पठन-पाठन होगा, उतना ही जगत्का कल्याण होगा।

महाभारतके पढ़ने-सुननेका अधिकार मनुष्यमात्रको है। कोई किसी भी समुदाय अथवा जातिका क्यों न हो, वह महाभारतका अध्ययनकर उसमें आये हुए उत्तमोत्तम उपदेशोंको यथाधिकार आचरणमें लाकर अपना कल्याण कर सकता है। महाभारतकी रचना करनेमें वेदव्यासजीका प्रधान उद्देश्य यही था कि स्त्रियाँ, शूद्र और पतित आदि भी, जिन्हें शास्त्र—वेद पढ़नेकी आज्ञा नहीं देते, वेदोंके महत्त्वपूर्णज्ञानसे वंचित न रह जायँ। इसी अभिप्रायसे ऊपर महाभारतके माहात्म्यके श्लोकोंमें यह बात कही गयी है कि अकेले महाभारतके पढ़ लेनेसे ही वेद, वेदांग, पुराण एवं धर्मशास्त्रोंका ज्ञान हो सकता है। इससे वेदोंको नीचा बतलाना ग्रन्थकारका अभीष्ट नहीं है। वस्तुतः महाभारतमें जो कुछ कहा गया है, उसका आधार तो हमारे सर्वमान्य वेद और स्मृतियाँ ही हैं। वेदों और स्मृतियोंका ही तात्पर्य सरल एवं रोचक ढंगसे महाभारतमें वर्णित है।

महाभारत एक उच्चकोटिका काव्य तो है ही, वह सच्चा इतिहास भी है। वह उपन्यासोंकी भाँति कपोलकल्पित अथवा अतिरंजित नहीं है। जिन महर्षि वेदव्यासकी दी हुई दिव्य दृष्टिको पाकर संजय हस्तिनापुरमें बैठे हुए ही कुरुक्षेत्रमें होनेवाले युद्धकी छोटी-से-छोटी घटनाएँ ही नहीं, अपितु भगवान्का तत्त्व, प्रभाव एवं रहस्य तथा दूसरोंके मनकी बाततक जाननेमें समर्थ हो सके, उन्हीं महर्षिकी वाणीमें प्रमाद, असत्य एवं अतिशयोक्ति आदिकी

कल्पना भी नहीं करनी चाहिये। वे त्रिकालज्ञ तथा सर्वथा राग-द्वेषशून्य हैं। महाभारतके कलेवरके सम्बन्धमें भी लोग अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ किया करते हैं; परन्तु इस विषयमें मूलग्रन्थको ही हमें प्रमाण मानना चाहिये। महाभारतमें ही इसकी श्लोक-संख्या एक लाख बतलायी गयी है। विद्या-बुद्धिके भंडार स्वयं श्रीगणेशजीने इसे लिखा था और पूरे तीन वर्षोंमें यह ग्रन्थ तैयार हुआ था। फिर इसके विषयमें ऐसी शंका करना कि यह पूरा ग्रन्थ वेदव्यासजीका लिखा हुआ है या नहीं, कहाँतक युक्तियुक्त है।

पद्मपुराणकी महिमा

शास्त्रोंमें पुराणोंकी बड़ी महिमा है। उन्हें साक्षात् श्रीहरिका रूप बतलाया गया है। जिस प्रकार भगवान् श्रीहरि सम्पूर्ण जगत्को प्रकाश प्रदान करनेके लिये सूर्यका विग्रह धारण करके जगत्में विचर रहे हैं, उसी प्रकार वे सबके हृदयमें प्रकाश करनेके लिये इस जगत्में पुराणोंका रूप धारण करके मनुष्योंके हृदयमें विचर रहे हैं। अतः पुराण परम पवित्र हैं।[१] जिस प्रकार त्रैवर्णिकोंके लिये वेदोंका स्वाध्याय नित्य करनेकी विधि है, उसी प्रकार पुराणोंका श्रवण भी सबको नित्य करना चाहिये— **'पुराणं शृणुयान्नित्यम्'** (पद्म० स्वर्ग० ६२। ५८)। पुराणोंमें अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—चारोंका बहुत ही सुन्दर निरूपण हुआ है और चारोंका एक-दूसरेके साथ क्या सम्बन्ध है—इसे भी भलीभाँति समझाया गया है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥

(१। २। ९-१०)

'धर्म तो अपवर्ग (मोक्ष या भगवत्प्राप्ति) का साधक है। धन प्राप्त कर लेना ही उसका प्रयोजन नहीं है। धनका भी अन्तिम साध्य है धर्म, न कि भोगोंका संग्रह। यदि धनसे लौकिक भोगकी ही प्राप्ति हुई तो यह लाभकी बात नहीं मानी गयी है। भोग-संग्रहका भी प्रयोजन सदा इन्द्रियोंको तृप्त करते रहना ही नहीं है; अपितु जितनेसे जीवन-निर्वाह हो सके, उतना ही आवश्यक है। जीवके जीवनका भी मुख्य प्रयोजन भगवत्तत्त्वको जाननेकी सच्ची अभिलाषा ही है, न कि यज्ञादि कर्मोंद्वारा प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि सुखोंकी प्राप्ति।

यह तत्त्व-जिज्ञासा पुराणोंके श्रवणसे भलीभाँति जगायी जा सकती है। इतना ही नहीं, सारे साधनोंका फल है—भगवान्की प्रसन्नता प्राप्त करना। यह भगवत्प्रीति भी पुराणोंके श्रवणसे सहजमें ही प्राप्त की जा सकती है। पद्मपुराणमें लिखा है—

तस्माद्यदि हरेः प्रीतेरुत्पादे धीयते मतिः।
श्रोतव्यमनिशं पुम्भिः पुराणं कृष्णरूपिणः॥

(पद्म०, स्वर्ग० ६२। ६२)

'इसलिये यदि भगवान्को प्रसन्न करनेमें अपनी बुद्धिको लगाना हो तो सभी मनुष्योंको निरन्तर श्रीकृष्णरूपधारी भगवान्के स्वरूपभूत पुराणोंका श्रवण करना चाहिये।' इसीलिये पुराणोंका हमारे यहाँ इतना आदर रहा है।

वेदोंकी भाँति पुराण भी हमारे यहाँ अनादि माने गये हैं, उनका रचयिता कोई नहीं है। सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी भी उनका स्मरण ही करते हैं। पद्मपुराणमें लिखा है—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।

(पद्म०, सृष्टि० १। ४५)

इनका विस्तार सौ करोड़ (एक अरब) श्लोकोंका माना गया है—**'शतकोटिप्रविस्तरम्।'** उसी प्रसंगमें यह भी कहा गया है कि समयके परिवर्तनसे जब मनुष्यकी आयु कम हो जाती है और इतने बड़े पुराणोंका श्रवण और पठन एक जीवनमें मनुष्योंके लिये असम्भव हो जाता है, तब उनका संक्षेप करनेके लिये स्वयं सर्वव्यापी हिरण्यगर्भ भगवान् ही प्रत्येक द्वापरयुगमें व्यासरूपसे अवतीर्ण होते हैं और उन्हें अठारह भागोंमें बाँटकर चार लाख श्लोकोंमें सीमित कर देते हैं। पुराणोंका यह संक्षिप्त संस्करण ही भूलोकमें प्रकाशित होता है। कहते हैं स्वर्गादि लोकोंमें आज भी एक अरब श्लोकोंका विस्तृत पुराण विद्यमान है।[२] इस प्रकार भगवान् वेदव्यास भी पुराणोंके रचयिता

---

१. यथा सूर्यवपुर्भूत्वा प्रकाशाय चरेद्धरिः। सर्वेषां जगतामेव हरिरालोकहेतवे॥
तथैवान्तःप्रकाशाय पुराणावयवो हरिः। विचरेदिह भूतेषु पुराणं पावनं परम्॥ (पद्म० स्वर्ग० ६२।६०-६१)

२. कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य तदा विभुः। व्यासरूपस्तदा ब्रह्मा संग्रहार्थं युगे युगे॥
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे जगौ। तदाष्टादशधा कृत्वा भूलोकेऽस्मिन् प्रकाशितम्॥
अद्यापि देवलोकेषु शतकोटिप्रविस्तरम्। (पद्म० सृष्टि० १।५१—५३)

नहीं, अपितु संक्षेपक अथवा संग्राहक ही सिद्ध होते हैं। इसीलिये पुराणोंको 'पंचम वेद' कहा गया है—'**इतिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम्**' (छान्दोग्योपनिषद् ७। १। २)। उपर्युक्त उपनिषद्वाक्यके अनुसार यद्यपि इतिहास-पुराण दोनोंको ही 'पंचम वेद' की गौरवपूर्ण उपाधि दी गयी है, फिर भी वाल्मीकीय रामायण और महाभारत, जिनकी इतिहास संज्ञा है, क्रमशः महर्षि वाल्मीकि तथा वेदव्यासद्वारा प्रणीत होनेके कारण पुराणोंकी अपेक्षा अर्वाचीन ही हैं। इस प्रकार पुराणोंकी पुराणता सर्वापेक्षया प्राचीनता सुतरां सिद्ध हो जाती है। इसीलिये वेदोंके बाद पुराणोंका ही हमारे यहाँ सबसे अधिक सम्मान है; बल्कि कहीं-कहीं तो उन्हें वेदोंसे भी अधिक गौरव दिया गया है। पद्मपुराणमें ही लिखा है—

यो विद्याच्चतुरो वेदान् सांगोपनिषदो द्विजः।
पुराणं च विजानाति यः स तस्माद्विचक्षणः॥

(सृष्टि० २। ५०-५१)

'जो ब्राह्मण अंगों एवं उपनिषदोंसहित चारों वेदोंका ज्ञान रखता है, उससे भी बड़ा विद्वान् वह है, जो पुराणोंका विशेष ज्ञाता है।'

यहाँ श्रद्धालुओंके मनमें स्वाभाविक ही यह शंका हो सकती है कि उपर्युक्त श्लोकोंमें वेदोंकी अपेक्षा भी पुराणोंके ज्ञानको श्रेष्ठ क्यों बतलाया है। इस शंकाका दो प्रकारसे समाधान किया जा सकता है। पहली बात तो यह है कि उपर्युक्त श्लोकके '**विद्यात्**' और '**विजानाति**'— इन दो क्रियापदोंपर विचार करनेसे यह शंका निर्मूल हो जाती है। बात यह है कि ऊपरके वचनमें वेदोंके सामान्य ज्ञानकी अपेक्षा पुराणोंके विशिष्ट ज्ञानका वैशिष्ट्य बताया गया है, न कि वेदोंके सामान्य ज्ञानकी अपेक्षा पुराणोंके सामान्य ज्ञानका अथवा वेदोंके विशिष्ट ज्ञानकी अपेक्षा पुराणोंके विशिष्ट ज्ञानका। पुराणोंमें जो कुछ है, वह वेदोंका ही तो विस्तार—विशदीकरण है। ऐसी दशामें पुराणोंका विशिष्ट ज्ञान वेदोंका ही विशिष्ट ज्ञान है और वेदोंका विशिष्ट ज्ञान वेदोंके सामान्य ज्ञानसे ऊँचा होना ही चाहिये। दूसरी बात यह है कि जो बात वेदोंमें सूत्ररूपसे कही गयी है, वही पुराणोंमें विस्तारसे वर्णित है। उदाहरणके लिये परम तत्त्वके निर्गुण-निराकार रूपका तो वेदों (उपनिषदों)-में विशद वर्णन मिलता है, परन्तु सगुण-साकार तत्त्वका बहुत ही संक्षेपमें कहीं-कहीं वर्णन मिलता है। ऐसी दशामें जहाँ पुराणोंके विशिष्ट ज्ञाताको सगुण-निर्गुण दोनों तत्त्वोंका विशिष्ट ज्ञान होगा, वेदोंके सामान्य ज्ञाताको प्रायः निर्गुण-निराकारका ही सामान्य ज्ञान होगा। इस प्रकार उपर्युक्त श्लोककी संगति भलीभाँति बैठ जाती है और पुराणोंकी जो महिमा शास्त्रोंमें वर्णित है, वह अच्छी तरह समझमें आ जाती है। अस्तु,

पुराणोंमें पद्मपुराणका स्थान भी बहुत ऊँचा है। इसे श्रीभगवान्के पुराणरूप विग्रहका हृदयस्थानीय माना गया है—'**हृदयं पद्मसंज्ञकम्**' (पद्म० स्वर्ग० ६२। २)। वैष्णवोंका तो यह सर्वस्व ही है। इसमें भगवान् विष्णुका माहात्म्य विशेषरूपसे वर्णित होनेके कारण ही यह वैष्णवोंको अधिक प्रिय है। परन्तु पद्मपुराणके अनुसार सर्वोपरि देवता भगवान् विष्णु होनेपर भी उनका ब्रह्माजी तथा भगवान् शंकरके साथ अभेद प्रतिपादित हुआ है। उसके अनुसार स्वयं भगवान् विष्णु ही ब्रह्मा होकर संसारकी सृष्टिमें प्रवृत्त होते हैं तथा जबतक कल्पकी स्थिति बनी रहती है, तबतक वे भगवान् विष्णु ही युग-युगमें अवतार धारण करके समूची सृष्टिकी रक्षा करते हैं। पुनः कल्पका अन्त होनेपर वे ही अपना तमोलीलात्मक रुद्ररूप प्रकट करते हैं और अत्यन्त भयानक आकार धारण करके सम्पूर्ण प्राणियोंका संहार करते हैं। इस प्रकार सब भूतोंका नाश करके संसारको एकार्णवके जलमें निमग्नकर वे सर्वरूपधारी भगवान् स्वयं शेषनागकी शय्यापर शयन करते हैं। पुनः जागनेपर महासर्गके आदिमें ब्रह्माका रूप धारण करके वे जीवोंके पूर्वकर्मानुसार फिर नये सिरेसे संसारकी सृष्टि करने लगते हैं। इस तरह एक ही भगवान् जनार्दन सृष्टि, पालन और संहार करनेके कारण ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव नाम धारण करते हैं।[१] पद्मपुराणमें तो भगवान् श्रीकृष्णके यहाँतक वचन हैं—'सूर्य, शिव, गणेश, विष्णु और शक्तिके उपासक सभी मुझको ही प्राप्त होते हैं। जैसे वर्षाका जल सब ओरसे समुद्रमें ही जाता है, वैसे ही इन पाँचों रूपोंके उपासक मेरे ही पास आते हैं। वस्तुतः मैं एक ही हूँ। लीलाके अनुसार विभिन्न नाम धारणकर पाँच रूपोंमें प्रकट हूँ। जैसे एक ही देवदत्त नामक व्यक्ति पुत्र-पिता आदि अनेक नामोंसे पुकारा जाता है, वैसे ही लोग मुझको भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारते हैं।'[२] ऐसी ही

१-सृष्टिस्थित्यन्तकरणाद्ब्रह्माविष्णुशिवात्मकः।स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥ (पद्म०, सृष्टि० २। ११४)
२-सौराश्च शैवा गाणेशा वैष्णवा:शक्तिपूजकाः।मामेव प्राप्नुवन्तीह वर्षापः सागरं यथा॥
एकोऽहं पंचधा जातः क्रीडया नामभि:किल।देवदत्तो यथा कश्चित् पुत्राद्याह्वाननामभिः॥ (पद्म०, उत्तर० ९०। ६३-६४)

बातें अन्यान्य पुराणोंमें भी पायी जाती हैं। वैष्णवपुराणोंमें भगवान् विष्णु एवं ब्रह्माको शंकरसे अभिन्न माना गया है। अतएव जो लोग पुराणोंमें साम्प्रदायिकताकी गन्ध पाते हैं, वे वास्तवमें भूल करते हैं—यही प्रमाणित होता है।

पद्मपुराणमें भगवान् विष्णुके माहात्म्यके साथ-साथ भगवान् श्रीराम तथा श्रीकृष्णके अवतार-चरित्रों तथा उनके परात्पर रूपका भी विशदरूपसे वर्णन हुआ है। पातालखण्डमें भगवान् श्रीरामके अश्वमेध यज्ञकी कथाका तो बहुत ही विस्तृत और अद्‌भुत वर्णन है। इतना ही नहीं, उसमें श्रीधाम श्रीअयोध्या और श्रीवृन्दावनका माहात्म्य, श्रीराधा-कृष्ण एवं उनके पार्षदोंका वर्णन, वैष्णवोंकी द्वादशशुद्धि, पाँच प्रकारकी पूजा, शालग्रामके स्वरूप और महिमाका वर्णन, तिलककी विधि, भगवत्सेवा-अपराध और उनसे छूटनेके उपाय, तुलसी-वृक्ष तथा भगवन्नाम-कीर्तनकी महिमा, भगवान्‌के चरण-चिह्नोंका परिचय तथा प्रत्येक मासमें भगवान्‌की विशेष आराधनाका वर्णन, मन्त्रचिन्तामणिका उपदेश तथा उसके ध्यान आदिका वर्णन, दीक्षा-विधि, निर्गुण एवं सगुण-ध्यानका वर्णन, भगवद्भक्तिके लक्षण, वैशाख-मासमें माधव-पूजनकी महिमा, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़में जलस्थ श्रीहरिके पूजनका माहात्म्य, अश्वत्थकी महिमा, भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान, पवित्रारोपणकी विधि, महिमा तथा भिन्न-भिन्न मासोंमें श्रीहरिकी पूजामें काम आनेवाले विविध पुष्पोंका वर्णन, बदरिकाश्रम तथा नारायणकी महिमा, गंगाकी महिमा, त्रिरात्र तुलसीव्रतकी विधि और महिमा, गोपीचन्दनके तिलककी महिमा, जन्माष्टमीव्रतकी महिमा, सभी महीनोंकी एकादशियोंके नाम तथा माहात्म्य, एकादशीकी विधि, उत्पत्ति-कथा और महिमाका वर्णन, भगवद्भक्तिकी श्रेष्ठता, वैष्णवोंके लक्षण और महिमा, भगवान् विष्णुके दसों अवतारोंकी कथा, श्रीनृसिंहचतुर्दशीके व्रतकी महिमा, श्रीमद्भगवद्गीताके अठारहों अध्यायोंका अलग-अलग माहात्म्य, श्रीमद्भागवतका माहात्म्य तथा श्रीमद्भागवतके सप्ताह-पारायणकी विधि, नीलाचलनिवासी भगवान् पुरुषोत्तमकी महिमा आदि-आदि ऐसे अनेकों विषयोंका समावेश हुआ है, जो वैष्णवोंके लिये बड़े ही महत्त्वके हैं। इसीलिये वैष्णवोंमें पद्मपुराणका विशेष समादर है।

इनके अतिरिक्त सृष्टि-क्रमका वर्णन, युग आदिका काल-मान, ब्रह्माजीके द्वारा रचे हुए विविध सर्गोंका वर्णन, मरीचि आदि प्रजापति, रुद्र तथा स्वायम्भुव मनु आदिकी उत्पत्ति और उनकी सन्तान-परम्पराका वर्णन, देवता, दानव, गन्धर्व, नाग और राक्षसोंकी उत्पत्तिका वर्णन, मरुद्गणोंकी उत्पत्ति तथा चौदह मन्वन्तरोंका वर्णन, पृथुके चरित्र तथा सूर्यवंशका वर्णन, पितरों तथा श्राद्धके विभिन्न अंगोंका वर्णन, श्राद्धोपयोगी तीर्थोंका वर्णन, विविध श्राद्धोंकी विधि, चन्द्रमाकी उत्पत्ति, पुष्कर आदि विविध तीर्थोंकी महिमा तथा उन तीर्थोंमें वास करनेवालोंके द्वारा पालनीय नियम आश्रम-धर्मका निरूपण, अन्न-दान एवं दम आदि धर्मोंकी प्रशंसा, नाना प्रकारके व्रत, स्नान और तर्पणकी विधि, तालाबोंकी प्रतिष्ठा, वृक्षारोपणकी विधि, सत्संगकी महिमा, उत्तम ब्राह्मण तथा गायत्री-मन्त्रकी महिमा, अधम ब्राह्मणोंका वर्णन, ब्राह्मणोंके जीविकोपयोगी कर्म और उनका महत्त्व तथा गौओंकी महिमा और गो-दानका फल, द्विजोचित आचार तथा शिष्टाचारका वर्णन, पितृ-भक्ति, पातिव्रत्य, समता, अद्रोह और विष्णु-भक्तिरूप पाँच महायज्ञोंके विषयमें पाँच आख्यान, पतिव्रताकी महिमा और कन्यादानका फल, सत्य-भाषणकी महिमा, पोखरे खुदाने, वृक्ष लगाने, पीपलकी पूजा करने, पौंसले चलाने, गोचर-भूमि छोड़ने, देवालय बनवाने और देवताओंकी पूजा करनेका माहात्म्य, रुद्राक्षकी उत्पत्ति और महिमा, श्रीगंगाजीकी उत्पत्ति, गणेशजीकी महिमा और उनकी स्तुति एवं पूजाका फल, मनुष्य-योनिमें उत्पन्न हुए दैत्य एवं देवताओंके लक्षण, भगवान् सूर्यका तथा संक्रान्तिमें दानका माहात्म्य, भगवान् सूर्यकी उपासना और उसका फल, विविध प्रकारके पुत्रोंका वर्णन, ब्रह्मचर्य, सांगोपांग धर्म तथा धर्मात्मा एवं पापियोंकी मृत्युका वर्णन, नैमित्तिक तथा आभ्युदयिक दानोंका वर्णन, देहकी उत्पत्ति, उसकी अपवित्रता, जन्म-मरण और जीवनके कष्ट तथा संसारकी दुःखरूपताका वर्णन, पापों और पुण्योंके फलोंका वर्णन, नरक और स्वर्गमें जानेवाले पुरुषोंका वर्णन, ब्रह्मचारीके पालन करनेयोग्य नियम, ब्रह्मचारी शिष्यके धर्म, स्नातक एवं गृहस्थके धर्मोंका वर्णन, गृहस्थधर्ममें भक्ष्याभक्ष्यका विचार तथा दान-धर्मका वर्णन, वानप्रस्थ एवं संन्यास-आश्रमके धर्मोंका वर्णन, संन्यासीके नियम, स्त्री-संगकी निन्दा, भजनकी महिमा, ब्राह्मण, पुराण और गंगाकी महत्ता, जन्मादिके दुःख तथा हरिभजनकी आवश्यकता, तीर्थ-यात्राकी विधि, माघ, वैशाख तथा कार्तिक मासोंका माहात्म्य, यमराजकी आराधना, गृहस्थाश्रमकी प्रशंसा, दीपावली-कृत्य, गोवर्धन-पूजा तथा यम-द्वितीयाके दिन करनेयोग्य कृत्योंका वर्णन, वैराग्यसे भगवद्भजनमें प्रवृत्ति आदि-आदि अनेकों सर्वोपयोगी तथा सबके लिये ज्ञातव्य एवं धारण करने योग्य विषयोंका वर्णन हुआ है, जिनके कारण पद्मपुराण आस्तिक हिंदूमात्रके लिये परम आदरकी वस्तु है।

मार्कण्डेयपुराणपर एक विहंगम-दृष्टि

पुराणोंका महत्त्व एवं मार्कण्डेयपुराणकी परम्परा

मार्कण्डेयपुराणमें महामुनि मार्कण्डेयका ब्राह्मणकुमार क्रौष्टुकिके साथ संवाद है, इसीलिये इस पुराणको मार्कण्डेयपुराण कहते हैं। पुराणोंसे ही इस बातका पता चलता है कि उनमें वेदोंका ही विस्तार होनेसे उनका महत्त्व जो है, सो तो है ही; उनका स्वतन्त्र प्रामाण्य भी है। क्योंकि वेदोंके समान पुराण भी अनादि हैं; उनका कोई रचयिता नहीं है, ब्रह्माजीके प्रकट होनेके साथ ही वेदोंकी भाँति वे भी उनके मुखोंसे प्रकट होते हैं। इस प्रकार जगत्पिता ब्रह्माजी भी उनके रचयिता नहीं, प्रकट करनेवाले, आविष्कारक ही हैं। श्रीकृष्ण- द्वैपायनादि महर्षि तो समय-समयपर वेदोंके विभागके साथ-साथ पुराणोंका संकलन, संग्रह अथवा सम्पादनमात्र करते हैं। कहते हैं कि इस पुराणको पहले-पहल ब्रह्माजीके मनसे उत्पन्न हुए भृगु आदि महर्षियोंने अपनाया। भृगुसे उनके पुत्र च्यवनने और च्यवनसे उसे ब्रह्मर्षियोंने प्राप्त किया। फिर उन्होंने दक्षको उपदेश दिया और दक्षने इसे मार्कण्डेयजीको सुनाया। उसी पुराणको मार्कण्डेयजीने क्रौष्टुकिसे कहा और इस प्रकार इसका नाम मार्कण्डेयजीके साथ सम्बद्ध हो गया।

चार ज्ञानी पक्षियोंकी कथा

इसके पूर्व इस पुराणमें व्यासजीके शिष्य प्रसिद्ध मीमांसाकार महातेजस्वी जैमिनिका चार पक्षियोंके साथ महाभारतके कुछ प्रधान विषयोंपर प्रश्नोत्तर है। ये चारों पक्षी तत्त्वज्ञानी ही नहीं, शास्त्रोंके भी मर्मज्ञ थे—ब्रह्मनिष्ठ होनेके साथ-साथ शब्दब्रह्ममें भी निष्णात थे। ये पूर्वजन्मके ऋषि थे और शापके कारण पक्षियोनिको प्राप्त हुए थे। इनका जन्म भी विचित्र परिस्थितिमें हुआ था। महाभारतयुद्धका समय था। इन पक्षियोंकी माता दैववश युद्धक्षेत्रमें जा पहुँची। उस समय अर्जुन और भगदत्तमें युद्ध छिड़ा हुआ था। संयोगवश अर्जुनका एक बाण उस पक्षिणीको लगा, जिससे उसका पेट फट गया और उसमेंसे चार अंडे पृथ्वीपर गिरे। उनकी आयु शेष थी, अतः वे फूटे नहीं। बल्कि पृथ्वीपर ऐसे गिरे, मानो रूईके ढेरपर पड़े हों। उन अंडोंके गिरते ही भगदत्तके हाथीकी पीठसे एक बहुत बड़ा घंटा भी टूटकर गिरा, जिसका बन्धन बाणोंके आघातसे कट गया था। यद्यपि वह अंडोंके साथ ही गिरा था, तथापि उन्हें चारों ओरसे ढकता हुआ गिरा और धरतीमें थोड़ा-थोड़ा धँस भी गया। इस प्रकार उन अंडोंकी बड़े विचित्र ढंगसे रक्षा हो गयी। शास्त्रोंमें ठीक ही कहा है—'**अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।**' दैव—भगवान्‌की अलौकिक शक्ति जिसकी रक्षामें नियुक्त है, उसका भला क्या बिगड़ सकता है। और जिसकी आयु शेष हो चुकी है, उसकी कितनी ही रक्षा की जाय—वह बच नहीं सकता। अस्तु;

युद्ध समाप्त हो गया। अंडे घंटेके भीतर ही पृथ्वीका और सूर्यका ताप पाकर पक गये और उनमेंसे पक्षिशावक निकल आये। इधर दैवकी प्रेरणासे एक ऋषि उधर जा निकले। उन्होंने घंटेमेंसे बच्चोंकी आवाज सुनकर कौतूहलवश घंटेको उखाड़ लिया और उन बच्चोंको अपने आश्रममें ले जाकर एक सुरक्षित स्थानमें रखवा दिया। उन्होंने अपने शिष्योंसे कहा कि 'ये कोई सामान्य पक्षी नहीं हैं। संसारमें दैवका अनुकूल होना महान् सौभाग्यका सूचक होता है।' उन्होंने यह भी कहा कि 'यद्यपि किसीकी रक्षाके लिये अधिक प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं है—क्योंकि सभी जीव अपने कर्मोंसे ही मारे जाते हैं और कर्मोंसे ही उनकी रक्षा होती है—फिर भी मनुष्यको शुभकार्यके लिये यत्न अवश्य करना चाहिये; क्योंकि पुरुषार्थ करनेवाला (असफल होनेपर भी) निन्दाका पात्र नहीं होता।' इस प्रकार उन पक्षियोंके जन्म-वृत्तान्तसे बड़ी सुन्दर शिक्षा मिलती है।

पक्षियोंके पूर्वजन्मका वृत्तान्त तथा शरणागतवत्सलताका अपूर्व उदाहरण

पक्षी जब कुछ बड़े हुए, तब वे सहसा मनुष्योंकी भाँति बोलने लगे। उन्होंने अपने पालक ऋषिको अपने पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनाया और अपने पक्षियोनिमें आनेका कारण भी बताया। उन्हें अपने पूर्वजन्मकी बातें भलीभाँति याद थीं। उन्होंने कहा कि वे पूर्वजन्ममें ऋषिकुमार थे। उनके पिता बड़े भारी तपस्वी, उदारचेता और इन्द्रियजयी थे। एक दिनकी बात है—देवराज इन्द्र उनकी परीक्षाके लिये एक विशालकाय वृद्ध पक्षीका रूप धारणकर उनके पास आये और बोले—'मुझे बड़ी भूख लगी है।' शरणागतवत्सल मुनिके पूछनेपर कि उसके लिये कैसे आहारकी व्यवस्था की जाय, पक्षीने बताया कि मुझे मनुष्यका मांस विशेष प्रिय है। ऋषि वचनबद्ध थे, इसलिये उन्होंने अपने वचनका पालन करनेके लिये उसी समय अपने चारों पुत्रोंको बुलाया और उन्हें आज्ञा दी कि वे अपने शरीरके मांससे पक्षीकी क्षुधाको शान्त करें। ऋषिकुमार पिताकी इस कठोर आज्ञाका पालन करनेके लिये तैयार नहीं हुए। इसपर पिताने उन्हें पक्षी होनेका शाप दिया और स्वयं अपनी अन्त्येष्टि क्रिया करके उस पक्षीका आहार बननेके लिये तैयार हो गये। उन्होंने उस समय पक्षीसे जो वचन कहे, वे सबके लिये हृदयमें धारण करनेयोग्य हैं। उन्होंने कहा—'ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व इसीमें है कि वह अपने वचनका

पूर्णरूपसे पालन करे। दक्षिणायुक्त यज्ञों तथा अन्य कर्मोंके अनुष्ठानसे भी ब्राह्मणोंको वह पुण्य नहीं प्राप्त होता, जो सत्यकी रक्षासे होता है।' तब इन्द्र अपने रूपमें प्रकट होकर बोले कि 'मैंने आपकी परीक्षाके लिये पक्षीका रूप धारण किया था, इसके लिये मुझे क्षमा करें।' अतिथिवत्सलता और सत्यकी रक्षाके समान और कोई महान् तप नहीं है। सत्यकी रक्षाके लिये ऋषिने अपने प्राणोपम पुत्रोंकी भी परवा नहीं की और अपना शरीर भी अतिथिके अर्पण कर दिया। धन्य त्याग! आज यह त्यागकी भावना हमारे देशसे उठती जा रही है, इसीलिये हमारी यह दुर्दशा हो रही है। जबसे हमें धर्मकी अपेक्षा प्राण अधिक प्यारे लगने लगे, तभीसे हमारा पतन प्रारम्भ हो गया। अस्तु, इस प्रकार यद्यपि पिताके शापसे वे ऋषिकुमार पक्षी हो गये, फिर भी पिताकी कृपासे उन्हें ज्ञान बना रहा और अन्तमें उस ज्ञानके बलसे उन्होंने परम सिद्धि प्राप्त की।

भोगोंके बाहुल्यसे पापमें प्रवृत्ति और पापाचारसे हानि

महामुनि जैमिनिने उन महाज्ञानी पक्षियोंसे जो प्रश्न किये, उनमें एक प्रश्न यह था कि 'सती-शिरोमणि द्रौपदी पाँच भाइयोंकी पत्नी कैसे हुई?' इस प्रकारकी शंका आजकल भी महारानी द्रौपदीके सम्बन्धमें की जाती है। पक्षियोंने इसका बड़ा सुन्दर उत्तर दिया। उन्होंने बताया कि प्राचीन कालकी बात है, देवराज इन्द्रने त्वष्टा प्रजापतिके पुत्र विश्वरूपको मार डाला। इस अन्यायके कारण इन्द्रका तेज धर्मराजके शरीरमें प्रवेश कर गया। दूसरी बार उन्होंने विश्वरूपके भाई वृत्रका वध किया और इस ब्रह्महत्याके फलस्वरूप उनका सारा बल नष्ट होकर वायुदेवतामें समा गया। तीसरी बार जब इन्द्रने महर्षि गौतमका रूप धारण करके उनकी धर्मपत्नी अहल्याका सतीत्व नष्ट किया, उस समय उनका रूप भी नष्ट हो गया। उनके अंग-प्रत्यंगका लावण्य, जो बड़ा ही मनोरम था, व्यभिचार-दोषसे दूषित देवराज इन्द्रको छोड़कर दोनों अश्विनीकुमारोंके पास चला गया। इस प्रकार इन्द्र अपने धर्म, तेज, बल और रूपसे हाथ धो बैठे। इस आख्यानसे हमें दो शिक्षाएँ मिलती हैं—एक तो यह कि भोगोंका बाहुल्य होनेपर देवताओंकी बुद्धि भी मारी जाती है। वास्तवमें अर्थ ही अनर्थकी जड़ है। शास्त्रोंने ठीक ही कहा है—

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥

'जवानी, धन, प्रभुता और अविवेक—इनमेंसे एक-एक भी अनर्थका मूल है। फिर जहाँ इन चारोंकी चण्डालचौकड़ी एकत्र हो जाय, वहाँ तो फिर कहना ही क्या।'

दूसरी शिक्षा यह मिलती है कि परस्त्रीगमनरूप व्यभिचारसे पुरुष धर्म, तेज, बल, और रूप—चारों गवाँ बैठता है, चाहे वह इन्द्र ही क्यों न हो। अतः जो इन चारोंको बनाये रखना चाहता है, उसे परस्त्रीगमनरूप पापसे सदा बचते रहना चाहिये। अस्तु,

द्रौपदीके पाँच पति वस्तुतः एक ही व्यक्ति थे

इन्द्रको धर्म, तेज, बल और रूपसे हीन देख दैत्योंने उन्हें जीतनेका उद्योग आरम्भ किया। उन दिनों पृथ्वीपर जो अधिक पराक्रमी राजा थे, उन्हींके कुलमें देवराजको जीतनेकी इच्छा रखनेवाले अत्यन्त बलशाली दैत्य उत्पन्न हुए। देखते-देखते पृथ्वी उनके भारसे आक्रान्त हो गयी और देवताओंके पास जाकर उसने उन्हें अपनी दुःखगाथा सुनायी। उसकी प्रार्थनापर सम्पूर्ण देवता अपने-अपने तेजके अंशसे पृथ्वीपर अवतार लेने लगे। इन्द्रके शरीरसे जो तेज प्राप्त हुआ था, उसे स्वयं धर्मराजने कुन्तीदेवीके गर्भमें स्थापित किया। उसीसे महातेजस्वी राजा युधिष्ठिरका जन्म हुआ। फिर वायुदेवताने इन्द्रके ही बलको कुन्तीके उदरमें स्थापित किया। उससे भीम उत्पन्न हुए। इन्द्रके आधे अंशसे अर्जुनका जन्म हुआ। इसी प्रकार इन्द्रका ही सुन्दर रूप अश्विनी-कुमारों द्वारा माद्रीके गर्भमें स्थापित किया गया था, जिससे अत्यन्त कान्तिमान् नकुल और सहदेव उत्पन्न हुए। इस प्रकार देवराज इन्द्र ही पाँच रूपोंमें अवतीर्ण हुए थे और उनकी पत्नी शचीदेवी ही महाभागा कृष्णा (द्रौपदी)-के रूपमें होमकी अग्निसे प्रकट हुई थीं। अतः कृष्णा एकमात्र इन्द्रकी ही पत्नी थी, अन्य किसीकी नहीं। योगीश्वर भी योगबलसे एक ही कालमें अनेक शरीर धारण कर लेते हैं। फिर इन्द्र तो देवता थे, उनके पाँच शरीर धारण करनेमें कौन आश्चर्य है? द्रौपदीके पाँच पति होनेपर भी वह पतिव्रताओंमें अग्रगण्य कहलायी, इसका यही रहस्य है। शास्त्रोंका तात्पर्य भलीभाँति न जाननेके कारण ही हमारे इतिहासके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी शंकाएँ उठायी जाती हैं।

महाराज हरिश्चन्द्रका सत्य-पालनके लिये कष्ट भोगना

इसके अनन्तर इक्ष्वाकुवंशी महाराज हरिश्चन्द्रका प्रसिद्ध आख्यान है। महाराज हरिश्चन्द्र बड़े धर्मात्मा थे। उनके राज्यकालमें कभी अकाल नहीं पड़ा, किसीको रोग नहीं हुआ, कोई भी अकालमृत्युसे नहीं मरा और पुरवासियोंकी कभी अधर्ममें रुचि नहीं हुई। लोकोक्ति प्रसिद्ध है—*'यथा राजा तथा प्रजा।'* बातों-ही-बातोंमें राजाने महर्षि विश्वामित्रको अपनी स्त्री, पुत्र, धर्म और शरीरको छोड़कर बाकी सब कुछ दे दिया; और जिस समय उन्होंने यह महान् दान दिया, उस समय उनके मुखपर विषाद अथवा

चिन्ताका कोई चिह्न न था। धन्य उदारता! यही नहीं, ऋषिकी आज्ञासे उन्होंने राजोचित वेषका भी परित्याग कर दिया और वे वल्कल-वस्त्र धारणकर अपनी पत्नी और कुमारके साथ राजधानीसे चल दिये। ऋषिने इसपर भी उनका पिण्ड नहीं छोड़ा। उन्होंने राजासे राजसूय-यज्ञकी दक्षिणा माँगी और राजाने एक महीने बाद उसे देनेका वचन दिया। राजाको इस प्रकार अपनी रानी और सुकुमार बच्चेके साथ पैदल जाते देख उनकी समस्त प्रजा व्याकुल हो उठी। उनके आश्वासनके लिये राजा थोड़ी देर रुक गये। इसपर विश्वामित्रको बड़ा क्रोध आया और उन्होंने राजाको बहुत कुछ बुरा-भला कहा। परन्तु धर्मभीरु राजा धैर्यपूर्वक सब कुछ सहते रहे, उन्होंने चूँतक नहीं की।

हरिश्चन्द्रका स्त्री-पुत्रसहित अपनेको बेच देना

राजा घूमते-घूमते काशी पहुँचे। उन्होंने सोचा—'काशी भगवान् विश्वनाथकी पुरी है, इसपर किसी मनुष्यका अधिकार नहीं हो सकता। इस प्रकार यह नगरी अवश्य मेरे राज्यकी सीमासे बाहर है, अत: यहाँ रहनेमें मेरे लिये कोई आपत्तिकी बात नहीं हो सकती।' यह सोचकर ज्यों ही उन्होंने नगरमें प्रवेश किया, त्यों ही उन्हें विश्वामित्र दिखायी दिये। दक्षिणाके लिये उनका बेहद तकाजा देखकर राजाने निरुपाय हो अपनेको बेचनेका निश्चय किया। किन्तु रानीका बहुत अधिक आग्रह देख पहले उन्होंने रानीको ही एक ब्राह्मणके हाथ बेच दिया। परन्तु बालक रोहिताश्व किसी प्रकार भी अपनी माताको छोड़ नहीं रहा था; इसपर रानीने बिलखकर ब्राह्मणसे उस बालकको भी खरीद लेनेके लिये प्रार्थना की और वे दोनों उसके साथ हो लिये। राजाने हृदयको कठोर बनाकर उस ब्राह्मणसे अपनी प्यारी पत्नी और प्राणोपम पुत्रका मूल्य ग्रहण किया और उसे ऋषिके हवाले किया। किन्तु ऋषिको उतने द्रव्यसे सन्तोष क्यों होने लगा। वे तो हरिश्चन्द्रको कष्टोंकी आगमें तपाकर खरा सोना बनाना चाहते थे। आखिर राजाने स्वयं भी चाण्डाल बने हुए धर्मकी दासता स्वीकार की और इस प्रकार विश्वामित्रके ऋणसे मुक्ति पायी। चाण्डाल उन्हें बाँधकर डंडोंकी मारसे अचेत-सा करता हुआ अपने घर ले गया और श्मशान भूमिपर मुर्दोंके कफन बटोरनेके काममें नियुक्त किया। एक दिन रोहिताश्वको साँप काट गया, जिससे उसकी तत्काल मृत्यु हो गयी। रानी उस मृत बालकको गोदमें लेकर उसी श्मशानपर आयी और रोने लगी। दोनों एक दूसरेको पहचान न सके। रोते-रोते अनायास रानीके मुँहसे अपने पतिका नाम निकल पड़ा। अब तो राजाने उसको तथा अपने पुत्रको भी पहचान लिया और वे भी जोर-जोरसे रोने लगे। उन्हें इस प्रकार अपने पुत्रका नाम लेकर रोते देख रानी भी राजाको पहचान गयी और घोर विलाप करने लगी। अन्तमें राजाने अत्यन्त दु:खी होकर अपने पुत्रकी चिताग्निमें प्रवेश करनेका निश्चय किया और रानी भी उनके साथ जलनेको प्रस्तुत हो गयी। इतनेमें ही इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता धर्मको अगुआ बनाकर वहाँ उपस्थित हुए और राजाको अग्निमें प्रवेश करनेसे रोक दिया। इसके बाद देवराज इन्द्रने चिताके ऊपर आकाशसे अमृतकी वर्षा की, जिससे रोहित तुरंत जी उठा और राजाने उसे अपनी छातीसे लगा लिया।

राजाका समस्त अयोध्यावासियोंके साथ स्वर्ग-गमन

देवताओंने जब राजासे दिव्यलोकोंमें चलनेके लिये प्रार्थना की, उस समय भी राजा धर्मको नहीं भूले। उन्होंने विनयपूर्वक कहा—'देवराज! मैं तो चाण्डालका क्रीत दास हूँ, स्वतन्त्र तो हूँ नहीं। फिर उनसे बिना आज्ञा लिये तथा उनके ऋणसे उऋण हुए बिना मैं कैसे जा सकता हूँ।' उन्होंने यह भी कहा कि 'अयोध्यावासी सब-के-सब मेरे विरहमें संतप्त हैं, उन्हें छोड़कर मैं दिव्यलोकोंमें कैसे जा सकता हूँ। हाँ, यदि वे लोग भी मेरे साथ चल सकें, तब तो मैं भी चल सकता हूँ, अन्यथा नहीं। देवेश! यदि मैंने कुछ भी पुण्य किया हो तो उसका फल मुझे उन सबके साथ ही मिले, उसमें उनका समान अधिकार हो।' धन्य प्रजावत्सलता! बस, फिर क्या था। देखते-देखते देवराज इन्द्रने स्वर्गसे भूलोकतक करोड़ों विमानोंका ताँता बाँध दिया। महर्षि विश्वामित्र भी वहाँ आ गये थे। उन्होंने कुमार रोहितको अयोध्यापुरीमें ले जाकर राजसिंहासनपर अभिषिक्त किया और सब लोग उन्हें पिताके स्थानपर देख बड़े प्रसन्न हुए। तदनन्तर सारे-के-सारे अयोध्यावासी अपने पुत्र, भृत्य एवं स्त्रियोंके सहित विमानोंपर आरूढ़ हो स्वर्गको चले गये। धन्य नरेश! राजा हो तो ऐसा ही हो।

राजा जनक और यमदूतका संवाद

इसके बाद पक्षी जैमिनिको एक पिता-पुत्रका संवाद सुनाते हैं, जिसमें पुत्र अपने पिताके सामने पहले मृत्युके कष्टोंका वर्णन करता है। इसके अनन्तर यमलोकके मार्गका वर्णन करता हुआ जीवके जन्मका वृत्तान्त सुनाता है और फिर नानाविध नरकोंका वर्णन करता है। इसके अनन्तर इसी संवादके अन्तर्गत राजा जनक और यमदूतका संवाद है, जिसमें राजाके पूछनेपर यमदूत उन्हें भिन्न-भिन्न नरकोंकी प्राप्तिका कारण बतलाता है और फिर यह भी बतलाता है कि किस पापके फलस्वरूप कौन-सी योनि प्राप्त होती है। इस प्रसंगका इतिहास भी मनन करने योग्य

है। प्रसिद्ध जनकवंशमें विपश्चित् नामके एक राजा हो गये हैं। उन्हें केवल एक बार ऋतुमती भार्याको ऋतुदान न देनेके अपराधमें भयंकर नरक देखना पड़ा था। इस एक पापके सिवा उनसे जीवनमें कोई भी पाप नहीं बना था। अतः कुछ ही क्षणोंके लिये उन्हें नरकका दृश्य दिखाकर यमदूत उन्हें पुण्यलोकोंमें ले जाने लगे। ज्यों ही वे वहाँसे जानेको उद्यत हुए, त्यों ही उस नरकके प्राणी एक साथ चिल्ला उठे—'महाराज! कृपा करके दो घड़ी और ठहरिये। आपके शरीरको छूकर बहनेवाली हवा हमलोगोंको सुख पहुँचाती है और हमारे शरीरके संताप और वेदनाको हर लेती है।' यमदूतने राजाको बताया कि 'आपका शरीर देवताओं, पितरों, अतिथियों और भृत्यजनोंसे बचे हुए अन्नके सेवनसे पुष्ट हुआ है तथा आपका मन भी उन्हीं सबकी सेवामें संलग्न रहा है; इसीलिये आपके शरीरका स्पर्श करके बहनेवाली वायु नारकी जीवोंको सुख प्रदान करती है और उसके लगनेसे उन्हें नरककी यातना उतनी कष्टदायक नहीं प्रतीत होती।'

विपश्चित्का अपूर्व त्याग

राजाने कहा, 'भाई! मेरा तो ऐसा विचार है कि पीड़ित प्राणियोंको दुःखसे मुक्त करके उन्हें शान्ति प्रदान करनेसे जो सुख मिलता है, वह मनुष्योंको स्वर्गलोक अथवा ब्रह्मलोकमें भी नहीं प्राप्त होता। यदि मेरे समीप रहनेसे इन दुःखी जीवोंको नरक-यातना कष्ट नहीं पहुँचाती तो मैं सूखे काठकी तरह अचल होकर यहीं रहूँगा। जो शरणमें आनेकी इच्छा रखनेवाले आतुर एवं पीड़ित मनुष्यपर, भले ही वह शत्रुपक्षका ही क्यों न हो, कृपा नहीं करता, उसके जीवनको धिक्कार है। जिसका मन संकटमें पड़े हुए प्राणियोंकी रक्षा करनेमें नहीं लगता, उसके यज्ञ, दान और तप इस लोक और परलोकमें भी कल्याणके साधक नहीं होते। जिसका हृदय बालक, वृद्ध एवं आतुर प्राणियोंके प्रति कठोरता धारण करता है, मैं उसे मनुष्य नहीं मानता; वह तो निरा राक्षस है।' उसी समय राजा विपश्चित्के महान् पुण्यके प्रभावसे वहाँके सभी प्राणी नरक-यातनासे छूटकर अपने-अपने कर्मोंके अनुसार भिन्न-भिन्न उत्तम योनियोंमें चले गये और राजाको स्वयं भगवान् विष्णु विमानमें बिठाकर अपने दिव्यधाममें ले गये। इस आख्यानसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि त्यागसे पुण्य अनन्तगुना बढ़ जाता है और दुःखी जीवोंपर दया करनेसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है।

पातिव्रत्यकी अलौकिक महिमा

इसके अनन्तर एक पतिव्रता ब्राह्मणीका चरित्र है, जो अपने कोढ़ी एवं क्रोधी पतिको देवताके तुल्य मानकर पूजती और उसकी सब प्रकारसे सेवा करती थी। एक बार वह पतिपरायणा देवी पतिकी आज्ञासे उन्हें कंधेपर चढ़ाकर एक वेश्याके घर ले जा रही थी। रात्रिका समय था। मार्गमें एक सूली थी, जिसपर चोरीके संदेहपर एक निरपराध ब्राह्मणको चढ़ा दिया गया था। अँधेरेमें न दीखनेके कारण उस कोढ़ीने पैरोंसे छूकर सूलीको हिला दिया, जिससे ब्राह्मणको बड़ा कष्ट हुआ। उसने क्रोधमें भरकर शाप दिया कि जिसने सूलीको हिलाकर मुझे असीम कष्ट पहुँचाया है, उसे सूर्योदय होते ही प्राणोंसे हाथ धोना पड़ेगा। इसपर उस पतिव्रताने अपने पातिव्रत्यके बलसे सूर्यका उदय ही रोक दिया। इससे जगत्में बड़ा हाहाकार मच गया। स्नान, दान, अग्निहोत्र आदि सारी धार्मिक क्रियाएँ बंद हो गयीं। इसपर देवतालोग भयभीत होकर ब्रह्माजीके पास गये। ब्रह्माजीने उन्हें सती-शिरोमणि अत्रिपत्नी अनसूयाजीके पास भेजा और अनसूयाजी उन्हें आश्वासन देकर उस पतिव्रता ब्राह्मणीके पास गयीं। उन्होंने उसे समझाया कि 'देखो, बहिन! सूर्योदय न होनेसे संसारका उच्छेद हो जायगा। इसलिये तुम देवताओंपर दया करके सूर्योदय होने दो, जिससे जगत्के सारे कार्य यथावत् होने लगें। रही तुम्हारे पतिकी बात, सो तुम विश्वास मानो—मैं उन्हें पुनर्जीवित कर नया एवं स्वस्थ शरीर प्रदान करूँगी।' ब्राह्मणीने अनसूयाजीकी बात मान ली और उसने सूर्योदयको रोकनेका संकल्प छोड़ दिया। फिर क्या था, पुनः सूर्योदय हुआ और सूर्योदय होते ही ब्राह्मणके प्राणपखेरू उड़ गये। देवी अनसूयाने उसी समय यह संकल्प किया कि ब्राह्मण रोगसे मुक्त हो फिरसे तरुण हो जाय और अपनी स्त्रीके साथ पुनः सौ वर्षोंतक जीवित रहे। बस, अनसूयाजीके इस प्रकार संकल्प करते ही ब्राह्मण रोगमुक्त तरुण शरीरसे युक्त होकर पुनः जी उठा। देवतालोग सती-शिरोमणि अनसूयाजीकी जय-जयकार करने लगे और उनसे वर माँगनेको कहा। अनसूयाने यही वर माँगा कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश—तीनों महान् देवता उनके पुत्ररूपमें प्रकट हों। देवतालोग 'तथास्तु' कहकर अपने-अपने स्थानको चले गये। इस कथासे पता चलता है कि पतिव्रता स्त्री अपने पातिव्रत्यके बलसे क्या नहीं कर सकती। इसी वरदानके फलस्वरूप ब्रह्माजीके अंशसे चन्द्रमा, विष्णुके अंशसे भगवान् दत्तात्रेय और रुद्रके अंशसे महर्षि दुर्वासा—ये तीन पुत्र अनसूयाजीके हुए।

ऋतध्वज एवं मदालसाका चरित्र

इसके बाद भगवान् दत्तात्रेयके महान् प्रभावका वर्णन करते हुए अलर्कोपाख्यानकी अवतारणा की गयी है। इसी प्रसंगमें राजकुमार ऋतध्वज तथा उनकी पतिपरायणा पत्नी

मदालसाके पवित्र चरित्रका वर्णन किया गया है। राजकुमार ऋतध्वज बड़े पितृभक्त थे। उन्हें पिताने यह आज्ञा दे रखी थी कि वे ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये पृथ्वीपर विचरते रहें और ऐसी चेष्टा करें कि जिससे दुराचारी दानव मुनियोंको कष्ट न पहुँचा सकें। पिताकी आज्ञा मानकर राजकुमार प्रतिदिन सारी पृथ्वीका चक्कर लगा आते थे। एक दिन जब वे बाहर गये हुए थे, उनके किसी शत्रुने उनके पिताको यह झूठा संवाद दे दिया कि राजकुमार तपस्वियोंकी रक्षा करते हुए किसी दुष्ट दैत्यके हाथों मारे गये। पतिप्राणा मदालसाने यह शोक-समाचार सुनते ही पति-वियोगमें तत्काल प्राण त्याग दिये। राजकुमार जब पृथ्वीकी परिक्रमा करके लौटे, तबतक मदालसाका दाह-संस्कार भी हो चुका था। उन्हें अपनी पत्नीकी मृत्युका समाचार सुनकर बड़ा दु:ख हुआ और उन्होंने उसी समयसे स्त्री-सम्भोगका त्याग कर दिया। धन्य है! पतिव्रता हो तो ऐसी, जो पतिके बिना क्षणभर भी शरीरको न रख सके और पति भी हो तो ऐसा, जो अपनी सहधर्मिणीका शरीरान्त हो जानेपर आजीवन स्त्री-सम्भोगसे दूर रहे। पातालनिवासी दो नागकुमार ऋतध्वजके परम मित्र थे। वे नागराज अश्वतरके पुत्र थे। नागराजको अपने पुत्रोंद्वारा जब ऋतध्वजकी मानसिक व्यथाका समाचार मिला, तब वे अपने पुत्रोंके मित्रके दु:खसे बड़े दु:खी हुए। उन्होंने राजकुमारको मदालसाकी पुन: प्राप्ति करानेके उद्देश्यसे भगवान् शंकरकी आराधना की। शंकरने प्रसन्न होकर जब उन्हें वर माँगनेके लिये कहा, तब उन्होंने यही प्रार्थना की कि 'ऋतध्वजकी पत्नी मदालसा पहलेकी ही अवस्थामें मेरे यहाँ कन्यारूपमें जन्म ले, उसे पूर्वजन्मकी बातें याद रहें तथा पहले ही-जैसी उसकी कान्ति हो।' यही हुआ; नागराज जिस समय तर्पण कर रहे थे, उसी समय उनके मध्यम फणसे सुन्दरी मदालसा प्रकट हो गयी। उन्होंने उसे अन्त:पुरमें गुप्तरूपसे रख दिया और एक बार अपने मित्रोंके कहनेसे जब राजकुमार नागलोकमें उनके घर आये, तब नागराजने उस कन्याको राजकुमारके अर्पण कर दिया। ऋतध्वज अपनी खोयी पत्नीको पुन: पाकर बड़े प्रसन्न हुए और अपनी राजधानीको लौट आये। अपने अथवा अपने किसी सम्बन्धीके मित्रके हितसाधनमें मनुष्यको कैसा सचेष्ट होना चाहिये, इसकी हमें महानुभाव नागराजके पुनीत चरित्रसे शिक्षा मिलती है।

मदालसाके द्वारा पुत्रोंको अपूर्व शिक्षा

ऋतध्वजको मदालसाके गर्भसे कई पुत्र प्राप्त हुए। पहले तीन पुत्रोंको मदालसाने लोरी देते समय ही ऐसी ऊँची शिक्षा दी कि वे बाल्यकालमें ही ज्ञानसम्पन्न एवं ममताशून्य हो गये। धन्य है! माता हो तो ऐसी हो, जिसके गर्भमें आकर मनुष्यको फिर दूसरी माताका गर्भ न देखना पड़े। कहते हैं, संसारमें तीन ही माताएँ वास्तवमें माता कहलाने योग्य हुईं। पहली माता सुनीति थीं, जिन्होंने अपने पुत्र ध्रुवको भगवान्का मार्ग दिखाया। दूसरी माता सुमित्रा हुईं, जिन्होंने अपने पुत्र लक्ष्मणको भगवान्का अनुचर बनाकर उनकी सेवाके लिये सहर्ष वन भेज दिया और तीसरी माता मदालसा हुईं, जिन्होंने लोरीमें ही अपने बालकोंको ब्रह्मज्ञान करा दिया। अस्तु, मदालसाके चौथे पुत्रका नाम अलर्क था, जिसे उसने राजनीति, धर्मनीति एवं अध्यात्मका बड़ा ही सुन्दर उपदेश दिया। इसके बाद अलर्कको भगवान् दत्तात्रेयने अध्यात्म एवं योगका जो दिव्य उपदेश दिया, उसका विस्तारसे वर्णन है। अलर्ककी उस उपदेशसे आँखें खुल गयीं। वे घर छोड़कर वनमें चले गये और वहाँ उन्होंने योगकी अनुपम सम्पत्तिके द्वारा श्रेष्ठ निर्वाण-पदको प्राप्त किया।

तपस्वी ब्राह्मणका आदर्श चरित्र

इसके अनन्तर मार्कण्डेय एवं ब्राह्मणकुमार क्रौष्टुकिका महत्त्वपूर्ण संवाद है, जिसमें विविध उपयोगी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रसंगमें चौदह मनुओंकी उत्पत्तिका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। द्वितीय मनु स्वारोचिषकी उत्पत्तिके प्रसंगमें एक ब्राह्मणका बड़ा ही सुन्दर चरित्र चित्रित किया गया है। उन ब्राह्मणकी भूमण्डलमें भ्रमण करनेकी बड़ी इच्छा थी। एक बार एक ब्राह्मण अतिथि उनके यहाँ आये। वे पृथ्वीपर खूब घूम चुके थे। इन्होंने बताया कि वे मन्त्र और ओषधियोंके प्रभावसे आधे दिनमें एक हजार योजन (चार हजार कोस) चल लेते थे। ब्राह्मणने उनके इस प्रभावको जानना चाहा। इसपर उस आगन्तुकने उन्हें पैरमें लगानेके लिये एक लेप दिया और वे जिस दिशाको जाना चाहते थे, उसे मन्त्रसे अभिमन्त्रित किया। उस लेपको पैरोंमें लगाकर ब्राह्मणदेवता हिमालय पर्वतकी सैर करने निकल पड़े। उन्होंने सोचा था कि आधे दिनमें एक हजार योजन चलकर शेष आधे दिनमें घर लौट आयेंगे। वे हिमालयकी चोटीपर पहुँच तो गये; परंतु बर्फपर चलनेसे उनके पैरोंमें लगा हुआ दिव्य ओषधिका लेप धुल गया, जिसके कारण उनकी तीव्र गति कुण्ठित हो गयी। अब तो उन्हें चिन्ता हुई कि वे घर किस प्रकार पहुँचेंगे। चिन्ता उन्हें और किसी बातकी न होकर केवल इसी बातकी थी कि समयपर घर न पहुँच सकनेके कारण उनके अग्निहोत्र तथा नित्यकर्मकी हानि होगी। वास्तवमें देखा जाय तो धर्मकी हानि ही सबसे बड़ी हानि है, अर्थ आदिकी हानि तो कोई महत्त्वकी हानि नहीं है। अत: वे

किसी शक्ति-सम्पन्न महापुरुषकी खोजमें घूम रहे थे, जो उन्हें मन्त्रबलसे शीघ्र घर पहुँचा सकें।

तपस्वीकी अनुपम धर्मनिष्ठा तथा काम-विजय

इतनेमें ही उनपर एक अत्यन्त सुन्दरी अप्सराकी दृष्टि पड़ी। ब्राह्मण बड़े रूपवान् थे। अप्सरा उनके मनोहर रूपपर आसक्त हो गयी और उनके समीप जाकर उसने अपना अभिप्राय प्रकट किया। ब्राह्मणको तो घर पहुँचनेकी जल्दी लगी हुई थी, उन्हें और कोई बात सुहाती ही नहीं थी। वे अपने मनकी चंचलतापर खीझ रहे थे, जो उन्हें घरसे इतनी दूर उठा लायी थी। ज्यों-ज्यों ब्राह्मण उस सुन्दरीकी उपेक्षा करते थे, त्यों-ही-त्यों उसका उनपर अनुराग बढ़ता जाता था। आखिर ब्राह्मणने उसे बड़े जोरसे डाँटा और उससे अलग हो गये। उस समय उन्होंने जल्दी घर पहुँचनेका और कोई उपाय न देख गार्हपत्य अग्निका आवाहन किया और उनसे शीघ्र घर पहुँचा देनेके लिये प्रार्थना की। बस, उनके प्रार्थना करते ही गार्हपत्य अग्निने उनके शरीरमें प्रवेश किया। अग्निदेवके प्रवेश करनेपर वे ब्राह्मण तुरंत ही वहाँसे चल दिये और एक ही क्षणमें घर पहुँचकर उन्होंने शास्त्रोक्त विधिसे सब कर्मोंका अनुष्ठान पूरा किया। इस प्रकार उनकी धर्मनिष्ठाने ही उनके धर्मको बचाया। निष्ठा हो तो ऐसी हो।

गृहस्थाश्रममें गृहिणीका महत्त्व

दूसरे मनु औत्तमके चरित्रकी अवतारणा करते हुए उनके पिता उत्तमके चरित्रका वर्णन किया गया है। ये उत्तम राजा उत्तानपादके दूसरे पुत्र और महाभागवत ध्रुवके छोटे भाई थे। शत्रु और मित्रमें तथा अपने और परायेमें उनका समान भाव था। वे दुष्टोंके लिये यमराजके समान भयंकर और साधु पुरुषोंके लिये चन्द्रमाके समान शीतल एवं आनन्ददायक थे। उनका अपनी पत्नीमें बड़ा प्रेम था। वे सदा रानीके इच्छानुसार चलते थे, परंतु रानी कभी उनके अनुकूल नहीं होती थी। एक बार अन्यान्य राजाओंके सामने रानीने उनकी आज्ञा माननेसे इनकार कर दिया। इससे उन्हें बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने द्वारपालसे कहकर रानीको निर्जन वनमें छुड़वा दिया। एक दिन एक ब्राह्मण उनके द्वारपर आया और पुकार करने लगा कि 'मेरी स्त्रीको रातमें कोई चुरा ले गया, अतः उसका पता लगाकर ला देनेकी कृपा करें।' राजाके पूछनेपर ब्राह्मणने यह भी बताया कि 'मेरी स्त्री बड़े ही क्रूर स्वभावकी और कुरूपा है तथा वह वाणी भी कटु बोलती है।' इसपर राजाने कहा—'ऐसी स्त्रीको लेकर क्या करोगे। मैं तुम्हें दूसरी भार्या ला देता हूँ।' इसपर ब्राह्मणने बताया कि 'पत्नीकी रक्षा करना पतिका धर्म है, उसकी रक्षा न करनेसे वर्णसंकरकी उत्पत्ति होती है और वर्णसंकर अपने पितरोंको स्वर्गसे नीचे गिरा देता है।' उसने यह भी कहा कि 'पत्नीके न रहनेसे मेरे नित्यकर्म छूट रहे हैं; इससे प्रतिदिन धर्ममें बाधा आती है, जिससे मेरा पतन अवश्यम्भावी है।'

पत्नीत्याग तथा नित्यकर्मके त्यागसे महान् हानि

ब्राह्मणके अधिक आग्रह करनेपर राजा उसकी स्त्रीकी खोजमें गये और इधर-उधर घूमने लगे। जाते-जाते एक वनमें उन्हें किसी तपस्वीका आश्रम दिखायी दिया। रथसे उतरकर वे आश्रममें गये। वहाँ उन्हें एक मुनिका दर्शन हुआ। मुनिने खड़े होकर राजाका स्वागत किया और शिष्यसे उनके लिये अर्घ्य ले आनेको कहा। शिष्यने धीरेसे पूछा—'महाराज! क्या इन्हें अर्घ्य देना उचित होगा? आप विचारकर जैसी आज्ञा देंगे, वैसा ही किया जायगा।' तब मुनिने ध्यानद्वारा राजाके वृत्तान्तको जानकर केवल आसन दे बातचीतके द्वारा उनका सत्कार किया। राजाने मुनिसे इस व्यवहारका कारण जानना चाहा। इसपर मुनिने उन्हें बताया कि 'मेरा शिष्य भी मेरी ही भाँति त्रिकालज्ञ है, उसने आपका वृत्तान्त जानकर मुझे सावधान कर दिया। बात यह है कि आपने अपनी विवाहिता पत्नीका त्याग कर दिया है और इसके साथ ही आप अपना धर्म-कर्म भी छोड़ बैठे हैं। एक पखवाड़ेतक भी नित्यकर्म छोड़ देनेसे मनुष्य अस्पृश्य हो जाता है, आपने तो उसे एक वर्षसे छोड़ रखा है। नरेश्वर! पतिका स्वभाव कैसा ही हो, पत्नीको उचित है कि वह सदा पतिके अनुकूल रहे। इसी प्रकार पतिका भी कर्तव्य है कि वह दुष्ट स्वभावकी पत्नीका भी पालन-पोषण करे। ब्राह्मणकी वह पत्नी, जिसका अपहरण हुआ है, सदा अपने पतिके प्रतिकूल चलती थी; तथापि धर्मपालनकी इच्छासे वह आपके पास गया और उसे खोजकर ला देनेके लिये उसने आपसे बार-बार आग्रह किया। आप तो धर्मसे विचलित हुए दूसरे-दूसरे लोगोंको धर्ममें लगाते हैं; फिर जब आप स्वयं ही विचलित होंगे, तब आपको धर्ममें कौन लगायेगा।' मुनिकी फटकार सुनकर राजा बड़े लज्जित हुए, उन्होंने अपनी गलती स्वीकार की। इसके बाद मुनिसे खोयी हुयी ब्राह्मण पत्नीका हाल जानकर राजा उसकी खोजमें गये और जहाँ वह थी, वहाँसे उसे अपने पतिके पास पहुँचवा दिया। ब्राह्मण अपनी पत्नीको पाकर बड़े प्रसन्न हुए।

ग्रहोंका जीवनपर प्रभाव

इसके बाद वे अपनी रानीका पता लगानेके लिये पुनः उन महर्षिके पास आये। महर्षिने उन्हें अवसर देखकर फिर कहा—'राजन्! मनुष्योंके लिये पत्नी धर्म, अर्थ एवं कामकी सिद्धिका कारण है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—कोई भी

क्यों न हो, पत्नीके न रहनेपर वह कर्मानुष्ठानके योग्य नहीं रह जाता। जैसे स्त्रीके लिये पतिका त्याग अनुचित है, उसी प्रकार पुरुषोंके लिये स्त्रीका त्याग भी उचित नहीं है।' मुनिने उन्हें यह भी बताया कि पाणिग्रहणके समय राजापर सूर्य, मंगल और शनैश्चरकी तथा उनकी पत्नीपर शुक्र और बृहस्पतिकी दृष्टि थी। उस मुहूर्तमें रानीपर चन्द्रमा और बुध भी, जो परस्पर शत्रुभाव रखनेवाले हैं, अनुकूल थे और राजापर उन दोनोंकी वक्रदृष्टि थी। यही कारण था कि रानी राजासे सदा प्रतिकूल रहती थी। इसपर राजाने रानीकी अनुकूलता प्राप्त करनेके लिये मित्रविन्दा नामक यज्ञका अनुष्ठान कराया। जिन स्त्री-पुरुषोंमें परस्पर प्रेम न हो, उनमें मित्रविन्दा प्रेम उत्पन्न करती है। इसके बाद राजाने रानीको एक राक्षसकी सहायतासे पाताललोकसे बुलवाया और दोनोंमें परस्पर बड़ा प्रेम हो गया।

पति-पत्नीमें सम्बन्ध-विच्छेद हिंदू-धर्मको स्वीकार नहीं

यह इतिहास बड़ा ही शिक्षाप्रद है। इससे हमें अनेक प्रकार की शिक्षाएँ मिलती हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण शिक्षा तो इससे यह मिलती है कि हिंदू-धर्म पतिके द्वारा पत्नीके अथवा पत्नीके द्वारा पतिके त्यागकी आज्ञा नहीं देता। किसी भी अवस्थामें पति-पत्नीका सम्बन्ध-विच्छेद हिंदू-धर्मको मान्य नहीं है। हमारे सुधारक भाइयोंको, जो पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षामें दीक्षित होकर कानूनद्वारा पति-पत्नीके सम्बन्ध-विच्छेदको वैध बना देना चाहते हैं, समझ लेना चाहिये कि उनकी चेष्टा सर्वथा धर्मके प्रतिकूल है और व्यभिचार एवं स्वेच्छाचारको प्रोत्साहन देनेवाली है, जो बड़े भारी पतनके हेतु हैं। हिंदू भाइयोंको इस प्रकारके अधार्मिक बिलोंका घोर विरोध करना चाहिये और किसी प्रकार भी उन्हें पास नहीं होने देना चाहिये। राजाओंको इससे यह शिक्षा मिलती है कि प्रजाको धर्ममें लगाने और अधर्मसे रोकनेकी जिम्मेवारी राजापर होती है; यदि राजा भी अपना धर्म छोड़ दें तो फिर प्रजा धर्ममें स्थित कैसे रह सकती है। राजाओंका भी नियन्त्रण तपस्वी, धर्मनिष्ठ, अकिंचन एवं सत्यवादी ब्राह्मणलोग करते थे, जो सर्वथा निःस्पृह, निष्पक्ष एवं निर्भय होते थे और धर्मसे विचलित होनेपर राजाओंको साहसपूर्वक डाँट देते थे। तीसरी शिक्षा यह मिलती है कि संध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव, देवपूजन आदि कर्म द्विजातिमात्रके लिये अनिवार्य हैं और इन्हें एक पखवाड़ेतक त्याग देनेपर भी मनुष्य पतित हो जाता है—अस्पृश्य हो जाता है। जबसे हमलोगोंने नित्यकर्म छोड़ दिया, तभीसे समाजमें पापका प्रवेश हो गया और फलतः हमलोग दीनता-दरिद्रता, परतन्त्रताके शिकार बन गये और नाना प्रकारके शत्रुओंसे हमारा पराभव होने लगा। चौथी शिक्षा इस आख्यानसे यह मिलती है कि ग्रहोंका हमारे जीवन एवं दाम्पत्य-सुखके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और विवाहादि सम्बन्ध करते समय तथा पाणिग्रहण आदिके समय ग्रहोंका विचार परमावश्यक है। ग्रहोंकी स्थिति अनुकूल न होनेपर दाम्पत्य सुखमें बाधा पहुँच सकती है।

दुर्गासप्तशतीकी लोकप्रियता

इसके अनन्तर आठवें मनु सावर्णिकी उत्पत्तिके प्रसंगमें देवी-माहात्म्यका वर्णन है, जो दुर्गासप्तशती अथवा चण्डीके नामसे प्रसिद्ध है। जिस प्रकार विषादग्रस्त एवं बन्धुजनोंके मोहमें पड़कर युद्धसे विरत हुए अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने गीताका उपदेश देकर कृतार्थ किया, उसी प्रकार खोये हुए राज्य एवं परिवारकी चिन्तामें डूबे हुए राजा सुरथ तथा स्त्री-पुत्रोंद्वारा अपमानित एवं घरसे निकाले हुए, किंतु फिर भी उनकी ममतासे जर्जरित एवं शोकमग्न समाधि वैश्यको विप्रवर मेधा मुनिने देवी-माहात्म्य सुनाकर उनका शोक एवं मोह दूर किया। दुर्गासप्तशतीका हमारे यहाँ बहुत प्रचार है और वर्षभरमें दो बार—चैत्र एवं आश्विनके नवरात्रोंमें तो, जिनमें देवी-पूजा विशेष रूपसे होती है, इसका पाठ प्रायः किया जाता है। यहाँ उसमें आये हुए अमूल्य उपदेशोंका दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है।

महामायाका स्वरूप

मेधा ऋषिने बताया कि संसारकी स्थिति (जन्म-मरणकी परम्परा)बनाये रखनेके लिये भगवती महामायाके प्रभावद्वारा जीव ममतामय भँवरसे युक्त मोहके गहरे गर्तमें गिराये जाते हैं। जगदीश्वर भगवान् विष्णुकी योगनिद्रारूपा जो भगवती महामाया हैं, उन्हींसे यह जगत् मोहित हो रहा है। वे भगवती विवेकियोंके भी चित्तको बलपूर्वक खींचकर मोहमें डाल देती हैं। वे ही इस सम्पूर्ण चराचर जगत्की सृष्टि करती हैं तथा वे ही प्रसन्न होनेपर मनुष्योंको मुक्तिका वरदान देती हैं। वे ही परा विद्या, संसार-बन्धन और मोक्षकी हेतुभूता सनातनी देवी तथा सम्पूर्ण ईश्वरोंकी भी अधीश्वरी हैं। ऋषिने यह भी बताया कि वास्तवमें तो वे देवी नित्यस्वरूपा ही हैं, क्योंकि भगवान्की शक्ति भगवान्से सर्वथा अभिन्न है। सम्पूर्ण जगत् मायासे उत्पन्न होनेके कारण उन्हींका स्वरूप है तथा उन्हींने समस्त विश्वको व्याप्त कर रखा है; तथापि भगवान्की भाँति जब वे देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये समय-समयपर प्रकट होती हैं, तब वे उत्पन्न हुई कहलाती हैं। इसके अनन्तर ऋषिने उन्हीं देवीके प्राकट्यके तीन चरित्र सुनाये, जो क्रमशः प्रथम चरित्र, मध्यम चरित्र और उत्तर चरित्रके नामसे प्रसिद्ध हैं।

दुर्गासप्तशतीके श्रवणका अपूर्व प्रभाव

मेधा ऋषिके द्वारा उपदिष्ट देवीमाहात्म्य तथा देवीचरित्रोंको सुनकर राजा सुरथ एवं समाधि वैश्यका मोह दूर हो गया। वे दोनों विरक्त होकर तत्काल तपस्याके लिये निकल पड़े और जगदम्बाके दर्शनके लिये नदीके तटपर रहकर तपस्या करने लगे। वे देवीकी मृण्मयी मूर्ति बनाकर पुष्प, धूप और हवनके द्वारा उनकी आराधना करने लगे। उन्होंने पहले तो आहारको धीरे-धीरे कम किया, फिर बिलकुल निराहार रहकर देवीमें ही मन लगाये एकाग्रतापूर्वक उनका चिन्तन आरम्भ किया; इस प्रकार लगातार तीन वर्षोंतक वे दोनों संयमपूर्वक देवीकी आराधना करते रहे। इसपर प्रसन्न होकर जगद्धात्री चण्डिका देवीने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया और मनोवांछित वर माँगनेको कहा। राजाने दूसरे जन्ममें नष्ट न होनेवाला राज्य और उसी जन्ममें पुनः राज्य-प्राप्तिका वर माँगा; किन्तु समाधि वैश्यका मन तो सर्वथा भोगोंसे फिर गया था, उन्हें संसारसे वैराग्य हो चुका था; अतः उन्होंने अहंता और ममतारूप दोषोंका नाश करनेवाला ज्ञान माँगा। देवी भगवती 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गयीं। वही सुरथ राजा अगले मन्वन्तरमें सावर्णि नामके मनु होंगे। इस प्रकार भगवती महामाया भोग चाहनेवालोंको भोग और मोक्षार्थियोंको मोक्ष प्रदान करती हैं।

गृहस्थधर्मकी महिमा

इसके अनन्तर रौच्य नामक तेरहवें मनुके उत्पत्ति-प्रसंगमें गृहस्थधर्मकी बड़ी महिमा कही गयी है। रौच्य मनु प्रजापति रुचिके पुत्र थे। प्रजापति रुचि ममता और अहंकारसे रहित होकर इस पृथ्वीपर निर्भय विचरते थे। उन्होंने न तो अग्निकी स्थापना की थी और न अपने लिये घर ही बनाया था। वे एक बार भोजन करते और बिना आश्रमके ही रहते थे। उन्हें इस प्रकार मुनिवृत्तिसे रहते देख उनके पितरोंने गृहस्थधर्म एवं कर्ममार्गकी महिमा बताते हुए उनसे यह कहा कि 'बेटा! यद्यपि वेदमें कर्मको अविद्या कहा गया है, फिर भी इतना तो निश्चित है कि ज्ञानरूपा विद्याकी प्राप्तिमें भी कर्म ही कारण है। दयाभावसे प्रेरित होकर जो कर्म किया जाता है, वह बन्धनकारक नहीं होता तथा फल-कामनासे रहित कर्म भी बन्धनमें नहीं डालता; इसके विपरीत विहित कर्मका त्याग करके जो अधम मनुष्य संयम करते हैं, उस संयमसे उन्हें मोक्षकी प्राप्ति होनी तो दूर रही, उलटी उनकी अधोगति होती है। वत्स! तुम तो समझते हो कि तुम इन्द्रियजयके द्वारा आत्माका प्रक्षालन कर रहे हो; परंतु वास्तवमें तुम शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करनेके कारण पापोंसे दग्ध हो रहे हो। कर्म अविद्या होनेपर भी विधिपूर्वक आचरण करनेसे शोधे हुए विषकी भाँति मनुष्योंका उपकार ही करता है। इसके विपरीत विद्या भी विधिकी अवहेलनासे निश्चय ही हमारे बन्धनका कारण बन जाती है। अतः वत्स! तुम विधिपूर्वक स्त्री-संग्रह—विवाह करो।' रुचिने पितरोंकी बात मान ली और स्त्री-प्राप्तिकी अभिलाषासे ब्रह्माजीके आदेशानुसार पितरोंका पूजन किया। उनके आशीर्वादसे उन्हें एक अप्सराकी कन्या पत्नीरूपमें प्राप्त हुई और उसीसे रौच्यकी उत्पत्ति हुई। इसी प्रसंगमें मन्वन्तरोंकी कथा सुननेका भी बड़ा माहात्म्य कहा गया है।

राजा खनित्रकी अनोखी भावना

इसके अनन्तर भगवान् सूर्यकी उत्पत्ति तथा उनके वंशज नरपालोंके चरित्रका वर्णन है। सूर्यवंशके नरपतियोंमें राजा खनित्रका चरित्र बड़ा ही उदात्त है। खनित्र बड़े ही शान्त, सत्यवादी, शूरवीर, समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले, स्वधर्मपरायण, वृद्धसेवी, अनेक शास्त्रोंके विद्वान्, वक्ता, विनयशील, अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता, डींग न हाँकनेवाले और सब लोगोंके प्रिय थे। वे दिन-रात यही कामना किया करते थे—'समस्त प्राणी प्रसन्न रहें तथा दूसरोंपर भी स्नेह रखें। सब जीवोंका कल्याण हो। सभी निर्भय हों। किसी भी प्राणीको कोई व्याधि एवं मानसिक व्यथा न हो। समस्त प्राणी सबके प्रति मित्रभावके पोषक हों। ब्राह्मणोंका कल्याण हो। सबमें परस्पर प्रेम हो। सब वर्णोंकी उन्नति हो। उन्हें समस्त कर्मोंमें सिद्धि प्राप्त हो। लोगो! सब जीवोंके प्रति तुम्हारी बुद्धि कल्याणमयी हो। तुमलोग जिस प्रकार अपना तथा अपने पुत्रोंका सर्वदा हित चाहते हो, उसी प्रकार सब प्राणियोंके प्रति हित-बुद्धि रखते हुए बर्ताव करो। यह तुम्हारे लिये अत्यन्त हितकी बात है। कौन किसका अपराध करता है। यदि कोई मूढ़ किसीका थोड़ा भी अहित करता है तो उसे निश्चय ही उसका फल भोगना पड़ेगा; क्योंकि फल सदा कर्ताको ही मिला करता है। लोगो! यह विचारकर सबके प्रति पवित्र भाव रखो। इससे इस लोकमें पाप नहीं बनेगा और मरनेपर तुम्हें उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होगी। बुद्धिमानो! मैं तो यह चाहता हूँ कि मुझसे जो स्नेह रखता है, उसका इस पृथ्वीपर सदा ही कल्याण हो तथा जो इस लोकमें मेरे साथ द्वेष रखता है, वह भी कल्याणका ही भागी बने।' अहा! कैसी उदात्त भावना है। आज जगत् यदि महाराज खनित्रकी शिक्षा मानने लगे तो संसारसे कलह एवं अशान्तिका बीज ही नष्ट हो जाय और यह भूमण्डल नन्दन-कानन बन जाय।

खनित्रकी अलौकिक उदाराशयता

राजा खनित्रने अपने भाइयोंको प्रेमपूर्वक पृथक्-पृथक् राज्योंमें अभिषिक्त कर दिया और स्वयं समुद्रवसना पृथ्वीका

उपभोग करने लगे। महाराज खनित्र उन चारों भाइयों तथा समस्त प्रजापर सदा पुत्रोंकी भाँति स्नेह रखते थे। एक बार उनके एक भाईके पुरोहितने उसे उलटी पट्टी पढ़ाकर सम्राट्का विद्रोही बना दिया और क्रमशः उनके अन्य भाइयों तथा उनके पुरोहितोंको भी फोड़ लिया। फिर तो वे चारों पुरोहित महाराज खनित्रके विरुद्ध भयंकर पुरश्चरण करने लगे। उनके उस आभिचारिक कर्मसे चार कृत्याएँ उत्पन्न हुईं। वे सभी राजा खनित्रके पास आयीं। किंतु राजा साधु पुरुष थे; अतः उनके पुण्यसमूहसे वे परास्त हो गयीं और लौटकर उन दुष्टात्मा पुरोहितोंपर ही टूट पड़ीं तथा उन्हें जलाकर भस्म कर डाला। खनित्रको जब इस बातका पता लगा, तब उन्हें अपने बच जानेका हर्ष न होकर उन ब्राह्मणोंकी मृत्युपर दुःख हुआ। वे कहने लगे—'मुझ पापी, भाग्यहीन तथा दुष्टको धिक्कार है, जिसके कारण चार ब्राह्मणोंकी हत्या हुई। मेरे राज्यको धिक्कार तथा महान् राजाओंके कुलमें जन्म लेनेको भी धिक्कार है, क्योंकि मैं ब्राह्मणोंके विनाशका कारण बना। वे पुरोहित तो अपने स्वामी मेरे भाइयोंका कार्य कर रहे थे। अतः दुष्ट वे नहीं हैं, दुष्ट तो मैं हूँ; क्योंकि मैं ही उनके नाशका कारण बना हूँ।' ऐसा विचार करके महाराज खनित्र अपने पुत्रको राज्यपर अभिषिक्त करके अपनी पत्नियोंके साथ तपस्याके लिये वनमें चले गये। धन्य राजा खनित्र! ऐसा राजा संसारमें कौन होगा, जो मारनेवालोंकी मृत्युपर साम्राज्य-सुखका त्याग कर दे और दूसरोंके दोषोंको गुणरूपमें ग्रहण करे। भारत देश, सनातनधर्म और हिंदूजातिको ही ऐसे नररत्न उत्पन्न करनेका सौभाग्य प्राप्त है।

राजा मरुत्तका चरित्र

राजा खनित्रके पुत्र क्षुप हुए। वे बड़े दानशील तथा अनेक यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले थे। वे व्यवहार आदिमें शत्रु और मित्रके प्रति समान भाव रखते थे। क्षुपके पुत्र विविंश हुए और विविंशके खनीनेत्र। इन्होंने महात्मा ब्राह्मणोंको समूची पृथ्वीका दान देकर तपस्यासे द्रव्य-संग्रह किया और उसके द्वारा पृथ्वीको छुड़ाया। इन्होंने सड़सठ हजार सड़सठ सौ सड़सठ यज्ञ किये थे और सबमें प्रचुर दक्षिणा दी थी। खनीनेत्रके पुत्र करन्धम, करन्धमके अवीक्षित और अवीक्षितके सम्राट् मरुत्त हुए। अवीक्षितके राज्य स्वीकार न करनेके कारण करन्धमके बाद मरुत्त ही राजसिंहासनपर बैठे। जिस प्रकार पिता अपने औरस पुत्रोंकी रक्षा करता है, मरुत्त उसी प्रकार प्रजाजनोंका धर्मपूर्वक पालन करते थे। उनका शासन-चक्र सातों द्वीपोंमें अबाधरूपसे फैला हुआ था। आकाश, पाताल और जल आदिमें भी उनकी गति कुण्ठित नहीं होती थी। राजा स्वयं तो यज्ञ करते ही थे, चारों वर्णोंके अन्य लोग भी अपने-अपने कर्ममें आलस्य छोड़कर संलग्न रहते और महाराजसे धन प्राप्तकर इष्टापूर्त आदि पुण्यक्रियाएँ करते थे। राजा मरुत्तने सौ यज्ञ करके देवराज इन्द्रको भी मात कर दिया था। इनके यज्ञोंमें इन्द्रादि श्रेष्ठ देवता ब्राह्मणोंको भोजन परोसनेका काम किया करते थे। इन्होंने ब्राह्मणोंको यज्ञोंमें इतनी प्रचुर दक्षिणा दी थी कि उनके घर रत्नोंसे भर गये थे।

राजा मरुत्त तथा उनके पिताका धर्मके लिये परस्पर युद्ध

एक बार और्व मुनिके आश्रममें पाताललोकके नागोंने आकर दस मुनिकुमारोंको डस लिया। यद्यपि महर्षिलोग इन सबको अपने ब्रह्मतेजसे भस्म कर डालनेकी शक्ति रखते थे, फिर भी दण्ड देनेका अपना अधिकार न समझ वे चुप रहे। इधर जब मरुत्तको इस बातका पता लगा, तब वे तुरंत ऋषिके आश्रमपर पहुँचे और उन्होंने कुपित हो पाताललोकनिवासी सम्पूर्ण नागोंका संहार करनेके लिये संवर्तक नामक अस्त्र उठाया। उस महान् अस्त्रके तेजसे सारा नागलोक सहसा जल उठा। अब तो सर्पोंमें बड़ा हाहाकार मचा। उनमेंसे कुछ अपने स्त्री-पुत्रोंको साथ ले मरुत्तकी माता भामिनी और पिता अवीक्षितके शरणमें गये। उन्हें रक्षाका आश्वासन देकर वीर अवीक्षित अपने पुत्रके पास पहुँचे और उन्हें अस्त्र लौटा लेनेके लिये कहा; परन्तु मरुत्तने उनकी बात नहीं सुनी। उन्होंने कहा कि 'नागोंने मुनिकुमारोंको डसा है, हविष्योंको भी दूषित किया है तथा आश्रमके सम्पूर्ण जलाशयोंको विषैला कर दिया है। अतः ये आततायी हैं, इनका वध करनेमें कोई दोष नहीं है; बल्कि इन्हें दण्ड देना मेरा कर्तव्य है। अतः आप मेरे कर्तव्य-पालनमें बाधा न डालें।' इधर अवीक्षितने कहा कि 'इन सबको मैं अभय-दान दे चुका हूँ, अतः इनकी रक्षा करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। यदि तुम नहीं मानते तो लो मैं अस्त्रके द्वारा ही तुम्हारे अस्त्रका प्रतीकार करता हूँ।' यों कहकर उन्होंने अपने धनुषपर कालास्त्रका संधान किया। इस प्रकार पिता-पुत्रमें युद्ध छिड़ गया। दोनों ही अपनी-अपनी बातपर दृढ़ थे। एकने प्रजाजनोंकी रक्षाके लिये दुष्टोंके वधका प्रण ले रखा था और दूसरा अपनी शरणमें आये हुए सर्पोंको रक्षाका वचन दे चुका था। दोनोंकी धर्मनिष्ठा आदर्श थी। पुत्रने अपने प्रजा-पालनरूप व्रतमें बाधा डालनेवाले पिताकी भी परवा नहीं की और पिताने अपने शरणागत-रक्षाके व्रतमें बाधक बने हुए प्राणोपम पुत्रपर भी शस्त्र उठा लिया। धर्मके लिये पिता-पुत्रके बीच यह संग्राम जगत्के इतिहासमें अनोखा था। दोनोंको एक-दूसरेका वध करनेके लिये दृढ़संकल्प देख भार्गव आदि मुनि बीचमें पड़ गये और उन्होंने दोनोंको

शान्त किया। उन्होंने कहा कि 'नागलोग डसे हुए मुनिकुमारोंको जिला देनेके लिये कह रहे हैं; ऐसा होनेसे मरुत्तके द्वारा प्रजापालन सहज ही हो जायगा और मुनिकुमारोंकी रक्षा हो जानेपर सर्पोंको मारनेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी।' पिता-पुत्र इस बातपर राजी हो गये और सर्पोंने अपना विष खींचकर दिव्य ओषधियोंके प्रयोगसे मुनिकुमारोंको जिला दिया।

राजा नरिष्यन्तका अपूर्व यज्ञ-प्रेम

मरुत्तके पुत्र नरिष्यन्त हुए। नरिष्यन्तने इतने अधिक यज्ञ किये और ब्राह्मणोंको दक्षिणाके रूपमें इतना प्रचुर धन दिया कि उस धनसे वे स्वयं यज्ञ करने लगे। और इतने सम्पन्न हो गये कि फिर उन्हें जीवन-यात्राके लिये दूसरोंके यहाँ यज्ञ करानेकी आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई। यहाँतक कि राजाको अब आवश्यकता होनेपर यज्ञ करानेके लिये ऋत्विज ही नहीं मिलते थे, क्योंकि ऋत्विजोंको अब अपने यज्ञोंसे ही फुरसत नहीं मिलती थी। राजा और प्रजाने मिलकर उनके राज्यमें करोड़ों यज्ञ किये।

नरिष्यन्तके पुत्र दम हुए। वे दुष्ट शत्रुओंका दमन करनेवाले थे। उनमें इन्द्रके समान बल था और साथ-ही-साथ मुनियों-जैसी दया और शील था। उस महायशस्वी पुत्रने नौ वर्षोंतक माताके उदरमें रहकर उसके द्वारा दमका पालन कराया था तथा वह स्वयं भी दमनशील था। इसीलिये त्रिकालवेत्ता पुरोहितने उसका नाम 'दम' रखा था। राजकुमार दमने दैत्यराज वृषपर्वासे सम्पूर्ण धनुर्वेदकी शिक्षा पायी, तपोवननिवासी दैत्यराज दुन्दुभिसे सम्पूर्ण अस्त्र प्राप्त किये, महर्षि शक्तिसे वेदों तथा समस्त वेदांगोंका अध्ययन किया और राजर्षि आर्ष्टिषेणसे योगविद्या प्राप्त की। इस प्रकार वे राजोचित सभी गुणोंसे अलंकृत थे। ऐसे राजाओंके राज्यमें ही प्रजा सुखी रह सकती है। जिन दिनों भारतमें ऐसे प्रतापी, धर्मात्मा, बलवान् और शास्त्रज्ञ नृपति होते थे, उन्हीं दिनों भारतका मस्तक, जगत्के सामने ऊँचा था और दुष्ट लोगोंकी नहीं चलती थी। जबसे भारतका क्षात्रबल क्षीण होने लगा और राजाओंमें नाना प्रकारके दोष आने लगे, तभीसे उसके खोटे दिन आ गये और वह सब प्रकारके दुःखों एवं उपद्रवोंका केन्द्र बन गया। राजा नरिष्यन्त जब वृद्ध हो गये, तब वे दमको राजपदपर अभिषिक्त करके स्वयं वनमें चले गये और अपनी पत्नीके साथ वानप्रस्थधर्मका पालन करने लगे। उन दिनों राजाओंमें प्रायः ऐसी चाल ही थी।

राजा दमको उनकी माताका कर्तव्य-पालनके लिये उपदेश

एक दिन दक्षिण देशका दुराचारी राजकुमार वपुष्मान्, जो एक बार दमसे युद्धमें हार गया था, शिकार खेलता हुआ उसी आश्रममें जा पहुँचा, जहाँ वृद्ध राजा नरिष्यन्त अपनी पत्नी इन्द्रसेनाके साथ रहकर तपस्या करते थे। उसे जब नरिष्यन्तका परिचय मालूम हुआ, तब उसके मनमें सहसा अपने शत्रु दमसे बदला लेनेकी भावना जाग्रत् हो उठी। अवसर देखकर उसने नरिष्यन्तकी जटा पकड़ ली और नृशंसतापूर्वक इन्द्रसेनाके सामने ही तलवारसे उन वृद्ध राजर्षिका सिर काट लिया। इन्द्रसेनाने एक तपस्वीके हाथ दमको इसकी सूचना करवा दी और बड़े ही जोशीले शब्दोंमें उन्हें अपने तपस्वी पिताका वध करनेवाले उस दुष्ट क्षत्रियाधमको दण्ड देनेके लिये प्रेरित किया। इन्द्रसेनाके शब्द बड़े ही मार्मिक थे। उन्होंने कहला भेजा—'बेटा दम! राजा होनेका अधिकार उसीको है, जो चारों वर्णों एवं आश्रमोंकी रक्षा करे। तुम जो तपस्वियोंकी रक्षा नहीं करते, यह क्या तुम्हारे लिये उचित है? तुम्हारे पिताका बिना किसी अपराधके तुम्हारे ही राज्यमें एक आततायी चुपचाप उनके आश्रममें आकर वध कर दे और तुम्हें इस बातका पता भी न चले—यह तुम्हारे लिये कितनी लज्जाकी बात है! ऐसी स्थितिमें तुम्हें वही कार्य करना चाहिये, जिससे तुम्हारे धर्मका लोप न हो। इससे आगे मुझे कुछ नहीं कहना है, क्योंकि मैं तपस्विनी हूँ। तुम्हारे मन्त्री बड़े वीर तथा सब शास्त्रोंके ज्ञाता हैं। उन सबके साथ विचार करके तुम्हारे लिये इस समय जो उचित हो, वही तुम्हें करना चाहिये। अपने पिता शक्तिको राक्षसके हाथसे मारा गया सुनकर महर्षि पराशरने समस्त राक्षस-कुलको अग्निकुण्डमें होमकर भस्म कर दिया था। मैं तो ऐसा मानती हूँ कि तुम्हारे पिता नहीं, तुम ही मारे गये हो; वपुष्मान्‌की तलवार उनपर नहीं गिरी, तुम्हारे ही ऊपर गिरी है। उसने तुम्हारे निरीह पिताको मारकर तुम्हारे ही शासनका उल्लंघन किया है, तुम्हारी ही मर्यादाका लोप किया है। अब तुम्हें भृत्य, कुटुम्ब एवं बन्धु-बान्धवोंसहित वपुष्मान्‌के प्रति जो बर्ताव करना उचित हो, वही करो।' यों कहलाकर इन्द्रसेना अपने पतिके साथ ही अग्निमें प्रवेश कर गयी।

मर्यादा-रक्षाके लिये क्षात्रधर्मकी आवश्यकता

भारतकी वीर क्षत्राणियाँ प्राचीन कालमें अपनी सन्तानोंको इसी प्रकार धर्मयुद्धके लिये प्रेरित किया करती थीं। माता विदुलाने अपने पुत्र संजयको तथा कुन्तीदेवीने पाण्डवोंको इसी प्रकार उनके क्षत्रियोचित कर्तव्यका पालन करनेके लिये प्रेरणा की थी। जबसे भारतकी वीर रमणियोंने अपने पुत्रोंको इस प्रकार धर्मका उपदेश देना छोड़ दिया, तभीसे भारत तेजोहीन हो गया और उसमें अपने तथा अपनी संतानोंपर किये गये अत्याचारोंका बदला

लेनेकी शक्ति नहीं रही। एक जानकीको राक्षसोंके चंगुलसे छुड़ानेके लिये मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामने समस्त राक्षसकुलका संहार कर डाला तथा एक द्रौपदीके अपमानका बदला लेनेके लिये पाण्डवोंने कौरव-वंशका उच्छेद कर दिया। परन्तु आज हमारी आँखोंके सामने न जाने कितनी अबलाओंपर दुष्टोंद्वारा अत्याचार एवं बलात्कार किये जाते हैं, न जाने हमारी कितनी माता-बहिनें आज विधर्मियोंके चंगुलमें पड़ी हुई अपने भाग्यको कोस रही हैं, न जाने कितने वृद्ध एवं बालकोंके निर्दयतापूर्वक काटे जानेकी बातें हम सुनते हैं; परन्तु हमारे कानोंपर जूँ भी नहीं रेंगती, हमह्यारे खूनमें जरा भी गरमाहट नहीं आती, मानो कुछ हुआ ही नहीं!

दमका अपने पिताके मारनेवालेको दण्ड देना

जिन दिनोंकी यह बात है, उन दिनों भारतके क्षत्रियोंकी धमनियोंका खून गरम था। वे अपने कर्तव्यसे च्युत एवं नपुंसक नहीं हो गये थे। अत्याचार एवं अपमानका बदला लेनेकी उनमें शक्ति थी। राजा दमने जब यह दुःखपूर्ण संवाद सुना, तब उनका हृदय क्रोधसे जल उठा। जैसे घी डालते ही आग प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार दम क्रोधाग्निसे जलते हुए हाथ-से-हाथ मलने लगे और इस प्रकार बोले—'ओह! मुझ पुत्रके जीते-जी उस आततायीने मेरे पिताको अनाथकी भाँति मार डाला और इस प्रकार मेरे कुलका अपमान तथा मेरे शासनकी अवहेलना की। यदि मैं बैठकर उस घटनापर शोक मनाऊँ और चुप हो रहूँ अथवा उदारतापूर्वक क्षमा कर दूँ तो यह मेरी नपुंसकता होगी। दुष्टोंका दमन और साधु-पुरुषोंकी रक्षा—यही मेरा कर्तव्य है। मेरे पिताको मारकर भी यदि मेरा शत्रु जीवित है तो अब केवल 'हा तात!' कहकर विलाप करनेसे क्या होगा। इस समय जो करना आवश्यक है, वही मैं करूँगा। उस कायर, पापी एवं दुष्ट क्षत्रियाधमको अपनी करनीका फल अच्छी तरह चखाऊँगा, जिससे फिर किसी दुष्टकी इस प्रकार अन्याय करनेकी हिम्मत न हो। यदि उसे न मार सका तो स्वयं ही अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा। यदि देवराज इन्द्र स्वयं वज्र हाथमें लिये युद्धमें पधारें, भयंकर दण्ड लिये साक्षात् यमराज भी कुपित होकर सामने आ जायँ, कुबेर, वरुण और सूर्य भी वपुष्मान्की रक्षाका यत्न करें, तो भी मैं उस नराधमको जीवित नहीं छोड़ूँगा। जो नियतात्मा, निर्दोष, वनवासी, अपने-आप वृक्षसे गिरे हुए फलोंका आहार करनेवाले तथा सब प्राणियोंके मित्र थे—ऐसे मेरे पिताकी मुझ-जैसे शक्तिशाली पुत्रके रहते हुए जिसने निर्दयतापूर्ण हिंसा की है, उसके मांस और रक्तसे आज गृध्र तृप्त हों।'

राजा दम यों कहकर चुप नहीं हो गये। उन्होंने जो कुछ कहा, उसे पूरा करके ही दम लिया। उन्होंने बड़ी भारी सेना लेकर दक्षिण देशपर चढ़ाई कर दी और वपुष्मान्को उसकी सेनासहित मारकर वे पुनः अपनी राजधानीको लौट आये।

इस प्रकार सूर्यवंशमें अनेक शूरवीर, विद्वान्, धर्मज्ञ एवं पराक्रमी राजा हो गये हैं। उन सब राजाओंके चरित्र सुनकर मनुष्य पवित्र हो जाता है। इन्हीं राजाओंका चरित्र सुनाकर मार्कण्डेय मुनि विरत हो जाते हैं। यहीं मार्कण्डेयपुराणकी समाप्ति होती है।

अठारह पुराणोंकी नामावली तथा उनके पाठकी महिमा

मार्कण्डेयपुराणका पुराणोंकी गणनामें सातवाँ स्थान है। उनकी संख्या इस प्रकार दी गयी है—(१) ब्रह्मपुराण, (२) पद्मपुराण, (३) विष्णुपुराण, (४) शिवपुराण, (५) श्रीमद्भागवत, (६) नारदीयपुराण, (७) मार्कण्डेयपुराण, (८) अग्निपुराण, (९) भविष्यपुराण, (१०) ब्रह्मवैवर्तपुराण, (११) नृसिंहपुराण, (१२) वाराहपुराण, (१३) स्कन्दपुराण, (१४) वामनपुराण, (१५) कूर्मपुराण, (१६) मत्स्यपुराण, (१७) गरुडपुराण और (१८) ब्रह्माण्डपुराण कहते हैं जो प्रतिदिन इन अठारहों पुराणोंका नाम लेता तथा प्रतिदिन तीनों समय इस नामावलीका जप करता है, उसे अश्वमेध-यज्ञका फल मिलता है। मार्कण्डेयपुराणके श्रवणका भी महान् फल बताया गया है, उसके सुननेसे करोड़ों कल्पोंके किये हुए पापसमूह नष्ट हो जाते हैं तथा परम योगकी प्राप्ति होती है। उसे न यमराजसे भय होता है न नरकोंसे। इस पृथ्वीपर उसकी वंशपरम्परा सदा कायम रहती है।

ब्रह्मपुराणपर एक विहङ्गम-दृष्टि

ब्रह्मपुराणका उपक्रम तथा राजा पृथुका चरित्र

ब्रह्मपुराणमें लोमहर्षण सूतका शौनकादि ऋषियोंके साथ संवाद है। उसमें पहले-पहल सृष्टिकी उत्पत्ति तथा महाराज पृथुका पावन चरित्र वर्णित है। प्रजाका रंजन करनेके कारण वे सर्वप्रथम राजा कहलाये। वे जब समुद्रकी यात्रा करते, उस समय समुद्रका जल स्थिर हो जाता था। पर्वत उन्हें जानेके लिये मार्ग दे दिया करते थे और उनके रथकी ध्वजा कभी भंग नहीं हुई। उनके राज्यमें पृथ्वी बिना जोते-बोये ही अन्न पैदा करती थी। यही नहीं, राजाका चिन्तन करनेमात्रसे लोगोंका अन्न

अपने-आप पक जाया करता था। सभी गौएँ कामधेनु बन गयी थीं और वृक्षोंके पत्तों-पत्तोंमें मधु भरा रहता था। सूत और मागधोंने जैसी-जैसी इनकी स्तुति की, उसी-उसीके अनुरूप इन्होंने कर्म कर दिखाये। तभीसे लोकमें सूत, मागध एवं वन्दीजनोंद्वारा आशीर्वाद दिलानेकी परिपाटी चल पड़ी। भूमिको सम करनेका कार्य भी राजा पृथुने ही किया। इससे पहले भूमि समतल न होनेके कारण पुरों अथवा ग्रामोंका कोई सीमाबद्ध विभाग नहीं हो सका था। उस समय अन्न, गोरक्षा, खेती और व्यापार भी नहीं होते थे। यह सब पृथुके समयसे ही प्रारम्भ हुआ है। उस समयतक प्रजाका आहार केवल फल-मूल ही था और वह भी बड़ी कठिनाईसे मिलता था। राजा पृथुने पृथ्वीसे सब प्रकारके अन्नोंका दोहन किया। उन्हीं अन्नोंसे आज भी प्रजा जीवन धारण करती है। पृथुने ही इस पृथ्वीका विभाग एवं शोधन किया, जिससे यह अन्नकी खान और समृद्धिशालिनी बन गयी तथा गाँवों और नगरोंसे इसकी शोभा हो गयी। पृथुके सम्बन्धसे ही इसका नाम पृथ्वी हुआ।

भारतवर्षकी महिमा तथा भगवन्नामका अलौकिक माहात्म्य

इसके अनन्तर चौदह मन्वन्तरों तथा विवस्वान्‌की संततिका वर्णन है और फिर क्रमशः सूर्यवंश एवं चन्द्रवंशके नृपतियोंका उल्लेख है। इसी प्रसंगमें जम्बूद्वीप तथा उसके विभिन्न वर्षोंसहित भारतवर्षका वर्णन है। भारतवर्षमें ही पारलौकिक लाभके लिये यति तपस्या करते, यज्ञकर्ता अग्निमें आहुति डालते तथा दाता आदरपूर्वक दान देते हैं। यहाँ लाखों जन्म धारण करनेके बाद बहुत बड़े पुण्यके संचयसे जीव कभी मनुष्यजन्म पाता है। इसके बाद अन्य द्वीपोंका तथा पाताल एवं नरकोंका वर्णन है और उसी प्रसंगमें भगवन्नामकी अलौकिक महिमाका निरूपण किया गया है। तपश्चर्यात्मक सम्पूर्ण प्रायश्चित्तोंमें भगवान् श्रीकृष्णका निरन्तर स्मरण श्रेष्ठ है। पाप कर लेनेपर जिस पुरुषको उसके लिये पश्चात्ताप होता है, उसके लिये एक बार भगवान् श्रीहरिका स्मरण कर लेना ही सर्वोत्तम प्रायश्चित्त बताया गया है। भगवान् नारायणका स्मरण करनेवाला मनुष्य तत्काल पापमुक्त हो जाता है। इसलिये जो पुरुष रात-दिन भगवान् विष्णुका स्मरण करता है, वह अपने समस्त पातकोंका नाश हो जानेके कारण कभी नरकमें नहीं पड़ता। यही नहीं, भगवान् विष्णुके स्मरण और कीर्तनसे सम्पूर्ण क्लेशराशिके क्षीण हो जानेपर मनुष्य मुक्त हो जाता है। उसके लिये फलरूपसे इन्द्रादिके पदकी प्राप्ति विघ्नमात्र है। कहाँ तो जहाँसे लौटना पड़ता है, ऐसे स्वर्गलोककी प्राप्ति और कहाँ मोक्षके सर्वोत्तम बीज वासुदेव-मन्त्रका जप! दोनोंमें कोई तुलना नहीं है।

भगवान् विष्णुका स्वरूप

इसके बाद सूर्य आदि ग्रहों तथा भुवः आदि लोकोंकी स्थिति तथा श्रीविष्णुके प्रभावका वर्णन है। भगवान् विष्णु ही परब्रह्म हैं। उन्हींसे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है, वे ही जगत्स्वरूप हैं तथा उन्हींमें इस जगत्‌का लय होगा। सत् और असत् दोनों वे ही हैं, वे ही परमपद हैं, वे ही अव्याकृत मूलप्रकृति और वे ही व्याकृत जगत् हैं। यह सब कुछ उन्हींमें लय होता है और उन्हींके आधार स्थित रहता है। वे ही क्रियाओंके कर्ता—यजमान हैं, उन्हींका यज्ञोंद्वारा पूजन किया जाता है तथा यज्ञ और उसके फल भी वे ही हैं। युग आदि सब कुछ उन्हींसे प्रवृत्त होता है। उन श्रीहरिसे भिन्न कुछ भी नहीं है।

ब्रह्माजीके द्वारा भारतकी महिमाका वर्णन

इसके बाद तीर्थोंका वर्णन और फिर व्यासजीका मुनियोंके साथ संवाद है। उसीके अन्तर्गत ब्रह्माजीका भृगु आदि मुनीश्वरोंके साथ संवाद है। ब्रह्माजीके द्वारा उपदिष्ट होनेके कारण ही इस पुराणकी ब्रह्मपुराण संज्ञा हुई है। ब्रह्माजीने सर्वप्रथम भारतवर्षकी महिमाका वर्णन किया। उन्होंने बताया कि यह परम प्राचीन तथा भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाला उत्तम क्षेत्र है। यहीं किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप स्वर्ग और नरक प्राप्त होते हैं। यहाँ ब्राह्मण आदि वर्ण भलीभाँति संयमपूर्वक रहते हुए अपने-अपने कर्मोंका अनुष्ठान करके उत्तम सिद्धिको प्राप्त होते हैं। भारतवर्षमें संयमशील पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—सब कुछ प्राप्त करते हैं। इन्द्रादि देवताओंने भारतवर्षमें शुभकर्मोंका अनुष्ठान करके ही देवत्व प्राप्त किया है। इसके सिवा अन्य जितेन्द्रिय पुरुषोंने भी भारतवर्षमें शान्त, वीतराग एवं मात्सर्यरहित जीवन बिताते हुए मोक्ष प्राप्त किया है। देवता सदा इस बातकी अभिलाषा करते हैं कि हमलोग कब स्वर्ग और मोक्ष प्रदान करनेवाले भारतवर्षमें जन्म लेकर निरन्तर उसका दर्शन करेंगे। इस प्रकार जिस सौभाग्यके लिये देवतालोग भी तरसते हैं, वह दुर्लभ सौभाग्य भगवान्‌की असीम अनुकम्पासे हम भारतवासियोंको अनायास प्राप्त है। हमें चाहिये कि हम शीघ्र-से-शीघ्र भगवान्‌के चरणोंकी सन्निधि प्राप्तकर अपना जन्म और जीवन सफल करें। इसीके लिये हमें भगवान्‌ने दयापूर्वक यहाँ जन्म दिया है।

देवी पार्वतीकी अनुपम धर्मनिष्ठा

इसके बाद भगवान् सूर्यकी महिमा तथा अदितिके गर्भसे उनके अवतारका वर्णन है। इसके अनन्तर भगवती

पार्वतीका पावन चरित्र है। वे बचपनसे ही भगवान् शंकरको पतिरूपमें पानेके लिये तपस्यामें प्रवृत्त हो गयी थीं। वास्तवमें तो वे शंकरजीकी स्वरूपा-शक्ति होनेके कारण शंकरजीसे सदा ही संयुक्त हैं, अभिन्न हैं; जगत्को शिक्षा देनेके लिये ही उन्होंने यह लीला की थी। देवताओंसे यह आश्वासन मिलनेपर कि 'शंकरजी स्वयं शीघ्र ही तुम्हारा वरण करेंगे' वे तपस्यासे विरत हो गयीं। किन्तु फिर भी वे रहीं अपने आश्रममें ही। एक दिन भगवान् शंकर चन्द्रमाके आकारका तिलक लगाये नाटा एवं विकृतरूप धारण करके उनके पास आये। उनकी नाक कटी थी। कूबड़ निकला हुआ था। उनके मुखकी आकृति भी बिगड़ी हुई थी। उन्होंने पार्वतीसे कहा—'देवि! मैं तुम्हारा वरण करता हूँ।' देवी पार्वतीने उन्हें पहचान लिया और अर्घ्य, पाद्य एवं मधुपर्कके द्वारा उनका पूजन किया। फिर भी लोक-मर्यादाकी रक्षाके लिये उन्होंने विकृतरूपधारी शंकरजीसे कहा—'भगवन्! मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। मेरे पिता घरपर हैं। वे ही मुझे देनेमें समर्थ हैं, मैं इस समय उन्हींके अधीन हूँ।' भारतकी धर्मप्राणा देवियो! जगज्जननी उमा ही तुम्हारे लिये सदासे आदर्श रही हैं, उन्हींके पदचिह्नोंपर चलनेमें तुम्हारी शोभा एवं तुम्हारा कल्याण है। स्त्री-स्वातन्त्र्यके पक्षपातियोंके बहकावेमें आकर अपनी प्राचीन मर्यादाका कभी त्याग न करना।

देवी पार्वतीका ब्राह्मणकी रक्षाके लिये अपूर्व त्याग

पार्वतीका धर्मानुकूल उत्तर सुनकर बाबा भोलेनाथ वहाँसे चले गये। उनके चले जानेपर पार्वतीदेवी उन्हींमें मन लगाये एक शिलापर बैठ गयीं। इसी समय देवाधिदेव शंकर एक नयी लीला रचनेके लिये ब्राह्मण-बालकका रूप धारणकर निकटवर्ती सरोवरमें प्रकट हुए। उस बालकको एक ग्राहने पकड़ रखा था। बालक चिल्ला रहा था—'मुझे बचाओ, मुझे बचाओ।' पीड़ित ब्राह्मणकी वह पुकार सुनकर कल्याणमयी देवी पार्वती सहसा उठ खड़ी हुईं और उस स्थानपर गयीं, जहाँ वह बालक ग्राहके मुखमें पड़ा थर-थर काँप रहा था। भला, जगदम्बासे वह दृश्य कैसे देखा जाता। जिनके वात्सल्य-समुद्रके एक छोटे-से कणको पाकर संसारभरकी माताओंका हृदय वात्सल्यसे परिपूर्ण है, वे एक बालकको इस अवस्थामें देखकर कैसे अपनेको सँभाल सकती थीं। उन्होंने बड़े ही करुणापूर्ण शब्दोंमें ग्राहसे कहा—'ग्राहराज! इस दीन बालकको छोड़ दो।' ग्राहने कहा—'देवि! आपने अबतक जो कुछ भी तपस्या की है, वह सब-की-सब मुझे दे दें तो मैं इस बालकको छोड़ सकता हूँ।'

तपस्यासे ब्राह्मण ऊँचा है

दूसरा कोई होता तो इतने बड़े मूल्यको सुनकर सहम जाता। खासकर जो तपस्या भगवान् शंकरको प्रसन्न करनेके उद्देश्यसे की गयी हो, उसका इस प्रकार सहसा एक बालककी प्राणरक्षाके मूल्यपर बेच डालना अत्यन्त दुष्कर कार्य था। परन्तु एक असहाय बालकके प्राण बचानेके लिये जगज्जननी सब कुछ कर सकती हैं। उन्होंने कहा—'ग्राह! मैंने जन्मसे लेकर अबतक जो भी पुण्य किया है, वह सब तुम्हारे अर्पण है। तुम कृपया इस बालकको छोड़ दो।' इस उत्तरको सुनकर ग्राहको बड़ी प्रसन्नता हुई। देवी पार्वतीकी अनुपम तपस्याको पाकर वह दोपहरके सूर्यकी भाँति तेजसे प्रज्वलित हो उठा। उस समय उसकी ओर देखना कठिन था। उसने कहा—'महाव्रते! तुमने यह क्या किया। भलीभाँति सोचकर देखो, तपस्याका उपार्जन बड़ी कठिनतासे होता है। अतः तुम अपनी तपस्या वापस ले लो। मैं तुम्हारे इस अनुपम त्यागसे ही प्रसन्न होकर इस बालकको छोड़े देता हूँ।' ग्राहके इस वचनको सुनकर देवीने जो उत्तर दिया, वह स्वर्णाक्षरोंमें अंकित करने योग्य है। वह उन्हींके अनुरूप था। देवीने कहा—'ग्राह! मुझे अपना शरीर देकर भी ब्राह्मणकी रक्षा करनी चाहिये। तपस्या तो मैं फिर भी कर सकती हूँ; किन्तु यह ब्राह्मण पुनः नहीं मिल सकता। महाग्राह! मैंने भलीभाँति सोचकर ही तपस्याके द्वारा बालकको छुड़ाया है। तपस्या ब्राह्मणोंसे श्रेष्ठ नहीं है, तपस्यासे मैं ब्राह्मणोंको ही श्रेष्ठ मानती हूँ। ग्राहराज! मैं तपस्या देकर फिर नहीं लूँगी। कोई भी भला आदमी दी हुई वस्तुको वापस नहीं लेता। अतः यह तपस्या तुममें ही शोभित हो। कृपया इस बालकको छोड़ दो।'

भगवान्‌को अर्पण किया हुआ सब कुछ अक्षय हो जाता है

पार्वतीके यों कहनेपर ग्राहने उनकी बड़ी प्रशंसा की, बालकको छोड़ दिया और देवीको नमस्कार करके वह वहीं अन्तर्धान हो गया। अपनी तपस्याकी हानि समझकर पार्वतीने पुनः नियमपूर्वक तप आरम्भ किया। इसपर भगवान् शंकर उनके सामने प्रकट हो गये और बोले—'देवि! अब और तपस्या न करो। तुमने अपना तप मुझीको अर्पण किया है, अतः वह अक्षय हो गया है।' सच है, भगवान्‌को अर्पण किया हुआ पत्र-पुष्प अथवा जल भी अक्षय हो जाता है, फिर तपस्याकी तो बात ही क्या है।

पार्वती-स्वयंवर

पार्वतीके पिताने अब अपनी पुत्रीके लिये स्वयंवर रचा। स्वयंवरकी घोषणा होते ही सम्पूर्ण लोकोंमें निवास

करनेवाले देवता सज-सजकर गिरिराज हिमालयके यहाँ जुटने लगे। भगवती उमा जयमाला हाथमें लिये देव-समाजमें उपस्थित हुईं। इतनेमें ही देवीकी परीक्षाके लिये भगवान् शंकर पाँच शिखाओंवाले शिशु बनकर सहसा उनकी गोदमें आकर सो गये। देवीने बालक बने हुए अपने स्वामीको पहचान लिया और बड़े प्रेमके साथ उन्हें अपने अंकमें ले लिया। अपने अभीष्ट वरको पाकर देवी पार्वती स्वयंवरसे लौट पड़ीं। इधर देवीके अंकमें सोये हुए उस शिशुको देखकर देवतालोग चक्करमें पड़ गये और सोचने लगे कि यह कौन है। देवराज इन्द्रने अपनी एक बाँह ऊपर उठाकर उस बालकपर वज्रका प्रहार करनेकी चेष्टा की, किन्तु शिशुरूपधारी शंकरने उन्हें स्तम्भित कर दिया। अब वे न तो वज्र चला सके और न हिल-डुल सके। तब भग नामके देवताने बालकपर एक तेजस्वी शस्त्र चलाना चाहा, किन्तु भगवान्ने उनकी बाँहको भी जडवत् बना दिया। साथ ही उनका बल, तेज और योगशक्ति भी हर ली। उस समय ब्रह्माजीने शंकरजीको पहचान लिया और शीघ्र उठकर उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया तथा देवताओंको भी उनका परिचय कराया। तब वे जडवत् बने हुए देवता शुद्धचित्तसे मन-ही-मन महादेवजीको प्रणाम करने लगे। इससे देवाधिदेव महादेवने प्रसन्न होकर उनका शरीर पहले-जैसा कर दिया। तत्पश्चात् देवेश्वरने परम अद्भुत त्रिनेत्रधारी विग्रह धारण किया। उस समय उनके तेजसे तिरस्कृत हो सम्पूर्ण देवताओंने नेत्र बंद कर लिये। तब उन्होंने देवताओंको दिव्य दृष्टि प्रदान की, जिससे वे उनके दिव्य स्वरूपका दर्शन कर सके। तदनन्तर पार्वतीदेवीने अत्यन्त प्रसन्न हो देवताओंके देखते-देखते अपने हाथकी माला भगवान्के चरणोंमें चढ़ा दी। यह देख सब देवता साधु-साधु कहने लगे। फिर उन लोगोंने भूमिपर मस्तक टेककर देवीसहित महादेवजीको प्रणाम किया। तत्पश्चात् शास्त्रोक्त विधिसे पार्वती-परमेश्वरका विवाह सम्पन्न हुआ।

गौतमी गंगाका माहात्म्य

इसके अनन्तर दक्षयज्ञ-विध्वंसकी कथा, शरणागत दक्षपर भगवान् शंकरकी कृपा, एकाम्रकक्षेत्र तथा श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्रकी महिमा, मार्कण्डेय मुनिका चरित्र, भगवान् पुरुषोत्तमकी पूजा एवं दर्शनका फल आदि विविध विषयोंका वर्णन है। इसके बाद गौतमी गंगा (गोदावरी) तथा भागीरथी गंगाकी उत्पत्ति तथा गौतमी गंगाके माहात्म्यका विस्तृत वर्णन है। गौतमी गंगाके माहात्म्यका प्रसंग किसी-किसी मुद्रित प्रतिमें अलग दिया गया है और किन्हीं-किन्हीं विद्वानोंका मत है कि यह ब्रह्मपुराणसे अलग है। हस्तलिखित प्रतियोंमें भी इसकी सर्वत्र उपलब्धि नहीं होती। फिर भी कई मुद्रित प्रतियोंके आधारपर हमने इसे ब्रह्मपुराणका ही अंग मान लिया है। वास्तवमें यह ब्रह्मपुराणके अन्तर्गत है या नहीं—इसका निर्णय विद्वान् समीक्षक करेंगे।

कपोत-कपोतीका अद्भुत त्याग तथा अतिथि-सेवाका महत्त्व

गौतमी-माहात्म्यके अन्तर्गत कपोत-तीर्थके प्रसंगमें कपोत-दम्पतिका चरित्र बड़ा ही रोमांचजनक एवं प्रभावोत्पादक है। अन्य महाभारतादि ग्रन्थोंमें भी इसका उल्लेख मिलता है। कहते हैं, ब्रह्मगिरिपर एक बड़ा भयंकर व्याध रहता था। वह ब्राह्मणों, साधुओं, यतियों, गौओं, पक्षियों तथा मृगोंकी हत्या किया करता था। उस महापापी व्याधके मनमें सदा पापके ही संकल्प उठा करते थे। उसकी स्त्री और पुत्र भी वैसे ही क्रूर स्वभावके थे। एक दिन अपनी पत्नीकी प्रेरणासे वह घने जंगलमें घुस गया। वहाँ उस पापीने अनेक प्रकारके मृगों और पक्षियोंका वध किया। कितनोंको जीवित ही पकड़कर पिंजरेमें डाल दिया। इस प्रकार बहुत दूरतक घूम-फिरकर वह अपने घरकी ओर लौटा। रास्तेमें बड़े जोरकी वर्षा आयी। हवा भी तेज चलने लगी और पानीके साथ पत्थर भी गिरने लगे। व्याध राह चलते-चलते थक गया था। जलकी अधिकताके कारण मार्गका ज्ञान ही नहीं हो पाता था। जल, थल और गड्ढेकी पहचान असम्भव हो गयी थी। व्याध बड़ी चिन्तामें पड़ गया। उसे कोई ऐसा स्थान नहीं दिखायी दिया, जहाँ बैठकर वह वर्षा एवं वातसे त्राण पा सकता। इतनेमें ही उसे थोड़ी दूरपर एक बहुत बड़ा वृक्ष दिखायी दिया, जो शाखाओं एवं पल्लवोंसे सुशोभित था। वह उसीके नीचे आकर बैठ गया। उसके सारे वस्त्र भीग गये थे। उसे अब स्त्री और बच्चोंकी चिन्ताने आ घेरा। इतनेमें सूर्यास्त होनेको आ गया।

उसी वृक्षपर एक कपोत पक्षी अपनी स्त्री और बच्चोंके साथ रहता था। उस वृक्षपर रहते उसको कई वर्ष बीत गये थे। वह अपने परिवारके साथ बड़ा सुखी था। उसकी स्त्री कपोती बड़ी पतिव्रता थी। वह अपने पति एवं पुत्रोंके साथ उसी वृक्षके खोडरमें रहती थी। वहाँ हवा और पानीसे पूरा बचाव था। उस दिन कपोत और कपोती दोनों चारा चुगने बाहर गये थे; परन्तु अकेला कपोत ही वापस आ पाया था। दैववश कपोती उसी व्याधके जालमें फँस गयी थी, किन्तु जीवित थी। कपोत कपोतीको लौटते न देख बड़ा चिन्तित हुआ। वर्षा अबतक जारी थी और सूर्य पश्चिममें डूब चुके थे। अब तो कपोत लगा रोने। उसे क्या पता था कि उसकी कपोती वहीं पिंजरेमें बंद है। कपोतका करुण विलाप सुनकर कपोती पिंजरेमेंसे

बोली—'प्राणनाथ! मैं यहीं पिंजरेमें बंद हूँ। आप मेरे लिये चिन्ता न करें।' कपोतीका यह वचन सुनकर कपोत वृक्षसे नीचे उतरा और कपोतीके पास चला आया। वहाँ उसने देखा कि उसकी प्रिया जीवित है और व्याध मृतककी भाँति निश्चेष्ट पड़ा है। तब उसने अपनी पत्नीको बन्धनसे मुक्त करनेका विचार किया। इसपर कपोतीने उन्हें रोकते हुए कहा—'स्वामिन्! इसके लिये कष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं है। आप अपने धर्मपर दृढ़तापूर्वक आरूढ रहें। आप जानते हैं, ब्राह्मणोंके गुरु अग्नि हैं, ब्राह्मण सब वर्णोंका गुरु है, स्त्रियोंका गुरु उसका पति है और अभ्यागत सबका गुरु है। जो लोग अपने घरपर आये हुए अतिथिको वचनोंद्वारा सन्तुष्ट करते हैं, उनके उन वचनोंसे वाणीकी अधीश्वरी सरस्वती देवी प्रसन्न होती हैं; अतिथिको अन्न देनेसे इन्द्र तृप्त होते हैं; उसके चरण धोनेसे पितर, उसे भोजन करानेसे प्रजापति, उसकी सेवा-पूजासे लक्ष्मीसहित श्रीविष्णु तथा उसे सुखपूर्वक शयन करानेसे सम्पूर्ण देवता तृप्त होते हैं। अतः अतिथि सबके लिये परम पूज्य है। यदि सूर्यास्तके बाद थका-माँदा अतिथि घरपर आ जाय तो उसे देवता समझे; क्योंकि वह सब यज्ञोंका फलरूप है। थके हुए अतिथिके साथ गृहस्थके घरपर सम्पूर्ण देवता, पितर और अग्नि भी पधारते हैं। यदि अतिथि तृप्त हुआ तो उन्हें भी बड़ी प्रसन्नता होती है; और यदि वह निराश होकर चला गया तो वे भी निराश होकर ही लौटते हैं। अतः प्राणनाथ! आप सर्वथा दुःख छोड़कर शान्ति धारण करें और अपनी बुद्धिको शुभकर्ममें लगाकर धर्मका सम्पादन करें। दूसरोंके द्वारा किये हुए उपकार और अपकार दोनों ही साधु पुरुषोंके विचारसे श्रेष्ठ हैं। उपकार करनेवालोंपर तो सभी उपकार करते हैं; अपकार करनेवालोंके साथ जो अच्छा बर्ताव करे, वही पुण्यका भागी बताया गया है।'

अतिथि-सेवाके लिये धनकी आवश्यकता नहीं है

कपोतीके इन धर्ममय वचनोंको सुनकर कपोतको बड़ी प्रसन्नता हुई। वह बोला—'प्रिये! तुम्हारी बात बिलकुल यथार्थ है। परन्तु इस सम्बन्धमें मुझे भी एक बात तुमसे कहनी है। वह यह है कि कोई हजार प्राणियोंका भरण-पोषण करता है, दूसरा दसका ही निर्वाह करता है और कोई ऐसा है, जो सुखपूर्वक केवल अपनी जीविका चला लेता है। परन्तु हमलोग तो ऐसे जीवोंमेंसे हैं, जो अपना ही पेट बड़े कष्टसे भर पाते हैं। कुछ लोग खाईं खोदकर उसमें अन्न भरकर रखते हैं, कुछ लोग कोठेभर अन्नके धनी होते हैं और कितने ही घड़ोंमें धान भरकर रखते हैं। परन्तु हमारे पास तो उतना ही संग्रह रहता है, जितना हमारी चोंचमें आ जाय। शुभे! तुम्हीं बताओ, ऐसी दशामें मैं थके-माँदे अतिथिका आदर-सत्कार किस प्रकार करूँ?' कपोतीने कहा—'प्राणनाथ! अग्नि, जल, मीठी वाणी, तृण और काष्ठ आदि जिससे भी सम्भव हो, अतिथिकी सेवा करनी चाहिये।'

कपोत-दम्पतिका स्वर्ग-गमन

अपनी प्यारी स्त्रीका कथन सुनकर पक्षिराज कपोतने पेड़के शिखरपर पहुँचकर सब ओर देखा तो कुछ दूरीपर उसे आग दिखायी दी। वहाँ जाकर वह चोंचसे एक जलती हुई लकड़ी उठा लाया और व्याधके आगे रखकर उसने अग्नि प्रज्वलित की। फिर सूखी लकड़ियाँ, पत्ते और तिनके ला-लाकर वह आगमें डालने लगा। उसे देखकर सर्दीसे दुःखी व्याधने जडवत् बने हुए अपने अंगोंको सेंका। इससे उसे बड़ा आराम मिला। कपोतीने देखा, व्याध क्षुधाकी आगमें जल रहा है; अतः उसने अपने स्वामीसे कहा—'नाथ! मुझे आगमें डाल दीजिये। मैं अपने शरीरसे इस व्याधको तृप्त करूँगी।' कपोतने कहा—'मेरे रहते तुम्हारा यह धर्म नहीं है। आज तो मुझे ही अतिथि-यज्ञ करने दो।' यों कहते हुए पत्नीके उत्तरकी प्रतीक्षा न करके कपोतने भगवत्-स्मरणपूर्वक अग्निकी तीन बार प्रदक्षिणा की; फिर व्याधसे यह कहता हुआ अग्निमें कूद पड़ा कि 'मुझे सुखपूर्वक उपयोगमें लाओ।' कपोतके इस दैवी व्यवहारको देखकर व्याध तो लज्जाके मारे गड़ गया और अपने मनुष्य-जीवनको धिक्कारने लगा। इसपर व्याधसे कपोतीने कहा—'महाभाग! अब मुझे छोड़ दो, मैं अपने पतिदेवका सहगमन करूँगी।' उसकी बात सुनकर व्याध हक्का-बक्का-सा रह गया और उसने तुरंत ही कपोतीको बन्धनमुक्त कर दिया। व्याधके देखते-देखते कपोतीने भी अपने पतिके मार्गका ही अनुसरण किया। उसने पृथ्वी, देवता, गंगा तथा वनस्पतियोंको नमस्कार किया और अपने बच्चोंको सान्त्वना देकर व्याधसे कहा—'महाभाग! तुम्हारी ही कृपासे मुझे यह अनुपम सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मैं पतिके साथ स्वर्गलोकमें जाती हूँ।' यों कहकर वह पतिव्रता कपोती आगमें प्रवेश कर गयी। उसी समय आकाशमें जय-जयकारकी ध्वनि गूँज उठी! तत्काल ही सूर्यके समान तेजस्वी अत्यन्त सुन्दर विमान आकाशसे उतर आया। कपोत और कपोती दोनों देवताओंके समान दिव्य शरीर धारण करके उसपर आरूढ़ हुए और आश्चर्यचकित व्याधसे प्रसन्न होकर बोले—'महामते! हम देवलोकमें जाते हैं और तुम्हारी आज्ञा चाहते हैं। तुम अतिथिके रूपमें हम दोनोंके लिये स्वर्गकी सीढ़ी बनकर आ गये। तुम्हें नमस्कार है।'

गोदावरी-स्नानका माहात्म्य

उन दोनोंको श्रेष्ठ विमानपर बैठे देख व्याधने भी अपना धनुष और पिंजरा फेंक दिया और हाथ जोड़कर कहा—'महाभागो! मेरा त्याग न करो। मैं अज्ञानी हूँ। मुझे भी कुछ उपदेश दो। मैं तुम्हारे लिये सम्मान्य अतिथि होकर आया था, इसलिये मेरे उद्धारका भी उपाय बताते जाओ।' उन दोनोंने कहा—'व्याध! तुम्हारा कल्याण हो, तुम भगवती गोदावरीके तटपर जाओ और उन्हींको अपना पाप भेंट कर दो। वहाँ पंद्रह दिनोंतक डुबकी लगानेसे तुम पापमुक्त हो जाओगे। पापमुक्त होकर जब तुम पुनः गौतमी गंगामें स्नान करोगे, तब अश्वमेध यज्ञका फल पाकर अत्यन्त पुण्यवान् हो जाओगे।' उन दोनोंकी बात सुनकर व्याधने वैसा ही किया। फिर वह भी दिव्यरूप धारण करके एक श्रेष्ठ विमानपर जा बैठा। तभीसे वह स्थान कपोततीर्थके नामसे विख्यात हुआ। वहाँ स्नान, दान, पितृ-तर्पण, जप, यज्ञ आदि कर्म करनेपर वे अक्षय फलको देनेवाले बन जाते हैं।

त्यागकी महिमा

अतिथि-सत्काररूप गृहस्थ-धर्मका पालन करनेके लिये उस कपोत-दम्पतिने जो अनुपम एवं आदर्श त्याग किया, वह जगत्‌के इतिहासमें अद्वितीय है। पशु-पक्षियोंकी तो बात ही क्या, मनुष्योंमें भी वैसी त्यागबुद्धि होनी अत्यन्त कठिन है। शिबि आदि थोड़े-से नररत्नोंमें ही ऐसे त्यागका उदाहरण मिलता है। जिस देशमें और जिस धर्मकी छत्रछायामें पले हुए पक्षियोंमें भी ऐसा अद्‌भुत त्याग पाया जाता है, उस देश और उस धर्मकी कहाँतक बड़ाई की जाय। वास्तवमें त्याग ही उन्नति एवं सुखका मूल है। जगत्‌ने आज त्यागके आदर्शको छोड़ दिया, इसीलिये वह दुःखोंका केन्द्र बना हुआ है। त्यागसे मनुष्य किसी प्रकार भी घाटेमें नहीं रहता। बीज बोये जाते हैं बहुत थोड़े, परंतु उनसे दाने कई गुने पैदा हो जाते हैं। फिर उन दानोंका उगना तो हमारे प्रारब्धपर निर्भर है, किंतु त्यागका फल तो अवश्य होता है। कपोत-कपोतीने त्याग तो किया था कपोत-शरीरका, जो सब प्रकारसे अधम और थोड़े दिन रहनेवाला था और उसमें वे सर्वथा कष्टका ही अनुभव करते थे। परन्तु बदलेमें उन्हें मिले चिरकालतक रहनेवाले देवशरीर और दिव्यभोग। फिर भी मनुष्यको विश्वास नहीं होता, इसीलिये वह थोड़े लाभका त्याग न करके महान् लाभसे वंचित रह जाता है। इस आख्यानसे यह भी सिद्ध हो गया कि किसीकी सेवा-सत्कारके लिये विपुल धनकी आवश्यकता नहीं है। जो भी जिसके पास है, उसीसे सेवा हो सकती है। सेवामें प्रधान वस्तु भाव है। त्यागकी भावना होनेसे थोड़ी-सी भी सेवा महान् फलदायक हो जाती है। सेवामें ऊँची बात यह है कि सेवक सेवा स्वीकार करनेवालेका उपकार माने; यह न समझे कि मैं सेवा करके किसीका उपकार कर रहा हूँ। विचार करके देखा जाय तो बात भी ऐसी ही है। व्याध यदि कपोत-कपोतीके यहाँ अतिथि बनकर न आता और उन्हें सेवाका अवसर न देता तो उन्हें वह दिव्य सुख कैसे प्राप्त होता। आतिथ्यके लिये पात्रापात्रका भी विचार नहीं किया जाता। अतिथि चाहे वर्णमें नीचा हो, पापीसे भी पापी हो, हिंसक हो—यहाँतक कि अपना अपकारी अथवा शत्रु भी क्यों न हो—उसकी बिना विचारे तन-मन-धनसे सेवा करना गृहस्थका परम धर्म है। अतिथि और शरणागत—ये दो चाहे कैसे भी हों, ये सर्वथा हमारी सेवा एवं रक्षाके पात्र होते हैं। अतिथि और शरणागतके लिये प्राणोंका त्याग भी करना पड़े तो वह थोड़ा है; बल्कि उनके लिये त्याग न करनेमें बड़ी हानि और पाप बताया गया है। हमारे प्राचीन शास्त्रोंका ही अनुवाद करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजीने यहाँतक कह दिया है—

सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पावँर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि॥

हिंदू-धर्मकी महत्ता

शरणागत पापी है अथवा उसकी रक्षा करनेमें हमारी लौकिक हानि होगी—यह विचारकर उसकी रक्षासे मुँह मोड़नेवाला स्वयं पापी ही नहीं, मनुष्यके वेषमें राक्षस है! जिस धर्ममें अतिथि-सेवा और शरणागतकी रक्षापर इतना जोर दिया गया हो, उस धर्मकी तुलनामें कौन धर्म ठहर सकता है। अतिथि-सेवा ही नहीं, जीवमात्रकी सेवाको हमारे यहाँ महायज्ञ—भगवान्‌की बहुत बड़ी पूजा माना गया है और उसे अवश्यकर्तव्य बताया गया है। पंचमहायज्ञ और क्या हैं? उनमें देवताओंसे लेकर छोटे-से-छोटे जीवतककी सेवाका ही तो विधान है। प्राणियोंकी ही नहीं, पेड़-पौधोंतककी सेवा एवं रक्षा तथा भूमि एवं पर्वतों तथा चन्द्र और सूर्य आदि ग्रहोंतककी पूजाका हिंदू-धर्ममें विधान है, जिन्हें आजका जगत् जड मानकर अवहेलना करता है। आज लोग यह कहकर हमारी खिल्ली उड़ाते हैं कि हिंदू पत्थर पूजते हैं; परन्तु इस रहस्यको कोई नहीं जानता कि हिंदू चेतन जीवमात्रको ही नहीं, कंकड और पत्थर तथा अग्नि और जल-जैसी जड वस्तुओंमें भी भगवान्‌को ही देखते हैं, उनके रूपमें भी भगवान्‌को ही पूजते हैं। हमारे भगवान् किसी देशविशेष अथवा वस्तुविशेषमें सीमित नहीं, वे तो अणु-अणुमें व्याप्त हैं। भगवान् और सीमित, यह तो वदतोव्याघात है। भगवान् ऐसे नहीं, वैसे हैं; वे निराकार

हैं, साकार नहीं हो सकते; वे मनुष्य अथवा पशु-पक्षीके रूपमें अवतरित नहीं हो सकते—यह कहना तो भगवान्‌पर शासन करना हुआ। जो लोग भगवान्‌को इतना सीमित मानते हैं, वे तो दयाके पात्र हैं। भगवान् क्या हैं, इसे तो भगवान् ही जान सकते हैं, दूसरे किसकी सामर्थ्य है। हम तो इतना ही कह सकते हैं—वे सब कुछ हैं, सबसे परे हैं और सबमें भरे हैं। जिसे हम असत् कहते हैं, वह भी वे ही हैं। वे-ही-वे हैं। उनके सिवा कुछ नहीं। यही हिंदू-धर्म है।

धर्मनिष्ठाका अपूर्व उदाहरण

चक्षुस्तीर्थके माहात्म्यके प्रसंगमें मणिकुण्डल नामक वैश्यका चरित्र बड़ा ही उदात्त है। गौतमीके दक्षिण-तटपर भौवन नामका एक विख्यात नगर था। उसमें गौतम नामका एक ब्राह्मण रहता था। गौतमकी एक वैश्यके साथ मित्रता हो गयी। वैश्यका नाम मणिकुण्डल था। इनमें गौतम दरिद्र था, मणिकुण्डल धनी। एक बार गौतमकी प्रेरणासे दोनों मित्रोंने धन कमानेके उद्देश्यसे विदेश जानेका निश्चय किया। मणिकुण्डलने अपने घरसे बहुत-से रत्न लाकर गौतमको दिये और कहा—'मित्र! इस धनसे हमलोग सुखपूर्वक देश-देशान्तरोंमें भ्रमण करेंगे और धन कमाकर फिर घर लौट आयेंगे।' इस प्रकार आपसमें सलाह करके माता-पिताको सूचना दिये बिना ही दोनों घरसे निकल पड़े। किंतु मणिकुण्डलके रत्नोंको देखकर गौतमके मनमें पाप समा गया। वह जिस किसी प्रकार उन रत्नोंको हड़प जाना चाहता था। एक बार बातों-ही-बातोंमें दोनोंमें परस्पर विवाद छिड़ गया। गौतम कहता था—'पापसे ही जीवोंकी उन्नति होती है और वे मनोवांछित सुख प्राप्त करते हैं। संसारमें धर्मात्मालोग प्रायः दुःखी ही देखे जाते हैं। अतः एकमात्र दुःखको पैदा करनेवाले धर्मसे क्या लाभ।' इसके विपरीत वैश्य कहता था—'नहीं-नहीं, ऐसी बात कदापि नहीं है। वस्तुतः धर्ममें ही सुख है। पापमें तो केवल दुःख, भय, शोक, दरिद्रता और क्लेश ही रहते हैं। जहाँ धर्म है, वहीं मुक्ति है।' इस प्रकार विवाद करते हुए दोनोंमें यह शर्त लगी कि जिसका पक्ष श्रेष्ठ सिद्ध हो, वह दूसरेका धन ले ले। इस प्रकारकी शर्त करके दोनों जो भी मिलता था, उससे यही पूछते थे—पृथ्वीपर धर्म बलवान् है या अधर्म? इसपर किसीने उनसे यह कह दिया—'जो धर्मके अनुसार चलते हैं, उन्हें दुःख भोगना पड़ता है और इसके विपरीत बड़े-बड़े पापी मनुष्य सुखी देखे जाते हैं।' यह निर्णय सुनकर वैश्यने अपना सारा धन ब्राह्मणको दे दिया; किंतु मणिकुण्डलकी धर्ममें दृढ़ निष्ठा थी, बाजी हार जानेपर भी वह बराबर धर्मकी ही प्रशंसा करता रहा।

तब ब्राह्मणने कहा—'अच्छा, तो अब दोनों हाथोंकी बाजी लगायी जाय। जो जीत जाय, वह दूसरेके हाथ काट ले।' वैश्यने यह शर्त भी मंजूर कर ली। फिर दोनोंने जाकर पहलेकी ही भाँति लौकिक मनुष्योंसे इसका निर्णय कराया। निर्णय ज्यों-का-त्यों रहा। तब गौतमने मणिकुण्डलके दोनों हाथ काट लिये और उससे पूछा—'मित्र! अब क्या कहते हो?' मणिकुण्डल अपने निश्चयपर अटल था। उसने कहा—'भाई! मेरे प्राण कण्ठतक आ जायँ, तब भी मैं धर्मको ही श्रेष्ठ मानता रहूँगा। धर्म ही देहधारियोंकी माता, पिता, सुहृद् और बन्धु है' इस प्रकार दोनोंमें विवाद चलता रहा। ब्राह्मण धनवान् हो गया और वैश्य धनके साथ-साथ अपने दोनों हाथ भी खो बैठा। धर्मपर दृढ़ रहनेवालोंको प्रारम्भमें इसी प्रकार कष्ट उठाने पड़ते हैं। इस तरह भ्रमण करते हुए दोनों गौतमी गंगाके तटपर भगवान् योगेश्वरके स्थानमें आ पहुँचे। वहाँ पहुँचनेपर फिर दोनोंमें विवाद आरम्भ हो गया। वैश्य वहाँ भी धर्मकी ही प्रशंसा करता रहा। इससे ब्राह्मणको बड़ा क्रोध हुआ। वह वैश्यपर आक्षेप करते हुए बोला—'धन चला गया। दोनों हाथ कट गये। अब केवल तुम्हारे प्राण बाकी हैं। यदि फिर मेरे मतके विपरीत कोई बात मुँहसे निकाली तो मैं तलवारसे तुम्हारा सिर उतार लूँगा।' वैश्य हँसने लगा। उसने पुनः गौतमको चुनौती देते हुए कहा—'मैं तो धर्मको ही बड़ा मानता हूँ; तुम्हारी जो इच्छा हो, कर लो। जो ब्राह्मण, गुरु, देवता, वेद, धर्म और भगवान् विष्णुकी निन्दा करता है, वह पापाचारी मनुष्य पापरूप है। वह स्पर्श करनेयोग्य नहीं है। धर्मको दूषित करनेवाले उस पापात्मा मनुष्यका परित्याग कर देना चाहिये।' तब ब्राह्मणने कुपित होकर कहा—'यदि तुम धर्मकी प्रशंसा करते हो तो हम दोनोंके प्राणोंकी बाजी लग जाय।' वैश्यने कहा—'ठीक है।' फिर दोनोंने साधारण लोगोंसे प्रश्न किया, परंतु लोगोंने पहले-जैसा ही उत्तर दिया। तब ब्राह्मणने वहीं गौतमीके तटपर भगवान् योगेश्वरके सामने वैश्यको गिरा दिया और उसकी आँखें निकाल लीं। फिर कहा—'वैश्य! प्रतिदिन धर्मकी प्रशंसा करनेसे ही तुम इस दशाको पहुँचे हो। तुम्हारा धन गया, दोनों हाथ गये और आँखें भी जाती रहीं। मित्र! अब तुमसे विदा लेता हूँ। फिर कभी भूलकर भी धर्मकी प्रशंसा न करना।' यों कहकर क्रूर गौतम चला गया।

धर्मनिष्ठाका अमृतमय फल

गौतमके चले जानेपर वैश्यप्रवर मणिकुण्डल धन, बाहु और नेत्रोंसे रहित होकर शोकग्रस्त हो गया; तथापि वह

निरन्तर धर्मका ही स्मरण करता रहा। अनेक प्रकारकी चिन्ता करते हुए वह भूतलपर निश्चेष्ट होकर पड़ा था। उसके हृदयमें उत्साह नहीं रह गया था। वह शोक-सागरमें डूबा हुआ था। दिन बीता, रजनीका आगमन हुआ और चन्द्रमण्डलका उदय हो गया। उस दिन शुक्ल-पक्षकी एकादशी थी। एकादशीको वहाँ लंकासे विभीषण आया करते थे। उस दिन भी आये; आकर उन्होंने पुत्र और राक्षसोंसहित गौतमी गंगामें स्नान किया और योगेश्वर भगवान् विष्णुकी विधिपूर्वक पूजा की। विभीषणका पुत्र भी विभीषणके ही समान धर्मात्मा था। उसे लोग वैभीषणि कहते थे। उसकी दृष्टि उस वैश्यपर पड़ी। वैश्यका सारा वृत्तान्त जानकर उसने अपने पिता विभीषणसे कहा। लंकापतिने कहा—'पुत्र! इसी जगह विशल्यकरणी नामकी ओषधि है। उसे ले आकर तुम भगवान्का स्मरण करते हुए इसके हृदयपर रख दो। उसका स्पर्श होते ही वैश्यकी आँखें और हाथ फिर ज्यों-के-त्यों हो जायँगे।' वैभीषणि अपने पितासे ओषधिका परिचय प्राप्तकर उसकी एक शाखा ले आये और विभीषणके कथनानुसार उसे वैश्यके हृदयपर रख दिया। वैश्य तत्काल पुनः हाथ और नेत्रोंसे युक्त हो गया। मणि, मन्त्र और ओषधियोंके प्रभावको कोई नहीं जानता। वैश्यने धर्मका चिन्तन करते हुए गौतमी गंगामें स्नान किया और योगेश्वर भगवान् विष्णुको नमस्कार करके पुनः आगे बढ़ा। उसने अपने साथ ओषधिकी टूटी हुई शाखा भी ले ली थी।

यतो धर्मस्ततो जयः

देश-देशान्तरोंमें भ्रमण करता हुआ मणिकुण्डल एक राजधानीमें पहुँचा, जो महापुरके नामसे विख्यात थी। वहाँके राजा महाराजके नामसे प्रसिद्ध थे। राजाके कोई पुत्र नहीं था, एक पुत्री थी; उसकी भी आँखें नष्ट हो चुकी थीं। राजाने यह निश्चय कर लिया था कि 'देवता, दानव, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निर्गुण या गुणवान्—कोई भी क्यों न हो—मैं उसीको यह कन्या दूँगा, जो इसकी आँखें अच्छी कर देगा। कन्या ही नहीं, यह राज्य भी उसीका होगा।' महाराजने यह घोषणा सब ओर करा दी थी। वैश्यने वह घोषणा सुनकर कहा—'मैं निश्चय ही राजकुमारीकी खोयी हुई आँखें पुनः ला दूँगा।' राजकर्मचारी शीघ्र ही वैश्यको महाराजके पास ले गया और उसने उस काष्ठका स्पर्श कराके राजकुमारीके नेत्र ठीक कर दिये। राजाको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने मणिकुण्डलका परिचय पूछा। तब मणिकुण्डलने अपना सारा वृत्तान्त राजासे कह सुनाया। राजाने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार कन्याके साथ ही अपना राज्य भी मणिकुण्डलको दे दिया। इस प्रकार मणिकुण्डलको प्रारम्भमें कष्ट होनेपर भी अन्तमें उसकी धर्मनिष्ठाने उसे न केवल उसकी आँखें और हाथ ही वापस दिलाये, अपितु उसे राज्य भी दिलवाया। इसीलिये शास्त्रोंने कहा है—'**यतो धर्मस्ततो जयः**'। जहाँ धर्म है, वहाँ विजय होकर रहती है।

शत्रुके प्रति उपकार

परंतु मणिकुण्डलको राज्य पाकर भी मित्रके बिना संतोष नहीं हुआ। वह रात-दिन यही कहा करता था कि मित्रके बिना न तो राज्य अच्छा है और न सुख ही अच्छा लगता है। इस प्रकार वह सदा गौतम ब्राह्मणका ही चिन्तन किया करता था। इस पृथ्वीपर उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए साधु पुरुषोंका यही लक्षण है कि अहित करनेवालोंके प्रति भी उनके मनमें सदा करुणा ही भरी रहती है। एक दिन महाराज मणिकुण्डल वनमें गये हुए थे। वहाँ उन्होंने अपने पूर्वमित्र गौतम ब्राह्मणको देखा। पापी जुआरियोंने उसका सारा धन छीन लिया था। धर्मज्ञ मणिकुण्डलने अपने ब्राह्मण मित्रको साथ ले लिया, उसका विधिपूर्वक पूजन किया और धर्मका सब प्रभाव भी बतलाया। शत्रुके प्रति ऐसा सद्व्यवहार धार्मिक पुरुष ही कर सकते हैं।

एकादशीको रात्रि-जागरणका माहात्म्य

इस प्रकार गौतमी गंगासे सम्बद्ध तीर्थोंका माहात्म्य वर्णन करके अनन्त वासुदेवकी महिमा कही गयी है। फिर कण्डुमुनिका चरित्र एवं उनपर भगवान् पुरुषोत्तमकी कृपाका वर्णन करके पुरुषोत्तमक्षेत्रके माहात्म्यका उपसंहार किया गया है। इसके अनन्तर भगवान्के अवतारका रहस्य बतलाते हुए श्रीकृष्ण-चरित्रका संक्षेपमें वर्णन किया गया है। फिर भगवान्के अन्य मुख्य अवतारोंका अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन करके यमलोकके मार्ग, यमपुरीके चारों द्वार तथा विविध नरकोंका वर्णन, धर्मकी महिमा, भगवद्भक्तिका प्रभाव, अन्न-दानका माहात्म्य तथा श्राद्धविषयक आवश्यक बातें बतलायी गयी हैं। इसके बाद गृहस्थोचित सदाचार एवं कर्तव्याकर्तव्यका वर्णन करते हुए वर्णाश्रम-धर्मका निरूपण किया गया है। फिर स्वर्ग और नरकमें ले जानेवाले धर्मा-धर्मका स्वरूप बताकर भगवान् वासुदेवके माहात्म्यके प्रसंगमें एकादशीके दिन रात्रिमें जागरणपूर्वक भगवद्गुणगानकी महिमा कहते हुए एक भगवद्भक्त चाण्डालका आख्यान वर्णित हुआ है। अवन्तिकापुरी (उज्जैन)-में एक भक्त चाण्डाल रहता था, जो संगीतमें कुशल था। वह उत्तम वृत्तिसे धन पैदा करके अपने कुटुम्बके लोगोंका भरण-पोषण किया करता था। भगवान् विष्णुके प्रति उसकी बड़ी भक्ति थी। वह नियम-पालनमें बड़ा दृढ़ था। प्रत्येक मासकी एकादशी तिथिको वह

नियमपूर्वक उपवास करता और रात्रिके समय भगवान्‌के मन्दिरके समीप जाकर उन्हें भगवल्लीला सम्बन्धी गीत सुनाया करता था। द्वादशीको प्रात:काल भगवान्‌को प्रणाम करके अपने घर लौटता और पहले दामाद, भानजे और कन्याओंको भोजन कराके पीछे स्वयं सपरिवार भोजन करता था। इस प्रकार करते हुए उसके जीवनका अधिकांश भाग बीत चुका था।

भक्तिनिष्ठाका अपूर्व उदाहरण

एक बार चैत्र कृष्णपक्षकी एकादशीको वह भगवान् विष्णुकी सेवाके लिये जंगली पुष्पोंका चयन करनेके निमित्त भक्तिपूर्वक उत्तम वनमें गया। क्षिप्राके तटपर महान् वनके भीतर एक बहेड़ेका पेड़ था। उसके नीचे पहुँचनेपर किसी राक्षसने उस चाण्डालको देखा और भक्षण करनेके लिये पकड़ लिया। यह देख उस चाण्डालने राक्षससे कहा—'भाई! आज तुम मुझे न खाओ, कल प्रात:काल खा लेना। मैं शपथपूर्वक कहता हूँ, मैं स्वयं तुम्हारे पास लौट आऊँगा। राक्षस! आज मेरा बहुत बड़ा कार्य है, अत: मुझे छोड़ दो। मुझे भगवान् विष्णुकी सेवाके लिये रात्रिमें जागरण करना है। तुम्हें उसमें विघ्न नहीं डालना चाहिये।' राक्षसने उसकी बातपर विश्वास करके उसे छोड़ दिया। तब चाण्डाल फूल लेकर भगवान् विष्णुके मन्दिरपर आया। उसने सभी फूल ब्राह्मणको दे दिये। ब्राह्मणने उन्हें जलसे धोकर उनके द्वारा भगवान्‌का पूजन किया और अपने घरकी राह ली; किंतु चाण्डालने उपवासपूर्वक मन्दिरके बाहर ही भूमिपर बैठकर भगवान्‌के गीत गाते हुए रातभर जागरण किया। रात्रि बीतनेपर उसने स्नान करके भगवान्‌को प्रणाम किया। फिर अपनी प्रतिज्ञा सत्य करनेके लिये वह राक्षसके पास चला आया।

भक्तकी निर्भयता

चाण्डालको आया देख ब्रह्मराक्षसके नेत्र आश्चर्यसे चकित हो उठे। उसने चाण्डालसे उसकी उपासनाका सारा हाल जानकर कहा—'भैया! तुम्हें बड़ा पुण्य होगा, तुम अपने एक रातके जागरणका फल मुझे दे दो। ऐसा करनेसे तुम्हें छुटकारा मिल सकता है, अन्यथा तुम्हें मैं कदापि नहीं छोड़नेका।' चाण्डालने कहा—'निशाचर! मैंने तुम्हें अपना शरीर अर्पण कर दिया है। अत: अब दूसरी बात करनेसे क्या लाभ। तुम मुझे इच्छानुसार खा जाओ।' तब राक्षसने फिर कहा—'अच्छा, रातके दो ही पहरके जागरण एवं संगीतका पुण्य मुझे दे दो। तुम्हें मुझपर भी कृपा करनी चाहिये।' यह सुनकर चाण्डालने राक्षससे कहा—'यह कैसी बेसिर-पैरकी बात करते हो। मुझे इच्छानुसार खा लो। मैं तुम्हें अपने जागरणका पुण्य नहीं दूँगा।' चाण्डालकी बात सुनकर ब्रह्मराक्षसने कहा—'भाई! तुम तो अपने धर्म-कर्मसे सुरक्षित हो; कौन ऐसा अज्ञानी और दुष्ट-बुद्धिका पुरुष होगा, जो तुम्हारी ओर ताकने, तुमपर आक्रमण करने अथवा तुम्हें पीड़ा देनेका साहस करेगा। महाभाग! तुम मुझपर कृपा करके एक ही पहरके जागरणका पुण्य दे दो, अथवा अपने घर लौट जाओ।' चाण्डालने फिर उत्तर दिया—'न तो मैं अपने घर लौटूँगा और न तुम्हें किसी तरह एक यामके जागरणका पुण्य ही दूँगा।' यह सुनकर ब्रह्मराक्षस हँस पड़ा और बोला—'भाई! रात्रि व्यतीत होते समय जो तुमने अन्तिम गीत गाया हो, उसीका फल मुझे दे दो और पापसे मेरा उद्धार करो।'

भक्त चाण्डालकी राक्षसपर कृपा

तब चाण्डालने उससे कहा—'यदि तुम आजसे किसी भी प्राणीका वध न करो तो मैं तुम्हें अपने पिछले गीतका पुण्य दे सकता हूँ; अन्यथा नहीं।' 'बहुत अच्छा' कहकर ब्रह्मराक्षसने उसकी बात मान ली। तब चाण्डालने उसे आधे मुहूर्तके जागरण एवं गानका फल दे दिया। उसे पाकर ब्रह्मराक्षसने चाण्डालको प्रणाम किया और प्रसन्न होकर वह पृथूदकतीर्थकी ओर चल दिया। वहाँ निराहार रहनेका संकल्प लेकर उसने प्राण छोड़ दिये। उस एक गीतके फलसे उसका राक्षस-योनिसे उद्धार हो गया। इधर चाण्डालके मनमें भी इस घटनासे बड़ा वैराग्य हुआ। उसने अपनी पत्नीकी रक्षाका भार पुत्रोंपर डालकर स्वयं पृथ्वीकी परिक्रमा आरम्भ कर दी। फिर पापरहित हो उसने उत्तम गति प्राप्त की।

भक्ति और मर्यादा

इस आख्यानसे हमें कई प्रकारकी शिक्षाएँ मिलती हैं। पहली बात तो यह है कि भगवान्‌की भक्तिमें नीच-ऊँच सबका समान अधिकार है। भगवान्‌का द्वार सबके लिये समानरूपसे खुला है; किंतु भक्तिके साथ-साथ जीविका भी विशुद्ध होनी चाहिये। भक्तिका अर्थ यह नहीं कि भक्त चाहे जो कुछ करे। आज हमारे अछूत भाइयोंको मन्दिरोंमें घुसानेका तो सभी लोग प्रयत्न करते हैं; परंतु उनका जीवन पवित्र हो, उनके दुर्गुण-दुराचार दूर हों—इसकी बहुत कम लोगोंको परवा है। यहाँ एक बात और समझ लेनेकी है। भक्ति और चीज है, सामाजिक व्यवस्था एवं शास्त्रीय मर्यादा दूसरी चीज है। भक्ति करनेका अधिकार तो सबको है, परंतु शास्त्रीय मर्यादाकी रक्षा करते हुए। भक्तिका जहाँ प्रश्न है, वहाँ एक भगवद्भक्त चाण्डालको एक अभक्त ब्राह्मणकी अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। परंतु किसी चाण्डाल भक्तको यह अधिकार नहीं कि वह शास्त्रकी मर्यादाका लोपकर दूसरे भक्तोंके साथ बैठकर ही भक्ति करे। यह

तो भक्ति नहीं, दुराग्रह है। भक्त तो सदा अपनेको छोटा—तृणसे भी लघु—मानता है, वह अभिमानसे कोसों दूर भागता है। इसीलिये चाण्डाल भगवान्‌के लिये पुष्प तोड़कर तो लाता था, परंतु उन्हें भगवान्‌पर स्वयं चढ़ानेका आग्रह छोड़कर उन्हें ब्राह्मणको दे देता था और ब्राह्मण देवता उन्हें पवित्र करके उपयोगमें लेते थे। इसी प्रकार वह मन्दिरके अंदर जानेका आग्रह न करके बाहर जमीनपर बैठकर ही उन्हें गान सुनाया करता था। ऐसा करनेसे चाण्डालकी भक्तिमें किसी प्रकारकी कमी नहीं आती थी। भगवान् तो ऐसे भक्तके मर्यादा, प्रेम एवं विनयसे उलटे प्रसन्न होते हैं। वे तो हमारा हृदय देखते हैं।

भक्तिमें नियमपालनका महत्त्व

भक्तके लिये यह भी आवश्यक नहीं कि वह घर छोड़कर ही भक्ति करे। घरमें रहकर अपने कुटुम्बका न्यायोचित रीतिसे भरण-पोषण करना भी भक्तिका ही एक अंग है, ऐसे भक्तपर भगवान् बहुत प्रसन्न होते हैं। यदि गृहत्याग करना आवश्यक ही हो तो अपने आश्रितजनोंकी रक्षाका समुचित प्रबन्ध करके ही ऐसा करना उचित है। नियम-पालन भी भक्तिमें बड़ा सहायक है। इससे हमारी तत्परताका पता लगता है कि भगवान्‌की ओर पैर बढ़ानेके लिये हम कहाँतक तैयार हैं। जहाँ अन्य वर्णोंके लिये द्वादशीके दिन ब्राह्मणको खिलाकर स्वयं खानेका विधान है, वहाँ चाण्डालके लिये यही आज्ञा है कि वह अपने दामाद, भानजों तथा कन्याओंको भोजन कराके फिर स्वयं भोजन करे। उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि वह औरोंकी भाँति ब्राह्मणको ही जिमानेका आग्रह करे। सत्य आदि दैवी गुण भी भक्तमें स्वाभाविक ही रहते हैं। सारांश यह कि भक्तके लिये ईमानदार एवं बातका धनी होना परमावश्यक है; क्योंकि भक्तकी बदनामी भगवान्‌पर आती है।

भगवच्छरणागतिसे निर्भयता तथा भक्त-संगकी अमोघता

भक्तका सबसे बड़ा गुण है—उसकी निर्भयता। जो भगवान्‌के शरण हो गया, उसे फिर भय कैसा! वह किसी भी मूल्यपर अपनी भक्तिको नहीं बेचेगा। वह तुच्छ प्राणोंके लिये भक्तिका सौदा नहीं करेगा। असलमें तो जिसने भक्तिका कवच धारण कर रखा है, उसका जगत्‌में कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता। भगवान्‌की सारी शक्ति उसकी रक्षामें नियुक्त रहती है। वस्तुतः हम भगवान्‌पर सच्चे अर्थमें निर्भर ही नहीं करते। नहीं तो, किसी प्रकारका भय हमारे पासतक नहीं फटक सकता। हमें दुःख और भय तभीतक सताते हैं, जबतक हम वास्तवमें भगवान्‌को अपना रक्षक नहीं मानते। भगवान्‌के शरण हो जानेके बाद किसीकी क्या मजाल है जो हमारी ओर आँख उठाकर भी देखे। मृत्युका भय ही सबसे बड़ा भय है; जो मृत्युसे निडर हो गया, वह जगत्‌से निडर हो जाता है। सबसे महत्त्वपूर्ण शिक्षा इस आख्यानसे हमें यह मिलती है कि सच्चे भगवद्भक्तका संग अमोघ होता है। वह जिस किसीको प्राप्त हो गया, उसके कल्याणकी मानो बीमा हो गयी। भक्त चाण्डालके संगका ही यह प्रभाव था कि उस क्रूर ब्रह्मराक्षसका मन ही पलट गया। उसकी भगवद्भक्तिमें प्रवृत्ति हो गयी और वह उस चाण्डालके आधे मुहूर्तके जागरणका पुण्य पाकर कृतार्थ हो गया।

भक्तकी मृदुता

निर्भय होनेके साथ-साथ भक्तका हृदय बड़ा कोमल भी होता है। शरणागतके लिये वह बड़े-से-बड़ा त्याग करनेमें भी संकोच नहीं करता। अवश्य ही उसे कोई धोखा नहीं दे सकता और न डरा-धमकाकर ही कोई उससे काम निकाल सकता है। भक्त पिघलते हैं तो हमारी दीनतापर, हमारी सच्ची लगनपर ही। अपनी ईमानदारी, अपनी सच्ची लगनका विश्वास दिलाकर ही हम उनकी कृपा एवं सहायता प्राप्त कर सकते हैं।

ब्रह्मपुराणका उपसंहार

इसके अनन्तर नैमित्तिक, प्राकृत एवं आत्यन्तिक—तीन प्रकारके प्रलयका तथा आध्यात्मिक आदि त्रिविध तापोंका वर्णन करके भगवत्तत्त्वकी व्याख्या की गयी है। उसके पश्चात् योग और सांख्यका वर्णन करके कर्म तथा ज्ञानका अन्तर बतलाते हुए परमात्मतत्त्वका निरूपण तथा अध्यात्मज्ञान और उसके साधनोंका वर्णन किया गया है और अन्तमें क्षर-अक्षर तत्त्वोंका विवेचन करके ग्रन्थका उपसंहार किया गया है। इस प्रकार मार्कण्डेयपुराणकी भाँति ब्रह्मपुराणमें भी बड़े ही अमूल्य उपदेशोंका संग्रह है। सबको इन उपदेशोंसे लाभ उठाना चाहिये।

स्त्रियोंके लिये कल्याणके कुछ घरेलू प्रयोग

(एक उपदेशप्रद दृष्टान्त)

किसी संयुक्त परिवारमें दो स्त्री-पुरुष, उनके पाँच लड़के और दो लड़कियाँ थीं। लड़कोंका विवाह हो चुका था। उनमेंसे चारके बाल-बच्चे भी थे। लड़कियाँ दोनों क्वारी थीं। सबसे छोटे लड़केका ब्याह कुछ ही दिन पहले हुआ था। उसकी स्त्री अभी मैकेमें ही थी। इस प्रकार दोनों

लड़कियोंको मिलाकर घरमें कुल सात स्त्रियाँ थीं। वे चाहतीं तो सब मिलकर घरका काम-काज अच्छी तरह कर सकतीं थीं; परन्तु उनकी आपसमें बनती न थी। वे एक दूसरीसे जला करती थीं और घरके काम-काजसे जी चुराती थीं। उनमेंसे प्रत्येक यही चाहती कि उसे कम-से-कम काम और अधिक-से-अधिक आराम मिले। आये दिन उनमें तू-तू, मैं-मैं हो जाया करती थी; घरमें अशान्ति और कलहका साम्राज्य था। इसी परिस्थितिमें सबसे छोटे लड़केकी स्त्री भी अपने मैकेसे आ गयी। वह उत्तम घरानेकी लड़की थी। उसे बचपनसे ही बड़ी अच्छी शिक्षा मिली थी। वह अपनेको उस क्षुब्ध वातावरणमें पाकर घबरा उठी। अपनी सास और जिठानियोंको आपसमें लड़ते-झगड़ते देख वह एक दिन रो पड़ी और अत्यन्त आर्त होकर मन-ही-मन भगवान्से प्रार्थना करने लगी—'प्रभो! क्या यही सब देखने-सुननेके लिये मुझे आपने इस घरमें भेजा है? यहाँ तो मैं एक दिन भी न रह सकूँगी। मुझे रात-दिनका झगड़ा अच्छा नहीं लगता। न जाने मैंने पिछले जन्मोंमें ऐसे कौन-से दुष्कर्म किये हैं, जिनके कारण मेरा इस घरमें ब्याह हुआ है?' रोते-रोते उसकी आँख लग गयी। उसे स्पष्ट सुनायी दिया मानो उसे कोई सान्त्वनापूर्ण शब्दोंमें कह रहा है—'बेटी! घबरा मत, इस घरका सुधार करनेके लिये ही तुझे यहाँ भेजा गया है। तुझ-जैसी लड़कीकी यहाँ आवश्यकता थी।'

इन शब्दोंको सुनकर छोटी बहूको बड़ी सान्त्वना मिली। उसकी सारी घबराहट जाती रही। उसने मन-ही-मन अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया। उसने कलहका मूल जानना चाहा। उसे मालूम हुआ कि उसकी सास और जिठानियों तथा ननदोंने आपसमें घरका काम बाँट लिया है। सास और ननदें ऊपरका काम करती थीं और बहुएँ पारी-पारीसे भोजन बनातीं। और-और कामोंके लिये भी पारी बाँध ली गयी थी; परन्तु यदि उनमेंसे दैवात् कोई बीमार हो जाती तो दूसरी बहुएँ उसके बदलेका काम करनेमें आनाकानी करतीं। वे उसपर बहानेबाजीका आरोप करतीं और अनेक प्रकारके आक्षेप करतीं। लड़ाईका दूसरा कारण यह होता कि जब कभी घरमें बाहरसे कोई खाने-पीनेकी चीज आती तो सब-की-सब यह चाहतीं कि अच्छी-से-अच्छी चीज अधिक-से-अधिक मात्रामें मुझे मिले। बस, इसीपर झगड़ा शुरू हो जाता और आपसमें गाली-गलौजतककी नौबत आ जाती। कभी-कभी मामूली बातोंको लेकर बखेड़ा खड़ा कर लिया जाता। यदि कभी एक भाईका लड़का दूसरे भाईके लड़केसे लड़ पड़ा तो इसीपर दोनोंकी माताएँ एक दूसरीको खूब खोटी-खरी सुनातीं। इन सब बातोंको देखकर छोटी बहूको बड़ा दुःख हुआ। जिस दिन उसने भगवान्का आदेश सुना, उसी दिनसे वह झगड़ा मिटानेका उपाय सोचने लगी। उसने सोचा कि भगवान्ने इसी बहाने उसे सेवाका बड़ा ही सुन्दर अवसर प्रदान किया है। वह एक दिन चुपकेसे अपनी सबसे बड़ी जिठानीके पास गयी। उस दिन उसकी सबेरे रसोई बनानेकी पारी थी। उसने जिठानीसे कहा—'जिठानीजी! मैं आप सबसे छोटी हूँ। मेरे रहते आप रसोई बनायें—यह उचित नहीं मालूम होता। फिर आपको तो बाल-बच्चोंकी भी सँभाल करनी पड़ती है। मेरे जिम्मे और कोई काम है नहीं। इसलिये बड़ा अच्छा हो यदि आप अपनी रसोई बनानेकी पारी मुझे दे दें। मैं आपका बड़ा उपकार मानूँगी।' जिठानी पहले तो बड़ी देरतक आनाकानी करती रही। वह बोली—'बहू! अभी तो तुम्हारे खाने-पहननेके दिन हैं। जब कुछ सयानी हो जाओ, तब चूल्हा फूँकनेके काममें पड़ना। अभी कुछ दिन आराम कर लो, गृहस्थीका सुख भोग लो। आखिर तो यह सब करना ही है।' छोटी बहूने कहा—'जिठानीजी! मैं आपके पैरों पड़ती हूँ, मुझे इस तरह निराश न करो। यही दिन तो मेरे काम करनेके हैं। अभीसे यदि मुझे आपलोग आरामतलब बना देंगी तो आगे जाकर मैं किसी कामकी न रह जाऊँगी। अवश्य ही मुझसे कोई बड़ा अपराध हो गया है, जिसके कारण मुझे आप अपने अधिकारसे वंचित कर रही हैं।' यह कहकर वह रोने लगी। अब तो जिठानी और अधिक उसकी बातको न टाल सकी। उसने अपनी पारी उसे दे दी। इस प्रकार क्रमशः उसने सभी जिठानियोंसे अनुनय-विनय करके उन सबकी पारी ले ली। यह काम अपने जिम्मे लेकर वह इतनी प्रसन्न हुई मानो उसे कोई निधि मिल गयी हो। वह प्रतिदिन सबेरे बड़े चावसे सबके लिये रसोई बनाती और सबको खिला-पिलाकर अन्तमें स्वयं भोजन करती। उसे ऐसा करनेमें तनिक भी थकान नहीं मालूम होती, बल्कि उसे इसमें बड़ा सुख मिलता। वह दिनोदिन दूने उत्साहसे इस कामको करने लगी। वह रसोई भी बहुत अच्छी बनाती और फुर्तीसे बनाती। बात-की-बातमें बहुत-सी सामग्री तैयार कर लेती। यदि कभी कोई मेहमान भी आ जाते तो वह उकताती न थी। उन्हें भी बड़े प्रेमसे भोजन कराती; क्योंकि वह इसमें अपना लाभ समझती थी। उसकी इस अद्भुत लगन एवं सेवाभावको देखकर सभी कोई उसकी प्रशंसा करने लगे। एक दिन उसकी सास उसके पास आयी और बोली—'बेटी! तूने यह क्या किया? सबकी पारी अपने जिम्मे क्यों ले ली?' उसने बड़ी नम्रतासे उत्तर दिया—'माताजी! मेरे माता-पिताने मुझे

यही शिक्षा दी है कि यह शरीर तो एक दिन मिट्टीमें मिल जानेवाला है। इसे अधिक-से-अधिक दूसरोंकी सेवामें लगाना चाहिये। यही इसका सबसे अच्छा उपयोग है। सेवा ही सबसे बड़ा धन है। अत: आपसे भी मेरी यही प्रार्थना है कि आप मुझे इस कामके लिये बराबर उत्साह दिलाती रहें।' उसका यह उत्तर सुनकर सास चकित हो गयी। उसने सोचा कि यह तो कोई देवी है, किसी मानुषीका ऐसा सुन्दर भाव हो ही नहीं सकता।

दूसरे दिन ससुरजी बहुओंको देनेके लिये बहुत-सी साड़ियाँ लाये। उन्होंने प्रत्येक बहूको वर्षभरके लिये बारह-बारह साड़ियाँ दीं। छोटी बहू अपने हिस्सेकी साड़ियोंमेंसे दो साड़ियाँ लेकर अपनी सबसे बड़ी जिठानीके पास गयी और विनयपूर्वक बोली—'जिठानीजी! मुझे यहाँ आते समय पिताजीने बहुत-सी साड़ियाँ दी थीं। मेरा उनसे अच्छी तरह काम चल सकता है। आप मुझपर दया करके ये दो साड़ियाँ अपने लिये रख लीजिये। मुझे इससे बड़ा सुख मिलेगा और मैं आपका बड़ा अहसान मानूँगी।' जिठानीने बहुत आनाकानी की, परन्तु उसका अत्यधिक आग्रह देखकर वह उसे अस्वीकार न कर सकी। इसी प्रकार आग्रह करके उसने दो-दो साड़ियाँ अपनी अन्य जिठानियोंको तथा दो अपनी सासको दीं और एक-एक साड़ी अपनी ननदोंको दे दीं। उसके इस औदार्यपूर्ण व्यवहारकी भी सबके मनपर गहरी छाप पड़ी। सासके पूछनेपर उसने कहा—'माताजी! मैं इस कार्यमें भी आपकी मदद एवं प्रोत्साहन चाहती हूँ। शरीरकी भाँति ये वस्त्र आदि भी क्षणभंगुर हैं। इनका संग्रह आत्मकल्याणमें बाधक है। जीते-जी मोह एवं आसक्ति आदिके कारण इनमें फँसावट हो जाती है और मरते समय भी यदि इनमें मन अटका रहा तो प्रेत आदि योनियोंमें भटकना पड़ता है। सेवाके काममें लगाना ही इन सबका सर्वोत्तम उपयोग है। नहीं तो एक दिन ये यों ही नष्ट हो जायँगी।' सास उसका यह उत्तर पाकर बहुत प्रसन्न हुई और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगी। इधर घरमें पैसा भी बढ़ गया। ससुरजीने प्रत्येक बहूको छ:-छ: गहने तैयार कराके दिये। छोटी बहूने अपने हिस्सेके गहनोंको भी अपनी चारों जिठानियों और ननदोंमें बाँट दिया और अपने लिये उसने एक भी न रखा। पूछनेपर उसने यही कहा कि 'मेरे पास अपने पिताजीके दिये हुए बहुत-से गहने पड़े हैं। मेरे लिये उतने ही पर्याप्त हैं।' इस प्रकार उसने अपने साधु व्यवहार एवं उदारतासे सभीके हृदयमें स्थान कर लिया। सभी उससे अत्यधिक सन्तुष्ट थे।

फिर एक दिन मौका देखकर उसने अपनी बड़ी जिठानीसे सायंकालकी रसोई बनानेकी भी आज्ञा माँगी। उसने कहा—'मेरे रहते आप रसोई बनानेका कष्ट करें, यह मेरे लिये बड़ी ही लज्जाकी बात है।' वह इस प्रकार कह ही रही थी कि उसकी सास वहाँ आ पहुँची। वह बड़ी उत्सुकतासे अपनी बड़ी बहूसे पूछने लगी—'यह किस बातके लिये आग्रह कर रही है?' जब उसे मालूम हुआ कि छोटी बहू सायंकालकी रसोई भी अपने ही हिस्सेमें कर लेना चाहती है, तब तो वह हँसकर बोली—'तुमलोग अपनी इस छोटी देवरानीसे सावधान रहना। यह तुमलोगोंसे वास्तविक लाभकी वस्तु ठग लेना चाहती है।' बड़ी बहू सासके अभिप्रायको न समझकर बोल उठी—'सासजी! आप यह क्या कह रही हैं? आपकी यह छोटी बहू तो बड़ी ही साध्वी है, सब प्रकार प्रशंसाके योग्य है। इसके सम्बन्धमें आप ऐसी बात कैसे कह रही हैं?' सासने कहा—'तुम समझी नहीं। यह हमलोगोंकी सेवा करके—हमें गहने-कपड़े तथा शारीरिक आराम आदि तुच्छ वस्तुएँ देकर बदलेमें तप आदि हमारी आध्यात्मिक कमाई—जो आत्मोद्धारमें सहायक है, हमसे छीन रही है। इससे बढ़कर ठगई और क्या होगी? इसने मुझे एक दिन बताया था कि दूसरोंकी सेवा करनेसे अन्त:करण शुद्ध होकर आत्मकल्याणमें समर्थ हो जाता है। इसने यह भी कहा था कि शुद्ध भावसे रसोईके रूपमें घरवालोंकी सेवा करनेसे एक ही सालमें कल्याण हो जायगा। इसलिये बहू! सायंकालकी रसोईका काम तो मैं अपने जिम्मे लूँगी। मुझे भी तो आत्माका कल्याण करना है। मैं ही उससे वंचित क्यों रहूँ?' सासकी यह बात सुनकर सबकी आँखें खुल गयीं। फिर तो सबको अपने-अपने कल्याणकी फिक्र पड़ गयी। कहाँ तो सब-की-सब कामसे जी चुराती थीं और छोटी बहूके एक समयकी रसोईका भार अपने सिरपर ले लेनेसे एक प्रकारके सुख एवं सुविधाका अनुभव करती थीं; इसके विपरीत अब सबने अपनी-अपनी सबेरेकी रसोई बनानेकी पारी छोटी बहूसे वापस ले ली। जहाँ कामको लेकर कुछ ही दिन पहले सबमें झगड़ा होता था, अब सब-की-सब बड़े उत्साह एवं दिलचस्पीके साथ अपने-अपने हिस्सेका काम करने लगीं। छोटी बहूका उपाय काम कर गया।

जब छोटी बहूने देखा कि ये लोग कोई भी अब रसोईका काम मुझे नहीं सौंपेंगी, तब उसने सेवाका दूसरा ढंग सोचा। उसने विचार किया कि घरमें रोज आठ-दस किलो आटेकी खपत है, वह सारा-का-सारा बाजारसे खरीदा जाता है। इससे तो अच्छा है कि मैं बड़े सबेरे उठकर स्वयं गेहूँ पीस लिया करूँ। इसमें कई लाभ हैं। जो आटा बाजारसे आता है, वह प्राय: पुराने घुने हुए

गेहुँओंका होता है। उसमें मिट्टी मिली हुई रहती है। फिर कलकी चक्कियोंमें जो आटा पिसता है, उसका सार मारा जाता है। वह स्वास्थ्यके लिये हानिकारक होता है। मेरी जिठानियोंने रसोईका काम तो मुझसे वापस ले लिया। अब आत्मकल्याणके लिये मुझे यही काम करना चाहिये। उसने तुरंत यह प्रस्ताव अपने पतिके सामने पेश कर दिया। तुरंत गेहूँकी व्यवस्था हो गयी। बाजारसे आटा खरीदना बंद कर दिया गया। छोटी बहूने दिनमें गेहूँ साफ करके रख दिये और दूसरे दिन सबेरे ही मुँह-हाथ धोकर वह गेहूँ पीसनेके काममें जुट गयी। शरीर स्वस्थ एवं सबल था और मन उत्साहसे भरा था। काम करनेका अभ्यास था। बात-की-बातमें उसने आठ-दस किलो गेहूँ पीसकर रख दिये। सासको जब इस बातका पता लगा तो वह दौड़ी हुई छोटी बहूके पास आयी और बोली—'बहू! यह आत्मकल्याणका कोई नया तरीका ढूँढ़ निकाला है क्या?' बहूने गद्गद स्वरमें कहा—'माताजी! जिठानियोंने रसोई बनानेका काम तो मुझसे वापस ले लिया। इसलिये मुझे आत्मकल्याणका यह दूसरा मार्ग ढूँढ़ना पड़ा। इसमें शारीरिक श्रम अधिक है। इसलिये जहाँ आध्यात्मिक लाभके लिये रसोईका काम करनेसे सालभरमें आत्माका कल्याण होता, वहाँ आटा पीसनेसे छः ही महीनोंमें काम बन जायगा। फिर इसमें दुहरा लाभ है। आत्माका कल्याण तो होता ही है, साथ-ही-साथ शारीरिक व्यायाम भी हो जाता है, जिससे शरीरमें फुर्ती और बल आता है तथा शरीर नीरोग रहता है। इससे गर्भवती स्त्रियोंको प्रसव भी जल्दी और सुखपूर्वक होता है। घरवालोंको शुद्ध आटा मिलता है, जिससे उनके स्वास्थ्य और मन दोनोंपर अच्छा प्रभाव पड़ता है। इन सब कारणोंसे यह काम मेरे लिये अत्यन्त श्रेयस्कर है। आशा है, आप मेरे इस काममें मेरी सहायता करेंगी।' अब तो सास अपनी छोटी बहूको गुरुवत् मानने लगी। उसकी एक-एक बात उसको सारगर्भित प्रतीत होने लगी। वह उसके प्रत्येक कार्यको गौरवकी दृष्टिसे देखने लगी और स्वयं भी उसीका अनुकरण करनेकी चेष्टा करने लगी। जहाँ छोटी बहूने पहले दिन सबेरे छः बजे आटा पीसनेका कार्य आरम्भ किया था, वहाँ यह दूसरे दिन पाँच ही बजे उस काममें जुट गयी। उसकी देखा-देखी तीसरे दिन उसकी दूसरी बहुओंने चार ही बजे उस कामको शुरू कर दिया। इस प्रकार पहले जहाँ वे सब-की-सब कामसे जी चुराती थीं। अब उन सबमें काम करनेकी एक प्रकार होड़-सी होने लगी। सभी चाहती थीं कि अधिक-से-अधिक काम मुझे करनेको मिले; क्योंकि सबको उसमें आत्मकल्याणके दर्शन होते थे। छोटी बहूकी यह दूसरी विजय थी।

अब छोटी बहूने कमरे साफ करने तथा कुएँसे पानी खींचकर लानेका काम अपने जिम्मे ले लिया। सबेरे नौकर झाड़ू लगाने तथा पानी भरने आता, तो उससे पहले ही यह सारा काम स्वयं कर लेती। सासने उससे फिर पूछा—'बेटी! इस कामके करनेमें तुम्हारा क्या अभिप्राय है?' छोटी बहूने बड़े ही मधुर स्वरोंमें कहा—'माताजी! आपको इन सब बातोंका भेद बतला देनेसे सेवासे वंचित होना पड़ता है। इसलिये अब मैं इसका रहस्य आपको नहीं बतलाना चाहती। इस अविनयके लिये आप मुझे क्षमा करें।' सासने कहा—'बेटी! अब मैं तेरे कार्यमें बाधा नहीं डालूँगी। तू मुझे इसका आध्यात्मिक रहस्य समझा दे।' बहूने कहा—'सासजी! जहाँ रसोईका काम करनेसे सालभरमें और आटा पीसनेका काम करनेसे छः महीनोंमें आत्म-कल्याण होता, वहाँ पानी भरनेकी सेवासे तीन ही महीनोंमें काम बन जायगा; क्योंकि यह काम उन सबकी अपेक्षा अधिक कठिन है। इसमें श्रम एवं कष्ट अधिक है तथा जानकी भी जोखिम है।' फिर क्या था, सास भी उसके इस काममें हाथ बँटाने लगी। दोनोंका उसमें साझा हो गया। दूसरी बहुओंने यह देखकर साससे कहा—'आपकी अवस्था अब पानी भरने लायक नहीं है। इसलिये यह काम आपको नहीं करना चाहिये।' इसपर सासने उन्हें उत्तर दिया—'क्या मुझे आत्म-कल्याण नहीं चाहिये? मैं वृद्धा हूँ, इसलिये मुझे तो जल्दी-से-जल्दी आत्माका कल्याण कर लेना चाहिये।' फिर क्या था, दूसरी बहुएँ भी इस काममें शामिल हो गयीं। अब छोटी बहूने बरतन माँजनेका काम अपने जिम्मे लिया। सासने इसपर आपत्ति की। वह बोली—'इससे तुम्हारे कपड़े खराब होंगे और आभूषण घिस जायँगे। इस प्रकार महीनेमें जहाँ तुम नौकरकी मजदूरीके पाँच रुपये बचाओगी, वहाँ उसके बदलेमें तुम्हारा दस रुपयोंका नुकसान हो जायगा।' इसपर बहूने कहा—'माना कि ऐसा करनेसे आर्थिक लाभकी अपेक्षा हानि ही अधिक होगी; किन्तु मेरे कपड़े चाहे मैले हो जायँ, मेरा अन्तःकरण तो इससे बहुत जल्दी शुद्ध होगा। बात यह है कि जो काम जितना कठिन और लौकिक दृष्टिसे जितना नीचा होता है, आध्यात्मिक दृष्टिसे वह उतना ही ऊँचा और कल्याणकारक होता है। बरतन माँजनेसे मुझे विश्वास है कि दो ही महीनोंमें मेरा कल्याण हो जायगा। और यदि कभी भगवान् ऐसा संयोग भेज दें, जबकि किसी रोगीकी टट्टी-पेशाब उठाना पड़े, तब तो एक ही महीनेमें कल्याण निश्चित है। अवश्य ही भाव हमारा ऊँचे-से-ऊँचा—पूर्ण निष्कामताका होना चाहिये।'

सासकी तो छोटी बहूके वाक्योंमें अब वेदवाक्योंके समान श्रद्धा हो गयी थी। वह भी बरतन माँजनेके काममें उसे सहयोग देने लगी। अन्य बहुओंने उसे मना किया। उसने कहा—'अपने लड़कोंके बर्तन तो मैं अवश्य ही माँज सकती हूँ। फिर वृद्धावस्थाके कारण मेरा आत्मकल्याणके साधनमें सबसे अधिक अधिकार है। इसलिये इस विषयमें तुम्हारा आग्रह नहीं माना जा सकता।' फिर तो सब-की-सब बहुएँ उसी काममें जुट गयीं। सब काम बड़े उत्साहसे होने लगे। काम-काजकी जो पारी बाँधी गयी थी, वह टूट गयी। जो मौका पाती, वही आगे-से-आगे काम करनेको तैयार रहती। सबमें परस्पर प्रेम और सद्भावकी स्थापना हो गयी। जिस घरमें कलह और अशान्तिका एकच्छत्र साम्राज्य था, वही अब सुख-शान्तिका निकेतन हो गया। जो लोग यहाँकी स्त्रियोंको लड़ते-झगड़ते देखकर हँसते थे, वे ही उनका आदर्श व्यवहार देखकर आश्चर्य करने लगे। शहरके लोग दर्शकरूपसे उन लोगोंका व्यवहार देखनेके लिये आने लगे। स्त्रियोंके इस आदर्श व्यवहारका पुरुषोंपर भी कम प्रभाव नहीं पड़ा। इनकी देखा-देखी वे सब भी आलसी हो चले थे। अब इनका आदर्श व्यवहार देखकर वे सब भी कर्तव्यपरायण हो गये। जहाँ पहले दूकानका काम प्रायः चढ़ा रहता था, वहाँ अब कामकी अपेक्षा काम करनेवाले अधिक हो गये। जहाँ उनमें पहले कामसे जी चुरानेके कारण झगड़ा होता था, वहाँ अब वे सब-के-सब एक दूसरेका काम छीनकर करने लगे। जहाँ पहली लड़ाई नरकोंमें ले जानेवाली थी, वहाँ यह दूसरी लड़ाई कल्याण करनेवाली थी। कहना न होगा कि यह सब परिवर्तन छोटी बहूके सद्भाव, सद्विचार और सच्चेष्टाओंका सत्फल था। जिस प्रकार एक मछली सारे तालाबको निर्मल कर देती है, उसी प्रकार एक ही महान् एवं पवित्र आत्मा घरभरका ही नहीं, मुहल्ले, गाँव और नगरभरका सुधार कर देती है। संगकी ऐसी ही महिमा है। सभी माता-बहिनोंको इस आख्यायिकासे शिक्षा लेकर आत्माके कल्याणके लिये निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवाका व्रत ले लेना चाहिये। ऐसी सेवा बहुत शीघ्र मुक्तिका कारण बन जाती है—

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥'

(गीता २। ४०)

श्रीमद्भगवद्गीतामें ऐसे अनेकों वाक्य मिलते हैं, जिनसे इस बातकी पुष्टि होती है। श्रीभगवान् कहते हैं—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।

(५। १२)

'कर्मयोगी कर्मोंके फलको परमेश्वरके अर्पण करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है।'

असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

(३। १९)

'आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(१८। ५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

अत्याचारका प्रतीकार

साम्प्रदायिक दंगोंके विषयमें पाठकोंको चेतावनी दी जाती है कि इनसे सर्वथा सजग रहना चाहिये। ये दंगे कोई नयी बात नहीं हैं। सत्ययुगमें देवासुरसंग्राम, त्रेतामें श्रीराम-रावण-युद्ध और द्वापरमें कौरव-पाण्डवोंका युद्ध तो इनसे भी भयंकररूपमें हुए थे; किन्तु अत्याचार करनेवालोंकी एक बार विजय होकर भी अन्तमें पराजय ही हुई है। इसलिये किसी सम्प्रदायवालेको किसीपर भी कभी अत्याचार नहीं करना चाहिये। किसीके घरमें आग लगाना, जगह-जमीन-मकान हड़पना, धन-सम्पत्ति लूटना, विष देना, निरीह निःशस्त्र व्यक्तिको मार डालना, कन्याओं, बालकों एवं स्त्रियोंका अपहरण करना, किसीको धर्म-परिवर्तनके लिये बाध्य करना, किसीके धर्मको भ्रष्ट करना, किसी स्त्रीपर बलात्कार करना, कोमल बच्चे-बच्चियोंको जलती आगमें झोंक देना अथवा उनको शस्त्रसे काट डालना आदि सब अत्याचार हैं! उपर्युक्त अत्याचार करनेवालेको ही आततायी कहते हैं। ऐसे आततायियोंको बिना विचारे ही मृत्युदण्डतक देनेके लिये शास्त्र कहते हैं—

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥

(मनु० ८। ३५०-५१)

'अपना अनिष्ट करनेके लिये आते हुए आततायीको बिना विचारे ही मार डालना चाहिये। आततायीके मारनेसे मारनेवालेको कुछ भी दोष नहीं होता।'

इसमें सरकारी कानूनकी भी कोई बाधा नहीं है; क्योंकि अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले अत्याचारियोंको मनुष्य अन्य किसी उपायसे न रोक सके तो अन्तमें अपनी इज्जत,

धर्म और प्राणोंकी रक्षाके लिये उनको मार डालना भी दोष नहीं है। स्त्रियाँ भी अपने ऊपर अत्याचार और बलात्कार करनेवाले अत्याचारीको अपनी इज्जत, धर्म और प्राणोंकी रक्षाके लिये प्राण-वियोगतकका दण्ड दे सकती हैं।

पाठकोंसे प्रार्थना है कि अपनी ओरसे कभी किसी निर्दोष व्यक्तिपर किंचिन्मात्र भी हमला या अत्याचार नहीं करना चाहिये; किंतु आक्रमणकारी अत्याचारियोंको अत्याचार रोकनेके लिये यदि उसका उचित प्रतीकार किया जाय तो उसमें कोई दोष नहीं है। ऐसा प्रतीकार होना चाहिये अत्याचारको मिटानेके लिये, द्वेषबुद्धिसे नहीं; बल्कि अत्याचारीका परिणाममें जिस प्रकार हित हो; उसको खयालमें रखकर प्रतीकार करना चाहिये। भगवान्‌ने जो कहा है '**विनाशाय च दुष्कृताम्**' (गीता ४। ८), उसका अभिप्राय भी यही है। अत्याचारका निवारण करना अत्याचारीके तथा संसारके, सभीके लिये हितकर है। अत्याचारको मिटाना चाहिये, अत्याचारीको नहीं; किंतु बिना अत्याचारीको मिटाये अत्याचार न मिट सकता हो, तो ऐसी हालतमें अत्याचारीको भी मिटाना दोषयुक्त नहीं समझा जाता। जब किसी रोगीका कोई अंग सड़ जाता है और उसपर अन्य उपाय काम नहीं देता तो डॉक्टर सारे शरीरपर जोखिम आते देखकर उस दोषी अंगको काट डालते हैं; इसी प्रकार बिना अत्याचारीको मारे यदि अत्याचार न मिटता हो तो इस हालतमें जन-समुदायके हित एवं प्राणरक्षाके लिये अत्याचारीको मारा जा सकता है, चाहे वह किसी भी सम्प्रदायका हो। यह मनुष्यमात्रका धर्म है।

द्वेषभाव न रखते हुए अत्याचारीका प्रतीकार करना चाहिये; किन्तु यह कठिन बात है। क्योंकि इसमें कहीं-कहीं मन धोखा भी दे देता है। मनुष्य समझता है कि जैसे माता-पिता अपने बालकोंको तथा गुरु अपने शिष्योंको उनके सुधारके लिये ताड़ना देते हैं, इसी प्रकार मैं भी अत्याचारीको जो दण्ड देता हूँ, वह उसके सुधारके लिये ही देता हूँ। किंतु इसमें हमें गम्भीरतापूर्वक विचार करके देखना चाहिये कि कहीं इसमें हमारा छिपा हुआ द्वेषभाव तो नहीं है। जिसका द्वेषभाव नहीं होगा, उसके हृदयमें घृणा, अशान्ति, चिन्ता, दुःख, शोक, उद्वेग, क्रोध, भय आदि विकार नहीं होंगे। बल्कि उसके हृदयमें शान्ति, समता, सन्तोष, सरलता, प्रसन्नता आदि गुण ही विद्यमान रहेंगे। अत्याचारको मिटानेके लिये गीतामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराज अर्जुनको शुद्ध भावसे युद्ध करनेकी आज्ञा देते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख समान समझकर, उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा; इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

इस भावको खयालमें रखकर यदि कोई आदमी सद्भावसे अत्याचारका प्रतीकार करे तो उसके लिये वैसा करना धर्मपालन है। इसलिये हमारी सबसे यह प्रार्थना है कि ऐसा भाव हृदयमें रखकर ही अत्याचारीसे मुकाबला करना चाहिये। इस प्रकार व्यवहार करनेवालेका ही इस लोक और परलोकमें हित होता है, इसीलिये इसे धर्म माना गया है। धर्मको खयालमें रखकर जो मनुष्य अत्याचारीके साथ व्यवहार करता है, उसके द्वारा बदलेमें अत्याचार कभी नहीं हो सकता।

अत्याचारीका स्वभाव परिवर्तन करनेके लिये दूसरा यह भी उपाय है कि अत्याचारीके साथ बिना द्वेषभावके पूर्ण असहयोग कर देना चाहिये अर्थात् उसे अपनी तरफसे धन-सम्पत्ति, व्यापार आदिकी किसी भी प्रकारकी किंचिन्मात्र भी कभी सहायता नहीं देनी चाहिये। कोई अत्याचारी चूड़ी, साड़ी, कपड़ा, गोटा-किनारी आदि बनानेवाला हो तो उससे वे चीजें न तो बनवानी चाहिये और न खरीदनी ही चाहिये। अथवा कोई अत्याचारी बादाम, पिस्ता, किशमिश आदि मेवा, फल, सब्जी, मिठाई, चाय वगैरह बेचनेवाला हो तो उससे वे चीजें नहीं खरीदनी चाहिये। कोई अत्याचारी रँगाई-छपाईका काम करनेवाला हो तो उससे कपड़ा रँगाना-छपाना नहीं चाहिये और न किसी अत्याचारीसे कपड़ोंकी बुनाई, सिलाई, धुलाईका ही काम कराना चाहिये। अत्याचारीसे चित्रकारी, मकान बनवाने और किसी प्रकारके ठेके आदिका काम भी नहीं कराना चाहिये तथा न पत्थर, लकड़ी, तैल, घी, दूध, गल्ला, किराना, स्टेशनरी, मनिआरी आदि चीजें ही खरीदनी चाहिये एवं न अत्याचारीको कारखानोंमें अथवा व्यक्तिगत नौकरीपर ही भरती करना चाहिये। दलाली, आढ़त और व्यापार आदिका भी सम्बन्ध उनसे नहीं जोड़ना चाहिये तथा कोई अत्याचारी ताँगा-इक्का, रिक्शा, मोटर आदि सवारी चलानेवाला हो तो उसकी सवारीपर नहीं बैठना चाहिये। मतलब यह है कि जहाँतक हो सके, किसी प्रकारसे भी अत्याचारीको जरा भी न तो आर्थिक मदद देनी चाहिये और न उससे किसी प्रकारका सम्बन्ध ही रखना चाहिये। ऐसा करनेके लिये कानूनकी दृष्टिसे भी कोई हमें बाध्य नहीं कर सकता। इसपर भी यदि हम अत्याचारीके कामोंमें किसी प्रकारसे भी सहयोग देते हैं अथवा उसकी चीजें खरीदते हैं तो यह हमारा अन्याय, कायरता और अर्थपरायणता है। किन्तु ऐसा असहयोग भी राग-द्वेषसे रहित होकर शुद्धभावसे ही करना

चाहिये। क्योंकि जो ईश्वरपर निर्भर होकर आपत्तिकालमें भी अपने धर्मका त्याग नहीं करता, वही मनुष्य प्रशंसाके योग्य है और वही उच्च कोटिके पुरुषोंकी पंक्तिमें गिना जानेयोग्य है।

जो मनुष्य किसीपर अत्याचार नहीं करता और सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत एवं ईश्वरपर निर्भर रहता है, उसके हृदयमें धीरता, गम्भीरता, वीरता आदि भावोंकी जागृति रहती है, इससे वह सदा निर्भय होकर विचरण करता है। उसपर किसी भी अत्याचारीका अत्याचार करनेका कभी साहस ही नहीं होता। यदि अपने किसी पूर्वके संस्कारके कारण कोई अपनेपर अत्याचार कर भी ले तो उसको उसे अपने प्रारब्धका फल मानकर अत्याचारीसे अत्याचारके द्वारा बदला नहीं लेना चाहिये। किंतु संसारके हितके लिये, अत्याचारको मिटानेके लिये शुद्धभावसे अत्याचारीका मुकाबला करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त हरेक भाईको कानूनको खयालमें रखकर व्यायाम तथा अस्त्र-शस्त्र आदिकी विद्याका आत्मरक्षाके लिये शुद्धभावसे अभ्यास करना चाहिये, पर दूसरोंको पीड़ा देनेके लिये नहीं। अत्याचारियोंके द्वारा पीड़ित जिस किसी भी जाति, धर्म, सम्प्रदायके आतुर नर-नारी हों, उनकी भेदभावसे रहित होकर तन, मन, धन, वस्त्र आदिसे सेवा करनेमें विशेष दिलचस्पी लेनी चाहिये। क्योंकि रोगीका इलाज करना, घायलकी मरहम-पट्टी करना, भयभीतको भयमुक्त करना, नंगेको वस्त्र देना, भूखोंको अन्न देना, बेकारोंकी जीविकाका प्रबन्ध कर देना, अनाथ, वृद्ध और अपाहिजको दान देना परम धर्म है। उपर्युक्त धर्मका निःस्वार्थभावसे पालन करनेपर मनुष्य परम शान्ति और परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

प्रत्येक भाईको यह ध्यान रखना चाहिये कि लोभसे, भयसे अथवा कामसे—किसी भी प्रकार अपने धर्मका त्याग न करे।

महाभारतमें कहा है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(स्वर्गा० ५। ६३)

अर्थात् 'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे या जीवनरक्षाके लिये भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और जीवनका हेतु अनित्य है।'

इसलिये स्वधर्मका त्याग किसी भी हालतमें न करे; क्योंकि जहाँ धर्म, न्याय और सत्य हैं, वहीं विजय और वहीं कल्याण है।

सामयिक चेतावनी

बहुत गई थोरी रही, नारायन! अब चेत।
काल चिरैया चुग रही निसिदिन आयू खेत॥
काल करै सो आज कर, आज करै सो अब।
पलमें परलै होयगी, बहुरि करैगो कब॥
कबिरा नौबत आपनी दिन दस लेहु बजाय॥
यह पुर पट्टन यह गली बहुरि न देखौ आय॥
चलती चाकी देख कै दिया कबीरा रोय।
दो पाटन बिच आय कै साबित बचा न कोय॥
दो बातन कूँ याद रख, जो चाहै कल्यान।
नारायन एक मौत कूँ, दूजे श्रीभगवान॥

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(९। ३३)

'तू सुखरहित और क्षणभंगुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

यह मनुष्य-जीवन क्षणभंगुर और दुःखरूप है। आज जिसे हम भला-चंगा और मोटा-ताजा देखते हैं, कल ही हम उसके बारेमें सुनते हैं कि अचानक उसके हृदयकी गति बंद हो गयी और उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी। हम जीवनमें अनेक प्रकारके मनसूबे बाँधते हैं, जमीन-आसमानको एक करनेकी चेष्टा करते हैं; परन्तु मृत्युका निर्दय हाथ सहसा आकर हमारे मनके महलोंको ढहा देता है और हमारी सारी स्कीमें यों ही पड़ी रह जाती हैं। जीवनकी अपेक्षा मृत्यु ही अधिक निश्चित है। हम कितने दिन जीयेंगे, यह कोई नहीं बता सकता; परन्तु हमारी मृत्यु निश्चित है। जो जन्मा है, वह मरेगा अवश्य। किसी कविने कहा है—

नौ द्वारे का पींजरा, तामें पंछी पौन।
रहनेको आचरज है, गए अचंभा कौन॥

श्वास आया-आया, न आया। इसका कौन भरोसा है। जरा-सा बुखार आया, न्यूमोनिया हो गया, चलते बने। जरा-सा फोड़ा हुआ, उसमें जहर पैदा हो गया और वह जहर सारे शरीरमें फैलकर हमारी मृत्युका कारण बन गया। बच्चोंसे लेकर बुड्ढोंतकका यही हाल है। बुड्ढे तो फिर भी

रोगके आक्रमणको कुछ दिन सहते हुए देखे जाते हैं। आजकलके नौजवानोंकी तो यह हालत है कि दस दिन मियादी बुखार आया कि समाप्त। आये दिन ऐसी मौतें देखने और सुननेमें आती हैं, जिन्हें देख और सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं, दिल दहल उठता है। किसीका छः ही महीने पहले विवाह हुआ था, तो कोई अपने बुड्ढे माता-पिताका इकलौता लाल था, उनकी आँखोंका तारा था, उनके जीवनका एकमात्र सहारा था। फिर आजकल तो मृत्यु और भी सुलभ हो गयी है। कहीं बाढ़ आयी और गाँव-के-गाँव एक साथ बह गये। लोग सोये-के-सोये रह गये। एक भूकम्प आया और उससे नगर-का-नगर ध्वंस हो गया। शहरमें हैजा फैला, प्रतिदिन सैकड़ों आदमियोंका सफाया होने लगा। कभी रण-चण्डी भयानक रूप धारणकर लाखों मनुष्योंका संहार कर रही है तो कभी प्रतिदिन हजारों नर-नारी भूखकी ज्वालासे तड़प-तड़पकर मर रहे हैं! जिसपर हम इतना नाज करते हैं, इतना इतराते हैं, जिसके बलपर हम किसीको कुछ नहीं समझते, पीढ़ियोंका प्रबन्ध करते हैं, हमारे उस जीवनका यह हाल है। फिर भी हम चेतते नहीं, क्षणिक विषय-सुखोंके पीछे इस अमूल्य जीवनको, जिसे शास्त्रोंने देवदुर्लभ बताया है, व्यर्थ नष्ट कर रहे हैं। हमारा एक-एक श्वास इतना अमोल है कि उसे हम लाख रुपया देकर भी खरीद नहीं सकते। ऐसी अमूल्य निधिको हम आलस्य-प्रमाद, मौज-शौक, ऐश-आराम और भोग-विलासमें गँवा रहे हैं। मानो हीरेको कौड़ियोंके मोल बेच रहे हैं। इससे बढ़कर हमारी मूर्खता क्या होगी।

यह जीवन केवल अनित्य और क्षणभंगुर ही नहीं, दुःखरूप भी है। हम जिधर दृष्टि दौड़ाते हैं, उधर हमें दुःख-ही-दुःख नजर आता है। बचपनसे लेकर मृत्युपर्यन्त दुःखका ही एकछत्र साम्राज्य है। जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिने हमें चारों ओरसे जकड़ रखा है। जन्ममें दुःख, मृत्युमें दुःख, जरामें दुःख और व्याधि तो दुःखरूप है ही। जन्मते ही, बल्कि यों कहिये कि माताके गर्भमें आते ही इस जीवको दुःख चारों ओरसे आ घेरते हैं। माताके उदरमें जबतक यह जीव रहता है, तबतक घोर कष्टका अनुभव करता रहता है। वह चारों ओर मांस-मज्जा, रुधिर-कफ और मल-मूत्र आदि दूषित एवं दुर्गन्धयुक्त पदार्थोंसे घिरा रहता है। हिल-डुल सकता नहीं। ऊपर टाँगें और नीचे सिर किये सिकुड़ा हुआ पड़ा रहता है। सुखपूर्वक साँस भी नहीं ले पाता। नाना प्रकारके कृमि और कीटाणु उसकी कोमल त्वचाको नोचते रहते हैं। माता यदि भूलसे कोई क्षारयुक्त अथवा दाहक पदार्थ खा लेती है तो उससे गर्भस्थ शिशुकी त्वचा जलने लगती है। वह चुपचाप इन सारे कष्टोंको सहता रहता है। उस समय उसकी कोई कुछ भी सहायता नहीं कर सकता। फिर उसे पूर्व-जन्मोंकी स्मृति जाग्रत् होकर अलग सताने लगती है। इस प्रकार वह अत्यन्त दुःखी होकर अपने गर्भजीवनको व्यतीत करता है। गर्भसे बाहर निकलते समय भी उसे घोर यन्त्रणा होती है, वह चेतनाशून्य हो जाता है। उस समय कई बालक तो उस कष्टको न सह सकनेके कारण प्राण त्याग देते हैं। मृत्युके समयका दुःख भी हम सब लोग बराबर देखते ही हैं। उस समय मनुष्यकी कैसी असहाय अवस्था हो जाती है! उसके रोम-रोमसे नैराश्य टपकने लगता है। वह कैसे कष्टसे प्राण त्यागता है। जिन घर-जमीन, स्त्री-पुत्र, धन-दौलतको उसने बड़ी ममतासे पाला-पोसा था, अपने जीवनसे भी बढ़कर समझा था और जिनकी रक्षाके लिये उसने नाना प्रकारके कष्ट सहे थे, लोक-परलोककी भी परवा नहीं की थी, जिनके पीछे उसने न जाने कितनोंका जी दुखाया था, कितनोंका हक मारा था, कितनोंसे वैर बाँधा था, कितनोंसे मुकदमेबाजीकी थी, उन्हें सहसा बाध्य होकर त्यागनेमें उसे कितने महान् कष्टका अनुभव होता है—इसे मरनेवाला ही जानता है। हम सबने अपने पूर्वजन्मोंमें इस कष्टका अनुभव किया है और इस जीवनका अन्त होनेपर हममेंसे अधिकांशको फिर करना होगा। बुढ़ापेके दुःख भी हमसे छिपे नहीं हैं। वृद्धावस्थामें मनुष्यकी सारी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, दृष्टि मन्द हो जाती है, कानोंसे ठीक तरह सुनायी नहीं देता, चमड़ी सिकुड़ जाती है, दाँत जवाब दे देते हैं, बिना सहारेके चलना कठिन हो जाता है, घरके लोग अनादर करने लगते हैं, बुद्धि भी सठिया जाती है और नाना प्रकारकी चिन्ताएँ आ घेरती हैं। व्याधिका तो किसी-न-किसी रूपमें थोड़ा-बहुत हम सभीको अनुभव है। हमारे शास्त्रकारोंने इस शरीरको व्याधियोंका घर ही बताया है—'**शरीरं व्याधिमन्दिरम्।**' भगवदवतारों और कारक पुरुषोंको छोड़कर प्रायः सभीको न्यूनाधिक रूपमें व्याधियोंका शिकार होना पड़ता है। बड़े-बड़े महात्माओं और लोकोपकारी व्यक्तियोंका भी व्याधियोंसे पिण्ड नहीं छूटता। स्वस्थ-से-स्वस्थ और बलवान्-से-बलवान् मनुष्यको भी इनके आगे सिर झुकाना पड़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवनमें चारों ओर दुःखका ही बोलबाला है। जिसे हम सुख कहते हैं, वह भी दुःख-मिश्रित, परिणाममें दुःखदायी और

वास्तवमें दुःखरूप ही है।* वियोग तो सबके साथ लगा ही हुआ है। जिस वस्तुके समागमसे हमें सुखकी अनुभूति होती है, वही वियोग होनेपर दुःखका कारण बन जाती है। स्त्री-पुत्र, धन-मान, पद-प्रतिष्ठा, ऐश-आराम—सबका यही हाल है। एक धनको ही ले लीजिये। धनके उपार्जनमें कष्ट होता है, उसकी रक्षा करनेमें कष्ट उठाना पड़ता है, उसके बढ़ानेमें भी कष्टोंका सामना करना पड़ता है, उसे अनिच्छापूर्वक त्यागनेमें—खर्च करनेमें भी कष्ट होता है और उसके नाश होनेमें—चले जानेमें तो कष्ट होता ही है। यदि राजा उसे छीन ले—दण्ड अथवा करके रूपमें ले ले, चोर चुरा ले जाय, अग्नि जला दे, पानी बहा ले जाय अथवा उसे सुरक्षित दशामें छोड़कर हमींको इस संसारसे विदा होना पड़े—प्रत्येक स्थितिमें हमें महान् दुःख होगा।

अब प्रश्न यह होता है कि इस दुःखसे बचनेका उपाय क्या है? शास्त्र कहते हैं कि स्वेच्छापूर्वक विषयोंके त्यागमें ही सुख है। भोग-बुद्धिसे विषयोंका संग्रह दुःखका मूल है। हमलोगोंने भ्रमसे विषयोंमें सुख मान रखा है। वास्तवमें जिसके पास जितना अधिक विषयोंका संग्रह है, वह उतना ही दुःखी है और जो जितना अपरिग्रही है, वह उतना ही सुखी है। धनकी तीन गतियाँ मानी गयी हैं—दान, भोग और नाश। हमारे शास्त्रोंने दानको ही सर्वोत्तम गति माना है, यही धनका सर्वश्रेष्ठ सत्य उपयोग है। धनकी रक्षाका भी सर्वोत्तम उपाय दान ही है। वही धन सुरक्षित है, जिसे हम दूसरोंकी सेवामें, भगवान्‌की सेवामें लगा देते हैं। धनका नाश एक-न-एक दिन अवश्यम्भावी है—चाहे उसे हम भोगोंके निमित्त खर्च करके नष्ट कर दें, चाहे उसे दूसरे हड़प जायँ, सरकार करके रूपमें ले ले अथवा हम ही उसे छोड़कर संसारसे चल बसें। हर हालतमें हमारा उससे वियोग होगा ही। उसे अक्षय बनानेका—स्थायी बनानेका एकमात्र उपाय उसे भगवान्‌की सेवामें—जनता-जनार्दनकी सेवामें अथवा दरिद्र-नारायणकी सेवामें लगाना ही है। सच्ची बात तो यह है कि हमारा सारा धन भगवान्‌का है। लक्ष्मीदेवी—जो धनकी अधिष्ठात्री देवी हैं—उनकी अर्द्धांगिनी हैं, चरण-सेविका हैं, उन्हें सबसे अधिक सुख भगवान्‌के चरण-प्रान्तमें ही मिलता है। इसीलिये वे भगवान्‌के चरणोंको छोड़कर अन्यत्र नहीं जाना चाहतीं, उन्हींसे सर्वदा लिपटी रहती हैं। ऐसी दशामें प्रत्येक लक्ष्मीपुत्रका कर्तव्य है कि वह उन्हें माता समझकर भगवान्‌के चरणोंमें ही नियुक्त कर दे और उनके प्रसादरूपमें ही विषयोंका शरीर-निर्वाहमात्रकी दृष्टिसे सेवन करे। भगवान्‌की वस्तुका भगवान्‌की सेवामें विनियोग न करके जो उसे केवल अपने कामोपभोगमें लेता है, वह तो अपराधी है, दण्डका पात्र है। पंच महायज्ञका भी अभिप्राय यही है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(३। १३)

'यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। और जो पापीलोग अपना शरीर पोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं।' आगे चलकर ऐसे लोगोंको भगवान्‌ने अघायु—पापजीवी कहा है और उनका संसारमें जीना व्यर्थ बताया है—'**अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति**' (३। १६)। श्रुति भगवती भी कहती है—'**केवलाघी भवति केवलादी।**'

परन्तु यदि ऐसा न हो सके—हम सब कुछ भगवान्‌का न समझ सकें तो फिर कम-से-कम अपनी आयका—अपनी सम्पत्तिका षष्ठांश तो अवश्य ही भगवान्‌की सेवामें—धर्मकार्योंमें लगायें। यह हमारे ही किये हो सकता है। धर्मको शास्त्रोंने पंगु बताया है—वह हमारे चलाये ही चल सकता है। राजाकी तरह वह हमसे बलपूर्वक कर वसूल नहीं करता। हमें चाहिये कि जो हम भोगोंके निमित्त धनको पानीकी तरह बहाते हैं, ब्याह-शादियोंमें तथा अन्य सामाजिक कार्योंमें अनाप-शनाप खर्च करते हैं, कीर्तिके लिये अथवा उपाधि आदिके रूपमें सरकारकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये बड़ी-बड़ी रकमें चंदेके रूपमें देते हैं तथा सरकारी अफसरोंको बड़ी-बड़ी पार्टियाँ देते हैं, ऐसा न करके अपनी आयका अथवा सम्पत्तिका कम-से-कम

* महर्षि पतंजलि कहते हैं—

'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।' (२। १५)

(१) प्रत्येक सुखका परिणाम दुःखदायी होता है। (२) इसके अतिरिक्त प्रत्येक सुखमें तारतम्य तो होता ही है। ऐसी दशामें थोड़े सुखवालेको दूसरेका अधिक सुख देखकर स्वाभाविक ही ईर्ष्या होती है और ईर्ष्या दुःखरूप ही है। (३) इतना ही नहीं, जो सुख प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है, उसकी स्मृति बड़ी दुःखदायिनी होती है—उसे याद कर-करके मनुष्य बड़ा दुःखी हो जाता है। (४) फिर कोई भी सुख दुःखसे रहित नहीं होता, प्रत्येकमें दुःखका मिश्रण अवश्य होता है। (५) इसके सिवा सुखी मनुष्य भी सात्त्विक, राजस एवं तामस वृत्तियोंके संघर्षसे दुःखी रहता है। इन पाँच कारणोंसे विवेकी पुरुष सब कुछ दुःखमय ही देखते हैं।

षष्ठांश लोकोपकारके कार्योंमें लगायें, अपने कारबारके कई विभागोंमेंसे एक विभागको अथवा एक ही विभाग हो तो उसके एक हिस्सेको लोकसेवक ट्रस्टके रूपमें परिवर्तित कर दें, ताकि उसकी सारी-की-सारी आय लोकोपकारके कार्योंमें खर्च की जा सके और उसपर हमारा निजी स्वत्व बिलकुल न रहे। कहना न होगा कि उपर्युक्त कार्योंके निमित्त धन व्यय करनेमें सरकार भी हमें प्रोत्साहन देती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि धार्मिक एवं लोकोपकारके कोषोंपर सरकारकी ओरसे 'इन्कम-टैक्स' आदि किसी प्रकारका कर नहीं लिया जाता। आजकल 'इन्कम-टैक्स' आदि करसे बचनेके लिये हमारे बहुत-से व्यापारी भाई झूठ-कपटका आश्रय लेते देखे जाते हैं। इस प्रकार अन्यायसे लाखों रुपयोंकी जो बचत की जाती है, वैसा न करके लोकोपकारार्थ ट्रस्ट बनाकर उस धनको लोकोपकारमें ही खर्च करें। अपने निजी कार्यमें कतई नहीं। इस प्रकार लोकोपकारके कार्योंमें जो कुछ व्यय किया जायगा, वह अक्षय हो जायगा। हम भोग-बुद्धिसे जो कुछ बटोरते हैं, वह तो हमारे मरनेके बाद यहीं पड़ा रह जायगा, उसमेंसे एक पाई भी हमारे साथ नहीं जा सकेगी, एक सूईपर भी हमारा अधिकार नहीं रह जायगा। किन्तु धर्मके लिये हम जो कुछ भी खर्च करेंगे, वह परलोकमें भी हमें प्राप्त होगा। यदि हम किसी फलकी कामनासे ऐसा करेंगे, तो मरनेके बाद हमें स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति होगी—जहाँके सुख यहाँके सुखोंकी अपेक्षा कई गुने अधिक हैं। और यदि भगवत्सेवाकी भावनासे—भगवदर्थ अथवा भगवदर्पण-बुद्धिसे या निष्कामभावसे हम लोकोपकारी कार्योंमें धन-व्यय करेंगे तो वही हमारे कल्याणका परम साधन बन जायगा—हम जन्म-मृत्युके बन्धनसे सदाके लिये छूटकर भगवान्‌में विलीन हो जायँगे, अथवा भगवान्‌के परम धाममें चले जायँगे, जहाँ अक्षय सुखका निवास है और दुःखका लेश भी नहीं है। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—'**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्**' (२।४०)। धर्मके निमित्त जो कुछ निष्कामभावसे व्यय किया जाता है, उसकी बीमा हो जाती है—उसे चोर चुरा नहीं सकते, डाकू लूट नहीं सकते, राजा छीन नहीं सकता और अन्यायी हड़प नहीं सकता। परन्तु हम अज्ञानी जीव चोरी, डाका, राजदण्ड, अग्नि आदिका उपद्रव—सब कुछ सह लेते हैं, पर स्वेच्छासे धर्मका दण्ड स्वीकार नहीं करते। किसीने कहा है—

अगिन पलीता राजदँड, चोर मूस धन खाय।
इतना तो दँड नर सहै, हरिदँड सहा न जाय॥

दानके लिये यों तो अनेकों मार्ग हैं; परन्तु इस समय सबसे अधिक आवश्यकता हमारे इस देशमें भूखोंको अन्न, वस्त्रहीनोंको वस्त्र तथा रोगियोंको औषध देनेकी, जिज्ञासुओं और विद्यार्थियोंको गीता-रामायण आदि सद्ग्रन्थोंके वितरणद्वारा सहायता करनेकी तथा चारा आदिके द्वारा गौओंकी रक्षा करनेकी है। आज देशके कई भागोंमें अन्नका बड़ा भारी कष्ट दिखायी दे रहा है। अन्नके बिना हाहाकार मचा हुआ है, प्रतिदिन हजारोंकी संख्यामें हमारे नेत्रोंके सामने हमारे ही-जैसे हमारे बहिन-भाई और बच्चे भूखके मारे बेमौत मर रहे हैं। कहीं सियार और कुत्ते उन्हें जीते-जी नोचते सुने जाते हैं और वे उनसे अपनी रक्षा नहीं कर पाते। भूखकी भयानक यन्त्रणासे बचनेके लिये लोग फाँसी लगाकर तथा रेलकी पटरियोंपर लेटकर प्राण देते देखे-सुने जाते हैं। माताएँ अपने बच्चोंको त्याग देती हैं। कई जगह लोग भूखसे पीड़ित होकर अपनी वयस्क कन्याओंको बेच रहे हैं। कलकत्ते आदि नगरोंमें लोग सड़कोंपर पड़े कराहते नजर आते हैं। निर्बलताके कारण वे विशेष हिल-डुल भी नहीं सकते।* यह करुण दृश्य देखकर पत्थरका हृदय भी पसीज जाता है। हमारी माता और बहिनोंके पास लज्जा ढकनेके लिये वस्त्र भी नहीं है और भूखसे निर्बल नर-नारी नाना प्रकारके रोगोंके शिकार हो रहे हैं। इस समय हमारे धनी भाइयोंका सबसे बड़ा कर्तव्य है खुले हाथों अपने दुःखी गरीब भाइयोंकी सहायता करना, उन्हें मौतके मुँहसे बचाना, अन्नहीनोंके लिये अन्नकी, वस्त्रहीनोंके लिये वस्त्रकी, रोगियोंके लिये औषधकी तथा विद्यार्थियोंके लिये विद्याकी व्यवस्था करना तथा जो लोग दान न लेना चाहें उनके लिये सस्ते अनाजकी दूकानें खोलना।

गोजातिपर भी इस समय हमारे देशमें बड़ा संकट है। प्रतिदिन हजारोंकी संख्यामें हमारे देशकी दूध देनेवाली जवान गायें, बछिया तथा बैल हमारे ही सामने कटते हैं और हम अपनी आँखों यह सब देखकर भी इसका कुछ भी प्रतिकार नहीं कर रहे हैं। बहुत-सी गायें तो चारे आदिके अभावसे मर रही हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम उनके लिये चारे आदिकी समुचित व्यवस्था करें और इस प्रकार उनके बढ़ते हुए ह्रासको रोकनेकी चेष्टा करें। गो-धन हमारा सबसे बड़ा धन है—उससे हमारा धर्म-कर्म सब कुछ चलता है तथा हमारे शरीरोंका पोषण होता है। गाय

* यह लेख बंगालके घोर दुर्भिक्षके समय लिखा गया था।

और बैलोंके बिना हमारा जीवन ही कठिन हो जायगा। ऐसी दशामें प्रत्येक भारतवासीका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह गौओंकी रक्षाके लिये तन, मन और धनसे भी कटिबद्ध हो जाय। प्रत्येक भारतीय गृहस्थको चाहिये कि वह कष्ट सहकर भी कम-से-कम एक गौ अपने घरमें अवश्य रखे। जिस समय भारतमें गौओंकी अधिकता थी, उस समय हमारा यह भारतवर्ष सुख-समृद्धिसे पूर्ण था। यहाँ दूध-दहीकी नदियाँ-सी बहती थीं। जिस मक्खन और घीके आज हमलोगोंको दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं, उसे भगवान् श्रीकृष्ण तो बाल्यावस्थामें बंदरोंको भी लुटाते थे। अकेले नन्दबाबाके यहाँ नौ लाख गायें थीं और एक-एक राजा लाख-लाख गायोंका दान कर देते थे। आज हमारे गो-धनका जो भयंकर ह्रास दृष्टिगोचर हो रहा है, वह हमारे ही प्रमादका दुष्परिणाम है। हमें चाहिये कि अब भी चेतें और इस लुटते हुए धनको बचानेकी चेष्टा करें।

प्राचीन समयमें लोग गो-रक्षाके लिये बड़े-बड़े कष्ट सहनेके लिये तैयार रहते थे, गौके प्राण बचानेके लिये अपने प्राणोंकी भी आहुति देनेमें नहीं हिचकते थे। महाराज दिलीपकी गो-भक्ति और अर्जुनके गो-रक्षा-व्रत इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। राजा दिलीप चक्रवर्ती सम्राट् थे। गुरु वसिष्ठकी आज्ञासे उन्होंने उनकी गौ नन्दिनीकी सेवाका भार अपने ऊपर ले लिया। इतने बड़े सम्राट् होनेपर भी उन्हें गो-सेवा करनेमें लज्जा नहीं आयी। वे स्वयं उसे चरानेके लिये जंगलमें ले जाते और इष्टदेवीकी भाँति उसकी सेवामें दत्तचित्त रहते। वे उसके बैठनेपर बैठते, खड़े होनेपर स्वयं खड़े हो जाते, उसके भरपेट चर लेनेपर ही स्वयं अपनी भूख शान्त करते और उसको जल पिलाकर ही स्वयं जल ग्रहण करते। एक दिन नन्दिनी हरी-हरी घासोंसे सुशोभित हिमालयकी कन्दरामें प्रवेश कर गयी। उस समय उसके हृदयमें तनिक भी भय नहीं था। राजा दिलीप हिमालयके सुन्दर शिखरकी शोभा निहार रहे थे। इतनेमें ही एक सिंहने आकर नन्दिनीको बलपूर्वक धर दबाया। राजाको उस सिंहके आनेकी आहटतक नहीं मालूम हुई। सिंहके चंगुलमें फँसकर नन्दिनीने दयनीय स्वरमें बड़े जोरसे चीत्कार किया। राजाने सहसा पर्वतकी ओरसे दृष्टि हटाकर गौके चिल्लानेका कारण जानना चाहा। उन्होंने देखा, गौका मुख आँसुओंसे भीगा हुआ है और उसके ऊपर भयंकर सिंह चढ़ा हुआ है। यह दुःखपूर्ण दृश्य देखकर राजा व्यथित हो उठे। उन्होंने सिंहके पंजेमें पड़ी हुई गौको फिरसे देखा और तरकससे एक बाण निकालकर उसे धनुषकी डोरीपर रखा तथा सिंहका वध करनेके लिये धनुषकी प्रत्यंचाको खींचा। इसी समय सिंहने राजाकी ओर देखा। उसकी दृष्टि पड़ते ही उनका सारा शरीर जडवत् हो गया। अब उनमें बाण छोड़नेकी शक्ति न रही। इससे वे बड़े विस्मित हुए। जब राजाने देखा कि और किसी उपायसे गौकी रक्षा होनी कठिन है, तब वे स्वयं जाकर सिंहके सामने पड़ गये और उससे कहने लगे कि 'तू इस गायको छोड़ दे और इसके बदलेमें मेरे मांससे अपनी भूख शान्त कर ले।' वह सिंह और कोई नहीं था, नन्दिनीकी माया थी। राजाकी परीक्षाके लिये ही उसने यह माया रची थी। राजाके इस अनुपम त्यागको देखकर नन्दिनी प्रसन्न हो गयी। थोड़ी देरके बाद राजाने देखा कि कहीं कुछ नहीं है, अकेली नन्दिनी मौजसे घास चर रही है।

अर्जुनके गोरक्षा-व्रतकी बात भी प्रसिद्ध ही है। देवी द्रौपदीके सम्बन्धमें देवर्षि नारदके उपदेशसे पाण्डवोंमें परस्पर यह तय हो गया था कि द्रौपदी पारी-पारीसे पाँचों भाइयोंके पास रहेंगी और जिस समय वे एक भाईके पास एकान्तमें होंगी, उस समय कोई दूसरा भाई यदि उनके कमरेमें चला जायगा तो उसे बारह वर्षतक ब्रह्मचर्यपूर्वक वनमें रहना होगा। एक समयकी बात है, कुछ लुटेरे एक ब्राह्मणकी गौको चुराकर लिये जा रहे थे। ब्राह्मणने आकर अर्जुनके सामने पुकार की। अर्जुनके धनुष-बाण उस समय महाराज युधिष्ठिरके कमरेमें थे, जो उस समय देवी द्रौपदीके साथ एकान्तमें थे। अर्जुन धर्म-संकटमें पड़ गये। यदि वे शस्त्र लेने युधिष्ठिरके कमरेमें जाते हैं तो नियम-भंग होता है, जिसके दण्डस्वरूप उन्हें बारह वर्षका वनवास भोगना पड़ता है; और यदि वे अपने धनुष-बाण नहीं लाते तो ब्राह्मणकी गौकी रक्षा नहीं हो सकती। अन्तमें उन्होंने दोनों पक्षोंके बलाबलका विचार करके यही निश्चय किया कि नियम-भंगके लिये कठोर-से-कठोर दण्ड भोगकर भी मुझे गौकी रक्षा हर हालतमें करनी चाहिये। यह निश्चय करके वे चुपचाप महाराज युधिष्ठिरके कमरेमें चले गये और अपने धनुष-बाणको ले आये। ब्राह्मणकी गौको डाकुओंके हाथसे छुड़ाकर ब्राह्मणके सुपुर्द कर दिया और फिर महाराज युधिष्ठिरके पास आकर उनसे नियम-भंगके दण्डरूपमें बारह वर्षतक वनमें रहनेकी आज्ञा माँगी। आज्ञा ही नहीं माँगी, युधिष्ठिरके समझानेपर भी न रुके और वनवासके लिये चल दिये तथा इस प्रकार अपने लिये कठोर दण्ड स्वीकार करके भी अपने गौरक्षा-व्रतको निबाहा। जिन दिनों हम भारतवासी गौ-माताके लिये इस प्रकार प्राण देने और घोर-से-घोर कष्ट उठानेके लिये तैयार रहते थे, उन्हीं दिनों हम अपनेको सच्चा गोरक्षक कह सकते थे। आजकल तो हमलोग गो-रक्षाका खाली दम भरते हैं।

गो-रक्षाके लिये यह आवश्यक है कि हमलोग गौओंके प्रति अपने कर्तव्यको समझें, उनके लिये चारा सुगमतासे मिल सके—इसके लिये अधिक-से-अधिक गोचरभूमि छुड़वानेका प्रयत्न करें, गौएँ, बछड़े और बैल कसाइयोंके हाथोंमें तथा बूचड़खानोंमें न जाने पावें—इसके लिये प्राणपणसे चेष्टा करें, गौओंके पालन-पोषण तथा आरामका अधिक-से-अधिक ध्यान रखें, बूढ़ी तथा ठाठ गायोंकी तथा बछड़ोंकी रक्षाका भी समुचित प्रबन्ध करें एवं गौओंकी नस्ल सुधारनेके लिये अच्छे-अच्छे साँड़ोंकी व्यवस्था करें। इन सब कामोंके लिये पुष्कल द्रव्यके साथ-साथ उत्साह एवं लगनकी आवश्यकता है। धनकी सहायता तो हमारे धनी भाइयोंको विशेषरूपसे करनी चाहिये। वैश्योंके लिये तो गो-रक्षा एक मुख्य व्यवसाय और धर्म माना गया है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

(१८।४४)

'खेती, गो-पालन तथा व्यापार—ये वैश्यके स्वाभाविक धर्म हैं।' कालके विपर्ययसे खेती और गो-पालन—इन दो कर्मोंको वैश्य-जातिने एक प्रकारसे छोड़ ही रखा है, व्यापार ही उनकी जीविकाका प्रधान साधन रह गया है। धार्मिक दृष्टिसे हमारे वैश्य भाइयोंको चाहिये कि व्यापारकी भाँति वे इन दो व्यवसायोंको भी अपनायें, जिससे इनकी भी उन्नति हो। हमारे नगरोंमें लोगोंको शुद्ध दूध आदि गव्य पदार्थ सुगमतासे मिल सकें, इसके लिये डेरी फार्मोंका बृहद्‌रूपमें आयोजन करें। धार्मिक दृष्टिके साथ-साथ व्यवसायकी दृष्टिसे भी जब हम गो-पालनके कार्यको हाथमें लेंगे, तभी गौओंकी रक्षा और वृद्धि सम्भव है। गोधन तो हमारी प्रधान सम्पत्ति रही है। पूर्वकालमें धनवानोंकी हैसियत गौओंकी संख्यासे ही आँकी जाती थी। जिसके पास जितनी अधिक गौएँ होती थीं, वह उतना ही सम्पन्न माना जाता था। हमारे यहाँ भूमि और गौ—ये दो ही उत्पादनके प्रधान साधन माने गये हैं। भूमि और गौका परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध भी है। गौओंका पालन-पोषण बिना भूमिके नहीं हो सकता। गोचर-भूमियोंकी कमी इस समय गो-जातिके ह्रासका एक प्रधान कारण बन रही है। इसी प्रकार गौओंकी सहायताके बिना भूमि उपजाऊ नहीं हो सकती। आधुनिक विज्ञानके युगमें भी गोबरके समान और किसी खादका आविष्कार अबतक नहीं हो सका है। भूमिको जोतने तथा बराबर करनेके लिये भी बैल ही अधिक उपयोगमें आते हैं। संस्कृतमें भूमिका एक नाम 'गौ' भी है; क्योंकि पृथ्वी जब-जब अत्याचारोंके भारसे पीड़ित होती है, तब-तब वह गौका रूप धारण कर ब्रह्माजीके सामने अपना दुखड़ा रोती है। इस प्रकार खेती और गो-पालनका परस्पर अविच्छेद्य सम्बन्ध है और एकको दूसरेकी सहायताकी बहुत अधिक आवश्यकता है। वैश्य भाइयोंसे प्रार्थना है कि वे इन दोनों व्यवसायोंको भी अपने हाथमें लेकर इन्हें समुन्नत बनावें।

सारांश यह है कि वर्तमान समय लोक-सेवाके लिये अत्यन्त उपयोगी है। हमारे धनिक समाजको चाहिये कि इस सुनहरे अवसरसे लाभ उठाकर अपनी सम्पत्तिका सेवाके कार्योंमें अधिक-से-अधिक उपयोग करें। धनकी सार्थकता इसीमें है कि उसका जनता-जनार्दनकी सेवामें उपयोग किया जाय। यह मौका यदि हाथसे चला गया तो फिर सिवा पछतानेके और कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। धनके साथ-साथ जीवनका भी कोई भरोसा नहीं है। आज है और कल नहीं। आज यदि हम चल बसे तो फिर यह धन हमारे किस काम आयेगा। इसलिये जीवन रहते इसे सत्कार्योंमें लगा देना चाहिये। कहते हैं—'तुरत दान महापुण्य।' यही बात सभी उत्तम कार्योंके सम्बन्धमें लागू समझनी चाहिये। किसी भी अच्छे कामको कलके लिये नहीं छोड़ना चाहिये, तुरंत कर ही डालना चाहिये। इसीलिये किसी कविने कहा है—

काल करै सो आज कर आज करै सो अब।
पलमें परलै होयगी बहुरि करैगो कब॥

हमें ऐसे कई धनियोंका पता है, जिन्होंने परोपकारके लिये बड़ी-बड़ी स्कीमें सोच रखी थीं; परन्तु इच्छा रहते भी वे अपनी उन स्कीमोंको पूरा नहीं कर पाये। वे अचानक मृत्युके गालमें चले गये। मृत्युपर किसीका वश नहीं चलता। वह किसीकी प्रतीक्षा नहीं करती। इसलिये शरीरमें जबतक श्वास है, तभीतक हमें इसका लाभ उठा लेना चाहिये। मरनेके बाद फिर हम कुछ नहीं कर सकेंगे। वर्तमान जीवनमें हम जो कुछ कमा लेंगे, वही आगे हमारे काम आयेगा। यदि जीवनभर हम पाप बटोरनेमें ही लगे रहे एवं न्याय-अन्याय, झूठ-कपट, चोरी और बेईमानीसे अर्थसंग्रह करनेमें तथा इच्छानुसार भोग भोगनेमें ही हमने अपने कर्तव्यकी इतिश्री कर दी तो हमारा यह मनुष्य-जीवन व्यर्थ ही नहीं जायगा, आगेके लिये भी हम बहुत बड़े दुःखका सामान तैयार कर जायँगे।

जो बात व्यक्तिके लिये है, वही समष्टिके लिये भी समझनी चाहिये। आज जगत्‌में चारों ओर जो हाहाकार मचा हुआ है, उसका कारण क्या है? पाप ही दुःखका मूल है और धर्म सुखकी जड़ है। हम आज दुःखके बाह्य कारणोंका अनुसन्धान करके उन्हींके दूर करनेमें लगे हुए हैं; इसीसे हमारे दुःख कम होनेके बदले बढ़ते ही जा रहे

हैं। जबतक व्याधिका निदान ठीक नहीं होगा, तबतक हम चाहे कितना ही उपचार क्यों न करें, उसमें हमें सफलता नहीं मिल सकती। व्याधिका नाश करनेके लिये हमें उसके मूलका नाश करना होगा। आज जगत् जिस व्याधिसे ग्रस्त है, उसका मूल पापोंकी वृद्धि है। जबतक पापोंकी बाढ़ नहीं रुकेगी, तबतक हम कदापि व्याधिमुक्त नहीं हो सकते। अतः यदि हम अपनेको तथा संसारको सुखी देखना चाहते हैं तो हमें यथाशक्ति पापोंसे बचकर धर्म-संचय करना चाहिये। तभी हम और हमारे आस-पासके लोग सुखी रह सकेंगे। भगवान् व्यासने डंकेकी चोट कहा है—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

(महा०, स्वर्गा० ५। ६२)

'मैं दोनों भुजाएँ उठा चिल्ला-चिल्लाकर कहता हूँ, पर मेरी बात कोई नहीं सुनता। भाइयो! धर्मसे ही धन और सुखकी प्राप्ति होती है; फिर क्यों नहीं धर्मका सेवन करते?' परन्तु हम इन त्रिकालदर्शी महर्षियोंकी हितभरी वाणीको सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं। हम चाहते तो हैं सुख, पर चलते हैं दुःखके रास्ते। चाहते हैं दुःखसे छूटना, पर दुःखके हेतु पापको गले लगाये हुए हैं। महर्षि व्यास यही कहते हैं—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

यह मनुष्य-देह हमें बड़े पुण्योंसे मिला है। इतना ही नहीं, भारतवर्ष-जैसा देश, हिंदू-धर्म-जैसा धर्म और कलियुग-जैसा युग—हमें प्राप्त हुआ है। महात्माओंने कलियुगको सभी युगोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ बताया है। अन्य युगोंकी अपेक्षा इसमें कल्याण बहुत सुगमतासे हो सकता है। गोसाईं तुलसीदासजीने कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

ऐसे अपूर्व संयोगको पाकर भी यदि हम सच्चे सुखसे वंचित रहे, अनित्य विषय-सुखोंमें ही रमा किये और पाप बटोरनेमें ही यदि हमने अपना अमूल्य जीवन खो दिया तो फिर हमसे बढ़कर मूर्ख और कृतघ्न कौन होगा? गोस्वामी तुलसीदासजीने ऐसे लोगोंको आत्महत्यारा कहा है। वे कहते हैं—

जो न तरइ भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

सच्चा सुख केवल परमात्मामें है। इसलिये जो सच्चा सुख चाहते हैं, उन्हें अन्य सब ओरसे मुँह मोड़कर एकमात्र परमात्माकी ही शरण लेनी चाहिये—उन्हींमें मन लगाकर उन्हींकी भक्ति, उन्हींकी सेवा करनी चाहिये। जगत्को जनार्दन समझकर जगत्की सेवा करना भी भगवान्की ही सेवा है। फिर हमारे लिये सर्वत्र कल्याण-ही-कल्याण है। जो लोग परमात्मासे विमुख रहकर विषयोंमें ही मन लगाये रहते हैं, उन अज्ञानी जीवोंके लिये क्या कहा जाय। उनकी दशा तो उस अबोध विधवा बालिकाकी-सी है, जिसे पति-वियोगके दुःखका कुछ भी अनुभव नहीं होता। वह तो सदाकी भाँति खाने-पीने और खेलनेमें मस्त रहती है। उसे पता नहीं रहता कि आगे चलकर उसे जीवनमें कैसे-कैसे कष्टोंका सामना करना पड़ेगा, कैसी-कैसी विपत्तियाँ झेलनी होंगी। उसके माता-पिता, सगे-सम्बन्धी एवं अड़ोसी-पड़ोसी उसकी दशापर तरस खाते हैं, रोते-कलपते हैं और उसके भावी कष्टोंका स्मरण करके बिसूरते हैं। परन्तु वह भोली-भाली बालिका उनके इस प्रकार रोने-धोनेका कारण नहीं समझ पाती। इसी प्रकार भगवद्विमुख जीवोंको देखकर संत-महात्मा उनकी दशापर तरस खाते हैं और उन्हें आनेवाली विपत्तिकी सूचना देते हैं; परन्तु फिर भी वे अज्ञानी जीव चेतते नहीं। अपने राग-रंग, भोग-विलासमें ही भूले रहते हैं। हमें चाहिये कि उन महात्मा पुरुषोंकी चेतावनीपर ध्यान देकर समय रहते-रहते चेत जायँ; नहीं तो फिर हमारी वही दशा होगी।

का बरषा सब कृषी सुखानें। समय चुकें पुनि का पछितानें॥

भगवदाश्रयसे लोक-परलोकका कल्याण

लौकिक-पारलौकिक समस्त दुःखोंके नाश एवं समस्त लौकिक-पारमार्थिक सम्पत्तिकी सम्प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन है—भगवान्का अनन्य आश्रय लेकर सच्चे मनसे उनका भजन करना और लौकिक-पारलौकिक समस्त सुखोंके नाश एवं समस्त लौकिक-पारमार्थिक सम्पत्तिके सर्वनाशका साधन है—भोगोंका अनन्य आश्रय लेकर मनसे भगवान्को भुला देना। आज हम भगवान्को भूल गये हैं और हमारा जीवन केवल भोगोंका आश्रयी बन गया है। इसीसे इतने दुःख, संताप और विनाशके पहाड़ हमपर लगातार टूट रहे हैं। जो लोग क्रियाशील और विविध-कर्मसमर्थ हैं, उनको भगवान्की प्रसन्नताके लिये भगवान्का स्मरण करते हुए समयानुकूल स्वधर्मोचित कर्मोंके द्वारा भगवान्की पूजा करनी चाहिये और जो अल्पसमर्थ या असमर्थ हैं, उन्हें आर्त तथा दीनभावसे भगवत्प्रीतिके द्वारा धर्मके

अभ्युदय और विश्व-शान्तिके लिये अनन्यभावसे भगवान्‌को पुकारना चाहिये।

हमारी अनन्य पुकार कभी व्यर्थ नहीं जायगी। हममें होना चाहिये द्रौपदीका-सा विश्वास, होनी चाहिये गजराजकी-सी निष्ठा और सबसे बढ़कर हममें होनी चाहिये प्रह्लादकी-सी आस्तिकता, जिसके वचनको सत्य करनेके लिये भगवान् नृसिंहरूपसे खम्भेमेंसे प्रकट हुए—'**सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितम्।**' (भागवत ७।८।१८)

विपत्ति, कष्ट, असहाय स्थिति, अमंगल और अन्याय तभीतक हमारे सामने हैं, जबतक हम भगवान्‌को विश्वासपूर्वक नहीं पुकारते। एक महाशयने यह घटना सुनायी थी। एक घरमें गुंडोंने पतिको पकड़ लिया और दो गुंडे उसकी स्त्रीको नंगी करके उसपर बलात्कार करनेको तैयार हुए। दोनों पति-पत्नी निरुपाय थे—असहाय थे। पत्नीने आर्त होकर—रोकर भगवान्‌को पुकारा। उसे द्रौपदीकी याद आ गयी। बस, तत्काल ही वे दोनों गुंडे आपसमें लड़ गये। एकने दूसरेको छूरा मार दिया। उसके गिरते ही पति-पत्नीको छोड़कर शेष गुंडे भाग गये और इस बीचमें पत्नीको कंधेपर उठाकर पतिको बचकर भाग निकलनेका अवसर मिल गया।

भारतकी सती देवियाँ आज द्रौपदीकी भाँति भगवान्‌को पुकारें तो भगवान् कहीं गये नहीं हैं। वे तुरंत किसी भी रूपमें प्रकट होकर सती देवियोंके सारे दुःख हर लें और उसी क्षणसे उनको दुःख पहुँचानेवालोंके विनाशकी भी गारंटी मिल जाय।

दुष्ट दुःशासनके हाथोंमें पड़ी हुई असहाया द्रौपदीने आर्त होकर मन-ही-मन भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करके कहा था—

गोविन्द! द्वारकावासिन्! कृष्ण! गोपीजनप्रिय॥
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।
हे नाथ! हे रमानाथ! व्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन॥
कृष्ण! कृष्ण! महायोगिन्! विश्वात्मन्! विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम्॥

(महा०, सभा० ६८।४१—४४)

'हे गोविन्द! द्वारकावासी सच्चिदानन्द प्रेमधन! गोपीजनवल्लभ! सर्वशक्तिमान् प्रभो! कौरव मुझे अपमानित कर रहे हैं। क्या यह आपको मालूम नहीं है? हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे आर्तिनाशन जनार्दन! मैं कौरवोंके समुद्रमें डूबी जा रही हूँ। आप मेरा उद्धार कीजिये। हे कृष्ण! हे कृष्ण! हे महायोगी! हे विश्वात्मा और विश्वके जीवनदाता गोविन्द! मैं कौरवोंसे घिरकर संकटमें पड़ गयी हूँ। आपके शरण हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिये।'

द्रौपदीकी आर्त पुकार सुनकर भक्तवत्सल प्रभु उसी क्षण द्वारकासे दौड़े आये और द्रौपदीको वस्त्र दान कर उसकी लाज बचायी। पर दुष्ट दुःशासनने द्रौपदीके जिन केशोंको खींचा था, वे खुले ही रहे दुःशासनको दण्ड मिलनेके दिनतक। द्रौपदीके खुले केश थे। पाण्डवोंके साथ वह वनमें रहती थी। भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंसे मिलने गये। वहाँ द्रौपदीने एकान्तमें रोकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—'मैं पाण्डवोंकी पत्नी, धृष्टद्युम्नकी बहिन और तुम्हारी सखी होकर भी कौरवोंकी सभामें घसीटी जाऊँ! यह कितने दुःखकी बात है। भीमसेन और अर्जुन बड़े बलवान् होनेपर भी मेरी रक्षा नहीं कर सके! धिक्कार है इनके बल-पौरुषको! इनके जीते-जी दुर्योधन क्षणभरके लिये भी कैसे जीवित है? श्रीकृष्ण! दुष्ट दुःशासनने भरी सभामें मुझ सतीकी चोटी पकड़कर घसीटा और ये पाण्डव टुकुर-टुकुर देखते रहे!' इतना कहकर द्रौपदी रोने लगी। उसकी साँस लंबी-लंबी चलने लगी और उसने गद्गद होकर आवेशसे कहा—'श्रीकृष्ण! ये पति-पुत्र, पिता-भ्राता मेरे कोई नहीं हैं; पर क्या तुम भी मेरे नहीं रहे? श्रीकृष्ण! तुम मेरे सम्बन्धी हो, मैं अग्निकुण्डसे उत्पन्न पवित्र रमणी हूँ; तुम्हारे साथ मेरा पवित्र प्रेम है और तुमपर मेरा अधिकार है एवं तुम मेरी रक्षा करनेमें समर्थ भी हो। इसलिये तुम्हें मेरी रक्षा करनी ही होगी।' तब श्रीकृष्णने रोती हुई द्रौपदीको आश्वासन देकर कहा—

रोदिष्यन्ति स्त्रियो ह्येवं येषां क्रुद्धासि भामिनि।
बीभत्सुशरसंच्छन्नाञ्छोणितौघपरिप्लुतान्॥
निहतान् वल्लभान् वीक्ष्य शयानान् वसुधातले।
यत् समर्थं पाण्डवानां तत् करिष्यामि मा शुचः॥
सत्यं ते प्रतिजानामि राज्ञां राज्ञी भविष्यसि।
पतेद् द्यौर्हिमवाञ्छीर्येत् पृथिवी शकलीभवेत्॥
शुष्येत्तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत्।

(महा०, वन० १२।१२८—१३१)

'कल्याणी! तुम जिनपर क्रोधित हुई हो, उनकी स्त्रियाँ भी थोड़े ही दिनोंमें अर्जुनके भयानक बाणोंसे कटकर खूनसे लथपथ हो जमीनपर पड़े हुए अपने पतियोंको देखकर तुम्हारी ही भाँति रुदन करेंगी। मैं वही काम करूँगा, जो पाण्डवोंके अनुकूल होगा। तुम शोक मत करो। मैं तुमसे प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम राज-रानी बनोगी। चाहे आकाश फट पड़े, हिमालय टुकड़े-टुकड़े हो जाय, पृथ्वी चूर-चूर हो जाय और समुद्र सूख जाय, परन्तु द्रौपदी! मेरी बात कभी असत्य नहीं हो सकती।'

ये द्रौपदीके दुःखोंका नाश करनेवाले भगवान् आज

कहीं चले नहीं गये हैं। द्रौपदीके सदृश विश्वासपूर्ण हृदयसे उन्हें पुकारनेवालोंकी कमी हो गयी है। यदि दुःखसागरसे सहज ही पार उतरना है तो विश्वास करके अनन्यभावसे भगवान्‌को पुकारना चाहिये। भारतके हिंदुओंकी यह श्रद्धा जिस दिनसे घटने लगी, जबसे उनकी यह प्रार्थनाकी ध्वनि क्षीण हो गयी, तभीसे उनपर दुःख आने लगे और तभीसे वे सन्मार्ग और सुखके सुपथसे भ्रष्ट हो गये! अब फिर श्रद्धा-विश्वासके साथ भगवान्‌को पुकारिये। देखिये, आपके इहलौकिक दुःख दूर होते हैं या नहीं और देखिये, आपको भगवान्‌की अमृतमयी अनुकम्पासे भगवान्‌के दुर्लभ चरणारविन्दकी प्राप्ति सहज ही होती है या नहीं!

परमानन्दकी खेती

'भैया, इतनी दूर कैसे आये?' स्वागत करनेके बाद पंजाबमें रहनेवाले मित्रने पूछा। राजपूतानासे पंजाब आनेका कोई कारण विशेष अवश्य होगा, उसने समझ लिया था।

'मेरे यहाँ अकाल पड़ा हुआ है। लोग दाने-दानेके लिये तरस रहे हैं और कितने ही क्षुधासे तड़प-तड़पकर प्राण छोड़ रहे हैं। व्याकुल होकर मैं परिवारसहित आपके पास आ गया।' राजपूतानाके वैश्यने अपने मित्रसे सच्ची बात बता दी। अपने मित्रके पास अन्नका ढेर देखकर वह मन-ही-मन प्रसन्न भी हो रहा था।

'आप यहाँ आ गये, बड़ा अच्छा किया। आपहीका घर है, आनन्दपूर्वक रहिये।' वैश्यके मित्रने बड़े प्रेमसे उत्तरमें कहा।

'आपके यहाँ तो अन्नराशिके ढेर-के-ढेर लगे हैं, पर हमारे देशमें तो अन्न किसी भाग्यशालीको ही मिलता है; वहाँ तो एक-एक दानेके लिये चील्ह-कौओंकी तरह छीना-झपटी हो रही है। आपके यहाँ सहस्रों मन एकत्र गल्लेको देखकर मेरे जी-में-जी आ गया।' वैश्यने स्थिति स्पष्ट की।

'यहाँ तो भगवत्कृपासे अन्नका अभाव नहीं है। इसमें आश्चर्यकी कोई बात भी नहीं है, यहाँ तो कोई भी आवे, उसके लिये अन्नकी कमी नहीं है। आप तो हमारे मित्र हैं, यहाँ तो सब कुछ आपहीका है। यहाँ आकर आपने बड़ा अच्छा किया।' मित्र बोला। वह चतुर और अनुभवी किसान था।

'आपकी सभी वस्तुएँ हमारी हैं, इसमें तो सन्देह नहीं है, पर मैं जानना चाहता हूँ कि इतनी अन्नराशि आपके पास आयी कहाँसे?' वैश्यने चकित होकर पूछा।

'हमारे यहाँ बराबर खेती होती रहती है। उसीका यह प्रताप है।' किसान मित्रने वैश्य-बन्धुका समाधान करना चाहा। 'आप भी खेती करने लगें तो आपके पास भी अन्नके ढेर लग जायँगे।'

'बड़ी सुन्दर बात है, कृषिके कार्यमें मैं भी जुट जाऊँगा, पर इसका अनुभव मुझे नहीं है। मेरे पास एक सहस्र रुपये हैं। इतनेसे खेती आरम्भ हो सकती है क्या?' वैश्यने पूछा।

'एक हजारकी पूँजी कम नहीं है। इतने रुपयेसे खेतीका काम आप बड़ी सुन्दरतासे आरम्भ कर सकते हैं। मेरा पूरा सहयोग रहेगा ही।' किसानने सहानुभूतिपूर्ण शब्दोंमें अपने वैश्य मित्रसे कहा।

'मुझे तो इसका कोई ज्ञान नहीं है। आप जैसा उचित समझें, करें।' अपनी समस्त पूँजी किसानके हाथमें समर्पित करते हुए वैश्यने जवाब दिया।

× × ×

'देखिये, ये सब गेहूँ तो मिट्टीमें मिल गये। गेहूँका एक-एक दाना फूटकर नष्ट हो गया'—अत्यन्त निराश होकर वैश्यने कहा। उसने अपने पंजाबी किसान मित्रके किसी काममें बाधा नहीं दी थी। किसानने मित्रकी पूँजीसे बीजादिका प्रबन्ध करवाकर हल चलवा दिया था। बीज बो दिये गये थे। पर, अनुभवहीन वैश्य यह सब देखकर चिन्तित हो रहा था। दो-तीन दिन भी नहीं बीतने पाये कि वह खेतमें जाकर खोदकर गेहूँके दाने देखने लगा। उसे बहुत-से बीज अंकुरित दीखे, इसपर उसने समझा कि मेरे सारे रुपये मिट्टीमें मिल गये। अत्यन्त दुःखी होकर उसने अपने मित्रसे उपर्युक्त बात कही।

'आपके खेतमें अंकुर निकलने शुरू हो गये हैं। आप कोई चिन्ता न करें। बीजके लक्षण अच्छे हैं। आपको पता नहीं है।' किसान मित्रने वैश्यको आश्वासन दिया।

'मुझे तो धन और श्रमका व्यय करनेपर भी कोई लाभ होता नहीं दीखता। मैं तो बहुत चिन्तित हो गया हूँ।' वैश्यने मनकी व्यथा-कथा स्पष्टतः व्यक्त कर दी।

'प्रारम्भमें ऐसा ही होता है। आप निश्चिन्त रहें। आपकी खेती बड़ी सुन्दर हो रही है।' किसान मित्रने बड़े प्रेमसे उत्तर दिया।

वैश्य चुप था। इसके अतिरिक्त उसका वश ही क्या था?

× × ×

'मेरे खेतमें तो सर्वत्र घास-ही-घास दीख रही है। मुझे तो बड़ी हानि हुई। मेरा सारा रुपया व्यर्थ गया।' वैश्यने

थोड़े ही दिनोंमें फिर किसानसे कहा। एक-एक बित्तेके गेहूँके पौधोंको उसने घास समझ लिया था।

घबराया हुआ किसान स्वयं खेतपर गया, पर वहाँ खेती देखकर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई।

'अरे! आपका खेत तो आस-पासके सभी खेतोंसे बढ़कर है' किसानने हतोत्साह मित्रका भ्रम निवारण किया, 'आप समझ लें कि अब गेहूँका विशाल ढेर आपके पास एकत्र होनेहीवाला है। पर इस बातका ध्यान अवश्य रखें कि ये पौधे सूखने न पावें। इन सुकुमार पौधोंका जीवन पानी है। इसकी व्यवस्था आप शीघ्र कर लें। इनकी सिंचाईके लिये आप शीघ्र ही एक कुँआ खुदा लें। साथ ही खेतको चारों ओर काँटोंकी बाड़ लगाकर रूँध दें, नहीं तो पशु आकर इसे चर जायँगे। खेतकी रखवाली आपको सावधानीसे करनी होगी।'

'आपकी प्रत्येक आज्ञाका मैं शब्दश: पालन करूँगा।' वैश्यने कहा और वैसा ही किया। कुँआ खुदवाकर खूब सिंचाई की। भगवत्कृपासे बीच-बीचमें बादल-दलने भी जल-वर्षण किया। पौधे बढ़ने लगे।

× × ×

'पौधोंके बीच-बीचमें जो घासें उग आयी हैं, उन एक-एक घासोंका निरान कर डालिये। ये गेहूँकी वृद्धिके बाधक हैं'—एक दिन खेतपर आकर किसानने वैश्यको प्रेमभरे शब्दोंमें आदेश दिया।

'एक घास भी खेतमें नहीं रह पायेगी।' वैश्यने तुरंत उत्साहपूर्ण शब्दोंमें उत्तर दिया।

× × ×

'गेहूँके दाने तो हो गये, पर ये तो सब-के-सब कच्चे ही हुए हैं'—माथेका पसीना पोंछते हुए वैश्यने किसान बन्धुसे कहा। वह खेतसे दौड़ता आया था और जोरोंसे हाँफ रहा था। उसने अपने किसान मित्रके आदेशानुसार अपने खेतमें घासका कोई चिह्न भी अवशिष्ट नहीं रहने दिया था। उसका परिश्रम अतुलनीय था। गेहूँमें फल भी लगे थे, पर इतने दिनोंके बाद उसने देखा तो सब-के-सब फल कच्चे ही थे। खेतीके ज्ञानसे शून्य होनेके कारण वह गरीब घबरा गया था। उसने समझा रुपयेके साथ-साथ मेरी एँड़ी-चोटीका पसीना भी व्यर्थ सिद्ध हो रहा है। उसने दो-तीन फलियाँ भी किसानके सामने रख दीं, जिन्हें वह साथ ही लेता आया था।

'आपके गेहूँके दाने तो बड़े पुष्ट हैं। ये अब जल्दी ही पक जायँगे। अब इसमें विलम्ब नहीं होगा। आप घबरायें नहीं। किसी प्रकारका विचार भी न करें। आपके घरमें गेहूँ और भूसेके पहाड़ लग जायँगे।' प्रसन्नताभरे शब्दोंमें किसानने वैश्यसे कहा। 'पर ऐसे समय पक्षी आ-आकर काकली—मीठी-मीठी बोली सुनाते हैं और सब दाने खा जाया करते हैं, अत: खेतीकी खूब रक्षा करनी होगी। पक्षियोंसे रक्षा किये बिना पक्षी सारे खेतका नाश कर डालेंगे।'

× × ×

'मैं आपका कृतज्ञ हूँ। मेरे आनन्दकी सीमा नहीं है। मेरे पास गेहूँका विशाल ढेर लग गया है'—वैश्यने आनन्दभरे शब्दोंमें किसान मित्रके प्रति आभार प्रदर्शित किया।

'यह सब भगवान्‌की कृपा और आपके श्रमका फल है। आप पक्षियोंके कलरवपर ध्यान न देकर उन्हें उड़ानेमें ही लगे रहते थे। आपने बड़ी तत्परतासे कृषि की थी।' किसानने वैश्यबन्धुको ही यश दिया।

वैश्य नतमस्तक हो गया। उसकी आकृतिपर आनन्द हँस रहा था।

× × ×

यह कहानी एक दृष्टान्तरूपसे कही गयी है। इसे परमार्थ विषयमें इस प्रकार घटाना चाहिये कि सच्चे सुखकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाले जिज्ञासुको यहाँ अकालपीड़ित वैश्य समझना चाहिये। साधककी सांसारिककष्टोंकी ज्वालासे उत्पन्न सच्चे सुखकी अभिलाषाको अकालपीड़ित वैश्यके भूखकी ज्वालाके कारण अन्नकी आवश्यकता समझनी चाहिये। महात्माको पंजाबमें रहनेवाला वैश्यका किसान मित्र समझना चाहिये। वैश्यका जो राजपूतानासे अपने मित्रके पास पंजाब जाना है, यही साधकका अपने घरसे महात्माके आश्रममें महात्माके पास जाना है। मित्रके पास जाकर वैश्यका जो अपने कष्टकी बात कहना है, यही जिज्ञासु साधकका महात्माको अपना दु:ख निवेदन करना है। वैश्य भाईका जो अपनी सम्पूर्ण पूँजी मित्रको सौंप देना है, यही साधकका अपने मानव-जीवनका अवशेष समय महात्माके चरणोंमें समर्पित करना है। मित्रके कहे अनुसार जो धनका खर्च करना है, यही महात्माके आज्ञानुसार समयका सदुपयोग करना है। किसान मित्रका जो जमीन और बीजका प्रबन्ध करवा देना है, इसको महात्माका समयको सदुपयोगमें लानेकी शिक्षा देना समझना चाहिये। खेतीके लिये जो अपने सुखका त्याग करना है, इसको परम आनन्दकी प्राप्तिके लिये वर्तमान सांसारिक सुखका त्याग करना समझना चाहिये। बीजका जो खेतमें बो देना है इसको महात्माके द्वारा प्राप्त साधनके बीजमन्त्रका हृदयमें धारण करना समझना चाहिये। खेती करनेसे खेतमें बीजोंका अंकुर फूटनेपर बेसमझीके कारण दु:ख और निराशाका अनुभव होनेको साधनकालमें होनेवाली निराशा और तज्जनित क्लेश समझना चाहिये। वैश्यका भ्रमसे गेहूँके छोटे पौधोंको जो घास समझना है, यही साधनकालमें साधनकी उन्नति होनेपर भी साधनमें परिश्रम अधिक होनेके

कारण उसे भ्रमसे साधन न समझकर व्यर्थ समझना है। मन और इन्द्रियोंके संयमको बाड़ समझनी चाहिये। अध्यात्मविषयको सांसारिक स्वार्थी मनुष्योंके सम्पर्कमें खर्च नहीं करना ही पशुओंसे खेतको बचाना है। भगवान्‌के गुण-प्रभावसहित रूपकी स्मृति और सत्संग-स्वाध्यायको खेतको कुँआ खोदकर सींचते रहना समझना चाहिये। अपने-आप सत्संग प्राप्त होने और ध्यानका अभ्यास चलनेको ईश्वर-कृपासे समयपर स्वतः वर्षा हो जाना समझना चाहिये। दुर्गुणों और दुराचारोंको अपने हृदयसे हटाते रहना यहाँ गेहूँके अतिरिक्त अन्य घास-फूसका निरान करना है। परमात्माके ध्यानकी जमावटको यहाँ गेहूँका फलना तथा स्वार्थी मनुष्योंके द्वारा की जानेवाली साधककी स्तुति-कीर्तिको यहाँ गेहूँको खानेके लिये आनेवाले पक्षियोंकी काकली समझना चाहिये। साधन परिपक्व होनेके लिये स्तुति-कीर्ति तथा स्तुति-कीर्ति करनेवालोंकी अवहेलना करनेको यहाँ खेतीकी रक्षाके लिये पक्षियोंको हटा देना समझना चाहिये एवं सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव होकर परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जानेको गेहूँके पक जानेपर उसका ढेर लग जाना समझना चाहिये।

निष्कामभावकी महत्ता

जिस प्रकार श्रीभगवान्‌का नित्य-निरन्तर चिन्तन संसार-सागरसे शीघ्र उद्धार करनेवाला सुगम उपाय बतलाया गया है (गीता १२। ७; ८। १४), इसी प्रकार निष्काम क्रिया भी शीघ्र उद्धार करनेवाली तथा सुगम उपाय है (गीता ५। ६) और निष्कामभावके साथ यदि भगवान्‌का स्मरण होता रहे तब तो फिर बात ही क्या है। वह तो सोनेमें सुगन्धकी तरह अत्यन्त महत्त्वकी चीज हो जाती है। इससे और भी शीघ्र कल्याण हो सकता है। किंतु भगवान्‌की स्मृतिके बिना भी यदि कोई मनुष्य फलासक्तिको त्यागकर निःस्वार्थभावसे चेष्टा करे तो उससे भी उसका कल्याण हो सकता है, बल्कि इसे फलत्यागरहित ध्यानसे भी श्रेष्ठ बतलाया गया है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

(१२। १२)

'(मर्मको न जानकर किये हुए) अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है।'

अतः यह कोशिश करनी चाहिये कि भगवान्‌को याद रखते हुए ही सारी चेष्टा निष्कामभावपूर्वक हो। यदि काम करते समय भगवान्‌की स्मृति न हो सके तो केवल निष्कामभावसे ही मनुष्यका कल्याण हो सकता है। इसलिये निष्कामभावको हृदयमें दृढ़तासे धारण करना चाहिये; क्योंकि निष्कामभावसे की हुई थोड़ी-सी भी चेष्टा संसार-सागरसे उद्धार कर देती है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(२। ४०)

'इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं है। बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है।'

फिर जो नित्य-निरन्तर निष्कामभावसे क्रिया करनेके ही परायण हो जाय, उसके लिये तो कहना ही क्या है!

इसलिये मनुष्यको तृष्णा, इच्छा, स्पृहा, वासना, आसक्ति, ममता और अहंता आदिका सर्वथा त्याग करके जिससे लोगोंका परम हित हो, उसी काममें अपना तन, मन, धन लगा देना चाहिये।

स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्य, मान-बड़ाई आदि अपने पास रहते हुए भी उनकी वृद्धिकी इच्छा करनेको 'तृष्णा' कहते हैं। जैसे किसीके पास एक लाख रुपये हैं तो वह पाँच लाख होनेकी इच्छा करता है और पाँच लाख हो जानेपर उसे दस लाखकी इच्छा होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर इच्छाकी वृद्धिका नाम 'तृष्णा' है। इसी तरह मान, बड़ाई, पुत्र आदि अन्य चीजोंके सम्बन्धमें समझना चाहिये। यह तृष्णा बहुत ही खराब है, मनुष्यका पतन करनेवाली है।

स्त्री, पुत्र, ऐश्वर्यकी कमीकी पूर्तिके लिये जो कामना होती है, उसका नाम 'इच्छा' है। जैसे किसीके पास अन्य सब चीजें तो हैं पर पुत्र नहीं है तो उसके लिये जो मनमें कामना होती है, उसे 'इच्छा' कहते हैं।

पदार्थोंकी कमीकी पूर्तिकी इच्छा तो नहीं होती, पर जो बहुत आवश्यकतावाली वस्तुके लिये कामना होती है, जिसके बिना निर्वाह होना कठिन है, उसका नाम 'स्पृहा' है। जैसे कोई मनुष्य भूखसे पीड़ित है अथवा शीतसे कष्ट पा रहा है तो उसे जो अन्न अथवा वस्त्रकी विशेष आवश्यकता है और उसकी पूर्तिकी जो इच्छा है, उसको 'स्पृहा' कहते हैं।

जिसके मनमें ये तृष्णा, इच्छा, स्पृहा तो नहीं हैं, पर यह बात मनमें रहती है कि और तो किसी चीजकी

आवश्यकता नहीं है, पर जो वस्तुएँ प्राप्त हैं, वे बनी रहें और मेरा शरीर बना रहे, ऐसी इच्छाका नाम 'वासना' है।

उपर्युक्त कामनाओंमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तरवाली कामना सूक्ष्म और हलकी है तथा सूक्ष्म और हलकीका नाश होनेपर स्थूल और भारीका नाश उसके अन्तर्गत ही है। जिसमें उपर्युक्त तृष्णा, इच्छा, स्पृहा, वासना आदि किसी प्रकारकी भी कामना नहीं, वही निष्कामी है।

इन सम्पूर्ण कामनाओंकी जड़ आसक्ति है। शरीर, विषयभोग, स्त्री, पुत्र, धन, मकान, ऐश्वर्य, आराम, मान, कीर्ति आदिमें जो प्रीति—लगाव है, उसका नाम 'आसक्ति' है। शरीर और संसारके पदार्थोंमें 'यह मेरा है' ऐसा भाव होना ही 'ममता' है। इस आसक्ति और ममताका जिसमें अभाव है, वही परम विरक्त वैराग्यवान् पुरुष है। ममता और आसक्तिका मूल कारण है—अहंता। स्थूल, सूक्ष्म या कारण—किसी भी देहमें, जो कि अनात्मवस्तु है, इस प्रकार आत्माभिमान करना कि देह मैं हूँ—यह 'अहंता' है। इसके नाशसे सारे दोषोंका नाश हो जाता है अर्थात् समस्त दोषोंकी मूलभूत अहंताका नाश होनेपर आसक्ति, ममता आदि सभीका विनाश हो जाता है। अहंकारमूलक ये जितने भी दोष हैं, उन सबका मूल कारण है—अज्ञान (अविद्या)। वह अज्ञान हमलोगोंकी प्रत्येक क्रिया और सम्पूर्ण पदार्थोंमें पद-पदपर इतना व्यापक हो गया है कि हम उससे भूले हुए संसार-चक्रमें ही भटक रहे हैं। उस अज्ञानका नाश परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे होता है। परमात्माका वह यथार्थ ज्ञान होता है अन्तःकरणके शुद्ध होनेसे। हमलोगोंके अन्तःकरण राग-द्वेष आदि दुर्गुण और झूठ, कपट, चोरी आदि दुराचाररूप मलसे मलिन हो रहे हैं। इस मलको दूर करनेका उपाय है—ईश्वरकी उपासना या निष्कामकर्म।

हमलोगोंमें स्वार्थकी अधिकता होनेके कारण प्रत्येक कार्य करते समय पद-पदपर स्वार्थका भाव जाग्रत् हो जाता है। पर कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको ईश्वर, देवता, ऋषि, महात्मा, मनुष्य और किसी भी जंगम या स्थावर प्राणीसे अथवा जड पदार्थोंसे अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी इच्छा कभी नहीं रखनी चाहिये। जब-जब चित्तमें स्वार्थकी भावना आवे, तभी उसको तुरंत हटाकर उसके बदले हृदयमें इस भावकी जागृति पैदा करनी चाहिये कि सबका हित किस प्रकार हो। जैसे कोई अर्थका दास लोभी मनुष्य दूकान खोलनेसे लेकर दूकान बंद करनेके समयतक प्रत्येक काम करते हुए यही इच्छा और चेष्टा करता रहता है कि रुपया कैसे मिले, धनसंग्रह कैसे हो, इसी प्रकार कल्याणकामी पुरुषको प्रत्येक क्रियामें यह भावना रखनी चाहिये कि संसारका हित कैसे हो। जो मनुष्य अपने कल्याणकी भी इच्छा न रखकर अपना कर्तव्य समझकर लोकहितके लिये अपना तन, मन, धन लगा देता है, वही असली स्वार्थत्यागी निष्कामी श्रेष्ठ पुरुष है।

किंतु दुःखकी बात है कि स्वार्थके कारण हमलोग अज्ञानसे इतने अंधे हो रहे हैं कि निष्कामभावसे दूसरोंका हित करना तो दूर रहा, बल्कि दूसरोंसे अपना ही स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं और करते हैं। जितनी स्वार्थपरता इस समय देखनेमें आ रही है, उतनी तो इससे कुछ काल पूर्व भी नहीं थी। फिर द्वापर, त्रेता और सत्ययुगकी तो बात ही क्या! इस समय तो स्वार्थसिद्धिके लिये मनुष्य झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, विश्वासघात आदि करनेसे भी बाज नहीं आते तथा अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये ईश्वर और धर्मको भी छोड़ बैठते हैं। भला, ऐसी परिस्थितिमें मनुष्यका कल्याण कैसे हो सकता है!

जो दूसरेका हक (स्वत्व) है, उसमें स्वाभाविक ही ग्लानि होनी चाहिये। पर हमारी तो ग्लानि न होकर हर प्रकारसे उसे हड़पनेकी ही चेष्टा रहती है। यह बहुत बुरी आदत है। दूसरेके हकको सदा त्याज्यबुद्धिसे देखना चाहिये। उसे ग्रहण करना तो दूर रहा, पर-स्त्रीके स्पर्शकी तरह उसके स्पर्शको भी पाप समझना चाहिये। जो मनुष्य पर-स्त्री और पर-धनका अपहरण करते हैं या उनकी इच्छा करते हैं तथा पर-अपवाद करते हैं, उनका कल्याण कहाँ, उनके लिये तो नरकमें भी ठौर नहीं है।

आजकल व्यापारमें भी इतनी धोखेबाजी बढ़ गयी है कि हमलोग दूसरेका धन हड़पनेके लिये हर समय तैयार रहते हैं। इसको हम चोरी कहें या डकैती। कई आदमी जब अपना माल बेचते हैं तो वजन आदिमें कम देना चाहते हैं। पाट, सुपारी, रूई, ऊन आदि बिक्रीकी चीजोंको जलसे भिगोकर उसे भारी बना देते हैं तथा बेचते समय हरेक वस्तुको वजन, नाप और संख्यामें हर प्रकारसे कम देनेकी ही चेष्टा करते हैं; पर माल खरीदते समय स्वयं वजन, नाप और संख्यामें अधिक-से-अधिक लेनेकी चेष्टा करते हैं एवं बेचते समय नमूना दूसरा ही दिखलाते हैं चीज दूसरी ही देते हैं। एक चीजमें दूसरी चीज मिला देते हैं—जैसे घीमें बेजिटेबल, नारियलके तैलमें किरासिन, दालमें मिट्टी इत्यादि। इस प्रकार हर तरीकेसे धोखा देकर स्वार्थ-सिद्धि करते हुए अपना परलोक बिगाड़ते हैं। कोई-कोई तो व्यापारी, सरकार, रेलवे या मिलिटरीके किसी भी मालको उठानेका अवसर पाते हैं तो धोखा देनेकी चेष्टा करते हैं। उनसे माल खरीदते तो हैं थोड़ा और उनके

कर्मचारियोंसे मिलकर जितना माल खरीद करते हैं उससे बहुत अधिक माल उठा लेते हैं। यह सरासर चोरी है। यह बहुत अन्यायका काम है। इस अनर्थसे सर्वथा बचना चाहिये।

अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको अपनी समस्त क्रिया निष्काम- भावसे ही करनी चाहिये। ईश्वर-देवता, ऋषि-मुनि, साधु-महात्माओंका पूजा-सत्कार तथा यज्ञ-दान, जप-तप, तीर्थ-व्रत, अनुष्ठान एवं पूजनीय पुरुष और दुःखी, अनाथ, आतुर प्राणियोंकी सेवा आदि कोई भी धार्मिक कार्य हो, उसे कर्तव्य समझकर ममता, आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर निष्कामभावसे करना चाहिये, किसी प्रकारकी कामनाकी सिद्धिके लिये या संकट-निवारणके लिये नहीं। यदि कहीं लोक-मर्यादामें बाधा आती हो तो राग-द्वेषसे रहित होकर लोक-संग्रहके लिये काम्य-कर्म कर लें तो वह सकाम नहीं है।

उपर्युक्त धार्मिक कार्योंको करनेके पूर्व ऐसी इच्छा करना कि अमुक कामनाकी सिद्धि होनेपर अमुक अनुष्ठानादि कार्य करेंगे तो उसकी अपेक्षा वह अच्छा है जो उन धार्मिक कार्योंके करनेके समय ही इच्छित कामनाका उद्देश्य रखकर करता है और उससे वह श्रेष्ठ है जो धार्मिक कार्योंको सम्पादन करनेके बाद उक्त ईश्वर, देवता, महात्मा आदिसे प्रार्थना करता है कि मेरा यह कार्य सिद्ध करें तथा उसकी अपेक्षा वह श्रेष्ठ है कि जो किसी कामनाकी सिद्धिका उद्देश्य लेकर तो नहीं करता पर कोई आपत्ति आनेपर उसके निवारणके लिये उससे कामना कर लेता है। इसकी अपेक्षा भी वह श्रेष्ठ है जो आत्माके कल्याणके लिये धार्मिक अनुष्ठानादि करता है और वह तो सबसे श्रेष्ठ है जो केवल निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर करता है तथा बिना माँगे भी वे कोई पदार्थ दें तो लेता नहीं। हाँ, यदि केवल किसीकी प्रसन्नताके लिये राग-द्वेषसे शून्य होकर लेना पड़े तो उसमें कोई दोष नहीं है।

इसी प्रकार जड पदार्थोंसे भी कभी कोई स्वार्थसिद्धिकी कामना नहीं करनी चाहिये। जैसे बीमारीकी निवृत्तिके लिये शास्त्रविहित औषध, क्षुधाकी निवृत्तिके लिये अन्न, प्यासकी निवृत्तिके लिये जल और शीतकी निवृत्तिके लिये वस्त्र आदिका सेवन करनेमें अनुकूलता-प्रतिकूलता होनी स्वाभाविक है, पर उनमें भी राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे शून्य होकर निष्कामभावसे ही उनका सेवन करना चाहिये। यदि कहीं अनुकूलतामें प्रीति और हर्ष तथा प्रतिकूलतामें द्वेष और शोक उत्पन्न हों तो समझना चाहिये कि उसके अंदर छिपी हुई कामना है।

किसी प्रकार भी किसीकी कभी सेवा स्वीकार नहीं करनी चाहिये; अपितु अपनेसे बने जहाँतक तन, मन, धन आदि पदार्थोंसे दूसरोंकी सेवा करना उचित है; किंतु किसीसे सेवा करानी तो कभी नहीं चाहिये। यदि रोगग्रस्त-अवस्था आदि आपत्तिकालके समय स्त्री, पुत्र, नौकर, मित्र, बन्धु-बान्धव आदिसे सेवा न करानेपर उनको दुःख हो तो ऐसी हालतमें उनके सन्तोषके लिये कम-से-कम सेवा करा लेना भी कोई सकाम नहीं है।

लोग दहेज लेनेके समय अधिक-से-अधिक लेनेकी चेष्टा करते हैं और यदि देनेवाले इच्छानुसार दहेज नहीं देते तो उनका सम्बन्ध-त्याग कर देते हैं। एक प्रकारसे देखा जाय तो दहेज एक प्रतिग्रह ही है। उसे प्रतिग्रह समझकर अधिक-से-अधिक उसका त्याग करना चाहिये। दहेज आदि देनेकी इच्छा तो रखनी चाहिये; पर लेनेकी नहीं। जहाँ किसीसे न लेनेमें वह नाराज हो तो उसके सन्तोषके लिये कम-से-कम स्वीकार करनेमें कोई सकामता नहीं है।

इसी प्रकार किसी भी संस्था या व्यक्तिसे कभी किसी भी प्रकार कुछ भी नहीं लेना चाहिये। यदि लेना ही पड़े तो लेनेसे पूर्व, लेते समय या लेनेके बाद उसके बदलेमें जितनी चीज उससे ली हो, उससे अधिक मूल्यकी चीज किसी भी प्रकार देनेकी चेष्टा रखनी चाहिये।

पूर्वके जमानेमें ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासीकी तो बात ही क्या, गृहस्थीको भी किसी चीजके लिये किसीसे याचना नहीं करनी पड़ती थी; बिना ही माँगे खर्च, विवाह आदिके अवसरोंपर मित्र, बन्धु-बान्धव, सगे-सम्बन्धी लोग आवश्यकतानुसार चीजें पहुँचा दिया करते थे और इसमें वे अपना अहोभाग्य समझते थे। यदि उनके पास कोई चीज नहीं होती तो वे दूसरे जान-पहचानवालोंसे लेकर भेज देते थे। इससे किसीको भी अपने लिये याचना नहीं करनी पड़ती थी। इसमें स्वार्थका त्याग ही प्रधान कारण है।

इसलिये हमलोग भी सबके साथ निःस्वार्थभावसे उदारतापूर्वक त्यागका व्यवहार करें तो हमारे लिये आज भी सत्ययुग मौजूद है अर्थात् पूर्वकालकी भाँति हमारा भी काम बिना याचनाके चल सकता है। अतः हमको किसी चीजकी याचना नहीं करनी चाहिये और बिना याचना किये ही कोई दे जाय—ऐसी इच्छा या आशा भी नहीं रखनी चाहिये तथा ऐसी इच्छा न रहते हुए भी यदि कोई दे जाय तो उसको रख लेनेकी इच्छा भी कामना ही है। इस प्रकारकी कामना न रहते हुए भी कोई आग्रहपूर्वक दे जाय तो उसे स्वीकार करते समय जो चित्तमें स्वार्थको लेकर प्रसन्नता होती है, वह भी छिपी हुई कामना ही है।

इसलिये भारी-से-भारी आपत्ति पड़नेपर भी अपने व्यक्तिगत स्वार्थकी सिद्धिके लिये दूसरेकी सेवा और स्वत्वको स्वीकार नहीं करना चाहिये, अपने निश्चयपर डटे रहना चाहिये। धैर्यका कभी त्याग नहीं करना चाहिये, चाहे प्राण भी क्यों न चले जायँ, फिर इज्जत और शारीरिक कष्टकी तो बात ही क्या है! किंतु हमलोगोंमें इतनी कमजोरी आ गयी कि थोड़ा-सा भी कष्ट प्राप्त होनेपर अपने निश्चयसे विचलित हो जाते हैं। कामनाकी तो बात ही क्या, साधारणसे कार्यके लिये ही याचनातक कर बैठते हैं। ऐसी हालतमें निष्काम कर्मकी सिद्धि कैसे सम्भव है!

याद रखना चाहिये कि ब्रह्मचारी और संन्यासी भिक्षाके लिये भोजनकी याचना करें तो वह याचना उनके लिये सकाम नहीं है। ब्रह्मचारी तो गुरुके लिये ही भिक्षा माँगता है और गुरु उस लायी हुई भिक्षामेंसे जो कुछ उसे दे देता है, उसे ही वह प्रसाद समझकर पा लेता है तथा संन्यासी अपने और गुरुके लिये अथवा गुरु न हों तो केवल अपने लिये भी भिक्षा माँग सकता है; क्योंकि भिक्षा माँगना उनका धर्म बतलाया गया है और यदि कोई बिना माँगे भिक्षा दे देता है तो स्वीकार करना उनके लिये अमृतके तुल्य है। इस प्रकार माँगकर लायी हुई और बिना माँगे स्वतः प्राप्त हुई भिक्षा भी राग-द्वेषसे रहित होकर ही लेनी चाहिये।

जहाँ विशेष आदर-सत्कार, पूजाभावसे भिक्षा मिलती हो, वहाँ भिक्षा नहीं लेनी चाहिये; क्योंकि वहाँ भिक्षा लेनेसे अभिमानके बढ़नेकी गुंजाइश है तथा जहाँ अनादरसे भिक्षा दी जाती हो, वहाँ भी नहीं लेनी चाहिये; क्योंकि वहाँ दाता क्लेशपूर्वक देता है। अतः वह ग्राह्य नहीं है। इसलिये मान-अपमान और निन्दा-स्तुतिसे तथा भोजनमें यह बुरा है, यह भला है—इस प्रकार अनुकूलमें राग और प्रतिकूलमें द्वेषसे शून्य होकर प्राप्त की हुई भिक्षा अमृतके समान है। इसमें भी जो पदार्थ शास्त्रके विपरीत हों, उनका त्याग कर देना चाहिये। जैसे कोई मदिरा, मांस, अंडे, लहसुन, प्याज आदि भिक्षामें दे तो उन्हें शास्त्रनिषिद्ध समझकर उनका त्याग करना ही उचित है। एवं कोई घी, दूध, मेवा, मिष्टान्न देता है तो शास्त्र और स्वास्थ्यके अनुकूल होते हुए भी वैराग्यके कारण मनके विपरीत लगनेवाली इन चीजोंका त्याग करना भी कोई दोष नहीं है। ब्रह्मचारी और संन्यासीको विशेष आवश्यकता पड़नेपर कौपीन, कमण्डलु और शीत-निवारणार्थ वस्त्रकी याचना करनेमें भी कोई दोष नहीं है।

वानप्रस्थीके लिये तप, अनुष्ठान आदि, ब्राह्मणके लिये यज्ञ कराना, विद्या पढ़ाना आदि; क्षत्रियके लिये प्रजाकी रक्षा और न्यायसे प्राप्त युद्ध* आदि; वैश्यके लिये कृषि, वाणिज्य आदि तथा स्त्रियों और शूद्रोंके लिये सेवा-शुश्रूषा आदि सभी जो शास्त्रविहित कर्म हैं, उनके सम्पन्न होने या न होनेमें तथा उनके फलमें राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे रहित होकर उनका निष्कामभावसे आचरण करना चाहिये। यदि कहीं उनकी सिद्धिसे प्रीति या हर्ष और असिद्धिसे द्वेष या शोक होते हैं तो समझना चाहिये की उसके अंदर छिपी हुई कामना विद्यमान है।

इसलिये मनुष्यको सम्पूर्ण कामना, आसक्ति, ममता और अहंकारको त्यागकर केवल लोकोपकारके उद्देश्यसे निष्कामभावपूर्वक शास्त्रविहित समस्त कर्मोंका कर्तव्य-बुद्धिसे आचरण करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे उसमें दुर्गुण-दुराचारोंका अत्यन्त अभाव होकर स्वाभाविक ही विवेक-वैराग्य, श्रद्धा-विश्वास, शम-दम आदि सद्‍गुणोंकी वृद्धि हो जाती है तथा उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसमें इतनी निर्भयता आ जाती है कि भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी वह किसी प्रकार कभी विचलित नहीं होता, अपितु धीरता, वीरता, गम्भीरताका असीम सागर बन जाता है एवं परम शान्ति और परम आनन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

सत्संगके अमृत-कण

भगवान्‌की और महापुरुषोंकी दया अपार है। वह माननेसे ही समझमें आती है। ईश्वरसे कोई जगह खाली नहीं है और महात्माओंका संसारमें अभाव नहीं है। कमी है तो हमारे माननेकी है, वे तो प्राप्त ही हैं। न माननेसे वे प्राप्त भी अप्राप्त हैं। घरमें पारस पड़ा है, परन्तु न माननेसे वह भी अप्राप्त ही है। भगवान्‌की दया और प्रेम अपार हैं। उन्हें न माननेसे ही वे अप्राप्त हो रहे हैं, मान लिये जायँ तो प्राप्त ही हैं। किसी दयालु पुरुषसे कहा जाय कि आप हमारे ऊपर दया करें तो इसका मतलब यह होगा कि वह दयालु नहीं है। इसपर वह

* श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ (२। ३८)
'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर, उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा; इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

दयालु पुरुष समझता है कि यह बेचारा भोला है, नहीं तो मुझसे यह कैसे कहता कि दया करो। भगवान् और महापुरुष दोनोंके लक्षणोंमें यह बात आती है कि वे सबके मित्र और सुहृद् होते हैं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(५। २९)

'मुझको सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर मनुष्य शान्तिको प्राप्त होता है।'

× × ×

वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा सदा-सर्वदा सब जगह प्रत्यक्ष मौजूद है, किन्तु इस प्रकार प्रत्यक्ष होते हुए भी हमारे न माननेके कारण वह अप्राप्त है। सच्चिदानन्दघन परमात्माका कहीं कभी अभाव नहीं है। इस प्रकार न मानना ही अज्ञान है और इस अज्ञानको दूर करनेके लिये प्रयत्न करना ही परम पुरुषार्थ है। हमें इस अज्ञानको ही दूर करना है। इसके सिवा और किसी रूपमें हमें परमात्माकी प्राप्ति नहीं करनी है। परमात्मा तो नित्य प्राप्त ही है। उस प्राप्त हुए परमात्माकी ही प्राप्ति करनी है, अप्राप्तकी प्राप्ति नहीं करनी है, वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा सदा-सर्वदा सबको प्राप्त है। यह दृढ़ निश्चय करना ही परमात्माको प्राप्त करना है। इस प्रकारका निश्चय हो जानेपर परम शान्ति और परम पदकी प्राप्ति सदाके लिये प्रत्यक्ष हो जाती है। यदि न हो, तो उसकी मान्यतामें कमी है।

इस प्रकारके तत्त्व-रहस्यको बतलानेवाले महात्मा भी संसारमें हैं; किन्तु हैं लाखों-करोड़ोंमें कोई एक। जो हैं, उनका प्राप्त होना दुर्लभ है और प्राप्त होनेपर भी उनका पहचानना कठिन है। उनको जान लेनेपर तो परमानन्द और परम शान्तिकी प्राप्ति सदाके लिये हो जाती है। यदि ऐसा न हो तो समझना चाहिये कि उसके माननेमें ही कमी है।

साधनसम्बन्धी प्रश्नोत्तर

कुछ भाइयोंने साधनके सम्बन्धमें कई प्रश्न किये हैं, उनको जो उत्तर दिये गये, वे सभीके लिये उपयोगी होनेसे प्रश्नोत्तरके रूपमें यहाँ दिये जा रहे हैं—

प्रश्न—हमलोग शयनके समय, मनमें जो एक सांसारिक वातावरणका प्रवाह चल पड़ता है, उसे हटाकर भगवान्के गुण, प्रभाव और लीलाके सहित उनके स्वरूपका चिन्तन करनेका ध्येय बनाते हैं; किंतु प्रथम तो शयनके समय उसकी स्मृति ही नहीं होती और यदि कभी होती है तो वही पूर्वका प्रवाह बलात् चल पड़ता है, यह क्यों होता है और इसके सुधारका क्या उपाय है?

उत्तर—यह संसारका चिन्तन करनेका जन्म-जन्मान्तरका अभ्यास है तथा सांसारिक पदार्थोंमें आसक्ति होनेके कारण उनमें प्रीति हो रही है। यही कारण है कि प्रयत्न करनेपर भी बलात् बार-बार संसारके चिन्तनका ही प्रवाह बन जाता है। जैसे सायंकालके समय मनुष्य बार-बार यह निश्चय कर लेता है कि सुबह चार बजे उठकर शौच-स्नान नित्यकर्म करना है; पर प्रथम तो चार बजे नींद नहीं टूटती और यदि टूट जाती है तो उठनेका मन नहीं करता, आलस्य और आसक्तिके कारण लेटनेमें ही मन रहता है; क्योंकि उसमें सुखबुद्धि है; किंतु शौच-स्नान, नित्यकर्म प्रातःकाल करनेकी सब प्रकारसे बहुत लाभकी चीज है तथा स्वास्थ्य और साधन दोनोंके लिये अत्यन्त लाभप्रद है, ऐसा विवेक और बुद्धिके द्वारा विचारपूर्वक दृढ़ निश्चय करके लोग जल्दी उठ जाते हैं; इसी प्रकार शयनके समयमें विचारद्वारा मनको समझाया जाय और बुद्धिके निश्चयपर जोर डाला जाय कि यह संसारका चिन्तन हानिकर है और भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीलाका चिन्तन बहुत लाभदायक है तथा बार-बार प्रयत्न किया जाय तो यह शयन-समयका अभ्यास भी सुधर सकता है।

प्रश्न—प्रातः और सायंकाल सन्ध्या-गायत्री, पूजा-पाठ, जप-ध्यान और स्वाध्याय आदि नित्यकर्म करते समय आलस्य और चित्तकी चंचलताके कारण उस खास साधनके समय भी हम उच्चकोटिका साधन नहीं कर पाते। यदि उपर्युक्त साधनका सुधार किया जाय तो वह हजारोंगुना अधिक लाभप्रद हो सकता है, ऐसा हम पढ़ते, सुनते और समझते हैं तथा चेष्टा भी करते हैं, तब भी सुधार नहीं होता। इसमें क्या हेतु है और इसके सुधरनेका क्या उपाय है?

उत्तर—ईश्वरमें अनन्य श्रद्धा-प्रेमकी और तीव्र अभ्यासकी कमी तथा विषय-भोगोंकी आसक्ति ही उच्चकोटिका साधन न होनेमें प्रधान कारण है।

भगवन्नाम और गायत्रीजपके विषयमें शास्त्रोंमें ऐसा बतलाया है कि उच्चारण करके किये हुए जपकी अपेक्षा उपांशु दसगुना श्रेष्ठ है और उपांशुसे मानसिक दसगुना

श्रेष्ठ है।* इस प्रकारका जप श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अर्थसहित निष्कामभावसे किया जाय तो वह अनन्तगुना श्रेष्ठ हो जाता है। इसी प्रकार सन्ध्या-वन्दन, पूजा-पाठ, स्वाध्याय आदि सारा नित्यकर्म उसके तत्त्व-रहस्यको समझते हुए श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अर्थसहित निष्कामभावसे किया जाय तो हमारा सभी नित्यकर्म अनन्तगुना हो सकता है। इसलिये इस विषयमें हमको दृढ़ विश्वास करके विवेक और विचारके द्वारा उसके तत्त्व-रहस्यको समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक वैराग्ययुक्त चित्तसे बड़े जोरके साथ निष्कामभावसे तीव्र अभ्यास करना चाहिये तथा साधन उच्चकोटिका बने, इसके लिये परमेश्वरसे स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये; क्योंकि साधारण प्रयत्नसे इसका सुधार होना सम्भव नहीं।

प्रश्न—कल्याणकामी पुरुष चलते, उठते-बैठते, खाते-पीते—सभी समय निरन्तर भगवान्‌का स्मरण रखते हुए ही सब काम करना चाहता है तथा कुछ चेष्टा भी करता है पर ऐसा बनता नहीं, इसका क्या कारण है? तथा इसके लिये क्या उपाय करना चाहिये?

उत्तर—परमेश्वरमें श्रद्धा-प्रेम और साधनके अभ्यासकी कमी ही इसका प्रधान कारण है। यदि ईश्वरमें श्रद्धा-प्रेम करके तीव्र अभ्यास किया जाय तो यह दोष सहज ही दूर हो सकता है। जैसे नटनीका रुपयोंमें प्रेम है, इसलिये वह बाँसपर चढ़कर एक बाँससे दूसरे बाँसपर जानेके लिये उनके बीचमें बँधे हुए रस्सेपर गाती-बजाती हुई चलती है, किंतु उसका निरन्तर अपने पैरोंमें ध्यान रहता है; क्योंकि यदि निरन्तर पैरोंमें ध्यान न रहे तो उसका रस्सेपरसे गिर पड़ना सम्भव है। इस प्रकार नटनीका जितना प्रेम रुपयोंमें है, उतना भी प्रेम हमारा भगवान्‌में हो तो ईश्वरका निरन्तर स्मरण रहते हुए कोई भी काम होनेमें बाधा नहीं आ सकती। अतः इससे यही सिद्ध होता है कि हमारे श्रद्धा-प्रेम और अभ्यासकी कमी है। नटनी भी अभ्यास करते-करते बहुत समयके बाद उपर्युक्त सफलता प्राप्त करती है, एक दिनमें नहीं। इसलिये जैसे नटनी निरन्तर अपने पैरोंमें ध्यान रखती है, वैसे ही हम निरन्तर परमेश्वरका स्मरण रखें और जैसे नटनी गाती-बजाती है, वैसे ही हम संसारका सब काम करें तो हम भी अपने कार्यमें सफल हो सकते हैं।

दूसरी बात यह है कि यह काम यदि असम्भव होता तो भगवान् कभी गीतामें यह नहीं कहते कि—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
(८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर।'

इससे यह सिद्ध होता है कि यह असम्भव नहीं है। अतः नटनीकी तरह हमलोगोंको भी श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निरन्तर अभ्यास करनेके लिये तत्पर होना चाहिये।

प्रश्न—हमलोग बहुत बार तो संसारका ऐसा व्यर्थ चिन्तन करते रहते हैं कि जिसमें न तो स्वार्थकी सिद्धि है और न परमार्थकी ही। इस बातको समझते हुए और उस व्यर्थ चिन्तनके त्यागका प्रयत्न करनेपर भी उसे छोड़ नहीं सकते, इसका क्या कारण है और इसके लिये क्या उपाय करना चाहिये?

उत्तर—अज्ञानके कारण संसारके पदार्थोंमें मनको सुख प्रतीत होता है तथा उनके चिन्तनकी अनादिकालसे आदत पड़ी हुई है, इसीसे उनमें आसक्ति हो गयी है और इसके विपरीत, ईश्वरमें श्रद्धा-प्रेमकी कमी है तथा उनके चिन्तनका जोरदार अभ्यास भी नहीं है; यही कारण है जो कि प्रयत्न करनेपर भी हमलोग इस कार्यमें सफल नहीं होते।

अतः संसारके पदार्थोंको क्षणभंगुर, नाशवान्, दुःखरूप और महान् हानिकर समझकर उनसे तीव्र वैराग्य करना चाहिये तथा परम शान्ति और परम आनन्दस्वरूप परमात्माके नित्य-निरन्तर स्मरणका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक दृढ़ अभ्यास करना चाहिये एवं इस अभ्यासके सिद्ध होनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये। इस प्रकार करनेसे संसारके व्यर्थ चिन्तनकी आदत छूटकर हम कृतकार्य हो सकते हैं।

प्रश्न—हमलोग समझते हैं कि सेलटैक्स और इन्कमटैक्सकी चोरी करना, चोरबाजारी करना, घूस लेना तथा और भी अनेक तरहसे झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी करके धन पैदा करना इस लोक और परलोकमें सब प्रकारसे भयानक है, फिर भी ये हमसे छूटते नहीं, इसका क्या कारण है?

उत्तर—धनमें और धनसे मिलनेवाले सुखमें आसक्ति है, इसी कारण ये दोष नहीं छूटते। इसके सिवा लोग इनको

* मनुजीने कहा है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः। उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥ (२।८५)

'दर्शपौर्णमासादि विधियज्ञोंसे साधारण जोर-जोरसे किया जानेवाला जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है, उपांशु (होठ और जिह्वाके हिलनेपर भी दूसरेको सुनायी न पड़े—इस प्रकार किया जानेवाला) जप सौगुना श्रेष्ठ है तथा मानसजप हजारगुना श्रेष्ठ है।'

बुरा कहते ही हैं, वास्तवमें समझते नहीं। कोई भी मनुष्य जान-बूझकर अपने-आपका नुकसान नहीं कर सकता। वास्तवमें जब हम समझ लेंगे कि धन क्षणिक और नाशवान् है, इसके साथ हमारा जो सम्बन्ध है, वह क्षणिक है और परलोकमें तो वस्तुतः इसके साथ सम्बन्ध ही नहीं है; तथा यह किसी भी प्रकार हमारे साथ जानेकी वस्तु नहीं, अतः इसके संग्रहके लिये हम जो नाना प्रकारके पाप करते हैं, उनका दण्ड हमलोगोंको अवश्य ही मिलेगा, उससे यह लोक नष्ट होगा, इतना ही नहीं, परलोक भी महान् दुःखदायी और भयदायक हो जायगा। ऐसा निश्चय और विश्वास होनेपर फिर हमसे कोई भी पाप नहीं बन सकते।

प्रश्न—हम यह समझते हैं कि परस्त्रीका दर्शन, भाषण, चिन्तन, एकान्तवास शारीरिक और धार्मिक सभी दृष्टियोंसे सर्वथा भयानक है; इसमें लज्जा, मान, धर्म और शरीरकी प्रत्यक्ष हानि है, अतः इस लोक और परलोकमें महान् हानिकर है, ऐसा विवेक-विचारसे समझते हुए भी हम अपने मन-इन्द्रियोंको उस पापसे रोक नहीं सकते, इसका क्या कारण है?

उत्तर—अज्ञानके कारण उनमें सुख-बुद्धि हो रही है, इसीलिये उनमें आसक्ति है। इसी कारण हम मन-इन्द्रियोंको उस पापसे रोक नहीं सकते। अतः मनको पुनः बार-बार समझाना चाहिये कि यह सब क्षणभंगुर, नाशवान्, दुःखरूप, अपवित्र, घृणित, पापमय और त्याज्य है। इस प्रकार समझाकर नित्य-विज्ञानानन्दघन परमेश्वरमें प्रीति होनेके लिये उनके नामका जप, स्वरूपका चिन्तन तथा स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। ऐसा करनेपर भगवत्कृपासे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर यानी अज्ञानके कारण होनेवाली सुखबुद्धि और आसक्तिका नाश होकर विषयोंमें तीव्र वैराग्य और भगवान्में अनन्य प्रेम हो जाता है, फिर उस पुरुषसे कामविषयक दोष भी नहीं बन सकते। श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

बसहिं भगति मनि जेहि उर माहीं।
खल कामादि निकट नहिं जाहीं॥

प्रश्न—मान, बड़ाई और पूजा-प्रतिष्ठा आदि परमात्माकी प्राप्तिमें महान् बाधक हैं, यह बात शास्त्रोंमें पढ़ते हैं, अच्छे पुरुषोंसे सुनते हैं, विवेकसे समझते हैं तथा विचारके द्वारा इनको हटानेकी चेष्टा भी की जाती है, फिर भी ये दोष नहीं हटते और प्राप्त होनेपर जबरन् उनमें फँसावट हो जाती है, इसका क्या कारण है और इनको हटानेका उपाय क्या है?

उत्तर—ये दोष परमात्माकी प्राप्तिमें महान् बाधक हैं, ऐसी न तो वास्तवमें हमलोगोंकी समझ ही है और न हमारा इनको हटानेका प्रबल प्रयत्न ही है। इन दोषोंके न हटनेमें प्रधान कारण है देहके नाम, रूप आदिमें अभिमान, जो कि सर्वथा अज्ञानमूलक है। देहका ही मान और पूजा-सत्कार होता है तथा देहके नामको लेकर ही कीर्ति होती है, अतः देहको आत्मा माननेके कारण ही देहकी मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठाको मनुष्य अपनी ही मान लेता है और इस अज्ञानके कारण ही उनमें सुखबुद्धि होकर आसक्ति हो जाती है। इसलिये साधारण विवेक और प्रयत्नके द्वारा ये दोष दूर होने संभव नहीं हैं। इस देहाभिमानको हटानेके लिये विचारपूर्वक सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय और सत्पुरुषोंका संग करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे जब परमात्माका यथार्थ ज्ञान होकर देहाभिमानका नाश हो जायगा, तब उपर्युक्त सारे दोष अपने-आप ही मिट जायँगे।

प्रश्न—शास्त्रोंने और महापुरुषोंने व्यक्तिगत स्वार्थको बहुत बुरा बतलाया है तथा विचारके द्वारा हम भी बुरा समझते हैं; किंतु शरीरके आराम और भोगोंमें प्रत्यक्ष सुख प्रतीत होनेके कारण हम इसका सर्वथा त्याग नहीं कर पाते। हमलोगोंकी स्वाभाविक ही स्वार्थमें सुखबुद्धि होनेके कारण दूसरोंका अनिष्ट करके भी अपने स्वार्थसाधनकी प्रवृत्ति हो जाती है, इसका क्या कारण है तथा इसको दूर करनेका उपाय क्या है?

उत्तर—इसमें भी अज्ञानमूलक देहाभिमान और आसक्ति ही प्रधान कारण है। इसी कारण अपने देहमें अहंबुद्धि और दूसरोंमें पर-बुद्धि होती है और इसीसे अपनेमें राग और दूसरोंमें द्वेषबुद्धि हो जाती है। यह राग-द्वेष ही समस्त दोषोंकी जड़ है और इसीके कारण हम व्यक्तिगत स्वार्थका त्याग नहीं कर पाते। इस अज्ञानमूलक देहाभिमानको और राग-द्वेषको दूर करनेके लिये सत्-शास्त्रोंका विचार, सत्पुरुषोंका संग और निष्कामभावसे जगज्जनार्दनकी सेवा करते हुए परमेश्वरकी ऐकान्तिक भक्ति एवं स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। इस प्रकार करनेपर भगवत्कृपासे उपर्युक्त राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि सम्पूर्ण दोषोंका मूलसहित अत्यन्त अभाव होकर सबमें समबुद्धि हो जाती है, जो कि परम कल्याणदायिनी है।

प्रश्न—यदि कोई कह दे कि शायद इस भोजनमें विष मिला है तो फिर उसमें विष मिला हो चाहे न मिला हो, पर संदेह हो जानेपर हम उसको किसी भी हालतमें खाना नहीं चाहते; किंतु संसारके विषयभोगोंके विषयमें हम बार-बार सुनते हैं कि ये विषके तुल्य हैं, शास्त्रोंमें भी पढ़ते हैं और महापुरुषोंसे भी सुनते हैं, फिर भी उनका त्याग नहीं कर सकते, इसका क्या कारण है?

उत्तर—अज्ञानके कारण सदासे विषयोंमें प्रत्यक्ष सुख प्रतीत हो रहा है, इससे उनमें आसक्ति है। जिस प्रकार रोगीको वैद्य समझा देता है कि यह कुपथ्य है, इसका सेवन नहीं करना चाहिये। पर वह आसक्तिवश कुपथ्यको छोड़ नहीं सकता, वैसे ही मनुष्य आसक्तिके कारण विषयोंका त्याग नहीं कर सकता। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार विषका कुपरिणाम तुरंत हो जाता है, उसी प्रकार विषयोंके सेवनका कुपरिणाम तुरंत न होकर विलम्बसे होता है, इसलिये उनके विषयुक्त होने-न-होनेमें संदेह रहता है। इसी कारण बार-बार सुननेपर भी उनका त्याग होना कठिन-सा हो रहा है; किंतु विवेक और विचारसे दृढ़ निश्चयपूर्वक मनको बार-बार समझानेसे तथा विरक्त महापुरुषोंके संगके प्रभावसे विषयोंसे वैराग्य होकर उनका त्याग हो सकता है।

प्रश्न—जब कि विषयोंके सेवनकी अनादिकालसे आदत पड़ी हुई है तो ऐसी हालतमें उनका त्याग कैसे हो सकता है?

उत्तर—जैसे एक या दो सालका बच्चा टट्टी-पेशाबमें हाथ दे देता है और वही हाथ अज्ञानके कारण मुँहमें भी डाल लेता है; किंतु समझदार पुरुष उस पदार्थमें उसे दोष दिखलाकर, उसे बार-बार बुरा बतलाकर उससे घृणा कराते हैं और उसके लिये निषेध करते रहते हैं, इससे विवेक होनेपर उस बालककी यह लड़कपनकी आदत भी दूर हो जाती है। इसी प्रकार विषयोंको बुरी दृष्टिसे देखनेवाले विरक्त पुरुषोंके बार-बार समझाने तथा निषेध करनेपर उनके प्रभावसे उन विषयोंमें वैराग्य होकर उनका त्याग हो सकता है।

प्रश्न—झूठ, कपट, चोरी, हिंसा, व्यभिचार, मांस-भक्षण, मद्य और मादक वस्तुका पान, जुआ आदि दुराचार और काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, ममता-अहंकार, राग-द्वेष, अज्ञान आदि दुर्गुण सर्वथा हानिकर और त्याज्य हैं तथा यज्ञ, दान, तप, सेवा, तीर्थ, व्रत, उपवास, परोपकार आदि सदाचार और क्षमा, दया, सन्तोष, समता, शान्ति, धीरता, गम्भीरता, शूरवीरता, ज्ञान, वैराग्य, श्रद्धा, प्रेम आदि उत्तम गुण (सद्गुण) सर्वथा लाभप्रद और सेवन करनेयोग्य हैं। इस प्रकार शास्त्र और महापुरुष कहते हैं तथा विचारसे हम भी ऐसा ही मानते हैं और दुर्गुण-दुराचारके त्यागके लिये तथा सद्गुण-सदाचारके ग्रहणके लिये प्रयत्न भी करते हैं, किंतु सफल नहीं होते, इसका क्या कारण है तथा इसके लिये क्या करना चाहिये?

उत्तर—ईश्वर, शास्त्र, महापुरुष, परलोक, अपनी आत्मा तथा शुभ-अशुभ कर्मोंके फलमें विश्वासकी कमीके कारण ही हमारी मान्यता संदेहपूर्ण और कमजोर है तथा हमारा प्रयत्न भी शिथिल है। यही कारण है जो कि हम त्यागनेयोग्य वस्तुओंको त्याग नहीं सकते और ग्रहण करनेयोग्यको ग्रहण नहीं कर सकते। वास्तवमें हम यदि त्यागनेयोग्यको अत्यन्त हानिकर समझ लें तो हमसे न तो कोई भी बुराई हो सकती है और न हमारे हृदयमें कोई बुरा भाव ही टिक सकता है। इसी प्रकार वास्तवमें यदि हम ग्रहण करनेयोग्यको अत्यन्त लाभप्रद मान लें तो फिर सद्गुणको और सद्भावको ग्रहण किये बिना हम कैसे रह सकते हैं?

अतः ईश्वर, शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंमें, परलोकमें, अपने आत्मामें तथा शुभ-अशुभ कर्मोंके फलमें पूर्ण विश्वास करना चाहिये। मरनेके बाद देहके नाश होनेसे आत्माका कभी नाश नहीं होता '**न हन्यते हन्यमाने शरीरे**' (गीता २। २०) एवं किये हुए कर्मोंका फल अवश्यमेव ही होता है, ऐसा दृढ़ विश्वास होनेपर हमारे प्रयत्नकी शिथिलता दूर होकर साधन तीव्र हो सकता है; किंतु ऐसा दृढ़ विश्वास सत्-शास्त्र और सत्पुरुषोंका संग करनेसे, उनकी कृपासे अन्तःकरण शुद्ध होनेपर ही होता है। इसलिये अन्तःकरणके मल, विक्षेप, आवरण आदि सारे दोषोंके नाशके लिये सत्पुरुषोंका संग करना चाहिये और उनकी आज्ञाके अनुसार भगवान्‌के अनन्यशरण होकर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌का भजन-ध्यान, स्तुति-प्रार्थना आदि करते हुए उनकी एकनिष्ठ भक्ति करनी चाहिये। इस प्रकार करनेसे हममें स्वाभाविक ही सदाचार-सद्गुण आ सकते हैं और शीघ्र ही हम परम आनन्द और परम शान्तिस्वरूप विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो सकते हैं। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

प्रश्न—ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, न्यायकारी, सर्वेश्वर, परम दयालु और सबके परम सुहृद् हैं—यह सब शास्त्र और महापुरुष कहते हैं तथा विचारके द्वारा हम भी

मानते हैं; फिर भी हमलोगोंके द्वारा उन नित्य-ज्ञान-आनन्दस्वरूप परमात्मामें प्रेम और उनकी आज्ञाके पालन न होनेमें क्या हेतु है?

उत्तर—उन परमात्मामें श्रद्धाकी कमी ही प्रधान कारण है। इसी कारण हम संशययुक्त होकर ईश्वरके अस्तित्वको भी कथनमात्र ही मानते हैं। जब हम ईश्वरका अस्तित्व ही शंकारहित और पूर्णतया नहीं मानते तब फिर उनके उपर्युक्त गुणोंमें विश्वास होनेकी तो बात ही क्या है! किंतु जो ईश्वरके अस्तित्वको मानते हैं और उनके गुणोंमें विश्वास करते हैं, वे उनकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सकते। जब कि मनुष्य किसी एक साधारण राजाके राज्यमें निवास करता हुआ राज-सत्ताको माननेके कारण राज्यके कर्मचारियोंके सामने भी उनके विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकता; बल्कि अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये राजाको प्रसन्न करनेकी ही सारी चेष्टा करता है; फिर भला बताइये, ईश्वरको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, न्यायकारी और सर्वेश्वर समझनेवाला पुरुष उनके देखते हुए उनके कानूनके विरुद्ध झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि कर ही कैसे सकता है? बल्कि वह तो उनको परम प्रसन्न करनेके लिये उनकी आज्ञाका सदा-सर्वदा हँस-हँसकर पालन ही करता रहता है।

शास्त्र ही उन परमात्माका कानून है। शास्त्रके अनुकूल चलना ही उनके कानूनके अनुकूल चलना है तथा शास्त्रके विपरीत आचरण करना ही उनके विरुद्ध आचरण करना है। इस प्रकार उन परमात्मा और उनके कानूनके तत्त्वको जाननेवाले पुरुषसे कभी किंचिन्मात्र भी शास्त्रविरुद्ध कर्म नहीं हो सकते। परमात्माके उपर्युक्त सम्पूर्ण गुणोंका रहस्य जाननेपर तो उसकी परमात्माके सिवा अन्य किसीसे प्रीति हो ही कैसे सकती है? वह तो परमात्माका अनन्य भक्त और धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, समता, शान्ति आदि अनन्त गुणोंका भण्डार बन जाता है।

अतः उन परमात्माके तत्त्व-रहस्यको जाननेके लिये तथा उनमें परम श्रद्धा और प्रेम होनेके लिये हमलोगोंको उन्हें हर समय याद रखते हुए उनकी आज्ञाका पालन करना, उनसे प्रार्थना करना एवं उनमें श्रद्धा-प्रेम रखनेवाले महापुरुषोंका संग करना चाहिये।

भगवच्चिन्तनका प्रभाव

भगवत्कृपा वास्तवमें अनुभव करनेकी वस्तु है, कहनेसे तो उसका तिरस्कार होता है; क्योंकि चाहे हम अपनी समझसे कितना ही बढ़ा-चढ़ाकर कहें, भगवत्कृपाके सहस्रांशका भी वर्णन नहीं कर सकते। जिसके पास जो वस्तु है, वह उसे ही देगा; जो वस्तु उसके पास है ही नहीं, वह उसे कैसे दे सकता है—यह नियम है। भगवान् कृपामय हैं—*'प्रभु-मूरति कृपामई है।'* अतएव वे सर्वदा, सर्वथा सब जीवोंको कृपाका ही दान करते हैं। तनिक-सा विचार करनेपर भगवान्‌की इस कृपाको हम पग-पगपर अनुभव कर सकते हैं। भगवान्‌ने हमको मनुष्य बनाया, पशु नहीं, पक्षी नहीं, चींटी नहीं, वृक्ष नहीं, पत्थर नहीं—इसमें उनकी कितनी कृपा भरी हुई है! अनन्त जन्मोंके पश्चात् चौरासी लाख योनियोंमें भटकते-भटकते यह अत्यन्त दुर्लभ मानव-शरीर भगवत्कृपासे ही प्राप्त हुआ है—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

इस प्रकार भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे हमें अधिकार-विशेष मनुष्ययोनि—कर्मयोनि प्राप्त हुई है (अन्य सब तो भोग-योनियाँ हैं, उनमें जीव केवल अपने प्रारब्धकर्मोंका फल भोगता है; नवीन कर्म करनेके लिये वह स्वतन्त्र नहीं है); हम मोक्षके द्वारपर खड़े कर दिये गये हैं। अब, मुक्तिको प्राप्त करें या द्वारसे वापस लौट आयें, यह हमपर निर्भर करता है। हमें खजांचीके ऊपर चेक मिल गया और रुपये लाने हम खजांचीके पास जा रहे हैं। रास्तेमें हम चेकका दुरुपयोग करें, उसको फाड़ डालें, जला डालें तो हमारी कितनी मूर्खता है। चेकको गवाँ बैठे, फिर रुपये कहाँ? ठीक इसी प्रकार यदि हम मानव-देहरूपी चेकको प्राप्तकर प्रमादवश अहंकार, कामना, क्रोध, द्वेष आदिके परायण हो भगवान्‌को प्राप्त न करें तो हमें भगवान्‌के आज्ञानुसार शूकर-कूकर आदि नीच योनियोंमें भटकना पड़ेगा तथा अन्तमें घोर नरकोंमें जाना पड़ेगा—

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥*

(गीता १६। १८—२०)

अन्तिम श्लोकमें भगवान्ने कहा—'**माम् अप्राप्य**'—'मुझको न पाकर।' इसपर यह प्रश्न होता है कि जब उपर्युक्त असुरस्वभाववाले पुरुषोंको भगवत्प्राप्तिकी बात ही क्या, ऊँची गति भी नहीं मिलती, केवल आसुरी योनि ही प्राप्त होती है, तब भगवान्ने '**माम् अप्राप्य**' यह कैसे कहा? ध्यानपूर्वक सोचनेसे इन वचनोंमें बहुत रहस्य दिखायी पड़ता है। भगवान् यहाँ खुले शब्दोंमें यह घोषणा कर रहे हैं कि मानवयोनिमें जीवको भगवत्प्राप्तिका जन्मसिद्ध अधिकार है। ऐसे अधिकारको प्राप्त करके भी यदि मनुष्य भगवान्को प्राप्त नहीं करते तो यह कितने दुःखकी बात है। वास्तवमें भगवान् जीवकी इस दयनीय दशापर यहाँ तरस खा रहे हैं। इस प्रकार भगवद्वचनोंसे यह सिद्ध हो जाता है कि भगवत्प्राप्तिके हम सच्चे पात्र हैं, अधिकारी हैं। यदि इतने दिनतक हम उससे वंचित रहे तो यह हमारे प्रमादका फल है, हमारी मूर्खताका नतीजा है। भगवान्की तो हमपर पूर्ण दया है, उनका वरदहस्त हमारे मस्तकपर रखा हुआ है तथा वे दर्शन देनेके लिये तैयार हैं; पर हमारे प्रमादके कारण विलम्ब हो रहा है। अतएव आवश्यकता इस बातकी है कि हम अपने इस प्रमादको छोड़ें और अपने जन्मसिद्ध अधिकारको प्राप्त कर सदाके लिये सर्वथा निश्चिन्त हो जायँ।

राजपुत्रका राज्यपर जन्मसे स्वभावसिद्ध अधिकार है। बच्चा नाबालिग है। गवर्नमेंट कोर्ट ऑफ वार्ड्स (Court of Wards) नियुक्त कर राज्यकी व्यवस्था करती है। बच्चेको योग्य बनाकर सब अधिकार उसको सौंप देती है। परमात्माकी प्राप्ति हमारे बापका राज्य है। अतएव उसपर हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। परमात्मा हमें योग्य बनाते हैं, सारा 'योगक्षेम' स्वयं वहन करते हैं। अतः हमारे उद्धारमें चिन्ता ही क्या है।

लौकिक जीवनमें हम देखते हैं कि यदि राजकुमार, जिसको अधिकार प्राप्त होनेवाला है, योग्य न निकले और मार-पीट, आग लगाना, चोरी-जारी आदि कुकर्म करने लगे तो सरकार उसके अधिकारको छीनकर उसे कारागृहमें डाल देती है अथवा आवश्यकता पड़नेपर निर्वासित भी कर देती है। राजकुमारको इस प्रकार अधिकारसे वंचित करने एवं दण्ड देनेसे सरकारको अप्रसन्नता ही होती है, पर मर्यादाके लिये सब करना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार जब हम मोहमें फँसकर छल, कपट, अनाचार, व्यभिचार, अत्याचार, हिंसा आदि पापकर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं तो भगवान्को बाध्य होकर हमें दण्ड देना पड़ता है (वास्तवमें भगवान्का दण्ड-विधान भी कृपासे परिपूर्ण होता है। वे यदि मारते भी हैं तो तारनेके लिये) परन्तु भगवान् बड़ा पश्चात्ताप करते हैं कि इसको परमपद-प्राप्तिके लिये मैंने सारे साधन दिये; किन्तु यह भजन-ध्यान, सेवा-त्याग आदि सत्कर्मोंको छोड़कर विषय-भोगोंमें आसक्त रहा, जिससे भगवत्प्राप्तिरूप अपने अधिकारको खोकर नाना भाँतिकी घोर यातनाओंको भोग रहा है।

वर्षामें देखा होगा दीपक जलाते ही हजारों पतंगे चारों ओरसे उड़-उड़कर दीपककी लौपर गिरते हैं और अपने शरीरका उसमें हवन कर देते हैं। यदि कोई मनुष्य इस प्रकार उनको जलते देखकर दया करके दीपक बुझा देता है तो पतंगे दीपक बुतानेवालेकी दयाके तत्त्वको तो समझते नहीं; अतः वे मन-ही-मन उसपर बड़ा क्रोध करते हैं। बोलनेकी शक्ति उनमें है नहीं; यदि हो तो उनके क्रोधको, उनके दुःखको हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं, पर उनको दुःख होता अवश्य है। इसी प्रकार जब हम पतंगोंकी भाँति अंधे हो विषय-भोगोंमें फँसकर अपना सर्वनाश करने लगते हैं तो भगवान् हमपर बड़ी कृपा करके, हमारे परम हितके लिये उन भोगोंको हमसे छीन लेते हैं। पर भगवान्की कृपाको न समझकर हम बड़े दुःखी होते हैं और कभी-कभी तो क्रोधमें आकर भगवान्को भला-बुरा भी कह बैठते हैं। दीपक बुतानेवालेकी अपेक्षा भगवान्की हमपर अनन्तगुणा अधिक दया है, कृपा है—हम इस बातको नहीं समझते; इसीसे भोगोंके नाश होनेपर तथा मनके प्रतिकूल अवसरोंपर दुःखी हो जाते हैं। अतएव प्रतिकूल एवं अनुकूल सभी परिस्थितियोंमें भगवान्की अपार कृपाका दर्शन करते हुए शोक, चिन्ता, भय आदि नहीं करना चाहिये।

संसार क्या है? एक नाट्यशाला। सभी प्राणी इस नाट्यशालाके पात्र हैं। भगवान् इस नाट्यशालाके स्वामी हैं। गम्भीर दृष्टिसे सोचें तो भगवान् स्वामी भी हैं और नाटकके पात्र भी। सब प्राणियोंके रूपमें वे ही तो हमारे साथ खेल

* 'वे अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादिके परायण और दूसरोंकी निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले होते हैं। उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ। हे अर्जुन! वे मूढ़ मुझको न प्राप्त होकर जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं।'

रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्णने ग्वाल-बालोंके साथ क्रीड़ाएँ कीं, भगवान् रामने वानर-भालुओंके साथ लीलाएँ कीं। फिर हम तो मनुष्य हैं। अतएव सब प्राणियोंके रूपमें अपने स्वामीको देख सबके साथ शुद्ध प्रेमका व्यवहार करना चाहिये। भगवत्कृपाको समझनेका यह सीधा उपाय है।

स्टेज (मंच)-पर आकर अपना अभिनय दिखानेके लिये सभी पात्रोंको अवसर दिया जाता है। प्रत्येकका समय निश्चित होता है। अपने निश्चित समयमें वह जैसा भला-बुरा अभिनय करता है, उसीसे उसकी सफलता एवं असफलताका निर्णय होता है। हमें भी अपना अभिनय दिखानेके लिये समय मिला है। निश्चित समय समाप्त होते ही हमें स्टेजसे हट जाना पड़ेगा। अतएव समय बड़ा मूल्यवान् है। वह हाथसे निकल गया तो न मालूम फिर कब मिलेगा। लाखों-करोड़ों जीव मौका माँग रहे हैं। न जाने कब हमारा नंबर आवेगा। निश्चित समय निकल जानेपर लाख रुपया देनेपर भी पाँच मिनट नहीं मिलेगा। एक सेकेंड भी समय बढ़नेकी गुंजाइश नहीं है। इसलिये जल्दी-से-जल्दी कार्यकी सिद्धि कर लेनी चाहिये। हमें नाट्यशालाके स्वामी उस परमात्माको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। स्वामी बड़े दयालु हैं, हमपर बड़ी कृपा करते हैं। वे सब भूलोंको क्षमा कर देते हैं। पर हमें छूटका आसरा कभी भी नहीं लेना चाहिये। स्वामीको अपने कार्यसे प्रसन्न करनेके लिये, उसके संकेतपर नाचनेके लिये कठपुतली बन जाना चाहिये। अपने स्वामीके संकेतको हम समझते रहें, स्वामीकी इच्छाके अनुकूल बन जायँ। यही यथार्थ शरण है, वास्तविक भक्ति है।

भगवान्ने श्रीगीताजीके दसवें अध्यायमें आठवें श्लोकसे लेकर ग्यारहवें श्लोकतक प्रभावसहित भक्तियोगका वर्णन किया है। वहाँ नवम श्लोकमें जो भक्तिका स्वरूप बतलाया है, उसका पालन करना ही सच्चे रूपसे भगवान्की शरण होना है। भगवान्ने बतलाया—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(गीता १०।९)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें निरन्तर रमण करते हैं।'

इस श्लोकमें भगवान्ने पहला पद प्रयुक्त किया—'**मच्चित्ताः**'—निरन्तर मुझमें चित्त लगानेवाले। इसका भाव यह कि भक्तोंको चाहिये कि नित्य-निरन्तर अपने स्वामी श्रीभगवान्का चिन्तन करते हुए बाजीगरके झमूरेकी भाँति सब काम करें। झमूरा सब काम करता है—चलता है, फिरता है, उछलता है, कूदता है; पर उसका मन निरन्तर अपने स्वामी बाजीगरकी ओर लगा रहता है। साथ ही उसको यह पूर्णरूपसे ज्ञात है कि जो कुछ हो रहा है, सब बाजीगरका खेल है। अतएव किसी घटनाविशेषसे वह बिलकुल ही प्रभावित नहीं होता। इसी प्रकार भक्तको चाहिये कि वह अपनेको मदारी श्रीभगवान्के हाथका झमूरा समझे और जगत्के जितने भी व्यापार हैं, सब उस मदारीके खेल हैं—ऐसा मानकर किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिसे मनमें हर्ष या उद्वेगको स्थान न दे। अपनी तन, मन, धन आदि प्रत्येक वस्तुको, जिसपर वह अपना अधिकार समझता है, जिसकी उसको ममता है, भगवान्के अर्पण कर दे।

भगवान्में अपने चित्तको किस प्रकार लगावे—इसका वास्तवमें कोई उदाहरण मिलता ही नहीं। यों समझानेके लिये एक अंशमें चकोर पक्षीका उदाहरण दिया जा सकता है। चकोर अपने प्रेमास्पद चन्द्रमाको हर समय देखता रहता है। इसी प्रकार हम अपने इष्टको मानसिक नेत्रोंसे हर समय देखते रहें। चित्तवृत्तियोंकी धारा बँध जाय—प्रभुसे लेकर हमारेतक। कोई दूसरा पक्षी उड़ा और चकोर तथा चन्द्रमाके बीचकी धारामें व्यवधान आ गया। चकोर इस व्यवधानको स्वीकार कर लेता है, वह मरता नहीं। परन्तु हमें तो व्यवधान स्वीकार न करके मरना ही स्वीकार कर लेना चाहिये। एक क्षणका भी व्यवधान हो, एक क्षणके लिये भी दूसरी बातका स्मरण हो तो तुरंत प्राण छटपटाने लगें और वे शरीरसे निकल जायँ। हम जान-बूझकर न मरें, जान-बूझकर मरना तो पाप है; पर प्राण स्वतः शरीरसे निकल जायँ। सच्चा प्रेम तो यही है। यदि इतनी तत्परता न हो कि व्यवधान पड़नेपर प्राण न रहें, तो भी वे उसे अपना लेते हैं। किन्तु इस प्रकारकी छूट लेनेवालेकी अपेक्षा न लेनेवाला गौरवका पात्र है। यह अभिमान नहीं करना चाहिये कि हम छूट नहीं लेते, नहीं तो प्रभुको उस अभिमानको दूर करनेके लिये कोई दूसरी परिस्थिति उत्पन्न करनी पड़ेगी, जिससे बाध्य होकर हमें क्षमा माँगनी पड़ेगी। अतएव '**मच्चित्ताः**' का यही भाव है कि जहाँतक हो अपनी ओरसे व्यवधान पड़ने ही न दे और यदि पड़ ही जाय तो मछलीकी भाँति प्राण तड़पने लगें। यदि ऐसा हो जायगा तो फिर प्रभु व्यवधान पड़ने ही न देंगे, क्योंकि यह उनकी प्रतिज्ञा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

'जो अनन्य प्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

भगवान्ने कहा—'**योगक्षेमम् अहं वहामि**'—योग (अप्राप्तकी प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्तकी रक्षा) मैं स्वयं वहन करता हूँ। इस प्रकार भगवान्की प्राप्तिके लिये जो-जो आवश्यक वस्तु या साधन हमें प्राप्त हैं, सब प्रकारके विघ्न-बाधाओंसे बचाकर उनकी रक्षा करना और जिस वस्तु या साधनकी कमी है, उसकी पूर्ति करके स्वयं अपनी प्राप्ति करा देना—इसकी जिम्मेवारी भगवान्ने अपने ऊपर ली। अब भला, हमारे उद्धारमें क्या संदेह एवं विलम्ब हो सकता है। बस, आवश्यकता है केवल नित्य-निरन्तर अनन्यभावसे चिन्तन करनेकी।

भगवान्ने आगे कहा '**मद्गतप्राणाः**'—मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले। हमलोगोंके प्राण शरीरगत हैं। शरीर गया, प्राण गये। पर उपर्युक्त प्रकारके भक्तोंके प्राणोंके आश्रय भगवान् हैं; जैसे मछलीके प्राणोंका आश्रय जल है। वे भक्त भगवान्के लिये ही जीते हैं। समस्त इन्द्रियोंसे खाने, पीने, सोने आदिकी जो भी चेष्टाएँ होती हैं, सब भगवान्के लिये होती हैं। उन सबमें उनका अपना कोई प्रयोजन नहीं रहता। फिर आगे कहा—'**बोधयन्तः परस्परम्**', '**कथयन्तश्च मां नित्यम्**'—मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभाव और तत्त्वको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए। वास्तवमें समय इस प्रकार ही बीतना चाहिये। अब उपर्युक्त प्रकारसे भजन करनेवालोंकी गतिका वर्णन करते हैं—'**तुष्यन्ति च रमन्ति च**'—निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। पतिव्रता स्त्री जिस प्रकार केवलमात्र अपने पतिमें ही रमण करती है, दूसरा पुरुष उसकी दृष्टिमें रहता ही नहीं, उसी प्रकार भक्त नित्य भगवान्में ही रमण करता है अर्थात् प्रेमपूर्वक भगवान्का ही निरन्तर भजन करता है। वह भगवान्के सिवा दूसरी वस्तुको नहीं चाहता। उसके नेत्र जहाँ भी जाते हैं, वहीं वह भगवान्को ही देखता है। जैसे गोपियोंको सर्वत्र श्रीकृष्ण ही दिखायी पड़ते थे—'**जित देखौं तित स्याममई है**', उसी प्रकार भक्तको सम्पूर्ण भूतोंमें वासुदेव ही व्यापक दिखायी पड़ते हैं और सम्पूर्ण भूत वासुदेवके अन्तर्गत। वह '**एकत्वमास्थितः**' भजता है अर्थात् भगवान्के सिवा और कुछ उसकी दृष्टिमें रह ही नहीं जाता। इस प्रकार उसमें न तो कोई कामना रहती है और न किसी प्रकारका भय ही। वह तो सर्वथा प्रेममें विचरण करता है। सारांश यह कि भगवान्के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और नामरूपका कानोंसे श्रवण करना, वाणीसे कथन करना तथा मनसे मनन करना ही भक्तका भगवान्में रमण करना है।

साधकको चाहिये कि वह अपने साधनमें इतना तत्पर हो जाय कि एक क्षणका भी व्यवधान मृत्युके समान बन जाय। ऊँची श्रेणीके भक्त किसी प्रकारकी छूट नहीं चाहते, चाहे प्राण चले जायँ, मुक्ति न मिले, भगवत्प्राप्ति न हो। वे मुक्तिके लिये भजन नहीं करते, भजनके लिये ही भजन करते हैं। अतः एक क्षणके लिये भी चिन्तन छूटना उनके लिये असह्य हो जाता है। वे भगवान्से माँगते हैं तो यही कि हे प्रभो! एक क्षणका भी व्यवधान न पड़े। हमारी ऐसी अवस्था बन जाय कि एक क्षणका व्यवधान भी हम सहन न कर सकें। ऐसे प्रेमी भक्त ही मुक्तिको ठुकरा सकते हैं, पर हमें अभीतक भजनका रस प्राप्त नहीं हुआ है। इसीसे हम व्यवधानको सहन कर रहे हैं। यदि भजनका रस समझमें आ जाय तो फिर क्षणभरके लिये भी भजन छूटे, यह सम्भव नहीं। अतएव हमारी तो भगवान्से यही प्रार्थना है कि प्रभो! हमें ऐसा बना दीजिये कि हम आपके चिन्तनमें व्यवधान सहन न कर सकें। बस, इतना होनेसे सब काम बन जायगा।

योगक्षेमका वहन

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

कोई-कोई इस श्लोकका सर्वथा सकाम और निवृत्तिपरक अर्थ करते हैं और संसारयात्राकी कुछ भी चिन्ता न कर केवल भगवान्पर निर्भर रहते हुए भजन करना ही उचित मानते हैं। इसपर वे निम्नलिखित दृष्टान्त दिया करते हैं।

एक ईश्वरभक्त गीताभ्यासी निवृत्तिप्रिय ब्राह्मण थे। वे अर्थको समझते हुए समस्त गीताका बार-बार पाठ करने एवं भगवान्के नामका जप तथा उनके स्वरूपका ध्यान

करनेमें ही अपना सारा समय व्यतीत करते थे। वे एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर थे। जीविकाकी कौन कहे, वे अपने खाने-पीनेकी भी परवा नहीं करते थे। उनके माता-पिता परलोक सिधार चुके थे। वे तीन भाई थे। तीनों ही विवाहित थे। वे सबसे बड़े थे और दो भाई छोटे थे। दोनों छोटे भाई ही पुरोहितवृत्तिके द्वारा सारे गृहस्थका काम चलाया करते थे। एक दिनकी बात है, दोनों छोटे भाइयोंने बड़े भाईसे कहा—'आप कुछ समय जीविकाके लिये भी निकाला करें तो अच्छा रहे।' बड़े भाई बोले—'जब सबका भरण-पोषण करनेवाले विश्वम्भर भगवान् सर्वत्र सब समय मौजूद हैं, तब अपनी जीविकाकी चिन्ता करना तो निरा बालकपन है। भगवान्‌ने गीताके नवम अध्यायके बाईसवें श्लोकमें स्वयं योगक्षेमके वहनका जिम्मा लिया है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

इसलिये भाई! हमलोगोंको तो बस, अपने भगवान्‌पर ही निर्भर रहना चाहिये। वे ब्रह्मासे लेकर क्षुद्रातिक्षुद्र जीव-परमाणुतक—सबका ही भरण-पोषण करते हैं। फिर जो उनके भरोसे रहकर नित्य-निरन्तर उन्हींका स्मरण-चिन्तन करता है, उसका योगक्षेम चलानेके लिये तो वे वचनबद्ध ही हैं। हमलोगोंको तो नित्य गीताका अध्ययनाध्यापन और निरन्तर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌का भजन-स्मरण ही करना चाहिये।

दोनों भाइयोंने कहा—'भाई साहब, आपका कहना तो ठीक है पर जीविकाके लिये कुछ भी चेष्टा किये बिना, भगवान् किसीको घर बैठे ही नहीं दे जाते।' बड़े भाईने विश्वासके साथ उत्तर दिया—'श्रद्धा-विश्वास हो तो घर बैठे भी भगवान् दे सकते हैं।' दोनों छोटे भाइयोंने कुछ झुँझलाकर कहा—'भाई साहब! बातें बनानेमें कुछ नहीं लगता। हमलोग कमाकर लाते हैं, तब घरका काम चलता है। आप केवल पड़े-पड़े श्लोक रटना और बड़ी-बड़ी बातें बनाना जानते हैं। आपको पता ही नहीं, हमलोग कितना परिश्रम करके कुछ जुटा पाते हैं। आप जब हमलोगोंसे अलग होकर घर चलायेंगे, तब पता लगेगा; तब हम देखेंगे कि जीविकाके लिये बिना प्रयत्न किये आपका काम कैसे चलता है।' बड़े भाईने धीरजके साथ कहा—'भाई! तुमलोग यही ठीक समझते हो तो बहुत आनन्द। मुझे अलग कर दो। मैं किसीपर भाररूप होकर नहीं रहना चाहता। भगवान् किस प्रकार मेरा निर्वाह करेंगे, इसको वे खूब जानते हैं।' इसपर दोनों भाई निश्चिन्त-से होकर बोले— 'बहुत ठीक है। कल ही हम सबको अपने-अपने हिस्सेके अनुसार बँटवारा कर लेना चाहिये।' बड़े भाईने कहा—'जिस प्रकार तुमलोग उचित समझो, उसी प्रकार कर सकते हो, मेरी ओरसे कोई आपत्ति नहीं है। मैं तो तुमलोगोंकी राजीमें ही राजी हूँ।'

दूसरे ही दिन दोनों भाइयोंने, जो कुछ सामान-सम्पत्ति थी, सबके तीन हिस्से कर दिये। ब्राह्मण भक्तके हिस्सेमें एक छोटा-सा कच्चा मकान, कुछ नकद रुपये और कुछ साधारण गहने-कपड़े तथा रसोईके बर्तन वगैरह आये। तीसरे हिस्सेकी यजमानोंकी वृत्ति भी उनके हिस्सेमें दे दी गयी; पर यजमानोंका यह हाल था कि उनके पास यदि कोई पुरोहित चला जाता तो भले ही उनसे कुछ ले आता; घर बैठे पुरोहित महाराजको कोई याद नहीं करता।

इस प्रकार जब तीनों भाई अलग-अलग हो गये, तब उस ब्राह्मण भक्तने अपनी पत्नीसे कहा—'मेरे भाइयोंने हमलोगोंको जो कुछ भी दिया है, वह बहुत ही सन्तोषजनक है; किंतु अब हमें इस बातका पूरा ध्यान रखना चाहिये कि हम केवल भगवान्‌पर ही निर्भर करें। किसीके भी घर जाकर कभी कुछ भी याचना न करें और न किसीके देनेपर ही कुछ ग्रहण करें। भगवान् स्वयं योगक्षेम वहन करनेवाले हैं, वे ही हमारा योगक्षेम चलायेंगे। भाइयोंने जो कुछ दिया है, अभी तो उसीसे काम चलाना चाहिये।'

ब्राह्मणी भी ईश्वरकी भक्त और पतिव्रता थी। उसने पतिकी बात बड़े आदरके साथ स्वीकार की। उसने सोचा—'अभी तो निर्वाहके लिये कुछ हाथमें है ही। इसके समाप्त होनेके बाद स्वामी जैसा उचित समझेंगे, अपने-आप ही व्यवस्था करेंगे।'

वे भगवद्भक्त ब्राह्मण प्रातःकाल चार बजे ही उठते और शहरसे लगभग डेढ किमी० दूर एक तालाबपर जाकर शौच-स्नान करते। फिर सन्ध्या-वन्दनके अनन्तर भगवान्‌की मानस-पूजा, जप, ध्यान करके सम्पूर्ण गीताका भावसहित अर्थको समझते हुए पाठ किया करते, इसके बाद दिनमें ग्यारह बजे घर लौटकर भोजनादि करते। भोजन करनेके बाद पुनः दोपहरमें एक बजे वापस वहीं तालाबपर जाकर जप, ध्यान, स्वाध्याय करते। फिर सायंकाल चार बजे शौच-स्नान करके सन्ध्या-वन्दन करते। तदनन्तर मानस-पूजा करके सत्-शास्त्रोंका श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय करते। सूर्यास्तके बाद भगवान्‌के नामका जप और उनके स्वरूपका ध्यान किया करते थे। अन्तमें रातको आठ बजेके बाद घर लौटकर भोजन करते और फिर अपनी पत्नीसे सदालाप करके दस बजे शयन किया करते।

उनकी साध्वी धर्मपत्नी भी दोनों समय पतिको भोजन कराकर स्वयं भोजन करती और प्रतिदिन पतिको नमस्कार करना, उनकी सेवा-शुश्रूषा करना, उनकी आज्ञाका पालन करना तथा ईश्वरका भजन-ध्यान करना अपना परम कर्तव्य समझती थी। इस प्रकार दोनोंका समय बीतता था। प्रतिदिन व्यय तो होता ही था। कुछ दिनोंमें उनके पास जो कुछ रुपये-पैसे थे, सब समाप्त हो गये। पत्नीने स्वामीसे कहा—'रुपये सब पूरे हो गये हैं।' पतिने पूछा—'क्या गहने-कपड़े भी समाप्त हो गये?' पत्नीने कहा—'नहीं।' इसपर ब्राह्मणीने सोचा—अभी गहने-कपड़ोंसे काम चलानेकी स्वामीकी सम्मति है। अतएव वह उन्हें बेचकर घरका काम चलाने लगी। पर वे गहने-कपड़े भी कितने दिनके थे। वे भी समयपर शेष हो गये। फिर एक दिन पत्नीने कहा—'गहने-कपड़े भी सब समाप्त हो गये हैं।' पतिने कहा—'कोई चिन्ता नहीं, अभी बर्तन-भाँडे और मकान तो हैं ही।' इससे ब्राह्मणीने समझा कि अभी स्वामीकी सम्मति मकान और बर्तनोंसे काम चलानेकी है। उसने प्रसन्नतासे मकानको बेच दिया और वे दूसरे किरायेके मकानमें चले गये। कुछ दिन इससे काम चला। इसके बाद बर्तन-भाँडे भी बेच दिये, पर उनसे क्या होता। अन्तमें ब्राह्मणीके पास तन ढाँकनेके लिये एक साड़ी बची और ब्राह्मण देवताके लिये एक धोती और एक गमछा बचा। एक दिन ब्राह्मण देवता जब चार बजे जंगलकी ओर जाने लगे तो पत्नीने बड़े विनीतभावसे हाथ जोड़कर निवेदन किया—'स्वामिन्! अब सब कुछ शेष हो गया है। घर तो किरायेका है, बर्तन-भाँडे भी सब समाप्त हो चुके हैं। केवल आपकी यह गीताजीकी पोथी, धोती, गमछा और मेरी एक साड़ी बची है। आज भोजनके लिये घरमें अन्न भी नहीं है। जो कुछ था, कल शेष हो गया।' ब्राह्मणने इसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया और वे सदाकी भाँति जंगलकी ओर चल दिये।

सदाकी भाँति ही पण्डितजी तालाबपर गये और शौच-स्नानसे निवृत्त हो उन्होंने सन्ध्या-गायत्रीजप आदि नित्यकर्म किया। उसके अनन्तर जब वे गीताका पाठ करने लगे तो उनके सामने वही अपना इष्ट श्लोक आया—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(९। २२)

उस दिन पण्डितजी इस श्लोकको पढ़कर चौंक पड़े और इसे पढ़ते हुए मन-ही-मन विचार करने लगे कि 'मालूम होता है, इस श्लोकमें भगवान्‌के वचन नहीं हैं, शायद क्षेपक होगा। यदि यह भगवान्‌का कथन होता तो भगवान् क्या मेरी सँभाल नहीं करते? मैं तो सर्वथा उन्हींपर निर्भर हूँ। उन्होंने आजतक मेरी सुधि जरा भी नहीं ली।' ऐसा समझकर ब्राह्मणने उस श्लोकपर हरताल लगा दी और वे उस श्लोकको छोड़कर गीताका पाठ करने लगे।

ब्राह्मण देवताके हृदयके इस भावको देखकर सर्वहृदयेश्वर भक्त- वांछाकल्पतरु भगवान् तुरंत एक विद्यार्थीके रूपमें घोड़ेपर सवार होकर ब्राह्मणके घर उनकी धर्मपत्नीके पास पहुँचे और मिठाईका एक थाल भेंटमें रखकर पूछने लगे—'गुरुजी कहाँ हैं?' ब्राह्मणपत्नीने कहा—'यहाँसे लगभग डेढ़ किमी० दूर एक तालाब है, वे प्रतिदिन वहाँ शौच-स्नान और नित्यकर्मके लिये जाते हैं और लगभग ग्यारह बजे लौटते हैं। अभी दस बजे हैं, उनके आनेमें एक घंटेकी देर है। आप कौन हैं और यह मिठाई किसलिये लाये हैं!' विद्यार्थीने उत्तर दिया—'मैं पण्डितजीका शिष्य हूँ और गुरुजीकी तथा आपकी सेवाके लिये यह मिठाई लाया हूँ। इसे आप रख लें।' ब्राह्मणपत्नीने कहा—'पण्डितजी न किसीको शिष्य ही बनाते हैं और न किसीकी दी हुई कोई वस्तु ही लेते हैं। मुझको भी उन्होंने किसी भी वस्तुको स्वीकार न करनेकी आज्ञा दे रखी है। इसलिये मैं किसीकी दी हुई कोई वस्तु नहीं ले सकती। इसको आप वापस ले जाइये।' विद्यार्थीने कहा—'आप जैसा कहती हैं, वैसा ही मैं भी मानता हूँ। वे किसीको भी शिष्य नहीं बनाते, यह बात भी सही है। मुझको छोड़कर उन्होंने न तो किसीको शिष्य बनाया है और न बनावेंगे ही। मुझपर उनकी विशेष कृपा है, इसीसे मुझको उन्होंने शिष्य माना है। केवल मैं एक ही उनका शिष्य हूँ, इसके लिये मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ।' ब्राह्मणपत्नीने कहा—'मैंने तो यह बात कभी नहीं सुनी कि उन्होंने आपको शिष्य बनाया है। मैं तो जानती हूँ कि उन्होंने किसीको शिष्य बनाया ही नहीं है। फिर मैं इस बातको कैसे मान लूँ कि आप उनके शिष्य हैं। जो भी कुछ हो, मैं इस मिठाईको किसी हालतमें भी स्वीकार नहीं कर सकती। पण्डितजीके लौटनेपर आप उन्हें दे सकते हैं।' विद्यार्थीने कहा—'अच्छा, यह थाली यहाँ रखी है और मेरा घोड़ा भी यहीं बँधा है। मैं लौटकर पण्डितजीसे मिल लूँगा।' इसपर ब्राह्मणपत्नीने उत्तर दिया—'आप इस थालीको वापस ले जाइये, पण्डितजीके आनेपर आप फिर ला सकते हैं। मैं पण्डितजीकी आज्ञाके बिना इसको किसी भी हालतमें नहीं रख सकती।' किंतु भगवान् तो विचित्र ठहरे। वे थालीको वहीं छोड़कर चल दिये। चलते समय ब्राह्मणपत्नीने पूछा—'अपना नाम-पता तो बतला दीजिये, जिससे पण्डितजीके आनेपर यह मिठाईकी थाली आपके घर वापस पहुँचा दी जाय।'

विद्यार्थीने कहा—'वे मुझे जानते हैं। उनकी मुझपर अत्यन्त कृपा है; क्योंकि मैं उनका एक ही शिष्य हूँ। मेरे सिवा दूसरा कोई शिष्य है ही नहीं। आप कह दीजियेगा कि आज प्रातःकाल जिसके मुँहपर आपने हरताल पोती थी, वही शिष्य आया था। इससे वे समझ जायँगे।' इतना कहकर भगवान् चलते बने।

एक घंटेके बाद पण्डितजी जंगलसे वापस लौटे और घरमें प्रवेश करते ही देखा कि एक थाली मिठाईसे भरी रखी है। पण्डितजीने कुछ उत्तेजित-से होकर पूछा—'यह मिठाई कहाँसे आयी, किसने दी और क्यों रखी गयी?' ब्राह्मणपत्नीने हाथ जोड़कर विनयपूर्वक उत्तर दिया—'स्वामिन्! मैंने नहीं रखी है। एक विद्यार्थी जबरन् इसे रख गया। वह कहता था कि मैं गुरुजीकी सेवाके लिये लाया हूँ। इसपर भी मैंने स्वीकार नहीं किया। परंतु वह जबरन् छोड़कर चला ही गया।' ब्राह्मणने कहा—'तुम तो इस बातको जानती हो कि मैंने न तो आजतक किसीको शिष्य बनाया है और न बनाता ही हूँ।' पत्नीने कहा—'यह बात सत्य है। मैंने भी उससे यही कहा कि 'न तो पण्डितजीने किसीको शिष्य बनाया है, न बनाते हैं और न बनावेंगे।' इसपर उसने मेरी बातका समर्थन करते हुए कहा कि 'मैं इस बातको जानता हूँ। गुरुजीने मुझको छोड़कर किसीको शिष्य नहीं बनाया और न बनावेंगे। एकमात्र मैं ही उनका शिष्य हूँ। मुझपर उनकी विशेष दया है। इसीलिये मुझको उन्होंने शिष्य स्वीकार किया है। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि यह मेरी बात सच्ची माननी चाहिये।' इसपर भी मैंने तो यही कहा कि 'मैंने यह कभी नहीं सुना कि आपको उन्होंने शिष्य बनाया है। जो भी हो, मैं उनकी आज्ञाके बिना यह भेंट नहीं रख सकती; परंतु वह रखकर चल दिया।' पण्डितजीने कहा—'उसका नाम-पता तो पूछना चाहिये था, जिससे उसके घर चीज वापस लौटा दी जाती।' ब्राह्मणपत्नीने कहा—'मैंने पूछा था, तब उसने यह कहा है कि मुझको गुरुजी जानते हैं। आज प्रातःकाल ही उन्होंने मेरे मुँहपर हरताल पोती है, मुझे इतनी ही देरमें वे थोड़े ही भूल जायँगे। आप कह दीजियेगा कि जिसके मुँहपर आज प्रातःकाल हरताल पोती थी, वही आपका एकमात्र शिष्य भेंट दे गया है। बस, इतना कहकर वह चला गया और कह गया कि मिठाईकी थाली यहीं रखी है, मेरा घोड़ा भी यहीं बँधा हुआ है। मैं फिर आकर गुरुजीसे मिल लूँगा।'

यह सुनते ही पण्डितजीके रोमांच हो आया और वे गद्‌गद होकर बोले—'ब्राह्मणी! तुम धन्य हो। वे तो साक्षात् भगवान् थे। तुम्हारा बड़ा सौभाग्य है, जो तुमको उनके साक्षात् दर्शन हुए। मैं अविश्वासी और हतभाग्य हूँ, इसीलिये मुझको उन्होंने दर्शन नहीं दिये। मैंने एक दिन भी भूख नहीं निकाली और अधीर होकर भगवान्‌के वचनोंपर हरताल पोत दी। गीता स्वयं भगवान्‌के मुखसे निकली हुई है, उसपर हरताल पोतना सचमुच भगवान्‌के मुखपर ही हरताल लगाना है। आज गीताका पाठ करते समय जब यह श्लोक आया कि—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(९। २२)

—तब मुझ अविश्वासीके मनमें भगवान्‌के वचनोंपर शंका हो गयी कि यदि सचमुच ये भगवान्‌के वाक्य होते तो वे निश्चय ही मेरा योगक्षेम वहन करते; यह क्षेपक है। ऐसा सोचकर मैंने उसपर हरताल पोत दी। मैं बड़ा ही नीच, पापी और अविश्वासी हूँ। मेरे हृदयमें यदि तनिक भी धैर्य होता तो मैं ऐसा नीच कार्य कभी नहीं करता। वे परम दयालु भगवान् तो सदा योगक्षेम चला ही रहे हैं। सब कुछ समाप्त होनेके साथ ही आ ही पहुँचे। हरताल लगानेके अपराधके कारण मैं उनके दर्शनोंसे वंचित रहा। तुम शुद्ध और अनन्यभक्त तथा पतिव्रता हो। इसलिये तुम्हें दर्शन दे गये। अब तो जबतक वे नहीं आते तबतक मुझे चैन नहीं।' इसके बाद उनकी दृष्टि बाहरकी ओर गयी तो क्या देखते हैं कि घोड़ेपर भार लदा हुआ है। उन्होंने तुरंत जाकर भार उतारा और उसे अंदर लाकर देखने लगे। उसमें लाखों रुपयोंके रत्न भरे थे। ब्राह्मण यह देखकर अपने कृत्यपर पश्चात्ताप करने लगे। वे पुनः गद्‌गद हो गये और प्रेममें तन्मय होकर भागवतका यह श्लोक गाने लगे—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥*

(३। २। २३)

'मुझे धिक्कार है कि ऐसे दीनबन्धु पतितपावन सबका धारण-पोषण करनेवाले विश्वम्भर प्रभुपर मैंने झूठा दोष लगाकर अपनेको कलंकित किया। मैं तो अर्थका दास हूँ। यदि सचमुच मैं प्रभुका दास होता तो मुझे भोजनाच्छादनकी

* आश्चर्यकी बात है कि पापिनी पूतनाने जिस श्रीकृष्णको मारनेकी इच्छासे उन्हें स्तनोंमें लगाया हुआ हलाहल विष पिलाया था, वह भी माताके योग्य उत्तम गतिको प्राप्त हुई; फिर उन भगवान्‌को छोड़कर हम और किस दयालुकी शरणमें जायँ?

चिन्ता ही क्यों होती और क्यों भगवान् मुझे संतुष्ट करनेके लिये यह रत्न-राशि दे जाते! मैं वास्तवमें यदि भगवान्के तत्त्व-रहस्यको जानता, मेरा उनमें सच्चा प्रेम होता और मेरे मनमें अर्थकी कामना न होती तो वे मुझे ये रत्न देकर क्यों भुलाते।' यों कहते-कहते ब्राह्मण आनन्दमुग्ध हो गये।

बहुत देर होते देखकर ब्राह्मणीने कहा—'भगवान्का दिया हुआ प्रसाद तो पा लें।' पण्डितजी बोले—'जब भगवान् यह कह गये हैं कि हम आवेंगे तो अब तो उनके आनेपर ही प्रसाद पाऊँगा।' सायंकाल हो गया, पर भगवान् नहीं आये। तब ब्राह्मणीने फिर कहा—'अब तो प्रसाद पा लें।' पण्डितजी कब माननेवाले थे, उन्होंने फिर वही बात कह दी। जब रात्रिके दस बज गये, शयनका समय हो गया और भगवान् नहीं आये, तब ब्राह्मणीने पुनः विनयपूर्वक कहा—'प्रसाद तो पा लीजिये।' ब्राह्मण देवताने फिर भी प्रसाद नहीं पाया और दोनों बिना कुछ खाये ही सो गये।

रातके ग्यारह बजे थे। दरवाजा खटखटाते हुए किसीने बड़े ही मधुर स्वरोंमें पुकारा—'गुरुआनीजी! गुरुआनीजी! दरवाजा खोलिये।' ब्राह्मण-दम्पतिको अभी नींद तो आयी ही नहीं थी। सुमधुर स्वर तथा गुरुआनीजी सम्बोधन सुनकर ब्राह्मणी चौंक पड़ी और आनन्दविह्वल होकर बोली—'स्वामिन्! लीजिये, आपके भगवान् आ गये हैं।' ब्राह्मणने तुरंत दौड़कर दरवाजा खोला और वे भगवान्के चरणोंपर गिर पड़े। भगवान्ने उनको उठाकर अपने हृदयसे लगा लिया। उस समय पण्डितजीकी बड़ी विचित्र दशा थी। उनका शरीर रोमांचित था, नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी, हृदय प्रफुल्लित था और वाणी गद्गद थी। फिर भी वे किसी तरह धीरज धरकर बोले—'नाथ! मैं तो एक अर्थका दास हूँ। मुझ-जैसे पामरपर भी जो आपने इतनी कृपा की, इसमें आपका परम कृपालु स्वभाव ही हेतु है। यदि मेरे भाव और आचरणोंकी ओर ध्यान दिया जाय तो आपके दर्शन तो दूर रहे, मुझे कहीं नरकमें भी ठौर नहीं मिलनी चाहिये। मैंने आप-जैसे सर्वथा निर्दोष महापुरुषपर दोष लगाया। मुझ-जैसा अर्थकामी नीच कोई शायद ही होगा। मैं तो अर्थके लिये ही आपको भजता था, तभी तो आपने मेरे सन्तोषके लिये ये रत्न दिये हैं। मैं बड़ा भारी सकामी हूँ, इसीलिये तो मैंने आपको सांसारिक योगक्षेम चलानेवाला ही समझा; नहीं तो मैं पारमार्थिक योगक्षेमकी ही कामना करता। और जो निष्कामभावसे केवलमात्र आपपर ही निर्भर हैं, वे तो इस योगक्षेमको भी नहीं चाहते; किंतु आप तो बिना उनके चाहे ही उनका योगक्षेम वहन करते हैं। मुझ-जैसे अभागेमें ऐसी श्रद्धा, प्रेम, विश्वास और निर्भरता कहाँ, जो आप-जैसे महापुरुषके हेतुरहित अनन्य शरण होता।'

भगवान् बोले—'इसमें तुम्हारा कोई दोष ही नहीं है। तुम तो मुझपर ही निर्भर थे। मेरे आनेमें जो विलम्ब हुआ, यह मेरे स्वभावका दोष है। पर अभीतक तुमने भोजन क्यों नहीं किया?' पण्डितजीने कहा—'जब आप कह गये थे कि मैं फिर आकर मिलूँगा तो बिना आपके आये मैं कैसे भोजन करता। आप भोजन कीजिये, उसके बाद हमलोग भी प्रसाद पायेंगे।' भगवान्ने कहा—'नहीं-नहीं, चलो, हमलोग एक साथ ही भोजन करें।' फिर ब्राह्मणपत्नीने भगवान्का संकेत पाकर दोनोंको भोजन कराया। ब्राह्मण देवताने अत्यन्त प्रेम-विह्वल होकर प्रसाद पाया। भोजनके बाद भगवान् बोले— 'तुम्हारी जो इच्छा हो माँग लो, तुम्हारे लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है।' ब्राह्मणने कहा—'जब आप स्वयं ही पधार गये तो अब माँगना बाकी ही रहा क्या? नाथ! मैं तो यही चाहता हूँ कि अब तो मेरे मनमें योगक्षेमकी भी इच्छा न रहे और केवल आपमें ही मेरा अनन्य विशुद्ध प्रेम हो।' भगवान् 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये। इसके बाद ब्राह्मणपत्नीने भी प्रसाद पाया।

इधर, जबसे उन छोटे भाइयोंने अपने ज्येष्ठ भ्राता भगवद्भक्त ब्राह्मणको अलग कर दिया था, तबसे वे उत्तरोत्तर नितान्त दरिद्री और दुःखी होते चले गये। उनकी इतनी हीन दशा हो गयी कि न तो उनको कहींसे कुछ उधार ही मिलता था और न माँगनेपर ही। जब उन्होंने सुना कि हमारे भाई इतने धनी हो गये हैं कि उनके द्वारपर सदा याचकोंकी भीड़ लगी रहती है तो वे भी अपने भाईके पास गये। परम भक्त पण्डितजीने भाइयोंको आये देखकर उन्हें हृदयसे लगा लिया और उनकी कुशल-क्षेम पूछी। उन्होंने उत्तरमें कहा—'आप-जैसे सज्जन पुरुषोंसे अलग होकर हमें कुशल कहाँ? हम तो मुँह दिखानेलायक भी नहीं हैं। फिर भी आप हमलोगोंपर दया करके प्रेमसे मिलते हैं, यह आपका सौहार्द है।' बड़े भाईने कहा—'नहीं-नहीं भैया! ऐसा मत कहो। हम तीनों सहोदर भाई हैं। हमलोग कभी अलग थोड़े ही हो सकते हैं। यह तो एक होनहार थी। हमलोग जैसे प्रेमसे पहले रहा करते थे, अब भी हमें वैसे ही रहना चाहिये।' संसारमें सहोदर भाईके समान अपना हितैषी और प्रेमी कौन है? तुमलोगोंको लज्जा या पश्चात्ताप न करके पूर्ववत् ही प्रेम करना चाहिये। यह जो कुछ तुम ऐश्वर्य देखते हो, इसमें भैया! मेरा क्या है। यह सब श्रीभगवान्की विभूति है। जो कोई भी भगवान्पर निर्भर हो जाता है, भगवान् सब प्रकारसे उसका योगक्षेम

वहन करते हैं। जैसे बालक माता-पितापर निर्भर होकर निश्चिन्त विचरता है और माता-पिता ही सब प्रकारसे उसका पालन-पोषण करते हैं, उसी प्रकार, नहीं-नहीं, उससे भी बढ़कर भगवान् अपने आश्रितका पालन-पोषण और संरक्षण करते हैं। यही क्या, वे तो अपने-आपको ही उसके समर्पण कर देते हैं। अतः तुमलोगोंको—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

—इस श्लोकमें कही हुई बातपर विश्वास करके नित्य-निरन्तर भगवान्‌का ही चिन्तन करना चाहिये तथा अर्थ और भावको समझकर नित्य श्रीगीताका अध्ययनाध्यापन करना चाहिये।

इसके बाद वे दोनों भाई बड़े भाईके साथ रहकर उनकी आज्ञाके अनुसार नित्य-निरन्तर जप-ध्यान तथा गीताका पाठ करने लगे एवं थोड़े ही समयमें भगवान्‌की भक्ति करके भगवत्कृपासे भगवान्‌को प्राप्त हो गये।

यह कहानी कहाँतक सच्ची है, इसका पता नहीं है; किंतु हमें इससे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि भगवान्‌पर निर्भर होनेपर भगवान् योगक्षेमका वहन करते हैं। अतः हम भी इसपर विश्वास करके भगवान्‌पर निर्भर हो जायँ। सबसे उत्तम बात तो यह है कि नित्य-निरन्तर भगवान्‌का निष्कामभावसे चिन्तन करना चाहिये। योगक्षेमकी भी इच्छा न करके भगवान्‌में केवल अहैतुक विशुद्ध प्रेम हो, इसीके लिये प्रयत्न करना चाहिये। किंतु यदि योगक्षेमकी ही इच्छा हो तो सच्चे—पारमार्थिक योगक्षेमकी इच्छा करनी चाहिये। अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' है और प्राप्तिकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है। पारमार्थिक योगक्षेमका अभिप्राय यह है कि परमात्माकी प्राप्तिके मार्गमें जहाँतक हम आगे बढ़ चुके हैं, उस प्राप्त साधन-सम्पत्तिकी तो भगवान् रक्षा करते हैं और भगवान्‌की प्राप्तिमें जो कुछ कमी है, उसकी भी पूर्ति भगवान् कर देते हैं। ऐसा भगवान्‌ने आश्वासन दिया है। इस प्रकार समझकर और इसपर विश्वास करके भगवान्‌पर निर्भर एवं निर्भय हो जायँ; भगवच्चिन्तनके सिवा और कुछ भी चिन्ता न करें।

जो लोग सांसारिक योगक्षेमके लिये भगवान्‌को भजते हैं, वे भी न भजनेवालोंकी अपेक्षा बहुत उत्तम हैं; क्योंकि भगवान्‌ने अर्थार्थी, आर्त आदि भक्तोंको भी उदार—श्रेष्ठ बतलाया है '**उदाराः सर्व एवैते**' (गीता ७। १८); और ज्ञानी निष्काम अनन्य भक्तको तो अपना स्वरूप ही बतलाया है; क्योंकि उस निष्कामी ज्ञानीके एक भगवान्‌के सिवा अन्य कोई गति है ही नहीं।

अतः हमको उचित है कि हम भगवान्‌के निष्काम ज्ञानी अनन्य भक्त बनें, क्योंकि ऐसा भक्त भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है। भगवान्‌ने कहा है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७। १७)

'उन भक्तोंमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य-प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

भगवन्नामका मूल्य

'गोस्वामी तुलसीदासजीने अपने मानसमें भगवन्नाम-महिमाका उल्लेख करते हुए यहाँतक कहा है कि कलियुगमें केवल भगवान्‌के नामका ही आधार है। गणिका और अजामिल-सदृश बड़े-से-बड़े पापी केवल नामके प्रभावसे सहजमें ही मुक्त हो गये। श्रीहनुमान्‌जीने इसी नामके प्रभावसे भगवान् श्रीरामको अपने वशमें कर रखा है। नामको जीभपर रखनेमात्रसे बाहर और भीतर प्रकाश छा जाता है। नामकी महिमा इतनी अधिक है कि स्वयं भगवान् भी उसका वर्णन करनेमें असमर्थ हैं—'**राम न सकहिं नाम गुन गाई।**' यहाँतक कि भगवान् शिव इस नामकी शक्तिसे ही काशीमें समस्त जीवोंको मुक्ति प्रदान किया करते हैं। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत, महाभारत आदि अन्य शास्त्र भी नाम-महिमासे भरे पड़े हैं; परंतु क्या कारण है कि इसके अनुसार नामका प्रत्यक्ष परिणाम देखनेमें नहीं आता?'

इस प्रकारके तर्क उपस्थित करते हुए कई महानुभाव प्रश्न किया करते हैं। इन सबका उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष फल न दीखनेका कारण भगवान्‌के नाममें श्रद्धाकी कमी है। वस्तुतः भगवन्नामकी जो महिमा शास्त्रोंने गायी है, वह उससे कहीं अधिक है। नाम-महिमाकी कोई सीमा ही नहीं है। शास्त्रकथित महिमा तो नामसे लाभ प्राप्त किये हुए महात्माओंके उद्‌गारमात्र हैं। जिस प्रकार ईश्वर और सत्संगकी जितनी महिमा कही जाय, उतनी ही थोड़ी है, उसी प्रकार नामकी महिमाका जितना वर्णन हो, उतना ही थोड़ा है। असलमें भगवन्नामके तत्त्व, रहस्य, गुण, प्रभाव आदि न जाननेके कारण ही उसके प्रति श्रद्धामें कमी है। श्रद्धाके

अभावसे तथा कहीं-कहीं तो श्रद्धासे सर्वथा विपरीत अश्रद्धाके कारण मनुष्यको यथार्थ लाभसे वंचित रहना पड़ता है। नामकी तो अमित महिमा है। संसारके किसी भी पदार्थके साथ भगवन्नामकी तुलना नहीं हो सकती। यहाँके जड एवं नाशवान् पदार्थोंको लेकर भगवान्‌के नामको तौलने बैठना तो अपनी अज्ञताका ही परिचय देना है।

भगवन्नामके प्रभावपर एक दृष्टान्त

एक बहुत उच्चकोटिके भगवद्भक्त नामनिष्ठ महात्मा थे। उनके समीप उनका एक शिष्य रहता था। एक समयकी बात है कि वे महात्मा कहीं बाहर गये हुए थे; उसी समय उनकी कुटियापर एक व्यक्ति आया और उसने पूछा—'महात्माजी कहाँ हैं?' शिष्यने कहा—'स्वामीजी महाराज तो किसी विशेष कार्यवश बाहर पधारे हैं। आपको कोई काम हो तो कहिये।' आगन्तुकने कहा—'मेरा लड़का अत्यधिक बीमार है, उसे कैसे आरोग्य लाभ हो? महात्माजीकी अनुपस्थितिमें आप ही कोई उपाय बतानेकी कृपा करें।'

शिष्यने उत्तर दिया—'एक बहुत सरल उपाय है—'राम' नामको तीन बार लिख लें और उसे धोकर पिला दें; बस, इसीसे आराम हो जायगा।'

आगन्तुक अपने घर चला गया। दूसरे दिन वह व्यक्ति बड़ी प्रसन्न मुद्रासे महात्माजीकी कुटियापर आया। उस समय महात्माजी वहाँ उपस्थित थे। उनके चरणोंमें साष्टांग प्रणिपात करके उसने विनम्र शब्दोंमें हाथ जोड़कर निवेदन किया—'स्वामीजी महाराज! आपके शिष्य तो सिद्ध पुरुष हैं। कलकी बात है, मैं यहाँ आया था; उस समय आप कहीं बाहर पधारे हुए थे, केवल ये आपके शिष्य थे। आपकी अनुपस्थितिमें इन्हींसे मैंने अपने प्रिय पुत्रकी रोग-निवृत्तिके लिये उपाय पूछा। तब इन्होंने बतलाया कि तीन बार 'राम' नाम लिख लो और उसे धोकर पिला दो। मैंने घर जाकर ठीक उसी प्रकार किया और महान् आश्चर्य एवं हर्षकी बात है कि इस प्रयोगके करते ही लड़का तुरंत उठ बैठा, मानो उसे कोई रोग था ही नहीं।'

यह सुनकर महात्मा अपने शिष्यपर बड़े रुष्ट हुए और उसके हितके लिये क्रोधका नाट्य करते हुए बोले—'अरे मूर्ख! इस साधारण-सी बीमारीके लिये तूने राम-नामका तीन बार प्रयोग करवाया। तू नामकी महिमा तनिक भी नहीं जानता। अरे, एक बार ही नामका उच्चारण करनेसे अनन्त कोटि पापोंका और भवरोगका नाश हो जाता है और मनुष्य अनामय परमपदको प्राप्त हो जाता है। तू इस आश्रममें रहने योग्य नहीं। अतः जहाँ तेरी इच्छा हो, चला जा।' इसपर शिष्यकी आँखोंमें आँसू आ गये और उसने अपने गुरुदेवसे बहुत अनुनय-विनय की। संत तो नवनीत-हृदय होते ही हैं, ऊपरसे भी पिघल गये और उसके अपराधको क्षमा कर दिया।

इसके पश्चात् महात्माजीने चम-चम करता हुआ एक सुन्दर चमकीला पत्थर कहींसे निकाला और उसे शिष्यके हाथमें देकर कहा—'तू शहरमें जाकर इसकी कीमत करा ला। सावधान! इसे किसी कीमतपर भी बेचना नहीं है, केवल कीमत भर अँकवानी है। कौन क्या कीमत आँकता है, इसे लिखकर लौट आना।'

शिष्य उसे लेकर बाजार चल दिया। सबसे पहले एक साग बेचनेवाली मालिन मिली। उसने उसे पत्थर निकालकर दिखलाया और पूछा—'तू इसकी अधिक-से-अधिक क्या कीमत दे सकती है?' साग बेचनेवालीने पत्थरकी चमक और सुन्दरता देखकर सोचा 'यह बड़ा अच्छा पत्थर है। बच्चोंके खेलनेके लिये बड़ी सुन्दर वस्तु है।' वह बोली—'इसकी कीमतमें सेर-डेढ़-सेर मूली, आलू या जो साग तुम्हें पसंद हो, ले सकते हो।' 'बेचना नहीं है' कहकर शिष्य आगे बढ़ा तो एक बनियेसे भेंट हुई। उसने पूछा—'सेठजी! इस पत्थरका मूल्य आप क्या दे सकते हैं?' बनियेने विचार किया, पत्थर तो बड़ा सुन्दर तथा चमकीला है और खूब वजनदार भी है। अतः सोना-चाँदी तौलनेमें इसका अच्छा उपयोग हो सकता है। उसने कहा—'एक रुपया दे सकता हूँ।' उसे इनकार करके शिष्य आगे चला तो एक सुनारकी दूकानपर पहुँचा। सुनारने देखकर विचार किया कि यह तो बड़े कामकी चीज है। इसे तोड़कर बहुत-से पुखराज बनाये जा सकते हैं। अतः उसने कहा—'अधिक-से-अधिक एक हजार रुपयेतक मैं दे सकता हूँ।'

'बेचना नहीं है' कहकर शिष्य बड़े उत्साहसे अग्रसर हुआ और एक जौहरीकी दूकानपर पहुँचा। पहले गुरुदेवके पाससे चला था, तब तो उसे किसी जौहरीके पास जानेका साहस ही नहीं था; पर ज्यों-ज्यों उस पत्थरके मूल्यमें वृद्धि होती गयी, त्यों-ही-त्यों उसका साहस भी बढ़ता गया। अब उसकी दृष्टि भी बदल गयी। उसकी मान्यता, जो एक साधारण चमकीले पत्थरकी थी, नष्ट हो गयी। जौहरीको दिखलाकर उसकी कीमत पूछी। जौहरीने विचार किया तो उसने उसे हीरा समझा और वह उसके मूल्यमें एक लाख रुपये देनेको तैयार हो गया। परंतु बेचना तो था नहीं। अतः शिष्य उसे भी वही उत्तर देकर उच्चकोटिके जौहरियोंके पास पहुँचा। सबने मिलकर उसकी जाँच की और पाँच करोड़ रुपये उसकी कीमत आँकी। तत्पश्चात् वह शिष्य राजाके पास गया। राजा साहबने शिष्यको बड़े आदरसे बिठलाया और मुख्य-मुख्य सभी बड़े जौहरियोंको बुलाकर

उस रत्नका मूल्य आँकनेके लिये कहा। सबने विचार-विमर्शके अनन्तर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—'महाराज! हमने तो ऐसा रत्न कभी देखा ही नहीं। इसलिये इसकी कीमत आँकना हमलोगोंकी बुद्धिसे परेकी बात है। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि यदि आप अपना सम्पूर्ण राज्य भी दे दें तो वह भी इसके मूल्यमें पर्याप्त नहीं।'

महाराजने शिष्यसे पूछा—'ऐसा अनुपम रत्न तुम्हें कैसे मिला?' शिष्यने उत्तर देते हुए कहा—'इसे मेरे गुरुदेवने मुझे देकर केवल मूल्य अँकवानेके लिये ही भेजा है, पर बेचनेकी आज्ञा नहीं दी है।' राजा साहबने बड़े विनम्र शब्दोंमें कहा—'इसका मूल्य मेरे राज्यसे भी अधिक है। यदि तुम्हारे गुरुजी इसे बेचना चाहें तो इसके बदलेमें मैं अपना सारा राज्य सहर्ष दे सकता हूँ। तुम पूज्य स्वामीजीसे पूछ लेना।' स्वामीजी उच्चकोटिके महात्मा हैं, इस बातको सभी जानते थे। अत: सबने बड़े आदर-सत्कारके साथ उस शिष्यको वहाँसे विदा किया।

शिष्यने महात्माजीके पास लौटकर सारी कहानी उन्हें सुना दी और अन्तमें कहा 'गुरुदेव! मेरी तुच्छ सम्मति तो यह है कि जब राजा साहब इसके मूल्यमें अपना सारा राज्य ही दे रहे हैं, तब तो इसे बेच ही डालना चाहिये।' महात्माजी बोले—'इसके मूल्यमें राज्य भी कोई वस्तु नहीं। अभीतक इसके अनुरूप इसकी कीमत नहीं आँकी गयी।' शिष्यने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—'राज्यसे बढ़कर और कीमत हो ही क्या सकती है?' महात्माजीने कहा—'यहाँ कोई लोहेकी बनी वस्तु मिल सकेगी क्या?' शिष्यने उत्तर दिया—'जी हाँ, आश्रममें कुछ यात्री आये हुए हैं; उनके पास तवा, चिमटा, सँडसी आदि लोहेके पर्याप्त बर्तन हैं। आज्ञा हो तो उनमेंसे कुछ ले आऊँ?' महात्माजीने कहा—'हाँ, ले आओ।'

शिष्य कई लौह-निर्मित वस्तुएँ ले आया। महात्माजीने ज्यों ही उनसे पत्थरका स्पर्श कराया, त्यों ही वे सारे लौह-पात्र देखते-ही-देखते शुद्ध सोनेके बन गये। यह देखकर शिष्यको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने चकित होकर पूछा—'यह तो बड़ी विलक्षण वस्तु है; यह क्या है, गुरुदेव?' महात्माजीने उत्तर दिया—'यह वह स्पर्शमणि (पारस पत्थर) है, जिसके स्पर्शमात्रसे ही लोहा सोना बन जाया करता है। भला, अब तू ही बता कि इसकी कीमत कितनी होनी चाहिये।' शिष्य बोला—'संसारमें अधिक-से-अधिक कीमत सोनेकी ठहरायी जाती है और वह कीमत इससे उत्पन्न होती है फिर इसका मूल्य कैसे आँका जाय।'

महात्माजी—'भगवन्नामका मूल्य तो इससे भी बढ़कर है, क्योंकि यह पारस तो जड पदार्थ है; इससे केवल जड पदार्थोंकी ही प्राप्ति हो सकती है, सच्चिदानन्द परमात्माकी नहीं। अत: किसी भी सांसारिक पदार्थके साथ भगवान्‌के नामकी तुलना करना सर्वथा अनुचित है। इनकी तुलना करनेवाला पारसको लगभग डेढ़ किलो मूली, आलूके शाकमें बेचनेकी मूर्खता करनेवालेसे कम मूर्ख नहीं। जिस प्रकार पारसको न पहचाननेवाला व्यक्ति उससे तुच्छ पदार्थ लेकर सदा कंगाल बना रहता है, उसी प्रकार राम-नामके महत्त्वको न जाननेवाला भी प्रेम और भक्तिकी दृष्टिसे सदैव दरिद्र ही रहता है। तू भगवन्नामके प्रभाव और तत्त्व-रहस्यको नहीं जानता, इसीलिये एक साधारणसे रोगके लिये तूने राम-नामका तीन बार प्रयोग करवाया। जिस नामके प्रभावसे भयंकर भवरोग मिट जाता है, उसे मामूली रोगनाशके लिये उपयोगमें लाना सर्वथा अज्ञता है। तेरी इस अज्ञताको मिटानेके लिये ही तुझे पारस देकर भेजा था।' यह सुनकर शिष्य भगवन्नामका प्रभाव समझ गया और अपनी भूलके लिये बार-बार क्षमा-याचना करने लगा।

इस कहानीसे हमलोगोंको यह शिक्षा मिलती है कि पारसके प्रभावसे अनभिज्ञ व्यक्तिको यदि पारस मिल जाय तो वह उसे अज्ञतावश दो-चार रुपयेमें ही बेच सकता है। यदि वे महात्मा शिष्यको ठीक मूल्यपर पारस बेचनेको कह देते तो वह अधिक-से-अधिक पाँच-सात सेर आलू या एक-दो रुपयेमें अवश्य बेच आता और इसे ही वह अधिक मूल्य समझता। इसी प्रकार जो मनुष्य भगवन्नामके प्रभावको नहीं जानते, वे उसे स्त्री, पुत्र, धन आदिके बदलेमें बेच डालते हैं।

भगवन्नामका रहस्य

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि भगवान्‌के नाममें पापोंको नाश करनेकी बड़ी भारी शक्ति है। ***'नाम अखिल अघ पुंज नसावन'*** यह उक्ति सर्वथा सत्य है; परंतु लोग इसका रहस्य नहीं जाननेके कारण इसका दुरुपयोग कर बैठते हैं। वे सोचते हैं कि नाममें पाप-नाशकी महान् शक्ति है ही; अभी पाप कर लें, फिर नाम लेकर उसे धो डालेंगे। यह सोचकर वे अधिकाधिक पाप-पंकमें फँसते ही चले जाते हैं। वे यह नहीं विचारते कि यदि वास्तवमें उनकी यह मान्यता ठीक हो, तब तो नामका जप पापोंका विनाशक नहीं, प्रत्युत वृद्धि करनेवाला ही सिद्ध हुआ। क्योंकि फिर तो सभी लोग नामका आश्रय लेकर मनचाहा पाप करने लगेंगे और इससे वर्तमान कालकी अपेक्षा भविष्यमें पापोंकी संख्या बहुत अधिक बढ़ जायगी। जिस प्रकार पुलिसकी पोशाक पहनकर चोरी करनेवाला अन्य चोरकी अपेक्षा अधिक दण्डनीय होता है, उसी प्रकार भगवन्नामकी ओट लेकर पाप करनेवाला व्यक्ति अधिक दण्डका पात्र

हो जाता है; क्योंकि उसके पाप वज्रलेप हो जाते हैं, बिना भोगे उनका विनाश नहीं होता। नामकी आड़ लेकर पाप करना तो नामके दस अपराधोंमेंसे एक नामापराध है। नामके दस अपराध ये हैं—

सन्निन्दासति नामवैभवकथा श्रीशेशयोर्भेदधी-
रश्रद्धा श्रुतिशास्त्रदैशिकगिरां नाम्न्यर्थवादभ्रमः।
नामास्तीति निषिद्धवृत्तिविहितत्यागो हि धर्मान्तरैः
साम्यं नाम्नि जपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश॥

१—सत्पुरुष—ईश्वरके भजन-ध्यान करनेवालोंकी निन्दा, २—अश्रद्धालुओंमें नामकी महिमा कहना, ३—विष्णु और शिवके नाम-रूपमें भेद-बुद्धि, ४-५-६— वेद-शास्त्र और गुरुके द्वारा कहे हुए नाम-माहात्म्यमें अविश्वास, ७—हरिनाममें अर्थवादका भ्रम अर्थात् केवल स्तुतिमात्र है ऐसी मान्यता, ८-९—नामके बलपर विहितका त्याग और निषिद्धका आचरण और १०—अन्य धर्मोंसे नामकी तुलना यानी शास्त्रविहित कर्मोंसे नामकी तुलना—ये सब भगवान् शिव और विष्णुके नाम-जपमें नामके दस अपराध हैं।'

इन दस अपराधोंसे अपनेको न बचाते हुए जो नामका जप करते हैं, वे नामके रहस्यको ही नहीं समझते।

तथा वाणीके द्वारा नाम जपनेकी अपेक्षा मनसे जपना सौगुना अधिक फलदायक है और वह मानसिक जप भी श्रद्धा-प्रेमसे किया जाय तो उसका अनन्त फल है; तथा वही गुप्त और निष्कामभावसे किया जाय तो शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है। अतः इस रहस्यको भलीभाँति समझकर भगवन्नामका आश्रय लेना चाहिये।

भगवन्नामका तत्त्व

असलमें नाम और नामीमें कोई भेद नहीं है। वे भिन्न होते हुए भी सर्वथा अभिन्न हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं—'**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि**' (१०। २५)। 'सब यज्ञोंमें जपयज्ञ मैं हूँ'—अर्थात् अन्य समस्त यज्ञ तो मेरी प्राप्तिके साधन हैं, पर जपयज्ञ (नाम-जप) तो स्वयं मैं ही हूँ। जो इस तत्त्वको हृदयंगम कर लेता है—ठीक-ठीक समझ लेता है, वह नामको कभी भूल नहीं सकता।

भगवन्नामके गुण

जो नित्य-निरन्तर भगवान्के नामका जप करता रहता है, वह सद्गुणोंका समुद्र बन जाता है। जिस प्रकार सागरमें अनन्त जल-राशि होती है, उसी प्रकार उसमें अनन्त सद्गुण आ जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि नाम बीजकी तरह है। जैसे बीजके बो देनेपर उसमेंसे फूटकर अंकुर उत्पन्न होता है एवं वही पुष्पित और पल्लवित होकर विशाल वृक्ष बन जाता है, वैसे ही नाम जपनेवालेमें अनायास ही सारे सद्गुणोंका प्रादुर्भाव हो जाता है।

इसके लिये मनुष्यको भगवन्नामके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको समझना चाहिये। इस प्रकार समझनेसे ही उसकी नाममें परम श्रद्धा होती है और श्रद्धासहित किया हुआ जप ही तत्काल पूर्ण फल देता है। अतः भगवान्के नाममें अतिशय श्रद्धा उत्पन्न हो, इसके लिये हमलोगोंको सत्पुरुषोंका संग करना चाहिये। सत्पुरुषोंका संग न मिलनेपर हमें सत्-शास्त्रोंका—जिनमें भगवान् और उनके नामके तत्त्व, रहस्य, गुण, प्रभाव, श्रद्धा और प्रेमकी बातें बतायी गयी हों—अनुशीलन करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे भगवन्नाममें श्रद्धा-प्रेम उत्पन्न हो जाता है और किये हुए जपका फल भी, जिसका शास्त्रोंमें वर्णन है, तत्काल प्रत्यक्ष देखनेमें आ सकता है।

श्रीमद्भागवतमें विशुद्ध भक्ति

श्रीमद्भागवत अलौकिक ग्रन्थ है। इसमें वर्णाश्रमधर्म, मानवधर्म, कर्मयोग, अष्टांगयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग आदि भगवत्प्राप्तिके सभी साधनोंका बड़ा विशद वर्णन है; परन्तु ध्यानसे देखा जाय तो इसमें भगवान्की भक्तिका ही विशेषरूपसे निरूपण किया गया है। साधन और साध्य दोनों प्रकारकी भक्तिका वर्णन है। ग्रन्थका आदि, मध्य और अन्त भक्तिसे ही ओतप्रोत है। पहले ही स्कन्धमें कहा गया है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥
(१। २। ६)

'मनुष्योंका सबसे उत्तम धर्म—परमधर्म वही है, जिससे श्रीहरिमें निष्काम और अव्यभिचारिणी भक्ति हो। भक्तिसे आनन्दस्वरूप भगवान्को प्राप्त करके ही हृदय प्रफुल्लित होता है।'

इसी प्रकार १२ वें स्कन्धके अन्तमें कहा गया है—

भवे भवे यथा भक्तिः पादयोस्तव जायते।
तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वं नो यतः प्रभो॥
नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥
(१३। २२-२३)

'हे देवदेव! हे प्रभो! आप ही हमारे स्वामी हैं। ऐसी कृपा कीजिये, जिससे जन्म-जन्ममें आपके चरणकमलोंमें हमारी भक्ति होवे। जिनका नाम-संकीर्तन सारे पापोंका नाश

करनेवाला है और जिन्हें किया हुआ प्रणाम समस्त दुःखोंको शान्त कर देता है, उन परमेश्वर श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ।'

भक्तिकी महिमा कहते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजीसे यहाँतक कह दिया है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥
कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः॥
वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
यथाग्निना हेममलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्॥

(११। १४। २०—२५)

'उद्धव! मेरी बढ़ी हुई भक्ति जिस प्रकार मुझको सहज ही प्राप्त करा सकती है, उस प्रकार न तो योग, न ज्ञान, न धर्म, न वेदोंका स्वाध्याय, न तप और न दान ही करा सकता है। मैं संतोंका प्रिय आत्मा हूँ। एकमात्र श्रद्धासम्पन्न भक्तिसे ही मेरी प्राप्ति सुलभ है। दूसरोंकी तो बात ही क्या, जातिसे चाण्डालादिको भी मेरी भक्ति पवित्र कर देती है। मनुष्योंमें सत्य और दयासे युक्त धर्म हो तथा तपस्यासे युक्त विद्या भी हो, परन्तु मेरी भक्ति न हो तो वे धर्म और विद्या उनके अन्तःकरणको पूर्णरूपसे पवित्र नहीं कर सकते। मेरे प्रेमसे जबतक शरीर पुलकित नहीं हो जाता, हृदय द्रवित नहीं हो उठता, आनन्दके आँसुओंकी झड़ी नहीं लग जाती, तबतक मेरी ऐसी भक्तिके बिना अन्तःकरण कैसे शुद्ध हो सकता है। भक्तिके आवेशमें जिसकी वाणी गद्गद हो गयी है, चित्त द्रवित हो गया है, जो कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी संकोच छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने लगता है और कभी नाच उठता है—ऐसा मेरा भक्त स्वयं पवित्र हो इसमें तो कहना ही क्या; वह समस्त लोकोंको पवित्र कर देता है। जिस प्रकार अग्निसे तपाये जानेपर सोना मैलको त्याग देता है और पुनः तपाये जानेपर अपने स्वच्छ स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी मेरे भक्तियोगके द्वारा कर्मवासनासे मुक्त होकर फिर मुझ भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है।'

भक्तिसे भगवान् वशमें हो जाते हैं। वे कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(९। ४। ६३—६६, ६८)

'मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ और अस्वतन्त्रकी तरह हूँ। मेरे साधुहृदय भक्तोंने मेरे हृदयको अपने हाथमें कर रखा है। मैं उन भक्तोंका सदा ही प्यारा हूँ। ब्रह्मन्! अपने भक्तोंका एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ। उनको और किसीका आश्रय है ही नहीं। इसलिये अपने उन साधुस्वभाव भक्तोंको छोड़कर न तो मैं अपने-आपको चाहता हूँ और न अपनी अर्द्धांगिनी विनाशरहिता लक्ष्मीको ही। जो मेरे भक्त अपने स्त्री, पुत्र, घर, कुटुम्बी, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सबको छोड़कर केवल मेरी शरणमें आ गये हैं, भला उन भक्तोंको मैं छोड़नेका विचार भी कैसे कर सकता हूँ। जिस प्रकार सती स्त्री अपने पातिव्रत्यसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही अपने हृदयको मुझमें प्रेम-बन्धनसे बाँध रखनेवाले वे समदर्शी साधु पुरुष भक्तिके द्वारा मुझे अपने वशमें कर लेते हैं। अधिक क्या कहूँ—वे मेरे प्रेमी साधु पुरुष मेरे हृदय हैं और मैं उन प्रेमी साधुओंका हृदय हूँ। वे मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते तथा मैं उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता।'

एक जगह तो भगवान्‌ने यहाँतक कह दिया है—

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(११। १४। १६)

'मैं उन भक्तोंके पीछे-पीछे सदा इसलिये फिरा करता हूँ कि उनकी चरणरजसे पवित्र हो जाऊँ।'

सचमुच भक्तिकी ऐसी ही महिमा है। भक्ति ऐसी अनुपम वस्तु है कि यह जिसके पास होती है, वह जो कुछ चाहता है, वही उसे मिल जाता है। भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥
(११। ५४)

'परन्तु हे परंतप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

भगवान्‌की प्रेमलक्षणा भक्ति ऐसी ही है। श्रीमद्भागवतमें इसी प्रेमलक्षणा भक्तिका तथा इसे प्राप्त करानेवाली वैधी भक्तिका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है।

श्रीमद्भागवतका दशम स्कन्ध तो भक्तिसे भरपूर है। भगवान्‌की विविध लीलाओंका अत्यन्त सुमधुर वर्णन होनेसे उसके पढ़ने-सुननेमें बड़ा ही रस आता है। इस दशम स्कन्धमें भगवान्‌की कुछ ऐसी लीलाओंका वर्णन है, जिन्हें पढ़कर अज्ञलोग भगवान्‌पर लांछन लगानेसे नहीं चूकते। वे कहते हैं, भगवान्‌का तो प्रत्येक कार्य आदर्शरूप है; फिर उनके लिये चोरी, कपट, काम, रमण आदिके प्रसंग कैसे आते हैं। वास्तवमें बात ऐसी नहीं है। झूठ-कपट और चोरी-जारी आदि दोष तो उन मनुष्योंमें भी नहीं रह सकते, जो अनन्य मनसे भगवान्‌का स्मरण करने लगते हैं। फिर साक्षात् भगवान्‌में तो ऐसे दोषोंकी कल्पना ही क्योंकर की जा सकती है। भगवान्‌का तो अवतार ही हुआ था— साधुओंका उद्धार, दुष्टोंके लिये दण्ड-विधान और धर्मकी संस्थापना करनेके लिये। वे ऐसा कोई काम करते ही कैसे जिससे साधुओंके बदले दुष्टोंके दुराचारको प्रोत्साहन मिलता तथा धर्मकी जड़ उखड़ती? भगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे घोषणा की है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥
(गीता ३। २१—२५)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है। हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है तथा न कोई भी प्राप्त करने-योग्य वस्तु अप्राप्त है तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ; क्योंकि हे पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं। इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ। हे भारत ! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोक-संग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे।'

इस प्रकार कहनेवाले स्वयं भगवान् कोई भी ऐसा काम करें, जिससे लोकशिक्षामें बाधा आती हो—यह सम्भव नहीं है। अतएव श्रीमद्भागवतमें जहाँ काम, रमण, रति आदि शब्द आते हैं, वहाँ उनका कुत्सित अर्थ न करके दूसरा ही अर्थ करना चाहिये और वही है भी। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(१०। ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जानते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर 'रमण' करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मुझे भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

यह साधनावस्थाका वर्णन है, यहाँ अभी साधकको भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हुई है। इन श्लोकोंमें भक्तकी उस मानसिक स्थितिका वर्णन है, जिसके फलस्वरूप उसे भगवान्‌की प्राप्ति होगी। यहाँ मानसिक इन्द्रियोंसे ही वह भगवान्‌को देखता, सुनता और रमण करता है। भक्तका यह भगवान्‌में रमण करना कदापि कुत्सित इन्द्रियोंका कार्य नहीं है। यह परम पवित्र मानसिक भाव है। इसी मानसिक भावसे वह भगवान्‌का चिन्तन करता है, उनका संस्पर्श पाता है और उनके साथ भाषण करता है। भागवतमें वर्णित रमण, काम आदि शब्दोंका भी कुछ ऐसा ही तात्पर्य समझना चाहिये। भगवान्‌पर किसी भी कुत्सित क्रियाका आरोप करना तो अपनी कुत्सित वृत्तिका ही परिचय देना है।

यह जो कहा जाता है कि भक्तिके शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—इन पाँच भावोंमें माधुर्य ही सबसे श्रेष्ठ है, सो भावविकासकी दृष्टिसे ऐसा कहना भी एक प्रकारसे ठीक ही है; परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सभी भक्तोंमें इन सारे भावोंका क्रमशः उत्तरोत्तर प्रादुर्भाव हो या भक्तका कोई-सा भाव किसी दूसरेसे ऊँचा-नीचा हो। अपने-अपने क्षेत्रमें सभी भाव उत्तम हैं और जिस भक्तको जो भाव प्रिय है, उसके लिये ही वही भाव सर्वोत्तम है। श्रीहनुमान्‌जीके लिये दास्यभाव ही सर्वोत्तम है। वे किसी भी दूसरे भावके लिये क्या इस दास्यभावका कभी परित्याग कर सकते हैं? श्रीवसुदेव-देवकी या श्रीनन्द-यशोदाके लिये वात्सल्यभाव ही सर्वप्रधान है। इसी प्रकार अन्य भावोंके लिये भी समझना चाहिये। फिर यह बात तो किसी भी हालतमें न समझनी चाहिये कि 'मधुर' भावका अर्थ लौकिक स्त्री-पुरुषोंकी तरह कामजनित अंग-संग या कोई कुत्सित क्रिया हो। वह तो परम पवित्र भाव है, जिसमें भक्त अपने भगवान्‌को सर्वथा आत्मनिवेदन करके उन्हींके मधुर चिन्तन, मधुर भाषण और मधुर मिलनमें डूबा रहता है।

श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं। वे सारे दोषोंसे सर्वथा रहित समस्त कल्याणमय गुण-गणोंसे सर्वथा सम्पन्न हैं। उनके नाम-गुण-लीला आदिके श्रवण, कथन, मनन और चिन्तनमात्रसे ही मनुष्य परम पवित्र होकर दुर्लभ परम पदको प्राप्त हो जाते हैं; फिर साक्षात् उनमें किसी दोषकी कल्पना ही कैसे हो सकती है? अतएव भगवान्‌की लीलाओंमें जहाँ कहीं ऐसे प्रसंग या वाक्य आये हैं, वहाँ परम शुद्ध भावमें ही उनका अर्थ लेना चाहिये, कुत्सितभावमें कदापि नहीं। पूर्वापरका प्रसंग न समझमें आये, तो उसे अपनी अल्पबुद्धिके बाहरकी बात समझकर उसकी आलोचनासे हट जाना चाहिये। न तो यही मानना चाहिये कि ये प्रसंग क्षेपक हैं, न उन्हें कोरे आध्यात्मिक रूपक ही समझना चाहिये और न भूलकर भी ऐसी छूट ही देनी चाहिये कि भगवान्‌में ऐसी बातें हों, तो भी क्या हर्ज है। उन्हें श्रद्धाकी दृष्टिसे सर्वथा परम पवित्र समझना चाहिये, परन्तु अपनी बुद्धि काम नहीं देती, उनके स्वरूपको नहीं खोल पाती, इसलिये उनकी आलोचना न करनी चाहिये।

गोपियोंके प्रेमकी भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपने श्रीमुखसे प्रशंसा की है। उद्धव आदि मनीषियोंने उसको मुक्तकण्ठसे सराहा है। यदि गोपियाँ वास्तवमें व्यभिचारदुष्टा होतीं तो भगवान् उनकी प्रशंसा कैसे करते और क्यों उद्धवादि ही उनकी चरणरज चाहते? गोपियोंकी भक्ति सर्वथा अव्यभिचारिणी और अहैतुकी थी। उनका भाव पवित्र था और उसीके अनुसार उनकी रासलीला भी पवित्र थी। उनका चलना, बोलना, मिलना, नाचना और गाना—सभी कुछ पवित्र था, आनन्द और प्रेमसे परिपूर्ण था। उसमें किसी कुत्सितभावकी कल्पनाकी भी गुंजाइश नहीं है। भक्तिके साधनसे काम-क्रोधादि दोषोंकी जड़ उखड़ जाती है। फिर गोपियों-जैसी भक्तिमती स्त्रियोंमें कामादि दोष कैसे रह सकते हैं। उनका 'रास' भगवान्‌के प्रेमका मूर्तिमान् स्वरूप था। वह ऐसा नहीं था, जैसा आजकल लोग धनके लोभसे स्वाँग बना-बनाकर करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें कई जगह प्रसंगवश मदिरा, मांस, हिंसा, व्यभिचार, चोरी, असत्यभाषण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, अहंकार, असत्य, कपट आदिके प्रकरण आये हैं। उन्हें न तो सिद्धान्त समझना चाहिये और न अनुकरणीय ही। उन्हें सर्वथा हेय समझकर उनका त्याग ही करना चाहिये। असलमें श्रीमद्भागवतमें स्थान-स्थानपर जो इन दोषों-दुर्गुणों और दुराचारके त्यागका आदेश दिया गया है, उसीका पालन करना चाहिये। अच्छे पुरुषोंमें कहीं किसी दोषकी बात आयी है—जैसे ब्रह्माजीके काम, मोह आदि। तो वहाँ यही समझना चाहिये कि काम, मोहकी प्रबलता दिखलाकर बड़ी सावधानीसे उनका सर्वथा त्याग कर देनेके अभिप्रायसे ही वे बातें लिखी गयी हैं। उन्हें न तो विधि मानना चाहिये और न यही मानना चाहिये कि ब्रह्मादि देवताओं, महात्माओंमें ये दोष रहते हैं। कहीं अपवाद या छूटके रूपमें भी उन्हें स्वीकार न करना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें जहाँ-तहाँ काम-व्यभिचारकी निन्दा है, क्रोध और असत्यका विरोध है, चोरी-बरजोरी, हत्या, शिकार और मांस-सेवन आदिका निषेध है—कुछ थोड़े-से उदाहरण देखिये—

यस्त्विह वा अगम्यां स्त्रियमगम्यं वा पुरुषं योषिदभिगच्छति तावमुत्र कशया ताडयन्तस्तिग्मया सूर्म्या लोहमय्या पुरुषमालिङ्गयन्ति स्त्रियं च पुरुषरूपया सूर्म्या। (५।२६।२०)

'इस लोकमें यदि कोई पुरुष परस्त्रीसे अथवा कोई स्त्री परपुरुषसे व्यभिचार करती है तो यमदूत उन्हें 'तप्तसूर्मि' नामक नरकमें ले जाकर कोड़ोंसे पीटते हुए पुरुषको तपाये हुए लोहेकी स्त्री-मूर्तिसे और स्त्रीको तपायी हुई पुरुष-मूर्तिसे आलिंगन कराते हैं।'

बलि राजाने कहा है—

'न ह्यसत्यात्परोऽधर्मः' (८।२०।४)

'असत्यसे बढ़कर कोई अधर्म नहीं है।'

यस्त्विह वै स्तेयेन बलाद् वा हिरण्यरत्नादीनि ब्राह्मणस्य वापहरत्यन्यस्य वानापदि पुरुषस्तममुत्र राजन् यमपुरुषा अयस्मयैरग्निपिण्डैः सन्दंशैस्त्वचि निष्कुषन्ति।

(५। २६। १९)

'यहाँ जो व्यक्ति चोरी या बरजोरीसे ब्राह्मणके या आपत्तिकालके बिना ही किसी दूसरे पुरुषके सुवर्ण-रत्नादि पदार्थोंका हरण करता है, उसे मरनेपर यमदूत 'सन्दंश' नामक नरकमें ले जाकर तपाये हुए लोहेके गोलोंसे दागते हैं और सँड़सीसे उसकी खाल नोचते हैं।'

स्वयं भगवान्ने राजा मुचुकुन्दसे कहा है—

क्षात्रधर्मस्थितो जन्तून् न्यवधीर्मृगयादिभिः।
समाहितस्तत्तपसा जह्यघं मदुपाश्रितः॥

(१०। ५१। ६३)

'तुमने क्षत्रियवर्णमें शिकार आदिके द्वारा बहुत-से पशुओंकी हत्या की थी; अब एकाग्रचित्तसे मेरी उपासना करते हुए तपस्याके द्वारा उस पापको धो डालो।'

कपिलदेवजी कहते हैं—

अर्थैरापादितैर्गुर्व्या हिंसयेतस्ततश्च तान्।
पुष्णाति येषां पोषेण शेषभुग् यात्यधः स्वयम्॥

(३। ३०। १०)

'मनुष्य जहाँ-तहाँसे भयंकर हिंसा आदिके द्वारा धन बटोरकर स्त्री-पुत्रादिके पालन-पोषणमें लगा रहता है और शेष बचे हुए भागको खाकर पापका फल भोगनेके लिये स्वयं नरकमें जाता है।'

ये त्विह वै दाम्भिका दम्भयज्ञेषु पशून् विशसन्ति तानमुष्मिँल्लोके वैशसे नरके पतितान् निरयपतयो यातयित्वा विशसन्ति। (५।२६।२५)

'जो पाखण्डपूर्वक यज्ञोंमें पशुओंका वध करते हैं, वे निश्चय ही दाम्भिक हैं, उन पतितोंको परलोकमें 'वैशस' नरकमें डालकर वहाँके अधिकारी बहुत पीड़ा देकर काटते हैं।'

देवर्षि नारदजीने मरे पशुओंको आकाशमें दिखलाकर राजा प्राचीनबर्हिसे कहा है—

भो भोः प्रजापते राजन् पशून् पश्य त्वयाध्वरे।
संज्ञापिताञ्जीवसङ्घान् निर्घृणेन सहस्रशः॥
एते त्वां सम्प्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव।
सम्परेतमयःकूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यवः॥

(४। २५। ७-८)

'प्रजापालक नरेश! देखो-देखो, तुमने यज्ञमें निर्दयताके साथ जिन हजारों पशुओंकी बलि दी है, उन्हें आकाशमें देखो। ये सब तुम्हारे द्वारा दी हुई पीड़ाओंको याद करते हुए तुमसे बदला लेनेके लिये तुम्हारी बाट देख रहे हैं। जब तुम मरकर परलोकमें जाओगे, तब ये अत्यन्त क्रोधमें भरकर तुम्हें अपने लोहेके-से सींगोंसे छेद डालेंगे।'

सभी दोषोंको भागवतमें त्याज्य और महान् अशुभ फलदायक बतलाया गया है। लेखका कलेवर न बढ़ जाय, इसलिये यहाँ थोड़े ही उदाहरण दिये गये हैं।

दूसरी बात यह है कि इतिहासोंमें —कथाओंमें वर्णित सभी बातें आचरणीय नहीं होतीं। शास्त्रोंके विधिवाक्य ही आचरणीय होते हैं। निषेधवाक्य उनसे भी अधिक बलवान् होते हैं। शास्त्रोंमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, व्यभिचारादिके लिये कहीं भी विधि नहीं है—निषेध ही है। कहीं प्रासंगिक कोई बात हो तो भी उसे किसी भी अंशमें—किंचिन्मात्र भी, कभी किसी प्रकार भी उपादेय या अवलम्बन करने योग्य न मानना चाहिये।

असलमें जहाँ भगवान्की भक्ति होती है, वहाँ तो काम-क्रोधादि दोष रह ही नहीं पाते। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः॥

(६। १२। २२)

'जो मोक्षके स्वामी भगवान् श्रीहरिकी भक्ति करता है, वह तो अमृतके समुद्रमें खेलता है। क्षुद्र गढ़ैयामें भरे हुए मामूली गंदे जलके सदृश किसी भी भोगमें या स्वर्गादिमें उसका मन कभी चलायमान नहीं होता।' जब किसी भी भोगोंकी आसक्ति और कामना ही नहीं होती, तब निषिद्ध कर्म, दुर्गुण, दुराचार तो हो ही कैसे सकते हैं। गोसाईंजीने कहा है—

बसइ भगति मनि जेहि उर माहीं।
खल कामादि निकट नहिं जाहीं॥

अतएव यह निश्चय कर लेना चाहिये कि जो यथार्थमें भक्त, साधु या महापुरुष हैं, उनका हृदय, उनकी प्रत्येक क्रिया और चेष्टा, उनके उपदेश या भाव, उनके दर्शन और भाषण—सभी पवित्र होते हैं, पवित्र करनेवाले होते हैं। उनके सारे आचरण आदर्श और सब लोगोंके लिये कल्याणकारी होते हैं। यह सोचना चाहिये कि भक्त, संत और महापुरुषोंसे ही यदि जगत्को सदाचार और सद्गुणोंकी समुचित शिक्षा न मिलेगी तो फिर संसारमें सदाचारका आदर्श कौन होगा। अतएव श्रीमद्भागवतमें आये हुए प्रासंगिक काम, रमण, रति आदि शब्दोंका और वैसे प्रकरणोंका यदि

कोई पुरुष लौकिक गंदे काम, रमण आदि अर्थ करे तो उसे किसी भी अंशमें न मानना चाहिये। समय बड़ा विकट है। आजकल भक्त या साधुका वेष बनाकर न जाने कितने कपटी लोग अपनी दुर्वासनाओंकी पूर्तिके लिये लोगोंको ठग रहे हैं। ऐसे ही लोग प्रायः सद्ग्रन्थोंके इस प्रकारके प्रकरणोंका और शब्दोंका आश्रय लेकर—उन्हें महापुरुषोंमें अपवाद बतलाकर लोगोंको अपने चंगुलमें फँसाते हैं। संसारके भोले-भाले नर-नारी, जो महापुरुषोंके लक्षण और आचरणोंसे पूरे परिचित नहीं हैं, जिन्हें शास्त्रोंमें आये हुए ऐसे प्रकरणों या शब्दोंके अर्थका ठीक-ठीक पता नहीं है, वे लोग उन कामिनी-कांचन, इन्द्रियोंके नाना प्रकारके भोग और मान-बड़ाई तथा पूजा-प्रतिष्ठा चाहनेवाले, वाचाल दम्भियोंकी बातोंमें फँस जाते हैं। अतएव सभी भाई-बहिनोंसे निवेदन है कि वे सावधान हो जायँ और जिनके आचरणमें ये बुरी बातें दिखलायी दें अथवा जो शास्त्रोंके प्रमाण दे-देकर दुर्गुण, दुराचार, व्यभिचार, चोरी, कपट और असत्य आदिका समर्थन करें, उनको महात्मा कभी न मानें। यथार्थ श्रेष्ठ पुरुषमें दुर्गुण-दुराचार होते ही नहीं। वे परस्त्री-परद्रव्यकी तो बात ही क्या, शास्त्रानुकूल मान-बड़ाईके प्राप्त होनेपर भी सकुचाते हैं।

इसपर यदि कोई कहे कि इतिहासोंमें ज्ञानी पुरुषोंमें भी काम-क्रोध आदिके उदाहरण मिलते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि ज्ञानी पुरुषोंमें काम-क्रोध आदि नहीं होते। वे लोकसंग्रहार्थ नाट्य करते हों तो दूसरी बात है और यदि वास्तवमें काम-क्रोध हों तो शास्त्रके अनुसार उन्हें भगवत्प्राप्त सिद्ध, महात्मा या यथार्थ ज्ञानवान् न मानना चाहिये।

हाँ, पापी और दुराचारी भी भगवान्‌की भक्ति अवश्य कर सकते हैं और भक्तिमें लग जानेपर वे भी परम पवित्र बन सकते हैं।

श्रीभगवान्‌ने स्वयं कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

भगवान्‌की भक्तिके सभी अधिकारी हैं। कोई किसी भी जातिका हो, उसके अबतक कितने ही नीच आचरण हों, भगवान्‌के शरण होकर उनकी भक्ति करनेसे वह शीघ्र ही पवित्र हो जाता है और अन्तमें पापोंसे सर्वथा मुक्त होकर भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है।

इन सब बातोंपर ध्यान देकर प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह अपने जीवनको भजनमय बनानेकी चेष्टा करे। भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो—इसके लिये भगवान्‌के नामका जप, उनके गुण-प्रभाव-रहस्य-तत्त्वके ज्ञानसहित उनके स्वरूपका ध्यान और उनकी लीलाओंका श्रवण-कथन-मनन करे। यही मनुष्यका परम कर्तव्य है। जो ऐसा करता है, वह भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे पूर्णमनोरथ हो जाता है और यदि वह कुछ भी नहीं चाहता तो भगवान् अपने-आपको ही उसके अर्पण कर देते हैं।

जीवन थोड़ा है और नाना प्रकारके विघ्नोंसे भरा है। जो समय बीत गया, वह तो गया ही। अब शेष बचे हुए जीवनके प्रत्येक क्षणको भगवान्‌की सेवामें —उनके भजनमें लगा देना चाहिये। इसीमें मनुष्य-जीवनकी सार्थकता है। भगवत्प्राप्तिरूप परमकल्याणकी प्राप्ति मनुष्य-जीवनमें ही सम्भव है। उसीको प्राप्त करना चाहिये। दूसरे भोग तो और योनियोंमें भी मिल सकते हैं, परन्तु भगवान्‌की प्राप्ति तो इस मनुष्य-जन्ममें ही हो सकती है।

श्रीभगवान् कहते हैं—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। १७)

'यह मनुष्य-शरीर समस्त शुभ फलोंकी प्राप्तिका आदि कारण है, यह (पुण्यवान्‌के लिये) सुलभ और (पापात्माके लिये) अत्यन्त दुर्लभ है। (भवसागरसे पार होनेके लिये) सुदृढ़ नौकारूप है। गुरु ही इसके कर्णधार हैं। अनुकूल वायुरूप मेरी सहायता पाकर यह पार लग जाती है। (यह सब सुयोग पाकर भी) जो पुरुष संसार-समुद्रसे पार नहीं होता, वह आत्मघाती ही है।'

यही बात भगवान् श्रीरघुनाथजीने अपनी प्रजासे कही है—

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
करनधार सदगुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥
जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

कलियुगमें भगवत्प्राप्तिके साधन बहुत सुलभ हैं—भगवान्‌के नाम-संकीर्तनसे ही सारा काम बन सकता है। सत्संग मिल जाय, फिर तो कहना ही क्या है! श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥
(१।१८।१३)

'भगवत्संगी अर्थात् नित्य भगवान्‌के साथ रहनेवाले अनन्यप्रेमी भक्तोंके निमेषमात्रके भी संगके साथ हम स्वर्ग तथा मोक्षकी भी समानता नहीं कर सकते, फिर मनुष्योंके इच्छित पदार्थोंकी तो बात ही क्या है?'

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥
(१२।३।५१-५२)

'हे राजन्! दोषोंके खजाने कलियुगमें एक ही यह महान् गुण है कि भगवान् श्रीकृष्णके कीर्तनसे ही मनुष्य आसक्तिरहित होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है। सत्ययुगमें ध्यानयोगसे, त्रेतामें बड़े-बड़े यज्ञोंसे और द्वापरमें विधिपूर्वक पूजा-अर्चाके द्वारा भगवान्‌की आराधना करनेवालेको जो फल मिलता है, वही कलियुगमें केवल श्रीहरिके नाम-संकीर्तनसे ही मिल जाता है।'

अतएव भक्ति-श्रद्धापूर्वक श्रीभगवान्‌के नाम-गुणोंका जप-कीर्तन, महापुरुषोंका संग और श्रीमद्भागवत, गीता एवं रामायण-जैसे सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करके मनुष्य-जीवनको सफल बनानेकी चेष्टा प्राणपणसे करनी चाहिये।

गीताकी सर्वप्रियता

कुछ सज्जनोंने गीताके सम्बन्धमें कई प्रश्न किये हैं, उनके जो उत्तर उन्हें दिये गये हैं, वे सर्वोपयोगी होनेसे यहाँ लिखे जाते हैं।

***प्रश्न*—**गीतापर अनेक आचार्योंकी टीकाएँ हैं, उनमेंसे आप किस आचार्यकी टीकाको उत्तम और यथार्थ मानते हैं?

***उत्तर*—**जो भगवत्प्राप्त महापुरुष हैं, उन सभी आचार्योंकी टीकाओंको मैं उत्तम और यथार्थ मानता हूँ।

***प्रश्न*—**आचार्य तो अनेक हुए हैं, उनमें परस्पर बहुत ही मतभेद है, यहाँतक कि आकाश-पातालका अन्तर है। स्वामी श्रीशंकराचार्यजी अद्वैतवादका प्रतिपादन करते हैं तो स्वामी श्रीरामानुजाचार्यजी विशिष्टाद्वैतका। इसी प्रकार अन्यान्य आचार्य विभिन्न तरहसे प्रतिपादन करते हुए ही टीका लिखते हैं तो सभी टीकाएँ यथार्थ कैसे हो सकती हैं? सत्य तो एक ही हुआ करता है।

***उत्तर*—**तर्ककी दृष्टिसे जैसे आप कहते हैं, वह ठीक है। मान लें कि गीतापर एक सौ टीकाएँ हैं और सभी टीकाएँ एक-दूसरीसे भिन्न हैं तो उनमें प्रत्येक टीका शेष ९९ टीकाओंके विरुद्ध हो जाती है। इस न्यायसे तो इत्थम्भूत एक भी नहीं ठहरती। किन्तु किसी भी आचार्यकी टीकाके अनुसार उसका अनुयायी अच्छी प्रकार अनुष्ठान करे तो उससे उसे परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है—इस न्यायसे सभी टीकाएँ ठीक हैं।

***प्रश्न*—**आप कौन-सी टीकाको सर्वोपरि मानते हैं और किसके अनुयायी हैं?

***उत्तर*—**मैं तो सभीको उत्तम मानता हूँ और मैं अनुयायी किसी एकका नहीं, सभीका अनुयायी हूँ। क्योंकि मैं प्रायः सभीसे अच्छी बातें करता रहता हूँ और मैंने बहुत-सी टीकाओंसे मदद ली है तथा ले रहा हूँ। सभी हमारे पूज्य हैं, अतः मैं सभीको आदरकी दृष्टिसे देखता हूँ एवं किसी भी आचार्यकी की हुई टीकाके अनुसार अनुष्ठान करनेसे परमात्माकी प्राप्ति मानता हूँ। किन्तु टीकाओंकी अपेक्षा मूलको ही सर्वोत्तम मानता हूँ; क्योंकि कोई भी आचार्य मूलका विरोध नहीं करते, बल्कि भगवद्वाक्य होनेसे सब मूलका ही आदर और प्रशंसा करते हैं तथा मूलको आधार मानकर ही सब चलते हैं एवं उसीके अनुसार अन्य सभीको वे चलाना चाहते हैं। इसलिये आचार्योंकी टीकाओंकी अपेक्षा मूल ही सर्वोत्तम है।

***प्रश्न*—**स्वामी श्रीशंकराचार्यजी गीताका अद्वैतपरक अर्थ करते हैं और भक्तिमार्गवाले द्वैतपरक तथा कर्ममार्गवाले कर्मयोगपरक, तो गीताका प्रतिपाद्य विषय ज्ञानयोग है या भक्तियोग अथवा कर्मयोग? एवं वे ऐसी खींचातानी करके प्रतिपादन ही करते हैं या उनकी ऐसी ही मान्यता है?

***उत्तर*—**उनकी अपनी-अपनी खींचातानी बतलाना तो उनकी नीयतपर दोष लगाना है सो ऐसा कहना उचित नहीं। उनको गीताका जो अर्थ प्रतीत हुआ, वैसा ही उन्होंने लिखा है। यह गीताके लिये गौरव है कि सभी मत-

मतान्तरवाले उसे अपनाते हैं। गीता ऐसा ही रहस्यमय ग्रन्थ है जो कि सभीको अपने ही भाव उसमें ओत-प्रोत दीखते हैं; क्योंकि वास्तवमें गीतामें ज्ञानयोग (अद्वैतवाद), भक्तियोग (द्वैतवाद) और कर्मयोग (निष्काम कर्म)— सभीका सांगोपांग प्रतिपादन किया गया है।

प्रश्न—सभी भगवत्प्राप्त पुरुषोंकी प्रापणीय वस्तु, गीतावक्ता तथा गीताग्रन्थके एक होनेपर भी भगवत्प्राप्त आचार्योंको गीताके अर्थकी प्रतीति भिन्न-भिन्न होनेमें क्या कारण है?

उत्तर—सबकी प्रापणीय वस्तु एक होनेपर भी सबके पूर्वके संस्कार, संग, साधन, स्वभाव और बुद्धि भिन्न-भिन्न होनेके कारण उनके कहने-समझानेकी शैली और पद्धति भिन्न-भिन्न हुआ करती है। तथा भगवान्‌को जिस समय जिस पुरुषके द्वारा जैसे भावोंका प्रचार कराना होता है, वही भाव उस आचार्यके हृदयमें उस समय प्रकट हो जाते हैं और उन्हें गीताका अर्थ और भाव वैसे ही प्रतीत होने लग जाता है।

प्रश्न—जब सबका कहना भिन्न-भिन्न है तो सभीका कथन यथार्थ कैसे हो सकता है?

उत्तर—एक दृष्टिसे सभीका कथन यथार्थ है और दूसरी दृष्टिसे किसीका कहना भी यथार्थ नहीं। भगवत्प्राप्तिरूप अन्तिम परिणाम सबका एक होनेपर भी सबका कथन अलग-अलग हो सकता है। जैसे द्वितीयाके चन्द्रमाका दर्शन करनेवाले व्यक्तियोंमेंसे कोई एक तो ऐसा बतलाते हैं कि चन्द्रमा उस वृक्षकी टहनीसे ठीक एक बित्ता ऊपर है। दूसरा व्यक्ति कहता है कि चन्द्रमा इस मकानके कोनेसे सटा हुआ है। तीसरा आदमी खड़ियामिट्टीसे लकीर खींचकर बतलाता है कि ऐसी ही आकृतिका चन्द्रमा है और उस उड़ते हुए पक्षीके दोनों पंजोंके ठीक बीचमें दीख रहा है। और चौथा व्यक्ति सिरकीके आकारका बतलाता हुआ इस प्रकार संकेत करता है कि चन्द्रमा मेरी अँगुलीके ठीक सामने दीख रहा है। जैसे इन सभी व्यक्तियोंका लक्ष्य चन्द्रमाका दर्शन करानेका है और वे अपनी शुभ नीयतसे ही अपनी-अपनी प्रक्रिया बतलाते हैं; पर एक-दूसरेके कथनमें परस्पर आकाश-पातालका अन्तर है। इसी प्रकार सभी आचार्योंका उद्देश्य एक है, सभी साधकोंको भगवत्प्राप्ति करानेके उद्देश्यसे कहते हैं; परन्तु उनके कथनमें परस्पर अत्यन्त भेद है। हाँ, अन्तिम परिणाम सबका एक होनेसे सभीका कहना ठीक है अर्थात् किसी भी आचार्यके कथनानुसार चलनेसे वास्तविक परमात्मप्राप्ति हो जाती है, इस न्यायसे सभीका कहना यथार्थ है। किन्तु शब्दोंका अर्थ लगाकर तर्क करें तो किसीका भी कहना ठीक नहीं ठहरता, क्योंकि वास्तवमें चन्द्रमा न तो वृक्षसे एक बित्ता ऊँचा है, न मकानसे ही सटा हुआ है, न पक्षीके पंजोंके बीचमें ही है और न अँगुलीके ठीक सामने ही है तथा न चन्द्रमाकी आकृति ही उन लोगोंके कहनेके अनुसार ही है। शब्दोंपर तर्क करनेसे तो कोई-सी भी बात कायम रह नहीं सकती।

प्रश्न—भगवद्वाक्यरूप गीताके मूलपर श्रद्धा रखनेवाला व्यक्ति गीताका यथार्थ अर्थ जानना चाहता है; किन्तु वह अनेकों टीकाओंको पढ़नेसे संशय-भ्रममें पड़ जाता है, तो उसे यथार्थतः गीताका ज्ञान हो, इसके लिये वह क्या उपाय करे?

उत्तर—जो भगवद्वाक्योंको इत्थम्भूत मानकर उनके अनुसार अपना जीवन बनानेके उद्देश्यसे भगवान्‌के ऊपर निर्भर होकर अपनी बुद्धिके अनुसार विशुद्ध नीयतसे मूल शब्दोंके अर्थका खयाल रखता हुआ उनमें प्रवेश होकर उनका स्वाध्याय और अनुशीलन करता रहता है तो भगवत्कृपासे उसके संशय-भ्रम आदि सबका नाश होकर गीताका इत्थम्भूत यथार्थ ज्ञान उसे स्वयमेव हो जाता है।

प्रश्न—जो भगवत्प्राप्त पुरुष नहीं हैं, ऐसे पुरुषोंके द्वारा भी गीतापर बहुत-सी टीकाएँ देखनेमें आती हैं, उन टीकाओंका अनुशीलन करके तदनुसार साधन करनेसे भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है क्या?

उत्तर—जो गीताको इष्ट मानकर भगवद्वाक्योंको यथार्थ समझता हुआ अपना जीवन गीतामय बनानेके लिये गीतापर निर्भर होकर श्रद्धा और प्रेमपूर्वक अर्थसहित मूलका अथवा केवल टीकाओंका अनुशीलन करता रहता है, उसको गीता स्वयं उन टीकाओंके द्वारा हुई भ्रमित धारणाका निवारण करके यथार्थ बोध करा देती है।

प्रश्न—भगवत्प्राप्त महापुरुषकी ही यह टीका है अथवा किसी साधारण पुरुषकी की हुई है, इसका निर्णय कैसे हो?

उत्तर—जिस टीकाके अध्ययनसे परमात्माकी स्मृति हो, हृदयमें परमात्मा और गीतापर श्रद्धा-प्रेम बढ़े, सद्गुण-सद्भावोंकी जागृति हो और उस टीकाकी ओर आकर्षण हो, उसी टीकाको भगवत्प्राप्त महापुरुषके द्वारा की हुई मानना चाहिये।

प्रश्न—सभी मत-मतान्तरवाले, सभी सम्प्रदायके लोग गीताको अपनाते हैं और उनको अपने ही भाव उसमें दीखते हैं तो भगवान्‌ने भविष्यमें होनेवाले उन सब भावोंको ध्यानमें रखकर ही उस समय गीता कही थी क्या?

उत्तर—भगवान् भूत, भविष्य और वर्तमानमें होनेवाले सर्व भूतोंके सभी भावोंको तो जानते ही हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

(७। २६)

'हे अर्जुन! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ, परन्तु मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता।'

इसलिये भगवान्‌ने उन सब भावोंका ध्यान रखकर ही यदि गीता कही हो तो भी कोई असम्भव बात नहीं है। तथा गीताका सिद्धान्त ही ऐसा अलौकिक और यथार्थ है कि अच्छी नीयतसे त्यागपूर्वक प्रचार करनेवाले आचार्योंके हृदयमें स्वाभाविक गीताके ही यथार्थ भाव उत्पन्न हुआ करते हैं। इसलिये श्रद्धा और प्रेमसे देखनेपर उनको अपने-अपने भावोंके अनुसार ही गीता प्रतीत होने लगती है।

***प्रश्न*—**गीतामें ऐसी क्या विलक्षण वस्तु है जिससे सनातनधर्मके अतिरिक्त दूसरे मतको माननेवाले भी गीताकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं?

उत्तर—गीतामें किसी व्यक्तिकी या किसी मतकी निन्दा नहीं की गयी। जो बात कही गयी वह युक्तियुक्त और न्यायसंगत कही गयी है। अच्छे-बुरे आदमीका निर्णय भाव और आचरणोंसे किया गया है, किसी जाति या बाहरी चिह्नविशेषसे नहीं। मनुष्यमात्रका आत्म-कल्याणमें अधिकार बतलाया गया है, सर्वप्रिय समताको ही विशेषता दी गयी एवं समताको ही साधक और सिद्धकी कसौटी माना गया है। अथ च गीताके सुनने-समझनेसे भी शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है, फिर उसके अनुसार अनुष्ठान करनेवालेकी तो बात ही क्या है। गीताका भाषा, भाव, अर्थ, ज्ञान, उसकी पद्यरचना और उसका गायन बहुत ही सुमधुर, सुन्दर, सुगम और सुरुचिकर है। इसलिये सभी वर्गके लोग उसकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं।

***प्रश्न*—**गीताका पाठ करना उत्तम है या उसे गाना एवं अर्थ समझना उत्तम है या उसका भाव समझना?

उत्तर—पाठ करनेकी अपेक्षा प्रेमपूर्वक मधुर स्वरसे गायन करना उत्तम है। गायनके साथ-साथ अर्थका ज्ञान रहे तो वह और भी उत्तम है। गीताके भावोंको हृदयमें धारण करना उससे भी उत्तम है एवं उन भावोंके अनुसार अपना जीवन बनाना सर्वोत्तम है।

***प्रश्न*—**गीतामें प्रथम कर्म, फिर उपासना और तदनन्तर ज्ञानके साधनसे मुक्ति होती है—इस प्रकार साधनकी प्रणाली है अथवा कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग—ये तीनों स्वतन्त्र मुक्तिदायक हैं?

उत्तर—प्रथम कर्म, फिर उपासना और उसके बाद ज्ञानके साधनसे मुक्ति होती है—यह क्रम भी है और इसके अतिरिक्त परस्पर स्वतन्त्र केवल कर्मयोगसे, केवल भक्तियोगसे अथवा केवल ज्ञानयोगसे भी मुक्ति बतलायी गयी है। जैसे—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

(गीता १३। २४)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं; अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं।'

यदि कहें कि बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं होती—(**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**) तो ठीक ही है; किन्तु निष्कामकर्मसे अन्तःकरण शुद्ध होकर साधकको अपने-आप तत्त्वज्ञान हो जाता है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(गीता ४। ३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

इसी प्रकार भेदोपासनासे भी भगवत्कृपाद्वारा तत्त्वज्ञान हो जाता है।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०। ९-११)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। और हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

इसी प्रकार ज्ञानयोगके साधनसे भी तत्त्वज्ञान हो जाता है तथा ज्ञान होनेपर मुक्ति अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति हो ही जाती है।

प्रश्न—कर्मयोगके साथ भक्तियोग और ज्ञानयोग, भक्तियोगके साथ कर्मयोग और ज्ञानयोग तथा ज्ञानयोगके साथ कर्मयोग और भक्तियोग एक साथ रह सकते हैं या नहीं?

उत्तर—कर्मयोगके साथ भक्तियोग और परमात्माके स्वरूपका ज्ञान रह सकता है; किंतु अभेदोपासनारूप ज्ञानयोग उसके साथ एक कालमें नहीं रह सकता; क्योंकि कर्मयोगमें भेद-बुद्धि और संसारकी सत्ता रहती है तथा ज्ञानयोगमें इससे विपरीत अभेदबुद्धि और संसारका अभाव रहता है। इसलिये कर्मयोग और ज्ञानयोग परस्पर-विरुद्ध भावयुक्त साधन होनेसे एक कालमें एक साथ नहीं रह सकते।

भक्तियोग (भेदोपासना)के साथ कर्मयोग और परमात्माके स्वरूपका ज्ञान रह सकता है; किंतु अभेदोपासनारूप ज्ञानयोग नहीं रह सकता; क्योंकि एक ही पुरुषके द्वारा एक कालमें परस्पर-विरुद्ध भाव होनेसे भेदोपासना और अभेदोपासना एक साथ नहीं की जा सकती।

ज्ञानयोगके साथ शास्त्रविहित कर्म रह सकते हैं; परन्तु कर्मयोग और भक्तियोग नहीं रह सकते। क्योंकि ज्ञानयोगमें अद्वैतभाव है तथा कर्मयोग और भक्तियोगमें द्वैतभाव है—अतः एक पुरुषमें एक कालमें दो प्रकारके भावोंका अस्तित्व सम्भव नहीं। अर्थात् अभेद-ज्ञानके साथ भक्तियोग और कर्मयोग एक साथ नहीं रह सकते; परंतु भक्तियोग और कर्मयोग—दोनोंमें द्वैतभाव और संसारकी सत्ता समान होनेके कारण ये दोनों एक साथ रह सकते हैं।

प्रश्न—भगवत्प्राप्त आचार्योंमेंसे किन-किन आचार्योंका सिद्धान्त निर्दोष है?

उत्तर—भगवत्प्राप्त सभी आचार्योंकी जो मान्यता है, उसीको उनके अनुयायी सिद्धान्त कहते हैं; किन्तु वास्तवमें सिद्धान्त तो जो अन्तिम प्रापणीय वस्तु है, वही है और वह सबका एक है। उनकी मान्यताको सिद्धान्त इसलिये मानते हैं कि उसे सिद्धान्त माननेसे साधनमें तत्परता होती है। इसलिये उनकी मान्यताको सिद्धान्तका रूप देना उचित ही है और भगवत्प्राप्त आचार्योंके द्वारा चलाये हुए सभी मार्ग श्रद्धालुके लिये मुक्तिदायक होनेसे निर्दोष हैं; किन्तु तर्ककी कसौटीपर कसनेसे कोई भी निर्दोष नहीं ठहर सकता।

प्रश्न—आप द्वैत (भेदोपासना) और अद्वैत (अभेदोपासना)इनमें- से किसको उत्तम मानते हैं तथा साधकोंके लिये किसको उत्तम बतलाते हैं?

उत्तर—दोनोंको ही उत्तम मानता हूँ और जो जैसा अधिकारी होता है, उसके लिये उसीको उत्तम बतलाता हूँ।

प्रश्न—कौन किसका अधिकारी है—इसका आप किस प्रकार निर्णय करते हैं?

उत्तर—जिसकी श्रद्धा और रुचि भेदोपासनामें होती है, वह भेदोपासनाका और जिसकी अभेदोपासनामें होती है, वह अभेदोपासनाका अधिकारी है; किन्तु जबतक श्रद्धा और रुचिका निर्णय नहीं होता, तबतक परमात्माके नामका जप, उनके स्वरूपका ध्यान, सत्पुरुषोंका संग, सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय—इनको मैं सभी साधकोंके लिये उत्तम समझता हूँ।

प्रश्न—आप साधकके लिये किस नामका जप और किस रूपका ध्यान बतलाते हैं?

उत्तर—वह सदासे ॐ, शिव, राम, कृष्ण, नारायण, हरि आदिमें- से जिस नामका जप तथा जिस साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण रूपका ध्यान करता आया है अथवा जिस नाम और जिस रूपमें उसकी श्रद्धा-रुचि होती है, उसीको करनेके लिये कहा जाता है या पूछनेके समय उसके भावोंके अनुसार मेरे हृदयमें जैसा भाव उत्पन्न होता है, उसके अनुसार भी बतलाया जाता है।

वैराग्य और उपरामता

वैराग्यकी बात वैराग्यवान् पुरुष ही कह सकता है और उसीका कहना सार्थक भी है; क्योंकि वैराग्यवान् पुरुषोंके साथ वैराग्य मूर्तिमान् होकर चलता है। वे जिस मार्गसे जाते हैं, उस मार्गमें वैराग्यकी बाढ़ आ जाती है। वैराग्यवान् पुरुषोंके नेत्रोंसे वैराग्यकी लहरें निकल-निकलकर चारों ओर फैलती रहती हैं। सभी भाव अपने सजातीय भावोंको जाग्रत् करते हैं—यह नियम है। अतः वैराग्यकी ये लहरें जिन-जिन मनुष्योंके हृदयमें प्रवेश करती हैं, उन-उन मनुष्योंके अन्तःकरणमें स्थित वैराग्यके भावोंको जाग्रत् करती हैं, उन्हें तीव्र करती हैं।

वैराग्यके साथ उपरामता एवं ध्यानका अविच्छिन्न सम्बन्ध है। आगे-आगे वैराग्य रहता है, उसके पीछे उपरामता तथा इन दोनोंके पीछे परमात्माका ध्यान। इस प्रकार वैराग्य, उपरामता और ध्यानका पारस्परिक सम्बन्ध वैसा ही है जैसा राम, सीता एवं लक्ष्मणका पथिक रूपमें मिलता है। रामके साथ सीताजी रहती हैं, सीताजीके साथ

राम। रामके बिना लक्ष्मणको चैन नहीं और लक्ष्मणके बिना रामको। राम और लक्ष्मण सीताजीको अपने बीचमें रखते हैं। ठीक इसी प्रकार जहाँ वैराग्य और ध्यान है, वहाँ उपरामता उनके बीचमें अवश्य विद्यमान रहती है अर्थात् वैराग्यसे उपरामता और उपरामतासे परमात्माका ध्यान स्वत:सिद्ध है।

वैराग्यवान् पुरुषके दर्शनमात्रसे वैराग्य उत्पन्न हो सकता है। फिर उसके इशारेसे, व्याख्यानसे वैराग्य उत्पन्न हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। सच्चे वैराग्यवान् पुरुषके प्रवचनसे वेश्यातकको भी वैराग्य हो जाता है। दत्तात्रेयजीके दर्शनसे वेश्याको वैराग्य हो गया था। यवनभक्त हरिदासजीकी क्रियाओंसे उनके विरोधियोंद्वारा भेजी हुई अत्यन्त पटु वेश्या भी अपनी वेश्या-वृत्ति छोड़ संसारसे विरक्त होकर हरिनामपरायण हो गयी। जिसको फँसाने गयी थी उसके सर्वबन्धनसे मुक्त करनेवाले जालमें स्वयं फँस गयी। सच्चे वैरागियोंका यही तो लक्षण है—कामी-से-कामी पुरुषमें भी वैराग्यकी ज्वाला उत्पन्न कर देना।

श्रीपातंजलयोगदर्शनमें आया है—'**वीतरागविषयं वा चित्तम्**' (१। ३७) 'वीतराग पुरुषोंको विषय करनेवाला (स्मरण करनेवाला) चित्त समाधिस्थ हो जाता है।' अर्थात् जो वीतराग पुरुष हैं, उनका ध्यान करनेसे चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होता है। अत: चित्तवृत्तियोंके निरोधके लिये—श्रीशुकदेवजी-जैसे वीतराग पुरुषोंका ध्यान करना चाहिये। श्रीशुकदेवजीकी उपरामता, उनके वैराग्य आदिके विषयमें क्या कहा जाय? एक बार वे किसी सरोवरके पाससे होकर निकले। सरोवरमें बहुत-सी स्त्रियाँ विवस्त्र होकर स्नान कर रही थीं। कुछ ही क्षण बाद उसी मार्गसे श्रीवेदव्यासजी निकले। उन्हें देखते ही सब स्त्रियाँ सकुचा गयीं और जलसे बाहर निकलकर जल्दी-जल्दी अपने कपड़े पहन, अतिविनीत भावसे प्रार्थना करने लगीं। वेदव्यासजी आश्चर्यमें डूब गये कि मेरा युवक पुत्र शुकदेव अभी-अभी यहाँसे निकला है। उसको देखकर तो इन स्त्रियोंने कुछ भी लज्जा न की; किन्तु मुझ वृद्धको देखकर इन्होंने झट लज्जासे कपड़े पहन लिये। इसका क्या रहस्य है? उन्होंने उन स्त्रियोंसे ही इसका कारण पूछा। स्त्रियोंने उत्तर दिया—'स्वामिन्! शुकदेवजीके मनमें यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह वृक्ष है, यह पशु है, यह पक्षी है—ऐसा भेदभाव नहीं है! उनको कुछ पता ही नहीं कि ये स्त्रियाँ हैं या वृक्ष। परन्तु आपके मनमें अभीतक यह भेद विद्यमान है। इसीसे हमलोगोंने सकुचाकर कपड़े पहन लिये।' इससे शुकदेवजीकी उपरामताका पता लगता है।

श्रीमद्भागवतमें जडभरतजीका वर्णन आता है। उनपर भी वैराग्यका नशा चढ़ा था और वह भी इतना अधिक कि ऐसा प्रतीत होता था मानो उन्होंने शराब पी ली हो। शराबका नशा तामसी होता है, अन्नका राजसी और वैराग्यका सात्त्विक। जडभरतजी वैराग्य एवं उपरामताके नशेमें चूर रहते थे। उनकी इस मस्तीको संसारके लोग भला क्या समझें? जिसको जिस वस्तुका कुछ ज्ञान नहीं, कुछ अनुभव नहीं, उसका महत्त्व वह कैसे आँक सकता है? अत: घरवालों और बाहरवालोंने उन्हें मूर्ख समझ लिया था। एक बार भद्रकालीकी बलिके लिये कुछ डाकू उन्हें पकड़कर ले गये। जिस समय डाकुओंने जडभरतजीको मारनेके लिये तलवार निकाली, उसी क्षण देवी प्रकट हो गयीं और मारनेवालोंका संहार करने लगीं। जडभरतजीसे देवीने वरदान माँगनेके लिये कहा। देवीका आग्रह देख उन्होंने यही वरदान माँगा कि इन सबको जिला दो। कितना त्याग है! अपने प्राण लेनेका प्रयत्न करनेवालोंके प्रति भी कितनी दया है!

एक बार जडभरतजी राजा रहूगणजीकी पालकीमें जोड़ दिये गये। कोई जीव पैरोंतले न दब जाय—इस डरसे वे देख-देखकर पैर रखते थे। अतएव दूसरे कहारोंसे उनकी चालका मेल न होनेसे पालकी टेढ़ी-सीधी होने लगी। राजाको यह बात बहुत बुरी लगी। उन्होंने क्रोधसे लाल होकर जडभरतजीको बहुत बुरा-भला कहा, मारनेकी बात कही। ऊपर-नीचेकी बात कही। जडभरतजीने उत्तर दिया—'राजन्! कौन ऊपर है, कौन नीचे। मुझपर पालकी है, पालकीपर आप, आपपर छत एवं छतपर आकाश। मारेंगे किसको? आत्मा अमर है, शरीर नाशवान्।' राजा इन रहस्यमय शब्दोंको सुन पालकीसे कूद पड़े। उनको मालूम हुआ ये तो महात्मा हैं। झट उनके चरणोंमें गिर पड़े। दयालु जडभरतजीने उपदेश दिया, जिससे राजाको वैराग्य होकर परमात्माकी प्राप्ति हो गयी। ध्यान लगनेके लिये सौ युक्तियोंकी एक युक्ति वैराग्य है। ध्यान करनेवाले योगी महात्मा तो वैराग्यका आश्रय लेते हैं और युक्तियाँ फिर अपने-आप पैदा होती रहती हैं।

संसारके पदार्थोंमें आसक्ति न होनेका नाम वैराग्य है। संसारके भोगोंमें आसक्ति—प्रीति नहीं, ब्रह्मलोकतकके भोग काक-विष्ठाके समान अत्यन्त हेय प्रतीत हों, यह वैराग्य है। इन पदार्थोंकी ओर वृत्तियाँ जायँ ही नहीं, यह उपरामता है। वैराग्ययुक्त उपरामता ही श्रेष्ठ है। बिना वैराग्यकी उपरामता तो कच्ची है, मनको धोखा देनेवाली है। ऋषभदेवजीमें बड़ी उच्चकोटिकी उपरामता थी, गौतमबुद्धसे भी बढ़कर। उनके समान उपरामताका और

कोई उदाहरण नहीं मिलता। संसारमें विचरते हुए भी उनको संसारका ज्ञान नहीं था। वनमें आग लगी है, उनको पता नहीं। शरीरमें आग लगी और वह शान्त भी हो गयी। पर उनको आगका पता ही नहीं चला। यह उपरामताकी सीमा है। वे ऐसी मस्तीमें स्थित हैं कि कुछ पता ही नहीं। देहाध्यास ही नहीं। किसी भी संन्यासीमें किसी भी गृहस्थमें ऐसी उपरामता हो तो वह बड़ी प्रशंसनीय है।

उपरामताके दो भेद हैं—भीतरी और बाहरी। दोनों ही श्रेष्ठ हैं, किन्तु आत्माके वास्तविक कल्याणके लिये भीतरीका ही अधिक महत्त्व है। राजा जनकमें बाहरी उपरामता नहीं थी। वास्तवमें तो उनके लिये जगत्‌का अभाव ही था। शुकदेवजीमें दोनों उपरामताएँ थीं—भीतरी भी और बाहरी भी। राजा जनकने उनको इस बातका बोध कराया। उन्होंने शुकदेवजीको बतलाया कि 'महाराज! आपमें भीतरकी एवं बाहरकी दोनों उपरामताएँ हैं। आप मुझसे श्रेष्ठ हैं। आपको कुछ सीखना नहीं है, जाकर ध्यान लगाइये।'

शुकदेवजीने जाकर ध्यान लगाया। उनकी समाधि लग गयी और उन्हें परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो गयी।

समुद्रमें चारों ओरसे नदियोंका जल गिरता है, परन्तु वह गम्भीर है, परिपूर्ण है, अचलप्रतिष्ठ है, वह निरन्तर नदियोंके गिरते रहनेसे तनिक भी चलायमान नहीं होता, अपनी मर्यादाको नहीं छोड़ता। इस प्रकार ज्ञानी, महात्मा, विरक्त, निष्काम पुरुष सदैव अपनी महिमामें परिपूर्ण हैं। संसारके नाना प्रकारके कोई भी भोग उनके मनको विचलित नहीं कर सकते (गीता २। ७०)। संसारके भोग आकर उनको प्राप्त होते हैं और वे उनका यथायोग्य व्यवहार भी करते हैं, पर उनमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। उलटे उन्हें तो शान्ति प्राप्त होती है।

ज्ञानी महात्माकी दृष्टिमें संसारका आत्यन्तिक अभाव है और संसारी पुरुषोंकी दृष्टिमें परमात्माका। विषयीके मनमें यह शंका तो रहती है कि परमात्मा है कि नहीं, परन्तु नास्तिक तो कहता है, है ही नहीं। इसी प्रकार ज्ञानीके लिये संसार है ही नहीं।

गीतामें दूसरे अध्यायके ६८ वें से ७१ वें श्लोकतक ब्राह्मी स्थितिका वर्णन किया गया है। जिसको यह स्थिति प्राप्त हो जाती है, वह फिर मोहको प्राप्त नहीं होता। यदि अन्तकालमें भी यह निष्ठा प्राप्त हो जाय तो निश्चय ही उसे ब्रह्मानन्दकी, निर्वाणब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

(गीता २। ७२)

गीताके दूसरे अध्यायके ६८वें से ७१वें तकके श्लोकोंमें ब्राह्मी स्थितिका वर्णन है। ६८ वें ६९ वेंमें सिद्ध पुरुषोंकी उपरामताका वर्णन किया गया है और ७०-७१ में उनके वैराग्यका।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥
विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥*

(गीता २। ६८—७१)

सिद्ध पुरुषोंकी तो यह स्थिति है और साधकके लिये यही साधन है। रागी और वैराग्यवान्‌में रात-दिनका अन्तर है। एकको अन्धकार कहें तो दूसरा प्रकाश है। वैराग्यवान् पुरुषकी पहचान होनी बड़ी कठिन है। हम अपनी मोहग्रसित बुद्धिके द्वारा वैराग्यवान् पुरुषके बाहरी आचरणोंको देखकर उसका महत्त्व समझना चाहें तो कभी नहीं समझ सकते। कपूरकी गन्धको कुत्ता क्या समझे? कस्तूरीकी पहचान गधा क्या कर सकता है? बस, यही बात वैराग्यवान् पुरुषके विषयमें है। वह स्वयं ही अपनेको जानता है या थोड़ा-बहुत अनुमान कोई दूसरा वैराग्यवान् पुरुष कर सकता है। जो पदार्थ रागी पुरुषको प्रिय होते हैं, उसको सुख पहुँचानेवाले होते हैं, वे ही पदार्थ सच्चे भक्तको (वैराग्यवान् पुरुषको) उलटी (वमन)-के समान हेय प्रतीत होते हैं—

* 'इसलिये हे अर्जुन! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है। सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये जो रात्रिके समान है, उस नित्य-ज्ञानस्वरूप परमानन्दकी प्राप्तिमें स्थितप्रज्ञ योगी जागता है और जिस नाशवान् सांसारिक सुखकी प्राप्तिमें सब प्राणी जागते हैं, परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रिके समान है। जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले, समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं। जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्तिको प्राप्त है।'

रमाबिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥
(रामचरित०, अयोध्या०)

वैराग्यवान् साधकको विषय विषके समान लगते हैं। रागीको इत्र- फुलेल, लवेंडर आदि चीजें अत्यन्त प्रिय लगती हैं, पर वैराग्यवान् साधकको ये चीजें ऐसी लगती हैं मानो मल-मूत्र हों। उसके शरीरसे कहीं इनका स्पर्श हो जाता है तो उसको ऐसी घृणा होती है मानो पेशाबका छींटा उसपर गिर गया हो। एकदम उलटी बात है। मखमलका गद्दा रागीको अच्छा मालूम होता है पर वैराग्यवान् साधकको वह दुःखरूप प्रतीत होता है। पर कहीं उसका पैर हेसियन (Hessian)-की चट्टीपर पड़ जाता है तो वैराग्यके नशेमें वह अत्यन्त प्रिय लगती है। यहाँ बहुत-से लोग सो गये। रातको ठंड पड़नेकी सम्भावनासे उनके पास ही बहुतसे कम्बल, दुशाले, हेसियनकी चट्टी आदि रख दी गयी। रातको रागीका हाथ दुशालेपर ही पड़ेगा। कम्बलपर भी पड़ सकता है, पर तभी जब कि दुशालेसे सर्दी दूर न हो। वैराग्यवान् साधकका हाथ स्वाभाविकरूपसे हेसियनकी चट्टीपर ही जायगा। चाहे जान-बूझकर दोनों ऐसा न करें, परन्तु स्वाभाविकरूपसे उनके द्वारा ये ही क्रियाएँ होंगी। दोनोंका अपना-अपना स्वभाव बन गया है वह जाने-अनजाने स्वतः ही अपनी रुचिके अनुकूल क्रियाओंमें प्रवृत्त हो जाता है।

वैराग्यवान्को जो सुख मिलता है, वह रागीके भाग्यमें कहाँ। वैराग्यवान्का सुख शुद्ध सात्त्विक है। यदि कहीं फूलोंकी वर्षा होती हो तो वहाँ वैराग्यवान् पुरुष जायगा ही नहीं; क्योंकि वह वस्तु उसे हृदयसे बुरी लगती है। देवतागण उसके लिये विमान लेकर आते हैं पर वह आँख खोलकर उनकी ओर देखता ही नहीं, वह विमानसे घबराता है। वह तो अपने आत्मसुखमें मस्त रहता है। उसे कितना सुख मिलता है ! दधीचिके पास इन्द्र जाता है। ऋषि ध्यानमें मस्त हैं। आँख खुलनेपर इन्द्र उपदेश करनेके लिये प्रार्थना करता है। ऋषि कहते हैं—'तुम्हारा सुख कुत्तेका-सा है। स्वर्गके अपार वैभवके बीच जो सुख तुम अपनी पत्नी शचीके साथ भोगते हो, वही सुख एक कुत्ता अपनी कुतियाके साथ घूरेपर अनुभव करता है।' वास्तवमें यदि ध्यानपूर्वक सोचें तो बात भी ऐसी ही है। विषयसुखका क्या महत्त्व है! कुछ भी नहीं।

छोटे बच्चे मखमलके कोट पहनते हैं, जरीकी टोपियाँ ओढ़ते हैं, खिलौनोंको लेकर खूब आमोद-प्रमोद करते हैं। कभी-कभी अपने पितासे भी कह बैठते हैं—'पिताजी! आप भी खेलें।' पिता उनकी बात सुनकर हँसता है; क्योंकि वैसे चमकीले कपड़ोंसे, वैसे खिलौनोंसे उसकी स्वाभाविक अरुचि है। उसको वे अच्छे नहीं लगते। ऐसे ही वैराग्यवान् पुरुषको भोगोंकी वस्तुएँ अच्छी नहीं लगतीं। वे इनको देखकर हँसते हैं। वैराग्यमें उन्हें इतना आनन्द मिलता है कि उसके साथ अमृतकी क्या बात कही जाय। उनके हृदयमें क्षण-क्षणमें आनन्दकी लहरें उठती रहती हैं। इस स्थितिको कैसे समझा या समझाया जाय। जिसमें वैराग्य हो, वही इसको समझ सकता है। यह स्वयं अनुभव करनेकी वस्तु है, कहने-सुननेसे इसका अनुभव नहीं हो सकता। साँप काटनेपर जैसे दुःखकी—पीड़ाकी लहरें आती हैं, समुद्रमें जैसे जलकी लहरें उठती हैं तथा बिजलीके करेंटको छूनेसे जिस प्रकार तमाम शरीरमें एक लहर दौड़ जाती है, वैसे ही वैराग्यमें आनन्दकी लहरें उठती हैं, क्षण-क्षणमें उठती हैं और बहुत ही मधुर एवं सरसरूपमें उठती हैं। आनन्दकी इन लहरोंको कैसे समझावें, कोई उदाहरण नहीं मिलता। कामी पुरुषका दृष्टान्त दें तो उस बेचारेको शान्ति, आनन्दका क्या पता! लोभीको पारस मिलनेपर आनन्दकी लहरें उठती हैं, पर उसके साथ भय है—'कहीं कोई पारस छीन न ले।' उसे अपने नाशका भय है; पारसके नाशका भय है। उसका उदाहरण भी वैराग्यवान् पुरुषकी स्थितिको ठीक रूपसे समझा नहीं सकता। यह तो गूँगेका गुड़ है। जो जानता है, वह कह नहीं सकता; जो कहता है, वह वास्तविकरूपसे जानता नहीं।

रागीको संसारके विषय-भोगोंके भोगनेमें जितना सुख प्रतीत होता है, उससे बहुत अधिक आनन्द वैराग्यवान् साधकको वैराग्यमें होता है। उसे वैराग्यका ऐसा नशा रहता है कि वह भोगोंकी तरफ दृष्टि ही नहीं डालता। उसे इनमें रस ही नहीं प्रतीत होता। उपरामता होनेपर जो आनन्द मिलता है, वह वैराग्यसे भी बहुत अधिक है। ध्यान होनेपर तो और भी विशेष आनन्द मिलता है (गीता ५। २१)। उस आनन्दको कैसे समझाया जाय! उस आनन्दरूपी अमृतसागरकी एक बूँदके आभासमात्रसे सारा संसार आनन्दित हो रहा है, मुग्ध हो रहा है, परन्तु उस भाग्यवान् पुरुषको तो वह सागर ही प्राप्त हो जाता है। हमारी अल्पबुद्धि उसका अनुभव करनेमें असमर्थ है। इस आनन्दका अनुभव हमलोगोंको तभी होगा जब भगवत्कृपासे हम उसे प्राप्त करनेमें समर्थ होंगे।

ज्ञानयोगके अनुसार विविध साधन

श्रीमद्भगवद्गीतामें जिस प्रकार योगनिष्ठाकी दृष्टिसे स्थान-स्थानपर कर्म और उपासनाका उल्लेख है, वैसे ही ज्ञाननिष्ठाकी दृष्टिसे भी उनका वर्णन है। यद्यपि ज्ञाननिष्ठाकी दृष्टिसे किये गये साधनोंकी कर्मसंज्ञा नहीं है, फिर भी उन्हें क्रिया अथवा चेष्टामात्र तो कह ही सकते हैं। उनको कर्म कहना केवल समझानेके लिये ही है।

ज्ञान दो प्रकारका होता है—एक फलरूप ज्ञान और दूसरा साधनरूप ज्ञान। यहाँ ज्ञाननिष्ठा कहनेका अभिप्राय योगनिष्ठाके समान ही साधनरूप ज्ञान है। योगनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा दोनोंसे ही फलरूप ज्ञानकी प्राप्ति होती है। उसको चाहे परमात्माका यथार्थ ज्ञान कहा जाय अथवा तत्त्वज्ञान; वह सभी साधनोंका फल है और सभी साधकोंको प्राप्त होता है (गीता अध्याय ५, श्लोक ४-५)। फलरूप ज्ञानसे जिस पदकी प्राप्ति होती है, उसे श्रीमद्भगवद्गीतामें निर्वाण ब्रह्म, परम पद, परम गति, अमृत और माम् आदि नामसे कहा गया है। यही परमात्माकी प्राप्ति है और यही समस्त साधनोंका अन्तिम फल है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इस परम पदकी प्राप्तिके लिये सांख्य अर्थात् ज्ञानयोगकी दृष्टिसे भी अनेकों साधन बतलाये गये हैं। उनका उल्लेख मुख्यरूपसे चार भागोंमें विभक्त करके किया जाता है। इनके अवान्तर भेद भी बहुत-से हो सकते हैं। वे अपनी-अपनी समझ और साधककी दृष्टिपर निर्भर करते हैं। उनके सम्बन्धमें भी थोड़ा प्रकाश डाला जाता है। अभेदनिष्ठाकी दृष्टिसे साधनके निम्नलिखित चार मुख्य भेद हैं—

(१) जड, चेतन, चर और अचरके रूपमें जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह सब ब्रह्म ही है।

(२) जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत होता है, वह क्षणभंगुर, नाशवान् और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें कुछ नहीं है। इन सबका बाध अर्थात् अत्यन्ताभाव होनेपर जो कुछ अबाध और अखण्ड सत्यके रूपमें शेष रह जाता है, वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है।

(३) जड-चेतनके रूपमें जो कुछ भी प्रतीत होता है, वह सब आत्मा ही है, आत्मासे भिन्न और कोई भी वस्तु नहीं है।

(४) शरीर आदि सम्पूर्ण दृश्य नाशवान्, क्षणभंगुर और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें हैं ही नहीं—इस प्रकारका अभ्यास करते-करते जब सबका अभाव हो जाता है, तब जो अविनाशी, नित्य, अक्रिय, निर्विकार और सनातन सत्य वस्तु शेष रह जाती है, वही आत्मा है। इस आत्माको ही देहके सम्बन्धसे देही, शरीरी आदि नामसे व्यवहारमें कहा जाता है। यह आत्मा ही सबका द्रष्टा और साक्षी है।

जैसे भेदभावसे उपासना करनेवाले भक्तको भेदरूपसे ही परमात्माकी प्राप्ति होती है; क्योंकि उसकी धारणा ही वैसी होती है, ठीक वैसे ही पूर्वोक्त ज्ञाननिष्ठाके साधकोंको भी उनके अपने निश्चयके अनुसार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति अभेदरूपसे ही होती है। इस सम्बन्धमें यह ध्यान रखनेकी बात है कि दोनों निष्ठाओंका अन्तिम फल एक ही है। मन और बुद्धिके द्वारा वह जाना नहीं जा सकता। इसीसे उसका शब्दोंके द्वारा वर्णन नहीं होता। वह अनिर्वचनीय है। वह स्थिति भेद-अभेद, व्यक्त-अव्यक्त, ज्ञान-अज्ञान, सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार आदि शब्दोंके वाच्यार्थसे सर्वदा विलक्षण है। मन और बुद्धिसे परे होनेके कारण उसे समझना-समझाना अथवा बतलाना सम्भव नहीं है। जिसे वह स्थिति प्राप्त हो जाती है, वही उसे जानता है—यह कहना भी नहीं बनता। यह बात केवल दूसरोंको समझानेके लिये कही जाती है। भला, शब्दोंके द्वारा भी कहीं उसका वर्णन सम्भव है?

ज्ञाननिष्ठाको गीताजीमें कहीं सांख्य और कहीं संन्यासके नामसे बतलाया है।

(१) अब ज्ञाननिष्ठाको लक्ष्यमें रखते हुए उपर्युक्त चार साधनोंमें-से पहले साधनके अवान्तर भेद लिखे जाते हैं।

(क) जितने भी अपने-अपने अधिकारके अनुसार शास्त्रविहित कर्म हैं, उन्हें यज्ञका रूप देकर कर्ता, कर्म, करण, क्रिया आदि समस्त कारकोंमें ब्रह्मबुद्धि करना। गीताजीमें इसका वर्णन निम्नलिखित श्लोकमें किया गया है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

(४। २४)

'जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जानेयोग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले योगीद्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है।'

यह साधन व्यवहारकालकी दृष्टिसे है। साधक व्यवहारके समस्त उचित कर्मोंको करता हुआ इस प्रकारका भाव रखे और जहाँ-जहाँ दृष्टि जाय—जो-जो सामने आवे, उसमें ब्रह्मदृष्टि करे, इससे बहुत ही शीघ्र ब्रह्मभावकी जागृति हो जाती है।

(ख) व्यवहारमें कभी प्रिय विषयोंकी प्राप्ति होती है तो कभी अप्रियकी। अनुकूलमें प्रियता और प्रतिकूलमें अप्रियता होती ही है। ज्ञाननिष्ठाके साधकको उनमें प्रिय अथवा अप्रिय-बुद्धि न करके ब्रह्मभाव करना चाहिये और परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित होकर विचरण करना चाहिये। कहीं भी राग-द्वेष नहीं होना चाहिये। यह साधन प्रारब्धानुसार प्राप्त भोगमें राग-द्वेषका अभाव करके ब्रह्ममें स्थित होनेकी दृष्टिसे है। यह गीताके निम्न श्लोकके अनुसार है—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥
(५। २०)

'जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है।'

(ग) छान्दोग्योपनिषद् (३। १४। १) के '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' यह सब कुछ ब्रह्म ही है—इस वचनके अनुसार सम्पूर्ण चराचर भूतोंके बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर, दूर-निकट एवं उन भूतप्राणियोंको भी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म समझकर उपासना करना। तात्पर्य यह है कि ध्यानके समय केवल एक अखण्ड ब्रह्म ही सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा परिपूर्ण है—इस भावमें स्थित हो जाना। गीतामें इसका वर्णन निम्नलिखित श्लोकमें है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥
(१३। १५)

'वह चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है, और चर-अचररूप भी वही है और वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है तथा अति समीपमें और दूरमें भी स्थित वही है।'

(२) 'जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत हो रहा है, वह मायामय है—इस प्रकार सबका बाध करके जो शेष बच जाता है, वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है'—इस द्वितीय अवान्तर भेदोंका उल्लेख नीचे किया जाता है।

(क) यह तो जीवात्मा और परमात्माका भेद प्रतीत हो रहा है, यह अज्ञानके कारण प्रतीत होनेवाली शरीरकी उपाधिसे ही है। ज्ञानके अभ्यासद्वारा उस भेदप्रतीतिका बाध करके नित्य विज्ञानानन्दघन गुणातीत परब्रह्म परमात्मामें अभेदभावसे आत्माको विलीन करनेका अभ्यास करना चाहिये। ऐसा करते-करते एक निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी किंचिन्मात्र सत्ता नहीं रहती। उपासनाका यह प्रकार जीव और ब्रह्मकी एकताको लक्ष्यमें रखकर है। गीतामें इसका वर्णन इस प्रकार आया है—

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥
(४। २५)

'अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्निमें अभेद-दर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मरूप यज्ञका हवन किया करते हैं।'

(ख) साधारणतया ध्यानका अभ्यास प्रारम्भ करनेपर साधकको चार वस्तुएँ जान पड़ती हैं—मन, बुद्धि, जीव और ब्रह्म। साधन प्रारम्भ करते ही जो कुछ स्थूल दृश्य प्रतीत होता है, वह सब भुलाकर मन, बुद्धि और अपने-आपको सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें तद्रूप करनेका अभ्यास करना चाहिये और अनुभव करना चाहिये कि एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जैसे विशाल समुद्रमें बर्फकी चट्टानके ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर, सब ओर जल-ही-जल होता है और वह चट्टान स्वयं भी जलमय ही है—वैसे ही सबको ब्रह्ममय अनुभव करना चाहिये; ऐसा करनेसे क्रमशः मन, बुद्धि और जीव परब्रह्म परमात्मामें लीन हो जाते हैं और केवल परमात्मा-ही-परमात्मा रह जाता है। गीतामें इस साधनका वर्णन निम्नलिखित श्लोकमें है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥
(५। १७)

'जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति, है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं।'

(ग) ब्रह्म अलौकिक, अनिर्वचनीय एवं विलक्षण वस्तु है। वह चराचर जड-चेतन संसारमें है भी और नहीं भी है। यह संसार परमात्माका संकल्पमात्र है—इसलिये वह इसमें अधिष्ठानरूपसे विराजमान है। इस दृष्टिसे कह सकते हैं कि वह सर्वत्र परिपूर्ण है। वास्तवमें यह संसार संकल्पमात्र ही है, इसलिये कोई वस्तु नहीं है; तब व्यापक-व्याप्य भाव कैसे बनेगा। इस दृष्टिसे देखें तो एकमात्र परमात्मा ही है। वह किसीमें व्यापक नहीं है। यह संसार भी उस परमात्मामें है और नहीं भी है। इसका कारण यह है कि वह अपने-आपमें ही स्थित है और यह संसार उसीमें प्रतीत हो रहा है। प्रतीतिकी दृष्टिसे कह सकते हैं कि यह संसार उसीमें है। परन्तु वास्तवमें यह जगत् स्वप्नवत्, कल्पनामात्र होनेके कारण परमात्मामें

सर्वथा है ही नहीं। गीताके निम्न श्लोक इस बातका भी संकेत करते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

(९। ४)

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् जलसे बर्फके सदृश परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं,इसलिये वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।'

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

(९। ५)

'वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं, मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है।'

यद्यपि इन दोनों श्लोकोंमें वर्णन तो सगुण-निराकार परमात्माके स्वरूपका है, परन्तु ज्ञानयोगका साधक निर्गुण-निराकारकी दृष्टिसे भी यह उपासना कर सकता है।* इस प्रकारका अभ्यास करते-करते सारे संसारका अभाव हो जाता है और एक परमात्मा ही शेष रह जाता है। यह साधन तो ब्रह्मकी अलौकिकताकी दृष्टिसे है। अब आगेका साधन, ब्रह्म सत् और असत्से विलक्षण है, इस दृष्टिसे लिखा जाता है।

(घ) ब्रह्मका स्वरूप ऐसा विलक्षण है कि उसे न सत् कह सकते हैं और न असत्। वह सत् और असत् दोनों ही शब्दोंसे अनिर्वचनीय है। वह सत् तो इसलिये नहीं कहा जा सकता कि मनुष्यकी बुद्धिके द्वारा जिस अस्तित्वका ग्रहण होता है, वह जडका ही होता है। चेतन वस्तु जड बुद्धिका विषय नहीं है। इस दृष्टिसे वह सत्से विलक्षण है। परन्तु उसे असत् भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वास्तवमें उसका अस्तित्व है। जो इस प्रकार सत् और असत्से विलक्षण अचिन्त्य, अनादि, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म-तत्त्वको समझकर उसका पुनः-पुनः चिन्तन करता है, उसके लिये सारे संसारका बाध हो जाता है और उस अमृतमय परब्रह्म परमात्माकी सदाके लिये अभेदरूपसे प्राप्ति हो जाती है। वह स्थिति मन-बुद्धिसे परे और वाणीसे अतीत है। उसका कहना-सुनना नहीं हो सकता।

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

(१३। १२)

'जो जाननेयोग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह आदिरहित परम ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही।'

(ङ) ब्रह्मके अलौकिक, अनिर्वचनीय एवं सत्, असत्से विलक्षण होनेपर भी सच्चिदानन्दस्वरूप होनेके कारण केवल सत्ताको प्रधानता देकर भी उसकी उपासना की जा सकती है। जगत्में जितने भी विनाशी पदार्थ देखनेमें आते हैं, उन सबमें अविनाशी परमात्माको समभावसे देखना चाहिये। जैसे एक ही आकाश घड़ोंकी उपाधिके भेदसे अनेकों रूपमें प्रतीत होता है, वास्तवमें अनेक नहीं है। घड़ोंकी उपाधि नष्ट हो जानेपर वह एक ही दीखने लगता है और वास्तवमें वह एक ही है। घड़ोंकी उपाधि रहनेपर भी आकाशमें भिन्नता नहीं आती। वैसे ही एक ही परमात्मा शरीरोंके भेदसे अनेक-सा दीखता है, परन्तु वास्तवमें एक ही है। इस प्रकार समझकर जो इस नाशवान् जगत्में एक नित्य विज्ञानानन्दघन अविनाशी परमात्माको सदा-सर्वदा समभावसे देखता है, वह इस जड संसारका बाध करके सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें इसका उल्लेख यों हुआ है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

(१३। २७)

'जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

(१८। २०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान।'

(च) जिस प्रकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी सत्ताको प्रधानता देकर उपासना हो सकती है, वैसे ही केवल चेतनभावको प्रधानता देकर भी हो सकती है। उसका प्रकार यह है कि ब्रह्म अज्ञानरूप अन्धकारसे परे सबका प्रकाशक और विज्ञानमय है। उसका स्वरूप परम चैतन्य एवं अखण्ड अनन्त ज्योतिर्मय है। जो ब्रह्मके इस स्वरूपके ध्यानमें तन्मय हो जाता है वह भी इस जड संसारका बाध करके अभेदरूपसे सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो

* इसका विस्तार श्रीगीतातत्त्वविवेचनी अध्याय ९ श्लोक ४-५ की व्याख्यामें देखना चाहिये।

जाता है। गीतामें इस स्वरूपकी उपासना निम्नलिखित श्लोकमें वर्णित है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

(१३। १७)

'वह परब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य है और सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है।'

(छ) सत् और चेतनभावके समान ही आनन्दभावकी प्रधानतासे भी उपासना होती है। साधकको इस प्रकार विचार करना चाहिये कि परिपूर्ण, अनन्त, विज्ञानानन्दघन परमात्मा आनन्दका एक महान् समुद्र है और मैं उसमें बर्फकी डलीकी तरह डूब-उतरा रहा हूँ। मेरे नीचे-ऊपर, भीतर-बाहर सर्वत्र आनन्दकी ही धारा प्रवाहित हो रही है—आनन्दकी तरंगें उठ रही हैं और सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्दकी बहार मची हुई है। यह आनन्द कैसा है? पूर्ण है, अपार है, शान्त है, घन है, अचल है, यह ध्रुव, नित्य तथा सत्य है, यही बोधस्वरूप है, यही ज्ञानस्वरूप है—यह आनन्द नित्य है, सर्वश्रेष्ठ है, सम है, यह आनन्द ही सत्ता है, यह आनन्द ही चेतन है, यह आनन्द ही सब कुछ है। जब साधक इस प्रकार ब्रह्मके आनन्दभावकी भावना करते-करते उसीमें मग्न हो जाता है, तब उसकी स्थिति निम्नलिखित हो जाती है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

(६। २१)

'इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं।'

यहाँतक जिन उपासनाओंका उल्लेख किया गया है; वे तत्पदार्थको लक्ष्यमें रखकर **'इदम्'** रूपसे की जानेवाली हैं। वास्तवमें ब्रह्म **'इदम्'** अथवा **'अहम्'** किसी भी वृत्तिका विषय नहीं है। साधककी उपासनाके लिये ही उसका वृत्त्यारूढरूपसे वर्णन किया जाता है। जैसे ऊपर **'इदम्'** वृत्तिके द्वारा होनेवाली उपासनाका वर्णन हुआ, वैसे ही **'त्वम्'** पदके लक्ष्यार्थको दृष्टिमें रखकर **'अहम्'** बुद्धिसे होनेवाली उपासनाकी पद्धति नीचे बतलायी जाती है।

(३) **'सर्वं यदयमात्मा'** (बृ० उ० २। ४। ६) इस श्रुतिके अनुसार जो कुछ है, वह सब आत्मा ही है अर्थात् सब कुछ मेरा ही स्वरूप है, मुझसे भिन्न और कोई वस्तु नहीं है। ज्ञाननिष्ठाके अनुसार इस तृतीय साधनके अवान्तर भेद लिखे जाते हैं। इसके केवल तीन प्रकार ही बतलाये जाते हैं। प्रथममें यह दृष्टि रखी गयी है कि समस्त भूत-प्राणी आत्माके अन्तर्गत हैं। दूसरेमें यह दृष्टि रखी गयी है कि भूत और आत्मा ओतप्रोत हैं। तीसरेमें सबके सुख-दुःखको आत्मसदृश अनुभव करनेकी बात है। उनका विवरण निम्नलिखित है—

(क) साधकको चाहिये कि तत्त्वदर्शी महात्मा पुरुषोंकी सेवामें उपस्थित होकर ज्ञाननिष्ठाके तत्त्वको सरलतासे समझे और अज्ञानजनित देहात्मबुद्धिको हटाकर नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थित हो जाय और अपने अनन्त चेतन आत्मस्वरूपके अन्तर्गत सारे चराचर भूत-प्राणियोंको एक अंशमें स्थित समझे। वह ऐसा अभ्यास करे कि जैसे आकाशसे उत्पन्न वायु, जल, तेज और पृथ्वी उसके एक अंशमें स्थित हैं, वैसे ही मुझ अनन्त नित्य विज्ञानानन्दघन आत्माके एक अंशमें यह सारा संसार स्थित है। इस प्रकार पुनः-पुनः अभ्यास करनेसे साधक सच्चिदानन्दघन परमात्माको अभेदरूपसे प्राप्त कर लेता है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(४। ३४)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ; उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

(४। ३५)

'जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा।'

(ख) जो कुछ जड-चेतन, चराचर प्रतीत होता है, वह सब ब्रह्म है। ब्रह्म ही आत्मा है, इसलिये सब मेरा ही स्वरूप है। जैसे सर्वव्यापी आकाश सम्पूर्ण बादलोंमें सर्वत्र समानभावसे व्यापक रहता है, वैसे ही इन समस्त चराचर भूत-प्राणियोंमें आत्मा समानभावसे व्यापक रहता है। जिस प्रकार आकाशसे ही झुंड-के-झुंड बादल पैदा होते हैं और उसीमें स्थित रहते हैं, इसलिये सारे बादलोंका कारण और आधार आकाश ही है, ठीक वैसे ही समस्त भूत-प्राणियोंका कारण और आधार आत्मा है। इस प्रकार

समझकर चराचर भूत-प्राणियोंको अपना स्वरूप ही समझना चाहिये और सबको अपनी आत्मामें तथा आत्माको सारे भूत-प्राणियोंमें समभावसे देखना चाहिये। इस प्रकारके अभ्याससे मनुष्य विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(६।२९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है।'

(ग) जैसे देहाभिमानी मनुष्य अपने देहके हाथ-पैर आदि सारे अंगोंमें अपने-आपको और सुख-दुःखोंकी प्राप्तिको समभावसे देखता है, वैसे ही साधकको चाहिये कि सम्पूर्ण विश्वको आत्मा समझकर समस्त चराचर भूत-प्राणियोंमें अपने-आपको और उनके सुख-दुःखोंको समभावसे देखनेका अभ्यास करे। अभिप्राय यह है कि जैसे मनुष्य अपने-आपको कभी किसी प्रकार जरा भी दुःख पहुँचाना नहीं चाहता तथा स्वाभाविक ही निरन्तर सुख पानेके लिये अथक प्रयत्न करता है, वैसे ही साधक विश्वके किसी भी व्यक्तिको कभी किसी प्रकार किंचिन्मात्र भी दुःख न पहुँचाकर सदा तत्परताके साथ उसके सुखके लिये चेष्टा करे। इस प्रकार समस्त भूतोंमें आत्मा समझकर उनके हितकी चेष्टा करनेसे मनुष्य सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें इस भावको इस प्रकार प्रकट किया गया है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६।३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

(४) शरीर आदि जितने भी दृश्यपदार्थ हैं, वे सब नाशवान्, क्षणभंगुर और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें नहीं हैं। 'त्वम्' पदका लक्ष्यार्थ आत्मा अविनाशी, नित्य, अक्रिय, निर्विकार और सनातन होनेसे सत्य वस्तु है। ज्ञाननिष्ठाके अनुसार इस चतुर्थ साधनके कुछ अवान्तर भेद बतलाये जाते हैं।

(क) आत्मा अर्थात् '**अहम्**' पदका लक्ष्यार्थ अजन्मा, अचिन्त्य, अचल, अक्रिय, सर्वव्यापी और अव्यक्त है। वह शाश्वत, अव्यय, अक्षर और नित्य होनेके कारण सत्य है। उस अविनाशीके ये प्रतीत होनेवाले विनाशशील, अनित्य और क्षणभंगुर देह आदि असत्य हैं, क्योंकि उस अधिष्ठानरूप, सत्यस्वरूप आत्माके स्वप्नवत् संकल्पके आधारपर ही ये टिके हुए हैं। इस प्रकार समझकर आत्माके सिवा सब विनाशशील जडवर्गका अत्यन्त अभाव करके अपने अविनाशी सत्यस्वरूप आत्मामें ही नित्य-निरन्तर बुद्धिको लगाना चाहिये। जब इस प्रकारके अभ्याससे वृत्ति आत्माकार हो जाती है, तब शेषमें एक आत्मा ही बच रहता है और वही अपना स्वरूप है। इस प्रकार बार-बार अभ्यास करनेसे इस क्षणभंगुर एवं जड दृश्यवर्गका अत्यन्त अभाव हो जाता है और नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२।१६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत॥

(२।१७-१८)

'नाशरहित तो तू उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्यवर्ग— व्याप्त है। इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है। इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर।'

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

(२।१९)

'जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है।'

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो-
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(२।२०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला

ही है। क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

(ख) जिस प्रकार विनाशी पदार्थोंमें विद्यमान अविनाशी वस्तुकी सत्ताको प्रधानता देकर उपर्युक्त उपासना होती है, वैसे ही इन जड पदार्थोंका अभाव करके साक्षी और द्रष्टाके रूपमें चेतनको प्रधानता देकर भी होती है। यह संसार क्षणभंगुर, नाशवान्, अनित्य एवं जड है। इससे इन्द्रियोंको हटाकर अहंता, ममता, कामना और आसक्तिका त्यागकर विवेक एवं वैराग्ययुक्त बुद्धिसे नि:संकल्पताका अभ्यास करना चाहिये—अर्थात् जो कुछ दृश्य सामने आवे, उसको अनित्य और नाशवान् समझकर उसके अभावका अभ्यास करना चाहिये। उनकी विनाशिता और अनित्यताका विचार इसमें सहायक होता है। इस प्रकार पुनः-पुनः सबके अभाव तथा नि:संकल्पताका अभ्यास करते-करते अन्तमें केवल चेतन पुरुष ही बच रहता है। यही ब्रह्म है। यह बात समझकर अभ्यास करनेसे अचिन्त्य विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। गीतामें यह बात इस प्रकार कही गयी है—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

(६। २५)

'क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरामताको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको आत्मामें स्थित करके आत्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे।'

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥

(१३। ३४)

'इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा कार्यसहित प्रकृतिके अभावको जो पुरुष ज्ञाननेत्रों द्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे महात्माजन परम ब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं।'

(ग) जिस प्रकार सत्‌की प्रधानता और चेतनकी प्रधानतासे **अहम् (त्वम्)** पद लक्ष्यार्थ ब्रह्मकी उपासना होती है, वैसे ही आनन्दकी प्रधानतासे भी ब्रह्मकी उपासना होती है। साधकको चाहिये कि दृश्यमात्रको नाशवान्, क्षणभंगुर, अनित्य और दु:खरूप समझकर सबको मनसे त्याग दे और एकमात्र आत्मानन्दका ही चिन्तन करे। आनन्द ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही आत्मा है। ऐसा समझकर यह अनुभव करे कि पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, सत्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, अचिन्त्य आनन्द, परम आनन्द, अत्यन्त आनन्द, सम आनन्द, चेतन आनन्द, एक आनन्दके सिवा और कुछ नहीं है। वह आनन्द ही आत्मा है। आनन्द ही मेरा स्वरूप है। मुझ आनन्दस्वरूपके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—इस प्रकारका अभ्यास करते-करते अपनेको उस आनन्दसागर आत्मस्वरूपमें इस प्रकार विलीन कर दे जैसे जलमें बर्फकी डली। इस प्रकारके अभ्याससे साधक संसारसे मुक्त होकर विज्ञानानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। गीताजीमें कहा है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

(५। २१)

'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।'

(घ) जिस प्रकार सत्, चित् और आनन्दको अलग-अलग प्रधानता देकर उपासना की जाती है, वैसे ही उनको एक साथ मिलाकर भी चित् अर्थात् ज्ञान और आनन्द दोनोंकी प्रधानतासे इस प्रकार उपासना करनी चाहिये। सम्पूर्ण पदार्थ और क्रियाओंको मायामय समझकर सारे संकल्पोंसे रहित हो जाय और **'अहं ब्रह्मास्मि'** (बृहदा० १। ४। १०) इस श्रुतिके अनुसार एक नित्य विज्ञानानन्द ब्रह्मको ही आत्मा समझकर अर्थात् वह सच्चिदानन्दघन मेरा स्वरूप ही है—इस ज्ञानपूर्वक दृढ़ निश्चयके साथ उसमें अभेदरूपसे स्थित होना चाहिये। उसमें स्थित होकर विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूपका इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये। आत्मस्वरूप वास्तवमें परिपूर्ण चेतन, अपार, अचल, ध्रुव, नित्य, परम सम, अनन्त पूर्णानन्द एवं परम शान्तिमय है। आत्मामें अज्ञानान्धकाररूपिणी माया नहीं है। वह उससे अत्यन्त विलक्षण, परम देदीप्यमान प्रकाश और परम विज्ञान तथा आनन्दस्वरूप है। इस प्रकार समझकर उसका निरन्तर चिन्तन करते हुए उसीमें रमते हुए तन्मय होकर आनन्दमग्न रहना चाहिये। ऐसे अभ्याससे उस परमपद, अचिन्त्यस्वरूप, परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

(गीता ५। २४)

'जो पुरुष निश्चयपूर्वक अन्तरात्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें

ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।*

(ङ) अहंता, ममता, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, प्रमाद-आलस्य, निद्रा और पाप आदिसे रहित होकर अपने विज्ञानानन्दघन अनन्त आत्मस्वरूपमें एकीभावसे स्थित हो जाय और इस शरीर तथा संसारको अपने आत्माके एक अंशमें संकल्पके आधारपर स्थित समझकर शरीर, इन्द्रिय, प्राण और मनके द्वारा लोकदृष्टिसे की जानेवाली समस्त क्रियाओंके होते समय यह समझे कि यह सब मायामय गुणोंके कार्यरूप मन, प्राण, इन्द्रिय आदि अपने-अपने मायामय गुणोंके कार्यरूप विषयोंमें विचर रहे हैं—वास्तवमें न तो कुछ हो ही रहा है और न मेरा इनसे कुछ सम्बन्ध ही है अर्थात् नेत्रेन्द्रिय रूप देख रही है—श्रवणेन्द्रिय शब्द सुन रही है, स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श कर रही है—घ्राणेन्द्रिय सूँघ रही है—रसना रस ले रही है—वागिन्द्रिय बोल रही है—इसी प्रकार सब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें बरत रही हैं—इन सबके साथ मुझ चेतन द्रष्टा साक्षी आत्माका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार कर्तापनके अभिमानसे रहित हो नित्य विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूपको लक्ष्यमें रखते हुए सम्पूर्ण पदार्थ और क्रियाओंको मायामय समझकर द्रष्टा साक्षी होकर विचरे—तात्पर्य यह है कि मन, इन्द्रियाँ और उनके विषय जो कुछ भी देखने और समझनेमें आते हैं, वे सब सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके कार्यरूप होनेके कारण गुण ही हैं—इसलिये जो कुछ भी क्रिया अर्थात् चेष्टा होती है, वह गुणोंमें ही होती है। ये सब क्षणभंगुर, जड और मायामय होनेके कारण अनित्य हैं। 'अहम्' पदका लक्ष्यार्थ आत्मा द्रष्टा, साक्षी और चेतन होनेके कारण नित्य, सत्य और उनसे अत्यन्त विलक्षण है, इसलिये उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-सोते, सब समय इन मायामय पदार्थों और कर्मोंका अभाव समझकर चिन्मय, साक्षी आत्माको उन सबसे अलग और निर्लेप अनुभव करना चाहिये और अचल तथा नित्यरूपसे स्थित रहना चाहिये। जो कुछ दृश्यमान पदार्थ हैं, वे मायामरीचिकाकी भाँति बिना हुए ही प्रतीत होते हैं—वास्तवमें एक द्रष्टा साक्षी चेतन, निर्लेप आत्मा ही है। इस प्रकार अभ्यास करते-करते दृश्यमान संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है और नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

(गीता ५। ८-९)

'तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निःसन्देह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।'

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

(गीता १४। १९)

'जिस समय द्रष्टा तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है।'

यह साधन सब प्रकारके विहित कर्मोंको करते हुए भी चलता रहता है।

(च) यह साधना विचारकालकी है। इसके द्वारा आत्माके परत्वका विचार होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इसकी पद्धति यह है कि यह दृश्यमान शरीर पृथ्वीपर स्थित है, इसलिये पृथ्वी इससे परे है। पृथ्वीसे तेज, वायु, आकाश, समष्टि मन और महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि) उत्तरोत्तर पर है। महत्तत्त्वसे भी पर अव्याकृत माया है और उससे भी परे परम पुरुष परमात्मा है। परमात्मासे परे और कोई वस्तु नहीं है; क्योंकि वह सबकी सीमा है। इस प्रकार बाह्य दृष्टिसे नित्य विज्ञानानन्दघन तत्त्वको पर-से-पर विचार करके आभ्यन्तर दृष्टिसे पर-से-पर आत्माका चिन्तन करना चाहिये। स्थूल शरीरसे परे सूक्ष्म और आभ्यन्तर प्राण हैं। प्राणोंसे इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि उत्तरोत्तर पर, सूक्ष्म एवं आभ्यन्तर हैं। तदनन्तर स्वभाव अर्थात् अव्याकृत मायाका अंश है। उससे पर और आभ्यन्तर आत्मा है। वही अपना स्वरूप है। उससे सूक्ष्म और आभ्यन्तर कुछ भी नहीं है। वह स्वयं ही अपने-आप है, वह सबकी सीमा है। आत्मासे लेकर परमात्मातक जो कुछ भी दृश्यवर्ग है वह मायामय है—मायाका कार्य है।

*यह साधन ध्यानकी दृष्टिसे है—अब आगेका साधन व्यवहारकी दृष्टिसे बतलाया जाता है।

इसीके कारण आत्मा और परमात्मामें घटाकाश और महाकाशकी भाँति भेद-सा प्रतीत होता है। वास्तवमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। जिस प्रकार घटके नाशसे घटाकाश और महाकाशकी एकता प्रत्यक्ष दीखने लगती है, वैसे ही तत्त्वज्ञानके द्वारा मायामय अज्ञानका नाश होनेपर आत्मा और परमात्माकी एकताका साक्षात्कार हो जाता है। अतएव मायाके कार्यरूप दृश्यमान जड जगत्‌को कल्पित अथवा प्रतीतिमात्र समझकर इसके चिन्तनसे रहित हो जाना चाहिये और एक नित्य विज्ञानानन्दघन आत्माके स्वयंसिद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाना चाहिये; इस प्रकारके अभ्याससे मनुष्य परमगतिस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। यही बात गीता और कठोपनिषद् भी कहती है —

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

(३। ४२)

'इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे पर यानी श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं; इन इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे भी पर बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त पर है, वह आत्मा है।'

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥

(कठोपनिषद् १। ३। १०-११)

'इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके विषय पर हैं, विषयोंसे मन पर है, मनसे बुद्धि पर है और बुद्धिसे भी महान् आत्मा (महत्तत्त्व) पर है। महत्तत्त्वसे अव्यक्त (मूलप्रकृति) पर है और अव्यक्तसे भी पुरुष पर है। पुरुषसे पर और कुछ नहीं है। वही [सूक्ष्मत्वकी] पराकाष्ठा (हद) है, वही परा गति है।'

(छ) परमात्माको प्राप्त पुरुषकी जैसी स्वाभाविक स्थिति होती है, उसको लक्ष्य करके वैसी ही स्थिति प्राप्त करनेके लिये साधक साधन करता है। इस दृष्टिसे साधकको चाहिये कि स्वप्नसे जगनेके बाद जैसे स्वप्नकी सृष्टिमें सत्ता, ममता और प्रीति लेशमात्र भी नहीं रहती, वैसे ही इस संसारको स्वप्नवत् समझे एवं ममता और आसक्तिसे रहित होकर संसारके बड़े-से-बड़े प्रलोभनोंमें भी न फँसे और किसी भी घटनासे किंचिन्मात्र भी विचलित न हो। साथ ही किसीके साथ अपना कोई सम्बन्ध न समझे। राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंसे रहित होकर सदा-सर्वदा निर्विकार अवस्थामें स्थित रहे और अपने नित्य-विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूपका नित्य-निरन्तर चिन्तन करे। इस प्रकार अपने आत्मामें ही रमण करता हुआ आत्मानन्दमें ही तन्मय और मग्न रहे। यह अभ्यास करनेसे मनुष्य क्लेश, कर्म और सम्पूर्ण दुःखोंसे मुक्त होकर परमशान्ति और परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है। गीतामें परमात्माको प्राप्त पुरुषकी स्थितिका वर्णन इस प्रकार है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

(३। १७)

'जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।'

इस प्रकार ज्ञाननिष्ठाकी साधनाके अनेक अवान्तर भेद शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं। यहाँ केवल श्रीमद्भगवद्गीताकी दृष्टिसे कुछ बातें लिखी गयी हैं। साधकोंकी श्रद्धा, रुचि, धारणा, पद्धति और अधिकारभेदसे और भी बहुत-से भेद हो सकते हैं। पूर्वोक्त साधनोंमेंसे किसी भी एक साधनका लगन और तत्परताके साथ अनुष्ठान करनेपर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। सभी साधनोंका फल एक ही है। अतएव ज्ञाननिष्ठाके साधकोंको पूर्वोक्त साधनोंमेंसे किसी एकको अपनाकर तत्परताके साथ लग जाना चाहिये।

निर्गुण-निराकारका ध्यान

दृश्यका बाध

जो कुछ भी दृश्यमात्र है, वह सब मायामय है, स्वप्नवत् है। जैसे स्वप्नसे जगनेके बाद स्वप्नके संसारका नाम-निशान नहीं है, उससे भी बढ़कर इसका अत्यन्त अभाव है। स्वप्नका संसार स्वप्नसे जगनेके बाद काल्पनिक सत्ताको लिये हुए है अर्थात् कल्पनामात्र है। किन्तु परमात्माके स्वरूपमें जगनेके बाद अर्थात् परमात्माका साक्षात्कार होनेके बाद यह संसार कल्पनामात्र भी नहीं है। क्योंकि स्वप्नमें जो संसार जिन मन-बुद्धिमें प्रतीत हुआ था, जगनेके बाद वही मन-बुद्धि हैं, पर उन मन-बुद्धिमें स्वप्नके संसारकी कोई सत्ता कायम नहीं है, इसलिये वह सत्ता कल्पना मानी गयी है। परमात्माकी प्राप्ति होनेके उत्तरकालमें तो ये मन-बुद्धि मायिक होनेके कारण यहीं—इस मायामय शरीरमें ही रह जाते हैं। इसलिये परमात्माके स्वरूपमें इस संसारका अत्यन्त अभाव है। परन्तु जिस व्यक्तिको लोग परमात्माकी प्राप्ति हुई मानते हैं, उस व्यक्तिके अन्तःकरणमें यह संसार स्वप्नवत् है—

ऐसा शास्त्र कहते हैं। अतः साधक पुरुषको उचित है कि संसारको मायामात्र, स्वप्नवत्, आकाशमें प्रतीत होनेवाले तिरवरोंकी भाँति अथवा मरुमरीचिकाकी तरह वास्तवमें कोई पदार्थ है नहीं, केवल प्रतीति होती है—ऐसा समझकर उसका मनसे कतई त्याग कर दे अथवा यों कहिये कि संकल्परहित हो जाय, स्फुरणारहित हो जाय, संसारको भुला दे।

किसी कविने कहा है—

मन फुरनासे रहित कर, जौ नहि बिधिसे होय।
चाहे भक्ति चाहे ज्ञानसे, चाहे योगसे खोय॥

अद्वैत-सिद्धान्तका सार यह है कि एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा कुछ भी न हुआ है, न है। तीनों कालोंमें इस दृश्यका तथा उन तीनों कालोंका भी अत्यन्त अभाव समझकर एक नित्य विज्ञान-आनन्दघन परमात्मामें तन्मय हो रहना चाहिये।

परमात्माके स्वरूपका प्रतिपादन

परमात्मा सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है। ये तीनों परमात्माके स्वरूप हैं। ये विशेषण नहीं हैं; क्योंकि यहाँ विशेषण और विशेष्यका भेद नहीं है। ये उनके गुण भी नहीं हैं, क्योंकि परमात्मामें गुण और गुणीका भेद नहीं है और न ये उनके धर्म ही हैं; क्योंकि उनमें धर्म और धर्मीका भी भेद नहीं है।

सत्—

हमलोगोंको सत् एक दूसरी वस्तु प्रतीत होती है, चित् एक दूसरी वस्तु प्रतीत होती है और आनन्द एक और ही वस्तु प्रतीत होती है; पर बात ऐसी नहीं है। जो सत् है, वही चेतन है और जो चेतन है, वही आनन्द है। या यों कहिये कि जो चेतन है, वही सत् है और जो सत् है, वही आनन्द है अथवा यों कहिये कि जो आनन्द है, वही चेतन है और जो चेतन है, वही सत् है। जिस सत्को हमलोग सत् मानते हैं, वह सत् वास्तवमें परमात्माका स्वरूप नहीं है; क्योंकि परमात्माका स्वरूप उस सत्से विलक्षण है।

गीतामें कहा है—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

(१३। १२)

'जो जाननेयोग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह आदिरहित परमब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही।'

बुद्धिके द्वारा समझमें आनेवाली सत्ता मायिक सत्ता है। इसलिये वह मायाका ही कार्य है। साधक पुरुषको उसमें परमात्मबुद्धि करनेसे परमात्माकी प्राप्ति तो हो जाती है, किन्तु वास्तवमें वह सत् परमात्माका स्वरूप नहीं है; क्योंकि यह बुद्धि मायाका कार्य होनेसे मायातीत परमात्माका लक्ष्य नहीं कर सकती। उस सत्को बुद्धिविशिष्ट परमात्माका स्वरूप कहा जा सकता है, केवल निर्विशेष परमात्माका स्वरूप नहीं।

चेतन—

जिस चेतनको हमलोग चेतन समझते हैं, वह चेतन भी वास्तवमें परमात्मा-स्वरूप नहीं है। उससे भी परमात्माका स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है। इसलिये गीतामें कहा है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

(१३। १७)

'वह ब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य है और सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है।'

नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा जो ज्योतियाँ प्रतीत होती हैं इनसे तो बुद्धिके द्वारा समझमें आनेवाली ज्योतियाँ विलक्षण हैं अर्थात् प्रकाश आदिकी अपेक्षा विवेक और ज्ञान श्रेष्ठ है। उससे भी विलक्षण वह है जो चेतन आत्माके द्वारा चिन्मय वस्तु समझमें आती है; क्योंकि बुद्धि नेत्र और नेत्रोंके विषयको जानती है पर नेत्र बुद्धि या बुद्धिके विषयको नहीं समझ सकते। इसी प्रकार आत्मा बुद्धि और बुद्धिके विषयको जानता है, पर बुद्धि आत्माको नहीं जान सकती। यद्यपि आत्मा भी, जो अपने स्वरूपको जानता है, वह शुद्ध एवं सूक्ष्म हुई बुद्धिके द्वारा जानता है।

कठोपनिषद्में कहा है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

(१। ३। १२)

'सम्पूर्ण भूतोंके हृदयमें छिपा हुआ यह आत्मा सबको प्रतीत नहीं होता, परन्तु यह सूक्ष्म बुद्धिवाले महात्मा पुरुषोंसे तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ही देखा जाता है।'

किन्तु बुद्धिके द्वारा भी जो आत्माका स्वरूप जाननेमें आता है, वह बुद्धिविशिष्ट परमात्माका स्वरूप है, केवल निर्विशेषस्वरूप तो उससे भी विलक्षण है, जो किसी प्रकार बुद्धिके द्वारा जाना नहीं जा सकता।

उपनिषद्में कहा है—

'.......... **येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् स एष नेति नेत्यात्मागृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि**

शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे केन विजानीयात्..........।'

(बृह० ४। ५। १५)

'जिससे इन सबको जानता है, उसको किससे जाना जाय? वह ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है; आत्मा है; अगृह्य है, ग्रहण नहीं किया जाता; अशीर्य है, घिसता नहीं है; असंग है, आसक्त नहीं होता; असित है, व्यथाको प्राप्त नहीं होता; उसका विनाश नहीं होता। अरे, उस जाननेवालेको किसके द्वारा जाना जाय?'

जाननेमें आनेवाले सारे (ज्ञेय) पदार्थ बुद्धिके ही कार्य हैं। उससे ज्ञान सूक्ष्म और महान् है तथा बुद्धिका कार्य करते हुए भी बुद्धिका स्वरूप ही है। उस ज्ञानसे भी ज्ञाता अनन्त है और वह बुद्धिसे अत्यन्त विलक्षण है। अभिप्राय यह कि ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञान व्यापक, श्रेष्ठ, उत्तम, सूक्ष्म, चेतन और अनन्त है। पातंजलयोगदर्शनमें भी कहा है—

'तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्।'

(४। ३१)

'क्लेश और कर्मकी निवृत्ति होनेपर सम्पूर्ण आवरणरूप मलके दूर होनेसे ज्ञानकी अनन्ततामें ज्ञेय अल्प है।'

तथा ज्ञानकी अपेक्षा आत्मा (ज्ञाता) सूक्ष्म, चेतन, आनन्दरूप, महान् और विलक्षण है। यह जो आत्माका स्वरूप वर्णन किया गया है, इससे भी वह परमात्माका निर्विशेष स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है। वह जाननेमें नहीं आ सकता, क्योंकि वहाँ ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयरूप त्रिपुटी नहीं है। वह प्रापणीय वस्तु है।

आनन्द—

जिस आनन्दको हमलोग आनन्द समझते हैं, वह आनन्द भी वास्तवमें परमात्माका स्वरूप नहीं है; क्योंकि उससे परमात्माका आनन्द-स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है।

गीतामें कहा है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

(५। २१)

'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय-आनन्दका अनुभव करता है।'

निद्रा, आलस्य आदिसे उत्पन्न सुख तो तामसी है। उससे तो इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे होनेवाला सुख राजसी होनेसे श्रेष्ठ है। एवं अध्यात्मविषयसे प्राप्त हुआ ध्यानजनित सात्त्विक सुख उससे भी श्रेष्ठ है; किन्तु परमात्माका जो आनन्दमय स्वरूप बतलाया गया है, वह इन सबसे विलक्षण है। निद्रा, आलस्यसे होनेवाले सुखसे तो वह राजसी सुख इसलिये श्रेष्ठ है कि उसमें तो ज्ञान नहीं रहता और इसमें ज्ञान रहता है। तथा विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे उत्पन्न जो राजस सुख है, वह क्षणिक, नाशवान् एवं परिणाममें दुःखका हेतु है तथा सात्त्विक सुख उसकी अपेक्षा स्थायी और परिणाममें अमृत-तुल्य है। इसलिये अध्यात्मविषयक सात्त्विक सुखकी दृष्टिसे राजस सुख भी हेय—त्याज्य है। किन्तु परमात्माके स्वरूपकी दृष्टिसे तो ध्यानजनित अध्यात्मविषयक सात्त्विक सुख भी अपेक्षाकृत निम्न श्रेणीका है। इसलिये उसकी दृष्टिसे यह भी त्याज्य है। गीतामें बतलाया है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥

(१४। ६)

'हे निष्पाप! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है, वह सुखके सम्बन्धसे और ज्ञानके सम्बन्धसे अर्थात् अभिमानसे बाँधता है।'

ध्यानजनित सुख भी देश-कालसे सीमित होने और बुद्धिका विषय होनेके कारण जड, अल्प और अनित्य है।

जाननेवाला चेतन होता है, जाननेमें आनेवाली वस्तु जड होती है। जाननेमें अल्प चीज ही आती है और जो अल्प होती है, वह देश-कालसे सीमित ही होती है; किन्तु वह परमात्मा देश-कालसे रहित है। इसलिये परमात्माका आनन्दस्वरूप इन सबसे विलक्षण है।

उस लौकिक आनन्दका भान उस आनन्दको नहीं होता, उसका जाननेवाला कोई दूसरा ही होता है; किन्तु परमात्माका स्वरूपभूत जो आनन्द है, उसे स्वयं अपने-आपका ज्ञान है, वह दूसरेका विषय नहीं हो सकता, इसलिये वह चेतन है और वह देश-कालसे अतीत है, इसलिये नित्य है। किन्तु इस प्रकारसे समझे हुए परमात्माके स्वरूपसे भी वह परमात्माका निर्विशेष स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है; जिसका वर्णन किया गया है, यह भी बुद्धिविशिष्ट परमात्माका ही स्वरूप है। बुद्धिविशिष्ट परमात्माके स्वरूपको भी सूक्ष्म और शुद्ध हुई बुद्धिद्वारा समझा जा सकता है। इसीको बुद्धिग्राह्य, अतीन्द्रिय कहा है।

भगवान् कहते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

(गीता ६। २१)

'इन्द्रियोंसे अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित वह कभी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं।'

वह जो परमात्माका निर्विशेष स्वरूप है, उसका तो वर्णन विधि या निषेध—किसी भी प्रकारसे नहीं हो सकता; किन्तु फिर भी वेद और शास्त्र जिसे लक्ष्यकर जिसकी व्याख्या करते हैं, उसे ध्येय बनाकर मनुष्य साधन करता है तो शाखाचन्द्रन्यायकी भाँति वह उस परमात्माको प्राप्त हो जाता है। शाखाचन्द्रन्यायका अभिप्राय यह है कि द्वितीयाका चन्द्रमा किसी एकको दीख गया और दूसरे आदमीको दीखा नहीं। जिसको दीखता है, वह पुरुष दूसरेको एक वृक्षकी शाखाको लक्ष्य बनाकर यों समझाता है कि चन्द्रमा उस वृक्षकी शाखासे ठीक चार अंगुल ऊपर है। एक तीसरे आदमीको समझाता है कि चन्द्रमा उस मकानके कोनेसे सटा हुआ है। असलमें विचार किया जाय तो दोनों ही बातें गलत हैं; किन्तु इस प्रणालीसे उन्हें चन्द्रदर्शन हो जाता है। इसी प्रकार परमात्माकी प्राप्तिके लिये जितने साधन बतलाये गये हैं और परमात्माका जो स्वरूप बतलाया गया है, उसको लक्ष्य बनाकर साधक पुरुष परमात्माकी प्राप्तिका साधन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है।

परमात्मा जो साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण, व्यक्त-अव्यक्त-स्वरूप बतलाया गया है, वह सब ठीक भी है, बेठीक भी। क्योंकि साधु-महात्माओंने, वेद-शास्त्रोंने परमात्माके स्वरूपके विषयमें जो वर्णन किया है, उसको लक्ष्य बनाकर साधन करनेपर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये तो वह बतलाना ठीक है और वास्तवमें शब्दोंके द्वारा जो परमात्माके स्वरूपकी व्याख्या की गयी है, उससे परमात्मा अत्यन्त विलक्षण है; क्योंकि परमात्माके स्वरूपका वर्णन वाणीद्वारा हो ही नहीं सकता।

अतएव निराकारका ध्यान करनेवाले पुरुषोंको शास्त्रोंमें वर्णित परमात्माके स्वरूपको लक्ष्यकर किसी भी विधिसे तत्परतापूर्वक साधन करना चाहिये, इससे स्वतः वास्तविक स्वरूपकी प्राप्ति हो सकती है।

दिनचर्याका सुधार

मनुष्यको अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये। आलस्य, प्रमाद, भोग, पाप और अति निद्राको विषके समान समझकर इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। मनुष्य-जीवनका अमूल्य समय इन सबमें बितानेके लिये कदापि नहीं है। करनेयोग्य काममें विलम्ब करना 'आलस्य' है; शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मकी अवहेलना तथा मन, वाणी, शरीरसे व्यर्थ चेष्टा करना 'प्रमाद' है; स्वाद-शौकीनी, ऐश-आराम, भोग-विलासिता और विषयोंमें रमण करना 'भोग' है; झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि 'पाप' हैं और छः घंटेसे अधिक शयन करना 'अतिनिद्रा' है। कल्याणकामी मनुष्यको चाहिये कि वह इनसे बचकर अपने सारे समयको साधनमय बना ले और एक क्षण भी व्यर्थ न बिताकर प्राणपर्यन्त साधनके लिये ही कटिबद्ध होकर प्रयत्न करे।

बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि वह अपने अमूल्य समयको सदा कर्ममें लगावे। एक क्षण भी व्यर्थ न खोवे और कर्म भी उच्च-से-उच्च कोटिका करे। जो कर्म शास्त्रविहित और युक्तियुक्त हो, वही कर्तव्य है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(६। १७)

'दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है।'

तात्पर्य यह है कि हमारे पास दिन-रातमें कुल चौबीस घंटे हैं, उनमेंसे छः घंटे तो सोना चाहिये और छः घंटे परमात्माकी प्राप्तिके लिये विशेषरूपसे साधनरूप योग करना चाहिये; इसके लिये प्रातःकाल तीन घंटे और सायंकाल तीन घंटेका समय निकाल लेना चाहिये। शेष बारह घंटोंमें मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा शास्त्रानुकूल क्रिया करनी चाहिये, जिसमेंसे छः घंटे जीविका-निर्वाहके लिये न्याययुक्त धनोपार्जनके काममें और छः घंटे स्वास्थ्यरक्षाके लिये शास्त्रविहित शौच-स्नान, आहार-विहार, व्यायाम आदिमें लगाने चाहिये; अथवा यदि छः घंटेमें न्याययुक्त धनोपार्जन करके जीविकाका निर्वाह न हो तो आठ घंटे धनोपार्जनमें लगाकर चार घंटे स्वास्थ्यरक्षा आदिके काममें लगाने चाहिये।

समयका विभाग करके देश, काल, वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और अपनी सुविधाके अनुसार अपना कार्यक्रम बना लेना चाहिये। साधारणतया निम्नलिखित कार्यक्रम बनाया जा सकता है—

रात्रिमें दस बजे शयन करके चार बजे उठ जाना, उठते ही प्रात:स्मरण करते हुए चारसे पाँचतक शौच-स्नान, व्यायाम आदि करना; पाँचसे आठतक सन्ध्या-गायत्री, ध्यान, नाम-जप, पूजा-पाठ और श्रुति, स्मृति, गीता, रामायण, भागवत आदि शास्त्रोंका एवं उनके अर्थका विवेकपूर्वक अनुशीलन करते हुए स्वाध्याय करना; आठसे दसतक स्वास्थ्यरक्षाके साधन और भोजन आदि करना, दससे चारतक धनोपार्जनके लिये न्याययुक्त प्रयत्न करना, चारसे पाँचतक पुन: स्वास्थ्यरक्षार्थ घूमना-फिरना, व्यायाम और शौच-स्नान आदि करना, पाँचसे आठतक पुन: सन्ध्या, गायत्री, ध्यान, नाम-जप, पूजा-पाठ और श्रुति, स्मृति, गीता, रामायण, भागवत आदि शास्त्रोंका, उनके अर्थका विवेकपूर्वक अनुशीलन करते हुए स्वाध्याय करना एवं आठसे दसतक भोजन तथा वार्तालाप, परामर्श और सत्संग आदि करना—इस प्रकार दिन-रातके चौबीस घंटोंको बाँटा जा सकता है। इस कार्यक्रममें अपनी सुविधाके अनुसार हेर-फेर कर सकते हैं; किंतु भगवान्‌के नाम और स्वरूपकी स्मृति हर समय ही रहनी चाहिये; क्योंकि भगवान्‌की सहज प्राप्तिके लिये एकमात्र यही परम साधन है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि 'जो पुरुष नित्य-निरन्तर मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ'—

अनन्यचेता: सततं यो मां स्मरति नित्यश:।
तस्याहं सुलभ: पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिन:॥

(८।१४)

यदि कहो कि काम करते हुए भगवान्‌के नाम-रूपकी स्मृति सम्भव नहीं तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि भगवान्‌ने कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८।७)

'इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू नि:सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।'

जब युद्ध करते हुए भी निरन्तर भगवान्‌की स्मृति रह सकती है तो दूसरे व्यवहार करते समय भगवत्स्मृति रहना कोई असम्भव नहीं। यदि यह असम्भव होती तो भगवान् अर्जुनको ऐसा आदेश कभी नहीं देते। यदि कहो कि हमसे तो ऐसा नहीं होता तो इसका कारण है श्रद्धा तथा प्रेमके साथ होनेवाले अभ्यासकी कमी। श्रद्धा- प्रेमकी उत्पत्तिके लिये भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण और प्रभावके तत्त्व-रहस्यको समझना चाहिये तथा भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान्‌के नाम-रूपकी स्मृति निरन्तर बनी रहे, इसके लिये विवेक-वैराग्यपूर्वक सदा-सर्वदा प्रयत्न भी करते रहना चाहिये। सत्पुरुषोंका संग इसके लिये विशेष लाभकर है। अत: सत्संगके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये। सत्संग न मिले तो भगवान्‌के मार्गमें चलनेवाले साधक पुरुषोंका संग भी सत्संग ही है और उनके अभावमें सत्-ग्रन्थोंका अनुशीलन भी सत्संग ही है।

मनुष्य अपने समयका यदि विवेकपूर्वक सदुपयोग करे तो वह थोड़े ही समयमें अपने आत्माका उद्धार कर सकता है; मनुष्यके लिये कोई भी काम असम्भव नहीं है। संसारमें ऐसा कोई भी पुरुष-प्रयत्नसाध्य कार्य नहीं, जो पुरुषार्थ करनेपर सिद्ध न हो सके। फिर भगवत्कृपाका आश्रय रखनेवाले पुरुषके लिये तो बात ही क्या है!

भगवान्‌के नाम-रूपकी स्मृति चौबीसों घंटे ही बनी रहे और वह भी महत्त्वपूर्ण हो, इसका ध्यान अवश्य रखना चाहिये। जिह्वाद्वारा नाम-जप करनेकी अपेक्षा श्वासके द्वारा नाम-जप करना श्रेष्ठ है और मानसिक जप उससे भी उत्तम है। वह भी नामके अर्थरूप भगवत्स्वरूपकी स्मृतिसे युक्त हो तो और भी अधिक मूल्यवान् (महत्त्वपूर्ण) चीज है और वह फिर श्रद्धापूर्वक निष्काम-प्रेमभावसे किया जाय तो उसका तो कहना ही क्या है। सच्चिदानन्दघन परमात्मा सर्वत्र समानभावसे आकाशकी भाँति व्यापक हैं, वे ही निर्गुण-निराकार परमात्मा स्वयं भक्तोंके कल्याणार्थ सगुण-साकार रूपमें प्रकट होते हैं। इसलिये निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार—किसी भी स्वरूपका ध्यान किया जाय, सभी कल्याणकारक हैं; किंतु निर्गुण-सगुण, निराकार-साकारके तत्त्व, रहस्य, गुण, प्रभावको समझते हुए स्वरूपका स्मरण किया जाय तो वह सर्वोत्तम है।

संसारमें अधिकांश मनुष्योंका समय तो प्राय: व्यर्थ जाता है और उनमेंसे कोई यदि अपना श्रेष्ठ ध्येय बनाते भी हैं, तो उसके अनुसार चल नहीं पाते। इसका प्रधान कारण विषयासक्ति, अज्ञता और श्रद्धा-प्रेमकी कमी तो है ही; परंतु साथ ही प्रयत्नकी भी शिथिलता है। इसी कारण वे अपने लक्ष्यतक पहुँचनेमें सफल नहीं होते। अत: लक्ष्यप्राप्तिके लिये हर समय भगवान्‌को स्मरण करते हुए

समयका सदुपयोग करना चाहिये, फिर भगवान्‌की कृपासे सहज ही लक्ष्यतक पहुँचा जा सकता है।

चौबीसों घंटे भगवान्‌की स्मृति किस प्रकार हो, इसके लिये उपर्युक्त छः घंटे साधनकाल, बारह घंटे व्यवहारकाल और छः घंटे शयनकाल—इस प्रकार समयके तीन विभाग करके उसका निम्नलिखित रूपसे सदुपयोग करना चाहिये।

(१) मनुष्य प्रातःकाल और सायंकाल नियमितरूपसे जो साधन करते हैं, वह साधन इसीलिये उच्चकोटिका नहीं होता कि वे उसे मन लगाकर विवेक और भावपूर्वक नहीं करते। ऊपरसे क्रिया कुछ ही होती है और मन कहीं अन्यत्र रहता है। ऐसा नहीं होना चाहिये। साधनके समय मनका भी उसीमें लगना परमावश्यक है। जैसे—सन्ध्या करनेके समय मन्त्रोंके ऋषि, छन्द, देवता और प्रयोजनका लक्ष्य करते हुए विधि और मन्त्रके अर्थका ध्यान रहना चाहिये। गायत्रीमन्त्र बहुत ही उच्चकोटिकी वस्तु है, उसमें परमात्माकी स्तुति, ध्यान और प्रार्थना है। अतः गायत्री-जपके समय उसके अर्थकी ओर ध्यान रखना चाहिये। यह न हो सके तो गायत्री-जपके समय भगवान्- का ध्यान तो अवश्य ही होना चाहिये। इसी प्रकार गीता, रामायण, भागवत आदिका पाठ भी अर्थसहित या विवेकपूर्वक अर्थका ध्यान रखते हुए करना चाहिये। भगवान्‌की मूर्ति-पूजा या मानस-पूजा करते समय भगवान्‌के स्वरूप और गुण-प्रभावको स्मरण रखते हुए श्रद्धा-प्रेमके साथ विधिपूर्वक पूजा करनी चाहिये। शास्त्र-ज्ञानकी कमीके कारण विधिमें कहीं कमी भी रह जाय तो कोई हर्ज नहीं, किंतु श्रद्धा-प्रेममें कमी नहीं होनी चाहिये। किसी भी मन्त्र या नामका जप हो, उच्चभाव तथा मनःसंयोगके द्वारा उसे उच्च-से-उच्च कोटिका बना लेना चाहिये एवं ध्यान करते समय तो संसारको ऐसे भुला देना चाहिये कि जिसमें भगवान्‌के सिवा अपना या संसारका किसीका भी ज्ञान ही न रहे।

हम प्रातः-सायं जितना नित्य-नियमितरूपसे साधनमें लगाते हैं, उसे यदि उपर्युक्त प्रकारसे लगाया जाय तो उतने ही समयके साधनसे छः महीनोंमें वह लाभ हो सकता है जो बिना भावके करनेके कारण पचास वर्षोंमें भी नहीं होता। वस्तुतः जिस समय हम साधनके लिये बैठते हैं, उस समय तो हमारा प्रत्येक क्षण केवल साधनमें ही बीतना चाहिये। हम यदि अपने पारमार्थिक साधनके समयको ही समुचितरूपसे साधनमय नहीं बना लेंगे और उसे शीघ्र सफल बनानेके लिये तत्पर नहीं होंगे तो फिर अन्य समयमें भगवच्चिन्तन करते हुए कार्य करना तो और भी कठिन है। अतएव हमें इसके लिये कटिबद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये। इस बातका पता लगाना चाहिये कि वे कौन-सी अड़चनें हैं जिनके कारण नियमितरूपसे साधन करनेके लिये दिये हुए समयमें भी मन उसमें नहीं लगता और समय यों ही बीत जाता है तथा प्रयत्न करनेपर भी उसमें कोई सुधार नहीं होता एवं पता लगनेपर उन अड़चनोंको तुरंत दूर करनेका सफल प्रयास करना चाहिये। मनको समझाना चाहिये कि 'तुम ऐसे अपने परम हितके कार्यमें भी साथ नहीं दोगे तो इसका परिणाम तुम्हारे लिये बहुत ही भयानक होगा। हजार काम छोड़कर पहले इस कामको करना चाहिये। यह काम तुम्हारे बिना और किसीसे सम्भव नहीं। इसके सामने दूसरे-दूसरे कामोंमें हानि भी हो तो उसकी परवा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वे तो तुम्हारे न रहनेपर भी हो सकते हैं, उन्हें दूसरे भी कर सकते हैं, किंतु तुम्हारे कल्याणका काम तो दूसरे किसीसे सम्भव नहीं।' इसपर भी यदि दुष्ट मन दूसरे कामकी आवश्यकता बतलावे तो उसे फिर समझाना चाहिये कि इससे बढ़कर और कोई आवश्यक काम है ही नहीं।

(२) आलस्य, प्रमाद, भोग, पाप और अतिनिद्रामें जीवनके एक क्षणको भी नहीं बिताना चाहिये। समाजिक, धार्मिक, शरीर-निर्वाह-सम्बन्धी एवं स्वास्थ्यरक्षा आदिके जो भी व्यवहार हों, सभी शास्त्रानुकूल और न्याययुक्त ही होने चाहिये। प्रत्येक क्रियामें निष्कामभाव और भगवदर्पण या भगवदर्थबुद्धि रहनी चाहिये। इस प्रकार किये जानेपर मनुष्य समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो सकता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(९। २७-२८)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर। इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

हमारी सारी क्रियाएँ जब भगवान्‌की प्रेरणा और आज्ञाके अनुसार निरभिमानता और निष्कामभावसे भगवान्‌की स्मृति रहते हुए होने लगें, तब समझना चाहिये कि हमारी क्रियाएँ भगवदर्पण हैं। जो क्रियाएँ भगवत्प्राप्त्यर्थ या भगवत्प्रीत्यर्थ अथवा भगवान्‌की आज्ञा पालनके उद्देश्यसे भगवान्‌को स्मरण रखते हुए निष्कामभावसे की जाती हैं, उन्हें भगवदर्थ कहा जाता है। हमारा सारा समय जब इसी

भावमें बीतने लगे, तब उसे उच्च-से-उच्च कोटिका समझना चाहिये। मनुष्य चाहे तो प्रयत्न करनेपर भगवत्कृपासे वह व्यवहारके बारह घंटोंके समयको भी सदा-सर्वदा इसी प्रकार बिता सकता है। भगवान्‌का आश्रय लेकर उनके नाम-रूपको याद रखते हुए सदा-सर्वदा कर्मोंकी चेष्टा करनेपर मनुष्य भगवान्‌की कृपासे शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
(१८।५६)

व्यवहारकालके सुधारके लिये दो बातोंपर विशेष ध्यान रखना चाहिये—

(क) प्रत्येक क्रियामें निष्कामभावसे स्वार्थका त्याग और (ख) भगवान्‌के नाम-रूपकी स्मृति। ये सब काम भी वैराग्य और अभ्याससे ही सिद्ध होते हैं। वैराग्यसे निष्कामभाव और स्वार्थत्याग होता है और तीव्र अभ्याससे भगवान्‌के नाम-रूपकी स्मृति रहती है।

अतः हमें अपने उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये भगवान्‌के शरण होकर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक साधन करना चाहिये। ऐसा करनेसे परमात्माकी कृपासे हम शीघ्र ही कृतकार्य हो सकते हैं।

(३) साधन तथा व्यवहारकालमें तो कुछ होता भी है; परंतु शयनका समय तो नासमझीके कारण अधिकांशमें सर्वथा व्यर्थ ही जाता है। मनुष्य जिस समय सोने लगता है, उस समय उसके चित्तमें जिन सांसारिक संकल्पोंका प्रवाह बहता रहता है, उसे निद्रामें प्रायः वैसे ही स्वप्न आते हैं—संकल्पोंकी दृढ़ता ही स्वप्नमें सच्ची घटनाके रूपमें प्रतीत होने लगती है और इस प्रकार उसका रातभरका सारा समय व्यर्थ चला जाता है। इस कालका सुधार भी वैराग्य और अभ्याससे हो सकता है। हमें चाहिये कि सोनेसे पूर्व कम-से-कम पंद्रह मिनट शयनकालके संकल्पोंके सुधारके लिये संसारको नाशवान्, क्षणभंगुर, अनित्य और दुःखरूप समझकर उसके संकल्पोंका त्याग करके भगवान्‌के निर्गुण-सगुण, निराकार-साकारमेंसे जिस स्वरूपमें भी अपनी श्रद्धा-रुचि हो, उसी नाम-रूपका या भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि सगुण-साकार स्वरूपके गुण, प्रभाव, लीला आदिका मनन करते हुए सोवें। विवेक-वैराग्यपूर्वक तत्परतासे तीव्र चेष्टा करनेपर कुछ दिनोंमें यह अभ्यास दृढ़ हो सकता है। दृढ़ अभ्यास हो जानेपर स्वप्नमें भी भगवद्विषयक ही संकल्प होंगे और तदनुसार स्वप्नमें भी हमारे सामने भगवान्‌के नाम, लीला, रूप, गुण और प्रभावके दृश्य आते रहेंगे। यों स्वप्न-जगत् भी साधनमय हो जायगा। अतएव वह समय भी साधनका ही एक अंग बन जायगा।

मनुष्य-जन्मका प्रत्येक क्षण मूल्यवान् है। इस रहस्यको समझनेवाला व्यक्ति एक क्षणको भी व्यर्थ कैसे खो सकता है? परलोक और परमात्मापर विश्वास न होने और भगवत्प्राप्तिका माहात्म्य न जाननेके कारण ही मनुष्य अपने उद्धारकी आवश्यकता ही नहीं समझता। इसी कारण वह संसार-सुखकी अभिलाषामें मानव-जीवनके अमूल्य समयको व्यर्थ खो देता है; परंतु सच्ची बात तो यह है कि संसारका सम्पूर्ण सुख मिलकर भी परमात्माकी प्राप्तिके सुखकी तुलनामें समुद्रमें एक बूँदके तुल्य भी नहीं है। जैसे अनन्त आकाशके किसी एक अंशमें नक्षत्र हैं, उसी प्रकार विज्ञानानन्दघन परमात्माके किसी एक अंशमें यह सारा ब्रह्माण्ड स्थित है। जीवको यदि संसारका सम्पूर्ण सुख भी मिल जाय तो भी वह उस ब्रह्मसुखके अंशका एक आभासमात्र ही है और वह सुखाभास भी वस्तुतः सच्चिदानन्दमय परमात्माके संयोगसे ही है। अतः मनुष्यको उस अनन्त सुखरूप परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही अपना सारा समय लगाना चाहिये। तभी समयका सदुपयोग है और तभी जीवनकी सार्थकता है।

चद्दरसे ज्ञान-वैराग्य आदिकी शिक्षा

जगत्‌में आजकल शिक्षक बहुत पाये जाते हैं। वास्तवमें शिक्षा लेनेवाले बहुत कम हैं। जहाँ-तहाँ उपदेशकोंकी—गुरुओंकी ही भरमार है, उपदेश सुनकर उससे लाभ उठानेवाले शिष्योंकी संख्या बहुत ही अल्प है। कवियोंने भी कहा है—'**परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्।**' '*पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥*' उपदेश देना जितना सहज है, उसका पालन करना उतना ही कठिन है। उपदेश अपने लिये होना चाहिये, दूसरोंके लिये नहीं; तभी हम उन्नति कर सकते हैं। ज्ञानकी प्राप्ति उसीको होती है, जो अभिमान छोड़कर शिक्षा प्राप्त करनेके लिये उत्सुक रहता है। जो शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिये शिक्षकोंकी कमी नहीं है। सच्चे गुरु योग्य शिष्यको स्वयं खोज लेते हैं। सच्चे जिज्ञासुके लिये तो स्वयं भगवान् गुरुके रूपमें प्रकट होकर उसे उपदेशके

द्वारा कृतार्थ कर सकते हैं। सम्राट् परीक्षित् जब राज्य, परिवार एवं शरीरका मोह छोड़कर सब ओरसे चित्तको हटाकर ज्ञान-लाभके लिये, आत्मकल्याणकी शिक्षाके लिये अन्न-जलका त्यागकर भगवती गंगाके पावन तटपर बैठ गये। उस समय उनकी ज्ञान-पिपासाको शान्त करनेके लिये, उन्हें मुक्तिका मार्ग दिखानेके लिये सब ओरसे बहुत-से ऋषि-मुनि अपने-आप उनके पास आने लगे। यहाँतक कि स्वयं शुकदेव मुनिने, जो इतने विरक्त थे कि एक गौ जितनी देरमें दुही जा सके, उतने समयसे अधिक बस्तीमें नहीं ठहरते थे तथा जो प्रायः निरन्तर समाधिमें ही स्थित रहते थे, उनके पास बिना बुलाये आकर सात दिनतक उन्हें श्रीमद्भागवतकी कथा सुनायी। विद्वानोंकी मान्यता है कि श्रीशुक मुनिको नित्यदेह अथवा सिद्धदेह प्राप्त है, जिससे वे अब भी समय-समयपर प्रकट होकर अधिकारियोंको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किया करते हैं। कहते हैं कि संत चरणदासजीको उन्हींने गुरुरूपसे दीक्षा दी थी, जैसा कि चरणदासजीके पदोंसे प्रकट होता है। स्वामी श्रीशंकराचार्यके परम गुरु आचार्य गौडपादको भी श्रीशुकदेवजीसे ही दीक्षा प्राप्त हुई थी—ऐसा सुना जाता है। स्वयं स्वामी श्रीशंकराचार्यको भी श्रीवेदव्यासजीने दर्शन दिये थे—ऐसा उनकी जीवनीमें लिखा है। देवर्षि नारदके वाल्मीकि, व्यास तथा ध्रुव आदिके पास स्वयं जाकर उन्हें उपदेश देनेकी बात प्रसिद्ध ही है।

इतना ही नहीं, शिक्षा लेनेवालेको जगत्‌की चर-अचर सभी वस्तुओंसे शिक्षा मिल सकती है। यह विश्व ही एक विश्वविद्यालय है। नदियाँ, समुद्र, वृक्ष, पर्वत, ग्रह, नक्षत्र, आकाश, पृथ्वी, वायु, पशु-पक्षी आदि नाना प्रकारके जीव—सभी हमें शिक्षा दे रहे हैं। श्रीमद्भागवतमें कथा आती है कि भगवान् दत्तात्रेयने चौबीस गुरु बनाये थे—जिनमें पृथ्वी, वायु , आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतिंगा, मधुमक्खी, हाथी, हरिन, मछली, वेश्या, कुररपक्षी, बालक, कुमारी कन्या, बाण बनानेवाला, साँप, मकड़ी और भ्रमरतक शामिल थे। आज हम अपने पाठकोंको यह बतलायेंगे कि जिस चद्दरको हम अपने शरीरपर ओढ़ते हैं, उससे भी हमें ज्ञान, वैराग्य, योग, कर्म एवं भगवत्-शरणागतिकी शिक्षा मिलती है।

पहले हम प्रभु-शरणागतिको ही लें। शरणागतिकी शास्त्रोंने बड़ी महिमा गायी है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(१८।६२)

'हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परमशान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा।'

महाभारतके अन्तर्गत श्रीविष्णुसहस्रनाममें भीष्मपितामह महाराज युधिष्ठिरसे कहते हैं—

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम्॥

'भगवान् वासुदेवका आश्रय लेकर उन्हींके परायण हो जानेवाला मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे रहित विशुद्ध अन्तःकरणवाला होकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

योगदर्शनमें महर्षि पतंजलिके वाक्य हैं—

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा।' (१।२३)

'ईश्वरकी शरण ग्रहण करनेसे भी चित्तवृत्तियोंका निरोधरूप समाधि सिद्ध हो जाती है।'

जिस शरणागतिकी शास्त्रोंमें ऐसी महिमा कही गयी है, एक मामूली चद्दर हमें उसीकी शिक्षा देती है। वह सर्वतोभावेन अपने मालिकके शरण हुई रहती है, सदा-सर्वदा एवं सर्वथा उसके अधीन रहती है। मालिक उसका चाहे जैसे उपयोग करे—उसे कंधेपर रख ले अथवा पैरोंपर डाल ले, शरीरपर ओढ़ ले अथवा खूँटीपर टाँग दे, तहियाकर बक्समें रख दे अथवा बेपरवाहीसे जमीनपर फेंक दे, किसीको दान कर दे या बेच दे, पानीसे धो डाले अथवा कीचमें सान ले, फाड़कर चिथड़े-चिथड़े कर डाले अथवा जलाकर खाक कर दे—वह बदलेमें कुछ नहीं कहती। इस प्रकार चद्दर हमें आत्मसमर्पणका पाठ पढ़ाती है। हमें चाहिये कि हम भी चद्दरकी भाँति अपने प्रभुके सर्वथा अनुकूल बन जायँ—वह हमें जिस अवस्थामें रखे, उसीमें संतुष्ट रहें; उसकी इच्छामें अपनी इच्छाको विलीन कर दें, अपने व्यक्तित्वको भुला दें, अपनी स्वतन्त्र सत्ता खो दें। अपना सब कुछ उसीका समझें—यहाँतक कि अपने इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण और शरीरको भी उसीका मानें। जीवन-मृत्यु, सुख-दुःख, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, ऐश्वर्य-दरिद्रता—सबको प्रभुकी देन समझकर गले लगायें। ऐश्वर्य पाकर फूलें नहीं और घोर-से-घोर कष्ट पड़नेपर भी मुँहसे उफ न निकालें। संक्षेपमें यही आत्मसमर्पणका स्वरूप है।

चद्दरसे हमें योगकी भी शिक्षा मिलती है। योगका अर्थ है चित्तवृत्तियोंका निरोध—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** (योग० १।२)। चित्तवृत्तियोंका निरोध हो जानेपर आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है—**'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** (योग० १।३)। जिस प्रकार चद्दर जहाँ हम उसे रख देते हैं, वहीं स्थिर होकर पड़ी रहती है, वहाँसे हिलती-

डुलती नहीं—टस-से-मस भी नहीं होती, हमें भी चित्तकी वैसी ही अचल स्थिति प्राप्त कर लेनी चाहिये। गीतामें कहा है—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥

(६। १९)

'जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें स्थित दीपक चलायमान नहीं होता वैसी ही उपमा परमात्माके ध्यानमें लगे हुए योगीके जीते हुए चित्तकी कही गयी है।'

चद्दरसे हमें ज्ञानका उपदेश भी मिलता है। जिस किसी चद्दरको हम ले लें, उत्पत्तिके पूर्व वह नहीं थी और नाशके बाद भी नहीं रहेगी। इससे सिद्ध होता है कि बीचमें—स्थिति-कालमें भी वह नहीं है, केवल दिखायी भर देती है; क्योंकि जो वस्तु है, उसका किसी भी कालमें अभाव नहीं हो सकता और जो नहीं है उसका किसी भी कालमें भाव नहीं हो सकता—यह निश्चित सिद्धान्त है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(२। १६)

यदि चद्दर वास्तवमें होती तो उसका किसी भी कालमें अभाव नहीं होता। चद्दरका अभाव होता है, इसलिये वह है नहीं। जब वह है नहीं, तब जिस कालमें वह दिखायी देती है,उस कालमें भी वस्तुतः उसका अभाव ही है, वह भ्रमसे हमें सत् प्रतीत होती है। यही हाल हमारे शरीरका है। हमारा शरीर भी जन्मसे पहले नहीं था और मृत्युके बाद नहीं रहेगा। इससे सिद्ध होता है कि जिसे हम जीवनकाल कहते हैं, उसमें भी वह है नहीं, केवल भ्रमसे प्रतीत होता है। यदि होता तो उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार उसका अभाव किसी भी कालमें सम्भव नहीं था। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

(२। २८)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद भी अप्रकट हो जानेवाले हैं, केवल बीचमें ही प्रकट हैं; फिर ऐसी स्थितिमें क्या शोक करना है?'

जो वस्तु है ही नहीं, उसके लिये शोक कैसा?

इस प्रकार शरीर तो नाशवान् है ही। उसमें रहनेवाला आत्मा अजर एवं अमर है, शरीरका नाश हो जानेपर भी उसका नाश नहीं होता। जिस प्रकार चद्दरके फट जानेपर, उसे ओढ़नेवालेका कुछ भी नहीं बिगड़ता। श्रीभगवान् कहते हैं—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य ....॥
न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(गीता २। १७-१८,२०)

'नाशरहित तो तू उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्यवर्ग व्याप्त है। इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है। इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है। क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

शरीर सब अनित्य एवं असत् हैं तथा आत्मा नित्य एवं सत् है—यह ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। यह ज्ञान हो जानेपर मनुष्य शोकसे रहित हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

(२। ११)

'जिनका प्राणोंसे वियोग हो गया है और जिनके प्राण अभी नहीं निकले हैं—जो अभीतक जीवित हैं, उन दोनोंके लिये ही ज्ञानीजन शोक नहीं करते।' उनकी जीवन और मृत्युमें समदृष्टि होती है। वे जानते हैं कि शरीर तो रहनेवाली वस्तु है नहीं उसका तो नाश अवश्यम्भावी है; क्योंकि वह वस्तु-दृष्टिसे है ही नहीं और आत्मा कभी मरता नहीं—उसका त्रिकालमें भी नाश नहीं होता। वह सदा स्थिर रहनेवाली वस्तु है। वस्तुतः आत्माके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। आत्माके अतिरिक्त जो कुछ दीखता है, वह माया है—भ्रम है। इसी ज्ञानका नाम अद्वैत ज्ञान है। श्रुति भगवती कहती है कि इस अद्वैत तत्त्वका ज्ञान हो जानेपर शोक और मोहके लिये कोई कारण ही नहीं रह जाता, उनका सर्वथा सदाके लिये उच्छेद हो जाता है—'**तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।**' (ईशो० ७)इस अद्वैत ज्ञानकी शिक्षा हमें चद्दरसे किस प्रकार मिलती है—यह हम ऊपर बता आये हैं।

चद्दर हमें कर्मका उपदेश भी देती है। चद्दरका उपयोग त्वचाको शीत-उष्ण आदिसे बचानेमें है, वह न सूँघनेके

काम आती है, न सुननेके और न चखनेके । वह केवल ओढ़ने-बिछाने आदिके काममें ही आती है। इसी प्रकार यह मनुष्य-शरीर दूसरोंकी सेवाके लिये बनाया गया है, इसका सेवाके कार्योंमें ही अधिक-से-अधिक उपयोग होना चाहिये। इसकी सत्ता चद्दरकी भाँति सबके उपयोगके लिये ही है। मनुष्य-शरीर ही एक ऐसा शरीर है जिससे देवता, ऋषि-मुनि, पितरों एवं भूत-प्रेतोंसे लेकर मनुष्यों, पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों तथा वनस्पतियोंतककी सेवा हो सकती है। पंचमहायज्ञ इसी सेवाके प्रतीक हैं। यह जगत् आदान-प्रदानका क्षेत्र है। देवताओंसे लेकर पशु-पक्षियों एवं वनस्पतियोंतकके द्वारा मनुष्यजातिकी किसी-न-किसी रूपमें सेवा होती है। इस सेवाके बदलेमें मनुष्यको भी चाहिये कि वह अन्य समस्त प्राणियोंकी सेवा करे। श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

(३।१०—१६)

'प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाओंको रचकर उनसे कहा कि तुमलोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुमलोगोंको इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो। तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें— इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे। यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुमलोगोंको बिना माँगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओंके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको बिना दिये स्वयं भोगता है, वह चोर ही है। यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीरपोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं। सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ विहित कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है। कर्मसमुदायको तू वेदसे उत्पन्न और वेदको अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ जान। इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है। हे पार्थ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परमात्मासे प्रचलित सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।'

यज्ञका व्यापक अर्थ सेवा है। निष्काम सेवाकी ही बात यज्ञके नामसे ऊपर कही गयी है। यहाँ 'देवता' शब्दको समस्त प्राणियोंका उपलक्षण समझना चाहिये। देवताओंसे लेकर जगत्के समस्त चराचर जीव किसी-न-किसी रूपमें मनुष्यकी सेवा करते हैं। अतः मनुष्यका भी कर्तव्य है कि वह बदलेमें समस्त चराचर जीवोंकी निष्कामभावसे सेवा करे। देवताओंको यज्ञ, हवन, वैश्वदेव आदिसे सन्तुष्ट करे; ऋषियोंको स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञसे एवं ज्ञानके विस्तारद्वारा प्रसन्न करे; पितरोंको श्राद्ध-तर्पण आदिसे तृप्त करे; मनुष्योंको अन्न-जल, वस्त्र, आश्रयदान एवं अन्य प्रकारकी सेवाओंद्वारा सुख पहुँचाये; अन्य प्राणियोंका भी भक्षक न बनकर रक्षक बने, उनके आहार आदिकी समुचित व्यवस्था करे और उन्हें सब प्रकारकी सुविधाएँ दे तथा पेड़-पौधोंको भी जल आदि देकर उनकी रक्षा करे, उनका अनावश्यक क्षय न करे। इस प्रकार एक-दूसरेकी सेवा करने और परस्पर सुख पहुँचानेसे सृष्टिकी व्यवस्था ठीक चलती है और संसारके सभी जीव सुखी रहते हैं, किसीको अनावश्यक कष्ट नहीं होता। यह विश्व जगत्पिता परमात्माका बृहत् परिवार है। यह तभी सुखी रह सकता है, जब इस परिवारके सभी अंग एक-दूसरेकी सहायता करें, परस्पर सुख पहुँचायें। जो ऐसा नहीं करता, दूसरोंसे सहायता लेता है; किन्तु बदलेमें दूसरोंकी सेवा नहीं करता, वह तो अपराधी और दण्डका पात्र है। यही बात गीताके उपर्युक्त श्लोकोंमें कही गयी है। हमारे शास्त्रोंने बलिवैश्वदेव एवं तर्पणमें देवताओंसे लेकर कीट-पतंगतकको अन्न एवं जल देनेका विधान किया है। यहाँतक कि हमारे यहाँ सन्ध्या-गायत्री आदि ईश्वरोपासना भी विश्व-कल्याणकी भावनासे ही करनेकी आज्ञा है। ऐसा समझकर जो मनुष्य निष्कामभावसे सबकी सेवा करता है उसका तो कल्याण हो ही जाता है।

इसके अतिरिक्त मनुष्य भगवान्‌की सृष्टिका सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। समस्त प्राणियोंकी रचना कर चुकनेपर भी जब विधाताको सन्तोष नहीं हुआ, तब उन्होंने मनुष्य-प्राणीको रचा। मनुष्यको भगवान्‌ने अपनी ही प्रतिकृति बनाया है। इस नाते भी प्राणिमात्रकी रक्षा करना, उन्हें सेवाके द्वारा सुख पहुँचाना ही मनुष्यका परम कर्तव्य है। कुछ लोग भूलसे ऐसा मान बैठते हैं कि संसारके समस्त प्राणी मनुष्यकी सेवाके लिये, उसे सुख पहुँचानेके लिये रचे गये हैं, वह उनका चाहे जैसे उपयोग कर सकता है। जगत्‌का मांसाहारी जनसमुदाय तो मनुष्येतर समस्त जीवोंकी सृष्टि मनुष्यकी क्षुधा-निवृत्तिके लिये, नहीं-नहीं, उसकी जिह्वाको सुख पहुँचानेके लिये ही मानता है। मनुष्यका इससे बड़ा पतन और क्या हो सकता है। मनुष्यकी सर्वश्रेष्ठता क्या इन्द्रियतृप्तिके द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध करनेमें ही है? तब तो वह जगत्‌का सर्वश्रेष्ठ प्राणी न होकर सर्वाधिक स्वार्थी अतएव सर्वापेक्षा नीच कहलानेका ही अधिकारी होगा। जिसमें स्वार्थकी मात्रा जितनी अधिक होगी, वह उतना ही नीच समझा जायगा। मनुष्य प्राणिजगत्‌में सर्वश्रेष्ठ तभी कहला सकता है, जब वह सबको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करे। फिर जिह्वाके क्षणिक स्वादके लिये अथवा क्षुधा शान्त करनेके लिये भी किसी जीवकी हिंसा करना तो अत्यन्त नृशंस एवं घृणित कार्य है। इसका समर्थन कौन बुद्धिमान् एवं विवेकी मनुष्य कर सकता है।

मनुष्यके अंगोंकी बनावट देखकर भी कोई यह नहीं कह सकता कि मनुष्यको प्रकृतिने मांसाहारी बनाया है। मनुष्यकी तो बात ही अलग रहे, मनुष्येतर प्राणियोंमें भी हाथी, घोड़ा, गदहा, भैंसा, गौ, बंदर, हरिन, बकरा, भेड़, कबूतर आदि अनेकों जीव ऐसे हैं जो वनस्पति तथा अन्न आदिसे ही अपना निर्वाह करते हैं और भूलकर भी मांसका सेवन नहीं करते। जब मनुष्येतर सृष्टिमें भी ऐसी अनेकों योनियाँ है जो मांससे घृणा करती हैं, तब मनुष्यके सम्बन्धमें यह कहना कि मनुष्यको प्रकृतिने ही मांसाहारी बनाया है, अपनी बुद्धिका दीवाला निकालना है। सच तो यह है कि जिस प्रकार चद्दरका उपयोग ओढ़ने-बिछानेमें ही है, सूँघने, सुनने अथवा चखनेमें नहीं, उसी प्रकार मनुष्य-जीवनकी चरितार्थता दूसरोंकी सेवा एवं उन्हें सुख पहुँचानेमें ही है, उनकी हिंसा करने अथवा उन्हें भक्षण करनेमें नहीं। इसके विपरीत जो लोग अन्य प्राणियोंकी हिंसा करनेमें ही मनुष्य-जीवनकी चरितार्थता समझते हैं, वे तो इस सुरदुर्लभ मनुष्य-जन्मका दुरुपयोग ही करते हैं। उन्हें पुनः यह मनुष्य-जीवन नहीं मिलता। उनकी मृत्युके बाद जैसी दुर्गति होती है, उसका स्वयं श्रीभगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे इस प्रकार वर्णन किया है। वे कहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६। १९-२०)

'उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ। हे अर्जुन। वे मूढ मुझको न प्राप्त होकर जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं।'

मनुष्यकी उन्नति एवं अवनति उसीके हाथ है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह अपने कल्याणका, आध्यात्मिक उन्नतिका ही साधन करे, जान-बूझकर अपनेको अवनतिके गर्तमें न गिराये। श्रीभगवान्‌ने भी कहा है—'**उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्**' (गीता ६। ५)। अपने स्वरूपके अनुसार आचरण करना ही अपनेको उन्नत करना है और उसके विपरीत चेष्टा करना अपनेको मनुष्यत्वसे गिराना, अधोगतिमें ले जाना है। स्वार्थत्यागपूर्वक दूसरोंकी सेवा करना ही मनुष्यका वास्तविक स्वरूप है। जिस प्रकार गदहेको देखकर मनमें यही भाव उत्पन्न होता है कि यह कोई भारवाही पशु है, सिंहकी आकृतिसे ही यह पता लग जाता है कि यह कोई क्रूर एवं हिंसक जन्तु है, उसी प्रकार मनुष्यको देखनेसे यह पता चलता है कि इसे भगवान्‌ने दूसरोंकी सेवाके लिये, उन्हें सुख पहुँचानेके लिये ही रचा है। गोस्वामी तुलसीदासज़ीने पाप और पुण्यकी संक्षेपमें इस प्रकार व्याख्या की है—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

इसे संस्कृतके निम्नलिखित पद्यका भावानुवाद कह सकते हैं—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

कहना न होगा कि धर्म ही आत्माको उन्नत करनेवाला है और पाप ही उसे नीचे गिरानेवाला—पातक है। श्रीभगवान्‌ने भी प्राणिमात्रके हितमें रत रहना अपनी प्राप्तिका उपाय बतलाया है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता १२। ४)

'वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं।' चद्दरसे हमें इस प्रकार सबके उपयोगी बननेकी शिक्षा मिलती है।

इसी प्रकार चद्दर हमें वैराग्यका भी उपदेश देती है।

चद्दरका सदा-सर्वदा एक-सा रूप नहीं रहता। स्वभावतः परिणामी होनेके कारण वह प्रतिक्षण क्षीण होती रहती है और क्षीण होते-होते एक दिन सर्वथा नष्ट हो जाती है। यही दशा हमारे शरीरकी भी है, वह प्रतिक्षण मृत्युकी ओर जा रहा है। एक दिन ऐसा आयेगा जब वह सर्वथा शक्तिहीन एवं क्रियाहीन होकर पड़ जायगा और मिट्टीमें मिल जायगा। यही हाल संसारके अन्य पदार्थों—विषयभोगोंका है। संसारके सभी विषय असत् एवं दुःखरूप हैं। हमने भ्रमसे उन्हें सत् एवं सुखरूप मान रखा है। यदि वे वास्तवमें सत् एवं सुखरूप होते तो सदा रहते और उनसे हमें सदैव सुख ही मिलता। परन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता। उदाहरणके लिये दूधको ले लीजिये। वह देखनेमें बहुत ही सुन्दर, स्वादु, आरोग्यकर और सुखदायक प्रतीत होता है। परन्तु जो स्वाद और गुण ताजे अथवा हालके गर्म किये हुए दूधमें पाया जाता है, वह बासी तथा ठंडे दूधमें नहीं पाया जाता। दो दिन पड़ा रहनेपर तो उसका स्वाद बिलकुल बिगड़ जाता है और उसका गुण भी नष्ट हो जाता है। वही दस दिन पड़ा रहनेपर विष-तुल्य हो जायगा; उसका नाम, रूप, स्वाद और गुण—सब कुछ बदल जायगा। न्यूनाधिक रूपमें यही दशा सभी विषयोंकी है। परिवर्तन और विनाश ही जगत्‌का रूप है।

जगत्‌के पदार्थोंमें सुखरूपता भी हमें भ्रमसे ही प्रतीत होती है, वास्तवमें तो वे सभी दुःखरूप ही हैं। उदाहरणके लिये एक पुष्पमालाको ले लीजिये। दो-चार बार सूँघनेमें तो वह अच्छी मालूम होती है, परन्तु अधिक देरतक उसे हम नाकसे सटाकर नहीं रख सकते; कुछ देरके बाद ऊबकर हम उसे अलग रख देते हैं। फिर यदि कोई जबर्दस्ती उसे हमारी नाकके पास ले जाना चाहेगा तो हम झुँझला उठेंगे। हमारी इस विरक्तिका क्या कारण है; यदि मालामें सुख होता तो हम उसे सदा-सर्वदा अपनी नाकसे सटाये रखते,एक क्षणके लिये भी उसे अलग नहीं करते परन्तु बात कुछ दूसरी ही है। विषयोंमें हमें भ्रान्तिसे ही क्षणिक सुखकी प्रतीति होती है, परिणाममें वे दुःखरूप ही हैं। स्त्री-प्रसंग आदिकी तो दुःखरूपता प्रकट ही है। उसमें एक बार क्षणभरके लिये सुखकी प्रतीति होती है; फिर ग्लानि, दुःख, विरक्ति, क्लान्ति, निर्बलता आदि ही हमारे हाथ लगते हैं एवं बल, वीर्य, तेज और बुद्धिका नाश तथा स्वास्थ्यकी हानि तो इससे प्रत्यक्ष ही होती है। इसका अधिक और निषिद्ध सेवन करनेसे तो मनुष्य रोगी और अल्पजीवी हो जाता है; शीघ्र ही कालका कवल बन जाता है और परलोकमें उसकी दुर्गति होती है; इसीलिये भगवान् गीतामें कहते हैं—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(९। ३३)

'इसलिये तू सुखरहित और क्षणभंगुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

यह मनुष्य-जीवन अनित्य अर्थात् विनाशी है, यह प्रतिक्षण मृत्युकी ओर जा रहा है। न जाने कब हमें इससे हाथ धोना पड़े। है भी यह दुःखरूप, इसमें सुखकी प्रतीति भ्रमसे हो रही है। परन्तु क्षणभंगुर एवं दुःखरूप होनेपर भी यह मिलता बड़े पुण्योंसे है; क्योंकि नित्य सुखरूप भगवान्‌की प्राप्ति इसी अनित्य एवं दुःखरूप मनुष्य-शरीरसे सम्भव है। इसलिये इस दुर्लभ मानवदेहको पाकर यदि हम इससे भगवत्प्राप्तिरूप स्थायी और परम लाभ उठाना चाहें तो इसका एकमात्र उपाय है—भगवत्-शरणागति, जिसका स्वरूप स्वयं भगवान्‌के शब्दोंमें इस प्रकार है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(गीता ९। ३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें युक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

इस प्रकार एक मामूली चद्दरसे हमें भगवत्-शरणागति, योग, ज्ञान, कर्म और वैराग्यकी अनुपम शिक्षा मिलती है। हम चाहें तो इसी प्रकार जगत्‌के समस्त पदार्थोंसे उत्तमोत्तम शिक्षा ले सकते हैं। किसी कविने क्या ही सुन्दर कहा है—

उत्तम विद्या लीजिए जदपि नीच पै होय।
पर्‌यो अपावन ठौर महँ कंचन तजै न कोय॥

मान-बड़ाईका त्याग

जो उच्चकोटिके पुरुष हैं, जिन्होंने परमात्माका तत्त्व भलीभाँति जान लिया है, वे मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदिको समान समझते हुए भी मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठासे बहुत दूर रहते हैं। क्योंकि साधनकालमें वे इन्हें विषके समान हेय तथा आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधक समझकर इनसे बचते आये हैं और दृढ़ अभ्यासके कारण यही आचरण उनके अंदर सिद्धावस्थामें भी देखा जाता है। सिद्ध पुरुष वास्तवमें तो कुछ करते नहीं; किन्तु उनके द्वारा लोकमें वैसा ही आचरण होते देखा जाता है, जैसा आचरण वे सिद्धावस्थाके ठीक पहले करते रहे हैं। सिद्धावस्थाको

प्राप्त हुआ पुरुष कभी कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकता जो संसारके लिये अनुकरणीय न हो। स्वयं भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है।'

ऐसे पुरुष अपने जीवनकालमें तथा मरनेके बाद भी मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाको नहीं चाहते। जो लोग उनके इस रहस्यको जानकर स्वयं भी मान, बड़ाई, प्रतिष्ठासे दूर रहते हैं, वे ही उनके सच्चे अनुयायी कहलानेयोग्य हैं। इसके विपरीत जो लोग मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके गुलाम हैं; किन्तु कहते हैं अपनेको महात्माओंका अनुयायी, वे तो वास्तवमें महात्माओंके संगको लजानेवाले हैं। जो लोग ऐसा मानते हैं कि महात्मालोग लौकिक व्यवहारकी दृष्टिसे ही लोगोंको अपनी पूजा करनेसे रोकते हैं, वे तो ऐसा करनेवाले महात्माओंको एक प्रकारसे दम्भी सिद्ध करते हैं। जो लोग मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाका त्याग इसलिये करते हैं कि ऐसा करनेसे लोकमर्यादाकी रक्षा होती है, किन्तु हृदयसे अपनेको पुजवाना चाहते हैं, वे वास्तवमें महात्मा नहीं हैं। मरनेके बाद पूजा चाहनेका स्वरूप यह है कि लोग मरनेके बाद उनकी कीर्तिको स्थायी रखनेके लिये, उनकी स्मृति बनाये रखनेके लिये किसी स्मारकका आयोजन करें और वे लोगोंके इस विचारका समर्थन करें। यही नहीं, जो लोग अपने किसी पूज्य पुरुषके लिये इस प्रकारके स्मारकका आयोजन करते हैं, उनके सम्बन्धमें भी ऐसी धारणा अनुचित नहीं कही जा सकती कि वे स्वयं भी अपने लिये यही चाहते हैं कि मेरे मरनेके बाद लोग मेरे लिये भी इसी प्रकारका स्मारक बनायें।

जो कोई भी ऐसा चाहता है कि मरनेके बाद लोग मेरा चित्र रखकर उसकी पूजा करें और मेरी कीर्ति अखण्ड रहे, उसके सम्बन्धमें यह निश्चय समझ लेना चाहिये कि वह परमात्माके रहस्यको नहीं जानता, वह निरा अज्ञानी है। ज्ञान एवं भक्ति दोनोंके ही सिद्धान्तसे हम इसी निर्णयपर पहुँचते हैं। ज्ञानके सिद्धान्तसे तो एक सच्चिदानन्द ब्रह्मके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, तब कौन किसकी पूजा करे और कौन किससे पूजा कराये। एक ही परमात्मा सर्वत्र स्थित है, वह अनन्त और सम है; ऐसी स्थितिमें अपने एकदेशीय स्वरूपकी पूजा करानेवाला महात्मा कैसे समझा जाय। यदि कोई यह समझे कि पूजा ग्रहण करनेसे मेरा तो कोई लाभ-हानि नहीं; परन्तु पूजा करनेवालेको लाभ पहुँचेगा, तो वहाँ यह स्पष्ट है कि ऐसा समझनेवाला अपनेको ज्ञानी और पूजा करनेवालोंको अज्ञानी समझता है, किन्तु जो अपनेको ज्ञानी और दूसरोंको अज्ञानी समझता है, वह स्वयं अज्ञानी ही है। ज्ञानीके अंदर यह भावना कदापि सम्भव नहीं है कि मेरी पूजासे दूसरोंको लाभ पहुँचेगा। यदि यह कहा जाय कि ऐसा माननेवाला ज्ञानी तो नहीं हो सकता, किन्तु जिज्ञासु तो ऐसा मान सकता है, तो यह भी ठीक नहीं। अपनी पूजासे दूसरोंका लाभ समझनेवाला जिज्ञासु भी नहीं हो सकता। इस प्रकारकी धारणा जिज्ञासुके अंदर भी नहीं हो सकती। निरा अज्ञानी ही ऐसा सोच सकता है।

यदि यह मानें कि महात्मा स्वयं तो पूजा नहीं चाहते; परन्तु लोगोंकी दृष्टिसे उन्हें महात्माओंकी पूजामें प्रवृत्त करनेके लिये वे ऐसा करते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि लोगोंको महात्माओंकी पूजामें लगाना तो ठीक है; परन्तु ऐसा करना चाहिये अपने व्यक्तित्वको बचाकर ही। महात्माओंकी पूजाका आदर्श स्थापित करनेके लिये भी अपनेको पुजवाना ठीक नहीं। यदि महात्माओंकी पूजाका प्रचार ही करना है तो पहले भी तो अनेकों एक-से-एक बढ़कर महात्मा हो गये हैं और उनसे भी बढ़कर स्वयं भगवान्‌के अवतार हो चुके हैं; उन सबको छोड़कर अपनी पूजा करवानेकी क्या आवश्यकता है।

अद्वैतसिद्धान्तकी दृष्टिसे देखा जाय तो आत्मा और परमात्मा एक हैं, अतः अपनेसे भिन्न कोई है ही नहीं। इस सिद्धान्तको माननेवालेकी दृष्टिमें भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण भी अपने ही स्वरूप हैं, अतः उनकी पूजा भी अपनी ही पूजा है। फिर उनकी पूजासे हटाकर कोई ज्ञानी महात्मा कैसे चाहेगा कि लोग मेरी पूजा करें। जो ऐसा चाहता है, वह देहाभिमानी है, ज्ञानी नहीं। ज्ञानी पुरुषको तो चाहिये कि यदि कोई दूसरा भी ऐसा करता हो तो उसे रोके, उसका विरोध करे, जिससे उसका अज्ञान दूर हो। ऐसा न करके यदि वह स्वयं अपनेको पुजवाता है तो यही मानना पड़ेगा कि या तो वह अज्ञानी है, मूर्ख है या ढोंगी है, दम्भके द्वारा अपना उल्लू सीधा करता है, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाका किंकर है। इसके सिवा और क्या कहा जा सकता है। फिर श्रीराम, श्रीकृष्ण आदिके स्वरूप तो नित्य एवं दिव्य हैं, हमारी तरह पांचभौतिक— मायिक नहीं और महात्माओंका शरीर तो ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर भी मायाका कार्य होनेके कारण नाशवान्, क्षणभंगुर ही है। ऐसी दशामें किसी भी मनुष्यका शरीर, चाहे वह बड़े-से-बड़ा महात्मा ही क्यों न हो, भगवान् राम-कृष्णादिके

अलौकिक सौन्दर्य एवं माधुर्यसे पूर्ण विग्रहोंकी समता कैसे कर सकता है। अतः भगवान् राम-कृष्णादिके दिव्य विग्रहोंकी पूजासे हटाकर जो अपने नाशवान् शरीरको पुजवाता है, वह वास्तवमें भगवान्के तत्त्वको नहीं जानता। इसी प्रकार भगवान्के दिव्य एवं मधुर नामोंसे हटाकर जो अपने नामकी पूजा, अपने नामका प्रचार करवाता है वह भी ज्ञानी नहीं, अज्ञानी ही है।

यह तो हुई ज्ञानकी बात। भक्तिके द्वारा जो भगवान्को प्राप्त कर चुका है, वह भी भगवान्के स्थानपर अपनेको कैसे बैठाना चाहेगा। जो ऐसा करता है, वह तो अपनेको घोर अन्धकारमें डालता है। यदि यह कहा जाय कि वह स्वयं तो पूजा नहीं चाहता, परन्तु कोमल स्वभाव होनेके कारण वह दूसरोंको पूजा करनेसे रोक नहीं सकता, तो इसका उत्तर यह है कि जो भक्त दूसरोंको अपने साथ अनुचित व्यवहार करनेसे रोक नहीं सकता, उन्हें समझा नहीं सकता,उसकी पूजा और प्रतिष्ठासे हमें क्या लाभ हो सकता है। भगवान्को प्राप्त हुए भक्तोंमें तो अलौकिक शक्ति होनी चाहिये। फिर यदि कोई मनुष्य भक्त होकर भी दूसरोंके द्वारा अपने प्रति किये जानेवाले पूजा-प्रतिष्ठादिको रोक नहीं सकता तो वह दूसरोंका कल्याण कैसे कर सकता है। किसी महात्माके नामपर, चाहे वह भक्ति, ज्ञान, योग—किसी भी मार्गसे पहुँचा हुआ हो, कोई अनुचित व्यवहार करे और वह उसे रोक न सके—यह असम्भव है। यदि कोई श्रीहनुमान्जीको भगवान् श्रीरामके स्थानपर बिठाकर पूजना चाहे तो भक्तशिरोमणि श्रीहनुमान्जी उसकी इस पूजाको कैसे स्वीकार कर सकते हैं। यदि किसी सेठकी गद्दीपर कोई उसके गुमाश्ते या मुनीमको ही सेठके रूपमें सजाकर उसका सम्मान करना चाहे और वह गुमाश्ता या मुनीम यदि स्वामिभक्त है तो वह उस सम्मानको कब स्वीकार करेगा और यदि करता है और सेठको इस बातका पता चल जाय तो वह अपने गुमाश्ते या मुनीमके इस व्यवहारको कैसे सहन करेगा। नमकहराम नौकर ही ऐसा कर सकता है। सच्चा स्वामिभक्त ऐसी बात कभी सोच भी नहीं सकता। यहाँ तो गुमाश्ता या मुनीम सेठ बनकर ऐसा कर भी सकता है और सेठको पता ही न चले; परंतु भगवान् तो सर्वव्यापी एवं सर्वज्ञ ठहरे, उनसे छिपाकर कोई कुछ कर ही नहीं सकता। भगवान् सजकर पूजा ग्रहण करना कोई भगवत्प्राप्त पुरुष तो कर ही नहीं सकता, भक्तिमार्गपर चलनेवाला साधक भी ऐसा नहीं कर सकता। इस प्रकारका अवसर अनायास कभी प्राप्त भी हो जाय तो भक्त साधक ऐसी अवस्थामें रोने लग जायगा, वह समझेगा कि यह तो मेरे लिये कलंककी बात होगी। बात भी सच है, ऐसा करने-करानेवाला अपने और अपने भगवान् दोनोंपर कलंक लगाता है। जो भगवान्के नामपर अपनेको पुजवाता है, वह भक्तिका प्रचार करना तो दूर रहा, उलटा संसारमें भ्रम फैलाता है और भगवान् भी उसकी इस करतूतपर मन-ही-मन हँसते हैं।

जो मनुष्य भगवान्के स्थानपर अपनेको बिठाकर पूजा ग्रहण करता है, उसके प्रति स्वाभाविक ही हमारी अश्रद्धा हो जाती है। इसी प्रकार हमें भी सोचना चाहिये कि यदि हम भी ऐसा करेंगे तो लोग हमें भी घृणाकी दृष्टिसे देखने लग जायँगे तथा इस प्रकार हमलोग भी महात्माओंके प्रति श्रद्धा बढ़ानेके बदले अश्रद्धा उत्पन्न करनेमें ही सहायक बनेंगे। क्योंकि वास्तवमें इस प्रकारका व्यवहार निन्दनीय ही है। सिद्ध पुरुषोंके द्वारा तो स्वाभाविक ही ऐसा आचरण होगा जो साधकोंके लिये लाभदायक हो। संसारमें ऐसे पुरुष ही आदर्श माने जाते हैं जिनके आचरण, उपदेश, दर्शन, स्पर्श एवं सम्भाषणसे दूसरोंका हित हो। अच्छे पुरुषोंके आचरण ही दूसरोंके लिये आदर्श होते हैं। यह बात सदा याद रखनी चाहिये कि महात्माओंमें अविद्याका लेश भी नहीं होता; फिर अविद्याका कार्य—मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिकी इच्छा—तो हो ही कैसे सकती है। स्वयं महापुरुष, जो इस तत्त्वको भलीभाँति जानते हैं, इसका प्रचार एवं प्रकाश करके लोगोंके अज्ञानान्धकारका नाश करते हैं। वास्तवमें जो मान, बड़ाई, पूजा, प्रतिष्ठा एवं सत्कार आदि चाहते हैं अथवा सम्मति देकर लोगोंसे अपनी पूजा आदि करवाते हैं वे तो महामूढ़ हैं ही। किन्तु जो न तो दूसरोंको अपनी पूजा करनेके लिये कहता है और न पूछनेपर सम्मति देता है; परन्तु पूजा आदि मिलनेपर उसे प्रसन्न मनसे स्वीकार कर लेता है, उसका विरोध नहीं करता, वह भी मूढ़ ही है। जो पूजा मिलनेसे प्रसन्न तो नहीं होता, चाहता भी नहीं कि लोग मुझे पूजें, किन्तु हृदयसे पूजा-सत्कारका विरोध नहीं करता, वह भी ज्ञान और भक्तिसे अभी बहुत दूर है।

वर्तमान समयमें असली श्रद्धा और प्रेम बहुत कम लोगोंमें देखनेको मिलता है, अधिकांश लोगोंमें श्रद्धा और प्रेमकी नकल ही देखनेको मिलती है। असली श्रद्धाका रूप बाहरी पूजा, नमस्कार, सत्कार आदि नहीं हैं; ये तो श्रद्धा के बाहरी रूप हैं, शिष्टाचारके अन्तर्गत हैं। ये दिखावटी भी हो सकते हैं। असली श्रद्धा तो श्रद्धेय पुरुषका हृदयसे अनुयायी बन जाना, उनकी इच्छाके—उनके मनके सर्वथा अनुकूल बन जाना है। सूत्रधार कठपुतलीको जिस प्रकार नचाता है, उसी प्रकार वह नाचने लगती है, वह सब प्रकारसे नचानेवालेपर ही निर्भर करती है। इसी प्रकार जो श्रद्धेय पुरुषके सर्वथा अनुगत हो जाता है, उसीके

इशारेपर चलता है, अपने मनसे कुछ भी नहीं करता, वही सच्चा श्रद्धालु है। श्रद्धेयकी आज्ञाओंका अक्षरशः पालन करना भी ऊँची श्रद्धाका द्योतक है। परन्तु श्रद्धेयको मुँहसे कुछ भी न कहना पड़े, उसके इंगितपर ही सब काम होने लगे, उसकी रुचिके अनुकूल सारी क्रिया होने लगे—यह और भी ऊँची श्रद्धा है। सच्चे अनुगत पुरुषको छायाके समान व्यवहार करना चाहिये। जिस प्रकार हमारी छायामें, हमारे प्रतिबिम्बमें हमारी प्रत्येक चेष्टा अपने-आप जैसी-की-तैसी उतर आती है, उसी प्रकार श्रद्धेयका प्रत्येक आचरण, उसका प्रत्येक गुण श्रद्धालुके जीवनमें उतर आना चाहिये। इस प्रकार जो छायाकी भाँति श्रद्धेयका अनुसरण करता है, वही सच्चा शरणागत है, उसीकी श्रद्धा परम श्रद्धा है, उच्चतम कोटिकी श्रद्धा है। सच्चा श्रद्धालु श्रद्धेयके प्रतिकूल आचरण करना तो दूर रहा, अनुकूलतामें रंचमात्र उनकी कमीको भी सहन नहीं कर सकता, संतोंकी बाहरी पूजाका—शिष्टाचारका इतना महत्त्व नहीं है जितना भीतरसे उनके अनुकूल बन जानेका। संतोंके अनुकूल बन जाना ही उनकी असली पूजा है।

इसी प्रकार जो सच्चे प्रेमी होते हैं, वे अपने प्रेमास्पदका एक क्षणके लिये भी वियोग नहीं सह सकते। वे जान-बूझकर तो अपने प्रेमास्पदका त्याग कर ही नहीं सकते, यदि प्रेमास्पद उन्हें बरबस अलग कर देता है तो विरहके कारण उनकी दशा शोचनीय हो जाती है। किसी-किसी प्रेमीकी तो प्रेमास्पदके विरहमें मृत्युतक हो जाती है अथवा मृत्युकी-सी दशा हो जाती है, जलके अभावमें मछलीकी तरह उसके प्राण छटपटाने लगते हैं। वह यदि जीता है तो प्रेमीकी इच्छा मानकर—उसके मिलनकी आशासे ही जीता है; मनसे तो उसका प्रेमास्पदसे कभी वियोग होता ही नहीं, मन उसका निरन्तर अपने प्रियतममें ही बसा रहता है। प्राचीन इतिहासके पन्नोंको उलटनेपर श्रद्धा और प्रेमका सर्वोच्च नमूना हमें भरतजीके जीवनमें मिलता है। ननिहालसे लौटनेपर भरतजीने जब सुना कि श्रीराम वनको चले गये और उनके वनगमनका कारण मैं ही हूँ, तब वे सब कुछ छोड़कर तुरंत श्रीरामके पास वनमें गये और अयोध्या लौट चलनेके लिये उनसे प्रार्थना की। वाल्मीकीय रामायणमें तो उन्होंने श्रीरामजीको यहाँतक कह दिया कि यदि आप अयोध्या न चलेंगे तो मैं अनशन-व्रत लेकर प्राणत्याग कर दूँगा। परन्तु फिर श्रीरामकी आज्ञा मानकर, उनका रुख देखकर वे चुप हो रहे और उनकी चरणपादुकाओंको मस्तकपर रखकर अयोध्या लौट आये। किन्तु अयोध्या लौटकर भी वे भोगोंमें लिप्त न हुए, अयोध्यासे बाहर नन्दिग्राममें रहकर उन्होंने मुनियोंका-सा जीवन व्यतीत किया और बड़ी उत्कण्ठासे श्रीरामके लौटनेकी प्रतीक्षा करते रहे।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि भरतजीका श्रीरामके चरणोंमें अतिशय प्रेम था तो उनसे श्रीरामका वियोग कैसे सहा गया, श्रीरामके विरहमें उन्होंने प्राण क्यों नहीं त्याग दिये, तो इसका उत्तर यह है कि भरतजी श्रीरामके निरे प्रेमी ही न थे, वे उच्चकोटिके श्रद्धालु भी थे। उनकी प्रसन्नतामें प्रसन्न रहना, प्राणोंकी बाजी लगाकर भी उनकी आज्ञाका पालन करना उनके जीवनका व्रत था। उनकी इस श्रद्धाने ही उनके प्राणोंकी रक्षा की और उन्हें चौदह वर्षतक जीवित रखा। उन्हें विश्वास था कि चौदह वर्ष बीतनेपर श्रीरामसे अवश्य भेंट होगी और फिर आजीवन मैं उनके साथ रहूँगा, फिर कभी वे मुझे अलग रहनेको नहीं कहेंगे। इसी आशापर वे जीवित रहे। फिर भी उन्हें श्रीरामके वियोगका दुःख कम न था। एक-एक दिन गिनकर उन्होंने चौदह वर्ष व्यतीत किये और विरह-व्यथामें सूखकर वे अत्यन्त कृश हो गये। यही नहीं, चौदह वर्ष बीतनेके बाद यदि श्रीराम वनसे लौटनेमें कुछ भी विलम्ब करते तो उनका प्राण बचना कठिन था। इस प्रकार प्रेमकी ऊँची-से-ऊँची अवस्था उनके अंदर व्यक्त थी। साथ ही उनमें श्रद्धा भी कम न थी। इसीलिये उन्होंने सोचा कि जब श्रीराम अपनी इच्छासे वनमें जा रहे हैं तो उनकी इच्छाके विरुद्ध उन्हें लौटानेके लिये मुझे अति आग्रह क्यों करना चाहिये। इस प्रकार अतिशय प्रेमके साथ-साथ उनमें श्रद्धा भी उच्चतम कोटिकी थी। किन्तु उच्च श्रेणीके प्रेमी अपने प्रेमास्पदकी और सब बातें मानते हुए भी कभी-कभी उनके संगके लिये अड़ जाते हैं। संगके लिये उनका इस प्रकार आग्रह करना भी दोषयुक्त नहीं माना जाता। इससे उनकी श्रद्धामें कमी नहीं मानी जाती। सारांश यह है कि प्रेमी किसी भी हेतुसे प्रेमास्पदका त्याग नहीं करता। प्रेमास्पदका संग बना रहे, इसके लिये वह कभी-कभी अपने प्रेमास्पदकी रुचिकी भी उपेक्षा कर देता है। इसके विपरीत, श्रद्धालु अपने श्रद्धेयकी रुचि रखनेके लिये उनके संगका भी प्रसन्नतापूर्वक त्याग कर देता है; परन्तु उनकी रुचिके प्रतिकूल कोई चेष्टा नहीं करता। प्रेमीको प्रेमास्पदका संग छोड़नेमें मृत्युके समान कष्ट होता है और श्रद्धालुको श्रद्धेयकी रुचिके प्रतिकूल आचरण मरणके समान प्रतीत होता है। प्रेमास्पद प्रेम बढ़ानेके लिये यदि प्रेमीको कभी अलग कर देता है तो प्रेमीको उसका वियोग असह्य हो जाता है। इसी प्रकार श्रद्धालुसे श्रद्धेयकी रुचिका पालन करनेमें तनिक भी कोर-कसर सहन नहीं होती। सच्चे प्रेम और श्रद्धाका यही स्वरूप है। इसपर कोई यह कह सकते हैं कि सच्चे भगवद्भक्त मान आदि तो बिलकुल नहीं चाहते, न यह चाहते हैं कि लोग

उनके चित्रकी पूजा करें, उनके नामका प्रचार हो अथवा उनकी जीवनी लिखी जाय; परन्तु सभी भक्त और ज्ञानी यदि इन सब बातोंका कड़ाईके साथ विरोध करने लग जायँ तो फिर अच्छे पुरुषोंकी जीवनियाँ अथवा स्मारक संसारमें मिलने ही कठिन हो जायँगे, जिससे आगेकी पीढ़ियाँ उनसे मिलनेवाले लाभसे सदाके लिये वंचित हो जायँगी, तो इसका उत्तर यह है कि अच्छे पुरुष इन सब बातोंका तनिक भी विचार नहीं करते। अखण्ड ब्रह्मचर्यका व्रत धारण करनेवाला क्या कभी यह सोचता है कि मेरी देखा-देखी यदि दूसरे लोग भी स्त्री-सुखका त्याग कर देंगे तो फिर संसारका व्यवहार कैसे चलेगा, सृष्टिका कार्य ही बंद हो जायगा। ऐसा सोचनेवाला कभी ब्रह्मचर्यका पालन नहीं कर सकता। इसी प्रकार अच्छे पुरुष यह कभी नहीं सोचते कि यदि हम पूजा ग्रहण करना छोड़ देंगे तो संसारसे महापुरुषोंकी पूजाकी पद्धति ही उठ जायगी। संसारका व्यवहार तो सदा इसी प्रकार चलता आया है और चलता रहेगा। यदि कोई कहे कि अबतकके महात्माओंकी इच्छा एवं प्रेरणासे ही उनकी जीवनियाँ लिखी गयी हैं अथवा उनके स्मारकोंका निर्माण हुआ है, तो ऐसा कहना अथवा सोचना उन महात्माओंपर झूठा कलंक लगाना, उनपर व्यर्थका दोषारोपण करना है। महात्माओंकी बात तो अलग रही, ऊँचे साधकके मनसे भी यह वासना हट जाती है; यदि रहती है तो यह मानना चाहिये कि वह उच्चकोटिका साधक नहीं है। इस सम्बन्धमें यह निश्चित सिद्धान्त मान लेना चाहिये कि अच्छे पुरुषोंके मनमें यह वासना कभी उठती ही नहीं कि मेरे जीवनकालमें अथवा मरनेके बाद लोग मेरे शरीर या मूर्तिकी पूजा करें, मेरे नामका प्रचार हो अथवा मेरी जीवनी लिखी जाय। इस प्रकारकी इच्छाका अच्छे पुरुषोंमें अत्यन्ताभाव हो जाता है। और महात्माओंका सच्चा अनुयायी एवं सच्चा श्रद्धालु वही है जो उनके भावके, उनकी इच्छाके अनुकूल अपने जीवनको बना लेता है; वही सच्चा शरणापन्न और वही सच्चा भक्त है।

भगवान्‌का प्यारा

'आप दिनभर गीतापाठ करें और गीताके अनुसार जीवन बनानेके प्रयत्नमें लगे रहें, पर पेट-पूजाका भी तो थोड़ा ध्यान रखना चाहिये'—छोटे भाईने बड़े भाईसे कहा। बड़ा भाई निरन्तर गीतापाठमें लगा रहता था। उसने सुन लिया था कि 'सम्पूर्ण गीतापाठकी अपेक्षा अर्थ और भावसहित एक अध्यायका प्रतिदिन पाठ कर लेना उत्तम है; किन्तु गीताके साँचेमें अपना जीवन ढाल लेना तो सबसे उत्तम है। गीतामें बहुत-से ऐसे भी श्लोक हैं, जिनमेंसे किसी एक श्लोकको अपने जीवनमें उतार लेनेसे कल्याण हो जाता है।' उन चारों भाइयोंमें यह बड़ा भाई गीताप्रेमी था। वह बारहवें अध्यायके १७ वें श्लोकको अपने जीवनमें उतारनेका प्रयत्न कर रहा था। छोटे भाईकी उपर्युक्त बात सुनकर भी वह चुप रहा।

'धनोपार्जनके लिये हमारी तरह आपको भी श्रम करना पड़ेगा'—दूसरे छोटे भाईने कहा।

'हम कबतक कमाकर खिलायेंगे?'—तीसरेने भी उसीका समर्थन किया।

'सबसे अच्छा यही है कि आप अलग हो जाइये'—पहले छोटे भाईने आवेशमें कह दिया।

'सचमुच आपके साथ हमलोगोंका निर्वाह नहीं हो सकेगा'—दूसरे छोटे भाईने कर्कश स्वरमें कहा।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥

बड़े भाईने गम्भीरतासे उत्तर दिया, 'भैया! यह श्लोक गीताका है। अर्जुनसे भगवान् कहते हैं कि जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ समस्त कर्मोंको त्याग चुका है, वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है।' गीताभ्यासीने श्लोक सुनाया—इसी बीचमें—

'उपदेश अपने पास रखिये। आज ही आप अलग हो जाइये'—तीसरे छोटे भाईने जोरसे कहा।

'तुमलोग मुझे अलग करते हो, इससे न तो मुझे कोई हर्ष है और न कोई शोक ही है'—गीताप्रेमी बड़े भाईने शान्तिसे उत्तर दिया 'न द्वेष है और न अलग होनेकी आकांक्षा ही है। हर्ष, शोक, इच्छा तथा द्वेषरहित पुरुष ही प्रभुका प्रिय पात्र है। तुमलोग जो उचित समझो करो।'

'बिना अलग किये इनकी अक्ल ठिकाने नहीं आयेगी। लच्छेदार उपदेश देकर ये आनन्दपूर्वक दिन बिताना चाहते हैं।' छोटे पहले भाईने निश्चय सुना दिया।

'हमलोगोंने बहुत दिनोंतक इनका पालन-पोषण किया। अब तंग आ गये'—छोटे दूसरे भाईने भी दोनों बन्धुओंका अनुमोदन किया।

'मैं सम्मिलित रहती तो तीनोंका भोजन बनाना पड़ता'—भीतरसे गीताभ्यासीकी कर्कशा पत्नीने जोरसे कहा—'तीनोंको अलग हो जाने दो, चिन्ताकी कोई बात नहीं।'

'अनुकूल परिस्थिति पाकर जिसे हर्ष नहीं होता वही प्रभुका प्रिय है' गीताभ्यासीने अपनी पत्नीको प्रेमसे समझाया 'तुम्हें इस तरह नहीं बोलना चाहिये। फिर यह तो अनुकूल भी नहीं है, क्योंकि भगवान्‌ने तुम्हें इतने प्राणियोंकी सेवाका अवसर दिया था, यह तो तुम्हारे सौभाग्यकी बात थी, तुम्हें इसके लिये प्रभुका कृतज्ञ होना चाहिये था।'

'इतने गहने, कपड़े, बर्तन और रुपये आपके रहे और छोटका घर आपके रहनेके लिये'—तीनों भाइयोंने बड़े भाईके सामने थोड़ी-सी सामग्रियाँ रख दीं। भाई सभी जोशमें थे। भाभीकी कटु वाणीने क्रोधाग्निमें घृतका काम कर दिया था।

'भगवान्‌की जैसी इच्छा'—गीताभ्यासीने शान्तिके साथ उत्तर दिया। उसकी मुखमुद्रा पूर्वकी ही भाँति सहज-प्रसन्न और शान्त थी। चिन्ताकी कोई रेखा उसकी आकृतिपर नहीं दीख रही थी।

× × ×

'अब भी आप चुपचाप बैठे हैं, कैसे काम चलेगा'—गीताभ्यासीकी पत्नीने कहा। '**न काङ्‌क्षति**' उत्तर मिला 'मुझे कोई धनकी आकांक्षा नहीं है। आकांक्षारहित व्यक्ति ही प्रभुको प्रिय है।

'रुपये खर्च हो जानेपर कैसे काम चलेगा'—पुनः प्रश्न हुआ।

'**न शोचति**' नपा-तुला उत्तर मिला 'शोचरहित पुरुष प्रभुका प्रिय पात्र है। अतः जीविकाके लिये मुझे शोच नहीं है' गीताभ्यासीकी पत्नी चुप हो गयी।

× × ×

'अब तो मेरे पास रुपये नहीं रहे, क्या करूँ?' चिन्तित पत्नीने एक दिन पतिसे पूछा।

'**न काङ्‌क्षति**' वही पुराना उत्तर मिला।

'आभूषण तो तनपर एक भी नहीं रहा' दुःखी पत्नीने कुछ दिनों बाद फिर कहा—'सब-के-सब पेटका गड्ढा भरनेमें समाप्त हो गये। अब तो आप कुछ करें।'

'**न शोचति**' पुनः वही चार अक्षरोंका उत्तर मिला। स्त्री निराश होकर मन मसोसकर रह गयी।

× × ×

'अब मेरे पास कुछ नहीं रह गया'। रोती हुई गीताभ्यासीकी पत्नीने कहना शुरू किया— 'अपना मकान तो बिक ही गया। घर किरायेका है। बर्तन दूसरोंसे उधार लेकर रसोई बनायी है। पहननेके लिये दो-दो कपड़ोंके अतिरिक्त अब तो हमलोगोंके पास रुपये-पैसे, गहने-कपड़े, बर्तन-बासन या अन्य कोई भी वस्तु नहीं रह गयी, जिससे जीवन-निर्वाह हो सके। अब तो कुछ काम कीजिये।' पत्नीने आशान्वित होकर आग्रह किया।

'**न काङ्‌क्षति**' वही पुराना जवाब मिला। 'मुझे कोई आकांक्षा नहीं है।'

'आखिर काम कैसे चलेगा' आँसू पोंछते हुए अधीर नारीने कह दिया।

'**न शोचति**' 'मैं शोच नहीं करता। ऐसा ही पुरुष प्रभुको प्रिय है' कहकर गीताभ्यासी मौन हो गया।

'बड़ा विचित्र मस्तिष्क है आपका' पत्नीने चिढ़कर कहा—'मुझे तो आशा थी कि सब कुछ समाप्त हो जानेपर तो आप कुछ करेंगे ही, पर '**न काङ्‌क्षति**','**न शोचति**' इसीसे भगवान् संतुष्ट रहते हैं' यह सब सुनते-सुनते तो मैं हैरान हो गयी।

'मैं सच्ची बात कहता हूँ ब्राह्मणी!' गीताभ्यासी कहने लगा 'आज ही प्रातःकालकी बात है। शौचसे निवृत्त होकर जब मैं नदी-तटपर गया तो देखा कि नदीका जल ऊपर सूख गया है, भीतर-ही-भीतर बह रहा है, जलके लिये मैंने घाटके किनारे ही गड्ढा खोदा तो वहाँ मणि-माणिक्य तथा स्वर्ण-मुद्राओंसे पूरित एक टोकना निकल आया। उस समय भगवान्‌का वाक्य मुझे तुरंत स्मरण हो आया कि 'अनुकूलकी प्राप्तिमें जो हर्षित नहीं होता वह मेरा प्रिय है' इसलिये उस रत्नराशिके देखनेपर भी मैं जरा भी हर्षित नहीं हुआ। भगवान्‌ने '**न द्वेष्टि**' कहा है, इसलिये मैंने उससे द्वेष नहीं किया, उसे निकालकर कहीं फेंका भी नहीं। उसकी मुझे 'आकांक्षा' भी नहीं थी। मैं उसे ज्यों-का-त्यों ढककर वापस आ गया। उस अनन्त धन-राशिको परित्याग करनेका रंचमात्र भी मुझे शोक नहीं है। इस प्रकार भगवान्‌की दयासे मुझे न हर्ष हुआ, न द्वेष और न पश्चात्ताप हुआ तथा न आकांक्षा ही। उसे मैं तो लाया नहीं, पर कोई मुझे लाकर दे जाय तो मैं रख लूँ ऐसी भी मेरी भावना नहीं है; क्योंकि भगवान्‌ने कहा है, जो शुभ-अशुभका परित्यागी होता है, वह मुझे प्रिय होता है।'

स्त्रीने खीझकर कहा—'आपको न सही, मुझको तो आकांक्षा है।' पण्डितजीने कहा—'तुम्हें भी आकांक्षा नहीं करनी चाहिये।'

× × ×

'अरे! यह तो काला नाग है।' चौंकते हुए एक चोरने कहा।

'गीताभ्यासी परम धूर्त है।' दूसरे चोरने धीरेसे जवाब दिया 'उसने समझ लिया था कि हमलोग उसके घरमें घुस गये हैं, इसलिये ज्ञान बघारने लगा और हमें साँपसे कटवानेकी नीयतसे ही टोकनेमें हीरे-पन्ने बताकर हमें धोखा दिया।'

'उसकी स्त्री भी कम चंट नहीं है' तीसरा चोर तुरंत बोल उठा 'दोनोंने मिलकर हमलोगोंको छकाया है। सचमुच मार डालनेकी युक्ति ही उन दोनोंने सोची थी।'

'यही युक्ति उनपर लगायी जाय' चौथेने सलाह दी 'नागसमेत टोकना उनकी झोपड़ीमें डाल दिया जाय; बस, **'न शोचति'**, **'न काङ्क्षति'** का पूरा अभ्यास हो जायगा।'

जिस समय रातको ब्राह्मण अपनी पत्नीसे टोकनेकी बात कह रहा था, उसी समय चोर घरमें घुसे थे और उन्होंने उनकी बातें सुनकर धनके लोभसे नदी तटपर आकर टोकनेको निकाला था और उसका मुँह खोलते ही उन्हें भयंकर काला नाग फुफकार मारता दिखायी दिया, तब उनमें ऊपर लिखी बातचीत हुई।

सबने एक स्वरसे समर्थन किया। टोकनेका मुँह बंद करके चारों चोरोंने उसे कंधेपर उठाया। हाँफते हुए गीताभ्यासीके मकानपर आये। घरके ऊपर छप्परमें एक छिद्र बनाकर तीन तो सरक गये। चौथेने टोकनेको मकानके ऊपर छिद्रके मुँहपर उलट दिया और भाग खड़ा हुआ।

'अरे यह देखिये सोनेकी अशर्फियोंका ढेर'—गीताभ्यासी पण्डितकी पत्नी मणि-माणिक्य और अशर्फियोंकी ध्वनिसे जाग पड़ी थी। नाग मणियोंके नीचे दबकर परलोक सिधार चुका था। ब्राह्मणी हर्षातिरेकसे उत्फुल्ल हो गयी थी। उसने कहा—'भगवान्ने छप्पर फाड़कर रत्न-भण्डार भेज दिया।'

'हर्षोत्फुल्ल नहीं होना चाहिये' पण्डितजीने सहजभावसे तुरंत कहा, 'प्रिय वस्तु पाकर जो हर्षित नहीं होता, भगवान् उसीको प्यार करते हैं।'

× × ×

'हमलोग क्षमा चाहते है'—तीनों भाइयोंने एक दिन आकर लज्जित होकर कहा।

'मैं किसीसे द्वेष नहीं करता, तुमलोग तो मेरे भाई हो, मुझे लज्जित न करो'—गीताभ्यासीने बड़ी नम्रतासे उत्तर दिया।

'भैया!' कण्ठस्वर भर आया था तीनों बन्धुओंका। उन्हें ऐसे प्रेमभरे शब्दोंकी बड़े भाईसे आशा नहीं थी। एकने कहा—'आपसे अलग होनेपर हमलोगोंको सदा क्षति ही उठानी पड़ी है। लक्ष्मीदेवीने घर ही त्याग दिया। हम सब ऋणी हो गये हैं। दाने-दानेके लिये तरसकर समाजमें अपमानित तथा लांछित जीवन बिता रहे हैं।'

'हमारी जिंदगी भार हो गयी भैया!'—दूसरे छोटे भाईने कहा।

'लज्जासे हमलोग आपके पास नहीं आ रहे थे, पर विपत्तियोंने हमें भेजा है।' छोटे तीसरे भाईने कह दिया।

'सहोदर भाई आप हैं' पुनः पहला छोटा बोला।

'आप पुण्यात्मा हैं। प्रतिदिन दीनोंको इतना धन खुले हाथों बाँट रहे हैं। हम तो आपके छोटे भाई हैं, हमें क्षमा करें'—दूसरेने गिड़गिड़ाते हुए कहा।

'ये रत्न-अशर्फियाँ आपलोग ले जायँ' गीताभ्यासी पण्डितकी पत्नी तीनों देवरोंका करुणायुक्त दीन वचन सुनकर द्रवित हो गयी थीं। कुछ रत्न-अशर्फियाँ लाकर देते हुए बोलीं 'हमें तो भगवान्ने छप्पर फाड़कर दिया है और भी दे जायँगे।'

'भगवान् हमें फिर दे जायँगे, ऐसी आकांक्षा तुम्हें नहीं करनी चाहिये' अपनी पत्नीको सम्बोधित करते हुए पण्डितजीने कहा 'आकांक्षारहित पुरुष ही भगवान्का प्रिय पात्र बनता है।'

'अपराधके लिये क्षमा चाहती हूँ'—पत्नीने भूल स्वीकार की।

'भैया! हमें अपनेमें मिला लें'—एक छोटे भाईने प्रार्थना की।

'हाँ भैया! बड़ी कृपा होगी आपकी'—दूसरे छोटे भाईने भी आग्रह किया।

'आपके पुण्यसे हम ऋणमुक्त हो जायँगे, हमलोगोंका सारा दुःख मिट जायगा भैया!' तीसरेने भी अनुरोध किया।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥

गीताभ्यासी पण्डितने वही प्राचीन श्लोक जो उनका प्राण था दुहराया। तुमलोग मुझे पुनः सम्मिलित करना चाहते हो, इसमें मुझे किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं है और न हर्ष ही है। यदि पुनः तुमलोग मुझे अलग कर दोगे तो भी मुझे शोक नहीं होगा और न मैं तुमलोगोंसे द्वेष ही रखूँगा; क्योंकि हर्ष, द्वेष, शोच, आकांक्षा तथा शुभाशुभको परित्याग करनेवाला पुरुष ही भगवान्का सच्चा प्रेमी समझा जाता है।

× × ×

'आपके पदार्पण करते ही आपकी कृपासे हमारा घर और घरका तमाम सामान, जो गिरवी रखा था, छूट गया। हम ऋणमुक्त हो गये।' एक दिन चारों भाइयोंके एकत्र होनेपर सबसे छोटे भाईने कहा, 'हमारा जीवन आनन्दसे बीत रहा है।'

'लक्ष्मीदेवीकी हमपर बड़ी कृपा हो गयी है।' दूसरे छोटे भाई ने कहा।

'यो न हृष्यति न द्वेष्टि..........' श्लोक गाती हुई गीताभ्यासी पण्डितकी पत्नीने आकर कहा 'चलिये भोजन तैयार है।'

भोजन करनेके लिये उद्यत होते हुए छोटे तीसरे भाईने

कहा—'अब तो भैया और भाभीकी तरह हमलोग भी प्रतिदिन नियमपूर्वक गीता-पाठ किया करेंगे।'

'गीताके अनुसार जीवन बनानेका पूर्ण प्रयत्न करेंगे'—सबसे छोटे भाईने कहा।

'फिर तो हमारा घर भगवान्का मन्दिर बन जायगा'—दूसरे छोटे भाईने कहा।

'प्रभु करें ऐसा ही हो'—मुसकराते हुए गीताभ्यासी सबसे बड़े भाई बोल गये।

(निवृत्तिपरक स्वभावका अनुसरण करके यह गाथा लिखी गयी है। इस श्लोकका अर्थ प्रवृत्तिपरक भी होता है और इस तरह प्रत्येक कर्मशील भक्तके लिये भी यह श्लोक आदर्श है।)

ईश्वर और धर्म क्यों ?

वर्तमान युग तर्कप्रधान युग है। जो बात तर्ककी कसौटीपर खरी न उतरे, उसे आँख मूँदकर माननेके लिये बीसवीं शताब्दीके प्राय: मनुष्य तैयार नहीं हैं। किसी भी वस्तुका अस्तित्व स्वीकार करनेके पूर्व उसके मनमें यही जिज्ञासा उत्पन्न होती है—क्यों और किसलिये? ईश्वर और धर्मकी बात भी जब उससे कही जाती है, तब वह यही प्रश्न करता है—'ईश्वर और धर्मको हम क्यों मानें? उनपर विश्वास करनेसे हमें क्या लाभ है?' बात बिलकुल ठीक है। यदि ईश्वर और धर्मको माननेसे हमें कोई लाभ नहीं और उन्हें न माननेसे हमारी कोई हानि नहीं होती तो फिर हम उन्हें क्यों मानें? प्रस्तुत निबन्धमें यही दिखलानेकी चेष्टा की जायगी कि ईश्वर और धर्मको माननेमें लाभ-ही-लाभ है और न माननेमें हमारी अत्यन्त हानि है।

आजके तार्किक मनुष्यका पहला प्रश्न यही होता है—'ईश्वरको हम क्यों मानें?' इसका उत्तर संक्षेपमें यही है कि वेद-पुराणादि हिंदूशास्त्र, ईसाई-मुसलमान आदि अन्यान्य मजहबोंके धर्मग्रन्थ तथा प्राय: सभी मतोंके प्रवर्तक, सम्प्रदायाचार्य तथा महापुरुष एक स्वरसे ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं। इन सबकी सम्मिलित अनुभूतिके सामने नास्तिकोंके निषेधका क्या मूल्य है। यहाँ वादी यह कह सकता है कि 'जिस प्रकार वेदादि शास्त्रों तथा अन्य मजहबोंके धर्मग्रन्थोंमें ईश्वरके अस्तित्वका समर्थन करनेवाले वाक्य मिलते हैं, उसी प्रकार नास्तिकोंके ईश्वर-निषेधक वाक्य भी पाये जाते हैं। जिस प्रकार आस्तिक अपनी अनुभूतिको सत्य मानता है, उसी प्रकार नास्तिक अपनी अनुभूतिको ठीक समझता है। ऐसी दशामें किसकी अनुभूतिको प्रमाण माना जाय?' इसका उत्तर यह है कि नास्तिककी अनुभूतिकी अपेक्षा आस्तिककी अनुभूति बलवती होती है। असलमें किसी भी वस्तुके सम्बन्धमें 'वह नहीं है' ऐसा कहना तो बनता ही नहीं। जिसने किसी वस्तुका साक्षात्कार कर लिया है, किसी वस्तुको जान लिया है, वह तो अधिकारपूर्वक यह कह सकता है कि अमुक वस्तु है, उसे मैंने देखा है, जाना है, अनुभव किया है; परन्तु जिसने किसी वस्तुको जाना या देखा नहीं है, अनुभव नहीं किया है, वह क्योंकर कह सकता है कि अमुक वस्तु नहीं है। उसका ऐसा कहना अज्ञतापूर्ण एवं दु:साहस ही नहीं, अपितु असत्य भी है; क्योंकि किसी भी वस्तुका अभाव हमें किसी देशविशेषमें तथा कालविशेषमें ही प्रत्यक्ष हो सकता है। सर्वत्र एवं सब कालमें तो हमारी खुदकी भी गति नहीं है। फिर हम निश्चयपूर्वक कैसे कह सकते हैं कि ईश्वर कहीं और किसी कालमें भी नहीं है। जिसकी सर्वत्र गति हो, जो सब कालमें मौजूद हो और जिसे सब कुछ ज्ञात हो, वही यह कहनेका साहस कर सकता है कि अमुक वस्तु सर्वथा नहीं है; और यदि ऐसा कोई व्यक्ति है तो वही हमारा ईश्वर है। ईश्वरके ही सम्बन्धमें क्यों, सभी अपार्थिव एवं अप्राकृत वस्तुओंके लिये यह कहा जाता है कि अमुक वस्तु देखनेमें नहीं आती, अत: वह नहीं है; कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, देवादि योनियाँ, स्वर्गादि लोक—ये सब वस्तुएँ देखनेमें नहीं आतीं, अत: इनमेंसे कोई भी नहीं है—यह कहना सर्वथा दु:साहस है। हाँ, यदि कोई यह कहे कि मैंने ईश्वरको देखा नहीं, मुझे ईश्वरका पता नहीं तो यह बिलकुल सत्य है। ईश्वरके सम्बन्धमें हम अपना अज्ञान, अपना असामर्थ्य प्रकट कर सकते हैं; परंतु यह कदापि नहीं कह सकते कि 'वह नहीं है।'

थोड़ी देरके लिये यह भी मान लिया जाय कि ईश्वरका अस्तित्व संदेहास्पद है, उसके सम्बन्धमें निश्चितरूपसे न यह कहा जा सकता है कि 'वह है' और न यही कहा जा सकता है कि 'वह नहीं है।' परंतु संदेहकी स्थितिमें भी न माननेकी अपेक्षा मानना अधिक लाभदायक है। यदि वास्तवमें ईश्वर नहीं है, तो भी उसे माननेवाला किसी प्रकार घाटेमें नहीं रहेगा। ईश्वरको माननेवाला कम-से-कम पाप एवं अनाचारसे बचा रहेगा; जीवमात्रको ईश्वरका स्वरूप, अंश अथवा संतान मानकर सबके साथ प्रेम एवं सहानुभूतिका बर्ताव करेगा और इस प्रकार कम-से-कम लोकमें तो उसकी ख्याति होगी और बदलेमें औरोंसे भी उसे सद्भाव एवं सहानुभूति ही मिलेगी। फलत: उसका

जीवन अपेक्षाकृत सुख-शान्तिसे बीतेगा और जगत्‌में भी उसके द्वारा सुख-शान्तिका ही विस्तार होगा। ईश्वरके न होनेपर भी उसके माननेसे इतना लाभ तो उसे प्रत्यक्ष ही होगा। इसके विपरीत,यदि ईश्वर है तो उसके माननेवाले तो सब प्रकार लाभमें रहेंगे—उसके कानूनको मानकर,उसकी आज्ञाके अनुसार चलकर उसके प्रीतिभाजन बनेंगे और फलतः इस लोकमें सुख-शान्तिसे रहेंगे एवं मृत्युके बाद परम शान्तिको प्राप्त होंगे। परंतु ईश्वरके रहते भी जो उन्हें न मानकर उनकी आज्ञाका उल्लंघन करते हैं,उनके जीवोंको सताते हैं, उन्हें जीते-जी कितनी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ेगा तथा मरनेके बाद उनकी कैसी दुर्गति होगी—इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इतना ही नहीं, ईश्वरपर विश्वास करनेसे साधकोंको प्रत्यक्ष लाभ होते देखा जाता है। ईश्वरको माननेवालोंके अंदर धीरता, वीरता, गम्भीरता, सहृदयता, दयालुता, क्षमा, निर्भयता, शान्ति, श्रद्धा, प्रेम आदि सद्‌गुण अपने-आप आ जाते हैं और दुर्गुण-दुराचारका नाश हो जाता है । जगत्‌के इतिहासमें, विशेषकर भारतके इतिहासमें, ऐसे अनगिनत उदाहरण मौजूद हैं, जिनमें भगवान्‌ने अपने विश्वासियोंको प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे अनेक प्रकारके संकटोंसे बचाया है तथा उन्हें सब प्रकारसे सुखी किया है। अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि भगवान् न होते तो उनपर विश्वास करनेवालोंका उनके द्वारा इस प्रकार लौकिक एवं पारमार्थिक लाभ किस प्रकार सम्भव था।

जिस प्रकार सूर्योदय हो जानेपर अन्धकारका समूल नाश हो जाता है, उसका लेशमात्र भी अवशिष्ट नहीं रहता, उसी प्रकार भगवान्‌का ज्ञान, भगवान्‌का साक्षात्कार हो जानेपर अविद्या अथवा अज्ञानका सर्वथा अभाव हो जाता है, मायाका लेश भी नहीं रह जाता। अन्धकार अथवा अज्ञान कोई वास्तविक पदार्थ नहीं हैं, क्योंकि इनकी सत्ता कल्पित मानी है। अतएव ज्ञानरूप प्रकाशका आविर्भाव होते ही अज्ञानरूप अन्धकार सर्वथा विलीन हो जाता है। जब अज्ञान ही नहीं रहता तब उसके कार्यरूप काम-क्रोधादि विकार, दुर्गुण एवं दुराचार तो रह ही कैसे सकते हैं। और जब दुर्गुण-दुराचार नहीं रहे, तब उनके फलरूप, दुःख-शोकादिका भी अत्यन्ताभाव हो जाता है। इस प्रकार परमात्मविषयक ज्ञान अथवा भगवत्साक्षात्कार हो जानेपर माया एवं उसका सारा परिवार—दुःख-शोक, दरिद्रता, दीनता, पराधीनता, ममता-मोह, राग-द्वेष आदि नष्ट हो जाते हैं। सूर्योदय हो जानेके बाद अन्धकार-निवृत्तिके लिये स्वतन्त्र प्रयत्न नहीं करना पड़ता। सूर्योदयके निकट आते ही अन्धकार अपने-आप भागने लगता है और सूर्योदय हो जानेपर तो उसके कहीं पदचिह्न भी नहीं मिलते।

माया जड है, परमात्मा विशुद्ध चेतन-तत्त्व है। अन्धकार एवं प्रकाशकी भाँति दोनों एक-दूसरेसे अत्यन्त विलक्षण हैं। मायाका ही दूसरा नाम प्रकृति है। इस मायाके दो रूप हैं—विद्या और अविद्या। सत्त्वगुण और तमोगुण भी इन्हींके नामान्तर हैं—गीताके अनुसार सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिके ही कार्य हैं—'**सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।**' (१४। ५)। वेदोंमें आता है कि जीवोंके कर्मोंकी प्रेरणासे इच्छाहीन परमात्मामें एकसे अनेक होनेकी इच्छा प्रकट होती है—'**सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।**' (तैत्तिरीय० २। ६) भगवान्‌के इस संकल्पसे प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है—यही रजोगुणका स्वरूप है। जिस प्रकार दहीमें हलचल होनेसे उसमेंसे नवनीत प्रकट होता है, ठीक उसी प्रकार प्रकृतिमें क्षोभ होनेपर उसमेंसे सत्त्वगुणरूप महत्तत्त्व यानी समष्टि-बुद्धि उत्पन्न होती है। इस बुद्धिकी वृत्ति-विशेषका नाम ही ज्ञान अथवा विद्या है और इसीका विरोधी अज्ञान अथवा अविद्या है, जिसे 'तमोगुण' भी कहते हैं। महत्तत्त्वसे अहंकारकी और अहंकारसे पंचतन्मात्राओं अर्थात् सूक्ष्मभूतोंकी उत्पत्ति होती है। इन भूतोंमें अग्निसे अभिव्यक्त होनेवाला जो स्वरूप है, उसीका नाम प्रकाश है और अन्धकार उसका विरोधी है। प्रकाश सत्त्वका कार्य है और अन्धकार तमोगुणका। जो मायातीत विशुद्ध चेतनतत्त्व है, उसीका नाम निर्गुण-निराकार ब्रह्म है। जो बुद्धि-विशिष्ट समष्टिचेतन परमात्माका ज्ञानस्वरूप है, वही सगुण-निराकार परमेश्वर है और उनका जो प्रकाशमय दिव्य विग्रह है, वही सगुण-साकार भगवान् हैं। इन्हींके श्रीविष्णु, श्रीशिव, श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीदुर्गा आदि विविध रूप हैं।

इन सभी रूपोंमें भगवान् अपनेको मायाके पर्देके भीतर छिपाये रखते हैं, इसीलिये ये सब रूप मायाविशिष्ट कहलाते हैं। भगवान् स्वयं श्रीगीताजीमें कहते हैं—

'**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।**'
(७। २५)

अर्थात् 'मैं योगमायासे अपनेको छिपाये रखनेके कारण सबके सामने प्रकट नहीं होता।' परन्तु जो भगवान्‌के ज्ञानी भक्त हैं, उनसे भगवान् अपनेको छिपा नहीं सकते। उनके सामने वे निरावरण होकर अपने असली रूपमें प्रकट हो जाते हैं, परंतु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि भगवान्‌के राम-कृष्णादि विग्रह मायिक हैं, असली नहीं हैं।

भगवान्‌के वे सभी स्वरूप उनके अपने स्वरूप हैं, चिन्मय हैं। परंतु जनसाधारणके सामने वे अपनी योगमायाका पर्दा डाले रहते हैं, जिसके कारण लोग उन्हें जन्मने-मरनेवाला साधारण मनुष्य मान लेते हैं—

'मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥'

(गीता ७। २५)

तत्त्वतः भगवान्‌के साकार-निराकार सभी रूप चिन्मय मायातीत ही होते हैं। उनमें रहनेवाले जो अनन्त कल्याणगुण हैं, वे भी चिन्मय, दिव्य—उनके स्वरूपभूत ही हैं और मायिक गुणोंसे अत्यन्त विलक्षण होते हैं। मायिक गुण सब इन्हीं गुणोंके प्रतिबिम्बरूप होते हैं। संसारमें जितने गुण दिखायी देते हैं, देवताओं तथा मनुष्योंमें भी जितने गुण दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब मिलकर भी उस अनन्त दिव्यगुणार्णवकी एक बूँदके आभासके तुल्य भी नहीं हैं। भगवान् श्रीगीताजीमें भी कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

(१०। ४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान।'

संसारमें दीखनेवाले गुण घटते-बढ़ते हैं, विनाशी हैं तथा पकड़में आनेवाले हैं। इसके विपरीत, भगवान्‌में रहनेवाले गुण सदा एकरस रहते हैं, वे भगवान्‌की भाँति ही एकरस, अविनाशी और स्वतन्त्र हैं।

ऐसे अनन्तगुणागार, परमोदार, दयासागर, जीवके परम हितैषी प्रभुके अस्तित्वमें विश्वास करके उनकी एकान्त भक्ति तथा उनके अनुकूल आचरणद्वारा शीघ्र-से-शीघ्र उन्हें पा लेना और उन्हें तत्त्वतः जान लेना ही जीवका परम पुरुषार्थ, सच्चा लाभ है। इसीके लिये हमें यह दुर्लभ मनुष्य-देह प्राप्त हुआ है; उन्हीं करुणावरुणालय, सर्वसुहृद्, सबके माता-धाता-पितामह भगवान्‌की खोजमें यह जीव अनादि कालसे भटक रहा है और इसका भटकना तबतक बंद नहीं होगा, जबतक यह उन्हें पा न लेगा। परंतु यह काम किसी दूसरेके किये नहीं होगा, यह तो जीवको स्वयं ही करना होगा। भगवान् स्वसंवेद्य एवं स्वतः प्रापणीय हैं। अतः उनकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको मृत्युपर्यन्त प्राणपणसे चेष्टा करनी चाहिये। जबतक उसका यह कार्य सिद्ध न हो जाय, तबतक उसे चैन नहीं मिलना चाहिये, किसी दूसरी ओर ताकना भी नहीं चाहिये। विषयोंको पानेके लिये तो सभी लालायित रहते हैं और विषय प्रारब्धानुसार सभी योनियोंमें मिल जाते हैं, परंतु भगवान्‌की प्राप्ति तो केवल मनुष्यजीवनमें ही सम्भव है। अतः सब ओरसे चित्तवृत्तिको हटाकर केवल भगवान्‌को पानेके लिये अथक प्रयत्न करना ही मनुष्यमात्रका प्रथम कर्तव्य है। दूसरे सब कर्तव्य इसके सामने गौण हैं। विषयोंमें सुखकी प्राप्तिके लिये चेष्टा करना तो मनुष्यके लिये वैसा ही है, जैसा किसी बालकका सूर्य अथवा चन्द्रमाके प्रतिबिम्बको पकड़नेका प्रयत्न करना। प्रतिबिम्बको पकड़नेके लिये प्रयत्नशील बालकके बिम्ब तो हाथ लगता ही नहीं, प्रतिबिम्ब भी उसकी पकड़में नहीं आता; क्योंकि उसकी वास्तविक सत्ता ही नहीं है। केवल छटपटाना ही हाथ लगता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण सुखोंके आकर (खान) परमानन्दरूप श्रीभगवान्‌को छोड़कर मायिक विषयसुखके पीछे दौड़नेवाले मनुष्यको वास्तविक सुख तो प्राप्त होता ही नहीं, विषयसुख भी उसकी पकड़के बाहर ही रहते हैं। पकड़में आ जानेपर भी वे उसके पास टिकते नहीं; क्योंकि उनका स्वरूप ही क्षणिक एवं विनाशी है। वास्तवमें तो उनकी कोई सत्ता ही नहीं है; हमने उनकी सत्ता मान रखी है, इसीलिये उनकी प्रतीति होती है।

अब जब युक्ति एवं शास्त्रके प्रमाणोंसे यह निश्चित हो गया कि भगवान् हैं और उन्हें पाना ही जीव-जीवनकी सबसे बड़ी साध है, तब दूसरा प्रश्न यह होता है कि उन्हें किस प्रकार प्राप्त किया जाय? इसका सरल उत्तर यह है कि निष्कामभावसे उनकी आज्ञाका पालन करना अथवा अनन्यशरण होकर उनकी उपासना करना— उनकी भक्ति करना ही उन्हें पानेका सर्वोत्तम उपाय है।

ईश्वर है तो उसका कानून भी है। उसी कानूनका नाम धर्म है। धर्म दो प्रकारका है—सामान्य और विशेष। मनुष्यमात्रके लिये पालनीय धर्म अर्थात् उत्तम आचरणका नाम सामान्य अथवा मानवधर्म है। गीताके सोलहवें अध्यायमें दैवीसम्पत्तिके नामसे, सत्रहवेंमें कायिक-वाचिक-मानसिक—त्रिविध तपके नामसे और तेरहवें अध्यायमें ज्ञानके नामसे इसी सामान्य धर्मका निरूपण है (देखिये १६। १ से ३; १७। १४ से १६; १३। ७ से ११)। योग-दर्शनमें यम-नियमोंके नामसे तथा मानव-धर्मशास्त्रमें दशविध धर्मके नामसे भी इसी मानव-धर्मका उल्लेख हुआ है। उपर्युक्त धर्मका निष्काम भावसे पालन करनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होकर मनुष्य ईश्वरको प्राप्त कर लेता है। श्रुति, स्मृति एवं पुराणोंमें बताये हुए विभिन्न वर्णों एवं आश्रमोंके आचारका नाम 'विशेष धर्म' है; यह सबके लिये अलग-अलग है। इसीका गीतामें जगह-जगह स्वधर्म, स्वभाव-नियत कर्म, स्वकर्म, सहज कर्म, स्वभावज कर्म आदि

नामोंसे उल्लेख हुआ है। सामान्य धर्मके साथ-साथ इस विशेष धर्मके पालनपर भी गीताने बहुत जोर दिया है और परधर्मको स्वीकार करनेकी अपेक्षा—चाहे वह हमारे धर्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ भी क्यों न हो और हमारा धर्म उतना ऊँचा न हो—स्वधर्मका पालन करते हुए मर जाना श्रेष्ठ बतलाया है। गीता डंकेकी चोट कहती है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(३।३५)

'अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।'

अठारहवें अध्यायमें इसी श्लोकके पूर्वार्द्धकी ज्यों-की-त्यों पुनरावृत्ति की गयी है और उसी प्रसंगमें यह भी कहा है—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

(१८।४८)

'अतएव हे कुन्तीपुत्र! दोषयुक्त होनेपर भी सहज कर्मको नहीं त्यागना चाहिये; क्योंकि धुएँसे अग्निकी भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे युक्त हैं।'

तात्पर्य यह है कि गीताने समाजकी शृंखलाको सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित रखनेके लिये वर्णाश्रमधर्मका पालन अनिवार्य माना है और साथ ही यह भी बताया है कि कर्मकी छोटाई-बड़ाई उसके स्वरूपपर नहीं बल्कि कर्ताके भावपर निर्भर करती है। हमारे सनातन वर्णाश्रमधर्मकी यही विशेषता है कि उसमें लोक-परलोक—स्वार्थ-परमार्थ दोनोंपर दृष्टि रखी गयी है और समाजधर्म एवं अध्यात्मका अद्भुत ढंगसे सामंजस्य किया गया है। हमारे यहाँ धर्मकी परिभाषा ही यह की गयी है— '**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः**' (वैशेषिक दर्शन) जिसके पालनसे हमारा लौकिक अभ्युदय—जागतिक उन्नति हो और साथ ही हमारा परलोक भी बने अर्थात् जिससे हमारे स्वार्थ-परमार्थ दोनों सिद्ध हों, वही धर्म है। परलोक बननेके कई अर्थ हो सकते हैं। मरनेके बाद लोकमें हमारी कीर्ति हो और हमें स्वर्गादि दिव्यलोकोंके दिव्य सुख प्राप्त हों—इसे भी संसारमें परलोक बनना कहते हैं। कई मजहबों एवं दर्शनोंने तो इसीको मनुष्य-जीवनका परम लक्ष्य माना है। परंतु गीता अथवा हिंदूधर्मका परलोक बनाना यहींतक सीमित नहीं है। हमारा तो अन्तिम लक्ष्य सीमारहित अनन्त सुख है। हमारे ऋषियोंने स्वर्गादिके सुखोंका अनुभव करके हमें यह बताया है कि पार्थिव सुखोंकी भाँति वे सुख भी अल्प—अस्थायी हैं, उनका भी एक-न-एक दिन अन्त हो जाता है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

(८।१६)

'अर्जुन! ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती हैं, परंतु हे कुन्तीपुत्र! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता; [क्योंकि मैं कालातीत हूँ और ये सब ब्रह्मादिके लोक कालके द्वारा सीमित होनेसे अनित्य हैं]।'

ब्रह्मलोक ऊपरके स्वर्गादि लोकोंमें सबसे ऊँचा और सबसे दिव्य माना गया है। वहाँके निवासियोंकी आयु भी सबसे लंबी होती है। परंतु ब्रह्माकी आयु बीत जानेपर ब्रह्मलोकका भी लय हो जाता है और यद्यपि वहाँके बहुत-से जीव उस समय मुक्त हो जाते हैं, फिर भी वहाँके सभी निवासियोंकी मुक्ति निश्चित नहीं है। जब ब्रह्मलोकतककी यह बात है, तब स्वर्गादि नीचेके लोकोंकी तो बात ही क्या है। उनके सम्बन्धमें तो भगवान्ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि पुण्यक्षीण हो जानेपर वहाँके निवासी वहाँसे नीचे ढकेल दिये जाते हैं और उन्हें पुनः इस मर्त्यलोकमें आना पड़ता है—'**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।**' (गीता ९।२१) सदा रहनेवाला सुख तो एकमात्र श्रीभगवान्में ही है, जिन्हें पाकर जीव सदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है, सब प्रकारके बन्धनोंसे छूट जाता है। इसीका नाम मुक्ति है और इसीको शास्त्रोंमें 'निःश्रेयस' कहा है—जिससे बढ़कर कोई दूसरा सुख न हो। इस निःश्रेयसकी प्राप्ति ही हिंदुओंका परम लक्ष्य है।

प्रत्येक मनुष्य अपने वर्णाश्रमोचित कर्तव्यका निष्कामभावसे पालन करके इस परम गतिको प्राप्त कर सकता है। निःश्रेयसकी प्राप्तिमें छोटे-बड़े सबका समान अधिकार है; जो जहाँ है वह उसी स्थितिमें रहकर स्वधर्मका पालन करता हुआ भगवान्को प्राप्त कर सकता है। भगवान्की प्राप्तिके लिये किसीको भी अपना धर्म छोड़ने अथवा दूसरेका धर्म स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं है। शम-दमादिसम्पन्न वेदपाठी विद्वान् ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन आदि रूप स्वधर्मके अनुष्ठानसे जिस पदको प्राप्त कर सकता है, नीचे-से-नीचा कर्म करनेवाला शूद्र अपने सेवारूप कर्मसे उसी गतिको पा सकता है। शूद्रके लिये यह उचित नहीं कि वह ब्राह्मणका कर्म करे। आवश्यकता है केवल कर्तव्यबुद्धिसे अथवा भगवत्प्रीत्यर्थ अपने विहित कर्मका अनुष्ठान करनेकी। निष्कामभाव अथवा भगवत्प्रीतिकी भावना होनेपर स्वधर्मपालनसे अन्तःकरणकी शुद्धि हो जाती है और अन्तःकरण शुद्ध हो जानेपर भगवान्में श्रद्धा और प्रेम उत्पन्न होकर भगवान्की

प्राप्ति सहज हो जाती है। कहिये, कितना सरल उपाय है भगवान्‌को प्राप्त करनेका! इस प्रकार वर्णाश्रमकी आदर्श व्यवस्था बाँधकर हमारे यहाँके ऋषियोंने न केवल व्यक्तियोंके कल्याणका पथ सुगम कर दिया, अपितु प्रत्येक वर्गके कर्म निश्चित करके समाजको भी सुव्यवस्थित बना दिया। हमलोगोंका यह परम दुर्भाग्य है कि आज हम पाश्चात्योंका अन्धानुकरण करने जाकर अपने त्रिकालज्ञ ऋषियोंकी बनायी हुई मर्यादाकी अवहेलना कर रहे हैं और इस प्रकार दुःख एवं अशान्ति मोल ले रहे हैं।

भगवान्‌को प्राप्त करनेका इससे भी सरल एवं सफल उपाय है— भगवान्‌की भक्ति। ईश्वरभक्तिसे दैवी गुण अपने-आप आने लगते हैं; क्योंकि दैवी गुण भगवान्‌के ही तो गुण हैं और भगवान् भक्तके हृदयमें बसते हैं। अतः जहाँ भगवान् रहते हैं, वहाँ उनके गुण अवश्य रहने चाहिये। इस प्रकार भगवद्भक्तके द्वारा सामान्य धर्मका पालन अपने-आप होता है। इसके लिये उसे अलग चेष्टा नहीं करनी पड़ती। सदाचार उसका स्वभाव बन जाता है। भगवद्भक्ति और सदाचारमें अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है। भक्तिसे सद्‌गुण-सदाचारकी प्रतिष्ठा होती है और सद्‌गुण-सदाचारसे अन्तःकरण शुद्ध होकर भगवान्‌के प्रति श्रद्धा, प्रेम और भक्ति उत्पन्न होती है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥
(७। २८)

'परंतु निष्कामभावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषजनित द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त दृढ़निश्चयी भक्त मुझको सब प्रकारसे भजते हैं।'

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
(९। १३)

'परंतु हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं।'

भक्तिसे परमात्मविषयक ज्ञान भी अपने-आप हो जाता है। भगवान् अपने भक्तोंको अनायास ही अपना ज्ञान दे देते हैं। वे कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥
(गीता १०। १०-११)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ,जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। और हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

यही नहीं, भक्तोंको किस बातकी आवश्यकता है— इसका ध्यान भगवान् स्वयं रखते हैं और वे सब प्रकारकी विपत्तियों तथा विघ्नोंसे उनकी रक्षा करते हैं। भगवान् कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गीता ९। २२)

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

भगवान्‌की भक्तिसे बड़े-से-बड़ा पापी भी बहुत शीघ्र धर्मात्मा बनकर शाश्वती शान्ति प्राप्त कर लेता है, इसे भी भगवान् स्वयं अपने श्रीमुखसे स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। यही नहीं,वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

और तो और, अनन्यभावसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करनेवाले भक्तको स्वयं भगवान् अनायास मिल जाते हैं (देखिये गीता ८। १४)। जिस भक्तिसे अखिल ब्रह्माण्डनायक, अनन्त ऐश्वर्य एवं माधुर्यके अचिन्त्य महासागर, कर्तुं-अकर्तुं-अन्यथाकर्तुं समर्थ, सर्वभूतमहेश्वर, सर्वसुहृद्, सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, सर्वसाक्षी, सर्वशक्तिमान् एवं सर्वनियन्ता भगवान् सुलभ हो जाते हैं, उस भक्तिभगवतीकी कहाँतक महिमा कही जाय। अतः अनन्यभावसे प्रेमपूर्वक

भगवान्‌का भजन करना ही जीवका सर्वोपरि कर्तव्य है। इसीलिये श्रीमद्भागवतमें कहा है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥

(१।२।६)

'मनुष्यमात्रके लिये सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिससे भगवान् विष्णुमें भक्ति हो—ऐसी भक्ति, जिसका और कोई उद्देश्य न हो, जिसकी धारा कभी टूटे नहीं और जिससे चित्त भलीभाँति शान्त हो जाय।'

जहाँ यह समझमें आ गया कि विश्वब्रह्माण्डका रचयिता एवं नियामक एक सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी एवं सर्वसाक्षी चेतन ईश्वर है, वहीं यह भी मानना पड़ेगा कि इस विश्वका संचालन कतिपय अनादि एवं अपरिवर्तनीय नियमोंके अनुसार होता है। उन्हीं नियमोंकी समष्टिका नाम धर्म अथवा सनातनधर्म है और उन नियमोंका उल्लेख तथा विधान जिन ग्रन्थोंमें है, उन्हींका नाम है—शास्त्र। अत: यह मानना पड़ेगा कि जगत्‌में सुख-शान्ति तथा समृद्धि तभी हो सकती है, जब कि जगत्‌के जीव उन ईश्वरीय नियमोंका आदर करें और उनके अनुसार चलें। पृथ्वीपर रहनेवाले जीवोंमें मनुष्यका दर्जा सबसे ऊँचा है; पृथ्वीके समस्त जीवोंमें मनुष्य ही एक ऐसा जीव है, जिसे भगवान्‌ने विवेक-बुद्धि, अपना हित-अहित सोचने और बुरे-भलेको पहचाननेकी शक्ति दी है। जिसमें हित-अहित सोचनेकी बुद्धि, सत्‌को ग्रहण करने तथा असत्‌का त्याग करनेकी सामर्थ्य है, कानून भी उसीपर लागू होता है। नाबालिग बालकों तथा तिर्यक् योनिके जीवोंपर जगत्‌का कोई भी कानून इसीलिये लागू नहीं होता कि उनमें अपना हित-अहित सोचने और तदनुसार कार्य करनेकी क्षमता नहीं है। इसलिये नियमानुकूल आचरणकी जिम्मेवारी पृथ्वीके जीवोंमें केवल मनुष्यपर है। अत: मनुष्यजातिके आचरणोंपर ही जगत्‌का सुख-दु:ख निर्भर करता है। मनुष्योंका आचरण यदि धर्मानुकूल होता है तो जगत्‌में सर्वत्र सुख-शान्ति रहती है। इसके विपरीत मनुष्योंकी आस्था जब धर्मसे हट जाती है और वे मनमाना आचरण करने लगते हैं, तब जगत्‌में सर्वत्र विप्लव मच जाता है और समस्त जीव दु:ख एवं शोककी ज्वालासे जलने लगते हैं।

इसीलिये भगवान् वेदव्यासने महाभारतमें कहा है—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

(महा०, स्वर्गा० ५।६२)

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'मैं दोनों भुजाएँ उठा चिल्ला-चिल्लाकर कहता हूँ, पर मेरी बात कोई नहीं सुनता। भाइयो! धर्मसे ही धन एवं सुखकी प्राप्ति होती है; फिर क्यों नहीं धर्मका सेवन करते? मैं धर्मका सार बतलाता हूँ, उसे सब लोग सुनें और सुनकर उसपर ध्यान दें—वह यही कि जो व्यवहार अपनेको अच्छा न लगे, उसे दूसरोंके साथ कभी न करे।'

इसीलिये शास्त्रोंमें जगह-जगह यही घोषणा की गयी है कि जहाँ धर्म है, वहीं विजय है—'**यतो धर्मस्ततो जयः।**' (महा०, भीष्म०२१।११, ६६।३५) जहाँ धर्म है, वहाँ भगवान् अवश्य हैं; क्योंकि विधाता और उनका विधान एक ही वस्तु है। बल्कि यों भी कहें तो कोई हानि नहीं कि विधानके रूपमें स्वयं विधाता ही विद्यमान हैं और जहाँ भगवान् स्वयं हों, वहाँ जय तो निश्चित ही है। इसीलिये एक जगह महाभारतमें यह भी कहा गया है—'**यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः।**' (भीष्मपर्व ४३।६०) 'जहाँ धर्म है, वहाँ भगवान् अवश्य रहते हैं; और जहाँ भगवान् हैं, वहाँ विजय निश्चित है।' विजय ही नहीं, वहाँ तो लक्ष्मी, ऐश्वर्य, नीति आदि सभी अभीष्ट वस्तुएँ एकत्रित रहती हैं। यही बात संजयने गीताके अन्तमें कही है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

(१८।७८)

'हे राजन्! (विशेष क्या कहूँ,) जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है, ऐसा मेरा मत है।'

परंतु आज तो सब कुछ विपरीत हो रहा है। आजकी स्थितिका दिग्दर्शन कराते हुए महर्षि वेदव्यास कहते हैं—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

'लोग पुण्यका फल—सुख तो चाहते हैं, परंतु पुण्य करना नहीं चाहते। पापका फल—दु:ख हम नहीं चाहते, परंतु पाप प्रयत्नपूर्वक करते हैं।'

ऐसी हालतमें भला सुख कैसे हो सकता है; परंतु फिर भी लोग चेतते नहीं, धर्मकी ओर किसीका ध्यान ही नहीं है। जगत्‌में सुख-शान्तिके विस्तारके लिये साम्यवाद, जनतन्त्रवाद आदि अनेकों वाद प्रचारित किये जा रहे हैं; परंतु इन सब वादोंसे हमारा दु:ख घटनेके बदले क्रमशः बढ़ता ही जा रहा है। धर्मका फल सुख और पापका फल

दुःख होता है—इसे भारतका बच्चा-बच्चा जानता है। फिर भी आज हम इस सिद्धान्तको भूलकर अधर्मकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। आज हमारी धारासभाओंमें आये दिन नये-नये कानून बनाये जाते हैं, जो हमारे धर्म एवं संस्कृतिका मूलोच्छेद करनेवाले हैं। कहीं सगोत्र-विवाह-बिल, कहीं अस्पृश्यता-निवारण-बिल और कहीं तलाक-बिल—चारों ओर नये-नये कानूनोंका ही दौरदौरा है; परंतु हमलोग आँखें मूँदकर इन सबका समर्थन किये जा रहे हैं! इतिहास इस बातका साक्षी है कि जब-जब संसारमें अधर्म और अनीति बढ़ती है, तब-तब जगत्का शोक-संताप भी बढ़ता है और अन्याय करनेवालोंका अन्ततोगत्वा पतन ही होता है। कभी स्वयं प्रकट होकर, कभी महापुरुषोंके द्वारा उनके मनमें प्रेरणा करके भगवान् जगत्को अधर्मियोंके चंगुलसे बचाते हैं; क्योंकि उनकी यह घोषणा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४। ७-८)

'हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ। साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

ईश्वरमें विश्वास उठ जाने और धर्मसे च्युत हो जानेके कारण ही आज भारत दुःखी हो रहा है। धर्मपर दृढ़ता न होनेके कारण ही आज अल्पसंख्यक जातियाँ भी हमारे साथ समान अधिकारका दावा कर हमारा नाम-निशानतक मिटा देनेका प्रयत्न कर रही हैं और हम चुपचाप सब कुछ सहन किये चले जा रहे हैं। एवं कहा यह जाता है कि 'धर्म और ईश्वरवाद ही हमारे पतनका कारण है; जबतक धर्मका ढकोसला नहीं मिटेगा, तबतक भारतमें एकता नहीं स्थापित होगी और एकता हुए बिना भारत कभी सुखी नहीं होनेका।' इधर विधर्मी लोग तो धर्मके नामपर संघटित होकर क्रमशः अपनी शक्ति बढ़ाते और हमपर नृशंसतापूर्ण अत्याचार करते जा रहे हैं और उधर हमारे ही भाई हमसे यह कहते हैं कि 'तुम अपने धर्म और संस्कृतिको तिलांजलि देकर उनसे मेल करो और उनके साथ रोटी-बेटीका व्यवहार करो।' बलिहारी है इस बुद्धिकी! भगवान्ने क्या ही ठीक कहा है कि जब बुद्धिपर तमोगुणका पर्दा छा जाता है, तब सब कुछ विपरीत दिखायी देने लगता है, अधर्मको ही लोग धर्म समझने लगते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

(गीता १८। ३२)

'हे अर्जुन! जो तमोगुणसे घिरी हुई बुद्धि अधर्मको भी 'यह धर्म है' ऐसा मान लेती है तथा इसी प्रकार अन्य सम्पूर्ण पदार्थोंको भी विपरीत मान लेती है, वह बुद्धि तामसी है।'

हमारे ही देशके कई आततायी भाई आज धर्मके नामपर अन्य मतावलम्बियोंको मारने तथा उनकी बहू-बेटियोंकी आबरू लेनेमें सबाब (पुण्य) मानते हैं, यद्यपि यह उनकी उलटी बुद्धिका ही परिणाम है। इधर हमारा धर्मप्रेम इतना कम हो गया है कि हमलोग धर्मके लिये अपने प्राण देनेको भी तैयार नहीं हैं, जब कि गीता हमें यही उपदेश देती है कि स्वधर्मके लिये मर जाना अच्छा है, किन्तु पर-धर्मको स्वीकार करना कदापि अच्छा नहीं। परंतु आज हम झूठी राष्ट्रियताके मोहमें पड़कर गीताके इस अमर उपदेशको भूल गये हैं और स्वधर्मके त्यागपर उतारू हो रहे हैं। अहा! आज गुरु गोविन्दसिंहके उन वीर बालकोंको स्मरण करना चाहिये जिन्होंने धर्मके लिये दीवालमें चुनवा दिया जाना स्वीकार कर लिया, किंतु अपने धर्मका परित्याग नहीं किया। उन वीर बालकोंने चोटीकी रक्षाके लिये प्राण दे दिये, परंतु हम आज नकली एकताके नामपर चोटीतक देनेको तैयार हैं। बल्कि हमारे कई भाई तो यहाँतक कहते हैं कि मुसलमानोंके साथ प्रेमसम्बन्ध स्थापित करनेके लिये हमें अपनी लड़कियाँ सहर्ष उनको ब्याह देनी चाहिये। जिन्होंने धर्मके लिये आजीवन कष्ट सहा, वे नल, राम और युधिष्ठिर आज कहाँ हैं? जो धर्मपर दृढ़ रहते हैं, धर्म उनकी रक्षा करता है और अन्तमें विजय उन्हींकी होती है। अन्यायी और पापाचारी भले ही थोड़े दिन फूल लें, फल लें; परंतु अन्तमें उनका विनाश अवश्यम्भावी है। दमयन्तीके पातिव्रत-धर्मने ही उसकी लाज रखी और उसे कुदृष्टिसे देखनेवाला पापी व्याध उसके तेजसे भस्म हो गया। सती-शिरोमणि सावित्रीने अपने धर्मप्रेमसे यमराजपर भी विजय पायी और अपने पतिको मृत्युके मुखसे बचा लिया। द्रौपदीकी रक्षाके लिये धर्मस्वरूप ईश्वर स्वयं मूर्तिमान् होकर वस्त्रराशिके रूपमें प्रकट हो गया। इन वीर रमणियोंका नाम इतिहासमें अमर हो गया। जबतक हिंदूजाति संसारमें जीवित रहेगी, तबतक इन देवियोंका उज्ज्वल चरित्र हमारे लिये दीपस्तम्भका

काम करता रहेगा। हमारे शास्त्र, हमारे ऋषि-महर्षि हमें बार-बार यही उपदेश देते हैं—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्-
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(महा०, स्वर्गा० ५। ६३)

'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे या जीवनरक्षाके लिये भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और जीवनका हेतु अनित्य है।'

यद्यपि भगवान्‌की दृष्टिमें पापी और धर्मात्मा समान हैं, उनका न किसीसे राग है न किसीसे द्वेष, फिर भी वे धर्मात्माओंकी रक्षा करके उन्हें प्रेमामृतका दान करते हैं और धर्मद्वेषियोंका विनाश करते हैं। यही नहीं, विदुर-जैसे धर्मनिष्ठके यहाँ तो उन्होंने बिना बुलाये जाकर भोजन किया तथा दुर्योधनके आग्रहपूर्ण निमन्त्रण और राजोचित सत्कारको भी स्वीकार नहीं किया। बात यह है कि भगवान् दैवी सम्पत्ति, धर्माचरण एवं प्रेमको ही महत्त्व देते हैं, धन अथवा राजसी ठाट-बाटका उनकी दृष्टिमें कोई मूल्य नहीं है। पद्मपुराणमें कथा आती है कि एक राजामें और एक निर्धनब्राह्मणमें एक बार होड़ लगी कि देखें भगवान् किसे पहले मिलते हैं। राजाने राजोपचारसे तथा बहुत-सा द्रव्य खर्च करके बड़े ठाट-बाटके साथ भगवान्‌की पूजा की। इधर ब्राह्मणके पास पत्र-पुष्प और अन्न-जलके सिवा भगवान्‌को निवेदन करनेके लिये कुछ भी नहीं था। यदि कोई वस्तु थी तो केवल उसके हृदयका प्रेम और दृढ़ विश्वास था। बस, उसीके भरोसे उस दीन-हीन ब्राह्मणने राजाके साथ होड़ बद दी। अन्तमें विजय उस अकिंचन ब्राह्मणकी ही हुई। पहले भगवान् उसीके यहाँ पधारे और उसे कृतार्थ करके पीछे उन्होंने राजापर भी कृपा की। राजापर भी कृपा उसकी भक्तिके कारण ही हुई, उसकी विपुल धनराशिके कारण नहीं।

महाराज युधिष्ठिरने जुएमें हार जानेके कारण महान् राज्यवैभवका तिरस्कार करके धर्मके लिये बारह वर्षका वनवास अंगीकार किया। राजरानी द्रौपदीको जुएमें हार जानेके बाद भरी सभामें दुष्ट दुःशासनके द्वारा उसे नंगी करनेका प्रयत्न किये जानेपर शक्ति रहते भी उन्होंने कोई प्रतीकार नहीं किया। यक्ष बने हुए धर्मने उनके उत्तरोंसे प्रसन्न होकर जब उन्हें वरदान दिया कि 'अपने भाइयोंमेंसे किसी एकका जीवन मुझसे माँग लो, उसीको मैं जिला दूँगा।' तब महाराज युधिष्ठिरने नकुलका ही जीवन माँगा। यक्षने कहा—'तुम अपने सहोदर भीम अथवा अर्जुनका जीवन क्यों नहीं माँगते? उनमेंसे किसी एकको पाकर तो तुम सारे संसारको जीत सकते हो और अपना खोया हुआ साम्राज्य पा सकते हो।' बात भी सच्ची थी; परन्तु धर्मप्राण युधिष्ठिरने राज्यका लोभ न करके धर्मकी रक्षाके लिये नकुलको ही जिलानेकी प्रार्थना की; क्योंकि उन्होंने सोचा—मेरी दोनों ही माताओंकी संतान जीवित रहनी चाहिये। कुन्तीका पुत्र तो मैं जीवित ही हूँ, एक पुत्र माद्री माताका भी रहना चाहिये। कुन्तीके दो पुत्र जीवित रहें और माद्रीका एक भी नहीं—खासकर जब कि माद्रीका शरीर नहीं है—यह बात युधिष्ठिरको धर्मसंगत नहीं लगी। इसीलिये उन्होंने नकुलका ही जीवन माँगा। इतना ही नहीं, महाराज युधिष्ठिर जब अपने धर्मबलसे सदेह स्वर्गको जाने लगे, उस समय एक कुत्ता भी उनके साथ हो लिया। देवराज इन्द्रने कुत्तेका स्वर्गमें जाना स्वीकार नहीं किया। इसपर महाराज युधिष्ठिर भी रुक गये। उन्होंने देवराज इन्द्रसे स्पष्ट कह दिया—'या तो यह कुत्ता भी मेरे साथ स्वर्गमें जायगा, अन्यथा मैं भी यहीं रहूँगा।' युधिष्ठिरके इस अनुपम धर्मप्रेमका ही यह फल था कि भगवान् एक प्रकार उनके हाथ बिक गये थे।

महाराणा प्रतापने जंगलोंमें भटककर घासकी रोटीसे जीवन-निर्वाह करना स्वीकार कर लिया, परन्तु जीते-जी धर्मका त्याग नहीं किया। भक्त बालक पुण्डलीकने तो साक्षात् भगवान्‌तककी परवा नहीं की और उनसे मिलनेके लिये भी माता-पिताकी सेवारूप धर्मको नहीं छोड़ा। माता-पिताके अद्वितीय भक्त वैश्यकुमार श्रवणने माता-पिताकी सेवामें ही अपना सारा जीवन लगा दिया। धर्मव्याधने यह दिखा दिया कि स्वधर्म पालनसे बढ़कर कोई तप नहीं है। ब्रह्मचर्य पालनरूप धर्मसे महात्मा भीष्म देवताओंके लिये भी अजेय हो गये। गृहस्थोंके लिये अतिथि-सेवा परमधर्म माना गया है—इसके विषयमें महाराज रन्तिदेवका इतिहास प्रसिद्ध है। उन्हें एक बार कुटुम्बसहित अड़तालीस दिनोंतक निर्जल उपवास करनेके बाद थोड़ी खीर, हलवा और जल मिला। आपसमें बाँटकर वे उस खीरको खाने बैठे ही थे कि एक ब्राह्मण अतिथि उनके द्वारपर आ गया। खीरमेंसे एक भाग उन्होंने उस ब्राह्मणको आदरपूर्वक दे दिया और बाकी अपने तथा अपने कुटुम्बियोंके लिये रख लिया। ब्राह्मण उस खीरको पाकर ज्यों ही जाने लगा, त्यों ही एक शूद्र वहाँ आ पहुँचा। वह शूद्र भी भूखा था, अतः राजाने ब्राह्मणको खिलानेके बाद बची हुई उस खीरमेंसे एक हिस्सा सम्मानके साथ उस शूद्रको भी दे दिया। शूद्रके चले जानेके बाद एक चाण्डाल अपने कुत्तोंको लिये वहाँ आया उसने भी राजासे अन्न माँगा। राजाने शेष सारी-की-

सारी खीर बड़ी श्रद्धाके साथ उस चाण्डालके अर्पित कर दी और भगवद्बुद्धिसे उसे तथा उसके कुत्तोंको प्रणाम किया। अब उनके पास एक आदमीके पीनेभरके लिये जल बच रहा था। ज्यों ही वे उसे आपसमें बाँटकर उसके द्वारा अपनी अड़तालीस दिनोंकी प्यास बुझाने चले कि इतनेमें एक और चाण्डाल वहाँ आया और उनसे जलकी याचना करने लगा। बस, फिर क्या था; राजाने वह जल उसको दे दिया। तब भगवान् उसके सामने ब्रह्मा, विष्णु, महेशके रूपमें प्रकट हो गये। उस समय रन्तिदेवने भगवान्से इस प्रकार प्रार्थना की—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

(श्रीमद्भा० ९। २१। १२)

'मैं परमात्मासे अणिमा आदि आठ सिद्धियोंसे युक्त उत्तमगति या मुक्ति नहीं चाहता; मैं केवल यही चाहता हूँ कि मैं ही सब प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर उनका दुःख भोग करूँ, जिससे वे लोग दुःखरहित हो जायँ।' धन्य अतिथिप्रेम!

अतिथिसेवाका एक और सुन्दर दृष्टान्त महाभारतके आश्वमेधिकपर्वमें मिलता है। महाभारत-युद्ध समाप्त हो जानेके बाद हिंसा-दोषकी निवृत्तिके लिये महाराज युधिष्ठिरने अश्वमेधयज्ञका अनुष्ठान किया। यज्ञ ज्यों ही समाप्त हुआ कि यज्ञमण्डपमें एक नेवला आया और वह वहाँकी भूमिमें लोटने लगा। उसका आधा शरीर सोनेका था। उस विचित्र जन्तुको इस प्रकार लोटते देख याज्ञिक ब्राह्मण आश्चर्यपूर्ण नेत्रोंसे उसकी ओर देखने लगे। उन्हें आश्चर्ययुक्त देख वह नेवला मनुष्यकी बोली बोलने लगा। उसने बताया कि 'कुरुक्षेत्रमें एक उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मण रहते थे। वे कबूतरकी भाँति अन्नके दाने चुन-चुनकर लाते और इस प्रकार कष्टपूर्वक एकत्रित किये अन्नसे अपना एवं अपने कुटुम्बका पालन करते थे। एक बार उन्हें कई दिनोंतक कुटुम्बसहित फाँका करना पड़ा। इसके बाद एक दिन उन्हें सेरभर जौ मिला। उसका उन्होंने सत्तू बना लिया और उस सत्तूको आपसमें बाँटकर ज्यों ही वे खानेको बैठे कि एक ब्राह्मण अतिथि उनके द्वारपर आ खड़ा हुआ। उसे उन्होंने क्रमशः अपना, अपनी धर्मपत्नीका, अपने पुत्रका तथा अन्तमें अपनी पुत्रवधूका भी भाग दे दिया और स्वयं सब लोग भूखे रह गये। यह देखकर मैं अपने बिलसे बाहर निकला और जहाँ उस अतिथि ब्राह्मणने सत्तू खाया था, उस स्थानपर लोटने लगा। फल यह हुआ कि मेरे अंगोंके साथ वहाँकी कीचका स्पर्श होनेसे मेरा मस्तक तथा आधा शरीर सोनेका हो गया।' नेवला महाराज युधिष्ठिरके यज्ञकी प्रशंसा सुनकर इस आशासे वहाँ आया था कि वहाँकी भूमिमें लोटनेपर उसके शरीरका शेष भाग भी सोनेका हो जायगा, क्योंकि उस यज्ञभूमिमें लाखों ब्राह्मणोंने भोजन किया था और असंख्य द्रव्य खर्च हुआ था। परन्तु नेवलेका मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ; उसका शेष अंग जैसा-का-तैसा ही बना रहा। इसलिये उसने बताया कि उस उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मणके सेरभर सत्तूके दानकी बराबरी चक्रवर्ती सम्राट् युधिष्ठिरका किया हुआ विशाल यज्ञ भी नहीं कर सका; फिर औरोंकी तो बात ही क्या है।

इस प्रकार विभिन्न धर्मोंका वर्णन हमारे शास्त्रोंमें पाया जाता है। धार्मिक ग्रन्थोंका पठन-पाठन तथा पुराणोंकी कथाकी पद्धति एक प्रकारसे बंद हो जानेके कारण वर्तमान युगके शिक्षित समाजका धर्मज्ञान प्रायः नहींके बराबर रह गया है। अतः धर्मज्ञानके प्रसारके लिये धार्मिक ग्रन्थोंका पठन-पाठन तथा पुराण-वाचनकी पद्धति फिरसे जारी करनी चाहिये और घर-घरमें स्त्री-पुरुषों और बालकोंको एक जगह बैठकर नियमितरूपसे सत्संग एवं स्वाध्यायके लिये समय निकालना चाहिये। जबतक हमें धर्मका ज्ञान न होगा, तबतक उसके पालनका तो प्रश्न ही दूर है। धार्मिक पत्रोंका भी प्रचार खूब जोरोंसे होना चाहिये, जिससे लोगोंमें धर्मभावना जाग्रत् हो और धार्मिक जोश बढ़े। उत्तम गुणों एवं आचरणोंकी वृद्धिके लिये महापुरुषोंकी स्मृति तथा उनके चरित्रोंका पठन-पाठन बड़ा सहायक है। श्रीराम-कृष्णादि भगवदवतारोंकी पवित्र लीलाओंका अनुशीलन तथा उनके आदर्श चरित्रोंके अनुकरणकी चेष्टासे भी चरित्रनिर्माण एवं दैवी सम्पत्तिके अर्जनमें बड़ी सहायता मिलती है। भगवत्स्मृतिसे सभी गुण अनायास हृदयमें आ जाते हैं और जीवका परम कल्याण होता है। भगवत्स्मृतिसे बढ़कर अन्तःकरणकी शुद्धिका कोई दूसरा साधन नहीं है। अतः नित्य-निरन्तर भगवान्की स्मृति हो, इसकी चेष्टा प्रत्येक मनुष्यको करनी चाहिये। गीतामें भगवत्स्मृतिपर बहुत जोर दिया गया है। भगवान्ने गीतामें अर्जुनके लिये जहाँ-जहाँ आदेश

दिये हैं, सभी अधिकांशमें स्मृतिपरक ही हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें यह बताया है कि विषयचिन्तन सर्वनाशका कारण है (देखिये २।६२-६३)और भगवच्चिन्तन करनेवालेका कभी विनाश नहीं होता—'**न मे भक्तः प्रणश्यति**' (९। ३१)।

भगवन्नामके जप एवं कीर्तनसे भी अन्तःकरणकी शुद्धि होकर हृदयमें सद्‌गुणोंका विकास और सदाचारमें प्रवृत्ति होती है। वास्तवमें भगवान् और भगवान्‌के नाममें कोई भेद नहीं है। भगवान्‌के स्वरूपकी भाँति उनका नाम भी चिन्मय है, उनका स्वरूप ही है। शब्द, अर्थ एवं अर्थका ज्ञान—तीनों एक ही वस्तु हैं। अतः भगवन्नामके सम्पर्कमें आनेसे अन्तःकरणकी परम शुद्धि होना स्वाभाविक ही है। सबका मूल, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, सत्संग और सच्छास्त्रोंका अध्ययन ही है। सत् नाम परमात्माका है। गीतामें भी कहा है—

'**ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।**'
(१७। २३)

'ॐ तत्सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है।' और संग कहते हैं प्रीतिको, लगावको। अतः परमेश्वरमें प्रेम होना ही असली सत्संग है। सत्पुरुषोंके, भगवत्प्रेमियोंके संगसे भगवान्‌में प्रीति होती है; इसलिये वह भी सत्संग कहलाता है और इसीलिये सत्संगकी, साधुसंगकी इतनी महिमा शास्त्रोंने गायी है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥
(१। १८। १३)

'भगवत्संगियों—भगवत्प्रेमियोंके क्षणभरके संगके साथ स्वर्ग तो क्या, मोक्षतककी तुलना नहीं हो सकती; फिर मनुष्यलोकके भोगोंकी तो बात ही क्या है।'

इस प्रकार सत्संग एवं सच्छास्त्रोंके अध्ययनद्वारा अपने कर्तव्यका ज्ञान प्राप्तकर शीघ्र-से-शीघ्र मनुष्य-जन्मको सफल करनेके प्रयत्नमें लग जाना चाहिये, जिससे पीछे न पछताना पड़े।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

तत्त्वचिन्तामणि भाग-७

समता अमृत और विषमता विष है

राजपूतानेके किसी गाँवमें एक अत्यन्त गरीब वैश्य रहता था। दैवयोगसे वहाँ एक बार भयानक अकाल पड़ा। अन्नके अभावमें लोग तड़प-तड़पकर मरने लगे। गरीब वैश्यपर भी विपत्ति टूट पड़ी। कुछ दिन तो उसने जैसे-तैसे काम चलाया। आखिर परिवारके भरण-पोषणका कोई उपाय न देख, घरवालोंकी कुछ दिनोंके लिये किसी तरह व्यवस्था कर वह निकल पड़ा। उसका एक बचपनका धर्म-मित्र था। वह आसाममें व्यापार करता था। खूब सम्पन्न था। उसका बड़ा व्यापार चलता था। गरीब वैश्यको उसकी याद आ गयी और *'बिपति काल कर सतगुन नेहा'* मित्रका यह लक्षण सोचकर वह किसी तरह आसाम पहुँचा। जिस स्थानमें मित्रका कारबार था, वहाँ जाकर उसने मित्रसे भेंट की। उसे पूरा भरोसा था कि मित्रके यहाँ सहज ही आदर होगा और दुःखके दिन अच्छी तरह कट जायँगे। मित्रने उसका स्वागत किया; पर उसके चेहरेपर प्रफुल्लताकी जगह कुछ झुँझलाहटकी-सी, कुछ बोझकी-सी रेखाएँ पड़ रही थीं। गरीब वैश्य तो दुःखी था। उसने संक्षेपमें बड़े ही करुण शब्दोंमें अपना सारा किस्सा सुनाकर आश्रयकी भीख माँगी। कहा—'भाई साहेब! घरमें आपकी भाभी और बच्चे भूखों मर रहे होंगे, उनके लिये आज ही कुछ खर्च भेजना आवश्यक है। साथ ही मेरे लिये भी ऐसे कामका प्रबन्ध होना चाहिये, जिसमें मेरे ये दुःखके दिन निकल जायँ और बच्चोंको प्रतिमास कुछ भेजा जा सके।'

धनी मित्रने लंबी साँस खींचकर कहा—'भाई साहेब! बात तो ठीक है। मुझे इस समय आपकी कुछ सेवा करनी भी चाहिये, परंतु मेरे यहाँ न तो इतनी आमदनी है कि मैं आपकी कुछ सहायता कर सकूँ और न आजकल कोई काम ही है, जो आपको दे सकूँ। मूल पूँजीके ब्याजसे, मकानोंके किरायेसे और व्यापारकी आमदनीसे कुल मिलाकर चालीस-पचास हजार रुपये आते होंगे। आप जानते हैं, आजकल महँगी है, फिर अपनी इज्जतके अनुसार खर्च भी करना ही पड़ता है। परिवार है, मुनीम-गुमाश्ते हैं। मुश्किलसे काम चलता है। फिर बताइये, आपका और आपके परिवारका भरण-पोषण करनेकी मुझमें कहाँ शक्ति है? मुझे खेद है, पर बाध्य होकर कहना ही पड़ता है कि मुझसे इस समय कुछ भी नहीं बन पड़ेगा। आप कोई दूसरा रास्ता सोचें।'

गरीब वैश्यने उदास होकर कहा—'भाई साहेब! मैं तो यहाँ किसीको जानता भी नहीं, केवल आपके ही भरोसे आया हूँ। फिर मेरा खर्च ही कौन-सा भारी है। पचास रुपये इस समय राजपूताने भेज दिये जायँ और फिर पचास-साठ रुपये मासिककी मजदूरीका काम मुझे मिल जाय तो काम चल जायगा। कुछ मेरे खर्चमें लग जायगा, बचेगा सो बाल-बच्चोंके लिये भेज दूँगा। जहाँ पचासों हज़ारकी आमदनी है, वहाँ इतना-सा खर्च आपको भारी नहीं मालूम होना चाहिये। फिर मैं तो काम करके मजदूरीके पैसे लेना चाहता हूँ।' यों कहते-कहते उसकी आँखोंमें आँसू छलक आये। मित्रके निराशाजनक वचनोंसे उसे बड़ा सन्ताप हो रहा था। धनी मित्रने उसके चेहरेकी ओर देखा, पर उसका हृदय नहीं पसीजा। उसने फिर कपट-विनयके साथ वही कहा—'भाई साहेब! आपका कहना तो यथार्थ है, पर मैं लाचार हूँ। आपको कोई दूसरा उपाय ही सोचना पड़ेगा। हाँ, दो-चार दिन जबतक आपके कामकी कोई व्यवस्था न हो, आप यहाँ ठहर जायँ। घरमें ही खायें-पीयें। अभी शौच-स्नान करें। भोजन तैयार हो गया होगा।' इतना कहकर धनी मित्र अपने काममें लग गया। गरीब वैश्य बेचारा मन-ही-मन जाने क्या-क्या विचार करता हुआ शौच-स्नानमें लगा।

धनी मित्रका तो रूखा और कंजूस स्वभाव था ही, उसकी पत्नी उससे भी बढ़कर थी। उसे कोई दूसरा सुहाता ही नहीं था। पति तो सभ्यतावश कहीं-कहीं कुछ सह भी लेता था; परंतु पत्नी तो पतिको भी फटकार देती थी। घरपर आये हुए बचपनके परिचित मित्रको सभ्यतावश भोजन करवाना ही होगा। उसने अंदर जाकर पत्नीसे कहा—'राजपूतानेसे मेरे एक पुराने धर्ममित्र आये हैं। उन्हें भोजन कराना है। जहाँतक हो सके, उनके लिये अच्छी चीजें बनाकर आदरपूर्वक खिलाना चाहिये। मित्र हैं, फिर अतिथि हैं।' परम्परासे अतिथिसत्कारकी बात सुनी हुई थी; पत्नी झुँझला न उठे, इसलिये उसने यह

दलील भी सामने रख दी। किंतु उसपर इसका क्या प्रभाव पड़ता। उसने तड़ककर कहा—'भाड़में जायँ आपके ये मित्र और अतिथि; चूल्हा फूँकते-फूँकते मेरी तो आँखें फूटने लगीं। आज मित्र, कल अतिथि, परसों व्यापारी—रोज एक-न-एक आफत लगी ही रहती है। मैं तो तंग आ गयी इस गृहस्थीसे। मुझसे यह सब नहीं होगा, अपना दूसरा प्रबन्ध कीजिये।' पतिने सकुचाकर चुपके-से कहा—'अरी! जरा धीरे तो बोलो, वे बाहर ही खड़े हैं, सुन लेंगे तो उन्हें बड़ा दुःख होगा।' उसने झल्लाकर कहा—'तो और भी अच्छा होगा, जल्दी बला टलेगी।' पतिने उसकी कुछ बड़ाई करके किसी तरह मनाकर कहा—'देखो! मैंने पहले ही उनसे कह दिया है कि मेरे पास काम नहीं है, आप दूसरा उपाय सोचिये; दो-चार दिनोंमें वे चले जायँगे। इतने दिन किसी तरह अपनी इज्जतके अनुसार उनको भोजन तो कराना ही चाहिये।' पत्नीने बात मान ली और भोजन बनाया; परंतु मनमें कष्ट तो बना ही रहा। अस्तु,

भोजन तैयार होनेपर गरीब अतिथिको साथ लेकर धनी मित्र अंदर आया तो पत्नीने कहा—'पहले अपने मित्रको भोजन करा दीजिये, क्योंकि अतिथिको पहले भोजन कराना धर्म है, पीछे आप कर लीजियेगा।' पतिने यह बात मान ली और अतिथिको अच्छी तरह भोजन कराया गया। भोजनमें चीनी डाली हुई बढ़िया खीर, पूरी, दही और कई तरहकी तरकारियाँ थीं; परंतु भोजन करानेवालोंके चेहरेपर कोई उल्लास या मिठास नहीं था। वहाँ प्रत्यक्ष रूखापन तथा विषाद था। मालूम होता था वे किसी आफतमें आ पड़े हैं और उन्हें बिना मन यह सब करना पड़ रहा है। गरीब अतिथिने चुपचाप भोजन तो कर लिया, परंतु उनकी मुखमुद्रा देखकर उसे सुख नहीं मिला। सुख तो प्रेममें ही समाया होता है। भोजन करनेके बाद वह लघुशंकाके लिये बाहर गया, इधर घरकी मालकिनने अपने पतिके लिये भोजन परोसा। इसमें बहुत-सी ऐसी चीजें थीं, जो अतिथिसे छिपाकर रखी गयी थीं। वह बेचारा लघुशंका करके अंदर हाथ धोने आया और इच्छा न रहनेपर भी सहज ही धनी मित्रकी भोजनकी थालीकी ओर उसकी दृष्टि चली गयी। उसने देखा, बादामका हलवा है। एक कटोरेमें खीरकी मलाई और दूसरेमें दहीकी मलाई है। बहुत बढ़िया खूब फूले हुए पतले-पतले फुलके हैं, जिनपर ताजा मक्खन लगाया गया है। गोभी-परवलकी कई और तरकारियाँ तथा कई तरहके अचार रखे हैं। यह सब देखकर उसकी समझमें स्पष्ट यह बात आ गयी कि इसी विषमताके कारण मुझे इसके साथ भोजन नहीं कराया गया था। वैषम्यजनित सन्ताप और भी बढ़ गया और वह चुपचाप हाथ धोकर बाहर चला गया।

रात्रिका समय हुआ तो धनी मित्रने पत्नीसे पूछा—'अतिथिके सोनेका प्रबन्ध कहाँ करना चाहिये?' स्त्रीने झुँझलाकर कहा—'मेरे सिरपर, भला यह भी कोई पूछनेकी बात है! जहाँ सुविधा हो, वहीं कर दिया जाय। घरमें आकर तो वह सोनेसे रहा।' पतिने कहा—'अच्छी बात है। बाहर गद्दीमें वे सो जायँगे; पर वहाँ मच्छर बहुत ज्यादा हैं, बेचारेको नींद नहीं आवेगी। दो दिनके लिये मछहरी दे दो तो अच्छा हो।' उसने तड़ककर कहा—'मेरे पास तो एक मछहरी है, आप लगा लें, या उसके मूँड़ मार दें।' पत्नीके स्वभावको वह जानता था। अधिक बात बढ़ाना हितकर न समझकर चुपचाप बाहर चला आया और अतिथि मित्रसे कहने लगा—'भाई साहेब! गद्दी-तकिये लगे ही हैं; आप यहीं सो जाइये। यहाँ सुविधा रहेगी।' उस बेचारेने विनय-विनम्र शब्दोंमें स्वीकार किया। सेठ अंदर चले गये और वह वहीं सो गया। गरमीका मौसम था; मच्छर तो थे ही, गद्दी-तकियोंमें खटमलोंकी भी कमी नहीं थी। लेटते ही कतार-की-कतार निकलकर उन्होंने उसपर आक्रमण आरम्भ किया। खटमलोंको चुन-चुनकर फेंकने और मच्छरोंके उड़ानेमें ही रात बीत गयी। बेचारा घड़ीभर भी सुखकी नींद नहीं सो सका।

दूसरे दिन सबेरे वह घरसे निकलकर बाजारकी ओर गया। चौराहेपर पहुँचते ही उसे अपने गाँवका एक परिचित मनुष्य दिखायी दिया। उसने भी इनको देख लिया। वह बहुत गरीब था, पर था बड़ा सहृदय। देखते ही दौड़कर पास आया और बड़े प्रेम तथा उल्लाससे पूछने लगा—'भाई साहेब! आप यहाँ कब आ गये? मुझे कोई खबर ही नहीं दी। आपको बड़ा कष्ट हुआ होगा। खबर होती तो स्टेशन चला आता। यहाँ पहुँचकर भी आपने कोई संदेशा नहीं भेजा। बताइये, आप ठहरे कहाँ हैं? चलिये, घरपर। मैं सामान लेता आऊँगा। मेरा बड़ा भाग्य है जो आपसे मिलना हो गया। विदेशोंमें भला घरके प्रेमी पुरुष कहाँ मिलते हैं?'

उसकी सच्चे प्रेमसे सनी हुई वाणी सुनकर गरीब

बेचारेका हृदय द्रवित हो गया। उसे बड़ा आश्वासन मिला, मानो डूबतेको सहारा मिल गया। उसने अपने आनेका सारा कारण कह सुनाया और कहा कि 'सामानमें तो मेरे पास एक धोती-गमछा, एक सतरंजी और लोटामात्र है। वह उन सेठजीके यहाँ रखा है।' उस गरीब भाईने कहा—'वे तो बहुत बड़े आदमी हैं। यदि आप मुझे अपना मानते हैं तो आपको अपने घरपर आ जाना चाहिये। घरमें आरामसे रहिये; जो कुछ रूखा-सूखा घरमें बनता है, आनन्दसे खाइये। मैं फुटकर चीजोंकी खरीद-बिक्रीका काम करता हूँ। दो रुपये रोज कमा लेता हूँ। अकेला हूँ। आप रहेंगे तो हमलोग दो हो जायँगे। दुगुना काम होगा तो आमदनी भी दो-ढाई गुनी होने लगेगी। मेहनत और सचाईका काम है। जितना मेहनत, उतनी बरकत। पचास रुपये मासिक तो आप घर भेज ही देंगे। अधिकके लिये भी कोशिश की जायगी। आप घबरायें नहीं। भगवान् गरीबोंकी सुनेगा ही। पचास रुपये तो मेरे पास पहलेके रखे हैं, इन्हें तो आज ही घर भेज दें।' यों कहकर वह उसे अपने घर ले गया। छोटा-सा टीनसे छाया मिट्टीका घर था, साफ-सुथरा और उसमें बाहर छोटी-सी दूकान थी। जाते ही उसने पचास रुपये निकाले और उनका तुरंत मनीआर्डर कर दिया। उस समय बेचारे अकालपीड़ितको कितना सुख और आश्वासन मिला, यह कहा नहीं जा सकता। फिर वह गरीब दूकानदार सेठके यहाँ जाकर उसका सामान ले आया।

घर लौटनेपर उसने अपनी पत्नीसे कहा—'अपने देशके एक सज्जन आये हैं। अपने परिचित भी हैं। उनके लिये भोजन बनाओ।' साध्वी पत्नीने प्रसन्न होकर कहा—'बड़े भाग्य हैं हमारे जो आज अपने देशके सज्जन आये हैं। हमलोग भी धन्य हैं; जो भगवान्‌ने हमें ऐसा सुअवसर दिया।' उसने बड़े प्रेमसे रसोई तैयार की। उस समय चावल सस्ते थे। मोटे चावल बने, मामूली पत्तियोंकी तरकारी, रूखी। जौ चनाकी रोटियाँ और मट्ठा। घरवालीने दोनोंको बड़े आदरके साथ बिना किसी भेदके समानभावसे भोजन कराया। बल्कि अतिथिको बार-बार बड़े प्रेमसे आग्रह करके वह परस रही थी। आज उसे भोजन करनेमें बड़ी तृप्ति मिली। बड़ा सुख मिला। प्रेमकी सूखी रोटीमें जो आनन्द है, प्रेमरहित मेवा-मिष्टान्नमें वह कदापि नहीं है। खा-पीकर दोनों दूकानका काम देखने लगे।

रातको अपने सम्मान्य अतिथिको सोनेके लिये उस गरीब दूकानदारने एक मूँजकी बुनी पुरानी चारपाई, जो उसने तीन रुपयेमें खरीदी थी, डाल दी। उसपर टाटके बोरे बिछा दिये। मच्छरोंसे बचानेके लिये उसकी स्त्रीने अपनी महीन मलमलकी पुरानी ओढ़नी चार बाँसकी पट्टियाँ खड़ी करके उनपर तान दी। अकालपीड़ित भाईको पहली रातकी नींद थी ही। चारपाईपर लेटते ही उसे गाढ़ी नींद आ गयी। रातभर वह बड़े सुखसे सोया। सारी थकावट दूर हो गयी।

तीन-चार दिनोंके बाद एक दिन रास्तेमें धनी मित्रके साथ अकालपीड़ित भाईकी भेंट हो गयी। धनी मित्रने सभ्यतासे पूछा—'क्यों, कहीं कामकी व्यवस्था हुई? कहाँ रहते हैं? खाने-पीनेको मिल रहा है न?' उसने कहा—'बहुत अच्छी व्यवस्था हो गयी है। मैं अपने देशके अमुक दूकानदार भाईके घर रहता हूँ, पति-पत्नी दोनों बड़े ही सज्जन हैं। दूकानमें मेरा आधा हिस्सा कर दिया है। पचास रुपये तो उसी दिन घर भिजवा दिये और भविष्यके लिये यह आश्वासन दिया है कि भोजनकी तो कोई बात ही नहीं, घरमें एक साथ करेंगे ही। कम-से-कम पचास रुपये प्रतिमास बाल-बच्चोंके लिये घर भेज दिये जायँगे। खाने-पीनेकी भी बड़ी अच्छी व्यवस्था है। उसके यहाँ अमृततुल्य भोजन करके मुझे बड़ी ही तृप्ति मिलती है। उनका इतना ऊँचा प्रेमभरा समताका व्यवहार है कि मैं तो उसे जीवनभर नहीं भूल सकता।' उसकी इन बातोंको सुनकर मानो सेठके गर्वपर कुछ ठेस-सी लगी। पर सच्ची बात थी। उसे अपने बर्तावका पूरा पता था। बोलता भी क्या। एक बात सूझी, उसे बड़ा गर्व था कि हमारे घर बड़ा बढ़िया भोजन बनता है। बढ़िया सजा-सजाया मकान है; गद्दी-तकिये, झाड़-फानूस लगे हैं। उस गरीबके यहाँ ऐसी चीजें कहाँसे होंगी? अतएव उसने अपनी बात ऊँची रखने तथा उस गरीब दूकानदारकी निन्दा करनेकी इच्छासे कहा—'वहाँ आपको भोजन क्या मिला होगा। वही मोटे चावल, रूखी-सूखी रोटी, घास-पातकी तरकारी और सोनेको कहीं खाली जमीन या बहुत हुआ तो कोई पुरानी चारपाई मिली होगी। उस कँगलेके यहाँ और रखा ही क्या है। यहाँके बढ़िया भोजन और सजे-सजाये हुए घरको छोड़कर आप वहाँ गये, अब तो मनमें पछताते होंगे।' उसने हँसकर कहा—'भाई साहेब! आप अपने घरमें बड़े धनी हैं। आपके यहाँ गद्दी-तकिये हैं, झाड़-फानूस लगे हैं। सजा-सजाया मकान है।

मेरे लिये तो ये सब विषके समान हुए। बढ़िया भोजन भी बनता है। परंतु मुझे इससे क्या। आपके यहाँ मुझे न तो खानेका सुख मिला, न सोनेका ही। मैं तो खटमल मच्छरोंसे तंग आ गया। रातभर नींद नहीं आयी। मेरे लिये तो वह मूँजकी चारपाई, टाटका बिछौना और पुरानी ओढ़नीकी मछहरी ही परम सुखप्रद है, जिनसे मैं रातको बड़े सुखसे सोता हूँ। भोजनकी तो मैं क्या कहूँ। वहाँ मुझे उन मोटे चावलों, रूखी रोटियों और पत्तीकी तरकारीमें जैसा सुख मिलता है, वैसा कहीं नहीं मिला। आपका भोजन तो विषवत् था और उसका साक्षात् अमृतके सदृश है। आपलोगोंके मनमें बोझा-सा था। आप मेरे आनेको आफत मानते थे और मनमें विषमता भरी थी। महात्मालोग कहा करते हैं कि 'विषमता ही विष है और समता ही अमृत है।' अतः आपके मेवा-मिष्टान्न भी विषमताके कारण विषतुल्य थे और उसके रूखे-सूखे भोजनमें समता होनेसे वह अमृतके तुल्य है। इतना ही नहीं, उसका बर्ताव भी अमृतके समान है। आपके पास लाखों रुपये हैं और लाखोंकी आमदनी है तथा आप मेरे बचपनके धर्ममित्र भी हैं; पर आपने मेरे भूखसे बिलबिलाते बच्चोंके लिये न तो कुछ भेजना स्वीकार किया और न मेरे लिये पचास-साठ रुपये वेतनकी नौकरी ही दी और उस बेचारे गरीब दूकानदारने, जिससे मेरा केवल एक गाँवके होनेके नाते साधारण परिचयमात्र था, गरीब निर्धन होते हुए भी मुझे आश्रय दिया। मेरी सहायता की। पचास रुपये तुरंत घर भिजवा दिये। मुझे अपने काममें बराबरका हिस्सेदार बना दिया। बतलाइये, मैं उसके उपकारको कैसे भूल सकता हूँ? और उसने यह जो किया सो भी उपकारकी भावनासे नहीं, विशुद्ध प्रेमसे और कर्तव्यकी भावनासे। वह मेरे ऊपर अहसान नहीं करता, बल्कि मुझे सुख पहुँचाकर वह उलटे मेरा कृतज्ञ होता है और इसमें अपनेको धन्य मानकर सुखी होता है। उसकी धर्मपत्नीका भी ऐसा ही ऊँचा भाव है। उन दोनोंके चेहरोंपर इसीलिये प्रफुल्लता और उल्लास चमकते-दमकते रहते हैं।'

धनी मित्रने पूछा, 'मेरे यहाँ आपको किस बातमें विषमता दिखलायी दी और उसके यहाँ समता कैसे थी?' इसपर उसने कहा—'आपके यहाँ मुझे बहुत बढ़िया भोजन-पदार्थ मिले, इसमें कोई सन्देह नहीं। परंतु मेरे लिये वे विषके तुल्य हो गये। आपको स्मरण होगा, मुझे अतिथि बतलाकर पहले अकेले भोजन कराया गया। भोजन करनेपर मैं लघुशंकाके लिये बाहर गया। मैं हाथ धोनेके लिये लौटा तो मेरी दृष्टि आपके भोजन-पदार्थोंकी ओर चली गयी। मैंने देखा आपके लिये बादामका हलवा, मक्खन, पतले-पतले फुलके, खीर, दहीकी मलाइयाँ, गोभी-परवल आदिकी तरकारियाँ और अचार आदि रखे हैं। ये सब चीजें मुझे नहीं परोसी गयी थीं। मुझे इनके खानेका शौक नहीं है, परंतु इस विषमताको देखकर मुझे दुःख हुआ। मैं समझता हूँ आपको ये चीजें विशेषरूपसे खिलानी थीं, इसीलिये आपकी धर्मपत्नीने 'अतिथिको पहले भोजन करानेका' बहाना करके आपको पीछे अलग जिमाना चाहा था। ऐसा भेद न करके मुझे भी आपके साथ ही भोजन कराया जाता तो क्या होता? कुछ पैसे ही तो अधिक खर्च होते। आपने भी इस बातपर कुछ भी विचार नहीं किया और पत्नीका प्रस्ताव मान लिया। धर्ममित्रके साथ ऐसा बर्ताव क्या कलंक नहीं है? इसी विषमताके कारण आपका भोजन विषवत् था।

'उधर उसका व्यवहार देखिये। वह बेचारा बड़ा गरीब है; पर उसकी पत्नीने मोटे चावल, रूखी-सूखी रोटियाँ, पत्तियोंकी तरकारी और छाछ—जो कुछ घरमें था, हम दोनोंको एक साथ बैठाकर समानभावसे बड़े आदर-प्रेम तथा उल्लासके साथ भोजन कराया। रातको सोनेके लिये अपने सोनेकी एकमात्र चारपाई डाल दी। बिछानेके लिये टाट दे दी और मच्छरोंके उपद्रवसे बचनेके लिये अपनी ओढ़नीकी मछहरी तान दी। उसके ऐसे निष्काम प्रेम और समताके व्यवहारने मुझपर जो प्रभाव डाला, उसे मैं ही जानता हूँ। मैं तो वहाँ इसीलिये अमृत-ही-अमृत पाता हूँ और उसके व्यवहारका स्मरण करके बार-बार प्रफुल्लित और हर्षसे गद्‌गद हो जाता हूँ।'

धनी मित्रने बहाना करके कहा 'मैं बीमार रहता हूँ। मुझे मन्दाग्नि हो रही है, इसीसे वैद्यने मुझे ये चीजें खानेको बता रखी हैं।' इसपर उसने कहा कि 'प्रथम तो मन्दाग्निकी बीमारीमें ये चीजें खानेको दी नहीं जातीं और यदि ऐसा हो भी तो मुझे भी वे चीजें परसी जातीं तो क्या हानि थी?'

धनी मित्रके पास कोई उत्तर नहीं था। वह अत्यन्त लज्जित होकर अपनी व्यवहार-विषमता तथा प्रेमहीनताके लिये मन-ही-मन पछताने लगा और सिर नीचा करके वहाँसे चल दिया!

यह एक कल्पित दृष्टान्त है। इससे हमको यह सीखना चाहिये कि सबके साथ प्रेम और विनययुक्त त्याग तथा उदारताका बर्ताव करें। खान-पानादिसे व्यवहारमें पूर्ण समता रखें। इसका यह अर्थ नहीं कि विधर्मी और विजातीय पुरुषोंके साथ एक पंक्तिमें बैठकर उन-जैसा ही निषिद्ध आहार करें। भाव इतना ही है कि विधर्मी और विजातीय कोई भी क्यों न हो, सबको यथायोग्य शास्त्रानुकूल आदर-सत्कारपूर्वक विनय और प्रेमपूर्वक बिना किसी भेद-भावके वही भोजन करावें जो अपने लिये बनाया गया हो और पहले उनको भोजन कराके फिर स्वयं भोजन करें। नीयत शुद्ध होनी चाहिये अर्थात् मनमें जरा भी वैषम्य नहीं होना चाहिये!

मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम

आदर्श गुण

रघुकुलभूषण भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके समान मर्यादारक्षक आजतक दूसरा कोई नहीं हुआ—यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं है। श्रीराम साक्षात् पूर्ण ब्रह्म परमात्मा थे। वे धर्मकी रक्षा और लोकोंके उद्धारके लिये ही अवतीर्ण हुए थे। किन्तु उन्होंने सदा सबके सामने अपनेको एक सदाचारी आदर्श मनुष्य ही सिद्ध करनेकी चेष्टा की। उनके आदर्श लीला-चरित्रोंके पढ़ने, सुनने और स्मरण करनेसे हृदयमें अत्यन्त पवित्र भावोंकी लहरें उठने लगती हैं और मन मुग्ध हो जाता है। उनका प्रत्येक कर्म अनुकरण करनेयोग्य है। श्रीराम सद्गुणोंके समुद्र थे। सत्य, सौहार्द, दया, क्षमा, मृदुता, धीरता, वीरता, गम्भीरता, अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान, पराक्रम, निर्भयता, विनय, शान्ति, तितिक्षा, उपरति, संयम, नि:स्पृहता, नीतिज्ञता, तेज, प्रेम, त्याग, मर्यादा-संरक्षण, एकपत्नीव्रत, प्रजारंजकता, ब्राह्मण-भक्ति, मातृ-पितृ-भक्ति, गुरु-भक्ति, भ्रातृ-प्रेम, मैत्री, शरणागत-वत्सलता, सरलता, व्यवहार-कुशलता, प्रतिज्ञा-पालन, साधु-रक्षण, दुष्ट-दलन, निर्वैरता, लोकप्रियता, अपिशुनता, बहुज्ञता, धर्मज्ञता, धर्मपरायणता, पवित्रता आदि-आदि सभी गुणोंका मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराममें पूर्ण विकास हुआ था। संसारमें इतने महान् गुण एक व्यक्तिमें कहीं नहीं पाये जाते। वाल्मीकीय रामायणके बाल और अयोध्याकाण्डोंके आदिमें भगवान् रामके गुणोंका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है, उसे अवश्य पढ़ना चाहिये।

माता-पिता, बन्धु-मित्र, स्त्री-पुत्र, सेवक-प्रजा आदिके साथ उनका जैसा असाधारण आदर्श बर्ताव था, उसे स्मरण करते ही मन आनन्दमग्न हो जाता है। श्रीराम-जैसी लोकप्रियता कहीं देखनेमें नहीं आती। उनकी लीलाके समय ऐसा कोई भी प्राणी नहीं था, जो श्रीरामके प्रेमपूर्ण मधुर बर्तावसे मुग्ध न हो गया हो।

कैकेयीका रामके साथ अप्रिय एवं कठोर बर्ताव भगवान्‌की इच्छा और देवताओंकी प्रेरणासे लोक-हितार्थ हुआ था। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कैकेयीको श्रीराम प्रिय नहीं थे; क्योंकि जिस समय मन्थराने रानी कैकेयीको रामके विरुद्ध उकसानेकी चेष्टा की है, उस समय स्वयं कैकेयीने ही उसे यह उत्तर दिया है—

धर्मज्ञो गुणवान् दान्तः कृतज्ञः सत्यवाञ्छुचिः।
रामो राजसुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति॥
भ्रातॄन् भृत्यांश्च दीर्घायुः पितृवत् पालयिष्यति।
संतप्यसे कथं कुब्जे श्रुत्वा रामाभिषेचनम्॥

× × ×

यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः।
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च मम शुश्रूषते बहु॥
राज्यं यदि हि रामस्य भरतस्यापि तत्तदा।
मन्यते हि यथाऽऽत्मानं तथा भ्रातॄंस्तु राघवः॥

(वा० रा० २। ८। १४-१५, १८-१९)

'कुब्जे! राम धर्मके ज्ञाता, गुणवान्, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ, सत्यवादी और पवित्र होनेके साथ ही महाराजके बड़े पुत्र हैं; अतः युवराज होनेका अधिकार उन्हींको है। वे दीर्घजीवी होकर अपने भाइयों और नौकरोंका पिताकी भाँति पालन करेंगे। भला, उनके अभिषेककी बात सुनकर तू इतना जल क्यों रही है? मेरे लिये जैसे भरत आदरके पात्र हैं, वैसे ही—बल्कि उससे भी बढ़कर राम हैं। वे कौसल्यासे भी बढ़कर मेरी बहुत सेवा किया करते हैं। यदि रामको राज्य मिल रहा है तो उसे भरतको ही मिला समझ; क्योंकि रामचन्द्र अपने भाइयोंको अपने ही समान समझते हैं।' कैसा सुन्दर वात्सल्य-प्रेम है! श्रीरामपर कैकेयीका कितना प्रेम, विश्वास और भरोसा था। इससे यह स्पष्ट समझमें आ जाता है कि कैकेयीका कठोर बर्ताव उसके स्वभावसे नहीं हुआ, भगवदिच्छासे ही हुआ था।

श्रीरामकी मातृ-भक्ति

श्रीरामकी मातृ-भक्ति बड़ी ही आदर्श थी। उसका ठीक-ठीक वर्णन करना असम्भव है; अतः यहाँ संकेतमात्र ही लिखा जाता है—

माता कौसल्या तथा अन्य माताओंकी तो बात ही क्या है, माता कैकेयीके द्वारा कठोर-से-कठोर व्यवहार किये जानेपर भी उसके प्रति श्रीरामका व्यवहार तो सदा भक्ति और सम्मानसे पूर्ण ही रहा। माता कौसल्याके महलसे लौटते समय कुपित हुए भाई लक्ष्मणसे उन्होंने स्वयं कहा है—

यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यते।
माता नः सा यथा न स्यात् सविशंका तथा कुरु॥
तस्याः शङ्कामयं दुःखं मुहूर्तमपि नोत्सहे।
मनसि प्रतिसंजातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम्॥
न बुद्धिपूर्वं नाबुद्धं स्मरामीह कदाचन।
मातॄणां वा पितुर्वाहं कृतमल्पं च विप्रियम्॥

(वा० रा० २। २२। ६—८)

'लक्ष्मण! मेरे राज्याभिषेकके कारण जिसके चित्तमें सन्ताप हो रहा है, उस हमारी माता कैकेयीको जिससे मेरे ऊपर किसी तरहका सन्देह न हो, वही काम करो। उसके मनमें सन्देहके कारण उत्पन्न हुए दुःखकी मैं एक मुहूर्तके लिये भी उपेक्षा नहीं कर सकता। मैंने कभी जान-बूझकर या अनजानमें माताओं या पिताजीका कभी थोड़ा भी अप्रिय कार्य किया हो—ऐसा याद नहीं पड़ता।'

इसके सिवा और भी बहुत-से उदाहरण श्रीरामकी मातृ-भक्तिके मिलते हैं। चित्रकूटसे लौटते समय भरतसे भी रामने कहा था कि 'भाई भरत! माता कैकेयीने तुम्हारे लिये कामनासे या राज्यलोभसे यह जो कुछ किया है, उसको मनमें न लाना। उनके साथ सदा वैसा ही बर्ताव करना, जैसा अपनी पूजनीया माताके साथ करना चाहिये।' उसी समय शत्रुघ्नसे भी कहा है—'भाई! मैं तुम्हें अपनी और सीताकी शपथ दिलाकर कहता हूँ कि तुम कभी माता कैकेयीपर क्रोध न करना, सदा उनकी सेवा ही करते रहना।' वनमें रहते समय एक बार लक्ष्मणने कैकेयीकी निन्दा की, उसपर आपने यही कहा—'भाई! माता कैकेयीकी तुमको निन्दा नहीं करनी चाहिये'—इत्यादि। इससे यह पता चलता है कि श्रीरामकी अपनी अन्य माताओंके प्रति कैसी श्रद्धा और भक्ति रही होगी। राजा दशरथकी अन्य रानियोंने उनके वन जाते समय विलाप करते हुए कहा था—

कृत्येष्वचोदितः पित्रा सर्वस्यान्तःपुरस्य च।
गतिश्च शरणं चासीत् स रामोऽद्य प्रवत्स्यति॥
कौसल्यायां यथा युक्तो जनन्यां वर्तते सदा।
तथैव वर्ततेऽस्मासु जन्मप्रभृति राघवः॥

(वा० रा० २। २०। २-३)

'जो राम किसी काम-काजके विषयमें पिताके कुछ न कहनेपर भी सारे अन्तःपुरकी गति और आश्रय थे, वे ही आज वनमें जा रहे हैं। वे जन्मसे ही जैसी सावधानीसे अपनी माता कौसल्याके साथ बर्ताव करते थे, उसी प्रकार हम सबके साथ भी करते थे।'

इससे बढ़कर श्रीरामकी मातृ-भक्तिका प्रमाण और क्या होगा।

पितृ-भक्ति

इसी प्रकार श्रीरामकी पितृ-भक्ति भी बड़ी अद्भुत थी। रामायण पढ़नेवालोंसे यह बात छिपी नहीं है कि पिताका आज्ञापालन करनेके लिये श्रीरामके मनमें कितना उत्साह, साहस और दृढ़ निश्चय था। माता कैकेयीसे बातचीत करते समय श्रीराम कहते हैं—

अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके।
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे॥

(वा० रा० २। १८। २८-२९)

न ह्यतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम्।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया॥

(वा० रा० २। १९। २२)

'मैं महाराजके कहनेसे आगमें भी कूद सकता हूँ, तीव्र विषका पान कर सकता हूँ और समुद्रमें भी गिर सकता हूँ, क्योंकि जैसी पिताकी सेवा और उनकी आज्ञाका पालन करना है, इससे बढ़कर संसारमें दूसरा कोई धर्म नहीं है।'

इसी तरहके वहाँ और भी बहुत-से वचन मिलते हैं। उसके बाद माता कौसल्यासे भी उन्होंने कहा है—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम्॥

(वा० रा० २। २१। ३०)

'मैं चरणोंमें सिर रखकर आपसे प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ। मुझमें पिताके वचन टालनेकी शक्ति नहीं है। अतः मैं वनको ही जाना चाहता हूँ।'

इसके सिवा लक्ष्मण, भरत और ऋषि-मुनियोंसे

बात करते समय भी रामने पितृ-भक्तिके विषयमें बहुत कुछ कहा है। श्रीरामचन्द्रके बालचरित्रका संक्षेपमें वर्णन करते हुए भी यह बात कही गयी है कि श्रीराम सदा अपने पिताकी सेवामें लगे रहते थे।

एकपत्नीव्रत

श्रीरामका एकपत्नीव्रत भी बड़ा ही आदर्श था। श्रीरामने स्वप्नमें भी कभी श्रीजानकीजीके सिवा दूसरी स्त्रीका वरण नहीं किया। सीताको वनवास देनेके बाद यज्ञमें स्त्रीकी आवश्यकता होनेपर भी उन्होंने सीताकी ही स्वर्णमयी मूर्तिसे काम चलाया। यदि वे चाहते तो कम-से-कम उस समय तो दूसरा विवाह कर ही सकते थे। उससे संसारमें भी उनकी कोई अपकीर्ति नहीं होती, परंतु भगवान् तो मर्यादापुरुषोत्तम ठहरे। उनको तो यह बात चरितार्थ करके दिखानी थी कि जिस प्रकार स्त्रीके लिये पातिव्रत्यका विधान है, उसी तरह पुरुषके लिये भी एकपत्नीव्रत परमावश्यक है। स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध भोग भोगनेके लिये नहीं, अपितु धर्माचरणके लिये है।

भगवान् श्रीरामका सीताके साथ कितना प्रेम था, इसका कुछ दिग्दर्शन सीता-हरणके बादका प्रसंग पढ़नेसे हो सकता है। श्रीराम परम वीर, धीर और सहिष्णु होते हुए भी उस समय एक साधारण विरहोन्मत्त पागलकी भाँति पशु-पक्षी, वृक्ष-लता और पर्वतोंसे सीताका पता पूछते और नाना प्रकारके विलाप करते हुए एक वनसे दूसरे वनमें भटकते फिरते हैं। कहीं-कहीं तो शोकसे विह्वल और मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं एवं 'हा सीते! हा सीते!' पुकार उठते हैं। उस समयका वर्णन बड़ा ही करुणापूर्ण और हृदयविदारक है।

भ्रातृ-प्रेम

श्रीरामका भ्रातृ-प्रेम भी अतुलनीय था। लड़कपनसे ही श्रीराम अपने भाइयोंके साथ बड़ा प्रेम करते थे। सदा उनकी रक्षा करते और उन्हें प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करते थे। चारों भाई एक साथ ही घोड़ोंपर चढ़कर विचरण किया करते थे। रामचन्द्रजीको जो भी कोई उत्तम भोजन या वस्तु मिलती थी, उसे वे पहले अपने भाइयोंको देकर पीछे स्वयं खाते या उपयोगमें लाते थे। यद्यपि श्रीरामका सभी भाइयोंके साथ समान भावसे ही पूर्ण प्रेम था, उनके मनमें कोई भेद नहीं था, तथापि लक्ष्मणका श्रीरामके प्रति विशेष स्नेह था। वे थोड़ी देरके लिये भी श्रीरामसे अलग रहना नहीं चाहते थे। श्रीरामका वियोग उनके लिये असह्य था, इसी कारण विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षाके लिये भी वे श्रीरामके साथ ही वनमें गये। वहाँ राक्षसोंका विनाश करके दोनों भाई जनकपुरमें पहुँचे। धनुषभंग हुआ। तदनन्तर विवाहकी तैयारी हुई और चारों भाइयोंका विवाह साथ-साथ ही हुआ। विवाहके बाद अयोध्यामें आकर चारों भाई प्रेमपूर्वक रहे।

कुछ दिनोंके बाद अपने मामाके साथ भरत-शत्रुघ्न ननिहाल चले गये। श्रीराम और लक्ष्मण पिताके आज्ञानुसार प्रजाका कार्य करते रहे। श्रीरामके प्रेमभरे बर्तावसे, उनके गुण और स्वभावसे सभी नगर-निवासी और बाहर रहनेवाले ब्राह्मणादि वर्णोंके मनुष्य मुग्ध हो गये। फिर राजा दशरथने मुनि वसिष्ठकी आज्ञा और प्रजाकी सम्मतिसे श्रीरामके राज्याभिषेकका निश्चय किया। राजा दशरथजीके मुखसे अपने राज्याभिषेककी बात सुनकर श्रीराम माता कौसल्याके महलमें आये। माता सुमित्रा और भाई लक्ष्मण भी वहीं थे। उस समय श्रीराम अपने छोटे भाई लक्ष्मणसे कहते हैं—

लक्ष्मणेमां मया सार्धं प्रशाधि त्वं वसुन्धराम्।
द्वितीयं मेऽन्तरात्मानं त्वामियं श्रीरुपस्थिता॥
सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान् राज्यफलानि च।
जीवितं चापि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये॥

(वा० रा० २। ४। ४३-४४)

'लक्ष्मण! तुम मेरे साथ इस पृथ्वीका शासन करो। तुम मेरे दूसरे अन्तरात्मा हो। यह राज्यलक्ष्मी तुम्हें ही प्राप्त हुई है। सुमित्रानन्दन! तुम मनोवांछित भोग और राज्य-फलका उपभोग करो। मैं जीवन और राज्य भी तुम्हारे लिये ही चाहता हूँ।'

इसके बाद इस लीला-नाटकका पट बदल गया। माता कैकेयीके इच्छानुसार राज्याभिषेक वन-गमनके रूपमें परिणत हो गया। सुमन्त्रके द्वारा बुलाये जानेपर जब श्रीराम महलमें गये और माता कैकेयीसे बातचीत करनेपर उन्हें वरदानकी बात मालूम हुई, तब उन्होंने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। तदनन्तर वे माता कौसल्यासे विदा माँगने गये, वहाँ भी बहुत बातें हुईं; परन्तु श्रीरामने एक भी शब्द भरत या कैकेयीके विरुद्ध नहीं कहा, बल्कि भरतजीकी बड़ाई करते हुए माताको धैर्य दिया और कहा कि 'भरत मेरे ही समान आपकी सेवा करेगा।' उसी समय सीताको घरपर रहनेके लिये समझाते हुए कहते हैं—

भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः।
त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम॥

(वा० रा० २। २६। ३३)

'सीते! मेरे भाई भरत-शत्रुघ्न मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं। अतः तुम्हें उनको अपने भाई और पुत्रके समान या उससे भी बढ़कर प्रिय समझना चाहिये।'

वनगमनका समाचार सुनकर लक्ष्मणके मनमें भारी दुःख और क्रोध हुआ। उसे भी श्रीरामने नीति और धर्मसे परिपूर्ण बहुत ही मधुर और कोमल वचनोंसे शान्त किया। फिर जब लक्ष्मणने साथ चलनेके लिये प्रार्थना की, उस समय उनको वहीं रहनेके लिये समझाते हुए श्रीरामने कहा है—

स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे स्थितः।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विधेयश्च सखा च मे॥

(वा० रा० २। ३१। १०)

'लक्ष्मण! तुम मेरे स्नेही, धर्मपरायण, धीर और सदा सन्मार्गमें स्थित रहनेवाले हो। मुझे प्राणोंके समान प्रिय, मेरे वशमें रहनेवाले, आज्ञापालक और सखा हो।'

बहुत समझानेपर भी जब लक्ष्मणने अपना प्रेमाग्रह नहीं छोड़ा, तब भगवान्‌ने उनको संतुष्ट करनेके लिये अपने साथ ले जाना स्वीकार किया। वनमें रहते समय भी श्रीरामचन्द्रजी सब प्रकारसे लक्ष्मण और सीताको सुख पहुँचाने तथा प्रसन्न रखनेकी चेष्टा किया करते थे।

भरतके सेनासहित चित्रकूट आनेका समाचार पाकर जब श्रीराम-प्रेमके कारण लक्ष्मण क्षुब्ध होकर भरतके प्रति न कहनेयोग्य शब्द कह बैठे, तब श्रीरामने भरतकी प्रशंसा करते हुए कहा—

धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
इच्छामि भवतामर्थे एतत् प्रतिशृणोमि ते॥
भ्रातॄणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे॥
यद् विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं वापि मानद।
भवेन्मम सुखं किंचिद् भस्म तत् कुरुतां शिखी॥
स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः।
द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथाऽऽगतः॥

(वा० रा० २। ९७। ५-६,८,११)

'लक्ष्मण! मैं सचाईसे अपने आयुधकी शपथ लेकर कहता हूँ कि मैं धर्म, अर्थ, काम और सारी पृथ्वी—सब कुछ तुम्हीं लोगोंके लिये चाहता हूँ। लक्ष्मण! मैं राज्यको भी भाइयोंकी भोग्य सामग्री और उनके सुखके लिये ही चाहता हूँ। तथा मेरे विनयी भाई! भरत, तुम और शत्रुघ्नको छोड़कर यदि मुझे कोई भी सुख होता हो तो उसमें आग लग जाय। मैं समझता हूँ कि मेरे वनमें आनेकी बात कानमें पड़ते ही भरतका हृदय स्नेहसे भर गया है, शोकसे उसकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयी हैं; अतः वह मुझे देखनेके लिये आ रहा है। उसके आनेका कोई दूसरा कारण नहीं है।'

इसके सिवा वहाँ यह भी कहा है कि 'भरत मनसे भी मेरे विपरीत आचरण नहीं कर सकता। यदि तुम्हें राज्यकी इच्छा है तो मैं भरतसे कहकर दिला दूँ।'

लक्ष्मणका भरतके प्रति जो सन्देह था, वह उपर्युक्त बातें सुनते ही नष्ट हो गया।

उसके बाद जब भरत आश्रममें पहुँचकर श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें लोट गये, तब श्रीरामने उनको देखा। अपने हाथोंसे उठाकर भरतका हृदयसे आलिंगन किया। उनको गोदमें बैठाकर और उनका सिर सूँघकर आदरपूर्वक सब समाचार पूछे और कहा—'भाई! तुम चीर और जटा धारण करके यहाँ क्यों आये?' इसपर भरतने श्रीरामको अयोध्या लौटानेकी बहुत चेष्टा की। भरत तथा रामके प्रेम और बर्तावको देखकर सारा समाज चकित हो गया। अन्तमें जब भरतने यह बात समझ ली कि श्रीराम अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ेंगे, तब भरतने श्रीरामसे उनकी पादुकाएँ माँगी। भरतकी प्रार्थना स्वीकार करके श्रीरामने अपनी पादुका देकर भरतको विदा कर दिया। वे उन पादुकाओंको आदरपूर्वक सिरपर धारण करके अयोध्या लौट आये। उन पादुकाओंका राज्याभिषेक करके उनके आज्ञानुसार राज्यका शासन करने लगे और स्वयं श्रीरामकी ही भाँति मुनिवेष धारण करके नन्दिग्राममें रहे।

उसके बाद सीता-हरण हुआ। लंकापर चढ़ाई की गयी। रावणके साथ भयानक युद्ध आरम्भ हो गया। वहाँ एक दिन रावणके शक्ति-बाणसे लक्ष्मणके मूर्च्छित हो जानेपर श्रीरामने जैसी विलापलीला की, उससे छोटे भाई लक्ष्मणपर उनका कितना प्रेम था, इसका पता चलता है। वहाँ श्रीरामने कहा है—

यथैव मां वनं यान्तमनुयाति महाद्युतिः।
अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम्॥
इष्टबन्धुजनो नित्यं मां स नित्यमनुव्रतः।
इमामवस्थां गमितो राक्षसैः कूटयोधिभिः॥

(वा० रा० ६। १०१। १३-१४)

'महातेजस्वी लक्ष्मणने वन आते समय जिस प्रकार मेरा अनुसरण किया था, उसी प्रकार अब मैं भी इसके साथ यमलोकको जाऊँगा। यह सदा-सर्वदा ही मेरा प्रिय बन्धु और अनुयायी रहा है, हाय! कपटयुद्ध करनेवाले राक्षसोंने आज इसे इस अवस्थामें पहुँचा दिया।'

जो भाई अपने लिये सब कुछ छोड़कर मरनेको और सब तरहका कष्ट सहनेको तैयार हो, उसके लिये चिन्ता और विलाप करना तो उचित ही है; परंतु श्रीरामने तो इस प्रसंगमें विलापकी पराकाष्ठा दिखाकर भ्रातृ-प्रेमकी बड़ी ही सुन्दर शिक्षा दी है।

श्रीहनुमान्‌जीद्वारा संजीवनी-बूटी मँगवाकर सुषेणने लक्ष्मणको स्वस्थ कर दिया। युद्धमें रावण मारा गया। लंकापर विजय हो गयी। भगवान् राम अयोध्या लौटनेके लिये तैयार हुए। उस समय विभीषणने श्रीरामको बड़े आदर और प्रेमसे विनयपूर्वक कुछ दिन रुकनेके लिये कहा। तब श्रीरामचन्द्रजीने उत्तर दिया—

न खल्वेतन्न कुर्यां ते वचनं राक्षसेश्वर।
तं तु मे भ्रातरं द्रष्टुं भरतं त्वरते मनः॥
मां निवर्तयितुं योऽसौ चित्रकूटमुपागतः।
शिरसा याचितो यस्य वचनं न कृतं मया॥

(वा० रा० ६। १२१। १८-१९)

'राक्षसेश्वर! मैं तुम्हारी बात न मानूँ—ऐसा कदापि सम्भव नहीं; परंतु मेरा मन उस भाई भरतसे मिलनेके लिये छटपटा रहा है। जिसने चित्रकूटतक आकर मुझे लौटा ले जानेके लिये सिर झुकाकर प्रार्थना की थी और मैंने जिसके वचनोंको स्वीकार नहीं किया था [उस प्राणप्यारे भाई भरतके मिलनेमें मैं अब कैसे विलम्ब कर सकता हूँ?]'—इत्यादि।

इसके बाद विमानमें बैठकर श्रीराम सीता, लक्ष्मण और सब मित्रोंके साथ अयोध्या पहुँचे। वहाँ भी भरतसे मिलते समय उन्होंने अद्भुत भ्रातृ-प्रेम दिखलाया है।

राज्य करते समय भी श्रीराम हर एक कार्यमें अपने भाइयोंका परामर्श लिया करते थे। जिस किसी प्रकारसे उनको सुख पहुँचाने और प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करते थे।

एक समय लवणासुरके अत्याचारोंसे घबराये हुए ऋषियोंने उसे मारनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की। भगवान्‌ने सभामें प्रश्न किया कि 'लवणासुरको कौन मारेगा? किसके जिम्मे यह काम रखा जाय?' तुरंत ही भरतने उसे मारनेके लिये उत्साह प्रकट किया। इसपर शत्रुघ्नने कहा कि 'भरतजीने तो और भी बहुत-से काम किये हैं, आपके लिये भारी-से-भारी कष्ट सहन किये हैं। फिर भरतजी बड़े भी हैं। मुझ सेवकके रहते हुए यह परिश्रम इनको नहीं देना चाहिये। इस कार्यके लिये तो मुझे ही आज्ञा मिलनी चाहिये।' तब श्रीरामजीने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके कहा कि 'वहाँका राज्य भी तुम्हींको भोगना पड़ेगा, मेरी आज्ञाका प्रतिवाद न करना।' शत्रुघ्नको राज्याभिषेककी बात बहुत बुरी लगी। उन्होंने बहुत पश्चात्ताप किया। परन्तु रामाज्ञा समझकर उसे स्वीकार करना पड़ा। इस प्रकार वचनोंमें बाँधकर उनकी इच्छा न रहनेपर भी छोटे भाईको राज्य-सुख देना राम-सरीखे बड़े भाईका ही काम था।

इसके बाद प्रतिज्ञामें बँध जानेके कारण जब भाई लक्ष्मणका त्याग करना पड़ा; उस समय श्रीरामके लिये लक्ष्मणका वियोग असह्य हो गया। वहाँपर कविने कहा है—

विसृज्य लक्ष्मणं रामो दुःखशोकसमन्वितः।
पुरोधसं मन्त्रिणश्च नैगमांश्चेदमब्रवीत्॥
अद्य राज्येऽभिषेक्ष्यामि भरतं धर्मवत्सलम्।
अयोध्यायाः पतिं वीरं ततो यास्याम्यहं वनम्॥
प्रवेशयत संभारान् मा भूत् कालात्ययो यथा।
अद्यैवाहं गमिष्यामि लक्ष्मणेन गतां गतिम्॥

(वा० रा० ७। १०७। १—३)

'लक्ष्मणका त्याग करके श्रीराम दुःख और शोकमें निमग्न हो गये तथा पुरोहित, मन्त्री और शास्त्रज्ञोंको बुलाकर उनसे कहने लगे—'मैं आज ही धर्मपर प्रेम रखनेवाले वीर भरतका अयोध्याके राज्यपर अभिषेक करूँगा और उसके बाद वनमें जाऊँगा। शीघ्र ही समस्त सामग्रियाँ इकट्ठी की जायँ। देरी न हो; क्योंकि मैं आज ही जिस जगह लक्ष्मण गया है, वहाँ जाना चाहता हूँ।'

इसपर भरतने राज्यकी निन्दा करते हुए कहा—'मैं आपके बिना पृथ्वीका राज्य तो क्या, कुछ भी नहीं चाहता; अतः मुझे भी साथ ही चलनेकी आज्ञा दीजिये।' इसके बाद भरतके कथनानुसार शत्रुघ्नको भी मथुरासे बुलाया गया और मनुष्य-लीलाका नाटक समाप्त करके अपने भाइयोंसहित श्रीराम परमधाम पधार गये।

श्रीरामके भ्रातृ-प्रेमका यह केवल दिग्दर्शनमात्र है। भाइयोंके लिये ही राज्य ग्रहण करना, भाई भरतके राज्याभिषेकके प्रस्तावसे परमानन्दित होकर अपना हक

छोड़ देना, जिसके कारण राज्याभिषेक रुका, उस भाईकी माता कैकेयीपर पहलेकी भाँति ही भक्ति करना, मुक्तकण्ठसे भरतका गुणगान करना, भरतपर शंका और क्रोध करनेपर लक्ष्मणको समझाना, लक्ष्मणके शक्ति लगनेपर प्राणत्याग करनेके लिये तैयार हो जाना, समय-समयपर भाइयोंको पवित्र शिक्षा देना, स्वार्थ छोड़कर सबपर प्रेम करना, शत्रुघ्नसे जबर्दस्ती राज्य करवाना, लक्ष्मणके वियोगको न सहकर परमधाममें पधार जाना—इत्यादि श्रीरामके आदर्श भ्रातृ-प्रेमपूर्ण कार्योंसे हम सबको यथायोग्य शिक्षा लेनी चाहिये।

सख्य-प्रेम

श्रीरामका अपने मित्रोंके साथ भी अतुलनीय प्रेमका बर्ताव था। वे अपने मित्रोंके लिये जो कुछ भी करते, उसे कुछ नहीं समझते थे; परन्तु मित्रोंके छोटे-से-छोटे कार्यकी भी भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते थे। इसका एक छोटा-सा उदाहरण यहाँ लिखा जाता है। अयोध्यामें भगवान्‌का राज्याभिषेक होनेके बाद बंदरोंको विदा करते समय मुख्य-मुख्य बंदरोंको अपने पास बुलाकर प्रेमभरी दृष्टिसे देखते हुए श्रीरामचन्द्रजी बड़ी सुन्दर और मधुर वाणीमें कहने लगे—

सुहृदो मे भवन्तश्च शरीरं भ्रातरस्तथा॥
युष्माभिरुद्धृतश्चाहं व्यसनात् काननौकसः।
धन्यो राजा च सुग्रीवो भवद्भिः सुहृदां वरैः॥

(वा० रा० ७। ३९। २३-२४)

'वनवासी वानरो! आपलोग मेरे मित्र हैं, भाई हैं तथा शरीर हैं। एवं आपलोगोंने मुझे संकटसे उबारा है; अतः आप-सरीखे श्रेष्ठ मित्रोंके साथ राजा सुग्रीव धन्य हैं।' इसके सिवा और भी बहुत जगह श्रीरामने अपने मित्रोंके साथ प्रेमका भाव दिखाया है। सुग्रीवादि मित्रोंने भी भगवान्‌के सख्य-प्रेमकी बारंबार प्रशंसा की है। वे उनके बर्तावसे इतने मुग्ध रहते थे कि उनको धन, जन और भोगोंकी स्मृति भी नहीं होती थी। वे हर समय श्रीरामचन्द्रके लिये अपना प्राण न्योछावर करनेको प्रस्तुत रहते थे। श्रीराम और उनके मित्र धन्य हैं! मित्रता हो तो ऐसी हो।

शरणागतवत्सलता

यों तो श्रीरामकी शरणागतवत्सलताका वर्णन वाल्मीकीय रामायणमें स्थान-स्थानपर आया है; किन्तु जिस समय रावणसे अपमानित होकर विभीषण भगवान् रामकी शरणमें आया है, वह प्रसंग तो भक्तोंके हृदयमें उत्साह और आनन्दकी लहरें उत्पन्न कर देता है।

धर्मयुक्त और न्यायसंगत बात कहनेपर भी जब रावणने विभीषणकी बात नहीं मानी, बल्कि भरी सभामें उसका अपमान कर दिया, तब विभीषण वहाँसे निराश और दुःखी होकर श्रीरामकी शरणमें आया। उसे आकाश मार्गसे आते देखकर सुग्रीवने सब वानरोंको सावधान होनेके लिये कहा। इतनेमें ही विभीषणने वहाँ आकर आकाशमें ही खड़े-खड़े पुकार लगायी कि, 'मैं दुरात्मा पापी रावणका छोटा भाई हूँ। मेरा नाम विभीषण है। मैं रावणसे अपमानित होकर भगवान् श्रीरामकी शरणमें आया हूँ। आपलोग समस्त प्राणियोंको शरण देनेवाले श्रीरामको मेरे आनेकी सूचना दें।'

यह सुनकर सुग्रीव तुरन्त ही भगवान् रामके पास गये और राक्षस-स्वभावका वर्णन कर श्रीरामको सावधान करते हुए रावणके भाई विभीषणके आनेकी सूचना दी। साथ ही यह भी कहा कि 'अच्छी तरह परीक्षा करके, आगे-पीछेकी बात सोचकर जैसा उचित समझें, वैसा करें।' इसी प्रकार वहाँ बैठे हुए दूसरे बंदरोंने भी अपनी-अपनी सम्मति दी। सभीने विभीषणपर सन्देह प्रकट किया, पर श्रीहनुमान्‌जीने बड़ी नम्रताके साथ बहुत-सी युक्तियोंसे विभीषणको निर्दोष और सचमुच शरणागत समझनेकी सलाह दी। इस प्रकार सबकी बातें सुननेके अनन्तर भगवान् श्रीरामने कहा—

मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्॥

(वा० रा० ६। १८। ३)

'मित्रभावसे आये हुए विभीषणका मैं कभी त्याग नहीं कर सकता। यदि उसमें कोई दोष हो तो भी उसे आश्रय देना सज्जनोंके लिये निन्दित नहीं है।' इसपर भी सुग्रीवको संतोष नहीं हुआ। उसने शंका और भय उत्पन्न करनेवाली बहुत-सी बातें कहीं। तब श्रीरामने सुग्रीवको फिर समझाया—

पिशाचान् दानवान् यक्षान् पृथिव्यां चैव राक्षसान्।
अङ्गुल्यग्रेण तान् हन्यामिच्छन् हरिगणेश्वर॥

× × ×

बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम्।
न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परंतप॥

× × ×

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥

(वा० रा० ६। १८। २३,२७,३३-३४)

'वानरगणाधीश! यदि मैं चाहूँ तो पृथ्वीभरके उन पिशाच, दानव, यक्ष और राक्षसोंको अँगुलीके अग्रभागसे ही मार सकता हूँ। [अतः डरनेकी कोई बात नहीं है।] परंतप! यदि कोई शत्रु भी हाथ जोड़कर दीनभावसे शरणमें आकर अभय-याचना करे तो दया-धर्मका पालन करनेके लिये उसे नहीं मारना चाहिये। मेरा तो यह विरद है कि जो एक बार भी 'मैं आपका हूँ' यों कहता हुआ शरणमें आकर मुझसे रक्षा चाहता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे निर्भय कर देता हूँ। वानरश्रेष्ठ सुग्रीव! [उपर्युक्त नीतिके अनुसार] मैंने इसे अभय दे दिया, अतः तुम इसे ले आओ—चाहे यह विभीषण हो या स्वयं रावण ही क्यों न हो।'

बस, फिर क्या था। भगवान्‌की बात सुनकर सब मुग्ध हो गये और भगवान्‌के आज्ञानुसार तुरंत ही विभीषणको ले आये। विभीषण अपने मन्त्रियोंसहित आकर श्रीरामके चरणोंमें गिर पड़ा और कहने लगा—'भगवन्! मैं सब कुछ छोड़कर आपकी शरणमें आया हूँ। अब मेरा राज्य, सुख और जीवन—सब कुछ आपके ही अधीन है।' इसके बाद श्रीरामने प्रेमभरी दृष्टि और वाणीसे उसे धैर्य दिया और लक्ष्मणसे समुद्रका जल मँगाकर उसका वहीं लंकाके राज्यपर अभिषेक कर दिया।

कृतज्ञता

वास्तवमें देखा जाय तो भगवान् श्रीरामचन्द्रजी साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर थे। उनकी अपार शक्ति थी, वे स्वयं सब कुछ कर सकते थे और करते थे; उनका कोई क्या उपकार कर सकता था। तथापि अपने आश्रितजनोंके प्रेमकी वृद्धिके लिये उनकी साधारण सेवाको भी बड़े-से-बड़ा रूप देकर आपने अपनी कृतज्ञता प्रकट की है।

सीताको खोजते-खोजते जब श्रीराम रावणद्वारा युद्धमें मारकर गिराये हुए जटायुकी दशा देखते हैं, उस समयका वर्णन है—

निकृत्तपक्षं रुधिरावसिक्तं तं गृध्रराजं परिगृह्य राघवः।
क्व मैथिली प्राणसमा गतेति विमुच्य वाचं निपपात भूमौ॥

(वा० रा० ३। ६७। २९)

'जिसके पंख कटे हुए थे, समस्त शरीर लहूलुहान हो रहा था, ऐसे गीधराज जटायुको हृदयसे लगाकर श्रीरघुनाथजी 'प्राणप्रिया जानकी कहाँ गयी?' इतना कहकर पृथ्वीपर गिर पड़े।'

फिर रावणका परिचय देते और सीताको ले जानेकी बात कहते-कहते ही जब पक्षिराजके प्राण उड़ जाते हैं, तब भगवान् श्रीराम स्वयं अपने हाथोंसे उसकी दाह-क्रिया करते हैं। कैसी अद्भुत कृतज्ञता है!

इसी तरह और भी बहुत-से प्रसंग हैं। वानरों, राजाओं, ऋषियों और देवताओंसे बात करते समय आपने जगह-जगहपर कहा है कि 'आपलोगोंकी सहायता और अनुग्रहसे ही मैंने रावणपर विजय प्राप्त की है।'

जब श्रीहनुमान्‌जी सीताजीका पता लगाकर भगवान् रामसे मिले हैं, उस समय उनके कार्यकी बार-बार प्रशंसा करके अन्तमें रघुनाथजीने यहाँतक कहा है कि 'हनुमान्! जानकीका पता लगाकर तुमने मुझे, समस्त रघुवंशको और लक्ष्मणको भी बचा लिया। इस प्रिय कार्यके बदलेमें कुछ दे सकूँ, ऐसी कोई वस्तु मुझे नहीं दिखायी देती। अतः अपना सर्वस्व यह आलिंगन ही मैं तुम्हें देता हूँ।' इतना कहकर हर्षसे पुलकित श्रीरामने हनुमान्‌को हृदयसे लगा लिया। राज्याभिषेक हो जानेके बाद हनुमान्‌को विदा करते समय हनुमान्‌की सेवा और कार्योंका स्मरण करके भगवान् राम कहते हैं—

एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥
मदंगे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥

(वा० रा० ७। ४०। २३-२४)

'हनुमान्! तुम्हारे एक-एक उपकारके बदलेमें मैं अपने प्राण दे दूँ तो भी इस विषयमें शेष उपकारोंके लिये तो मैं तुम्हारा ऋणी ही बना रहूँगा। तुम्हारे द्वारा किये हुए उपकार मेरे शरीरमें ही विलीन हो जायँ—उनका बदला चुकानेका मुझे कभी अवसर ही न मिले; क्योंकि आपत्तियाँ आनेपर ही मनुष्य प्रत्युपकारोंका पात्र होता है।' इससे पता चलता है कि भगवान् श्रीरामका कृतज्ञताका भाव कितना आदर्श था।

प्रजारंजकता

श्रीरामचन्द्रजीमें प्रजाको हर तरहसे प्रसन्न रखनेका गुण भी बड़ा ही आदर्श था। वे अपनी प्रजाका पुत्रसे

भी बढ़कर वात्सल्यप्रेमसे पालन करते थे। सदा-सर्वदा उनके हितमें रत रहते थे। यही कारण था कि अयोध्यावासियोंका उनपर अद्भुत प्रेम था।

श्रीरामके वनगमनका, चित्रकूटमें भरतके साथ प्रजासे मिलनेका और परमधाममें पधारनेके समयका वर्णन पढ़नेसे पता चलता है कि आरम्भसे लेकर अन्ततक प्रजाके छोटे-बड़े सभी स्त्री-पुरुषोंका श्रीराममें बड़ा ही अद्भुत प्रेम था। वे हर हालतमें श्रीरामके लिये प्राण न्योछावर करनेको तैयार रहते थे। उन्हें भगवान् रामका वियोग असह्य हो गया था।

जब श्रीरामचन्द्रजी वनमें जाने लगे, तब प्रजाके अधिकांश लोग प्रेममें पागल होकर उनके साथ हो लिये। भगवान् श्रीरामने बहुत-कुछ अनुनय-विनय की; किन्तु चेष्टा करनेपर भी वे प्रजाको लौटा नहीं सके। आखिर उन्हें सोते हुए छोड़कर ही श्रीरामको वनमें जाना पड़ा। उस समयके वर्णनमें यह भी कहा गया है कि पशु-पक्षी भी उनके प्रेममें मुग्ध थे। उनके लिये श्रीरामका वियोग असह्य था। परमधाममें पधारते समयका वर्णन भी ऐसा ही अद्भुत है।

इसके सिवा जिस सीताके वियोगमें श्रीरामने एक साधारण विरह-व्याकुल कामी मनुष्यकी भाँति पागल होकर विलाप किया था, उसी सीताको—यद्यपि वह निर्दोष और पति-परायणा थीं तो भी, प्रजाकी प्रसन्नताके लिये त्याग दिया। इससे भी उनकी प्रजारंजकताका आदर्श भाव व्यक्त होता है।

श्रीरामका महत्त्व

श्रीरामचन्द्रजी साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा भगवान् विष्णुके अवतार थे, यह बात वाल्मीकीय रामायणमें जगह-जगह कही गयी है। जब संसारमें रावणका उपद्रव बहुत बढ़ गया, देवता और ऋषिगण बहुत दुःखी हो गये, तब उन्होंने जाकर ब्रह्मासे प्रार्थना की। पितामह ब्रह्मा देवताओंको धीरज बँधा रहे थे, उसी समय भगवान् विष्णुके प्रकट होनेका वर्णन इस प्रकार आता है—

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुरुपयातो महाद्युतिः।
शङ्खचक्रगदापाणिः पीतवासा जगत्पतिः॥
वैनतेयं समारुह्य भास्करस्तोयदं यथा।
तप्तहाटककेयूरो वन्द्यमानः सुरोत्तमैः॥

(वा० रा० १। १५। १६-१७)

'इतनेमें ही महान् तेजस्वी उत्तम देवताओंद्वारा वन्दनीय जगत्पति भगवान् विष्णु मेघपर चढ़े हुए सूर्यके समान गरुडपर सवार हो वहाँ आ पहुँचे। उनके शरीरपर पीताम्बर तथा हाथोंमें शंख, चक्र और गदा आदि आयुध एवं चमकीले स्वर्णके बाजूबंद शोभा पा रहे थे।'

इसके बाद देवताओंकी प्रार्थना सुनकर भगवान्ने राजा दशरथके घर मनुष्यरूपमें अवतार लेना स्वीकार किया। फिर वहीं अन्तर्धान हो गये।

श्रीरामचन्द्रजीका विवाह होनेके बाद जब वे अयोध्याको लौट रहे थे, उस समय रास्तेमें परशुरामजी मिले। श्रीराम विष्णुके अवतार हैं या नहीं—इसकी परीक्षा करनेके लिये उन्होंने श्रीरामसे भगवान् विष्णुके धनुषपर बाण चढ़ानेके लिये कहा; तब श्रीरामचन्द्रजीने तुरंत ही उनके हाथसे दिव्य धनुष लेकर उसपर बाण चढ़ा दिया और कहा—'यह दिव्य वैष्णव बाण है। इसे कहाँ छोड़ा जाय?' यह देख-सुनकर परशुरामजी चकित हो गये। उनका तेज श्रीराममें जा मिला। उस समय श्रीरामकी स्तुति करते हुए परशुरामजी कहते हैं—

अक्षय्यं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरेश्वरम्।
धनुषोऽस्य परामर्शात् स्वस्ति तेऽस्तु परंतप॥

(वा० रा० १। ७६। १७)

'शत्रुतापन राम! आपका कल्याण हो। इस धनुषके चढ़ानेसे मैं जान गया कि आप मधु-दैत्यको मारनेवाले, देवताओंके स्वामी, साक्षात् अविनाशी विष्णु हैं।' इस प्रकार श्रीरामके प्रभावका वर्णन करके और उनकी प्रदक्षिणा करके परशुरामजी चले गये।

रावणका वध हो जानेके बाद जब ब्रह्मासहित देवतालोग श्रीरामचन्द्रजीके पास आये और उनसे बातचीत करते हुए श्रीरामने यह कहा कि 'मैं तो अपनेको दशरथजीका पुत्र राम नामका मनुष्य ही समझता हूँ! मैं जो हूँ, जहाँसे आया हूँ—यह आपलोग ही बतायें।' इसपर ब्रह्माजीने सबके सामने सम्पूर्ण रहस्य खोल दिया। वहाँ रामके महत्त्वका वर्णन करते हुए ब्रह्माजी कहते हैं—

भवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः।
एकशृङ्गो वराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित्॥
अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव।
लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः॥
शार्ङ्गधन्वा हृषीकेशः पुरुषः पुरुषोत्तमः।
अजितः खड्गधृग् विष्णुः कृष्णश्चैव बृहद्बलः॥

(वा० रा० ६। ११७। १३—१५)

'आप साक्षात् चक्रपाणि लक्ष्मीपति प्रभु श्रीनारायणदेव हैं। आप ही भूत-भविष्यके शत्रुओंको जीतनेवाले और एक शृंगधारी वराहभगवान् हैं। राघव! आप आदि, मध्य और अन्तमें सत्यस्वरूप अविनाशी ब्रह्म हैं। आप सम्पूर्ण लोकोंके परमधर्म चतुर्भुज विष्णु हैं। आप ही अजित, पुरुष, पुरुषोत्तम, हृषीकेश तथा शार्ङ्ग-धनुषवाले, खड्गधारी विष्णु हैं और आप ही महाबलवान् कृष्ण हैं।'

इसी तरह और भी बहुत कुछ कहा है। वहीं राजा दशरथ भी लक्ष्मणके साथ बातचीत करते समय श्रीरामकी सेवाका महत्त्व बतलाकर कहते हैं—

एतत्तदुक्तमव्यक्तमक्षरं ब्रह्मसम्मितम्।
देवानां हृदयं सौम्य गुह्यं रामः परंतपः॥
अवाप्तं धर्माचरणं यशश्च विपुलं त्वया।
एनं शुश्रूषताव्यग्रं वैदेह्या सह सीतया॥

(वा० रा० ६। ११९। ३२-३३)

'सौम्य! ये परन्तप राम साक्षात् वेदवर्णित अविनाशी अव्यक्त ब्रह्म हैं। ये देवोंके हृदय और परम रहस्यमय हैं। जनकनन्दिनी सीताके सहित इनकी सावधानीपूर्वक सेवा करके तुमने पवित्र धर्मका आचरण और बड़े भारी यशका लाभ किया है।'

इसके सिवा और भी अनेक बार ब्रह्माजी, देवता और महर्षियोंने श्रीरामके अमित प्रभावका यथासाध्य वर्णन किया है। मनुष्य-लीला समाप्त करके परमधाममें पधारनेके प्रसंगमें भी यह बात स्पष्ट कर दी गयी है कि श्रीराम साक्षात् पूर्णब्रह्म परमेश्वर थे। अतः वाल्मीकीय रामायणको प्रामाणिक ग्रन्थ माननेवाला कोई भी मनुष्य श्रीरामके ईश्वर होनेमें शंका कर सके, ऐसी गुंजाइश नहीं है।

पराक्रम

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके बल, पराक्रम, वीरता और शस्त्रकौशलके विषयमें तो कहना ही क्या है। सम्पूर्ण रामायणमें इसका वर्णन भरा पड़ा है। कहींसे भी युद्धका प्रसंग निकालकर देख सकते हैं। विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा करते समय उन्होंने बात-की-बातमें ताड़का और सुबाहुको मारकर मारीचको मानवास्त्रके द्वारा सौ योजन दूर समुद्रके बीचमें गिरा दिया।

जनकपुरमें जिस धनुषको बड़े-बड़े वीर और महाबली राजा अत्यन्त परिश्रम करके भी नहीं हिला सके, उसीको श्रीरामने अनायास ही उठाकर तोड़ दिया। विष्णुके धनुषपर बाण चढ़ाकर परशुरामजीका तेज हर लिया। पंचवटीमें चौदह हजार राक्षसोंको जरा-सी देरमें बिना किसीकी सहायताके मार गिराया। बाली-जैसे महायोद्धाको एक ही बाणसे मार डाला। धनुषपर बाण चढ़ानेमात्रसे ही समुद्रमें खलबली मच गयी और वह भयभीत होकर शरणमें आ गया। लंकामें जाकर भयंकर युद्धमें राक्षसोंसहित कुम्भकर्ण और रावणका वध करके समस्त संसारमें विजयका डंका बजा दिया।

क्षमा

ऐसे बड़े पराक्रमी होनेपर भी श्रीरघुनाथजी इतने क्षमाशील थे कि वे अपने प्रति किये हुए किसीके अपराधको अपराध ही नहीं मानते थे। उन्होंने जहाँ कहीं भी क्रोध और युद्धकी लीला की है, वह अपने आश्रितों और साधु पुरुषोंके प्रति किये हुए अपराधोंके लिये दण्ड देने और इसी बहाने दुष्टोंको निर्दोष बनानेके लिये ही की है। मन्थरा-जैसी दासीके अपराधका उन्होंने कहीं जिक्र भी नहीं किया।

उपसंहार

श्रीरामके महत्त्वपूर्ण असंख्य आदर्श गुणोंका लेखनीद्वारा वर्णन करना असम्भव ही है। आदिकवि श्रीवाल्मीकिजीसे लेकर आजतक सभी प्रधान-प्रधान कवियोंने श्रीरामचरितका वर्णन करके अपनी वाणीको सफल बनानेकी चेष्टा की है, परंतु श्रीरामके अनन्त गुणोंका पार कोई नहीं पा सका। मैंने तो जो कुछ भी लिखा है, वह केवल श्रीवाल्मीकीय रामायणके आधारपर बहुत ही संक्षेपमें लिखा है। वह भी मेरा केवल साहसमात्र ही है; क्योंकि न तो मुझे संस्कृत भाषाका विशेष ज्ञान है और न हिन्दीका ही। अतः विज्ञ पाठकजन त्रुटियोंके लिये क्षमा करें। इसे पढ़-सुनकर यदि कोई भगवत्प्रेमी भाई किसी अंशमें लाभ उठा सकेंगे तो मेरे लिये वह बड़े सौभाग्यकी बात होगी और मैं उनका आभारी रहूँगा।

राम-सेवक श्रीलक्ष्मण

श्रीलक्ष्मणजीकी महिमा अपार है। वाल्मीकीय रामायणमें श्रीलक्ष्मणजी भी भगवान् विष्णुके ही अंशावतार माने गये हैं, किन्तु दूसरे ग्रन्थोंमें इनको भगवान् अनन्त (शेषनाग)-का अवतार बताया गया है। इनके चरित्रसे यह स्पष्ट है कि इनका अवतार श्रीरामके चरणोंमें रहकर उनकी सेवा करनेके लिये ही हुआ था। यही कारण है कि सभी भाइयोंका श्रीरामके प्रति प्रेम होते हुए भी देवालयोंमें श्रीरामके साथ लक्ष्मणकी ही प्रतिमा स्थापित की जाती है और रामके साथ लक्ष्मणका ही नाम लिया जाता है। भरत-शत्रुघ्न तो स्वेच्छासे भी श्रीरामसे अलग ननिहालमें रह लिये, परन्तु श्रीलक्ष्मणजीने अपने जीवनमें किसी भी परिस्थितिमें श्रीरामका साथ नहीं छोड़ा। रामके द्वारा त्याग दिये जानेपर वे तुरंत ही परमधाम सिधार गये। श्रीलक्ष्मणजी ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले, धीर, वीर, तेजस्वी, पराक्रमी और इन्द्रिय-विजयी थे। ये बड़े ही सुन्दर, सरल, तितिक्षु, निर्भय, निष्कपट, त्यागी, पुरुषार्थी, तपस्वी, सेवक, सत्यव्रती, बुद्धिमान् और नीति-निपुण थे। श्रीराममें आपका अपूर्व प्रेम था। श्रीरामके चरणोंमें रहकर उनकी सेवा करना ही आप अपना मुख्य धर्म और कर्तव्य समझते थे और श्रीराम-सेवामें अपने-आपको भूल जाते थे। जैसे भरतजीका विनय और मधुरतायुक्त गम्भीर प्रेम अनुपम है, वैसे ही श्रीलक्ष्मणजीका वीरतायुक्त सेवामूलक प्रेम भी परम आदर्श है।

लड़कपनमें भी श्रीलक्ष्मणजी सर्वदा श्रीरामके साथ ही रहते थे। वाल्मीकिरामायणमें लिखा है—

बाल्यात् प्रभृति सुस्निग्धो लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः॥
रामस्य लोकरामस्य भ्रातुर्ज्येष्ठस्य नित्यशः।
सर्वप्रियकरस्तस्य रामस्यापि शरीरतः॥
लक्ष्मणो लक्ष्मिसम्पन्नो बहिःप्राण इवापरः।
न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः॥

(१।१८।२८—३०)

'शोभाको बढ़ानेवाले श्रीलक्ष्मण बाल्यकालसे ही बड़े भाई लोकाभिराम श्रीराममें सदा ही स्वाभाविक गाढ़ स्नेह रखते हैं। वे श्रीरामचन्द्रजीकी सेवा और सभी प्रिय-कार्य सदा अपने शरीरसे ही किया करते हैं। शोभासम्पन्न श्रीलक्ष्मण भगवान् श्रीरामके मानो दूसरे प्राण ही हैं; क्योंकि उनके बिना पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रको निद्रा भी नहीं आती थी।'

छोटी अवस्थामें ही श्रीलक्ष्मणजी अपने भाई श्रीरामके साथ विश्वामित्रकी यज्ञ-रक्षाके लिये चले गये। वहाँ ये सदा श्रीरामकी ही सेवामें लगे रहते, पत्तोंके बिछौनोंपर शयन करते और श्रीरामचन्द्रजीके साथ रहकर उनके आज्ञानुसार राक्षसोंका वध करके मुनिके यज्ञकी रक्षा करते थे।

विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा करके दोनों भाई उनके साथ जनकपुर गये। वहाँ धनुष-भंगके बाद सब भाइयोंका विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। सभी अयोध्याको लौटकर आनन्दसे रहने लगे। भरत-शत्रुघ्न ननिहाल चले गये। पीछेसे राजा दशरथकी इच्छा और मन्त्रिवर्ग तथा प्रजाकी सम्मतिसे रामके राज्याभिषेककी तैयारी हुई। यह देखकर लक्ष्मणके आनन्दका पार न रहा। श्रीरामको राजसिंहासनपर विराजमान देखनेके लिये लक्ष्मण कितने लालायित थे, इसका पता राजसिंहासनके बदले वनवासकी आज्ञा होनेपर उनके उभरे हुए क्रोधको देखनेसे लगता है। जो बात मनके जितनी प्रतिकूल होती है, उसपर उतना ही अधिक क्रोध आता है।

मन्थरा भी कैकेयीको उभारती हुई श्रीलक्ष्मणके प्रेमकी इस प्रकार बड़ाई करती है—

गोप्ता हि रामं सौमित्रिर्लक्ष्मणं चापि राघवः।
अश्विनोरिव सौभ्रात्रं तयोर्लोकेषु विश्रुतम्॥

(वा० रा० २।८।३१)

'लक्ष्मण सदा श्रीरामकी रक्षा करते हैं और राम सदा उनकी रक्षा करते हैं। उन दोनोंका भ्रातृ-प्रेम अश्विनीकुमारोंकी भाँति जगत्में प्रसिद्ध है।'

इसके बाद जब श्रीराम वन जाना स्वीकार करके माता कौसल्यासे आज्ञा लेने गये, उस समय लक्ष्मण भी साथ ही थे। वे हर हालतमें श्रीरामके पीछे ही रहते थे। श्रीरामने माता कौसल्याको सारी कथा सुनायी। माताके दुःखका पार नहीं रहा। माता ने रामको रोकनेकी चेष्टा की, परन्तु श्रीराम न माने। श्रीरामका यह कार्य लक्ष्मणको अच्छा नहीं लगा। वे रामके पूर्ण अनुयायी थे, परंतु उन्हें अपना हक छोड़ते देखकर वे शान्त न रह सके। माता कौसल्याको विलाप करते देखकर श्रीलक्ष्मणजी कहते हैं—

अनुरक्तोऽस्मि भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः।
सत्येन धनुषा चैव दत्तेनेष्टेन ते शपे॥
दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति।

प्रविष्टं तत्र मां देवि त्वं पूर्वमवधारय॥
हरामि वीर्याद् दुःखं ते तमः सूर्य इवोदितः।
देवी पश्यतु मे वीर्यं राघवश्चैव पश्यतु॥

(वा० रा० २। २१। १६—१८)

'देवि! मैं आपसे सत्य, धनुष, दान तथा यज्ञादिकी शपथ करके कहता हूँ कि पूज्य भाई श्रीराममें मेरा हार्दिक दृढ़ अनुराग है। यदि श्रीराम जलती हुई आगमें या घोर जंगलमें प्रवेश करें तो आप मुझको उनसे पहले ही वहाँ प्रविष्ट हुआ समझें। जैसे सूर्य उदय होकर अन्धकारका नाश कर देता है, उसी प्रकार मैं अपने पराक्रमसे आपके दुःख दूर कर दूँगा। देवी और श्रीरामचन्द्रजी भी मेरा पराक्रम देखें।'

लक्ष्मणने वीर-रसके आवेशमें तथा श्रीरामजीके प्रेमसे विवश होकर और भी बहुत-सी साहसभरी बातें कहीं। माता कौसल्याको समझानेके बाद श्रीरामने लक्ष्मणको सान्त्वना देते हुए कहा—

तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तमम्।
विक्रमं चैव सत्त्वं च तेजश्च सुदुरासदम्॥
मम मातुर्महद् दुःखमतुलं शुभलक्षण।
अभिप्रायं न विज्ञाय सत्यस्य च शमस्य च॥
धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।

× × ×

सोऽहं न शक्ष्यामि पुनर्नियोगमतिवर्तितुम्।
पितुर्हि वचनाद्वीर कैकेय्याहं प्रचोदितः॥
तदेतां विसृजानार्यां क्षत्रधर्माश्रितां मतिम्।
धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम्॥

(वा० रा० २। २१। ३९—४१,४३-४४)

'लक्ष्मण! मेरे प्रति जो तुम्हारा अत्यन्त ही उत्तम प्रेम है, उसे मैं जानता हूँ तथा तुम्हारे पराक्रम, धैर्य और दुर्धर्ष तेजसे भी मैं अपरिचित नहीं हूँ। शुभलक्षण! मेरी माताको जो महान् अतुलनीय दुःख हो रहा है, वह सत्य और शमके विषयमें मेरा अभिप्राय न समझनेके कारण है। संसारमें धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है, धर्ममें ही सत्य-तत्त्व प्रतिष्ठित है।.... अतः ऐसा मैं पिताजीकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सकता। वीर! पिताजीकी आज्ञासे ही माता कैकेयीने मुझे वन जानेके लिये कहा है। इसलिये केवल क्षात्रधर्मका अवलम्बन करनेवाली इस ओछी बुद्धिका त्याग करो। धर्मका आश्रय लो, तीक्ष्ण भावको छोड़ो और मेरे विचारके अनुसार चलो।'

लक्ष्मणजीके स्वभावमें यह विशेषता थी कि जो बात उनके मनमें जँचती, उसे वे बड़े जोरदार शब्दोंमें श्रीरामके सामने रख देते थे तथा अपने मनके प्रतिकूल होनेपर भी श्रीरामकी बात मान लेते थे। उनके स्वभावमें पुरुषार्थ और वीरत्व छलकते थे। इसी कारण जब श्रीरामने प्रारब्धको बलवान् बताकर लक्ष्मणको समझानेकी चेष्टा की, तब उन्होंने कहा—

विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते।
वीराः सम्भावितात्मानो न दैवं पर्युपासते॥
दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम्।
न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति॥

× × × ×

अद्य मे पौरुषहतं दैवं द्रक्ष्यन्ति वै जनाः।
यैर्दैवादाहतं तेऽद्य दृष्टं राज्याभिषेचनम्॥

× × × ×

अहमेको महीपालानलं वारयितुं बलात्॥
न शोभार्थाविमौ बाहू न धनुर्भूषणाय मे।
नासिराबन्धनार्थाय न शराः स्तम्भहेतवः॥

(वा० रा० २।२३।१६-१७,१९,२९-३०)

'जो कायर है, जिसमें पराक्रमका नाम नहीं है, वही प्रारब्धका भरोसा करता है। सारा संसार जिनको आदरकी दृष्टिसे देखता है, वे वीर पुरुष दैवकी उपासना नहीं करते। जो अपने पुरुषार्थसे दैवको दबानेकी शक्ति रखता है, वह दैवके द्वारा किसी कार्यमें बाधा उपस्थित की जानेपर खेद नहीं करता।''''' जिन लोगोंने दैवके बलसे आपके राज्याभिषेकको नष्ट होते देखा है, वे ही आज मेरे पुरुषार्थसे दैवका भी विनाश होता देखेंगे।''''' मैं अकेला ही समस्त विरोधी राजाओंको बलपूर्वक परास्त करनेमें समर्थ हूँ। मेरी ये दोनों भुजाएँ शोभाके लिये नहीं हैं। यह धनुष आभूषणकी जगह नहीं है, यह तलवार केवल बँधी रहनेके लिये नहीं है। ये बाण सहारा लेनेके डंडे नहीं हैं।'

इसके बाद माता कौसल्या और सीतासे बातचीत होनेपर जब उनको श्रीरामका अन्तिम निर्णय मालूम हो गया, तब आप अपना सारा पक्ष सर्वथा छोड़कर सब प्रकारसे श्रीरामका अनुसरण करनेके लिये तैयार हो गये। श्रीरामको वनमें जानेके लिये तैयार देखकर उनके साथ जानेको वे व्याकुल हो उठे। भाईके विरहका दुःख उनके लिये असह्य हो गया। उनके नेत्रोंसे अश्रु-धारा बह चली

और वे दोनों हाथोंसे भाईके चरणोंको पकड़कर यशस्विनी सीता और कठिन नियमोंका पालन करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीसे बोले—

यदि गन्तुं कृता बुद्धिर्वनं मृगगजायुतम्।
अहं त्वानुगमिष्यामि वनमग्रे धनुर्धरः॥

× × × ×

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे।
ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना॥

(वा० रा० २। ३१। ३, ५)

'प्रभो! यदि आपने हजारों जंगली पशुओं और हाथियोंसे भरे हुए वनमें जानेका निश्चय कर लिया है, तो मैं भी धनुष लेकर आपके साथ ही आगे-आगे चलूँगा।..... आपके बिना मैं देवलोकमें जाना, अमर होना नहीं चाहता और न समस्त लोकोंका ऐश्वर्य ही प्राप्त करना चाहता हूँ।'

यह सुनकर श्रीरामने सान्त्वनापूर्ण वचनोंसे लक्ष्मणको वनमें न जाकर अयोध्यामें ही रहनेके लिये समझाया। तब लक्ष्मणने फिर कहा—

अनुज्ञातस्तु भवता पूर्वमेव यदस्म्यहम्।
किमिदानीं पुनरपि क्रियते मे निवारणम्॥

(वा० रा० २। ३१। ७)

'आपने तो मुझे पहलेसे ही अपने साथ रहनेकी आज्ञा दे रखी है; फिर इस समय मुझे क्यों रोकते हैं? इसपर श्रीरामने कहा—

स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे स्थितः।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विधेयश्च सखा च मे॥
मयाद्य सह सौमित्रे त्वयि गच्छति तद्वनम्।
को भजिष्यति कौसल्यां सुमित्रां वा यशस्विनीम्॥

(वा० रा० २। ३१। १०-११)

'लक्ष्मण! तुम मेरे परम स्नेही, धर्मपरायण, धीर और सदा श्रेष्ठ मार्गपर आरूढ़ रहनेवाले हो। मुझे प्राणोंके समान प्रिय हो तथा मेरे वशमें रहनेवाले, आज्ञापालक और सखा हो। यदि आज मेरे साथ तुम भी वनके लिये चल पड़ोगे तो परम यशस्विनी माता सुमित्रा और कौसल्याकी सेवा कौन करेगा?'

इसपर लक्ष्मणने कहा—

तदात्मभरणे चैव मम मातुस्तथैव च।
पर्याप्ता मद्विधानां च भरणाय मनस्विनी॥
कुरुष्व मामनुचरं वैधर्म्यं नेह विद्यते।
कृतार्थोऽहं भविष्यामि तव चार्थः प्रकल्प्यते॥

× × × ×

आहरिष्यामि ते नित्यं मूलानि च फलानि च।
वन्यानि च तथान्यानि स्वाहार्हाणि तपस्विनाम्॥
भवांस्तु सह वैदेह्या गिरिसानुषु रंस्यते।
अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः स्वपतश्च ते॥

(वा० रा० २। ३१। २३-२४, २६-२७)

'मनस्विनी माता कौसल्या स्वयं ही अपना और मेरी माताका तथा मेरे-जैसे और भी बहुत-से मनुष्योंका भरण-पोषण करनेमें समर्थ हैं। अतः आप मुझे अपना अनुचर बना लीजिये। इसमें कुछ भी धर्म-विरुद्ध बात नहीं है। ऐसा करनेसे मैं कृतार्थ हो जाऊँगा और आपकी भी सेवा बनती रहेगी।.... मैं आपके लिये सदा फल-मूल और वनमें होनेवाली दूसरी आवश्यक वस्तुएँ तथा तपस्वियोंके लिये हवनकी सामग्री जुटाता रहूँगा। आप सीताके साथ पर्वतोंके शिखरोंपर विचरते रहियेगा। मैं आपके जागते और शयन करते समय भी सभी आवश्यक कार्य करता रहूँगा।' कैसा सुन्दर सेवा-भाव है! अपने सुखकी तनिक भी परवाह नहीं है!

फिर क्या था। लक्ष्मणका ऐसा दृढ़ प्रेमाग्रह देखकर भगवान् श्रीरामको उनकी प्रार्थना स्वीकार करनेके लिये बाध्य होना पड़ा। जब श्रीरामने उनसे कहा कि 'माता सुमित्रासे विदा माँग आओ', तब वे तुरंत ही अपनी माताके पास जाकर उनसे विदा लेकर लौट आये। उसके बाद वन जाते समय जब राम, लक्ष्मण और सीता—सभीने माता सुमित्राके चरणोंमें प्रणाम किया, उस समय माता लक्ष्मणका सिर सूँघकर कहती हैं—

सृष्टस्त्वं वनवासाय स्वनुरक्तः सुहृज्जने।
रामे प्रमादं मा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति॥
व्यसनी वा समृद्धो वा गतिरेष तवानघ।
एष लोके सतां धर्मो यज्ज्येष्ठवशगो भवेत्॥

× × ×

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥

(वा० रा० २। ४०। ५,६,९)

'बेटा! तुम अपने सुहृद् रामके परम अनुरागी हो, इसलिये मैं तुमको वनवासकी आज्ञा देती हूँ। तुम्हारे बड़े भाई श्रीराम वनको जाते हैं, तुम इनकी सेवामें कभी प्रमाद न करना। निष्पाप लक्ष्मण! ये संकटमें हों चाहे बढ़ी-

चढ़ी स्थितिमें, प्रत्येक दशामें ये ही तुम्हारी परम गति हैं। संसारमें सत्पुरुषोंका यही धर्म है कि सदा अपने बड़े भाईके अधीन होकर रहे।..... तुम रामको ही साक्षात् पिता दशरथ समझो, सीताको मेरे स्थानमें समझो और वनको ही अयोध्या समझो। (मैं तुमको आज्ञा देती हूँ) तुम सुखपूर्वक जाओ।'

कैसा सुन्दर उपदेश है! माता हो तो ऐसी हो। लक्ष्मणने भी माताकी आज्ञाका प्राणपणसे अक्षरशः पालन किया।

इसके बाद श्रीराम, सीता और लक्ष्मण सुमन्त्रद्वारा लाये हुए रथपर बैठकर वनको चल दिये। उस समय प्रजाके लोग भी प्रेमविह्वल होकर उनके साथ-साथ चलने लगे। जब बहुत समझानेपर भी प्रजाजन अयोध्याकी ओर न लौटे, तब लक्ष्मण और सीतासहित श्रीराम सबको तमसाके तटपर सोते छोड़कर शृंगवेरपुरकी ओर चले गये। वहाँ वे निषादराज गुहसे मिले। उनको सब बातें समझायीं। सन्ध्योपासनके अनन्तर लक्ष्मण गंगाजल ले आये। उसीको पीकर श्रीराम और सीता लक्ष्मणद्वारा तैयार की हुई घास और पत्तोंकी शय्यापर सोये। उस समय लक्ष्मणने उनके चरणोंको धोया, फिर वे कुछ हटकर पास ही दूसरे वृक्षके नीचे जा बैठे। इस प्रकार भाईके स्वाभाविक अनुरागसे लक्ष्मणको जागते देखकर गुहने कहा—'भाई लक्ष्मण! आपके लिये शय्या तैयार है। आप सुखपूर्वक सो जाइये। मैं अपने बान्धवोंसहित हाथमें धनुष लिये पहरा देता रहूँगा।'

यह सुनकर लक्ष्मणने उसकी सराहना करके कहा—

कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितं वा सुखानि वा॥
यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि।
तं पश्य सुखसंसुप्तं तृणेषु सह सीतया॥

(वा० रा० २। ५१। ९-१०)

'निषादराज! जब दशरथनन्दन श्रीराम सीताके साथ भूमिपर शयन कर रहे हैं, तब मैं कैसे नींद ले सकता हूँ तथा कैसे मेरे लिये जीवन और सुखकी सामग्रियोंको स्वीकार करना सम्भव है? देखो, सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी युद्धमें जिनके वेगको सहन नहीं कर सकते, वे ही श्रीराम आज सीताके साथ तिनकोंपर सुखसे सो रहे हैं!'

इसके बाद सबेरा होते ही गंगातटपर पहुँचकर श्रीरामने सुमन्त्रको विदा किया। फिर नौकापर बैठकर तीनों गंगाके उस पार गये। वहाँसे चलकर रात्रिमें वरदा नदीके पार एक वृक्षके नीचे ठहरे। लक्ष्मणने वहाँकी भूमि साफ करके कोमल पत्तियाँ बिछा दीं। श्रीराम और सीता उसपर बैठ गये। वहाँ माता-पिताके लिये शोक करते हुए श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'भाई लक्ष्मण! तुम अयोध्याको लौट जाओ, वहाँ जाकर माताओंकी सेवा करो। सीताके साथ मुझे अकेले ही वनमें जाने दो।' इसपर लक्ष्मणने बड़े हृदयग्राही वचन कहे—

न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव।
मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ॥
नहि तातं न शत्रुघ्नं न सुमित्रां परंतप।
द्रष्टुमिच्छेयमद्याहं स्वर्गं चापि त्वया विना॥

(वा० रा० २। ५३। ३१-३२)

'रघुनन्दन! आपके बिना न तो सीताजी ही और न मैं ही जलसे अलग की हुई मछलियोंकी भाँति, मुहूर्तभर भी जी सकते हैं। परन्तप! इस समय मैं आपको छोड़कर न तो माता सुमित्राको, न पिताको तथा न भाई शत्रुघ्नको और न स्वर्गको ही देखना चाहता हूँ।'

उसके बाद सबेरा होनेपर वहाँसे चलकर तीनों मुनिवर भरद्वाजसे मिले और एक दिन उनके आश्रममें विश्राम किया। दूसरे दिन उनके दिखाये हुए मार्गसे चित्रकूटकी ओर चल पड़े। यमुनातटपर पहुँचकर उससे पार उतरनेके लिये लक्ष्मणने एक बेड़ा तैयार किया। उसमें सीताके बैठनेके लिये एक सुन्दर बेतका सिंहासन बनाया। सीता कुछ लज्जित होकर उसपर बैठ गयीं। श्रीरामसहित लक्ष्मण स्वयं ही उस बेड़ेको खेकर यमुनापार ले गये। उस बेड़ेसे उतरकर आगे-आगे लक्ष्मण, पीछे सीता और उनके पीछे दोनोंकी रक्षा करते हुए श्रीराम चले। इस प्रकार जाते-जाते वे चित्रकूट पहुँचे। वहाँ मुनिवर वाल्मीकिजीसे मिले। फिर श्रीरामकी आज्ञा लेकर लक्ष्मणने स्वयं ही एक सुन्दर पर्णशाला तैयार की। उसीमें सब सुखपूर्वक रहने लगे।

वनमें रहते समय फल-मूल तथा हवनकी सामग्री जुटाना, सीताके वस्त्राभूषणोंकी पेटी और शस्त्रोंको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जाना और उनकी सँभाल रखना, जाड़ेकी रातोंमें खेतोंके बीचसे होकर नदीसे पानी ले आना, रास्ता पहचाननेके लिये पेड़ों और पत्थरोंपर पुराने चिथड़े लपेट रखना, झाड़ू देना, चौका लगाना, बैठनेके लिये चबूतरा तैयार करना, जलानेके लिये ईंधन इकट्ठा

करना और रातभर जागकर पहरा देते रहना—ये सभी काम लक्ष्मण बड़े हर्षपूर्वक सुचारुरूपसे करते थे।

इसके बाद जब भरतजी रामको लौटा ले जानेके लिये सेनासहित चित्रकूटके पास पहुँचे, उस समय लक्ष्मणजीको भरतपर सन्देह हुआ; अतः श्रीरामके प्रेमसे विवश होकर उन्होंने भरतके प्रति कुछ कड़े शब्द कह दिये। परन्तु फिर श्रीरामचन्द्रजीके मुखसे भरतकी प्रशंसा सुनकर वे चुप हो गये। भरतजी सबसे मिल-जुलकर श्रीरामकी चरणपादुका प्राप्त करके अयोध्या लौट गये। इधर श्रीरामचन्द्रजी भी सीता और लक्ष्मणसहित चित्रकूटसे चलकर अत्रि आदि ऋषियोंके आश्रमोंमें ठहरते पंचवटीमें पहुँचे। वहाँ पहुँचकर श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'हमें जहाँ आना था, वह स्थान यही है। यहाँ चारों ओर दृष्टि डालकर कोई ऐसी जगह खोज निकालो, जहाँ सर्वसम्मत आश्रम बनाकर हम, तुम और यह जनकनन्दिनी रह सकें तथा जल, पुष्प और कुशा—पासमें ही हों।' तब लक्ष्मणजी अपनी बुद्धिकी प्रधानता न रखकर कहते हैं—

परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते।
स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मां वद॥

(वा० रा० ३।१५।७)

'रघुनाथजी! इस लोकमें आपके सैकड़ों वर्ष स्थित रहनेपर भी मैं सदा आपके अधीन ही हूँ। (आपके सामने अपनी इच्छासे मैं कुछ नहीं करूँगा) इसलिये आप स्वयं ही अपनी रुचिके अनुकूल स्थानमें मुझे आश्रम बनानेकी आज्ञा दीजिये।'

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि लक्ष्मणजी विवेकहीन थे। वे बुद्धिमान् और विद्वान् थे; समय-समयपर श्रीरामसेवाके लिये बुद्धिका भी प्रयोग करते थे। किन्तु उन्हें रामके किये हुए कामपर अधिक सन्तोष होता था।

तदनन्तर श्रीरामजीने सुन्दर जगह दिखाकर उसके गुणों और शोभाका वर्णन किया। वहाँ श्रीलक्ष्मणजीने तुरंत ही भाईके आज्ञानुसार एक रहनेयोग्य आश्रम तैयार कर दिया और उसमें एक बड़ी सुन्दर विशाल पर्णशाला बना दी। उस आश्रम और पर्णशालाको देखकर सीतासहित श्रीराम बहुत प्रसन्न हुए तथा उन्होंने लक्ष्मणके कार्यकी प्रशंसा करके उन्हें हृदयसे लगाया। फिर वे लोग वहाँ आनन्दपूर्वक रहने लगे।

वहाँ रहते-रहते शरद-ऋतु बीत गयी। हेमन्तका आगमन हुआ। तब एक दिन विनीत लक्ष्मणने सीताजीके साथ स्नान करनेके लिये जाते हुए श्रीरामसे कहा—

अस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्र काले दुःखसमन्वितः।
तपश्चरति धर्मात्मा त्वद्भक्त्या भरतः पुरे॥
त्यक्त्वा राज्यं च मानं च भोगांश्च विविधान् बहून्।
तपस्वी नियताहारः शेते शीते महीतले॥
सोऽपि वेलामिमां नूनमभिषेकार्थमुद्यतः।
वृतः प्रकृतिभिर्नित्यं प्रयाति सरयूं नदीम्॥
अत्यन्तसुखसंवृद्धः सुकुमारो हिमार्दितः।
कथं त्वपररात्रेषु सरयूमवगाहते॥

(वा० रा० ३।१६।२७—३०)

'पुरुषोत्तम! इस शीतकालमें धर्मात्मा भरत आपकी भक्तिके कारण नगरमें कष्ट सहन करके तप कर रहे हैं। वे राज्य और मान तथा नाना प्रकारके बहुत-से भोगोंका भी परित्याग करके तपस्यामें संलग्न हैं और नियमित आहार करते हुए इस जाड़ेकी ऋतुमें भी पृथ्वीपर ही शयन करते हैं। निश्चय ही, भरत भी इसी वेलामें स्नान करनेके लिये उद्यत होकर मन्त्री एवं प्रजाजनोंके साथ प्रतिदिन सरयू नदीपर जाते होंगे। अत्यन्त सुखमें पले हुए सुकुमार भरत जाड़ेका कष्ट सहन करते हुए रात्रिके पिछले पहरमें सरयूजीमें कैसे डुबकी लगाते होंगे।'

इससे उन लोगोंके मतका खण्डन हो जाता है, जो यह कहते हैं कि लक्ष्मणजी श्रीरामसे ही प्रेम करते थे, भरतके प्रति तो उनका द्वेष-भाव ही रहा। अवश्य ही श्रीरामको दुःख देनेवालों और उनकी अवज्ञा करनेवालोंको वे क्षमा नहीं करते थे; परन्तु जब उन्हें मालूम हो गया कि भरतका कोई दोष नहीं है, बल्कि राम-वियोगमें भरत तपस्वी-जीवन बिता रहे हैं, तब तो लक्ष्मण भरतपर पहलेसे भी बढ़कर परम श्रद्धा और प्रेम करने लग गये थे।

एक दिनकी बात है, पंचवटी आश्रममें बैठे हुए श्रीराम लक्ष्मणसे बातें कर रहे थे। उसी समय वहाँ शूर्पणखाने आकर श्रीरामसे अपने साथ विवाह करनेके लिये कहा। श्रीरामने उसको लक्ष्मणके पास भेज दिया। शूर्पणखाने उनके पास जाकर भी वही बात कही। तब लक्ष्मणजीने हँसकर उत्तर दिया—

कथं दासस्य मे दासी भार्या भवितुमिच्छसि।
सोऽहमार्येण परवान् भ्रात्रा कमलवर्णिनि॥

(वा० रा० ३।१८।९)

'मैं तो दास हूँ। अपने बड़े भाई श्रीरामके अधीन

हूँ। कमलवर्णिनि! तुम मेरी स्त्री होकर दासी बनना क्यों चाहती हो? [तुम श्रीरामके ही पास जाओ।]'

वह श्रीरामके पास लौट आयी। वहाँ जब वह सीतापर झपटी, तब श्रीरामकी आज्ञा पाकर लक्ष्मणने उसके नाक-कान काट लिये।

इसके बाद खर-दूषण आदि राक्षसोंने श्रीरामपर चढ़ाई की। उनको आते देखकर श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'निस्सन्देह तुम इन राक्षसोंको मार सकते हो किन्तु मैं स्वयं ही इन सबोंका वध करना चाहता हूँ। अतः तुम सीताकी रक्षाके लिये उसे गुफामें ले जाओ।' लक्ष्मणने भगवान्‌की आज्ञा मानकर वैसा ही किया। श्रीरामने सब राक्षसोंका संहार कर दिया। फिर शूर्पणखाकी प्रेरणासे रावण सीताहरणके लिये मारीचको साथ लेकर पंचवटीके पास आया। वहाँ मारीचने विचित्र स्वर्णमृगका रूप बनाकर सीताका मन आकर्षित किया। सीताके कहनेसे भगवान् श्रीराम उसे मारनेके लिये धनुष-बाण लेकर उसके पीछे गये। वहाँ मारीच मारा गया। मरते समय उसने राम-जैसा ही स्वर बनाकर 'हा सीते! हा लक्ष्मण!!' इस प्रकार कहकर बड़े जोरसे आर्तनाद किया। उसे सुनकर सीता घबरा गयीं। उन्होंने समझा कि राम संकटमें पड़े हैं, अतः उनकी सहायताके लिये लक्ष्मणको तुरंत दौड़ जानेके लिये कहा। सीताके बहुत कुछ कहनेपर भी श्रीलक्ष्मणजी भाईकी आज्ञाका आदर करके सीताकी रक्षापर ही खड़े रहे। तब देवी सीताने उनके प्रेम और भावपर दोषारोपण करके कटुवचन कहे; फिर भी लक्ष्मण टस-से-मस नहीं हुए, उन्होंने श्रीरामके प्रभाव और राक्षसोंकी मायाका वर्णन करके सीताको समझानेकी चेष्टा की। परन्तु सीताको सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने क्रोधावेशमें लक्ष्मणको ताना देकर न कहनेयोग्य वचन कह डाले। तब लक्ष्मण वनके देवताओंको सीताकी रक्षाका भार सौंपकर श्रीरामके पास चले गये। श्रीरामकी आज्ञा-उल्लंघन करनेका लक्ष्मणके लिये यह पहला ही अवसर था।

इधर रावण भिक्षुके वेषमें आकर सीताका हरण करके ले गया और उधर लक्ष्मणजी आश्रमकी ओर आते हुए श्रीरामसे मिले। श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'तुम सीताको अकेली छोड़कर चले आये, यह बहुत बुरा काम किया।' इसी तरह और भी कुछ उलाहना दिया। तब लक्ष्मणने कहा—

न स्वयं कामकारेण तां त्यक्त्वाहमिहागतः।
प्रचोदितस्तयैवोग्रैस्त्वत्सकाशमिहागतः ॥

(वा० रा० ३। ५९। ६)

'भगवन्! मैं अपनी इच्छासे उनको छोड़कर यहाँ नहीं आया हूँ, उन्हींके कठोर वचनोंसे प्रेरित होकर मुझे यहाँ आपके पास आना पड़ा है।'

इस प्रकार लक्ष्मणने सब बातें श्रीरामसे समझाकर कहीं तब भी श्रीरामको सन्तोष नहीं हुआ। वे रास्तेमें तरह-तरहसे विलाप करते आश्रमपर पहुँचे। वहाँ पर्णकुटीको खाली पा, अत्यन्त विरहाकुल होकर विलाप करने लगे। तब लक्ष्मणने उन्हें धीरज बँधाकर बहुत समझाया। इस तरह जब-जब सीताके वियोगमें श्रीरामचन्द्रजी अधीर हो जाते, तब-तब लक्ष्मण प्रेमभरे वचनोंसे इनके प्रभावका स्मरण कराते हुए उनको धैर्य बँधाया करते थे।

दोनों भाई सीताकी खोजमें फिरते-फिरते जटायुके पास पहुँचे। उसकी दाह-क्रिया करके कबन्धका वध किया और उसीके परामर्शसे पम्पासरके पास गये; वहीं शबरीसे भेंट हुई। वहाँसे चलनेके बाद हनुमान्‌के द्वारा सुग्रीवसे मित्रता हुई। सुग्रीवने श्रीरामको श्रीसीताद्वारा गिराये हुए वस्त्र और आभूषण दिखाये। तब श्रीरामने उन वस्त्राभूषणोंको छातीसे लगाकर लक्ष्मणजीसे देखनेके लिये कहा। उन्हें देखकर लक्ष्मणजी बोले—

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले॥
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्।

× × ×

(वा० रा० ४। ६। २२-२३)

'भगवन्! न मैं सीताके बाजूबंदको ही जानता हूँ और न मैं कुण्डलोंको ही पहचानता हूँ, परन्तु उनके नूपुरोंको अवश्य पहचानता हूँ; क्योंकि मैं नित्य उनके चरणोंमें प्रणाम करते हुए नूपुरोंको देखा करता था।' ब्रह्मचर्य-व्रत और पूज्यभावका कितना सुन्दर आदर्श है!

इसके बाद सुग्रीवसे सारी बातें हुईं। बाली-सुग्रीवका युद्ध हुआ। श्रीरामने एक ही बाणसे बालीको मार गिराया। सुग्रीवका किष्किन्धाके राज्यपर अभिषेक हुआ। श्रीराम-लक्ष्मणने प्रवर्षण पर्वतपर रहकर वर्षा-ऋतुका समय व्यतीत किया, शरद-ऋतु आ गयी। किन्तु इधर सुग्रीव विषय-भोगोंमें फँसकर श्रीरामके कार्यको भूल गये। यह देखकर श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे लक्ष्मणजी सुग्रीवके पास गये। उस प्रसंगमें श्रीलक्ष्मणजीकी वीरता, धीरता और शीलका वाल्मीकीय रामायणमें बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है। वहाँ सुग्रीवको समझाते हुए लक्ष्मण कहते हैं—

पूर्वं कृतार्थो मित्राणां न तत्प्रतिकरोति यः।
कृतघ्नः सर्वभूतानां स वध्यः प्लवगेश्वर॥
गोघ्ने चैव सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥

(वा० रा० ४। ३४। १०,१२)

'वानरराज! जो पहले मित्रोंकी सहायतासे अपना कार्य सिद्ध करके बदलेमें उनका उपकार नहीं करता, वह कृतघ्न है। अतः वह सब प्राणियोंके लिये वध करनेयोग्य है। गो-हत्यारा और शराबी तथा चोर एवं व्रत भंग करनेवाला—इन सबके लिये तो सत्पुरुषोंने प्रायश्चित्तका विधान किया है; किन्तु कृतघ्नके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है।'

इसपर ताराने विनयपूर्वक लक्ष्मणको समझाकर शान्त किया। तब सुग्रीव सावधान होकर लक्ष्मणसे बोले—

कः शक्तस्तस्य देवस्य ख्यातस्य स्वेन कर्मणा।
तादृशं प्रतिकुर्वीत अंशेनापि नृपात्मज॥
सीतां प्राप्स्यति धर्मात्मा वधिष्यति च रावणम्।
सहायमात्रेण मया राघवः स्वेन तेजसा॥

(वा० रा० ४। ३६। ६-७)

'दशरथनन्दन! भगवान् श्रीराम अपने कार्यसे सर्वत्र विख्यात हैं। वे साक्षात् देव (भगवान्) हैं। उनके उपकारका कोई आंशिक रूपमें भी बदला कैसे चुका सकता है। धर्मात्मा श्रीराम अपने ही तेजसे रावणका वध करेंगे और सीताको प्राप्त करेंगे। मैं तो केवल निमित्तरूपमें सहायक रहूँगा।'

यह सुनकर श्रीलक्ष्मणजी प्रसन्न हो गये और सुग्रीवकी प्रशंसा करके उनके साथ भगवान् श्रीरामके पास चले आये। उसी समय सुग्रीवके बुलाये हुए असंख्य वानर भी पहुँच गये। उनको सीताकी खोज करनेके लिये सब दिशाओंमें भेजा गया। श्रीहनुमान् लंकामें जाकर श्रीजनकनन्दिनीसे मिले। वहाँसे लौटकर उन्होंने श्रीराम-लक्ष्मणको सीताकी कष्टकथा सुनायी। सीताका समाचार सुनकर असंख्य वानरोंकी बड़ी भारी सेना लेकर श्रीराम-लक्ष्मण समुद्रके तटपर पहुँचे। वहाँ श्रीरामने शरणागत विभीषणको अभय-दान दिया। समुद्रपर सेतु बाँधकर सेनासहित श्रीराम-लक्ष्मण समुद्रके उस पार पहुँचे। लंकामें राक्षसोंके साथ भयानक युद्ध हुआ। एक दिनकी बात है; मेघनादने सब वानरोंके देखते-देखते मायाकी सीताका वध करके सबको दुःखित कर दिया। हनुमान्‌द्वारा यह समाचार पाकर श्रीराम सीताके दुःखसे मूर्च्छित हो गये। उनको सचेत करनेके लिये अनेक उपचार किये गये। लक्ष्मणने पुरुषार्थकी बड़ाई करते हुए श्रीरामसे कहा—

तदद्य विपुलं वीर दुःखमिन्द्रजिता कृतम्।
कर्मणा व्यपनेष्यामि तस्मादुत्तिष्ठ राघव॥
उत्तिष्ठ नरशार्दूल दीर्घबाहो धृतव्रत।
किमात्मानं महात्मानमात्मानं नावबुध्यसे॥

(वा० रा० ६। ८३। ४२-४३)

'प्रभो! आज इन्द्रजित्‌ने (अपने इस क्रूर कर्मसे) जो आपको बड़ा भारी कष्ट पहुँचाया है, मैं अपने भयानक कर्मसे उसे दूर कर दूँगा। अतः अब आप उठ बैठिये। महाबाहो! पुरुषसिंह! क्या आप अपने महात्मापनके महान् प्रभावको नहीं जानते? हे व्रतोंके पालन करनेवाले! आप खड़े हो जाइये।'

इस प्रकार श्रीलक्ष्मणजी अपनी गोदमें मूर्च्छित होकर सोये हुए श्रीरामको सचेत करनेकी चेष्टा कर रहे थे, उसी समय विभीषण भी वहाँ आ पहुँचे। विभीषणके पूछनेपर श्रीलक्ष्मणजीने सीताके शोकमें श्रीरामके अचेत होनेकी बात कही। तब विभीषणने प्रबल युक्तियों द्वारा सबके सामने श्रीरामको समझाया कि 'मेघनाद सीताको नहीं मार सकता। यह सब राक्षसी मायाका खेल है। आप चिन्ता न करें। मेघनाद इस समय निकुम्भिलामें यज्ञ करने गया है, उसका यज्ञ पूरा हो जानेपर उसे जीतना कठिन हो जायगा। हमें शीघ्र ही वहाँ पहुँचकर उससे युद्ध करना चाहिये। अतः आप लक्ष्मणको हमारे साथ भेज दीजिये।' इस प्रकार विभीषणकी बात सुनकर श्रीराम सावधान हो गये। विभीषणसे सारी बातें दुबारा सुनीं। फिर मेघनादके पराक्रम और मायाबलका वर्णन करके लक्ष्मणसे कहा—'सुग्रीव और विभीषणके साथ जाकर तुम उसको मारो' तब श्रीलक्ष्मणजीने मेघनादको मारनेकी प्रतिज्ञा करके श्रीरामकी प्रदक्षिणा की और उनको प्रणाम किया। इसके बाद वे सेनाके साथ विभीषणको लेकर गये। वहाँ मेघनादके साथ लक्ष्मणका बड़ा घोर युद्ध हुआ। उसमें श्रीलक्ष्मणने वीरता, धीरता और युद्धकौशलका बहुत विलक्षण परिचय दिया। श्रीलक्ष्मणने मेघनादके घोड़े, सारथि और रथका नाश करके बार-बार उसके अनेक धनुष काट गिराये। इस प्रकार उन्होंने राक्षसोंकी सारी सेनाको व्याकुल कर दिया। अन्तमें महाबलवान् मेघनादको मारकर लक्ष्मणजीने बड़ा अद्भुत काम किया। फिर

लक्ष्मणजीने श्रीरामके पास आकर उनको प्रणाम किया। श्रीरामचन्द्रने लक्ष्मणको हृदयसे लगाकर उनके इस कार्यकी प्रशंसा करते हुए कहा—

कृतं परमकल्याणं कर्म दुष्करकर्मणा।
अद्य मन्ये हते पुत्रे रावणं निहतं युधि॥
अद्याहं विजयी शत्रौ हते तस्मिन् दुरात्मनि।

(वा० रा० ६।९१।१३-१४)

'भाई लक्ष्मण! तुम बड़े दुष्कर कर्म करनेवाले हो। तुमने यह परम कल्याणकारी कार्य किया है। रावण-पुत्र मेघनादके मारे जानेसे अब मैं रावणको युद्धमें मरा हुआ ही समझता हूँ। उस दुरात्मा शत्रु मेघनादके मारे जानेसे अब हमारी विजय हो चुकी।'

इसके बाद श्रीरामकी आज्ञासे सुषेणने ओषधियोंका उपचार करके लक्ष्मणके शरीरकी समस्त व्यथा दूर की, इससे लक्ष्मण पूर्ववत् स्वस्थ हो गये।

राक्षसोंके मुखसे लक्ष्मणके द्वारा मेघनादके मारे जानेका समाचार सुनकर रावणको बहुत दुःख हुआ। उसने क्रोधमें भरकर सेनासहित चढ़ाई की। बड़ा भयानक युद्ध हुआ। उस युद्धमें रावणके शक्तिबाणसे श्रीलक्ष्मणजी मूर्च्छित हो गये। यह देखकर श्रीरामको बड़ा दुःख हुआ, उन्होंने भाई लक्ष्मणकी सेवा और प्रेम याद करके विचित्र ढंगसे विलाप किया; इससे भी श्रीलक्ष्मणके प्रेमका पता चलता है।

तदनन्तर सुषेणने हनुमान्जीसे ओषधियाँ मँगवाकर लक्ष्मणको मूर्च्छासे जाग्रत् और स्वस्थ किया। फिर राम और रावणका घोर युद्ध हुआ; जिसमें रावण मारा गया। सीता बुलायी गयीं। राज्योचित सत्कारके साथ वे पालकीमें बैठकर आ रही थीं, पर श्रीरामने उन्हें पैदल लानेके लिये विभीषणको आज्ञा दी। यह बात लक्ष्मणको बहुत खटकी, परन्तु भगवान्की वैसी ही इच्छा समझकर वे कुछ नहीं बोले। श्रीरामने वहाँ आनेपर सीताका तिरस्कार किया। लक्ष्मणको बड़ा दुःख हुआ, तथापि सीताके कहनेसे श्रीरामका रुख समझकर उन्होंने सीताके लिये चिता तैयार कर दी। सीताकी अग्नि-परीक्षा हुई। सब देवता आये। राजा दशरथ भी आये। वहाँ श्रीदशरथजीने लक्ष्मणको श्रीरामका प्रभाव सुनाकर उनकी सेवामें तत्पर रहनेके लिये उत्साहित किया। इसके बाद पुष्पक-विमानपर चढ़कर सब अयोध्या पहुँचे। वहाँ माताओं और भरत-शत्रुघ्नसे मिलाप हुआ। श्रीराम राजसिंहासनपर विराजमान हुए। तीनों भाई उनकी सेवा करने लगे। इस प्रकार आनन्दपूर्वक कितना ही समय व्यतीत हुआ।

इसके बाद सीताको घरमें रखनेके कारण होनेवाले लोकापवादको सुनकर श्रीरामने सीताका परित्याग करनेका विचार किया। उस समय सब भाइयोंको अपने पास बुलाकर श्रीरामने कहा—'तुमलोग शान्तचित्तसे मेरी बात सुनो, सीताके कारण सारे राज्यमें मेरा अपवाद हो रहा है। यद्यपि लंकामें सीताने अग्नि-परीक्षा देकर सबको विश्वास दिला दिया था और लक्ष्मणके सामने ही सब देवता और सब महर्षियोंने भी सीताको निष्पाप बताया था तथा मैं स्वयं भी जानता हूँ कि जानकी निर्दोष है, फिर भी अब यह लोकापवाद मुझसे नहीं सहा जाता। अतः भाई लक्ष्मण! कल सबेरे तुम सुवर्ण- भूषित रथमें बैठाकर जानकीको गंगापार ले जाओ और वाल्मीकि ऋषिके आश्रमके पास छोड़ आओ।'

श्रीरामकी यह आज्ञा लक्ष्मणके लिये बहुत ही भयंकर थी; परन्तु श्रीरामने सोचा कि लक्ष्मणके सिवा दूसरा कोई इस आज्ञाका पालन कर भी नहीं सकेगा। लक्ष्मणके प्रेमपर उनको पूरा भरोसा था। इसी कारण उन्होंने यह हृदयविदारक आज्ञा लक्ष्मणको ही दी। श्रीरामने अपनी शपथ दिलाकर प्रतिवाद करनेकी मनाही कर दी। इस कारण लक्ष्मण कुछ उत्तर न दे सके। इस प्रसंगमें लक्ष्मणने कितना असह्य कष्ट सहन करके आज्ञा-पालनका व्रत निबाहा है, यह बात इस प्रसंगको पढ़नेसे ही कुछ समझमें आ सकती है। इस छोटे-से लेखमें इसका पूरा भाव व्यक्त नहीं किया जा सकता। सीताका परित्याग करते समय शोकमें भरकर हाथ जोड़े हुए लक्ष्मण सीतासे कहते हैं—

हृद्गतं मे महच्छल्यं यस्मादार्येण धीमता।
अस्मिन्निमित्ते वैदेहि लोकस्य वचनीकृतः॥

(वा० रा० ७।४७।४)

'जनकनन्दिनी! बुद्धिमान् आर्य श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा मैं इस लोकनिन्दित कार्यमें नियुक्त किया गया—इससे मेरे हृदयमें बड़ा काँटा चुभ रहा है।'

इसके सिवा लक्ष्मणने वहाँ यह भी कहा है कि 'इसकी अपेक्षा यदि मेरी मृत्यु हो जाती तो अच्छा था।' ऐसी कठिन आज्ञाका पालन करना लक्ष्मणका ही काम था। वहाँसे लौटते समय भी लक्ष्मणजी श्रीरामकी ही चिन्ता करते हैं कि अब श्रीराम सीताके बिना किस प्रकार जीवन धारण कर सकेंगे। इस प्रकार सुमन्त्रसे बातचीत

करते-करते लक्ष्मण अयोध्या पहुँचे और श्रीरामसे मिले। उस समय लक्ष्मणके मुखपर शोकके सभी चिह्न मौजूद थे। श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम करके उन्होंने सीताके परित्यागकी सारी बात कह सुनायी और शोकाकुल श्रीरामको बहुत प्रकारसे सान्त्वना दी। उस समय श्रीराम प्रसन्न होकर लक्ष्मणसे कहते हैं—'भाई लक्ष्मण! ऐसे विकट समयमें तुम्हारे-जैसा बन्धु बड़ा ही दुर्लभ है। सौम्य! तुम महाबुद्धिमान् हो और मेरे मनके अनुसार चलनेवाले हो।'

इसके बाद अश्वमेधयज्ञका आयोजन हुआ। उसमें सीता और कुश-लवको साथमें लेकर श्रीवाल्मीकि ऋषि भी पधारे। कुश-लवने रामायणकी कथा सुनायी। श्रीरामकी आज्ञासे सीताने सबके सामने अपने पातिव्रत्यका परिचय दिया और वे भूमिमें प्रविष्ट हो गयीं।

इसके बाद ब्रह्माजीका सन्देश लेकर एक तपस्वी आया। उसने भगवान्से यह प्रतिज्ञा कराकर कि 'जो हम दोनोंकी बात सुन ले या हमें देख ले, उसका आप वध करवा दें; एकान्तमें ब्रह्माजीका महाप्रयाणविषयक संदेश सुनाया। उसी समय दुर्वासा ऋषि आये। उन्होंने उसी समय श्रीरामसे मिलना चाहा। उनके शापसे समस्त कुलको बचानेके लिये श्रीलक्ष्मण अपने जीवनका लोभ छोड़कर उनके आगमनकी सूचना देनेके लिये श्रीरामके पास चले गये। फिर स्वयं ही श्रीरामको प्रतिज्ञा-पालनके लिये उत्साहित करके अपनेको मार डालनेके लिये कहा। इसपर सबकी सलाहसे जब श्रीरामने लक्ष्मणका परित्याग कर दिया, तब उनका वियोग सहन करके आप एक दिन भी इस संसारमें नहीं रहे, तुरंत ही सरयू नदीके तीर जाकर योगबलसे परमधाममें पधार गये।

श्रीलक्ष्मणके माहात्म्यका वर्णन कौन कर सकता है। इनके समान परमार्थ और प्रेमका, बुद्धिमत्ता और निष्कपटताका, सत्परामर्श देने और आज्ञापालन करनेका, तेज और मैत्रीका विलक्षण समन्वय इन्हींके चरित्रोंमें पाया जाता है। सारा संसार श्रीरामका गुणगान करता है, श्रीराम भरतके गुणोंका बखान करते हैं तथा श्रीराम और भरत— दोनों श्रीलक्ष्मणके गुण गाते हैं। फिर मैं उनके गुणोंका इस छोटे-से लेखमें कैसे वर्णन कर सकता हूँ।

भरतका आदर्श चरित्र

भरतजीका चरित्र बड़ा ही उज्ज्वल और आदर्श है। उनमें कहीं कुछ भी दोष नहीं दीख पड़ता। भरतजीकी महिमा अपार है। वाल्मीकीय रामायणमें आपको श्रीविष्णुका ही अंशावतार बताया गया है। साथ ही उनका चरित्र उन्हें एक साधु-शिरोमणि, आदर्श स्वामिभक्त, महात्मा, निःस्पृह और भक्ति-प्रधान कर्मयोगी सिद्ध करता है। भरतजी धर्म और नीतिके जाननेवाले, सद्गुणसम्पन्न, त्यागी, संयमी, सदाचारी, प्रेम और विनयकी मूर्ति, श्रद्धालु और बड़े बुद्धिमान् थे। वैराग्य, सत्य, तप, क्षमा, तितिक्षा, दया, वात्सल्य, धीरता, वीरता, गम्भीरता, सरलता, सौम्यता, मधुरता, अमानिता और सुहृदता आदि गुणोंका इनमें विलक्षण विकास हुआ था। भ्रातृ-प्रेमकी तो आप मानो सजीव मूर्ति ही थे।

भरतकी पितृ-भक्ति

विवाहके बाद भरतजी शीघ्र ही अपने मामाके साथ ननिहाल चले गये थे; इस कारण रामायणमें इनकी पितृ-भक्तिका विशेष वर्णन नहीं आता। परन्तु नानाके घर रहते हुए एक दिन इन्होंने मित्रगोष्ठीमें अपने दुःस्वप्नकी बात कहकर जो पिताके लिये दुःख प्रकट किया है और अयोध्यामें लौटनेके बाद मातासे पिताजीके स्वर्गवासका समाचार पानेपर शोकके कारण इनकी जो दशा हुई है तथा इन्होंने पिताके लिये जिस प्रकार विलाप किया है, उससे इनके श्रद्धासमन्वित सच्चे पितृ-प्रेमका पता चलता है। जब माताने इनसे धैर्य धारण करनेके लिये कहा, तब उसके उत्तरमें आप कहते हैं—

अभिषेक्ष्यति रामं तु राजा यज्ञं नु यक्ष्यते।
इत्यहं कृतसंकल्पो हृष्टो यात्रामयासिषम्॥
तदिदं ह्यन्यथाभूतं व्यवदीर्णं मनो मम।
पितरं यो न पश्यामि नित्यं प्रियहिते रतम्॥

(वा० रा० २।७२।२७-२८)

'मैंने तो यह सोचा था कि महाराज श्रीरामका राज्याभिषेक करेंगे और स्वयं यज्ञकी दीक्षा लेंगे। इसी विचारसे मैं वहाँसे प्रसन्नतापूर्वक चला था; किन्तु यहाँ आनेपर वे सभी बातें विपरीत ही दिखायी दीं। आज जो मैं सर्वदा अपना प्रिय और हित करनेवाले पिताजीको नहीं देखता, इससे मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है'—इत्यादि।

भ्रातृ-भक्ति

उपर्युक्त ढंगसे पिताके लिये शोक करते-करते ही भरतके हृदयमें श्रीरामचन्द्रजीका प्रेम उमड़ पड़ता है और वे कहने लगते हैं—

यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि संमतः।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः॥
पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः।
तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम॥

(वा० रा० २। ७२। ३२-३३)

'जो मेरे भाई, पिता और बन्धु हैं, जिनका मैं परम प्रिय दास हूँ और जो पवित्र कर्म करनेवाले हैं, उन श्रीरामचन्द्रजीको आप शीघ्र मेरे आनेकी सूचना दें। धर्मको जाननेवाले श्रेष्ठ मनुष्यके लिये बड़ा भाई पिताके समान ही होता है। मैं उनके चरणोंमें प्रणाम करूँगा। अब वे ही मेरे आश्रय हैं।'

इसपर कैकेयीने उन्हें सारी घटना कह सुनायी और राज्य स्वीकार करनेके लिये कहा।

कैकेयीके मुखसे इस प्रकार भाइयोंके वन-गमनकी बात सुनकर भरतजी महान् दुःखसे सन्तप्त हो जाते हैं। वे व्याकुल हृदयसे माताको बहुत-कुछ बुरा-भला कहते हैं और यह भी कहते हैं—

लुब्धाया विदितो मन्ये न तेऽहं राघवं यथा।
तथा ह्यनर्थो राज्यार्थं त्वयाऽऽनीतो महानयम्॥

(वा० रा० २।७३।१३)

'मैं समझता हूँ, लोभके वशमें होनेके कारण तू अबतक यह न जान सकी कि मेरा श्रीरामचन्द्रजीके प्रति कैसा भाव है। इसी कारण तूने राज्यके लिये इतना बड़ा अनर्थ कर डाला।'

इसके सिवा और भी बहुत-सी बातें भरतजीने माताके प्रति कहीं। उसके बाद भरतजी माता कौसल्यासे, जो उनसे मिलनेके लिये आ रही थीं, रास्तेमें ही मिले और उनकी गोदमें लिपटकर रोने लगे। इसके अनन्तर वे अनेक प्रकारसे शपथ करके माता कौसल्याको विश्वास दिलाते हैं कि रामजीके वनवासमें उनकी सम्मति नहीं थी।

इसके बाद मुनि वसिष्ठजीके आज्ञानुसार राजा दशरथके अन्त्येष्टिकर्मकी तैयारी होती है। उस समय राजाके शवको देखकर भरतजी फिर विलाप करते हुए कहते हैं—

किं ते व्यवसितं राजन् प्रोषिते मय्यनागते।
विवास्य रामं धर्मज्ञं लक्ष्मणं च महाबलम्॥

(वा० रा० २। ७६। ६)

'राजन्! मैं तो परदेश गया हुआ था, आपके पास पहुँचने भी नहीं पाया; उसके पहले ही धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजीको और महाबली लक्ष्मणको वनमें भेजकर आपने यह क्या विचार किया?'

भरतको इस प्रकार विलाप करते देखकर महामुनि वसिष्ठजी फिर समझाते हैं। उसके बाद विधि-विधानसे राजा दशरथकी अन्त्येष्टि-क्रिया सम्पन्न होती है। नगरमें आकर दस दिनोंतक भूमिपर शयन करते हुए भरत बड़े दुःखसे समय बिताते हैं।

श्राद्ध आदिसे निवृत्त हो जानेपर राजसभामें श्रीवसिष्ठजी तथा अन्य सभी सभासद् भरतजीको समझाकर आग्रहपूर्वक राज्य स्वीकार करनेके लिये कहने लगे। तब भरतजीने कहा—

'मैं और यह राज्य दोनों ही श्रीरामके हैं। आपलोग मुझे धर्मका उपदेश दीजिये। श्रीरामचन्द्रजी सब प्रकार मुझसे बड़े हैं; इसलिये—

राममेवानुगच्छामि स राजा द्विपदां वरः।
त्रयाणामपि लोकानां राघवो राज्यमर्हति॥

× × ×

यदि त्वार्यं न शक्ष्यामि विनिवर्तयितुं वनात्।
वने तत्रैव वत्स्यामि यथाऽऽर्यो लक्ष्मणस्तथा॥
सर्वोपायं तु वर्तिष्ये विनिवर्तयितुं बलात्।
समक्षमार्यमिश्राणां साधूनां गुणवर्तिनाम्॥

(वा० रा० २। ८२। १६,१८-१९)

'पुरुषोत्तम श्रीरघुनाथजी अयोध्याकी तो बात ही क्या, त्रिलोकीके भी राजा होने योग्य हैं, मैं उन्हींका अनुसरण करूँगा। आप जैसे गुणवान् श्रेष्ठ साधु पुरुषोंके सामने ही उन्हें बलपूर्वक लौटा लानेके लिये मैं सब प्रकारके उपाय करूँगा। इसपर भी यदि आर्य श्रीरामचन्द्रजीको वनसे लौटा लानेमें समर्थ नहीं हुआ तो जैसे श्रेष्ठ भाई लक्ष्मण रहते हैं, उसी तरह मैं भी वहीं वनमें निवास करूँगा।' भरतके ऐसे भ्रातृ-प्रेममें सने वचन सुनकर वहाँ बैठे हुए सभी सभासदोंकी आँखोंसे आनन्दके आँसू बहने लगते हैं।

श्रीरामको लौटा लानेके लिये जब भरत दल-बलके साथ चित्रकूटके लिये प्रस्थान करते हैं, उस समय रास्तेमें उनकी निषादराज गुहसे भेंट होती है। इनके साथ

चतुरंगिणी सेना देखकर गुहके मनमें संदेह हो जाता है और वे अपना संदेह इनके सामने प्रकट कर देते हैं। उस समय भरत निषादसे कहते हैं—

मा भूत् स कालो यत् कष्टं न मां शङ्कितुमर्हसि।
राघवः स हि मे भ्राता ज्येष्ठः पितृसमो मतः॥
तं निवर्तयितुं यामि काकुत्स्थं वनवासिनम्।

(वा० रा० २। ८५। ९-१०)

'निषादराज! ऐसा अवसर न आये जो इस प्रकार दुःखदायक हो। तुमको मुझपर शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि रघुकुलभूषण श्रीराम मेरे बड़े भाई हैं और मैं उनको पिताके समान समझता हूँ। मैं उन वनवासी श्रीरामको वनवाससे लौटानेके लिये जा रहा हूँ।' भरतकी बात सुनकर निषादराजका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा। वह हर्षमें भरकर कहने लगा—

धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले।
अयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि॥

(वा० रा० २। ८५। १२)

'आप धन्य हैं, जो बिना प्रयत्नके मिले हुए राज्यको त्याग देना चाहते हैं; अतः इस भूमण्डलमें आपके समान मुझे कोई दूसरा नहीं दिखायी देता।'—इत्यादि।

इस प्रकार दोनोंमें बड़ी देरतक बातें होती रहीं। श्रीरामके वियोगमें उन्हींका चिन्तन करते-करते शोकाग्निसे सन्तप्त हो जानेके कारण भरतजी सहसा मूर्च्छित हो गये। पासमें बैठे हुए शत्रुघ्न भी उनको पकड़कर रोने लगे और बेहोश हो गये। यह देखकर निषादराज मुग्ध हो गया। थोड़ी देर बाद चित्त स्वस्थ होनेपर भरतजीने फिर गुहसे पूछा—

भ्राता मे क्वावसद् रात्रौ क्व सीता क्व च लक्ष्मणः।
अस्वपच्छयने कस्मिन् किं भुक्त्वा गुह शंस मे॥

(वा० रा० २।८७।१३)

'निषादराज! उस दिन रातको मेरे भाई श्रीराम सीता और लक्ष्मणके साथ यहाँ किस जगह ठहरे थे तथा उन्होंने क्या भोजन करके कैसे बिछौनोंपर शयन किया था? सब बातें मुझे बताओ।'

भरतके इस प्रकार पूछनेपर गुह बहुत प्रसन्न हुआ और उसने सारी घटना ज्यों-की-त्यों सुना दी। उसने उन्हें वह इंगुदीका वृक्ष और कुशका बिछौना दिखाया, जहाँपर श्रीरामने सीताके साथ रात्रिमें शयन किया था। उस स्थानको देखकर भरतजीकी विचित्र दशा हो गयी, वे भाँति-भाँतिसे विलाप करने लगे—

हा हतोऽस्मि नृशंसोऽस्मि यत् सभार्यः कृते मम।
ईदृशीं राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत्॥
सार्वभौमकुले जातः सर्वलोकसुखावहः।
सर्वप्रियकरस्त्यक्त्वा राज्यं प्रियमनुत्तमम्॥
कथमिन्दीवरश्यामो रक्ताक्षः प्रियदर्शनः।
सुखभागी न दुःखार्हः शयितो भुवि राघवः॥
धन्यः खलु महाभागो लक्ष्मणः शुभलक्षणः।
भ्रातरं विषमे काले यो राममनुवर्तते॥

(वा० रा० २। ८८। १७—२०)

'हाय! मैं मारा गया। मैं बड़ा क्रूर हूँ, जिसके कारण श्रीरघुनाथजीको सती सीताके साथ अनाथकी भाँति ऐसी शय्यापर सोना पड़ता है। जो सम्राट्के वंशमें उत्पन्न, सब लोकोंको सुख देनेवाले और सबका प्रिय करनेवाले हैं, जिनका वर्ण नील कमलके समान है, नेत्र लाल हैं, जो सब प्रकारसे सुख भोगनेके योग्य और दुःखके अयोग्य हैं, वे प्रियदर्शन श्रीरघुनाथजी अत्युत्तम प्रिय राज्यको छोड़कर किस प्रकार पृथ्वीपर शयन करते हैं। उत्तम लक्षणोंवाला लक्ष्मण ही धन्य और बड़भागी है, जो संकटके समय बड़े भाई श्रीरामके साथ रहकर इनकी सेवा करता है।' भरतजीने विलाप करते हुए इसी प्रकारकी और भी बहुत-सी बातें कहीं।

आगे चलकर जब भरतजी महर्षि भरद्वाजके आश्रममें पहुँचते हैं, उस समय महर्षि कुशल पूछनेके बाद उनके हृदयपर गहरी चोट पहुँचानेवाला प्रश्न कर बैठते हैं। वे कहते हैं—'तुम्हारा यहाँ वनमें किस निमित्तसे आना हुआ? तुम निरपराधी धर्मात्मा राम और लक्ष्मणका कोई अनिष्ट तो नहीं करना चाहते? यह सुनकर दुःखके कारण भरतकी आँखोंमें जल भर आया। वे लड़खड़ाती हुई वाणीमें बोले—

हतोऽस्मि यदि मामेवं भगवानपि मन्यते।
मत्तो न दोषमाशंके मैवं मामनुशाधि हि॥
न चैतदिष्टं माता मे यदवोचन्मदन्तरे।
नाहमेतेन तुष्टश्च न तद्वचनमाददे॥
अहं तु तं नरव्याघ्रमुपयातः प्रसादकः।
प्रतिनेतुमयोध्यायां पादौ चास्याभिवन्दितुम्॥
तं मामेवंगतं मत्वा प्रसादं कर्तुमर्हसि।
शंस मे भगवन् रामः क्व संप्रति महीपतिः॥

(वा० रा० २। ९०। १५—१८)

'मुने! मुझसे कोई अपराध नहीं हुआ है। फिर भी आप यदि मुझे इतना अपराधी समझते हैं, तब तो मैं हर तरहसे मारा गया। अतः आप मुझसे ऐसी कठोर बात न कहें। मेरी अनुपस्थितिमें मेरी माताने जो कुछ कहा या किया है, वह मुझे अभीष्ट नहीं है। मैं उससे तनिक भी प्रसन्न नहीं हूँ और न मैंने उसकी बातको माना ही है। मैं तो उन नरश्रेष्ठ श्रीरामको प्रसन्न करके अयोध्या लौटा ले जानेके लिये और उनके चरणोंकी वन्दना करनेके लिये वनमें आया हूँ। अतः मुझे इस प्रकार आया हुआ समझकर आप मुझपर कृपा कीजिये और बतलाइये कि इस समय महाराज श्रीरामचन्द्रजी कहाँ हैं?'

यह सुनकर भरद्वाजजी बड़े प्रसन्न हुए और भरतजीकी प्रशंसा करते हुए बोले—

जाने चैतन्मनःस्थं ते दृढीकरणमस्त्विति।
अपृच्छं त्वां तवात्यर्थं कीर्तिं समभिवर्धयन्॥

(वा० रा० २। ९०। २१)

'भरत! मैं तुम्हारे मनकी बात जानता हूँ; तथापि उसे दृढ़ करनेके लिये और तुम्हारी कीर्तिका अधिक विस्तार करनेके लिये ही मैंने तुमसे ये सब बातें पूछी हैं।'

इसके बाद और भी बहुत-सी बातें हुईं। भरद्वाजजीके अधिक आग्रहसे उनका आतिथ्य भरतको स्वीकार करना पड़ा। ऋषिराजने बड़े ही विचित्र ढंगसे सेना और परिवारसहित भरतका अतिथिसत्कार किया। बड़े ही आनन्दसे वह रात्रि व्यतीत हुई । उसी प्रसंगमें यह बात भी आयी है—

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च।
भरतो मन्त्रिभिः सार्द्धमभ्यवर्तत राजवत्॥
आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च।
वालव्यजनमादाय न्यषीदत्सचिवासने॥

(वा० रा० २। ९१। ३८-३९)

'भरतने उस राजमहलमें [जिसे मुनिने अपने योगबलसे रचा था] दिव्यराजसिंहासन, छत्र और चँवर भी देखे तथा मन्त्रियोंके साथ उन्होंने राजा श्रीरामकी भाँति उनका सम्मान किया। श्रीरामको प्रणाम करके उस आसनकी पूजा की और स्वयं हाथमें चँवर लेकर मन्त्रीके आसनपर जा बैठे।' देखिये, कितनी ऊँची भावना और भक्ति है! कैसा पवित्र भाव है! कितनी निरभिमानता और कितना त्याग है!

जब भरतजी चित्रकूटके निकट पहुँच जाते हैं, उस समय आकाशमें धूल उड़ती हुई देखकर श्रीराम लक्ष्मणसे उसका कारण जाननेके लिये कहते हैं। लक्ष्मण वृक्षपर चढ़कर देखते हैं और यह निश्चय करके कि सेनासहित भरत आ रहे हैं, उनके प्रति सन्देह प्रकट करते हुए कठोर वचन कहने लगते हैं तब श्रीरामचन्द्रजी भरतके गुण और प्रेमकी बड़ाई करते हुए कहते हैं—

प्राप्तकालं यथैषोऽस्मान् भरतो द्रष्टुमर्हति।
अस्मासु मनसाप्येष नाहितं किंचिदाचरेत्॥
विप्रियं कृतपूर्वं ते भरतेन कदा नु किम्।
ईदृशं वा भयं तेऽद्य भरतं यद् विशंकसे॥
न हि ते निष्ठुरं वाच्यो भरतो नाप्रियं वचः।
अहं ह्यप्रियमुक्तः स्यां भरतस्याप्रिये कृते॥

× × × ×

यदि राज्यस्य हेतोस्त्वमिमां वाचं प्रभाषसे।
वक्ष्यामि भरतं दृष्ट्वा राज्यमस्मै प्रदीयताम्॥
उच्यमानो हि भरतो मया लक्ष्मण तद् वचः।
राज्यमस्मै प्रयच्छेति बाढमित्येव मंस्यते॥

(वा० रा० २।९७।१३—१५,१७-१८)

'जिस प्रकार इस समय यह भरत हमलोगोंसे मिलनेके लिये आ रहा है, यह सर्वथा उचित है। हमलोगोंके अहितका आचरण तो वह कभी मनसे भी नहीं कर सकता। भरतने तुम्हारा कब और क्या अपकार किया है, जिसके कारण तुम आज उससे ऐसा भय, इस तरहकी आशंका कर रहे हो? (भरतके आनेपर) तुम उसे कोई कठोर या अप्रिय वचन न कहना। यदि तुमने उसके साथ कोई प्रतिकूल बर्ताव किया या अप्रिय वचन कहे तो वह बर्ताव मेरे ही साथ किया समझा जायगा। यदि तुम राज्यके लिये ऐसी कठोर बात कहते हो तो मिलनेपर मैं उसे कह दूँगा कि यह राज्य लक्ष्मणको दे दो! मेरे ऐसा कहनेपर वह अवश्य ही मेरी बातका अनुमोदन करेगा और तुमको राज्य दे देगा।'

इस प्रकार यद्यपि भरतजी सर्वथा साधु और निर्दोष थे, तथापि उनको सबके सन्देहका शिकार बनना पड़ा। भरतके सदृश सर्वथा निःस्पृह, धर्मात्मा एवं त्यागी महापुरुषका इस प्रकार सबके सन्देहका शिकार बनना जगत्‌के इतिहासमें एक अनोखी बात है। इतनेपर भी भरत सब कुछ सहते हैं। धन्य उनका प्रेम! धन्य उनकी स्वामिभक्ति!! और धन्य उनकी सहिष्णुता!!!

इधर भरत भाई शत्रुघ्न, गुह और प्रधान-प्रधान

मन्त्रियोंको श्रीरामके आश्रमको खोजनेके लिये आज्ञा देकर कहने लगते हैं—

यावन्न चन्द्रसङ्काशं तद् द्रक्ष्यामि शुभाननम्।
भ्रातुः पद्मविशालाक्षं न मे शान्तिर्भविष्यति॥

× × × ×

यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ।
शिरसा प्रग्रहीष्यामि न मे शान्तिर्भविष्यति॥
यावन्न राज्ये राज्यार्हः पितृपैतामहे स्थितः।
अभिषिक्तो जलक्लिन्नो न मे शान्तिर्भविष्यति॥

(वा० रा० २। ९८।७, ९-१०)

'जबतक भाई श्रीरामचन्द्रके कमलदलसदृश विशाल नेत्रोंवाले और चन्द्रमाके समान सुशोभित उस मुख कमलको न देख लूँगा, तबतक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी। जबतक अपने भ्राताके राजचिह्नोंसे युक्त युगल चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम न कर लूँगा, तबतक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी। जबतक राज्यके सच्चे अधिकारी भगवान् श्रीराम अभिषेकके जलसे सिक्त होकर अपने पिता-पितामहोंके साम्राज्यपर प्रतिष्ठित न हो जायँगे, तबतक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी।'

इस प्रकार बहुत कुछ कहकर पुरुषश्रेष्ठ भरतजीने पैदल ही श्रीरामकी खोज करनेके लिये उस गहन वनमें प्रवेश किया। ऊँचे वृक्षपर चढ़कर उन्होंने दूरसे ही श्रीरामके आश्रमको और उसमें बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजीको पहचाना; इससे उनमें नया जीवन आ गया। वे बड़े प्रसन्न हुए और गुहको साथ लेकर आश्रमकी ओर चल दिये।

श्रीरामकी कुटियाके पास पहुँचकर भरत देखते हैं कि समस्त पृथ्वीके स्वामी धर्मपरायण भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सीता और लक्ष्मणके साथ एक चबूतरेपर बैठे हैं। उन्होंने कृष्णमृगचर्म और वल्कल-वस्त्र धारण कर रखे हैं। उनके मस्तकपर जटाएँ शोभा दे रही हैं तथा सिंहके-से कन्धे, बड़ी-बड़ी भुजाएँ और कमलके समान नेत्र हैं! श्रीरामको इस अवस्थामें देखकर महात्मा भरत शोकमें निमग्न हो जाते हैं। भाईकी ओर दृष्टि पड़ते ही आर्तभावसे विलाप करते हुए गद्गद वाणीसे कहने लगते हैं—

यः संसदि प्रकृतिभिर्भवेद् युक्त उपासितुम्।
वन्यैर्मृगैरुपासीनः सोऽयमास्ते ममाग्रजः॥
वासोभिर्बहुसाहस्रैर्यो महात्मा पुरोचितः।
मृगाजिने सोऽयमिह प्रवस्ते धर्ममाचरन्॥

× × × ×

मन्निमित्तमिदं दुःखं प्राप्तो रामः सुखोचितः।
धिग् जीवितं नृशंसस्य मम लोकविगर्हितम्॥

(वा० रा० २।९९।३१-३२, ३६)

'हाय जो राजसभामें बैठकर प्रजा और मन्त्रिवर्गके द्वारा सम्मान पानेयोग्य हैं, वे ही ये मेरे बड़े भाई यहाँ जंगली पशुओंसे घिरे बैठे हैं। जो महात्मा पहले हजारोंकी लागतके वस्त्रोंका उपयोग करते थे, वे आज यहाँ धर्माचरण करते हुए केवल दो मृगचर्म धारण करके रहते हैं। हाय! जो सब प्रकारसे सुखके योग्य हैं, वे श्रीराम मेरे ही कारण इतना दुःख उठा रहे हैं। मैं कितना क्रूर हूँ! मेरे इस लोक-निन्दित जीवनको धिक्कार है।'

इस प्रकार विलाप करते-करते भरतजी दुःखसे व्याकुल हो गये। उनके मुखकमलपर आँसुओंकी धारा बहने लगी। वे अत्यन्त दुःखसे विह्वल हो जानेके कारण श्रीरामके चरणोंको छू सकनेके पहले ही 'हा आर्य!' कहकर उनके पास दीनकी भाँति गिर पड़े। शोकसे उनका गला रुँध गया, कुछ भी बोल नहीं सके। फिर शत्रुघ्नने भी रोते-रोते श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम किया। जटा और वल्कल धारण किये भरतको हाथ जोड़े पृथ्वीपर पड़ा देख श्रीरामने बड़ी कठिनतासे पहिचाना। उन्होंने दोनों भाइयोंको उठाया और छातीसे लगा लिया। भरतका बर्ताव देखकर समस्त वनवासी रोने लगे।

तदनन्तर भाई भरतको गोदमें बैठाकर श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—'भाई! तुम राज्य छोड़कर वल्कल-वस्त्र, मृगचर्म और जटा धारण करके यहाँ क्यों आये? इसपर भरतजीने पिताकी मृत्युका समाचार सुनाकर कहा—

तथानुपूर्व्या युक्तश्च युक्तं चात्मनि मानद।
राज्यं प्राप्नुहि धर्मेण सकामान् सुहृदः कुरु॥

× × × ×

एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचितो मया।
भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि॥

(वा० रा० २। १०१। १०—१२)

'सबको सम्मान देनेवाले रघुनन्दन! परम्परानुसार तथा योग्य होनेके कारण भी इस राज्यके अधिकारी आप ही हैं। अतः न्यायसे इस राज्यको आप धर्मानुसार ग्रहण करके अपने सुहृदोंका मनोरथ पूर्ण करें। मैं आपका छोटा भाई, शिष्य और दास हूँ। इन मन्त्रियोंके साथ आपके चरणोंमें मस्तक झुकाकर प्रार्थना करता हूँ, मुझपर कृपा करें।'

इसी तरहकी और भी बहुत-सी बातें कहकर भरतजी

नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए पुनः श्रीरामके चरणोंमें गिर पड़े और राज्याभिषेकके लिये उनसे प्रार्थना करने लगे। तब श्रीरामजीने बहुत-सी शास्त्रोक्त बातें कहकर और पिताकी आज्ञाका महत्त्व दिखाकर भरतको राज्य ग्रहण करनेके लिये बहुत कुछ समझाया, परन्तु उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने कहा—'भगवन्! आपकी बराबरी कौन कर सकता है; आपके लिये सुख-दुःख, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति—सब समान हैं। जिसको आपकी तरह ज्ञान है, वह संकट पड़नेपर भी विषाद नहीं करेगा; परन्तु मैं ऐसा नहीं हूँ। अतः मैं बारंबार आपके चरणोंमें माथा टेककर याचना करता हूँ, आप दया कीजिये! आप पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं, मेरा और मेरी माताका कलंक धोकर पूज्य पिताजीको भी निन्दासे बचाइये।' इत्यादि—

भरतके इस प्रकार कहनेपर सम्पूर्ण ऋत्विज, पुरवासी, भिन्न-भिन्न समुदायके नेता और माताएँ—ये सब अचेत-से होकर आँसू बहाते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे और सभीने अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार श्रीरामचन्द्रजीसे लौटनेकी प्रार्थना की।

तदनन्तर श्रीरामने फिर बहुत-से न्याय और धर्मसे पूर्ण वचन कहकर भरतको समझाया। इस प्रकार बात होते-होते जब श्रीरामचन्द्रजीने किसी तरह भी स्वीकृति नहीं दी, तब भरतजीके मनमें बड़ा दुःख हुआ; वे बोले—'जबतक मेरे स्वामी मुझपर प्रसन्न नहीं होंगे, तबतक मैं बिना कुछ खाये-पीये यहीं इनके सामने बैठा रहूँगा।' इतना कहकर वे दर्भासन बिछाकर जमीनपर बैठ गये। तब श्रीरामचन्द्रजीने फिर भरतको समझाया कि 'भाई! तुम्हारा यह कार्य धर्मके विरुद्ध है। अतः तुम इस दुराग्रहका त्याग करो।' यह सुनकर भरत तुरन्त ही खड़े होकर पुनः सबके सामने कहने लगे कि 'यदि पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये इनका वनमें रहना अनिवार्य हो तो इनके बदले मैं ही चौदह वर्षतक वनमें निवास करूँगा।' इसपर फिर श्रीरामने भरतको समझाया कि 'भाई भरत! इस प्रकार बदला करनेका हमलोगोंको अधिकार नहीं है।' इसके बाद सबके सामने भगवान् श्रीरामने कहा—

जानामि भरतं क्षान्तं गुरुसत्कारकारिणम्।
सर्वमेवात्र कल्याणं सत्यसन्धे महात्मनि॥
अनेन धर्मशीलेन वनात् प्रत्यागतः पुनः।
भ्रात्रा सह भविष्यामि पृथिव्याः पतिरुत्तमः॥
वृतो राजा हि कैकेय्या मया तद्वचनं कृतम्।
अनृतान्मोचयानेन पितरं तं महीपतिम्॥

(वा० रा० २।१११।३०—३२)

'मैं जानता हूँ भरत बड़ा क्षमाशील और गुरुजनोंका सत्कार करनेवाला है। इस सत्यप्रतिज्ञ महात्मामें सभी कल्याणकारी गुण वर्तमान हैं। वनवासकी अवधि समाप्त करके फिर जब मैं लौटूँगा, तब मैं अपने इस धर्मशील भाईके साथ इस पृथ्वीका प्रमुख राजा बनूँगा। कैकेयीने राजासे वर माँगा, मैंने उनकी आज्ञाको स्वीकार कर लिया। इसलिये भाई भरत! अब तुम मेरा कहना मानकर उन पृथ्वीपति राजाधिराज पिताजीको असत्यके बन्धनसे मुक्त करो।'

उन अतुलित तेजस्वी भाइयोंका वह रोमांचकारी संवाद सुनकर और आपसका प्रेमपूर्ण बर्ताव देखकर वहाँ आये हुए जन-समुदायके साथ सभी महर्षि विस्मित और मुग्ध हो गये। अन्तरिक्षमें अदृश्य भावसे खड़े हुए मुनि और वहाँ प्रत्यक्ष बैठे हुए महर्षि उन दोनों भाइयोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

इसके बाद सब महर्षियोंने भरतको श्रीरामकी बात मान लेनेके लिये समझाया। इससे श्रीरामको बड़ी प्रसन्नता हुई, परन्तु भरतको सन्तोष नहीं हुआ। वे लड़खड़ाती हुई जबानसे हाथ जोड़कर फिर श्रीरामसे कहने लगे—'आर्य! मैं इस राज्यकी रक्षा नहीं कर सकता। आप इस राज्यको स्वीकार करके दूसरे किसीको इसके पालनका भार सौंप दीजिये।' यह कहकर भरत अपने भाईके चरणोंमें गिर पड़े। तब श्रीरामचन्द्रने उनको उठाकर गोदमें बैठा लिया और मधुर स्वरसे बोले—

आगता त्वामियं बुद्धिः स्वजा वैनयिकी च या।
भृशमुत्सहसे तात रक्षितुं पृथिवीमपि॥

(वा० रा० २।११२।१६)

'प्यारे भाई! तुम्हें स्वभावसे ही तथा शिक्षाके फलस्वरूप जो यह विनययुक्त बुद्धि प्राप्त हुई है, इससे तुम सारी पृथ्वीकी रक्षा करनेमें भी पूर्णतया समर्थ हो।'

सूर्यतुल्य तेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीके ये प्रेम और शिक्षाभरे वचन सुनकर और उनकी दृढ़ता देखकर भरतने कहा—

अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः॥

(वा० रा० २।११२।२१)

'आर्य! ये दो स्वर्णभूषित पादुकाएँ हैं, आप इनपर अपने चरण रखें। ये ही सम्पूर्ण जगत्के योगक्षेमका निर्वाह करेंगी।'

धन्य है भरतके उच्चतम भावको!

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने उन पादुकाओंपर अपने मंगलमय चरणयुगल रखकर उन्हें भरतको दे दिया। उन पादुकाओंको प्रणाम कर भरतने श्रीरामसे कहा—

चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम्॥
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन।
तवागमनमाकाङ्क्षन् वसन् वै नगराद् बहिः॥
तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परंतप।
चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम॥
न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्।

(वा० रा० २।११२।२३—२६)

'वीर रघुनन्दन! मैं भी चौदह वर्षोंतक जटा और चीर धारण करके फल-मूलका आहार करूँगा और आपके आनेकी बाट जोहता हुआ नगरसे बाहर ही रहूँगा। परंतप! इतने दिनोंतक राज्यका सारा भार आपकी इन चरणपादुकाओंपर ही रहेगा। रघुश्रेष्ठ! चौदह वर्ष पूरे होनेके बाद, उसी दिन यदि मुझे आपके दर्शन नहीं मिलेंगे तो मैं धधकती आगमें प्रवेश कर जाऊँगा।'

भरतकी यह प्रतिज्ञा सुनकर भगवान्ने प्रसन्नतापूर्वक उसका अनुमोदन किया। तदनन्तर दोनों भाइयोंको माता कैकेयीके साथ अच्छा व्यवहार करनेकी शिक्षा देकर और दोनोंका हृदयसे आलिंगन करके विदा किया। उस समय भाई भरतके वियोगमें श्रीरामचन्द्रजीकी आँखोंमें जल भर आया।

तदनन्तर भरतजी भगवान्की पादुकाओंको मस्तकपर धारण करके बड़ी प्रसन्नतासे रथपर सवार हुए तथा रास्तेमें भरद्वाजजीसे मिलकर, इनसे सारी बातें कहकर और आज्ञा लेकर शृंगवेरपुर होते हुए अयोध्या पहुँचे। फिर माताओंको महलमें रखकर भरतने सब गुरुजनोंसे कहा—

नन्दिग्रामं गमिष्यामि सर्वानामन्त्रयेऽत्र वः।
तत्र दुःखमिदं सर्वं सहिष्ये राघवं विना॥
गतश्चाहो दिवं राजा वनस्थः स गुरुर्मम।
रामं प्रतीक्षे राज्याय स हि राजा महायशाः॥

(वा० रा० २।११५।२-३)

'अब मैं नन्दिग्रामको जाऊँगा, इसके लिये आप सब लोगोंकी आज्ञा चाहता हूँ। बहुत दुःखकी बात है, महाराज तो स्वर्ग सिधार गये और मेरे परम पूज्य गुरु श्रीराम वनमें निवास करते हैं। अतः मैं वहीं रहकर श्रीराम-वियोगमें इन सब दुःखोंको सहन करूँगा और राज्यके लिये श्रीरामचन्द्रजीकी प्रतीक्षा करूँगा, क्योंकि महायशस्वी श्रीराम ही हमलोगोंके राजा हैं।'

भरतकी ऐसी बात सुनकर मन्त्रियोंसहित पुरोहित श्रीवसिष्ठजीने कहा—

सुभृशं श्लाघनीयं च यदुक्तं भरत त्वया।
वचनं भ्रातृवात्सल्यादनुरूपं तवैव तत्॥
नित्यं ते बन्धुलुब्धस्य तिष्ठतो भ्रातृसौहृदे।
मार्गमार्यं प्रपन्नस्य नानुमन्येत कः पुमान्॥

(वा० रा० २।११५।५-६)

'भरत! भ्रातृ-भक्तिसे प्रेरित होकर तुमने जो वचन कहा है, वह अत्यन्त प्रशंसनीय है। वास्तवमें वह तुम्हारे ही योग्य है। तुम अपने भाईके दर्शनार्थ सदा ही लालायित रहते हो, उन्हींके हितमें संलग्न हो और अत्यन्त उत्तम मार्गपर चल रहे हो; अतः तुम्हारे विचारका अनुमोदन कौन पुरुष नहीं करेगा।'

इस प्रकार सबकी आज्ञा लेकर भरत श्रीरामचन्द्रजीकी पादुकाओंको सिरपर रखे शत्रुघ्नके साथ नन्दिग्राम चले गये। वहाँ रथसे उतरकर सब गुरुजनोंसे बोले—

एतद्राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं संन्यासमुत्तमम्।
योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते॥

× × × ×

छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ।
आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम॥
भ्रात्रा तु मयि संन्यासो निक्षिप्तः सौहृदादयम्।
तमिमं पालयिष्यामि राघवागमनं प्रति॥
क्षिप्रं संयोजयित्वा तु राघवस्य पुनः स्वयम्।
चरणौ तौ तु रामस्य द्रक्ष्यामि सहपादुकौ॥
ततो निक्षिप्तभारोऽहं राघवेण समागतः।
निवेद्य गुरवे राज्यं भजिष्ये गुरुवर्तिताम्॥
राघवाय च संन्यासं दत्त्वेमे वरपादुके।
राज्यं चेदमयोध्यां च धूतपापो भवाम्यहम्॥

(वा० रा० २।११५।१४,१६—२०)

'मेरे भाईने यह राज्य मुझे उत्तम धरोहरके रूपमें दिया है। उनकी ये सुवर्ण-भूषित पादुकाएँ ही सबका योगक्षेम निबाहनेवाली हैं। मैं इन्हें आर्य श्रीरामचन्द्रके साक्षात् चरण मानता हूँ। आपलोग शीघ्र ही इनपर छत्र

लगायें। मेरे गुरुकी इन चरणपादुकाओंके प्रभावसे ही इस राज्यमें धर्मकी स्थापना होगी। उन्होंने प्रेमके कारण ही मुझे यह अमूल्य धरोहर सौंपी है। अतः मैं उनके लौटनेतक इसकी भलीभाँति रक्षा करूँगा तथा उनके आनेपर शीघ्र ही इनको पुनः भगवान्‌के चरणोंसे युक्त कर इन पादुकाओंसे सुशोभित आर्यके चरणोंका दर्शन करूँगा। श्रीरघुनाथजीके आते ही उनकी सेवामें यह राज्य समर्पित कर दूँगा; फिर मेरा सब भार हलका हो जायगा। मैं उनकी आज्ञाके अधीन रहकर उन्हींकी सेवामें लग जाऊँगा। मेरे पास धरोहरके रूपमें रखे हुए इस राज्यको, इन पादुकाओंको और अयोध्याको भी श्रीरामकी सेवामें समर्पित करके मैं सब प्रकारके दुःख और पापोंसे मुक्त हो जाऊँगा।'

फिर धैर्यवान् भरतजी जटा-वल्कल धारण किये मुनिका वेष बनाकर नन्दिग्राममें रहने लगे। वे राज्य-शासनका समस्त कार्य भगवान्‌की चरणपादुकाओंको निवेदन करके करते थे। उनके ऊपर स्वयं छत्र लगाते और चँवर डुलाते थे। इस प्रकार उन्होंने बड़े भाई श्रीरामचन्द्रजीकी चरणपादुकाओंका राज्याभिषेक किया। राज्यका जो कोई कार्य उपस्थित होता, जो भी बहुमूल्य भेंट आती, भरतजी वह सब पहले उन पादुकाओंको अर्पण करते और पीछे उसका यथायोग्य प्रबन्ध करते।

लंका-विजयके बाद विभीषणको राज्य देकर, सीता और लक्ष्मणके साथ भगवान् श्रीराम अयोध्या लौटनेके लिये तैयार हुए। उस समय विभीषणने श्रीरामजीसे स्नान आदि करके वस्त्रालंकार धारण करनेकी प्रार्थना की। तब भगवान् भरतकी भक्ति याद करके कहते हैं—

स तु ताम्यति धर्मात्मा मम हेतोः सुखोचितः।
सुकुमारो महाबाहुर्भरतः सत्यसंश्रयः॥
तं विना कैकयीपुत्रं भरतं धर्मचारिणम्।
न मे स्नानं बहुमतं वस्त्राण्याभरणानि च॥

× × × ×

तं तु मे भ्रातरं द्रष्टुं भरतं त्वरते मनः॥

(वा० रा० ६। १२१। ५-६,१८)

'सत्यपरायण, धर्मात्मा, महाबाहु सुकुमार भरत सब प्रकारके सुख-भोगोंके योग्य होकर भी मेरे लिये दुःख भोग रहा है। उस धर्मचारी कैकेयी-पुत्र भरतके बिना मुझे स्नान और वस्त्राभूषण धारण करना रुचिकर नहीं है। उस भाई भरतको देखनेके लिये तो मेरा मन छटपटा रहा है।' इससे मालूम होता है कि भरतका श्रीराममें कितना प्रेम था।

उसके बाद श्रीराम, सीता, लक्ष्मण और सब समुदायके साथ पुष्पकविमानपर बैठकर अयोध्याके लिये चले और भरद्वाज-आश्रमपर पहुँचकर अपने आनेका शुभ संवाद देनेके लिये हनुमान्‌को प्यारे भरतके पास भेजा। हनुमान्‌जी नन्दिग्राममें पहुँचकर क्या देखते हैं—

ददर्श भरतं दीनं कृशमाश्रमवासिनम्।
जटिलं मलदिग्धांगं भ्रातृव्यसनकर्शितम्॥
फलमूलाशिनं दान्तं तापसं धर्मचारिणम्।
समुन्नतजटाभारं वल्कलाजिनवाससम्॥
नियतं भावितात्मानं ब्रह्मर्षिसमतेजसम्।
पादुके ते पुरस्कृत्य प्रशासन्तं वसुन्धराम्॥

(वा० रा० ६। १२५। ३०—३२)

श्रीहनुमान्‌ने देखा कि भरत शहरके बाहर आश्रममें रहते हैं। भाईके वियोगसे उनका शरीर दुर्बल हो गया है। उसपर मैल जम गयी है। उनका मुख सूख गया है, उसपर दीनताका भाव झलक रहा है। वे केवल फल-मूलका ही आहार करते हैं। इन्द्रियाँ उनके वशमें हैं। वे मस्तकपर लंबी जटाओंका भार तथा शरीरपर वल्कल और मृगचर्म धारण किये धर्माचरणपूर्वक तपस्या कर रहे हैं। उनका मन सब ओरसे संयत और ध्यानमें निमग्न है। उनका तेज ब्रह्मर्षियोंके समान है। वे श्रीरामकी चरणपादुकाओंकी सेवा करते हुए पृथ्वीका शासन कर रहे हैं। हनुमान्‌जीने यह भी देखा कि भरतके प्रेम और व्यवहारसे आकर्षित होकर काषाय-वस्त्र धारण किये हुए मन्त्री, पुरोहित और सेनाके प्रधान-प्रधान वीर भी उन्हींके पास रहते हैं। वायु-पुत्र हनुमान्‌जीने भरतजीको श्रीरामके आगमनका समाचार सुनाया।

हनुमान्‌के मुखसे भगवान्‌के आनेका समाचार सुनकर भरतजी हर्षसे विह्वल हो गये। उनको शरीरकी सुधि नहीं रही। थोड़ी देरमें स्वस्थ होनेपर उन्होंने हनुमान्‌को हृदयसे लगा लिया और प्रेमाश्रुओंसे भिगोते हुए उनसे कहने लगे—

देवो वा मानुषो वा त्वमनुक्रोशादिहागतः।
प्रियाख्यानस्य ते सौम्य ददामि ब्रुवतः प्रियम्॥

(वा० रा० ६।१२५।४३)

बहूनि नाम वर्षाणि गतस्य सुमहद् वनम्।
शृणोम्यहं प्रीतिकरं मम नाथस्य कीर्तनम्॥

(वा० रा० ६।१२६।१)

'मुझपर दया करके आनेवाले तुम कोई देवता हो या मनुष्य? सौम्य! तुमने मुझे बड़ा ही प्रिय सन्देश दिया; इसके बदलेमें तुम्हें जो कुछ प्रिय हो, वह मैं दे सकता हूँ। मेरे स्वामीको गहन वनमें गये हुए बहुत वर्ष बीत गये। आज ही मैं अपने नाथका आनन्ददायक समाचार सुन रहा हूँ।'

इसके बाद भरतजीने वानरोंके साथ श्रीरामकी मित्रता होनेके विषयमें पूछा। इसपर हनुमान्‌जीने वनगमनसे लेकर लंकासे लौटते हुए भरद्वाजके आश्रममें पहुँचनेतककी सारी बातें कह सुनायीं। यह सब सुनकर भरतजी बड़े प्रसन्न हुए और पास ही खड़े हुए शत्रुघ्नको नगरकी सजावट करने और सबको श्रीरामकी अगवानीके लिये तैयार होनेकी सूचना देनेको कहा। समाचार सुनते ही सारे नगरमें हर्ष और प्रेमकी बाढ़ आ गयी। सभी भगवान्‌के आगमनकी प्रतीक्षा करने लगे। धर्मज्ञ भरतजीने श्रीरामकी पादुकाओंको सिरपर रखकर उन्हें सुन्दर मालाओंसे सुशोभित किया और उनपर स्वर्णछत्र लगाकर स्वर्ण-भूषित सफेद चँवर डुलाते हुए चले। थोड़ी दूर जानेपर जब उन्हें श्रीरामचन्द्रजी आते हुए दिखायी नहीं दिये, तब वे प्रेमाकुल होकर हनुमान्‌जीसे पूछने लगे—'हनुमान्! क्या बात है! अभीतक रघुकुल-भूषण आर्य श्रीराम मुझे दिखायी नहीं दे रहे हैं।' इतनेमें ही श्रीभरतजीने विमानको आते हुए देखा और उसपर बैठे हुए श्रीरामको भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। फिर श्रीरामकी आज्ञासे वह विमान पृथ्वीपर उतरा। श्रीभरतजी विमानके भीतर श्रीरामको देखकर हर्षसे भर गये और पुनः उनके चरणोंमें गिर पड़े। श्रीरामचन्द्रजीने बहुत दिनोंके बाद दृष्टिगोचर हुए भाई भरतको उठा गोदमें बैठाकर प्रेम और हर्षपूर्वक हृदयसे लगाया। इसके बाद भरतने भाई लक्ष्मणसे मिलकर सीताके चरणोंमें प्रणाम किया।

तदनन्तर धर्मज्ञ श्रीभरतजीने श्रीरामकी उन दोनों पादुकाओंको हाथमें लेकर श्रीरामके चरणोंमें पहना दिया और हाथ जोड़कर कहा—

एतत्ते सकलं राज्यं न्यासं निर्यातितं मया॥
अद्य जन्म कृतार्थं मे संवृत्तश्च मनोरथः।
यत्त्वां पश्यामि राजानमयोध्यां पुनरागतम्॥

(वा० रा० ६। १२७। ५५-५६)

'यह धरोहररूपमें रखा हुआ आपका सम्पूर्ण राज्य मैंने आज आपको लौटा दिया। आज मेरा जन्म सफल हो गया और मेरे समस्त मनोरथ पूर्ण हो गये, जो मैं अयोध्यामें लौटकर आये हुए आपको देख रहा हूँ'—इत्यादि।

—इस प्रकार कहते हुए भ्रातृप्रेमी भरतको देखकर राक्षसराज विभीषण और सुग्रीवादि वानरोंकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली।

श्रीरामका राज्याभिषेक हो जानेके बाद भरत भी लक्ष्मणकी भाँति ही श्रीरामकी सेवामें रहने लगे। कुछ दिन बाद श्रीरामने भरतके मामाका समाचार पाकर गन्धर्वोंपर विजय करनेके लिये भरतको भेजा। भरतजीने भगवान्‌की आज्ञा-पालन करनेके लिये ही वहाँ जाकर गन्धर्वोंपर विजय प्राप्त की। पुनः भगवान्‌के आज्ञानुसार वहाँके राज्यपर अपने पुत्रोंका अभिषेक करके वे शीघ्र ही भगवान्‌के पास लौट आये और उनसे सब बातें कह दीं। पूरी बातें सुन लेनेपर श्रीरामने भरतकी प्रशंसा की और बहुत प्रसन्न हुए।

इसके बाद लक्ष्मणका त्याग करनेपर श्रीरामचन्द्रजीने परमधाम पधारनेकी इच्छासे भरतका राज्याभिषेक करनेकी बात कही, परन्तु भरतने उसे स्वीकार नहीं किया। वे इस तरहकी बात सुनते ही अचेत हो गये और चेत होनेपर राज्यकी निन्दा करते हुए बोले—

सत्येनाहं शपे राजन् स्वर्गभोगेन चैव हि।
न कामये यथा राज्यं त्वां विना रघुनन्दन॥

(वा० रा० ७। १०७। ६)

'राजन्! मैं निश्चयपूर्वक सत्य तथा स्वर्गकी शपथ करके कहता हूँ कि मैं आपसे अलग रहकर राज्य भी नहीं चाहता।'

—तब श्रीरामने भरतकी सलाहसे कुश और लवको राज्यपर अभिषिक्त किया और शत्रुघ्नको बुलाकर सबके साथ परमधाम पधार गये।

वास्तवमें भरतकी राम-भक्ति जगत्‌के इतिहासमें अद्वितीय है। इनका त्याग, संयम, व्रत, नियम—सभी सराहनीय और अनुकरणीय हैं। इनके चरित्रसे स्वार्थ-त्याग, विनय, सहिष्णुता, गम्भीरता, सरलता, क्षमा, वैराग्य और स्वामिभक्ति आदि सभी गुणोंकी शिक्षा ली जा सकती है। भक्तिसहित निष्कामभावसे गृहस्थमें रहते हुए प्रजापालन करनेका ऐसा सुन्दर उदाहरण अन्यत्र मिलना कठिन है।

श्रीरामके दासानुदास श्रीशत्रुघ्न

श्रीशत्रुघ्नजीका चरित्र भी अपने ढंगका निराला ही है। वाल्मीकीय रामायणमें श्रीशत्रुघ्नजीको भी भगवान् विष्णुका ही अंशावतार माना गया है; परन्तु उनके चरित्रसे यही सिद्ध होता है कि आप श्रीरामके दासानुदासोंमें अग्रगण्य थे। श्रीशत्रुघ्नजी मौनकर्मी, प्रेमी, सदाचारी, मितभाषी, सत्यवादी, विषयविरागी, सरल, तेजःपूर्ण, गुरुजनके अनुगामी और वीर थे। श्रीरामायणमें इनके सम्बन्धमें विशेष विवरण नहीं मिलता; परन्तु जो कुछ मिलता है, उसीसे इनकी महत्ताका कुछ अनुमान किया जा सकता है। आप बाल्यकालसे ही सदा भरतजीके साथ रहते थे; अतः श्रीभरतजीका और इनका चरित्र साथ ही चलता है। इसलिये रामायणमें इनके विषयमें कोई विशेष बात अलग नहीं कही गयी है। इनके गुण और चरित्रोंका अनुमान भरतके व्यवहारसे लगा लेना चाहिये।

बालकाण्डमें इनके प्रेमका वर्णन करते हुए कहा है—

अथैनं पृष्ठतोऽभ्येति सधनुः परिपालयन्।
भरतस्यापि शत्रुघ्नो लक्ष्मणावरजो हि सः॥

(वा० रा० १। १८। ३२)

'जैसे लक्ष्मण हाथमें धनुष लेकर श्रीरामकी रक्षा करते हुए उनके पीछे-पीछे चलते थे, उसी तरह ही वे लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्न भी भरतके साथ रहते थे।'

जनकपुरमें सब भाइयोंके विवाहका कार्य सम्पन्न होनेके बाद वहाँसे लौटकर अयोध्या आनेके कुछ ही दिन पश्चात् भरतजीको उनके मामा युधाजित् अपने देश ले जाने लगे तो शत्रुघ्नजी भी उनके साथ ही ननिहाल गये। उस समय भरतजीके प्रेममें उन्होंने माता-पिता, भाई-बन्धु और नव-विवाहिता स्त्रीका कुछ भी मोह न करके भाई भरतके साथ रहना ही अपना परम कर्तव्य समझा। फिर अयोध्यासे बुलावा जानेपर भरतजीके साथ लौट आये। अयोध्या पहुँचनेपर माता कैकेयीके द्वारा पिताके मरण तथा लक्ष्मण और सीताके साथ श्रीरामके वनवासका समाचार सुनकर इनको भी बड़ा भारी दुःख हुआ। भाई लक्ष्मणके शौर्यसे आप परिचित थे, अतः इन्होंने शोकपूर्ण हृदयसे बड़े आश्चर्यके साथ भरतजीसे कहा—

गतिर्यः सर्वभूतानां दुःखे किं पुनरात्मनः।
स रामः सत्त्वसम्पन्नः स्त्रिया प्रव्राजितो वनम्॥
बलवान् वीर्यसम्पन्नो लक्ष्मणो नाम योऽप्यसौ।
किं न मोचयते रामं कृत्वापि पितृनिग्रहम्॥

(वा० रा० २। ७८। २-३)

'आर्य! जो दुःखके समय आत्मीय व्यक्तियोंकी तो बात ही क्या, समस्त प्राणियोंको सहारा देनेवाले हैं, वे ही महापराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी पत्नीके साथ वनमें भेज दिये गये (यह कितने दुःखकी बात है)। जो भाई लक्ष्मणजी बड़े ही बलवान् और पराक्रमी भी हैं, उन्होंने पिता-माताका निग्रह करके भी श्रीरामको इस संकटसे क्यों नहीं मुक्त कर दिया।'

इस प्रकार बातें हो रही थीं, श्रीशत्रुघ्नजी दुःख और क्रोधमें भरे थे, उसी समय राम-विरह-व्याकुल एक द्वारपालने सूचना दी कि 'राजकुमार! जिस क्रूरा पापिनी मन्थराके षड्यन्त्रसे श्रीरामचन्द्र वन भेजे गये हैं, वह वस्त्राभूषणोंसे सज-धजकर खड़ी है।' यह सुनकर शत्रुघ्नजीको बड़ा क्रोध आया। वे मन्थराकी चोटी पकड़कर उसे आँगनमें घसीटने लगे। यह देखकर कुब्जाकी अन्य सहेलियोंने सोचा कि दयामयी कौसल्याकी शरण गये बिना शत्रुघ्न हमें भी नहीं छोड़ेंगे। अतः वे तुरंत ही दौड़कर कौसल्याजीके पास चली गयीं। कैकेयी उसे छुड़ानेके लिये आयीं तो शत्रुघ्नने उन्हें भी फटकार दिया। आखिर भरतने आकर शत्रुघ्नको समझाया कि स्त्रीजाति अवध्य मानी गयी है और यह भी कहा कि—

इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः।
त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम्॥

(वा० रा० २। ७८। २३)

'भाई! यदि कहीं कुबड़ी तुम्हारे हाथसे मारी गयी तो इस घटनाको जानते ही धर्मात्मा श्रीराम तुमसे और मुझसे भी निश्चय ही बोलना छोड़ देंगे।'

भरतकी इस बातको सुनकर शत्रुघ्नने कुब्जाको मूर्च्छित-अवस्थामें ही छोड़ दिया।

इस प्रसंगमें समझनेकी पहली बात तो यह है कि श्रीरामकी धर्मनीतिमें स्त्रीजातिका कितना आदर था, जिससे कि वे हर हालतमें अवध्य मानी जाती थीं। दूसरी यह कि शोकाकुल भरतने ऐसी परिस्थितिमें भी छोटे भाईको समझाकर अधर्मसे रोका। तीसरी यह कि क्रोधातुर होनेपर भी शत्रुघ्नने तुरंत ही बड़े भाईकी बात मान ली। इसके बाद श्रीरामको लौटानेके लिये जाने लगे तो शत्रुघ्न भी

साथ गये। चित्रकूटके पास पहुँचकर भरतकी आज्ञासे श्रीरामकी पर्णकुटी ढूँढ़ने लगे। जब भरतजी श्रीरामको देखकर उनकी ओर दौड़े, तब रामदर्शनोत्सुक शत्रुघ्न भी उनके पीछे-पीछे पहुँचे। वहाँ कविने कहा है—

शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन्।
तावुभौ च समालिङ्ग्य रामोऽप्यश्रूण्यवर्तयत्॥

(वा० रा० २। ९९। ४०)

'शत्रुघ्नने भी रोते-रोते श्रीरामके चरणोंकी वन्दना की। उन दोनोंको हृदयसे लगाकर श्रीराम भी आँसू बहाने लगे।' उसके बाद शत्रुघ्न भाई लक्ष्मण और सीताजीसे भी बड़े प्रेमसे मिले।

सब लोग इकट्ठे हुए, बातचीत आरम्भ हुई। वहाँ श्रीराम और भरतके संवादमें लक्ष्मण और शत्रुघ्नका कोई काम ही नहीं था। शत्रुघ्नजीने तो अपना जीवन रामसेवक श्रीभरतजीको अर्पण कर रखा था; अतः उनके विषयमें जो कुछ कहना होता वह स्वयं भरत ही कह देते।

पादुकाएँ लेकर अयोध्या लौटते समय दोनों भाई फिर श्रीरामकी प्रदक्षिणा और उनके चरणोंमें प्रणाम करके उनसे मिले। लक्ष्मणकी भाँति शत्रुघ्नका भी स्वभाव तेज था। कैकेयीके प्रति इनके मनमें रोष था। श्रीराम इस बातको जानते थे। इस कारण विदा करते समय श्रीरामने शत्रुघ्नको वात्सल्य-भावसे शिक्षा देते हुए कहा—

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति॥
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन।

(वा० रा० २। ११२। २७-२८)

'रघुनन्दन शत्रुघ्न! निश्चय ही तुम्हें मेरी और सीताकी शपथ है, तुम माता कैकेयीकी सेवा करना, उनपर कभी क्रोध न करना।'

इससे भी पता चलता है कि शत्रुघ्नजीका श्रीराममें कितना प्रेम और भक्तिभाव था।

इसके बाद शत्रुघ्नजी भरतके साथ अयोध्या लौटकर बराबर उनके आज्ञानुसार राज्य और परिवारकी सेवा करते रहे। शत्रुघ्नजी हर हालतमें भरतके पास रहकर उनकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करते रहते थे। भरतजीके मनमें भी शत्रुघ्नपर बड़ा भरोसा था। इसी कारण वे छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े कार्यके लिये शत्रुघ्नको ही आज्ञा देते थे।

इसके बाद श्रीरामके लौटकर आनेतक शत्रुघ्नजीके विषयमें वाल्मीकीय रामायणमें कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं मिलती। श्रीहनुमान्‌जीद्वारा श्रीरामचन्द्रजीके आनेका समाचार मिलनेपर भरतजीकी आज्ञासे शत्रुघ्नने ही श्रीरामकी अगवानीका और नगरको सजानेका तथा राजमार्ग और अन्य सब रास्तोंको ठीक करानेका प्रबन्ध किया। श्रीरामका राज्याभिषेक होनेके बाद भी आप श्रीभरतजीके साथ-साथ ही श्रीरामका सेवाकार्य किया करते थे। भाईके नाते श्रीलक्ष्मण और श्रीशत्रुघ्नपर भरतजीका समान अधिकार होनेपर भी श्रीभरतजी अपना काम शत्रुघ्नसे ही करवाते थे।

सीता-वनवासके बाद एक दिन बहुत-से ऋषियोंने श्रीरामके पास आकर लवणासुरके अत्याचारोंका वर्णन किया। इसपर श्रीरामने उनको आश्वासन दिया और सभामें यह प्रस्ताव रखा कि 'लवणासुरको मारनेके लिये कौन जायगा? किसको आज्ञा दी जाय? भरतको या शत्रुघ्नको?' यह सुनकर भरतजीने कहा कि 'मुझे आज्ञा मिले, मैं लवणासुरको मार डालूँगा।' भरतकी बात सुनकर शत्रुघ्नजीने अपने आसनसे खड़े होकर श्रीरामको प्रणाम करके कहा—

कृतकर्मा महाबाहुर्मध्यमो रघुनन्दन॥
आर्येण हि पुरा शून्या त्वयोध्या परिपालिता।
सन्तापं हृदये कृत्वा आर्यस्यागमनं प्रति॥
दुःखानि च बहूनीह अनुभूतानि पार्थिव।
शयानो दुःखशय्यासु नन्दिग्रामे महायशाः॥
फलमूलाशनो भूत्वा जटी चीरधरस्तथा।
अनुभूयेदृशं दुःखमेष राघवनन्दनः॥
प्रेष्ये मयि स्थिते राजन्न भूयः क्लेशमाप्नुयात्।

(वा० रा० ७। ६२। ११—१५)

'रघुनाथजी! मझले भाई श्रीभरतजीने तो पहले आपके बहुत कार्य किये हैं। क्योंकि इन्होंने आपके वियोगका संताप हृदयमें रखकर भी आपके न रहनेपर आपके आगमनकी प्रतीक्षा करते हुए अयोध्याका पालन किया है। राजन्! महायशस्वी भरतजीने नन्दिग्राममें तृणकी शय्यापर शयन कर और फल-मूलका भोजन करके जटा और चीर धारण किये हुए आपके वियोगकालको व्यतीत किया है। इस प्रकारके दुःखोंका अनुभव करनेके अनन्तर इस समय मुझ दासके रहते हुए इनको पुनः यह लवणासुर-वधका परिश्रम नहीं मिलना चाहिये।' शत्रुघ्नजीके ऐसा कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने कहा—

एवं भवतु काकुत्स्थ क्रियतां मम शासनम्।
राज्ये त्वामभिषेक्ष्यामि मधोस्तु नगरे शुभे॥

निवेशय महाबाहो भरतं यद्यवेक्षसे।
शूरस्त्वं कृतविद्यश्च समर्थश्च निवेशने॥
राज्यं प्रशाधि धर्मेण वाक्यं मे यद्यवेक्षसे।
उत्तरं च न वक्तव्यं शूर वाक्यान्तरे मम॥

(वा० रा० ७। ६२। १६-१७,२०)

'भाई! ऐसा ही हो, तुम्हीं मेरी आज्ञाका पालन करो। मैं मधुदैत्यके सुन्दर नगरपर तुम्हारा राज्याभिषेक करता हूँ। महाबाहो! यदि तुम भरतको कष्ट देना नहीं चाहते तो अच्छी बात है, भरतको यहीं रहने दो। तुम भी बड़े विद्वान्, शूरवीर और नगर बसानेमें समर्थ हो। यदि तुम्हें मेरी बातका पालन करना है तो धर्मपूर्वक वहाँके राज्यका शासन करो। वीर! तुमको मेरी इस आज्ञाके विरुद्ध कोई उत्तर नहीं देना चाहिये।' भगवान् श्रीरामके यह वचन सुनकर शत्रुघ्नजीको बड़ी लज्जा हुई और वे मन्द स्वरमें बोले—

अधर्मं विद्म काकुत्स्थ अस्मिन्नर्थे नरेश्वर।
कथं तिष्ठत्सु ज्येष्ठेषु कनीयानभिषिच्यते॥
अवश्यं करणीयं च शासनं पुरुषर्षभ।
तव चैव महाभाग शासनं दुरतिक्रमम्॥
त्वत्तो मया श्रुतं वीर श्रुतिभ्यश्च मया श्रुतम्।
नोत्तरं हि मया वाच्यं मध्यमे प्रतिजानति॥
व्याहृतं दुर्वचो घोरं हन्तास्मि लवणं मृधे।
तस्यैवं मे दुरुक्तस्य दुर्गतिः पुरुषर्षभ॥
उत्तरं नहि वक्तव्यं ज्येष्ठेनाभिहिते पुनः।
अधर्मसहितं चैव परलोकविवर्जितम्॥
सोऽहं द्वितीयं काकुत्स्थ न वक्ष्यामीति चोत्तरम्।

(वा० रा० ७। ६३। २—७)

'राजन्! बड़े भाई भरतजीके रहते हुए मुझ छोटेका राज्याभिषेक कैसे हो सकता है? इस कार्यमें मुझे अधर्म मालूम होता है। इधर मुझे आपकी आज्ञाका पालन भी अवश्य करना चाहिये; क्योंकि पुरुषोत्तम! महाभाग! आपकी आज्ञाका उल्लंघन करना भी घोर पाप है। वीर! यही बात मैंने आपसे और वेद-शास्त्रोंसे भी सुन रखी है। अतः पूज्य भाई भरतजीके लवणासुरको मारनेकी बात स्वीकार कर लेनेके बाद फिर मुझे कोई उत्तर नहीं देना चाहिये था। मैंने यह बहुत ही खोटे दुर्वचन कह डाले कि 'लवणासुरको मैं मारूँगा।' पुरुषश्रेष्ठ! इस दुरुक्तिका ही फल यह राज्याभिषेकरूप दुर्गति मुझे मिली है। बड़े भाईकी आज्ञा हो जानेपर फिर उत्तर नहीं देना चाहिये; क्योंकि ऐसा करना अधर्मयुक्त और परलोकके विरुद्ध है। इसलिये रघुवर! अब मैं दुबारा कुछ भी उत्तर नहीं दूँगा [मैं आपके इच्छानुसार करनेको तैयार हूँ।]'

कैसा सुन्दर त्याग है! श्रीरामके वियोगमें राज्यप्राप्तिको आप दुर्गति समझते हैं। वास्तवमें बात भी ऐसी ही है, साधकोंको इस बातपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

इसके बाद भी श्रीशत्रुघ्नजीने लवणासुरपर चढ़ाई की। उस समय श्रीरामने शत्रुघ्नको लवणासुरको मारनेकी युक्ति बतलायी तथा रास्तेमें खर्चके लिये बहुत-सा धन और बड़ी भारी सेना उनके साथ देकर उन्हें विदा किया। रास्तेमें जाते समय शत्रुघ्नजी एक रात श्रीवाल्मीकिके आश्रममें ठहरे। उसी रात्रिमें श्रीसीताजीसे कुश-लव—इन दो यमज (जोड़ले) पुत्रोंका जन्म हुआ था। इसलिये वह रात्रि भी श्रीशत्रुघ्नजीके लिये बड़ी ही आनन्ददायिनी हुई। इसके बाद शत्रुघ्नजी वहाँसे चलकर रास्तेमें सात दिन ठहरते-ठहरते यमुना-किनारे च्यवन ऋषिके आश्रममें पहुँचे।

वहाँ च्यवन ऋषिसे लवणासुरकी दिनचर्या और उसके बल पराक्रमकी जानकारी प्राप्त की। फिर जब लवणासुर अपने घरसे आहारके लिये वनमें निकल गया, तब उसके लौटनेसे पहले ही शत्रुघ्नजीने जाकर उसके नगरका द्वार रोक लिया। शत्रुघ्नको देखकर लवणासुर कहने लगा कि 'इससे क्या होगा? नराधम! इस तरहके हजारों मनुष्योंको तो मैं रोज खाता हूँ।' इसपर शत्रुघ्नजीने अपना परिचय देते हुए कहा कि 'मैं तुम्हारे साथ युद्ध करना चाहता हूँ।' इसके बाद दोनोंका आपसमें घोर युद्ध हुआ। अन्तमें शत्रुघ्नजीने कानतक धनुष तानकर एक दिव्य बाण उसकी छातीमें मारा। वह छातीको छेदकर पातालमें प्रवेश कर गया और फिर वापस आकर शत्रुघ्नजीके तरकसमें स्थित हो गया। देवता और महर्षिगण शत्रुघ्नजीकी प्रशंसा करने लगे तथा आकाशसे जय-जयकारकी ध्वनि और पुष्पोंकी वर्षा होने लगी।

इस प्रकार लवणासुरको मारकर तथा वहीं अच्छी तरह मधुरापुरी बसाकर उसके राज्यका प्रबन्ध करके बारह वर्षके बाद शत्रुघ्नजी श्रीरामका दर्शन करनेके लिये वहाँसे अयोध्याकी ओर लौटे। आते समय फिर शत्रुघ्नजी श्रीवाल्मीकि ऋषिके आश्रममें ही ठहरे। वहाँ उन्होंने मधुर स्वरमें गाये जाते हुए श्रीरामचरित्रको सुना। उसे सुनकर उनका हृदय करुणासे भर गया। वे रात्रिमें वहीं लेटकर श्रीरामके विषयमें ही विचार करते रहे। उनको

नींद नहीं आयी। सबेरा होनेपर नित्यकर्मके बाद मुनिकी आज्ञा लेकर श्रीरामदर्शनकी उत्कण्ठासे वे अयोध्याकी ओर चल पड़े। अयोध्या पहुँचकर श्रीरामचन्द्रजीके महलमें आये; वहाँ इन्द्रके समान आसनपर विराजमान श्रीरामको उन्होंने प्रणाम किया और कहा कि 'भगवन्! आपके आज्ञानुसार मैं लवणासुरको मारकर वहाँ नगर बसा आया हूँ।'

द्वादशैतानि वर्षाणि त्वां विना रघुनन्दन।
नोत्सहेयमहं वस्तुं त्वया विरहितो नृप॥
स मे प्रसादं काकुत्स्थ कुरुष्वामितविक्रम।
मातृहीनो यथा वत्सो न चिरं प्रवसाम्यहम्॥

(वा० रा० ७। ७२। ११-१२)

'महाराज रघुनाथजी! ये बारह वर्ष मैंने आपके वियोगमें बड़ी कठिनतासे बिताये हैं। इसलिये अब मैं आपके बिना वहाँ निवास करना नहीं चाहता। अतएव महापराक्रमी श्रीरामजी! आप मुझपर ऐसी कृपा करें, जिससे मातृविहीन बालककी भाँति मैं आपसे अलग होकर बहुत दिनतक कहीं न रहूँ।'

शत्रुघ्नकी यह बात सुनकर श्रीरामने उन्हें हृदयसे लगाया और कहा—'वीर! तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये, यह क्षत्रियस्वभावके अनुरूप नहीं है। तुम्हें क्षात्रधर्मके अनुसार प्रजाका पालन करना चाहिये। समय-समयपर मुझसे मिलनेके लिये आ जाया करो।' इस प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे शत्रुघ्नजीने दीन वाणीसे उनकी बात स्वीकार कर ली। फिर भरत और लक्ष्मणसे मिलकर और सबको प्रणाम करके वे मथुरा लौट गये।

इसके बाद जब भगवान् परमधाम पधारने लगे, तब फिर शत्रुघ्नको बुलाया गया। तब शत्रुघ्नजी अपने पुत्रोंका राज्याभिषेक करके अयोध्यामें पहुँचे और श्रीरामके पास आकर उनको प्रणाम करके गद्‌गद्‌वाणीसे कहने लगे—

कृत्वाभिषेकं सुतयोर्द्वयो राघवनन्दन।
तवानुगमने राजन् विद्धि मां कृतनिश्चयम्॥
न चान्यदद्य वक्तव्यमतो वीर न शासनम्।
विहन्यमानमिच्छामि मद्विधेन विशेषतः॥

(वा० रा० ७। १०८। १४-१५)

'महाराज रघुनाथजी! मैं अपने दोनों पुत्रोंका राज्याभिषेक करके आपके साथ चलनेका निश्चय करके आया हूँ। वीर! अब आप मुझे कोई दूसरी आज्ञा न दें; क्योंकि किसीके भी द्वारा और विशेषतः मेरे-जैसे अनुयायीके द्वारा आपकी आज्ञाका उल्लंघन हो—यह मैं नहीं चाहता। अभिप्राय यह है कि मैंने आजतक आपकी आज्ञाका कभी त्याग नहीं किया है। अतः अब भी वैसा न करना पड़े, इसकी आप ही रक्षा करें।'

भगवान् श्रीरामने शत्रुघ्नजीकी प्रार्थना स्वीकार की और श्रीशत्रुघ्नजी भी श्रीरामचन्द्रजीके साथ-ही-साथ परमधाम पधार गये।

यह श्रीशत्रुघ्नजीका छोटा-सा जीवन-चरित्र केवल वाल्मीकीय रामायणके आधारपर लिखा गया है, इसमें दूसरे किसी रामायणसे या पुराणोंसे कोई बात नहीं ली गयी है। इस कारण सम्भव है कि उनके प्रेम और गुणोंकी समस्त बातें पाठकोंके सामने न आवें; परन्तु इसके लिये क्षमा-प्रार्थनाके सिवा मैं कर ही क्या सकता हूँ।

आदर्श भक्त हनुमान्

श्रीहनुमान्‌जी भगवान् श्रीरामके सर्वोत्तम दास-भक्त हैं। आपका जन्म वायुदेवके अंशसे और माता अंजनीके गर्भसे हुआ था। श्रीहनुमान्‌जी बालब्रह्मचारी, महावीर, अतिशय बलवान्, बड़े बुद्धिमान्, चतुरशिरोमणि, विद्वान्, सेवाधर्मके आचार्य, सर्वथा निर्भय, सत्यवादी, स्वामिभक्त, भगवान्‌के तत्त्व, रहस्य, गुण और प्रभावको भली प्रकार जाननेवाले, महाविरक्त, सिद्ध, परम प्रेमी भक्त और सदाचारी महात्मा हैं। आप युद्ध-विद्यामें बड़े ही निपुण, इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ तथा भगवान्‌के नाम, गुण, स्वरूप और लीलाके बड़े ही रसिक हैं। कहा जाता है कि अब भी जहाँ श्रीरामकी कथा या कीर्तन होता है, वहाँ श्रीहनुमान्‌जी किसी-न-किसी वेषमें उपस्थित रहते ही हैं। श्रद्धा न होनेके कारण लोग उन्हें पहचान नहीं पाते।

श्रीहनुमान्‌जीके गुण अपार हैं। भगवान् और उनके भक्तोंके गुणोंका वर्णन कोई भी मनुष्य कैसे कर सकता है। इस विषयमें जो कुछ भी लिखा जाय, वह बहुत ही थोड़ा है। यहाँ संक्षेपमें श्रीहनुमान्‌जीके चरित्रोंद्वारा उनके गुणोंका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

पहले-पहल जब पम्पा-सरोवरपर श्रीराम और लक्ष्मणसे श्रीहनुमान्‌जी मिले हैं, वह प्रसंग देखनेसे मालूम

होता है कि श्रीहनुमान्‌जीमें विनय, विद्वत्ता, चतुरता, दीनता, प्रेम और श्रद्धा आदि गुण बड़े ही विलक्षण हैं।

अपने मन्त्रियोंके सहित ऋष्यमूक-पर्वतपर बैठे हुए सुग्रीवकी दृष्टि पम्पा-सरोवरकी ओर जाती है, तो वे देखते हैं कि हाथोंमें धनुष-बाण लिये हुए बड़े सुन्दर, विशालबाहु, महापराक्रमी दो वीर पुरुष इस ओर आ रहे हैं। उन्हें देखते ही सुग्रीव भयभीत होकर श्रीहनुमान्‌जीसे कहते हैं कि 'हनुमान्! तुम जाकर इनकी परीक्षा तो करो। यदि ये बालिके भेजे हुए हों तो मुझे संकेतसे समझा देना, जिससे मैं इस पर्वतको छोड़कर तुरंत ही भाग जाऊँ।'

सुग्रीवकी आज्ञा पाकर आप ब्रह्मचारीका रूप धरकर वहाँ जाते हैं और श्रीरामचन्द्रजीको प्रणाम करके उनसे प्रश्न करते हैं। मानस-रामायणमें श्रीतुलसीदासजी उनके प्रश्नका यों वर्णन करते हैं—

को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा। छत्री रूप फिरहु बन बीरा॥
कठिन भूमि कोमल पद गामी। कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी॥
की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ। नर नारायन की तुम्ह दोऊ॥

× × ×

जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार।
की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार॥

अध्यात्मरामायणमें भी करीब-करीब ऐसा ही वर्णन है। इसके सिवा वहाँ श्रीरामचन्द्रजी भाई श्रीलक्ष्मणसे हनुमान्‌जीकी विद्वत्ताकी सराहना करते हुए कहते हैं—

'लक्ष्मण! देखो, यह ब्रह्मचारीके वेषमें कैसा सुन्दर भाषण करता है, अवश्य ही इसने सम्पूर्ण शब्द-शास्त्र बहुत प्रकारसे पढ़ा है। इसने इतनी बातें कहीं, किन्तु इसके बोलनेमें कहीं कोई भी अशुद्धि नहीं आयी।'

वाल्मीकीय रामायणमें तो श्रीरामने यहाँतक कहा है कि 'इसने अवश्य ही सब वेदोंका अभ्यास किया है, नहीं तो यह इस प्रकारका भाषण कैसे कर सकता।' इसके सिवा और भी बहुत प्रकारसे श्रीहनुमान्‌जीके वचनोंकी सराहना करते हुए वे अन्तमें कहते हैं कि जिस राजाके पास ऐसे बुद्धिमान् दूत हों, उसके समस्त कार्य दूतकी बातचीतसे ही सिद्ध हो जाया करते हैं!

रामचरितमानसमें आगेका वर्णन बड़ा ही प्रेमपूर्ण है—

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपना समस्त परिचय देकर श्रीहनुमान्‌जीसे पूछते हैं कि ब्राह्मण! बतलाइये, आप कौन हैं? यह सुनते ही हनुमान्‌जी श्रीरामको भलीभाँति पहचानकर तुरंत ही उनके चरणोंमें गिर पड़ते हैं, उनका शरीर पुलकित हो जाता है, मुखसे बोला नहीं जाता, वे टकटकी लगाकर भगवान्‌की रूप-माधुरी और विचित्र वेषको निहारने लगते हैं। कैसा अलौकिक प्रेम है! फिर धैर्य धारण करके भगवान्‌से कहते हैं—

मोर न्याउ मैं पूछा साईं। तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं॥
तव माया बस फिरउँ भुलाना। ताते मैं नहिं प्रभु पहिचाना॥

एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान॥

जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें। सेवक प्रभुहि परै जनि भोरें॥

कितना प्रेम और दैन्यभाव है! इसके बाद विनयपूर्वक सुग्रीवकी परिस्थिति बतलाकर दोनों भाइयोंको अपनी पीठपर चढ़ाकर वे सुग्रीवके पास ले जाते हैं। वहाँ दोनों ओरकी सब बातें सुनाकर अग्निदेवकी साक्षीमें श्रीराम और सुग्रीवकी मित्रता करा देते हैं। बालीका वध करके भगवान् श्रीराम भाई लक्ष्मणके सहित प्रवर्षण-पर्वतपर निवास कर वर्षा-ऋतुका समय व्यतीत करते हैं। उधर सुग्रीव राज्य, ऐश्वर्य और स्त्री आदिके मिल जानेसे भोगोंमें फँसकर भगवान्‌के कार्यको भूल जाते हैं। यह देखकर श्रीहनुमान्‌जी राजनीतिके अनुसार सुग्रीवको भगवान्‌के कार्यकी स्मृति कराते हैं और उनकी आज्ञा लेकर वानरोंको बुलानेके लिये देश-देशान्तरोंमें दूत भेजते हैं। कैसी बुद्धिमानी है!

इसके बाद जब श्रीसीताजीकी खोजके लिये सब दिशाओंमें वानरोंको भेजनेकी बातचीत हो रही थी, उस समयका वर्णन श्रीवाल्मीकीय रामायणमें देखनेसे मालूम होता है कि सुग्रीवका श्रीहनुमान्‌जीपर कितना भरोसा और विश्वास था तथा भगवान् श्रीरामको भी उनकी कार्यकुशलतापर कितना विश्वास था। वहाँ श्रीरामके सामने ही सुग्रीव हनुमान्‌से कहते हैं—

न भूमौ नान्तरिक्षे वा नाम्बरे नामरालये।
नाप्सु वा गतिभङ्गं ते पश्यामि हरिपुङ्गव॥
सासुराः सहगन्धर्वाः सनागनरदेवताः।
विदिताः सर्वलोकास्ते ससागरधराधराः॥
गतिर्वेगश्च तेजश्च लाघवं च महाकपे।
पितुस्ते सदृशं वीर मारुतस्य महौजसः॥
तेजसा वापि ते भूतं न समं भुवि विद्यते।
तद् यथा लभ्यते सीता तत्त्वमेवानुचिन्तय॥
त्वय्येव हनुमन्नस्ति बलं बुद्धिः पराक्रमः।
देशकालानुवृत्तिश्च नयश्च नयपण्डित॥

(किष्किन्धा० ४४। ३—७)

'कपिश्रेष्ठ! तुम्हारी गतिका अवरोध न पृथ्वीमें, न अन्तरिक्षमें, न आकाशमें और न देवलोकमें अथवा जलमें ही देखा जाता है। देवता, असुर, गन्धर्व, नाग, मनुष्य इनके सहित उन-उनके समस्त लोकोंका समुद्र और पर्वतोंसहित तुम्हें भलीभाँति ज्ञान है। महाकपे! तुम्हारी गति, वेग, तेज और फुर्ती—तुम्हारे महान् बलशाली पिता वायुके समान है। वीर! इस भूमण्डलपर कोई भी प्राणी तेजमें तुम्हारी समानता करनेवाला न कभी हुआ और न है। अतः जिस प्रकार सीता मिल सके, वह उपाय तुम्हीं सोचकर बताओ। हनुमान्! तुम नीति-शास्त्रके पण्डित हो; बल, बुद्धि, पराक्रम, देश-कालका अनुसरण और नीतिपूर्ण बर्ताव—ये सब एक साथ तुममें पाये जाते हैं।'

इस प्रकार सुग्रीवकी बातें सुनकर भगवान् श्रीराम हनुमान्जीकी ओर देखकर अपना कार्य सिद्ध हुआ ही समझने लगे। उन्होंने मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने नामके अक्षरोंसे युक्त एक अँगूठी हनुमान्जीके हाथमें देकर कहा—

अनेन त्वां हरिश्रेष्ठ चिह्नेन जनकात्मजा।
मत्सकाशादनुप्राप्तमनुद्विग्नानुपश्यति ॥
व्यवसायश्च ते वीर सत्त्वयुक्तश्च विक्रमः।
सुग्रीवस्य च संदेशः सिद्धिं कथयतीव मे॥

(किष्किन्धा० ४४। १३-१४)

'कपिश्रेष्ठ! इस चिह्नके द्वारा जनकनन्दिनी सीताको यह विश्वास हो जायगा कि तुम मेरे पाससे ही गये हो। तब वह निर्भय होकर तुम्हारी ओर देख सकेगी। वीरवर! तुम्हारा उद्योग, धैर्य और पराक्रम तथा सुग्रीवका संदेश मुझे इस बातकी सूचना दे रहे हैं कि तुम्हारे द्वारा इस कार्यकी सिद्धि अवश्य होगी।'

अध्यात्मरामायणमें भी प्रायः इसी प्रकार श्रीरामने हनुमान्जीके गुणोंकी बड़ाई की है। वहाँ निशानीके रूपमें अपनी मुद्रिका देकर भगवान् श्रीराम हनुमान्जीसे कहते हैं—

अस्मिन् कार्ये प्रमाणं हि त्वमेव कपिसत्तम।
जानामि सत्त्वं ते सर्वं गच्छ पन्थाः शुभस्तव॥

(४। ६। २९)

'कपिश्रेष्ठ! इस कार्यमें केवल तुम्हीं समर्थ हो। मैं तुम्हारा समस्त पराक्रम भलीभाँति जानता हूँ। अच्छा, जाओ; तुम्हारा मार्ग कल्याणकारक हो।'

इसके बाद जब जाम्बवान् और अंगद आदि वानरोंके साथ हनुमान्जी श्रीसीताजीकी खोज करते-करते समुद्रके किनारे पहुँचते हैं और श्रीसीताका अनुसन्धान न मिलनेके कारण शोकाकुल होकर सब वहीं अनशन-व्रत लेकर बैठ जाते हैं, तब गृध्रराज सम्पातीसे बातचीत होनेपर उन्हें यह पता लगता है कि सौ योजन समुद्रके पार लंकापुरीमें राक्षसराज रावण रहता है, वहाँ अपनी अशोकवाटिकामें उसने सीताको छिपा रखा है। तब सब वानर एक जगह बैठकर परस्पर समुद्र लाँघनेका विचार करने लगे। अंगदके पूछनेपर सभीने अपनी-अपनी सामर्थ्यका परिचय दिया; परन्तु श्रीहनुमान्जी चुप साधे बैठे ही रहे। कैसी निरभिमानता है! यह प्रसंग श्रीवाल्मीकीय रामायणमें बड़ा ही रोचक और विस्तृत है। वहाँ जाम्बवान्ने श्रीहनुमान्की बुद्धि, बल, तेज, पराक्रम, विद्या और वीरताका बड़ा ही विचित्र चित्रण किया है। वे कहते हैं—

वीर वानरलोकस्य सर्वशास्त्रविदां वर।
तूष्णीमेकान्तमाश्रित्य हनूमन् किं न जल्पसि॥

....

रामलक्ष्मणयोश्चापि तेजसा च बलेन च॥

....

गरुत्मानिव विख्यात उत्तमः सर्वपक्षिणाम्॥

× × ×

पक्षयोर्यद्बलं तस्य भुजवीर्यबलं तव।
विक्रमश्चापि वेगश्च न ते तेनापहीयते॥
बलं बुद्धिश्च तेजश्च सत्त्वं च हरिपुङ्गव।
विशिष्टं सर्वभूतेषु किमात्मानं न सज्जसे॥

(किष्किन्धा० ६६। २—७)

'सम्पूर्ण शास्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ तथा वानर-जगत्के अद्वितीय वीर हनुमान्! तुम कैसे एकान्तमें आकर चुप साधे बैठे हो? कुछ बोलते क्यों नहीं? तुम तो तेज और बलमें श्रीराम और लक्ष्मणके समान हो। गमनशक्तिमें सम्पूर्ण पक्षियोंमें श्रेष्ठ विनतापुत्र महाबली गरुडके समान विख्यात हो। उनकी पाँखोंमें जो बल और तेज तथा पराक्रम है, वही तुम्हारी इन भुजाओंमें भी है। वानरश्रेष्ठ! तुम्हारे अंदर समस्त प्राणियोंसे बढ़कर बल, बुद्धि, तेज और धैर्य है; फिर तुम अपना स्वरूप क्यों नहीं पहचानते?'

इसके बाद जाम्बवान् उनके जन्मकी कथा सुनाते हैं तथा बाल्यावस्थाके पराक्रम और वरदानकी बात कहकर उनके बलकी स्मृति दिलाते हुए अन्तमें कहते हैं—

उत्तिष्ठ हरिशार्दूल लङ्घयस्व महार्णवम्।

परा हि सर्वभूतानां हनुमन् या गतिस्तव॥
विषण्णा हरयः सर्वे हनुमन् किमुपेक्षसे।
विक्रमस्व महावेग विष्णुस्त्रीन्विक्रमानिव॥

(किष्किन्धा० ६६। ३६-३७)

'वानरश्रेष्ठ हनुमान्! उठो और इस महासागरको लाँघ जाओ। जो तुम्हारी गति है, वह सभी प्राणियोंसे बढ़कर है। सभी वानर चिन्तामें पड़े हैं और तुम इनकी उपेक्षा करते हो, यह क्या बात है? तुम्हारा वेग महान् है। जैसे भगवान् विष्णुने (पृथ्वीको नापनेके लिये) तीन डगें भरी थीं, उसी प्रकार तुम छलाँग मारकर समुद्रके उस पार चले जाओ।' इतना सुनते ही श्रीहनुमान्जी तुरंत ही समुद्र लाँघनेके लिये अपना शरीर बढ़ाने लगे।

रामचरितमानसमें भी इसी आशयका वर्णन है। वहाँ अंगदको धैर्य देनेके बाद जाम्बवान् हनुमान्जीसे कहते हैं—

कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेउ बलवाना॥
पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्यान निधाना॥
कवन सो काज कठिन जगमाहीं। जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं॥
राम काज लगि तव अवतारा। सुनतहिं भयउ पर्बताकारा॥
कनक बरन तन तेज बिराजा। मानहुँ अपर गिरिन्ह कर राजा॥

अध्यात्मरामायणमें भी प्रायः इसी तरहका वर्णन है। इसके सिवा पर्वताकार रूप धारण करनेके अनन्तर वहाँ श्रीहनुमान्जी कहते हैं—

लङ्घयित्वा जलनिधिं कृत्वा लङ्कां च भस्मसात्॥
रावणं सकुलं हत्वाऽऽनेष्ये जनकनन्दिनीम्।
यद्वा बद्ध्वा गले रज्ज्वा रावणं वामपाणिना॥
लङ्कां सपर्वतां धृत्वा रामस्याग्रे क्षिपाम्यहम्।
यद्वा दृष्ट्वैव यास्यामि जानकीं शुभलक्षणाम्॥

(४। ९। २२—२४)

'वानरो! मैं समुद्रको लाँघकर लंकाको भस्म कर डालूँगा और रावणको कुलसहित मारकर श्रीजनकनन्दिनीको ले आऊँगा अथवा कहो तो रावणके गलेमें रस्सी डालकर तथा लंकाको त्रिकूटपर्वतसहित बायें हाथपर उठाकर भगवान् रामके आगे ला रखूँ? या शुभलक्षणा श्रीजानकीजीको देखकर ही चला आऊँ?'

कितना आत्मबल है! इसपर जाम्बवान्ने कहा—'वीर! तुम्हारा शुभ हो, तुम केवल शुभलक्षणा श्रीजानकीजीको जीती-जागती देखकर ही चले आओ।'

समुद्रको लाँघनेके लिये तैयार होकर आपने वानरोंसे जो वचन कहे हैं, उनसे यह पता चलता है कि आपका श्रीरामनामपर बड़ा ही दृढ़ विश्वास था। आप भगवान् श्रीरामके गुण, प्रभाव और तत्त्वको भलीभाँति जानते थे तथा श्रीराममें आपका अविचल प्रेम था। अध्यात्मरामायणमें यह प्रसंग इस प्रकार है—

....

पश्यन्तु वानराः सर्वे गच्छन्तं मां विहायसा॥
अमोघं रामनिर्मुक्तं महाबाणमिवाखिलाः।
पश्याम्यद्यैव रामस्य पत्नीं जनकनन्दिनीम्॥
कृतार्थोऽहं कृतार्थोऽहं पुनः पश्यामि राघवम्।
प्राणप्रयाणसमये यस्य नाम सकृत् स्मरन्॥
नरस्तीर्त्वा भवाम्भोधिमपारं याति तत्पदम्।
किं पुनस्तस्य दूतोऽहं तदङ्गाङ्गुलिमुद्रिकः॥
तमेव हृदये ध्यात्वा लङ्घयाम्यल्पवारिधिम्।

(५। १। २—६)

'समस्त वानरो! तुम सभी लोग भगवान् रामद्वारा छोड़े हुए अमोघ बाणकी भाँति आकाशमार्गसे जाते हुए मुझे देखो। मैं आज ही रामप्रिया जनकनन्दिनी श्रीसीताजीके दर्शन करूँगा। निश्चय ही मैं कृतकृत्य हो चुका, कृतकृत्य हो चुका; अब मैं फिर श्रीरघुनाथजीका दर्शन करूँगा। प्राण निकलनेके समय जिनके नामका एक बार स्मरण करनेसे ही मनुष्य अपार संसार-सागरको पारकर उनके परमधामको चला जाता है, उन्हीं भगवान् श्रीरामका दूत, उनके हाथकी मुद्रिका लिये हुए, हृदयमें उन्हींका ध्यान करता हुआ मैं यदि इस छोटे-से समुद्रको लाँघ जाऊँ तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।'

समुद्र लाँघनेके लिये श्रीहनुमान्जीने जो भयानक रूप धारण किया था, उसका वर्णन वाल्मीकीय रामायणमें विस्तारपूर्वक है। यहाँ उसका दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है। वहाँ लिखा है—

....

ववृधे रामवृद्ध्यर्थं समुद्र इव पर्वसु॥
निष्प्रमाणशरीरः सँल्लिलङ्घयिषुरर्णवम्।
बाहुभ्यां पीडयामास चरणाभ्यां च पर्वतम्॥
स चचालाचलश्चाशु मुहूर्तं कपिपीडितः।
तरूणां पुष्पिताग्राणां सर्वं पुष्पमशातयत्॥
तमूरुवेगोन्मथिताः सालाश्चान्ये नगोत्तमाः।
अनुजग्मुर्हनूमन्तं सैन्या इव महीपतिम्॥

(सुन्दर० १। १०, ११, १२, ४८)

'जिस प्रकार पूर्णिमाके दिन समुद्र बढ़ता है, उसी

प्रकार भगवान् श्रीरामके कार्यकी सिद्धिके लिये हनुमान् बढ़ने लगे। समुद्र लाँघनेकी इच्छासे उन्होंने अपने शरीरको बेहद बढ़ा लिया और अपनी भुजाओं एवं चरणोंसे उस पर्वतको दबाया तो वह हनुमान्‌जीके द्वारा ताडित हुआ पर्वत तुरंत काँप उठा और मुहूर्तभर काँपता रहा। उसपर उगे हुए वृक्षोंके समस्त फूल झड़ गये।

जब उन्होंने उछाल मारी, तब पर्वतपर उगे हुए साल तथा दूसरे वृक्ष इधर-उधर गिर गये। उनकी जाँघोंके वेगसे टूटे हुए वृक्ष इस प्रकार उनके पीछे चले जैसे राजाके पीछे सेना चलती है।'

इसके सिवा वहाँपर श्रीहनुमान्‌जीके स्वरूपका मनोहर भाषामें बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है। वहाँ लिखा है कि उस समय श्रीहनुमान्‌जीकी दस योजन चौड़ी और तीस योजन लंबी परछाईं वेगके कारण समुद्रमें बड़ी सुन्दर जान पड़ती थी। वे परम तेजस्वी, महाकाय कपिवर आकाशमें आलम्बनहीन पंखवाले पर्वतकी भाँति जान पड़ते थे। इससे उनकी लंबाई-चौड़ाईके विस्तारका कुछ पता चलता है।

यह देखकर मैनाक-पर्वत उनसे विश्राम लेनेके लिये अनेक प्रकारसे प्रार्थना करता है, परन्तु भगवान् श्रीरामका कार्य पूरा किये बिना आपको विश्राम कहाँ! आप उसे केवल स्पर्शमात्र करके ही आगे बढ़ जाते हैं।

रामचरितमानसमें श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

जेहिं गिरि चरन देइ हनुमंता। चलेउ सो गा पाताल तुरंता॥
जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। एही भाँति चलेउ हनुमाना॥
जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तैं मैनाक होहि श्रमहारी॥
हनूमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम।
राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम॥

सुरसाको अपनी बुद्धि-बलका परिचय देकर आगे जाते-जाते जब समुद्रपर आपकी दृष्टि पड़ती है, तब क्या देखते हैं कि एक विशालकाय प्राणी समुद्रके जलपर पड़ा हुआ है। उस विकरालवदना राक्षसीको देखकर वे सोचने लगे—कपिराज सुग्रीवने जिस महापराक्रमी छायाग्राही अद्भुत जीवकी बात कही थी, वह निःसन्देह यही है। ऐसा निश्चय करके उन्होंने अपने शरीरको बढ़ाया। हनुमान्‌जीके शरीरको बढ़ता देखकर सिंहिका भी अपना भयानक मुख फैलाकर हनुमान्‌जीकी ओर दौड़ी। तब हनुमान्‌जी छोटा रूप बनाकर उसके मुखमें घुस गये और अपने नखोंसे उसके मर्मस्थलोंको फाड़ डाला। इस प्रकार कुशलता और धैर्यपूर्वक उसे मारकर फिर पहलेकी भाँति आगे बढ़ गये। कैसा विचित्र बुद्धि-कौशल, धैर्य और साहस है।

इस प्रकार समुद्रको पार करके आप त्रिकूट-पर्वतपर जा उतरे। बिना विश्राम सौ योजनके समुद्रको लाँघनेपर भी आपके शरीरमें किसी प्रकारकी थकावट नहीं आयी। वहाँसे उन्होंने भलीभाँति लंकाका निरीक्षण किया। फिर लंकाके समीप जाकर उसके भीतर प्रवेश करनेके विषयमें खूब विचार करके अन्तमें यह निश्चय किया कि रात्रिके समय छोटा रूप बनाकर इसमें प्रवेश करना ठीक होगा। इसके बाद सन्ध्याकालमें जब आप छोटा-सा रूप धारण करके लंकापुरीमें प्रवेश करने लगे, तब द्वारपर लंकापुरीकी अधिष्ठात्री लंकिनी राक्षसीने उनको देख लिया। उसने श्रीहनुमान्‌जीको डाँट-डपटकर जब लात मारी, तब आपने अपने बायें हाथका एक मुक्का उसके शरीरपर मारा। उसके लगते ही वह रुधिर वमन करती हुई पृथ्वीपर गिर पड़ी। फिर उठकर ब्रह्माजीकी बातको स्मरण करके हनुमान्‌जीकी स्तुति करने लगी और अन्तमें बोली—

धन्याहमप्यद्य चिराय राघव-
स्मृतिर्ममासीद्भवपाशमोचिनी ।
तद्भक्तसंगोऽप्यतिदुर्लभो मम
प्रसीदतां दाशरथिः सदा हृदि॥

(अध्यात्म० ५। १। ५७)

'आज मैं भी धन्य हूँ जो चिरकालके बाद मुझे संसारबन्धनका नाश करनेवाली रघुनाथजीकी स्मृति प्राप्त हुई तथा उनके भक्तका अति दुर्लभ संग भी मिला। वे दशरथपुत्र श्रीराम सदा ही मेरे हृदयमें प्रसन्नतापूर्वक निवास करें।' रामचरितमानसमें यह प्रसंग इस प्रकार है—

हनुमान्‌जीके प्रहारसे व्याकुल होकर गिर पड़नेके बाद सावधान होकर लंकिनी कहती है—

तात मोर अति पुन्य बहूता। देखेउँ नयन राम कर दूता॥
तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

इसके बाद हनुमान्‌जी छोटा-सा रूप धारण कर लंकापुरीमें सीताकी खोज करते-करते बहुत-से राक्षसोंके घरमें घूम-फिरकर रावणके महलमें जाते हैं। वहाँ रावणके महलकी विचित्र रचना देखते-देखते पुष्पक-विमानको आश्चर्ययुक्त होकर देखते हैं। इसके बाद जिस समय उन्होंने सीताको पहचाननेके लिये रावणके महलमें रावणकी स्त्रियोंको देखकर अपने मनकी स्थितिका वर्णन किया

है, उसे देखनेसे यह पता चलता है कि आपकी ब्रह्मचर्यनिष्ठा कितनी ऊँची थी, परस्त्री-दर्शनको आप कितना बुरा समझते थे, आपका कितना सुन्दर विशुद्ध भाव था। वाल्मीकीय रामायणकी कथा है कि जब हनुमान्‌जीने रावणके महलका कोना-कोना छान डाला, परन्तु उन्हें जानकी कहीं दिखायी नहीं पड़ी, उस समय सीताको खोजनेके उद्देश्यसे स्त्रियोंको देखते-देखते उनके मनमें धर्म-भयसे शंका हुई। वे सोचने लगे, 'इस प्रकार अन्त:पुरमें सोयी हुई परायी स्त्रियोंको देखना तो मेरे धर्मको एकदम नष्ट कर देगा; परन्तु इन परस्त्रियोंको मैंने कामबुद्धिसे नहीं देखा है। इस दृश्यसे मेरे मनमें तनिक भी विकार नहीं हुआ। समस्त इन्द्रियोंकी अच्छी-बुरी प्रवृत्तियोंका कारण मन ही है और मेरा मन सर्वथा निर्विकार है। इसके सिवा सीताजीको दूसरे तरीकेसे मैं खोज भी नहीं सकता। स्त्रियोंको ढूँढ़ते समय स्त्रियोंके ही बीचमें ढूँढ़ना पड़ता है'—इत्यादि। ऐसे सुन्दर विचार और ऐसा विशुद्ध भाव आपके ही उपयुक्त है।

साधकोंको इससे विशेष शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और विकट स्थितिमें भी अपने मनमें किसी प्रकारका भी विकार नहीं आने देना चाहिये। वाल्मीकीय रामायणमें सीताकी खोजका बड़ा ही विचित्र और विस्तृत वर्णन है। यहाँ उसमेंसे बहुत ही थोड़े-से प्रसंगका दिग्दर्शनमात्र कराया गया है।

रामचरितमानसमें लिखा है कि सीताको खोजनेके लिये लंकामें घूमते-घूमते हनुमान्‌जीकी दृष्टि एक सुन्दर भवनपर पड़ती है, जिसपर भगवान् श्रीरामके आयुध अंकित किये हुए हैं। तुलसीके पौधे उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। यह देखकर आप सोचने लगते हैं कि यहाँ तो राक्षसोंका ही निवास है, यहाँ सज्जन पुरुष क्यों निवास करने लगे। उसी समय विभीषण जाग उठते हैं और बार-बार श्रीराम-नामका स्मरण करते हैं। यह देखकर हनुमान्‌जीने सोचा कि नि:सन्देह यह कोई भगवान्‌का भक्त है, इससे जरूर पहचान करनी चाहिये। साधुसे कभी कार्यकी हानि नहीं हो सकती।

बिप्र रूप धरि बचन सुनाए। सुनत बिभीषन उठि तहँ आए॥
करि प्रनाम पूँछी कुसलाई। बिप्र कहहु निज कथा बुझाई॥
की तुम्ह हरि दासन्ह महँ कोई। मोरें हृदय प्रीति अति होई॥
की तुम्ह रामु दीन अनुरागी। आयहु मोहि करन बड़भागी॥
तब हनुमंत कही सब राम कथा निज नाम।
सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुन ग्राम॥

भगवान्‌के भक्तोंमें परस्पर स्वाभाविक प्रेम कैसा होना चाहिये, इसका यहाँ बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा गया है। विभीषण कहते हैं—

तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा॥
तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद सरोज मन माहीं॥
अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता॥

तब हनुमान्‌जी कहते हैं—

सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती। करहिं सदा सेवक पर प्रीती॥
कहहु कवन मैं परमकुलीना। कपि चंचल सबहीं बिधि हीना॥
अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥
जानतहूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी॥
एहि बिधि कहत राम गुन ग्रामा। पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा॥

कितना सुन्दर दैन्यभाव, अतुलित विश्वास और अनन्य भगवत्प्रेम है। इसके बाद विभीषणसे सब खबर पाकर हनुमान्‌जी अशोकवाटिकामें जाकर श्रीसीताजीको देखते हैं और मन-ही-मन उनको प्रणाम करते हैं।

अशोकवाटिकामें जाकर श्रीसीताजीसे मिलनेके लिये हनुमान्‌जीने कितनी बुद्धिमानी और युक्तियोंसे काम लिया है, इसका वर्णन वाल्मीकीय रामायणमें बहुत विस्तृत है। वहाँ लिखा है कि बहुत तरहकी युक्तियाँ लगाकर सीताजीसे मिलनेका उपाय सोचते-सोचते अन्तमें हनुमान्‌जी बड़ी सावधानीके साथ एक सघन वृक्षके पत्तोंमें छिपकर बैठ जाते हैं। वहींसे सब ओर दृष्टि घुमाकर देखते हैं। देखते-देखते उनकी दृष्टि सीतापर पड़ती है। उसे देखकर बहुत-से चिह्नोंद्वारा अनुमान लगाकर यह निश्चय करते हैं कि यही जनकनन्दिनी सीता हैं। वहाँ उन्होंने सीताके रहन-सहन और स्वभावका बड़ा ही विचित्र चित्रण किया है। वे सीताके गहनोंको देखकर यह अनुमान लगाते हैं कि भगवान् श्रीरामने सीताजीके अंगोंमें जिन-जिन आभूषणोंकी चर्चा की थी, वे सभी इनके अंगोंमें दिखायी देते हैं। इनमें केवल वे ही नहीं दिखलायी दे रहे हैं, जो इन्होंने ऋष्यमूक पर्वतपर गिरा दिये थे।

इसी प्रकार उनके रूप और गुणोंको देखकर बड़ी बुद्धिमानीसे उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि नि:सन्देह यही सीता हैं। यह निश्चय हो जानेपर उनको श्रीसीताजीके दु:खसे बड़ा दु:ख हुआ और वे मन-ही-मन बहुत विलाप करने लगे।

इसके बाद सीतासे किस प्रकार बातचीत करनी चाहिये, किस समय और कैसे मिलना चाहिये, किस प्रकार उन्हें विश्वास दिलाना चाहिये कि मैं श्रीरामचन्द्रजीका दास हूँ—इस विषयपर भी आपने बड़ी विचारकुशलता प्रकट की है। ठीक उसी समय रावण बहुत-सी राक्षसियोंको साथ लेकर वहाँ पहुँच जाता है। वह सीताको अनेक प्रकारसे भय दिखलाकर अपने अधीन करनेकी चेष्टा करता है, पर सीता किसी तरह भी अपने निश्चयसे विचलित नहीं होती। अन्तमें रावण चला जाता है। तब उसके आज्ञानुसार राक्षसियाँ अनेक प्रकारसे सीताको भय दिखलाती हैं। उसी समय त्रिजटा नामकी राक्षसी अपने स्वप्नकी बात कहकर सीताको धैर्य देती है और उसकी बातें सुनकर वे घोर राक्षसियाँ भी शान्त हो जाती हैं। सीता विरहसे व्याकुल होकर विलाप करने लग जाती हैं।

तब हनुमान्‌जी सीतासे मिलनेका उपयुक्त मौका देखकर अपने पूर्वनिश्चित विचारके अनुसार श्रीरामकी कथाका वर्णन करने लग जाते हैं। श्रीरघुनाथजीका आद्योपान्त समस्त चरित्र सुनकर सीताको बड़ा विस्मय हुआ। अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि अन्तमें उन्होंने सोचा कि यह स्वप्न या भ्रम तो नहीं है। ऐसा विचार करके वे कहने लगीं—

येन मे कर्णपीयूषं वचनं समुदीरितम्।
स दृश्यतां महाभागः प्रियवादी ममाग्रतः॥
(५।३।१८)

'जिन्होंने मेरे कानोंको अमृतके समान प्रिय लगनेवाले वचन सुनाये, वे प्रिय-भाषी महाभाग मेरे सामने प्रकट हों।'

ये वचन सुनकर आप माता सीताके सामने बड़ी विनयके साथ खड़े हो जाते हैं और हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम करते हैं। अकस्मात् एक वानरको अपने सामने खड़ा देखकर सीताके मनमें यह शंका होती है कि कहीं रावण तो मुझे छलनेके लिये नहीं आ गया है, यह सोचकर वे नीचेकी ओर मुख किये हुए ही बैठी रहती हैं। रामचरितमानसमें उस समय श्रीहनुमान्‌जीके वचन इस प्रकार हैं—

राम दूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुनानिधान की॥
यह मुद्रिका मातु मैं आनी। दीन्हि राम तुम्ह कहँ सहिदानी॥

इसके बाद श्रीजानकीजीके पूछनेपर उन्होंने जिस प्रकार वानरराज सुग्रीवके साथ भगवान् श्रीरामकी मित्रता हुई, वह सारी कथा विस्तारपूर्वक सुना दी तथा श्रीराम और लक्ष्मणके शारीरिक चिह्नोंका एवं उनके गुण और स्वभावका भी वर्णन किया। ये सब बातें सुनकर जानकीजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। इस प्रसंगका वर्णन श्रीवाल्मीकीय रामायणमें बड़ा विस्तृत और रोचक है।

रामचरितमानसमें श्रीतुलसीदासजीने बहुत ही संक्षेपमें इस प्रकार कहा है—

कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास॥
हरिजन जानि प्रीति अति गाढ़ी। सजल नयन पुलकावलि बाढ़ी॥

इसके बाद महातेजस्वी पवनकुमार हनुमान्‌जीने सीताजीको भगवान् श्रीरामकी दी हुई अँगूठी दी, जिसे लेकर वे इतनी प्रसन्न हुईं मानो स्वयं भगवान् श्रीराम ही मिल गये हों।

उस समय वे हनुमान्‌जीसे कहती हैं—

बूड़त बिरह जलधि हनुमाना। भयहु तात मो कहुँ जलजाना॥
अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी। अनुज सहित सुख भवन खरारी॥
कोमलचित कृपाल रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई॥
सहज बानि सेवक सुख दायक। कबहुँक सुरति करत रघुनायक॥
कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता॥
बचनु न आव नयन भरे बारी। अहह नाथ हौं निपट बिसारी॥

इस प्रकार सीताको विरह-व्याकुल देखकर हनुमान्‌जी कहते हैं—

मातु कुसल प्रभु अनुज समेता। तव दुख दुखी सुकृपा निकेता॥
जनि जननी मानहु जियँ ऊना। तुम्ह ते प्रेमु राम कें दूना॥
रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कपि गदगद भयउ भरे बिलोचन नीर॥

इसके बाद बड़ी बुद्धिमानीके साथ श्रीरामके प्रेम और विरह-व्याकुलताकी बात श्रीहनुमान्‌जीने माता सीताको सुनायी। अन्तमें कहा कि श्रीरामचन्द्रजीने कहा है—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

इस प्रकार श्रीरामका प्रेमपूर्ण सन्देश सुनकर सीता प्रेममें मग्न हो गयीं, उन्हें अपने शरीरका भी भान नहीं रहा। तब हनुमान्‌जी फिर कहते हैं—

उर आनहु रघुपति प्रभुताई। सुनि मम बचन तजहु कदराई॥
निसिचर निकर पतंग सम रघुपति बान कृसानु।
जननी हृदयँ धीर धरु जरे निसाचर जानु॥

ये सब बातें सुनकर जब जानकीजीने यह कहा कि 'सब वानर तो तुम्हारे ही जैसे होंगे। राक्षसगण बड़े भयानक और विकराल हैं। इन सबको तुमलोग कैसे जीत

सकोगे, मेरे मनमें यह सन्देह हो रहा है।' यह सुनकर हनुमान्‌जीने अपना भयानक पर्वताकार रूप सीताको दिखलाकर अपना छिपा हुआ प्रभाव प्रकट कर दिया। उसे देखते ही सीताके मनमें विश्वास हो गया। सीताने प्रसन्न होकर हनुमान्‌जीको बहुतसे वरदान दिये। साथ ही यह भी कहा कि भगवान् श्रीराम तुमपर कृपा करेंगे। यह बात सुनते ही हनुमान्‌जी प्रेममें मग्न हो गये और बार-बार चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए बोले—

अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता । आसिष तव अमोघ बिख्याता॥

इससे यह प्रकट होता है कि हनुमान्‌जीका श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें कितना गूढ़ प्रेम है।

अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि बातों-ही-बातोंमें सीताजीने जब यह पूछा कि 'वानर-सेनाके सहित श्रीराम इस बड़े भारी समुद्रको पार कर यहाँ कैसे आ सकेंगे!' तब—

हनूमानाह मे स्कन्धावारुह्य पुरुषर्षभौ।
आयास्यतः ससैन्यश्च सुग्रीवो वानरेश्वरः॥
विहायसा क्षणेनैव तीर्त्वा वारिधिमाततम्॥

(अध्यात्म०, सुन्दर० ३।४७-४८)

'हनुमान्‌ने कहा—वे दोनों नरश्रेष्ठ मेरे कंधोंपर चढ़कर आ जायँगे और समस्त सेनाके सहित वानरराज सुग्रीव भी आकाशमार्गसे क्षणमात्रमें ही इस महासमुद्रसे पार होकर आ जायँगे।'

इस प्रसंगसे भी श्रीहनुमान्‌जीके बल, वीर्य और साहसका परिचय मिलता है। इसके बाद माता सीतासे आज्ञा लेकर अशोकवाटिकाके फल खाकर श्रीहनुमान्‌जीने अपने स्वामी श्रीरामका विशेष कार्य करनेकी इच्छासे अशोकवाटिकाके वृक्षोंको तहस-नहस करके समस्त वाटिकाको विध्वंस कर दिया। यह समाचार पाकर रावणने अपनी बड़ी भारी सेना और अक्षयकुमारको भेजा। उन सबके साथ हनुमान्‌जीका बड़ा भयंकर संग्राम हुआ। बड़ी वीरता और युद्ध-कौशलसे उन्होंने अनायास ही जाम्बुमाली मन्त्रीके सात पुत्रों, पाँच सेनापतियों और अक्षयकुमारको मार डाला। इस युद्धके प्रसंगसे श्रीहनुमान्‌जीका अतुलित बल-पौरुष और युद्ध-कौशल स्पष्ट व्यक्त होता है। श्रीवाल्मीकीय रामायणमें इसका बड़ा सुन्दर वर्णन है। श्रीहनुमान्‌जीके अतुलित पराक्रमका चित्र खींचते हुए वहाँ लिखा है—

तलेनाभिहनत् कांश्चित् पादैः कांश्चित्परंतपः।
मुष्टिभिश्चाहनत्कांश्चिन्नखैः कांश्चिद्व्यदारयत्॥
प्रममाथोरसा कांश्चिदूरुभ्यामपरानपि।
केचित्तस्यैव नादेन तत्रैव पतिता भुवि॥

(सुन्दर० ४५।१२-१३)

'हनुमान्‌जीने उन राक्षसोंमेंसे किसीको थप्पड़ मारकर गिरा दिया, कितनोंको पैरोंसे कुचल डाला, कइयोंका मुक्कोंसे काम तमाम कर दिया और बहुतोंको नखोंसे फाड़ डाला। कुछको छातीसे रगड़कर उनका कचूमर निकाल दिया तो किन्हीं-किन्हींको दोनों जाँघोंसे दबोचकर पीस डाला। कितने ही राक्षस तो उनकी भयानक गर्जनासे ही वहाँ पृथ्वीपर गिर पड़े—इत्यादि।

जब बचे-खुचे राक्षसोंसे रावणको यह खबर मिली कि मन्त्रीके सातों पुत्र और प्रधान-प्रधान प्रायः सभी राक्षस मारे गये, पाँचों सेनापति तथा अक्षयकुमार भी मारा गया, तब उसने इन्द्रजित्‌को उत्साहित करके हनुमान्‌जीको पकड़ लानेके लिये भेजा। मेघनाद और हनुमान्‌जीका बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। अन्तमें जब उसने श्रीहनुमान्‌जीको बाँधनेके लिये ब्रह्मास्त्र छोड़ा, तब ब्रह्माजीका सम्मान रखनेके लिये वे उससे बँध गये। उन्होंने सोचा कि राक्षसोंद्वारा पकड़े जानेमें भी मेरा लाभ ही है; क्योंकि इससे मुझे राक्षसराज रावणके साथ बातचीत करनेका अवसर मिलेगा। यह सोचकर वे निश्चेष्ट हो गये। तब राक्षसलोगोंने नाना प्रकारके रस्सोंसे हनुमान्‌जीको अच्छी प्रकार बाँध लिया। ऐसा करनेसे ब्रह्मास्त्रका प्रभाव नहीं रहा। इस प्रकार ब्रह्मास्त्रसे मुक्त हो जानेपर भी परम चतुर हनुमान्‌जीने ऐसा बर्ताव किया मानो इस बातको वे जानते ही न हों।

अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि इसके बाद हनुमान्‌जी रावणकी सभामें लाये गये, वहाँ पहुँचकर उन्होंने समस्त सभाके बीचमें बड़ी सज-धजके साथ राजसिंहासनपर बैठे हुए रावणको देखा। हनुमान्‌जीको देखकर रावणको मन-ही-मन बड़ी चिन्ता हुई। वह सोचने लगा कि यह भयंकर वानर कौन है, क्या साक्षात् शिवजीके गण भगवान् नन्दीश्वर ही तो वानरका रूप धारण कर नहीं आ गये हैं। इस प्रकार बहुत-सा तर्क करनेके बाद रावणने प्रहस्तसे कहा—

प्रहस्त पृच्छैनमसौ किमागतः
किमत्र कार्यं कुत एव वानरः।
वनं किमर्थं सकलं विनाशितं
हताः किमर्थं मम राक्षसा बलात्॥

(५।४।५)

'प्रहस्त! इस वानरसे पूछो, यह यहाँ क्यों आया है? यहाँ इसका क्या काम है? यह आया कहाँसे है? तथा इसने मेरा समस्त बगीचा क्यों नष्ट कर डाला? और मेरे राक्षस वीरोंको बलात् क्यों मार डाला?

प्रहस्तने श्रीहनुमान्‌जीसे सारी बातें सत्य-सत्य कहनेके लिये अनुरोध किया, तब आपने बड़ी राजनीतिके साथ उत्तर दिया। मनमें भगवान्‌का स्मरण करके वे कहने लगे—

शृणु स्फुटं देवगणाद्यमित्र हे
रामस्यदूतोऽहमशेषहृत्स्थितेः ।
यस्याखिलेशस्य हृताधुना त्वया
भार्या स्वनाशाय शुनेव सद्धविः॥

(५।४।८)

'देवादिकोंके शत्रु रावण! तुम साफ-साफ सुनो—कुत्ता जिस प्रकार विशुद्ध हविको चुरा ले जाता है, उसी प्रकार तुमने अपना नाश करानेके लिये जिन अखिलेश्वरकी साध्वी भार्याको हर लिया है, मैं उन्हीं सर्वान्तर्यामी भगवान् रामका दूत हूँ, वाल्मीकीय रामायणमें इस प्रसंगका विस्तृत वर्णन है। वहाँ हनुमान्‌जी कहते हैं—

अब्रवीन्नास्मिशक्रस्य यमस्य वरुणस्य च।
धनदेन न मे सख्यं .... ॥
जातिरेव मम त्वेषा वानरोऽहमिहागतः।
दर्शने राक्षसेन्द्रस्य तदिदं दुर्लभं मया॥
वनं राक्षसराजस्य दर्शनार्थे विनाशितम्।
ततस्ते राक्षसाः प्राप्ता बलिनो युद्धकांक्षिणः॥
रक्षणार्थं च देहस्य प्रतियुद्धा मया रणे।
अस्त्रपाशैर्न शक्योऽहं बद्धुं देवासुरैरपि॥
....
राजानं द्रष्टुकामेन मयास्त्रमनुवर्तितम्॥

(सुन्दर० ५०।१३—१७)

'मैं इन्द्र, यम, वरुण आदि अन्य किसी देवताका भेजा हुआ नहीं हूँ, न मेरी कुबेरके साथ मित्रता है। मेरी तो यह जाति ही है अर्थात् मैं जन्मसे ही वानर हूँ, राक्षसराज रावणको देखनेके लिये ही मैं यहाँ आया हूँ तथा रावणसे मिलनेके उद्देश्यसे ही मैंने ऐसा यह दुर्लभ बगीचा उजाड़ा है। तुम्हारे बली राक्षस मुझसे लड़नेके लिये गये; तब अपने शरीरकी रक्षाके लिये मैंने उनका मुकाबला किया। देवता या असुर—कोई भी किसी प्रकार मुझे अस्त्रोंके द्वारा बाँध नहीं सकता। राक्षसराजको देखनेके लिये ही मैंने यह बन्धन स्वीकार किया है।'

इसके बाद संक्षेपमें श्रीरामकी समस्त कथाका वर्णन करते हुए, उनकी सुग्रीवके साथ मित्रता होने और बालीके मारे जानेकी सब बातें कहकर यह बतलाया कि 'मैं सीताकी खबर लेनेके लिये आया हूँ।' इसके बाद आपने बड़ी युक्तियोंसे रावणको भगवान् श्रीरामके बल, पराक्रम, प्रभाव और ऐश्वर्यकी बातें सुनाकर बहुत कुछ समझानेकी चेष्टा की। रामचरितमानसमें श्रीहनुमान्‌जी कहते हैं—

बिनती करउँ जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥

× × ×

जाकें डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥
तासों बयरु कबहुँ नहिं कीजै। मोरे कहें जानकी दीजै॥
प्रनतपाल रघुनायक करुना सिंधु खरारि।
गएँ सरन प्रभु राखिहैं तव अपराध बिसारि॥
राम चरन पंकज उर धरहू। लंका अचल राजु तुम्ह करहू॥

× × ×

सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी। बिमुख राम त्राता नहिं कोपी॥

× × ×

मोहमूल बहु सूल प्रद त्यागहु तम अभिमान।
भजहु राम रघुनायक कृपा सिंधु भगवान॥

भगवान् श्रीरामका प्रभाव दिखलाकर बहुत कुछ समझानेके बाद अध्यात्मरामायणमें भी यही कहा है—

विसृज्य मौर्ख्यं हृदि शत्रुभावनां
भजस्व रामं शरणागतप्रियम्।
सीतां पुरस्कृत्य सपुत्रबान्धवो
रामं नमस्कृत्य विमुच्यसे भयात्॥

(५।४।२३)

'रावण! तुम हृदयमें स्थित शत्रुभावनारूप मूर्खताका त्याग करके शरणागतप्रिय श्रीरामका भजन करो। श्रीसीताजीको आगे करके अपने पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित (भगवान् श्रीरामकी शरणमें जा पड़ो) उन्हें नमस्कार करो। ऐसा करके तुम भयसे मुक्त हो जाओगे।'

इस प्रकार श्रीहनुमान्‌जीने रावणको उसके हितकी बहुत-सी बातें कहीं, परन्तु उसे वे बहुत ही बुरी लगीं। वह हनुमान्‌जीपर क्रोध करके कहने लगा—'अरे बंदर! तुम निर्भयकी भाँति कैसे मेरे सामने बक रहे हो! तुम बंदरोंमें नीच हो। मैं अभी तुम्हें मार डालूँगा।' इस प्रकार उसने श्रीहनुमान्‌जीको बहुत-सी खोटी-खरी बातें कहकर राक्षसोंको आदेश दिया कि 'इसे मार डालो।' यह

सुनते ही बहुत-से राक्षस श्रीहनुमान्‌जीको मारनेके लिये उद्यत हुए। उस समय विभीषणने रावणको समझाया। रामचरितमानसमें इसका यों वर्णन आता है—

नाइ सीस करि बिनय बहूता। नीति बिरोध न मारिअ दूता॥
आन दंड कछु करिअ गोसाँई। सबहीं कहा मंत्र भल भाई॥

यह सुनकर रावणने कहा—

कपि कें ममता पूँछ पर सबहि कहउँ समुझाइ।
तेल बोरि पट बाँधि पुनि पावक देहु लगाइ॥
पूँछहीन बानर तहँ जाइहि। तब सठ निज नाथहि लइ आइहि॥
जिन्ह कै कीन्हिसि बहुत बड़ाई। देखउँ मैं तिन्ह कै प्रभुताई॥

अध्यात्मरामायणमें लिखा है—

यह सुनकर श्रीहनुमान्‌जीने मन-ही-मन सोचा कि अब काम बन गया। उधर राक्षसोंने रावणकी आज्ञा पाकर तुरंत ही हनुमान्‌जीकी पूँछपर बहुत-से वस्त्र घी और तेलमें भिगो-भिगोकर बाँध दिये, पूँछके अग्रभागमें थोड़ी आग लगा दी और शहरमें फिराकर एवं डोंडी पिटवाकर लोगोंको सुनाने लगे कि 'यह चोर है, इसलिये इसे यह दण्ड दिया गया है।' कुछ दूर जानेपर हनुमान्‌जीने अपने शरीरको संकुचित कर तुरंत ही समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर पर्वताकार रूप धारण कर लिया और समस्त लंका जला डाली।

उत्प्लुत्योत्प्लुत्य सन्दीप्तपुच्छेन महता कपिः।
ददाह लङ्कामखिलां साट्टप्रासादतोरणाम्॥
हा तात पुत्र नाथेति क्रन्दमानाः समन्ततः।
व्याप्ताः प्रासादशिखरेऽप्यारूढा दैत्ययोषितः॥

(५।४।४२-४३)

'एक घरसे दूसरे घरपर छलाँग मारते हुए श्रीहनुमान्‌जीने अपनी जलती हुई बड़ी पूँछसे अटारी, महल और तोरणोंके सहित समस्त लंकाको जला दिया। उस समय 'हा तात! हा पुत्र! हा नाथ!' इस प्रकार चिल्लाती हुई दैत्योंकी स्त्रियाँ चारों ओर फैल गयीं और महलोंके शिखरोंपर भी चढ़ गयीं।

रामचरितमानसमें लिखा है—

निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारीं। भईं सभीत निसाचर नारीं॥

× × ×

जारा नगरु निमिष एक माहीं। एक बिभीषन कर गृह नाहीं॥

× × ×

उलटि पलटि लंका सब जारी। कूदि परा पुनि सिंधु मझारी॥
पूँछ बुझाइ खोइ श्रम धरि लघु रूप बहोरि।
जनकसुता कें आगें ठाढ़ भयउ कर जोरि॥

इस प्रकार श्रीजानकीजीके पास पहुँचकर श्रीहनुमान्‌जीने उन्हें प्रणाम किया और लौटकर श्रीरामके पास जानेके लिये आज्ञा माँगी। तब माता सीताने कहा कि 'हनुमान् तुम्हें देखकर मैं अपने दुःखको कुछ भूल गयी थी; अब तुम भी जा रहे हो तो बताओ, अब मैं भगवान् श्रीरामकी कथा सुने बिना कैसे रह सकूँगी?' अध्यात्मरामायणमें उस समय श्रीहनुमान्‌जीके वचन इस प्रकार हैं—

यद्येवं देवि मे स्कन्धमारोह क्षणमात्रतः।
रामेण योजयिष्यामि मन्यसे यदि जानकि॥

(५।५।६)

'देवि जानकी! यदि ऐसी बात है और आप स्वीकार करें तो मेरे कंधेपर चढ़ जाइये; मैं एक क्षणमें ही आपको श्रीरामसे मिला दूँगा।'

वाल्मीकीय रामायणमें और भी विस्तृत वर्णन है। वहाँ हनुमान्‌जीके इस प्रस्तावपर श्रीजनकनन्दिनी कहती हैं—'हनुमान्! मैं स्वेच्छासे किसी पुरुषको कैसे स्पर्श कर सकती हूँ। श्रीरामजी वानरोंके साथ यहाँ आकर रावणको युद्धमें मारकर मुझे ले जायँ इसीमें उनकी शोभा है। इसलिये तुम जाओ, मैं किसी तरह कुछ दिन प्राण धारण करूँगी।'

इसके बाद रामचरितमानसमें हनुमान्‌जीके वचन इस प्रकार हैं—

मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा। जैसे रघुनायक मोहि दीन्हा॥

तब सीताने अपनी चूडामणि हनुमान्‌को दी, उसे पाकर हनुमान्‌जी बड़े प्रसन्न हुए। उसके बाद सीताने वह सब प्रसंग भी हनुमान्‌जीको सुनाया, जिस प्रकार जयन्तने कौवेका रूप धारण करके चोंच मारी थी और भगवान् श्रीरामने उसपर क्रोध किया था।

इस प्रकार श्रीहनुमान्‌जी सीताका सन्देश लेकर, उनको प्रणाम करके वहाँसे लौटे। उनके मनमें श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनोंकी बड़ी उतावली हो रही थी। इसलिये वे बड़े वेगसे पहाड़पर चढ़ रहे थे। उस समय उनके पैरोंकी धमकसे पर्वतकी शिलाएँ चूर-चूर होती जा रही थीं। सबसे ऊँचे शिखरपर चढ़कर श्रीहनुमान्‌जीने अपना शरीर बढ़ाया और समुद्रसे पार होकर उत्तरी किनारेपर जानेका विचार किया। पर्वतसे उछलकर वे वायुकी भाँति आकाशमें जा पहुँचे। वह पर्वत हनुमान्‌जीके पैरोंसे दबाये जानेके कारण बड़ी आवाज करता हुआ अपने ऊपर रहनेवाले वृक्षों और प्राणियोंके सहित जमीनमें धँस गया।

श्रीहनुमान्‌जी आकाशमार्गसे आगे बढ़ते हुए उत्तर तटके पास पहुँचकर बड़े जोरसे गर्जे, जिससे समस्त दिशाएँ गूँज उठीं। उसे सुनकर हनुमान्‌जीसे मिलनेके लिये समस्त वानर उत्साहित हो उठे। जाम्बवान्‌के हृदयमें बड़ी प्रसन्नता हुई, वे सबसे कहने लगे—'हनुमान्‌जी सब प्रकारसे अपना कार्य सिद्ध करके आ रहे हैं अन्यथा इनकी ऐसी गर्जना नहीं हो सकती थी।'

इतनेमें ही अत्यन्त वेगशाली पर्वताकार श्रीहनुमान्‌जी महेन्द्र पर्वतके शिखरपर कूद पड़े। उस समय सभी वानर बड़े प्रसन्न हुए और महात्मा हनुमान्‌जीको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये। हनुमान्‌जीने जाम्बवान् आदि बड़ोंको प्रणाम किया तथा अन्य वानरोंसे प्रेमपूर्वक मिले। संक्षेपमें ही सीताजीसे मिलने और लंका जला डालनेका सारा प्रसंग उन लोगोंसे कह सुनाया। वाल्मीकीय रामायणमें इस प्रसंगका भी बड़े विस्तारसे वर्णन हुआ है।

समस्त वानरोंके सहित श्रीहनुमान्‌जी वहाँसे चलकर किष्किन्धा पहुँचे। वहाँ सुग्रीवके मधुवनमें आनन्दपूर्वक सब वानरोंने अंगदकी आज्ञा लेकर मधुपान किया। रक्षकोंने आकर वानरराज सुग्रीवके पास इसकी शिकायत की, उस समय लक्ष्मणके पूछनेपर सुग्रीवने कहा—'भाई लक्ष्मण! इन सब बातोंसे मुझे तनिक भी सन्देह नहीं रहा कि हनुमान्‌ने ही भगवती सीताका दर्शन किया है। वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌में कार्य सिद्ध करनेकी शक्ति, बुद्धि, उद्योग, पराक्रम और शास्त्रीय ज्ञान—सभी कुछ हैं।' इसके अतिरिक्त उन्होंने और भी बहुत-सी ऐसी बातें कहीं, जिनसे श्रीहनुमान्‌जीका प्रभाव स्पष्ट व्यक्त होता है।

फिर सुग्रीवने तुरंत ही सब वानरोंके साथ हनुमान्‌जीको अपने पास बुला लिया और वे उनका कुशल-समाचार जानकर बड़े प्रसन्न हुए। सब मिलकर श्रीरामजीके पास आये। उस समय श्रीरामचरितमानसमें हनुमान्‌जीके महत्त्वका वर्णन करते हुए जाम्बवान्‌ने कहा है—

नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी। सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी॥

इसके बाद श्रीहनुमान्‌जीने भगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम किया और श्रीरामने हनुमान्‌को हृदयसे लगाया। तब हनुमान्‌जीने कहा—'देवी सीता पातिव्रत्यके कठोर नियमोंका पालन करती हुई शरीरसे कुशल हैं, मैं उनके दर्शन कर आया हूँ।' हनुमान्‌जीके ये अमृतके समान वचन सुनकर श्रीराम और लक्ष्मणको बड़ा हर्ष हुआ। भगवान्‌के मनका भाव जानकर हनुमान्‌जीने उन्हें जिस प्रकार श्रीजानकीजीके दर्शन हुए थे, वह समस्त प्रसंग सुनाकर उनकी दी हुई चूडामणि भगवान्‌को अर्पण कर दी। उस मणिको लेकर भगवान् श्रीरामने हृदयसे लगा लिया और उसे देख-देखकर विरहमें व्याकुल होने लगे।

रामचरितमानसमें सीताका सन्देश देते हुए हनुमान्‌जीने श्रीसीताजीके प्रेमकी बात इस प्रकार कही है—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥

अन्तमें यहाँतक कह दिया—

सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहिं कहें भलि दीनदयाला॥

अध्यात्मरामायणमें इसका वर्णन इस प्रकार है। सीताके समाचार सुनाते हुए हनुमान्‌जी कहते हैं—

अभिज्ञां देहि मे देवि यथा मां विश्वसेद्विभुः॥
इत्युक्ता सा शिरोरत्नं चूडापाशे स्थितं प्रियम्।
दत्त्वा काकेन यद्वृत्तं चित्रकूटगिरौ पुरा॥
तदप्याहाश्रुपूर्णाक्षी कुशलं ब्रूहि राघवम्।
लक्ष्मणं ब्रूहि मे किंचिद् दुरुक्तं भाषितं पुरा॥
तत्क्षमस्वाज्ञभावेन भाषितं कुलनन्दन।
तारयेन्मां यथा रामस्तथा कुरु कृपान्वितः॥

× × ×

ततः प्रस्थापितो राम त्वत्समीपमिहागतः।
तदागमनवेलायामशोकवनिकां प्रियाम्॥
उत्पाट्य राक्षसांस्तत्र बहून् हत्वा क्षणादहम्।
रावणस्य सुतं हत्वा रावणेनाभिभाष्य च॥
लङ्कामशेषतो दग्ध्वा पुनरप्यागमं क्षणात्।

(५।५।५२—५९)

'आते समय मैंने सीतासे कहा कि 'देवि! मुझे कोई ऐसी निशानी दीजिये, जिससे श्रीरघुनाथजी मेरा विश्वास कर लें।' मेरे इस प्रकार कहनेपर उन्होंने अपने केशपाशमें स्थित अपनी प्रिय चूडामणि मुझे दी। पहले चित्रकूटपर काकके साथ जो घटना हुई थी, वह सब सुनायी तथा नेत्रोंमें जल भरकर कहा कि श्रीरघुनाथजीसे मेरी कुशल कहना और लक्ष्मणसे कहना—'कुलनन्दन! मैंने पहले तुमसे जो कुछ कठोर वचन कहे थे, उन अज्ञानवश कहे हुए वचनोंके लिये मुझे क्षमा करना तथा जिस प्रकार श्रीरघुनाथजी कृपा करके मेरा उद्धार करें, वैसी चेष्टा करना।' उनका यह संदेसा लेकर उनका भेजा हुआ मैं आपके पास चला आया। आते समय मैंने रावणकी प्यारी अशोकवाटिका उजाड़ दी तथा एक क्षणमें ही बहुत-से

राक्षस मार डाले। रावणके पुत्र अक्षयकुमारको भी मारा और रावणसे वार्तालाप कर लंकाको सब ओरसे जलाकर फिर तुरंत ही यहाँ चला आया।'

श्रीहनुमान्‌जीसे सीताके सब समाचार सुनकर श्रीराम बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे—

हनुमंस्ते कृतं कार्यं देवैरपि सुदुष्करम्।
उपकारं न पश्यामि तव प्रत्युपकारिणः॥
इदानीं ते प्रयच्छामि सर्वस्वं मम मारुते।
इत्यालिङ्ग्य समाकृष्य गाढं वानरपुङ्गवम्॥
सार्द्रनेत्रो रघुश्रेष्ठः परां प्रीतिमवाप सः।

(५।५।६०—६२)

'वायुनन्दन हनुमान्! तुमने जो कार्य किया है, वह देवताओंसे भी होना कठिन है। मैं इसके बदलेमें तुम्हारा क्या उपकार करूँ, यह नहीं जानता। मैं अभी तुम्हें अपना सर्वस्व देता हूँ, यह कहकर रघुश्रेष्ठ श्रीरामने वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌को खींचकर गाढ़ आलिंगन किया। उनके नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भर आये और वे प्रेममें मग्न हो गये।'

श्रीहनुमान्‌जीके बल, पराक्रम, कार्यकौशल, साहस और पवित्र प्रेमका इस प्रकरणमें सभी रामायणोंमें बड़ा ही सुन्दर वर्णन मिलता है। वाल्मीकीय रामायणके युद्धकाण्डमें भी श्रीहनुमान्‌जीके प्रभावका बड़ा सुन्दर वर्णन है; यहाँ उसका दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है।

एक दिन भयानक युद्धमें रावणके प्रधान-प्रधान सेनापति मारे गये, राक्षसलोग हताश हो गये। पुत्र और भाइयोंके मारे जानेका समाचार सुनकर रावणको बड़ी चिन्ता हुई। यह देखकर मेघनादको बड़ा क्रोध आया, वह पिताके सामने अपने बल-पौरुषका वर्णन करके उसे धैर्य देकर भयानक युद्ध करनेके लिये युद्धक्षेत्रमें आया। वहाँ पहुँचकर उसने बड़ा ही घमासान युद्ध किया तथा बहुत-से वानरोंको प्राणहीन कर दिया। उसके ब्रह्मास्त्रके प्रभावसे श्रीराम और लक्ष्मण भी मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। बचे हुए प्रधान-प्रधान रीछ और वानर चिन्तामग्न हो गये। तब विभीषणने सबको धैर्य दिया और वे हनुमान्‌को साथ लेकर जहाँ जाम्बवान् पड़ा था, वहाँ गये। वहाँ जाकर विभीषणने जाम्बवान्‌का हाल पूछा, तब जाम्बवान् अपनी पीड़ाका वर्णन करते हुए कहने लगे कि 'मैं तुम्हें केवल आवाजसे ही पहचान सका हूँ, देखनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। तुम सबसे पहले मुझे यह बताओ कि वानरश्रेष्ठ हनुमान्‌के प्राण बचे हैं या नहीं।' इसपर विभीषणने कहा—'ऋक्षराज! आपने श्रीराम और लक्ष्मणको छोड़कर पहले केवल हनुमान्‌जीकी कुशल कैसे पूछी? राजा सुग्रीव, अंगद तथा श्रीराम और लक्ष्मणपर भी आपने उतना स्नेह प्रकट नहीं किया जितना गाढ़ प्रेम आपका पवनकुमारके प्रति लक्षित हो रहा है। इसका क्या कारण है!'

तब जाम्बवान् बोले—

शृणु नैर्ऋतशार्दूल यस्मात्पृच्छामि मारुतिम्॥
अस्मिञ्जीवति वीरे तु हतमप्यहतं बलम्।
हनूमत्युज्झितप्राणे जीवन्तोऽपि मृता वयम्॥

(युद्ध० ७४।२१-२२)

'राक्षसराज! सुनो, मैं हनुमान्‌के लिये इसलिये पूछ रहा हूँ कि यदि इस समय वीरवर हनुमान् जीवित हों तो यह मरी हुई सेना भी जी सकती है और यदि उनके प्राण निकल गये हों तो हम जीते हुए भी मृतकतुल्य ही हैं।'

इसके बाद श्रीहनुमान्‌जीने उनको प्रणाम किया। हनुमान्‌की आवाज सुनकर जाम्बवान्‌में नया जीवन आ गया। उन्होंने हनुमान्‌को संजीवनी ओषधिके लक्षण बताकर हिमालयपर भेजा। उनके आज्ञानुसार हनुमान्‌जीने वहाँ जाकर ओषधिकी खोज की, पर ओषधि लुप्त हो जानेके कारण मिली नहीं। तब आप उस पर्वतको ही उखाड़कर ले आये और समस्त वानर-सेनाको पुनः प्राण-दान दिया तथा श्रीराम और लक्ष्मण भी स्वस्थ हो गये। इत्यादि।

जब रावणद्वारा छोड़ी हुई अमोघ शक्ति श्रीलक्ष्मणजीने विभीषणजीकी रक्षाके लिये अपने ऊपर ले ली और मानुषी लीला करनेके लिये आप मूर्च्छित हो गये, तब रावण श्रीलक्ष्मणके पास जाकर उन्हें उठाने लगा; परन्तु समस्त जगत्‌के आधारभूत श्रीलक्ष्मणको वह कैसे उठा सकता था।

अध्यात्मरामायणमें लिखा है—

ग्रहीतुकामं सौमित्रिं रावणं वीक्ष्य मारुतिः॥
आजघानोरसि क्रुद्धो वज्रकल्पेन मुष्टिना।
तेन मुष्टिप्रहारेण जानुभ्यामपतद्भुवि॥

(६।६।१२-१३)

'उस समय हनुमान्‌जीने देखा कि रावण लक्ष्मणजीको उठाकर ले जाना चाहता है तो वे कुपित हो गये और अपनी वज्रतुल्य मुट्ठीसे उसकी छातीपर प्रहार किया। उस मुष्टिप्रहारसे रावण घुटनोंके बल पृथ्वीपर गिर पड़ा।' इधर हनुमान्‌जी लक्ष्मणको उठाकर भगवान् श्रीरामके पास ले गये।

इस समय भी श्रीहनुमान्‌जी द्रोण-पर्वतपर ओषधि लानेके लिये गये और उसी तरह पर्वतको उखाड़ लाये थे। इस प्रसंगका वर्णन करते हुए सभी रामायणोंमें श्रीहनुमान्‌जीका अद्‌भुत बल, पौरुष, बुद्धिकौशल और प्रभाव दिखाया गया है।

रामचरितमानसमें मेघनादकी शक्तिसे श्रीलक्ष्मणजीके मूर्च्छित होनेकी बात आती है। वहाँ हनुमान्‌जी ही जाम्बवान्‌के कहनेसे पहले घरसहित सुषेणको उठाकर लाये हैं, फिर सुषेणके कहनेसे संजीवनी लाने गये हैं और पर्वतको उखाड़ लाये हैं। श्रीहनुमान्‌जीका सेवाभाव बड़ा ही विचित्र था। इनकी सेवाके कारण भगवान् श्रीरामने अपनेको ऋणी माना। माता सीताने भी वही बात कही। लक्ष्मण और समस्त वानरोंके प्राण बचे। इसी प्रकार विरह-व्याकुल भरतको श्रीरामचन्द्रजीके आनेकी सूचना देकर उनके प्राण बचानेका काम भी हनुमान्‌जीने ही किया।

रामचरितमानसका वर्णन है—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

वहाँ श्रीहनुमान्‌जी भरतकी प्रेम-दशा देखकर कहते हैं—

जासु बिरहँ सोचहु दिन राती। रटहु निरंतर गुन गन पाँती॥
रघुकुल तिलक सुजन सुख दाता। आयहु कुसल देव मुनि त्राता॥

इस प्रकार श्रीरामके आनेका कुशल-समाचार सुनते ही श्रीभरतजीमें जीवनका संचार हो आया। उनके पूछनेपर अपना परिचय देते हुए हनुमान्‌जी कहते हैं—

मारुत सुत मैं कपि हनुमाना। नामु मोर सुनु कृपानिधाना॥
दीनबंधु रघुपति कर किंकर। × × × ×॥

कितना विनयभाव है! यह बात सुनते ही भरतजी उठकर बड़े हर्ष और आदरके साथ उनसे मिले। अपने आनन्दका वर्णन करते हुए अन्तमें यहाँतक कह दिया—

नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥

इस प्रकार श्रीहनुमान्‌जीने सबकी सेवा की, जिसके कारण सभीने अपनेको उनका ऋणी माना। भगवान् श्रीरामके राज्यसिंहासनपर आरूढ़ हो जानेके बाद भी आप सदा उनकी सेवामें ही रहे। अन्य सब वानर और राक्षस अपने-अपने घर लौट गये, पर श्रीहनुमान्‌जी नहीं गये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने जब अश्वमेध यज्ञ किया था, उस समय श्रीहनुमान्‌जी भी घोड़ेकी रक्षाके लिये शत्रुघ्नके साथ गये थे।

पद्मपुराणके पातालखण्डमें रामाश्वमेधयज्ञकी कथाका विस्तृत वर्णन है। वहाँ भी श्रीहनुमान्‌जीके महत्त्वका बड़ा सुन्दर वर्णन आता है। जब श्रीरामाश्वमेधका घोड़ा अनेक देशोंमें भ्रमण करता हुआ राजा सुबाहुकी राजधानी चक्रांका नगरीके पास पहुँचा, तब राजाके पुत्र दमनने उस घोड़ेको पकड़ लिया। उस राजाके और भी कई पुत्र और भाई बड़े शूरवीर थे तथा वह स्वयं भी बड़ा ही वीर योद्धा था। वहाँ दोनों ओरसे बड़ा भयानक युद्ध हुआ। अन्तमें राजा सुबाहुके साथ श्रीहनुमान्‌जीका भयानक युद्ध हुआ। उसमें कपिवर हनुमान्‌जीने बार-बार राजाको व्यथित किया, उसके रथको घोड़ोंसहित चूर्ण कर डाला और बड़े जोरसे राजाकी छातीमें एक लात मारी। उसके लगते ही राजा सुबाहु मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। श्रीहनुमान्‌जीके पदाघातसे उसका मोह नष्ट हो गया। उनके मनमें श्रीरामकी भक्ति प्रकट हो गयी। वह स्वप्नमें देखता है—

रामचन्द्रस्त्वयोध्यायां सरयूतीरमण्डपे।
ब्राह्मणैर्याज्ञिकश्रेष्ठैर्बहुभिः परिवारितः॥
तत्र ब्रह्मादयो देवास्तत्र ब्रह्माण्डकोटयः।
कृतप्राञ्जलयस्तं वै स्तुवन्ति स्तुतिभिर्मुहुः॥

(२८।४९-५०)

'अयोध्यापुरीमें सरयू नदीके तीरपर श्रीरामचन्द्रजी यज्ञमण्डपके भीतर विराजमान हैं। यज्ञ करानेवालोंमें श्रेष्ठ अनेकों ब्राह्मण उन्हें घेरकर बैठे हुए हैं। करोड़ों ब्रह्माण्डोंके ब्रह्मादि देवता हाथ जोड़े खड़े हैं और बारंबार श्रीरामकी स्तुति कर रहे हैं'—इत्यादि।

इस प्रकारका अद्‌भुत स्वप्न देखते ही राजाको श्रीराम-तत्त्वका ज्ञान हो गया। वह तुरंत ही मूर्च्छासे उठा और शत्रुघ्नके चरणोंकी ओर पैदल ही चल पड़ा। युद्ध बंद करनेकी घोषणा करते हुए उसने अपने पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसे कहा—

एष रामः परं ब्रह्म कार्यकारणतः परम्।
चराचरजगत्स्वामी न मानुषवपुर्धरः॥
एतद्धि ब्रह्मविज्ञानमधुना ज्ञातवानहम्।

(२८।५९-६०)

'ये श्रीरामचन्द्रजी कार्य और कारणसे परे साक्षात् परब्रह्म हैं। ये चराचर जगत्‌के स्वामी हैं। मानव-शरीर धारण करनेपर भी ये वास्तवमें मनुष्य नहीं हैं। इनको इस रूपमें जान लेना ही ब्रह्मज्ञान है। इस तत्त्वको मैं अब समझ पाया हूँ।' इतना कहकर उसने अपने पुत्रोंसे असितांग मुनिके द्वारा अपनेको शाप प्राप्त होनेकी सब कथा कह सुनायी और घोड़ेको लेकर अपने बन्धु-बान्धवोंके सहित

शत्रुघ्नजीकी शरणमें जा पड़ा। वहाँ उसने कृतज्ञता प्रकट करते हुए श्रीहनुमान्‌जीके विषयमें कहा है—

क्वासौ हनूमान् रामस्य चरणाम्भोजषट्पदः।
यत्प्रसादादहं प्राप्स्ये राजराजस्य दर्शनम्॥
साधूनां संगमे किं किं प्राप्यते न महीतले।
यत्प्रसादादहं मूढो ब्रह्मशापमतीतरम्॥

(२९। ३२-३३)

'श्रीरामके चरण-कमलोंके मधुकर वे हनुमान् कहाँ हैं, उन्हींकी कृपासे मैं राजाधिराज श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन करूँगा। साधुसंग मिल जानेपर इस पृथ्वीपर मनुष्यको क्या-क्या नहीं मिल जाता। मैं महामूढ़ था, किन्तु सत्संगके प्रभावसे आज घोर ब्रह्मशापसे मेरा उद्धार हो गया।'

उसके बाद अनेक देशोंको विजय करते-करते जब यज्ञका घोड़ा राजा सत्यवान्‌के नगरसे आगे जा रहा था, उस समय विद्युन्माली नामके राक्षसने रास्तेमें उस घोड़ेको चुरा लिया और अपने सैनिक राक्षसोंके सहित विमानमें बैठकर आकाशमें जाकर प्रकट हुआ। वहाँ उस राक्षसके साथ शत्रुघ्नकी सेनाका बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। उस समय श्रीहनुमान्‌जीने उस राक्षसके साथ युद्धमें अपना पराक्रम दिखलानेकी जो प्रतिज्ञा की है, उससे इस बातका पता लगता है कि श्रीहनुमान्‌जी भगवान् रामपर कितना भरोसा रखते थे। वे भगवान् श्रीरामकी कृपाके भरोसेपर अपनी अद्भुत शक्ति मानते थे। उन्होंने पहले जैसी प्रतिज्ञा की, उसी प्रकार युद्धमें भी अपना अद्भुत पराक्रम दिखाया। वे आकाशमें जाकर विमानपर शत्रुपक्षके महान् दैत्योंको नखोंसे विदीर्ण करके मौतके घाट उतारने लगे। किन्हींको पूँछसे मार डाला, किन्हींको पैरोंसे कुचल डाला और किन्हींको हाथोंसे चीर डाला। जब क्रोधमें भरकर राक्षसराज विद्युन्मालीने अत्यन्त तेजस्वी भयानक त्रिशूलका प्रहार किया, तब उसे हनुमान्‌जीने अपने मुँहमें पकड़ लिया और दाँतोंसे चबाकर चूर-चूर कर डाला तथा उस दैत्यराजको थप्पड़ोंकी मारसे व्याकुल कर दिया। इसके बाद श्रीशत्रुघ्नजीने विद्युन्माली और वज्रदंष्ट्रको मार गिराया। बचे-खुचे राक्षस उनकी शरणमें आ गये।

वहाँसे जाकर वे आरण्यक मुनिसे मिले। इसके बाद वह घोड़ा देवपुरके पास पहुँचा, वहाँ राजा वीरमणि और उसके पुत्रोंसे शत्रुघ्नकी सेनाका बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। राजा वीरमणि भगवान् शंकरका परम भक्त था। अतः वहाँ उसकी सहायताके लिये स्वयं भगवान् शंकर भी अपने गणोंके सहित रणक्षेत्रमें युद्ध करनेके लिये पधारे थे। उस भयानक युद्धमें जब राजकुमार पुष्कल मारे गये और शत्रुघ्न भी मूर्च्छित हो गये, उस समय श्रीहनुमान्‌जीने अद्भुत पराक्रम दिखाया। साक्षात् भगवान् शंकरके साथ उन्होंने घोर युद्ध किया तथा सारथि और घोड़ोंके सहित शिवजीके रथको चूर-चूर कर डाला। जब भगवान् शिवजी नन्दीपर सवार होकर युद्ध करने लगे, तब श्रीहनुमान्‌जीने शालवृक्षका प्रहार करके शिवजीको व्याकुल कर दिया। अब भगवान् शंकरने उनपर अपना त्रिशूल चलाया। हनुमान्‌जीने उसे पकड़ लिया और क्षणभरमें तोड़कर तिल-तिल कर डाला। नाना प्रकारके प्रहारोंसे शिवजीको व्यथित करके अन्तमें भूतनाथ भगवान् शिवको अपनी पूँछमें लपेट लिया। यह देखकर नन्दी भयभीत हो गये। इस प्रकार जब हनुमान्‌जीने शिवजीको अत्यन्त व्याकुल कर दिया, तब हनुमान्‌जीके युद्धसे प्रसन्न होकर शंकर कहने लगे—'श्रीरघुनाथजीके सेवक हनुमान्! तुम धन्य हो। आज तुमने महान् पराक्रम कर दिखाया। इससे मुझे बड़ा संतोष हुआ। अतः तुम मुझसे वर माँगो।'

इसपर हनुमान्‌जीने हँसकर निर्भय वाणीसे कहा—'महेश्वर! रघुनाथजीकी कृपासे मुझे सब कुछ प्राप्त है; तथापि आपकी प्रसन्नताके लिये मैं यही वर माँगता हूँ कि जबतक मैं द्रोण-पर्वतपर जाकर औषध ले आऊँ, तबतक आप अपने गणोंसहित हमारे पक्षके मरे हुए वीरोंके शरीरोंकी रक्षा करते रहें। उन्हें कोई खण्ड-खण्ड न करने पाये।' शिवजीने उनकी माँग स्वीकार कर ली। उसके बाद हनुमान्‌जी जिस प्रकार लंकापुरीमें संजीवनी बूटी लाये थे,उसी प्रकार तुरंत ही संजीवनी बूटी ले आये। पहले राजकुमार पुष्कलको जिलाया, उसके बाद शत्रुघ्नकी मूर्च्छा दूर की और समस्त वीरोंको जीवन-दान दिया। इस प्रकार उस भयानक युद्धमें श्रीहनुमान्‌जीके ही पराक्रमसे सबके प्राण बचे। अन्तमें वहाँ भगवान् श्रीराम स्वयं पधारे। भगवान् शिवजीने राजा वीरमणिको समझाकर श्रीरामका भक्त बना दिया।

इसके बाद वह घोड़ा अनेक देश-देशान्तरोंमें घूमता हुआ राजा सुरथसे रक्षित कुण्डलनगरके पास पहुँचा। राजा सुरथ भगवान् रामका परम भक्त था। उसने भगवान् श्रीरामके दर्शनार्थ उनके घोड़ेको पकड़ लिया। वहाँपर राजा सुरथके साथ शत्रुघ्नका बड़ा ही भयंकर युद्ध हुआ। उस युद्धमें जब राजा सुरथका पुत्र चम्पक राजकुमार

पुष्कलको बाँधकर नगरमें ले जाने लगा, उस समय शत्रुघ्नकी प्रेरणासे श्रीहनुमान्‌जी वहाँ गये। जाते ही उन्होंने रथसे चम्पकको उठा लिया और वे उसे लेकर आकाशमें चले गये। वह आकाशमें ही हनुमान्‌जीसे बाहुयुद्ध करने लगा। राजकुमार चम्पकका अद्‌भुत पराक्रम देखकर हँसते-हँसते हनुमान्‌जीने उसका पैर पकड़ लिया और उसे सौ बार घुमाकर हाथीके हौदेपर दे मारा, राजकुमार गिरते ही मूर्च्छित हो गया।

अपने पुत्रको मूर्च्छित हुआ देख राजा सुरथ स्वयं हनुमान्‌जीसे युद्ध करनेके लिये आये। उन्होंने श्रीहनुमान्‌जीके बल और पराक्रमकी तथा रामभक्तिकी सच्चे हृदयसे प्रशंसा की और साथ ही यह प्रतिज्ञा भी की कि 'मैं तुम्हें बाँधकर अपने नगरमें ले जाऊँगा।' उसकी बातका उत्तर देते हुए श्रीहनुमान्‌जीने कहा कि 'राजन्! आप श्रीरघुनाथजीके चरणोंका चिन्तन करनेवाले हैं और मैं भी उन्हींका सेवक हूँ। यदि आप मुझे बाँध लेंगे तो मेरे स्वामी मुझे बलपूर्वक छुड़ा लेंगे। वीर! तुम अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो। जो श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण करते हैं, उन्हें कभी दुःख नहीं होता।'

इस प्रकार बातचीत होनेके बाद राजा सुरथके साथ हनुमान्‌जीका भयंकर युद्ध हुआ। हनुमान्‌जीने उस युद्धमें राजा सुरथके एक-एक करके उनचास रथ तोड़ डाले। राजाकी समस्त सेना व्याकुल हो गयी और स्वयं राजाको भी बड़ा आश्चर्य हुआ। राजाने श्रीहनुमान्‌जीके बलकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। राजाने पाशुपतास्त्रसे हनुमान्‌जीको बाँधनेकी चेष्टा की। एक बार लोगोंने समझा कि हनुमान् बँध गये। परन्तु श्रीहनुमान्‌जीने अपने मनमें भगवान् श्रीरामका स्मरण करके क्षणमात्रमें उस अस्त्रके बन्धनको तोड़ डाला। राजाने ब्रह्मास्त्र चलाया तो उसे भी श्रीहनुमान्‌जी निगल गये। अन्तमें भगवान् रामका स्मरण करके श्रीरामास्त्रको अपने धनुषपर चढ़ाया और उसका प्रयोग करके हनुमान्‌जीसे कहा कि 'कपिश्रेष्ठ! अब तुम बँध गये।' हनुमान्‌जीने कहा 'राजन्! तुमने मेरे स्वामी श्रीरामके ही शस्त्रसे बाँधा है, दूसरे किसी प्राकृत शस्त्रसे नहीं। इसलिये मैं उसका आदर करता हूँ। अब तुम मुझे अपने नगरमें ले जा सकते हो।'

राजा सुरथके साथ जो हनुमान्‌जीकी बातें हुईं, उनमें अद्‌भुत प्रेम भरा है। श्रीहनुमान्‌जीको भला कौन बाँध सकता है। वे तो स्वयं अपनी इच्छासे ही भगवान्‌के परम भक्त सुरथकी प्रतिज्ञा सत्य करनेके लिये और अपने स्वामीके अस्त्रका सम्मान रखनेके लिये बँध गये।

इसके बाद वहाँ श्रीहनुमान्‌जीके बुलानेपर स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रजी पधारे और उन्होंने राजा सुरथको दर्शन देकर उसे कृतार्थ किया। इस प्रकार पद्मपुराणके पातालखण्डमें श्रीहनुमान्‌जीके महत्त्वका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। यहाँ वह बहुत ही संक्षेपमें लिखा गया है।

परम धाम पधारते समय भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कपिवर श्रीहनुमान्‌जीको जगत्‌का कल्याण करनेके लिये यहीं रहनेकी आज्ञा दे गये। वाल्मीकीय रामायणमें श्रीराम परम धाम पधारते समय हनुमान्‌जीसे कहते हैं—

मत्कथाः प्रचरिष्यन्ति यावल्लोके हरीश्वर।
तावद् रमस्व सुप्रीतो मद्वाक्यमनुपालयन्॥

(उत्तर० १०८।३३)

'वानरश्रेष्ठ! संसारमें जबतक मेरी कथाओंका प्रचार रहे, तबतक तुम भी मेरी आज्ञाका पालन करते हुए प्रसन्नतापूर्वक विचरते रहो।' महात्मा रामचन्द्रजीके कहनेपर हनुमान्‌जीको बड़ा हर्ष हुआ और उन्होंने कहा—

यावत्तव कथा लोके विचरिष्यति पावनी।
तावत्स्थास्यामि मेदिन्यां तवाज्ञामनुपालयन्॥

(उत्तर० १०८।३५)

'प्रभो! संसारमें जबतक आपकी पावन कथाका प्रचार रहेगा, तबतक आपके आदेशका पालन करता हुआ मैं इस पृथ्वीपर ही रहूँगा।'

द्वापरयुगमें श्रीहनुमान्‌जीने भीमसेन और अर्जुनको भी दर्शन दिये थे। कलियुगमें भी आपके प्रकट होनेकी कई कथाएँ मिलती हैं। आपके गुण, प्रभाव और माहात्म्यका बड़ा विस्तार है। यहाँ बहुत ही संक्षेपमें उसका दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। इस लेखसे श्रीहनुमान्‌जीके अतुलित गुणोंका चिन्तन करके लाभ उठाना चाहिये। उन्हें आदर्श बनाकर अखण्ड ब्रह्मचर्य, अटल भगवद्भक्ति, वीरता, धीरता, बल—पौरुष, विद्या, साहस और बुद्धिमानी आदि गुण धारण करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

वाल्मीकीय रामायणकी महिमा

श्रीसूतजीका वचन है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

(पद्म०, सृष्टि० २। ५१-५२)

'इतिहास एवं पुराणोंके अध्ययनसे वेदोंका ज्ञान बढ़ाना चाहिये—परिष्कृत करना चाहिये। जो कोई मनुष्य इतिहास-पुराणोंका ज्ञान प्राप्त किये बिना ही वेदोंमें हाथ डालता है, उससे वेद डरते हैं कि कहीं यह हमपर प्रहार न कर बैठे—अर्थका अनर्थ न कर डाले।'

प्रथम तो वेदोंके अध्ययनका अधिकार ही सबको नहीं है। फिर वेदोंकी भाषा अत्यन्त प्राचीन तथा अर्थ अत्यन्त गम्भीर एवं दुरूह होनेके कारण उसे सब लोग सुगमतासे समझ नहीं सकते। युग-धर्मके अनुसार वेदोंके पठन-पाठनकी परम्परा भी क्रमशः उठती चली जा रही है। ब्राह्मणोंमें भी वैदिक विद्वान् खोजनेपर भी कठिनतासे मिलते हैं। कारण यही है कि वेदोंका सांगोपांग अध्ययन करनेके लिये प्रचुर समय एवं प्रखर बुद्धिकी आवश्यकता है और वर्तमान युगमें दोनोंकी ही न्यूनता दृष्टिगोचर हो रही है। मनुष्यकी आयु और बुद्धि दोनोंका ही क्रमशः ह्रास होता चला जा रहा है। वेदोंके अध्ययनके लिये ब्रह्मचर्यकी भी परमावश्यकता है और ब्रह्मचर्याश्रमका तो प्रायः लोप ही होता जा रहा है। इन्हीं सब बातोंका विचार करते हुए हमारे त्रिकालदर्शी महर्षियोंने वैदिक ज्ञानको सरल एवं सुबोध भाषामें तथा रोचक ढंगसे जन-साधारणके सामने रख देनेके उद्देश्यसे ही इतिहास एवं पुराणोंको प्रकट किया। इतिहास-ग्रन्थोंमें रामायण और महाभारत—ये दो ही ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं। दोनों ही ग्रन्थ भारतीय वाङ्मयके मुकुटमणि एवं आर्यसभ्यताके गौरवरूप हैं। दोनोंमें ही भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार, नीति एवं धर्मकी शिक्षा कूट-कूटकर भरी हुई है। एकमें मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामकी दिव्य लीलाओंका वर्णन है तो दूसरेमें मालामें सूतकी भाँति लीला-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा ओत-प्रोत है। दोनोंमें ही भारतीय संस्कृतिका जीता-जागता रूप दृष्टिगोचर होता है। संस्कृत-साहित्यमें दृश्य एवं श्रव्य काव्यके जितने भी ग्रन्थ बने, उन सबकी रचना प्रायः इन्हीं दोनों ग्रन्थोंके आधारपर हुई है।

आर्य-जातिके ऋषिप्रणीत सच्चे इतिहास होनेके साथ-साथ दोनों ही ग्रन्थोंका कविताकी दृष्टिसे भी बहुत ऊँचा स्थान है। फिर भी महाभारतकी 'इतिहास' संज्ञा ही है, उसकी काव्योंमें गणना नहीं है। इतिहासके साथ-साथ 'आदिकाव्य' कहलानेका गौरव तो वाल्मीकीय रामायणको ही प्राप्त है। काव्यकी विशेषता यही है कि उसके द्वारा हमें 'कान्ता-सम्मित' उपदेश मिलता है। जहाँ वेद '**सत्यं वद**', '**धर्मं चर**', '**आचारान्मा प्रमदः**', '**प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः**' आदि विधिवाक्योंके द्वारा गुरुकी भाँति उपदेश करते हैं और इतिहास-पुराण हमें '**रामवद्वर्तितव्यं न रावणवत्**' इस रूपमें मित्रकी भाँति हितपूर्ण सलाह देते हैं, वहाँ काव्य हमें कान्ताकी भाँति रोचक एवं मधुर शब्दोंमें प्यारभरी मृदु मन्त्रणा देते हैं। '**मातृदेवो भव,**' '**पितृदेवो भव**' इत्यादि वेदवाक्योंका हमपर उतना असर नहीं होता, जितना भगवान् श्रीरामकी मातृभक्ति एवं पितृभक्तिके काव्यमय वर्णनका। इस प्रकारके 'कान्ता-सम्मित' उपदेश देनेवाले काव्योंमें वाल्मीकीय रामायणका स्थान सर्वोपरि है। रचना-कौशल एवं काव्य-वस्तु दोनोंकी दृष्टिसे ही रामायण जगत्के समस्त काव्योंका शीर्षस्थानीय है।

मनुष्यको कैसी स्थितिमें किसके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये; किस प्रकार अपने कुटुम्बके एवं संसारके दूसरे व्यक्तियोंको सुख पहुँचानेके लिये अपने सब प्रकारके सुखोंका त्याग करके स्वयं हर तरहका कष्ट सहन करनेको तैयार रहना चाहिये; किस प्रकार सत्य, न्याय, सदाचार और प्रतिज्ञापालनपर दृढ़ रहकर जीवनको आदर्श बनाना चाहिये—इत्यादि सामाजिक, नैतिक एवं धार्मिक शिक्षाओंका तो वाल्मीकीय रामायण भण्डार ही है। इसमें पूर्णब्रह्म परमात्मा श्रीरामचन्द्रजीकी पवित्र मनुष्य-लीलाका सर्वांग-सुन्दर चित्रण किया गया है। साथ ही जगज्जननी जानकीका आदर्श पातिव्रत्य, भरतका अनुपम भ्रातृप्रेम और त्याग, राजा दशरथका अपूर्व वात्सल्य-प्रेम, कौसल्याका महान् सौजन्य, श्रवणकी अनुकरणीय पितृभक्ति, हनुमान्जीकी अतुलनीय स्वामिभक्ति; विभीषणकी असाधारण न्यायप्रियता, अयोध्याकी प्रजाका श्रीरामके प्रति स्वाभाविक स्नेह तथा भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका सबके साथ श्रद्धा, दया एवं प्रेमपूर्ण यथायोग्य बर्ताव—इत्यादि सभी विषयोंका सांगोपांग वर्णन हुआ है। इसके श्लोक बड़े ही मधुर, काव्योचित गुणों एवं अलंकारोंसे विभूषित, ताल-स्वरके साथ गाये

जानेयोग्य एवं गम्भीर अर्थसे युक्त हैं। इसमें सभी रसोंका बड़े ही सुन्दर ढंगसे समावेश किया गया है। करुण-रस तो इस ग्रन्थका प्राण ही है। इस प्रकार यह ग्रन्थ सभी दृष्टियोंसे अत्यन्त उपादेय है।

वाल्मीकीय रामायण उच्च कोटिका महाकाव्य होनेके साथ ही भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी अवतार-लीलाका सच्चा इतिहास है—इस बातको हमें नहीं भूलना चाहिये। साक्षात् स्वयम्भू ब्रह्माजीने ग्रन्थकर्ताको ग्रन्थ-रचनाके पूर्व यह वरदान दिया था कि 'राम-चरित्रसम्बन्धी सारी बातें तुम्हें अपने-आप विदित हो जायँगी।' इसी वरदानके अनुसार सारी बातोंको भलीभाँति जानकर महर्षिने उन्हें अपने चरित-नायकके अवतारकालमें ही श्लोकबद्ध करके उन्हींके पुत्र कुश और लवको कण्ठस्थ करा दिया तथा उन्हींके द्वारा आगे होनेवाली घटनाओंसहित पूरा-का-पूरा चरित्र स्वयं चरित्र-नायकको भरी सभामें सुनवा दिया। इससे बढ़कर इस ग्रन्थकी ऐतिहासिकताका प्रमाण और क्या हो सकता है। ऐसी दशामें इसमें असत्य, प्रमाद अथवा अतिशयोक्तिकी कल्पना भी नहीं हो सकती। ऐसे सर्वमान्य एवं सर्वोपयोगी ग्रन्थका जनतामें जितना भी प्रचार होगा, उतना ही जगत्का कल्याण होगा।

मेरी रायमें इस ग्रन्थको पढ़ने-सुननेका अधिकार मनुष्यमात्रको है, चाहे वह किसी भी समुदाय अथवा जातिका क्यों न हो। प्रत्येक मनुष्य इसका अध्ययन करके इसमें आये हुए उत्तमोत्तम उपदेशोंको यथाधिकार आचरणमें लाकर अपने मनुष्य-जीवनको आदर्श एवं सफल बना सकता है।

भारतीय संस्कृतिमें नारी-धर्म

भारतीय संस्कृति अपना एक खास निरालापन लिये हुए है। उसका निर्माण अध्यात्मकी सुदृढ़ भित्तिपर उन त्रिकालदर्शी ऋषियोंद्वारा हुआ है जो दिव्य दृष्टि-सम्पन्न, राग-द्वेष-शून्य एवं समदर्शी थे। उनकी दृष्टि इहलोकतक ही सीमित नहीं थी। उन्होंने अपनी तपःपूत बुद्धिसे समाधिजन्य दिव्य ईश्वरीय ज्ञानके आधारपर जो सिद्धान्त स्थिर किये हैं वे सर्वथा निर्दोष, भ्रान्ति-शून्य, त्रिकालसत्य एवं मानवबुद्धिसे परे हैं। उन्हें हम अपनी मलिन, मोहग्रस्त, संकीर्ण एवं व्यवसायशून्य बुद्धिके काँटेपर तौलने जाकर धोखा खानेके सिवा और कोई लाभ नहीं उठा सकते। जबसे हम भारतीयोंने शास्त्रका आधार छोड़कर मनमाना आचरण शुरू कर दिया, तभीसे हमारे दुःखके दिन प्रारम्भ हो गये और यदि हमारी चाल ऐसी ही रही तो पता नहीं अभी हम अवनतिके किस गर्तमें जाकर गिरेंगे। वर्तमान युग विचारस्वातन्त्र्यका युग है। आजका मनुष्य अपनी बुद्धिपर किसी भी प्रकारका अनुशासन या नियन्त्रण स्वीकार नहीं करता। आज हमें मोहग्रस्त मनुष्योंकी चारों ओर यही आवाज सुनायी देती है—शास्त्रको न मानो, धर्मका अनुशासन मानना गुलामी है, ईश्वरमें विश्वास बुद्धि-पारतन्त्र्यका द्योतक है। भारतवर्षमें भी पश्चिमसे एक ऐसी लहर आयी है, जिसने हमारी बुद्धिको विचलित कर दिया है, हमारे विश्वासको हिला दिया है। आज हम भी पागलोंकी भाँति चिल्लाने लगे हैं—पोथियोंको फाड़ दो, मनुस्मृतिको जला दो, धर्म ही विघटनमें हेतु है, वर्णव्यवस्था एकतामें बाधक है, इत्यादि-इत्यादि। आजकी भारतीय नारी भी, जो शील, विनय, लज्जा एवं सौम्यताकी मूर्ति थी, पाश्चात्य ललनाओंकी देखा-देखी मूर्खताके कारण बहकने लगी है—'हम पुरुषोंकी गुलामीमें नहीं रहना चाहतीं, हमें सीता-सावित्री नहीं बनना है, सतीत्व एक कुसंस्कार है, भारतीय ऋषियोंने हमें पुरुषोंके परतन्त्र बनाकर हमारे प्रति घोर अन्याय किया है' इत्यादि। ऐसे विपरीत समयमें, जबकि धर्मको लोग ढकोसला मानने लगे हैं, धर्मके विषयमें—विशेषकर नारी-धर्मके विषयमें—कुछ लिखनेका प्रयास करना दुःसाहस ही समझा जायगा। फिर भी साँचको कोई आँच नहीं है, सत्य तो सत्य ही है—चाहे कोई उसे माने या न माने—इसी भरोसेपर कर्तव्यबुद्धिसे प्रेरित होकर अपनी अल्पबुद्धिके अनुसार शास्त्रोंके आधारपर नारी-धर्मके विषयमें कुछ लिखनेका प्रयत्न किया जाता है।

'धृञ् धारणे' धातुसे 'मन्' प्रत्यय लगकर 'धर्म' शब्द बना है। अतः धर्मका अर्थ है—धारण करनेवाला अथवा जिसके द्वारा यह सब कुछ धारण किया हुआ है। यह तो सभीको मानना पड़ेगा कि यह विश्व ब्रह्माण्ड किसी नियम अथवा कानूनके द्वारा परिचालित है। पृथ्वी-आकाश, ग्रह-नक्षत्र, सूर्य-चन्द्र, जल-वायु, जड-चेतन, जीवन-मृत्यु, सृष्टि-प्रलय, वृद्धि-क्षय, उन्नति-अवनति, आरोहण-अवरोहण—सब कुछ एक नियमके अधीन है। जगत्की कोई भी क्रिया नियमके प्रतिकूल नहीं होती। इसी नियमका नाम 'धर्म' है।

इस नियमको बुद्धिपूर्वक यथावस्थित रूपसे चलानेवाली चेतनशक्तिका नाम 'ईश्वर' है। इसी नियमको करामलकवत् प्रत्यक्ष देखनेवाले विशिष्ट शक्तिसम्पन्न ईश्वरानुगृहीत आप्त पुरुषोंका नाम है—'ऋषि' और उन ऋषियोंके दिव्य अनुभव तथा उन अनुभवोंके आधारपर ईश्वरीय प्रेरणाके अनुकूल मानव-समाजके ऐहिक-आमुष्मिक सर्वविध कल्याणके लिये रचे हुए सनातन-नियम जिन ग्रन्थोंमें संगृहीत हैं, उनका नाम है 'शास्त्र'। सनातन धर्मके ये ही चार प्रधान आधार स्तम्भ हैं। हिंदू-संस्कृति इन्हीं चारपर अवलम्बित है और यही उसकी विशेषता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म अथवा शास्त्र न तो कोई हौआ है और न उपेक्षा अथवा अनादरकी वस्तु है। धर्मकी जो व्याख्या हमने ऊपर की है और सबसे सरल, शास्त्रसम्मत एवं सर्वमान्य व्याख्या 'धर्म' की यही है—उसके अनुसार धर्म ही विश्वके अभ्युदय एवं नि:श्रेयसका एकमात्र साधन है, धर्मसे ही मानव-समाजका वास्तविक तथा स्थायी कल्याण सम्भव है, धर्मसे ही संसारमें सुख-समृद्धि एवं शान्तिका विस्तार हो सकता है*, धर्मके आधारपर ही मानव-जातिका यथार्थ संघटन एवं एकीकरण हो सकता है तथा धर्मसे ही सबके अधिकारों एवं हितोंकी रक्षा हो सकती है। जो लोग यह कहते हैं कि धर्म ही विघटनका हेतु है तथा धर्मसे ही हिंदू-जाति अथवा भारतकी अवनति हुई है, धर्मसे ही पारस्परिक कलहकी वृद्धि हुई है, इत्यादि-इत्यादि, उन्होंने वास्तवमें धर्मका तत्त्व समझा ही नहीं।

इसी प्रकार धर्मका ज्ञान भी शास्त्रोंद्वारा ही सम्भव है। किसी भी विषयका सम्यक् ज्ञान उस विषयके पारंगत विद्वानों तथा उनके रचित ग्रन्थोंसे ही हो सकता है। यह माना कि स्थूल जगत्के कतिपय तथ्योंका आंशिक पता आधुनिक वैज्ञानिकोंने लगाया है; परंतु उनका वह ज्ञान अब भी अत्यन्त अधूरा एवं सीमित है। अब भी उसमें बहुत कुछ संशोधनकी आवश्यकता है, वैज्ञानिक स्वयं इस बातको स्वीकार करते हैं। फिर स्थूल जगत् ही तो सब कुछ नहीं है। इसके परे और इससे भी अधिक विस्तृत, विशुद्ध एवं सुन्दर तथा जिसकी यह स्थूल जगत् एक छाया अथवा प्रतिकृतिमात्र है—एक सूक्ष्म जगत् भी है; जिसके अनेकों स्तर हैं और जिसमें हमारी अपेक्षा कहीं अधिक उन्नत, शक्तिसम्पन्न एवं दीर्घजीवी प्राणी रहते हैं। हमारे ऋषियोंने उस जगत्का भी पता लगाया है और इस जगत्के साथ उस सूक्ष्म जगत्का क्या सम्बन्ध है, यहाँके प्राणी वहाँके प्राणियोंद्वारा कैसे प्रभावित होते हैं, वहाँकी शक्तियाँ किस प्रकार यहाँके घटना-चक्रोंका नियन्त्रण करती हैं, मरनेके बाद जीवात्मा कहाँ-कहाँ जाता है और क्या-क्या करता है, यहाँ किस प्रकारका आचरण करके हम मृत्युके बाद भी सुखी रह सकते हैं तथा अमर जीवन प्राप्त कर सकते हैं एवं कौनसे आचरण हमें गिरानेवाले और दु:ख देनेवाले हैं, यहाँ सुख-दु:ख, ऊँची-नीची स्थिति, ऊँचा-नीचा जन्म, स्त्री-योनि अथवा पुरुष-योनि—जो कुछ भी हमें प्राप्त होता है, हमारे पूर्व सुकृतों अथवा दुष्कृतोंका फल है तथा सूक्ष्म जगत्की शक्तियोंके सहयोगके बिना यहाँ सुख-समृद्धि एवं शान्तिकी आशा दुराशामात्र है—इन सब बातोंको हमारे ऋषियोंने भलीभाँति समझा ही नहीं, देखा भी है और जो कुछ उन्होंने देखा और अनुभव किया है तथा उसके अनुसार जो कुछ आचरण उन्होंने हमारे लिये कल्याणकर समझा है और अनुभव किया है, वही सब हमारे विविध शास्त्रोंमें—हमारे वेदों और पुराणोंमें तथा हमारी स्मृतियोंमें संगृहीत है। अत: हमारे शास्त्रोंमें जो कुछ भी लिखा है, सर्वथा सत्य, निर्भ्रान्त एवं पक्षपातरहित है उसमें स्वार्थका गन्ध भी नहीं है। सत्यका सत्यरूपमें दर्शन करनेवाले महर्षि कभी असत्यवादी नहीं हो सकते। उनके वाक्योंमें असत्य, भ्रम, पक्षपात, स्वार्थ अथवा राग-द्वेषकी कल्पना करना अपना ही अहित करना है और सत्यसे वंचित रहना है।

नीचे नारी-धर्मपर जो कुछ लिखा जाता है, वह इन्हीं सर्वज्ञ ऋषियोंके बनाये अथवा संग्रह किये हुए ग्रन्थोंके आधारपर लिखा जाता है। वर्तमान युगके विकृत, मलिन एवं राग-द्वेषदूषित अन्त:करणवाले पुरुषोंको ये सिद्धान्त न जँचें अथवा उन्हें ये पक्षपातपूर्ण अथवा भ्रान्त दिखायी दें तो हम उन्हें इनको माननेके लिये बाध्य नहीं करते; किन्तु यह निश्चित है कि ये सिद्धान्त सर्वथा सत्य हैं एवं सत्यके आधारपर स्थिर किये हुए हैं और इन्हें मानकर इनके अनुसार चलनेसे सबका कल्याण हो सकता है; क्योंकि शास्त्रके सिद्धान्त सबके लिये समानरूपसे हितकर हैं। ऋषियोंने किसी एक वर्गके प्रति पक्षपात तथा किसी दूसरे वर्गके प्रति अन्याय अथवा अत्याचार किया हो—

* यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि: स धर्म:। (वैशेषिक दर्शन)

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानव:। इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥ (मनु० २। ९)

ऐसी कल्पना सर्वथा दूषित है। सबमें एक आत्मा अथवा परमात्माको देखनेवाले ऋषियोंमें पक्षपात कैसा? हाँ, वे इस बातको जानते थे—नहीं-नहीं, जानते हैं—(क्योंकि ऋषि कहीं चले थोड़े ही गये हैं, वे अब भी दिव्य लोकोंमें दिव्य शरीरसे विद्यमान हैं और अब भी अपत्यवत्सला माताकी भाँति हमें अपनी करुणापूर्ण दृष्टिसे देखते हुए हमारा हित-चिन्तन, हमारा कल्याण-साधन करते रहते हैं; यह दूसरी बात है कि हम अज्ञानवश उनके आदेशोंकी अवहेलना करके, उनके बताये हुए शोभन मार्गका उल्लंघन करके, बार-बार दुःखके गर्तमें गिरते रहें और जान-बूझकर अपना अकल्याण करते रहें) हाँ, वे इस बातको जानते हैं कि आत्मरूपसे एक होते हुए भी सबके कर्म-कलाप, शरीर, मन-बुद्धि, स्वभाव एवं संस्कार आदि भिन्न-भिन्न होनेसे सबके आचरण एक-से नहीं हो सकते, सबकी योग्यता एक-सी नहीं हो सकती। इसलिये उन्होंने कर्मानुसार एवं योग्यतानुसार सबके अलग-अलग कर्तव्य निश्चित किये हैं, कर्तव्योंके साथ-साथ सबके अधिकार भी अलग-अलग रखे हैं। साथ ही इस बातका भी ध्यान रखा है कि सबको अपने-अपने अधिकारमें रहते हुए अपने-अपने कर्तव्यके अनुष्ठानसे ही जीव-जीवनके परम लक्ष्य—परमात्माकी शीघ्र-से-शीघ्र प्राप्ति हो जाय।

यह मानी हुई बात है कि जगत्‌की सृष्टि ही वैषम्यको लेकर होती है। प्रकृतिकी साम्यावस्थामें जगत्‌का अस्तित्व ही नहीं रहता। केवल परमात्मा रहते हैं, जगद्बीजरूपा प्रकृति उनके अंदर रहती है। परमात्माकी इच्छासे जब प्रकृतिके गुणोंमें—सत्त्व, रज, तममें वैषम्य होता है, क्षोभ होता है, तभी सृष्टि-व्यापार प्रारम्भ होता है और जबतक यह सृष्टि महासर्गके अन्तमें पुनः प्रकृतिमें लीन नहीं हो जाती, तबतक यह वैषम्यका व्यापार चलता ही रहता है और जबतक वैषम्य है, तबतक व्यवहारकी विषमता, व्यवहारका भेद, कभी मिट नहीं सकता—चाहे उसे मिटानेकी हम कितनी ही चेष्टा क्यों न करें। जहाँ वैषम्य है, वहाँ कार्य-कलापमें भेद, अधिकारमें भेद अवश्यम्भावी है। इसी भेदको लेकर वर्णाश्रमकी व्यवस्था की गयी है, इसी भेदको लेकर स्त्री-पुरुषके लिये अलग-अलग कर्तव्य निश्चित किये गये हैं और उनका कार्यक्षेत्र अलग-अलग स्थिर किया गया है। इसी भेदको लेकर स्पृश्यास्पृश्यका निर्णय किया गया है। इसी भेदको लेकर राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य, ब्राह्मण-शूद्र, मस्तिष्कजीवी-श्रमिक, संन्यासी-गृहस्थ, पति-पत्नी आदि विभागों अथवा वर्गोंकी रचना हुई है—जो सृष्टिसंचालनके लिये आवश्यक है। इस नैसर्गिक वैषम्य अथवा विभागको न मानकर जहाँ हम सबको एक करनेकी व्यर्थ चेष्टा करते हैं, वहीं सांकर्य और गड़बड़ी शुरू हो जाती है, वहाँ वर्गगत कलह प्रारम्भ हो जाते हैं, अधिकारको लेकर लड़ाई होने लगती है, छोटे-बड़ेका प्रश्न सामने आ जाता है। ज्यों-ज्यों हम भेद मिटानेकी चेष्टा करते हैं, त्यों-त्यों विघटन बढ़ता जाता है और फलतः समाज विशृंखलित एवं उच्छिन्न हो जाता है। भेद तो किसी-न-किसी रूपमें फिर भी बना ही रहता है। इस सांकर्य एवं अव्यवस्था तथा उसके दुष्परिणामोंसे बचनेके लिये ही हमारे दीर्घदर्शी, दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न महर्षियोंने गुण-कर्मके अनुसार समाजको कई नैसर्गिक विभागोंमें बाँटकर सबके लिये अलग-अलग कर्तव्य, अलग-अलग धर्म निश्चित किये हैं।

धर्मके हमारे यहाँ सामान्यतया दो विभाग किये गये हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य अथवा मानवधर्म मनुष्यमात्रके लिये समान है। धृति (धैर्य), क्षमा, दम (मनोनिग्रह), अस्तेय (दूसरेका हक न मारना, चोरी-डकैती न करना), शौच (बाहर-भीतरकी शुद्धि, पवित्रता), इन्द्रिय-निग्रह, धी (सात्त्विक बुद्धि), विद्या (यथार्थ ज्ञान, सत्यासत्यकी वास्तविक पहचान) सत्य और अक्रोध (क्रोधशून्यता)—मनूक्त धर्मके ये दस लक्षण;[१] योगोक्त पाँच यम[२]—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह— (शरीरनिर्वाहके अतिरिक्त भोग्य पदार्थोंका संग्रह न करना) और पाँच नियम[३] —शौच, संतोष, तप (धर्म-पालनके लिये कष्ट सहना), स्वाध्याय (सच्छास्त्रोंका अध्ययन तथा ईश्वरके नाम-गुण आदिका कीर्तन) और ईश्वर-प्रणिधान (शरणागतिपूर्वक नित्य-निरन्तर भजन करते हुए भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना) तथा निर्भयता, अन्तःकरणकी पवित्रता, ज्ञानकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाला भगवान्‌के किसी भी

१-धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ (मनु० ६।९२)
२-अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। (योग० २।३०)
३-शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। (योग० २।३२)

स्वरूपका ध्यान, दान, दम (इन्द्रियनिग्रह), यज्ञ (भगवान् तथा देवताओंकी पूजा, हवन आदि), स्वाध्याय, तप, मन-वाणी-शरीरकी सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, अहंकार आदिका त्याग, मनोनिग्रह, अपैशुन (निन्दा-चुगली न करना), जीवमात्रके प्रति दया विषयासक्तिका अभाव, कोमलता, निषिद्ध आचरणमें लज्जा, व्यर्थ चेष्टाका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, अद्रोह (किसीसे द्रोह न करना) एवं निरभिमानता—गीतोक्त दैवी सम्पदाके ये छब्बीस लक्षण,[१] ये सभी सामान्य अथवा मानवधर्मके अन्तर्गत हैं। इसका पालन स्त्री-पुरुष तथा सभी वर्गके मनुष्योंके लिये—चाहे वे किसी वर्ण, जाति, सम्प्रदाय अथवा देशके हों—वांछनीय है। उपर्युक्त दैवी गुण तथा आचरण सभी मतावलम्बियोंको प्रायः मान्य हैं, अतएव सभीके लिये अनुकरणीय हैं।

इन सामान्य धर्मोंके अतिरिक्त विशिष्ट वर्गोंके लिये हमारे शास्त्रोंने कुछ विशिष्ट धर्म भी माने हैं, जो सामान्य धर्मोंके साथ-साथ उन-उन वर्गोंके लिये विशेषरूपसे पालनीय हैं; क्योंकि वे उनके लिये सहज अथवा स्वभावगत हैं अर्थात् उन्हें जन्मतः अथवा प्राक्तन संस्कारोंसे प्राप्त हुए हैं। हमारे यहाँ जन्म आकस्मिक अथवा यादृच्छिक नहीं माना गया है। जाति (जन्म), आयु (जीवन-काल) तथा भोग (सुख-दुःखकी प्राप्ति)—ये तीनों ही हमें प्रारब्धकर्मके अनुसार प्राप्त होते हैं, अतएव ये अपरिवर्तनीय हैं—इन्हें कोई बदल नहीं सकता। उपनिषद्में आया है—

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा॥ (छान्दोग्य० ५। १०। ७)

'उन जीवोंमें जो अच्छे आचरणवाले होते हैं, वे इस लोकमें शीघ्र ही उत्तम योनिको प्राप्त होते हैं। वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनि प्राप्त करते हैं तथा जो अशुभ आचरणवाले हैं, वे तत्काल अशुभ योनिको प्राप्त होते हैं। वे कुत्तेकी योनि, सूकरयोनि अथवा चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं।'

यही कारण है कि कोई चक्रवर्ती सम्राट् अथवा किसी धन-कुबेरके यहाँ जन्म लेता है तो कोई दीन-हीन भिखारीके यहाँ; कोई शतायु होता है तो कोई अकालमें ही कालके गालमें चला जाता है; कोई जीवनभर चैनकी वंशी बजाता है तो कोई रो-रोकर दिन काटता है; कोई वृद्धावस्थामें भी स्वस्थ-सबल रहता है तो कोई जन्मसे ही रोगोंसे आक्रान्त रहता है।

उपर्युक्त सिद्धान्तोंके अनुसार स्त्री-योनि भी प्राक्तन कर्मोंके अनुसार ही प्राप्त होती है। एक ही माता-पितासे कई सन्तानें उत्पन्न होती हैं; उनमें कोई पुरुष-चिह्नसे युक्त होती है और कोई स्त्री-चिह्नसे। प्राक्तन कर्मोंके अतिरिक्त उनके इस भेदमें क्या हेतु हो सकता है। जन्मके समय लिंगभेदके अतिरिक्त पुत्र एवं कन्याकी शरीर-रचना अथवा आकृतिमें कोई अन्तर नहीं होता। धीरे-धीरे अवस्था बढ़नेपर उनके शरीरकी गठनमें अन्तर स्पष्ट होने लगता है। यहाँतक कि किशोर अवस्थातक पहुँचते-पहुँचते दोनोंके शरीरकी रचनामें काफी अन्तर हो जाता है तथा युवा अवस्थामें यह अन्तर और भी स्पष्ट हो जाता है एवं अन्ततक बना रहता है। स्त्री और पुरुषके स्वभाव, शारीरिक बल तथा बौद्धिक विकासमें भी काफी अन्तर होता है। स्त्रियोंमें प्रायः भीरुता, अपवित्रता, चपलता तथा पुरुषोंकी अपेक्षा बुद्धिकी मन्दता आदि दोष होते हैं।[२] उनमें सेवा एवं सहिष्णुताकी मात्रा अधिक होती है। मस्तिष्ककी अपेक्षा उनमें हृदयकी प्रधानता होती है। इन्हीं सब कारणोंसे स्त्रियोंको हमारे शास्त्रोंमें पुरुषके अधीन रखा गया है। किसी भी हालतमें उन्हें स्वतन्त्र रहनेका अधिकार नहीं दिया गया है। उनके शरीरकी गठन तथा अंगोंकी रचना एवं उनके शरीरके व्यापार भी ऐसे हैं, जिनके कारण पुरुषोंके अधीन रहना ही उनके लिये स्वाभाविक एवं श्रेयस्कर है।

१-अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः। दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्। दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता। भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ (गीता १६। १—३)

२-श्रीतुलसीदासजीने कहा है—
नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया॥

स्वभाव, बुद्धि तथा शारीरिक रचना एवं बल-पौरुषके अनुरूप ही स्त्रियोंका कार्यक्षेत्र भी पुरुषोंसे पृथक् रखा गया है। हिंदूनारी घरकी रानी होती है। घरकी व्यवस्था तथा सफाई, भोजनशालाका प्रबन्ध तथा पाक तैयार करना, बच्चोंका लालन-पालन, उनकी शिक्षा तथा चरित्र-निर्माण, अन्न-वस्त्रका यथोचित संग्रह, आय-व्ययका समीकरण, परिवारके सब लोगोंकी सँभाल, सेवा एवं आवश्यकताओंकी पूर्ति तथा प्रधानतया गृहस्वामीकी सेवा, उन्हें सब प्रकारसे सुख पहुँचाना तथा उन्हें गृहस्थ-सम्बन्धी चिन्ताओंसे मुक्त रखना, सुयोग्य सन्तान उत्पन्न करके वंशकी रक्षा एवं वृद्धि करना, पतिके धर्म-कार्योंमें हाथ बँटाना तथा स्वयं धर्मपालन करते हुए अपना एवं अपने पतिका उद्धार करना, पतिको ही परमात्माका प्रतीक, उनका प्रतिनिधि मानकर उन्हींमें अनन्य प्रेम करना—आदि-आदि स्त्रियोंके महान् कर्तव्य हमारे शास्त्रोंमें बताये गये हैं। सेवा, त्याग एवं आत्मोत्सर्ग ही नारीके प्रधान गुण हैं। पतिके प्रति आत्मसमर्पण तथा सन्तानके लिये आत्मदान ही उसके जीवनका परम पुनीत व्रत है। भगवान्‌के प्रति भक्तको आत्मसमर्पण किस प्रकार करना चाहिये, इसकी शिक्षा हमें पतिपरायण पतिव्रता नारीके आदर्श जीवनसे ही मिलती है। इन्हीं सब कारणोंसे भारतीय समाजमें नारीका स्थान बहुत ऊँचा है। ऐसी दशामें भारतीय नारीको पुरुषकी गुलाम बतलाकर उसके अंदर पुरुषोंके प्रति विद्रोह-भावना उत्पन्न करना, उसे महान् सती-धर्मसे विचलित कर पथभ्रष्ट करना, घरकी रानीके महान् गौरवमय पदसे नीचे उतार कर पद, अधिकार एवं नौकरीके लिये दर-दर भटकनेवाली राहकी भिखारिणी बनाना कहाँतक उसका हित-साधन करना है—इसे नारी-समानाधिकारके हिमायती स्वयं सोच सकते हैं। स्त्री और पुरुषमें शरीर, बुद्धि एवं स्वभावगत जो नैसर्गिक भेद है, उसे किसी प्रकार भी मिटाया नहीं जा सकता और उसीके अनुसार दोनोंके कर्तव्य, अधिकार एवं कार्यक्षेत्रमें भी भेद रहना आवश्यक है। दोनोंके कार्यक्षेत्र तथा अधिकारोंमें समता लानेकी चेष्टा करना समाजको छिन्न-भिन्न करना है। इससे कभी जगत्‌का हित-साधन नहीं हो सकता। पाश्चात्य जगत्‌में इस प्रकारकी चेष्टासे क्या-क्या अनर्थ हो रहे हैं, वहाँकी पारिवारिक सुख-शान्ति किस प्रकार नष्ट हो रही है—इसे देखते-सुनते हुए भी हमलोग आँख मूँदकर उसी मार्गपर चलनेके लिये उतावले हो रहे हैं, यह कैसी विडम्बना है!

स्त्रियोंकी शिक्षा भी ऐसी होनी चाहिये, जो उनके जीवन तथा आदर्शके अनुकूल हो तथा जो उनके कर्तव्य-पालनमें सहायक सिद्ध हो। पुरुषोंके आदर्शके अनुसार स्त्रियोंको भी उन्हीं सब विषयोंकी शिक्षा देना उनके जीवनको बर्बाद करना—उन्हें इतोभ्रष्ट-ततोभ्रष्ट करना है। वर्तमान शिक्षा-पद्धतिका उद्देश्य तो इस पद्धतिको प्रचारित करनेवाले पुरुषोंके ही कथनानुसार भारतीय नवयुवकोंको गुलाम बनाना, उनकी अपनी निजकी संस्कृति, इतिहास, पूर्वपुरुषों एवं धर्मके प्रति अनास्था उत्पन्न करना—उन्हें कहनेमात्रको भारतीय किंतु हृदयसे पाश्चात्य बना देना रहा है और इसी पद्धतिके अनुसार अपनी कन्याओंको भी शिक्षित कर हमने उनका ही नहीं, अपितु साथ-साथ अपने तथा अपनी भावी सन्तानके भी सर्वनाशका बीज बो दिया, किंतु अब भी हम यदि चेत जायँ तो अपने सर्वनाशको बचा सकते हैं। हमें अपनी कन्याओंका शिक्षा-क्रम ऐसा बनाना चाहिये, जिससे वे आदर्श गृहिणी तथा सीता-सावित्री, अनसूया, मदालसा, मैत्रेयी आदिके समान पतिव्रता बन सकें। उन्हें साधारण भाषा तथा साहित्यिक ज्ञानके साथ-साथ सीना-पिरोना, विविध पाक तैयार करना, बच्चोंका लालन-पालन करना और उन्हें शिक्षा देना, स्वास्थ्य एवं सफाईके साधारण नियमोंको जानना, देशी चिकित्साके प्रारम्भिक सिद्धान्तोंका तथा घरेलू नुस्खोंका ज्ञान प्राप्त करना, घायलोंकी प्रथम सेवा करना, गृह-प्रबन्ध, कृषि, गणित एवं अर्थशास्त्रका, चित्रकर्म, शिल्प आदि कलाओंका तथा इतिहास-भूगोलका साधारण ज्ञान प्राप्त करना तथा सर्वोपरि नीति, सद्‌गुण-सदाचार, सौजन्य, सादगी, कर्तव्य पालन, ईश्वरभक्ति तथा धर्मका व्यावहारिक ज्ञान—इत्यादि विषयोंकी शिक्षा दी जानी चाहिये। यह शिक्षा भी उन्हें यथा-सम्भव घरोंमें ही दी जानी उचित है। पाठशालाओंमें चरित्र-सम्पन्न आदर्श अध्यापिकाओंका प्रायः अभाव होनेसे बालिकाओंके चरित्रपर बहुधा अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता और वे प्रायः विलासप्रिय एवं शौकीन बन जाती हैं। साथ ही भारतीय आदर्शके अनुसार वयस्क हो जानेपर लड़कियोंका बाहर निकलना भी श्रेयस्कर नहीं है। बालक-बालिकाओंकी सहशिक्षा तो भारतीय पद्धतिके सर्वथा प्रतिकूल एवं त्याज्य है। उससे तो लाभकी अपेक्षा हानिकी ही अधिक सम्भावना है। अतः उससे सर्वथा बचना चाहिये। हमारे यहाँ तो स्त्री-पुरुषोंके सम्पर्कपर बहुत अधिक नियन्त्रण रखा गया है और सतीधर्मकी रक्षाके लिये यह परमावश्यक है। सतीधर्म

ही भारतीय नारीका परम भूषण माना गया है और उसीने हिन्दू-जाति एवं हिन्दू-धर्मकी रक्षा की है। क्षेत्र एवं बीजकी शुद्धि—रज-वीर्यकी शुद्धि ही जातिको एवं समाजको पवित्र रख सकती है और इसी सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखकर नारी-जातिकी पवित्रता—सतीत्वरक्षापर इतना जोर दिया गया है।

महाकवि कालिदासके 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में महर्षि कण्वने अपनी पोष्य-पुत्री शकुन्तलाको ससुराल जाते समय बड़ा ही सुन्दर उपदेश दिया है। कण्व कहते हैं।

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥

(चतुर्थ अंक, श्लोक २०)

'बेटी! ससुरालमें जाकर सास-ससुर आदि बड़ोंकी सेवा करना; अपने पतिकी अन्य पत्नियोंके साथ (यदि कोई हो) मित्रताका, प्रेमका बर्ताव करना; यदि कभी पतिका तिरस्कार भी मिले तो क्रोधके वशीभूत होकर उनके प्रतिकूल आचरण भूलकर भी न कर बैठना; दास-दासियोंके प्रति सदा दयाका भाव बनाये रखना और प्रचुर भोग-सामग्री प्राप्त करके अभिमानसे फूल मत जाना। इस प्रकारका आचरण करनेसे ही युवतियाँ 'गृहिणी' के सम्मान्य पदपर प्रतिष्ठित होती हैं और जो इसके विपरीत आचरण करती हैं, वे तो अपने कुलके लिये आधिरूप—क्लेशदायक बन जाती है।'

कविवर कालिदासने शास्त्रोंमें विस्तारसे कहे हुए 'नारी-धर्म' का निचोड़ बहुत थोड़े शब्दोंमें इस श्लोकमें रख दिया है।

शास्त्रसम्मत स्त्री-धर्म

हमारे धर्मशास्त्रोंमें मनुस्मृति धर्मका एक प्रधान ग्रन्थ है। इसमें बहुत-से श्लोक तो ऐसे हैं, जिनमें स्त्री-पुरुष दोनोंके लिये ही सामान्य धर्म बतलाये गये हैं। कितने ही ऐसे श्लोक हैं, जिनमें केवल पुरुषोंके कर्तव्य ही बतलाये गये हैं एवं कितने ऐसे श्लोक भी हैं, जिनमें केवल स्त्रियोंके ही कर्तव्यका निर्देश है। उनमेंसे, जिनमें केवल स्त्रियोंके ही कर्तव्य बतलाये गये हैं, कुछ श्लोकोंको उद्धृत करके उनके आधारपर साररूपमें कुछ स्त्री-शिक्षाकी समयोपयोगी बातें बतलायी जाती हैं।

मनु आदि ऋषियोंने स्त्री-जीवनका स्वरूप भलीभाँति समझकर उसकी रक्षाके लिये उनको सदा पुरुषोंके अधीन होकर रहनेकी ही आज्ञा दी है—

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किंचित्कार्यं गृहेष्वपि॥
बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम्॥
पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले॥

(५।१४७—१४९)

'स्त्री बालिका हो, या युवती हो अथवा बूढ़ी हो, उसे अपने घरमें भी कोई कार्य स्वतन्त्रतासे कदापि नहीं करना चाहिये। बाल्यावस्थामें वह पिताके अधीन रहे, युवती-अवस्थामें पतिके वशमें रहे और यदि पतिकी मृत्यु हो जाय तो पुत्रोंके अधीन रहे; तात्पर्य यह है कि स्त्री कभी स्वच्छन्दताका आश्रय न ले। वह पिता, पति अथवा पुत्रोंसे अपनेको अलग रखनेकी कभी इच्छा न करे, क्योंकि इनसे अलग रहनेसे पितृकुल और पतिकुल दोनोंके कलंकित होनेकी सम्भावना है।'

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

(९।३)

'स्त्रीकी कुमारावस्थामें पिता रक्षा करता है, युवावस्थामें पति रक्षा करता है और वृद्धावस्थामें पुत्र रक्षा करते हैं; उसे कभी स्वाधीन नहीं रहना चाहिये।'

स्त्रियोंके स्वतन्त्र और अरक्षित होनेपर नाना प्रकारके दोष उत्पन्न हो जाते हैं और उनकी रक्षा करनेसे अपनी और धर्मकी रक्षा होती है। इसीलिये शास्त्रोंमें स्त्रियोंके लिये स्वतन्त्रताका विरोध किया गया है। शास्त्रकार ऋषि-महर्षि त्रिकालदर्शी, स्वार्थत्यागी, समदर्शी, अनुभवी, पूर्वापरको गहराईसे सोचनेवाले और संसारके परम हितैषी थे; अतः उनकी बातोंपर हमको विशेष ध्यान देकर स्त्रियोंकी सब प्रकारसे रक्षा करनी चाहिये।

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः॥

इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम्।
यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि॥
स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति॥
यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम्।
तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः॥
न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम्।
एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम्॥
अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य वेक्षणे॥

(९। ५—७,९—११)

'कुसंग अथवा आसक्ति सूक्ष्म-से-सूक्ष्म क्यों न हो, उससे भी स्त्रियोंकी विशेषरूपसे रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि रक्षित न होनेपर वे पति और पिता दोनोंके कुलको ही शोकमें डाल देती हैं। स्त्रीकी रक्षा सब वर्णोंके लिये ही उत्तम धर्म है, इस धर्मको दृष्टिमें रखकर दुर्बल पति भी अपनी पत्नीको सुरक्षित रखनेका यत्न करते हैं। क्योंकि जो पत्नीकी यत्नपूर्वक रक्षा करता है, वह अपनी सन्तानको वर्णसंकर होनेसे बचाता है, अपने चरित्रको निष्कलंक रखता है, अपनी कुल-मर्यादाकी रक्षा करता है तथा अपनी और अपने धर्मकी भी रक्षा कर लेता है। स्त्री जैसे पुरुषका सेवन करती है, वैसी ही सन्तानको जन्म देती है; अतः प्रजाकी शुद्धिके लिये—सन्तानको वर्णसंकरतासे बचानेके लिये स्त्रीकी यत्नपूर्वक रक्षा करे। कोई भी बल-प्रयोग करके स्त्रियोंकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हो सकता; किन्तु इन नीचे लिखे जानेवाले उपायोंको काममें लेनेसे उनकी रक्षा की जा सकती है। स्त्रीको धनके संग्रहमें और उसे खर्च करनेके कार्यमें लगावे। घरको स्वच्छ रखने, दान-पूजन आदि धर्म-कार्य करने, रसोई बनाने तथा घरके सामानकी देख-भाल करनेके कार्यमें भी उसे नियुक्त करे।'

कन्याको चाहिये कि वह अपना विवाह कभी स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक न करे; क्योंकि जो अपने बड़े-बूढ़े अनुभवी बुद्धिमान् हितैषी होते हैं, वे बुद्धिपूर्वक जो काम करते हैं, वह इस लोक और परलोकमें लाभदायक होता है। इसके विपरीत अपनी बाल-चपलतासे किया हुआ सम्बन्ध इस लोक एवं परलोकमें भी हानिकर हो सकता है। अतः उसके अभिभावक, माता-पिता, भाई आदि शुद्ध भावसे कन्याका हित समझकर जिसके साथ उसका विवाह कर दें, उसीको प्रसन्नतापूर्वक ईश्वरका विधान समझकर पतिरूपमें स्वीकार करना चाहिये और आजीवन उसीकी सेवा करना और उसकी मृत्युके बाद भी उस पतिकी दी हुई शिक्षाके अनुसार ही अपना जीवन बिताना चाहिये।

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वानुमते पितुः।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत्॥

(५। १५१)

'पिता अथवा पिताकी अनुमति लेकर भाई भी कन्याको जिसके साथ ब्याह दे, उसी पतिकी यह जीवनभर सेवा-शुश्रूषा करे तथा उसकी मृत्यु होनेपर भी यह उसका उल्लंघन न करे [अर्थात् उससे सम्बन्ध तोड़कर किसी दूसरेसे सम्बन्ध न जोड़े; पतिके जीते हुए उसकी आज्ञाको सदा माने और उसके मरनेपर भी उसकी दी हुई आज्ञाका कभी उल्लंघन न करे]।

आजकल जो शास्त्र-विधिसे विवाह न करके रजिस्ट्रीमात्रसे ही विवाह हो जानेकी प्रथाका समर्थन किया जा रहा है, वह बहुत बुरा है। इससे विवाहकी पवित्रता तो नष्ट होती ही है, प्रेमका बन्धन भी नहीं रहता और बात-बातमें तलाककी नौबत आती है। पाश्चात्य देशोंमें आज यही हो रहा है। हमारे भारतवर्षमें शास्त्रीय पद्धतिसे विवाह करनेकी जो प्रथा है, तदनुसार विवाह-सम्बन्ध करनेपर हजारोंमें भी एक भी ऐसा दृष्टान्त दृष्टिगोचर नहीं होता, जो पतिको त्यागकर दूसरेसे विवाह करे या पतिपर मुकदमा करे। क्योंकि ऋषियोंने स्त्री और पुरुषके कल्याणके लिये ही अत्यन्त रहस्यमय विवाह-संस्कार-पद्धतिका विधान किया है, जिसमें पुण्याहवाचन तथा हवन आदि कर्मोंका वर और कन्याके मंगलके लिये उल्लेख है—

मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः।
प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम्॥

(५। १५२)

'विवाहके अवसरपर जो स्वस्तिवाचन तथा प्रजापतिका यजन होता है, वह तो ब्याही जानेवाली स्त्रियोंके मंगलके लिये है; वास्तवमें कन्यादान ही स्वामित्वका कारण है। अर्थात् गुरुजनोंके द्वारा कन्या जिसे दे दी जाती है, वही पति है और उसीकी वह पत्नी है—यह निश्चय कन्यादान होनेपर ही होता है।'

विवाह होनेके बाद स्त्रीका सबसे बढ़कर प्रधान कर्तव्य यह हो जाता है कि वह पतिको ही सर्वस्व मानकर पतिके आज्ञानुसार पतिकी प्रसन्नताके लिये ही समस्त

आचरण करे। पति अयोग्य हो, तो भी उसे देवताके समान समझकर उसकी सेवा करे। इसीमें उसका सब प्रकारसे इस लोक और परलोकमें हित है।

अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः।
सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः॥
विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥
पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत् किंचिदप्रियम्॥

(५।१५३-१५४, १५६)

'वैदिक मन्त्रोंद्वारा विवाह-संस्कार करनेवाला पति ऋतुकालमें तथा उससे भिन्न समयमें भी स्त्रियोंको इस लोक और परलोकमें सदा सुख देनेवाला होता है। शीलहीन, स्वेच्छाचारी अथवा गुणोंसे शून्य होनेपर भी पति साध्वी स्त्रीके लिये सदा देवताकी भाँति पूजनीय है। परम कल्याणमय पतिलोककी इच्छा रखनेवाली नारी पाणिग्रहण करनेवाले पतिके जीवित रहने अथवा मरनेपर भी कभी कोई ऐसा आचरण न करे, जो उसे प्रिय न हो।'

पुरुषका यह परम कर्तव्य बतलाया गया है कि वह जो भी यज्ञ, दान, तप, व्रत, उपवास आदि उत्तम क्रिया करे, स्त्रीकी सलाहसे उसको साथ लेकर ही करे। इसीलिये स्त्रीको पतिके बिना या उसकी आज्ञाके बिना अलग यज्ञ, तीर्थ, व्रत, उपवास, सत्संग आदि धार्मिक कर्म भी करनेकी आवश्यकता नहीं है; उसके लिये तो पतिसेवासे ही इस लोक और परलोकमें कल्याण बतलाया है।

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥
पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते*॥
अनेन नारी वृत्तेन मनोवाग्देहसंयता।
इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च॥

(५।१५५, १६५-१६६)

'स्त्रियोंके लिये पतिसे अलग कोई यज्ञ, व्रत और उपवास करनेका विधान नहीं है; जिस पातिव्रत्यका आश्रय लेकर वह पतिकी शुश्रूषा करती है, उसीसे वह स्वर्गलोकमें सम्मानित होती है। जो मन, वाणी और शरीरको संयममें रखकर कभी पतिके विपरीत आचरण नहीं करती, वह (भगवत्स्वरूप) पतिलोकको प्राप्त होती है और सत्पुरुषोंद्वारा 'साध्वी' इस प्रकार कही जाती है। मन, वाणी और शरीरको संयममें रखनेवाली नारी इस बर्तावसे इस लोकमें उत्तम कीर्ति और परलोकमें पति-धामको प्राप्त करती है।'

स्त्रीको उचित है कि जिसमें पति संतुष्ट हो उसीमें संतुष्ट रहकर पतिके अनुकूल धार्मिक क्रिया करते हुए घरका हरेक काम बड़ी कुशलताके साथ करे। न तो समयको व्यर्थ बितावे और न फिजूल खर्च ही करे, बल्कि भगवान्‌को याद रखते हुए पतिके आज्ञानुसार ही सारा कार्य करे; क्योंकि पति-सेवा ही स्त्रीके लिये सब कुछ है। ऐसा आचरण करनेवाली स्त्री इस लोक और परलोकमें प्रशंसनीय है।

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥

(२।६७)

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया॥

(५।१५०)

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन॥
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम्॥
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह॥

(९।२६—२८)

'स्त्रियोंके लिये वैवाहिक विधिका पालन ही वेदोक्त उपनयन-संस्कार माना गया है। ससुरालमें रहकर पतिकी सेवा ही उनके लिये गुरुकुलका निवास है और भोजन बनाना आदि घरके काम-काज ही उनके लिये दोनों समयका अग्निहोत्र है। स्त्रीको सदा ही प्रसन्न रहना और घरके कार्योंमें दक्ष होना चाहिये। वह गृहकी प्रत्येक सामग्रीको स्वच्छ रखनेवाली और खुले हाथों खर्च न करनेवाली बने। परम सौभाग्यशालिनी स्त्रियाँ सन्तानोत्पादनके लिये हैं। ये सर्वथा सम्मानके योग्य और घरकी शोभा हैं। घरकी स्त्री और लक्ष्मीमें कोई भेद नहीं है। सन्तानको उत्पन्न करना, उत्पन्न हुई सन्तानका भलीभाँति पालन-पोषण करना और प्रतिदिन भोजन आदि बनाकर

* ऐसा ही श्लोक अ० ९। २९ का भी है।

लोकयात्राका निर्वाह करना—यह सब प्रत्यक्षरूपसे स्त्रीके अधीन है। सन्तानकी प्राप्ति, धर्म-कार्यका अनुष्ठान, सेवाकार्य, उत्तम (धर्मयुक्त) रति, पितरोंकी स्वर्ग-प्राप्ति तथा अपनी भी पारलौकिक उन्नति स्त्रीके अधीन है।'

बड़े ही आश्चर्यकी बात है कि आजकल लोग तलाक-कानून बनानेके प्रयत्नमें लगे हैं। सुना जाता है, अमेरिका-इंग्लैण्ड आदि विदेशोंमें कहीं-कहीं पचास प्रतिशत तलाकके मुकदमे होते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि इससे सतीत्वका नाश, लोकापवाद, समयका अपव्यय, फिजूलखर्ची, वैमनस्य, चिन्ता, शोक, भय, पाप और मुकदमेबाजी तथा इहलोक-परलोकके भ्रष्ट होनेके सिवा और कोई लाभ नहीं हो सकता। हमें गम्भीरतापूर्वक सोचना चाहिये कि तलाक-कानून हमारे लिये बहुत ही घातक है; ऐसे बिल संसदमें जब-जब आवें, तब-तब जनताको उनका घोर विरोध करना चाहिये। हमारे शास्त्रोंमें पतिके जीवित रहनेके समयकी तो बात ही क्या, मरनेपर भी दूसरे पुरुषको पति बनाना महान् घृणित और पाप बतलाया है। पतिके मरनेके बाद तो साध्वी स्त्रीके लिये जप, तप, व्रत, संयम आदिका पालन करते हुए फल-मूल आदिसे अपना जीवन बिताना श्रेयस्कर है। इस प्रकार संयम और ब्रह्मचर्यसे रहनेवाली स्त्री उत्तम गतिको प्राप्त होती है।

कामं तु क्षपयेद् देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु॥
आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम्॥
मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥
अपत्यलोभाद् या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते।
सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते॥
नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्यपरिग्रहे।
न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते॥
पतिं हित्वापकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते।
निन्द्यैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते॥
व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।
शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते*॥

(५।१५७-१५८, १६०—१६४)

'विधवा स्त्री फल-फूल, कन्द-मूल आदि सात्त्विक पदार्थोंसे जीवन-निर्वाह करती हुई इच्छापूर्वक अपने शरीरको सुखा डाले; परंतु पतिकी मृत्युके बाद किसी पराये पुरुषका (काम-भावनासे) नाम भी न ले। पतिव्रता स्त्रियोंका जो सर्वोत्तम धर्म है, उसे पानेकी इच्छा रखनेवाली विधवा मृत्युपर्यन्त क्षमाशील, मन-इन्द्रियोंको संयम रखनेवाली तथा ब्रह्मचारिणी रहे। पतिकी मृत्युके पश्चात् ब्रह्मचर्यव्रतमें दृढ़तापूर्वक स्थिर रहनेवाली साध्वी स्त्री पुत्रहीना होनेपर भी स्वर्गलोकमें जाती है, जैसे कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी (पुत्रके बिना भी) स्वर्गमें जाते हैं? किंतु जो स्त्री पुत्रके लोभसे पतिका उल्लंघन (व्यभिचार) करती है, वह इस लोकमें तो निन्दा पाती ही है, पतिलोकसे भी वंचित रह जाती है। परपुरुषसे उत्पन्न हुई सन्तान यहाँ अपनी सन्तान नहीं मानी जाती; इसी प्रकार परायी स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुई सन्तान भी अपनी नहीं है। साध्वी स्त्रियोंके लिये कहीं भी दूसरे पतिको अपनानेका उपदेश नहीं दिया गया है। जो स्त्री धन आदिकी दृष्टिसे अपने निम्न श्रेणीके पतिको त्यागकर उच्च वर्गमें गिने जानेवाले किसी पर-पुरुषका सेवन करती है, वह इस लोकमें निन्दनीय ही होती है तथा 'परपूर्वा' (पहलेकी परायी स्त्री) कही जाती है। पतिके विपरीत आचरण—व्यभिचार करनेसे स्त्री इस लोकमें निन्दाका पात्र बनती है, दूसरे जन्ममें उसे सियारकी योनिमें जाना पड़ता है तथा पापजनित रोगोंसे भी वह पीड़ित रहती है।'

आजकल कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि 'जब स्त्रीके मरनेपर पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है, तब फिर स्त्रीको भी पतिके मरनेपर पुनर्विवाह करनेमें क्या आपत्ति है?' इसका उत्तर यह है कि मरनेके बाद पुरुषके पुनर्विवाह कर लेनेपर भी उसकी पहलेकी संतान उसी कुल-गोत्रमें ही रहकर अपने पिताके द्वारा रक्षित और पालित हो सकती है और उसका उस घरमें दायभाग रहता है, उसका अपने हिस्सेके अनुसार अधिकार कायम रहता है; किंतु पतिकी मृत्यु हो जानेपर स्त्री यदि बच्चोंको वहीं छोड़कर दूसरे पुरुषसे विवाह करके वहाँ चली जाती है तो वे बच्चे बिलकुल अनाथ हो जाते हैं, उनका पालन-पोषण ही असम्भव-सा हो जाता है और यदि संतानको साथ ले जाय तो उनका इस गोत्र और कुलसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेके कारण वे अपने पैतृक धनसे वंचित रह जाते हैं। जहाँ दूसरे घरमें वह जाती है, वहाँ

* ऐसा ही श्लोक ९।३० का भी है।

उसका पति न तो उन बच्चोंसे प्यार करता है और न उन्हें दायभागका हिस्सा ही देता है। इस प्रकार वे पहलेवाले घरसे भी हाथ धो बैठते हैं और दूसरे घरसे भी उन्हें कुछ नहीं मिलता। उनके शादी-विवाह भी कठिन हो जाते हैं। इस प्रकार वे महान् भयमें पड़ जाते हैं। इसलिये भी शास्त्रकारोंने पुनर्विवाहका बहुत निषेध किया है। यदि कहें कि 'शास्त्रकारोंने पुरुषको तो स्त्रीके जीते ही विवाह करनेकी छूट दे रखी है, स्त्रियोंको ऐसी छूट क्यों नहीं दी; उन्होंने यह अन्याय किया है।' तो इसका उत्तर यह है कि एक पुरुष एक साथ पाँच स्त्रियोंके साथ रहकर एक ही वर्षमें उनके द्वारा पाँच संतान पैदा कर सकता है; किंतु एक स्त्री एक साथ पाँच पुरुषोंसे विवाह करके एक भी संतान पैदा नहीं कर सकती। यह स्त्री-पुरुषमें प्राकृतिक भेद है। इस दृष्टिसे पुरुषका अधिक विवाह करना संगत कहा गया है। परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि हम पुरुषके बहुविवाहके पक्षपाती हैं। हम तो स्त्रीके जीते किसी पुरुषके दूसरा विवाह करनेका घोर विरोध करते हैं। बल्कि स्त्रीके मरनेपर भी पुरुषका पुनर्विवाह करना कोई महत्त्वकी बात नहीं है, महत्त्व तो ब्रह्मचर्यके पालनमें ही है। शास्त्रकारोंने केवल मानव-जातिकी शृंखलाकी रक्षाके लिये धर्मानुकूल विवाहका विधान किया है। किसी भी हालतमें पुरुषका दूसरा विवाह करना आदर्श नहीं है, बल्कि क्लेश बढ़ानेवाला और कल्याणमार्गसे पतन करनेवाला ही है। हमने तो केवल पुरुषोंको शास्त्रोंमें यह छूट क्यों दी गयी, यह दिखलानेके लिये ही युक्ति दी है। अतः स्त्रियोंके लिये तो पतिके जीतेजी या मरनेपर—किसी भी हालतमें दूसरा विवाह करनेका घोर निषेध किया गया है। इसलिये कल्याण चाहनेवाली स्त्रीको पुनर्विवाह तो दूर रहा, दूसरे पुरुषका भूलकर स्मरण भी नहीं करना चाहिये।

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्॥
नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः॥
अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।

(मनुस्मृति ९। ४७, ६५-६६)

'कुटुम्बमें धन आदिका बँटवारा एक ही बार होता है, कन्या किसीको एक ही बार दी जाती है तथा 'मैं दूँगा' यह प्रतिज्ञा भी एक ही बार की जाती है; सत्पुरुषोंके लिये ये तीन बातें एक-एक बार ही होती हैं। विवाहके मन्त्रोंमें कहीं भी नियोगकी चर्चा नहीं है; विवाहकी विधिमें विधवाका पुनर्दान भी नहीं कहा गया है। यह पशुधर्म है, विद्वान् द्विजोंने इसकी सदा ही निन्दा की है।'

शास्त्रोंमें स्त्रियोंके लिये बहुत-से दुर्व्यसन बताये गये हैं। कल्याण चाहनेवाली स्त्रियोंको सदा उन दोषोंसे बचना चाहिये।

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट्॥

(९। १३)

'मद्यपान, दुष्टोंका संग, पतिसे अलग रहना, अकेली घूमना, अधिक सोना तथा दूसरेके घरमें निवास करना—ये छः स्त्रियोंके लिये दोष हैं (इनके कारण वे पतनके गर्तमें गिरती हैं)।'

याज्ञवल्क्य, पराशर आदि ऋषि-मुनियोंने भी स्मृतियोंमें स्त्रियोंके लिये प्रायः इसी प्रकारके उपदेश लिखे हैं; लेखका कलेवर न बढ़ जाय, इसलिये विस्तार नहीं किया गया।

अतएव स्त्रियोंको पूर्वमें हुई सती-साध्वी स्त्रियोंको आदर्श मानकर उनके उपदेशोंके अनुसार अपना जीवन बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये। अब पूर्वमें हुई सती-साध्वी स्त्रियोंके उदाहरणपूर्वक स्त्रियोंके लिये कुछ खास पालन करनेकी बातें बतलायी जाती हैं।

जिस प्रकार मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने एकपत्नीव्रतका महान् आदर्श दिखलाया, उसी प्रकार जगज्जननी श्रीसीताजीने समस्त स्त्रियोंको शिक्षा देनेके लिये स्वयं आचरण करके पातिव्रत्यधर्मका दिग्दर्शन कराया। उन्होंने भोग-सुख, राजमहल, आभूषण, रेशमी वस्त्र, मेवा-मिष्टान्न आदि सम्पूर्ण भोग-सामग्रियोंको तुच्छ समझकर उनका परित्याग कर दिया तथा स्वामीके साथ वृक्षोंके नीचे पर्णशालामें निवास करना, शीत-उष्ण-वर्षा आदिका सहन करना और कन्द-मूल-फल खाकर जीवन-निर्वाह करना आदि कठोर व्रतोंका पालन करते हुए स्त्रियोंके सर्वोत्कृष्ट धर्म पातिव्रत्यका नियमपूर्वक अनुष्ठान करके सबके लिये सुन्दर आदर्श उपस्थित कर दिया।

इसी प्रकार सावित्रीने राजा-महाराजाओंकी अवहेलना करके राजमहलके भोग-विलासोंको तुच्छ समझकर वनवासी सत्यवान्‌को ही पतिरूपमें वरण किया और

पतिकी तथा अपने सास-ससुरकी सेवा करनेमें ही अपना जीवन लगाया। पतिसेवाके प्रभावसे उसने यमराजपर भी विजय प्राप्त कर ली। सास-ससुर आदिके लिये अनेक वरदान प्राप्त करके पतिको यमराजके फंदेसे छुड़ा लिया!

मदालसाने अपने पुत्रोंको उत्तम शिक्षा देकर उन्हें जीवन्मुक्त बना दिया और पतिके साथ सर्वोत्तम गति प्राप्त की।

गान्धारीने अपने पातिव्रतधर्मके बलसे यादवकुलको शाप दे श्रीकृष्णको तथा पाण्डवोंको भी अपना प्रभाव दिखलाकर आश्चर्य-चकित कर दिया।

दमयन्तीने बुरी दृष्टिसे देखनेवाले दुराचारी व्याधको अपने पातिव्रतधर्मसे भस्म कर दिया।

शुभा नामक स्त्री पातिव्रतधर्मका पालन करके अपने पतिको भगवान्‌के परम धाममें ले गयी।

जिस अनसूयाने सीताजीको पातिव्रतधर्मका अमूल्य उपदेश दिया और जिसके पातिव्रत्यके प्रभावसे ब्रह्मा-विष्णु-महेशने उसके यहाँ अवतार लिया, उसकी महिमा क्या कही जाय?

इसी प्रकार इतिहास-पुराणोंमें बहुत-सी पतिव्रता स्त्रियोंकी गाथाएँ भरी पड़ी हैं, इसके लिये स्त्रियोंको उन ग्रन्थोंके उन-उन स्थलोंको पढ़ना चाहिये।

स्त्रियोंके लिये सबसे बढ़कर कर्तव्य है—पातिव्रतधर्मका पालन। पतिके मरनेपर भी उनको, जिस प्रकार जीवनकालमें पतिके आदेशका पालन किया, वैसे ही पतिकी आज्ञाके अनुसार वैराग्य और त्यागपूर्वक ईश्वरकी भक्ति करते हुए पाण्डवजननी कुन्तीकी तरह अपना जीवन बिताना चाहिये। विधवा स्त्रियोंके लिये इस प्रकारका आचरण करना ही पातिव्रतधर्मका पालन करना है।

संसारमें चार प्रकारकी स्त्रियाँ होती हैं—एक वे, जो इस लोकमें भी सुखी और परलोकमें भी सुखी रहती हैं। दूसरी वे, जो इस लोक और परलोक दोनोंमें दुःखी रहती हैं। तीसरी वे, जो इस लोकमें तो सुखी रहती हैं, परन्तु परलोकमें दुःख भोगा करती हैं। और चौथी वे, जो इस लोकमें तो दुःखी रहती हैं किंतु परलोकमें परम सुखी हो जाती हैं।

इनमें सर्वोत्तम स्त्रियाँ वे हैं, जो यहाँ-वहाँ दोनों जगह सुखी रहती हैं। जो स्त्री ईश्वरकी भक्ति करती है और निःस्वार्थभावसे सबकी सेवा करती है, उसके पास पीहर या ससुरालमें सब स्त्रियोंके साथ हेतुरहित प्रेम बढ़ानेके लिये दो सर्वोत्तम वशीकरणमन्त्र हैं—(१) सबसे प्रेम होनेके लिये उन स्त्रियोंकी तथा उनके बाल-बच्चों आदिकी निःस्वार्थभावसे सेवा करना, उनका हित करनेमें ही लगे रहना और अहित तो किसीका कभी किसी प्रकार करना ही नहीं। जिस प्रकार स्वार्थी मनुष्य अपने स्वार्थके लिये दूसरोंकी सेवा करके उन्हें सन्तुष्ट करनेका प्रयत्न करता है, वैसे ही अपने तन, मन,धनसे तत्पर होकर सबकी निःस्वार्थभावसे सेवा करना। (२) उनके अवगुणोंकी तरफ जरा भी खयाल न करके उनके सच्चे गुणोंका ही बखान करना। वस्तुतः इन दो मन्त्रोंको काममें लानेवाली स्त्री अपने सद्‌बर्तावसे सबको जीत लेती है। जो स्त्री इस तरह सबका हित चाहनेवाली होती है, उसके सद्‌व्यवहारसे सब उसके अनुयायी और भक्त बन जाते हैं। इसलिये उसका जीवन यहाँ सुखमय और प्रेममय हो जाता है, एवं ईश्वरभक्ति तथा निःस्वार्थ सेवाके प्रभावसे उसको परम गतिकी प्राप्ति हो जाती है, ऐसी स्त्रियोंको यहाँ भी कीर्ति, सुख-शान्ति प्राप्त होती है और परलोकमें भी परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

इससे विपरीत जो दुष्ट स्वभावकी स्त्री कलह करनेवाली होती है, वह स्वार्थान्ध स्त्री लोभ, मोह या क्रोधके वशीभूत होकर, पीहर अथवा ससुरालमें या जहाँ-कहीं भी वह रहती है, अन्य स्त्रियोंके साथ द्वेष-कलह और लड़ाई-झगड़ा ही करती रहती है। सबसे द्वेष हो जानेके कारण वह दूसरोंकी निन्दा करती है और उनके गुणोंमें भी दोषदृष्टि ही करती है। सदा सबको नीचा दिखाने, उन्हें ताना मारने, उनका अहित करने तथा तन-मन-धनसे अनिष्ट करनेका प्रयत्न करना ही उसका काम हो जाता है। इसके फलस्वरूप वे सब स्त्रियाँ भी बदलेमें उसके साथ वैसा ही व्यवहार करती हैं, जिससे उसका जीवन दुःखमय हो जाता है। इस प्रकारके असद्‌व्यवहारके कारण इस लोकमें तो उसका जीवन प्रत्यक्ष दुःखमय हो ही जाता है, सदा दूसरोंसे द्वेष-द्रोह करनेके कारण परलोकमें भी उसे भयानक दुःखोंका ही भोग करना पड़ता है।

तीसरी ऐसी स्त्री होती है, जो आजीवन गृहस्थमें ही निरत रहकर नाना प्रकारके खान-पान, ऐश-आराम, स्वाद-शौक और विषय-भोगोंमें फँसी रहती है। उसका जीवन विलासितामय, काम-भोगपरायण हो जाता है और ऐश-आराममें ही प्रमत्त हो जानेके कारण उसे जीव-हिंसा या दूसरेके कष्टकी भी परवा नहीं रहती। वह

सदा अपने इन्द्रियचरितार्थतारूप सुख-साधनमें ही रत रहती है। और अपने स्वाद-शौककी पूर्तिके लिये चमकीले महीन सुन्दर रेशमी वस्त्र, बढ़िया तूस-दुशाले आदि, कोमल चमड़ेकी वस्तुएँ, इत्र-फुलेल-सेंट आदि अपवित्र पदार्थोंका व्यवहार और शरीरको पुष्ट करनेके लिये डॉक्टरी दवा, अरिष्ट, आसव आदिका सेवन एवं मनोरंजनके लिये गंदे नाटक-सिनेमा देखने तथा क्लब आदिमें जाने आदि प्रमादपूर्ण कर्मोंमें ही रची-पची रहती है। उसे इस बातका भी ध्यान नहीं रहता कि ये सुन्दर रेशमी वस्त्र असंख्य कीड़ोंको मारकर उनसे बनाये जाते हैं, ये बढ़िया कोमल चमड़ेकी वस्तुएँ जीवित गाय आदि पशुओंको मारकर प्राप्त किये चमड़ेसे बनायी जाती हैं, इन इत्र-फुलेल-सेंट आदिके निर्माणमें अपवित्रताके साथ ही बड़ी हिंसा होती है और ये बढ़िया दीखनेवाले तूस (दुशाले) आदि गर्भवती भेड़ोंको मारकर उन भेड़ोंके गर्भगत बच्चोंके रोएँसे बनाये जाते हैं। इसी प्रकार डॉक्टरी दवाइयोंमें जीवोंकी हिंसा तो होती ही है, मदिराका भी प्रायः सम्मिश्रण रहता है, जिसके कारण वे सर्वथा अपवित्र और तामसी होती हैं। देशी दवाइयोंमें भी अरिष्ट, आसव, सिरके आदि तामसी वस्तु होनेसे इनका सेवन करनेवालेकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। नाटक-सिनेमा-क्लब आदिके प्रमादपूर्ण मनोरंजनमें व्यर्थ समय लगानेसे जीवनका मूल्यवान् समय, धन और चरित्र नष्ट होता है; इनसे मनमें गंदे भाव पैदा होते हैं, जिनसे महान् अनर्थोंकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकारके आचरण करनेवाली स्त्रीकी केवल अपने आराम-भोगकी ओर ही प्रवृत्ति हो जानेके कारण वह उन्हींमें मस्त रहती है, उसका दूसरेके कष्टोंकी ओर ध्यान ही नहीं जाता; किंतु यह ध्यानमें रखना चाहिये कि कोई भी भोग बिना किसी प्रकारका आरम्भ किये नहीं मिलता और जितना अधिक आरम्भ होता है, उसमें उतनी ही अधिक हिंसा होती है। फिर जो पदार्थ या क्रिया प्रत्यक्ष ही हिंसामय है, उसका तो कहना ही क्या! इन पदार्थोंके सेवनमें यद्यपि एक बार मोहवश क्षणिक सुख-सा प्रतीत होता है, पर परिणाममें वह घोर नरकोंको देनेवाला है। जो स्त्री पर-पुरुषके साथ सहवास करती है, उसे तो महान् भयंकर नरकोंकी प्राप्ति होती ही है; परंतु यदि कोई स्त्री अपने पतिके साथ भी अवैध, अनुचित गमन करती है तो उसका भी परलोक भ्रष्ट हो जाता है। इस प्रकार सदा विषय-भोगोंमें ही रची-पची रहकर उन्हींका सेवन करनेवाली स्त्रीको यहाँ तो अज्ञानके कारण क्षणिक सुख प्राप्त होता प्रतीत होता है, किंतु वह परलोकमें असीम अनन्त दुःखोंका ही भोग करती है।

चौथे प्रकारकी स्त्री वह है, जो ससुराल या पीहरमें रहकर दूसरोंका कटुवचन सहती है, दूसरोंके अत्याचारको सहन करती है, ऐश-आराम-भोग, आलस्य, प्रमाद, स्वाद-शौक आदिका परित्याग करके संयमपूर्वक अपना जीवन बिताती है। तीर्थ, व्रत, उपवास, जप-स्वाध्याय आदि करके आत्मकल्याणार्थ शारीरिक कष्ट सहन करती है और सरदी-गरमी-वर्षा आदिको सहन करके तपका अनुष्ठान करती है। उसे वर्तमान कालमें तो कष्टका ही अनुभव होता है; किंतु उसका आचरण मुक्तिका हेतु होनेसे वह परलोकमें परम शान्ति और परम आनन्दको प्राप्त करती है।

ऊपर जो चार प्रकारकी स्त्रियाँ बतलायी गयी हैं, उनमें वे दो सर्वोत्तम (सात्त्विक) हैं, जिन्हें इस लोक और परलोकमें—दोनों जगह सुख है अथवा यहाँ सांसारिक दुःखका अनुभव होनेपर भी परलोकमें सुखी हैं; मध्यम (राजसी) वह है, जो यहाँ तो सुखी है पर परलोकमें दुःख प्राप्त करती है; और अधम (तामसी) वह है, जो यहाँ भी दुःखी है और परलोकमें भी दुःखी है। स्त्रियोंको चाहिये कि सर्वदा सर्वोत्तम आचरण करनेमें ही तत्पर रहें। राजसी-तामसी स्त्रियोंका अनुकरण कभी भूलकर भी न करें।

अब स्त्रियोंके लिये कर्तव्याकर्तव्यकी कुछ विशेष बातें बतलायी जाती हैं।

अनिच्छा या परेच्छासे जो कुछ भी प्राप्त हो, उसे ईश्वरका विधान, उनका भेजा हुआ पुरस्कार समझकर उसीमें हर समय प्रसन्नचित्त रहे।

बड़ोंमें श्रद्धा-पूज्यभावसे, बराबरवालोंमें प्रेम-मैत्रीभावसे, छोटोंमें स्नेह-वात्सल्यभावसे—इस प्रकार सबमें हेतुरहित प्रेम बढ़ावे और सदा उनके हितमें रत रहे।

जीवनको निकम्मा न बनावे। कुछ-न-कुछ उत्तम काम करती रहे। घर, समाज और देशका सुधार हो, हित हो—ऐसे कार्योंमें समय लगावे। उद्यमशील बने। कभी परावलम्बी न होकर स्वावलम्बी बने। अपने घरके कामोंके लिये दूसरोंसे सहायता न ले। खर्चको घटावे। विवाह-शादी, मृतक-खर्च, स्वाद-शौकीनी, गोटा-किनारी आदिमें फिजूल खर्च न करे। इस प्रकार व्यर्थ खर्च करके

अपने पतिपर भार न बढ़ावे, बल्कि उसे घटानेकी चेष्टा करे। जीवन इस प्रकारका सादा और कम खर्चीला बनावे कि जिससे दूसरोंसे सहायता लेनेकी जरूरत ही न पड़े।

असच्चरित्र, भोगी, प्रमादी, नीच, दुष्ट, धूर्त और कुमार्गी स्त्री-पुरुषोंका कभी संग न करे और न उनका कभी स्मरण ही करे।

बाजारका भोजन, पूड़ी-मिठाई, चाय, बिस्कुट, बरफ आदिका व्यवहार न करे। स्वयं पाककलामें निपुण होकर घरमें ही चीजें तैयार करके काममें लावे। मशीनका बना हुआ आटा, चीनी, तेल, कपड़ा और चावल आदि काममें न लावे; हाथकी बनी हुई चीजें ही काममें लावे।

बीमार होनेपर ऐलोपैथिक या होम्योपैथिक दवाओंका सेवन न करे। बीमारीमें पथ्य-परहेजपर ही विशेष खयाल रखे। विशेष आवश्यकता हो तो देशी पवित्र आयुर्वेदीय दवाका सेवन करे तथा अपने बाल-बच्चोंको भी इसी तरहकी शिक्षा दे।

रोगादिसे पीड़ित आतुर अवस्थामें अथवा दूसरोंके द्वारा सतायी जानेपर भी विशेष वैद्य-डॉक्टरों और वकील-बैरिस्टरोंके चक्करमें न पड़े। उस समय पथ्य, संयम, धीरज और विवेकसे काम लेकर ही उस अवस्थाका प्रतीकार करे।

आजकल बहुत-से धूर्त नर-नारी भोले-भाले बालकों और स्त्रियोंको अपने चंगुलमें फँसानेके लिये उन्हें सोनेका महल दिखलाते हैं और पुत्रधन आदिका लोभ देकर उनके धनका तथा सतीत्वका अपहरण किया करते हैं। ऐसे लोगोंके प्रलोभनमय वाक्योंमें न फँसे; ऐसे लोगोंसे सदा दूर ही रहे।

बहुत-से धूर्त जादू-टोना, यन्त्र-तन्त्र आदि क्रियाओंके द्वारा फुसलाकर, प्रलोभन देकर ठगते हैं; उनके फंदेमें नहीं पड़े। भूत, प्रेत, डाकिनी, पिशाचिनी आदि किसीमें प्रवेश करते हैं, दु:ख देते हैं—इस प्रकारकी धोखेकी बातोंमें न फँसे और न भूत-प्रेत आदिका या अनिष्टका झूठा बहम करके मनमें कभी भय ही लावे।

भैरव, पीर, फकीर आदिके नामपर शास्त्रविरुद्ध मनौती आदि बोलकर अपने धर्म-कर्मको बर्बाद करनेकी मूर्खता भी कभी न करे।

अपनेसे जो कुछ हो सके, दूसरोंका हित ही करे। किसीसे सेवा करानेकी इच्छा कभी न करे, न सेवा करावे ही। देवता या मनुष्य—किसीसे किसी प्रकारकी भी कामना या इच्छा नहीं करे और न किसीमें आसक्त ही हो।

भारी आपत्ति पड़नेपर भी भय, काम अथवा लोभके कारण धर्मसे विचलित न हो तथा सदा शूरता, वीरता, गम्भीरता, धीरता आदि गुणोंकी वृद्धि होकर आत्मबल और सद्बुद्धि प्राप्त हो—इसीके लिये प्रयत्न करे।

अपना समय निद्रा-आलस्य, भोग-प्रमाद, ताश-चौपड़, थियेटर-सिनेमा, खेल-तमाशे आदिमें व्यर्थ न बितावे तथा काम-क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंका सर्वथा त्याग कर दे।

जिनसे तेज, क्षमा, धैर्य, शान्ति, सरलता, समता, भक्ति, ज्ञान-वैराग्य, बल, बुद्धि, वीर्य आदि सद्गुण-सदाचारोंकी वृद्धि हो तथा जिनसे सम्पूर्ण संसारका और अपना हित हो, ऐसे कामोंमें ही अपना समय लगावे।

अपनी संतानको भी ऐसी ही शिक्षा दे, जिससे उनमें उपर्युक्त सद्गुण-सदाचारोंका समावेश हो और वे नीति और धर्ममें निपुण होकर कुटुम्ब, समाज और देशकी सेवा करते हुए अपना तथा सबका कल्याण-साधन कर सकें।

इस प्रकार नि:स्वार्थभावसे आचरण करनेपर स्त्रियोंके अन्त:करणकी शुद्धि होकर उन्हें परम शान्ति और परम आनन्दमय परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

जीवन-सुधार

मनुष्यको अपना जीवन सदाचारमय बनाना चाहिये। यह मानव-जीवन बड़ा ही अमूल्य है। मनुष्यको चाहिये कि वह अपना सब प्रकारसे उत्थान करे और पतनके मार्गमें तो कभी भूलकर भी पैर न रखे। भगवान् गीतामें कहते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ (६।५)

'अपने द्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।'

परन्तु आजकल अधिकतर पतनकी ओर ही प्रवृत्ति

होती जा रही है। नैतिक, सामाजिक और धार्मिक—सभी दृष्टियोंसे हमारा उत्तरोत्तर पतन होता जा रहा है और वर्तमान कालमें तो बहुत ही पतन हो गया है। लोगोंमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी और चोरबाजारी इतनी बढ़ गयी कि प्रतिशतमें एक व्यक्ति भी शायद ही इससे अछूता रहा हो।

परन्तु जो मनुष्य अन्यायसे धनोपार्जन करता है, वह न तो जीते जी उस धनका भोग ही कर सकता है और न उसे पुण्य-दानमें ही लगा सकता है; क्योंकि पापसे पैदा किये हुए द्रव्यका पुण्यमें लगना असम्भव-सा है, वह तो अधिकांशमें पापमें ही लगता है। बबूलके वृक्षमें तो काँटे ही लगते हैं, उसमें आम कहाँ अत: पापसे उपार्जित द्रव्यसे न इस लोकमें लाभ है और न परलोकमें ही। वह धन या तो मुकदमेबाजीमें लगकर नष्ट हो जाता है या किसी कारणसे सरकारके अधिकारमें चला जाता है अथवा चोर-डाकुओंके हाथोंमें पड़कर पूरा हो जाता है। यदि रहता भी है तो प्राय: उसका दुरुपयोग ही होता है। इसलिये अन्यायसे कभी पैसा पैदा नहीं करना चाहिये। न्यायोपार्जित द्रव्यसे खानेके लिये एक मुट्ठी चना ही मिले तो वह भी मेवा-मिष्टान्नोंसे बढ़कर है। यदि अन्यायसे मेवा-मिष्टान्न भी मिलें तो उन्हें विषके समान समझना चाहिये। शरीरका निर्वाह ही तो करना है। वह तो मेवा-मिष्टान्नसे भी होता है और चनोंसे भी हो सकता है। हम यदि चने-बाजरेकी रोटी खा लें तो क्या और मेवा-मिष्टान्न खा लें तो क्या; आखिर तो सब चीजोंकी एक ही गति होनी है। अत: मनुष्यको इन सब बातोंको विचारकर अन्यायका कभी आश्रय नहीं लेना चाहिये तथा अपना जीवन सब तरहसे सुधार कर पवित्र बनाना चाहिये।

समाजमें इस समय बहुत-सी कुरीतियाँ बढ़ी हुई हैं, उनका भी सुधार करना चाहिये तथा जो फिजूलखर्ची बढ़ी हुई है, उसे घटानेकी कोशिश करनी चाहिये।

दहेजकी प्रथा तो बिलकुल ही तोड़ देनी चाहिये; यदि बिलकुल न टूट सके तो बहुत संक्षिप्त, केवल नाममात्रको रखनी चाहिये। दहेज लेना एक बहुत ही निन्दनीय कर्म है। दहेज न दे सकनेके कारण बहुत-से गरीब भाई दु:खी और संतप्त हो रहे हैं। इसलिये बहुत-सी लड़कियाँ तो अपने माता-पिताके इस दु:खको देखकर आत्महत्या कर लेती हैं और बहुत-से माता-पिता भी यदि लड़की बीमार हो जाती है तो इसके मरनेकी ही बाट देखते हैं तथा मरनेपर बाहरसे शोक प्रकट करते हुए भी भीतरसे प्रसन्न ही होते हैं। उनकी आत्महत्या और मृत्युके पापका भागी दहेज लेनेवाला ही होता है। दहेज लेनेवालेको कोई विशेष लाभ भी नहीं होता; क्योंकि जो दहेज लेता है, उसे भी कभी देना ही पड़ता है। वह तो दहेज लेकर केवल अपयश और पापका ही भागी बनता है। इसलिये दहेजको एक प्रतिग्रहके समान समझकर अथवा रक्तसे सना हुआ द्रव्य मानकर उसका बिलकुल त्याग कर देना चाहिये।

सगाई, विवाह, द्विरागमन आदिके अवसरपर बुरे गीत गाना, हँसी-मजाक करना—ये सब बहुत ही हानिकारक कुरीतियाँ हैं। इनको भी बंद करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इनसे नैतिक, सामाजिक और धार्मिक—सब प्रकारका पतन होता है!

लड़का पैदा होनेके समय या दीपावलीपर लक्ष्मी-पूजनके समय अथवा अन्य किसी समय भी चौपड़, ताश, शतरंज, जुआ आदि खेलना पापकी जड़ है तथा समाजको कलंक लगानेवाला काम है। इस प्रथाको भी उठा देना चाहिये।

विवाहके अवसरपर जुआ, आतिशबाजी, नाटक-सिनेमा, कुरुचिपूर्ण खेल-तमाशे, कलाके नामपर युवती-नृत्य, बनोरी निकालना आदि सब प्रमाद हैं। इनका सर्वथा त्याग करना चाहिये तथा खातिरदारीमें विदेशी ढंगसे और अपवित्र वस्तुएँ आदि देना व्यर्थ खर्च करना है; इन सबको बंद कर देना चाहिये। परंतु आजकल तो प्राय: रोज ही लोग नाटक-सिनेमा, थियेटर, खेल-तमाशे, क्लब आदि प्रमादमें अपना समय और धन बर्बाद करते हैं। इस प्रकार प्रमादमें व्यर्थ खर्च करना बड़ी मूर्खता है। इस प्रमादसे समय और धनको बचाकर उसे दीन-दु:खी, गरीब, अनाथ, शरणार्थी और विधवाओंकी सेवामें लगाना चाहिये, जिससे इस लोक और परलोकमें कल्याण हो।

मिथ्या बहमका भी परित्याग करना चाहिये। डोरा-यन्त्र कराना, झाड़ा फुँकवाना, आखा दिखाना, पीर, फकीर, भैरव आदिके यहाँ जात-झड़ूला बोलना—ये सब धूर्तोंके चलाये हुए पाखण्ड हैं। समझदार स्त्री-पुरुषोंको इनके फंदेमें फँसकर अपने बुद्धि और विवेकको मिट्टीमें नहीं मिलाना चाहिये।

मनुष्यको ब्रह्मचर्यके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये। शरीरमें वीर्य ही एक प्रधान सार वस्तु है, इसकी

सब प्रकारसे रक्षा करनी चाहिये। इसके नाशसे मनुष्यके बल, बुद्धि, आयु, तेज और ओजका ह्रास होकर उसका यह लोक तथा परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं और इसके संरक्षणसे बल, बुद्धि, तेज एवं ओजकी वृद्धि होकर उसके दोनों लोक सुधर जाते हैं। इसलिये परस्त्रीके दर्शन, चिन्तन, स्पर्शका तो त्याग कर ही देना चाहिये; यदि किसी कार्यसे आवश्यक बात करनी पड़े तो नीची दृष्टि रखकर माता-बहिन समझते हुए ही सम्भाषण करना चाहिये। लड़के-लड़कियोंका स्पर्श तथा चुम्बन भी कभी नहीं करना चाहिये तथा ऐश-आराम-भोगकी वस्तुओंको, शृंगारशौकीनीको इस विषयमें खतरनाक जानकर इनसे बहुत ही दूर रहना चाहिये।

इसी प्रकार सत्यके पालनपर भी खूब ध्यान देना चाहिये। आजकल लोग सत्यका महत्त्व भूल गये हैं। मनुष्यको चाहिये कि वह सत्यका महत्त्व समझे और उसका दृढ़तासे पालन करे। महर्षि पतंजलि कहते हैं—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

(योग० २।३६)

भाव यह है कि सत्यकी प्रतिष्ठा होनेपर मनुष्य जो कुछ कह देता है, वही सत्य हो जाता है। अर्थात् जो आदमी कभी झूठ नहीं बोलता, वह किसीको यदि कुछ शाप, वरदान या आशीर्वाद दे देता है तो वह सिद्ध हो जाता है। श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणोंमें इसके जगह-जगह उदाहरण मिलते हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद्में कथा आती है कि शकलके पुत्र शाकल्यने याज्ञवल्क्यसे कई इधर-उधरके प्रश्न किये। अन्तमें याज्ञवल्क्यने उससे कहा कि 'अब मैं तुझसे एक बात पूछता हूँ; तू यदि उसका उत्तर नहीं दे सकेगा तो तेरा मस्तक कट जायगा।' शाकल्य उत्तर नहीं दे सका और उसका मस्तक धड़से अलग हो गया (३।९।२६)।

श्रीमद्भागवतमें आता है कि एक बार राजा परीक्षित्ने शमीक ऋषिके गलेमें मरा हुआ साँप डाल दिया; इससे कुपित होकर ऋषिकुमार शृंगीने राजाको शाप दे दिया कि 'आजसे सातवें दिन राजाको तक्षक सर्प डस जायगा।' उनका यह वचन सर्वथा सत्य सिद्ध हुआ (प्रथम स्कन्ध अध्याय १८)।

महाभारतकी कथा है कि यमराजने सावित्रीको यह वरदान दिया कि तुम्हारे एक सौ पुत्र होंगे। उसके अनुसार सावित्रीके एक सौ पुत्र हुए (वनपर्व, अध्याय २९७; २९९)। राजा शन्तनुने अपने पुत्र भीष्मको यह आशीर्वाद दिया कि 'तुमको मृत्यु नहीं मार सकेगी, तुम इच्छामृत्यु होओगे' और वास्तवमें ऐसा ही हुआ (आदिपर्व, अध्याय १००; अनुशासनपर्व, अध्याय १६७-१६८)।

इसी तरह शास्त्रोंमें अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। इसलिये मनुष्यको सत्यके पालनमें खूब दृढ़ रहना चाहिये। किंतु सत्य ऐसा होना चाहिये कि जिसमें न कपट हो और न हिंसा ही हो; वही असली सत्य है।

महाभारत, द्रोणपर्वके १९०वें अध्यायमें आया है कि एक बार द्रोणाचार्यने राजा युधिष्ठिरसे पूछा कि मेरा पुत्र अश्वत्थामा मारा गया या नहीं, इसके उत्तरमें युधिष्ठिरने कहा कि अश्वत्थामा मारा गया, पर हाथी मारा गया। इस वाक्यमें उन्होंने 'हाथी मारा गया' ये शब्द धीरेसे कहे। इस दोषके कारण ऐसे सत्यवादी राजा युधिष्ठिरके भी ये वचन सत्य नहीं समझे गये।

इसी प्रकार महाभारत, कर्णपर्वके ६९वें अध्यायमें यह कथा आती है कि एक बार कुछ मनुष्य चोर-डाकुओंके डरसे जंगलकी ओर भाग गये। उस रास्तेमें एक सत्यवादी मुनि निवास करते थे। थोड़ी ही देरमें जब चोर-डाकू वहाँ आये, तब उन्होंने उन मनुष्योंका पता न पाकर उन मुनिसे पूछा कि वे मनुष्य किधर गये हैं। मुनिने सत्य बात बतला दी कि वे इस सघन वनमें घुसे हैं। इससे चोर-डाकुओंने उसी रास्तेसे जाकर उन मनुष्योंको पकड़ लिया और मार डाला। इस हत्याका दोष उन मुनिको लगा।

इसलिये जिसमें न कपट हो और न हिंसा हो, वही असली सत्य है। ऐसे सत्यकी ही शास्त्रोंमें महिमा गायी है।

यह तो सत्य वचनकी बात हुई। फिर जिसका व्यवहार भी सत्य हो और भाव भी सत्य हो, उसकी तो बात ही क्या है। क्योंकि सद्व्यवहार और सद्भावसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। यज्ञ, दान, तप आदि जो उत्तम कर्म हैं और जो उत्तम भाव हैं तथा जो भगवदर्थ कर्म हैं, वे सब सत्स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले होनेसे 'सत्' कहे जाते हैं। गीतामें श्रीभगवान्ने कहा है—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

(१७।२६-२७)

'सत्' इस प्रकार यह परमात्माका नाम सत्यभावमें और श्रेष्ठभावमें प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ! उत्तम कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी 'सत्' इस प्रकार कही जाती है और उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक 'सत्' ऐसे कहा जाता है।'

इतना ही नहीं, वास्तवमें 'सत्' साक्षात् भगवान्का स्वरूप ही है। इसलिये भगवान्के नामोंमें 'सत्' भगवान्का एक नाम है। भगवान् कहते हैं—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥

(गीता १७। २३)

'ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है; उसीसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये।' श्रुति भी कहती है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

(तैत्ति० २। १। १)

'ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है।'

इसलिये सत्यका सेवन भगवान्का सेवन है, सत्यकी उपासना भगवान्की उपासना है और सत्यका आश्रय भगवान्का आश्रय है। मनुष्यको चाहिये कि वह सत्यको अपना जीवन, प्राण और साक्षात् परमात्माका स्वरूप समझकर मनसा-वाचा-कर्मणा उसका पालन करे। आचरण भी सत् बनाना चाहिये। जिसको हम सदाचार कहते हैं, उसीको उत्तम कर्म तथा सद्व्यवहार कहते हैं। वाणी भी सत्य ही होनी चाहिये। हिंसा और कपटसे रहित यथार्थ भाषण ही सत्य वाणी है तथा भाव भी सत्य ही होना चाहिये। जिसको हम उत्तम नीयत कहते हैं, उसका नाम सद्भाव है। समता, सन्तोष, शान्ति, सरलता आदि जितने भी परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक दैवी-सम्पदाके सात्त्विक सद्गुण हैं, वे सभी सद्भाव हैं। ये परमात्माकी प्राप्तिमें सहायक होनेके कारण तत्परतासे धारण करनेयोग्य हैं। अतः हमको भारी-से-भारी आपत्ति पड़नेपर भी सत्यका कभी त्याग नहीं करना चाहिये।

कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि चराचर जीव-मात्रको परमात्माका स्वरूप समझकर अपने तन, मन, धनसे उनकी सेवा करे। इस प्रकार जो सेवा करता है, वह भगवान्का सच्चा भक्त है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

अभिप्राय यह है कि परमात्मा सर्वव्यापक हैं, सबमें विराजमान हैं। इसलिये अपने आचरणोंके द्वारा सबकी सेवा करना भगवान्की सेवा है। अतः चराचर प्राणिमात्रको नारायणका स्वरूप समझकर श्रद्धा, भक्ति और आदरके साथ मन, वाणी और क्रियासे तत्परतापूर्वक उनकी सेवा करनी चाहिये। मनसे सबका हित-चिन्तन करना मनके द्वारा सेवा करना है; जिससे सबका हित हो, ऐसा सत्य और प्रिय वचन बोलना वाणीके द्वारा सेवा करना है और शरीर-इन्द्रियद्वारा सेवा करना क्रियासे सेवा करना है। सदा मनमें यह भाव रखना चाहिये कि हमारा तन, धन, वाणी, मन—सब जगद्रूप जनार्दनकी सेवाके लिये है। इस भावसे जगज्जनार्दनकी सेवा करना ही उनकी अनन्य भक्ति है। तुलसीकृत रामायणमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजी हनुमान्जीसे भेंट होते समय कहते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(किष्किन्धा० ३)

'हे हनुमान्! अनन्य भक्त वही है, जिसकी ऐसी बुद्धि कभी नहीं टलती कि मैं सेवक हूँ और यह चराचर (जड-चेतन) जगत् मेरे स्वामी भगवान्का रूप है।'

भगवान् ही सबके उपादान तथा निमित्त कारण हैं*। इसलिये सबकी सेवा भगवान्की सेवा है। मनुष्यको प्रत्येक क्रियामें भगवद्भाव रखना चाहिये। हवन करते समय यह समझना चाहिये कि मैं जो अग्निमें आहुति दे रहा हूँ, इसको स्वयं भगवान् ही भोग लगा रहे हैं। इसी प्रकार गौको घास खिलाते समय यह समझना चाहिये कि भगवान् ही गौके रूपमें घास खा रहे हैं; वृक्षोंमें पानी देते समय समझना चाहिये कि भगवान् ही वृक्षके रूपमें जल पी रहे हैं; अतिथि-अभ्यागतको भोजन कराते समय यह

* जैसे घड़ेका उपादानकारण मिट्टी और निमित्तकारण कुम्हार होता है, उसी प्रकार इस समस्त जगत्के एकमात्र भगवान् ही उपादान और निमित्त कारण हैं।

समझना चाहिये कि भगवान् ही इस रूपमें आकर भोजन कर रहे हैं। इस प्रकार स्थावर-जंगम यावन्मात्र प्राणियोंमें भगवद्बुद्धि करके उपर्युक्त विधिसे उनकी सेवा करनी चाहिये। इस तरह जो सबको अपना इष्टदेव समझकर सबके हितमें रत रहता है, वह भगवान्‌को ही प्राप्त होता है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(१२। ४)

जो ऐसा समझता है कि उससे किसीका किंचिन्मात्र भी कभी अहित तो नहीं हो सकता। भला बताइये, वह मनुष्य मन, वाणी या शरीरसे किसी प्रकारसे भी कभी किसीको जरा भी कष्ट दे सकता है? कभी नहीं। क्योंकि उसकी तो सबमें भगवद्बुद्धि हो जाती है और इसके फलस्वरूप उसकी वह स्थिति हो जाती है, जो कि भगवान्‌ने गीतामें इस श्लोकसे व्यक्त की है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, 'सब कुछ वासुदेव ही हैं'—इस प्रकार मुझको भजता है; वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

इसलिये मनुष्यको इस प्रकारकी स्थिति प्राप्त करनेके लिये सब प्रकारसे स्वार्थका त्याग करके कटिबद्ध हो जाना चाहिये। वास्तवमें स्वार्थ ही मनुष्यको इससे वंचित रखनेवाला है। स्वार्थसे ही उपर्युक्त दोष आते हैं अर्थात् स्वार्थ ही समस्त दोषोंकी जड़ है। इसका नाश हो जानेपर स्वतः ही सम्पूर्ण दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है। अतः दूसरोंके साथ या स्वजनोंके साथ भी जो अपना स्वार्थका भाव है, उसे सर्वथा हटाकर सब प्रकारसे सबके हितमें रत रहना चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक क्रिया, पदार्थ और प्राणीके साथ किसी भी प्रकारका स्वार्थसिद्धिका भाव न रखकर सदा निःस्वार्थभावसे सबकी सेवा करनी चाहिये। निःस्वार्थ सेवा करनेवालेको ये दो वशीकरण मन्त्र सदा याद रखने चाहिये। एक तो यह कि दूसरोंके गुण गावे, अवगुण नहीं और दूसरा यह कि दूसरेके हितकी सदा चेष्टा रखे। ऐसा आचरण करनेसे सब लोग उसके अनुकूल हो जाते हैं और उसका परमार्थ भी सिद्ध हो जाता है।

अतएव हमलोगोंको उपर्युक्त बातोंपर ध्यान देना चाहिये और भारी-से-भारी आपत्ति पड़नेपर भी कभी काम-क्रोध, लोभ-मोह, स्वार्थ या भयके वशीभूत होकर अपने धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। क्योंकि ये सब सांसारिक पदार्थ एवं जीवन क्षणिक हैं और धर्म तथा धर्मके साथ जो सम्बन्ध है, वह नित्य है। बुद्धिमान् पुरुषको अनित्य वस्तुके लिये नित्य वस्तुका कभी त्याग नहीं करना चाहिये। याद रखना चाहिये कि मरनेके बाद धन, ऐश्वर्य, कुटुम्बकी तो बात ही क्या है, आपका यह शरीर भी आपके साथ जानेका नहीं। जिन वस्तुओंके लिये आप नाना प्रकारके पाप करते हैं, वे तो आपकी जीते-जी भी मदद नहीं कर सकतीं, फिर मरनेके बादकी तो बात ही क्या? आपको विचार करना चाहिये कि यह मनुष्य-जीवन बहुत ही स्वल्प है, पर है बहुत मूल्यवान्। इसलिये मनुष्यजन्म पाकर भोग-विलास, ऐश-आराममें अपना जीवन वृथा नहीं गँवाना चाहिये; बल्कि मन, इन्द्रियोंका संयम करके परोपकार और ईश्वरभक्तिमें बिताना चाहिये, जिससे आत्माका कल्याण हो। गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

(९। ३३)

'इसलिये तू सुखरहित और क्षणभंगुर इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।'

ईश्वर हैं, ध्रुव हैं। वे चेतन हैं, जड नहीं। वे सत्य, धर्म और न्यायके पोषक हैं। जहाँ सत्य, धर्म, न्याय और नीति है, वहीं परमात्मा प्रत्यक्ष हैं। ऐसा दृढ़ निश्चय करके नीति, धर्म और सत्यका कभी परित्याग नहीं करना चाहिये और उस सर्वशक्तिमान् परमात्मापर निर्भर रहना चाहिये, जिस प्रकार कि एक छोटा बच्चा अपने माता-पितापर निर्भर रहता है। बच्चा अपने लिये कुछ भी चिन्ता-शोक नहीं करता, माता-पिता ही उसकी सारी सार-सँभाल रखते हैं और पालन करते हैं; इसी प्रकार वे परमात्मा हमारी रक्षा करते आये हैं, कर रहे हैं और करेंगे—ऐसा अटूट विश्वास रखकर सर्वथा निश्चिन्त होकर उस ईश्वरके बलपर निर्भर रहना चाहिये। इसीमें हमारा सब प्रकारसे कल्याण है।

गो-महिमा और गोरक्षाकी आवश्यकता

गोरक्षा हिंदूधर्मका एक प्रधान अंग माना गया है। प्राय: प्रत्येक हिंदू गौको माता कहकर पुकारता है और माताके समान ही उसका आदर करता है। जिस प्रकार कोई भी पुत्र अपनी माताके प्रति किये गये अत्याचारको सहन नहीं करेगा, उसी प्रकार एक आस्तिक और सच्चा हिंदू गोमाताके प्रति निर्दयताके व्यवहारको नहीं सहेगा; गो-हिंसाकी तो वह कल्पना भी नहीं सह सकता। गौके प्राण बचानेके लिये वह अपने प्राणोंकी आहुति दे देगा, किन्तु उसका बाल भी बाँका न होने देगा। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके पूर्वज महाराज दिलीपके चरित्रसे सभी लोग परिचित हैं। उन्होंने अपने कुलगुरु महर्षि वसिष्ठकी बछिया नन्दिनीकी रक्षाके लिये सिंहको अपना शरीर अर्पण कर दिया, किंतु जीते-जी उसकी हिंसा न होने दी। पाण्डवशिरोमणि अर्जुनने गोरक्षाके लिये बारह वर्षोंका निर्वासन स्वीकार किया।

परन्तु हाय! वे दिन अब चले गये। हिन्दू-जाति आज दुर्बल हो गयी है। हम अपनी स्वतन्त्रता, अपना पुरुषत्व, अपनी धर्मप्राणता, ईश्वर और ईश्वरीय कानूनमें विश्वास, शास्त्रोंके प्रति आदरबुद्धि, विचार-स्वातन्त्र्य, अपनी संस्कृति एवं मर्यादाके प्रति आस्था—सब कुछ खो बैठे हैं। आज हम आपसकी फूट एवं कलहके कारण छिन्न-भिन्न हो रहे हैं। हम अपनी संस्कृति एवं धर्मपर किये गये प्रहारों एवं आक्रमणोंको व्यर्थ करनेके लिये संघटित नहीं हो सकते। हम अपनी जीवनीशक्ति खो बैठे हैं। मूक पशुओंकी भाँति दूसरोंके द्वारा हाँके जा रहे हैं। राजनीतिक गुलामी ही नहीं, अपितु मानसिक गुलामीके भी शिकार हो रहे हैं। आज हम सभी बातोंपर पाश्चात्य दृष्टिकोणसे ही विचार करने लगे हैं। यही कारण है कि हमारी इस पवित्र भूमिमें प्रतिवर्ष लाखों-करोड़ोंकी संख्यामें गाय और बैल काटे जाते हैं और हम इसके विरोधमें अँगुलीतक नहीं उठाते। आज हम दिलीप और अर्जुनके इतिहास केवल पढ़ते और सुनते हैं, उनसे हमारी नसोंमें जोश नहीं भरता। हमारी नपुंसकता सचमुच दयनीय है!

हम सरकारके मत्थे अपनी धार्मिक भावनाओंको कुचलनेका दोष मँढ़ते हैं, हम अपने मुसलमान भाइयोंपर गायके प्रति निर्दयताका अभियोग लगाते हैं, किंतु अपने दोष नहीं देखते। गौओंके प्रति हमारी आदरबुद्धि केवल कहने भरके लिये रह गयी है। हम केवल वाणीसे ही उसकी पूजा करते हैं। हमीं तो अपनी गौओं और बैलोंको कसाइयोंके हाथ बेचते हैं। हमीं उनके साथ दुष्टता एवं क्रूरताका बर्ताव करते हैं—उन्हें भूखों मारते हैं, उनका सारा दूध दुह लेते हैं, बछड़ेका हिस्सा भी छीन लेते हैं, बैलोंपर बेहद बोझा लाद देते हैं, न चलनेपर उन्हें बुरी तरहसे पीटते हैं, गोचर-भूमियोंका सफाया करते जा रहे हैं और फिर भी अपनेको गो-रक्षक कहते हैं और विधर्मियोंको गोघातक कहकर कोसते हैं! हमारी वैश्य जातिके लिये कृषि और वाणिज्यके साथ-साथ शास्त्रोंने गोरक्षाको भी प्रधान धर्म माना है, परंतु आज हमारे वैश्य भाइयोंने गोरक्षाको अनावश्यक मानकर छोड़ रखा है। हमारी गोशालाओंका बुरा हाल है और उनके द्रव्यका ठीक-ठीक उपयोग नहीं होता। उनमें परस्पर सहयोगका अभाव है। सारांश, सब कुछ विपरीत हो गया है!

दूसरी जातियाँ अपने गोधनकी वृद्धिमें बड़ी तेजीके साथ अग्रसर हो रही हैं। दूसरे देशोंमें क्षेत्रफलके हिसाबसे गौओंकी संख्या भारतकी अपेक्षा कहीं अधिक है और प्रति मनुष्य दूधकी खपत भी अधिक है। वहाँकी गौएँ हमारी गौओंकी अपेक्षा दूध भी अधिक देती हैं। कारण यही है कि वे गौओंको भरपेट भोजन देते हैं, अधिक आरामसे रखते हैं, उनकी अधिक सँभाल करते हैं और उनके साथ अधिक प्रेम और कोमलताका बर्ताव करते हैं। अन्य देशोंमें गोचरभूमियोंका अनुपात भी खेतीके उपयोगमें आनेवाली भूमिकी तुलनामें कहीं अधिक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि हम अपनेको 'गो-पूजक' और 'गो-रक्षक' कहते हैं, वस्तुतः आज हम गो-रक्षामें बहुत पिछड़े हुए हैं। गोजातिके प्रति हमारे इस अनादर एवं उपेक्षाका परिणाम भी प्रत्यक्ष ही है। अन्य देशोंकी अपेक्षा हम भारतीयोंकी औसत आयु बहुत ही कम है और अन्य देशोंकी तुलनामें हमारे यहाँके बच्चे बहुत अधिक संख्यामें मरते हैं। यही नहीं, अन्य लोगोंकी अपेक्षा हमलोगोंमें जीवनीशक्ति भी बहुत कम है। कहना न होगा कि दूध और दूधसे बने हुए पदार्थोंकी कमी भी हमारी इस शोचनीय अवस्थाका एक मुख्य हेतु है। इससे यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है कि किसी जातिके स्वास्थ्य एवं आयुमानके साथ गोधनका कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है। अस्तु,

हमारे शास्त्र कहते हैं कि गायसे अर्थ, धर्म, काम

और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है। दूसरे शब्दोंमें धार्मिक, आर्थिक, सांसारिक एवं आध्यात्मिक—सभी दृष्टियोंसे गाय हमारे लिये अत्यन्त उपयोगी है। पुराणोंमें लिखा है कि जगत्‌में सर्वप्रथम वेद, अग्नि, गौ एवं ब्राह्मणोंकी सृष्टि हुई । वेदोंसे हमें अपने कर्तव्यकी शिक्षा मिलती है, वे हमारे ज्ञानके आदिस्रोत हैं। वे हमें देवताओंको प्रसन्न करनेकी विद्या—यज्ञानुष्ठानका पाठ पढ़ाते हैं। गीतामें भी कहा है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

(३। १०—१६)

'प्रजापति ब्रह्माजीने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाओंको रचकर उनसे कहा कि तुमलोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुमलोगोंको इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो। तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे। यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुमलोगोंको बिना माँगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओंके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको बिना दिये स्वयं भोगता है, वह चोर ही है। यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीर-पोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं। वे तो पापको ही खाते हैं। सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ विहित कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है। कर्मसमुदायको तू वेदसे उत्पन्न और वेदको अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ जान। इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है। हे पार्थ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।'

ऊपरके वचनोंसे यह प्रकट होता है कि (१) यज्ञकी उत्पत्ति सृष्टिके प्रारम्भमें हुई और (२) यज्ञ हमारे अभ्युदय (लौकिक उन्नति) एवं निःश्रेयस (परम कल्याण) दोनोंका साधन है। यज्ञसे हम जो कुछ चाहें प्राप्त कर सकते हैं। लौकिक सुख-समृद्धि तथा ऐहिक एवं पारलौकिक भोग हमें देवताओंसे प्राप्त होते हैं। देवता भगवान्‌की ही कलाएँ—भगवान्‌की ही दिव्य चेतन विभूतियाँ हैं, जो मनुष्यों एवं मनुष्योंसे निम्न स्तरके जीवोंकी लौकिक आवश्यकताओंको पूर्ण करते हैं—हमारे लिये समयानुसार घाम, चाँदनी, वर्षा आदिकी व्यवस्था करके हमारे वनस्पतिवर्गका और उनके द्वारा हमारे जीवनका पोषण करते हैं। वे ही हमें रहनेके लिये पृथ्वी, हमारी प्यास बुझानेके लिये जल, हमारे भोजनको पकाने तथा हमारा शीतसे त्राण करनेके लिये अग्नि, साँस लेनेके लिये वायु तथा इधर-उधर घूमनेके लिये अवकाश प्रदान करते हैं। सारांश, वे ही इस संसारचक्रकी व्यवस्था करते हैं, जीवोंके कर्मोंकी देख-रेख तथा उनके अनुसार शुभाशुभ फलभोगका विधान करते हैं तथा हमारे जीवन-मरणका नियमन करते हैं। इन भगवत्कलाओंको प्रसन्न रखने, इनका आशीर्वाद, सहानुभूति एवं सद्भाव प्राप्त करनेके लिये और आदान-प्रदानके सिद्धान्तको चालू रखनेके लिये—जो जगच्चक्रके परिचालनके लिये आवश्यक एवं अनिवार्य है—यज्ञानुष्ठानके द्वारा इनकी आराधना करना मनुष्यमात्रका परम कर्तव्य है। जबतक भारतमें यज्ञ-यागादिके द्वारा देवताओंकी आराधना होती थी, तबतक यह देश सुखी एवं समृद्ध था, समयपर यथेष्ट मात्रामें वर्षा होती थी तथा बाढ़, भूकम्प, दुष्काल एवं महामारी आदि दैवी संकटोंसे यह प्रायः मुक्त था। जबसे यज्ञ-यागादिकी प्रथा लुप्तप्राय हो गयी, तभीसे यह देश अधिकाधिक दैवी प्रकोपोंका शिकार होने लगा है!

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञसे अभ्युदय एवं निःश्रेयस—दोनों सिद्ध होते हैं। संसार-चक्रका परिचालन

करनेवाले भगवत्कलारूप देवताओंकी प्रसन्नताद्वारा वह हमारी सुख-समृद्धिका साधन बनता है और निष्कामभावसे केवल कर्तव्यबुद्धिपूर्वक किये जानेपर वह भगवत्प्रीतिका सम्पादन कर भगवत्प्राप्ति अथवा मोक्षरूप जीवनके परम लक्ष्यकी प्राप्ति करा देता है। यही नहीं, यज्ञ-दान-तपरूप कर्मको भगवान्ने अवश्यकर्तव्य, अनिवार्य बताया है—'**यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्**' (गीता १८। ५) और यज्ञादिकी परम्पराका विच्छेद करनेवालेको अघायु (पापी) कहकर उसकी गर्हणा की है। इस यज्ञचक्रको चलानेके लिये ही वेद, अग्नि, गौ एवं ब्राह्मणोंकी सृष्टि हुई है। वेदोंमें यज्ञानुष्ठानकी विधि बतायी गयी है—'**कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि**' (गीता ३। १५) एवं ब्राह्मणोंके द्वारा वह विधि सम्पन्न होती है। अग्निके द्वारा आहुतियाँ देवताओंको पहुँचायी जाती हैं—'**अग्निमुखा हि देवा भवन्ति**' और गौसे हमें देवताओंको अर्पण करनेयोग्य हवि प्राप्त होता है। इसीलिये हमारे शास्त्रोंमें गौको 'हविर्दुघा' (हवि देनेवाली) कहा गया है। गोघृत देवताओंका परम प्रिय हवि है और यज्ञके लिये भूमिको जोतकर तैयार करने एवं गेहूँ, चावल, जौ, तिल आदि हविष्यान्न पैदा करनेके लिये गो-संतति—बैलोंकी परम आवश्यकता है। यही नहीं, यज्ञभूमिको परिष्कृत एवं शुद्ध करनेके लिये उसे गोमूत्रसे छिड़का जाता है और गोबरसे लीपा जाता है तथा गोबरके कंडोंसे यज्ञाग्निको प्रज्वलित किया जाता है। यज्ञानुष्ठानके पूर्व प्रत्येक यजमानको देहशुद्धिके लिये पंचगव्यका प्राशन करना होता है और यह गायके दूध, गायके दही, गायके घी, गोमूत्र एवं गायके ही गोबरसे तैयार किया जाता है—इसीलिये इसे 'पंचगव्य' कहते हैं। इसके अतिरिक्त गायका दूध और उससे तैयार होनेवाले पदार्थ सबसे स्वादिष्ट एवं पोषक आहार हैं। दूधमें पकाये हुए चावलको—जिसे आधुनिक भाषामें खीर कहते हैं—संस्कृतमें परमान्न (सर्वश्रेष्ठ भोजन) कहा गया है और घीको हमारे यहाँ सर्वश्रेष्ठ रसायन माना गया है—'**आयुर्वै घृतम्**'। इतना ही नहीं, घृतरहित अन्नको हमारे शास्त्रोंमें अपवित्र कहा गया है। घी और चीनीसे युक्त खीरका भोजन ब्राह्मणोंके लिये विशेष तृप्तिकारक होता है और देवताओंको आहुति पहुँचानेके लिये हमारे यहाँ दो ही मार्ग माने गये हैं—अग्नि और ब्राह्मणोंका मुख। बल्कि भगवान्ने तो कहा है कि—'मैं यज्ञमें यजमानद्वारा दी हुई घीसे चूती हुई आहुतियोंका अग्निरूप मुखसे भक्षण करता हुआ उतना तृप्त नहीं होता, जितना कि अपने सम्पूर्ण कर्मफल मुझे अर्पण करके सदा संतुष्ट रहनेवाले निष्काम ब्राह्मणके मुखसे प्रत्येक ग्रास खाते समय होता हूँ'—

नाहं तथाद्मि यजमानहविर्विताने
श्च्योतद्घृतप्लुतमदन् हुतभुङ्मुखेन।
यद् ब्राह्मणस्य मुखतश्चरतोऽनुघासं
तुष्टस्य मय्यवहितैर्निजकर्मपाकैः॥

(श्रीमद्भा० ३। १६। ८)

तात्पर्य यह कि दोनों प्रकारसे देवताओंकी तृप्तिके लिये तथा सर्वोपरि भगवत्प्रीतिके लिये गौकी परमोपयोगिता सिद्ध होती है।

भारत-जैसे कृषिप्रधान देशमें आर्थिक दृष्टिसे भी गायका महत्त्व स्पष्ट ही है। जिन लोगोंने हमारे ग्रामीण जीवनका विशेष मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया है, उन सबने एक स्वरसे हमारे जीवनके लिये गौकी परमावश्यकता बतायी है। गोधन ही हमारा प्रधान बल है। गोधनकी उपेक्षा करके हम जीवित नहीं रह सकते। अतः हमारे गोवंशकी संख्या एवं गुणोंकी दृष्टिसे जो भयानक ह्रास हो रहा है, उसका बहुत शीघ्र प्रतीकार करना चाहिये और हमारी गौओंकी दशाको सुधारने, उनकी नस्लकी उन्नति करने और उनका दूध बढ़ाने तथा इस प्रकार दुग्धोत्पादनमें वृद्धि करनेका भी पूरा प्रयत्न करना चाहिये। गायों, बछड़ों एवं बैलोंका वध रोकने तथा उनपर किये जानेवाले अत्याचारोंको बंद करनेके लिये कानून बनाना आवश्यक है और विधर्मियोंको भी गौकी परमोपयोगिता बतलाकर गोजातिके प्रति उनकी सहानुभूति एवं सद्भावका अर्जन करना चाहिये। जिस देशमें कभी दूध और दहीका पानीकी तरह बाहुल्य था, उस देशमें असली दूध मिलनेमें कठिनता हो रही है—यह कैसा आश्चर्य है!

आध्यात्मिक दृष्टिसे भी गायका महत्त्व कम नहीं है। गायके दर्शन एवं स्पर्शसे पवित्रता आती है, पापोंका नाश होता है, गायके शरीरमें तैंतीस करोड़ देवताओंका निवास माना गया है। गायके खुरसे उड़नेवाली धूलि भी पवित्र मानी गयी है।

महाभारतमें कथा आती है। एक बार राजा नहुषने च्यवन ऋषिके बदलेमें अपना सारा राज्य देना भी स्वीकार कर लिया; किंतु च्यवनने कहा कि मेरा मूल्य नहीं आया। इसपर राजाने मुनि गविजके निर्णयानुसार ब्राह्मण और गायकी कीमत समान समझकर गायसे ऋषिका मूल्य आँक

दिया। तब ऋषि बोले—'राजन्! अब मैं उठता हूँ, तुमने यथार्थमें मुझे मोल ले लिया। मैं इस संसारमें गौओंके समान दूसरा कोई धन नहीं समझता। गौओंके नाम और गुणोंका कीर्तन करना-सुनना, गौओंका दान देना और उनका दर्शन करना—इनकी शास्त्रोंमें बड़ी प्रशंसा की गयी है। ये सब कार्य सम्पूर्ण पापोंको दूर करके परम कल्याण देनेवाले हैं। गौएँ लक्ष्मीकी जड़ हैं, उनमें पापका लेश भी नहीं है। गौएँ ही मनुष्यको अन्न एवं देवताओंको हविष्य देनेवाली हैं। स्वाहा और वषट्कार सदा गौओंमें ही प्रतिष्ठित होते हैं। गौएँ ही यज्ञका संचालन करनेवाली और उसका मुख हैं। वे विकाररहित दिव्य अमृत धारण करती और दुहनेपर अमृत ही देती हैं। वे अमृतका आधार होती हैं और सारा संसार उनके सामने मस्तक झुकाता है। इस पृथ्वीपर गौएँ अपने तेज और शरीरमें अग्निके समान हैं। वे महान् तेजकी राशि और समस्त प्राणियोंको सुख देनेवाली हैं। गौओंका समुदाय जहाँ निर्भयतापूर्वक बैठकर साँस लेता है, उस स्थानकी श्री बढ़ जाती है और वहाँका सारा पाप नष्ट हो जाता है। गौएँ स्वर्गकी सीढ़ी हैं, वे स्वर्गमें भी पूजी जाती हैं। गौएँ समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली देवियाँ हैं, उनसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है। राजन्! यह मैंने गौका माहात्म्य बतलाया है, इसमें उनके गुणोंके एक अंशका दिग्दर्शन कराया गया है। गौओंके सम्पूर्ण गुणोंका वर्णन तो कोई कर ही नहीं सकता।'[१]

'ब्रह्माजी भी इन्द्रसे कहते हैं—

इन्द्र! गौओंको यज्ञका अंग और साक्षात् यज्ञरूप ही बतलाया गया है। इनके बिना यज्ञ किसी तरह भी नहीं हो सकता। इसके सिवा, ये अपने दूध और घीसे प्रजाका पालन-पोषण करती हैं तथा इनके पुत्र (बैल) भी खेतीके काम आते और तरह-तरहके अन्न एवं बीज पैदा करते हैं, जिनसे यज्ञ सम्पन्न होते और सब प्रकारसे हव्य-कव्यका भी काम चलता है; इन्हींसे दूध, दही और घी प्राप्त होते हैं। सुरेश्वर! ये गौएँ बड़ी पवित्र होती हैं और बैल भूख-प्यासका कष्ट सहकर अनेक प्रकारके बोझ ढोते रहते हैं। इस प्रकार गोजाति अपने कर्मसे इस लोकमें ऋषियों तथा प्रजाओंका भी पालन करती रहती है। इन्द्र! उसके व्यवहारमें शठता या माया नहीं होती, वह सदा पवित्र कर्ममें लगी रहती है।'[२]

इस प्रकार सभी दृष्टियोंसे गाय हमारे लिये बड़े ही आदर और प्रेमकी वस्तु है, हमें सब प्रकारसे उसकी रक्षा एवं उन्नतिके लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये।

१-उत्तिष्ठाम्येष राजेन्द्र सम्यक् क्रीतोऽस्मि तेऽनघ। गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किंचिदिहाच्युत॥
कीर्तनं श्रवणं दानं दर्शनं चापि पार्थिव। गवां प्रशस्यते वीर सर्वपापहरं शिवम्॥
गावो लक्ष्म्याः सदा मूलं गोषु पाप्मा न विद्यते। अन्नमेव सदा गावो देवानां परमं हविः॥
स्वाहाकारवषट्कारौ गोषु नित्यं प्रतिष्ठितौ। गावो यज्ञस्य नेत्र्यो वै तथा यज्ञस्य ता मुखम्॥
अमृतं ह्यव्ययं दिव्यं क्षरन्ति च वहन्ति च। अमृतायतनं चैताः सर्वलोकनमस्कृताः॥
तेजसा वपुषा चैव गावो वह्निसमा भुवि। गावो हि सुमहत्तेजः प्राणिनां च सुखप्रदाः॥
निविष्टं गोकुलं यत्र श्वासं मुञ्चति निर्भयम्। विराजयति तं देशं पापं चास्यापकर्षति॥
गावः स्वर्गस्य सोपानं गावः स्वर्गेऽपि पूजिताः। गावः कामदुहो देव्यो नान्यत् किंचित् परं स्मृतम्॥
इत्येतद् गोषु मे प्रोक्तं माहात्म्यं भरतर्षभ। गुणैकदेशवचनं शक्यं पारायणं न तु॥
(अनुशासन० ५१। २६—३४)

२-यज्ञाङ्गं कथिता गावो यज्ञ एव च वासव। एताभिश्च विना यज्ञो न वर्तेत कथञ्चन॥
धारयन्ति प्रजाश्चैव पयसा हविषा तथा। एतासां तनयाश्चापि कृषियोगमुपासते॥
जनयन्ति च धान्यानि बीजानि विविधानि च। ततो यज्ञाः प्रवर्तन्ते हव्यं कव्यं च सर्वशः॥
पयोदधिघृतं चैव पुण्याश्चैताः सुराधिप। वहन्ति विविधान् भारान् क्षुत्तृष्णापरिपीडिताः॥
मुनींश्च धारयन्तीह प्रजाश्चैवापि कर्मणा। वासवाकूटवाहिन्यः कर्मणा सुकृतेन च॥
(अनुशासन० ८३। १७—२१)

स्वधर्म-पालनकी आवश्यकता

जो मनुष्य ईश्वर-भक्ति और धर्मकी आड़में अधर्म करते हैं, उनको असलमें नास्तिकोंके भी जनक कहना चाहिये। वे नास्तिकोंसे भी बढ़कर नास्तिक हैं; क्योंकि उन दम्भी, पाखण्डी मनुष्योंको दण्ड देनेके लिये ही भगवान् नास्तिकताको उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार नास्तिकवादके उत्पन्न करनेमें हेतु होनेके कारण वे नास्तिकोंके जनक हैं। पता नहीं; ऐसे कितने ही धर्मध्वजी मनुष्य आज अपनेको अवतार या महात्मा बतलाकर अनाचार फैला रहे हैं। बहुत-से लोग तो स्त्रियोंको चेलियाँ बनाकर पहले तो उनसे अपने चरण पुजवाते हैं, उन्हें अपना चरणोदक देते हैं, अपनी जूठन खिलाते हैं और बादमें वे अपनेको कृष्णका रूप बतलाकर उन्हें गोपी बनाकर और व्यभिचारको धर्म बतलाकर उनके साथ दुराचार करते हैं और उसका फल वे दम्भी दुराचारपरायण लोग परम धामकी प्राप्ति बतलाते हैं! ऐसे धर्मके नामपर दुराचार करनेवाले पाखण्डी यथार्थमें भगवान् श्रीकृष्णको तथा भक्तिमती गोपियोंको कलंक लगानेवाले हैं। असलमें भगवान् तथा भक्तोंपर तो कलंक क्या लगता है, ऐसा करके वे स्वयं अपना ही नाश करते हैं, वे स्वयं अपनेको ही महान् घोर अधोगतिमें ले जाते हैं। ऐसी घटनाएँ आजकल बहुत जगह हो रही हैं।*

यह महान् अनर्थकी बात है। ईश्वर-भक्तिके नामपर इस प्रकार दुराचारका विस्तार करना बहुत बड़ा पाप है। इसलिये सब लोगोंको इसका घोर विरोध करना चाहिये। ऐसी बातें न होने पावें, इसकी व्यवस्था करनी चाहिये। हमें धर्मके विषयमें खयाल करना चाहिये कि स्त्रीके लिये तो विवाहकी विधिको ही वैदिक संस्कार और पतिको ही गुरु बतलाया गया है, उसके लिये पतिगृहमें वास ही गुरुकुलवास है और गृहकार्य ही अग्निहोत्र है। मनुजी कहते हैं—

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥

(मनु० २। ६७)

स्त्रियोंको तो पतिके सिवा अन्य पुरुषका स्पर्श करना भी पाप है। वाल्मीकीय रामायणमें कथा आती है कि जब श्रीहनुमान्‌जीने अशोकवाटिकामें श्रीसीताजीको अत्यन्त व्याकुल देखा, तब उन्होंने सीताजीसे कहा कि 'माता! आप मेरी पीठपर सवार हो जायँ। मैं आपको अभी यहाँसे ले चलता हूँ।' परंतु श्रीसीताजीने यह स्वीकार नहीं किया। वे बोलीं—

भर्तुर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर।
नाहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम॥

(वा० रा० ५। ३७। ६२)

'वानरश्रेष्ठ हनुमान्! पतिभक्तिकी ओर दृष्टि रखकर मैं भगवान् श्रीरामके सिवा दूसरे किसी पुरुषके शरीरका स्वेच्छासे स्पर्श करना नहीं चाहती।'

यद्यपि सीताजी उस समय विपत्तिमें पड़ी हुई थीं! किंतु उन्होंने पतिके पास जानेके लिये भी पातिव्रत-धर्मकी रक्षाकी दृष्टिसे मातृभाव रखनेवाले हनुमान्-सरीखे सेवकका भी स्पर्श करना उचित नहीं समझा। इससे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि भारी विपत्तिके समय भी स्त्रीको यथासाध्य परपुरुषका स्पर्श नहीं करना चाहिये।

इस समय कई दम्भी स्त्री-पुरुष अपनेको महात्मा और ईश्वरके अवतारके स्थानमें स्थापित करके चेले-चेलियोंसे अपने ही नामका कीर्तन और स्वरूपका ध्यान कराते हैं, अपने चित्रकी पूजा कराते हैं और अपने नाम-गुणोंकी कीर्ति अपने ही सम्मुख कराकर स्वयं उसे सुनते हैं। इस प्रकारका आचरण करनेवाले लोग सचमुच नास्तिकवादके उत्पादक हैं। नास्तिकवादके कई हेतु हैं, जिनमें यह भी एक प्रधान हेतु है।

इसलिये सच्चे धर्माचार्य महानुभावोंको ऐसे धर्मध्वजी स्त्री-पुरुषोंका बहिष्कार करके स्वयं धर्मका पालन करते हुए संसारके भूले-भटके भाइयोंको सच्चा धर्म बतलाना चाहिये।

संसारमें जिनका जीवन धर्ममय है, उन्हींका जीवन धन्य है। धर्महीन जीवन पशु-जीवन है। एक कविने कहा है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।

* अभी एक पण्डितजीका पत्र मिला है, उसमें लिखे संवादका सार यह है—'यहाँ एक महापुरुष बने हुए हैं, सिद्धिप्राप्त कहते हैं, औषध देते हैं, गुरु बनते हैं, अपनेको ·····संन्यासी तथा ·······गद्दीके शिष्य बतलाते हैं। शराब-मांस उन्हें अत्यन्त प्रिय है। आप अपने चेले-चेलियोंको अपनी थालीमेंसे खिलाकर खाते हैं। चेलियोंसे सर्वस्व अर्पणकी बड़ी चाह है। विरोध करनेमें लोग इसलिये डरते हैं कि ये किसीका कोई अनिष्ट न कर दें। शिष्योंका धन और धर्म हरण कर रहे हैं।'

इस प्रकारके दुराचार धर्म और अध्यात्मके नामपर आज जगह-जगह हो रहे हैं और भोले नर-नारी अविवेकपूर्ण श्रद्धाको लेकर इनके जालमें फँस जाते हैं। ऐसे गुरुओंसे न कभी किसीका कल्याण हुआ है, न हो सकता है। —सम्पादक

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्योंमें और पशुओंमें सभीमें समान हैं। मनुष्यमें अधिकता और विशेषता एक ही है कि उसमें धर्म है। जिस मनुष्यमें धर्म नहीं है, वह पशुके समान ही है।'

धर्म क्या है? ईश्वरका विधान, जो कि इस लोक और परलोकमें कल्याणकारक है, वही धर्म है। मनुजी सर्वसाधारणके लिये संक्षेपमें सामान्य धर्मके लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनु० ६। ९२)

'धैर्य, क्षमा, मनका निग्रह, चोरीका न करना, बाहर-भीतरकी पवित्रता, इन्द्रियोंका संयम, सात्त्विक बुद्धि, अध्यात्मविद्या, यथार्थ भाषण और क्रोधका न करना—ये धर्मके दस लक्षण हैं।'

इसको मानवमात्रके लिये सामान्य धर्म बतलाया है। इसके पालनसे मनुष्यका इस लोक और परलोक—दोनोंमें कल्याण होता है।

आजकल जो लोग ईश्वर और धर्मका विरोध करते हैं, वे स्वयं ही अपने आपका हनन कर रहे हैं। सब कुछ जाकर भी जिसका धर्म सुरक्षित है, उसीको इस लोकमें सुख और परलोकमें परम गति मिलती है; पर जिसका धर्म चला गया, उसका तो सभी कुछ चला गया। शास्त्रमें बतलाया है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥

(मनु० ८। १५)

'विनाश किया हुआ ही धर्म मारता है और रक्षा किया हुआ धर्म रक्षा करता है; इसलिये धर्मका विनाश न करे, जिससे कि वह विनष्ट हुआ धर्म हमें न मार दे।' अर्थात् धर्मका त्याग करनेवाले पुरुषका पतन हो जाता है—यही विनष्ट हुए धर्मसे मनुष्यका मारा जाना है।

अतएव मनुष्यको प्राण देकर भी धर्मकी रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि धर्म नित्य है और जीवन अनित्य है! महाभारतमें कहा है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापिहेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

(स्वर्गारोहण० ५। ६३)

'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे या जीवन-रक्षाके लिये भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और जीवनका हेतु अनित्य है।'

इसलिये काम, भय, लोभ आदि किसी भी कारणसे धर्मका परित्याग नहीं करना चाहिये, बल्कि प्राण देने पड़े तो प्रसन्नतापूर्वक दे देने चाहिये। धर्मके लिये प्राण देनेमें भी कल्याण ही है। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(गीता ३। ३५)

'अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।'

गुरु गोविन्दसिंहके लड़कोंने धर्मके लिये प्राणोंकी भी परवा नहीं की। उन्होंने धर्मभावका खयाल करके ही धर्मका त्याग नहीं किया और हँसते-हँसते प्राणोंकी आहुति दे डाली। इसीलिये उनकी इस लोकमें कीर्ति हुई और शास्त्रके हिसाबसे परलोकमें भी उनकी परम गति होनी चाहिये।

श्रुति, स्मृति, पुराण आदि शास्त्रोंमें धर्मका स्वरूप बहुत विस्तारसे बतलाया गया है, उन ग्रन्थोंमें देखना चाहिये। मनुजीने कहा है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

(मनु० २। १२)

'वेद, स्मृति, सत्पुरुषोंका आचार तथा जिसके आचरणसे अपना हित हो वह, इस तरह चार प्रकारका यह धर्मका साक्षात् लक्षण कहा है।'

यहाँ '**स्वस्य च प्रियमात्मनः**' से 'जो अपनी आत्माके लिये हितकर हो' किया जाना धर्म है। मनमाने आचरणका तो स्वयं भगवान्‌ने ही निषेध किया है। भगवान् कहते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता १६। २३)

'जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परम गतिको और न सुखको ही।'

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता १६। २४)

'अतएव तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करनेयोग्य है।'

धर्मके विषयमें जहाँ श्रुति और स्मृतिमें विरोध प्रतीत होता हो, वहाँ श्रुति ही बलवती मानी जाती है, इसलिये श्रुतिके कथनानुसार ही पालन करना चाहिये। जहाँ एक श्रुतिसे दूसरी श्रुतिका विरोध हो, वहाँ वे दोनों ही मान्य हैं और जहाँ श्रुति और सदाचारमें विरोध प्रतीत होता हो, वहाँ (श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा आचरित) सदाचार ही प्रधान है। जैसे श्रुतिमें मांस भक्षण आदि कई बातें आ जाती हैं, जो हमारी समझमें नहीं आतीं और हमें आत्माके लिये अहितकर प्रतीत होती हैं तथा सर्वसाधारण उनका निर्णय नहीं कर सकते। परंतु भगवत्प्राप्त पुरुषोंके द्वारा किये गये आचरणोंमें कहीं भी अहितकी आशंकाके लिये कोई गुंजाइश नहीं है। इसीलिये महाराज युधिष्ठिरने यह निर्णय दिया है कि—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्था॥

(वन० ३१३। ११७)

'धर्मके विषयमें तर्ककी कोई प्रतिष्ठा (स्थिरता) नहीं, श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न तात्पर्यवाली हैं तथा ऋषि-मुनि भी कोई एक नहीं हैं, जिससे उसीके मतको प्रमाणस्वरूप माना जाय। धर्मका तत्त्व गुहामें छिपा हुआ है—धर्मकी गति अत्यन्त गहन है, इसलिये (मेरी समझमें) जिस मार्गसे कोई महापुरुष गया हो या जा रहा हो, वही मार्ग है; अर्थात् ऐसे महापुरुषका अनुसरण करना ही धर्म है।'

अतः महापुरुष जिस मार्गसे चलते हैं, वही मार्ग अनुसरणीय है। क्योंकि भगवत्प्राप्त महापुरुषोंद्वारा कभी भगवान्‌की आज्ञारूप धर्मका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। इसमें प्रह्लादका उदाहरण प्रत्यक्ष है। भक्त प्रह्लादने अपने प्रिय पुत्रकी अवहेलना कर दी, परंतु धर्मका त्याग नहीं किया।

केशिनी नामकी कन्या थी, उससे प्रह्लाद पुत्र विरोचन और अंगिरा-पुत्र सुधन्वा—दोनों ही विवाह करना चाहते थे। इसी बातको लेकर दोनोंमें विवाद हो गया। कन्याने कहा कि 'तुम दोनोंमें जो श्रेष्ठ होगा, मैं उसीके साथ विवाह करूँगी।' इसपर वे दोनों ही अपनेको श्रेष्ठ बतलाने लगे। अन्तमें यह निर्णय हुआ कि उनकी श्रेष्ठताका निर्णय न्याय तथा धर्मपरायण प्रह्लादजी करें। जो निकृष्ट हो, उसके प्राण हरण कर लिये जायँ। दोनोंने प्रह्लादकी सेवामें उपस्थित होकर अपनी कहानी सुनायी और निर्णयके लिये प्रार्थना की। प्रह्लादने सारी बातें सुनकर पुत्र विरोचनकी अपेक्षा सुधन्वा ब्राह्मणको ही श्रेष्ठ समझा और विरोचनसे कहा—

श्रेयान् सुधन्वा त्वत्तो वै मत्तःश्रेयांस्तथाङ्गिराः।
माता सुधन्वनश्चापि मातृतः श्रेयसी तव।
विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव॥

(महा०, सभा० ६८। ८७)

'विरोचन! निश्चय ही सुधन्वा तुझसे श्रेष्ठ है तथा इसके पिता अंगिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं और इस सुधन्वाकी माता भी तेरी मातासे श्रेष्ठ है, इसलिये यह सुधन्वा तेरे प्राणोंका स्वामी है।'

यह है सच्ची धर्मपरायणता और धर्मके लिये समस्त ममताओंका आदर्श त्याग।

इस निर्णयको सुनकर सुधन्वा मुग्ध हो गया और उसने कहा—

पुत्रस्नेहं परित्यज्य यस्त्वं धर्मे व्यवस्थितः।
अनुजानामि ते पुत्रं जीवत्वेष शतं समाः॥

(महा०, सभा० ६८। ८८)

'प्रह्लादजी! पुत्रस्नेहको त्यागकर तुम धर्मपर अटल रहे, इसलिये तुम्हारा यह पुत्र सौ वर्षतक जीवित रहे (मैं इसके प्राण हरण नहीं करूँगा)।'

राजा हरिश्चन्द्रने भारी-से-भारी विपत्ति सही, किंतु धर्मका त्याग नहीं किया। यहाँतक कि धर्मपालनके लिये उन्होंने अपनी पत्नीको बेंच दिया और स्वयं चाण्डालके यहाँ नौकरी कर ली। इसीके प्रभावसे वे स्त्री-पुत्रोंसहित उत्तम गतिको प्राप्त हुए।

महाराज युधिष्ठिरपर ऐसी विपत्तियाँ कई बार आयीं; परंतु उन्होंने कभी धर्मका त्याग नहीं किया। जब द्रौपदी और चारों भाइयोंके गिर जानेपर महाराज युधिष्ठिर अकेले ही हिमालयकी ओर बढ़ रहे थे, तब एक कुत्ता उनके पीछे-पीछे चला आ रहा था। उसी समय देवराज इन्द्र रथ लेकर आये और उन्होंने युधिष्ठिरको रथपर चढ़नेके लिये अनुरोध किया। परंतु युधिष्ठिरने इन्द्रके बहुत आग्रह करनेपर भी अपने भक्त कुत्तेको छोड़कर अकेले स्वर्ग जाना नहीं चाहा। उन्होंने स्पष्ट कह दिया—'मैं इस कुत्तेको किसी प्रकार भी नहीं छोड़ सकता।' इसपर साक्षात् धर्म—

जो कि कुत्तेके रूपमें थे—प्रकट हो गये। उन्होंने युधिष्ठिरसे कहा—'तुमने कुत्तेको अपना भक्त बतलाकर स्वर्गतकका त्याग कर दिया। तुम्हारे इस त्यागकी बराबरी कोई स्वर्गवासी भी नहीं कर सकता।' ऐसा कह वे युधिष्ठिरको रथमें चढ़ाकर स्वर्ग गये। इस प्रकार महाराज युधिष्ठिरने स्वर्गकी भी परवा न करके अन्ततक धर्मका पालन किया।

जो लोग धर्म और ईश्वरको नहीं मानते, वे धर्म और ईश्वर क्या वस्तु है, इसीको नहीं समझते। उन्होंने न तो कभी इस विषयके शास्त्रोंका ही अध्ययन किया है और न इस विषयका तत्त्व समझनेकी ही कभी चेष्टा की है। उनका इस विषयके अन्तरमें प्रवेश न होनेके कारण ही वे इस महान् लाभसे वंचित हो रहे हैं।

ईश्वरकी आज्ञारूप जो धर्म है, उसका सकामभावसे पालन किया जाता है तो उससे इस लोक और परलोकमें सुख मिलता है और यदि उसका निष्कामभावसे पालन किया जाता है तो उससे अपने आत्माका कल्याण हो जाता है। भगवान्ने कहा है—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

(गीता ३। ११)

'तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।'

अतएव हमें निष्कामभावसे धर्मका पालन करना चाहिये। निष्कामभावसे धर्मका पालन करनेवाला मनुष्य परम पदको प्राप्त हो जाता है।

ईश्वर और धर्ममें विश्वासकी आवश्यकता

जिसके द्वारा इस जीवनमें और आगे भी पवित्र सुख, शान्ति और समृद्धिमय सफलता प्राप्त हो और अन्तमें निरतिशय एवं दुःखलेशरहित परम कल्याणरूप आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति हो जाय, उसका नाम धर्म है।* विभिन्न कर्मानुसार जीव, जगत् एवं जीवोंके सुख-दुःख एवं उन्नति-अवनतिका निर्णय, निर्माण, नियमन-नियन्त्रण करनेवाली नित्य सत्य चेतन शक्तिका नाम ईश्वर है। त्रिकालज्ञ—सर्वज्ञ ऋषियोंने ईश्वरकी इच्छा और अभिप्रायको जानकर ईश्वर स्वरूप वेदोंके अनुकूल जो विधि-निषेधमय कानून बनाये हैं, उनका नाम है—शास्त्र। ईश्वरको मानकर शास्त्रके अनुकूल आचरण करनेवाला मनुष्य इस लोकमें पवित्र सुख, शान्ति एवं समृद्धिको प्राप्त करता हुआ अन्तमें मनुष्य-जीवनके चरम फलरूप परमात्माको प्राप्त कर लेता है। यह धर्मका फल है।

ईश्वर और धर्म—जगत्की सर्वांगीण एवं स्थायी उन्नतिके ये ही दो परम आधार हैं। धर्म सदा ही ईश्वरके आश्रित है और जहाँ धर्म है, वहाँ ईश्वर है ही। इन दोनोंमें परस्पर नित्य सम्बन्ध है। ईश्वरका कानून ही धर्म है और जहाँ धर्म है, वहीं विजय है—सफलता है।

'यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः॥'

(महा०, अनु० १६७। ४१)

ईश्वर और धर्मके प्रति जब मनुष्यकी अनास्था हो जाती है, तब धर्मका बन्धन ढीला हो जाता है और मनुष्यके आचरण मनमाने होने लगते हैं। मनमाने आचरण करनेवालेको न सिद्धि मिलती है, न सुख और न परम गति ही मिलती है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(१६। २३)

'जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परम गतिको और न सुखको ही।'

सिद्धि, सुख और परमगति धर्माचरणसे ही मिलते हैं। जगत्में आज जो सर्वत्र असफलता और दुःख दिखायी दे रहे हैं, इसका एकमात्र कारण है—मनुष्यका धर्मसे च्युत हो जाना—ईश्वरको न मानकर उनके अनुकूल

* यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। (वैशेषिकदर्शन)
'जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि हो, वह धर्म है।'
य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते। (मीमांसादर्शन, सूत्र-भाष्य)
'जिसके अनुष्ठानसे (लौकिक और पारमार्थिक) कल्याण हो, उसे धर्म कहते हैं।'

आचरण न करना। जगत्का यह दुःख तबतक बना रहेगा, जबतक मनुष्य ईश्वर और उनके कानूनको न मानकर मनमाना आचरण करता रहेगा। हम सभी सफलता चाहते हैं; परन्तु ईश्वर और धर्मसे विमुख होकर सफलता चाहना दुराशामात्र ही है।

गीता हमें बतलाती है कि सृष्टिके आदिमें जगत्पिता ब्रह्माजीने मनुष्यको यही आदेश दिया था कि 'तुम इन देवताओंकी स्वधर्म-पालनरूप यज्ञद्वारा आराधना करो और तुम्हारी सेवासे प्रसन्न एवं परिपुष्ट होकर ये तुम्हारी पुष्टि, तुम्हारी उन्नति करें—

'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।'

(३। ११)

ये देवता यदि हमारी सहायता न करें तो हम जगत्में जीवित ही नहीं रह सकते; और इनकी सहायता प्राप्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि हम भी बदलेमें उनकी पुष्टि करें। आज जगत्में विग्रह, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकाल, भूकम्प, अग्निकाण्ड एवं बाढ़ आदिके कारण जो भयंकर जन-संहार हो रहा है, उसका प्रधान कारण इन देवताओंका मनुष्यके द्वारा पुष्ट न किया जाना ही है। परंतु आज भी जितना अपराध देवताओंका हम करते हैं, उतना देवता हमारा नहीं करते। सूर्य अब भी समयपर उगते और समयपर ही अस्त होते हैं। चन्द्रमा अब भी हमपर तथा हमारी ओषधियों एवं वनस्पतियोंपर सुधावृष्टि करते हैं। अग्नि अब भी हमें सदाकी भाँति ताप एवं प्रकाश देती है और हमारे अनेकों कार्य सिद्ध करती है। अवश्य ही इनके कार्योंमें बहुत कुछ व्यतिक्रम होने लगा है, परन्तु इनके स्वभावमें परिवर्तन नहीं हुआ है। कहते हैं, इनके स्वभावमें परिवर्तन होगा, उस समय प्रलय हो जायगा। अतः जगत्में सुख-समृद्धिके विस्तारके लिये इन देवताओंका पूजन एवं पोषण होना आवश्यक है। लौकिक कार्योंमें देवताओंके यजन एवं आराधनसे शीघ्र सिद्धि मिलती है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥

(४। १२)

'इस मनुष्यलोकमें कर्मोंके फलको चाहनेवाले लोग देवताओंका पूजन किया करते हैं; क्योंकि उनको कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धि शीघ्र मिल जाती है।'

यहाँ इस बातपर ध्यान देना चाहिये कि जहाँ एक ओर भगवान् मनमाने आचरणसे सिद्धिका अभाव बतलाते हैं, वहीं दूसरी ओर वे देवताओंके आराधनसे बहुत शीघ्र सिद्धि मिलनेकी बात कहते हैं। इससे लौकिक सिद्धिमें भी देवाराधनकी आवश्यकता एवं उपयोगिता सिद्ध होती है।

देवाराधनका पंचमहायज्ञ एक मुख्य अंग है। इसमें देवताओं, ऋषियों, पितरों, मनुष्यों तथा अन्य जीवोंका यजन किया जाता है। बलिवैश्वदेव इसका प्रतीक है। इनमें देवताओंको अग्निहोत्र तथा पूजनके द्वारा, ऋषियोंको स्वाध्यायसे, पितरोंको तर्पणादिसे, मनुष्योंको भोजन आदिके और अन्य जीवोंको भी आहार आदिके द्वारा प्रसन्न करना होता है। आजकल पंचमहायज्ञोंका अनुष्ठान तो दूर रहा, अधिकांश लोग नियमपूर्वक सन्ध्यावन्दन भी नहीं करते। इसके विपरीत वे ऐसे कर्म करते हैं, जिनसे देवताओंका पोषण, संवर्द्धन तो किनारे रहा, उलटे उनकी शक्ति क्षीण होती चली जा रही है। ऐसी दशामें मनुष्यजाति आये दिन दैवी प्रकोपोंका शिकार बने—इसमें आश्चर्य ही क्या है। आजके मनुष्यका प्रायः दैवी साधनोंमें विश्वास नहीं रहा, अतएव वह केवल भौतिक साधनोंके करनेमें ही अपने कर्तव्यकी इतिश्री मान बैठा है। आजकलका शिक्षित समाज यज्ञादिके अनुष्ठानपर यों कहकर आपत्ति किया करता है कि इस समय जबकि प्रजापर अन्नका महान् संकट है, लोग अन्नके बिना भूखों मर रहे हैं, यज्ञादिके नामपर अन्नका अपव्यय करना—उसे अग्निमें होम देना कितना बड़ा अपराध है! वे लोग यह नहीं सोचते कि आखिर अन्न आता कहाँसे है? पृथ्वीमाताके गर्भसे ही तो। अन्नके लिये पृथ्वीपर वर्षाका होना भी परमावश्यक है; परन्तु वर्षा इन्द्रकी कृपाके बिना नहीं हो सकती। ऐसी दशामें अन्नकी उपजके लिये अन्नका बोया जाना जैसे अपव्यय नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार यज्ञादिमें देवताओंकी पुष्टिके लिये अन्न-घी आदिका उपयोग करना उनका दुरुपयोग नहीं कहा जा सकता, बल्कि प्रजाके हितके लिये वह परमावश्यक है। ठीक तरहसे यदि देवाराधन हो तो दैवी विपत्तियाँ आ ही नहीं सकतीं—अकाल, महामारी आदिका भय ही न रहे। जगत्में इतना अन्न उपजे कि वह जल्दी समाप्त ही न हो।

गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसमें रामराज्यका इस प्रकार वर्णन किया है—

लता बिटप मागें मधु चवहीं। मनभावतो धेनु पय स्रवहीं॥

ससि संपन्न सदा रह धरनी। त्रेताँ भइ कृतजुग कै करनी॥
प्रगटीं गिरिन्ह बिबिध मनि खानी। जगदातमा भूप जग जानी॥
सरिता सकल बहहिं बर बारी। सीतल अमल स्वाद सुखकारी॥
सागर निज मरजादाँ रहहीं। डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं॥
सरसिज संकुल सकल तड़ागा। अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा॥
बिधु महि पूर मयूखन्हि रबि तप जेतनेहि काज।
मागें बारिद देहिं जल रामचंद्र कें राज॥
(उत्तर० २३)

इसका कारण भी गोस्वामीजीने वहीं लिख दिया है—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग॥
(उत्तर० २०)

आजकलके लोग इस वर्णनको काल्पनिक अथवा अत्युक्तिपूर्ण कह सकते हैं; परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। जिन दैवी शक्तियोंके द्वारा जगच्चक्रका परिचालन होता है, उन शक्तियोंके प्रसन्न रहनेसे असम्भव भी सम्भव हो सकता है। फिर भगवान् रघुकुलचूड़ामणि श्रीरामचन्द्रजी तो साक्षात् परमेश्वर ही थे। सारी शक्तियोंके अनन्त निधि थे। उनके राज्यमें ऐसा हो तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है। धार्मिक लोगोंका ऐसा विश्वास ही नहीं, अनुभव भी है। वे लोग ऐसा मानते हैं कि लौकिक उपायोंसे उतना लाभ नहीं होता, जितना दैवी उपायोंसे सम्भव है। किसी वृक्षको हरा-भरा देखनेका एकमात्र उपाय है—उसकी जड़को सींचना। वृक्षके मूलमें सींचा हुआ जल उसके तनेको ही नहीं, बल्कि उसकी शाखा-प्रशाखाओं एवं छोटी-छोटी टहनियों, पत्तियों, फूलों तथा फलोंतकको आप्यायित कर देता है, उनमें रस भर देता है। इसके विपरीत यदि वृक्षके मूलमें जल न देकर केवल उसके पत्तों, फलों एवं टहनियों आदिको ही सींचा जाय तो उससे कोई लाभ नहीं होगा, वृक्ष हरा-भरा होनेके बदले जल्दी ही सूख जायगा और मर जायगा। जगत्के सुख-शान्तिके विस्तार एवं दैवी आपदाओंको टालनेके लिये भगवदाराधन और भगवान्के आज्ञानुसार देवाराधनादि कर्तव्यपालनको छोड़कर केवल बाहरी उपाय करना तो वृक्षकी जड़को न सींचकर केवल पत्तोंको सींचनेके समान ही है।

मानवका बाह्य भौतिक प्रयत्न आज कम नहीं है। लौकिक सुख तथा शरीरको आराम पहुँचानेके साधन जितने आज उपलब्ध हैं, उतने पहले कभी थे—यह कहा नहीं जा सकता। क्योंकि पारमार्थिक उन्नतिमें बाधक होनेके कारण उस समय भौतिक सुखका इतना आदर नहीं था। परन्तु यह मूलमें जल न देकर डाली-पत्तोंको सींचना है, इसलिये इनसे सफलता न होकर व्यर्थता ही मिलती है। सुख-शान्तिके लिये जितने बाह्य उपाय किये जाते हैं, उतना ही जगत्में दुःख और अशान्ति बढ़ती जा रही है!

यह बात नहीं है कि लोगोंको देवाराधनके लिये अवकाश नहीं है। समय तो है, परन्तु अधिकांश मनुष्योंका दैवी साधनोंमें विश्वास ही उठ गया है। विश्वास होनेपर समय आसानीसे निकल सकता है। सिनेमा देखने, सभा-सोसाइटियोंमें जाकर व्याख्यान देने, क्लबोंमें जाकर अनुचित आमोद-प्रमोदमें तथा भोजोंमें सम्मिलित होनेके लिये आज लोग समय निकाल ही लेते हैं। प्राचीन कालमें ऐसी बात नहीं थी। बड़े-बड़े चक्रवर्ती नरेश भी देवाराधन तथा अन्य धार्मिक कृत्योंमें अपना समय लगाया करते थे। द्विजातिमात्रके लिये सन्ध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव, गायत्री-जप तथा अग्निहोत्र आदि अनिवार्य माने जाते थे। महाभारतमें वर्णन आता है कि महाराज युधिष्ठिर जुएमें अपना सर्वस्व हारकर जब वनमें गये, उस समय अग्निहोत्रकी अग्नियाँ उनके साथ थीं। इतना ही नहीं, घोर युद्धके समय जब लड़ते-लड़ते सूर्यास्तका समय हो जाता था और किसी पक्षकी विजय नहीं होती थी, उस समय दोनों पक्षोंकी सम्मतिसे युद्ध बंद कर दिया जाता था और उभयपक्षके योद्धा सायं-सन्ध्योपासनाके लिये बैठ जाते थे। महाराज दिलीपकी कथा प्रसिद्ध है कि वे गुरुकी आज्ञासे अपनी राजोचित मान-मर्यादाका परित्याग कर एक साधारण सेवककी भाँति वनमें जाकर अपने गुरुकी गायकी सेवा करते थे। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी दिनचर्याका वर्णन श्रीमद्भागवतमें मिलता है। वहाँ लिखा है कि वे प्रतिदिन पहर रात रहते उठ जाते थे और उठकर आचमन करके आत्मचिन्तन करने बैठ जाते थे। फिर विधिपूर्वक निमज्जन (जलमें गोता लगाकर स्नान) करके नवीन वस्त्र धारण कर सन्ध्या-वन्दन तथा अग्निहोत्र करते थे और फिर मौन होकर गायत्री-मन्त्रका जप करते थे। इसके अनन्तर सूर्योपस्थान तथा अपनी ही कलारूप देवता, ऋषि एवं पितरोंका तर्पण करते थे, ब्राह्मणोंका पूजन करते थे और फिर वस्त्र, तिल तथा वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत १३,०८४ गौओंका प्रतिदिन दान करते थे। इसके बाद वे गौ, ब्राह्मण,

देवता, बड़े-बूढ़े तथा गुरुजनोंको प्रणाम करते थे। इस प्रकार उनका बहुत-सा समय नित्य धार्मिक कृत्योंमें बीतता था (श्रीमद्भागवत १० स्कन्ध, ७० अध्याय देखिये)। भगवान् श्रीकृष्णके-जैसा कर्ममय जीवन तो किसका हो सकता है। फिर भी वे नियमितरूपसे दो पहरका काल धार्मिक कृत्योंमें बिताते थे। किसलिये? इसका उत्तर उन्हींके शब्दोंमें सुनिये। गीतामें वे स्वयं कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

(३। २२—२४)

'हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है; तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ; क्योंकि हे पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं। इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ।'

असलमें उस समय वृक्षके पत्तोंको न सींचकर मूल सींचनेकी भाँति भौतिक साधनोंकी अपेक्षा दैवी साधनोंपर अधिक आस्था थी। धार्मिक जनताकी बात जाने दीजिये— हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु तथा रावण-कुम्भकर्ण-जैसे महान् असुरोंका भी तप एवं यज्ञ-यागादिमें विश्वास था, चाहे उनका लक्ष्य कितना ही दुष्ट रहा हो। हिरण्यकशिपुने अपने अभूतपूर्व तपके द्वारा ब्रह्माजीको प्रसन्न किया था और रावणने अपने हाथों अपने सिरोंकी बलि देकर शंकरजीका अमोघ वर प्राप्त किया था। यह बात दूसरी है कि देवाराधनके द्वारा प्राप्त शक्तिका दुरुपयोग करके अधर्माचरणके द्वारा वे भगवान्‌के कोपभाजन बने और अन्तमें अपनी दुर्दम्य शक्ति, सर्वस्व एवं प्यारे प्राणोंसे भी हाथ धो बैठे। परन्तु आरम्भ श्रेष्ठ होनेके कारण वे भी भगवान्‌के हाथों मरकर अन्तमें परम कल्याणको ही प्राप्त हुए। उनके चरित्रसे हमें यह भी शिक्षा मिलती है कि जिस प्रकार तपस्या एवं देवाराधनके द्वारा शक्ति-संचय होता है, उसी प्रकार धर्मविरुद्ध आचरणके द्वारा उस शक्तिको हम खो बैठते हैं।

लौकिक साधनोंके द्वारा शक्ति-संचय तो होता है, परन्तु वह अधिक दिन टिकता नहीं। जर्मनीने थोड़े ही दिनोंमें कितनी शक्ति अर्जन कर ली थी, पर आज वह देश पराधीन हो गया है। यूरोप आज कितना समृद्धिशाली माना जाता है और है भी, परन्तु वहाँ कितना हाहाकार मचा हुआ है—इसे वहाँके निवासी ही जानते हैं। अमेरिका इस समय सबसे अधिक बलशाली तथा समृद्ध राष्ट्र माना जाता है; परन्तु वहाँ भी सुख-शान्ति नहीं है। बहुत-से लोग अशान्तिमय जीवनसे दुःखी होकर आत्मघात करते सुने जाते हैं। पारस्परिक राग-द्वेष एवं प्रतिहिंसाके भाव भी कम नहीं हैं; और तो क्या, पति-पत्नियोंके भी आपसमें बहुत संख्यामें मुकदमे होते रहते हैं। जापानने थोड़े ही वर्षोंमें इतनी उन्नति कर ली थी कि वह संसारकी बड़ी-बड़ी शक्तियोंमें गिना जाने लगा था। पर आज उसकी क्या दशा है—इसे सब लोग जानते हैं। इस प्रकार परिणाममें प्राप्त होनेवाली इस असफलताका कारण है— प्रयत्नकी अधर्ममूलकता। अधर्ममूलक कर्मसे आरम्भमें चाहे सफलता दीखे, पर परिणाममें असफलता ही हाथ लगती है। अधर्ममूलक प्रयत्न व्यर्थ ही नहीं जाते, उनसे परलोकमें भी दुर्गति भोगनी पड़ती है। आसुरी सम्पदा और उससे होनेवाले अनिष्टकर परिणामोंका भगवान्‌ने गीताके सोलहवें अध्यायमें बड़ा ही सुन्दर एवं विशद वर्णन किया है। कहना न होगा कि आजका मानव स्पष्ट ही असुर-मानव होने जा रहा है और उसके कर्म प्रायः आज वैसे ही हैं, जैसे भगवान्‌ने आसुरी सम्पदावालोंके बताये हैं। फलतः इस लोकमें दुःख और अशान्ति तथा परलोकमें घोर नारकीय यन्त्रणाएँ अनिवार्य हैं—चाहे कोई इसे माने या न माने।

यह ऊपर बताया जा चुका है कि धर्म और ईश्वर— ये दो ही सुख, सफलता एवं परम गतिके एकमात्र आधार हैं; परन्तु आजका अभिमानमत्त असुर-मानव इन्हींको अनावश्यक एवं त्याज्य मानने लगा है। कुछ ही वर्षों पूर्व रूसवासियोंने बहुमतसे ईश्वर और धर्मका बहिष्कार करनेका दुःसाहस किया था। (सौभाग्यकी बात है कि पिछले युद्धकी विभीषिकाने उनकी आँखें खोल दीं और आज वे खुल्लमखुल्ला ईश्वर तथा धर्मका विरोध नहीं करते एवं वहाँके गिरजाघरोंमें फिरसे ईश्वरकी प्रार्थना

होने लगी है!) पश्चिमके लोगोंकी देखा-देखी हम भारतवासी भी आज यह कहने लगे हैं कि धर्मसे ही हमारा पतन हुआ है, ईश्वरके प्रति विश्वासने ही हमें अधोगतिपर पहुँचाया है। इसीका परिणाम यह है कि आज हम पापसे नहीं डरते। ईश्वर और धर्ममें विश्वास करनेवाला एकान्तमें भी पाप करनेसे झिझकेगा, क्योंकि वह जानता है कि ईश्वर सर्वव्यापी एवं सर्वतश्चक्षु हैं। किन्तु ईश्वर और धर्मको न माननेवाला पापसे नहीं डरेगा, केवल कानूनसे बचनेकी चेष्टा करेगा। यही कारण है कि आज लोग कानूनसे बचनेके नये-नये उपाय निकालकर नाना प्रकारके पाप करते हैं। ईश्वर और धर्मके प्रति अविश्वासके कारण ही आज प्राय: सभी क्षेत्रोंमें घूसखोरी बढ़ गयी है। चोरबाजारी और जनताके संकटोंसे लाभ उठानेकी जघन्य मनोवृत्ति भी इसीके परिणाम हैं। सरकार घूसखोरी और चोरबाजारीको रोकनेके लिये नये महकमे खोलने जा रही है, परन्तु इस बुराईको रोकनेके लिये नियुक्त किये जानेवाले अधिकारी भी तो हमारे-ही-जैसे मनुष्य होंगे। वे घूसखोरी और चोरबाजारीको रोकने जाकर स्वयं इनके शिकार नहीं बन जायँगे—यह कौन कह सकता है। आज तो यह स्थिति है कि जनताके रक्षक कहलानेवाले भी जनताको दोनों हाथोंसे लूटने लगे हैं। इसका कारण यही है कि हमारे मनोंमें धर्म और ईश्वरका भय नहीं रहा; इसकी ओर किसीका ध्यान नहीं है। इसीलिये क्षुद्र स्वार्थकी सिद्धिके लिये किसी भी पाप-कर्ममें संकोच नहीं है। पकड़े न जायँ, फिर चाहे सो करें; कोई आपत्ति नहीं। इसीलिये कानूनको बचाकर पाप करना आजकल बुद्धिमानीका चिह्न हो गया है। सर्वव्यापी भगवान् सब कुछ देखते हैं, हृदयके अंदरकी बात भी जानते हैं—यह धारणा प्राय: मिट गयी है।

एक कथा आती है कि एक बार किसी महात्माके पास दो शिष्य ज्ञान प्राप्त करनेके उद्देश्यसे गये। गुरुजीने दोनोंको एक-एक चिड़िया देकर कहा कि 'इसे किसी ऐसे स्थानमें ले जाकर मार डालो, जहाँ कोई न देखता हो।' पहला शिष्य गुरुजीकी आज्ञा मानकर तुरंत उसे किसी निर्जन स्थानमें ले जाकर मार लाया। दूसरे शिष्यने बहुत चेष्टा की; परन्तु उसे कोई ऐसा स्थान ही नहीं मिला, जहाँ कोई न देखता हो। वह जहाँ भी गया, वहाँ कोई-न-कोई देखनेवाला था ही। कहीं कोई पशु बैठा था, तो कहीं कोई पक्षी। जहाँ कोई भी जीव नहीं मिला, वहाँ उसने देखा कि और नहीं तो वायु देवता तो वहाँ हैं ही; एकान्त वनमें भी इसने सोचा कि यहाँ वनदेवी तो अवश्य होंगी। वह कहीं भी जाता पृथ्वीमाता तो मौजूद ही रहती, सूर्य भगवान् तो हैं ही; कोई भी नहीं, वहाँ भी स्वयं वह और उसके अपने अंदरका अन्तर्यामी द्रष्टा तो था ही। अन्तमें वह निराश होकर लौट आया और जहाँ पहला शिष्य अपनी करतूतपर गर्वित था, वहाँ यह गुरुजीकी आज्ञाका पालन न कर सकनेके कारण विषण्णवदन होकर खेद प्रकट करने लगा। परीक्षा हो गयी। गुरुजीने समझ लिया कि दूसरा शिष्य ही ज्ञानका वास्तविक अधिकारी है, क्योंकि, वह भगवान्‌को सर्वत्र देखता था। गुरुजी समर्थ थे। उन्होंने पहले शिष्यद्वारा मारी हुई चिड़ियाको जिला दिया।

तात्पर्य यह है कि आजका मनुष्य पहले शिष्यकी भाँति प्रत्यक्षवादी हो गया है। अधर्मका फल प्रत्यक्ष तो दीखता नहीं। इसीलिये लोग झूठ बोलनेमें, झूठी गवाही देनेमें, झूठे आँकड़े बनानेमें नहीं हिचकते। कहीं पकड़े भी जाते हैं तो यही सोचते हैं कि 'मैंने अमुक जाल बनानेमें भूल कर दी, आगे और भी सावधान रहूँगा।' उस समय भी यह नहीं सोचते कि 'मैंने झूठ बोलकर पाप किया है, इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा।' आज तो हमारा यहाँतक पतन हो गया है कि ईश्वर और धर्मको माननेवालोंको आजका शिक्षित समाज पाखण्डी और मूर्ख मानने लगा है। यही नहीं, सभ्य समाजमें लोग आज अपनेको ईश्वरवादी कहनेमें भी हिचकने लगे हैं। यह सत्य है कि आज अपनेको ईश्वरवादी और धार्मिक कहलानेवालोंमें पाखण्डी भी बहुत-से हैं और वे नास्तिकोंसे भी अधिक भयंकर और नास्तिकताके उत्पादक हैं; परन्तु ऐसे लोगोंसे ईश्वर और धर्मका अपलाप (बाध) नहीं हो सकता है। सत्य तो सत्य ही रहेगा। उसका त्रिकालमें भी बाध नहीं हो सकता। अवश्य ही उसे न माननेवाला उसके लाभसे वंचित रहेगा और नष्ट हो जायगा।

जो कुछ सहृदय महानुभाव जनताका दु:ख दूर करना, सर्वत्र सुख-शान्तिका प्रसार करना, अनाचार-अत्याचारको मिटाकर सबको समान भावसे लौकिक पदार्थोंकी प्राप्ति कराना और सबको आराम पहुँचाना चाहते हैं, उनमें भी अधिकांश ऐसे हैं जो, इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये स्वयं केवल लौकिक उपायोंको ही काममें लाते हैं और उन्हींके लिये दूसरोंको भी उपदेश करते हैं। धर्म और ईश्वरमें

जो सुख-शान्तिके मूल हैं, विश्वास बढ़नेका साधन न तो वे करते हैं और न उसे करनेके लिये दूसरोंको ही उपदेश करते हैं। यही कारण है कि आज जगत्में सर्वत्र हाहाकार मचा हुआ है और मानवजाति दुःखाग्निकी ज्वालासे जल रही है!

धर्म और ईश्वर नित्य हैं, अटल हैं, महान् हैं। ऐसा समझकर हमें अपने कल्याणके लिये उनका आश्रय लेकर उनका प्रचार करना चाहिये। '**धर्मो रक्षति रक्षितः।**' जो बुद्धिमान् एवं विचारशील हैं, उनका कर्तव्य है कि वे धर्मानुकूल आचरणके द्वारा धार्मिक भावोंका प्रचार करें। स्वयं धर्मानुकूल आचरण किये बिना कोई धर्मका प्रचार नहीं कर सकता। वास्तवमें तो ईश्वर और धर्मका प्रचार कोई कर ही क्या सकता है। ईश्वर सर्वसमर्थ हैं। उनकी शक्तिसे ही सब कुछ हो रहा है। कल्याणकामी सभी मनुष्योंको एक-न-एक दिन उन्हें मानना ही पड़ेगा। बिना माने जीवनका निस्तार नहीं है; फिर भी प्रत्येक धार्मिक एवं ईश्वरवादी मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह ईश्वरका आश्रय लेकर अपने आचरणद्वारा जगत्में ईश्वर और धर्मका प्रचार करे। स्वयं ईश्वर और धर्मकी ओर आगे बढ़े तथा सबको बढ़ानेका प्रयत्न करे। यही जगत्की सबसे बड़ी सेवा है और इसीसे जगत्का वास्तविक कल्याण होगा।

ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता

ब्रह्मचर्यका पालन सभी दृष्टियोंसे परमावश्यक है। ब्रह्मचर्यसे बल, बुद्धि, तेज एवं आयुकी वृद्धि, आरोग्य-सिद्धि, लोक-परलोकके सुख, शान्ति, यहाँतक कि परमात्माकी प्राप्ति भी, जो जीवनका परम ध्येय एवं जन्म-मृत्युके चक्करसे सदाके लिये छूटनेका एकमात्र उपाय है, सम्भव है। शास्त्रोंने भी ब्रह्मचर्यकी महिमा खूब गायी है। श्रुति कहती है—'**ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।**' 'ब्रह्मचर्य एवं तपके द्वारा ही देवतालोग मृत्युपर भी विजय पा सके हैं।' कठोपनिषद्में ब्रह्मचर्यको परमात्माकी प्राप्तिका साधन बताया गया है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाँ्सि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदँ् संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(१। २। १५)

'सारे वेद जिस पदका वर्णन करते हैं, सम्पूर्ण तपोंको जिसकी प्राप्तिका साधन बतलाते हैं तथा जिसकी इच्छा रखनेवाले ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस पदको मैं तुम्हें संक्षेपसे बताता हूँ; 'ओम्' यही वह पद है।'

भगवद्गीतामें भी यही मन्त्र कुछ परिवर्तनके साथ इस प्रकार आया है—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

(८। ११)

'वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपदको अविनाशी कहते हैं, आसक्तिरहित यत्नशील संन्यासी महात्माजन जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परमात्माको चाहनेवाले ब्रह्मचारी-लोग ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उस परमपदको मैं तेरे लिये संक्षेपसे कहूँगा।'

उपर्युक्त दोनों ही मन्त्रोंमें ब्रह्मचर्यको स्पष्ट शब्दोंमें परमात्माकी प्राप्तिका साधन बतलाया गया है। हमारी आदर्श वर्णाश्रम-व्यवस्थामें ब्रह्मकी प्राप्तिको लक्ष्य मानकर ही ब्रह्मचर्य-पालनका विधान किया गया है। सनकादि परमर्षि, देवर्षि नारद, भक्तराज हनुमान्, परमहंस शिरोमणि श्रीशुकदेवजी तथा वीराग्रगण्य पितामह भीष्म आदि हमारे यहाँके आदर्श ब्रह्मचारी हैं। स्मृतिग्रन्थोंमें भी ब्रह्मचर्यकी बड़ी महिमा कही गयी है।

लौकिक एवं पारमार्थिक—सभी दृष्टियोंसे वीर्यरक्षा परमोपयोगी है। वीर्यरक्षा ही जीवन है और वीर्यका नाश ही मृत्यु है। वीर्यकी रक्षासे लोक-परलोक सब कुछ सध सकता है और वीर्यहीन पुरुष संसारमें कुछ भी नहीं कर सकता। शरीरकी सात धातुओंमें वीर्य ही सर्वोपरि है। वीर्यसे ही शरीर बनता है और वीर्यसे ही उसकी रक्षा होती है। वीर्य ही जीवनका सार है। वीर्यका अपव्यय करनेवाला मनुष्य कभी स्वस्थ एवं सुखी नहीं रह सकता। वह नाना प्रकारके रोगोंका शिकार बनकर अकालमें ही कालका ग्रास बन जाता है। वीर्यकी मात्रा कम हो जानेपर शरीरकी सारी क्रियाएँ अस्त-व्यस्त हो जाती हैं—मस्तिष्क कमजोर हो जाता है, स्मृतिशक्ति क्षीण हो जाती है, स्नायु निर्बल हो जाते हैं, रक्तका संचार कम हो जाता है, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंको सहन करनेकी शक्ति कम हो जाती है।

व्यायामके लिये भी ब्रह्मचर्य परमावश्यक है। व्यायामशिक्षक व्यायामके साथ-साथ ब्रह्मचर्य तथा दुग्ध-सेवनपर अधिक जोर देते हैं। ब्रह्मचर्यके बिना तो व्यायाम कभी-कभी हानिकारक हो जाता है, जो लोग ब्रह्मचर्यपर ध्यान न देकर व्यायामको चालू रखते हैं, वे लोग कभी-कभी गठिया आदि भयंकर रोगोंके शिकार होते पाये जाते हैं। स्वास्थ्यरक्षा एवं आरोग्य-लाभके लिये भी ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। रोगीके रोग-निवारण तथा शीघ्र आरोग्यलाभके लिये वैद्यलोग ओषधि-सेवनके साथ-साथ पथ्य-भोजन तथा ब्रह्मचर्य पालनपर विशेष जोर देते हैं।

योग-साधनमें भी ब्रह्मचर्यकी बड़ी आवश्यकता है। अष्टांगयोगका प्रथम अंग पाँच प्रकारके यमोंका पालन है और यमोंमें ब्रह्मचर्यका प्रमुख स्थान है। ब्रह्मचर्यके बिना मनकी एकाग्रता भी सम्भव नहीं है। ब्रह्मचर्यहीन पुरुषको आलस्य एवं विक्षेप अधिक सताते हैं। उसका मन अधिक चंचल होता है। ब्रह्मचर्यके बिना मनुष्यके न तो लौकिक कार्य सुचारुरूपसे सिद्ध होते हैं और न वह परमार्थमें ही अग्रसर हो सकता है। वह इतो-भ्रष्ट, ततो-भ्रष्ट होकर दु:खी जीवन व्यतीत करता है और दु:खी ही मरता है।

ज्ञानमार्गमें भी ब्रह्मचर्यको अत्यन्त आवश्यक माना गया है। छान्दोग्य उपनिषद्‌में कथा आती है कि 'इन्द्रने प्रजापतिसे ज्ञानका उपदेश ग्रहण करनेके लिये एक-सौ-एक वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन किया था।' इसी प्रकार दधीचि ऋषिके पास जब अश्विनीकुमार ज्ञानोपदेशके लिये जाते हैं, तब उन्हें भी पहले दस वर्षतक ब्रह्मचर्यपालनके लिये कहा जाता है। तान्त्रिकसाधन एवं भक्तिसाधनमें भी ब्रह्मचर्यपर जोर दिया जाता है। सारांश यह कि जिस प्रकार लौकिक कार्योंमें सिद्धिके लिये ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता है, उसी प्रकार परमार्थसाधनमें भी ब्रह्मचर्यकी परमोपयोगिता है।

अष्टविध मैथुनके त्यागका नाम ही ब्रह्मचर्य है। अष्टविध मैथुनका प्रसंग विस्तारसे व्यवहारमें परमार्थकी कलामें प्रकाशित हमारे 'ब्रह्मचर्य' शीर्षक लेखमें आ चुका है। पूर्ण ब्रह्मचर्यके पालनके लिये उन सभी प्रकारके मैथुनोंका त्याग आवश्यक है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं संन्यासियोंको तो इन सभी प्रकारके मैथुनोंसे बचना ही चाहिये, गृहस्थोंको भी अपनी विवाहिता पत्नीको छोड़कर अन्य किसी भी स्त्रीके साथ न तो एकान्तमें मिलना चाहिये, न उनसे बातचीत करनी चाहिये, न उनकी ओर देखना चाहिये और न उनका चिन्तन ही करना चाहिये। अपनी विवाहिता स्त्रीके साथ भी अधिक संग करना सभी दृष्टियोंसे हानिकर है। पर-स्त्रियोंकी चर्चासे भी मनुष्यको सदा दूर रहना चाहिये। पर-स्त्रीका स्पर्श तो सर्वथा त्याज्य है ही। ये सभी क्रियाएँ मैथुनके ही अन्तर्गत समझी जाती हैं। इन सब बातोंसे परहेज रखना चाहिये; क्योंकि मनुष्यका मन बड़ा चंचल होता है, वह किसी भी क्षण बिगड़ सकता है। शास्त्रोंने तो यहाँतक कहा है—

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

(मनु० २। २१५)

'अपनी माँ, बहिन अथवा पुत्रीके साथ भी एकान्तमें न रहे। इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल होती हैं; वे विवेकी मनुष्यको भी पथभ्रष्ट कर देती हैं, फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या।'

आजकल पाश्चात्यशिक्षा एवं सभ्यताके प्रभावमें आकर हमलोग इन सारे बन्धनोंको क्रमश: शिथिल करते जा रहे हैं। आजकल स्त्री-पुरुषोंका परस्पर बेरोक-टोक मिलना, नि:संकोच संभाषण करना, गोष्ठियोंमें सम्मिलित होना, नाच-तमाशोंमें जाना, नाटक-सिनेमा देखना आदि निर्दोष माने जाने लगे हैं। हमारे स्कूलों एवं कॉलेजोंमें लड़कियों एवं लड़कोंकी सहशिक्षाका प्रचार जोरोंसे बढ़ रहा है। इसका परिणाम दोनोंके लिये ही हानिकारक सिद्ध हो रहा है। जिन लोगोंने इसपर गहरा विचार किया है, उन सभीने इसके अनिष्टकर परिणामोंको स्वीकार किया है। साहित्यकी गति भी क्रमश: कुरुचिकी ओर जा रही है। चल-चित्रपटोंसे तो हमारे युवक-युवतियोंकी बड़ी हानि हो रही है। पर हमलोग आँख मूँदे हुए आधुनिकताके प्रवाहमें बहते चले जा रहे हैं। नैतिक हानि कोई विशेष हानि नहीं समझी जाती। स्त्रियोंमें सतीत्वका आदर्श क्रमश: लुप्त होता जा रहा है। व्यभिचार उतना हेय नहीं समझा जाता। विलासिता एवं अपनेको सजानेकी भावना क्रमश: प्रबल होती जा रही है। जीवन अधिकाधिक खर्चीला बन रहा है।

सबसे अधिक शोचनीय है—हमारे बालक-बालिकाओंमें गंदी और अश्लील-प्रवृत्तियोंका बढ़ना। नैतिक एवं धार्मिक शिक्षाके अभाव, देख-रेखकी कमी तथा शृंगारकी भावनाने उन्हें कई प्रकारकी गर्हित कुटेवोंका शिकार बना दिया है।

खान-पानमें असंयम, कुरुचिपूर्ण साहित्य, नाटक, सिनेमा आदिमें बेरोक-टोक जाना, आदर्श चरित्रवान् शिक्षकोंकी कमी तथा अनुशासनका अभाव—ये सभी इस अवांछनीय स्थितिमें सहायक सिद्ध हुए हैं। फल यह हुआ है कि हमारे बालकोंमें बहुत-सी गन्दी आदतें क्रमशः घर करती जा रही हैं। हमारे स्कूलों, कॉलेजों तथा सम्बद्ध छात्रावासोंकी बात तो जाने दीजिये, हमारी संस्कृत पाठशालाएँ तथा उनके छात्रावास—यहाँतक कि हमारे तथाकथित ऋषिकुल और गुरुकुल भी इन बुराइयोंसे नहीं बच पाये हैं। आये दिन हमें इस प्रकारकी शिकायतें सुननेको मिलती हैं और इधर तो कई बालकों एवं नवयुवकोंने हमें स्वयं आकर अपने दोष बताये हैं और उनसे उत्पन्न होनेवाले अनिष्टकर परिणामोंको स्वीकार किया है।

कहना न होगा कि इस प्रकारकी कुटेवोंसे हमारे बालकोंकी शारीरिक एवं नैतिक कितनी बड़ी हानि हो रही है। उनमेंसे कई सदाके लिये स्त्री-सुखसे सर्वथा वंचित हो जाते हैं—असमयमें ही नपुंसकताके शिकार हो जाते हैं तथा कुछ धातुक्षय, प्रमेह, यक्ष्मा आदि भयंकर रोगोंके चंगुलमें फँस जाते हैं। उनके स्नायु निर्बल हो जाते हैं; वे तेजहीन, निरुत्साह एवं मन्दबुद्धि हो जाते हैं और कई तो जीवनसे भी निराश हो जाते हैं। उनमें सन्तानोत्पादनकी क्षमता नहीं रह जाती और यदि सन्तान होती भी है तो वह दुर्बल, क्षीणकाय, रोगग्रस्त एवं अल्पायु होती है। बालक ही हमारे राष्ट्रकी नींव हैं, उनमें इस प्रकारकी हस्तमैथुन आदि बुराइयोंका आ जाना राष्ट्रके लिये बड़े खतरेकी चीज है। अतः हमें समय रहते चेत जाना चाहिये और शीघ्र-से-शीघ्र इस बढ़ते हुए रोगकी चिकित्सा करनी चाहिये। यदि इसकी वृद्धिको समयपर नहीं रोका गया तो कभी यह इतना भयंकर रूप धारण कर सकता है कि फिर इसे सँभालना कठिन हो जायगा और हमारा राष्ट्र पतनके घोर गर्तमें गिर जायगा।

इस बीमारीको दूर करनेके लिये संक्षेपतः निम्नलिखित उपयोगोंको काममें लाना चाहिये। सबसे पहली आवश्यकता तो यह है कि हमारे बालकोंको चरित्रवान् एवं आदर्श बनानेके लिये हम स्वयं चरित्रवान् एवं आदर्श बनें। बालकोंको चरित्रवान् अथवा चरित्रहीन बनानेमें उनके माता-पिता तथा शिक्षक ही प्रधान हेतु हैं। जबसे बालक गर्भमें आये, तभीसे माता-पिताको इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि उसपर अच्छे संस्कार पड़ें, बुरे संस्कार न पड़ने पायें। संस्कारोंकी प्रथा तो हमलोगोंमें क्रमशः उठती जा रही है। पहले हमलोगोंमें गर्भाधान-जैसी क्रिया भी, जो आजकल प्रायः काम-वासनाकी पूर्तिके लिये ही होती है, धार्मिक उद्देश्यसे एवं वैदिक विधिसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक की जाती थी। गर्भाधानसे लेकर जन्मतक और जन्मसे लेकर विवाहपर्यन्त हमारे बालकोंके कई संस्कार होते थे, जिनसे उनकी बुद्धि एवं चरित्रपर बड़ा शुभ प्रभाव पड़ता था। उपनयन प्रायः पाँचसे बारह वर्षतककी अवस्थामें हो जाता था। उसके बाद कम-से-कम चौबीस वर्षकी अवस्थातक प्रत्येक द्विजाति बालकको ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुके घर रहकर वेदाध्ययन एवं अन्य शास्त्रोंका अभ्यास करना पड़ता था। इस कालमें उन्हें स्त्रियोंके संसर्ग एवं चर्चासे सर्वथा दूर रखा जाता था। उसकी दिनचर्या ऐसी होती थी कि उसमें उन्हें धार्मिक कृत्य, गुरुसेवा एवं अध्ययनसे फुर्सत ही नहीं मिलती थी। जिससे उन्हें कोई बुरी बात सोचनेका भी अवसर मिले। गुरुकुलोंका वातावरण अत्यन्त पवित्र होता था। गुरु भी परम आस्तिक, परम धार्मिक, आदर्श चरित्रवान् एवं तपस्वी होते थे। वे सर्वथा निःस्पृह एवं अर्थ-कामनाशून्य होते थे। उनका जीवन अत्यन्त सादा, तितिक्षापूर्ण एवं पवित्र होता था। वे शिष्योंद्वारा लायी हुई भिक्षापर ही निर्वाह करते थे और उनकी आवश्यकताएँ अत्यन्त परिमित होती थीं। वे बस्तीसे बहुत दूर जंगलोंमें रहते थे, जहाँ किसी प्रकारकी बुराई प्रवेश नहीं कर पाती थी।

बालकोंको कठोर, संयमपूर्ण जीवन बिताना पड़ता था। शृंगार अथवा शौकीनी तो उन्हें छूतक नहीं जाती थी। शरीर अथवा बालोंमें तेल लगाना, उबटन लगाना, सिले हुए वस्त्र पहनना, स्वादिष्ट भोजन करना—यहाँतक कि छाता एवं जूतातक रखना उनके लिये मना था। वे जंगलोंसे गुरुके लिये लकड़ियाँ तोड़कर लाते थे, गुरुके पशुओंकी सेवा-सँभाल करते थे, गुरुके लिये पानी भरते थे और उनके अन्य कार्योंको सँभालते थे। इस प्रकार उनके जीवनमें सद्‌गुण, सदाचार, संयम, श्रमसहिष्णुता, पवित्रता, सेवाभाव, बड़ोंका आज्ञापालन, विनय, तितिक्षा और उपासना आदि गुण स्वाभाविक ही आ जाते थे। वे शरीर और मनसे बलवान्, दृढ़संकल्प, निर्भय एवं चरित्र और आत्मबलसे सम्पन्न होकर निकलते थे। गुरुसेवा, सद्‌गुण, सदाचार और उपासनासे उनकी बुद्धि भी बड़ी प्रखर एवं निर्मल हो जाती थी। वे गुरु-कृपासे अनायास ही बहुत थोड़े समयमें अनेक शास्त्रोंमें पारंगत

हो जाते थे और उनकी विद्या-बुद्धि-विवेकका सारा जगत् लोहा मानता था। इस प्रकार हमारे बालक ओजस्वी एवं तेजस्वी होकर ही गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते थे और इसके बाद योग्य कन्यासे धर्मपूर्वक विवाह करके धर्मपूर्वक ही जीवन व्यतीत करते थे। बचपनसे ही संयम एवं सदाचारकी शिक्षा पा लेनेके कारण वे गृहस्थाश्रममें भी बड़े ही संयम एवं पवित्रतासे रहते थे। केवल पितृऋणसे मुक्त होने तथा भगवान्‌के द्वारा प्रवर्तित सृष्टिचक्रको चलानेके उद्देश्यसे ही—काम-वासनाकी तृप्तिके लिये नहीं—ऋतुकालमें, वर्जित तिथियोंको छोड़कर अपनी विवाहिता पत्नीके साथ समागम करते थे और गर्भस्थितिके बाद पुनः ऋतुदर्शनके कालतक पत्नीसे अलग रहते थे।

समयके फेरसे परिस्थिति बिलकुल बदल गयी। आजकल तो आश्रम-व्यवस्थाके बिगड़ जानेसे समाजका सारा ढाँचा ही बदल गया है। न हमारा गृहस्थाश्रम ही आदर्श रह गया है और ब्रह्मचर्याश्रमका तो प्रायः लोप ही हो गया है। हमारा गृहस्थाश्रम आज विलासिता एवं असंयमका घर बन गया है। संस्कारोंकी प्रथा प्रायः उठ-सी गयी है। उपनयन भी कथनमात्र रह गया है। विवाहको धार्मिक बन्धन अथवा धार्मिक संस्कार माननेकी भावना भी धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। आये दिन हिंदू-जनतापर हमारे ही भाइयोंद्वारा धर्मविरोधी कानून लादनेकी चेष्टा की जाती है। प्रस्तावित हिन्दू-कोड तो—यदि हमारे दुर्भाग्यवश वह पास हो जायगा—विवाहकी पवित्रताको, जो हिंदू-समाज-व्यवस्थाकी भित्ति है, सर्वथा मटियामेट कर देगा। स्त्री-समागम सर्वथा कामबुद्धिसे किया जाता है, ऋतुकालका कोई विचार नहीं रह गया है, संयमके दर्शन भी दुर्लभ हो रहे हैं तथा गर्भस्थितिके बाद भी प्रसवकालके अत्यन्त निकटतक स्त्री-समागम प्रायः जारी रहता है। मनोंमें पवित्रताकी भावना कम रह गयी है। व्यभिचार, अनाचार बढ़ रहे हैं, जिसके कारण स्त्री-पुरुष सबकी बुद्धि प्रायः मलिन हो रही है। शास्त्रकी मर्यादा अथवा धर्मके बन्धनका विचार कम रह गया है। खान-पानकी पवित्रता तथा संयम उठता-सा जा रहा है। पवित्र-अपवित्र सभी चीजें मुँहमें डाल ली जाती हैं। जूँठनका कोई विशेष ध्यान नहीं रखा जाता। ऊँच-नीच, सदाचारी-दुराचारी, पवित्र-अपवित्र सब प्रकारके लोगोंके साथ एक ही मेजपर तथा एक ही बर्तनमें बर्फ, सोडावाटर आदि पीना और भोजन करना एवं खाते समय एक-दूसरेको स्पर्श करना तथा जूठे हाथोंसे खाद्य-सामग्रीका आदान-प्रदान तो आजकल सभ्यताकी निशानी माना जाने लगा है। अभक्ष्य भक्षणसे भी ग्लानि उठती जा रही है। झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, घूसखोरी बढ़ रही है। प्रायः किसी भी क्षेत्रमें घूसके बिना काम निकालना कठिन हो रहा है। हिंसाकी ओरसे उदासीनता बढ़ रही है। इन सबका परिणाम यह हुआ है कि हमारे विचार दूषित हो गये हैं, बुद्धि मलिन हो गयी है और धार्मिक भावना क्रमशः नष्ट होती जा रही है। ऐसी दशामें हमारे बालक यदि बिगड़ें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

इधर हमारे स्कूलों एवं कॉलेजोंका वातावरण भी दिनोंदिन बिगड़ता जा रहा है। ऐसा होना भी स्वाभाविक ही है। स्कूलोंके प्रबन्धक तथा शिक्षक भी तो हमीं लोग हैं और उनमें शिक्षा प्राप्त करनेवाले बालक हमारी ही संतान हैं। ऐसी दशामें उनका सुधार कैसे हो। पहलेकी भाँति आजकलके अधिकांश शिक्षकोंमें न तो त्याग और तितिक्षा है, न संयम और सदाचार है, न सादगी और पवित्रता है। धार्मिक भावना, आस्तिक बुद्धि एवं नैतिक बलका भी प्रायः अभाव देखा जाता है। छात्रोंके सामने अध्यापक बीड़ी, सिगरेट पीनेमें नहीं हिचकते, नाटक-सिनेमाओंमें उन्हें साथ लेकर जाते हैं तथा उनके साथ निःसंकोच हँसी-मजाक करते पाये जाते हैं। ऐसी दशामें बालकोंपर उनका अच्छा प्रभाव कैसे पड़े। इधर बालकोंमें हमारी देखा-देखी शृंगारकी भावना बचपनसे ही घर कर लेती है। हम स्वयं भी अपने बालकोंको अच्छे-से-अच्छा सजा हुआ देखना चाहते हैं। सादगी, संयम और तितिक्षासे उन्हें कोसों दूर रखा जाता है। नाटक-सिनेमा, क्लब आदिका भी उनपर अत्यन्त अवांछनीय प्रभाव पड़ रहा है।

इन सब बुराइयोंसे बचनेके लिये हमें सर्वप्रथम स्वयं संयमी एवं सदाचारी बनना होगा। गर्भाधानसे लेकर बच्चा पैदा होनेतक पिता-माता दोनोंको बड़े संयमसे रहना चाहिये। माताको विशेषरूपसे पवित्रताका ध्यान रखना चाहिये। गर्भिणी अवस्थामें स्त्रीके साथ समागम शारीरिक एवं नैतिक—सभी दृष्टियोंसे हानिकारक है। उसका गर्भस्थ शिशुपर बड़ा ही अवांछनीय प्रभाव पड़ता है। माताको जबतक बालक पेटमें रहे, बड़े ही संयम एवं पवित्रतासे रहना चाहिये। भोजन शुद्ध और सात्त्विक हो—इसका पूरा ध्यान रखना चाहिये। चित्तको सदा प्रसन्न एवं सुन्दर

विचारोंसे पूर्ण रखना चाहिये। गंदे विचार एवं गंदे वातावरणसे सर्वथा दूर रहना चाहिये। अच्छे ग्रन्थोंका अध्ययन एवं श्रवण करना चाहिये, आदर्श महापुरुषोंकी जीवनियाँ पढ़नी-सुननी चाहिये। प्रह्लादकी माता प्रह्लादकी गर्भावस्थामें देवर्षि नारदके आश्रममें तथा उन्हींकी देख-रेखमें रही थी। इसीका परिणाम यह था कि उसकी कोखसे प्रह्लाद-जैसा अनुपम भक्त पैदा हुआ। नेपोलियन बोनापार्टका युद्धक्षेत्रमें ही जन्म हुआ था। इन सब उदाहरणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि गर्भस्थ शिशुपर हम जैसा चाहें वैसा प्रभाव डाल सकते हैं।

बालकके जन्मके बाद भी हमें अपनी चेष्टाओंका पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये। हमारे द्वारा ऐसी कोई भी क्रिया नहीं होनी चाहिये, जिसका बालकपर दूषित प्रभाव पड़े। अत्यन्त छोटे बालकोंके सामने भी हमें कभी किसी प्रकारकी अश्लील और गंदी चेष्टा नहीं करनी चाहिये। इस बातका भी पूरा ध्यान रखना चाहिये कि हमारी कोई भी कामचेष्टा बालकोंकी जानकारीमें न हो। गंदे चित्र अथवा गंदा साहित्य कभी बालकोंके हाथमें न जाय—इस विषयमें पूरी सतर्कता रहनी चाहिये। उनके सामने ऐसी कोई चर्चा भी नहीं होनी चाहिये, जिससे उनमें कामभाव जाग्रत् हो अथवा कामविषयक जिज्ञासा उत्पन्न हो। खेलमें भी उनके गुप्त इन्द्रियोंका स्पर्श नहीं करना चाहिये। नौकरोंको भी इस विषयमें सावधान कर देना चाहिये। बल्कि जहाँतक हो सके, बालकोंकी देख-रेखका भार अपने ही ऊपर रखना चाहिये, उन्हें नौकरोंके हाथमें देकर सर्वथा निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिये। आजकल बड़े और शिक्षित घरानोंमें प्रायः बालकोंको विदेशी नर्सोंके हाथमें सौंप दिया जाता है, जिससे उनमें बचपनसे ही विदेशी भाव घर कर लेते हैं और वे मातृस्नेहसे वंचित कर दिये जाते हैं। इससे माताओंमें मातृत्वकी भावना जाती रहती है। जहाँतक हो सके, इसका पूरा ध्यान रखना चाहिये कि बच्चोंमें श्रृंगारकी भावना जाग्रत् न हो। इसके लिये हमें स्वयं सजावटसे दूर रहना होगा। बालकोंको साफ-सुथरा अवश्य रखना चाहिये, परन्तु सजानेकी भावना नहीं होनी चाहिये। सद्गुण सदाचार ही हमारा वास्तविक श्रृंगार होना चाहिये। हमारी संतान गुणवान्, चरित्रवान् एवं बलवान् बने—इसीकी चेष्टा हमें करनी चाहिये। बालकोंको अधिक मिठाई, खटाई तथा मिर्च आदि उत्तेजक पदार्थोंसे भी दूर रखना चाहिये। मांसाहार तो शारीरिक एवं धार्मिक सभी दृष्टियोंसे हानिकारक और अप्राकृत है ही; लहसुन, प्याज, चाय, काफी, तम्बाकू, पान, बीड़ी, सिगरेट आदिका सेवन भी हानिकारक है। परंतु अपनी संतानको इन सबसे अलग रखनेके लिये हमें भी इन सबका त्याग करना होगा। बालकोंका जीवन पवित्र बने—इसके लिये हमें बड़े-से-बड़े त्यागके लिये भी प्रस्तुत रहना चाहिये। बालकोंका जीवन नियमित बने—इसकी भी हमें पूरी चेष्टा करनी चाहिये। उनमें प्रारम्भसे ही सूर्योदयसे पूर्व उठने, उठते ही शौचसे निवृत्त होने तथा सर्दीसे बचते हुए यथासम्भव बारहों महीने ताजे जलसे स्नान करनेकी आदत डालनी चाहिये। लघुशंकाके बाद मूत्रेन्द्रियको ठंडे जलसे धोनेका अभ्यास भी डालना सभी दृष्टियोंसे अच्छा है। बालकोंको कब्जकी शिकायत न हो—इसका पूरा ध्यान रखना चाहिये। कब्जसे मूत्रेन्द्रियमें उत्तेजना आती है और उससे बालक कई प्रकारकी कुटेवोंके शिकार बन जाते हैं, बालकोंका भोजन सदा शुद्ध एवं सात्त्विक होना चाहिये; उसमें परिस्थितिके अनुसार दूधकी मात्रा अधिक होनी चाहिये तथा अन्न एवं जलकी मात्रा नियमित होनी चाहिये। उन्हें भोजन आदि समयपर ही दिया जाना चाहिये और दावतों आदिमें तथा खेल-तमाशों एवं ब्याह-शादी आदिमें यथासम्भव नहीं भेजना चाहिये; क्योंकि ऐसे अवसरोंपर हमलोगोंके यहाँ प्रायः सभी प्रकारके असंयम बरते जाते हैं, जिनका कोमलमति बालकोंपर बड़ा ही अवांछनीय प्रभाव पड़ता है।

बालकोंकी दिनचर्यापर तथा वे किस समय कहाँ जाते और किन-किनसे मिलते हैं तथा किस-किसके सम्पर्कमें आते हैं—इसपर भी पूरा नियन्त्रण एवं देख-रेख रहनी चाहिये। बालकोंको स्वतन्त्र छोड़ना उनका अनिष्ट करना—उन्हें सर्वथा उच्छृंखल बना देना है। उन्हें सदा-सर्वदा अपनी दृष्टिमें रखना चाहिये और किसी भी प्रकारका अनिष्ट प्रभाव उनपर न पड़े, इसका पूरा ध्यान रखना चाहिये। वे किस प्रकार उठते-बैठते हैं, किस समय किस प्रकार चलते हैं, किस प्रकार क्या खाते-पीते हैं, किस प्रकार सोते हैं—इन सभी बातोंपर हमें पूरी दृष्टि रखनी चाहिये। जबतक उनकी बुद्धि परिपक्व न हो जाय, जबतक उन्हें अपने हिताहितका ज्ञान न हो जाय, जबतक उनका विवाह न हो जाय, बल्कि उसके बाद भी उनके चरित्रपर पूरी दृष्टि रखनी चाहिये, और उनमें किसी प्रकारका दोष

दीखनेपर उन्हें तुरंत सतर्क कर देना चाहिये, जिसमें वह दोष बढ़ने न पाये। स्कूलों एवं कॉलेजोंके संचालकों एवं प्रबन्धकोंको, विशेषकर अध्यापकों एवं छात्रावासके अध्यक्षोंको भी माता-पिताकी भाँति ही अपनी जिम्मेवारीको पूरी तरहसे समझते हुए इस विषयमें पूरी सतर्कता रखनी चाहिये और स्वयं भी आदर्श जीवन बितानेकी चेष्टा करनी चाहिये, जिससे बालकोंपर उनका अच्छा प्रभाव पड़े। स्कूलों, कॉलेजों एवं विद्यालयोंमें जहाँतक सम्भव हो, चरित्रवान् व्यक्ति ही अध्यापक आदिके पदोंपर रखे जायँ, केवल उनकी शिक्षासम्बन्धी योग्यतापर ही संतोष न कर लिया जाय। विशेषकर मुख्याध्यापक तथा छात्रावासोंके अध्यक्ष तो चरित्रवान् होने ही चाहिये। शिक्षकोंको भी, जहाँतक हो सके, सादा जीवन व्यतीत करना चाहिये और स्वाद-शौकीनीसे सर्वथा दूर रहना चाहिये। पान, तम्बाकू, बीड़ी आदिका भूलकर भी व्यवहार नहीं करना चाहिये और चाय-कॉफी आदिसे भी परहेज रखना चाहिये। ऋषिकुल, आश्रमों, स्कूलों तथा कॉलेजोंमें धार्मिक एवं नैतिक शिक्षाका भी अवश्य प्रबन्ध होना चाहिये और हमारे बालक बुद्धिमान् एवं विद्वान् होनेके साथ-साथ ओजस्वी, तेजस्वी, सच्चरित्र, परम आस्तिक एवं धर्मभीरु भी बनें, इसकी पूरी चेष्टा होनी चाहिये। इन सब बातोंपर यदि सामूहिकरूपसे ध्यान दिया जाकर पूरी तत्परताके साथ इनका पालन करनेकी चेष्टा की जाय तो आशा है, हमारे बालकोंका बहुत अंशोंमें सुधार हो सकता है और वे आगे चलकर हमारे राष्ट्र एवं समाजकी नौकाके सुनिपुण कर्णधार बनकर भारतका मुख उज्ज्वल कर सकते हैं। भगवान् सदा हमारे साथ हैं, उन्हें सहायक मानकर यदि इस दिशामें समुचित प्रयत्न किया जायगा तो सफलता निश्चित है। अतः हम सबको मिलकर इस दिशामें संघटित प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।

छः प्रकारकी महत्त्वपूर्ण चार-चार बातें

चार प्रकारके मनुष्य

संसारमें चार प्रकारके मनुष्य होते हैं—उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ और नीच।

१-उत्तम मनुष्य वे हैं, जो अपने साथ बुराई करनेवालोंके प्रति भी बुराई न करके सदा भलाई ही करते हैं। ये मनुष्य प्रथम श्रेणीके हैं।

२-दूसरी श्रेणीके मध्यम मनुष्य वे हैं, जो अपने प्रति बुराई करनेवालोंके साथ न तो भलाई करते हैं और न बुराई ही। उनका निश्चय होता है कि हमारा जो कुछ अनिष्ट हुआ है या हो रहा है, इसमें प्रारब्ध ही कारण है। किसीका कोई दोष नहीं। वे तो बेचारे केवल निमित्तमात्र हैं।

३-तीसरी श्रेणीके वे कनिष्ठ मनुष्य हैं, जो अपने प्रति बुराई करनेवालोंके साथ बुराई करते हैं और उनसे बदला लेनेका प्रयत्न करते हैं।

इन प्रतिहिंसापरायण लोगोंमें भी चार प्रकार होते हैं। प्रथम, जो बुराई करनेवालेके साथ बदलेमें तुरन्त उतनी ही या उससे न्यूनाधिक बुराई करके बदला ले लेते हैं। द्वितीय, जो अनिष्ट करनेवालेके साथ स्वयं अनिष्ट न करके अदालतमें दावा कर देते हैं। तृतीय, जो अदालतमें न जाकर पंचोंके द्वारा दण्ड दिलवाते हैं और चतुर्थ, पंचोंसे कुछ भी न कहकर अनिष्ट करनेवालेको समुचित दण्ड मिले, इसके लिये परमात्मासे प्रार्थना करते हैं। ये चारों ही कनिष्ठ श्रेणीके मनुष्य होते हैं।

४-चतुर्थ श्रेणीके नीच मनुष्य वे हैं, जो भलाई करनेवालोंके साथ भी बुराई ही किया करते हैं। ऐसे लोगोंके द्वारा किसीका भला होना सम्भव नहीं।

उपर्युक्त चारों श्रेणियोंके मनुष्योंके साथ अपना भला चाहनेवाले पुरुषको सदा सद्व्यवहार ही करना चाहिये।

चार याद रखने और भूलनेकी बातें

चार बातोंमें दो सदा याद रखनेकी हैं और दो सर्वथा भुला देनेकी।

याद रखनेयोग्य बातोंमें पहली बात है—(१) 'किसीके द्वारा अपने प्रति किया गया कोई भी उपकार।' दूसरेका उपकार याद रखनेसे उसके प्रति मनमें पवित्र कृतज्ञताके भाव आते हैं, नम्रता आती है, उसके हितके विचार और कर्म होते हैं, जिससे हम उसके ऋणसे मुक्त हो जाते हैं और परिणाममें हमारा हित एवं कल्याण होता है। दूसरी याद रखनेयोग्य बात है—(२) 'अपने द्वारा किया गया किसीका अपकार।' इसकी स्मृतिसे चित्तमें पश्चात्ताप होता है, दुबारा वैसी भूल न करनेके लिये प्रेरणा मिलती है और उस व्यक्तिको सुख पहुँचानेवाले हितकारक विचार और

कार्य करके उससे और परमात्मासे क्षमा प्राप्त करनेका प्रयत्न होता है। यही इसका प्रायश्चित्त है, इससे पापका नाश होकर कल्याणकी प्राप्ति होती है।

भूलनेयोग्य दो बातोंमें पहली बात है—(१) 'अपने द्वारा किया गया किसीका उपकार।' इसकी स्मृतिसे चित्तमें अभिमान उत्पन्न होता है, 'मैं उपकारक हूँ' और 'वह उपकार प्राप्त करनेवाला है।' इस प्रकार अपनेमें श्रेष्ठबुद्धि और उसमें हीनबुद्धि होती है, जिससे उसके तिरस्कारकी आशंका रहती है; और यदि कभी उसके आचरणमें कृतज्ञता नहीं दीखती तो अपने मनमें दुःख और उसके प्रति रोष भी हो सकता है। साथ ही उपकारकी स्मृति यदि प्रमादवश कहीं उसे लोगोंमें कहलवा देती है तो उस उपकारका पुण्य नष्ट हो जाता है। अतएव अभिमानसे बचने और पुण्यकी रक्षा करनेके लिये उसे भुला देना चाहिये। दूसरी भुला देनेयोग्य बात है—(२) 'दूसरेके द्वारा किया गया अपना अपकार।' इसे याद रखनेसे मनमें द्वेष, वैर और प्रतिहिंसाकी वृत्तियाँ पैदा होती हैं और उनके कारण अनिष्टाचरण और पाप होनेकी सम्भावना रहती है। द्वेष और वैरके कारणसे चित्तमें सदा जलन रहती है और कदाचित् वैरजनित कोई क्रिया हो जाय तो नयी-नयी जलन पैदा करनेवाले परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं, इसलिये इसे भी भुला देना चाहिये।

चार प्रकारकी मुक्ति

चार प्रकारकी मुक्तियाँ हैं—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। सालोक्य—भगवान्‌के दिव्यलोकमें रहना; सामीप्य—भगवान्‌के समीप रहना; सारूप्य—भगवान्‌के रूपके समान रूपका प्राप्त करना और सायुज्य—भगवान्‌के रूपमें मिल जाना।

चार प्रकारके मुक्त पुरुष

मुक्त पुरुष भी चार प्रकारके होते हैं—

(१) जो मुक्ति ग्रहण करते हैं और संसारका काम भी करते हैं। उनके सांसारिक कामका अभिप्राय है—भूले-भटके लोगोंको अपने विशुद्ध आचरणोंका आदर्श सामने रखकर और भगवद्भक्तिका उपदेश देकर मुक्तिके सन्मार्गपर लगा देना।

(२) जो मुक्तिके अधिकारी होकर भी मुक्ति नहीं लेते और भक्ति ही चाहते हैं। साथ ही लोगोंको भगवद्भक्तिमें लगानेका काम भी करते रहते हैं।

(३) जो न तो मुक्ति ग्रहण करते हैं और न उपदेशादि कार्य ही करते हैं। निरन्तर एकान्त भावराज्यमें रहकर अपने प्रियतम भगवान्‌की प्रेमभावसे अनन्य भक्ति ही करते रहते हैं। '**मुक्ति निरादर भगति लुभाने।**'

(४) जो मुक्त होकर नित्य उपरत अवस्थामें स्थित रहते हैं; किसीके उद्धारादिकी कोई चेष्टा नहीं करते।

चार प्रकारके स्त्री-पुरुष

संसारमें साधारण स्त्री-पुरुष भी चार श्रेणीके होते हैं। प्रथम वे, जो यहाँ भी आनन्दमें हैं और परलोकमें भी आनन्दमें रहेंगे। दूसरे वे, जिन्हें यहाँ भी दुःख है और परलोकमें भी दुःख ही भोगना पड़ेगा। तीसरे वे, जिन्हें यहाँ तो सुख है; परंतु परलोकमें दुःख मिलेगा और चौथे वे, जिन्हें यहाँ दुःख है; किंतु जो परलोकमें सुखके भागी होंगे। इनकी विशेष व्याख्या यों समझनी चाहिये।

१-मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके परलोक और ईश्वरमें विश्वास करते हुए जो लोग प्रेमपूर्वक भजन, ध्यान और सत्संग करते हैं, वे यहाँ भी सुखी रहते हैं और परलोकमें भी परम सुख प्राप्त करते हैं। यहाँ तो उन्हें भजन, ध्यान और सत्संगसे प्रसन्नता एवं शान्ति मिलती है और देहत्यागके बाद भजनके फलस्वरूप वे परमगतिको पाकर परम शान्ति और परम आनन्दको प्राप्त करते हैं।

२-राग-द्वेषयुक्त, काम-क्रोध-लोभ आदिके चंगुलमें फँसे हुए कलह-परायण लोग, जो निरन्तर परस्पर वैर-विद्वेष, लड़ाई-झगड़े, गाली-गलौज, मार-पीट और मुकदमेबाजी आदिमें स्वभावसे ही लगे रहते हैं। ऐसे लोग यहाँ भी दुःखी रहते हैं और परलोकमें भी दुःखको ही प्राप्त होंगे; क्योंकि यहाँ दिन-रात वैर-विरोधके कारण उन्हें जलते ही बीतता है और देह-त्यागके बाद वे इन पापोंके फलस्वरूप दुर्गतिको पाकर नाना प्रकारकी विविध योनिगत पीड़ाओं और नारकीय यन्त्रणाओंको भोगते हैं।

३-जिन्हें प्रारब्धके फलस्वरूप यहाँ नाना प्रकारके भोग-सुख प्राप्त हैं; परन्तु जो भोगासक्तिमें फँसकर सर्वदा कामोपभोगकी प्राप्तिके लिये झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार आदिमें लगे रहते हैं, वे यहाँ तो प्रारब्धजनित सुख भोगते हैं; परंतु परलोकमें उनकी दुर्गति होगी और वे महान् दुःखको प्राप्त करेंगे।

४-जो यहाँ निष्कामभावसे यज्ञ-दान, जप-ध्यान, तीर्थ-पर्व, व्रत-उपवास, सेवा-संयम और त्याग-तप

आदिमें लगे रहकर कष्ट सहते हैं और लोकदृष्टिमें दु:खी माने जाते हैं; परंतु इन साधनों और तपस्याओंके फलस्वरूप देहत्यागके बाद वे परम गतिको पाकर सदाके लिये परम शान्ति और परम आत्यन्तिक सुखको प्राप्त करेंगे।

चार प्रकारके भक्त

भक्त भी चार प्रकारके होते हैं। प्रथम, जो स्त्री, पुत्र, धन, भवन आदि भोगपदार्थोंके लिये भगवान्‌का भजन करते हैं—जैसे ध्रुव आदि। ये अर्थार्थी भक्त हैं। द्वितीय, जो भोगपदार्थोंके लिये तो भजन नहीं करते परंतु लौकिक दु:खोंकी निवृत्तिके लिये भगवान्‌का भजन करते हैं—जैसे द्रौपदी, गजेन्द्र आदि। ये आर्त भक्त हैं। तृतीय, वे जिज्ञासु भक्त हैं, जो बड़ी-से-बड़ी विपत्तिमें भी भगवान्‌से कुछ नहीं चाहते, केवल भगवत्तत्त्व जाननेके लिये निरन्तर भजन, ध्यान, सत्संग करते रहते हैं—जैसे उद्धव आदि। और चतुर्थ, वे निष्काम भक्त हैं, जो मुक्तिकी भी इच्छा नहीं करते—जैसे प्रह्लाद आदि।

प्रह्लादमें निष्कामभाव चरम सीमाको पहुँचा हुआ था। भगवान् श्रीनृसिंहदेवने प्रगट होकर जब प्रह्लादसे बार-बार बड़े ही वात्सल्य भावसे वर माँगनेके लिये कहा, तब प्रह्लादजी बोले—'भगवन्! मेरे मनमें कुछ भी इच्छा प्रतीत नहीं होती, पर जब आप बार-बार कह रहे हैं तब पता चलता है कि मेरे मनमें कोई छिपी इच्छा होगी। अतएव हे दयामय! आप मुझपर प्रसन्न हैं तो यही वर दीजिये कि यदि कोई छिपी वासना हो तो उसका सर्वथा नाश हो जाय।' यही निष्काम भक्ति है।

श्रीभगवान्‌ने गीता अध्याय ७, श्लोक १६ में उपर्युक्त चार प्रकारके भक्तोंका वर्णन किया है। अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—इन सबमें ज्ञानी भगवान्‌को अति प्रिय है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७। १७)

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

उपर्युक्त छः तरहके चार-चार प्रकारोंको समझकर यदि लोग इससे लाभ उठावेंगे तो मैं अपने प्रति उनकी कृपा समझूँगा।

पारमार्थिक दृष्टिसे मनुष्योंकी विभिन्न श्रेणियाँ

श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

(४। ४०)

'विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्यके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है।'

भगवान्‌के उपर्युक्त वचनसे ऐसा प्रतीत होता है कि विवेक एवं श्रद्धासे रहित संशयी पुरुष ही परमार्थके मार्गमें सबसे नीचे है; क्योंकि उपर्युक्त श्लोकके अनुसार वे परमार्थके मार्गसे भ्रष्ट हो जाते हैं, उसपर चल ही नहीं पाते। जो मार्गपर ही नहीं हैं, उनके लक्ष्य स्थानतक पहुँचनेकी तो सम्भावना ही कैसे हो सकती है। ऐसे पुरुषोंके लिये भगवान्‌ने यहाँतक कह दिया है कि उनकी इस लोकमें भी उन्नति नहीं होती, फिर परलोककी तो बात ही क्या है; और वे सब प्रकारके सुखोंसे वंचित रहते हैं।

जिसमें हरेक विषयको स्वतन्त्ररूपसे सोचने और उसका विवेचन करनेकी सामर्थ्य है और जिसकी वेद-शास्त्र एवं महापुरुषोंके वचनोंमें श्रद्धा है, वह तो इनकी सहायतासे अर्जुनकी भाँति अपने संशयका सर्वथा नाश करके कर्तव्यपरायण हो सकता है और अन्तमें कृतकृत्य होकर मनुष्यजन्मको सफल बना सकता है। तथा जिसमें स्वयं विवेचन करनेकी शक्ति नहीं है, ऐसा अज्ञ मनुष्य भी श्रद्धालु होनेपर अपनी श्रद्धाके कारण महापुरुषोंके कथनानुसार संशयरहित होकर साधनपरायण हो सकता है और उन महापुरुषोंकी कृपासे उसका भी कल्याण हो सकता है (गीता १३। २५), किन्तु इसके विपरीत जो विवेक एवं श्रद्धा—दोनोंसे शून्य हैं तथा साथ-साथ संशयग्रस्त भी हैं, उनका उद्धार होना कठिन है; क्योंकि ऐसे लोगोंका संशय कौन दूर करे और जबतक उनकी बुद्धिमें संशय विद्यमान है, तबतक वे लौकिक अथवा

पारमार्थिक किसी भी साधनमें तत्परतापूर्वक नहीं लग सकते। उन्हें पद-पदपर शंका बनी रहती है, वे किसी एक अडिग निश्चयपर नहीं पहुँच सकते। इसलिये भगवान्‌ने ऐसे लोगोंके लिये कहा है कि उनका न तो यह लोक बनता है, न परलोक और वे सब प्रकारके सुखोंसे वंचित रहते हैं। अज्ञताके कारण वे वेद-शास्त्र एवं महापुरुषोंके वचनोंको तथा उनके बतलाये हुए साधनोंको ठीक-ठीक समझ नहीं पाते और जो कुछ उनकी समझमें आता है, उसमें विश्वास न होनेके कारण वे उसे काममें नहीं ला सकते। इस प्रकार न तो अपने कर्तव्यका निश्चय कर पाते हैं और न उसका पालन ही कर सकते हैं। अतः वे अपने मनुष्य-जीवनको व्यर्थ ही खो बैठते हैं और उससे हो सकनेवाले परम लाभसे सर्वथा वंचित रह जाते हैं।

ऐसे संशयात्मा पुरुषोंकी अपेक्षा भी वे पुरुष नीचे हैं, जो झूठ, कपट, चोरी, हिंसा तथा व्यभिचार आदि पापोंमें लगे हुए हैं। बुद्धिहीन, अश्रद्धालु, संशयी पुरुष भले ही इस लोक एवं परलोकसे तथा भोग-सुखोंसे भ्रष्ट हो जाते हैं; किन्तु यदि वे पापमें प्रवृत्त नहीं होते तो कम-से-कम नरकमें तो नहीं जाते। अज्ञ पुरुष जैसे धर्माधर्मके विचारसे शून्य होते हैं, उसी प्रकार पाप करनेकी कलासे भी अपरिचित रहते हैं, और श्रद्धालु होनेपर तो श्रद्धा उन्हें पापसे बचाती रहती है। इसी प्रकार जो श्रद्धारहित होनेपर भी विवेक सम्पन्न हैं, वे भी विवेक-बलसे पापोंसे बचे रहते हैं। विवेकहीन अश्रद्धालु संशयात्मा भी जिस प्रकार धर्मके विषयमें संदेहयुक्त रहते हैं, उसी प्रकार पापमें भी उनकी निश्चयपूर्वक प्रवृत्ति नहीं होती। किन्तु जिनका निश्चय पापपूर्ण है, जो बुद्धिमान् होकर भी अपनी बुद्धिका नये-नये पापोंके बटोरनेमें ही प्रयोग करते हैं तथा जिनकी पापोंमें ही श्रद्धा है अर्थात् जिनकी यह धारणा है कि पाप किये बिना संसारके व्यवहार चल ही नहीं सकते, पापी मनुष्य ही संसारमें फलते-फूलते हैं तथा पापसे ही धन और सांसारिक सुख-प्राप्त होते हैं, ऐसे पापनिश्चयी पुरुषोंको तो बार-बार नरकोंकी ही प्राप्ति होती है। काम, क्रोध और लोभ ही पापके मूल हैं और इन तीनोंको भगवान्‌ने नरकके द्वार बताया है (गीता १६। २१)। इन तीनों तमोद्वारोंसे भलीभाँति मुक्त होनेपर ही मनुष्य कल्याण मार्गमें अग्रसर होकर परमगति प्राप्त कर सकते हैं (गीता १६। २२)। फिर जो रात-दिन पापोंमें ही रचे-पचे रहते हैं वे तो कल्याण मार्गमें प्रवृत्त ही कैसे हो सकते हैं। ऐसे पापाचारी एवं पापपरायण पुरुषोंके लिये तो भगवान् सदा कालरूप होकर दण्ड धारण किये रहते हैं और उन्हें बार-बार आसुरी योनियोंमें डालते हैं; और बार-बार आसुरी योनियोंमें गिरकर वे अन्तमें अत्यन्त अधोगतिको प्राप्त होते हैं (गीता १६। १९-२०)।

पापियोंमें भी सबसे बड़े पापी नास्तिक अर्थात् वेद-शास्त्र, धर्म, ईश्वर, पाप-पुण्य, परलोक एवं पुनर्जन्म आदिको न मानकर उनका विरोध करनेवाले हैं। पापियोंका भी यदि वे नास्तिक नहीं हैं तो कभी-न-कभी भगवान् अथवा उनके भक्तोंकी, संतोंकी अहैतुकी दयासे उद्धार हो सकता है। भगवान् तो पापहारी एवं पतितपावन प्रसिद्ध ही हैं। अबतक उनके जनोंके हाथों न जाने कितने अनगिनत पापियोंका उद्धार हो चुका है। बड़े-से-बड़ा पापी भी यदि भगवान्‌के शरण हो जाता है तो तत्काल उसके पाप नष्ट हो जाते हैं। रामचरितमानसमें भगवान्‌के वाक्य हैं—*'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥'* भगवान्‌के शरण हो जानेपर जीवके एक-दो जन्मोंके नहीं, करोड़ों जन्मोंके पाप उसी क्षण वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्यके सामने आते ही अन्धकार-राशि नष्ट हो जाती है अथवा अग्निका स्पर्श पाते ही रूईका बड़े-से-बड़ा ढेर तुरन्त भस्म हो जाता है। ऐसे पापियोंके लिये गीतामें भगवान्‌की समाश्वासन वाणी है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

(९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है (अर्थात् मेरी शरणमें चला आता है) तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है।'

यही नहीं, ज्ञानके प्रकरणमें भी भगवान् कहते हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

(गीता ४। ३६)

'यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप

करनेवाला है; तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निस्सन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जायगा।'

उपर्युक्त वचनोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि महान्-से-महान् पापीका भी उद्धार सम्भव है।

परन्तु ईश्वरविरोधी नास्तिकोंका उद्धार होना बहुत ही कठिन है। जो उद्धार चाहते ही नहीं, बल्कि जिनका उद्धारमें विश्वास ही नहीं है, उनका उद्धार कैसे हो; क्योंकि वे तो एक प्रकारसे परमात्माके राज्यके विद्रोही हैं। इस बातको समझनेके लिये आगेकी पंक्तियोंपर ध्यान देना चाहिये। जो सरकारी कानूनको नहीं मानते अर्थात् चोरी-डकैती आदि करते हैं, वे राज्यके द्वारा दण्डनीय होते हैं। परन्तु चोर-डाकुओंसे भी अधिक सरकारके अप्रिय वे हैं, जो विद्रोही हैं—सरकारको हटाना चाहते हैं। बस, इसी तरह भगवान्‌के दरबारमें भी पापीकी अपेक्षा भी अधिक नीच वे हैं, जो ईश्वरको तथा धर्मको मटियामेट कर देना चाहते हैं। वास्तवमें न तो ईश्वरकी सत्ता किसीके मिटाये मिट सकती है और न ईश्वरका कानून ही। यदि ईश्वर मिटें तो ईश्वरका कानून मिटे, क्योंकि वह कानून तो ईश्वरके साथ ही है। ईश्वरका कानून कहें या धर्म कहें, दोनों एक ही वस्तु है। यहाँ धर्मसे हमारा तात्पर्य ईश्वरके चलाये धर्मसे है। अतः यह निश्चय है कि ईश्वर और उसका चलाया हुआ धर्म—दोनों कभी मिट नहीं सकते; क्योंकि वे सनातन हैं।

ईश्वरका चलाया हुआ धर्म ईश्वरसे अभिन्न है—इस बातको गीतामें स्वयं भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे स्वीकार किया है, वे कहते हैं—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(१४। २७)

'क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ।'

शाश्वत धर्म ही सनातन धर्म है। सच्चिदानन्दघन ब्रह्म, अमृत और ऐकान्तिक—अक्षय सुख तो एक ही वस्तु है। यद्यपि धर्मका सम्बन्ध आचरणसे होनेके कारण, वह इनसे कुछ विलक्षण है, फिर भी उसे भगवान्‌ने अपने ही आश्रयपर टिका हुआ—अपना ही स्वरूप बतलाया है। धर्म ईश्वरकी ही कला अथवा शक्ति है और शक्ति शक्तिमान्‌से अभिन्न होती है। इसी बातको लक्ष्यमें रखकर ऊपर यह कहा गया है कि ईश्वर और ईश्वरका बनाया हुआ कानून अथवा धर्म साथ-साथ रहते हैं और इसीलिये यह कहा गया है कि ईश्वर और धर्मका कभी विनाश नहीं हो सकता, चाहे उनकी मान्यता भले ही कम हो जाय।

इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि कोई व्यक्ति ईश्वरको गाली दे कि 'तेरा सत्यानाश हो' तो क्या इस प्रकारकी गालियाँ सुनकर आस्तिकोंको नाराज नहीं होना चाहिये? यहाँ विचार करनेका विषय यह है कि क्या इस प्रकार कहनेसे ईश्वरका विनाश हो सकता है? नहीं, कदापि नहीं। यदि कोई हमारे पिताको गाली दे कि 'तुम्हारा खोज मिट जाय' तो क्या इससे उनका विनाश हो जाता है? मृत्यु तो दूर रही, इससे उनका बाल भी बाँका नहीं होता। हाँ, यह बात हमें अप्रिय अवश्य लगती है। बस, इसी प्रकार ईश्वरको गाली देनेसे, ईश्वरका बहिष्कार करनेसे उसकी सत्ता नहीं मिटती, उसका बहिष्कार नहीं होता। हाँ, यह बात हमें खटकती अवश्य है। संसारभरके मनुष्य एकत्र होकर सर्वसम्मतिसे चाहे ईश्वरको असिद्ध कर दें, परन्तु उनके ऐसा करनेसे क्या ईश्वर असिद्ध हो सकते हैं? वे तो उनकी इस चेष्टाको देखकर मन-ही-मन हँसेंगे और सोचेंगे कि ये लोग कितने नादान हैं जो मुझे अन्यथा सिद्ध करनेके प्रयत्नमें भी नहीं चूकते। ऐसे लोग यह नहीं समझते कि उनका अपना अस्तित्व किसके आधारपर है। अस्तु,

अब हमें यह देखना है कि चोरी, हिंसा और व्यभिचार आदि दुष्कर्मोंमें लगे हुए महान् पापियोंसे भी ईश्वरविरोधी नास्तिक कैसे नीचे हैं। बात यह है कि जो ईश्वरको और उसके कानूनको, पाप-पुण्यको तथा पुनर्जन्म एवं परलोक आदिको नहीं मानेगा, वह पापसे कभी बच नहीं सकता, उससे चोरी आदि पाप अपने-आप होंगे। यदि इसपर कोई यह कहे कि हम ऐसे मनुष्योंको जानते हैं, जो ईश्वरको तो नहीं मानते परन्तु पाप नहीं करते, तो हम उनसे यह कहेंगे कि उनकी यह बात सर्वथा भ्रमपूर्ण है। उन्हें यह सोचना चाहिये कि यदि ईश्वर, धर्म और परलोक आदि कुछ भी नहीं हैं तो पुण्य और पापकी परिभाषा ही क्या रह जायगी? फिर सद्‌गुण और सदाचार किस आधारपर टिकेंगे? तथा मनुष्य दुर्गुण और दुराचारसे किस कारण बचा रह सकेगा? पाप-पुण्यका दण्ड—पारितोषिक तो तभी सिद्ध होगा, जब ईश्वरका बनाया कानून माना जायगा। चाहे आज कोई भले ही पापसे बचा हुआ हो, पर कल वह अवश्य

पाप करनेपर उतारू हो जायगा; क्योंकि पापसे रोकनेवाली किसी सत्ताको वह मानता ही नहीं। जो लोग इस प्रकार ईश्वर और धर्मकी सत्ताको मिटानेपर तुले हुए हैं, आगे चलकर वे ही पापके प्रचारमें सहायक होंगे। इसीलिये पाप करनेवालोंकी अपेक्षा भी वे अधिक नीच हैं। जैसे गीता पढ़नेवालोंकी अपेक्षा उसका प्रचार करनेवाले श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार पाप करनेवालोंकी अपेक्षा पापका प्रचार करनेवाले अधिक पापी हैं।

ऐसे पुरुषोंसे भी गये-गुजरे वे हैं, जो धर्माचरणसे कोसों दूर रहकर भी धार्मिकोंका बाना धारण किये रहते हैं। 'मुँहमें राम, बगलमें छुरी'—यह उक्ति इन लोगोंपर पूर्णतया चरितार्थ होती है। ईश्वरविरोधी नास्तिक तो अपनी नास्तिकताकी डोंडी पीटता है, खुल्लमखुल्ला नास्तिकताका प्रचार करता है, अतएव उसके धोखेमें कोई नहीं आ सकता। परन्तु ये धर्मध्वजी तो अपने-आपको धर्मात्मा प्रकट करके धर्मकी ओटमें पाप करते हैं और इस प्रकार जगत्को धोखा देते हैं। अतएव ये उनकी अपेक्षा भी अधिक खतरनाक होते हैं। इनके आचरणोंको देखकर लोगोंकी धर्मके प्रति आस्था हट जाती है। कहावत प्रसिद्ध है कि 'दूधका जला हुआ छाछको भी फूँक-फूँककर पीता है।' ऐसे लोगोंसे धोखा खाये हुए लोग सच्चे धार्मिकोंसे भी घृणा करने लगते हैं। ऐसे लोग ही जगत्में नास्तिकताका प्रचार कराते हैं। भगवान्ने गीतामें आसुरी सम्पत्तिके लक्षण बतलाते हुए सबसे पहले दम्भको ही गिनाया है (देखिये १६। ४)। शास्त्रोंमें लिखा है कि ऐसे पुरुषोंसे बात भी नहीं करनी चाहिये। उनका दर्शन भी हानिकर बताया गया है। जैसे उच्चकोटिके महापुरुषोंके दर्शन, स्पर्श और सम्भाषणसे महान् लाभ होता है, उसी प्रकार ऐसे पुरुषोंके संसर्गसे बड़ी हानि होती है। ऐसे पुरुषोंसे रास्तेमें यदि भेंट हो जाय तो उधरसे दृष्टि हटा लेनी चाहिये। इस प्रकार परमार्थके मार्गमें दम्भ सबसे बड़ा बाधक है और दाम्भिक अथवा धर्मध्वजी ही पारमार्थिक दृष्टिसे सबसे निम्नकोटिका माना जाना चाहिये।

यहाँतक उन लोगोंका वर्णन किया गया, जो परमार्थमार्गके विरोधी हैं और आत्मकल्याणसे कोसों दूर हैं। अब क्रमशः उन लोगोंके सम्बन्धमें विचार करना है, जो कल्याणके मार्गपर आरूढ़ हैं। इनमें सबसे निम्नकोटिके पुरुष वे हैं जो सकामी अर्थात् देवताओंकी उपासना एवं अन्य सभी कर्म सकामभावसे करनेवाले हैं। ये लोग यद्यपि अश्रद्धालुओं तथा यक्ष-राक्षसों एवं भूत-प्रेतादिकी पूजा करनेवालोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं—क्योंकि इनकी सकाम कर्म तथा देवताओंमें तो श्रद्धा है ही एवं कर्म और उपासनाके सिद्धान्तको तो ये लोग मानते ही हैं; फिर भी आत्मकल्याणकी ओरसे तो ये भी उदासीन-से ही होते हैं। ये लोग स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्तिको ही परम पुरुषार्थ मानते हैं और उनसे बढ़कर कुछ भी नहीं मानते (गीता २। ४२-४३)। परन्तु इनको मिलनेवाली वस्तु अनित्य ही होती है (गीता ७। २३)। स्वर्गादिलोक मर्त्यलोककी अपेक्षा दिव्य तथा अधिक स्थायी होनेपर भी हैं विनाशी ही। वहाँ निरतिशय सुख नहीं है और वहाँ पहुँचे हुए जीवोंको भी अवधि समाप्त हो जानेपर पुनः मर्त्यलोकमें लौट आना पड़ता है (गीता ८। १६; ९। २१)। इस प्रकार इन सकामी पुरुषोंको जन्म-मृत्युके चक्करसे छुटकारा नहीं मिलता और इनके दुःखोंका कभी अन्त नहीं होता। इसीलिये भगवान्ने स्थान-स्थानपर ऐसे लोगोंको कृपण—दीन (गीता २। ४९), अज्ञानी एवं अल्पबुद्धि (गीता ७। २०, २३) कहकर इनकी गर्हणा की है। परन्तु कामनाओंकी पूर्तिके लिये ही सही, ऐसे लोगोंके द्वारा निरन्तर शुभकर्म बनते रहनेसे क्रमशः इनका अन्तःकरण शुद्ध होकर ये निष्काम धर्मकी ओर अथवा भगवान्की ओर लग जाते हैं और इस प्रकार इन्हें कल्याणका मार्ग मिल जाता है। इसीलिये ये अश्रद्धालुओंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, यद्यपि इनकी श्रद्धा राजस होनेके कारण इन्हें सकाम कर्मोंमें ही लगाये रखती है।

सकाम-कर्मियोंकी अपेक्षा लौकिक सिद्धि प्राप्त किये हुए योगी श्रेष्ठ हैं। ये लोग लक्ष्यके कुछ समीप पहुँचकर भी सिद्धियोंके प्रलोभनमें फँसकर लक्ष्यकी ओरसे बेपरवाह हो जाते हैं और अपनेको पूर्ण मान बैठते हैं। फिर भी जब कभी ये सिद्धियोंकी असारता एवं विघ्नरूपताको हृदयंगम कर उनसे ऊपर उठनेकी चेष्टा करते हैं, तभी ये बहुत शीघ्र लक्ष्यको पा लेते हैं। इसीलिये सकाम-कर्मियोंकी अपेक्षा इन्हें श्रेष्ठ माना गया है। इनकी अपेक्षा वे श्रेष्ठ हैं, जो लौकिक अथवा पारलौकिक सुख-भोगके लिये अथवा योगसिद्धियोंके लिये सम्पूर्ण यज्ञों एवं तपोंके भोक्ता, सर्वलोकमहेश्वर भगवान्को भजते हैं। भगवान् उचित समझनेपर उनकी भोगकामना भी पूर्ण करते हैं और इस प्रकार उनके अन्तःकरणको कामनाशून्य बनाकर शीघ्र ही उन्हें अपनी अनन्य भक्ति भी प्रदान करते हैं तथा उन्हें सदाके लिये कृतार्थ कर देते हैं। भगवान्ने गीतामें भी कहा है—**'मद्भक्ता यान्ति मामपि'**

(७। २३) (मेरे भक्त अन्तमें मुझीको प्राप्त होते हैं) ऐसे सकाम भक्तोंको गीतामें अर्थार्थी भक्त कहा गया है।

अर्थार्थी भक्तोंकी अपेक्षा भगवान्‌के आर्त भक्त श्रेष्ठ हैं, जो किसी लौकिक अथवा पारलौकिक कामनाकी पूर्ति तो भगवान्‌से नहीं चाहते; किन्तु किसी प्रकारका असाधारण कष्ट आनेपर उनका धैर्य छूट जाता है और वे उस संकटसे छूटनेके लिये व्याकुल होकर भगवान्‌को पुकारते हैं—ठीक उसी प्रकार जैसे कोई निरीह, निर्बल शिशु किसी प्रकारका भय उपस्थित होनेपर माताको ही पुकारता है और बरबस उसीकी गोदकी ओर ताकता है। ग्राहसे पीड़ित गजराजकी पुकार और भरी सभामें वस्त्रहीन की जाती हुई राजरानी सती-साध्वी द्रौपदीका करुण आह्वान आर्त भक्तके ही उदाहरण हैं। आर्त भक्तोंमें भी वे श्रेष्ठ हैं जो बाहरी किसी शत्रु अथवा कष्टसे भयभीत नहीं होते; किन्तु काम-क्रोधादि भीतरी शत्रुओंसे घबराकर उनसे त्राण पानेके लिये ही भगवान्‌की शरण ग्रहण करते हैं।

आर्त भक्तोंकी अपेक्षा भी भगवान्‌के जिज्ञासु भक्त श्रेष्ठ हैं, जो भगवान्‌को किसी कामनाके लिये अथवा कष्ट-निवारणके लिये न भजकर उनका तत्त्व जाननेके लिये ही उन्हें भजते हैं। इन तीनों प्रकारके भक्तोंको भगवान्‌ने 'उदार'—श्रेष्ठ बतलाया है (गीता ७। १८)। भगवान् ऐसे भक्तोंके भी ऋणी बन जाते हैं। भगवान्‌ने द्रौपदीके सम्बन्धमें कहा था कि 'द्रौपदीने जो असहाय होकर दूर बैठे हुए मुझ द्वारकावासीको 'गोविन्द' इस प्रकार पुकारा था, उसकी वह पुकार मुझे भूलती नहीं; उसका वह ऋण मुझपर बढ़ता ही जा रहा है।'* ऐसी दशामें भगवान्‌का अपने उन भक्तोंको 'उदार' कहना उचित ही है। किसीकी आर्त पुकारसे द्रवित होकर उसका उस विपत्तिसे त्राण कर देनेमें ही अपने कर्तव्यकी इतिश्री न मानकर उसका ऋण अपने ऊपर अक्षुण्ण मानना उदारताकी पराकाष्ठा है। ऐसे उदारशिरोमणि भगवान्‌पर विश्वास करके जो उन्हें भजना आरम्भ करते हैं क्या उनकी यह उदारता नहीं कहलायेगी? अस्तु,

जिज्ञासु भक्त यद्यपि अर्थार्थी एवं आर्त भक्तोंकी अपेक्षा अवश्य ऊँचे हैं; क्योंकि वे किसी लौकिक अथवा पारलौकिक अर्थकी सिद्धिके लिये अथवा किसी सांसारिक कष्टसे पीड़ित होकर भगवान्‌की शरणमें नहीं जाते, अपितु तत्त्वज्ञानरूपी परमार्थकी प्राप्तिके लिये अथवा जन्म-मृत्युरूपी महान् व्याधिसे छुटकारा पानेके लिये ही उनको भजते हैं। तत्त्वज्ञान अथवा मोक्षकी कामना अत्यन्त शुभ कामना होनेके कारण निष्कामता-जैसी ही है; परन्तु जो भगवान्‌से मोक्ष भी न चाहकर केवल उन्हींको चाहते हैं, ऐसे निष्काम भक्त तो जिज्ञासु भक्तोंसे भी ऊँचे हैं। ये भगवान् अथवा भगवत्प्रेमके सिवा अन्य किसी वस्तुको नहीं चाहते, श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे कहा है—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

(११।१४।१४)

'मुझे आत्मसमर्पण कर देनेवाला भक्त मुझे छोड़कर अन्य किसी वस्तुको नहीं चाहता—उसे न तो ब्रह्माका पद चाहिये, न इन्द्रासन; उसे न तो चक्रवर्ती सम्राट् बननेकी इच्छा होती है और न वह रसातलका ही स्वामी बनना चाहता है। और तो क्या, वह भोगकी बड़ी-बड़ी सिद्धियों तथा मोक्षतककी अभिलाषा नहीं करता।'

ऐसे निष्कामी अथवा भगवत्कामी भक्तसे भी वे भक्त श्रेष्ठ हैं, जो अपना कर्तव्य समझकर भगवान्‌से प्रेम करते हैं, उनसे चाहते कुछ भी नहीं। भगवान्‌के विधानसे जो कुछ होता है, उसे देखते रहते हैं; भगवान्‌से किसी प्रकारकी याचना अथवा प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं समझते। भगवान्‌की महिमा तथा उनके नाम, गुण, लीला एवं प्रभाव आदिको गाते-सुनते रहते हैं और साधनके लिये ही निरन्तर साधन-भजन करते रहते हैं, भजनके बिना वे रह ही नहीं सकते। सच्चे निष्कामी भक्त इन्हींको मानना चाहिये। इनसे भी श्रेष्ठ वे हैं, जो भगवान्‌को प्राप्त कर चुके हैं। इन भगवत्प्राप्त महापुरुषोंकी अपेक्षा भी वे श्रेष्ठ हैं, जिन्हें भगवान्‌ने धर्म, ज्ञान, वैराग्य और भक्ति आदिके प्रचारका तथा अपनी प्राप्ति करानेका भी विशेष अधिकार दे दिया है। इनसे भी श्रेष्ठ हैं, जिन्हें भगवान्‌ने अपना पूर्ण अधिकार दे दिया है। इनसे भी श्रेष्ठ वे कारक पुरुष हैं, जो परम धामसे भगवान्‌के भेजे हुए आते हैं और भगवान्‌की ही भाँति अपना लीला-कार्य पूरा करके पुनः भगवान्‌के पास चले जाते हैं।

कारक पुरुषोंसे भी श्रेष्ठ भगवान्‌के वे लीला-परिकर

* ऋणमेतत् प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति। यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम्॥
(महाभारत, उद्योग० ५९।२२)

हैं, जो सदा भगवान्‌के निकट उनकी सेवामें रहते हैं, भगवान् जब अवतार लेकर इस धराधाममें पाधरते हैं, तब ये भी उनके साथ ही उनकी प्रकट लीलाओंमें सहयोग देनेके लिये अवतीर्ण होते हैं और जब भगवान् अपनी अवतार-लीला संवरण करके पुनः अपने धाममें पधार जाते हैं, तब ये भी उनके साथ ही परमधामको लौट जाते हैं। ये भगवान्‌से कभी अलग नहीं होते। इनसे भी बढ़कर स्वयं भगवान् हैं, जिनसे बड़ा और कोई नहीं है। संसारमें जितने भी बड़े कहलानेवाले हैं, वे सब भगवान्‌की ही शक्ति पाकर बड़े होते हैं। बड़प्पनकी चरम सीमा भगवान् ही हैं—**'सा काष्ठा सा परा गतिः'**। अतः सबको कपट छोड़कर उन्हींकी शरणमें जाना चाहिये और उन्हींका भजन-ध्यान करके उन्हींको प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये तथा उनकी महिमा समझनेके लिये एवं उनके भजन-ध्यानकी पुष्टिके लिये भगवत्प्राप्त महापुरुषोंका यथाशक्ति निरन्तर संग करना चाहिये। यही मनुष्य-जीवनका चरम फल है।

इस प्रकार दाम्भिकसे लेकर भगवान्‌तक सारी सीढ़ियोंका क्रमशः वर्णन किया गया कि कौन किसकी अपेक्षा श्रेष्ठ एवं कौन किसकी अपेक्षा नीचा है। इस भेदमें जो निरन्तर अभेद देखते हैं, संसारमें वे ही श्रेष्ठ महापुरुष हैं। गीतामें भगवान् स्वयं अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥
(६। ९)

'सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

प्रत्येक कल्याणकामी पुरुषको इस बातकी प्राणपणसे चेष्टा करनी चाहिये कि उसका सबमें समभाव हो जाय। इसपर यदि कोई यह प्रश्न करे कि फिर नाना प्रकारके ऊँचे-नीचे दर्जे किसके लिये हैं, तो इसका उत्तर यह है कि ये सब श्रेणियाँ उन जिज्ञासुओंके लिये कही गयी हैं, जो इन्हें पढ़-सुनकर श्रेयोमार्गपर ही आरूढ़ होनेके लिये प्रयत्न करना चाहते हैं। अन्तमें पाठकोंके लाभार्थ सीढ़ियोंके क्रमका उल्लेख करके विराम लिया जाता है। सीढ़ियाँ इस प्रकार हैं—

(१) धर्मध्वजी।
(२) ईश्वरविरोधी नास्तिक।
(३) पापी।
(४) संशयात्मा।
(५) सकामकर्मी।
(६) लौकिक सिद्धियाँ प्राप्त किये हुए योगी।
(७) अर्थार्थी भक्त।
(८) आर्त भक्त।
(९) काम-क्रोधादि शत्रुओंपर विजय पानेके लिये भगवान्‌को भजनेवाले आर्त भक्त।
(१०) जिज्ञासु भक्त।
(११) प्रेमी भक्त।
(१२) केवल अपना कर्तव्य मानकर ही भगवान्‌से प्रेम करनेवाले निष्कामी भक्त।
(१३) भगवत्प्राप्त महापुरुष।
(१४) विशेष अधिकार प्राप्त किये हुए महापुरुष।
(१५) पूर्ण अधिकार प्राप्त महापुरुष।
(१६) कारक महापुरुष।
(१७) भगवान्‌के सदा समीप रहनेवाले उनके लीला-परिकर।
(१८) स्वयं भगवान्।

निष्कामता

रामू और गोपाल दोनों एक ही गाँव रामपुराके रहनेवाले थे। दोनों ही कहार थे। गोपाल इच्छानगरी-नरेशके प्रधान मन्त्रीके पेशकारके घर जूँठे बर्तन माँजने, झाड़ू लगाने आदिका काम करता था। रामूसे उम्रमें बड़ा था, पर सम्बन्धके नाते भाई था। रामूका पिता गाँवमें प्रतिष्ठित माना जाता था। रामू कहारके घर पैदा हुआ था पर वह बड़ा ही बुद्धिमान् था और उसमें सात्त्विक गुणोंकी स्वाभाविक ही बहुतायत देखी जाती थी। रामूके हृदयमें भगवद्भक्ति, विनय, संतोष और निष्कामता आदि गुणोंका भी विकास हो गया था। उसका चेहरा भी राजकुमारका-सा सुन्दर था। गाँवके सभी लोग उससे प्यार करते थे। और उसने पंद्रह वर्षकी उम्रमें ही गाँवके वयोवृद्ध पं० रमाकान्तजीसे, जो बड़े संयमी, सदाचारी तथा भगवद्भक्त विद्वान् थे और नगरकी ऊँची अध्यापकीको छोड़कर निःस्वार्थभावसे गाँवके लड़कोंको पढ़ाते थे, अच्छे विद्याभ्यासके साथ ही बहुत-से सद्‌गुण भी प्राप्त कर लिये थे।

रामूका गाँव रामपुरा इच्छानगरी राजधानीसे थोड़ी ही दूरपर था। एक दिन तड़के ही रामू नहा-धोकर घरसे चल दिया और पौ फटते-फटते इच्छानगरी जा पहुँचा। उसने खोजते-खोजते गोपालके घर पहुँचकर सहसा गोपालके चरण पकड़ लिये। गोपाल उस समय बिछौनेसे उठा ही था। रामूको इस तरह देखकर चकित हो गया और आह्लाद तथा आश्चर्यसे उसके चेहरेकी ओर देखने लगा।

'भैया! तुम धन्य हो,' रामूने पैर पकड़े हुए ही कहा। 'अरे भैया! तुम आये, बड़ा अच्छा किया। गाँवमें सब कुशल तो है? पर तुमने मेरे पैर क्यों पकड़ लिये? तुम तो वैसे मेरे भाई हो।' गोपाल पीछे हटते हुए एक साँसमें कह गया।

'भैया! तुम्हारी महिमा मैं क्या कहूँ; बस, तुम धन्य हो।' रामूने गद्‌गद वाणीसे फिर कहा।

'भैया! वैसे तो मैं तुम्हारे घरका आदमी हूँ। और मेरा काम देखो, तो मैं महाराजा साहेबके दीवानके पेशकारके जूँठे बर्तन माँजनेवाला नीचे दर्जेका नौकर हूँ; मैं धन्य कैसे हो गया?' गोपालने जिज्ञासासे कहा।

'भैया! इसीलिये तो तुम धन्य हो! तुम जानते हो, हमारे महाराजा उच्चकोटिके महापुरुष हैं; वे अनन्यभक्त, ज्ञानी और योगी महात्मा हैं।' रामूने गोपालके पैरोंसे चिपके हुए ही कहा।

'पर इससे क्या हुआ। इन सद्‌गुणोंसे सम्पन्न तो महाराजा हैं न?' पैर छुड़ाते हुए गोपालने कहा—'मुझमें तो कोई गुण नहीं है।'

रामूने आदर और प्रेमभरे शब्दोंमें कहा—'भाई! ऐसे महापुरुष महाराजाके दीवानके पेशकारकी नौकरी मिलना क्या कोई साधारण बात है? मुझे तो ऐसी नौकरी मिल जाय तो मैं अपने जीवनको सफल समझूँ। बल्कि तुम्हारी ही सेवाका अवसर मिल जाय तो भी मेरा जीवन धन्य हो सकता है।' यों कहकर वह गोपालके मुँहकी ओर देखने लगा।

गोपालपर रामूके शब्दोंका बड़ा प्रभाव पड़ा। गोपालने कहा—'भैया! पेशकार साहेबको तो आदमीकी जरूरत ही थी। वे मुझसे कह रहे थे। तुम आ गये और तुम चाहते भी हो। अतः आज ही मैं तुम्हें काम दिलवा दूँगा।'

× × ×

रामू पेशकारके यहाँ बड़ी लगनसे काम करने लगा था। महीना पूरा होनेपर गोपालके हाथ भेजे हुए वेतनको जब उसने नहीं लिया, तब पेशकारने उसे बुलाकर कहा—

'तुम अत्यन्त उत्साह, श्रद्धा, प्रेम तथा तत्परतासे दिन-रात काम करते हो। काम भी पहले नौकरसे दुगुने कर लेते हो। इतना काम तो कोई नौकर करता ही नहीं। फिर भी गत मासमें तुमने वेतन नहीं लिया। इससे मैं बहुत लज्जित हूँ। मैं समझता हूँ, तुम्हें दस रुपये मासिक बहुत कम हैं, तो अब तुम जितना कहो, उतने ही रुपये प्रतिमासके लिये निर्धारित कर दूँ।'

रामूकी प्रसन्नताकी सीमा न थी। उसे शुद्ध सात्त्विक एवं दिव्यगुणसम्पन्न नरपतिके दीवानके पेशकारके पास रहनेका स्थान जो मिल गया था। और इसी कारण वह अहंता-ममता तथा आसक्ति और स्वार्थको त्यागकर अत्यन्त श्रद्धा-भक्तिसमन्वित हृदयको लेकर निष्काम-भावसे सेवा कर रहा था। पेशकार उससे अत्यन्त संतुष्ट हो गया था। रामूने पेशकारकी बात सुनकर अत्यन्त विनयसे उत्तर दिया—'मेरे रुपये न लेनेका यह कारण नहीं था कि वेतन कम है।'

पेशकार चकित था। उसे रामूकी बातपर सहसा विश्वास नहीं हुआ। उसने पूछा—'तो फिर इतना अथक श्रम किसलिये करते हो?'

'आप अच्छी तरह जानते हैं, हमारे महाराजा उच्चकोटिके महापुरुष हैं। वे योगी, ज्ञानी, ईश्वरभक्त और साक्षात् महात्मा हैं। आप उनके दीवानके पेशकार हैं। यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे आपकी चाकरीका अवसर प्राप्त हुआ है। तनख्वाह इससे बढ़कर और क्या होगी?' रामूने नतमस्तक होकर उत्तर दिया।

'राजा साहेब तो तुम जैसा कहते हो वैसे ही हैं, पर मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ। मुझमें वे कोई भी गुण नहीं हैं, जो उनमें विद्यमान हैं। मेरी चाकरीसे तुम्हें क्या लाभ है?' पेशकारने उत्सुकतासे प्रश्न किया।

'आप हैं तो उन्हींके दीवानके पेशकार। मेरे भाग्यमें आप-जैसे पुरुषोंकी सेवा कहाँ? भगवान्‌की बात तो दूर रही, उनके आश्रित भक्तोंके दासानुदासोंके दासानुदासकी सेवा प्राप्त कर लेना भी बहुत बड़ा सौभाग्य है; क्योंकि उनके सम्पर्कसे कभी-न-कभी भगवदनुरागी महापुरुषोंके दर्शन प्राप्त हो सकते हैं। इसी तरह आपकी सेवा करते-करते मुझे कभी दीवानजीके भी दर्शन हो जायँगे, जो उन भगवद्‌भक्त राजाके निकटतम सम्पर्कमें रहा करते हैं'—रामूने सरलतासे मनकी सच्ची बात कह दी।

'दीवानके दर्शनकी कौन बात है? उनका दर्शन तो मैं तुम्हें कल ही करवा सकता हूँ।' पेशकार रामूकी पवित्र भावनापर मुग्ध हो गये थे। उन्होंने कहा—'दीवानजी प्रातःकाल साढ़े आठ बजे न्यायालयमें आते हैं और मैं वहाँ आठ बजे चला जाता हूँ; तुम नौ बजेतक एक गिलास चाय और जल लेकर वहाँ आ जाना।.......और वेतनके लिये जितने रुपये कहो, तुम्हारे घर भेज दूँ।'

'मुझे रुपयेकी आवश्यकता नहीं है। घरका काम चल जाता है। मुझे तो श्रीदीवानजीके दर्शनसे ही सब कुछ मिल जायगा।' रामूने अनुनय-विनयसे रुपये लेना अस्वीकार कर दिया।

पेशकार रामूकी ओर देख रहे थे। वे उसके स्वभावकी मन-ही-मन प्रशंसा करने लगे।

× × ×

गद्दीपर मसनदके सहारे बैठे हुए दीवानने दरवाजेकी ओर देखा। एक सुन्दर अनजान नौजवान हाथमें गिलास लिये बड़ी मुग्धदृष्टिसे एकटक उनकी ओर देख रहा था, जैसे कोई भगवान्‌का दर्शन कर रहा हो। दीवानने कई बार देखा, उसकी पलक झपती ही नहीं थी। वह अतृप्त नेत्रोंसे दीवानकी ओर देख ही रहा था।

'यह कौन है और यहाँ क्यों खड़ा है?' दीवानने पेशकारसे पूछा।

'श्रीमान्! यह आपका नौकर है। आज मैं चाय पीकर नहीं आ सका था तो यह यहीं लेकर आ गया।' पेशकारने जवाब दिया।

'अच्छा पहले चाय पी लो'—दीवानने कहा।

पेशकारने चाय पी ली और फिर काममें जुट गये। पर दीवानपर रामूकी परम मुग्ध और आकर्षक प्रेमभरी दृष्टिका प्रभाव पड़ चुका था। वे रह-रहकर बरबस रामूकी ओर देख लेते थे। रामूने चायके बर्तन माँज-धोकर वहाँ झाड़ू लगा दिया। फिर दीवानजीके जूते साफ करनेमें जुट गया। साथ ही वह रह-रहकर दीवानकी ओर उसी श्रद्धा और प्रेमभरी दृष्टिसे देख भी लेता था।

'यह लड़का तो बड़े प्रेम और उत्साहसे बिना कहे ही काम करता है। और सो भी कितनी फुर्ती और सफाईके साथ। क्या देते हो इसे?' दीवानने पेशकारसे पूछा।

'श्रीमान्!......यह काम तो बहुत और बहुत सुन्दर ढंगसे करता है। पर लेता कुछ भी नहीं।'

आश्चर्यचकित होकर दीवानने रामूको तुरंत पास बुला लिया और वे पूछ बैठे 'तुम बिना कुछ लिये ही बड़े प्रेमसे काम करते हो, इसका कारण बता सकोगे?'

'सरकार! सिर्फ आपके दर्शनके लिये। आज मैं धन्य हूँ'—रामूने दबी जबानसे कह दिया।

'मुझमें ऐसी कौन-सी बात है भैया?' दीवानने आकर्षित होकर रामूसे पूछा।

'दीवानजी! आप तो जानते ही हैं कि हमारे महाराजा साहेब बहुत उच्चकोटिके महापुरुष हैं। वे योगी, ज्ञानी, भक्त और महात्मा हैं। आप ऐसे पवित्रात्मा नरेशके दीवान हैं। आप-जैसे पुरुषोंका दर्शन होना कोई साधारण बात है? जिनके बड़े भाग्य होते हैं, उन्हें ही आप-जैसे पुरुषोंका दर्शन मिलता है।' रामूने बड़े प्रेम और विनयसे कहा।

'जब तुम्हारी ऐसी भावना है, तब तुम हमारे ही पास रह सकते हो'—दीवानपर प्रेमका जादू चल गया था।

रामू आश्चर्यचकित था। अत्यन्त मुदित होकर उसने कहा—'आपके चरणोंका सामीप्य पाकर मैं अपनेको परम सौभाग्यशाली समझूँगा।'

'भाई! इसे तो मैं अपने पास रखना चाहता हूँ'—दीवानने पेशकारकी ओर मुँह फेरकर कहा।

'आप प्रसन्नतापूर्वक रख लें'—पेशकारने स्वीकृति दे दी।

× × ×

'मेरे पास काम करते तुम्हें बहुत दिन बीत गये और जिस प्रेम तथा उत्साहसे तुम काम करते हो, वैसे साधारण नौकर तो कर ही नहीं सकते; परंतु आजतक तुमने कुछ भी लिया नहीं, इससे मुझे बड़ा संकोच हो रहा है। वेतन न सही, पर पारितोषिकके रूपमें तुम कुछ अवश्य स्वीकार कर लो। दो-चार सौ जितने कहो, उतने रुपये मैं तुम्हारे घर भिजवा दूँ'—दीवानने बड़े स्नेहसे कहा।

'घरवालोंका काम चल जाता है सरकार! रुपयेकी आवश्यकता नहीं है।' रामुने श्रद्धालु भक्तकी भाँति उत्तर दिया।

'रुपये नहीं भेजते तो और कोई चीज भेज दो। मैं तुम्हारी सेवाका बहुत आभार मानता हूँ। कुछ तुम्हारा प्रत्युपकार करना चाहता हूँ'— अनुरोधपूर्वक दीवानजीने कहा।

'ऐसे कहकर आप मुझे लज्जित न करें। आपकी सेवा ही सबसे बढ़कर मेरा उपकार है; क्योंकि आप

एक महान् पुरुषके दीवान और देशके परम सेवक हैं। मेरे लिये तो आपके दर्शन भी दुर्लभ थे। आपने मुझे सेवाका सौभाग्य देकर सदाके लिये ऋणी बना लिया है। आपकी सेवा करते-करते कभी मेरा परम सौभाग्य होगा तो आपकी कृपासे महाराजके भी दर्शन हो जायँगे'—रामूने मनकी बात व्यक्त कर दी।

'राजा साहेबके दर्शनोंकी क्या बात है। वह तो तुम्हें कल ही करवा सकता हूँ। मैं दरबारमें बारह बजे जाता हूँ और राजा साहेब वहाँ एक बजे आते हैं। कल मंगलवारका व्रत है। तुम जानते हो, मैं उस दिन बिना खाये ही जाया करता हूँ और मेरे लिये फलाहार वहीं पहुँचाया जाता है। तुम दो बजे फलाहार लेकर वहाँ आ जाना। पर कुछ रुपये अवश्य घरपर भिजवा दो'—दीवानने आग्रह किया।

'मैं आपका चिरऋणी हूँ, सरकार! मुझे रुपया नहीं चाहिये।'—रामूका मस्तक श्रद्धासे नत हो गया था।

× × ×

राजाकी दृष्टि आनन्दसमुद्रमें निमग्न रामूपर पड़ गयी थी। उन्होंने उसमें विलक्षण आनन्दका अनुभव किया। वह एकटक राजा साहेबकी ओर देख रहा है और हर्षोत्फुल्ल हो रहा है। इसे उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया था। दीवानसे उन्होंने पूछा—'यह कौन है और यहाँ किस लिये खड़ा है?'

'श्रीमान्! यह आपका सेवक है। आज मंगलवार है, इससे फलाहार लाया है।' दीवान बोले।

'अच्छा तुम पहले फलाहार कर लो।' राजाने आज्ञा दी।

दीवानने अलग जाकर फलाहार किया और फिर लौटकर अपने कार्यमें लग गये। रामू जूँठे बर्तन साफ करके दीवान और महाराजके जूते साफ करने लगा। साथ ही वह महाराजकी ओर देख-देखकर आनन्दातिरेकसे विह्वल होता जा रहा था। वह मन्त्रमुग्धकी भाँति हो गया था। उसकी इस दशाका अनुभव राजाने भी किया।

'यह लड़का बड़ा उत्साही मालूम होता है। इसे वेतन क्या दिया जाता है?' राजाने दीवानसे प्रश्न किया।

'सरकार! काम तो यह बड़ी ही तत्परता तथा प्रेमोत्साहसे करता है, परंतु वेतन आग्रह करनेपर भी कुछ नहीं लेता'—दीवानने जवाब दिया।

महाराजको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने रामूको बुलाकर पूछा—'तुम बिना कुछ लिये ही इतने प्रेम और उत्साहसे काम करते हो, इसका क्या कारण है?'

'सरकार! बिना कुछ लिये ही कैसे? इन्हींकी तो कृपा है जो मैं आज सरकार-जैसे अप्रतिम महापुरुषके दर्शन कर कृतकार्य हो गया। मेरा अहोभाग्य है जो मैं आज सरकारके दर्शन कर रहा हूँ'—रामू गद्गद हो गया था।

'तुम अपनेको कृतकार्य मानते हो, ऐसी कौन-सी बात है?'

'सरकार महापुरुष हैं। सरकार-जैसे योगी, ज्ञानी, भक्त और महात्माके दर्शन बहुत ही दुर्लभ हैं और बड़े ही भाग्यसे होते हैं। आज सरकारके दर्शन करके मैं परम धन्य हो गया हूँ। मेरा जन्म आज सफल हो गया। सरकारकी कृपासे आज सचमुच कृतार्थ हो गया'—रामूने महाराजके चरण पकड़ लिये।

'यदि तुम्हारी इच्छा हो तो मेरे साथ सदा रह सकते हो'—नरपति प्रभावित हो चुके थे।

'यह तो मेरे लिये परम सौभाग्यकी बात है। इससे बढ़कर मेरे लिये और हो ही क्या सकता है।'—रामूका मस्तक नरपतिके चरणोंपर था।

'इस बच्चेको मेरे पास रहने दो'—राजाने दीवानसे कह दिया। उनके हृदयमें स्नेह उमड़ने लगा था। दीवानने सिर झुका लिया।

× × ×

'मैं तुम्हारी सेवासे बहुत संतुष्ट हूँ; परंतु तुम न रुपये लेते हो और न कुछ घरपर ही भिजवाते हो। मैं तुम्हारा आभारी हूँ। तुम्हारी जो कुछ इच्छा हो कहो; मैं तुम्हारा कुछ भी अभीष्ट हो, पूरा करना चाहता हूँ।' राजा बोले।

'महाराज! जब सरकार इस नगण्य दासपर संतुष्ट हैं तब मैं सब कुछ पा गया। मुझे रुपयेकी आवश्यकता नहीं है।' रामूने उत्तरमें कहा।

'मैं तुम्हारा आभार मानता हूँ। मेरे संतोषके लिये तुम्हें कुछ-न-कुछ लेना ही होगा'—नरेशने पुनः आग्रहपूर्वक कहा।

'ऐसा कहकर मुझे लज्जित न करें। मुझे तो सरकारकी सेवाके सामने समस्त भौतिक वस्तुएँ अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होती हैं। इसके अतिरिक्त मुझे और कुछ नहीं चाहिये। इसपर भी यदि आप आग्रह करते हैं तो फिर मैं जो माँगूँ, आपको वही देना होगा।' रामूने मधुर शब्दोंमें कहा।

'निश्चय ही तुम जो माँगोगे, मैं दे दूँगा'—नरेशने निश्चित कर लिया था—इसके माँगनेपर समस्त राज्य भी प्रसन्नतापूर्वक दे दूँगा।

'मैं सदा-सर्वदा सरकारके चरणोंके साथ रह सकूँ। मुझे सरकार कभी एक क्षणके लिये भी अपनेसे अलग न करें'—श्रद्धाविगलित हृदयसे रामू महाराजके चरणोंमें लोट गया।

'इसमें कौन-सी बात है। तुम तो अधिक-से-अधिक मेरे साथ रहते हो। कुछ और माँगो।'

'बस, मैं यही चाहता हूँ।'

'मुझे कोई आपत्ति नहीं है। तुम प्रसन्नतापूर्वक मेरे साथ रहो।'

× × ×

'रात्रिमें शयनकक्षमें मेरे पीछे कैसे?'

'महाराज! नित्य समीप रहनेकी आज्ञा मिल चुकी है।' हाथ जोड़े रामूने तुरंत जवाब दिया।

'आओ'—महाराजने कहा।

'तुम्हारे कोई पुत्र नहीं था। अब इसको तुम्हारी सेवाके लिये पुत्ररूपसे लाया हूँ'—राजाने महारानीसे कहा।

'बहुत अच्छा'—रानीने रामूकी ओर देखा। और उसके मनोहर मुखमण्डलको देखकर उसके नेत्रोंसे स्नेहाश्रुओंकी बूँदें टपक पड़ीं। वात्सल्य उमड़ आया। रामू मन्त्रमुग्ध शिशुकी भाँति महारानीकी ओर देख रहा था।

× × ×

'अबतक तो यह काम-काज देख रहा था; पर अब सब कागजातपर आजसे यही सही किया करेगा और इसकी सही मेरी सही समझी जायगी'—राजाने दीवानसे कह दिया। वे रामूकी सेवासे अत्यन्त संतुष्ट थे। रामू तीक्ष्णबुद्धि था और था महाराजका अनन्य सेवक एवं उनके गुणोंको अपनेमें सहज ही धारण करनेवाला। अतः थोड़े ही दिनोंमें उसने बड़ी योग्यता प्राप्त कर ली थी। रामू पढ़ा-लिखा तो था ही।

दीवानने आज्ञा शिरोधार्य कर ली। कागजोंपर सही रामूकी होने लगी। कुछ दिन बाद!

'मेरे कोई संतान नहीं है। मैं तुम्हें युवराजके पदपर बैठाना चाहता हूँ'—नरेशने रामूसे कहा। वे उसे पुत्रकी भाँति प्यार करने लग गये थे।

'सरकार मुझे लज्जित न करें। मैं सरकारकी चरण-सेवा नहीं त्याग सकता। इतने बड़े लाभकी तुलनामें राज्य-सुख तुच्छ है'—रामूने सेवापरायण पुत्रकी भाँति उत्तर दिया।

राजाने उसकी बात मान ली और आज्ञा देकर उससे राजकार्य कराने लगे।

× × ×

'मैं तो आपका सेवक हूँ। यह सब आपहीकी कृपासे प्राप्त है'—दीवानके चरण पकड़कर रामूने कहा।

'अरे, आप महाराजके प्रतिनिधि हैं। आप सिंहासनके अधिकारी हैं। मुझे लज्जित न करें'—घबराये हुए दीवान किसी प्रकार रामूको सिंहासनपर बैठानेमें सफल हो सके। दीवान दरबारमें आये थे।

'मैं तो आपके चरणोंका चाकर हूँ। यह सब आपकी ही कृपासे मुझे प्राप्त हुआ है।' रामू पेशकारके पैर पकड़ कहने लगा और उसे सिंहासनपर बैठानेके लिये अपनी ओर खींचने लगा।

बेचारा पेशकार किसी कामसे आ गया था। बड़ी कठिनाईसे रामूको सिंहासनपर बैठाकर अपने स्थानपर बैठा।

'भैया! तुम्हारी ही कृपासे मुझे यह सिंहासन प्राप्त हुआ है, चलो सिंहासनपर बैठो'—सिंहासनसे उतरकर दौड़ते हुए पेशकारके पुराने नौकरके पास जाकर रामूने विनयपूर्वक कहा।

'पेशकार साहब और दीवान साहबके सामने मैं ऊँचे आसनपर कभी नहीं बैठ सकता। आप मुझे लज्जित न कीजिये'—कहकर पेशकारका नौकर वहीं पृथ्वीपर बैठ रहा। वह किसी कामसे आ गया था। रामूमें अहंकारका लेश भी नहीं था।

× × ×

'विनयके तुम मूर्तिमान् स्वरूप हो। अहंता-ममता तो तुम्हें स्पर्श भी नहीं कर सकी। अत्यन्त छोटे कर्मचारीसे लेकर ऊँचे पदाधिकारीतक सभी तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हैं। तुममें शासन ग्रहण करनेकी अपूर्व योग्यता और क्षमता भी दीखती है। अतएव तुम मेरी बात मानकर राजपद स्वीकार करो। अब मैं एकान्तवास करना चाहता हूँ'—राजाने रामूके सामने प्रस्ताव रखा।

'सरकार सदा-सर्वदा अपने चरणोंके समीप रखनेका मुझे वरदान दे चुके हैं, फिर एक क्षण भी मुझे अलग कैसे कर सकेंगे? मुझे राजपदकी बिलकुल इच्छा नहीं है। सरकार ऐसा कहकर मुझे लज्जित न करें और मैं

सरकारसे एक क्षण भी अलग नहीं रह सकूँगा। मैं राजपद स्वीकार करनेमें सर्वथा असमर्थ हूँ, इसके लिये प्रेमपूर्वक क्षमा चाहता हूँ'—रामूने विनय, प्रेम और दृढ़ताके स्वरोंमें अपना निर्णय नरेशको सुना दिया।

'मेरे साथ रहकर राज्यका शासनपद ग्रहण करो'—महाराजको विवश होकर अपनी इच्छा परिवर्तित करनी पड़ी।

'रामू अब राजाके साथ रहकर राज्यका काम सँभालता था।'

× × ×

रामू कहारकी यह कल्पित कहानी दृष्टान्तरूपसे कही गयी है। इसे परमार्थ-विषयमें इस प्रकार घटाना चाहिये कि परमात्माकी प्राप्तिके मार्गमें चलनेवाले साधक पुरुषको यहाँ रामू कहार समझना चाहिये। भगवान्‌के दासका दासानुदास पेशकारके यहाँ रहनेवाला नौकर गोपालको समझना चाहिये। भगवान्‌का दासानुदास उस पेशकारको समझना चाहिये और दीवानको भगवान्‌का दास तथा इच्छानगरीके महाराज साहबको साक्षात् भगवान् समझना चाहिये। महाराज साहबके भक्ति, ज्ञान, योग आदिको भगवान्‌के गुण तथा प्रभाव समझने चाहिये। राजाकी रानीको ईश्वरकी शक्ति भगवती देवी समझना चाहिये। रामू कहारका वेतनसे लेकर राजपदतक कुछ भी स्वीकार न करना निष्कामभावसंयुक्त स्वार्थका त्याग तथा श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उत्साहसे काम करनेको उसका साधन समझना चाहिये। उसकी श्रद्धा, भक्ति, विनयपूर्वक अहंकाररहित बर्तावको ही आदर्श शिष्टाचार समझना चाहिये। राजपदको मुक्ति और राजाके नित्य समीप रहनेको ही उच्चकोटिका विशुद्ध प्रेम समझना चाहिये।

इस दृष्टान्तसे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि अहंकार, ममता, आसक्ति और स्वार्थको त्यागकर श्रद्धा-भक्ति और विनयपूर्वक निष्काम-भावसे भगवान्‌के दासानुदासके संग और सेवा करते हुए भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना चाहिये तथा मुक्तिकी भी इच्छा न रखकर निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌के नित्य समीप रहकर भगवान्‌का निरन्तर स्मरण रखते हुए ही सेवा करनेका आग्रह रखना चाहिये।

अर्थ और रहस्यका भेद

(श्रीमद्भगवद्गीताके एक श्लोकका रहस्य)

एक बहुत ही संतोषी, सदाचारी और विद्वान् ब्राह्मण थे, किंतु थे वे निर्धन। उनकी पत्नी बड़ी पतिव्रता, विदुषी, तत्त्वज्ञानसे सम्पन्न और जीवन्मुक्त थी। उस देशके राजा भी तत्त्वज्ञानी, जीवन्मुक्त महात्मा थे। ब्राह्मणपत्नीने एक दिन विचार किया—मेरे पतिदेव संतोषी, सदाचारी और विद्वान् हैं, इसलिये वे मुक्तिके अधिकारी तो हैं ही, इनकी यदि हमारे जीवन्मुक्त राजासे भेंट हो जाय तो ये भी शीघ्र तत्त्वज्ञानी—जीवन्मुक्त हो सकते हैं। यह सोचकर उसने पतिसे प्रार्थना की—'पतिदेव! आजकल अपने शरीर-निर्वाहके लिये बड़ी तंगी हो गयी है और आयका कोई भी रास्ता नहीं दीखता। सुना जाता है, यहाँके राजा बड़े सदाचारी, जीवन्मुक्त महात्मा हैं तथा ब्राह्मणोंका आदर-सत्कार करनेवाले एवं परम उदार हैं, आप उनसे एक बार मिल लें तो वे आपका उचित सत्कार कर सकते हैं और शास्त्रविधिके अनुसार यदि राजा बिना याचना किये ही कुछ दें तो वह ब्राह्मणके लिये अमृतके समान है। यह आप जानते ही हैं।'

पण्डितजीने कहा—'तुम्हारा कहना ठीक है; परंतु मैं जबतक किसीका कोई उपकार न कर दूँ, तबतक अयाचक वृत्तिसे भी—बिना माँगे उससे दान लेकर जीवन-निर्वाह करना निन्दास्पद समझता हूँ; अतएव मैं ऐसा नहीं करूँगा, चाहे मुझे भूखों ही रहना पड़े।'

ब्राह्मणपत्नी बोली—'आप विद्वान् हैं, राजाको यथोचित उपदेश देकर उनका उपकार कर सकते हैं।'

यह बात पण्डितजीको कुछ रुची, पर उनका मन राजाके पास जानेका नहीं होता था। अन्तमें पत्नीके बहुत कहनेपर वे राजी हो गये और राजसभामें चले गये। पण्डितजीके सद्‌गुण और सदाचरणोंकी ख्याति देशभरमें फैली हुई थी। राजाने पण्डितजीका बड़ा आदर-सत्कार किया। कुशलक्षेम प्रश्नोत्तरके अनन्तर राजाने बहुत-सी स्वर्णमुद्राएँ मँगाकर पण्डितजीको भेंट कीं। पण्डितजीने अस्वीकार करते हुए कहा—'राजन्! आप बड़े उदार हैं, यह मैं जानता हूँ। परंतु मेरा एक नियम है, मैं किसीका उपकार किये बिना उससे अयाचितरूपमें भी धन नहीं

लेता। आप मुझे कोई काम सौंपें और उससे मैं आपका संतोष करा सकूँ, तो उसके बाद आप यदि कुछ दें तो वह लिया जा सकता है।' राजाने कहा—'पण्डितजी! बहुत अच्छा। आप सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण हैं। मैं आपसे गीताका रहस्य सुनना चाहता हूँ। मुझे आप कृपापूर्वक गीताके बारहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकका भावसहित स्पष्ट अर्थ समझाइये।'

पण्डितजीने पहले श्लोक पढ़ा, फिर उसका शब्दार्थ बतलाया—

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

'जो पुरुष आकांक्षासे रहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध, चतुर, पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है, वह सब आरम्भोंका त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

तदनन्तर वे श्लोकका भावार्थ इस प्रकार बतलाने लगे—

जिसे किसी भी प्रकारकी इच्छा, स्पृहा और कामना न हो, जो आप्तकाम हो एवं जिसे किसी बातकी भी परवा न हो, उसे 'अनपेक्ष' कहते हैं।

जिसका अन्तःकरण अत्यन्त पवित्र हो, जिसका बाहरका व्यवहार भी उद्वेगरहित, पवित्र और न्याययुक्त हो; जिसके दर्शन, भाषण,स्पर्श और वार्तालापसे ही लोग पवित्र हो जायँ, वह 'शुचि' है।

जिस महान् कार्यके लिये मनुष्य-शरीर मिला है, उसे प्राप्त कर लेना अर्थात् भगवान्‌को प्राप्त कर लेना ही मनुष्यकी यथार्थ 'दक्षता' है; जो अपना काम बना लेता है, वही 'दक्ष' कहलाता है।

जो गवाही देते समय और न्याय या पंचायत करते समय कुटुम्बी, मित्र, बन्धु आदिकी दृष्टिसे या राग, द्वेष, लोभ, मोह एवं भय आदिके वश होकर किसीका भी पक्षपात नहीं करता—सदा सर्वथा पक्षपातरहित रहता है, उसे 'उदासीन' कहते हैं।

किसी भी प्रकारके भारी-से-भारी दुःख अथवा दुःखके हेतु प्राप्त होनेपर भी जो दुःखी नहीं होता अर्थात् जिसके अन्तःकरणमें कभी किसी तरहका विषाद, दुःख या शोक नहीं होता, वही 'गतव्यथ' है।

जो बाहर-भीतरके समस्त कर्मोंको त्यागकर केवल प्रारब्धपर ही निर्भर रहता है, अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये कुछ भी कर्म नहीं करता; अपने-आप जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीमें संतुष्ट रहता है तथा प्रारब्धवश होनेवाली क्रियाओंमें जिसके कर्तापनका अभिमान नहीं है, ऐसे बाहर और भीतरके त्यागीको 'सर्वारम्भपरित्यागी' कहते हैं।

पण्डितजीके उपर्युक्त भावार्थ बतला चुकनेपर राजाने नम्रतासे कहा—'महाराजजी! आपने बड़ा सुन्दर अर्थ किया। आपका कथन सर्वथा युक्तियुक्त और शास्त्रसंगत है। तथापि मेरा ऐसा अनुमान है कि श्लोकका बहुत सुन्दर अर्थ करनेपर भी आप अभी इसके रहस्यसे अनभिज्ञ हैं।' पण्डितजी झुँझलाकर बोले—'रहस्य न जानता होता तो भावसहित अर्थ कैसे बतला सकता। मुझे गीताकी बावन टीकाएँ कण्ठस्थ हैं। इसके अतिरिक्त कोई विशेष रहस्य हो और उसे आप जानते हों तो आप ही बतलाइये।'

राजाने इसका उत्तर न देकर बड़ी विनम्र वाणीमें कहा—'पण्डितजी! मुझे आपकी शास्त्रसम्मत सुन्दर व्याख्यासे बड़ा सन्तोष हुआ है; मैं आपका बहुत आभारी हूँ। अतः मेरी दी हुई भेंट आप कृपया स्वीकार कीजिये।'

पण्डितजीने कहा—'राजन्! जब आप मेरे लिये यह कहते हैं कि मैं रहस्यसे अनभिज्ञ हूँ, तब सन्तोषकी बात कहाँ रही? यह तो कहने भरका सन्तोष है। मैं, जबतक आपको वास्तवमें सन्तोष न हो जाय, तबतक आपसे कुछ भी लेना नहीं चाहता।' राजाके बहुत अनुनय-विनय करनेपर भी पण्डितजीने भेंट स्वीकार नहीं की और वे घर लौट आये। उधर राजाने एक विश्वासपात्र गुप्तचरको बुलाकर कहा—'ये ब्राह्मण देवता बड़े त्यागी, सदाचारी और स्वाभिमानी विद्वान् हैं। तुम इनके पीछे जाकर देखो, घरपर इनका कैसा-क्या व्यवहार और वार्तालाप होता है और फिर उसकी सूचना मुझे दो।' राजाका आदेश पाकर गुप्तचर उनके पीछे हो लिया और उनका सब व्यवहार-वार्तालाप देखता रहा।

पण्डितजीने घर लौटकर पत्नीके पूछनेपर राजसभाकी सारी कथा आद्योपान्त उसे सुना दी। पत्नीने विनय और प्रेमसे कहा—'स्वामिन्! राजाने जो कुछ कहा वह तो उचित ही मालूम होता है। आपको नाराज नहीं होना चाहिये था।

पण्डितजी—(कुछ क्रोधावेशमें आकर तथा व्यथित-से होकर) वाह! तुम भी राजाकी ही बातका समर्थन करती हो!

पत्नी—नाथ! आप ही तो कहा करते हैं कि न्याययुक्त बातका समर्थन करना चाहिये।

पण्डितजी—(कुछ और भी उत्तेजनासे तुरंत उसे दबाते हुए) क्या राजाका यह कहना न्याययुक्त है कि मेरी

व्याख्या तो सुन्दर है पर मैं इसके रहस्यको नहीं समझता?

पत्नी—नाथ! आप क्षमा करें। राजाकी बात तो बहुत ही ठीक है। किसी श्लोकको व्याख्या करना सहज है, पर उसका यथार्थ रहस्य जानना ही दुर्लभ है।

पण्डितजी—कैसे?

पत्नी—जैसे ग्रामोफोनपर जो चूड़ी चढ़ा दी जाती है, वह वही गाना गा देता है पर उसके रहस्यको वह थोड़े ही समझता है।

पण्डितजी—तो क्या मैं ग्रामोफोनकी तरह हूँ?

पत्नी—जो पुरुष दूसरोंको उपदेश-आदेश तो बड़ा सुन्दर करता हो, किंतु स्वयं उसमें वे बातें चरितार्थ न होती हों तो आप ही बतलाइये, ग्रामोफोनमें और उसमें क्या अन्तर है? राजाके पूछनेपर आपने श्लोककी जो व्याख्या की, क्या वे सारी बातें आपमें चरितार्थ होती हैं?

पण्डितजी—क्यों नहीं? कौन-सी बात मुझमें नहीं है?

पत्नी—आप शान्तिसे मेरा निवेदन सुनिये। मेरी प्रार्थना है—आप उस श्लोकके प्रत्येक पदका अर्थ पुनः मुझे बतलाइये। 'अनपेक्ष' का क्या भाव है?

पण्डितजी—जिसे किसी भी प्रकारकी इच्छा, स्पृहा और कामना न हो, जो आप्तकाम हो एवं जिसे किसी बातकी भी परवा न हो, उसे 'अनपेक्ष' कहते हैं।

पत्नी—क्या आप ऐसे हैं?

पण्डितजी—क्यों नहीं? मुझे तो कोई भी इच्छा, स्पृहा और कामना नहीं है। मैं तो तुम्हारे ही अनुरोध करनेपर राजाके पास गया था और राजाके अनुनय-विनय करनेपर भी मैंने उनसे कुछ भी नहीं लिया।

पत्नी—बहुत अच्छा! सत्य है, आप मेरे ही आग्रहसे गये थे। आपकी मुझपर दया है। अच्छा, 'शुचि' का क्या अभिप्राय है?

पण्डितजी—जिसका अन्तःकरण अत्यन्त पवित्र हो, जिसका बाहरका व्यवहार भी उद्वेगरहित, पवित्र और न्याययुक्त हो; जिसके दर्शन, भाषण, स्पर्श और वार्तालापसे ही लोग पवित्र हो जायँ, वह 'शुचि' है।

पत्नी—क्या आप बाहर-भीतरसे इस प्रकार शुद्ध हैं? क्या आपके दर्शन, भाषण, स्पर्श-वार्तालाप करनेसे मनुष्य पवित्र हो जाता है? क्या आपके अन्तःकरणमें कोई विकार नहीं होता? क्या आपका बाहरका व्यवहार उद्वेगरहित, न्याययुक्त और पवित्र है? यदि ऐसा है तो फिर आपके मनमें क्रोध तथा उद्वेग क्यों हुआ और राजासे आपने अहंकारके वचन क्यों कहे?

पण्डितजी—(विनम्र होकर) ठीक है, इस गुणकी तो मुझमें कमी है।

पत्नी—अच्छा, 'दक्ष' का आपने क्या भाव बतलाया?

पण्डितजी—जिस महान् कार्यके लिये मनुष्य-शरीर मिला है, उसे प्राप्त कर लेना अर्थात् भगवान्‌को प्राप्त कर लेना ही मनुष्यकी यथार्थ दक्षता है, जो अपना काम बना लेता है, वही 'दक्ष' कहलाता है।

पत्नी—तो क्या आप जिस महान् कार्यके लिये संसारमें आये थे, उसे पूरा कर चुके? क्या आपने परमपदको प्राप्त कर लिया? नहीं तो, फिर राजाका कहना उचित ही है।

पण्डितजी—तुम्हारा कथन सत्य है। मुझमें यह गुण भी नहीं है।

पत्नी—'उदासीन' पदका क्या अभिप्राय है?

पण्डितजी—जो गवाही देते समय, न्याय या पंचायत करते समय कुटुम्बी, मित्र, बन्धु आदिकी दृष्टिसे या राग, द्वेष, लोभ, मोह एवं भय आदिके वश होकर किसीका भी पक्षपात नहीं करता—सदा सर्वथा पक्षपातरहित रहता है, उसे 'उदासीन' कहते हैं।

पत्नी—क्या आप पक्षपातरहित हैं? क्या आपने राजाके सम्मुख अपने पक्षका समर्थन नहीं किया? क्या आपने राजाके इस कथनपर कि आप श्लोकके रहस्यको नहीं समझते, गम्भीरतापूर्वक ध्यान दिया? नहीं तो, फिर राजाका कहना कैसे उचित नहीं है?

पण्डितजी—(सरल और शुद्ध हृदयसे अपनी कमीको विनम्र भावसे स्वीकार करते हुए) तुम सच कहती हो। सचमुच तुमने आज मेरी आँखें खोल दीं। पक्षपातरहित होनेका तो मुझमें बड़ा अभाव है। कहीं वाद-विवाद होता है तो मैं अपने पक्षको दुर्बल जानकर भी अपने पक्षके दुराग्रहको नहीं छोड़ता।

पत्नी—अच्छा 'गतव्यथ' का आप क्या अर्थ करते हैं?

पण्डितजी—किसी भी प्रकारके भारी-से-भारी दुःख अथवा दुःखके हेतु प्राप्त होनेपर भी जो दुःखी नहीं होता अर्थात् जिसके अन्तःकरणमें कभी किसी तरहका विषाद, दुःख या शोक नहीं होता, वही 'गतव्यथ' है।

पत्नी—क्या आपके चित्तमें कोई व्यथा नहीं होती? यदि नहीं होती तो फिर राजाके वचनोंपर और मेरे समर्थन करनेपर आपको इतना उद्वेग और व्यथा क्यों होनी चाहिये?

पण्डितजी—तुम्हारा कहना सत्य है। यह भाव मुझमें बिलकुल नहीं है। मनके विपरीत होनेपर प्रत्येक पदपर केवल व्यथा ही नहीं; भय, उद्वेग, ईर्ष्या, शोक आदि विकार भी मुझमें दिखायी पड़ते हैं।

पत्नी—अच्छा, 'सर्वारम्भपरित्यागी' से आप क्या समझते हैं?

पण्डितजी—जो बाहर-भीतरके समस्त कर्मोंको त्यागकर केवल प्रारब्धपर ही निर्भर रहता है, अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये कुछ भी कर्म नहीं करता, अपने-आप जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीमें संतुष्ट रहता है तथा प्रारब्धवश होनेवाली क्रियाओंमें जिसके कर्तापनका अभिमान नहीं है, ऐसे बाहर और भीतरके त्यागीको 'सर्वारम्भपरित्यागी' कहते हैं।

पत्नी—बहुत सुन्दर व्याख्या है, परंतु बतलाइये क्या आपने बाहर और भीतरसे सब कर्मोंका त्याग कर दिया और क्या आपके अन्तःकरणमें कोई सांसारिक संकल्प नहीं होता? यदि नहीं, तो फिर आपको इतना अहंकार क्यों होना चाहिये? बाहरसे तो आप सब कर्म करते ही हैं।

पण्डितजी—सत्य है, यह बात तो मुझमें बिलकुल ही नहीं घटती। मैं अपनी सारी त्रुटियोंको समझ गया। सचमुच मैं अबतक अर्थ ही करता था। रहस्यसे अनभिज्ञ था। अब कुछ-कुछ समझमें आ रहा है। अतः तुम अनुमति दो, अब मैं बाहर और भीतरसे सब कुछ त्यागकर सच्चा संन्यासी बनने जाता हूँ। यों कह पण्डितजी सब कुछ छोड़कर घरसे चलने लगे।

पत्नीने प्रार्थना की—महाराजजी! मैं भी आपके साथ ही आपका अनुगमन करना चाहती हूँ।

पण्डितजी—मैं अपने साथ किसी झंझटको नहीं रखना चाहता। फिर स्त्रीको तो रखूँ ही कैसे।

पत्नी—नाथ! मुझे आप झंझट न समझिये। मैं आपके साधनमें कोई विघ्न नहीं करूँगी। मैंने जो आपको राजाके पास भेजा था, सो धनके लिये नहीं। धनको तो मैंने एक निमित्त बनाया था। मेरा उद्देश्य तो यही था कि आप जीवनके मुख्य लक्ष्यको प्राप्त कर लें। राजा तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महात्मा पुरुष हैं। आप धर्मज्ञ, सदाचारी, त्यागी, संतोषी विद्वान् तो हैं ही, तत्त्वज्ञ राजाके संग-प्रभावसे आपको परमात्माकी प्राप्ति भी हो जायगी—इसी लक्ष्यसे मैंने आपको वहाँ भेजा था। अब यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं आपके साथ चलना चाहती हूँ।

पण्डितजी—(कृतज्ञताके साथ) मैं अब इस बातको समझ गया। सचमुच तुमसे कोई हानि नहीं होगी। तुम्हीं तो मेरा सच्चा उपकार करनेवाली परम सुहृद् हो। वस्तुतः सच्चे सुहृद् वही हैं जो अपने प्रिय सम्बन्धीकी परमात्माकी प्राप्तिमें सहायता करते हैं। चलो, तुम तो वहाँ भी परमात्माकी प्राप्तिमें मेरी सहायता ही करोगी।

तदनन्तर वे दोनों सब कुछ त्यागकर घरसे निकल गये।

इधर, गुप्तचरने जो उन दोनोंकी परस्पर बातचीत सुनी और जो घटना देखी, वह सब राजाके पास जाकर ज्यों-की-त्यों कह दी। राजाने अपने राज्य, कोष आदि सब तो पहले ही अपने पुत्रको सँभला दिये थे, अब गुप्तचरकी बात सुनकर वे भी राज्य छोड़कर चल दिये। उन्हें रास्तेमें सम्मुख आते हुए ब्राह्मणदम्पति मिले। राजाने बड़े उल्लासके साथ उनसे कहा—'पण्डितजी महाराज! अब आप गीताके उस श्लोकका रहस्य समझे।'

पण्डितजीने नम्रताभरे शब्दोंमें उत्तर दिया—अभी समझा नहीं, समझनेके लिये जा रहा हूँ।

राजा भी उनके साथ ही चल पड़े। तीनों एक एकान्त पवित्र देशमें जाकर निवास करने लगे। राजा और ब्राह्मणपत्नी तो तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त महात्मा थे ही। उनके संगके प्रभावसे पण्डितजी भी परमात्माको प्राप्त हो गये।

[यह कहानी गीताके बारहवें अध्यायके १६ वें श्लोकका निवृत्तिपरक अर्थ करके बतलायी गयी है। इसका जो प्रवृत्तिपरक अर्थ होता है, वह इससे भिन्न है।]

अमृत-कण

१—मनुष्य-जीवनका समय बहुत मूल्यवान् है। यह बार-बार नहीं मिल सकता। इसलिये इसे उत्तरोत्तर भजन-ध्यानमें लगाना चाहिये।

२—मृत्यु किसीको सूचना देकर नहीं आती, अचानक ही आ जाती है। यदि भगवान्के स्मरणके बिना ही मृत्यु हो गयी तो यह जन्म व्यर्थ ही गया। मृत्यु कब आ जाय इसका कोई भरोसा नहीं। अतः भगवान्के स्मरणका काम कभी भूलनेका नहीं।

३—मनुष्यको विचार करना चाहिये कि मैं कौन हूँ, क्या कर रहा हूँ और किस काममें मुझे समय बिताना चाहिये। बुद्धिसे विचार कर वास्तवमें जिसमें अपना परम हित हो, वही काम करना चाहिये।

४—यदि अपने आत्माका उद्धार करना हो तो सब सात-पाँचको छोड़कर हर समय भगवान्‌का भजन करे।

५—भगवान्‌को छोड़कर और कहीं भी मनको न लगाये, जो भगवान्‌को छोड़कर अन्य किसीका भक्त नहीं, वही अनन्यभक्त है।

६—अपनी बुद्धिसे विचार करे कि क्या करना अच्छा है और क्या करना बुरा। जो बुरा है, उसका त्याग कर दे और जो अच्छा हो, उसके पालनमें तत्पर हो जाय।

७—भगवान्‌का भजन-साधन करनेमें यदि शरीर सूखने लगे, मृत्यु भी हो जाय तो कोई हर्ज नहीं।

८—जब शरीरके लिये संग्रह किये हुए संसारके पदार्थ साथ नहीं जा सकते तब उनके लिये अपना अमूल्य समय लगाना व्यर्थ है। जगत्‌में जितने मनुष्य हैं, प्रायः किसीको भी अपने पूर्वजन्मका ज्ञान नहीं है। इसी प्रकार इस वर्तमान घरको छोड़कर चले जायँगे तब इसे भी भूल जायँगे। फिर इतना परिवार और धन किसलिये इकट्ठा किया? यह हमारे क्या काम आयेगा? जब आगे यह किसी भी काम नहीं आयेगा तब हमें चाहिये कि इस लौकिक सम्पत्तिका मोह छोड़कर दैवी सम्पत्तिका भण्डार भरें। अपने हृदयसे दुर्गुण-दुराचारोंको हटाकर सद्‌गुण-सदाचारोंको भर लें।

९—साधन न होनेमें अश्रद्धा ही प्रधान कारण है, इसको हटाना चाहिये।

१०—ईश्वरने हमको जो कुछ भी तन, मन, धन, कुटुम्ब, विद्या, बल, बुद्धि, विवेक आदि दिया है, उसे ईश्वरकी सेवामें ही लगा देना चाहिये। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री प्रत्येक कार्यमें पतिकी प्रसन्नताका ध्यान रखती है, इसी प्रकार हम जो भी कार्य करें, पहले विचार लें कि इससे भगवान् प्रसन्न हैं या नहीं। वही कार्य करें, जिससे भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त हो।

११—जिस प्रकार कठपुतलीको सूत्रधार नचाता है, वैसे ही वह नाचती है। उसी प्रकार भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार चलें। जैसे वे करावें, वैसे ही करें।

१२—भगवान्‌की भक्तिमें किसी भी जाति और वर्णके लिये कोई रुकावट नहीं है, आवश्यकता है केवल विशुद्ध प्रेमकी।

१३—हर समय भगवान्‌को याद रखते हुए ही समस्त कार्य करे। भगवत्-स्मृतिरूप सूर्यके सामने अन्धकार नहीं रह सकता। भगवत्-स्मृतिसे सब दोष स्वतः ही दूर हो जाते हैं।

१४—अपने ऊपर भगवान्‌की और महापुरुषोंकी विशेष दया समझकर यह अनुभव करे कि हमारी दिनोदिन उन्नति हो रही है। सद्‌गुणोंका विकास, आसुरी सम्पत्तिका नाश और दैवी सम्पत्तिकी वृद्धि हो रही है एवं साधन प्रत्यक्ष बढ़ रहा है।

१५—श्रीबलरामजीको गायों-बछड़ों और ग्वाल-बालों—सभीमें भगवान् ही दीखते थे, वैसे ही समस्त प्राणियोंमें भगवान्‌को देखे और इस प्रकार देख-देखकर मुग्ध होता रहे।

१६—भगवान्‌का सारा विधान जीवोंके वास्तविक कल्याणके लिये ही होता है।

१७—कलियुगमें भगवान् थोड़े ही साधनसे मिल जाते हैं। हमलोगोंको यह मौका मिल गया है, अब इसे छोड़ना नहीं चाहिये।

१८—अपने प्रतिकूल जो भी घटना प्राप्त हो, उसे भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझे; उसमें घबराये नहीं, बल्कि परम आनन्दका अनुभव करे। विपत्ति जो भी आती है, भगवान्‌की भेजी हुई आती है! अतः उसे प्यारेका प्रसाद समझे और आनन्दमें मग्न हो जाय। विपत्तिमें भगवान्‌को देखे, क्योंकि विपत्तिमें भगवान्‌का छिपा हुआ प्यार भरा हाथ रहता है।

१९—मनुष्यकी मान्यता फलती है। जो जैसा मानता है, उसे वैसा ही फल होता है। अतः अच्छी-से-अच्छी भावना करनी चाहिये। भावनामें कृपणता क्यों?

२०—मान्यता करनेसे उसके अनुरूप ही अनुभव हो जाता है, अनुभव होनेके बाद वैसी ही स्थिति हो जाती है।

२१—नित्यकर्म, साधन, भजन—सभीमें ऊँचे-से-ऊँचा भाव करना चाहिये।

२२—हर समय अपनेपर भगवान्‌की कृपा समझें। कृपा समझनेमें सहायक हैं—सत्संग और स्वाध्याय। अभिप्राय यह है कि भगवत्-सम्बन्धी बातोंका श्रवण, मनन, पठन, कथन और आलोचन करे।

२३—भगवद्विषयक ये बारह बातें विशेष मनन करनेयोग्य हैं—१ नाम, २ रूप, ३ लीला, ४ धाम,

५ तत्त्व, ६ रहस्य, ७ गुण, ८ प्रभाव, ९ श्रद्धा, १० प्रेम, ११ शान्ति और १२ आनन्द।

२४—चार बातें बड़ी अच्छी हैं—१-भगवान्‌के नामका जप, २-स्वरूपका ध्यान, ३-सत्संग (सत्पुरुषोंका संग और सत्-शास्त्रोंका मनन), ४-सेवा। यह साधनकी चतुःसूत्री है। हमको तो अपने ६० वर्षके जीवनमें ये चार बातें सबके साररूपमें मिलीं।

२५—वैराग्य, निष्कामभाव, सत्यभाषण और शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार आचरण—इन चार बातोंके लिये भी मेरा विशेष अनुरोध है। परमार्थ-मार्गपर चलनेवालोंको इनके पालनपर विशेष जोर देना चाहिये।

२६—चार चीजोंको विषतुल्य समझकर बिलकुल त्याग दे—

१-पाप, २-भोग, ३-प्रमाद और ४- आलस्य।

२७—साधनमें पाँच बड़ी प्रबल घाटियाँ हैं—१-कंचन, २-कामिनी, ३-शरीरका आराम, ४-मान और ५-यश (कीर्ति)।

२८—दूसरेका गुण ही देखे, अवगुण कभी न देखे। मनुष्यको गुणग्राही होना चाहिये।

२९—एक तो होती है सेवा और दूसरी है परम सेवा। सेवा तो यह कि दूसरोंके लौकिक हितके लिये, शारीरिक सुख पहुँचानेके लिये अपना तन, मन, धन लगा देना। किसी पीड़ित मनुष्यको अन्न, जल, वस्त्र, औषध अपनी योग्यताके अनुसार दे देना, यह उसकी भौतिक सेवा है। परम सेवा वह है कि किसीको भगवान्‌के मार्गमें लगाना तथा जो मनुष्य भगवान्‌के मार्गमें लगे हैं, उनके लिये, उनके साधनमें सहायक आवश्यकीय वस्तुओंकी पूर्ति करना, साधनकी अन्य सुविधाएँ प्रदान करना तथा उन्हें सत्संगमें लगाना—इस प्रकार भगवच्चर्या आदिके द्वारा साधनकी उन्नतिमें हेतु बनना; और कोई मर रहा हो, उसे गीता, रामायण, भगवन्नाम आदि सुनाना। यह पारमार्थिक सेवा है। यही परम सेवा है। लाख आदमियोंकी भौतिक सेवासे एक आदमीकी परम सेवा बढ़कर है।

३०—भगवान्‌से माँगना ही हो तो यह माँगे कि सारे जीवोंका कल्याण हो जाय, सब सुखी हो जायँ। इस प्रकार सकामभावसे की गयी प्रार्थना भी निष्कामके ही तुल्य है।

३१—वक्ता और श्रोता दोनों ही पात्र हों तो असर अधिक होता है। दोनोंमेंसे एक पात्र हो तो कम असर होता है और दोनों ही अपात्र हों तो नहींके बराबर असर होता है।

३२—महापुरुषोंकी कोई भी क्रिया बिना प्रयोजन नहीं होती। उनकी सम्पूर्ण क्रियाएँ दूसरोंके हितके लिये—कल्याणके लिये ही होती हैं। वे किसीसे काम लेते हैं तो उसके कल्याणके लिये ही, अपने लिये नहीं।

३३—महान् पुरुष कभी अपनेको महान् नहीं मानते। श्रेष्ठ पुरुष कभी अपनी बड़ाई नहीं चाहते।

३४—जो महात्मा परमात्मामें मिल जाते हैं, वे परमात्मस्वरूप ही हो जाते हैं। परमात्माकी पूजा ही उनकी पूजा है।

३५—महात्मा पुरुषोंके दर्शनसे, उनसे वार्तालाप करनेसे मनुष्य पवित्र हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या, उनका स्मरण करनेसे भी अन्तःकरण पवित्र हो जाता है।

३६—भगवान्‌का यह नियम है कि **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'**—जो मुझे जैसे भजते हैं, वैसे ही मैं उनको भजता हूँ। परंतु महात्माओंका यह नियम नहीं है। उनका नियम इससे भिन्न है कि 'जो हमें नहीं भी भजते, उन्हें भी हम भजते हैं।'

३७—जैसे आगमें घास डाली जाय तो आग हो जाती है, और घासमें आग डाली जाय तो आग हो जाती है। इसी तरह महात्माके पास अज्ञानी जाय तो वह भी महात्मा हो जाता है और अज्ञानियोंके पास महात्मा चला जाय तो भी वह अज्ञानी मनुष्य महात्मा हो जाता है; क्योंकि महात्माओंके पास ज्ञानाग्नि है, उससे अज्ञान नष्ट हो जाता है।

३८—महात्माओंका ज्ञान अमोघ—अव्यर्थ है। उनका संग, दर्शन, भाषण, स्मरण सभी महान् फलदायक होते हैं।

३९—एक दीपकसे जब लाखों दीपक जल सकते हैं तब संसारमें एक महात्माके मौजूद रहते सब महात्मा क्यों नहीं बन सकते।

४०—महात्माका यथार्थ तत्त्व जाननेसे मनुष्य महात्मा ही हो जाता है, जिस प्रकार परमात्माका तत्त्व जाननेसे परमात्मा हो जाता है।

४१—महात्माका तत्त्व तब जाना जाता है, जब मनुष्य उनके आज्ञानुसार आचरण करता है।

अमृत-धारा

'अमृत' कहते हैं मृत्युके अभावको। मृत्यु ही जीवके लिये सबसे बड़ा भय है। आत्मा तो सदा अमर है। उसका न कभी जन्म होता है और न मृत्यु। गीता कहती है—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(२। २०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

परन्तु अनादि अविद्याके वशीभूत हुआ जीव अपने वास्तविक स्वरूपको भूल बैठा है और इस पांचभौतिक शरीरमें ही—जो प्रकृतिका कार्य होनेके कारण परिणामी और नश्वर है—इसकी 'अहं' बुद्धि हो रही है। यही कारण है कि यद्यपि उपर्युक्त भगवद्वाक्यके अनुसार शरीरके नाशके साथ आत्माका नाश नहीं होता, फिर भी अज्ञानवश शरीरके नाशको यह अपना नाश मानने लगा है, शरीरके सुखको अपना सुख और शरीर-कष्टको अपना कष्ट मानता है। शरीरके सुखके लिये यह अनेकों अवैध आचरण—पापाचरण करता है और फलतः बार-बार जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़कर दुःखी होता है।

यह मृत्यु-भय कीट-पतंगादि निकृष्ट योनियोंसे लेकर उत्तम-से-उत्तम देवादि योनियोंतक सबको समानरूपसे घेरे हुए है। यद्यपि शास्त्रोंमें देवयोनिको अमर बतलाया गया है एवं संस्कृत-कोशमें देवताओंका एक नाम 'अमर' भी आता है—'**अमरा निर्जरा देवाः**' (अमरकोश), तथापि देवतालोग वास्तवमें अमर नहीं हैं। उनका अमरत्व अपेक्षाकृत है—वे हम मर्त्यलोकके निवासियोंकी अपेक्षा अधिक दीर्घजीवी होते हैं। उनकी आयु हमलोगोंकी आयुसे सैकड़ों गुनी लंबी होती है, उनका अहोरात्र हमारे एक वर्षके बराबर होता है—छः महीनेकी रात्रि और छः महीनेका दिन। जितने कालतक भगवान् सूर्य उत्तरायणमें रहते हैं, उतने कालतक उनका दिन रहता है और जितने कालतक वे दक्षिणायनमें रहते हैं, उतनी लंबी उनकी रात्रि होती है। उनके कालमानसे उनकी आयु सौ वर्षकी होती है—इस प्रकार उनकी आयु हमलोगोंकी गणनासे ३६,००० वर्षसे कुछ ऊपर होती है। इस प्रकार वे हमारी दृष्टिमें एक प्रकार अमर ही हैं, क्योंकि उनके एक जीवनकालमें हमारी सैकड़ों-हजारों पीढ़ियाँ समाप्त हो लेती हैं। जैसे एक मच्छर अथवा पतंगेकी दृष्टिमें हम मनुष्य भी एक प्रकार अमर ही हैं; क्योंकि हमारे जीवनकालमें मच्छरोंकी सैकड़ों-हजारों पीढ़ियाँ बीत जाती होंगी—उसी प्रकार देवताओंका अमर कहलाना उचित ही है। इसी दृष्टिको सामने रखकर हमारे शास्त्रोंमें देवताओंके लिये 'अमर' अथवा 'अमर्त्य' तथा हम मनुष्यों तथा भूलोकके अन्य प्राणियोंके लिये 'मर्त्य' अथवा 'मरणधर्मा', 'मरणशील' आदि शब्दोंका एवं भूलोकके लिये 'मर्त्यलोक' आदि शब्दोंका व्यवहार किया गया है। वास्तवमें देवता भी हम मानवोंकी भाँति ही 'मर्त्य' अथवा 'मरणधर्मा' ही हैं। स्वर्गलोकसे गिरना ही उनकी मृत्यु है। गीता इस बातको डंकेकी चोट कहती है—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
(९। २१)

'वे (स्वर्गलोकको प्राप्त हुए जीव) उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं।'

यही बात 'अमृत' नामक दिव्य पेयके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिये। 'अमृत' के विषयमें भी शास्त्रोंमें ऐसे वचन मिलते हैं कि अमृतको पी लेनेपर जीव अमर हो जाता है। पुराणोंमें कथा आती है कि सृष्टिके आदिमें अमृतकी प्राप्तिके लिये भगवान्के आदेशसे देवताओं और दानवोंने मिलकर समुद्र-मन्थन किया था और उस मन्थनके फलस्वरूप प्रकट हुए अमृतके कलशको दानवलोग ले भागे। दानवोंको अमृत-पानका अनधिकारी समझकर—क्योंकि उनके अमर हो जानेपर जगत्का अमंगल ही होता—भगवान्ने मोहिनीरूप धारणकर उनसे अमृतका घड़ा ले लिया और वह अमृत देवताओंको पिला दिया, जिससे वे अमर हो गये। यज्ञादिमें सोमपानका* भी बड़ा माहात्म्य शास्त्रोंमें आया है। भगवती श्रुति कहती है—'**अपाम सोमममृता**

* यज्ञमें वेदमन्त्रोंद्वारा विधिसहित सोमलताका रस निकालकर पान किया जाता है, उसको 'सोमपान' कहते हैं; यह बहुत ही पवित्र है, इसके पीनेसे पापोंका नाश होता है।

अभूम'—'हमलोगोंने सोमपान किया और उसके फलस्वरूप हम अमर हो गये।' गीताजीमें भी सोमपानके द्वारा इन्द्रलोककी प्राप्तिकी बात नवम अध्यायके २० वें श्लोकमें आयी है। परन्तु इन सभी प्रसंगोंमें यह बात समझ लेनेकी है कि उपर्युक्त अमृतपान अथवा सोमपानके द्वारा जिस अमरत्वकी प्राप्तिकी बात कही गयी है, वह अमरत्व आपेक्षिक अमरत्व ही है। वास्तवमें अमर हो जाना—जन्म-मृत्युके अनादि बन्धनसे सदाके लिये छूट जाना कुछ और ही है और उस अमृतत्व अथवा अमृत पदकी प्राप्ति करानेवाला अमृतपान भी उपर्युक्त अमृतपानकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण है—यही बात इस लेखमें बतायी जाती है। इसी वास्तविक अमृतत्वकी प्राप्ति मनुष्यमात्रका परम एवं चरम ध्येय होना चाहिये—इसीलिये शास्त्रोंमें इसे 'निःश्रेयस' अथवा परम कल्याण कहा गया है। इसीकी प्राप्तिके लिये यह मनुष्य-देह हमें मिला है। इसकी प्राप्ति मनुष्य-देहमें ही सम्भव है, अन्य योनियोंमें नहीं। इसीलिये शास्त्रोंने मनुष्य-देहको देवताओंके लिये दुर्लभ बताया है। यदि देवताओंका अमरत्व ही वास्तविक अमरत्व होता तो फिर देवयोनिकी अपेक्षा मनुष्ययोनिको श्रेष्ठ क्यों बतलाया जाता; क्योंकि देवताओंको तो वह अमरत्व सहज ही—जन्मसे ही प्राप्त है। अस्तु,

अब हमें यह देखना है कि वह अमृत कौन-सा है, जिसके पानसे मनुष्य सदाके लिये अमर हो जाता है—देवताओंकी कोटिको भी लाँघ जाता है, जिसके पी लेनेपर फिर उसे माताका स्तनपान नहीं करना पड़ता, गर्भवासकी यन्त्रणा नहीं सहनी पड़ती, यमयातनासे उसका सदाके लिये छुटकारा हो जाता है और मृत्युका द्वार उसके लिये सदाके लिये बंद हो जाता है। कहना न होगा कि मोक्ष अथवा भगवत्प्राप्ति ही वह वास्तविक अमरत्व है, जिसकी शास्त्रोंमें इतनी महिमा गायी गयी है। वेदोंका तात्पर्य भी उसीकी प्राप्तिमें है—'**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**' (गीता १५। १५) (भगवान्ने कहा—वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य मैं ही हूँ।) चतुर्विध पुरुषार्थोंमें सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ—वास्तविक पुरुषार्थ यही है, मनुष्यका सारा प्रयत्न इसीके लिये होना चाहिये, इसीमें उसके जन्म एवं जीवनकी सार्थकता है। जो इसी जीवनमें इस अमरत्वको पा लेता है, उसीके माता-पिता धन्य हैं।

'**कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।**'

(स्कन्द०, माहे० कौमार० ५५। १४०)

उसीका कुल पवित्र है, उसीकी माता कृतार्थ है, पृथ्वी भी उसीके कारण पुण्यवती है। जो मनुष्य-जन्म पाकर भी इस अमूल्य निधिसे वंचित रहता है, वह तो पशुसे भी गया-गुजरा है। शास्त्रोंने 'कृतघ्न' एवं 'आत्महत्यारा' कहकर उसकी लांछना की है। गुसाईंजीने भी कहा है—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

इस अमृतत्वकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें अनेक उपाय बताये गये हैं। वे सभी उपाय अमृतत्वकी प्राप्तिमें सहायक होनेके कारण अमृत ही हैं। जिस प्रकार आयुर्वेदमें घीको आयुवर्धक होनेके नाते आयुरूप—जीवनरूप ही बताया गया है (**आयुर्वै घृतम्**), उसी प्रकार लक्षणा-वृत्तिसे अमृत-पदकी प्राप्तिके हेतुभूत सभी साधन अमृत ही कहे जाते हैं। इन विविध अमृतोंमेंसे एक भी अमृतका मनुष्य यदि पान कर ले तो वह वास्तवमें अमर हो सकता है—इसमें किंचिन्मात्र भी शंकाके लिये स्थान नहीं है। त्याग, समता, सत्य आदि सभी सद्गुण अमृत हैं। त्यागकी महिमा सभी शास्त्रोंमें गायी गयी है। श्रुतियोंने त्यागको स्पष्ट शब्दोंमें अमृतत्वकी प्राप्तिका कारण बताया है। कैवल्योपनिषद्के वचन हैं—

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।।

(१। ३)

'न सकाम कर्मोंसे, न सन्तानसे और न धनसे ही अमृतत्वकी प्राप्ति सम्भव है, केवल त्यागसे ही मोक्षार्थियोंने मोक्षकी प्राप्ति की है।'

ईशोपनिषद्में भी कहा है—'**तेन त्यक्तेन भुंजीथाः**' (त्यागसे ही अपनी रक्षा कर)। इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि त्यागमें ही रक्षा अथवा कल्याण है। भगवान्ने भी गीताजीमें त्यागकी दैवी सम्पदामें गणना की है (देखिये १६। २) और दैवी सम्पदाको मोक्षका हेतु बताया है—

'**दैवी सम्पद्विमोक्षाय**' (१६। ५)। इतना ही नहीं, उन्होंने त्यागको परम शान्तिकी प्राप्तिका साक्षात् कारण बताया है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (१२। १२)।

समताकी तो भगवान्ने जगह-जगह प्रशंसा की है। सुख-दुःखमें सम रहनेवालेको गीता अमृतत्वका अधिकारी बतलाती है—'**सोऽमृतत्वाय कल्पते**' (२। १५)। समता

ही भगवत्प्राप्तिका असाधारण लक्षण है और कर्म, ज्ञान, भक्ति सभी मार्गोंमें इसकी बड़ी आवश्यकता है। गीतामें जहाँ-जहाँ सिद्धपुरुषोंका वर्णन आया है, चाहे वे किसी भी मार्गसे अपने लक्ष्यपर पहुँचे हों, वहाँ-वहाँ समताकी बात जरूर आयी है (देखिये ६। ८, ९, ३२; १२। १८, १९; १४। २४, २५)। तेरहवें अध्यायमें वर्णित ज्ञानके लक्षणोंमें समचित्तताका साक्षात् उल्लेख हुआ है। कर्मयोगमें तो समताको ही योगका स्वरूप बतलाया गया है—'**समत्वं योग उच्यते**' (२। ४८) और कर्मयोगके साधकको सिद्धि-असिद्धिमें सम रहनेके लिये कहा गया है—'**सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा**' (२। ४८)। इतना ही नहीं, समताको साक्षात् परमात्माका स्वरूप बतलाया गया है—'**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**' (५। १९) और समतामें स्थित पुरुषको जीवन्मुक्त कहा गया है—'**इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।**' (५। १९) इस प्रकार समता भी साक्षात् अमृत है।

इसी प्रकार सत्य भी अमृत है। सत्य ब्रह्मका स्वरूप है—'**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।**' (तै० २। १) सत्यको भी भगवान्ने गीतामें दैवी सम्पत्तिके अन्तर्गत माना है और सत्यकी महिमा शास्त्रोंमें भरी पड़ी है। सत्यसे श्रुति आत्माकी प्राप्ति बतलाती है—'**सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा**' (मुण्डक० ३। १। ५) और सत्यकी भगवान्ने तपमें भी गणना की है—(देखिये गीता १७। १५)।

निराकार परमात्मा अथवा साकार भगवान्का ध्यान भी अमृत है। ध्यानजन्य सुखको भगवान्ने प्रारम्भमें विषके सदृश एवं परिणाममें अमृतोपम—अमृतके तुल्य बतलाया है—'**यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्**' (गीता १८। ३७)। यही नहीं, ध्यानको भगवान्ने परमात्माके साक्षात्कारका साक्षात् साधन स्वीकार किया है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।

(गीता १३। २४)

तथा ध्यानयोगके परायण मनुष्यको उन्होंने ब्रह्मके साथ एकीभावको प्राप्त होनेका अधिकारी बताया है (१८। ५२-५३)।

ब्रह्मचर्य भी अमृत है। श्रुति कहती है—'**ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत**' (ब्रह्मचर्य और तपस्याके बलसे देवताओंने मृत्युपर भी विजय प्राप्त कर ली।) ब्रह्मकी प्राप्तिमें हेतु होनेके कारण ही इसे ब्रह्मचर्य कहते हैं—'**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति**' (कठोपनिषद् १। २। १५)। गीतामें भी इस चरणको ज्यों-का-त्यों दुहराया गया है (देखिये ८। ११)।

कामनाओंका त्याग—निष्कामभाव भी अमृत है। श्रुति कहती है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

(कठ० २। ३। १४)

'मनुष्यके अन्तःकरणमें रहनेवाली कामनाएँ जब निःशेष हो जाती हैं, तब यह मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है और यहाँ—इसी जीवनमें वह ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।'

गीतामें भी निष्कामभावको अनामय पद—अमृत-पदकी प्राप्तिका कारण बताया गया है। गीता कहती है—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

(२। ५१)

'क्योंकि समबुद्धिसे युक्त ज्ञानीजन कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको (उसकी कामनाको) त्यागकर जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो निर्विकार परमपदको प्राप्त हो जाते हैं।'

भगवान् फिर कहते हैं—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

(२। ५५)

'अर्जुन! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।'

और स्थितप्रज्ञ पुरुष परमात्माको प्राप्त कर लेता है, यह बात २। ७२ में भी कही गयी है।

कामनासे बन्धन और कामनाके त्यागसे भगवत्प्राप्तिरूप शान्ति मिलती है—यह बात पाँचवें अध्यायमें भी स्पष्ट शब्दोंमें कही गयी है।

भगवान् कहते हैं—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

(५। १२)

'कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है।'

इन्द्रियोंका तथा मनका संयम भी अमृत है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥

(४। २७)

'दूसरे योगीजन इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें हवन करते हैं।'

यहाँ इन्द्रियोंके और मनके संयमको ही 'इन्द्रियोंकी क्रियाओंको आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें हवन करना' कहा गया है और इस प्रकारके हवनरूप यज्ञसे बचे हुए प्रसाद (अन्तःकरणकी निर्मलता एवं प्रसन्नता) रूप अमृतके खानेवालोंको सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है (देखिये ४। ३१)।

परमात्मविषयक ज्ञान तो अमृत है ही। श्रुति-भगवती कहती है—'**तमेव विदित्वातिमृत्युमेति**' (श्वेताश्वतर० ३। ८)—उन परमात्माको जान लेनेपर मनुष्य मृत्युको पार कर जाता है—अमर हो जाता है। गीतामें भी भगवान्ने कहा है कि परमात्माका ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य परमानन्दरूप अमृतका पान करता है—'**यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते**' (१३।१२) यह तो हुई साधनभूत ज्ञानकी बात। साध्यरूप ज्ञान तो परमात्माका स्वरूप ही है—'**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' (तै० २।१)। गीता भी परमात्माको ज्ञानस्वरूप बतलाती है—'**ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्**' (१३।१७)।

भक्ति भी तत्त्वज्ञानका साधन होनेसे अमृत है। गीतामें भगवान्ने कहा है कि अनन्य भक्तिके द्वारा भगवान्का भजन करनेवाला व्यक्ति तीनों गुणोंको लाँघकर ब्रह्म-प्राप्तिके योग्य बन जाता है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(१४। २६)

अन्यत्र भी भगवान् कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(१०। ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं, उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इतना ही नहीं, सगुण-साकार भगवान्का तो ज्ञान, दर्शन एवं एकीभावसे प्राप्ति केवल अनन्य भक्तिसे ही सम्भव है (देखिये गीता ११। ५४)।

वैराग्य भी अमृत है। राग, स्नेह अथवा आसक्तिसे रहित होना ही वैराग्य है। वैराग्यको भगवान्ने स्थिरबुद्धिका लक्षण बतलाया है और स्थिरबुद्धि पुरुष परमात्माको प्राप्त कर लेता है (२। ७२)—यह बात ऊपर कही जा चुकी है। भगवान् कहते हैं—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(गीता २। ५७)

'जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।' अनासक्ति (वैराग्य)-पूर्वक कर्म करनेवालेको भी भगवान्ने अपनी प्राप्ति बतलायी है—

असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः।

(गीता ३। १९)

उपरति वैराग्यका फल है। गीतामें उपरतिको परमात्मप्राप्त पुरुषका लक्षण बताया गया है—(देखिये ६। २०)। इसलिये उपरति भी अमृत ही है।

परमात्मविषयिणी श्रद्धा भी ज्ञानका साधन होनेसे अमृत है। भगवान्ने गीतामें कहा है—'**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्**' (४। ३९)। श्रद्धालु पुरुषको ज्ञानकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार निर्भयता, अन्तःकरणकी पवित्रता, दान, यज्ञ, गीतादि शास्त्रोंका स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, अक्रोध, दया, मृदुता, लज्जा, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर-भीतरकी पवित्रता, निर्वैरता, अभिमानशून्यता आदि दैवी सम्पदाके सभी अंग—सभी सद्गुण एवं सदाचार अमृतवत् समझकर निष्कामभावसे सेवन करने योग्य हैं और इनके विपरीत सारे दुर्गुण-दुराचार विषतुल्य, अतएव वर्जनीय हैं। विषय-सुख भी विषसदृश ही हैं। इसीलिये शास्त्रोंमें इन्हें त्यागनेको कहा गया है—'**विषयान्**

विषवत् त्यज।' विषय-सुखको भगवान्‌ने भी राजस एवं परिणाममें विषके समान अहितकर बताया है—'**परिणामे विषमिव**' (गीता १८। ३८)। अतएव वे त्याज्य हैं। लोकसेवा, तीर्थसेवन, व्रत-उपवास आदि भी तपके अन्तर्गत हैं, अतएव निष्कामभावसे सेवन करनेपर ये भी अमृततुल्य हैं।

भगवान्‌का नाम भी अमृत है। शास्त्रोंमें भगवन्नामके उच्चारणमात्रसे मोक्षकी प्राप्ति बतलायी गयी है। पद्मपुराणका वचन है—

ये वदन्ति नरा नित्यं हरिरित्यक्षरद्वयम्।
तस्योच्चारणमात्रेण विमुक्तास्ते न संशयः॥

(उत्तरखण्ड ७२। १२)

'जो मनुष्य 'हरि' इस दो अक्षरोंवाले नामका सदा उच्चारण करते हैं, वे उसके उच्चारणमात्रसे मुक्त हो जाते हैं—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।'

गीतामें नाम-जपरूप यज्ञको भगवान्‌ने अपना स्वरूप बतलाया है—'**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि**' (१०। २५)। शास्त्र रसनाको उपदेश देते हैं—

हे जिह्वे रससारज्ञे सर्वदा मधुरप्रिये।
नारायणाख्यपीयूषं पिब जिह्वे निरन्तरम्॥

'हे रसने! तू रसके सारको जाननेवाली है, तुझे मधुर रस सदा प्रिय है। अतः हे जिह्वे! तू निरन्तर नारायण-नामरूप अमृतका पान किया कर।'

भगवान्‌के नाम, रूप, लीला एवं गुणोंका श्रवण, मनन एवं कीर्तन तथा भगवद्धामका सेवन—ये सभी अमृत हैं। भगवान् रसमय, प्रेममय, आनन्दमय और अमृतमय हैं। उनका सब कुछ भगवत्स्वरूप अतएव अमृत है। भगवत्प्रेम भी अमृत है, क्योंकि प्रेम भी भगवान्‌का स्वरूप है। भगवच्छरणागति तथा भगवान् एवं महापुरुषोंकी कृपा भी अमृत है। गीता भगवच्छरणागतिको ही मायासे तरनेका उपाय बतलाती है—(देखिये ७। १४)। गीताके अनुसार उत्तम वर्णवालोंकी तो बात ही क्या है—स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि भी भगवान्‌की शरण ग्रहण करके परमगतिको प्राप्त कर लेते हैं—(देखिये ९। ३२-३३)। भगवान्‌ने जगह-जगह अपनी शरणागतिकी महिमा गायी है और उससे अपनी प्राप्ति, परम शान्ति एवं शाश्वत परम पदकी उपलब्धि तथा समस्त पापोंसे छूटनेकी बात कही है—(देखिये ९। ३४; १८। ६२, ६६)।

महाभारतमें महात्मा भीष्म भी भगवच्छरणागतिसे सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति बतलाते हैं। भीष्मजी कहते हैं—

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम्॥

(अनुशासन० १४९। १३०)

'भगवान् वासुदेवके आश्रित होकर एकमात्र उन्हींके परायण उन्हींपर निर्भर रहनेवाला मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे छूटकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

योगदर्शनमें भी ईश्वरप्रणिधान—भगवच्छरणागतिको योग अथवा समाधिसिद्धिका साधन माना गया है।

भगवान्‌का चरणामृत, उनके चरणोंमें चढ़ी हुई तुलसी, उनका साक्षात् पादोदकरूप श्रीगंगाजी तथा भगवत्प्रसाद—ये सब भी भगवत्प्राप्तिमें हेतु होनेसे अमृत हैं। भगवान्‌के चरणामृतकी शास्त्रोंमें बड़ी महिमा गायी गयी है। पद्मपुराणमें लिखा है—

विष्णोः पादोदकं पीतं कोटिजन्माघनाशनम्।

(पाताल० ७९। ३३)

'भगवान् विष्णुका चरणोदक पीनेसे करोड़ों जन्मोंके पापोंका नाश हो जाता है।'

इसीलिये उसे चरणामृत कहा जाता है।

तुलसीके सम्बन्धमें भी पद्मपुराणके वचन हैं—

या दृष्टा निखिलाघसङ्घशमनी स्पृष्टा वपुष्पावनी
रोगाणामभिवन्दिता निरसनी सिक्तान्तकत्रासिनी।
प्रत्यासत्तिविधायिनी भगवतः कृष्णस्य संरोपिता
न्यस्ता तच्चरणे विमुक्तिफलदा तस्यै तुलस्यै नमः॥

(पाताल० ७९। ६८)

'तुलसीजीके दर्शनमात्रसे सम्पूर्ण पापोंकी राशि नष्ट हो जाती है, उनके स्पर्शसे शरीर पवित्र हो जाता है, उन्हें प्रणाम करनेसे रोग नष्ट हो जाते हैं, सींचनेसे मृत्यु दूर भाग जाती है, तुलसीका वृक्ष लगानेसे भगवान्‌की सन्निधि प्राप्त होती है और उन्हें भगवान्‌के चरणोंपर चढ़ानेसे मोक्षरूप महान् फलकी प्राप्ति होती है। ऐसी तुलसीजीको हमारा प्रणाम!'

गंगाजीकी महिमा पुराणोंमें इस प्रकार वर्णित है—

तीर्थानां तु परं तीर्थं नदीनामुत्तमा नदी।
मोक्षदा सर्वभूतानां महापातकिनामपि॥

(पद्म०, स्वर्ग० ४३। ५३)

गंगा गंगेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥

(पद्म०, सृष्टि० ६०। ७८)

'गंगाजी तीर्थोंमें श्रेष्ठ तीर्थ, नदियोंमें उत्तम नदी तथा सम्पूर्ण प्राणियों और महापापियोंको भी मोक्ष देनेवाली हैं। और तो और, सैकड़ों कोसोंकी दूरीसे भी जो 'गंगा-गंगा' की रट लगाता है, वह समस्त पापोंसे छूटकर भगवान् विष्णुके धाममें चला जाता है।'

भगवत्प्रसादका माहात्म्य भी शास्त्रोंमें भलीभाँति वर्णित है। पद्मपुराणमें आया है—

विष्णुप्रसादनिर्माल्यं भुक्त्वा धृत्वा च मस्तके।
विष्णुरेव भवेन्मर्त्यो यमशोकविनाशनः॥
अर्चनीयो नमस्कार्यो हरिरेव न संशयः।

(स्वर्ग० ५०। १८)

'श्रीविष्णुके प्रसादरूप निर्माल्यको खाकर और मस्तकपर धारण करके मनुष्य साक्षात् विष्णुरूप हो जाता है और यमराजसे होनेवाले शोकका नाश करनेवाला बन जाता है। वह पूजन तथा वन्दनके योग्य श्रीहरिका ही स्वरूप है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।'

'प्रसाद' शब्दके संस्कृतमें कई अर्थ होते हैं। भगवान् एवं महापुरुषोंकी दया, अन्तःकरणकी स्वच्छता और प्रसन्नता तथा भगवान्‌को अर्पित किया हुआ नैवेद्य—ये सभी प्रसादके नामसे प्रसिद्ध हैं। अतएव ये सभी अमृत हैं; क्योंकि निष्कामभावसे इनका सेवन करनेपर समस्त दुःखोंकी निवृत्ति होकर मनुष्य परमपदको प्राप्त हो जाता है। नैवेद्यकी महिमा तो ऊपर सूत्ररूपसे बतायी गयी। अन्तःकरणकी स्वच्छता एवं प्रसन्नतारूप प्रसादकी महिमा श्रीगीताजीमें इस प्रकार वर्णित है—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

(२। ६५)

'अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है।'

परमात्मविषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न सुखको भी भगवान्‌ने परिणाममें अमृततुल्य बतलाया है—(देखिये गीता १८। ३७)।

भगवान्‌की कृपासे परम शान्ति एवं शाश्वतपदकी प्राप्तिकी बात ऊपर आ ही चुकी है। भक्तिशास्त्रमें महापुरुषोंकी कृपाको भी भगवत्प्रेमकी प्राप्तिका मुख्य साधन माना गया है—'**मुख्यतस्तु महत्कृपयैव**' (नारदभक्तिसूत्र ३८)। यज्ञशेषको भी भगवान्‌ने अमृत बतलाया है और उसके भोजन करनेवालेको सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति ऊपर बतलायी जा चुकी है। यहाँ 'यज्ञ' शब्दमें चौथे अध्यायके २४वें से ३१वें श्लोकतक वर्णन किये गये समस्त साधनरूप कर्तव्यकर्मोंका समावेश हो जाता है। अतः यज्ञशेषसे यहाँ उक्त समस्त साधनोंके अनुष्ठानसे अन्तःकरण शुद्ध होकर उसमें जो प्रसादरूप प्रसन्नताकी प्राप्ति होती है, उस अन्तःकरणकी प्रसन्नताका ही ग्रहण किया गया है और उक्त प्रसन्नतासे ब्रह्म-प्राप्ति उचित ही है। '**यज्ञो वै विष्णुः**' (तै० सं० ९। ७। ४) इस श्रुतिके अनुसार 'यज्ञ' का अर्थ विष्णु लेनेसे यज्ञशेषसे भगवत्प्रसादका भी ग्रहण हो सकता है और भगवत्प्रसादकी महिमा ऊपर आ ही चुकी है। अथवा 'यज्ञ' से पंचमहायज्ञ अथवा बलिवैश्वदेव भी लिया जा सकता है। इन सभी अर्थोंमें निष्कामभावसे किये जानेपर यज्ञशेषको हम अमृत कह सकते हैं और उस अमृतके भोजन करनेवालेका सम्पूर्ण पापोंसे छूटकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाना युक्तिसंगत ही है। इस प्रकार ऊपर कहे गये अमृतोंमेंसे किसी एकका अथवा बहुतोंका यथारुचि पान करके सदाके लिये अमर हो जाना चाहिये।

आत्मोद्धारविषयक प्रश्नोत्तर

सत्संगके समय बहुत-से भाई प्रश्न किया करते हैं, उनके उत्तर सर्वसाधारणके कामके होनेसे यहाँ लेखरूपमें दिये जा रहे हैं।

प्रश्न १—गीताके छठे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें कहा है कि 'अपने आत्माका अपने द्वारा उत्थान करना चाहिये, पतन नहीं'—इसका क्या भाव है?

उत्तर—इसका भाव यह है कि अपने-आपको ऊपर उठाने और नीचे गिरानेमें मनुष्य स्वतन्त्र है। शास्त्रके अनुकूल निष्कामभावसे उत्तम गुण और उत्तम आचरणोंका सेवन करना, ईश्वरकी भक्ति या ज्ञानका साधन करना—यह अपने द्वारा अपने-आपको ऊपर उठाना है तथा शास्त्रके विरुद्ध आचरण करना, दुर्गुण और दुराचारोंको न छोड़ना, ईश्वरको न मानना और अज्ञानमूलक प्रमाद, आलस्य या भोगोंके परायण होकर जीवन बिताना—यह अपने द्वारा अपने-आपका पतन करना है।

प्रश्न २—एक पुरुष शास्त्र और ईश्वरको नहीं मानता,

पर सद्गुणोंका सम्मान करता है। उसके लिये क्या पहचान है कि उसका उत्थान हो रहा है या पतन?

उत्तर—असत्य, व्यभिचार, हिंसा, चोरी, जूआ, राग-द्वेष आदि जिन बातोंको वह अपने सिद्धान्तसे बुरा समझता है, उन्हें तो कभी करता नहीं और सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अस्तेय, समभाव आदि जिन बातोंको उत्तम समझता है, उनका तत्परताके साथ पालन करता है, वह तो अपने द्वारा अपना उत्थान करता है; परंतु जो अपने सिद्धान्तसे जिन बातोंको बुरा समझता है, उनसे निवृत्त नहीं होता और जिनको उत्तम समझता है, उनका पालन नहीं करता—वह अपने द्वारा अपना पतन करता है।

प्रश्न ३—मनुष्य जितने समय शयन करता है, उतने समय परतन्त्र रहता है, उस समयमें भी आत्मसुधारके लिये क्या कोई प्रयत्न काम दे सकता है?

उत्तर—अवश्य दे सकता है, शयनके समय मनके संकल्पोंका जो प्रवाह चलता रहता है, प्रायः वही आगे जाकर स्वप्नके संसारका रूप धारण करता है, इसलिये बिछौनेपर लेटनेके बाद निद्रा आनेसे पहले-पहले मनके संकल्पोंके प्रवाहको भगवद्भावोंके रूपमें बदल देना चाहिये अर्थात् भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य, लीला आदि भगवद्विषयक संकल्पोंका प्रवाह बहाते-बहाते शयन करना चाहिये। अथवा लोकहितके विचारोंका चिन्तन करते-करते शयन करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे उत्तम स्वप्न आवेंगे और यदि गाढ़ निद्रा आ जायगी तो निद्रा टूटनेपर मनमें वही प्रवाह आ जायगा, जो निद्रासे पहले आरम्भ किया गया था। यह शीघ्र आत्मसुधारका बड़ा ही सरल तरीका है। इसमें न तो कोई समय ही लगता है, न पैसे खर्च होते हैं तथा न इसमें कोई परिश्रम ही है और लाभ बहुत अधिक है। इसलिये शयनकालमें हमारा जो समय निरर्थक जा रहा है, उसे सफल बनानेके लिये उपर्युक्त रीतिसे विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

प्रश्न ४—शरीर और इन्द्रियोंद्वारा आहार-विहार, व्यापार आदि लौकिक काम करते समय अपना उद्धार चाहनेवाले मनुष्यको क्या उपाय करना चाहिये जिससे कि जो समय व्यर्थ जा रहा है, उसका सुधार हो जाय?

उत्तर—ईश्वरविषयक स्मृति और प्रत्येक क्रियामें निष्कामभाव (स्वार्थ-त्यागका भाव) रखनेसे हमारा जो समय निम्न-से-निम्न कोटिका बीत रहा है, वह भी सुधरकर उच्च-से-उच्च कोटिका बन सकता है।

प्रश्न ५—हम जो दान देते हैं, परोपकार करते हैं उसके द्वारा शीघ्र-से-शीघ्र भगवत्प्राप्ति कैसे हो सकती है?

उत्तर—परोपकार करनेवाले दाताके अन्तःकरणमें जो यह भाव आता है कि यह दान लेनेवाला निम्न श्रेणीका है और मैं उच्च श्रेणीका हूँ अर्थात् मैं उसका उपकार करनेवाला और दान देनेवाला दाता हूँ—यह भाव जो उसके हृदयमें स्वाभाविक रहता है, इसीसे उसके दानका फल अल्प होता है। उसे दानके फलस्वरूप इस लोकमें धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि भौतिक पदार्थ यथायोग्य मिलते हैं तथा मरनेपर स्वर्गादिकी प्राप्ति हो सकती है किंतु ये सब हेय हैं। अतः परोपकार करनेवाले या दान देनेवाले व्यक्तिको अपने मनमें यह भाव रखना चाहिये कि जिन पदार्थोंसे लोगोंकी सेवा हो रही है, वे सब भी भगवान्के ही हैं और मैं भगवान्की प्रेरणासे ही दे रहा हूँ। मैं न तो उपकार करनेवाला हूँ और न दान देनेवाला ही। भगवान्की वस्तु भगवान्के ही कामके लिये भगवान्की प्रेरणासे मेरे द्वारा दी जाती है, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ। यह भगवान्की कृपा है जो मुझको वे काममें निमित्त बना रहे हैं। इस प्रकार जो भगवान्को याद रखते हुए निरभिमान होकर निष्कामभावसे देता है, उसका वह दान उच्च-से-उच्च कोटिका समझा जाता है और उससे शीघ्र-से-शीघ्र भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

प्रश्न ६—आजकल व्यापारमें अधिकांश लोग इनकम-टैक्स, सेल-टैक्स आदि कम देनेके लिये छिपाव करते हैं, झूठे बहीखाते बनाते हैं, चोरबाजारी करते हैं, अधिकारियोंको घूस देते हैं; और भी नाना प्रकारके छल-कपट, चोरी-बेईमानी आदि करते हैं, क्या उन लोगोंका भी सुधार होकर उद्धार हो सकता है?

उत्तर—हो क्यों नहीं सकता। प्रयत्न करनेपर सभी कुछ हो सकता है। समझकर प्रयत्न करना चाहिये। इन सब दोषोंका मूल कारण है—धनका अज्ञानमूलक लोभ। जिनका ईश्वर, परलोक और अपने कर्मके दुष्परिणामपर विश्वास नहीं है, वे ही लोग ऐसा कर रहे हैं। वे इस बातको नहीं समझ रहे हैं कि इस धनके साथ हमारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहेगा और उनके इस कर्मका कठोर दण्ड उन्हें ही भोगना पड़ेगा तथा धनकी क्या दशा होगी, पता नहीं। इसीलिये वे धनको ही सर्वस्व समझकर उसके परायण हो रहे हैं। परंतु उन्हें गम्भीरतापूर्वक विचारना चाहिये कि वे जिस धनके लिये नाना प्रकारके

अन्याय कर रहे हैं, उसके साथ उनका संयोग बहुत ही अल्प है, क्योंकि न तो वे ही बहुत कालतक रहनेवाले हैं और न धन ही। जब फिर इस धनसे इस लोकमें भी सुख नहीं है, तब परलोकमें तो है ही कहाँ! बल्कि धनके संग्रहमें, उसके रक्षणमें, व्यय करनेमें और वियोगमें उत्तरोत्तर क्रमशः अधिकाधिक इतना दुःख-ही-दुःख भरा है, जिसकी कोई सीमा नहीं। अतएव मनुष्यको धनकी दासता छोड़कर भगवान्‌के शरण होकर उनपर निर्भर होना चाहिये और अपने वैध व्यापारद्वारा भगवान्‌का पूजन करना चाहिये (गीता १८। ४६)* तथा इस प्रकार समझकर व्यापार करना चाहिये कि हम जो व्यापार करते हैं, वह धनके लिये नहीं, भगवान्‌के लिये करते हैं।

इस तरह सत्य और न्याययुक्त धन कमाकर जगज्जनार्दनकी सेवा करना अपना कर्तव्य मानकर लाभ और हानिको समान समझते हुए तथा भगवान्‌को निरन्तर याद रखते हुए भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार भगवान्‌के ही लिये निष्कामभावसे व्यापार करनेपर बहुत ही शीघ्र सुधार होकर उद्धार हो सकता है।

ऐसा न होनेमें सरकारी कानून भी एक प्रधान कारण है। इनकम-टैक्स और सेल-टैक्सकी अत्यधिक मात्रा होनेके कारण लोग सरकारसे छिपाव करते हैं, और कड़ाई करनेपर भी सरकारको पूरा टैक्स नहीं मिल पाता। किंतु जैसे कोई मनुष्य अधिक नफा लेता है तो उसका माल कम बिकता है और कम नफा लेता है तो अधिक बिकता है एवं इससे उसकी आय कम न होकर बिक्री अधिक होनेसे अधिक ही होती है; इसी प्रकार सरकारके द्वारा टैक्स कम कर दिये जानेपर, सम्भव है, लोग छिपाव कम करें, जिससे इस समय टैक्ससे जो आय होती है, उससे सम्भवतः सरकारको विशेष नुकसान भी न उठाना पड़े और लोग भी पापसे बच जायँ। इसी तरह जो नाना प्रकारके कंट्रोल और लाइसेंसकी नीति बरती जाती है इसके कारण भी लोग चोरबाजारी और घूसखोरी करते हैं तथा जनताको बाध्य होकर अधिक कीमतपर चीजें खरीदनी पड़ती हैं। सरकारसे हमारी प्रार्थना है कि सरकार इस ओर ध्यान दे और युद्धके बाद जो अन्न-वस्त्रादिपर नियन्त्रण किया गया है, वह एकदम उठा दिया जाय, यातायातपर जो प्रतिबन्ध लगा है, उसे खोल दिया जाय तथा लाइसेंसकी नीति बंद कर दी जाय। महात्मा गाँधीजीने भी इसका विरोध किया था। क्योंकि इससे व्यापारी झूठ-कपटमें तथा रेलवेके और सरकारके बहुत-से अधिकारी घूसखोरीमें पड़कर पापमें लिप्त हो रहे हैं एवं श्रमिकवर्ग परिश्रम कम करते हैं, इससे उपज कम होती है और कृषक अनाजको छिपाते हैं, जिससे महँगी और बढ़ती जाती है। इस तरह सारी दुनिया पतनकी ओर जा रही है और सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक—सभी प्रकारका ह्रास होता जा रहा है।

प्रभावशाली विचारशील लोगोंको इस विषयमें केन्द्रीय सरकारके उच्चाधिकारियोंको समझानेकी कोशिश करनी चाहिये तथा सरकारको भी चाहिये कि वह इन सब बातोंपर ध्यान देकर इनका सुधार करे, जिससे लोग दुःख, महँगी और पापसे बचें।

प्रश्न ७—विवाहके निमित्त अत्यधिक तिलक (टीका), दहेज आदिके कारण लोग अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं, अतः इस प्रथाके रुकनेका क्या उपाय है?

उत्तर—तिलक (टीका) तथा दहेजकी इस प्रथाकी बुराइयोंको देखनेसे तथा अज्ञानमूलक घृणित लोभके त्यागसे यह रुक सकती है। अपने सम्बन्धीसे तिलक-दहेज आदि लेना भी एक प्रकारसे दान ही है। जिस प्रकार अनुचित दान त्याज्य है इसी प्रकार अनुचित तिलक आदि भी त्याज्य है। इच्छा न होनेपर भी देनेवाला दुःखित हृदयसे देता है, इसलिये भी वह त्याग करने योग्य है। मुफ्तका धन लेनेसे अकर्मण्यता आ जाती है और पर-धनपर जो एक ग्लानि है, वह भी मिट जाती है। तिलक आदि अधिक दिये बिना कन्याका विवाह नहीं होता, अतः विवाहके लिये धनसंग्रहार्थ कन्याके अभिभावकोंको अनेक प्रकारके पाप करने पड़ते हैं। अधिक धन लेकर लड़केका सम्बन्ध करना प्रकारान्तरसे लड़केकी बिक्री करना है। इस कुप्रथाके कारण इसके लिये तरह-तरहके पाप करने पड़ते हैं, बहुत-से मनुष्य तो थोड़ा देकर बहुत दिखलाते हैं, उन्हें दम्भ करना पड़ता है। एकके अधिक तिलक-दहेज आदिको देखकर दूसरे भी अधिक देना चाहते हैं। लेते-देते समय जो दिखावा किया जाता है, इससे भी

* यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

इस प्रथाको प्रोत्साहन मिलता है, यह भी बड़ा भारी गुप्त दोष है। इससे पाप और दुःखकी वृद्धि होती है। अधिक दिये बिना विवाहादि न होनेसे वंशका नाश होता है। कई लड़कियाँ तो माता-पिताके इस क्लेशको देखकर आत्मघात कर लेती हैं और माता-पिताको भी लड़कियाँ भारस्वरूप प्रतीत होती हैं तथा बहुत-से दहेज आदि देकर अन्तमें भिखारी हो जाते हैं। यह बहुत बुरी प्रथा है। भारतमें प्रायः सभी देशों तथा सभी जातियोंमें यह व्यापक हो गयी है; किंतु यह धन, जन, प्रतिष्ठा और धर्मका विनाश करनेवाली है। अतएव तिलक-दहेज आदिकी इस कुप्रथाका सर्वथा बंद हो जाना अथवा नाममात्रके रूपमें रहना ही सबके लिये कल्याणकारी है।

प्रश्न ८—विवाहादिमें लोग अनेक प्रकारके आडम्बर करके जो व्यर्थका अतिशय धन व्यय करते हैं—जैसे बहुत अधिक रोशनी करना, अत्यधिक लोगोंको भोजन कराना, आतिशबाजी, खेल-तमाशे, नाटक-सिनेमा आदि कामोंमें व्यर्थ खर्च करना। सुधरे माने जानेवाले लोगोंमें भी इस खर्चकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है, इस फिजूलखर्चीके मिटानेके लिये क्या करना चाहिये?

उत्तर—यह धन-व्यय वस्तुतः देश और समाजके लिये हानिकर है, इससे धन, धर्म और समयका व्यर्थ क्षय होता है और दुःख तथा पापोंकी वृद्धि होती है। यह सब प्रकारसे जनताके लिये महान् हानिकर है। इस प्रकार गम्भीरतापूर्वक विवेकबुद्धिसे समझकर देश, जाति और समाजकी रक्षाके लिये इसको हठपूर्वक भी सर्वथा बंद कर देना चाहिये।

प्रश्न ९—जन्म, मृत्यु, विवाह और पर्व आदिमें देशजातिकी हानिकारक कुरीतियाँ उत्तरोत्तर बढ़ रही हैं, ये सर्वथा बंद कैसे हों?

उत्तर—ईश्वरके शरण होकर पाप-पुण्य, बुरे-भले तथा हानि-लाभका भलीभाँति विचार करके दृढ़ प्रयत्न करनेसे।

(क) लड़का पैदा होनेके समय लोग अपने घरोंमें बहुत-से लोगोंको बुलाकर चौपड़-ताश खेलते हैं, गाँजा-भाँग, बीड़ी-सिगरेट, शराब-कबाब आदि हेय वस्तुओंका सेवन करते हैं तथा हँसी-मजाक और खेल-तमाशा करते हैं। इससे बालककी माता और बच्चेके अन्तःकरणपर बुरे संस्कार जमते हैं। अतएव इसको महान् हानिप्रद समझकर इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। इसके बदलेमें जैसे पुराने समयमें 'जातकर्म' और 'नामकरण' आदि संस्कार होते थे, उस प्रकारसे शास्त्रविधिपूर्वक उत्सव मनाना चाहिये। माताके और बालकके हृदयमें अच्छे संस्कार उत्पन्न करनेके लिये कथा-कीर्तन, सत्संग और शास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिये तथा ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और सदाचारकी वृद्धिके लिये भक्तोंकी जीवनियाँ एवं वीर पुरुषोंके इतिहास पढ़कर सुनाने चाहिये, जिससे उनमें धर्म, समाज, अध्यात्म और लोकोन्नति आदिके संस्कार जमकर उनके स्वभावमें सुधार हो एवं इस लोक और परलोकमें उन्नति करनेवाले ज्ञानकी वृद्धि हो।

(ख) मृत्युके समय लोग रोते, बिलपते और सिर-छाती पीटते हैं, देश-विदेशसे बहुत लोग इकट्ठे हो जाते हैं और भारी आन्दोलन करके शोकका रूप बढ़ा लेते हैं। साथ ही उसके श्राद्धादिमें बड़ा भारी बाहरी आडम्बर करते हैं। यह ठीक नहीं है। इससे धन और समयका अपव्यय होता है, लोगोंको व्यर्थका कष्ट और परिश्रम होता है तथा मरनेवाले प्राणीको कुछ भी लाभ नहीं होता। इसलिये इसका सुधार करना चाहिये। ऐसा न करके इसके बदलेमें मृतककी आत्माको शान्ति मिलनेके लिये घरवालोंको शास्त्रविधिके अनुसार दाह-संस्कार, दशगात्र, नारायण-बलि, सपिण्डी श्राद्ध, ब्राह्मणभोजन आदि कराने चाहिये और ईश्वरसे प्रार्थना करनी चाहिये। शोककी निवृत्तिके लिये भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार-सम्बन्धी बातें और इतिहास-पुराणकी कथाएँ सुननी चाहिये। परिवारके लोग तथा सगे-सम्बन्धी, जो दूर रहते हैं और जिनको मन न होनेपर भी ऐसे अवसरोंपर बाध्य होकर आना पड़ता है, उनको इस ढंगसे सभ्यता तथा विनयपूर्वक समाचार लिखना चाहिये जिसमें वे न आवें तथा व्यर्थके खर्च, कष्ट और समयकी बर्बादीसे बच जायँ। श्राद्धादिके बाहरी आडम्बरमें अधिक रुपये न लगाकर अपनी शक्तिके अनुसार विधवा, अनाथ-बालक तथा आपद्ग्रस्त प्राणियोंकी सेवामें लगाने चाहिये।

आश्वासन देनेके लिये आनेवाले लोगोंका कर्तव्य है कि वे पूर्वमें होनेवाले अच्छे पुरुषोंके उदाहरण देकर शोकग्रस्त परिवारको धैर्य दिलावें; शरीर, संसार और भोगोंकी विनाशशीलता बतलाकर उनके हृदयमें ज्ञान, वैराग्य हो—ऐसी उत्तम पुरुषोंकी जीवनियाँ सुनावें। मृत्युका भय और परलोकका प्रलोभन देकर सदाचारमें लगावें। जिससे उनके चिन्ता-शोक दूर होकर उन्हें सन्तोष

और शान्ति मिले—ऐसी विवेक, वैराग्य और भक्तिकी बातें सुनावें।

(ग) विवाह आदिके समय चौपड़-ताश आदि खेलना, नाना प्रकारके गंदे गाली-गलौज, गंदे हँसी-मजाक करना, खेल-तमाशा आदि करना, बुरे गीत गाना, जुआ खेलना, आतिशबाजी करना, जीवहिंसा, बलिदान, मांसभक्षण, बीड़ी-सिगरेट, गाँजा-भाँग आदि मादक वस्तुओंका सेवन, सिनेमा-क्लब आदिमें जाना, होटलोंके मारफत खान-पानका इंतजाम करना आदि बहुत-सी बुरी बातें चल पड़ी हैं। ये सभी देश, जाति, धर्म, समाज और इस लोक, परलोकको नष्ट-भ्रष्ट करनेवाली हैं। इसलिये इनका सर्वथा बंद होना आवश्यक है। साथ ही विवाह आदि सभी संस्कार शास्त्रीय पद्धतिके अनुसार होम और देवपूजनपूर्वक श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके द्वारा विधिपूर्वक होने चाहिये। कन्या और वरका जिसमें परम हित हो, ऐसी शिक्षा देनी चाहिये और उन्हें ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सदाचारसम्बन्धी पुस्तकें देनी चाहिये। श्रेष्ठ सदाचारी विद्वानोंके द्वारा उपदेश, व्याख्यान, पदगान आदिका आयोजन करना चाहिये, जिससे सामाजिक, व्यावहारिक, धार्मिक और आध्यात्मिक ज्ञानकी वृद्धि हो।

(घ) होलीके समय आतिशबाजी करना, धूल, राख, कीचड़ आदि डालना, गंदे गीत गाना, खेल-तमाशा करना तथा देवीपूजा, कालीपूजा, दीपमालिका और सरस्वतीपूजाके समय जीवहिंसा, बलिदान, मांसभक्षण, आतिशबाजी, बहुत अधिक रोशनी करना और जुआ खेलना आदि बहुत-सी कुरीतियाँ चल पड़ी हैं। इनसे न तो इस लोकमें लाभ है और न परलोकमें ही। ये नैतिक और धार्मिक पतन करनेवाली हैं, इसलिये इनको सर्वथा बंद कर देना चाहिये। इनके बदलेमें भगवान्‌के नाम-गुणोंका कीर्तन, स्तुति-प्रार्थना, जप-तप, स्वाध्याय, देवपूजा, अतिथिसेवा, होम, दान, सत्संग आदि करने चाहिये। ऐसा आयोजन करना चाहिये जो इस लोक और परलोकमें परम हितकर हो।

ये सब कुरीतियाँ देश, जाति और अपने-आपके लिये महान् घातक हैं। इनसे नैतिक, धार्मिक, व्यावहारिक और सामाजिक पतन होता है। इनसे न तो स्वार्थकी सिद्धि है और न परमार्थकी ही; बल्कि ये इस लोक और परलोकको नष्ट करनेवाली और कलंक लगानेवाली हैं। इस बातको भलीभाँति समझ लेनेसे ये कुरीतियाँ बंद हो सकती हैं। बुद्धिमान् मनुष्यका कर्तव्य है कि वह गम्भीरतापूर्वक इनके दोषोंको समझकर स्वयं त्याग करे और दूसरोंसे करवावे।

प्रश्न १०—आजकल बाल-विधवाओंकी संख्या अधिक होनेके कारण भ्रूणहत्या भी अत्यधिक होती है, इसलिये विधवाविवाह धर्म माना जा सकता है या नहीं?

उत्तर—कभी नहीं; क्योंकि मनु आदि शास्त्रकारोंने इसका घोर विरोध किया है। विधवाविवाहका धर्मशास्त्रोंमें कहीं विधान नहीं है। श्रीमनुजी कहते हैं—

न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते।

(५। १६२)

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्॥

(९। ४७)

'साध्वी स्त्रियोंके लिये कहीं भी दूसरे पतिको अपनानेका उपदेश नहीं दिया गया है। धन आदिका बँटवारा एक ही बार होता है, कन्या किसीको एक ही बार दी जाती है तथा 'मैं दूँगा' यह प्रतिज्ञा भी एक ही बार की जाती है; सत्पुरुषोंके लिये ये तीन बातें एक-एक बार ही होती हैं।'

धर्म साधारण मनुष्योंकी मान्यतापर निर्भर नहीं करता। त्यागी महात्मा सत्पुरुषोंके द्वारा जो धारण किया जाता है, उसका नाम धर्म है। मनुजी कहते हैं—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥

(२। १)

'राग-द्वेष-शून्य विद्वान् सत्पुरुषोंने जिसको सदा सेवन किया और हृदयसे मुख्य जाना, उस धर्मको सुनो।'

इसलिये दस हजार मूर्ख मिलकर भी किसीको धर्म बतला दें तो वह धर्म नहीं है, बल्कि एक भी श्रोत्रिय ब्रह्मवेत्ता जिसको धर्म बतलावे, वही धर्म है—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥

(मनु० १२। ११३)

धर्म और ईश्वरकी सिद्धि वोटोंपर नहीं होती, यह तो श्रुति-स्मृतिपर ही निर्भर है।

धर्म उसको कहते हैं जो इस लोक और परलोकमें कल्याण कारक हो। विधवाविवाह तो इस लोकमें भी कल्याणकारक नहीं है, फिर परलोकमें तो हो ही कैसे सकता है। कल्याण तो परमात्माके तत्त्वज्ञानसे या ईश्वरकी

भक्तिसे या निष्कामभावपूर्वक धर्मपालनसे होता है। शास्त्रोंमें बतलाया है कि विधवा स्त्री केवल ब्रह्मचर्यके पालनसे ही उत्तम गतिको पा लेती है। मनुजीने कहा है—

मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥

(५। १६०)

'पतिकी मृत्युके पश्चात् ब्रह्मचर्यव्रतमें दृढ़तापूर्वक स्थिर रहनेवाली साध्वी स्त्री पुत्रहीना होनेपर भी सर्वोत्तम लोकमें जाती है, जैसे कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी (पुत्रके बिना भी) सर्वोत्तम लोकमें जाते हैं।'

शास्त्रोंमें कहीं भी विधवाके लिये दूसरा विवाह या नियोग (नाता) करना नहीं बतलाया है। पूर्वमें वेन नामके एक राजा हुए थे, उन्होंने विधवाओंके लिये नियोगकी प्रथा जारी की थी; किंतु उसे ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य—इन तीनों वर्णोंने घृणित समझकर स्वीकार नहीं किया था। मनुस्मृतिमें बतलाया है—

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः॥
अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति॥

(९। ६५-६६)

'विवाहके मन्त्रोंमें कहीं भी नियोगकी चर्चा नहीं है; विवाहकी विधिमें विधवाका पुनर्दान भी नहीं कहा गया है। वेन राजाने अपने शासनकालमें तो मनुष्योंमें भी इस प्रथाको जारी कर दिया था; किंतु यह पशुधर्म ही है, विद्वान् द्विजोंने इसकी सदा ही निन्दा की है।'

इससे मुक्ति तो हो ही नहीं सकती। सबको सांसारिक सुख भी नहीं मिलता। इसके विपरीत, उस स्त्रीको जगह-जगह तिरस्कार और क्लेशका सामना करना पड़ता है, इसलिये उसका वर्तमान जीवन भी दुःखमय बन जाता है।

आजकल कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि 'जब स्त्रीके मरनेपर पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है तब फिर स्त्रीको भी पतिके मरनेपर पुनर्विवाह करनेमें क्या आपत्ति है?' इसका उत्तर यह है कि स्त्रीके मरनेके बाद पुरुषके पुनर्विवाह कर लेनेपर भी उसकी पहलेकी सन्तान उसी कुल-गोत्रमें ही रहकर अपने पिताके द्वारा रक्षित और पालित हो सकती है और उसका उस घरमें दायभाग रहता है, उसके अपने हिस्सेके अनुसार अधिकार कायम रहता है; किंतु पतिकी मृत्यु हो जानेपर स्त्री यदि बच्चोंको वहीं छोड़कर दूसरे पुरुषसे विवाह करके वहाँ चली जाती है तो वे बच्चे बिलकुल अनाथ हो जाते हैं, उनका पालन-पोषण ही असम्भव-सा हो जाता है। और यदि सन्तानको साथ ले जाय तो उनका इस गोत्र और कुलसे सम्बन्धविच्छेद हो जानेके कारण वे अपने पैतृक धनसे वंचित रह जाते हैं। जहाँ दूसरे घरमें वह जाती है, वहाँ उसका पति न तो उन बच्चोंसे प्यार करता है, और न उन्हें दायभागका हिस्सा ही देता है। इस प्रकार वे पहलेवाले घरसे भी हाथ धो बैठते हैं और दूसरे घरसे भी उन्हें कुछ नहीं मिलता। उनके शादी-विवाह भी कठिन हो जाते हैं। इस प्रकार वे महान् कष्टमें पड़ जाते हैं। और यदि उस स्त्रीकी दूसरे पतिसे नहीं पटती तो फिर उसे तीसरा घर देखना पड़ता है, इस प्रकार घर-घरका भटकना भी साधारण क्लेश नहीं है। लोग उसे घृणा और तिरस्कारकी दृष्टिसे देखते हैं, यह भी उसके लिये महान् क्लेशका कारण है। इसलिये भी शास्त्रकारोंने पुनर्विवाहका बहुत निषेध किया है।

यदि कहो कि भ्रूणहत्याकी अपेक्षा तो विधवा-विवाह कहीं अच्छा ही होगा तो इसका उत्तर यह है कि भ्रूणहत्या भी पाप है और विधवा-विवाह भी पाप है। धर्म तो किसीको भी नहीं कहा जा सकता। धर्म तो वही है जो श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा धारण करनेयोग्य तथा इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाला है। यदि कहो कि बहुत आदमी इसे आजकल धर्म मानते हैं तो इससे क्या हुआ, धर्म बहुत आदमियोंकी मान्यतापर निर्भर नहीं करता। बहुत आदमियोंके मान लेनेसे किसी बातको धर्म नहीं माना जा सकता। यदि कहो कि आजकल तो कई विधवा स्त्रियाँ पुनर्विवाह कर लेती हैं सो यदि कोई अपनी कामवासनाकी पूर्तिके लिये ऐसा करती हैं तो उनका वह आचरण धर्म कैसे कहा जा सकता है। कामवासनाकी तृप्तिके लिये भोगविलासके क्षणिक सुखको कोई सुख भी माने तो वह तो अत्यन्त घृणित ही है और घृणित होनेसे वह त्याज्य ही है।

अतएव विधवा स्त्रियोंको शास्त्रमें बतलाये हुए कर्तव्यका पालन करना चाहिये। पतिके मरनेपर विधवा स्त्रीको वैराग्यपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए सदाचार और ईश्वरकी भक्तिमय जीवन बिताना, इन्द्रियोंका संयम और शास्त्रोंका स्वाध्याय करना तथा पुत्रोंके अधीन रहकर पतिके बतलाये हुए मार्गके अनुसार ही आजीवन चलना चाहिये। श्रीमनुजी कहते हैं—

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु॥
आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम्॥

(५। १५७-१५८)

'विधवा स्त्री फल-फूल, कन्द-मूल आदि सात्त्विक पदार्थोंसे ही जीवन-निर्वाह करती हुई इच्छापूर्वक अपने शरीरको सुखा डाले, परंतु पतिकी मृत्युके बाद (कामवासनासे) किसी पराये पुरुषका नाम भी न ले। पतिव्रता स्त्रियोंका जो धर्म है, उस सर्वोत्तम धर्मको पानेकी इच्छा रखनेवाली विधवा मृत्युपर्यन्त क्षमाशील, मन-इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाली तथा ब्रह्मचारिणी रहे।'

प्रश्न ११—हमलोग प्रातःकाल और सायंकाल सन्ध्या-गायत्री, भजन-ध्यान, पूजा-पाठ करने बैठते हैं, उस समय या तो आलस्य आ जाता है या मन चारों ओर दौड़ लगाता रहता है। बहुत कालतक साधन करते रहनेपर भी लाभ नहीं देखनेमें आता, इसके लिये हमें क्या करना चाहिये?

उत्तर—प्रातःकाल और सायंकालके नित्यकर्मको—सन्ध्या-गायत्री, भजन-ध्यान, पूजा-पाठको हमें जितना आदर देना चाहिये, उतना नहीं देते; बल्कि उपेक्षाबुद्धिसे करते हैं। हमें चाहिये कि हम भगवान्‌को और उनके लिये किये जानेवाले साधनको जीवनका महान् आदरणीय कार्य समझकर बड़े ही सत्कारके साथ उसका आचरण करें।

आलस्य आनेमें कई हेतु हैं—रात्रिमें नींदकी कमी, भारी और अधिक भोजन करना, तामसी पदार्थोंका सेवन, आसन ठीक तरहसे न लगाना, ईश्वरमें श्रद्धा-प्रेमकी कमी और अत्यधिक शारीरिक परिश्रम। इन कारणोंको दूर करनेके लिये हमें भोजन सात्त्विक (गीता १७। ८), हलका और भूखसे कुछ कम मात्रामें—उचित रूपमें करना चाहिये (गीता ६। १७)। रात्रिमें पूरे छः घंटे शयन कर लेना चाहिये और सबेरे उठकर शौच-स्नानसे निवृत्त होकर जहाँ हल्ला-गुल्ला और विघ्न-बाधाएँ न हों, ऐसे निर्जन और पवित्र स्थानमें अच्छी प्रकार आसन लगाकर बैठना चाहिये। कमर और ग्रीवा सीधी रहनी चाहिये (गीता ६। १३), जिससे आलस्य न आवे। नाशवान् क्षणभंगुर सांसारिक पदार्थोंको आदर न देकर भगवान्‌की प्राप्तिके साधनों तथा भगवान्‌को ही अपना सर्वस्व धन, प्राण और जीवन मानकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक बड़े आदरके साथ भगवान्‌में मन लगानेका प्रयत्न करना चाहिये, इस प्रकार करनेसे आलस्य कम हो सकता है।

अज्ञानके कारण सांसारिक पदार्थोंमें जो हमलोगोंकी सुख और शोभनबुद्धि हो रही है और मनका संसारमें जो एक विचरण करनेका अभ्यास हो गया है—इन सब कारणोंसे संसारका चिन्तन मनको प्रिय लगता है और वह उनमें विचरता रहता है। इसीसे विक्षेप-दोष बढ़ता है। इसके सुधारके लिये हमलोगोंको विवेक और वैराग्यसे काम लेना चाहिये। मनको समझाना चाहिये कि संसारके पदार्थोंमें जो सुख प्रतीत होता है, वह अज्ञानसे होता है, वास्तवमें उनमें सुख है ही नहीं। संसारके सारे पदार्थ नाशवान्, क्षणभंगुर और दुःखके ही हेतु हैं (गीता ५। २२); इसलिये ये आत्माका पतन करनेवाले तथा संसारमें ही भटकानेवाले हैं। ऐसा सोचकर चित्त-वृत्तियोंमें वैराग्य करना चाहिये, वैराग्य करनेसे ही वृत्तियाँ संसारके चिन्तनसे हट सकती हैं। मनको यह भी समझाना चाहिये कि संसारका व्यर्थ चिन्तन करनेसे जब स्वार्थकी ही सिद्धि नहीं होती तब फिर परमार्थकी सिद्धि तो हो ही कैसे सकती है। इन पदार्थोंमें हमारी जो प्रीति है, वह उनमें सुख और शोभनबुद्धिके कारण है और वह सुख और शोभनबुद्धि केवल भ्रान्तिमात्र है, वास्तवमें नहीं है; यदि वास्तवमें हो तो वह स्थायी होना चाहिये। क्योंकि जो चीज सत्य होती है, उसका विनाश नहीं होता और जो मिथ्या होती है, वह टिक नहीं सकती। भगवान् कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२। १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है, और सत्‌का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

अतः संसारमें जो सुख और शोभनबुद्धि है, देश, काल और वस्तुका विचार करनेपर वह अल्प और एकदेशीय सिद्ध होती है। जिस इन्द्रियको सुख प्रतीत होता है, उसी कालमें उससे भिन्न दूसरी इन्द्रियको नहीं होता। जैसे नेत्रोंको दर्शनका सुख होता है तो कानोंको नहीं और कानोंको श्रवणका सुख होता है तो नासिकाको नहीं। इसी प्रकार सभी इन्द्रियोंके विषयमें समझना चाहिये। अतः वह सुख अल्प और क्षणिक है। तथा क्षणिक होनेसे

अनित्य है और अनित्य होनेसे असत् है। क्योंकि इन्द्रिय और विषयोंके संगसे जो सुख प्रतीत होता है, वह संयोगके दूसरे क्षणमें नहीं रहता। जिन पदार्थोंके साथ संयोग है, वह संयोग भी क्षणिक है और पदार्थ भी क्षणिक हैं; क्योंकि पदार्थोंका क्षण-क्षणमें परिवर्तन होता रहता है तथा संयोगके साथ वियोग भी अवश्यम्भावी है।

इस प्रकारसे विचार करनेपर यही निर्णय होता है कि सांसारिक सुख वास्तवमें सुख ही नहीं है। ऐसा विचारकर मनको बार-बार इन पदार्थोंसे हटाकर परमात्मामें लगाना चाहिये। इस प्रकार विवेक और वैराग्यपूर्वक तीव्र अभ्यास करनेसे संसारकी स्फुरणा कम हो सकती है।

सन्ध्या-गायत्री और गीता, विष्णुसहस्रनाम, रामायण, भागवत, स्तोत्र आदिका पाठ करते समय उनके अर्थकी ओर लक्ष्य रखते हुए और यदि अर्थका ज्ञान न हो तो टीकामें लिखे हुए अर्थका मनन करते हुए उनके तत्त्व-रहस्यको समझ-समझकर उनका आस्वादन करना चाहिये।

भगवान्‌के नामका जप करनेके समय भगवान्‌के निर्गुण-सगुण,निराकार-साकार, जिस रूपमें अपनी श्रद्धा और रुचि हो, उसी रूपका एवं भगवान्‌के गुण-प्रभावका मनन करते हुए प्रेमपूर्वक चिन्तन करे और उनकी रूप-माधुरीका आस्वादन करे।

भगवान्‌के समान संसारमें हमारा कोई नहीं है। वे ही हमारे माता-पिता, भाई-बन्धु, धन-प्राण, सर्वस्व हैं। इसलिये क्षणभंगुर नाशवान् संसारसे सर्वथा सम्बन्ध तोड़कर केवल सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परम सुहृद् और प्रेम तथा माधुर्यके एकमात्र निधान भगवान्‌से ही श्रद्धा और आदरपूर्वक सर्वभावयुक्त सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये तथा भगवान्‌के दर्शन, भाषण, वार्तालाप, स्पर्श, चिन्तन—सभी प्रेमपूर्ण और रसमय—अमृतमय हैं एवं उन निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका श्रद्धापूर्वक चिन्तन भी आनन्दमय और अमृतमय है, इस तरह श्रद्धा, भक्ति और आदरसे नित्य-निरन्तर उसका ध्यान करते हुए उसमें तन्मय हो जाना चाहिये।

उपर्युक्त प्रकारसे प्रयत्न करनेपर, जो आपको बहुत काल साधन करनेपर भी लाभ नहीं हुआ, वह लाभ बहुत थोड़े समयमें ही मिलनेकी सम्भावना है। इसलिये ऊपर बतलाये हुए साधनोंके अनुसार कटिबद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये।

प्रेमपरवश भगवान्‌की लीला

[प्रवीरका* अलौकिक भगवत्प्रेम]

प्रवीर माहिष्मती नगरीके नरेश श्रीनीलध्वजके पुत्र थे। इनकी जननी जुन्हादेवी सरल, साध्वी एवं धर्मपरायणा थीं। भगवद्भक्तिके साथ-साथ वे बड़ी स्वाभिमानिनी, वीरांगना और धैर्यशीला भी थीं। इनके अत्यन्त पवित्र जीवनका प्रभाव इनके पुत्र प्रवीरपर पूर्णतया पड़ा। फलत: प्रवीरमें भी सरलता, सौजन्य, सत्प्रेम और भगवद्भक्ति कूट-कूटकर भर गयी। वीरता उनके अंग-प्रत्यंगसे छलकती दीखती थी, पर वे निरन्तर भगवच्चिन्तन एवं उनके प्रेममें तन्मय रहा करते थे।

उन दिनों इन्द्रप्रस्थमें कौरवोंको पराजित कर धर्मराज श्रीयुधिष्ठिर महाराज राज्य कर रहे थे। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके परामर्शसे अश्वमेध यज्ञ करनेका निश्चय किया। अश्व छोड़ा गया। उसकी रक्षाके लिये धनुर्धर अर्जुन नियत हुए। उनके साथ विशाल वाहिनी थी। यात्राके पूर्व भगवान् श्रीकृष्णने भी अर्जुनके साथ चलनेकी इच्छा प्रकट की; किंतु 'इस छोटे-से कार्यके लिये आपको कष्ट देना अपेक्षित नहीं। भूमण्डलपर विजय प्राप्त कर लेनेके लिये तो मैं और यह सेना ही पर्याप्त है।' कहकर अर्जुन चल पड़े। अर्जुनके मुखपर छिपी अभिमानकी रेखा चमक रही थी।

'वीरवर अर्जुनके साथ युद्ध करनेका जिन्हें साहस हो, वे इस अश्वको पकड़ें अन्यथा उपहारसहित महाराज युधिष्ठिरके अश्वमेधयज्ञमें नियत समयपर उपस्थित हों' अश्वके मस्तकपर स्वर्णपत्रमें लिखा हुआ था। सबके आगे झूमता हुआ अश्व चला जा रहा था और उसके पीछे वीरवर अर्जुनके साथ सशस्त्र विपुल वाहिनी चल रही थी।

* बंगालके प्रचलित लीलाभिनयों (यात्रा)-में प्रवीरकी लीला की जाती है। वह बड़ी ही सुन्दर और मनोहर है। यह आख्यायिका उसीके आधारपर लिखी गयी है। यह कहाँतक सच्ची है, इसका पता नहीं। प्रवीरकी कथा जैमिनीय-अश्वमेधमें भी आती है, पर वह अन्य रूपमें है।

कोई नहीं दीखता था, जो अश्वकी ओर पूर्णतया देखनेका साहस कर सके। पथमें जितने भी राजा-महाराजा मिले, सबने सर्वत्र स्वागत किया और युधिष्ठिर महाराजकी अधीनता स्वीकार की। इसी प्रकार वह अश्व माहिष्मतीके समीप पहुँचा।

प्रवीरके पिता माहिष्मतीनरेश नीलध्वज अर्जुनका नाम सुनते ही सशंक हो गये। उन्होंने अश्वको न पकड़नेमें ही कुशल समझी, पर इस संवादसे वीरांगना जुन्हादेवी क्षुब्ध हो गयीं। उन्होंने अपने पतिदेवके इस कृत्यको कायरता समझा तथा ऐसे अनेक प्रयत्न किये, जिससे वे अपने क्षत्रियत्वकी प्रतिष्ठा-रक्षाके लिये अर्जुनसे युद्ध करनेके लिये प्रस्तुत हो जायँ; पर नीलध्वज अपने निश्चयसे विचलित नहीं हुए।

पतिसे निराश होते ही जुन्हादेवी अपने प्राण-प्रिय पुत्र भक्त प्रवीरके समीप गयीं और उसे प्रतिष्ठारक्षार्थ समरमें डट जानेके लिये प्रोत्साहित करती हुई बोलीं— 'बेटा! मैं तुम्हें अपने प्राणोंसे अधिक प्यार करती हूँ, साथ ही तुमसे देश, जाति और स्वाभिमानकी रक्षाकी आशा भी करती हूँ। अर्जुनकी विशाल वाहिनी अश्वमेधके अश्वके साथ तुम्हारे क्षत्रियत्वको, तुम्हारी वीरताको, तुम्हारी स्वतन्त्रता एवं तुम्हारे देशाभिमानको ललकार रही है। पर मैं चाहती हूँ कि वह यहाँसे विजयोन्मत्त बनकर न जा सके। तुम उठो! अति शीघ्र उठो!! अश्वमेधके अश्वको पकड़कर अर्जुनको उलटे पाँव लौटनेके लिये विवश कर दो। उनकी मदोन्मत्त चतुरंगिणीको अपने तीक्ष्ण शरोंसे वेध कर एक क्षणके लिये भी यहाँ टिकने न दो।'

'माँ! श्रीकृष्ण-सारथि वीरवर अर्जुन!' प्रवीर चकित होकर बोल भी नहीं पाया कि उसकी स्नेहमयी जननीने दुर्गाकी भाँति हुंकारकर कहा, 'हाँ, वही अर्जुन! यदि तुझे एक क्षण भी विचार करना है तो स्पष्ट बोल, मैं स्वयं युद्ध करनेके लिये अर्जुनके विशाल सैन्यमें प्रवेश करूँगी। मैं समझूँगी कि मैंने पुत्रको जन्म ही नहीं दिया था।'

'आज्ञा शिरोधार्य है माता! तुम निश्चिन्त हो अन्तःपुरमें जाओ।' प्रवीरके इस कथनसे संतुष्ट हो माता भीतर चली गयी और प्रवीरने अर्जुनके पास पत्र भेजा, 'मैं आपका अश्व रोक रहा हूँ। आप रणांगणमें आ जाइये।'

दूत उत्तर ले आया। वीर प्रवीरने पढ़ा, 'वीर! क्षत्रियोचित पत्र पढ़कर मुझे प्रसन्नता हुई, एतदर्थ अत्यन्त प्रसन्न होकर मैं तुम्हें धन्यवाद देता हूँ, किंतु तुम अभी नन्हें बच्चे हो। जीवनका आनन्द छोड़कर मृत्यु-मुखमें जानेके लिये मचलना अच्छा नहीं।'

प्रवीरने तुरंत पत्र लिखा, 'वीरवर! कायरतापूर्ण वाणी आपको शोभा नहीं देती। युद्ध करनेकी इच्छा न हो तो आप इन्द्रप्रस्थ लौट जा सकते हैं। अश्वको मैं नहीं छोड़ सकूँगा।'

फिर क्या था। दूसरे दिन अरुणोदय होते ही समर छिड़ गया। भयंकर युद्ध हुआ। भक्तवर वीर प्रवीरके पैने बाणोंसे अर्जुन आकुल हो उठे। उन्होंने प्रद्युम्नसे कहा, 'प्रवीरकी सुकुमारताका विचार छोड़कर तुम शरवर्षा करो।' पर प्रद्युम्नने तुरंत कहा, 'आपकी भाँति वीर प्रवीर भी मेरे पिताजीके प्रिय भक्त हैं। अतः इनकी भक्तिका ध्यान आनेपर मेरा हाथ शिथिल पड़ जाता है और मैं पूरे वेगसे युद्ध नहीं कर सकता।' इसके बाद महाबली भीम आगे आये; किंतु भगवच्चरणाश्रित, भगवान्‌के बलसे बलवान् प्रवीरके चुटीले तीरोंके सामने उनकी एक न चली। यह दशा देखकर अत्यन्त क्रोधसे अर्जुनने आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया। पर अग्निकी भीषण ज्वालाएँ प्रवीरके बाणोंकी वारि-धाराके सामने शीतल हो गयीं। इसी प्रकार अर्जुनने जिन-जिन भयंकर एवं विषैले बाणोंको प्रवीरका मस्तक छिन्न करनेके लिये चलाया, वे सभी व्यर्थ सिद्ध हुए। राजकुमार प्रवीरने अर्जुनसमेत उनके सैन्यको विकल एवं पराजित कर दिया।

अर्जुनके वीरत्वदृप्त मुख-मण्डलपर विषादकी कालिमा छा गयी। उसी समय प्रवीरने आकर कहा—'वीरवर अर्जुन! अश्वमेधका घोड़ा इसी बलपर छोड़ा था? मैं आपको स्पष्ट बता देता हूँ कि यदि आपको अपने प्राण प्यारे नहीं हों तब तो आप कल पुनः समरभूमिमें आइयेगा; अन्यथा अब सुखपूर्वक लौट जाइये और यहाँ उस दिन उपहार लेकर आइये, जिस दिन इस घोड़ेसे मैं अश्वमेध यज्ञ करूँगा। आप भगवान् श्रीकृष्णकी सहायताके बिना मुझपर विजय कभी भी नहीं पा सकते। मुझे जीतनेकी आकांक्षा मनमें हो तो श्रीकृष्णको बुलाइये, उनके दर्शनकर मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा।' प्रवीर कुछ क्षणोंके लिये भगवान्‌के ध्यानमें तन्मय हो गया!

पर प्रवीरकी वाणी अर्जुनके हृदयमें तीरकी भाँति प्रवेश कर गयी। उन्होंने अब भगवान्‌के सामने अभिमानभरी

वाणी कहनेकी अपनी भूलका अनुभव किया। तुरंत व्याकुल होकर भगवान्‌से प्रार्थना की, 'हे हरि! हे नाथ!! हे गोविन्द!!! हे वासुदेव!! हे नारायण!!! मेरी अनुचित वाणीके लिये क्षमा करें। आप सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वेश्वर हैं। आप शीघ्र आकर मेरी रक्षा करें।' अर्जुनकी पुकार सुनते ही भक्तभयभंजन भगवान् तुरंत वहाँ प्रकट हो गये। मानो अबतक यहीं कहीं छिपे थे।

भगवान्‌को देखते ही अर्जुन उनके चरणोंमें गिर पड़े। प्रभुने दृष्टि फेरी तो देखा प्रवीर भी प्रभुके पावन चरणोंमें दण्डकी भाँति लेटकर प्रणिपात कर रहा है। भगवान् अर्जुन और प्रवीर दोनोंसे मिले। प्रवीर गद्‌गद हो रहा था। हर्षातिरेकसे उसने कहा, 'प्रभो! आपके दर्शन पाकर आज मैं धन्य हो गया।' उसने फिर अर्जुनसे कहा, 'पार्थ! मैं आपका भी ऋणी हूँ, आपकी ही कृपासे मुझे आज श्यामसुन्दरकी त्रैलोक्यपावनी मधुर मनोहर झाँकीके दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अब हम अपने शिविरमें चलें। कलसे भगवान्‌के सामने ही युद्ध होगा।' फिर दोनों अपने-अपने शिविरोंमें चले गये।

प्रवीरको देखते ही देवी जुन्हाने उन्हें छातीसे चिपका लिया और कहा, 'बेटा! तुम्हारी विजयके लिये मैं भागीरथीकी आराधना करने जा रही हूँ।' प्रवीरकी वीरहृदया धर्मप्राणा पत्नी मदनमंजरीने अत्यन्त आनन्द प्रदर्शित करते हुए कहा, 'भगवान् श्रीकृष्णको अपनी भक्तिसे प्रसन्न करके मैं भी आपकी विजयके लिये उनसे प्रार्थना करूँगी।' प्रवीर भी भगवान्‌के ध्यानमें तल्लीन था।

आधी रात बीत गयी। इधर प्रवीरपत्नी मदनमंजरीने अर्जुनके सुषुप्त सैन्यमें प्रवेश किया। उसके हाथमें लंबी नंगी तलवार थी। प्रहरीके स्थानपर भगवान् शंकर त्रिशूल लिये खड़े थे। उन्होंने मदनमंजरीका परिचय और अर्द्धरात्रिमें नंगी तलवार लेकर शिविरमें आनेका कारण पूछा।

मदनमंजरीने निस्संकोच सत्य कह दिया, 'मैं प्रवीरपत्नी हूँ। अपने पतिके प्राणोंकी रक्षाके लिये भगवान् श्रीकृष्णके पास जाना चाहती हूँ।'

भगवान् शंकर बोल उठे, 'यह सम्भव नहीं। भगवान् सो रहे हैं। तुम वापस लौट जाओ।'

'यदि ऐसा ही है तो फिर आपके ही चरणोंमें यह मस्तक अभी लोट जायगा' कहते हुए मदनमंजरीने तलवार ऊपर उठा ली।

भगवान् शंकरने अपना परिचय देते हुए कहा, 'मैं तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ और कैलास जा रहा हूँ। यहाँसे प्रयाण करनेके पश्चात् मेरा कोई दायित्व नहीं है।'

मदनमंजरी श्रीकृष्ण-शिविरके द्वारपर पहुँची तो द्वारपालने डाँटते हुए वहाँ उपस्थित होनेका कारण पूछा। मदनमंजरीने विनम्रतासे द्वारपालको भी उत्तर दिया—'अपने प्राणधनके प्राणोंकी भीख माँगने महाराज नीलध्वजकी पुत्र-वधू भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंके समीप जाना चाहती है।'

द्वारपालने कहा, 'यहाँसे लौट जाओ। प्रभु इस समय शयन कर रहे हैं।'

मदनमंजरीने तलवार तान ली और कहा, 'यदि आप भगवान्‌के समीप नहीं जाने देते तो मैं अभी अपना मस्तक काटकर आपके चरणोंमें समर्पित करती हूँ।'

द्वारपालने मदनमंजरीका हाथ पकड़ लिया, पर उसने देखा—ये तो वे ही त्रैलोक्यनाथ मदनमोहन श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्ण हैं, जिनके लिये वह प्राणोंपर खेलकर आयी थी। वह प्रभुके चरणोंपर लोट गयी। कुछ देर बाद उसने कहा, 'प्रभो! आप तो अन्तर्यामी हैं। पर कहे बिना मुझसे रहा नहीं जाता। प्रातःकाल ही धनुर्धर अर्जुनसे मेरे पतिदेवका युद्ध होगा। धनुर्धर अर्जुनको आपकी सहायता प्राप्त है और आपकी सहायता पाकर वे जो चाहें कर सकते हैं। इस कारण मैं आपसे अपने जीवन-धनके प्राणकी भीख माँगती हूँ।'

अपनी कौमोदकी गदा और सहस्रार सुदर्शन चक्र उसके हाथमें देते हुए भक्तवत्सल करुणामय भगवान्‌ने कह दिया 'इसे जबतक प्रवीर अपने पास रखेगा, युद्धमें उसे कोई नहीं मार सकेगा।' मदनमंजरीने भगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम किया और द्रुतगतिसे लौटकर दोनों आयुध अपने पतिको दे दिये। भगवान्‌की बात भी बता दी।

उधर धर्मपरायणा जुन्हादेवीने श्रीगंगाजीको सन्तुष्ट कर लिया और श्रीशिवजीसे प्रार्थना करनेके लिये कहा कि 'वे अपने त्रिशूलके साथ प्रवीरकी ओरसे युद्ध करें।' श्रीगंगाजीकी प्रार्थना सुनते ही आशुतोषने कहा, 'अर्जुनके साथ श्रीकृष्ण हैं और उनके सामने समरभूमिमें उतरना मेरे लिये सम्भव नहीं।'

प्रातःकाल होते ही अर्जुन अपने सखा श्रीकृष्णके पास पहुँचे तो देखा कि वे उदास और चिन्तित मुद्रामें अवनतमुख बैठे हैं। अर्जुनको देखते ही उन्होंने कहा,

'बन्धुवर! प्रवीर-पत्नीकी भक्तिसे सन्तुष्ट होकर अपने दोनों आयुध मैंने उसे समर्पित कर दिये और जबतक वे आयुध उसके पास हैं, तुम उसका कोई अनिष्ट नहीं कर सकते। मेरी उपस्थितिसे प्रत्येक समय तुम्हारे शुभमें विघ्न ही उपस्थित हो जाता है।'

भगवान्‌की वाणी सुनते ही भीम क्रुद्ध हो गये। उन्होंने कहा, 'आपको सोच-विचारकर वरदान देना था। आप हमारी रक्षा करनेके लिये आये हैं कि और भी विपत्ति लादनेके लिये यहाँ पहुँचे हैं।' पर भीमको बड़ी विनयसे चुप कराते हुए अर्जुनने सरल विश्वासपूर्वक भगवान्से विनम्र शब्दोंमें कहा, 'यह क्या कहते हैं प्रभो! आपकी प्रत्येक क्रियामें मंगल छिपा है इसपर मेरा दृढ़ विश्वास है। इस आयुध-दानमें भी मेरा कोई हित ही है। मैं पूर्ण निश्चिन्त हूँ। आप मेरे सर्वस्व हैं। आपहीने इस यज्ञके अनुष्ठानकी प्रेरणा एवं इसकी निर्विघ्न समाप्तिका वचन दिया है। आप जैसा उचित समझें, वैसा करें।'

भगवान् श्रीकृष्ण चुप थे। उन्हें अपने ऊपर निर्भर अर्जुनकी चिन्ता थी। वे बोल नहीं पा रहे थे। अर्जुनने पुनः कहा, 'प्रभो! प्रातः हो चला। युद्धका समय आया ही चाहता है। अब आपकी क्या आज्ञा है?'

भगवान्ने कहा, 'आओ, श्रीशंकरजीके पास चलें। वे कोई युक्ति सोचकर बता सकते हैं; वे दोनों भगवान् श्रीशंकरजीके समीप गये। वहाँ श्रीकृष्णने कहा, 'भगवन्! प्रवीर-पत्नीकी भक्तिपर मुग्ध होकर मैंने अपनी कौमोदकी गदा तथा चक्र भी उसके पतिके लिये दे दिया। वे जबतक प्रवीरके पास रहेंगे, युद्धमें उसे कोई नहीं मार सकेगा। अब अर्जुन कैसे विजयी हों, इसीका उपाय जाननेके लिये हम दोनों आपकी सेवामें आये हैं।'

श्रीशंकरजी बोले—'सर्वज्ञ होकर भी आपने उसे वरदान कैसे दे दिया?' श्रीकृष्णने उत्तर दिया—'जिस प्रकार उसकी भक्तिपर मुग्ध होकर आप रात्रिमें ही कैलास चले आये, उसी प्रकार भक्तिविवश होकर मुझे भी वरदान देना पड़ा।'

भगवान् शंकरने धीरे-धीरे कहा, 'मैं भी बड़े असमंजसमें पड़ गया हूँ। उधर प्रवीरकी माता जुन्हाकी आराधनासे सन्तुष्ट होकर श्रीगंगाजी प्रवीरके पक्षमें त्रिशूल लेकर अर्जुनसे युद्ध करनेके लिये आग्रह कर रही हैं, इधर आपका अनुरोध है। ऐसी दशामें मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं किसी भी पक्षकी ओरसे युद्धभूमिमें नहीं उतरूँगा।'

निराशाभरे स्वरोंमें भगवान्ने अर्जुनसे कहा, 'भाई अर्जुन! मेरी पहुँच तो यहींतक थी और इन्होंने स्पष्ट उत्तर दे दिया। अब क्या किया जाय?' अर्जुनने उत्तर दिया, 'महाराज! मैं तो कुछ नहीं जानता। मैं केवल इतना ही जानता हूँ कि आप जो कुछ करेंगे, उसीमें मेरा अवश्य हित होगा। हाँ, युद्धका समय समीप आ रहा है।'

भगवान्ने एक क्षण सोचा और फिर वे अर्जुनके साथ भगवती उमाके पास गये। वहाँ उन्होंने श्रीयुधिष्ठिर महाराजके अश्वमेध यज्ञानुष्ठान एवं प्रवीरकी बाधा तथा अपने आयुधद्वय एवं वरदान देनेकी बात भी सुना दी और अर्जुनकी विजयकी प्रार्थना करते हुए कहा कि 'यदि आप समरभूमिमें मोहिनीरूपमें आकर उससे आयुध ले लें तो हम दोनों निश्चिन्त हो जायँ।' भगवती उमाने 'तथास्तु' कह दिया। श्रीकृष्ण तो यही चाहते थे। अर्जुनके साथ लौट पड़े।

अर्जुन युद्धभूमिमें पहुँचे तो उन्होंने देखा, प्रवीर अपनी विशाल वाहिनीके साथ युद्धकी प्रतीक्षा कर रहा है। युद्ध प्रारम्भ होना ही चाहता था कि प्रवीरने अपनी आँखोंके सामने आकाशमें एक नवयौवनसम्पन्ना अपूर्व लावण्यवती सुन्दरीको देखा। विश्वमें ऐसी सुन्दरता होती है, इसकी उसे कल्पना भी नहीं थी। भगवान्‌की अघटन-घटना-पटीयसी मायाने जितेन्द्रिय भक्त प्रवीरकी मतिमें मोह उत्पन्न कर दिया और वह एक विषयी कामासक्त मनुष्यकी भाँति उस देवीसे प्रणय-याचना करने लगा। मायाकी ऐसी ही महिमा है।

परम सुन्दरी देवीने कहा, 'युद्धभूमिमें प्रेमकी बात प्रलाप-सी लगती है। यदि तुम सचमुच प्रेमदान चाहते हो तो अपने आयुध फेंक दो।' मायामोहित प्रवीर इस समय मूढ़ बन गया था। उसने श्रीकृष्णप्रदत्त दोनों आयुध फेंक दिये। भगवती उन्हें उठाकर तुरंत अन्तर्धान हो गयीं। मायाका पर्दा हटा। प्रवीरकी आँखें खुलीं तो उसने मन-ही-मन पश्चात्ताप करते हुए कहा कि 'मैंने क्या अनर्थ कर डाला।'

अन्तमें उसने सोचा, कदाचित् यह कार्य भगवान्ने ही किया है। प्रेमपूर्वक रोष प्रकट करते हुए उसने भगवान्से कहा, 'प्रभो! वे अस्त्र यदि माया करके ले ही लेने थे तो आपने देनेका नाट्य क्यों किया?' भगवान्ने उत्तरमें कहा, 'प्रियवर प्रवीर! मैंने अस्त्र नहीं लिये हैं।

यदि मुझे ही उन्हें लेना होता तो मैं देता ही क्यों?' प्रवीर तुरंत बोल उठा, 'प्रभो! यदि ऐसी बात है तो आपके लिये अर्जुनकी सहायता करना उचित नहीं। मैं भी आपको अपने प्राणोंसे अधिक मानता हूँ। आपके चरणोंमें मेरी अनुरक्ति कम नहीं है।'

प्रवीरकी बात सुनते ही अर्जुनने कहा, 'प्रभो! मैंने आपको युद्धमें सहायता देनेके लिये बुलाया है। प्रवीरमें शक्ति न हो तो अश्व छोड़ दे।' प्रवीरने रोषपूर्वक उत्तर दिया, 'अश्व मैंने छोड़नेके लिये नहीं पकड़ा है।' फिर क्या था—दोनों ओरसे घनघोर शर-वर्षा होने लगी। आकाश तीखे बाणोंसे आच्छादित हो गया, पर अर्जुनकी एक न चली, वे पराजित होने लगे।

भगवान्‌ने कहा, 'अर्जुन! प्रवीरके प्रभावको देख लो। मेरे सहायता करनेपर भी वह तुम्हें पराजित कर रहा है।' अनवरत बाण-वर्षा करते हुए अर्जुनने उत्तर दिया, 'प्रभो! इसीलिये तो मैंने आपको बुलाया है। अब मैं आपकी कृपासे इसे तुरंत पराजित कर देता हूँ।'

अर्जुनने अपने पैने बाण चलाये, पर प्रवीरने उन्हें बीचमें ही खण्ड-खण्ड कर दिया। अर्जुन जो भी अस्त्र क्रुद्ध होकर चलाते, प्रवीर उसे ही नष्ट कर देता, पर अन्ततः उस दिन अर्जुनने प्रवीरको पराजित किया।

प्रवीरने रोषपूर्वक कहा, 'अर्जुन! इसे मैं आपकी नहीं अपितु प्रभुकी विजय मानता हूँ। प्रभुके बिना आप मुझे पराजित कर दें तो मैं आपको वीर समझूँ।' अर्जुन बोले, 'मैंने जब भगवान्‌को बुलाया है, तब उन्हें क्यों छोड़ूँ। तुम्हें युद्ध न करना हो तो वापस चले जाओ'।

अर्जुनकी यह बात सुनते ही भक्त प्रवीरने प्रभुसे कहा, 'स्वामिन्! आप तो सबके हैं, फिर युद्धभूमिमें यह पक्षपात कैसा?' इसी क्षण उसने प्रभुकी विश्वमोहिनी मुसकान देखी। फिर क्या था। उन्हें सन्तुष्ट देखकर प्रवीरने अर्जुनके रथसे खींचकर उनको अपने रथपर बैठा लिया। भगवान्‌ने लगाम ले ली। अत्यन्त गर्वके साथ प्रवीरने कहा, 'अर्जुन! अब जी भर युद्ध कर लें। अब आपको या तो प्राण लेकर भागना पड़ेगा या सदाके लिये यहीं रणभूमिमें शयन करना होगा।'

प्रवीरको कोई भी उत्तर न देकर अर्जुनने भगवान्‌से कहा, 'भगवन्! मैं आपके बिना नहीं जी सकता। आप मेरे रथपर आ जाइये। आपको मैंने बुलाया है।' इसपर भगवान्‌ने अर्जुनके रथपर आकर घोड़ेकी लगाम सँभाल ली।

उदास होकर प्रवीरने कहा, 'प्रभो! कम-से-कम एक युद्धमें तो आप मेरे सारथि बन जाते!' फिर उसने अर्जुनसे कहा, 'आज मैं आपका पौरुष देखूँगा।'

अर्जुन बड़ी सावधानीसे अपने तीक्ष्ण शरोंकी वर्षा करने लगे, पर प्रवीर साधारण वीर नहीं था। उसके सामने अर्जुन विचलित होने लगे। इसी बीचमें भगवान् बोल उठे, 'मेरी सहायता पाकर भी तुम विजय नहीं प्राप्त कर रहे हो।' प्रबल आग्नेयास्त्र फेंकते हुए अर्जुनने कहा, 'महाराज! थोड़ा धैर्य रखिये, मैं इसे अभी परास्त करता हूँ।'

परंतु वे विफल रहे। अन्य कई दिव्यास्त्रोंके प्रयोगसे प्रवीर परास्त हुआ, पर उसने अर्जुनको फटकारते हुए कहा, 'दूसरोंके बलपर युद्ध करनेवाले शूर नहीं कहे जाते। भगवान्‌के बिना आप मुझे परास्त कर सकें, ऐसी सामर्थ्यका आपमें लेश भी नहीं है।'

फिर उसने भगवान्‌से कहा, 'प्रभो! आप हम दोनोंके हैं। आप अब अर्जुनका रथ हाँकना छोड़कर निष्पक्षभावसे हम दोनोंका युद्ध-कौशल देखें, फिर आप समझ लेंगे कि वस्तुतः वीर योद्धा कौन है और आज अर्जुन भी समरका स्वाद चख सकेंगे।'

भगवान् हँसने लगे। भक्तवर प्रवीरने भगवान्‌को सन्तुष्ट जानकर पुनः उनको अर्जुनके रथसे खींच लिया और पासहीके तालवृक्षसे बाँध दिया। फिर उसने अर्जुनसे कहा, 'अर्जुन! अब आप अपनी वीरताका परिचय दीजिये। अब मैं आपको युद्ध करनेका फल चखाता हूँ।' पर अर्जुनने करुण नेत्रोंसे भगवान्‌की ओर देखकर कहा, 'प्रभो! क्या मैंने आपको इसीलिये बुलाया था? कौरवोंकी सभामें जब महाबलशाली योद्धा भी आपको नहीं बाँध सके, तब यहाँ आप कैसे बँध गये हैं? मैं व्याकुल हो रहा हूँ देव! आप शीघ्र आइये, मेरे रथकी बागडोर सँभालिये।' जिनके एक नामसे सारे बन्धन कट जाते हैं, वे ही अचिन्त्यशक्ति भगवान् आज अपने प्रेमी भक्तकी प्रेमरज्जुसे बँधे हैं! पर दूसरी ओर भी वैसा ही भक्त है। उसकी दीन वाणी भी भगवान्‌को खींच रही है। भगवान् अर्जुनकी दीन वाणी सुनते ही रस्सी तुड़ाकर उसके रथपर आकर बैठ गये और रथ हाँकने लगे। भगवान्‌की आज विचित्र दशा है। वे प्रेमी भक्तोंकी खींचातानीमें प्रेममय होकर आश्चर्यमयी क्रीड़ा कर रहे हैं!

प्रवीरसे रहा नहीं गया। उसने पुनः भगवान्‌से कहा,

'प्रभो बड़ा आश्चर्य है, कुछ क्षण भी तटस्थ होकर आप दो भक्तोंका युद्ध और वीरत्व तो देखते, पर आपकी जैसी इच्छा!' उसने पुनः अर्जुनको सम्बोधित कर कहा, 'वीरता नामकी कोई वस्तु आपमें नहीं है। दूसरोंके सहारे वीरोंको पराजित करनेका प्रयत्न तो समरभूमिमें बड़ा ही अशोभन है।' और उसने रोषमें आकर इतने तीक्ष्ण शरों एवं दिव्यायुधोंकी वर्षा की कि अर्जुन विकल हो उठे और उनकी सारी सेना क्षत-विक्षत होकर छिन्न-भिन्न हो गयी। यहाँ भी भगवान्‌की ही लीला कार्य कर रही थी।

इसपर आश्चर्य प्रकट करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने कहा, 'जब एक प्रवीरके सम्मुख ही तुम्हारी यह दशा है, तब तुम अन्य योद्धाओंके सामने क्या कर सकोगे?' अर्जुनने तुरंत अपनी भागती हुई सेनाको क्षत्रियोंकी वीरगति एवं उनकी मर्यादाका ध्यान दिलाकर युद्धके लिये प्रोत्साहित किया। विशाल वाहिनी पुनः पूरी शक्तिसे प्रवीरकी सेनासे भिड़ गयी। अर्जुन भी अपने बाणोंकी अपूर्व वर्षामें संलग्न हो गये। दोनों पक्ष अपनी विजयके लिये शक्ति-प्रयोग कर रहे थे। इस प्रकार होते-होते अन्तमें आज प्रवीर हार गया और अर्जुनकी विजय हुई।

किंतु वीर प्रवीरको तनिक भी चिन्ता नहीं थी। उसने पुनः अर्जुनको डाँटा, 'अर्जुन! आप सच्चे वीरत्वको स्वीकार कीजिये। यदि श्रीकृष्णके बिना आप युद्ध करें तो आपको प्राण-रक्षामें भी कठिनता हो जाय।' फिर उसने भगवान्‌से कहा, 'स्वामिन्! मैं भी आपका भक्त हूँ, पर आप अबतक अर्जुनमें और मुझमें अन्तर समझते हैं? ऐसा क्यों करते हैं नाथ! मुझे आपसे बड़ी आशा है।'

भगवान् हँस पड़े। प्रवीरने उन्हें अपने अनुकूल समझकर तुरंत खींच लिया और पासहीके तालवृक्षसे पुनः कसकर बाँधते हुए कहा, 'प्रभो! अबकी बार प्रतिज्ञा कीजिये कि किसीका पक्ष न लेकर निष्पक्षभावसे युद्ध देखूँगा।' प्रभुने हँसते हुए मौन स्वीकृति दे दी।

फिर क्या था, प्रवीर झटसे कूदकर अपने रथपर जा चढ़ा और शर-सन्धान करते हुए बोला, 'पार्थ! अब आप प्राण बचाकर भागने या यहीं सदाके लिये सो जानेको प्रस्तुत हो जाइये। प्रभु प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके हैं।' प्रभु बँधे हुए हँस रहे थे। मानो आज उन्हें अपनी इस विवशतामें ही आनन्द मिल रहा है।

पर अर्जुन प्रभुकी ओर देख रहे थे। उन्होंने कहा, 'देव! यह क्या लीला कर रहे हैं। मेरे प्राणोंपर आ बनी है। अब मैं अधीर हो गया हूँ। कौरव-युद्धके समय आपने मेरी रक्षाके लिये शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की थी, पर भक्तके लिये उसे तोड़ दिया। वही आपका प्राणप्रिय अर्जुन मरना चाहता है, इसलिये आज फिर प्रतिज्ञा तोड़िये और शीघ्र आकर मेरी रक्षा कीजिये।' भगवान् तुरंत अर्जुनके रथपर प्रकट हो गये। वे वैसे ही हँस रहे थे।

प्रवीरने व्याकुल होकर कहा, 'प्रभो! यह आपने क्या किया; आपने अपनी प्रतिज्ञा भी तोड़ दी!' भगवान्‌ने तुरंत कहा, 'मैंने तो कोई प्रतिज्ञा नहीं की थी।'

भक्त प्रवीरने प्रणय-रोषसे कहा, 'प्रभो आप असत्य बोलेंगे तो संसारकी क्या दशा होगी? आपने प्रतिज्ञा की थी कि मैं चुपचाप युद्ध देखूँगा। पर आप पुनः अर्जुनके रथपर आकर बैठ गये।'

भगवान्‌ने कहा, 'जिसने प्रतिज्ञा की थी उससे कहो भैया!' प्रवीरने तालवृक्षकी ओर देखा तो भगवान् वहीं बँधे खड़े थे। उसने एक बार तालवृक्ष और एक बार अर्जुनके रथकी ओर देखा। अब एक ही भगवान्‌के दो रूप हो गये थे। प्रवीरने अर्जुनसे कहा, 'अर्जुन! आप महान् धन्य हैं और आपके माता-पिता सभी धन्य हैं, जिनके लिये भगवान्‌को दो रूप धारण करने पड़े।'

फिर प्रवीर तालवृक्षसे बँधे हुए भगवान्‌को देखने लगा। उसके हृदयमें छिपा हुआ प्रेमसमुद्र प्रकट होकर उमड़ चला। वह अपने-आपको भूल गया। भगवान्‌की नित्य नवनवायमान सुर-मुनि-मनमोहिनी रूपमाधुरीने प्रवीरपर ऐसा विलक्षण जादू किया कि प्रवीरका बाह्य ज्ञान सर्वथा लुप्त हो गया। वह उस अलौकिक रूप-सुधा-सागरमें डूब गया।

इसी समय भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा, 'पार्थ! तुम अति शीघ्र प्रवीरका मस्तक उतार लो।' अर्जुन बोले, 'प्रभो! प्रवीर युद्ध छोड़कर आपके ध्यानमें तल्लीन है, ऐसी अवस्थामें इसे मारना धर्मविरुद्ध है।'

भगवान् तुरंत बोल उठे, 'अर्जुन! मेरे भक्त प्रवीरको युद्धमें सम्मुख मार सकनेकी सामर्थ्य किसमें है। यह मेरी इच्छा है कि मेरा भक्त मेरे ध्यानमें निमग्न रहता हुआ ही मेरे परमधाममें पहुँच जाय। मेरी आज्ञा है, तुम इसे मार डालो। तुम्हें पाप नहीं लगेगा।'

अर्जुनने एक अत्यन्त तीक्ष्ण अर्द्धचन्द्राकार दिव्य शर छोड़ा, जिससे प्रवीरका मस्तक कटकर उछला और भगवान्‌के चरणोंमें जा गिरा। उसमेंसे एक परम ज्योति

निकली और वह श्रीभगवान्‌के मंगलमय श्रीविग्रहमें समा गयी। प्रवीरका प्राणान्त होते ही उसकी बची-खुची सेना भाग गयी। माहिष्मतीमें शोक छा गया!

प्रवीरकी मृत्युका समाचार सुनकर उसके पिता विलाप करने लगे और पुत्र-शोकमें रोती हुई परंतु पुत्रकी वीर तथा भक्त-गतिसे गर्विता उसकी माताने कहा, 'बेटा! तुम अर्जुनके बाणसे कटकर प्रभुके धाममें गये और मैं वीर क्षत्रियकुमारकी माता सिद्ध हुई। मेरा जन्म सफल हुआ।'

इसी बीचमें भगवान् वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने विलाप करती हुई जुन्हादेवीसे कहा, 'आप चिन्ता न करें। यदि कहें तो प्रवीरको पुनः जीवित कर दूँ।' जुन्हादेवीने कहा, 'प्रभो! आपके सम्मुख मृत्यु पाकर पुनः कौन जीवित होना चाहेगा, पर मैं चाहती हूँ कि हम दम्पतिको भी वही गति प्राप्त हो, जो आपने पुत्रको दी है।'

भगवान्‌ने 'तथास्तु' कहते हुए कहा, 'अब महाराज नीलध्वज अर्जुनको आदरपूर्वक विदा करें तथा युधिष्ठिर महाराजके अश्वमेधयज्ञमें नियत समयपर भेंटके साथ उपस्थित हों, वहाँपर पुनः मेरा दर्शन होगा।' और प्रभु अन्तर्धान हो गये।

भगवान्‌के आदेशानुसार नीलध्वजने अर्जुनको अत्यन्त सत्कारपूर्वक विदा किया और वे भगवान्‌के भजनमें संलग्न हो गये! पतिव्रता मदनमंजरी भी पतिके साथ सती होकर भगवान्‌के परमधाममें पहुँच गयी!

नाम-रूप-लीला-धाम

महासर्गके पूर्वमें एक निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही थे। फिर महासर्गके आरम्भमें उन परमात्माकी अभिन्न शक्तिरूपा प्रकृतिमें, जिसे अव्याकृत माया कहते हैं, जीवोंके कर्मोंका फल भुगतानेके लिये स्वाभाविक ही क्षोभ उत्पन्न हुआ, जिससे वह स्वाभाविक ही तीन गुणोंमें विभक्त हो गयी। जिस प्रकार दही मथनेपर वह नवनीत और मट्ठा—इन दो अलग-अलग रूपोंमें परिणत हो जाता है, इसी प्रकार प्रकृतिमें क्षोभ होनेपर वह विद्या और अविद्या—इन दो रूपोंमें हो जाती है। इस तरह उसके तीन रूप हो जाते हैं अर्थात् उसमें उत्पन्न हुई हलचलरूप क्रिया तो रजोगुण है और उससे उत्पन्न होनेवाली विद्या सत्त्वगुण तथा अविद्या तमोगुण है। इन तीन गुणोंसे संयुक्त जो परमात्माका स्वरूप है, वह सगुण निराकार है। उसीसे आदि-सृष्टिका विस्तार होता है। सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहार करनेके लिये वही परमात्मा ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपमें प्रकट होते हैं तथा वही सगुण निराकार परमात्मा ही श्रीनृसिंह, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि सगुण साकार रूपोंमें प्रकट होकर युग-युगमें लीला करते हैं। जिस प्रकार आकाशमें परमाणुरूपसे स्थित जल ही पहले रसरूपमें होकर फिर स्थूल जलके रूपमें प्रकट होता है तथा जैसे परमाणुके रूपमें विद्यमान निराकार पृथ्वी ही गन्धरूपमें प्रकट होकर फिर साकार भूमिके रूपमें प्रादुर्भूत होती है, इसी प्रकार निर्गुण-निराकार ब्रह्म ही सगुण निराकार होकर फिर सगुण साकाररूपमें प्रादुर्भूत होते हैं; परंतु जिस तरह जलका वह कारणभूत परमाणुरूप, सूक्ष्म रसरूप और स्थूल जलरूप—तीनों वस्तुतः जल ही है तथा जिस तरह पृथ्वीका कारणभूत परमाणुरूप, सूक्ष्म गन्धरूप और स्थूल पृथ्वीरूप—वस्तुतः पृथ्वी ही है, उसी तरह निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकाररूपमें वस्तुतः वह एक परमात्मा ही है। उपर्युक्त प्रकारसे समग्ररूप परब्रह्म परमात्माके तत्त्वको समझकर उसकी श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उपासना करनेसे मनुष्य बहुत शीघ्र अविद्या और जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिसे सदाके लिये मुक्त होकर उस परमात्माको प्राप्त हो सकता है।

इस घोर कलिकालमें परमात्माको प्राप्त करनेके लिये उसकी भक्ति ही सर्वोत्तम और सुगम उपाय है। जब वे परमात्मा सगुण साकारस्वरूपमें अवतार लेते हैं, तब मूढ़ पुरुष उन्हें नहीं जान पाते; क्योंकि वे मायाके परदेमें छिपे रहते हैं (गीता ७। २५)। जो पुरुष परमात्माकी शरण होकर उनकी भक्ति करता है, उसके सामनेसे परमात्मा अपनी मायाका परदा हटा लेते हैं, जिससे उस पुरुषको उनके साक्षात् चिन्मय दिव्य सगुण साकार रूपका प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको श्रद्धा-प्रेमपूर्वक उनकी भक्ति करनी चाहिये।

भक्तिका अनुष्ठान करनेवालोंके लिये एक बहुत ही सरल और महत्त्वपूर्ण साधन यह है। भगवत्-सम्बन्धी पदार्थोंमें चार मुख्य हैं—भगवान्‌के दिव्य नाम, रूप, लीला और धाम। इनके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्य—इन

चारोंको विशेषरूपसे समझना चाहिये तथा गुणका भी प्रभाव, तत्त्व और रहस्य समझना चाहिये एवं प्रभावका भी तत्त्व, रहस्य समझना चाहिये और इस मानव-देहमें प्राप्त कान, नेत्र, मन और वाणी—इन चार द्वारोंसे उपर्युक्त पदार्थोंका सेवन करना चाहिये। यद्यपि अन्तःकरण और इन्द्रियाँ आदि प्रायः सभी द्वारोंसे परमात्माकी उपासना हो सकती है; परंतु उनमें ये चार द्वार मुख्य हैं। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त पदार्थोंको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक कानोंके द्वारा भक्तोंसे श्रवण करना, नेत्रोंके द्वारा सत्‌शास्त्रोंमें पढ़ना, फिर मनसे मनन करना और तदनन्तर वाणीके द्वारा कथन करना चाहिये। इस प्रकार श्रद्धा-प्रेमपूर्वक इनका सेवन करनेसे सेवन करनेवाले मनुष्यको परमात्माका साक्षात् दर्शन होकर परम आनन्द, असीम समता और परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

अब इन उपर्युक्त पदार्थोंको भलीभाँति समझनेके लिये कुछ विस्तारसे विवेचन किया जाता है।

भगवन्नामका गुण

क्षमा, दया, शान्ति, प्रेम आदि जो परमात्माके दिव्य गुण हैं, वे ही सब नामके अंदर भी हैं; क्योंकि नामके जप, कीर्तन, श्रवण और स्मरण करनेसे उपासकमें नामीके दिव्य गुण स्वाभाविक ही आ जाते हैं। नामकी गुण-गरिमा क्या कही जाय! श्रीतुलसीदासजीने नाम-महिमा बतलाते हुए कहा है—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

भगवन्नामका प्रभाव

नामका जप, कीर्तन, श्रवण और स्मरण करनेसे पूर्वकृत समस्त संचित पापोंका; अज्ञानमूलक अहंता-ममता, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि दुर्गुणोंका; झूठ, कपट, हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्यपान, द्यूत आदि दुराचारोंका तथा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखोंका आत्यन्तिक अभाव होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥
अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥

तथा—

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

किसी कविने कहा है—

जब ही नाम हिरदै धरयौ भयो पापको नास।
मानौ चिनगी अग्निकी परी पुराने घास॥

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥

(६। २। १८)

'जिस प्रकार अग्नि ईंधनको जला देता है, उसी प्रकार उत्तमश्लोक श्रीहरिके नामका कीर्तन जानकर किया जाय अथवा बिना जाने, पुरुषके सम्पूर्ण पापोंको भस्म कर डालता है।'

श्रीचैतन्यमहाप्रभुने कहा है—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।

(शिक्षाष्टक)

'भगवान्‌ने अपने अनेकों नाम प्रकाशित किये और उनमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति अर्पित कर दी तथा उसके स्मरणमें कालका नियम नहीं बनाया अर्थात् भगवान्‌के नामका स्मरण मनुष्य सभी समय कर सकता है, इसमें कोई रुकावट नहीं है।'

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

भगवन्नामका तत्त्व

नाम नामीसे अभिन्न है अर्थात् नाम और नामीमें कोई भेद नहीं है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि**' (१०। २५) अर्थात् 'अन्य समस्त यज्ञ तो मेरी प्राप्तिके साधन हैं, पर जपयज्ञ तो स्वयं मैं ही हूँ।' वस्तुतः परमात्मा ही स्वयं नामके रूपमें प्रकट होते हैं। परमात्माका स्वरूप, परमात्मविषयक ज्ञान और परमात्माका नाम—ये एक ही

वस्तु हैं; इसलिये नाम-जप करनेसे नामीकी स्मृति स्वतः ही हो जाती है। इस प्रकार समझना परमात्माके नामका तत्त्व समझना है।

कठोपनिषद्‌में कहा है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

(१।२।१६)

'यह ॐकार अक्षर ही सगुण ब्रह्म है, यह अक्षर ही निर्गुण परब्रह्म है, इस ॐकाररूप अक्षरको ही जानकर जो मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है उसको वही मिल जाती है।'

भगवन्नामका रहस्य

वाणीके द्वारा नाम जपनेकी अपेक्षा मनसे जपना सौगुना अधिक फल देनेवाला है। वह मानसिक जप भी श्रद्धा-प्रेमसे किया जाय तो उसका अनन्त फल है तथा वही गुप्त और निष्कामभावसे किया जाय तो शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है।

श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥
सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव बारिधि गोपद इव तरहीं॥

जो नामके रहस्यको समझता है, वह पुरुष नामकी ओटमें कभी पाप या दम्भ नहीं करता। भाव यह है कि नामसे पापोंका नाश होता ही है—ऐसा समझकर पापाचरण करना तथा लोगोंको दिखलानेके लिये नाम-जपका बहाना करना और भीतर-ही-भीतर छिपकर पाप करना—नामकी ओटमें पाप और दम्भ करना है। नामके रहस्यको जाननेवाला पुरुष इन दोषोंसे रहित होता है।

भगवत्स्वरूपका गुण

भगवान्‌का रंग, रूप, आकृति और लावण्य बहुत ही मधुर, कोमल, रसमय, परम आकर्षक, कान्तिमय, चमकीला, अलौकिक, सुन्दर और अद्भुत है तथा उनमें निरतिशय, असीम और अत्यन्त विलक्षण क्षमा, दया, शान्ति, प्रेम, न्याय, सौहार्द, सरलता, मधुरता, समता, उदारता, धीरता, वीरता, गम्भीरता, सत्यता, निरभिमानिता, निरहंकारिता, निर्वैरता, निर्भयता, पवित्रता, भक्तवत्सलता, सौम्यभाव आदि अनन्त दिव्य गुण हैं। यह भगवान्‌के गुणोंका दिग्दर्शन है।

भगवत्स्वरूपका प्रभाव

सम्पूर्ण बल, ऐश्वर्य, तेज, शक्ति, सामर्थ्य, ज्ञान, वैराग्य, धर्म, यश, श्री, विभूति, महिमा, कान्ति, जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेकी सामर्थ्य, सर्वज्ञता, सर्वाधारता, सर्वव्यापकता, सर्वनियन्तृता, सर्वेश्वरता, सर्वान्तर्यामिता तथा सम्भवको असम्भव और असम्भवको भी सम्भव कर देनेकी सामर्थ्य आदि—ये अपरिमित प्रभाव हैं। जैसे सूर्योदयसे समस्त अन्धकारका अत्यन्त अभाव हो जाता है, इसी प्रकार परमात्माके स्वरूपके स्मरण और ध्यानसे समस्त दुर्गुण-दुराचार, विकार और दुःख-दोषोंका सर्वथा अभाव हो जाता है तथा मनुष्य सद्‌गुण, सदाचारसम्पन्न होकर, जन्म-मृत्युरूप संसार-समुद्रसे तरकर सहज ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८।१४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(१२।७)

'हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

भगवत्स्वरूपका तत्त्व

जिस प्रकार आकाशमें परमाणु, भाप, कुहरा, बादल, बूँदें, ओले और बर्फ आदि सब तत्त्वतः एक जल ही हैं, इसी प्रकार सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, जड-चेतन, स्थावर-जंगम, सत्-असत्, स्थूल-सूक्ष्म, कार्य-कारण आदि जो कुछ भी है और जो इससे परे है, सब तत्त्वतः एक परमात्मा ही है।

श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७।१९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमंजसा॥

(११। १३। २४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे अथवा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। मुझसे पृथक् और कुछ भी नहीं है—ऐसा निश्चयपूर्वक समझो।'

भगवत्स्वरूपका रहस्य

वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वत्र समभावसे स्थित सगुण-निर्गुणरूप परमात्मा ही दिव्य अवतार धारण करके स्वयं प्रकट होते हैं तथा उनके दिव्य गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य आदि इतने अचिन्त्य, असीम और दिव्य हैं कि उनके अपने सिवा उन्हें अन्य कोई जान ही नहीं सकता। यह उनका रहस्य है।

गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

(४। ६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

तथा अर्जुन कहते हैं—

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।

(गीता १०। १४-१५)

'हे केशव! जो कुछ भी मेरे प्रति आप कहते हैं, इस सबको मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! आपके लीलामय स्वरूपको न तो दानव जानते हैं और न देवता ही। हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं।'

श्रीरामचरितमानसमें भगवान्के स्वरूपका रहस्य प्रकट करते हुए कहा है—

अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहि कृपाला॥
छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

तथा जो पुरुष परमात्माके स्वरूपका स्मरण करता है, वह उनको अत्यन्त प्रिय है। यह भी रहस्यकी बात है।

भगवान्की लीलाके गुण-प्रभाव-तत्त्व-रहस्य

रामावतारकी कथा है। जिस समय विभीषण भगवान् श्रीरामकी शरणमें आये हैं, उस समय भगवान्ने सुग्रीवसे पूछा कि इसमें तुम्हारी क्या राय है। सुग्रीवने कहा—'भगवन्! राक्षसोंकी माया जानी नहीं जाती, न मालूम भेद लेने आया है या किस कारणसे आया है। राक्षस मौका पड़नेपर धोखा देकर घात कर सकता है। इसलिये मेरी रायमें तो इसे कैद कर लेना उचित है।' इसपर भगवान्ने कहा—'मित्र! तुमने जो बात कही सो तो बहुत ही अच्छी बात है; किंतु दुष्टहृदय पुरुष मेरे सम्मुख नहीं आ सकता और यदि यह हमारा भेद लेनेके लिये आया है तो भी कोई भय नहीं है; क्योंकि जगत्में जितने भी राक्षस हैं, उन्हें लक्ष्मण क्षणभरमें मार सकता है तथा यदि यह भयसे त्रस्त होकर शरणमें आया है तो मेरा यह नियम है कि—

मम पन सरनागत भय हारी।

वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(६। १८। ३३)

'जो मनुष्य 'मैं आपका ही हूँ'—इस प्रकार मेरी शरणप्राप्तिके लिये मुझसे एक बार भी याचना करता है, उसको मैं सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंसे अभय दे देता हूँ—यह मेरा व्रत है।'

इसपर हनुमान्जी आदि विभीषणको भगवान्के निकट लिवा लाये। आते ही विभीषणने भगवान्के चरणप्रान्तमें गिरकर भगवान्की शरण ग्रहण की। भगवान्ने उनको अपने हृदयसे लगा लिया और उसी समय समुद्रका जल मँगवाकर उनका लंकाके लिये राजतिलक कर दिया।

यहाँ विभीषणके विषयमें सुग्रीवसे सम्मति पूछना और उनके कथनको उचित बतलाना—यह भगवान्की नीति और प्रेम है। शरणमें आये हुएका त्याग न करना—यह शरणागतवत्सलता है और विभीषणको लंकाका राजतिलक कर देना—यह नीति और उदारता है। यह सब भगवान्की लीलामें गुणोंका दिग्दर्शन है।

कोई भी दुष्टहृदय मनुष्य भगवान्के सम्मुख नहीं आ सकता—यह भगवान्की लीलाका प्रभाव है। तथा लक्ष्मण क्षणभरमें समस्त निशाचरोंको मार सकता है—यह लक्ष्मणका प्रभाव भी भगवान्से ही होनेके कारण भगवान्का ही प्रभाव है।

पूर्णब्रह्म परमात्मा ही स्वयं श्रीरामके रूपमें प्रकट हुए हैं। इस प्रकार भगवान्की भगवत्ताको समझना ही भगवान्की लीलाका तत्त्व समझना है।

भगवान् विभीषणको अभय दान देना चाहते थे। पर

भगवान्‌ने इसे गुप्त रखकर सुग्रीव आदिसे उसके लिये राय पूछी और उनका मान रखते हुए ही अपने उद्देश्यके अनुकूल कार्य किया। तथा भगवान्‌के सामने राक्षसोंकी माया, छल-कपट नहीं चलता—यह बात सुग्रीवादि नहीं जानते थे, इसीसे उनके सामने अपने प्रभावका रहस्योद्घाटन कर दिया कि—

जो पै दुष्ट हृदय सोइ होई। मोरे सनमुख आव कि सोई॥

भगवान्‌ने इसमें संकेतसे अपने छिपे हुए प्रभावको प्रकट कर दिया कि दुष्टहृदय मेरे सम्मुख नहीं आ सकता; जो सम्मुख आता है, वह समस्त दूषणोंसे रहित होता है। इस प्रकार भगवान्‌के द्वारा किये हुए रहस्योद्घाटनको समझ लेना ही भगवान्‌की लीलाका रहस्य समझना है।

कृष्णावतारकी कथा है। एक दिन यमुनाजीके तीरपर भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखाओं—ग्वाल-बालोंके साथ भोजन करते-करते बाललीला करने लगे। जब सब अपने-अपने छींके खोलकर भोजन करने लगे, तब भगवान् सबके बीचमें बैठ गये और चारों ओर सब ग्वाल-बाल मण्डलाकार पंक्ति बनाकर बैठ गये तथा आपसमें अपने-अपने भोजनको बढ़िया बताते हुए एक-दूसरेको हँसाने लगे। उस समय भगवान् अपने हाथमें ग्रास लिये उनको इस प्रकार हँसा रहे थे कि वे सब-के-सब उनके इस विनोदमें तन्मय हो गये। उन्हें बछड़ोंका भी ध्यान न रहा और बछड़े जंगलमें बहुत दूर निकल गये। जब बछड़ोंका ध्यान आया, तब सब भयभीत हो गये। भगवान्‌ने कहा—'भय मत करो। मैं उन्हें लौटा लाता हूँ।' ऐसा कहकर भगवान् उनकी खोज करने चले। ब्रह्माजी इस बाल-लीलाको देखकर मोहित हो गये। उन्होंने पहले तो बछड़ोंको और पीछे ग्वाल-बालोंको भी छिपा दिया। जब भगवान्‌को बछड़े नहीं मिले और वापस आनेपर जब उन्होंने गोप-बालकोंको भी नहीं देखा, तब वे झट जान गये कि यह ब्रह्माजीकी करतूत है। तब ग्वाल-बालों और बछड़ोंकी माताओंको आनन्दित करने तथा ब्रह्माजीका मोहनाश करनेके लिये भगवान् स्वयं वैसे-के-वैसे बछड़े और बालक बन गये। जितने बछड़े और बालक थे, जैसे उनके शरीर-हाथ-पैर थे; जैसी उनकी छड़ियाँ, सींग, बाँसुरी, पत्ते और छींके थे; जैसे उनके वस्त्र, आभूषण, शील, स्वभाव, गुण, नाम, आकृति और अवस्थाएँ थीं; और जैसी उनकी क्रीडाएँ थीं; ठीक वैसे ही और उतने ही रूपोंमें भगवान् प्रकट हो गये। उस समय भगवान्‌ने 'यह सब जगत् विष्णुमय है'—यह बात प्रत्यक्ष दिखला दी।*

श्रीबलदेवजीने पहले कुछ नहीं समझा; फिर जब उन्होंने देखा कि ग्वाल-बालोंकी माताओंका अपने बच्चोंपर पहलेसे बहुत अधिक स्नेह बढ़ गया है और जिन्होंने दूध पीना छोड़ दिया है, उन बछड़ोंपर भी गायें बहुत अधिक स्नेह करती हैं; तब उन्हें संदेह हुआ और उन्होंने पहचाननेकी दृष्टिसे सबकी ओर देखा। उस समय उन्हें सभी बछड़े, उनके रक्षक गोपबालक, उनकी सम्पूर्ण सामग्रियाँ प्रत्यक्ष श्रीकृष्णरूप दीख पड़ीं और वे चकित हो गये।

इस लीलामें ब्रह्माजीके कालमानसे केवल एक त्रुटि समय बीता था। जब उन्होंने देखा, तब वे यह नहीं समझ सके कि इन दोनोंमें कौन-से ग्वालबाल और बछड़े असली हैं तथा कौन-से पीछे-से बनाये हुए हैं। वे इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि उन्हें वे सब ग्वालबाल और बछड़े श्रीकृष्णके रूपमें दिखायी देने लगे। वे भगवान्‌की भगवत्ताको जान गये और तुरंत भगवान्‌के चरणोंमें पृथ्वीपर दण्डकी भाँति गिर पड़े तथा गद्गद वाणीसे स्तुति करते हुए क्षमा माँगने लगे। तब भगवान्‌ने अपनी माया समेट ली।

बालकोंके साथ इस प्रकार प्रेमभोज करते हुए बाल-क्रीड़ा करना प्रेमकी बात है। भगवान्‌ने स्वयं ग्वालबाल और बछड़े बनकर उनकी माताओं और गायोंके साथ मातृभावसे बर्ताव किया, इसमें उनकी दया और प्रेम भरा है। ब्रह्माजीको लीलाका चमत्कार दिखलाकर उनके मोहका नाश करना—यह भी भगवान्‌की दया है। यह सब भगवान्‌की लीलामें गुणोंका दिग्दर्शन है।

भगवान्‌ने अपनी अद्भुत दिव्य शक्तिसे अनेक रूप धारण कर लिये—यह उनकी लीलामें प्रभावका दिग्दर्शन है।

ग्वालबाल, बछड़े, उनकी छड़ी, बाँसुरी आदि सब वस्तुतः भगवान् ही बने थे; भगवान्‌ने ही अनेक रूप

* यावद् वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं यावद् यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद्विभूषाम्बरम्।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद् विहारादिकं सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। १९)

बनाकर लीला की—यह भगवान्‌की लीलामें तत्त्वका दिग्दर्शन है।

माताओं और गायोंकी जो भगवान्‌में वात्सल्य-भावकी इच्छा थी, उसकी इस प्रकार गुप्तरूपमें पूर्ति करना—यह लीलामें रहस्यका दिग्दर्शन है।

भगवान्‌की प्रत्येक चेष्टा पद-पदपर मंगलमय गुणोंसे ओतप्रोत है। इसलिये भगवान्‌की प्रत्येक क्रियामें क्षमा, दया, प्रेम, समता आदि उनके अचिन्त्य अनन्त गुणोंको देखना ही लीलामें गुणोंका देखना है।

भगवान्‌की लीलाओंमें इस प्रकार गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यको समझते हुए उन्हें आदर्श मानकर उनका दर्शन, चिन्तन, स्मरण और अनुकरण करनेसे अर्थात् भगवान्‌के व्यवहारके अनुकूल अपना आचरण बनानेसे अन्तःकरण पवित्र होकर मनुष्य मुक्त हो जाता है। यह समझना भगवान्‌की लीलाका प्रभाव समझना है।

जिस प्रकार गोपबालक, बछड़े, उनकी लकुटी, सींग, बाँसुरी और उनकी क्रीड़ा आदि सब भगवान् ही थे, उसी प्रकार विश्वमें कर्ता, कर्म, क्रिया आदि जो कुछ भी है, सब तत्त्वतः भगवान् ही हैं—यह समझना लीलाका तत्त्व समझना है।

भगवान्‌की समस्त चेष्टाएँ स्वार्थ और अहंकाररहित होनेके कारण परम पवित्र और कल्याणकारिणी होती हैं अर्थात् भगवान् किसीको भी निमित्त बनाकर जो भी चेष्टा करते हैं, वह उसके कल्याणके लिये ही करते हैं; एवं उनकी सम्पूर्ण क्रियाएँ अत्यन्त विशुद्ध होती हैं। यह समझना लीलाका रहस्य समझना है।

भगवद्धामका स्वरूप

धामसे उस परम धामको समझना चाहिये जो भगवान्‌का चिन्मय नित्य दिव्यलोक है; जो सर्वोपरि, सबसे श्रेष्ठ, नित्य सत्य है; जिसको ब्रह्मके उपासक ब्रह्मलोक, वेदवेत्ता सत्यलोक, श्रीकृष्णके उपासक गोलोक, श्रीरामके उपासक साकेतलोक, श्रीविष्णुके उपासक वैकुण्ठलोक, श्रीशिवके उपासक शिवलोक मानते हैं—इस प्रकार जिसको विभिन्न उपासकगण अनेक नामोंसे कहते हैं तथा जिसको वे सभी सर्वोपरि, सर्वश्रेष्ठ और परम दिव्य मानते हैं; परंतु वहाँ बुद्धि, मन, वाणीकी पहुँच नहीं है, उसके विषयमें जो कुछ कहा जाता है, उससे वह अत्यन्त ही विलक्षण है।

भगवद्धामका गुण

क्षमा, दया, शान्ति, समता, प्रेम, न्याय आदि जो भगवान्‌के नित्य गुण हैं, वे उस धाममें स्वाभाविक ही हैं। क्योंकि भगवान् ही स्वयं धामके रूपमें प्रादुर्भूत हुए हैं। इसलिये उस धाममें निवास करनेवाले भक्तोंमें भी वे गुण स्वाभाविक रहते हैं। जिन प्रेमी भक्तोंको भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हो जाते हैं, वे उस परम धामको जाते हैं तथा भगवान्‌के दर्शनके प्रभावसे उपर्युक्त गुण उनमें स्वाभाविक ही आ जाते हैं और जो साधक भजन, ध्यान, सत्संग, स्वाध्याय आदि साधनोंके द्वारा भगवान्‌के धाममें जाते हैं, उनमें उपर्युक्त प्रायः सभी गुण पहलेसे ही आ जाते हैं, किंतु यदि किसीमें कुछ कमी होती है तो उस गुणकी पूर्ति वहाँ प्रवेश होनेके साथ उसी क्षण हो जाती है। यह सब भगवद्धामके गुणोंका दिग्दर्शन है।

भगवद्धामका प्रभाव

भगवद्धामका ऐसा प्रभाव है कि जो उस परम धाममें पहुँच जाता है, वह लौटकर नहीं आता। यदि संसारके कल्याणके लिये भगवान्‌के साथ भगवान्‌का परिकर होकर या भगवान्‌की आज्ञासे अधिकार लेकर कारक पुरुषके रूपमें आता है तो उसके जन्म, कर्म और शरीर निर्दोष, विशुद्ध और दिव्य होनेके कारण उसका आना भी न आनेके समान ही है। क्योंकि वह संसारकी माया और मायाके कार्यसे कभी किसी प्रकार लिप्त नहीं होता तथा उसका देह अनामय होता है। उस लोकमें जो रहते हैं, उनके शरीर जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि आदि दोषों तथा समस्त विकारोंसे रहित और परम पवित्र होकर भगवान्‌की भाँति ही दिव्य, चिन्मय, अलौकिक और सम्पूर्ण सद्गुणोंसे युक्त हो जाते हैं एवं उनमें सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और पालनके अतिरिक्त भगवान्‌के अन्य सभी प्रभाव और ऐश्वर्य आदि आ जाते हैं। उस धाममें जितने भी पदार्थ होते हैं, वे सब दिव्य, चिन्मय और अलौकिक होते हैं। यह सब भगवद्धामके प्रभावका दिग्दर्शन है।

भगवद्धामका तत्त्व

भगवान् ही स्वयं धामके रूपमें प्रादुर्भूत होते हैं। इसलिये धाम साक्षात् भगवान्‌का ही स्वरूप है। निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही सगुण निराकारके रूपमें होकर फिर परम धामके स्वरूपमें प्रकट होते हैं। इसलिये धाम परमात्माका स्वरूप होनेके कारण उनसे अभिन्न है। यह जानना ही धामका तत्त्व जानना है।

भगवद्धामका रहस्य

भगवान् और भगवान्‌के धामके गुण, प्रभाव, तत्त्व

तथा लीलाकी गोपनीय दिव्य रहस्यमयी बातें जो यहाँ समझमें नहीं आतीं, वे वहाँ उस परम धाममें जानेपर ज्यों-की-त्यों यथार्थरूपसे जाननेमें आ जाती हैं। अर्थात् वहाँ जाते ही उसे भगवान् और भगवान्का धाम वस्तुत: क्या चीज है—इसका तात्त्विक रहस्य एकदम प्रत्यक्ष हो जाता है। वहाँ न जानी हुई जानी जाती है, न अनुभव की हुई अनुभव की जाती है और न देखी हुई देखी जाती है, न सुनी हुई सुनी जाती है, न समझी हुई समझी जाती है; क्योंकि वहाँ पहुँचनेपर बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि सभी दिव्य हो जाते हैं। यहाँ भगवान् और उनके धामके विषयकी जो बातें सुनी-समझी जाती हैं, उससे वह अत्यन्त निराला—विलक्षण है; क्योंकि लौकिक बुद्धि, मन, वाणीकी वहाँ पहुँच ही नहीं है। वहाँ जानेपर इन सबका सम्पूर्ण भेद—रहस्य खुल जाता है और फिर इस विषयकी कोई भी शंका नहीं रह जाती। यह समझना धामका रहस्य समझना है।

इस लोकमें भगवान्ने जहाँ अवतार लेकर लीला की है, ऐसे अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन आदि भी भगवान्के परम धाम माने गये हैं; क्योंकि इन धामोंमें श्रद्धा-प्रेमपूर्वक वास करनेसे वास करनेवालेमें भगवान्के गुण आ जाते हैं तथा उनका तत्त्व-रहस्य समझनेसे मनुष्योंमें श्रद्धा-प्रेम और भक्तिका आविर्भाव हो जाता है एवं उन स्थानोंमें मरनेपर उनके प्रभावसे मनुष्य सब पापोंसे रहित होकर मुक्त हो जाता है।

अब भगवान्के गुणोंका प्रभाव, तत्त्व, रहस्य तथा प्रभावका तत्त्व-रहस्य किस प्रकार समझना चाहिये, यह बतलाया जाता है।

भगवद्गुणोंका प्रभाव

भगवान्के क्षमा, दया, प्रेम आदि दिव्य गुणोंके श्रवण, मनन, चिन्तन, वर्णन, गायन आदि करनेसे मनुष्यमें उन सम्पूर्ण गुणोंका आविर्भाव हो जाता है तथा वह समस्त दोषोंसे रहित होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है। यह गुणोंका प्रभाव है।

भगवद्गुणोंका तत्त्व

भगवान्के सम्पूर्ण गुण दिव्य और चिन्मय हैं तथा भगवान्से अभिन्न हैं। वहाँ गुण और गुणीका भेद नहीं है। यह जानना ही भगवान्के गुणोंका तत्त्व जानना है।

भगवद्गुणोंका रहस्य

भगवान्के दया, प्रेम आदि गुणोंमें यह रहस्य देखना चाहिये कि भगवान्के दया और प्रेम आदि गुण हेतुरहित और विशुद्ध होते हैं; उनमें कायरता, ममता, कामना, लज्जा, स्वार्थ और भय आदि दोष नहीं होते। इसी प्रकार उनके सभी गुण हेतुरहित, अनन्त, दिव्य और विशुद्ध होते हैं। गुणोंके इस रहस्यको जो समझ जाता है, वह फिर उन परमात्माकी ही शरणमें चला जाता है और उन्हींसे अनन्य प्रेम करता है तथा उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। विभीषण भी भगवान्की दया और प्रेम आदिके यशको सुनकर उनका रहस्य समझकर ही उनकी शरणमें गये थे। उन्होंने स्वयं यह बात कही है—

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

एवं उपर्युक्त गुणोंके रहस्यको समझनेवाला फिर स्वयं वैसा ही बन जाता है। भगवान्ने गीतामें भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए कहा है कि उनमें दया, प्रेम, क्षमा, निर्ममता, निरहंकारता, समता आदि गुण स्वाभाविक ही आ जाते हैं। (१२। १३)

संसारमें यावन्मात्र प्राणियोंमें जितने भी गुण दीख रहे हैं, वे उन गुणसागर परमात्माके दिव्य गुणोंके एक अंशकी ही झलक हैं। इस प्रकार समझना गुणोंके रहस्यको समझना है।

भगवत्प्रभावका तत्त्व

जो भी भगवान्का बल, ऐश्वर्य, शक्ति आदि प्रभाव है, वह भगवान्से अभिन्न है। जैसे अग्निका प्रकाशन और दहन आदि प्रभाव अग्निसे अभिन्न है, इसी प्रकार भगवान्का प्रभाव भगवान्से अभिन्न है। यह जानना ही भगवान्के प्रभावका तत्त्व जानना है।

भगवत्प्रभावका रहस्य

अग्नि, सूर्य और चन्द्रमामें जो तेज है तथा संसारमें जो कुछ भी विभूतियुक्त, तेजयुक्त, कान्तियुक्त पदार्थ है, वह सब-का-सब भगवान्के प्रभावके एक अंशका प्राकट्य है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

(१५। १२)

'सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है तथा जो चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है—उसको तू मेरा ही तेज जान।'

तथा—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
(१०। ४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान।'

अब ऊपर बताये हुए पदार्थोंके सेवनकी विधिपर विचार करते हैं।

भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी अमृतमयी कथाओंका श्रद्धा[1], प्रेम[2] और निष्कामभाव[3] पूर्वक भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंके द्वारा श्रवण करना और श्रवण करके वीणाके सुननेसे जैसे हरिण मुग्ध हो जाता है, वैसे ही प्रेममें मुग्ध हो जाना एवं रोमांच, अश्रुपात, कण्ठावरोध और हृदयकी प्रफुल्लताका होना—यह कानोंके द्वारा उपर्युक्त पदार्थोंका सेवन करना है। इसलिये ज्ञानी भक्तोंके पास जाकर, उनको साष्टांग प्रणाम, सेवा-शुश्रूषा और निष्कपटभावसे प्रश्न करके उनसे भगवान्‌की उपर्युक्त बातें सुननी चाहिये।

नेत्रोंके द्वारा गीता, रामायण, भागवत आदि सत्-शास्त्रोंमें लिखी हुई भगवान्‌की नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी अमृतमयी बातोंका अर्थ, भाव और विवेचनपूर्वक श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभावसे स्वाध्याय करना; सारे संसारको भगवत्स्वरूप देखना; भगवान्‌के स्वरूप, चित्र, मूर्ति और लीला आदिको चकोरकी भाँति एकटक देखना तथा माता-पिता, स्वामी-सुहृद्, आचार्य, अतिथि, ज्ञानी, महात्मा, भगवद्भक्त आदि पुरुषोंको भगवत्स्वरूप समझकर उनके दर्शन करना एवं ऐसा करते हुए रोमांच, अश्रुपात, कण्ठावरोध और हृदयकी प्रफुल्लता होकर प्रेममें मुग्ध हो जाना—यह नेत्रोंके द्वारा उपर्युक्त पदार्थोंका सेवन करना है।

सुनी, पढ़ी और समझी हुई भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी अमृतमयी कथाओंका एकान्त और पवित्र स्थानमें सुखपूर्वक स्थिर आसनपर बैठकर श्रद्धा-प्रेम और निष्काम भावपूर्वक विवेक-वैराग्ययुक्त[4] चित्तसे मनन करना तथा दिव्य स्तोत्र और पदोंके द्वारा मनसे भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना, पूजा-नमस्कार आदि करना; चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते सभी काम करते हुए सब समय उपर्युक्त बातोंका मनन करना; सोनेके समय उपर्युक्त भावोंसे भावित होकर उनका मनन करते रहना और मनसे सबको भगवान्‌का स्वरूप समझते हुए भगवच्चिन्तन करना तथा इस प्रकार करते हुए देहकी भी सुधि भुलाकर तन्मय हो जाना एवं रोमांच, अश्रुपात, कण्ठावरोध, हृदयकी प्रफुल्लता तथा मुग्धता हो जाना—यह मनके द्वारा उपर्युक्त पदार्थोंका सेवन करना है।

भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण, प्रभाव, तत्त्वरहस्यकी अमृतमयी बातोंको श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे स्वयं मधुर वाणीसे कीर्तन करना; कथा-व्याख्यानादिद्वारा दूसरोंको सुनाना; दिव्य स्तोत्र और पदोंके द्वारा भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना करना और सबमें भगवद्भाव रखकर सबके साथ हितपूर्ण सत्य, प्रिय, मधुर, कोमल वाणीसे वार्तालाप करना एवं इस प्रकार करते-करते रोमांच, अश्रुपात, कण्ठावरोध, हृदयकी प्रफुल्लता होकर प्रेममें मुग्ध हो जाना—यह वाणीके द्वारा उपर्युक्त पदार्थोंका सेवन करना है।

उपर्युक्त प्रकारसे साधन करनेपर साधकको अपने इष्टदेवका, जिस रूपमें वह दर्शन करना चाहता है, उसी

१-ईश्वर, महात्मा, शास्त्र और परलोकमें भक्तिपूर्वक प्रत्यक्षकी भाँति विश्वासका नाम 'श्रद्धा' है। श्रद्धेयमें जब श्रद्धा हो जाती है, तब वह उसके संकेत, मन और आज्ञाके अनुसार ही चलता है। उसीमें उसे महान् शान्ति तथा आनन्द मिलते हैं एवं उनका पालन न करना तो उसके द्वारा बन ही नहीं सकता, किंतु यदि किसी कारणवश आज्ञापालन न हो तो उसके लिये वह मृत्युके तुल्य है।

२-अपने प्रेमास्पदकी कभी विस्मृति न हो और उसके वियोगमें जलके वियोगमें मछलीकी तरह तड़पने लग जाना 'प्रेम' है।

३-अहंता, ममता, आसक्तिका सर्वथा अभाव होकर किसी भी प्रकारकी तृष्णा, इच्छा, स्पृहा, वासना, कामना आदिका न रहना 'निष्कामभाव' है।

४-सत्-असत् और नित्य-अनित्य वस्तुके विवेचनका नाम 'विवेक' है। विवेक होनेपर मनुष्य प्रत्येक अवस्था और वस्तुमें प्रतिक्षण आत्मा और अनात्माका विश्लेषण करते हुए परमात्माके तत्त्वका बार-बार मनन करता है।

वैराग्यकी व्याख्या महर्षि पतंजलिने योगदर्शनमें इस प्रकार की है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। (१।१५)

'स्त्री, धन, भवन, मान, बड़ाई आदि इस लोकके और स्वर्गादि परलोकके सम्पूर्ण विषयोंमें तृष्णारहित हुए चित्तकी जो वशीकार-अवस्था होती है, उसका नाम 'वैराग्य' है।

रूपमें साक्षात् दर्शन हो जाता है। उस समय उसकी विलक्षण अवस्था हो जाती है; वह प्रेम, आनन्द और आश्चर्यमें मुग्ध हो जाता है; उसे भगवान्‌के सिवा, अपने-आपका भी ज्ञान नहीं रहता; वह भगवान्‌को ही एकटक देखने लगता है; उसके नेत्रोंकी पलक भी नहीं पड़ती तथा भगवान्‌के साक्षात् दर्शन, स्पर्श और वार्तालाप आदि करनेसे उसके रोमांच होने लगते हैं; कण्ठावरोध हो जाता है, नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगते हैं, और वाणी गद्‌गद हो जाती है। उसके आनन्दका पारावार नहीं रहता। वह परमानन्दमें निमग्न हो जाता है।[१] तथा जहाँ उसके मन और नेत्र जाते हैं, वहीं उसे भगवान् दीखते हैं। भगवान् उसके मन और आँखोंसे कभी ओझल नहीं होते।[२] और इस प्रकार सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि होनेके कारण उसमें अद्‌भुत समता आ जाती है। समस्त पदार्थ, भाव, घटना, क्रिया और परिस्थितिमें तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें उसकी विलक्षण समता हो जाती है।[३] वह सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त-स्वरूप परब्रह्म परमात्मा जैसा और जिस प्रभाववाला है, उसको यथार्थरूपसे तत्त्वतः जान जाता है। फिर वह समस्त संशय, भ्रम, अज्ञान और पापोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है। उसके लिये कोई भी कर्तव्य या ज्ञातव्य शेष नहीं रह जाता। वह हर समय परमात्मामें ही तल्लीन रहता है। उसकी सारी चेष्टा परमात्मामें ही होती है। भगवान्‌ने कहा है—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(गीता ६। ३१)

'जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है।'

ऐसे महापुरुषके दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन, वार्तालाप करनेसे मनुष्य परम पवित्र बन जाता है। भागवतमें राजा परीक्षित्‌ने शुकदेवजीके प्रति अपने श्रद्धामय उद्‌गार प्रकट करते हुए कहा है—

येषां संस्मरणात् पुंसां सद्यः शुद्ध्यन्ति वै गृहाः।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः॥
सान्निध्यात्ते महायोगिन् पातकानि महान्त्यपि।
सद्यो नश्यन्ति वै पुंसां विष्णोरिव सुरेतराः॥

(१। १९। ३३-३४)

'भगवन्! जिनके स्मरणमात्रसे तत्काल ही मनुष्योंके घर पवित्र हो जाते हैं, उन्हीं आपके दर्शन, स्पर्श, पादप्रक्षालन और आसनादिका सुअवसर मिलनेपर तो कहना ही क्या है? हे महायोगिन्! आपकी सन्निधिसे पुरुषोंके भारी-से-भारी पाप भी इस प्रकार तुरंत नष्ट हो जाते हैं जैसे विष्णुभगवान्‌के सामने दैत्यलोग नहीं ठहरते।'

१- जब श्रीअक्रूरजी कंसकी आज्ञासे भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीको लेनेके लिये गोकुल गये, उस समय भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन करके उनकी जो दशा हुई उसका वर्णन करते हुए भागवतकार कहते हैं—

भगवद्दर्शनाह्लादबाष्पपर्याकुलेक्षणः। पुलकाचितांग औत्कण्ठ्यात् स्वाख्याने नाशकन्नृप॥ (१०। ३८। ३५)

'हे राजन्! भगवद्दर्शनके आह्लादसे उनके नेत्रोंमें जल भर आया, शरीर पुलकित हो गया और गला भर आनेके कारण वे अपना परिचय भी न दे सके।'

२- भगवान्‌ने कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ (गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

३- भगवान्‌ने भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए कहा है—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्। अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

(गीता १२। १८-१९)

'जो शत्रु-मित्रमें और मानापमानमें सम है तथा सरदी, गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है; जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है—वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है।'

ऐसे महापुरुष जहाँ विचरते हैं, वह स्थान तीर्थ हो जाता है और वहाँका वायुमण्डल पवित्र हो जाता है। श्रीनारदजीने कहा है—

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि। (नारदभक्तिसूत्र ६९)

'वे अपने प्रभावसे तीर्थोंको सुतीर्थ बनाते हैं, कर्मोंको सुकर्म बनाते हैं और शास्त्रोंको सत्-शास्त्र बना देते हैं।' अर्थात् वे जहाँ रहते हैं, वही स्थान तीर्थ बन जाता है या उनके रहनेसे तीर्थका तीर्थत्व स्थायी और उज्ज्वल बन जाता है। वे जो कर्म करते हैं, वे ही सुकर्म बन जाते हैं, उनकी वाणी ही शास्त्र है और वे जिस शास्त्रको महत्त्व देकर अपनाते हैं, वही सत्-शास्त्र समझा जाता है।

तथा—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

(स्कन्द०, मा० कौ० ख० ५५। १४०)

'जिसका चित्त इस अपार ज्ञानस्वरूप सुखसागर परब्रह्ममें लीन है, उससे कुल पवित्र, माता कृतार्थ और पृथ्वी पुण्यवती हो जाती है।'

श्रीतुलसीदासजीने तो यहाँतक कह दिया है कि—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥

अतएव मनुष्यको उचित है कि ऐसी स्थिति प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌के उपर्युक्त नाम, रूप, लीला, धामके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका कान, नेत्र, मन और वाणीद्वारा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे तत्परताके साथ नित्य-निरन्तर सेवन करे।

दीपावलीपर चेतावनी

दीपावली आ गयी है। इस अवसरपर हमलोग उत्सव मनाया करते हैं तथा श्रीलक्ष्मीनारायणजीका पूजन किया करते हैं। हमलोगोंके लिये यह एक बड़ा ही शुभ पर्व है; इसलिये शास्त्रविधिके अनुसार श्रद्धाप्रेमपूर्वक निष्कामभावसे बड़े ही आनन्द और उल्लासके साथ पूजनादि कृत्य सम्पादन करते हुए इस महोत्सवको मनाना चाहिये। परंतु यह महोत्सव पूर्णतया तो तभी सफल हो सकता है, जब कि हम अपने परमावश्यक आत्मकल्याणके महत् कार्यको सिद्ध कर लें। प्रतिवर्ष दीपावली आती है और हमारी सीमित आयुमेंसे एक वर्ष निकल जाता है। इसी तरह एक-एक करके हमारे जीवनके बहुत-से वर्ष बीत चुके हैं और कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि आगामी दीपावलीतक हम जीवित रहेंगे या नहीं। अतः इसी वर्षकी दीपावलीसे हमें बुद्धिमानीके साथ लाभ उठाना चाहिये। वह लाभ यही है कि जिस कामके लिये हमें यह मानव-देह प्राप्त हुआ है, उसे अतिशीघ्र ही सिद्ध कर लें। दीपावलीकी ज्योति हमें यह चेतावनी दे रही है कि जिस प्रकार बाहर दीपपंक्तिकी ज्योति फैल रही है, इसी प्रकार अन्तःकरणमें ज्ञानरूपी ज्योतिकी आवश्यकता है। जैसे बाहरकी इस ज्योतिसे बाह्य अन्धकार दूर होता है, ऐसे ही अन्तःकरणकी ज्योतिसे आन्तरिक अज्ञान नष्ट होकर परमात्माका ज्ञान हो जाता है। अतः हृदयस्थ अज्ञानके नाशके लिये भीतरकी ज्योति जगानी चाहिये। असलमें तो बाहर और भीतर दोनों ओरको प्रकाशित करनेवाली ऐसी ज्योति चाहिये—जो निर्मल हो, जलानेवाली न हो, बुझनेवाली न हो, नित्य प्रकाशरूप हो और वस्तुका असली स्वरूप दिखला दे। ऐसी ज्योति है—'भक्तिपूर्वक भगवान्‌का नित्य स्मरण।'

श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

हमें अपनी अयोग्यता तथा दुर्बलताको देखकर कभी निराश नहीं होना चाहिये। इस कार्यमें दयामय भगवान् हमें पूर्ण सहायता देनेको तैयार हैं। वे हमें आश्वासन दे रहे हैं—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०। ११)

'हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

बस, हमें तो केवल भगवान्‌के इस अनुग्रहको प्राप्त करना है। इसे प्राप्त करनेका सर्वोत्तम और सबसे सरल

उपाय है—भगवान्‌की अनन्य भक्ति; जिसका उल्लेख भगवान्‌ने स्वयं गीतामें कर दिया है। भगवान् कहते हैं—

मच्चित्ता मद्‌गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन सदा ही मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ जिससे वे मुझको ही प्राप्त हो जाते हैं।' इन दोनों श्लोकोंमें भगवान्‌ने अपने परम बुद्धिमान् अनन्यप्रेमी भक्तोंके भजनका प्रकार बतलाकर अपनी प्राप्तिके लिये भक्तिरूप परम साधनके सरलतम उपायोंका दिग्दर्शन कराया है। इनका आशय यह है कि वे प्रेमी भक्त भगवान्‌को ही अपना परम प्रेमास्पद, परम सुहृद् और परम आत्मीय समझकर अपने चित्तको अनन्यभावसे उन्हींमें लगा देते हैं, भगवान्‌के सिवा किसी भी वस्तुमें उनकी प्रीति, आसक्ति या रमणीय बुद्धि नहीं रहती; वे सदा-सर्वदा भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम और गुण-प्रभावका चिन्तन करते रहते हैं—शास्त्रविधिके अनुसार समस्त कर्म करते हुए, उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते, खाते-पीते—सभी समय व्यवहारकालमें और एकान्त साधनकालमें भी कभी क्षणमात्र भी भगवान्‌को नहीं भूलते; उनका जीवन भगवदर्पित होता है और इसलिये उनकी इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ केवल भगवान्‌के लिये ही होती हैं, उनको क्षणमात्रके लिये भी भगवान्‌का वियोग असह्य हो जाता है।

तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।

(नारदभक्तिसूत्र १९)

वे भगवान्‌के लिये ही प्राण धारण करते हैं; उनका खाने-पीने, चलने-फिरने, सोने-जागने आदि किसी भी क्रियामें अपना कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता, वे जो कुछ भी करते हैं, सब भगवान्‌के लिये ही। वे भगवान्‌में श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले प्रेमी भक्तोंके बीच परस्पर भगवान्‌का बोध करानेके उद्देश्यसे अपने-अपने अनुभवके अनुसार भगवान्‌के गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और लीला-माहात्म्यको समझते-समझाते हुए श्रद्धा-प्रीतिपूर्वक भगवद्विषयका ही कथन करते रहते हैं; एवं इस प्रकार प्रत्येक क्रियामें निरन्तर परम आनन्दका अनुभव करके नित्य सन्तुष्ट रहते हैं; उन्हें भगवद्विषयकी बातोंके श्रवण, मनन, कीर्तन और पठन-पाठनसे ही परम शान्ति, आनन्द और सन्तोष प्राप्त होता है, सांसारिक वस्तुओंसे उनके आनन्द और सन्तोषका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जाता; और वे भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, लीला, स्वरूप, तत्त्व और रहस्यका यथायोग्य श्रवण, मनन और कीर्तन करते हुए एवं उनकी रुचि, आज्ञा और संकेतके अनुसार केवल उनमें प्रेम होनेके लिये ही प्रत्येक क्रिया करते हुए, मनके द्वारा उनको सदा-सर्वदा प्रत्यक्षवत् अपने समीप समझकर निरन्तर प्रीतिपूर्वक उनके दर्शन, स्पर्श और उनके साथ वार्तालाप आदि क्रीड़ा करते हुए उन्हींमें निरन्तर रमण करते रहते हैं। वे भक्त विषयभोगोंकी कामनाके लिये भगवान्‌को नहीं भजते, अपितु किसी प्रकारका भी फल न चाहकर केवल निष्काम अनन्य प्रेमपूर्वक ही निरन्तर भजन करते हैं, ऐसे अनन्यप्रेमी भक्तोंको भगवान् वह बुद्धियोग प्रदान करते हैं—उनके अन्तःकरणमें अपने प्रभाव और रहस्यसहित निर्गुण-निराकार तत्त्वको तथा लीला, रहस्य, गुण और प्रभाव आदिके सहित सगुण निराकार और साकार तत्त्वको यथार्थरूपसे समझनेकी शक्ति प्रदान कर देते हैं, जिससे वे भगवान्‌को प्रत्यक्ष करके सहज ही उन्हें प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार भगवत्कृपासे उन प्रेमी भक्तोंके हृदयके अन्धकारका सर्वथा नाश होकर उसमें सदाके लिये ज्ञानका प्रकाश छा जाता है और वे भगवान्‌की इस सहायतासे भगवान्‌को प्राप्त करके सफलजीवन हो जाते हैं।

हमें भी भगवान्‌की इस अनवरत बरसनेवाली अपार अनन्त असीम कृपाकी ओर ध्यान देकर उससे वास्तविक लाभ उठाते हुए अपने जीवनको कृतार्थ करना चाहिये। हमें अपने अबतकके जीवनपर दृष्टि डालनी चाहिये। कितने बड़े शोकका विषय है कि हमारी इतनी आयु व्यर्थ प्रमादमें चली गयी। जिस महत्त्वपूर्ण कामके लिये हम मानव-शरीरमें आये थे, उसे तो सर्वथा भूल ही गये। इस प्रकार सुअवसर पाकर भी यदि हम नहीं चेतेंगे तो हमारे लिये बहुत ही हानि है। श्रुति भगवती हमें चेता रही हैं—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
(केन० २।५)

'यदि इस मनुष्य-जन्ममें ही भगवान्‌को जान लिया तब तो अच्छी बात है, और यदि इस जन्ममें नहीं जाना तो बड़ी भारी हानि है। अतः धीर पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सर्वान्तर्यामी परमात्माको पहचान लेते हैं, जिससे इस लोकसे प्रयाण करनेपर वे अमृतस्वरूप हो जाते हैं अर्थात् उस अमृतमय परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।' नचिकेताको उपदेश देते हुए यमराज कहते हैं—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥
(कठ० १।३।१४)

'उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाकर उस ज्ञानको प्राप्त करो। क्योंकि तत्त्वज्ञ पुरुष उस मार्गको छुरेकी तीक्ष्ण और दुस्तर धारके समान दुर्गम बतलाते हैं।' इसलिये जबतक मृत्यु दूर है, वृद्धावस्था नहीं आयी है, शरीर रोगाक्रान्त होकर जर्जर नहीं हो गया है, उसके पहले-पहले ही आत्मकल्याणका काम कर लेना चाहिये। नहीं तो पीछे अत्यन्त पश्चात्ताप करनेपर भी कोई काम सिद्ध नहीं होगा।

श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥

अतः पहले ही सावधान हो जाना चाहिये। इन ऐश-आराम, स्वाद-शौकीनी, भोग-विलासके पदार्थोंमें फँसकर इनके सेवनमें अपनी बहुमूल्य आयुको बिताना तो जीवनको मिट्टीमें मिलाकर नष्ट करना है। इन विषयोंमें प्रतीत होनेवाला सुख वास्तवमें सुख नहीं है। हमें भ्रमके कारण दुःख ही सुखके रूपमें भास रहा है। इसलिये कल्याणकामी विवेकी मनुष्यको उचित है कि इन सबको धोखेकी टट्टी समझकर दूरसे ही त्याग दे। गीतामें भगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(५।२२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं, तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं; इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

योगदर्शनमें कहा है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।
(साधनपाद १५)

'परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख—आदि अनेकों दुःखोंसे मिश्रित होने तथा सात्त्विक, राजस, तामस वृत्तियोंमें विरोध होनेसे भी विवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें सम्पूर्ण विषयसुख दुःखरूप ही हैं।'

यदि कोई मनुष्य अज्ञानवश इस विषयसुखको सुख भी माने तो विचार करनेपर मालूम हो जायगा कि यह सुख कितना अस्थिर है। देश, काल और वस्तुसे परिच्छिन्न होनेके कारण यह सर्वथा क्षणभंगुर, विनाशशील और अत्यन्त अल्प ही है। इसीलिये तो बुद्धिमान् नचिकेताने यमराजके अनेक प्रलोभन देनेपर भी उनसे यही कहा—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैत-
त्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥
(कठ० १।१।२६)

'हे यमराज! ये समस्त भोग 'कल रहेंगे या नहीं' इस प्रकारके सन्देहयुक्त एवं सम्पूर्ण इन्द्रियोंके तेजको जीर्ण करनेवाले हैं। यही क्या, यह सारा जीवन भी बहुत थोड़ा ही है। इसलिये ये आपके वाहन और नाच-गान आपके पास ही रहें, मुझे इनकी आवश्यकता नहीं है।' यह तो इस जीवनकालमें इन भोगोंसे मिलनेवाले सुखकी बात है। मरनेके बाद तो इनमेंसे कोई भी पदार्थ किसी भी हालतमें किंचिन्मात्र भी किसीके साथ जा ही नहीं सकता।

कविने कहा है—

चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः
सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः।
गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरंगाः
सम्मीलने नयनयोर्न हि किंचिदस्ति॥

'जिसके अत्यन्त मनोहारिणी स्त्रियाँ हैं, अनुकूल मित्र हैं, बड़े ही सुयोग्य बन्धु-बान्धव हैं, प्रेमभरी मीठी वाणी बोलनेवाले सेवकगण हैं तथा जिसके घरमें अनेकों हाथियोंके समूह चिग्घाड़ रहे हैं और तीव्र वेगवाले घोड़े

हिनहिना रहे हैं, ऐसे पुरुषकी भी जब आँखें मुँद जाती हैं, तब न तो कोई भी उसका अपना ही रह जाता है और न कोई भी वस्तु उस समय उसके काम ही आ सकती है।'

इन धन-ऐश्वर्य आदि भोग्य पदार्थोंकी तो बात ही क्या, यह शरीर भी हमारे साथ नहीं जा सकता, यहीं भस्म हो जाता है। फिर कौन बुद्धिमान् मनुष्य संसारके इन नाशवान् पदार्थोंके संग्रह और इनके सेवनमें अपनी आयुको नष्ट करेगा। फिर हम देखते हैं कि ये धनैश्वर्य आदि पदार्थ तो इसी जन्ममें नष्ट हो जाते हैं। आजका धनी कल रास्तेका कंगाल हो जाता है। अतः इनके लिये परलोककी तो बात ही सोचना मूर्खता है। ऐसी अवस्थामें इनके संग्रह एवं सेवनमें मानव-जीवनका समय व्यय करना जीवनका भयानक दुरुपयोग ही है। धनको ही लीजिये। इसके उपार्जनमें कितना क्लेश है। झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी और लूट-खसोट करके अन्यायसे कमाया हुआ धन परिणाममें इस लोक और परलोकमें तो दुःखरूप है ही; सरकारी कानूनकी रक्षा करते हुए न्याय और धर्मके अनुसार धनका उपार्जन करनेमें भी कितना भारी परिश्रम है, इसपर भी ध्यान देना चाहिये। फिर, धनके संचय और संरक्षणमें भी महान् क्लेश है तथा उसके वियोगमें तो अत्यन्त कष्ट होता है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥

(११। २३। १७)

'धनोपार्जनके साधनमें, उसकी प्राप्तिमें, उसके बढ़नेमें, उसके संरक्षणमें, उसके खर्च हो जानेमें, उसके उपभोग करनेमें और किसी भी प्रकारसे नष्ट हो जानेमें मनुष्योंको महान् परिश्रम, त्रास (भय), चिन्ता और चित्तका भ्रम होता है।'

जिसमें इस प्रकार दुःख-ही-दुःख भरा है, सुखकी केवल भ्रान्तिमात्र है, ऐसे धनके उपार्जन और संचयको ही अपने जीवनका उद्देश्य मान लेना और इसीमें दिन-रात लगे रहना प्रमादके सिवा और क्या है। मनुष्य यदि गम्भीरतासे विचार करके देखे तो पता लगेगा कि वर्तमान समयमें तो केवल शरीरनिर्वाहमात्रके लिये भी न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना दुःख और परिश्रमसे खाली नहीं है। ऐसी परिस्थितिमें कौन समझदार आदमी थोड़े-से जीवनके लिये धनसंग्रहार्थ अपने अमूल्य समयको भारी संकटमें डालकर भयंकर पाप बटोरेगा और इसके फलस्वरूप अपने इस लोक और परलोकको अशान्ति, दुःख और नारकीय यन्त्रणासे परिपूर्ण करेगा।

यही बात शरीरके पालन-पोषण और भोगोंके उपभोगके विषयमें समझनी चाहिये। कोई भी भोग बिना आरम्भ किये नहीं प्राप्त होता। शरीरके पालन-पोषण अथवा भोगोपभोगके लिये कुछ-न-कुछ आरम्भ करना ही पड़ता है। और कोई भी आरम्भ आयास और पापसे खाली नहीं है; खास करके आजकलके अर्थप्रधान आसुरी युगमें।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

(गीता १८। ४८)

'क्योंकि धूएँसे अग्निकी भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे युक्त हैं।' इसलिये थोड़े-से जीनेके लिये शरीरनिर्वाहके अतिरिक्त विशेष विषयोपभोगके लिये भोग्यपदार्थोंका संग्रह करना इस लोक और परलोकसे वंचित होकर अपने-आपको भयानक भयमें डालना है।

पूर्ण, यथार्थ और नित्य सुख तो परमात्माकी प्राप्तिमें हैं। उसीमें परम आनन्द और शाश्वती शान्ति है। वह सुख-शान्ति देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न होनेके कारण नित्य, असीम, अपार, सर्वोपरि और महान् है। उसकी महिमा कोई नहीं बतला सकता। भगवान् कहते हैं—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

(गीता ९। २)

'वह सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी है।'

जिस परमानन्दस्वरूप परमेश्वरकी प्राप्ति होनेपर मनुष्य भारी-से-भारी दुःखोंके प्राप्त होनेपर भी उनसे विचलित नहीं होता

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६। २२)

जिसे प्राप्त करनेमें कोई विशेष आयास या श्रम भी नहीं है, जो भगवत्कृपासे सहज ही प्राप्त हो सकता है, जिसकी प्राप्तिके साधन भी बड़े ही सुगम हैं और उन साधनोंके करते समय भी अर्थात् परमेश्वरके भजन-ध्यान, सत्संग-स्वाध्याय आदि साधन करनेके कालमें भी सुख, शान्ति, प्रसन्नता और आनन्द प्रत्यक्ष देखनेमें आते हैं;

अतएव बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि वह ऐसे परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त करनेके लिये अपने जीवनको उत्तरोत्तर उन्नत बनाते हुए—एक क्षण भी व्यर्थ न जाय, इसका प्रतिक्षण ध्यान रखते हुए कटिबद्ध होकर प्रयत्न करे। इस प्रकार दिन-रात भजनमें लगे रहना ही जीवनमें यथार्थ ज्योति जगाना है—नित्य-सुखरूप प्रकाशका विस्तार करना है। यही सच्ची दीवालीका सच्चा आनन्द है।

साधनकी तीव्रता

जिस प्रकार श्वासकी गति निरन्तर चलती रहती है, उसमें कभी विराम नहीं होता, उसी प्रकार भगवत्प्राप्तिके लिये साधन भी तैलधारावत् सदा-सर्वदा चलते रहना चाहिये। जिस व्यक्तिके द्वारा निरन्तर भजन-ध्यान होता रहता है, उसके कल्याणमें किसी भी प्रकारके सन्देहकी गुंजाइश नहीं है; क्योंकि गीतामें स्वयं भगवान् इसका समर्थन करते हुए कहते हैं—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(८। ६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है।' मनुष्य सदा जिस भावका चिन्तन करता है, अन्तकालमें भी प्रायः उसीका स्मरण होता है।

इतना ही नहीं, निरन्तर चिन्तन करनेवाले साधकके लिये तो भगवान् अपनी प्राप्ति बड़ी सहज बताते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

इस उपर्युक्त श्लोकके पहले दो श्लोकोंमें भगवान् इन्द्रिय, मन और प्राणके निरोधका साधन बतला चुके हैं, उसे बहुत कठिन कहा जा सकता है, उसे योगी ही कर सकते हैं। परन्तु निरन्तर भगवच्चिन्तन तो प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। भगवान्ने कहा है—

'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।' (गीता ८। ७)

अवश्य ही इसमें तत्परताकी बड़ी आवश्यकता है। तत्पर होकर करनेपर भी यदि जीवनकालमें भगवत्प्राप्ति नहीं हुई तो अन्तकालमें तो निःसन्देह हो ही जाती है।

तन, मन और वचन तीनोंसे साधन होना चाहिये। शरीरसे सेवा, मनसे भगवान्का ध्यान और जिह्वासे भगवन्नामका जप करे। कोई भी कार्य सांसारिक स्वार्थके लिये न करके कर्तव्य समझकर करे। जिस-जिस कालमें भगवत्स्मृति हो, उस-उस समय भगवान्की अत्यन्त कृपा समझे और आनन्दमें गद्गद हो जाय। जिस क्षणमें भगवान्की विस्मृति हो जाय, उसके लिये बड़ा भारी पश्चात्ताप करे कि इस समय यदि मेरी मृत्यु हो जाती तो न मालूम क्या दुर्दशा होती।

सभी बातोंमें हमें अपना सुधार करना चाहिये। हम मन्दिरमें जायँ तो हमें मूर्तिमें बहुत श्रेष्ठ भाव करना चाहिये। आस-पासकी सजावटसे भगवद्विग्रहको श्रेष्ठ समझे। बाहरी पूजासे भी मानसिक पूजाका अधिक महत्त्व है। बस, हृदय-आकाशमें या बाह्य-आकाशमें मानसिक मूर्तिकी स्थापना करके मानसिक सामग्रीद्वारा उनकी सेवा-पूजा करता रहे। यह कार्य हर समय चलता रहे और इसीमें मस्त रहे। भगवान्के दया, क्षमा, शान्ति, समता आदि दिव्य गुणोंको बार-बार याद करे।

भगवान्के प्रेम, प्रभाव और चरित्रोंका चिन्तन करे। प्रेमी तो उनके समान कोई है ही नहीं। रही प्रभावकी बात, सो जो-जो भी विभूति, कान्ति और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको भगवान्के ही तेजका अंशमात्र समझना चाहिये (गीता १०। ४१)। इस प्रकार सभी वस्तुओंमें उनका प्रभाव देख-देखकर उनकी स्तुति, प्रार्थना एवं ध्यान करना चाहिये। इनमें ध्यानका महत्त्व सबसे अधिक है। जब भगवान्के समान भी कोई नहीं, तो उनसे श्रेष्ठ तो हो ही कैसे सकता है? इस आशयके भावोंद्वारा उनकी स्तुति करे। प्रार्थनामें यह भाव रखे कि आपका मधुर चिन्तन एवं ध्यान निरन्तर होता रहे; सदा आपकी लीलाका दर्शन होता रहे। लीलामें यह बात समझनेकी है कि हम जो रामलीला देखते हैं वह तो बाहरकी लीला है। इसी प्रकार हमें रामचरितमानसके

आदिसे अन्ततककी लीलाओंको चुन लेना चाहिये और उनका चिन्तन एवं मनके द्वारा दर्शन करना चाहिये। उन सुन्दर स्थलोंकी चौपाइयोंको कण्ठस्थ कर लें, जिनसे लीला-चिन्तन-दर्शनमें बड़ी सहायता मिले। यह ध्यान करनेका एवं मनको सुगमतापूर्वक भगवान्‌में लगानेका बड़ा सुन्दर सहज तरीका है। मनुष्यका बहुत-सा समय व्यर्थ चिन्तनमें बीतता रहता है; परन्तु इस साधनमें संलग्न हो जानेपर मनको मनन और चिन्तन करनेका बड़ा सुन्दर कार्य मिल जाता है। यही इस साधनकी सबसे बड़ी विशेषता है।

इस प्रकारके कार्योंमें मनको खूब व्यस्त रखे। अन्य चिन्तनके लिये उसे तनिक भी अवकाश न दे। कभी रामायण, कभी गीता तो कभी भागवत—इनका मनन करता ही रहे। दिनभरके अन्य व्यर्थ कार्योंसे मुँह मोड़कर ऐसे ही कामोंमें लगे रहना चाहिये।

साधनमें ढिलाई लानेवाली, साधनकी चाल तेज न होने देनेवाली बड़ी बाधा है विषयोंकी आसक्ति। अतः सावधान होकर संसारके पदार्थोंमें जो आसक्ति है उसे सर्वथा हटा देना चाहिये। संसार और उनके पदार्थोंको नाशवान्, क्षणभंगुर एवं दुःखदायी समझकर उनसे मनको हटाकर वैराग्य करे। मनको वश करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य ही मुख्य साधन हैं। कोई कहे कि सब लोग इस प्रकारके साधन नहीं करना चाहते, सो दूसरोंकी ओर न देखकर हमें तो करना ही चाहिये।

साधकको एक बात और जान लेनी चाहिये कि मनुष्यकी प्रकृति स्वाभाविक ही पतनकी ओर प्रवाहित होती रहती है। इसीलिये कोई आसुरी-सम्पदाका प्रचार करना चाहे तो तुरंत होने लगता है; परन्तु दैवी-सम्पदाका सुन्दर सात्त्विक प्रचार करनेमें बड़ी-बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है। इसे समझकर सदा सावधान रहना चाहिये और एक मिनट भी व्यर्थ नहीं खोना चाहिये। निकम्मा नहीं रहना चाहिये। निकम्मा रहनेपर ही प्रमाद, आलस्य आदि दुर्गुण आ घेरते हैं। अतः जबतक मन संसारके संकल्पोंसे रहित होकर परमात्मामें नहीं लग जाता, तबतक बड़ा भारी खतरा है।

भगवन्नामकी खेती करनी चाहिये। भगवान्‌का नाम बीज है, जिसे हृदयके खेतमें बो देना चाहिये। चित्तकी वृत्ति जल है। चित्तवृत्तिरूपी जल संसार-सागरकी ओर प्रवाहित हो रहा है, इसे उधरसे रोककर धानके खेतकी तरह इस खेतको सींचना है। ज्यों-ज्यों उधरका प्रवाह रोककर इधर प्रवाहित किया जायगा, त्यों-ही-त्यों खेत हरा-भरा होने लगेगा। धानका खेत अधिक जल चाहता है। उसे जलसे सींचना बंद कर दिया जाय तो खेत सूख जाता है। परन्तु इसमें यह विशेषता है कि यह सूखता नहीं। तथापि सींचनेका काम कभी बंद न करे। हर समय सींचता ही रहे। यही काम सबसे बढ़कर है और जब इससे बढ़कर अन्य कोई कार्य नहीं तब फिर किसे किया जाय, इसे ही करता रहे।

इस प्रकार सींचते-सींचते जब नन्हें-नन्हें धानके पौधे बड़े होकर उनमें बालें निकल आवें अर्थात् जब भगवद्भजन, सत्संग, ध्यान, वैराग्य आदिमें रुचि होने लगे, तब मान-बड़ाई आदि पक्षियोंसे सावधानीके साथ खेतकी रक्षा करनी चाहिये। इस समय अत्यधिक सावधानीकी आवश्यकता है। कहीं ऐसा न हो कि हम पक्षियोंके सुन्दर मधुर गानको सुनकर अपनेको भूल जायँ और वे पकती हुई खेतीको नष्ट-भ्रष्ट कर डालें।

साधनकी तेजीके लिये निष्कामभाव बड़े महत्त्वकी वस्तु है। निष्कामभाव होनेपर जल्दी लाभ होता है। हमलोगोंमें स्वार्थकी मात्रा बहुत बढ़ गयी है, इसीसे साधन तीव्र नहीं हो रहा है। हरेक बातमें और पद-पदपर स्वार्थकी भावना काम करती रहती है। पाँच व्यक्तियोंके लिये बाजारसे चीज आयी तो बढ़िया हम ले लें। बँटवारा हो तो बढ़िया मुझे मिले। रेलमें बैठें तो अधिक सुविधा हमें प्राप्त हो। बातें तो ऊँची-ऊँची बनायी जाती हैं, परन्तु गिद्धकी तरह दृष्टि रहती है नीचेकी ओर गंदी वस्तुओंपर। इससे बहुत बड़ा पतन है। अतः स्वार्थ-दृष्टिका त्याग करके लोकसेवाकी दृष्टिसे निष्कामभावपूर्वक संसारके काम किये जायँ तो अत्यधिक लाभ हो।

निर्धन मनुष्यको यह नहीं समझना चाहिये कि स्वार्थका त्याग तो धनवान् ही कर सकते हैं, वह नहीं कर सकता। यदि ऐसी बात होती तब तो धनवानोंको ही भगवत्प्राप्ति होती। परन्तु बात तो अधिकांशमें इसके विपरीत है। जिनके पास जितना अधिक धन है, वे उतने ही अधिक स्वार्थी हैं। अतः सभीको उपर्युक्त बातोंपर ध्यान रखकर अपने साधनको सुधारते हुए उसकी चालको खूब तेज करना चाहिये इससे शीघ्र कल्याण हो सकता है।

समयकी सार्थकता

श्रीभर्तृहरिजी कहते हैं—

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्॥

'सूर्यके उदय और अस्त—गमनागमनके द्वारा दिन-प्रतिदिन आयु नष्ट होती जा रही है; किंतु व्यापार-व्यवहारसम्बन्धी अनेक गुरुतर कार्यभारोंके कारण मनुष्यको इसका पता ही नहीं रहता कि कितना समय बीत गया और उसे जन्म, बुढ़ापा, विपत्ति तथा मृत्युको देखते हुए भी उनसे भय उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार यह समस्त जगत् प्रमादरूपी मोहमयी मदिराको पीकर उन्मत्त हो रहा है अर्थात् वह अपने कर्तव्याकर्तव्यके विवेकसे शून्य हो प्रमत्तकी भाँति अज्ञान-निद्रामें सो रहा है।'

ऐसी दशामें इस प्रमादसे सावधान होकर हमें विचार करना चाहिये कि हमारे जीवनका कितना समय चला गया—जीवनके कितने वर्ष कम हो गये। विचारनेपर पता लगेगा कि हमारा बहुत समय चला गया, समय बीता ही जा रहा है और आयु बहुत ही कम रह गयी है। अतः मनुष्यको अपने जीवनका जो मुख्य लक्ष्य है, जो प्रथम कर्तव्य है, उसकी ओर ध्यान देना चाहिये और अपने कामको शीघ्र बनानेका प्रयत्न करना चाहिये।

बंगालकी एक सुनी हुई घटना है—कहाँतक सच्ची है, पता नहीं। एक धनी सेठके यहाँ एक दिन दूध बेचनेवाली ग्वालिन आयी और उसने दूध देकर मुनीमसे उसकी कीमत माँगी। मुनीमने उससे कहा—'पहले बाजारका सौदा कर आ, घर जाते समय पैसा ले जाना।' वह बेचारी उस समय चली गयी तथा बाजारका काम करके फिर सेठके यहाँ आयी और मुनीमसे पैसा माँगा। मुनीम कुछ कार्यव्यस्त थे। उन्होंने कहा—'अभी ठहरो।' उस स्त्रीने दो-तीन बार पैसा माँगा; परंतु मुनीमजी वही जवाब देते रहे। आखिर, जब सूर्यास्त होनेको आया और मुनीमने पैसे नहीं दिये, तब वह स्त्री दुःखित हृदयसे बँगलामें ही बोली—'आर बेला नाइ'—अर्थात् अब समय नहीं है, मुझे बहुत दूर जाना है, सूर्यभगवान् अस्ताचलको जा रहे हैं। सेठजी भी उस समय पासमें ही बैठे काम कर रहे थे। उस बंगालिनके लाचारीके शब्द उनके कानोंमें पड़े। उन्होंने मुनीमसे कहकर उसके पैसे दिलवा दिये। सेठजीके हृदयमें उसकी वह वाणी चुभ गयी। उन्होंने उसी समय मुनीमसे कहा—'मेरा तलपट देखो और सब कारोबार बंद कर दो।' मुनीमजी उनकी यह बात सुनकर आश्चर्यमें पड़ गये और बोले—'आप इस तरह क्या कह रहे हैं?' सेठजीने कहा—'तुमने नहीं सुना, दूधवाली ग्वालिन क्या कह रही थी? उसने कहा था—'आर बेला नाइ।' बात बहुत ही सत्य है। 'जीवन-सन्ध्या आ गयी, भैया! मुझको भी अब समय कहाँ?' इस प्रकार कह, काम-काजका सब प्रबन्ध करके सेठजी घरसे चल दिये और अपनी शेष आयु अहर्निश हरिभजनमें ही बिताने लगे।

हमलोगोंको इस घटनापर विशेषरूपसे ध्यान देना चाहिये। हमारी आयु प्रतिक्षण बीत रही है। जिनकी उम्र चालीस-पचास वर्षकी हो गयी, उनकी तो अधिकांश आयु बीत चुकी, थोड़ी ही बाकी रही है। जिनकी उम्र छोटी है, उनका भी क्या भरोसा? मानव-जीवनकी पूर्णायु सौ वर्षकी बतलायी जाती है; किंतु आजकल पूरी आयु प्राप्त होनी कठिन है। आजकल तो अस्सी वर्षको ही पूर्ण आयु समझना चाहिये और इस परिमित आयुके हिसाबसे तो हमारे पास बहुत ही स्वल्प समय बचता है। इसलिये हमें सचेत होकर जल्दी अपना काम बना लेना चाहिये। हमें चाहिये कि हम अपनी आयुके बचे हुए समयको इस प्रकार काममें लायें कि शीघ्र ही उसे सुधारकर अपने जीवनको उन्नत बना सकें।

इसके लिये एक ऐसी कीमती बात बतलायी जाती है, जिसे सभी वर्गके मनुष्य कर सकते हैं और जो सुगम-से-सुगम है। इसमें न तो अधिक बुद्धिकी आवश्यकता है और न अधिक परिश्रमकी ही। निर्गुण-निराकारकी उपासनाको समझनेके लिये तीव्र बुद्धिकी आवश्यकता पड़ती है, किंतु इसमें नहीं। और यह इतनी सुगम होनेपर भी सर्वोत्तम महान् फल देनेवाली है। यह है ईश्वरकी अनन्यभक्ति। यह तो अंधे मनुष्यको लकड़ी पकड़ाकर ले जाने और उसे पार कर देनेके समान बड़ा ही सरल, सीधा और निश्चित मार्ग है। भगवद्भक्तिका यह मार्ग इतना सुगम, निष्कण्टक और अन्धकाररहित है कि इसमें कहीं भी ठोकर खाने या गिरनेका भय नहीं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये।
अंजः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्॥
यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह॥

(११। २। ३४-३५)

'राजन्! अज्ञ मनुष्योंको भी शीघ्र ही निश्चयपूर्वक परमात्माकी प्राप्ति करा देनेके लिये जो उपाय भगवान्ने बतलाये हैं, उन्हें ही तुम भगवत्सम्बन्धी धर्म जानो, जिनका आश्रय लेकर मनुष्य कहीं भी प्रमादमें नहीं पड़ता। यदि वह आँखें मूँदकर दौड़ता हुआ उस मार्गपर चले, तो भी न तो कहीं फिसलता है और न कहीं गिरता ही है।'

जिस प्रकार सूरदासजीको रास्ता बतानेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं आ गये थे, इसी तरह वे भक्तिका आश्रय लेनेवालोंको आगे-आगे रास्ता बतलानेके लिये आ जाते हैं। जब सूरदासजी बेलके काँटोंसे आँखें फोड़कर जंगल-जंगलमें भगवान्के दर्शनकी लालसासे घूम रहे थे, उस समय भगवान्ने बालकके रूपमें आकर उनको अपने हाथसे मिठाई दी। उस दुर्लभ प्रसादको पाकर सूरदासजीका हृदय आनन्दातिरेकसे छलकने लगा। उनके पूछनेपर बालक साधारण परिचय देकर चला गया। एक दिन जब वह फिर आया, तब वृन्दावन ले चलनेकी बात हुई। वह सूरदासजीकी लाठी पकड़कर उन्हें मार्ग दिखानेके लिये आगे-आगे चलने लगा। सूरदासजीने उसका हाथ पकड़ लिया। भगवान्के हाथका स्पर्श होते ही उनके शरीरमें प्रेमानन्दकी बिजली-सी दौड़ गयी। वे समझ गये कि ये साक्षात् भगवान् ही हैं। उन्होंने भगवान्का हाथ और भी जोरसे पकड़ा; पर भगवान्ने झटका देकर छुड़ा लिया। उस समय सूरदासजीने उनसे कहा—

हाथ छुड़ाये जात हौ निबल जानि कै मोहि।
हिरदै तें जब जाहुगे मरद बदौंगो तोहि॥

'प्राणधन! तुम मुझे निर्बल जान हाथ छुड़ाकर जा रहे हो, इसमें तुम्हारी कोई बहादुरी नहीं। तुम्हारा पौरुष तो मैं तब जानूँ, जब तुम मेरे हृदयसे चले जाओ।'

कितना आत्मबल है! प्रेमकी सुदृढ़ रस्सीसे जिन्होंने अपने हृदयेश्वरको बाँध रखा है, उनके हृदयसे भगवान् कैसे जा सकते हैं! उनकी भक्ति और प्रेमको देखकर भगवान् उनके सामने प्रकट हो गये और अपना साक्षात् दर्शन देकर उन्हें कृतार्थ कर दिया।

भगवान्का सहारा लेकर चलनेवालोंके लिये कितना सुगम निश्चित उपाय है! भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(१२। ७)

'हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

इतना ही नहीं, उस अनन्य भक्तके योगक्षेमका दायित्व भी भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। वे कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

अब प्रश्न यह होता है कि इस अनन्य चिन्तनका उपाय क्या है। इसके लिये बहुत सुगम और सर्वोत्कृष्ट उपाय है—सर्वत्र भगवद्बुद्धि।

भगवान्ने कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष 'सब कुछ वासुदेव ही हैं' इस प्रकार मुझको भजता है; वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

श्रीरामचरितमानसमें श्रीरघुनाथजीने हनुमान्‌जीसे कहा है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

'जिसकी यह बुद्धि कभी नहीं हटती—सदा अटल रहती है कि यह जो कुछ भी चर-अचररूप संसार है, सब सर्वलोकमहेश्वर भगवान् श्रीहरि ही हैं और मैं उनका दास हूँ, वही अनन्य भक्त है।'

श्रीभगवान्के वचनोंपर विश्वास करके इस भावको समझना चाहिये। जिस तरह आँखोंपर हरे रंगका चश्मा लगा लेनेसे मनुष्यको सब कुछ वैसा ही—हरे रंगका ही दीखने लग जाता है, इसी तरह जो अपने हृदयनेत्रोंपर

हरिरूपका चश्मा लगा लेता है, उसे सर्वत्र हरिभगवान् ही दीखने लग जाते हैं। अभिप्राय यह कि अपने हृदयके भावोंको हरिमय बना लेना चाहिये। ऐसा हो जानेपर फिर बाहरसे दूसरी चीज दीखनेपर भी उसके अन्तरमें हरि ही दीखने लगेंगे। जैसे मिट्टीके बने पदार्थ—घड़ा, सकोरा, दीया आदि सब तत्त्वतः एक मिट्टी ही हैं और लौहके बने हुए चाकू, कैंची, तलवार आदि अनेकों पदार्थ लौह ही हैं, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत्—समस्त सांसारिक पदार्थ—तत्त्वतः एक हरिभगवान् ही हैं। यही वास्तविक सिद्धान्त है। इसे समझकर प्रयत्न करनेपर शीघ्र ही ऐसा भाव हो सकता है।

अनिच्छा या परेच्छासे जो भी चेष्टा-क्रिया हो, उसे भगवान्‌की लीला समझे; क्योंकि जो कुछ भी पदार्थ है, वह भगवान् हैं; अतः उनसे जो चेष्टा होती है, वह भगवान्‌की ही लीला है। इस प्रकारका भाव हो जाय तो परम शान्ति प्राप्त हो जाय। केवल इस प्रकारका भाव बनानेकी आवश्यकता है। आप चाहे कोई काम करें, कुछ भी आपत्ति नहीं; परंतु हृदयमें उपर्युक्त भाव होना चाहिये। इसमे आपका एक भी पैसा खर्च नहीं होता; करनेमें भी कोई परिश्रम नहीं, वरं बड़ी ही सुगमता है और यदि आपमें किसी प्रकारका कोई दोष भी विद्यमान हो तो इस भावमें इतनी शक्ति है कि यह उसे भी जलाकर भस्म कर देगा। केवल आपकी बुद्धिमें यह पवित्रतम भाव हर समय जाग्रत् रहना चाहिये कि 'यह सब कुछ तत्त्वतः एक हरि ही हैं तथा उनसे जो चेष्टा हो रही है, वह उनकी लीला है।'

जिस प्रकार सुनार सोनेके अनेक तरहके गहने बनाता है, किंतु गहनोंके नाना प्रकार बनाते समय भी उसकी बुद्धिमें वह सब एक सोना ही रहता है तथा गहनोंको घुटालीमें डालकर गलाते समय भी उसकी उन गहनोंमें एक स्वर्ण-बुद्धि ही रहती है, उसी तरह अपने भी 'सब एक भगवान् ही हैं'—यह भाव हरदम बना रहना चाहिये। अभी जो हमारी बुद्धिमें संसारका नानाभाव धँसा हुआ है, वह न होकर उसके बदलेमें एक भगवद्भाव होना चाहिये।

ऊपर यह कहा गया कि 'समय बहुत थोड़ा रहा है'—इस बातको सुनकर घबराना नहीं चाहिये। जो समय बचा है, उसीमें हमारा कल्याण हो सकता है। आप कहें कि क्या जिनकी आयुमें एक-दो दिन ही अवशिष्ट हैं, उनका भी उद्धार हो सकता है, तो यह तो बहुत है; एक-दो घंटे जीनेवालेका भी कल्याण हो सकता है। भागवतकार कहते हैं—

किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह।
वरं मुहूर्तं विदितं घटेत श्रेयसे यतः॥
खट्वांगो नाम राजर्षिर्ज्ञात्वेयत्तामिहायुषः।
मुहूर्तात्सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम्॥

(२। १। १२-१३)

'प्रमत्त—भगवान्‌से विमुख और विषयासक्त रहकर संसारमें बहुत वर्षोंतक जीनेसे भी क्या लाभ? हमें तो जिससे कल्याणकी प्राप्ति हो, ऐसा (भगवद्भक्तियुक्त) एक मुहूर्तका जीवन भी अच्छा प्रतीत होता है। खट्वांग नामके राजर्षिको जब अपनी आयुका अन्त विदित हुआ, तब वे एक ही मुहूर्तमें सर्वस्व यहीं छोड़कर अभय देनेवाले श्रीहरिको प्राप्त हो गये।'

किसी कविने भी कहा है—

जीवन थोड़ा ही भला, जो हरि-सुमरन होय।
लाख बरसका जीवना लेखे धरै न कोय॥

बस, इसके लिये एक ही शर्त है—श्रीभगवान्‌को कभी मत छोड़ो। उन्हें हर समय याद रखो। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'**मच्चित्तः सततं भव**' (१८। ५७)—'निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो।'

जो हर समय भगवान्‌को याद रखता है, उसे भगवान् कैसे छोड़ सकते हैं? सदा भगवच्चिन्तन करनेवालोंको अन्तकालमें भी भगवान्‌की स्मृति रहेगी ही और अन्तकालमें स्मृति बनी रहेगी तो कल्याण हो जायगा, इसमें कोई भी शंका नहीं है। स्वयं भगवान् कहते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८। ५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

आप कहें कि निरन्तर स्मरण होता नहीं, तो इसका हेतु यही है कि श्रद्धाकी कमीके कारण निरन्तर स्मरणके रहस्य और प्रभावको आप नहीं जानते। नदीमें डूबनेवाले किसी आदमीको यदि नौकाका रस्सा पकड़में आ जाय तो फिर वह किसीके कहनेपर भी उसे छोड़ सकता है? कभी नहीं। वैसे ही यदि भगवान्‌पर आपको विश्वास

हो तो क्या आप भगवान्‌को छोड़ सकते हैं? यह संसार समुद्र है। इसमें भगवान्‌के चरण ही सुदृढ़ नौका हैं। जो मनुष्य मनसे भगवच्चरण-कमलोंको भक्तिपूर्वक पकड़ लेता है, वह बिना किसी परिश्रमके ही पार हो सकता है। उन सर्वशक्तिमान् भगवान्‌के चरणोंको मनसे पकड़ना और हर समय उनको याद रखना ही उनकी शरण लेना है; इसीका नाम भक्ति है।

यदि कहें कि निरन्तर उनका चिन्तन होना कठिन है, तो यह बात नहीं है। केवल आपने इसे कठिन मान रखा है, इसीसे आपको यह कठिन प्रतीत हो रहा है। आप इसके असली तत्त्व और रहस्यको अभी समझे नहीं; यदि तत्त्व और रहस्यको समझ जाते तो कभी उन्हें छोड़ ही नहीं सकते। यदि आप यह समझ जाते कि जहाँ भगवच्चिन्तन छूटा कि समुद्रमें डूबे, तो फिर आपसे भूल नहीं हो सकती। डूबनेवाला व्यक्ति इस तत्त्वको जानता है कि नौकासे ही उसकी रक्षा सम्भव है; अतः वह उसे एक बार पकड़ लेनेपर फिर छोड़ता ही नहीं।

यदि कहें कि हम तो पापी हैं, हमारा उद्धार इतना शीघ्र कैसे हो सकता है, तो इसके लिये भी डरनेकी कोई बात नहीं है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

जो प्राणपणसे साधनमें लग जाता है, कभी भी जी नहीं चुराता, अकर्मण्य नहीं होता—कमकसपना नहीं करता, उसके लिये कहीं कोई बाधा नहीं आती। जिसे एकमात्र भगवान्‌पर ही विश्वास है, जिसकी बुद्धिमें यह निश्चय हो गया है कि भगवान्‌से ही मेरा उद्धार होगा एवं दृढ़ विश्वासपूर्वक भगवान्‌के ही शरण हो गया है, उसके पास चाहे कितना ही कम समय हो और वह चाहे कैसा भी पापी हो, भक्तिका इतना प्रभाव है कि वह उसे तार ही देती है।

यदि कहें कि जिनमें ज्ञान नहीं है तथा जो मूर्ख हैं, उनका भी कल्याण हो सकता है क्या, तो हम कहेंगे, निश्चय हो सकता है। श्रीभगवान्‌ने बतलाया है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(गीता १३। २५)

'परंतु इनसे दूसरे, अर्थात् जो मन्द बुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवण-परायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसन्देह तर जाते हैं।'

भाव यह कि कोई कैसा भी अज्ञानी या मूर्ख क्यों न हो, यदि वह ईश्वरकी अनन्यभक्ति करने लगे या ज्ञानी महात्माके पास जाकर उनसे जो भी कुछ सुननेको मिले, उसे ही स्वयं करने लग जाय तो वह भी परमपदको पा सकता है। मूर्ख है तो भी चिन्ता न करे, उसे महात्मा अथवा स्वयं भगवान् ही ज्ञान प्रदान कर सकते हैं। चाहे पापी हो, मूर्ख हो, समय कम हो, तब भी भगवान्‌की कृपासे कल्याण हो सकता है। केवल एक काम हमें करना होगा। 'भगवान् हैं'—ऐसे दृढ़ विश्वासपूर्वक उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते सोते-जागते—हर समय हम भगवान्‌को याद रखें। आप कहें कि रात्रिमें सोते हुए तो स्मरण नहीं रहता, तो यदि आपका स्मरणका अभ्यास दिनमें बराबर चलता रहेगा तो रात्रिमें भी वही होगा; क्योंकि जो काम दिनमें किया जाता है, वही रात्रिमें स्वप्नमें याद आया करता है। रात्रिमें भी स्मरण होता रहे, इसके लिये एक सरल उपाय है। सोनेके समय चाहे लेटे हुए ही इसे करें। दस-पंद्रह मिनट पहलेसे संसारके संकल्पोंके प्रवाहको हटाकर भगवान्‌के नामरूपका स्मरण करते हुए तथा उनकी लीलाओंका मनन करते हुए ही

सोयें। इससे रात्रिमें भी भगवत्स्मरण बना रह सकता है। अभिप्राय यह है कि हर समय भगवान्‌को याद रखें; उन्हें किसी समय भी न भुलावें। यदि त्रिलोकीका राज्य भी प्राप्त होता हो तो उसे भी अत्यन्त नगण्य समझकर छोड़ दें, किंतु भगवान्‌के चिन्तनको कभी न छोड़ें। जो कभी भी भगवान्‌को नहीं भुलाता, जिसके एकमात्र भगवान् ही परम प्रिय और सर्वस्व हैं, वही धन्य है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥
विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

(११। २। ५३, ५५)

'त्रिभुवनके राज्य-वैभवके लिये भी जिसका भगवच्चिन्तन नहीं छूट सकता, जो भगवान्‌में ही मन लगाये रखनेवाले देवता आदि द्वारा खोज करनेयोग्य भगवच्चरणारविन्दोंसे आधे पलके लिये भी विचलित नहीं होता, वह भगवद्भक्तोंमें अग्रगण्य है। जो विवश होकर अपना नाम उच्चारण करनेवालेके भी सम्पूर्ण पाप-समूहको ध्वंस कर देते हैं, वे साक्षात् परम ब्रह्म परमेश्वर जिसके हृदयको इसलिये कभी नहीं छोड़ पाते कि उनके चरणकमल प्रेमकी रस्सीसे बँधे हैं, वही भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ कहा गया है।'

ईश्वरने हमको विवेक, बुद्धि और ज्ञान इसलिये दिया है कि उन्हें हम काममें लायें। बुद्धिमान् पुरुष वही है, जो अपने समयको विवेकपूर्वक उत्तम-से-उत्तम कार्यमें लगाता है, एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताता। वह जिस कामके लिये आया है, पहले उसी कामको करता है; वह कभी नुकसानका काम नहीं करता, सदा नफेका काम ही करता है और जो अधिक-से-अधिक कीमती होता है, वही काम करता है; वही समझदार समझा जाता है।

जैसे किसी एक आदमीको जमींदारसे एक खानका एक सालके लिये ठेका मिला। उस खानमें पत्थर, कोयला तथा बहुमूल्य हीरा-पन्ना भरा हुआ है। अब ठेकेदार चाहे उसमेंसे हीरा-पन्ना निकाले, अथवा पत्थर-कोयला ही; या कुछ भी न निकाले अथवा उलटे उसपर अपने घरका कूड़ा-कर्कट ही डाले यह सब उसकी इच्छापर निर्भर है। जमींदारकी ओरसे तो उसे पूरा अधिकार है। परंतु समझदार आदमी वही है, जो उसमेंसे बहुमूल्य हीरे-पन्ने-रत्न निकालता है। वह तो मूर्ख है, जो कोयला-पत्थर निकालता है और वह उससे भी ज्यादा मूर्ख है, जो उसमेंसे कुछ भी नहीं निकालता, केवल फुलवाड़ी लगाता है। तथा वह तो उससे भी महान् मूर्ख है, जो उलटे उसपर कूड़ा-कर्कट डालता है। इसी प्रकार भगवान्‌ने यह शरीररूपी क्षेत्र (खेत) हमें दिया है। जो इसके तत्त्वको समझ गया, वह तो इससे बढ़िया-बढ़िया काम लेता है। नवधा भक्तिके नाना प्रकारके अंग ही नाना प्रकारके रत्न हैं, जो इससे उनका उपार्जन करता है, वह चतुर है। जो इसे संसारी स्त्री-पुत्र, धन आदि पदार्थोंके बटोरनेमें लगाता है, वह पत्थर-कोयला निकालनेवालेके समान मूर्ख है। इसे केवल सँवारने-सजानेमें ही समय बितानेवाला फुलवाड़ी लगानेवालेके समान उससे भी ज्यादा मूर्ख है; तथा वह तो कूड़ा-कर्कट डालनेवालेके समान और भी महान् मूर्ख है, जो अपने समयको झूठ, कपट, चोरी,व्यभिचार इत्यादि पापोंके बटोरने और लोगोंकी निन्दा करनेमें बिताता है। समझदार आदमीको चाहिये कि वह समय रहते ही अपना काम बना ले। शरीर तो नाशवान् है; जितने दिनका ठेका मिला है, उतने ही दिन रहेगा—जितने श्वास हैं, उतने ही आयेंगे; इसलिये प्राण रहते-रहते ही इससे जितना ऊँचे-से-ऊँचा काम ले लिया जाय, वही सर्वोत्कृष्ट है। नहीं तो समय बीत जानेपर फिर पछतानेके सिवा और कुछ हाथ नहीं लगनेका।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥

हमें विचार करना चाहिये कि यह शरीर क्यों मिला है। यह हमें मिला है—भगवान्‌को पानेके लिये। हमलोगोंका अभी जिस काममें समय बीतता है, वह प्रायः व्यर्थ बीतता है। जो काम केवल शरीर और इन्द्रियोंसे होता है, उसकी कोई विशेष कीमत नहीं। जो काम मनसे होता है, वही दामी है। हमें देखना चाहिये कि हमारा मन क्या कर रहा है। आप क्रियासे तो पूजा करने बैठे हों, पर आपका मन यदि संसारके चक्कर लगा रहा है तो यह कीमती नहीं। किसी कविने कहा है—

माला तो करमें फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुवाँ तो चहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमरन नाहिं॥

अतः बुद्धिसे विचारना चाहिये। विचारकर देखेंगे तो आपको पता लगेगा कि हमारा मन भजनमें एक आना भी नहीं लगता तथा स्वार्थमें दो-तीन आना लगता है और बाकी बारह आना तो व्यर्थ ही जाता है—यानी आलस्य, प्रमाद, भोग, पाप और व्यर्थ-चिन्तनमें ही जाता है, जिससे न इस लोकमें कोई लाभ है और न परलोकमें ही; बल्कि उलटे महान् हानि-ही-हानि है। इसलिये मनुष्यको विवेकपूर्वक विचार करके अपना सुधार करना चाहिये। यदि आप इसे न करेंगे तो दूसरा कौन करेगा? यह आपका खास काम है और यह आपके किये ही होगा, दूसरेके द्वारा यह नहीं किया जा सकता। आप चाहें कि आपकी आत्माके उद्धारका काम धनसे, नौकरसे, मित्रसे या घरवालोंसे करा लिया जायगा तो यह कभी नहीं होनेका; यह तो आपको ही करना पड़ेगा। अतः सब काम छोड़कर सर्वप्रथम यही काम करना उचित है। साथ ही यह भी ध्यान रहे कि आत्म-उद्धाररूप यह कार्य अन्य किसी भी योनिमें सिद्ध होनेवाला नहीं है। अन्य सब तो भोग-योनियाँ हैं। जब कभी होगा तो इस मानवयोनिमें ही होगा और यह मानव-जीवन दुबारा फिर कब मिलेगा, इसका कोई ठिकाना नहीं। अन्य संसारी कार्योंमें तो यदि कुछ बाकी भी रह जायगा तो आपके उत्तराधिकारी उसे पूरा कर लेंगे या कोई नहीं भी करेगा तो उससे आपकी कुछ भी हानि नहीं है; किंतु साधनमें यदि कमी रह गयी तो उसकी पूर्ति कोई भी नहीं कर सकता। आत्मोद्धारमें थोड़ा-सा भी काम बाकी रह जायगा तो आपके लिये महान् हानि है! आपने संसारी कामोंको अज्ञानवश ही जरूरी समझ रखा है, यह आपकी महान् भूल है। यहाँका कोई भी पदार्थ आपके साथ नहीं जानेका। पहले भी कहींसे इनको आप साथ नहीं लाये थे और जाते समय भी कोई साथ नहीं जायगा। मरनेके बाद सब यहीं रह जाते हैं; केवल पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन और बुद्धि—ये सत्रह तत्त्व आपके साथ जायँगे। जो साथ जानेवाले हैं, उन्हें ही अच्छे बनायें। इनमें उत्तम-उत्तम गुण और आचरणरूप पदार्थ भर लेने चाहिये, जिससे यहीं काम बन जाय। यदि किसी कारणसे किंचित् कमी भी रह गयी तो योगभ्रष्ट होकर दूसरे जन्ममें उद्धार हो जायगा। इसलिये हमें इनमें दैवी सम्पदाके ही गुण और आचरण भरने चाहिये। आसुरी सम्पदाके अवगुण भरना तो कूड़ा-कर्कट इकट्ठा करना है। जो भी बुरा भाव और बुरा कर्म है, उसे तो निकाल देना चाहिये। जैसे किसी स्त्रीको देखकर हमारे मनमें बुरा भाव होता है तो उसे निकालकर नेत्रोंमें अंजन लगा लेना चाहिये। अंजन क्या है? उसे माता, बहिन या लड़कीके रूपमें समझना ही अंजन लगाकर देखना है। इसी प्रकार कान, वाणी आदि सभीको भगवान्के नाम, रूप और गुणोंके श्रवण-कीर्तनसे पवित्र बनाना चाहिये तथा हृदयमें भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला और भक्तोंके चरित्र आदि उत्तम वस्तुओंको भरना चाहिये। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो हमारा कल्याण सम्भव नहीं। किसी कविने कहा है—

जाकी पूँजी साँस है, छिन आवै छिन जाय।
ताको ऐसो चाहिये, रहै राम लौ लाय॥

इस पूँजीसे सर्वोत्तम लाभ उठाना चाहिये। यह मनुष्य-शरीर ही खेत यानी कर्मभूमि है, अन्य सब योनियाँ तो ऊसर भूमि हैं। इसमें चाहे आप मेवा पैदा कर लें, चाहे बबूल। मेवा क्या है?

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

'भगवान् विष्णुके नाम, रूप, गुण और प्रभावादिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण तथा भगवान्की चरणसेवा, पूजन और वन्दन एवं भगवान्में दासभाव, सखाभाव और अपनेको समर्पण कर देना—यह नौ प्रकारकी भक्ति है।'

यह नौ प्रकारकी भक्ति ही मेवा है। भक्तिके इन नौ प्रकारके अंगोंमेंसे एक भी कर लें तो भगवान् मिल जायँ; फिर जिसमें ये सभी हों, उसका तो कहना ही क्या है! वह तो बहुत ही उत्तम है।

केवल श्रवणभक्तिसे राजा परीक्षित् तथा धुन्धुकारी आदि; कीर्तनसे नारदजी, तुलसीदासजी, सूरदासजी, गौरांग महाप्रभु आदि; स्मरणसे ध्रुव आदि; पादसेवनसे लक्ष्मी, भरत, केवट आदि; पूजनसे पृथु, द्रौपदी, गजेन्द्र, भीलनी, रन्तिदेव आदि; नमस्कारसे अक्रूर आदि; दास्यभावसे हनुमान् आदि; सख्यभावसे सुग्रीव, अर्जुन आदि एवं आत्मनिवेदनसे बलि आदि भगवान्को प्राप्त हो गये हैं।

अतएव हमें इन सब बातोंपर विचार करके कटिबद्ध होकर जल्दी-से-जल्दी उस कामको बना लेना चाहिये,

जिसके लिये हमें यह मानव-देह प्राप्त हुआ है। भागवतकार चेतावनी देते हुए कहते हैं—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥

(११। ९। २९)

'यह मनुष्य-देह अनित्य होनेपर भी परम पुरुषार्थका साधन है। अतः अनेक जन्मोंके अनन्तर इस दुर्लभ नर-देहको पाकर बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि जबतक यह पुनः मृत्युके चंगुलमें न फँसे, तबतक शीघ्र ही अपने कल्याणके लिये प्रयत्न कर ले; क्योंकि विषय तो सभी योनियोंमें प्राप्त होते हैं (इनका संग्रह करनेमें इस अमूल्य अवसरको कदापि न खोये)।'

भगवान्‌के शीघ्र मिलनेमें भाव ही प्रधान साधन है

संसारमें क्रियाकी अपेक्षा भाव ही प्रधान है। छोटी-से-छोटी क्रिया भी भावकी प्रधानतासे मुक्तितक दे सकती है और उत्तम-से-उत्तम क्रिया भी निम्नश्रेणीका भाव होनेपर नरकमें ले जाती है। जैसे कोई मनुष्य जप, तप, ध्यान, स्तुति, प्रार्थना, पूजा, पाठ, यज्ञ और अनुष्ठान आदि दूसरोंके अनिष्ट या विनाशके लिये करता है तो उसके फलस्वरूप कर्ताको नरकको प्राप्ति होती है। उपर्युक्त अनुष्ठान आदि क्रिया यद्यपि बहुत ही उत्तम है; किंतु भाव तामसी होनेके कारण कर्ताकी अधोगति करनेवाली होती है। भगवान् कहते हैं—

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

(गीता १४। १८)

'तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको तथा नरकोंको प्राप्त होते हैं।' जब यही उत्तम क्रिया स्त्री, धन, पुत्र आदिकी प्राप्तिके लिये अथवा रोगनिवृत्तिके लिये की जाती है, तब राजसी भाव होनेके कारण उससे मध्यम गति प्राप्त होती है। सारांश यह कि जिस-जिस भावनासे क्रिया की जाती है, उस-उसकी ही प्राप्ति होती है। उपर्युक्त उत्तम क्रिया ही जब कर्तव्य समझकर निष्काम प्रेमभावसे भगवदर्थ की जाती है, तब उसका फल अन्तःकरणकी शुद्धि होकर भगवान्‌की प्राप्ति होती है। इस प्रकार एक ही क्रिया भावके कारण उत्तम, मध्यम और अधम फल देनेवाली होती है। एक निम्नश्रेणीकी क्रिया है; किंतु भाव यदि उच्चकोटिका है तो वह भी मुक्ति प्रदान करनेवाली हो जाती है। जैसे माता-पिता, गुरुजनोंके रूपमें बच्चोंका शिक्षण और पालन करना, उनके मल-मूत्रकी सफाई करना, डॉक्टरके रूपमें चीर-फाड़ करना, सड़क आदिकी सफाई करना, जलानेके लिये लकड़ियोंका बोझ ढोना, वस्तुओंका न्याययुक्त क्रय-विक्रय करना, भृत्य तथा सेवाका काम करना—यहाँतक कि गंदगी मिटानेके लिये टट्टी-पेशाब साफ करना—इत्यादि जो निम्नश्रेणीकी क्रियाएँ हैं, ये सब भी कर्तव्य समझकर निष्काम प्रेमभावसे की जायँ तो इनके फलस्वरूप अन्तःकरणकी शुद्धि होकर परमात्माकी प्राप्तितक हो सकती है; और यही क्रियाएँ सकामभावसे की जायँ तो इनसे अर्थकी सिद्धि होती है

कहा जाता है, भीलनी शबरी मार्गपर झाड़ू लगाया करती तथा कूड़ा-कर्कट, काँटे आदि साफ किया करती एवं जंगलसे लकड़ियाँ इकट्ठी करके ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंके पास रख दिया करती थी। यह देखनेमें नीची श्रेणीका काम दीख पड़ता है; किंतु वह निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर करती थी; इसलिये उसका भाव उत्तम होनेसे उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे भगवत्प्राप्ति हो गयी।

पद्मपुराणमें कथा आती है—जब नरोत्तम ब्राह्मण तुलाधार वैश्यके यहाँ गया, उस समय तुलाधार ग्राहकोंको माल बेचनेमें लगा था। इस कारण उसने कहा कि 'अभी मुझे अवकाश नहीं है। ग्राहकोंकी यह भीड़ एक पहर रात्रि बीतनेतक रहेगी, उसके बाद ही मुझे अवकाश मिल सकता है। यदि आप इतनी देर न रुक सकें तो आप सज्जन अद्रोहकके पास जाइये; आपके द्वारा जो बगुला मर गया और आपकी धोती आकाशमें सूखनी बंद हो गयी, इन सबका रहस्य आपको आगे मालूम हो जायगा।' भगवान्‌ने, जो कि ब्राह्मणके रूपमें नरोत्तमके साथ-साथ चल रहे थे, कहा—'चलो, हम सज्जन अद्रोहकके पास चलें।' यों कह वे वहाँसे सज्जन अद्रोहकके पास जाने लगे; तब रास्तेमें नरोत्तमने उनसे पूछा कि 'तुलाधारने

मेरे द्वारा बगुलेके भस्म होनेकी बात कैसे जानी?' भगवान्‌ने बतलाया कि यह क्रय-विक्रयमें सबके साथ सत्य तथा सम व्यवहार करता है, इसीसे इसे तीनों कालोंका ज्ञान है। इसी कारण उस तुलाधारके घरमें भगवान् ब्राह्मणके रूपमें निवास करते थे और अन्तमें वह तुलाधार वैश्य विमानमें बैठकर भगवान्‌के साथ परम धाममें चला गया।

यहाँ विचारना यह है कि तुलाधार वैश्यकी रस आदि क्रय-विक्रय रूप क्रिया तो देखनेमें निम्नश्रेणीकी है; परंतु स्वार्थत्याग, सचाई, ईमानदारी और समताके व्यवहारके कारण वही क्रिया इतनी उच्च हो गयी कि उसे परमपद प्राप्त करानेवाली सिद्ध हुई।

इससे यही बात सिद्ध होती है कि भाव ही प्रधान है, क्रिया नहीं। इसलिये हमें उचित है कि हम जब कभी कोई क्रिया करें, उसे उत्तम-से-उत्तम भावसे करें।

जब नीची-से-नीची क्रिया भी उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त करा सकती है, तब फिर जहाँ क्रिया भी उत्तम-से-उत्तम हो और भाव भी उत्तम-से-उत्तम हो, वहाँ तो कहना ही क्या है। इसी भावको समझनेके लिये निम्नलिखित एक कहानी है—

भगवान्‌का एक भक्त साधक था। वह एक पीपलके वृक्षके नीचे रहकर भजन-ध्यान, गीता-पाठ, साधु-सेवा, तप और उपवास आदि किया करता था। एक समय वहाँ देवर्षि नारदजी पधारे। साधकने उनकी बहुत सेवा-शुश्रूषा की। तदनन्तर जब नारदजी जाने लगे, तब उसने नारदजीसे पूछा, 'भगवन्! आप कहाँ जा रहे हैं?' नारदजीने बतलाया, 'मैं भगवान्‌के पास वैकुण्ठमें जा रहा हूँ।' उसने नारदजीके चरणोंमें सिर नवाया और हाथ जोड़कर उत्सुकतापूर्वक दीनभावसे प्रार्थना की कि 'क्या आप मेरे लिये भी भगवान्‌से यह पूछ लेंगे कि मुझे उनके दर्शन कब होंगे?' नारदजीने कहा—'क्यों नहीं, जरूर पूछकर तुझे उत्तर दूँगा।' इतना कह नारदजी वहाँसे चल दिये और बड़े प्रेमसे भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए वैकुण्ठधाम पहुँचे।

भगवान्‌ने पूछा—'नारद! तुम कहाँसे आ रहे हो?' नारदजीने कहा—'एक वृक्षके नीचे आपका एक भक्त आपके भजन-ध्यान और तपस्यामें संलग्न है, अभी मैं वहींसे आ रहा हूँ। भगवन्! उसकी सेवा-पूजा, भजन-ध्यान और तपस्या प्रशंसाके योग्य है। प्रभो! उसने मेरे द्वारा आपसे यह पुछवाया है कि उसे आपके दर्शन कब होंगे।' भगवान् बोले—'नारद! यह बात तुम मत पूछो।' नारदजीकी उत्सुकता और बढ़ी। उन्होंने कहा—'क्यों नहीं भगवन्?' भगवान्‌ने उत्तर दिया—'नारद! वह जिस प्रकार भजन-ध्यान, सेवा-शुश्रूषा और तपस्या कर रहा है, उस प्रकार करते रहनेपर तो उसे मेरे दर्शन होनेमें बहुत विलम्ब होगा। इस प्रकार साधन करनेपर तो उसे उस पीपलके वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षों बाद मेरे दर्शन होंगे।' भगवान्‌की यह बात सुनकर नारदजी सहम गये, उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और वे बोले—'भगवन्! वह तो बहुत ही तीव्रतासे सेवा-शुश्रूषा, जप-ध्यान, तपस्या आदि कर रहा है; फिर उसके लिये इतना विलम्ब क्यों?' भगवान्‌ने कहा—'नारद! तुम इसका रहस्य नहीं समझते; मैं जो कुछ कहता हूँ, वही उससे कह देना।' तदनन्तर नारदजीने भगवान्‌से और भी भक्ति, प्रेम, ज्ञान, वैराग्य-सम्बन्धिनी चर्चा की।

फिर नारदजी वहाँसे लौटकर उसी पीपलके वृक्षके नीचे बैठे उस भक्तके पास पहुँचे। नारदजीको देखते ही भक्त उनके चरणोंमें गिर पड़ा और बड़ी व्यग्रतासे पूछने लगा—'प्रभो! क्या मेरी भी चर्चा वहाँ चली थी?' उसकी व्याकुलताभरी बात सुनकर नारदजी मुग्ध हो गये और बोले—'तुम्हारा प्रसंग चला तो था, किंतु कहनेमें संकोच होता है।' भक्तने कहा—'भगवन्! संकोच किस बातका है? क्या भगवान्‌ने साफ इन्कार कर दिया? क्या इस जन्ममें मुझे भगवान् नहीं मिलेंगे? जो भी हो, आप मुझे बतलाइये तो सही। आप संकोच न करें, मुझे इससे कोई दुःख नहीं होगा।'

उसके आग्रह करनेपर नारदजीने सारी बात ज्यों-की-त्यों बतला दी और कहा—'अन्तमें भगवान्‌ने तुम्हारे लिये यही कहा है कि इस प्रकार साधन करते-करते इस पीपलके वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षों बाद मेरे दर्शन होंगे।' इतना सुनते ही वह भक्त आश्चर्यचकित हो गया और करुणाभावपूर्वक गद्गद वाणीसे कहने लगा—'क्या मुझ-जैसे अधमको भगवान्‌के दर्शन होंगे? क्या यह बात भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे कही है? अहा! जब कभी हो, मुझे भगवान्‌के दर्शन तो अवश्य ही होंगे!' नारदजी बोले—'होंगे तो सही, क्योंकि भगवान्‌ने स्वयं अपने मुखसे कहा है; किंतु होंगे बहुत ही विलम्बसे।' यह सुनकर कि 'भगवान्‌के दर्शन अवश्य होंगे' उस भक्तके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा। उसका भाव एकदम बदल

गया। वह आनन्दविह्वल होकर प्रेमार्द्रभावसे भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन करता हुआ उन्मत्तकी भाँति नाचने लगा। आनन्द और प्रेममें वह इतना निमग्न हो गया कि उसे अपने तनकी भी सुधि नहीं रही। फिर विलम्ब ही क्या था! भगवान् उसी क्षण वहाँ प्रकट हो गये।

भगवान्‌को देखकर नारदजी अवाक् रह गये। उन्होंने पूछा—'भगवन्! आप तो कहते थे कि इस प्रकार साधन करते-करते, इस वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षोंमें मेरे दर्शन होंगे। परंतु वर्षोंकी बात तो दूर रही, अभी तो एक मुहूर्त भी नहीं बीत पाया है कि आप प्रकट हो गये।' भगवान् बोले—'नारद! वह बात दूसरी थी और यह बात ही दूसरी है। मैंने तुमसे कहा था न कि तुम इसके रहस्यको नहीं जानते।' नारदजीने कहा—'प्रभो! इसका क्या रहस्य है, वह मुझे बतलाइये।' भगवान् बोले—'नारद! उस समय तो इसके साधनमें क्रियाकी ही प्रधानता थी, किंतु अब इस समय तो इसमें क्रियाके साथ ही भावकी भी प्रधानता है। साधुओंकी सेवा-शुश्रूषा, व्रत-उपवास, तपस्या, गीता-पाठ, सत्पुरुषोंका संग, स्वाध्याय और भजन-ध्यान आदि साधनरूप मेरी भक्ति करना बहुत ही उत्तम क्रिया है। इन सब क्रियाओंके साथ जबतक अनन्य प्रेमभाव नहीं होता, तबतक उसके लिये विलम्ब होना उचित ही है। जब भक्त अपनेको भुलाकर अनन्य प्रेमभावमें मुग्ध होकर केवल मेरे भजन-कीर्तनमें ही निमग्न हो जाता है, तब मैं एक क्षण भी नहीं रुक सकता। इस समय इसका जो अपूर्व पवित्र प्रेमपूर्ण भाव है, उसकी ओर तो देखो; उस समय क्रिया उत्तम रहते हुए भी इसका ऐसा भाव नहीं था। इसीलिये मैंने यह कहा था कि इस प्रकारका साधन करनेपर तो उस वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षोंके बाद मेरे दर्शन होंगे।' इस रहस्यको सुनकर नारदजी भी प्रेमविह्वल हो गये और भावावेशमें अपनी सारी सुध-बुध भूलकर भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए उद्दाम नृत्य करने लगे।

दोनों भक्तोंकी इस प्रेममयी स्थितिसे स्वयं भगवान् भी प्रेममग्न हो गये। उनकी भी वैसी ही स्थिति हो गयी। भगवान्‌की तो यह प्रतिज्ञा ही ठहरी—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

यों कुछ समयतक विचित्र प्रेमराज्यकी प्रगाढ़ स्थितिमें रहनेके अनन्तर तीनोंको जब बाह्य चेतना हुई, तब वे प्रेममें मुग्ध हुए परस्पर बातचीत करने लगे। तदनन्तर भगवान् उस भक्तके साथ विमानमें बैठकर परम धाममें पधार गये और नारदजी प्रेममें विभोर होकर भगवद्गुणानुवाद गाते हुए अपने गन्तव्य स्थानकी ओर चल दिये।

इस प्रसंगसे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि समस्त क्रियाओंमें भगवान्‌की भक्ति उत्तम है तथा उस भक्तिके साथ निष्काम और अनन्य प्रेमभावका समावेश होनेपर फिर भगवान्‌के मिलनमें एक क्षणका भी विलम्ब नहीं होता। इसलिये उपर्युक्त प्रकारसे निष्काम अनन्य प्रेमभावपूर्वक ही निरन्तर भजन-ध्यानादि उत्तम क्रिया करनी चाहिये।

भगवद्भक्तोंका प्रभाव

भगवान्‌के भक्त भगवत्स्वरूप ही होते हैं। उनकी मन-बुद्धि लीलामय भगवान्‌में ओतप्रोत रहती है, और मन एवं बुद्धिद्वारा ही इन्द्रियादिका व्यापार परिचालित होता है। इसलिये भक्तोंके कार्य-कलाप और विचार-व्यापारको भी भगवान्‌की ही लीलाके तुल्य समझना चाहिये। जैसे भगवान्‌के धाम, लीला-क्षेत्र आदि तीर्थस्थल हैं, उसी प्रकार भक्तोंके निवासस्थान और कर्म-क्षेत्र भी तीर्थ ही बन जाते हैं। पूज्यपाद गोस्वामीजीके शब्दोंमें—

मुद मंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू॥

जिस प्रकार ईश्वरके स्वरूपका ध्यान करके साधक मोक्षको प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार युधिष्ठिर, प्रह्लाद, शुकदेव, भरत और हनुमान् आदि भक्तोंका ध्यान करनेसे और उनका चिन्तन करनेसे भी साधकका कल्याण हो सकता है।

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥

महापुरुषोंके चरित्र, लेखादि सबसे मनुष्योंका उद्धार होता रहता है। भक्तोंका जन्म ही '**धर्मसंस्थापनार्थाय**' होता है। भगवान् तो कभी-कभी, जब पाप इतना बढ़ जाता है कि पापियोंका विनाश किये बिना काम नहीं चलता, तब

अवतार धारण करके आते हैं; पर भक्तजन तो सर्वदा प्रत्येक युगमें प्राप्य रहते हैं। इसीसे किसी अंशमें उनकी भगवान्‌से भी अधिक महिमा बतायी गयी है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तें अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥

कहाँतक कहा जाय, भगवान् स्वयं अपने भक्तोंके अधीन रहते हैं। भक्तराज अम्बरीषपर क्रोध करनेवाले महर्षि दुर्वासा सुदर्शनचक्रके डरसे भागते-भागते जब वैकुण्ठलोकमें श्रीहरिके पास पहुँचे, तब भगवान्‌ने उनसे कहा—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३—६६, ६८)

'हे द्विज! मैं परतन्त्रके समान भक्तोंके अधीन हूँ। उन साधु भक्तोंने मेरे हृदयपर अधिकार कर लिया है। मैं भी उनका सर्वदा प्रिय हूँ। हे विप्रवर! जिनका मैं ही एकमात्र आश्रय हूँ, अपने उन साधुस्वभाव भक्तोंको छोड़कर तो मैं अपने आत्माकी और अपनी अर्द्धांगिनी विनाशरहिता लक्ष्मीकी भी परवा नहीं करता। जो अपने स्त्री, पुत्र, गृह, प्राण, धन और इहलोक तथा परलोकको छोड़कर मेरी ही शरणमें आ गये हैं, उन भक्तजनोंको मैं छोड़नेका विचार भी कैसे कर सकता हूँ? जैसे पतिव्रता स्त्रियाँ अपने सदाचारी पतिको वशमें कर लेती हैं, वैसे ही अपने हृदयको मुझमें प्रेम-बन्धनसे बाँध रखनेवाले वे समदर्शी साधु पुरुष भक्तिके द्वारा मुझे अपने वशमें कर लेते हैं। संत मेरे हृदय हैं और मैं संतोंका हृदय हूँ। वे मेरे सिवा और किसीको नहीं जानते और मैं उनके सिवा कुछ भी नहीं जानता।'

भगवान् प्रेमके कारण भक्तोंके पीछे-पीछे घूमा करते हैं। उनके सुख-दुःखमें अपना सुख-दुःख मानते हैं। उनके लिये अपने आन-बान और स्वयं श्रीलक्ष्मीजीतककी चिन्ता नहीं करते। भक्तवर भीष्मकी प्रतिज्ञाकी रक्षा करनेके लिये अपनी शस्त्र न ग्रहण करनेकी प्रतिज्ञाको भंग कर देते हैं। और अर्जुनके साथ तो उन्होंने क्या-क्या नहीं किया! उनके सारथितक बने तथा जयद्रथका वध करानेके लिये दुर्योधनादिके साथ मायाका व्यवहार भी किया। भले ही उनको कोई बुरा कह ले; पर भक्तके प्राण-प्रणकी रक्षा होनी चाहिये। भक्तोंकी मान-मर्यादा और सुख-दुःखको अपना समझनेका तो उन्होंने मानो अटल व्रत ही ले रखा है।

हम भगतनके भगत हमारे।
सुन अरजुन परतिग्या मेरी, यह व्रत टरत न टारे॥

ऐसे महामहिम, भाग्यवान् और भगवत्स्वरूप भक्तोंके स्मरण-ध्यानमात्रसे ही पाप-राशि भस्म हो जाय, मुक्ति दासीकी तरह पीछे-पीछे घूमे और प्रभुके चरणोंमें अचल मति, रति और गति प्राप्त हो जाय तो कौन-सा आश्चर्य है। भगवान्‌की तरह महापुरुषोंके ध्यानसे भी कल्याण हो सकता है। उनके स्वरूपका ध्यान करनेसे उनके भाव, गुण और चरित्र हृदयमें आ जाते हैं, उनका स्वरूप चित्तमें अंकित हो जाता है और जैसे प्रकाशके आते ही अन्धकार मिट जाता है, वैसे ही भक्तोंके चरित्र-गुणादिकी स्मृति अन्तःकरणमें आते ही समस्त कलुषको नष्ट कर देती है।

इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले मुमुक्षु पुरुषोंको चाहिये कि महापुरुषोंके संग और उनकी सेवा करनेकी अथक चेष्टा करें। भगवत्प्राप्ति और उनके चरणोंमें अनपायिनी रति लाभ करनेका सरस और सरल साधन केवल एक यही है। अपने भक्तिसूत्रोंमें मायासे तरनेके साधनोंका उल्लेख करते हुए देवर्षि नारदजी कहते हैं—

कस्तरति कस्तरति मायाम्? यः संगांस्त्यजति यो महानुभावं सेवते निर्ममो भवति। (नारदभक्तिसूत्र, ४६)

अर्थात् 'मायासे कौन तरता है, कौन तरता है? जो आसक्तिका त्याग करता है, जो महापुरुषोंका सेवन करता है और जो ममतारहित होता है।'

आसक्ति तथा कामनासे मुक्ति और अहंता-ममताका त्याग बड़ा ही कठिन है; पर संतोंकी सेवा करना प्रतीकोपासनाकी तरह सबके लिये साध्य है, बल्कि उससे भी सरल और संभाव्य तथा अनुभवग्राह्य है, क्योंकि चेतन न होनेके कारण प्रतिमाके प्रति प्रतीति और अनुराग होना कुछ कठिन भी हो सकता है, पर अपने बीच बोलते और उठते-बैठते तथा संतत स्नेहकी वर्षा करते हुए भगवत्तुल्य संतोंकी सेवा बड़ी स्वाभाविक रीतिसे हो सकती है।

संतोंके संगमात्रसे ही, उनके दर्शनसे ही उद्धार हो जाता है। संत-संगकी शास्त्रोंमें जगह-जगह महिमा गायी हुई है—

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥

वास्तवमें कल्याण-साधनका सत्संगसे बढ़कर और कोई सुलभ, सहज और श्रेष्ठ साधन है ही नहीं। पर बिना श्रद्धाके कुछ विलम्ब हो सकता है। अज्ञात रूपसे लाभ तो होता ही रहेगा; पर साधनमें तीव्रता और मन:प्रसादकी अनुभूति बहुत कालतक भी नहीं हो सकती है। किन्तु श्रद्धा और विश्वासके साथ सत्संग करनेसे तत्काल फल मिलता है।

मज्जन फल पेखिअ ततकाला। काक होहिं पिक बकउ मराला॥

एक स्वच्छ काँचकी शीशीमें जल भरकर यदि धूपमें रख दिया जाय तो पानी गरम तो अवश्य हो जायगा पर जल्दी नहीं। काफी देर लगेगी। पर यदि शीशीपर काला रंग चढ़ा दिया जाय तो वही जल बहुत थोड़े ही समयमें गरम हो जायगा। काले रंगमें रविरश्मियोंको आकर्षित करनेकी विशेष क्षमता होती है। संत पुरुष भगवत्प्रेमरूपी ताप और भगवज्ज्योतिरूपी प्रकाशके सूर्य हैं। अश्रद्धालुओंका अन्त:करण उनसे शीघ्र प्रभावित नहीं हो पाता। पर जिन्होंने श्रद्धाका ऐसा पक्का काला रंग, जिसपर दूसरा कोई रंग नहीं चढ़ता, लगा लिया है, वे उस दिव्य ज्योति और दिव्य तापसे शीघ्र ही लाभ उठाकर परम नि:श्रेयसको प्राप्त कर लेते हैं।

इसलिये सत्संगकी चेष्टाके साथ-साथ अपनी श्रद्धा बढ़ानेका भी प्रयत्न करना चाहिये। श्रद्धा उत्पन्न करनेके वास्तविक उपायको तो भगवान् ही जानें। वे ही जिसके ऊपर दया करके अपने भक्तोंके प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर दें उसीको सच्ची श्रद्धा प्राप्त हो सकती है। अत: सबसे प्रथम हमको भगवान्‌से यही प्रार्थना करनी चाहिये कि उनमें तथा उनके प्रिय भक्तोंके चरणोंमें श्रद्धा-प्रेम बढ़ावें। फिर भक्तोंके गुण-प्रभावकी बातें सुनने-सुनानेसे एवं श्रद्धावान् पुरुषोंके संग, दर्शन तथा एकान्तमें उनके साथ श्रद्धाविषयक आलोचना-प्रत्यालोचना करनेसे भी श्रद्धाकी वृद्धि हो सकती है। सच्चे श्रद्धावानोंकी लीला आदिके दर्शनसे भी श्रद्धा जाग सकती और बढ़ सकती है। श्रीचैतन्य महाप्रभुके दर्शन और उनके मुँहसे निकले हुए हरिनामको सुननेमात्रसे विधर्मीतक श्रीकृष्ण-प्रेममें मग्न हो जाते थे।

अन्तमें महात्माओंकी पहचानके विषयमें भी कुछ कह देना आवश्यक जान पड़ता है। गीताके बारहवें अध्यायके १३ वें श्लोकसे २० वें तकके लक्षण जिसमें घटते हों, वही महापुरुष भक्त है। इनमें बहुत-से लक्षण स्वसंवेद्य हैं। दूसरा मनुष्य महापुरुषको पहचान सके, ऐसे लक्षण शास्त्रोंमें बहुत कम लिखे हैं। यहाँ कुछ मुख्य-मुख्य बातोंके बतानेकी चेष्टा की जाती है।

भगवद्भक्तोंका सबसे प्रमुख लक्षण है उनकी हेतुरहित दयालुता। वे सबके हितमें लगे रहते हैं। ज्ञान और भक्ति दोनों मार्गोंके संतोंमें यह बात पायी जाती है। '**सर्वभूतहिते रता:**' (१२।४) तथा '**मैत्र: करुण एव च**' (१२।१३) कहकर गीता क्रमश: प्रमाण देती है। दूसरा लक्षण है प्रेम। दयाके साथ प्रेमका संयोग होनेपर सुहृदता आती है। संतजन सबके साथ समान रूपसे प्रेम करते हैं।

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

तीसरी बात है महापुरुषोंका तेज, उनकी प्रभावशीलता। जैसे अन्धकारमें लालटेनका प्रकाश होता है, उसी तरह संतोंका भी प्रकाश विकीर्ण होता रहता है। पर लालटेन जड ज्योति है, महापुरुष चिन्मय ज्योति हैं। उनके दर्शनसे ज्ञानकी वृद्धि होती है। महात्माओंके संगसे हमारे छोटे-छोटे दोष भी दीखने लगते हैं। हमारे आचरणोंका सुधार होता है। हमारेमें गुण आते हैं और अवगुणों एवं दुराचारोंका नाश होकर हृदय निर्मल बन जाता है। फिर बारीक दोष भी दीखने लगते हैं और चेष्टा करनेसे समूल नष्ट हो जाते हैं। भक्तोंके सामने कोई बुरा व्यवहार नहीं कर सकता। उनके दर्शनसे स्वाभाविक ही ईश्वरकी स्मृति हो जाती है।

विशेष श्रद्धा और विश्वासवाले मनुष्यको किसी भगवद्भक्तसे साक्षात्कार होनेपर ऐसा मालूम होता है मानो उस महात्माके द्वारा ईश्वरभक्ति, समता, दया, शान्ति, प्रेम, आनन्द, ज्ञान तथा अन्य समस्त सद्गुण उसमें प्रवेश करते जा रहे हैं। आगसे सूखी घासकी तरह हृदयके दुर्गुण भस्म होते हुए दिखायी पड़ते हैं और उस महात्माकी आँखोंमें दया और प्रेमका सिन्धु लहराता हुआ दिखायी पड़ता है।

निस्सन्देह महात्माओंकी जहाँतक दृष्टि जाती है, वहाँतक पृथ्वी-आकाश, चर-अचर सब कुछ पवित्र हो जाते हैं।

संसार-वाटिका

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्ग-
मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते
यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥

'हरिण, हाथी, पतंग, भौंरा और मछली—ये पाँचों जीव पाँचों विषयोंमेंसे एक-एकसे मारे जाते हैं; फिर जो प्रमादी अकेले ही अपनी पाँचों इन्द्रियोंसे पाँचों विषयोंका सेवन करता है, वह क्यों न मारा जायगा?'

अतः मनुष्यको उचित है कि विषयोंसे मन-इन्द्रियोंका संयम करके उन्हें परमात्माकी ओर लगावे। इस विषयमें एक दृष्टान्त है। एक चक्रवर्ती राजा थे। एक बार उन्होंने यह घोषणा की कि जो कोई मनुष्य कल मेरा दर्शन कर लेगा, उसे मैं युवराजपद दे दूँगा। मैं अपने जिस बगीचेकी कोठीमें निवास करता हूँ, वह कल दिनभर सबके लिये खुली रहेगी। मेरे पास कोई भी मनुष्य आ सकता है। किसीके लिये भी कोई रुकावट नहीं रहेगी। प्रत्येक मनुष्यको बगीचेमें सैर करनेके लिये केवल दो घंटा समय दिया जायगा। कोई भी व्यक्ति दो घंटेसे अधिक नहीं रह सकता। बगीचेमें प्रवेश होनेके बाद मेरे पासतक पहुँचनेमें तो आधे मिनटका समय ही काफी है; क्योंकि वहाँकी सड़कें बड़ी ही सुगम और सुलभ हैं। अतः जो मनुष्य नियत समयके अंदर मेरा दर्शन कर लेगा, उसको तो युवराजपद दे दिया जायगा और जो बगीचेमें ही रमता रहेगा, उसे दो घंटे समाप्त होते ही बाहर निकाल दिया जायगा।

यह घोषणा राज्यमें सर्वत्र प्रचारित कर दी गयी। फिर बात ही क्या थी, सब लोग प्रातःकाल होते ही बगीचेमें धड़ाधड़ प्रवेश करने लगे। बगीचेके दरवाजेपर ही प्रबन्धकर्ताका निवासस्थान था। वह प्रबन्धकर्ता, जो भी व्यक्ति बगीचेके अंदर प्रवेश करता, उसे एक टिकट दे देता और उसकी एक नकल अपने पास रख लेता। इस प्रकार लोग टिकट ले-लेकर भीतर जाने लगे। बगीचेमें जाकर कोई तो नाना प्रकारके चमेली, केवड़ा, गुलाबके फूलोंको सूँघते हुए शीतल, मन्द, सुगन्धित हवामें सैर करने लगे। कितने ही उनसे आगे पहुँचकर मेवा और मधुर फल तोड़-तोड़कर खाने लगे। कितने ही उनसे भी आगे जाकर सरकस, बायस्कोप, सिनेमा, अजायबघर, खेल-तमाशे आदिको तथा रत्नोंकी ढेरियों और सोने-चाँदीके नाना प्रकारके सिक्कोंको एवं और भी अनेक प्रकारके पहले कभी न देखे हुए पदार्थोंको देखने लगे। कितने ही लोग उनसे भी आगे बढ़कर पुष्पोंकी शय्यापर शयन करते हुए स्त्रियोंके साथ रमण करने लगे और कितने ही मनुष्य उनसे भी आगे बढ़कर ग्रामोफोन, रेडियो आदिके गाने सुनने लगे। इस प्रकार वे लोग बगीचेके ऐश, आराम, भोगोंमें फँसकर राजाके दर्शनसे निराश हो गये और अज्ञानवश यही सोचने लगे कि हमलोगोंको राजाके दर्शन कहाँ! उनमेंसे कोई एक जो विरक्त पुरुष थे, जिनके मन-इन्द्रिय वशमें थे, वे उन ऐश, आराम, स्वाद, शौकीनीका तिरस्कार करके महाराजके पास जा पहुँचे और उनको महाराज साहेबने युवराजपद दे दिया।

प्रबन्धकर्ताकी ओरसे उस बगीचेमें बहुत-से सिपाही घूमा करते थे। वे जिस मनुष्यका समय पूरा हो जाता था, उसकी टिकट लेकर उसे बगीचेसे बाहर कर देते थे। परंतु जो भाई पुष्पोंकी सुगन्ध लेता हुआ हवाखोरी करता है, वह कहता है—'थोड़ी देर हमको और रहने दो।' किंतु सिपाही तैनात किये हुए थे। कोई भी आदमी एक मिनट भी अधिक कैसे रह सकता है। सिपाही उसे धक्का देकर बलपूर्वक बाहर निकाल देते हैं। जो मेवा और मधुर फल तोड़-तोड़कर खा रहे हैं, वे सिपाहियोंसे कहने लगे कि 'भैया! हमको दो मिनट और रहने दो। हमने जो मेवा और मधुर फल तोड़े हैं, उनकी गठरी तो बाँध लें।' सिपाहियोंने कहा—'यहाँसे कोई कुछ भी बाँधकर नहीं ले जा सकता। जो कुछ तुमने खा लिया, वही तुम्हारा है।' ऐसा कहकर उनकी गठरी-मुटरी छीन लेते हैं और उन्हें धक्का देकर बाहर निकाल देते हैं। जो खेल-तमाशा, सिनेमा आदि देख रहे हैं, वे तो वहाँसे उठना ही नहीं चाहते; किंतु वहाँ कोई भी एक मिनट भी अधिक रह ही कैसे सकता है? सिपाही उनको धक्के मार-मारकर बलपूर्वक बाहर निकालने लगे। कितनोंने तो रुपया, मुहर और रत्नोंकी गठरी बाँध ली। सिपाहियोंने पूछा—'यह क्या है और तुमने यह गठरी क्यों बाँधी है?' उन्होंने उत्तर दिया कि इनमें रुपये, मुहर तथा रत्न हैं, हम इनको अपने साथ ले जायँगे। सिपाही लोग उन्हें डंडे मारने लगे और कहने लगे—'मूर्खो! इनका तुम केवल दर्शन ही कर सकते हो, यहाँसे कोई भी आदमी एक पाई भी अपने साथ नहीं ले जा सकता।' उन लोगोंको बाँधी हुई गठरी छोड़नेमें बड़ा दुःख होता था; पर उपाय ही क्या, बाध्य होकर छोड़ना पड़ा। जो लोग पुष्पोंकी शय्यापर सोकर स्त्रियोंके साथ रमण कर रहे थे, वे तो

किसी प्रकार भी बाहर नहीं होना चाहते थे; पर बिना कानून कोई एक क्षण भी वहाँ कैसे रह सकता? सिपाहियोंने उनको भी अवधि समाप्त होते ही डंडे मारकर निकाल बाहर किया और जो ग्रामोफोन, रेडियो आदि सुन रहे थे, उनको तो कुछ पता ही नहीं रहा कि कितना काल बीत गया है। सिपाहियोंने उनकी टिकटोंका नंबर देखकर कहा कि 'चलो, तुम्हारा समय हो गया।' सुननेवालोंने कहा, 'अरे भाई! यह गाना तो पूरा सुन लेने दो।' सिपाहियोंने कहा—'तुम्हारा समय समाप्त हो गया है, तुम अब एक क्षण भी यहाँ नहीं रह सकते।' ऐसा कहकर उनको भी डंडोंसे मारकर बलपूर्वक बगीचेसे बाहर ढकेल दिया।

यह एक कल्पित दृष्टान्त है। इसे दार्ष्टान्तरूपमें इस प्रकार समझना चाहिये कि चक्रवर्ती राजा यहाँ परमेश्वर हैं और उनका बगीचा ही यह संसार है। राजाकी घोषणा ही श्रुति-स्मृति आदि शास्त्र हैं। लोगोंका आना-जाना ही सर्ग है। बगीचेके लिये नियत किया हुआ दो घंटेका समय ही मनुष्यकी आयु है। राजाके दर्शनमें किसीके लिये रुकावट नहीं है, यही मनुष्यमात्रके लिये ईश्वरप्राप्तिमें स्वतन्त्रताकी घोषणा है। युवराजपद ही परम निःश्रेयसकी प्राप्ति है। सुगम और सुलभ सड़कोंपर चलकर आधे मिनटमें मार्ग तय करना ही भक्ति आदि उच्चकोटिके सुगम साधनोंके द्वारा छः महीनेमें ईश्वर-साक्षात्कारका रास्ता तय करना है। प्रबन्धकर्ता धर्मराज हैं। टिकट देना ही आयु देना है। टिकटकी नकल अपने पास रखना ही आयुका हिसाब रखना है। बगीचेमें प्रवेश करना और वापस बाहर जाना ही मनुष्यका जन्मना-मरना है। बगीचेमें प्रवेश करके जो पुष्पादिकी सुगन्ध लेते हुए हवा खाना है, यही यहाँ नासिका-इन्द्रियके वशीभूत हुए मनुष्योंका पुष्पमाला, इत्र, फुलेल, लवेंडर आदिकी सुगन्धमें अपना समय बरबाद करना है। बगीचेमें जो मेवा और मधुर फलोंका खाना है, वही यहाँ जिह्वा-इन्द्रियोंके वशीभूत हुए मनुष्योंका भोजनादिके रसास्वादमें समय व्यय करना है। बगीचेमें खेल-तमाशे आदिको देखना ही यहाँ नेत्र-इन्द्रियके वशीभूत हुए मनुष्योंका नाशवान् क्षणभंगुर आश्चर्यमय पदार्थोंको देखकर अपने अमूल्य समयको नष्ट करना है। बगीचेमें स्त्रियोंके साथ पुष्पोंकी शय्यापर रमण करना आदि ही यहाँ स्पर्श-इन्द्रियके वशीभूत हुए मनुष्योंका स्पर्शादिके द्वारा स्पर्श करनेयोग्य नाशवान् क्षणभंगुर पदार्थोंका उपभोग करके अपने जीवनको खतरेमें डालना है। बगीचेमें ग्रामोफोन, रेडियो आदिका सुनना ही यहाँ कर्णेन्द्रियके वशीभूत हुए मनुष्योंका रसकी बातोंको सुनकर अपने जीवनके अमूल्य समयको बेकार नष्ट करना है। राजाके दर्शनसे निराश होना ही यहाँ परमात्माकी प्राप्तिमें श्रद्धाकी कमीके कारण होनेवाली साधनविषयक अकर्मण्यता है। बगीचेमें सीधे ही राजाके निकट जानेवाला जो मन-इन्द्रियोंका संयमी विरक्त पुरुष है, वही यहाँ परम साक्षात्काररूप सिद्धि प्राप्त करनेयोग्य उच्चकोटिका साधक है। बगीचेमें राजाका दर्शन करना ही भगवत्साक्षात्कार और युवराजपद ही परमपदकी प्राप्ति है। बगीचेमें घूमनेवाले प्रबन्धकर्ताके सिपाही ही इस संसारमें धर्मराजके दूत हैं। टिकटकी अवधिका शेष होना ही यहाँ मनुष्यकी आयुकी समाप्ति है। बगीचेसे लोगोंको बाहर कर देना ही यहाँ मनुष्योंको यमराजके हवाले कर देना है। बगीचेमें फलोंकी और रुपयोंकी गठरी बाँधना ही यहाँ मरनेके समय अज्ञान और स्नेहके कारण धन आदि पदार्थोंका संग्रह करना है। इच्छा न होनेपर भी उनको सिपाहियोंका डंडे और धक्के मारकर बलपूर्वक बाहर निकाल देना ही यहाँ मरनेकी इच्छा न होनेपर भी यमदूतोंका बलात् यन्त्रणा देते हुए यमके द्वार ले जाना है। बगीचेसे मेवा-फल, रुपये आदि कोई भी पदार्थ साथमें नहीं ले जा सकना ही इस संसारके मेवा-मिष्टान्न, धन, स्त्री-पुत्र आदि पदार्थोंको यहीं छोड़कर जाना है; क्योंकि इस संसारकी कोई भी किंचिन्मात्र भी वस्तु किसी भी प्रकार न तो आजके पहले किसीके साथ गयी और न जा सकती है। इसलिये इन नाशवान् क्षणभंगुर पदार्थोंसे और विषयोंसे वैराग्यपूर्वक मन-इन्द्रियोंको हटाकर परमात्मामें लगाना चाहिये।

परमात्माकी प्राप्तिके उपाय

अद्वैत-सिद्धान्तकी प्राचीन और अर्वाचीन प्रणालीके अनुसार अन्तःकरणके मल, विक्षेप और आवरण—ये तीन दोष माने गये हैं। उनमें मल-दोषके नाशका उपाय कर्मयोग अर्थात् निष्कामभावसे यज्ञ, दान, तप, सेवा, पूजा आदि कर्मोंका करना बतलाया गया है। इससे मल-दोषका नाश होकर अन्तःकरणकी शुद्धि हो जाती है। कितने ही सज्जन

भगवन्नाम-जपको ही तत्काल अन्तःकरणकी शुद्धिका मुख्य कारण बतलाते हैं। वास्तवमें ये दोनों ही बातें ठीक हैं। अन्तःकरण शुद्ध होनेके बाद विक्षेप-दोषके नाशके लिये परमात्माका ध्यान तथा आवरण-दोषके नाशके लिये सत्पुरुषोंका संग और सत्-शास्त्रोंका अनुशीलन ही प्रधान उपाय बतलाया गया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रथम निष्काम कर्म, उसके बाद उपासना और फिर सत्पुरुषोंका संग करके तत्त्वज्ञानको प्राप्त करना ही मनुष्यका कर्तव्य है।

अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार मनुष्यको मुक्तिका अधिकारी बननेके लिये साधन-चतुष्टयका अनुष्ठान करना चाहिये। साधन-चतुष्टय यह है—(१) सत् और असत् वस्तुका विवेक,[१] (२) इस लोक और परलोकके सांसारिक सम्पूर्ण विषय-भोगोंसे तीव्र वैराग्य,[२] (३) शम आदि षट् सम्पत्ति—(क) शम—मनका निग्रह[३], (ख) दम—इन्द्रियोंका संयम[४], (ग) उपरति—मन और इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको विषयोंसे हटाकर उनसे रहित यानी निर्विषय बना देना[५], (घ) तितिक्षा—शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंको सहन करना[६], (ङ) श्रद्धा—ईश्वर, शास्त्र, महापुरुष और परलोकमें प्रत्यक्षके सदृश भक्तिपूर्वक विश्वास, (च) समाधान—मन और बुद्धिको परमात्मामें पूर्णतया लगा देना[७]; तथा (४) मुमुक्षुता—मुक्तिकी उत्कट अभिलाषा[८]।

साधन-चतुष्टय सम्पन्न होनेपर जिज्ञासुको श्रवण, मनन और निदिध्यासनके द्वारा परमात्म-साक्षात्कार करना चाहिये। विनीतभावसे तत्त्वदर्शी महापुरुषोंके पास जाकर परमात्माकी तत्त्वज्ञानविषयक बातोंको सुनना श्रवण है[९], तथा शास्त्रके अभ्यास और महापुरुषोंके द्वारा समझे हुए परमात्मतत्त्वका यानी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके स्वरूपका नित्य-निरन्तर चिन्तन करना मनन है[१०] एवं परमात्माके ध्यानमें तन्मय होना निदिध्यासन है[११]। इस प्रकार साधन करनेसे साधकको परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है। निर्गुण-निराकाररूप सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको अभेदरूपसे प्राप्त कर लेना ही परमात्माका साक्षात्कार करना है[१२]। उपर्युक्त तीनों साधनोंमेंसे एकका सम्यक् प्रकारसे अनुष्ठान करनेपर ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है, फिर क्रमशः तीनोंको करनेसे हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है!

यह प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानोंकी मान्यता है और यह बहुत ही उत्तम है, किंतु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि इतना मात्र ही है अर्थात् यही एक प्रणाली है, दूसरी नहीं। इसके अतिरिक्त केवल निष्काम कर्मसे और केवल उपासना यानी ईश्वरकी भक्तिसे भी मनुष्य सहज ही परमात्माको प्राप्त कर सकता है; तथा इस कलिकालमें तो योग और ज्ञानकी अपेक्षा भी ईश्वरकी भक्तिका मार्ग सर्वसाधारणके लिये अधिक सुगम और सुलभ है।

भगवान्‌ने गीतामें कर्मयोग (निष्काम कर्म) से स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी प्राप्ति जगह-जगह बतलायी है। भगवान् कहते हैं—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

(२। ५१)

'क्योंकि समबुद्धिसे युक्त ज्ञानीजन कर्मोंसे उत्पन्न

---

१. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ (गीता २। १६)
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ (गीता ५। २२)
२. अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। .... ॥ (गीता ६। ३५)
३. तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ। पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ (गीता ३। ४१)
४. न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा। अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ (गीता १५। ३)
५. मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः। आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ (गीता २। १४)
६. श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ (गीता ४। ३९)
७. मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। .... ॥ (गीता १२। ८)
८. अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय॥ .... (गीता १२। ९)
९. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ (गीता ४। ३४)
१०. ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते। सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः। ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ (गीता १२। ३-४)
११. शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया। आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥ (गीता ६। २५)
१२. योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः। स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ (गीता ५। २४)

होनेवाले फलको त्यागकर जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो निर्विकार परम पदको प्राप्त हो जाते हैं।'

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

(३। १९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह। क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

(५। १२)

'कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है।'

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

(१२। १२)

'(मर्मको न जानकर किये हुए) अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है।'

इसके सिवा जिस प्रकार ज्ञानयोगको परमात्माकी प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बताया है, उसी प्रकार कर्मयोगको भी परमात्माकी प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बताया है। भगवान् कहते हैं—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

(५। ४-५)

'संन्यास और कर्मयोगको मूर्खलोग पृथक्-पृथक् फल देनेवाले कहते हैं न कि पण्डितजन, क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है। ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

निष्कामभावसे कर्मयोगका साधन करते-करते अन्तःकरणकी शुद्धि होकर अपने-आप ही उसे परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, उसके लिये किसी अन्य साधनकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् कहते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(गीता ४। ३८)

'इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है।'

जब निष्कामभावसे कर्म करनेसे ही मनुष्य परमपदको प्राप्त हो जाता है तब फिर भगवान्‌की भक्ति करनेवाला पुरुष भगवान्‌की कृपासे परमपदको प्राप्त हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है! गीता, रामायण, भागवत, महाभारत आदि समस्त शास्त्र स्थान-स्थानपर इसकी घोषणा कर रहे हैं। स्वयं भगवान्‌ने गीतामें जगह-जगह केवल अपनी भक्तिसे परम गतिकी प्राप्ति बतलायी है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(७। १४)

'यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है, परंतु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं वे इस मायाका उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८। १४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(९। ३४)

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं, उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(११। ५४)

'हे परंतप अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(१२। ७)

'हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(१८। ६२)

'हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा।'

श्रीरामचरितमानसमें काकभुशुण्डिजी कहते हैं—

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

तथा—

विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते॥

'मैं आपसे भलीभाँति निश्चय किया हुआ सिद्धान्त कहता हूँ—मेरे वचन अन्यथा (मिथ्या) नहीं हैं कि जो मनुष्य श्रीहरिका भजन करते हैं, वे अत्यन्त दुस्तर संसार-सागरको [सहज ही] पार कर जाते हैं।'

महाभारतके अनुशासनपर्वमें विष्णुसहस्रनाम बतलाते हुए भीष्मजी कहते हैं—

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम्॥

(वि० स० १३०)

'जिस मनुष्यने भगवान् वासुदेवका आश्रय लिया है और जो उन्हींके परायण है, उसका अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो जाता है एवं वह सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण भक्त उद्धवसे कहते हैं—

भक्त्योद्धवानपायिन्या सर्वलोकमहेश्वरम्।
सर्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्म कारणं मोपयाति सः॥

(११। १८। ४५)

'हे उद्धव! मेरी कभी न घटनेवाली भक्तिसे वह मेरा भक्त सम्पूर्ण लोकोंके महान् ईश्वर, सबकी उत्पत्ति और प्रलयके अधिष्ठान तथा कारणस्वरूप मुझ ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति॥

(११। २०। ३३)

'मेरा भक्त स्वर्ग, अपवर्ग, मेरा परम धाम अथवा कोई भी वस्तु यदि चाहे तो उसे वह सब कुछ मेरे भक्तियोगके प्रभावसे अनायास ही प्राप्त हो जाती है।'

एवमेतान् मयाऽऽदिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः।
क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद् ब्रह्म परमं विदुः॥

(११। २०। ३७)

'इस प्रकार जो लोग मेरे द्वारा (इस अध्यायमें) बतलाये हुए भक्तिके मार्गोंका आश्रय लेते हैं, वे परम कल्याणस्वरूप मेरे धामको प्राप्त होते हैं; क्योंकि वे परब्रह्मतत्त्वको जान लेते हैं।'

इस प्रकार शास्त्रोंमें अनेकों श्लोक हैं किंतु लेखका कलेवर बढ़ जायगा, यह सोचकर विस्तार नहीं किया गया।

यहाँ कहनेका अभिप्राय यह है कि निष्काम कर्म और भक्तियोग—दोनों स्वतन्त्र भी साधन हैं तथा पहले कर्मयोग, फिर उपासना और फिर ज्ञान—यह भी क्रम है। एवं ये तीनों पृथक्-पृथक् रूपसे स्वतन्त्रतापूर्वक भी परमात्माकी प्राप्ति करानेमें समर्थ हैं; इसीको

भगवान्‌ने गीताके १३ वें अध्यायके २४ वें श्लोकमें स्पष्ट किया है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

'(उस परमात्माको) कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं, अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं।'

इसके अतिरिक्त, भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके लिये गीताके चौथे अध्यायके २४ वें श्लोकसे २९ वें श्लोकतक यज्ञके नामसे और भी बहुत-से उपाय बतलाये हैं। महर्षि पतंजलिने भी योगदर्शनमें परमात्माकी प्राप्तिके अनेकों साधन बतलाये हैं। मनुष्यको उपर्युक्त साधनोंमेंसे कोई भी एक साधन अपने आत्माके कल्याणके लिये तत्परतासे करना चाहिये। सभी साधनोंका फल है परमात्माका 'यथार्थ ज्ञान' और यथार्थ ज्ञानका फल है 'परमात्माकी प्राप्ति'।

निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी उपासना

वास्तवमें तो केवल निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी उपासना हो ही नहीं सकती। क्योंकि जो उपासनाके योग्य लक्ष्य बनाया जाता है, वह किसी लक्षण या गुणके आधारके बिना नहीं हो सकता। ध्यान करनेके योग्य ध्येय-तत्त्व चाहे कितना ही सूक्ष्मतम क्यों न बनाया जाय, वास्तवमें निर्गुण-निराकार ब्रह्मका स्वरूप तो वस्तुतः उससे भी अत्यन्त विलक्षण है; किंतु जबतक परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती तबतक उसकी प्राप्तिके लिये कुछ-न-कुछ लक्ष्य बनाकर ही उपासना करनी पड़ती है। कैसा भी सूक्ष्मसे सूक्ष्मतम लक्ष्य क्यों न हो, आखिर वह है तो चेतन विशिष्ट बुद्धिकी वृत्ति ही। अर्थात् बुद्धिकी वृत्तिसे जो लक्ष्य बनाकर ध्यान किया जाता है, वह बुद्धि-विशिष्ट ब्रह्मका ही ध्यान होता है, निर्विशेष ब्रह्मका नहीं।

उपर्युक्त उपासनाका जो अन्तिम फल है अर्थात् उसके द्वारा जो प्रापणीय है, वही निर्गुण-निराकार ब्रह्म है। उसीको मुक्ति कहते हैं। उसीको गीता आदि शास्त्रोंमें परमपदकी प्राप्ति, निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति, शाश्वत शान्ति आदि अनेकों नामोंसे कहा है।

अस्ति-भाति-प्रिय

आरम्भमें साधक जड दृश्य पदार्थोंमें भी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी भावना कर सकता है अर्थात् जो कुछ भी दृश्य है, वह अस्ति-भाति-प्रिय है—ऐसा समझकर उपासना कर सकता है। घट, पट आदि जड पदार्थोंका जो होनापना (अस्तित्व) है, वह अस्ति है; उनकी जो प्रतीति है, यह भाति है; और वह किसी-न-किसीको सुखदायक होता है, यह प्रिय है; किंतु सूक्ष्म विचार करनेपर ब्रह्मका स्वरूप इससे अत्यन्त विलक्षण मालूम होता है। क्योंकि जड पदार्थोंका जो अस्तित्व प्रतीत होता है, वह इन्द्रिय, मन, बुद्धिका विषय होनेसे अनित्य है। अतः चिन्मय परमात्माकी सत्ता इससे अत्यन्त विलक्षण और नित्य है। पदार्थोंकी प्रतीतिरूप जो चेतनता है वह भी इन्द्रिय, मन, बुद्धिका विषय होनेके कारण जड, क्षणिक और अनित्य है। एवं पदार्थोंकी प्रियरूपता भी इन्द्रिय, मन, बुद्धिका विषय होनेसे दुःखमिश्रित, जड, क्षणिक और परिवर्तनशील है, अतएव परमात्माका स्वरूप उससे अत्यन्त ही अलौकिक है। क्योंकि यदि वह सुख वास्तवमें परमात्माका स्वरूप होता तो वह इन्द्रिय, मन, बुद्धिका विषय, अल्प और क्षणिक नहीं हो सकता। तथापि उपर्युक्त अस्ति-भाति-प्रियको परमात्माका आभास मानकर उपासना की जा सकती है।

जैसे दियासलाईमें अग्निकी सत्ता तो प्रकट है, किंतु उसकी प्रकाशिका और विदाहिका शक्ति अप्रकट है, चन्द्रमामें अस्तित्वके सिवा प्रकाशिका शक्ति भी प्रकट है किंतु विदाहिका शक्ति अप्रकट है, और सूर्यमें सत्ताके अतिरिक्त प्रकाशिका और विदाहिका दोनों शक्तियाँ भी प्रकट हैं, उसी प्रकार जड पदार्थोंमें परमात्माकी सत्ता तो प्रकट है किंतु चेतनता और आनन्द अप्रकट हैं, मनुष्योंमें सत्ता और चेतनता प्रकट हैं किंतु आनन्द अप्रकट है एवं अवतारों तथा महापुरुषोंमें सत्ता, चेतनता और आनन्द तीनों प्रत्यक्ष प्रकट हैं। जैसे दियासलाईके संघर्षणसे प्रकाशिका और विदाहिका शक्तिके सहित आग प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार भजन-ध्यानका साधन करनेसे जड पदार्थोंमें भी सच्चिदानन्दघन परमात्मा प्रत्यक्ष प्रकट हो जाते हैं; जैसे भक्त प्रह्लादके लिये स्तम्भमेंसे श्रीनृसिंहरूपमें प्रकट हुए थे। और इसी प्रकार साधकके हृदयमें भी साधना करनेसे सच्चिदानन्द परमात्मा प्रत्यक्ष हो जाते हैं। अतः इस प्रकार सच्चिदानन्दस्वरूपका अभ्यास करना पूर्वोक्त अस्ति-भाति-प्रिय रूपसे परमात्माकी उपासना करनेकी अपेक्षा अच्छा है; किंतु इससे भी उत्तम वह है, जो कि ज्ञाता, ज्ञान,

ज्ञेयमें ज्ञान और ज्ञेयका बाध करके केवल ज्ञाताके वास्तविक स्वरूपमें स्थित होना है। अर्थात् जो ज्ञाता है वही द्रष्टा एवं साक्षी है और वही सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा है—ऐसा समझकर अटलरूपसे उसमें स्थित रहना है।

ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय

जो कुछ भी जाननेमें आता है वह ज्ञेय है, जिसके द्वारा जाना जाय वह ज्ञान है, और जो जाननेवाला है वह ज्ञाता है। ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञान और ज्ञानकी अपेक्षा ज्ञाता महान्, चेतन, सूक्ष्म, आधार, व्यापक और नित्य है। जो कुछ भी जाननेमें आनेवाला ज्ञेय है वह ज्ञानके अन्तर्गत है, और ज्ञान ज्ञाताके अन्तर्गत है, इसलिये ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञान और ज्ञानकी अपेक्षा ज्ञाता 'महान्' है। इसके विपरीत ज्ञाताकी अपेक्षा ज्ञान और ज्ञानकी अपेक्षा ज्ञेय 'अल्प' है। पातंजलयोगदर्शनमें कहा है—

'तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्।'

(४। ३१)

'क्लेश और कर्मकी निवृत्ति होनेपर सम्पूर्ण आवरणरूप मलके दूर होनेसे ज्ञानकी अनन्ततामें ज्ञेय अल्प है।'

ज्ञानके द्वारा ज्ञेय और ज्ञाताके द्वारा ज्ञान जाननेमें आता है। इसलिये ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञान और ज्ञानकी अपेक्षा ज्ञाता 'चेतन' और 'सूक्ष्म' है। इसके विपरीत ज्ञाताका विषय होनेसे ज्ञान और ज्ञानका विषय होनेसे ज्ञेय जड और स्थूल है। क्योंकि जाननेमें आनेवाला विषय जड और स्थूल तथा जाननेवाला चेतन और सूक्ष्म होता है।

ज्ञाता जब ज्ञेयको जानना नहीं चाहता, तब ज्ञान और ज्ञेय दोनोंसे रहित हो जाता है। इसलिये ज्ञाताका विषय होनेके कारण ज्ञान और ज्ञेय उसका आधेय है। तथा ज्ञानका आधेय ज्ञेय है एवं ज्ञेयका आधार ज्ञान तथा ज्ञानका आधार ज्ञाता है, इसलिये ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय दोनोंमें व्यापक है और ज्ञान ज्ञेयमें व्यापक है।

ज्ञेयका बाध करनेपर भी बुद्धिकी वृत्तिरूप ज्ञान रहता है और उस वृत्तिके भी बाध कर देनेपर ज्ञाता बच रहता है, इसलिये ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञान और ज्ञानकी अपेक्षा सत्यस्वरूप ज्ञाता 'नित्य' है। ज्ञान और ज्ञेयका अत्यन्त अभाव होनेपर भी ज्ञाताका अभाव कभी किसी प्रकार नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञाता नित्य और सत्य है।

ज्ञाता ही आनन्द है, इसलिये ज्ञाताकी ही सच्चिदानन्दरूपसे उपासना करनी चाहिये।

हम बोलना चाहते हैं तभी वाणीसे शब्द उच्चारण होते हैं, मौन हो जाते हैं तब नहीं होते; हम देखना चाहते हैं तभी बाहरका दृश्य दीखता है, नेत्र बंद करनेपर नहीं दीखता; इसी प्रकार हम जानना चाहते हैं तभी ज्ञेयका ज्ञान होता है, नहीं जानना चाहते तो नहीं होता। अत: जो कुछ भी पदार्थ देखने, सुनने या जाननेमें आते हैं, उन सबका बाध करके बाध करनेवाली ज्ञानरूप बुद्धिकी वृत्तिका भी बाध कर देना चाहिये। उसके बाद जो कुछ बच रहता है वह ज्ञाता है और वह ज्ञातृत्व-धर्मरहित शुद्धस्वरूप ज्ञाता ही नित्य सच्चिदानन्द ब्रह्म है। ऐसा समझकर ज्ञान और ज्ञेयसे रहित केवल चिन्मय नित्य विज्ञानानन्दघनरूपसे स्थित रहना चाहिये।

इस तरह ज्ञान और ज्ञेयका बाध करके केवल ज्ञाताको लक्ष्य बनाकर साधन करनेकी अपेक्षा भी केवल साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपका ध्यान सबसे उत्तम है।

सत्

'सत्' उसे कहते हैं जिसका कभी किसी प्रकार बाध न हो सके। गीतामें भगवान् कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२। १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्व-ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

'सत्' का वर्णन गीताके बारहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें आया है। श्रीभगवान् कहते हैं—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥

'जो पुरुष मन-बुद्धिसे परे सर्वव्यापी, अकथनीय स्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं (वे मुझको ही प्राप्त होते हैं)।'

ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि परमात्मा अज, अक्षर, अव्यक्त, अविनाशी, सर्वत्र परिपूर्ण, शाश्वत, कूटस्थ, अचल, ध्रुव, नित्य और सत्य है।

चित्

'चेतन' उसे कहते हैं जो सबको जाननेवाला और सबका प्रकाशक है तथा जो अन्य किसीके द्वारा जाना नहीं जा सकता। श्रीभगवान् कहते हैं—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।

(गीता १३। १७)

'वह ब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है।'

इसका अभ्यास इस प्रकार करना चाहिये कि परमात्मा सर्वज्ञ, ज्ञानस्वरूप, ज्योतियोंका भी ज्योति, सबका प्रकाशक, अचिन्त्य, तम और अज्ञानसे अत्यन्त पर, द्रष्टा, साक्षी, ज्ञाता और चेतन है।

आनन्द

'आनन्द' उसे कहते हैं जो असीम, अक्षय, गुणातीत, निरतिशय परम सुखरूप है तथा जहाँ विक्षेप और दुःखोंका अत्यन्त अभाव है। श्रीभगवान् कहते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६। २१-२२)

'इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है, और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं; परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्मप्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता।'

इसका अभ्यास इस प्रकार करना चाहिये कि वह परमात्मा पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, परम आनन्द, महान् आनन्द, अत्यन्त आनन्द, सम आनन्द, अचिन्त्य आनन्द और अनन्त आनन्द है।

सत्-चित्-आनन्दकी एकता

यहाँ सत्, चित्, आनन्द—इन तीन नामोंसे जो ब्रह्मके लक्षण बतलाये हैं—ये तीनों धर्म हों और ब्रह्म धर्मी हो—ऐसा नहीं है, क्योंकि धर्म जड होता है। अथवा ब्रह्म गुणी हो और ये उसके गुण हों, ऐसी भी बात नहीं है; क्योंकि ब्रह्म गुणातीत है। ये तीनों एक प्रकारसे ब्रह्मके साक्षात् लक्षण कहे जाते हैं; किंतु वास्तवमें तो ये ब्रह्मके नाम अर्थात् पर्यायवाची शब्द हैं, क्योंकि जो सत् है, वही चेतन है और जो चेतन है, वही सत् है तथा जो सत् है, वही आनन्द है और जो आनन्द है, वही सत् है एवं जो चेतन है, वही आनन्द है और जो आनन्द है, वही चेतन है।

वास्तवमें तो उसे 'सत्' इसलिये कहा है कि वह वस्तुतः विद्यमान है, कहीं कोई उसका अभाव न मान ले। इसके लिये महापुरुषोंका अनुभव प्रत्यक्ष प्रमाण है। जो विज्ञान-आनन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, उस महात्माके अन्तःकरणमें अन्तःकरणसहित सारे संसारका अत्यन्त अभाव होते हुए भी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका भाव रहता है। उसे 'चेतन' इसलिये कहा गया है कि वह सत्-स्वरूप परमात्मा किसीका विषय नहीं है; क्योंकि उसमें जडत्वका अत्यन्त अभाव है और वह स्वयं ही अपने-आपको जाननेवाला है। तथा उसमें दुःखोंका अत्यन्त अभाव है, वह परम शान्ति और परम सुखमय है, इसलिये उसे 'आनन्द' नामसे कहा गया है।

संसारी सुखका ज्ञाता कोई दूसरा ही होता है, उस सुखको अपने-आपका ज्ञान नहीं है, इसलिये वह जड है; किंतु ब्रह्मानन्दका ज्ञाता ब्रह्मसे भिन्न कोई दूसरा नहीं होता। वह स्वयं आनन्द ही अपने-आपको जानता है अर्थात् वह आनन्द ही ज्ञान (चेतन) है। उस आनन्दसे ज्ञान भिन्न नहीं है। संसारी सुखकी भाँति आनन्द उत्पत्ति-विनाशशील एवं क्षय-वृद्धिवाला नहीं होता, इसलिये वह सारे विकारोंसे रहित भावरूप है। सत्ता उससे कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। उस आनन्दका अस्तित्व ही सत्ताका ज्ञापक है। उस परमात्माकी सत्तासे 'चेतन' भी कोई अलग चीज नहीं है। वह सत् ही स्वयं चेतन है और चेतन ही सत् है। चेतनसे सत्ता कोई अलग चीज नहीं है। चेतनके अस्तित्वको बतलानेके लिये ही सत् शब्दका प्रयोग किया गया है कि कहीं कोई उसका अभाव न मान ले।

'चेतन है'—ऐसा कहनेसे चेतन और चेतनका अस्तित्व कोई दो पदार्थ नहीं हो जाते। चेतनके अस्तित्वका द्योतन करनेके लिये ही 'चेतन है'—ऐसा कहा गया है। इसी प्रकार 'आनन्द है'—ऐसा कहनेसे आनन्द और आनन्दका अस्तित्व कोई दो पदार्थ नहीं हो जाते। आनन्दके अस्तित्वका द्योतन करनेके लिये ही 'आनन्द है'—ऐसा कहा गया है। तथा विज्ञानानन्द शब्दसे भी ज्ञान और आनन्दको दो पदार्थ नहीं समझना चाहिये, क्योंकि संसारी सुखकी तरह उस आनन्दका कोई अन्य ज्ञाता नहीं है। वह आनन्द सांसारिक आनन्दसे अत्यन्त विलक्षण, जडतासे रहित, स्वयं ही अपने-आपका जाननेवाला है अर्थात् वह आनन्द ही स्वयं ज्ञान है। उस आनन्दसे भिन्न ज्ञान (चेतन)

कोई अलग चीज नहीं है या यों कहिये कि चेतन ही स्वयं आनन्द है, वास्तवमें आनन्द उसका विशेषण या लक्षण नहीं है, इसलिये उसको 'विज्ञानानन्द' कहते हैं।

यहाँतक जो सत्, चित्, आनन्दकी व्याख्या की गयी, इससे जो परमात्माका भाव समझमें आता है, वह भी बुद्धिविशिष्ट ही परमात्माका स्वरूप है। इसीको गीतामें **'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्'** (६। २१) कहा है। कठोपनिषद्में भी कहा है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

(१। ३। १२)

'सम्पूर्ण भूतोंके हृदयमें छिपा हुआ यह आत्मा सबको प्रतीत नहीं होता, परन्तु यह सूक्ष्मबुद्धिवाले महात्मा पुरुषोंसे तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ही देखा जाता है।'

किसी भी प्रकारसे जो सच्चिदानन्द परमात्माका स्वरूप समझमें आता है, उससे परमात्माका निर्विशेष स्वरूप अत्यन्त विलक्षण है। उस सच्चिदानन्दघनके यथार्थ ज्ञानसे जो प्राप्त होता है वह उस परमात्माका निर्विशेष अनिर्वचनीय स्वरूप है, उसीको निर्वाण ब्रह्म और परब्रह्म भी कहते हैं।

सत्ताके भेद

सत्ता तीन प्रकारकी होती है—१-काल्पनिक सत्ता, २-व्यावहारिक सत्ता और ३-वास्तविक सत्ता। जिनसे व्यावहारिक सिद्धि न हो, जो केवल प्रतीत होते हों, ऐसे पदार्थोंकी सत्ता काल्पनिक अर्थात् प्रातिभासिक सत्ता कहलाती है; जैसे मरुभूमिमें जल, आकाशमें नीलिमा, आकाशमें तिरवरे और रज्जुमें सर्प आदिकी सत्ता। और जिन पदार्थोंसे व्यवहार सिद्ध होता है, उन पदार्थोंकी सत्ता व्यावहारिक सत्ता है; जैसे घट, पट आदि पदार्थोंकी सत्ता। एवं जिसका किसी देश, किसी काल और किसी वस्तुमें भी अभाव न हो, जो सदा एकरस, एकरूप रहे, उस परमार्थ वस्तुकी सत्ता वास्तविक सत्ता है अर्थात् द्रष्टा साक्षी चेतन आत्माका जो अस्तित्व है वह वास्तविक सत्ता है; इसीको पारमार्थिक सत्ता भी कहते हैं। इनमें व्यावहारिक सत्ता भी काल्पनिकके सदृश ही है; क्योंकि जाग्रदवस्थामें जो पदार्थ सत्तारूपसे प्रतीत होते हैं, वे जाग्रदवस्थाके अतिरिक्त स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि आदि किसी भी अवस्थामें प्रतीत नहीं होते और ज्ञान होनेके उत्तरकालमें जीवन्मुक्त पुरुषके हृदयमें जाग्रदवस्थामें भी यह संसार स्वप्नवत् प्रतीत होता है। जैसे स्वप्नसे जगे हुए पुरुषको पूर्वमें आये हुए स्वप्नका स्मरण करनेसे स्वप्नके दृश्यका जो एक लक्ष्य प्रतीत होता है, उसीकी भाँति जाग्रदवस्थामें ज्ञानीको यह संसार प्रतीत होता है। इसलिये इसे 'स्वप्नवत्' कहा गया। अन्तर इतना ही है कि स्वप्नका काल तो भूतकाल है और यह जाग्रत्का काल वर्तमानकाल है। इसीलिये उसे स्वप्न न कहकर स्वप्नवत् कहा गया है। किंतु विचार करनेपर मालूम होगा कि यह स्वप्नसे भी निस्तत्त्व है; क्योंकि स्वप्नके संसारकी तो जाग्रदवस्थामें काल्पनिक सत्ता है पर स्वप्नावस्थामें जाग्रदवस्थाके संसारकी काल्पनिक सत्ता भी नहीं है। स्वप्नमें जो संसार दीखता है वह मनोराज्य ही दृढ़ होकर एक संसारके रूपमें प्रतीत होने लगता है। जैसे जाग्रदवस्थामें घट-पटादि पदार्थोंकी व्यावहारिक सत्ता प्रतीत होती है उसी प्रकार स्वप्नकालमें भी स्वप्नके घट-पटादि पदार्थोंकी ही ज्यों-की-त्यों सत्ता प्रतीत होती है। इसलिये जाग्रत् और स्वप्न दोनोंकी ही एक काल्पनिक सत्ता ही सिद्ध होती है। यह सत्ता भी सच्चिदानन्द ब्रह्मका ही आभास है।

पाँच भूत, पाँच विषय और दस इन्द्रियाँ—इनकी अपेक्षा जो अन्तःकरणकी सत्ता है वह बलवान् है; क्योंकि जाग्रदवस्थामें जो अन्तःकरण है, स्वप्नावस्थामें वही अन्तःकरण है और स्वप्नसे जगनेपर फिर भी वही अन्तःकरण है; किंतु जाग्रत्के पदार्थ स्वप्नमें नहीं हैं और स्वप्नके पदार्थ जाग्रत्में नहीं हैं, पर मन-बुद्धि जो स्वप्नमें हैं, वही जाग्रत्में हैं और जो जाग्रत्में हैं वही स्वप्नमें हैं। इसलिये मन-बुद्धिका अस्तित्व उनकी अपेक्षा अधिक बलवान् है। मन-बुद्धिकी अपेक्षा भी आत्माका अस्तित्व नित्य होनेके कारण अधिक बलवान् है; क्योंकि सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधिमें मन-बुद्धिके न रहनेपर भी आत्मा ज्यों-का-त्यों स्थित रहता है। सबका अभाव होनेपर भी आत्माका अभाव नहीं होता। इसलिये आत्माकी सत्ता ही वास्तविक सत्ता है; किंतु आत्माकी जो सत्ता समझमें आती है, वह बुद्धिका विषय होनेके कारण बुद्धिविशिष्ट आत्माका ही स्वरूप है; आत्माका जो असली चिन्मय शुद्ध स्वरूप है वह तो इससे भी अत्यन्त विलक्षण है। वह समझमें नहीं आता, वह स्वयं समझरूप है। और समझमें आनेवाली सत्ता जडमिश्रित सत्ता है। अतः आत्माकी वास्तविक सत्ता इससे अत्यन्त विलक्षण है। परमात्माकी प्राप्ति हुए बिना वह किसी प्रकार भी किसीके समझमें नहीं आती।

ज्योतिके भेद

ज्योति भी कई प्रकारकी होती है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत् आदि जो ज्योतियाँ हैं उनकी अपेक्षा इन्द्रियोंकी ज्योति, इन्द्रियोंकी अपेक्षा अन्तःकरणकी और अन्तःकरणकी अपेक्षा आत्माकी ज्योति सूक्ष्म, श्रेष्ठ और बलवान् है।

पाँच भूत, पाँच विषय ग्राह्य हैं, इन्द्रियाँ और मन-बुद्धि ग्रहण हैं एवं आत्मा ग्रहीता है। जिसे ग्रहण किया जा सके—उसे 'ग्राह्य', जिसके द्वारा ग्रहण किया जाय—पकड़ा जाय, उसे 'ग्रहण', और ग्रहण करनेवालेको 'ग्रहीता' कहते हैं। ग्राह्यकी अपेक्षा ग्रहण और ग्रहणकी अपेक्षा ग्रहीता सूक्ष्म, चेतन, श्रेष्ठ और विलक्षण है। सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, विद्युत् और नक्षत्र आदि जो पदार्थ नेत्रोंसे दीखते हैं उनसे नेत्र-इन्द्रिय सूक्ष्म, चेतन और श्रेष्ठ है; क्योंकि सूर्य, चन्द्र आदि नेत्रोंके द्वारा जाने जा सकते हैं पर नेत्र उनके द्वारा नहीं जाने जा सकते। नेत्र आदि इन्द्रियोंसे मन सूक्ष्म, चेतन और श्रेष्ठ है; क्योंकि मन तो इन्द्रियोंको तथा उनके विषयोंको जानता है; किंतु मनको इन्द्रिय और उनके विषय कोई भी नहीं जान सकते। विषय, इन्द्रिय और मनसे भी बुद्धि सूक्ष्म, चेतन और श्रेष्ठ है; क्योंकि बुद्धि तो उनको और उनके व्यापारोंको—सबको जानती है; किंतु बुद्धि और उसके व्यापारको वे कोई नहीं जानते अर्थात् प्रकाश, नेत्र और मन आदिको बुद्धि समझती है पर बुद्धि और बुद्धिके व्यापारको प्रकाश, नेत्र या मन आदि कोई नहीं समझ सकते। इसलिये उन सबसे बुद्धि सूक्ष्म, चेतन और श्रेष्ठ है। चेतन आत्मा उपर्युक्त इन सब जड ज्योतियोंको और उनके व्यापारोंको एवं बुद्धिके मन्दता, तीक्ष्णता और ज्ञान आदि व्यापारोंको भी जानता है पर आत्माको कोई भी किसी भी प्रकार नहीं जान सकता; क्योंकि आत्मा सबसे सूक्ष्म, श्रेष्ठ, विलक्षण और चिन्मय है। जैसे नेत्रोंके विषय सूर्य-चन्द्रादिके प्रकाशकी अपेक्षा बुद्धिका विषय ज्ञान अत्यन्त विलक्षण है, इसी प्रकार बुद्धि-वृत्तिरूप ज्ञानकी अपेक्षा भी आत्माकी चेतनता अत्यन्त विलक्षण है; क्योंकि उपर्युक्त सभी चेतनता आत्माका आभास तथा ज्ञेय होनेसे जड ही है। यदि कहें कि आत्मा भी बुद्धिके द्वारा जाना जा सकता है, उसको **'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्'** कहा ही है सो ठीक है पर वह बुद्धिग्राह्य आत्माका स्वरूप आत्माके अत्यन्त निकटका अर्थात् तटस्थ स्वरूप है तथा बुद्धिके द्वारा समझमें आनेके कारण वह बुद्धिविशिष्ट ही है। वास्तविक आत्माकी चेतनता तो इससे भी अत्यन्त विलक्षण है जो बुद्धिके द्वारा भी समझमें नहीं आती, परमात्माकी प्राप्ति होनेसे ही समझमें आती है।

आनन्दके भेद

आनन्द भी कई प्रकारका होता है। प्रमाद, आलस्य, निद्रासे उत्पन्न सुखकी अपेक्षा विषयेन्द्रियसंयोगजनित सुख ज्ञानकी अधिकता होनेके कारण श्रेष्ठ है। विषयेन्द्रियसंयोगजनित सुखकी अपेक्षा भी परमात्मविषयक बुद्धिकी प्रसन्नतासे उत्पन्न सुख उसमें बुद्धिकी स्वच्छता, निर्मलता, स्थिरता, तीक्ष्णता होनेके कारण अति विलक्षण है। इन सब गुणमय अनित्य सुखोंकी अपेक्षा भी परमात्माके स्वरूपका आनन्द निर्विकार, गुणातीत, नित्य, चेतन होनेके कारण अत्यन्त विलक्षण है। क्योंकि उपर्युक्त सभी आनन्द आत्माका आभास ही है तथा आत्मविषयक आनन्द भी बुद्धिवृत्तिके द्वारा समझमें आनेवाला होनेके कारण बुद्धिविशिष्ट ही आनन्द है। इसीको गीतामें **'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्'** (६। २१) कहा है। पर परमात्माका वास्तविक स्वरूपभूत आनन्द तो इससे भी अत्यन्त विलक्षण है, वह किसीका भी विषय न होनेके कारण किसी प्रकार भी किसीकी समझमें नहीं आ सकता, वह स्वयं आप ही अपनेको जानता है। यह बात उस परमात्माकी प्राप्ति होनेपर ही समझमें आ सकती है।

यहाँ ऊपर सत्-चित्-आनन्दकी व्याख्या की गयी, अब उस सच्चिदानन्दघन परमात्माकी घनता, अव्यक्तता, समता, अनन्तता और व्यापकताके सम्बन्धमें कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

घनता

सभी प्रकारकी घनतासे आत्माकी घनता अत्यन्त विलक्षण है। पत्थर, शीशा और बादलकी घनताकी अपेक्षा अन्तःकरणकी घनता अत्यन्त विलक्षण होनेसे श्रेष्ठ है, क्योंकि पत्थरमें शिला, शीशेमें काँच और बादलमें पानीकी घनता होते हुए भी पोल होनेके कारण उनमें आकाशके अतिरिक्त शीत-उष्ण आदिका भी प्रवेश होनेकी गुंजाइश है, पर अन्तःकरणमें इनके प्रवेशकी गुंजाइश नहीं। अन्तःकरणकी अपेक्षा आत्माकी घनता और भी विलक्षण है; क्योंकि मनमें संकल्प-विकल्प और बुद्धिमें मन्दता, तीक्ष्णता, ज्ञान और निश्चय आदि हो सकते हैं; किंतु आत्मामें किसीके भी प्रवेशकी गुंजाइश नहीं।

यदि कहें कि आत्मामें किसीकी गुंजाइश नहीं तो फिर यह सम्पूर्ण संसार किसमें समाया हुआ है? तो इसका उत्तर यह है कि आत्मामें न तो यह समाया हुआ है और न उसका इससे सम्बन्ध ही है; अज्ञानके कारण

आत्मामें मरुमरीचिकाकी तरह बिना हुए ही यह प्रतीत होता है और गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि यह चेतन आत्मा स्वयं अपना-आप ही है, उसमें दूसरे किसीके लिये किंचिन्मात्र भी स्थान नहीं है।

उपर्युक्त विवेचनसे जो परमात्माकी घनता समझमें आती है उससे भी परमात्माकी वास्तविक घनता अत्यन्त विलक्षण है जो कि परमात्माकी प्राप्ति होनेसे ही समझमें आ सकती है।

अव्यक्तता

सभी प्रकारकी अव्यक्ततासे निर्गुण परमात्माकी अव्यक्तता अत्यन्त विलक्षण है। पृथ्वी, जल, तेज—ये मूर्त होनेसे व्यक्त हैं, इनकी अपेक्षा वायु और आकाश अमूर्त होनेसे अव्यक्त हैं; परंतु उनमें भी वायुके सस्पन्द, निष्पन्द तथा स्पर्शशील होनेसे उसकी अपेक्षा आकाश अधिक अव्यक्त है क्योंकि आकाशका किसी भी इन्द्रियसे प्रत्यक्ष नहीं होता। आकाशसे मन और भी अधिक अव्यक्त है। आकाश तो प्रकाश और अन्धकारको स्थान देनेवाला, विस्तृत देशरूप तथा अवकाशरूप होनेसे इदन्तासे समझाया भी जा सकता है, किंतु इस प्रकार मनको नहीं समझाया जा सकता। एवं मनकी अपेक्षा बुद्धिकी अव्यक्तता और भी विलक्षण है। मनकी चंचलता, गमनागमन आदि बुद्धिके द्वारा जाने जा सकते हैं पर बुद्धिकी मन्दता, तीक्ष्णता और ज्ञान आदिको मन नहीं समझ सकता। इसलिये बुद्धि मनकी अपेक्षा अव्यक्त है। इससे भी प्रकृतिकी अव्यक्तता विलक्षण है, जिससे बुद्धि उत्पन्न होती है और जो बुद्धिकी भी समझमें नहीं आती, उस अव्यक्त प्रकृतिसे भी परमात्माकी अव्यक्तता पर, श्रेष्ठ, सनातन, नित्य और चेतन है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

(८। २०)

'उस अव्यक्तसे भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्तभाव है, वह परम दिव्य पुरुष सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता।'

इससे यह सिद्ध होता है कि परमात्माकी अव्यक्तता नित्य और सनातन है, शेष सब नाशवान्, एकदेशीय और परप्रकाश्य होनेसे अनित्य एवं जड है।

उपर्युक्त विवेचनसे जो परमात्माकी अव्यक्तता समझमें आती है, उससे भी वास्तवमें परमात्माकी अव्यक्तता अत्यन्त विलक्षण है, जो कि परमात्माकी प्राप्ति होनेसे ही समझमें आ सकती है।

समता

सभी प्रकारकी समतासे परमात्माकी समता अत्यन्त विलक्षण है। मनुष्य अपने देहमें भी स्वयं मस्तकके साथ ब्राह्मणका-सा, हाथोंके साथ क्षत्रियका-सा और पैरोंके साथ शूद्रका-सा व्यवहार करता है; इसी प्रकार माताके साथ माताकी तरह, गुरुके साथ गुरुकी तरह और स्त्रीके साथ स्त्रीकी तरह बर्ताव करता है और ऐसा करना उचित ही समझा जाता है। इनमें सबके साथ समवर्तन विधेय और उचित नहीं है। गीतामें भी भगवान्‌ने ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें समदर्शनकी ही प्रशंसा की है, समवर्तनकी नहीं।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(५। १८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं।'

खान, पान और व्यवहारमें यथायोग्य की जानेवाली समताकी अपेक्षा भावकी समता अर्थात् समदर्शन उत्तम है। व्यावहारिक समतामें तो कहीं-कहीं विषमता भी उत्तम हो जाती है। जैसे कोई मनुष्य बराबरका हकदार होनेपर भी कीमत या परिमाणमें स्वयं कम लेकर दूसरे हिस्सेदारको अधिक देता है तो यह विषमता त्यागरूप होनेके कारण समतासे भी उत्तम मानी जाती है। और कहीं-कहीं तो व्यवहारकी समताकी अपेक्षा विषमता करनी विधेय है, जैसे किसी सम्मान्य व्यक्तिका आदर-सत्कार करते समय हाथ, पैर, सिर सभी अपने ही अंग होनेपर भी मस्तक तथा हाथसे ही नमस्कार आदि करनेका विधान है, पैरोंसे नहीं। किंतु व्यवहारमें यथायोग्य भेद रहते हुए भी भावमें सबके प्रति दया, क्षमा, प्रेम, सौहार्द आदि समानरूपसे रहने ही चाहिये।

इस भावकी समताकी अपेक्षा भी आत्माकी समता और भी विलक्षण होनेसे श्रेष्ठ है। भगवान्‌ने कहा है कि **'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि'** (गीता ६। २९)। बादलको आकाशके एक अंशमें और आकाशको बादलके अणु-अणुमें देखनेकी भाँति योगी सारे भूतोंको आत्मामें और आत्माको सारे भूतोंमें समभावसे स्थित देखता है। जैसे अज्ञानी आदमी देहमें आत्माको और देहके अंगोंमें सुख-

दुःखोंको समभावसे देखता है, इसी प्रकार योगी सारे ब्रह्माण्डमें आत्माको और सारे प्राणियोंके सुख-दुःखोंको समभावसे देखता है। गीतामें भी कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६। ३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

अतः यह समता भावकी समतासे भी अति विलक्षण और उच्चकोटिकी है; क्योंकि भावकी समता तो ज्ञेय होनेसे जड है और आत्माकी समता ज्ञानस्वरूप होनेसे चेतन है।

इसी प्रकार भौतिक समताकी अपेक्षा बौद्धिक और बौद्धिककी अपेक्षा आत्मविषयक समता विलक्षण, चेतन और अत्यन्त श्रेष्ठ है। भूतोंकी समता बुद्धिके द्वारा समझी जाती है तथा बुद्धिकी समता भी आत्माके द्वारा समझी जाती है, इसलिये इनसे आत्माकी समता अत्यन्त विलक्षण होनेसे सर्वोत्कृष्ट है। इसमें भी साधनकालकी समतासे सिद्धकालकी समता विलक्षण है और सिद्धावस्थाकी समताकी अपेक्षा सच्चिदानन्द ब्रह्मकी समता अत्यन्त विलक्षण होनेसे सर्वोत्कृष्ट है।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख समान समझकर, उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा; इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

यह साधन-अवस्थाकी समता है। साधनावस्थाका फल यह दिखलाया गया कि इस प्रकार समभावसे युद्ध किया जाय तो पापकी प्राप्ति नहीं होती; किंतु सिद्धावस्थाकी समता इससे भी अधिक कीमती और विलक्षण है। गीतामें कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(५। १९)

'जिनका मन समत्वभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं।' सिद्धावस्थाकी समताकी यह विलक्षणता दिखलायी गयी कि उसके द्वारा यहाँ जीवितकालमें ही संसार जीत लिया गया और उसकी स्थिति ब्रह्ममें है।

किंतु साधन और सिद्ध—दोनों अवस्थाओंकी यह समता समझमें आती है पर परमात्माकी वास्तविक समता समझमें नहीं आ सकती; क्योंकि परमात्माकी समतासे ही इस समताकी सिद्धि है।

ब्रह्मविषयक जो समता बुद्धिके द्वारा समझमें आती है, वह बुद्धिविशिष्ट ब्रह्मकी ही समता है; क्योंकि समझमें आनेवाली समता ज्ञेय होनेसे जड है और ब्रह्म चेतन है; इसलिये चेतन परमात्मा ही सबको जाननेवाला है, उसको कोई नहीं जान सकता।

उपर्युक्त विवेचनसे जो परमात्माकी समता समझमें आती है, उससे भी वास्तवमें परमात्माकी समता अत्यन्त विलक्षण है, जो कि परमात्माकी प्राप्ति होनेसे ही समझमें आ सकती है।

अनन्तता

सभी प्रकारकी अनन्ततासे परमात्माकी अनन्तता अत्यन्त विलक्षण है। पृथ्वी, जल, तेज और वायुकी अपेक्षा आकाश अनन्त और असीम है; किंतु जैसे स्वप्नके संसारका आकाश सम्पूर्ण भूतोंके सहित जीवके मनके अन्तर्गत है, वैसे ही परमात्माके संकल्पमें होनेके कारण यह आकाश भी समष्टि-मनके अन्तर्गत है। वह समष्टि-मन समष्टि-अहंकारका कार्य होनेसे उसके अन्तर्गत है, समष्टि-अहंकार समष्टि-बुद्धि—महत्तत्त्वके अन्तर्गत है, महत्तत्त्व अव्याकृत मायाका कार्य होनेसे अव्याकृत मायाके एक अंशमें है, अव्याकृत माया भी परमात्माके किसी एक अंशमें है; परंतु वह परमात्मा किसीका अंश या कार्य न होनेसे अपने-आपमें ही स्थित है। अतएव वही वस्तुतः अनन्त है।

आकाशकी अनन्तताकी अपेक्षा बुद्धिकी अनन्तता इसलिये भी विलक्षण है कि आकाशकी अनन्तता तो देशगत, फैली हुई-सी, दृश्य और बुद्धिगम्य होनेसे ग्राह्य है तथा इदन्तासे उसका निर्देश हो सकता है; परंतु बुद्धिकी अनन्तता ग्रहण और ज्ञानस्वरूप होनेके कारण आकाशकी तरह समझायी नहीं जा सकती। और ज्ञातास्वरूप आत्माकी वास्तविक अनन्तता तो चेतन होने तथा किसीका विषय न होनेके कारण समझायी नहीं जा सकती।

उपर्युक्त विवेचनसे जो आत्मविषयक अनन्तता बुद्धिके द्वारा समझमें आती है, वह बुद्धिमिश्रित ही है, वास्तविक परमात्माकी अनन्तता तो चेतन होनेके कारण किसी प्रकार

भी समझमें नहीं आ सकती, परमात्माकी प्राप्ति होनेपर ही समझमें आती है।

व्यापकता

सभी प्रकारकी व्यापकतासे परमात्माकी व्यापकता भी अत्यन्त विलक्षण है। तिलोंमें तैल व्यापक है, इसकी अपेक्षा तो भूतोंमें आकाशकी व्यापकता विलक्षण है; क्योंकि तैल निकालनेपर खली बच रहती है। पर यहाँ सबके अपने कारण—आकाशमें विलीन होनेपर कार्य ही कारणके रूपमें परिणत होनेके कारण कुछ भी नहीं बचता। पृथ्वीमें जल, तेज, वायु और आकाश, जलमें तेज, वायु और आकाश, तेजमें वायु और आकाश तथा वायुमें आकाश व्यापक है। इन भूतोंकी व्यापकताकी अपेक्षा अन्तःकरणकी व्यापकता अत्यन्त विलक्षण है। समस्त भूत आकाशके कार्य होनेसे आकाश उनमें सर्वत्र समभावसे व्यापक है; किंतु भूत, विषय और इन्द्रियोंमें अन्तःकरणकी जो व्यापकता है, वह इससे भी विलक्षण है। जैसे स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले संसारमें अन्तःकरण व्यापक है, इसी तरह इस संसारमें भी समष्टि अन्तःकरण व्यापक है। जैसे जाग्रत् कालमें यह संसार प्रत्यक्ष प्रतीत होता है इसी तरह स्वप्नका संसार भी स्वप्नकालमें प्रत्यक्ष-सा प्रतीत होता है। जैसे स्वप्नका संसार अन्तःकरणका संकल्प होनेसे उसका विकार है, इसी प्रकार यह संसार भी समष्टि अन्तःकरणका संकल्प होनेसे अन्तःकरणका विकार है और विकार होनेसे यह उसका कार्य है। जिस प्रकार कल्पित वस्तुमें कल्पना करनेवाला व्यापक होता है, इसी प्रकार इस संसारमें अन्तःकरण व्यापक है। आकाशकी और भूतोंकी समान सत्ता है पर कल्पककी और कल्पित वस्तुकी समान सत्ता नहीं है, इसलिये कल्पक अन्तःकरणकी व्यापकता कल्पित दृश्यवर्गसे विलक्षण है। आत्माकी व्यापकता तो इससे भी विलक्षण है क्योंकि अद्वैत सिद्धान्तके अनुसार वास्तवमें आत्मामें तो संकल्परूपसे भी संसार नहीं है, केवल आरोपमात्र है। जैसे किसीको नेत्रदोषके कारण आकाशमें तिरवरे (जाले)-से प्रतीत होते हैं, पर वास्तवमें विचारकर देखनेपर ज्ञात होता है कि आकाश तो सत्य है और तिरवरे (जाले) उसमें आरोपित हैं तथा प्रतीत होनेवाले तिरवरोंमें आकाश व्यापक है, इसी तरह इस संसारमें परमात्मा व्यापक है। वास्तवमें तो आरोपित वस्तु कुछ है ही नहीं, जिसमें आरोप किया जाता है, वह अधिष्ठान ही है। यहाँ व्याप्य-व्यापकता तो कथनमात्र है। क्योंकि संसार जड है और परमात्मा चेतन है, इसलिये जड वस्तुमें चेतनकी जो व्यापकता-सी प्रतीत होती है, वह अज्ञानसे ही प्रतीत होती है, वास्तवमें नहीं।

उपसंहार

ऊपरसे जो परमात्माका स्वरूप बतलाया गया है, उससे जो कुछ समझमें आता है वह सब बुद्धिविशिष्ट परमात्माका ही स्वरूप है; क्योंकि समझमें आनेवाला पदार्थ बुद्धिके मिश्रणसे बुद्धिका विषय होकर ही समझमें आता है। वह परमात्मा किसीका विषय नहीं है। इसलिये परमात्माका निर्विशेष स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होनेपर ही समझमें आता है। यह कथन भी वास्तवमें नहीं बनता; परंतु बिना कुछ कहे इसका वर्णन भी कैसे हो और वर्णनके बिना किसी तरहका आधार प्राप्त न होनेसे साधक साधन भी कैसे करे। इसलिये शास्त्रोंमें परमात्माके विषयमें जो कुछ भी कहा गया है, वह साधकोंके कल्याणार्थ साधनविषयक ज्ञान करानेके ही लिये कहा गया है। वस्तुतः परमात्मा अनिर्वचनीय, अगोचर, अचिन्त्य और मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका अविषय है।

परमात्माको सत्, चित्, आनन्द, घन, अव्यक्त, सम, अनन्त, व्यापक आदि विशेषणोंके द्वारा बतलाकर जो कुछ विशेष वस्तुतत्त्वका लक्ष्य कराया गया है और उससे जो एक विशेष वस्तु समझमें आती है, उसको लक्ष्यमें रखकर साधकको श्रद्धापूर्वक नित्य-निरन्तर उसका चिन्तन करना चाहिये। यह चिन्तन करना ही उसकी उपासना है। इस तरह उपासना करनेसे मनुष्य उस साक्षात् निर्विशेष निर्गुण निराकार परमात्माके यथार्थ स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, उसीको गीतामें निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति, परमपदकी प्राप्ति, परमा गतिकी प्राप्ति, परमा शान्तिकी प्राप्ति, परम आनन्दकी प्राप्ति, अक्षय सुखकी प्राप्ति और अमृतकी प्राप्ति आदि नामोंसे कहा है।

उपनिषदोंमें भेद और अभेद-उपासना

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

(बृहदारण्यक० ५। १। १)

'वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा अपने-आपसे परिपूर्ण है, यह संसार भी उस परमात्मासे परिपूर्ण है; क्योंकि उस पूर्ण ब्रह्म परमात्मासे ही यह पूर्ण (संसार) प्रकट हुआ है; पूर्ण (संसार)-के पूर्ण (पूरक परमात्मा)-को स्वीकार

करके उसमें स्थित होनेसे उस साधकके लिये एक पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ही अवशेष रह जाता है।'

हिंदू-शास्त्रोंका मूल वेद है, वेद अनन्त ज्ञानके भण्डार हैं, वेदोंका ज्ञानकाण्ड उसका शीर्षस्थानीय या अन्त है, वही उपनिषद् या वेदान्तके नामसे ख्यात है। उपनिषदोंमें ब्रह्मके स्वरूपका यथार्थ निर्णय किया गया है और साथ ही उसकी प्राप्तिके लिये विभिन्न श्रद्धा, रुचि और स्थितिके साधकोंके लिये विभिन्न उपासनाओंका प्रतिपादन किया गया है। उनमें जो प्रतीकोपासनाका वर्णन है, उसे भी एकदेशीय और सर्वदेशीय—दोनों ही प्रकारसे करनेको कहा गया है। ऐसी उपासना स्त्री, पुत्र, धन, अन्न, पशु आदि इस लोकके भोगोंकी तथा नन्दनवन, अप्सराएँ और अमृतपान आदि स्वर्गीय भोगोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे करनेका प्रतिपादन किया गया है एवं साथ ही परमात्माकी प्राप्तिके लिये भी अनेक प्रकारकी उपासनाएँ बतलायी गयी हैं। उनमेंसे इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे की जानेवाली उपासनाओंके सम्बन्धमें यहाँ कुछ लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। उपनिषदोंमें परमात्माकी प्राप्तिविषयक उपासनाओंके जो विस्तृत विवेचन हैं, उन्हींका यहाँ बहुत संक्षेपमें कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

उपनिषदोंमें परमात्माकी प्राप्तिके लिये दृष्टान्त, उदाहरण, रूपक, संकेत तथा विधि-निषेधात्मक विविध वाक्योंके द्वारा विविध युक्तियोंसे विभिन्न साधन बतलाये गये हैं; उनमेंसे किसी भी एक साधनके अनुसार संलग्न होकर अनुष्ठान करनेपर मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। उपनिषदुक्त सभी साधन १. भेदोपासना और २. अभेदोपासना—इन दो उपासनाओंके अन्तर्गत आ जाते हैं। भेदोपासनाके भी दो प्रकार हैं। एक तो वह, जिसमें साधनमें भेदभावना रहती है और फलमें भी भेदरूप ही रहता है; और दूसरी वह, जिसमें साधनकालमें तो भेद रहता है, परंतु फलमें अभेद होता है। पहले क्रमशः हम भेदोपासनापर ही विचार करते हैं।

भेदोपासना

भेदोपासनामें तीन पदार्थ अनादि माने जाते हैं—१. माया (प्रकृति), २ जीव और ३ मायापति परमेश्वर। इनका वर्णन उपनिषदोंमें कई जगह आता है। प्रकृति जड है और उसका कार्यरूप दृश्यवर्ग जड होते हुए क्षणिक, नाशवान् और परिणामी भी है। जीवात्मा और परमेश्वर—दोनों ही नित्य, चेतन और आनन्दस्वरूप हैं; किंतु जीवात्मा अल्पज्ञ है और परमेश्वर सर्वज्ञ हैं; जीव असमर्थ है और परमेश्वर सर्वसमर्थ हैं; जीव अंश है और परमेश्वर अंशी हैं; जीव भोक्ता है और परमेश्वर साक्षी हैं एवं जीव उपासक है और परमेश्वर उपास्य हैं। वे परमेश्वर समय-समयपर प्रकट होकर जीवोंके कल्याणके लिये उपदेश भी देते हैं।

इस विषयमें केनोपनिषद्में एक इतिहास आता है। एक समय परमेश्वरके प्रतापसे स्वर्गके देवताओंने असुरोंपर विजय प्राप्त की। पर देवता अज्ञानसे अभिमानवश यह मानने लगे कि हमारे ही प्रभावसे यह विजय हुई है। देवताओंके इस अज्ञानपूर्ण अभिमानको दूर कर उनका हित करनेके लिये स्वयं सच्चिदानन्दघन परमात्मा उन देवताओंके निकट सगुण-साकार यक्षरूपमें प्रकट हुए। यक्षका परिचय जाननेके लिये इन्द्रादि देवताओंने पहले अग्निको भेजा। यक्षने अग्निसे पूछा—'तुम कौन हो और तुम्हारा क्या सामर्थ्य है?' उन्होंने उत्तर दिया कि 'मैं जातवेदा अग्नि हूँ और चाहूँ तो सारे ब्रह्माण्डको जला सकता हूँ।' यक्षने एक तिनका रखा और उसे जलानेको कहा; किंतु अग्नि उसको नहीं जला सके एवं लौटकर देवताओंसे बोले—'मैं यह नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है।' तदनन्तर देवताओंके भेजे हुए वायुदेव गये। उनसे भी यक्षने यही पूछा कि 'तुम कौन हो और तुम्हारा क्या सामर्थ्य है?' उन्होंने कहा—'मैं मातरिश्वा वायु हूँ और चाहूँ तो सारे ब्रह्माण्डको उड़ा सकता हूँ।' तब यक्षने उनके सामने भी एक तिनका रखा, किंतु वे उसे उड़ा नहीं सके और लौटकर उन्होंने भी देवताओंसे यही कहा कि 'मैं इसको नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है।' तत्पश्चात् स्वयं इन्द्रदेव गये, तब यक्ष अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर इन्द्रने उसी आकाशमें हैमवती उमादेवीको देखकर उनसे यक्षका परिचय पूछा। उमादेवीने बतलाया कि 'वह ब्रह्म था और उस ब्रह्मकी ही इस विजयमें तुम अपनी विजय मानने लगे थे।' इस उपदेशसे ही इन्द्रने समझ लिया कि 'यह ब्रह्म है।' फिर अग्नि और वायु भी उस ब्रह्मको जान गये। इन्होंने ब्रह्मको सर्वप्रथम जाना, इसलिये इन्द्र, अग्नि और वायुदेवता अन्य देवताओंसे श्रेष्ठ माने गये।

इस कथासे यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्राणियोंमें जो कुछ भी बल, बुद्धि, तेज एवं विभूति है, सब परमेश्वरसे ही है। गीतामें भी श्रीभगवान्ने कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

(१०।४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान।'

इस प्रकार उपनिषदोंमें कहीं साकाररूपसे और कहीं निराकाररूपसे, कहीं सगुणरूपसे और कहीं निर्गुणरूपसे भेद-उपासनाका वर्णन आता है। वहाँ यह भी बतलाया गया है कि उपासक अपने उपास्यदेवकी जिस भावसे उपासना करता है, उसके उद्देश्यके अनुसार ही उसकी कार्य-सिद्धि हो जाती है। कठोपनिषद्में सगुण-निर्गुणरूप ओंकारकी उपासनाका भेदरूपसे वर्णन करते हुए यमराज नचिकेताके प्रति कहते हैं—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥

(१। २। १६-१७)

'यह अक्षर ही तो ब्रह्म है और अक्षर ही परब्रह्म है; इसी अक्षरको जानकर जो जिसको चाहता है, उसको वही मिल जाता है। यही उत्तम आलम्बन है, यही सबका अन्तिम आश्रय है। इस आलम्बनको भलीभाँति जानकर साधक ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है।'

इसलिये कल्याणकामी मनुष्योंको इस दुःखरूप संसार-सागरसे सदाके लिये पार होकर परमेश्वरको प्राप्त करनेके लिये ही उनकी उपासना करनी चाहिये, सांसारिक पदार्थोंके लिये नहीं। वे परमेश्वर इस शरीरके अंदर सबके हृदयमें निराकाररूपसे सदा-सर्वदा विराजमान हैं, परंतु उनको न जाननेके कारण ही लोग दुःखित हो रहे हैं। जो उन परमेश्वरकी उपासना करता है, वह उन्हें जान लेता है और इसलिये सम्पूर्ण दुःखों और शोकसमूहोंसे निवृत्त होकर परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है। मुण्डकोपनिषद्में भी बतलाया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः॥
यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

(३। १। १-३)

'एक साथ रहनेवाले तथा परस्पर सखाभाव रखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर)-का आश्रय लेकर रहते हैं, उन दोनोंमेंसे एक तो उस वृक्षके कर्मरूप फलोंका स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है; किंतु दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है। इस शरीररूपी समान वृक्षपर रहनेवाला जीवात्मा शरीरकी गहरी आसक्तिमें डूबा हुआ है और असमर्थतारूप दीनताका अनुभव करता हुआ मोहित होकर शोक करता रहता है; किन्तु जब कभी भगवान्की अहैतुकी दयासे भक्तोंद्वारा नित्यसेवित तथा अपनेसे भिन्न परमेश्वरको और उनकी महिमाको यह प्रत्यक्ष कर लेता है, तब सर्वथा शोकरहित हो जाता है तथा जब यह द्रष्टा (जीवात्मा) सबके शासक, ब्रह्माके भी आदिकारण, सम्पूर्ण जगत्के रचयिता, दिव्यप्रकाशस्वरूप परमपुरुषको प्रत्यक्ष कर लेता है, उस समय पुण्य-पाप—दोनोंसे रहित होकर निर्मल हुआ वह ज्ञानी भक्त सर्वोत्तम समताको प्राप्त कर लेता है।'

वह सगुण-निर्गुणरूप परमेश्वर सब इन्द्रियोंसे रहित होकर भी इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है। वह सबकी उत्पत्ति और पालन करनेवाला होकर भी अकर्ता ही है। उस सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, अकारण दयालु और परम प्रेमी हृदयस्थित परमेश्वरकी स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। उस भजनेयोग्य परमात्माकी शरण लेनेसे मनुष्य सारे दुःख, क्लेश, पाप और विकारोंसे छूटकर परम शान्ति और परम गतिस्वरूप मुक्तिको प्राप्त करता है, इसलिये सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान्-से-महान् उस सर्वसुहृद् परमेश्वरको तत्त्वसे जानकर उसे प्राप्त करनेके लिये सब प्रकारसे उसीकी शरण लेनी चाहिये।

श्वेताश्वतरोपनिषद्में परमेश्वरकी भेदरूपसे उपासनाका वर्णन विस्तारसहित आता है; उसमेंसे कुछ मन्त्र यहाँ दिये जाते हैं—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्॥

(३। १७)

'जो परम पुरुष परमेश्वर समस्त इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी समस्त इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है तथा सबका स्वामी, सबका शासक और सबसे बड़ा आश्रय है, उसकी शरण जाना चाहिये।'

अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्॥

(३। २०)

'वह सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म तथा बड़ेसे भी बहुत बड़ा परमात्मा इस जीवकी हृदयरूप गुफामें छिपा हुआ है, सबकी रचना करनेवाले परमेश्वरकी कृपासे मनुष्य जो उस संकल्परहित परमेश्वरको और उसकी महिमाको देख लेता है, वह सब प्रकारके दुःखोंसे रहित होकर आनन्दस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है।'

और भी कहा है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥
यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
यस्मिन्निदं स च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं
निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥

(४। १०-११)

'माया तो प्रकृतिको समझना चाहिये और महेश्वरको मायापति समझना चाहिये; उस परमेश्वरकी शक्तिरूपा प्रकृतिके ही अंगभूत कारण-कार्यसमुदायसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है। जो अकेला ही प्रत्येक योनिका अधिष्ठाता हो रहा है, जिसमें यह समस्त जगत् प्रलयकालमें विलीन हो जाता है, और सृष्टिकालमें विविध रूपोंमें प्रकट भी हो जाता है, उस सर्वनियन्ता वरदायक, स्तुति करनेयोग्य परमदेव परमेश्वरको तत्त्वसे जानकर मनुष्य निरन्तर बनी रहनेवाली इस मुक्तिरूप शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा
शिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥

(४। १४)

'जो सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म, हृदयगुहारूप गुह्यस्थानके भीतर स्थित, अखिल विश्वकी रचना करनेवाला, अनेक रूप धारण करनेवाला तथा समस्त जगत्‌को सब ओरसे घेरे रखनेवाला है, उस एक अद्वितीय कल्याणस्वरूप महेश्वरको जानकर मनुष्य सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त होता है।'

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥
एको वशी निष्क्रियाणां बहूना-
मेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

(६। ११-१२)

'वह एक देव ही सब प्राणियोंमें छिपा हुआ सर्वव्यापी और समस्त प्राणियोंका अन्तर्यामी परमात्मा है, वही सबके कर्मोंका अधिष्ठाता, सम्पूर्ण भूतोंका निवासस्थान, सबका साक्षी, चेतनस्वरूप, सर्वथा विशुद्ध और गुणातीत है तथा जो अकेला ही बहुत-से वास्तवमें अक्रिय जीवोंका शासक है और एक प्रकृतिरूप बीजको अनेक रूपोंमें परिणत कर देता है, उस हृदयस्थित परमेश्वरका जो धीर पुरुष निरन्तर अनुभव करते हैं, उन्हींको सदा रहनेवाला परमानन्द प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं।'

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

(६। १८)

'जो परमेश्वर निश्चय ही सबसे पहले ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो निश्चय ही उस ब्रह्माको समस्त वेदोंका ज्ञान प्रदान करता है, उस परमात्मविषयक बुद्धिको प्रकट करनेवाले प्रसिद्ध देव परमेश्वरकी मैं मोक्षकी इच्छावाला साधक शरण लेता हूँ।'

जिसमें साधनमें भी भेद हो और फल (परिणाम)-में भी भेद हो, ऐसी भेदोपासनाका वर्णन ऊपर किया गया; अब साधनमें तो भेद हो, किन्तु फलमें अभेद हो, ऐसी उपासनापर विचार करते हैं।

शास्त्रोंमें भेदोपासनाके अनुसार चार प्रकारकी मुक्ति बतलायी गयी है—१. सालोक्य, २. सामीप्य, ३. सारूप्य और ४. सायुज्य। इनमेंसे पहली तीन तो साधनमें भी भेद और फलमें भी भेदवाली हैं; किन्तु सायुज्य-मुक्तिमें साधनमें तो भेद है, पर फलमें भेद नहीं रहता। भगवान्‌के परम धाममें जाकर वहाँ निवास करनेको 'सालोक्य' मुक्ति कहते हैं; जो वात्सल्य आदि भावसे भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे 'सालोक्य' मुक्तिको पाते हैं। भगवान्‌के परम धाममें जाकर उनके समीप निवास करनेको 'सामीप्य' मुक्ति कहते हैं; जो दासभावसे या माधुर्यभावसे भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे 'सामीप्य' मुक्तिको प्राप्त होते हैं। भगवान्‌के परम धाममें जाकर भगवान्‌के-जैसे स्वरूपवाले

होकर निवास करनेको 'सारूप्य' मुक्ति कहते हैं; जो सखाभावसे भगवान्की उपासना कहते हैं, वे 'सारूप्य' मुक्ति पाते हैं। इन सब भक्तोंमें सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और पालनरूप भगवत्सामर्थ्यके सिवा भगवान्के सब गुण आ जाते हैं। भगवान्के स्वरूपमें अभेदरूपसे विलीन हो जानेको 'सायुज्य' मुक्ति कहते हैं। जो शान्तभावसे (ज्ञानमिश्रित भक्तिसे) भगवान्की उपासना करते हैं, वे 'सायुज्य' मुक्तिको प्राप्त होते हैं तथा जो वैरसे, द्वेषसे अथवा भयसे भगवान्को भजते हैं, वे भी 'सायुज्य' मुक्तिको पाते हैं। जिस प्रकार नदियोंका जल अपने नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें मिलकर समुद्र ही हो जाता है, इसी प्रकार ऐसे साधक भगवान्में लीन होकर भगवत्स्वरूप ही हो जाते हैं। इसके लिये उपनिषदोंमें तथा अन्य शास्त्रोंमें जगह-जगह अनेक प्रमाण मिलते हैं। कठोपनिषद्में यमराज नचिकेतासे कहते हैं—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥

(२।१।१५)

'जिस प्रकार निर्मल जलमें मेघोंद्वारा सब ओरसे बरसाया हुआ निर्मल जल वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार हे गौतमवंशीय नचिकेता! एकमात्र परब्रह्म पुरुषोत्तम ही सब कुछ है—इस प्रकार जाननेवाले मुनिका आत्मा परमात्माको प्राप्त हो जाता है अर्थात् परमात्मामें मिलकर तद्रूप हो जाता है।'

मुण्डकोपनिषद्में भी कहा है—

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥

(३।२।१)

'वह निष्काम-भाववाला पुरुष इस परम विशुद्ध (प्रकाशमान) ब्रह्मधामको जान लेता है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् स्थित हुआ प्रतीत होता है; जो भी कोई निष्काम साधक परम पुरुषकी उपासना करते हैं, वे बुद्धिमान् रजोवीर्यमय इस जगत्को अतिक्रमण कर जाते हैं।'

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति।

(३।२।८-९)

'जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी महात्मा नाम-रूपसे रहित होकर उत्तम-से-उत्तम दिव्य परम पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है। निश्चय ही जो कोई भी उस परब्रह्म परमात्माको जान लेता है, वह महात्मा ब्रह्म ही हो जाता है; उसके कुलमें ब्रह्मको न जाननेवाला नहीं होता; वह शोकसे पार हो जाता है, पाप-समुदायसे तर जाता है, हृदयकी गाँठोंसे सर्वदा छूटकर अमृत हो जाता है अर्थात् जन्म-मृत्युसे रहित होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।'

जो मनुष्य माया (प्रकृति), जीव और परमेश्वरको भिन्न-भिन्न समझकर उपासना करता है और यह समझता है कि ईश्वरकी यह प्रकृति ईश्वरसे अभिन्न है, क्योंकि शक्ति शक्तिमान्से अभिन्न होती है एवं जीव भिन्न होते हुए भी ईश्वरका अंश होनेके कारण अभिन्न ही हैं, इसलिये प्रकृति और जीव—दोनोंसे परमात्मा भिन्न होते हुए भी अभिन्न ही हैं, वह पुरुष भेदरूपसे साधन करता हुआ भी अन्तमें अभेदरूपसे ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है। यह बात भी शास्त्रोंमें तथा उपनिषदोंमें अनेक स्थानोंमें मिलती है। जैसे—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशा-
वजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता
त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः
क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावा-
द्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥

(श्वेताश्वतर० १।१।९-१०)

'सर्वज्ञ और अल्पज्ञ, सर्वसमर्थ और असमर्थ—ये दोनों परमात्मा और जीवात्मा अजन्मा हैं तथा भोगनेवाले जीवात्माके लिये उपयुक्त भोग्य-सामग्रीसे युक्त और अनादि प्रकृति एक तीसरी शक्ति है; (इन तीनोंमें जो ईश्वर-तत्त्व है, वह शेष दोसे विलक्षण है) क्योंकि वह परमात्मा अनन्त, सम्पूर्ण रूपोंवाला और कर्तापनके अभिमानसे रहित है। जब मनुष्य इस प्रकार ईश्वर, जीव और प्रकृति—इन तीनोंको ब्रह्मरूपमें प्राप्त कर लेता है (तब वह सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है)। तथा प्रकृति तो विनाशशील है, इसको भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है, इन विनाशशील जड-तत्त्व और चेतन आत्मा—दोनोंको एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है, इस प्रकार जानकर उसका निरन्तर ध्यान करनेसे, मनको उसमें

लगाये रहनेसे तथा तन्मय हो जानेसे अन्तमें उसीको प्राप्त हो जाता है; फिर समस्त मायाकी निवृत्ति हो जाती है।'

यहाँतक भेदोपासनाके दोनों प्रकारोंको उपनिषद्के अनुसार संक्षेपमें बतलाकर अब अभेदोपासनापर विचार करते हैं—

अभेदोपासना

अभेद-उपासनाके भी प्रधान चार प्रकार हैं। उनमेंसे पहले दो प्रकार 'तत्' पदको और बादके दो प्रकार 'त्वम्' पदको लक्ष्य करके संक्षेपमें नीचे बतलाये जाते हैं—

१. इस चराचर जगत्में जो कुछ प्रतीत होता है, सब ब्रह्म ही है; कोई भी वस्तु एक सच्चिदानन्दघन परमात्मासे भिन्न नहीं है। इस प्रकार उपासना करे।

२. वह निर्गुण निराकार निष्क्रिय निर्विकार परमात्मा इस क्षणभंगुर नाशवान् जड दृश्यवर्ग मायासे सर्वथा अतीत है—इस प्रकार उपासना करे।

३. जड-चेतन, स्थावर-जंगम सम्पूर्ण चराचर जगत् एक ब्रह्म है और वह ब्रह्म मैं हूँ। इसलिये सब मेरा ही स्वरूप है—इस प्रकार उपासना करे।

४. जो नाशवान् क्षणभंगुर मायामय दृश्यवर्गसे अतीत, निराकार, निर्विकार, नित्य विज्ञानानन्दघन निर्विशेष परब्रह्म परमात्मा है, वह मेरा ही आत्मा है अर्थात् मेरा ही स्वरूप है—इस प्रकार उपासना करे।

अब इनको अच्छी प्रकार समझनेके लिये उपनिषदोंके प्रमाण देकर कुछ विस्तारसे विचार किया जाता है।

(१) सर्गके आदिमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही थे। उन्होंने विचार किया कि 'मैं प्रकट होऊँ और अनेक नाम-रूप धारण करके बहुत हो जाऊँ', '**सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति**' (तैत्तिरीयोपनिषद् २।६) इस प्रकार वह ब्रह्म एक ही बहुत रूपोंमें हो गये। इसलिये यह जो कुछ भी जड-चेतन, स्थावर-जंगम जगत् है, वह परमात्माका ही स्वरूप है। श्रुति कहती है—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म
पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मै-
वेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

(मुण्डक० २।२।११)

'यह अमृतस्वरूप परब्रह्म ही सामने है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दायीं ओर तथा बायीं ओर, नीचेकी ओर तथा ऊपरकी ओर भी फैला हुआ है; यह जो सम्पूर्ण जगत् है, यह सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।'

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः
कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति॥

(मुण्डक० ३।२।५)

'सर्वथा आसक्तिरहित और विशुद्ध अन्तःकरणवाले ऋषिलोग इस परमात्माको पूर्णतया प्राप्त होकर ज्ञानसे तृप्त एवं परम शान्त हो जाते हैं, अपने-आपको परमात्मामें संयुक्त कर देनेवाले वे ज्ञानीजन सर्वव्यापी परमात्माको सब ओरसे प्राप्त करके सर्वरूप परमात्मामें ही प्रविष्ट हो जाते हैं।'

सर्वꣳह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्॥

(माण्डूक्य० २)

'क्योंकि यह सब-का-सब जगत् परब्रह्म परमात्मा है तथा जो यह चार चरणोंवाला आत्मा है, वह आत्मा भी परब्रह्म परमात्मा है।'

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।

(छान्दोग्य० ३।१४।१)

'यह समस्त जगत् निश्चय ही ब्रह्म है, इसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय—उस ब्रह्मसे ही है—इस प्रकार समझकर शान्तचित्त हुआ उपासना करे।'

(२) 'तत्' पदके अर्थ ब्रह्मके स्वरूपका, जो कुछ जड-चेतन, स्थावर-जंगम चराचर संसार है, वह सब ब्रह्म ही है, इस प्रकार निरूपण किया गया। अब उसी 'तत्' पदके लक्ष्यार्थ ब्रह्मके निर्विशेष स्वरूपका वर्णन किया जाता है। वह निर्गुण-निराकार अक्रिय निर्विकार परमात्मा इस क्षणभंगुर नाशवान् जड दृश्यवर्ग मायासे सर्वथा अतीत है। जो कुछ यह दृश्यवर्ग प्रतीत होता है, वह सब अज्ञानमूलक है। वास्तवमें एक विज्ञानानन्दघन अनन्त निर्विशेष ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस प्रकारके अनुभवसे वह इस जन्म-मृत्युरूप संसारसे मुक्त होकर अनन्त विज्ञान आनन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। यह बात शास्त्रोंमें तथा उपनिषदोंमें अनेक जगह बतलायी गयी है। कठोपनिषद्में परब्रह्मके स्वरूपका वर्णन करते हुए यमराज कहते हैं—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥

(१।३।१५)

'जो शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रसरहित और गन्धरहित है तथा जो अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त (असीम), महत्तत्त्वसे परे एवं सर्वथा सत्य तत्त्व है, उस परमात्माको जानकर मनुष्य मृत्युके मुखसे सदाके लिये छूट जाता है।'

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥

(२। १। ११)

'यह परमात्मतत्त्व शुद्ध मनसे ही प्राप्त किये जानेयोग्य है; इस जगत्‌में एक परमात्माके अतिरिक्त नाना—भिन्न-भिन्न भाव कुछ भी नहीं है, इसलिये जो इस जगत्‌में नानाकी भाँति देखता है, वह मनुष्य मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है अर्थात् बार-बार जन्मता-मरता रहता है।'

मुण्डकोपनिषद्‌में भी कहा है—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥

(३। १। ८)

'वह निर्गुण निराकार परब्रह्म परमात्मा न तो नेत्रोंसे, न वाणीसे और न दूसरी इन्द्रियोंसे ही ग्रहण करनेमें आता है तथा तपसे अथवा कर्मोंसे भी वह ग्रहण नहीं किया जा सकता; उस अवयवरहित परमात्माको तो विशुद्ध अन्तःकरणवाला साधक उस विशुद्ध अन्तःकरणसे निरन्तर उसका ध्यान करता हुआ ही ज्ञानकी निर्मलतासे अनुभव करता है।'

तैत्तिरीयोपनिषद्‌में भी कहा है—

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

(२। १। १)

'ब्रह्मज्ञानी परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है; उसी भावको व्यक्त करनेवाली यह श्रुति कही गयी है—ब्रह्म, सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है।'

(३) 'तत्' की उपासनाके प्रकारका वर्णन करके अब **'त्वम्'** पदकी उपासनाका प्रकार बतलाया जाता है। जो कुछ जड-चेतन, स्थावर-जंगम, प्रतीत होता है, वह सब ब्रह्म है और जो ब्रह्म है, वह मैं हूँ। इसलिये मनुष्यको सम्पूर्ण भूतोंमें अपने आत्माको अर्थात् अपने-आपको और आत्मामें सम्पूर्ण भूतोंको ओत-प्रोत देखना चाहिये। अभिप्राय यह है कि 'जो भी कुछ है, सब मेरा ही स्वरूप है' इस प्रकारका अभ्यास करनेवाला साधक शोक और मोहसे पार होकर विज्ञान-आनन्दघन ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है। यह बात शास्त्रोंमें तथा उपनिषदोंमें जगह-जगह मिलती है। गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(६। २९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखता है।'

ईशावास्योपनिषद्‌में भी कहा है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

'परन्तु जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंको आत्मामें ही देखता है और आत्माको सारे भूतोंमें देखता है अर्थात् सम्पूर्ण भूतोंको अपना आत्मा ही समझता है, वह फिर किसीसे घृणा नहीं करता—सबको अपना आत्मा समझनेवाला किससे कैसे घृणा करे?'

'इस प्रकारसे जब आत्मतत्त्वको जाननेवाले महात्माके लिये सब आत्मा ही हो जाता है, तब फिर एकत्वका अर्थात् सबमें एक आत्माका अनुभव करनेवाले उस मनुष्यको कहाँ मोह है और कहाँ शोक है अर्थात् सबमें एक विज्ञान आनन्दमय परब्रह्म परमात्माका अनुभव करनेवाले पुरुषके शोक-मोह आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है।'

इस विषयका रहस्य समझानेके लिये छान्दोग्य-उपनिषद्‌में एक इतिहास आता है। अरुणका पौत्र और उद्दालकका पुत्र श्वेतकेतु बारह वर्षकी अवस्थामें गुरुके पास विद्या-लाभके लिये गया और वहाँसे वह विद्या पढ़कर चौबीस वर्षकी अवस्था होनेपर घर लौटा। वह अपनेको बुद्धिमान् और व्याख्यानदाता मानता हुआ अनम्रभावसे ही घरपर आया तथा उसने बुद्धिके अभिमानवश पिताको प्रणाम नहीं किया। इसपर उसके पिताने उससे पूछा—

श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः। येनाश्रुतꣳ श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति।

(६। १। २-३)

'हे श्वेतकेतु! हे सोम्य! तू जो अपनेको ऐसा महामना और पण्डित मानकर अविनीत हो रहा है, सो क्या तूने वह

आदेश आचार्यसे पूछा है, जिस आदेशसे अश्रुत श्रुत हो जाता है, बिना विचारा हुआ विचारमें आ जाता है अर्थात् बिना निश्चय किया हुआ निश्चित हो जाता है और बिना जाना हुआ ही विशेषरूपसे जाना हुआ हो जाता है।'

इसपर श्वेतकेतुने कहा कि 'भगवन्! वह आदेश कैसा है।' तब उद्दालक बोले—

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातंःस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्॥

(६।१।४)

'सोम्य! जिस प्रकार एक मृत्तिकाके पिण्डके द्वारा समस्त मृत्तिकामय पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है कि विकार केवल वाणीके आश्रयभूत नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है।'

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातंःस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्।

(६।१।५)

'सोम्य! जिस प्रकार एक लोहमणि (सुवर्ण)-का ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण सुवर्णमय पदार्थ जान लिये जाते हैं; क्योंकि विकार वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, सत्य केवल सुवर्ण ही है।'

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातंः स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवंः सोम्य स आदेशो भवतीति॥

(६।१।६)

'सोम्य! जिस प्रकार एक नखनिकृन्तन (नहन्ना) अर्थात् लोहेके ज्ञानसे सम्पूर्ण लोहेके पदार्थ जान लिये जाते हैं, क्योंकि विकार वाणीपर अवलम्बित केवल नाममात्र है, सत्य केवल लोहा ही है; हे सोम्य! ऐसा ही वह आदेश है।'

यह सुनकर श्वेतकेतु बोला—

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवाःस्त्वेव मे तद्ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच॥

(६।१।७)

'निश्चय ही वे मेरे पूज्य गुरुदेव इसे नहीं जानते थे। यदि वे जानते तो मुझसे क्यों न कहते। अब आप ही मुझे अच्छी तरह बतलाइये।' तब पिताने कहा—'अच्छा सोम्य! बतलाता हूँ।'

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

(६।२।१)

'हे सोम्य! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था।'

इसपर श्वेतकेतुने कहा—'हे पिताजी! मुझको यह विषय और स्पष्ट करके समझाइये।' उद्दालक आरुणि बोले—'हे सोम्य! जैसे दही मथनेसे उसका सूक्ष्म सार तत्त्व नवनीत ऊपर तैर आता है, इसी प्रकार जो अन्न खाया जाता है, उसका सूक्ष्म सार अंश मन बनता है। जलका सूक्ष्म अंश प्राण और तेजका सूक्ष्म अंश वाक् बनता है। असलमें ये मन, प्राण और वाणी तथा इनके कारण अन्नादि कार्य-कारणपरम्परासे मूलमें एक ही सत् वस्तु ठहरते हैं। सबका मूल कारण सत् है, वही परम आश्रय और अधिष्ठान है। सत्के कार्य नाना प्रकारकी आकृतियाँ सब वाणीके विकार हैं, नाममात्र हैं। यह सत् अणुकी भाँति सूक्ष्म है, समस्त जगत्का आत्मारूप है। हे श्वेतकेतु! वह 'सत्' वस्तु तू ही है—'**तत्त्वमसि**।'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! मुझे फिर समझाइये।' पिता आरुणिने कहा—'अच्छा, एक वट-वृक्षका फल तोड़कर ला! फिर तुझे समझाऊँगा।' श्वेतकेतु फल ले आया। पिताने कहा—'इसे तोड़कर देख, इसमें क्या है?' श्वेतकेतुने फल तोड़कर कहा—'भगवन्! इसमें छोटे-छोटे बीज हैं।' ऋषि उद्दालक बोले—'अच्छा, एक बीजको तोड़कर देख, उसमें क्या है?' श्वेतकेतुने बीजको तोड़कर कहा—'इसमें तो कुछ भी नहीं दीखता।' तब पिता आरुणि बोले—'हे सोम्य! तू इस वट-बीजके सूक्ष्म तत्त्वको नहीं देखता, इस अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वसे ही महान् वटका वृक्ष निकलता है। बस, जैसे यह अत्यन्त सूक्ष्म वट-बीज बड़े भारी वटके वृक्षका आधार है, इसी प्रकार सूक्ष्म सत् आत्मा इस समस्त स्थूल जगत्का आधार है। हे सोम्य! मैं सत्य कहता हूँ, तू मेरे वचनमें श्रद्धा रख। यह जो सूक्ष्म तत्त्व आत्मा है, वह सत् है और यही आत्मा है। हे श्वेतकेतु! वह 'सत्' तू ही है—'**तत्त्वमसि**' (६। १२। ३)।

इस प्रकार उद्दालकने अनेक दृष्टान्त और युक्तियोंसे इस तत्त्वको विस्तारसे समझाया है, किंतु यहाँ उसका कुछ दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। पूरा वर्णन देखना हो तो छान्दोग्य-उपनिषद्में देखना चाहिये।

उपर्युक्त विषयके सम्बन्धमें बृहदारण्यक-उपनिषद्में भी इस प्रकार कहा है—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेत्। अहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत्सर्वमभवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत

स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवःसूर्यश्चेति। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदः सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषाः स भवति।

(१।४।१०)

'पहले यह ब्रह्म ही था; उसने अपनेको ही अनुभव किया कि 'मैं ब्रह्म हूँ।' अतः वह सर्व हो गया। उसे देवोंमेंसे जिस-जिसने जाना वही तद्रूप हो गया। इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्योंमेंसे भी जिसने उसे जाना, वही तद्रूप हो गया। उसे आत्मरूपसे देखते हुए ऋषि वामदेवने जाना— 'मैं मनु हुआ और सूर्य भी'। उस इस ब्रह्मको इस समय भी जो इस प्रकार जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ', वह यह सर्व हो जाता है। उसके पराभवमें देवता भी समर्थ नहीं होते; क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है।'

उपर्युक्त विषयका रहस्य समझानेके लिये बृहदारण्यक उपनिषद्में भी एक इतिहास मिलता है। महर्षि याज्ञवल्क्यके दो पत्नियाँ थीं—एक मैत्रेयी और दूसरी कात्यायनी। महर्षि याज्ञवल्क्यने संन्यास ग्रहण करते समय मैत्रेयीसे कहा— 'मैं इस गृहस्थाश्रमसे ऊपर संन्यास-आश्रममें जानेवाला हूँ, अतः सम्पत्तिका बँटवारा करके तुमको और कात्यायनीको दे दूँ तो ठीक है।' मैत्रेयीने कहा—'भगवन्! यदि यह धनसे सम्पन्न सारी पृथ्वी मेरी हो जाय तो क्या मैं उससे किसी प्रकार अमृतस्वरूप हो सकती हूँ?' याज्ञवल्क्यने कहा—'नहीं, भोगसामग्रियोंसे सम्पन्न मनुष्योंका जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा जीवन हो जायगा। धनसे अमृतत्वकी तो आशा है नहीं।' मैत्रेयीने कहा— 'जिससे मैं अमृतस्वरूप नहीं हो सकती, उसे लेकर क्या करूँगी? श्रीमान्, जो कुछ अमृतत्वका साधन हो, वही मुझे बतलायें।' इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—'धन्य है। अरी मैत्रेयी! तू पहले भी मेरी प्रिया रही है और अब भी तू प्रिय बात कह रही है। अच्छा, मैं तुझे उसकी व्याख्या करके समझाऊँगा। तू मेरे वाक्योंके अभिप्रायका चिन्तन करना।'

याज्ञवल्क्यने फिर कहा—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदः सर्वं विदितम्।

(२।४।५)

'अरी मैत्रेयी! सबके प्रयोजनके लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये सब प्रिय होते हैं। यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। हे मैत्रेयी! इस आत्माके ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञानसे इस सबका ज्ञान हो जाता है।'

तथा—

इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदःसर्वं यदयमात्मा।

(२।४।६)

'हे मैत्रेयी! यह ब्राह्मणजाति, यह क्षत्रियजाति, ये लोक, ये देवगण, ये भूतगण और यह सब जो कुछ भी है, सब आत्मा ही है।'

एवं—

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरः शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत् तत्केन कःपश्येत्तत्केन कःशृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयात्। येनेदः सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति।

(२।४।१४)

'जहाँ (अविद्यावस्थामें) द्वैत-सा होता है, वही अन्य अन्यको सूँघता है, अन्य अन्यको देखता है, अन्य अन्यको सुनता है, अन्य अन्यसे बोलता है, अन्य अन्यका मनन करता है तथा अन्य अन्यको जानता है; किंतु जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ किसके द्वारा किसे सूँघे, किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सुने, किसके द्वारा किससे बातचीत करे, किसके द्वारा किसका मनन करे और किसके द्वारा किसे जाने? जिसके द्वारा इस सबको जानता है, उसको किसके द्वारा जाने? हे मैत्रेयी! विज्ञाताको किसके द्वारा जाने?'

इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद्के दूसरे तथा चौथे अध्यायमें यह प्रसंग विस्तारसे आया है, यहाँ तो उसका कुछ अंश ही दिया गया है।

(४) जो नाशवान्, क्षणभंगुर, मायामय दृश्यवर्गसे रहित निराकार, निर्विकार, नित्य, विज्ञानानन्दघन निर्विशेष परब्रह्म परमात्मा है, वह मेरा ही आत्मा है अर्थात् मेरा ही

स्वरूप है; इस प्रकार उस निराकार निर्विशेष विज्ञानानन्दघन परमात्माको एकीभावसे जानकर मनुष्य उसे प्राप्त हो जाता है। श्रुति कहती है—

योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।

(बृहदारण्यक० ४। ४। ६)

'जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता; वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

इस विषयका रहस्य समझानेके लिये बृहदारण्यक उपनिषद्‌में एक इतिहास मिलता है। एक बार राजा जनकने एक बड़ी दक्षिणावाला यज्ञ किया। उसमें कुरु और पांचाल देशोंके बहुत-से ब्राह्मण एकत्रित हुए। उस समय राजा जनकने यह जाननेकी इच्छासे कि इन ब्राह्मणोंमें कौन सबसे बढ़कर प्रवचन करनेवाला है, अपनी गोशालामें ऐसी दस हजार गौएँ दान देनेके लिये रोक लीं, जिनमेंसे प्रत्येकके सींगोंमें दस-दस पाद सुवर्ण बँधा था और उन ब्राह्मणोंसे कहा—'पूजनीय ब्राह्मणो! आपमें जो ब्रह्मिष्ठ हों, वे इन गौओंको ले जायँ।' ब्राह्मणोंने राजाकी बात सुन ली; किंतु उनमें किसीका साहस नहीं हुआ। तब याज्ञवल्क्यने अपने ब्रह्मचारीसे उन गौओंको ले जानेके लिये कहा। वह उन्हें ले चला। इससे वे सब ब्राह्मण कुपित हो गये और जनकके होता अश्वलने याज्ञवल्क्यसे पूछा—'याज्ञवल्क्य! हम सबमें क्या तुम ही ब्रह्मिष्ठ हो?' याज्ञवल्क्यने कहा—'ब्रह्मिष्ठको तो हम नमस्कार करते हैं, हम तो गौओंकी ही इच्छावाले हैं।' यह सुनकर क्रमशः अश्वल, आर्तभाग और भुज्युने उनसे अनेकों प्रश्न किये और महर्षि याज्ञवल्क्यने उनका भलीभाँति समाधान किया।

फिर चाक्रायण उषस्तने याज्ञवल्क्यसे पूछा—'हे याज्ञवल्क्य! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी मेरे प्रति व्याख्या करो।' याज्ञवल्क्यने कहा—

एष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानिति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानिति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः।

(३। ४। १)

'यह तेरा आत्मा ही सर्वान्तर है।' उषस्तने पूछा—'वह सर्वान्तर कौन-सा है?' याज्ञवल्क्यने कहा—'जो प्राणसे प्राणक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, जो अपानसे अपानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, जो व्यानसे व्यानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, जो उदानसे उदानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है।'

उषस्तने फिर पूछा कि वह सर्वान्तर कौन-सा है। तब याज्ञवल्क्य पुनः बोले—

"…सर्वान्तरः। न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारꣳशृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम। (३। ४। २)

'यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है। तू उस दृष्टिके द्रष्टाको नहीं देख सकता, श्रुतिके श्रोताको नहीं सुन सकता, मतिके मन्ताका मनन नहीं कर सकता, विज्ञातिके विज्ञाताको नहीं जान सकता। तेरा यह आत्मा सर्वान्तर है, इससे भिन्न आर्त (नाशवान्) है। यह सुनकर चाक्रायण उषस्त चुप हो गया।'

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः। कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति।

(३। ५। १)

'इसके पश्चात् कौषीतकेय कहोलने 'हे याज्ञवल्क्य!' (इस प्रकार सम्बोधित करके) कहा—'जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी तुम मेरे प्रति व्याख्या करो।' इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—'यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है।' कहोलने पूछा—'याज्ञवल्क्य! वह सर्वान्तर कौन-सा है।' तब याज्ञवल्क्यने कहा—'जो क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्युसे परे है (वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है) ।'

फिर आरुणि उद्दालकने याज्ञवल्क्यसे कहा—'यदि तुम उस सूत्र और अन्तर्यामीको नहीं जानते हो और भी ब्रह्मवेत्ताकी स्वभूत गौओंको ले जाओगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा।' याज्ञवल्क्यने उत्तरमें कहा—'मैं उस सूत्र और अन्तर्यामीको जानता हूँ। हे गौतम! वायु ही वह सूत्र है, इस वायुरूप सूत्रके द्वारा ही यह लोक, परलोक और समस्त भूतसमुदाय गुँथे हुए हैं।' तब इसका समर्थन करते हुए उद्दालकने अन्तर्यामीका वर्णन करनेको कहा।

याज्ञवल्क्यने कहा—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न

वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष आत्मान्तर्याम्यमृतः।

(३। ७। ३)

'जो पृथ्वीमें रहनेवाला पृथ्वीके भीतर है; जिसे पृथ्वी नहीं जानती, जिसका पृथ्वी शरीर है और जो भीतर रहकर पृथ्वीका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।'

तथा—

अदृष्टो द्रष्टाश्रुतः श्रोतामतो मन्ताविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम।

(३। ७। २३)

'वह दिखायी न देनेवाला किंतु देखनेवाला है, सुनायी न देनेवाला किंतु सुननेवाला है, मननका विषय न होनेवाला किंतु मनन करनेवाला है और विशेषतया ज्ञात न होनेवाला किंतु विशेषरूपसे जाननेवाला है। यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इससे भिन्न सब नाशवान् है। यह सुनकर अरुणपुत्र उद्दालक प्रश्न करनेसे निवृत्त हो गया।'

तदनन्तर वाचक्नवी गार्गीने तथा शाकल्य विदग्धने अनेकों प्रश्न किये, जिनके उत्तर याज्ञवल्क्यजीने तुरंत दे दिये। अन्तमें उन्होंने शाकल्यसे कहा—'अब मैं तुमसे उस औपनिषद पुरुषको पूछता हूँ, यदि तुम मुझे उसे स्पष्टतया नहीं बतला सकोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा।' किंतु शाकल्य उसे नहीं जानता था, इसलिये उसका मस्तक गिर गया।

फिर याज्ञवल्क्यने कहा—'पूज्य ब्राह्मणगण! आपमेंसे जिसकी इच्छा हो, वह मुझसे प्रश्न करे अथवा आपसे मैं प्रश्न करूँ।' किंतु उन ब्राह्मणोंका साहस न हुआ।

इस विषयका रहस्य समझानेके लिये बृहदारण्यक-उपनिषद्में और भी कहा है—

स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयꣳ हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद।

(४। ४। २५)

'वह यह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमृत, अभय एवं ब्रह्म है, निश्चय ही ब्रह्म अभय है, जो इस प्रकार जानता है, वह अवश्य अभय ब्रह्म ही हो जाता है।'

यह **'त्वम्'** पदके लक्ष्यार्थ समस्त दृश्यवर्गसे अतीत आत्मस्वरूप निर्विशेष ब्रह्मकी उपासनापर संक्षिप्त विचार हुआ।

ऊपर बतलायी हुई इन उपासनाओंमेंसे किसीका भी भलीभाँति अनुष्ठान करनेपर मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। पहले साधक भेद या अभेद—जिस भावसे उपासना करता है, वह अपनी रुचि, समझ तथा किसीके द्वारा उपदिष्ट होकर साधन आरम्भ करता है, परन्तु यदि उसका लक्ष्य सचमुच परमात्माको प्राप्त करना है, तो वह चाहे जिस भावसे उपासना करे, अन्तमें उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि सबका अन्तिम परिणाम एक ही है। गीतामें भी भगवान्ने बतलाया है—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

(५। ५)

'ज्ञानयोनियोंके द्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

और भी कहा है-

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

(१३। २४)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं; अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं।'

गीता, उपनिषद् आदि शास्त्रोंमें जितने साधन बतलाये हैं, उन सबका फल—अन्तिम परिणाम एक ही है और वह अनिर्वचनीय है, जिसे कोई किसी प्रकार भी बतला नहीं सकता। जो कुछ भी बतलाया जाता है, उससे वह अत्यन्त विलक्षण है।

इस प्रकार यहाँ सगुण-निर्गुणरूप सच्चिदानन्दघन परमात्माकी भेदोपासना एवं अभेदोपासनापर बहुत ही संक्षेपसे विचार किया गया है। उपनिषदुक्त उपासनाका विषय बहुत ही विस्तृत और अत्यन्त गहन है। स्थान-संकोचसे यहाँ केवल दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। सुरुचि-सम्पन्न जिज्ञासु पाठक इस विषयको विशेषरूपसे जानना चाहें तो वे उपनिषदोंमें ही उसे देखें और उसका यथायोग्य मनन एवं धारण कर जीवनको सफल करें।